❋ श्रीरामकृष्णौ विजयेतेतमाम् ❋

श्रीमध्वगौरांगौ जयतः

श्रीश्रीमन्माध्वगौडेश्वरसंप्रदायाचार्यवर्येण हस्तामलकवन्निजहृदयविन्यस्त–
समस्तसद्ग्रन्थतात्पर्येण वेद–वेदांग–षड्दर्शनेतिहास–पुराण–स्मृति–
वाकोवाक्य–काव्यालंकारादि–निखिलशास्त्रपारावाराऽवार–
पारीणेन सन्देहग्रन्थिच्छेदनसमर्थेन वैष्णवसिद्धान्त–
साम्राज्यसंरक्षकेन श्रीमद्रूप–सनातनानुगतेन
श्रीमद्वल्लभात्मजेन जीवजीवातुना

श्रीजीवगोस्वामिना विरचिता

श्रीगोपालचम्पूः

(पूर्वचम्पूः)

''श्रीकृष्णानन्दिनी''

हिन्दी भाषाटीकाकारः

निखिलशास्त्रपारावारपारदृश्व–सख्यावताराष्टोत्तरशतस्वामिश्रीकृष्णानन्ददासजी–
महाराजानां शिष्यः काव्यवेदान्ततीर्थो घटिकाशतको वृन्दाटवीवसति–
लब्धकवित्वशक्तिः, महाकविः

श्रीवनमालिदासशास्त्री

प्रकाशक :

श्री भक्तिबिबुध बोधायन महाराज,
श्री गोपीनाथ गौड़ीय मठ,
पुरातन दाऊजी मन्दिर, गोपेश्वर रोड़,
वृन्दावन (मथुरा), उ.प्र.

प्रथमावृत्ति : १००० प्रति (श्री श्रील वनमालिदास शास्त्री द्वारा) अगस्त १९६८
द्वितीयावृत्ति : १००० प्रति (श्रीगोपीनाथ गौड़ीय मठ द्वारा) १८ नवम्बर २००२
ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीमद् भक्ति प्रमोद पुरी गोस्वामी महाराजजी की विरह तिथि

न्यौछावर : ३२५) रु.

मुद्रक : रैक्मो प्रेस प्रा. लि., सी–५९, ओखला इण्डस्ट्रियल ऐरिया, फेस–१
नयी दिल्ली, दूरभाष – २६८१६२८२, २६८१४८८६.

प्राप्ति स्थान :

१) श्रीकृष्णानन्द स्वर्गाश्रम, रेलवे फाटक के पास, वृन्दावन (मथुरा), उ.प्र.
२) श्रीगोपीनाथ गौड़ीय मठ, पुरातन दाऊजी मन्दिर, गोपेश्वर रोड, वृन्दावन (मथुरा), उ.प्र.
३) श्री राधादामोदर मन्दिर, सेवा कुंज, वृन्दावन (मथुरा), उ.प्र.
४) श्रीभक्ति प्रमोद वाणी निवास, ११६–सेवा कुंज गली, वृन्दावन (मथुरा), उ.प्र.
५) श्रीछैलबिहारी खण्डेलवाल, खण्डेलवाल एण्ड सन्स, अठखम्बा बाजार, वृन्दावन (मथुरा), उ.प्र.

समर्पण

हे श्रीकृष्ण! हे श्रीकृष्णचैतन्य!
हे श्रीसनातन गोस्वामि–सहित श्रीरुप गोस्वामी!
हे श्रीरुपानुग गुरुवर्ग! हे सपरिकर श्रीलप्रभुपाद!
हे श्रील भक्तिप्रमोद पुरी गोस्वामी महाराज!
हे श्रीकृष्ण केशवप्रभु!
हे श्री भक्तिवेदान्त स्वामी महाराज!
हे श्री भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराज!
हे श्री भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज!
हे श्री भक्तिवल्लभ तीर्थ गोस्वामी महाराज!
हे श्री भक्तिवेदान्त त्रिविक्रम गोस्वामी महाराज!
हे श्री भक्ति विज्ञानभारती गोस्वामी महाराज!

यह ग्रन्थ मैं आप लोगों के श्री कर कमलों में समर्पित कर रहा हूँ। इसके द्वारा आप सभी इस दासाधम पर प्रसन्न हों, एवं नित्यकाल के लिये गुरु–वैष्णवों की सेवा में अधिकार प्रदान करें, यही आप सभी के श्री चरणकमलों में हमारी प्रार्थना है।

श्री-जीव गोस्वामी कबे सिद्धान्त–सलिले।
निवाइवे तर्कानल, चित्त याहे ज्वले।।

जय

श्री श्रील

जीव गोस्वामीपादकी

जय

विज्ञप्ति

सर्वप्रथम श्रीगुरु–वैष्णव–भगवान् की वन्दना और कृपाशीर्वाद के लिए प्रार्थना करते हुए 'श्रीश्रीगोपाल चम्पू' के प्रस्तुत संस्करण के विषय में कुछ निवेदन शुभारम्भ किया जा रहा है, इस विषय में श्रीरूपानुग–सारस्वत–गौड़ीय गुरुवर्ग की अहैतुकी करुणा और शुभाशीष ही हमारे लिए एकमात्र सहायक और आश्रय हैं।

भारतवर्ष तथा सारे विश्व के विविध हिन्दी भाषी क्षेत्रों में मूल टीका और हिन्दी अनुवाद सहित इस ग्रन्थरत्न के सर्वांग सुन्दर संस्करण का अभाव विशेष रूप से अनुभव हो रहा था। ऐसी स्थिति में श्रीश्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी ठाकुर 'प्रभुपाद' के प्रिय आश्रितों में अन्यतम श्रील भक्तिप्रमोद पुरी गोस्वामी महाराज के अधस्तन, श्री गोपीनाथ गौड़ीय मठ के वर्त्तमान आचार्य श्रीपाद भक्तिबिबुध बोधायन महाराज द्वारा इस ग्रन्थरत्नके मूल संस्कृत श्लोक, अनुवाद तथा महाकवि बनमालिदास शास्त्री जी की भाषा टीका प्रकाशित होने से समस्त श्रीरूपानुग गौड़ीय वैष्णव इन पर प्रचुर कृपाशीर्वाद करेंगे, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है।

श्रीश्रील जीव गोस्वामीपाद ने अनेक ग्रन्थोंकी रचना की, जिसमें 'श्रीगोपालचम्पू' उनका एक सुप्रसिद्ध अलौकिक ग्रन्थ है। यद्यपि ऐसे तो हमारे गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय में 'श्री आनन्दवृन्दावन चम्पू' एवं श्रील सनातन गोस्वामी की श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध की 'बृहद वैष्णव–तोषणी' इत्यादि ग्रन्थ हैं, तथापि श्रील जीव गोस्वामीजीके 'श्रीगोपाल–चम्पू' का विशेष महत्व है। अनधिकारी, संस्कार-विहीन एवं ऐसे साधक जिनके लिए गोपियों का उपपति भाव उपयुक्त नहीं है, जिनका उपपति भाव के द्वारा हित के बदले अहित हो सकता है, ऐसे साधकों के कल्याण की कामना हेतु इस ग्रन्थ की रचना अत्यधिक आवश्यक हो गई थी।

कुछ अनभिज्ञ व्यक्तियों का ऐसा मत है कि श्रील जीव गोस्वामीपाद रूपानुग नहीं हैं, इसलिए उन्होने ऐसे भावों की पुष्टि की। परन्तु हमारे गौड़ीय वैष्णव आचार्योंका वक्तव्य यह है कि यदि ऐसा होता, तो फिर श्रील जीव गोस्वामी उन्हीं श्रील रूप गोस्वामी द्वारा रचित श्री भक्तिरसामृतसिन्धु एवं उज्जवल नीलमणि इत्यादि ग्रन्थों की टीका रचना क्यों करते? इसी विषय को ही ओर अधिक स्पष्ट करने के लिए उन्होंनें अपने श्रीउज्जवल नीलमणि की टीका में ''स्वेच्छयालिखितं किंचित किंचित परेच्छया'' इत्यादि का वर्णन किया है। अपने रचित श्रीक्रमसन्दर्भ की टीका तथा वैष्णव–तोषणी में उन्होंने इसी विचार से तत्व की दृष्टि से गोपियों में स्वकीय भाव की स्थापना की, तथा श्री उज्जवल नीलमणि की टीका में उन्होंनें कहीं–कहीं पर स्पष्ट रूप से गोपियों के पारकीय भाव का उल्लेख किया है, तथा द्वारिका की पट्टरानियों के लिए स्वकीय भाव की पुष्टि की है।

श्रील जीवगोस्वामीपाद ने श्रीरूपगोस्वामी के विचारों को ग्रहणकर उन्हीं के ही विचारों की स्थापना की है। श्रील जीवगोस्वामीपाद ने श्रीगोपालचम्पू एवं तत्व–सन्दर्भ आदि ग्रन्थों के विचारों से शुद्ध भक्ति रूप भगवती भागीरथी के दोंनो तटों को तत्व-सिद्धान्त रूपी पत्थरों की दीवारों द्वारा इस प्रकार सुदृढ़ रूप से बाँध दिया है कि अपसम्प्रदाय रूपी गन्दे नाले लाख चेष्टा करने पर भी उसमें न मिल सके। इस प्रकार श्रील जीवगोस्वामी ने श्रीगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय की महती सेवा

की है, उनके इस ऋण का परिशोधन करनेमें शुद्ध गौड़ीय–वैष्णव–समाज को हजारों वर्ष लग जायेंगे।

श्री-गोपाल चम्पू के शुभारम्भ से परिसमाप्ति तक सम्पूर्ण ग्रन्थ के तत्व सिद्धान्त और यथार्थ शिक्षा को जानने के लिए हमें सर्वप्रथम श्री रूपानुग गौड़ीय वैष्णवाचार्य गुरुवर्ग के शरणागत होना होगा। अतएव लोकोत्तर नित्यसिद्ध महापुरुषों की भ्रम, प्रमाद आदि दोषरहित शुद्ध वाणी और शिक्षा ही हमारे लिए एकमात्र ग्रहण करने योग्य है।

श्रील जीवगोस्वामीपाद ने तुलनात्मक आलोचना के द्वारा पारकीय रस की सर्वश्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है। यह ग्रन्थ भगवान् श्री कृष्ण की वृन्दावनीय लीलाओं का अक्षय भण्डार है। इसमें चम्पू ग्रन्थ के समस्त लक्षणों का समावेश है, जिसके लक्षणों का सहित्यदर्पण नामक ग्रन्थ में उल्लेख हुआ हैं। कलियुग पावनावतारी श्री चैतन्य महाप्रभु और उनके प्रिय परिकरों नें परमाराध्य परतत्व के अनुसन्धान और साधन–भजन की पराकाष्ठा को प्रदर्शित करते हुए हम लोगों के लिए परम कल्याण का कार्य किया है। यही जीवों के प्रति उनकी अहैतुकी हार्दिक करुणा है।

जो भक्त और भगवान् श्रीकृष्णकी मधुर लीलाओं का अद्भुत रहस्य जानना चाहते हैं, उनके लिए यह ग्रन्थ अवश्य पठनीय एवं अनुशीलनीय है।

श्री केशव जी गौड़ीय मठ, मथुरा
अन्नकूट महोत्सव, ५ नवम्बर २००२

श्री हरि–गुरु–वैष्णव–कृपालेश–प्रार्थी
दीन–हीन त्रिदण्डिभिक्षु
श्री भक्तिवेदान्त नारायण

निवेदन

सजलजलदनीलं दर्शितोदारशीलम्।
करतलधृतशैलं वेणुवाद्यरसालम्।।
ब्रजजनकुलपालं कामिनीकेलिलोलम्।
तरुणतुलसीमालं नौमिगोपालबालम्।।

जो जल से परिपूर्ण वर्षा करने हेतु उन्मुख नवीन जलधर के समान नीलकान्ति विशेष है, जो उदार व सरल स्वभाव प्रदर्शन करने वाले हैं, जो हस्त कमल पर विशाल गोवर्धन पर्वत को पुष्प के समान धारण करने वाले हैं, जो रसपूर्ण वेणु का वादन करते हैं, जो ब्रजवासियों का परिपालन करने वाले हैं, जो ब्रज ललनाओं के साथ क्रीड़ा करने के लिये लुब्धचित्त वाले हैं, मैं उन्ही नवीन तुलसी मालाधारणकारी गोपालवेशधारी श्रीकृष्ण को नमन करता हूँ।

परिपूर्ण समग्र ऐश्वर्य के अधिपति, सर्वाराध्य शिरोमणि मूल जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीके श्री-वेदव्यास द्वारा रचित 'श्रीमद्भागवत' के दशम स्कन्ध का लीलासमूह और श्री श्रील जीव गोस्वामी द्वारा रचित 'कृष्ण सन्दर्भ' का विस्तारित प्रकाश, लीलाकार सूक्ष्म तत्वों से युक्त करके यह 'गोपाल चम्पू' नामक ग्रन्थ श्रील जीवगोस्वामीपाद ने हमारे मंगल विधान और भगवान् श्रीकृष्ण के विभिन्न लीला–समूह की शिक्षा इत्यादि को समझाने के लिए अवतरित कराया है।

पूज्यपाद श्रीश्री १०८ श्रीकृष्णानन्ददास जी महाराज के कृपापात्र महाकवि श्रील वनमालिदास शास्त्रीजी ने इस ग्रन्थ की भाषाटीका को अगस्त १९६८ ई. में प्रकाशित किया था। इस संस्करणके अतिरिक्त अन्य कोई भी प्रमाणिक हिन्दी भाषा टीका सहित संस्करण मेरी दृष्टि में नहीं आया। उनके द्वारा इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने से विश्वव्यापी हिन्दी भाषी भक्त उनके निकट चिरऋणी और चिरकृतज्ञ रहेंगे। उन्हीं श्रील वनमालिदास शास्त्रीजी के 'श्रीकृष्णानन्द स्वर्गाश्रम' में वास कर रही श्रीमती विद्या देवी के मुख से हमने यह श्रवण किया कि उनके गुरुदेव (श्रील वनमालिदास शास्त्रीजी) कहा करते थे कि एक समय ऐसा आयेगा, जब इस ग्रन्थ को प्राप्त करने के लिए भक्त तरसेंगे।

वास्तव में आज उनकी वह वाणी सत्य हो रही है, सभी हिन्दी भाषी भक्त जनता उनके इस ग्रन्थ को प्राप्तकर अनुशीलन करना चाहती है। उन्हीं भक्तों की सेवा एवं श्रील वनमालिदास शास्त्रीजी की प्रसन्नता हेतु, जो अपने अनुवादकीय वक्तव्य में लिखते है कि "भक्त जनता को इससे यदि किंचिंद् भी सुख मिलेगा तो मेरा सारा परिश्रम सफल हो जायेगा।" आज हमारे भाग्याकाश में ब्रह्म–माध्व–गौड़ीय–सारस्वत–सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता–परिव्राजकाचार्य नित्यलीला प्रविष्ट ऊँ विष्णुपाद श्रील भक्तिसिद्धान्तसरस्वती ठाकुर 'प्रभुपाद' के एकान्त प्रिय चरणश्रित भक्तों में अन्यतम मायापुरस्थ मूल श्रीगोपीनाथ गौड़ीय मठ प्रतिष्ठान के प्रतिष्ठाता नित्यलीला प्रविष्ट ऊँ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत श्रीश्रीमद्भक्तिप्रमोद पुरी गोस्वामी महाराज के कृपाशीर्वाद से गौड़ीय गगन में यह

महामूल्यवान ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में जिन–जिन भक्तों ने सहायता की है, हम उनके विशेष आभारी है। जिन्होंने इस ग्रन्थ के प्रकाशन का सम्पूर्ण आर्थिक सेवानुकूल्य प्रदान किया है, उन्होंने अपना नाम गुप्त रखने को कहा है। हम अपने परमाराध्यतम गुरुपादपद्म, गुरु–परम्परा, सपरिकर श्रीश्रीगौरांग महाप्रभु, सपरिकर श्रीश्रीराधा गोपीनाथ एवं सर्वविघ्न विनाशनकारी श्री नृसिंहदेव भगवान् के श्री चरण कमलों में यही प्रार्थना करते हैं कि वे इसी प्रकार निष्कपट रूप से समस्त गौड़ीय जगत् की सेवा करते हुए सदैव भक्तों का आनन्द वर्धन करें।

क्षणभंगुर जीवन का कोई विश्वास नहीं, हाँ, यदि करुणामय श्रीमन् महाप्रभु की इच्छा रही एवं शरीर ने साथ दिया तो श्री गोपाल चम्पू के 'उत्तर–चम्पू' को भी क्रमशः प्रकाशित करने की उत्कण्ठा है, जिसकी पूर्ति में सर्वसमर्थ श्री हरि–गुरु–वैष्णव चरणकृपा की पूर्ण अपेक्षा है।

मुद्रणकार्य में शीघ्रता के कारण यदि ग्रन्थ में कुछ त्रुटि–विच्युति दिखाई पड़े, तो पारमार्थिक पाठकगण निजगुणों से क्षमा करेंगे तथा संशोधनकर ग्रन्थ का सार ग्रहण कर कृतार्थ करेंगे। इति

गुरु, वैष्णव चरणरज प्रार्थी
वैष्णव दासाभास
भक्ति बिबुध बोधायन

श्रीगोपीनाथ गौड़ीय मठ,
गोपेश्वर रोड, वृन्दावन
गोपाष्टमी, १२ नवम्बर २००२

* श्रीरामकृष्णौ विजयेतेतमाम् *

अनुवादकीय वक्तव्य

अनादिकाल से परिवर्तनशील इस संसार में आने और जानेवालों की तो कमी नहीं है, परन्तु जो जाने से पहले अपनी सुकृतियों की छाप छोड़ जाते हैं, उन्हीं नरपुङ्गवों का आना जाना सफल है, एक बात। दूसरी बात यह है कि खाने, पीने, सोने, और धन, कीर्ति, लाभ आदि की पार्थिव प्रवृत्तियाँ प्रायः सभी में न्यूनाधिकरूप में होती हैं, परन्तु पारमार्थिक निःस्वार्थ प्रवृत्ति से युक्त होकर, जो व्यक्ति अपने जीवन में ऐसी कुछ सत्सेवा कर जाते हैं, वे ही "कीर्तिर्यस्य स जीवति" इस न्याय से सदा अमर कहाते हैं। ऐसे ही पारमार्थिक जगत् के अन्यतम महानुभाव रसिककविकुल चक्रचूडामणि श्रीजीव गोस्वामीजी महाराज हैं। जिनके हृदयरूप आकाश में चम्पूद्वयात्मक यह ग्रन्थ सूर्य चन्द्रमा की तरह प्रगट हुआ है। आपके पूर्वपुरुष भारद्वाज गोत्रीय यजुर्वेदी जगद्गुरु ब्राह्मणराज 'श्रीसवज्ञजी' कर्णाटकदेश के राजा थे। उनके पुत्र श्रीअनिरुद्ध, उनके श्रीरूपेश्वर, उनके श्रीपद्मनाभ, उनके श्रीमुकुन्ददेव, उनके श्रीकुमारदेव नामक पुत्ररत्न उत्पन्न हुए। श्रीकुमारदेव का विवाह काश्यपकुलोत्पन्न श्रीहरिनारायण विशारद की कन्या श्रीमती रेवतीदेवी के साथ हुआ था। श्रीकुमारदेव के तीन पुत्ररत्न प्रादुर्भूत हुए थे। उनमें सर्वप्रथम श्रीसनातन गोस्वामी, द्वितीय श्रीरूप गोस्वामी, एवं तृतीय पुत्र श्रीवल्लभ नामक थे। जिनका नाम श्रीचैतन्यमहाप्रभुजी ने 'अनुपम' रखा था। वस्तुतः श्रीराघवेन्द्र के भक्तों में अनुपम होने के कारण उनका नाम यथार्थ ही अनुपम था। श्रीअनुपम गोस्वामी बाल्यकालसे ही स्थिर चित्त से श्रीरघुनाथजी की उपासना करते थे। रातदिन उन्हीं के ध्यान में एवं नामजाप में तल्लीन रहते थे, वाल्मीकीय रामायण का निरन्तर श्रवण एवं गायन भी करते रहते थे। तथा निरन्तर अपने दोनों बड़े भाइयों के साथ ही रहते थे। एक दिन उनके दोनों बड़े भाइयों ने उनकी परीक्षा के बहाने उनसे कहा कि, हे भैया! अनुपम! देखो, श्रीकृष्ण परममधुर हैं, सौन्दर्य, माधुर्य, एवं प्रेमविलास आदि के चातुर्य में सभी अवतारों की अपेक्षा अधिक हैं। अतः तुम भी हम दोनों भाइयों के साथ श्रीकृष्ण का ही भजन करो, तो अच्छा हो। इस प्रकार तीनों भाई श्रीकृष्ण की उपासना के रङ्ग में मस्त होकर एकसाथ रहेंगे। दोनों भाइयों के बारंबार इस प्रकार कहने-पर उनके गौरव के संकोच से अनुपमजी का मन कुछ पलट गया, और बोले कि भैयाजी! मैं आप दोनों की आज्ञा किस प्रकार लाँघ सकता हूँ? अतः दीक्षामन्त्र दे दीजिये। मैं भी श्रीकृष्ण का भजन किया करूँगा। इतना कहकर अनुपमजी रात्रि में एकान्त में विचारने लगे कि—हाय! मैं श्रीरघुनाथजी के श्रीचरणों को कैसे त्याग दूँ? इस प्रकार कहते हुए एवं भावावेश में रोते रोते सारी रात जागते ही बिता दी। प्रातःकाल दोनों भाइयों से निवेदन किया कि—भैयाजी! मैंने अपना मस्तक तो श्रीरघुनाथजी के चरणकमलों में समर्पित कर दिया है, दुबारा लौटाने में बड़ी पीडा होती है। आप दोनों तो कृपा करके मुझे यही आज्ञा दीजिये कि, जन्मजन्मान्तर श्रीरघुनाथजी की सेवा करता रहूँ। क्योंकि उनके श्रीचरण मुझसे छोड़े नहीं जाते है, छोड़ने का विचार करते ही हृदय फटने लगता है। यह सुनते ही श्रीरूप-सनातन ने उनको हृदय से लगा लिया एवं उनकी निष्ठा की भारी प्रशंसा की। हाय, भैया! तुम्हारे जैसा दृढ अनुराग हम दोनों का हमारे इष्ट में कब होगा? इन्हीं अनन्य रामभक्त श्रीअनुपम (वल्लभ) जी के सुपात्र पुत्ररत्न हैं श्रीजीव गोस्वामीजी महाराज। आपका प्रादुर्भाव वि० सं० १५८०, शाके १४४५ में पौष शुक्ला तृतीया को हुआ था। २० वर्ष की आयुतक गृहनिवास एवं अध्ययन आदि हुआ, पश्चात् ६५ वर्षतक निरन्तर वृन्दावन वास हुआ। अतः वि० सं० १६६५ एवं शाके १५३० में पौष शुक्ला तृतीया को ही

अन्तर्धान लीला हुई। इस प्रकार ८५ वर्षतक प्रपञ्च में स्थिति रही। श्रीचैतन्यमहाप्रभुजी के अन्तर्धान के समय श्रीजीव गोस्वामीजी १० वर्ष के थे ऐसा प्राचीन जनों के मुख से सुना जाता है। श्रीभक्तिरत्नाकर में भी लिखा है कि—श्रीचैतन्यदेव श्रीरूप-सनातन को अङ्गीकार करने के लिए जब रामकेलि ग्राम में पधारे थे, तब बहुत छोटी अवस्था में श्रीजीव गोस्वामी ने श्रीचैतन्यमहाप्रभु का गुप्तरूप से दर्शन किया था।

श्रीकृष्ण-बलदेव से अभिन्न श्रीगौर-नित्यानन्द की कृपा

एकदिन सन्ध्या के समय श्रीजीव गोस्वामीजी अकेले ही प्रेमाश्रु प्रवाहपूर्वक श्रीहरिनामसंकीर्तन कर रहे थे। और भुजाओं को उठाकर भावावेश में यह कह रहे थे कि—हे श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभो ! नित्यानन्द प्रभो ! हे कृपासिन्धो ! श्रीअद्वैतचन्द्र ! हे महाप्रभु के प्रिय पार्षदगण ! मुझ पतित को भी अपनी अहैतुकी कृपा का भाजन बना लीजिये। इस प्रकार कहते कहते गला रुक जाता था। उस रात्रि में इसी भावावेश में निद्रा भी नहीं आई। पश्चात् रात्रि के अन्त में श्रीमन्महाप्रभु ने अपने परिकरसहित स्वप्न में संकीर्तन करते हुए दर्शन दिया। भूमि एवं आकाश में हरि, हरि ध्वनि छा रही थी। चारों ओर से लाखों नर नारी संकीर्तन में सम्मिलित हो रहे थे। इस प्रकार दर्शन देकर अन्तर्हित हो गये। स्वप्न भङ्ग होते ही श्रीजीव गोस्वामी व्याकुल हो उठे। उनका चरित्र अद्भुत है। वे बाल्यकाल में बालकों के साथ होनेवाली बाललीला में भी प्राकृत बालकों के से खेल नहीं करते थे, अपितु श्रीउद्धवजी की तरह श्रीकृष्ण-बलदेव की मूर्ति बनाकर पत्र पुष्प आदि से पूजा करते थे। अनेक वस्त्र भूषणों से सजाकर टकटकी लगाकर योगी की तरह, निरन्तर निहारते रहते थे। नेत्रों में आँसू भरकर कनकदण्ड की तरह साष्टाङ्ग प्रणाम करते थे। पश्चात् भोग लगाकर बालकों सहित प्रसाद पाते थे। श्रीकृष्ण-बलराम के बिना कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। एकान्त में भी दोनों को लेकर खेलते रहते थे। सोते समय भी दोनों को छातीपर धरकर शयन करते थे। स्वप्न में कभी श्रीकृष्ण-बलदेव को एवं कभी श्रीगौर-नित्यानन्द को देखते रहते थे। इस प्रकार कुमारावस्था में भी प्रभु के महान् कृपापात्र थे। "होनहार विरवान के होत चीकने पात" वाली कहावत अक्षरशः चरितार्थ थी।

गृहत्याग

श्रीजीव गोस्वामीजी अध्ययन के बहाने नवद्वीप चले गये, उनको देखते ही नवद्वीपवासी अपने मन में यही कहने लगे कि—श्रीजीव गोस्वामी अवश्य वृन्दावन जायँगे। नवद्वीप की गलियोंमें पदार्पण करते ही श्रीजीव गोस्वामी प्रेमाविष्ट हो गये। उनकी दशा को देखकर दर्शकजन बोले कि—अरे भाइयो ! देखो, यह तो कोई राजकुमार सा प्रतीत होता है, क्योंकि इस बालक का शरीर सुवर्ण के चम्पक पुष्प के समान मनोहर है। इसके श्रीमुख की माधुरी, विशाल नेत्र, विस्तीर्ण ललाट, कीरसम नासिका, कपोल, ग्रीवा, वक्षःस्थल, क्षीण कटिप्रदेश, एवं हस्त, पद, नख आदि की शोभा अपूर्व है। गले में मनोहर तुलसीमाला है, तथा कन्धेपर शुभ्र यज्ञोपवीत शोभा पा रहा है। हाय ! मेरा मन तो यह कहता है कि, इस वैष्णव बालक को निरन्तर निहारता ही रहूँ। कोई बोला—भाई ! देख, यह बालक अवश्य ही विरक्त हो जायगा। इस प्रकार कहते कहते कुछ जन व्याकुल हो जाते थे। श्रीजीव गोस्वामी के नवद्वीप में प्रविष्ट होते ही यह ध्वनि चारों ओर फैल गई कि—श्रीरूप-सनातन के छोटे भाई के पुत्र आ गये हैं। श्री जीवगोस्वामी को देखकर सभी हर्षित हो रहे थे। तब श्रीजीवगोस्वामी श्रीश्रीवास पण्डित के घर पधारे।

श्रीनित्यानन्द कृपा

वहाँपर प्रेमानन्द में विभोर श्रीनित्यानन्दप्रभु श्रीवास पण्डित से कह रहे थे कि—मेरे मन में तो ऐसा भान हो रहा है कि—श्रीजीव आयँगे। इतने में ही किसी वैष्णव ने आकर धीरे से कहा कि प्रभो !

श्रीजीव तो आपके भवन के द्वारपर उपस्थित हैं। यह वचन सुनते ही श्रीनित्यानन्द प्रभु आनन्दित हो गये। उनकी आज्ञा से श्रीजीव गोस्वामी भीतर उपस्थित हुए। प्रभु के दर्शन करते ही अधीर हो गये, अश्रुधारा बहने लगी, लोटपोट होकर प्रभु के श्रीचरणों में गिर पड़े। उस समय महान् वात्सल्य में विह्वल श्रीनित्यानन्द प्रभु ने उनके मस्तकपर अपने दोनों चरण धरते धरते महान् अनुग्रह प्रकाशित कर दिया, और चरणों में से उठाकर छाती से लगा लिया। प्रेमावेश में भरे हुए प्रभु ने कहा कि—मैं खडदह ग्राम से तुम्हारे निमित्त ही नवद्वीप में आया हूँ। इस प्रकार कहकर कुछ दिन अपने निकट रखकर, श्रीवास आदि गौरभक्तों की कृपा कराकर, श्रीप्रभु ने कहा कि—हे जीव! अब तुम शीघ्र ही श्रीव्रज में चले जाओ। क्योंकि श्रीगौराङ्गदेव ने तुम्हारे वंशजों को वही स्थान समर्पित कर दिया है। प्रभु आज्ञा पाते ही श्रीजीव, श्रीनीलाचल होकर व्रज की ओर चल दिये।

अध्ययनलीला

श्रीजीव गोस्वामी बाल्यकाल से ही श्रीमद्भागवत के अनुरागी थे। उन्होंने थोड़े से दिनों में ही व्याकरण, काव्य, कोष, अलंकार, एवं वेद आदि सब शास्त्रों में असाधारण अधिकार प्राप्तकर लिया था। तो भी श्रीनित्यानन्द प्रभु की आज्ञा से श्रीवृन्दावन की यात्रा के समय काशी में श्रीमधुसूदन वाचस्पति के निकट कुछ कालतक न्याय वेदान्त आदि का भी अध्ययन किया। ऐसी किंवदन्ती भी है कि—श्रीजगन्नाथजी में श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने चिद्विलासमय जिस वेदान्त के सिद्धान्त को श्रीचैतन्यदेव से सुना था, वह समस्त सिद्धान्त भट्टाचार्य ने अपने शिष्य मधुसूदन वाचस्पति को सिखा दिया था। अतः श्रीनित्यानन्द प्रभु की आज्ञा से श्रीजीव गोस्वामी ने भी वह सिद्धान्त वाचस्पतिजी से सुन लिया।

श्रीव्रजवास

श्रीजीव गोस्वामी ने काशी से श्रीवृन्दावन में आकर श्रीरूप गोस्वामी एवं श्रीसनातन गोस्वामी की छत्रछाया में रहकर, उन्हीं के द्वारा श्रीमद्भागवत आदि भक्तिशास्त्रों का विधिपूर्वक अध्ययन कर, श्रीरूप गोस्वामी से ही गोपालमन्त्र की दीक्षा लेकर, निरन्तर श्रीव्रजमण्डल में ही निवास किया।

श्रीजीव गोस्वामी के अलौकिक स्वाभाविक पाण्डित्य एवं भक्तिसिद्धान्त के विचारों की परिपाटी को देखकर, सन्तुष्ट होकर, श्रीरूप-सनातन दोनों ही स्वरचित ग्रन्थों का उनसे संशोधन भी करवाते थे। श्रीनिवासाचार्य ठाकुर, श्रीनरोत्तमदास ठाकुर, एवं श्रीश्यामानन्द प्रभु ये तीनों ही श्रीजीव गोस्वामी के शिक्षा शिष्य थे। इन तीनों को भक्तिसिद्धान्त की शिक्षा में विचक्षण बनाकर, श्रीजीव गोस्वामी ने गौड़मण्डल में एवं श्रीजगन्नाथक्षेत्र में भक्ति प्रचारार्थ वृन्दावन से सभी गोस्वामीग्रन्थों के सहित भेज दिया। रास्ते में पश्चिमवङ्ग में बांकुड़ा जिला के अन्तर्गत वनविष्णुपुर के राजा वीरहाम्बीर ने उनके समस्त ग्रन्थ चुरवा लिए। ग्रन्थ चोरी में चले जानेपर श्रीनिवासाचार्य आदि इन तीनों की दशा तो वर्णनातीत हुई ही, किन्तु इस समाचार को सुनकर श्रीजीव गोस्वामी, श्रीरघुनाथदास, एवं श्रीकृष्णदास कविराज आदि व्रजस्थ महात्माओं के प्राणमात्र ही शेष रह गये। कारण भक्तिग्रन्थ ही तो उन सबके जीवनरूप थे। श्रीकविराज गोस्वामी तो प्राणोत्सर्ग निमित्त श्रीराधाकुण्ड में भी कूद पड़े, किन्तु वैष्णवों ने कष्टपूर्वक उनको कुण्ड से निकाल लिया। पश्चात् कुछ दिन बाद ग्रन्थों की प्राप्ति के संवाद को सुनकर आनन्दातिरेक से नित्यलीला में प्रविष्ट हो गये।

इधर श्रीनिवासाचार्य ने श्रीनरोत्तमदास, एवं श्रीश्यामानन्दजी को अनेक प्रकार से सान्त्वना देकर, श्रीगुरुदेव के आदेशानुसार गौड़देश में वैष्णवधर्म प्रचारार्थ भेज दिया। स्वयं ग्रन्थों के अन्वेषण में तत्पर हो गये। इधर श्रीजीव गोस्वामी अपने मन में विचारने लगे कि—चोरगण पुस्तकों को लेकर क्या करेंगे? इसमें कुछ प्रभु की ही लीला छिपी हुई है। ठीक, हुआ भी वही। देखो, एकदिन कृष्णवल्लभ नामक एक ब्राह्मण ने श्रीनिवासाचार्यजी से कहा कि, वीरहाम्बीर एक अद्भुत प्रकृति का राजा है। दिन में पुराणों की

कथा सुनता है, एवं रात में चोरी डकैती करता है। पुत्र के समान प्रजा का पालन करता है, देश की क्षति नहीं करता है। आपके ग्रन्थों की पेटी तो धन के भ्रम में चुराई गई हैं, ऐसा मेरा अनुमान है। यह सुनकर श्रीनिवासाचार्य उस ब्राह्मण के साथ कथा सुनने को राजा की सभा में चले गये। वहाँ रासपचाध्यायी की व्याख्या हो रही थी, किन्तु व्याख्या असद्वृत्ति से हो रही थी। दूसरे दिन श्रीनिवासाचार्य ने कुछ प्रतिवाद उठा दिया, तब राजा ने उन्हीं को व्याख्या करने में नियुक्त कर दिया। श्रीगोपालभट्ट के दीक्षित शिष्य एवं श्रीजीव गोस्वामी के शिक्षित शिष्य श्रीनिवासाचार्य के मुख से अपूर्व व्याख्या सुनकर, राजा वीरहाम्बीर एवं श्रोतागण सभी भक्तिभाव से द्रवीभूत होकर प्रेमाश्रु बहाने लगे। पश्चात् लज्जित होकर राजा ने समस्त गोस्वामीग्रन्थ लौटा दिये, एवं वह राजा, कथावाचक, तथा कृष्णवल्लभ ब्राह्मण ये तीनों ही श्रीनिवासाचार्य के शिष्य होकर कृतार्थ हो गये। दीक्षा के बाद राजा का नाम श्रीहरिचरणदास हुआ एवं श्रीजीव गोस्वामी का दिया हुआ श्रीचैतन्यदास नाम हुआ। इस संवाद से सभी जगह आनन्द छा गया था।

एकदिन गोकुल में बैठकर श्रीरूप गोस्वामीजी 'श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु' की रचना कर रहे थे, निकट बैठकर श्रीजीव गोस्वामीजी पंखा कर रहे थे, उसी समय वल्लभभट्ट नाम से प्रसिद्ध किसी विद्वान् ने पूछा कि, गोस्वामीजी! कौन से ग्रन्थ की रचना हो रही है? श्रीरूप गोस्वामी ने उत्तर दिया कि 'श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु' की। भट्टजी बोले कि—बहुत अच्छा। ग्रन्थ पूरा लिख जानेपर मैं इसका संशोधन कर दूँगा। यह कहकर भट्टजी श्रीयमुनास्नान करने चले गये। श्रीजीव, भट्टजी के अहंकार को न सह सके, श्रीगुरुदेव के निकट कुछ कह भी नहीं सके। अतः यमुनाजल लाने के बहाने वहाँ से चुपचाप चल दिये। जाते ही भट्टजी से कहा कि—ग्रन्थ में कौन से स्थानपर भ्रम देखा, जो कि आपने शुद्ध करने को कहा? बात बात में दोनों में शास्त्रार्थ छिड़ गया। भट्टजी परास्त होकर श्रीजीव गोस्वामी के लोकोत्तर पाण्डित्यपर विमुग्ध हो गये। आकर श्रीरूप गोस्वामी से पूछा कि—आपके निकट रहनेवाला बालक आपका क्या लगता है? गोस्वामीजी ने कहा कि 'जीव' नामक वह बालक मेरा शिष्य एवं भतीजा है। भट्टजी बालक के असाधारण पाण्डित्य की प्रशंसा करते हुए अपने स्थानपर चले गये।

श्रीरूप गोस्वामी श्रीजीव गोस्वामी के स्वभाव को जानते थे, तो भी विशेषविशिष्ट एवं विनम्र बनाने के लिए उनको बुलाकर उनसे बोले कि—हे मूढमते! तुमने असमय में ही वैराग्यवेष धारण कर लिया है। तुमने अपने क्रोध के ऊपर क्रोध क्यों नहीं किया? अतः मैं तुम्हारा मुख नहीं देखना चाहता। श्रीभट्टजी तो मेरे ऊपर कृपा करके, मेरे हित के लिए ग्रन्थ शुद्ध करने को मेरे निकट आये थे। उनके थोड़े से वचनको भी तू नहीं सह सका। अतः यहाँ से शीघ्र ही पूर्व की ओर चला जा। श्रीगुरुदेव की आज्ञा अनतिक्रमणीय होने के कारण, श्रीजीव गोस्वामी वहाँ से श्रीनन्दघाटपर चले आये। वहाँपर श्रीगुरुदेव के वियोग में प्राण छोड़ने के ध्येय से कच्चा आटा घोलकर पी लेते थे। वहींपर 'सर्वसंवादिनी' एवं 'षट्सन्दर्भ' आदि की रचना की। यह समाचार सुनते ही श्रीसनातन गोस्वामी श्रीरूप गोस्वामी के निकट आकर बोले कि—बताओ भैयाजी! श्रीगौराङ्ग महाप्रभुजी का क्या सिद्धान्त है? उत्तर देते हुए श्रीरूप बोले कि–श्रीहरिनाम में रुचि, जीवमात्र पर दया, एवं वैष्णवों की सेवा करना। तब सनातनजी बोले कि—तुम्हारा 'जीव' तो नन्दघाटपर महान् कष्ट पा रहा है, अस्थिमात्र है। तब श्रीरूपजी की अनुमति के अनुसार श्रीसनातनजी के द्वारा श्रीजीव गोस्वामी नन्दघाट से श्रीवृन्दावन में लाये गये। श्रीगुरुकृपा से पुनः स्वस्थ हो गये। इस चरित्र से गुरु की गुरुता, एवं शिष्य की शिष्यता का अपूर्व परिचय मिलता है। अतः श्रीनाभाजी अपनी भक्तमाल में कहते हैं कि—

(श्री) रूप-सनातन भक्तिजल जीवगुसाँई सर गँभीर।

वेला भजन सुपक्क कषाय न कबहू लागी।

वृन्दावन दृढ़वास युगलचरणन अनुरागी ॥
पोथी लेखन पान अघट अक्षर चित दीनौ ।
सद्ग्रन्थन को सार सबै हस्तामल कीनौ ॥
सन्देह ग्रन्थि छेदन समर्थ, रसराज उपासक परम धीर ।
रूप-सनातन भक्तिजल, जीवगुसाँई सर गँभीर ॥

भावार्थ—श्रीजीव गोस्वामीजी श्रीरूप-सनातन की भक्तिरूपजल के आधारभूत परमगंभीर सरोवर के समान थे । अर्थात् दोनों की भक्ति एवं विद्या श्रीजीव के हृदय में समा गई थी । श्रीजीव गोस्वामीरूप सरोवर का भजनरूप घाट सुपरिपक्व था । जिसमें मल, विक्षेप, आवरणरूप कषाय (काई) कभी भी नहीं लगी । आपका वृन्दावनवास दृढ़तापूर्वक हुआ । एक समय अकबर बादशाह के अधीनस्थ गंगातीरवासी एवं राजपूतानानिवासी राजाओं में गंगा एवं यमुना की परस्पर श्रेष्ठता के सम्बन्ध में एक वितर्क उठा था । उसकी मीमांसा के लिए बादशाह ने श्रीजीव गोस्वामी को सादर आगरा में बुलवाया, तब उन्होंने कहा कि—मैं श्रीवृन्दावन से बाहर एकरात भी निवास नहीं कर सकता हूँ । यह मेरा व्रत है । राजा ने घोड़ा-गाड़ी के द्वारा उसी दिन श्रीधाम लौटने का जब प्रबन्ध कर दिया, तब गोस्वामीजी ने आगरा में आकर राजसभा में शास्त्रीय प्रमाण एवं युक्ति प्रदर्शन करते हुए कहा कि—श्रीगंगा तो श्रीभगवान् का चरणामृत है एवं श्रीयमुनाजी श्रीकृष्ण की पटरानी हैं, अतः इस तारतम्य की दृष्टि से श्रीगंगाजी की अपेक्षा श्रीयमुनाजी की ही श्रेष्ठता निश्चित है । बादशाह के सहित सभी सामन्तों ने श्रीजीव गोस्वामीजी का सिद्धान्त सहर्ष स्वीकार किया, एवं सम्मानपूर्वक बिदाई की । श्रीजीव गोस्वामीजी श्रीराधाकृष्ण के युगलचरणों के महान् अनुरागी थे । आप पुस्तक लिखने में अतिप्रवीण चमत्कारयुक्त महापुरुष थे । अर्थात् अतिशीघ्र, अतिमनोहर, एवं स्पष्ट अक्षर लिखते थे, तथा एक पृष्ठ लिखकर सूखने को रख, दूसरे पत्रा के पृष्ठ को लिखकर फिर पहले पत्रा के पृष्ठ को लिखते थे, परन्तु एक अक्षर भी घटबढ़ नहीं होता था । और वेद, पुराण, इतिहास, वाकोवाक्य, उपनिषद् आदि सद्ग्रन्थों का समस्त सार हाथ में रखे हुए आँवले की तरह हृदयङ्गम कर लिया था । आप सन्देहरूप ग्रन्थी को तोड़ने में समर्थ थे, एवं रसराज (शृङ्गार) के उपासक थे । आपने अनेक ग्रन्थ बनाये जो हृदय की ग्रन्थियों को भली प्रकार खोल देते हैं । आपके पास सेवकों के द्वारा चारों ओर से जो धन आता था, उसको आदरपूर्वक श्रीयमुनाजी में फेंक देते थे । एक शिष्य ने उस धन को साधुसेवा में लगाने की प्रार्थना की । गोस्वामीजी ने उत्तर दिया कि—साधुसेवा करने की योग्यता तुम सबमें नहीं है । सेवक बोला कि—मैं भलीभाँति सेवा करूँगा । वह आज्ञा लेकर सन्तों की सेवा करने लगा । कुछ काल के अनन्तर एकदिन एक सन्त ने कुसमय में कुछ भोजन माँगा, उस सेवक ने क्रोध करके सन्त से कटुवचन कहे । तब श्रीजीव गोस्वामीजी ने सन्तों की महिमा बताकर कहा कि—"मैं इसीलिए कहता था कि साधुसेवा अति कठिन है" अर्थात् स्वामी जो वस्तु जब माँगे तभी देना सेवक का धर्म है । सभी को मीठे बोलने की शिक्षा दी । आपके चरित अपार हैं, आपकी भक्तिभाव का पार कौन पा सकता है ? वैराग्य धारण करनेपर भी आपकी गूढवृत्ति भावभक्तिपर पहुँचना सहज नहीं है । आपने अकबर बादशाह के प्रार्थनामय विशेष आग्रह से उसी के द्वारा श्रीवृन्दावन में संस्कृत की सर्वविध पुस्तकमय एक विशाल पुस्तकालय का उद्घाटन भी करवाया था ।

श्रीजीवगोस्वामिकृत ग्रन्थावली

१. श्रीहरिनामामृतव्याकरण, २. सूत्रमालिका, ३. धातुसंग्रह, ४. राधाकृष्णार्चनदीपिका, ५. गोपालविरुदावली, ६. भक्तिरसामृतशेष, ७. श्रीमाधवमहोत्सव, ८. संकल्पकल्पद्रुमः, ९. सर्वसंवादिनी, १०. षट्सन्दर्भ, अर्थात् तत्त्व, भगवत्, परमात्म, कृष्ण, भक्ति, प्रीति नामक छःसन्दर्भ, ११. गोपालचम्पूः, १२. गोपाल-

तापनीटीका, १३. ब्रह्मसंहिताटीका, १४. भक्तिरसामृतसिन्धुटीका, १५. उज्ज्वलनीलमणिटीका, १६. अग्नि-पुराणस्थगायत्रीभाष्य, १७. पद्मपुराणोक्त श्रीराधाकृष्णचरणचिह्न, १८. योगसारस्तवटीका, १९. क्रमसन्दर्भ-नामक श्रीभागवतटीका, २०. बृहत्क्रमसन्दर्भ श्रीभागवतटीका, २१. संक्षेपवैष्णवतोषिणी श्रीभागवतटीका, इत्यादि। आपके द्वारा रचित श्लोकों की गणना अनुष्टुप् छन्द के अनुसार चार लाख है। अतः आपको यदि द्वितीय वेदव्यास कह दें तो कोई अत्युक्ति न होगी। और व्रजलीला में तो श्रीजीव गोस्वामी प्रभु को "गौरगणोद्देशदीपिका" में "श्रीविलासमञ्जरी" का अवतार कहा है।

ग्रन्थ परिचय

अब श्रीगोपालचम्पू की ओर दृष्टि आकर्षित कीजिये। चम्पू का लक्षण साहित्यदर्पण में इस प्रकार है—"गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते" अर्थात् गद्य एवं पद्यमयी रचना से युक्त जो काव्य है, उसको 'चम्पू' कहते हैं। चम्पू शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—चमत्कृत्य पुनाति, अर्थात् सहृदयान् विस्मितीकृत्य प्रसादयतीति चम्पूः पृषोदरादित्वात् साधुः। अर्थात् जो काव्य चमत्कृत करके श्रोता वक्ता को पवित्र करता है। तात्पर्य—सहृदय सज्जनों को चकित करके प्रसन्न कर देता है, वह चम्पू कहलाता है। आजतक संसार में जितने चम्पू लिखे गये हैं, उनमें से आकार प्रकार में एक भी गोपालचम्पू की तुलनावाला नहीं है। इसकी रचना अपूर्व है, ध्यानमयी है। इसके श्रोता वक्ता भी आश्चर्यमय हैं। इसकी कथा श्रीगोलोक में हुई है। प्रातःकाल व्रजराज श्रीनन्दजी की सभा में, एवं रात्रि में श्रीराधिका की सभा में हुई है। जिसका वर्णन मूल में ही आयेगा। दिन की कथा में श्रीव्रजराज आदि सभी गोपगण श्रीकृष्ण-बलदेव के सहित श्रवण करते हैं। वहींपर एक ओर जालीदार परदे की बनी हुई बैठक में बैठकर श्रीयशोदा, रोहिणी, एवं श्रीराधिका आदि सभी गोपियाँ श्रवण करती हैं। गोपियों को कथावाचक का दर्शन होता रहता है, परन्तु अन्य सभासद् गोपियों को नहीं देख पाते हैं। रात्रि की सभा में श्रीराधा-कृष्ण, पौर्णमासीदेवी जो योगमाया की अवतार हैं, वृन्दावनाधिष्ठात्री वृन्दादेवी, ललिता, विशाखा आदि तथा चन्द्रावली आदि सभी गोपियाँ उपस्थित होती हैं। समयानुसार सुबल एवं मधुमङ्गल आदि कुछ प्रियनर्मसखा भी कभी कभी उपस्थित हो जाते हैं। किन्तु यशोदा रोहिणी आदि वात्सल्यभाव की गोपियाँ वहाँ नहीं आती हैं। कारण—शृङ्गाररस प्रधान रासलीला आदि कथाएँ रात्रि की सभा में होती हैं। अन्य सब कथाएँ दिन की सभा में होती हैं। इस ग्रन्थ में रस एवं भाव की मर्यादा की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। इसके वक्ता मधुकण्ठ एवं स्निग्धकण्ठ नामक दो सूतपुत्र हैं। ये दोनों भाई वे ही हैं कि, जो नलकूबर एवं मणिग्रीव नाम से प्रसिद्ध, कुबेर के पुत्र, श्रीनारदजी के शाप से व्रज में यमलार्जुन नामक वृक्ष हुए थे। जिनका उद्धार श्रीकृष्ण ने दामबन्धनलीला में किया था। वृक्षयोनि से मुक्त होते ही इन्होंने श्रीकृष्ण से "वाणी गुणानुकथने" इत्यादिरूप से जो वर माँगा था, वह श्रीकृष्ण द्वारा प्राप्त हुआ। और श्रीकृष्ण की गोलोकप्रवेशलीला के अनन्तर ये दोनों गोलोक में प्रविष्ट हुए हैं। इनका सम्पूर्ण चरित्र पूर्वचम्पू के द्वितीयपूरण में एवं कुछ अंश नवम पूरण में है। यह श्रीगोपालचम्पू, पूर्व एवं उत्तर के भेद से दो भागों में विभक्त होकर, पुनः तीन तीन के भेद से छः भागों में विभक्त है। पृथक् पृथक् ग्रन्थरूप है। अर्थात् तेंतीस पूरणवाली पूर्वचम्पू 'गोलोक-विलास', 'बाल्यविलास', एवं 'कैशोरविलास' इन तीन भागों में विभक्त है। और सैंतीस पूरणवाली उत्तरचम्पू प्रथमविलास, द्वितीयविलास, तृतीयविलासरूप तीन भागों में विभक्त है।

इसकी रचनाशैली इतनी विचित्र है कि, पूर्वचम्पू की समस्त कथा उत्तरचम्पू में, एवं उत्तरचम्पू की सारी कथा पूर्वचम्पू में दृष्टिगोचर होती है। पदे पदे सुस्वादु है। और 'भट्टिकाव्य' जिस प्रकार समस्त पाणिनीय व्याकरण का उदाहरणस्वरूप है, उसी प्रकार गोपालचम्पू भी है। मैंने प्रायः सभी काव्य, अलंकार, नाटक, चम्पू देखे, उनमें जो शब्द कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुए, वे हजारों अप्रसिद्ध शब्द इसमें प्रयुक्त हैं। वनौषधिवर्ग को छोड़कर, समस्त 'अमरकोष', एवं 'मेदिनीकोष', 'त्रिकाण्डशेष' के प्रयोग यथेष्ट प्रयुक्त

हैं। अनेक अलंकार, छन्द, एवं विरुदावलियों से यह परिपूर्ण है। 'गीतगोविन्द' के से सैंकड़ों गीत भी इसमें विद्यमान हैं। नाटकों की सी छटा इसमें पद पदपर दिखाई देती है। यह सर्वाङ्ग परिपूर्ण है। यह केवल दशमस्कन्ध का ही भाष्यरूप नहीं है, अपितु समस्त पुराणों का ही भाष्यरूप है। इसके अध्ययन से श्रीकृष्ण के नाम, रूप, लीला, एवं धाम का तत्त्व 'हस्तामलकवत्' प्रतीत हो जाता है। अधिक क्या कहें ? इसी श्रीवृन्दावन में विद्यमान चर्मचक्षुओं के अगोचर 'श्रीगोलोक' का भी स्वरूपज्ञान सुलभ है।

भाषाटीका निर्माण प्रयोजन

सोलह वर्ष पहले यह चम्पूग्रन्थ मैंने मनोयोगपूर्वक आद्योपान्त देखा था। इसकी लोकोत्तर रचना एवं वैष्णवसिद्धान्त के निरूपण की परिपाटी को देखकर यह भाव उदय होते रहते थे कि, इस ग्रन्थ की यदि भाषाटीका हो जाय तो, यह सर्वसाधारण के बोधगम्य हो जायगा, एवं संस्कृत से अनभिज्ञ भक्तजनता का महान् उपकार होगा। अत: अन्तर्यामी की प्रबल प्रेरणा से प्रयुक्त होकर वि० सं० २०२० की कार्तिक शुक्ला अक्षयनवमी सोमवार से टीका लिखनी प्रारम्भ करदी। कार्यक्षेत्र तो महान् विशाल एवं दुरूह था, तथापि श्रीहरि-गुरु-वैष्णवकृपा से दो वर्ष में दोनों चम्पुओं की टीका लिखकर निर्विघ्न परिपूर्ण हो गई। टीका कैसी हुई इस बात के मर्म को तो सकलशास्त्रपारंगत, भक्तिशास्त्रनिरूपणनिपुण, एवं प्रसंगानुसार अक्षरार्थविज्ञ-विज्ञजन ही जान सकेंगे। भक्तजनता को इससे यदि किंचिद् भी सुख मिलेगा तो मेरा सारा परिश्रम सफल हो जायगा।

टीका समझने की शैली

ग्रन्थ की कठिनता के कारण यद्यपि यह टीका कहीं कहीं कठिन सी प्रतीत होगी, तथापि बारंबार पढ़ने से अवश्य ही समझ में आजायगी। मेरी दृष्टि मूल अक्षरार्थ को प्रकट करने की ओर विशेष रही है, तो भी सर्वसाधारणजनों को दृष्टि में रखकर सभी जगह भावार्थ-तात्पर्यार्थ-अर्थात् अर्थात् लिख करके खोला गया है। श्रीजीव-गोस्वामी का पाण्डित्य लोकोत्तर है, एक ही वाक्य में सातों विभक्ति आ जाती हैं। मैंने सभी जगह विशेषणों को पहले रखकर, पश्चात् विशेष्य को रखकर दण्डान्वयपूर्वक व्याख्या की है। कहीं कहीं अतिशय कठिन स्थलों में खण्डान्वयपूर्वक व्याख्या है। श्लेषात्मक स्थलों में संस्कृत व्याख्या भी करदी है। एवं जो शब्द अप्रसिद्ध या कठिन हैं उनको पहले लिखकर ( ) इस प्रकार के कोष्ठक में उनका अर्थ प्रकरणानुसार प्रमाण गवेषणापूर्वक लिख दिया है। प्रत्येक गद्यपद्य का अर्थ विशेष गंभीर विचारपूर्वक लिखा गया है। इतनेपर भी श्लेषस्थलों में किसी विज्ञविशेष को यदि दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है, तो ठीक है; प्रकरणानुसार मेरा अर्थ भी ग्राह्य है। क्योंकि "श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते" इस उक्ति के अनुसार किसी को भ्रान्त होने की आवश्यकता नहीं है। मूल का गूढार्थ या प्रकरणार्थ समझाने के लिए कहीं कहींपर मैंने टिप्पणी भी लिख दी हैं। एवं विद्वज्जन सुखार्थ कहीं कहीं पाणिनिसूत्रों का भी विन्यास कर दिया है। इस टीका में या मूल में 'श्रीव्रजराज' शब्द सभी जगह श्रीनन्दजी के लिए प्रयुक्त हुआ है, अतः श्रीव्रजराज शब्द से सभी जगह श्रीनन्दजी को ही समझना चाहिये। श्रीकृष्ण के लिए तो श्रीव्रजराजकुमार, व्रजराजनन्दन, व्रजराजतनय, व्रजराजपुत्र इत्यादि शब्दों का प्रयोग हुआ है।

इसके प्रकाशन में हमारे बड़े गुरुभाई पूज्यपाद ग्वारियाबाबा श्रीमदनमोहनदासजी महाराज का सब ओर से महान् प्रोत्साहन विशेष प्रशंसनीय है। एवं जिन भक्तों ने इसके प्रकाशन में पारमार्थिक सहयोग दिया है, वे भी धन्यवाद के पात्र हैं, एवं प्रभु की प्रबल कृपा के भागी हैं।

इस ग्रन्थ की टीका के आदि में मङ्गलाचरण के जो आठ श्लोक मैंने लिखे हैं, उनका अर्थ पाठकों की जानकारी के लिए यहींपर क्रमशः अङ्क देकर लिखता हूँ। यथा—अपने विशुद्ध हृदय में अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु आचार्यवर्य श्रीमन्मध्वाचार्य का विशेष ध्यान करके, एवं मित्रभाव ही जिनकी धन सम्पत्ति है,

अथवा मित्रभाव का प्रादुर्भाव भी जिनके द्वारा हुआ है, तथा जो सकल शास्त्रार्थनिरूपण निपुण हमारे श्रीगुरुदेव हैं, उन्हीं पूज्यपाद श्रीश्री १०८ श्रीकृष्णानन्ददासजी महाराज का अपने स्वच्छ हृदय में ध्यान करके, तथा श्री, यश, एवं आनन्ददायक; अथवा श्रीयशोदामाता एवं श्रीनन्दजी के सहित, एवं सखामण्डल के सहित श्रीकृष्ण-बलदेव का ध्यान करके, और अपने परिकर से परिवेष्टित श्रीगौराङ्गमहाप्रभु एवं श्रीनित्यानन्द प्रभु का ध्यान करके, श्रीगोपालचम्पू के भाषाभाष्य की रचना करता हूँ ॥१॥

जो श्रीजीव गोस्वामी स्वरचित षट्सन्दर्भ नामक ग्रन्थरूप मन्दराचल के द्वारा श्रीमद्भागवतरूप महान् अमृतमय समुद्र को मथकर, श्रीकृष्णरूप परिपूर्णतम चन्द्रमा को प्रकाशित कर हाथ में धरे हुए आँवले की तरह स्वयं जानते हैं, तथा निज चरणाश्रित जीवों को उनके अज्ञानरूप अन्धकार को दूर करके, विधिपूर्वक उन्हीं श्रीकृष्णचन्द्र का दर्शन एवं ज्ञान कराते हुए सदैव जीवित करते रहते हैं; अतः मैं, सन्देह-ग्रन्थिच्छेदनसमर्थ सद्गुणगणसम्पन्न उन्हीं श्रीजीव गोस्वामीजी का भजन करता हूँ ॥२॥ महान् अज्ञान से अन्धे, अतएव श्रीव्रजराजकुमार के प्रेम से रहित, नास्तिकजनों को जीतकर, जिन्होंने श्रीहरिप्रेम का मार्ग बतलाया, एवं जिन्होंने १. तत्त्वसन्दर्भ, २. भगवत्सन्दर्भ, ३. परमात्मसन्दर्भ, ४. श्रीकृष्णसन्दर्भ, ५. भक्ति-सन्दर्भ, एवं ६. प्रीतिसन्दर्भ नामक छः सन्दर्भ आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की थी, वे ही श्रीजीव गोस्वामी मुझ दीनहीनपर प्रेमरूपी अमृत के बिन्दु की वर्षा कर दें ॥३॥ हे श्रीजीव गोस्वामिन् ! यदि आपरूपी सूर्य, नवधाभक्तिरूप नई नई किरणों के सहित उदय नहीं होता तो, श्रीरूप गोस्वामि आदि महात्माओं के पुस्तकरूपी कमलों को कौन विकसित करता ? अर्थात् यदि श्रीजीव गोस्वामी का प्रादुर्भाव न होता तो, श्रीरूप-सनातन आदि महापुरुषों के ग्रन्थों के गूढतात्पर्य को कौन बताता ? ॥४॥ देवगुरु जो बृहस्पति पहले (सत्ययुग में) स्वर्ग की सभा में इन्द्र द्वारा तिरस्कृत होने से रुष्ट होकर, स्वर्ग से अन्तर्धान हो गये थे, मानो वे ही जीव (बृहस्पतिजी) कलियुग में पुनः श्रीजीव गोस्वामी के रूप से प्रगट हुए हैं। यह मेरी उत्प्रेक्षा है ॥५॥

विज्ञवर्य श्रीजीव गोस्वामी ने दो भागों में विभक्त जिस श्रीगोपालचम्पू की रचना की थी, वह परममधुर एवं गूढभावों से युक्त है, तथा विशाल तात्पर्यार्थों से युक्त है, और विद्वत्ता के सुन्दर मद को तो देखते ही दमन कर देती है। अर्थात् इसकी रचनाशैली को देखकर, बड़े बड़े विद्वान् अवाक् रह जाते हैं। प्रश्न—यदि ऐसी बात है तो तुम टीका लिखने में कैसे प्रवृत्त हो रहे हो ? उत्तर—मैं तो श्रीगोपालचम्पू के अन्तर्गत गूढभावों को प्राप्त करना चाहता हूँ। अतः प्रार्थना करता हूँ कि—दया से युक्त हृदयवाले पूज्यपाद वे श्रीजीव गोस्वामी दोनों चम्पुओं में विद्यमान गूढभावों की स्फूर्ति मेरे हृदय में कर दें। अर्थात् मेरे हृदय में श्रीजीव गोस्वामी ने जिन भावों की स्फूर्ति की है, वे ही भाव मैंने टीका में लिख दिये हैं, स्वयं लिखने की कोई सामर्थ्य नहीं है ॥६॥

विक्रम संवत् २०२० में शरद् ऋतु में कार्तिक शुक्लपक्ष में अक्षयनवमी सोमवार के दिन श्रीवृन्दावन में वनमालिदास नामक व्यक्तिविशेष श्रीगोपालचम्पू को सर्वसाधारण के अतिशय जानने योग्य बनाने के लिए इस भाषाटीका का विस्तार कर रहा है ॥७॥ यह जो भाषाटीका लिखी जा रही है, वह श्रीकृष्ण को आनन्दित करनेवाली है, अतः इसका नाम "श्रीकृष्णानन्दिनी" है। अथवा—"नामैकदेशे नाममात्रग्रहणम्" इस न्याय के अनुसार "श्रीकृष्णानन्ददास" नामक हमारे श्रीगुरुदेव को आनन्दप्रद होने के नाते भी इसका नाम "श्रीकृष्णानन्दिनी" रखा है, अतः यह टीका श्रीकृष्णभक्ति में प्रीति करनेवाले सभी जनों को सुखप्रद हो जाय, यह मेरी हार्दिक अभिलाषा है ॥८॥

प्रकाशन में दृष्टि के दोष से जो त्रुटियाँ रह गई हों उन्हें सज्जनगण स्वयं मार्जन कर लेंगे।

श्रीकृष्णानन्दस्वर्गाश्रम	श्रीगुरुपूर्णिमा वि० सं० २०२५	भक्तजनकृपाभिलाषी-
वृन्दावन (मथुरा)	दि० १०-७-१९६८	**वनमालिदास शास्त्री**

श्रीपूर्वगोपालचम्पू-विषयसूची

वामपार्श्वस्थाङ्का गद्यपद्यसंख्यासूचकास्तथा दक्षिणपार्श्वस्थाङ्काः पृष्ठसंख्यासूचका ज्ञेयाः ।

प्रथमं पूरणम्

[श्रीगोलोकरूपनिरूपणम्]

द्वितीयं पूरणम्

[श्रीगोलोक-विलासः]

तृतीयं पूरणम्

[श्रीकृष्णजन्म]

चतुर्थं पूरणम्

[श्रीकृष्णजन्मोत्सवः]

पञ्चमं पूरणम्

[पूतना-वधः]

षष्ठं पूरणम्

[शकटभञ्जनादिः]

सप्तमं पूरणम्

[तृणावर्तवध-मृद्भक्षणादिकथा]

अष्टमं पूरणम्

[दामबन्धननिबन्धनं यमलार्जुनमोचनम्]

नवमं पूरणम्

[श्रीवृन्दावन-प्रवेशः]

दशमं पूरणम्

[वत्सासुरादिवधः]

एकादशं पूरणम्

[ब्रह्ममोहनम्]

द्वादशं पूरणम्

[गोचारणम्]

त्रयोदशं पूरणम्

[कालियदमनम्]

चतुर्दशं पूरणम्

[धेनुकासुर-वधः]

पञ्चदशं पूरणम्

[पूर्वानुरागः]

षोडशं पूरणम्

[प्रलम्ब-दावानल-संवर्त-संहारः]

सप्तदशं पूरणम्

[वेणुशिक्षाच्छलेन प्रेयसीभिक्षा]

अष्टादशं पूरणम्

[इन्द्रमखभंगो गोवर्धनपूजनं च]

एकोनविंशं पूरणम्

[इन्द्रत्वस्तंभनं गवेन्द्रत्वप्राप्तिश्च]

विंशं पूरणम्

[श्रीनन्दस्य वरुणलोकगमनम्, गोलोकदर्शनं च]

एकविंशं पूरणम्

[वस्त्रहरण-कथा]

द्वाविंशं पूरणम्

[यज्ञपत्न्यन्नभिक्षा]

त्रयोविंशं पूरणम्

[श्रीरासलीलारंभः]

चतुर्विंशं पूरणम्

[रासेऽन्तर्धाने राधा-सौभाग्य-वर्णनम्]

पञ्चविंशं पूरणम्

[विप्रलंभात् कृष्णप्राप्तिः]

षड्विंशं पूरणम्

[श्रीरासविलासविस्तारः]

सप्तविंशं पूरणम्

[जलकेलिर्वनभ्रमणं राससमाप्तिश्च]

अष्टाविंशं पूरणम्

[अंबिकावनगमनम्]

एकोनत्रिंशं पूरणम्

[निर्जनविलासबाहुल्यम्]

त्रिंशं पूरणम्

[शंखचूडवधो निर्लज्जहोलिका क्रीडा च]

एकत्रिंशं पूरणम्

[नानारागविचित्रचरित्रम्]

द्वात्रिंशं पूरणम्
[केशिदैत्यवधः]

त्रयस्त्रिंशं पूरणम्
[सर्वमनोरथ-पूरणम्]

● श्रीमते वृन्दावनाय नमः ●

श्रीवृन्दावनाष्टकम्

निर्माणकालः—वि० सं० २००४

श्रीकृष्णवेणुरवफुल्ललतावितान !, गुञ्जन्मधुव्रतपिकालिपरीतकुञ्ज ! ।
सौरीसरोरुहसमर्चितवातगन्ध !, वृन्दावन ! प्रशमयाऽऽशु मनोरुजं मे ॥१॥

निःश्रेयसाख्यवनतोऽपि विकुण्ठपूःस्थात्, शोभां सहस्रगुणितां दधदप्रमेय ! ।
यद्रामकृष्णचरणाङ्कसमर्चिताङ्ग !, वृन्दावन ! प्रशमयाऽऽशु मनोरुजं मे ॥२॥

अश्रान्तपुष्पितलताव्रजपुष्पपुञ्ज-,विस्तारिसौरभचमत्कृतचंचलाक ! ।
वैकुण्ठनाथपरिकीर्तितकीर्तिमाल !, वृन्दावन ! प्रशमयाऽऽशु मनोरुजं मे ॥३॥

गोविन्दवेणुकलगीतरसज्ञलोक !, श्यामाङ्गदर्शननटद्बहुनीलकण्ठ ! ।
हे मर्त्यलोकसुभगत्वप्रसिद्धकेतो !, वृन्दावन ! प्रशमयाऽऽशु मनोरुजं मे ॥४॥

श्रीराधिकारसविवर्धकरासलीला-,तौर्यत्रिकोत्पुलकिताङ्गरुहैर्मनोज्ञ ! ।
सर्वज्ञकृष्णनटलास्यप्रयोगसाक्षिन् !, वृन्दावन ! प्रशमयाऽऽशु मनोरुजं मे ॥५॥

गोवर्धनो विजयते हरिदासवर्यः, सूर्यात्मजा च सुषमामधिकीकरोति ।
यत्राऽच्युतोऽपि विजहार सखिव्रजेन, वृन्दावन ! प्रशमयाऽऽशु मनोरुजं मे ॥६॥

सर्वत्र नष्टविभवा हरिभक्तिरत्र-,नृत्यं करोति किल वैष्णवमानसेषु ।
दिव्याङ्ग ! दिव्यपशुपक्षिलतादिलोक !, वृन्दावन ! प्रशमयाऽऽशु मनोरुजं मे ॥७॥

यत्त्यक्तुमिच्छति हरिर्न मनागपि त्वाम्, यत्रोद्धवो विधिरपीच्छति जन्म तार्णम् ।
कस्ते वनाधिप ! गुणान्कथयत्वतो विद्, वृन्दावन ! प्रशमयाऽऽशु मनोरुजं मे ॥८॥

वृन्दावनाष्टकमिदं स्थितधीर्मनुष्यः, श्रद्धाऽन्वितोऽनुश्रृणुयादथ कीर्तयेद् यः ।
वृन्दावनस्य कृपया भुवि लब्धभोगो, भूत्वा हरिप्रणयभाजनमस्तु चान्ते ॥९॥

वेदाभ्रशून्यनयनैश्च मिते हि वर्षे, श्रीविक्रमार्कवसुधाधिपतेरकार्षीत् ।
वृन्दाटवीवसतिलब्धकवित्वशक्ति-,र्वृन्दावनाष्टकमिदं वनमालिदासः ॥१०॥

॥ इति श्रीवृन्दावनाष्टकं सम्पूर्णम् ॥

* श्रीमते गोवर्धनाय नमः *

श्रीगोवर्धनाष्टकम्

निर्माणकालः—वि० सं० २००४

श्रीकृष्णचन्द्रभुजदण्डवरे विराजन्, सप्ताहमिन्द्रकृतवर्षभयाद् व्रजस्य ।
रक्षां विधाय दलितेन्द्रकृताभिमान !, गोवर्धनाऽऽशु कुरु पूर्णमनोरथं माम् ॥१॥

आविर्भवन्प्रकटरूपतया हरिस्त्वाम्, प्राभक्षयत्सुबहुगोपकुलार्पितान्नम् ।
तुष्टस्त्वमाशु वरहर्षितगोपलोक !, गोवर्धनाऽऽशु कुरु पूर्णमनोरथं माम् ॥२॥

पापक्षयाय धृतमानसजाह्नवीक !, फुल्लद्रसालकुलकोकिलकाकलीक ! ।
राधासरःप्रभृतिदीर्घजलाशयाढ्य !, गोवर्धनाऽऽशु कुरु पूर्णमनोरथं माम् ॥३॥

कूजद्विहङ्गमकदम्बकदम्बशोभ !, नृत्यन्मयूरकुलशोभितदीर्घशृङ्ग ! ।
नीलाम्बुदाभहरिगात्रसमानगात्र !, गोवर्धनाऽऽशु कुरु पूर्णमनोरथं माम् ॥४॥

दर्पं हरेर्दलयता हरिणा बलेन, नन्दादिगोपनिवहैः सहपूजिताङ्ग ! ।
अद्यापि पूज्यपद ! कार्तिकपक्षतौ हे-, गोवर्धनाऽऽशु कुरु पूर्णमनोरथं माम् ॥५॥

कुञ्जैश्चगुञ्जदलिपुञ्जसुमञ्जुपुष्पैः, कृष्णस्य खेलनसुखैः ससखिव्रजस्य ।
शोभाढ्यगह्वरकुलैश्च परीतदेह !, गोवर्धनाऽऽशु कुरु पूर्णमनोरथं माम् ॥६॥

छत्रीभवन् हरिकरोपरि स्वं यथार्थम्, नामाऽकरोस्त्वमपि गोकुलवर्धनाद् वा ।
धातुव्रजैरपि च दीपितसानुभाग !, गोवर्धनाऽऽशु कुरु पूर्णमनोरथं माम् ॥७॥

यः पूजितो विधिगिरीशमहेन्द्रमुख्यै-,र्देवैश्च तेन हरिणा परिपूजितांघ्रे ! ।
कस्तेऽद्रिराज ! महिमानमतो ब्रवीतु, गोवर्धनाऽऽशु कुरु पूर्णमनोरथं माम् ॥८॥

गोवर्धनाष्टकमिदं कृतधीर्मनुष्यः, श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः ।
गोवर्धनस्य कृपया भुवि लब्धभोगो, भूत्वा हरिप्रणयभाजनमस्तु चान्ते ॥९॥

वेदाभ्रशून्यनयनैश्च मिते हि वर्षे, श्रीविक्रमार्कवसुधाधिपतेरकार्षीत् ।
वृन्दाटवीवसतिलब्धकवित्वशक्ति-,र्गोवर्धनाष्टकमिदं वनमालिदासः ॥१०॥

॥ इति श्रीगोवर्धनाष्टकं सम्पूर्णम् ॥

卐 श्रीरामकृष्णौ विजयेतेतमाम् 卐

* श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः *

श्रीश्रील-श्रीजीवगोस्वामि-प्रभुपाद-विरचिता

* श्रीश्रीगोपालचम्पूः *

पूर्व-चम्पूः

प्रथमं पूरणम्

श्रीकृष्ण ! कृष्णचैतन्य ! ससनातनरूपक ! ।
गोपाल ! रघुनाथाप्त ! व्रजवल्लभ ! पाहि माम् ॥१॥

टीकाकर्तुर्मङ्गलाचरणम्

भाषा टीका—निर्माण-प्रारम्भ कालः वि० सं० २०२० अक्षयनवमी

श्रीमध्वाचार्यवर्यान् निजहृदि विशदे भावयित्वा नितान्तं,
श्रीकृष्णानन्ददासात् सखिरसविभवाँल्लब्धवर्णान् गुरून् स्वान् ।
रामं श्रीकृष्णचन्द्रं सखिगणसहितं श्रीयशोदं सनन्दं,
नित्यानन्दं च गौरं निजगणवलितं भाष्यमस्याः प्रकुर्वे ॥१॥

श्रीमद्भागवतं महामृतनिधिं सम्मथ्य सन्दर्भतः,
कृष्णं पूर्णतमं प्रकाश्य शशिनं हस्तामलक्यादिवत् ।
यो जानाति तमो विधूय विधिवत् सन्दर्शयन् स्वाश्रितान्,
जीवाञ्जीवयनीति सद्गुणगणं तं जीवमीशं भजे ॥२॥

महाऽज्ञानेनान्धान् व्रजपतिसुतप्रेमरहितान्,
विनिर्जित्योवाच प्रणयसरणिं नास्तिकजनान् ।
सुषट्सन्दर्भादीन् य इह विदधे ग्रन्थनिवहान्,
स जीवो गोस्वामी किरतु मयि प्रेमामृतकणम् ॥३॥

यदि भवानुदितो न भवेद् रवि,-र्नवनवैः किल भक्तिमरीचिभिः ।
क इह रूपमुखादि - महात्मनां, भवति पुस्तकपद्मविकाशकः ॥४॥

इन्द्रतिरस्कृतिरोषा,-दन्तर्धानं गतोऽपि यः पूर्वम् ।
पुनरपि प्रादुरभूदिव, जीवः स जीवस्य रूपेण ॥५॥

विज्ञैर्यैर्या व्यरचि मधुरा गूढभावा महार्था,
विद्वत्तायाः सुमददमनी श्रीलगोपालचम्पूः ।
तद्भावेप्सोर्मम तु हृदये तद्गता गूढभावा-
स्तैः स्फोर्यन्तां सदयहृदयैर्जीव - गोस्वामिपादैः ॥६॥

तदेवमारम्भसम्भवदन्तर्महसा सहसा विलिख्य तदिदमुल्लिख्यते । किमिदम् ? मदिष्टदेवस्य मदन्विष्टदय-शिष्टतद्भक्तसमुदयस्य च क्रमतः स्मरणमाविर्भूतम्; किंवा, केवलस्य मदिष्टदेवस्य; किंवा, तद्विशिष्टस्य । आम् आम्, तन्त्रतस्तत्त्रयमपि स्वतन्त्रतया लभ्यते । तत्र प्रथमं तावत् प्रथनतः प्रथयामि । अत्र श्रीपदमन्यदन्यदपि किञ्चिद-नुष्टुप्छन्दःपरच्छन्दतया पूर्वत्र च परपरत्र च यत्र न दत्तम्, तत्र च सन्धातव्यम् ॥२॥

अथ मङ्गलाचरण व्याख्या—

यथा हे श्रीकृष्णनाम्नातिधन्य ! सर्वमूर्धन्य ! हे श्रीकृष्णचैतन्य ! सर्वशर्मदकीर्तन्य ! हे सहित - श्रीसनातनसहित ! श्रीरूपनामधेय - मन्मूर्धन्याधेय ! हे श्रीगोपालभट्टाख्य-प्रवृद्ध-भट्टारकतासमृद्ध ! हे श्रीरघुनाथदास ! नामधामतयाऽतिप्रसिद्ध-परमभक्तिपराविद्ध ! हे तेषा-

---

शून्याक्षिशून्यकरसम्मितविक्रमाब्दे, वृन्दावने शरदि कार्त्तिक-शुक्लपक्षे ।
चम्पूमिमां सकलवेद्यतरां विधातुं, टीकामिमां वितनुते वनमालिदासः ॥७॥

श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी भाषाटीका विलिख्यते ।
सर्वेषामस्तु सौख्याय कृष्णभक्तिजुषां नृणाम् ॥८॥

श्रीकृष्णानन्दिनी टीका

हे श्रीकृष्ण ! हे कृष्णचैतन्य ! हे सनातन सहित श्रीरूप ! हे गोपाल ! हे रघुनाथ ! हे आमव्रजवल्लभ ! मेरी रक्षा करो ! ॥१॥

ग्रन्थकर्ता श्रीजीवगोस्वामीजी के अन्तःकरण में ग्रन्थारम्भकाल में एक प्रकार का तेज अथवा महान् आनन्द उपस्थित हुआ, जिसके कारण सहसा मङ्गलाचरण का श्लोक लिखकर स्वयं उसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि–इस प्राथमिक मङ्गलाचरणमयश्लोक में क्या मेरे इष्टदेव का तथा जिनकी दयादृष्टि की खोज में मैं लगा हूँ उन इष्टदेव के शिष्टभक्त समुदाय का, क्रमशः स्मरण आविर्भूत हुआ है किंवा–केवल मेरे इष्टदेव का अथवा भक्तगण सहित इष्टदेव का ? (यहाँ पर इष्टदेव शब्द से श्रीकृष्ण और श्रीकृष्णचैतन्यदेव को ही समझना चाहिये) आँ, आँ अर्थात्—हाँ, हाँ स्मरण आगया। इस श्लोक में अनेकों के उद्देश्य से प्रयुक्त एक वाक्य द्वारा भी श्लेषालंकार के कारण तीनों ही अर्थ स्वतन्त्रता से उपलब्ध हो रहे हैं, अर्थात्–प्रथम पक्ष में इष्टदेव तथा इष्टदेव के भक्त। द्वितीय पक्ष में केवल इष्टदेव। एवं तृतीय पक्ष में भक्त सहित इष्टदेव। इन तीनों अर्थों में से प्रथम पक्ष का व्याख्यान प्रथम करता हूँ। इस मङ्गलाचरण के श्लोक में अनुष्टुप् छन्द के पराधीन होने के कारण जिन जिन सम्बोधनात्मक शब्दों के पहले 'श्री' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है, वहाँ, वहाँ श्री शब्द का अनुसन्धान कर लेना चाहिये । अर्थात्—श्री शब्द पहले जोड़कर ही व्याख्या करनी चाहिये, तथा हे अति धन्य! हे सर्वमूर्धन्य! इत्यादि दूसरे शब्दों का भी अनुसन्धान कर लेना आवश्यक है॥२॥

पहला अर्थ—हे श्रीकृष्ण ! आपतो केवल अपने नाम के द्वारा ही अतिधन्यगणों में सर्व मूर्धन्य, अर्थात्—सर्वश्रेष्ठ हो । हे श्रीकृष्णचैतन्य ! आप तो सर्वसुखप्रद जनों के द्वारा कीर्तन करने योग्य हो, अथवा सर्वमङ्गलमयश्रीभगवन्नामकीर्तन के एकमात्र जनक हो । हे पूज्यतम श्रीसनातन गोस्वामी सहित मेरे गुरुदेव श्रीरूप ! आप तो मेरे मस्तक पर धारण करने योग्य हो। हे श्रीगोपालभट्टाख्य ! आप तो विशिष्ट पूज्यता से समृद्ध हो। हे श्रीरघुनाथदास नाम से अति प्रसिद्ध ! आप तो व्रजधाम से भी प्रसिद्ध हो, तथा

मेवाप्तव्रजतासिद्धवर्णन - सत्कर्णगर्भभरण ! श्रीभूगर्भादि - संज्ञाधिकरण ! हे श्रीवल्लभ ! प्राग्भवीयदुर्लभ-सुकृतसन्धीयमानमदीयशरण-पितृचरण ! किंवा, हे श्रीरघुनाथस्याप्तान् व्रजत्यनुव्रजतीति तत्तया सर्ववल्लभ ! श्रीवल्लभ ! मां पाहि, निजचरणच्छायया मत्प्रद्विपालकतामायाहि ।

अथ द्वितीयमपि प्रतीयमानं निर्मामि—श्रीकृष्णेति । श्रीरत्र राधा; एषा हि श्रीप्रधानत्वया साधयिष्यमाणतायां निराबाधा । तदनन्तर-कृष्णशब्दश्चात्र शब्दब्रह्मगूढ़-परब्रह्म-नन्दनन्दन-वाचकतायां रूढः; तेन हे श्रीराधाख्यस्वरूपशक्तियुक्तकृष्ण ! कृष्णेत्यर्थश्च निर्व्यूढः । कृष्णेति—

'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः । तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥'

इति—प्रमाणज्ञातचरः कृष्णशब्दस्त्वत्र योगपुरस्कृतरूढितया तत्परः । भूरिति भाव-क्विबन्तताकरः । स चायं भाव-शब्दवद्धात्वर्थमात्रताधरः; धात्वर्थश्चात्राकर्षणम्, तदेव स्फुटमाप्त-

---

प्रेमलक्षणा भक्ति से संयुक्त हो । हे श्रीभूगर्भ आदि संज्ञा (नाम) के आश्रय, अर्थात्—श्रीभूगर्भ गोस्वामिन् ! एवं श्रीलोकनाथ गोस्वामिन् ! जिनको श्रीकृष्ण के आप्त (यथार्थवक्ता) भक्त कहकर पुकारा जाता है, ऐसे सज्जनगण आपको अपने कानों का भूषण रूप मानते हैं; अर्थात्—आपके नाम को आभूषण की भाँति कानों में धारण (श्रवण) करते हैं । हे पितृपाद श्रीवल्लभ ! मैंने अपने पहले अनेकों जन्मों के अत्यन्त दुर्लभ पुण्य-फल से आपको एकमात्र रक्षक सच्चे पिता के रूप में प्राप्त किया है, अर्थात्—अल्पपुण्यवाले व्यक्ति को आप जैसे अनन्यभक्त पिता के रूप में प्राप्त नहीं होते हैं । अथवा श्रीरघुनाथजी के हनुमान्, जाम्बवान्, सुग्रीव, विभीषण प्रभृति जो समस्त आप्त भक्तगण हैं, आप उनके अनुगमनशील हो । उन्हीं की तरह प्रेम-लक्षणा भक्ति से अपने इष्ट श्रीराघवेन्द्र को रिझाते रहते हो । इसलिये आप सभी रसिकभक्तों के प्यारे हो । अतः मेरी रक्षा करो । अर्थात्—अपने श्रीचरण पलाश की छत्रछाया से मेरे प्रतिपालक बन जाइए ।

दूसरा अर्थ—अब केवल इष्टदेव का स्मरण प्रतिपादक-प्रतीयमान दूसरे अर्थ का मैं निर्माण करता हूँ । यथा—'श्रीकृष्ण' इस पद में विद्यमान श्री शब्द से श्रीराधाजी का ही ग्रहण है । कारण कि—यह श्रीमती राधा ही इस ग्रन्थ में लक्ष्मीगण में प्रधान सिद्ध की जायेंगी, जिससे किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होगी । तदनन्तर—'कृष्ण' शब्द भी यहाँ पर शब्द ब्रह्म जो वेद है, उसमें भी गूढ़ रूप से निरूपित परंब्रह्म श्रीनन्दनन्दन की वाचकता में ही रूढ़ (प्रसिद्ध) है । इसलिये श्रीराधा नामक स्वरूप शक्ति से युक्त ही श्रीकृष्ण हैं, यह अर्थ—'श्री' पद समन्वित 'कृष्ण' पद से निष्पन्न (प्राप्त) हुआ है । कृष्ण शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'कृषि' अथवा 'कृष्' धातु भूवाचक है, ण-प्रत्यय आनन्द वाचक है, इन दोनों की एकता रूप जो परंब्रह्म है वही कृष्ण शब्द से कहा जाता है । इस उपनिषद् प्रमाण के द्वारा पहले ही जाना गया कृष्ण शब्द यहाँ पर योगरूढ़ होकर भी श्रीनन्दनन्दन की वाचकता में प्रसिद्ध है । कृषि शब्द भूवाचक है, इस स्थान में भूपद भूधातु के उत्तर भाववाच्य क्विप् प्रत्यय से बना है । अतएव भूशब्द भावशब्द की तरह केवल धातु के अर्थ का प्रकाश कर सकता है, धातु का अर्थ इस जगह केवल आकर्षण मात्र है; वह आकर्षण भी स्पष्टरूपेण—आप्तजनों की तरह विश्वासयुक्त चित्तवाले व्यक्तियों के चित्त का आकर्षण कर सकता है । तदनन्तर—स्त्री-पुरुष जैसे भिन्न भिन्न पदार्थ के रूप में ज्ञात होते हैं, उसी प्रकार आकर्षण और आनन्द भी भिन्न पदार्थ के रूप में विख्यात हैं । इन दोनों की एकता को ही योग कहते हैं । यह एकता युक्त आनन्द ही सर्वाकर्षक (सबको खैंचने वाला) आनन्द है । तात्पर्य यह है कि—श्रीकृष्ण और श्रीराधा-

तयाप्तमनसामाकर्षणम्; ततश्च भिन्नपदार्थतयावगतयोर्दयितयोरिव तयोरैक्यं योग एवेति, तद्युक्त आनन्दः सर्वाकर्षकानन्द इत्यर्थ एवाम्नायः। परं ब्रह्मेति—'नराकृति परं ब्रह्म' इति हि प्रसिद्धिः। योगपुरस्कृतरूढलोपगूढतयापि श्रीनन्दनन्दनमेव वक्ति, तच्छब्दशक्तिरिति व्यक्तिसिद्धिश्च, तदेतदभिधीयते चाभिधीयत इति। तस्मादेव तदीयस्वभावविशेषभावनार्थमेव पुनरुक्तिरियं युक्तिं युनक्ति–चैतन्येति; हे सर्वप्रकाशक ! सद्रूपतया सर्वाश्रयस्वरूप ! तद्रूपता च विपश्चिद्भिरवगता, 'सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकर्मणे' इति तापनीयनान्दीनिशमनात्; 'त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते' इति श्रीभागवतीयब्रह्मस्तवे (१०।१४।२२) निगमनाच्च। ससनातनरूपकेति–हे सनातनेन, सदातनेन, स्वस्वरूपमनुभवद्भिरपि सुनिरूपेण-सुरूपेण रूपेण सह वर्तमान ! तेन स्वभक्तिवित्तचित्तमनुवर्तमान ! गोपालरघुनाथाप्तव्रजवल्लभेति–गोपालेषु ये रघवो लघवो ये च नाथा मुख्या इति विख्यातगाथास्तैराप्तस्य व्रजस्य बल्लवतल्लजव्रजस्य

आपाततः–पृथक् पृथक् रूप से प्रतीत होकर भी एक पदार्थ हैं । जैसे शक्तिमान् और शक्ति । श्रीराधा—आनन्द किंवा आह्लादिनी शक्ति हैं। एवं श्रीकृष्ण आकर्षण पदार्थ हैं। ये दो होकर भी एक ही हैं । यह एकतारूप योग नित्यसिद्ध है। लीला के लिए ही पृथक् पृथक् भावमात्र है, यह अर्थ ही उत्कृष्ट है।

परंब्रह्म शब्द का अर्थ—"गूढ़ं परंब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्" श्रीमद्भागवतके इस प्रमाणसे नराकृति परंब्रह्म ही प्रसिद्ध है। योगपुरस्कृत रूढ़ता से युक्त होकर भी "श्रीकृष्णशब्द" शब्द की शक्ति के द्वारा श्रीनन्दनन्दन को ही कहता है, अर्थात्—श्रीनन्दनन्दनरूपव्यक्ति की ही सिद्धि करता है। अथवा—व्यक्ति, अर्थात्–व्यञ्जना शक्ति से भी–"श्रीनन्दनन्दन" यही अर्थ सिद्ध होता है। इस प्रकार कृष्ण शब्द का विशेष अर्थ भी सिद्ध होगया। यह अर्थ—"कृष्ण-इत्यभिधीयते" इस वाक्य में प्रकाशित होरहा है। अतएव श्रीकृष्ण के स्वभाव-विशेष के चिन्तन के लिये ही पहले श्लोक में 'कृष्ण कृष्ण' यह पुनरुक्ति ही युक्ति संगत होरही है।

चैतन्य शब्द की व्याख्या—यथा–हे चैतन्य ! अर्थात्–हे सर्वप्रकाशक ! आप सत् स्वरूप से सब के आश्रय स्वरूप हो। आपकी इस सत् स्वरूपता को पण्डितजन ही जानते हैं । श्रीगोपालतापनी उपनिषद् के मङ्गलाचरणरूप नान्दी पाठ से भी यही व्यक्त होता है कि–श्रीकृष्णसच्चिदानन्दरूप हैं, तथा उनके कार्य भी–अक्लिष्ट–अर्थात्—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश नामक पंचक्लेशों से रहित हैं। श्रीमद्भागवत की ब्रह्मस्तुति से भी यही ज्ञात होता है कि—"आप नित्य सुख एवं ज्ञानरूप शरीरधारी हैं और अनन्त हैं"।

ससनातनरूपक—इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है–अपने आत्मस्वरूप का अनुभव करने वाले जो सनकादि ऋषि हैं वे भी आपके परम मनोहर सुन्दर रूप का निरूपण करते रहते हैं। आप उसी सदैव एक रस रहने वाले सुन्दर सनातन रूप से विराजमान रहते हैं। इसी कारण अपनी भक्तिभाव द्वारा प्रसिद्ध व्यक्तियों के चित्त को अपने अनुगत कर लेते हो, किंवा उनके चित्त के अनुगत हो जाते हो।

गोपालरघुनाथाप्तव्रजवल्लभ—पद का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ यह है कि–गोपालगणों में जो 'रघु', अर्थात् लघु (छोटे) हैं; तथा जो 'नाथ' अर्थात् मुख्य हैं, अथवा विख्यात कीर्तियुक्त हैं, उनके द्वारा प्राप्त किया जो व्रज, आप उन्हीं व्रजवासी गोपगणों में श्रेष्ठ हैं। अथवा–अमरकोष के नानार्थ वर्ग में 'लघु' शब्द का अर्थ–इष्ट एवं अल्प भी किया है। अतः आप उन गोपालों के भावानुसार दासभाव वाले गोपों के इष्ट, एवं वात्सल्यभाव वाले गोपों के अल्प, अर्थात् कनिष्ठ, तथा–शान्त-उज्ज्वल रस वालों के नाथ भी हो। अतः

वल्लभ !; किंवा, गोपालानां लघुरिष्टः, स च नाथश्च यस्तस्य सम्बोधनम्; 'त्रिष्विष्टेऽल्पे लघुः' इति नानार्थवर्गलब्धबोधनम् । आप्तव्रजवल्लभेति—आप्तव्रजानां स्वजनसमूहानां वल्लभ ! परेषामलभ्यसत्प्रभ ! ।

अथ तृतीयमपि सम्भृतीकरवाणि—हे श्रीकृष्णेति; श्रीरत्र च परमप्रेयसीषु श्रेयसी राधा, ततस्तद्युक्ततया मधुरलीलायामसङ्कीर्ण ! हे कृष्णचैतन्याख्यभक्तावतार ! तादात्म्यापन्नतयावतीर्ण ! हे सनातनरूपाभ्यां परमानुरक्त-सुभक्ताभ्यां सह विद्यमान ! हे गोपालरघुनाथाभ्यां तत्तन्नामभ्यामपि सु-भक्ताभ्यामाप्तः प्राप्तो यो व्रजस्तस्य वल्लभतया सर्वदा विद्यमान ! मां पाहि, मत्पालकतां याहीति ॥३॥

अथ ग्रन्थ—सूचना

तदेवं मङ्गलं सङ्गमय्य कार्यं विचार्यते—

यन्मया कृष्णसन्दर्भे सिद्धान्तामृतमाचितम् ।
तदेव रस्यते काव्यकृतिप्रज्ञा - रसज्ञया ॥४॥
सोऽहं काव्यस्य लक्ष्येण मनो निर्मामि तादृशम् ।
तन्महान्तो यदीक्षेरंस्तदा हेम्नि चितो मणिः ॥५॥

'गोपालरघुनाथ' इस सम्बोधन पद का यह अर्थ हुआ। और 'आप्तव्रजवल्लभ !' इस सम्बोधन पद का यह अर्थ है कि—आप अपने स्वजन समूहों के परमप्रिय हो, तथा भक्तिविहीनजनों के लिये आपकी मनोहारिणी सुन्दरकान्ति अत्यंत अलभ्य है। अतः प्रभो ! सर्वोपद्रवों से मेरी रक्षा कीजिये।

तीसरा अर्थ—अब तृतीय अर्थ को प्रस्तुत करता हूँ, यथा—हे श्रीकृष्ण ! इस पद में श्री शब्द से परम-प्रेयसी गोपियोंमें श्रेष्ठ श्रेयस्करी श्रीराधाका ही ग्रहण है। अतः श्रीराधाजी से युक्त होनेके कारण-मधुरलीला के सावकाश (स्वतन्त्र) आस्वादनकारी हो। हे श्रीकृष्णचैतन्याख्य भक्तावतार ! अथवा—भक्तरूप धारण करके तादात्म्यरूप से अवतीर्ण होने वाले महाप्रभो ! आप परमानुरक्त अत्यन्त भक्त–श्रीसनातन एवं श्रीरूप गोस्वामीजी के साथ ही विद्यमान रहते हो। अतः आपका नाम 'ससनातनरूपक' यह भी है। और श्रीगोपालभट्ट श्रीरघुनाथदास ये दोनों गोस्वामी भी आपके परमभक्त हैं, इन दोनों द्वारा प्राप्त जो व्रजधाम है, आप उसी व्रज के वल्लभरूप से सदा सर्वत्र विद्यमान रहते हो। अतः हे प्रभो ! आप मेरी रक्षा करो। अर्थात् सदैव के लिये मेरे पालन-पोषण कर्ता बन जाओ ॥३॥

अथ ग्रन्थ-सूचना

इसप्रकार मङ्गलाचरण करके कार्यका विचार करते हैं, अर्थात् जिस हेतुसे मङ्गलाचरण किया है इस समय उसी कार्य का विचार करते हैं। मैंने "श्रीकृष्णसन्दर्भ" नामक ग्रन्थ में जिस सिद्धान्तरूपी अमृत का संग्रह किया था–उसी का–अब इस काव्यग्रन्थ निर्माणरूप-बुद्धिरूपिणी जिह्वा द्वारा आस्वादन करता हूँ ॥४॥

उसी सिद्धान्तरूप अमृत का आस्वादन करने वाला मैं इस काव्य रचना के बहाने अपने मन को भी काव्यतुल्य ही बनाता हूँ, अर्थात् मन को भी काव्यामृत का आस्वादन करने वाली जिह्वा के समान बनाता हूँ। परन्तु भक्ति प्रधान सत्काव्यानुशीलन परायण महात्मागण यदि मेरे द्वारा रचित इस ग्रन्थ को दृष्टि-गोचर करलेंगे तब तो मणिकांचन का सा संयोग हो जायगा, अर्थात्—सुवर्ण खचितमणि जिस प्रकार सबके नेत्रों को आश्चर्यान्वित कर देती है उसी प्रकार यह "गोपालचम्पूः" काव्य भी पण्डितजनों की दृष्टि को चकित कर देगा ॥५॥

पूर्वोत्तरतया चम्पूद्वयी सेयं त्रयी त्रयी ।
पृथक् पृथग्ग्रन्थतुल्या यथेच्छं सद्भिरीक्ष्यताम् ॥६॥
श्रीगोपालगणानां, गोपालानां प्रमोदाय ।
भवतु समन्तादेषा, नाम्ना गोपालचम्पूर्या ॥७॥
यद्यपि चिरमन्तर्धा, जाता श्रीगोकुलस्थानाम् ।
तदपि महात्मसु तेषां, व्यूहसमूहः पुरः स्फुरन् जयति॥८॥

अथ ग्रन्थारम्भः

अस्ति किल वृन्दावन-नामधेयं भागधेयमिव सुभगं वनमवनीदेव्याः। यदहो वनमप्यवनाय कल्पते सकललोकस्य, प्रसङ्गमात्रतः पवमानमपि तत्र क्षिप्रता-प्रतापतः पवमानतामप्यतिक्रामति, परमत्रिवर्गदाने निरर्गलमपि सर्वदापवर्गवर्गमपवर्जयति मुक्तिमन्ध-सम्बन्धगन्धमपि स्वगुणैर्बन्ध-निर्बन्धनिबन्धनं भवति। सदा सदावलीशस्य भक्तिप्रदमपि कदापि न ददाति तद्भक्तिम्। ब्रह्मणात्मनि यदनञ्चितमपि मत्वा जन्म वाञ्छितम्, तेन तत्तत् परमञ्चितं

यह श्रीगोपालचम्पू नामक बृहद्-ग्रन्थ पूर्वचम्पू तथा उत्तरचम्पू भेद से दो भागों में विभक्त होकर भी प्रत्येक भाग में पृथक् पृथक् तीन तीन भागों में विभक्त है, अर्थात्—पूर्वचम्पू में तो गोलोकलीला, बाल्यलीला और कैशोरलीला वर्णित हैं, एवं उत्तरचम्पू में प्रथम विलास, द्वितीय विलास और तृतीय विलास वर्णित हैं। अर्थात्—दोनों भागों के तीन तीन अवान्तर भाग मिलाकर अलग-अलग छः विभाग छः ग्रन्थों के तुल्य हैं। इस प्रकार छः भागों में विभक्त श्रीगोपालचम्पू का सन्तजन स्वेच्छापूर्वक अवलोकन करें ॥६॥ श्रीकृष्णचन्द्र जिनको अपनी पूज्यकोटि में गिनते हैं उन्हीं श्रीनन्द, उपनन्द प्रभृति गोपगणों की सर्वतोभावेन प्रसन्नता के लिये विनिर्मित यह गोपालचम्पू नामक ग्रन्थ सर्वदा विद्यमान रहे ॥७॥ यद्यपि श्रीगोकुलवासी गोपगण बहुत समय से श्रीकृष्ण के साथ ही अन्तर्हित होगये हैं तथापि—श्रीरूपसनातन जैसे महात्माओं के सन्मुख तो आज भी श्रीनन्दादि गोपगणों का समूह लीला करता हुआ सर्वोत्कर्षपूर्वक विद्यमान है। तत्त्वतः श्रीव्रजवासी नित्यसिद्ध गोपगण अव भी व्रज में लीला कर रहे हैं, जो चर्मचक्षुवालों के अगोचर हैं। अतः इस गोपालचम्पू से उनकी प्रसन्नता अवश्यंभाविनी है ॥८॥

अथ ग्रन्थारम्भः

(जिस नित्यधाम में श्रीगोपालजी नित्यविहार करते रहते हैं, अब उसी धाम का स्वरूप निरूपण करने के लिये ग्रन्थकार उपक्रम करते हुए कहते हैं कि)—श्रीवृन्दावन नाम का एक चिर प्रसिद्ध वन है, यह वन अवनी देवी (पृथ्वी) का सर्वप्रिय सुन्दर सौभाग्य स्वरूप है। यहाँ पर विशेष आश्चर्य का विषय यह है कि यह वन होकर भी सबकी रक्षा करने के लिये समर्थ है। प्रसङ्ग मात्र से पवित्रताकारक होकर भी उस पवित्रता करने के विषय में शीघ्रकारिता के कारण वायु के धर्म को भी लाँघ जाता है, अर्थात्—अपने में सम्बन्ध रखने वाले जनको इतना शीघ्र पवित्र कर देता है कि जितना शीघ्र वायु भी नहीं चल सकता। धर्म-अर्थ-कामरूप त्रिवर्ग के देने में बाधा रहित होकर भी यह वृन्दावन अपवर्ग वर्ग, अर्थात् पाँच प्रकार की मुक्ति के समूह को देता रहता है। श्रीवृन्दावनवासी भक्तजन सायुज्य आदि मुक्ति यद्यपि नहीं चाहते हैं तथापि यदि किसी के हृदय में मुक्त होने की प्रतिज्ञा के सम्बन्ध का गन्ध (लेश) भी है तो उस जनको भी यह वृन्दावन अपने गुणों द्वारा बाँधने के लिये आग्रह युक्त है, अर्थात्–वृन्दावन में आकर बड़े बड़े मुमुक्षु

मतमिति निजहित-महित-महिमारम्भमुपलम्भयति । तदेवं गहनचर्यापर्याकुलतया विरोधालङ्कारवद्विरुद्धायमानमप्यर्थमनुरुद्धतया पर्यवसानतः परिणमयति । तस्मिन् कवीनामकवितायामपि कविता सम्भाविता भविता । तस्मिन्नेव च परमोदार-सारतावगम्यते । तद्धि तद्धिततया मुहुरवतीर्णस्य सर्वस्याप्यानन्दनस्य श्रीमन्नन्दनन्दनस्य सर्वमानन्दपर्व सर्वदा पर्वति ॥९॥

अस्ति चेह श्रीशुकस्यापि सुखचमत्कारकारणं पद्यम्—

'वृन्दावनं गोवर्धनं यमुनापुलिनानि च ।
वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीती राममाधवयोर्नृप ! ॥' (भा० १०।११।३६) इति ॥१०॥

तत्र गोवर्धनस्तु पुरस्तादेवं प्रस्तूयते—

यद्गोकुलेश्वर इति प्रथितिः पुराणे, कृष्णस्य तद्भवति गोकुलमस्य धाम ।
गोवासता च किल गोकुलतानिदानं, गोवर्धनस्तदिह सर्वनिधानमेव ॥११॥

तत्र चायं विशेषः—

त्रिजगति मानसगङ्गा, गोवर्धनमपि विभिन्दती विदिता ।
अहमिह मन्ये कृष्ण,-स्नेहजधारा तदन्तरं विशति ॥१२॥

भी मोक्ष के सुख को ठुकराकर भगवत्प्रेम के बंधन में सदैव के लिये बँधजाते हैं। यह वृन्दावन सज्जनगणमान्य भगवद्भक्तिप्रद होकर भी—उस भक्ति को कभी भी भङ्ग नहीं होने देता। ब्रह्माजी ने अपने मन में तुच्छ समझकर भी वृन्दावन के जिन तृणादिकों में जन्मग्रहण करने की अभिलाषा प्रगट की थी उसी से यह वृन्दावन परमपूजित माना जाता है। अर्थात्—वृन्दावन के तृणादि सभी उच्चकोटि के हैं, इसी कारण यह वृन्दावन सर्वहितकर और पूजनीय अपनी महिमा के प्रारम्भिक स्वरूप को जता रहा है। अतएव इस प्रकार की दुर्ज्ञेय आश्चर्यमयी घटनाओं से व्याप्त होने के कारण विरोधाभास नामक अलंकार की तरह विरुद्ध प्रतीत होने वाले पदार्थ को भी अन्त में अनुकूलता रूप में परिणत कर देता है। उसी वृन्दावन में कवियों की जो कविता का विषय नहीं है, उस में भी कविता की सम्भावना हो सकती है। और उसी में परम उदार सारभाग जाना जाता है। निश्चय ही उसी वृन्दावन के हितकारक रूप से बार बार अवतार लेने वाले तथा सभी के आनन्दजनक श्रीमान् नन्दनन्दन के सभी आनन्दमय महोत्सवों को भी यह श्रीवृन्दावन सर्वदा परिपूर्ण करता रहता है ॥९॥

इस विषय में श्रीशुकदेवजी का भी सुखमय चमत्कारजनक एक श्लोक देखा जाता है—यथा—श्रीशुकदेवजी बोले कि हे राजन् परीक्षित् ! वृन्दावन, गोवर्धन और यमुनाजी के कमनीय पुलिनों को देखकर श्रीकृष्ण और श्रीबलदेव इन दोनों भाइयों को अत्यंत प्रसन्नता हुई थी ॥१०॥

श्रीकृष्ण के लीला स्थानों में सर्वप्रथम श्रीगोवर्धनपर्वत का महत्त्व ही प्रस्तुत करते हैं—पुराणों में जिनकी गोकुलेश्वर नाम से प्रसिद्धि है, वह गोकुल ही श्रीकृष्ण का निवास स्थान है, जहाँ गोगण निवास करते हैं वही गोकुल नाम से विख्यात है। परन्तु श्रीगोवर्धनपर्वत तो सभी का आश्रय स्वरूप है। अर्थात्—यहाँ तो सपरिकर श्रीकृष्ण विहार करते हैं ॥११॥

उसमें विशेषता यह है कि—यह मानसीगङ्गा श्रीगोवर्धनपर्वत को भेदन करती हुई प्रगट हुई है, यह बात तीनों लोकों में विख्यात है। परन्तु मैं तो यही मानता हूँ कि—श्रीकृष्ण की स्नेहजनित धारा ही श्रीगोवर्धन के मध्य में मानसीगङ्गा के रूप से प्रवेश कर रही है ॥१२॥

किञ्च—तस्मिन् श्रीहरिराधयोर्युगलितं यद्भाति कुण्डद्वयं
संसङ्गेन परस्परं परिमलान्मन्ये तयोस्तन्मिषम् ।
प्रेमासीत् प्रकटं यतः श्वसनकैः कम्पान्वितं जाड्ययुग्-
भक्तार्द्रस्थितिकृच्च तद्घनरसाकारं दरीदृश्यते ॥१३॥

यमुनायाश्चायमतिशयः—
स्नानजातसुकृतान्न केवलात्, स्फूर्तिदा मुररिपो रवेः सुता ।
वीक्षणादपि यतो बिभर्ति सा, श्यामधामवरमाधुरीधुराम् ॥१४॥

तस्याश्चोत्प्रेक्षन्ते—
स्वस्निग्धवृन्दविषयप्रियता–महिम्ना, स्वेदांश एव किमु कृष्णतनोर्विसारी ?
वृन्दस्य कृष्णविषयप्रियतैव किंवा, तद्भावभावितगतिर्भवति स्म कृष्णा ॥१५॥

पुलिमानि च तस्या महाप्रेमोल्लासमाविष्कुर्वन्ति ।
तथा हि—अद्यापि यानि विबुधानवलोकमात्रात्
पुष्णन्ति कृष्णकृतरासरसं विभाव्य ।

किञ्च उसी गोवर्धन पर्वत में श्रीराधा-कृष्ण के परस्पर सम्मिलित (राधाकुण्ड-श्यामकुण्ड) नाम से विख्यात दोनों कुण्ड शोभा पारहे हैं। उन दोनों के परस्पर संसर्ग तथा जनमनोहर गन्धसे यह बोध होता है कि–इन दोनों कुण्डों के बहाने श्रीराधाकृष्ण का उत्कट प्रेम ही प्रगट होगया है। कारण यह है कि–ये दोनों कुण्ड वायुसमूह से कम्पित, जड़तायुक्त तथा भक्तों को स्नेहमयी आर्द्र स्थिति प्रदान करने वाले होकर भी जलरूप से सबके दृष्टिगोचर होरहे हैं, अर्थात् श्रीराधाकृष्ण का प्रेम ही आज भी भक्तों के सामने जलरूप से विद्यमान है ॥१३॥

श्रीयमुनाजी में यह विशेषता है कि—यह सूर्यनन्दिनी श्रीयमुनाजी श्रीकृष्ण के केवल स्नान से जनित सुकृत से ही मानव मात्र को आनन्ददायिनी हैं, यह बात नहीं है किन्तु श्रीकृष्ण के दर्शन से भी उनके श्रीविग्रह की श्यामकान्ति की उत्कृष्ट माधुरी के सार को धारण कर रही हैं। अर्थात्—श्रीयमुनाजी की श्यामवर्ण की धारा को देखकर यह प्रतीत होता है कि–श्रीश्यामसुन्दर के दर्शन स्पर्शन से उनकी श्यामप्रभा को आज भी धारण किये हुए हैं। अथवा—श्रीयमुनाजी भावुक भक्तों के लिये अपने में केवल स्नान करने से उत्पन्न हुए सुकृत से श्रीमुरारि भगवान् की केवल स्फूर्ति ही नहीं देतीं अपितु अपने दर्शन से भी भावुक भक्तों के हृदय में मुररिपु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के श्रीविग्रह की श्याम कान्ति की श्रेष्ठ माधुरी धारा के सार भार को भी भरदेती हैं ॥१४॥

श्रीयमुनाजी के पूर्वोक्त प्रकार के कारण के विषय में कविजन इस प्रकार की उत्प्रेक्षा करते हैं यथा—श्रीकृष्ण के जो समस्त स्वजनगण हैं, उनके प्रति श्रीकृष्ण की जो प्रीति की महिमा है उसी कारण से श्रीकृष्ण के श्रीविग्रह से उत्पन्न स्वेदकण, अर्थात् पसीना ही श्रीयमुनाजी के रूप में प्रवाहित हो रहा है क्या ? अथवा अपने प्रिय स्नेहीजनों का श्रीकृष्ण विषयक प्रेम ही श्रीयमुनाजी के रूप में प्रवाहित हो रहा है क्या ? अर्थात्–श्रीकृष्ण के सभी प्रिय परिकर जिस प्रकार उनके ध्यान से कृष्णमय हो रहे हैं उसी प्रकार बारंबार श्रीकृष्ण की भावना करने के कारण श्रीयमुनाजी श्यामवर्णवाली होगई हैं क्या ? ॥१५॥

श्रीयमुनाजी के पुलिन आज भी भावुकभक्तों के हृदय में महान् प्रेम का उल्लास प्रकटित कर रहे हैं यथा—देखो ! श्रीयमुनाजी के जो परमपुनीत पुलिनप्रदेश आज भी श्रीकृष्ण द्वारा रचित रासलीला के रस

तान्यत्र किं वररसायनदिव्यचूर्णै-
रभ्यासतः स्वपुलिनानि चिनोति शौरी ? ॥१६॥

भाण्डीरस्तु स नो मनो व्याकुलयति ।

तथा हि—भाण्डीरस्य स्फुटमधिहरि प्रेम किं वर्णनीयं
सान्तर्धानं स्थितवति हरौ बाढमन्तर्दधे यः ।
यान्तु स्वांशेन च विषयतामत्र गोवर्धनाद्या
लोके स्निग्धा रचयितुमिदं न क्षमः स्यामितीव ॥१७॥

अहो प्रेमगाम्भीर्यमस्य पश्य वृन्दावनस्य !

यतः—कुत्र कुत्रचिदगस्य दम्भतः, स्तम्भमेति तदिदं हरेर्वनम् ।
प्रायशश्चलदलस्य कम्प्रता, -मङ्कुरस्य पुलकानि सर्वतः ॥१८॥

आविर्व्रजति च तस्मिन् सव्रजवासिजनव्रजे व्रजराजतनूजे किं किं वा तद्व्यञ्जिजिषया नाविर्व्रजति ? तच्च युक्तमेवोत्पश्यामः । व्रजपदं हि सर्वसमीचीनसमूहमूहयति ॥१९॥

अस्ति चेह श्रीभागवतीयं पद्यम् (१०।५।१८)—

'तत आरभ्य नन्दस्य व्रजः सर्वसमृद्धिमान् । हरेर्निवासात्मगुणै रमाक्रीडमभून्नृप !'॥इति॥२०॥

को प्रकाशित कर, इस विषय के विशेष जानकार विशिष्ट विद्वानों को अपने दर्शनमात्र से ही भाव में परिपुष्ट बना रहे हैं। श्रीयमुनाजी उन्हीं अपने पुलिन प्रदेशों को अपने पास में श्रेष्ट रसायनरूप दिव्य चूर्णों से बढ़ा रही हैं क्या ? अर्थात्—श्रीयमुनाजी की यह बालुका साधारण नहीं है, अपितु जिस प्रकार वशीकरण मन्त्र अथवा चूर्ण द्वारा लोगों के मन को वश में कर लिया जाता है, उसी प्रकार यह बालुकामय दिव्य चूर्ण भी भावुक दर्शकजनों के मन को श्रीकृष्ण में अनुरक्त कर देता है ॥१६॥

अहह ! पुराण प्रसिद्ध वह भाण्डीरवट तो हमारे मन को व्याकुल कर रहा है। देखो ! श्रीकृष्णचन्द्र में भाण्डीरवट का जो विशिष्ट प्रेम है वह क्या स्पष्टरूप से वर्णन करने योग्य है, अर्थात्—उसका कौन वर्णन कर सकता है ? कारण—श्रीकृष्णचन्द्र जब अन्तर्हित होगये तब भाण्डीरवट—"इस जगत् में श्रीगोवर्धन प्रभृति भगवान् के स्नेही पदार्थ अपने अपने अंश से भावी भक्तों के नेत्र आदि इन्द्रियों के गोचर भले ही होते रहें परन्तु मैं तो उनकी तरह अपने अंश से इस जगत् में रहने के लिये समर्थ नहीं हूँ" इस प्रकार विचार कर अन्तर्हित होगया ॥१७॥

अहह ! इस श्रीवृन्दावन के प्रेम की गम्भीरता को तो देखो ? यह श्रीहरि का प्यारा वन कहीं कहीं तो पर्वतों के बहाने स्तम्भ भाव को प्राप्त हो जाता है और कहीं कहीं पीपल के वृक्षों के बहाने कम्प भाव को धारण कर लेता है। तथा कहीं कहीं अंकुरों के बहाने सर्वतोभावेन रोमाञ्चित हो जाता है ॥१८॥

अब व्रज की महिमा का वर्णन करते हैं–व्रजबासी परिकरों के साथ श्रीव्रजराजकुमार के आविर्भूत होने पर उनके प्रकट होने की सूचना देने की इच्छा से व्रज में कौन-कौन वस्तु प्रगट नहीं होती ? अर्थात् समस्त वस्तुएँ ही प्रगट होती हैं। इस बात को हम उचित रूप से देख रहे हैं एवं समझ भी रहे हैं। क्योंकि व्रजपद ही श्रीकृष्ण के समस्त अच्छे-अच्छे विषयों की सूचना दे रहा है ॥१९॥

इस विषय में श्रीमद्भागवत (१०।५।१८) का श्लोक भी विद्यमान है, यथा—श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् परीक्षित् ! श्रीकृष्ण के जन्म के समय से ही गोपराज श्रीनन्दजी का यह व्रज सब ऋद्धि-सिद्धियों से

तेषामाविर्भावस्य पद्मपुराणसन्दर्भानुसारेण प्रतिकल्पमनल्पसुखकल्पक-सम्पदुदन्त-दन्तवक्र-वधान्ते सर्वतोऽप्येकान्ते कान्ते यत्र प्रवेशस्य निर्देशः प्रथयिष्यते । तस्माद्भुवजनमनः-कायनिकाय-स्पर्श-विरहिताद्वाराहादि-सङ्कीर्तितप्रवरकीर्तिकदम्ब-कदम्बादिमयात् पाद्म-स्कान्दादिगतासङ्कीर्णवर्णाकर्णिततत्तत् - सनातनशीलतारामसराम-गो-गोप-गोपाल-लीलानिधानाद्वृन्दावनस्यैव वैभवविशेषादशेषं भवति । प्रकृतिस्थितिमतीतो हि यः ॥२१॥

बृहद्गौतमीयस्थ-श्रीकृष्णवचने तु तत्तत्संक्षेपार्थनिक्षेपः प्रेक्ष्यते—

'इदं वृन्दावनं रम्यं मम धामैव केवलम् । अत्र ये पशवः पक्षिमृगाः कीटा नरामराः ।
ये वसन्ति ममाधिष्ण्ये मृता यान्ति ममालयम् ॥
अत्र या गोपकन्याश्च निवसन्ति ममालये । योगिन्यस्ता मया नित्यं मम सेवापरायणाः ॥
पञ्चयोजनमेवास्ति वनं मे देहरूपकम् । कालिन्दीयं सुषुम्नाख्या परमामृतवाहिनी ॥
अत्र देवाश्च भूतानि वर्तन्ते सूक्ष्मरूपतः । सर्वदेवमयश्चाहं न त्यजामि वनं क्वचित् ॥
आविर्भावस्तिरोभावो भवेन्मेऽत्र युगे युगे ।तेजोमयमिदं रम्यमदृश्यञ्चर्मचक्षुषा ॥' इति ॥२२॥

भर गया था, अधिक क्या कहूँ ? देखो ! श्रीहरि के निवासस्थान होने के कारण यह व्रजमण्डल अपने गुणों से श्रीलक्ष्मीदेवी का भी विहारभूमि (वाटिका) बन गया था ॥२०॥ अर्थात्—श्रीहरि के प्राकट्य काल में लोकोत्तर इस व्रजमण्डल में—गोवर्धन, मानसीगंगा, राधाकुण्ड, श्यामकुण्ड, यमुना, यमुनापुलिन, भाण्डीरवट, वृन्दावन आदि सभी आविर्भूत हो गये थे । पद्मपुराणोक्त सन्दर्भ के अनुसार प्रत्येक कल्प में इसी प्रकार की प्रगट घटना होती रहती है । इस ग्रन्थ में परिपूर्ण सुखपूर्ण दन्तवक्र बध के अन्त में सर्वश्रेष्ठ मनोहर श्रीव्रज में श्रीकृष्ण के प्रवेश का निर्देश स्पष्ट रूप से करेंगे । उक्त वृन्दावन के वैभव विशेष के प्रकाशित होने पर भी संसारी जनों के मन और तन समूह का स्पर्श भी संघटित नहीं हो पाता । 'वाराह' आदि पुराण जिनकी विशिष्ट कीर्तिराशि का वर्णन करते हैं ऐसे वे कदम्ब वृक्ष भी यहाँ वैभवपूर्ण हैं । पद्मपुराण तथा स्कन्द आदि पुराणों में जो विषय स्पष्ट अक्षरों में सुना जाता है वही नित्य सिद्ध स्वभाव से ही रमणीय है । श्रीबलराम, गैया, गोपी एवं गोपालगणों के सहित श्रीगोपालजी की लीलाओं का निधानस्थान जो श्रीवृन्दावन है, उसके वैभवमय प्रकाश विशेष से पूर्वोक्त सब बातें संघटित होती रहती हैं । इस भूमण्डल में भी पूर्वोक्त दिव्य वस्तुओं का जो आविर्भाव है, वह प्राकृत मर्यादा का अतिक्रमण कर गया है ॥२१॥

बृहद् गौतमीय तन्त्रोस्थित श्रीकृष्ण के वचनों में तो पद्म, स्कन्द पुराणादि वाक्यों का जो संक्षिप्त अर्थ निक्षिप्त देखा जाता है, वह इस प्रकार है—यह परम रमणीय वृन्दावन ही केवल मेरा धाम (निवासस्थान) है । इसमें जो समस्त पशु, पक्षी, मृग, कीट, पतंग, मनुष्य एवं देवता आदि वास करते हैं, वे सब मेरे स्थान में वास करते हैं, मरने के बाद भी मेरे धाम में ही पहुँच जाते हैं । इस वृन्दावन में जो गोपकन्या निवास करती हैं, वे मुझसे नित्य संयुक्त मेरी ही सेवा में तत्पर हैं । पाँच योजन, अर्थात्—बीस कोश के विस्तार वाला यह वृन्दावन मेरा देहरूप ही है । यह श्रीयमुनाजी सुषुम्ना नाम धारण करने वाली है तथा सदैव परमामृत प्रवाहित करती रहती है । यहाँ पर देवता और प्राणीमात्र अप्राकृत देह धारण करके रहते हैं । मैं समस्त देवस्वरूप हूँ, अतः इस वन को मैं कभी भी नहीं त्यागता हूँ । इस स्थान पर प्रत्येक युग में मेरा आविर्भाव-तिरोभाव होता रहता है । यह रमणीय वृन्दावन तेजोमय, अर्थात् शुद्धसत्त्वस्वरूप है । अतः चर्म-चक्षु वालों के दृष्टिगोचर नहीं होता ॥२२॥

यं खलु वैभवविशेषं सर्वसारेण यथास्थानं प्रकाशयिष्यमाणव्याख्या-विशेषावतारेण श्रीमद्भागवतानुसारेण गोपानां स्वं लोकं वरुणालयादागतः करुणावरुणालयः स्वयं भगवान-क्रूराय वैकुण्ठविशेषलक्षणस्ववैभव-व्यञ्जनया सुखप्रदे ब्रह्महृदे मज्जनेन तस्मादुन्मज्जनेन च तज्जनकौतुकजननादनन्तरं छन्दःस्तूयमानेनात्मनाऽवित्रा विचित्रमत्रैव वृन्दावने तदीयनरलीला-वेशेन साधारणमन्येभ्यस्तेभ्यः सन्दर्शयामास। यं प्रति सम्प्रत्यपि प्रपद्यमाना विद्वांसश्चेतसापि साक्षादिव तल्लीलाः प्रतिपद्यन्ते। यं परि हरिवंशे गोविन्दाभिषेकसम्पदंशे महेन्द्रः श्रीमद्व्रजेन्द्र-तनुजतनुवद्व्यापकतां सत्यां प्रत्याययामास। यं पुनर्वृन्दावनस्थ-समस्त-समभ्यर्णमपि तत्तद्वर्ण-नानुसारेण केचित् प्रकृत्यावरणतः परमवियदूर्ध्वं निर्वर्णयन्ति। अतएव लीलानुरूपरूपतया भूमानमभूमानञ्च प्रपद्यन्ते यद्भूमयः ! एष एव शेषनिर्विशेषतया ब्रह्मसाक्षात्काराकारतया च ब्रह्मसंहितादिषु बृंहितं बृहद्भिर्वर्णयामासे। तत्र च प्रकटाप्रकटप्रकाशमयस्य वृन्दावनस्य बहुविधसंस्थानतया बहुविधशास्त्रश्रुतस्याप्रकटप्रकाशमय-वैभवविशेष एव सम्प्रति वर्णनीयः। स च गोकुलप्रधान एवेति स्वविवक्षितहिता ब्रह्मसंहितानुसंहिता क्रियते। तद्वचनानि तु बोध-क्रमाय क्रममतिक्रम्यानुक्रम्यन्ते ॥२३॥

श्रीवृन्दावन का वैभव विशेष सब प्रकार के सारभाग से परिपूर्ण है। यथा स्थान इसकी विशेष व्याख्या स्पष्ट रूप से की जायगी। श्रीमद्भागवत के अनुसार कृपासिन्धु स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने वरुणलोक से श्रीवृन्दावन में आकर अक्रूरजी को जिस स्थान पर वैकुण्ठ विशेषरूप अपने वैभव का अनन्त ऐश्वर्य दिखाया था, सुतरां अक्रूर जी को सुख देने वाले उसी ब्रह्महृद (ब्रह्मकुण्ड) में निमज्जन (गोता लगाना), उन्मज्जन (जल से बाहर आना) के द्वारा व्रजवासियों को कौतुक उत्पन्न कराने के अनन्तर दिव्य वैकुण्ठ में वेदों के द्वारा स्तूयमान श्रीभगवान् ने अपने को विचित्र रूप से रक्षकरूप में दिखाया। पुनः इसी वृन्दावन में भगवान् को नरलीला के आवेश के कारण साधारण मानवमात्र मानने वाले ग्वालबालों को भी श्रीभगवान् ने विचित्र भाव से श्रीवृन्दावन के वैभव का दर्शन कराया था।

आज भी जिस वृन्दावन के वैभव को लक्ष्य करके शरण में आने वाले भक्तिरस-तत्त्ववेत्ता पण्डितगण अपने चित्त में भी प्रत्यक्ष की भाँति उन उन लीलाओं को प्राप्त करते रहते हैं। जिस वैभव को लक्ष्य करके हरिवंश पुराण में—गोविन्दाभिषेक के ऐश्वर्य के अंश प्रसङ्ग में श्रीकृष्ण के श्रीविग्रह की तरह इस व्रज की सर्वव्यापकता की यथार्थ सत्यता इन्द्र ने भी अपने ज्ञानगोचर की थी।

और वृन्दावन के जिस प्रकाशमय वैभव विशेष को लक्ष्य करके पूर्वोक्त प्रमाणों के अनुसार कुछ विशुद्ध चित्तवाले महात्मागण प्राकृतिक समस्त पदार्थों की निकटता होने पर भी प्रकृति के अष्ट आवरणों से रहित महावैकुण्ठ से भी ऊपर विराजमान गोलोक उपनामक श्रीवृन्दावन का वर्णन करते हैं तथा दर्शन भी करते हैं।

अतएव वृन्दावन की लीलाभूमियाँ लीलाओं के अनुसार विस्तृत एवं संकुचित, अर्थात् व्यापक एवं अव्यापक भाव को धारण करती रहती हैं। यही वैभव शेषजी से भिन्न न होने के कारण तथा ब्रह्मसाक्षा-त्कार के समान होने के कारण—ब्रह्मसंहिता आदि ग्रन्थों में महापुरुषों के द्वारा विस्तारपूर्वक वर्णित हुआ है। और उसमें इस वृन्दावन के प्रकट, अप्रकट एवं प्रकाशमय अनेक प्रकार के संस्थान (अवयव-विभाग) हैं। इसलिये अनेक शास्त्रों में इस वृन्दावन की महिमा सुनी जाती है। इस समय हमें वृन्दावन का अप्रकट

यथा (५।६८, ६७, ६८)—

'भजे श्वेतद्वीपं तमहमिह गोलोक इति यं, विदन्तस्ते सन्तः क्षितिविरलचाराः कतिपये'
'श्रियः कान्ताः कान्तः परमपुरुषः कल्पतरवो, द्रुमा भूमिश्चिन्तामणिगणमयी तोयममृतम् ।
कथा गानं नाट्यं गमनमपि वंशी प्रियसखी, चिदानन्दज्योतिः परमपि तदास्वाद्यमपि च ॥'
'स यत्र क्षीराब्धिः स्रवति सुरभिभ्यश्च सुमहा,-न्निमेषार्धाख्यो वा व्रजति न हि यत्रापि समयः'॥२४

किञ्च, 'ईश्वरः परमः कृष्णः' (ब्र० सं० ५।१) इत्युपक्रम्याह—

'सहस्रपत्रं कमलं गोकुलाख्यं महत् पदम् । तत्कर्णिकारं तद्धाम तदनन्तांशसम्भवम् ॥
तत्किञ्जल्कं तदंशानां तत्पत्राणि श्रियामपि ॥
चतुरस्रं तत्परितः श्वेतद्वीपाख्यमद्भुतम् । चतुरस्रं चतुर्मूर्तेश्चतुर्धाम चतुष्कृतम् ॥
चतुर्भिः पुरुषार्थैश्च चतुर्भिर्हेतुभिर्वृतम् । शूलैर्दशभिरानद्धमूर्ध्वाधोदिग्विदिक्षु च ॥

और प्रकाशमय वैभव ही वर्णन करना है । उस अप्रकट प्रकाशमय वैभव के मध्य में गोकुल ही प्रधान है । अतः स्वविवक्षित ग्रन्थ की हितकारिणी ब्रह्मसंहिता की उक्तियाँ हम प्रस्तुत करते हैं । किन्तु ब्रह्मसंहिता के वचन, अर्थात् श्लोकावली जानकारी की सुविधा के लिये क्रमनियम को त्यागकर ही स्थापित करते हैं ॥२३॥

यथा—भक्ति-तत्त्ववेत्ता विख्यात पण्डितगण इस जगत् में जिसको "गोलोक" नाम से पुकारते हैं, सरोवर में कमल की तरह अन्य संगविहीन उसी श्वेतद्वीप का मैं भजन करता हूँ । वस्तुतः इस प्रकार के गोलोक-तत्त्ववेत्ता विद्वानों की संख्या बहुत कम है, एवं भूतल में उनका प्रचार भी कम ही है । इस गोलोक में व्रजगोपीगण लक्ष्मीस्वरूपा हैं । कान्त परमपुरुष श्रीकृष्ण ही हैं । यहाँ के वृक्ष कल्पवृक्ष है । यहाँ की भूमि चिन्तामणिगणमयी है । सुस्वादु अमृत ही यहाँ का जल है । यहाँ परस्पर का वार्तालाप भी सङ्गीत के समान है । सहज चलना ही नृत्य है । सब जगह श्रीकृष्ण की सुखावस्थान-प्रकाशिका वंशी ही प्रियसखी है । अधिक क्या कहें ? यहाँ के सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिर्मय पदार्थ भी चिदानन्द रूप से प्रकाशमान हैं । तथा वे गोलोकस्थ जनों के उपभोग्य भी हैं, अर्थात् प्राकृतिक सूर्य के समान गोलोक का सूर्य असह्य नहीं है और चन्द्रमा भी कलंकरहित सर्वदा पूर्ण कलाओं से विद्यमान रहता है । यहाँ पर वंशीध्वनि के आवेश में कामधेनुरूपा गैयाओं से महान् क्षीरसमुद्र प्रवाहित होता रहता है । तथा यहाँ पर भगवत् सेवा में आवेश के कारण आधे निमेष का समय भी ज्ञात नहीं होता, तात्पर्य यह है कि—लोकातीत गोलोकवासी जन मायाजनित करालकाल के विक्रम का अनुभव नहीं करते, कारण यहाँ पर कालका प्रभाव ही नहीं है॥२४॥

अब ब्रह्मसंहिता के "ईश्वरः परमः कृष्णः" इस मन्त्र से आरम्भ करके श्रीजीव गोस्वामिपाद कहते हैं—

गोप गोपियों सहित भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का जो सब से उत्कृष्ट निवासस्थान है, वह 'गोलोक' किंवा 'महावैकुण्ठ' नाम से विख्यात है । यह स्थान सहस्र पत्रोंवाले कमल के समान है । उसकी कर्णिका ही परिकर सहित श्रीकृष्ण का निवासस्थान है । यह कमल श्रीबलदेवजी के अंश से ही उत्पन्न हुआ है । श्रीकृष्ण के अंशस्वरूप सजातीय गोपगण उस कमल की केसर पर निवास करते हैं । उस कमल के सहस्र पत्र ही लक्ष्मीस्वरूपा कृष्णप्रेयसी श्रीराधा प्रभृति गोपीगणों के उपवनस्वरूप विहारस्थान हैं । पूर्वोक्त गोकुलरूप गोलोक के बाहर चारों तरफ चार कोने वाला श्वेतद्वीप नामक एक अद्भुत स्थान है । उसके चारों कोने—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध इस चतुर्व्यूह के निवासस्थान हैं । धर्म, अर्थ, काम,

अष्टभिर्निधिभिर्जुष्टमष्टभिः सिद्धिभिस्तथा । मनुरूपैश्च दशभिर्दिक्पालैः परितो वृतम् ॥
श्यामैर्गौरैश्च रक्तैश्च शुक्लैश्च पार्षदर्षभैः । शोभितं शक्तिभिस्ताभिरद्भुताभिः समन्ततः ॥
(ब्र० सं० ५।२, ५।६) इति ॥२५॥

अपि च (ब्र० सं० ५।४०),—

'चिन्तामणिप्रकरसद्मसु कल्पवृक्ष,-लक्षावृतेषु सुरभीरभिपालयन्तम् ।
लक्ष्मी-सहस्रशत-सम्भ्रम-सेव्यमानं, गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥' इत्यादि ॥२६॥

बृहद्वामने—

'रत्नधातुमयः श्रीमान् यत्र गोवर्धनो गिरिः ।
रत्नबद्धोभयतटा कालिन्दी सरितां वरा ॥' इत्यादि चान्यत्र ॥२७॥

तदेतदनुसारेण प्रथमं तावत् काव्यस्य निधानं वस्तुमात्रं सप्रमाणं प्रकाश्यते चित्रस्य फलकमिव ॥२८॥

तथा हि—यस्य खलु लोकस्य गोलोकतया गोगोपावासरूपस्य श्वेतद्वीपतया चानन्य-स्पृष्टपरमशुद्धतासमुद्बुद्धस्वरूपस्य तादृशज्ञानमय-कतिपयमात्र-प्रमेयगात्रतया तत्तत्परमता मता । परमगोलोकः परमश्वेतद्वीप इति ॥२९॥

मोक्षरूप चारों पुरुषार्थों के साधनभूत चारों वेदों द्वारा यह गोलोक परिवेष्टित है तथा दशों दिशाओं में दश प्रकार के त्रिशूलों से निबद्ध है । पद्म, महापद्म, शङ्ख, मकर, कच्छप, मुकुन्द, कुन्द, नील नामक आठ निधियों से और अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्तिः, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व नामक आठ सिद्धियों से भी परिवेष्टित हैं । और मन्त्रों के प्रतिपाद्य अथवा अधिष्ठातृ देवतारूप—इन्द्र, अग्नि, यम, वरुण आदि दश दिग्पालों से भी वह परिवृत है, तथा श्याम, गौर, रक्त, एवं श्वेतरूप चार वर्णों वाले श्रेष्ठ पार्षदरूपी साम आदि चारों वेदों द्वारा वह गोकुल सुशोभित है, एवं विमला, उत्कर्षिणी, ज्ञाना, क्रिया, योगा आदि अद्भुत शक्तियों द्वारा चारों ओर सुसज्जित है ॥२५॥

तथा च उक्त गोकुल में चिन्तामणि नामक रत्नों द्वारा निर्मित जो समस्त गृह हैं वे लाखों मनोहर कल्पवृक्षों से परिवेष्टित हैं । ऐसे समस्त गृहों में कामधेनुगण की जो सब प्रकार से रक्षा करते रहते हैं तथा लक्ष्मीस्वरूपा हजारों गोपाङ्गनाओं के सैंकड़ों सम्भ्रमों (विलासों) से जो सेवित हैं, उन आदिपुरुष गोविन्द भगवान् का मैं भजन करता हूँ ॥२६॥

बृहद्वामन पुराण में कहा है कि—जिस गोलोक उपनामक दिव्य वृन्दावन में श्रीगोवर्धन पर्वतराज भी रत्नमय धातुओं से खचित है, नदियों में श्रेष्ठ श्रीयमुनाजी भी रत्नजटित दोनों किनारों वाली है, अर्थात् उसके दोनों तट रत्नजटित घाटों से सुशोभित हैं । इस प्रकार अन्यत्र भी विशेष रूप से कहा गया है ॥२७॥

भित्ति (भींत) अथवा चित्रपटरूप आधार पर जैसे अनेक प्रकार के चित्र खेंचे जाते हैं उसी प्रकार पूर्वोक्त प्रमाणपुंज के द्वारा काव्य का आधार यह श्रीवृन्दावन है । इसीलिये यहाँ की बस्तुओं को प्रमाण सहित प्रकाशित करते हैं ॥२८॥

पूर्वोक्त अनेक प्रमाणों से जिसकी चर्चा की गई निश्चितरूप से उसी लोक का नाम 'गोलोक' है । इसी कारण वह गैया और गोपगणों का निवासस्थान स्वरूप है, एवं जिस लोक का 'श्वेतद्वीप' नाम से निर्देश किया गया है, उसका स्वरूप परमशुद्ध एवं नित्यप्रकाशमय है । इसकी परम विशुद्धता प्राकृतिक

तदेव च युक्तमुक्तं भवति।

यत्र हि स्वच्छन्दतानन्दप्रदबहुवचनार्था गोपीपदार्थाः श्रियः श्रयन्ते, नान्यवैकुण्ठवत्तदेकवचनार्थताकुण्ठाः। तासां तत्पदार्थता च तन्महावागर्थसाराकर्षयन्त्रे महामन्त्रे बल्लवीवल्लभतया तस्य जपमुपदिशन्तीति सिध्यति ॥३०॥

अत्र न केवलं तस्य द्विवर्णपदस्य वृत्तावेव रूढिमवलम्बामहे, अपि तु ध्यानेऽपि; किन्तु 'नायं श्रियोऽङ्ग' (भा० १०।४७।६०) इति शुकानुवादः सामान्यलक्ष्मीविजयं व्यनक्ति, 'लक्ष्मीसहस्र-' (ब्र० सं० ५।४०) इति विरिञ्चिवाणी लक्ष्मीविशेषत्वमुरीकरोति। यस्मादत्र कुरुपाण्डवशब्दवद्यथावसरं खण्डाखण्डवाचकता मता ॥३१॥

तदेवं सति, तत्रापि राधा परमेति। पाद्म-स्कान्दादि-वाराहविमिश्र-मात्स्ये गोविन्द-वृन्दावननामतन्त्रेऽप्यभाषि यत्तत् कथमन्यथा स्यात्? ॥३२॥

अन्य पदार्थों के स्पर्श करने योग्य नहीं है। जो जन शुद्ध सात्त्विक अन्तःकरण वाले तथा ज्ञानसम्पन्न हैं ऐसे ही गिने-चुने कुछ लोग गोलोक के स्वरूप को समझ सकते हैं। इसीलिये गोलोक का परम महत्त्व स्वीकृत है। परम गोलोक का ही दूसरा नाम 'परम श्वेतद्वीप' है ॥२९॥

उसी का समुचित भाव से पुनः निरूपण करते हैं—जहाँ पर स्वेच्छा विहाररूप आनन्ददायक बहुवचन वाचक गोपी पदार्थ समस्त लक्ष्मीवर्ग को अपने में अन्तर्भूत करते रहते हैं, अन्य वैकुण्ठों की तरह एक वचन के अर्थ में कुण्ठित नहीं हैं, अर्थात् वैकुण्ठ में तो एक ही लक्ष्मी रहती है, यहाँ तो सभी गोपियाँ लक्ष्मीस्वरूप होने से एक वचन के बन्धन में नहीं हैं। इस गोलोक में तो अनन्त लक्ष्मी हैं। उनकी गोपीपदार्थता भी उपनिषदों में स्थित महावाक्यों के सारभागरूप श्रीकृष्ण को आकर्षित करने के लिये यन्त्रस्वरूप गोपालमन्त्र में गोपीजनों के वल्लभरूप से श्रीकृष्ण के जप का उपदेश ऋषिगण करते हैं इसी से सिद्ध हो जाती है। तात्पर्य—गोलोक की अनन्त लक्ष्मियाँ ही गोपीपद से कही जाती हैं ॥३०॥

हम यहाँ पर दो अक्षर वाले उस गोपीपद की केवल शाब्दबोध विषयक शक्ति में रूढ़ि (प्रसिद्धि) का अवलम्बन नहीं करते हैं, अपितु ध्यान में भी गोपीरूप पदार्थ का ही अधिरोहण स्वीकार करते हैं। किन्तु "नायं श्रियोऽङ्ग" (भा० १०।४७।६०) इत्यादि श्रीशुकदेवजी का अनुवादरूप वाक्य तो सामान्य लक्ष्मी से ही गोपियों का उत्कर्ष व्यक्त करता है, किन्तु "लक्ष्मीसहस्रशतसम्भ्रमसेव्यमानं" इत्यादि ब्रह्मसंहिता में कहा हुआ श्रीब्रह्माजी का वाक्य तो हजारों लक्ष्मियों से भी गोपियों का वैशिष्ट्य स्वीकार करता है। अर्थात्—गोपियाँ लक्ष्मीविशेष ही हैं यह प्रमाणित करता है। कारण कि यहाँ पर कुरु-पाण्डव शब्दों की तरह अवसर के अनुसार अखण्डवाचकता एवं खण्डवाचकता मानी गई है। अर्थात्—जैसे कौरव या कुरु शब्द से सभी कुरुवंशियों का ग्रहण हो जाता है, अतः कुरु शब्द अखण्डबोधक है। पाण्डव शब्द कुरुवंशी होने पर भी केवल युधिष्ठिर आदि का वाचक है, अतः वह खण्डबोधक है। इसी प्रकार लक्ष्मी शब्द भी प्रकरणानुसार कहीं सामान्य एवं कहीं विशेषरूप का बोधक होता है। अर्थात्—"नायं श्रियोऽङ्ग" में श्रीशब्द खण्डवाचक होने से एकांशस्वरूप सामान्य लक्ष्मीको बताता है और "लक्ष्मीसहस्रशतसम्भ्रमसेव्यमानं" यहाँ पर लक्ष्मी शब्द समयानुसार सामान्य असामान्य समस्त लक्ष्मीवर्ग को जनाता है, अतः यहाँ वह अखण्डवाचक है ॥३१॥

इस पूर्वोक्त सिद्धान्त से यह निष्कर्ष निकलता है कि गोपीगण यदि लक्ष्मीसामान्य हैं तो श्रीराधाजी लक्ष्मीविशेष हैं। यह भाव पद्मपुराण, स्कन्दपुराण, वाराहपुराण आदि के अर्थ से युक्त मत्स्यपुराण के वाक्यों में प्रतिपादित किया गया है। बृहद्गौतमीय तन्त्र में भी जो श्रीगोविन्द एवं वृन्दावन का नाम स्पष्ट रूप से कहा गया हैं, वह सब कैसे अन्यथा हो जायगा? ॥३२॥

लक्ष्मीरभितः स्त्रितमा, गोप्यो लक्ष्मीतमाः प्रथिताः ।
राधा गोपितमा चे,-दस्याः का वा समा वामा ? ।।३३।।

तदेवंविधानां तासामपि सर्वासामेक एव रमणः, तत एव गोकुलधामा गोविन्दनामा प्रत्येकमेकामेकां रमां रमयतां रमारमणनाम्नां पुरुपुरुषाणां परमः ।।३४।।

यत्तु, मध्ये मायया प्रत्यायितमौपपत्यं, तत् खल्ववास्तवत्वात् परस्तादवध्वस्तमिति श्रीपरमपुरुषशब्दाभ्यां प्रमितम् । कथायान्तु प्रमाणविशेषग्रथनया प्रथयिष्यामः ।।३५।।

एवं शिष्टः श्रीरामोऽप्यतिदिष्टः ।।३६।।

किञ्च, अशेषा एव च तरवः कल्पतरवः सङ्कल्पदानबलात्, केवलान्न तु मान्यता मन्यसामान्य-विशेषात् तेषु च जात्या कल्पतरवस्तु विलक्षणतया कृतलक्षणा एव ।।३७।।

किञ्च, आदर्शनिभ-स्वच्छविभव-नानादर्श-स्पर्शादिमय-भूमिका-भूमिश्च कान्तेरुत कान्ते-र्वृष्टिसृष्टिकारिणी चिन्तामणीयते ।।३८।।

अनन्त ब्रह्माण्ड की स्त्रियों में श्रीलक्ष्मीजी प्रधान हैं, लक्ष्मीगण में गोपियाँ प्रधानरूप से प्रसिद्ध हैं, श्रीराधाजी गोपियों में यदि श्रेष्ठतम हैं तब बताओ उनके समान कौनसी स्त्री हो सकती है ? अर्थात् कोई भी नहीं ।।३३।।

अतएव पूर्वोक्त लक्ष्मी-स्वरूप सभी गोपियों के एकमात्र श्रीकृष्ण ही रमण हैं । इसीलिये उनका धाम गोकुल है और नाम गोविन्द है । गोपीस्वरूपा एक एक रमा के साथ रमण करनेवाले रमारमण नामक जितने भी गोपगण हैं उनमें श्रीगोविन्द ही परमपुरुष हैं ।।३४।।

यदि कहो कि–रमण शब्द तो विधिपूर्वक पाणिग्रहण करने वाले का ही बोध कराता है तब उपपति का भाव क्यों सुना जाता है ? इस शङ्का का समाधान यह है कि–श्रीकृष्णावतार के समय में माया द्वारा जो उपपति भाव ज्ञापित होता है वह वास्तविक नहीं है, अतः पीछे नष्ट हो जाता है । श्री एवं परमपुरुष शब्द द्वारा ही इस बात का अनुमान लग चुका है । किन्तु हम तो कथा प्रसङ्ग में उत्तर-चम्पू के ३१-३२ पूरण में इस विषय का प्रमाण वाक्य संग्रहपूर्वक विशेषरूप से विस्तारपूर्वक वर्णन करेंगे ।।३५।।

इसी प्रकार अकथित अवशिष्ट श्रीबलरामजी का भी वर्णन समझ लेना चाहिये, कारण श्रीबलरामजी श्रीकृष्ण की विलासमूर्ति हैं, अर्थात् श्रीकृष्णस्वरूप ही हैं, श्रीकृष्ण के स्वरूप का वर्णन हो जाने से उनके स्वरूप का भी वर्णन हो गया, ऐसे समझ लेना चाहिये, अतः यहाँ पृथक् निर्देश नहीं किया है ।।३६।।

(ब्रह्मसंहिता में कथित "श्रियः कान्ताः कान्तः" इत्यादि पूर्वोक्त दो मन्त्रों का विशेष भावार्थ प्रदर्शित करते हुए श्रीजीव गोस्वामीजी पुनः कहते हैं कि) इस वृन्दावन में जितने भी वृक्ष हैं वे सब ही कल्पवृक्ष हैं । पूज्यता की दृष्टि से ही इनका ऐसा सम्मान नहीं है, अपितु ये सब सङ्कल्पित वस्तुमात्र के ही देने में समर्थ हैं इसीलिये इनकी मान्यता है । और उनमें भी जो जाति के ही कल्पवृक्ष हैं वे तो विलक्षणता के कारण अपने अपने विशेष गुणों से विख्यात हैं ।।३७।।

किञ्च यहाँ की साधारण भूमि भी दर्पण के समान निर्मल ऐश्वर्य एवं अनेक प्रकार के दर्शन स्पर्शन प्रभृति कार्यों की रचनास्वरूप होकर शोभा और अभिलाषा की वृष्टि सृष्टि करके चिन्तामणि का सा आचरण करती है ।।३८।।

आस्तां तावदुत्तरमनुतारतम्य-रम्यतागम्यमहिमा गृहादिषु महाचिन्तामणिमयी, यस्मादुद्भिन्नास्तत्तदुद्भिदश्च तदीयशोभामात्मन्युद्भावयन्ति । यत्र च—

दृष्टिश्रवणमयाः ता,-स्तदगोचरिताश्च जातिरूपाभ्याम् ।
नग-मृग-पक्षिविशेषा,-स्तत्रत्यानाञ्च चित्रमादधति ॥३९॥

किञ्च, तोयमप्यमृतायते, किमुतामृतम् ? किञ्च, कथापि यथा गानम्, तथा कर्णयोः पानकायते, किमुत स्वयमेव गानम् ? किञ्च, गमनमपि नृत्यचातुरीधुरीणतामुरीकरोति, नृत्यं पुनरतीवादृत्यम् ॥४०॥

किञ्च, वंशी यथा कंसारातेराशुसुखविलासं शंसन्ती, सहायतया च लसन्ती च प्रियसखीयते; न तद्वदन्यो धन्योऽपि जनः सम्भवति ॥४१॥

किञ्च, चिदानन्द एव केवलं स्वरूपानतिरिक्त-शक्तिव्यक्तिवशाद्व्यक्तिविशेषतया व्यक्तीभवन् गोकुलशब्दबल - लब्धलोकवल्लीला - कैवल्यकलनाय पुष्पवदादि - लक्षणप्रकाशकतया

यहाँ के घर, मन्दिर, गोशाला प्रभृति स्थानों की जो भूमि है वह तो महाचिन्तामणि रत्नों से व्याप्त है। इस भूमि का उत्तरोत्तर तारतम्य एवं महिमा बुद्धि के अगम्य है, अतः इसका विशेष विचार स्थगित रहने दीजिये। कारण कि वृन्दावन की भूमि से उत्पन्न तरु, गुल्म, कीट आदि सभी उद्भिद् जाति के जीव वृन्दावन की निज निज जन्मभूमि की शोभा को अपने अपने शरीर में प्रकाशित करते हैं। यहाँ के पर्वत, मृग एवं पक्षिविशेष नेत्र एवं कर्णों के अगोचर होकर भी केवल जाति और रूप के द्वारा नेत्र तथा कर्णों के गोचर होकर वृन्दावनवासी जनों को प्रतिदिन नित्यनूतन आश्चर्य दिखाते रहते हैं ॥३९॥

और देखिए जहाँ का जल भी अमृत के समान है तो अमृत का फिर क्या कहना है ? किंच यहाँ का साधारण वार्तालाप भी जब संगीत के समान श्रोताओं को बादाम की ठंडाई के समान सुस्वादु लगता है, तब सङ्गीत की चर्चा कौन करे ? और जहाँ का साधारण चलना फिरना भी जब नृत्यचातुरी की पराकाष्ठा को स्वीकार करता है, तब नृत्य कितना रमणीय एवं अति आदरणीय होगा इसको कौन कहे ? ॥४०॥

एक विशेषता और देखिये, यहाँ पर कंसारि श्रीकृष्ण की वंशी सुखमय विलास को शीघ्र ही प्रकाशित करती हुई तथा सहायक रूप से शोभा पाती हुई प्रियसखी का सा आचरण करती है। अतः इसके समान और कौन जन अति धन्य हो सकता है ? ॥४१॥

(यहाँ के ज्योतिर्मय सूर्य, चन्द्र आदि पदार्थ जिस प्रकार चिदानन्दरूप एवं प्रकाशक हैं उसी प्रकार यहाँ की आस्वाद्य वस्तुएँ भी चिदानन्दमय हैं, इस विषय का विशेष विवरण करते हुए कहते हैं कि) केवल चिदानन्द नामक एक परम ज्योतिःपदार्थ अपने स्वरूप से अभिन्ना जो शक्ति है उसके प्रकाश के बल पर वस्तु विशेष के रूप में प्रकटित होकर 'गोकुल' शब्द की शक्ति से लब्ध केवलमात्र साधारण लोगों की तरह लीला रचना के लिये ज्योतिः शब्द से कहे गये सूर्य, चन्द्र आदि स्वरूप प्रकाश करने से उनके द्वारा प्रकाश योग्य कमल, कुमुद आदि पुष्पों द्वारा आस्वादन योग्य होकर प्रकाशित होता है, किन्तु मर्त्यलोक की तरह विपरीत परिणाम की प्रणाली द्वारा व्याप्त होकर बीभत्सरसात्मक-द्रव्यरूप में परिणत नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि—जैसे ज्योतिःपदार्थ के पुंजीभूत तेज ही सूर्य, चन्द्र आदि हैं और उनके द्वारा प्रकाश्य पुष्पादि जैसे साधारण जनों के भी ग्राह्य तथा आस्वाद्य हैं किन्तु मूल ज्योति को सर्वसाधारण ग्रहण नहीं कर सकते, उसी प्रकार जो स्वयं चिदानन्दरूप होकर भी अपनी स्वरूप शक्ति के प्राकट्य से साधारण

तत्तत्प्रकाश्य-पुष्पादि-लक्षणास्वाद्यतया च प्रकाशते, न तु मर्त्यलोकवद्विपरीत-परिणतिरीति-परीततया बीभत्सितव्य-द्रव्यतामापद्यते ।।४२।।

तथा च हयशीर्षपञ्चरात्रे पञ्चतत्त्वनिरूपणे वैकुण्ठस्थ-द्रव्यतत्त्वं निरूपितम्—

'गन्धरूपं स्वादरूपं द्रव्यं पुष्पादिकञ्च यत् । रसवद्भौतिकं द्रव्यमत्र स्याद्रसरूपकम् ।।
हेयांशानामभावाच्च रसरूपं भवेच्च तत् । त्वग्बीजंचैव हेयांशं कठिनांशश्च यद्भवेत् ।
तत् सर्वं भौतिकं विद्धि न हि भूतमयं हि तत् ।।' इत्यादि ।।४३।।

तथापि (भा० १०।१४।३७)—'प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपि विडम्बयसि भूतले । प्रपन्न-जनतानन्द-सन्दोहं प्रथितुं प्रभो !' इति ब्रह्मवचनानुसारेण कृतप्रपञ्चानुकारे लीलासारे तस्य तत्प्रपन्नजनस्य च यथावेशः स्यात्, न तथा नित्याकारेऽपीति लभ्यते ।।४४।।

ततः पूर्वत्र तस्य तस्य चावेशः, परत्र च प्रवेशः स्यात् ।।४५।।

ततश्च तदिच्छावशाल्लीलाशक्तिः, परत्र च प्रायस्तत्प्रायं सर्वं व्यक्तीकरोतीति विवेक्तव्यम् ।।४६।।

जन की तरह प्रकाशित है, एवं चिन्मय गोकुल में जिसका वैभव है वह गोकुल भी साधारण गोकुल हो रहा है, तथा उसी गोकुल शब्द की सामर्थ्यवश जो साधारण गोकुल की भांति केवल लीला प्रगट कर रहा है वही सबके लिये गोचर है, अर्थात् सभीजन उस लीला रस के आस्वादन के अधिकारी हो सकते हैं। इसीलिये वृन्दावनस्थित पुष्पादि पदार्थ भी भौतिक नियम के विकारी बन्धन में नहीं हैं, अपितु अचिन्त्यप्रभाव सम्पन्न हैं ।।४२।।

इसीलिये "हयशीर्ष पंचरात्र" ग्रन्थ में पंचतत्त्वनिरूपण प्रसङ्ग में वैकुण्ठस्थ द्रव्यतत्त्व का निरूपण इस प्रकार किया गया है—इस धाम में गन्धरूप होकर भी पुष्पादि द्रव्य स्वादरूप से विख्यात हैं। तथा रसयुक्त भौतिक द्रव्य भी केवल रसरूप हैं। यहाँ की वस्तुओं में हेयांश (त्याज्यांश) के न होने के कारण सभी वस्तुएँ रसरूप हैं। फल में छिलका और गुठली ही हेयांश है या कठिन अंश भी त्याज्य है। वस्तुतः इन्हीं सब वस्तुओं को पांचभौतिक कहा जाता है। किन्तु इस धाम के पुष्पादि उस प्रकार पांचभौतिक नहीं हैं, अपितु नित्य सत्य रसमय आस्वाद्य चिन्मय स्वरूप हैं ।।४३।।

तथापि दशमस्कन्ध के "हे भगवन् ! आप निष्प्रपञ्च होकर भी भक्तजनों के आनन्दसमूह के विस्तार के लिये प्रपंचरूप जड़ जगत् का विस्तार करते हो तथा वैसा ही अनुकरण भी करते हो" ब्रह्माजी के इस वचन के अनुसार—"साधारण संसार की लीला के अनुकरण सारपूर्ण लीला कार्य में भगवान् का तथा उनके शरणागत भक्तों का जैसा आवेश हो सकता है वैसा आवेश नित्याकार लीलासार में नहीं हो सकता" यह भावार्थ प्राप्त होता है ।।४४।।

अतः पूर्वत्र (प्रपंच के अनुकरण में) श्रीकृष्ण एवं उनके भक्तों का आवेश ही परत्र (नित्याकार लीला में) भी प्रवेश कर सकता है।।४५।।

इसलिये "श्रीहरि की इच्छानुसार उनकी लीलाशक्ति प्रपंच की तरह सभी वस्तुओं को नित्याकार में प्रायः प्रकटित कर सकती है" ऐसी विवेचना कर लेनी चाहिये ।।४६।।

किञ्च, मुरजिन्मुरली-कली-खुरली च स्वमाधुरीप्रमुग्ध-मुग्ध-सुरभिदुग्धानां सुरभीणा-मूधोगिरितः सरितः प्रसारयन्ती परितः परिखायमाणं क्षीरवारिधिं विस्फारयति। तत्र कामधेनुतया निकाममेव स्नुवतीनां क्षीरवाहितापि प्राचुर्येणैव पर्यवसाय्यते ॥४७॥

ततो नानारसा अपि ता नद्यः प्रतिपद्यन्ते विद्यावद्भिः ॥४८॥

किञ्च, यत्र च तत् कैशोरानुरूपार्धवार्धक-यौवन-नवयौवनादिवयस एव तत्पितृ-भ्रातृ-सखिप्रभृतयस्ते निखिलवर्गा नान्यामवस्थामाश्रिता भवन्ति ॥४९॥

अन्यच्च, यस्य च गोलोकस्य मध्यमध्यास्य स्फुटतरानेकसहस्रपत्रीपरिचितमजस्रमेव खल्वमलं महामणिकमलं गोकुलनामतया निजरूपं निरूपयति—गोगोपावासव्रजरूपव्रज एवाहमस्मीति ॥५०॥

न्यायविन्यस्तमेव च खल्विदम्, 'रूढिर्योगमपहरति' इति। यथा—जलजशब्देनाप्सव्यमात्रं नोच्यते, किन्तु कमलमेव, रूढितामेव खल्वाख्याग्रहणमाविष्करोति ॥५१॥

किंच मुरारि की मुरली की सुमधुर मन्द ध्वनि की जो खुरली (अभ्यास), अर्थात् बारंबार बजाने की जो परंपरा है वही अपनी माधुरी के द्वारा मधुर से भी मधुर एवं सुगन्धियुक्त दुग्ध देने वाली सभी सुरभियों के स्तनरूपी पर्वत से नदियों का विस्तार करती हुई, गोलोक के चारों ओर परिखा की तरह क्षीर समुद्र को विस्तारित करती रहती है। वहाँ पर जितनी भी गैया हैं वे सभी कामधेनु हैं. इसी कारण से उनसे यथेष्ट परिमाण में दुग्ध निकलता रहता है एवं उनकी दुग्धप्रवाहितारूप शक्ति भी प्रचुर परिमाण में परिणत हो रही है। यह निश्चित सिद्धान्त है ॥४७॥

कामधेनु अनेक रसों का दोहन करती हैं, दुग्ध यथेष्ट दोहन करती हैं। अतः क्षीर समुद्र उत्पन्न हो गया है, इसी प्रकार अनेक रस क्षरण होने से अनेक प्रकार की नदियाँ होगईं। इसीलिये तत्त्वज्ञ पण्डितगण उन सब नदियों को अनेक रसवाहिनी कहकर समझते हैं ॥४८॥

और उस दिव्य गोलोक में श्रीकृष्ण की नित्यकिशोर अवस्था के अनुरुप, अर्धवार्धक्य (आधा बूढ़ापन), यौवन एवं नवयौवन आदि अवस्था वाले श्रीकृष्ण के पिता, भ्राता, सखा प्रभृति जो निखिल बान्धववर्ग हैं, वे दूसरी अवस्था का आश्रय नहीं लेते हैं, अर्थात् जिसकी जो अवस्था है वह उसी अवस्था में रहता है। प्रकृतिमण्डलस्थ जनों की तरह उस अवस्था का परिवर्तन नहीं होता है ॥४९॥

और देखिए! जिस गोलोक के ठीक मध्यप्रदेश में स्थित होकर अतिशय विकसित, अनेक सहस्र पत्रों से युक्त निरन्तर निर्मल रहनेवाला जो महामणिमय कमल है, वही अपने रूप को 'गोकुल' नाम से विज्ञापित करता है, अर्थात् अपना गोकुलनाम से निरूपण करता है और कहता है—गैया और गोपालों की आवास-समूहरूप जो व्रजभूमि है, वही मैं हूँ, अर्थात् मुझ में और गोलोक में कुछ भी भेद नहीं है। तात्पर्य यह है कि गोकुल, गोलोक, वृन्दावन ये तीनों एक ही स्थान विशेष के पर्यायवाचक शब्द हैं, अतः पाठकों को भ्रम नहीं होना चाहिये ॥५०॥

यह 'गोकुलत्व', अर्थात् गोकुलशब्द "रूढ़ि अर्थ योगरूप अर्थ का अपहरण कर लेता है" इस न्याय के अनुसार गोलोक या व्रजमण्डल की वाचकता में ही रूढ़ है। जैसे 'जलज' शब्द जल से उत्पन्न वस्तुमात्र का वाचक होकर भी केवल कमल में रूढ़ है, अर्थात् जलज शब्द से जलजात वस्तुमात्र को नहीं कहते, किन्तु कमल को ही कहते हैं, उसी प्रकार यहाँ गोकुलशब्द गोसमूह को न कहकर व्रजधाम को ही कहता है। यह निश्चित है कि पदार्थों का जो नाम लेना है वह रूढ़िभाव का ही आविष्कार करता है ॥५१॥

श्रीशुकदेवेनाप्येतदपेक्षयोक्तम्—'भगवान् गोकुलेश्वरः' इति वरट्प्रत्ययः खल्वत्र शीलार्थतापरः; तदेव चाम्नातं 'गोकुलं वनवैकुण्ठम्' इति ॥५२॥

अथ श्रीमद्व्रजराजतनुजताशीललीलस्य महाभगवतस्तदीयकर्णिकामध्यमधिकृत्य नानावर्णधामतया निर्वर्णित-मणिमय-महाधाम-निकाममुद्भ्राजते । यदेव स्वयमनन्तांशसम्भूतमिति स्फुटमनन्तधा प्रकाशते ॥५३॥

यस्मिन् केसरविसरान्, प्राचीराङ्गान् समन्ततः समया ।
सदया दायादायाः, सोपासीना वसन्ति गोपालाः ॥

गोकुलताबलतस्तदपि संवलते ।

तथा हि—अंशा भागा दाया,-स्तद्धितयोगेन दायवन्तश्च ।
तत् किल जातेर्भागा, बकजिति ते सन्ति दायवन्तश्च ॥
तस्मिन्नंशो येषा,-मिति वा गम्यो बहुव्रीहिः ।
व्रीहिनिभस्तत्प्रेमा, तेषां वृत्तौ तदाश्रयो युक्तः ॥५४॥

तदेवमेषां तज्जातित्वमेवोक्तं श्रीशुकेन (भा० १०।३६।१५)—
'एवं ककुद्मिनं हत्वा स्तूयमानः स्वजातिभिः ।
विवेश गोष्ठं सबलो गोपीनां नयनोत्सवः ॥ इति ॥५५॥

दशमस्कन्ध में श्रीशुकदेवजी ने भी पूर्वोक्त अर्थ की अपेक्षा करके ही "भगवान् श्रीकृष्ण गोकुल के ईश्वर हैं" ऐसा कहा है। यहाँ पर ईश धातु से निश्चय ही शीलार्थ में वरट् प्रत्यय हुआ है। इस प्रकार का वाक्य वेद में भी कहा गया है, यथा "वनों के बीच में गोकुल वैकुण्ठ ही है।" ॥५२॥

अनन्तर श्रीमान् व्रजराज नन्दरायजी के पुत्रत्वस्वभावसम्पन्न महाभगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का गोकुल नामक कमल की कर्णिका के बीच में अधिकार करके अनेक वर्णों का आश्रयस्वरूप, पूर्वप्रसङ्ग में निर्दिष्ट, मणिमय जो महाभवन है, वह यथेष्ट परिमाण में प्रकाशित होता रहता है, अर्थात् सर्वदा देदीप्यमान रहता है। वह स्वयं अनन्त (शेषजी) के अंश से उत्पन्न हुआ है, इस कारण से स्पष्टरूप से अनन्त प्रकार से प्रकाशित होता रहता है ॥५३॥

जिस मणिमय महाभवन में परकोटा के अङ्गस्वरूप केसरसमूह के निकट चारों ओर उपासक ब्राह्मणगण के सहित दयायुक्त दायादाय, अर्थात् स्वजातीय गोपगण निवास करते हैं। गोकुलताशब्द के बल से वह भी सुसङ्गत है। देखिए ! अंश अथवा भागमात्र को दाय कहते हैं, दायशब्द के उत्तर में "अर्श आदिभ्योऽच्" प्रत्यय करके 'दाय' शब्द सिद्ध हुआ है। अतः दायशब्द का 'दायवान्' अर्थ होगया। अतएव निश्चय ही गोपजाति के वे सब भाग बकासुरनिहन्ता श्रीकृष्ण के ऊपर हैं। इसीलिए वे सब गोप 'दायवन्त' या अंश विशिष्ट कहलाते हैं। अथवा "श्रीकृष्ण में ही है अंश जिनका" इस प्रकार बहुव्रीहि समास स्वीकार करना होगा। तात्पर्य यह है कि—धान्यादि जैसे मनुष्यमात्र के जीवन का हेतु है उसी प्रकार गोपवृन्द का श्रीकृष्णविषयक प्रेम ही गोपवृन्द के जीवन का हेतु है। अतएव दायाद गोपगणों का 'दायाद' इस पद के समास में बहुव्रीहि समास का आश्रय लेना ही उपयुक्त है ॥५४॥

इसलिए श्रीशुकदेवजी ने भी इसी प्रकार इन सभी गोपों को श्रीकृष्ण के स्वजातीयरूप में ही वर्णन किया है। दशमस्कन्ध (३६।१५) में श्रीशुकदेवजी ने कहा है कि—हे राजन् ! श्रीकृष्ण ने इस प्रकार

पत्राणि तत्र कमले कमलालयाना,-मंशेन केलिविपिनानि भवन्ति येषु ।
चिन्तामणि-प्रकर-सद्मसु कल्पवृक्ष,-लक्षावृतेषु निभृतं रमते मुकुन्दः ॥५६॥
तत्राधिराज्यं किल राधिकामनु,-प्रत्तं प्रियेणेति पुराणविश्रुतम् ।
अहन्तु मन्ये पुनरुक्तमेव तद्,-गुणेन तस्याः स च यद्वशं गतः ॥५७॥

इह च पूर्वं यदेव श्रीपरमपुरुषशब्दाभ्यामध्यवसितं, तदेवाध्यवसीयते । तासु केवलासु व्रजराजसुतवधूभावस्य लब्धप्रसिद्धितां विना व्रजकमलसकलपत्रावल्याधिपत्यं न प्रसिद्धयतीति ॥५८॥

अथ किञ्चित्कुञ्चितकमलपत्रवदुन्नतपार्श्वद्वयावयवतया बहिर्दुर्लंघशृङ्गमणिमयालवाल-शोभामत्राणां पत्राणामन्तरालेषु केशरादवतीर्णानि विस्तीर्णानि पृथक् पृथगुपनिष्कराणि विराजन्ते । तेषामग्रिमसन्धिषु स्फुटमधिमध्यमध्यमध्यस्त-समस्तेशगोष्ठानि गोष्ठानि विभ्राजन्ते । अत एव तत्पर्यन्तस्य तस्य गोकुलतावकलिता ॥५६॥

अरिष्टासुर को मार कर स्वजातीय गोपगणों के द्वारा प्रशंसित होते हुए एवं सभी गोपियों के नेत्रों के मूर्तिमान महोत्सवरूप होते हुए श्रीबलदेवजी के सहित गोकुल में प्रवेश किया ॥५५॥

पूर्वोक्त गोकुल नामक कमलपुष्प के सम्पूर्ण पत्र ही लक्ष्मीस्वरूपा गोपियों के अपने अपने अंश द्वारा क्रीड़ावनरूप होकर विद्यमान हैं । उन क्रीड़ावनों में लाखों कल्पवृक्षों से परिवेष्ठित एवं चिन्तामणि रत्नसमूह द्वारा बने हुए बहुत से घरों में श्रीकृष्णचन्द्र एकान्त में क्रीड़ा करते हैं ॥५६॥

उस गोकुल में प्रियतम श्रीकृष्ण ने श्रीराधिकाजी को लक्ष्य करके पहले ही वहाँ का राज्यसुख दे दिया था, यह बात पुराणों में प्रसिद्ध है । किन्तु मैं तो इस बात को पुनरुक्त ही मानता हूँ, कारण कि श्रीकृष्ण तो श्रीराधिका के गुणों से सदैव उनके वशीभूत ही हैं ॥५७॥

इस प्रकरण में पहले ब्रह्मसंहिता के अनुसार श्रीशब्द एवं परमपुरुष शब्द से जो मायिक उपपतिभाव निराकरणपूर्वक निजपतिभाव निश्चय किया था उसी को यहाँ पर पुनः दृढ़ कर रहे हैं । यथा—व्रजराजकुमार श्रीकृष्ण का वधूभाव यदि इन समस्त गोपियों में ही प्रसिद्धि को प्राप्त न करेगा तो व्रज के समस्त कमल पत्रों के ऊपर उन गोपियों का आधिपत्य भी सफल सिद्ध न होगा ॥५८॥

पहले जो गोकुलरूपी गोलोक के उपवनों का उल्लेख किया था अब उनके अवयव भागों का वर्णन करते हैं । यथा—गोकुल एक सहस्रपत्र वाले कमल के समान है, उसके पत्रसमूह उपवन के समान हैं । खिले हुए कमल के थोड़ा सा सिकुड़ने पर जैसे उसके पत्रों के प्रान्तभाग कुछ ऊँचे उठे से दिखाई देते हैं, उसी प्रकार उपवनों के चारों ओर बाहर से न लांघने योग्य अत्यन्त ऊँचे मणिमय आलवालों की शोभा के पात्र कमलपत्रों के मध्यभागों में कमल के मध्य में स्थित केसरस्वरूप श्रीकृष्ण के भवन से निकलकर अलग-अलग विस्तीर्ण राजमार्ग सुशोभित होरहे हैं । पूर्वोक्त पत्रस्वरूप विभिन्न उपवनों के प्रान्तभाग परस्पर मिले हुए हैं । उन प्रान्तभागों में गैयाओं के रहने के स्थान सुशोभित हैं । इन गोस्थानों के बीच में गोपगण एवं गोपराज श्रीनन्दजी महाराज विराजते हैं, अतएव कमल के उस स्थान पर्यंत भाग को 'गोकुल' नाम से पुकारा जाता है । अर्थात् गोकुलरूप कमल के बीच में श्रीकृष्ण का स्थान है, उसके निकट में चारों ओर श्रीराधा आदि प्रेयसी अष्ट सखियों का स्थान है । उसके बाद चारों ओर श्रीकृष्ण के सखाओं का स्थान है, उसके बाद रक्तक, पत्रक आदि दासों का स्थान है, उसके बाद श्रीयशोदा, रोहिणी आदि माताओं के

तत्रापि दोहसमयं समया समेन, गोवृन्दपालवलयेन निविश्य पश्यन् ।
चिन्तामणिप्रचितसद्मसु कल्पशाखि,-पद्मावृतेषु सुरभीरभिपाति कृष्णः ॥६०॥

यस्य च समीपगानामालयरूपस्य कमलस्य सर्वतश्चतुरस्रं भवति, तदिदं सर्वं वृन्दावनमिति वदन्ति । तद्बहिरन्तरं समस्तदीपायमानः स महाद्वीपायमानः परमसुवेशः सर्वश्च देशः श्वेतद्वीप इत्याचक्षते गोलोक इति च । यस्तु बहिर्भागः सागरवदपरिच्छेद्यस्तत्र विगतशोका धारित्रनिभ-विचित्रलोकाः सलोका विद्यन्ते । पत्रस्थितानि तु वनानि केलिवृन्दावनानीति भणन्ति ॥६१॥

यथोक्तं पञ्चरात्रे—'महावृन्दावनं तत्र केलिवृन्दावनानि च' इति ॥६२॥

अथ चतुरस्रमनु कमलात् पतयालुतया परितः स्रवन्तीर्मधुधाराः पिबन्त इव पुनरपरतत्पानाय वमन्त इव च दक्षिणपश्चिमयोः सर्वतः पर्वतः पर्वतषट्पदा दृश्यन्ते । यत्र च तत्रापि महामणि-मयकूटघनः श्रीगोवर्धनः कूटीभूत-महानिधिवदखर्वमानन्दगर्वं सर्वाधिपतेरप्याविर्भावयति ॥६३॥

रहने का स्थान है । उसके बाद नन्द, उपनन्द आदि और पर्जन्य आदि पिता, पितामह आदि का स्थान है । उसके बाद वृद्ध गोपगणों के सामने गोगणों का स्थान बना हुआ है । गोलोक के वास की परिपाटी इस प्रकार समझनी चाहिए, आगे भी इसका कुछ वर्णन आयेगा ॥५९॥

उन गैयाओं के खिड़कों में गोदोहन के समय श्रीकृष्ण अपनी समान अवस्था वाले गोवृन्द पालनकर्ता गोपगणों के सहित प्रविष्ट होकर पद्मसंख्या वाले कल्पवृक्षों से घिरे हुए, चिन्तामणियों से खचित भवन-समूहों में सभी गैयाओं का निरीक्षण एवं पालन करते हैं ॥६०॥

वृन्दावन, गोलोक, श्वेतद्वीप ये गोकुल के ही तीन नाम हैं, यह पहले ही निर्दिष्ट कर चुके हैं । श्रीकृष्ण के समीपवर्ती गोपगणों के आलयरूप कमल के चारों ओर जो चतुष्कोण (चार कोनेवाला) स्थल है, भक्तितत्त्ववेत्ता रसिकपण्डितजन उस समस्त स्थल को वृन्दावन कहते हैं । उस वृन्दावन के बाहिरी भाग एवं भीतर के भाग को दीपक के समान प्रकाशित करने वाले महाद्वीप के तुल्य परम सुन्दर समस्त देश को श्वेतद्वीप और गोलोक कहते हैं । उसी वृन्दावन का जो बाहर का भाग समुद्र के समान परिमाणरहित है वहाँ पर जो लोग निवास करते हैं वे शोकरहित हैं । वे सब पृथ्वीसम्बन्धी संसारीजनों की तरह प्रतीयमान होकर भी वैकुण्ठवासीजनों के समान विद्यमान हैं । और पत्रों में स्थित जो वन हैं, उनको विज्ञजन "केलि-वृन्दावन" नाम से कहते हैं ॥६१॥

नारद पञ्चरात्र में भी कहा है कि—उस कमलाकार गोकुल में महावृन्दावन एवं बहुत से केलिवृन्दावन भी विद्यमान हैं ॥६२॥

कमल से तो मधु की धारा बहा करती हैं । उस गोकुलाधारभूत कमल से कैसी मधुधाराएँ बहती हैं? तहाँ कहते हैं—वृन्दावन के दक्षिण एवं पश्चिमभाग में स्थित पर्वतरूप भ्रमरगण देखे जाते हैं, वे सब गोकुल-रूप कमल से निकल कर चारों ओर मधुधारा को बहाने वाली जो नदियाँ हैं, उनका पर्वतरूप मधुकरगण मधु की तरह चाव से पान करते हुए, तथा और जन भी इस का पान करें इस ध्येय से मधुधारा वाहिनी उन नदियों को ओर ही पुनः वमन (उद्गिरण) करते रहते हैं । चारों कोनों पर विद्यमान पर्वतों के बीच में

श्रीगोवर्धननामा चायं रमणीयमणिशिलाभिः समासनमासनम्; खगावलिकलित-काकलीभिः स्वागतं स्वागतम्; श्यामाकदूर्वाब्जविष्णुक्रान्तापर्यगाक्रान्ततिर्यङ्निर्झरिभिर्निष्पाद्यं पाद्यम्; चञ्चन्मृगचरणन्यञ्चदक्षत-दर्भानन्तांकुरैः समर्घ्यमर्घ्यम्; तीरसनीड-जाती-लवङ्ग-कक्कोल-सङ्गत-पल्वलैरलमाचमनीयमाचमनीयम्; नवनवनवप्रसूतगवी-नवीनस्नुतक्षीर-परिणत-दधि-तत्प्रसृत घृतशबलनैस्तरूपहृतमधुपर्कं मधुपर्कम्; शिखर-शेखरशिलासर-प्रखरधारापातैरनुकृत-स्नपनपरिचर्याप्रीतिमज्जनं मज्जनम्; दुकूलवदनकूलसंश्लेषस्वर्णवर्णवृक्षविशेषवल्कलैः कलितसुखवसनं वसनम्; स्वभावानुबन्धगन्ध-सुगन्धशिलाशतपरिणत-हरिचन्दनगौरगैरिकैश्चर्चातिशयं चर्चातिशयम्; प्रफुल्लमाल-मालतीलतादिभिर्नन्दितसुमनसः सुमनसः; गव्या-खुरव्याहतिजाता-गुरुदारुधूमैर्व्याहतसर्वधूपं धूपम्, दिवापि विद्योतिमणिनिकर-ज्योतिभिः सर्वसम्पदुद्दीपं दीपम्; मञ्जुलगुञ्जापिञ्छादि-विञ्छोली-वाञ्छित-निर्माणैः कृतसुषमाभरणमाभरणम्; अभिलाषानुकूल-फलमूल-वलयैः सर्वसुखसमाहारं समाहारम्; पुष्पवासितशीतलजल-वलयितपुनरा-

---

महामणिमय शिखरावली द्वारा निविड़ (घना) होकर श्रीगोवर्धन पर्वत पुञ्जीभूत महामणि निधि की तरह सब के अधिपति श्रीकृष्ण के भी अतिशय आनन्द गर्व को उत्पन्न करता रहता है ॥६३॥

हरिदासों में श्रेष्ठ श्रीगोवर्धन नामक यह पर्वत अनेक प्रकार के उपचारों से जिस प्रकार श्रीकृष्ण की पूजा करता है उसका अब वर्णन करते हैं—(१) रमणीय मणिमय शिलाओं द्वारा अच्छी प्रकार बैठने योग्य आसन, (२) पक्षियों की सुमधुर शब्दावली द्वारा सुखपूर्वक ज्ञात स्वागत, (३) समा के चावल, दूर्वादल, कमल, अपराजिता सहित चारों ओर झरते हुए टेढ़े-मेढ़े झरनों के सुन्दर जल द्वारा निष्पाद्य पाद्य, (४) इतस्ततः संचरणशील मृगों के चरणपात से अवनत तथा अक्षत कुशांकुर एवं दूर्वांकुरों के द्वारा सुलभ अर्घ्य, (५) तीर पर उत्पन्न लवङ्ग एवं कोशफलयुक्त कुण्डजल द्वारा आचमन योग्य आचमनीय जल, (६) नवीन नवीन नई व्याई हुई गैयाओं के झरते हुए दूध से रूपान्तरित दधि एवं दधिजनित घृत से मिश्रित वृक्षों द्वारा दिये हुए मधु से संयुक्त मधुपर्क, (७) प्रीतिमान भक्तजन प्रीतिपूर्वक श्रीकृष्ण को जिस प्रकार नित्य स्नान कराते हैं उसी प्रकार शिखरों के अग्रभाग की शिलाओं से निकलती हुइ प्रखरधाराओं के पतन द्वारा स्नानीय जल, (८) दुपट्टा की तरह अनुकूल परिपाटीयुक्त सुवर्ण वर्ण के भोजपत्र आदि वृक्षविशेषों के वल्कल द्वारा सुखपूर्वक पहनने योग्य वस्त्र, (९) स्वभावसिद्ध है गन्ध जिनका ऐसी सुगन्धमय सैकड़ों शिलाओं से मिलित हरिचन्दन, हरिताल एवं गेरू आदि धातुओं द्वारा सामान्य गन्ध की अपेक्षा श्रेष्ठ गन्ध, (१०) खिली हुई हैं पंक्तियाँ जिनकी ऐसी मालती आदि लताओं के द्वारा देवताओं के आनन्ददायक पुष्प, (११) गोसमूह के खुरों द्वारा टूटे हुए जायफल, अगुरु (गुग्गुल), देवदारु के धूम के द्वारा समस्त सन्तापनाशक धूप, (१२) दिन में प्रकाशमान मणिसमूह की ज्योति द्वारा सब सम्पत्तियों को प्रकाशित करने वाला दीपक, (१३) मनोहर गुंजा, मयूरपुच्छ एवं पुष्पगुच्छ आदि से अभिलषित वस्तुओं के निर्माण द्वारा परम शोभापोषक आभरण, (१४) श्रीकृष्ण की अभिलाषा के अनुकूल फल, मूलसमूह द्वारा सब सुखों का एकत्र मिलनरूप आहार, (१५) आहार के बाद पुष्पों से सुगन्धित शीतल जल द्वारा पुनः आचमन के पश्चात् विमल एवं उपमारहित गन्धयुक्त तुलसीपत्र द्वारा उत्तरोत्तर मुख को सुगन्धित करनेवाला ताम्बूल, (१६) वायु की अधिकता से चञ्चल एवं विकसित पुष्पों की शोभा से युक्त चमेली के पुष्परूपी दीपश्रेणी द्वारा रात्रिपर्यन्त आरती, (१७) घनी पत्रावली से युक्त मोरछली आदि वृक्षों द्वारा जिसकी अत्युत्तम शोभा विशेष होगई है ऐसे पत्तों से युक्त छत्र, (१८) मलयगिरि की वायु के द्वारा किंचित् चञ्चल पत्तों से विशिष्ट

चमनमनु विमलपरिमलातुल-तुलसिकापल्लवादिभिर्मुखवासनं मुखवासनम्; मरुदुच्चलस्फुटत्पुष्पसम्पच्चम्पकदीपावल्या स्फुटमारात्रिकमारात्रिकम्; घनकिसलय-वलय-संकुल-बकुलमुखशाखिनिकरैः शोभान्तरतमातपत्रमातपत्रम्; मलय-मरुल्लवचलत्-पल्लवविशालशालैर्नन्दित-भव्यजनं व्यजनम्; निजस्वरविवेकिनां केकिनामनेकाङ्गकेकाभिः कलिलास्यं लास्यम्; हरिवेणु-ध्वनिभ्रमकोचककलक्रमकृताकर्षवनितान्वित-शय्यायमान-पुष्पपातपर्यायैः कृतसर्वातिशयनं शयनम्; काकली-कलिल-कलकोकिलकुलैर्लब्धसङ्गानं सङ्गानमपि हरिं परिकलयन् पूर्वपूर्व-सिद्धनिज-हरिदासवर्यतां पर्यापयन्नास्ते ॥६४॥

कृतहरिदासवर्यसङ्गा मानसगङ्गा च सुर्वसुखस्थेमनि कृष्णप्रेमणि मानसद्रवमयीति किल तन्नामतया तां वर्णयन्त्युपश्लोकयन्ति च ॥६५॥

स्वल्पेनाघजिदंश-वामनपद-स्पर्शेन गङ्गा सदा
सर्वाघप्रशमन्यभूदपि शिवस्यारूढमूर्धाजिनि ।
स्वेनैवाघजिता सदा विहरता ब्रह्मेशलक्ष्मीजयि-
प्राशस्त्येन सह व्रजेन मिलिता गङ्गापरा किं पुनः ? ॥६६॥

बड़े बड़े शाल के वृक्षों द्वारा भव्यजनों का आनन्ददायक व्यजन, (१९) जिनका केका रव सर्वत्र विख्यात है, ऐसे अपने केका रव के जानने वाले मयूरगण अपना मुख फैलाकर ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत आदि भेद से अनेक प्रकार का केका रव करते करते जो नृत्य करते हैं, वही श्रीकृष्ण का प्रीतिजनक नृत्य, (२०) श्रीकृष्ण की वंशोध्वनि का भ्रम देने वाली वायु के द्वारा बजते हुए बाँसों की जो अव्यक्त मधुर ध्वनि, उसको कानों द्वारा श्रवण कर आकर्षित होकर आई हुई गोपवनिताओं के सहित सुन्दर शय्या की तरह गिरते हुए पुष्पों की क्रम परिपाटी द्वारा सबका अतिक्रमण करने वाली जो शय्या है वही शय्या, (२१) शय्या आने के बाद निद्रा का आवेश होता ही है, उस समय धीरे स्वर से सुमधुर गायन उपयुक्त होता हैं, अतः श्रीहरिदास-वर्य गिरिराज सुमधुर अस्फुट शब्दकारी एवं कल ध्वनिकारी कोकिलगणों के सुमधुर शब्दों द्वारा समयोचित गायन की भी व्यवस्था कर देता है। उस गायन के करने वाली यद्यपि बहुत सी कोयल हैं, तथापि तान की संगति नहीं बिगड़ने पाती, इस प्रकार श्रीगोवर्धन श्रीकृष्ण का उद्देश्य लेकर उनका दर्शन करता हुआ, पाद्य, अर्घ्य आदि पूजा के सब उपकरण समर्पण करता हुआ पूर्व पूर्व नित्यसिद्ध अपनी हरिदासवर्यता, अर्थात् समस्त हरिदासों में अपनी श्रेष्ठता प्रकाशित करता हुआ विद्यमान है। (तात्पर्य यह है कि अन्य सामान्य भक्तजन तो कोई पाँच उपचारों से तो कोई सोलह उपचारों से श्रीहरि की सेवा पूजा करते हैं, परन्तु यह श्रीगिरिराज तो इक्कीस प्रकार के उपकरणों से पूजा करता है। इसीलिये व्रज की समस्त गोपियों ने इसको श्रीहरिदासवर्य की उपाधि दे रक्खी है) ॥६४॥

हरिदासवर्य श्रीगोवर्धनजी का संग प्राप्त करके ही मानसीगङ्गा का मन निश्चय ही सर्व सुखों के आश्रयस्वरूप श्रीकृष्ण के प्रेम में ही द्रवीभूत होगया है। इसीलिये विज्ञजन उसको 'मानसगङ्गा' के नाम से वर्णन करते हैं एवं श्लोकों द्वारा इस प्रकार उसकी स्तुति भी करते है ॥६५॥

श्रीमानसीगङ्गा की स्तुति

जब अघासुरविजयी श्रीकृष्ण के अंशावतार श्रीवामन भगवान् के थोड़े से चरणस्पर्श से श्रीगङ्गाजी सर्वपापविनाशिनी एवं श्रीशिवजी के मस्तक पर आरूढ़ होगई, तब ब्रह्मा, शिव एवं लक्ष्मी से भी विशिष्ट

अथ यत्राप्युत्तरपूर्वयोः कस्यानन्दव्रजरूपस्य व्रजस्यालिन्दाददूरभवेति किल कालिन्दीति-नाम्नी यमुना विलसति । या खलु—॥६७॥

कदाचिद्धाराभिर्वहति हरिरत्नद्रवनिभा, कदाचित् स्तब्धाङ्गी स्फुरति हरिरत्नक्षितिरिव । क्रमाद्वेणौ तस्मिन्न नदति नदत्यर्कतनया, जलस्थल्योः शर्म प्रसवति हरेः सेवनविधौ ॥६८॥

पश्यन्ती जलजेक्षणा घनरसावर्तश्रुतिः शृण्वती
जिघ्रन्ती झषनासिका तरलदोरालिङ्गनं कुर्वती ।
जल्पन्तीव च हंसचक्रवदना नीरात्मना कृष्णभाग्-
या कृष्णा बत साथ कीदृगसकृद्देव्यात्मना चेष्टते ? ॥६९॥

यत्र च सर्वत्र सरांसि चैवमुत्प्रेक्ष्यन्ते—
व्रजविपिनविभागे निश्चलो यस्य वासः, स्वयमयमपरेषां पोषको जज्ञनीति ।
कलय वरसरांसि स्रोतसामत्र वृन्दै,-र्विदधति यमुनादिद्वीपिनीः स्फीततोयाः ॥७०॥

व्रजवासीजनों के साथ सदा विहार करनेवाले सर्वपापहारी स्वयं अघविजयी श्रीकृष्ण से सर्वाङ्ग सहित मिली हुई श्रीमानसगङ्गा सर्वश्रेष्ठ हैं, इस विषय में तो फिर कहना ही क्या है ? ॥६६॥

और जिस गोलोक में वृन्दावन के उत्तर एवं पूर्व दिशा की ओर किसी अनिर्वचनीय आनन्दसमूहरूप व्रजधाम के आँगन के समीप ही प्रवाहित होने वाली, अतएव कालिन्दी नाम वाली श्रीयमुनाजी विलास करती रहती हैं ॥६७॥

जो श्रीयमुनाजी कभी कभी धाराओं के द्वारा इन्द्रनीलमणि के द्रव की तरह शोभापूर्वक बहती हैं, तथा कभी कभी इन्द्रनीलमणि की भूमि की तरह स्थिर अंग वाली होकर दिखाई पड़ती हैं, और उस वंशी के बजने पर यमुनाजी उसे सुनती हैं, जब वंशीध्वनि नहीं होती तब स्वयं ही वंशी की सी ध्वनि करती रहती हैं । इस परिपाटी से सूर्यपुत्री श्रीयमुनाजी जल और स्थलरूप दोनों स्थानों पर श्रीहरि की सेवा के लिये सुख उत्पन्न करती रहती हैं ॥६८॥

श्रीयमुनाजी जलरूप एवं देवीरूप से दो प्रकार की हैं, वे दोनों प्रकार की ही श्रीकृष्णभक्त हैं, यथा— जो श्रीयमुनाजी विकसित कमलरूप नेत्रों द्वारा श्रीहरि का दर्शन करती हुई, जल के भ्रमर (भँवर)-रूप कानों से श्रीहरि का लीलामृत श्रवण करती हुई, मछलीरूप स्वनासिका द्वारा श्रीहरि के श्रीअङ्ग की गन्ध को सूंघती हुई, तरङ्गरूपी अपनी भुजाओं द्वारा श्रीहरि का आलिगन करती हुई, हंसमण्डल या चकवा चकवीरूप मुख द्वारा श्रीहरि के साथ स्पष्ट वार्तालाप सा करती हुई, जलरूप से भी जब श्रीकृष्ण की सेवा करती हैं, तब देवीरूप से वही श्रीयमुनाजी बारंबार किस प्रकार की सेवा करती हैं, यह नहीं जाना जा सकता ॥६९॥

जिस गोवर्धन में चारों ओर विद्यमान सरोवरों की कविजन इस प्रकार उत्प्रेक्षा करते हैं:—हे प्रिय मित्रो ! देखो, व्रज के विपिन विभाग में जिस गोवर्धन का वास निश्चल है, वह दूसरों का भी पोषक हो सकता है, यह निश्चय समझो । यहाँ के सरोवरों को तो देखो ! जो कि अपने झरनों के जलसमूह द्वारा श्रीयमुना आदि नदियों को भी अधिक जल वाली बना रहे हैं ॥७०॥

यत्र च—काश्चित् पङ्कजकैरवावलिलसत्स्रोतस्वती-प्रान्तगा
नानापुष्पवनीविराजदवनीमध्यस्थिताः काश्चन ।
केकाभ्रंकृतिमत्कुहूमधुरिताः कान्ताङ्गचर्चाचिता
नासादृक्श्रवसः सदापि सुखदा रासाङ्किता भूमयः ॥७१॥

किञ्च—भाण्डीरस्तरणिपदं समुन्नतेर्न, प्रायातः परमिह किन्तु विस्तृतेश्च ।
तच्छाखाः परिविहरन्नवारपारे, कालिन्द्या मुहुरभियाति गोपसङ्घः ॥७२॥

तथा—क्वचित् सद्माभासप्रकटबलवत्कोटरघटः
क्वचित् पल्यङ्काभप्रथितपृथुशाखासुखतमः ।
क्वचिद्दोलातुल्यग्रथितलतिकापालिवलितः
सदासौ भाण्डीरः कमिव हरिकेलिं न तनुते ? ॥७३॥
तदुदीचीमनुदेशः, प्रथयति सौख्यानि रामघट्टाख्यः ।
यत्र च रामं कुर्वन्, सुखयति रामः सरामतामञ्चन् ॥७४॥

अथ तस्य लोकस्य लोकपालैर्वरणीयानि विमानच्चारिणां वराण्यावरणानि सुरवर्त्मनि वरीवृतति । यत्र च वासुदेवादिसंज्ञं स्वयमेव चतुर्व्यूहवृन्दं लोकपालायमानं सेनाव्यूहतामुररीचरीकरीति । तत्र च पुरुषार्थादयः के वराकाः ? ॥७५॥

इस श्रीयमुनाजी के पास की भूमि दो प्रकार की है, कुछ भूमियाँ तो कमल, कुमुद आदि पुष्पावली से सुशोभित नदी के प्रांत की हैं, तथा कोई अनेक प्रकार के पुष्पों से युक्त वृक्षों वाली वनभूमि से सुशोभित हैं। यह द्वितीय विभाग वाली भूमियाँ मयूरगण केका रव से भ्रमरों की झङ्कार से, एवं कोकिलों के कुहू रव से युक्त होने के कारण अति सुमधुर और रमणियों के चन्दन आदि अंगराग द्वारा व्याप्त तथा रासलीला के चिह्नों द्वारा अङ्कित होकर नासिका, नयन, श्रवण और त्वगिन्द्रिय आदि के लिये सदैव सुख देती रहती हैं ॥७१॥

किंच भाण्डीरवट अतिशय ऊँचा होने से ही सूर्य के निकट नहीं पहुँचा है, किन्तु चारों ओर की शाखाओं के विस्तार से भी श्रीयमुनाजी के ऊपर होकर तरणि, अर्थात् नौका के तुल्य होरहा है। कारण कि गोपसमूह उसकी योजनों लम्बी शाखाओं पर विहार करता हुआ श्रीयमुनाजी के दोनों पार बारंबार अनायास ही आता जाता रहता है। अर्थात् ग्वालबाल खेलते खेलते भाण्डीरवट की शाखाओं से ही यमुनाजी के इस पार उस पार बार बार आते जाते रहते हैं। अतः यह वट ही नौकारूप होरहा है ॥७२॥

तथा कहीं कहीं अपने अंगों में घर के समान अति उत्तम कोटर (खोंतर) समूह प्रगट करके और किसी अंग में पलङ्ग के सदृश सुखदायक मोटी मोटी शाखाओं का विस्तार करके एवं किसी अंग में झूला के समान ग्रथित लताश्रेणी से युक्त होकर यह श्रीभाण्डीरवट श्रीहरि की कौन सी क्रीड़ा को सदा विस्तारित नहीं करता ? अपितु सदैव श्रीहरि की सभी लीलाओं का साधन बना हुआ है ॥७३॥

भाण्डीरवट की उत्तर दिशा की ओर रामघाट नामक प्रदेश सुखसमूह विस्तारित करता रहता है। जहाँ पर क्रीड़ा करते हुए श्रीबलरामजी अति रमणीय शोभा विशिष्ट होकर सभी सखाओं को सुखी करते रहते हैं ॥७४॥

और उस गोलोक के आकाशमण्डल में लोकपालों के द्वारा भी प्रार्थनीय विमानचारी देवताओं के

तदेवं सति गोलोकनामायं लोकः परममान्यः सामान्यतयापि केन वर्ण्यताम् ? यः खल्वमृतसिन्धुरित्यमृतान्धसः, यशसः सवया इति कवयः, वैचित्रीधर्माकृतिरिति विश्वकर्माणः, आनन्दानां ब्रह्मसाक्षादिति ब्रह्मानुभविनः, प्रेमा स्वयं व्यक्त इति भगवद्भक्ता मन्यन्त इत्यनेकमतपरामृष्टतया दृष्टः ॥७६॥

किञ्च—किं तेजः किन्नु चित्रं किमुत नटकला किन्तरां कोऽपि लोकः
किंवा प्रेमा स साक्षादिह कलितवपुर्यः शुकेन प्रगीतः ।
इत्थं तल्लोकपाल-प्रमुखदिविषदां संहतिस्तर्कयन्तो
तस्मिन् गोविन्दधाम्नि प्रतिदिनमयते सम्भ्रमञ्च भ्रमञ्च ॥७७॥

तदेवं बुद्धिपद्धतिमप्यतीतवानसौ लोकः प्रसभं बुद्धिमध्यमध्यारोहति ॥७८॥

यतः—ये ये प्रीतिं ददति विषया ये च तत्तद्विदूरा-
स्तेषूत्कण्ठा मम न हि कदाप्यत्र सत्यं करोमि ।
कृष्णे स्नेहं बत वितनुते यश्च यत्रापि कृष्णः
शश्वल्लोकः स तु सरभसं मां दिदृक्षुं करोति ॥७६॥

परमश्रेष्ठ आवरण विशेष रूप से वर्तमान रहते हैं। जहाँ पर वासुदेवादि नामक चतुर्व्यूहवृन्द स्वयं ही लोकपालों का सा आचरण करता हुआ सेना समूह के कार्य को अच्छी प्रकार स्वीकार करता रहता है। अर्थात् इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर आदि लोकपालों की तरह वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध नामक चतुर्व्यूह ही उस गोलोक का लोकपाल बनकर सेना के व्यूह रचना आदि कार्य भार को स्वयं अङ्गीकार करता है। उस गोलोक में धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप चारों पुरुषार्थों की क्या चर्चा करें ? उन अति क्षुद्र बिचारे पुरुषार्थों को यहाँ कौन पूछता है ? ॥७५॥

इस प्रकार की विशेषता से युक्त होने के कारण परममान्य इस गोलोक का सामान्यरूप से भी कौन वर्णन कर सकता है ? देखो, जिसको देवगण अमृतसिन्धु, कविगण यश के समान, विश्वकर्मागण आश्चर्यरूप, ब्रह्मानुभवी ज्ञानीगण आनन्दों के मध्य में ब्रह्मसाक्षात्कार एवं भगवद् भक्तगण प्रेम ही स्वयं इस रूप से प्रगट होगया है क्या ? ऐसा मानते हैं। इस प्रकार यह लोक स्वस्वभावानुसार अनेक प्रकार के परामर्शों से देखा जाता है ॥७६॥

किंच यह कोई तेजपुंज है, किंवा विचित्र चित्र है, अथवा किसी नट की चातुर्यमयी कोई कला (शिल्प) है या कोई लोक ही है, अथवा जिस प्रेम का श्रीशुकदेवजी ने यथेष्ट वर्णन किया है वह प्रेम ही साक्षात् सुन्दर शरीर धारणकर इस रूप में प्रगट हुआ है क्या ? इस प्रकार गोलोकस्थित लोकपाल प्रभृति देवतागण परस्पर वितर्क करते हुए श्रीगोविन्द के धामरूप उस गोलोक में प्रतिदिन आवेग एवं भ्रम को प्राप्त होते रहते हैं ॥७७॥

अतएव इस प्रकार का यह गोलोक बुद्धिमार्ग को अतिक्रमण करके भी मेरी बुद्धि के मध्यस्थान में कृपापूर्वक सहसा आरूढ़ या आविर्भूत हो रहा है ॥७८॥

कारण यह है कि जो जो विषय प्रीति प्रदान करते हैं, एवं जो विषय प्रीतिप्रद नहीं हैं, अर्थात् दूरवर्ती हैं, उन उन बिषयों में मेरी उत्कण्ठा कभी भी नहीं है, इस विषय में मैं शपथ करता हूँ, अर्थात् यथार्थ सत्य कहता हूँ। अहह ! जो दिव्यातिदिव्यलोक श्रीकृष्ण में स्नेह करता है तथा श्रीकृष्ण भी जिसमें निरन्तर स्नेह करते हैं वह गोलोक धाम ही हठात् मुझको निरन्तर स्वदर्शनाभिलाषी बना रहा है ॥७६॥

यस्याकर्णनमप्यपूर्वममितब्रह्माण्डकोटिव्रजे
वैकुण्ठेष्वपि वाञ्छितं किमपरं यल्लालसा श्रीरपि ।
गोलोके स तु बान्धवाग्रिमतया विभ्राजते सर्वदा
येषां तन्मधुरिम्णि हन्त मम हृन्मज्जन्मुहुः सज्जति ॥८०॥

हन्त किं करवाणि ? सहसंवारब्धवानेतद्वर्णनम्, निर्वाहन्तु न पश्यामि ॥८१॥

यतः, प्रथमतश्चतुरस्र-परिहरिचरितचारुताप्रणिधान एवेदृशता दृश्यते ।

यथा—गवां क्षेपश्चारं प्रति सखिभिराक्रीडपरता
मुहुस्तासां दूरे गमनमनुसम्भालनविधिः ।
तदाह्वानं तासु क्रममनुविसृष्टिः सवयसां
पुनः क्रीडावेशः स्मृतिपदतया क्षोभयति नः ॥८२॥

तत्रापि—क्व चापि कृष्णरामौ तौ करबद्धकरौ मिथः ।
हसन्तौ हासयन्तौ च कुर्वाते चित्तमाकुलम् ? ॥८३॥

किञ्च—वृक्षानंकुरयन्तु विद्रुतदशामद्रीन्नयन्तु द्रुतं
स्तम्भं चाम्भसि लम्भयन्तु सरितां किंवा प्रतीचीनताम् ।

और फिर कोटि कोटि ब्रह्माण्डसमूह में एवं वैकुण्ठसमूह में जिनका नाम श्रवण करना भी अति वांछनीय है, अधिक क्या कहूँ श्रीलक्ष्मीजी भी जिनके श्रवण, दर्शन आदि की लालसा करती रहती हैं वे ही श्रीकृष्ण गोलोक धाम में जिन गोपगणों के प्रधान बान्धवरूप से सर्वदा विराजमान रहते हैं उनके माधुर्य-समुद्र में मेरा हृदय बारंबार गोता लगाता हुआ आसक्त हो जाता है, न जाने यह क्या आश्चर्य है ॥८०॥

हाय ! क्या करूँ ? यह गोलोक आदि का वर्णन मैंने हठात् आरम्भ तो कर दिया है, किन्तु इस वर्णन की पूर्ति का निर्वाह किस प्रकार होगा उसका उपाय तो कुछ भी नहीं देख रहा हूँ । परन्तु इतने विशाल कार्य को प्रभु ही पूरा करेंगे ॥८१॥

कारण कि पहले से ही यथायोग्य एवं सर्वोत्तम श्रीहरि के चरित्र की चारुता की भावना में हमारी ऐसी आसक्ति दीख रही है । यथा–पहले तो चराने के निमित्त खिड़क से गोगणों की प्रेरणा, अर्थात् खोलना या भेजना, पश्चात् वन में जाकर श्रीदामा आदि सखाओं के साथ बारंबार हास परिहासपूर्वक क्रीड़ा में तत्पर होना, तत्पश्चात् चरते चरते गउओं का अति दूर चले जाना, फिर उनको सँभालना, देखना भालना, पुनः दूर चली गई गौओं का बुलाना, फिर गौओं के अति दूर चले जाने पर उनको लौटाने के लिये क्रमशः सखाओं को भेजना, सखाओं के लौटने पर पुनः क्रीड़ा में आविष्ट हो जाना । इस प्रकार श्रीहरि की सब लीलाएँ स्मृतिपथ में प्रगट होकर हमको क्षुभित कर रही हैं । तात्पर्य वे अपूर्व लीलायें ही अपने साक्षात् दर्शन करने के लिये मेरे चित्त को व्याकुल बना रही हैं ॥८२॥

उस गोलोक में किसी समय श्रीकृष्ण बलदेव दोनों भैया आपस में हाथ में हाथ मिलाकर स्वयं हँसते एवं सखाओं को हँसाते हुए मेरे चित्त को व्याकुल कर देते हैं ॥८३॥

उसमें भी अष्टकालीन लीला ध्यान परायण भक्तों को वेणुवादन की परिपाटी और भी अधिक क्षुभित कर देती है, यथा वेणुध्वनि की धटायें सभी वृक्षों को भले ही अंकुरित कर दें, चाहे पर्वतों को शीघ्र

वेणुध्वानघटा यतोऽतिनिकटाः कस्मादकस्माद्बलात्
कर्णाभ्यर्णगता इव स्फुटममून् धुन्वन्ति तद्ध्यायिनः ॥८४॥

यतस्तदनुभविनां सुखन्तु मनसि स्फुरदपि न वक्तुमीश्यते—
यस्मिन् हरिर्याति विहारहेतो,-स्तस्मिन्मुदा फुल्लति चेत् कुटोऽपि ।
न तत्र पृच्छा न च वक्तृता त,-न्न पृच्छ्यमेतन्न च वाच्यमस्ति ॥८५॥

इदञ्च सुजनमतिमतीवाकर्षति—
गायन्ति तत्र धवलाः परिपालयन्तः, पारावतीं मधुररागवतीमुदस्राः ।
जन्मादिकृष्णचरितानि चिरं गतानि, स्मृत्वा यतः सपदि मुह्यति सर्व एव ॥८६॥

अहो ! कुतः कुतो वा मनः संयमनीयम्, यतो गोष्ठानि च तानि द्रष्टुं मनः प्रसभमुत्कण्ठयन्ति ।

यथा—विराजत्कस्तूरीद्युतिपरिमलैर्गोमयमय-
स्फुरच्चूर्णैः सद्मप्रतिकृति-वपुर्भिस्तरुवरैः ।
दिवा नूत्नैर्वत्सैर्निशि सुरभिजिद्भिः सुरभिभिः
समन्ताद्गोष्ठानि प्रतिमति दिशन्ति स्मृतिशतम् ॥८७॥

ही पिघला दें, जल में स्तम्भभाव प्राप्त करा दें, चाहे नदियों को उलटी बहा दें, परन्तु न जाने अति निकटवर्ती होकर तथा बलपूर्वक कानों में प्रविष्ट सी होकर कृष्ण ध्यानकारी इन भक्तजनों को बलपूर्वक अकस्मात् क्यों कम्पित करती रहती हैं ? ॥८४॥

यदि पूछो कि वेणुध्वनि के श्रवण से उन भक्तों को सुख मिलता है कि नहीं ? और मिलता है तो वह सुख किस प्रकार का है ? तहाँ कहते हैं—वेणुनाद का अनुभव करने वाले भक्तजनों के मन में जो सुख स्फुरित होता है वह जिह्वा से कहा नहीं जा सकता। कारण कि वेणुवादन तत्पर श्रीकृष्ण विहार के निमित्त जिस वृन्दावन में गमन करते हैं उस वन में स्थित वृक्ष भी जब हर्ष से प्रफुल्लित हो उठते हैं, तब इस विषय में न तो कुछ पूछना उचित हैं न कुछ कहना ही। क्योंकि यह गूढ़ विषय न तो पूछने ही योग्य है और न कहने ही योग्य ॥८५॥

अब श्रीकृष्ण के सखाओं का चरित्र वर्णन करते हुए कहते हैं— यह चरित्र भी सब सुजनों की बुद्धि को विशेष आकर्षित कर लेता है, क्योंकि उस गोलोक में श्रीकृष्ण के मित्रगण गोचारण करते करते प्रेमाश्रु बहाते हुए सुमधुर रागयुक्त पारावती, अर्थात् गोपगीति का गायन करते हैं। जिस गायन से बहुत पहले बीते हुए श्रीकृष्ण के जन्मादि चरित्रों को स्मरण कर सभी गोलोकीयजन शीघ्र ही विमुग्ध हो जाते हैं ॥८६॥

हाय ! मैं अपने मन को किस उपाय से कहाँ कहाँ से संयत करूँ ? क्योंकि वे गोस्थान, अर्थात् खिड़कसमूह मेरे मन को अपने दर्शन के लिए हठात् उत्कण्ठित कर रहे हैं। यथा उत्कृष्ट कस्तूरी की सी कान्ति और सुगन्धि के समान सुन्दर अत्यधिक गोमय (गोबर) के सूखे चूर्ण से लिप्त एवं गोपों के घर के समान आकृति वाले वृक्षों से घिरे हुए तथा दिन में नये नये बछड़ों से एवं रात्रि में कामधेनुओं को भी जीतने वाली गैयाओं से परिपूर्ण वे गोस्थान प्रत्येक की बुद्धि में सैकड़ों प्रकार की स्मृति जगा रहे हैं ॥८७॥

सन्ध्ययोस्तु—वत्सान् मोचयतां धनानि दुहतां दुग्धानि सञ्चिन्वतां
गाः सम्भालयतां गृहान् प्रचलतां कृष्णं पुरः कुर्वताम् ।
तल्लीलाः परिगायतां पुलकितामस्राणि चातन्वतां
गोपानां बत चित्त-मुच्चितमदं मच्चित्तमाक्रामति ॥८८॥

सदा चैतानि राजवर्त्मानि तत्कीर्तनचत्वरानीव प्रसभं मच्चित्तमाकर्षन्ति ।

तथा हि—रामः कृष्णः कृष्णरामौ च कृष्णः, कृष्णः कृष्णः कृष्ण इत्येष जल्पः ।
यातायातं कुर्वतां सर्वदापि, स्वैरालापे श्रूयते तत्र तत्र ॥८९॥

श्रीकृष्णप्रमदानां प्रमदानां प्रमदवनपात्राणि पत्राणि तु वर्ण्यमानानि कवीनामपत्रपामेव विभ्रति, यतस्तत्रत्यं सर्वमेव चित्रमिति दुष्प्रत्यायतां प्राप्नोति ॥९०॥ येषु हि—

क्वचित् कुञ्जाः सद्मभ्रमकररुचस्तैरवयवैः
क्वचिच्चित्रैः सद्मान्यपि तुलितकुञ्जानि शतशः ।
जलानि क्वाप्युद्यत्-कमलवलितानि प्रतिपदं
स्थलान्यप्येवं क्वाप्यथ किमिव किं निर्णयपदम् ? ॥९१॥

प्रातःकाल एवं सायंकाल में तो गोदोहन के लिये खूंटा से बछड़ों को छोड़ते हुए, पश्चात् गोदोहन करते हुए, सब दुग्धों को एकत्रित करते हुए, विना दुही हुई गौओं को सँभालते हुए, दूध की दोहनी लेकर कृष्ण को आगे कर अपने अपने घरों को चलते हुए ग्वालबालों का उत्कट हर्ष से भरा हुआ चित्त ही मेरे चित्त पर आक्रमण कर रहा है, अर्थात् ऐसी दोनों संध्याओं की गोदोहनलीला को देखने के लिए उत्तेजित कर रहा है ॥८८॥

और श्रीकृष्ण के नामसंकीर्तन से सुशोभित आँगन या चबूतरों की तरह निर्मल ये गोलोक के राज-मार्ग मेरे चित्त को बलपूर्वक अपनी ओर आकर्षित कर रहे हैं। देखो ! जिन राजमार्गों में सर्वदा यातायात करते हुए व्रजवासीमात्र के मुख से स्वाभाविक वार्तालाप में भी "राम, कृष्ण, कृष्ण, राम, कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण" इस प्रकार से स्पष्ट रूप से जहाँ तहाँ निरन्तर श्रीहरिनाम ही सुनाई पड़ता है ॥८९॥

श्रीकृष्ण को हर्षित करनेवाली कृष्णप्रेयसी गोपियों के अन्तःपुरोचित प्रमदवन (क्रीड़ावन)-स्वरूप पूर्वोक्त कमल के पत्र तो वर्णन करते समय बड़े बड़े महाकवियों की लज्जा को ही पुष्ट करते रहते हैं, अर्थात् उनका यथार्थ वर्णन करने में असमर्थ हुए कविगण लज्जित हो जाते हैं। कारण कि वहाँ की सभी वस्तुएँ आश्चर्यमय हैं, अतः दुर्बोधता को प्राप्त हैं, अर्थात् विशिष्ट महात्माओं के भी बड़ी कठिनता से प्रतीति के विषय में आ पाती हैं ॥९०॥

गोलोकरूप कमलपत्र के जिन पत्रों में किसी किसी स्थान में निकुञ्ज ही अपने विचित्र अवयवों से घरों का सा भ्रम उत्पन्न कर देती हैं, अर्थात् निकुञ्ज ही घरों जैसी लगती हैं। कहीं कहीं घर भी विचित्र-ताओं से सैकड़ों निकुञ्जों के समान प्रतीत होते हैं। किसी किसी स्थान पर निर्मल जल भी विकसित कमलों से आवृत एवं समस्त स्थल भी गुलाब आदि स्थलकमलों से आवृत होकर प्रतिक्षण सुशोभित हो रहे हैं। अतएव कौन सी वस्तु किस उपमा के द्वारा निर्णय योग्य हो सकती है ? अर्थात् कोई भी नहीं, तात्पर्य सभी अनुपमेय हैं ॥९१॥

सखीनां सारण्यत्रिदश-सुदृशां गानवलनां
मुहुः प्रोद्यन्मूर्च्छां मधु-मधुरराग-प्रणयिनीम् ।
हरिप्रेमार्तस्त्रीप्रथमरचितां शृण्वति जने
सुखं वा दुःखं वेत्यवकलयितुं कः प्रभवति ? ॥६२॥

क्वचिद्गानं सूक्ष्मं क्वचिदपि च तौर्यत्रिककला
क्वचित् प्रेम्णा गोष्ठी क्वचिदपि महाकेलिकलहः ।
इति स्फारं ताभिः प्रणयमयसारं विहरणं
हरेर्ध्यायन्नाना भवति कविचित्तं मुहुरपि ॥६३॥

प्रेमा कामति तत्क्रिया कलहति स्तम्भादिभावावली
सख्यां सञ्चरति श्रुतश्च चरितं सर्वश्रुतं लङ्घति ।
इत्थं केलिकलाकलापकलितं वृन्दावनान्तर्वणे
दम्पत्योर्निखिलं विचारपदवीमुद्धूय विभ्राजते ॥६४॥

अब गोपियों के भाव वर्णन में विचित्रता का प्रतिपादन करते हुए श्रीजीव गोस्वामी कहते हैं कि जो गानरचना श्रीकृष्ण के प्रेम से पीड़ित महिला ने पहले पहल बनाई है, तथा जो वनदेवियों के सहित सखियों की मधु की अपेक्षा भी मधुरराग का प्रकाश करनेवाली है एवं मूर्च्छना विशिष्ट है, ऐसी गानरचना का श्रवण करते हुए भक्तजनों को सुख होता है या दुःख, इस बात को निश्चय करने के लिए कौन व्यक्ति समर्थ हो सकता है ? ॥६२॥

गोपियों के साथ श्रीकृष्ण का जो विहार है उसका विचार करते हुए कवियों का चित्त अनेक प्रकार से व्याकुल हो जाता है। अब यह वर्णन करते हैं—किसी स्थान पर सूक्ष्मस्वर से गान, किसी स्थान पर प्रेम-पूर्वक गोष्ठी, अर्थात् प्रेमभरी सभा एवं किसी स्थान पर महान् केलिकलह, अर्थात् प्रणयकोप, इस प्रकार सखियों के साथ श्रीकृष्ण के प्रणयपदार्थ का सारभूत विस्तृत विहार का ध्यान करता हुआ कवियों का चित्त भी बारंबार अनेक भावों से परिपूर्ण हो जाता है, अर्थात् ध्यानयोगी कवियों का मन एक साथ ही श्रीहरि की मनोहर अनेक लीलाओं को ध्यान में देखकर व्याकुल हो उठता है कि कौनसी लीला वर्णन करूँ, कौनसी नहीं, सभी विचित्रता से चित्रित हैं ॥६३॥

देखो ! गोपियों का कृष्णविषयक प्रेम ही काम का सा आचरण करता है, प्रेम की क्रिया ही कलह का सा आचरण करती है, स्तम्भ, स्वेद आदि सात्त्विक भावश्रेणी दूसरी सखी में संचारित हो जाती है, एवं श्रीहरि की लीलाकथा श्रवण गोचर होने पर पहले सुनी हुई अन्यान्य विषय सम्बन्धी कथाओं के श्रवण को भुला देती है, इस प्रकार श्रीवृन्दावन के अवान्तर वन में दम्पति, अर्थात् श्रीगोपीगण और श्रीकृष्ण का सर्वविलास संयुक्तचरित्र, विचारमार्ग का परित्याग करके, अर्थात् विचारातीत होकर देदीप्यमान होरहा है । सिद्धांत का निष्कर्ष यह है कि लोहा और सुवर्ण में जैसे भेद है, काम और प्रेम में भी उसी प्रकार महान प्रभेद है, परन्तु अंधे के लिए तो दोनों ही समान हैं। प्राकृत कामान्धजीव भगवत् सम्बन्धी प्रेम के मूल्य को न जान कर विशुद्ध लीला को भी कामभावयुक्त समझकर अपने को ही अपराधी बना लेता है, किन्तु भगवान् की उससे कोई क्षति नहीं है । गोपियों की प्रेमजन्य विलासचातुरी कामरूप से प्रतिभात होती है, वस्तुतः वह विशुद्ध सुवर्ण तुल्य है, "प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत्प्रथाम्" इस पद्मपुराण के वचनानुसार गोपियों का

अकुण्ठामुत्कण्ठां वहति हरिरासु प्रतिपदं
हरावप्येता यद्व्यतिमिलन-सौख्यं विजयते ।
अहो ! यस्मादस्मिन्निरुपधि सखीवृन्दमुभय-
प्रकृष्टोत्कण्ठित्वं विशति तदिदं हन्त किमिव ! ॥६५॥

अपि सुन्दरतां प्रति ताः, सुन्दरतां किल वहन्ति गोपाल्यः ।
यन्निर्दूषणभूषण,-भूषणकृष्णे विभूषणायन्ते ॥६६॥

न भजति लक्ष्मीस्तुलना,-मिति किं स्तुतये घटेत राधायाः ?
या लक्ष्मीमपि जेत्रीः, स्वरुचा गोपीः पृथक् कुरुते ॥६७॥

तस्मादसाम्प्रताय तु साम्प्रताय मद्विधाय स्वं वर्णयितुं किमुत निर्वर्णयितुम् ?॥६८॥

प्रेम ही काम नाम से प्रसिद्ध है। इसीलिये उद्धव आदि शान्त भक्तगण भी व्रज के प्रेम की जन्म जन्म में वासना करते रहते हैं ॥६४॥

अब श्रीराधाकृष्ण की परस्पर प्रीति एवं उसी स्थान पर सखियों का भाव वर्णन करते हैं—श्रीकृष्ण प्रतिक्षण इन प्रेयसी गोपियों में भले ही अत्युत्कण्ठा धारण करें, एवं प्रेयसी गोपियाँ भी भले ही श्रीकृष्ण में अतिशय उत्कंठा धारण करें, इसमें आश्चर्य नहीं है, कारण कि परस्पर का मिलनसुख परस्पर की शोभा बढ़ाता है, किन्तु श्रीकृष्ण के साथ परस्पर मिलन में निरुपाधि, अर्थात् आत्मसुखविहीन सखीगण को श्रीराधाकृष्ण दोनों की ही उत्कण्ठा प्राप्त होरही है, अर्थात् "कान्त के लिये कान्ता को और कान्ता के लिये कान्त को" इस प्रकार पृथक् पृथक् उत्कण्ठा स्वतःसिद्ध है, किन्तु यहाँ तो आश्चर्य यह है कि उभयनिष्ठ प्रबल उत्कण्ठा सखीरूप एकाधार में प्रविष्ट एवं प्रकाशित हो रही है। सुतरां यह कृष्णप्रेम पदार्थ कैसा है सो कहा नहीं जा सकता क्योंकि वह निरुपम है ॥६५॥

इन प्रेममयी गोपियों के सौन्दर्य की बात अधिक क्या वर्णन करूँ? देखो ! ये तो सुन्दरता को भी सुन्दर बना देती हैं। कारण निर्दोष भूषणों को भी विभूषित करनेवाले श्रीकृष्ण के प्रति गोपियाँ भी विशिष्ट आभूषणों का सा आचरण करती हैं, अर्थात् आभूषण श्रीकृष्ण की शोभा नहीं बढ़ाते, अपितु श्रीकृष्ण ही उनकी शोभा बढ़ाते हैं, किन्तु ये गोपियाँ तो श्रीकृष्ण की भी शोभा प्रकाशित करती हैं। अतः श्रीकृष्ण की भी भूषणस्वरूप हैं ॥६६॥

जब गोपियों का ही ऐसा सौन्दर्य है तब श्रीराधाजी के सर्वोत्कृष्ट सौन्दर्य की तुलना कहाँ देखो ! श्रीलक्ष्मीदेवी श्रीराधिका की तुलना को नहीं प्राप्त कर सकतीं, यह कहना क्या श्रीराधिका की स्तुति के लिये उपयुक्त हो सकता है ? अर्थात् नहीं। कारण जो श्रीराधाजी अपनी कान्ति द्वारा लक्ष्मी को भी जीतनेवाली गोपियों को पृथक् कर देती हैं, अर्थात् लक्ष्मी का सौन्दर्यगर्व तो गोपियों के सौन्दर्य से ही पराजित हो गया तब सभी गोपियों में परम सुन्दरी श्रीराधाजी का सौन्दर्य कैसे कहा जा सकता है, वह तो अनुपमेय है ॥६७॥

इसलिए हम जैसे व्यक्ति इन सब गोपियों के यथार्थ स्वरूप को विस्तारपूर्वक वर्णन करने के लिये ही जब अयोग्य हैं, तब उनके दर्शन करने के लिये हम अति अयोग्य हैं, इस विषय में तो कहना ही क्या है ? ॥६८॥

रव्यादिद्युतिजिष्णुदिव्यधरणि-क्षौणीरुहान्तर्गत-
प्रासादस्थितसिंहपीठमहसि च्छन्नान्यदृष्टित्विषि ।
स्पष्टात्मीयदृशि प्रकीर्णक-विकीर्णालीहितालीवृता
राधामाधवमाधुरीवरसुधा तृष्णां मुधा यच्छति ॥९९॥

तदेवमानन्दसत्रपत्रादिस्थितानामुपरि सान्द्रशाखाभिरलक्ष्यतलानामनल्प-कल्पवृक्ष-लक्षाणामधिमध्यं राजसमाजविराजमानां वर्णितमञ्जुकिञ्जल्ककर्णिकामधिवसतः सदा लसतः सपरिवारवार-सुरभीपालभूपालकुमारस्य तस्य सर्वचिन्तातीतचिन्तामणिमयभक्षामं सप्तकक्ष्या-रामं धामनिकामं धाम विस्तारयन्नेत्राणि विस्तारयति । तत्र च भासमानं तदावासमभितः सततमुपपरार्धं गणनीयानां सजातीयानामद्वितीया वसतिः । सेयमभिस्निह्य वन्दिभिः सन्दिह्यते ॥१००॥

अब्जं तदालिङ्गितुमब्जबन्धो,-र्बन्धुर्ययौ किं परिवेष एषः ?
गोपालयानां वलयावलिर्वा, गोपेशवेश्माभित एवमस्ति ॥१०१॥ इति ।

तथापि क्या करूँ ? सूर्य आदि की कान्ति को जीतने वाले रत्नों से खचित दिव्य धरणीतल में वृक्षों के बीच में विद्यमान सुरम्य भवन में स्थित उत्कृष्ट सिंहासन पर जो विराजमान है, तथा जिसकी कान्ति अन्य जनों के अगोचर होकर भी निज परिकर के जनों के नेत्रों में स्पष्ट रूप से प्रतीयमान होती रहती है, एवं जिसके चारों ओर सहचरीगण के चामर द्वारा अंगगन्ध लुब्ध भ्रमरगणों की चेष्टा निवारित की जा रही है, ऐसी सहचरियों से जो परिवृत है, ऐसे सिंहासन पर विराजमान श्रीराधामाधव की जो माधुरी की श्रेष्ठ सुधा है, वह हमारी तृष्णा को व्यर्थ ही बढ़ा रही है, अर्थात् प्राप्ति की सम्भावना न होने के कारण मुझको व्यर्थ ही लुब्ध कर रही है ॥९९॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण के लीला परिकरों का स्वरूपादि एवं श्रीकृष्ण में प्रेमातिशय का निरूपण कर अब धाम का स्वरूप पुनः वर्णन करते हैं—सर्वदा आनन्दप्रद गोकुलरूप कमलपत्रों के आदि में स्थित, ऊपर से निबिड़ (घनी) शाखाओं द्वारा जिनका मूलभाग अलक्ष्य (अदृश्य) है, इस प्रकार के ऊँचे ऊँचे लाखों वृक्षों के मध्यभाग में राजसभा के समान सुशोभित, अनेक वर्णों से विचित्र एवं मनोहर किंजल्क (केसर) विशिष्ट जो कर्णिका है, उस कर्णिका के मध्यस्थल में जो सपरिकर निवास करते हुए सर्वदा देदीप्यमान हैं, उन्हीं गोपराज श्रीनन्दकुमार का सर्वजन चिन्तातीत, चिन्तामणिमय विशाल सात परकोटों वाला गोलाकार परम मनोहर धाम (भवन) अतिशय तेज का विस्तार करता हुआ दर्शकजनों के नेत्रों को विस्मित कर देता है। उस देदीप्यमान श्रीकृष्णभवन के चारों ओर निरन्तर परार्धसंख्या से भी ऊपर गिनने योग्य सजातीय गोप-गणों की अद्वितीय पुरी (वस्ती) है। वह पुरी वन्दिजनों द्वारा स्नेहपूर्वक इस प्रकार सन्देहास्पद होती रहती है ॥१००॥

श्रीनन्दरायजी के भवन के चारों ओर अन्यान्य भवन गोलाकाररूप से अवस्थित हैं, उनको देखकर ऐसी प्रतीति होती है मानो गोकुलरूप कमल को आलिङ्गन करने के लिए सूर्यदेव के निकटस्थ उनका मित्र-स्वरूप परिवेष (परिधि) ही है क्या ? अथवा वस्तुतः गोपों के गोलाकार भवन ही हैं, अर्थात् पूर्वोक्त भवनसमूह सूर्य की परिधि है ? किंवा गोपों के भवन ही हैं ? सन्देह के कारण यह स्थिरता नहीं प्राप्त होती ॥१०१॥

तद्वासिनस्त्वेवं स्तूयन्ते—

अर्थाः सर्वजनार्थनामतिगताः कामा निकामाग्रिमा
धर्माः कर्मठवेदधर्ममहिता मोक्षाश्च मोक्षातिगाः ।
तेषां तत्र वसन्ति सेवकतया कृष्णाय तृष्णाजुषां
यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्तत्कृते ॥१०२॥

नेत्रं श्रोत्रं चित्तमप्यन्यदन्य,-त्तुच्छं यस्मिन् भाति कृष्णं विना तु ।
घोषे तस्मिंश्चक्षुषश्चक्षुरेवं, श्रौती वार्ता पश्य दृश्या विभाति ॥१०३॥
विभ्राजन्ते सूत्रसञ्चारविद्या, पाञ्चाल्यः किं विश्वविस्मायनाय ?
किंवा गोपाः स्वान्तरे कृष्णभावै,-र्बद्धाः सन्तस्तत्र तत्र भ्रमन्ति ? ॥१०४॥

किञ्च—पितायं मातेयं पितृसहजवर्गः स्वयमसौ
तथैवान्ये चान्यप्रथितहितसम्बन्धमहिताः ।
व्रजे ख्यातिर्येषा बकरिपुगणे भाति खलु तां
क्वचित्तुल्यः प्रेमा पथिकमनु शश्वद्भ्रमयति ॥१०५॥

इन वन्दिजनों के द्वारा गोकुलवासियों की स्तुति इस प्रकार की जाती है—सर्वजनों की प्रार्थना का अतिक्रमण करनेवाले समस्त अर्थ, सबकी इच्छा से परवर्ती काम, कर्म करने में निपुणजनों द्वारा अनुष्ठित वैदिक धर्म से भी पूजित सर्वधर्मगण, मुख्यार्थ को त्यागकर मोक्ष का अतिक्रमण करनेवाले मोक्षसमुदाय, भी "जो श्रीकृष्ण की सेवा के लिये ही सब तृष्णाओं का सेवन करते हैं" उन व्रजवासियों के सेवकरूप से गोकुल में निवास करते हैं, अर्थात् धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ कृष्णगतप्राण व्रजवासियों के सेवकरूप से वर्तमान रहते हैं। कारण कि गोकुलस्थ व्रजवासियों का गृह, धन, सुहृद, प्रिया, आत्मा, तनय, प्राण एवं अन्तःकरण आदि सब सामग्री ही श्रीकृष्ण के निमित्त है ॥१०२॥

नेत्र, श्रोत्र, चित्त आदि सब इन्द्रियाँ जिस गोलोक में श्रीकृष्ण के सम्बन्ध विना तुच्छ सी प्रतीत होती हैं, अर्थात् श्रीकृष्ण के विना चक्षु आदि इन्द्रियों से कुछ भी कार्य नहीं होता है, क्योंकि श्रीकृष्ण ही सबके चक्षुओं के चक्षु हैं। अतः देखो उस गोलोक में "चक्षुषश्चक्षुः" इत्यादि श्रुतिसम्बन्धिनी वार्ता मूर्तिमती होकर प्रकाशित है ॥१०३॥

गोपों की कृष्णतत्परता इस प्रकार है—विश्व को विस्मयान्वित करने के लिए सूत्रधार की सूत्रसंचार विद्या द्वारा संचालित कठपुतलियाँ ही इस धाम में सुशोभित हो रही हैं क्या ? अथवा सभी गोप अपने अन्तःकरण में श्रीकृष्ण भावरूपी सूत्र द्वारा बँधकर जहाँ तहाँ भ्रमण कर रहे हैं क्या ? ॥१०४॥

व्रजवासियों का भाव समान वासना वाले साधकों में संचारित हो जाता है, यथा यह श्रीकृष्ण का पिता है, यह माता है, ये स्वयं श्रीकृष्ण के पिता के सहोदर समूह हैं, एवं ये परस्पर के विस्तृत हितमय सम्बन्ध द्वारा सम्मानित अन्यान्य व्यक्तिगण हैं, इस प्रकार व्रजमण्डल में श्रीकृष्ण के प्रति जो व्रजवासियों की आत्मीयजन कहकर महनीय ख्याति है, श्रीकृष्ण के परिवारगण का वही प्रेम कृष्णप्रेम के पथिक को निरन्तर भ्रम में डालता रहता है, अर्थात् वात्सल्यभाव वाले भक्तों को उनकी अभिलाषा के अनुसार पुत्रादि सम्बन्ध वाली ख्याति को सर्वदा अर्पण करता रहता है ॥१०५॥

अथान्यदपि किमपि विभाव्य सम्भाव्यते। तद्यदि सतामनुभवमप्यनुभविता, तदा भव्यमेव खलु भव्यम्, न चेन्नव्यकाव्यता तु न व्यभिचरिता, अथवा तथापि यत् किञ्चदपि तेषां वाञ्छितं स्यादेवेति सर्वमञ्चितमेव मन्यामहे ॥१०६॥

तत्तु सम्भावनं यथा—अथ गोपावासाभ्यन्तरे तादृशामेव सभ्यानां लभ्या सभावलिरुपलभ्यते, यत्र भूरिवैचित्रीधुराणि महागोपुराणि पुराणीव विराजन्ते, येषां पन्थानः किल किञ्जल्कबलजपर्यन्ताः समस्ताद्विभ्राजन्ते, यत्र च परस्परमभिमुखाः सुमुखा महान्तस्ते गृहा मिथः पृथुलशोभा लोकस्पृहा इव विमृश्य दृश्यन्ते, यत्र च सिंहसंहनननानां पुरुषसिंहानां निश्चलांघ्रीणि महासिंहासनानि विचित्रतया नेत्राणां परिबृंहणतामंहन्ते, यत्र च परावरकक्ष्यावासिलोकलक्षाणि सममेव समक्षाणि सन्ति, मिथः सुखशतानि वर्षन्ति। यत्र चैकत्रासीनानामन्यत्रापि रूपककाव्य इव प्रतिरूपाणि रूपाणि प्रतीयन्ते, न च तानि केवलानि, अपि तु प्रतिध्वनयश्च ध्वनिकाव्य इव ध्वनितया विभाव्यन्ते। यतः स्वच्छान्तःकरणा महान्तः खलु परगुणान्तराण्यप्यायच्छन्तीति प्रथीयसी। यदा च तथा प्रतीयन्ते विभाव्यन्ते च, तदा ह्यागन्तुका

अब कुछ और भी विचारकर सम्भावना का विषय उठाया जाता है। वह यदि सब सन्तों के अनुभव का विषय हो गया, तब तो मङ्गल ही मङ्गल होगा। नहीं तो नूतन काव्य की रचना व्यभिचरित न होगी क्या ? अर्थात् अवश्य ही निष्फल होगी, अर्थात् बुद्धिमान साधुजन जिस काव्यग्रन्थ का आदर नहीं करते उसकी रचना निष्फल ही है। अथवा यह काव्य यद्यपि सामान्य है तथापि उन सज्जनों का यदि किंचिद् भी वाञ्छित हो गया तब तो सर्वतोभाव से पूजित ही होगा, यह हम मानते हैं ॥१०६॥

वह सम्भावना इस प्रकार है—उन गोपगणों के निवासस्थानों के मध्य में वैसे ही सभ्यजनों की सभाश्रेणी उपलब्ध होती है, अर्थात् विद्यमान है। जहाँ पर अनेक विचित्रताओं से परिपूर्ण बड़े बड़े पुरद्वार बड़े बड़े नगरों के समान विराजमान हैं। जिनके सब मार्ग उस पद्मकेसररूप पुरद्वार के सीमास्वरूप होकर चारों ओर सुशोभित हैं। वहाँ पर सुन्दर दरवाजे वाले एवं विशाल आकृति वाले वे सब घर परस्पर सम्मुखवर्ती होकर आपस की विशाल शोभा के दर्शनाभिलाषी जैसे विचारपूर्वक दिखाई पड़ते हैं। और जहाँ पर सिंह की सी आकृति वाले भीषण अवयव सम्पन्न पुरुषगण विद्यमान हैं, उनके दोनों चरण निश्चल हैं, जिनके ऊपर धरे हुए अनेक विशाल सिंहासन अपनी विचित्रता से दर्शकजनों के नेत्रों की विशालता को बढ़ाते रहते हैं, और जिस गोलोक में प्रथम एवं द्वितीय कक्षा में रहनेवाले लाखोंजन एक साथ ही नेत्रगोचर होते हुए परस्पर में सैकड़ों प्रकार के सुखों की वर्षा करते रहते हैं। और जहाँ पर एक स्थान पर बैठे हुए सभीजनों के स्वरूप रूपककाव्य की तरह अन्यस्थल पर भी प्रतिबिम्ब के बहाने प्रतीत होते रहते हैं। उनका केवल प्रतिबिम्बरूप स्वरूप ही प्रतीयमान होता हो, सो बात नहीं है, किन्तु उनकी प्रतिध्वनियां भी अलङ्कार शास्त्रोक्त ध्वनिकाव्य की तरह ध्वनि के स्वरूप से अनुभूत होती रहती हैं, अर्थात् शरीरों के प्रतिबिम्ब की तरह शब्दों की भी प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। ध्वनिकाव्य में भी एक ध्वनि से अन्य ध्वनि की उत्पत्ति हो सकती है, क्योंकि निर्मल अन्तःकरण वाले जो महात्माजन हैं, वे निश्चय ही दूसरों के सभी गुणों को अपने में ग्रहण कर लेते हैं, यह ख्याति सर्वत्र प्रसिद्ध है। अर्थात् साधुओं के निर्मल अन्तःकरण में जैसे दूसरों के गुण प्रतिफलित हो जाते हैं, उसी प्रकार गोलोक के मणिमय घरों में वहाँ के जनों का प्रतिबिम्ब प्रतिफलित हो जाता है। किन्तु जब रूप का प्रतिबिम्ब एवं ध्वनि की प्रतिध्वनि प्रतीत होती

नानाजनास्तत्तद्रूपाणां जानानाः परितः परिहस्यन्ते । यत्र च कुत्रापि यदा सदा परमानन्दस्यन्द-सन्दोहदोहन-कान्तिकन्दलीलम्भितसुखतन्त्रः श्रीमन्नन्दकुलचन्द्रः स्वयमालोकसुधया लोकश्चक्षुश्चकोर-वारपारणामापूरयति, तदा तूत्सवानामपि महानुत्सवः स्फुरति ॥१०७॥

अथ सभावलयमन्तरा च कक्ष्यापञ्चकतया लब्धबोधः सर्वचित्तावरोधः, स तु व्रजनृपावरोधः समुद्भ्राजते । तत्र तमेव हि सहमातर-पितरादिवृन्दः श्रीगोविन्दः स्वयमावसति, यत्र सभावलयान्तरन्तः परितः परीताश्चतस्रोऽप्यन्तः पृथगवरोधलक्षाः कक्ष्या लक्ष्यन्ते । अन्या च पञ्चमी धन्या सर्वमध्यलब्धन्यासतया यत्र चित्रीयते । यस्यान्तु महाप्राङ्गणसङ्गिन्यां प्रतीचीमनु स्वान्तरङ्गमङ्गणमङ्गणं परितो निकायानां निकायः सर्वतोऽपि श्रेयस्य। श्रीमद्व्रजनरदेवप्रेयस्या समाश्रीयते, उदीचीमनु सुखमयूख-रोहिण्या रोहिण्या, प्राचीमनु समस्तकृतसेवेन श्रीमद्व्रजनरदेवेन, अवाचीमनु स्वजन-सभाजनभोजना-पवर्जन-प्रयोजनसामग्र्या ॥१०८॥

अथ तद्बहिर्बहिरन्तःपुर-प्रयुतविभागप्रचुराणां परमसन्तुष्टजनपुष्टानां चतुष्टयीनाञ्च कक्षाणां पश्चान्निश्चितपश्चिमादि-ककुभां शुभां रीतिमवलम्ब्य सकलशर्मदृश्वरी श्रीमद्व्रजेश्वरी;

है तब अनेक आगन्तुकजन प्रतिबिम्बों को ही सत्य से समझकर उनके निकट जाकर उनसे साक्षात् का सा व्यवहार जब करते हैं तब वे चारों ओर उपस्थितजनों के हास्यास्पद बन जाते हैं। और जिस गोलोक में जिस किसी स्थान पर जब भी श्रीमन्नन्दकुलचन्द्रमा श्रीकृष्ण उपस्थित हो जाते हैं तब उनके शरीर की कान्ति देखकर सर्वदा परमानन्दरूप झरनों का स्रोत उमड़ पड़ता है, एवं उनकी कान्ति के प्रवाह मात्र के देखने से सुख का सिन्धु ही उमड़ उठता है। किन्तु जब वे स्वयं अपने दर्शनरूपी सुधा से दर्शकजनों के लोचनरूप चकोर समूहों की पारणा की पूर्ति करते हैं, तब तो उत्सवों का भी महान् उत्सव प्रकाशित हो उठता है ॥१०७॥

इस प्रकार की सभा श्रेणी के बीच में व्रजराज श्रीनन्दजी का अन्तःपुर विराजमान है। यह अन्तःपुर सर्वजनों के चित्त को हरनेवाला है एवं यह पांचवी कक्षा समझा जाता है। वहाँ पर माता पिता आदि समस्त आत्मीय परिकर के सहित स्वयं श्रीकृष्ण निवास करते हैं। जहाँ पर सभाश्रेणी के बीच बीच में चारों ओर परिव्याप्त जो चार कक्षा हैं, वे संख्या से चार होकर भी पृथक् पृथक् लाखों अन्तःपुर सी दीखती हैं। अन्य और एक सर्वोत्कृष्ट पांचवी कक्षा सबके बीच में स्थित होकर जहाँ पर विचित्रता उत्पन्न कर रही है। यह पंचम कक्षा महाप्राङ्गणों से परिपूर्ण है, उसके पश्चिम की ओर स्वकीय अन्तरङ्गस्वरूप प्रत्येक आँगन के चारों ओर गृहसमूह विद्यमान हैं, सबकी अपेक्षा मङ्गलदायिनी श्रीव्रजराज की प्रेयसी श्रीयशोदा देवी उन सब घरों में अवस्थान करती हैं। उत्तर की ओर आनन्दकिरण के अंकुर उत्पन्न करनेवाली अथवा अभिनव आनन्द द्वारा आक्रान्ता श्रीरोहिणीजी उन गृहसमूहों में अपने आश्रय से पदार्पण करती हैं। पूर्व की ओर सर्वजनपूज्य श्रीव्रजराज सब गृहों का आश्रय करके विद्यमान हैं और दक्षिण की ओर आत्मीयवर्ग के सम्मान, भोजन, दान आदि की सामग्री से परिपूर्ण गृहसमूह विद्यमान हैं ॥१०८॥

तदनन्तर उस सभाश्रेणी के बाहर अन्तःपुर के लाखों विभागों से युक्त, परम सन्तुष्टजनों से परिपूर्ण, चार कक्षाओं की पूर्वनिश्चित पश्चिम आदि दिशाओं की मनोहर रीति का अवलम्बन करके सकल शुभदर्शनकारिणी श्रीमती व्रजेश्वरी नन्दरानीजी विराजती हैं। उत्तर की ओर रामघाट पर क्रीड़ा करने वाले

रामघट्टाभिरामः श्रीमद्बलरामः; सर्वलोकगतिः श्रीमद्व्रजाधिपतिः, स च गोवर्धनानन्दनः श्रीमद्व्रजाधिपतिनन्दनः पतिरतीव राजते ॥१०९॥

तत्र चाहरहरविरह-रहःकेलिकलिततृष्णयो रामकृष्णयोर्विख्याततत्तन्नामसु मध्यमकक्ष्या-द्वयधामसु परमरमागणश्रेयसीनां प्रेयसीनामावासप्रासादावलिरुद्भासते ॥११०॥

यत्र चावेशनमनु सावेशं नानाकलाकलापं कलयन्तीनामालीनां निजनिजयूथवरूथपायाः परमापूर्व-पूर्व-पूर्वानुरागादि-कथानिकायं गायन्तीनां मधु-मधुर-काकलीकुलानि तत्रकीयं सर्वं तर्वन्तमार्द्रीकुर्वन्ति; किमुत बहुकष्टसृष्टतया मिथुनीभूतं तत्तन्मिथुनम् ॥१११॥

तयोर्द्वयोरावरणतया लक्ष्ये ये चान्यतरे कक्ष्ये, ते रामकृष्णयोर्यथाहरितं बहिरबहि-रुपवेशसदेशरूपे भवतः। यथा निकटतटमेतयोरभिमुखानि सर्वतः सुखानि तयोर्मध्यमयो-र्द्वाराण्यधियन्ति ॥११२॥

एषा च सप्तकक्ष्यातुलचातुरीधुरीणा पुरी प्रत्यन्तरकक्ष्यमेकभूम-द्विभूमतादि-प्रकारेणा-धिकभूमिकारचनाभिरुज्ज्वलतररीतिकायाः समानमानगृह-स्वस्ववीथिकाया धारिणी गोलोकधरणी

श्रीबलरामजी विराजते हैं। पूर्व की ओर भवनवासी सभीजनों के एकमात्र गति अर्थात् तत्त्वावधायक श्रीमान् व्रजाधिपति विराजते हैं, एवं दक्षिण की ओर गोवर्धनपर्वत को आनन्द देने वाले श्रीमान् नन्दनन्दन अध्यक्षरूप से विराजते हैं ॥१०९॥

तथा प्रतिदिन विरहरहित रहस्यक्रीड़ा में तृष्णायुक्त श्रीराम कृष्ण के अपने अपने नाम से विख्यात बीच की दो कक्षाओं में, अर्थात् सभामण्डल के मध्यवर्ती पाँच कक्षाओं की तीसरी और चौथी कक्षा में परम लक्ष्मीगण से भी श्रेष्ट प्रेयसी गोपियों की आवासरूप गृहश्रेणी देदीप्यमान है ॥११०॥

इन दोनों कक्षाओं में एक शिल्पशाला है, उसमें सखियाँ आवेश सहित अनेक प्रकार की शिल्पकला रचती रहती हैं। और वे अपनी अपनी यूथस्वामिनी की परमाश्चर्ययुक्त पूर्वानुराग आदि की समस्त कथाओं का गायन करती रहती हैं। गायन करनेवाली इन सब सखियों की मधु से भी मधुर जो अनेक अस्फुट मधुर ध्वनियाँ हैं वे वहाँ की वृक्षपर्यन्त समस्त वस्तुओं को भी जब आर्द्र (सरस) कर देती हैं, तब बहुत से कष्टों की सृष्टि के अनन्तर उन सखियों के भावानुसार मिथुनीभाव को प्राप्त उन उन दोनों मिथुनों को, अर्थात् श्रीबलराम और बलरामपत्नी, एवं श्रीकृष्ण और कृष्णपत्नीरूप युगल स्वरूपों को आर्द्र कर देती हैं, इसमें तो आश्चर्य ही क्या है ॥१११॥

उन तीसरी व चौथी दोनों कक्षाओं के आवरणरूप से प्रतीयमान पहली एवं दूसरी जो कक्षाएँ हैं, वे श्रीराम कृष्ण के अपनी अपनी दिशा के अनुसार,अर्थात् उत्तर में श्रीबलदेवजी के और दक्षिण में श्रीकृष्णजी के बाहर एवं भीतर बैठने के लिए निकटवर्ती सी हो जाती हैं। इन पूर्वोक्त दोनों कक्षाओं के अति निकट सम्मुखस्थ सर्वप्रकार सुखदायक सभी दरवाजे मध्यवर्ती श्रीनन्द एवं श्रीयशोदाजी के घरों के द्वार पर्यन्त वर्तमान हैं ॥११२॥

सात कक्षाओं से सुसज्जित यह पुरी अपूर्व चातुर्य से निर्मित हुई है। बीच वाली कक्षा को लेकर ही सात कक्षा संघटित होती हैं। एक व्यक्ति की ही भिन्न भिन्न वेष धारण करने पर जैसे भिन्न भिन्न प्रकार की शोभा हो जाती है, उसी प्रकार प्रत्येक कक्षा के भीतर एक तल, दो तल, तीन तल आदि के भेद से सभी घर एक ही पृथ्वी के भिन्न भिन्न वेष हैं। गोलोक की भूमि इस प्रकार के समान परिमाण वाले,

लोकहारिणी भवति। तत्र सर्वास्तु गृहलेखामणिभित्तिसम्बध्य-मध्यरेखालब्धद्वैविध्या समन्ताद्रुभयतः स्थितद्वारतया परस्पर-सन्मुखताशोभानन्दितदिगन्ताः कैमुत्यमासादयन्ति ॥११३॥

यत्र च सर्वमध्यमावरोधस्याधिमध्यं बृहत्प्राङ्गणमधिकृत्याखण्डपुटभेदनमुकुटभङ्गी-लङ्गिमं निःश्रेणिश्रेणिमिश्रान्तःश्वभ्रशुभ्रलघुलघुद्वार-सुखारोहसञ्चारमेर्वाकारचार्वङ्गकुट्टिमादुपरि परितः स्तम्भवारसङ्गतमागारमेकं सर्वतश्चलत्पताकमवलोक्यते ॥११४॥

यदा च तस्य सर्वककुदमुदञ्चितस्य धिष्ण्यस्य पुरूपरि चालङ्करिष्णुतया श्रीकृष्णः स्वयंवर्तिष्णुर्भवति। तदा सर्वजिष्णुतदुपरिचरिष्णु-जिष्णुनीलमणिरिव कं वा तल्लोकभविष्णुलोकं कान्तिकन्दलीभिर्न पुष्णाति ? ॥११५॥

या चेयं कर्णिकायामुपरिपुरी तदधस्तादन्यापि समन्तादस्ति; किन्तु सा प्रतिकृष्णकान्ता-धामन्येव निजाङ्गणनिभपत्रपंक्तिसीमन्येव चायन्त्रितद्वारगणेति परेषामज्ञाता, द्युमणिवन्मणि-गणसमुज्ज्वलालयकलापा, वातानीतसुजात-पुष्पजात-परिमल-सम्पाता निर्जनता-जनित-स्वैरतानारतरतिप्रदा, शय्यासनच्छत्र-चामरादिसामग्री-सम्यग्रीतिबहुशतोप्रीतिदा-नानाक्रीडा-

---

उच्चतर रीति से बने हुए, सभी घरों की श्रेणी को अपने वक्षःस्थल पर धारण करके गोलोकवासी जनों के मन को भी हरती रहती है। वहाँ पर जो समस्त घरों की पंक्ति है, वह मणिमय भित्तियों में प्रतिबिम्बित होकर दो भागों में विभक्त हो रही है, अर्थात् प्रत्येक भवनों की भींत मणियों से बनी हुई हैं, अतः मणिमय भीतों पर प्रत्येक घर का ही परस्पर प्रतिबिम्ब पड़ता रहता है, इसलिये भवन स्वयं एक होकर भी दूसरे के प्रतिबिम्ब को अपने ऊपर धारण करके दो जैसा प्रतीत होता है। और सभी घरों के चारों ओर दोनों पक्खाओं में द्वार होने के कारण परस्पर परस्पर के सम्मुख उपस्थित होकर इस प्रकार की शोभा बढ़ा रहे हैं, जिससे दिगन्त मण्डल आनन्दित हो जाता है। उस समय उन घरों को देखकर सभीजन "यह क्या है" ऐसे कहकर विमुग्ध क्यों नहीं होंगे ? इससे उन घरों की सर्वोत्कृष्टता प्रकाशित होती है ॥११३॥

गोलोक के बिलकुल मध्य में एक भवन है, वह भवन गोलोक का मुकुटमणि एवं परम मनोहर है। उसके बीच में चढ़ने की सीढ़ियों से युक्त मध्यवर्ती छिद्रों के ऊपर के भागों में स्थित दीतिमान् छोटे छोटे दरवाजे जाने आने के लिये आनन्दप्रद हैं। एवं मेरु पर्वत के समान ऊँचे और मनोहर शृङ्गों से विशिष्ट उस भवन के ऊपर के भाग में चारों ओर स्थित सभी खम्भों में लगी हुइ सब पताकायें सब ओर से चलती रहती हैं। ऐसा वह दिव्य भवन दिव्य दृष्टि वालों को ही दिखाई देता है ॥११४॥

सब प्रकार की प्रधानता से युक्त उस स्थान के ऊपर के भाग में सर्वोपरि अलंकारस्वरूप श्रीकृष्ण जब स्वयं वर्तमान होते हैं, तब वह भवन सर्वविजयी हो जाता है और उसके ऊपर चलती हुई सर्वप्रभा विजयी इन्द्रनीलमणि की तरह देह की कांति के समूह के द्वारा वह भवन गोलोक स्थित किस किस जन का पालन नहीं करता, अपितु सभी का पालन करता है ॥११५॥

इस गोलोकरूप कमल की कर्णिका के ऊपर जैसे यह पुरी है, उसी प्रकार उसके नीचे के भाग में भी दूसरी एक पुरी सर्वतोभाव से विराजमान है। किन्तु वह पुरी श्रीकृष्ण की प्रत्येक प्रेयसी गोपियों की मनोहर धामस्वरूप एवं श्रीकृष्ण के आँगन के समान हैं। उस निज आँगनरूप पत्रपंक्तियों की सीमाभाग में उस पुरी के सब दरवाजे बन्द हैं। अतः दूसरे जनों के लिये वह अज्ञात है। उस पुरी के सभी घर सूर्य के समान मणिसमूहों से उज्ज्वल हैं,तथा वायु के द्वारा लाई गई परमकोमल अनेक पुष्पों की मनोहर सुगन्ध

भाण्ड-मण्डल - मण्डिताऽखण्डमण्डपा, तत्तच्चेष्टाधिष्ठाननर-मृग-पक्षि-प्रतिकृतिलक्षविलक्षिता प्रेयसीषु विभक्तप्रदेशविशेषा शेषालयायते। यत्रत्येन पथा यथावत् प्रेयसीनामानन्दनः श्रीमान्नन्द-नन्दनस्तत्र पत्रसमुद्यदुद्यानवृन्दममूभिरनुविन्दन्नतीव नन्दति। तस्मादुद्यानादन्तर्द्वारेण चतुरस्रं प्रत्युद्यानमपि विन्दति ॥११६॥

एवं श्रीबलरामस्य रामघट्टाख्य-निजक्रीडावनगमनञ्च तलवर्त्मनैव वर्तते, किन्तु संक्षिप्ततया निहितेन पत्रावलिपर्यन्तालवालपिहितेन मन्तव्यम् ॥११७॥

तामेतामुपरिगतां श्रीमद्व्रजेश्वरपुरीं परि तु श्लोकाः परिगीयन्ते—॥११८॥

यस्यां पताका मृदुवातकम्पिता, नानामुखीभावमिताः पुनः पुनः।
सौरभ्यमायाति यदा यतस्तदा, विवृत्य पश्यन्ति दिशाममूमिव ॥११९॥

नित्यं सुधाधामज-धामसङ्गतः, पूर्णाङ्गतामङ्गलसङ्गतिं गताः।
यत्रापि कुम्भा विधुकान्तसम्भवाः, कूटान्तरन्तर्मुकुटा इव स्थिताः ॥१२०॥

उनमें चारों ओर फैलती रहती है। एवं निर्जनता के कारण उत्पन्न होने वाली स्वाधीनता के द्वारा वह पुरी निरन्तर प्रीतिदायक हे। शय्या, आसन, छत्र एवं चामर आदि सामग्री की सैकड़ों प्रकार की श्रेष्ठरीति द्वारा यह नगरी प्रीति देने वाली है। तथा उसके मण्डपस्थान भी अनेक प्रकार की क्रीड़ासामग्री द्वारा अलंकृत हैं। उस उस चेष्टा के आधारस्वरूप या अनेक प्रकार की चेष्टा करने वाले लाखों नर, मृग, पक्षी आदियों की प्रतिमाओं द्वारा वह पुरी सुशोभित है। यह पुरी कृष्णप्रियाओं के निमित्त अनेक प्रकार के प्रदेश विशेष, अर्थात् घर आदिकों का विभाग करती हुई शेषजी के भवन की तरह प्रकाश पा रही है। जिस पुरी के मार्ग से अपनी प्रियाओं को यथावत् आनन्दित करनेवाले श्रीमान् नन्दनन्दन उन्हीं प्रियाओं के साथ पत्रस्थ वनश्रेणी को प्राप्त करते हुए अत्यन्त आनन्दित होते हैं। वनश्रेणी रूप उस उद्यान (बगीचा) से गुप्त दरवाजे से चार चार कोने वाले प्रत्येक उद्यान को प्राप्त करते हैं, अर्थात् गुप्त दरवाजे से वहाँ पधारते हैं ॥११६॥

इसी प्रकार श्रीबलरामजी का रामघाट नामक स्वकीय क्रीड़ावन में जाना भी तलस्थित मार्ग से ही संघटित होता है। किन्तु संक्षिप्त भाव से स्थापित पत्रसमूह पर्यन्त आलवाल द्वारा आच्छादित तलमार्ग द्वारा ही उनका वहाँ गमन होता है, ऐसा मानना चाहिये ॥११७॥

इस प्रकार पूर्वोक्तरूप से वर्णित जो श्रीमन्व्रजेश्वर की पुरी है, उसको लक्ष्य बनाकर तत्त्वज्ञ कवियों के द्वारा इस प्रकार के श्लोक गाये जातें हैं, यथा—॥११८॥

जिस पुरी में सम्पूर्ण पताकाएँ कोमलवायु से सञ्चालित होकर, बारंबार अनेक मुख वाली होकर जिस दिशा से जब भी श्रीकृष्ण के अङ्ग की सुगन्धि आकर उपस्थित हो जाती है तभी सब दिशाओं के बीच में केवल उसी दिशा की ओर मुख करके मानो उसी दिशा को देख रही हैं ॥११९॥

तथा जिस स्थान में नित्य ही चन्द्रमा से उत्पन्न किरणों के सम्बन्ध से सम्पूर्ण मङ्गल को प्राप्त होकर चन्द्रकान्तमणियों से बने हुए सभी कलश पर्वत शिखर की तरह अति ऊँचे अन्तर्गृह के मुकुट की भाँति अवस्थित हैं ॥१२०॥

यत्रान्विता स्वच्छतया विभातया, हीरादिरत्नच्छदिरालिरीक्ष्यते ।
बिम्बच्छलाकृष्टनभःस्थतेजसां, सायुज्यभूमिर्विभुरात्मनामिव ॥१२१॥
मयूर-पारावत-कोकिलाद्या, वसन्ति यस्यान्तु विनापि यत्नम् ।
शब्दायमाना विपिनस्य तैर्ये, विवादसंवादवदाचरन्ति ॥१२२॥
विचित्ररत्नावलिचित्रचर्चिता, सौवर्णभित्तिः परितश्चकासती ।
गोपाल-बाल्यादिविलासमाधुरीः, साक्षादिवालक्षयते शिशूनपि ॥१२३॥
विस्तारितोत्सङ्गनिभैरलिन्दैः, श्लिष्यन्ति कृष्णं भवनानि नित्यम् ।
येषां सदान्तर्निवसन्ति ते तद्,-भक्ता अमी तादृशतां व्रजन्ति ॥१२४॥
प्राङ्गणानि मणिदर्पणच्छवी,-न्युल्लसन्ति सदनावलीमनु ।
येषु नूतनवधूर्बकान्तकं, व्रीड-नम्रवदनापि वीक्षते ॥१२५॥
चन्द्रकान्तमणिबद्ध-भूतले, पल्वलानि च लसन्ति सर्वतः ।
राधिकादि-मुखकान्तिकन्दली, यानि पूरयति हन्त ! सर्वदा ॥१२६॥

जिस पुरी में निर्मल एवं सुप्रकाशयुक्त हीरक आदि रत्नों से बनी हुईं मकानों की सभी छतें प्रतिबिम्ब के बहाने अपने में आकर्षित आकाश में स्थित सभी सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिर्मय पदार्थों की सायुज्य (मोक्ष) भूमि जैसी दिखाई पड़ती हैं। अर्थात् जीवात्माओं की सायुज्य भूमि जैसे परमात्मा है उसी प्रकार आकाशस्थ सूर्यचन्द्रादि सभी तेजस्वी पदार्थ वहाँ की छतों में प्रतिक्षण प्रतिबिम्बित दिखाई पड़ते हैं ॥१२१॥

जिस पुरी में मयूर, पारावत (कबूतर), कोकिल आदि पक्षीगण बिना ही प्रयत्न के निवास करते हैं, तथा वनवासी मयूर, कोयल आदिकों के साथ शब्द करते हुए विवाद और सम्बाद का सा आचरण करते रहते हैं ॥१२२॥

जिस पुरी में सुवर्णमयी दीवारें विचित्र रत्नखचित चित्रों द्वारा चर्चित होकर चारों ओर शोभा का विस्तार करती हुईं गोलोकस्थ छोटे छोटे बालकों को श्रीकृष्ण की बाल्यलीला आदि की विलासमाधुरी को साक्षात् की तरह दिखाती रहती है। अर्थात् वहाँ की दीवारें श्रीकृष्ण की सभी लीलाओं से चित्रित हैं, जो बालकों को तत्काल होती हुई सी दिखाई पड़ती हैं ॥१२३॥

वहाँ के सभी भवन विशाल गोदी के समान अपने अपने अलिन्द अर्थात् बाहर के दरवाजों की पौरियों के द्वारा नित्य ही श्रीकृष्ण का आलिङ्गन करते रहते हैं। एवं जिन सभी भवनों में भक्तगण निरन्तर निवास करते हैं ऐसे वे सब भवन भी भक्तभाव को प्राप्त हो रहे हैं, अर्थात् भक्तों की तरह वे सब भवन भी नित्य श्रीकृष्ण का आलिङ्गन करते रहते हैं ॥१२४॥

तथा प्रत्येक भवन में मणि के दर्पणों की सी शोभा वाले बड़े बड़े आँगन शोभा पा रहे हैं। जिनमें लज्जा से नीचा मुख करने वाली नववधू भी बकासुरनिहन्ता श्रीकृष्ण का दर्शन अनायास करती रहती है ॥१२५॥

चन्द्रकान्तमणियों से खचित भूमितल पर चारों ओर छोटे छोटे सरोवर सुशोभित होरहे हैं। अहो ! देखो ! श्रीराधिका प्रभृति प्रेयसीगणों की मुखकान्ति का प्रवाह इन छोटे छोटे सभी सरोवरों को सर्वदा परिपूर्ण करता रहता है ॥१२६॥

लोकः श्रीनाथलोकप्रतिरुचिविजयी काननं श्रीस्पृहाजिद्-
वासः श्रीराजधानीनिखिलशुभरुचां वासिनस्ते त एव ।
भोक्ता कृष्णः स भोग्यः प्रणयमधुरिमा शश्वदित्येवमस्मिन्
प्रत्येकं सर्वमन्तःकरणमतिगतं कस्तदन्तं लभेत ? ॥१२७॥

तत्प्रेमशर्मणां सर्वातिशयिधर्मतायामहमपि मर्मवेत्ता;

यतः—हरिर्गोपक्षौणीपतिमिथुनमन्ये च विबुधा
न नः क्रूरं चित्तं मृदुलयितुमीशा लवमपि ।
अहो ! तेषां प्रेमा विलसति हरौ यस्तु बलवान्
हरेर्वा यस्तेषु द्रुतयति स एव प्रतिपदम् ॥१२८॥

अतः सर्वतः क्षेमाणां स एव प्रेमा सर्वत्र स्फुरति ।

तथाहि—हरिः प्रेमा साक्षादिव भवति किंवा व्रजजन-
स्तयोरेकस्मिंश्च स्फुरति स हि शश्वत् स्फुरति नः ।
इदं वारं वारं विधि-शिव-सुरर्षि-प्रभृतयः
स्फुटं कर्तुं शक्तिं दधति नतरां यत् कियदपि ॥१२९॥

यह गोलोक नामक लोक वैकुण्ठलोक की सम्पूर्ण शोभा को जीतने वाला है। यहाँ के श्रीवृन्दावन आदि वन भी लक्ष्मीजी की अभिलाषा को जीतने वाले हैं; अर्थात् लक्ष्मीजी वृन्दावनवास की वाञ्छा करती हैं तथापि इसे प्राप्त नहीं कर पातीं। यहाँ की श्रीराजधानी वैकुण्ठलोक की सम्पूर्ण मङ्गलमयी शोभा का स्थान स्थान पर वास दिखा रही है। गोलोकवासीजन भी गोलोकवासीजनों के ही समान हैं, अर्थात् उनकी कोई उपमा ही नहीं है। श्रीकृष्ण ही वहाँ के सर्व विषयों के भोक्ता हैं एवं वहाँ की प्रेममाधुरी ही सर्वदा उपभोग्य वस्तु है। इस प्रकार इस गोलोक में श्रीकृष्ण सम्बन्धी वस्तुमात्र ही अन्तःकरण का अतिक्रमण कर गई है। अतः उनका कौन पार पा सकता है ? ॥१२७॥

इस प्रकार गोलोक की शोभादिकों का यथार्थ वर्णन कर श्रीकृष्ण और उनके परिकरों का प्रेम सुखातिशय वर्णन प्रारम्भ करते हुए श्रीजीव गोस्वामिपाद कहते हैं कि श्रीकृष्ण और श्रीकृष्ण के सभी परि-करों का प्रेम सुखमय धर्म सर्वोपरि है, मैं भी उसका मर्मवेत्ता होगया, अर्थात् सर्वोपरि वस्तुओं के वर्णन के लिये मुझ जैसा अति कठिन व्यक्ति भी प्रवृत्त होगया। कारण यह है कि श्रीकृष्ण, गोपराज श्रीनन्द, व्रजेश्वरी श्रीयशोदा एवं अन्यान्य देवगण भी हमारे कठोर हृदय को लवमात्र (किंचित्) भी कोमल करने को समर्थ नहीं हैं। किन्तु श्रीकृष्ण में उनका एवं उन व्रजवासियों में श्रीकृष्ण का जो प्रबल प्रेम है, वह प्रेम ही हमारे कठोर हृदय को सर्वदा पिघलाता रहता है ॥१२८॥

अतएव जगत् में जितने भी मङ्गलमय पदार्थ हैं, उनके बीच में वह प्रेम ही सर्वत्र अतिशय मङ्गलरूप से प्रकाशित होता है, देखो ! श्रीकृष्ण साक्षात् प्रेम के मूर्तिमान स्वरूप ही हैं, कारण इन दोनों अर्थात् "श्रीकृष्ण व व्रजवासीजन" में से एकमात्र की स्फूर्ति होने पर भी हमारे प्रति वह प्रेम नित्य ही स्फुरित होता रहता है। ब्रह्मा, शिव एवं देवर्षि नारद प्रभृति मुनिगण इस प्रेमपदार्थ को बार बार प्रकाशित करने के लिये उद्यत होकर किंचिन्मात्र भी व्यक्त करने की शक्ति को धारण नहीं कर सके ॥१२९॥

स तु परमाश्चर्यचर्यः;

यतः—तदीयानां प्रेमा यदपि कृतिचर्यातिगसुख-
स्तथाप्युच्चैर्हेतुर्भवति हरिसाहायकविधौ।
जगत्कार्ये यद्वच्छ्रुतिमतपरब्रह्म नितरा-
मचिन्त्यो यो भावः स हि नहि वितर्कं विषहते ॥१३०॥

यस्मादेवं स एव चित्तमाकर्षति, तस्मात्—

ज्ञात्वा कर्म स्वयमुत परात् कृष्णतृष्णानुकूलं
तस्मिन्नन्तर्बहिरपि सदा गोपराजावरोधे।
यातायातं मुहुरतितरां कुर्वतामादृताना-
मप्युत्कण्ठाचलितमनसां मानसं भावमीहे ॥१३१॥

तत्रत्यानां समूहावलोकनन्तु परमपरमाद्भुतम्।

तथाहि—उद्घूर्णन्ते प्रियपरिजनाः स्निग्धभावा यथास्वं
गोपक्षौणीपतिमनुगतास्तस्य चात्मद्वितीयाम्।
यौ प्रेमाख्यप्रबलरशनायन्त्रणात् कृष्णकान्ति-
ज्योतिश्चक्रे रविशशितनू ये च नक्षत्रसङ्घाः ॥१३२॥

किन्तु वह प्रेम परम आश्चर्य की परिपाटी से युक्त है, कारण भगवत्सम्बन्धी गोलोकीय जनमात्र का प्रेम यद्यपि अतीन्द्रिय वस्तु है तथापि श्रीहरि की प्राप्तिरूप सहायता के लिये प्रबल कारण बन जाता है, जिस प्रकार वेद प्रतिपादित प्रसिद्ध परब्रह्म जगत्रूप कार्य के प्रति कारण है। इससे यह न्याय सिद्ध होता है कि "जो जो भाव प्राकृत विचार के अयोग्य है, वह मिथ्या तर्क को कभी भी नहीं सहन करता", अर्थात् जो भाव अचिंत्य हैं वे तर्क से समझ में नहीं आते, अतः उनमें तर्क लगाना उचित नहीं है, यह शास्त्रों का निर्णीत सिद्धान्त है ॥१३०॥

इस कारण पूर्वोक्त सिद्धान्तानुसार वह प्रेम ही हमारे चित्त को आर्कषित कर रहा है। इसलिये जिस कर्म के प्रति श्रीकृष्ण की अधिक तृष्णा हो, उसी के अनुकूल कर्म को स्वयं जानकर अथवा दूसरे से समझ कर गोपराज श्रीनन्दजी के अन्तःपुर में जो सदैव बाहर भीतर बार बार यातायात (आना जाना) करते रहते हैं, एवं श्रीकृष्ण के दर्शन हेतु जिनके मन उत्कंठा से अत्यन्त चञ्चल हो रहे हैं, आदरणीय उन्हीं समस्त गोपगणों के मानसिक भाव को मैं चाहता हूँ ॥१३१॥

किन्तु गोलोकवासीजनों का सामूहिक दर्शन तो अत्यन्त आश्चर्यजनक है। देखो ! गोपराज श्रीनन्द एवं उनकी अर्धाङ्गिनी श्रीयशोदा इन दोनों के यथायोग्य अनुगत और स्निग्ध स्वभावयुक्त सभी प्रिय परिजन नक्षत्र समूह तुल्य हैं, एवं श्रीनन्द यशोदा दोनों मूर्तिमान सूर्य चन्द्र तुल्य हैं। ये सब प्रेम नामक प्रबल रस्सी में यन्त्रित होने के कारण श्रीकृष्ण के कान्तिरूप ज्योतिश्चक्र में इधर उधर भ्रमण करते रहते हैं ॥१३२॥

गानन्तु प्रतिगणं साधारणमपि कञ्चिद्विशेषं वहति;

यथा—जन्माद्यर्भकता हरेः प्रवयसां मध्येसभं प्रायशः
पौगण्डादिषु निर्जरारि-विजितिः प्रायः सुहृन्मण्डले ।
कालियादिषु दुर्जनेष्वपि कृपाभक्तव्रजेऽनल्पशः
प्रायेणात्मनि रागरीतिरभितः कान्तागणे गीयते ॥१३३॥

तत्र च—सङ्गाने चेद्व्रजति मुरजिद्भक्तमात्रं विमोहं
शर्माशर्माप्यनुमितिमियात् तर्हि न प्रेक्षकाणाम् ।
शान्तिर्दास्यं सहचरदशा वत्सलत्वं तथान्यद्-
गच्छेदेषां हृदि कथमिह क्षीरवार्वद्विवेकम् ॥१३४॥

हन्त ! पद्यद्वयमिदमलोले मनसि उद्भूय तदेवान्दोलयति;

यथा—मातर्मातर्जननि ! मम तद्देहि देहीति शब्दै-
र्वत्सायुष्मन् ! सुत ! वदसि किं प्राणलाल्येति चार्द्रैः ।
नानालापप्रणयवलिता मां बलात् स्नेहमुद्रा
तस्मिन् गोष्ठे स्मरयतितरां तौ सवित्रीकुमारौ ॥१३५॥

उन सबका गायन तो साधारण होकर भी किसी विशेष भाव को धारण करतारहता है, यथा—वृद्धजनों की सभा में प्रायः श्रीकृष्ण की जन्म प्रभृति बाल्यलीला, मित्रमण्डल में प्रायः पौगण्ड आदि अवस्था में की हुई असुरविजय लीला, भक्तसमुदाय में कालिय आदि, दुर्जनों पर भी की हुई विशिष्ट कृपारूप लीला, एवं श्रीकृष्ण प्रेयसीमण्डल में प्रायः अद्भुत पूर्वराग आदि लीलाएँ ही सर्वतोभाव से गायी जाती हैं। यहाँ निज निज भावमय सङ्गीत की विशेषता है ॥१३३॥

और यहाँ पर संगीत समय में श्रीकृष्ण के शान्त एवं दास आदि साधारण भक्तमात्र ही जब मोह को प्राप्त हो जाते हैं तथा उस मोह में उन भक्तों को सुख होता है या दुःख, जब दर्शकजनों को भी इसका अनुमान नहीं लग पाता हैं, तब बताओ इन दर्शकों के हृदय में शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और शृङ्गार रस परस्पर में मिले हुए दूध और जल की तरह किस प्रकार पृथक् पृथक् जाने जा सकते हैं ? अर्थात् इन पाँचों रसों का समझना ही साधारण जनों को कठिन है तब इनसे युक्त भावदशा को प्राप्त भक्तों का स्वरूप कैसे जाना जा सकता है ? ॥१३४॥

अहह ! आगे कहे जाने वाले "मातर्मातर्जननि" इत्यादि ये दोनों श्लोक मेरे निश्चल मन में उत्पन्न होकर उसी मन को चञ्चल बना रहे हैं। "अरी मैया, अरी मैया ! हे जननि ! मुझको वही माखन दे दो, वही माखन दे दो" इस प्रकार के बार बार उच्चारित शब्दों द्वारा एवं हे वत्स ! हे आयुष्मन् ! हे सुत ! हे प्राण से भी अधिक प्रिय ! मेरे लड़ैते लाल ! क्या कहते हो, इस प्रकार के स्नेह से सरस वाक्यों द्वारा मैया बेटा के परस्पर के आलाप और प्रेमभरी स्नेहमुद्रा उस गोलोकरूप व्रज में उन दोनों मातापुत्रों को बल-पूर्वक अतिशय स्मरण कराती रहती है ॥१३५॥

गेहेशि ! त्वं चरितसुकृता हन्त ! वत्सस्त्वदग्रे
वक्ति प्साति प्रथयति रुचिं याचते जाहसीति ।
अर्धादेवं स्थगितवचनं स्नेहपूराद्व्रजेशं
ध्यायद्वृत्तिं बत न लभते मन्मनो बंभ्रमीति ॥१३६॥

॥ इति श्रीश्रीगोपालचम्पूमनु श्रीगोलोकरूप-निरूपणं नाम प्रथमं पूरणम् ॥१॥

अथ द्वितीयं पूरणम्

श्रीगोलोक-विलासः (तत्र नित्यलीला)

अथ कथाप्रथनाय ग्रथनमिदमारभ्यते ॥१॥

स्वभजन-लसन्मानस-सन्मानद-जन्मादिलीलाभव्याय भुव्याविर्भावितस्य तस्य निजव्रज-लोकचक्रस्य दन्तवक्र हतवता श्रीभगवता तत्र विगतसर्वशोके गोलोके पुनरपि संश्लेषः साधित इति चम्पूद्वयस्य प्रतिसम्पूर्ति-वक्ष्यमाण-सप्रमाणकथा-लक्ष्यतया विविक्तमेव व्यक्ती-करिष्यते । सिद्धे तत्र तु संश्लेषे कुत्रापि रात्रिविशेषे शेषे गोलोकाद्वन्द्वमहेन्द्रद्वारि हारि

श्रीनन्दजी कह उठते हैं कि—हे गृहेश्वरि ! यशोदे ! तुमने पहले जन्मों में बड़े बड़े पुण्य किये हैं, देखो ! कैसा हर्ष का विषय है कि, लाला कृष्ण कन्हैया तुम्हारे आगे सब कुछ बोलता है, भोजन करता है, अपनी रुचि को प्रगट करता है, बारंबार नवनीत (माखन) आदि माँगता है एवं पुनः पुनः हँसी करता रहता है । इस प्रकार स्नेह की अधिकता से श्रीनन्दबाबा के वचन बीच में ही रुक जाते हैं। ऐसे श्रीनन्दजी का ध्यान करनेवाला मेरा मन स्थिरता को नहीं प्राप्त करता है, अर्थात् पुनः पुनः भ्रान्त हो उठता है । (हाय ! उस गोलोक में ऐसे विचित्र चरित्रों का साक्षात् दर्शन मैं कब कर पाऊँगा प्रभो !) ॥१३६॥

इति श्रीनिखिलशास्त्रपारावार पारदृश्वसख्यावताराष्टोत्तरशत स्वामि श्रीकृष्णानन्ददासजी महाराज
शिष्य श्रीवनमालिदासशास्त्रि विरचित— श्रीकृष्णानन्दिनी नाम्नी भाषाटीका सहिते
श्रीगोपालचम्पू काव्ये गोलोकरूपनिरूपणं नाम प्रथमं पूरणं सम्पूर्णम् ॥१॥

द्वितीय पूरण

गोलोकविलास, उसमें नित्यलीला का वर्णन

अब नित्यलीला वर्णनमयी कथा के विस्तार के लिये इस द्वितीय पूरण की रचना आरम्भ होती है ॥१॥

श्रीकृष्ण का भजन करने के लिये जिनका हृदय उल्लासयुक्त है, ऐसे सज्जनों के मानदायक जन्मादि सब लीलाओं के मङ्गलमय प्रकाश के लिये इस व्रजभूमि में प्रगट किये गये जो व्रजवासी स्वजनवर्ग, उनका श्रीकृष्ण ने दन्तवक्र का वध करने के अनन्तर सर्वशोकरहित आनन्दपूर्ण श्रीगोलोकधाम में पुनर्मिलन सम्पादन किया है, इस प्रकार पूर्व व उत्तर दोनों चम्पूओं में प्रत्येक की पूर्ति में कही जाने वाली प्रामाणिक कथा के लक्ष्य से पवित्रतापूर्वक स्पष्टरूप से कहेंगे । इस प्रकार श्रीकृष्ण के साथ उन गोलोकवासीजनों का पुनः सम्मिलन होने पर, किसी एक रात्रि के शेष भाग में गोलोक के अद्वितीय महाराज श्रीनन्दजी के दरवाजे पर मनोहर दो दुन्दुभी (नगाड़े) बजने लगे । उन दोनों दुन्दुभियों के नादविशेष के बहाने मानो यह आनन्द ही उमड़ रहा है ऐसा समझकर गोलोकवासीजन भी जाग उठे । उन लोगों का जागना मात्र

दुन्दुभिद्वन्द्वमुन्ननाद। नादविशेषमिषेणानन्दमेवेदमुज्जगारेति मत्वा लोकोऽप्युज्जजागार। न च स एव केवलः, किन्तु कृष्णावलोकतृष्णया सह, यथा कमलसमूहः परिमलधारया। अथ निज-निजवृन्दिनः सूत-मागधवन्दिनः श्रीमन्नन्दराजपुरविराजमान- बृंहितसिंहद्वारि सर्वोर्ध्वं विन्दमानां चन्द्रशालिकामधिरुह्य नूतनानि पूतनादि-दन्तवक्रान्तदुर्बुद्धि-शक्रारिचक्र-वधसम्बद्धानि विरुदादिच्छन्दांसि स्वच्छन्दतया नटन्त इवापर्यन्तं पठन्तः समन्तादेव जनसन्दोहमानन्ददोहं लम्भयामासुः। सानुराग-रागावलि-विभाग-लङ्गिम-सङ्गीतसङ्गि-तल्लीलाकथाकुलमप्याकलयामासुः ॥२॥

तदा मुहुरपि हरेरवदानगानतो लब्धतोषपोषा घोषाधिपति-दम्पतिमुखाः परमसुखादतिशस्त-वस्त्रालङ्कारभारं तेभ्यः स्वयमीहया विहापयामासुः, किन्तु श्रवणेऽपि तृप्तिर्नक्लृप्तिमवाप। कथं वा तत्रावश्यमेव वशनीया सातिः सातिमासीदतु? तदनु च समुद्भूतप्रेमरसराशिर्व्रजवारिराशिः स्वयमेव निज-हृदयङ्गम-व्रजमङ्गल-श्यामलाङ्ग-सङ्गान-तरङ्गसङ्ग-सङ्गितया विश्वविस्मयकारितां सङ्गतवान्। तत्र च गीयमानतया सन्निधीयमानस्य तदीययशसश्चन्द्रमसः समतामनुमिमीमहे ॥३॥

यदा तु श्रीलगोपाललीलागानाग्रहिला महिला गातुमारब्धास्तदा सर्व एव सतृष्णास्तूष्णीमासन्, कृष्णमुरलीकाकलीमनु कोकिला इव। यदेव गानं वैदग्धीदिग्ध-कङ्कणादि-झङ्कारालंकृत- मन्थाननिर्घोषः स्वरतालादिदानमिव कुर्वाणः स्वपोषं पुपोष ॥४॥

ही नहीं हुआ अपितु—कमलसमूह जिस प्रकार मनोहर सुगन्ध के सहित विकसित होता है उसी प्रकार सब लोग भी श्रीकृष्ण के दर्शन की तृष्णा के सहित उल्लसित होकर जाग उठे। तदनन्तर सूत, मागध एवं वन्दी प्रभृति स्तुतिपाठक अपने अपने दल से मिलित होकर श्रीमान् नन्दरायजी के नगर के समृद्धिशाली विशाल सिंहद्वार पर, सबसे अधिक ऊँची अट्टालिका पर चढ़कर, पूतना से लेकर दन्तवक्र पर्यन्त दुर्बुद्धि इन्द्रशत्रु असुरों की वधलीला से युक्त नये नये गद्य पद्यमय राजस्तुतिरूप विरुद आदि सब छन्दों को स्वच्छन्दतापूर्वक नाचते हुए से अपार रूप से गाते हुए चारों ओर समस्तजनों को आनन्दप्रवाह में निमग्न कर देते हैं। तदुपरान्त उन्होंने स्वयं अनुरक्त होकर अनेक प्रकार के रागों के विभाग के द्वारा मनोहर संगीत संयुक्त श्रीकृष्ण की सभी लीला कथाओं को जनमात्र को सुना दिया ॥२॥

उस समय श्रीनन्द यशोदा आदि गोप गोपीगण श्रीकृष्ण की पहले की हुई लीलाओं का गायन सुन कर अतिशय सन्तोषपूर्ण होगये, तथा उन्होंने परम सुख से उन सभी सूत मागध वन्दिजनों को स्वेच्छानुसार अतिप्रशस्त बहुत से वस्त्र अलङ्कार आदि प्रदान किये। किन्तु कृष्णलीला गान सुनने पर भी उनकी परितृप्ति नहीं हुई, और उस समय अवश्य ही करणीय कमनीय अभिलषित दान कार्य की समाप्ति किस प्रकार हो सकती थी? तदनन्तर उत्पन्न हुआ है प्रेमरस का समूह जिससे ऐसा वह व्रजसमुद्र स्वयं ही निज निज हृदयङ्गम व्रजमङ्गलस्वरूप श्यामलाङ्ग श्रीकृष्ण के उत्कृष्ट गानरूप तरङ्गसमूह से सम्मिलित होकर विश्व को विस्मित करने लग गया, और वहाँ पर गाये जाने के कारण कानों के निकट में आनेवाला जो श्रीकृष्ण का यश है, हम तो निष्कलङ्क चन्द्रमा के साथ उसकी समता का अनुमान करते हैं ॥३॥

किन्तु जिस समय श्रीगोपालजी की लीला के गायन के आग्रह से विशिष्ट महिला मण्डल ने गाना आरम्भ कर दिया तब तो श्रीकृष्ण की वंशीध्वनि को सुनकर कोकिलागण की तरह गायन सुनने की तृष्णा

तदेवं सति सर्वतः सारेण सप्रमाण-वर्णयितव्यानुसारेणापगतापरपतिभ्रमाः सर्वा एव व्रजरमा मारबाणदलितमर्माणस्तदेकसेवाधर्म्येषु निजनिजहर्म्येषु सममेव लब्धागमनं तमेकमेव रमणं रमणतां गमयमाना न विराममिच्छन्तीति सखीभिरेव प्राभातिक-रागमयगाननर्मणा तस्मादुपरमयामासिरे ॥५॥

तच्च न सहसा, किन्तु क्रमशः ।

तथा हि—बाहू विश्लथितौ श्लथीकृतमुरो वक्त्रं दरच्यावितं
तल्पादुत्थितमेकदा विनिमयेनालम्ब्य यत्नान्मुहुः ।
याभ्यां स्पर्शसुखाग्रहोऽपि दमितस्ताभ्यां हरिप्रेयसी-
व्यक्तिभ्यां बत सोढमत्र सहसाक्रष्टुं न दृष्टि मिथः ॥६॥

हन्त ! तासु च सर्वाधिका या तु राधिका, सा खलु तदारम्भसम्भवादेव प्रायः सर्वदा मूर्च्छामृच्छति ॥७॥

यत्र च—पूर्वानुरागगलितां मम लम्भनेऽपि, लोकापवाददलितामथ मद्वियुक्तौ ।
दावानलज्वलितजातिवनी-सदृक्षा,-मेतां कथं कथमहं बत सान्त्वयामि ? ॥

से युक्त हो सभी मौनी बन गये । जिस गायन को चातुर्ययुक्त कङ्कण आदि के झङ्कार से अलंकृत दधिमन्थन का शब्द, स्वयं पुष्ट होकर, स्वर ताल आदि का दान करता हुआ परिपुष्ट कर रहा था ॥४॥

इस प्रकार संघटित होने पर जिनके विषय में आगे सप्रमाण वर्णन होगा एवं जो सबकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं, तदनुसार उन गोपरमणियों के श्रीकृष्ण से भिन्न अन्य पति का भ्रम दूर हो गया है, अतः वे सभी व्रज-रमा मारबाण से मर्माहत होकर श्रीकृष्ण की सेवारूप धर्म से युक्त अपने अपने महलों की अटारियों में एक साथ ही सबके घर आनेवाले एक ही रमणरूप श्रीकृष्ण को प्राप्त कर उनके साथ रहस्यक्रीड़ा करती हुई विराम नहीं चाहती हैं, तथापि सहचरी सखियों द्वारा प्रातःकालोचित रागपूर्ण सङ्गीतकौतुक से उनको रहस्यक्रीड़ाकार्य से विरत किया जाता है ॥५॥

वह क्रीड़ा से उपरामरूपी कार्य भी सहसा नहीं किन्तु क्रमशः होता है, यथा—देखो ! श्रीकृष्ण एवं उनकी प्रेयसी गोपियों ने सबसे पहले दोनों भुजायें शिथिल, पश्चात् वक्षःस्थल शिथिल, तदनन्तर मुख भी थोड़ा थोड़ा दूर कर लिया, और एक साथ ही आपस में अवलम्बन करके शय्या से उत्थान किया, एवं श्रीकृष्ण गोपीरूप जिन दो व्यक्तियों ने परस्पर का अवलम्बन करके बार बार स्पर्शसुख के आग्रह को भी यत्नपूर्वक दमन कर लिया, परन्तु हाय ! सहसा आपस में दृष्टि को दूर करने के लिये दोनों में से कोई भी समर्थ नहीं हुए । यही रहस्यक्रीड़ा से विरत होने की परिपाटी है ॥६॥

हाय ! देखो ! श्रीकृष्ण की प्रेयसी गोपियों में सर्वश्रेष्ठा जो श्रीराधिका हैं वे तो प्रातःकालिक गान के आरम्भमात्र से ही प्रायः सर्वदा श्रीकृष्णवियोग की सम्भावना से मूर्छित हो जाती हैं ॥७॥

और जिस श्रीराधिका के ऊपर श्रीकृष्ण सदैव इस प्रकार की चिन्ता करते हैं, देखो ! जो श्रीराधिका मेरे पूर्वानुराग में गलित हो जाती है, मेरी प्राप्ति होने पर भी लोकापवाद से दलित हो जाती है, तथा मेरे वियोग में जो दावानल से प्रज्वलित मालतीलता की वनी की तरह हो जाती है, हाय ! उस राधिका को मैं किस प्रकार सांत्वना प्रदान करूँ ? सदैव इस प्रकार विचार करते हुए, इस समय भी अति व्यग्र होते हुए श्रीकृष्ण के प्रति समाश्वासन एवं विश्वास दिलाती हुई तथा श्रीराधिका को श्रीकृष्ण से वियुक्त करती हुई

इति सदा भावयन्तं सम्प्रति चातिव्यग्रीभवन्तं व्रजयुवराजं प्रति समाश्वासनया विश्वासनया च तां व्यवहितां कुर्वाणाः प्राणतुल्याः परमाल्यस्तदीयताम्बूलोद्गारादि-संवलनया चेतनामालम्बयन्ति, ॥८॥

समन्तादपि सान्त्वितामथ पृच्छन्ति च—"हन्त ! केयं तव रीतिः ?" इति ॥९॥

सा पुनः सास्रमाश्रावयति—॥१०॥

"न मूर्खधीरस्मि न वा दुराग्रहा, शरीरभोगेषु न चातिलालसा ।
किन्तु व्रजाधीशसुतस्य ते गुणा, बलादपस्मारदशां नयन्ति माम् ॥"

"किं कुर्महे, यया मर्मपीडया क्वचन च शर्म न लभामहे वयम् ।" इति ॥११॥

अथ पुनर्व्याकुलीभवन्ती सा शुभ्रदन्ती रसान्तरेण ताभिः सान्त्वितीक्रियते । तद्दिने तु तदिदमाचचक्षे । अशेषमङ्गलसङ्गताचरणानां श्रीव्रजेश-गृहिणीचरणानामादेशप्रवेश आसीत्—"हन्त ! सर्वा एवार्वाचीनवयसः समागताः, मत्प्राणाधिका राधिका कथमधुनापि नागता ?" इति । तदेवमवधारितवती श्रीराधापि सावधानीभवन्ती शीघ्रमेव प्रातरौचितीं विधाय सर्वाभिरेवोपशाय-विशायवलिताभिः कल्यमाकल्य निलिताभिर्ललिताविशाखादि-सखीभिः सार्धं श्रीव्रजाधीश्वर्या धाम जगाम; गत्वा च परमकान्त-स्वकान्ति-कन्दलीभिरन्तिमगताभीर-कान्ताः समन्तादप्यन्तर्बहिरपि देवयामास ॥१२॥

प्राणतुल्य श्रीललिता आदि सखियाँ श्रीकृष्ण द्वारा चर्वित ताम्बूल आदि प्रियवस्तु समर्पणपूर्वक श्रीराधिका को चेतना दिलाती हैं ॥८॥

तदनन्तर श्रीराधाजी जब सर्वथा स्वस्थ हो जाती हैं, तब सखियाँ उनसे पूछती हैं कि—हाय ! बड़े कष्ट की बात है सखि ! राधिके ! यह तुम्हारी क्या रीति है ?॥९॥

श्रीराधिकाजी पुनः कातर होकर अश्रु बहाती हुई सुनाती हैं ॥१०॥

अरी सखियो ! देखो, मैं मूर्ख बुद्धिवाली नहीं हूँ, दुराग्रह से युक्त भी नहीं हूँ, तथा शारीरिक भोगों में मेरी अत्यन्त लालसा भी नहीं है, किन्तु व्रजराजकुमार श्रीकृष्ण के वे अनिर्वचनीय सब गुण ही मुझको बलपूर्वक अपस्मार रोग की सी दशा को प्राप्त कर देते हैं । हाय ! अब हम क्या करें ? ऐसी मर्मपीड़ा होती है कि जिसके मारे हमको कहीं भी सुख शान्ति नहीं मिलती है ॥११॥

तदनन्तर फिर भी श्रीकृष्ण वियोग से व्याकुल होती हुई श्वेतदन्तपंक्ति वाली उस श्रीराधिका को वे सखियाँ दूसरे रस से सान्त्वना देती हैं । उस दिन तो यह कहना बन गया कि—सर्वमङ्गलमय आचरण-विशिष्टा, परमपूजनीया व्रजराज की पटरानी श्रीयशोदाजी का आदेश कर्णाकर्णिकया (कानोंकान) उपस्थित हुआ है, यथा—अहह ! अल्प अवस्था वाली सभी बालिकायें तो आगई हैं किन्तु मेरी प्राणाधिका राधिका अभी भी क्यों नहीं आई है ? ऐसे आदेश को सुनकर श्रीराधिका भी सावधान होती हुई, प्रातःकालोचित कार्यकलाप को शीघ्र ही समाप्त कर, अपनी अपनी बारी से जो सखियाँ श्रीराधिका के पास शयन करती हैं, एवं जो प्रातःकाल जानकर ही एकत्रित हुई हैं ऐसी ललिता, विशाखा आदि अनेक सखियों के साथ श्रीमती व्रजाधीश्वरी के भवन के प्रति चल दीं । वहाँ जाकर परम कमनीय स्वीय कान्ति समूह द्वारा चारों ओर से 'यह क्या है' इस प्रकार कहकर पास में आई हुई अथवा अन्तिम दशा को प्राप्त सभी गोपियों को बाहर भीतर से आनन्दित कर दिया ॥१२॥

यत्र तासां निर्निमेषता च जाता, सम्भावनावतो भावना चेयम्—॥१३॥

अधिविधु नीलाम्बुजयुग,-मपि तिलपुष्पं सबन्धूकम् ।
यस्यां कनकलतायां, सेयं कृष्णाङ्गना चित्रम् ॥१४॥

अथ भक्तितृष्णङ्मनाः कृष्णजननीमनु माननीयतया निजमाननमवनीमवनीय ननाम ॥१५॥

सा च तां सहसभ्यानन्दमभ्यनन्दत् ॥१६॥

तत्र च—असौ चरणयोर्नता शिरसि हस्तमाधत्त सा-
प्यसौ भुवि तथा स्थिता कचमजिघ्रदुत्थाप्य सा ।
असौ कुचितविग्रहा भुजतले निधायाथ सा
सवाष्पकमुदैक्षत द्वयमहो द्वयोः किं ब्रुवे ? ॥१७॥

तदेवमपि रोहिणीप्रभृतीनामादराय भृत-निभृत-सङ्कोचामालोचयन्ती राज्ञी तामनुजज्ञे—"पुत्रि ! वन्दस्व वन्दनयोग्या" इति । सा च रम्यगुणा पुरुनिपुणा भक्तिपूरतः सर्वा एव गुरूरवनम्य दूरदेश एव विनिवेशं विनतवक्त्रमाससाद ॥१८॥

श्रीराधिका के देखने में वहाँ की गोपियों की टकटकी लग गई एवं उनकी सम्भावना वाली यह भावना उत्पन्न हुई कि—॥१३॥

अरी सखियो ! देखो ! यह कैसा आश्चर्यमय दृश्य है कि जिस कनकलता में ऊपर के भाग में निष्कलङ्क दिव्य चन्द्रमा है और उस चन्द्रमण्डल में खिले हुए दो नीलकमल भी हैं एवं बन्धूक पुष्प के सहित एक तिल का पुष्प भी है, तो भी वह लता कृष्ण अंग वाली है, यही आश्चर्य है। (श्लेषपक्ष में सोलह वर्ष की श्यामा अंगना है, इस श्लोक में अभेदाध्यवसायरूप अतिशयोक्ति अलंकार है, अतः श्रीराधाजी का श्रीविग्रह ही यहाँ सुवर्णलता है, मुखमण्डल ही चन्द्रमण्डल है, दोनों नेत्र ही नीलकमल हैं, नासिका ही तिल पुष्प है, एवं सिन्दूर बिन्दु ही बन्धूक पुष्प है) ऐसा समझना ॥१४॥

तदनन्तर भक्ति की तृष्णा से युक्त मन वाली श्रीराधाजी ने परम माननीया कृष्णजननी श्रीयशोदाजी को लक्ष्य करके अपना मुखमण्डल पृथ्वी की ओर झुकाकर नम्रतापूर्वक प्रणाम किया ॥१५॥

श्रीयशोदा माता ने भी श्रीराधिका का अभिनन्दन किया जिससे सभी सभ्यवृन्द आनन्दित हो उठा ॥१६॥

श्रीराधिका ने श्रीयशोदा के दोनों चरणों में प्रणाम किया तो श्रीयशोदा ने उनके मस्तक पर हाथ धर दिया, जब श्रीराधिका प्रणाम करती हुई भूमि पर स्थित थीं तब श्रीनन्दरानी ने उनको उठा कर प्रेम से उनका मस्तक सूँघा। श्रीराधिका जब शरीर से संकुचित होकर खड़ी थीं तब तक श्रीयशोदाजी ने उन्हें अपनी भुजाओं में भरके अपने हृदय से लगा लिया। फिर दोनों एक दूसरे को अश्रुपूर्ण नेत्रों से देखने लगीं। अहो ! इन दोनों के परस्पर प्रेम का मैं अधिक क्या वर्णन करूँ ? ॥१७॥

इसी प्रकार श्रीरोहिणी आदिकों के सत्कार के लिए श्रीराधिका को अतिशय संकोचयुक्त देखकर श्रीनन्दरानी ने उनको आज्ञा दी कि—हे पुत्रि ! राधिके ! तुम वन्दन करने योग्य सभी वृद्धाओं की वन्दना करो। तब मनोहर गुणयुक्ता अतिनिपुणा श्रीराधिका भक्तिपूर्वक सभी वृद्धाओं को नमस्कार करके, स्वयं नम्रवदन होकर गुरुजनों से कुछ दूर पर ही बैठ गई ॥१८॥

अथ ललितादिस्तदालिपालिरपि तासु गुरुवनितासु तद्वदेव कृतवरिवस्या तस्या एव सदेशमुपविवेश ॥१९॥

ततश्च श्रीरामप्रसूः स्पष्टमाचष्ट—"व्रजेश्वरि ! सर्वसुखरोहिणी रोहिणीताराद्य विद्यते । तदादिश्यतामियं सद्भावधूत-सर्वदिश्य-वध्नैपुण्या पाकादिसाद्गुण्याय पूर्वमेव सोमाभानुलोमतया या रसवतीं प्रतीताः, सममन्या धन्यामङ्गलाद्या मङ्गलाराम-रामानुज-रामास्तथा याः परापरनामानः कल्याणारामरामरामाः समन्तादप्यमूरमूमेवानुवर्तन्ताम् । ललिताद्याः पुनरस्याः कायनिकायरूपा एवेति, न साहायकायास्माभिर्नियोजनीयाः" ॥२०॥

अथ तयापि तथादिष्टा शिष्टाङ्गनागणगणेयगुणा शिरो नमयित्वा सखीषु तिरोभूय तत्कालमेव चचाल ॥२१॥

अथ प्रसङ्गमन्यमपि सङ्गतं प्रथयामः ॥२२॥

अथ धृतप्रणयनयसारा वयसा महसा सहसा च कृतसवयस इव सभानुकाराः स्वकुल-परम्परागतपरिचारक-शूद्राभीरकुमाराः स्वावसर-विसर-प्राप्तावसरतया प्रातरेव मोहनागार-द्वारसारमाव्रजन्तः समं विराजन्ते स्म ॥२३॥

पश्चात् श्रीललिता आदि श्रीराधिका की सब सखियाँ भी श्रीराधिका की तरह श्रीयशोदा प्रभृति सभी वृद्धाओं की नमस्कारादि से आराधना करके श्रीराधिका के निकट ही जा बैठीं ॥१९॥

तदनन्तर श्रीरामजननी रोहिणीजी इस प्रकार स्पष्ट बोलीं कि—हे व्रजेश्वरि ! आज सर्वसुखदायक रोहिणी नक्षत्र है। इस राधिका ने अपने सद्भाव द्वारा सब दिशाओं में रहने वाली रमणियों के चातुर्य को परास्त कर दिया है, अर्थात् ये पाक क्रिया में सबसे कुशल हैं अतः पाक आदि में सद्गुण सम्पादन करने के लिये आप इनको पाकशाला में जाने के लिए आज्ञा दे दीजिए, एवं चन्द्रावली के अनुगत जितनी भी गोपियाँ हैं वे तो पहले से ही पाकशाला में चली गई हैं। और मङ्गल की उपवन-स्वरूपा श्रीकृष्ण की धन्या, मङ्गला आदि दूसरी रमणियाँ तथा भिन्न भिन्न नाम वाली, कल्याण की उपवन-स्वरूपा श्रीबलदेव की जो रमणियाँ हैं वे सब भी पाकशाला में प्रवेश कर चुकी हैं, वे सबकी सब एक साथ मिलकर इन श्रीराधाजी का ही अनुगमन करें। और ललिता आदि अष्ट सखियाँ तो इन श्रीराधिकाजी की कायव्यूहस्वरूपा ही हैं। अतः श्रीराधिका की सहायता के लिए उनको हमें पुनः नियुक्त करने की आवश्यकता नहीं है ॥२०॥

तदनन्तर शिष्ट नारीगणों की शिरोमणि-स्वरूपा श्रीराधिकाजी, श्रीरोहिणी की तरह श्रीयशोदाजी से भी आज्ञा प्राप्त करके नम्रता से शिर नवाकर अपनी सखियों में मिलकर तत्काल रसोई घर के लिए चल दीं ॥२१॥

अब प्रसङ्गानुसार हृदयङ्गम एक दूसरे प्रसङ्ग का भी निरूपण करते हैं ॥२२॥

अपनी वंशपरम्परा से परिचारक रूप में आए हुए शूद्र और आभीर, अर्थात् सेवकरूप सब गोप-बालक श्रीकृष्ण को इतने प्रिय लगते हैं कि जो श्रीकृष्ण की प्रेम नीति के सारभार को धारण करके अवस्था, तेज एवं बल से भी श्रीकृष्ण के सखाओं के तुल्य हैं और श्रीकृष्ण के सखाओं की सभा में अनुकरणशील भी हैं। अतः अपनी अपनी सेवा के अवसर समूह को प्राप्त होने के कारण प्रातःकाल ही विलासगृह के सर्वोत्तम शोभायमान दरवाजे पर आते हुए एक साथ सुशोभित हो गये ॥२३॥

ततश्च स्नानीयादिरम्यकरैस्तैः किङ्करैरनुगम्यतया, स तु वरकिशोरवया निखिलत्राता रामभ्राता प्रातराचाराचरणाय सदेशमुपवेशप्रदेशं पूर्वमेव विवेश ॥२४॥

तत्र च नर्ममयशर्मदप्रणया वैश्याभीरतनयाः सखायः सुबलादयः सममेव समगंसत । तैः सङ्गतैः सह तु विलम्बकथंता-कथावलम्बेन मिथः परिहासविलासकौतुकी वरासनमध्यासामास । ते च सर्वे प्रेम्णा परिचर्यायां परमाश्चर्यचर्याः ॥२५॥

यतः—आधेयाधारादिभावेन भेदात्, प्राणा भिन्नाः प्राणिनः सन्ति भिन्नाः ।
ये कृष्णाद्याः स्निग्धताशर्मभाजः, प्राणा ज्ञेयास्ते मिथः प्राणिनश्च ॥२६॥

प्रभाते च प्रभाते तादृशानां मध्ये तादृशस्य तस्य तु—
श्रीमद्वक्त्रकरांघ्रिधावनकला तैलादिभिर्मर्दनं
स्नानं गात्रमृजांशुकद्वयधृतिः साचामपुण्ड्रक्रिया ।
प्रातर्धर्मगकर्म दिव्यवसनं रत्नावलीमण्डनं
वंशीशृंगशिखण्डदण्डकलना मच्चित्तमाकर्षति ॥२७॥

तेषु च केषुचिदंगसेवकेषु विशेषः शेषवचसामपि शेषस्य विषयायते ॥२८॥

तदनन्तर स्नान के योग्य रमणीय द्रव्य हैं हाथों में जिनके, ऐसे सेवक जिनके पीछे पीछे चल रहे हैं, ऐसे नवकिशोर अवस्था वाले सबके त्राता राम भ्राता श्रीकृष्ण प्रातःकालोचित कार्य करने के लिए निकटवर्ती उपवेशन (बैठने के योग्य) स्थान में पहले से ही प्रविष्ट हो गए ।।२४।।

और वहाँ पर कौतुकमय प्रेम सुख देने वाले वैश्य जाति के गोपबालक सुबल आदि सभी मित्रगण एक साथ ही सम्मिलित होगये । उन सबके मिलने पर उनके साथ "हे प्रिय मित्रो ! आप सबको आने में विलम्ब कैसे हो गया" इत्यादि वार्तालाप करते हुए, परस्पर हासपरिहासमय कौतुक विलास का अवलम्बन करने वाले श्रीकृष्ण सर्वोत्कृष्ट आसन पर जा विराजे । वे सब सखा श्रीकृष्ण की प्रेमपूर्वक परिचर्या (सेवा) करने में परमाश्चर्यप्रद शिक्षा में निपुण हैं ।।२५।।

[श्रीकृष्ण के सखा श्रीकृष्ण के विलासरूप हैं अतः श्रीकृष्ण से उनका भेद नहीं है, यही वर्णन करते हुए कहत हैं कि] आधेय एवं आधार आदि भाव से, अर्थात् देह देही भाव से भेद होने के कारण प्राणों से प्राणीगण भिन्न हैं, परन्तु वस्तुतः दोनों में अभेद है, अर्थात् प्राणों के न रहने पर प्राणी नहीं रहते एवं प्राणियों के न रहने पर प्राण भी नहीं रहते । इसी प्रकार प्रेममात्र सुख की आकांक्षा करने वाले श्रीकृष्ण आदि जो सब गोपबालक है वे सब परस्पर में प्राण और प्राणी हैं ऐसा समझना चाहिए; अर्थात् श्रीकृष्ण प्राण हैं तो सखा प्राणी हैं, और सखा प्राण हैं तो श्रीकृष्ण प्राणी हैं । एक के बिना दूसरा नहीं रह सकता । तात्पर्य यह है कि—श्रीकृष्ण के सखा श्रीकृष्ण की अभिन्न मूर्ति हैं ।।२६।।

प्रातःकाल के सुप्रकाशित हो जाने पर पूर्वोक्त ग्वालबालों के मध्य में उक्त श्रीकृष्ण के श्रीमुख, श्रीहस्त, श्रीचरणकमल आदि का प्रक्षालन, नारायण तैल आदि मर्दन, स्नान, गात्रमार्जन, कटि वस्त्र एवं उत्तरीय वस्त्र का परिधापन, आचमन, तिलकरचना, प्रातःकालीन धर्मकर्म, दिव्यवस्तु आस्वादन, रत्नजटित अनेक अलंकार धारण, तथा वंशी, शृङ्ग, मयूरपिच्छ एवं गोचारण के लिए लकुट धारण, ये समस्त प्रातःकालीन श्रीगोपाल की लीलाएँ मेरे चित्त को बलात् आकर्षित कर रही हैं ।।२७।।

उन सब सेवकों में से कुछ अंगसेवकों में ऐसे विशेष गुण हैं कि जिनका वर्णन करते हुए शेषजी के अशेष (सम्पूर्ण) वाक्य भी शेष (समाप्त) हो जाते हैं ।।२८।।

यतः—सौरभ्यं शिरसः पदाम्बुजयुगं बाहुप्रसारादिकं
लब्ध्वाश्लेषविशेषतां दधति ये कृष्णस्य तृष्णान्विताः ।
वात्सल्ये परिषेवणे सखिपदे कान्तस्थितावप्यमी
सौख्यं यत्तदशेषमेव दधते प्रेम्णा तदभ्यंगिनः ॥२९॥

अथ तस्मात्तैः परिवीतः पीतवसनः सांगणप्रवेशमंगीकुर्वन् सदेशसमवयस्काभिः समं जनन्या जीवन्यास इव प्रतिमया लभ्यते स्म ॥३०॥

तत्र च—आगच्छज्जयतादहो मधुरता निर्मञ्छनद्रव्यतां
गच्छेयं मम दृग्द्वयस्य भवतादत्रातिपक्ष्मास्थितिः ।
इत्थं कञ्जविलोचनस्य कलयन्नाकस्मिकीमागतिं
चित्रं चित्रजनः सदा भवति चेदासान्तु किं तद्ब्रुवे ? ॥३१॥

अथ गुरवश्च ता रजनिजनित-तद्विरहज्वालाकलित-स्नेहपूरवशतया मुहुरगुरुतामासाद्यानवद्यामोदमाविष्कुर्वत्यः पूर्वदिङ्मुख-महामन्दिरालिन्दादवतेरुः । तत्र पूर्वं माता वत्समिव माता वत्सं मिलितवती, यत्र रोहिण्यपि रोहिणीवदूहाश्चक्रे लोकचक्रेण ॥३२॥

कारण यह है कि जो जन सेवा की तृष्णा से युक्त होकर श्रीकृष्ण के मस्तक की सुगन्धि, दोनों चरणकमल एवं बाहुप्रसारण आदि प्राप्त कर, आलिङ्गन की चातुरी को भी धारण करते हैं, वे सब व्यक्ति प्रेम से श्रीकृष्ण के तैलमर्दन आदि सेवाकार्य को करके वात्सल्यरस में, दास्यरस में, सख्यरस में एवं शृङ्गार रस में जो सुख विशेष है उस अशेष (सम्पूर्ण) सुख को धारण करते हैं, इसमें सन्देह नहीं, अर्थात् श्रीकृष्ण के सर्वाङ्ग में तैल मर्दन करनेवाले चतुर भक्तविशेष अशेष रसों का आस्वादन कर लेते हैं ॥२९॥

पश्चात् उस स्नान एवं शृङ्गारभवन से दास एवं सखाओं से घिरकर पीताम्बरधारी श्रीकृष्ण ने अपने आँगन में प्रवेश किया । आँगन में प्रविष्ट होते हुए श्रीकृष्ण को दो चार वर्ष कम की अवस्था वाली अपनी सखियों के सहित कृष्णजननी यशोदा ने ऐसे प्राप्त कर लिया कि जैसे अचेतन प्रतिमा प्राणदान प्राप्त कर लेती है ॥३०॥

उस भवन में श्रीकृष्ण का दर्शन कर भिन्न भिन्न जन इस प्रकार कहने लगे—कोई चौंककर बोला कि कृष्णचन्द्र आगये, कोई बोला—श्रीकृष्ण की जय हो, कोई बोला—अहो ! रूप की कैसी मधुरता है, कोई बोला—मैं तो इन पर न्यौछावर हो जाऊँ, कोई बोला—हे प्रियमित्र ! मैं तो यही चाहता हूँ कि आपके दर्शन करते समय मेरे दोनों नेत्र पलकरहित हो जाया करें । इस प्रकार कमलनयन श्रीकृष्ण के आकस्मिक आगमन का दर्शन करते हुए सभी जन जब सदैव आश्चर्यान्वित हो जाते हैं, तब श्रीयशोदा आदि माताओं के सर्वातिशय आनन्द के विषय में अधिक क्या कहूँ ? माताओं का वात्सल्य प्रेम तो अगाध होता है ॥३१॥

तदनन्तर श्रीयशोदा आदि वे सब वृद्ध माताएँ श्रीकृष्ण के रात्रिजनित विरह सन्ताप से बढ़े हुए स्नेह के अधीर होकर एवं श्रीकृष्ण से मिलने के हेतु बारंबार उतावली होकर, विशुद्ध आनन्द को प्रकाशित करती हुई पूर्व की ओर मुख वाले विशाल भवन की पौरी से नीचे उतर आईं । उनमें सबसे पहले, गैया जैसे अपने बछड़ा से मिलती है, उसी प्रकार श्रीयशोदा माता ही अपने पुत्र श्रीकृष्ण से मिलीं । जहाँ पर श्रीरोहिणी माता को भी सब लोगों ने बछड़ा के लिए स्नेहकातर गैया की तरह श्रीकृष्ण से मिलने के लिये स्नेह से व्याकुल देखा ॥३२॥

श्रीगोविन्दश्च द्वयोरपि तयोः पदारविन्दं क्रमाद्वन्दित्वा नन्दित्वा मान्यानामन्यासामपि यथान्यायं मानमुन्नमयामास ॥३३॥

तदैव च श्रीनीलाम्बरमनु समागतिकराः सहचराः श्रीदामसुदामादयः श्रीहरि-सह-विहारि-वितितयस्तथा सर्वविद्यापटवः पुरोहितवटवस्तथा काश्चिदन्यास्तत्प्रसूसमानमाननीय-तन्माननीयादि-वराङ्गनासु गण्यास्तथा सर्वसुखदोहाः स्वसृस्वस्रीयादिस्निग्धसम्बन्धिनी-सन्दोहास्तत्प्रदेशं विशन्ति स्म ॥३४॥

वारं वारं प्रत्येकमुत्थानाद्यभावार्थं तथैव हि सर्वैर्मर्यादा पर्यापितास्ति ॥३५॥

अथ या खलु सिद्धानां परिषदि योगमायेति प्रसिद्धा भक्तिसिद्धान्तसद्भावरते श्रीमद्-भागवते च 'योगमायामुपाश्रितः' (१०।२९।१) इत्यादिना भगवल्लीलाधिकारितया सिद्धा स्वरूपशक्तिः स्वाभिव्यक्तिमन्तरेण रूपान्तरेण तापसीति व्यवसीयते। यस्याः पौर्णमासीति नाम-व्याहार-व्यवहार आसीत्, तस्यामागतायामगर्वेण सर्वेऽपि ससम्भ्रममभ्रमं नमः समम-कुर्वत। तया चानन्दादाशीर्भिः स्फुटमभ्यनन्दिषत ॥३६॥

अथ यश्च सर्वविद्यानिष्णातस्तस्याः स्नातकः श्रीकृष्णस्य रहस्यनर्मणि बद्धतृष्णतया तद्वयस्यतां वश्यतामानिन्ये। यश्चाविदूषणभावरूषित एव देवर्षिप्रकृतितया तस्य कौतुककृते

श्रीकृष्णचन्द्र ने भी क्रम से उन दोनों माताओं के पदारविन्दों की वन्दना करके स्वयं आनन्दित होकर माननीय अन्य माताओं के सम्मान को भी न्यायपूर्वक नमस्कारादि द्वारा वर्धित किया, अर्थात् उनका भी मान बढ़ाया ॥३३॥

उसी समय श्रीकृष्ण के साथ विहार करने में जो विख्यात हैं, वे श्रीदामा, सुदामा आदि सखागण भी श्रीबलदेवजी का अनुगमन करते हुए वहीं आ पहुँचे। तथा सभी विद्याओं में निपुण पुरोहित ब्राह्मणों के बालक एवं माता की तरह माननीय अन्य नारीगण और उनके द्वारा भी माननीय श्रेष्ठ स्त्रियों में गणनीय स्त्रीगण तथा सर्वसुखप्रद भगिनी और बहिन के बेटा आदि स्नेहमय सम्बन्धविशिष्ट सभीजन उसी स्थान पर आ पहुँचे ॥३४॥

सभा में प्रत्येक को देखकर बारंबार उठना नहीं होगा, ऐसे कहकर खेल के समय में भी वैसे विनय वाक्यादि द्वारा मर्यादा का सभी ने समाधान कर दिया ॥३५॥

तदनन्तर जो सिद्धगणों की सभा में निश्चय ही योगमाया कहकर प्रसिद्ध हैं, एवं जो भक्तिसिद्धान्त-रूप सद्भाव में तत्पर श्रीमद्भागवत में भी "योगमायामुपाश्रितः" इत्यादि प्रमाण द्वारा भगवल्लीला की अधिकारिणी होकर स्वरूपशक्ति के नाम से प्रसिद्ध हैं, किन्तु ऐसे चिन्मय अचिन्त्यस्वरूप का प्रकाश न होने के कारण जो तापसीरूप से विख्यात हैं, और जिनका 'पौर्णमासी' यह नाम सबके कहने के व्यवहार में आता है, उन श्रीपौर्णमासीजी के वहाँ आ जाने पर तत्काल सभी ने नम्रतापूर्वक एवं सम्भ्रमपूर्वक उनको नमस्कार किया। श्रीपौर्णमासीजी ने भी आनन्दपूर्ण हृदय से आशीर्वाद वाक्य द्वारा सभी को आनन्दित किया ॥३६॥

और सभी विद्याओं का पारदर्शी एवं जो स्नातक ब्राह्मण वटु है वह भी पौर्णमासीजीके साथ वहाँ आ गया, और जो श्रीकृष्ण के रहस्यमय कौतुक में तृष्णायुक्त होने के कारण श्रीकृष्ण की मित्रता को अधीन कर चुका है, अर्थात् उनका पक्का मित्र है, एवं जो दोषगन्धरहित भाव से युक्त होने के कारण देवर्षि

विदूषकतामपि विभूषयति स्म, स खलु मधुमङ्गलनामा नर्मणा मर्मस्पर्शिकुतुकरचनैराशीर्वचनैः सर्वानमन्दमानन्दयामास, निधिमिव हरिसन्निधिञ्चानश्च ॥३७॥

ततश्च परस्परं करबद्धकरौ सितासित-कुमारवरौ मातृभ्यामुभयतः पृष्ठतः प्रदत्तहस्तौ स्मितवशंवदवदनशस्तौ मन्दं मन्दं तदेवामन्दमलिन्दमविन्दताम् ॥३८॥

सुवर्णस्वर्णकिर्मीरितप्रयत्न-निर्मित-पृथुरत्नपीठमभि पृथक् पृथक् निविष्टवन्तौ सुधावृष्टिमिव च सर्वेषूपविष्टेषु दृष्टिं विसृष्टवन्तौ ॥३९॥

अथ प्रतिमास्या सेयमास्या जन्मतारागमनमयीति श्रीयशोदायशोदातुस्तस्य तदा तदाचार्याणामर्भकादर्भकाग्रीयनीराभिषेकं विवेकातिरेकवन्तः शन्तम-मन्त्रप्रवचन-सचनया रचयामासुः ॥४०॥

ततश्च—मन्त्रा गीतानि वाद्यान्यपि च जयरवाः कृष्णशोभास्तदीय-
प्रेयोवर्गातिचित्रप्रणयविलसिता नीतिपर्वण्यमुष्मिन् ।
प्रत्येकं तत्तदेकीभवनमपि तदा प्राप रुच्यत्वमुच्चैः
शृङ्गाराद्यो रसो वा कविकृतिरथवा षाडवो वापि यद्वत् ॥४१॥

श्रीनारदजी के समान होकर भी श्रीकृष्ण के कौतूहल के लिए विदूषक (हास्यकारी) भाव को भी विभूषित कर चुका है, उसी मधुमङ्गल नामक श्रीकृष्णसखा ने रहस्य द्वारा मर्म को स्पर्श करनेवाले कौतुक की रचना से युक्त आशीर्वाद वचनों से सभी को अत्यधिक आनन्दित कर दिया। एवं श्रीकृष्ण की सन्निधि को निधि की तरह जानकर उसको प्राप्त कर लिया, अर्थात् सबको आशीर्वाद देकर मधुमङ्गल श्रीकृष्ण के पास जा बैठा ॥३७॥

तदनन्तर गौर श्यामवर्ण वाले कुमारश्रेष्ठ श्रीराम कृष्ण दोनों भाई आपस में हाथ में हाथ मिलाकर, अपनी दोनों माताओं से दोनों ओर से अपनी पीठ पर हाथ धरवाकर, मन्द मुस्क्यानयुक्त मुखारविन्द से हासपरिहासपूर्वक वार्तालाप करते हुए धीरे धीरे सर्वोत्कृष्ट उसी पौरी के प्राङ्गण में पहुँच गये ॥३८॥

पश्चात् निर्मल उज्ज्वल सुवर्ण से खचित विशेष यत्न से बनाये हुए विशाल रत्नजटित सिंहासन पर दोनों भाई पृथक् पृथक् बैठ गये, तथा सबके बैठ जाने पर उनके ऊपर अमृत की वृष्टि की तरह दृष्टि निक्षेप करने लगे ॥३९॥

तदनन्तर श्रीयशोदाजी को यश देने वाले श्रीकृष्ण का जन्मनक्षत्र उपस्थित होने पर प्रत्येक मास में ही इस अभिषेकरूपी स्थिति का आयोजन होता है। उस समय अतिशय विवेकीजनों ने श्रीकृष्ण के पुरोहितों के एक विशिष्ट बालक द्वारा माङ्गलिक मन्त्रपाठ की रचनापूर्वक बालक का प्रथम करणीय जलाभिषेक सम्पन्न कराया ॥४०॥

पश्चात् नीतिपूर्ण इस महोत्सव कार्य में मन्त्रपाठ, गाना, बजाना, जयध्वनि, श्रीकृष्ण की शोभा एवं श्रीकृष्ण के बान्धववर्ग का आश्चर्यमय प्रेमविलास, यह सब समुदाय एकत्रित होकर अभिषेक कार्य में अतिशय रुचिकर हो गया। अर्थात् जिस प्रकार शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, शृङ्गार ये पाँचों रस, अथवा भक्तिरसरसिक कवि का काव्य, अथवा कटु, तिक्त, मधुर आदि रसों का एक जगह मिला हुआ पानकद्रव्य-विशेष जैसे अतिशय रुचिकर होता है, उसी प्रकार इस गोविन्दाभिषेक में सम्मिलित पूर्वोक्त सकल समाज भी मधुर मनोहर मालूम पड़ता था ॥४१॥

तस्मिन्नीराजनिर्मञ्छन-भविकपदार्थालिसंस्पर्शनाना-
माज्यादर्शादिदर्श-द्विजनिजजनतार्चादिकानां शुभानाम् ।
कृष्णो गोत्रादिरासीत् प्रवरवरदशां तानि जग्मुः समन्ताद्-
येभ्योऽन्ये च प्रथन्ते शुभशतनिवहस्यान्वयाः सर्वलोके ॥४२॥
ब्राह्मण्यस्त्वधिकचमच्युतस्य दूर्वा,-पूर्वाणि न्यधिषत तत्र मङ्गलानि ।
यद्याशीर्वचनमिहारुरोध वाष्पः, कल्याणं बत भवतान्मनोरथस्य ॥४३॥
दृगम्भः स्तम्भरुद्धापि कुर्वती तिलकं प्रसूः ।
कुर्यात् किं यदि साहाय्यं नाऽकरिष्यत रोहिणी ॥४४॥
मातुः पितुस्तस्य च तत्र मातृ,-भावान्विता भ्रातृवधूस्वसृणाम् ।
उपायनं पुण्ड्रमितीयतो गो,-रासीत्तदीयार्थचये मितिर्न ॥४५॥

अथ प्राचीगत-द्वितीयप्रकोष्ठादागम्य रम्यकुमारः कश्चिदाचष्ट, यः खल्वेतदर्थमेव पूर्वं विसृष्टः—"श्रीमन् व्रजयुवराज ! श्रीमद्व्रजराजसभायां सर्व एव पर्वणीह संवलिता वर्तन्ते, किन्तु भवद्यात्राद्वारमात्रावलोकिनः, यानि च सर्वाराधनधनानि श्रीमद्व्रजराजचरणराजीव-

---

उस अभिषेक में प्रथम आरती, न्योछावर, माङ्गलिक अनेक पदार्थों का स्पर्श, घृत, दर्पण आदि वस्तुओं का दर्शन एवं ब्राह्मण और आत्मीय जनसमुदाय की पूजा आदि शुभकार्य समूह के श्रीकृष्ण ही आदिप्रवर्तक हुए थे। उक्त आरती आदि कार्य उत्तम रीति से सम्पन्न होकर उनको सम्पूर्ण लोक में अच्छा उत्कर्ष या गोत्र प्रवर्तकत्व प्राप्त हुआ। जिन गोत्र प्रवरों से सम्पूर्ण जगत् में चारों ओर दूसरे सैकड़ों मङ्गल समूह के सन्तान विस्तृत हो रहे हैं। तात्पर्य यह श्रीकृष्णाभिषेकरूप मङ्गल ही जगन्मङ्गल का निदान है ॥४२॥

उस अभिषेक में वृद्धा ब्राह्मणियों ने श्रीकृष्ण के केशों में दूर्वा आदि माङ्गलिक द्रव्यों को अर्पित किया। यद्यपि उनके आनन्दजनित नेत्रजल ने एवं गद् गद् कण्ठ ने आशीर्वाद को रोक लिया था, तथापि उनका गद् गद् होना ही सब मनोरथों का कल्याणप्रद होगया ॥४३॥

माता यशोदा ने नेत्रजल और स्तम्भभाव से अवरुद्ध होकर भी श्रीकृष्ण की तिलक रचना कर दी, किन्तु उस समय यदि रोहिणीजी उनकी सहायता न करतीं तो वे तिलक रचना में कभी समर्थ हो सकती थीं क्या ? अर्थात् नहीं ॥४४॥

"श्रीकृष्ण की माता पिता एवं मातृभाव से युक्त श्रीनन्दजी के भ्राताओं की वधू तथा भगिनीगणों के द्वारा की गई श्रीकृष्ण की तिलक रचना ही श्रीकृष्ण के लिये उपहारतुल्य हो गई" केवल यह वाक्य ही पूर्वोक्त भेंट देने का निर्धारणपूर्वक परिमाण करने में समर्थ नहीं है। तात्पर्य यह है कि माता, पिता, ज्येष्ठ भ्रातृपत्नी और भगिनीगणों द्वारा तिलक रचना में श्रीकृष्ण की जो शोभा हुई, उसकी तुलना या परिमाण नहीं हो सकता ॥४५॥

तदनन्तर पूर्व दिशा में विद्यमान द्वितीय प्रकोष्ठ (दूसरे कमरा) से आकर कोई एक रमणीय बालक बोला, जो कि पहले से इसी कार्य के लिये नियुक्त किया गया था। बालक की उक्ति यथा—हे श्रीमन् व्रज-युवराज ! श्रीमान् व्रजराज की सभा में आपके अभिषेकरूप इस पर्व को लक्ष्य बनाकर सभी व्रजवासीजन सम्मिलित होकर वर्तमान हैं। किन्तु वे सब आपके आने के मार्ग की ओर टकटकी लगाकर देख रहे हैं,

परिसराय सज्जितानि, भवद्भिर्सर्जितानि ताम्बूल-दुकूलादीनि तानि चाधुनापि मूर्धानं धुन्वाना नोपयुञ्जते स्म" ॥४६॥

अथ सोऽपि तदवधारयन्नेव तदेवावधारयन्मातरमनु कातर इव निष्क्रमणक्रम-समनुज्ञा-याचनमनुसन्धाय प्रणामादिना पौर्णमासीमुटजगृहाय विहाय श्रीराममग्रे विधाय श्रीदामादीन् परितो निधाय पश्चिमाग्रिम-प्रेमदोलायमानस्वान्तस्ततो निष्क्रान्तः; सहसा महसा वृतः सभ्यालिभिरभ्यालोकयाञ्चक्रे ॥४७॥

अथ सोदितमेघाश्चातका इव, लब्धचन्द्राश्चकोरा इव, सङ्गतजला जलजन्मान इव, समुन्मीलितप्राणा देहा इव सर्वेऽप्यानन्दगर्वेण वन्दिवृन्दादिकलित-कोलाहलेन च सममेव समुत्तस्थुः ॥४८॥

किन्तूत्कलिकाकलितमनसोऽपि स्वस्वमर्यादया पर्यापिता इव लब्धस्तम्भारम्भाः श्रीमन्नन्दादयस्तत्र तत्र केवलं स्थितवन्तः। युक्तमेव च तत् प्रोक्तम्, यतस्तस्मिन् खल्वस्माकं श्रीमन्नन्दव्रजराजग्रामे तत्तत्प्रेम-विशेषरीतिनीतिरेव ग्रामणीरिव वर्तते ॥४९॥

एवं श्रीमान् व्रजराज के चरणकमलों के पास की भूमि पर आपके द्वारा भेजी हुई सबकी आराधना (सत्कार) की धनस्वरूप ताम्बूल, वस्त्र आदि सभी सामग्री सजी सजाई धरी है, किन्तु वे सब सभासद मस्तक हिलाकर निषेध प्रगट करते हुए उसे अभी तक अपने उपयोग में नहीं ला रहे हैं ॥४६॥

तदनन्तर श्रीकृष्णचन्द्र भी उस बालक की बातों को सुनते सुनते उसी को निश्चय करते हुए, माता को लक्ष्य करके, अर्थात् माँ यशोदा को देखकर कुछ कातर से हो गये। मेरे यहाँ से चले जाने पर माता को दुःख होगा, इसलिये उनकी अनुमति प्रार्थनापूर्वक लेकर, एवं प्रणामादि द्वारा श्रीपौर्णमासीजी को अपनी पर्णशाला के लिये विदा करके, श्रीबलदेवजी को आगे करके तथा श्रीदामा आदि सखाओं को अपने चारों ओर करके, आगे पीछे दोनों ओर के प्रेम से चलायमान चित्त वाले होकर उस अन्तःपुर से निकल पड़े। अर्थात् पीछे की ओर माताजी का प्रेम एवं आगे की ओर पिताजी का प्रेम उनको खैंच रहा था, अतः उनका चित्त दोनों ओर चलायमान हो रहा था। सभा में जाते ही सभासदों ने तेज से आवृत श्रीकृष्ण का सहसा दर्शन किया ॥४७॥

दर्शन करते ही सभी सभासद मेघों के प्रगट होने पर चातकों की तरह, चन्द्रमा को प्राप्तकर चकोरों की तरह, जल को प्राप्तकर जलजन्तु किंवा कमलों की तरह, एवं प्राणों के लौटने पर निष्प्राण देहों की तरह, आनन्दमय गर्व के साथ और वन्दिगणों के द्वारा किये गये कोलाहल के साथ अपने अपने आसन से एक साथ उठकर खड़े हो गये ॥४८॥

किन्तु श्रीमान् नन्द आदिक सभी वृद्ध सभासद श्रीकृष्ण से मिलने के लिए उत्कण्ठित चित्त होकर भी अपनी अपनी मर्यादा से बँधे से रह गये, तथा स्तम्भभाव का उदय होने से केवल वहीं के वहीं बैठे रह गये। उनको जो स्तम्भभाव का उदय हुआ वह ठीक ही है। उसका कारण भी कहा हैं कि—हमारे उस श्रीनन्दग्राम में निश्चय ही उस उस प्रेमविशेष की रीति नीति भी ग्राम के अधिपति की तरह ही है, अर्थात् वात्सल्य प्रेमपूर्ण श्रीनन्दग्राम में उत्कण्ठा उपस्थित होने पर भी वह वह उत्कण्ठा निज निज प्रेमानुसारिणी ही रहती है, प्रेम मर्यादा का लंघन नहीं करता है ॥४९॥

तथा हि—कदाचित् कस्यचित् कश्चित् प्रति वचनम्—॥५०॥

तौ शुभ्रद्युतिनीरदद्युतिहराविन्द्राश्महेमप्रभा-
हृद्वस्त्रौ सितकञ्जनीलकमल-श्रीचोरिचार्वाननौ ।
चञ्चत्खञ्जनगञ्जनाक्षियुगलौ दन्तीन्द्रजिद्विक्रमौ
तानस्तम्भयतां जनान् यदखिलांस्तन्मित्र ! चित्रं न हि ॥५१॥

यदा च दक्षिणे सर्वानर्वाचीनमाहात्म्यगुरवो गुरवो बभूवुः । ते च सर्वे पूर्वपूर्वतः पूर्वजा एव तस्थुः । यत्र पुरोहिताः स्वयमनर्घ्यमर्घ्यं दधानाः सर्वतः पूर्वे भवन्तः स्वनाम-निरुक्तिमिव व्यक्तीकुर्वन्ति स्म—'पुरो धीयन्ते' इति । तदेतदपि युक्तं श्लेषेण च प्रथमतो हितास्त एव हि भण्यन्ते ॥५२॥

अथ तादृशनिजकुलचन्द्र-प्रेमानन्दामृत-तुन्दिलिततया किल श्रीमदुपनन्दाभिनन्द-नन्द-सन्नन्द-नन्दनादिनामानः प्रबलनन्दनस्नेहमधुरधामानस्ताननु च प्रेम्णा सम्यग्बन्धुताबन्धिनः सम्बन्धिनः परापरनामानस्तन्मिलनमनुसन्धाय स्थिताः ॥५३॥

अथ रामेऽपि तथैवालघुप्रेम्णाऽलघूभवन्तो लघवः समवतस्थिरे ॥५४॥

देखो, किसी समय किसी के प्रति किसी व्यक्ति का प्रतिवचन यह है कि— ॥५०॥

हे मित्र ! एक जन गौर कान्ति का हरण करनेवाला है तो दूसरा सजल जलद की शोभा को तिरष्कृत कर देता है, एक का वस्त्र इन्द्रनीलमणि के गर्व को परास्त कर रहा है तो दूसरे का वस्त्र पीतवर्ण सुवर्ण के वर्ण को अपनी प्रभा से फीका कर देता है, एक जन का मनोहर मुख श्वेत कमल की शोभा को तो दूसरे का मुख नील कमल की शोभा को चुरा लेता है, दोनों के ही नेत्रयुगल चञ्चल खञ्जन के नेत्रों का गञ्जन कर देते हैं, दोनों का ही गमन या पराक्रम दिग्गजों को पराजित कर देता है। अतः उन दोनों भाइयों ने अपने दर्शन से उन सभी सभासदों को यदि स्तम्भित कर दिया तो कोई आश्चर्य नहीं है ॥५१॥

जिस समय उस सभा में दाहिनी ओर सर्वाधिक माहात्म्य से परिपूर्ण वृद्ध गुरुजन विराजमान थे, उसी समय उनमें भी जो अवस्था में बड़े थे वे सबसे प्रथम, उनके पश्चात् दूसरे, इस प्रकार अवस्था के क्रमानुसार ही उपस्थित थे। जहाँ पर पुरोहितगण भी स्वयं अमूल्य अर्घ्य को धारण करते हुए, सर्वजनों के आगे उपस्थित होते हुए अपने नाम के अर्थ की सार्थकता को ही व्यक्त कर रहे थे। अर्थात् "पुरोधीयन्ते इति पुरोहिताः" इस निरुक्ति के कारण जो सबके आगे स्थापित किये जाते हैं, वे ही पुरोहित कहलाते हैं। अतः पुरोहितगणों की उपस्थिति सबके अग्रभाग में उपयुक्त ही है। श्लेषालङ्कार द्वारा यह अर्थ भी व्यक्त हो सकता है कि प्रथम से ही जो जनमात्र का हित करते हैं वे ही पुरोहित कहे जाते हैं ॥५२॥

अनन्तर जो अपने वंश के चन्द्रस्वरूप श्रीकृष्ण के प्रेमानन्दरूप अमृत द्वारा परिपूर्ण होकर श्रीमान् उपनन्द, अभिनन्द, नन्द, सन्नन्द, नन्दन आदि नाम वाले सभी प्रबल पुत्रस्नेह के आधारस्वरूप हैं, वे सब एवं पुत्र प्रेम द्वारा अच्छी प्रकार से जो बन्धुतारूपी सूत्र में बँधे हुए भिन्न भिन्न नाम वाले जो सम्बन्धी गोपगण हैं, वे सब भी श्रीकृष्ण के मिलनसुख का अनुसन्धान करके यथायोग्य स्थानों पर स्थित हैं ॥५३॥

इसी प्रकार मनोज्ञ गुरुवर्ग श्रीबलदेवजी में भी अधिक प्रेम के कारण गुरुभाव धारण करते हुए उनके मिलनसुख का अनुसन्धान करके यथास्थान स्थित हो गये ॥५४॥

सर्वे चैते यथापूर्वं यथायथं सर्वचित्तारामेण रामेण सह हारिणा हरिणा मिलिताः समुन्मीलितभावा बभूवुः, चन्द्रमसं विन्दमानाः कुमुदसन्दोहा इव ॥५५॥

ततश्च क्षणकतिपयादक्षीणानन्दवृन्दार्पित-सत्वर-विसृत्वरमोहादुन्मग्नेषु तेषु तदीय-श्रीमन्मुख-निरीक्षणलग्नेषु श्रीमान् व्रजराजस्तं व्याजहार—"तात ! तवाद्य विद्यते सर्वसम्पन्मयी जन्मतारा, तस्माद्व्रजधाम स्वयमामध्याह्नमध्यासितव्यम्। गोसम्भालनपालनाय पुनः प्रातरेव मया समयास्थिता युक्ता नियुक्ताः सन्ति। स्वयमथ प्रथमत उपविश्य दृश्यतां स्वजनव्रजः।" इति ॥५६॥

अथ सोऽप्यवाचीनता-समीचीन-शिरस्कतया राज्ञां तामाज्ञां मालामिव शिरसि निधाय, श्रीराममुखतामरसमवधाय स्वजनव्रजसहिततया सहितमधिरुह्य चतुष्कदेशगतं पुष्कलमुपवेश-वेश्मवलितस्मितं तारापतिरिव पूर्वपर्वतमध्यसितवान्। विप्रादि-सम्प्रदानतया यथायथं गवादिकमपि सातवान्। ततश्च तस्मिन्नुपविश्य पुनरताम्बूलादि-संविभागसुखसंवलनया सम्बन्धिभिर्मिथो नर्मसंवादसम्बन्धिसन्धिकुतूहलं कलयामास ॥५७॥

मुहूर्तादथ कश्चिदन्तःपुरसारः कुमारः समागम्य साम्येनोपविष्टयोर्ज्यायःकनिष्ठयोः सम्बन्धिनिवहाराधनाय धृततृष्णयोः श्रीरामकृष्णयोः कर्णाभ्यर्णं लगितवान्। ताभ्यामनुमतः

जिस प्रकार कुमुदगण चन्द्रमा को प्राप्तकर अतिशय आनन्दित होते हैं, उसी प्रकार ये गोपगण भी पूर्व पूर्व के क्रम से सबके चित्त को सुख देनेवाले श्रीबलरामजी से एवं सर्वमनोहर श्रीकृष्णचन्द्र से यथायोग्य मिले। उस समय उनका भावोद्गार और भी अधिक बढ़ गया था ॥५५॥

तदनन्तर श्रीरामकृष्ण के दर्शनार्थ सभा में आये हुए सभीजन कुछ काल के लिए प्रचुर आनन्दसमूह से प्राप्त शीघ्र ही फैलने वाले प्रेममोह में निमग्न होकर पश्चात् मोहदशा से उन्मग्न होकर पुनः श्रीरामकृष्ण के श्रीमुख के दर्शन करने में जब लग गये तब श्रीमान् व्रजराज श्रीकृष्ण के प्रति बोले कि—हे पुत्र ! आज तुम्हारा सर्वसम्पत्तिपूर्ण जन्मनक्षत्र है, अतः तुमको मध्याह्नपर्यन्त व्रजगृह में ही उपस्थित रहना चाहिये, गैयाओं की देखभाल पालन आदि के लिये तो प्रातःकाल मेरे निकट में स्थित योग्य ग्वारिया ही मैंने नियुक्त कर दिये हैं। तुम तो स्वयं पहले से ही बलदेव सहित सिंहासन पर बैठकर स्वजनसमूह का दर्शन करो ॥५६॥

तत्पश्चात् श्रीकृष्णचन्द्र भी नम्रता से अच्छी तरह नतमस्तक होकर गोलोक के राजा श्रीनन्दजी की पूर्वोक्त आज्ञा को माला की तरह मस्तक पर धारण कर, श्रीदाऊजी के मुखकमल की ओर निहारकर अपने मित्रमण्डल के सहित हितजनक, चौकोर जगह में स्थित एक विशाल सिंहासन पर चढ़कर मन्द हास पूर्वक बैठ गये। उस समय उनकी पूर्व पर्वत पर विद्यमान चन्द्रमा के समान शोभा जान पड़ती थी। पश्चात् उन्होंने ब्राह्मणों के देने योग्य गैया आदि सामग्री भी यथायोग्य दान कर दी। फिर भी उसी सिंहासन पर बैठकर पुनः सबके लिये ताम्बूल आदि समर्पणरूप सुख से संयुक्त होकर अपने सहचरों के साथ मित्रभाव से कौतुकमय संवाद एवं बन्धुभावपूर्ण कौतूहल करने लग गये ॥५७॥

दो घड़ी के बाद अन्तःपुर का कोई एक प्रधान बालक आकर कृष्ण बलदेव के कानों के पास आ लगा, अर्थात् कान में ही समाचार सुनाने के लिये दोनों भाइयों के पास बैठ गया। उस समय बड़े छोटे दोनों भाई समानभाव से एक ही मंच पर बैठे थे, दोनों ही आत्मीयजनों की आराधना के लिये लालसायुक्त

पुनस्तद्रूपतश्चित्रीभवितुः श्रीमद्व्रजधरित्रीशितुः । तेन चाद्य श्रीवत्स-वत्स-प्रसादलब्धस्य वत्सस्य शुभसम्पन्मयजन्मर्क्षमिति विनयसन्धेन केवलेनाञ्जलिबन्धेन व्यञ्जनया भोजनाय याचिताः सन्तः, अतिसन्तोषाद्व्यतिवीक्ष्य युगपदुत्थितवन्तस्ते प्रस्थितवन्तश्चान्तःपुरम् ॥५८॥

अथाग्रतःसरेण तेन सुकुमारेण कुमारेण प्राङ्गणतः प्रतिरुद्धसङ्गमनासु शुद्धान्तसंगतांगनासु प्रविष्टास्ते कंसजिदिष्टा गृहादिशोभेक्षणस्पृहातः क्षणमाविष्टाः क्रमशो भोजनालयाय कलयाम्बभूवुः ॥५९॥

रामकृष्णौ तु गवालोकनसतृष्णौ तदङ्गणसङ्गतमेर्वाकारमहागारमारुह्य महीमहितमाहेयीस्थानेषु पीयूषवृष्टिरिव दृष्टीर्विधाय विधेयैर्विदूरदेशान्निदेशयामासतुः—"भो भो गोपगणाः ! वर्त्मनः सव्यापसव्ययोरेव पातव्या गव्याः ।" इति ॥६०॥

अथावतीर्णाभ्यामाभ्यामभ्यागतैरपि—

अगुरुज-गुरुधूपः शुभ्रता रत्नपीठा-
वलिमदशनपात्रासङ्गि-भृङ्गारसङ्घः ।
नियतसचिवलोकः सादरप्रेम चासी-
दिति दिशि दिशि धर्म्यं भोगहर्म्यं व्यलोकि ॥६१॥

हो रहे थे, अर्थात् सभी व्रजवासियों के सत्कार की इच्छा से युक्त थे। उन दोनों की अनुमति लेकर वह बालक, उन दोनों के रूपमाधुर्य से चित्र से बने हुए श्रीनन्दजी के भी कानों के पास जा लगा और उसने अन्तःपुर का समाचार सुना दिया। समाचार सुनकर श्रीनन्दजी बोले—"आज श्रीनारायण भगवान् के अनुपम अनुग्रह से प्राप्त हमारे पुत्र का शुभसम्पत्तियुक्त जन्मनक्षत्र है, इसलिये विनयपूर्वक केवल हाथ जोड़ कर प्रार्थना करता हूँ कि सभी सभासद अन्तःपुर में ही भोजन करें" इस प्रकार हाथ के इशारे से ही भोजन के लिये प्रार्थित सभीजन अत्यन्त सन्तोष से आपस में देखकर सभामण्डप से एक साथ उठकर खड़े होगए और अन्तःतुर को चल दिए ॥५८॥

तदनन्तर आगे चलने वाले उसी सुकुमार बालक के साथ अन्तःपुर में आँगन तक ही विचरने वाली रमणीगण के आने जाने के स्थान में प्रविष्ट होकर कृष्ण के अनुकूल विचार वाले वे सब बान्धवगण गृहादिकों की शोभा देखने की इच्छा से क्षण भर आविष्ट होकर, क्रमशः भोजनालय के लिये चलदिये ॥५९॥

गैयाओं के दर्शन की तृष्णा से युक्त श्रीकृष्ण बलदेव ने तो उसी अन्तःपुर के आँगन में स्थित सुमेरु पर्वत के से ऊँचे आकार वाले विशाल गृह की छत पर चढ़कर, पृथ्वी पर सुशोभित गोगणों के स्थानों पर अमृत की वृष्टि की तरह दृष्टि निक्षेप करके, सेवकों के द्वारा दूर से ही सन्देश भिजवा दिया कि—"हे मेरे प्यारे गोपालबन्धुओ ! तुम सबको मार्ग की बाईं एवं दाईं दोनों ही ओर से गोसमूह की रक्षा करनी चाहिये।" ॥६०॥

अनन्तर उस भवन से उतरकर दोनों भाइयों ने महोत्सव में आये हुए सभी जनों के साथ चारों ओर धर्मकार्य से युक्त भोजनालय का दर्शन किया। वहाँ पर अगरबत्ती, चन्दनचूरा आदि की सुन्दर धूप, शुक्लवर्ण की रत्नजटित चौकियों से युक्त भोजनपात्रों के सहित जलपात्रों (गिलासों) के समूह एवं कार्यनियुक्त मन्त्री लोग भी आदरपूर्ण मूर्तिमान प्रेम की तरह विद्यमान थे ॥६१॥

अङ्घ्रिप्रक्षालनमार्जने इह भवान् जीयादिति प्रार्थना
सम्यग्वीजनमन्तरा प्रमदसूहासप्रसूसूक्तयः ।
रुच्यानां परिवेषणं मुररिपोर्दृष्टिप्रसादामृतं
यत्रैवं सुहृदां सभोजनविधिः सूते न किंवा सुखम् ? ॥६२॥

तत्रानुपयुक्तयुक्तभोक्तृणां विप्राणां पंक्तिरेकत्र । सन्धि-दिग्धानामसन्दिग्ध-स्निग्धानां वैश्यवंश्यानामन्यत्र । तत्र तत्र च वृद्ध-मध्यम-नवयौवनानां पृथक् पृथगिति वियुतावपि मिथो यथास्वं परिहास विलासेन संयुतिरिव वीक्ष्यते स्म । न च केवलेन तेन तदवलोचन-समुन्मीलित-लोचन - रोचन-विलासालाप-लीलारसवारिधेर्व्रजेन्द्रकुल - सुधानिधेरसकृदनुभव - यौगपद्येन च ॥६३॥

यत्र च स एव सर्वरससत्रममत्रमेकमासीत्; तत्र च—
परस्परस्य स्फुटहासवार्तां, सञ्चारयन्तः परितो हरौ च ।
षण्णां रसानां परिवेषका ये, ते सप्तमस्यापि बभूवुरत्र ॥६४॥

यत्र परिहासबीजञ्च पृथग्दिग्देशलोकप्रसिद्धानामत्रैव चान्यथासिद्धानां तेमनादीनां नाम नाम्नातुं शक्यते, नामान्तरेण वा आम्नायते च । सदाम्नायजन्मभिरपि बन्धुसम्बधिभिरित्यादिलक्षणं लक्ष्यते ॥६५॥

जिस भोजनशाला में—"आप इस स्थान पर पादप्रक्षालन एवं पादमार्जन कीजिए" इस प्रकार की प्रार्थना, अच्छी प्रकार व्यजन, चामरादि द्वारा वीजन, प्राप्त हो रहा है, तथा बीच बीच में हर्षजनित हास्य-दायक सुन्दर सुन्दर वार्तालाप, रुचिकर पदार्थों का परोसना, एवं श्रीकृष्ण का दर्शनरूप प्रसन्नतामय अमृत प्राप्त हो रहा है, उस भोजनशाला में इस प्रकार के व्यवहारपूर्वक आत्मीयजनों की वह भोजनविधि कौन कौन से सुख उत्पन्न नहीं करती अपितु सभी सुख देने वाली है ॥६२॥

वहाँ पर जिनके साथ अन्य जनों का एक साथ भोजन करना उचित नहीं था, ऐसे ब्राह्मणों की पंक्ति एक तरफ थी । और जिनका एक साथ मिलकर भोजन करना उचित है एवं जो परम स्नेह सम्पन्न हैं, ऐसे वैश्यजाति वाले गोपों की पंक्ति अन्यत्र थी । उस उस पंक्ति में भी वृद्ध, मध्यमवृद्ध एवं नवयुवकों की पंक्तियाँ पृथक् पृथक् थीं । इस प्रकार पंक्तियों की पृथकता होने पर भी परस्पर के यथायोग्य परिहास विलास द्वारा एकता जैसी ही दिखाई पड़ती थी । केवल उस परिहास के द्वारा ही पंक्तियों की एकता का अनुभव नहीं होता था, अपितु उस भोजनलीला के दर्शन से जिनके नेत्र प्रसन्न हैं, उनके लिए रुचिकर विलासपूर्ण आलापादिरूप लीलारस के समुद्र, व्रजेन्द्रकुलचन्द्रमा, श्रीकृष्ण के बार बार एक साथ अनुभव से भी पंक्तियों की एकता प्रतीत होती थी । अर्थात् भोजन करनेवाले सभीजन श्रीकृष्ण के दर्शन आलाप आदि रस का भी एक साथ ही अनुभव कर रहे थे, इसीलिए एकता संघटित थी ॥६३॥

कारण वहाँ पर सबके लिए रस देने के एकमात्र पात्र तो श्रीकृष्ण ही थे, और उसमें भी यहाँ पर जो छः रसों के भोजन परोसने वाले थे वे सब परस्पर की स्पष्ट हास परिहास की बातों को सम्पूर्ण भोजनालय में तथा श्रीकृष्ण के निकट भी सञ्चारित करते हुए मानो सप्तम परिहास रस के भी परोसने वाले हो गये थे ॥६४॥

उस भोजनशाला में जितने भी व्यञ्जन थे उनका नाम पर्यन्त भी परिहास का मूल कारण बन गया था । भिन्न भिन्न दिशा एवं भिन्न भिन्न देशवासीजनों में प्रसिद्ध होने पर भी समस्त व्यञ्जनादि इस स्थान

किञ्च, तत्र मधुमङ्गलः कौतुकेन केनचित् प्रहितेन निजहितेन श्रीमद्व्रजेशं सन्दिदेश— "राजवर ! तदेतदस्माकं ब्राह्मणा निवेदयन्ति—शौक्लनामधेयं प्रथममेव जन्म तावदस्मादृशां भृशशर्मणे चक्लृपे । यद्द्वितीये सावित्राख्ये जन्मनि लब्धस्वकुलैश्यवैश्यद्विजतया राजन्यवद्-ब्राह्मणभोज्यपक्वान्नैरपि भवद्भिर्विदूरविभक्तपंक्तावेव निवेशिता वयं न प्रतीमः—तत्र किं किं परिवेषितमत्र वा किमिति । तस्माद्गोष्ठाधिपतिना स्वदृष्टिनिष्टङ्कितीकृतान्यस्मत्कृते पुनः प्रथमतः सर्वाण्येव तेमनानि परिवेष्यन्तां, यान्येव वार्षभानव्यादि-स्वहस्तप्रयस्ततया पक्वानि परमशस्तान्युत्तरतापन्यनुसारेण पूर्वं दुर्वाससापि क्रोधदुर्वासनां निर्वासयता प्रसादमपि भासयता रसनयाभ्यस्तानीति निखिलमिष्टताविशिष्टतया किल वर्त्मन्येव परिवेषकैश्चोरं चोरमुर्वरितानि, पराण्यपि दृशैव भुक्तपूर्वाणि सन्ति । तानि च भुक्त्वा वैष्णवयज्ञाय श्रुति-स्मृतिविहित-हितप्रतीकारमयं दैक्षसमाख्यं तृतीयमपि जन्म द्रुतमुरीकरिष्यते ।" इति ॥६६॥

तदेतदाकलय्य कलितं हासकोलाहलं गोकुलकुलेश्वरी गृहादवकलयन्ती स्वयमनलपक्व-

---

पर अन्य प्रकार से ही प्रसिद्ध थे, कारण उनका नाम तक कहना भी कठिन था। अथवा उनको दूसरे नाम से कहने लग जाते थे। नीचकुलोत्पन्न व्यक्ति यदि उन व्यञ्जनों का नाम न बता सकें तो कोई बात नहीं, किन्तु सत्कुलोत्पन्न जन भी समर्थ न हुए, यह भी उपहास का कारण था। आत्मीय बन्धुजन गुरुपरम्परा प्राप्त उपदेश को पाकर भी उन व्यञ्जनों का लक्षणमात्र लक्षित करा देते थे, किन्तु नाम निर्देश करने में कोई भी समर्थ न हुआ। (यह सब भोजन का आमोद प्रमोद है) ॥६५॥

किंच वहाँ पर कौतुक करने की इच्छा से मधुमङ्गल ने निजहितैषी किसी जन को भेजकर उसी के द्वारा श्रीनन्दबाबा को सन्देश दिया कि—हे नृपवर्य ! ब्राह्मणगण हमारे प्रति इस प्रकार निवेदन करते हैं कि हमारी तरह अन्य द्विजातियों का शौक्लनामक पहला जन्म ही अतिशय सुख का निमित्त बन गया है, और उपनयन संस्कार के समय जो दूसरा जन्म होता है, उससे वैश्यगण भी द्विजन्मा कहाकर अपने वंश के प्रभुत्व को प्राप्त कर सकते हैं। अतः क्षत्रियों की तरह आप सबके पक्वान्न भी ब्राह्मणों के भोज्य हैं। अतः एवंगुणविशिष्ट आपने हमको अपनी पंक्ति से दूर की पंक्ति में बैठा दिया है, इसलिए हमको मालूम नहीं पड़ता कि आपकी पंक्ति में क्या क्या द्रव्य परोसे गये हैं, तथा हमारी पंक्ति में क्या क्या ? इसलिये श्रीनन्दजी की दृष्टि द्वारा निरूपित सभी व्यञ्जन हमारे लिये फिर पहले से ही परोसने चाहिये। और जो व्यञ्जन श्रीवृषभानुनन्दिनी आदि गोपियों ने अपने हाथों से भलीभाँति संस्कारपूर्वक बनाये हैं वे अति प्रशंसनीय हैं। गोपालतापनी ग्रन्थ के उत्तरतापनी के अनुसार जाना जाता है कि पहले दुर्वासा मुनि ने भी अपनी क्रोध-रूपी दुर्वासना को दूर करते हुए, तथा प्रसन्नता प्रकाशित करते हुए उन समस्त व्यञ्जनों का अपनी रसना द्वारा स्वाद लिया था। इसी कारण से वे सब व्यञ्जन समस्त मिष्टता से परिपूर्ण हैं, यह समझकर परोसने वालों ने बीच में ही चुराकर खा लिए हैं और बाकी बचे हुए व्यञ्जनों को वे अपनी दृष्टि से ही भोग लगा गए हैं। अतः उनसे यह एक अपराध बन गया है, अतः उनको वैष्णवयज्ञ के लिए श्रुतिस्मृतिविहित प्रतिकार से युक्त गुरुदीक्षा से जनित तृतीय दैक्ष नामक जन्म भी शीघ्र ही अङ्गीकार करना होगा। हास्य-प्रिय मधुमङ्गल का गूढ़ अभिप्राय यह है कि पापप्रक्षालन के लिए उन्हें शीघ्र ही प्रायश्चित करना चाहिए। अतः उसने ब्राह्मणों के लिए तो शीघ्र ही दूसरे विशाल भण्डारे का आयोजन खड़ा कर दिया ॥६६॥

मधुमङ्गल के इस प्रकार के हास्य कोलाहल को सुनकर गोकुलकुलेश्वरी श्रीयशोदा ने घर से बाहर

तुलितानि सूर्यकान्तस्थालीषु सूर्यपक्वानि बहून्यनुपभुक्तवराणि विहापयामास, येन बहुलमेव सहासकुतूहलं निखिलः कलयाम्बभूव ॥६७॥

तदेवमुदरपूरणमात्रेण तृप्ता, न तु तत्तद्बहुलरसपूरकुतूहलेन, नतरां तत्तदानन्दमूलेन सदानुकूलपीतदुकूलेन प्रतिरुचि-नवनवायमानता हि तत्रायता, तथापि बलादिव परिमल-रमणीयमाचमनीयं दत्तं गत्यन्तरेणासमापनीय-स्पृहणीयता हि तत्र बृहती ॥६८॥

ततश्च—दिव्यताम्बूलचर्चाचिक्य-वस्त्रमाल्यविभूषणैः ।
अर्चिता बन्धवः सर्वे दक्षिणाभिश्च भूसुराः ॥६९॥

लक्षितायाञ्च दक्षिणायां मधुमङ्गलः, स तु नर्मशर्मामृतमदुग्ध—"भो व्रजमहनीयाः ! नास्यामक्षीणायामपि दक्षिणायामीर्ष्यया वयं वीक्षणीयाः। भवतां भुञ्जानानामेकैक-व्यञ्जन-मूल्य-तुल्यतयात्मानं समस्तापि सा न प्रस्तावयति ।" ॥७०॥

तदेवं बहल-हास-कोलाहल-कुतूहले निवृत्ते पितरमुपेत्य सर्वसुखपालः श्रील-गोपालः शनैः शनिं प्रणयन् सविनयमाललाप—"अर्वागेव सर्वानादाय सभालयवलयं स्वयं तत्र भवन्तः समयन्तु । वयन्तु श्रीराम-दाम-सुदामादयः समागतप्रायाः ।" तदेवं मातृगृहमुपेत्य तामप्युवाच—"मातर्मातॄणां सम्भालनार्थमनुयातॄनस्माननुमन्यस्व ।" ॥७१॥

आकर, स्वयं अग्नि में पकाये जैसे पदार्थ सूर्यकान्तमणि की थालियों में धरवा कर जो पहले किसी ने खाये नहीं हैं एवं सूर्य के द्वारा जो पकाये गये हैं ऐसे बहुत से फल आदि पदार्थ भिजवा दिये। जिससे सभी लोगों ने हास्यपूर्वक बहुत सा कोलाहल उपस्थित कर दिया ॥६७॥

इस प्रकार सभीजन पेट भर जाने से तो परितृप्त हो गये किन्तु पूर्वोक्त प्रकार के अधिक रस परिपूर्ण कौतुक से तृप्त नहीं हुए, तथा उस उस आनन्द के मूल, सदा अनुकूल, पीताम्बरधारी श्रीकृष्ण के दर्शनों से जरा भी कोई तृप्त नहीं हुए। यद्यपि श्रीकृष्ण के ऊपर प्रत्येक जन का ही रुचिकर नया नया भाव निश्चय ही विशाल था तथापि बलपूर्वक सुगन्धमय सुन्दर आचमनीय जल सबके लिए दिया गया। अर्थात् श्रीकृष्ण के साथ भोजनकालीन आनन्द से विरत होने की इच्छा न होने पर भी सबने उठकर आचमन किया, क्योंकि वहाँ पर दूसरे प्रकार से असमाप्ति की इच्छा ही विशाल होती जा रही थी ॥६८॥

तदनन्तर उत्कृष्ट ताम्बूल, सुगन्ध चन्दनलेपन, वस्त्र, माला, एवं आभूषण आदि द्वारा सब बन्धुओं की तथा दक्षिणाओं द्वारा सब ब्राह्मणों की पूजा सम्पन्न हुई ॥६९॥

दक्षिणा को देखकर वही मधुमङ्गल कौतुकरूप सुखामृत को विस्तृत करता हुआ बोला कि—हे व्रज के पूजनीय व्रजवासियो ! हमारी इस दक्षिणा के अधिक होने पर भी आप हमको ईर्षा की दृष्टि से नहीं देखना, कि—(ये ब्राह्मण लोग भोजन भी कर गये और दक्षिणा भी ले गये) देखो, आप सबने भोजन करते समय जो जो अमूल्य व्यञ्जन खाये हैं हम सब ब्राह्मणों की सारी दक्षिणा मिलकर भी आप सबके एक एक व्यञ्जन के मूल्य की तुल्यता नहीं प्राप्त करती ॥७०॥

इस प्रकार अधिक हास्यमय कोलाहल के निवृत्त हो जाने के बाद सर्वसुखदायक श्रीमान् गोपालजी पिताजी के पास जाकर धीरे धीरे प्रार्थना करते हुए विनयपूर्वक बोले—हे पिताजी ! आप तो पहले ही सब जनों को साथ लेकर स्वयं सभागृह के मण्डप में पधारें, और श्रीबलराम, दाम, सुदाम आदि हम सब भी वहाँ आ ही रहे हैं। ऐसे कहकर माता के घर आकर उससे बोले कि—अरी मैया ! गैया मैयाओं को सँभालने के लिये जाने वाले हम सबको अपनी अनुमति दीजिये। ॥७१॥

माता च क्षरत्क्षीरकुलकुचमुकुलमाललाप—"आयुष्मन् ! युष्मदेकप्राणा वयं तस्मान्न विलम्बनीयम् ।" इति ॥७२॥

ततश्च तस्याः सवयसः प्रवयसश्च सर्वाः सङ्घशः सास्रमूचुः—"वत्स ! नाम्नैव ता मातरः, एषा तु तव मातैव, तस्मादस्यां कथं न विलक्षणं पक्षपातमापातयसि ?" स च नतवदनः सास्रस्मितवाचमुवाच—"मातरः ! किं कुर्मः, तास्तु पशुजातयो न विवेकमेकमपि लभन्ते, यतो मां विना तृणमपि न तृण्वन्ति ।"

मातोवाच—"सम्यगाह वत्सः, यतो धर्म एवास्माकं मर्मभेदी बभूव; येषां धनानि तनयाश्च सदा वनानि निलयान् कुर्वन्ति ।"

कृष्णः सस्मितमाह स्म—"मातः ! अत्र वने न कोऽपि त्रासः, स तु समूलकाषं कषितानां केशिप्रभृतीनां सङ्गत एव गतः ।"

मातोवाच—"तर्हि किमाकर्ण्यते, यदद्यापि किञ्चित्तेषामौद्धत्यं विद्यते, प्रेतानामपि तत्तदाकारतया सद्यः प्रेततां प्राप्तानामिव ।"

कृष्णः सस्मित-माह स्म—"मातः ! न ते प्रेतजातितामवाप्ताः; किन्तु, भवच्चरणरेणुगणगुणित-भूमिमनुमरण-प्रतापवर्गादपवर्गमेव गताः, वयन्तु मायामयतत्प्रतिकृतिप्रपञ्चसञ्चयमञ्चन्तः सुखसन्तानाय मध्ये मध्ये लीलामध्यस्यामः; यथा (भा० १०।११।५९, १०।१४।६१)—'निलायनैः सेतुबन्धैर्मर्कटोत्प्लुवनादिभिः'—कौशल्येयलीलाम् ।" ॥७३॥

माँ यशोदा भी स्नेह के कारण झरते हुए स्तनदुग्ध से अपने वक्षःस्थल को भिजाती हुई बोली—हे आयुष्मन् ! तुम्हीं हमारे एकमात्र प्राण हो, अतः वन से लौटने में विलम्ब नहीं करना ॥७२॥

तदनन्तर श्रीयशोदाजी की समान अवस्था वाली सभी वृद्ध गोपियाँ एक साथ अश्रु बहाती हुई बोलीं—देख लाला ! वे गैयायें तो केवल नाम से ही तुम्हारी माता हैं, किन्तु यह यशोदा तो तुम्हारी यथार्थ माता है, अतः इनके प्रति तुम विलक्षण पक्षपात क्यों नही करते हो, अर्थात् तुम इसको छोड़कर उनके पीछे क्यों जाते हो ? तब श्रीकृष्ण मस्तक नवाकर सजल नेत्र हो ईषद् हास्यपूर्वक बोले—हे माताओ ! हम क्या करें ? देखो वे तो पशुजाति हैं, किंचित्मात्र भी विवेक नहीं प्राप्त कर सकतीं । कारण—मेरे देखे बिना तो वे तृण भी नहीं चरती हैं । माता यशोदा बोली—लाला ठीक कहता है, कारण कि धर्म ही हमारा मर्मभेदी हो गया है, देखो, जिनके धनरूपी गोधन और पुत्रगण वनों को ही घर बनाते रहते हैं, अर्थात् हमारे गोरक्षारूप जातिधर्म के अनुसार वन के बिना गोधन की रक्षा नहीं हो पाती, तथा बालकों के बिना गैयाओं की देखभाल नहीं हो सकती । इसलिये दोनों ही वन को भवन बनाये रहते हैं, वन के बिना हम गोपालों का गुजारा ही नहीं है ।

यह सुनकर श्रीकृष्ण मन्दहासपूर्वक बोले—अरी मैया ! देख, इस वृन्दावन में कोई भी भय नहीं है, वह भय तो केशीप्रभृति दैत्यों के समूल नष्ट कर देने पर उनके संग ही चला गया । माता बोली—तब क्यों ऐसा सुना जाता है कि आज भी उन असुरों का कुछ उत्पात विद्यमान है, मरे हुए व्यक्ति जैसे उसी उसी आकार से तत्काल प्रेत बनकर उपद्रव करते हैं उसी प्रकार वे असुर भी । मन्दहासपूर्वक श्रीकृष्ण बोले—वे प्रेत नहीं बने हैं, किन्तु आपके श्रीचरणरेणुसमूह से पुनः पुनः सेवित इस व्रजभूमि में मरने के प्रभाव से वे मुक्त ही हो गये हैं । हम तो आँखमिचौनी, सेतुबन्धन, वानरों की तरह फलांगना इत्यादि श्रीरामजी की

ततश्च सर्वासु गतसन्देहासु स्नेहातिशयात् कृष्णमाता सव्येन पाणिना पृष्ठमपसव्येन चिबुकं स्पृष्ट्वा कृष्णज्येष्ठं प्रति सवाष्पमाचष्ट—"वत्स नीलाम्बर ! तवेयमम्बा । मम समक्षं बाल्यादेव त्वयि नातीव वात्सल्यमुल्लासयति; किन्तु स्वयमुदासीनवदासीना भवति । तत् खलु मम तारल्यं कथमिव वैरल्याय कल्पताम् ? तस्मादहमेव त्वामुपदिशामि । पीताम्बरेण सममविलम्बमेवालम्बनीयं व्रजवर्त्म ।" इति ॥७४॥

अथ रामानुजं हितवती रोहिण्यभिहितवती—"तात ! यशोदामातः ! बाल्यादेव लाल्य-भावान्मातुरुपदेशं जातु न च मन्यसे । मम तु तं न मतान्तरमातनोषि । ततः सकृदपि मम निदेशमसकृदिव मन्यस्व । मातुर्मनस्तापविस्तारान्निस्ताराय निजवदनांशुसुधां विस्तारय त्वरितम् ।" इति ॥७५॥

अथ तासां चरणपाताचरणाय कृतरोचने निर्मलकमललोचने सर्वाभिरनर्वाचीनाभिः सह गृहं हित्वा तत्पाणिं गृहीत्वा प्राङ्गणसङ्गितां गतायां गोपपतिपतिव्रतायां सर्वतः श्रेयस्यस्तत्प्रेयस्यः सगवाक्षभित्ति-भित्तीकृत-निजविलोकना विलोकयामासुः ॥७६॥

तथा हि—औत्सुक्यं प्रियमाधुरी-मधुमदं प्रेमातिपातभ्रमं
विश्लेषागमभीतिमप्यनुगता लज्जातिपर्याकुलाः ।

लीलाओं की तरह केवल मायामय पूतना आदि दैत्यों की प्रतिमा के प्रपञ्चसमूह को रचते हुए व्रजवासियों के सुखप्रवाह के लिये बीच बीच में लीला प्रकाशित करते हैं ॥७३॥

तदनन्तर सभी वृद्ध माताओं के सन्देहरहित होने पर स्नेह की अधिकता के कारण कृष्णजननी यशोदा ने बाएँ हाथ से लाला की पीठ एवं दाहिने हाथ से ठोड़ी को छूकर श्रीकृष्ण के बड़े भैया से सजलनयन होकर कहा कि—बेटा नीलाम्बर ! तुम्हारी यह माता रोहिणी हमारे सामने बालकपन से ही तुम्हारे ऊपर अतिशय वात्सल्य प्रकाशित नहीं करती है, किन्तु उदासीन की तरह बैठी रह जाती है, अतः मेरा चाञ्चल्य-भाव कैसे कम हो सकता है, अर्थात् रोहिणी को उदासीन देखकर ही मैं उतावली हो रही हूँ । इसलिये मैं ही तुमको उपदेश देती हूँ कि लाला पीताम्बर (कृष्ण) के सहित शीघ्र ही व्रज के मार्ग का अवलम्बन कर लेना, अर्थात् वन से शीघ्र ही लौट आना ॥७४॥

पश्चात् हितकारिणी रोहिणी भी श्रीकृष्ण से बोलीं—लाला यशोदानन्दन ! तुम्हारी माता बाल्यकाल से ही तुमसे अधिक प्यार करती हैं, इसी कारण तुम कभी भी उनके उपदेश को नहीं मानते हो, किन्तु मेरे उपदेश को तो तुम कभी भी नहीं टालते हो । अतएव तुम हमारे एक बार के उपदेश को भी बार बार दिया हुआ ही समझना । माता के विस्तीर्ण मानसिक ताप से निस्तार के लिये तुम अपने श्रीमुख की किरण-सुधा को शीघ्र ही विस्तृत करना, अर्थात् वन से शीघ्र ही लौटकर निजमुखचन्द्र दिखाना ॥७५॥

तदनन्तर निर्मल कमललोचन श्रीकृष्ण के द्वारा उन प्राचीन वृद्धागोपियों के चरण छूने की अभिलाषा प्रगट करने पर, एवं सभी वृद्ध गोपियों के सहित घर को त्यागकर, श्रीकृष्ण के हाथ को पकड़कर गोपराज की पतिव्रता पत्नी श्रीयशोदा जब आँगन में आ गईं तब सब ओर से कल्याण करनेवाली श्रीकृष्णप्रियागण अपने नेत्रों को झरोखाओं से बाहर निकालकर श्रीकृष्ण का दर्शन करने लगीं ॥७६॥

देखो, गोचारण के लिए श्रीकृष्ण के वनगमन करने पर श्रीकृष्णप्रेयसी गोपियाँ उत्कण्ठा को, प्रियतम की माधुरीरूप मधुरमद को, प्रेम के अतिशय सम्भ्रम को, वियोग से आनेवाले भय को प्राप्तकर लज्जा से

गोचाराय वनाय गच्छति हरौ तस्याङ्गनानां गणा-
श्चित्राणीव निरीक्ष्य तस्थुरभितो द्वित्रक्षणं भित्तिषु ॥७७॥

तत्र सति—अच्युतस्य नयनद्वयमासां, तृष्णगप्यतिह्रिया निमिमील ।
अस्य मानसममूरतिगूढं, पश्यतीति मिलितुं तदिवेच्छु ॥७८॥
यदा च तासां स्फुरणं जगाम त,-न्मनस्तदाशङ्कत तासु राधया ।
अहो ! गुरूणां पुरतो विकारितां, लभेय चेत् किं करवैतरामिति ॥७९॥
तत्र मातृगणतः क्रमपूर्वं, प्राप्य यन् बकशमः समनुज्ञाम् ।
अम्बकान्यहरत प्रतिबिम्ब,-व्याजतः स्वतनुगान्यखिलानाम् ॥८०॥

अथामर-दुर्लभच्छत्रचामर-पटपुट-ताम्बूल-सम्पुटादिघटितकराः सवयसः कर्मकराः श्रीरामदामादिभिः सह गच्छन्तं तमन्वगच्छन् ॥८१॥

अथ ततभायां परमसभायां, पितृमुखलोकान् स्फुरदवलोकान् ।
सुखयितुकामः सहसखिरामः, स मधुरवेशः सपदि विवेश ॥८२॥
तत्तद्वृन्दैः कृतपरिवेषः, क्षौणीपृष्ठस्थितविधुरेषः ।
क्रमतो दृष्टिभ्रमणाश्लेष,-स्थितिकृतमखिलानपि विशिशेष ॥८३॥

अति व्याकुल होकर चारों ओर की दीवारों पर चित्रित मूर्तियों की भाँति दो तीन क्षण के लिये स्तम्भित होकर रह गईं ॥७७॥

श्रीकृष्ण के दोनों नेत्र चित्रलिखी सी उन प्रेयसीगणों के दर्शनाभिलाषी होकर भी अतिशय लज्जा के कारण मुंद गये । "श्रीकृष्ण का मन जब प्रेयसी गोपियों को अति गूढ़ भाव से देख रहा है, तब हम दोनों का मन के साथ मिलना ही उचित है" ऐसा समझकर श्रीकृष्ण के दोनों नेत्र मानों मन के साथ मिलने की इच्छा से ही मुंद गये ॥७८॥

जब श्रीकृष्ण के मानसिक भाव की स्फूर्ति व्रजेश्वरी आदि उन वृद्धाओं के मन में होगई, तब उन कृष्णप्रेयसी गोपियों में से श्रीराधिका यह शङ्का करने लगीं कि—हाय ! यदि मैं गुरुजनों के सामने ही विकारों को प्राप्त हो जाऊँगी तब क्या कर सकूंगी, अतः मुझे सावधान हो जाना चाहिये ॥७९॥

वहाँ पर बकासुरनिहन्ता श्रीकृष्ण ने क्रमशः सभी माताओं से आज्ञा पाकर चलते समय अपने शरीर में प्रतिबिम्ब के बहाने सभी दर्शकों के नेत्रों को चुरा लिया ॥८०॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण जब श्रीराम, श्रीदामा आदि सखाओं के सहित चल दिये तब श्रीकृष्ण के ही समान अवस्था वाले सेवक देवदुर्लभ छत्र, चामर, जायफल और पानदान आदि सभी द्रव्यों को हाथ में लेकर श्रीकृष्ण के पीछे पीछे चल दिये ॥८१॥

तदनन्तर मधुर वेषधारी श्रीकृष्ण प्रसन्न नेत्रों वाले श्रीनन्द आदि सभी सभासदों को सुखी करने की अभिलाषा करके सखामण्डल एवं श्रीबलरामजी के सहित विस्तीर्ण शोभायुक्त विशाल सभा में प्रविष्ट हो गये ॥८२॥

सभा में स्थित उन उन सभी लोगों के समूह से गोलाकाररूप से परिवेष्टित ये श्रीकृष्ण ताराओं से परिवेष्टित भूमि में स्थित चन्द्रमा के समान मालूम पड़ते थे । तथा क्रम से दृष्टि चलाने की गति विशेष द्वारा अवस्थान करके सभी जनों को अतिशय विशिष्ट कर दिया । अर्थात् सभी सभासद विशेष भावपूर्वक श्रीकृष्ण के नेत्रों की चलनचातुरी को ही देखने लग गये ॥८३॥

रहितनिमेष-प्रथितोन्मेष,-स्वकदृक्प्रेष-प्रचितान्वेषः ।
अभवदशेषच्छवि-सविशेष,-स्वतनुश्लेषः श्रीहरिरेषः ॥८४॥

तदेवं लब्धपरमानन्दमज्जनेषु सर्वसज्जनेषु कुलपरम्परावरावार्यः कश्चन सूताचार्यः कतिचिदात्मीयान् परिवार्य पेशलवेशौ काकपक्षकेशौ कौचिद्बालकौ पुरतः सन्धार्य तत्र प्राट पाठयामास च तावाशीर्वादविरुदम् । तौ च चातकानामन्तस्तडित्वन्तमिव सागराणां वारिनिधिमिव, धनचिन्ताचितानां चिन्तामणिमिव, ज्योतिर्मण्डलानां व्योममण्डलमिव, तेषामाश्रयं तमेकं श्रीव्रजराजकुमारमालोकयामासतुः । ततश्च तौ सपरिवारमेव तं पारावाररहित-शोभावार-वारांनिधिं निध्याय क्षणकतिपयमनुध्याय च स्वजनस्तम्भितपतनारम्भौ मूर्च्छाप्रायमृच्छतः स्म । तदुपरिष्टादेव कथञ्चिद्विशिष्टतामाविष्टौ सगद्गदं जगदतुः—"जयाशेष-चिन्तारत्न-नीलरत्नाकर व्रजधरणीधर ! जय धरणीभारावतार ! वितीर्णधरणीधरशेषपर्यन्ताशेषसुखसमाज व्रजयुवराज ! जय निजवंशाग्रव्रज - कीर्तिध्वजसमान-शुभ्रधाम-श्रीबलराम ! जय जय ।" इति ।

पुनश्च कमललोचनं विलोचयन्तावूचतुः—॥८५॥

उस समय श्रीकृष्ण का वेष अपूर्व हो रहा था, उनके नेत्र कभी निमेषरहित, कभी निमेषसहित हो रहे थे, ऐसे निज नेत्रों को प्रेरित कर "सभा में कौन आया है, कौन नहीं आया" इस बात का अनुसन्धान कर रहे थे। अथवा निमेषरहित प्रसिद्ध है खुलना जिसका, ऐसी सभी स्वजनों की जो दृष्टि, उस दृष्टि को भेजकर ही जिनका अन्वेषण किया जा रहा है, अर्थात् उस समय सभी सभासद श्रीकृष्ण को टकटकी लगा कर एकतान वृत्ति से देख रहे थे। कारण श्रीकृष्ण का विग्रह समस्त कान्ति द्वारा विशेषभाव से आलिङ्गित होकर अपूर्व शोभा का विस्तार कर रहा था ॥८४॥

इस प्रकार सभी सज्जन परमानन्द लाभकर श्रीकृष्ण के रूप में निमग्न हो गये। तत्पश्चात् वंश परम्परा के क्रम से माननीय कोई एक स्तुतिपाठकाचार्य जन कतिपय (कुछ) आत्मीयजनों से घिरकर, सुन्दर वेष वाले, चञ्चल केश वाले किन्हीं दो बालकों को आगे करके सभा में आया। तथा उसने उन्हीं बालकों द्वारा आशीर्वादरूप विरुदावली का पाठ करवाया। उन दोनों सूत बालकों ने चातकों के बीच में मेघ की तरह, सगरपुत्रों के बीच में सागर की तरह, धन की चिन्ता से युक्त जनों के बीच में चिन्तामणि की तरह, ग्रहनक्षत्र आदि ज्योतिमण्डलों के बीच में विद्यमान आकाश की तरह, उन सभी सभासदों के बीच में उन्हीं के आश्रयस्वरूप उन्हीं एक श्रीव्रजराजकुमार का दर्शन किया। तदनन्तर वे दोनों ही सूत बालक इयत्तारहित शोभासमूह के समुद्रतुल्य उन्हीं श्रीकृष्ण का सपरिवार दर्शनकर, कुछ क्षणों तक ध्यान में निमग्न होकर प्रायः मूर्छित से हो गये। किन्तु उस समय उनके स्वजनों ने उनको गिरने से बचा लिया। उसके बाद ही किसी प्रकार बाह्यज्ञान प्राप्तकर दोनों बालक गद्गद वाणी से बोले—हे समस्त चिन्तामणियों के बीच इन्द्रनीलमणियों के आकरस्वरूप श्रीकृष्ण ! आपकी जय हो। हे व्रजभूमि के पोषणकर्ता ! आपकी जय हो। हे भूमि के भार उतारने के लिये अवतार लेने वाले प्रभो ! आपकी जय हो। हे धरणी को धारण करने वाले शेष पर्यन्त अशेष देवताओं के सुखसमूह स्वरूप ! आपकी जय हो। हे व्रजयुवराज ! आपकी जय हो। हे निज वंश के अग्रगण्य पुरुषों के कीर्तिध्वज के समान ! हे शुभ्र कान्ति वाले श्रीबलराम प्रभो ! आपकी जय हो, जय हो।

फिर एक बार कमललोचन श्रीकृष्ण के दर्शन करते हुए दोनों बालक बोले— ॥८५॥

"रोहिण्युद्यद्विधुः पक्ष इव कृष्णः स्वजन्मनः ।
सोऽयं यशोदानन्दः सन् यशोदानन्दनन्दनः" ॥८६॥

पुनश्च साश्चर्यम्—

"यशः प्रशंसन्ति बुधा मुधागिरः, सर्वत्र शश्वद्विशदं भवेदिति ।
अहो ! यशोदा यदसूत सा यश,-स्तत्कृष्णरूपं पुरतो विलोक्यताम्" ॥८७॥

ततः श्रीमान् व्रजराजः सुप्रलापं ललाप—"सर्वसूतचूडारत्न ! रत्नचूड ! कावेतौ सुकुमारौ कुमारौ ?" ॥८८॥

रत्नचूड उवाच—सर्वसम्पद्विराजमान ! श्रीमद्व्रजराज ! मम भागिनेयौ । व्रजराज उवाच—कतमाया भगिन्या भागधेयरूपावेतौ ? रत्नचूड उवाच—असपत्नरत्नगर्भापते ! रत्नवत्याः; सा चैषा भवदपूर्वपूर्वपुरुष-पुण्यदर्शनाय कृतपरामर्शा समागतास्ति; नमस्करोति चेयम् । व्रजराज उवाच—भगिनि ! भागधेयेन वर्धस्व । रत्नचूड उवाच—देव ! मम भगिनी-पतिरप्ययं सुमतिनामा । व्रजराजः सस्मितमुवाच—बाल्ये दृष्टोऽयं नातीव निष्टङ्कितुं शक्यते । तश्च सत्कृत्योवाच—मान्य ! स्वयमग्रतः समग्रमेहीति पृष्टवांश्च । सम्प्रति भवतां कुत्र भवनम् ? स उवाच—राजवीर ! नीरधितीर एव । उपनन्द उवाच—तर्हि दूरादभ्यागतोऽयमभ्यागतः ॥८९

जिस रोहिणीनक्षत्र में चन्द्रमा उदय हुआ था, उसी स्वजन्मकाल सम्बन्धी कृष्णपक्ष की तरह ये श्रीकृष्ण यशःप्रद और आनन्दस्वरूप होकर श्रीयशोदा एवं श्रीनन्दजी के नन्दन हुए हैं ॥८६॥

पुनः आश्चर्यान्वित होकर बोले—पण्डितजन जिस यश की "यश सर्वत्र सर्वदा शुक्लवर्ण का ही होता है" इस प्रकार कहकर प्रशंसा करते हैं, उनके वे वाक्य यहाँ पर मिथ्या प्रतीत हो रहे हैं। अहो ! देखो ! श्रीयशोदाजी ने जो एक अनिर्वचनीय यश उत्पन्न किया है, वह तो कृष्णरूप में सबके सामने विद्यमान है, जी भरके देख लीजिये ! तात्पर्य यह है कि कवियों के वर्णन में सबका यश शुक्लवर्ण का है एवं अनेक है, किन्तु कृष्णरूपी या कृष्णवर्ण वाला यश एक ही है, केवल यशोदा ही उसकी जननी हैं ॥८७॥

तदनन्तर श्रीमान् नन्दजी सुमधुर वचनों से बोले—हे रत्नचूड़ ! तुम समस्त सूतवंश के मुकुटमणि हो। ये दोनों सुकुमार बालक तुम्हारे क्या लगते हैं ? ॥८८॥

रत्नचूड़ बोला—हे सर्वसम्पत्तियों से विराजमान श्रीमान् व्रजराज ! ये दोनों मेरी बहन के बेटा हैं। श्रीनन्दजी ने पूछा—ये दोनों तुम्हारी कौनसी बहन के भाग्यस्वरूप हैं ? रत्नचूड़ ने कहा—हे शत्रुरहित भूमि के स्वामिन् ! ये दोनों बालक 'रत्नवती' के हैं। और वह रत्नवती आपके पूर्वपुरुषों के अपूर्वपुण्य-स्वरूप श्रीराम कृष्ण के दर्शन के लिये विचार करके यहाँ आई है, तथा यह आपके लिए नमस्कार कर रही है। श्रीव्रजराज बोले—हे भगिनि रत्नवती ! तुम्हारा सौभाग्य बढ़ता रहे ! रत्नचूड़ बोला—हे देव ! देखिये, यह मेरी बहन का पति है, इसका नाम सुमति है। श्रीनन्दजी ईषद् हास्यपूर्वक बोले—बालकपन में इसको मैंने देखा था, अब अच्छी प्रकार पहचाना नहीं जा सकता। उसका सम्मान करके श्रीव्रजराज बोले—हे मान्य सुमते ! तुम मेरे सामने सम्पूर्ण रूप से स्वयं उपस्थित हो जाओ, और पूछा कि आजकल आपका निवास स्थान कहाँ है ? वह बोला कि—हे राजवीर ! आजकल समुद्र के तीर पर ही मेरा वास है। श्रीउपनन्दजी बोले—तब तो यह अतिथि बहुत दूर से आया है ॥८९॥

अथ वदनसुधाकरांशुसुधास्नपितदृगन्तः स्मितमधुराधरावृत-कुन्दकोरकदन्तः श्रीकृष्णः सतृष्णमिव पृष्टवान्–किं नामानावेतौ ? रत्नचूड उवाच–प्राणकोटिनिर्मञ्छनीयनखकोटे ! मधुकण्ठ-स्निग्धकण्ठनामानौ। कृष्ण उवाच–समाननामानौ दृश्येते। रत्नचूड उवाच–सहजावेतौ सहजावेव। उपनन्द उवाच–रत्नचूड ! किं खलु भवद्विद्यामनवद्यामधीतवन्तावेतौ ? रत्नचूड उवाच–अथ किमाकस्मिकतया विस्मायकौ गुणविशेषावप्यनयोः स्तः ? उपनन्द उवाच–कौ तौ ? रत्नचूड उवाच–सर्वज्ञता तदविता कविता च। इति। ततश्च सर्वे साश्चर्यं पश्यन्ति स्मः। व्रजराज उवाच–मान्य सुमते ! कुत एतत्प्रभावभावितावेतौ ? सुमतिरुवाच–विश्वपावन ! स्वच्छकीर्ते ! पृच्छ्यतामेतावेव ॥९०॥

व्रजराज उवाच–आयुष्मन्तौ ! युष्मद्वृत्तेनास्माकं चित्तं विस्मयमेवाविवेश, तस्मादपनीयतामयम्। तौ च साञ्जलिवचसा व्यानञ्जतुः,–श्रीगोलोकलोकदेव ! श्रीगुरुप्रसाद एव सर्वत्र दुर्वारं कारणमिति तत्रभवन्त एवानुभवन्ति। व्रजराज उवाच–के खल्वीदृशमहामहिमानस्ते ? अथ तौ पुनर्घटितकरपुटावूचतुः–सुगृहीतनामधेया मद्विधभागधेयरूपाः सर्वसुखवर्षिश्रीदेवर्षिचरणाः। अथ सर्वेऽप्यूचुः–तर्हि नाश्चर्यमिदम्। पुनश्च तावूचतुः–सम्प्रति च यदुपदेशाद्वृन्दावनदेशमागता वयम्; नूनं यत्प्रसादादेव देववर्ग-दुर्गम-समधिगमस्य भवाभिभव-भावन-

---

तदनन्तर श्रीकृष्ण ने निज मुखचन्द्र की किरणसुधा से निज नेत्रप्रान्त को उज्ज्वल करके, एवं ईषद् हास्यपूर्ण मधुर अधर द्वारा कुन्द की कलिका के समान दन्तपंक्ति को ढककर तृष्णावाले जन की तरह पूछा कि—इन दोनों का नाम क्या है ? रत्नचूड़ बोला—हे श्रीकृष्ण ! आपके श्रीचरणों के नखों का अग्रभाग करोड़ों प्राणों की न्योछावर करने योग्य है। इन दोनों का नाम मधुकण्ठ एवं स्निग्धकण्ठ है। श्रीकृष्ण बोले—ये दोनों समान नाम वाले ही दिखाई देते हैं। रत्नचूड़ बोला—ये दोनों एक साथ उत्पन्न होनेवाले सहोदर हैं। श्रीउपनन्दबाबा बोले—रत्नचूड़ ! इन दोनों ने तुम्हारी प्रशंसनीय वंशविद्या का भी कुछ अध्ययन किया है क्या ? रत्नचूड़ बोला—जी हाँ, इन दोनों में आकस्मिक विस्मयजनक गुणविशेष भी हैं। श्रीउपनन्दजी बोले—वे दो गुण कौन से हैं ? रत्नचूड़ बोला—"सर्वज्ञता एवं सर्वज्ञता द्वारा रक्षित कविता" यह बात सुनकर सभी सभासद दोनों को आश्चर्यपूर्वक देखने लग गये।

श्रीनन्दजी बोले—हे माननीय सुमते ! किनके द्वारा ऐसे प्रभाव से युक्त हो गये ? सुमति बोला—हे विश्वपावन ! हे स्वच्छकीर्ते ! यह बात आप इन दोनों से ही पूछ लीजिये ॥९०॥

श्रीनन्दजी बोले—हे चिरञ्जीवी बालको ! तुम दोनों के चरित्र से हमारा चित्त विस्मययुक्त होगया है, अतः तुम इस विस्मय को दूर करो। तब उन दोनों कुमारों ने हाथ जोड़कर मधुर वचनों से निवेदन किया—हे श्रीगोलोकस्थजनाधिपते ! हमारी विद्या के विषय में सर्वत्र अनिवार्य श्रीगुरुदेव का अनुग्रह ही मूल कारण जानिये। आप तो हमारे पूजनीय हो, इसका स्वयं अनुभव कर रहे हो। श्रीनन्दजी ने पूछा—जो ऐसी महान् महिमा से युक्त हैं वे (तुम्हारे श्रीगुरुदेव) कौन हैं ? तदनन्तर वे दोनों हाथ जोड़कर बोले—प्रातःस्मरणीय एवं हम जैसे दुरात्माओं के भी भाग्यस्वरूप, सर्वसुखों की वर्षा करनेवाले, पूज्यचरण देवर्षि श्रीनारदजी महाराज हैं। सभी सभासद बोले—तब तो यह कोई आश्चर्य नहीं है। फिर वे दोनों कुमार बोले—इस समय जिनके उपदेश से हम श्रीवृन्दावन प्रदेश में आये हैं, एवं निश्चय ही जिनके अनुग्रह से देवगण दुर्गम ज्ञानस्वरूप तथा जिसके चिन्तनमात्र से संसार के सन्ताप नष्ट हो जाते हैं, आपके उसी इस

भावनस्य तदेतद्भवदीयवैभवप्रदेशस्य प्रवेशे सदेशरूपतां याताः स्मः । पुनश्च सर्वे साश्चर्यमिदं पश्यन्ति स्म ॥६१॥

ततश्च श्रीकृष्णश्चिन्तितवान्–आम् आम्, चिरान्ममाप्यनयोरागमनं स्फुरणमयमासीत् । इति ॥६२॥

अथ श्रीकृष्णानुमतानुगततया श्रीरामस्तु समीपमागम्य व्रजराजमुवाच–बृहत्तात ! तयोरनयोः कौतुकं द्रष्टुमुत्कण्ठिताः स्मः ।

तदनुमोद्य पुनर्व्रजराज उवाच–राम ! अद्य दिनमारूढम्; प्राघुणाश्च त एते घुणाक्षरन्यायेनोपलब्धाः, तदेषामातिथेयवस्तुभिरवितथमातिथ्यमेवाद्य विधीयताम् । पार्श्ववर्तिनश्चादिष्टवान्–दीयतामेभ्यो वर्षं यावदुपभोग्या वरीयसी समग्रा सामग्री, सा च यथैवास्माकं तथैव । प्रातरारभ्य तु सभ्याः समाहूयन्तां कौतुकावलोकनाय ॥६३॥

अथ पुरस्कृतोपनन्देषु व्रजजनवृन्देषु तत्र ज्ञापितनिजानन्देषु तथा तेषु सूतेषु च कृतसर्वक्लेशवर्जनेषु भोज्यभोग्ययोग्यवस्तुभिः प्रस्तुतविसर्जनेषु मध्याह्नः सोऽयमह्नाय व्यतीत इति राज्ञे विज्ञाप्य विज्ञातसकलतत्त्वः श्रीमान्महासत्त्वः श्रीपतिरपि श्रीरामादिसहितगतिस्तत्तन्नमनादिक्रमान्निष्क्रम्य प्रस्थितवान् ॥६४॥

तत्र च—बुद्धिरेव सुहृदामनुमेने, तं गवानुगतये न मनस्तु ।
सा हि मन्त्रसचिवं सुविचारं, पाति तत्तु रहितार्गलकामम् ॥६५॥

गोलोक नामक वैभवपूर्ण प्रदेश के प्रवेश में आपसे निकटतम सम्बन्ध प्राप्त कर पाये हैं । यह सुनकर सभी सभासद उन दोनों को आश्चर्यपूर्वक देखने लग गये ॥६१॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण इस प्रकार विचारने लगे—हाँ हाँ, मुझको भी बहुत समय के पश्चात् इन दोनों का आना स्फूर्तिमय याद आ रहा है ॥६२॥

उसके बाद श्रीबलदेवजी श्रीकृष्ण के अभिप्रायानुसार निकट में आकर श्रीनन्दबाबा से बोले—हे ज्येष्ठतात (ताऊजी) इन दोनों कुमारों के कौतुक देखने के लिये हम सब उत्कण्ठित हो रहे हैं । बलदेवजी के वाक्यों का अनुमोदन कर श्रीव्रजराज पुनः बोले—लाला बलराम ! आज दिन बहुत चढ़ गया है, और ये अतिथिजन भी हमें दैवयोग से मिले हैं । अतः अतिथि सत्कार के उपयुक्त सामग्री द्वारा आज तो इनका यथायोग्य सत्कार करो । पास में बैठे हुए कार्यकर्ताओं को भी आदेश दिया कि इन सब के लिये एक वर्ष तक उपभोग्य के योग्य अत्युत्तम सम्पूर्ण सामग्री दे दीजिये । वह सामग्री भी हमारी जैसी ही होनी चाहिये । अर्थात् गृहस्वामी और अतिथि के खाद्यपदार्थों में कोई भेद न रहे, ऐसी व्यवस्था कीजिये । तथा कल प्रातःकाल से आरम्भ करके कौतुक देखने के लिये सभी सभासद बुलवाइये ॥६३॥

उसके बाद समस्त व्रजवासियों ने श्रीउपनन्द को आगे करके बुलाने के विषय में अपना अपना आनन्द प्रकाशित किया, तथा उन सब सूतजनों के मार्ग का परिश्रम दूर कर देने के बाद उचित भोज्य (भक्ष्य) एवं भोग्य (वस्त्रादि) वस्तुओं द्वारा उनकी विदाई की गई । इन सब कार्यों के करते कराते मध्याह्न शीघ्र ही बीत गया । यह सब श्रीनन्दजी को जनाकर, सकल तत्त्वदर्शी, अति पराक्रमशाली श्रीवनमाली भी श्रीबलराम आदि सखाओं के सहित चलकर उन उन व्यक्तियों के नमस्कारपूर्वक सभा भवन से बाहर निकल कर वन के लिये चल दिये ॥६४॥

उस समय श्रीकृष्ण के मित्रों की बुद्धि ने ही श्रीकृष्ण को गोगण के पीछे पीछे जाने के लिये अनुमति

अथो वनं प्रतिचलितः सहाग्रजः, समित्रकः पृथुमुरलीमनादयत् ।
यतः श्रुताद्धत पुरतस्तु तस्थुषां, सुपूर्णताभवदतिशून्यतान्यतः ॥६६॥
तदा गुरुव्यवहितिमागता मुदा, परस्परं पशुपसुताः करैर्युताः ।
सभागतं जहसुरधीत्य कस्यचि,-द्वचस्तदा स्खलितमनूद्य चापरे ॥६७॥

हासे चोपरताभासे राम उवाच—भङ्गुर ! मधुमङ्गल ! मातृभिरस्मासु विनीयमानेषु भवान् किमविस्पष्टमाचष्ट 'व्रजेश्वरि ! कथयिष्याम्यहं रहः' इति । किन्तु ताभिरावेशवशान्नावकलितम् ॥६८॥

मधुमङ्गल उच्चैर्विहस्य निमील्य च मौनमाललम्बे, क्षणादुवाच च—हन्त ! शन्तममपि तद्विस्मृतमिव । राम उवाच—प्रियसख ! शपथं प्रथयामि, तथ्यं कथ्यतां किं तत् ? मधुमङ्गल उवाच—यज्ञोपवीताय शपे, नान्यथा प्रथयामि; ॥६६॥

यतः—दान्तेन दमितः सोऽहं शमितः शान्तचेतसा ।
ज्ञप्तेन ज्ञपितः पूर्णेनाचार्येणास्मि पूरितः ॥

दे दी, किन्तु उनके मन ने तो अनुमति नहीं दी। क्योंकि वह बुद्धि विचार के सहायक सुविचार की रक्षा करती रहती है, किन्तु वह मन तो स्वतन्त्र वासना से युक्त माना गया है। अतः मन की वासना को रोकने के लिए कोई भी समर्थ नहीं है ॥६५॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण ने श्रीबलदेव एवं मित्रमण्डल के साथ वन के प्रति चलकर विशाल मुरली बजाई, जिसके श्रवण से सम्मुखवर्ती वृक्षादि स्थावरों की सुपूर्णता अर्थात् शाखा पल्लवादियुक्त शोभा प्रकाशित हो गई, किन्तु जो वृक्षादि पीछे की ओर बहुत दूर होने के कारण इस मुरलीध्वनि को नहीं सुन पाये, उनकी ओर तो अत्यन्त शून्यता अर्थात् शोभाहीनता सी हो गई ॥६६॥

उस समय गुरुजनों से दूर आये हुए गोपबालक आपस में हाथों से हाथ मिलाकर सभा में विद्यमान किसी व्यक्ति का स्मरण करके आनन्दपूर्वक हँस उठे, तथा उनके स्खलित वचनों का अनुकथन करके दूसरे ग्वारिया भी हँस पड़े ॥६७॥

हास्यरस के निवृत्त हो जाने पर श्रीबलरामजी ने कहा कि—हे कुटिल मधुमङ्गल ! श्रीयशोदा रोहिणी आदि माताएँ जब हमें शिक्षा दे रही थीं तब तुमने अस्पष्ट अक्षरों में यह क्यों कहा था कि—"हे व्रजेश्वरि ! मैं आपको एकान्त में एक बात सुनाऊँगा" किन्तु उन्होंने शिक्षा देने के आवेश में तुम्हारा वचन सुना ही नहीं ॥६८॥

मधुमङ्गल ऊँचे स्वर से हँसकर आँख मूंदकर चुप हो गया। क्षणभर के बाद बोल उठा—हाय ! यह बात थी तो बड़े आनन्द की, तो भी मैं तो मानो उसे भूल ही गया हूँ। श्रीबलरामजी बोले—"हे प्रिय सखे ! मैं तुम्हें शपथ दिलाता हूँ, सत्य कहो वह कौन सी बात थी" मधुमङ्गल बोला—मैं यज्ञोपवीत को छूकर शपथ करता हूँ कि उस बात को कभी भी अन्यथा नहीं कहूँगा अर्थात् सत्य ही कहूँगा ॥६६॥

कारण यह है कि—जितेन्द्रिय आचार्य ने मुझे जितेन्द्रिय बनाया है, शान्त चित्त वाले ने मुझे शान्त बनाया है, ज्ञानी गुरुदेव ने मुझे ज्ञानी बनाया है, एवं स्वतः परिपूर्ण आचार्य ने मुझको परिपूर्ण किया है। और योगशक्ति से छिपे हुए उसी आचार्य ने मेरी मिथ्या वाणी भी छिपा दी है। अतः स्पष्ट ही अभीष्ट देने

तेन छन्नेन चाभूवं छादितानृतवाक् पुनः ।
कथं वा स्पाशितान् कुर्यां गुणांस्तान् स्पष्टमिष्टदान् ॥

किन्तु युवयोर्वध्वनां चाज्ञामाज्ञाय परं विज्ञापनीयं तासु, तन्न चेन्न ॥१००॥

कृष्ण उवाच—उन्मत्त ! प्रथममावयोरावेदय । मधुमङ्गल उवाच—यदि न खिद्याथे । उभावूचतुः—नहि नहि । मधुमङ्गल उवाच—एवमुच्चैःकारमपि विवक्षामि, तयोरनयोर्यथास्वं प्रेयसीभिः सह सा सा श्रेयसी विद्या नाद्यापि विच्छिद्यमाना विद्यते, यन्मुहुरारभ्यत एव वनाभ्यन्तरे केलिकलहप्रलापकलापः इति ।

ततश्च कृष्णः सव्येन पाणिना तदपसव्यं बाहुं गृहीत्वा दक्षिणांगुष्ठमध्यमाभ्यां तदधरपुटं मृदु निष्पीड्य स्मयमान उवाच—सुष्ठु घृष्टपट्टडोरकेण तदिदं सीव्यते चेन्मुनितामापद्यते विप्रकीर्णबुद्धिरयं मन्मित्रविप्रः । मधुमङ्गलस्तु तद्वन्मुद्रितमुख एवाम्बूकृतनिरस्तग्रस्तवचनतया व्यक्तवान्—तथा चेदन्तर्लोभनमन्यत्र तु दुर्लभं निजगृहान्मत्स्यण्डीखण्डचयमादायाखण्डकालमेव मन्मुखं पूरयथः । ततः कथं वा किमर्थं वा वाणीव्ययं करवाणि, तदेतदपि सेवनमेव भण्यते ।

रामः सस्मितमुवाच—उत्कोचश्चामिषमेव भण्यते, तदपि ब्राह्मणाः कामयेरन् ?

तदेवं सखिसभा-सत्सु हसत्सु स्वयं स तु नर्मपटुर्वटुः सतृष्णं कृष्णं क्षणमालिङ्ग्य प्रेङ्खोलयन् प्रकटं जाहसीति स्म ॥१०१॥

वाले उन पूर्वोक्त गुणों को मैं कैसे त्याग दूँ ? किन्तु तुम दोनों भाइयों की तथा तुम्हारी वधूजनों की आज्ञा को जानकर ही निवेदन करूँगा। परन्तु वधूगण की यदि आज्ञा नहीं होगी तो नहीं सुनाऊँगा ॥१००॥

श्रीकृष्ण बोले—अरे पागल ! पहले हम दोनों के आगे ही कह दे। मधुमङ्गल बोला—यदि तुम दोनों को खेद न हो तो सुनाऊँ। दोनों भाई बोले—नहीं नहीं। मधुमङ्गल बोला—देखो, मैं ऊँचे स्वर से कहना चाहता हूँ। सुनो, इन दोनों की प्रेयसी गोपियों के सहित वह वह यथायोग्य श्रेयस्करी विद्या, आज भी अविच्छिन्नरूप से विद्यमान है। जिस कारण से वन के भीतर भी बारंबार प्रणयकलह का समस्त प्रलाप समूह आरम्भ किया जाता है।

तब श्रीकृष्ण अपने बाएँ हाथ से मधुमङ्गल का दायाँ हाथ पकड़कर अपने दाहिने अंगूठे एवं बीच की अँगुली द्वारा उसके अधरपुट को धीरे से दबाकर मुसकातेहुए बोले—"यदि अच्छी प्रकार बटीहुई रेशमी डोरी से यह मुख सीं दिया जाय, तब तो विक्षिप्त बुद्धि वाला यह मेरा मित्र ब्राह्मण मौनी बन जाता"। किन्तु मधुमङ्गल तो उसी प्रकार मुंदे हुए मुख से ही थूक के सहित शीघ्रतापूर्वक अधूरे शब्दों से अपने भाव को व्यक्त करने लगा कि—देखो भाई, मेरा मुख बन्द करना ही यदि तुम दोनों को अभिप्रेत है तो एक काम करो, मेरे मन को लुभाने वाली अन्यत्र दुर्लभ बहुत सी मिश्री को अपने घर से लाकर हर समय मेरा मुख भरते रहो, ऐसा करने पर फिर मैं किस प्रकार एवं किस प्रयोजन से वाणी का व्यय करूँगा। बस यह कार्य करना भी एक प्रकार की मुख की सिलाई कही जाती है, सेवा भी कहाती है। श्रीबलरामजी कुछ मुसकराकर बोले—घूस को ही तो आमिष या लोभजनक वस्तु कहते हैं, तब क्या ब्राह्मण उसकी भी इच्छा कर सकते हैं ? ऐसा कहने पर मित्ररूप सभी सभासद जब हँसने लगे तब परिहासपटु वही वटु मधुमङ्गल श्रीकृष्ण को तृष्णापूर्वक क्षणभर स्वयं आलिङ्गन कर भूला की तरह भुलाता हुआ ऊँचे स्वर से बारंबार हँसने लगा ॥१०१॥

अथ सर्वगुणशाली वनमाली बहल-कुतूहल-कलित-चित्ततया चलितः सखिभिर्वलितः फलितशाखिशाखाशिखाललितेनाध्वना धेनूर्लब्ध्वा वेणुध्वनिमुद्भावयामास ॥१०२॥

ततश्च धेनूपलक्षणतया सर्वाणि यदाकृक्षन्त, तदा साश्चर्यं नभस्थः कश्चिदाह स्म—

"सर्वः प्रवाहः सर्वत्र स्वानुकूल्येन कर्षकः।
वेणुध्वनिप्रवाहस्तु प्रातिकूल्येन कर्षति ॥१०३॥

अनन्तरञ्च—गावः स्वानृषभान् भुजङ्गमभुजः षड्जान् पिकाः पञ्चमा-
नन्ये च प्रतिपद्य तान्निजनिजान् सुष्ठु स्वरान् वेणुतः।
आश्चर्येण विकर्षणं मुहुरहो मोहं तथा भेजिरे
सर्वे चेदसकृत् क्व सान्त्वनविधिं कुर्वन्तु के वा तदा ? ॥१०४॥

स्वयमपि मोहं भेजे, यदि निजवेणुध्वनौ कृष्णः।
स्यादुर्वरितः को वा, जीवः स हि सर्वजीवस्य ॥" इति ॥१०५॥

किन्तु हन्त ! वेणुरवश्रवणसुखविस्तार एव तत्र निस्ताराय बभूव।

यतः—मोहेऽपि स्वप्नकलितं निशम्य मुरलीकलम्।
परस्परं जाग्रतस्ते पश्यन्ति स्म सविस्मयम् ॥१०६॥

तदनन्तर सर्वगुणशाली श्रीवनमाली अतिशय कौतुक से आक्रांत चित्त होकर एवं सखाओं से परिवेष्टित होकर चल दिये। वे जिस मार्ग से चले वह मार्ग फलवान् वृक्षों की शाखा समूह द्वारा परम मनोहर था। वहाँ गौओं को पाकर श्रीकृष्ण ने वंशीध्वनि प्रगट कर दी ॥१०२॥

उसके बाद गौओं को उपलक्ष्य करके जब सभी आकर्षित हो गये तब आकाश में स्थित कोई व्यक्ति आश्चर्यपूर्वक इस प्रकार बोला कि—सभी प्रवाह सब जगह अपने अनुकूल ही आकर्षण करते हैं, किन्तु वेणुध्वनि का प्रवाह तो अपने से विपरीत दिशा की ओर भी आकर्षण करता है। अर्थात् नदी आदि के प्रवाह जिस दिशा की ओर बहते हैं, प्रवाह में पड़ी हुई वस्तु भी उधर ही बहती है। किन्तु वेणुध्वनि श्रीकृष्ण मुख से निकलकर जिस दिशा की ओर जाती है धेनु आदि वस्तुओं को वह उसके विपरीत श्रीकृष्ण की ओर ही आकर्षित कर देती है ॥१०३॥

उसके बाद धेनुगण अपने ऋषभ नामक स्वर को, मयूरगण षड्जस्वर को, कोकिलगण पञ्चम स्वर को, एवं अन्यान्य सब भी उन अपने अपने मधुर स्वरों को वंशी से ही जानकर आश्चर्यपूर्वक एवं बारंबार मोह को प्राप्त हो गये। अहो ! सभी यदि बारंबार इस प्रकार विमुग्ध हो जाते हैं तब कौन किसकी कहाँ सान्त्वना विधि करें ? ॥१०४॥

आश्चर्य की बात तो सुनो—श्रीकृष्ण यदि स्वयं भी अपनी वेणुध्वनि में विमुग्ध हो जाते हैं, तब कौन जीव विमुग्ध हुए बिना बच सकता है ? कारण वे श्रीकृष्ण ही तो सब जीवों के अन्तर्यामी मोहनकर्ता हैं ॥१०५॥

किन्तु अहह ! वेणुध्वनि श्रवणजनित सुख का विस्तार ही मोह के विषय में निस्तार का कारण बन गया। क्योंकि मोहदशा में भी स्वप्न दृष्ट पदार्थ की तरह मधुर मुरलीध्वनि को सुनकर मोहदशा से जागते हुए भी वे सब परस्पर विस्मयपूर्वक देखने लग जाते हैं ॥१०६॥

ततश्च स्वस्थीभूतेषु तेषु समुत्थितेषु गाः प्रतिप्रस्थितेषु च मधुर्मधुरस्मितमुवाच—ब्राह्मणान् प्रति दुरनुध्यानस्य फलं सद्य एव जातं निध्यातम्; यदहो मम मूकत्वमनुध्यातं सर्वमध्यमध्यासीनेनैकेन सर्वस्यैव तु मूकत्वं जातम् ॥१०७॥

एवमेव तेन सह हसन्तस्ते माथुरदेशदेशरूप-गोनिदेशवचनतया—॥१०८॥

सम्बोधने हिहीत्यूचुः क्षेपे जिहि जिहीति तु ।
धिरीह इति विष्कम्भे गां नेतुं यमुनाममी ॥१०९॥
चोकारं पाथसः पाने झिरिकारं वियोजने ।
तस्मात् पयस उत्थाने चक्रुस्तिरितिरीति ते ॥११०॥
स्तम्भयित्वाम्भसस्तीरे गोसंख्या गोगणानथ ।
सम्भाल्य सम्भृतानन्दाः कृतस्नानादिका जगुः ॥१११॥

प्रहापितं प्रतिशिशु मातृभिस्तदा, सुभोजनं सुरभितयोजनं मुदा ।
हरिः सखीन् परि परिवेषयन् हसन्, परीक्षितं सकृदकृत स्वजिह्वया ॥११२॥

ततश्चाचरिताचामः श्रीदाम-दाम-सुदाम-वसुदामादिभिः सह कर्पूरपूरित-खपुरानुकूल-स्वर्णवर्णपर्ण-शुभ्रतावकीर्ण-चूर्णमय-ताम्बूलपूर्णकपोल - लोलकुण्डल-मण्डनानन - लक्ष्मीकश्चक्षु-र्विजितनालीकः स्वजनावलोकनाभीकः श्रीलगोपालः स्वालयाय चचाल ॥११३॥

तदनन्तर उन सबके स्वस्थ हो जाने पर, खड़े हो जाने पर एवं गैयाओं के प्रति चल देने पर मधुमङ्गल मधुर मधुर हँसता हुआ बोला—ब्राह्मणों के प्रति अवज्ञा करने का फल तत्काल ही हो गया, देख भी लिया। क्या आश्चर्य का विषय है ? देखो, सब सखाओं के बीच में बैठकर अकेले श्रीकृष्ण ने मेरे मुख को बन्द करने का विचार किया था, किन्तु अब तो सभी का मुख बन्द हो गया, अर्थात् वंशीध्वनि सुनकर सभी तो गूंगे हो गये ॥१०७॥

इस प्रकार मधुमङ्गल के साथ हँसते हुए, वे सभी ग्वारिया मथुरामण्डल में प्रचलित गैया चराने के शब्दों के अनुसार—॥१०८॥

गैयाओं को बुलाने के विषय में—"ही ही" फटकारने के विषय में, "जिहि जिहि" गैयाओ को यमुना ले जाने के समय रोकने के लिए, "धिरीह" जलपान कराने के समय, "चो चो" अलग करने के समय, "झिरि झिरि" जल से बाहर निकालने के समय, "तिरि तिरि" इत्यादि इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग करने लगे ॥१०९-११०॥

तदनन्तर सभी ग्वालबाल गैयाओं को जल के तीर पर रोककर, सभी धेनुओं को सँभालकर, आनन्द से परिपूर्ण होकर, स्नानादि कार्य समाप्त कर, सब मिलकर गाने लगे ॥१११॥

उस समय प्रत्येक बालकों की माताओं द्वारा भेजे हुए सुगन्ध से परिपूर्ण सुन्दर भोजन को श्रीकृष्ण हर्षपूर्वक सब सखाओं को परोसते हुए, स्वयं हँसते हँसते एक बार अपनी जिह्वा से सभी भोजनों की परीशा करने लग गये ॥११२॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण आचमन करके श्रीदामा, दामा, सुदामा, वसुदामा आदि सखाओं के सहित अपने घर को चल दिये। चलते समय कपूर से पूरित सुपारी के उपयोगी एवं सुवर्ण के समान सुन्दर वर्णवाले पत्रों से विशिष्ट श्वेत नक्षत्र चूर्णतुल्य चूर्ण से भरे हुए ताम्बूल के खाने से उनके दोनों कपोल परिपूर्ण थे,

यथा—शनैः शनैः सरभसमन्यवन्यया, स तर्णयन् सुरभितृणानि सौरभम् ।
व्रजस्थितान् प्रतिविरहाकुलीभवन्, बकान्तकः प्रतिचलति स्म तैः सह ॥११४॥

विधाय गा गोकुलसम्मुखीना, महातरुच्छायमुपास्य कृष्णः ।
देवोपदेवस्तुतिगीतवाद्यं, शृण्वन्मुहुः प्राप तटं व्रजस्य ॥११५॥

गीर्वाणैर्दिव्ययानैः पथि पथि मुनिभिर्मन्त्रयोगादिसिद्धै-
र्गव्याभिर्घ्राणदृग्भिस्तदनुगतनरैर्दृष्टिदेशे सरद्भिः ।
गोष्ठस्थैरुन्नतस्थैः प्रणिहितवदन-श्रीमयूखः समन्ता-
न्नेत्राब्जप्रान्तलक्ष्मीकलितसुखकुलः पूर्णवेणुर्विवेश ॥११६॥

हम्बारावः पशूनां प्रमदकलकलः पाशुपाल्यव्रजानां
स्तोत्रासारः सुराणां निगमसमुदयावृत्तिघोषस्त्वृषीणाम् ।
इत्थं सांराविणान्तर्बधिरसमदशामागते सर्वलोके
वेणोः सूक्ष्मोऽपि नादः स जयति नितरां यः समस्तं भिनत्ति ॥११७॥

अथ वनकुल-गोकुलाभ्यां मिथः सुखमभिमुखमागतयोर्महतां समूहयोर्महोदधितुल्यया:

तथा उन सुन्दर कपोलों पर चञ्चल कुण्डलरूप आभरणों से उनके श्रीमुख की शोभा और भी अधिक मालूम पड़ती थी। उन्होंने अपने दोनों नेत्रों द्वारा कमल की शोभा को भी जीत लिया था, और जो माता पिता आदि स्वजनों के दर्शन के लिये उत्सुक थे ॥११३॥

बकासुरनिहन्ता श्रीकृष्ण सहर्ष धीरे धीरे विभिन्न वनों में धेनुवृन्द को सुगन्धित तृणादि चराते हुए, व्रज में अवस्थित सभी के प्रति विरहाकुल होते हुए, सखाओं के सहित घर के प्रति चल दिये ॥११४॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण सभी गैयाओं को गोकुल की ओर मुखवाली करके बड़े बड़े वृक्षों की छाया का आश्रय लेकर देवता और गन्धर्व आदिकों द्वारा की हुई स्तुति एवं गाना बजाना आदि सुनते हुए व्रज के निकट आ पहुँचे ॥११५॥

दिव्य विमानों में बैठे हुए देवगण, प्रत्येक मार्ग में मन्त्र एवं योगादि द्वारा सिद्ध मुनिगण, नासिका से ही वस्तुओं को पहचानने वालीं सभी धेनुवृन्द, दृष्टि के सामने आने वाले मनुष्यगण, गोष्ठस्थित एवं अटारी आदि ऊच स्थानों में बैठे हुए दर्शनोत्सुक भक्तगण जब स्वतः प्राप्त श्रीकृष्ण की श्रीमुख शोभा का दर्शन कर रहे थे, तथा चारों ओर नेत्रकमलों के प्रान्तभाग की शोभा द्वारा परिपूर्ण सुख का ही जब अनुभव हो रहा था, तब श्रीकृष्ण ने वंशी बजाते हुए श्रीनन्दग्राम में प्रवेश किया ॥११६॥

उस समय पशुओं का हम्बारव, गोपगणों की हर्षपूर्ण कलकल ध्वनि, देवताओं की धाराप्रवाह स्तुति, श्रीसनकादि ऋषियों की चारों वेदों की आवृत्ति का शब्द, इस प्रकार चारों ओर से मिलकर एक भारी कोलाहल हो उठा, जिससे सभीजन प्रायः बहिरे से हो गये। इतने कोलाहल के समस्त शब्द को भी जो भेदन कर रहा है, वह सूक्ष्म भी वेणुनाद अतिशय विजयी है, अर्थात् इतने कोलाहल में भी वंशी की सूक्ष्म मधुरध्वनि सबको सुनाई पड़ती थी ॥११७॥

तदनन्तर एक ओर वन से तथा दूसरी ओर गोकुल से निकलकर सभीजनों के परस्पर सुखदायक सम्मुख प्रदेश में उपस्थित होने पर, दोनों ओर के दो सज्जन समुदायों का मानो दो विशाल समुद्रों का सा

सङ्गमः संवृत्तः; यथा नित्यमेव तथानुभविनामपि दिवौकसां चमत्कृतिरजायत; यत्र श्रीगोविन्द एव स्वयमिन्दवति स्म, स्वयमेव च वेणुशिक्षया धेनूः पृथक् पृथगवातस्तम्भत् ॥११८॥

तत्र गोष्ठाद्बहिर्लम्भित-मुहुरुपष्टम्भानां दोहनादिकर्मणा गवां तर्णकादीनामपि शर्म निर्माय दुग्धाय जनान् पुरो विधाय सवयोभिः सवयोभिरावृतौ सर्वेषां मध्यवृत्तौ सुवृत्तौ गोपुरमाव्रजन्तौ गृहाय व्रजन्तौ स्वकुलयशोदायि-यशोदादिपुरन्ध्रीराजि-नीराजितौ राजितौ लाजादिभिरभिवृष्टौ सममेव समस्तनयनदृष्टौ गोष्ठाभ्यन्तरं प्रविष्टौ निजनिजप्रेयसीसमाकृष्टिपटु-दृष्टिविशिष्टौ निहतदनुजौ रामरामानुजौ चरणमार्जनवीजनादिभिर्विशश्रमतुः ॥११९॥

तत्र क्षणकतिपयं जननीजनित-लालननिर्माण-शर्मानुभूय स्नानधामनि सम्भूय निजसेवा-कृज्जनकारित-मज्जनादिभिः सुवेशतया विभूय पुनर्जननीसनीडमेवाजग्मतुः ॥१२०॥

ततश्च संध्यां गमयित्वा जनकादिभिः सह भोजनलीलां जनयित्वा बहिःसभाभागमागम्य नानाबन्धुजनतया समागम्य तद्विशिष्टौ सूपविष्टौ बभूवतुः ॥१२१॥

यत्र नानागुणिशतेषु समागतेषु ताभ्यां सुकुमारताप्रभूताभ्यां कुमारसूताभ्यां सह सुमतिरत्नचूडावाववव्रजतुः ॥१२२॥

ततः श्रीमता गोलोकसाम्राज्यवता भोजनादिकं पृष्टयोस्तयोः परमहृष्टयोः श्रीयुत-

---

सम्मेलन हो गया। ऐसी अवस्था का नित्य अनुभव करने वाले देवताओं को भी विस्मय उत्पन्न हो गया। कारण—वहाँ पर श्रीगोविन्द भगवान् ही स्वयं चन्द्रमा की सी शोभा धारणकर दिव्य चन्द्रमा का सा आचरण कर रहे थे, तथा स्वयं ही वेणुशिक्षा द्वारा धेनुगण को पृथक् पृथक् भाव से रोक रहे थे ॥११८॥

वहाँ पर खिड़क से बाहर ही जो गैयायें बारंबार रोकी गईं उन गैयाओं का दोहन आदि कर्म द्वारा तथा दूध पिलाकर बछड़ाओं को भी सुख उत्पन्न कर, दूध ले जाने के लिये सेवकजनों को आगे कर, समान अवस्था वाले सखाओं से घिरकर, सबके बीच में होकर, पुरद्वार पर आते हुए, पश्चात् घर के लिये जाते हुए, अपने अपने कुल को यश देने वाली यशोदा आदि पुरवासिनियों द्वारा नीराजित होकर, अर्थात् आरती उतारने पर, सुशोभित होकर, खीलों की वृष्टि का अनुभव कर, एक साथ ही समस्त जनों की दृष्टि के गोचर होकर, अर्थात् सभी को दर्शन देकर, गोशाला में प्रविष्ट होकर, निज निज प्रेयसी गोपियों को खैंचने में चतुर दृष्टि से विशिष्ट होकर, दैत्यों के मारनेवाले श्रीराम कृष्ण दोनों भाई चरण प्रक्षालन एवं वीजन आदि द्वारा विश्राम करने लग गये ॥११९॥

वहाँ पर कुछ क्षणों तक दोनों भैया माताओं के द्वारा किये हुए लाड़मय प्यार के सुख का अनुभव कर, स्नानालय में आकर, अपने सेवकों द्वारा कराये गये स्नानादिकों से सुसज्जित होकर फिर भी माता के पास आ गये ॥१२०॥ तदनन्तर सन्ध्या समय बिताकर, पिता श्रीनन्दादिकों के साथ भोजनलीला को समाप्त कर, बाहर में स्थित सभा के विभाग में आकर, वहाँ एक ही साथ अनेक बन्धुजनों से मिलकर उनके साथ ही सभा में भली प्रकार बैठ गये ॥१२१॥ जहाँ पर अनेक प्रकार के सैकड़ों गुणीजनों के उपस्थित हो जाने पर अति सुकुमार मधुकण्ठ एवं स्निग्धकण्ठ नामक उन दोनों सूत बालकों के साथ सुमति और रत्नचूड़ भी आ पहुँचे ॥१२२॥

तदनन्तर गोलोक साम्राज्य के अधिपति श्रीमान् नन्दजी ने सुमति व रत्नचूड़ से भोजनादि के विषय में पूछा। उससे वे दोनों परम प्रसन्न हुए। पश्चात् श्रीकृष्णचन्द्र ने अपने छोटे भाइयों की तरह (मधुकण्ठ

रामानुजस्तु निजानुजवदेव तौ सूततनूजावाहूय भूयसा स्नेहेन सदेशमुपवेशयामास। निजव्रज-वासिसूतादीनां प्रभूतानां भव्यानि काव्यानि तैरेव श्रावयामास च। ततश्च तौ परमहृष्टौ सन्तौ स्वगुणकलापं सफलयितुं बलवदुत्कण्ठितवन्तौ ॥१२३॥

अथ प्रहरमात्रायां रात्रावाचरितयात्रायां नन्दित-सर्वसमाजेन श्रीव्रजराजेन समज्या-प्रधानेषु प्रातर्नव्यकाव्यश्रवण-निमन्त्रणमपवर्ज्य विसृज्यमानेषु तं निजजनकमनुज्ञाप्य कनक-वसनस्तौ सुकुमारौ सूतकुमारौ करे गृहीत्वा स्पृहान्तरं हित्वा मातृगृहान्तः सङ्गतवान्, मातरं प्रति तयोः प्रसङ्गं सङ्गमितवांश्च ॥१२४॥

ततस्तु तां सर्वस्तुतां तौ कुमारसन्तौ सुखसारं सम्भवन्तौ विविधमेवं विचारितवन्तौ—"किमियमस्य गोकुलकुलचन्द्रस्य क्षीरनीरधिगम्भीरवेला? किंवा पूर्णतदुदयाकर-राकासाकार-तया लब्धमद्विधदृष्टिमेला? किंवा प्राचीदिगेवमानन्दनया रचितनया? वस्तुतस्तु तनयविषया दया किल स्फुरदेवमुदयतया शीतलीकृतलोकसमुदया" इति ॥१२५॥

अथ सा च परमरमणीयचरिता मधुरेण व्यवहारादिनाभ्यवहारादिना वस्त्रालङ्कारादिना च प्रचुरतरमेव स्नेहं तयोराचरितवती ॥१२६॥

ततश्च तयोर्मङ्गलाय मातरमाशिषश्चित्वा वाससमासादनाय चानुज्ञावितरं याचित्वा

स्निग्धकण्ठ नामक) उन दोनों सूत पुत्रों को बुलाकर अतिशय स्नेह से अपने निकट ही बैठा लिया। एवं बहुत से अपने व्रजवासी सूतजनों द्वारा बनाये हुए मङ्गलमय अनेक काव्य भी उन्हीं के द्वारा उन दोनों को सुनवाये। उन व्रजवासी सूतों की कविता सुनकर मधुकण्ठ व स्निग्धकण्ठ दोनों भाई परम प्रसन्न होकर अपने गुणसमूह को सफल करने के लिये अतिशय उत्कण्ठित हो गये ॥१२३॥

उसके बाद एक पहर रात बीत जाने पर श्रीव्रजराज ने उत्सव विधानपूर्वक सकल समाज को आनन्दित करके तथा सभा में स्थित प्रधान प्रधान व्यक्तियों को प्रातःकाल नूतन काव्य सुनने के लिए निमन्त्रण देकर विदा कर दिया। तत्पश्चात् पीताम्बरधारी श्रीकृष्ण अपने पिताजी की अनुमति लेकर उन दोनों सुकुमार सूत कुमारों को अपने हाथ में पकड़कर, दूसरी इच्छा को छोड़कर, माता श्रीयशोदा के घर के भीतर पहुँच गये, एवं माता के प्रति उन दोनों के प्रसङ्ग को भी जना दिया ॥१२४॥ तदनन्तर कुमार श्रेष्ठ वे दोनों बालक सर्वपूज्या एवं सुखसाररूपा श्रीयशोदा माँ को प्राप्तकर अनेक प्रकार के विचार करने लगे। अर्थात् उत्प्रेक्षा करते हुए सोचने लगे—यह क्या, इन गोकुलचन्द्र की उत्पत्ति भूमिरूपा क्षीरसमुद्र की गम्भीर तीरभूमि है? अथवा कृष्णचन्द्ररूप पूर्णचन्द्र का उदय करने वाली राका नाम की पूर्णिमा का आकार धारणकर हम जैसों के भी दृष्टिगोचर हो गई है? किंवा पूर्व दिशा ही पूर्वोक्त प्रकार के आनन्द को दिखाकर नीति का निर्माण कर रही है? वास्तव में तो पुत्रविषयिणी दया ही इस रूप से प्रगट होकर सम्पूर्ण लोकसमुदाय को शीतल कर रही है ॥१२५॥

तदनन्तर परम रमणीय स्वभाव वाली उस श्रीयशोदा माँ ने मधुर व्यवहार, मधुर आहार एवं वस्त्रालङ्कार आदि द्वारा उन दोनों सूत बालकों पर अधिकतर स्नेह प्रदर्शित किया ॥१२६॥

उसके बाद सब सुखों के सारस्वरूप श्रीव्रजराजकुमार ने उन दोनों सूत बालकों के मङ्गल के लिए अपनी माता से आशीर्वाद लेकर, निवासस्थान पर जाने के लिए अनुज्ञारूपी दान माँगकर अर्थात् आज्ञा

स्वयमपि स्नेहावेशमय-तन्निदेशवशतया विश्रमाय संवेशवेश्म प्रविशन् सर्वसुखसारः श्रीगोपाधिपतिकुमारस्तौ सूतसुतौ स्वेन युतौ विधाय श्रीराधिकासदेशमासादितौ चकार ॥१२७॥

आसन्नौ च तौ विद्युदावलिषु तदधिदेवतामिव, कमलिनीषु कमलालयामिव, सर्वसम्पत्तिषु सदनुकम्पामिव, गुणश्रेणिषु सविनयनीतिमिव, हरिरतिजातिषु महाभावसम्पदमिव, निखिलसखीषु श्रीराधामीक्षामासतुः ॥१२८॥

अथ तां पश्यन्तावेव प्रेमवश्यं तावात्मानमजानन्तावात्मना कृष्ण एव सान्त्वयामास; ॥१२९॥

सान्त्वितौ च तौ तञ्च ताञ्च निवार्य्य चिन्तयामासतुः—१३०॥

"इन्द्रनीलरुचिजीवनं महः, स्वर्णवर्णनिकराकरप्रभा ।
यच्च या च चयनं तयोरिदं, द्वन्द्वमादिरससारकारणम्" ॥१३१॥ इति ॥

अथ कंसरिपुणा परिचायितयोश्च तयोरेषा सकौतुकं बालदेवरयोरिव कुमारवरयोः सशर्म सनर्म च पुरस्कारं चकार ॥१३२॥

ततः सङ्गिनः प्रदाप्य मातुलगृहमेव तौ प्रस्थाप्य श्रीगोविन्दः स्वमोहनमन्दिरं प्रविवेश संविवेश च ॥१३३॥

तत्र—आयाते रमणे ससम्भ्रममुपागम्यासनादिक्रिया-
माचर्य व्यजनादिभिः स्वयमसौ सेवावधानं दधे ।

लेकर, स्वयं भी स्नेहावेश से पूर्ण माता की आज्ञा के वशवर्ती होकर विश्राम के लिए शयनगृह में प्रवेश करते हुए, उन दोनों सूत बालकों को भी सङ्ग में लेकर श्रीराधिकाजी के निकट पहुँचा दिया ॥१२७॥

उन दोनों ने वहाँ पहुँचकर बिजली की पंक्तियों में उनकी अधिष्ठात्री देवी की तरह, कमलिनीसमूह में कमलालया लक्ष्मीदेवी की तरह, समस्त सम्पत्तियों के बीच में सज्जनों की अनुकम्पा की तरह, गुण की श्रेणियों में विनयपूर्ण नीति की तरह, एवं श्रीहरि की प्रीतिसमूह में महाभाव सम्पत्ति की तरह, सब सखियों के बीच में विराजमान श्रीमती राधिकाजी का दर्शन किया ॥१२८॥ वे दोनों श्रीराधिकाजी का दर्शन करते करते ही प्रेम के वशीभूत हुई अपनी आत्मा को भी भूल गये, यह देखकर स्वयं श्रीकृष्ण ने ही उनको सान्त्वना दी ॥१२९॥ वे दोनों सान्त्वना पाकर श्रीकृष्ण एवं श्रीराधिका को देखकर इस प्रकार विचार करने लगे—॥१३०॥ इन्द्रनीलमणि की जो शोभा है, उस शोभा के जीवनस्वरूप तेज, एवं सुवर्ण वर्णसमूह के खजाने की जो प्रभा है, इन दोनों पदार्थों का जो एकत्र सम्मेलन है, बस वही ये श्रीकृष्ण एवं श्रीराधा हैं, एवं ये दोनों ही आदिरस के सार के कारण हैं ॥१३१॥

अनन्तर श्रीकृष्ण ने जब इन दोनों का परिचय दिया तब श्रीराधाजी ने कौतुकपूर्वक परम सुख से छोटे देवरों के समान दोनों ही श्रेष्ठ सूत कुमारों को क्रीड़ापूर्वक हँसते हुए पुरस्कार प्रदान किया ॥१३२॥

उसके बाद अपने सङ्ग वाले दो चार सहचरों को साथ देकर उन दोनों सूत पुत्रों को उनके मामा रत्नचूड़ के घर को ही भिजवाकर श्रीकृष्णचन्द्र ने अपने मोहनमन्दिर में प्रवेश किया, एवं शयन करने लगे ॥१३३॥

शयनगृह में श्रीकृष्ण के आने पर श्रीराधाजी सम्भ्रमपूर्वक श्रीकृष्ण के पास आकर आसन देना आदि कार्य सम्मानपूर्वक करके, चामर, व्यजन आदि द्वारा स्वयं ही सेवा की परिपाटी में संलग्न हो गईं। श्रीकृष्ण जब शय्या पर पहुँच गये तब श्रीराधिकाजी सखियों के द्वारा प्रार्थना करने पर भी "मैं किसी स्थान पर

शय्यायां त्वरितं गते पुनरियं लीना सखीयाचिता-
प्यासीत् क्वापि कदापि तत्परिचिता नास्मीति तद्व्यञ्जती ॥१३४॥

तत्र सखीनां वचनम्—

अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठां दृष्टे तु त्वमपह्नुतिम् ।
सर्वदा कुर्वती कृष्णे कीदृशीति न लक्ष्यसे ॥१३५॥

ततः सखीभ्यां सुगृहीतबाहु,-र्नीतापि मध्ये गृहमायताक्षी ।
स्तम्भेन बाह्येन तथान्तरेण, कृतावलम्बा चकृषे प्रियेण ॥१३६॥
बलेन कृष्टा हरिणाप्यनल्पं, तल्पं गतासोन्मिलितुश्च लोला ।
तथापि नायादृजुतान्तु किन्तु, कराकरिप्रायतया ससञ्ज ॥१३७॥
अमिलनहठकृद् यदामिलद्वा, हरिमथ भेदयितेयमाशु केन ?
द्वयमपि चरितं न चित्रमस्या, यदलमसौ रसरूपतामयासीत् ॥१३८॥

श्रीकृष्ण ! कृष्णचैतन्य ! ससनातनरूपक !
गोपाल ! रघुनाथाप्त ! व्रजवल्लभ ! पाहि माम् ॥१३९॥

॥ इति श्रीश्रीगोपालचम्पूमनु गोलोकविलासविकासनं नाम द्वितीयं पूरणम् ॥२॥

इति श्रीगोलोकविलासः सम्पूर्णः ।

किसी काल में भी श्रीकृष्ण से परिचित नहीं हूँ'' इस प्रकार के भाव को प्रकाशित करती हुई दूसरे कोठे में छिप गईं ॥१३४॥

तब सखियाँ कहने लगीं—हे राधे ! श्रीकृष्ण के दर्शन न होने पर तो तुम दर्शन की उत्कण्ठा करती हो और जब उनके दर्शन हो जाते हैं तब तुम अपने भाव को छिपाती हो। तुम श्रीकृष्ण के प्रति सदैव इसी प्रकार का भाव प्रकाशित करती रहती हो। अतः तुम किस प्रकार की हो, यह हम नहीं जान पाईं हैं ॥१३५॥ तदनन्तर ललिता विशाखा नामक दोनों सखियों द्वारा अच्छी प्रकार दोनों हाथ पकड़कर घर के बीच में लाई हुई भी विशाललोचना श्रीराधिका बाह्य एवं आन्तरिक स्तम्भभाव से अवलम्बित होकर जब स्थिर होगईं तब प्रियतम ने उनको करकमल से खैंच लिया ॥१३६॥

श्रीकृष्ण के द्वारा अत्यन्त बलपूर्वक खैंची जाने पर, अभिलाषायुक्त होने पर भी श्रीराधिका श्रीकृष्ण से मिलने के लिये कठिनता से शय्या पर पहुँच गई तथापि वह सरलता को नहीं प्राप्त कर पाईं, किन्तु प्रायः बाहुयुद्ध द्वारा ही संयुक्त हो गईं ॥१३७॥

न मिलने में जिन्होंने इतना हठ प्रकाशित किया, एवं पश्चात् श्रीकृष्ण से मिल भी गईं, तब कौन व्यक्ति श्रीराधिका को शीघ्र वशीभूत कर सकता है ? इनका 'मिलना' 'न मिलना' रूप दोनों ही प्रकार के चरित्र आश्चर्यजनक नहीं हैं। कारण—ये श्रीराधिका मधुररस की पराकाष्ठा को प्राप्त हैं। अर्थात् इनके वास्तविक रूप को पहचानना साधारणजन के वश की बात नहीं है ॥१३८॥

हे श्रीकृष्ण ! हे कृष्णचैतन्य ! हे सनातन सहित श्रीरूप ! हे गोपाल ! हे रघुनाथ ! हे आप्तव्रजवल्लभ ! मेरी रक्षा करो प्रभो ! ॥१३९॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि विरचित श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी भाषाटीकासहिते श्रीगोपालचम्पूकाव्ये श्रीगोलोकविलासविकाशनं नाम द्वितीयं पूरणं सम्पूर्णम् ॥२॥

अथ तृतीयं पूरणम्

श्रीकृष्णजन्म

श्रीकृष्ण ! कृष्णचैतन्य ! ससनातनरूपक !
गोपाल ! रघुनाथाप्त ! व्रजवल्लभ ! पाहि माम् ॥१॥

तदेवं प्रशस्तशास्त्रावलोकतः श्रीमान् गोलोकः प्रस्तुतः । यत्र लोकाभिव्यक्त-तदनभिव्यक्तवैभव-भेदाद् द्विधापि वृन्दावन-वैभवं विभावितम्; यत्र च लोकानभिव्यक्तवैभवे चिन्तामणिमय-कमलाकार-गोकुल-प्रकारश्चाविकलमवकलितः; यत्र च सप्तप्रकोष्ठा गोष्ठाधिपतिपुरी वर्णनाभिरुरीकृता; यत्र च प्रातरौचिती-चितकृतिप्रभृति श्रीहरिचरितं प्रचारितम्; यत्र च गोपराजराजितसकलसभाजितसभायां भव्यकाव्यविज्ञ-सर्वज्ञतातिमनोज्ञप्रज्ञ-सूतवंशप्रसूत-कुमारद्वयागमनमनवद्यं वर्णितम्; यत्र च व्रजराजादिभिस्तत्कथाशुश्रूषा प्रथयाश्चक्रे इत्यपि निगदितम् । तदनन्तरमत्र तु तत्कथा वितायते ॥२॥

अथान्येद्युर्ब्राह्ममुहूर्तमारभ्य पूर्ववदेव पूर्वजरामः सर्वं पर्वति स्म । भोजनं पुनरैकान्तिकमेव नित्यमिव तद्दिने जातम् । यथा ज्ञापयन्ति स्म श्रीमत्पितृचरणाः—"तात ! प्रातरेव गोभिः शोभिष्यमाणतां सम्भवता भवता ताभ्यः समग्रानुत्तमग्रासान् प्रादेश्य मदादेश्यतया यत्किञ्चिदुपयुज्य स्वयमश्चितव्यम् ।" इति ॥३॥

तृतीय पूरण

श्रीकृष्ण जन्मलीला वर्णन

अब श्रीगोकुल लीला को वर्णन करने के लिये सिद्ध महामन्त्र के समान सर्वार्थसाधक पूर्वोक्त पद्य को ही ग्रन्थ के आरम्भ में फिर भी लिखते हैं, यथा—

हे श्रीकृष्ण ! हे कृष्णचैतन्य ! हे सनातन सहित श्रीरूप ! हे गोपाल ! हे रघुनाथ ! हे आप्तव्रजवल्लभ ! मेरी रक्षा करो प्रभो ! ॥१॥

पूर्वोक्त रूप से इस प्रकार प्रशस्त शास्त्रों के प्रमाणों द्वारा सुन्दर रूप से गोलोक प्रस्तावित हुआ। जगत् में प्रकाशित एवं अप्रकाशित वैभव के भेद से वृन्दावन का वैभव भी दोनों प्रकार से प्रस्तावना में ही कह दिया। जिसका वैभव लोक में अभिव्यक्त नहीं है उस वैभव के विषय में चिन्तामणिस्वरूप कमल के सदृश गोकुल के आकार प्रकार का अविकलरूप से निरूपण किया। जिस गोकुल में गोष्ठाधिपति श्रीनन्दजी महाराज की सातपरकोटा वाली पुरी अनेक प्रकार से विस्तारपूर्वक कही। जिस पुरी में प्रातःकाल से लेकर सभी समयों के उपयुक्त कार्यकलाप द्वारा श्रीकृष्ण का चरित्र प्रचारित दिखाया। जिस श्रीहरिचरित में श्रीनन्दजी से सुशोभित सर्वजन पूजित सभा के बीच में सर्वत्र उपयुक्त मङ्गलमय काव्य करने में निपुण तथा सर्वज्ञता गुण से अति मनोहर बुद्धि से युक्त, सूत वंश में उत्पन्न, दो बालकों के आने की वार्ता का वर्णन सुन्दर ढङ्ग से हुआ। जिस वर्णन में श्रीव्रजराज आदि द्वारा उन दोनों की कथा सुनने की अभिलाषा भी प्रगटरूप से कही गई। उसके बाद इस तृतीय पूरण में तो उन दोनों की कथा का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं, यथा—॥२॥

शयन के अनन्तर दूसरे दिन श्रीबलरामजी के छोटे भाई श्रीकृष्ण ने अति प्रातःकाल से ही पहले

भोजनश्च यथा—

अग्र्ये सद्मनि रत्नपीठमहितौ रामाजितौ तद्वधू-
हस्तेभ्यः परिगृह्य मातृयुगलेनान्नादि पर्यपितम् ।
भुञ्जानौ सखिभिः सुनर्मवलितं प्रस्माययन्तौ च तद्-
युग्मं तेन च पर्वणा परिजनं सर्वं सुखाचक्रतुः ॥४॥

भोजनानन्तरन्तु सास्रं निभालयन्त्याः सस्मितश्चाकर्णयन्त्याः श्रीमत्या मातृद्वितीयायाः पुरस्तादग्रजेन सखिभिश्च सुखदनानावार्ता वर्तयति श्रीव्रजराजकुमारे व्रजनरेशादेशः प्रविवेश— "वत्स ! सभासदः सभायां सभाजिताः शोभन्ते; तौ च सूतसुतौ स्वसम्प्रदायमादाय वर्तेते ।" इति ॥५॥

तदा च—स तु जननीमनुजानतीं प्रणम्य, द्रुतमनुराममियाय सभ्यवृन्दम् ।
द्वयमपि तदथ प्रकाशयुक्तं, कुमुदसुहृत् कुमुदाकरायते स्म ॥६॥

तत्राभ्यन्तरतः सभावलयप्रवेशद्वारं परितः स्तम्भपंक्तिसक्तगृहाकारं यत् पञ्चमं लोक-सहस्राधारतासमुचिताकारं पूर्वदिग्गतं पूर्द्वारं, तस्य बहिरन्तरतया घटित-सूक्ष्मजाल-रन्ध्र-

---

दिन की तरह सारे कार्य पूरे कर लिये। प्रतिदिन के भोजन की तरह उस दिन भी पुनः ऐकान्तिक भोजन कार्य सम्पन्न हुआ। पश्चात् पूज्यपाद पिता श्रीनन्दजी ने आज्ञा दी कि—हे वत्स ! प्रातःकाल जिन गैयाओं के साथ तुम्हारी शोभा होगी, उन सब गैयाओं के लिये समस्त उत्तम उत्तम ग्रासों को देकर पश्चात् स्वयं भी हमारे आदेशानुसार यत्किंचित् अर्थात् थोड़ा सा भोजन करके ही जाना ॥३॥

भोजन का प्रकार इस प्रकार है—किसी एक उत्तम भवन के बीच में श्रीरामकृष्ण दोनों भाई रत्न-जटित सिंहासन पर विराजमान हुए, उस समय दोनों की माताओं ने दोनों की वधूओं के हाथों से लेकर दोनों के लिये अन्न व्यञ्जन आदि परोस दिये। दोनों ही भ्राताओं ने सखाओं के साथ भोजन करते हुए, हासपरिहास पूर्वक दोनों माताओं को हँसाते हुए, उस महोत्सव के द्वारा सभी सेवकों को सुखी कर दिया ॥४॥

भोजन के बाद दूसरी माता श्रीमती रोहिणीजी सजल नेत्रों से देख रही थीं एवं मन्दहासपूर्वक उनकी बातों को भी सुन रही थीं। उस समय श्रीकृष्ण श्रीरोहिणीजी के आगे बड़े भैया श्रीबलरामजी एवं सखाओं के साथ अनेक प्रकार की सुखदायक बातें कर ही रहे थे इतने में ही श्रीव्रजनरेश का आदेश आ पहुँचा कि—हे पुत्र ! सभी सभासद पूजित होकर सभा में सुशोभित हैं। वे दोनों सूतपुत्र भी अपने परिवार को लेकर उपस्थित हैं ॥५॥

यह समाचार सुनते ही श्रीकृष्ण अनुमति देती हुई माताजी को प्रणाम कर शीघ्र ही श्रीबलरामजी के पीछे पीछे सभ्यगणों के पास आ गये। तदनन्तर श्रीकृष्ण एवं सभ्यगण दोनों ही चन्द्र और कुमुदाकर अर्थात् तालाब की तरह शोभा पाने लग गये। भावार्थ यह है कि चन्द्रमा के उदय पर जैसे कुमुदाकर विकसित हो जाते हैं उसी प्रकार श्रीकृष्णचन्द्र को देखते ही सभी सभासद खिल उठे ॥६॥

अथ सभा में यथायोग्य स्थान पर बैठने का वर्णन, यथा—

अन्तःपुर से सभामण्डप में प्रवेश करने के लिये पूर्व दिशा में एक पुरद्वार है, चारों ओर खम्भाओं की श्रेणी के कारण यह पुरद्वार घर के समान दिखाई पड़ता है, यह पुरद्वार पञ्चम है अर्थात् उसके भीतर चार

जालेन कुड्येन द्विधाविभक्त-दीर्घताविधानस्य तिर्यक्तया मध्यस्थितेन निम्नवर्त्मना बहिरन्त-र्लब्ध-कुट्टिमचतुष्टयस्य बहिःकुट्टिमद्वय-वलितरत्नपीठघटासु यथायथमुपविष्टा मुदाविशिष्टास्ते विभ्राजन्ते स्म ॥७॥

यस्मिन्नुदीचीकुट्टिमतटघटितामवाचीमुखतया विभ्राजिनीं राजिमधिकृत्य विराजमानः श्रीव्रजराजस्तस्य तु सव्यतत्तटघटितां प्रतीचीमुखतया श्रीनिधानां श्रेणिमाश्रित्य दत्तसुखसमाजः श्रीव्रजयुवराजस्तथापसव्यतस्तत्तटगतकुड्यसनीडघटितां प्राचीमुखतया सुखकरीमावलिमासाद्य परमहितः क्षितिसुरोत्तमसमूहसहितः पुरोहितः सम्यग्विराजते स्म । तत्रावाचीकुट्टिमगताश्च केचिदाभीरवीरा विराजन्ते स्म ॥८॥

ततश्च तयोः कुट्टिमयोर्मध्यभागश्च प्राङ्गणात् क्रमत उन्नतः, स्वयन्तु विस्तीर्णतया नाति-निम्नतया च कुट्टिमस्थानां सुष्ठु दृष्टिसङ्गतः सन् विभ्राजते स्म । श्रीभाजं गोलोकसम्राजमभि-मुखीकृत्य तयोः कुट्टिमयोर्मध्यस्थौ पुटिताग्रहस्तौ तौ सूतसुतौ तु सह सहायमुत्थानयुतौ वर्तेते स्म । ययोश्च सव्यापसव्यतः सर्वे व्रजस्थाः सूतादिषु स्फुरदर्हदवस्थाविशिष्टमुपविष्टा विस्तीर्ण-तासाङ्गप्राङ्गणे तु परे शिष्टाः ॥९॥

दरवाजे और हैं। इस पुरद्वार का ऐसा आकार है कि जिसके भीतर हजारों व्यक्ति आराम से बैठ सकते हैं, तथा इस पुरद्वार के मध्यस्थल में भीतर और बाहर दोनों ही ओर छोटी छोटी खिड़कियों से युक्त एक भींत है, इस कारण भीतर एवं बाहर के मार्ग दो भागों में विभक्त हैं, पूर्वोक्त मार्ग में बाहर और भीतर दो दो करके चार मणिजटित चबूतरे के आकार की ऊँची भूमियाँ प्राप्त होती हैं, उनमें से बाहर की दोनों रत्नजटित भूमियों में रत्नों से जटित अनेक सिंहासन हैं, उन पर दोनों ओर श्रीकृष्ण बलदेव, दोनों ही भैया यथायोग्य अर्थात् बायें एवं दायें भाव से बैठकर प्रसन्नचित्त से युक्त हो सुशोभित हो रहे हैं ॥७॥

जिस सभामण्डप में उत्तर दिशा की ओर वाली रत्नखचित भूमि एवं दक्षिण की ओर मुख वाली सुशोभित श्रेणी को अधिकार करके श्रीमान् व्रजराज विराजमान हैं। श्रीव्रजराज की बाईं ओर रत्नजटित भूमि एवं पश्चिम की ओर मुख वाली शोभा की मूलकारण स्वरूप जो श्रेणी है, उसी का अवलम्बन करके परम सुखदाता श्रीव्रजराजकुमार विराजमान हैं। इसी प्रकार श्रीकृष्ण की दाहिनी ओर रत्नखचित भींत के पास सटी हुई एवं पूर्व की ओर मुख वाली सुखदायिनी श्रेणी है, वहाँ पर परम हितैषी विशिष्ट ब्राह्मण समुदाय के सहित पुरोहितवर्य श्रीशांडिल्यमुनिजी अच्छी प्रकार विराजमान हैं। तथा दक्षिण दिशा वाली रत्नमयी भूमि में विशिष्ट पराक्रमी कुछ आभीर वीर विराजमान हैं ॥८॥

उन दोनों रत्नमयी भूमियों का मध्यभाग आँगन से लेकर क्रम से ऊँचा होकर स्वयं विस्तीर्णरूप से और अत्यन्त नीचा न होने के कारण सभास्थित सभीजनों के अच्छी प्रकार दृष्टिगोचर होता हुआ शोभा पा रहा था, अर्थात् सबके बैठने के लिये अवशिष्ट सामने का स्थान चालू भाव से पड़ा था। ऐश्वर्यशाली गोलोक के सम्राट् श्रीनन्दजी को सन्मुख करके दोनों रत्नमयी भूमियों के मध्यभाग में स्थित होकर दोनों ही सूतपुत्र हाथ जोड़कर अपने परिकर वालों के सहित खड़े थे। तथा दाहिनी एवं बायीं ओर की रत्नमयी दोनों भूमियों में समस्त व्रजवासीजन, सूत आदि सभी जनों के ऊपर पूजा या सम्मान का भाव दिखाते हुए उपविष्ट हो गये, एवं बाकी के शिष्टजन भी विस्तारपूर्ण प्राङ्गण के बीच में बैठ गये ॥९॥

इति स्थिते—सर्वस्मादुच्चमाने मणिजनित-महासिंहपीठे निविष्टः
साध्विष्टः सत्प्रकीर्णाद्युपवलितकरैर्भ्रातृमध्यं प्रविष्टः ।
दृष्टिं पीयूषवृष्टिं विनिदधदसकृत् कृष्णववत्रे सतृष्णं
श्रीमान् गोलोकराजः स सदसि ददृशे राजमानः प्रजाभिः ॥१०॥

श्रीशुभ्रासनतूलिकोपरिमिलत्कायाधरांशो मना-
गालम्बादुपधानचन्द्रवलयस्येषत्तिरोवर्तनः ।
धिन्वन् सस्मितया दृशा परिषदं श्रीरामदामादिमान्
श्रीकृष्णः स मयात्र साम्प्रतमपि प्रत्यक्षवल्लक्ष्यते ॥११॥

तत्र च तस्य वर्णादिकमेवं वर्ण्यते—

श्यामे श्यामदशामवाप सहसा शोणे तथा शोणतां
पीते रोचिषि पीलधाम विविधे वैविध्यमागादिति ।
अङ्गोपाङ्गरुचा हरेर्जनदृशां वीथिर्गता तत्क्षणा-
न्नानारूपगतीर्नटानुपजहासेव स्मितव्यञ्जतः ॥१२॥

इस प्रकार बैठने की परिपाटी के संघटित होने पर वे ही श्रीमान् गोलोक के राजा श्रीनन्दजी महाराज सबकी अपेक्षा ऊँचे एवं बहुमूल्य मणिखचित उत्तम विशाल सिंहासन पर विराजमान थे। सुवर्ण पुष्पादि माङ्गलिक द्रव्य एवं चामर व्यजन आदि हाथों में धारण करने वाले पुरुषों द्वारा साधुवादपूर्वक पूजे जा रहे थे, तथा अपने सभी भाइयों के बीच में प्रविष्ट होकर श्रीकृष्ण के मुखमण्डल पर अमृतवृष्टिमयी अपनी दृष्टि को लालसापूर्वक बारंबार विनिहित कर रहे थे अर्थात् श्रीकृष्ण की ओर बारंबार प्रेमपूर्वक निहार रहे थे, इस प्रकार सभा में विराजमान श्रीनन्दजी को सारी प्रजा टकटकी लगाकर देख रही थी कि बाबा कौतुक दिखाने के लिये सूतपुत्रों को कब प्रेरित करते हैं ॥१०॥

शोभायमान शुक्लवर्ण के तोषक (गद्दा) के ऊपर जिनका श्रीचरण से लेकर कटिपर्यन्त शरीर का भाग विराजमान है, एवं थोड़े से टेढ़े होकर पीछे की ओर चन्द्रमा के समान गोलाकार तकिया का सहारा लेकर ईषद् हास्ययुक्त प्रेमभरी दृष्टि से सारी सभा को परितृप्त करते हुए, श्रीराम, श्रीदाम, सुबल आदि सखाओं से युक्त होकर गोलोक की सभा में जो विराजमान हैं वे ही श्रीकृष्ण मुझे तो अब भी प्रत्यक्ष की भाँति दिखाई पड़ रहे हैं ॥११॥

उस दर्शन में श्रीकृष्ण की देहकान्ति आदि का इस प्रकार वर्णन होता है, यथा—उस समय सभीजनों की नेत्रपंक्ति श्रीकृष्ण के श्यामवर्ण में श्यामदशा को, लालवर्ण के नेत्र एवं ओष्ठों में लालिमा को, पीले दुपट्टे की पीली कान्ति में पीलापन को धारण कर रही थी एवं अनेक प्रकार की कान्ति में अनेक रंग की हो जाती थी। इस प्रकार श्रीकृष्ण के अङ्गप्रत्यङ्ग की शोभा द्वारा सभी जनों की दृष्टिपंक्ति तत्काल अनेक प्रकार की दशा को प्राप्त कर मृदु एवं मधुरहास्य के बहाने नटों का उपहास सा कर रही थी, अर्थात् दर्शक जनों की दृष्टि श्रीकृष्ण के अङ्ग की अनेक प्रकार की कान्ति पर गिरकर चञ्चल एवं विक्षिप्त सी हो रही थी, उससे यह प्रतीत हो रहा था मानो यह जनदृष्टि नटों का परिहास कर रही है ॥१२॥

किञ्च—चन्द्रोऽयं श्याम एष प्रथमजलधरः कान्तिभिर्विश्वदीपः
शोभन्ते विद्युतस्ता इह सपदि जहत्यात्मसत्तामम्मूस्तु ।
नक्षत्राणीह लीनान्यपि बत कुमते ! नो नभः सा सभासा-
वित्यन्योऽन्यं विनोदाद्विवदनमुदभूत्तत्र शश्वत् कवीनाम् ॥१३॥

तत्रैव कस्यचिदन्यस्य कविता—

उपरि मधुकरावली तदीयं, तलमनु सस्मितनीलवारिजातम् ।
तदनु रविसुताच्छवारिपूरः, स्फुरति सखे ! किमियं सभा नवाऽस्ति ॥१४॥

अथात्मस्थाने युक्तः श्रीकृष्णरामाभ्यां प्रयुक्तः प्रसिद्धनामा श्रीदामा श्रीभाजं व्रजराजमावेद्य सद्यः पुरमध्यमासाद्य कृती श्रीव्रजराज्ञीप्रभृतिर्बहिःकुट्टिमात् किञ्चिदुन्नतकुट्टिममनु मर्यादापर्यापणस्य दलप्राय-दलतावलनस्य गरुडमणि-कुड्यवर्यस्य निविष्टजननेत्राधस्तनभागं तनुप्रमाणमंशमंशमप्यतिचर्य स्फुटमुपर्युपरि घटितगात्रं लब्धसन्निकृष्टिदृष्टि-विसृष्टिमात्रपात्रं श्रेणितयालंकृतमनेकनीरन्ध्रजालरन्ध्रजालं समया समानीय प्रतीहारं सप्रतीहारं प्रणीय दृग्भङ्गिकलया तासामन्तःसभासङ्गितामभिनीय पुनस्तयोरविप्रकृष्ट एवोपविष्टः ॥१५॥

श्रीकृष्णरूप निरूपण में कवियों का कलह, यथा—एक बोला—आज तो आकाश में देखो यह श्याम वर्ण का चन्द्र उदय हुआ है, दूसरा बोला—यह तो वर्षाकाल का प्रथममेघ है, तीसरा बोला—नहीं भाई, कान्तिविशेष के कारण यह विश्वदीप है, चौथा बोला—देखो ! वे बिजलियाँ भी सुशोभित हो रही हैं, पाँचवां बोला—भाई ! वे बिजलियाँ तो अपनी सत्ता को ही त्याग रही हैं अतः यह तो बिजली से भी अधिक प्रकाश वाला कोई विशिष्ट पदार्थ है, "मुक्ताहार में स्थित चन्द्रक गुच्छा आदि को देखकर", छठवाँ बोला—देखो ! इस आकाश में सारे तारे भी लीन हो रहे हैं, यह सुनकर सातवां बोला कि—हे निर्बोध ! यह आकाशमण्डल नहीं है किन्तु यह तो सभा है, इस प्रकार विनोद के कारण वहाँ पर कविगणों का निरन्तर विवाद उपस्थित हो गया ॥१३॥

उसी सभा में श्रीकृष्ण के शरीर को सभाकाररूप से वर्णन करने वाले किसी कवि की कविता इस प्रकार है— जिसके ऊपर के भाग में मधुकर श्रेणी है एवं उस मधुकर श्रेणी के नीचे कुछ खिला हुआ नीलकमल है, उसके बाद श्रीयमुनाजी का निर्मल जलसमूह स्फूर्ति पा रहा है कहो मित्र ! यह कोई नवीन सभा है क्या ? भावार्थ यह है कि श्रीकृष्ण के केश ही मधुकर श्रेणी हैं, उनका मन्द मुस्क्यानयुक्त श्रीमुख ही यहाँ पर नीलकमल है, एवं उनके श्रीविग्रह की श्यामकान्ति ही यमुनाजी का निर्मल जल है, यह भाव आलङ्कारिक कवियों के गम्य है ॥१४॥

सभा के अन्तर्गत निर्जन स्थान में श्रीव्रजरानी आदिकों का प्रवेश

श्रीराम कृष्ण दोनों भाइयों द्वारा अपने प्रतिनिधिरूप में नियुक्त, तथा उन्हीं के द्वारा प्रेरित, प्रसिद्ध नाम वाला, कुशल श्रीदामा समृद्धिशाली श्रीव्रजराज को निवेदन करके तत्काल ही पुर के भीतर गया। विस्तीर्ण प्रान्त एवं कमलपत्रों के समान परस्पर सटे हुए मरकतमणि से बने हुए उत्कृष्ट भींतों के प्रत्येक छोटे छोटे स्थानों को अतिक्रमण किया। इन स्थानों के ऊपर बैठे हुए जनों के नेत्र नीचे की ओर हो रहे थे अर्थात् सभी आधे नेत्रों से ही देख रहे थे। इन स्थानों का अतिक्रमण करने के बाद बाहर की मणिमय

यत्र श्रीमतां मित्राणां सङ्गतौ मधुमङ्गलोऽपि रङ्ग इव तत्तत्प्रसङ्गेन नर्मभङ्गिभिः शर्म दातुमङ्गीकुर्वन्निव निविविशे ॥१६॥

तत्र श्रीव्रजराज्ञी, यथा—

मणिमयवरपीठे यातृमुख्यान्तराले, तनयनववधूभिः सेविताराल्प्रदेशा ।
सुतमुखविधुकान्ति सा गवाक्षात् पिबन्ती, सुतसुचरिततृष्णक् कृष्णमाता व्यराजीत् ॥१७॥

अथ राज्ञा व्रजस्य मधुरमाज्ञाप्यते स्म—"अये मधुकण्ठस्निग्धकण्ठौ ! वयमुत्कण्ठिताः स्मः, ततः किञ्चिदुट्टङ्क्यताम् ।" ॥१८॥

तौ च साञ्जली व्यानञ्जतुः—"देव ! किं प्रक्रमितव्यमवलम्ब्य संवदावहे ?"

व्रजराज उवाच—"भवन्तौ सर्वज्ञाविति विज्ञापनायास्मदीय-कथाभिरेवास्मान् विस्माययेताम् ।" तावूचतुः—"यथा शिष्टिः शिष्टाग्रणीचरणानाम्; किन्तु शावयोरावयोरेकतरः समाज्ञाप्यतां, यथान्यतरः श्रोता भवति ।" व्रजराज उवाच—"दिनमेकमेकमन्तरा प्रत्येकमपि तत्तद्रूपतामाप्नोतु । प्रक्रन्ता पुनर्ज्यायानेव ज्यायान् विधीयते ।" ॥१६॥

भूमि से किंचित् ऊँची मणिमय भूमि को लक्ष्य करके जाने लगा। इस मणिमय भूमि के सभी अवयव स्पष्ट रूप से ऊपर से भी ऊपर की ओर बने हुए थे, जिसके पास जाने पर देखे बिना रहा ही नहीं जाता था, एवं जो आगे आगे पंक्तिरूप से सुशोभित हैं। यहाँ की मणिमयी भींतों में खिड़कियाँ परस्पर में सटी हुई हैं। इस पूर्वोक्त मणिमयी भूमि के निकट ही श्रीमती व्रजेश्वरीदेवी यशोदा माँ को लिवाकर मणिमयी भूमि के दरवाजे पर द्वारपाल को नियुक्त कर दिया, पश्चात् भ्रुकुटि के इशारे से श्रीयशोदा आदि के सभा में आने को समझाकर पुनः स्वयं भी श्रीराम कृष्ण के पास ही जाकर बैठ गया ॥१५॥

जहाँ पर बाहर की सभा में श्रीमान् मित्रगणों से मिलकर मधुमङ्गल भी रङ्गभूमि में जिस प्रकार कौतुक किया जाता है यहाँ भी उसी प्रकार कौतुक रचना द्वारा सुख देने के लिए स्वीकृति सी देता हुआ प्रविष्ट हुआ ॥१६॥

सभामण्डप में श्रीयशोदाजी का वर्णन, यथा— श्रीव्रजपटरानी यशोदा श्रीनन्दजी के सभी भाइयों की पत्नियों के बीच में मणिमय श्रेष्ठ सिंहासन पर विराजमान थीं, श्रीकृष्ण बलदेव की नववधू भी आस पास में सेवकभाव से स्थित थीं, अपने पुत्र के अपूर्व चरित्र के प्रति जिनका मन लालसायुक्त था, ऐसी श्रीकृष्णमाता सभाभवन की खिड़की से अपने पुत्र के मुखचन्द्र की शोभा को स्नेहपूर्वक निहार रही थीं ॥१७॥

तदनन्तर श्रीव्रजराज ने मधुरतापूर्वक आज्ञा दी कि—हे मधुकण्ठ ! एवं स्निग्धकण्ठ ! हम सभी उत्कण्ठित हैं अतएव तुम दोनों किसी एक विषय पर उल्लेख करो ! ॥१८॥

उन दोनों ने हाथ जोड़कर निवेदन किया कि—हे महाराज ! आरम्भ करने योग्य किस विषय का अवलम्बन करके कथनोपकथन करें। श्रीव्रजराज बोले—तुम दोनों ही सर्वज्ञ हो, इस बात को जानने एवं जनाने के लिये हमारी कथा द्वारा ही हमको विस्मित कर दो। वे दोनों बोले—शिष्टाग्रगण्य महानुभावों की जैसी आज्ञा, किन्तु हम दोनों बालकों में से एक के लिये आज्ञा दीजिये, जिससे कि एक जन श्रोता बन

ततश्च धृतोत्कण्ठः सपदि मधुकण्ठः कृताञ्जलितया नान्दीं पठन्नखिलमानन्दयति स्म ॥२०॥

नान्दी

यथा—श्रीमान् यो भगवान् स्वयं विजयते ब्रह्मा सुर्रषिर्महान्
व्यासस्तत्प्रभवः परीक्षिदपि यावुग्रश्रवःशौनकौ।
श्रीमद्भागवतप्रथाप्रणयिन-स्तान् विश्वनिस्तारिणः
श्रीगोष्ठस्य महिष्ठतां प्रथयितुं कम्रान्नमस्कुर्महे ॥२१॥

ततश्च—पश्चादल्पं तालयुग्मं गृहीत्वा, गायन्तौ द्वौ पार्श्वयोर्मड्डु विज्ञौ।
श्रोता भ्राता यस्य सव्येतराग्रे, सोऽयं वक्ता सर्वमुच्चैर्दिधिन्व ॥

इति प्रकारे लब्धसारे पुनर्मधुकण्ठः सोत्कण्ठं गायन् नृत्यन् तत्तद्भावाभिनयं प्रणयन् कथामभ्याददे ॥२२॥

अथ कथारम्भः

"यथा—अथ सर्वश्रुतिपुराणादिकृतप्रशंसस्य वृष्णिवंशस्य वतंसः श्रीदेवमीढनामा परमगुणधामा मथुरामध्यासामास। तस्य चार्याणां शिरोमणेर्भार्याद्वयमासीत्। प्रथमा द्वितीयवर्णा, द्वितीया तु तृतीयवर्णेति। तयोश्च क्रमेण यथावदाह्वयं पुत्रद्वयं प्रथमं बभूव—शूरः,

---

सके। श्रीव्रजराज बोले—एक एक दिन के अन्तर से प्रत्येक ही क्रम से वक्ता श्रोता बनते रहो! किन्तु आरम्भकर्ता बड़ा भाई ही श्रेष्ट कहा जाता है ॥१६॥

तदनन्तर मधुकण्ठ ने उत्कण्ठित होकर, शीघ्र ही हाथ जोड़कर मङ्गलाचरणमयी नान्दी का पाठ करते हुए सभी सभासदों को आनन्दित कर दिया ॥२०॥

यथा—श्रीमद्भागवत की प्रथा (सम्प्रदाय) के प्रवर्तक एवं विश्व के निस्तारक जो श्रीमान् स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण, तथा ब्रह्मा, देवर्षि नारद, महर्षि वेदव्यास, तत्पुत्र श्रीशुकदेव, राजर्षि परीक्षित्, सूत एवं शौनक आदि हैं उन सबकी जय हो! तथा श्रीव्रज के महत्व का विस्तार करने के लिये जिनकी प्रबल इच्छा थी, ऐसे परम मनोहर पूर्वोक्त महानुभावों को हम बारंबार नमस्कार करते हैं ॥२१॥

तदनन्तर जिसके कुछ पीछे दोनों ओर मड्डु अर्थात् जलतरङ्ग बाजा बजाने में चतुर रत्नचूड़ और सुमति ये दोनों ही छोटे छोटे दो ताल ग्रहण करके गायन करते हुए विद्यमान थे, एवं जिसकी दाहिनी ओर अग्रभाग में भ्राता स्निग्धकण्ठ श्रोता बन के बैठा था, बस वही मधुकण्ठ वक्ता होकर सभी जनों को अधिक प्रीतियुक्त किंवा प्रसन्न कर रहा था। इस प्रकार सभी साजबाज के साङ्गोपाङ्ग उपस्थित हो जाने पर मधुकण्ठ ने फिर भी उत्कण्ठापूर्वक गायन, नृत्य एवं हावभाव का अभिनय करते हुए कथा कहना प्रारम्भ कर दिया ॥२२॥

अथ कथारम्भ यथा—

समस्त श्रुतियाँ एवं पुराणादि शास्त्र जिसकी भूरि भूरि प्रशंसा करते रहते हैं, उसी यदुवंश के शिरोमणि और विशिष्ट गुणों के स्थानस्वरूप श्रीदेवमीढ़ नामक राजा श्रीमथुराजी में निवास करते थे। उन्हीं क्षत्रियशिरोमणि महाराजाधिराज के दो भार्या थीं, पहली क्षत्रिय वर्ण की एवं दूसरी वैश्यवर्ण की थी, उन

पर्जन्य इति। तत्र शूरस्य श्रीवसुदेवादयः समुदयन्ति स्म। श्रीमान् पर्जन्यस्तु 'मातृवद्वर्णसङ्करः' इति न्यायेन वैश्यतामेवाविश्य गवामेवैश्यं वश्यं चकार; बृहद्वन एव च वासमाचचार। स चायं बाल्यादेव ब्राह्मणदर्शं पूजयति, मनोरथपूरं देयानि वर्षति, वैष्णववेदं स्निह्यति, यावद्वेदं व्यवहरति, यावज्जीवं हरिमर्चयति स्म। तस्य मातुर्वंशश्च व्याप्तसर्वदिशां विशां वतंसतया परं शंसनीयः, आभीरविशेषतया सद्भिरुदीरणादेष हि विशेषं भजते स्म ॥२३॥

तथा च मनुः—(१०।१५)

'ब्राह्मणादुग्रकन्यायामावृतो नाम जायते।
आभीरोऽम्बष्ठकन्यायामायोगव्यान्तु धिग्वणः ॥' इति ॥

'अम्बष्ठस्तु विशः पुत्र्यां ब्राह्मणाज्जात उच्यते' इति चान्यत्र। अतः पाद्मे सृष्टिखण्डादौ यज्ञं कुर्वता ब्रह्मणाप्याभीरपर्याय-गोपकन्यायाः पत्नीत्वेन स्वीकारः प्रसिद्धः। एष एव च गोपवंशः श्रीकृष्णलीलायां संवलनमाप्स्यतीति; सृष्टिखण्ड एव तत्र स्पष्टीकृतमस्ति। तस्मात् परमशंसनीय एवासौ वैश्यान्तःपातिमहाभीरद्विजवंशः" इति ॥२४॥

दोनों रानियों के क्रम से यथायोग्य दो पुत्र उत्पन्न हुए। एक का नाम शूरसेन, दूसरे का नाम पर्जन्य था। उन दोनों में से शूरसेनजी के श्रीवसुदेवजी आदि पुत्र उत्पन्न हुए। किन्तु श्रीपर्जन्यबाबा तो "मातृवद्वर्ण-संकरः" इस न्याय के कारण वैश्यजाति को प्राप्त होकर गैयाओं के आधिपत्य को ही अधीन कर गये, अर्थात् उन्होंने अधिकतर गो प्रतिपालनरूप धर्म को ही स्वीकार कर लिया, एवं वे महावन में ही निवास करते थे। और वे बाल्यकाल से ही ब्राह्मणों की दर्शनमात्र से पूजा करते थे, एवं उन ब्राह्मणों के मनोरथ पूर्ति पर्यन्त देय वस्तुओं की वृष्टि करते थे, वैष्णवमात्र को जानकर उससे स्नेह करते थे, जितना लाभ होता था उसी के अनुसार व्यवहार करते थे तथा आजीवन श्रीहरि की पूजा करते थे। उनकी माता का वंश भी सब दिशाओं में समस्त वैश्यजाति का भूषणस्वरूप होकर परम प्रशंसनीय था, विज्ञपण्डितजन भी जिनकी माता के वंश को आभीरविशेष कहकर पुकारते थे, इसीलिए यह माता का वंश उत्कर्ष विशेष को प्राप्त कर गया ॥२३॥

इस विषय में मनुजी भी कहते हैं, यथा–(१०।१५) क्षत्रिय द्वारा शूद्रकन्या से उत्पन्न 'उग्रा' कहलाती है, ब्राह्मण के द्वारा उसी उग्रा कन्या के गर्भ से 'आवृत' नामक उत्पन्न होता है। ब्राह्मण के द्वारा वैश्यपुत्री में उत्पन्न कन्या को 'अम्बष्ठा' कहते हैं, उसी अम्बष्ठा के गर्भ से ब्राह्मण द्वारा आभीर जाति का जन्म होता है। शूद्र द्वारा वैश्यपुत्री में उत्पन्न कन्या को 'आयोगवी' कहते हैं, उसी आयोगवी के गर्भ से ब्राह्मण द्वारा 'धिग्वण' का जन्म होता है। अन्यत्र भी देखा जाता है कि वैश्यपुत्री से ब्राह्मण के द्वारा जिस पुत्र का जन्म होता है उसका नाम 'अम्बष्ठ' कहते हैं। अतः पद्मपुराण में सृष्टिखण्ड के आदि में कहा है कि—ब्रह्माजी ने जिस समय यज्ञ किया उस समय उन्होंने आभीरपर्याय गोपकन्या को पत्नीरूप से ग्रहण किया है, यही बात प्रसिद्ध है। यही गोपवंश श्रीकृष्णलीला में सम्मेलन प्राप्त करेगा। यह बात भी वहीं सृष्टिखण्ड में स्पष्टरूप से उल्लिखित है। इस कारण से वैश्यजाति के अन्तर्गत यह महाआभीर जाति द्विजवंश हो गई, अतः यह गोप-वंश भी परम प्रशंसनीय है ॥२४॥

अथ स्निग्धकण्ठेन चान्तश्चिन्तितम्—"एवमपि केचिदहो एषां द्विजतायां सन्देहमपि देहयिष्यन्ति,—ये खलु श्रीमद्‌भागवते (१०।८।१०) 'कुरु द्विजातिसंस्कारम्' इति गर्गं प्रति श्रीव्रजराजवचने, (भा० १०।२४।२०-२१) 'वैश्यस्तु वार्तया जीवेत्' इत्यारभ्य 'कृषिवाणिज्य-गोरक्षा कुसीदं तुर्यमुच्यते । वार्ता चतुर्विधा तत्र वयं गोवृत्तयोऽनिशम् ॥' इति व्रजराजं प्रति श्रीकृष्णवचने, तथैव, (भा० १०।४६।१२) 'अग्न्यर्कातिथिगो-विप्र' इति श्रीशुककृत-गोपा-वासवर्णने, व्यतिरेकतस्तु धर्मराजचरतायामपि विदुरस्य शूद्रागर्भोद्भवतयान्यथाव्यवहार-श्रवणेऽप्यधिकं बधिरायिष्यन्ते" इति ॥२५॥

अथ स्फुटमूचे—"ततस्ततः ?" ॥२६॥

मधुकण्ठ उवाच—" स च श्रीमान् पर्जन्यः सौजन्यवर्येणार्जितेन निजैश्वर्येणापि वैश्यान्तरसाधारण्यमतीयाय, तच्च नाश्चर्यम्; यतः स्वाश्रितदेशपालकता-मान्यतया वदान्यतया क्षीरवैभवप्लावितसर्वजनतालब्ध-प्राधान्यतया च पर्जन्यसामान्यतामाप;—यः खलु प्रह्लादः श्रवसि, ध्रुवः प्रतिश्रुति, पृथुर्महिमनि, भीष्मो दुर्हृदि, शङ्करः सुहृदि, स्वयम्भूर्गरिमणि, हरिस्तेजसि बभूव; यस्य च सर्वैरपि कृतगुणनेन गुणगणेन वशिताः सहस्रसंख्याभिरप्यनवसिता मातामहमहावंशप्रभवाः सर्वथा प्रभवस्ते गोपाः सोपाध्यायाः स्वयमेव समाश्रिता बभूवुः;

तदनन्तर स्निग्धकण्ठ ने अपने मन में विचारा कि—अहो ! कैसा आश्चर्य का विषय है कि—कोई कोई जन तो इन गोपों की द्विजता में भी सन्देह बढ़ाते रहेंगे, और जो श्रीमद्भागवत में श्रीगर्गाचार्य के प्रति श्रीनन्दजी का वचन है कि—"आप हमारे दोनों पुत्रों का द्विजाति संस्कार कीजिये" तथा "वैश्य तो वार्ता द्वारा अपनी जीविका चलाता है" यहाँ से आरम्भ करके "कृषि, वाणिज्य, गोरक्षा एवं कुसीद अर्थात् व्याज लेना, वैश्य की यह चार प्रकार की वृत्ति होती है, उनमें से हम तो निरन्तर गोरक्षारूप वृत्ति द्वारा अपनी जीविका चलाते हैं" इस प्रकार श्रीव्रजराज के प्रति श्रीकृष्ण के वाक्य में, तथा श्रीशुकदेव द्वारा गोपावास वर्णन प्रसङ्ग में "सूर्य, अग्नि, अतिथि, गो, ब्राह्मण आदि के पूजन से गोपों का वासस्थान मनोहर है" इत्यादि एवं इसके व्यतिरेक से तो पूर्वजन्म में जो धर्मराज यम थे वे ही विदुरजी शूद्रा के गर्भ से उत्पन्न होकर भी अन्यथा व्यवहार करेंगे अर्थात् ज्ञानोपदेशादि द्वारा लोकोद्धाररूप ब्राह्मण का कार्य करेंगे या कर चुके हैं। सन्देह करने वाले जन इन सब बातों को सुनने में तो बिलकुल बहरे ही हो जायेंगे अर्थात् विदुरजी के ब्राह्मणत्व को सुन भी न सकेंगे ॥२५॥

पुनः स्पष्ट बोला, भाई मधुकण्ठ ! आगे की चर्चा सुनाइये ॥२६॥

मधुकण्ठ बोला—वे ही श्रीमान् पर्जन्यजी उत्तम सौजन्य एवं स्वयं उपार्जित ऐश्वर्य द्वारा अन्यान्य साधारण वैश्यजाति को अतिक्रमण कर गये थे, यह आश्चर्य नहीं क्योंकि देखो—वे अपने देश के पालन करने से सभी के माननीय होकर तथा दानशीलता के कारण दुग्ध सम्पत्ति द्वारा सब लोकों को आप्लावित करके सबकी अपेक्षा प्रधानता को प्राप्त करके भी मेघ की समानता को प्राप्त कर गये। एवं जो निश्चय ही यश में प्रह्लाद, प्रतिज्ञा में ध्रुव, महिमा में पृथु, शत्रुओं के प्रति भीष्म, मित्रों के प्रति शंकर, गौरव में ब्रह्मा, तेज में श्रीहरि के तुल्य थे। अपिच सभी लोग जिनके गुणगणों की आवृत्ति करते रहते हैं ऐसे उनके गुणों के वशीभूत होकर हजारों की संख्या से भी अधिक नाना के विशाल वंश में उत्पन्न होने वाले ऐश्वर्यशाली

तत्सम्बन्धिवृन्दानि च वृन्दशः; यं खलु श्रीमदुग्रसेनाग्रीय-यदुसंसदग्रण्यस्ते समग्रगुणगरिमण्यग्रगण्यमवलोकयन्तः सकलगोपलोकराजराजतासम्बलकेन तिलकेन सम्भावयामासुः; यस्य च प्रेयसी सकलगुणवरीयसी वरीयसीनामासीत्; यस्य च श्रीमदुपनन्दादयः पञ्चनन्दना जगदेवानन्दयामासुः।

"तथा च वन्दिनस्तस्य श्लोकं श्लोकतामानयन्ति—॥२७॥

अन्यस्तु जलपर्जन्यः सुखपर्जन्य एष तु।
सदा यो धिनुते सृष्टैरुपनन्दादिभिर्जनम्॥
पर्जन्यः कृषिवृत्तीनां भुवि लक्ष्यो व्यलक्ष्यत।
तदेतन्नाद्भुतं स्थूललक्ष्यतां यदसौ गतः॥२८॥

उपमान्ति च—उपनन्दादयश्चैते पितुः पञ्चैव मूर्तयः।
यथानन्दमयस्यामी वेदान्तेषु प्रियादयः॥२९॥

उत्प्रेक्षन्ते च—उपनन्दोऽभिनन्दश्च नन्दः सन्नन्द-नन्दनौ।
इत्याख्याः कुर्वता पित्रा नन्देरर्थः सुदण्डितः॥३०॥

गोपगण भी उपाध्याय के सहित स्वयं ही जिनके आश्रित हो गये थे। उनके सम्बन्धीय स्वजाति के वृन्द भी बहुत से हैं, निश्चय ही जिनको श्रीमान् उग्रसेन प्रभृति यदुसभा के अग्रगण्य व्यक्तिगणों ने सम्पूर्ण गुणगौरव विषय में अग्रगण्य देखते हुए समस्त गोपजनों के सुन्दर राजत्वसूचक तिलक द्वारा सम्मानित किया, अर्थात् उग्रसेन आदि सभी यदुवंशियों ने जिनको गोपों का सम्राट् बना दिया, जिनकी प्रिया भार्या स्त्रियों के सभी गुणों में श्रेष्ठ थीं अतएव जिनका 'वरीयसी' यह नाम सार्थक था। जिसके श्रीमान् उपनन्द आदि पाँच पुत्रों ने जगत् को ही आनन्दित कर दिया। अधिक क्या कहें ? देखो! जिनके यश को वन्दीजन श्लोकबद्ध करके वर्णन करते हैं ॥२७॥

देखो! जलपर्जन्य (मेघ) तो दूसरा है किन्तु यह तो सुखपर्जन्य है, कारण यह पर्जन्य तो स्वयं उत्पादित उपनन्दादि पाँच पुत्रों द्वारा सभी जनों को सदैव परितृप्त करता रहता है। परन्तु मेघरूपी पर्जन्य कृषिजीवी सभी दरिद्रियों के दृष्टिगोचर होकर भूतल पर देखा जाता है किन्तु यह अद्भुत नहीं है, कारण यह पर्जन्य गोपराज तो दानवीरता या बहुदातृता को प्राप्त होकर स्थूल दृष्टि वालों को भी लाखों रूप में दिखाई पड़ता है ॥२८॥

वन्दीजन श्रीपर्जन्यबाबा की इस प्रकार उपमा भी देते हैं, यथा—जिस प्रकार वेदान्तशास्त्र में आनन्दमय परब्रह्म के "प्रिय, आमोद, प्रमोद, आनन्द, ब्रह्म" ये पाँच स्वरूप हैं, उसी प्रकार ये उपनन्द आदि पाँचों भी पिता पर्जन्य के मूर्ति विशेष जानो ॥२९॥

इस विषय में उनकी उत्प्रेक्षा भी करते हैं, यथा—उपनन्द, अभिनन्द, नन्द, सन्नन्द एवं नन्दन इत्यादि नामकरण करते हुए इनके पिता ने समृद्ध्यर्थक 'नन्द' धातु के आनन्दरूप अर्थ को अच्छी प्रकार वश में कर लिया है, अर्थात् नन्द धातु का अर्थ पर्जन्यबाबा के उपनन्दादि पाँच पुत्रों के रूप में मूर्तिमान दिखाई देता है ॥३०॥

तदेवं सतीषु सर्वसम्पत्तिषु तस्य पुत्रसम्पत्तिस्तु परमरमणीयतामवाप, नेपथ्यसम्पत्तिषु वासःसम्पत्तिरिव । तत्रापि मध्यमसुतसम्पत्तिः सुतरामैश्वर्याणामविच्छिन्नसम्पत्तिपङ्क्तिमनु मध्यमसम्पत्तिरिव ॥३१॥

अत्र केचिदर्जुनमुपमानीकुर्वन्ति; वयन्तु तस्य मध्यसम्बध्यमानस्य सर्वानन्दनस्य श्रीमत्पर्जन्यनन्दनस्य बालकपर्यायेण तेन पाण्डुतनयेनोपमानं न मन्यामहे । अपि च परमोदारेषु च सहोदरेषु तेषु न केवलं जन्मना तावन्मध्यवर्तितया सोऽयं वर्तते, अपि तु स्नेहसम्पदामास्पदतयापि, न च केवलं तेषाम्, किन्तु सर्वेषामपि; येन तस्मिन् पित्रोरप्यधिका स्नेहर्द्धिकाया वर्धिष्णुता भ्रातृणामपि सदा सुखसंवर्धनी बभूव, न जातु स्पर्धनी । न चैतावानुद्भूतः सुगुणस्तस्मिन्नद्भुतः ।

भवति हि स्वयं भगवति तस्य भक्तिविशेषव्यक्तिः,—(भा० ५।१८।१२) 'यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना, सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः' इति हि भगवती श्रीभागवतगीर्देवी ॥३२॥

तदेतन्मधुकण्ठकण्ठतः श्रुत्वा श्रीमदुपनन्दः श्रीमदभिनन्दं नीचैरुवाच—॥३३॥

"विज्ञाता कथां प्रकुर्वाणस्य किमस्य परहृदयविज्ञता ?" ॥३४॥

इस प्रकार उनके समस्त सम्पत्तियों के होने पर भी, वेशरचना की सम्पूर्ण सम्पत्तियों में वस्त्रसम्पत्ति की तरह, पुत्रसम्पत्ति ही परम रमणीयता को प्राप्त थी, अर्थात् वेशरचना में वस्त्र और भूषणों के बीच में जैसे वस्त्र ही प्रधान होते हैं, उसी प्रकार सब सम्पत्तियों के मध्य में पुत्र ही उनकी प्रधान सम्पत्ति थी। उन पाँचों पुत्रों में भी बीच वाली नन्द पुत्ररूप सम्पत्ति ही अधिक थी, जैसे षट् ऐश्वर्यों की अविच्छिन्न सम्पत्ति पंक्ति में अर्थात् ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य रूप छः ऐश्वर्यों में बीच वाले यश और श्री नामक दो ऐश्वर्य ही प्रधान हैं, उसी प्रकार पर्जन्य के पाँचों पुत्रों में बीच के नन्द ही प्रधान हैं ॥३१॥

यहाँ पर कुछ कविजन पाण्डु के पाँचों पुत्रों में मध्यम पुत्र अर्जुन की उपमा पर्जन्य के मध्यम पुत्र श्रीनन्द को देते हैं, किन्तु हम तो मध्य में वर्तमान आनन्ददायक उन पर्जन्यनन्दन की बालकपर्याय पाण्डुपुत्र अर्जुन के साथ उपमा स्वीकार नहीं करते। अपि च उन परम उदार सभी भाईयों में श्रीनन्दजी केवल जन्म द्वारा ही मध्यवर्ती हों सो बात नहीं है, किन्तु वे तो अन्यान्य सभी जनों की स्नेह सम्पत्ति के आधार होकर सभी के मध्यवर्ती थे। इसी कारण से श्रीनन्दजी में पिता, माता के भी अधिक स्नेह प्राचुर्य की वृद्धि, अन्य भाइयों को भी सदा सुख बढ़ाने वाली थी किन्तु ईर्षा बढ़ाने वाली कभी भी नहीं थी।

श्रीनन्दजी के केवल ऐसे सुन्दर गुण उत्पन्न हो गये हों इससे ही उनमें अद्भुतता नहीं है, अपितु स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति उनकी भक्तिविशेष की अभिव्यक्ति (प्राकट्य) थी, श्रीमद्भागवत पञ्चम स्कन्ध में इस प्रकार की भगवती वाग्देवी विद्यमान है, यथा—श्रीभगवान् के प्रति जिसकी निष्काम भक्ति है, सभी गुणों के सहित देवगण उस भक्तजन में अच्छी प्रकार विद्यमान हो जाते हैं ॥३२॥

श्रीमान् उपनन्दजी मधुकण्ठ के कण्ठ से इस प्रकार के वाक्य सुनकर श्रीमान् अभिनन्द के प्रति धीरे धीरे मधुर स्वर से बोले ॥३३॥

कथा कहने वाले इस बालक की परहृदय विज्ञता तुमने जान ली क्या ? ॥३४॥

अथाभिनन्दस्तदवधार्य साश्चर्यं मधुकण्ठमुवाच—"ततस्ततः ?" ॥३५॥

मधुकण्ठ उवाच—"तदेवं सति नाम्ना सुमुखेन केनचन गोपानां मुखेन तस्मै परमधन्या कन्या दत्ता,—या खलु स्वगुणवशीकृतस्वजना यशांसि ददाति शृण्वद्भ्यः, किमुत पश्यद्भ्यः, किमुततरां भक्तिमद्भ्यः। ततश्च तयोः साम्प्रतेन दाम्पत्येन सर्वेषामपि सुखसम्पत्तिरजायत, किमुत मातरपितरादीनाम् ॥३६॥

"तदेवमानन्दित-सर्वजन्तुर्विगतमन्युः पर्जन्यः सर्वतो धन्यः स्वयमपि भूयः सुखमनुभूय चाभ्यागारिकतायामभ्यागतम्मन्यः श्रीगोविन्दपदारविन्द-भजनमात्रान्वितां देहयात्रामभीष्टां मन्यमानः सर्वज्यायसे ज्यायसे स्वक-कुलतिलकतां दातुं तिलकं दातुमिष्टवान्, श्रीवसुदेवादि-नरदेव-गर्गादिभूदेवकृतप्रभां सभां कृत्वा दत्तवांश्च ॥३७॥

"स पुनः पितुराज्ञामङ्गीकृत्य कृतकृत्यस्तस्यामेव श्रीवसुदेवादि-संवलितमहानुभावानां सभायामाहूय सभावमुत्सङ्गसङ्गिनं विधाय मध्यममेव निजानुजं तेन तिलकेन गोकुलराजतया सभाजयामास ॥३८॥

"अथ तत्रानुजे संकुचति सर्वत्र च जने विस्मयं सचमाने पितरि च रोचमानलोचने स चोवाच—'मयेदं नाविचारमाचरितम्; यतः सर्व एव स्नेहपरम्परायाः पराधीनः; सा च

तदनन्तर अभिनन्दजी उक्त वाक्य का निश्चय कर आश्चर्यपूर्वक मधुकण्ठ से बोले कि उसके आगे का प्रसङ्ग क्या है ? ॥३५॥

मधुकण्ठ बोला—उसके अनन्तर गोपों में प्रधान 'सुमुख' नामक किसी गोप ने उन श्रीनन्दजी के लिये परमधन्या एक कन्या समर्पित की। वह कन्या अपने गुणों से अपने जनों को वश में करके, सुनने वालों को भी यश प्रदान करती हैं एवं जो उसका दर्शन करते हैं उनको भी यश देती हैं, तथा जो उस कन्या की भक्ति करते हैं उनको भी यशसमूह प्रदान करती हैं इस विषय में तो कहना ही क्या है ? तदनन्तर उन दोनों के सुयोग्य दाम्पत्य सम्बन्ध से सभी लोगों की सुखसम्पत्ति उत्पन्न हो गई तब उनके माता पिता आदिकों की सुखसम्पत्ति का कौन वर्णन कर सकता है ? ॥३६॥

इस प्रकार श्रीपर्जन्यबाबा ने प्राणीमात्र को आनन्दित करते हुए शोकरहित हो, एवं सबकी अपेक्षा धन्य होकर, स्वयं भी अनेक सुखों का अनुभव कर, कुटुम्ब के पालन पोषण व्यापार में अनासक्त होकर, केवल श्रीगोविन्द पदारविन्द के भजनमात्र से युक्त देहयात्रा को ही अपनी अभीष्ट मानते हुए, सबसे बड़े एवं श्रेष्ठ उपनन्दजी को ही स्वकुल की प्रधानता देने के लिए राजतिलक देने की अभिलाषा की। पश्चात् श्रीवसुदेव आदि राजाओं एवं श्रीगर्गाचार्य आदि ब्राह्मणों द्वारा सुशोभित सभा की रचना करके श्रीउपनन्द जी को राजतिलक दे दिया ॥३७॥

पश्चात् उन श्रीउपनन्दजी ने भी पिता की आज्ञा को अङ्गीकार कर, अपने को कृतकृत्य मान कर, उसी श्रीवसुदेव आदि महानुभावों से युक्त सभा में बुलाकर, भावपूर्वक अपनी गोद में बैठाकर अपने मझले भाई श्रीनन्दजी को ही उस तिलक द्वारा गोकुल के राजा रूप से सम्मानित कर दिया अर्थात् उन्हीं को व्रज का राजा बना दिया ॥३८॥

तदनन्तर बड़े भाई उपनन्दजी के आचरण से श्रीनन्दजी के संकुचित होने पर, सभी सभागतजनों के

सादगुण्यस्य, तच्च सर्वसमञ्जसतायाः, सा चात्र यथा तथा न मद्विधे; सैव च खलु सर्ववशीकारितायां स्वैरितामर्हति ॥३९॥

'किञ्च, सर्वान्तर्याम्यप्येनमेवोररीचरीकरोति । दृश्यतामस्यां भासमानायां सभायां सर्वेषां नेत्र-पटलीषट्पदवल्लीलायमाना केवलमस्य मुखं कमलमिव संवलते । तथा प्रथमत एव तदानुकूल्यमत्राकल्प्यते; परिकल्प्यतामपीदं मम नाम्नैव; तस्मादस्माकमयमेव राजेति ।' ॥४०॥

अथाभवत् कुसुमजवृष्टिभिः समं, स्फुटध्वनिर्दिवमनु साधु साध्विति ।
सभासदामिह च विकासिदृष्टिभि,-र्यथास्फुरज्जय-जय-शब्दमङ्गलम् ॥" ॥४१॥

अथ स्निग्धकण्ठ उवाच—"मधुरकण्ठकृतजगदुत्कण्ठ-श्रीमन्मधुकण्ठ ! श्रीमदुपनन्द-नन्दनयोस्त्रय एव मध्यमा इति कोऽयं मध्यमः, कीदृशी वा तस्य समञ्जसतेति सोदाहरण-मुच्यताम् ।" मधुकण्ठ उवाच—"एकं तावद्भवन्मनःप्रह्लन्नता-समुचितं प्रवह्लिका-पद्यमिद-मनवद्यं पूर्यताम् ।" स्निग्धकण्ठ उवाच—"कामम् ।" ॥४२॥

विस्मययुक्त होनेपर, एवं यह कार्य देखकर पिता श्रीपर्जन्यजी के प्रसन्न नेत्रयुक्त होजाने पर श्रीउपनन्दजी बोले कि—हे सज्जनो ! मैंने यह कार्य बिना विचारे नहीं किया है, कारण सभीजन स्नेहपरम्परा के पराधीन हैं, वह स्नेहपरम्परा भी सद् गुणों के अधीन है, वे सद्‌गुण भी सब प्रकार के सामञ्जस्य के अधीन हैं, वह सर्वसमञ्जसता जैसी इस मेरे छोटे भाई नन्द में है वैसी मुझ जैसे व्यक्ति में नहीं है, अर्थात् यही सर्व-सामञ्जस्यपूर्वक राज्यभार को वहन कर सकते हैं । और देखो ! वह सर्वसमञ्जसता ही सबको वशीभूत करने में स्वतन्त्र हो सकती है, सबको समान दृष्टि से देखना ही यहाँ समञ्जसता शब्द का अर्थ है ॥३९॥

किंच सर्वान्तर्यामी श्रीनारायणदेव भी बारंबार इन्हीं को अङ्गीकार कर रहे हैं। देखो ! शोभायमान इस सभा में भी सभी जनों की नेत्रपंक्ति भ्रमरों का सा आचरण करती हुई, केवल इन श्रीनन्दजी के मुख को कमल की तरह सेवन कर रही है, अर्थात् सब टकटकी लगाकर इन्हीं की ओर देख रहे हैं। तथा पहले से ही इस विषय में उन श्रीनारायण भगवान् की अनुकूलता जानी जाती है। मेरे नाम से ही किन्तु यह नाम व्यवहार में आवे, अतएव यही हमारे राजा हैं। तात्पर्य यह है कि—मेरे 'उपनन्द' इस नाम में स्थित उप शब्द का हीनार्थ, अनुगतार्थ, या सहातार्थ समझता हूँ, अर्थात् मैं तो सद्‌गुणों के वश में होकर नन्द से हीन, अनुगत, या सहायक होकर रहूँगा, किन्तु उप शब्द का जो आधिक्य अर्थ है वह तो केवव ज्येष्ठांश में ही उपयुक्त रहेगा, अर्थात् कहने मात्र को बड़ा भाई रहूँगा, कार्य अनुगत होके करूँगा ॥४०॥

श्रीउपनन्दजी के ऐसा कहते ही आकाश से पुष्पवृष्टि के सहित "साधु साधु" अर्थात् बहुत ठीक बहुत अच्छा किया, यह ध्वनि स्पष्टरूप से प्रगट हुई। यहाँ पर सभा में सभासदों के खिले हुए नेत्रों के सहित मङ्गलमय जय जयकार होने लग गये ॥४१॥

तदनन्तर स्निग्धकण्ठ बोला—हे श्रीमन् मधुकण्ठ ! आपने सुमधुर कण्ठ से जगत् को ही उत्कण्ठित कर दिया। श्रीमान् उपनन्द एवं सबसे छोटे नन्दन इन दोनों के मध्यस्थ होने के कारण तो तीन भाई ही मध्यम हैं, फिर कौन सा मध्यम रहा और उसकी समञ्जसता कैसी है, यह सब उदाहरणपूर्वक कहिये।

मधुकण्ठ बोला—आपके मन की प्रसन्नता के समुचित यह एक विशुद्ध प्रहेलिका का पद्य है इसकी पूर्ति तो कर दो ? स्निग्धकण्ठ बोला—अनुमति दीजिये ॥४२॥

मधुकण्ठ उवाच—

"आकृष्य मत्पुत्रमनेन पुत्री,-कृतेन भूतिं भजते स एषः ।
इति स्वयं वेत्ति न तेन मैत्रीं, भिनत्ति कोऽयं वदने वदेति ।।"

स्निग्धकण्ठः सोत्कण्ठतया शीघ्रमेव सानन्दमुवाच—"नन्द एव" इति ।

मधुकण्ठ उवाच—"भवता ज्ञातमेवेदमिति; तदेतच्छ्रूयताम्—।।४३।।

स्वेनाल्पेन गुणेन वाञ्छति निजे पूजासुखे भूयसी
लोको यस्तु महीयसापि खलु तेनैवान्यदीये सदा ।
सोऽयं श्रीव्रजराज एव यदसौ शूराङ्गजं धिन्वितुं
तत्तद्धानिमसोढ सख्यमभिनन्नाल्पश्च तस्यान्तरम् ।।" ।।४४।।

ततश्च, तदेतन्मधुकण्ठसूक्तसुधाकरमासाद्य रत्नाकर इवोच्छलदङ्गतरङ्गस्तदन्तर्बहिरङ्गसभ्यसङ्घस्तदुपरि-हृदयङ्गमरत्नावलिं विकीर्णवान् हृदयावलिं वा वितीर्णवानिति स्वयमपि न भिदां विदाम्बभूव ।।४५।।

अथ स्निग्धकण्ठ उवाच—"ततस्ततः ?"

मधुकण्ठ उवाच—"ततः श्रीमानसौ धन्यः पर्जन्यः श्रीगोविन्दपदारविन्दभजनाय वृन्दावनं प्रविशन् समासत एव समस्तशास्त्रसारं पृच्छतः पुत्रानुपदिदेश; ।।४६।। यथा—

मधुकण्ठ बोला—मेरे पुत्र को अपने पास आकर्षित कर एवं उसको अपना पुत्र मानकर ही वह इस पुत्रभाव द्वारा ऐश्वर्य को प्राप्त कर पाया है, जिसके पुत्र का आकर्षण किया है वह इस वृत्तान्त को स्वयं जानता है तथापि मित्रता को नहीं त्यागता, यह कौन है अपने मुख से तो कहो ? (यह श्रीनन्दजी के मन की उक्ति है) स्निग्धकण्ठ उत्कण्ठापूर्वक शीघ्र ही आनन्द में भरके बोला कि यह तो श्रीनन्द ही है। मधुकण्ठ बोला—हाँ आपने तो इस बिषय को जान लिया है अतः सुनो ।।४३।।

देखो भैया ! जनमात्र ही अपने थोड़े से गुण द्वारा अपनी अधिक पूजा और सुख चाहता है, और जो अपने उन महान् गुणों से भी सदा दूसरे की ही पूजा एवं सुख चाहते हैं ऐसे तो यह श्रीव्रजराज ही हैं, इसी कारण से इन्होंने श्रीवसुदेवजी की प्रसन्नता के हेतु पुत्रवियोग आदि वे वे हानियाँ सही हैं तथा इनका चित्त अल्पमात्र भी मित्रता को तोड़ता नहीं ।।४४।।

तदनन्तर सभास्थित अन्तरङ्ग एवं बहिरङ्ग सभी सभ्यगणों ने मधुकण्ठ के इस प्रकार के सूक्ति सुधाकर को प्राप्तकर, समुद्र की तरह उछलती हुई अंग की तरङ्गों से विशिष्ट होकर, मधुकण्ठ के ऊपर हृदयङ्गम रत्नावली फेंकी अथवा अपना अन्तःकरणसमूह ही वितरण कर दिया। इस भेद को वे स्वयं भी नहीं जान सके ।।४५।।

पश्चात् स्निग्धकण्ठ बोला—भैया ! आगे क्या हुआ ? मधुकण्ठ बोला—तदनन्तर परमधन्य यह श्रीमान् पर्जन्यबाबा श्रीगोविन्द पदारविन्द के भजन के निमित्त श्रीवृन्दावन में प्रविष्ट होते समय संक्षेप से समस्त शास्त्रों का सारांश पूछने वाले अपने पुत्रों को यह उपदेश दे गये— ।।४६।।

किं भयमूलमदृष्टं, किं शरणं श्रीहरेर्भक्तः ।
किं प्रार्थ्यं तद्भक्तिः, किं सौख्यं तत्परप्रेम ।।" इति ।।४७।।

"तदेवं सहभार्ये वृन्दावनं गते तस्मिन्नार्ये श्रीमानुपनन्दः स्वनामानुरूपं श्रीमन्नन्दव्रज-महेन्द्र-सभायामयन्त्रितमन्त्रितया स्थितवान्, विचित्रवीर्यसभायां भीष्म इव । सोऽपि मन्त्र-मिषेण विशेषेण तदाज्ञामेव गृह्णन् सर्वं सर्वकालं सुराजा प्रजाकुलं पालयति स्म ।।४८।।

"तत्र चेयं चर्याचरिताश्चर्या बभूव; यथा—

मर्यादां पितुरयमाववेव सर्वां, धर्मादिर्न विपदमेति यत्र चार्थः ।
सम्पत्तिर्न पुनरभूदमुष्य वश्या, येनासौ प्रसभमवाप वृद्धिमेव ।।४९।।

"तदेवं सर्व-समृद्धि-वृद्धि-सिद्धिमायाते राजन्वति व्रजजनजाते कलिकायमाना काचिदुत्-कलिका क्रमेण विकासमयामास,—सर्वेषां प्राणतुल्यस्य निजकुल्यस्य राज्ञस्तस्य सन्ततिर्न जायत इति । कालात्यये चाशा-व्यत्ययात् सर्वं जनमतीव कृच्छ्रमानर्च्छ; अग्रजादींस्तु सुतराम् । श्रीमद्व्रजपतिजम्पती तु प्रजाशां पूर्वत एव सन्दिग्धदिग्धामपि कुर्वाते स्म, उत्तरतस्तु विशेषतः ।" ।।५०।।

पुत्रों का प्रश्न, यथा—पिताजी ! भय का मूल कारण क्या है ? उत्तर—अदृष्ट अर्थात् अपना प्राचीन कर्म । प्रश्न—आश्रय या रक्षक कौन है ? उत्तर—श्रीहरि का भक्त । प्रश्न—जगत् में प्रार्थनीय वस्तु क्या है ? उत्तर—श्रीहरि की भक्ति । प्रश्न—सबसे बड़ा सुख क्या है ? उत्तर—श्रीहरि का उत्कट प्रेम ।।४७।।

इस प्रकार उपदेश देकर वरीयसी नामक अपनी भार्या के सहित पूज्यपाद श्रीपर्जन्यबाबा के श्रीवृन्दावन चले जाने के बाद श्रीमान् उपनन्दजी व्रज के महेन्द्र श्रीमान् नन्दजी की सभा में, धृतराष्ट्र की सभा में श्रीभीष्मजी की तरह, अपने नाम के अनुरूप स्वाधीन मन्त्रिपद पर प्रतिष्ठित हो गये । श्रीमान् नन्दजी भी सलाह के बहाने विशेषरूप से श्रीउपनन्दजी की आज्ञा को ही ग्रहण करते हुए सुराजा होकर सर्वदा समस्त प्रजा की रक्षा करते थे ।।४८।।

प्रजापालन विषय में इस प्रकार का अनुष्ठान अत्यन्त आश्चर्यजनक था, यथा—इन श्रीनन्दजी ने पिता की बनाई हुई सारी नियमावली की रक्षा की, जिस नियमावली में धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप पुरुषार्थ की किञ्चित् भी हानि नहीं हो पाती थी । पिता की सम्पत्ति इनके वशीभूत न हो पाई इसी कारण ये हठात् वृद्धि को ही प्राप्त होगये यही आश्चर्य है, अर्थात् इनकी सम्पत्ति दिन दूनी, रात चौगुनी जब बढ़ती ही जाती थी तो वश में कैसे आवे, अतः वृद्धि ही वृद्धि दिखाई पड़ती थी ।।४९।।

इस प्रकार व्रजवासियों द्वारा परिवेष्टित एवं सुन्दर राजा से युक्त व्रजदेश में सब प्रकार से वर्धनशील समृद्धि की चरमसीमा प्राप्त होने पर भी कलिका का सा आचरण करती हुई कोई उत्कण्ठा क्रम से विक-सित हो गई, अर्थात्—"सभीजनों के प्राणतुल्य अपने गोपकुल के राजा श्रीनन्दजी के सन्तान उत्पन्न नहीं हो रही है" इस प्रकार की उत्कण्ठा सारे व्रज में फैल गई । कुछ काल के व्यतीत होने पर पुत्रोत्पत्ति की आशा के निराशारूप में परिणत होने से सभीजनों को अति कष्ट ने घेर लिया, बड़े भाइयों को तो और भी

स्निग्धकण्ठ उवाच—"कथं तत्प्रेष्ठाः पुत्रेष्ट्यादिकं नानुष्ठापितवन्तः ? कथं वा विदग्धयोरपि तयोः सन्दिग्धता जाता ? तथापि परमेशपरयोः कथन्तरां वा तदाशा ? उत्तरतस्तु विशेषतः कथन्तमाम् ?"

मधुकण्ठ उवाच—"अनुष्ठापितमपि तत्तन्न प्रतिष्ठामाससाद ।"

स्निग्धकण्ठ उवाच—"कथं तत् ? कथं वान्यदन्यत् ?"

मधुकण्ठ उवाच—"तथाहि, तत्तदशेषसम्पत्त्योरपि दम्पत्यो रहसि संवादोऽयं बभूव; यथा श्रीमान् पतिरुवाच-'कुटुम्बिनि ! किमवलम्बी मम सन्तानाय वितानादि वितानयति शोकवशोऽयं लोकः ? यतो मम सङ्कल्पकल्पनासमये यादृशाय सर्वतो विचित्राय पुत्राय वित्तं कल्पते, स तु परम एवापूर्वः कथमपूर्वविषयतां प्राप्नोतु ? तत् पुनरन्यत्र वचनगोचरं रचयितुं संकुचत्येव चेतोवृत्तिः; यतो यत् खलु मयि दयापरायणस्य श्रुतिपारायणफलस्य श्रीनारायणस्य रूपं ततोऽपि मधुरतरं कतरद्वाभवेत्,—पारिजातकुसुमादाकाशकुसुममिव ?" ॥५१॥

अथ स्निग्धकण्ठस्त्वन्तश्चिन्तयामास—"अस्य ततोऽपि मधुरतरत्वं नायुक्तम्; यत एतदुद्दिश्य श्रीभागवतपद्यम् (३।२।१२)—

अधिक रूप से। श्रीमान् व्रजराज व्रजरानी तो पहले से ही पुत्रोत्पत्ति की आशा को सन्देहयुक्त कर चुके थे, वृद्धावस्था में तो और भी विशेष निराश हो गये थे ।।५०।।

स्निग्धकण्ठ बोला—भैयाजी ! ऐसी स्थिति में श्रीनन्दजी के अतिशय प्यारे उपनन्दादि बड़े भाइयों ने पुत्रेष्टि आदि यज्ञ क्यों नहीं करवाये? अथवा काल की गति जानने में चतुर भी उन दोनों श्रीनन्द यशोदा को सन्देह क्यों हो गया ? और दोनों को ही परमेश्वर परायण होने के कारण पुत्र की आशा भी क्यों होगी ? फिर वृद्धावस्था में तो हो ही कैसे सकती है ? मधुकण्ठ बोला—भाई ! अनुष्ठान करानेपर भी वे पुत्रेष्टि आदि यज्ञ सफल न हो सके। स्निग्धकण्ठ बोला—यह किस प्रकार ? अथवा किस प्रकार के यज्ञ अनुष्ठित होने पर भी सफल नहीं होते ? एवं कालगति निपुण व्रजराज और व्रजेश्वरी को सन्देह एवं अत्यन्त आशा भी क्यों जमी हुई थी ? मधुकण्ठ बोला—देखो भाई ! व्रजेश्वर एवं व्रजेश्वरी के सब प्रकार की सम्पत्ति होने पर भी उन दोनों का एकान्त में यह संवाद हुआ। यथा—श्रीमान् व्रजराज बोले—

हे कुटुम्बिनि ! शोक के वशीभूत ये आत्मीयजन क्या अवलम्बन करके मेरी सन्तति के लिए यज्ञादि विस्तृत कर रहे हैं, कारण मेरे संकल्प की कल्पना के समय में सबसे विचित्र लोकोत्तर जैसे पुत्र के लिये मेरा मन संकल्प करता है, वह तो परम अपूर्व है, यज्ञादि कर्मों से कैसे प्राप्त हो सकता है ? शुभाशुभ कर्मों से तो जीव का ही जन्म संघटित है, किन्तु मैं जैसे पुत्र की अभिलाषा करता हूँ ऐसा पुत्र क्या कभी अदृष्ट के वशीभूत हो सकता है? वह तो अदृष्ट का नियन्ता, विश्व का रचयिता है, इससे भिन्न पुत्र के लिए यज्ञादि करने कराने की इच्छा ही नहीं होती। मेरी इच्छा के अनुकूल पुत्र जब शास्त्र से ही असम्भव है, तब औरों के सामने कहने में भी चित्तवृत्ति संकुचित होती है। कारण—कल्पवृक्ष के पुष्प से आकाश पुष्प क्या कभी सुमधुर हो सकता है ? इसी प्रकार मेरे ऊपर अहैतुकी कृपा करने वाले, वेद पारायण के फलस्वरूप, श्रीनारायण भगवान् का जैसा रूप है उनसे भी अधिक सुमधुर रूप वाला कौन हो सकता है ? ।।५१।।

तदनन्तर स्निग्धकण्ठ अपने मनमें विचारने लगा कि—श्रीनारायण से इन श्रीकृष्ण की अधिक

'यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोग,-मायाबलं दर्शयता गृहीतम् ।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः, परं पदं भूषणभूषणाङ्गम् ॥' इति ॥" ॥५२॥

अथ स्फुटं पप्रच्छ—"ततस्ततः ?"

मधुकण्ठ उवाच—"अथ श्रीमती तत्पत्नी चोवाच–'कीदृशं रूपं तदिति कथ्यताम् ?'

"स उवाच—'श्यामश्चञ्चलचारुदीर्घनयनो बालस्तवाङ्कस्थले
दुग्धोद्गारिपयोधरे स्फुटमसौ क्रीडन्मयालोक्यते ।
स्वप्नस्तत् किमु जागरः किमथ वेत्त्येतन्न निश्चीयते
सत्यं ब्रूहि सधर्मिणि स्फुरति किं सोऽयं तवाप्यन्तरे ? ॥'

"सोवाच–'श्रीमन् ! ममापीयमेव मनोवृत्तिर्मतिवृत्तिमतिवर्तमाना वर्तते, केवलविलज्जया तज्जातु भवन्तं न निवेदयामि, तस्मादस्मादसम्भवमनोरथान्निवृत्तिशास्त्रविचारमुद्यच्छन्तौ मन एव संयच्छेवहि' ॥५३॥

"स उवाच—'यद्यपि मयाप्येतदेव मध्ये मध्ये स्फुटमध्यवसीयते, तथाप्यस्त्येको वशितविश्वोद्रेको महान् सहायः श्रीमन्नारायणदेव एव शरणमिति चित्तवृत्तिः परिवर्तते;—योऽस्माकमदृष्टाश्रुतमिदं दृष्टमिव करोति, स सर्वं कृतपूर्वो तदपि कुर्वीत ।' "सोवाच–'देव ! तस्य देवस्य

सुमधुरता अयुक्त नहीं है, कारण इन्हीं का उद्देश्य करके श्रीमद्भागवत में श्रीउद्धवजी ने श्रीविदुरजी के प्रति यह श्लोक कहा है कि—हे महात्मन् ! विदुर ! श्रीकृष्णचन्द्र ने लौकिक लीला के योग्य अपनी योगमाया के बल को दिखाते हुए जो अपना श्रीविग्रह प्रकाशित किया था, उसका लोकोत्तर सौन्दर्य श्रीकृष्ण को भी विस्मित करने वाला था, सुन्दरता की पराकाष्ठा थी, उसके प्रत्येक अङ्ग भूषणों को भी भूषित कर देते थे, अर्थात् भूषणों से श्रीकृष्ण के अङ्ग की शोभा नहीं बढ़ती, अपितु श्रीअङ्ग में धारण करने से भूषण ही सुशोभित हो जाते थे। ऐसे रूप को देख अन्य कौन जन विमुग्ध न होंगे ? ॥५२॥

तदनन्तर स्निग्धकण्ठ स्पष्ट बोला कि—भैयाजी ! आगे का प्रसङ्ग कहिये। मधुकण्ठ बोला, पश्चात् श्रीमती व्रजराजपत्नी बोलीं—वह रूप कैसा है सो कहिये ? श्रीनन्दजी बोले कि—मुझे तो श्यामवर्ण वाला, चञ्चल एवं सुन्दर विशाल नेत्रों वाला एक बालक दुग्ध बहाने वाले स्तनों से सुशोभित तुम्हारी गोदी में साक्षात् खेलता हुआ दिखाई पड़ता है, यह क्या स्वप्न है अथवा जागृत अवस्था है, मैं इसका निश्चय नहीं कर पाता हूँ। हे सहधर्मिणि ! तुम सत्य कहो, वह बालक तुम्हारे अन्तःकरण में भी स्फूर्ति पाता है क्या ?

व्रजेश्वरी बोलीं—हे श्रीमन् ! मेरी भी इसी प्रकार की मनोवृत्ति बुद्धि की वृत्ति को अतिक्रमण करके विद्यमान है, अर्थात् ऐसा बालक तो मुझे भी अपनी गोद में क्रीड़ा करता दिखाई देता है, केवल विशेष लज्जा के कारण मैं कभी भी आपसे निवेदन नहीं करती हूँ। अतः इस असम्भव मनोरथ से मुंह मोड़कर निवृत्ति शास्त्र का विचार अङ्गीकार करके वैराग्यपूर्वक हम तुम दोनों मन को ही संयत कर लें ॥५३॥

व्रजराज बोले—यद्यपि मैं भी बीच बीच में वैराग्यभाव को ही दृढ़निश्चित करता हूँ तथापि विश्वनियन्ता, सृष्टिकर्ता, श्रीमान् नारायण भगवान् ही महान् सहायक एवं रक्षक हैं ऐसी चित्तवृत्ति बदल जाती है। जो प्रभु अदृष्ट अश्रुत ऐसे अद्भुत रूप को दृष्ट जैसा कर रहे हैं, सब कुछ करने वाले वे प्रभु इस मनोरथ को भी अवश्य पूरा कर देंगे।

कामपि सेवायोग्यामेवात्र योग्यामुपलभामहे।' "स उवाच–'बाढम्; किन्तु कीदृशी सा ?' "सोवाच–'द्वादशीव्रतरूपा।' "स सानन्दमुवाच–'सङ्गतं ब्रवीषि, ममाप्युत्कण्ठांकुरितं स्फुरितमेतदेवासीत्; तस्मादद्यारभ्य समारभ्यतामेष व्रत इति।' ॥५४॥

"तदेवं सम्प्रवदमानयोरुद्भवन् देवदुन्दुभिनादः सर्वमतिचक्राम।" ॥५५॥

अथ तया वृत्तस्वचित्तवृत्तप्रथया तत्कथया श्लथितस्वान्तः श्रीव्रजधरित्रीकान्तः कान्तनिजालङ्कारवारं सूतकुमाराय वितताार; श्रीमती व्रजपतिपत्नी च महानीलमणिमयनायकं हारं विहापयामास ॥५६॥

अथ सोत्कण्ठं स्निग्धकण्ठ उवाच—"तर्हि किं जातम् ?"

मधुकण्ठ उवाच—"तेन व्रतेन पूर्णे वर्षे बृंहिते च तर्षे युगपदेव देवदेवः स्वप्ने तयोराविर्बभूव, चोवाच च–'अहो! मय्यतिसक्तौ भक्तौ कथं निर्विद्य खिद्याथे ?–योऽसावतसीकुसुमसुषमः सुकुमारः कुमारः शश्वदेवानुभवतोर्भवतोः कुमारतया स्फुरति; स तु सदा भवतोरेवानुगतः प्रतिकल्पं स्वभक्तिप्रवर्तनाय दिवि मत्प्रवर्तित-द्रोण-धरा-रूपांशकलावतोः (भा० १०।१४।३४) 'तद्भूरिभाग्यम्' इत्यादिरीत्या ब्रह्माद्यलभ्यसाक्षात्तत्फलसाक्षात्काराय स्वयमेव पृथिव्यां भवतोर्भवतोरेव भवं लभत एव; अचिरादेव च रुचिरा रुचिरेषा युवयोः सफलतां वलिता' ॥५७॥

श्रीनन्दरानीजी बोलीं—हे पतिदेव ! उन श्रीनारायणदेव की सेवा के योग्य अभ्यास को ही प्राप्त करें, अर्थात् ऐसे समय में उनकी पुनः पुनः सेवा करना ही उचित प्रतीत होता है।

श्रीनन्दजी बोले—यह तो ठीक है किन्तु वह सेवा किस प्रकार की है ? व्रजेश्वरी बोलीं कि—द्वादशी व्रत करने से उनकी सेवा हो जायगी।

श्रीव्रजराज आनन्दपूर्वक बोले—तुम तो हृदयङ्गम बात कहती हो। क्योंकि मेरे भी ऐसे ही उत्कण्ठा के अंकुर उत्पन्न होते रहते हैं। अतः आज ही से यह व्रत आरम्भ कर देना चाहिये ॥५४॥

उन दोनों के इस प्रकार वार्तालाप करते समय देवताओं की दुन्दुभि का शब्द सारे शब्दों को दबा कर लोक में व्याप्त हो गया ॥५५॥

पश्चात् बीती हुई अपनी चित्तवृत्ति की रीति जिस कथा में है,ऐसी उस मधुकण्ठ की कथा से व्रजराज का अन्तःकरण शिथिल हो गया, पिघल गया अतः मनोहर अपनी अलङ्कारश्रेणी उस सूतपुत्र के लिए वितरण कर दी। श्रीमती व्रजेश्वरी ने भी महानीलमणिमय नायकमणि से युक्त हार को दे डाला ॥५६॥

तदनन्तर उत्कण्ठापूर्वक स्निग्धकण्ठ बोला—उसके बाद क्या हुआ ? मधुकण्ठ बोला—उस व्रत के अनुष्ठान से एक वर्ष पूर्ण होने पर एवं अभिलाषा के अधिक बढ़ जाने पर एक समय ही देवदेव श्रीनारायण उन दोनों के स्वप्न में प्रगट हो गये और बोले कि—अहो ! मेरे में अति अनुराग करने वाले दोनों भक्तो ! तुम शोकाकुल होकर खेद क्यों कर रहे हो ? देखो ! जो अलसी के पुष्प से भी परम सुन्दर सुकुमार कुमार निरन्तर अनुभव करने वाले तुम दोनों के आगे पुत्ररूप से स्फुरित होता है, वह तो तुम दोनों के अनुगत होकर प्रत्येक कल्प में अपनी भक्ति के प्रचार के लिये तुम दोनों के द्वारा ही जन्म धारण करता है, उस

"तदेवं श्राविताभिहिते तिरोहिते च परमहिते भगवति लब्धजागरावुपलब्धामृतसागराविव च मिथस्तदेव संकथयन्तौ प्रथयन्तौ च परमचमत्कारनिवहं वहतः स्म।" ॥५८॥

अथ स्निग्धकण्ठः स्वगतं चिन्तयामास—"तदेवं जातान्येव मम प्रश्नानामुत्तराणि; तत्र च भवतोरेवेति युक्तमेवोक्तं श्रीभगवता (भा० १०।८।१४) प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातस्तवात्मजः इति वदतोऽप्यव्यभिचारवचःप्रचारसर्गस्य मुनेः श्रीगर्गस्य प्रायः सोऽयमभिप्रायः ॥५९

"श्रीभगवता सह सम्बन्धः किल केवलप्रेमनिबन्धनः,—(भा० ११।१४।२१) 'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः' इत्यादेः; अतस्तद्विशेषस्य तद्विशेष एव हेतुः,-(गी० ४।११) 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' इत्यादेः। ततस्तस्मिन् वत्सतां सतां वात्सल्याभिध एव प्रेमा प्रमापयति ॥६०॥

"तत्र श्रीवसुदेवस्य तदैश्वर्यपर्यालोचनेन वात्सल्यस्य तारल्यं सारल्यञ्चासादितम्। श्रीव्रजराजस्य पुनस्तद्वात्सल्यं शश्वदुद्बुद्धं शुद्धमेव च प्रसिद्धम्। पितृभ्यां पुत्रतया तद्धारणे कारणञ्च मुनिभिर्मन एव मन्यते,-(भा० १०।२।१६) 'आविवेशांशभागेन मन आनकदुन्दुभेः'

समय स्वर्ग में मैं जिस द्रोण एवं धरा को प्रवर्तित करता हूँ, वे तो तुम दोनों के अंश या कलास्वरूप हैं। तथा दशमस्कन्धीय ब्रह्मस्तुति के "तद्भूरिभाग्यं" इत्यादि श्लोक की रीति द्वारा ब्रह्मादिकों के अलभ्य श्रीकृष्णरूप उस साक्षात् फल के साक्षात्कार के लिए स्वयं ही तुम दोनों भी पृथ्वी पर उत्पन्न होते हो, एवं श्रीकृष्ण भी तुम दोनों के निजी होकर जन्म लाभ करते हैं। अतः तुम दोनों की यह सुमधुर इच्छा शीघ्र ही सफलता को प्राप्त करेगी ॥५७॥

परमहितैषी भगवान् के इस प्रकार वचन सुनाकर अन्तर्हित हो जाने पर, श्रीनन्द यशोदा दोनों ही जागकर मानो अमृतसिन्धु को ही पाकर, एवं परस्पर उन्हीं भगवद्वचनों को कहते हुए, और अपने प्रेमीजनों में इस समाचार को व्यक्त करते हुए परमचमत्कार भार की पराकाष्ठा को प्राप्त होगये ॥५८॥

तदनन्तर स्निग्धकण्ठ अपने मन हीं मन में विचारने लगा कि—इस प्रकार के पूर्वोक्त वाक्यों से तो मेरे प्रश्नों के उत्तर प्राय हो गये, क्योंकि उन वाक्यों में श्रीनारायण भगवान् ने यथार्थ ही कहा है कि ये श्रीकृष्ण तुम दोनों के ही पुत्र हैं, एवं व्यभिचारशून्य वाक्य प्रयोग करने वाले श्रीगर्गमुनि ने भी कहा है कि—हे श्रीनन्द! यह तुम्हारा पुत्र पहले भी कभी श्रीवसुदेवजी के उत्पन्न हुआ है। इससे जाना जाता है कि श्रीगर्गाचार्यजी का भी प्रायः यही अभिप्राय था ॥५९॥

श्रीभगवान् के साथ सम्बन्ध भी केवल प्रेमनिबन्धन वाला ही अच्छा कहा है। श्रीकृष्ण ने उद्धव के प्रति कहा भी है कि—हे उद्धव! मैं श्रद्धापूर्वक केवल प्रेमलक्षणा भक्ति के द्वारा ही प्राप्त होता हूँ। अतः इस प्रकार के सम्बन्ध विशेष के प्रति वैसा प्रेमविशेष ही कारण है। श्रीगीता में भी श्रीकृष्ण ने अर्जुन के प्रति कहा है कि—हे अर्जुन! जो व्यक्ति मेरा जिस भाव से आश्रय लेते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार के अभीष्ट फल देकर अनुगृहीत करता हूँ, इत्यादि वाक्यों से भी उक्त विषय प्रमाणित हो गया। अतः सज्जनों का वात्सल्य नामक प्रेम ही श्रीभगवान् में पुत्रभाव को प्रमाण सिद्ध कर देता है ॥६०॥

श्रीवसुदेवजी का वात्सल्यभाव तो भगवान् के ऐश्वर्य के अधिक विचार करने से श्रीनन्दजी की अपेक्षा न्यून एवं ऐश्वर्य मिश्रित अवस्था को प्राप्त हो गया। किन्तु श्रीव्रजराज का श्रीकृष्ण के प्रति वात्सल्य

इत्यादेः, (भा० १०।२।१८) 'दधार सर्वात्मकमात्मभूतं, काष्ठा यथाऽऽनन्दकरं मनस्तः' इत्यादेश्च । श्रीव्रजराजाभ्यामपि मनसा धारणं तस्य कार्यान्यथानुपपत्तिसिद्धेन भक्तिस्वाभाव्येनैव सम्भाव्यते; तत्र च सति साम्प्रतन्तु विशेषत एव साम्प्रतं परावस्थामनु कृतासक्तौ हि भक्तौ तदुदयः स्यात्। तस्मात्तवैवात्मजस्तस्य वसुदेवस्य तु क्वचित् कार्ये निमित्ते जातः प्रादुर्भूतः" इति ॥६१॥

अथ प्रकटमुवाच—"ततस्ततः ?" मधुकण्ठ उवाच—"तदेवं परमार्तेरुपकण्ठतां प्राप्तायामुत्कण्ठायामेकदा सर्वेऽनर्वाचीना व्रजवासिनः सभावाः सभायां मिलिताः; मिलित्वा च तदेव सोत्कण्ठं सुष्ठु प्रतुष्टुवुः ॥६२॥

"तदा च तत्रैका तापसी केनचन स्नातकेन सममायाता; ताञ्च महाप्रभावलक्षणां लक्षयित्वा सर्वे समुत्थायातिथ्यमावितथ्येन विधाय विज्ञापयामासुः—'साक्षाद्भगवतो योगमायेव का त्वमसि ? श्रीमन्नारदस्याभिनवतनुरिवायं वा कः?' इति ॥६३॥

"सा च सहासमाह स्म—'पौर्णमासीनाम्नी कात्यायनी च कुमारश्रमणा च पारि-

---

भाव तो निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होता हुआ विशुद्ध ही प्रसिद्ध है। वात्सल्यभाव वाले माता पिताओं द्वारा पुत्ररूप से भगवान् के धारण के विषय में तो मुनियों ने उनके मन को ही कारण माना है, अर्थात् पुत्रभाव वाले भक्त के मन में ही भगवान् धारण किये जाते हैं, प्राकृत जीव के समान गर्भाशय में नहीं। दशमस्कन्ध में कहा भी है कि "भगवान् श्रीवसुदेवजी के मनमें अंशकलाओं सहित पूर्णरूपेण प्रविष्ट हो गये" इत्यादि। इसी प्रकार—"पूर्वदिशा जैसे आनन्दप्रद चन्द्रमा को धारण करती है, उसी प्रकार श्रीदेवकीजी ने भी सर्वान्तर्यामी परमार्थरूप प्रभु को मन से ही धारण किया" इत्यादि अनेक प्रमाण हैं। श्रीव्रजराज एवं श्रीव्रजेश्वरी द्वारा भी उन परमार्थमय प्रभु का मन से ही धारण हुआ, वह धारण भी केवल कार्य की अन्यथा अनुपपत्ति सिद्धिरूप भक्तिमय स्वभाव से ही सम्भव हो सकता है, ऐसा होने पर भी जन्मसमय में तो अधिक वात्सल्यभाव करना ही योग्य है, क्योंकि परम उत्कर्ष को प्राप्त आसक्तियुक्त भक्ति के उद्रेक में ही उस वात्सल्यभाव का उदय हो सकता है, अतः ये श्रीकृष्ण वस्तुतः तुम्हारे ही, अर्थात् श्रीनन्द के ही आत्मज हैं, किन्तु वसुदेवजी के तो किसी कार्य के निमित्त जात, अर्थात् प्रादुर्भूत हुए हैं ॥६१॥

इस प्रकार मन में विचारने के बाद स्निग्धकण्ठ स्पष्ट बोला कि—भाई साहब ! आगे का प्रसङ्ग सुनाइये। मधुकण्ठ बोला—पूर्वोक्त कारणों से उत्कण्ठा जब मानसिक पीड़ा की पूर्णता पर पहुँच गई, तब एक समय समानभाव वाले उपनन्दादिक सभी वृद्ध व्रजवासी सभा में सम्मिलित हुए, मिलकर भी उत्कण्ठापूर्वक अच्छी प्रकार उसी प्रस्ताव को रखने लग गये ॥६२॥

उस समय वहाँ पर एक तपस्विनी किसी स्नातक ब्रह्मचारी के साथ आ पहुँची। उसको महा प्रभावशाली लक्षणवाली देखकर सभी ने उठकर, यथार्थरूप से उसका आतिथ्य सत्कार कर निवेदन किया। आप भगवान् की साक्षात् योगमाया के समान कौन हैं, और श्रीनारदजी का सा नूतन शरीर धारण करने वाला यह कौन है ? ॥६३॥

वह तपस्विनी हँसती हुई बोली—मेरा नाम पौर्णमासी है, मैं सदैव अर्धबृद्धा, काषायवस्त्र धारण करने वाली हूँ, मैं बाल्यावस्था से ही ब्रह्मचारिणी संन्यासिनी भी हूँ तथा तपस्विनी और दैवज्ञा अर्थात्

काङ्क्षिणी चेक्षणिका चास्मि; अयञ्च मधुमङ्गलनामा स्नातकः श्रीनारदप्रकृतिः। आवाञ्च विद्याविशेषेणैतद्वयस्कावेव सदा विद्यावहे' ॥६४॥

"ते ऊचुः—'एतावती कृपा कृपणेषु कथमस्मासु कृता ?' सोवाच—'भवतां किमपि वैभवं सम्भाव्य।' सर्वे ऊचुः—'किं तत् ?' सोवाच—'भवतां प्राणकन्दस्य श्रीमन्नन्दस्य जगदानन्दः स खलु नन्दनः सम्भवितेति।' सर्वे सवाष्पपुलककुलमूचुः—'बृहद्वनमस्माकमिदं बृहत्तीर्थं भवति; तस्मादस्मभ्यं दत्तविश्रान्तिके कृष्णान्तिके स्फुटमुटजं तव घटयामः।' सोवाच—'उपश्रुतिरेषा श्रुतिवेषा नव्यापि न व्यभिचरिता; यतः कृष्णाया इति विवक्षितमपि कृष्णस्येति लक्षितं करोति। कृष्णनामा हि भवितासौ;—महाप्रभाववति यस्मिन् जातवति निर्दानवता पृथिव्यां भविष्यति; तदीयगुणे तु सदा नवता, सगुणता विद्यादिप्रबन्धे तत्सम्बन्धे तु निर्गुणता; सकिञ्चनता विषयसम्पत्तौ, तद्भक्तौ तु निष्किञ्चनता—इत्यादिकं विरुद्धायमानमपि सर्वैरनुरुद्धं करिष्यते। तस्मादस्माकमत्र स्थातुमाग्रह एव भवतामनुग्रहाय सम्पन्नः।' ॥६५॥

"अथ तां सर्वे सानन्दं वन्दमानास्तया सममिन्दीवररुचिनिन्दीहितकालिन्दीं विन्दमानाः पर्णमन्दिरं पूर्णयन्तस्तत्र वासयामासुः ॥६६॥

ज्योतिष भी जानती हूँ। इस स्नातक ब्राह्मण बालक का नाम मधुमङ्गल है, इसकी प्रकृति भी श्रीनारदजी जैसी है। हम दोनों ही विद्याविशेष के प्रभाव से जिस अवस्था में देख रहे हो उसी अवस्था में सदैव विद्यमान रहते हैं ॥६४॥

वे व्रजवासी बोले—हम दीन जनों पर इतनी कृपा कैसे सम्पन्न हुई ? तापसी बोली—आप सबके किसी अनिर्वचनीय वैभव की सम्भावना करके। सभी बोले—वह कैसा ? वह बोली—आप सबके प्राणों के मूलस्वरूप श्रीमान् नन्दजी के निश्चय ही जगदानन्ददायक एक पुत्र उत्पन्न होगा।

सजल नयन एवं रोमाञ्चित होकर सभी बोले—यह महावन हमारा बड़ा भारी तीर्थ है, अतः हमारे लिए जिसने रहने का स्थान दिया है उसी श्रीयमुनाजी के किनारे आपकी भी एक विशाल पर्णशाला बनवा दें। तापसी बोली—यह तुम्हारी स्वीकाररूप वाणी तो वेदवाणी के समान है, यह नवीन होकर भी एकरस रहती है। कारण यह है कि—"कृष्णान्तिके" यह वाणी यमुना के निकट ऐसा कहती हुई भी श्लेष से श्रीकृष्ण के निकट इस अर्थ को लक्षित करती है, निश्चय ही वह पुत्र भी 'कृष्ण' नाम से विख्यात होगा। जिन महाप्रभावशाली श्रीकृष्ण के जन्म लेते ही पृथ्वी में दैत्य दानवों का अभाव हो जायगा। किन्तु श्रीकृष्ण के गुणों में तो 'सदानवता' अर्थात् सदैव नवीनता तथा विद्यादि प्रबन्ध में जो 'सगुणता' वह श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में निर्गुणता होगी, एवं विषय सम्पत्ति में जो 'सकिंचनता' अर्थात् आढ्यता वह भगवद्भक्ति में 'निष्किंचनता' अर्थात् विषयासक्ति विहीनता हो जायगी। यह सब बातें विरोधाभास के कारण विरुद्ध सी होने पर भी सभी विज्ञजन इन गुणों का समाधानपूर्वक अनुरोध करेंगे। अतः आप सबका मेरे यहाँ ठहरने का जो आग्रह है वह तो मेरे लिए अनुग्रहरूप से ही परिणत हो गया ॥६५॥

तदनन्तर सभी व्रजवासियों ने उनको प्रणाम करते हुए, उन्हीं के साथ नीलकमल की कान्ति को तिरस्कृत कर देने वाली चेष्टाशाली श्रीयमुनाजी को प्राप्तकर, पर्णकुटीर की रचना करके, उसी जगह वास करा दिया ॥६६॥

"तस्मिन्नेव दिवसेऽपगतदोषे प्रदोषे समुद्भट-कंसरोषेण जातचित्तशोषेण कृतपरिदेवेन वसुदेवेन प्रहिता व्रजहिता वडवारोहिणी रोहिणी गुप्तमाजगाम;—यस्यामागतायां परमपति-व्रतायां सर्व एव व्रजराजराजसमाजः शुभशकुनसंकुलशकुनादिसमजेन सममुल्ललास। तत्र चानन्दमोहिन्यौ श्रीयशोदा-रोहिण्यौ यमुना-गङ्गे इव सङ्गतसङ्गे परस्परं परेभ्यश्च सुखसमूहमूहतुः ॥६७॥

"व्रजराजपत्नी च तस्या ज्येष्ठमवष्टभ्य मासत्रयजातमन्तर्वत्नीत्वं पर्यालोच्य स्वाभेद-वेदनेनैव शातजातं प्राप ॥६८॥

"अथ माघमासि चासितप्रतिपदि कृतसर्वसुखप्रसरजन्यां रजन्यां सा व्रजराजं सेवमाना तन्द्रापरतन्त्रायमाणा स्वप्नतुल्यता-सञ्चितं किञ्चिदञ्चितं ददर्श ॥६९॥

"यथा स एव बालः सर्वतस्तदावरणकारिकया कयाचिद्दिव्यकुमारिकयात्मानं पिधाय व्रजराजहृदयान्निजहृदयं प्रविश्य दृश्यवदेव स्थित इति। ततश्च सोऽयं स्वीयं हृदयकमलमध्य-मध्यासामास, सेयन्तु जठरमध्यमिति। व्रजराजश्च निरन्तर-स्वान्तरतत्प्रवेशावेशं दुर्निर्देशं चिरमनुभूय दूयमानतां विधूय तथैवानुभूतवान्।" ॥७०॥

अथ स्निग्धकण्ठः स्वान्ते चिन्तयति स्म,—"सत्यमेतदत एव सद्वाणीगुणिभिर्मुनिभिर्मुहुरनयोरात्मज इति मतम्; मया च सुविचारतस्तदेव पूर्वं निश्चितमाचरितम्" इति। उवाच च,—"ततस्ततः ?" ॥७१॥

उसी दिन दोषरहित प्रदोषकाल में भयंकर कंस के कोप से सूख गया है चित्त जिनका एवं विलाप करनेवाले श्रीवसुदेवजी के द्वारा भेजी हुई व्रज की हितकारिणी श्रीरोहिणी घोड़ी पर चढ़कर गुप्त रूप से महावन में आ गईं। परम पतिव्रता श्रीरोहिणीजी के आने मात्र से व्रजराज का सारा राजसमाज शुभ शकुन सूचक पक्षियों के समूह के सहित परम प्रसन्न हो गया। वहाँ पर श्रीयशोदा एवं श्रीरोहिणीजी तो आनन्द विभोर होकर श्रीगङ्गा यमुना की तरह दोनों मिलकर आपस में एवं दूसरों के लिए भी सुखसमुदाय की वृष्टि करने लग गईं ॥६७॥

श्रीयशोदाजी ने भी उन श्रीरोहिणीजी को जेष्ठ के महीना से लेकर अर्थात् जेष्ठ, आषाढ़, श्रावण इन तीन माह की गर्भवती समझकर एवं अपने साथ अभेद जानकर बहुत सुख पाया ॥६८॥

तदनन्तर माघ के महीना में कृष्णपक्ष की प्रतिपदा तिथि में, जिससे सब प्रकार के सुखसमूह उत्पन्न हो सकते हैं, ऐसी रात्रि में श्रीयशोदाजी ने श्रीव्रजराज की सेवा करते हुए कुछ निद्रा के अधीन होकर, स्वप्न में मिलने वाली वस्तु की तरह किसी एक अनुभूत व्यापार को देखा ॥६९॥

यथा—वही बालक सर्वतोभाव से आवरण करनेवाली किसी दिव्य कुमारिका के द्वारा अपने अङ्ग को ढककर, श्रीव्रजराज के हृदय से अपने हृदय में प्रवेश करके, साक्षात् दृश्य के समान ही स्थित हो गया। तदनन्तर वह बालक तो श्रीयशोदाजी के निज हृदयकमल में निवास कर गया एवं वह कुमारिका तो उदर में निवास कर गई। तथा श्रीव्रजराज ने भी निरन्तर अपने अन्तःकरण में उस बालक के प्रवेश के आवेश का अनुभव तो बहुत देर तक किया किन्तु निर्देश न कर सके, परन्तु सन्तप्तभाव को दूर करके उसी प्रकार से अनिर्वचनीयरूप से अनुभव किया ॥७०॥

पश्चात् स्निग्धकण्ठ ने अपने मनमें विचारा कि—यह सत्य ही है, अतएव सद्वाणी का अभ्यास

मधुकण्ठ उवाच—"अथ तदारभ्य गर्भलक्षणमुपलभ्य सम्भूतभव्यानां सभ्याङ्गनागणानां गोकुलकुलपात्री सुखदात्री बभूव; ॥७२॥ यथा—

"मुखमापाण्डुकुचाग्रं, स्फीतं जठरं दरोत्तुङ्गम् ।
अभजत कर्णेजपतां, गर्भे वृत्ते यशोदायाः ॥७३॥

"यथा च—व्रजराज्ञ्यां स्फुरितात्मा, कृष्णः स्फुरति स्म लोकेऽपि ।
दीपः स्फटिकघटीभा,-गन्तर्बहिरपि विभाति तत्तुल्यः ॥७४॥

"किन्तु—जितरसनारसधैर्या, गाम्भीर्यादिप्रवीणापि ।
स्पृहितं किञ्चित् किञ्चिद्,-व्रजनृपगृहिणी तदा चक्रे ॥७५॥

"यथा—ऐहत दोहदमेषा, कृष्णावेशाविशत्तृष्णा ।
तुलसी-संस्कृतघृतयुक्, ससितं सितकान्तिगन्धि परमान्नम् ॥७६॥

"अथ योगमाया रोहिण्याः साप्तमासिकं गर्भं स्रस्तं विधाय देवक्यास्तद्विधं तं तस्यां नियोजयामास । ततश्च लब्धसर्वसमयसम्पद्दशे चतुर्दशे मासि श्रावणतः प्राक् श्रवणर्क्षे समस्त-सुखरोहिणी रोहिणी गुणगणनया सुषमं सितसुषमं सुतं सुसाव । सान्द्रशुभ्रताविभ्राजमानतया पौर्णमासी चन्द्रमसमिव, दर्शितविक्रमक्रमतया सिंहवधूः शावकमिव, निर्मलपरिमलधारा-धारतया नवकमलिनी धवलकमलमिव, सर्वश्रवणसङ्गमङ्गलतया निरवद्यविद्यता यशस्तोममिव च ॥७७॥

करने वाले मुनिजन श्रीकृष्ण को श्रीनन्द यशोदा इन दोनों के ही पुत्र मानते हैं। मैंने भी सुविचार से पहले इसी सिद्धान्त को निश्चित किया था। तदनन्तर मधुकण्ठ से बोला कि—मैयाजी ! आगे का प्रसङ्ग कहिये ॥७१॥

मधुकण्ठ बोला—उस समय से लेकर गर्भ के लक्षणों को जानकर मङ्गलपरिपूर्ण सभ्य रमणीजनों के लिए तो गोकुलवंश की रक्षा करने वाली श्रीयशोदाजी सुख देने वाली हो गईं ॥७२॥

यथा—श्रीयशोदाजी के गर्भ के स्थित होने पर, उनका थोड़ा सा पीतवर्ण वाला मुख, स्तनों का विशाल अग्रभाग, एवं किञ्चित् उच्चभाव को धारण करने वाला उदर, गर्भभाव की सूचना दे रहा था ॥७३॥

और स्फटिकमणि के घड़े में स्थित दीपक जैसे भीतर बाहर एक सा ही सुशोभित होता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण श्रीव्रजरानी के गर्भ में अपना प्रकाश करते हुए जगत् में भी प्रकाशित हो रहे हैं ॥७४॥

किन्तु व्रजराजगृहिणी श्रीयशोदा जिह्वा के रस को जीतने वाले धैर्य से युक्त होकर, एवं गाम्भीर्य आदि में प्रवीण होकर भी उस समय कुछ कुछ वाञ्छित वस्तुओं की इच्छा प्रगट करने लग गईं ॥७५॥

यथा—श्रीकृष्ण के आवेश से जिनमें तृष्णा प्रविष्ट हो रही है ऐसी श्रीयशोदाजी गर्भिणी के तुल्य मनोरथों को करने लग गईं, अर्थात् वह तुलसी के द्वारा संस्कृत घृतयुक्त शक्कर या मिश्री से मिली हुई एवं कर्पूर की गन्ध से युक्त खीर को खाने की इच्छा प्रगट करने लग गईं ॥७६॥

तदनन्तर योगमाया ने रोहिणी के सात महीना के गर्भ को नष्ट करके देवकी के सात माह के गर्भ को श्रीरोहिणीजी के गर्भ में नियुक्त कर दिया। पश्चात् सभी समयों की सम्पत्ति की दशा से युक्त, अर्थात् सर्व मङ्गलसूचक चौदहवें महीना में श्रावण से पहले अर्थात् मास के पूर्वार्ध में श्रवणनक्षत्र में समस्त सुख प्रादुर्भावकारिणी श्रीरोहिणीजी ने निविड़शुभ्रतागुण से विराजमान पौर्णमासी तिथि ने जिस प्रकार चन्द्रमा

किञ्च—"शुभ्रांशुवक्त्रं तडिदालिलोचनं, नवाब्दकेशं शरदभ्रविग्रहम् ।
भानुप्रभावं तमसूत रोहिणी, तत्तच्च युक्तं स हि दिव्यबालकः ॥७८॥

"स एष च–असितवर्ष्मा सितवर्ष्मा, सदनुजः सूदितदनुजः, पालितधेनुको दलितधेनुकः, प्रलम्बबाहुः प्रलम्बघातयिता, स्वयं रामनामा रामरमित-द्विविद-विदारयिता च भविता–इति ज्योतिर्विद्भिरुद्भावितम् ॥७९॥

"अस्य जातकर्मादिकञ्च मर्मगैरेव शर्मान्तनामभिर्गुप्तमेव पर्यातमकारि आनकदुन्दुभि-मन्त्रणा-परतन्त्रतया । किन्तु तत्रैकं दुःखमिवासीत् ॥८०॥

"यतः, स तु जन्मत एवानुजजन्म यावज्जड एवादृश्यत; तत्र प्रतीकारश्चैक एवासीत्,–यथान्तर्धृतनिजावरजं व्रजेश्वर्यङ्कमेव केवलं बलमानः समुल्लसितवल्लक्ष्यते ॥८१॥

"तदेवं दिनकतिपये लब्धव्यत्यये गर्भसन्दर्भात् स्पष्टमष्टममासि तदवरजन्मजन्मनः समारम्भः सम्भवति स्म; यथा चाधुनापि वर्णयन्ति—॥८२॥

को, विक्रम की प्रणाली को दिखाते हुए सिंहिनी ने जिस प्रकार सिंहशिशु को, निर्मल परिमल (सुगन्धि) की धारा के आधार के कारण नवकमलिनी ने जिस प्रकार श्वेतकमल को, एवं प्रशंसनीया विद्या ने जिस प्रकार श्रवण करने मात्र से सभी के अनेक मङ्गलविधान करने के कारण यशःसमूह को उत्पन्न कर दिया, उसी प्रकार रूप के अभ्यास से परम सुन्दर शुभ्रवर्णशाली एक पुत्र उत्पन्न किया ॥७७॥

किञ्च श्रीरोहिणीजी के गर्भ से जो बालक उत्पन्न हुआ उसका मुख पूर्णचन्द्रतुल्य एवं विद्युत्पुंज की तरह नेत्रयुगल, नूतन जलधर की तरह केशकलाप, शरत्कालीन मेघों की तरह शुभ्रवर्ण का श्रीविग्रह था। और वह स्वतः सूर्य के समान तेजस्वी था। इन सब गुणों का उसमें होना अनुपयुक्त नहीं है कारण वह बालक दिव्यातिदिव्य है, प्राकृतगन्धशून्य है ॥७८॥

और एवंगुणविशिष्ट यह बालक प्रमाणप्रमेयभाव से अनिर्वचनीय होकर भी शुक्लकान्ति से युक्त श्रीविग्रह वाला होगा, यह सुन्दर छोटे अनुज से युक्त होकर भी दनुजों अर्थात् असुरों का विनाशक होगा, धेनुओं का पालक होकर भी धेनुकासुर का दलन करने वाला होगा, स्वयं प्रलम्बबाहु अर्थात् लम्बी भुजाओं वाला होकर भी प्रलम्बासुर का घातक होगा, एवं स्वयं राम नाम से विख्यात होकर भी राम के सङ्गी द्विविद नामक वानर का विदारक होगा। इस प्रकार ज्योतिषीजनों द्वारा इनके अद्भुत गुणों का प्राकट्य कहा गया ॥७९॥

इस बालक का जातकर्मादि संस्कार भी श्रीवसुदेवजी की मन्त्रणा के अनुसार ब्राह्मणों के द्वारा गुप्त रूप से ही सम्पन्न हुआ। किन्तु उस बालक के विषय में एक ही दुःख सा था ॥८०॥

कारण—वह तो जन्म से ही छोटे भाई श्रीकृष्ण के जन्मपर्यन्त जड़ सा दिखाई देता था, किन्तु उसके विषय में एक ही प्रतीकार था कि अपने अन्तःकरण में धारण किया है, श्रीकृष्ण को जिसने ऐसी श्रीव्रजेश्वरी की गोद में जाते ही हँसता हुआ सा दिखाई देता था ॥८१॥

इस प्रकार कुछ दिन व्यतीत होने पर गर्भसन्दर्भ से स्पष्टरूप से अष्टम मास में उनके छोटे भाई के जन्म का उपक्रम अर्थात् प्रारम्भकाल उपस्थित हुआ, जिसका कविजन आज भी वर्णन करते हैं ॥८२॥

"अष्टाविंशचतुर्युगे कलिशिरः संमर्द्य वैवस्वते
भाद्रान्तर्बहुलाष्टमीमनु विधोः पुत्रे विधोरुद्गमे ।
योगे हर्षणनाम्नि शुद्धविधिभे पूर्णः परः श्रीविधु-
र्नन्दन्नन्दवधू-मुदे स्वयमुदैदह्नाय धुन्वंस्तमः ॥८३॥

"यथा च—तदा युगादि-देवास्ते स्व-स्व-सम्पदुपायनम् ।
आदाय कृष्णजन्मर्क्षनिशामाशु सिषेविरे ॥८४॥

"यत्र हि—विबभूव विना सत्यं ध्यानं त्रेतां विना मखः ।
विना द्वापरमभ्यर्चा हरेर्नाम कलिं विना ॥
विना मधुं सप्तलादि विनोष्णं पाकिमाम्रता ।
विना शरदमम्बुश्रीः शालिस्तस्याः परं विना ॥
शिशिरेण विना माघ्यं विनाह्नाम्बुजविस्तृतिः ।
विना ज्योतिषशास्त्रेण ग्रहाणां शुभदा स्थितिः॥
विना गुरु-प्रभावेण सर्वत्र स्फुरणं हरेः ।
विना सूतिप्रतीत्या च प्रसूतोऽसौ यशोदया ॥८५॥

"तदिदमग्रे व्यक्तीकरिष्यते ॥८६॥

यथा—वैवस्वत मन्वन्तर के अट्ठाइसवें चतुर्युग में कलियुग के प्रथम भाग का पराभव करके, भाद्रपद के अन्तर्गत कृष्णपक्ष की अष्टमी तिथि में, बुधवार में, चन्द्रोदय के समय में अर्थात् आधी रात में, हर्षनामक योग में, दोषरहित रोहिणी नक्षत्र में, परिपूर्णतम श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् सबको आनन्दित करते हुए एवं अष्टमी के अन्धकार तथा अज्ञानान्धकार को नष्ट करते हुए श्रीयशोदाजी के आनन्द के लिए शीघ्र ही स्वयं प्रगट हो गये ॥८३॥

उस समय युग के आदि देवतागण अपनी अपनी सम्पत्ति की भेंट को लेकर शीघ्र ही श्रीकृष्ण के जन्मनक्षत्र वाली रात्रि की सेवा करने लग गये, अर्थात् श्रीकृष्ण जन्माष्टमी की रात को सभी देवता श्रीकृष्ण दर्शनार्थ उपस्थित हो गये ॥८४॥

उस समय में सत्ययुग के बिना ध्यान, त्रेता के बिना यज्ञ, द्वापर के बिना पूजा, कलियुग के बिना हरिनाम संकीर्तन, वसन्त ऋतु के बिना नवमल्लिका आदि पुष्प, ग्रीष्म के बिना आम्र फलों का पकना, शरद् ऋतु के बिना जल की शोभा, हेमन्त के बिना अगहन के धान्य, शिशिर के बिना कुन्दपुष्प, दिन के बिना कमलों का विकास, ज्योतिषियों की सम्मति के बिना सभी ग्रहों की शुभप्रद स्थिति, एवं श्रीगुरुदेव के प्रभाव के बिना ही सर्वत्र श्रीहरि की स्फूर्ति होने लग गई, अर्थात् स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के प्रभाव से उस समय अलौकिक घटनायें घटने लग गईं । और श्रीमती यशोदाजी ने भी प्रसवज्ञान अथवा प्रसव वेदना के बिना श्रीकृष्ण को उत्पन्न कर दिया ॥८५॥

इसका स्पष्टीकरण आगे करेंगे ॥८६॥

किञ्च—"मध्ये तारावारसारं नभस्तत्,-प्रान्ते सिन्धूर्ध्वं ध्वनन्मेघबन्धुः ।
इत्थं वर्षाधामतर्षा शरच्छ्री,-स्तस्यां तिथ्यां तथ्यमातिथ्यमाप ॥८७॥

"किञ्च—जातिभिः सह माधव्यः केतक्यः केतकैः समम् ।
कुमुदान्यम्बुजैः सार्धं स्फुटन्ति स्मेति दिग्यदा ॥
तदा तदपि नाश्चर्यमाचार्यैः परिचीयते ।
सर्वाश्चर्यनिधिः सोऽपि जन्मचर्यां यतो गतः ॥८८॥

"तथा हि, एतदुत्तरं भावि-तद्विलोकानां लोकानां भाविभानम् ॥८९॥

"मुखमस्य लसितस्मितासितकमलानामधिपमिव विलोक्यते, नेत्रयुगलं सूक्ष्मभ्रमरचित्र-कैरवान्तःपत्राणाम्, घ्राणं नीलनीरदच्छविलब्धकीलतिलप्रसूनानाम्, ओष्ठाधरं सिन्दूरगिरिजनि-जवा-बन्धूक-बिम्बगोष्ठीनाम्, कर्णद्वन्द्वमञ्जनभूमिज-श्यामलता-पोतानाम्, करप्रान्तताकान्तभुज-युगलं स-नवपल्लव-नवतमालशाखानाम्, श्रीवत्ससिन्धुवत्साख्य-लेखासहितवत्सं धृतदक्षिणावर्त-द्युतिविशेषकृत-स्थिरविद्युदाश्लेषमेघखण्डानामिति ॥९०॥

"किञ्च, मुखेन महापद्मं विजेता, नयनाभ्यां पद्मम्, नासिकया मकरम्, स्मितेन कुन्दम्, कण्ठेन शङ्खम्, चरणयोः पृष्ठाभ्यां कच्छपम्, रुचा नीलम्, सर्वैरेव च सर्वेषां खर्वम् । किं

किंच उस समय वह आकाश बीच में तो तारागणों से सुशोभित हो रहा था, एवं प्रान्तभाग में समुद्रों के ऊपर मेघरूपी बन्धुओं के शब्द से युक्त था। इस प्रकार वर्षा के समय में भी प्रगट होने की तृष्णा वाली शरद् ऋतु की शोभा उस अष्टमी तिथि में यथार्थरूप से आतिथ्य को प्राप्त कर गई ॥८७॥

किंच उस समय मालती के पुष्पों के साथ वासन्ती लता के पुष्प, ग्रीष्म जात केतकी पुष्पों के सहित वर्षाकालीन केतकी पुष्प एवं कमलों के सहित सभी कुमुद पुष्प खिल उठे। यह तो केवल दिग्दर्शनमात्र है तो भी भगवत् तत्त्वज्ञ आचार्यगण इन सब घटनाओं को आश्चर्यजनक नहीं मानते, कारण जब सभी आश्चर्यों के निधि अजन्मा श्रीकृष्ण भगवान् भी जन्मलीला को प्राप्त हो गये तब आश्चर्यजनक और कौन सी बात रह गई ? ॥८८॥

देखो ! इसके बाद जो प्रेमीजन श्रीकृष्ण का दर्शन करेंगे उनकी प्रभा प्रकाशित हो गई ॥८९॥

इन श्रीकृष्णचन्द्र का मुखमण्डल विकसित नीलकमल के अधिपति की तरह दिखाई पड़ता है, एवं दोनों नेत्र सूक्ष्म भ्रमरों द्वारा मनोहर कुमुद पुष्पों के मध्य स्थित सभी पत्रों के अधिपति की तरह, नासिका नीलवर्ण के मेघों की कान्ति के प्रतिबन्धक तिल पुष्पों के अधिपति की तरह, अधरोष्ठ सिन्दूर पर्वत पर जन्म लेने वाले जवा पुष्प, बन्धूक पुष्प एवं बिम्बफलों की अपेक्षा भी उत्कृष्ट है। दोनों कान अञ्जनभूमि में उत्पन्न अभिनव श्यामलता के शिशुओं के अधिपति की तरह, तथा दोनों हाथों के प्रान्तभाग के सहित दोनों भुजायें नये नये पत्तों के सहित नई नई तमाल की शाखाओं के स्वामी की तरह, और श्रीवत्स एवं श्रीलक्ष्मी नाम की रेखा, अर्थात् स्वर्णरेखा सहित दक्षिणावर्त श्वेत रोमराजी चिह्नित वक्षःस्थल भी दक्षिणावर्त की कान्तिविशेष को धारण करनेवाली स्थिर बिजलियों के द्वारा आलिङ्गित मेघखण्डों के अधिपति की तरह दिखाई पड़ता है ॥९०॥

किंच ये श्रीकृष्ण निज मुख द्वारा महापद्म का, अर्थात् निधिविशेष एवं उत्तम कमल के विजेता हैं

बहुना ? स्वेन मुकुन्दमपीति युगपदत्र तत्तदवसर-लभ्यावसर-प्रसवादीनां तथा दुर्लभसन्निधीनां निधीनामपि सन्निपतनं नासम्भाव्यम् ॥६१॥

"अथ तस्य जन्मनि कोऽपि विशेषः; ॥६२॥ यथा—

"तदा तत्र माया मिलद्बाल्यकाया, तदीयानुकूल्यं कृपामात्रमूल्यम् ।
सदा कुर्वती तं समस्तानतीतं, विधायाग्रजातं स्वयं प्राप जातम् ॥" ॥६३॥

अथ स्निग्धकण्ठेन भावितं सप्रमाणं खल्विदम्—'अदृश्यतानुजा विष्णोः सायुधाष्ट-महाभुजा' इति श्रीभागवतादेव (१०।४।९); तच्च (भा० १०।५।१) 'नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने जाताह्लादो महामनाः' इत्यादिष्वात्मज-पदैः स्थापनाव्यपदेशतः सदेशरूपमेव निरूप्यते; किन्तु तदिदमप्रच्छन्नं विविच्य पृच्छामः;—यथेह सन्देहः सर्वेषामपि शाम्यति ।' स्पष्टमप्याचष्ट—॥६४॥

"अहो आर्य ! तर्हि कथं वसुदेव-देवकी-पुत्रतया सोऽयमवधार्यते ?" ॥६५॥

तदीदृग्वचसि सति स्निग्धकण्ठे वचसि किञ्चित्कुण्ठेन मधुकण्ठेन मनसि भावितम्,— "श्रीमता देवर्षिणेदमावां प्रत्यतिहर्षेणादिष्टम्—'यदि कदाचिच्छ्रीमति महाप्रेमवति व्रजे

और नेत्रयुगल द्वारा कमल को, नासिका द्वारा मकर को, ईषद् हास्य द्वारा कुन्द पुष्प को, कण्ठ द्वारा शङ्ख को, दोनों चरणों के पृष्ठभाग द्वारा कच्छप को, कान्ति द्वारा नील को एवं मुखादि सभी अवयवों द्वारा खर्वनाम निधि को या धन विशेष को अथवा खर्वनाम की संख्या को भी पराजित करने वाले हैं। और अधिक क्या कहें ? ये तो अपने द्वारा मुकुन्द को अर्थात् श्रीनारायण को एवं निधिविशेष को भी जीतने वाले हैं। इस प्रकार एक साथ ही श्रीकृष्ण जन्म के बाद इस व्रज में समयानुसार सभी ऋतुओं के पुष्पों की अन्यत्र दुर्लभ निकट स्थिति एवं पद्म, महापद्म, शङ्ख, मकर, कच्छप, मुकुन्द, कुन्द, नील, खर्व, इन नौ निधियों की अन्यत्र दुर्लभता का एकत्र सम्मेलन कोई असम्भव नहीं मानना चाहिये, अर्थात् श्रीकृष्णावतार के अनन्तर आठों सिद्धि, नवों निधि, छहों ऋतु एक साथ व्रज में श्रीकृष्ण सेवार्थ प्रगट हो गईं ॥६१॥

और श्रीकृष्ण के जन्म समय में कोई विशेषता और लक्षित हुई थी ॥६२॥

यथा—उस समय योगमाया बाल्य शरीरधारणपूर्वक, कृपामात्र ही है मूल्य जिसका ऐसी श्रीकृष्ण की अनुकूलता का सदैव आचरण करती हुई, सर्वातीत उन श्रीकृष्ण को अपना अग्रज बनाकर पीछे स्वयं भी अनुजा बन गई अर्थात् श्रीकृष्ण के पीछे योगमाया ने भी जन्म लिया ॥६३॥

पश्चात् स्निग्धकण्ठ ने अपने मनमें जो विचार किया वह निश्चय ही प्रमाणयुक्त है, यथा—उसके बाद सभी जनों ने श्रीकृष्ण की अनुजा उस देवी को अस्त्र शस्त्र धारण किये हुए आठ भुजाओं से युक्त देखा। यह श्रीकृष्ण की छोटी बहिन है यह सिद्धान्त श्रीमद्भागवत के (१०।४।९) श्लोक से प्रमाणित हो गया। और उसी प्रकरण में यह अनुजात्व सिद्धान्त "आत्मज (पुत्र) के उत्पन्न होने पर उदारचित्त वाले श्रीनन्दजी अति आनन्दित हुए" यहाँ पर आत्मज पदों के प्रयोग द्वारा श्रीनन्दजी का पुत्रभाव न्यायसंगत ही निरूपित होता है। किन्तु इस विषय में सभी का सन्देह जिस प्रकार शान्त हो जाय उसी प्रकार स्पष्टरूप से विचार कर पूछें, ऐसा विचारकर स्पष्ट बोला कि— ॥६४॥

अहो ! आर्य ! यदि श्रीकृष्ण नन्दात्मज ही हैं, तब श्रीवसुदेव देवकी के पुत्रभाव को कैसे निश्चय करें ? ॥६५॥

स्निग्धकण्ठ के ऐसा कहने के बाद मधुकण्ठ ने किंचित् चुप होकर मनमें विचारा कि—श्रीमान् देवर्षि

कृतव्रजनयोः कथायोगो भवतोः सम्भाव्यते, तदा श्रीकृष्णदेवस्य सर्वतो वर्यमैश्वर्यं गोपनीयम्' इत्यतो मुनिवर्गप्रसिद्ध-गर्ग-सिद्धान्तमेवालम्ब्य संवदिष्यावहे । स चामीभिः श्रुत एवेति नाश्चर्याय पर्यवसिष्यतीति ।" ॥९६॥

प्रकटश्चोवाच—"अत्र खल्विदमस्य श्रीव्रजराजतनूजस्य रहस्यमुद्भावयतो मम समतिक्रमः स्वयममुनैव बाढं सोढव्यः । तथाहि, अस्मिन् सर्वतो लब्धातिरेका संसिद्धिः खल्वेका वर्तते; यदतिक्रान्तसर्वेह-स्नेहमयहृदय एव सदा वर्तमानः स्निग्धता-दिग्धजनानां भावमुद्रया परोक्षं कृतयापि स्वहृदि प्रतिबिम्बततया मुद्रितो भवति । अस्य स्वरूपेणाविर्भावश्च स्नेहमय-स्फूर्तिपूर्तिवशीभावत एव सर्वथा, न त्वन्यथा । पुत्रतयाविर्भावे च बीजं पितृभावमयस्नेह एव, नान्येषामिवान्यत् । जाते च कुत्रचित् पुत्रतयाविर्भावे तत्तत्सम्बन्धमय-स्नेहकृतचय-स्फूर्तिरेव तथा तथा भावेनाविर्भावे निबन्धनं भवति ॥९७॥

नारदजी ने हम दोनों के प्रति अति हर्ष से आदेश दिया था कि यदि कभी महाप्रेमपूर्ण सुन्दर व्रजभूमि में तुम दोनों के जाने पर तुम दोनों की कथा का संयोग संघटित हो जाय, तो उस समय श्रीकृष्णदेव के सर्वश्रेष्ठ ऐश्वर्य को प्रकाशित न करना । अतः मुनिवर्ग में प्रसिद्ध श्रीगर्गमुनि के सिद्धान्त को ही विचार कर स्वीकार करके ही हम तुम दोनों संवाद करेंगे । वह सिद्धान्त इन श्रीनन्दादि गोपों ने सुना ही है अतः आश्चर्यजनक न होगा ॥९६॥

पश्चात् स्पष्टरूप से बोला कि—इस सभा में इन श्रीव्रजराजकुमार के रहस्य को प्रगट करते हुए मेरा जो आज्ञाभङ्गरूप मर्यादा का लंघन करना है, उस अपराध को ये श्रीदेवर्षि निश्चय ही सहन कर लेंगे ।

देखो ! श्रीकृष्ण में व्रजवासियों का जो स्वभाव है वह सबकी अपेक्षा अधिक होकर भी एकरस ही सदा रहता है । कारण—जिस हृदय में कृष्ण के अतिरिक्त और किसी प्रकार की चेष्टा नहीं रहती, उस एकमात्र स्नेहमय हृदय में वे सदा रहते हैं, फिर जिनके सर्वाङ्ग में ही स्नेह व्याप्त है, उन व्रजवासियों के हृदय में तो वे परोक्ष में की हुई भावमुद्रा से भी अपने अपने हृदय में प्रतिबिम्बित भाव से मुद्रित (अङ्कित) हो जाते हैं, अर्थात् कुछ वाक्यों के बीच में जैसे मन्त्र के बीज गुप्त होकर भी उद्धार के समय स्पष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार श्रीहरि अदृष्ट होकर भी व्रजवासियों के हृदयपटल पर सदैव अङ्कित रहते हैं । इन श्रीकृष्ण का स्वरूप से आविर्भाव तो स्नेहमयी स्फूर्ति की पूर्ति के वशीभूत होकर ही सदा होता है अन्यथा नहीं । पुत्ररूप से आविर्भाव के प्रति पितृभावमय स्नेह ही कारण है, किन्तु अन्यान्य साधारण जनों की तरह रज वीर्य आदि का संयोग कारण नहीं है । अर्थात् देह से उत्पन्न होकर भी पुत्रभाव नहीं होता, किन्तु पुत्र के प्रति पिता का जो अधिक स्नेह है वही पुत्रभाव के प्रति कारण है । देह से उत्पन्न होने मात्र से यदि पुत्र होता तो स्वायंभुवमन्वन्तर में ब्रह्मा की नासिका से वराहदेव की उत्पत्ति एवं सभा के स्तम्भ से नृसिंहदेव की उत्पत्ति हुई है, तथापि उन दोनों देवों का ब्रह्मा की नासिका और स्तम्भ से पितापुत्र सम्बन्धात्मक कोई भी भाव प्रमाणित नहीं होता । इस प्रकार का विचार ग्रन्थकार आगे जहाँ तहाँ स्वयं प्रकाशित करेंगे, किसी किसी स्थान पर सांसारिक सम्बन्ध से भी पुत्ररूप से प्रगट होने पर, उस उस सम्बन्धमय स्नेह समूह की स्फूर्ति ही भ्राता, पुत्र, भागिनेय आदि भाव से प्रादुर्भाव के प्रति प्रधान कारण है, रज वीर्य आदि का सम्बन्ध प्रधान कारण नही है ॥९७॥

"तदेवं स्थिते सर्वतः समुद्बुद्धशुद्धपित्रादिभावविचित्राणां व्रजनृपतिप्रभृतीनां भृतिभुक्-पर्यन्तानां व्रजजनानां येषामधिमध्यं प्रतिद्विपरार्धं प्रतिकल्पमाविर्भवति, वृद्धिजीविकानामिव तेषामेव प्रेमसञ्चय-पर्युदञ्चन-प्रपञ्चमञ्चं स्तद्वृद्धेरपरिच्छेद्यताबुध्या प्रतिदातुमध्यवसायं मुञ्चन् सदा पुत्रादितया स एष विराजते, नान्ये तु तत्र किल तिलमप्यवकाशकालं लभन्ते।

"एतदेवोक्तं ब्रह्मणा (भा० १०।१४।३५)—'एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव रातेति नः' इत्यादिना। एतदेव च श्रीनारायणदेवेन समादिष्टम्—'योऽसावतसी-कुसुम-सुषमः सुकुमारः कुमारः' (५७ तम अनु) इत्यादिना ॥६८॥ ततश्च, (भा० १०।८।१९)—

'तस्मान्नन्दात्मजोऽयं ते नारायणसमो गुणैः। श्रिया कीर्त्यानुभावेन गोपायस्व समाहितः॥'

इति गर्गवचनानुसारेणेदमुत्प्रेक्षामहे;—'एतद्रूप-स्वपुत्र-मात्र-पर्याप्तसर्वस्वार्थेन श्रीमद्व्रजमहेन्द्रेण महीयमानस्य यस्य महाभगवतो या योगमायाख्या दुर्घटघटनी स्वरूपशक्तिः शास्त्रेण व्यक्तीक्रियते, तेन किल दत्ता सा त्वत्पुत्रे श्रीकृष्ण एव पर्यवस्यति स्म; सा चेह स्वजनस्नेहनिक्षिप्त-चित्तस्य यद्यप्यस्य तत्पुत्रस्य प्रायोऽवधानं न प्राप्नोति, तथापि तस्मादन्यस्माच्च परोक्षमनुक्षण-मनुगतिं लीलासाहायकञ्च प्रपञ्चयति; यथा च योगमाया, तथा तदनुगता मायादयोऽपीति। यद्यप्येवं, तथापि त्वत्प्रभुप्रत्तशक्तिमेनं त्वमेव निज-श्रीप्रभृतिशक्तिभिर्गोपायस्वेति गर्गो

इस प्रकार स्नेह ही पुत्रभाव से आविर्भाव के प्रति कारण है यह सिद्धान्त दृढ़ होने पर सर्वतोभाव से समुत्पन्न विशुद्ध पितृ मातृ भाव द्वारा ही जिनकी विचित्रता है, उन श्रीव्रजराज प्रभृति से लेकर वेतनभोगी दास पर्यन्त सभी व्रजवासियों के बीच में आत्मीयजन होकर वे श्रीकृष्ण प्रत्येक द्विपरार्ध में एवं प्रति कल्प में प्रगट होते हैं। जो व्याज के द्वारा ही धन की वृद्धि करते हैं उनके व्याज चुकाने की चिन्ता कर्जदार को जैसे वाध्य कर देती है, उसी प्रकार पूर्वोक्त व्रजवासियों के प्रेमसमूहरूप ऋण की अधिकता को प्राप्त होकर, एवं उस ऋण की वृद्धि को चुकाने योग्य न जानकर, उसके प्रत्यर्पण के उत्साह को छोड़ते हुए वह श्रीकृष्ण सदा पुत्र, मित्र आदि रूप से विराजमान रहते हैं। किन्तु यह बात निश्चय है कि विशुद्ध भाव वाले व्रज-वासियों के सिवाय और कोई भी जन श्रीकृष्ण के ऊपर इस प्रकार का आधिपत्य करने के लिए तिलमात्र समय के भी अवकाश को प्राप्त नहीं कर पाते। इसी बात को श्रीब्रह्मस्तुति में दशमस्कन्ध में श्रीब्रह्माजी ने भी कहा है कि—"हे देव! आप इन सभी व्रजवासियों के प्रेमऋण के सम्बन्ध में इन्हें क्या वस्तु प्रदान करेंगे?" इत्यादि। इसी बात को श्रीनारायण भगवान् ने भी श्रीनन्द यशोदा के प्रति आदेश दिया है कि—"यह जो अलसी के पुष्प के समान सुन्दर सुकुमार कुमार है, वह प्रति कल्प में तुम्हारा ही पुत्र होता है" इत्यादि ॥६८॥

उसके बाद—"अतएव हे नन्द! तुम्हारा यह पुत्र गुण, सम्पत्ति, कीर्ति, एवं प्रताप से नारायण के समान है, तुम सदा सावधान होकर इनकी देखभाल रक्षा करो" इस गर्गाचार्यजी के वचन के अनुसार हम यह उत्प्रेक्षा कर सकते हैं कि—किसी वस्तु की इच्छा न करके श्रीकृष्णरूप स्वपुत्र के लिए ही जिनका परिपूर्ण सर्वस्वार्थ है, अर्थात् श्रीकृष्ण के बिना जिनके जीवन का अन्य कोई भी प्रयोजन नहीं है, उन श्रीमान् व्रजराज के द्वारा पूज्यमान महाभगवान् श्रीनारायण की जो योगमाया नामक अघटितघटनापटीयसी स्वरूपशक्ति है, वह शास्त्र के द्वारा व्यक्त की जाती है, उन्हीं महाभगवान् के द्वारा दी हुई वह योगमाया नन्दपुत्र श्रीकृष्ण में ही अधीनता को स्वीकार करती है। ऐसी वह योगमाया अपने व्रजवासी भक्तों के स्नेह

व्यञ्जितवान् । तदेवं सति (भा० १०।८।१५) 'बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते' इत्यपि तदुक्तिरुद्रिक्तोस्यात्; यतः स्वस्निग्धजन-भजनरसावेशितावशतया या या खल्विच्छा नित्यानित्या वास्य प्रादुर्भवति, सा च सा च यदृच्छयैव सिद्धिमृच्छति। ततो द्विभुजतया सदा विराजमानस्य श्रीमद्व्रजराजात्मजस्य खल्वस्य स्वस्निग्धजनभावस्वभावविशेष-विनोद-मनुमोदमानस्य तद्भावरूपानुरूपं रूपं यदृच्छावशादेकधानेकधा च समीपतोऽसमीपतोऽप्याविर्भवति तिरोभवति च ॥६६॥

"ततः श्रीवसुदेवदेवक्योरन्तर्यच्चतुर्भुजमस्य रूपं स्फुरति स्म, तदेव हि बहिराविर्भवति स्म,–'फलेन फलकारणमनुमीयते' इति न्यायेन। तेनैव च न्यायेन श्रीव्रजेश्वरयोस्तु परं द्विभुज-मूर्तितया स्फूर्तिरासीत्। ततः (भा० १०।८।१४) 'प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातस्तवात्मजः' इति धृत-तपो-वर्गस्य गर्गस्य वचनमनुसृत्य परामृश्यते। यदा नृशंसकंसभिया स्वाविर्भूत-चतुर्भुजरूपाच्छादनपूर्वक-द्विभुजरूपाविर्भावनाय श्रीदेवकीच्छा जाता, तदा तस्य यदपूर्वं द्विभुजरूपं पूर्वं मायया सह श्रीयशोदायाः स्वान्तरमायातं, तदेव तत्र सन्निधानमवाप्य चतुर्भुजं

से व्याकुल चित्त वाले नन्दलाल इन श्रीकृष्ण के यद्यपि "यह योगमाया शक्ति मेरे अधीन है" इस प्रकार के ध्यान में भी नहीं आती है, तथापि उन श्रीकृष्ण और उनसे भिन्न व्यक्तियों के परोक्ष में, प्रति क्षण श्रीकृष्ण की अनुगति एवं लीला की सहायता का विस्तार करती रहती है। योगमाया जिस प्रकार श्रीकृष्ण के अनुगत है उसी प्रकार सांसारिक माया जीव प्रभृति भी उनके अनुगत हैं। यद्यपि लीला की सहायता के लिये योगमाया आदि श्रीकृष्ण के स्वयं अनुगत हैं तथापि हे नन्द ! आपके उपास्यदेव श्रीनारायण ने जिनको शक्ति प्रदान की है, उन्हीं पुत्ररूप श्रीकृष्ण की तुम अपनी श्रीप्रभृति शक्तिसमूह द्वारा रक्षा करो, यह तुमसे भिन्न अन्य किसी के द्वारा रक्षणीय नहीं है, श्रीगर्गाचार्य ने यह बात स्पष्ट कही है। तात्पर्य यह है कि—वस्तुतः यह योगमाया स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण की ही शक्ति एवं लीला की सहायता करने वाली है, तथापि श्रीकृष्ण के प्रति श्रीनन्दजी के वात्सल्य रस को पुष्ट करने के लिये ही श्रीगर्गमुनि ने कहा है कि—नारायण ने तुम्हारे पुत्र को शक्ति प्रदान की है। और भी कहा है कि—"हे नन्द ! तुम्हारे पुत्र के बहुत से नाम एवं बहुत से रूप हैं" यह गर्गोक्ति भी अतिशय युक्तियुक्त है। कारण—अपने स्नेही भक्तजनों के भजन रस के आवेश के वशीभूत होकर इन श्रीकृष्ण की जो जो नित्य या अनित्य इच्छा प्रगट होगी वह वह इच्छा स्वेच्छापूर्वक ही सिद्ध होजायगी। अतएव श्रीमान् व्रजराज नन्दजी के पुत्र सर्वदा द्विभुजरूप से विराजमान एवं निज स्नेही जनों की इच्छा से युक्त जो स्वभाव विशेष उससे उत्पन्न जो कौतूहल उसका भी सदा अनुमोदन करते रहते हैं। इसीलिये उन भक्तोंके भावानुरूप इन श्रीकृष्ण की मूर्ति स्वेच्छापूर्वक एकबार एवं अनेक बार पास में और दूर भी क्रमशः प्रगट एवं अप्रगट होती रहती है ॥६६॥

इसी कारण श्रीवसुदेव देवकी के अन्तःकरण में श्रीकृष्ण के जिस चतुर्भुजरूप की स्फूर्ति होती थी वही चतुर्भुजरूप उनके सामने प्रगट हो गया। कारण—"फल के द्वारा ही फल के कारण का अनुमान किया जाता है" इसी नियम के अनुसार श्रीनन्द यशोदा के चित्त में द्विभुज श्रीकृष्ण की स्फूर्ति होती थी, अतः उनके सामने द्विभुजरूप से ही प्रगट हुए। अतएव "हे नन्द ! तुम्हारा यह पुत्र पहले कभी वसुदेवजी के यहाँ भी प्रगट हुआ था" बहुत सी तपस्या को धारण करने वाले श्रीगर्गाचार्यजी के इन पूर्वोक्त वचनों का अनुसरण करके विचार करते हैं। यथा—जब क्रूर कंस के भय से अपने से ही प्रकटित चतुर्भुजरूप के

रूपमन्तर्भाव्य स्वयमाविर्बभूव,—यत्र साकारतया मातृगर्भस्थितापि माया निराकारतया तूर्ध्वगत्या तन्वा तद्वाहनतामागता; गन्धवाहश्रेणी नीलकमलदलमिव तत्र सर्वालक्षिततया तत् प्रापितवती;—या खलु पूर्वं तदाकर्षेण धर्षेण परं मातरमपि मोहेन ग्लापितवती ॥१००॥

"अथ पुनस्तेन गर्भस्थेनाकारेण मातुः प्रसूतिभ्रमञ्च सम्प्रथय्य बहिरात्मानं संवलय्य प्रसूतिशय्यामेवाधिशय्य स्थितवती,—या खलु श्रीदेवकीतः श्रीरोहिण्यां सङ्कर्षणसंक्रमणेऽपि तथा प्रक्रमते स्म।" इति ॥१०१॥

अत्र च स्निग्धकण्ठेनान्तश्चिन्तितम्,—"सत्यमिदमेवाह स्म नूनम्; (भा० १०।२।९)—'अथाहमंशभागेन' इति हि मायां प्रति श्रीभगवद्वाक्यम्, (भा० १०।१।२५) 'आदिष्टा प्रभुणांशेन कार्यार्थे सम्भविश्यति' इति च देवान् प्रति ब्रह्मवचनम्; तत्र 'अंशभागेन' चतुर्भुज-रूपेणाकारभेदेनेति भगवदभिप्रायः, 'कार्यार्थे' तत्तन्मोहनाय 'अंशेन सम्भविष्यति' श्रीकृष्णस्य द्विभुजरूपेणाकारभेदेन सह मिलिष्यति सेति ब्रह्मणोऽभिप्रायः। तदेवमेव हि व्याख्यातमन्यत्र श्रीभागवततत्त्वविद्भिः,—(भा० १०।३८।३२) 'अवतीर्णौ जगत्यर्थे स्वांशेन बलकेशवौ' इत्यत्र 'स्वांशेन' मूर्तिभेदेनेति ॥१०२॥

आच्छादनपूर्वक द्विभुजरूप के आविर्भाव की इच्छा श्रीदेवकी के उत्पन्न हुई,ठीक उसी समय श्रीकृष्ण का जो अपूर्व द्विभुजरूप पहले योगमाया के सहित श्रीयशोदाजी के अन्तःकरण में आया था, वही द्विभुजरूप श्रीदेवकीजी की शय्या के पास पहुँचकर, चतुर्भुजरूप को अपने में अन्तर्हित करके स्वयं प्रगट हो गया था। पूर्वोक्त यशोदा पुत्र का उस प्रकार से संस्थापन और चतुर्भुजरूप का छिपाना आदि कार्य में माया साकार रूप से तो माता यशोदा के गर्भ में स्थित होकर भी निराकारभाव से ऊर्ध्वगतिशील शरीर अवलम्बनपूर्वक श्रीकृष्ण की वाहनरूप बनगई थी। एवं वायुसमूह जिस प्रकार कमलदल को ले जाता है, उसी प्रकार माया यशोदा पुत्र को सबके अलक्षित भाव से मथुरापुरी में ले गई। और जिस योगमाया ने पहले अपने अग्रज श्रीकृष्ण की आकर्षणरूप धृष्टता द्वारा जननी यशोदा को भी अधिक मोह से विषादयुक्त कर दिया था ॥१००॥

तदनन्तर वही योगमाया उसी गर्भस्थित आकार द्वारा अपनी माता के प्रसव भ्रम को बढ़ाकर एवं अपने को बाहर प्रगट करके प्रसूति शय्या पर शयन करके स्थित हो गई। और वही योगमाया पहले श्रीदेवकी के गर्भ से श्रीरोहिणी के गर्भ में श्रीबलराम के आकर्षणरूप कार्य में भी अदृश्यरूप से अपना पराक्रम दिखा गई ॥१०१॥

इस विषय में स्निग्धकण्ठ ने अन्तःकरण में विचार कर जो कहा, वह निश्चय ही सत्य है (भा० १०। २। ९) में योगमाया के प्रति श्रीभगवान् की उक्ति भी है कि—"पश्चात् मैं अंशभाग से अर्थात् ब्रह्मादि देवताओं या प्रकाश भेद के सहित देवकी का पुत्र होऊँगा" (भा० १०। १। २५) में देवताओं के प्रति श्रीब्रह्माजी का वाक्य भी है, यथा—"योगमाया निजप्रभु श्रीकृष्ण के द्वारा आदिष्ट होकर देवकी के गर्भ को रोहिणी के गर्भ में ले जाना और श्रीयशोदा आदि के मोहन आदि कार्य के लिये यशोदा के गर्भ से उत्पन्न होकर भगवदंश इच्छाशक्ति के सहित मिल जायगी"। यहाँ पर अंशभाग शब्द से—"चतुर्भुजरूपधारी आकार विशेष से" यही भगवान् का अभिप्राय है। कार्यार्थे—अर्थात् श्रीयशोदा आदि को मोहित करने के

"अपि च श्रीव्रजेश्वरसम्बन्धनिबन्धना या कृष्णे योगमायाभिव्यक्तिरुक्ता, सा सिद्धान्ततोऽपि सिद्धतामासीदति। भगवतः खलु प्रियजनेच्छामेवानुगच्छति सर्वशक्तिव्यक्तिर्न तु यदृच्छाम्।" इति ॥१०३॥

अथ सर्वे साश्चर्यमूचुः,—"भवतु नाम तत्तत्, किन्तु ततः किमनन्तरं जातम्?" ॥१०४॥

मधुकण्ठ उवाच,—"अनन्तरन्तु चतुर्भुजताविर्भावानुरूप्यतः प्रव्यक्तयोगमायस्य तस्य प्रागुपदेशतः श्रीवसुदेवः सर्वत्र मायिकशायिकायां जातायां पूर्वदेवभिया द्विभुजमत्रकीयं बालकमत्रानीय तया बालिकया विनिमितवान्। सोऽयन्तु तेनेश्वरता-प्रत्यायकेन चतुर्भुजरूपेणोपदेशेन च न तत्र जातकतां व्यञ्जितवानिति पुत्रतां सन्देहितवान्। अत्र तु द्विभुजरूपेण वचनादिशक्तेर्व्यक्तेरभावेन च तामेव व्यज्य पुत्रतामेव निदेहितवान्। श्रीमानानकदुन्दुभिस्तु तदिदं सर्वं नानुसन्दधौ।" इति ॥१०५॥

स्निग्धकण्ठ उवाच,—"नानुसन्दधातु नाम; तथापि, यां तनयामत्रकीयामपमाय

लिये अंश के सहित उत्पन्न होगी, अर्थात् श्रीकृष्ण के द्विभुजरूप के सहित मिलित होगी, यही श्रीब्रह्माजी का अभिप्राय है। अतएव श्रीमद्भागवत तत्त्ववेत्ता पण्डितों ने और स्थलों पर भी ऐसी ही व्याख्या की है, यथा—बलराम एवं श्रीकृष्ण संसार का भार उतारने के लिये अपने अंश से अवतीर्ण हुए हैं। यहाँ पर स्वीय अंश शब्द से अपने मूर्ति भेद से ऐसा ही अर्थ जानना ॥१०२॥

अपि च श्रीमान् व्रजेश्वर के सम्बन्ध का निबन्धन करने वाली योगमाया का प्रकाश श्रीकृष्ण के विषय में जो कहा है, वह सिद्धान्त के द्वारा भी सिद्ध हो जाता है। भगवान् की जो सब शक्तियों की अभिव्यक्ति है, वह भी निश्चय ही प्रियजनों की इच्छा का ही अनुगमन करती है, किन्तु स्वेच्छाचारिता का अनुसरण कभी नहीं करती, अर्थात् भगवत्शक्ति भी भक्तों की इच्छा के अनुसार ही व्यवहार करती है ॥१०३॥

पश्चात् सभी आश्चर्यपूर्वक बोले कि—भाई मधुकण्ठ! पहले जो जो विषय कहा वह ठीक है, किन्तु उसके पश्चात् क्या हुआ? ॥१०४॥

मधुकण्ठ बोला—अनन्तर तो चतुर्भुजरूप के आविर्भाव के योग्य होने के कारण जिनकी योगमाया स्पष्ट रूप से प्रकाश पा रही है उन्हीं श्रीकृष्ण के—"हे वसुदेवजी! यदि आपको कंस से भय है तो मुझे गोकुल पहुँचा दो, और श्रीयशोदा के गर्भ से उत्पन्न मेरी माया को शीघ्र ही ले आओ" इस प्रकार के पहले उपदेश से श्रीवसुदेवजी सर्वत्र माया के द्वारा सभी जनों के सो जाने पर कंस आदि असुरों के भय से इस नन्दगृह में उत्पन्न द्विभुज बालक को इसी नन्दगृह में ही लाकर श्रीयशोदा की योगमाया रूप उस बालिका से परिवर्तन कर ले गये, अर्थात् बालक के बदले में बालिका ले गये। किन्तु श्रीकृष्ण के उपदेश के कारण श्रीवसुदेवजी ने अपने कारागार में ईश्वरताबोधक जो चतुर्भुजरूप ग्रहण किया था, उस बात को किसी से भी व्यक्त नहीं किया, अपितु पुत्र ही उत्पन्न हुआ है ऐसा सन्देह ही उपस्थित कर दिया। और इस नन्दालय में द्विभुजरूप से जो पुत्र उत्पन्न हुआ, वह वाक्य आदि किसी शक्ति के द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता, अतः उस कन्या में ही पुत्रभाव का आरोप कर लिया, और द्विभुजरूप से नन्दालय में पुत्रोत्पत्ति आदि के विषय में श्रीवसुदेवजी ने किंचिद् भी अनुसन्धान नहीं किया, अर्थात् मेरे द्वारा लाया हुआ चतुर्भुजरूप द्विभुज नन्दसुत में लीन हो गया इत्यादि विषय का ध्यान नहीं किया ॥१०५॥

स्निग्धकण्ठ बोला—उन ने यदि अनुसन्धान नहीं किया तो उससे कोई हानि नहीं, तथापि यहाँ की

स्वयमर्पननिनाय, तस्याः प्रतिदानस्यापि सद्भावाभावात् कथमिव न्यस्तेऽप्यस्मिन्नात्मीयतां प्रत्यपद्यत ?—आगमादावपि यस्य नन्दनन्दन-नन्दात्मज-नन्दज-नन्दतनय-बल्लवीनन्दनादि-नामानि तत्तदभीष्टप्रदतया निर्दिष्टानि ।" इति ।

पुनः सहासमाह स्म,—"यस्य नन्दनन्दन इति नाम विपरीततया पठतापि क्रमपरीत-तयानुभूयते; तस्मादेवमप्यस्मन्नृपतेरेव पूर्वव्यञ्जितं समञ्जसता-सञ्जनमञ्जसा तस्य लभ्यत्वा-योपलभ्यत ।" इति ॥१०६॥

हसित्वा पुनरुवाच,—"अथ त्र व्रजदेवसुतस्य वसुदेवस्यागमनप्रकारस्तु वर्ण्यताम्" ॥१०७

मधुकण्ठ उवाच,—

"अंघ्र्योर्बन्धो व्यदालीदशयिषत जना द्वाररोधा विदीर्णाः
शेषश्छत्रं बभूव द्युमणिजनि-नदी प्राप केदारभावम् ।
आगोपाधीशगेहं वृतिरहितमभूद्गोकुलं कृष्णवाहं
प्राप्य श्रीशूरपुत्रं यदिह तदखिलं कस्य किं ब्रूहि तत्तु ?" ॥१०८॥

स्निग्धकण्ठ उवाच,—"तदखिलं गोपराजस्य भाग्यम्" इति ॥१०९॥

तदेवं लब्धप्रथायां कथायाम्—

तयोर्मायाजालप्रथनतुलया सङ्कथनया
हरेः सा सा लीला नयनमिव याता किल यदा ।

जिस कन्या का परिवर्तन कर स्वयं ले गये, पुनः उस कन्या का लौटाना तो संभव हुआ नहीं, फिर गुप्तरूप से व्रजराज के घर में छोड़े हुए अपने पुत्र में अपनापन किस प्रकार स्थापित कर सकेंगे ? और शास्त्रों में भी जिसके नन्दनन्दन, नन्दात्मज, नन्दज, नन्दतनय एवं बल्लवीनन्दन इत्यादि नाम सुने जाते हैं, वे सब नाम भी प्रकृत प्रकरण में नन्दपुत्रत्व आदि अभीष्टप्रदरूप से ही निर्दिष्ट हुए हैं। पुनः हासपूर्वक बोला कि—जिनका "नन्दनन्दन" यह नाम ही विपरीतभाव से पढ़ने वाले को भी क्रमानुसार ही अनुभूत होता है, अर्थात् उलटा पढ़ने पर भी सीधा सा ही मालूम पड़ता है। इसलिये इस प्रकार से हमारे राजाधिराज श्रीनन्द के ही, श्रीकृष्ण को पुत्ररूप से लाभ करने के पक्ष में, वह पूर्वकथित सामञ्जस्य सङ्गति ही विशेषभाव से तत्त्वानुसार उपलब्ध हो सकती है अर्थात् पूर्वोक्त कथन ही ठीक है ॥१०६॥

पुनः हँसकर बोला—भाई मधुकण्ठ ! व्रजराज के पुत्र द्विभुज श्रीकृष्ण को साथ लेकर गोकुल की ओर आते हुए श्रीवसुदेवजी के आने के प्रकार का तो वर्णन करो ॥१०७॥

मधुकण्ठ बोला—श्रीवसुदेवजी के गोकुल की ओर आते समय दोनों चरणों का बन्धन स्वतः खुल गया, सभी जन सो गये, दरवाजे स्वतः खुल गये, शेषजी छत्र हो गये, श्रीयमुनाजी खेत की तरह सूख गई, और श्रीनन्दजी के घर तक सारा गोकुल आवरणरहित, अर्थात् आने जाने के लिये बाधाशून्य हो गया था। कृष्णवाहक श्रीवसुदेवजी को पाकर जो घटना यहाँ हुई वह और किसी के भी कहीं हुई है क्या ? कहो तो सही ॥१०८॥

स्निग्धकण्ठ बोला कि—यह सब घटना श्रीगोपराज के भाग्य से ही हुई ॥१०९॥

इस प्रकार कथा के विस्तृत हो जाने पर मधुकण्ठ और स्निग्धकण्ठ इन दोनों के मायाजाल के विस्तार के सदृश कथन उपकथन द्वारा श्रीकृष्ण की वह वह सारी लीला जब अविकल दृष्टिगोचर जैसी होने

तदा वाष्पस्तम्भप्रलयमुखभावाः प्रतिपदं
बभूवुर्ये वा ते कति कति च वर्ण्या व्रजसदाम् ? ॥११०॥

अथ स्निग्धकण्ठः पुनरुवाच,—"ततस्ततः ?"

मधुकण्ठश्च सार्द्रदृष्टिनिसृष्टसुखसमाजतया व्याजहार;—॥१११॥

"ततश्च, तं रत्ननिधायं निधाय गते श्रीवसुदेवे कारणाभावात् प्रचलायितताप्रचयदोहं मोहमपहृत्य च गतायां मायायां श्रीव्रजराजजाया पुनः सम्भूतं सुतं साक्षादेव ददर्श; यथा विष्णुपुराणे (५।२२)—

'ददृशे च प्रबुद्धा सा यशोदा जातमात्मजम् ।
नीलोत्पलदलश्यामं ततोऽत्यर्थं मुदं ययौ ॥' इति ॥११२॥

"यथा च—बालं दिव्यातिदिव्यासितमणिवपुषं चन्द्रजिच्चन्द्रवक्त्रं
लोकातीताब्जनेत्रं द्युतरु-नवदलोल्लङ्घिशोभांघ्रिपाणिम् ।
किञ्चिच्चञ्चत्करादि-म्रदिम-मधुरित-क्रन्दनाद्विश्वमोहं
पश्यन्ती गोपराज्ञी तनुजममनुत स्वं तदा चित्रकल्पम् ॥११३॥

साम्राज्यं श्यामभासां निधिरपि तदिदं रूपरत्नाकराणां
भाग्यं लावण्यभाजां विलसितनिगमस्तत्तदङ्गावलीनाम् ।
एवं मीमांसमाना व्रजपतिदयिता यावदास्ते स्म तावत्
क्रन्दन्नोमोमितीत्थं नवशिशुरसकौ तद्ध्रुवं स्वीचकार ॥११४॥

लग गई, उस समय सभास्थित सभी व्रजवासियों के वाष्प, स्तम्भ, प्रलय आदि जो सभी सात्विक भाव पल पल पर उपस्थित होते थे, उनका परिमाण कितना है, उसका वर्णन कौन कर सकता है ? ॥११०॥

पश्चात् स्निग्धकण्ठ पुनः बोला—भैयाजी ! आगे क्या हुआ सो कहिये ? मधुकण्ठ सजलनयन होकर सुखसमूह की वर्षा करता हुआ बोलने लगा ॥१११॥

तदनन्तर रत्न की तरह उन श्रीकृष्ण को सूतिका शय्या पर पधराकर श्रीवसुदेवजी के चले जाने के बाद अतिशय व्यापकतासमूह पूरक सारे मोह को दूर कर, मायादेवी के भी चले जाने पर श्रीयशोदाजी ने वसुदेवजी के घर से पुनः मिले हुए पुत्र को साक्षात् देखा। विष्णुपुराण (५ । २२) में भी कहा है, यथा—श्रीयशोदाजी ने जागकर नीलकमलदल के सदृश श्यामवर्णवाले सद्यः उत्पन्न पुत्र को देखा, पश्चात् महान् हर्ष का लाभ किया ॥११२॥

बालकृष्ण की मूर्ति का दर्शन इस प्रकार है, यथा—बालकृष्ण का श्रीविग्रह दिव्य से भी अतिदिव्य और इन्द्रनीलमणि के समान है, मुखचन्द्र चन्द्र को भी पराजित करने वाला एवं आह्लादजनक है, अलौकिक कमलों के समान नेत्र हैं, कल्पवृक्ष के नवीन पत्रों की शोभा को पराजित करने वाले जिनके कर चरणों की शोभा प्रकाशित हो रही है, किंचित् चञ्चल हस्त पादादिकों की कोमलता से अत्यन्त मधुर रोदन करके यह बालक विश्व को विमुग्ध कर रहा था। गोपेश्वरी श्रीयशोदा जब इस प्रकार के सुन्दर पुत्र का दर्शन कर रही थीं उस समय तो वे अपने को भी चित्रलिखी सी ही मानती रह गईं ॥११३॥

यह बालक श्यामवर्ण की कान्तिसमूह का साम्राज्यस्वरूप है, अनेक रूपसमुद्रों का निधिस्वरूप है,

दृष्ट्वा पुत्रमसौ व्रजेशगृहिणी सद्यःप्रजातं सखी-
राहूता न शशाक कर्तुमपि चेदास्तां परं चेष्टितम् ।
अस्रै रावृतमक्षिकण्ठमथ यत् स्तब्धश्च तस्या वपु-
स्तस्मिँल्लालनलालसावशतया चात्मात्मना व्यथितः ॥११५॥

किञ्च,—यदा माया गता तर्हि व्रजे मोहं जहौ जनः ।
कदा यदा ह्याविरासीत्तत्र श्रीपुरुषोत्तमः ॥११६॥
तदा व्यवहितानामप्येष प्राकाशयन्मनः ।
कुमुद्वतीनां सुमनोगणं वा शीतदीधितिः ॥११७॥
स्फुरति स्म परं मातुः शय्यायां न स बालकः ।
स्निग्धानामपि चित्तेषु स्वच्छेषु प्रतिबिम्बवत् ॥११८॥
स्फुरति स्म यदा बालस्तासां व्यवहितोऽपि सः ।
तं द्रुतं तास्तदा जग्मुः सारङ्ग्यो वा घनागमम् ॥११९॥

सुन्दरता धारण करने वालों का भाग्यस्वरूप है, और उन उन की अङ्गावलियों का तो निश्चय परिपाक-विशेष है। श्रीनन्दरानी जब तक यह विचार कर ही रही थीं तब तक इस नूतन बालक ने ओम्, ओम्, इस प्रकार क्रन्दन करते हुए श्रीनन्दरानी के विचार को निश्चितरूप से स्वीकार कर लिया ॥११४॥

यह श्रीयशोदाजी तत्काल उत्पन्न अपने पुत्र को देखकर अपनी सखियों को बुलाने के लिए भी जब समर्थ न हुईं तब अन्य चेष्टाओं की बात तो बहुत दूर रही, पश्चात् उनके नेत्र और कण्ठ नयनजल से आवृत हो गये एवं उनका शरीर भी निश्चेष्ट हो गया। उस बालक के लालन पालन की लालसा के वशीभूत होकर अपनी आत्मा को भी अपने आप व्याकुल कर लिया ॥११५॥

किंच माया जब मथुरा को चली गई तब सभी व्रजवासीजनों ने मोह को त्याग दिया। यदि पूछो कि कब मोह त्याग दिया? तो सुनो! जब व्रजमण्डल में श्रीपुरुषोत्तम प्रगट हो गये तब। अर्थात् योगमाया श्रीयशोदा के गर्भ से अदृश्यरूप से बाहर होकर द्विभुज श्रीकृष्ण को आकाशमार्ग से मथुरा ले गई, द्विभुज श्रीकृष्ण ने चतुर्भुज वसुदेवनन्दन को अपने में लीन कर लिया, पश्चात् योगमाया गुप्तरूप से गोकुल में आकर यशोदाजी की सूतिका शय्या पर पुत्री बन कर लेट गई। इसके बाद श्रीवसुदेवजी इन्हीं द्विभुज श्रीकृष्ण को लेकर यशोदाजी की शय्यापर धरकर, योगमाया को लेकर मथुरा चलेगये। इस प्रकार पिछली बार वसुदेवजी के सङ्ग जब माया चली गई तब व्रजवासीजनों ने मोह को त्यागा था। प्रिय पाठको! श्रीकृष्णजन्म के सारे प्रसङ्ग की यही शृङ्खला है याद रक्खो! ॥११६॥

उस समय चन्द्रमा जैसे बहुत दूर के व्यवधान में स्थित कुमुदिनी के पुष्पों को विकसित कर देता है, उसी प्रकार इस बालकृष्ण ने बहुत दूर स्थित व्यक्तियों के मन को भी प्रकाशित कर दिया ॥११७॥

वह बालकृष्ण केवल अपनी माता की शय्या पर ही प्रकाशित नहीं हो रहा था, अपितु अपने स्नेही जनों के निर्मल चित्तों में भी प्रतिबिम्ब की भाँति प्रकाश पा रहा था ॥११८॥

वह बालकृष्ण दूर होकर भी स्नेहमयी उन गोपियों के हृदय में जब स्फुरित हुआ तब चातकीगण मेघागम की तरह वे सब गोपियाँ शीघ्र ही उन बालकृष्ण के निकट आगईं ॥११९॥

रोहिण्यादिभिरेताभिः सममालोकि बालकः ।
उदयत्पूर्णचन्द्रो वा चकोरीभिः समन्ततः ॥१२०॥
स्तम्भेऽपि स्मेरनेत्राभ्यां पश्यन्तीं सुतमेव ताम् ।
प्रतिकार्यां विचार्यामूः पर्य्यलोचन्त तं ततः ॥१२१॥
ता एता मनसा दृशा कलितमप्यत्रासितं बालकं
सन्देहास्पदतामनैषुरसकृद्यत्तत्तु योग्यं मतम् ।
यद्वस्तु प्रथितं सुदुर्लभतया तद्दैवतो लभ्यतां
किन्त्वेतत् प्रथमं प्रतीतिपदवीं नात्मन्यलं यच्छति ॥१२२॥
तद्यथा—नव्येन्दीवरमाल्यमस्ति किमिदं किं शक्रनीलं महत्
किं वैदूर्यमहो तदेतदतुलं ज्ञातुं न यच्छक्यते ।
पश्यामः किल बालकस्य तु तनुं सर्वेन्द्रियाणां कृतिं
रुन्धाना खलु या तनोति नयनद्वन्द्वस्य निर्द्वन्द्वताम् ॥१२३॥

"तत्र च—'निर्मितं किल मृगमदसौरभ-तमालदलसारेण, अभ्यक्तं किल निखिल-विलम्बकलावण्येन, उद्वर्तितं किल निजदेहतेजसा, स्नातं किल निजमुखनिर्यत्कान्तिसुधया, अनुलिप्तं किल जननीदृष्टिकर्पूरलब्धसंघृष्टिभद्रश्रिया, भूषितं किल सहजशुभतारूषितनिजाकारेण'

चकोरीगण जिस प्रकार उदित होते हुए पूर्णचन्द्र का दर्शन करती हैं, उसी प्रकार इन रोहिणी आदि सभी रमणियों ने चारों ओर से एक साथ ही बालकृष्ण का दर्शन किया ॥१२०॥

निश्चेष्ट अवस्था में भी जब विकसित अपने दोनों नेत्रों द्वारा श्रीयशोदा पुत्र का ही दर्शन कर रही थीं तभी इनको इस अवस्था से पुत्र प्रसवादि के योग्य जानकर सभी गोपियाँ पश्चात् बालक के विषय में वितर्क करने लग गईं ॥१२१॥

यथा—ये सब गोपियाँ मन एवं नेत्रों द्वारा देखकर भी इस स्थान पर कृष्णवर्ण के बालक को देख कर "यह अपूर्व बालक क्या देवता है अथवा अन्य कोई है" इत्यादि रूप से बारंबार सन्देह प्रकाशित करने लग गईं, वस्तुतः यह सन्देह करना ही योग्य माना गया है, कारण–जो वस्तु अत्यन्त दुर्लभ कह कर प्रसिद्ध है वह यदि दैवयोग से मिल भी जाय तो भी पहले पहल मनमें वह वस्तु अच्छी प्रकार विश्वास मार्ग का प्रदान नहीं करती, अर्थात् स्वाभिलषित दुर्लभ वस्तु को प्राप्त करके भी प्रथम यह निश्चय नहीं होता कि यही स्वाभिलषित वस्तु है ॥१२२॥

सन्देह प्रकाश इस प्रकार है कि—यह क्या नवीन नीलकमल की माला है ? अथवा विशाल इन्द्र-नीलमणि ? किं वा बड़ी भारी वैदूर्यमणि है ? अहह ! यह अपूर्व अतुलनीय रत्न तो सत्य ही जाना भी नहीं जा सकता । देखने में तो हम बालक का शरीर देख रही हैं । जो शरीर सभी इन्द्रियों के व्यापार को रोकता हुआ अपने अद्भुत सौन्दर्य से हमारे दोनों नेत्रों को अपने में ही निश्चल बना रहा है ॥१२३॥

यह बालक मानों कस्तूरी की सुगन्ध से पूर्ण तमालदल से ही निर्मित है, जिस लावण्य के द्वारा सब चित्तधर्म और देहधर्म दूर हो जाते हैं, ऐसे लावण्य द्वारा ही मानों अभ्यक्त, अर्थात् अनुरञ्जित है, निज देह कान्ति से ही मानों इसका उबटना हुआ है, अपने मुखमण्डल से निकलती हुई कान्तिसुधा द्वारा ही मानों

इति सद्योजातं तदपत्यं वितर्क्य मिथःकृतसमागमाः सर्वाः पुनस्तं बालं लब्धतमालपत्रभोग-मृगभेदमृगमदसारपङ्कमिव कोमलाङ्गम्, निजकरचूर्णिततम इव चूर्णकुन्तलम्, वहन्मुखविधु-बिम्बमीक्षयन्तं सर्वमनांस्याक्रष्टुमिव करौ मुष्टीकुर्वन्तम्, तरणिजा-निजागुरुतरङ्गमिव करचरणकमलं चालयन्तं विलोकयामासुः ॥१२४॥

"तदेवं विलोक्य च—

सर्वास्ताः कलकलमेव मोदयुक्ताः, कुर्वत्यः परमविदुर्न तत्र कृत्यम् ।
एका तु द्रुतमथ सुष्ठुधीरचित्ता, तं कम्प्रे करयुगले दधत्यपश्यत् ॥१२५॥

"ततश्च, पुमपत्यचिह्नमह्नायावगत्य तासां प्रत्येकमपि समीहितम्; ॥१२६॥ यथा—

अहो शिरसि धारये नयनयोर्मुहुः स्पर्शये
हृदि प्रचुरमर्पये हृदयमध्यमावेशये ।
इदं विविधभावनं भृशमतीत्य वीचिक्षिषा
बलाद्वरदृशां दृशां विषयतामनैषीदमुम् ॥१२७॥

"तत्र च—मुहुरहो तनयं नयनं गतम्, प्रमदतः प्रणयन्त्यपि नातृपत् ।
घनरुचिर्जननीस्तनयुग्मजा,-ममृतवृष्टिमधादपि दृष्टिजाम् ॥१२८॥

इसने स्नान किया है, माता की दृष्टिरूप कर्पूर से युक्त घिसे हुए चन्दन के द्वारा ही मानों पुता हुआ है, स्वाभाविकी भद्रता से अनुरञ्जित अपने आकार से ही मानों अलंकृत है। इस प्रकार तत्काल उत्पन्न उस बालक के प्रति वितर्क करके सभी स्त्रियाँ परस्पर एक साथ मिलकर भी, तमालपत्र द्वारा ही उपलब्ध है शरीर जिसको ऐसे विचित्र मृग की कस्तूरी के सारमय पङ्क के समान कोमल अङ्ग वाले, अपने हाथ से पीसे हुए अन्धकार के समान अलकावली को धारण करनेवाले अपने मुखरूप चन्द्रबिम्ब को दिखाने वाले, सभी के मनों को आकर्षित करने के लिये ही मानों दोनों हाथों की मुट्ठी को बाँधने वाले, श्रीयमुनाजी की छोटी छोटी तरङ्गों के समान कर-चरणकमलों को धीरे धीरे चलाने वाले, ऐसे उस बालक को देखने लग गईं ॥१२४॥

इस प्रकार बालक को देखकर वे सभी गोपियाँ आनन्दयुक्त होकर कलकल शब्द करती हुईं अन्य कार्यों को तो बिल्कुल भूल ही गईं। किन्तु अच्छी प्रकार धीर चित्तवाली एक गोपी ने तो शीघ्र ही शय्या के पास जाकर बालक के चञ्चल दोनों हाथों को पकड़कर उसका दर्शन किया ॥१२५॥

तदनन्तर पुरुष के चिह्नों से युक्त बालक को शीघ्र ही जानकर उन सभी की अनेक प्रकार की चेष्टा उत्पन्न हो गईं ॥१२६॥

यथा—आ हा हा! मैं तो लाला को शिर पर धारण करूँगी, दूसरी बोली—मैं तो बारंबार नेत्रों का ही स्पर्श करूँगी, तीसरी बोली—मैं तो अपने हृदय पर ही दृढ़तापूर्वक धारण करूँगी, चौथी बोली—बहिन! मैं तो हृदय के बीच में स्थापित ही कर लूंगी। इन अनेक प्रकार की भावनाओं का अतिक्रम कर दर्शन की इच्छा ने बलपूर्वक इस बालक को इन रमणियों के दृष्टिगोचर कर दिया, अर्थात् सब भावनाओं को त्यागकर फिर भी लाला का दर्शन ही करने लग गईं ॥१२७॥

उस समय वहाँ पर दर्शनों की अधिक अभिलाषा से युक्त मेघ वर्णवाली जननी आनन्द के वशीभूत होकर अपने लाला को नेत्रों पर धारण करती हुई भी तृप्त न हुई, और दोनों स्तनों व दोनों नेत्रों से उत्पन्न

"ततश्चात्यर्वागर्हं-शिशुस्नपनादिपर्वानुसन्धानतः सर्वासां सावधानता-विधाने जाते, ॥१२९॥

रोहिण्याज्ञामनु पतिसुतश्रेयसी वृद्धविप्रा
वृत्तं विज्ञापयितुमतुलानन्दमेति स्म नन्दम् ।
वक्त्रोल्लासात् पलितवलनादम्बराच्छुभ्रधामा
धाम्नां हासप्रथितितुलिता या जवान्निर्जगाम ॥" ॥१३०॥

अथ तदेतत्पर्यन्ते वृत्ते वृत्ते, जात-तत्तद्भावसम्पदः सभासदः प्रतिकृताञ्जलितया स्थितयोर्मधुकण्ठस्निग्धकण्ठयोर्मधुकण्ठः प्राह स्म,—॥१३१॥

"व्रजेन्द्र सोऽयं पुत्रस्ते सदःसाद्भूतसम्पदः ।
जन्ममात्राज्जनश्रेण्या नन्दन-श्रेणि-जन्मदः ॥" इति ॥१३२॥

ततश्च तौ निजोपकण्ठमनु व्रजराज आजुहाव; आगतयोश्च तयोः शिरसि करसरोरुहमाधाय निजालङ्कारैरलञ्चकार; सर्वञ्च तत्सम्प्रदायं बहुसम्प्रदानेन सम्प्रदानमकरोत्; उवाच च,-'अद्य वासः समासाद्यतां भोजनाद्यर्थम्' इति; सर्वान् प्रति चोवाच,-'पुनरेवं प्रातः प्रातरायातव्यम्' इति ॥१३३॥

अमृत की वृष्टि को भी धारण करने लग गई। अर्थात् स्तनों से दुग्धधारा एवं नयनों से आनन्दाश्रुधारा एक साथ ही बह चली। श्रीयशोदाजी के दर्शन में अन्य गोपियों की अपेक्षा यही पृथकता थी ॥१२८॥

तदनन्तर अनेक क्षणों के बाद बालक का स्नानादि उत्सव किस प्रकार होना उचित है, ऐसा अनुसन्धान करके सभी गोपियों के सावधान होने पर, ॥१२९॥

पति पुत्रवाली एक प्रधान वृद्धा ब्राह्मणी ने श्रीरोहिणीजी की आज्ञा के पश्चात् श्रीनन्दजी को यह शुभ समाचार जनाने के लिये आकर अतुल आनन्द को लाभ किया, और जो निज मुखप्रभा से, जराजनित श्वेत केशकलाप से, एवं सफेद वस्त्रों की कान्ति से शुक्लकान्ति से युक्त होकर, सफेदी से पुते सभी घरों के हास्य के समान वेगपूर्वक नन्दभवन से निकल पड़ी ॥१३०॥

तदनन्तर यहाँ तक वृत्तान्त हो जाने के बाद सभी सभासदों ने पूर्वोक्त सभी भावसम्पत्ति ग्रहण की, तब सभासदों के अभिप्राय से मधुकण्ठ व स्निग्धकण्ठ हाथ जोड़कर खड़े रह गये, पश्चात् मधुकण्ठ बोला— ॥१३१॥

हे व्रजराज! एवंगुणविशिष्ट यह तुम्हारा पुत्र अद्भुत सम्पत्तियों का स्थान है, एवं जन्ममात्र से ही जनश्रेणी के आनन्दसमूह को उत्पन्न करने वाला है ॥१३२॥

तदनन्तर व्रजराज ने मधुकण्ठ स्निग्धकण्ठ इन दोनों को अपने पास बुलाया। आये हुए उन दोनों के शिर पर करकमल धरकर अपने अलङ्कारों से अलंकृत कर दिया। और उन दोनों के सभी सम्बन्धियों को बहुत सा धन देने के कारण दान का पात्र बना दिया, अर्थात् बहुत धन देकर सन्तुष्ट किया। और कहा कि—आज तुम भोजन आदि के लिये अपने घर जाओ। सभी श्रोताओं के प्रति भी कहा कि—तुम सब भी इसी प्रकार प्रतिदिन प्रातःकाल आया करो ॥१३३॥

अथ गोसम्भालनार्थं पितरमनुज्ञां समभ्यर्थ्य मातरञ्च वन्यभोजनप्रस्थापनं प्रार्थ्य सूतकुमारयोश्चात्मसङ्गमनं समर्थ्य कृतव्राजे व्रजयुवराजे सर्वे यथा स्वमावासं ययुः ।।१३४।।

।। इति श्रीश्रीगोपालचम्पूमनु कृतपूरणव्रजवर्तितृष्ण-श्रीकृष्णजन्मसम्पन्मयं नाम तृतीयं पूरणम् ।।३।।

अथ चतुर्थं पूरणम्

श्रीकृष्णजन्मोत्सवः

अथ पूर्वेद्युर्मधुकण्ठः कृती यथाऽचीकृतत्, एवमपरेद्युश्च व्रजदेवसभायां भासमानायां स्व सावसरनिदिग्धः स्निग्धकण्ठस्तत्कीर्तिमचिकीर्तत् ।।१।।

मधुकण्ठः सोत्कण्ठः पप्रच्छ; यथा मधुकण्ठ उवाच—

"प्राग्यद्वच्चरितं हरेररसयद्वागिन्द्रियं तद्वद-
प्यद्यास्वादयितुं ममेच्छतितरामुद्यम्य कर्णद्वयम् ।
यद्यप्येकक एव भोक्तृपदभाग्जीवस्तथापि प्रति-
स्वं चक्षुःप्रभृतीनि तानि च मुहुर्वाञ्छन्ति भोगप्रथाम् ।।" ।।२।।

तथा च स्निग्धकण्ठ उवाच,—"अथानन्दसमृद्धा सा वृद्धा गोदोहनार्थं गोस्थानमध्यवस्थितान् मध्यस्थित-श्रीमन्नन्दोपनन्दादीन् विन्दति स्म; ।।३।।

तदनन्तर अपना चरित्र सुनकर, गैयाओं के सँभालने के लिए पिताजी की आज्ञा माँगकर, माता के प्रति भी वन भोजन भेजने की प्रार्थना कर, दोनों सूतपुत्रों के साथ निजमिलन का समर्थन कर, श्रीकृष्णचन्द्र के वन चले जाने के बाद सभीजन अपने अपने घर को चले गये ।।१३४।।

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते श्रीगोपालचम्पूकाव्ये कृतपूरणव्रजवर्तितृष्ण-श्रीकृष्णजन्मसंपन्मयं नाम तृतीयं पूरणं संपूर्णम् ।।३।।

चतुर्थ पूरण

श्रीकृष्ण का जन्मोत्सव

प्रथम दिवस जिस प्रकार कथाकुशल मधुकण्ठ ने श्रीकृष्णकथा कीर्तन किया, उसी प्रकार दूसरे दिन देदीप्यमान श्रीव्रजराज की सभा में अपने अवसर में परिपुष्ट स्निग्धकण्ठ ने भी श्रीकृष्ण की कीर्ति का कीर्तन किया ।।१।।

उत्कण्ठापूर्वक मधुकण्ठ ने पूछा, यथा मधुकण्ठ बोला—भैया स्निग्धकण्ठ ! पहले दिन जिस प्रकार मेरी जिह्वाइन्द्रिय ने श्रीहरि की लीला का रसास्वादन किया, उसी प्रकार आज मेरे दोनोंकान भी उद्यमपूर्वक उसी का आस्वादन करने के लिये अत्यन्त इच्छा कर रहे हैं, अर्थात् श्रीहरिलीला के कहने में जो सुख मिलता है, सुनने में उससे भी कहीं अधिक मिलता है। यद्यपि भोक्तापद का भागी तो अकेला जीवात्मा ही है तथापि नेत्र आदि वे सभी इन्द्रियाँ प्रत्येक ही बारंबार भोगप्रथा की इच्छा करती रहती हैं ।।२।।

स्निग्धकण्ठ बोला—श्रीकृष्णजन्म के बाद अधिक आनन्द से युक्त वह वृद्धा ब्राह्मणी गोदोहन के लिये

"तत्र च—अस्तव्यस्तगतिः प्रमोदमधुरा पश्यन्त्यमूनग्रतः
किञ्चिद्वक्तुमिवोद्यदास्यवलना दीर्घायिताल्पक्षितिः।
हस्तन्यस्तफलादिरेवमपि सा पुत्रोद्भवं व्यञ्जती
यत् किञ्चिद्वदति स्म तत् पुनरवादीदित्यमी मेनिरे॥" ॥४॥

मधुकण्ठ उवाच,—"किमुक्तवती सा ? स्निग्धकण्ठः सस्मितमुवाच,—अस्माकं राजाद्य प्रजातप्रजाः; कथं भवन्तस्तन्मिलनाय नायान्ति ? इति। मधुकण्ठः सहासमुवाच,—ततस्ततः ? स्निग्धकण्ठ उवाच,—ततश्च तज्जन्मवृत्तामृतनववर्षाभिः शिखिन इव गोपाः कोलाहलं कलयामासुः। श्रीगोपत्यधिपस्तु वानस्पत्य इव पुलकाङ्कुरकुलाकुलतया परं परमानन्दं व्यञ्जयामास, न तु वचसा। मधुकण्ठ उवाच,—ततस्ततः ?" ॥५॥

स्निग्धकण्ठ उवाच,—"ततश्च स्मितसम्भ्रमादरभर-कर्वुरितैः सर्वैर्वन्दितया नन्दितया च तया सत्वरया पलिक्नीवरया सनिजाङ्गजात एव भवान्मङ्गलसङ्गी भूयादित्यपूर्वां सुखपूर्वां वाचं प्रोच्य रोचनाकुङ्कुमसङ्गलेप-सङ्कुल-सदङ्कुरफलमङ्गले श्रीमद्व्रजराजस्य क्षेमङ्करकरयोर्विन्यस्ते तेन विलोकितकल्पः श्रीमानुपनन्दः सानन्दं जल्पति स्म,—'इह दोहाय संहाय रंहसायमाना धेनुसङ्घाः कामप्यविहाय द्रुतमस्याः सगृहाय विहाप्यन्ताम्।'

"तत्र सर्वे चामोदगर्वेण प्रोचुः,—'अन्यद्वा यत्किञ्चिदस्या हितं समीहितं भवति ॥६॥

गो स्थान के मध्य में स्थित सभी गोपों के मध्य में विराजमान श्रीनन्द उपनन्द आदि गोपों के निकट उपस्थित हो गई ॥३॥

वहाँ पर वार्ताहारिका वृद्धा की गति अस्तव्यस्त थी, हर्षमाधुरी धारण करके वह सन्मुख श्रीनन्द आदिकों को देख रही थी, उसका मुख कुछ कहने के लिये चेष्टा कर रहा था, शीघ्र पहुँचने की लालसा में थोड़ी सी भूमि भी उसे लम्बी जैसी मालूम पड़ती थी, उसके हाथों में फल, पुष्प आदि धरे थे, इस प्रकार की अवस्था द्वारा उस वृद्धा ब्राह्मणी ने पुत्रोत्पत्ति की शुभ सूचना कर दी। उसके बाद उसने अपने मुख से जो कुछ कहा उसको तो इन गोपों ने पुनरुक्त ही माना, अर्थात् उस बुढ़िया की हर्ष भरी चेष्टा से ही वे पुत्रोत्पत्ति को समझ गये, अतः पश्चात् उसका कहना पुनरुक्त सा ही माना ॥४॥

मधुकण्ठ बोला—उस वृद्धा ने क्या कहा ? स्निग्धकण्ठ मन्द मुस्क्यानपूर्वक बोला—हमारे राजा के आज पुत्र का जन्म हुआ है, तुम सब उस पुत्ररत्न से मिलने के लिए क्यों नहीं आते हो ? मधुकण्ठ हास्यपूर्वक बोला—आगे क्या हुआ सो कहिये ? स्निग्धकण्ठ बोला—तदनन्तर नूतन वृष्टि होने पर मयूरों की तरह सभी गोपगण पुत्रजन्ममय चरित्रामृत की नवीन वर्षा से कोलाहल करने लग गये। श्रीगोपाधिप नन्दजी ने तो फलपुष्प युक्त वृक्ष की तरह रोमाञ्चरूप अंकुर राशि द्वारा परिव्याप्त होकर केवल परमानन्द को ही प्रकाशित किया, वाणी से तो कुछ भी न कह सके। मधुकण्ठ बोला—आगे का प्रसङ्ग सुनाईये ॥५॥

स्निग्धकण्ठ बोला—तदनन्तर मृदु मुस्क्यान, सम्भ्रम एवं अति आदर आदि से अपूर्व भावधारण करके सभी ने उस अति प्राचीन ब्राह्मणी की वन्दना की, ब्राह्मणी ने भी अति प्रसन्न हो शीघ्र ही आकर, "हे नन्दजी ! अपने पुत्र के सहित आप सदैव मङ्गलयुक्त होओ" ऐसी अपूर्व सुखभरी वाणी को बोलकर, हलदी कुंकुम मिश्रित चन्दन द्वारा विलिप्त दूर्वांकुर और नारियल आदि मङ्गलमय फल श्रीव्रजराज के मङ्गलकारक करयुगल में अर्पण कर दिये। श्रीनन्दजी ने श्रीउपनन्दजी की ओर जब किंचित् देखा तब

ततश्च,　आह्लादेन समं जज्ञे बालः किं किं स एव सः ।
　　　　एवं विवेक्तुं नन्दस्य नासीन्मतिमती मतिः ॥' ॥७॥

"अथ श्रीमान् व्रजेशः स्वीकृतधार्मिकवेशस्तदपि बहुलमन्यदपि बहुलादिकं दानाय सञ्चक्लृपे;—यत्र सर्वश्च तथाभावाय खर्वशश्चक्लृपे; सङ्कल्प्य च गृहे गन्तुं कृतस्पृहे धृतवेशे च तत्तद्वृतव्रजनरेशे श्रीरामप्रसू-समादेशान्महागोपुरदेशाद्दुन्दुभिद्वन्द्वमुन्ननाद। तच्च वाद्यविद्याविदुरव्यञ्जितं वाद्यं व्यक्तमेवेदं मुहुर्वक्ति स्म,—'प्रादुर्भूतो नन्दानन्दः प्रादुर्भूतो नन्दानन्दः' इति ॥८

ततश्च,　"अपि श्रुतमभून्निशि त्रिदिववाद्यगर्जोर्जितं
　　　　जितं जितमिति स्वनं न तु विनिश्चितं कारणम् ।
　　　　तदा तदनुवादि तत् कलयताममीषां मुहु-
　　　　र्मुदा कलकलारवः समजनि व्रजप्राणिनाम् ॥९॥

"अथ सम्मदेन मुहुर्लम्भितस्तम्भारम्भतायामप्युत्कण्ठयाकृष्ट इव तत्र च लब्धकम्प-सम्पत्तायामपि केवलं स्वकृतसेवेन नारायणदेवेन दत्तहस्तावलम्ब इव धैर्यमवलम्बमानः स्वालयं प्रति व्रजभूपालः प्रचचाल ॥१०॥

श्रीमान् उपनन्दजी आनन्दपूर्वक बोले कि इस स्थान पर दोहन के लिए मिलकर जितनी गैया वेगपूर्वक आ रही हैं, उनमें से किसी एक को भी न छोड़कर शीघ्र ही इस ब्राह्मणी के गृहपति के लिये भेज दो। वहाँ पर सभी आनन्दमय गर्व से बोले कि और भी यदि कुछ हितकर वस्तु की इच्छा इस ब्राह्मणी को हो तो वह भी इसके घर पहुँचा दो ॥६॥

तदनन्तर आह्लाद के साथ ही बालक का जन्म हुआ है, अथवा आह्लाद ही बालकरूप से उत्पन्न हुआ है, श्रीनन्दराय की विचारयुक्त बुद्धि भी उस समय इस बात का विवेचन करने में समर्थ न हुई ॥७॥

पश्चात् श्रीमान् व्रजराज ने स्नानादि कार्य सम्पादनपूर्वक धार्मिक वेश धारण कर, पूर्वोक्त एवं और भी अनेक गैया आदि देने के लिये सङ्कल्प किया। जिस दान में संकलिपत वस्तुओं को सब व्रजवासी तो अर्वो खर्वों की संख्या की मान रहे थे, परन्तु श्रीनन्दजी के उदार मन में तो वे वस्तुएँ थोड़ी सी प्रतीत होती थीं। संकल्प करके, वेश धर के, उन उन उपनन्दादि गोपों से परिवृत होके, श्रीव्रजनरेश के अपने घर जाने के लिये इच्छा करते ही श्रीरोहिणीजी के आदेश से पुरद्वार प्रदेश से दो दुन्दुभियाँ बजने लग गईं। वाद्यविद्याविशारदजनों द्वारा बजाया हुआ वह दुन्दुभि वाद्य बारंबार यही कहता था कि—"नन्द के आनन्द भयो जय कन्हैयालाल की, नन्द के आनन्द भयो जय कन्हैयालाल की" इति ॥८॥

तदनन्तर रात्रिसमय में स्वर्गीयवाद्यों की गर्जना से बढ़े हुए जय जयकार शब्द तो सुनाई पड़ते थे, किन्तु उनका कारण तो निश्चित नहीं हो पाता था। उस समय उस अनुवादित शब्द को सुनने वाले उन व्रजवासियों का हर्ष के कारण बारंबार कलकल शब्द ही उत्पन्न होने लग गया ॥९॥

तदनन्तर हर्ष की अधिकता से यद्यपि बारंबार स्तम्भभाव का आरम्भ उपस्थित होरहा था तथापि श्रीव्रजराज मानों उत्कण्ठा से आकर्षित से हो गये। उत्कण्ठित होने पर भी सात्विक भावमय कम्प सम्पत्ति उपस्थित हो गई, इतने पर भी जिनकी सेवा सदैव स्वयं की है ऐसे श्रीनारायणदेव ने ही मानों अपने हाथ का सहारा दे दिया है, ऐसे श्रीनन्दजी धैर्य का सहारा लेते हुए अपने भवन के प्रति चल दिये ॥१०॥

ततश्च, "तद्वृन्दे गृहमभियाति बन्धुवर्गा, धावन्तः क्रममिलिता मिथः पुरोगाः ।
ये गङ्गाझरमनु निर्झरप्रभेदा, यद्वत्तत्तुलिततयानयन्त वृद्धिम् ॥११॥
अथागताः पुरवनिताः पुरः पुरः, सहस्रशः कलितशुभायुतायुताः ।
व्रजेश्वरं पुरु निरराजयत् जय,-न्नवात्मजप्रभवमहे महेहया ॥१२॥
ततश्च कोलाहलिभिर्व्रजस्थितैः, समं गतः श्रीलमहाव्रजेश्वरः ।
स्वरांस्तु सालङ्कृति चार्वशूशुभन्, नभःसभं पूर्णसुधांशुवत् प्रभुः ॥१३॥
यद्यपि विप्राः सहसा, स्वयमागतये कृतोद्यमाः सर्वे ।
तदपि तदादरविधये, राज्ञाहूताः पृथक् पृथक् प्रथमम् ॥१४॥
सुखाविष्टस्तस्मिन्मधुरमुपविष्टैः सदसि तै-र्महास्निग्धैः शर्मप्रकरपरिदिग्धैः परिवृतः ।
पठद्भिः पुत्राशीरुचितनिगमं भूसुरवरैः, किरद्भिर्दूर्वाद्यं शिरसि सुखपूर्वं स महितः ॥१५॥
सस्ने यत् परिचस्करे वपुरपि स्वस्ति-श्रुतिः शुश्रुवे
श्रीमन्नन्दमहात्मना सुतजनौ तत्तत् स्तुवे नापरम् ।
अद्यापि स्फुटमेति सर्वजनता येषां श्रुतादप्यहो
स्नानाद्यप्यतिगम्य सत्कृतिफलं यस्यास्ति नान्तः सदा ॥१६॥

तदनन्तर गोपवृन्द के नन्दालय की ओर चल देने पर उनके सभी बन्धुवर्ग अग्रसर होकर दौड़ते हुए परस्पर क्रम से सम्मिलित हो गये। एवं विभिन्न जलप्रवाह गङ्गाप्रवाह को प्राप्तकर जैसे वृद्धि को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार क्रमशः सम्मिलित होते हुए बन्धुवर्ग भी वृद्धि को प्राप्त हो गये ॥११॥

तदनन्तर हजारों पुरवनितायें अनेक माङ्गलिक द्रव्य ग्रहण कर नगर के सामने ही आ मिलीं, एवं जयशाली, नित्य नूतन रहनेवाले, ऐसे पुत्र के जन्मोत्सव में पधारते हुए श्रीव्रजेश्वर की महती चेष्टा पूर्वक विशिष्ट आरती की ॥१२॥

उसके बाद कोलाहल मचाने वाले व्रजवासियों के साथ मिलकर, अपने घर पहुँचकर, श्रीनन्दबाबा ने अलङ्कारयुक्त अपने घर को इस प्रकार सुशोभित कर दिया, जैसे कि नक्षत्रमण्डल सहित आकाश को पूर्ण चन्द्रमा सुशोभित कर देता है ॥१३॥

यद्यपि ब्राह्मण तो सभी स्वयं आने के लिये सहसा उद्योग कर रहे थे, तथापि श्रीव्रजराज ने उनके आदर करने के लिये उनको पहले ही अलग अलग बुलवाया ॥१४॥

अत्यन्त माङ्गलिक कार्यकुशल, अति स्नेही, श्रेष्ठ ब्राह्मणगण उस सभा में आकर मधुर भावपूर्वक बैठ गये, पश्चात् उन्होंने पुत्र को आशीर्वाद देने योग्य वेदमन्त्रों का पाठ करते हुए, श्रीनन्दजी के मस्तक पर सहर्ष दूर्वा आदि माङ्गलिक द्रव्यों का निक्षेप किया। वे ही व्रजराज पूर्वोक्त ब्राह्मणों द्वारा परिवृत और सुखित होकर सुखानुभवपूर्वक अपने हृदय में सम्मानित हुए ॥१५॥

महामना श्रीमान् नन्दजी ने स्वपुत्र जन्म के उपलक्ष में स्नान एवं शरीर संस्कारपूर्वक जो माङ्गलिक वेदध्वनि सुनी, मैं तो उन्हीं सब स्नानादि कार्यों की प्रशंसा करता हूँ, औरों की नहीं। यहाँ एक आश्चर्य का विषय यह है कि आज भी सब जन श्रीनन्दजी के जिन स्नानादिक की कथा के श्रवणमात्र से अपने स्नानादिक से भी अधिक सत्कार्यों के अक्षय फल को प्राप्त कर लेते हैं ॥१६॥

"अथ जातकर्म भव्यं कर्तव्यमिति गुरुभिरादिष्टेन तेन तत्प्रत्युत्क्रमश्चक्रे; यथा—

आनर्चिरे व्रजेशित्रा मातृका यास्तदा तु ताः ।

मातुः कमिव कं यासामित्यर्थव्यक्तिमागताः ॥१७॥

अथ नान्दीमुखश्राद्धं राद्धं गोपालपालिना ।

पितरो हि स्वयं यस्मिंस्ते नान्दीमुखतां गताः ॥१८॥

"अथ वेदविधानपटुभिः पुरोहितवटुभिः सार्धमन्तःपुरं प्रविष्टे भद्रकुम्भादिभद्रविशिष्टसूतिकागृहाग्रवेद्युपविष्टे श्रीव्रजकुलमहिष्ठे परममनोरथारोहिणी रोहिणी तदवधाय कुलत्रययशोदायियशोदाखट्वामन्तःपटेन व्यवधाय बालं पिधाय गृहावग्रहणीमानिनाय; किन्तु नवबालकं विलोकयितुं शर्मणा नर्मणा च निजालंकृत्यर्थं प्रजावत्यस्तं प्रत्यभितः किमपि किमप्यतुल्यतापर्यायितं याचितवत्यः प्रतिश्रुते तु तं विलोकयामासुः ॥१९॥

"स च लब्धस्तोक-रोक-लोकवलयभव-प्रबल-नवकुवलय-कुलपति-दुर्लङ्घ्यशोभासङ्घ-दुर्लभकोमलामलकान्ति-विश्रान्तिभूमिं,कलितमर्म-प्रयतनकर्म-विश्वाद्भुत-विश्वकर्मनिर्मित-निर्मल-नीलचिन्तामणिप्रतिमा-प्रतिप्रतीकातिक्रमिपरिमित-सर्वावयवं प्रबलप्रवाह-व्यतिषंगसंघट्टनकुट्टित

तदनन्तर—"माङ्गलिक जातकर्म करना चाहिये" गुरुजनों के ऐसे आदेश को प्राप्तकर, श्रीव्रजराज ने उस कर्म का उपक्रम किया। यथा—उस समय श्रीव्रजराज ने जो बड़े भाईयों की पत्नी हैं, उनकी पूजा की, पुत्रोत्सव में माता के सुख की तरह जिनका सुख है, इस प्रकार का अर्थ उनके द्वारा ही प्रगट हुआ, अर्थात् सदैव से जो जिठानी श्रीयशोदाजी के सुख में ही सुखी रहती हैं, यह प्रसिद्धि थी, आज वह प्रगट हो गई ॥१७॥

तदनन्तर गोपरक्षक श्रीनन्दजी ने नान्दीमुख श्राद्ध किया, जिस श्राद्ध में उनके पितर भी स्वयं मङ्गलपाठक किंवा मङ्गल के सूचक बन गये ॥१८॥

अनन्तर वेदविधि के जानने वाले पुरोहित बालकों के सहित व्रजकुलश्रेष्ठ श्रीनन्दजी के अन्तःपुर में प्रविष्ट होने पर तथा पूर्णकलश आदि माङ्गलिक द्रव्यविशिष्ट सूतिकागृह के आगेवाली वेदी पर बैठ जाने के बाद, उत्कृष्ट मनोरथ पर आरोहणकारिणी श्रीरोहिणीजी श्रीनन्दजी के आगमन को जानकर, माता, पिता, पति इन तीनों के कुल को यश देने वाली श्रीयशोदाजी की खाट को पड़दा के द्वारा ओटक में करके, बालक को ढककर देहली के पास लेकर आईं। किन्तु नये बालक को दिखाने के लिये, भैयाओं की धर्मपत्नियों ने सुख एवं कौतुकपूर्वक अपने अलङ्कारों के लिये तथा अतुल्यता से युक्त किसी अनिर्वचनीय वस्तु की भी श्रीनन्दजी से माँग की, देने की प्रतिज्ञा करने के बाद उन्होंने नवीन बालक का दर्शन करा दिया ॥१९॥

श्रीनन्दजी ने निजपुत्र को इस प्रकार देखा कि—उस समय किंचिद् भी शोक नहीं है जिनको ऐसे शोकविहीन जनों द्वारा अथवा अधिक कान्तियुक्त जनसमूह द्वारा उत्पन्न एवं परिपुष्ट, जो नवीन नीलकमलों का अधिपति, उसके द्वारा भी बालक की शोभा का लांघना अशक्य था, अर्थात् शोकहीन, कान्तिमान् दिव्य जनों द्वारा उत्पादित दिव्य नीलकमल से भी बालक की शोभा अधिक थी, यह बालक दुर्लभ, कोमल एवं निर्मल कान्ति की तो विश्रामभूमि ही हो रहा था। मर्म ग्रहण करने में जिनका यथेष्ट प्रयत्न हो रहा है, ऐसे विश्वभर में अद्भुत विश्वकर्मा द्वारा निर्मित जो निर्मल नीलचिन्तामणि की प्रतिमा उस प्रतिमा के प्रत्येक

बालवायज-समवायजमंजुलाञ्जनकलिततल-निश्चलजल-कालिन्दीह्रदजालज-बालशैवालकरुचि-रुचिररोचिर्वलिताराल-श्लक्ष्ण-बाल-समुदायं, कमलालया-करकिशलय-सितलसित-सितकमला-न्तर्वलयदल - निर्मलविलोचनं, वैकुण्ठस्थित - कल्पतरुतल्लजपल्लवकुण्ठताकर - करचरणाधरं, निपीतकनकरुचि-शुचिपीतन-पीतिताम्बरावरणरोचनं रोचनं, बालकमालोचयन्नात्मानं नयन-पयःपयसा स्नपयन् विलक्षणतया क्षणकतिपयं जलवदासीत् ॥२०॥

"यद्यपि बहुविधभावा, जाता गोष्ठेशितुस्तर्हि ।
तदपि च जाड्यं बलव,-ज्जज्ञे गाम्भीर्यशीलस्य ॥२१॥

"अथ चिराय धीरभावं धारितवति व्रजधरित्रीराज्यश्रीमति तदानन्दस्पृहिणी नवनन्दन-मुपनन्दगृहिणो तदुत्सङ्गसङ्गिनं चकार ॥२२॥

"उत्सङ्गं वहति शिशुं व्रजाधिराजे, सा दूरादधिशयिता प्रसूतिशय्याम् ।
आसीत्तच्छ्रवणज-वाष्परोमहर्ष,-स्तम्भाद्यैर्विवश-तनूर्व्रजाधिराज्ञी ॥२३॥

"अथ तत्र मेधाजनकं कर्म शर्मान्तनामभिर्निर्ममे,—यत्र (दशकर्मपद्धतौ) 'भूस्त्वयि' इत्यादिकं पठित्वा हेमान्तर्हितयानामिकया बालो घृतलवं लेहयामासे । अथायुष्यक्रिया क्रियते

अवयवों से भी बालक के परिमित सभी अवयव अत्यन्त सुन्दर थे। दलनविषयक प्रबल प्रवाह के सम्बन्ध की घटना से चूर्णितप्राय जो वैदूर्यमणियाँ उन चूर्णरूप वैदूर्यमणियों के मिलने से उत्पन्न जो मनोहर अंजन, उस अंजन के द्वारा जिसका तलभाग व्याप्त है, ऐसे स्थिर जल वाले यमुनाजी के ह्लदसमूह से जो नवीन शैवाल (काई) उत्पन्न हुई, उस शैवाल की कान्ति से भी जिसकी द्यु ति मनोहर है, इस प्रकार के आकुंचित, कुटिल एवं कोमल केशसमूह बालक के मस्तक पर हैं, अर्थात् बालक के केश मानों यमुनाजी के तल में स्थित वैदूर्यमणि के चूर्ण से उत्पन्न शैवाल लता के समान सुन्दर हैं। लक्ष्मीजी के कररूप नवपल्लव में स्थित सुन्दर जो श्वेतकमल उसके बीच के पत्रों से भी बालक के नेत्रयुगल निर्मल हैं। इस बालक के करचरण एवं अधर इस प्रकार के सुन्दर हैं कि जिनके सामने वैकुण्ठस्थित श्रेष्ठ कल्पवृक्ष के कोमल पल्लव भी कुण्ठित या परास्त हो जाते हैं। सुवर्णप्रभाविजयी सुन्दर हरिताल या कुंकुम की तरह पीले वर्ण के वस्त्र की पीत झँगुलिया द्वारा आवृत होने से यह बालक अत्यन्त मनोहर व रुचिकर हो रहा था। श्रीनन्दजी इस प्रकार के बालक को देखते हुए, एवं अपने को नयनजलरूप दुग्ध द्वारा अभिषिक्त करते हुए, विस्मयान्वित होकर कुछ क्षणों तक जड़ की भाँति खड़े के खड़े रह गये ॥२०॥

यद्यपि नवनन्दन के दर्शन समय श्रीनन्दजी के हृदय में बहुत से भाव उत्पन्न हुए, तथापि गाम्भीर्य-शील श्रीनन्दजी के जाड्यभाव ही प्रबलरूप से उत्पन्न हो रहा था ॥२१॥

तदनन्तर व्रजभूमि की राज्यलक्ष्मी के अधिपति श्रीनन्दजी के बहुत देर बाद धैर्य धारण करने पर, श्रीउपनन्दबाबा की धर्मपत्नी ने श्रीनन्दजी के आनन्दवर्धन की अभिलाषिणी होकर नवकुमार को उनकी गोदी में अर्पित कर दिया ॥२२॥

व्रजराज ने शिशु को जब गोदी में धारण कर लिया, तभी अति दूरवर्ती प्रसूतिशय्या पर लेटी हुई वह व्रजरानी, "लाला व्रजराज की गोद में है" इस बात को सुनते ही वाष्प, रोमाञ्च, स्तम्भ आदि सात्विक भावों से विवश शरीर वाली हो गईं, अर्थात् उनका शरीर सात्विक भावों से विवश होगया ॥२३॥

तदनन्तर जिनके नाम के अन्त में 'शर्मा' पद है, ऐसे ब्राह्मणों ने उस जातकर्म संस्कार में मेधाजनक

स्म,—यत्र (द०क०प०) 'ॐ अग्निरायुष्मान्' इत्यादयः कुमारस्य दक्षिणे कर्णे जेपिरे। ततः (द०क०प०) 'ॐ दिवस्पति' इत्यादिकेन डिम्भः स्पृष्टः। दिक्चतुष्टये मध्ये च (द०क०प०) 'ॐ इदमन्नं प्राणाय' इत्यादिभिर्भूमिश्चाभिमन्त्रिता। अथ (द०क०प०) 'ॐ अश्मा भव' इत्यादिना पुनरर्भकोऽभिमृष्टः। ततः (द०क०प०) 'ॐ इडासि' इत्यादिना तन्माताभिमन्त्रिता। पुनर्मातुःस्तनद्वयम् (द०क०प०) 'ॐ इमं स्तनम्' इति, 'ॐ यस्ते स्तनम्' इत्याभ्यामृग्भ्यां क्रमेण प्रक्षालितम्। ततश्च तमुत्तानशायिनं सूतिकाशय्यायां निधाय तच्छिरःप्रदेशे (द०क०प०) 'ॐ आपो देवेषु' इत्यादिनोदपात्रं निहितमिति ॥२४॥

"तदेवं जातकर्मशर्मणि निर्वृत्ते बालनाभिनाले च प्राप्तच्छेदनकाले वृत्ते परमानन्दसन्दोहेनानवहितप्राया या,सैव तदैव तदवधात्री धात्री सपुलककाया चित्रमिदमिति द्वित्रिवारमिदं निवेदितवती,—'राजन्! इतरत्र नाभिसरसि नालमेव लक्ष्यते, न तु नालीकम्; अत्र पुनर्नालीकमेव न तु नालम्' इति ॥२५॥

किञ्च, अंघ्र्योर्व्यक्तदरारिवज्रकमलाद्याश्चर्यचिह्नै रलं
कम्रै रुज्ज्वलितां तथा करयुगे तैः कैश्चिदन्यैरपि।
पश्य श्रीव्रजनाथ नीरदरुचेर्बालस्य सामुद्रको-
ल्लङ्घिश्रीविभवस्य देहबलनामस्मासु चित्रप्रदाम् ॥" ॥२६॥

कार्य सम्पादन किया। जिस कर्म में "भूस्त्वयि" इत्यादि वेदमन्त्र पढ़कर सुवर्णमुद्रिका से शोभित अनामिका अंगुली द्वारा बालक को घृतकण चटाया। उसके बाद आयुवर्धक क्रिया की गई। जिस आयुष्यक्रिया में "अग्निरायुष्मान्" इत्यादि मन्त्र बालक के दक्षिण कान में सुनाये गये। पश्चात् "दिवस्पति" इत्यादि मन्त्र द्वारा बालक का स्पर्श किया। चारों दिशाओं एवं मध्य में "प्राणाय" इत्यादि मन्त्रसमूह द्वारा भूमि भी अभिमन्त्रित की गई। तत्पश्चात् "अश्माभव" इत्यादि मन्त्र द्वारा बालक का पुनः अभिमर्षण किया। तदनन्तर 'इडासि" इत्यादि मन्त्र पढ़कर बालक की माता का भी संस्कार किया। पुनः "इमं स्तनं" एवं "यस्ते स्तन" इन दोनों ऋचाओं के द्वारा क्रमशः माता के दोनों स्तन प्रक्षालित हुए। तदनन्तर उस बालक को सूतिका शय्या पर चित लिटाकर उसके शिर के पास "आपो देवेषु" इत्यादि मन्त्र से जलपूर्ण कलश धर दिया गया ॥२४॥

इस प्रकार जातकर्मरूप मङ्गलकार्य के सम्पन्न होने पर एवं बालक के नाभिनालच्छेदन करने का समय उपस्थित होने पर, जो धाई परमानन्द सन्दोह के कारण प्रायः असावधान सी थी, वही धाई तत्काल सावधान होकर रोमाञ्चित देह से "यह अत्यन्त आश्चर्य है" इस प्रकार दो तीन बार निवेदन कर गई, और चकित होकर बोली कि—राजन्! अन्यान्य नाभिरूप सरोवर में केवल नाल ही देखा जाता है, कमल नहीं, किन्तु इस लाला की नाभि सरोवर में तो कमल ही दिखाई पड़ता है, नाल नहीं ॥२५॥

किंच धाय बोली—हे व्रजनाथ! तुम नूतन जलधर के समान कान्तिवाले इस बालक के शुभ चिह्नों को तो देखो! इस बालक की शोभा सम्पत्ति तो शुभाशुभ चिह्नसूचक सामुद्रक शास्त्रोक्त चिह्नों का भी अतिक्रमण कर रही है। इस बालक के दोनों चरणों में शङ्ख, चक्र, वज्र एवं कमल आदि आश्चर्यप्रद सभी चिह्न अत्यन्त शोभा पा रहे हैं, एवं दोनों हाथों में शङ्ख, चक्र आदि और अन्य भी शुभसूचक अनेक चिह्न विराजमान हैं। देखो! इस बालक की देहरचना हमको भी आश्चर्यान्वित कर रही है ॥२६॥

तदा च सर्वस्मिन्नपि विस्मितचर्यापर्याकुले बटवः सहासपाटवमूचुः,—"अये ! सर्वशर्मद ! निर्मलधर्मणो भवतः कथमशौचं नाम सामर्थ्यं समर्थयताम् ? यतो नाडीच्छेद एव वृत्ते तदामनन्ति स्म ।" ॥२७॥

"तदेवमुल्लसन्निखिलरोम-समुत्फुल्ल-मुखसोमः परिवारितबटुस्तोमतया बहिर्विहितहोम-स्थानमागम्य सम्यगर्पित-सर्वानन्दः सङ्गिसमर्पित-तत्तद्वृत्तशन्तम-कन्दः श्रीमान्नन्दस्तान् दानीयविप्रानानीय प्रदानारम्भं सम्भृतवान् ॥२८॥

"आरेभे स च दातुं, लेभे न तुलान्तु सङ्गिनां तेषाम् ।
तादृशतत्प्रसवश्री,-वार्ता यैरर्पिता परितः ॥२९॥

"तथापि—अयुतं प्रयुतं नियुतं, भवति दशानां सहस्रमारभ्य ।
नियुते विंशतिलक्षं, तावद्धेनूरदान्नन्दः ॥३०॥
विंशतिलक्षं दत्त्वा, धेनूः सौवर्णभृङ्गसङ्गयुजीः ।
हृदयमपूर्णतयासी,-त्तस्याप्यस्मै प्रदानाय ॥३१॥
दशभिर्दशभिर्द्रोणैः, कृततिलसप्ताचलीमददात् ।
यद्वृतिमणिकनकानां, तदधिकतरभारता द्विजैर्मेने ॥३२॥

उस समय सभीजनों के विस्मयकर स्वभाव के वशवर्ती होकर आकुल होने के बाद ब्राह्मण बालक हास्य की चतुरता दिखाते हुए बोले—हे सर्वसुखदायक ! आपका धर्म अत्यन्त निर्मल है, अतः किस प्रकार अशौच (सूतक) आकर आपके पास अपनी सामर्थ्य दिखा सकता हैं ? कारण मुनिगण कहते हैं कि नालच्छेदन होने पर ही वह अशौच आकर उपस्थित होता है। तात्पर्य यह है कि जब तुम्हारे लाला के नाल ही नहीं तो छेदन किसका, जब छेदन नहीं तो सूतक किसका ? ॥२७॥

यह बात सुनकर श्रीनन्दजी के सारे रोंगटे खड़े हो गये, उनका मुखचन्द्र खिल उठा, वे ब्राह्मण बालकों द्वारा घिर कर, बाहर विधियुक्त होम स्थान में आकर, सभी को अच्छी प्रकार आनन्द समर्पण करते हुए उपस्थित हो गये। उनके मित्रवर्ग आकर जब उन उन अत्यन्त माङ्गलिक समाचारों का निवेदन करते हैं, तभी श्रीमान् नन्दरायजी ने दान के उपयुक्तपात्र उन ब्राह्मणों को बुलाकर प्रचुर परिमाण में दान का कार्य आरम्भ कर दिया ॥२८॥

उन श्रीव्रजराज ने देना तो आरम्भ कर दिया, किन्तु उनके जो सङ्गी चारों ओर उस प्रकार के अद्भुत दान के प्रकार की वार्ता को प्रचारित कर रहे थे, उन्हीं प्रचारकों का परिमाण प्राप्त करना असम्भव था, अर्थात् चारों ओर दान की चर्चा का प्रचार करने वाले श्रीनन्दजी के सङ्गियों की संख्या करनी ही कठिन थी, तो फिर दान के परिमाण की चर्चा कौन कर सकता है ? ॥२९॥

तथापि—श्रीनन्दजी ने दस हजार से आरम्भ करके अयुत, प्रयुत, नियुत एवं दो नियुत बीस लाख गैया दान कीं, अर्थात् दश हजार का अयुत होता है, एक लाख का प्रयुत होता है, दश लाख की संख्या का नियुत कहलाता है, दो नियुत की संख्या बीस लाख हुई, अतः श्रीनन्दजी ने बीस लाख धेनु प्रदान कीं ॥३०॥

सुवर्ण से मढ़े हुए सींगों वाली बीस लाख धेनु देकर भी और दान के लिये उनका हृदय परिपूर्ण नहीं था, अर्थात् अति उदारता के कारण देते हुए भी हृदय नहीं भरता था ॥३१॥

३२ सेर का एक द्रोण कहलाता है, श्रीनन्दजी ने ऐसे दश दश द्रोण परिमाणों के सात तिल पर्वत

तेभ्यश्च दक्षिणीयेभ्यः प्रत्ता या दक्षिणामुना ।
तयाप्यक्षीणयान्येषामक्षीण्याश्चर्यमाययुः ॥३३॥
बाडव्यानामसंख्यानां नासीत् परिचितिस्तदा ।
ब्रह्मवर्चसमेवास्मिन् परिचायकतां ययौ ॥३४॥

"तत्र ये विदितवेदाभिप्राया विप्रा निजनिजविद्यातिशायकाः सूत-मागध-वन्दि-कृशाश्वि-नायकाः स्वच्छन्दनानाशब्दवादका वादकाश्च, ते सर्वेऽपि तस्मिन् पर्वणि सङ्गिनः सन्तः सुमङ्गलमेव शब्दायमानाः पृथक्तायामप्यपृथङ्निस्वना इव विश्वं विस्माययन्ति स्म । यावदेवं वृत्तं वृत्तम्, तावद्व्रजस्थलमपि हृष्टमिव दृष्टं, किमुत व्रजस्थाः; यतः संमृष्टतया विक्षेपशून्यमिव संसिक्ततया स्निग्धमिव, चलच्चित्रध्वजादितया नृत्यदिव चासीत् । तत्र च यदा गोवृषवत्सानामपि स्वभावत एव भवतः सानुरागस्नेहस्य तैलविद्रावितहरिद्रासमक्तिव्याजाद्बहिरपि व्यक्तिरासीत्, हर्षवैचित्र्यस्य च विचित्रधातुबर्हस्रक्काञ्चनमालाव्याजात्; तदा किमुत गोपानां ते ह्यद्यापि यशसा विद्यमाना गोपृथिव्याः पातार इतीव तथोच्यन्ते;—ये खलु व्यञ्जितरसभावतया विधृतालङ्कारतया च स्ववर्णनकाव्यग्रन्थैरभेदमाययुः; उल्लासविधृतनानामणिमयवलिपाणितया प्रेमणि स्वेषां वीरताञ्च व्यञ्जयामासुः । यदा चैवं गोपास्तदा पुनरतीव जीवनायमान-गोकुल-कुलेश्वरी गुणगणदिग्धस्निग्धहृदया गोपवरवर्णिन्यः कियद्वा वर्णनीयाः ? ॥३५॥

बनाकर दान किये। ब्राह्मणों ने उन सब तिल पर्वतों के ढकने के साधनरूप रत्न एवं सुवर्णसमूह को उन सात तिल पर्वतों से भी अधिक भारयुक्त माना, अर्थात् तिल पर्वतों के परिमाण की अपेक्षा सुवर्ण एवं रत्न आदिकों का परिमाण अधिक हैं ऐसा समझा ॥३२॥

दक्षिणा देने के योग्य उन ब्राह्मणों को श्रीनन्दजी ने जो दक्षिणा दी, उस अक्षय दक्षिणा से भी देखने वाले अन्य जनों के नेत्र आश्चर्ययुक्त हो गये थे ॥३३॥

उस नन्दोत्सव में असंख्य ब्राह्मणसमूहों का पहचानना तो नहीं हो सकता था यह सत्य है, किन्तु इस विषय में उनका ब्रह्मतेज ही परिचय दे रहा था कि ये ब्राह्मण हैं ॥३४॥

उस नन्दोत्सव में चारों वेदों के अभिप्राय को जानने वाले जो ब्राह्मण थे, एवं अपनी अपनी विद्या में अतिशय प्रवीण जो सूत, मागध, बन्दीजन और अपनी स्त्रियों के नाचने गाने से ही जिनकी जीविका चलती है ऐसे नट विशेष थे, तथा स्वच्छन्दतापूर्वक अनेक प्रकार के बाजे बजाने वाले जो वादकगण थे, वे सभी उस पर्व में सम्मिलित होकर सुमङ्गलमय शब्दों का ही उच्चारण करते हुए, पृथकता होने पर भी अपृथक् स्वर वाले एक से होकर विश्व को ही विस्मयान्वित कर रहे थे। जब तक इस प्रकार का वृत्तान्त हुआ, तब तक व्रजभूमि भी प्रसन्न सी दिखाई देती थी, फिर व्रजवासियों का तो कहना ही क्या है ? कारण अच्छी प्रकार मार्जित होने से विक्षेपशून्य जैसी, अच्छी प्रकार जल के छिड़काव से स्निग्ध जैसी, और चलती हुई विचित्र ध्वजा पताकाओं से तो व्रजभूमि नृत्य करती हुई सी मालूम पड़ती थी। वहाँ पर जब गैया, बैल, बछड़ा आदिकों के मन में स्वभाव से ही जो अनुरागपूर्ण स्नेह था, उसकी प्रतीति तैलमिश्रित हलदी से रूषित होने के बहाने बाहर भी हो रही थी, एवं विचित्र विचित्र धातु, मयूरपुच्छ, माला, सुवर्णमाला आदि के बहाने विचित्र हर्ष की भी प्रतीति हो रही थी, अर्थात् पशुओं की ही जब ऐसी स्थिति थी, तब गोपों की दशा का और क्या वर्णन करें ? कारण जो आज भी यशस्वी होने के नाते गोरूपा पृथिवी के रक्षक कहे

"याः खलु पूर्वं तदपत्यसम्पत्त्यभावान्निर्वेदवेदनया त्यक्तप्रायपरिष्कारा:, सम्प्रति तु किञ्चिच्छ्रवण-प्रवणतदपत्यश्रवणमात्रेण विधृत-विविधसुखविकारास्तत्पर्वरञ्जनार्थं विलम्बनीयामपि परिष्कृतिमुरीकृत्य नृत्यन्त्य इव तत्पुरीं प्रति चलिता:; याश्च व्यञ्जिजिषित-मङ्गलसङ्गतया स्नेहमयकामनापरिणामतया च स्वयमेव महामणिमयोपायनपाणयो बभूवुः;—यासामानन्दादन्यदेव शोभावैभवमाविर्भवति स्म ॥३६॥

"तथा हि—जितकुंकुममुरु रुरुचे, मुखशशिनां रोचिरेतासाम् ।
समुदितमुदितं पर्वणि, सुतजनुषः श्रीयशोदायाः ॥३७॥

"तत्र च गायन्ति,—
अजनि यशोदा निशि सुतसारम् । इति महिलालिरिता तदगारम् ॥ध्रु॥
सम्भ्रमविरचितबहुविधवेशम्, पथि माल्यच्यवपूरितदेशम् ।
चलमणिकुण्डलवलितकपोलम्, अपरिकलितगलदंशनिचोलम् ॥
उच्छलितच्छवि-चपलाहारम्, चित्रवसनवसरसनावारम् ॥ इति ॥३८॥

जाते हैं। जो रस, भाव व्यञ्जित करके एवं अलङ्कार धारण करके रस, भाव, अलङ्कारादि परिपूर्ण काव्य-ग्रन्थों के साथ अभेद भाव को प्राप्त हो गये, एवं जिन्होंने उल्लाससहित अपने अपने हाथों में अनेक प्रकार के मणिमय उपहार धारण करके प्रेम विषय में अपनी अपनी वीरता भी प्रगट कर दिखाई। जब गोपगणों की यह महिमा है तब सर्वजीवनस्वरूप नन्दनन्दन की जननी, गोकुल कुल की प्राणाधार गोकुलेश्वरी श्रीयशोदा, एवंगुणगणों द्वारा ही जिनका स्नेहपूर्ण हृदय परिपूर्ण है, ऐसी प्रधान प्रधान गोपाङ्गनायें श्रीकृष्णजन्मजनित आनन्द के वशीभूत होकर कैसी होगईं, इसका किस प्रकार कितना वर्णन किया जा सकता है ? ॥३५॥

जो गोपियाँ पहले श्रीयशोदाजी की पुत्ररूप सम्पत्ति के अभाव से अनास्था का अनुभव कर अलंकारादि धारण करना प्रायः त्याग चुकी थीं, और यशोदा के पुत्रोत्पत्ति के समाचार को सुनने के लिये जिनके कान प्रतिदिन लालायित हो रहे थे, किन्तु इस समय तो उनके पुत्रजन्म की बात सुनने मात्र से, आनन्दजनित अनेक सुखविकार धारण कर, एवं श्रीकृष्ण जन्मोत्सव की शोभा बढ़ाने के लिये विलम्ब से धारण करने योग्य अलङ्कारों को भी पहनकर, नृत्य सा करती हुई श्रीनन्दपुरी के प्रति चल दीं। मङ्गल के सहित मङ्गल प्रकाशित करने की इच्छा से एवं स्नेह की कामना करना ही जिनका परिणाम है, उन गोपियों ने स्वयं ही महामणिमय उपहार (भेंट) अपने अपने हाथों में धर ली। आनन्द के कारण जिनकी शोभा का वैभव दूसरी ही प्रकार का प्रगट हो रहा था ॥३६॥

देखो ! इन गोपियों के मुखचन्द्रों की प्रभा कुंकुम को परास्त करती हुई अत्यन्त शोभा पाने लग गई। श्रीयशोदा के पुत्रजन्ममय पर्व में सम्पूर्णरूप से हर्ष उदित हो गया ॥३७॥

वहाँ पर सब इस प्रकार गाने लगे, यथा—रात में श्रीयशोदा के एक सर्वोत्कृष्ट पुत्र उत्पन्न हुआ है, इस कारण से महिलाओं की पंक्ति उनके घर आ रही है। आते समय उन ने शीघ्रतापूर्वक अनेक प्रकार की वेशभूषा पहन ली, चलने के वेग से मार्ग में उनकी पुष्पमालाओं के गिरने से मार्गप्रदेश परिपूर्ण हो गया था। चञ्चलमणि के कुण्डलों से उनके कपोल शोभा पा रहे थे, कन्धे पर से चून्दरी खिसक के कब गिर गई इसका भी पता नहीं, उनकी देहप्रभा इस प्रकार उच्छलित हो रही थी मानों चलता हुआ बिजली का हार ही है क्या ? विचित्र वस्त्रों पर सटी हुई क्षुद्र घण्टिकायें मधुर मधुर शब्द कर रही थीं, इस प्रकार सभी गोपियाँ हासपरिहास करती हुईं नन्दालय में आईं ॥३८॥

"किञ्च, व्रजः प्रकटतां यातस्तत्र कृष्णश्च सङ्गतः ।
इत्यवाद्यन्त वाद्यानि वाद्याधिष्ठातृदेवतैः ॥३९॥
तस्मादानन्दसन्दोहादुपनन्दपुरःसराः ।
गम्भीरास्तेऽपि चाभीरा विजह्रुर्ननृतुर्जगुः ॥४०॥
तदा तत्रागता योषास्तं सदाशीर्भिरर्भकम् ।
निर्वर्ण्य वर्णयित्वा च परस्परमिदं जगुः ॥४१॥
पाहि चिरं व्रजराजकुमार, अस्मानत्र शिशो सुकुमार ॥ध्रु॥
द्रुततरवृद्धिसमृद्धिगतेन, शं भवताद्भवदभिमतेन ।
स्पृहयामस्ते हसितमुखाय, अङ्गण-सङ्गत-रिङ्ग-सुखाय ॥
गोबालावलिलूमालम्बि, चलनं तव वलतामविलम्बि ।
सह गोशावकगम-रमणेन, सुखयसि हन्त कदा कमनेन ॥
गोगणचारणविहरणमस्य, स तु पश्येद्वरभाग्यं यस्य ।
दुष्ट-कदन-दद-सुष्ठुवलाय, भवशिष्टालिविशिष्टफलाय ॥४२॥
इति सङ्गीतसङ्गिन्यो रङ्गिण्यो महसम्पदि ।
पीता-तैलेन सिञ्चन्त्यः सिञ्चन्त्यः प्रययुर्बहिः ॥४३॥

किंच व्रजभूमि प्रगट हो गई, वहाँ पर कृष्णचन्द्र भी सम्मिलित हो गये, इस प्रकार के शब्द उच्चारण करते हुए वाद्याधिष्ठात्री देवताओं ने अनेक प्रकार के विचित्र विचित्र बाजे बजाना आरम्भ कर दिया ॥३९॥

उस प्रकार के आनन्द सन्दोह के कारण श्रीउपनन्द प्रभृति गोपों ने गम्भीर प्रकृति होकर भी, चञ्चल जनों की भाँति विहार, नाचना, गाना आदि किया ॥४०॥

उस समय वहाँ पर आई हुई व्रजमहिलायें मङ्गलमय आशीर्वादपूर्वक उस बालक का दर्शन कर, वहाँ की शोभा का वर्णन कर परस्पर इस प्रकार गाने लगीं ॥४१॥

उस गायन का अर्थ यह है कि—हे व्रजराजकुमार! हे सुकुमार! शिशो! इस वृन्दावन में तुम हमारी चिरकालपर्यन्त रक्षा करो। अति शीघ्र वृद्धि समृद्धि को प्राप्त हुए सर्वाभिमत आपके द्वारा हमारा कल्याण हो। हम सदैव तुम्हारे हँसते हुए मुख के दर्शन की इच्छा करती हैं एवं यशोदा के आँगन में तुम्हारे घुटवन चलने का सुख प्राप्त करना चाहती हैं। गोवत्सगण की पुच्छ का अवलम्बन करके तुम्हारा चलना शीघ्र ही उपस्थित हो। आहा! तुम मनोहर गोवत्सों के साथ कमनीय गमनक्रीड़ा द्वारा हम सबको कब सुखी करोगे। जिसका भाग्य बहुत अच्छा है वही व्यक्ति इस नन्दलाल के गोगणचारणरूप बिहार का दर्शन कर सकेगा। तुम्हारा जो श्रेष्ठ बल है वह दुष्टों का मर्दन कर सकता है, ऐसे तुम शिष्टगणों के विशिष्ट फल के लिये समर्थ हो जाओ ॥४२॥

इस प्रकार प्रीतिरंगभरी गोपियाँ सङ्गीतसुख में निमग्न होकर उत्सव सम्पत्ति में हलदी और तैल द्वारा बारंबार सींचती हुई बाहर आईं ॥४३॥

"ततश्च, दधिदुग्धादिसेकेन मिथोऽमी शुभ्रतां गताः ।
तरङ्गा इव दुग्धाब्धेरनृत्यन् वरगोदुहः ॥४४॥

"अथ तास्तदवधाय तदेव गायन्ति स्म; यथा—
'पश्य सखीकुल गोकुलराजम्, पुत्रोत्सवमनु खेलाभाजम् ॥ध्रु॥
उदधि-प्रभ-दधि-संप्लवदेशम्, परितो घूर्णितमन्दरवेशम् ॥
मध्यघटी-फणिराजे कृष्टम्, हृद्यसुहृद्भिरतीव च हृष्टम् ।
मध्ये मध्ये दुर्लभदानम्, ददतं दधतं विस्मयभानम् ॥
एकं पुनरलमभवदपूर्वम्, अजनि विधुर्बत यदितः पूर्वम् ॥' इति ॥४५॥

"एतदपि श्लोकयामासुः,—
'नेयं दुग्धविकीर्णपालिरपि तु द्राग्वारिधारागति-
र्नेयं स्यान्नवनीतपिण्डविसृतिर्मुक्तास्तु मुक्ताम्बुदाः ।
नेयं दीर्णहरिद्रनीरविकृतिः किन्तु प्रभा विद्युतां
पर्वैवेदमतीव हर्षमहसा वर्षावपुर्निर्ममे ॥ इति ॥४६॥
बालस्य मातामहमेत्य मातुला,-स्तदा गृहीताः करचोरका इव ।
दध्यादिपङ्केषु मुहुर्विकर्षणात्, पितृव्यवर्गेण विहस्य दण्डिताः ॥' ॥४७॥

तदनन्तर ये प्रधान प्रधान गोप आपस में दही दूध आदि सींचने के कारण सफेद वर्ण वाले होकर क्षीरसमुद्र के तरङ्गों की तरह नृत्य करने लग गये ॥४४॥

पश्चात् वे सब गोपियाँ गोपगणों के आनन्दमय नृत्य को देखकर उसी का पद बनाकर गाने लग गईं, यथा—अरी सखियो ! गोपराज को तो देखो ! ये तो पुत्रोत्सव के उपलक्ष में "वृद्ध होकर भी बालकों की तरह" खेल कर रहे हैं ॥ध्रु०॥ क्षीरसमुद्र की तरह दधिसमूह द्वारा महोत्सव का सारा स्थान व्याप्त हो रहा है, वहाँ पर गोपराज मन्दराचल के समान वेश विशिष्ट होकर चारों ओर चक्कर काट रहे हैं। नन्दरायजी का मध्यदेश घटीरूप वासुकी से बँधा है एवं वे प्रियतम मित्रगणों से घिरकर अत्यन्त हर्षित हो रहे हैं। और देखो तो सही, बीच बीच में दुर्लभ वस्तु बार बार देते हुए आश्चर्य का प्रकाश कर रहे हैं। आहा ! इस नन्दोत्सव में तो एक बड़ा भारी आश्चर्य यह है कि क्षीरसमुद्र में से तो मन्थन के बाद प्रसिद्ध चन्द्र उत्पन्न हुआ था, किन्तु यह कृष्णचन्द्र तो क्षीरसमुद्र के मन्थन से पहले ही उत्पन्न होगया ॥४५॥

इस महोत्सव के स्वरूप को भी श्लोक निबद्ध करके बोलीं—अरी सखियो ! देखो ! यह फैली हुई दूध की धारा नहीं है, अपितु शीघ्र चलने वाली जलधारा की गति है। यह नवनीत (माखन) के गोलाओं का विस्तार नहीं है, किन्तु मेघ के द्वारा बरसाये हुए मोती हैं। यह पिसी हुई हलदी से युक्त जल का विहार नहीं है, किन्तु बिजलियों की प्रभा है। जो कुछ हो हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि—यह महोत्सव ही अत्यन्त हर्ष से मानों वर्षा का शरीर निर्माण कर उपस्थित है ॥४६॥

श्रीकृष्ण के पितृव्यगण (चाचा) हमको पीटेंगे, ऐसी शंका कर के, एवं अपने पिता के पास हम निर्भय रहेंगे, इस विचार से कृष्ण के सब मामा, कृष्ण के मातामह (नाना) के पास आकर छिप गये तो भी राजकीय कर को चुराने वालों की तरह उनको श्रीकृष्ण के चाचा अभिनन्द आदिकों ने पकड़ लिया, पश्चात् श्रीकृष्ण के चाचाओं ने हँस हँसकर उनको दही आदि की कीच में बारंबार घसीट कर दण्डित किया ॥४७॥

"श्रीमान्नन्दश्च—

महोदारचित्तश्रितानेकवित्तः, समाहूय सर्वं गुणाजीविखर्वम् ।
विना तद्विचारं वपुःशक्तिसारं, समुत्क्षिप्य रत्नं ददे सातियत्नम् ॥४८॥

किञ्च, ग्रहीता याचितान्यत्र प्रदाताङ्गीक्रियायुतः ।
श्रीमन्नन्देन दाने तु तत्र जातो विपर्ययः ॥४९॥

अतएव,—विना याच्ञां ददाने तु सर्वं व्रजपतौ तदा ।
कल्पद्रु-चिन्तामण्याद्यास्तेऽप्यासन् कृपणा इव ॥५०॥

तत्र च—'अनेन प्रीयतां विष्णुस्तेन स्तान्मे सुते शिवम् ।
एवं प्रसभमुद्भूता दाने नन्दस्य भावना ॥' ॥५१॥

"अथ सर्वा जनता जनितस्नानकामा सममुना यमुनामयामास ॥५२॥

"तत्र चानन्देन श्रीनन्देन सह गलद्व्रीडां जलक्रीडां सन्तत्य निर्मलपरिमल-परिमिलन-पूर्वकं स्नानमातत्य दिव्यवस्त्रसंवस्त्रणं वितत्य चन्द्रचन्दनसमालम्भं प्रतत्य तत्रोटजमध्य-मध्यासीनां सिद्धप्रतनप्रयतनतया पूर्णमानसां पौर्णमासीमनु नमनमवतत्य वन्दिजनजनित-विश्रावपूरितश्रवसा श्रवसा वलिता सा पुनस्तदेव सदनमाससाद ॥५३॥

श्रीमान् महान् उदार चित्त वाले श्रीनन्दजी ने बहुत सा धन खजाने में से अपने पास मँगाकर, अर्व खर्व की संख्या वाले सभी गुणीजनों को बुलाकर, पात्रापात्र का विचार न करते हुए शरीर की सामर्थ्य के अनुसार, यत्नपूर्वक रत्नों को उठा उठा कर दान किया, अर्थात् अपनी शारीरिक शक्ति के अनुसार नन्दजी से जितने रत्न उठ सकते थे उतने ही रत्न प्रत्येक गुणीजन को दिये, यही उदारता की पराकाष्ठा है ॥४८॥

किंच और जगह के दान में ऐसा देखा गया है कि देयवस्तु का लेने वाला प्रथम याचना करता है, दाता अङ्गीकार करके देता है, किन्तु श्रीमान् नन्दजी के द्वारा दिये गये दान में तो विपरीतता थी, अर्थात् दाता श्रीनन्दजी बिना ही मांगे दे रहे थे, एवं लेने वाले "स्वस्तिते राजन् !" ऐसा कह कर अङ्गीकार कर रहे थे ॥४९॥

अतएव श्रीव्रजराज के बिना ही याच्ञा के सब कुछ दान करते समय कल्पवृक्ष और चिन्तामणि आदि जो अधिक दान देने वाले प्रसिद्ध हैं, वे भी कृपण जैसे मालूम पड़ते थे ॥५०॥

उस दान कार्य में श्रीनन्दजी के सहसा यह भावना उत्पन्न हुई कि इस दान कार्य से मेरे इष्ट श्रीविष्णु भगवान् प्रसन्न हो जायँ एवं उनकी प्रसन्नता से मेरे पुत्र का मङ्गल हो ॥५१॥

श्रीनन्दोत्सव के बाद सारी जनता स्नान करने की कामना से युक्त हो श्रीनन्दजी के सहित यमुना पर आई ॥५२॥

वहाँ पर आनन्दपूर्वक श्रीनन्दजी के साथ लज्जारहित हो जलक्रीड़ा का विस्तार करके, पश्चात् सुगन्धित तैलमर्दनपूर्वक स्नान करके, दिव्य वस्त्र पहन के, कर्पूर मिश्रित चन्दन लगा करके, उसी यमुना तीर पर पर्णशाला में विराजमान एवं पुराने सारे प्रयत्न सिद्ध होने से पूर्ण मन वाली श्रीपौर्णमासीजी को नमस्कार करके, वन्दीजनों द्वारा ख्यातिपूर्ण यशोगान सुनने से अपने अपने कानों को परिपूर्ण करती हुई सारी जनता पुनः उसी राजभवन में आ गई ॥५३॥

"ततः श्रीमान् व्रजस्य राजा रुचिदानानि रचयन् बन्धुवृन्दसिंधुं पूरयामास ।।५४।।

"अथ तस्मिन्नानन्दपीन्नि प्रतिदीन्नि श्रीरामजनन्या श्रद्धायन्त्रितया निमन्त्रिताः कृतघृतपक्वजेमनाः सर्व एव पर्वलक्ष्म्या पूरिताश्चन्द्रा इव स्व-स्व-मन्दिरमविन्दन्त ।।५५।। विदित्वा च तदानन्दं प्रति कृतप्रतिजागरां जागरामेव नृत्यगीतादिधन्यायां रजन्यामभजन्त ।।५६

श्रीरोहिण्या हरिजनिसुखं शक्यते केन वक्तुं
यस्माद्वेषं विविधमदधाद्भर्तृतः प्रोषितापि ।
चित्रं चित्रं सुकृतवरिमा दृश्यतां विश्ववन्द्यः
श्रीमन्नन्दोऽप्ययमनुत निजं भाग्यमायातिमस्याः ।।५७।।

"अथ सोऽयं रत्नाकरोऽपि व्रजस्तं हरेराविर्भावमारभ्याहरहर्विरह-रहित-तद्विहरणाद्वर्धिष्णुसमृद्धिः कामपि चमत्कारितां वितेने । गोपसमवायात् क्रमादाविर्भूतानां प्रभूतानां परमाणां रमाणां रमणधामतया तु किमुत ?" ।।५८।।

अथ मधुकण्ठेन चिन्तयाञ्चक्रे,—"आम् श्रीमद्भागवतसंवादश्चात्र सम्भवति (१०।५।१८),

'तत आरभ्य नन्दस्य व्रजः सर्वसमृद्धिमान् ।
हरेर्निवासात्मगुणै रमाक्रीडमभून्नृप ।।' इति ।।" ।।५६।।

तदनन्तर व्रज के राजा, अर्थात् चन्द्रमा के समान आह्लादजनक श्रीनन्दजी ने प्रीतिदान करते हुए बन्धुसमूहरूप सिन्धु को परिपूर्ण कर दिया ।।५४।।

पश्चात् आनन्द से परिपुष्ट उस प्रशस्त दान कार्य के समाप्त होने पर श्रद्धायुक्त श्रीरोहिणी द्वारा आदरपूर्वक निमन्त्रित सभी जन घृत से पके हुए भोजनों को जेम कर, उत्सव सम्पत्ति द्वारा पक्षान्तरे पौर्णमासी की शोभा द्वारा परिपूर्ण होकर चन्द्रसमूहों की तरह अपने अपने घर पहुँच गए ।।५५।।

दिन की तरह रात में भी उत्सव हुआ, यथा—उस समय सभीजनों ने आनन्द का लाभ कर एवं प्रत्यवेक्षण कर नृत्य गीत आदि से परिपूर्ण रात्रि में केवल जागरण ही किया ।।५६।।

श्रीकृष्ण के जन्म से श्रीरोहिणीजी को जो सुख हुआ उसको कौन कह सकता है? कारण जिसने अपने पति से दूर रह कर भी इस नन्दोत्सव में विविध वेष धारण किए । आश्चर्य ! आश्चर्य ! सभीजन इनके पुण्य की महिमा को तो देखो । विश्व पूज्य श्रीमान् नन्दजी ने भी इन रोहिणीजी के आगमन को अपना भाग्य माना था । तात्पर्य यह है कि जिसका पति दूर देश में स्थित हो उस स्त्री को प्रोषितभर्तृका कहते हैं, उसको वेषभूषा धारण, हास्य परिहास, समाज उत्सव आदि का देखना सर्वथा निषिद्ध है, किन्तु श्रीकृष्ण जन्मोत्सव के आनन्दातिरेक से श्रीरोहिणीजी इन सब प्राचीन प्रथाओं को बिलकुल भूल ही गई थीं ।।५७।।

पश्चात् रत्नाकररूप (समुद्ररूप) इस व्रजभूमि ने श्रीकृष्ण के आविर्भाव वाले दिन से लेकर प्रतिदिन विरह रहित श्रीकृष्ण के विहार के कारण, वृद्धिशील समृद्धि से युक्त होकर किसी अनिर्वचनीय चमत्कार का विस्तार कर दिया था । फिर अनेक गोपों द्वारा क्रमशः उत्पन्न अनेक उत्कृष्ट लक्ष्मीरूप गोपियों की विहारस्थली होने के कारण तो इस व्रजभूमि के महत्व का कहना ही क्या है? ।।५८।।

तदनन्तर मधुकण्ठ ने विचार किया—हाँ स्मरण आगया । इस विषय में श्रीमद्भागवत (१०।५।१८) का संवाद भी युक्ति युक्त है, यथा—हे राजन् परीक्षित् ! श्रीकृष्ण जन्म के समय से लेकर यह श्रीनन्दजी का व्रज समस्त समृद्धियों से युक्त होगया था एवं श्रीहरि का निवासस्थान होने से तो अपने गुणों द्वारा महालक्ष्मी श्रीरमादेवी का भी विहार वाटिका तुल्य होगया था ।।५६।।

स्निग्धकण्ठस्तु विभाव्य पुनराह स्म,—"अहो महोत्साहस्वभावतादिभिर्विराजमानता श्रीमद्व्रजराजस्य; यतः,

"तावन्मानं वितरणमहो सम्पदस्ताः कियत्य-
स्तावत्संख्यं महसि रचनं भृत्यवर्गाः कियन्तः ?
तावत्प्रान्तं जनसमवनं कत्यमुष्यावधाना-
न्येवं सर्वं व्रजनरपतेः को नु शक्तो विवेक्तुम् ?" इति ॥६०॥

समापयंश्चोवाच,—

"ईदृशस्तनयो जातस्तव गोष्ठक्षितीश यः ।
लक्ष्मीलक्षान्वितं कुर्वन् गोष्ठं निन्ये विलक्षताम् ॥" ॥६१॥

तदेतद्वृत्ते च वृत्ते पूर्वदिनवदखिला एव निजनिजालयमासादितवन्तः श्रीगोकुल-युवराजश्च गवां कुलमिति ॥६२॥

॥ इति श्रीश्रीगोपालचम्पूमनु श्रीमन्नन्दनन्दनपर्व नाम चतुर्थं पूरणम् ॥४॥

स्निग्धकण्ठ ने भी विचारकर पुनः कहा कि—आहा ! स्वाभाविक महान् उत्साह प्रभृति गुण समूह द्वारा श्रीमान् व्रजराज की विराजमानता कैसी आश्चर्यजनक है ? देखो ! उतने असंख्य परिमाण का दान, वे सब असंख्य सम्पत्तियाँ, उत्सव कार्य में असंख्य प्रकार की रचना, सीमातीत सेवकवर्ग, इतने परिमाण के जनसमुदाय की रक्षा करना, इन श्रीव्रजराज की सावधानता कितनी है । इस प्रकार श्रीव्रजराज के सभी लोकोत्तर कार्यों की विवेचना कौन मानव कर सकता है ?॥६०॥

प्रसङ्ग समाप्त करता हुआ पुनः बोला—हे व्रजक्षित्तीश ! आपके ऐसा विलक्षण पुत्र प्रगट हुआ है कि जिसने प्रगट होते ही व्रजको लाखों गोपीरूप लक्ष्मियों से किंवा शोभा सम्पत्तियों से युक्त करते हुए विलक्षण चमत्कारजनक बना दिया ॥६१॥

इस प्रकार श्रीनन्दोत्सवरूप वृत्तान्त के समाप्त होने पर पहले दिन की तरह सभी श्रोताजन अपने अपने निवासस्थान पर पहुँच गये एवं श्रीगोकुलकुल युवराज श्रीकृष्णचन्द्र गैया चराने के लिए गोस्थान में पधारे ॥६२॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीगोपालचम्पूकाव्ये श्रीमन्नन्दनन्दनपर्व
नाम चतुर्थं पूरणं संपूर्णम् ॥४॥

अथ पञ्चमं पूरणम्

पूतना-वधः

अथोत्तरेद्युस्तथा द्योतमानायां सभायां कण्ठध्वनिकृतसर्वोत्कण्ठः शुभंयुर्मधुकण्ठः समाचष्ट,—"अये स्निग्धकण्ठ ! श्रूयताम्;—॥१॥

"अथ तस्मिन्नेवापदोषे प्रदोषे समस्तदेवरूप-श्रीवसुदेव-सदेशतः सन्देशहरः कोऽपि गोपितात्मा श्रीव्रजराजचरणराजीवपीठपर्यन्तधाम समाजगाम। स च श्रीमता तेन तदीय-प्रत्नसेवकरत्नतया परिचितियुक्तः पर्यनुयुक्तकुशलततिर्नम्रः समाचरन्नुवाच,—॥२॥

'रक्षांसि सर्वं भक्षयितुं जीवति भृशं नृशंसे कंसे किमिव निरंकुशं कुशलम् ? तच्च मम वेशेनैव वितर्क्यताम्; यदस्माकं तरण्या तरणं, तरणौ च सति कुत्रापि प्रस्थानं न सम्भवतीति बाहुभ्यामेव सन्तरणात्तीर्णतरणिजः सार्द्रवस्त्रः प्रदोषे समागतोऽस्मि।' ॥३॥

"व्रजराजस्तु रूक्षं हसन्नाह,—'विशेषश्चेत् कथ्यताम्।' दूत उवाच,—'किमधिकया वैवधिकतया साम्प्रतमस्माकमजीवनिरेव जीवातु-वल्ली,—यया निजाधीशं तादृशतदधीनं न पश्यामः।' व्रजराज उवाच,—'सम्प्रति तं प्रति किमपि विशेषवृत्तं वृत्तमस्ति ?' दूत उवाच,—'अथ किम् ?—यत एव तदीयचरणहितः प्रहितस्तेनाहमयमस्मि।' व्रजराज उवाच,—'किं तत्?'

पञ्चम पूरण

पूतना वध लीला

अनन्तर तीसरे दिन के कथा प्रसंग में पहले की भाँति शोभायमान सभा में अपनी कण्ठ ध्वनि द्वारा सभी श्रोताओं की उत्कण्ठा को उत्पन्न करने वाला—मङ्गलभवन मधुकण्ठ बोला—हे भ्रातः स्निग्धकण्ठ ! सुनो ॥१॥

श्रीनन्दोत्सव के दिन ही दोषरहित प्रदोषकाल में सर्वदेवरूपी श्रीवसुदेवजी के निकट से कोई एक सन्देशवाहक (दूत) अपने को छिपा कर श्रीव्रजराज की चरणकमल की चौकी के पास आया। श्रीयुक्त व्रजराज ने उस दूत को श्रीवसुदेवजी के दूतों में से श्रेष्ठ जानकर, उसके साथ परिचय होने के नाते सब कुशल समाचार पूछे, पश्चात् नमस्कार करता हुआ वह दूत बोला— ॥२॥

हे राजन् ! राक्षसों द्वारा सभी का भक्षण कराने के निमित्त नृशंस (क्रूर) कंस के जीते जी निरन्तर कुशलता किस प्रकार संघटित हो सकती है ? उसका तो आप मेरे फटे टूटे मलिन वस्त्रों से अनुमान कर लो। कारण—हम सब गूढ़ चरों का सूर्यदेव की उपस्थिति में दिन में नौका से उतरना या कहीं भी प्रस्थान करना सम्भव नहीं हो पाता, इसलिये अपनी भुजाओं द्वारा ही तैरकर श्रीयमुनाजी के पार हुआ हूँ, गीले वस्त्रों से ही प्रदोषकाल में आया हूँ ॥३॥

सूखी हँसी हँसते हुए व्रजराज बोले—यदि कुछ विशेष समाचार हो तो कहो ? दूत बोला—अधिक दौत्यकार्य से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है ? इस समय तो हमारा मर जाना ही संजीवनीलता के समान है। जिससे कि हम अपने स्वामी को ऐसे नृशंस कंस के अधीन तो न देखेंगे। व्रजराज बोले—तो क्या इस समय श्रीवसुदेवजी के प्रति कोई विशेष घटना घटित हो गई है ? दूत बोला—जी हाँ ! इसीलिये तो उनके

दूत उवाच,—'आनन्तर्येण पर्यवसितताया निशाया निशीथे श्रीमदीशस्य तस्मिन् कारागार एव श्रीदेवकी-देवीतः काचित् कन्या जाता ।' व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः ?' दूत उवाच,—'ततः सा नवसुता सुतरां गुप्तापि रुदती रक्षिभिरक्षिभिरलक्षितापि विदिता, वेदिता चान्तःपुरीशय-सानुशय-दुराशय-दुरीशाय । स च श्रीदेवकीदेवीविवाहगताहमारभ्य नभःसभ्यजनवाणीतः सुष्ठु भीतः सततं व्यग्रतया जाग्रदेव तिष्ठति । ततस्तद्वचनवर्णाकर्णनमात्रेण समग्रव्यग्रमनाः विक्षिप्तकेशः स भोजेशः सकरवालः करालः स्खलद्गतिः कुमतिः सूतिकागारमाससार ।' व्रजराजः सभयमुवाच,—'ततस्ततः ?' दूत उवाच,—'ततश्च निरवग्रह-ग्रहवन्निरनुग्रहः सहसा रंहसा सूतिकाशय्यामेव सज्जन् स निर्लज्जः प्रजाताया जातपरिवेदनाया देव्याः क्रोडतः समाच्छिद्य तद्विद्यमानमेव विक्षिप्तचित्तः क्षिप्रमेव तां प्रस्तराय प्रक्षिप्तवान्;—यतः सर्वतः स एव प्रतिक्षिप्ततामाप ॥४॥

"अथ व्रजराजः सास्रमुवाच,—'आः ! कथमेतद्दुरक्षरम्रक्षितमनक्षरमस्मासु श्रावितम् ? भवत्वद्याप्यवद्यमिदं मदीयसंस्त्याये न प्रस्ताव्यम्;—सा तु तद्दुःखदुःखिता श्रीदेवकीसखी तथा तद्विरहिणी श्रीरोहिणी च मोहमाप्स्यति ।' दूत उवाच,—'देव ! श्रूयतामव्यग्रमग्रिममाश्चर्यम् ।' व्रजराजः सहर्षमिवोवाच,—'आयुष्मन् ! कथ्यतां तथ्यम् ?' दूत उवाच,—'सा तु कन्या

चरणों का हितकर यह मेरे जैसा व्यक्ति उन्हीं ने दूत बनाकर भेजा है। व्रजराज बोले—वह घटना कैसी है कहो ? दूत बोला—आज ही बीती हुई रात्रि के ठीक आधी के समय हमारे स्वामी श्रीमान् वसुदेवजी के उसी कारागार में श्रीदेवकीदेवी से कोई एक कन्या उत्पन्न हुई। व्रजराज बोले—उसके बाद क्या हुआ ? दूत बोला—तदनन्तर नवप्रसूता वह कन्या अत्यन्त गुप्त करने पर भी रोती हुई, द्वारपालों द्वारा आँखों से न देखी जाने पर भी जान ली गई, एवं अन्तःपुर स्थित, दीर्घ द्वेषयुक्त दुष्ट प्रभु कंस के लिये भी जना दी गई। वह नीचविचार वाला कंस तो श्रीदेवकीदेवी के विवाह के बाद विदाई के दिन से लेकर, आकाशस्थ देववाणी से अत्यन्त भयभीत होकर, निरन्तर व्यग्रता के कारण सदा जागरूक (सतर्क) ही रहता है। तदनन्तर उन द्वारपालों के वाक्यों के वर्ण श्रवणमात्र से सम्पूर्णरूप से व्याकुल चित्त हो, इधर उधर फैले हैं केश जिसके, ऐसा कुमति कराल कंस करवाल (तरवार) को हाथ में लेकर, अस्तव्यस्त गति से सूतिकागार में आ गया। व्रजराज भयभीत होकर बोले—आगे क्या हुआ ? दूत बोला—उसके बाद तो स्वतन्त्र ग्रह की तरह अनुग्रहशून्य होकर, सहसा वेगपूर्वक सूतिका शय्या के निकट जाकर, उस निर्लज्ज ने पुत्रीविशिष्ट एवं विलाप करती हुई दुःखित देवकी की गोदी से उस कन्या को छीनकर, देवकी के सामने ही विक्षिप्त चित्त हो शीघ्र ही पत्थर पर दे मारा। इस कुत्सित कार्य के द्वारा ही वह कंस सब जगह सबसे तिरस्कार को प्राप्त हो गया, अर्थात् अपमान का पात्र बन गया ॥४॥

तदनन्तर व्रजराज सजलनयन होकर बोले—आः ! दुरक्षर संयुक्त इस प्रकार का अवाच्य विषय तुमने हमारे पास क्यों सुनाया ? अच्छा, जो हुआ सो हुआ, किन्तु आज भी पुनः इस निन्दनीय विषय को हमारे बन्धुवर्ग में किंवा हमारे गृह में प्रस्तावित नहीं करना, नहीं तो श्रीदेवकी की सखी श्रीयशोदा उसके दुःख में दुःखित होकर एवं श्रीरोहिणी भी उसके विरह में अधीर होकर मूर्च्छित हो जायगी। दूत बोला—महाराज ! सावधान होकर आगे का आश्चर्य सुनिये। व्रजराज सहर्ष बोले—हे आयुष्मन् ! जो सत्य बात

तस्यान्यायभाजो भोजेशस्य हस्तादस्तापि प्रस्तरमप्राप्ता प्रत्युत तन्मस्तक-न्यस्तचरणमूर्ध्वंगत्या समुत्पत्याशु दिव्यन्यदेव दिव्यं रूपं स्मितवती प्रकाशितवती।' व्रजराज उवाच,– 'कीदृशम् ?' ॥५॥

"दूत उवाच,—

श्यामाष्टपाणिपरिवेष्टितपार्श्वयुग्मा, चक्रादिशस्त्रवलिता खर्गसिंहवाहा।

देवादिभिः परिणुतप्रसरत्प्रभावा, सर्वैः समुन्नतमुखैः परितो व्यलोकि ॥इति यादृशम्।' व्रजराजः साश्चर्यमुवाच,–'किं वदसि ?' दूत उवाच,–'देव ! नात्रान्यथा; किमप्यन्यदपि कल्यमाकल्यताम्;–सा खल्विदं साच्छुरितमच्छमुवाच,—॥६॥

'रे पाप कंस किमिति त्वमहन्मुधा मां, त्वत्पूर्वशत्रुरजनि क्वचन प्रदेशे।

यस्मादुपेत्य निधनं तव जातु कर्ता, तन्नान्यमप्यतिशिशुं क्वचिदिच्छ हन्तुम् ॥' ॥७॥

"व्रजराजः साश्चर्यस्मितमुवाच,—'नूनं श्रीवसुदेवभक्तिप्रणालीपुत्रीकृता भद्रकाली सा भद्रमिदं वदति स्म;–यदद्यावधि नाधीरमवधीरितः सोऽयं वचसापि केनचनापीति।' ॥८॥

"दूत उवाच,—'अर्यक्षितीश ! पुनश्चेदमाश्चर्यमवधार्यताम्; स खलु भ्रातृव्यपदेश-भ्रातृव्यः स्वस्य भगिन्यष्टमगर्भमनिष्टतया निष्टङ्कितं कुर्वतीं सुरवर्त्मवाणीमपि देव्यादिष्टः

हो सो कहो। दूत बोला—वह कन्या तो अन्यायशील दुरात्मा भोजराज कंस के हाथ से फेंकी जाने पर भी पत्थर को न प्राप्तकर, प्रत्युत उसके मत्थे पर लात मारकर ऊपर को चली गई, और ऊर्ध्वगति से कूदकर उसने तो आकाश में शीघ्र ही मन्दमुस्क्यानयुक्त होकर दूसरा ही दिव्यरूप प्रकाशित कर दिया। व्रजराज बोले—कैसा ? ॥५॥

दूत बोला—वह कन्या श्यामवर्ण वाली थी, आठ भुजाओं द्वारा उसकी दोनों बगल परिवेष्टित थीं, वह चक्र आदि शस्त्रों से युक्त थी, आकाशचारी सिंह ही उसका वाहन था, देवता आदि सभी आकाशचारियों द्वारा उसकी विस्तीर्ण महिमा का गायन हो रहा था, सभी जनों ने चारों दिशाओं से ऊपर को मुख करके पूर्वोक्त प्रकार की दिव्यदेवी का दर्शन किया। आपने जो पूछा था वह दिव्यरूप ऐसा था। व्रजराज आश्चर्यान्वित होकर बोले—भाई ! क्या कहता है ? दूत बोला—हे देव ! इसमें अन्यथा कुछ भी नहीं है, कुछ और भी मङ्गलमय समाचार सुनिये। वह कन्या उपहाससहित इस प्रकार स्पष्ट बोली कि— ॥६॥

रे पापिष्ठ ! कंस ! तूने मुझको मारने की वृथा चेष्टा क्यों की ? तेरा पहला बैरी तो किसी स्थान पर उत्पन्न हो गया। वह शत्रु उस स्थान से किसी समय आकर तेरा वध करेगा, अतः तू अन्य किसी भी अति छोटे बालक को कहीं भी मारने की इच्छा मत कर ॥७॥

व्रजराज आश्चर्यान्वित हो मुस्क्याते हुए बोले—निश्चय ही श्रीवसुदेवजी की भक्तिप्रणाली द्वारा कन्या होकर उस भद्रकाली ने इन शुभ वाक्यों को कहा है, कारण आजतक क्षुब्धतापूर्वक अधीर होकर, किसी ने भी, वचन से भी, इस कंस का अपमान नहीं किया है, इसके डर के मारे सभी थर्राते थे ॥८॥

दूत बोला—हे वैश्यवर्य ! भूपते ! फिर भी इस अगले आश्चर्य का तो अवधारण करो। देखो ! भैया के बहाने गूढ़शत्रु उस कंस ने अपनी चचेरी बहन के आठवें गर्भ को, अनिष्टकारक रूप से निरूपण करती

स्वद्विष्टसुरक्लृप्तं मत्वा तौ कारागारादाहूय भूयः पादग्रहचर्यापर्या-पर्यन्ताग्रहतः पुत्रषट्क-हत्यागस्त्यागं भूरिविसूरित इव विधित्सन्निगडान्मोचितवान् ।' ॥९॥

"व्रजराजः सानन्दमुवाच,–'ततस्ततः ?' दूत उवाच,–'ततश्च मदीय-श्रीमदीश्वरी पुत्र-घातिन्यपि तस्मिन् सारल्यदोषादेव रोषान्निववृते । श्रीमन्मदीशिता तु विचारितवान्,–'पूर्वं शुष्कपेषं पिष्टवान्, सम्प्रति तु सर्पिःपेषं पिनष्टि सोऽयमस्मान्' इति; तदेवं तत्कौटिल्यकोटिं परिकल्प्यापि सौजन्यप्राबल्यादिह सारल्यमेवावलम्बितवान् । तेन पितरि शूरेण दुर्मतिनानुमतः शूरनन्दनः सहधर्मिण्या सह स्वगृहमागतवांश्च, न पुनर्विश्वासमाश्वासञ्च लब्धवान् ॥१०॥

यतः, जात्यन्यजनितः कंसः सदा दुन्वन् समाश्रितान् ।
मातरञ्च दुनोत्युच्चैः शिलापुत्रः शिलामिव ॥' ॥११॥

"व्रजराजः सहासमुवाच,—'तदनन्तरं प्रातरारभ्य स पुनरसभ्यः कां कारिमकार्षीत् ?' दूत उवाच,–'स्वभावजां कारिमेव; तथा हि, प्रातरसौ दुष्टस्त्वन्यद्दुश्चेष्टितमनुष्ठितवान् ।' व्रजराज उवाच,–'हन्त ! कथय तत् किम् ?' दूत उवाच,–'प्रातः स तु मलिनीकृतनिजकुलः खलिनीपतिः स्वदयितान् दैतेयानानयामास निशामयामास च निशीथिनीवृत्तम् । ते च भिन्नसेतवः केतव इव राहुनिभमेतं मिलिता व्याघ्रवर्गनिर्घोषप्रभघर्घरायमाणां गोष्ठीमनुष्ठित-

हुई आकाश वाणी को भी, देवी के आदेश से अपने द्वेषी देवताओं के द्वारा कल्पित मानकर, देवकी वसुदेव को कारागार से बुलाकर बारंबार चरणग्रहण की चर्या के परिपूर्ण आग्रह द्वारा, देवकी के छः पुत्रों की हत्या के अपराध को छुड़ाने के लिये इच्छा कर अत्यन्त अनुतप्त सा होकर, दोनों को बेड़ी के बन्धन से मुक्त कर दिया ॥९॥

(बन्धन से मुक्ति की कथा सुनकर) श्रीव्रजराज आनन्दपूर्वक बोले—आगे क्या हुआ ? दूत बोला—उसके बाद मेरी स्वामिनी श्रीमती देवकीदेवी पुत्रघाती उस दुष्ट कंस के प्रति भी सरलतारूपी दोष से ही रोष से (क्रोध करने से) निवृत्त हो गई । मेरे स्वामी श्रीमान् वसुदेवजी ने तो विचार किया कि—जिस व्यक्ति ने हमको पहले सूखे ही रगड़ा था, इस समय तो वह घृत द्वारा रगड़ रहा है, उसकी इस प्रकार की कुटिलता की पराकाष्ठा को जानकर भी, सुजनता की प्रबलता के कारण उन्होंने इस विषय में सरलता का ही आश्रय लिया । पश्चात् अपने पिता पर भी शूरवीरता दिखाने वाले दुर्मति कंस की अनुमति से शूरपुत्र श्रीवसुदेवजी सहधर्मिणी श्रीदेवकी के सहित अपने घर चले आये, किन्तु कंस के प्रति तो पुनः वे विश्वास और आश्वास प्राप्त नहीं कर सके ॥१०॥

कारण—कंस अन्य जाति, अर्थात् द्रुमिल नामक दानव के अंश से उत्पन्न होकर अपने आश्रितजनों को कष्ट देता हुआ शिलापुत्र (लोढ़ा) जैसे शिला को कष्ट देता है, उसी प्रकार अपनी माता को भी अधिक कष्ट देता है ॥११॥

व्रजराज हास्यपूर्वक बोले—अष्टमी की रात्रि के बाद नवमी के प्रातःकाल से लेकर उस असभ्य कंस ने क्या कार्य किया ? दूत बोला—स्वाभाविक कार्य ही किया । देखो ! प्रातःकाल तो उस दुष्ट ने एक अन्य प्रकार की ही दुश्चेष्टा का अनुष्ठान किया । व्रजराज बोले—हाय ! कहो वह कैसी दुश्चेष्टा है ? दूत बोला—प्रातःकाल तो निजकुलकलङ्कजनक खलसमूह के अधिपति उस कंस ने अपने प्रिय दैत्यों को बुलवाया और रात्रि का वृत्तान्त सुनाया । उन दैत्यों ने भी सेतुभङ्गकारी अथवा मर्यादानाशक केतुसमूहों की तरह राहु के

वन्तः । किं बहुना ? तत्र महेन्द्रादिनिर्जयगर्जनपर्यवसानतस्तात्पर्यमिदमेव जातम्,–यद्विश्वद्रीचां विष्णुमनुचरिष्णूनां देव-देवद्रयग्-भूदेवगवादीनां पीडनेनैव तत्पीडनमीडितं तथा तत्सध्रीचीनतया निर्दशानिर्दशानां बालानां निर्दयतया निर्दलनमिति खल्यामेव बल्यामवलम्ब्य तत्र स च संवलते स्म; तया च तदानीं बहु प्रयच्छते स्म ।' ॥१२॥

"व्रजराजस्तु तदिदं रुषद्वचनमवकलय्य सरुषस्ततः सत्रासमुवाच,—'तत्र श्रीमद्भ्रात्रा किमप्यक्लिष्टं मय्युपदिष्टमस्ति ?' दूत उवाच,–'अथ किम् ? यत् खलु शीघ्रमेवास्मै राजव्याजराक्षसाय सङ्गत्य बलिर्बलयितव्यो मिलितव्यश्चाहम्' इति । किञ्चेदमपि सन्दिष्टम्,–'भवन्नन्दनोत्पत्तिसमयं समया वयमत्युत्कण्ठितास्तन्मङ्गलेन सङ्गमनीयाः; तथा, भवत्पुत्रनिर्विशेषस्य तस्य बालविशेषस्य वृत्ति-र्वर्तयितव्या' इति ॥१३॥

"अथ तदेतदवकलय्य संशय्य च तं भोजनादिना योजयित्वा निजाग्रजानुजानाकार्य तदग्रे पुनस्तं तदनुरहसमनुव्याहारितवान् ॥१४॥

"तत उपनन्द उवाच,—'युक्तमेवानकदुन्दुभिना सन्दिष्टम्; साम्प्रतं करेणेव करेण राजविषधरस्य तस्य मुखमुद्रणमेव साम्प्रतम् ।' ॥१५॥

समान इस कंस से सम्मिलित होकर व्याघ्रों के शब्दों की तरह घर्घरध्वनियुक्त एक सभा की । अधिक क्या कहें ? उस सभा में महेन्द्रादि देवविजयी गर्जना के अनन्तर यही तात्पर्य निकला कि—सर्वव्यापक विष्णु की सेवा करनेवाले देवता, देवपूजक एवं गो-ब्राह्मण आदि की पीड़ा से ही विष्णु की पीड़ा प्रशंसापूर्वक निश्चित हुई, तथा पूर्वोक्त प्रकार की पीड़ा के सहायक रूप से दस दिन के या दस दिन से कम अवस्था के बालकों का निर्दयपूर्वक दलन करना ही निश्चित किया गया। वह कंस भी बलशाली खलसमूह का अवलम्बन लेकर उस पीड़न विचार में सम्मिलित हुआ । और उसने पूर्वोक्त दुर्विचार के अनुसार उस समय उस खल-समूह के लिये बहुत सा पुरस्कार बाँटा ॥१२॥

श्रीव्रजराज तो अकल्याणकर पूर्वोक्त वाक्य सुनकर क्रोधयुक्त कंस से भयभीत होकर बोले—वहाँ पर श्रीमान् भ्राता वसुदेवजी ने मेरे लिये भी किसी शुभ सन्देश का उपदेश किया है क्या ? दूत बोला–जी हाँ ! उन्होंने कहा है कि भैया नन्दजी को चाहिये कि राजा के बहाने राक्षसरूपधारी उस कंस से मिलकर अपना वार्षिक कर चुका दें, और एकान्त में मुझसे मिलें । और यह सन्देश भी भेजा है कि आपके पुत्रजन्म के समय से तो हम अति उत्कण्ठित हैं, उस मङ्गलमय समाचार से हमें भी संयुक्त कर दें, अर्थात् मङ्गलमय संवाद सुनाकर हमें भी सुखी करें । तथा आपके पुत्र के समान उस बालकविशेष रोहिणीलाल के वृत्तान्त के विषय में भी हमें सूचना दें ॥१३॥

तदनन्तर दूत के वाक्य सुनकर, सन्दिग्ध होकर, उस दूत की समुचित भोजनादि व्यवस्था कर श्रीनन्दजी ने अपने बड़े छोटे सभी भाइयों को बुलवाकर उनके आगे एकान्त में उसी दूत द्वारा फिर भी उसी वृत्तान्त को कहवाया ॥१४॥

तदनन्तर श्रीउपनन्दजी बोले—श्रीवसुदेवजी ने जो सन्देश भेजा है वह समय के उपयुक्त ही है, क्योंकि हाथ के द्वारा सर्प के मुख मूंदने की तरह राजग्राह्यकर के द्वारा उस राजारूप विषधर का मुख मूंदना ही योग्य है ॥१५॥

"अथ व्रजेशस्तं सन्देशमुरसिकृत्य प्रातःप्रायमधिगत्य दूतं निदिदेश,—'सौम्य ! भवानव्यग्रमग्रतः प्रयातु, तद्बालकस्य साङ्गमङ्गलसङ्गितां तथा तस्य वाञ्छितमन्यमुदयन्मुदमुदन्तमपि स्वमुखस्वस्तिमुखत एव प्रथयतु; वयन्तु भ्रातुराज्ञया राज्ञे करमाचित्य प्राभृतञ्च परितः प्रवित्य दिनपञ्चकानन्तरमागच्छन्त एव स्म ।' ॥१६॥

"तदेवं गते दूते दिनान्तरे तु जातकमातुः स्नानविधाने कृतसन्धाने सर्वमङ्गलसङ्गतमहः सङ्गत्य महन्महः सन्तत्य पुरोहितसहितहितमहितपञ्चजनप्रपञ्चं यथापुरःसरमन्तःपुरमानायमानायं नवबालकं गोपालभूपालः समालोकयामास ॥१७॥ तथा हि—

तस्मिन् पुण्याहवर्ये व्रजनृपतिशिशोरादिवीक्षा-सुधाभिः
सत्रं जज्ञे तथा तच्छ्रवणपरिमलादेव शक्ता यथा ते ।
आजन्मप्राप्तसम्पन्मृदुतर-तनवोऽप्यात्मना प्रीतिदाना-
न्यूहुर्भारायमाणान्युत दधुरमितान् स्वेद-रोमाञ्च-वाष्पान् ॥१८॥

श्रीमद्गोपनृपेण नूतनतनूजातस्य वीक्षाकृते
प्राग्र्या एव निमन्त्रिता व्रजजनाः सर्वे तु तत्राययुः ।
यह्यम्भोजवनाकरः स्वकुसुमव्रातप्रकाशप्रथा-
व्याप्तः स्यात् किमु तर्हि षट्पदगणानाकारयत्यात्मना ॥१६॥

तदनन्तर व्रजेश ने उस सन्देश को हृदयदेश में धरकर प्रातः हो आया ऐसा जानकर उस दूत को आदेश दिया कि—हे सौम्य ! प्रियदर्शन दूत ! तुम अव्यग्रतापूर्वक आगे जाओ। उनके बालक की सम्पूर्ण मङ्गलयुक्त बातें तथा उन वसुदेवजी के वाञ्छित अन्य भी आनन्ददायक वृत्तान्त को अपने मुखरूपी पत्र द्वारा ही विस्तारपूर्वक कह देना। हम भी भैया वसुदेवजी की आज्ञानुसार राजा के लिये कर को एकत्रित कर, चारों ओर से उपहार को सञ्चितकर, पाँच दिन के बाद आ ही रहे हैं, इसमें सन्देह न करना ॥१६॥

इस प्रकार उस दूत के चले जाने पर, दूसरे दिन जातक माताप्रसूति श्रीयशोदाजी के स्नान विधान का आयोजन सम्पन्न हो जाने पर, सर्वमङ्गलपरिपूर्ण दिवस को प्राप्तकर, महान् महोत्सव का विस्तारकर, पुरोहितों के सहित हितकर एवं पूजनीय पुरुष समूह को यथायोग्य क्रम से अन्तःपुर में बारंबार बुलवाकर गोपराज श्रीनन्दजी ने नवबालक का दर्शन किया ॥१७॥

देखो ! उस प्रधान पुण्यमय दिवस में व्रजराजनन्दन के प्रथम दर्शनरूप अमृतों द्वारा एक अमृत यज्ञ हुआ, तथा उसके श्रवणरूप परिमल (मनोहर सुगन्ध) से गोपगण ऐसे समर्थ हो गये कि उस सद्योजात बालक का दर्शन कर उनके शरीर में स्वेद, रोमाञ्च, वाष्प आदि सभी सात्विक भावों का उदय हो गया था, उससे यह बोध होता था कि वे अतिशय कोमलाङ्ग कृष्णरूपसम्पत्ति को जन्मभर में प्राप्तकर स्वयं कोमल शरीर होकर भी श्रीनन्दजी के द्वारा दिये हुए अतिभारतुल्य प्रीतिमय दानों को, श्रीकृष्णदर्शनरूप सुधा के गुण से ही धारण करने में समर्थ हुए हैं ॥१८॥

श्रीमान् व्रजराज ने नूतन कुमार के दर्शनार्थ प्रधान प्रधान व्रजवासियों को ही निमन्त्रित किया था, वे सब तो वहाँ आये ही, किन्तु उनसे भिन्न अनिमन्त्रित व्यक्ति भी नवकुमार के देखने को आगये। वे बिना बुलाये क्यों आये ? इस बात का समाधान अर्थान्तरन्यास अलङ्कार के द्वारा करते हैं, यथा—देखो !

पर्यग्द्वारिणि राङ्कवास्तरचिते विस्तीर्णगेहे यशो-
दाद्यग्रे स्थविरोपनन्दगृहिणीक्रोडे विचित्रं शिशुम् ।
दर्शं दर्शममी न यद्यपि गतास्तृप्तिं तथाप्युच्चकै-
र्नस्थुः पृष्ठ्यजनावकाशविधये शीलं हि मर्यादिता ॥२०॥

अङ्कभ्राजिशिशूपनन्दगृहिणीमाज्ञा मदीयेदृशी
यन्मा मादृशदृष्टिसम्भ्रमवशादुत्थात यूयं मुहुः ।
इत्येवं विनिगद्य याजकगुरुः सन्मोदसम्पन्मिलत्-
कम्पः साक्षतपाणि साश्रुनयनं स्वस्तिश्रुतीरूचिवान् ॥२१॥

आगच्छन्तः स्वगेहादभिमुखमिलिता बालवैशिष्ट्यपृच्छा-
वन्तस्तद्बालदृष्ट्या प्रमुदितहृदयैरूचिरे कैश्चिदेवम् ।
शोभा सा दृष्टिगम्या न तु परवचनश्रेणिगम्येति हर्षात्
कुण्ठत्कण्ठैरभावि प्रतिवचसि परैस्तत्तु नाश्रावि चान्यैः ॥२२॥

कमलाकर सरोवर जब अपने पुष्पसमूह की विकास परम्परा से व्याप्त हो जाता है, तब भ्रमरसमूहों को स्वयं बुलाता है क्या ? अर्थात् कमलों की सुगन्ध के वशीभूत हो भ्रमरगण जैसे सरोवर के पास स्वयं चले आते हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्ण के माधुर्य से खिचकर अनिमन्त्रित भी व्रजवासी स्वयं चले आये ॥१९॥

चारों ओर दरवाजों से युक्त, मृगरोम से बने हुए बिछोनाओं से परिव्याप्त, ऐसे विशालगृह में, श्रीयशोदाजी आदिकों के सन्मुख वृद्धामाता श्रीउपनन्दजी की पत्नी की गोद में विचित्र बालक को बार बार देखकर भी पहले आये हुए दर्शनार्थी गोपगण यद्यपि तृप्ति को नहीं प्राप्त हुए, तथापि अपने पीछे की ओर खड़े हुए अन्य दर्शकजनों को भी दर्शन का अवकाश देने के लिये ऊँचे होकर बहुत देर तक नहीं खड़े रहे । कारण—मर्यादा से युक्त रहना ही सुन्दर स्वभाव कहलाता है ॥२०॥

उस समय याजकगुरु शाण्डिल्यमुनि श्रीउपनन्द की गृहिणी को लक्ष्य करके बोले कि—तुम्हारी गोद में नवकुमार शोभा पा रहा है, अतएव हमारी इस प्रकार की आज्ञा है कि तुम हम जैसे गुरुजनों को देख कर सम्भ्रमवश बारंबार मत उठो । इस प्रकार कहते ही याजकगुरुजी के शरीर में अधिक हर्षसम्पत्ति के कारण कम्प उपस्थित हो गया, एवं हाथ में तण्डुल लेकर सजलनयन हो स्वस्तिवाचनपरक श्रुतियों को बोलने लग गये ॥२१॥

बालकृष्ण का दर्शन करके लौटने वाले जनों को रास्ते में अपने अपने घर से आते हुए, बालकृष्ण की विशेषता को पूछने की इच्छा वाले कुछ व्यक्ति सन्मुख मिले । प्रश्न करने पर बालकृष्ण के दर्शन से प्रमुदित हृदय बाले कुछ जनों ने उनसे उत्तर देते हुए इस प्रकार कहा कि—बालकृष्ण की वह अपूर्व शोभा तो दृष्टि के ही गम्य है, दूसरों के वचनों के गम्य नहीं है । इस प्रकार कहते कहते हर्ष के कारण कुछ जनों का तो गला रुक गया । कुछ जनों के प्रत्युत्तर के समय पहले से ही कण्ठ अवरुद्ध हो गये । और बालकृष्ण की दर्शनमाधुरी से उन्मत्त अन्य कुछ जनों ने प्रश्नोत्तर के विषय में कुछ सुना ही नहीं । यह है बालकृष्ण की दर्शनमाधुरी का चमत्कार ॥२२॥

आकैशोरं यत् परिष्कारवस्त्रं, यावद्धार्यं मासमासं सुतेन ।
तस्मै तावत्तद्विचारेण सर्वैः, प्रत्तं पित्रा कोऽपि कोषो ह्यनन्तः ॥२३॥
शोभां विन्दन्नन्दजालोकलोकः, सद्मायासीत् कृत्रिमाकृत्रिमा या ।
वस्त्रादीनां चित्रता यत्र पूर्वा, नेत्रादीनां चित्रतासीदपूर्वा ॥२४॥
आगता निजगृहं यदाप्यमू,-र्नन्दबालमवलोक्य लोभनम् ।
हन्त तर्ह्यपि दिनानि कानिचित्, मेनिरे दृशिगतं व्रजप्रजाः ॥२५॥

"अथ मथुरापथिकतां प्रथयिष्यमाणः श्रीगोकुलकुलराजस्त्वग्रजादीन् निजप्रतिनिधितादिकर्मणि निर्माय चलन्नन्तश्चिन्तितवान्,–'हन्त ! सुहृदि दुर्हृदि च मम मानसं समानसम्बन्धहार्दबन्धमपि प्रसभं भृशमेव तत्र प्रसजति नवजातके,–येनासौ पीविता जीविताशापि न परिच्छिन्नतामिच्छति । सम्प्रति दुष्टस्याविप्रकृष्टमटन्नस्मि, नानुभवन्नस्मि किं भविता; तस्माद्विकलता-विकलनाय विलोकं विलोकमेव तं बालकं यदुनिलयं चलानि' इति ॥२६॥

"अथ गमनसमये च—

उत्सङ्गे निहितस्य तस्य तु शिशोर्वक्त्रं मुहुर्दृष्ट्वा-
नामोदं चिरमाददे निटिलकाद्गण्डावचुम्बीद्भृशम् ।

किशोर अवस्था पर्यन्त यह बालक जितने परिमाण के जो जो हारादि आभरण एवं सब वस्त्र प्रत्येक महीना में बदल बदल के धारण कर सकेगा, यह विचार करके सभीजनों ने उस बालक के लिये उसी प्रकार के आभरण एवं वस्त्र आदि समर्पण किये, तथा बालक के पिता श्रीनन्दजी ने तो किसी एक अनन्त भाण्डारागार को ही सबके लिये दे दिया ॥२३॥

श्रीनन्दकुमार का दर्शन करनेवाले जन उनकी शोभा को अपने अपने मन में धारण करते हुए अपने अपने घर को चलेगये । इन्होंने जो शोभा नन्दसदन में धारण की थी, वह शोभा कृत्रिम (बनावटी), अकृत्रिम (स्वाभाविक) भेद से दो प्रकार की थी । अनेक वर्ण के वस्त्र आदि धारण करने से जो शोभा हुई थी, वह शोभा पहली, अर्थात् कृत्रिम थी, एवं नेत्र, कर्ण आदि अङ्गों में बालकृष्ण के दर्शन श्रवण आदि से आश्चर्यमय भाव धारण करके जो शोभा हुई थी, वह दूसरी अर्थात् अकृत्रिम थी ॥२४॥

व्रजवासीजन लोचनलोभनीय नन्दकुमार का दर्शन करके, जब अपने अपने घर को लौट आये, तब भी वे सब कुछ दिन तक नन्दकुमार को दृष्टिगोचर ही मानते रहे ॥२५॥

तदनन्तर गोकुलकुलराज श्रीनन्दजी ने मथुरा जाने की तैयारी का विस्तार दिखाते हुए, अपने प्रतिनिधिरूप कार्य में, अर्थात् बालक की देख रेख आदि घर के कार्य में अपने बड़े भाई आदिकों को नियुक्त कर चलते चलते मन मन में विचार किया कि—हाय ! मेरा अन्तःकरण शत्रु एवं मित्र में समान सम्बन्ध द्वारा प्रीति के बन्धन में बँधा हुआ होकर भी, हठात् उस नवकुमार के ऊपर अत्यन्त आसक्त हो रहा है, जिसके कारण यह बड़ी भारी जीवन की आशा भी मन में स्थान नहीं प्राप्त करना चाहती । इस समय मैं दुष्ट के निकट जा रहा हूँ, क्या होगा इसका अनुभव नहीं कर सकता, अतः व्याकुलता दूर करने के लिये उस बालक को बार बार निहार कर ही मथुरा चलूं ॥२६॥

पश्चात् चलते समय व्रजराज ने अपनी गोद में स्थित उस बालमुकुन्द के मुखारविन्द को बार बार देखा, चिरस्थायी हर्ष को प्राप्त किया, ललाट से लेकर कपोलपर्यन्त यथेष्ट चुम्बन किया, शिशु के शरीर का

आशिश्लेषतरां वपुर्न तु तदा तृप्तिं व्रजेशो ययौ
यां पाथेयतया विवेद मथुराप्रस्थानमास्थाय सः ॥२७॥
'वत्स श्याम पिता तवायमयितुं राज्ञः पुरं त्वत्कृता-
ऽनुज्ञां प्रार्थयते ततो वितरतादित्येष धात्रीरितः।
"आश्चर्यातुल-बालभावबलनाद्दभ्रे स्मितं तेन च
श्रीमान् गोपजनाधिपः प्रचितधीः प्रस्थानमासेदिवान् ॥२८॥
"स्मारं स्मारं तन्मुखं सुस्मिताक्तं, व्यक्तं व्यक्तं गोपयन् प्रेमधाम।
आनन्देनानल्पजल्पेषु गोपे,-ष्वात्मारामप्रायतां प्राप नन्दः ॥२९॥

"अथ मथुरामासाद्य सद्यएव कराधिकारिषु करमुपसाद्य तद्द्वारा दूरतएव राजानमनुजानन्तं प्रसाद्य शकटघटावमोचनमेवानश्च, न तु श्रीवसुदेवसद्म,—कंसे तेन साकं निजानासङ्गनव्यञ्जनाय।" ॥३०॥

स्निग्धकण्ठ उवाच,—"शिष्टद्विष्टिविशिष्टोऽपि सञ्जातजातकद्वेषपातकोऽपि परधनायया धनानुसन्धाननिर्बन्धसन्धोऽपि स कथमस्मिन् निगमशिष्टिसंश्लिष्टे विचित्रेण पुत्रेक्षणेन पुत्रक्षणेन च विस्मायितसकले जगद्वित्तवित्ताशकले सरलायते स्म।" ॥३१॥

आलिङ्गन भी खूब किया, तो भी उस समय व्रजेश तृप्ति को न प्राप्त कर सके, फिर भी देखने आदि की लालसा बनी ही रही, किन्तु इस सामान्य तृप्ति को भी व्रजराज ने मथुरा को प्रस्थान करते समय पाथेय (टोसा) ही समझा, अर्थात् पुत्र के स्पर्श का अनुभव करते हुए मथुरा को चल दिये ॥२७॥

उस समय धाई बोली—"वत्स ! श्यामसुन्दर ! ये तुम्हारे पिताजी मथुरा जाने के लिये तुम्हारी अनुमति चाहते हैं, अतः तुम अनुमति दे दो।" धाई के इस प्रकार कहते ही बालकृष्ण आश्चर्यरूप अतुल्य बाल्यभाव स्वीकार करके मुसक्या गये, उस मन्द मुस्क्यान से ही स्थिर बुद्धि होकर श्रीमान् गोपराज ने प्रस्थान किया ॥२८॥

मृदु मधुर मन्दमुस्क्यान से युक्त पुत्र के मुख का बारंबार स्मरण कर, अतिशय प्रकटित प्रेम क स्वरूप को छिपाते हुए, श्रीमान् नन्दजी आनन्द के कारण अनेक प्रकार की बातों को करने वाले गोपों के बीच में भी ब्रह्मानन्द निमग्न योगी की सी दशा को प्राप्त हो गये ॥२९॥

तदनन्तर मथुरा पहुँचकर, कोषाध्यक्ष आदि कर्मचारियों को कर देकर, उन कर्मचारियों द्वारा दूर से ही राजा कंस को प्रसन्न कर, गाड़ी खोलने के पड़ाव पर ही आगये, किन्तु वसुदेवजी के घर नहीं गये। क्यों नहीं गये ? वसुदेवजी के साथ अपनी अनासक्ति प्रकाशित करने के लिये नहीं गये। कंस के मन में इस प्रकार के व्यवहार से किसी प्रकार के तर्क वितर्क न उठ पायेंगे। न जाने का यही अभिप्राय है ॥३०॥

स्निग्धकण्ठ बोला—भैयाजी ! शिष्टजनों के प्रति द्वेषविशिष्ट होकर भी, नये नये बालकों के ऊपर द्वेषरूप पातक से युक्त होकर भी, एवं पराये धन की तृष्णा से केवल धनानुसन्धान के आग्रह की प्रतिज्ञा से युक्त होकर भी, उस दुष्ट कंस ने वेद की आज्ञानुसार चलने वाले, विचित्र पुत्र के दर्शन से एवं विचित्र पुत्र महोत्सव से समस्त जगत् को विस्मित कर देने वाले, जगत्प्रसिद्ध अखण्ड धन वाले इन श्रीनन्दजी के प्रति सरलता का व्यवहार कैसे किया ? ॥३१॥

मधुकण्ठ उवाच,—"उक्तमेव पुरा यत् प्रगुणतयाखिलसमञ्जसयशसः श्रीव्रजेशचन्द्रमसः खल्वस्य गुणेन गुणेनेव को वा बद्धो न भवेत् ?" इति ॥३२॥

स्निग्धकण्ठ उवाच,–"ततस्ततः ?" मधुकण्ठ उवाच,–"ततो व्रजत्रातरि तं भ्रातरमनु-निर्जनमिलनाय मन्त्रं बलयति पर्याकलितावसरः स श्रीशूरतनूजवरः स्वयं केवलसेवकविशेष-सङ्गितया सम्बलते स्म ॥३३॥

"अथ तेनाव्रजितसदेशः श्रीमान् व्रजमहेशः सहसा महसावृततया साभ्युत्थानमुत्थाय न्यायपरमः कृततदभिगमः स्वमनुजमनुरक्तः परिष्वक्तवान् परिष्वक्तश्चानेन, न तु कश्चित् कश्चिन्नतवान्; जातावेकस्य ज्यायस्त्वमन्यस्य तु जाताविति। न च केवलमेतदेव कारण-तामवलम्बते, अपि तु परस्परप्रणयातिशयश्च,–येनान्यन्नानुसन्धातुं शक्यते।

एतदेव च दृष्टान्तेन स्पष्टीकृतं श्रीबादरायणिना (भा० १०।५।२१)–'देहः प्राणमिवा-गतम्' इति। तत्र च देहस्थानीयस्य गोस्थानपतेरस्मदीशितुरेवासक्तिरतिरिक्ता दर्शिता;–प्राणः खल्वन्यं देहं सञ्चरति, देहस्तु तं विना न भवत्येवेति। स तु चतुरशिरोमणिः स्वयमेव रागतस्तच्छिविरागतस्तेनातिथिवदेव पूजितस्तद्व्यवहारेण जितः सम्प्रति जातयोः स्वतनु-जातयोः प्रसक्तधीरिदमुक्तवान्, (भा० १०।५।२३)—

मधुकण्ठ बोला—यह विषय पहले भी कहा जा चुका है कि सर्वोत्कृष्ट गुणों के कारण जिनकी कीर्ति सबके लिये सुखप्रद है, ऐसे इन श्रीव्रजराजरूप चन्द्रमा के गुणों से रस्सी की तरह कौन व्यक्ति नही बँध सकता ? अपितु सभी दृढ़तापूर्वक निश्चितरूप से बँध जाते हैं, अतः कंस ने इनसे दुर्व्यवहार नहीं किया ॥३२॥

स्निग्धकण्ठ बोला—अच्छा, तो आगे क्या हुआ ? मधुकण्ठ बोला—तदनन्तर व्रजरक्षक श्रीनन्दजी, भ्राता श्रीवसुदेवजी से एकान्त में मिलने के लिए विचार ही कर रहे थे कि इतने में अवसर पाकर, केवल एक सेवक विशेष को संग लेकर श्रीशूरसेन के पुत्रों में श्रेष्ठ वे श्रीवसुदेवजी स्वयं ही आ मिले ॥३३॥

तदनन्तर श्रीवसुदेवजी जिनके निकट आगये हैं, ऐसे नीतिपरायण श्रीमान् व्रजराज सहसा तेजस्विता से परिपूर्ण होकर, गौरव के सहित उठकर श्रीवसुदेवजी के सन्मुख जाकर, अनुरागपूर्वक अपने छोटे भाई श्रीवसुदेव से भुजभर के मिले, श्रीवसुदेवजी ने भी श्रीनन्दजी का आलिङ्गन किया। किन्तु किसी ने किसी के प्रति प्रणाम नहीं किया। कारण—एकजन तो अर्थात् श्रीवसुदेवजी तो क्षत्रिय जाति कहकर बड़े थे, दूसरे श्रीनन्दजी जन्म से बड़े थे। परस्पर नमस्कार न करने में केवल यही कारण था सो बात नहीं है,किन्तु परस्पर का अतिशय प्रेम भी था जिसके कारण अन्य कोई प्रणाम आदि गौरव सूचक परिपाटी का अनुसन्धान ही नहीं किया जा सकता था। अर्थात् अधिक प्रीति के स्थान पर प्रणामादि बाह्य अनुष्ठान का आदर नहीं है, यह तो केवल लौकिक मर्यादा विशेष है, अतः श्रीकृष्णप्रेमभार से दबे हुए श्रीयुधिष्ठिरजी श्रीकृष्ण पूजा में पूर्वापर परिपाटी को भूल गये थे, तो भी मर्यादा लंघनकर्ता नहीं कहाये। इसी बात को श्रीशुकदेवजी ने (भा. १०।५।२१) श्लोक में दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट कर दिया है। यथा—हे राजन् ! मरे हुए देह में प्राण आने पर देह जैसे उठ खड़ा होता है, उसी प्रकार प्रिय भ्राता श्रीवसुदेवजी को आते देख श्रीनन्दजी भी उठ पड़े। उस प्रसंग में हमारे स्वामी व्रजपति को देह स्थानीय कहकर उनकी ही आसक्ति अतिरिक्त (अधिक) दिखाई गई। अर्थात् वहाँ पर वसुदेव को प्राण स्थानीय और नन्द को देह स्थानीय कहा है। निश्चय ही प्राण तो

'दिष्ट्या भ्रातः प्रवयस इदानीमप्रजस्य ते। प्रजाशाया निवृत्तस्य प्रजा यत् समजायत॥' इत्यादि

"उपाधिकृतहानिवृद्धि विना कृतस्नेहसमृद्धिमयदेहतया गम्भीरस्वरतया च पयःपयोधिरिवायं व्रजाधीश्वरस्तु तस्य सर्वस्तुतस्य वंशात् कंसकृतध्वंसाननुशोचन् कर्मवादरोचनया धैर्यं संवर्मयन्नात्मनश्च तस्य च शर्म सूनृतामृतभृतसन्तर्पणं कृतवान् ॥३४॥

"ततः श्रीमानानकदुन्दुभिस्तं कृतकार्यमवधार्य भाव्युत्पातं विचार्य स्वभवनमेव गन्तुमनुमतवान्। श्रीव्रजराजस्तु वस्तुतश्चेतसा चेतः प्रचलित एव, सम्प्रति तु गेहं प्रति देहमेवेहयामास।" ॥३५॥

"अथ व्रजवृत्तमनुवृत्यताम्। यथा पूर्वदेवानां पूर्वमन्त्रणायामामन्त्रिता राक्षसपक्षिणी निर्दशाननिर्दशांश्च देशदेशतः शावकान् बकानिव-श्येनी विनिघ्नती कंसस्य निघ्नती वैरोचनिकन्या रजन्यामस्यां व्रजप्रदेशसदेशमाजगाम;—या खलु जटाघटा-विघटित-प्रकटनमुण्डा विसङ्कट-द्रंष्ट्रा-संसृष्ट-दष्टडिम्भ-कोटिविकटतुण्डा नेत्रगर्तवर्तमानवर्त्म-लोम-समुद्दण्ड-कुण्डलि-खण्डित-ब्रह्माण्डवर्तिधैर्या पक्षतिद्वय-मध्यस्थित-वक्षःस्थल-लम्बमान-वक्षोजयुगलोद्गीर्ण-दुग्ध-मिष-विष-विषमज्वालासह्यबल-दह्यमानपर्यन्ततया यन्त्रित-जन्तुस्थैर्या चेत्यादिमहाघोरतावहा; किं बहुना ? प्रतीकमात्र-प्राणिप्रतीका पृथुकानेव च पृथुकानिव कुर्वती वर्तते ॥३६॥

अन्य देह को भी प्रयाण कर सकता है, किन्तु देह तो उस प्राण बिना जीवित नहीं रह सकता। परन्तु चतुर शिरोमणि वे श्रीवसुदेवजी तो स्वयं ही अनुरागवश श्रीव्रजराज के शिविर के पड़ाव पर आगये। श्रीनन्दजी के द्वारा अतिथि के समान पूजित होकर एवं उनके व्यवहार से सन्तुष्ट हो, सद्यः समुत्पन्न अपने दोनों पुत्रों में आसक्तबुद्धि होते हुए श्रीवसुदेवजी इस प्रकार बोले—हे भ्रातः नन्दजी ! आप अधिक अवस्था पर्यन्त सन्तान रहित ही रहे, तुम्हारी सन्तान की आशा भी एक प्रकार से निवृत्त ही हो चुकी थी, इस समय वृद्धावस्था में भी तुम्हारे सन्तान उत्पन्न होगई, यह तुम्हारा परम सौभाग्य है, एवं हमारे लिए बड़े आनन्द की बात है। पश्चात् औपाधिक क्षय वृद्धि विहीन स्नेह सम्पत्तिमय देह से विशिष्ट होने के कारण एवं गम्भीर स्वर युक्त होने के कारण—क्षीरसमुद्र के समान इन श्रीव्रजराज ने तो सर्वप्रशंसनीय उन श्रीवसुदेवजी के वंश के अंकुररूप एवं कंस के द्वारा मारे गये छः बालकों का शोक प्रगट करतेहुए, तथा कर्मफल की अपारमहिमा के द्वारा वसुदेवजी के धैर्य को कवच सा पहनाते हुए, सत्य और प्रिय वाक्यरूप अमृत द्वारा तृप्ति साधनपूर्वक अपना और उनका सुख उत्पादन किया ॥३४॥

तदनन्तर श्रीवसुदेवजी ने श्रीनन्दजी को कृतकार्य समझकर एवं भावी उत्पात को विचारकर अपने घर जाने के लिए ही अनुमति दे दी। वस्तुतः व्रजराज अपने चित्त से तो मथुरा से पहले ही चल दिए थे, किन्तु इस समय देह को भी घर के प्रति चलने को प्रेरित किया ॥३५॥

अब व्रज के वृत्तान्त का अनुसरण होना चाहिए। असुरों ने पहले जिस प्रकार विचार गोष्ठी की थी, उस विचार सभा में राक्षसपक्षपातिनी बलि की बेटी पूतना भी बुलाई थी। बाजकी स्त्री जिसप्रकार बगुलाओं के बच्चों का वध करती है, उसी प्रकार कंस के अधीन वह राक्षसी देश देश में दस दिन से कम और दस दिन से अधिक अवस्था के बालकों को मारती हुई इसी रात्रि में व्रजभूमि के निकट आगई थी। उसका मुण्ड जटासमूह की घटना से विकट मालूम पड़ता था, बड़ी बड़ी दाढ़ों में लगे हुए तथा चबाए हुए करोड़ों बालकों के कारण उसका तुण्ड (मुख) भयंकर मालूम पड़ता था, उसके नेत्रों के गढ्ढाओं में जो मार्ग थे उनमें पलक

"अथ सा श्रीव्रजक्षितीश-रक्षित-गीर्वाणबाणज्ञ-धानुष्कभिया दुष्करस्वरूपं विहाय हारिरूपान्तरं प्रातिहारिकतया धृतवती,—येन खलु सम्पदधिदेवीयमधिभूमि सम्पतन्ती निजाश्रयविशेषमन्विच्छन्ती च सर्वसल्लक्षणतया कृतलक्षणं सम्प्रति जातं श्रीव्रजराजजातमेव समाश्रयिष्यतीति मत्वा तस्या नूतनवपुः पूतनायाश्चाकूतममत्वा हारितहृद्भीरक्षिभिर्न निवारिता, रक्षिणीभिश्च नावधारिता; येयं पक्षपातिनी कंसपक्षपातिनी सात्वतभर्तुः श्रवण-कीर्तनादिप्रदेशमनुवर्तितुमसमर्था तद्बहिर्मुखानामर्भकान्निघ्नती तत्पक्षपातिन्येव लक्षिता। एवमप्यस्याः श्रीमद्व्रजागमनादिकन्तु कौतुकविशेषाय साधयितुं योगमाया खलु योगमायान्ती बभूव;—यस्याश्च हेतोरन्यत्र कुत्रचिन्नेत्रमनादधती सर्वमत्यादधती श्रीमन्नन्दमन्दिरस्थं तमेव बालकमालोकयामास । अङ्गारधानीसङ्गतस्फुलिङ्गवदङ्गारसङ्घमिव तमसि पतङ्गी तञ्च योगमाया-कृत-प्राकृत-बालक-कल्पता-कल्पनया यथावन्नानुबभूव, उज्ज्वलगुञ्जापुञ्जतुलनया प्रज्वलदिङ्गलमिव ॥३७॥

के रोमरूप ऊँचे फणवाले सर्प थे, उनके द्वारा उसने ब्रह्माण्डवर्ती सभी जीवों का धैर्य खण्डित कर दिया था, अथवा उसके नासिकाविवर से बाहर की ओर निकलते हुए सर्पाकृति भयंकर लम्बे लम्बे बालों को देखकर सारा ब्रह्माण्ड थर्राता था। दोनों बगलों के बीच में स्थित वक्षःस्थल के बीच में जो उसके लम्बे लम्बे दो स्तन थे, उनसे जो दुग्ध बह रहा था उसके बहाने विष ही बह रहा था, उस विष की विषमज्वाला असह्य शक्ति वाली थी, जिसके द्वारा वह राक्षसी प्राणपर्यन्त जला देने के कारण सभी जन्तुओं के धैर्य का नाश कर रही थी। इस प्रकार वह महाभयंकर भाव धारण कर रही थी। अधिक क्या कहें ? उसका अवयव मात्र ही प्राणीमात्र के प्रतिकूल था, बालकों को तो वह चिरवाओं की तरह चबा रही थी ॥३६॥

तदनन्तर उस पूतना ने व्रजराज के द्वारा रक्षित नारायणास्त्र आदि बाणों को जानने वाले धनुर्धारियों के भय से अपने दुष्कररूप को त्यागकर, मायावीभाव प्रगट करने के कारण मनोहररूप धारणकर लिया। उस अलौकिक सौन्दर्य द्वारा लोगों के मनमें पूतना के सम्बन्ध में ऐसा विचार उठा, यथा—निश्चय ही यह सम्पत्ति की अधिष्ठात्री देवी भूमि पर आती हुई, अपने लिये आश्रयविशेष को ढूँढ़ती हुई या चाहती हुई, सर्वसुलक्षणयुक्त होने से प्रसिद्ध इसी समय उत्पन्न हुए श्रीव्रजराज के लाला को ही आश्रयरूप से स्वीकार करेगी। ऐसा समझकर, एवं माया से नया शरीर धारण करनेवाली उस पूतना के अभिप्राय को न समझ कर, पूतना के तात्कालिकभाव को देखकर, जिनका मन अपहृत होगया है, ऐसे रक्षकों ने उसे महावन में धँसते हुए रोका नहीं, तथा बालक की रक्षा करने वाली धाई आदि स्त्रियाँ भी निश्चय नहीं कर पाईं कि यह कौन है ? और पङ्ख से उड़नेवाली, कंस के अनुग्रह से युक्त जो यह पूतना थी, वह यदुपति श्रीकृष्ण का श्रवण एवं कीर्तन आदि जहाँ पर होता है, ऐसे स्थानों पर जाने में समर्थ नहीं थी, इसलिये श्रीकृष्णबहिर्मुख जनों के बालकों को मारती हुई कंस की पक्षपातिनी ही प्रतीत होती थी। इस प्रकार श्रीव्रजधाम में इस पूतना के आगमन आदि कार्य को कौतुकविशेष के सिद्ध करने के लिये योगमाया ने ही निश्चितरूप से पूतना से संयुक्त होकर किया, अर्थात् इस कार्य में योगमाया ही प्रधान हुईं। इस योगमाया के कारण अन्यत्र कहीं भी अपने नेत्रों को न लगाती हुई, सभी का अतिक्रमण करती हुई, उस पूतना ने श्रीमान् नन्दजी के भवन में विराजमान उस अपूर्व बालक को ही देखा। वरोसी या अँगीठी में धरे हुए अग्निकणयुक्त अंगारसमूह को अन्धकार में पतङ्गी जिस प्रकार नहीं जान सकती, उसी प्रकार भस्म से ढकी हुई अग्नि की तरह गूढ़ तेज वाले उस बालक के यथार्थ स्वरूप का अनुभव पूतना न कर सकी। कारण योगमाया ने योगबल से प्राकृत

"अयन्तु श्रीमान्नन्दनन्दनः स्व-तात-शुभानुध्यानमय-योगमायया सेविततया जन्मत एव समस्तज्ञानादिसम्पन्मयतायां शस्तः स्वजनस्नेहवशंवदबाल्यादिलीलासुखावेशेन तत्रानादृत्यातुल-तद्वद्यक्तिव्यतिरिक्तीकृतस्तथाप्यवसरमवाप्य मध्यं मध्यं सा स्व-सेवामध्यवस्यन्तो तत्र प्रादुर्भवति । ततः सम्प्रति च तामन्तर्विकृताकृतिमुपलभ्य भव्य-स्वभावरोचने लोचने निमीलितवान् ॥३८॥

"ततश्च सा सहसा पराभाव्यधिया भिया विना भूता तमङ्कमेव निःशङ्कमानीतवती, मूषिकधिया सर्पन्ती सर्पी नकुलमिव ।" ॥३९॥

स्निग्धकण्ठ उवाच,—"अग्रजन्मंस्तन्मातरौ कथमिव तामपरिचितां न निवारितवत्यौ, न च विचारितवत्यौ ? ॥४०॥"

मधुकण्ठ उवाच,—"पुरस्तादेव योगमायाख्यं कारणमुपन्यस्तं प्रक्रियान्तरश्च तत्र तया क्रियते स्म; यथा—सा हि, तत्रान्तर्गूढाङ्गभुजङ्गीसङ्गतायाः कूटकनकमय-पयःकनकालुकायाः साम्यावगम्यं रूपं दधती परितः स्रवदस्रधारा-वाराजस्रस्तन्यप्रवाहान् वहन्ती स्नेहानुकार-कदेहत एव ते मोहितवती ॥४१॥

बालक की सी कल्पना कर दी थी, जिसके कारण अग्नियुक्त उज्ज्वल अंगारों को अज्ञ बालक जिस प्रकार उज्ज्वल गुंजापुंज ही समझता है, उसी प्रकार पूतना ने बालक के यथार्थस्वरूप का अनुभव नहीं किया। भावार्थ यह है कि जलते हुए अंगारों में क्षुद्र पतङ्गों की तरह कृष्ण के पास पूतना अपने विनाश के लिये स्वयं आ गई ॥३७॥

उसको देखकर भगवान् ने क्या किया एवं योगमाया ने क्या सहायता की, इसका वर्णन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि—किन्तु यह श्रीनन्दकुमार तो अपने पिता के मङ्गल का अनुध्यान करनेवाली योग-माया के द्वारा सदैव सेवित होने के कारण, जन्म से ही समस्त ज्ञानादि सम्पत्ति के विषय में पूरी निपुणता दिखा चुके, एवं स्वजनों के स्नेह के अधीन होकर, बाल्यादिलीला के सुखमय आवेश से, योगमाया के प्रति आदर न करके, समस्त ज्ञानादि शक्तियों की सम्पत्ति का प्रकाश नहीं करते, तथापि अपनी सेवा के अवसर को प्राप्त करके, बीच बीच में वह योगमाया अपनी सेवा को निश्चित करती हुई, श्रीकृष्ण में प्रगट हो जाती है। इसलिये इस समय भीतर से विकृत स्वरूपवाली उस राक्षसी को जानकर बालकृष्ण ने मङ्गलमय एवं स्वतः सुन्दर अपने दोनों नेत्रों को मूंद लिया ॥३८॥

तदनन्तर मूषकबुद्धि से अपना खाद्य समझकर, सर्पिणी जिस प्रकार सरकती हुई अपने शत्रु नकुल (न्यौला) को ही गोद में ले लेती है, ठीक उसी प्रकार उस पूतना ने सहसा बालकृष्ण के पराभव (पराजय) की बुद्धि से निर्भीक होकर बालकृष्ण को निःशङ्क अपनी गोद में ले लिया ॥३९॥

स्निग्धकण्ठ बोला—हे ज्येष्ठ भ्रातः मधुकण्ठ! श्रीकृष्ण की माता यशोदा एवं रोहिणी ने अपरिचित उस पूतना को घर में जाने से क्यों नहीं रोका, और पूर्वापर का विचार भी क्यों नहीं किया ? ॥४०॥

मधुकण्ठ बोला—योगमायानामक शक्ति ही इसमें कारण है, यह पहले ही कह दिया है। जिससे कोई भी भीतर जाने से न रोक सके, उस विषय में पूतना ने अन्य प्रकार की एक प्रक्रिया और भी रच दी थी, यथा—उस पूतना ने जब अन्तःपुर में प्रवेश किया तब भीतर में गुप्त है शरीर जिसका, ऐसी सर्पिणी से

"पुनश्चेदं सगद्गदं जगाद,–'अयि यशोदे ! त्वमपि हठोत्तरतया कठोरासि, सुतरान्तु स्व-सुत-स्थितचित्ता-द्रोहिणी रोहिणी; यतः शयनतल एवेदृशसुकुमारं कुमारं निधाय चिन्तामविधाय नातिकृतनिष्ठं तिष्ठथः, न तु हृदये;–प्राणा अपि हृदय एव रक्षणीयाः, किमुत प्राणाधिकोऽयं सुतः ? तस्माद्धिग्वो राक्षसीतोऽपि रूक्षमानसा मानुषीः ! अहन्तु सम्पद-धिष्ठातृदेवी त्वया प्रसूतं सुतं विश्वविलक्षणलक्षणं श्रुत्वा तत्क्षणमेवागतानेन वसन्तेन वासन्ती-मिव दृष्टिं हृष्टां कृतवत्यस्मि; मम च स्तनौ सर्वश्रेयस्तननौ नित्यममृतं क्षरतः,–येन पीतेन सोऽयं निःसन्देहसिद्धदेहः स्यात्; तस्मादहमस्य सर्वसुखविधात्री धात्री च भविष्यामि' इति।" ॥४२॥

स्निग्धकण्ठ उवाच,—"ततो ग्रहणादनन्तरं किं जातम् ?" मधुकण्ठ उवाच,–"तदेवं मिषतः सा विषयोषा तं गृहीत्वा विलम्बं हित्वा चूचुकोपर्येव तन्मुखवार्युद्भवं निदधे।"॥४३॥

स्निग्धकण्ठः सभयमुवाच,—"ततस्ततः ?" मधुकण्ठः सहासमुवाच,–"ततः स तु स्वमातुः साक्षात्तस्यास्तादृशभृशदुर्नयदर्शनादुपजातेन तत्प्राणान् पिबता रोषतेजःसङ्घातेन तत्स्तन्यस्य तद्देहस्य च दोषं शोषयन् मातृभावाभासस्फुरदुल्लासस्वस्पर्शस्वाभाव्येन तु तद्देहे सुगन्धिता-सुगन्धितामिव तत्स्तन्ये पीयूषतां रूषयंश्चूषणं चकार ॥४४॥

युक्त कपटमयी सुवर्ण की बनी हुई, जलभारी के समान दीखनेवाले रूप को धारण करते हुए, एवं चारों ओर निकलती हुई अश्रुधारासमूह को और निरन्तर स्तन्यदुग्धप्रवाह को बहाते हुए, स्नेह का सा अनुकरण करनेवाले अपने देहमात्र से ही दोनों माताओं को विमुग्ध कर दिया था ॥४१॥

पुनः गद्गद होकर यह बोली कि—अयि यशोदे ! उत्तरोत्तर हठ करने के कारण तुम भी कठोर हो। और अपने पुत्र में स्थितचित्ता रोहिणी तो और भी अधिक द्रोह करने वाली सी मालूम पड़ती है। इसी-लिये तुम दोनों ऐसे सुन्दर सुकुमार को पलंगड़ी पर ही सुला कर, किंचित् भी चिन्ता न कर, पुत्र के प्रति विशेष मनोयोग न देकर, चुपचाप बैठी हो। हृदय पर अपने लाल को नहीं धारण किया है। देखो ! प्राण भी तो हृदय में ही रक्खे जाते हैं, फिर प्राण से भी अधिक प्रिय इस पुत्र का तो कहना ही क्या है ? अतएव राक्षसी की अपेक्षा भी रूखे मन वाली तुम्हारे जैसी मानुषीयों को धिक्कार है। और देखो ! मैं तो सम्पत्ति की अधिष्ठात्री देवी (लक्ष्मी) होकर भी तुम्हारे द्वारा उत्पन्न, विश्वविलक्षण पुत्र को सुनकर तत्काल ही आ गई हूँ, एवं वसन्तऋतु के आते ही माधवीलता जैसे आनन्दित होती है, उसी प्रकार इस बालक को देखकर मैं अपने नेत्रों को आनन्दित कर चुकी हूँ। और मेरे दोनों स्तन सभी के लिए मङ्गल का विस्तार करने वाले हैं, एवं नित्य ही अमृत बहाते रहते हैं, जिसके पीने से यह बालक निश्चय ही सिद्ध देह वाला हो जायगा। इसीलिये मैं इस बालक की सर्वसुखविधान करने वाली धाई बन जाऊँगी ॥४२॥

स्निग्धकण्ठ बोला—उसके बाद पूतना के द्वारा बालमुकुन्द के ग्रहण करने के अनन्तर क्या घटना घटी ? मधुकण्ठ बोला—इस प्रकार बहानेबाजी द्वारा उस विष भरी नारी पूतना ने बालकृष्ण को ग्रहण कर, विलम्ब छोड़कर उनके मुखकमल को स्तन के अग्रभाग में ही स्थापित कर लिया ॥४३॥

स्निग्धकण्ठ भयभीत होकर बोला—उसके बाद, उसके बाद ? मधुकण्ठ हँसकर बोला—उसके बाद श्रीबालकृष्ण ने तो अपनी माता के सामने ही पूतना की वैसी अत्यन्त दुर्नीति के देखने से उत्पन्न, पूतना के प्राणों को पीने वाले, क्रोधमय तेजसमूह द्वारा उसके स्तनों के दुग्ध के और उसके देह के दोषों का शोषण

कृष्णेन पूतनास्तन्यपानमित्थं विरोचते ।
यथा गङ्गाप्रवाहेण कर्मनाशा-जलाहृतिः ॥४५॥

"सा तु राक्षसपक्षिणी मुञ्च मुञ्चेति पुष्टकृष्टतया व्यथितसनीडां पीडां प्रपञ्चयन्ती प्राणानपि मुञ्चन्ती संस्कारवशात् तं वक्षस्येव निक्षिप्य पक्षविक्षेपाद्व्रजाद्बहिः ससार ममार च;–यत्र ह्लादिनी सा ह्लादिनीत्येव तर्क्यते स्म; यत्र च स्वरूपावस्थितिमेव चाससार ॥४६॥

उड्डिड्ये सपदि यदा तु पक्षिणी सा, तं बालं हृदि परिगृह्य लम्बमानम् ।
उड्डीना द्रुततरमेव मातृयुग्म,-प्राणाश्च स्फुटितहृदम्बुजादिवासन् ॥४७॥
"तस्मिन् हृते पूतनया तु बाले, मात्रोर्यदि प्राणगणो न मूर्च्छेत् ।
भोक्तुं तदाभीलकुलं तदा ते, किं शक्नुयातामपि ? किन्तु नैव ॥४८॥

"आक्रन्दाद्भिदुराणि पक्षपवनात् कल्पं भूवि भ्रंशनाद्-
भूभ्रंशं शवरूपता-शवलनाद्गोत्राङ्गपङ्क्तीरपि ।
आशङ्क्याभिगता दिविष्ठपटली तत्तद्विजातीयतां
निर्णीयाथ विसिस्मिये कतिपयं कालं बकीसंस्थितौ ॥४९॥

करते हुए, एवं पूतना के हृदय में मातृभाव की जो आभासमात्र स्फूर्ति थी, उसी के उल्लास में किया जो निज स्पर्श उस स्पर्श की स्वाभाविकीशक्ति के द्वारा, उसकी देह में सुगन्धिसञ्चार की तरह, उसके दुग्ध में अमृत का संचार करते हुए रोषपूर्वक स्तन्यपान किया ॥४४॥

श्रीकृष्ण के द्वारा किया हुआ पूतना का स्तन्यपान इस प्रकार सुशोभित हो रहा है कि, जिस प्रकार गङ्गाप्रवाह के सम्बन्ध से कर्मनाशा नदी का जल सम्पर्क ॥४५॥

राक्षसपक्षिणी अर्थात् विहङ्गीस्वरूपा वह पूतना तो "मुझे छोड़ दो, मुझे छोड़ दो" इस प्रकार उच्च स्वर से चिल्लाने के कारण देह को व्यथा देने वाली पीड़ा को, प्रकाशित करती हुई, प्राणों को भी छोड़ती हुई, संस्कारवशात् श्रीकृष्ण को अपने वक्षःस्थल पर ही लटकाकर पक्षचालनपूर्वक व्रज से बाहर निकल पड़ी और मर गई। जिसके विषय में लोगों ने ऐसा तर्क किया—मानों वह भयङ्कर शब्द करता हुआ वज्र ही गिर पड़ा। इस जगह पहुँचकर पूतना ने अपने स्वाभाविक स्वरूप को धारण कर लिया, अर्थात् उसका पहला रूप उल्लू के समान था, वही मरते समय प्रगट हो गया ॥४६॥

अपने वक्षःस्थल पर लटकते हुए उन बालकृष्ण को अच्छी तरह पकड़कर, पक्षिरूपधारिणी वह पूतना शीघ्र ही जब उड़ी, तभी फटे हुए हृदयरूप कमल से दोनों माताओं के प्राणपखेरू मानों शीघ्र ही उड़ गये ॥४७॥

पूतना के द्वारा उन बालकृष्ण के अपहरण करने पर दोनों माताओं के पाँचों प्राण यदि मूर्च्छित नहीं होते, तो उस समय वे दोनों मातायें उस अपूर्व कष्टसमूह को भोगने के लिए क्या समर्थ हो सकती थीं? कदापि नहीं ॥४८॥

पूतना के मरने पर स्वर्गवासी देवताओं ने इस प्रकार की आशंका की, यथा—उसके भयंकर रोने के शब्द से वज्रों की, उसके पङ्ख की वायु से प्रलय की, भूमि में गिरने से भूकम्प की, मरे हुए देह के सम्मेलन से पर्वत की शिलाओं की आशङ्का करके, पास में आकर उस उस विजातीयभाव का निर्णय कर, सभी देवता कुछ देर तक विस्मित हो गये ॥४९॥

"ततश्च पूतनां निश्चित्य,—

तस्याः सुरा वक्षसि लग्नमेनं, स्मेरं गृहीताकृशचूचुकाग्रम् ।
अस्य प्रभावावलिविज्ञचित्ताः, सर्वे समन्ताज्जहसुर्विलोक्य ॥५०॥

ऊचुश्च,—अभजदिह यदेषा पर्वताकारवर्ष्मा, क्षयमतितनुमूर्तिं प्राप्य बालं तमेतम् ।
न हि तदतिविचित्रं प्रेक्ष्यतामेव साक्षा,-द्विधुरयममृताङ्गः पूतनेयं विषाङ्गी ॥'५१॥

तथा च—'विषं स्याद्विषमन्यस्मिन्नमृतन्तु विषे विषम् ।
पूतनाकृष्णसङ्घर्षे दृश्यतामेतदेव हि ॥'५२॥

अथवा—'नव-नव-रसपाकादुत्पलाभोगधात्री, स्थलज-जलजपद्मे सर्वदा दुःखदात्री ।
रजनिचरगणानां शश्वदामोदपात्री, प्रतिहरि लयमागात् पूतना व्याजरात्री ॥'५३॥

"किन्तु, स्वचरितचातुरीभिरिदमिवायं सूचयति,—

स्तनन्धयस्य स्तन एव जीविका, दत्तस्त्वया स स्वयमानने मम ।
मया च पीतो म्रियते यदि त्वया, किंवा ममागः स्वयमेव कथ्यताम् ॥'५४॥

तदनन्तर देवताओं ने पूतना को निश्चय करके देखा कि—पूतना के वक्षःस्थल पर बालकृष्ण संलग्न हैं, एवं उसके स्थूल स्तन के अग्रभाग को पकड़े हुए हैं, मन्द मन्द मुस्क्यान भी कर रहे हैं। देवताओं का अन्तःकरण श्रीकृष्ण के प्रभाव को जानता था, इसीलिये वे सब इस प्रकार देखकर चारों ओर से हँसने लग गये ॥५०॥

और बोले कि—अत्यन्त छोटे से शरीर वाले इस बालक को पाकर पर्वत के समान बड़े शरीर वाली भी, यह राक्षसी इस स्थान पर जो नाश को प्राप्त हो गई, यह घटना कोई अति विचित्र नहीं है। देखो ! यह बालक अमृत देहधारी साक्षात् चन्द्रमा है, एवं यह पूतना विषभरी है, अर्थात् अमृत के द्वारा विष का नाश अवश्यम्भावी प्रसिद्ध है ॥५१॥

तथा च—विष किसी अन्य वस्तु में मिलकर भी, उस वस्तु के सहित विष हो जाता है, अर्थात् उसको भी विषरूप कर लेता है, एवं अमृत भी विष में मिलकर विषरूप हो जाता है, यही प्रसिद्ध है। किन्तु कैसा आश्चर्य है ? देखो ! अमृताङ्ग श्रीकृष्ण विषाङ्गी पूतना से संयुक्त होकर भी अमृताङ्ग ही रहे, पूतना विषाङ्गी ही रही। दोनों के स्वभाव में कुछ भी विपरीतता न घटी ॥५२॥

अथवा यह पूतनानामक कपट रात्रि, नये नये रस से परिपक्व बालकों के उत्कृष्ट मांस से राक्षसोचित भयंकर शरीर धारण करने वाली होकर भी, स्थलचर, जलचररूप पद्मसंख्या वाले जीवों के प्रति सर्वदा दुःखदायिनी होकर भी, एवं रजनीचरगणों की निरन्तर आनन्दपात्र होकर भी, श्रीकृष्ण को लक्ष्य कर नष्ट हो गई।

रात्रि पक्ष में यथा—रात्रि भी नये नये रसों की परिणामहेतु, एवं कुमुद आदि रात्रि के कमलों की पोषणकारिणी होकर, दिन में खिलनेवाले स्थलकमल एवं जलकमलों के प्रति सदा दुःख देनेवाली होकर, रात में चलने वाले चोर, डकैत, राक्षस आदि जीवों को निःशंक आनन्द देनेवाली होकर भी ''प्रतिहरि', अर्थात् सूर्य का लक्ष्य करके नष्ट हो जाती है। फलितार्थ यह है कि सूर्य के निकट रात्रि की तरह, श्रीकृष्ण के निकट पूतना का विनाश अवश्यम्भावी था ॥५३॥

किन्तु यह श्रीकृष्ण अपने चरित्र की अनेक चातुरियों द्वारा यही सूचना करते हैं कि—स्तनपान

स्निग्धकण्ठ उवाच,—"हन्त ! श्रीव्रजेश्वर्यादीनां दीनानां का मर्यादा धैर्याय जाता, किंवा तत्परिजनैः समाधानमधायि ।" ॥५५॥

मधुकण्ठ उवाच,—"अथ व्रजे तु महाकोलाहलव्रजे जाते व्रजेशगृहिणीं रोहिणीञ्च विहाय विहायमुपर्युपरि परिद्रुतासु वृद्धामध्यावधूसु तासु तदैव दैवनिश्चितदिशः काश्चित् पृथुनगपृतनामिव पतितां पूतनां दृष्ट्वापि विघटितभया निकटमटिता विधिघटितस्खलितबाहुघट्टमारूढा बालभावादकुतोभयतया खेलन्तमिव तं बालगोपालमविलम्बितं गृहीत्वा तां हित्वा संवेगजातवेगतया सर्वं चातिहाय गृहाय दुद्रुवुः ॥५६॥

"ततश्च तदवलोकेनासंख्यलोकेन सुखमग्नेन पश्चाल्लग्नेन परिप्लवतया समुत्प्लवमानेन सहसमहं महान्तःपुरमागता नारीजना जनन्योर्निश्चेष्टतां दृष्ट्वा कर्तव्यमूढतामूढा बभूवुः ॥५७॥

"अथ तथालक्षणतया क्षणकतिपये लब्धव्यत्यये यत्नान्तरपथे च वितथे काचिद्बुद्धिमती सकश्मलयोस्तयोरप्यङ्के तं बालकमेवावलम्बयामास, अवलम्बिते च बाले तेनैवामृतेनेव कृतत्राणेषु प्राणेषु तं बालकमवलोकमाने ते पुनरन्यां मूर्च्छामानर्च्छतुः । ततः पुनः पुनरेवंविधानाच्चिदाधानेन प्रकृतिमासेदतुः, मुहुरेव जलसंवलनेन निदाघदग्धभूमिवत् ॥५८॥

करनेवाले बालक की स्तन ही जीविका है। वह स्तन तूने मेरे मुख में स्वयं ही दे दिया। मैंने उसका पान कर लिया। अरी पूतना ! इतने पर भी यदि तू मरती है तो मर जा। किन्तु इसमें मेरा क्या अपराध है, सो तू स्वयं कह दे ? ॥५४॥

स्निग्धकण्ठ बोला—हाय ! हाय ! अत्यन्त कातर श्रीमती यशोदा आदि माताओं के धैर्य के लिये कौन सा उपाय न्यायपूर्वक हुआ, एवं उनके सेवकवर्ग ने क्या समाधान किया ? ॥५५॥

मधुकण्ठ बोला—तदनन्तर व्रज में बड़े भारी कोलाहल समूह के उपस्थित होने पर वृद्धा, मध्या, एवं बहू बेटी आदि सभी गोपियाँ श्रीयशोदा एवं श्रीरोहिणीजी को सर्वथा त्यागकर छलांग मारती हुई दौड़ पड़ीं। उस समय उन्हीं में से कुछ गोपियाँ दैवयोग से दिशा का निश्चय कर, विशाल पर्वत की सेना के समान पड़ी हुई, पूतना को देखकर भी निर्भय होकर, उसके निकट आ गईं, तथा दैव की घटना से भूमि में गिरी हुई पूतना की भुजारूपी घाट पर चढ़कर, बाल्यभाव से निर्भयतापूर्वक खेलते हुए से उस गोपाल को शीघ्र ही लेकर, उस पूतना को छोड़कर, सम्भ्रम से उत्पन्न वेग के कारण सभी को छोड़ छाड़कर, पीछे की ओर न देखती हुईं घर के लिये दौड़ पड़ीं ॥५६॥

तदनन्तर पूर्वोक्त व्यापार के देखने से असंख्य लोग सुख में निमग्न होकर, चञ्चलतापूर्वक पीछे पीछे कूदते फाँदते हुए आ रहे थे। उन सभी लोगों के सहित आनन्दपूर्वक अन्तःपुर में आकर, दोनों माताओं की निश्चेष्टता (मूर्च्छा) को देखकर सभी स्त्रियाँ किंकर्तव्यविमूढ़ हो गईं ॥५७॥

पश्चात् इसी प्रकार कुछ क्षणों के व्यतीत होने पर, एवं दोनों माताओं की मूर्च्छा के दूर करने के अन्य सभी उपायों के निष्फल हो जाने पर, किसी बुद्धिमती गोपी ने मूर्च्छा से युक्त भी दोनों माताओं की गोद में उस बालगोपाल को बिठा दिया। बालक के गोद में आते ही पुत्रलाभरूप अमृत के द्वारा सभी प्राणों की रक्षा संघटित होने के बाद, उस बालमुकुन्द को ही देखती हुईं वे दोनों मातायें पुनः आनन्दजनित दूसरी प्रकार की मूर्च्छा को प्राप्त हो गईं। तदनन्तर बारंबार इस प्रकार की घटना के कारण चेतनाप्राप्ति द्वारा दोनों ही मूर्च्छारहित हो गईं। बारंबार जल के छिड़काव से ग्रीष्मऋतु से सन्तप्तभूमि जिस प्रकार शीतल हो जाती है, उसी प्रकार मातायें भी बारंबार श्रीकृष्ण का स्पर्श पाकर शान्त होगईं ॥५८॥

"अथ बालकमप्यवलोकयन्त्यावालोकनवचनयोः काराभिरिवाश्रुधाराभिरतीव व्यग्रतामग्रतः प्रापतुः। ततश्चान्याभिरेव स्तन्याभिमुखीकृतेन तेन सुकुमारेण कुमारेण क्रमानुसारेण धीरतां धारयामासतुः ॥५९॥

ततश्च, आश्लिष्टः प्रतिदृष्टिचुम्बितमुखः सुघ्रातमूर्धा दृग-
र्णःसिक्तः सुहृदां पुरो भुवि धृतः स्वेनापि निर्मञ्छितः।
सत्यं सत्यमिदं न चान्यदिति स व्यक्तं विविक्तीकृतो
मातृभ्यां न तथापि संहृतभयं दृष्टो बकीमर्दनः ॥६०॥

"अथ श्रीव्रजेश्वरी सचमत्कारमुवाच,—'हन्त ! विलोक्यतामसौ द्वितीयो बालः' इति। तदेतदुक्त्वा च तां स्वयं धारितुमुद्यतां विबुध्य प्रतिरुध्य श्रीलरोहिणी बहुलमहिलाभिः सह गृहान्तरमवगाहमाना तं मङ्गलसङ्गतं विलोकयन्ती सङ्गिनीभिरङ्गीकृतपालनं विधाय विहाय च तदागमनस्पृहिणीं व्रजमहेन्द्रगृहिणीं संहाय सान्त्वितवती ॥६१॥

"पूतनाहन्तुस्तु—
गोमूत्राद्यैः स्नानमाचर्य तस्य, प्रेम्णा चक्रुर्मन्त्ररक्षां जनन्यः।
श्रुत्वा यस्मिन् शास्त्रविज्ञत्वमासां, सर्वेऽप्युच्चैः कोविदा विस्मयन्ते ॥६२॥

तदनन्तर बालक को देखती हुई भी, दोनों मातायें अपने नेत्रों से गिरती हुई, चर्मभेदक लोहे के सूआ की तरह लम्बी लम्बी, एवं मोटी मोटी अश्रुधाराओं से प्रथम तो विशेष व्यग्रता को प्राप्त हो गई। पश्चात् अन्य गोपियों के द्वारा दूध पिलाने के लिये सन्मुख लाये गये, सुकुमार उस कुमार के द्वारा ही क्रमानुसार धीरता को धारण कर सकीं ॥५९॥

तत्पश्चात् दोनों माताओं द्वारा बालमुकुन्द का आलिङ्गन कराया गया, बारंबार दिखाकर उसका मुखचुम्बन कराया गया, मस्तक सुंघाया गया, माताओं के नेत्रजल द्वारा अभिषिक्त कराया गया, बन्धु-बान्धवों की सामने की भूमि पर बिठाया गया, दोनों माताओं ने अपनी आत्मा की न्योछावर भी कर दी। और पूतना इस बालक को ले गई थी यह भी सत्य है, एवं यह भी तुम्हारा ही पुत्र है, यह बात भी सत्य है, दूसरी बात नहीं है। इस प्रकार स्पष्टतापूर्वक उस बालक के विषय में माताओं को खूब समझाया गया, तथापि दोनों माताओं ने निर्भयतापूर्वक श्रीकृष्ण को पूतनारिरूप से नहीं देखा ॥६०॥

तदनन्तर श्रीव्रजेश्वरी चोंककर बोलीं—हाय ! उस दूसरे बालक को तो देखो। यह कहकर श्रीयशोदा जी को स्वयं भीतर की ओर दौड़ने को उद्यत समझकर, उनको रोककर, श्रीमती रोहिणीजी बहुत सी महिलाओं के साथ घर के भीतर गईं, एवं लाला बलराम को मङ्गलयुक्त देखती हुईं, श्रीरोहिणीजी ने साथ की सहेलियों के द्वारा पुत्र का रक्षाकार्य टोना टमना आदि करके, पश्चात् अपने लाला को छोड़कर, वहाँ पर आने की इच्छा वाली व्रजराजगृहिणी श्रीयशोदा से मिलकर उनको सांत्वना दी ॥६१॥

प्रेमभरी माताओं ने प्रेमसहित पूतनाविनाशी उन श्रीकृष्ण का गोमूत्र आदि द्वारा स्नान कराकर, मन्त्रों के द्वारा उनकी रक्षा की। जिस रक्षाकार्य में समस्त पण्डितजन इनके शास्त्रज्ञान को सुनकर अत्यन्त विस्मित हो जाते हैं ॥६२॥

"अथ तादृशमहोत्पातदृश्वरी श्रीमती व्रजेश्वरी सर्वानर्वाचीनाः प्रति सगद्गदं जगाद,–॥६३॥

'पुत्रो भवेदेवमतिस्पृहा नौ, नासीदभूत्त्वेष तु वः स्पृहातः।
प्रत्यर्पि सोऽयं बत युष्मकाभि,-रस्मासु युष्मासु तथास्मकाभिः॥'६४॥

इति तासां चरणपरिसरमनु बालं नमयन्ती वाष्पं मुमोच॥६५॥

"ताश्च धैर्यं हित्वा ससम्भ्रमं बालकं गृहीत्वा प्रोचुः,—

'अस्माकं यदखिलमस्ति पुण्यजातं, यद्वास्मत्पितृजननीकुलानुयातम्।
तेनासौ बत भवतादहो यशोदे, पुत्रस्ते निरवधिमङ्गलप्रमोदे॥'६६॥

इति सास्रमात्मना तं निर्मञ्छयाञ्चक्रुः।

"तस्याः सान्त्वनार्थं समुदिता मुदितास्तत्रैव तस्थुश्च। तत्र च पूतनया कृतमजन्यं जनन्यावन्याश्च स्वस्वदृष्टमन्योऽन्यं निर्दिष्टवत्यः॥६७॥ तथा हि—

'यथा गता सा यदुवाच यच्च वा, चकार तद्ग्रस्तममू समूचतुः।
अमूः समूचुश्च यथा स्वयं गता, यथान्वपश्यंश्च तथा सगद्गदम्॥६८॥

पश्चात् ऐसे पूतनागमनादिरूप महान् उत्पात को देखने वाली श्रीमती व्रजेश्वरी सभी बुढ़ियाओं से गद्गद होकर बोली॥६३॥

हम दोनों "पतिपत्नीरूप" जनों के पुत्र हो ही जाय, ऐसी प्रबल इच्छा नही थी, किन्तु तुम बूढ़ी बड़ियों की अभिलाषा के अनुसार यह पुत्र उत्पन्न हुआ है। अहह! तुम सबने ही हमारे प्रति जिस प्रकार इस बालक को अर्पित किया है, उसी प्रकार हम भी आपके प्रति प्रत्यर्पण करते हैं॥६४॥

इस प्रकार कहकर उन वृद्धा गोपियों के चरणों के पास की भूमि में, अर्थात् प्रत्येक के चरणों में बालक को नमाती हुई श्रीयशोदा प्रेमाश्रु बहाने लग गईं॥६५॥

वे वृद्धा गोपियाँ भी धैर्य को छोड़कर, आवेगपूर्वक बालक को अपनी गोद में लेकर बोलीं कि—हे यशोदे! देखो, हमारा जितना भी पुण्यसमूह है, अथवा हमारे माता पिता के कुलक्रम से आया हुआ जितना पुण्यसमूह है, उसके द्वारा तुम्हारा यह प्यारा पुत्र निरन्तर मङ्गल व आनन्द में ही वर्तमान रहे, सदा सुखी रहे॥६६॥

इस प्रकार कहकर वृद्धा गोपियों ने उस बालक पर आत्मा को ही न्योछावर कर दिया, और आरती करके अलाय बलाय उतार दी। एवं श्रीयशोदा की सान्त्वना के लिये सभी मिलकर आनन्दित होकर वहीं उसी प्रकार बैठी रहीं। वहाँ पर पूतना के द्वारा किये हुए उत्पात को, दोनों मातायें एवं अन्यान्य गोपीगण अपने अपने देखने के अनुसार परस्पर निर्देश करने लगीं॥६७॥

यथा—वह पूतना जिस प्रकार बन ठनकर आई, जो कुछ उसने कहा, एवं जो कुछ कुकर्म उसने किया, इन सब बातों को तो दोनों माताओं ने कहा। परन्तु कहते समय दुःख के कारण गला रुक गया, अतः वाक्य स्पष्ट रूप से नहीं निकल सके। तथा वे अन्य गोपियाँ भी जिस प्रकार स्वयं पूतना के पास गईं थीं, एवं जिस प्रकार का दृश्य उन्होंने देखा था, उन्होंने भी उसी प्रकार गद्गद होकर सारा समाचार कह सुनाया॥६८॥

"श्रीव्रजराजादयस्तु दूरतः किञ्चित् किञ्चिदीक्षित्वा मिथःकथया कथन्तया तदेतदुच्चावचवचनं रचयामासुः; ॥६९॥ तथा हि,—

'समुड्डीयमानामान-वायसातायि-समुदायाविविक्त-महाघोररूपं चण्डरश्मि-रश्मि-भस्मीकृतसन्तमसावशिष्ट-महिष्ठ-ग्रन्थिसन्तततयोपहसितं झटिति निविडित-बड़ी-भूताटवी-खण्ड-मण्डित-प्रदेशतया निर्दिष्टं भूरिदूरतया भूलग्नवत् प्रतीयमानोऽयं तोयदसम्भार इति सम्भावितं श्रीवसुदेवसूचितोत्पातोचितं किञ्चिन्निचितमिदम्' इति चिन्तितम्, पुनर्लब्धपक्षतयोत्पातमाचरन्नुत्पत्य पतितोऽयमखर्वपर्वतविशेष इति वितर्कितम् ।'

"राक्षसाकार-साक्षात्कार-विकल्पकल्पना-जनित-जनचय-भयहासकौतुक - विसंवादनादं क्षणतो राक्षसता-लक्षणालक्षणविनिश्चित-व्रजापचितिप्रचयं स्वाभिमुखमागताया जनताया मुखान्नैकभेदवेदनविच्छेदकारणावधारणादवधारितवेदनं नैकट्यघट्यमानवैकट्यतया वित्रस्त-समस्तचित्तं परि व्रजात् पतितं पूतनापुद्गलमुद्भावयामासुः ॥७०॥

"श्रुत्वा पूतनया सुतस्य नयनं तस्यास्तु तस्मान्मृतिं
मूर्च्छन्नेव तदा व्रजक्षितिपतिः सम्यक् प्रबोधं ययौ ।

श्रीव्रजराज आदिकों ने तो मथुरा से आते समय दूर से ही पूतना के मरे हुए देह को किंचिद् देखकर, परस्पर सन्देहरूप कथा के द्वारा आगे कहे जाने वाले अनेक प्रकार के वचनों की रचना की—॥६९॥

यथा—उड़ते हुए अपरिमित कौआ एवं चीलों के समुदाय के कारण, इस भयंकर रूप का पृथक निर्देश करना कठिन है। तथापि ऐसा समझ में आता है, मानो सूर्य की किरणों द्वारा भस्मीभूत हुआ जो गाढ़ा अन्धकार है, उसका बचा हुआ अति स्थूल जो मुर्दा शरीर, उसकी ग्रन्थी समूह के कारण वह उपहासास्पद हो रहा है, मानों शीघ्र ही घनीभूत एवं अत्यन्त बड़ी भारी वनी का एक खण्डरूप है, जिसका प्रदेश अलंकृत कहकर निर्दिष्ट हो रहा है। अत्यन्त दूर होने के कारण भूमि से लगा हुआ जैसा प्रतीयमान यह बादलों का समूह ही है क्या, ऐसी जिसकी सम्भावना की गई है, श्रीवसुदेवजी ने भावी उत्पात की शंका करके प्रथम मथुरा में श्रीनन्दजी के प्रति जो सूचना दी थी, उसी के अनुसार यह एकत्रित कुछ उत्पातरूप ही है क्या ? ऐसी जिसके विषय में चिन्ता की गई, इन्द्र के द्वारा पंख कट जाने के बाद, पुनः दुबारा पंख मिल जाने के कारण उत्पात का आचरण करता हुआ, ऊपर को उठकर पुनः गिरा हुआ, यह विशाल पर्वतविशेष है क्या? ऐसा वितर्क भी जिसके विषय में हुआ, राक्षसों का आकार साक्षात्कार करने पर, जैसे अनेक संकल्प विकल्पों की कल्पना होती है, उसी प्रकार पूतना के देह से जनसमूह को भय, हास्य एवं कौतुक के कारण विसंवाद शब्द उत्पन्न होगये। क्षणभर बाद राक्षसपने के लक्षण देखकर, जिस पूतना के देह से व्रजवासियों को अनिष्टसमूह का दृढ़ निश्चय होगया था, जिस समय श्रीनन्दादि पूतनादेह के विषय में यह बड़ी भारी वरत का ढेर है, अथवा भस्मीभूत अन्धकार है, बड़े भारी वन का एक विभाग है, भूमि में पड़ा हुआ मेघ-समूह है, किंवा दुबारा पंख प्राप्त करने वाला विशाल पर्वत है, इत्यादि रूप से अनेक प्रकार के सन्देह कर ही रहे थे, उसी समय अपने सामने आती हुई जनता के मुख से, पूतना राक्षसी के विशाल देह की कथा को सुनकर, श्रीनन्दादिकों का अनेक प्रकार का संशय ज्ञान दूर हो गया, एवं प्रसंगानुसारी ज्ञान का उदय हो गया। पास में आकर देखने से विकट मूर्ति प्रगट हो जाने से जिसको देखकर सभी का चित्त भयभीत हो जाता है, इस प्रकार सभी ने व्रज से बाहर पड़ा हुआ, यह पूतना का ही देह है यह निश्चय किया ॥७०॥

पूतनाराक्षसी पुत्र को ले गई थी, पुत्र के द्वारा उसकी मृत्यु भी हो गई, इस प्रकार का समाचार

लब्ध्वा दुर्धरकालनागदशनत्रोटं यथा तत्क्षणा-
द्दिव्यं मन्त्रमपि श्रयेत मनुजः कश्चिद्द्रुतं जीवितुम् ।।७१।।

"अथ व्रजराजस्तत्राश्चर्यपारम्पर्यमिदमशृणोददर्शयदन्वभूदपि । तत्राशृणोद्यथा—प्रथमं तावत् पूतनातनुरायामतस्त्रिगव्यूतिं व्याप्य पतितवती विस्तारतस्तु गव्यूतिम्, उच्छ्रायतश्च प्रायः क्रोशमिति ।।७२।।

"सा च यामद्वयगम्यायाम-तदर्धविस्तार-व्रजागार-व्रजाद्बहिरेव पपात, तत्र च न प्राणिनः पीडितवती, किन्तु द्रुमानेवेति ।।७३।।

"अथादर्शयद्यथा—तत्र हि कुलिशतुल्यनिष्ठुरमहिष्ठकुल्यकुलाकुलाघनास्तदपघनाः स्वीयसमाज्ञया व्रजजनपृथक्पृथग्जनव्रजेन झटित्येव कठिनकुठारैर्विपाटिताः, प्रचुरतरस्थान-स्थापितास्ततोऽप्यतिविततानि निर्बन्धेनेन्धनानि सन्धाय सन्दग्धाश्चेति ।।७४।।

"तदेवं तद्व्रजबहिर्धामपामर-चर्मकारादि-कर्मकारगणानामपि गणना शक्तिसमति-रिक्तता च न व्यक्तीकर्तुं शक्यते, किमुत गोपादीनामिति ।।७५।।

सुनकर, तत्काल मूर्च्छित होते हुए भी श्रीव्रजराज अच्छी प्रकार सचेत हो गये । उसका दृष्टान्त यह है कि, जैसे कोई मनुष्य दुर्दम्य काले नाग के दाँतों का आघात प्राप्त कर, तत्काल बचने के लिए शीघ्र ही दिव्य मन्त्र का भी सहारा ले लेता है, श्रीव्रजराज की भी वही अवस्था हुई, अर्थात् पूतना लाला को ले गई, यह सुनकर तो मूर्च्छा आई, लाला के हाथ से मारी गई यह सुनकर चेतना भी तत्काल आगई ।।७१।।

तदनन्तर वहाँ पर श्रीव्रजराज ने ऐसा आश्चर्यसमूह श्रवण किया, देखा एवं अनुभव भी किया । उनमें से जो सुना वह इस प्रकार है, यथा—पहले तो पूतना का शरीर लम्बाई से छः कोश तक फैल कर गिरा, उसकी चौड़ाई दो कोश की एवं ऊँचाई एक कोश की थी ।।७२।।

महावन गोकुल के घरों की बसावट की लम्बाई तो दोपहर तक चलकर, इस छोर से उस छोर तक पार की जा सकती थी, एवं चौड़ाई एक पहर में पार की जा सकती थी, ऐसी विशाल महावन की नगरी का कोई अनिष्ट नहीं हुआ, अर्थात् वह पूतना, नगरी के घरों से बाहर ही पड़ी है । उसमें भी उसने प्राणियों को पीड़ा नहीं पहुँचाई, केवल वृक्षों को ही पीड़ित किया है ।।७३।।

जो आश्चर्य देखा वह इस प्रकार है, यथा—वहाँ पर व्रजवासियों से भिन्न अन्यान्य नीच जाति के जनों ने श्रीउपनन्द, नन्द आदिकों की अच्छी प्रकार की आज्ञा से, वज्र के समान कठोर विशाल हड्डियों द्वारा व्याप्त पूतना के निविड़ (घने) अङ्ग प्रत्यङ्गों को, शीघ्र ही कठिन कुठारों के द्वारा फाड़ डाला । पश्चात् एक विशाल मैदान में धरकर, आग्रहपूर्वक पूतना के टुकड़ों से भी लम्बे लम्बे काष्ठ के बोटा इकट्ठे कर उन अङ्गों को जला दिया ।।७४।।

इस प्रकार व्रज से बाहर उस लम्बे चौड़े मैदान में पामर चर्मकार (चमार) आदि कार्यकर्ताओं की गणना, एवं उनकी प्रचुरशक्ति का प्रकाश ही जब नहीं किया जा सकता, तब गोप आदि जनों की कौन कहे ? अर्थात् उन नीचजाति के जनों की संख्या कितनी है, एवं उनकी देह में कितना बल है, जो कि वज्र तुल्य पूतना के टूक टूक उड़ा दिये । जब इन्हीं की संख्या एवं शक्ति का पार पाना कठिन है, तब गोपप्रभृति साधुजनों की संख्या एवं असीम शक्ति किस प्रकार व्यक्त की जा सकती है ? ।।७५।।

"अथान्वभूद्यथा—

कंसारेः सुमधुरिमा प्रमाणचर्यां, न प्राप्स्यत्यधियुगकोटिकूटितोऽपि ।

सा राक्षस्यपि रुधिराशनापि यस्य, स्पर्शांशाद्वरसुरभित्वमाससाद ॥७६॥

"यतः, तदा च दूता इव पूतनाङ्गतो, दग्धादुगता धूमगणाः सुगन्धयः ।

ग्रामान्तरं यातवतां दिनान्तरे, केषाञ्चिदाह्वानकृतिं विनिर्ममुः ॥ इति ॥७७॥

अथात्मजं कलयितुमाशु गोकुल,-क्षितीशिता व्रजपुरमध्यमाययौ ।

गतेऽन्तिके पथि पतदश्रुविग्रहः, क्षणं स्थितः स्वजनगृहीतदोर्युगः ॥७८॥

"अथ धीरतामेव धारयन् परमधीरधीरसौ द्वित्रमित्रपरिवृततया बृहद्गृहालिन्दवेदीं विन्दमानः कनकासनकृतासनः स्वकुल-गोकुल-कुलपुरन्ध्रीभिः सार्धमर्धाङ्गेन सानन्दमुपनन्द-वधूहस्तविन्यस्तं बालं पुरस्कुर्वता पुरतः पतिरभिजग्मे; बालश्च तस्योत्सङ्गसङ्गी कारयाञ्चक्रे ॥७९॥

"तत्र च—किं ग्रहार्दिततया स बालको, दूनतामगमदेकरात्रतः ।

इत्यचिन्तयदमुं तदेन्दुवत्, स्फीतमैक्षत पुनर्व्रजाधिपः ॥८०॥

अब श्रीनन्दजी ने जो अनुभव किया वह इस प्रकार है, यथा—रुधिर का पान करने वाली वह राक्षसी भी, जिन श्रीकृष्ण के स्पर्श लेश से श्रेष्ठ सुगन्ध को प्राप्त कर गई, अर्थात् सुगन्धमय बन गई, उन कंसरिपु श्रीकृष्ण की सुमधुर माधुरी "दुग्धपान के बहाने प्राण पान करना रूप" कपट से युक्त होकर भी, करोड़ों युगों में प्रमाणों के गोचर न हो सकेगी, अर्थात् अनुभव योग्य वस्तु प्रमाणों से न कही जा सकती है, न समझी जा सकती है, अतः श्रीकृष्ण का माधुर्य अनुभव करने योग्य है ॥७६॥

कारण—उस समय जले हुए पूतना के शरीर से दूतों की तरह सुगन्धमय धूमसमूह निकले, जो कि दूसरे दिन दूसरे गाँव में जाने वाले किन्हीं किन्हीं जनों को बुलाने का कार्य कर रहे थे, अर्थात् उस दिन जो लोग दूसरे गाँव में जा रहे थे, पूतना की चिता के सुगन्धमय अति ऊँचे धूमसमूह को देखकर, सुगन्धी के लपेटा में आकर, वहीं उपस्थित हो गये, उनको बुलाने का दूतरूप कार्य सुगन्धमय धूम ने ही किया ॥७७॥

तदनन्तर गोकुलभूपति श्रीनन्दजी लाला को शीघ्र ही देखने के लिये व्रजपुर (महावन) के मध्य में आये। मार्ग के समीप में आते ही उनके आँसुओं की धारा बह चली, जिससे सारा शरीर भीग गया, कुछ क्षण मार्ग में खड़े के खड़े रह गये, बन्धुजन उनकी दोनों भुजाओं को पकड़े हुए थे ॥७८॥

पश्चात् परमधीर बुद्धि वाले श्रीनन्दजी धैर्य को धारण करते हुए, दो तीन मित्रों से परिवृत होकर, विशाल भवन की पौरी की वेदी को प्राप्त कर, सुवर्णमय आसन पर विराजमान होगये। उस समय उनकी अर्धाङ्गिनी श्रीयशोदाजी अपने कुल की, गोकुल में रहने वालीं गोपियों के साथ, श्रीउपनन्दजी की धर्मपत्नी के हाथों में धरे हुए पुत्र को आनन्दपूर्वक आगे करती हुई, सामने की ओर से पतिदेव के निकट आगई, और उपनन्द पत्नी के द्वारा ही बालक भी उनकी गोद में समर्पण करवा दिया ॥७९॥

उस समय हाय ! वह बालक ग्रह से पीड़ित होने के कारण एक ही रात में दुःखित हो गया है क्या ? श्रीव्रजराज पुत्र के विषय में इस प्रकार की चिन्ता करने लग गये। पुनः तत्काल पुत्र को पूर्ण चन्द्रमा की तरह हृष्ट पुष्ट देखा ॥८०॥

"किञ्च, लीढं रूपमधु प्रकृष्य रसितं वक्त्रप्रसादामृतं
सम्यक् स्वादित एव तुल्यरहितस्पर्शोत्सवः कोऽप्यसौ ।
तस्य श्यामलबालकोमलतनोर्मूर्ध्नस्तु तातेन तां
सौरभ्यस्वदनानुभूतिमभितो विश्वं मदाद्विस्मृतम् ॥८१॥

"निभाल्य च श्रीमन्मुखं सुखमूचे,—
'यदि नारायणेन त्वं दत्तोऽसि कृपणाय मे ।
तेनैव सर्वं निर्वोढा सोढा च मम दुर्नयः ॥'८२॥

"अथ 'निर्वोढा निर्वोढा' इत्यनुवदन्त्यत्यन्ताभिनिवेशादेकेनाप्यकृतनिर्देशा पृष्ठदेशादितप्रवेशा जटिलितकचा सत्यवचाः पौर्णमासी सर्वैरेव तूर्णमुत्थाय समनस्कारेण नमस्कारेण पुरश्चक्रे; अर्चयाञ्चक्रे चासनादिभिः ॥८३॥

"ततश्च, स्वप्रश्नोत्तरविषयीकृत-तद्विषयोषावृत्तविशेषा राज्ञानुज्ञापयाम्बभूवे; पूर्ववदपूर्वदानाद्यपूर्वाय; तच्च तामेव प्रधानं विधाय विधीयते स्मेति ।" ॥८४॥

तदेवं पूतनां घातयित्वा समापनाय पुनरपीदं मधुकण्ठः परमर्षिसम्मतता-व्यञ्जनया समुट्टङ्कितवान्,—॥८५॥

किंच बालक के पिता श्रीनन्दजी ने, बालक के रूपमधु का आस्वादन किया, मुख की प्रसन्नतारूप अमृत का अच्छी प्रकार पान किया, कोई एक अनिर्वचनीय तुलनारहित स्पर्शसुख का भली प्रकार अनुभव किया, एवं उसी घनश्याम व कोमलाङ्ग बालक के मस्तक की सुगन्ध के रसास्वाद का अनुभव करते समय, तो हर्ष के कारण इस ब्रह्माण्ड तक को भुला दिया ॥८१॥

बालक के शोभायमान मुखमण्डल को निहारकर सुखपूर्वक पुनः बोले—पुत्रप्राप्ति की सम्भावना न होने पर भी, मुझ जैसे दीन के लिये, श्रीनारायण भगवान् ने यदि तुमको पुत्ररूप से दे दिया है, तो वे ही सब निर्वाह करेंगे, तथा मेरी दुर्नीति को सहते रहेंगे ॥८२॥

तदनन्तर "निर्वाह करेंगे, अवश्य निर्वाह करेंगे" इस प्रकार बारंबार उच्चारण करती हुई, पौर्णमासी वहाँ आकर प्रविष्ट हो गईं। किन्तु उस समय सभीजन इतने एकाकार हो रहे थे कि, कोई भी उनके प्रवेश का निर्देश न कर सका। क्योंकि वह सभी के पीछे की ओर से प्रविष्ट हुई थीं। उनके केश जटारूप में परिणत थे, सभी ने शीघ्र उठकर मानसिक भक्ति और चित्त की स्थिरता के सहित, नमस्कार पूर्वक सत्यवादिनी श्रीपौर्णमासीजी को सन्मुख किया एवं आसनादि द्वारा उनकी पूजा की ॥८३॥

उसके बाद श्रीव्रजराज के प्रश्न में इस प्रकार का उत्तर होना आवश्यक है। श्रीपौर्णमासीजी उस विषनारी पूतना के चरित्र को विशेष रूप से जानती थीं। इसीलिये श्रीव्रजराज ने "इस सम्बन्ध में अब क्या करना चाहिये ?" आदेश दीजिये, यह प्रार्थना की। श्रीपौर्णमासी ने भी पहले की तरह कर्मजन्य शुभाशुभ अदृष्ट के लिये अपूर्व दान आदि करने की अनुमति प्रदान की, वह अपूर्व दानादि कार्य भी उन्हीं को प्रधान बनाकर किया गया ॥८४॥

इस प्रकार पूतनावध का वर्णन कर, उस कथा की समाप्ति के लिये मधुकण्ठ ने फिर भी, परमऋषि श्रीशुकदेवजी की सम्मति दिखाते हुए यह सुन्दर उल्लेख किया ॥८५॥

"ईदृशस्तनयो जातस्तव गोपपते यतः ।
सा बालराक्षसी जज्ञे निजसंसार-राक्षसी ।।"८६।।

चेतसि चेदं विविक्तवान्,—

"अर्भासृग्भुगजनि यत् पुरा यदर्वाग्,-धात्री चाभवदियमत्र नन्दसूनोः ।
तत् क्वाधस्पदमथ तच्छिरस्पदं वा, क्वेत्यन्तर्हृदि विमृशन् भृशं भ्रमामि ।।"८७।।

तदेवं वृत्ते वृत्ते तद्दिनेऽपि पूर्ववदेव कथा रक्षिता; यथायथमपि स्वावसथादिपथानुगतिराचरिता ।।८८।।

।। इति श्रीश्रीगोपालचम्पूमनु पूतनावधावधारणं नाम पञ्चमं पूरणम् ।।५।।

अथ षष्ठं पूरणम्

शकटभञ्जनादिः

अथ तथैवाधरेद्युः सुभासमानायां सभायामनुमोदननिदिग्धः स्निग्धकण्ठः सोत्कण्ठः उवाच,—"मधु-मधुरकण्ठ श्रीमन्मधुकण्ठ ! श्रूयताम्;—।।१।।

"ततः समन्तादहरहरन्यदन्यल्लावण्यमुत्फुल्लयन् विधुः स्वजन्मपक्षमुल्लासयामास ।।२।।

यथा—हे गोपपते ! तुम्हारे ऐसा विचित्र पुत्र उत्पन्न हुआ है, जिससे वह बालराक्षसी पूतना अपने संसार की भी राक्षसी (भक्षिका) हो गई, अर्थात् तुम्हारे पुत्र द्वारा ही उसको मातृगति मिल गई, सदा के लिये उसका जन्ममरणात्मक संसार नष्ट होगया ।।८६।।

मधुकण्ठ ने अपने मनमें पुनः यह विवेचना की, यथा—देखो ! पहले यह राक्षसी बालकों के रुधिर का भोजन करने वाली थी, पश्चात् इस गोलोक में नन्दकुमार की धाई हो गई । अतः वह अधोगति कहाँ है, एवं अत्यन्त उच्चगति कहाँ है ? मैं तो अन्तःकरण में इस प्रकार का विचार करता हुआ अत्यन्त भ्रम में पड़ जाता हूँ, अर्थात् प्रभु की कृपा होते कुछ देर नहीं लगती ।।८७।।

इस प्रकार के वृत्तान्त के समाप्त होते ही उस दिन भी पहले की तरह कथा स्थगित हो गई, एवं सभी श्रोताओं ने यथायोग्य अपने अपने घर की ओर जाने वाले मार्गों का अनुसरण किया।।८८।।

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीगोपालचम्पूकाव्ये पूतनावधावधारणं
नाम पञ्चमं पूरणं संपूर्णम् ।।५।।

षष्ठ पूरण

शकटभञ्जनादि लीला

अब पूर्वोक्त नियमानुसार चतुर्थ दिवस के कथाप्रसङ्ग में सुन्दररूप से प्रकाशमान सभा में सभी के अनुमोदन से उल्लासयुक्त स्निग्धकण्ठ उत्कण्ठापूर्वक बोला—हे श्रीमन् मधुकण्ठ ! आपका कण्ठ तो मधु से भी मधुर है, तथापि आज तो मेरे मुख की कथा का श्रवण करो ।।१।।

पूतना वध के अनन्तर प्रतिदिन सर्वतोभाव से नित्य नये सौन्दर्य का प्रकाश करते हुए श्रीकृष्णचन्द्र अपने भक्तमण्डल को आनन्दित करने लग गये, अर्थात् शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की तरह दिनोंदिन बढ़ने लग गये ।।२।।

तत्र दिग्दर्शनं यथा—

एका द्वित्राश्चतस्रो युतवियुततया पञ्चषाः सप्त चाष्टौ
पंक्तिर्वा पंक्तिबद्धाः शिशुयुवतिजरत्यर्धवृद्धाः समन्तात् ।
आयान्ति द्राग्विशन्ति व्रजनृपतिगृहं तञ्च पश्यन्ति बालं
कृत्वा चूचकारमिश्रं बहुलविलसितं स्माययन्त्यो हसन्ति ।।३।।

"यथा च—मात्रा पित्राथ मातापितरकुलभवैराकुलैश्चित्रमित्रै-
र्नेत्राणामञ्जनाभं शिशुमनुभवितुं सन्ततं कञ्जनाभम् ।
आगम्यागम्य रम्याकृतिपरिवृतिमुद्वास्य हास्यादिपूर्वं
स्पर्शं स्पर्शं तमुच्चै रहरहरहहो दृङ्महो लभ्यते स्म ।।४।।

"ततश्च,—

विगलदलकजालालोलदृक्खञ्जरीटः, प्रकटिततिलकश्रीरोचनाकुंकुमाभ्याम् ।
स्मितविलसितवक्त्रः श्यामधामाचलांघ्रिः, शिशुरतिशुशुभे स प्राप्य मासं तृतीयम् ।।५।।

"तत्र च—स्निग्धं पश्यति सेष्मयीति भुजयोर्युग्मं मुहुश्चालय-
न्नत्यल्पं मधुरञ्च कूजति परिष्वङ्गाय चाकांक्षति ।
लाभालाभवशादमुष्य लसति क्रन्दत्यपि क्वाप्यसौ
पीतस्तन्यतया स्वपित्यपि पुनर्जाग्रन्मुदं यच्छति ।।६।।

उसका दिग्दर्शन, यथा—पहले एक, पीछे दो, तीन, चार उसके पश्चात् जोड़ा व जोड़ा से मिलकर, पाँच, छः, सात, आठ, नौ एवं दश दश जनी मिलकर, छोटी, युवती, बुढ़िया, अधबूढ़ी सभी प्रकार की गोपियाँ चारों ओर से टोली बनाकर श्रीव्रजराज के भवन में आ रही हैं, शीघ्र ही प्रविष्ट हो रही हैं, बालकृष्ण को देख रही हैं, पश्चात् चुचुकार शब्द से युक्त अनेक खिलवाड़ करती हुई, बालमुकुन्द को मधुरता पूर्वक हँसाती हुई स्वयं भी हँसने लग जाती हैं ।।३।।

और भी ! माता, पिता और मातृकुलोत्पन्न एवं पितृकुलोत्पन्न विचित्र विचित्र मित्रगण आश्चर्ययुक्त होकर, दर्शन की व्याकुलता दिखाते हुए, नेत्रों के अञ्जन सदृश पद्मनाभ बालक का निरन्तर अनुभव करने के लिये बारंबार आकर बालक के मनोहर वस्त्रों को शरीर पर से उठा उठाकर, हला हलाकर, एवं हास्यपूर्वक उसको छू छूकर बारंबार स्पर्शकर प्रतिदिन नेत्रों के आश्चर्यमय उत्सव का लाभ उठाते हैं ।।४।।

तदनन्तर बाल्यलीला का अनुकरण करनेवाले श्रीकृष्ण की समयोचित शोभा का वर्णन करते हुए कहते हैं—मुखमण्डल पर अलकावली आ जाने पर भी जिनके नेत्ररूप खञ्जनपक्षी चञ्चल हो रहे हैं, तथा गोरोचना और कुंकुम द्वारा विरचित तिलक से सुशोभित होकर भी, मन्दमुस्क्यान से जिनका मुखारविन्द खिल खिला रहा है, वे ही अचल चरणों वाले श्यामवर्ण बालमुकुन्द तीसरे माह को प्राप्तकर, अर्थात् तीन महीने के होकर सर्वतोभाव से सुशोभित हुए ।।५।।

उस समय बालकृष्ण स्नेहीजनों को स्नेहपूर्वक देखते हैं, बारंबार मुस्क्याते हैं, दोनों भुजाओं को भी बार बार चलाते हैं, थोड़ा थोड़ा मधुर शब्द करते हैं, गोद में चढ़ने के लिये इच्छा प्रगट करते हैं, गोद की प्राप्ति में प्रसन्न हो जाते हैं, अप्राप्ति में रोने लग जाते हैं, कभी कभी माँ का दूध पीकर सो जाते हैं, पुनः जागते हुए हर्ष प्रदान करते हैं ।।६।।

"अथ कदाचिन्नाक्षत्रमासत्रयान्ते नक्षत्रेशकान्ते तज्जन्मनक्षत्रे श्रीमन्मात्रा पुत्राभिषेक-कौतुकयात्रा प्रवर्तिता ॥७॥ तदा च—

भवनमनु सुयत्ने रत्नपर्यङ्कवर्ये, सुरभिमृदुलतूलीशुभ्रवस्त्रप्रशस्ते ।
हरिमणिरुचिबालः शोभते स्मासिताम्भो,-रुहमिव सुरसिन्धौ क्षीरसिन्धौ हरिर्वा ॥८॥

अथोत्तानशायी स सर्वातिशायी, निजाम्बा-यशोदः स्वतातप्रमोदः ।
स्वनक्षत्रभाते बभूव प्रभाते, बलेनातिसाङ्गः परावर्तिताङ्गः ॥९॥

"ततश्च, शयनं पार्श्वेनोपपीडं शयानममुं सुकुमार-कुमारापीडमकस्माद्विलोक्य तद्वृत्ते धात्रीभिर्मात्रे निवेदितमात्रे सति सातिमात्रानन्दकन्दलिता निजनन्दनमङ्गलातिशयस्पृहिणी श्रीमन्नन्दक्षितीशगृहिणी भर्तुराज्ञां सुज्ञातां सम्भूय भूयः सर्वाः समाहूय तमेव महोत्सवं महामहोत्सवं चकार ॥१०॥

"तत्र कासाञ्चिदपि गृहपालनाय स्थितानामाहूतिरेवमनुसन्धेया;—॥११॥

'लाल्यस्याद्य तु जन्मभं विजयते तत्रापि चौत्थानिकं
सर्वा एव गतास्त्वमेव किल किं सद्मावितुं वर्तसे ?

करवट बदलने की लीला का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—किसी समय अपने जन्मनक्षत्र के तीन माह बीत जाने पर चन्द्रमा जिसका पति है ऐसे रोहिणी नक्षत्र में, अर्थात् श्रीकृष्णजन्मनक्षत्र में श्रीमती माँ यशोदा ने श्रीकृष्ण के अभिषेक की कौतुक यात्रा प्रवर्तित की ॥७॥

उस समय भवन में अत्यन्त यत्नपूर्वक स्थापित एक उत्कृष्ट मणिमय पलङ्ग था, उस पर सुगन्धयुक्त एवं कोमल रूई से भरा हुआ स्वच्छ सफेद वस्त्र से ढ़का हुआ एक गद्दा बिछा हुआ था, छोटा सा तकिया लगा हुआ था, उसी पलङ्ग पर इन्द्रनीलमणि के समान शोभायमान बालक सुशोभित हो रहा था। उससे यह प्रतीत होता था कि मानों श्रीगङ्गाजी में नीलकमल अथवा क्षीरसमुद्र में श्रीनारायण शोभा पा रहे हैं ॥८॥

तदनन्तर उत्तानशायी (ऊपर की ओर मुख चरण करके सोने वाले) निजजननी यशोदा व अपने पिता श्रीनन्दजी के आनन्दजनक, बल से परिपूर्ण सर्वावयव विशिष्ट एवं सर्वोत्कर्षशाली उस यशोदा के बालक ने रोहिणीनक्षत्र से सुशोभित प्रभातकाल में अङ्गपरिवर्तन, अर्थात् करवट बदल ली, एक बगल से सो गये ॥९॥

तदनन्तर ये सुकुमार कुमार शिरोमणि बालकृष्ण अपनी बगल के द्वारा पलका को पीड़ित करके जब शयन कर रहे थे, तब अकस्मात् इनको देखकर धाइयों ने इनका चरित्र माता के लिये निवेदित किया। निवेदन करने मात्र से श्रीमन्नन्दराजगृहिणी यशोदा अतिशय आनन्द से परिपूर्ण हो गईं, पश्चात् अपने लाला के अत्यन्त मङ्गल की कामना वाली नन्दरानी ने पतिदेव की आज्ञा को अच्छी प्रकार जानकर, फिर सभी गोपियों को प्रेमपूर्वक बुलाकर उसी महोत्सव को सर्वेच्छापूरक महामहोत्सव बना दिया ॥१०॥

उस महोत्सव के समय अपने अपने घर की रक्षा के लिये कुछ गोपियाँ रह गईं, उनके बुलाने का इस प्रकार अनुसन्धान करना, यथा— ॥११॥

श्रीव्रजेश्वरी का आदेश है कि आज हमारे लाला का जन्मनक्षत्र शोभा पा रहा है, तिसमें भी करवट बदलने का महान् महोत्सव है। सभी व्रजनारियाँ प्रायः आ गई हैं, फिर तू ही अकेली घर की रखवारी के

आगृह्णाति मुहुर्व्रजेशगृहिणी किंवा व्रजे मोषकः
कोऽप्यस्ति स्फुटमस्ति वा स तु शिशुर्मुष्णाति चेतः परम् ॥१२॥

"अथ तत्र चित्रवादित्र-शुभरीतिगीति-प्रशस्त-विप्रकुलशस्त-स्वस्तिवाचनपूर्वक-विधिमतिरिच्याभिषिच्य पीतवाससा परिकृत्यालंकृत्य मन्त्रादिभिरभिरक्ष्याभिलक्ष्य तदुद्धर्षहर्षमय-बहुतर-कार्यचर्या-मर्यादां पर्यापयितुमितस्ततश्चलन्ती परिजनानपि नियोजनया सप्रयोजनान् जनयन्ती जननी गेहायमानविसङ्कटघटन-महाशकटाधः कल्य एव पल्यङ्के बालमालोकाजिर एवाजिरे शायितवती। तत्र कुमारयतः कुमारांश्च स्थापितवती। तत्रावष्टम्भ-स्तम्भचतुष्टय-मध्यग-दोलाकारः सपल्यङ्को यथा—॥१३॥

प्रबालांघ्रिर्गारुत्मतघटितपट्टीपटुरुचि-
र्वहन्मध्ये पट्टारुणचिपिटडोरीपटवृतिम्।
दुकूलान्तस्तूल-स्फुरित-वरतूली-वलयितो
दरान्दोलो दोलो यदुपरि विरेजे शिशुहरिः ॥१४॥

"तत्र च—स्थविष्ठपट्टस्तबकं विचित्रं, निबद्धमूर्ध्वादभिलम्बमानम्।
स्पृशन् कराभ्यामसितः स कूज,-न्नुत्तानशायी मुहुरुज्जहास ॥१५॥

लिये क्यों बैठी है ? देखो ! नन्दरानी ने बारंबार आग्रह करके कहा है कि, क्या व्रज में भी कोई चोर है ? यदि प्रसिद्ध चोर है तो वह हमारा लाला ही है, किन्तु वह केवल चित्त को ही चुराता है। इतने पर भी तू हमारे घर क्यों नहीं आती है ? ॥१२॥

तदनन्तर उस महोत्सव में विचित्र बाजा, मङ्गलगान, प्रशंसनीय ब्राह्मणकुल के मङ्गलकारक स्वस्ति-वाचन आदि द्वारा विशेषरूप से विधि विधान को सम्पन्न कर, बालक का अभिषेक कर, वस्त्र से शरीर को पोंछकर, पीत झँगुलिया पहनाकर, अलङ्कार धारणकर, नृसिंह बीज आदि मन्त्रों से रक्षा कर, बारंबार देखकर, उस महोत्सव सम्बन्धी हर्षमय बहुत से अन्य कार्यों की परिपाटीरूप मर्यादा को पूरा करने के लिये चारों ओर भाग दौड़ करती हुई, सभी सेवकों को यथायोग्य कार्य में नियुक्त कर, उनकी निरर्थकता को दूर करती हुई, श्रीकृष्णजननी ने जिसकी रचना घर के समान है, ऐसे विशाल शकट, अर्थात् गाड़ी के नीचे प्रातःकाल ही मङ्गलमय पलका पर बालकृष्ण को अपने दृष्टिगोचर आँगन में ही सुला दिया। वहाँ पर खेलने वाले छोटे छोटे बालकों को भी स्थापित कर दिया। वहाँ पर आधाररूप चार खम्भाओं के बीच झूला से आकार वाला वह पलका इस प्रकार का है, यथा— ॥१३॥

जिस झूला के ऊपर श्रीकृष्ण विराजमान थे, उसके चारों खम्भे प्रबाल, अर्थात् मूंगाओं से खचित थे, मरकतमणिजटित पाटियाँ शोभा पा रही थीं, बीच में अरुणवर्ण की रेशमी निवार से वह बुना हुआ था, रेशमी लिहाफ में भरी हुई कोमल रूई से बने हुए तोषक तकिया उस पर लगे हुए थे, ऊपर सुन्दर पलङ्ग-पोष बिछे थे, एवं वह धीरे धीरे हिल रहा था ॥१४॥

उस झूला के बीच में ऊपर बँधे हुए वितान से नीचे की ओर लटकता हुआ बड़ा भारी एवं विचित्र एक रेशमी कपड़े का पुष्पों का गुच्छा था, जिसको अपने दोनों करकमलों से कौतुकवश छूते हुए श्यामवर्ण वाले यशोदा के लाला, उत्तानशायी होकर अव्यक्त शब्द करते हुए, बारंबार खिलखिलाकर हँस रहे थे ॥१५॥

"ततश्च, ब्राह्मणादिपूजायां पूर्यमाणायां कृतसमाहरणेन हरणेन सार्धं सार्धप्रहरेऽप्यतियाते न कस्यचिदन्यत् किञ्चिदपि चिदमत्रमत्रासीत् ॥१६॥

"तदा च पूतनावन्नूतनार्भकाय कंसप्रहितः कश्चिद्विविषदहितः समागम्य दिवि स्थित एवं चिन्तयामास,–'स पूतनापोथकोऽयं पोतो विसङ्कट-शकटाधस्तादास्ते; साक्षान्मन्तुं विधातुं न कोऽपि जन्तुरमुष्य शक्ष्यतीति लक्ष्यते। छद्मरूपसद्मतया च पूतना संस्थिता; तस्मादमूर्त एव सन्नत्र पूर्तये भवानि' इति। ततश्चासौ शकटमप्रकटमाविष्टवान् ॥१७॥

"तदावेशेन चासौ भूम्यां प्रविशच्चक्रतया वक्रीभवदक्षतया चोपरिपात-परीपाकप्रक्रमं यदा चक्रे, तदैव तद्दैववशतः किल तस्य पोतस्य स्तननिदिग्धदुग्धजग्धीच्छा जाता। तदा च मातरमनुपलभ्य कातर इव नवकमलदलकोमलचरणास्फालनादुद्घट्टितं निकटसङ्घटितं निजशकटं पक्षविहीनमपि कुतुकादिव राक्षसपक्षिणीवदुड्डीनं विधाय विवृत्तपतनत्वमासादयामास स शावकः ॥१८॥

"इदमेव साश्चर्यतयानूदितं श्रीमदर्जुनेन विष्णुधर्मे—

'तालोच्छ्रिताग्रं गुरुभारसार,-मायामविस्तारवदद्य जातः।
पादाग्रविक्षेपविभिन्नभाण्डं, चिक्षेप कोऽन्यः शकटं यथा त्वम् ?' इति ॥१९॥

तदनन्तर ब्राह्मणादि पूजनीयों की पूजा समाप्त होने पर, जो बालक के पहनने योग्य झँगुला, टोपी, आभूषण आदि सब गोपियाँ लाईं थी, उसी की देखभाल सार सँभार करने में डेढ़ पहर बीत जाने पर भी, किसी व्यक्ति को अन्य किंचिद् भी ज्ञानपात्र मात्र का उस महोत्सव में भान ही न था ॥१६॥

उसी समय नूतन बालक के उद्देश्य से कंस का भेजा हुआ कोई असुर पूतना की तरह आकर, व्रजवासियों के महोत्सव को देखकर, न सहता हुआ, आकाश में स्थित इस प्रकार विचार करने लग गया। वह पूतना को मारने वाला बालक यही है, विशाल शकट (गाड़ी) के नीचे ही है। साक्षात् रूप से आगे पड़के तो कोई भी जन्तु इसका अनिष्ट या अपराध करने के लिए समर्थ नहीं है, ऐसा इसके तेज से प्रतीत होता है। कपटमयी मूर्ति धारण करने के कारण पूतना मारी गई। अतः मैं तो मूर्ति न धारण करके ही यहाँ पर कार्यपूर्ति के लिए चेष्टा करूँ। ऐसा विचारकर वह असुर गुप्तरूप से शकट में प्रविष्ट होगया ॥१७॥

उस असुर के आवेश के कारण उस गाड़ी के पहिये धरती में धँस चले, धुरा टेढ़ा पड़ गया, इसीलिये वह असुर जब लाला के ऊपर गिरने को उपद्रव करने का आरम्भ करने लगा, तभी दैवयोग से उस बाल भगवान् को स्तनों में परिपूर्ण जो दुग्ध उसके पीने की इच्छा उत्पन्न हो गई। उस समय यशोदा मैया को न प्राप्त कर, कातर की तरह नवकमलदल के समान कोमल चरणों को ऊपर की ओर फैंकने लग गये, उन चरणों के आघात से ही बालमुकुन्द ने अपने पास में स्थित अपने शकट को पंख विहीन होने पर भी, खेल खिलवाड़ की तरह राक्षसपक्षिणी पूतना की भाँति ऊपर की ओर उड़ा कर पुनः धरती पर धरा दिया ॥१८

इसी विषय का श्रीमान् अर्जुन ने विष्णुधर्मोत्तर ग्रन्थ में आश्चर्यपूर्वक अनुकथन किया है, यथा—जिस शकट का अग्रभाग ताल वृक्ष के समान ऊँचा था, एवं जो सारांशयुक्त भारी भार से युक्त था, लम्बा चौड़ा भी यथेष्ट था, तथा आपके चरणों के अग्रभाग के विक्षेप से जिसमें स्थित दूध, दही, तैल आदि के सारे भाण्ड फूट गये थे, ऐसे विशिष्ट शकट को तीन माह की अवस्था में आपने जैसे ऊपर फैंक दिया, इस प्रकार आपसे भिन्न अन्य कौन व्यक्ति फैंक सकता है ?॥१९॥

"स चासुरः स्वयमेवामूर्ततामुरीकृतवानितीव तमप्यसावाकाशनीकाशतया नाशयामास। तदिदमहो काकतालीयमेव जातम्। सोऽयमसुरावेश एव ब्रह्माण्डपुराणे श्रीकृष्णाष्टोत्तरशत-नामस्तोत्रे शकटासुरभञ्जन इति नाम्ना व्यञ्जितः ॥२०॥

"अत्र देवाः श्रीलगोपालभावमुत्प्रेक्षाञ्चक्रिरे; ॥२१॥ यथा—

'शकटमिदमिहास्ति मद्गृहस्य, स्वयमविशस्तदनेन चोत्प्लुतोऽसि।
रुदितमनुपदं मया विकीर्णं, तदपि यदि म्रियसे न तन्ममागः ॥' इति ॥२२॥

"आविर्भवत्कटकटे शकटेऽथ सर्वे, किं किं किमित्यभित एव भियाभियाताः।
तस्यातिपातमवलोक्य विलोक्य तोकं, क्रन्दद्विमूढमतिता-ततिमूढवन्तः ॥२३॥
माता च तं विवशितावयवापि देवा,-विष्टेव पश्यति जने जगृहे द्रवेण।
पश्चात्तु कम्पमुखभावनिपीडिताङ्गी, तां विद्रुताः परपराः परितोऽप्यगृह्णन् ॥२४॥

"तस्मिन्ननस्यब्दवच्छब्दे जाते तु—

किन्तत् किन्तन्ननाद श्रुतिकटुशकटस्तत् कथं स व्यलोठीत्
कस्मात् कस्मादकस्मात् कुशलकुशलमों वासुदेवप्रसादात्।

उस असुर ने स्वयं ही मूर्तिधारण नहीं की, इसीलिये बालकृष्ण ने भी उसको आकाश की तरह गुप्तरूप से ही नष्ट कर दिया, क्या ही आश्चर्य की बात है? देखो! मूर्तिहीन की मूर्तिहीनता, काकतालीय न्याय से स्वयं संघटित हो गई। पूर्वोक्त प्रकार से यह असुर का शकट में प्रवेश ही ब्रह्माण्डपुराण में श्रीकृष्ण के अष्टोत्तरशत नामस्तोत्र में "शकटासुरभञ्जनः" इस नाम से व्यंजित किया ॥२०॥

उस शकटासुर के मरने के विषय में देवगण श्रीगोपालजी के भाव की उत्प्रेक्षा करते हुए कहते हैं, यथा—॥२१॥

श्रीगोपालजी मन ही मनमें मानों यों कह रहे हैं कि, हे शकटासुर! देखो, हमारे घर के इस आँगन में यह हमारा ही शकट था, तू स्वयं ही इसमें जबरदस्ती घँस बैठा, एवं इसी शकट के द्वारा तू ऊपर को चला गया। मैं तो प्रतिक्षण रोता ही रहा, इतने पर भी यदि तू मरता है तो मर जा, इसमें मेरा कोई अपराध नहीं ॥२२॥

तदनन्तर शकट में से कट कट शब्द के प्रगट होते ही सभीजन भय के कारण क्या, क्या, क्या है? इस प्रकार कहते हुए चारों ओर से दौड़ पड़े। उसके बाद गाड़ी के पलटने को देख और बालकृष्ण को देखकर सभी ने रुलाने वाली अत्यन्त मूढ़बुद्धि की परम्परा को धारण किया, अर्थात् अतर्क्य अनिष्ट को देख सभी रोने लग गये ॥२३॥

शोक एवं दीनता के कारण शरीर के सभी अवयव जिनके विवश, अर्थात् असमर्थ हो गये हैं, ऐसी माता श्रीयशोदा ने, देवता से आविष्ट सी होकर, सभीजनों के देखते देखते दौड़कर बालकृष्ण को उठा लिया। पश्चात् कम्प आदि सात्विक भावों से उनके अङ्ग प्रत्यङ्ग सभी पीड़ित हो चले, उस समय अन्यान्य गोपियों ने वेगपूर्वक आकर चारों ओर से उनको धारण कर लिया ॥२४॥

उस शकट में गिरते समय मेघ के समान शब्द उत्पन्न होने पर इस प्रकार प्रश्नोत्तर हुए, यथा—प्रश्न—यह मेघ की सी गड़गड़ाहट जो हुई वह क्या है, वह क्या है? उत्तर—कानों को कटु लगने वाला शकट का शब्द है। प्रश्न—वह स्वयं कैसे हुआ? उत्तर—वह शकट पलट गया। प्रश्न—किस कारण से,

इत्थं प्रश्नोत्तराभ्यां व्रजकुलपतयः प्रापुरन्तःपुरान्त-
र्द्दृष्ट्वा तत् पातमासन् दशनततिशिखा-दष्टजिह्वाश्चिराय ॥२५॥

"ततश्च सहसा बहिःपुरादन्तःपुर-पुरस्थलभाजं श्रीमद्व्रजराजं निर्वर्ण्य सर्वे पर्यायागता द्विधाभूताः पुरतो दूरतोऽवकाशं ददुः ॥२६॥

"ततोऽसौ जनकस्तु जन-कलकलतस्तद्वृत्तमवकलयन्नम्बालागलावलम्बं बालकमेव स्वपाणितलमवलम्बयामास, विलोकयामास च तस्य सर्वावयवान् ॥२७॥

"तदनु च सर्व एव शान्ततामायान्तस्तदुदन्तं समन्ततः शकट-निकट-संवलकान् बालकानेव पप्रच्छुः। ते च तदेकनिर्देशिन्या प्रदेशिन्या दर्शयन्तस्तमेव निर्दिदिशुः। तत्रैको लोहलोऽप्यग्रवादी निवारितकोलाहलः प्रललाप—॥२८॥

'मम मम पा पा पा पार्श्वतः श्रूयताम्, य य य यदा च च चरणमु मुत्थापितवानयम्, त त त तदा ते तेन स्पृष्टमात्रो डि डि डि डि डीन इवोद्वृत्तः सोऽयं श श शकटः' इति ॥२९॥

"ततश्च, तद्विडम्बवादिषु बालादिषु हसत्सु बीभत्सितबालिशभाषिताः परमवत्सला विचिकित्सां न धित्सां चक्रुः; पूतनावधावधारितानुवादितया कर्कशतर्कचक्रनिरुद्धबुद्धयस्तु चक्रुः ॥३०॥

किस कारण से ? उत्तर—अकस्मात्। प्रश्न—कुशल तो है, कुशल तो है ? उत्तर—वासुदेव की कृपा से सब कुशल है। इस प्रकार प्रश्नोत्तरों के द्वारा व्रजकुलपतिगण अन्तःपुर के बीच में आ गये। शकट के पतन को देखकर तो चकित होकर, अपने अपने दाँतों के अग्रभाग से जिह्वा को दबाकर, बहुत देर तक खड़े के खड़े रह गये ॥२५॥

तदनन्तर एकदम पुर के बाहर के स्थान से श्रीमान् व्रजराज को अन्तःपुर के सन्मुखवर्ती स्थान पर आते देख, सभी ने क्रमशः आकर उनको मार्ग देने के लिये, मार्ग के दोनों ओर खड़े होकर, सन्मुख की ओर दूर तक आने का स्थान दे दिया ॥२६॥

उसके बाद इन पिता श्रीनन्दजी ने तो सभीजनों के कोलाहल से उस शकट के उलटने के वृत्तान्त को समझते हुए, माता के गले में चिपटे हुए, बालमुकुन्द को अपने हाथों में ले लिया, और उनके सभी अङ्गों को निहारने लग गये ॥२७॥

तदनन्तर सभी ने शान्तभाव का अवलम्बन करते हुए उस वृत्तान्त को शकट के चारों ओर निकट में खड़े हुए बालकों से पूछा। बालकों ने भी एकमात्र उसी का निर्देश करने वाली तर्जनी अंगुली से दिखाते हुए, उस बालभगवान् का ही निर्देश कर दिया। उनमें से एक आगे बोलने वाले तोतले बालक ने, कोलाहल को निवारण कर अपनी तोतली बोली में कहा—॥२८॥

मे मे मेरे पा पा पा पास से सुनो। ज ज ज जब इस लाल ने च च च चरण उ उ उठाया त त त तभी उ उ उसके प प प स्पर्श मात्र से उ उ उ उड़ता हुआ सा, यह श श श शकट प प प पलट ग ग ग गया ॥२९॥

उसके बाद उस तोतले बालक के वाक्यों का अनुकरण करते हुए, सभी बालक दाँत फाड़ फाड़कर हँस रहे थे, तभी अधिक वात्सल्यरस परिपूर्ण श्रीउपनन्द, नन्द आदि वृद्ध गोपों ने इन मूर्ख अज्ञानी बालकों की बातों पर विश्वास न करते हुए, संशय रहित आग्रह प्रगट नहीं किया, अर्थात् उनकी बात को निःसन्देह

"पिता तु पुनः स्वस्तिवाचनाभिषेचनादिना विप्रकुलप्रतोषणादिना सर्वाशीराशिना च तं लङ्गिमबालं मङ्गलेन सङ्गमयामास मातुरुत्सङ्गेन च। तया च स्वबाल-लालना-कलापमय्या गृहान्तःशय्यायामेवायं शाय्यते स्म ॥३१॥

गोपमहेन्द्रादिभिर्महितमहाशकटश्च यथास्थानं घटयामासे।" ॥३२॥

अथ मधुकण्ठ उवाच,-"वत्स! बालकेन महाशकटसमुच्चाटनमसम्भाव्यमिति सम्भाव्य भण्यताम्, अन्यथा हि कवेरेवान्यथात्वमापद्येत।" ॥३३॥

स्निग्धकण्ठ उवाच,—"आर्य! पूर्वमेवात्रापूर्वता निवारितास्ति; यतो योगमाया खल्वस्य सम्भावितयोगं निर्मापयतीति पुनर्मा प्राक्षीः।" ॥३४॥

मधुकण्ठः सस्मितमुवाच,--"तदनन्तरमुदन्तः कः?" स्निग्धकण्ठ उवाच,-"अथाग्रजानुजाननुव्रजस्य राजा विविवेव,-'बालकयुगलमिदमपृथगालयालम्बनतामेव नितरामर्हति; यतस्तदीयजनन्योः स्वयमेव तल्लालनाय लालसा-धन्ययोस्तत्र च परस्परं तदासक्तयोर्नानास्पृह-गृहकार्य-पर्यापणव्यसनयोर्युगपत्तद्युगलस्य पृथगवकलनं दुर्बलमिति केवलं सुदिनागमन-

---

स्वीकार न किया। किन्तु पूतना वध में जो सिद्धान्त निश्चित किया था, उसका अनुकथन करने के कारण कठोर तर्कसमूह में जिनकी बुद्धिवृत्ति रुक गई हैं, उन्होंने तो निःसन्देह बाल वचन स्वीकार कर लिया ॥३०॥

किन्तु पिताजी ने तो पुनः स्वस्तिवाचन, अभिषेक आदि, ब्राह्मणवर्ग का दक्षिणा देकर सन्तोष साधन आदि, एवं सभी के आशीर्वाद समूह आदि द्वारा उस मनोहर बालक को मङ्गम से युक्त करवाया, तथा स्वयं माता की गोद से संयुक्त कराया, अर्थात् माँ की गोद में दे दिया। माता ने भी अपने बालक के लालन पालन आदि अनेक कार्यकलाप में व्यस्त होकर, दूध पिलाकर, घर के भीतर वाली शय्या पर ही लाला को शयन करा दिया ॥३१॥

श्रीनन्द आदि गोपों ने भी अनेकजनों को बुलाकर उस शकट की पूजा करवाकर, उसको पहले स्थान पर ही धरवा दिया ॥३२॥

तदनन्तर मधुकण्ठ बोला—लाला स्निग्धकण्ठ! इस तीन महीना के बालक द्वारा इतने भारी गाड़ा का पलटना सर्वथा असम्भव है, अतः कुछ विचार कर कहो। अन्यथा कहने वाले कवि का अभिप्राय ही बिगड़ जायगा ॥३३॥

स्निग्धकण्ठ बोला—आर्य! इस विषय में पहले ही आश्चर्य का भाव निकाल दिया है, क्योंकि योग-माया ही इस बालक के गौरव का निर्माण करती रहती है, अतः आप पुनः न पूछिये ॥३४॥

मधुकण्ठ मुस्क्याकर बोला—आगे का क्या वृत्तान्त है सो कहिये? स्निग्धकण्ठ बोला—तदनन्तर श्रीव्रजराज ने बड़े एवं छोटे भाइयों के साथ मिलकर विचार किया कि, ये दोनों बालक विशेष करके एक ही घर में रखने योग्य हैं, कारण यह है कि दोनों की मातायें स्वयं दोनों का ही लालन पालन करने के लिये विशेष लालसा रखती हैं, उसी में अपने को धन्य मानती हैं, उसमें भी आपस में दोनों जनी दोनों बालकों के प्रति आसक्त हैं, एवं अभिलषित स्पृहणीय प्रशंसनीय अनेक प्रकार के घरेलू कार्य सम्पन्न करने को दोनों ही व्याकुल हैं, अर्थात् एक जनी कहती है घर का सारा काम मैं कर लूंगी, तो दूसरी कहती है नहीं बहन मैं

विलम्बतामवलम्बे; 'यथा वा भवतामिच्छा भवति' इति श्रुत्वा श्रुतज्ञाः श्रोत्रियानाश्राव्य तदेव दैवानुकूल्यं निभाल्य समसुद्यद्वाद्यपरीत-गीतस्वस्तिवाचनादिप्रशस्तिपूर्वकं द्वयोरपूर्वमिलनमाशु कलयामासुः ॥३५॥

"तच्च यथा—मिथो लग्ना दृष्टिः समजनि चिरं मूर्तिरचला
द्रवच्चित्तं नेत्रोदकमिषतयागादभिमुखम् ।
इति भ्रात्रोर्बाल्येऽप्यसितसितयोः सा प्रसितता
नवे व्यत्यालोके कुतुकमिह किं वा न तनुते ?' ॥३६॥

बाल्ये प्रथममन्योऽन्यं मिलतो रामकृष्णयोः ।
सितासितांशवः पृक्ता जज्ञिरे मृगलाञ्छनाः ॥३७॥

"तदेवमेव सर्व एव पर्व विधाय निज-निज-नूतनतनूजान् गणकगणितगुणगणेऽहनि स्नेहं तेषां तेनेह सहेहमानाः समङ्गलं सङ्गमयामासुः ॥३८॥

"अथ युक्तिमत्या सदुक्तिसम्मत्या श्रीमद्भागवतकथनव्युत्क्रमेणाप्युपक्रम्यते; ॥३९॥

कर लूंगी। ऐसा परस्पर प्रेम है। अतः एक साथ उन दोनों बालकों की पृथक् पृथक् रक्षा करना अत्यन्त कठिन है। यदि एक जगह हों तो चाहे जोनसी दोनों की देखभाल कर सकती है। मैं तो केवल कब शुभ दिन आयेगा, इसकी अपेक्षा से ही विलम्ब का अवलम्बन कर रहा हूँ। अथवा "आप सबकी जैसी इच्छा हो वही किया जाय"। शास्त्रज्ञ व्यक्तियों ने श्रीनन्दजी के ऐसे वचन सुनकर, वैदिक ब्राह्मणों को सुनाकर, तत्काल दैव की अनुकूलता देखकर शुभ मुहूर्त में, एक साथ बाजे गाजे के सहित, स्वस्तिवाचनादि एवं स्तोत्रपाठ पूर्वक शीघ्र ही श्रीराम कृष्ण दोनों भाइयों का अपूर्व सम्मेलन संघटित कर दिया ॥३५॥

वह दोनों भैयाओं का मिलन इस प्रकार है, यथा—दोनों की दृष्टि परस्पर संलग्न हो गई, दोनों की मूर्ति बहुत देर तक अचल हो गई, परस्पर के मिलन से द्रवीभूत हुआ दोनों का चित्त नेत्रजल के बहाने सन्मुख आ गया। इस प्रकार श्यामल गौर कृष्ण बलदेव दोनों भाइयों की बाल्यावस्था में भी प्रसिद्ध आसक्ति थी। यह ठीक भी है, क्योंकि इस जगत् में परस्पर के नवीन दर्शन होने पर, वह प्रेममयी आसक्ति कौन से कौतूहल का विस्तार नहीं करती ? अपितु अनेक कौतूहल उपस्थित कर देती है ॥३६॥

बाल्यकाल में पहले पहल परस्पर में मिलते हुए, श्रीराम कृष्ण दोनों भ्राताओं की गौर श्यामवर्ण वाली किरणें, परस्पर में सम्मिलित होकर अनेक चन्द्रमाओं के रूप में परिणत हो गईं ॥३७॥

अतएव इसी प्रकार सभी व्रजवासियों ने अपने अपने घर उत्सव करके, ज्योतिषियों ने अपने गणित के द्वारा जिस दिन को अधिक गुणयुक्त बताया, ऐसे गुणगणयुक्त शुभ दिन में, अपने अपने बालकों का स्नेह इन श्रीकृष्ण बलदेव दोनों भाइयों में चाहते हुए, अपने अपने नवीन बालकों को मङ्गलाचारपूर्वक उन श्रीकृष्ण बलदेव दोनों भाइयों से सम्मिलित करा दिया ॥३८॥

तदनन्तर ग्रन्थकार स्वयं कहते हैं कि—क्रमशः लीलाओं के वर्णन में रसास्वाद की परिपाटी होती है, इसलिये युक्तियुक्त सत्सम्मति के अनुसार श्रीमद्भागवत की कथा को व्यतिक्रम करके भी प्रारम्भ करते हैं ॥३९॥

यत:; सर्वैः कविभिरनुक्रम,-शालि प्रोच्यते कृष्णलीलाद्यम् ।
शुकमुखवचसि प्रेम,-प्रमदमये तद्विना तु चित्राय ॥४०॥

तदेवं दिनशतपूरणमदूरतामनुजस्याग्रजस्य तु तस्मादप्यदूरतां लब्धम् ॥४१॥

तदा च—सम्यङ्मातुः परिचितिरभूद्यत्र किञ्चित् पितुश्च
प्राप्तः सोऽयं स्वसदनजनः किं न वेत्थं मतिश्च ।
तस्मिन् बाल्ये बलयति तयोः कापि शोभा सुधाब्धि-
प्रख्या गोष्ठं भुवनमपि सा वीचिभिः सिञ्चति स्म ॥४२॥

"तदेतदधिगत्य शीघ्रमेव नामकरणं कर्तव्यमिति सम्मत्य श्रीमन्तं वसुदेवं प्रति यदा श्रीव्रजनरदेवस्तन्निजमिष्टं सन्दिष्टवान्, तदा परमार्थविचारेण मित्रपुत्रतार्हसमधिकबहिर्व्यवहारेण चानुजस्य शततमं वासरमेव तदवसरं निश्चिन्वन् श्रीवसुदेवः श्रीव्रजराजं प्रति यथावसरं तन्निवेदयिष्याम इत्यनिश्चिन्वन्निव सन्दिदेश । अथ तपोधामानं गर्गनामानमात्मनः परमहितं कुलपुरोहितं मनसि सम्मत्य रहसि सङ्गत्य निजतनयविनिमयमयं वृत्तं वितत्य निवेदयामास । स च सहासमाह स्म,—'तदेतदपरमप्यहं नानावृत्तं जानाम्येव, सम्प्रत्यत्र मत्कृत्यं त्वाज्ञाप्यताम् ॥४३॥

कारण सभी कविजन क्रमशः शोभाशाली श्रीकृष्णलीला आदि को आश्चर्य एवं सुखजनक कह सकते हैं। प्रेम और हर्षपरिपूर्ण श्रीशुकदेवजी के श्रीमुख के वचनों में तो श्रीकृष्णलीला क्रमशः न होने पर भी आश्चर्यजनक है। प्रेम की परिपाटी में क्रम रह ही नहीं पाता। अतः मैं तो सभी कृष्णलीलाओं को क्रमशः वर्णन करूँगा ॥४०॥

इस प्रकार अनेक कौतुक करते हुए, छोटे भैया के सौ दिन पूरे हो गये, बड़े भैया के तो उनसे कुछ अधिक दिन पूरे हो गये ॥४१॥

उस समय जिस बाल्यकाल में माता के साथ तो अच्छी प्रकार, एवं पिता के साथ तो थोड़ा थोड़ा परिचय हो गया। तथा पिताजी के अकस्मात् घर आने पर—"यह हमारे घर के ही जन हैं क्या अथवा नहीं", इस प्रकार की बुद्धि भी हो गई। उसी बाल्यभाव के प्रबल होने पर उन दोनों भाइयों की कोई अनिर्वचनीय शोभा सुखसिन्धु के समान उत्पन्न हुई, वह अपनी सौन्दर्यरूपी तरङ्गों से व्रज को ही क्या अपितु भुवन को भी आप्लावित कर रही थी, अर्थात् श्रीकृष्ण बलदेव जब अपने और पराये जनों को कुछ कुछ पहचानने लग गये, तब उनके दर्शन से सभी को अपार आनन्द मिलता था ॥४२॥

अब लाला सौ दिन का हो गया है, यह समझकर इसका नामकरण संस्कार भी शीघ्र ही करना चाहिये, इस विषय में अपने भाइयों की भी सम्मति लेकर, श्रीव्रजराज ने श्रीवसुदेवजी के प्रति जब उनके निजी दूत को सन्देश देकर भेजा था, तभी परमार्थ विचार से मित्र की पुत्रता के योग्य अच्छी प्रकार बाहिरी व्यवहार से, छोटे बालक का सौवां दिन ही नामकरण का अवसर उचित है, ऐसा निश्चय करते हुए श्रीवसुदेवजी ने श्रीव्रजराज के प्रति समयानुसार उसका निवेदन करेंगे, पुनः ऐसा निश्चय सा करते हुए सन्देश भेजा। तदनन्तर इस कार्य के लिए अपने परम हितैषी कुलपुरोहित तपोनिधि श्रीगर्गाचार्यजी को ही मनमें निश्चित कर, एवं एकान्त में उनसे मिलकर, अपने पुत्र के परिवर्तनरूप व्यापार को विस्तारपूर्वक कहकर निवेदन किया। वे भी हँसकर बोले—देखो, वसुदेवजी ! मैं इस वृत्तान्त को, और भी अनेकों

"वसुदेव उवाच,—'ततस्तत्रभवता नन्दव्रजभुवं व्राजं व्राजं मिथः संयुतौ नव्यौ निज-यजमानसुतौ द्विजाति-जाति-समुचितप्रकारेण संस्कारेण पुरस्कर्तव्यौ; किन्तूपनयनोपयमने यथा तस्यां न स्याताम्, तथा प्रयतनीयम्।' "मुनिरुवाच,—'युक्तमुक्तम्; यतः स्वपक्ष एवास्माभिरपेक्षणीयः।' ॥४४॥

"अथ तस्मिन्ननुजस्य शततम एव वासरे व्रजं प्रति प्रस्थिते च मुनिवरे व्रजराजस्तु ज्यायसस्तद्दिनातिक्रमात् पुण्यतरं दिनान्तरमेव द्वयोरपि नामकरणस्याधिकरणं भविष्यतीति निश्चित्य प्रातरेव तर्णकानां कोटिभिर्नृत्यपरिपाटीभिराटीकमानाभिर्विचित्रं स्थानं गो-गोपानां वनप्रस्थानान्निर्जनावस्थानं गोस्थानमनुसंस्कारालङ्कार-सम्भालनार्थमेकसेवकमात्रकृतानु-व्रजनतया कृतव्रजनः श्रीमान् व्रजराजः सकृपतया तान् पश्यन्नासीत्। तत्रैव च सर्वतोऽप्यतिरिक्ते विविक्ते बाल्यत एव कृतसेवं निजदेवं सर्वसल्लक्षणनन्दितनिखिलायां श्रीमल्लक्ष्मी-नारायणाख्यशालग्रामशिलायामष्टाक्षरेणोपतिष्ठमानश्चिराद्विराजते स्म; कृतसमापने च सभाजने सर्व-सर्वज्ञगुरु-र्मुनिपरिषदामुरुर्वागीवासितसामा श्रीगर्गनामा वारं वारं निष्क्रमद्द्वारं विलोक-मानेन गोपलोकप्रधानेन तस्मादकस्मात्तर्णकानामुत्कर्णतानिर्वर्णनया कस्यचिदागमनं वितर्कयता तूर्णमभ्यर्णत एव निरवर्णि ॥४५॥

वृत्तान्तों को अपनी सर्वज्ञता से जानता हूँ, किन्तु इस समय इस विषय में मेरे योग्य कार्य की अनुमति दीजिये ॥४३॥

श्रीवसुदेवजी बोले—पूज्यपाद! आचार्यवर्य! आप तो शीघ्र ही श्रीनन्दजी की व्रजभूमि में जाकर, परस्पर एक स्थान पर स्थित अपने यजमान के नवीन दोनों बालकों को, द्विजाति जनों की उचित प्रणाली के अनुसार, संस्कार से संस्कृत कर देना। किन्तु यज्ञोपवीत एवं विवाह संस्कार जिस प्रकार उस व्रजभूमि में न हो सकें, ऐसा यत्न करते रहना। श्रीगर्गाचार्य बोले—आपने ठीक ही तो कहा है, कारण हमको तो अपने पक्ष की ही पुष्टि करनी चाहिये ॥४४॥

तदनन्तर छोटे लाला श्रीकृष्ण के ठीक सौमें दिन ही, मुनिवर श्रीगर्ग के व्रजके प्रति प्रस्थान कर देने के बाद, श्रीव्रजराज तो बड़े लाला श्रीबलराम के नामकरण के योग्य दिन के निकल जाने के कारण, कोई एक पुण्यमय दिवस ही दोनों के ही नामकरण का आधार हो जायगा, ऐसा निश्चय करके, प्रातःकाल ही नृत्य की परिपाटी से गोलाकाररूप से चक्र काटते हुए, करोड़ों छोटे छोटे बछड़ाओं से जो स्थान विचित्र है, एव गैया और ग्वारियाओं के वन में चले जाने के कारण जो प्रायः निर्जन होरहा है, ऐसे गोस्थान (खिड़क) का लक्ष्य करके, उसकी सफाई की शोभा को सँभालने के लिये, केवल एक सेवक को सेवार्थ पीछे पीछे लेकर, वहाँ आकर दयालुतापूर्वक उन बछड़ों का दर्शन करने लग गये। उसी खिड़क में सर्वापेक्षा परम पवित्र स्थान में बाल्यावस्था से ही जिनकी सेवा की है, एवं प्रशस्तचिह्नों के द्वारा जिन ने सभी जनों को आनन्दित किया है, ऐसी श्रीलक्ष्मीनारायण नामक शालग्राम शिला में, अष्टाक्षर मन्त्र से चिरकाल से अपने इष्टदेव की पूजा करते हुए विराजमान थे। पूजा समाप्त कर देने के बाद गैया, बछड़ा के निकलने वाले दरवाजे को वारंवार देखते हुए, उसी दरवाजे से कान उठाकर देखते हुए, बछड़ाओं के देखने से, किसी के आगमन की आशङ्का करते हुए, श्रीव्रजराज ने सभी सर्वज्ञों के गुरु, मुनिसभा के सभापति, एवं जिनकी वाणी पर सामवेद निवास करता है, ऐसे श्रीगर्ग नामक मुनि को शीघ्र ही निकट ही आते देखा ॥४५॥

तदा च—उन्मीलद्विधुवर्णमर्धपलितं वक्त्रादिरूपान्वितं
किञ्चित् स्थूलमखर्वमायतभुजं विष्ववप्रसादाकरम् ।
शुभ्रश्रीवसनद्वयं श्रुतिकरालङ्कारदीव्यत्प्रभं
पुत्रप्रेमविलक्षिताखिलमृषिः श्रीनन्दमत्रैक्षत ॥४६॥

"अस्य च मुनेरनेन विराद्वीप्सयाभीप्सितमागमनमासीत्; यतः प्रतीक्ष्य एव सर्वत्रायं प्रतीक्ष्यतां वा कथं न लभेत ? ॥४७॥

"तदेवं प्रतीततया प्रतीतः सोऽयमिति तं व्रजपतिरपि निपीतामृतवत् परमप्रीतः शीघ्रमासनप्रदेशमतीतः समतिरिक्तभक्तिपरीतः कृताञ्जलितयातिविनीतः साक्षादधोक्षजधीतः प्रणनाम; ब्रह्मवर्चसेन चर्चितमेनमानर्चाशेषेण देवार्चनद्रव्यशेषेण; प्रोवाच च,—

'अलमिह कुशलं पृष्ट्वा, कुशलं कुशलं भवेद्यस्मात् ।
किन्तु स्वककुशलार्थं, कुशलं तत्र च विपृच्छ्यते सद्भिः ॥४८॥

स्वागतपृच्छा धार्ष्ट्यं, भवति महिष्ठे सदेति गीर्युक्ता ।
तदपि सुरार्चामनु सा, यद्वन्निर्मीयते तद्वत् ॥४६॥

उस समय श्रीगर्ग मुनि ने भी इस स्थान पर श्रीव्रजराज को देखा, यथा—उदय होते हुए चन्द्रमा की सी जिनकी देहकान्ति है, उनके आधे केश पके हुए हैं, मुख और नेत्र आदि की विलक्षण शोभा से युक्त हैं, किंचित् स्थूल हैं, लम्बे कद के हैं, आजानुलम्बित भुजायुक्त हैं, एवं चारों ओर प्रसन्नता के तो मानों खजाने हैं। जिनकी धोती, दुपट्टा दोनों ही शुक्लवर्ण के हैं, कान एवं हाथों के अलङ्कारों से जिनकी प्रभा देदीप्यमान हो रही है, एवं पुत्रविषयक प्रेम से तो जिन्होंने अखिल ब्रह्माण्ड को विस्मित कर दिया है ॥४६॥

इन श्रीगर्गमुनि के व्रज में आगमन की तो श्रीनन्दजी बारंबार चिरकाल से अधिक अभिलाषा करते रहते थे। कारण सर्वत्रपूजनीय ये श्रीगर्गमुनि सर्वत्र पूज्यता अथवा दर्शन योग्यता को क्यों नहीं प्राप्त करेंगे ? अतः श्रीनन्दजी भी इनकी पूजा एवं दर्शन करना चाहते थे ॥४७॥

अस्तु, जो हो, इस प्रकार परिचित होने के कारण वे मुनि पहचान लिये गये, अतः अमृतपान करने वाले की तरह परमप्रसन्न श्रीव्रजराज ने भी शीघ्र अपने आसन स्थान को छोड़कर, विशिष्ट भक्ति से युक्त होकर, हाथ जोड़कर,विनीत होकर, साक्षात् नारायणबुद्धि से उनको प्रणाम किया। एवं ब्रह्मतेज से देदीप्यमान इन मुनि की अनेक प्रकार के देवपूजा के अवशिष्ट द्रव्य से पूजा की। पश्चात् बोले—भगवन् ! आप जैसे महापुरुषों के प्रति कुशल प्रश्न करने का कोई प्रयोजन नहीं, कारण आप जैसों के सम्बन्ध से कुशल भी कुशल (चतुर) हो जाता है। किन्तु सज्जन जन अपनी कुशलता के लिये ही, कुशलमय आप जैसों के प्रति कुशलता का प्रश्न करते हैं ॥४८॥

आप जैसे पूजनियों के निकट स्वागत प्रश्न भी धृष्टता का परिचायक है, यह वाणी भी न्याय युक्त है, तथापि देवताओं की पूजा में जैसे स्वागत प्रश्न प्रयुक्त होता है, उसी प्रकार आप जैसे महापुरुषों के प्रति भी स्वागत वाक्य प्रयुक्त किया जाता है ॥४६॥

केवलवचसा तोषो, वैभवसत्त्वे न युज्यते नूनम् ।
किन्त्विदमपूर्णविषयं, पूर्णे किञ्चिन्न मात्येव ॥५०॥

न सतः स्वार्थपेक्षा, किन्तु सदा सा परार्थैव ।
तस्माद्विहरति तस्मिन्, परपरविज्ञापनं सुखदम् ॥५१॥

ज्योतिःशास्त्रं भवता, कृतमथ वेदेऽपि निष्णातम् ।
तत्तत् परसुखमात्रा,-पेक्षं तदिदं निवेद्यं मे ॥५२॥

बालो यो मम जात,-स्तस्मादधिकश्च वासुदेवो यः ।
निजदृक्सुधया तं तं, शीकितुमास्तां भवान् करुणः ॥'५३॥

"तदेतदाश्रुत्य गर्गः सगद्गदं जगाद,—

'यन्मना भिक्षुरायातस्तद्दाता दित्सति स्वयम् ।
तदा भाग्यं कियद्वर्ण्यं भिक्षोर्दातुश्च कौशलम् ?' ॥५४॥

"तदेवमात्मने श्लाघमाने मुनिराजे श्रीव्रजराजः स्वनियोज्यस्य कर्णे वर्णितवान्,— 'एवमेवं कुरु' इति; ॥५५॥

धन सम्पत्ति आदि के होते हुए, केवल वाणी द्वारा सन्तुष्ट करना यह निश्चय ही उचित नहीं है, किन्तु धनादि द्वारा प्रसन्न करना यह विषय तो अपूर्ण व्यक्ति विषयक है, किन्तु सब प्रकार से परिपूर्ण में तो कुछ समाता ही नहीं, अर्थात् निर्धन को धन देकर प्रसन्न किया जा जकता है, किन्तु आत्मानन्द से परिपूर्ण आप जैसों के प्रति वैभव का कुछ मूल्य नहीं ॥५०॥

साधु व्यक्ति को अपने स्वार्थ की तो कभी अपेक्षा होती नहीं, किन्तु उसमें जो स्वार्थापेक्षा दीख रही है, वह सर्वदा दूसरों के लिये ही है। इसलिये ऐसे साधु पुरुष के परोपकारार्थ भ्रमण करते हुए स्वयं आकर उपस्थित होने पर, उसके निकट दूसरों के द्वारा जो भावी कार्य का विज्ञापन है, वह सुखदायी होता है ॥५१॥

आपने ज्योतिःशास्त्र का निर्माण किया है, एवं आप वेद वेदान्त में भी पारंगत हैं, परन्तु यह सब कार्य आपने दूसरों को सुख पहुँचाने के लिये ही किया है, अतः आपके श्रीचरणों में मेरा यह निवेदन है कि—॥५२॥

हमारे जो बालक उत्पन्न हुआ है, एवं उससे भी अधिक प्रिय जो वसुदेवनन्दन (बलराम) है, उन दोनों बालकों को आप अपनी अमृतमयी दृष्टि से किंवा निजज्ञानामृत से सिंचित करें, कारण आप दयामय हैं ॥५३॥

श्रीनन्दजी के ऐसे वाक्यों को सुनकर गर्गमुनि गद्गद होकर बोले—भिक्षु जिस वस्तु में मन लगाकर आया है, दाता यदि उस वस्तु को बिना माँगे स्वयं देना चाहता है, तब भिक्षु के भाग्य का कितना वर्णन किया जा सकता है ? अपितु नहीं। और ऐसे दाता की कुशलता का ही कौन वर्णन कर सकता है ? ॥५४॥

मुनिराज पूर्वोक्तरूप से जब अपने भाग्य की श्लाघा कर रहे थे, तभी श्रीव्रजराज ने अपने सेवक के कान में "ऐसा करो, ऐसा करो" इस प्रकार कहा ॥५५॥

प्रवर्तयामास च मुनिना कंसदुर्वृत्तविवर्तित-वसुदेववृत्तसंवादम् ॥५६॥

"संप्रवदमानयोश्च तयोः सोऽपि तत्प्रयोजनं परामृश्य शुद्धान्तं प्रविश्य निजनिजोत्-सङ्गसङ्गती-कृतबाले अम्बाले पुरो विधाय गन्धपुष्पादिलसित-चामीकरभाजनकरः परम-किङ्करः सहसा रहसा ससाद ॥५७॥

"वीक्ष्याथ मात्रोरुरसि प्रसञ्जिता-वत्यर्भकौ दूरत एव तावृषिः ।
जवादुदस्थान्मणिमन्त्रवत् प्रभोः, प्रभाव एवादृतये न विस्तृतिः ॥५८॥

"ततश्च, मातृयुग्मललिताङ्गलालितौ, वीक्ष्य कृष्णधवलौ स बालकौ ।
निर्निमेषदशया दृशोर्जलं, रोद्धुमैष्ट नितरां न तापसः ॥५९॥

"अथ सङ्कोचं विधाय सन्निधाय मातृभ्यामात्मनात्मजाभ्याश्च मौनेनैवानामि मुनिवरः ॥६०॥

सोऽयमुच्चकैराशीशिषच्च; यथा—

पित्रोः प्रतिस्वं कुलयोस्तदीययोः, सम्बन्धिबन्धुप्रकरे जगत्यपि ।
आनन्ददाता भव नन्दनन्दन !, त्वं तद्वदप्यानकदुन्दुभेः सुत ! ॥६१॥

और श्रीगर्गमुनि के द्वारा दुश्चरित्र कंस से आरोपित प्रतिकूलतामय श्रीवसुदेवजी के चरित्र का संवाद-प्रवर्तित कराया, अर्थात् कहलवाया ॥५६॥

जब श्रीगर्गाचार्य एवं श्रीनन्दजी दोनों ही आपस में, स्पष्टरूप से अनेक प्रकार के ज्ञानपूर्वक संभाषण कर रहे थे, तब वह अन्तरंग सेवक भी उनके प्रयोजन को भली प्रकार समझकर, अन्तःपुर में जाकर, जिन्होंने अपनी अपनी गोद में अपने अपने बालक ले रक्खे हैं, ऐसी दोनों माताओं को आगे करके, गन्ध पुष्पादि से सुशोभित सुवर्ण पात्र को हाथ में ग्रहणपूर्वक, निर्जन मार्ग से सहसा उपस्थित होगया ॥५७॥

तदनन्तर ऋषिवर्य गर्गाचार्यजी दोनों माताओं के वक्षःस्थलस्थित दोनों छोटे छोटे बालकों को दूर से ही देखकर, मणिमन्त्र की तरह वेगपूर्वक आसन से खड़े हो गये, कारण प्रभु का प्रभाव ही आदर का कारण है, कोई लम्बाई चौड़ाई या अवस्था की अधिकता नहीं। अर्थात् मणि या मन्त्र के प्रभाव से जो कार्य होता है, वह जैसे अतर्क्य है, उसी प्रकार सौ सवासौ दिन की अवस्था वाले श्रीकृष्ण-बलदेव को देखकर ज्ञानी श्रेष्ठ मुनिवर का उठना भी अतर्क्य है। उत्तर रामचरित में कहा भी है कि—"गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः" तात्पर्य—गुणियों में जो गुण हैं वे ही पूजा के स्थान हैं, स्त्री पुंस्त्वादि चिह्न अथवा बुढ़ापा आदि पूजा के स्थान नहीं हैं। कालिदास ने भी कहा है कि "तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते" तेजास्वियों की अवस्था नहीं देखी जाती ॥५८॥

पश्चात् वे तपस्वी श्रीगर्गाचार्यजी दोनों माताओं ने जिनके मनोहर अङ्गों का लालन पालन किया है, ऐसे श्याम गौर वर्ण वाले दोनों बालकों को निमेष रहित दशा से देखकर, अपने दोनों नेत्रों के जल को रोकने के लिये किसी प्रकार भी समर्थ न हो सके ॥५९॥

तदनन्तर दोनों माताओं ने संकुचित भाव से पास में जाकर, दोनों पुत्रों सहित मौनावलम्बनपूर्वक स्वयं मुनिवर को प्रणाम किया ॥६०॥

उन श्रीगर्गाचार्यजी ने भी ऊँचे स्वर से आशीर्वाद दिया, यथा—हे नन्दनन्दन ! तुम माता पिता के प्रति, एवं उन दोनों के पितृकुल और मातृकुल सम्बन्धी प्रत्येकजन के प्रति, तथा दोनों कुल के सम्बन्धी बन्धु

ततश्च, तदेकसर्गे गर्गे व्रजेश्वरयाचनतः स्वासनमागते पुरतः किञ्चिद्दूरतः,—॥६२॥

सितासितैकैकपुष्पविष्णुक्रान्ताद्वयप्रभे ।
ते रोहिणीयशोदाख्ये तनयाभ्यां विरेजतुः ॥६३॥

"ततो मुनेरादेशतस्तेऽप्युपवेशमङ्गीकुर्वन्ति स्म श्रीगर्गे च तयोरावेशितधीन्द्रियवर्गे व्रजक्षितिपतिः क्षणं प्रतीक्ष्य साञ्जलिगिराभिलषितं व्यञ्जितवान्;—॥६४॥

'योग्य एव परयोग्यताकर,-स्तादृशत्वमपि वेदवेदजम् ।
त्वन्तु वेदविदुषां वरस्ततः, संस्कुरु द्विजजनुस्तनू अमू ॥'६५॥

"गर्ग उवाच,—'भवन्तो यदुबीज्यत्वेऽपि वैश्यततीज्यमातृवंशान्वयितया तद्गुरुपदव्यागतैरेव कर्म कारयितव्याः न तु मया ।' ॥६६॥

"व्रजराज उवाच,–'भवेदेवं किन्तु क्वचिदुत्सर्गोऽप्यपवादवर्गं बाधतेऽधिकारिविशेषश्लेष-मासाद्य । यथैवाहिंसानिवृत्तकर्मणि बद्धश्रद्धं प्रति यज्ञेऽपि पशुहिंसां तस्माद्ब्रुवतां ब्राह्मण-भावादुत्सर्गसिद्धा गुरुता श्रद्धाविशेषवतामस्माकं कुले कथं लघुतामाप्नोतु ? तत्रापि भवतः

समूह के प्रति, और अधिक क्या कहूँ ? सारे जगत् के प्रति भी आनन्द दाता हो जाओ । हे वसुदेवनन्दन बलराम ! तुम भी उसी प्रकार सबके आनन्दप्रद हो जाओ ॥६१॥

तदनन्तर उन दोनों को आशीर्वाद देने में एकाकार श्रीगर्गाचार्य श्रीव्रजराज की प्रार्थना से जब अपने आसन पर विराजमान हो गये, तब सामने ही कुछ दूरी पर एक श्यामवर्ण एवं दूसरी गौर वर्ण के पुष्पों से युक्त, दो अपराजिता नामक लता की तरह वे दोनों, श्रीयशोदा एवं रोहिणी दोनों पुत्रों को गोद में लेकर खड़ी हुईं सुशोभित हुईं ॥६२-६३॥

पश्चात् मुनि के आदेश से वे दोनों मातायें भी आसन पर बैठ गईं। श्रीगर्गाचार्य सारी ज्ञानेन्द्रियों को जब श्रीकृष्ण बलराम दोनों भाइयों में ही आवेशित कर रहे थे, अर्थात् उनके दर्शनानन्द में तदाकार हो रहे थे तब, श्रीव्रजराज ने क्षणभर प्रतीक्षा करके हाथ जोड़कर विनम्र वाणी द्वारा, अपनी अभिलाषा को प्रगट किया, यथा—॥६४॥

योग्यजन ही दूसरे को योग्य बना सकता है। दूसरे को योग्य बना देने वाली योग्यता भी वेदों के ज्ञान से उत्पन्न होती है, तिसमें भी आप तो वेदज्ञ विद्वानों में श्रेष्ठ हो । अतः आप द्विजों की जाति में प्रगट है शरीर जिनका, ऐसे इन दोनों बालकों का संस्कार करो। तात्पर्य—"ब्राह्मणक्षत्रियविशस्त्रयो वर्णा द्विजातयः" ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनों वर्णों को ही द्विजाति या द्विज कहते हैं, तथा श्रीदेवमीढ़ राजा की वैश्य वर्ण वाली पत्नी से उत्पन्न महावनवासी श्रीपर्जन्य के पुत्र, गोपजाति श्रीनन्दजी का द्विजत्व तीसरे पूरण में विचारपूर्वक प्रमाण प्रमेय से सिद्ध कर चुके हैं, अतः श्रीनन्दजी ने द्विजाति संस्कार करने की प्रार्थना की ॥६५॥

श्रीगर्गमुनि बोले—आप सबके यदुवंश में उत्पन्न होने पर भी वैश्यगणों के पूज्य, एवं माता के वंश का सम्बन्ध रहने से आप विशिष्ट वैश्य हैं, अतः जो ब्राह्मण वैश्यगणों के गुरुपद (पुरोहिताई) पर आरूढ़ हैं, वे ही आपका संस्कार कार्य करेंगे, किन्तु मेरे द्वारा होना उचित नहीं ॥६६॥

श्रीव्रजराज बोले—भगवन् ! आप का कहना ठीक है, किन्तु किसी किसी स्थान पर अधिकारीविशेष का संयोग प्राप्त कर, सामान्य विधि भी विशेषविधि को बाध लेती है। जैसे अहिंसारूप निवृत्ति मार्ग में जो

सर्वप्रमाणतः समधिकता समधिगता; तस्मादन्यथा मा स्म मन्यथाः । एतदुपरि निजपुरोहितानामपि हितमपि हितंमहसा करिष्यामः ।' ॥६७॥

"गर्गः पुनरतिगोपनाय सविचारमुवाच,—'तथापि खलः स खलु देवकीतोकहन्ता दुर्मन्ता देव्याः शंसनेन नृशंसः कंसः पुनरागताशङ्कः स्यात् । यस्माद्यादवगुरुतया पुरुप्रसिद्धः सोऽयमन्यवर्गजममुं समस्कुरुत । तस्मादेव वसुदेवकृतोपासनया नूनमनया देव्या स्वेन विनिमितः स बालस्तत्र वर्तते, गीर्वाण-वाणीनाममृषाभावादिति । तदा निःषममिदमतिदुःषमं स्यात् ।' ॥६८॥

"अथ व्रजराजस्तु मनाग्विमनायमान इवासीत् । पुनरनेन स्वस्तिवाचनादिके कृते सर्वं शस्तं भवेदिति विभाव्य प्रोवाच,—'यस्मात्तव सङ्ग एव समङ्गलस्तस्मात् (भा० १०।८।१०)—

'अलक्षितोऽस्मिन् रहसि मामकैरपि गोव्रजे । कुरु द्विजातिसंस्कारं स्वस्तिवाचनपूर्वकम् ॥'६९॥

"गर्ग उवाच,—'भवतु, भवदिच्छया यदृच्छया मङ्गलं सङ्गमयिष्यते, ततः समयसम्मतत्वादापाततस्तु नामकरणमेव करवाणि' ॥७०॥

व्यक्ति विशेष श्रद्धा रखता है, उस व्यक्ति के उद्देश में यज्ञ कार्य में भी, अहिंसा द्वारा पशु हिंसा का बाध हो जाता है। अतः आपका ब्राह्मणता के नाते सामान्य विधि द्वारा सर्वगुरुत्व तो सिद्ध है, फिर गुरुमात्र के प्रति श्रद्धाविशेष रखने वाले हमारे कुल में वह गुरुत्व, लघुत्व को कैसे प्राप्त कर सकता है ? उसमें भी सब प्रकार के प्रमाणों से आपकी अधिकता को मैं जान चुका हूँ । इसलिये आप कोई अन्यथा विचार न करें। आपके द्वारा नामकरण संस्कार होते ही, अपने पुरोहितों का भी स्पष्ट रूप से, उत्सव द्वारा विशेष हित कर कार्य कर देंगे ॥६७॥

श्रीगर्गाचार्यजी अत्यन्त गुप्तरूप से कार्य करने के लिये पुनः विचारपूर्वक बोले कि—आपका कहना तो ठीक है, तथापि देवकी के पुत्रों को मारने वाला, दुर्मति दुष्ट कंस, दुर्गादेवी के कहने के अनुसार, निश्चय ही दुबारा भी शंकायुक्त हो जायगा। कारण जो यदुवंशियों के गुरु कहकर विशेष प्रसिद्ध हैं, उन गर्गाचार्य ने अन्य वर्ण में उत्पन्न इस बालक का संस्कार किया है, इसलिए श्रीवसुदेवजी ने जिसकी उपासना की है, ऐसी इस आकाश गामिनीदेवी ने ही, जिसका परिवर्तन किया है वह बालक वहीं है। क्योंकि देवताओं की वाणी कभी भी मिथ्या नहीं होती। ऐसा होने पर तो यह कार्य समताविहीन और अत्यन्त निन्दनीय हो जायगा, अथवा अनिन्दनीय भी यह कार्य अतिनिन्दनीय हो जायगा ॥६८॥

तदनन्तर श्रीगर्गमुनि के ऐसे वचन सुनकर श्रीव्रजराज कुछ व्याकुल से हो गये। पश्चात् इन मुनि के द्वारा तो स्वस्तिवाचन आदि कार्य करने मात्र से सभी मङ्गल हो जाता है, ऐसा विचार कर बोले—हे ब्रह्मन् ! जब कि आपका सङ्ग ही मङ्गलमय है, तब तो आप इस निर्जन गैयाओं के खिड़क में, मेरे बन्धुओं के द्वारा भी अलक्षित होकर, केवल स्वस्तिवाचनपूर्वक इन दोनों बालकों का, द्विजाति संस्कार कर दीजिये ॥६९॥

श्रीगर्गाचार्य बोले—अच्छा, तो वही कार्य होने दो। आपकी इच्छा के अनुसार स्वेच्छापूर्वक मङ्गलाचरण करूँगा। इसलिए समय के उपयोगी होने के कारण आपाततः नामकरण ही करूँगा ॥७०॥

इति स्वस्तिवाचनाद्याचर्य प्रोवाच तत्राग्रजमुद्दिश्य; यथा—॥७१॥

'ईर्येत प्रणयादिसद्‌गुणगणैरेतं तथा बन्धुता
मुख्यं लोकमशेषमेष रमयन् रामो बलित्वाद्बलः ।
किञ्चायं भवदादिशूरतनयादीनां यदूनां गणं
संक्रक्ष्यत्युभयत्र भावतुलया स्वं तेन सङ्कर्षणः ॥'७२॥

"अथानुजमुद्दिश्य,—

'शुक्लो रक्तः पीत इत्यादिवर्णा,-स्तत्तद्‌भावादस्य तत्तद्युगेषु ।
तत्तन्मूलश्यामतैकात्म्ययोगा,-ज्जन्मन्यस्मिन् कृष्णनामायमस्ति ॥७३॥
युष्मत्तो जन्मतः पूर्वं वसुदेवात्तवात्मजः ।
जातो यस्मात्ततो वासुदेव इत्यपि गीयते ॥७४॥

नामानि यानि गुणकर्मनिबन्धनानि, रूपाणि च प्रतिदिशं निखिलस्तुतानि ।
साकल्यतो नहि वयं यदि तानि विद्मो, जानन्ति र्तोह न परे त्विति पौनरुक्त्यम् ॥७५॥

सानन्दं नन्दराजेन तदा मुनिरगद्यत ।
लग्नं हृदि न लग्नं नः सर्वज्ञस्तद्‌भवान् गतिः ॥'७६॥

ऐसे कहकर स्वस्तिवाचन आदि कार्य को करके श्रीगर्गमुनि बोले—तिसमें भी बड़े लाला का उद्देश करके, यथा— ॥७१॥

हे व्रजराज! देखो, स्नेहप्रभृति सद्‌गुणसमूह द्वारा बन्धुगण, इन रोहिणीलाल की प्रशंसा किया करेंगे, एवं भक्तिप्रधान सभी जनों को यह स्वयं रमित (सुखित) करता हुआ 'राम' नाम से, तथा अधिक बलशाली होने के कारण, 'बलदेव' नाम से विख्यात होगा। किंच यह आप प्रभृति, अर्थात् नन्दादि गोपों को एवं श्रीवसुदेवजी आदि यदुवंशी लोगों को, व्रज और मथुरा इन दोनों ही स्थानों पर, भावरूपी तराजू द्वारा अपने सहित समान मान करता हुआ, अपने गुणों से आकर्षित करेगा, इस कारण इसका एक नाम 'संकर्षण' होगा ॥७२॥

तदनन्तर छोटे लाला का उद्देश करके कहने लगे—इस बालक के सत्ययुग, त्रेता आदि तीनों युगों में, भक्तों के उस उस प्रकार के भाव के कारण शुक्ल, रक्त एवं पीत इत्यादि वर्णों के क्रम से उस उस वर्ण से अवतार हुए। इस जन्म में तो उन शुक्ल आदि वर्णों का मूल जो श्यामवर्ण, उसके साथ एकता होने के कारण इसका एक नाम 'कृष्ण' प्रसिद्ध है ॥७३॥

तुम्हारा यह लाला तुम्हारे द्वारा प्रगट होने से पहले, वसुदेवजी के द्वारा भी प्रगट हुआ है, इस कारण से 'वासुदेव' इस नाम से भी पुकारा जायगा ॥७४॥

और देखो, नन्दजी! तुम्हारे लाला के गुण एवं कार्यों के द्वारा घटित जो अनन्त नाम हैं, एवं प्रत्येक दिशा में सभी के द्वारा पूजित प्रशंसित जो जो मनोहर रूप हैं, उन सबको सम्पूर्णरूप से ज्योतिःशास्त्रप्रणेता सर्वज्ञमुनि होकर हम भी जब नहीं जानते, तब अन्यजन नहीं जानते, यह कहना तो पुनरुक्तिमात्र है ॥७५॥

उस समय श्रीनन्दराय ने आनन्दपूर्वक मुनिजी से कहा कि भगवन्! जिस लग्न में यह लाला उत्पन्न हुआ, उस लग्न का ध्यान हमारे हृदय में नहीं रहा, आप सर्वज्ञ हैं, इसलिये आप ही हमारी गति हैं, अर्थात् आप ही सर्वज्ञता से उस लग्न का निर्देश कर सकते हैं ॥७६॥

"पुनश्च, ईक्षतां भगवन्नस्मै भवानिति निवेदितः ।
गर्गस्तस्मै राध्यति स्म प्रहसन्महसान्वितः ॥७७॥

"तदेतदस्माकं 'खमाणिक्य'-नाम्नि ज्योतिर्ग्रन्थे प्रागेव निरूपितमस्ति,—॥७८॥

'उच्चस्थाः शशि-भौम-चान्द्रि-शनयो लग्नं वृषो लाभगो
जीवः सिंहतुलालिषु क्रमवशात् पूषोशनोराहवः ।
नैशीथः समयोऽष्टमी बुधदिनं ब्रह्मर्क्षमत्र क्षणे
श्रीकृष्णाभिधमम्बुजेक्षणमभूदाविः परं ब्रह्म तत् ॥' इति ॥७९॥
'वृष-कन्या-तुला-मीनराजेषु स्फुटमुच्चगाः ।
सोम-सौम्य-शनि-क्षौणीसुतास्तज्जन्मनि स्थिताः ॥८०॥
यस्माद्विश्वावसौ वर्षे जन्म त्वज्जन्मनः शिशोः ।
विश्वमेव वसुश्रीमद्भवितामुष्य तुष्यतः ॥८१॥
रोहिण्यां जन्मना रोहिण्ययुतानामसौ पतिः ।
वृषलग्नश्च तत्रासीद्वृषकोटीशिता ततः ॥८२॥
आयतिश्चास्य भविता सदैवायतिमत्यतः ।
आयत्यां मुनयोऽप्यस्मिन् कुर्युर्मनस आयतिम् ॥८३॥

फिर भी कहा कि हे भगवन्! आप ही इस बालक के शुभाशुभ विषय की पर्यालोचना करें। व्रजराज के इस प्रकार निवेदन करने के बाद, ब्रह्मतेज से युक्त गर्गमुनि हँसते हुए, उस बालक के शुभाशुभ लक्षणों की पर्यालोचना करने लग गये ॥७७॥

देखो! यह सब विषय हमारे 'खमाणिक्य' नामक ज्योतिष के ग्रन्थ में पहले ही निरूपित किया हुआ है, यथा— ॥७८॥

जिस समय चन्द्र, मङ्गल, बुध एवं शनिग्रह अपने अपने उच्च स्थान पर स्थित थे, वृष लग्न था, बृहस्पति लाभ स्थान पर अर्थात् मीनराशि पर थे, और सूर्य, शुक्र, राहु ये ग्रह क्रमशः सिंह, तुला, वृश्चिक इन राशियों पर थे, भाद्रपद के कृष्णपक्ष की अष्टमी तिथि, आधी रात का समय, बुधवार, रोहिणी नक्षत्र था, ऐसे शुभ समय में कमल के से नेत्रों वाला "श्रीकृष्ण" नामक वही परब्रह्म प्रगट हुआ था ॥७९॥

श्रीकृष्णचन्द्र के जन्म समय में चन्द्र, बुध, शनि और मङ्गल ये सब ग्रह क्रमशः वृष, कन्या, तुला, मकर इन सब राशियों के उच्च स्थानों पर स्पष्टरूप से उपस्थित थे ॥८०॥

इस लाला का जातक लग्न इस प्रकार है, यथा—हे नन्दजी! तुम्हारे लाला का जन्म विश्वावसु नामक वर्ष में हुआ है, इसलिये इसके प्रसन्न होने पर सारा विश्व ही, धन सम्पत्ति द्वारा परिपूर्ण हो जायगा ॥८१॥

रोहिणी नक्षत्र में जन्म होने के कारण यह दश हजार धेनु यूथों का पति होगा, और इसके जन्म के समय वृष लग्न था, अतः यह करोड़ों बैलों का अधीश्वर होगा ॥८२॥

और इसका कोषदण्ड एवं तेजयुक्त प्रभाव सदैव सुविस्तृत रहेगा। अतएव उत्तरोत्तर समय में होने वाले मुनिगण भी, इसी बालक में अपने मन का निरोध करेंगे, अर्थात् इसी में मन लगावेंगे ॥८३॥

एष वक्ष्यति शास्त्राणि शस्त्राण्यप्यात्मतेजसा ।
अनिष्टहृदमित्राणां मित्राणाञ्च व्रजाधिप ॥८४॥

भवतोर्भविता भव्यमस्मादिति वृथा कथा ।
भावत्कानाञ्च तद्भव्यं भवस्य च भवस्य च ॥८५॥

अस्याश्चर्याचर्या, वहति बहूनां कुतूहलं बहुलम् ।
ससुरानसुरान् दुन्वन्,भवति सुराणां पुराप्यसाववविता ॥८६॥

सहजप्रेम्णां भवता,-ममुना किं तारणं चित्रम् ।
तानपि कृत्रिमहार्दान्, सर्वान्निस्तारयेदेषः ॥८७॥

तस्मान्नन्दात्मजस्ते यदपि हरिसमः सर्वसाद्‌गुण्यवृत्त्या
सर्वत्रेमं तथापि स्वमहिमविभवख्यातिभिः पालय त्वम् ।
वश्यं कुर्वन् स्वदेवं हरिममुमपि तं स्वाङ्गजं निर्मिमीषे
तद्वीर त्वां विना न स्वयमयमयते स्वैरतां स्वावनाय ॥'८८॥

हे व्रजराज ! यह बालक अपने अद्भुत तेज से सभी शास्त्रों का प्रवचन (सर्वशास्त्रमयी गीता–इसके अनुसार गीता के रूप में) करेगा, एवं सभी प्रकार के शस्त्रों को भी धारण करेगा। और यह बालक शत्रुओं का अनिष्टकारी, एवं मित्रों का अनिष्ट दूर करने वाला होगा॥८४॥

और इस बालक से तुम दोनों पिता माताओं का ही केवल मङ्गल होगा, यह कहना वृथा है, क्योंकि इसके द्वारा तो आपके सभी सम्बन्धियों का, संसार का, एवं सबके मङ्गलमय श्रीशिवजी का भी मङ्गल होगा ॥८५॥

और देखो ! इसका आश्चर्यजनक आचरण बहुत जनों को बहुत सा आनन्दमय कौतूहल देगा, और यह सुरा, अर्थात् मदिरा आदि मादक द्रव्यों में आसक्त असुरों को दण्ड देता हुआ, पहले युगों में भी देवताओं का रक्षक होता चला आया है, आगे भी असुरों को दण्ड देता हुआ सुरों की रक्षा करेगा ॥८६॥

किंच इस बालक में आप सब व्रजवासियों का स्वाभाविक प्रेम है, इसलिये इसके द्वारा तुम्हारा निस्तार होगा, यह कोई आश्चर्य नहीं है, किन्तु जो कार्य द्वारा अत्यन्त पीड़ाकारी हैं, ऐसे उन सब असुरों का, अथवा जो मुख से तो बनावटी प्रेम दिखाने वाले हैं, एवं भीतर कपट से भरे हुए हैं, ऐसे दुष्ट हृदयवाले पूतना के समान लोगों का भी, यह बालक निस्तार करने में समर्थ है ॥८७॥

इसलिये हे नन्दजी ! यद्यपि सब प्रकार के सद्‌गुणों से परिपूर्ण होने के कारण, तुम्हारा यह पुत्र श्रीनारायण के समान है, तथापि तुम अपनी महिमा, वैभव एवं सुप्रसिद्धि आदि द्वारा सावधान होकर, सब जगह इस बालक की रक्षा करो। जब तुमने अपने इष्टदेव श्रीनारायण भगवान् को भी, वशीभूत करते हुए अपना पुत्र बना लिया, हे भाववीर ! तब तुम्हारा यह पुत्र तुम्हारे बिना, अपनी रक्षा करने के लिए स्वयं स्वच्छन्दता को नहीं प्राप्त कर सकता ॥८८॥

"तदेवं भवद्भिः स्वदेवेन तुल्यगुणिन्यस्मिंस्तन्नामान्येव कामं गणनीयानीति संक्षेपेणार्थ-निक्षेपः ॥८६॥

"तदेवमाकर्ण्य जोषं जुषमाणे तु व्रजराजे मुनिः पुनरुवाच,—'व्रजराज ! भवदिच्छया वयमेवागम्य चागम्य चानयोर्द्विजातिसंस्कारान् करिष्यामः, किन्तु कर्णवेधचूडाकरणे न सम्भवतः। पश्य, चाभ्यर्णतः सूक्ष्मतया कर्णच्छिद्रमस्ति, केशलवस्यापि लवः स्फुटः न सम्भवतीति, ततश्चान्नप्राशनमात्रं भवद्भिराचर्यम्; सावित्रसमावर्तन-विवाहवृत्तं तु न स्वयमुद्यमपात्रं कार्यम्, किन्तु समयज्ञैरसमयज्ञैरस्माभिरेव।' इति ॥६०॥

"ततश्च क्षणं मुनितामेव व्यवस्यन्मुनिस्तौ पश्यन् वश्यमना बभूव ॥६१॥

"ततश्च, यद्यपि पित्रोः स्नेहा,-न्वयमयबाल्यैकतानौ तौ।
तदपि मुनिस्तज्ज्ञानं, शङ्कितवान् संकुचन्नासीत् ॥६२॥

सङ्कोचादिव गोप,-प्रभुमनु स मुनिर्विधापयन्नाज्ञाम्।
चलितोऽप्यलभत तस्मिन्, स्थित इव तत्तत्परिस्फूर्तिम् ॥६३॥

अतः इस प्रकार से आप सबको अपने इष्टदेव के समान गुणों से युक्त, इस बालक के विषय में उन इष्टदेव के नामों को ही यथेष्ट गिन लेना चाहिये, अर्थात् तुम्हारे इष्ट के जितने भी गोविन्द, मुकुन्द, माधव आदि अनन्त नाम हैं, वे सब इसमें भी व्यवहृत होंगे। बस, यही संक्षेप से तात्पर्यार्थ का विन्यास समझना ॥८६॥

श्रीगर्गाचार्य के ऐसे वचनों को सुनकर श्रीव्रजराज जब चुपचाप अपूर्व प्रीतिसुख का अनुभव कर रहे थे, तब तक श्रीगर्ग मुनि पुनः बोले—हे व्रजराज ! आपकी इच्छा के अनुसार हम इसी प्रकार बारंबार आकर, इन दोनों बालकों के अन्य द्विजाति संस्कारों को भी करते रहेंगे, किन्तु कर्णवेध एवं चूड़ाकरण नहीं हो सकते। क्योंकि तुम पास में आकर तो देखो ! दोनों बालकों के कानों में सूक्ष्मरूप से एक एक छिद्र है, सूक्ष्म केश के द्वारा भी छेद स्पष्टरूप से नहीं हो सकता, अतः अन्नप्राशन संस्कारमात्र आप कर लेना। गायत्री का उपदेश, अर्थात् उपनयन संस्कार, समावर्तन संस्कार, अर्थात् वेदाध्ययनपूर्ति पर घर में आते समय किया जाने वाला संस्कार, और विवाह संस्कार तो स्वयं उद्योगपूर्वक नहीं करना। किन्तु समय को जानने वाले, महायाज्ञिक, ऐसे गुणविशिष्ट हमारे द्वारा ही यह कार्य सम्पन्न होगा ॥६०॥

तत्पश्चात् श्रीगर्गमुनि क्षणभर के लिये मौनी होकर, दोनों बाल भगवानों को देखते हुए वशीकृतचित्त हो गये, अर्थात् उनका मन श्रीकृष्ण बलदेव के वशीभूत हो गया ॥६१॥

तदनन्तर यद्यपि वे दोनों बालक बाल्यकाल में माता पिता के समुचित स्नेहमय भाव में ही एकाकार हो रहे थे, तथापि गर्गमुनि "ये दोनों बालक हमारे कपटमय वाक्यों को जान रहे हैं" ऐसी आशङ्का करके संकुचित हो गये ॥६२॥

पुनः वे मुनि मानों संकोच से ही गोपराज श्रीनन्दजी को लक्ष्य करके, उन्हीं से आज्ञा लिवाकर चल दिये, तो भी श्रीराम कृष्णगत वे वे विशेषतायें उनके मन में अच्छी प्रकार स्फूर्ति पाने लगीं। ऐसी स्फूर्तियों की प्राप्ति से ऐसा प्रतीत होता था मानों वे व्रजधाम में ही स्थित हैं ॥६३॥

"चलनसमये तु श्रीमान् व्रजेशः स्वयमनुव्रज्य बालकाभ्यामभ्यवादयत्, स च 'सगवे सहपुत्राय स्वस्ति तेऽस्तु व्रजाम्यहम्' इति व्यक्तमुक्तवान् ॥९४॥

"ततश्चात्मनो महता सुप्रजस्त्वेन व्रजराजः स्वान्तरेवमात्मानमामन्त्र्य वदन्ननन्द,—

'पुत्रो लब्धः सुचिरा,-दिष्टः स महद्भिरेवमादिष्टः ।
अस्मात् पूर्णानन्दा,-न्मनुष्व ननु नन्द ! पूर्णोऽस्मि ॥'९५॥

"अथ मुनये सदाक्षिण्याय दक्षिणाय सदक्षिणानां गवामयुतं प्रयुतञ्च गोपैरिन्द्रगोप-वर्णानां स्वर्णानां परोक्षं विहापयामास,—'यथेच्छं स्वीयपरकीययज्ञयोग्यं क्रियतामिदम्' इति॥९६॥

"अथ निज-द्विज-स्वजनवर्गानाहूय च भूयः प्रकटमेव विशङ्कट-तत्तन्नामकरणपर्वणा सर्वानानन्दितवान् ।" इति ॥९७॥

तदेवमवधारयन्मधुकण्ठः सहविस्मयगद्गदकण्ठमाह स्म,—॥९८॥

"नाम्ना प्रसिद्धिमन्यस्य प्रसाधयति नामकृत् ।
अहो कृष्णस्य तत्कर्ता गर्गस्तेन प्रसिध्यति ॥"९९॥

अथ मधुकण्ठश्चिन्तयामास,—"तस्मान्नन्दात्मजस्ते यदपि हरिसमः" इति यदुक्तम्,

---

किन्तु चलते समय श्रीमान् व्रजेश ने स्वयं मुनिजी के पीछे पीछे कुछ दूर तक चलकर, दोनों बालकों सहित मुनि का अभिवादन किया। श्रीगर्गाचार्य ने भी "गैयाऔ और दोनों पुत्रों सहित तुम्हारा मङ्गल हो, अब मैं चल रहा हूँ" ऐसे स्पष्ट कहा ॥९४॥

तदनन्तर अपने को "मैं सर्वगुणसम्पन्न विशिष्ट सन्तान वाला हूँ" ऐसे समझते हुए श्रीव्रजराज अपने अन्तःकरण में अपने को सम्बोधन करके कहते कहते आनन्दित हो गये। मैंने बहुत समय के बाद प्रिय पुत्र प्राप्त किया है, तथा उस पुत्र के विषय में महात्मा श्रीगर्गमुनि ने भी ऐसा आदेश दिया है कि—हे नन्द ! परिपूर्ण आनन्दस्वरूप इस पुत्र रत्न से तुम अपने को "मैं आनन्द से परिपूर्ण हो गया हूँ" ऐसा मानो ॥९५॥

पश्चात् श्रीगोपराज ने दक्षिणा के योग्य, सरलतापूर्ण, उदार चित्तवाले श्रीगर्गमुनि के लिए दस हजार गैया, और इन्द्रगोप नामक रक्तवर्ण वाले वर्षाती कीटविशेष के समान वर्ण वाली एक लाख सुवर्णमुद्रा, गोपों द्वारा गुप्तरूप से उनके घर भिजवा दीं, एवं यह समाचार भी भिजवा दिया कि "आप इन सब वस्तुओं को अपनी इच्छानुसार स्वकीय एवं परकीय यज्ञ के योग्य समझकर उपयोग में लावें" ॥९६॥

तदनन्तर अपने कुलपुरोहित श्रीशांडिल्यमुनि को, एवं अपने सारे सम्बन्धियों को बुलाकर, दुबारा सबके सामने दोनों बालकों के विशाल नामकरण महोत्सव द्वारा सभी को आनन्दित कर दिया ॥९७॥

उस नामकरण के विषय में इस प्रकार का निश्चय करता हुआ, मधुकण्ठ विस्मय के सहित गद्गद कण्ठ होकर बोला, यथा— ॥९८॥

नाम करने वाला पुरोहित, नाम के द्वारा दूसरे की प्रसिद्धि को सिद्ध कर देता है, किन्तु श्रीकृष्ण बलदेव के नामकरण में तो यही आश्चर्य है कि, नाम धरने वाले श्रीगर्गाचार्य उस नामकरण द्वारा ही प्रसिद्ध हो गये ॥९९॥

फिर मधुकण्ठ अपने मनमें विचारने लगा कि, "अतएव हे नन्द ! यद्यपि तुम्हारा यह आत्मज नारायण के समान है" ऐसा जो पहले कहा जा चुका है, वह ठीक है, कारण श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध में

तत्तु युक्तमेव,(भा० १०।८।१९) 'नारायणसमो गुणैः' इति हि श्रीमद्भागवतस्थं तद्वाक्यमपीदृशं दृश्यते, तत्पुरुषबहुव्रीहिभ्यां श्लिष्टत्वादस्याधिक्यञ्च लक्ष्यते ।" इति ॥१००॥

प्रकटश्चोवाच,—"ननु नामकरणं विशिष्य न प्रोक्तमन्नप्राशनन्तु न किञ्चिदपीति । तच्च तच्च स्तूयमानतया प्रस्तूयताम् ।" ॥१०१॥

स्निग्धकण्ठः सहासमाह स्म,—

"तन्नामकरणं चान्नप्राशनञ्च व्रजे महः ।
यातमस्मन्मनोराज्यं न पृथक् स्तोतुमीश्महे ॥"१०२॥

तदिदं प्रोच्य पुनः सानन्दमुवाच,—"ततः श्रूयतामुत्तरवृत्तान्तः,—

'यदवधि गर्गः प्रययौ, व्रजसदनान्नाम निर्माय ।
क्रमतस्तदवधि पृथुका,-वभिमान्येते स्म तेन स्वैः ॥'१०३॥

'यथा—उत्कर्णतानिशमनं नयनाभिमुख्यं, स्वभ्रातृनाम्नि च निजाह्वयभानरीतिः ।
तत्तद्विविक्तिमभि रूङ्कृतिमाधुरी च, स्वानत्र कृष्णबलयोर्बलवत् पुपोष ॥१०४॥

उदीक्ष्य मधुरं मुखं सुखचरिष्णु कृष्णाख्यया
तदा जनकदिष्टया तनयमिष्टमाहूय तम् ।

भी "नारायणसमो गुणैः" यही वाक्य श्रीगर्गाचार्य का भी ऐसा ही देखा जाता है, तथापि दोनों ग्रन्थों के 'हरिसमः', 'नारायणसमः' ये दोनों पद तत्पुरुष एवं बहुव्रीहि इन दो समासों से श्लेषयुक्त हैं, अतः बहुव्रीहि समास की प्रबलता के कारण, नारायण से श्रीकृष्ण की ही अधिकता दीखती है ॥१००॥

पुनः प्रगट बोला—भाई स्निग्धकण्ठ ! तुमने नामकरण को विस्तारपूर्वक नहीं कहा, और अन्नप्राशन तो किंचिद् भी नहीं कहा, अतः उन दोनों प्रसङ्गों को प्रशंसापूर्वक प्रस्ताव करते हुए वर्णन करो ॥१०१॥

स्निग्धकण्ठ हास्यपूर्वक बोला—भैयाजी ! वह नामकरण और अन्नप्राशन ये दोनों ही व्रज के उत्सव-रूप में सम्पन्न होंगे, परन्तु वे दोनों महोत्सव तो हमारे मनोराज्य के विषय बन गये। अतः पृथक् वर्णन करने की हमारी सामर्थ्य नहीं है ॥१०२॥

इस प्रकार कहकर पुनः आनन्दपूर्वक बोला कि, इसके बाद आगे का वृत्तान्त सुनिये। देखो, भैयाजी ! श्रीगर्गाचार्य जब से नामकरण संस्कार करके व्रजधाम से मथुरा चले गये, तभी से श्रीव्रजराज आदि आत्मीयजन क्रमशः उन्हीं उन्हीं नामों द्वारा, अर्थात् राम, कृष्ण आदि नामों द्वारा पुकार कर ही, दोनों बालकों का सम्मान करने लग गये ॥१०३॥

यथा—ऊँचे कान करके बातों को सुनना, नेत्रों के सामने आये हुए सभी जनों को प्रेमपूर्वक देखना, अपने भाई के नाम लेने पर अपने नाम के भान की प्रतीति दिखाना, उस उस एकान्त स्थान का लक्ष्य करके बारंबार रूँरूँ की माधुरी, 'झंकृति' पाठ में अपने आभूषणों की झनकार की मधुरता, श्रीकृष्ण बलराम की ये पूर्वोक्त बातें, इस व्रज में आत्मीयजनों को बलपूर्वक परिपुष्ट सन्तुष्ट करती रहती थीं ॥१०४॥

उस समय श्याममेघ की सी कान्तिवाली पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान, सर्वसुखदायिनी श्रीकृष्णजननी ने श्रीकृष्ण का आनन्दजनक सुमधुर मुखारविन्द देखकर, कृष्णपिता श्रीनन्दजी के आदेशानुसार कृष्ण नाम

तदीय-कलहुङ्कृतीरपि निशम्य रम्याकृतीः
प्रसूरमृतभृत्प्रभा जगति शर्म सा निर्ममे ॥१०५॥

अथाव्रजदद्रुतमिव रिङ्गरङ्गतां, तयोर्व्रजेश्वर-सदनाङ्गण-क्षितिः ।
समेत्य तौ चरणचरार्भका मुहु,-र्विलेभिरे सुखमभिलेभिरे ततः ॥१०६॥

"अत्र गायन्ति चाद्यापि,—

'रिङ्गणकेलिकुले जननी-सुखकारी । व्रजदृशि सुकृतस्फुरदवतारी ।
बलयित-बाल्यविलास जय बलवलित हरे ॥ध्रु॥
किङ्किणिगण-रणने हृदि रुचिधारी । पदयुगचालनकुतुकविहारी ।
गोरसकीर्णिभवे पङ्के लघुचारी । वारणकारणवागतिचारी ।
अकलितजनमिलने तस्मादपसारी । जननीं प्रति गतिचापलभारी ।
जननी-स्तनवसने भयभागनुहारी । तत्र पयोरसविसराहारी ।
वपुषि मृदामलिने मृदुतापहारी । जननीकरकृतमृजयाहारी ।
अपि तन्द्रावलने स्तनपामनुकारी । जननीस्मितपतदमृतासारी ॥' इति ॥१०७॥

से ही उस प्रिय पुत्र को बुलाकर, एवं अपने लाला के कानों को प्यारे लगने वाले, अस्पष्ट ध्वनिमय अनेक हुँकारों को सुनकर, जगत् भर में सुख का निर्माण कर दिया ॥१०५॥

तदनन्तर श्रीव्रजराज के आँगन की भूमि शीघ्र ही, श्रीकृष्ण बलदेव के रेंग रेंग के घुटवन चलने के सुख को प्राप्त हो गई, एवं उस समय घुटुवन घुटुवन चलने वाले बालक उसी आँगन में आकर, खेल खेल में श्रीकृष्ण बलदेव से मिलकर, बारंबार उनको सुख देते हैं, तथा उनके द्वारा स्वयं अतिशय सुख प्राप्त करते हैं ॥१०६॥

इस विषय में कविगण आज भी इस प्रकार गायन करते हैं, यथा—हे परिपुष्ट बाल्यविलासयुक्त ! बलदेव सहित हरे ! तुम्हारी जय हो । तुम घुटुवन चलने की क्रीड़ासमूह में माता को सुखी करने वाले हो । व्रजवासियों की दृष्टि में उनके अपूर्व पुण्य से सर्वांश परिपूर्ण अवतारी हो । किंकिणियों की झणकार में अपने और भक्तों के हृदय में रुचि को बढ़ाने वाले हो । दोनों चरणों के चलाने में कौतुकपूर्वक विहार करने वाले हो । गोरस के बिखरने से उत्पन्न कीच में धीरे धीरे चलने वाले हो । निषेध करनेवाली वाणी का भी अतिक्रमण करने वाले हो । अपरिचित जनों के मिलने पर उनके पास से बाल्यसुलभ चपलता के कारण भाग जाने वाले हो । माता के प्रति तो चलने की चपलता को धारण करने वाले हो । माता के वक्षःस्थल के वस्त्रों में छिपने के लिये भयभीत का सा अनुकरण करने वाले हो । माता के स्तनों पर फैले हुए दूध का आहार करने वाले हो । व्रजरज से अपने शरीर के मलिन होने पर कोमलता का परिहार करने वाले हो । माता के हाथों से की गई स्वच्छता से सबके मन को हरने वाले हो । ओंघ आने पर भी स्तनदुग्धपान का अनुकरण करने वाले हो । माता के सुख के लिये मन्दमुस्क्यानरूपी अमृत की निरन्तर वर्षा करने वाले हो । एवंगुणगणविशिष्ट तुम्हारी जयजयकार हो ॥१०७॥

"ततश्च, वर्षपञ्चकमनुस्खलेद्द्वय,-स्तत्तु तत्र यमनुद्वयोस्तयोः ।
किन्तु न स्खलति तत् किशोरता, या गतागमिदशातिरस्करी ॥१०८॥

यथानन्तरमाह, (भा० १०।८।२६)—
'कालेनाल्पेन राजर्षे रामः कृष्णश्च गोकुले । अघृष्टजानुभिः पद्भिर्विचक्रमतुरञ्जसा ॥'

"यथा च शम्बरगृहात् प्रथमवयसः प्रद्युम्नस्यागमनसमये प्राह, (भा० १०।५५।२८)—
'कृष्णं मत्वा स्त्रियो ह्रीता निलिल्युस्तत्र तत्र ह' इति ॥१०९॥

"तत्र च—न नव्याद्यौवनादन्यावस्था तस्येति यन्मतम् ।
वर्जयत्यङ्गवृद्धिं तन्न माधुर्यसमर्जनम् ॥११०॥

"यतः प्रियजनभावभावित एव तस्याविर्भाव इत्यवादि स्म । तत्र तद्भावो यथा—॥१११

उत्कण्ठा वष्टि तृप्तिं स्थवयितुमभितः सा तु शश्वत्कृशन्ती
तामेवोच्चैर्बकारैः स्थवयति झटिति प्रेमभाजां जनानाम् ।

अपि च देखो ! पाँच वर्ष तक सभी की कुमार अवस्था रहती है, उसके बाद सभी की कुमारावस्था दूर हो जाती है, यह साधारण नियम है। श्रीराम कृष्ण की वह कुमार अवस्था तो तीन वर्ष की पूर्ति के समय ही दूर हो जाती है। किन्तु अन्य साधारणजनों की तरह उन दोनों की किशोर अवस्था की तिर-स्कारिणी कुमारावस्था, और आगे आने वाली पौगण्ड या किशोर अवस्था भी दूर नहीं हो सकती। कारण यह है कि भक्तों के भाव के अनुरोध से सर्वदा दोनों ही अवस्थायें स्फूर्ति हो सकती हैं, अथवा नित्यकिशोर होने के कारण उन दोनों की किशोरता दूर नहीं होती ॥१०८॥

तदनन्तर पूर्वोक्त विषय में प्रमाण देता हुआ स्निग्धकण्ठ बोला—(भा० १० । ८ । २६) में यथा— श्रीशुकदेवजी बोले कि हे राजर्षे ! अल्पकाल में ही राम एवं कृष्ण अपने अपने बल से घुटुवन के बल न चलकर, दोनों चरणों से अनायास गोकुल में विचरण करने लग गये। अपि च प्रथम अवस्था वाले प्रद्युम्न शंबरासुर के घर से जब आये, उस समय में श्रीशुकदेवजी ने कहा है, यथा (भा० १० । ५५ । २८) प्रद्युम्न को देखकर, उनको श्रीकृष्ण मानकर, सारी पटरानियाँ लज्जायुक्त होकर जहाँ तहाँ छिप गईं ॥१०९॥

और श्रीकृष्ण की नवीन यौवन से, अर्थात् किशोरावस्था से अन्य अवस्था नहीं है, ऐसा जो किसी आचार्य का मत है, तो भी नवयौवन में उत्पन्न होने वाली माधुरी, अङ्गवृद्धि को नही हटाती ॥११०॥

क्योंकि यदि केवल नित्यकिशोर ही मान लें, तो भगवान् की बाल्य, पौगण्ड आदि की लीलायें असिद्ध हो जायेंगी। कारण श्रीभगवान् का आविर्भाव तो प्रियजनों के भाव से भावित होकर ही होता है, अर्थात् भक्तों के भावानुसार ही प्रभु का आविर्भाव होता है। प्रमाणं यथा—"यद् यद् धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय" (भा० ३ । ९ । ११) श्रीब्रह्माजी कहते हैं कि हे भगवन् ! आपके प्रेमी भावुक भक्त आपके जिस जिस रूप का, या जैसी जैसी अवस्था वाले रूप का भावपूर्वक ध्यान करते हैं, आप भी उन सज्जनों पर कृपा करने के लिये, वैसा ही रूप धारण कर लेते हो ॥१११॥

श्रीकृष्ण में भक्तों का भाव यथा—श्रीकृष्ण के प्रेमीजनों की जो उत्कण्ठा है, वह तृप्ति को स्थूल, अर्थात् परिपुष्ट करने के लिए सर्वतोभाव से इच्छा करती रहती है। किन्तु वह तृप्ति तो प्रतिक्षण क्षीण होकर, शीघ्र ही उस उत्कण्ठा को ही अधिक रूप से बढ़ा देती है। यद्यपि यह घटना सत्य है, तथापि वह उत्कण्ठा एवं तृप्ति, प्रथमजनित किशोर अवस्था से परवर्तनी उत्कण्ठा और तृप्ति की उन उन चेष्टाओं को

यद्यप्येवं तथापि प्रथमजवयसस्तूर्ध्वगां तत्तदीहां
नोष्टस्ते सुष्ठु किन्तु प्रसृमरमधुरिम्ण्येव तां निर्मिमाते ॥११२॥

"अथ 'कालेनाल्पेन' इत्यादौ लीलायाः साधुरीतिमधुरताऽऽस्वाद्यताम् ॥११३॥

"तत्र गतिशिक्षा यथा--

हस्तत्यागमये नव्ये संस्तव्ये गतिशिक्षणे ।
पुत्रे स्खलति सा जीयान्मातुः पुत्रस्य च त्वरा ॥११४॥
द्वित्रक्रमं गतः कृष्णश्चलितः स्खलने रुदन् ।
पुत्र पुत्रेति चुम्बन्तीमम्बामालोलयन्मुहुः ॥११५॥
किञ्चिद्दूरं यदानञ्च स्वकतेजःप्रपञ्चकः ।
स्थिरीभूय प्रसूवक्त्रं सस्मितं स व्यलोकत ॥११६॥
दूरं मातुर्यदा याति तदासौ मन्थरायते ।
समीपन्तु यदा तर्हि स्मयमानो द्रुतायते ॥११७॥

प्राप्त करने की इच्छा नहीं करतीं, किन्तु कोमल माधुरी में ही उन उन चेष्टाओं का निर्माण करती रहती हैं। अर्थात् श्रीकृष्णप्रेमी जनों के मनमें उत्कण्ठा उत्पन्न होने पर तृप्ति की तो आशा हो जाती है, किन्तु तृप्ति स्वयं क्षीण होकर उत्कण्ठा को पुनः बढ़ा देती है। तात्पर्य यह है कि प्राथमिक किशोरावस्था में जो उत्कण्ठा और तृप्ति हैं, वे दोनों श्रीकृष्ण की वर्तमान कुमारावस्था में ही पूर्ण हो जाती हैं, आगे आने वाली अवस्था की कामना नहीं करतीं। क्योंकि श्रीकृष्ण का दर्शन करते समय, भक्त के नेत्र जिस अङ्ग पर लग गये, उसको छोड़कर दूसरे अङ्ग को देखने की उनकी सामर्थ्य नहीं रहती, बस अवस्था का धर्म भी इसी प्रकार का है। भक्त का मन भगवान् की जिस अवस्था के रूप में भावानुसार अनुरक्त हो गया, फिर उसको छोड़ नहीं सकता, उसी में उसकी तृप्ति हो जाती है। इसका कारण यही है कि श्रीकृष्ण का रूप अलौकिक सौन्दर्ययुक्त है ॥११२॥

अब श्रीमद्भागवत के "कालेनाल्पेन राजर्षे" इत्यादि श्लोकों में जो बाल्यलीला की सुन्दर मधुरता है, उसका आस्वादन करो ॥११३॥

बालकपन में चलने की शिक्षा, यथा—

माता यशोदा श्रीकृष्ण के हाथों को पकड़कर जब चलने की शिक्षा देती हैं, तब चलना ठीक आया कि नहीं, इसका परिचय करने के लिये श्रीकृष्ण के हाथों को छोड़ देती हैं, परन्तु श्रीकृष्ण जब दो चार चरण धरकर गिरने को उद्यत होते हैं, तभी माताजी उनको पकड़ने के लिये शीघ्र ही दौड़ पड़ती हैं। श्रीकृष्ण भी गिरने के भय से माता के हाथों को पकड़ने की उतावली करते हैं, उस समय के माँ और बेटा के उतावलेपन की जय हो ॥११४॥

श्रीकृष्ण दो तीन पैर चलकर चलते चलते गिरने लग जाते हैं, और रोते रोते लाला लाला कहकर चुम्बन करती हुई माँ को भी बारंबार चञ्चल कर देते हैं ॥११५॥

जब कभी कभी अपने तेज को प्रकाशित कर दूर चले जाते हैं, तब वहीं खड़े होकर वे मन्द मन्द मुस्क्याते हुए माता के मुख को देखने लग जाते हैं ॥११६॥

श्रीकृष्ण अपनी माता से जब कुछ दूर चले जाते हैं, तब तो चलने में ढीलापन दिखाते हैं, किन्तु जब माता की ओर आते हैं, तब तो मुस्क्याते हुए दौड़ने लग जाते हैं ॥११७॥

"गोःशिक्षा यथा,—

प्रथममग्रजस्य तुण्डपुण्डरीके, क्षरदक्षरमधुमधुरे जाते, तमनुजातमपि धात्र्याऽऽलापयामास; ॥११८॥

"यत्र च—मा मा ता ता इति वचः पठन्नन्दतनूजनुः ।
आनन्दार्थमभूत् पित्रोर्व्रजस्य निखिलस्य च ॥११९॥
अर्धोदितानां दन्तानामक्षराणां तथा ततिः ।
चित्रीयामास कृष्णस्य यत्राचित्रीयत प्रसूः ॥१२०॥
ईशीथाः किं जगत्यामोम् बन्धून् पास्यसि नः किमोम् ।
इत्यादि मातृसुतयोः संवादवदभूदिह ॥१२१॥
अज्ञातवाचं शुकवत् पठन्तं, विशेषपृच्छाकृतितर्जनीकम् ।
धात्रीजनाध्यापितवाक्प्रचारं, व्रजस्य भाग्यं परितः स्मरामि ॥१२२॥
नामग्राहं तदा प्राह रामः कृष्णं शनैः शनैः ।
कृष्णो राममथार्येति मातृणां परिशिक्षया ॥१२३॥

"तदा च,—पृच्छन्त्या वृद्धयाङ्गानि यदा किमपि पृच्छ्यते ।
तदाम्बाशिक्षया बालः स तां मुहुरताडयत् ॥१२४॥

बोलने की शिक्षा, यथा—पहले बड़े भैया श्रीबलराम के मुखकमल में से, मधु से भी मीठे तोतले वचन जब निकलने प्रारम्भ होगये, तदनन्तर श्रीकृष्ण की धाई छोटे भैया श्रीकृष्ण को भी, वैसे ही बोलना सिखाने लग गई ॥११८॥

श्रीकृष्ण की वाक्य शिक्षा में, यथा—नन्दलाल "मा, मा, ता, ता" इस प्रकार तोतले वाक्यों को बोलते हुए, माता पिता एवं समस्त व्रजवासियों के भी आनन्द के कारण बन गये ॥११९॥

श्रीकृष्ण की आधी उपजी हुई दन्तपंक्ति, एवं आधी निकलती हुई अक्षरों की पंक्ति मानों आश्चर्यजनक होगई, जिससे माता भी आश्चर्यान्वित होकर चित्र लिखी सी खड़ी रह जाती है ॥१२०॥

माता बोली—लाला कृष्ण! तू भी जगत् में कुछ सामर्थ्य दिखायेगा क्या? श्रीकृष्ण बोले—ओं अर्थात् हाँ। माता बोली—हमारे बन्धुओं की रक्षा करेगा क्या? श्रीकृष्ण बोले—हूँ। बोलना सिखाने के समय माँ बेटा का प्रश्नोत्तररूप संवाद इस प्रकार सुन्दर संवाद के समान हुआ ॥१२१॥

जो तोता की तरह बिना समझे ही वाक्यों को रटते थे, विशेष बात पूछने के लिये जिनकी चतुर तर्जनी अंगुली कार्य करती थी, एवं धात्री (धाई) जन जिनको बोलने का प्रकार अध्ययन कराती थीं, ऐसे मूर्तिमान् व्रज के भाग्य को मैं सर्वतोभाव से स्मरण करता हूँ ॥१२२॥

उस समय माताओं की विशेष शिक्षा के कारण बलरामजी श्रीकृष्ण को नाम ले लेकर धीरे धीरे बुलाते हैं, एवं श्रीकृष्ण भी मीठे मीठे स्वर से बलरामजी को हे आर्य! अर्थात् "दादा" भैया कहकर पुकारते हैं ॥१२३॥

उसी समय श्रीकृष्ण के हाथ, पाँव आदि अंगों को जानने की इच्छा से कोई बुढ़िया, यदि किसी अंग को पूछती है तो, उस समय माता की शिक्षा के अनुसार, वे बालकृष्ण उसी उसी अंगों को दिखा दिखा कर, उस बुढ़िया के भी उसी उसी अंग को ताड़ने लग जाते हैं ॥१२४॥

"अथ भ्रातृद्वयमपि मिथः किञ्चिद्वदति स्म; यथा—

आगच्छ खेलां गच्छाव माता कोपं करिष्यति ।
न कुर्यादिति तौ बालौ कृष्णरामौ समूचतुः ॥१२५॥

"अथ बाल्यचापल्यञ्चावकल्यताम्,—

दष्ट्रां धित्सति दंष्ट्रिणः फणिपतेरुद्यत्फणां शृङ्गिणः
शृङ्गं प्रज्वलदर्चिषं हुतभुजः कोटिञ्च खड्गादिनः ।
इत्थं भ्रातृयुगं निर्वर्तितमपि प्रागल्भ्यमेवासद-
न्मात्रोस्तेन समस्तविस्मृतिरभूद्गेहेऽपि देहेऽपि च ॥१२६॥
दूरमञ्च न हि चञ्चल स्फुटं, तत्र कोऽपि वरिर्वति भीषणः ।
एवमेव जननीगिरा पुन,-स्तत्कृते कुतुकितां दधे शिशुः ॥१२७॥
शिशुना भीष्मग्रहणे, स्थाने मातुर्भयं यतो माता ।
कवयस्त्विदमनुमिमते, तेजस्वित्वस्य बीजं तत् ॥१२८॥
यं यं पदार्थमतितीव्रमियं प्रयाति, भ्रातृद्वयी स च स च प्रतिभाति सौम्यः ।
अत्रानुमानविदुरा निरणैषुरेतद्,-युग्मं भविष्यति सदा कलिनाशनाय ॥१२९॥

तदनन्तर दोनों भाई भी आपस में कुछ कुछ बोलते हैं, यथा—एकजना बोला—भैया ! चलो दोनों खेलने चलें, दूसरा बोला—नहीं भैया ! मैया क्रोध करेगी। फिर दूसरा भैया बोला—नहीं भैया ! मैया क्रोध नहीं करेगी। इस प्रकार दोनों ही बालक कृष्ण बलराम वादानुवाद करते हुए बोलते थे ॥१२५॥

अब बालकपन की चंचलता को भी सुन लो, यथा—दोनों भैया ही भयंकर दाढ़ दाँतों वाले कुक्कुर आदि की दाढ़ को, भयंकर सर्प के उठे हुए फण को, सींगों वाले बैल आदि के सींग को, अग्नि की जलती हुई लपट को, एवं तरवार आदि अस्त्रों की नौक को धारण करने की, पकड़ने की इच्छा करते रहते हैं। उन अनिष्ट कार्यों से दोनों माताओं के द्वारा निवारित होकर भी, दोनों भैया प्रगल्भता (धृष्टता) को ही प्राप्त हो जाते हैं। उस प्रगल्भतामयी चंचलता के कारण दोनों माताओं को अपने देह गेह विषयक सारी बातें भूल में पड़ जातीं हैं। उन दोनों को निवारण करते करते नकवानी हो जाती हैं ॥१२६॥

दोनों भैयाओं की दूसरी चंचलता देखो, माता बोली—रे चञ्चल ! तू दूर खेलवे मत जायो करै। क्योंकि वहाँ बड़े बड़े भयंकर हाऊ बिलाऊ रहते हैं। माता की ऐसी वाणी से भी यह बालकृष्ण एवं बालरूप बलदेव दूर जाने के लिये, एवं उन हाऊ बिलाऊओं को देखने के लिये, कौतूहल धारण करते हैं कि, मैया ! तो तेरे हाऊ विलाऊ ही देखूँगो, दिखा, चल कहाँ हैं ? ॥१२७॥

बालकृष्ण यदि किसी भयंकर नंगी तलवार आदि को ग्रहण कर लेते हैं तो, उससे माता को भय उत्पन्न हो जाता है, यह उचित ही है। क्योंकि वह स्नेहमयी माता ही जो ठहरी। किन्तु कविजन तो इस प्रकार का अनुमान लगाते हैं कि, यह भयंकर वस्तु का ग्रहण करना तेजस्विता का मूल कारण है ॥१२८॥

ये दोनों भैया जिस जिस भयंकर अति तीक्ष्ण तलवार आदि पदार्थ के पास पकड़ने को जाते हैं, वही वही भयंकर पदार्थ सुन्दर दीखने लग जाता है। इस विषय में अनुमान के जानने वाले पण्डितों ने तो ऐसा निर्णय किया है कि, ये दोनों भैया भयंकर दाँतों वाले अघासुर, बकासुर आदि के तथा कलिकाल के सदैव नाश के लिये समर्थ होंगे ॥१२९॥

"अथ क्रमेण मातृवञ्चनी-बुद्धिरप्युद्बुद्धा। यत्र यत्र स च स च,—

नैव नैव चल चञ्चल रे रे, वाक्यमेतदवकर्ण्य जनन्याः।
मायया स्म परिवृत्य हसित्वा, तां निवर्त्य लषिते वरिर्वात ॥१३०॥

"अल्पहीनहायनवयस्त्वे तु जाते यत्र कुत्रचित् क्रीडनाय निर्गच्छन्तौ न सम्भालयितुं शक्येते। सम्भालितौ च तौ कुतो लीयेते इति नावधारयितुं पार्यते ॥१३१॥

"अथ जननीद्वयमुभयतो वर्त्मावृत्य परितश्च धात्रीरवधानविधात्रीर्वितत्य द्रवन्तौ तत्र भवन्तौ गृह्णाति ॥१३२॥

"ततो रुदन्तौ हसन्तौ च तौ गृहान्तरानीतावुद्वर्तनादिना वेषपरिवर्तनादिना च स्तनपायनादिना शायनादिना च रोचयति।" ॥१३३॥

तदेवं वर्णनमाकर्णयत्सु सभासत्सु प्रहसत्सु श्रीमद्व्रजपुरन्दर-कुलधुरन्धरकिशोरवरे चानवरजेन सह दरस्मितसुन्दरतररदनतया नेत्रादरणीये सति समापनाय पुनरुवाच स्निग्धकण्ठः,—॥१३४॥

"ईदृशस्तनयो जातस्तव गोपाधिनायक।
बाल्यावलितचापल्यादपि यो मुनिमोहनः ॥"१३५॥

अब क्रम क्रम से माता को धोखा देने वाली बुद्धि भी प्रकाशित हो गई। कृष्ण बलराम जिस जिस स्थान पर होते हैं, उसी उसी स्थान पर जाकर माता कहती है कि, रे रे चञ्चल ! चलो मत, भागो मत। यहाँ से कहीं भी मत जाओ। माता के ऐसे वाक्य को सुनकर, कपटपूर्वक मुंह फेरकर, हँसकर, माता को बातों में लगाकर, घर को लौटाकर, स्वाभिलषित कार्य में ही बारंबार प्रवृत्त हो जाते हैं, अर्थात् माता जहाँ जाने से निषेध करती है, वहीं दोनों दौड़ दौड़कर जाते हैं ॥१३०॥

दोनों भैयाओं को सालभर के होने में जब दो चार ही दिन कम रह गये, तब तो जहाँ तहाँ स्वेच्छा-पूर्वक खेलने के लिये घर से निकले हुए, दोनों का सँभालना भी कठिन था। देखभाल करने पर भी वे दोनों कुमार किधर छिप गये, इसका भी निश्चय करना कठिन हो गया था ॥१३१॥

तदनन्तर जब दोनों मातायें दोनों ओर से मार्ग को घेरकर, एवं दोनों बगल से सावधान रहनेवाली धाइयाँ रोक कर खड़ी हो जाती हैं, तब दोनों मातायें उस मार्ग में दौड़ते हुए उन दोनों बालकों को पकड़ पाती हैं ॥१३२॥

उसके बाद दोनों मातायें कभी रोते हुए, कभी हँसते हुए, उन दोनों को घर में लाकर, तैल मर्दन, उबटन, स्नान, वेष परिवर्तन, स्तनपान, एवं शयन आदि द्वारा आनन्दित करती हैं ॥१३३॥

सभी सभासद जब इस प्रकार के वर्णन को सुनकर हँस रहे थे, एवं श्रीमान् व्रजराज के कुलसंचालक किशोरवर श्रीकृष्णचन्द्र, बड़े भैया श्रीबलरामजी के सहित, मन्दमुस्क्यान से अत्यन्त सुन्दर दन्तपंक्ति से युक्त होने के कारण, सभी के नेत्रों के आदरणीय हो रहे थे, उसी समय कथाप्रसङ्ग को समाप्त करने के लिए स्निग्धकण्ठ पुनः बोला— ॥१३४॥

हे गोपाधिनायक ! आपके ऐसा लाला उत्पन्न हुआ है कि, जो बालकपन में होने वाली चपलता से भी, मुनियों के मन को मोहित करने वाला है ॥१३५॥

अथ कृतसुखप्रथायां कथायां वृत्तायामन्यदिनवत् कथकान् सप्रसाधनं सेधयामास शुभचरित्री व्रजधरित्रीशः ॥१३६॥

॥ इति श्रीश्रीगोपालचम्पूमनु विशङ्कटशकटविघट्टनादिविचित्रबाल्यचरित्रं नाम षष्ठं पूरणम् ॥६॥

अथ सप्तमं पूरणम्

तृणावर्तवध-मृद्भक्षणादिकथा

अथ दिनान्तरवत् प्रभातान्तः प्रभातायां सभायां मधुकण्ठ उवाच,—"स्निग्धकण्ठ ! लीलान्तरेण निदिग्धचित्तो भव ।

"अथ वर्षजाते जाते नभस्ये मासि सर्वसम्पन्मयं जन्मदिनमायातम् । तत्र च गर्गोपदेश-वर्गोपाश्रया कृष्णस्य जन्मतिथिपूजा पूर्यते स्म । यत्र च व्रजक्षितिपतिना प्रशस्तस्वस्ति-वाचनपूर्वकमपूर्वं पर्व प्रवर्तयामासे ॥१॥

"यथा—वेदैर्वाद्यैः प्रगीतैर्नटनपटिमभिर्मन्त्रपूर्वाभिषेकैः
सप्रीत्यादानदानैः प्रमद-कलकलैर्यज्ञविज्ञप्रयोगैः ।
षट्तिल्यादि-प्रकारैर्मृदगुरु-रस-धान्यादिभव्याभिमर्शै-
र्मत्स्यादीनां प्रमोकैर्जनितिथिरुदगादगोर्पराजाङ्गजस्य ॥२॥

तदनन्तर शुभचरित्रसम्पन्न व्रजभूपति श्रीनन्दजी ने सर्वसुखप्रद कथा के समाप्त होने पर, अन्य दिनों की तरह, कथावाचकों को वेषभूषा आदि के सहित सम्मानपूर्वक उनके घर पहुँचवा दिया ॥१३६॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीगोपालचम्पूकाव्ये विशालशकटभञ्जनादि-विचित्र-बालचरित्रवर्णनं
नाम षष्ठं पूरणं संपूर्णम् ॥६॥

सप्तम पूरण

तृणावर्तवध-मृद्भक्षणादि कथा

तदनन्तर अन्य दिनों की भाँति उस दिन भी, प्रातःकाल में देदीप्यमान श्रीव्रजराज की सभा में मधुकण्ठ बोला कि—हे स्निग्धकण्ठ ! अब अन्य प्रकार की लीला द्वारा अपने चित्त को परिवर्धित करो।

श्रीनन्दलाल जब वर्ष भर के हो गये, तब भादों के महीने में, सर्वगुणसम्पन्न जन्मदिवस उपस्थित हुआ। उस दिन श्रीगर्गाचार्य की उपदेशावली के अनुसार, श्रीकृष्ण की जन्मतिथि की पूजा परिपूर्ण हुई। जिसमें श्रीव्रजराज ने प्रशस्त स्वस्तिवाचनादिपूर्वक अपूर्व महोत्सव प्रवर्तित किया ॥१॥

यथा—वेदोच्चारण, अनेक प्रकार के वाद्य (बाजे), सुन्दर सुन्दर गीत, और अनेक नटों की नृत्यचातुरी, मन्त्रपूर्वक श्रीकृष्ण का अभिषेक, प्रीतिपूर्वक लाये हुए उपहार भेंट पूजामय द्रव्यों का ग्रहण, एवं भेंट लाने वाले जनों को सम्मानार्थ वस्त्रादि दान, तथा ब्राह्मणों को दान, आनन्दजनित कलरव शब्द, यज्ञ के समय विज्ञजनों द्वारा मन्त्र प्रयोग "तिलोद्वर्ती तिलस्नायी तिलहोमी तिलप्रदी। तिलभुक् तिलवापी च षट्तिली नावसीदति ॥" षट्तिल अर्थात् (१) तिलों के द्वारा उबटना, (२) तिलयुक्त जल से स्नान, (३) तिलहोम,

"किन्तु—क्रमेण वृद्धिर्वर्षाणां यथा नन्दात्म-जन्मनः ।
तथा तत्पर्वणोऽप्यासीत् स्फुटं यदभिदा द्वयोः ॥३॥
कृष्णभोजनमन्नं यत् कृष्णाच्छादनमंशुकम् ।
तत्तन्नाम्ना प्रचारोऽभूत्तस्य तस्य व्रजे ततः ॥४॥

"तदेवं हर्षेण वर्षे गलिते कदाचिद्वर्षीयःप्रभृतिषु स्त्रीपुंसेषु तत्तत्कृतिव्यापृतेषु निजोत्-सङ्गेन बालगोपालः स्वमन्दिरालिन्दे जनन्या लाल्यते स्म ॥५॥

यथा—मुखे मुखं लगयति चुम्बति स्म तद्,-वृथा कथाः कथयति तेन दुर्गमाः ।
हसन्त्यथो हसति च तत्र बालके, व्रजेश्वरी सुखशतसिक्ततामगात् ॥६॥

"ततश्च पूर्वपूर्वनिर्हिंसनात् प्रजातमतिभ्रंशेन धैर्यरहिततया कंसेन प्रहितः सुमनसा-महितः सुरवर्त्मनि दूरतः स्थितस्तृणावर्तस्तं तथा वर्तमानं ददर्श विममर्श च । सोऽयमेव तोयदवर्णः पृथुकः पृथुगृहालिन्दं विन्दमानाया मातुरङ्के वर्तत इति शङ्के ॥७॥

---

(४) तिलदान, (५) तिल भोजन, (६) तिल बोना, यह छः प्रकार का तिल कार्य; मृत्तिका, अगुरुपंक, धान्य, दूर्वा आदि मङ्गलमय वस्तु युक्त प्रशंसनीय पात्रों का स्पर्श, एवं आयुवृद्धि कारक मत्स्यादि मोचन इत्यादि कार्यों द्वारा श्रीकृष्णचन्द्र का जन्मतिथि महोत्सव संघटित हुआ ॥२॥

किन्तु क्रमानुसार जिस जिस प्रकार श्रीनन्दकुमार के वर्षों की वृद्धि होती थी, उसी प्रकार उनके जन्म महोत्सव की भी वृद्धि होती रहती थी । कारण वर्ष वृद्धि एवं महोत्सव इन दोनों में स्पष्ट रूप से भेद नहीं था, अर्थात् नन्दलाल जैसे जैसे बढ़ते जाते थे, महोत्सव भी उसी प्रकार प्रति वर्ष बढ़ता ही जाता था ॥३॥

तदनन्तर व्रज में श्रीकृष्ण के भोजन का जो अन्न, एवं श्रीकृष्ण के पहनने का जो वस्त्र है, वह अन्न और वस्त्र जिस जिसने दिये हैं, उन्हीं उन्हीं के नाम से उस उस अन्न एवं वस्त्र का प्रचार होगया था, अर्थात् यह अन्न श्रीउपनन्दबाबा की धर्मपत्नी का दिया हुआ है, तथा यह वस्त्र श्रीवृषभानुबाबा का दिया हुआ है, इत्यादि ॥४॥

इस प्रकार आनन्दपूर्वक एक वर्ष के व्यतीत होने पर, किसी एक दिन बूढ़े बड़े सभी स्त्री पुरुषों के अपने अपने व्यापार में लग जाने पर, माता श्रीयशोदा अपने महल की पौरी में, अपने बालगोपाल को अपनी गोद में लड़ा रहीं थीं ॥५॥

यथा—श्रीकृष्ण के मुख पर अपना मुख लगा देती हैं, श्रीकृष्ण के मुख को चूमती हैं, उस समय (बालक को बहलाने के लिये) उन बालकृष्ण के साथ अन्य दुर्बोध वृथा कथा कहती हैं, उन बालकृष्ण के हँस जाने पर, हँसती हुई व्रजेश्वरी श्रीयशोदा सुख की सैंकड़ों धाराओं में अभिषिक्त हो जाती हैं ॥६॥

तदनन्तर पहले पहले पूतना और शकटासुर के मार देने के कारण, जिसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है, ऐसे कंस ने धैर्यरहित होकर, देवताओं का अहितकारी तृणावर्त नामक एक दैत्य भेजा । वह दैत्य आकाश में स्थित होकर, दूर से ही उस बालकृष्ण को माता के साथ खेलते हुए देखकर, विचार करने लगा कि, मेघ के समान श्यामवर्ण वाला पूतनाघाती यह वही बालक है, जो कि अपने विशाल घर की पौरी में विद्यमान अपनी माता की गोद में विद्यमान है, यह बोध हो रहा है ॥७॥

"तदेनमधुना सर्वं धुनानः साम्बालमेव बालं सुरवर्त्मनि वर्तयानि । किन्तु पूतना नूतनतनुकलनया शकटश्च शकटाविष्टामूर्ततावलनया छलयितुमिष्टेनाप्यनेन दिष्टान्तमाप्यते स्म । तस्मादहं तदुभयेतरवातरूपेण प्रविशामीति ॥८॥

"तदा च सदा तदवसरमनुसरन्ती तु योगमाया तद्वपुर्योगमायाता मातुः पृथग्भावाय स्ववैभवमाविर्भावयामास । येन च तदम्बा कोमलनीलकमलायमानकलेवरस्यापि तस्य भारमसहमाना विस्मयमाना चान्यस्य तद्भारासहतया सहसा भूमावेव तं धृतवती ध्यातवती च जगतामन्तर्यामि-पुरुषम् । अतिभीता च तदुपद्रवबाधनाय तदाराधनाय व्यग्रचित्ता बभूव ॥९॥

"तृणावर्तस्तु वातावर्तेन वर्तमानः सुरवर्त्मनि तञ्च वर्तयन् गलग्रह-पाशमिव संजग्राह । गोष्ठमपि कष्टद-कर्करादिवृष्टिभिर्नष्टप्रायतया घट्टयामास । यत्र च त्रसमत्रसमपि सर्वं वित्रस्तमस्ति स्म ॥१०॥

"ततश्च, तमोभिरावृतं सर्वं बहिरेव न केवलम् ।
जनानामन्तरश्चासीत्तृणावर्तप्रवर्तने ॥११॥

"तेन तु दुर्जनेन तदैवमन्यूनानां जन्यूनामजन्ये जन्यमाने तत्र वित्रस्ताः प्रजाः प्रजजल्पुः ॥१२॥

अतएव मैं इस समय इस समस्त गोकुल को कँपाता हुआ, माता के सहित इस बालक को आकाश में पहुँचाता हूँ । किन्तु पूतना नूतन शरीर की रचना के द्वारा, एवं शकटासुर शकट में प्रविष्ट होकर, मूर्ति हीनता को स्वीकार करने के द्वारा, छलने के योग्य भी इसी बालक के द्वारा मृत्यु को प्राप्त हो गया । इस लिये मैं तो उन दोनों से भिन्न, वायु के रूप से गोकुल में प्रविष्ट होता हूँ ॥८॥

तृणावर्त जब यह विचार कर रहा था, तभी सदैव जो लीला के अवसर का अनुसरण करती हैं, ऐसी योगमाया ने श्रीकृष्ण के श्रीविग्रह के संयोग को प्राप्त कर, माता को श्रीकृष्ण से पृथक् करने के लिये, अपना वैभव प्रगट कर दिया । जिस वैभव के कारण श्रीकृष्ण की माता कोमल नीलकमल के समान शरीर वाले, उन श्रीबालकृष्ण के भार को न सहती हुईं, विस्मित होती हुईं, मुझसे भिन्न अन्य और कोई भी इसके भार को न सह सकेगा, इसी कारण श्रीबालकृष्ण को भूमि पर ही धर गईं, एवं जगत् भर के अन्तर्यामी पुरुष का ध्यान करने लग गईं, तथा अत्यन्त भयभीत होकर, उस उपद्रव के निवारण के लिये, उन अन्तर्यामी पुरुष की आराधना के प्रति व्यग्रचित्त हो गईं ॥९॥

किन्तु तृणावर्त ने तो घूर्णित वायुरूप धारण कर, अर्थात् बभूड़ा बनकर उस बालकृष्ण को आकाश में पहुँचाते हुए, गला बाँधने की रस्सी की तरह ग्रहण कर लिया, अर्थात् कृष्ण को अपने गले में लटका लिया । उसके बाद कष्टदायिनी कङ्कड़ आदि की वृष्टि के द्वारा गोकुल को भी नष्टप्राय बना दिया । जिस गोकुल में जङ्गम, स्थावर आदि सभी पदार्थ भयभीत हो गये थे ॥१०॥

तदनन्तर वायुरूपी तृणावर्त के प्रवृत्त होने पर, अन्धकार समूह द्वारा केवल बाह्य वस्तु समुदाय ही आच्छादित नहीं हुआ, अपितु जनमात्र का अन्तःकरण भी श्रीकृष्ण वियोगरूप अंधकार से ढ़क गया था ॥११

उस समय उस दुर्जन तृणावर्त द्वारा समस्त प्राणियों को उत्पात उपस्थित होने पर, वहाँ पर भयभीत होकर सारी प्रजा इस प्रकार बोली—॥१२॥

"यथा—उत्सर्पत्कर्परांशव्रणजनकजवः श्रोत्रदृक्तर्जगर्ज-
ध्वानस्त्रुट्यत्कुठेषु प्रकटकटकटेष्वर्दयन् वायुरायुः।
गोष्ठं कोष्ठञ्च भिन्दन्नटति बत हहा हन्त किं तत्र वृत्तं
यत्रास्ते नीलपङ्केरुहदलतुलनालालिताङ्गः स बालः ॥१३॥

"श्रीमन्नन्ददेवमन्दिरे तु—
उपद्रवेऽस्मिन्नधियद्दधे सुतं, तं तत्र नापश्यदसौ व्रजेश्वरी।
गवाधिकस्निग्धतरापि या तदा, विचारलोपाद्वलते स्म गोतुलाम् ॥१४॥
उपप्लवमरुत्प्लवेऽभजति तत्र पुत्रास्तिता-
मवीक्ष्य पशुपेश्वरी बत जगाम यां व्यग्रताम्।
हहा विगततर्णकाऽबुधितलोकभाषादिका
यदि स्फुरति नैचिकी क्वचन काचिदूहेत ताम् ॥१५॥

"तदा च तामारभ्य जनरोदनपरम्परया परितः प्रसर्पणादमन्देन तदा क्रन्देन सर्वं गोकुलमाकुलं बभूव ॥१६॥

"अविगणय्य च तादृशं विसदृशमुपद्रवं सद्रवमेवागम्यागम्यापारदुःखवारवारां निधौ सर्वे ममज्जुः ॥१७॥

यथा—ऊपर को उड़ते हुए खपराओं के टुकड़ों से व्रण (घाव) जनक है वेग जिसका, ऐसा वह वायु प्रकट कट कट शब्द करने वाले, कान एवं नेत्रों को तर्जना देने वाली गर्जनापूर्वक शब्द करके, टूटते हुए वृक्षों में जीवन का ह्रास करता हुआ, अर्थात् वृक्षों को तोड़ता हुआ, गोकुल और घर के भीतर के भाग को भेदन करता हुआ, नृत्य कर रहा है। हा कष्ट! हा कष्ट! हाय कष्ट की बात तो यह है कि, जिस स्थान पर नीलकमलदल से भी अधिक कोमल अङ्गों वाला वह बालक है, वहाँ पर क्या घटना घटी होगी ? दैव जाने ॥१३॥

श्रीमान् नन्दजी के भवन में तो इस उपद्रव के समय में जिस स्थान पर पुत्र को रक्खा था, वहाँ पर श्रीव्रजेश्वरी ने उसको नहीं देख पाया। जो वत्स के प्रति गैया से भी अधिक स्नेहयुक्त थीं, उस समय विचारशक्ति के लोप होने से वे ही श्रीव्रजेश्वरी पृथिवी के समान अचेतन भाव को प्राप्त हो गईं, अर्थात् श्रीकृष्ण वियोग में अचेत हो गईं ॥१४॥

उस समय उत्पातरूप वायु की गति निवृत्त हो जाने पर, वहाँ पर पुत्र के अस्तित्व को न देख कर, पशुपेश्वरी श्रीयशोदाजी हाय, जिस प्रकार की व्याकुलता को प्राप्त हुईं, अहह! सभी जनों की भाषा आदि के ज्ञान से शून्य, यदि कोई गैया किसी स्थान पर नये बछड़े से विहीन होकर, अचल भाव से खड़ी स्पष्टरूप से प्राप्त हो जाय, तब तो उस व्याकुलता की सम्भावना की जा सकती है, अन्यथा नहीं ॥१५॥

उस समय श्रीयशोदाजी से लेकर, सभी जनों की रोदन परंपरा के चारों ओर फैल जाने से, अत्यन्त ऊँचे रोने के शब्द से, सारा गोकुल व्याकुल हो गया ॥१६॥

उस अतुलनीय भयंकर आँधीरूप उपद्रव को न गिनकर, वेगपूर्वक आ आकर, सभी गोकुलवासी अपार दुःखसमूह के सागर में निमग्न हो गये ॥१७॥

"तत्र च,—तृणावर्तहृते कृष्णे मातुर्भारायिता तनुः ।
तदीयानां यथा सासीदुभयेषां यथा त्रुटिः ॥१८॥

"ततश्च, सर्वासु निर्विशेषं रोदनवशतां विशन्तीषु हा रोहिणि ! द्रोहिणि ! किं करिष्यामि, कथं तमनवलोक्य मरिष्यामि, कथं वा व्रजराजदिशि मुखं वितरिष्यामीति पर्यन्तं पर्यन्तदशावसानमनु यः खल्वशेषविलापनः प्रसूविलापः, स पुनरवकलितः सहसा घृतमिव विलालयति हृदयम्, कथं कथयितुमीश्यते इत्यलमतिप्रसङ्गेन" इति मधुकण्ठः स्वस्य सर्वस्य च वैवश्यवश्यतामाशङ्क्य मङ्क्षु सङ्कथयामास,—॥१९॥

"नभसा हृतस्य सुजातस्य श्रीमन्नन्दजातस्य तस्य बन्धूनामवगाढदुःसह-सादसिन्धूनां सहसानुकूलं कूलमासन्नम् ॥२०॥

"तथाहि—बाल्यस्वभावेन बलानुजन्मा, बलान्निजग्राह गलं तदीयम् ।
तदातिगाढं स च पीडितस्तौ, मेने भुजौ पाशिभुजङ्गपाशौ ॥२१॥

भुजापीडनवत्तस्य भारश्च ववृधे शिशोः ।
वोढुं त्यक्तुञ्च रोद्धुञ्च नाशकद्दानवाधमः ॥२२॥

वहाँ पर तृणावर्त के द्वारा श्रीकृष्ण का अपहरण होने पर, जिस प्रकार माता यशोदा का शरीर भारा हो गया था, उसी प्रकार श्रीयशोदा के सम्बन्धियों का शरीर भी भारा हो गया था। दोनों ही की अचेतनता से शरीर क्षय की सम्भावना सी संघटित हो गई थी ॥१८॥

तदनन्तर सभी व्रजगोपियों के समानरूप से रोने के वशीभूत होने पर, श्रीव्रजरानी की इस प्रकार की भावना हुई कि, हे रोहिणि ! तुम मुझको सांत्वना देकर प्राणत्याग की प्रतिबन्धक हो रही हो, अतः तुम ही जब हमारी अनिष्टकारिणी हो रही हो, तब मैं क्या करूँगी ? पुत्र को न देखकर किस प्रकार प्राणों का त्याग करूँगी ? अथवा श्रीव्रजराज के आगे अपना मुख किस प्रकार दिखाऊँगी ? यहाँ तक सर्वतोभाव से मरणदशा का अन्तिम लक्ष्य करके, माता का जो खेदजनक विलाप हुआ था, वह पुनः स्मरण करने से सहसा घृत की तरह हृदय को पिघला देता है। तब उस विषय में कैसे कहा जा सकता है ? अतः विशेष प्रसङ्ग बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार कहकर मधुकण्ठ, अपनी और सभी सभासदों की विवशता की आशङ्का करके शीघ्र ही कहने लगा कि— ॥१९॥

आकाशमार्ग से अपहरण किये गये सुखपूर्वक उत्पन्न श्रीमान् नन्दकुमार के माता, पिता आदि जो बन्धुजन, दुःसह दुःखसमुद्र में गोता खा रहे थे, उनके लिये अनुकूल कूल (किनारा) सहसा समीप में दिखाई दिया ॥२०॥

देखो ! बलरामजी के छोटे भाई श्रीकृष्ण ने बालकपन के स्वभाव से, जब तृणावर्त के गले को बलपूर्वक पकड़ लिया, तब यह असुर अत्यन्त पीड़ित होकर कृष्ण की उन दोनों भुजाओं को वरुण के नागपाश के समान कष्टदायक समझने लग गया ॥२१॥

श्रीकृष्ण की दोनों भुजाओं द्वारा तृणावर्त की पीड़ा जिस प्रकार बढ़ी, उसी प्रकार बालक का भार भी क्रम से बढ़ने लग गया। उस समय वह अधम दैत्य श्रीकृष्ण को ढ़ोने के लिये, त्यागने के लिये, किंवा समझने के लिये किंचिद् भी समर्थ न हो सका ॥२२॥

तदा च माल्यहरतानर्हावस्थेन चामुना ।
स भारहारतां प्राप्तः स्वप्राणहरतां गतः ॥२३॥

"यथा—माल्यबुद्ध्याहिवल्लोमपटभ्रान्त्या तमृक्षवत् ।
कृष्णोऽववेष्टदात्माङ्गं वातूलः कथमुज्झतु ? ॥२४॥

"यथा च—तृणावर्ते रुद्धकण्ठे तच्छ्वासा रुद्धतां गताः ।
तदैव च बहिर्वातास्तत् किं तस्य त एव ते ? ॥२५॥

"अथाकाशावकाशात् प्रस्तरकृतास्तरणायामङ्गणस्थल्यामतिविस्तीर्णं महाघोषवधिरीकृतघोषं तद्वपुर्निपपात, निपत्य च मूर्तिमन्मूर्तिकमपि श्लथसन्धिबन्धीभूतमदृश्यत ॥२६॥

"ततश्च तत्तु—किमिदमहहहा पपात कस्मा,-दिति परिवव्रुरुपेत्य गोपरामाः ।
भयमधुरथ कं निरीक्ष्य रक्ष,-स्तदुपरि बालहरिश्च मृग्यमाणम् ॥२७॥
दनुसुतमलमुद्विर्वतिताक्षं, शिशुमथ वीक्ष्य निरीक्षमाणनेत्रम् ।
तदुपरि सहसा निधाय लत्ता,-ममुमुपजह्रुरमूर्मुदा जनन्याम् ॥२८॥

"अथ मन्त्रवत् किञ्चिद्वचनात् पुनरमूरमुष्याश्चेतनामाचिन्वते स्म, ॥२९॥

उस समय माला के भार को भी जो धारण नहीं कर सकता, ऐसी कोमल अवस्था वाले इस छोटे से बालक द्वारा वह असुर भारवाहकता को प्राप्तकर अपने प्राणों से हीन हो गया ॥२३॥

देखो ! जिस प्रकार सर्प में माला के भ्रम से युक्त व्यक्ति को सर्प लपेट लेता है, एवं जिस प्रकार भालू में कम्बल के भ्रम से युक्त व्यक्ति को भालू भी लपेट लेता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण ने भी करचरणरूप अपने अङ्ग के द्वारा तृणावर्त को कस के पकड़ लिया था, अतएव बभूड़ारूपी वह तृणावर्त श्रीकृष्ण को किस प्रकार छोड़ सकता था ? ॥२४॥

और भी देखो ! तृणावर्त का कण्ठ रुक जाने पर उसके श्वास भी रुक गये, और उसी क्षण बाहिरी वायु भी रुक गया, इससे यह प्रतीत होता है कि उसके श्वास ही बाहिरी वायु के रूप में थे क्या ? ॥२५॥

तदनन्तर आकाश प्रदेश से पत्थरों से ढ़की हुई आँगन की भूमि में, उस तृणावर्त का अति विस्तीर्ण शरीर बड़े भारी शब्द के द्वारा, सारे गोकुल को बहिरा बनाकर गिर पड़ा । तथा गिरकर वह शरीर अति कठिन अवयवों वाला होकर भी, उस समय सन्धियों के बन्धन ढ़ीले होने के कारण, टूटी हड्डियों के द्वारा जुड़ा हुआ सा दिखाई देता था ॥२६॥

उसके पश्चात् उस असुर के शरीर को गोपियों ने "हाय ! हाय ! यह क्या बलाय है, और कहाँ से गिरा है ?" यों कहते हुए पास में आकर चारों ओर से घेर लिया । उसके बाद भयंकर राक्षस को देखकर तो उन्होंने भय को धारण किया, तथा उसके ऊपर ढूँढ़े जाने वाले बालकृष्ण को देखकर सुख को धारण किया, अर्थात् राक्षस को देखकर डर गईं, किन्तु कृष्ण को देखकर सुखी हो गईं ॥२७॥

तदनन्तर जिसके नेत्र अस्तव्यस्तभाव से ऊपर को निकल रहे हैं, ऐसे उस दैत्य को देखकर, तथा मधुरतापूर्वक अपने नेत्रों से निहारने वाले बालक को देखकर, उन गोपियों ने उस दैत्य के ऊपर सहसा लात धरकर बालक को लेकर हर्षपूर्वक माता के प्रति अर्पण कर दिया ॥२८॥

उसके बाद मन्त्र की तरह कुछ बोलकर, उन गोपियों ने श्रीयशोदाजी को पुनः चेतना दिलाई ॥२९॥

यथा—मृत्युर्मृतो मृत्युहृतस्तु जीवित,-स्तदेतमादत्स्व तनूजवत्सले ! ।
इत्युक्तिमन्त्रान्वितबालकौषधं,विन्यस्य तां प्रत्युदजीजिवन्नमूः ॥३०॥
शिशुमुपसद्य यशोदा, दनुजहृतं द्राक् चिचेत लीनापि ।
वर्षाजलमुपलभ्य, प्राणिति जातिर्यथेन्द्रगोपानाम् ॥३१॥
अथागमन् व्रजपतिसङ्गता जनाः, सविस्मयं सभयमदभ्रसम्भ्रमम् ।
गृहान्तरव्रजनविचारणाऽन्यदा, न तर्ह्यभूद्यदभवदेकभावता ॥३२॥
पश्यन्नपि तृणावर्तमपश्यन्निव तं जनः ।
कृष्णमेवागमद्द्रष्टुं तत्प्रेमा ह्यद्भुतादिजित् ॥३३॥
स्पृष्टः कम्प्रेण हस्तेन दृष्टः सास्त्रेण चक्षुषा ।
पित्राथ मातुरुत्सङ्गादवित्रा शिशुराददे ॥३४॥
"ततश्च राक्षसस्पर्शज-क्षतजादिशङ्कया,—
निरीक्षितावयवगणोऽपि मातृभि,-र्विलोकितः स तु जनकेन कृत्स्नशः ।
ममेति धीः पृथुममतास्पदं दृशा, स्वया परं न तु परया परीक्ष्यते ॥३५॥

यथा—गोपियाँ बोलीं कि, हे पुत्रवत्सले ! यशोदे ! मृत्युरूप दैत्य तो मर गया, तथा उसके द्वारा हरा गया बालक तो बच गया है। लो, अपने लाला को ग्रहण करो। श्रीयशोदाजी पुत्रवियोग से मृतप्राय हो गईं थीं। गोपियों के ये वाक्य ही श्रीयशोदाजी के लिये जीवनमन्त्र, एवं श्रीकृष्ण ही औषधि के समान हुए, अर्थात् श्रीकृष्ण को गोद में धरकर गोपियों ने श्रीयशोदाजी को पुनर्जीवित कर दिया ॥३०॥

इन्द्रगोपनामक वर्षाती कीटविशेषों की जाति, अर्थात् रामजी की गुड़ियाओं की जाति, वर्षा के जल को प्राप्तकर जैसे प्राण धारण कर लेती है, उसी प्रकार अचेतन अवस्था में पड़ी हुई श्रीयशोदा भी, असुर के द्वारा हरे गये पुत्र को पुनः प्राप्तकर सचेत हो गईं ॥३१॥

तदनन्तर श्रीनन्दजी एवं उनके साथ के सभी जन विस्मय, भय, एवं अत्यन्त उतावली से युक्त होकर, उसी स्थान पर आ गये। अपने अपने घर के भीतर जाने का विचार अन्य समय हो सकता है, किन्तु उस समय उन सबका विचार घर में जाने का नहीं रहा, कारण सभी का एक भाव हो रहा था, अर्थात् सभी का चित्त श्रीकृष्णवियोग से अस्थिर हो रहा था ॥३२॥

सभी व्रजवासियों का चित्त श्रीकृष्ण में ही लगा हुआ था, इसीलिये उन सबने तृणावर्त को देखते हुए भी श्रीकृष्ण को न देखते हुए से होकर, उनको देखने के लिये आगमन किया। तृणावर्त की भयंकरता को देखकर वे डरे नहीं, कारण यह है कि श्रीकृष्णनिष्ठ जो प्रेम है, वह अद्भुत आदि रसों को जीत लेता है ॥३३॥

तदनन्तर बालमुकुन्द के रक्षक पिता श्रीनन्दजी ने काँपते हुए हाथ से बालमुकुन्द को छुआ, एवं अश्रुपूर्ण नेत्र से देखा, तथा माता की गोद से बालमुकुन्द को अपनी गोद में ले लिया ॥३४॥

पश्चात् राक्षस के स्पर्श से लाला के अङ्ग में कुछ चोट अवश्य लगी होगी, ऐसी आशंका करके सभी माताओं के द्वारा लाला के सभी अवयव देख लिये जाने पर भी, पिता श्रीनन्दजी ने पुनः लाला का सब ओर से निरीक्षण किया। कारण यह मेरी वस्तु है, इत्याकारक जो ज्ञान है, वह भारी ममता का स्थान-स्वरूप है। अतः उस वस्तु की परीक्षा अपनी दृष्टि से ही भली प्रकार की जाती है, दूसरे की दृष्टि से वैसी परीक्षा नहीं हो पाती। इसलिये श्रीयशोदा के देखने पर भी, श्रीनन्दजी का चित्त स्वयं देखे बिना शांत नहीं हुआ ॥३५॥

"अथ व्यग्रेहिता वृषभान्वग्रेसराः परमहिताः परस्परमपरस्परं कथयाञ्चक्रुः,—॥३६॥

'क्वायं हतस्तीव्रबलः पलाशनः, क्व तीर्णवान् सोऽयमतीव बालकः।
किंवा स्वपापेन विहिंस्यते खलः, साधुः समत्वेन भयात् प्रमुच्यते ॥३७॥

"अथवास्माकमेव भाग्यमिदमिति योग्यम्; ॥३८॥

'तथाहि—किं नस्तपः पूर्तमशेषसौहृदं, दत्तं तथेष्टं हरि-तुष्टयेऽजनि।
रक्षोगृहीतः पुनरेष बालकः, स्वयं स्वबन्धून् सुखयन् यदागतः ॥३९॥

समस्तार्थकरी विष्णु-भक्तिः साक्षाद्व्रजेश्वरे।
दृश्यतां मृश्यतामन्यत् किं वा बालकमङ्गलम् ? ॥४०॥

'यतः, सर्वदा क्रमते यस्य बुद्धिः सद्भक्तये हरेः।
स सदा क्रमते तस्य लक्ष्मीश्च क्रमतेतराम् ॥' इति ॥४१॥

"देवाश्च सकौतुकमिमं श्रीकृष्णाभिप्रायमुत्प्रेक्षाञ्चक्रिरे,—

'बालोऽहं न परिचिनोम्यभद्र-भद्रं, यः क्रोडे कलयति तद्गलं दधामि।
तेन त्वं यदि मरणं प्रयासि कः स्वि,-द्दोषः स्यान्मम तमथ त्वमेव जल्प ॥'४२॥

तदनन्तर परमहितैषी व्रजवासीजन व्यग्रतायुक्त चेष्टा करते हुए, श्रीवृषभानुबाबा को आगे करके आपस में बारंबार इस प्रकार कहने लगे कि— ॥३६॥

देखो ! प्रचण्ड बलशाली मरा हुआ यह मांस खाने वाला राक्षस कहाँ, एवं उसके मुखसागर से उत्तीर्ण अत्यन्त छोटी अवस्था का यह बालक कहाँ ? अर्थात् एक वर्ष की अवस्था वाले इस बालक के द्वारा इतने विशाल राक्षस का मारा जाना नितान्त असम्भव है। अथवा दुष्ट खल व्यक्ति अपने पाप के द्वारा आप ही मारा जाता है। सज्जन व्यक्ति अपने समतारूप गुण से भय से स्वयं छुटकारा पा जाता है ॥३७॥

अथवा यह हमारा ही भाग्य है, जो कि बालक मृत्यु के मुख से विमुक्त हो गया, यही भाव उपयुक्त है ॥३८॥

देखो ! हम सबने पहले जन्मों में श्रीहरि की प्रसन्नता के लिये कौन सा तप, कूँवा, बावड़ी आदि बनवाना, सबसे प्रेम अथवा सम्पूर्ण प्रेम, दान तथा यज्ञ आदि श्रेष्ठ कार्य किया है, जिसके कारण राक्षस के द्वारा ग्रहण किया हुआ, यह बालक पुनरपि अपने बन्धुओं को सुखित करता हुआ, स्वयं उपस्थित हो गया ॥३९॥

अथवा ऐसी विपत्ति दूर करने के प्रति श्रीनन्दजी की विष्णुभक्ति ही हेतु है। देखो, हे गोपगण ! श्रीनन्दरायजी में सब मनोरथ सिद्ध करने वाली श्रीविष्णुभक्ति साक्षात् विद्यमान है, उसको तुम देख लो। उस विष्णुभक्ति के बिना बालक के मङ्गल के निमित्त, हम सबको और कोई विचार विमर्श नहीं करना चाहिये ॥४०॥

कारण भगवान् श्रीहरि की उत्तमा भक्ति के निमित्त, जिसकी बुद्धि सदैव उत्साहयुक्त रहती है, वह भक्त सदैव एकरस रहता है, अर्थात् वह विघ्नों के द्वारा प्रतिहत नहीं होता, उसकी शोभा सम्पत्ति भी अतिशय वृद्धि को प्राप्त होती रहती है ॥४१॥

उस समय देवतागण कौतुकपूर्वक श्रीकृष्ण के मानसिक अभिप्राय की, इस प्रकार उत्प्रेक्षा करने लग गये, अर्थात् श्रीकृष्ण के मानसिक विचार को स्वयं कहने लग गये, यथा—मैं तो बालक हूँ, भद्राभद्र

"ततश्च सर्वानर्वाचीनाभीरवीराणां सेयं मन्त्रणा जाता,—'गोष्ठमिदं दुष्टानामधिष्ठानं वृत्तम्, तस्माद्गृह एव गोपनीयमिदं बालयुगलम्' इति ॥४३॥

"ततः शङ्कातिशयमयं दिनकतिपयं नानाक्रीडनकेन क्रीडयमाना मातृसमाना गोपिका गोपिका बभूवुः। यत्र च बाल-बालिका कुलपालिकादयः सदयं समागम्य रम्यं तत्केलिकुतूहलं कलयन्ति ॥४४॥

"यथा—क्रीडनानि विविधानि तं सदा, दर्शयन्ति च मुदा हसन्ति च ।
खेलयन्ति च बलेन ता इति, स्वान्तरे परमम् अरक्षिषुः ॥४५॥

"ततश्च, बलेन सममन्योऽन्यं प्राबल्यं दर्शयन्निव ।
ऊर्ध्वाधोभावमासाद्य सर्वा हासयति स्म सः ॥४६॥
मातृणामग्रतो बाहू विक्षिपन् धावति स्म सः ।
दर्शयन्निव तेजः स्वं हसन् पाते रुरोद च ॥४७॥
बलं वा ज्ञानं वा कियदभवदस्येति विमृशन्
यदा गोपीसङ्घः किमपि मुहुरानेतुमदिशत् ।

(सदसद्) को मैं पहचानता नहीं। जो व्यक्ति मुझको अपनी गोद में लेता है, मैं उसके गले को धारण कर लेता हूँ, अर्थात् उसके गले से चिपट जाता हूँ। हे तृणावर्त ! गले के पकड़ने मात्र से यदि तू मरण को प्राप्त होता है, तो इसमें मेरा क्या दोष है ? उसको तू ही बता दे। ॥४२॥

तदनन्तर सभी प्राचीन बूढ़े बड़े गोपों का यह विचार हुआ कि, यह गोकुल तो दुष्टों का अधिष्ठान (स्थान) हो गया है, अतः इन दोनों बालकों को घर में ही गुप्त रखना चाहिये ॥४३॥

उसके बाद माता के समान भाव वाली गोपियाँ अत्यन्त शंकापूर्ण होकर, कुछ दिन तक अनेक प्रकार के खिलौनों से उन दोनों बालकों को खिलाती हुई रक्षक बन गईं। उस खेल में बालक, बालिका एवं कुलपालिका (सती स्त्री) आदिक सभी सदयभाव से आकर श्रीकृष्ण बलदेव की रमणीय क्रीड़ा के कौतूहल को देखती हैं ॥४४॥

क्रीड़ा कौतुक का दर्शन इस प्रकार है कि, वे गोपियाँ श्रीकृष्णचन्द्र को सदैव अनेक प्रकार के खिलौने दिखाती हैं, तथा हर्षपूर्वक हँसने लग जाती हैं, तथा श्रीबलरामजी के साथ श्रीकृष्ण का खेल कराती हैं, किन्तु वे अपने घर में अपने सम्बन्धियों के बीच में ही श्रीकृष्ण बलदेव की रक्षा करती रहती हैं ॥४५॥

तदनन्तर श्रीकृष्णचन्द्र बलदेवजी के साथ आपस में प्रबलता सी दिखाते हुए, ऊँचे नीचे भाव को प्राप्तकर, उन सब गोपियों को हँसा देते हैं, अर्थात् अपना बल दिखाने के लिये श्रीकृष्ण, कभी बलदेवजी को नीचे पटककर उनके ऊपर चढ़ जाते हैं, कभी बलदेवजी की प्रबलता दिखाते हुए स्वयं नीचे को गिर जाते हैं, ऐसे अनोखे खेल करके सभी को हँसाते हैं ॥४६॥

श्रीकृष्णचन्द्र अपना तेज सा दिखाते हुए सभी माताओं के आगे अपनी दोनों भुजाओं को फटकारते हुए, हँसते हँसते दौड़ने लग जाते हैं, दौड़ते दौड़ते जब भूमि पर गिर जाते हैं, तब रोने लग जाते हैं, अर्थात् बाल्यलीला का स्वारस्य दिखलाते हैं ॥४७॥

इस श्रीकृष्ण का बल अथवा ज्ञान कितना उत्पन्न हो गया है, यह विचार करते हुए गोपियों का समूह, जब किसी वस्तु को लाने के लिए बारंबार आदेश देता है, तब यह बालकृष्ण कभी शक्ति को

तदा शक्तिं व्यञ्जन् क्व च पुनरशक्तिं क्व च शिशुः
स पश्यंस्तद्वक्त्रं हसति च पुरा हासयति च ॥४८॥

नामादेशं यदा माता दिशते नयनादिकम् ।
कृष्णश्च कुरुते बाढं चक्रे तस्या न किं तदा ? ॥४९॥

रुदन्तमिन्दवे मन्थ-गर्गर्यां प्रतिरूपिणे ।
पिण्डेन नावनीतेन वृद्धागर्धयतार्भकम् ॥५०॥

स्वस्य स्वल्पापहारेऽपि चक्रन्द मणिहानिवत् ।
कृत्वान्यमणिहानिश्च प्राहसीद्बालकृष्णकः ॥५१॥

निर्मञ्छनं तव भजाम कुलेश-लाल्य !, बाल्यातिमोहन ! बलानुज ! नृत्य नृत्य ।
इत्यङ्गनाभिरुदितस्थि थि थि त्थि थीति, क्लृप्तेन ताल-वलयेन हरिर्ननर्त ॥५२॥

मां नर्तयत भो वृद्धा इति तासां पुरो गतः ।
भद्रं नृत्यसि भद्रस्त्वमिति स्तोत्रान्ननर्त सः ॥५३॥

प्रकाशित करते हुए, कभी अशक्ति को प्रकाशित करते हुए, उन गोपियों का मुख देखते देखते हँस जाते हैं, तथा अपनी बालमाधुरी से उनको भी हँसा देते हैं ॥४८॥

माता यशोदा जब घड़े आदि का नाम लेकर उसको लाने के लिए आदेश करती हैं, तब श्रीकृष्ण भी "अच्छा" ऐसे कहकर लाने आदि का कार्य करते हैं, अथवा तुम्हारे नेत्र कहाँ हैं, मुख कहाँ है, कान कहाँ हैं, नासिका कहाँ है ? इस प्रकार नाम लेकर यशोदाजी जब पूछती हैं, तब श्रीकृष्ण उन उन स्थानों पर हाथ धर देते हैं । इस प्रकार माँ के सुख के लिए उन ने उस समय क्या क्या कार्य नहीं किया ? अपितु सब कुछ किया ॥४९॥

चलावनी में चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को देखकर, उसी के लेने के लिये श्रीकृष्ण जब रुदन करने लग जाते हैं, तब कोई वृद्धा गोपी माखन का गोला दिखाकर, उसी गोले से रोते हुए कृष्ण को प्रलोभित वा वंचित कर देती है, अर्थात् बहला देती है ॥५०॥

यदि कोई व्यक्ति कृष्ण के पास से खेलने की वस्तुओं में से एक कानी कौड़ी भी चुरा लेता है, तब तो श्रीकृष्ण मणि की हानि की तरह रोने व चिल्लाने लग जाते हैं, और ये बालकृष्ण ऐसे विचित्र हैं कि दूसरे की मणि को चुराकर अट्टहास करने लग जाते हैं ॥५१॥

हे व्रजराज पुत्र ! अथवा हे कुलप्रदीप प्रतिपाल्य ! हे बालकपन से सबको मोहित करने वाले ! हे बलराम के छोटे भाई ! तुम नाचो, तुम नृत्य करो, हम तुम्हारी न्योछावर करेंगी । गोपियों के इस प्रकार कहने पर श्रीकृष्णचन्द्र गोपियों के द्वारा रचित "थि थि थि थि थि" इस प्रकार के करतालिता के संयोग से नाचने लग गये ॥५२॥

अरी बुढ़ियाओ ! "तुम मुझे नचाओ" इस प्रकार कहकर उनके आगे जाकर नृत्य करते हैं । "हे कृष्ण ! तुम सुन्दर बालक हो, नृत्य भी सुन्दर करते हो" । बुढ़ियाओं के ऐसे प्रशंसा वचनों से उत्साहित हो, श्रीकृष्ण बार बार नृत्य करते हैं ॥५३॥

विहसन्तीषु सर्वासु सौष्ठवात् प्रच्यवादपि ।
नृत्यन् व्रीडितवत् कृष्णो मातुरङ्केऽपलायत ॥५४॥

"क्षणं विरम्य च रम्याननःस्तनधयनमपि तत्रारब्धवान्, यद्दर्शनमनु सङ्कर्षणः सेर्ष्यमिव निजमुत्कर्षं वाञ्छन् निज-जननी-स्तनपानमारब्धवान् ॥५५॥

"तदैव च तौ लीलाभिः प्रमीलामागतौ यातृभ्यां मातृभ्यां शनैः शनैः शय्यामधिशाय्येते स्म ॥५६॥

"तदेवं सरामस्य तस्य निरोधे विधीयमाने बहिर्विजिहीर्षिते चातीव तदुपजीवनतामासन्ने योगमाया तदानुकूल्याय किञ्चित् प्रपञ्चितवती॥५७॥ यथा (भा० १०।७।३४-३५)–

'एकदार्भकमादाय स्वाङ्कमारोप्य भामिनी ।
प्रस्नुतं पाययामास स्तनं स्नेहपरिप्लुता ॥५८॥
पीतप्रायस्य जननी सुतस्य रुचिरस्मितम् ।
लालयन्ती मुखं विश्वं जृम्भतो ददृशे इदम् ॥' इति ॥५९॥

"तेन च सन्ततं विस्मयमानायां निजजायायां तस्यां कदाचित् श्रीमान् व्रजराजः पप्रच्छ,—॥६०॥

'मया यदनिष्टभयाद्बालरोधनमुपदिष्टम्, तत् किं निर्वहति ?' ॥६१॥

नाचने की सुन्दरता से एवं नृत्य करते करते भूमि में गिरने के कारण, वृद्धा गोपियाँ जब हँसने लग जाती हैं, तब श्रीकृष्ण नाचते हुए लज्जित की भाँति माता की गोद में दौड़ पड़ते हैं ॥५४॥

क्षणभर के लिये नृत्य से विराम लेकर, सुन्दर मुखवाले श्रीकृष्ण ने वहाँ पर माँ की गोद में, बैठे बैठे स्तनपान करना आरम्भ कर दिया। जिसको देखकर श्रीबलरामजी भी, मानों ईर्षाभाव से अपना उत्कर्ष चाहते हुए, अपनी माँ का स्तनपान करने लग गये ॥५५॥

उसी समय वे दोनों भैया जब खेल करते करते थककर तन्द्रा को प्राप्त हो जाते हैं, तब देवरानी जिठानीरूप दोनों माताओं के द्वारा, धीरे धीरे दोनों ही शय्या पर सुला दिये जाते हैं ॥५६॥

इस प्रकार बलरामजी के सहित श्रीकृष्ण की बाहर जाने से रुकावट होने पर, एवं उन दोनों की बाहर विहार करने की इच्छा के पुष्टि के हेतु अत्यन्त समीप आ जाने पर, योगमाया ने उनकी अनुकूलता के लिये कुछ प्रपञ्च रच दिया ॥५७॥

श्रीमद्भागवत् के १०।७।३४-३५ श्लोक में, यथा—एक समय वात्सल्य स्नेह से व्याप्त श्रीयशोदा अपने लाला को अपनी गोद में बिठाकर, स्नेह से स्वयं झरते हुए स्तन को पिलाने लग गईं ॥५८॥

जब लाला ने प्रायः स्तनपान कर लिया था, तब सुन्दर मनोहर मुस्क्यान से युक्त लाला के मुख का लालन करती हुईं माता ने जम्हाई लेते हुए लाल के मुख में इस विश्व को देखा ॥५९॥

उस विश्वरूप दर्शन के कारण निरन्तर विस्मययुक्त उन अपनी धर्मपत्नी श्रीयशोदा के प्रति, किसी समय श्रीमान् व्रजराज ने पूछा कि— ॥६०॥

मैंने जिस अनिष्ट के भय से दोनों बालकों का घर में ही रोकने का उपदेश दिया था, उसका निर्वाह भली प्रकार हो रहा है क्या ? ॥६१॥

"सा प्राह,—'निर्वहत्येव, किन्तु वृथेति लक्ष्यते ।' व्रजराज उवाच,–'हन्त कथमिव ?' सा प्रह,–'व्रजमात्रव्रजनं वर्ज्यते । दृष्टन्तु मृष्टस्मितं जृम्भमाणस्य बालकस्य वदनद्वारा जगदेव ।' इति । अथ व्रजराजः स वैलक्ष्यमालक्ष्य लक्ष्मीजानिलक्ष्यतया मौनमालम्ब्य विलम्ब्य चोवाच,–॥६२॥

'यद्येवम्, तदा स्वजन-परायणस्य श्रीनारायणस्य विधित्सितमेव सर्वं विचिकित्सितमपि चिकित्सितं करिष्यति । तस्यैव खल्विदं वैभवम्' इति ॥६३॥

"एवं तदवधि तद्विधिना नातिनिरोधे विधीयमाने क्वचिदपि समये संयमनं समया सरामः स रामानुजः श्रीदाम-सुदाम-वसुदामादिभिः समं रमते स्म ॥६४॥

(अथ मृद्भक्षणलीला)

"तत्र विनोदेन मृददनं चक्राणे चक्राङ्कितचरणे सङ्कर्षणादयः खेलायां कलितकलहा रहस्तन्मातरं निवेदयामासुः । ये खलु तया तद्विधविधानेऽवधापिता विधीयन्ते स्म ॥६५॥

"माता च प्रच्छन्नमागच्छन्ती बाहुं गृहीत्वा पप्रच्छ,–'चपल ! किमिदं दुश्चरितमाचरितम् ?' ॥६६॥

"स तु सहसा सङ्कुलिताननकमलः कातरमतिर्मातरमुवाच,—'मातर्न किमपि ।'

श्रीयशोदाजी बोलीं—निर्वाहित तो हो रहा है, किन्तु घर में रोकना व्यर्थ ही दिखाई देता है। व्रजराज बोले—हाय ! वह कैसे ? यशोदा बोलीं—व्रजमात्र में जाना ही रोका जाता है, किन्तु मैंने तो मन्दमुस्क्यानपूर्वक जम्हाई लेते हुए, इस बालक के छोटे से मुखारविन्द के द्वारा सारा विश्व ही देख लिया । तदनन्तर श्रीव्रजराज विस्मयपूर्वक विचार करके "यह बालक ही लक्ष्मीपति नारायण है अथवा नारायण का आश्रय है" इस बात को युक्तिपूर्वक समझकर मौन धारण कर कुछ विलम्ब करके बोले—॥६२॥

यदि ऐसी बात है तब तो निजजनपालक भक्तवत्सल श्रीनारायण भगवान् की, जिस कार्य के करने की इच्छा होगी, वह इच्छा ही सारे सन्देह को दूर कर देगी । यह उन्हीं का वैभव है, इस बात को तुम निश्चय जानो ॥६३॥

इस प्रकार उस समय से लेकर, श्रीव्रजराज की आज्ञानुसार बालकों की रुकावट जब ढ़ीली पड़ गई, तब किसी समय अपनी चौपाड़ (चतुःशाला) के पास वह श्रीकृष्ण, बलदेवजी के सहित एवं श्रीदामा, सुदामा, वसुदामा आदि सखाओं के साथ क्रीड़ा करते हैं ॥६४॥

अथ मृत्तिका भक्षण लीला—वहाँ पर चक्र के चिह्न से अंकित चरण वाले श्रीकृष्ण, खेल खेल में विनोद से जब मिट्टी खाने लग गये, तब जो उस प्रकार के अनिष्ट कार्य के निवारण के लिये, श्रीयशोदाजी द्वारा पहले ही सावधान कर दिये थे। वे ही श्रीबलरामजी आदि सखागण खेल में कलह मचाकर, एकान्त में उनकी माताजी को निवेदन कर देते हैं ॥६५॥

माताजी ने भी गुप्तरूप से आकर श्रीकृष्ण की भुजा पकड़कर पूछा कि, अरे चंचल ! तूने यह क्या दुश्चरित कर ड़ाला ? ॥६६॥

यह सुनकर श्रीकृष्ण ने अपने मुखकमल को नीचा करके, व्याकुलचित्त से सहसा माता को कहा कि, माँ ! कुछ नहीं किया । माता बोली—तैंने माटी खाई है ? पुत्र बोला—इस बात को कौन कहता ? माता

"माता प्राह,–'मृत्तिकामत्ति स्म भवान् ।' सुत उवाच,–'क इदं वदति ?' माता प्राह,–'सर्व एव तव सवयसः ।' सुत उवाच,–'एते खलु निज-निज-वस्त्यान्मधुरवस्तूनि मुष्णन्तः सतृष्ण-मत्रपमत्र परस्परमश्नन्ति, तदनङ्गीकृतवतः कपाटितरदने मम वदने प्रथमं समं बलाच्छलादपि समर्पयन्ति, तच्च त्वयि सनिर्वेदं निवेदयितुमिच्छोर्मम तुच्छं सविवादं दुर्वादमेतमवादिषुः ।' माता सुविस्मितमूर्ध्वमधो मूर्धानमाधूय सस्मितमुवाच,–'सव्याजराज ! तवाप्यग्रजः सोऽयं व्यञ्जयति, तत्र किं वदिष्यसि ?' सुत उवाच,–'एते सर्व एव वीथ्यां वीथ्यां मिथ्याभिशंसिनः ।' माता प्राह,–'सच्छलप्रलपित ! भो मत्पितः ! बलभद्रः किमिति प्रमिति-रहितमभद्रं वदतु ?' सुत उवाच,–'अयमप्येतद्गणपातीति । तथान्येद्युर्मृत्तिकामत्ति स्म, तदवद्यं निवेदयितुमुद्यतं मद्वचनं मृषोद्यतामासादयितुम्' इति । माता तन्मुखं धृत्वा सहासमाह स्म,–'किमिदं चिरं निगिरन्नसि ?' सुत उवाच,–'उक्तमेव मम लपने बलाद्गलान्तःप्रवेशाय किमपि न्यस्तं समस्तैः ।' इति । माता प्राह,–'धूर्त ! कथं जानीयाम् ?' सुत उवाच,–'साम्प्रतं मम मुखमेव निरीक्ष्यताम् ।' माता ससंरम्भस्मितमुवाच,–'व्यादेहि, पश्यामः ।' ततश्च भयेन स एष मृच्चिह्नितमप्यह्नाय वदनं व्याददौ ॥६७॥

बोली—तुम्हारे सभी सखागण । पुत्र बोला—देख मैया ! ये सब अपने अपने घर से मीठी मीठी वस्तुओं को चुराकर, तृष्णापूर्वक निर्लज्ज होकर आपस में दिखा दिखाकर, यहाँ हमारी चौपाड़ पर आकर मिलकर खाते हैं । मैंने जब इनकी चोरी की चीज खाने को अंगीकार नहीं की, तब किवाड़ों से बन्द हुए दरवाजे की तरह, दाँतों से रुके हुए मेरे मुख में पहले एक साथ बल एवं छल से भी अर्पण करते हैं । मैं इस सारे वृत्तान्त को खेदपूर्वक तुम्हारे प्रति निवेदन करना ही चाहता था, इतने में मेरे भाव को ताड़कर, इन सबने मुझसे भी पहले, तुच्छ विवाद के सहित इस झूठे मूठे दुर्वाद को बना कर तुम्हारे पास कह दिया है ।

माता अत्यन्त विस्मित होकर, अपने मस्तक को ऊँचे नीचे की ओर कम्पित कर, ईषद् हास्यपूर्वक बोली कि—हे कृष्ण ! तुम तो छलियों के राजा हो, तुम्हारे ये बड़े भैया भी तो उसी बात को कह रहे हैं, उस विषय में तुम क्या कहोगे ? पुत्र बोला–ये सब तो गली गली में अपनी अपनी श्रेणी में झूठ बोलते रहते हैं । माता बोली—हे छलपूर्वक बोलने वाले ! हे मेरे बाप ! यह बलदेव प्रमाण रहित अमङ्गल वाक्य क्यों बोलेगा ? पुत्र बोला—अरी मैया ! ये भी तो उसी श्रेणी के अन्तर्गत हैं । देख माँ ! ये दादा भैया भी अन्य एक दिन मिट्टी खा रहे थे । इनके उस निन्दनीय कार्य को निवेदन करने के लिये जब मैं उद्यत हुआ, तब मेरे वचन को मिथ्या बनाने के लिये ये भी मिथ्या बात बना रहे हैं ।

माता कृष्ण के मुख को पकड़कर हास्यपूर्वक बोली—बहुत देर से तू यह क्या निगल रहा है ?

पुत्र बोला—मैंने पहले ही कहा था कि मेरे मुख में बलपूर्वक गले के भीतर प्रवेश कराने के लिये, इन सबने कोई वस्तु अर्पण कर दी है । माता बोली—धूर्त ! मैं इस बात को कैसे जान सकूँ ? पुत्र बोला—इस समय मेरे मुख को ही देख लो ।

माता क्रोध एवं हास्य सहित बोली—मुख फैला, मैं देखती हूँ । तदनन्दर श्रीकृष्ण ने माता के भय से मिट्टी के चिह्न से युक्त भी अपने मुखको शीघ्र फैला दिया ॥६७॥

"ततस्तद्भयमवदधाना समादधाना च रसान्तरेण मातुः कोपशान्तये तदन्तर्योगमायाता सा योगमाया पुनर्विश्वं दर्शितवती ॥६८॥

"तत्र चेदं व्रजेश्वरी परामर्श,—

'अहो बहिरिवेक्ष्यते जगदिदं मुखाभ्यन्तरे
शिशोस्तदनु भूरियं भुवि च माथुरं मण्डलम् ।
इह व्रजकुलं यदन्वपि मया धृतो बालकः
स एव तदहो कथं किमिव हन्त किं सिध्यति ?' ॥६९॥

"अथ पुनः स्वप्नादिकमनल्पं कल्पयित्वा पश्चिममिदं निश्चिकाय,—॥७०॥

'अहं यशोदास्मि पतिर्व्रजाधिपः, सुतः स एष स्वमिदञ्च गोकुलम् ।
प्रतीयतेऽथापि शिशोर्मुखे जगद्,-यन्माययेत्थं कुमतिः स मे गतिः ॥'७१॥

"तदेवं स च नारायणस्तद्भावपरायणतां तामनुनितान्तां विचारयन्नात्मनः परमाभिरुचि-परिचिताविर्भावे तस्मिन्नेव विस्मितिनिचितं जनन्युचितस्नेहमेव देहयामास । यं खलु (भा० १०।९।२०) 'नेमं विरिञ्चः' इति वक्ष्यमाणानुसारेण समस्तानि शास्त्राणि सदा प्रशस्ततया गायन्ति ॥७२॥

उसके पश्चात् श्रीकृष्ण के भय को जानती हुई, एवं उनके कार्य का समाधान करती हुई, उस योग-माया ने श्रीकृष्ण के अन्तःकरण का संयोग प्राप्तकर, माता का कोप शान्त करने के लिये, माता को दुबारा भी श्रीकृष्ण के मुख में विश्व को दिखा दिया ॥६८॥

जिसमें श्रीव्रजेश्वरी ने यह परामर्श किया कि, अहह ! कैसी आश्चर्य की घटना है ? देखो, यह जगत् बाहर जिस प्रकार दिखाई देता है, पुत्र के मुख के भीतर भी वैसा ही दिखाई पड़ता है । उसके बाद यह भूमि, भूमि में भी मथुरामण्डल, मथुरामण्डल में भी गोकुल, गोकुल में व्रजकुल विद्यमान है, तथा मैंने भी इस व्रजभूमि के बीच में उसी बालक को पकड़ रक्खा है । इसलिये अहो ! यह क्या ? किस प्रकार से है ? हाय ! यह क्या अनिष्ट घटना सिद्ध हो रही है ? ॥६९॥

तदनन्तर विशाल स्वप्न आदि की बहुत सी कल्पना करके, पीछे यह निश्चय किया कि— ॥७०॥

मैं यशोदा हूँ, व्रजाधिप मेरे पति हैं, यह वही मेरा पुत्र है, एवं अपना यही गोकुल भी प्रतीत हो रहा है, तथापि मेरे लाला के मुख में यह सारा जगत् जिसकी माया से दिखाई पड़ रहा है, एवं जिसकी माया से इस प्रकार मेरी कुमति हो रही है, वही मेरी गति है, अर्थात् वही प्रभु मेरे स्वभाव की स्थिरता करें ॥७१॥

इस प्रकार की प्रार्थना के अनन्तर उन्हीं श्रीनारायण ने उन श्रीयशोदा को नितान्त पुत्रभाव परायण विचार करते हुए, अपनी परम रुचि द्वारा ही परिचित है अवतार जिनका, उन श्रीकृष्ण में ही विस्मय से व्याप्त माता के उचित स्नेह को ही बढ़ा दिया, अर्थात् वात्सल्यपूर्ण हृदयवाली श्रीयशोदा के प्रति ईश्वरता-बुद्धि प्रकाश करना अयोग्य है, ऐसा विचारकर श्रीनारायण ने अपने से भी परात्पर स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण में ही, मातृजनोचित स्नेह को प्रकाशित कर दिया । देखो ! जिस स्नेह को श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध में "नेमं विरिंचो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया" इत्यादि वक्ष्यमाण श्लोक के अनुसार समस्त शास्त्र सर्वदा स्तुतिपूर्वक गान करते हैं ॥७२॥

(अथ फलक्रय-लीला)

"अथ कौतुकान्तरञ्चान्तरमानीयताम् । तदेवं सर्वानन्दनः श्रीमान्नन्दनन्दनः (भा० १०।११।१०) 'क्रीणीहि भोः फलानीति' गीतिरीतिरोचनवचनं कर्णयोरारचयन्नेव चपललोचनः किञ्चनाप्यशोचन्नेव च लघुनापि पाणियुगलेन लघुतया पुरः पतितधान्यपुञ्जतः पूर्णमञ्जलिमादाय तदभिमुखं जगाम । किन्तु द्रववशादल्पकाञ्जलितः स्खलितमिदमिति भिदां न विदाञ्चकार, केवलमेव करयुगलं क्रय्यफलपूरिततत्पत्रपात्रोपरि परिवृत्त्या च चालयामास ॥७३॥

"ततश्च सा स्मितवती स्मितदिग्धतन्मुखमाधुरी साधुरीतिभिः स्निग्धहृदया व्यञ्जित-स्पृहावलीं तदञ्जलिं फलवलयेन भिक्षयन्ती दूरत एव सङ्कूलनमुद्रामपि शिक्षयन्ती सकलेन तु पूरयितुं शशाक ॥७४॥

"निजभाजनं फलरिक्तं बभूव वा न वा किमिति तु न विविक्तं चकार । गृहा-भ्यन्तरेणान्तरिते तु तस्मिन्निजं पत्रजममत्रमयत्नतया रत्नपूरितमप्यनिभाल्य भारमप्यसंभाल्य तन्माधुर्यावेशाभिनिवेशवती स्वजनानामपि शर्मजननाय बहुलफलावलि-बलिसमानयनाय च निजनिलयमेव जगाम । किन्तु गृहं गत्वा ज्ञातमणितत्त्वाप्यकुण्ठासकृदुत्कण्ठावहेन तन्मुखशोभा-भरविरहेण सा धन्या हारितमहाधनम्मन्या बभूव, यत एव सा कृष्णदृश्वरी विश्वमपि विसस्मार ॥७५॥

अथ फलक्रय लीला—तदनन्तर मधुकण्ठ स्निग्धकण्ठ से बोला कि, अब भगवान् का दूसरा कौतुक (खेल) अपने अन्तःकरण में लाओ, अर्थात् अब मैं दूसरी लीला प्रारम्भ करता हूँ, उसे ध्यान लगाकर सुनो । इस प्रकार सबके आनन्ददाता श्रीमान् नन्दनन्दन फल बेचने वाली के "फल खरीद लो, फल", इत्यादि गायन की रीति से मनोहर वचन को कानों से सुनते ही चञ्चलनेत्र हो, कुछ भी न सोचते हुए ही, छोटे छोटे भी अपने दोनों हाथों से, शीघ्रतापूर्वक सामने पड़े हुए धान्य के ढ़ेर में से पूरी अंजली को ग्रहणकर, उस फल बेचनेवाली के सन्मुख चल दिये । किन्तु चलने के वेग के कारण, छोटी सी अंजली से यह धान्य गिर गया, इस बात के भेद को भी न जान सके, केवल अपने करयुगल को ही खरीदने के योग्य फलों से भरी हुई फल बेचनेवाली की डलिया के ऊपर बारंबार चलाने लग गये ॥७३॥

तदनन्तर वह फल बेचनेवाली हँस गई, तथा मृदु मधुर मुस्क्यानयुक्त श्रीकृष्ण के मुखमाधुरी की सुन्दर रीतियों द्वारा उसका हृदय स्निग्ध हो गया, तब वह फलसमूह द्वारा भिक्षा करनेवाली मालिन, दूर से ही फल धारण करने की शिक्षा को देती हुई, श्रीकृष्ण की इच्छा को प्रगट करनेवाली उनकी अंजली को समस्त फलों द्वारा पूर्ण करने को समर्थ हुई ॥७४॥

किन्तु श्रीकृष्ण की माधुरी के दर्शन से मुग्ध होने के कारण, अपने फलों की डलिया खाली हो गई या नहीं, इस बात की विवेचना न कर पाई, परन्तु फल लेकर श्रीकृष्ण जब अपने घर में छिप गये, तब तो पत्तों से बनी हुई अपनी डलिया को जो अनायास रत्नों से भरी है उसको भी न देखकर, भार को भी न सँभाल कर, श्रीकृष्ण के माधुर्य में अभिनिविष्ट हो एकाग्रचित्त हो गई, और अपने सम्बन्धियों के भी सुख को उत्पन्न करने के लिये, तथा बहुत से फलसमूहों की भेट लाने के लिये अपने घर ही चलीगई । किन्तु घर को जाकर मेरी डलिया रत्नों से भरी है, इस तत्त्व को जानकर भी, रुकावटरहित बारंबार उत्कण्ठा को

"स तु विविधदुर्विधशर्मविधानसन्निधानः स्वयं लब्धनिधानवदतिसावधानपाणिर्नृत्यन्निव मातुः समीपमञ्चन्मधुरचञ्चलेहितस्तस्या निचोलाञ्चले निर्बन्धतः सकलानि फलानि बबन्ध ॥७६

"माता चोवाच,—'पुत्र ! कुत्र लब्धानि तानीमानि ? सुतस्तु बाल्यभावादर्धार्धवर्णं वर्णयामास,—'कदाचित् काचिदाचितफला धान्यानि मूल्यमादाय धन्या मयि चानुकूल्यमाधाय समर्पितवती ।' मातोवाच,—'वत्स ! गृहजनवत् सर्वतः प्रतीतिं मा कृथाः' इति । सुतस्तु,—'का खल्वप्रतीतिरिति च न विदाञ्चकार ।' क्षणतश्च तां गतां निरीक्ष्य पुनरागतः सक्षणतया जनाय तत्फलविभजनाय जननीं नियोजयामास ॥७७॥

"माता चामन्देनानन्देन कृतस्पन्देन करद्वन्द्वेन तानि विभजन्ती तदन्तोक्तिं नाससाद, दिनकतिपयं विस्मयवशा स्मयमाना वसति स्म । तदास्वादकराश्च लब्धचमत्कारा न विस्मरन्ति स्म ॥७८॥

"अथ लीलान्तरमुद्भावयितुमेवं विभाव्यते,—॥७९॥

बढ़ाने वाले, श्रीकृष्ण की शोभा के अत्यन्त विरह से धन्य भी, वह रमणी विचार करने लगी कि, उस श्रीकृष्ण दर्शन के अपूर्व सुख को छोड़कर, मेरा कोई महारत्न हरा गया है, अर्थात् उसने अपने को किसी सर्वोत्कृष्ट धन से रहित माना। सच्चिदानन्दमय उस चैतन्यकृष्णमणि को छोड़कर, इन अचेतन मणियों से मेरा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? उस अचिन्त्यमहामणि के विरह से श्रीकृष्ण का दर्शन करनेवाली, वह फल बेचनेवाली संसार को भी भूल गई। भावार्थ—श्रीकृष्णदर्शनमाधुरी की मादकता ऐसी ही है ॥७५॥

जो स्वयं तो अनेक प्रकार के दरिद्रियों के सुखविधान के लिये सुन्दर खजाने के समान हैं, वे ही श्रीकृष्ण फलों को लेकर मानों खजाना ही मिल गया है क्या, उसकी भाँति अपने फल भरे दोनों हाथों को सावधान करके, नाचते हुए से माता के पास पहुँचगये, तथा मधुर चञ्चल चेष्टा से युक्त होकर, माँ की चूनरी के पल्ले में आग्रहपूर्वक सारे फलों को बाँध दिया ॥७६॥

माता बोली—लाला ! ये सारे फल तुझको कहाँ मिल गये ? पुत्र ने तो बाल्यभाव से आधे आधे वर्ण बोलकर वर्णन किया कि—अरी मैया ! देख, कोई एक धन्य भाग्यवाली मालिन फलों को एकत्रित करके यहाँ हमारे द्वार पर आई, उसने मूल्यस्वरूप धान्यों को लेकर, मेरे प्रति अनुकूलता धारणकर समर्पण कर दिये। माता बोली—लाला ! देख, घर के जनों की तरह सब लोगों का विश्वास नहीं करना। बेटा ने कहा कि, मैया ! अविश्वास नाम की कौन वस्तु है ? में नहीं जानता। पश्चात् द्वार पर जाकर वह फल बेचने वाली चली गई है, उसको देखकर क्षणभर में पुनः माँ के पास आकर, आनन्दपूर्वक सभी जनों के लिये उन फलों को बाँटने के लिये माता को नियुक्त कर दिया ॥७७॥

माँ यशोदा भी बड़े आनन्द के साथ चलते हुए अपने दोनों हाथों से पस भर भर के, उन फलों को सबके लिये बाँटती हुई, उन फलों का अन्त न पा सकी, अर्थात् सबको बाँटने पर भी फल बचे ही रहे। किन्तु माता तो कुछ दिन तक विस्मय के वशीभूत होकर मुस्क्याती ही रह गईं। उन फलों का स्वाद लेने वाले भी चमत्कार को प्राप्त होकर, उन फलों के स्वाद को न भूल सके ॥७८॥

अब दूसरी लीला को वर्णन करने के लिये मधुकण्ठ ने इस प्रकार विचार किया कि— ॥७९॥

'गोकुलेषु किल शीलमीदृशं, यद्दिवा वनमयन्ति गोनराः ।
योषितः प्रचुरगव्यसंस्क्रियां, क्रीडनं रहसि बालतर्णकाः ।।' इति ।।८०।।

"तदा चैकदा गृहव्ययपयःकृते समीपकृते वत्स-सद्मनिरुद्धद्वारान् शकृत्करिसारान् बालहरिः परितः स्थितबालकजालः कलयामास ।।८१।।

"तत्र च—वत्सीर्मत्वा तदा धेनुश्छागतोकानि वत्सकान् ।
आत्मानं गोदुहं बाला गोदोहमनु निर्ममुः ।।८२।।
वत्सीषु यर्हि गव्यन्तो गोदुहन्ति स्म तेऽर्भकाः ।
तेषां प्रहासजाभासः पयस्यन्ते स्म तास्तदा ।।८३।।
इयेष च यदा धेनुचारणानुकृतिं प्रति ।
मन्त्रयित्वा तदा कृष्णः प्रामुञ्चन्नववत्सकान् ।।८४।।
रक्षामिच्छू वत्सपुच्छं गृह्णानौ रामकेशवौ ।
तदाकृष्टतया गोष्ठे बालैर्बभ्रमतुस्तराम् ।।८५।।

"तच्च तर्णकानुगतया तयोः प्रथममभ्यर्णागमनमाकर्ण्य निर्वर्ण्य च वरवर्णिन्यः स्खलद्वर्णं वर्णयामासुः ।।८६।।

गोकुल में इस प्रकार की रीति है कि, दिन में गैया और ग्वारिया तो बन में जाते हैं। गोपियाँ प्रचुर दूध दही का संस्कार, अर्थात् दूध ओटाना, दही जमाना, दही चलाना आदि कार्य करती रहती हैं, छोटे छोटे बालक और बछड़े एकान्त में क्रीड़ा करते रहते हैं ।।८०।।

उस समय एक दिन घर में ही जिसका व्यय हो जाता है, ऐसे दूध दही के लिये पास वाले बछड़ाओं के खिड़क में चारों ओर बालक समूह से घिरे हुए श्रीबालकृष्ण ने दरवाजा जिनका मुंदा हुआ है, ऐसे श्रेष्ठ श्रेष्ठ अनेक बछड़ों को देखा ।।८१।।

वहाँ पर छोटे छोटे बालक, छोटी छोटी बछड़ियों को गैया मानकर, एवं बकरी के बच्चों को बछड़ा मानकर, तथा अपने को गैया दुहने वाला मानकर, गोदोहन का अनुकरण करने लग गये ।।८२।।

वे बालक जब छोटी छोटी बछड़ियों में गैयाओं का सा व्यवहार करते हैं, तथा अपने में गोदोहन करने वाले गोपों का सा आचरण करते हैं, उस समय उन बालकों की ऊँचे हास्य से जो प्रभा उत्पन्न हुई, वे दुग्ध का सा आचरण कर रही थीं, अर्थात् बालकों की हँसी दूध के समान स्वच्छ मालूम पड़ती थी ।।८३।।

श्रीकृष्णचन्द्र ने जब बलदेवजी के सहित विचार करके गोचारण के अनुकरण की इच्छा की, उसी समय उन ने नये नये बछड़े खूँटाओं से खोल दिये ।।८४।।

बछड़ों की रक्षा की इच्छा से युक्त कृष्ण बलदेव दोनों ही भैया बछड़ों की पूंछ पकड़कर, उन बछड़ों से खिंचने के कारण, बालकों के सहित उस खिड़क में बारंबार चक्कर लगाते हैं ।।८५।।

वत्सगणों के अनुगमनपूर्वक कृष्ण बलदेव आज पहले ही खिड़क में आये हैं, इस बात को सुनकर तथा क्षणभर में वहाँ आकर स्वयं देखकर, गोपियाँ गद्‌गद वाणी से उनकी शोभा का वर्णन करने लग गईं ।।८६।।

"तथाहि गीतम्,—

'बलकृष्णौ बलवलितविलासौ, खेलत इह सखि सखिकृतहासौ ।।ध्रु।।

तर्णकपुच्छधृतिव्यापृतिनौ, प्रणयकलित-कलिकलने कृतिनौ ।

गृहगृह-वीक्षणसक्षणनेत्रौ, धेनुपालतुलया धृतवेत्रौ ।

द्रुततर्णकमनुविद्रुतवन्तौ, श्रेणीयितचलवेणीमन्तौ ।

शारदवार्षिकवारिदवपुषौ, चललोचनरुचिचपलांशुजुषौ ।

स्खलदलकद्युतिवलयितलपनौ, अलिललितामलकमलग्लपनौ ।

नीलकनकरुचिशुचिलघुवसनौ, चञ्चलचरणस्फुटरटरसनौ ।।' इति ।।८७।।

"तदेवमङ्गनादङ्गनाद्व्रजाङ्गनाभिरहंपूर्विकयानुगम्यमानौ, विहिताकस्मिकपर्व-सुख-दोहनसर्वमोहनतयाधिगम्यमानौ, संवाद-विवाद-परीवाद-बन्धुरबन्धूनामभ्यर्णतया निर्वर्ण्यमानौ, तादृशाकर्णननिवर्णनमनु परस्परं वर्ण्यमानौ, तासु च काभिश्चिदमृतमनृतं कुर्वता प्रति चर्वणं सरसेन रसविसरेण भोज्यमानौ, तद्वदेकाभिर्निजगृहाजीव्य-दीव्यमणिहारमुपहारमुपहारं हारितयोपयोज्यमानौ तद्वद्वर्ण्यमानौ, तासु च काभिरपि प्रेमानुगम्यरम्यवचन-प्रचयरचनया

गोपियों का गायन इस प्रकार है, यथा—अरी सखि ! देख, कृष्ण बलराम सामर्थ्यसंयुक्त विलास द्वारा सखाओं से हँसी करते हुए, इस खिड़क में खेल रहे हैं । दोनों ही बछड़ाओं की पूंछ धारण करने में लगे हैं, एवं दोनों ही प्रणयसंयुक्त कलह करने में बड़े कुशल हैं । प्रत्येक घर देखने के लिये दोनों के ही नेत्र उत्सवपूर्ण हो रहे हैं । गोपालों की तरह दोनों ही बेंत धारण किये हुए हैं । भागते हुए बछड़ों के पीछे पीछे भाग रहे हैं । दोनों ही गुथी हुई चञ्चल चुटिया धारण किये हुए हैं । एक जने का शरीर शरदृऋतु के बादल के समान शुक्लवर्ण का है, तो दूसरे का शरीर वर्षाकाल के सजल मेघ के समान श्यामवर्ण का है । चञ्चल नेत्रों की प्रभा के द्वारा दोनों ही बिजली की सी किरणों को प्राप्त कर रहे हैं । बिखरी हुई अलकावलियों द्वारा दोनों का ही मुख ढ़का हुआ है । इससे यह प्रतीत होता है, मानों भ्रमरों से युक्त सुन्दर निर्मल श्वेत नील दो कमलों की शोभा को अपनी शोभा से फीकी कर रहे हैं । दोनों के ही छोटे छोटे निर्मल नीलाम्बर पीताम्बर वस्त्र हैं । दोनों की ही रोनादार कोंधनी चञ्चल चरणों के कारण मनोहर शब्द कर रही है ।।८७।।

अतएव इस प्रकार प्रत्येक आँगन से सभी व्रजाङ्गनायें "मैं आगे जाऊँगी, मैं आगे जाऊँगी" इस प्रकार बोलकर दोनों के पीछे पीछे अनुसरण करने लग गईं । जिनके दर्शन मात्र से ही अकस्मात् आनन्दोत्सव उपस्थित होता है, एवं जो सब को ही मोहित करने में समर्थ हैं, इस प्रकार दोनों को अनुभव पूर्वक जान गईं । संवाद (परस्पर आलाप), विवाद (परस्पर कलह), परीवाद (दूसरे के प्रति अपवाद) इन सब प्रकार के विषयों में ऊँचे नीचे मनोहर बन्धुगणों के निकट होकर दोनों ही दृष्टि गोचर होने लग गये, जिससे ऐसा अद्भुत वर्णन सुना जाता है । बन्धुगणों के उसी सुन्दर वर्णन का लक्ष्य करके आपस में, बारंबार दोनों की ही प्रशंसा करने लग गईं । उन सब व्रजाङ्गनाओं में से कोई कोई गोपियाँ सुन्दर रस का विस्तार करके, प्रत्येक ग्रास में अमृत को व्यर्थ कर देनेवाले सरस भोजन कराने लग गईं । उसी प्रकार कुछ व्रजाङ्गनायें अपने घर के उपजीव्य (प्रतिष्ठावर्धक) सुन्दर मणिमय हार को, उपहार में देकर रमणीय भाव से व्यवहार करने लग गईं । उसी प्रकार कुछ गोपियाँ प्रेमानुगत मनोहर वचनावली की

कञ्चन कालं वरिवस्यमानौ, किञ्चान्याभिः समुत्तम्भितकर्णतर्णककृताकृष्टि-दृष्टितः शस्यमानवत् परिहस्यमानौ, तद्वदन्यतराभिस्तन्मधुर-चकुर-चिकुर-चञ्चुरता-प्रचुर-चञ्चलतां निचाय्य चातुर्यतश्चरितमिदं 'भवन्मातृचरणेषु गोचरयामः' इति सूचनया तस्माद्वर्ज्यमानौ, ताभिरेव मातर-पितरावारभ्य गणनालभ्य-कुलालि-गालिपालिमुपलभ्य कलितव्यलीकमिव सकोलाहल-प्रणयकलित-कलितया तर्ज्यमानौ, बलगोपालनामानौ वल्गुबाल्यवयसा समानौ खेलां कलयामासतुः ॥८८॥

"अथ मातरावपि जातावमू कुत्र यातावितिं कातरायमाणनयने निर्जनताजनित-स्वैरताभागयने व्रजनीवृदयने रुषा निन्दिताभिरुपमातृभिर्मुदा वन्दिताभिरपि तदभिधातृ-यातृभिः सममेव गृहतः कृतनिर्याणे स्वयमेव सम्यग्मृगयमाणे दर-सरसिजनिजचिह्न-विगत-निह्नव-चरण-लक्षण-विलक्षणवर्त्मबलनेन महिलानां कुतूहलकोलाहलावकलनेन च समया समयाञ्चक्राते। तदा च निजागमनवर्जनीं तर्जनीमभिचाल्य प्रच्छन्नतया निभाल्य तस्माद-कस्मादनयोर्बाहू जगृहतुः। बालकास्तु सर्वतः सर्व एव दुद्रुवुः; महिलाश्च काश्चनानुकूल्यतः काश्चन प्रातिकूल्यत इव च तयोश्चापल्यं लपन्त्यः सममेव मातृभ्यामभ्याययुः। धात्र्यस्तु बालयोरतीव स्नेहपात्र्यस्तर्णकानादाय तदभ्यर्णमाजग्मुः ॥८९॥

रचना द्वारा कुछ समय तक दोनों की ही सेवा करने लग गईं। किंच अन्य गोपियाँ जो बछड़ा दोनों कानों को ऊँचे करके खड़े हैं, उन सब बछड़ों के आकर्षक दर्शन करने से प्रशंसनीय व्यक्ति की तरह, उन दोनों से परिहास करने लग गईं। उसी तरह अन्य गोपियाँ उन दोनों के मधुर एवं रमणीय केश कलाप की कुटिलता तथा पूरी चञ्चलता का परिचय पाकर "चतुराई पूर्वक तुम्हारे इस चरित्र को तुम्हारी पूजनीय माताओं के कर्णगोचर करेंगी" इस प्रकार का भाव सूचित कर उस स्थान से दोनों भैयाओं को छोड़ कर चल दीं। ये सब गोपियाँ ही प्रथम इन दोनों के द्वारा अपने पिता माता से आरम्भ करके, गिनती के द्वारा जितनी दूर जाया जा सके वहाँ तक मातामह, पितामह आदि की वंशश्रेणी की गालियों को प्राप्तकर, एवं बनावटी कपट सा प्रकट करके कोलाहल के सहित, मानों प्रेमकृत कलह प्रकाशित करके, दोनों को ही फट-कारने लग गईं। इस प्रकार बलराम एवं गोपाल नाम वाले दोनों भाई जो कि मनोहर बाल्यावस्था से प्रायः समान ही थे, सर्वमनोहर क्रीड़ा को करते थे ॥८८॥

तदनन्तर यशोदा रोहिणी दोनों मातायें भी ये दोनों बेटा कहाँ चले गये हैं, ऐसे कह कर कातर नेत्र युक्त होकर, निर्जनता से उत्पन्न स्वच्छन्दता पूर्वक गमन वाली होकर, व्रजमण्डल के मार्ग में जाने के लिये उद्यत हो गईं, तथा क्रोध से जिनको फटकारा ऐसी धाइयों के साथ, एवं प्रेम से जिनकी वन्दना की है ऐसी, तथा कृष्ण बलदेव कहाँ गये है इस बात को कहने वाली, भ्रातृपत्नियों (भौजाईयों) के साथ एक सङ्ग ही घर से निकलकर, स्वयं ही अच्छी प्रकार ढूँढ़ने लग गईं। शंख एवं कमल के समान निज चिह्नों द्वारा जिनका गुप्त रखना दूर हो गया है, ऐसे चरणों के चिह्नों द्वारा विशेष लक्षणयुक्त मार्ग का आश्रय लेकर "इस मार्ग से दोनों गये हैं" इस प्रकार के कथनोपकथन से, एवं कौतुकमय कोलाहल जान करके व्रजमहिलाओं के पास गईं। और उस समय अपने आने को निषेध करने वाली तर्जनी अंगुली को सब गोपियों की ओर चलाकर, अर्थात् हम दोनों के आने को कृष्ण बलदेव न जान सकें, इस भाव से सब ओर

"अथ तदारभ्य वीथीं वीथीमुपलभ्य कुतुककर्मा बलानुजन्मा सह सहचरः कोलाहलं कलयामास। तदा च कदाचिन्निजतनूजलभ्यप्रागल्भ्यस्पृहिणी व्रजेशगृहिणी तदानन्दबृंहिणीभिर्विवदमानाभिरिव दीयमान-तदीयमान-समानाभिरुपालम्भसमाधानलम्भनवाकोवाक्य-व्यङ्ग्यमव्यङ्गमभ्यधायि ॥९०॥

"तत्र सभायां सा यथा—

आसीना कनकासने सुतयुता श्रीमद्व्रजाधीश्वरी
पीठश्रेणिमुपाश्रिता व्रजवधूर्नानात्मभावश्रियः।
कृष्णप्रेमसुधामहोमयगिरामास्वादनाद्धिन्वती
ताभिश्च प्रतिधिन्विताखिलसभा शोभाङ्ग्यष्टिर्बभौ ॥९१॥

"वाकोवाक्यं यथा—

'तव सूनुर्मुहुरनयं कुरुते। अकुरुत किंवा व्यञ्जितकुरुते! ॥ध्रु॥
मुञ्चति वत्सान् भ्रामं भ्रामम्। साचिव्यं वः कुरुते कामम् ॥

अंगुली का इशारा करके, गुप्त रूप से ही दोनों को देखकर, उस स्थान से अकस्मात् झटपट आकर, इन दोनों की दोनों भुजायें पकड़ लीं। किन्तु सारे बालक तो चारों ओर भाग गये। महिलायें भी कोई कोई अनुकूलता की तरह एवं कोई कोई प्रतिकूलता की तरह, उन दोनों भैयाओं की चञ्चलता का वर्णन करती हुई, दोनों माताओं के साथ आगईं। बालकों की अत्यन्त स्नेह भाजन धाइयाँ भी बछड़ों को लेकर, उन्हीं के निकट आ गईं ॥८९॥

तदनन्तर उस समय से लेकर प्रत्येक आँगन में, प्रत्येक गली में उपस्थित होकर, बलदेवजी के छोटे भैया श्रीकृष्ण कोतुक की रचना करके, अपने सखाओं के सहित कोलाहल करने लग गये। उस समय किसी दिन जब व्रजेश्वरी अपने पुत्र की स्वाभाविक प्रगल्भता (उद्दण्डता) को देखने की इच्छा करती हैं, तब व्रजेश्वरी के आनन्द बढ़ाने की इच्छा करने वाली, कुछ विवाद सा करने वाली, एवं कृष्णचन्द्र जिनको माता के समान मान देते हैं, अतः श्रीयशोदा की समान कक्षावाली, कुछ गोपियोंने, महाकुलोत्पन्न पुत्र का ऐसा कार्य अत्यन्त अनुचित है, इस प्रकार तिरस्कार एवं तिरस्कार का जिससे समाधान हो, इस प्रकार के उक्ति प्रत्युक्ति रूप चिह्नों द्वारा चिह्नित विषय को पूर्णरूपेण स्पष्ट कहा ॥९०॥

उस सभा में श्रीव्रजेश्वरी की शोभा, यथा—श्रीमती व्रज की अधीश्वरी यशोदा अपने पुत्र के सहित सुवर्णमय सिंहासन पर बैठी हैं। व्रज की गोपियाँ भी अपनी अनेक प्रकार की भाव सम्पत्ति को ग्रहण करके आसनों की पंक्ति पर बैठी हैं। श्रीकृष्ण के प्रेमसुधारूप उत्सवपूर्ण वाक्यों के आस्वादन के कारण श्रीयशोदा जी गोपियों को, एवं गोपियाँ श्रीयशोदाजी को सन्तुष्ट करने लग गईं। इस प्रकार सारी सभा की शोभामयी श्रीयशोदाजी हारलता की तरह किंवा ध्वजा की तरह शोभा पाने लगीं ॥९१॥

उत्तर प्रत्युत्तर यथा—अर्थात् व्रजेश्वरी के प्रति गोपियों की उक्ति, एवं गोपियों के प्रति श्रीव्रजेश्वरी की प्रत्युक्ति, यथा—गोपी बोलीं—हे यशोदे! तुम्हारा लाला बारंबार अन्याय करता है। श्रीयशोदा बोली—हे बुरे शब्दों को बोलने वाली! हमारे लाला ने क्या अन्याय किया? गोपी—घूम फिर के चक्कर लगाकर हमारे बछड़ाओं को छोड़ देता है। यशोदा—इस कार्य में तुम्हारी सहायता ही तो करता है। तुमको भी

असमयमोचनमसुखनिधानम् । कः किं कुरुते न यदि निदानम् ?
विना निदानं कुरुते स्वामिनि !, क्रोशं न किमिव कुरुषे भामिनि ! ॥
क्रोशे हसति प्रत्युत सोऽयम् । दत्त्वा वशय स्फुटमपि तोयम् ॥
अत्ति स्तेयं परमिह रुचितम् । अज्ञे ! भानं कथमिदमुचितम् ?
स्तेयोपाये गुरुरयमखिले । नार्हति सर्वं मिथ्यानिखिले ! ॥
रचयति पीठादिकमारोहम् । तदगम्यं कुरु सर्वं दोहम् ॥
दूराच्छिद्रं कलयति पात्रे । अस्य कथं धीः सति तन्मात्रे ?
अन्तर्धियमनु स इह विशालः । वक्षि यथासौ न तथा बालः ॥
वेत्ति स कृत्स्नं गोपनरीतिम् । गेहगुहा नहि दवयति भीतिम् ॥
गेहगुहात्र वृथा तनुदीपे । तनुरनुलिप्ता कलय समीपे ॥
मणिगणमहसा गणयति न तमः । भूषणरहितस्तिष्ठेत् कतमः ?
अपि चाशयति बलादपि कोशम् । मनुषे कियदमुमत्तुमधीशम् ?
तदशक्तौ पात्रं भेदयते । तस्याशौचं वा वेदयते ॥

तो बछड़ा खोलने पड़ते । गोपी—असमय में बछड़ाओं का छोड़ना दुःख का कारण बनजाता है। यशोदा—यदि कोई कारण न हो तो कौन किस का क्या करे ? गोपी—हे स्वामिनि ! यह तो बिना कारण ही उपद्रव करता है। यशोदा—हे कोप करने के स्वभाव वाली ! तू फटकारती क्यों नहीं ? गोपी—फटकारने पर तो यह तुम्हारा लाला हँस जाता है, अर्थात् इसकी मधुर हँसी पर हम विमुग्ध हो जाती हैं। अतः फटकार नहीं पातीं । यशोदा—घर में और वस्तु न होने पर जल मात्र देकर ही इसको अच्छी तरह अपने वश में कर लो ? गोपी—यह दी हुई वस्तु को कब लेता है ? यह तो घर घर में से चुराई हुई वस्तु को ही रुचि पूर्वक खाता है। यशोदा—हे मूर्ख ! इतनी छोटी अवस्था में ऐसी प्रतीति कैसे उचित है ? अर्थात् इतना छोटा बालक चोरी कैसे कर सकता है ? गोपी—चोरी करने के जितने उपाय हैं, उन सब उपायों में यह तुम्हारा लाला पूरा गुरु है। यशोदा—हे मिथ्यावादिनि ! तू जो कुछ कह रही है, यह सब कार्य होना सम्भव नहीं। गोपी—तुम्हारा लाला पीढ़े के ऊपर ऊखल आदि धरकर चढ़ने के उपाय की रचना कर लेता है। यशोदा—अरी ! देख, वे दुग्ध आदि सब वस्तु जिस प्रकार उसको पीढ़ा आदि द्वारा प्राप्त न हो सकें ऐसा उपाय कर। गोपी—तुम्हारा लाला दुग्धादि के पात्र में दूर से ही छिद्र कर देता है । यशोदा—इस पात्र में यह दुग्धादि है यह बुद्धि इसके किस प्रकार आई ? गोपी—भीतरी बुद्धि के अनुसार, अर्थात् अनुमान द्वारा वस्तु पहचानने में तो वह तुम्हारा पुत्र बड़ा चतुर है। यशोदा—अरी ! तू जैसे कहती है उस प्रकार के गुणों से युक्त यह बालक कहाँ है ? गोपी—वह बालक सब प्रकार से गुप्त करने की रीति को जानता है। यशोदा—क्यों री ? तुम्हारी घररूपी गुफा इस बालक से भय को दूर नहीं करती, अर्थात् अन्धकारमय गुप्त घर में दूध दही को दुबका के धर दिया कर, जिससे चुराने का भय ही न रहेगा। गोपी—जिसका शरीर ही दीपक के समान प्रकाश कर देता है, ऐसे कृष्ण के प्रति अन्धकारमय घर की गुफा व्यर्थ है। यशोदा—अरी देख तो सही, यह कृष्ण पास ही तो है। इसका शरीर कुंकुम आदि द्वारा लिपा पुता है, अतः दीपक का कार्य कैसे करेगा ? गोपी—मणिगणों के तेज से तुम्हारा लाला अन्धकार को कुछ नहीं गिनता। यशोदा—अरी ! तो अलंकाररहित कौन सा बालक रह सकता है ? गोपी—अरी मैया ! तेरे लाला का और

गमसमये रोदयति च बालाम् । प्रक्ष्यामो वरमहिलामालाम् ॥
अपि बालान्मेहयते गेहे । नहि नहि चूर्णं पतितं स्नेहे ॥
तव पुरतोऽयं स्थिरवन्मूर्तिः । आश्चर्येयं तव वाक्पूर्तिः ॥' इति ॥६२॥

"पुनश्च प्रतीतिमासादयन्त्य इवेदं वदन्ति स्म,—'नाश्चर्यमत्राचर्यताम्; ॥६३॥

यतः,—इन्द्रियकुलमतिगूढं, नेत्राद्यन्तर्निगूढमेवास्ति ।
तन्मध्यादपि चित्तं, हरतो नृहरेर्न हार्यं किम् ?' ॥६४॥

"तदेवमभीषङ्गभङ्गीभिर्वरवर्णिनीभिर्वर्ण्यमानमाकर्ण्य चपलदृष्टिपरामृष्टकर्णं झटिति जातविलक्षणवर्णं श्रीकृष्णमुखश्रीपर्णं निर्वर्ण्य विहसन्तीं तामनु विहसन्तीभिस्ताभिः शपन्तीभिरिव भणितम् । यदि च वयं साधुचरिताचरितार्थतां गतास्तदा भवत्या भवनेऽपि शीघ्रमेतत् पतिष्यति ॥६५॥

भी तो कौतुक सुन । यह आप खाय तोहू सहें, बन्दरों को भी जबरदस्ती खिला देता है । यशोदा—अरी गोपी ! इस बन्दर को माखन आदि खाने को कितना समर्थ समझती हो, यह तो माखन खाने में असमर्थ है । गोपी—बन्दर जब खाने में असमर्थ हो जाते हैं, तब दही दूध के पात्रों को फोड़ देता है, अथवा उन पात्रों को बन्दर के झूठे बताता है, चलते समय छोटी छोटी छोरियों को रुला देता है । यशोदा—मुझे तुम्हारी बात का विश्वास नहीं, अतः बूढ़ी बड़ी श्रेष्ठ गोपियों को पूछूँगी । गोपी—और देख, मैया ! यह हमारे घर में बालकों को मुता देता है । यशोदा—अरी ! नहीं, देख तो सही, यह मूत्र नहीं है, अपितु तैल आदि से लिपे हुए स्थान में चून गिर गया है । गोपी—तुम्हारे आगे ही यह तुम्हारा लाला धीर, गंभीर, स्थिर की तरह मूर्ति बन के खड़ा है । यशोदा—अरी गोपी ! तेरी यह वाक्यों की पूर्ति आश्चर्यजनक है ॥६२॥

गोपियों के उलाहने से श्रीयशोदाजी को जब विश्वास नहीं हुआ, तब दुबारा विश्वास सा प्राप्त कराती हुई गोपियाँ बोलीं—अरी मैया ! तेरे लाला के इन पूर्वोक्त माखन चोरी आदि चरित्रों में आश्चर्य नहीं करना ॥६३॥

कारण यह है कि अत्यन्त गुप्त इन्द्रियों का समूह नेत्रादि गोलकों के मध्य में गुप्तरूप से रहता है । उन इन्द्रियों के बीच में से भी तुम्हारा पुत्र सबके चित्त को चुरा लेता है । अतः उस पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के अपहरण करने योग्य कौन सी वस्तु नहीं है ? अर्थात् प्रेमी भक्तों के तन, मन, धन आदि सब वस्तुएँ हर लेने के कारण ही तो उसका नाम "हरि" है ॥६४॥

इस प्रकार मिथ्यापवादरूप आक्रोशन की सी चेष्टा वालीं, गुणवती गोपियों के द्वारा कहे गये अपने माखन चोरी के चरित्र को सुनकर, चञ्चल दृष्टि से अपने कानों को छूकर, श्रीकृष्ण का मुखकमल भावान्तर के कारण, झटपट दूसरे ही विलक्षण वर्ण का हो गया । उसको देखकर हँसती हुई श्रीयशोदाजी के प्रति अभिशाप सा देती हुई, एवं हँसती हुई उन गोपियों ने कहा कि, यदि हम सब तुम्हारे पुत्र के साधुचरित्र के विषय में कृतार्थता को प्राप्त न कर सकी हों, तो इसकी साधुता तुम्हारे भवन में भी शीघ्र ही आ पड़ेगी, अर्थात् यह माखनचोरी करता है कि नहीं, इसका परिचय तुम्हारे घर तुमको स्वयं मिल जायगा ॥६५॥

"हसन्ती सा चोवाच,—'भद्रं भद्रम्, तदैव वो भद्रत्वमनुभविष्यामः' इति। वस्तुतस्तु तस्याः कोमलतायामवकलितायां मुहुरयमस्मदालयं बलिष्यत इति विचार्यैव चर्येयममूभिराचर्यते स्म।" ॥९६॥

अथ समापनमिदं मधुकण्ठवचनम्,—

"अद्भुतं बाल्यचरितं तव सूनोर्व्रजेश्वर !।
क्व तृणावर्तदलनं क्व मातुर्भयभावनम् ?" ॥९७॥

तदेवं तद्दिवावृत्ते पूर्ववदेव तल्लीलापर्वणि साक्षादिव वृत्ते सर्वे पुरस्कृतव्रजेशाः सम्भृततत्तदावेशा यथायथमात्मपथं प्रतस्थिरे ॥९८॥

॥ इति श्रीश्रीगोपालचम्पूमनु बाल्यलीलाचौर्यशौर्यं नाम सप्तमं पूरणम् ॥७॥

हँसती हुई श्रीयशोदाजी बोलीं—बहुत अच्छा, बहुत अच्छा। तुम्हारी साधुता का तभी अनुभव करूँगी, अर्थात् गोपियों ने कृष्ण के विषय में जो कुछ कहा था सो ठीक ही निकला। वास्तविक रहस्य तो यह है कि, श्रीयशोदाजी की कोमलता को देखकर, तथा यह श्रीकृष्ण बारंबार हमारे घर को आया करेंगे, ऐसा विचार कर ही ये गोपियाँ उलाहना देना आदि लीलाओं का आचरण करती हैं ॥९६॥

अब मधुकण्ठ का उस दिन की कथा की समाप्ति का वचन यह है कि, हे व्रजेश्वर ! आपके बालक का बालकपन का चरित अति अद्भुत है, अपूर्व है, विषमालंकार संयुक्त है। देखो ! उस भयंकर तृणावर्त दैत्य का दलनरूपी कार्य कहाँ, और अपनी माता के आगे भय की भावना दिखाना कहाँ ? अर्थात् यह दोनों ही बातें आश्चर्यजनक हैं ॥९७॥

इस प्रकार उस दिन के कथाप्रसङ्ग में पहले की भाँति, श्रीकृष्ण के लीला महोत्सव के साक्षात् की तरह उपस्थित होने पर, सभी व्रजवासीजन श्रीव्रजराज को आगे करके, कथा में सुने हुए, उस उस प्रसङ्ग में एकाकार होकर, जैसे आये थे, उसी प्रकार अपने अपने घर के प्रति जाने वाले मार्ग को चल दिये ॥९८॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीगोपालचम्पूकाव्ये बाल्यलीला-चौर्य-शौर्य-वर्णनं
नाम सप्तमं पूरणं संपूर्णम् ॥७॥

अथाष्टमं पूरणम्

दामबन्धननिबन्धनं यमलार्जुनमोचनम्

अथेतरेद्युरपि प्रभात एव सभामुपविश्य विभातेषु वैश्यजातेषु स्निग्धकण्ठ उवाच,— "कदाचिद्दामोदरमासि दरावसाने सामोदा यशोदा प्रातर्बालगोपालं शयानमुन्मीलन्निभ-नेत्र-नीलनलिनयुगलं निभाल्य शनैरेव करकिशलयेन पल्यङ्कादुपरि तल्प एव परिलाल्य पुनरसूषुपत्कल्पम्। तल्पात्तस्मादल्पमल्पं निष्क्रामन्ती चालिन्दं विन्दमाना प्राह्लेतरामह्नाय निजालयव्ययसम्बन्धि दधि कतिपयं निचितसिचयग्रन्थिर्मन्थितुमारेभे। यस्मिन्नहनि सहनन्दना-मन्दस्यन्दनारोहिणी रोहिणी प्रणयमययन्त्रणया निमन्त्रणया श्रीमदुपनन्दमन्दिरं विन्दमानासीत्। परिजननार्यश्च स्वस्वकार्यातिशयपर्यायपर्यापणाय गताः। कार्यातिशयश्चायं हायनशीर्षायमाण-मार्गशीर्षागमे जनवर्गमहितमहेन्द्रमहामहः कुलपरम्पराविहितः सन्निहित आसीदिति ॥१॥

"तदेवं स्वयमेव सयत्नीभूय व्रजराजपत्नी दधिचयमसकृदधिमथ्नती तस्य निद्राया द्राघीयस्त्वाय गायन्ती तदेकतानतया तदाननमेव निचायन्ती परितस्तदीय-चरितमेव जगौ ॥२

अष्टम पूरण

दामबन्धन का आग्रह एवं यमलार्जुन की मुक्ति

तदनन्तर अन्य दिन भी प्रातःकाल ही सभा में बैठकर, सभी वैश्यजातीय गोपगणों के देदीप्यमान होने पर स्निग्धकण्ठ बोला—किसी समय कार्तिकमास के किंचित् अवशिष्ट रहने पर, हर्षभरी श्रीयशोदाजी ने देखा कि बालगोपाल शयन कर रहा है, एवं उसके दोनों नेत्र नीलकमल के समान निमीलित हो रहे हैं, ऐसे लाला को निहारकर, धीरे धीरे करपल्लव द्वारा पलका के ऊपर से शय्या के बीच में ही सोते हुए लाला पर, प्यार करके पुनः लाला को शयन करा दिया। तथा उस शय्या के पास से थोड़ी थोड़ी दूर होती हुई, यशोदा ने पौरी में पहुँचकर, अत्यन्त प्रातःकाल शीघ्र ही अपने शरीर में वस्त्र की गाँठ को कसके बाँधकर, अपने घर के खर्च के योग्य कुछ दधि का मथना आरम्भ कर दिया। जिस दिन अपने पुत्र बलराम के सहित उत्तम रथ पर चढ़ने वाली श्रीरोहिणीजी प्रेममयी यन्त्रणा से निमन्त्रणपूर्वक श्रीमान् उपनन्दबाबा के घर चली गई थीं, और घर का कार्य करनेवाली दासियाँ भी अपने अपने अतिशय कार्यों को पारी पारी से समाप्त करने को चली गईं। कार्य की अधिकता भी यही है कि, संवत्सर का मस्तकरूप, अर्थात् श्रेष्ठ अगहन के महीने के आते ही जनसमूह के द्वारा पूजित, कुलपरम्परा से अनुष्ठित (किया जाने वाला) इन्द्र का महोत्सव निकट आगया था ॥१॥

इस प्रकार घर की सब दासियाँ जब अन्य कार्यों में नियुक्त हो गईं, तब श्रीव्रजरानी स्वयं ही यत्नवती होकर, दधिसमूह को बार बार मथती हुई, श्रीकृष्ण की निद्रा की अतिशय दीर्घता के लिये, अर्थात् "लाला अभी बहुत देर तक सोते रहें" इसी ध्येय से गायन करती हुई, एकमात्र श्रीकृष्ण के ऊपर ही अपने मन प्राणों को अर्पणकर, उसी के ध्यान में एकाकार होने के कारण, श्रीकृष्ण के श्रीमुख को ही देखती हुई, सर्वतोभाव से उनके चरित को ही गाने लग गई ॥२॥

"यदुक्तं श्रीबादरायणिना (भा० १०।९।२)—

'यानि यानीह गीतानि तद्बालचरितानि च ।
दधि-निर्मन्थने काले स्मरन्ती तान्यगायत ।।' इति ।।३।।

"अत्र मन्थनं यथा—

श्यामा लोलदुकूलरत्नविलसत्काञ्चीचयेनाञ्चिता
तज्झङ्कार-करम्बितध्वनिधर-श्रीकङ्कणालङ्कृता ।
पश्यन्ती तनयाननं लघुलघून्मीलन्निभाक्षिद्वयं
श्रीमद्‌गोपमहेश्वरी चलभुजाऽमथ्नादभीक्ष्णं दधि ।।४।।

"गानं यथा—

'गोकुलपति-कुलतिलकं त्वमसीह ।
कृतसुकृतव्रज-रचित-सुखव्रज ! नयनानन्दिसमीह ! ।।ध्रु।।
आनन्दोद्भव-जन्म-महोत्सव-नन्दितगोपसमाज !
पूतनिका-मृतिनवमङ्गलकृति-वलयित-गोकुलराज !
धैर्यनिवर्तन-शकटविवर्तनमनुभव्येन परीत !
सतृणावर्तक-वायुनिवर्तक-परमेशेनानीत !

जिसको श्रीशुकदेवजी ने (भा० १०।९।१-२) इस प्रकार कहा है, यथा—एक दिन घर की सब दासियाँ जब अन्य कार्यों में नियुक्त हो गईं, तब नन्दगेहिनी श्रीयशोदा स्वयं दधिमन्थन करने लग गईं। उस समय श्रीकृष्ण के बालचरितमय जो गीत थे, उनका स्मरण करती हुईं गाने लग गईं ।।३।।

गाते समय दधिमन्थन इस प्रकार था, यथा—श्यामा (गौरी) श्रीमती व्रजेश्वरी जिस समय अपनी चलती हुई दोनों भुजाओं द्वारा बारंबार दधिमन्थन कर रही थीं, उस समय वे अपने कटिप्रदेश के हिलते हुए वस्त्र पर शोभायमान रत्नजटित मेखलाओं (कोंधनियों) से परिवेष्टित थीं, अर्थात् रत्नजटित अनेक कोंधनियों से उनकी कटि सुशोभित थी, एवं कोंधनियों की झंकार से युक्त ध्वनि को धारण करने वाले शोभायमान कंकणों से वे अलंकृत थीं, और धीरे धीरे खुलते हुए से दोनों नेत्रों से युक्त अपने लाला के श्रीमुख को बारंबार निहारती जाती थीं ।।४।।

श्रीयशोदाजी का गाना इस प्रकार का है, यथा—हे लाला कन्हैया ! तुम इस व्रज में श्रीव्रजराज के कुल के भूषण, अर्थात् मुकुटमणि हो। इन सब व्रजवासियों ने महान् पुण्य किये हैं, इसीलिये तुम उनके सुखसमूह के उत्पन्न करने वाले हो। हे लालन ! तुम्हारी लीला सभी के नेत्रों को आनन्द देने वाली है। आनन्द की उत्पत्ति है जिससे ऐसा जो तुम्हारा जन्म महोत्सव उसके द्वारा तुमने गोप समाज को आनन्दित कर दिया है। पूतना की मृत्युरूप नवीन मङ्गलमय कार्य के द्वारा तुमने व्रजराज को व्यापक कर दिया है। सबके धैर्य को दूर करनेवाले शकटासुर का उच्चाटन करने के पश्चात् तुम ब्राह्मणों के द्वारा किये गये मङ्गलमय कार्य से युक्त हुए हो। तृणावर्त के सहित वायु के निवर्तक श्रीनन्द सेवित परमेश्वर के द्वारा ही तुम पुनः हमारे पास लाये गये हो। सुन्दर प्राङ्गण के बीच में तुम अपने छोटे छोटे हाथ पाँवों के द्वारा रेंग रेंग कर चलते थे। हे कमलनयन ! तुम्हारा पुण्य अपूर्व है। नानाप्रकार की क्रीड़ाओं में तथा अनेक प्रकार की नृत्य

मधुरप्राङ्गण-विरचितरिङ्गण-जलजनयन सुपुण्य !
नानाकेलिषु नृत्यकलालिषु दर्शितवरनैपुण्य !
तर्णकबालधि-शबलिततन्वधि-वलयित-मञ्जुलशोभ !
जरतीनिवहे कौतुककलहे प्रबलित-मिथ्यालोभ !
मां मातरमनु सुखमुद्वितनु प्रततं सततं कृष्ण !
द्रुतमुररीकुरु तनुवृद्धिं पुरु-खेलावलिकृततृष्ण !
त्रिभुवनदर्शन-विस्मयमर्शन-निश्चितवैष्णवमाय !
हरिवरिवस्या-सुखदतमः स्या विगतजरामरकाय ! ॥' इति ॥५॥

"अथ लब्धजागरः स नित्यताशालिलालित्यसागरः सपदि रुदन्निव समुत्थितवान्, ॥६॥ मातरमितवांश्च; यथा—

दीर्घश्वासं गात्रमोटप्रयुक्तं, नेत्रे मार्जन् जाग्रदम्बेति जल्पन् ।
क्रन्दन्मन्थध्वानमाकर्ण्य बालः, श्रीगोपालः प्रस्खलंस्तां जगाम ॥७॥

"ततश्च माता बाल्यताघटित-लाल्यताजटित-प्रणयाकुल-काकुलव-संकुलतया तेन सुभगाखण्डलेन विघटिते क्षुब्धदण्डस्य गतिमण्डले स्वयं पयस्तननयोः स्तनयोः प्रस्नवं नवकं तं शावकं पाययामास ॥८॥

कलाओं में तुमने उत्कृष्ट चतुराई दिखाई है। छोटे छोटे बछड़ाओं की पूँछ के सहित संमिलित होने से तुम्हारा श्रीविग्रह और भी अधिक मनोहर शोभा से परिव्याप्त हो गया था, ऐसे तुम हो। वृद्धाओं के समूह में कौतुकमय विवाद में तुम मिथ्या लोभ को बढ़ा देने वाले हो। हे लाला कृष्ण ! मैं तुम्हारी माता हूँ, अतः मेरा लक्ष्य करके तुम मेरे प्रति सर्वदा सुविस्तृत सुख का विस्तार करो। हे अनेक प्रकार की क्रीड़ावली द्वारा भक्तों की तृष्णा को उत्पन्न करने वाले कृष्ण ! तुम शीघ्र ही अपने शरीर की वृद्धि को स्वीकार करो, अर्थात् शीघ्र ही बड़े हो जाओ। अपने उदर में तीनों भुवनों का दर्शन कराकर विस्मय विचार उपस्थित कराकर, तुमने ही वैष्णवी माया का निश्चय करा दिया था। हे जरामरणरहित देह वाले लाल ! श्रीहरि की सेवा के द्वारा तुम अत्यन्त सुख देने वाले बन जाओ ॥५॥

तदनन्तर सर्वदा एक रस शोभायुक्त कोमलता के समुद्र वे श्रीकृष्ण जागकर शीघ्र ही रोते हुए से पलका से उठ खड़े हुए ॥६॥

और माता के पास चल दिये, यथा—अपना गात्र मोड़ने से, अर्थात् अंगड़ाई तोड़ने से प्रयुक्त लम्बे लम्बे श्वासों को लेते हुए, नेत्रों को दोनों हाथों से मीड़ते हुए, जागकर माँ माँ कहते हुए, रोते हुए, मन्थन दण्ड के शब्द को, अर्थात् रई के शब्द को सुनकर श्रीमान् बालगोपाल बाल्यभाव से गिरते पड़ते माता के पास चल दिये ॥७॥

तत्पश्चात् माता यशोदा बाल्यकालोचित लालन पालन द्वारा बढ़े हुए स्नेह के विस्तार से, तथा स्नेहमयी कातरता के लेश से परिपूर्ण होकर, सौभाग्यशालियों में श्रेष्ठ अथवा सुन्दरता के महेन्द्र उन श्रीकृष्ण के द्वारा रई की गति समूह के रुक जाने पर, स्वयं दुग्ध की धारा को बहाने वाले स्तनों के दुग्ध को उस अपने नवीन बालक को पिलाने लग गई ॥८॥

"पयो वर्षति धाराभिर्वर्षावन्मेदुरश्रियः ।
तस्याः पयोधरे सुष्ठु कृष्णश्चातकतां गतः ॥९॥

"सा तत्र गर्धेनार्धे तेन पीते धन्ये स्तन्ये नेत्रानन्तर-गृहान्तरसन्तप्यमानपयः-सन्तानानामुत्सेकं प्रति निर्विवेकतां प्रतिपद्य सद्य एव तं विहाय यद्द्रुतवती, द्रवगमने तस्य पतनभीत्या च न तं गृहीत्वा गतवती ।" ॥१०॥

मधुकण्ठ उवाच,—"किमित्थमात्थ ? तावन्मात्राय तस्याः कथं क्षुत्क्षामगात्राद्बालपुत्रादन्यत्र यात्रा युक्तिपात्रायताम् ? सा हि वत्सवत्सलानामच्छताभागुपमा । स्निग्धकण्ठः सहासमाह स्म,–गुरो ! पुरोऽवधीयतां यद्वात्सल्यविलास एव खल्वयमस्याः । मधुकण्ठ उवाच,–कथमिव ? स्निग्धकण्ठ उवाच,–तथा हि–ये गेहदेहादींस्तं विनाऽस्तमितप्रायान् मन्यन्ते स्म, ते तु तज्जन्मारभ्य तन्ममतामयममता एव ताभ्यां पितृभ्यामभ्यमन्यन्त; (भा० १०।१४।३५) 'यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते' इति ब्रह्मवाक्ये व्रजमात्रस्यापि तथा श्रूयते, किमुत तयोरिति । इदञ्च मुग्धं दुग्धं दधि च तदधिक-तत्प्रधानतावधिकमेवेति सविशेषतयावगम्यते ॥११॥

वर्षा ऋतु के समान स्निग्ध शोभाशालिनी जननी श्रीयशोदाजी के पयोधर (स्तन) जब दुग्ध धाराओं की वृष्टि करने लग गये, तब श्रीकृष्ण सुन्दर चातक पक्षिका भाव धारण करने लग गये, अर्थात् चातक की भाँति चाव से माँ का दूध पीने लग गये ॥९॥

वहाँ पर श्रीकृष्ण जब आकांक्षापूर्वक धन्य स्तन्य दुग्ध को आधा ही पी चुके थे, तभी श्रीयशोदाजी नेत्रों की ओटक वाले घर में ओंटते हुए बहुत से दुग्धों के उफान को न जानकर, उसी समय श्रीकृष्ण को छोड़कर भाग गई । शीघ्रतापूर्वक भागने में श्रीकृष्ण के गिरने के भय से उनको लेकर नहीं गई ॥१०॥

मधुकण्ठ बोला—भैया स्निग्धकण्ठ ! तुम इस प्रकार क्या कह रहे हो ? केवल दुग्धरक्षामात्र के लिये क्षुधा से क्षीण कलेवरवाले अपने छोटे से लाला को छोड़कर, श्रीयशोदाजी का अन्यत्र जाना किस प्रकार युक्तिसंगत हो सकता है ? कारण यह है कि पुत्रों पर वात्सल्य प्रेम करनेवाली संसार भर में जितनी भी मातायें हैं, उनके बीच में वे ही तो निर्मल उपमा का स्थल हैं।

स्निग्धकण्ठ हास्यपूर्वक बोला कि—बड़े भैयाजी ! आप किंचित् आगे का विचार तो ध्यान देकर सुनिये। यह लाला को छोड़कर दुग्ध की रक्षा के लिए दौड़कर जाना भी, श्रीयशोदाजी का एक प्रकार का वात्सल्य का विलास ही है। मधुकण्ठ बोला—किस प्रकार ?

स्निग्धकण्ठ बोला—देखो ! जो व्रजवासीजन श्रीकृष्ण के बिना अपने देह गेह आदि समस्त पदार्थों को विलुप्तप्राय मानते थे, उन सब व्रजवासियों को तथा श्रीकृष्ण की सेवा के योग्य पदार्थों को, श्रीकृष्ण के नित्यसिद्ध माता पिता श्रीयशोदा एवं श्रीनन्दजी, श्रीकृष्ण के जन्मदिन से लेकर, "हमारे पुत्र में ये सब अतिशय ममता वाले हैं" ऐसा मानते थे। भागवत दशमस्कन्धस्थ ब्रह्मस्तुति में, "जिन व्रजवासियों के घर, धन, सुहृद्, प्रियवस्तु, आत्मा, पुत्र, प्राण और अन्तःकरण चतुष्टय आपकी सेवा के लिये ही हैं। हे श्रीकृष्ण ! उन व्रजवासियों के लिये पूतना आदि की अपेक्षा श्रेष्ठ फल दिये बिना छुटकारा नहीं" इस प्रकार के श्रीब्रह्माजी के वाक्य में जब व्रजमात्र का ही उस प्रकार का भाव सुना जाता है, तब फिर माता पिता का तो कहना ही क्या है ? इसलिये यह मनोहर दुग्ध, दधि, देह, गेहादि सभी पदार्थ, श्रीकृष्ण के लिये ही हैं।

"तदेवं सति तस्याः सेयं भावना क्लेशमपि विषह्य स्पृह्यमाणां नानानिजगृह्यक्रियां साम्प्रतं न जानाति, किन्तु देहगेहादधिकः सोऽयं बालक इति दयनीयतयास्मदीयमेव खल्वेतदीयकृत्यं कृत्यमिति । सोऽयमेवंविधस्नेहविविधविधिस्तैरेव बोद्धुमध्यवस्यते; यैः कृतं तर्जनताडनादिकमपि लालनामयतां कलयति, किमुतान्यत् ? ॥१२॥

"यतः, स्नेहतः क्वचन रुट् प्रजायते, तस्य वर्धनकरी च दृश्यते ।
मेदुरेऽपि मुदिरे तथा तथा, विद्युदग्निरसकृद्विवर्तते ॥१३॥

"तथाहि तयोर्मिथो हितयोरुभयोरपि चरितम् । दुग्धाय गमनसमये सा खलु तन्मुदितता-निबन्धनमिदमुदितवती,–'वत्स ! निर्मञ्छनं भजामि, क्षणं तावन्मन्थनगर्गरी रक्ष्यताम्, त्वदीयं पयो वीक्ष्य यावद्द्रुतमहमायामि' इति ॥१४॥

"ततश्च, यावद्विहाय पृथुकं बत मन्थनान्ता,-दम्बा ययौ द्रुतमसौ तत आययौ च ।
तावत् पयोधरयुगं हृदयस्थवस्त्र,-क्नोपं ववर्ष पथि पिच्छिलता यथासीत् ॥१५

इस कारण श्रीकृष्ण की अपेक्षा श्रीकृष्ण की सेवायोग्य पदार्थ भी अधिक ममता करने योग्य हैं, यह भाव भक्तिप्रधान ग्रन्थों से विशेषतापूर्वक जाना जाता है। तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण की अपेक्षा, श्रीकृष्ण की प्रिय वस्तुओं में अधिक अनुराग होना, दिव्य वात्सल्य स्नेहमयी माता यशोदा के पक्ष में उचित ही है ॥११॥

सिद्धान्त जब इस प्रकार का है, तब श्रीयशोदाजी की यह भावना होना सर्वोत्तम है। वे तो अनेक क्लेशों को सहकर भी, अपने अभिलषित अनेक प्रकार के गृहोचित कार्यों को भी, इस समय नहीं जान पाती हैं। किन्तु "यह हमारा वही पुत्र है" इस भाव से श्रीकृष्ण को, देह गेह आदि से भी अधिक जानती हैं। इस प्रकार श्रीकृष्ण मेरे दया के पात्र हैं, ऐसा समझकर "श्रीकृष्ण का कार्य हमारा ही कार्य है, वही करने योग्य है" यह भावना माँ यशोदा के मन में सदैव रहती थी। अतः इस प्रकार के स्नेह की अनेक परि-पाटियों को वे व्रजवासीजन ही जान सकते हैं। जिनके द्वारा किया गया तर्जन ताड़न आदिक भी, अर्थात् डाँट फटकार को भी श्रीकृष्ण, "ये व्रजवासी मेरा लालन ही कर रहे हैं" ऐसा मानते हैं, कारण माता पिता की डाँट फटकार भी, बालक के लालन पालन के ही अन्तर्गत मानी जाती है, अतः निरन्तर लालन पालन की कथा को और कहाँ तक कहें ? ॥१२॥

स्नेह के कारण कभी कभी पोष्यजन पर क्रोध भी उत्पन्न हो जाता है, किन्तु वह क्रोध स्नेह का बढ़ाने वाला ही देखा जाता है। देखो ! स्निग्धमेघ में भी कभी कभी उसी प्रकार बिजलीरूप अग्नि बार बार उत्पन्न हो जाती है ॥१३॥

उक्त वाक्य में प्रमाण, यथा—माता एवं पुत्र ये दोनों ही, आपस में दोनों के हितकारी हैं। इन दोनों का चरित्र सुनो। वरोसी पर से दूध उतारने के लिये जाते समय, माता यशोदा ने पुत्र के हर्ष का कारण यह वाक्य कहा कि, हे लाल ! तेरी बलिहारी जाऊँ, तू क्षणभर के लिये इस चलावनी की रक्षा करना, मैं तेरे ओंटते हुए दूध को देखकर शीघ्र ही आती हूँ ॥१४॥

अहह ! तदनन्तर वह माता बालक को छोड़कर, उस दधिमन्थन करने के स्थान से शीघ्र ही चली गई, एवं दूध उतारने वाले उस स्थान से आ भी गई, उस समय उसके दोनों स्तन वात्सल्य स्नेह से इस प्रकार बरसने लग गये, जिससे कि वक्षःस्थल के वस्त्र को भिजाकर मार्ग में भी गीलापन आगया ॥१५॥

"तदेवमपि स तु निजार्थिते प्रत्यर्थिते भृशमाविजते स्म; यथा—

तेनाथ कोपस्फुरितारुणाधरं, सन्दश्य दद्भ्यामुदसर्जि रोदनम् ।
दण्डाहतामत्रमखण्डि चाश्मना, नालम्भि तस्मिन्नवनीतमण्वपि ॥१६॥

"अत्र तु वर्णयन्ति,—

'दन्तेन्दुलेखाविशदाधरारुणं, चक्षुश्चकोरद्वयमश्रु चादधे ।
तदा शिशोरस्य कराम्बुजन्मना,-प्यरिष्टमुद्धूय बलाद्विजृम्भितम् ॥'१७॥

"तदेवं कलशान्तरीणे कालशेये सर्वतो रीणे पर्वान्तरमपि जातम्; ॥१८॥

यथा,—ततो गृहाभ्यन्तरशिक्यलक्षितं, हैयङ्गवीनं परिगृह्य यत्नतः ।
जघास तत्रोर्वरितन्तु पक्षक,-द्वारेण निह्नुत्य जहार केशवः ॥१९॥

"स च यत्नो यथा—

कुञ्चीक्षेपादर्गलामन्तरङ्गा,-मल्पां मुञ्चन् सद्म गत्वा युयोज ।
कृत्वा खट्वां तत्र निःश्रेणिकाभां, हृत्वा सर्पिर्गुप्तमञ्चन्नपागात् ॥२०

ततः क्षणाद्दुग्धमितं तु मुग्धता,-माधाय माता सुतमागमद्द्रुतम् ।
अप्राप्य तं तस्य तु कर्म तद्विधं, बुद्ध्वा सकोपं ससुखं जहास सा ॥२१॥

किन्तु ऐसा होने पर श्रीकृष्ण जिस वस्तु की प्रार्थना करते थे, उसमें बाधा उपस्थित होने पर, वे अत्यन्त उद्विग्न हो गये। यथा—तदनन्तर श्रीकृष्ण ने क्रोध से फड़फड़ाते हुए अपने रक्तवर्ण के अधर को, नीचे ऊपर के दोनों दाँतों से दबाकर, रोना आरम्भ कर दिया, तथा अधचले से भरी हुई उस चलावनी को, सिलोटिया के बटना से खण्डित कर दिया। उसमें किंचिद् भी नवनीत (माखन) नहीं मिला ॥१६॥

यहाँ पर कविजन इस प्रकार वर्णन करते हैं, यथा—उस समय इस बालकृष्ण की शुक्लवर्ण दन्तरूप चन्द्रश्रेणी, अधर की लालिमा में प्रविष्ट हो गई, एवं नेत्ररूपी दो चकोर पक्षियों ने अश्रु धारण कर लिये, तथा दोनों करकमल बलपूर्वक गोरस को फैलाकर प्रकाश पाने लग गये ॥१७॥

इस प्रकार कलशा के भीतर की सारी अधचली छाछ के चारों ओर फैल जाने पर, एक दूसरा उत्सव भी उत्पन्न हो गया ॥१८॥

यथा—तदनन्तर श्रीकृष्ण घर के भीतर छींके पर जो ताजा ताजा माखन दिखाई दे रहा था, उसको प्रयत्नपूर्वक लेकर खाने लग गये, एवं उस पात्र में बचे हुए माखन को, खिड़की के दरवाजे से गुप्त करके चुरा ले गये ॥१९॥

खिड़की से दूसरे घर में जाने का प्रयत्न इस प्रकार है, यथा—कुंजी को फेंककर भीतर के अड़बंगा को किवाड़ों से थोड़ी सी दूर हटाकर, दूसरे घर में जाकर पुनः किवाड़ों को बन्द कर दिया, तथा उसी घर में खाट को ही निसैनी सी बनाकर, माखन को चुराकर गुप्तरूप से भागते हुए चले गये ॥२०॥

तदनन्तर क्षण भर में ओंटते हुए दूध के उफान को स्थिर जानकर, अग्नि पर से उतार कर, माता यशोदा शीघ्र ही लाला के पास आगईं, किन्तु वहाँ पर लाला को न पाकर, उसके उस प्रकार के कर्म को जानकर, वे क्रोधपूर्वक एवं सुखपूर्वक हँसने लग गईं ॥२१॥

'तत्र प्रथमं शङ्कासङ्कुसुकायां तस्यां योगमायाप्रकाशिताकाशवागेव हासप्रकाशनस्य बोधस्य कारणं जातम् ॥२२॥

"सा यथा—

शिशुमधुकृदितक्षुन्मध्वसिद्धं पिपासन्, सरसिजमुकुलाधश्छेदमाचर्य पश्यन् ।
द्रवविगलनमात्रं तत्र निर्विद्य मध्ये, कमलमपरमञ्चन् प्राप तस्मिन् मधूनि ॥२३॥

"किञ्च, शमयाञ्चकृषे दुग्धं, क्षुभितं तत्तव सुदक्षता कलिता ।
शमयसि यदि शिशुकोपं, तादृशमुच्चैस्तदा प्रशस्येथाः ॥२४॥

"तदेवं श्रुत्वा हसित्वा कालशेयलेशाध्यवसेयतानपल्लवचरणचिह्नमीक्षित्वा साधकतमान्तरेण द्वारयन्त्रं मोचयित्वा च सा पुनरेवमाचचार,—॥२५॥

गत्वा गृहाभ्यन्तरमन्यदप्यसौ, दृष्ट्वा सुतस्यातुलचापलं प्रसूः ।
तदीयवर्त्मानुगमेन च क्रमा,-दालोकयल्लोलविलोचनञ्च तम् ॥२६॥

"तत्र लोलविलोचनत्वं यथा—

हविरभिहृतवानिहास्मि दृश्यः, कथमथ मातरमीक्षणं नयानि ।
इति नयनयुगं श्रुतिद्वयान्त,-र्मुहुरिव वेशयति स्म बालकृष्णः ॥२७॥

वहाँ पर पहले शंका के कारण, माता के अस्थिर हो जाने पर, योगमाया के द्वारा प्रकाशित आकाश वाणी ही हास्य प्रकाशक ज्ञान की कारण बन गई थी ॥२२॥

आकाश वाणी यथा—यह बालमधुकर भूख प्यास से युक्त होकर, मधु जिसमें नहीं है ऐसी कमल की कलिका के नीचे छिद्र बनाकर, उसमें से गिरते हुए जल मात्र को देखता हुआ, बीच में ही दुःखित होकर, दूसरे कमल के पास जाकर, उसमें बहुत से मधुको प्राप्त कर गया है। भावार्थ यह है कि इसी प्रकार माखन की प्राप्ति की अभिलाषा से, तुम्हारे लाला ने चलावनी चटका दी है, उसमें माखन न पाकर छीके पर धरा हुआ, ताजा माखन उसे मिल गया है, उसी के लिए यह सारा प्रयत्न है ॥२३॥

किंच तुमने उफनते हुए दूध को तो शान्त कर दिया, इससे तुम्हारी दक्षता (चतुराई) देख ली, किन्तु यदि तुम अपने बालक के वैसे कोप को शान्त कर दोगी, तब तो अधिकतर प्रशंसा की पात्र बन जाओगी ॥२४॥

इस प्रकार की आकाश वाणी को सुनकर, हँसकर, छाछ के लेश मात्र लग जाने से चोरी के चिह्न का निश्चय कराने वाले, लाल के स्पष्ट चरण चिह्न को देखकर, किसी दूसरे उपाय से दरवाजे के किवाड़ों को खोलकर, श्रीयशोदाजी ने पुनः इस प्रकार कार्य किया—॥२५॥

इन माँ यशोदा ने घरके भीतर जाकर, अपने पुत्र की अतुलनीय दूसरी चंचलता को देखकर, क्रमशः उसके मार्ग का अनुगमन करके भय के कारण चंचल नेत्र वाले उसको देखा ॥२६॥

वहाँ पर उसके नेत्रों की चंचलता इस प्रकार है, यथा—मैंने ताजा ताजा माखन चुराया है, माता मुझे यहाँ पर देख लेगी, मैं माँ को किस प्रकार साक्षात्कार करूँ, इस प्रकार कहकर बालकृष्ण अपने दोनों नेत्रों को, मानों बारंबार दोनों कानों के बीच में प्रविष्ट कर रहे हैं, अर्थात् माता जिस मार्ग से आ रहीं हैं, उसी ओर नेत्र और कान दोनों लगे हुए हैं ॥२७॥

अधोमुखीकृत्य बलादुदूखलं, निविश्य तस्योपरि चञ्चलेक्षणम् ।
कीशाय सर्पिर्ददतं प्रसूः सुतं, वीक्ष्य स्मितं प्राप तथा च विस्मितम् ॥२८॥
गूढं प्रतस्थे कृतमोषमात्मजं, धर्तुं प्रसूरेष निरीक्ष्य चाद्रवत् ।
प्रसिद्धिरेषा खलु लोकतः शतं, दृशोर्मतं हर्तरि भर्तरि द्वयम् ॥२९॥

"स खलु दृप्तः शाखामृगस्तु नवनीतानां तृप्तः पटवेष्टितयष्टिमेतां दृष्ट्वा द्रुतमेव शाखामारूढः ॥३०॥

"अथ द्रवन्तं सुतमन्वगात् प्रसूः, प्रसूनवृष्टि-प्रथ-केशबन्धना ।
क्व यासि रे चोरवरेति जल्पिता, नातिस्फुट-क्रन्दनहाससुन्दरम् ॥३१॥
तोकं धर्तुं सा समीपेऽपि शीघ्रं, धावन्ती तत् प्राप धावन्न माता ।
प्रागञ्चन्तं वायुवेगात् प्रतीची,-स्तोकाम्भोदं यद्वदम्भोदवीथी ॥३२॥

"अथ पुरद्वारं न मातुर्गमनद्वारमिति मत्वा पलायनग्रहिलस्तद्दिशमेव जग्राह । जननी तु तदानीं तत्राजनतां जानती तमेवानुयातवती ॥३३॥

"ततश्च, यदाद्रवत् पृष्ठमनीक्षमाण,-स्तदा न लेभे पृथुको जनन्या ।
यदा भयाद्वीक्षितवान् स पश्चा,-त्तदा तयासौ जगृहे करेण ॥३४॥

वहाँ पर बलपूर्वक ऊखल को औंधा करके, उसके ऊपर बैठकर, चंचल नयन हो, बानर के लिये माखन को देते हुए पुत्र को देखकर, माता मुस्क्या गई एवं विस्मित हो गई ॥२८॥

चोरी करनेवाले पुत्र को पकड़ने के लिये, श्रीयशोदा माँ गुप्तरूप से चल दीं । श्रीकृष्ण भी माता को दूर से ही देखकर दौड़ पड़े । लोक में यह बात प्रसिद्ध है कि, चोर के सैकड़ों नेत्र होते हैं, तथा धन की रक्षा करनेवाले के दो ही नेत्र होते हैं, अर्थात् घर का स्वामी दो नेत्र से ही धन की रक्षा करता है, किन्तु चोर उसको सैकड़ों नेत्रों से देखकर चुरा लेता है ॥२९॥

बल से गर्वित वह बानर भी माखन खाकर तृप्त होगया । पश्चात् वस्त्र से वेष्टित एक लठिया को हाथ में लेकर आती हुई यशोदा को देखकर, शीघ्र ही वृक्ष की शाखा पर चढ़ गया ॥३०॥

तदनन्तर दौड़ते हुए पुत्र के पीछे पीछे माता भी दौड़ पड़ीं । दौड़ते समय उनके केशपाश से पुष्पों की वृष्टि का विस्तार होने लग गया, और बोली कि, अरे चोरराज ! तू कहाँ जा रहा है ? यह बात सुन कर अत्यन्त अप्रगट रोने से, एवं हँसी के द्वारा बालक का सौन्दर्य और बढ़ गया । ऐसे अपने बालक को पकड़ने के लिये शीघ्रतापूर्वक पास में होकर, दौड़ती हुई भी माता, दोड़ते हुए पुत्र को न प्राप्त कर सकीं । उसका दृष्टान्त यह है कि, पश्चिम दिशा में रहनेवाली मेघपंक्ति, जैसे वायु के वेग से पूर्व दिशा की ओर चलते हुए छोटे से मेघ को भी प्राप्त नहीं कर सकती, उसी प्रकार माता भी पुत्र को न पकड़ सकीं ॥३१-३२॥

तदनन्तर पुर का दरवाजा माता के जाने का दरवाजा नहीं है, ऐसी भावना करके भागने के आग्रह से युक्त बालकृष्ण ने उसी दिशा को पकड़ लिया । माता भी उस समय वहाँ पर जनता नहीं है, ऐसे जान कर उसके पीछे पीछे चल दी ॥३३॥

पश्चात् जब पीछे की ओर न देखते हुए श्रीकृष्ण भागे, तब माता उनको न प्राप्त कर सकी, किन्तु

"स च तथापि—

अक्षिणी द्रवगमाय साक्षिणी, रोदनं क्रुदुदयप्रणोदनम् ।
चालनं वपुषि धार्ष्ट्यपालनं, सृष्टवानविनयं न मृष्टवान् ॥३५॥

निर्ममे प्रसभमम्बया मुखं, सम्मुखं निजशिशोर्यदा यदा ।
सर्पिरर्पितविलेपनं तदा, रूक्षणाय तदघुक्षदेष च ॥३६॥

"ततश्च, वष्टि चेद्धत भवान् गृहमुष्टिं, यष्टिमाकलय मत्करमृष्टाम् ।
इत्थमुन्नकितिते कमलाक्षे, तां जहौ निजजहौ व्रजराज्ञी ॥३७॥

मा मेति वदता तेन चोरचोरेति गीःकलिम् ।
रहसा सहसा राज्ञी सहसा सहसातनोत् ॥३८॥

'अहो राजासि चोराणां चोरास्त्वत्पितृगोत्रजाः ।
इत्याद्यचकलन्माता शिशुना गव्यचोरिणा ॥३९॥

'किञ्च, दधिमण्डः कथं खण्डो दण्डोऽयं परमेशितुः ।
घृतं कोशाय कः प्रादादसौ येन विनिर्मितः ॥' इति ॥४०॥

भय के कारण श्रीकृष्ण ने जब पीछे की ओर देखा, उसी समय उनको श्रीयशोदाजी ने अपने हाथ से पकड़ लिया ॥३४॥

तथापि बालकृष्ण ने शीघ्र भागने के लिये अपने दोनों नेत्रों को साक्षीस्वरूप बना लिया, माता की क्रोधोत्पत्ति को दूर करनेवाला रोना आरम्भ कर दिया, एवं शरीर में धृष्टता की रक्षा करनेवाले कम्प को उत्पन्न कर दिया, अर्थात् काँपने लग गये, किन्तु अविनय का मार्जन नहीं किया, अर्थात् उच्छृङ्खलता का त्याग नहीं किया ॥३५॥

माता जब जब अपने बालक के मुख को हठपूर्वक अपने सम्मुख करती हैं, श्रीकृष्ण तब तब अपने मुख को रूखा करने के लिये, अर्थात् माखन के लिपट जाने से उत्पन्न चिकनाई को दूर करने के लिये छिपा लेते हैं ॥३६॥

तदनन्तर माता भय दिखाती हुई बोली—हा ! बड़े कष्ट की बात है, अरे कृष्ण ! तुम यदि घर में ही चोरी करना चाहते हो, तब तो मेरे हाथ में धरी हुई लठिया को जरा देख लो । यह बात सुनकर कमल के से नेत्रों वाले अपने पुत्र के भय से व्याकुल हो जाने पर, श्रीव्रजरानी ने उस लठिया को त्याग दिया ॥३७॥

उस समय श्रीकृष्ण के कातर वाक्य, एवं माता के भीषण वाक्य, यथा— श्रीकृष्ण बोले—मैया ! तू मुझे मारना नहीं । माता बोली—"तू चोर है, तू चोर है", इस प्रकार कहकर गुप्तभाव से मन मन में हँसती हुई, व्रजरानी श्रीकृष्ण के साथ बलपूर्वक हठात् इस प्रकार वाक्कलह का विस्तार करने लग गई ॥३८॥

माता बोली—अहो ! अरे ! तू सभी चोरों का राजा है । माता की ऐसी बात सुनकर श्रीकृष्ण बोले—मैया ! चोर तो तुम्हारे पिता के गोत्र में उत्पन्न होने वाले हैं, हमारे घर में चोरों का क्या काम ? माखनचोरी करनेवाले अपने बालक के साथ, माता ने इस प्रकार कथनोपकथन किया ॥३९॥

किंच माता पुनः बोली—क्यों रे ! यह दही की चलावनी (दधिभाण्ड) कैसे फूट गई ? पुत्र ने कहा-

'शङ्के स्वादुङ्कारमित्थं सदा त्वं, यज्ञाङ्गीयं लेक्षि हैयङ्गवीनम् ।
एवं चोरङ्कारमम्बा शिशुं प्र,-त्याक्रोशयन्त्यप्यार्द्रचित्ता बभूव ॥४१॥

"ततः ससंरम्भं विहस्य 'सरहस्यमुच्यताम्, दम्भश्च मुच्यताम्' इति मात्रा पृष्टः सृष्टरोदननेत्रः पुत्र उवाच,—॥४२॥

'त्वय्युद्भूटं प्रद्रवन्त्यामङ्घ्र्योः कटकघट्टनात्
अस्फुटद्दधिमण्डस्य घटः का मम दुष्टता ? ॥४३॥
कीशः स ईशनिर्दिष्टः प्रविष्टः सद्म मुष्टये ।
कृष्टसर्पिः परामृष्टो मया का मम दुष्टता ? ॥४४॥
तथापि त्वामात्तयष्टिं दृष्ट्वा दुद्रुव चोरवत् ।
त्वं पुनर्मां वृथा भीतमपि दुद्रोथ निर्दयम् ॥'४५॥

"अथ सानुतापमिव माता प्राह,—'रे वाचोयुक्तिसत्तम चोरोत्तम ! त्वं नरोत्तम-जातोऽपि वानरप्रियो वानर-प्रकृतिरेवासि ।' सुतस्तु सभयं सभयप्रदानमप्युवाच,—'ततो वनमेव प्रविश्य स्थास्यामि ।' ॥४६॥

यह तो परमेश्वर का दिया हुआ दण्ड है। माता बोली—बन्दर के लिये घी किसने दिया ? पुत्र बोला—जिसने इस बानर को बनाया ॥४०॥

माता पुनः बोली—मैं तो यही शंका करती हूँ कि, यज्ञ के अङ्गस्वरूप इस ताजे ताजे माखन को, तू ही सर्वदा स्वाद ले लेकर खा जाता है। इस प्रकार चोर की तरह शिशु के प्रति फटकार लगाती हुई भी, माता अन्त में आर्द्र चित्त हो गई ॥४१॥

तदनन्तर माता ने क्रोधपूर्वक हँसकर कहा कि—"अपने रहस्य को कहो, एवं दम्भ को त्याग दो।" माता के इस प्रकार पूछने पर, नेत्रों से रोना आरम्भ करके पुत्र ने कहा— ॥४२॥

देख मैया ! जिस समय तू दूध को उतारने के लिये हड़बड़ा के अत्यन्त वेग से दौड़ी थी, उसी समय तेरे दोनों चरणों के कड़ूलाओं के संघर्ष से, अर्थात् टक्कर से यह दही के माँड़ का घड़ा, अर्थात् अधचले से भरी यह चलावनी फूट गई, इसमें मेरी क्या दुष्टता है ? ॥४३॥

और ईश्वर के द्वारा प्रेरित वह बन्दर, चोरी करने के लिये घर में आ घँसा। जब वह माखन को खेंचने लग गया, तब मैंने उसको पकड़ लिया। अब तू ही बता, इसमें मेरी कौन सी दुष्टता है ? ॥४४॥

तो भी मैं तुझको लठिया लिये हुए देखकर, चोर की तरह दौड़ पड़ा, किन्तु तू तो मुझको भयभीत देखकर भी वृथा ही निर्दयतापूर्वक मेरे पीछे दौड़ रही है ॥४५॥

तदनन्तर अनुताप सा करती हुई माता बोली—अरे ! बातों की युक्ति भिड़ाने वालों में श्रेष्ठ ! अरे चोरों में उत्तम ! तू नरों में श्रेष्ठ व्रजराज का पुत्र होकर भी, वानरों से प्यार करता है, अतः तू वानरों के से स्वभाव वाला है। माता की ऐसी बात सुनकर, भयभीत होकर, इशारे से किंचिद् भय दिखाते हुए पुत्र ने कहा कि, यदि मैं बानर ही हूँ, तब तो वन में ही प्रविष्ट होकर रहूँगा ॥४६॥

"अथ माता सभयं चिन्तितवती,—'को जानीयात् कुर्यादपीदं मानी, तर्हि तन्निबन्धनं बन्धनमेव सन्धेयम्, यदेकया मयालयबालयोरवधानं दुर्धानं भविता।'

"स्पष्टन्त्विदमुक्तवती,—॥४७॥

'रे चोर चञ्चलविलोलविलोचनश्री,-निक्षिप्तमोह ! मनुषे विनिवारणं न ।
बध्वा भवन्तमहमाशु चलामि गेहं, शक्तिर्यदि प्रथयतां कुरु चौर्यमन्यत् ॥'४८॥

"बन्धोद्यमे तु रुषिततारूषितः पुत्रः फूत्कुर्वन्निव सास्रमुच्चैरुवाच,—'अम्ब ! रोहिणि ! सह सहजेन क्व गतासि ? त्वया रहितं मामियं बध्नाति, तद्द्रुतमिह समेहि ।' ॥४९॥

"तदेतद्दूरगतया तया नावधार्यते स्म । किन्तु पराः पारम्पर्येणावधार्य कृतोपालम्भ-चर्याः काश्चिन्निकटनिकाय्या नार्यः परिवार्य मिलिताः । स्ववाचमिह स्मारयितुम् 'ऐकागारिकः सोऽयं भवदगारेऽपि कां कारिमकार्षीत्' इति सूचयन्त्य इव सह जहसुश्च ॥५०॥

"ततस्तदनवदधती कुन्तलसन्तानबन्धाद्विघटितां पट्टडोरीमेकामुपसद्य सद्यः सद्मद्वारान्तरुपसद्यमानमुदूखलमनु वत्सगलबन्धवदलग्नमेवावलग्ने सनिर्बन्धं बन्धुमुद्यतवती स्तनन्धयं शिक्षाजननी जननी; सा तु द्व्यङ्गुलाङ्गन्यूनाजनि ॥५१॥

तदनन्तर माता ने भयपूर्वक मनमें विचार किया कि कौन जाने, यह अभिमानी बालक ऐसा भी कर सकता है, तब तो वन प्रवेश के निवारण के लिये इसको बाँधकर रखना ही हमारा कर्तव्य है, क्योंकि मुझ अकेली के द्वारा घर और बालक, इन दोनों का सँभालना कठिन हो जायगा। पुनः इस प्रकार स्पष्ट बोली— ॥४७॥

अरे चोर ! अरे चञ्चल ! ओ ! अपने चञ्चल नेत्रों की शोभा द्वारा सभी के प्रति मोह को फेंकनेवाले ! अर्थात् सबको विमुग्ध करने वाले ! मेरे निवारण को क्यों नहीं मानते हो ? देख ! मैं तुझको बाँधकर शीघ्र ही घर को जाती हूँ। यदि तुझमें शक्ति है, तो प्रगट करदे, एवं दूसरी वस्तु की भी चोरी कर ॥४८॥

माता के द्वारा बन्धन का उद्यम प्रारम्भ होते ही, पुत्र ने क्रोध में भरकर फुसकार सी मारते हुए, सजल नयन हो ऊँचे स्वर से कहा कि, अरी रोहिणी अम्मा ! हमारे बड़े भैया के सहित तू कहाँ चली गई है ? तेरे बिना आज यह मैया मुझको बाँध रही है, इसलिये तू यहाँ शीघ्र आजा ॥४९॥

दूर चले जाने के कारण श्रीरोहिणी ने इन वाक्यों को नहीं सुना समझा। किन्तु श्रीयशोदाजी के घर के निकट ही जिनके घर हैं, एवं पहले भी जो श्रीकृष्ण का उपालम्भ फटकारना आदि कर चुकी हैं, ऐसी नारियाँ परम्परा से इस वृत्तान्त को जानकर, एकत्रित होकर आ मिलीं, और अपने पुराने उलाहने की याद दिलाने के लिये "इस चोर ने तुम्हारे घर में भी कोई कौतुकमय कार्य कर दिया है क्या ?" इस प्रकार की सूचना सी करती हुई एक साथ हँस पड़ीं ॥५०॥

तदनन्तर पुत्र को शिक्षा देने वाली माता यशोदा, उन स्त्रियों के वाक्यों की ओर ध्यान न देती हुई, अपनी वेणी (चुटिया) के बन्धन से गिरी हुई एक रेशमी डोरी को लेकर, शीघ्र ही घर के दरवाजे के बाहर के भाग में धरे हुए, ऊखल का लक्ष्य कर, बछड़ा के गले के बन्धन की तरह, वस्त्रों सहित पुत्र की कमर में आग्रहपूर्वक, उस डोरी से बाँधने का उद्योग करने लग गई, किन्तु वह रेशमी डोरी दो अंगुल कम पड़ गई ॥५१॥

"ततश्च तस्या धम्मिल्लादुद्वास्यान्यस्या विन्यस्तत्वेऽपि तदवस्थतायां दृश्यमानायां साश्चर्यमिव नार्यर्पितैर्मन्थननेत्रैर्बहुभिरपि पारं न वव्राज व्रजेश्वरी ।।५२।।

"ततश्च, तदङ्गे द्व्यंगुलाभासे सर्वे लब्धावकाशकाः ।
दृश्यन्ते स्म वटास्तत्र विदूराद्रौ घना इव ।।५३।।

"तदेतत् पश्यन्तीभिः परिहसन्तीभिरुक्तम्,—'व्रजदेवि ! निवेदितमेवास्माभिः स एष समुन्नतया मोहनतया कफल्लकमपि वेल्लयन् लोप्त्रमात्रसुकलतानन्दी परास्कन्दी सन्दीप्यते' इति । सा प्राह,—'किं जानात्यसावद्य, किन्तु भवतीनामेव कापीयमवद्या विद्या; यदन्तरस्य पक्षपातिन्यः समीक्ष्यध्वे बहिरेवान्यथा व्यवहारतया विहरन्त्यः स्म ।' सर्वाः सहासमूचुः,—'तत्रभवति ! भवच्चरणेभ्यः शपथमाचरामः, नास्माकं विस्मापिकेयं विद्या विद्यते ।' इति ।।५४

"सा च चेतसि विचारमाचचार,—'तर्हि गर्गवचनवर्गवत् सकृत् कापि भागवती शक्तिरेवामुमवरुणद्धि, न चायं किञ्चिदपि जानाति ।' ।।५५।।

"अथेयमस्याश्चर्यस्य पर्यन्तं पर्यालोचयितुं ताभिरेव गृहादन्यान्यपि मन्थनदामानि मुहुर्मुहुरानाय्य सनिर्बन्धं बन्धमादधत्यपि गत्यन्तरं न प्राप ।।५६।।

उसके बाद उसी चुटिया से निकालकर दूसरी डोरी के बाँधने पर भी वही अवस्था दिखाई पड़ी, अर्थात् वह भी दो अंगुल कम पड़ गई। पश्चात् आश्चर्यपूर्वक अन्य गोपियों के द्वारा दी गई दधिमन्थन की अनेक रस्सियों के द्वारा भी व्रजेश्वरी बन्धन का पार न पा सकी ।।५२।।

तदनन्तर जिस प्रकार दूर के पर्वत में लगे हुए मेघ भी नहीं लगे से दिखाई देते हैं, उसी प्रकार दो अंगुल दिखाई देने वाले श्रीकृष्ण के अङ्ग में सारी रस्सियाँ बिना लगी सी दिखाई देती हैं, अर्थात् सभी दो अंगुल कम पड़ जाती हैं ।।५३।।

यह देखती हुई एवं हँसती हुई व्रजनारियाँ बोलीं—अयि व्रजेश्वरि ! हमने तुमसे पहले ही निवेदन किया था कि, आपका यह पुत्र बढ़ी चढ़ी मोहिनी शक्ति द्वारा कफल्लक (प्राथमिक चोर) को भी तिरस्कृत करता हुआ, चोरी के द्रव्य मात्र से उत्पन्न दाता भोक्तापन से प्रसन्न रहने वाला है, एवं दूसरों के द्रव्य का अपहरणकर्ता होकर ही प्रकाश पा रहा है। यशोदा बोली—आजकल का पैदा हुआ छोटा सा यह बालक छलछिद्रों को क्या जानता है ? किन्तु मालूम पड़ता है, तुम्हारी ही यह कोई निन्दनीय छलभरी विद्या है, जिस कारण भीतर से तो इसकी पक्षपातिनी दिखाई देती हो, एवं बाहर से अन्य प्रकार का व्यवहार करती हो। सभी व्रजमहिलायें हँसकर बोलीं—हे पूजनीये ! श्रीयशोदे ! हम आपके श्रीचरणों की शपथ खाकर कहती हैं कि, विस्मयकारिणी यह विद्या हमारी नहीं है ।।५४।।

श्रीयशोदाजी ने मनमें विचार किया कि, तब तो श्रीगर्गाचार्यजी के वचनों के अनुसार, कोई भगवत् सम्बन्धी शक्ति ही इसको घेर लेती है, वास्तविक दुधमुंहा यह बालक तो कुछ भी नहीं जानता ।।५५।।

उसके बाद श्रीयशोदाजी इस आश्चर्य का अन्त देखने के लिये, उन्हीं गोपियों के द्वारा अपने अपने घर से दधिमन्थन की और भी नेतियों को बारंबार मँगाकर, आग्रहपूर्वक बन्धन कसती हुई भी, बाँधने का कोई भी उपाय न पा सकी ।।५६।।

"ततश्च, बध्नती न तु सुतं व्रजेश्वरी, पारमाप तदपारकर्मणः ।
घर्मवारिवरिमाणमाव्रज,-द्वारवारमलकावृतीरपि ॥५७॥

"ततो यावदेव यादवदेवकुलजस्य तस्य हठवत्तायां प्रयत्नाधिरासीत्, तावत्तदाग्रहोऽपि ग्रहनिगृहीत इवाभूत् । मातृवैकल्येन कल्यमानमनस्त्वे तु प्रथमडोरिकाद्वयमात्र-सम्बन्ध-गात्रतया बद्ध एव सोऽयमबुध्यत । अन्यानि तु सर्वाणि दामानि तस्मिन्नु वंरितान्येवा-दृश्यन्त ॥५८॥

"योगमाया-नामिनी तत्कर्मकारिणी हि तन्मनोऽनुसारिणी, यया तन्निष्पाद्य मातरं प्रत्यपि भ्रम एवायमिति प्रत्ययः प्रत्यहमासाद्यत । अथ लब्धसन्धं तं बन्धं दीर्घतमयान्यया रज्ज्वाऽऽबध्य च तया तदुदूखलमध्यं बबन्ध ॥५९॥

"बद्ध्वा च माता शिक्षां घटयन्ती निजकठिनतामेव तस्मिन् हंठिनि प्रकटयन्ती ताभि-र्विहसन्तीभिः सह सनर्म गेहकर्मणे गच्छन्ती तत्परिपालनाय बालकान् परितः स्थापितवती॥६०

"ततश्च गतासु तासु क्षणं कृतरोदनविनोदः पश्चाद्वहलखलं प्रत्युदूखलनोदनाय लब्ध-मोदः स तु बद्ध एव केवल-बाल-वलिततया प्रबलितचापलश्रद्धस्तैः सह प्रहसन् खेलन्नु-लूखलमेतं लघु लघु चालयामास, हारयामास च तैरेवोल्वणहासतया शुल्वहारिणीनां

तदनन्तर पुत्र को बाँधती हुई भी व्रजेश्वरी उस बन्धनरूप अपार कर्म का पार न पा सकी, अपितु पसीना के मारे लथपथ हो गई, एवं बारंबार अपनी अलकावलियों द्वारा आवृत होकर श्रान्त हो गई ॥५७॥

तदनन्तर यदुकुलोत्पन्न श्रीकृष्ण का हठ करने में जब तक अधिक प्रयत्न था, तब तक माता का आग्रह भी ग्रहगृहीत की तरह निष्फल था। माता की विकलता से श्रीकृष्ण का मन जब वशीभूत हो गया, तब तो उनके गात्र में पहली यशोदाजी की वेणी की दो डोरियों के सम्बन्धमात्र से, सभी ने जान लिया कि, अबके श्रीकृष्ण बँध गये, और बाकी की सारी रस्सियाँ उनके शरीर में बची हुई ही दिखाई पड़ती थीं ॥५८॥

उस समय श्रीकृष्ण की सेविका योगमाया नामवाली शक्ति उनके मन के अनुकूल थी, जिसके द्वारा ही यह बन्धनरूपी कार्य निष्पन्न कराकर, माता के प्रति भी यह भ्रम ही है, ऐसा विश्वास प्रतिदिन प्राप्त करा दिया जाता था। उसके बाद वह बन्धन श्रीकृष्ण के देह में जब स्थिर हो गया, तब उसी बन्धन को अत्यन्त लम्बी एक दूसरी रस्सी के द्वारा अच्छी तरह बाँधकर, उसी रस्सी के द्वारा माता ने उस ऊखल के मध्यभाग को बाँध दिया ॥५९॥

लाला को ऊखल में बाँधकर माँ यशोदा शिक्षा देती हुई, उस हठी कृष्ण के प्रति अपनी कठिनता को ही प्रगट करती हुई, तथा उन हँसती हुई गोपियों के साथ कौतुकपूर्वक घर का कार्य करने के लिये जाती हुई, श्रीकृष्ण की रक्षा के लिये बालकों को चारों ओर बैठा गई ॥६०॥

पश्चात् उन सभी व्रजाङ्गनाओं के चले जाने पर, क्षणभर में ही रोने का विनोद आरम्भ कर दिया, फिर लम्बे चौड़े अनेक स्थानों के प्रति ऊखल के चलाने के लिये आनन्द को प्राप्त किया, किन्तु श्रीकृष्ण ने बँधे हुए ही केवल बालकों से घिरे हुए होने के कारण, चाञ्चल्यजनित श्रद्धा को बढ़ा दिया, एवं उन्हीं बालकों के साथ हँसते खेलते धीरे धीरे उसी ऊखल को चला दिया। तथा उन्हीं बालकों के द्वारा "जो

लब्धशून्यसाधर्म्यहर्म्यश्रेण्या हारिशिक्यित-नव-नवनीतादिकमाहरयामास च । किन्तु तत्कर्षण-मय-हर्षप्रदलीलया, न च करेण न चापरेण तदुद्दानमोचनरोचनतामवाप ॥६१॥

"तत्र तु पुरद्वारपुरस्ताद्वर्ति-वातावर्त-र्वातत-नर्तनमिव यमलमर्जुनद्वयमस्य नेत्रवर्त्मनि वर्तते स्म । क्रमेण चासौ तयोरन्तर एव विक्रमते स्म ।" इति ॥६२॥

एतावन्मुक्तकण्ठमुट्टङ्कयन् स्निग्धकण्ठस्तद्भञ्जने कारणं हरेरैश्वर्यप्रचारणमिति तत् प्रतारयन् कारणान्तरमेव व्याजहार,—॥६३॥

"ततः स्फुटं झटिति परतः पर्यटितुमुत्कण्ठया तन्मध्यसम्बद्धेनैवाध्वना निश्चक्राम, तदध्वनस्तु संक्षिप्तताधःक्षिप्ततया तदुदूखलं प्रतितष्टम्भे ॥६४॥

"अथ स्फुटमसौ वटीत्रोटनेच्छया तत् कृष्टवान् । हठादाकृष्टे च तस्मिन् ॥६५॥

"कुठद्वयं कटकटशब्दमुग्जटं, विघट्टितं स्फुटमलुठद्द्वयोर्दिशोः ।
न धीर्धृतिं बधिरविमुग्धतामधि,-व्रजन्नधि व्रजमदधात् प्रजाव्रजः ॥६६॥

गोपियाँ अट्टहासपूर्वक श्रीकृष्ण के बाँधने के लिए अपने अपने घर से रस्सियाँ लाई थीं, एवं उस समय नन्दभवन में उपस्थित भी थीं", इसको सुन्दर अवसर समझकर, श्रीकृष्ण ने उन गोपियों की सूनी सी हवेलियों से मनोहर छींकों पर धरे हुए ताजे ताजे नवनीत (माखन) आदि को चुरवा दिया, और उन्हीं बालकों को इशारे से खवा दिया । किन्तु उस ऊखल के खैंचने से उत्पन्न आनन्दमयी लीला के कारण, न तो अपने हाथ से, न दूसरे ही किसी के द्वारा, उस बन्धन से मोचन करने की अभिलाषा की ॥६१॥

वहाँ पर पुरद्वार के सन्मुख खड़े हुए, यमलार्जुन नाम के दो वृक्ष श्रीकृष्ण के नेत्रों के सामने आ गये, जो कि वायु के बभूड़े के द्वारा प्रवर्तित नृत्य सा करते रहते थे । श्रीकृष्ण भी क्रमशः उन दोनों के बीच में ही विचरण करते करते उपस्थित हो गये ॥६२॥

यहाँ तक उच्चस्वर से कथा कहते हुए, स्निग्धकण्ठ ने यमलार्जुनभञ्जन के विषय में, यदि हरि को कारण बताता हूँ, तब तो श्रीहरि के ऐश्वर्य का प्रचार हो जायगा । माधुर्यप्रधान इन व्रजवासियों में उसका प्रचार उचित नहीं, अतः उस कारण की वञ्चना करते हुए, अर्थात् छिपाते हुए दूसरे कारण को ही बता दिया—॥६३॥

तदनन्तर स्पष्टरूप से शीघ्र ही वृक्षों के बीच में होकर ही दूसरे स्थान पर जाने की उत्कण्ठा हो गई, इस कारण से उनके बीच के मार्ग से ही श्रीकृष्ण निकल पड़े । उस मार्ग के संकुचित होने के कारण वह ऊखल अटक गया ॥६४॥

पश्चात् श्रीकृष्ण ने स्पष्टरूप से उस रस्सी के तोड़ने की इच्छा से उस ऊखल को खैंचा, हठपूर्वक उस ऊखल के खिंचते ही— ॥६५॥

दोनों वृक्ष कट कट शब्द करते हुए, जड़ों के सहित, दोनों ही दिशाओं में स्पष्टरूप से अलग अलग होकर धड़ाम से धरती में गिर पड़े । व्रज की सारी प्रजा बहिरों की अपेक्षा भी अधिक विमुग्धता को प्राप्त होती हुई, अपनी अपनी बुद्धि को स्थिर न कर सकी, अर्थात् वृक्षों के गिरने के शब्द से उनके कान बहरे हो गये, एवं बुद्धि अधीर हो गई ॥६६॥

चित्रं तुत्रोट तत्तत्र वज्रमज्जार्जुनद्वयम् ।
न पुनर्मातृवात्सल्य-निर्बन्धमयबन्धनम् ॥६७॥

"श्लोकयन्ति चात्र—

'श्यामाङ्गद्युति किङ्किणि-ध्वनिधरं रिङ्गातिरङ्गप्रदं
कर्षच्छश्वदुदूखलं खरखरत्कारप्रकारप्रथम् ।
विस्फूर्ज-प्रतिमार्जुनद्वय-कटत्काराजितात्कौतुकात्
पर्यावृत्तमिरीक्षणं व्रजवधूलाल्यस्य बाल्यं स्तुवे ॥'६८॥

"अथ तयोरत्यूर्जितेन विस्फूर्जितेन मुहूर्तार्धमार्ततया गोष्ठाधिष्ठाना मूर्च्छामृच्छन्तः स्थिताः । तन्निकटसंघट्टिनीमर्भकघटां विना, सा तु तल्लीलामाधुरीधुरीणतया चित्राकृतिरिव मित्रावली न वित्रासमाससाद ॥६९॥

"दूरादपि तदूर्जितं विस्फूर्जितं सम्भ्रमकार्यवधार्य तु व्रजपतिमुखास्तर्कितासुखास्तदेवाभि-प्रतस्थिरे । सत्रा सत्रासमत्राभिदधिरे च,—॥७०॥

'विना वातं विना वर्षं विद्युत्-प्रपतनं विना ।
विना हस्तिकृतं दोषं केनेमौ पातितौ द्रुमौ ? ॥७१॥

उस समय वहाँ पर यही एक आश्चर्य की बात हुई कि, श्रीकृष्ण ने वज्र की अपेक्षा भी अति कठिन यमलार्जुन नामक दोनों वृक्षों को तो तोड़ दिया, किन्तु माता के वात्सल्य से जनित आग्रहपूर्ण उस प्रेम के बन्धन को न तोड़ सके ॥६७॥

इस विषय में कविजन श्लोकों द्वारा इस प्रकार स्तुति भी करते हैं, यथा—व्रजरमणियों के द्वारा लालनीय श्रीकृष्ण के बाल्यभाव की मैं स्तुति करता हूँ, यह बाल्यभाव श्यामवर्ण की अङ्गकान्ति से विराज-मान है, किंकिणि की ध्वनि को धारण करता है, घुटुवन से चलकर अत्यन्त आनन्द देने वाला है, यह बारंबार ऊखल को खेंचने वाला है, अतएव तीक्ष्ण खरखर शब्द का विस्तार करने वाला है, वज्र की ध्वनि के समान दोनों अर्जुनवृक्षों के कटत्कार से उपार्जित कौतुक के कारण, यह बाल्यभाव चञ्चल नेत्रों वाला है ॥६८॥

तदनन्तर उन दोनों वृक्षों के गिरने की अति भयंकर ध्वनि के द्वारा सभी गोकुलवासी, एक घड़ी तक पीड़ित होकर, मूर्च्छा को प्राप्त करते हुए गतिविहीन हो गये । केवल श्रीकृष्ण के निकटवर्ती बालकों की मण्डली मूर्च्छित नहीं हुई । वह मित्रों की मण्डली तो श्रीकृष्ण की लीलामयी माधुरी की पराकाष्ठा को प्राप्त होकर, चित्र की सी आकृति की तरह भय को भी प्राप्त न कर सकी ॥६९॥

दूर से ही उस भयानक एवं उद्वेगजनक प्रचण्ड शब्द को सुनकर, श्रीव्रजराज आदि सभी गोकुल-वासी कष्ट की आशङ्का करते करते उसी स्थान को चल दिये, तथा एक ही साथ उस स्थान पर जाकर भयपूर्वक बोले कि— ॥७०॥

वायु के बिना, वर्षा के बिना, बिजली की तड़कन के बिना, एवं हाथी के द्वारा किये गये आक्रमण-रूपी दोष के बिना, इन दोनों वृक्षों को किसने गिरा दिया ? ॥७१॥

अजन्य-जन्यमेतावज्जाता निर्जनता कुतः ?
तस्मात्तस्मान्महागर्जान्मूर्च्छामाच्छन् व्रजे जनाः ॥' इति ॥७२॥

"अवदधिरे च तन्निकटतटस्थं भासमानहासविलासमुखमुलूखलं कर्षन्तं लीलासुखं वर्षन्तं बालगोपालम् । तेन च 'कथं कथम्' इति कथयन्तस्तमावृण्वन्त एवावतस्थिरे ॥७३॥

"स तु पितरमनुविन्दमानमनुचक्रन्द ॥७४॥

"पिता चान्तःसम्भ्रान्तः सन्नपि तस्य सान्त्वनाय मुखमात्रं हसितपात्रमाचरन्नचिरादेव तं विपाशयामास ॥७५॥

"सरोदनवदनं वदनं चुम्बन् विदन्नपि मुहुः पप्रच्छ च,—'पुत्र ! कुत्रत्यः स खलु खलबुद्धिर्येन चोलूखले निर्बन्धजनित-बद्धस्त्वमसि ?' इति । स तु पितरि रतश्चिरतः श्लिष्टकण्ठतयाभ्यर्णमागतः कर्णे वर्णयामास,—'तात ! मातेव' इति ॥७६॥

"पिता तु तां पूर्वं विगतसंवेदतया अनन्तरन्तु स्वत एव जातनिर्वेदतया दूनां वेद स्म । तत एव न सहसा रहसापि परिभाषितुमियेष । अज्ञतयावज्ञया न च पप्रच्छ बालकान्,—'किमिदं वृत्तम् ?' इति । ते तु स्वयमेवोचुः,—'स्फुटमनेन कृतमध्यगमनेन विस्तीर्णखले पुरस्थले क्रीडितुं निष्क्रम्य विकृष्टतले तिर्यग्भावादचले चास्मिन्नुलूखले खटत्-खटिति त्रुटितताम‍ृच्छत् कुठद्वयं झटिति लुठद्भावमानर्च्छ ।'

इतना भारी उत्पात हो गया तो भी, यह स्थान जनता से शून्य कैसे रहा ? इसमें तो यही कारण ज्ञात होता है कि, वृक्षों के गिरने की उस बड़ी भारी गर्जना के कारण, व्रज में सभी जन मूर्च्छा को प्राप्त हो गये थे ॥७२॥

पश्चात् उन दोनों वृक्षों के पास में स्थित, उस बालगोपाल को भी व्रजवासियों ने सावधानी से देख लिया, जिसके मुख पर हास का विलास सुशोभित हो रहा है, एवं ऊखल को खैंचकर लीलासुख की वर्षा कर रहा है, उसी के साथ "यह घटना कैसे हुई, यह क्या हुआ ?" इस प्रकार कहते हुए सभी व्रजवासी उसी को घेरकर खड़े हो गये ॥७३॥

बालमुकुन्द भी पिताजी को पीछे से आते देखकर रुदन करने लग गये ॥७४॥

पिताजी ने अपने अन्तःकरण में सम्भ्रान्त होकर भी, लाला की सांत्वना के लिये केवल अपने मुख को हास्य से युक्त करते हुए, शीघ्र ही लाला को बन्धन से मुक्त कर दिया ॥७५॥

पुनः रो रोकर बात करने वाले लाला के मुख को चूमते हुए, एवं बन्धन के कारण को जानते हुए भी, पिता ने बार बार पूछा कि, हे पुत्र ! वह खलबुद्धि व्यक्ति कहाँ का रहने वाला है, जिसके द्वारा तू इस ऊखल में आग्रहपूर्वक बन्धन में डाला गया है ? पितृभक्त श्रीकृष्ण ने भी कुछ देर बाद पिता के पास आकर गले से चिपटकर, गद्गद वाणी से कान में कहा कि, पिताजी ! मुझको ऊखल में बाँधने वाली माता ही है ॥७६॥

यशोदाजी पहले ही ज्ञानशून्य हो गई हैं, पीछे दुःख उपस्थित होने के कारण, स्वतः ही पश्चात्ताप से सन्तप्त हैं, यह सब बातें श्रीनन्दजी ने कर्णाकर्णिकया जान लीं, इसीलिये सहसा एकान्त में भी उससे कोई बात पूछने की इच्छा नहीं की । ये छोटे छोटे बालक इस विषय में क्या जानते होंगे ? इस ध्येय से अवज्ञा के कारण बालकों से "यह वृक्षों का गिरना आदि वृत्तान्त कैसे हुआ ?" इत्यादि कुछ भी नहीं पूछा ।

'ततश्च खण्डिताभ्यामाभ्यां निर्गत्य कटकमुकुट-कुण्डलादि-मण्डितौ रोचिष्मद्वपुष्मन्तौ शुष्माणौ प्रणमन्तौ समन्तादेतं किमपि सन्तोषयामासतुः। तदुत्तरमुत्तरस्यां दिशि प्रास्थिषाताम्।' "तदेतदाकल्य बालानां प्रलापोऽयमिति वत्सलाः कलयाम्बभूवुः, अन्ये तु सांशयिकतानपेतचेतसः प्रजाताः ॥७७॥

"ततश्च क्रमादेकद्वयादि-प्रक्रमान्मिलितेन व्रजजनेन समं व्रजभूपालः स्वबालकेनाङ्कं सदलंकृत्य नित्यकृत्यकृते कालिन्दीमनुविन्दमानस्तेनानुषज्य निमज्य तत्रैव विप्रैः स्वस्तिवाचनादिकमाचर्य महादानादिकं विसर्ज्य निकाय्यमासज्य च पूर्वाह्णभोजनाय ससज्ज ॥७८॥

"तज्जाया तु तज्जाभ्यां दुःखलज्जाभ्यां सज्जन्ती गृहादाग्रहाच्च न निष्क्रान्तवती, न च गृहागताः संभाषितवती। सर्वास्ववर्वागेव निवृत्तासु समाधानोहिनी रोहिणी गौरवपात्रीभिः पौरोगवीभिः परिवेषयामास ॥७९॥

"श्रीव्रजराजस्त्ववरजात्मजं राममपि समानीय तेन सुतेन च सार्धं तयोः स्निग्धकल-कोलाहल-निदिग्धः सग्धिमाचरितवान्। ताभ्यां मूर्तपरमानन्दपूर्ताभ्यां मुहूर्तमेकं विश्रम्य च सम्यगीट्टगौशीरसुखधीरचेता गवागमनरम्यसमये गोस्थानमागम्य गोदोहनादिकार्यञ्च कारयति स्म ॥८०॥

वे स्वयं ही बोले कि—पिताजी! इस तुम्हारे लाला ने स्पष्टरूप से इन दोनों वृक्षों के बीच में जाकर, विस्तीर्णभूमि के सामने वाले स्थल में खेलने के लिये निकलकर, इस अचल ऊखल के तलभाग को टेढ़ा करके, जब खैंचा, तभी ये दोनों वृक्ष खट् खट् करके, टूटते हुए भटपट भूमि में लोटपोट हो गये। तदनन्तर टूटे हुए इन दोनों वृक्षों से अग्नि के समान देदीप्यमान बलवान् दिव्य देह वाले, एवं कटक, मुकुट, कुण्डल आदि से सुशोभित दो पुरुष निकले, निकलकर चारों ओर से इस तुम्हारे कन्हैया को प्रणाम करते हुए, कुछ कहते हुए सन्तुष्ट कर गये, उसके बाद दोनों ही उत्तरदिशा की ओर चले गये। बालकों की इन बातों को सुनकर वात्सल्यरस प्रधान श्रीव्रजराज आदिकों ने "यह तो बालकों का प्रलाप है", ऐसी कल्पना कर ली, किन्तु अन्य सब तो सन्देहयुक्त चित्त वाले ही बने रहे, अर्थात् उन सबके चित्त से सन्देह दूर नहीं हुआ ॥७७॥

उसके बाद क्रमशः एक, दो, तीन इत्यादि क्रम से सम्मिलित सभी व्रजजनों के साथ, श्रीव्रजराज अपने बालक से अपनी गोद को सजाकर, नित्यकर्म करने के लिये, श्रीयमुनाजी को प्राप्तकर, अपने बालक के सहित गोता लगाकर, वस्त्र पहनकर, वहीं पर ब्राह्मणों के द्वारा स्वस्तिवाचनादि करवाकर, महादान आदि देकर, पश्चात् अपने घर आकर, पूर्वाह्ण भोजन के लिये तत्पर हो गये ॥७८॥

श्रीनन्दपत्नी यशोदाजी तो पुत्र के बन्धन के कारण, उत्पन्न दुःख एवं लज्जा से युक्त होकर, आग्रह सहित घर से बाहर नहीं निकलीं, एवं घर में आई हुई गोपियों से बातचीत भी न कर सकीं। पश्चात् सभी गोपियों के चले जाने पर, सभी कार्यों का समाधान करनेवाली श्रीरोहिणी ने, गौरव की पात्र, पाकशाला की अध्यक्षा सेविकाओं के द्वारा भोजन परसवा दिया ॥७९॥

श्रीमान् व्रजराज ने भी वसुदेवजी के लाला श्रीबलराम को भी बुलाकर, उसके साथ एवं अपने लाला कन्हैया के साथ, उन दोनों भैयाओं के स्निग्ध, एवं अव्यक्त सुमधुर कोलाहल से परिपूर्ण होकर, पुनः

"उदवसितादतिसितां सितामानाय्य तया सहितं सुहितं सह सवयोभिस्तनयौ स्तनपान-प्रतिनिधितया धारोष्णं पयः पाययामास च, शिक्षयामास च तत्र पत्रपुटीघटनाम् ॥८१॥

"अथ पुनरपि हर्म्यमागम्य ताभ्यामाचरित-सायंभोजनसुखसमाजे व्रजराजे सहरोहिणीकास्तदीयसन्ततसुखाभीकाः स्वकुलमाणिक्यलक्ष्म्यः सर्वाः प्रामाणिक्यः समासाद्य निवेदितवत्यः,—'राजन् ! कृष्णजनन्यद्य न भुक्तवती, न केनचिदुक्तवती च वर्तते, तामनु सर्वाश्च तथा वर्तन्ते।' ॥८२॥

"व्रजराजः सहदुःखहासमुवाच,—'वयं किं कुर्मः ? रोषमनुवर्तमाना स्वयमेव स्वदोषं पश्यतु।' सर्वाः सास्रमूचुः,–'हन्त ! सा खल्वन्तर्बहिरप्यतिकोमला तवेदृशालापेन तापेनाति-म्लास्यति।' व्रजराजस्तु सस्मितः सुतमपृच्छत्,–'तात ! स्व-मातरं यास्यसि ?' कृष्ण उवाच,–'नहि नहि, किन्तु त्वामेव समया समयान् गमयिष्यामि।' अथ राजज्यायः-प्रजावत्यः सहासमूचुः,–'स्तनं कस्य पास्यसि ?' कृष्ण उवाच,–'सितासम्भविष्णु धारोष्णं पयः पास्यामि।' सर्वा ऊचुः,–'केन क्रीडिष्यसि ?' कृष्ण उवाच,–'तातेनैव समम्; तथा भ्रातरमपि सङ्गं गमयिष्यामि।' व्रजराज उवाच,–'भ्रातुर्मातरं कथं नानुगच्छसि ?' कृष्णः सरोषास्रमुवाच,–

एकसाथ भोजन किया। पश्चात् मूर्तिमान् परमानन्दपूरक श्रीकृष्ण बलदेव दोनों भैयाओं के साथ, एक मुहूर्त विश्राम करके, एवं अच्छी प्रकार सोने बैठने के सुख से सुस्वस्थचित्त होकर, सायंकाल में गैयाओं के आने के रमणीक समय में, गोशाला में आकर गोपों के द्वारा गोदोहनादि कार्य सम्पन्न कराया ॥८०॥

पश्चात् घर से अतिश्वेत मिश्री मँगवाकर, उसके सहित अत्यन्त हितकर धारोष्ण दुग्ध को, स्तनपान के प्रतिनिधिरूप से, समान अवस्था वाले सुबलादि सखाओं के सहित, दोनों ही पुत्रों को पान कराया, और वहीं पर दोनों लालाओं को दोना बनाने की, पाठान्तर में पत्र लिखने की शिक्षा भी दी ॥८१॥

उसके पश्चात् अपने भवन में आकर, उन दोनों भाइयों के साथ, श्रीव्रजराज का सायंकालीन भोजन का सुखसमाज सम्पन्न हो जाने पर, व्रजराज के निरन्तर सुख की कामना वाली, एवं अपने अपने कुल की मणिमुक्तामयी लक्ष्मीस्वरूपा, ऐसी सभी प्रामाणिक वृद्ध गोपियाँ, श्रीव्रजराज के पास आकर श्रीरोहिणीजी के सहित निवेदन करने लग गईं कि, हे राजन् ! कृष्ण की माँ ने आज भोजन नहीं किया हैं, और किसी के साथ कुछ बोली भी नहीं हैं, उनकी ऐसी दशा देखकर घर की सभी गोपियाँ, उनकी तरह बिना खाये पीये चुपचाप बैठी हैं ॥८२॥

व्रजराज दुःख एवं हास्य के सहित बोले कि, हम क्या करें ? क्रोध का अनुसरण करनेवाली वह अपने दोष को स्वयं ही देख ले।

सभी अश्रु बहाती हुई बोलीं—हाय ! वह तो निश्चय ही भीतर एवं बाहर से अतिशय कोमल है, आपके ऐसे कथन से तो वह सन्ताप से और अधिक दुःखी हो जायगी।

व्रजराज ने मुस्क्याकर लाला से पूछा कि, लालन ! अपनी अम्मा के पास जायगा ? कृष्ण बोले—नहिं, नहिं। किन्तु आपके ही निकट समय को बिताऊँगा। तदनन्तर व्रजराज के बड़े भाई उपनन्द आदि की घर वाली हँसकर बोलीं कि—व्रजराज के पास रहकर किसके स्तन का पान करेगा ?

'मां विहायेयमपीयाय।' इति। तदेतदाकर्ण्य सास्रा रोहिणी नोचैरुवाच,—'पुत्र! कथं कठोरायसे, माता तव दुःखायते।' कृष्णस्तदेतदशृण्वन्निव सास्रं पितृमुखमीक्षते स्म ॥८३॥

"रोहिणी तु सङ्कर्षणं तस्य सङ्कर्षणाय संज्ञया ज्ञापयामास। तेन गृहीतहस्तः पुनरसौ निरस्ततद्धस्ततया विद्रुत्य पितुरुत्सङ्गसङ्गी बभूव। तथाभवंश्च भुजाभ्यामवगुण्ठिततत्कण्ठः कृतवाष्पवृष्टि तद्दृष्टिमेव पश्यंस्तमतीव वश्यमाचरन्नासीत् ॥८४॥

"व्रजराजस्तु मातर्यन्तःस्नेहमस्य पर्यालोच्य तदभिव्यक्तये हस्तं किञ्चिदुदस्तं विधायाभिदधे,—'पुत्र! यदि वक्षि, तर्हि बाढं तां ताडयामि।' कृष्णस्तु तदसहमानस्तस्य हस्तं स्तम्भयामास। ततो व्रजराजः पुनर्विहस्य निजवत्सलतयातीव सदयं तदीयमातुरपि हृदयमधियन्, 'पुत्र! तव माता यद्येवं भविष्यति, तदा किं करिष्यसि' इत्यनधातोर्विरुद्धार्थं प्रयुज्य सपरिहासमाह स्म ॥८५॥

"कृष्णस्तु बालकभावेनाजस्रं मातरि सतृष्णः सास्रं 'कुत्र मे माता, तत्र गम्यताम्' इति सशङ्कं रोहिण्यङ्कं गतवान्। ततश्च प्रहसितकलकलेषु सकलेषु परमसुखारोहिण्या रोहिण्यानीतः सोऽपि वेश्म प्रविश्य सरोदनमोदमम्बागलं लग्नवान् ॥८६॥

श्रीकृष्ण बोले—मिश्री से मिला हुआ धारोष्ण दूध पी लूंगा। सभी बोलीं—किसके साथ खेलेगा? श्रीकृष्ण बोले—पिताजी के साथ ही, तथा भैया को भी साथ ही ले जाऊँगा।

व्रजराज बोले—अच्छा, तो भैया की मैया रोहिणी का अनुसरण क्यों नहीं करता? श्रीकृष्ण ने क्रोधसहित सजलनयन होकर कहा—मुझको छोड़कर "आपत्ति के समय" यह भी तो चली गईं थीं। यह सुनकर अश्रु बहाती हुई रोहिणी धीरे से बोली—हे पुत्र! ऐसी कठोरता का आचरण क्यों करते हो? तुम्हारी माता बहुत दुःखी है। कृष्ण इन बातों को अनसुनी सी करके, सजलनेत्र हो पिता के मुख को देखने लग गये ॥८३॥

उस समय श्रीरोहिणी ने श्रीकृष्ण को खेंचने के लिये बलराम को संकेत से समझाया। बलराम ने जाकर श्रीकृष्ण का हाथ पकड़ लिया, तो भी श्रीकृष्ण उनके हाथों से छूटकर दौड़कर, पिता की गोद में चिपट गये। और पश्चात् पिता की गोद से उठकर, अपनी दोनों भुजाओं से पिताजी के गले को पकड़कर, अश्रुवृष्टि करनेवाली पिता की दृष्टि को देखते देखते, उनको अत्यन्त वशीभूत करने लग गये ॥८४॥

श्रीकृष्ण के अन्तःकरण में माता के प्रति खूब स्नेह है, यह विचारकर, उस आन्तरिक स्नेह को प्रगट करने के लिये, श्रीव्रजराज ने हाथ को कुछ ऊँचा करके श्रीकृष्ण से कहा कि—लाला! यदि तू कहे, तो तेरी माँ को पीट दूं। यह व्यवहार न सहते हुए, श्रीकृष्ण ने अपने दोनों हाथों से पिताजी के हाथ को जोर से पकड़ लिया। तदनन्तर व्रजराज ने पुनः हँसकर स्वतःसिद्ध अपने वात्सल्यभाव के कारण, अत्यन्त दयापूर्वक श्रीकृष्ण की माँ के हृदय का भी स्मरण करते हुए कहा कि, पुत्र! तुम्हारी माता यदि ऐसे हो जाय (अर्थात् मर जाय) तो तू क्या करेगा? इस प्रकार जीवनधारणार्थक अन धातु के विरुद्धार्थ का प्रयोग करके परिहासपूर्वक कहा ॥८५॥

उस समय श्रीकृष्ण बाल्यभाव से माता के प्रति निरन्तर तृष्णायुक्त होकर, सजलनेत्र हो बोले कि—मेरी मैया कहाँ है? मैं तो वहीं पर जाता हूँ, यों कहकर शङ्कितभाव से श्रीरोहिणीजो की गोद में पहुँच

"ततश्च, वत्समूर्ध्नि चिबुकं दधती सा, धेनुवद्धलित-घर्घरशब्दा ।
रोदन-प्रथनया द्रवदात्मा,-रोदयत् परिकरानपि सर्वान् ॥८७॥

"अथ तासान्त्वनेकसान्त्वनया लब्धशान्तिः किञ्चिद्वचञ्चित-मुख-कान्तिः श्रीसुमुख-कन्येयं स्तन्येन तनयं प्रीणयामास, बुभुजे च सहाग्रजातेन तेन परमहिताभिः सहिता ॥८८॥

"तदारभ्य तु सङ्कोचमुपलभ्य व्रजराज-लोचन-गोचरतां वासरत्रयं नासादितवती । दिनान्तरे तु पितृनिदेशपालबालगोपालेनैव चेलाञ्चले गृहीत्वा नीता । तद्दिनतश्च सनर्मामोदं 'दामोदरः' इति व्रजवधूभिराहूयते स्म 'सोऽयं श्याममनोहरः' इति ॥८९॥

"व्रजेश्वरीं स्तोतुमपीह कोविदः, को वा भवेल्लोकग-लोकसंग्रहे ।
ब्रह्मापि सर्वोऽपि रमापि यत्कला,-कलाञ्च नाश्नोदिति बादरायणिः ॥९०॥

"सोऽयमस्या बादरायणिना घटितसम्यगुद्घट्टनः श्रीमान् यशःपटहशब्दस्त्रैलोक्यमेव श्लोक्यतया पर्यटन्नस्ति । तथाहि (भा० १०।९।२०) 'नेमं विरिञ्चः' इत्यादि ॥९१॥

गये । तदनन्तर सभी जनों के हास्यपूर्वक कोलाहल उपस्थित करने पर, परमसुखप्रदायिनी श्रीरोहिणीजी के द्वारा लाये गये श्रीकृष्ण भी, घर में धँसकर रोते हुए हर्षपूर्वक माता के गले से जा लगे ॥८६॥

तदनन्तर धेनु के समान प्रबल घर्घर शब्द करनेवाली श्रीयशोदा ने अपने लाला के मस्तक पर ठोडी को धरते हुए, अपने स्नेह भरे रोने के विस्तार से अपना हृदय द्रवीभूत कर लिया, एवं सभी परिजनों को रुला दिया, अर्थात् उनकी ऐसी दशा को देख, सभी परिजन रोने लग गये ॥८७॥

उसके पश्चात् उन सब वृद्ध गोपियों की अनेक प्रकार की सान्त्वना से यशोदा को शान्ति प्राप्त हुई, उनके मुख की किंचित् शोभा भी प्रकाशित हो गई, पश्चात् श्रीसुमुख गोपकुमारी श्रीयशोदा ने अपने स्तन के दुग्ध से अपने लाला को प्रसन्न किया । तथा बड़े भैया श्रीबलरामजी से युक्त श्रीकृष्ण के साथ परम-हितैषिणी उपनन्दगृहिणी आदि सभी के साथ मिलकर भोजन भी कर लिया ॥८८॥

उस दिन से लेकर श्रीयशोदाजी संकोच को प्राप्त होकर तीन दिन तक श्रीव्रजराज के नेत्रों के सामने नहीं आईं, किन्तु तीन दिन के बाद, पिता की आज्ञा का पालन करनेवाले, बालगोपाल ने ही, चूनरी में पकड़कर उनके सामने पहुँचा दीं । दामबन्धन के दिन से सभी व्रज की गोपियाँ परिहास एवं आनन्द के सहित श्रीकृष्ण को 'दामोदर' कहकर बुलाने लग गईं, एवं बात बात में यह वही 'श्याममनोहर' है, ऐसे कहने लग गईं ॥८९॥

श्रीकृष्ण का बारंबार लोकोत्तर ऐश्वर्य देखने पर भी, जिनका वात्सल्यरस किंचिद् भी न्यूनता को नहीं प्राप्त होता, ऐसी वात्सल्यरसमयी श्रीयशोदाजी की स्तुति करने के लिये, सांसारिक लोगों में कौन विद्वान् समर्थ हो सकता है ? औरों की बात तो दूर रहने दो, श्रीशुकदेवजी ने भी कहा है कि, सबको मुक्ति देने वाले बालमुकुन्द से, जो प्रसन्नता का सुख श्रीयशोदाजी को प्राप्त हुआ, उसका शतांश भी ब्रह्मा, शंकर, लक्ष्मी को न मिल सका, अर्थात् भक्तिपक्ष में श्रीयशोदाजी की कला की कला को भी ब्रह्मा, शंकर आदि नहीं प्राप्त कर सके ॥९०॥

श्रीशुकदेवजी ने जिसका अच्छी प्रकार उद्घाटन किया है, श्रीयशोदाजी का ऐसा शोभायुक्त यशरूपी

"श्रीरामस्तु निजानुजं सतृष्णमाह स्म,—'स्मरसि, भ्रातर्बृहद्वने वत्स्याव: ?' अनुजोऽपि सस्मितमाह स्म—'आम् आम् तत्र क्रीडामपि करिष्याव:' इति ।" ॥६२॥

अथ कथकः समापनमाह,—

"ईदृशस्तनयो जातस्तव गोपमहेश्वर ।
यौ वृक्षावपि तौ स्वस्य दिव्यभक्तौ विनिर्ममे ॥"६३॥

तदेवं वृत्ते वृत्ते सर्वे तत्तत्कथामपि तत्तत्पर्वेवानुभूय स्व-स्ववासमेवासन्नवन्तः ॥६४॥

॥ इति श्रीश्रीगोपालचम्पूमनु दामोदरानुमोदो नामाष्टमं पूरणम् ॥८॥

नगाड़े का शब्द ख्याति के सहित, तीनों लोकों में घूम रहा है। इसमें (भा० १० । ६ । २०) "नेमं विरिञ्चः" इत्यादि पद्य ही प्रमाण हैं ॥६१॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण की परमेश्वरता का अनुभव करते हुए, श्रीबलरामजी अभिलाषापूर्वक अपने छोटे भाई श्रीकृष्ण से बोले कि—भैया ! याद है, हम तुम दोनों प्रगट लीला में महावन में वास करते थे ? श्रीकृष्ण ने भी मन्दहास करते हुए कहा कि—हाँ, हाँ । वहाँ पर हम तुम क्रीड़ा भी करते थे ॥६२॥

तदनन्तर कथावाचक स्निग्धकण्ठ ने इस प्रकार समाप्ति का वचन कहा कि—हे गोपों के राजाधिराज ! आपके ऐसा विचित्र लोकोत्तर लाला उत्पन्न हुआ है, जिसने यमलार्जुन नामक वे दोनों वृक्ष भी अपने दिव्य भक्त बना लिये ॥६३॥

अब ग्रन्थकार प्रसङ्ग को समाप्त करते हुए, स्वयं कहते हैं कि, इस प्रकार दामोदरलीला के समाप्त हो जाने पर, श्रीकृष्ण की उन उन कथाओं को भी, उन उन उत्सवों का सा अनुभव करते हुए, सभी सभासद अपने अपने घर को चले आये ॥६४॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीगोपालचम्पूकाव्ये दामोदरानुमोदननामकं
अष्टमं पूरणं संपूर्णम् ॥८॥

अथ नवमं पूरणम्

श्रीवृन्दावन-प्रवेशः

अथ दिनान्तरे भासमानायां सभायां श्रीव्रजराजः पर्यनुयुक्तवान्,—"वत्स स्निग्धकण्ठ ! तौ खलु वृक्षौ व्रजे सङ्कल्पप्रदतया देवतासदृक्षौ, ततः प्राग्जन्मनि कीदृशावत्र वा कस्मादागतौ सम्प्रति च कीदृशतया क्व गतौ ?"॥१॥

स्निग्धकण्ठ उवाच,—"पूर्वं धूर्जटिमित्रादुत्पन्नवन्तौ कदाचित्तु श्रीदेवर्षिवर्ये धाष्टर्य मनुष्ठितवन्तौ सन्तौ परिणामतः परमानुग्रहेण श्रीदेवर्षि-वर्यकृतनिग्रहेण वृक्षतायामपि भगवद्भक्ततामागतवन्तौ प्रतिभवदवतारमुद्भवतस्तस्य बृहद्वनस्थभवद्गृहस्य तु सदेशे देशे यमलार्जुनवेशेन स्थितवन्तौ। एतदनन्तरञ्च निजगतिमागतवन्तौ परमभगवद्भक्तिमन्तौ च जातवन्तौ। सम्प्रति तु तद्भक्तिफलव्यक्तिमप्याकलयन्तौ वर्तेते ॥२॥

व्रजराजः सकौतुकमुवाच,—"कथ्यतां तथ्यम्, सम्प्रति कुत्र प्रतियातौ ? अथ स्निग्धकण्ठः स्व-मुखकमलं नमयित्वा तूष्णीमिव स्थित्वा च मधुकण्ठं कटाक्षेणेक्षाञ्चक्रे। व्रजराज उवाच,–संकुचन्निव कथं नोविवानसि ? स्निग्धकण्ठः ससम्भ्रममुवाच,–देव ! वयं किं ब्रूमहे ? श्रीचरणाः स्वयमेव वेत्स्यन्ति। व्रजराजः सस्मितमुवाच,–सत्यं भवदुक्त

नवम पूरण

श्रीवृन्दावन-प्रवेशलीला

तदनन्तर अन्य दिन भी देदीप्यमान सभा के बीच में श्रीव्रजराज ने पूछा कि—वत्स ! स्निग्धकण्ठ ! वे दोनों वृक्ष इस व्रज में संकल्पित अभीष्ट वस्तु देने वाले होने के कारण देवताओं के समान थे, उससे पहले जन्म में वे कैसे थे, और इस व्रज में किस कारण से आ गये, एवं इस समय वृक्षयोनि से छूटकर किस रूप से कहाँ चले गये ? ॥१॥

स्निग्धकण्ठ बोला—पहले शिवजी के मित्र अलकापति यक्षराज श्रीकुबेर से उत्पन्न हुए थे, किन्तु किसी समय देवर्षिवर्य श्रीनारदजी के प्रति धृष्टता कर बैठे, (इन दोनों वृक्षों का सारा वृत्तान्त श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध के दशम अध्याय से पढ़ सुनकर समझ लेना चाहिये, धृष्टता, निग्रह, अनुग्रह आदि का सारा ज्ञान हो जायगा)। पश्चात् श्रीदेवर्षिवर्य के द्वारा किये गये निग्रहरूप अत्यन्त अनुग्रह के द्वारा वृक्ष होने पर भी, भगवान् के भक्तिभाव को प्राप्त हो गये। आपके प्रत्येक अवतार के समय उत्पन्न (प्रगट) होने वाले महावन में विराजमान आपके घर के समीप वाले स्थान में, यमलार्जुन के वेश से स्थित रहे। इसके पश्चात् अपनी वास्तविक गति को प्राप्त होकर, परम भगवद्भक्त भी होगये, किन्तु इस समय तो वे दोनों भगवान् की भक्ति के परिणाम को प्रकाशित करते हुए (प्रेमीभक्तों के प्राप्य स्थान पर) विद्यमान हैं ॥२॥

श्रीव्रजराज कौतुकपूर्वक बोले—सत्य सत्य कहो बेटा ! इस समय वे दोनों कहाँ चले गये हैं'?

तदनन्तर स्निग्धकण्ठ अपने मुखकमल को नवाकर चुप सा होकर, कटाक्षपूर्वक मधुकण्ठ को देखने लग गया। व्रजराज बोले—संकुचित से होकर तूने कुछ भी क्यों नहीं कहा ? स्निग्धकण्ठ आदरपूर्वक बोला—महाराज ! हम क्या कहें ? पूज्यपाद आप स्वयं ही जान लेंगे।

पुनरुक्तमेव भवेत्, यतो भवतो मौनमेवात्र ब्रवीतीति रीतिवशाज्ज्ञातवन्त एव च वयम्, तथापि स्वमुखेन सुखेन योजयतु भवानस्मान् । स्निग्धकण्ठ उवाच,—सर्वसुखवर्षि-श्रीदेवर्षि-चरणानां कृपणविषयकृपाक्लृप्ततदेद्गतौ लब्धमतौ तावेव स्फुटमावाम् ।" इति ॥३॥

तदेतदाकर्ण्य निर्वाणततन्मुखाः श्रीव्रजराजप्रमुखाः समाहूय भूयः सकौतुकं समुखं तौ मिलितवन्तः; मध्ये समुपवेश्य निरीक्षितवन्तश्च ॥४॥

पुनस्तु तत्प्रश्नानन्तरं मधुकण्ठः क्रमप्राप्तां कथां प्राह,—॥५॥

"तदेवं विचित्रात् पूर्वचरित्राद्दिवसपञ्चकानन्तरं श्रीमानुपनन्दः स्व-मन्दिरं विन्दमानः स्वपत्नीं पप्रच्छ,—'अद्य स्व-देवरनरदेवगृहे किं गमनमङ्गलं जगृहे भवत्या ?' पत्नी प्राह,—'अथ किम्, को वा तद्गमनं विना मनो मानयितुं शक्नोति, किमुत भवद्विधसविध-सम्बन्धिनस्ते वयम् ?' पतिराह,—'विशेषश्चेत् कथ्यताम् ।' ॥६॥

"पत्नी प्राह,—'यस्मिन् प्रेमप्रचुरं, भयमपि तस्मिन् विभाव्यते प्रचुरम् ।
यद्वन्नेत्रं शङ्का,-विषयस्तद्वन्न कर्णादि ॥'७॥

व्रजराज मुस्क्याकर बोले—सत्य ही तुम्हारा कहना पुनरुक्त ही हो जायगा, कारण इस विषय में तुम्हारा मौन ही सब कुछ कह रहा है, रीति भाँति के कारण हम सब समझ गये हैं, तथापि अपने मुख से कहकर ही तुम हमको सुख से युक्त करो। स्निग्धकण्ठ बोला—सब सुखों की वृष्टि करनेवाले पूज्यपाद देवर्षिवर्य श्रीनारदजी महाराज की, अधम पतित दीनजनों पर जो अहैतुकी कृपा, उसी के द्वारा जिनको यह व्रजवासरूपी गति मिली है, एवं भगवत् तत्त्वज्ञान सम्बन्धी सर्वज्ञता प्राप्त हुई है, बस, समझ लीजिये कि वे दोनों (नलकूबर, मणिग्रीव नामक कुबेर के पुत्र या यमलार्जुननामक वृक्ष) हम दोनों के रूप में स्पष्टरूप से आपके समक्ष विद्यमान हैं, अर्थात् वे दोनों दुर्दान्त ही हम दोनों हैं ॥३॥

यह सब वृत्तान्त सुनकर श्रीव्रजराज प्रभृति सभीजन उन दोनों के मुख को देखकर, अपने अपने पास बुलाकर, पुनः कौतुकसहित सुखपूर्वक उन दोनों से भुज भरकर मिले, तथा बीच में बैठाकर आँख फाड़ फाड़ कर, दोनों की ओर निहारने लग गये ॥४॥

पश्चात् श्रीव्रजराज के प्रश्न के अनन्तर क्रमशः अवसर प्राप्त कथा को मधुकण्ठ कहने लगा—॥५॥

इस प्रकार का विचित्र चरित्र जिस दिन हुआ, उस दिन से पाँच दिन के पश्चात्, श्रीमान् उपनन्दजी ने अपने भवन में पहुँचकर, अपनी धर्मपत्नी से पूछा कि—प्रिये ! अपने देवर व्रजराज के घर में आज तुम्हारे द्वारा गमनरूपी मङ्गलकार्य हुआ कि नहीं, अर्थात् आज तुम उनके घर गई कि नहीं ? पत्नी बोली—और क्या ? अर्थात् मैं अवश्य गई, क्योंकि महावन में ऐसा कौन व्यक्ति है, जो कि श्रीव्रजराज के घर जाये बिना अपने मन को मना सकता है ? फिर आप जैसे निकटवर्ती सम्बन्धियों की तरह हम भी तो वैसे ही सम्बन्धी हैं, फिर हम जाये बिना कैसे रह सकते हैं ? पति बोले—यदि कोई विशेष बात हो तो कहो ॥६॥

पत्नी बोली—जिस वस्तु में अधिकतर प्रेम होता है, उसमें भय की अधिकतर आशंका देखी जाती है। देखो ! नेत्र जैसे शंका के विषय हैं, उस प्रकार कान आदि अन्य अंग शंका के विषय नहीं हैं ॥७॥

"तथाहि यद्यपि निरवद्याधानविधातृ-मातृप्रभृतिभी रक्ष्येते सभीभिरेव तौ, तथापि खेलावेलायां सम्भालयितुमपारणीयतया सुकलमेव विकलयतः। तत्र चाद्यतनं वृत्तं प्रतिपद्यताम् ॥८॥

"तौ भवद्भ्रातृजौ सनिजव्रज-व्रजेश्वर-भोज्यसज्जनाय जनितामोदायां यशोदायां तदीयसाहायकारोहिण्यामपि रोहिण्यामाशङ्कापात्रीर्धात्रीर्वञ्चयित्वा विदूरं चञ्चितवन्तौ ॥९॥

यथा—धात्रीणामपरत्र कर्मणि मनाग्दत्तात्मनामग्रतः
सव्यासव्य-दृशोर्द्दशोरविषये सान्तर्धिदेशे च तौ।
क्रीडादम्भवशात् क्रमादपगतौ विद्रुत्य दूरस्थितौ
तत्राथ स्व-सुहृद्भिरुद्धतगणैः कोलाहलं चक्रतुः ॥१०॥

"अथ तथा निकृतस्तत्पालनाधिकृतधात्रीवर्गः क्षणात् कृतावधानसर्गः शीघ्रमेव कृतानुमार्गः क्रमेण स्वस्याकारणमकारणतामासादितमवधार्य निजेश्वर्योरावेदयामास ॥११॥

"तावच्च ततोऽप्यतिदूरं गम्भीरसरित्तीरं गतावाकर्ण्य पूतनासूदनप्रसू रामाम्बामेव तयोः सङ्कूलनाय चालयामास। हन्त! न जाने खल्वर्जुनयुगलवद्दुर्जनप्रेर्यमाणतया

और देखो! अच्छी प्रकार रक्षा करने में समर्थ माता आदि सभी गुरुजन भयभीत होकर ही, यद्यपि उन दोनों कृष्ण बलदेव नामक बालकों की रक्षा करते रहते हैं, तथापि खेलते समय उन दोनों को सँभालने के लिये किसी की भी सामर्थ्य न होने के कारण, वे दोनों भाई सुकल (दाता भोक्ता) सभी को व्याकुल कर देते हैं। उसमें आज के वृत्तान्त को सुनो समझो ॥८॥

सभी आत्मीयजनों के सहित व्रजेश्वर की जो खाद्य सामग्री, उसको बनाने के लिये आनन्दयुक्त श्रीयशोदाजी के व्यस्त हो जाने पर, तथा श्रीरोहिणीजी के भी उन्हीं की सहायकारिणी बन जाने पर, "हमारे स्वतन्त्र खेलने में ये धाइयाँ ही रोकने वाली होंगी", इस प्रकार की शंका की पात्र, उन धाइयों को भी धोखा देकर, आपके छोटे भैया के वे दोनों लाला बहुत दूर भाग गये हैं ॥९॥

देखो! धाइयाँ जिस समय दूसरे काम में किंचित् मनोयोग देने लग गईं, उसी समय उन्हीं के आगे से उनके बाँये दाँये भाग में दोनों नेत्रों से न देखने योग्य स्थान में, एवं जहाँ पर दुबक के ठहरा जा सके, ऐसे स्थान में वे दोनों भैया कपटमयी क्रीड़ा के बहाने क्रमशः चले गये, और दौड़कर दूर खड़े हो गये, तथा वहाँ पर उच्छृङ्खल अपने मित्रों के सहित ऊँचे स्वर से हल्ला गुल्ला करने लग गये ॥१०॥

तदनन्तर इस प्रकार उन दोनों बालकों की रक्षा के लिये नियुक्त धाइयों ने धोखे में पड़कर, क्षणभर बाद सावधान होकर, शीघ्र ही उन दोनों को ढूँढ़कर, क्रम से उन दोनों का नाम ले लेकर बुलाया भी, पश्चात् अपने बुलाने को निष्फल समझकर, अपनी स्वामिनी श्रीयशोदा एवं रोहिणी के निकट जाकर, निवेदन कर दिया कि, वे दोनों ऊधमी हमारे बुलाने से घर नहीं आते हैं ॥११॥

जब तक उनने निवेदन किया, तब तक तो वे दोनों गम्भीर यमुनानदी के तीर पर चले गये, ऐसा समाचार सुनकर श्रीयशोदाजी ने उन दोनों को लिवाने के लिये, बलराम की माता श्रीरोहिणी को भेज दिया, और कहा कि, हाय! बहनजी! जाना नहीं जाता यमलार्जुन वृक्षों की तरह, किसी दुर्जन के द्वारा

कश्चिदनोकहो वा नद्यवरोहो वा स्खलतीति मयि पाककर्मविपाकावरुद्धायां सत्वरं त्वमेव स्वयं याहीति ॥१२॥

"सा च तत्र गता शीघ्रं व्यग्रीभूताङ्गमानसा ।
सरित्तीरगतं कृष्णं भग्नार्जुनमथाह्वयत् ॥१३॥

"ततश्च क्रीडारङ्गाकुलतया तदनङ्गीकर्तरि सङ्गीशितरि कृष्णे कृष्णाग्रजे च तदनुगतृष्णे सा परिवृत्य सद्मागत्य तस्य किञ्चिद्भयस्थानं प्रभव-स्थानमेव प्रस्थापयामास ॥१४॥

"ततश्च तन्माता च गत्वा—

क्रीडन्तं तनयं बालैरतिवेलं सहाग्रजम् ।
वीक्ष्य स्तनमिषात् स्नेहं वर्षन्ती हूतिमातनोत् ॥१५॥

"न तु सहसा समीपमाप तत्पलायनशङ्कया । आहूतिमाधुरी चेयमास्वादधुरीणतां नीयताम् (भा० १०।११।१५)—॥१६॥

'कृष्ण ! कृष्णारविन्दाक्ष ! तात ! एहि स्तनं पिब ।
अलं विहारैः क्षुच्छ्रान्तस्तद्भवान् भोक्तुमर्हति ॥' इति ॥१७॥

प्रेरित होकर, कोई वृक्ष अथवा नदी का तट गिर जायगा, तो महती आपत्ति आ जायगी । मैं तो भोजन बनाना रूपी कर्मविपाक में बँधी हुई हूँ, अतः तू ही स्वयं शीघ्र चली जा ॥१२॥

तदनन्तर तन मन से व्याकुल होती हुई, श्रीरोहिणीमाता वहाँ चली गई, और नदी के तीर में विद्यमान, यमलार्जुन को तोड़ने वाले श्रीकृष्ण को बुलाने लग गई ॥१३॥

किन्तु क्रीड़ा के रंग में आकुल होने के कारण, सङ्गीजनों के नियन्ता श्रीकृष्ण ने जब रोहिणीमाता के बुलाने को अङ्गीकार नहीं किया, एवं बलभद्रजी ने भी श्रीकृष्ण की इच्छा के अनुकूल होकर स्वीकार नहीं किया, तब तो श्रीरोहिणीजी ने लौटकर घर आकर, कृष्ण के लिये किंचिद् भय की स्थानस्वरूप, एवं उनकी उत्पत्तिस्थान स्वरूप श्रीयशोदाजी को ही बुलाने को भेज दिया ॥१४॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण की माँ ने यमुना के तीर पर जाकर, व्रजवासी बालकों के सहित एवं बड़े भैया के सहित खेलते हुए अपने पुत्र को देखकर, स्तनों के दुग्ध के बहाने मूर्तिमान स्नेह की वर्षा करते हुए बुलाना प्रारम्भ कर दिया ॥१५॥

किन्तु श्रीकृष्ण के दूर भाग जाने की आशंका से सहसा उनके पास नहीं गई । और हे पतिदेव ! श्रीयशोदाजी के द्वारा बुलाने की जो यह माधुरी है, इसका तो आप अच्छी प्रकार आस्वादन करें ॥१६॥

(श्रीमद्भागवत १० । ११ । १५) में, यथा—दूर से ही बुलाती हुई यशोदा कहती हैं कि, "हे लाला ! कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे कमलनयन ! हे प्यारे पुत्र ! शीघ्र ही मेरे पास आओ । स्तनपान करो । अब अधिक खेलने की आवश्यकता नहीं है, तुम भूख से श्रान्त हो, अतः तुमको इस समय भोजन करना ही उचित है" ॥१७॥

"तथापि मिथः सङ्घर्षतः क्रीडातर्षवन्तं तमनागच्छन्तं धर्षयन्ती विच्छिद्दुरता-विधुर-सजातीय स्नेहस्य द्वितीयपात्रमादृतस्ववचनमात्रतयावश्यमेव वश्यं श्रीबलभद्रमेव सानुक्रोशं चुक्रोश (भा० १०।११।१६-१७)—॥१८॥

'हे रामागच्छ ताताशु सानुजः कुलनन्दन !।
प्रातरेव कृताहारः क्रीडाश्रान्तोऽसि पुत्रक !॥
प्रतीक्षते त्वां दाशार्ह ! भोक्ष्यमाणो व्रजाधिपः।
एह्यावयोः प्रियं धेहि स्वगृहान् यात बालकाः ॥'१९॥

"ततो मातृहर्षणाय निवर्तयितुं कृष्णं कर्षति सङ्कर्षणे सच्छलप्रोत्साहनं तमेव भणति स्म, (भा० १०।११।१८)—
'धूलीधूसरिताङ्गस्त्वं तात ! मज्जनमावह ! जन्मर्क्षं तेऽद्य भवति विप्रेभ्यो देहि गाः शुचिः॥'२०॥

"पुनस्तदानीमेव गृहादागतान् बालानाकलय्य स्पृहां बृंहयन्ती बभाषे, (भा० १०।११।१९)—
'पश्य पश्य वयस्यांस्ते मातृमृष्टानस्वलंकृतान्। त्वं च स्नातः कृताहारो विहरस्व स्वलंकृतः॥२१

इतना कहने पर भी खेल में विजय प्राप्त करने के लिये, परस्पर स्पर्धापूर्वक खेलने की तृष्णा वाले, अतएव पास में न आते हुए श्रीकृष्ण को फटकारती हुई, श्रीयशोदाजी विच्छेदरहित सजातीय (समान) स्नेह के द्वितीय पात्र एवं, अपने वचनमात्र का आदर करनेवाले होने के कारण, अवश्यमेव वश में रहनेवाले, श्रीबलभद्र को ही दयापूर्वक बुलाने लग गईं ॥१८॥

(श्रीमद्भागवत १०।११।१६-१७) में, यथा—हे राम ! हे तात ! हे कुलनन्दन ! तुम अपने छोटे भैया के सहित शीघ्र ही चले आओ। हे लाल ! तुमने प्रातःकाल ही आहार किया था। हे पुत्र ! मैं देख रही हूँ, तुम खेलने से थक गये हो। हे दशार्हवंशोत्पन्न ! राम ! व्रजपति श्रीनन्दजी भोजन करने थाली पर बैठ गये हैं, तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं, जब तक तुम नहीं आओगे, तब तक एक ग्रास भी नहीं तोड़ेंगे। अतः मेरे साथ घर की ओर आओ। हम दोनों का प्रिय कार्य करो। हे बालको ! तुम सब अपने अपने घरों को जाओ। इस प्रकार अन्य बालकों से भी कहा ॥१९॥

तदनन्तर माता के हर्ष के निमित्त श्रीकृष्ण को क्रीड़ा से निवृत्त करने के लिये, श्रीदाऊजी अपने हाथ में पकड़कर जब खैंचने लगे, तब श्रीव्रजेश्वरी छल एवं प्रोत्साहनपूर्वक श्रीकृष्ण को ही बोली—हे तात! तेरे सारे अंग धूलि से धूसरित हो रहे हैं, चलो स्नान करो। आज तेरा जन्मनक्षत्र है, अतः पवित्र होकर ब्राह्मणों को गैयाओं का दान करो ॥२०॥

पुनः उसी समय अपने अपने घर से आये हुए बालकों को दिखाकर, स्नान भोजन आदि के प्रति श्रीकृष्ण की स्पृहा को बढ़ाती हुई बोली—हे लाला ! देखो, देखो तो सही। अपने मित्रों को, ये अपनी अपनी माताओं ने स्नान कराकर, अलंकारों से सजाकर, कैसे सुन्दर बना दिये हैं, तुम भी घर को चलकर, स्नान करके, भोजन करके, अलंकारों से अलंकृत होकर, पुनः दिनभर खेलते रहना ॥२१॥

"तदेवं बाल्यमेवारभ्य विप्रपोषणादात्मनस्तोष इति तदारम्भाय स्तम्भमानमाह्वानादि-लक्ष्येण लघु लघु समीपमासन्ना सरामं रामानुजं भुजयोर्गृहीत्वा गृहमानिनाय ॥२२॥

"ततश्च (भा० १०।११।१८) 'जन्मर्क्षं ते' इति मिथ्याकथ्यमानमपि तेनाऽऽगृहीतं नितरामेव गृहीतवती व्रजराजगृहिणी तत् पर्व, यत्र दुष्टदृष्टिनिवारणाय सयन्त्रा मन्त्रा मुहुर्विन्यासमूहुः ॥२३॥

"तदेवमवधाय स सर्वदर्शः श्रीमानुपनन्दः परामर्शं,—'सत्यमाशङ्कितं प्रजां प्रति प्रजावत्योरनयोः प्रजावत्योः, यदिदं गोष्ठप्रकोष्ठमवदुष्टमिव दृश्यते। भवतु, व्रजराजसमाजमनु विचारयिष्यामः।' ॥२४॥

"तत्पत्नी प्राह,—'विचारः पुनस्तत्रभवत्येव स्थास्यते।'॥२५॥

"अथ प्रातरेव गोव्रजव्रजान्तस्थायां सर्वास्थास्पद-व्रजराजसमाजराजमानायामास्थान्यां मिलिता गोपाला गोपालनादिसौकर्यं नात्रेति पर्यालोचयामासुः ॥२६॥

"चिरवासेनोत्सन्नतासन्नवनतया बृहद्वनस्य। तत्र तु वयोज्ञानाभ्यां वृद्धः श्रीरामकृष्ण-प्रेम्णा समृद्धः स्वाङ्क-पल्यङ्कं सदलङ्करिष्णुना मध्ये मध्ये च चिबुकं गृहीत्वा वितथप्रश्नमा-

---

इस प्रकार बाल्यावस्था से ही लेकर, श्रीकृष्ण को ब्राह्मणों के पोषण से आत्मसंतोष होता था, अतः उसी कार्य को करने के लिये श्रीकृष्ण स्तम्भित हो गये। इसलिये बुलाने आदि के लक्ष्य से श्रीयशोदाजी धीरे धीरे लाला के पास आईं, और बलदेवजी के सहित श्रीकृष्ण को भुजाओं में पकड़कर अपने घर को ले आईं ॥२२॥

तदनन्तर "आज तुम्हारा जन्मनक्षत्र है" यह वाक्य श्रीयशोदाजी ने लाला को बहलाकर, घर ले जाने के लिये मिथ्यारूप से ही कहा था, तो भी श्रीकृष्ण के आग्रह के कारण श्रीव्रजराजपत्नी यशोदा ने उस जन्मोत्सवरूप पर्व को अच्छी प्रकार ग्रहण किया, एवं ठाठ बाट से मनाया। जिस पर्व में दुष्टों की कुदृष्टि के निवारण के लिये, ब्राह्मणों के द्वारा उच्चारित मन्त्र, देवताओं के अधिष्ठानरूप यन्त्रों के सहित बारंबार विन्यास को प्राप्त हुए ॥२३॥

इस प्रकार अपनी पत्नी के वाक्यों के द्वारा सम्पूर्ण वृत्तान्त को समझकर, त्रिकालज्ञ सर्वदर्शी श्रीमान् उपनन्दजी इस प्रकार परामर्श (विचार) करने लग गये कि, पुत्रवती यशोदा एवं रोहिणीरूप इन दोनों भ्रातृजायाओं (भौजाइयों) की अपनी सन्तान के प्रति जो आशंका है, वह सत्य ही है, क्योंकि यह गोष्ठ भूमि का प्रकोष्ठ प्रायः दुष्टजनों के द्वारा व्याप्त सा दिखाई देता है। अस्तु, जो हो। व्रजराज की सभा में जाकर ही विचार करेंगे ॥२४॥

श्रीउपनन्दजी की पत्नी बोली—उस सभा में विचार भी आपके ही अधीन रहेगा ॥२५॥

तदनन्तर प्रातःकाल ही गोसमूह के गोष्ठ (खिड़क) में स्थित, एवं सर्व प्रकार के प्रयोजनों की आधारस्वरूप, तथा सबका सम्मान करनेवाली, श्रीव्रजराज के सभासदों से विराजमान सभा में सभी गोप-गणों ने सम्मिलित होकर विचार किया कि, इस स्थान पर अब गोपालन आदि कार्य सरलतापूर्वक सम्पन्न नहीं हो रहा है ॥२६॥

क्योंकि अधिक समय तक निवास करने के कारण महावन के आसपास के वन प्रायः नष्ट हो गये हैं, अर्थात् वृक्षों से रहित हो चले हैं। उस सभा में भी वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, श्रीराम कृष्ण के प्रेम से समृद्ध, श्रीमान्

चरिष्णुना तत्तदा क्रीडनकयाश्चासतृष्णेन कृष्णेन लभ्यमानानन्दः श्रीमानुपनन्दः प्रावोचदखिल-रोचनमिह च व्रजराजस्य सङ्कोचमवलोचयन् बालप्रजामात्रस्य हितपक्षमुपलक्षयामास ॥२७॥

यथा—इह न स्थेयमितीत्थं, व्रजहितमुक्तं भवद्भिर्यत् ।
तत् पुनरतिबालानां, हितप्रधानं मम स्फुरति ॥२८॥

सहजनिजनिते यन्मम, परपरयत्नेन रक्षितेऽप्यत्र ।
जातं विप्लवजातं, तस्मात् किं स्यादिहोर्वरितम् ? ॥२९॥

तत्तदुपद्रवजाते, केवल-परमेशितु रक्षा ।
तस्मिन् भारं दद्या,-दिति च न खलु तत्परैरिष्टम् ॥३०॥

चलता द्वयमनुचिन्त्यं, त्याज्यं गम्यश्च यद्धाम ।
त्याज्यं दुःखनिदानं, गम्यं सुखितानिधानन्तु ॥३१॥

उपनन्दजी ने श्रीकृष्ण के द्वारा महान् आनन्द प्राप्त किया। श्रीकृष्ण ने भी उनकी गोदरूप अपने पलका को अच्छी प्रकार अलंकृत कर दिया, अर्थात् श्रीकृष्ण उनकी गोद में बैठे हैं, बीच बीच में उनकी ठोडी को पकड़कर बालोचित स्वभाव से मिथ्या प्रश्न करते हैं, एवं अनेक प्रकार के खेलने के खिलौने माँगने के लिये लालसा से युक्त हैं, कहते भी जाते हैं कि, बाबा! हमें खिलौने दिला दो। ऐसे श्रीउपनन्दबाबा उस समय सभी के रुचिकर वाक्य बोले, तथा इस बृहद्वन (महावन) में श्रीव्रजराज के संकोच की पर्यालोचना करते हुए, बाबा ने समस्त शिशु सन्तानों के हितपक्ष को भी दृष्टिगोचर करा दिया, अर्थात् बालकों से लेकर सारी प्रजा का हित भी अपने वचनों में दिखा दिया ॥२७॥

उनके वचन ये हैं, यथा—हे सभासदो! आप सबने "इस स्थान पर हम सबको अब नहीं रहना चाहिये" इस प्रकार का जो हितकर वचन कहा है, वह वचन मेरी दृष्टि में अत्यन्त छोटे छोटे बालकों का प्रधान हितकर मालूम पड़ता है ॥२८॥

हमारे छोटे भाई जो श्रीनन्द हैं, उनके पुत्र श्रीकृष्ण के ऊपर अनेक प्रयत्नों से रक्षित होने पर भी, जब इस महावन में अनेक उपद्रव संघटित हो गये, तब वास परित्याग के लिये इससे अधिक और कौनसा कारण बाकी रह जाता है? ॥२९॥

यदि कहो कि, उन उन उपद्रवों के होने पर केवल परमेश्वर श्रीनारायण की रक्षा ही अवलम्बन है, तो भी उनके ऊपर अपने मामूली कार्यों के लिये, रक्षा का भार देना भगवान् के अनन्य भक्तों को अभीष्ट नहीं है, तात्पर्य यह है कि प्रसन्न हुए चक्रवर्ती राजा से तण्डुलकण माँगने की तरह, प्रेमलक्षण पंचमपुरुषार्थ को समर्पण करने वाले प्रभु के ऊपर, देह गेहादि तुच्छ वस्तुओं की रक्षा का भार देना, विचारशील तत्त्वज्ञभक्तजन अच्छा नहीं समझते। अपने किये हुए कर्मों का फल समझकर चुपचाप उपद्रवों को सहते रहते हैं ॥३०॥

जो व्यक्ति कहीं से चलना चाहे उसको त्याज्य एवं ग्राह्य, इन दोनों स्थानों का पहले विचार कर लेना चाहिये। उन दोनों में से जो दुःख का कारण हो उसे त्याग देना चाहिये, और जो सुखों का आश्रय हो वहीं पर चले जाना चाहिये ॥३१॥

स्थानं तदपादेयं, यदिह परत्र च घटेत दुःखाय ।
बृहदाख्यं वनमनुपद,-मैहिकदुःखाय साम्प्रतं जातम् ॥३२॥

स्थानं तदुपादेयं, यदिह परत्र च घटेत सौख्याय ।
वृन्दारण्यञ्चादः, समस्तसुखतममतीव पुण्यञ्च ॥३३॥

गोवर्धन इति नामा, यत्रारण्ये गिरिः स्फुरति ।
तत् खलु गोजातीनां, गोयानाञ्चास्ति सर्वस्वम् ॥३४॥

गोपाः काननकरदा, ग्रामादीनां विनिश्चयाभावात् ।
तदपरकाननगमने, राज्ञाञ्चाज्ञा स्वतःसिद्धा ॥३५॥

सुखतो भयतो वा यत्, कृत्यं कर्तव्यतां याति ।
शीघ्रं तत् खलु कार्यं, बलयति शङ्कामलं विलम्बस्तु ॥३६॥

उत्थातव्यं तस्मा,-दस्मात् सद्यो न कार्यमालस्यम् ।
तुलिता ह्युद्यमकलना, कृत्यं यद् यद् यदा क्रियते ॥३७॥

इयमस्माकनुदीक्षा,युष्मभ्यं यदि तु रोचमाना स्यात् ।
परवीक्षितेऽपि वस्तुनि, बहुसम्मतिरुत्सवं दुग्धे ॥३८॥

जो स्थान इस लोक एवं परलोक में दुःख देने वाला हो, वह स्थान त्याग देने योग्य है। इस समय यह बृहद्वन (महावन) नामक वन प्रतिक्षण लौकिक दुःखों का कारण बन गया है ॥३२॥

जो स्थान इस लोक एवं परलोक में सुखदायक हो, वही स्थान ग्रहण करने योग्य है। यह वृन्दावन दोनों लोकों के समस्त सुखों की अन्तिम सीमा को प्राप्त है, एवं अतिशय पवित्र भी है ॥३३॥

जिस वृन्दावन में श्रीगोवर्धननामक पर्वतराज भी विराजमान हैं, वह श्रीवृन्दावन गोगण एवं गोपगणों की सर्वस्व वस्तु है ॥३४॥

यदि कहो कि राजाओं की आज्ञा के बिना, महावन को छोड़कर जाना नहीं बने, सो बात भी नहीं। क्योंकि गोपों का कोई निश्चित ग्राम न होने के कारण, गोपगण वनों का कर देने वाले होते हैं। इसलिये एक वन से दूसरे वन में जाने के विषय में राजाओं की आज्ञा स्वतःसिद्ध है। अतः आज्ञा लेने की कोई आवश्यकता नहीं ॥३५॥

जो कार्य सुख से या भय से, अवश्य करना ही है, वह कार्य शीघ्र ही कर लेना चाहिये, यह निश्चित सिद्धान्त है। अधिक विलम्ब करना तो शंका को उत्पन्न कर देता है, अर्थात् शुभ कार्य में शीघ्रता एवं अशुभ कार्य में विलम्ब करना उचित है ॥३६॥

इसलिये इस स्थान से हम सबको शीघ्र ही उठ जाना चाहिये, आलस्य नहीं करना चाहिये। क्योंकि जो जो कार्य जब जब किया जायगा, उस उस कार्य में तब तब उद्यम बराबर एकसा ही करना पड़ेगा ॥३७॥

हमारा तो यही विचार है यदि आप सब के लिये रुचिकर हो गया तो बहुत अच्छा है, क्योंकि दूसरे के द्वारा देखी हुई वस्तु में अनेक जनों की सम्मति उत्सव को पूर्ण कर देती है ॥३८॥

भवति तु चेदिह भवतां, समर्थना र्तीह गावः प्राक् ।
सम्यक् पायितवत्सा,-श्चरन्तु वृन्दाटवीवर्त्म ॥३९॥

पश्चात् पटगृहशकटा,-न्यटन्तु गृह्यं समस्तमादाय ।
विधिविधिसिद्धा सेयं, व्रजनाद् व्रजता हि गोदुहां सदने ॥४०॥

"ततश्च, तद्वाक्यं पशुप-सम्हूहमूहशून्यं, स्वार्थाय स्वयमनुगम्य कल्पते स्म ।
साधर्म्यस्पृशि मृदि पश्य बीजभेदः, स्फीतः स्यात् फलति च तत्र नापरत्र ॥४१॥

"तदेवं पौर्णमासीमपि विज्ञाप्य समनुज्ञाप्य पुरतः प्रस्थाप्य च 'शीघ्रमुत्थाप्यतां व्रजः' इति दुन्दुभिनिर्घोषणया कृतपोषः सोऽयं घोषः स्वनिरुक्तिमेवातिरिक्ततया व्यक्तवान् । गव्यानां मानुष्यकाणामपि कोलाहलान्महाघोषास्पदता हि घोषता निर्दिष्टा ॥४२॥

यथा—तदा व्रजे कलकल-कोटिरुत्थिता, हिही हिही जिहि जिहि-कारमिश्रिता ।
घडद्घडद्घडदिति शाकटारवः, सवाद्यकः पुनरखिलङ्गिलः स्थितः ॥४३॥

किन्तु इस विषय में यदि आप सबका निश्चय समर्थन हो, तब तो पहले गैया अपने अपने बछड़ाओं को अच्छी प्रकार दूध पिलाकर वृन्दावन के मार्ग की ओर चल दें ॥३९॥

पश्चात् घर के कार्य के योग्य समस्त द्रव्यों को लेकर, तम्बू से युक्त बैलगाड़ियाँ भी चल दें, क्योंकि गोपों के लिये दूसरे स्थान में जाने के विषय में यह विधि सर्वथा प्रसिद्ध है । अतः 'व्रजनात्' व्रजन करने के कारण, अर्थात् चलते फिरते रूप से व्यापक रहने के कारण, गोपों के घर में व्रजता भी प्रसिद्ध है, तात्पर्य —व्रजवासी गोपों की वस्ती को ही व्रज कहते हैं ॥४०॥

तदनन्तर तर्क शून्य श्रीउपनन्दजी का वह वाक्य गोपगणों का स्वयं अनुगमन करके, स्वार्थ के लिये कल्पित हो गया, अर्थात् तर्क वितर्क को त्यागकर सभी गोपों ने, श्रीउपनन्दजी के वाक्य को सहर्ष स्वीकार कर लिया । देखो ! साधर्म्ययुक्त मृत्तिका में ही बीज विशेष वृद्धि को प्राप्त होता है, एवं वहीं पर फल भी देता है, किन्तु वही बीज ऊषर भूमि में बढ़ता भी नहीं तथा फलता भी नहीं, अर्थात् उपयुक्त उपदेष्टा का उपदेश उपयुक्तपात्र में ही सफलता को प्राप्त करता है ॥४१॥

इस प्रकार इस सारे समाचार को श्रीपौर्णमासी जी के प्रति निवेदन कर उनसे आज्ञा लेकर, उन्हीं को आदरपूर्वक आगे भेजकर, इस व्रज को शीघ्र उठाओ, अर्थात् महावन को छोड़कर, अपना अपना सामान लेकर, अन्यत्र वस्ती वसाओ । इस प्रकार दुन्दुभि की घोषणा से पुष्टि को प्राप्तकर, इस घोष (आभीरपल्ली) ने अथवा शब्द ने अपने नाम की सार्थकता को अतिशय रूप से प्रकाशित कर दिया । गोसमूह और मानवसमूह के कोलाहल के कारण महाध्वनि का आश्रय होकर, उन व्रजवासियों के वासस्थान को भी घोष नाम से निर्दिष्ट किया है । तात्पर्य यह है कि 'घोष शब्द' शब्द और आभीरपल्ली (अहीरों की वस्ती) इन दोनों ही अर्थों का बोधक है । सुतरां गैया और गोपों के कोलाहल से घोष शब्द का पहला अर्थ सार्थक हो गया ॥४२॥

यथा—उस समय व्रज में हिही हिही, जिहि जिहि इस प्रकार के शब्दों से मिली हुई असंख्य कलकल ध्वनि उठ खड़ी हुई । पुनः अर्थात् उसके बाद सारी कलकल ध्वनि को निगलने वाला, बाजे गाजे के सहित, धड़द् धड़द् धड़द् इस प्रकार का बैलगाड़ियों का विशाल शब्द उपस्थित हो गया ॥४३॥

आरोप्यानसि वृद्धादीन् स्वयमूढशरासनाः ।
गौरवेण गवां गोपा ययुर्विक्रममाणताम् ॥४४॥

"ततश्च संक्रीडति शकटवर्गे संक्रीडमाने सति—
शकटगृहाटनचर्यां, पर्याकलयन् विदूरगो लोकः ।
व्यतिषज्यावददेतद्,-ग्रामः कश्चिच्चरिष्णुरस्तीति ॥४५॥

"पथि तु—एको धावति कश्चनाह्वयति कोऽप्यत्रोत्तरं भाषते
कश्चित्तत्र निवृत्य गच्छति निजं सम्भालयत्यन्यकः ।
सर्वो गायति कृष्णबाल्यचरितं वाष्पायते स्तम्भते
स्विद्यत्येजति रोमहर्षमयते वैवर्ण्यमासीदिति ॥४६॥

आरूढशकटा गोप्यो व्यूढनव्यपरिष्क्रियाः ।
अमन्दं जगुरानन्दादानन्दान्नन्दनन्दनम् ॥४७॥

"यथा—नन्दमहीपतिजात ! नन्द यशोदामात ! ॥ध्रु॥
जन्ममहामहदिग्ध ! रमितसमस्तस्निग्ध ! ॥
स्पर्शार्दितविषयोष ! अपरिचितापरदोष ! ।
शकटविघट्टनशेष ! गोकुलपुण्यविशेष ! ॥

उसके बाद वृद्ध आदिकों को गाड़ी पर चढ़ाकर, स्वयं धनुष धारण कर, गैयाओं का गौरव करते हुए गोपों ने अपने पराक्रम को प्रकाशित कर दिया, अर्थात् गैयाओं को आगे करके, आबालवृद्ध नरनारियों को गाड़ी में बैठाकर, रक्षा करनेवाले हृष्ट पुष्ट सभी गोप धनुष बाण ले लेकर, सबकी रक्षा करते हुए चारों ओर से चल दिये ॥४४॥

तदनन्तर अव्यक्त शब्द करती हुई अनेक बैलगाड़ियाँ जब महावन से चल दीं, तब घर के से आकार वाली बैलगाड़ियों की चलने की परिपाटी को देखते हुए, बहुत दूर में विद्यमान लोग आपास में मिलकर कहने लगे कि, यह कोई मूर्तिमान् चलता फिरता ग्राम ही प्रतीत होता है ॥४५॥

चलते हुए गोपों के कोलाहल का वर्णन, यथा—मार्ग में एक जन दौड़ता है, तो दूसरा कोई बुलाता है, कोई यहाँ उत्तर देता है, तो कोई वहाँ लौटकर जाता है, कोई अपने जनों की सार संभार, देखभाल कर रहा है। सभीजन श्रीकृष्ण के बाल्यचरित को गाते जाते हैं, गा गाकर अश्रु बहाते हैं, स्तम्भित हो जाते हैं, पसीना बहाते हैं, काँपते हैं, रोमांचित हो जाते हैं, एवं भावावेश में उनका रंग भी वदल जाता है। इस प्रकार स्वतः सिद्ध अष्ट सात्विक भावों का उदय सभी व्रजवासियों में हो रहा है ॥४६॥

समस्त गोपियाँ नये नये वस्त्र एवं आभूषणों को धारण कर, तथा बैलगाड़ियों में चढ़कर, अधिक आनन्द से एवं ऊँचे स्वर से श्रीनन्दनन्दन का गायन करने लग गईं ॥४७॥

उनके गायन का अर्थ इस प्रकार है, यथा—हे नन्दभूपति के पुत्र ! हे यशोदा के योग्य लाल ! हे अपने जन्म के महामहोत्सव को पूर्ण करने वाले ! हे समस्त स्नेहीजनों को आनन्द देनेवाले ! हे अपने स्पर्शमात्र से विषभरी पूतनारूप स्त्री को पीड़ित करनेवाले ! हे करुणा के द्वारा पराये दोषों से अपरिचित !

कृतनामभिरभिराम ! सन्ततरामाराम ! ।
रिङ्गभृताङ्गनरङ्ग ! अङ्गीकृतसखि-सङ्ग ! ॥
लङ्घितमारुतचक्र ! नन्दितगोकुलशक्र ! ।
वत्सविमोचनमोद ! व्रजजनशर्मयशोद ! ॥
सर्वानन्दनचौर्य ! तस्मिन् दर्शितशौर्य ! ।
अयि दामोदरलील ! अखिलसुखप्रदशील ! ॥ इति ॥४८॥

"तदेवं गायन्त्यस्तद्दर्शनस्य नाथमाना व्यत्यतिक्रामन्ति स्म (भा० १०।११।३४)—॥४९॥

'तदा यशोदारोहिण्यावेकं शकटमास्थिते । रेजतुः कृष्णरामाभ्यां तत्कथा-श्रवणोत्सुके ॥'५०॥

"तत्र स्थितिर्यथा—

मणिखचितसुवर्णचित्रवर्णे, शुचिमृदुतूलिकयानुकूलमध्ये ।
गृह-निभशकटे विरेजतुस्ते, सुतरुचिरोचिषि रोहिणी-यशोदे ॥५१॥

"तत्कथा तु द्विविधा;—तत्सम्बन्धिनी, तत्कर्तृका च; पूर्वा यथा—

स्निग्धा नार्यः शकटमभितो मातरौ पुत्रयोस्तै-
र्ज्ञाताज्ञातैरखिलचरितैर्धिन्वते स्माविशेषात् ।

हे शकट को भंजन करके अवशिष्ट रहकर सबको प्रसन्न करनेवाले ! हे गोकुल के पुण्य विशेष ! हे श्रीगर्गाचार्य के द्वारा किये हुए श्रीकृष्ण आदि नामों के द्वारा मनोहर ! हे निरन्तर बलरामजी से खेलनेवाले ! हे घुटुवन के द्वारा रेंग रेंग के आँगन के रंग को भरनेवाले ! अर्थात् आँगन की शोभा बढ़ानेवाले ! हे सखाओं के संग को स्वीकार करनेवाले ! हे तृणावर्त को लाँघनेवाले ! हे गोकुल के इन्द्र श्रीनन्दजी को आनन्दित करनेवाले ! हे बछड़ाओं को खूँटा से खोलकर प्रसन्न रहनेवाले ! हे व्रजवासियों को सुख एवं यश को देनेवाले ! हे सबको आनन्द देनेवाली चोरी करनेवाले ! और उसी माखन चोरी में वीरता दिखाने वाले ! हे दामोदरलीला को करनेवाले ! हे सबको सुखप्रद स्वभाववाले ! आप सदैव सुख से समृद्ध रहें, यही हमारी अभिलाषा है ॥४८॥

इस प्रकार गाते गाते भी श्रीकृष्ण के दर्शन की कामना करती हुईं गोपियाँ परस्पर वेगपूर्वक चलती रहीं ॥४९॥

उस समय श्रीयशोदा एवं रोहिणी एक गाड़ी में बैठी हुईं, श्रीकृष्ण बलदेव की कथा सुनने में उत्सुक होती हुईं, श्रीकृष्ण बलदेव को गोद में बैठाकर, उन दोनों के सहित सुशोभित हो रही थीं ॥५०॥

उस बैलगाड़ी में दोनों के बैठने की शोभा, यथा—श्रीरोहिणी एवं श्रीयशोदाजी जिस गाड़ी में बैठी थीं, उसका वर्ण रत्नजटित सुवर्ण की प्रभा से विचित्र था, सफेद एवं कोमल गद्दा तकिया आदि से उसका मध्य भाग बैठने के अनुकूल था, उस गाड़ी का आकार घर के समान था, श्रीरोहिणीलाल एवं श्रीयशोदा-लाल की देह प्रभा के द्वारा उसकी प्रभा और अधिक मालूम पड़ती थी ॥५१॥

श्रीकृष्ण बलदेव की कथा दो प्रकार की है। पहली उनसे सम्बन्ध रखनेवाली, दूसरी उनके द्वारा रची हुई। उन दोनों भ्राताओं से सम्बन्ध रखनेवाली पहली कथा, यथा—जो स्नेहभरी गोपियाँ यशोदाजी की गाड़ी के चारों ओर चल रही हैं, वे सब दोनों पुत्रों के ज्ञात एवं अज्ञात सारे चरित्रों के द्वारा दोनों

प्रेम्णः सेयं प्रकृतिरखिलाश्चर्यरूपा यदुच्चैः
सर्वं स्वीयं विषयममनःस्पृष्टतुल्यं करोति ॥५२॥

"उत्तरा यथा;—कृष्ण उवाच,—'मातः ! क्व नु खलु गच्छन्तः स्म ?' माता प्राह,—'पुत्र ! वृन्दावननामनि वनधामनि ।' कृष्ण उवाच,—'कदा सदनमायास्यामः ?' माता सस्मितमाह,—'वत्सास्मदनुषङ्गत एव सञ्चरच्छमानं तदास्ते ।' कृष्ण उवाच,—'क्व नु निरूप्यताम् ?' रामः प्रहसन्नाह,—'कृष्ण ! पाकादिनित्यकृत्यसन्निवेशदेशाधःप्रदेशान्महाशकटवेशान् गृहान्निकटत एवाटतः पश्य ।' कृष्णः साश्चर्यमिव दृष्ट्वा श्रीरामं स्पृष्ट्वा जहास पुनरुवाच च,—'तथ्यमिदं कथ्यते स्म । यस्माद्विदूरक्षितिगा अपि क्षितिरुहास्तथा लक्ष्यन्ते ।' माता तु रोहिण्या सह सहासमाह स्म,—'पुत्र ! त एते तु न कुत्रचन च गच्छन्ति, किन्तु सम्प्रति तथा प्रतीयन्ते मात्रम् ।' ॥५३॥

"कृष्णः सतृष्णमुवाच,—'भवतु, तद्वृन्दावनं कुत्र ?' रोहिण्याह,—'पुत्र ! यमुनायाः पारे ।' राम उवाच,—'एका यमुना दूरतः पश्चान्नचस्ता, पुरतः किमन्याप्यस्ति ?' माता सहासमाह,—'पुत्र ! कुत्रचिदपि मनागपि न विच्छिन्नगमना सा ।' रामस्तु मातृ-मुखं साश्चर्यतया ससुखचर्यं पश्यति स्म ॥५४॥

माताओं को बराबर प्रसन्न करती जाती हैं। प्रेम की यह प्रकृति ही सबके लिये आश्चर्यस्वरूप है, क्योंकि यह प्रेम स्वकीय समस्त विषयों को विशेषरूप से हृदय के स्पर्श से रहित जैसे बना देता है। अर्थात् हृदय पर भगवत्सम्बन्धी प्रेम का अधिकार हो जाने पर, हृदय में अन्य प्राकृत विषयों के लिये स्थान नहीं रह जाता, हृदय प्रेममय बन जाता है ॥५२॥

श्रीकृष्ण बलदेव के द्वारा तत्काल रची हुई दूसरी कथा, यथा—श्रीकृष्ण बोले—माँ ! हम सब कहाँ जा रहे हैं ? माता बोली—पुत्र ! हम सब वृन्दावननामक वन के स्थान में जा रहे हैं। श्रीकृष्ण बोले—हम सब लौटकर अपने घर को कब आयेंगे ? माता मुस्क्याकर बोली—बेटा ! वह घर तो हमारे साथ ही चल रहा है। श्रीकृष्ण बोले—उस चलते हुए घर को मैं कहाँ देखूँ ? श्रीबलराम हँसते हुए बोले—भैया कृष्ण ! जिनके नीचे के भाग पाकादि नित्यकार्य के योग्य स्थानों से विशिष्ट हैं, बड़े बड़े गाड़ाओं का वेश जिन्होंने धारण कर रक्खा है, ऐसे समस्त घर निकट ही तो चल रहे हैं, उन चलते हुए घरों को देख लो। श्रीकृष्ण चकित की तरह देखकर, श्रीबलरामजी को छूकर हँस गये, तथा पुनः बोले—हाँ, भैयाजी ! आप यह सत्य कहते हैं, क्योंकि इसीलिये बहुत दूर की भूमि पर विद्यमान भी सारे वृक्ष हमारे साथ ही चलते से दिखाई देते हैं। माता तो रोहिणीजी के साथ हँसकर बोली—बेटा ! ये सब वृक्ष तो कहीं भी नहीं जा रहे हैं, किन्तु इस समय हमारे चलने के कारण केवल चलते से प्रतीत होते हैं ॥५३॥

श्रीकृष्ण लालसापूर्वक बोले—अच्छा, जाने दो, इन बातों को। किन्तु बताओ, वह वृन्दावन कहाँ है ? श्रीरोहिणी बोली—पुत्र ! श्रीयमुनाजी के पल्लीपार है। श्रीबलराम बोले—क्यों मैया ! एक यमुना तो बहुत दूर पीछे की ओर छोड़दी, आगे क्या दूसरी भी यमुना है ? माता हँसीपूर्वक बोली—देख, बेटा ! उस यमुना की गति कहीं भी किंचिद् भी विच्छिन्न नहीं हुई है। बलरामजी तो माँ की ऐसी बातें सुनकर, सुख की परिपाटी के सहित आश्चर्यपूर्वक अपनी माँ के मुख को देखने लग गये ॥५४॥

"कृष्ण उवाच,—'तत्रभवता किल न तर्कितम्, यत् खल्वित इव तत्राच्छ गच्छन्ती सा दृश्यते स्म।' तदेवं तयोः सोल्लासं हासं बिभ्रतोः पुनः कृष्णः सतृष्णमुवाच,—'लघुमातः! का तत्र शात-सम्पदस्ति, यदेतावता प्रयासेन प्रयास्यामः ?' ॥५५॥

"रोहिण्याह,—पुत्र! क्रीडास्थानानि क्रीडनकानि च बहूनि सन्ति।' कृष्णः सहर्षं सङ्कर्षणनिष्कलङ्कविधोरङ्कं निज-श्यामधाम्नाऽलंकुर्वन्नेव साङ्गप्रणयतया समुत्तानिताङ्ग-स्तन्मुखं पश्यन् विहसन् विलसन् मुहुर्लुठति स्म। सङ्कर्षणस्तु तन्मुखमनुमुखं निधाय मुहुर्विहसितलीलां विधाय चिराय तं हासयति स्म ॥५६॥

"अथ यमुना-तरङ्गसङ्ग-सङ्गतमारुत-दिग्धस्निग्ध-वनलेखेयमासन्नेति मातृयुगल-संलापं निशम्य सम्यगुत्थितः कृष्णः सङ्कर्षणसङ्करः प्रागज्ञातान् ज्ञातानपि नग-मृग-खगान् हसन्तीभिः स्खलितदन्तीभिर्विवादतः सर्वानपूर्वानिव मातरं पृच्छन्नुत्तरमायच्छंश्च तत्कूलानुकूल-वनमाससाद ॥५७॥

"तत्र प्रश्नोत्तरे यथा—

कोऽसौ वृक्षः समन्तादनिशचलदलः पिप्पलः कोऽण्डकोटिं
सूते सोदुम्बराख्यः क इह घनजटा-व्याप्तमूर्तिर्वटः सः।

श्रीकृष्ण बोले—हे पूज्य भैयाजी! इस बात की विवेचना नहीं की कि, निश्चय ही इस स्थान की तरह, उस स्थान पर भी वह यमुना अच्छी प्रकार सन्मुख जाती दिखाई देती है। इस प्रकार उन दोनों के ही उल्लासपूर्वक हँसी करने के बाद, श्रीकृष्ण पुनः सतृष्णभाव से बोले—अरी छोटी माँ! वहाँ पर ऐसी कौनसी सुखसम्पत्ति है, जो कि इतने परिश्रम से भी वहाँ पर जायेंगे ॥५५॥

श्रीरोहिणीजी बोली—देख, लाला! वहाँ पर खेलने के स्थान एवं खिलौने भी बहुत से हैं। रोहिणी माता की ये बातें सुनते ही श्रीकृष्ण हर्षपूर्वक निष्कलंक चन्द्रमा के समान श्रीबलरामजी की गोद को, अपनी श्यामवर्ण की कान्ति द्वारा अलङ्कृत करते हुए, सम्पूर्ण प्रेम के सहित अपने शरीर को उठाकर, उनके श्रीमुख को निहारते हुए, हँसते हुए, खेल सा करते हुए, बारंबार लोटपोट हो गये। श्रीदाऊजी ने भी श्रीकृष्ण के मुख पर अपना मुख धरकर, बारंबार हास्यलीला को करके, उनको बहुत देर तक हँसाया ॥५६॥

तदनन्तर श्रीयमुनाजी की तरङ्गमाला से मिली हुई शीतलवायु से जो युक्त है, अतएव स्निग्ध है, ऐसी वह वनश्रेणी निकट ही आगई है। दोनों माताओं के इस प्रकार के पारस्परिक भाषण को सुनकर, अच्छी प्रकार उठकर श्रीकृष्ण पहले दाऊजी से मिले, पश्चात् जिनके दाँत गिर गये हैं, ऐसी हँसती हुई अत्यन्त वृद्धाओं के साथ "तुम्हारी बातें ठीक नहीं", इस प्रकार के विवाद से, पहले जाने हुए अथवा न जाने हुए सभी वृक्ष,मृग, एवं पक्षियों को "मानों ये कभी भी नहीं देखे हैं", इस प्रकार से अपनी माँ से पूछते हुए, एवं माता के दिये हुए उत्तर को ग्रहण करते हुए, श्रीयमुना के तीर पर विराजमान वन में पहुँच गये ॥५७॥

वहाँ पर प्रश्न एवं उत्तर इस प्रकार हुए, यथा—प्रश्न—जिसके सभी पत्र निरन्तर चारों ओर काँपते रहते हैं, इस वृक्ष का क्या नाम है ? उत्तर—पिप्पल (पीपल) है। प्र०—कौनसा वृक्ष करोड़ों गोल गोल अण्डों को उत्पन्न करता है ? उ०—गूलर नाम वाला वृक्ष। प्र०—यहाँ पर घनी जटाओं से व्याप्त शरीर

इत्थं नव्यां वनान्तर्गतिमनु जननीडिम्भ-संवादजातं
लोकं पीयूषवर्षैरसुखयदखिलं तत्र तत्रातिचित्रम् ॥५८॥

"किञ्च, गौराः कृष्णप्रधानाप्लुतगतिपशवः के रमन्ते हरिण्यः
के वाऽमी सैरिभाश्व-प्रतिमतनुधरा रोहिषाख्याः प्रसिद्धाः ।
के शृङ्गानेकशाखाशबलितवपुषः शम्बराख्यास्तदेवं
मातुर्गीर्ज्ञातनामा स जयति सबलो नन्दगोपालबालः ॥५९॥

"अपि च, चित्रः कोऽयं मयूरः क इह मृदुकुहूगायकः कोकिलाख्यः
को वक्तुं वष्टि वाणीं नरवदपि शुकः पुष्पपः कश्च भृङ्गः ।
इत्थं मातृद्वयेन प्रथमवनगमे संलपन्तौ हसन्तौ
बालौ गोपालरामौ व्रजकुल-महिलाः शर्मभिः सिञ्चतः स्म ॥६०॥

अथागतास्तरणिसुता-तटं व्रज,-प्रजाव्रजाः सशकटधेनुसङ्कटम् ।
ससम्भ्रमं तरितुमनस्तया च ते, परस्परं कलकलकीर्णमभ्रमन् ॥६१॥

"ततश्च द्वावपि भ्रातरौ मातरौ विहाय परममुन्नततमं व्रजेशितुः पितुः शकटमागता-

---

वाला यह कौनसा वृक्ष है ? उ०—वह वट है । इस प्रकार नवीन वन में जाते समय माता एवं पुत्र का जो संवाद हुआ, उस संवाद ने अमृत की सी वर्षा के द्वारा, उस उस स्थान पर, अत्यन्त विचित्रतापूर्वक सभी लोगों को सुखी कर दिया ॥५८॥

किंच, प्रश्न—काले वर्ण के जिनमें प्रधान हैं, कूद कूद करके चलते हुए जो क्रीड़ा करते हैं, ऐसे गौर वर्ण वाले पशु कौन हैं ? उ०—हरिणीगण हैं । प्र०—भैंस एवं घोड़े के से शरीर धारण करनेवाले, ये चरते हुए पशु कौन हैं ? उ०—रोहिषनामक मृगविशेष हैं, जो पर्वतों में प्रसिद्ध हैं । प्र०—जिन पशुओं का शरीर शृङ्गरूप अनेक शाखाओं से संयुक्त है, उनका नाम क्या है ? उ०—शम्बर नाम है, ये पशु मृगजातिविशेष हैं । इस प्रकार माता की वाणी से जिनको पशुओं के नाम ज्ञात हुए हैं, बलदेवजी के सहित उन्हीं नन्दजी के गोपाल बाल की जय हो ॥५९॥

अपिच, प्रश्न—अरी मैया ! विचित्र वर्णवाला यह पक्षी कौन है ? उत्तर—मयूर है । प्र०—यहाँ पर मृदु मधुर स्वर से कुहू कुहू गायन करनेवाला कौन पक्षी है ? उ०—कोयल है । प्र०—कौन सा पक्षी मनुष्य की तरह वाणी बोलना चाहता है ? उ०—शुक अर्थात् तोता है । प्र०—पुष्परस का कौन पान करता है ? उ०—भृङ्ग (भौंरा) । इस प्रकार दोनों माताओं से प्रथम वनगमन के समय परस्पर आलाप करते हुए, एवं हँसते हुए बालरूपधारी श्रीकृष्ण बलदेव ने, व्रज की कुलाङ्गनाओं को सुखप्रवाह से अभिषिक्त कर दिया ॥६०॥

तदनन्तर व्रजवासी प्रजा का समूह, बैलगाड़ी और गैयाओं से व्याप्त—श्रीयमुना के तीर पर आगया । जब वे व्रजवासी हर्ष एवं वेगपूर्वक यमुना के पार जाने को मन करने लग गये, तब तो परस्पर प्रचुर मधुर ध्वनि करते हुए, भ्रमण करने लग गये ॥६१॥

उसके बाद दोनों भ्राता, दोनों माताओं को छोड़कर, पिता श्रीव्रजराज के अत्यन्त ऊँचे शकट में आ

त्वूर्ध्वस्थितया दलदिन्दीवरसुन्दरताशालिकालिन्दीं प्राणीवृन्दप्रीणि वृन्दावनमपि फुल्लदृशा ददृशतुः ॥६२॥

"श्रीव्रजेश्वरादयस्तु परस्परमूचुः,—'अहो ! रूपमिह पारीणवन्यासम्बन्धिन्या भास्वत् कन्यायाः, या खलु प्रतिबिम्बसंवलनया वृन्दावनान्तमन्तर्वहन्ती विचित्रचित्रपट्टपट-वदाचरति ।' ॥६३॥

"अहो ! माधुरीणां साधुरीतिरस्य च वृन्दावनस्य, यत् खलु नीलाभं सित-पीत-लोहित-प्रसूनालिभिर्निःसरदासारविद्योतमानविद्युत्कान्तिरोहित-रोहितनीरदवदाभासमानं दूरतोऽप्य-मृतपूरमर्पयति । यस्य चाकृष्टत्रिपिष्टप-पदषट्पदपदतया व्यक्तदौर्लभ्यं समाकर्षि-सौरभ्यं घ्राणाभ्यागतानां दूरमारभ्य प्रत्युद्गमिसभाजकसभ्यवृन्दमिव लभ्यते ।

"यस्य च विचित्रपत्रिकृत्रिमकलकलिलकाकलीसंकुलकोलाहलकुलमाकर्षणमन्त्र इवार्थ-ग्रहणं विनापि सकर्णकं जन्तुं निजाश्रयाभ्यर्णमाकर्षति ॥६४॥

"तदेवं पश्यतोः शृण्वतोरपि सतृष्णयोः रामकृष्णयोर्गोपाः गाः पारयितुं व्यापारं कारयामासुः,—॥६५॥

गये, तथा उस शकट के ऊँचे स्थान में बैठकर, खिलते हुए नीलकमल के समान सौन्दर्यशालिनी श्रीयमुनाजी को, एवं प्राणीवृन्द को आनन्द देने वाले श्रीवृन्दावन को, प्रसन्न नेत्रों से देखने लग गये ॥६२॥

श्रीव्रजेश्वर आदि तो आपस में बोले कि—अहो ! जिसके परलीपार अनेक वनों का सम्बन्ध है, ऐसी सूर्यपुत्री श्रीयमुनाजी का इस स्थान पर कैसा अपूर्व रूप दिखाई देता है । और देखो ! यह जो यमुना है, वह निश्चय ही प्रतिबिम्ब के संयोग से श्रीवृन्दावन को अपने अन्तःकरण में धारण करती हुई, अनेक प्रकार के चित्रों से चित्रित रेशमी साड़ी का सा आचरण कर रही है ॥६३॥

आहा ! इस वृन्दावन में जितनी प्रकार की माधुरी हैं, उन सब माधुरीन की रीति अपूर्व है । देखो ! यह वृन्दावन निश्चय ही नीलप्रभा धारण करके श्याम, श्वेत, पीत, रक्तवर्ण की पुष्पश्रेणी द्वारा निकलती हुई धारा सम्पात से शोभायमान विद्युत्कान्ति द्वारा रक्तवर्ण, एवं सरल इन्द्रधनुष से युक्त मेघ की भाँति प्रकाशमान होकर, दूर से ही अमृतप्रवाह की वर्षा कर रहा है । और स्वर्ग में रहनेवाले एवं गन्ध के लोभ से आकृष्ट, ऐसे भ्रमरों की आधारभूमि होने के कारण, जिस वृन्दावन की सर्वचित्ताकर्षक सुगन्धि दुर्लभरूप से व्यक्त है, तथा नासिकारूप अतिथियों की बहुत दूर से ही अगवानी लेकर, अतिथि सत्कार करनेवाले सभ्य जनों की तरह जान पड़ती है, अर्थात् सत्कारपरायण सद्गृहस्थ जैसे दूर से ही अतिथि को अपने घर लाकर सत्कार करता है, अथवा दूर से ही ऐसे सभ्य गृहस्थी की कीर्ति सुनकर, अतिथिजन स्वयं आकर, उसके द्वारा जैसे सत्कार पाते हैं, उसी प्रकार अन्यत्र दुर्लभ श्रीवृन्दावन की जो पुष्पों की सुगन्धी है, वह स्वर्गस्थित भ्रमरों को भी अपनी ओर खेंच लेती है । और जिस वृन्दावन के विचित्र पक्षियों की कृत्रिम (बनावटी) मधुरध्वनि से मिला हुआ, एवं मधुर अस्फुट सूक्ष्मध्वनि से व्याप्त, महान् कोलाहल का जो समूह है, वह आकर्षण मन्त्र की तरह, बिना अर्थ समझे ही कानों से युक्त जीवमात्र को, अपने आश्रयस्वरूप श्रीकृष्ण के निकट खेंच लेता है ॥६४॥

इस प्रकार श्रीराम कृष्ण दोनों भैया जिस समय लालसापूर्वक वृन्दावन एवं यमुनाजी को देख

नीरं तरणिकन्यायास्तीरं च तरणे तदा ।
गोमयं गोमयमयं क्षणादजनि सर्वतः ॥६६॥

"तीर्णासु गोषु तथा कर्णीरथादवतीर्णासु परिजनपरिच्छदसहितासु गोपवनितासु काशकुशशरवंशवरैरलङ्कर्मीणनिर्मितपरस्परनद्धप्लुवराजी राजपद्धतिरिवासम्बाधतया साधिता । "ततश्च पारावारीणभूम्योरेकतायां कृतायामवारीणमिव पारीणं मधुपुरी-कालीय-ह्रदयोरन्तरालं तद्वनभागं सर्व एव गायन्तः प्रहसन्तः क्रीडन्तश्च शकटघटयापि प्रविविशुः ॥६७

तदेवमेवोक्तम् (भा० १०।११।३५)—
'वृन्दावनं सम्प्रविश्य सर्वकालसुखावहम् । तत्र चक्रुर्व्रजावासं शकटैरर्धचन्द्रवत् ॥' इति ॥६८॥

"रामकृष्णौ च बद्धतृष्णावासादिततीरोपकण्ठावुत्कण्ठया भुवि शकटादुत्प्लुतौ प्लुत-संप्लुताह्वानतः सुखसमन्वितं सखीनन्वग्विधाय प्रत्यग्रमपि प्रत्यग्रायमाणवैचित्रीगहनं गहन-मवगाहमानौ सव्यापसव्ययोः पश्यन्तौ चरणचारितामेवाचरितवन्तौ । तदा च किमन्यद्वर्णनीयम्, समस्तं वृन्दावनमपि कृष्णेन स्पृष्टं हृष्टमेव निर्णीय परामृष्टम् ॥६९॥

रहे थे, तथा गोपों के मुख से उनकी प्रशंसा सुन रहे थे, उसी समय गोपगण गैयाओं को पार करने के लिये चेष्टा करने लग गये—॥६५॥

निरन्तर गैयाओं के पार होते समय सूर्यपुत्री श्रीयमुनाजी का जल एवं तीर, क्षणभर में चारों ओर गोमय (प्रचुर गैयाओं से युक्त) तथा अधिक गोबर से संयुक्त हो गया ॥६६॥

सब गैयाओं के तर जाने के बाद एवं परिजन (सेवक) और घर की सामग्री के सहित वस्त्रों से ढ़के हुए छोटे छोटे शकटों से, अथवा रथों से गोपियों के उतर जाने के बाद, कुश, काश, शरपते तथा पुष्ट पुष्ट बाँसों के द्वारा कार्यकुशल जनों के कौशल से बनाई गई, परस्पर बँधी हुई नौकाओं की पंक्ति, आपत्तिरहित राजमार्ग जैसी साधित हो गई । तदनन्तर नौकाओं के पुल के द्वारा दोनों किनारों की भूमि की एकता सम्पन्न हो जाने पर, अर्थात् पुल बँध जाने से, इस पार उस पार की समानता हो जाने पर, मधुपुरी तथा कालीयह्रद इन दोनों के बीच में जो वृन्दावन का वनविभाग है, उसी में सभी जन गाते हुए, हँसते हुए, खेलते हुए, शकट समूह के सहित प्रविष्ट हो गये ॥६७॥

इसलिये दशमस्कन्ध में भी इसी प्रकार कहा है कि, सब ऋतुओं में सुखदायक श्रीवृन्दावन में प्रविष्ट होकर, वहाँ पर गोपों ने शकटसमूह की योजना करके, आधे चन्द्रमा के से आकार वाला व्रजवासियों के रहने का स्थान बनाया ॥६८॥

वृन्दावनवास की वासना में बँधे हुए, कृष्ण बलदेव भी तीरभूमि के पास जाकर उत्कण्ठापूर्वक गाड़ी से भूमि पर कूद पड़े । तथा अत्यन्त ऊँचे बुलाने के स्वर से सुख के सहित, सभी सखाओं को अनुगामी बना कर, नवीन होने पर भी निर्दोषमयी विचित्रताओं से परिपूर्ण वृन्दावन में प्रवेश करते हुए, बाईं दाईं ओर देखते हुए, अपने श्रीचरणों से ही भ्रमण करने लग गये । वृन्दावन-प्रवेश के समय की अन्य विशेषता का अधिक क्या वर्णन करें ? देखो ! श्रीकृष्णचन्द्र ने समस्त वृन्दावन को केवल छूआ ही नहीं, अपितु आनन्द-पूर्वक निर्णय करके, अपने श्रीकरकमलों द्वारा उसका अच्छी प्रकार स्पर्श भी किया ॥६९॥

"यतः यद्गानं विपिनस्य कोकिलकले नृत्यं लता-विभ्रमे
रोम्णामुत्थितमंकुरे च कवितं योग्यान्निदानादृते ।
तन्मिथ्या यदि कृष्णसङ्गति-वशात्तस्मिंस्तथा वर्ण्यते
सत्यं तर्हि सदापि तत्तदखिलं यस्माद्धरीदृश्यते ॥७०॥

"ततश्च तौ क्वचिद्विक्रमणेन क्वचित्तु स्निग्धजनस्कन्धाद्याक्रमणेन बन्धुभिरास्वाद्यमानाऽनवद्यलालित्यामृतौ शुभशकुनसम्भृतौ वत्सक्रीडनाभिधयमुना-घट्टतः सट्टीकराख्यं प्रदेशमासेदतुः ॥७१॥

"अथावतरणतूर्यघोषजाते राज्ञा समनुज्ञाते तं पश्चान्निधाय दक्षिणपश्चिमामग्रे विधाय सर्वे समाकीर्ण-विस्तीर्णदेशतयावतीर्णाः ॥७२॥

लोकहूतिव्यक्तचेष्टं तदा नन्दादिवेष्टितम् ।
वृन्दावनमिदं रेजे सुप्त-जागरितप्रभम् ॥७३॥
तत्र चक्रुर्व्रजावासं शकटैरर्धचन्द्रवत् ।
यदन्तःपूरितं गोभिः क्रमेण घनरीतिभिः ॥७४॥

श्रीहरिवंशे च—

'निवेशं विपुलं चक्रे गवाञ्चैव हिताय च । शकटावर्तपर्यन्तं चन्द्रार्धाकारसंस्थितम् ॥' इति ॥

और देखो ! कवियों ने वन वर्णन करते समय वन के कोकिल कलरव में गायन का, लताओं के विलास में नृत्य का, और अंकुरों में रोमाञ्चों का जो वर्णन किया है, वह सब वर्णन योग्य कारण के न होने से आरोपित मिथ्याप्राय है। हाँ, वही वर्णन यदि श्रीकृष्ण के सम्बन्ध के कारणवशात्, श्रीवृन्दावन में उसी प्रकार का वर्णन किया जाता है, तब तो सब सत्य है, क्योंकि वह सारा पूर्वोक्त वर्णन महापुरुषों के सदैव दृष्टिगोचर होता रहता है ॥७०॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण बलदेव दोनों भैया किसी स्थान पर विक्रम प्रकाशित करके, एवं किसी स्थान पर स्नेहीजनों के कंधे पर चढ़ करके, और बन्धुजनों के द्वारा जिनके विशुद्ध लालित्यरूप अमृत का आस्वादन किया गया है, एवं जो शुभ शकुनों से पुष्ट हुए हैं, "वत्सक्रीड़न" नामक श्रीयमुनाजी के घाट से होकर, छटीकरा नामक स्थान पर आ गये ॥७१॥

तदनन्तर श्रीव्रजराज की आज्ञानुसार उतरने की तुर्री की ध्वनि हो जाने पर, उस छटीकरा नामक ग्राम को पीछे करके दक्षिण एवं पश्चिम को आगे करके, सभीजन बहुत सी जगह को घेर कर उतर पड़े ॥७२॥

उस समय लोगों के परस्पर बुलाने के कारण, जिसकी चेष्टा व्यक्त हुई है, एवं श्रीनन्दादि गोपों से जो परिवेष्टित है, यह श्रीवृन्दावन पहले सोकर पुनः जागने वाले की तरह शोभा पाने लग गया ॥७३॥

वहाँ पर गोपों ने शकटसमूह द्वारा अर्धचन्द्राकृति गोधन के रहने का स्थान बनाया, जिसका मध्य-भाग क्रमशः घनी रीति से गोधन से परिपूर्ण हो गया ॥७४॥

श्रीहरिवंश में भी कहा है कि, जिसका चारों ओर का घेरा गाड़ियों से लगाया है, ऐसा अर्धचन्द्राकार विशाल निवासस्थान, गैयाओं के हित के लिये गोपों ने बनाया। इस प्रकार उस दिन तो बैलगाड़ियों से ही

"एवं तद्दिने शकटैरेव चक्रुः, दिनान्तरे तु—

'कण्टकीभिः प्रवृद्धाभिस्तथा कण्टकिभिर्द्रुमैः ।
निखातोच्छ्रितशाखाभिरभिगुप्तं समन्ततः ॥' इति ॥७५॥

गोपुरस्य पुरः कृत्वा गोवर्धनधराधरम् ।
गोपवासः स तत्रासीन्नगोपवसतिर्यतः ॥७६॥

पौरस्त्यवस्त्यत्यागेऽपि तत्तन्मर्यादया चितः ।
व्रजाकारस्तथैवासीत् कृष्णा-पारे यथा स्थितः ॥७७॥

अष्टक्रोशीमायतं गोष्ठमेत,-न्मध्ये तस्मिन् विस्तृतं चार्धमस्याः ।
एतन्मानं चात्र लोकस्य दृष्ट्या, शक्त्यानन्ताचिन्त्यधामत्वमेव ॥७८॥

मध्ये राज्ञः सद्म तत्पार्श्वतस्तद्,-भ्रातृणां तद्बाह्यतस्तत्परेषाम् ।
यद्वत्प्रेमण्यन्तरङ्गादिरीति,-र्वासेऽपि स्यादौचिती तद्वदेव ॥७९॥

"अथ तत्र परमशर्मणा गम्यमानसमयव्रजे पूर्ववद् व्रजे क्रीडारतयोरपि तयोर्वनदिदृक्षा पुनरतीव विलक्षणा जाता। ततश्च प्रतिदिनमपि गवावनाय वनाय प्रयातेन तातेन समं समन्ततः एव व्रजतः स्म ॥८०॥

वासस्थान की रचना की। दूसरे दिन तो बड़ी बड़ी हींस आदि काँटेदार लताओं से, तथा काँटेदार बबूल आदि वृक्षों से, और गड़ी हुई ऊँची ऊँची काँटेदार बार के द्वारा चारों ओर से, उस स्थान को गुप्त कर दिया ॥७५॥

पर्वतराज श्रीगोवर्धन को पुरद्वार के सन्मुख करके, जहाँ पर वृक्षों की समीपता है, वहीं पर गोपों का निवासस्थान बन गया था ॥७६॥

पहला घर त्याग देने पर भी यमुना के पल्लीपार जैसा निवासस्थान था, उसी महावन की तरह उन सारी मर्यादाओं से परिपूर्ण, वह व्रजाकृति निवासस्थान था ॥७७॥

यह नवीन बनाया हुआ व्रजगोष्ठ (गोस्थान) आठ कोश लम्बा था। उसके बीच में गोष्ठस्थान का भाग चार कोश चौड़ा था। लौकिक दृष्टि से यहाँ पर यह परिमाण सत्य है, किन्तु शक्ति के अनुसार विचारने से तो, इसका तेज अनन्त एवं अचिन्तनीय है ॥७८॥

उसके बीच में राजा का घर, उसके आसपास उनके भ्राताओं का घर, उनके घर के बाहर अन्यान्य लोगों का घर निर्मित हुआ। प्रेम के तारतम्य के अनुसार जिस प्रकार उनकी अन्तरङ्ग आदि रीति पृथक् पृथक् थी, उसी प्रकार की रीति निवासस्थान के निर्माण में भी उचित ही थी ॥७९॥

पश्चात् उस वृन्दावन में उन व्रजवासियों का सारा समय जब अत्यन्त सुखपूर्वक व्यतीत होने लगा, तब पहले की भाँति व्रज में क्रीड़ापरायण, उन श्रीकृष्ण बलदेव की श्रीवृन्दावन के देखने की इच्छा अत्यन्त विलक्षण हो गई थी। उसके बाद प्रतिदिन गोपालन के लिये वन को गये हुए, पिताजी के साथ दोनों भैया चारों ओर भ्रमण करते थे ॥८०॥

"यत्र—वृन्दावनं गोवर्धनं यमुनापुलिनानि च ।
वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीती रामरामानुजातयोः ॥८१॥

"यथा—प्राधान्यादतिदिव्यवृक्षविततेर्वृन्दावनं रत्नभू-
पल्यङ्कान्वितपीठजेतृदृशदां वृन्दस्य गोवर्धनः ।
ग्लौचूर्णोद्भवरङ्गभूमिविजयिस्थल्यावलेरंशुमत्-
कन्यायाः पुलिनालिरुत्सव-शतं दुग्धे स्म मुग्धं तयोः ॥" इति ॥८२॥

अथ मधुकण्ठः समापनमिदं साञ्जलितया व्यानञ्ज,—
"ईदृशस्तनयो जातस्तव गोपाधिनायक ।
पाल्यङ्करोति यो विश्वं बाल्यस्य चरितादपि ॥"८३॥

तदेवं तल्लीलानां साक्षात्प्रथायां कथायां वृत्तायां पूर्ववृत्तवत्तद्दिनेऽपि सर्वेऽप्यानन्दानाम-खर्वाणां खर्वेण कर्बुरिता निज-निजालयं कलयामासुः ॥८४॥

॥ इति श्रीश्रीगोपालचम्पूमनु श्रीवृन्दावनदेशे प्रवेशो नाम नवमं पूरणम् ॥९॥

जिस व्रज में वृन्दावन, गोवर्धन, एवं यमुना के पुनीत पुलिनों को देखकर, श्रीबलरामजी एवं उनके छोटे भैया श्रीकृष्णजी को भारी प्रसन्नता हुई थी ॥८१॥

यथा—अतिशय मनोहर दिव्य वृक्षों की पंक्ति की प्रधानता के कारण श्रीवृन्दावन ने, रत्नभूमिस्वरूप पलका से युक्त आसनों की शोभा को जीतने वाली शिलाओं की श्रेणी की प्रधानता के कारण श्रीगोवर्धन ने, तथा कपूर के चूर्ण से बनी हुई रङ्गभूमि पर विजय पानेवाली, अनेक स्थलियों की प्रधानता के कारण सूर्यपुत्री श्रीयमुनाजी की पुलिनश्रेणी ने, श्रीकृष्ण बलदेव के सैकड़ों मनोहर उत्सव उत्पन्न कर दिये थे, अर्थात् इन तीनों भक्तराजों ने दोनों भ्राताओं के सैकड़ों मनोरथ पूरे कर दिये ॥८२॥

अब मधुकण्ठ ने हाथ जोड़कर कथाप्रसङ्ग की समाप्ति का द्योतक यह वचन कहा कि—हे गोपाधि-नायक ! आपके ऐसा विचित्र पुत्र उत्पन्न हुआ है, जो कि बालकपन के चरित्रों से भी, विश्व का पालन करता है ॥८३॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण बलदेव की व्रजलीलाओं की साक्षात् ख्यापिका उस दिन की कथा को समाप्ति हो जाने पर, पहले दिनों की तरह उस दिन भी सभीजन, बड़े बड़े अरबों खरबों आनन्दों से मिश्रित होकर, अपने अपने घर को चले गये ॥८४॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीगोपालचम्पूकाव्ये श्रीवृन्दावनप्रदेश-प्रवेशनामकं
नवमं पूरणं संपूर्णम् ॥९॥

अथ दशमं पूरणम्

वत्सासुरादिवधः

अथ प्रातरपि पूर्ववत् कथा प्रथते स्म ॥१॥

यथा स्निग्धकण्ठ उवाच,—"अथानयोरतिबाल्यादूर्ध्वविलासमारभमाणं सुकुमारं कुमारताशेषं वर्णयिष्यामः; ॥२॥

यथा,—मुक्तस्तन्यमुदश्वदङ्ग-वलयं चाञ्चल्यपर्याकुलं
खेलावञ्चदखर्वनेत्र-युगलं शश्वत्प्रहासाननम् ।
नानाकौतुकभावितं सखिजनक्रीडाविलासास्पदं
वत्सेक्षास्पृहि रामकृष्णकलितं कौमारमन्तर्भजे ॥३॥

"अपि च,—शुभ्रश्यामौ नीलपीताभ-वस्त्रौ, शृङ्गी-पावी-ध्वानशिक्षासु दक्षौ ।
क्रीडालोलौ मित्रवर्गे विचित्रं, चित्रीयेते रामकृष्णौ कुमारौ ॥४॥

"एतदवधि च वस्त्र-परिधानं क्रमेण निश्चितं जातम्; यथा—
वस्त्रं दधाति जननी-निहितं प्रयत्नात्, क्षिप्रं च बन्धन-धिया स्वयमुज्जहाति ।
भूयस्तदर्दति बिभर्ति च यस्य चोर्ध्वं, व्रीडां विकल्प्य लघु नित्ययति स्म कृष्णः ॥५॥

दशम पूरण

वत्सासुरादिवध लीला

अनन्तर प्रातःकाल भी पहले की भाँति कथा प्रारम्भ हो प्रख्यात हो गई ॥१॥

यथा स्निग्धकण्ठ बोला—अब हम इन श्रीकृष्ण बलदेव के अत्यन्त बालकपन से ऊपर, शैशवसमाप्ति सूचक ललित लीलाविलास का वर्णन करेंगे ॥२॥

यथा—श्रीबलराम एवं श्रीकृष्ण ने जिस कुमारावस्था को प्राप्त किया, मैं अपने अन्तःकरण में उसी कुमारावस्था का भजन करता हूँ। इस अवस्था में उन दोनों ने माता के स्तनों का दूध छोड़ दिया था, सभी अङ्गों का सुगठन उन्नत हो गया था, दोनों ही चञ्चलता से आकुल थे, दोनों ही के विशाल नेत्र युगल क्रीड़ा में चलायमान थे, दोनों के श्रीमुख पर उत्कृष्ट हास्य विराजमान था, दोनों ही अनेक कौतुकमय लीलाओं में निमग्न थे, यह अवस्था सहचरगणों के क्रीड़ाविलास की आधार थी, इस कुमारावस्था में बछड़ाओं के देखने की इच्छा होती थी ॥३॥

अपिच दोनों ही भैया क्रमशः गौर श्याम वर्ण वाले हैं, दोनों ही नीलाम्बर पीताम्बर धारण किये हैं, दोनों ही शृङ्गी एवं वंशी बजाने की शिक्षा में चतुर हैं, दोनों ही क्रीड़ा में खेलने में चञ्चल हैं, कुमारावस्था को प्राप्त श्रीराम कृष्ण दोनों भ्राता मित्रमण्डल में विचित्र आश्चर्य उत्पन्न कर देते हैं ॥४॥

इस अवधि से लेकर वस्त्र धारण करना क्रम से निश्चित हो गया। यथा—श्रीकृष्ण माता के द्वारा समर्पित वस्त्र को बड़े यत्न से धारण करते हैं, एव बन्धन की बुद्धि से उस वस्त्र को स्वयं शीघ्र ही त्याग देते हैं। पुनः उसी वस्त्र को माँ से माँगते हैं, धारण भी करते हैं, जिसके बाद वस्त्र धारण करने में समर्थ न होने के कारण, लज्जित होकर शीघ्र ही निरन्तर धारण करते रहते हैं ॥५॥

"तत्र नित्यमेव गोजातमनुयातेन तातेन सह यातवन्तौ समन्तादलं तौ भ्रमतः ॥६॥

यथा—अगच्छतां तत्र वने जनानां, स्नेहार्थिनां क्रोडगतौ पितुश्च ।
अपृच्छतां तत्प्रतिवस्तु बाला,-वयच्छतां शर्म च रामकृष्णौ ॥७॥

"तत्र च निवार्यमाणावपि विस्फार्यहंपूर्विकया गोगोयुगं गोगोयुगयुगं गोषड्गवमपि युगपद्वशयन्तावक्रीडताम् । अनन्तरमपि परस्परमपरस्परं सद्रवमेव द्रवन्तौ विघटितधेन्वनडुह-सङ्घट्टावुद्धता धेनूर्वृषभानपि शृङ्गग्राहं निवर्तयतः स्म । किञ्च, पञ्चकेनापि पशून् गृह्णीतः स्म ॥८॥

"दिनकतिपये पुनरेवं गतसमये तदेतदुपधार्य व्रजेश्वर्या पतिं प्रति प्रणयस्फुरदुपालम्भं भणितम्,—'किमिदमपूर्वमिव कुर्वन्ति तत्रभवन्तः' इति । तेन च लज्जातङ्कौ सज्जता तौ वञ्चयता वनं चञ्चतामुनानुमता तं च तं च सा च सा च तन्माता वनगमनतस्तनयमति-प्रणयान्निरुद्धवती ॥९॥

"निरुद्धौ च तावुत्कण्ठाविष्टावरोदिष्टाम् । तत्र च कदाचिदह्नाय निह्नवमारभ्य

श्रीवृन्दावन में गोसमूह के पीछे पीछे चलनेवाले पिता के साथ, श्रीकृष्ण बलदेव नित्य ही जाते हैं, और चारों ओर अत्यन्त भ्रमण करते हैं ॥६॥

यथा—बालक श्रीबलराम एवं श्रीकृष्ण उस वन में जाते थे, तथा स्नेह की चाहना करनेवाले जनों की गोद में, और पिता की गोद में बैठकर, उस वृन्दावन की वृक्षादि प्रिय वस्तुओं को उनसे पूछते थे, एवं उन स्नेहीजनों को सुख भी देते थे ॥७॥

और वहाँ पर वे दोनों, पिता आदि के द्वारा निवारित होने पर भी, विस्फारिणी अहंपूर्विका से, अर्थात् मैं आगे जाऊँगा, मैं आगे जाऊँगा, इस प्रकार की प्रबल प्रगलभता से कभी दो गौओं को, कभी चार गौओं को, एवं कभी छः छः गौओं को एक साथ, वशीभूत करते हुए क्रीड़ा करते थे। उसके पश्चात् भी आपस में निरन्तर परिहास के सहित दौड़ते दौड़ते, आपस में लड़ते हुए गैया और बैलों के समूह को अलग अलग करके, उद्धत (उच्छृङ्खल) अर्थात् उपद्रवी गैया और बैलों को, उनके सींग पकड़कर, लड़ने से अलग कर देते थे। किंच दोनों भैया ही पाँच पाँच पशुओं को पकड़ लेते थे ॥८॥

इस प्रकार पुनः कुछ दिन व्यतीत हो जाने पर, एवं भोजन का समय निकल जाने पर, विलम्ब का कारण जानकर श्रीव्रजेश्वरी ने अपने पति के प्रति प्रणय से उत्पन्न उपालम्भपूर्वक कहा कि, इन दोनों बालकों को वन में ले जाकर, परम पूजनीय आप यह कौन सा अभूतपूर्व कार्य करते हो ? (जिससे कि भोजन के समय भी बालक नहीं आ पाते)। उस समय श्रीव्रजराज ने श्रीकृष्ण एवं बलराम को माँ की बातों से लज्जित एवं शंकित देखकर, अथवा स्वयं लज्जा तथा आतंक को धारणकर, दोनों पुत्रों को धोखा देकर, वन में जाते समय रोहिणी एवं यशोदा को अनुमति दे दी कि, अपने अपने बालकों को तुम स्वयं रोक लो। कृष्णजननी यशोदा ने एवं रामजननी रोहिणी ने अपने अपने पुत्र को, स्नेह के कारण वन में जाने से रोक लिया ॥९॥

घर में रोके हुए श्रीकृष्ण बलदेव उत्कण्ठायुक्त होकर रोने लग गये। उसी स्थान पर कभी कभी तत्काल गुप्तरूप से छिपकर पिताजी के पास जाकर, मित्रों को सुख देकर, मार्ग को न पहिचान कर, व्रज के

पितुरभ्यर्णं गच्छन्तौ सवयोभ्यः सुखं यच्छन्तौ वर्त्मापरिकल्य व्रजबहिरुपशल्यस्थैर्वत्सपालैर्बालैः कृतमेलन्तौ खेलन्तौ तत्पालायमानौ मुमुदाते ॥१०॥

"तदेवं तयोरसकृत्कृतिमनुभूय भूयः श्रीव्रजभूपती दम्पती सुखसम्भूयमानतायामपि भयदूयमानमनस्तया मन्त्रयामासतुः,—'यदि गोसङ्गावस्थानं विना न स्थातुं पारयतस्तर्हि व्रजसदेशदेशे वत्सानेव तावत् सञ्चारयताम्' इति ।

"तदेतदेव व्रजराजः सहजादिभिर्मन्त्रविद्भिः सह मन्त्रसहतया विचार्य तन्त्रविद्भिः पुण्यदिनमवधार्य पुण्याहवाचनादिकमपि सञ्चार्य ताभ्यां गोबालपालनारम्भमाचारयाम्बभूव॥११

"ताभ्यामेव सह महागोपाला महं विधाय मनसि च सुखं निधाय निज-निज-बालान् वत्सपालान् कलयामासुः । यस्य वादौ जननी-जनितेन मज्जनसज्जनेन भोजन-भजनेन वसन-वसनेन सदलङ्करणधरणेन वेत्र-नेत्र-मुरली-गवलीनां बलनेन च बलकृष्णौ शोभां लेभाते ॥१२

"कृष्णस्त्वानीते उपानहौ नहि नहि-कारेण बहिश्चकार । कुलपरम्परागतधनगोधन-समाराधनधर्म-मर्मबाधनं हि तत्प्रसाधनवशाद्भवतीति । ततः कृष्णभावमनुभवता रामेणापि तथानुमतम् ॥१३॥

बाहर (खिड़क के बाहर) ग्राम के पास में स्थित वत्सपाल बालकों के साथ मिलकर, खेलते खेलते बछड़ाओं की तरह खेल करते हुए प्रसन्न हो गये ॥१०॥

इस प्रकार उन दोनों भाइयों के बारंबार पूर्वोक्त क्रीड़ामय कार्यों का अनुभव करके, पुनः श्रीव्रजराज एवं व्रजेश्वरी दोनों ने बालकों की क्रीड़ा से, परमसुख का अनुभव करके भी, भय के कारण सन्तप्त मन से विचार किया कि, ये दोनों बालक गैयाओं के संग रहे बिना यदि घर में नहीं ठहर सकते, तब तो खिड़क के आसपास की भूमि में, छोटे छोटे बछड़ाओं को ही चराते रहें, यही अच्छा है। अतएव इसी विचार को श्रीव्रजराज ने विचारशील अपने सहोदरों के सहित, विशेष संलग्नभाव से विचारकर, कर्तव्य का निश्चय करने वाले पण्डितों द्वारा, पुण्यमय दिन का निश्चयकर, पुण्याहवाचन, स्वस्तिवाचन आदि कार्य को विधि-पूर्वक करवाकर, श्रीकृष्ण बलदेव दोनों भैयाओं के द्वारा गोवत्सपालन आरम्भ करवा दिया ॥११॥

और अन्य विशिष्ट गोपालों ने भी उत्सव करके, मन में सुख धारण करके, उन्हीं दोनों भैयाओं के साथ, अपने अपने बालकों को वत्सपाल बना दिया। और जिस वत्सपालनरूप उत्सव के प्रारम्भ में, माता के द्वारा कराये गये स्नान, वेश रचना, भोजन सेवन, वस्त्र धारण, मनोहर अलङ्कार धारण, वेत्र, गोबन्धन रज्जु, मुरली एवं महिषशृङ्ग आदि धारण करने से, श्रीराम कृष्ण विचित्र शोभा को प्राप्त हुए ॥१२॥

उस समय चरणों में धारण करने के लिये लाई गई चर्मपादुका को श्रीकृष्ण ने नहीं नहीं करते हुए, बहिष्कृत कर दिया, और कहा कि देखो, माताजी ! हमारी कुलपरम्परा से आया हुआ परमधन तो यह गोधन ही है, उसकी आराधना करना हमारा धर्म है, इन चर्मपादुकाओं के धारण करने से इस गो-सेवारूप धर्म के मर्म में, निश्चय ही पीड़ा उत्पन्न होगी, अर्थात् हमारे परमसेव्य इस गोधन के चरणों में यदि चर्म-पादुका होतीं, तो मैं भी यथाकथंचित् धारण कर लेता। इनके चरणपादुकारहित होते हुए, मुझे भी पादुका-रहित चरणों से इनकी सेवा में उपस्थित होना उचित है। तदनन्तर श्रीकृष्ण के भाव का अनुभव करते हुए, श्रीबलरामजी ने भी चर्मपादुकाओं के परित्याग की अनुमति दे दी, अर्थात् मैं भी श्रीकृष्ण की तरह पादुका-रहित चरणों से गोचारण करने जाया करूँगा ॥१३॥

"दुष्करगणनानि गोधनानि तु नूनं कृततदवधानानि तदानुकूल्याय प्रखरखरखुरखनन-खुरलीभिर्मृण्मयरेणूनपि पुष्परेणूनिव विधाय कर्कराकण्टकादिकमपि खण्डशस्तथा सन्धाय तदीयचरणप्रचारभूमिं सुखसञ्चारतया कारयामासुः । वसुधा च सुधासेकमेव तदीयचरण-सञ्चारणेन मन्वाना वृन्दया सह च योगं तन्वाना तदानुकूल्यावशेषं निरवशेषं चकार । यथा च खदिरवनादिकमपि सुखसञ्चाराय सम्यगधिकं भवति ॥१४॥

"यथा च सर्वत्र तदीयचरणकिशलयालय-सूक्ष्मरेखालेखानामुदयः सर्वमुदयनं भवतीति प्रकृतमनुसंरामः ॥१५॥

"तदेवं महामङ्गल-सङ्गततया वत्सचारणोत्सवमनुक्रियमाणे प्रयाणे समुद्गतशोभ-समुद्गक-विचित्रच्छत्र-चामर-पट्टपटादि-नानासामग्री-संग्रहव्यग्रीभूतकरा भुवनशुभङ्करा जितवृन्दारकाः किङ्करदारकास्तावनुसरन्तः किमप्यन्तःसुखमनुबभूवुः ॥१६॥

"तत्र च मातरपितरावारभ्य प्रत्यागार-द्वारं सर्वाभिरनर्वाचीनाभिर्वरवर्णिनीभिर्महाधनै-र्निर्मञ्छ्यमानौ दीपायमानमणिभिर्नीराज्यमानौ प्रफुल्लसुरभिप्रसूनैरभिवृष्यमाणौ मङ्गलसङ्ग-सङ्गतगीतैः संगीयमानौ यथार्हं तदन्तिकवदन-कान्ति-सन्ततिभिः सन्तोष्यमाणौ पुरस्ताद्विकीर्ण-विस्तीर्णनयनैर्निर्वर्ण्यमानौ गुरूनभिवाद्य निरवद्यवाद्यप्रसाद्यमानकौतुकप्रततं प्रस्थाते ॥१७॥
तस्था

जिनकी गिनती करना कठिन है, ऐसी अनन्त गैयाओं ने भी, श्रीकृष्ण बलदेव की धर्मनिष्ठा पर ध्यान देकर, उन दोनों की अनुकूलता के लिये, अत्यन्त तीखे खुरों के द्वारा खोदने के अभ्यास से, मृत्तिका की रेणुओं को पुष्परेणुओं जैसी बनाकर, कङ्कड़, कण्टक आदि को भी, खण्ड खण्ड करके पुष्परेणुतुल्य बनाकर, उनके श्रीचरणों के विचरण की भूमि को, सुखपूर्वक विचरण करने योग्य बना दिया। और पादुकारहित श्रीकृष्ण बलदेव के चारुचरणारविन्दों के सञ्चार से, सुधासेक को ही मानती हुई, व्रजभूमि ने, वृन्दावना-धिष्ठात्री वृन्दादेवी के साथ सम्मिलित होकर, उन दोनों की अनुकूलता के लिये, अवशिष्ट कार्य को पूरा कर दिया। जिस प्रकार खैर, करील आदि के वन भी अच्छी प्रकार सुखपूर्वक भ्रमण के लिये अधिक योग्य हो जायँ ॥१४॥

और देखो! सभी स्थानों पर श्रीकृष्ण बलदेव के चरणपल्लवों में विद्यमान सूक्ष्मरेखासमूह का उदय, सभी भक्तों के हर्ष का स्थान हो जाता है, अतः व्रजभूमि सर्वत्र कोमल बन जाती है। अब हम प्रकृत विषय का अनुसरण करते हैं, अर्थात् जिस विषय में कथा प्रारम्भ की थी, उसी प्रसङ्ग पर आते हैं ॥१५॥

अतएव इस प्रकार महामाङ्गलिक व्यापार में संलग्न होकर, वत्सचारणोत्सव का उद्देश्य करके किये गये वनगमन के अनन्तर, शोभा से विराजित ताम्बूलपात्र, विचित्र छत्र, चामर, रेशमी वस्त्र आदि अनेक सामग्रियों से जिनके हाथ व्यग्र हो रहे हैं, एवं जो जगत् के मङ्गलकारक हैं, अपने सेवाभाव से जो देवताओं को भी जीत लेते हैं, ऐसे रक्तक, पत्रक आदि सेवकरूप बालकों ने, श्रीकृष्ण बलदेव का अनुसरण करते हुए, अपने अन्तःकरण में किसी अनिर्वचनीय सुख का अनुभव किया ॥१६॥

और वहाँ पर माता पिता से लेकर, सभी वृद्ध गोप रमणियों ने प्रत्येक घर के दरवाजे पर, आये हुए दोनों भैयाओं पर, विशिष्ट मणिमुक्ता आदि की न्योछावर (बखेर) की, दीपक के समान दमदमाती हुई मणियों से दोनों की आरती की, दोनों पर ही खिले हुए सुगन्धयुक्त पुष्पों की वर्षा की, मङ्गलश्रेणी परिपूर्ण

"यत्र दिव्यगणाश्च तद्वदेव दीव्यन्ति स्म ॥१८॥

"ततश्च, वेणु-वेत्र-दल-शृङ्ग-वटीभिः,कन्दुक-भ्रमर-दारु-नटीभिः ।
क्रीडिनौ सशिशुगोसुतजाते, नीलपीतवसनौ रुरुचाते ॥१९॥

"तदनु दूरतः सूरततया पुरतः पश्यदृशः पितृतत्सदृशस्ते कांश्चित् प्रौढानूढावधानान् विधाय चारप्रदेशविचारमभिधाय च क्रमत एव व्युत्क्रमतः क्रममाणाः सुकृतिनः कृतिनः परावर्वृतिरे ॥२०॥

"राम-रामानुजादयश्च किञ्चिदञ्चित्वा—
विसार्य वत्सानावार्य परितः शाद्वले स्थले ।
खेलां चक्रुर्मिथो मेलादावेलां भोजनागतेः ॥२१॥

यथा—वेणुं वादयतोः फलादि किरतोः शिञ्जत्तुलाकोटिभा-
गङ्घ्रिभ्यां क्षिपतोर्वृषानुकरणैः संयुध्यतोरेतयोः ।
भ्रात्रोर्निर्जयिनोर्मिथो द्रववशादुच्चैः सखायश्च ते
पार्ष्णिग्राहतया युधं विदधतः कोलाहलं चक्रिरे ॥२२॥

गीतों द्वारा दोनों ही के गुणों का गायन किया, दोनों ही के निकट जाकर यथायोग्य सुमधुर वचनावली से दोनों को ही सन्तुष्ट किया, सामने की ओर फैलाये हुए विशाल नेत्रों से दोनों का चावपूर्ण दर्शन किया। पश्चात् दोनों भाई गुरुजनों का अभिवादन करके, विशुद्धवाद्यविराजित कौतुक विस्तारपूर्वक वन को चल दिये ॥१७॥

जहाँ पर स्वर्गीय देवगणों ने भी, ठीक उसी प्रकार न्योछावर, आरती, पुष्पवृष्टि, मङ्गलगान, स्तुति-वाक्य, सन्तोषण एवं दर्शनादि द्वारा व्यवहार किया ॥१८॥

उसके बाद वेणु, वेत्र, दल-पीपनी का पत्ता, शृङ्ग, गोबन्धन रज्जु, गेंदबल्ला, एवं काठ की पुतली आदि से खेलने वाले, नीलाम्बर पीताम्बरधारी दोनों भैया, बालकों के सहित वत्सगणों के बीच में सुशोभित हुए ॥१९॥

उसके पश्चात् दयालुता के कारण, कुछ दूर तक दोनों लालाओं के पीछे पीछे जाकर, पुनः सामने की ओर देखनेवाले पिताजी एवं उनकी तुल्य अवस्था वाले वे सब गोप, जो सुपुण्यात्मा एवं कार्यकुशल हैं, अतएव दोनों बालकों की रक्षा के लिये, कुछ प्रौढ़ अवस्था के गोपों को सावधान करके, तथा गोचारण के स्थान के विचार को बताकर क्रमशः अलग अलग होते हुए लौट आये ॥२०॥

इधर श्रीबलराम एवं श्रीकृष्ण आदि ग्वारिया कुछ दूर जाकर, बछड़ाओं को चरने के लिये इधर उधर फैलाकर, पुनः हरी हरी घास से युक्त स्थल में चारों ओर से घेरकर, भोजन आने के समय तक आपस में मिलकर खेलने लग गये ॥२१॥

यथा—दोनों भैया जब वेणु बजाने लगे, फलादिकों को फैंकने लगे, नूपुरध्वनियुक्त दोनों चरणों द्वारा इधर उधर विक्षिप्तभाव से घूमने लगे, साँढों का सा अनुकरण करके युद्ध करने लग गये, आपस में अपनी अपनी विजय करने लग गये, तब आपस में अत्यन्त स्नेह के कारण, वे सब सखा दोनों के सहायक रूप से, युद्ध करते हुए कोलाहल करने लग गये ॥२२॥

"ततश्च तौ वत्सांस्तृणैराप्याय्य जलमापाय्य सर्वान् विलोकितवन्तौ। श्रीकृष्णस्तु तेषु कस्यचिद्गण्डादिकण्डूतिखण्डनेन बाहुदण्डकृतकण्ठावगुण्ठनेन 'मातरं मिलितुमिच्छसि ? मेलयिष्यामि' इति तत्कर्णे मिथः कपोलमेलनपूर्वकवृथावर्णनेन च तमुपचर्य सुखमुपलब्धवान् ॥२३॥

"अथ भ्रातरौ सखिभिर्जलाप्लवनकेलिमाचर्य वन्यवेशविशेषमप्यासज्ज्य चरणचर्यया चरन्तावपूर्वमृग-पक्षिणः समन्ताल्लक्षयन्तौ वैलक्ष्यमासेदतुः ॥२४॥

"तत्र च, रुतमनु कुरुतस्तौ लीलया यस्य जन्तोः, समुदयति तदीयं जातिमात्रं तदाशु ।
भणितमथ विधत्तस्तद्विरुद्धस्य तस्मिन्, यदि भयमनु तस्माल्लीयते तज्जवेन ॥२५॥

"ततश्चाह्नाय मध्याह्नाशनमादाय स्व-स्व-धामतः समागताभिस्तदुचिताभिर्वनिताभिर्जनितानन्दनः श्रीमान्नन्दनन्दनः सखि-वृन्दमानन्दयन् वाणीयमानवेणुरगितेनाकारणया मंक्षु सङ्कुलयामास। सङ्कुलितांश्च सखीनेणीदृशः श्रेणीकृत्य चाहृत्य च समुपवेशितान् सुवेशितान् मध्यमध्यासितश्यामरामान् भोजनकामान् क्रमनिशामनया यामनया जेमयामासुः ॥२६॥

तदनन्तर दोनों भैयाओं ने बछड़ाओं को तृणों से तृप्त कराकर, जलपान कराकर, सभी बछड़ाओं को देखा। किन्तु श्रीकृष्ण ने उन सब बछड़ाओं में से किसी एक बछड़े के कपोल आदि स्थान की खुजलाहट दूर करके, अपनी भुजाओं से उसके गले से चिपट करके, "भैया मुन्ना! यदि तू अपनी मैया से मिलना चाहता है, तब तो मैं मिला दूंगा" इस प्रकार उसके कान में आपस में कपोल मेलनपूर्वक वृथा वर्णन करके, उसको सुखी बनाकर महान् सुख पाया ॥२३॥

पश्चात् दोनों भ्राता सखाओं के साथ जल में तैरना आदि क्रीड़ा को करके, वन के वेष विशेष को भी धारण करके, श्रीचरणों से भ्रमण करते करते, चारों ओर अपूर्व मृग पक्षियों को देखते हुए, विस्मय को प्राप्त हो गये ॥२४॥

और उस वन में वे दोनों भैया लीलापूर्वक, अर्थात् खेल खेल में जिस गीदड़, भेड़िया आदि जन्तु के शब्द का अनुकरण करते हैं, उसी समय उन उन जन्तुओं की जातिमात्र शीघ्र ही उपस्थित हो जाती है, अर्थात् उस उस जाति के जन्तु एकत्रित होकर, दोनों भ्राताओं के पास चले आते हैं। किन्तु तदनन्तर यदि आये हुए जन्तुओं की जाति से विरुद्ध सिंह, व्याघ्र आदि के शब्द का अनुकरण करते हैं, तब तो उसी क्षण विरुद्ध जन्तु से भय मानकर, पहले बुलाये हुए गीदड़ आदि जन्तु, वेग से भागकर वन में छिप जाते हैं ॥२५॥

इस लीला के पश्चात् मध्याह्नकाल के भोजन लेकर, अपने अपने घर से शीघ्र ही आई हुईं, उनकी सेवा के योग्य गोपवनिताओं से जिनको आनन्द उत्पन्न हुआ है, ऐसे श्रीमान् नन्दनन्दन ने मित्रमण्डल को आनन्दित करते हुए, मानवी भाषा में सखाओं का नाम ले लेकर वेणु बजाई। उस वेणु की बुलाहट से सभी सखाओं को शीघ्र एकत्रित कर दिया। पश्चात् मृगलोचना गोपियों ने एकत्रित हुए सखाओं की पंक्ति बना कर, उनका सम्मान कर, सजे सजाये उन बालकों को अच्छी प्रकार बैठाकर, उनके बीच में कृष्ण बलदेव को बैठाकर, भोजन की इच्छा वाले उन सबको क्रमशः देखकर, भोजन परोसकर उनको जिमा दिया ॥२६॥

"यत्र नर्मणा शर्मदानाय किञ्चित् कश्चित् किञ्चित्कश्चिद्विशश्लाघे शश्लाघे च । यत्र च तैर्विवदमानानां संवदमानानां चान्यासां वचनप्रतिवचनश्रवणकौतुकानन्तरं धात्रीगणपात्री काचित्तु दासेरबालकान् प्रति फेला-विसर्जनरञ्जनाय पूर्तिव्यञ्जनया भोजनवितृष्णतामनुचरिष्णुं कृष्णं प्रति सकाकु जगाद,—॥२७॥

'मया यत्नादेतद्द्रवमधुरमारादुपहृतं, जनन्या रामस्य प्रयतनयुजा साधितमिदम् ।
भवन्मात्रा चास्य स्वदनविधये दत्तशपथं, मुहुः सन्दिष्टं तन्निखिलमुपयुंक्ष्व त्रयमपि ॥'२८

"तदेवं कौतुकविशेषेण जाते भोजनशेषे रचिताचमनं तमनन्तगुणकमनं रामदामादिभिः सहितं सहितं सा पुनः कर्पूर-रसपूरपूर्गखपुरपूरित-सचूर्णस्वर्णवर्णपर्णपुट-दानपुरःसरमेवमवादीत्, —'लाल्य ! पाल्यमान-मातृसन्देशतया बाल्यमपहाय तूर्णमेव व्रजसदनं पूर्णमाचरणीयम् ।'॥२९॥

"अथ किञ्चिद्दूरं गत्वा तस्य तेषां च खेलामेलाभिनिवेशं मत्वा ग्रीवां परावर्त्य नर्त्यमाननयनतया समर्थांस्तत्पालकान् बालकान् प्रत्युवाच,—'अरे ! रे ! शीघ्रमेवायं प्राणयनीयो व्रजधरणीशप्रणयिन्याः प्राणस्य प्राणः' इति ॥३०॥

जिस भोजनलीला में परिहास से सुख देने के लिये, किसी एक सखा ने किसी एक खाद्यवस्तु की निन्दा की, दूसरे ने किसी वस्तु की तत्काल प्रशंसा भी कर दी । और उसी समय उन बालकों के साथ कुछ गोपियाँ विवाद करने लगीं, तो कुछ ठीक ठाक संवाद करने लगी, इन सबके प्रश्नोत्तर श्रवणमय खिलवाड़ के अनन्तर, सभी धाइयों की रक्षा करनेवाली कोई धाय, दासी पुत्रों के प्रति खाने से बची हुई सामग्री को देकर, उनको प्रसन्न करने के लिये, अपनी उदरपूर्ति को प्रकाशित करके, भोजन से अरुचि के अनन्तर उठ कर, चलने की इच्छा वाले श्रीकृष्ण के प्रति हा हा खाती हुई विनयपूर्वक बोली— ॥२७॥

देख, लाला कन्हैया ! इस द्रवीभूत मधुर खाद्यपदार्थ को मैं बड़े यत्न से तुम्हारे निकट लेकर आई हूँ, श्रीबलरामजी की माँ ने इसको बड़े प्रयत्न से बनाकर भेजा है, और तुम्हारी माताजी ने भी इस द्रव्य का आस्वादन करने के लिये शपथ देकर भिजवाया है, अतः तीन जनों की इस समस्त वस्तु को तुम प्रेम से भोजन करो ॥२८॥

इस प्रकार हासपरिहासपूर्वक भोजनलीला के अनन्तर, श्रीराम एवं श्रीदामा प्रभृति हितकारी सखाओं के सहित, जिन्होंने आचमन कर लिया, ऐसे अनन्तगुण मनोहर सर्वहितैषी श्रीकृष्ण को, वही धाय पुनः कर्पूर रस राशिपूर्ण सुपारी से पूरित, चूर्णसहित स्वर्णवर्ण ताम्बूल को देती हुई इस प्रकार बोली— देख, लाला ! माता का आदेश पालन करना तुम्हारा कर्तव्य है, अतः बालकपन की चञ्चलता को छोड़कर, शीघ्र ही व्रजरानी के घर को अपने आगमन से पूर्ण कर देना ॥२९॥

तदनन्तर कुछ दूर जाकर, श्रीकृष्ण एवं उन सब सङ्गी बालकों की, खेल सम्मेलन की एकाग्रता को समझकर, अपनी गर्दन को लौटाकर, नाचते हुए नेत्रों के इशारे से, गोचारण में समर्थ एवं श्रीकृष्ण के भी पालक, सुहृद बालकों से बोली—अरे ! रे ! ओ बछड़ाओं के चरानेवाले ग्वारियाओ ! तुम सब व्रजराज की पटरानी के प्राणों के प्राण, इन श्रीकृष्ण को शीघ्र ही घर को लिवा लाना ॥३०॥

"तदेवं गतासु तासु साग्रजः स तु दुष्परिहरवाष्पच्छेद्यसपुष्पतृणमुखान् वत्सान् व्रजाभिमुखान् विधाय शनैश्चारयन् गायन् नृत्यन् हसन् क्रीडन् दिविचरैर्ब्राह्मणैर्ब्राह्मणैः स्तूयमानः सुमनोभिश्च सुमनोभिर्वृष्यमाणः स्वगृहाय वर्त्म जगृहे ॥३१॥

"ततश्च वत्सावासं यावत् साग्रजमित्रव्रजतया यथाक्रमं विक्रममाणस्तत्र च वत्सान् संकृत्य कृतकृत्यतया रममाणस्तल्लावण्यदर्शनेन हर्षमाणस्तत्प्रागेव सर्वैर्व्रजवासिभिरुपव्रज्यमानः प्रातर्वदेव मङ्गलेनासज्जमानः स्वनातरपितरादीन् वन्दमानस्तेभ्यो लब्धमहानन्दमानः स्वालयं कलयमानः स्नानादिपूर्वकं दिव्यमम्बरं वलयमानः शीघ्रमेव भोजनं भजमानः पुनरपि गोदोहभूमिगमनेन सुखं यजमानस्तत्तन्मातृनामभिर्वत्सान् ह्वयमानः सम्भ्रमतस्तद्गमनव्यति-क्रमात् प्रहासमयमानः प्रदुग्धानि दुग्धानि च तानि किङ्करनिकरेण गृहं हारयमाणः पुनरालयमागम्य क्षणकतिपयं मातरमानन्द्य तामनु विन्दमानश्चन्द्रशालिकां विश्रमाय श्रयमाणः सर्वेषामतिहर्षं ववर्ष । प्रस्वाप्य च तश्च तश्च सा च सा च माता परितः परिजन-कुमारान् सन्निधाप्य गृहव्यवहाराय बृहद्धाम जगाम ॥३२॥

"तदेवं दिनकतिपये परमरमणेन गमितसमये स तु नृशंसः कंसनामा यथार्हवर्णकृत-वर्णनतः समाकर्णिततद्-वृन्दावनागमनादिवृत्तान्तः स्वान्तश्चिन्तयामास ॥३३॥

इस प्रकार समझाकर धाय आदि सभी गोपियाँ जब चली गईं, तब श्रीबलभद्रजी के सहित श्रीकृष्ण ने भी, अनिवार्य मुख की वायु से भी जो टूट जाता है, ऐसा पुष्पसहित कोमल तृण जिनके मुख में है, ऐसे वत्सगणों को व्रज के सन्मुख करके, उनको धीरे धीरे चराते हुए, मार्ग में गायन, नृत्य, हास्यपरिहास, क्रीड़ा आदि करते हुए, अपने घर जाने के लिये मार्ग को पकड़ लिया। उस समय आकाशचारी, ब्रह्माजी के पुत्र सनकादिऋषि वेद के ब्राह्मणभागों से उनकी स्तुति करते जाते हैं, स्वर्गीय इन्द्रादि देवगण पुष्पों की वृष्टि करते जाते हैं ॥३१॥

उसके पश्चात् श्रीकृष्ण अग्रज एवं मित्रगणों के सहित, परिपाटीपूर्वक बछड़ाओं के खिड़क को जाने के लिये पदक्षेप करने लग गये। वहाँ पर बछड़ाओं को इकट्ठे करके कृतार्थ होकर, आनन्दित होकर, एवं उन वत्सों के लावण्य के दर्शन से हर्षित हो गये। वनागमन से पहले ही समस्त व्रजवासी उनके पास आने लग गये। प्रातःकाल की तरह उनके माङ्गलिक कृत्य किये गये। अपने माँ बाप आदि को उन्होंने प्रणाम किया। उनके द्वारा महान् आनन्द एवं पुत्रोचित सम्मान का लाभ किया। पश्चात् अपने घर को चलने लग गये। वहाँ जाकर स्नानादि कार्य समापनपूर्वक दिव्य वस्त्र धारण करने लग गये। शीघ्र ही भोजन करके पुनः गोदोहनभूमि में जाकर के तत्रस्थजनों को सुख देने लग गये। उन उनकी माताओं के नाम से बछड़ाओं को बुलाने लग गये। वेगपूर्वक उन वत्सों के गमन के व्यतिक्रम से सबको हँसाने लग गये। दुहे हुए सारे दुग्धों को सेवकसमूह के द्वारा घर को भिजवाने लग गये। पुनः घर को आकर, कुछ क्षणों तक माता को आनन्दित कर, उनके चरणों को प्राप्तकर नमस्कार किया। पश्चात् विश्राम करने के लिये अटारी के ऊपर के भाग का आश्रय लेकर, सभी के ऊपर अत्यन्त हर्ष की वर्षा कर दी। वह वह माता उस उस अपने पुत्र को शयन कराकर, श्रीकृष्ण बलदेव के पलङ्ग के चारों ओर दासी पुत्रों को पास में बैठाकर, घर के काम के लिये विशाल भवन में चली गई ॥३२॥

इस प्रकार परम कौतुक के सहित कुछ समय व्यतीत हो जाने के बाद, उस क्रूर कंस नामक असुर ने

"हन्त ! सत्यतासारेण देव्या वचनानुसारेण नन्दगोपडिम्भतादम्भ एव स कोऽपि गोपितः सम्भाव्यते, येन नूतनावयवेनापि दुःसहमहसः पूतनादयः सहसा गाम्भीर्यावृत्तेन वीर्यातिशयेनालम्भनीयतां लम्भिताः । त्रस्यति च तस्य नामधामवशान्मम हृदयम् । तस्मादसौ छलत एवोत्कलनीयः । हन्त ! छलानप्युत्तरमुत्तरमतिरिक्तं युक्तमेव ते प्रयुक्तवन्तः । तथापि कदर्थितीभूय व्यर्थीभूता इति विचार्य पुनरपि तं प्रणिधिं सन्निधिं निकाय्यतः समानाय्य पप्रच्छ,—'अये ! त्वयेदमप्यवकलितम्, जातौ कस्यां तस्यादरः स्नेहभरश्च परमः परामृश्यते ?' स उवाच,—'देव ! गोवत्सेषु तदुत्सेकः प्रतीयते ।' ॥३४॥

"कंस उवाच,—'सम्यग्गम्यतां निजमेव हर्म्यम् ।' पुनश्चान्यमुवाच,—'आकार्यतां पुरतः स वत्सासुरः स च शचीपतेरपि क्लमनः ।' ससम्भ्रमविक्रमक्रमतया तेनानीय समर्पितः पानीयलववद्द्रवप्रवणतावस्थ एव तस्थौ । तेन च सम्बन्धतामाशंसन् पांशुसङ्घवल्लब्धध्वंसः कंसस्तूपांशु तं सुतमिव शशंस,—'वत्स! वत्सासुर! गच्छ नन्दस्य व्रजम्; गत्वा च वत्सांश्चारयतः कुमारयतस्तत्कुमारस्य सदेशमासाद्य निजं वत्सवेशमुत्पाद्य तस्यापकारमारभस्व ॥'३५॥

"ततः स च 'यथाऽऽज्ञापयन्ति राज्ञामाज्ञापकाः' इति तद्वचनरचनानुपथात्मा तत्प्रति-

---

अपने गूढ़ चर के द्वारा किये गये वर्णन से, श्रीकृष्ण का वृन्दावन में आने आदि का समाचार सुनकर, अपने अन्तःकरण में विचार किया कि— ॥३३॥

हाय ! देवी के सत्यतापूर्ण वचनानुसार तो यह मालूम होता है कि, नन्दगोप के बालकरूप से वह कोई छल ही वसुदेवजी के द्वारा गुप्त कर दिया है। जिस बालक ने छोटे छोटे नवीन अंगों से युक्त होकर भी, असह्य तेजसम्पन्न पूतना आदि को, क्रमशः गंभीरता से वेष्टित अतिशय पराक्रम के द्वारा मार दिया। उसके नाम के प्रभाव से ही मेरा हृदय उद्विग्न हो जाता है। अतः उसको छल बल से ही मारना चाहिये। हाय ! हाय ! देखो, उन पूतना आदि राक्षसों ने यद्यपि उत्तरोत्तर अधिक समुचित छलों का प्रयोग किया था, तो भी, वे सब अपमानित होकर व्यर्थ हो गये। इस प्रकार विचारकर, फिर भी उसी गुप्तचर को उसके घर से अपने निकट बुलवाकर पूछा कि, हे दूत ! तुमने यह भी जाना है कि, उस नन्दगोपकुमार का कौनसी जाति में अधिक आदर एवं परम स्नेह है ? वह दूत बोला—महाराज ! गोवत्सगणों के ऊपर उसका अधिकतर स्नेह प्रतीत होता है ॥३४॥

कंस बोला—अच्छा, तुम अब अपने महल को चले जाओ। पुनः दूसरे सेवक से कहा—उस वत्सासुर को मेरे सामने बुला लाओ। वह वत्सासुर इन्द्र को भी ग्लानि उत्पन्न करने वाला था। उसी सेवक ने सम्भ्रम एवं विक्रम की प्रणाली का प्रकाश करते हुए, उसको लाकर कंस को समर्पण कर दिया। वह वत्सासुर जलबिन्दु की तरह द्रवीभूत एवं नम्र होकर कंस के आगे खड़ा हो गया। उस जल से सम्बन्ध को प्राप्त होने पर, धूलि का समूह जैसे गल जाता है, उसी प्रकार कंस भी वत्सासुर के सहवास से गल गया। पुनः एकान्त में पुत्र की तरह समझाकर उसको बोला—हे वत्स ! वत्सासुर ! तुम नन्द के व्रज को चले जाओ। वहाँ जाकर बछड़ाओं को चराते हुए, क्रीड़ा करते हुए, उस नन्दकुमार के पास जाकर, अपने वत्सवेश को उत्पन्न कर, उसके अपकार को प्रारम्भ कर दो ॥३५॥

तदनन्तर वह वत्सासुर "राजाओं को आज्ञा को वितरण करनेवाले आपकी जैसी आज्ञा" इस प्रकार कहकर, अपनी आत्मा को कंस के वचनों का अनुगामी बनाकर, उसकी आज्ञा के अनुसार निर्भयतापूर्वक ही

शासनादत्रासमेव तत्राजगाम । यत्र स्वच्छे वत्सक्रीडननामनि यामुनकच्छे तद्विधमारककर्मा व्रजराजजन्मा वत्सान्मानयन्नयनविषयं विषधरमिव तं चकार ।।३६।।

"अथ मत्सरतस्तत इतः सरतस्तस्य गन्धानुसन्धानतः कृत्स्नान् खटदेशमटतः शकृत्करीन् व्यग्रं पश्यतः पश्यन्नग्रजं व्रजराजतनूजनूरहः सव्याजं व्याजहार,—'बृहद्भ्रातः ! प्रातरनायातः परिचीयते वा कोऽप्यमुपतोयं प्रतीयते वत्सः ?' ।।३७।।

"राम उवाच,—'भ्रातर्नहि नहि ।' कृष्ण उवाच,–'निरूप्यताम् ।' राम उवाच,– 'भीषणप्रकृतिरिव प्रतीयते ।' कृष्ण उवाच,–'पूर्वज ! पूर्वदेवोऽयम् ?' राम उवाच,–'सत्यम्, यस्मादस्मासु वत्सेषु चाकस्माददृष्टिजा दृष्टिरस्य दृश्यते ।' कृष्ण उवाच,–'यदि भवदादिष्टं स्यात्तर्ह्येतं दिष्टान्तमासादयामि ।' राम उवाच,–'लोकतः कलङ्कतः शङ्के ।' कृष्ण उवाच,– 'मरणे दित्यपत्यतापरमागत्य प्रत्यक्षीभविष्यत्यस्य । ततः कोऽपि नापवदेत । रामः सहर्षमुवाच,–'द्विषन्तप ! सच्छलमेतं सच्छलमेव मन्दं मन्दमभ्यवस्कन्द ।।३८।।

"अथ श्रीवत्सवक्षाश्च वत्सानन्यांश्चुचुकारेण सन्निदधानः कण्ठगण्डपिचिण्डादौ कण्डूमपनयमानः सर्वतः क्रीडन् गायन् पर्व तन्वन्निवासीत् ।।३९।।

वहाँ चला आया। जहाँ पर "वत्सक्रीडन" नामक निर्मल श्रीयमुना के तीर पर, वत्सासुर जैसों के मारण कर्मपरायण, व्रजराजकुमार ने बछड़ों का मान करते हुए, उस असुर को विषधर की तरह दृष्टिगोचर कर लिया, अर्थात् देख लिया ।।३६।।

तदनन्तर मात्सर्य से इधर उधर घूमते हुए, उस वत्सासुर की गन्ध के अनुसन्धान से, श्रीकृष्ण के सभी बछड़े व्यग्रतापूर्वक उस असुर की ओर देखते हुए, अधिक तृण वाले प्रदेश में चले आये। उस समय श्रीकृष्ण ने सभी वत्सों को व्याकुल देखकर, एकान्त में बहाने पूर्वक बड़े भैया से कहा कि, हे बड़े भैयाजी ! इस नवीन बछड़े को आप पहचानते हैं? प्रातःकाल तो आया नहीं था, अतः जल के पास में यह कौन बछड़ा दिखाई दे रहा है ? ।।३७।।

श्रीबलरामजी बोले—भैया ! ना, ना, प्रातःकाल तो यह खिड़क से आया नहीं था। श्रीकृष्ण बोले– देखो तो सही। श्रीराम बोले—भैया ! यह तो भयंकर प्रकृति जैसा मालूम पड़ता है। श्रीकृष्ण बोले—हे पूर्वज ! यह वत्स तो असुर है। श्रीराम बोले—हाँ भैया ! तुम्हारी बात सत्य है, कारण हमारे ऊपर एवं वत्सों के ऊपर इसकी अकस्मात् कुदृष्टि दिखाई देती है। श्रीकृष्ण बोले—यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं इसको मार डालूँ। श्रीराम बोले—लोक से एवं कलंक से शंका करता हूँ।

श्रीकृष्ण बोले—मरने पर यह व्यक्ति असुर है, यह बात प्रत्यक्ष हो जायगी। उसके बाद कोई भी अपवाद नहीं करेगा। श्रीबलरामजी हर्षपूर्वक बोले—हे शत्रुओं को संतप्त करनेवाले ! श्रीकृष्ण ! यह असुर अत्यन्त छलयुक्त है, अतः तुम भी छलपूर्वक धीरे धीरे इसके सामने जाओ ।।३८।।

तदनन्तर श्रीवत्स का चिह्न है वक्षःस्थल में जिनके, ऐसे श्रीकृष्ण अन्य बछड़ों को चुचुकार के द्वारा अपने पास लाते हुए, उनके कण्ठ, कपोल, उदर आदि स्थानों पर खुजलाहट को दूर करते हुए, चारों ओर खेलते हुए, गाते हुए महोत्सव का सा विस्तार करने लग गये ।।३९।।

"ततस्तस्यापि लब्धछिद्रम्मन्यस्य कूटमय्या स्वकण्डूतिविघटनेच्छया निकटमटतरतद-कर्कशमुद्रया सहसा तान् हित्वा तं सपुच्छपादं गृहीत्वा भ्रमयामास ॥४०॥

"यावच्छः परिवर्तनं भ्रमयता वत्सस्य चक्रेऽमुना
तावच्छः प्रतिपत्क्रमान्निरगमद्रूपान्तरं चागमत् ।
क्रीडायाः फल-पातनार्थमिव च क्षिप्ते कपित्थोपरि
ज्ञातृत्वं नटवत् कलाश्च पृथुकास्ते तस्य शश्लाघिरे ॥४१॥

अथ देवैः प्रसूनानि वृष्टानि हसितानि च ।
न नासया न च दृशा भिन्नतां नेतुमीशिरे ॥४२॥

"तदनु च परिहासभासमानहासं दिव्यसभासदस्तदिदमवदंश्च,—'नूनमेतदेव देववैरिवैरिणस्तात्पर्यं पर्यवस्यति ।' ॥४३॥

वयं गां गोपालाः परिचिनुमहे तद्द्विषमपि
प्रतिच्छन्ने रूपेऽप्यनुमितिनिदानव्यतिकरात् ।
अतो रे रे वत्साकृतिसुररिपो ! मद्विधकरात्
कथं ते मोक्षः स्यादिह लषसि चेत् प्रेत्य भवतु ॥ इति ॥४४॥

उसके बाद वह असुर अपने मन में यह मानने लग गया कि, मानों मैंने कृष्ण के विनाश करने का कपटवेश प्राप्त कर लिया है, ऐसा भाव करके कपटमयी अपनी खुजली को दूर करवाने की इच्छा से, स्वयं पास में आ गया। उस समय श्रीकृष्ण भी सरलतापूर्वक अन्य बछड़ों को सहसा छोड़कर, पुच्छ एवं पिछले पैरों सहित, उस असुर को पकड़कर घुमाने लग गये ॥४०॥

घुमाते हुए श्रीकृष्ण ने जैसे जैसे वत्सासुर का परिवर्तन किया, वैसे वैसे ही उसकी चेतना क्रमशः निकल गई, और वह रूपान्तर को प्राप्त होगया। पश्चात् खेल खेल से फल गिराने के लिये, उसको कपित्थ (कैथ) वृक्ष के ऊपर जब फेंक दिया, तब तो सभी गोपबालक श्रीकृष्ण की ज्ञानशक्ति की, एवं नट की तरह कलाकौशल की प्रशंसा करने लग गये ॥४१॥

तदनन्तर देवताओं ने श्रीकृष्ण के ऊपर पुष्पवृष्टि तथा हास्यवृष्टि की। सभी पुष्पों की गन्ध एक प्रकार की थी, और हास्यसमूह भी सुखजनक होने के कारण पुष्पों के समान ही था। इसी कारण ग्वाल-बाल नासिका एवं नेत्रों द्वारा, इस पुष्पवृष्टि और हास्यवृष्टि की भिन्नता को समझने में समर्थ न हुए ॥४२॥

उसके पश्चात् स्वर्गीय सभासद् एवं देवगण परिहास से प्रकाशमान हास्यपूर्वक, अनुकथन करते हुए यह बोले कि, असुरों के बैरी श्रीकृष्ण का निश्चयरूपेण हार्दिक तात्पर्य यही निकलता है कि— ॥४३॥

हम गोपाल हैं, अतः गौओं को भली प्रकार पहचानते हैं। अतः यदि कोई दुष्ट रूप छिपाकर, गैया या बछड़ाओं के रूप से, हमारे सामने आता है, तो भी हम अनुमान के कारण के सहयोग से, गैयाओं के शत्रु को भी भली प्रकार पहचान लेते हैं। इसलिये अरे ! रे ! वत्साकृति सुररिपो ! हमारे जैसों के हाथ से तेरा छुटकारा कैसे हो सकता है ? हाँ, यदि तू मोक्ष चाहता है, तब तो मरने के बाद वह मोक्ष संघटित हो जाय। क्योंकि मेरे हाथ से मरने वाले को भी मोक्ष मिल जाती है ॥४४॥

"तदेवम्—तौ वत्सानपि रक्षन्तौ सर्वं लोकं ररक्षतुः ।
यदर्थं प्रातराशादि यस्मिन् दैत्यवधादि च ॥४५॥

"ततश्च तद्दिनेऽपि श्रीकृष्णरामयोः स्वधामसमागमनं पूर्ववदेव जातम्, किन्तु तद्वृत्तमनिष्टमिति तदिष्टगणः सर्व एवावरिष्ट, तच्च न जाने किंवदन्ती किंवदन्ती स्यादिति सचित्तीभूय। कंसस्तु तस्माद्वत्सपादपि वत्सासुरनिर्वासनमपसर्पमुखाद्विषमिव कर्णरन्ध्रस्पर्शमात्रेणान्तः सम्भूय भृशं दृशौ निमीलयामास । तेन दशमीमिव दशां प्रापितः, स तु मन्त्रिभिः कथञ्चिद्बहिरवधापितः सार्धमेव तैरिदमचारु विचारयामास,—'हन्त सम्भाविता दम्भान्विता बहवः प्रस्थापिताः, न तु तैर्भद्रं किञ्चिदपि सञ्चितम् । तेषां धीप्सावीप्सा हि नहीप्सां त्रातवती, प्रत्युत तानेव प्सातवती; ततः किं कुर्मः ?' ॥४६॥

"मन्त्रिण ऊचुः,—'देव ! केवलं बकमत्र बलमवलम्बामहे; यतस्तज्जातावेव दम्भसम्भारा गम्भीरायन्ते ।' ॥४७॥

"कंस उवाच,—'आम् आम् मम सुहृत्तमः स एव केवलस्तत्र प्रस्थापनाय स्थाप्यतामित्यानाय्य तथादिष्टः सदनिष्टः स दुष्टः कंसपुष्टः सम्प्रति बकस्थलनामानं नन्दीश्वरगिरि-

---

अतएव इस प्रकार श्रीकृष्ण बलदेव दोनों भैया बछड़ों की रक्षा करते हुए भी, सब लोगों की रक्षा करते थे। सब लोगों की रक्षा के लिये ही, उनकी प्रातःकाल भोजनादि लीला होती थी, उसी लीला के अन्तर्गत दैत्यवधादि कार्य भी आनुसंगिक हो जाते थे ॥४५॥

तदनन्तर उस दिन भी श्रीकृष्ण बलदेव का अपने भवन में आना पहले की तरह हो गया। किन्तु वत्सासुर के वध का वृत्तान्त अनिष्टकारक है, इसलिये जाना नहीं जाता कि जनों की किंवदन्ती क्या क्या कहेगी ? अतएव उनके समस्त बन्धुगण ने इस वृत्तान्त को सचेत होकर छिपा लिया। इधर कंस ने भी वत्सपालक श्रीकृष्ण से वत्सासुर के मरण को गुप्तचर के मुख से, विष की तरह कानों के छिद्रों के स्पर्शमात्र से, अपने अन्तःकरण में लाकर, बहुत देर तक दोनों नेत्र मूँद लिये। इस वृत्तान्त से मृत्युप्राय दशमी दशा को प्राप्त हुआ वह कंस, मन्त्रियों ने किसी प्रकार बाहर सचेत किया। सचेत होने के बाद उन्हीं मन्त्रियों के साथ, यह कुविचार करने लग गया कि—हाय ! देखो, श्रीकृष्ण के अनिष्ट करने में सुनिपुण, दम्भ से भरे हुए बहुत से असुर भेजे, किन्तु उन सबने मेरे कल्याण को तो किंचिद् भी संचित नहीं किया। एवं उन असुरों की दम्भेच्छा में व्याप्त होने की इच्छा ने हमारी अभिलाषा की तो रक्षा नहीं की, प्रत्युत (बल्कि) उन्हीं को खा गई, अतः ऐसी स्थिति में हम क्या करें ? ॥४६॥

मन्त्रीगण बोले—महाराज ! इस विषय में केवल बकासुर को बलस्वरूप जानकर, हम उसका अवलम्बन करते हैं। कारण बकासुर की जाति में ही दम्भ की सामग्रियाँ गम्भीरता का आचरण करती हैं ॥४७॥

कंस बोला–हाँ, मुझे स्मरण आ गया। वह बकासुर ही केवल मेरा विशिष्ट मित्र है। उस नन्दव्रज में भेजने के लिये उसी को मेरे पास उपस्थित करो। इस प्रकार कहकर सेवक द्वारा उसको बुलवा कर समझाया। पश्चात् सज्जनों का अनिष्टकारी, कंस के द्वारा पालित, वह दुष्ट बकासुर इस प्रकार आदिष्ट होकर, आजकल नन्दीश्वर पर्वत के निकटवर्ती 'बकस्थल' नामक स्थान में, सरोवर के समीपवर्ती प्रदेश में,

समीपधामानमुपसरसं प्रदेशं भाविकृष्णप्रवेशमधिगम्याभिगम्य गिरिशृङ्गभ्रमारम्भं दम्भं दधमानस्तस्थौ। यत्र तुल्यपर्यायतया दम्भ एव गह्वरायते स्म।' ॥४८॥

"तदा च श्रीगोपालवलिता गोपालबाला गोबालान् पालयन्त, पानीयं पाययन्तः कूलमनुस्थापयन्तः स्वयमपि पयः-पानमयन्तः परस्परं प्लावयन्तः स्नपयन्तः समुत्थाय च कलापयन्तश्चिक्रीडुः, कलापयन्तश्च पुष्पाहरणाय परतः प्रचारमाचेरुः, तमावरन्तश्च तं बकमीक्षामासुरुत्प्रेक्षामासुश्च,–'अहो ! गिरिरयं दूरत एव कुतः पुरस्तस्य शृङ्गम्। ततः सद्य एवादः शतमन्युना मन्युना शतकोटित्रोटितमिति घटते'; पुनर्निचाय्य च प्रोचुः,–'नेदं गिरि-शृङ्गं सङ्गच्छते; किन्तु जन्तुविशेषः सोऽयं मन्तुमिव चिकीर्षन्नमितशीर्षं वर्तते; यत उग्रम्पश्यतया खरताचञ्चुचुञ्चुतया च बक इव परामृश्यते।' ॥४९॥

"श्रीकृष्ण उवाच,—

'आकारात् पक्षितुल्यः स्याद्व्यापारान्न च पक्षिवत्।
बकः किं नवकः साक्षात् कूटवत् स्थितिरीक्ष्यते ?' ॥५०॥

"अत्र तत्र जिगमिषन्नेव समिषश्लिष्टताविशिष्टं कूटशब्दं पठितवान् ॥५१॥

भविष्य में श्रीकृष्ण यहाँ अवश्य प्रवेश करेंगे, यह बात जानकर, गिरिशृङ्ग भ्रमकारी दम्भ को धारण करता हुआ, वहाँ जाकर बैठ गया, अर्थात् बैठा हुआ बकासुर दूर से पर्वत-शृङ्ग जैसा मालूम पड़ता था। और जिस बकासुर में तुल्यपर्यायवाचक होने के कारण, दम्भ ही गह्वर, अर्थात् गुफा का सा आचरण कर रहा था, तात्पर्य उसका दम्भ ही गुफा के समान था ॥४८॥

उस समय सभी गोपालबाल श्रीगोपालजी से संमिलित होकर, गोवत्सों की रक्षा करते हुए, जलपान कराते हुए, श्रीयमुना तीर पर वत्सों को स्थापित करते हुए, स्वयं भी जलपान करते हुए, परस्पर में परस्पर को जल में निमग्न करते हुए, स्नान करते कराते जल से उठकर, वस्त्र अलंकारादि धारण करके खेलने लग गये। पश्चात् मयूरपिच्छ धारण करते हुए, पुष्पों को लाने के लिये चारों ओर घूमने लग गये। और घूमते घूमते उन्होंने बकासुर को देख लिया, एवं इस प्रकार उत्प्रेक्षा भी करने लग गये कि—ओ हो ! अरे मित्रो ! दूर से ही यह पर्वत मालूम पड़ता है, परन्तु यह आया कहाँ से ? सामने उसका शिखर भी दिखाई देता है। उसके बाद हमें तो यह प्रतीत होता है कि, इन्द्र ने क्रोध से वज्र के द्वारा शीघ्र ही इस शिखर को तोड़ दिया है। पुनः विचारपूर्वक देखकर बोले—भैयाओ ! यह पर्वत का शिखर तो नहीं ज्ञात होता, किन्तु कोई जन्तुविशेष मालूम पड़ता है, और यह जन्तु मानों कुछ बिगाड़खाता करने की इच्छा से, मस्तक नीचा किये हुए है। क्योंकि भयंकर भाव धारण करने के कारण, एवं तीक्ष्णता गुण में विख्यात चोंच से युक्त होने के कारण, बगुला जैसा प्रतीत होता है ॥४९॥

श्रीकृष्ण बोले—मित्रो ! यह जन्तु आकार से तो पक्षी के तुल्य हो सकता है, किन्तु चेष्टा से पक्षी के समान नहीं है, यह तो कोई नवीन बगुला है क्या ? जिसकी साक्षात् पर्वत के शिखर के समान स्थिति दिखाई पड़ती है ॥५०॥

इस पूर्वोक्त वाक्य में श्रीकृष्ण ने उसके निकट जाने की इच्छा से ही, किसी बहाने से श्लेषालंकार विशिष्ट 'कूट' शब्द को पढ़ा है, अर्थात् उच्चारण किया है, 'कूट' शब्द के कपट, शिखर आदि अनेक अर्थ होते हैं ॥५१॥

"अथ समुद्दण्डदण्ड-वरण्ड-सखि-मण्डलमण्डितः पुण्डरीकलोचनस्तं जानन्नप्यजानन्निव तस्य तुण्डसन्निधिमेव गमनेऽवधिश्चकार, स्पर्शविष-विषधर-विशेषकुमारः कौतुकातिरेक-वशाद्भेकस्येव ॥५२॥

"ततश्च गण्डूपदं मन्यमानः स त्र मण्डूक इव कुण्डलिपोगण्डं तं निजगार, न तु किञ्चित् कुञ्चयितुमपि शशाक; किन्तु हन्त ! हन्त ! स्फूर्ति प्रति सन्तमसधर्मणा तेन कर्मणा श्रीरामदामादीन् प्राणैर्विकलितां कलयामास ॥५३॥

"स्व-भ्रातृवीर्यं जनुषा विदन्नपि, प्रलम्बकारिर्बकचेष्टितेर्ऽदितः ।
भैष्मीकृते तस्य गतौ यथैव स, प्रेमा हि सर्वाङ्गिलभावमृच्छति ॥५४॥

"अथ बकः स्वककण्ठावटे कृपीटयोनिवत् प्रकटतेजस्कं तं झटित्युज्जगार । ततश्च सोऽयं मम हृदयमभ्रक्षीदिति विभाव्य पुनस्तन्निगरणयोगं नाद्राक्षीत्, किन्तु ततः पराङ्मुखः स पुनर्बक इव मूर्खः सुर-शात्रवबकस्तेजोमात्रगात्रतयावगतमपि तं त्रोटि-कोटिभ्यां त्रोटयितु-मुदयुंक्त । स तु शौटीर्यकोटीश्वरस्तत्त्रोटी कराभ्यां विघटयंस्तं सपाटवं पाटयामास, भीमो जरासन्धमिव, बालो वीरणमिव वा ॥५५॥

तदनन्तर जिसके स्पर्शमात्र से विष चढ़ जाता है, ऐसे सर्पविशेष का पुत्र, जिस प्रकार अतिशय कौतुक के वशीभूत होकर, मेंढ़क के पास जाता है, उसी प्रकार कमलनयन श्रीकृष्ण ने ऊपर की ओर उठे हुए, दण्डसमूह को धारण करने वाले मित्रमण्डल से मण्डित होकर, उस बकासुर को जानते हुए भी, न जानते हुए की तरह, उसकी चोंच के पास में जाने का अनुक्रम किया ॥५२॥

तत्पश्चात् मेंढ़क जैसे सर्प के बच्चे को केंचुआ समझकर निगल लेता है, उसी प्रकार बकासुर ने साधारण नरबालक समझकर अनन्तशक्तिसम्पन्न श्रीकृष्ण को निगल लिया। किन्तु किंचिद् भी कुंचित करने को समर्थ न हुआ, अर्थात् श्रीकृष्ण के अंगों को समेटकर गले से नीचे न उतार सका। किन्तु, हाय ! हाय ! गाढ़ा अंधकार जिस प्रकार दर्शनशक्ति को लुप्त कर देता है, उसी प्रकार अन्धकारधर्मसदृश उस निष्ठुर कर्म द्वारा, श्रीबलराम, श्रीदामा आदि सखाओं को प्राणों से विकलित कर दिया। अर्थात् प्राणों के बिना इन्द्रियाँ जैसे विकल हो जाती हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्ण को बकासुर से ग्रस्त देखकर, सभी सखा अचेत हो गये ॥५३॥

प्रलम्बासुर के विनाशक श्रीबलरामजी, जन्म से ही अपने भैया श्रीकृष्ण के पराक्रम को जानते थे, तो भी, श्रीरुक्मिणी को लाने के लिये श्रीकृष्ण के अकेले चले जाने पर, जैसे वे कातर हो गये थे, उसी प्रकार बकासुर की चेष्टा में भी पीड़ित हो गये। कारण—प्रेम पदार्थ सभी भावों को निगल लेता है, अर्थात् प्रेम के सामने सब भाव परास्त हो जाते हैं ॥५४॥

तदनन्तर बकासुर ने अपने कण्ठरूपी गड्ढे में से जलती हुई अग्नि की तरह, उन श्रीकृष्ण को शीघ्र ही उगल दिया। उसके बाद वह असुर "श्रीकृष्ण ने मेरे हृदय को मानो फूँक दिया है" ऐसी भावना करके पुनः उनके निगलने के उपाय को न देख सका, परन्तु उसके पश्चात् पराङ्मुख भी वह देवशत्रु बकासुर महामूर्ख की तरह, श्रीकृष्ण के शरीर को तेजस्विता से परिपूर्ण जानकर भी, दोनों चंचुओं के अग्रभाग से उनको तोड़ने के लिये उद्योग करने लग गया। किन्तु भीमसेन ने जिस प्रकार जरासन्ध को

"यदा मुरारिं निजगार कह्व,-स्तदा सखायः सबला मुमूर्च्छुः ।
उद्गीर्णवान् यर्हि तदान्वचेतन्, स्वभावजं प्रेम परानपेक्षि ॥५६॥

"यत्र वृन्दारका दारकाश्च क्रमात् मुमुदिरे;

"यथा,—बकासुरे वत्ससुरारिघातिना, हते सुरा नर्तन-वाद्यवर्तनाः ।
ते नन्दनादप्यतिसेतुतां गता, मल्ल्याद्यमुल्लूय मुदा वरीवृषुः ॥५७॥

"श्रीकृष्णाभिप्रायमुत्प्रेक्षमाणाः साद्भुतं प्रेक्षमाणा बकमुपजहसुश्च; ॥५८॥

"यथा—'प्रसारयंस्त्वं ग्रसनाय चञ्चुं, साहायकं तत्र मयाप्यकारि ।
विदीर्णमासीद्यदि सर्वमङ्गं, ममास्ति दोषः क्व नु मूढ कह्व ?' इति ॥५९॥

"तत्र च—यस्मिन् बकास्यादुदितेऽपि तेऽर्भका, जिजीवुरस्मिन् मिलिते बकान्तके ।
तेष्वश्रुकम्प-स्वरभङ्ग-सङ्गतं, वैवर्ण्यमृच्छेत् किमु वर्णनीयताम् ? ॥६०॥

"अथ सर्वे समग्रव्यग्रतया शीघ्रमेव तस्मिन् सरसि मिलित्वा स्नात्वा तं प्रदेशं हित्वा कृष्णं गृहीत्वा गृहाय प्रतस्थिरे ॥६१॥

फाड़ दिया था, अथवा बालक जैसे वीरण (गाँड़र नामक निर्ग्रन्थीतृणविशेष) को अनायास फाड़ देता है, उसी प्रकार अनन्त बलवीर्यशाली श्रीकृष्ण ने, उसकी चोंच को अपने हाथों से अलग अलग करते करते, चतुरतापूर्वक उस असुर को बीच से फाड़ दिया ॥५५॥

जिस समय बकासुर ने श्रीकृष्ण को निगल लिया था, तब तो बलदेवजी के सहित सब सखा मूर्च्छित हो गये थे, और जब श्रीकृष्ण को उगल दिया था, तब सभी सखा सचेत हो गये थे। क्योंकि स्वाभाविक प्रेम कभी भी, दूसरे की अपेक्षा नहीं करता ॥५६॥

जिस स्थान पर देवता एवं गोपबालक भी क्रमशः आनन्दित हुए थे, यथा—वत्सासुर के मारने वाले श्रीकृष्ण के द्वारा बकासुर के मारे जाने पर देवगण नृत्य, वाद्य, गायन आदि करने लग गये, तथा वे सब आनन्द की पराकाष्ठा को प्राप्तहोकर, नन्दनवन से मल्लिका आदि पुष्पोंको तोड़कर, हर्षपूर्वक बारंबार बरसाने लग गये ॥५७॥

और श्रीकृष्ण के अभिप्राय की उत्प्रेक्षा करते हुए, आश्चर्यपूर्वक देखते हुए बकासुर की हँसी करने लग गये ॥५८॥

यथा—हे मूढ़ बक ! तू मुझको ग्रास करने के लिये चोंच फैलाता हुआ मेरी ओर आ रहा था, मैंने भी उस चोंच के फैलाने में तेरी सहायता हो तो की थी, इतने पर भी यदि तेरा सारा अंग विदीर्ण होगया तो इसमें मेरा दोष कहाँ है ? ॥५९॥

और वहाँ पर बकासुर को मारने वाले ये श्रीकृष्ण बकासुर के मुख से निकल कर, जब सब सखाओं से मिले, तब वे ग्वालबाल पुनरुज्जीवित हो गये। उन ग्वालबालों में अश्रु, कम्प, एवं स्वरभंग से युक्त जा मलिनता उपस्थित हुई, वह क्या वर्णन की जा सकती है ? ॥६०॥

तदनन्तर सभी गोपबालक सम्पूर्ण व्यग्रता के सहित शीघ्र ही उस सरोवर में सम्मिलित होकर, स्नान कर, उस स्थान को छोड़कर, श्रीकृष्ण को साथ लेकर, बछड़ों के सहित घर को चल दिये ॥६१॥

"कृतगृहागमना व्रजबालका,-स्तदखिलं खलु वृत्तमवर्णयन् ।
बकखगस्य तथाकृतिता तथा, शिशुकृता मृतिरेवमभूदिति ॥६२॥

तद्वार्तायुगलेन गोकुलभुवां दग्धश्च सिक्तश्च यत्-
प्रत्यङ्गं तदिदं लयाय भवितेत्येवं जनैः शङ्कितम् ।
पश्चात् प्रत्युत रोमहर्षमदधाद्यत्तत्तु युक्तं परा
वार्ता तत्र वरामृतादपि परा तैरेवमास्वाद्यत ॥६३॥

"ततश्च ते सर्वे समुद्विग्नमुदिताः समुदिता वित्रासानन्दनिस्पन्दं श्रीमन्नन्द-मन्दिरजन-वृन्दमनुविन्दमानाः श्रीगोविन्द-वदनारविन्दमस्रसन्दिताः सन्दरीदृश्य परामृश्य च बकान्तानामशान्तानां मरणे कारणं परस्परमूचुः,—॥६४॥

'अस्य बालस्य किं पूर्वं किमपूर्वं व्रजेशितुः ।
किमर्थं वा पूर्वमागस्ते चक्रुस्ते हता यतः ॥'६५॥

"तदेवं प्रपञ्चेऽवतीर्णानामपि श्रीमन्नन्दादीनां तद्वर्णनानन्दाददीनानां प्रपञ्चधर्मेण सङ्कीर्णतां न वर्णयामासुः, ऊचुश्च श्रीबादरायणिचरणाः, (भा० १०।११।५८)—

व्रज के बालकों ने घर में आकर के, बकपक्षी का उस प्रकार का आचरण, एवं बालगोपाल के द्वारा उसकी मृत्यु इस प्रकार से हुई, इत्यादि समस्त वृत्तान्त का वर्णन कर दिया ॥६२॥

बकासुर के द्वारा श्रीकृष्ण का ग्रास, एवं श्रीकृष्ण के द्वारा उसकी मृत्यु, इन दो बातों के द्वारा गोकुलवासियों के जो प्रत्येक अंग दग्ध, एवं सिक्त हो गये थे, यह सब प्रलय का हेतु होगा, ऐसी आशंका पहले सभ्यजनों ने की थी, पश्चात् प्रत्युत (बल्कि) उन गोकुलवासियों के अंगों ने रोमाञ्च धारण कर लिया, यह भी उचित ही है, क्योंकि वहाँ पर श्रीकृष्ण के द्वारा बकासुर की मृत्युरूप दूसरी बात, श्रेष्ठ अमृत से भी उत्कृष्ट है, ऐसी समझकर, उन गोकुलवासियों ने उसका आस्वादन किया था ॥६३॥

तदनन्तर वे सब पहले उद्विग्न एवं पश्चात् आनन्दित होकर, एक जगह सम्मिलित हुए । सभीजन भय एवं आनन्द से निस्तब्ध भाव को धारण करके, श्रीमान् नन्दरायजी के भवन में स्थितजनों को प्राप्तकर, अश्रु जल बहाते बहाते श्रीकृष्ण के मुखारविन्द का बारंबार दर्शन एवं स्पर्शन करके, बकासुर पर्यन्त दुर्दान्त पूतना आदि असुरों के मरने में जो कारण है, उसको आपस में कहने लग गये— ॥६४॥

इस बालक का पूर्वजन्मकृत न जाने कौनसा पुण्य था, एवं व्रजराज का भी न जाने कौन सा पूर्व पुण्य था ? पूतना से लेकर बक पर्यन्त उन समस्त असुरों ने भी पहले जन्मों में न जाने क्यों अपराध कर डाला ? अपराध तो अवश्य किया है, जिसके कारण वे सब श्रीकृष्ण के द्वारा मारे गये ॥६५॥

अतएव इस प्रकार श्रीकृष्ण के चरित्रवर्णनरूप आनन्द से परिपूर्ण, एवं जगत् में अवतीर्ण श्रीमान् नन्दप्रभृति गोपों का सांसारिक धर्म से सम्मेलन का वर्णन, उन गोकुलवासियों ने नहीं किया, अर्थात् संसार में रहते हुए भी श्रीनन्दादिकों को सांसारिक धर्म न सता सके । पूज्यपाद श्रीशुकदेवजी ने भी कहा है,

'इति नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां मुदा ।
कुर्वन्तो रममाणाश्च नाविन्दन् भववेदनाम् ।।' इति ।।६६।।

"तदेतद्बकनिर्ग्रन्थनमुग्रमुग्रसेन-दुष्पुत्रः श्रोत्रेणापीय व्यग्रचेता बभूव, भावयामास च,— 'हन्त ! सर्व एव मायातिरिक्तताप्रयोक्तारस्तत्र रिक्तीकृताः । सर्वं लुम्पन्तस्ते चुलुम्पामासिरे च । तर्हि व्योमाभिधानदानवमात्रमत्र पात्रं पश्यामः ।' सर्वमायामय-मय-तनयः प्रख्यातबलवलयः स हि महीयान् । इति पद्मावती-जरठ-जठरजन्मा सम्माननया तमानाय्य तत्कार्याय पर्यापयामास ।।६७।।

"स चागम्य व्योमनामा कृतव्योमाऽवलम्बतया न्यक्षेण वीक्षमाणः काम्यकारण्यधरणीधर-सन्निधानतः समवयोऽर्भकवृन्देनात्यर्भकतया निर्व्रीडक्रीडासन्दर्भं श्रीयशोदा-गर्भजातं श्रीरोहिण्यर्भकं विना समायातं ददर्श विममर्श च—।।६८।।

"एते खलु भोः ! दास्याः पुत्र ! चौरस्यकुल ! पश्यतोहर ! देवानांप्रियेति परस्परं सम्बोधयन्तः क्रीडन्ति । ते चैते मेषतत्पोषकतन्मोषकायमाणा रममाणा लक्ष्यन्ते । यत्र च मेषा मोष्यमाणा अपि न भाषन्ते । पोषकाश्च तेषां बहुलानां सम्भालनाय दुर्बलायन्ते, मोषकास्तु निर्घोषतया प्रच्छन्नमेवागच्छन्ति । अयं तु तत्पोषकायमाणः श्यामधामा कुमारः

यथा—"इस प्रकार श्रीनन्दादि गोपगण हर्षपूर्वक श्रीकृष्ण बलराम की कथा को कहते सुनते हुए, एवं उसी से आनन्दित होते हुए, भववेदना को प्राप्त न कर सके", अर्थात् उन्होंने सांसारिकता का अनुभव नहीं किया, इत्यादि ।।६६।।

अतः इस प्रकार बकासुर के मरणरूप उग्र समाचार को कानों से सुनकर, उग्रसेन का कुपुत्र कंस व्यग्रचित्त हो गया, और विचार करने लगा कि, हाय ! बड़े खेद की बात है कि वे सभी असुर अतिशय माया का प्रयोग करने वाले थे, एवं सभी छेदन करने में समर्थ थे, तो भी सबके सब वहाँ पर मारे गये । अब तो इस विषय में व्योम नामक दानव को ही, हम उचित पात्र देख रहे हैं । एवं वह व्योमासुर सर्वमायामय मयदानव का बेटा है, तथा विख्यात वीर्यशाली महापराक्रमी है । इस प्रकार विचारकर, पद्मावती के कठिन उदर से उत्पन्न हुए कंस ने, सम्मानपूर्वक उसको बुलवाकर, उस कार्य के लिये प्रेरित कर दिया ।।६७।।

वह व्योमासुर आकर, आकाश का अवलम्बन करके पूर्णरूप से देखता हुआ, काम्यवन के पर्वत के पास, समान अवस्था वाले बालकसमूह के सहित, बालभाव का अतिक्रमण करके, संकोचरहित क्रीड़ा की रचना करते हुए, श्रीरोहिणीलाल के बिना आये हुए, श्रीयशोदानन्दन को देखने लग गया, तथा विचारने भी लग गया कि— ।।६८।।

ये सब ग्वालबाल—भो दास्याः पुत्र ! हे चौरस्यकुल ! हे पश्यतो हर ! (हे चोर !), हे देवानां प्रिय ! (मूर्ख !) इत्यादि निन्दनीय सम्बोधनों का, परस्पर में प्रयोग करते हुए खेल रहे हैं । और ये सब मेष (मेंढ़ा) मेषपालक और मेंढ़ा चुराने वालों की तरह क्रीड़ा करते हुए दिखाई दे रहे हैं, अर्थात् कुछ ग्वारिया मेंढ़ा बने हुए हैं, तो कुछ उनकी रखवाली करने वाले बने हुए हैं, और कुछ उनको चुराने वाले बन रहे हैं, इस प्रकार सब खेल रहे हैं । जिस खेल में मेंढ़ा बने हुए ग्वारिया चुराये जाने पर भी बोलते नहीं हैं, और रखवाली करने वाले ग्वारिया उन अनेक मेंढ़ाओं के सँभालने को असमर्थ से हो रहे हैं ।

प्रभाकरसहस्रप्रभाप्रभाव-भावितत्तया नास्मद्विधसन्निधेयसन्निधानस्तवर्यते । तथाप्यस्माकमयमेवावसरो वरो नावरो वरणीयतामनुसरति, अत्र हि तस्य निरवधानस्य बहिश्चरप्राणतुलां बलमाना बालका विनैवार्ति हर्तव्या भवेयुः । ततो व्यग्रीभूतः सोऽयमग्रीयश्च विना विग्रहं ग्रहीतव्यतामृच्छेत् । सामिकृतं तु न स्वामिने रोचिष्यते । तदेतद्विचारयंश्चोरवदाचारगोपदारक-प्रकारस्तदीय-निविड-क्रीडायां प्रविवेश । प्रविश्य च निविडकाननकृतप्रवेशतया पोषकाभिनिवेशमतिक्रामतस्तान् मेषायमाणान् क्रमशश्चतुःपञ्चावशेषमपक्रमयामास । अपक्रम्यापक्रम्य च गिरिगुहायां निगूहमानः पुनः पुनरयमानः पेशस्कारितानुसारी प्रस्तरास्तरणतस्तद्द्वारमाववार ॥६९॥

"एतज्ज्ञात्वा निर्जरारिप्रहारी शिष्टान् कष्टन्तं हरन्तं कुमारान् व्यग्रीभूतः सिंहवद्ग्रामसिंहं विद्रुत्यारादग्रहीन्नयग्रहीच्च ॥७०॥

"स्वाङ्गव्यङ्गात् स्पष्टभूमिष्ठमानं, कृष्ट्वा डिम्भांस्तं ततः क्षौणिपृष्ठे ।
आपात्याथ प्राणवर्त्मानि रुन्धन्, व्यग्रीकृत्यालंभ्यकल्पं चकार ॥७१॥

चुराने वाले ग्वारिया भी चुपचाप गुप्तरूप से ही आ रहे हैं। किन्तु श्यामकान्तिवाला यह बालक इन सब मेंढ़ा बने हुए ग्वारियाओं के रक्षक जैसा होकर, हजारों सूर्यों की प्रभा से प्रभावित होने के कारण, ऐसा प्रतीत होता है कि, हम जैसे कपटी इनके पास तक नहीं जा सकते। तथापि हमारा तो यही अवसर श्रेष्ठ है, दूसरा समय वरण करने को योग्यता का अनुसरण नहीं करता, अर्थात् कार्यसिद्धि के लिये यही अवसर उचित है, दूसरा नहीं। इस समय उन श्यामसुन्दर के असावधान होने के कारण, उनके बहिश्चर प्राणों की समानता को धारण करने वाले, ये गोपबालक, बिना ही क्लेश के हरण करने के योग्य हो सकेंगे। उसके बाद सखाओं के वियोग से व्याकुल हुआ, यह इनका मुखिया (अगुआ) भी, युद्ध के बिना ही पकड़ने योग्य हो सकेगा। किन्तु आधा किया हुआ कार्य हमारे स्वामी कंस को रुचिकर न होगा। अतः इस प्रकार का विचार करता हुआ, चोरों का सा आचरण एवं गोपबालकों की सी प्रकृति का अवलम्बन करके उनकी घनघोर क्रीड़ा में प्रविष्ट हो गया। और प्रविष्ट होकर घने वन में प्रवेश करते हुए, पालक के अभिमान का परित्याग करते हुए, मेंढ़ाओं का सा आचरण करने वाले उन बालकों को, चार पाँच छोड़कर क्रमशः सबको हर ले गया। और उसने दौड़ दौड़कर, पर्वत की गुफा में दुबकाकर, बारंबार आकर, पेशस्कारी कीट विशेष का सा भाव धारण कर, पत्थर के ढ़कने से उस गुफा के द्वार को ढ़क दिया ॥६९॥

यह सब जानकर, मित्रों के दुःख से व्याकुल होकर, असुरों पर प्रहार करनेवाले श्रीकृष्ण ने, अवशिष्ट गोपबालकों को कष्ट देकर अपहरण करते हुए, उस व्योमासुर को इस प्रकार दौड़कर, पास जाकर पकड़ लिया, और दबोच दिया, जैसे कि सिंह दौड़कर कुत्ते को पकड़कर फफेड़ देता है ॥७०॥

तदनन्तर अपने अङ्ग की क्षुद्रता के कारण, बालकों को खैंचकर जिसकी मर्यादा विशेष स्पष्ट हो गई है, ऐसे उस व्योमासुर को भूतल पर पटक कर, उसके प्राणमार्गों को रोकते रोकते उसको व्याकुल करके, यज्ञ में वध्य पशु के समान कर दिया ॥७१॥

"तदेवं संहतसंहननमप्येतं निःसन्धिबन्धनं विसृज्य तत्पद-पद्धतिं संसृज्य तद्गुप्ति-द्वारमनुससार ॥७२॥

"ततश्च—सद्यो निर्भिद्यापिधानं गुहाया,-स्तत्राविश्य द्योतमाविश्चकार ।
तस्यास्तेषां चार्भकाणां समन्ता,-दात्मालाभाद्यत्तमस्तज्जहार ॥७३॥

तेषां दुःखं तद्गुहागर्तरोधे, तद्वन्नासीद्यद्वदेतद्वियोगे ।
दृष्ट्वा कस्मादेनमेते बकारिं, प्राणान् प्रान्ताकर्षणेनैव जग्मुः ॥७४॥

सर्वे तस्मादुत्थिता रोदनार्ता,-स्तद्वद्वार्तं कृष्णमह्नाय चक्रुः ।
सोऽपि क्ष्माभृत्तत्प्रतिध्वानदम्भाद्, क्रन्दन्नासीदित्यमीभिर्व्यभावि ॥७५॥

तस्मात् कृष्टास्तेन तं वेष्टयन्तः, शश्वत्तस्य स्पृष्टितो नष्टदुःखाः ।
दृष्ट्वा द्विष्टप्राणमत्यन्तभीष्मं, व्योमं हृष्टा मित्रगोष्ठीमुपेयुः ॥७६॥

अथ परिमिलितैर्विचित्रमित्रै,-र्भुवि दिवि देवगणैस्तदोपलंम्यः ।
अपहृतिचरितं निजक्रमात्तैः, कथितमसौ कलयन् व्रजे विवेश ॥७७॥

अतएव इस प्रकार दृढ़ शरीर वाले उसको, सन्धिबन्धन से रहित बनाकर, उसी स्थान पर छोड़कर, उसके चरणों से चिह्नित मार्ग को पकड़कर, श्रीकृष्ण ने उस गुफा के द्वार का अनुसरण किया ॥७२॥

उसके बाद उस गुफा के ढ़क्कन को शीघ्र ही फोड़कर, उसके अन्दर जाकर, श्रीकृष्णचन्द्र ने प्रकाश प्रगट कर दिया। और उस गुफा के भीतर जो अन्धकार था, एवं उन बालकों के अन्तःकरण में जो दुःख रूपी अन्धकार था, उसको अपनी प्राप्ति से सब ओर से हर लिया ॥७३॥

उन ग्वालबालों को श्रीकृष्ण के वियोग से जिस प्रकार का दुःख हुआ, उस प्रकार का दुःख तो उस गुफा में मुंद जाने से भी नहीं हुआ था। वे ही ग्वालबाल अकस्मात् बकारी श्रीकृष्ण को देखकर, मानों निकट में खेंचने से ही प्राणों को पा गये, अर्थात् श्रीकृष्ण के दर्शन से उनके प्राण लौट आये ॥७४॥

इसी कारण से सभी ग्वालबाल रोने से पीड़ित होकर, उस स्थान से खड़े हो गये। पश्चात् उन्होंने श्रीकृष्ण को भी, शीघ्र ही अपनी तरह रोने से पीड़ित कर दिया, अर्थात् उनके रुदन को देख श्रीकृष्ण भी तत्काल रोने लग गये। वह पर्वत भी व्योमासुर के रोने की प्रतिध्वनि के बहाने मानो रुदन कर रहा है, इन सब ग्वालबालों ने ऐसी ही भावना की ॥७५॥

श्रीकृष्ण के द्वारा उस स्थान से आकर्षित किये हुए ग्वालबाल, श्रीकृष्ण को चारों ओर से घेरते हुए, बारंबार उनके स्पर्श से दुःखरहित हो गये। और अत्यन्त भयंकर उस व्योमासुर को मरा हुआ देखकर, हर्षित होकर मित्रों की गोष्ठी (सभा) के पास चले आये ॥७६॥

तदनन्तर उस समय भूमि में विचित्र मित्रगण, एवं स्वर्ग में देवगण एकत्र सम्मिलित होकर, श्रीकृष्ण की स्तुति करने लग गये। इस प्रकार मित्र एवं देवगणों के स्तुति करने योग्य वे श्रीकृष्ण, ग्वाल-बालों के द्वारा क्रमशः कहे गये, अपने चुराने के चरित्र को सुनते हुए, व्रज में प्रविष्ट हो गये ॥७७॥

"अत्र व्योमं दिष्टान्तदष्टं दृष्ट्वा कुसुमवृष्टिकृद्भिर्दानवद्वेष्टृभिरयं श्रीकृष्णाभिप्रायः स्पष्टं परामृष्टः—॥७८॥

क्रीडायामत्र चोराणां श्वास-रोधो विधीयते ।
व्योमस्त्वं व्योमतां प्राप्तस्तस्माच्चेत् करवाणि किम् ?" इति ॥७९॥

अथ कथकः कथासमापनमुवाच,—
"ईदृक् कौतुकवान् पुत्रस्तव गोप-नराधिप ! ।
वत्सादित्रयमानिन्ये लीलया यस्तु पञ्चताम् ॥"८०॥

तदेवममी साक्षादिव व्योम-वधमनुभूय भूयसा सुखेन विलसन्मुखेन ललिता गृहाय चलिता बभूवुः ॥८१॥

॥ इति श्रीश्रीगोपालचम्पूमनु वत्सासुराद्युत्सादनं नाम दशमं पूरणम् ॥१०॥

इस प्रसङ्ग में व्योमासुर को काल के द्वारा डसा हुआ, अर्थात् मरा हुआ देखकर, पुष्पों की वृष्टि करने वाले, दैत्यद्वेषी देवताओं ने श्रीकृष्ण का अन्तर्गत यह अभिप्राय स्पष्ट कर दिया, यथा— ॥७८॥

हे व्योमासुर ! इस खेल में चोरी करने वालों का श्वास निरोध किया जाता है। उतने से ही यदि तू शून्यभाव को प्राप्त हो गया, अर्थात् मर गया, तब मैं क्या करूँ ? ॥७९॥

अब कथक्कड़ कथा की समाप्ति का द्योतक वचन बोला—हे गोपनराधिप ! आपके ऐसा कौतुकी पुत्र उत्पन्न हुआ है कि जिसने खेल खिलवाड़ से ही, वत्सासुर आदि तीन दैत्यों को मार दिया ॥८०॥

इस प्रकार व्रजराज की सभा में श्रोतारूप से बैठे हुए ये गोप, गोपीजन प्रत्यक्ष की भाँति, व्योमासुर के वध का अनुभव करके, अधिकतर सुख से एवं खिले हुए मुख से सुशोभित होकर, अपने अपने घर के लिये चल दिये ॥८१॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीगोपालचम्पूकाव्ये वत्सासुरादिवधनामकं
दशमं पूरणं संपूर्णम् ॥१०॥

अथैकादशं पूरणम्

ब्रह्ममोहनम्

अथ पूर्ववत् प्रभाततः प्रभातायां सभायां मधुकण्ठः सोत्कण्ठमुवाच,—॥१॥

"तदेवं पूर्ववदेव देवन-कुतुकतः पूर्वदेवमारयोः कुमारयोरनयोः कौमारमति-वृत्तकल्पमासीत् ॥२॥

"यौ खलु,—

शुभ्र-श्याम-रुची रुचीमकुरुतां पौगण्डलक्ष्मीकृते
चापल्येन मुनेरपि स्म कुरुतश्चित्तं मिलच्चापलम् ।
नानाक्रीडित-माधुरीवरकलाशिक्षा-कलापं गतौ
वेणूद्गान-सुधां सुधांशुवदनावातत्य चिक्रीडतुः ॥३॥

"अथ कदाचिदतिप्रातरग्रतो जाग्रतो निजविहारतो जगदेव पातुः श्रीरामभ्रातुर्यादृच्छिकीयमिच्छा जाता, प्रातर्भोजनमप्यद्य निर्जनवन एव योजनीयमिति ॥४॥

"ततश्च कृतप्रातःक्रियस्तत्प्रार्थनाय रचितमातृप्रियस्तदनुज्ञया गच्छन् शृङ्गरव-संज्ञया साग्रजं सखिव्रजं जागरयामास । झटिति चाटित्वा शृङ्गाटकमध्यमध्यास्य क्षणकतिपयं तत्

ग्यारहवाँ पूरण

ब्रह्ममोहन लीला

अनन्तर पहले की तरह प्रातःकाल से ही देदीप्यमान सभा में मधुकण्ठ उत्कण्ठासहित बोला— ॥१॥

इस प्रकार पहले की भाँति क्रीड़ा कौतुक से दैत्यों के मारने वाले, इन श्रीकृष्ण बलदेव की कुमारावस्था प्रायः समाप्त सी हो गई थी ॥२॥

तब गौर श्याम कान्ति वाले जिन दोनों भ्राताओं ने, पौगण्ड अवस्था की शोभा के लिये इच्छा की । वे दोनों अपनी चंचलता के द्वारा मुनियों के मन को भी चंचलता से युक्त कर देते थे, अर्थात् उनके बाल चरित्रों को सुनकर, मुनियों के मन भी निर्गुण ब्रह्म से विरक्त होकर, इनकी सगुण लीला को देखने के लिये चंचल हो उठते थे । एवं वे अनेक प्रकार की क्रीड़ा करने के लिये, जितनी भी श्रेष्ठ माधुरी कलाओं की शिक्षा होती हैं, उन सबके समूह को भली प्रकार जान चुके थे । इस प्रकार चन्द्रवदन श्रीराम कृष्ण वेणु की संगीतरूप सुधा का विस्तार करके क्रीड़ा करते थे ॥३॥

तदनन्तर किसी दिन अत्यन्त प्रातःकाल ही सबसे पहले जागने वाले, अपने विहार से जगत्भर की रक्षा करने वाले, श्रीबलरामजी के छोटे भ्राता श्रीकृष्णचन्द्र की यादृच्छिक यह इच्छा प्रगट हुई कि—"आज प्रातःकाल का भोजन भी निर्जन वन में ही करना चाहिये", इति ॥४॥

तदनन्तर प्रातःकालीन क्रियाओं को करके, वनभोजन की प्रार्थना के लिये माता का प्रिय कार्य करके, उनकी आज्ञा के अनुसार चलते चलते, शृङ्गध्वनि के संकेत से बड़े भैया बलदेवजी के सहित, मित्र-मण्डल को जगा दिया । और शीघ्र ही चलकर, चौराहे पर खड़े होकर, कुछ क्षणों तक उन सबके आने की

प्रतीक्षणं प्रतीक्षणं व्यापारयामास । शय्योत्थायं विद्रुत्य मिलितेषु सवयःसमवायेषु राममागमयितुमूर्ध्वं वर्तमानस्तन्मानवेन वार्तानुवर्तयामासे ॥५॥

"यथा च प्रोवाच तद्वाचिकमसौ,—'हन्त भोः ! कृष्ण ! त्वया सह क्रीडातृष्णगप्यहं विरुद्धविधिना निरुद्ध एवास्मि । यदकस्मात् कस्मादपि पुरुकुलजन्मा मन्मातुलः परमातुल-निर्बन्धान्मामवलोकयितुमागम्य हर्म्य एव स्थावरसाधर्म्यमासादितवानस्ति । अद्य च तवातीव प्रातरात्त-जागरतया समीहितविशेषमूहितवानस्मि । तस्माद्भवता या लीला भावयितुं भाविता, सावश्यं भावयितव्या । नव्यारम्भे विष्कम्भः खल्वप्रतिबद्धसिद्धि-सम्भावनां स्तम्भयतीति ॥६॥

"अथ वर्ण्यमानं तदाकर्ण्य स च कमलसवर्णताविलसदाकर्णलोचनः प्रतिपन्नक्रीडारोचनः सखीनुवाच,—'भवतु भवन्त एव स्व-स्व-भवनाद्विहङ्गिकायां काचमायोज्य भोज्यभक्त-भक्त-नियोज्यजनं प्रयोज्य तत्तदुपयोज्यमानाय्य वनाय गमनाय त्वरयन्तु ।' अस्मज्जननी च भव्यानां भाजनभृतभोजनद्रव्याणां द्रुतमेव सज्जन-वर्गेणास्मभ्यं विसर्जनमर्जयिष्यति । इति निजेहिते तथा विहिते हितेप्सुबालक-समुदाय-मुदामुदारचेष्टः पुरस्कृतवत्स-चयेष्टः काननं प्रविष्टवान् । यत्र च वत्सपालबालकाः प्रतिघस्रं सहस्रशः एव तेन मिश्रतया विश्रूयन्ते । तेषां वत्साश्चायुतप्रयुत-नियुतादिसङ्ख्यायुता वर्ण्यन्ते । कृष्णवत्सानां सङ्ख्या पुनरसङ्ख्यसंज्ञा सङ्गीयते ॥७॥

प्रतीक्षा के प्रति दृष्टिपात करने लग गये। पश्चात् समान अवस्था वाले मित्रमण्डल के शय्या से उठकर, दौड़कर सम्मिलित होने पर, क्षणभर में श्रीबलरामजी आजायेंगे, इस ध्येय से, श्रीकृष्ण खड़े के खड़े रह गये। उसके बाद श्रीबलरामजी के सेवक ने आकर उनको वृत्तान्त सुनाया ॥५॥

श्रीबलरामजी के सन्देश को उस सेवक ने जिस प्रकार सुनाया, वह यह है—अहह ! हे भैया कृष्ण ! मैं तुम्हारे साथ खेलने की इच्छा वाला हूँ तो भी, किसी विरुद्ध प्रतिबन्धक ने रोक लिया हूँ। कारण पुरुवंशोत्पन्न मेरा मामा, किसी अनिर्वचनीय आग्रह से मुझको देखने के लिये आकर, हमारे महल में वृक्ष की भाँति अड़ के बैठा है। और आज अत्यन्त प्रातःकाल जागने के कारण, तुम्हारे अभिलाष विशेष को भी मैं जान चुका हूँ। अतः आपने जो लीला करने का विचार किया था, उसको अवश्य करना। क्योंकि देखो, किसी नवीन कार्य के आरम्भ में जो प्रतिबन्ध है, वह प्रतिबन्धरहित कार्यसिद्धि की सम्भावना को रोक देता है ॥६॥

तदनन्तर श्रीबलदेवजी के सेवक के मुख से वर्णित पूर्वोक्त बातों को सुनकर, कमल के समान आकर्ण विशाल नेत्रों वाले श्रीकृष्ण, अङ्गीकृत क्रीड़ा को रुचिकर बनाते हुए सखाओं से बोले—अस्तु, जो हो। आप सब ही अपने अपने घर से वहँगी में छींके लटका कर, उनमें भोजन करने योग्य अन्न को, अनुरागी सेवकों को नियुक्त करके, उन उन उपयुक्त सामग्रियों को उनके द्वारा मँगवाकर, वन को चलने के लिये शीघ्रता करें। और हमारी माताजी तो पात्रों में रक्खी हुई बहुत सी सुन्दर सुन्दर खाद्यसामग्री को, सज्जनसमूह के द्वारा हमारे लिये शीघ्र ही भिजवा देंगी। इस प्रकार अपनी चेष्टा के अनुसार कार्य करने पर, हितैषी बालक समुदाय की प्रसन्नतार्थ, उदार चेष्टा करने वाले श्रीकृष्ण, अपने प्रिय वत्ससमूह को आगे करके, वन में प्रविष्ट हो गये। जिस वनविहार लीला में ऐसा सुना जाता है कि, बछड़ाओं की रक्षा करने वाले हजारों गोपबालक प्रतिदिन ही, श्रीकृष्ण के साथ एकत्रित होकर वन में जाते थे। उन सबके बछड़े भी, दश हजार,

"ततश्च, आपूर्णशृङ्गमुरलीनियुतं सवत्स,-यूथायुतारवमुदीरितहूतिमिश्रम् ।
कृष्णश्चलन्नथ वनाय बलस्य चित्तं, लोलं चकार जगता सह कौतुकाय ॥८॥

"अथ गहनं गाहमाना मणि-जातरूपाभ्यां सुष्ठु जातरूपा अपि बालाः फल-प्रबालादिभिरलंकृतमात्मानं कृतवन्तः। यथा निकाय्ये दुर्लभकाच-गुञ्जा-पुञ्जमप्युपयुञ्जते स्म, नहि विलासबहुलताकुलानामिदं बहुमूल्यमिदं न तत्तुल्यमिति विचारः सञ्चरति। कार्पण्यमेव खलु पण्यं गण्यतां नयति, विलासिता पुनर्दृश्यतामेव परामृश्य हृष्यतीति ॥९॥

"अथ ते शिक्यितान्न-पात्राणि वृक्ष-शाखास्ववलम्बितगात्राणि विधाय कृष्ण-भ्रूभङ्ग-तरङ्गसङ्गतरङ्गतया चापल्यविशेषं श्लेषयामासुः। (भा० १०।१२।५)—॥१०॥

'मुष्णन्तोऽन्योऽन्यशिक्यादीन् ज्ञातानाराच्च चिक्षिपुः। तत्रत्याश्च पुनर्दूराद्धसन्तश्च पुनर्ददुः ॥'११

"तत्र चौर्यादिकं यथा—
यष्ट्यादेर्नर्मणासन्नपहरणकरा ये हृतस्वास्तथा ये
दूरे ये क्षेपका ये प्रतिहरणकृतस्ते च ते चाशु सर्वे।

लाख, दश लाख आदि संख्या से युक्त वर्णन किये गये हैं। श्रीकृष्ण के बछड़ों की संख्या तो असंख्य कहकर पुकारी जाती है ॥७॥

इसके अनन्तर श्रीकृष्ण जब वन को चल दिये, तब लाखों शृङ्ग एवं मुरलियों के शब्द होने लग गये। अयुत संख्यक वत्सगणों के रँभाने के शब्द भी हो उठे, तथा उन्हीं शब्दों के साथ उनको बुलाने के शब्द भी मिश्रित हो गये। इस प्रकार खेलने के लिये वन को जाते हुए, श्रीकृष्ण ने जगत् के सहित श्रीबलदेवजी के चित्त को चंचल बना दिया ॥८॥

तदनन्तर मणि, सुवर्ण आदि के आभूषणों से अच्छी प्रकार सजे बजे होने पर भी, वन में प्रवेश करते हुए ग्वालबालों ने अपने अपने शरीर को फल, प्रबाल (नवीन पत्ते) आदि से अलंकृत कर लिया। वे ग्वालबाल अपने अपने घर में दुर्लभ काच, गुञ्जापुञ्ज को भी अपने शृङ्गार के उपयोग में लाते थे, वे सब खेल खिलवाड़ में अधिक आकुल रहते थे, अतः उन सबकी दृष्टि में "यह वस्तु बहुत मूल्य की है, यह उसके तुल्य नही है" इत्यादि विचार का सञ्चार नहीं होता था। निश्चित सिद्धान्त तो यह है कि, कृपणता ही मूल्य को गिनती में लाती है, विलासिता (खेल में आसक्ति) तो केवल दृश्य का विचार करके हर्षित हो जाती है, अर्थात् विलासी व्यक्ति बहुमूल्य वस्तु की ओर दृष्टि न देकर, अल्प मूल्य वाली भी सुन्दर वस्तु को देखते ही प्रसन्न हो जाता है ॥९॥

पश्चात् उन ग्वालबालों ने छींकाओं में धरे हुए भोजन के पात्रों को वृक्षों की शाखाओं में लटकाकर, श्रीकृष्ण के कटाक्षों की तरङ्गों से मिश्रित रंग राग के सहित, विशेष चपलता का परिचय दिया— ॥१०॥

कोई कोई गोपबालक जाने हुए आपस के छींके आदिकों को चुराते हुए दूर फेंक देते थे, वहाँ वाले और दूर फेंक देते थे, जब वह छींके वाला भागते भागते थक जाता था, तब दूसरे ग्वारिया हँसते हुए उसके छींके आदि को लौटा देते थे ॥११॥

वहाँ पर चोरी करना आदि इस प्रकार है—जो ग्वालबाल खेल या परिहास के कारण यष्टि (लकुट), शृङ्ग, वेणु, वेत्र, छींका, भोजनादि सामग्री के अपहरण करनेवाले थे, एवं जिनका माल अपहरण किया जा

श्रीकृष्ण-भ्रू विधूतिप्रतिलवलघुताशालितत्तद्विलासैः
प्रत्येकं स्वीययोग्यं निगमनमविदुस्तत्र नैवान्यदन्यत् ॥१२॥

"तदेवमेव संयोगाद्यथा तदेकसुखयोग एव तेषां भोगस्तथा वियोगादपि । यथा (भा० १०।१२।६)—

'यदि दूरं गतः कृष्णो वन-शोभेक्षणाय तम् । अहं पूर्वमहं पूर्वमिति संस्पृश्य रेमिरे ॥'१३॥

"अस्य चार्थः समस्य दर्श्यते, तत्र स्पर्शनं यथा—

वत्सेभ्यः प्रेष्य सर्वां सखि-ततिमघजिद्वीक्षितुं वन्य-लक्ष्मीं
दूरेऽगात् कृष्टदृष्टिः क्रमश इह तदा सा निवृत्ता विदूरात् ।
सौरभ्याघ्राणनेत्रा मधुप-कुलतुला सङ्घशस्तं द्रवन्ती
स्पृष्ट्वाहम्पूर्विकायामहमहमिकया पृच्छती चानन्द ॥१४॥

"रमणं यथा—

मिथोऽपि स्निग्धभावानां कृष्णकौतुकदत्तये । आहोपुरुषिका तेषामालोकि स्पर्धिनामिव ॥१५

चुका था, अथवा जो अपहरण की हुई वस्तुमात्र को अपनी कहकर गिनते थे, तथा जो दूर फेंकने वाले थे, और जो लकुट आदि वस्तुओं को लाकर पुनः प्रत्यर्पण करते थे, वे वे सभी ग्वालबाल शीघ्र ही श्रीकृष्ण के भ्रू चालन के द्वारा प्रतिक्षण अल्पता, शीघ्रता अथवा मनोहरतायुक्त उस उस कर्म के सूचक लीला विलासों से, प्रत्येक ही अपने अपने योग्य विषय को निश्चय करके जानते थे, किन्तु उस खेल खिलवाड़ से भिन्न अन्य किसी भी विषय को नहीं जानते थे। तात्पर्य—यही लीला की विशुद्धता थी ॥१२॥

अतएव इस प्रकार ही उन सबका एकमात्र श्रीकृष्ण के संयोग से, जिस प्रकार सुख से युक्त भोग था, उसी प्रकार श्रीकृष्ण के वियोग से भी, सुख संयुक्त भोग संघटित होता था। यथा—यदि श्रीकृष्ण वन की शोभा देखने के लिये कभी दूर चले जाते हैं, तब तो "मैं पहले जाकर पकड़ूँगा, मैं तुमसे भी आगे जाकर श्रीकृष्ण को पकड़ लूंगा" इस प्रकार कहते हुए दौड़ दौड़कर, श्रीकृष्ण को छूकर क्रीड़ा करते थे। तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण का वियोग होने पर भी, पुनः शीघ्र ही इस इस भाव से श्रीकृष्ण का दर्शन एवं स्पर्शन करेंगे, ऐसा कहने से जो आनन्द हुआ था, उसी से जाना जाता है कि संयोग की तरह वियोग में भी, प्रकारान्तर से सुख ही हुआ ॥१३॥

इस भागवतीय पद्य का अर्थ संक्षेप से दिखाते हैं, उसमें स्पर्श करना, यथा—अघासुर पर विजय पानेवाले श्रीकृष्ण बछड़ाओं को ढूंढ़ने के लिये, समस्त सहचरवृन्द को भेजकर, वन की शोभा को देखने के लिये, जब बहुत दूर चले गये, तब क्रमशः इसी स्थान पर वे सहचरगण दृष्टि को खैंचते हुए दूर से लौट आये। पुष्पों की सुगन्ध पर भ्रमरगण जैसे टूट पड़ते हैं, उसी प्रकार वे भी श्रीकृष्ण के श्रीअङ्ग की सुगन्ध को सूँघने पर, झुण्ड के झुण्ड श्रीकृष्ण की ओर दौड़ते हुए, श्रीकृष्ण को छूकर, श्रीकृष्ण से ही यों पूछते हुए आनन्दित होते हैं कि—क्यों, भैया कृष्ण ! मैंने ही तुमको पहले छूआ हैं न ? दूसरा सखा कहता है—नहीं भैया ! तुम सत्य सत्य बताओ, मैंने ही पहले स्पर्श किया है न ? । इसी का नाम अहमहमिका है। इसी के द्वारा आत्मश्लाघा करते हुए, मित्रगण अहंपूर्विका में पूछते हैं और आनन्दित हो जाते हैं ॥१४॥

'रेमिरे' शब्द की व्याख्या में लिखते हैं। 'रमणं' यथा—अर्थात् श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिये सखाओं की क्रीड़ा, यथा—आपस में स्निग्धभाववाले होने पर भी, श्रीकृष्ण को कौतुक देने के लिये, उन सखाओं की 'आहोपुरुषिका' आपस में स्पर्धा करनेवालों की तरह देखीगई। (अभिमानपूर्वक अपने में सामर्थ्य को प्रगट करने का नाम 'आहोपुरुषिका' है) ॥१५॥

जगुरेके वेणुना तत्प्रच्छादनपराः परे । वादयन्तो विषाणानि हासयामासुरच्युतम् ॥१६
व्यञ्जयन्तस्तत्र केचित् पूर्वेषां ग्राम्यरीतिताम् । तान्निवार्य स्वयं भृङ्गैर्जगुस्तद्वत् पिकैः परे ॥१७
गोपालानां जवः श्लाघ्यो गानाद्यं भिक्षुतापरम् । इत्थं केचिद्व्यञ्जयन्तः पक्षि-च्छायेन दुद्रुवुः ॥१८
केऽपि सर्वानुकर्तृत्व-स्वगुणाधिक्य-सूचकाः । हंस-कह्व-मयूराणां गोष्ठी-मध्यं प्रपेदिरे ॥१९
केचिद्वांशनटीं विद्यामात्मनो व्यञ्जितुं मुदा । विडम्बितैः कोश-डिम्भैः सह शाखासु बभ्रमुः ॥२०
तत्र सर्व-कनिष्ठास्तु स्व-निष्ठामात्रतत्पराः । साकं भेकैर्विलङ्घन्तः सरितः स्रवसंप्लुताः ॥२१
विहसन्तः प्रतिच्छायां शपन्तश्च प्रतिस्वनात् । हसन्तः कृष्ण-सन्तोषं लसन्तः सन्ततं दधुः ॥२२
कर्तुं प्रतिध्वनौ शापं प्रतिबिम्बे विडम्बनम् । नुदन् बालान् मुदं लेभे प्रतिशापादितो हरिः ॥
इति ॥२३

उन मित्रों में से कोई कोई वेणु के द्वारा गायन करते हैं, दूसरे वेणु बजानेवालों की प्रशंसा को दबाते हुए, शृङ्गों को बजाते हुए, श्रीकृष्ण को हँसाने लग गये ॥१६॥

उनमें से कुछ जने पूर्वजों की ग्राम्यरीति, असभ्य अश्लील भाव को व्यक्त करते हुए, श्रीकृष्ण को हँसाते थे, तो दूसरे मित्र उनको निवारण करके स्वयं भ्रमरों की तरह गाने लग गये, उनसे भिन्न मित्र कोयल की तरह गाने लग गये ॥१७॥

गोपगणों का तो वेग ही प्रशंसनीय होता है। गाना बजाना आदि तो भिखमंगों का काम है। इस भाव को प्रगट करते हुए कुछ सखा पक्षियों की छाया के साथ दौड़ने लग जाते हैं ॥१८॥

कोई कोई "हम सब का अनुकरण कर सकते हैं, इसीलिये हमारे गुण अधिक हैं" इस बात की सूचना देनेवाले होकर हंस, बगुला, मयूर आदि पक्षियों की सभा में प्रविष्ट हो गये, अर्थात् उन्हीं का सा अनुकरण करने लग गये ॥१९॥

कोई कोई सखा हर्षपूर्वक अपनी वंश परंपरागत, पुतली की तरह नाचने की विद्या को, अथवा बाँस पर चढ़कर नृत्य करने की विद्या को प्रकाशित करने के लिये, पुतली की तरह नाचने लग जाते हैं, तथा उपहासास्पद बन्दर के बच्चों के साथ शाखा शाखा पर भगे डोलते हैं ॥२०॥

बड़े बड़े सखाओं के इस विविध प्रकार के विहार को देखकर, उनमें से छोटे छोटे ग्वारिया भी, श्रीकृष्ण को सन्तुष्ट करना रूप अपने धर्म में तत्पर होकर, मेंढ़कों के साथ लाँघते हुए नदी के स्रोतों में उछल उछल कर चलने लग जाते थे ॥२१॥

कोई कोई मित्र अपनी काया को डगर में टेढ़ी करके जब चलते हैं, तब अपनी छाया को टेढ़ी देखकर हँसने लग जाते थे। तथा कोई ऊँची कूक देकर पुकारता है, तब उसकी प्रतिध्वनियों को सुनकर, उन प्रतिध्वनियों को गाली देने लग जाते थे। इस प्रकार हँसते हँसते, खेलते खेलते, सर्वदा श्रीकृष्ण के सन्तोष को पुष्ट करते थे ॥२२॥

परमकौतुकी श्रीकृष्ण भी प्रतिध्वनि के प्रति गाली देने के लिये, एवं प्रतिबिम्ब के विषय में अनुकरण करने के लिये बालकों को प्रेरित करते हुए, प्रतिशापादि से अर्थात् प्रतिध्वनिरूप गाली आदि से आनन्द को प्राप्त करते थे ॥२३॥

एषा गतिर्मायिक-दृग्विमोहनी, ज्ञातात्मनां भक्तिमतां च दूरगा।
यासादिता कृष्णमनुव्रजार्भकै,-रिति स्फुटं श्रीशुकदेव-निश्चितिः ॥२४॥

"तदेवं लीलामन्यामपि तितंसति कंसद्विषि दीव्यत्सु च सर्वकलाविद्वत्सु विसरज्जालेषु वत्सपालेषु बकी-बकयोरनुजः कश्चिदघनामा दनुजस्तद्वर्त्मनि वर्तते स्म, ज्योतिर्मण्डलेषु प्रचण्डकालजलद इव, यं खलु कंसः शशंस,—'अये ! मदीयमहासहाय ! विस्मयमपहाय श्रूयताम्। त्वमजगरभावेन सदा जागररहित एव शाशय्यमानतानिष्टं तिष्ठन्न जानासीति हि त्वं जागरयामासिषे।' ॥२५॥

"अघ उवाच,—'जगदीश ! काममादिश्यताम्।' ॥२६॥

"अथ देवकीविवाहगताह-नभःसभ्य-वाणीमारभ्य सर्वकथाशंसनपूर्वकं कंस उवाच,—'तदेवं प्रत्येकं नूतननूतनारब्धमिष-विषमयपूतनादिषु धूतफलप्रयासालिषु सर्वङ्गिललीलतया भवानद्यानवद्यागतिः। इह च रावणस्य कुम्भेत्यर्धोक्तमशकुनभियाच्छाद्य पूर्वेषां पूर्वदेवानां वृत्र इवेत्यपि प्रत्याख्यायेदमाख्यत्। ध्रुवं ध्रुवस्येव तव चात्र भ्रातृमित्र-निर्यातनमवश्यवश्यतामर्हति।' इति ॥२७॥

इन व्रज के बालकों ने श्रीकृष्ण के साथ जो बाल लीलायें की हैं, वे अज्ञानियों की बुद्धि को मोहित करनेवाली हैं, और आत्मज्ञानी तथा दास्य भक्तिनिष्ठजनों को भी दूर हैं, अर्थात् उनको भी नहीं मिल सकती हैं। यह श्रीशुकदेवजी का निर्णय उनके शब्दों से स्पष्ट ही ज्ञात होता है। देखलो भा० १०।१२।११-१२ "इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या" इत्यादि दो श्लोकों को ॥२४॥

इस प्रकार कंसद्वेषी श्रीकृष्ण दूसरी लीला को भी विस्तारित करना ही चाहते थे, एवं जिनका समूह विस्तार को प्राप्त हो रहा था, अथवा जिनकी क्रीड़ा का जाल बिछ रहा था, और जो सब कलाओं के ज्ञाता थे, ऐसे वे ग्वारिया भी क्रीड़ा कर रहे थे, इतने में ही उनकी सुखमयी क्रीड़ा को देखने में असमर्थ, पूतना और बकासुर का छोटा भाई ,कोई अघ नामवाला दैत्य उनके मार्ग में इस प्रकार अडंगा लगाकर बैठ गया, ज्योतिर्मण्डल (तारामण्डल) के ऊपर जैसे प्रचण्ड कालामेघ। जिसके प्रति कंस ने भी कहा कि, हे मेरे महासहायक ! तुम विस्मय त्यागकर सुनो। तुम अजगर रूप से सदा जागरण शून्य होकर, बारंबार सोते से ही रहते हो। इसके बीच में जो अनिष्ट हो गया उसको तुम नहीं जानते हो, इसीलिये मैंने तुमको जागरित किया है ॥२५॥

अघासुर बोला—हे जगदीश ! आप अपनी इच्छानुसार आदेश दीजिये ॥२६॥

तदनन्तर श्रीदेवकी के विवाह के दिन हुई देववाणी से लेकर, समस्त कथा कथनपूर्वक कंस बोला—अतएव इस प्रकार विषमय पूतना आदि मेरे सहायकों ने, नये नये कपट प्रारम्भ किये, किन्तु उन सबके सारे प्रयास फल, विफल हो गये हैं, परन्तु तुम्हारी सर्वग्रास कारिणी लीला के रहते हुए, आज तुम हमारे एकमात्र अनिन्दित उपाय स्वरूप हो। और यहाँ तो "रावण के छोटे भाई कुम्भ" इस आधे कहे हुए वाक्य को अशगुन के भय से छिपाकर, "पहले पहले असुरों के बीच में वृत्रासुर की तरह" इस बात को भी खण्डित करके बोला कि—तुम तो उत्तानपाद पुत्र ध्रुव की तरह दृढ़ संकल्पवाले हो, अतः तुम्हारे भैया बकासुर के परमशत्रु श्रीकृष्ण के बैर का बदला लेना, तुम्हारा अवश्य कर्तव्य है, यह कार्य तुम्हारे ही अधीन है, योग्य है, मुझे तो यही प्रतीत होता है ॥२७॥

तदेवं भव्यप्रसव्यमप्युपलभ्य स्फुटमसभ्यतया शीघ्रमसौ बक-भ्रातृकः कृष्णभ्रातृकाणां तेषां पुरतः प्रचरन् प्रचुरतराङ्गमुरङ्गम-रूपमास्थाय स्थितः । किन्त्वथासौ तथासीद्-यथात्मपथाऽधिकृतप्रथाचलतया प्रथयामासे । नर्मणा नागधर्मतामुपदिशद्भिरमीभिरूचे च,–॥२८

'उद्यद्गरतया जाग्रद्वर्त्मन्यजगरः पुरः ।
समग्रं ग्रसिता तस्मादस्मान् यदि बकिष्यति ॥'२९॥

"तदेतदभिधाय श्रीकृष्ण-मुखकमलं निध्याय बाढं करताडनाल्लसन्तो हसन्तो महागिरि-गुहान्तर्वत्तद्वक्त्रान्तरं प्रविविशुर्ज्योतिर्वलयः पश्चिमाचलमिव; यतो मयूखवत् समग्रा वत्साश्च तद्वर्त्मायच्छन्ति स्म । यत्र निषिषित्सन्नपि श्रीवत्सलक्ष्मा नावसरमवाप, किन्तु भाविनिज-लीलानिश्चलतया विस्मयमाप, पश्चात्तापमापदप्यसौ येन हि तेषां वर्त्मान्यनुवर्तमानस्तत्र प्रविवेश नीहारकुज्झटिका-घटिततमश्चक्रवाले प्रचण्डमार्तण्डमण्डलमिव । यत्र मुरारि-प्रभावाऽवलुराः सुराः सुरारयश्च मुहुरारादारादपि हन्तहन्तकारं चक्रुः । यत्र च तेषामुभयेषां तत्तद्वर्णतः समानमाननकुल-युगलं तत्तद्वर्णतः क्रमाद्द्वयं विजयमुद्भावयामास ॥३०॥

इस प्रकार मङ्गल और सभ्यजनोचित आचार के प्रतिकूल कंस के वाक्य को जानकर भी असभ्य होने के कारण स्वीकार करके, यह निन्दनीय बकभ्राता स्पष्टरूप से, उन सभी कृष्ण के भ्रातारूप सखाओं के आगे विचरण करता हुआ, लम्बे चौड़े अङ्गवाले सर्परूप को धारण करके बैठ गया । किन्तु उसके बाद तो यह उस प्रकार से बैठ गया था कि, जैसे सर्प अपनी स्वाभाविकी रीति से अचलतापूर्वक बैठ जाता है । श्रीकृष्ण के मित्रों ने भी उसको वैसा ही ख्यापित कर दिया । पश्चात् परिहासपूर्वक उसकी अजगरता का उपदेश करते हुए इन कृष्ण मित्रों ने कहा कि—॥२८॥

अरे भैयाओ ! इस मार्ग में सामने ही एक अजगर सर्प, विष को उगलने के कारण जागता हुआ मालूम पड़ता है । यदि यह हम सबको ग्रस लेगा तो बकासुर की तरह मारा जायगा ॥२९॥

इस प्रकार कहकर, श्रीकृष्ण के मुखकमल को निहार कर, और अतिशय ताली दे देकर, खेलते खेलते, हँसते हँसते, बड़ी भारी पर्वत की गुफा के मध्यभाग के समान, उस अघासुर के मुख के भीतर वे सब मित्र प्रविष्ट हो गये । सूर्यदेव सायंकाल जिस प्रकार पश्चिमाचल में प्रवेश करते हैं, ठीक उसी प्रकार मित्रों ने भी अघासुर के मुख में प्रवेश किया । इसी कारण किरणों की तरह समस्त बछड़ों ने भी, उन्हीं के मार्ग का अनुसरण किया, अर्थात् सूर्य के पीछे पीछे किरणें भी जैसे अस्ताचल में प्रविष्ट हो जाती है, उसी प्रकार बछड़े भी ग्वारियाओं के पीछे पीछे अघासुर के मुख में धँस गये । जिस समय श्रीवत्सचिह्न-धारी श्रीकृष्ण निषेध करने की इच्छा से युक्त होकर भी, अवसर न प्राप्त कर सके । किन्तु वे आगे होने वाली अपनी लीला के विषय में स्थिर होने के कारण विस्मय को प्राप्त हो गये, एवं पश्चात् पश्चात्ताप को भी प्राप्त हो गये । जिस अनुताप के कारण प्रचण्ड मार्तण्ड (सूर्य) मण्डल जिस प्रकार नीहार कुज्झटिका से घटित अन्धकार मण्डल में प्रवेश करता है, उसी प्रकार उन गोपबालकों के मार्ग का अनुसरण करते हुए श्रीकृष्ण ने भी अघासुर के मुख में प्रवेश किया । जिस प्रवेश के विषय में जो श्रीकृष्ण के प्रभाव को जानने में निपुण नहीं हैं, वे सब देवता एवं दैत्यगण बारंबार दूर से एवं निकट से आपस में क्रमशः (दुःख सुख-प्रकाशक) हा हाकार करने लग गये । अर्थात् देवता दुःखी हुये, एवं दैत्य सुखी हुए हा हाकार कर रहे थे । और जिस प्रवेश में उन देवता एवं दैत्यों के, उस उस हा हा इन दोनों वर्णों के समान दोनों के मुखमण्डल,

"बक-चेष्टामनुतिष्ठतस्तस्य तु पापिष्ठस्य कण्ठे सोऽयमकुण्ठधामा कृष्णनामा व्रजनृपतपः-प्रतापमययोगमाया-सहायतया केशिप्रवेशि-स्व-भुजदिव्यभुजङ्गमवद्ववृधे । स तु जातश्वासरोधः परित्यक्तबोधश्च क्षणकतिपयमासीत् ॥३१॥

"तदूर्ध्वं पाटितमूर्धानं प्राणमपहाय पूतनाशमयितुः सङ्गतः पूतः पूतनाभ्रातुरात्मा नित्यनूतनां सङ्गतिमवाप्तुमस्य बहिरागमनं प्रतीक्षते स्म ॥३२॥

"स श्रीवत्सवत्सस्तु तमन्तर्हत्य वत्सवत्सपान् मूर्च्छतानमृतवृष्टिमयदृष्टिप्रचारेण सञ्चरितचेतनानाचरन्नमीभिः समं गमनवर्त्मना तस्मान्निर्जगाम स्वर्भानुमुखादमृतभानुरिव ॥३३

"ततश्च हिमाचलाद्गाङ्गप्रवाहाणामिव तेषां प्रवहे जाते तस्यात्मज्योतिरजितस्याङ्ग-सङ्घान्निःसज्जति तेजसि निमज्जदेव जगज्जनेन ददृशे चण्डज्योतिर्ज्योतिषि ज्योतिरिव । यत्र ब्रह्मपुरःसराः सुराः सुरवर्त्मनि पुरतः स्थिताः सुरतरुपुष्पस्तबकवृष्टिभिः स्तवकृतसंस्तवतौर्य-त्रिकादिप्रस्तावसृष्टिभिः स्तवनीयं व्रजराज-तनूजं पूजयामासुरुपजहसुरप्यघासुरम्—॥३४॥

मलिनता एवं उज्ज्वलता के कारण क्रम से भय एवं विजय की आशंका को प्रगट कर रहे थे । अर्थात् उस समय देवताओं के मुखपर मलिनता छा रही थी, उससे भय की आशङ्का प्रगट हो रही थी, एवं अघासुर के मित्र कंसादिकों के मुख पर हर्ष से प्रसन्नता छा रही थी, उससे विजय की आशंका प्रगट हो रही थी ॥३०॥

उस समय बकासुर की सी चेष्टा करनेवाले अत्यन्त पापी उस अघासुर के कण्ठ में, प्रतिबन्धरहित तेजवाले वे श्रीकृष्ण उस प्रकार बढ़ने लग गये, जैसे कि श्रीव्रजराज की तपस्या के प्रभाव से पूर्ण योगमाया की सहायता से, केशी नामक दैत्य के शरीर में अपनी भुजारूपी दिव्य सर्प बढ़ा था । यहाँ पर भावी कथा का भूतवत् निर्देश जानना । वह अघासुर तो श्वास रुक जाने के कारण, कुछ क्षणों तक ज्ञानरहित, अर्थात् चेतनारहित हो गया था ॥३१॥

उसके बाद मस्तक को फाड़ने वाले प्राणों को छोड़कर, पूतनानाशक श्रीकृष्ण के सङ्ग से पवित्र हुआ, पूतना के भैया अघासुर का आत्मा, नित्यनवीन संगति की प्राप्ति के लिये, इन श्रीकृष्ण की बाहर आने की प्रतीक्षा करता रहा ॥३२॥

श्रीवत्स का चिह्न है वक्षःस्थल में जिनके, ऐसे वे श्रीकृष्ण तो उस अघासुर को अन्दर ही मार कर, मूर्च्छित हुए बछड़ा एवं ग्वालबालों को अपनी अमृतवृष्टिमयी दृष्टि के प्रचार से, चेतनायुक्त बनाते हुए, उन्ही सबके साथ जिस मार्ग से धँसे थे, उसी मार्गस्वरूप अघासुर के मुख से, इस प्रकार निकल पड़े, राहु के मुख से जैसे चन्द्रमा ॥३३॥

तदनन्तर हिमालय से गङ्गाप्रवाहों की तरह, उन सबके बाहर निकल आने पर, उस अघासुर की आत्मज्योति, श्रीकृष्ण के अङ्गसमूह से निकलते हुए तेज में, जगत्वासी जनों ने इस प्रकार निमग्न होती हुई देखी, जैसे कि सूर्य के तेज में अग्निकण किंवा नक्षत्र । हे श्रीव्रजराज ! और देखो, जहाँ पर ब्रह्मादि देवों ने पहले से ही आकाश में स्थित होकर, स्तुतियों के द्वारा किये गये परिचय के सहित नाचना, गाना, बजाना आदि के प्रस्ताव की सृष्टि, एवं कल्पवृक्षों के पुष्पगुच्छों की वृष्टियों के द्वारा, पूजनीय तुम्हारे लाला की पूजा की, और अघासुर की हँसी भी की— ॥३४॥

'मम स्पर्श-मात्राद्ध्रुवज्ज्ञातिमात्रं, विनश्यत्यकस्मात्तमस्तेजसो वा ।
इदं ज्ञातवानप्यघाख्यासुर ! त्वं, कथं मामयासीरितीवाह कृष्णः ॥३५॥

'अथवा—सर्वांस्त्वं खर्वकोटीः पशु-पशुप-शिशून् ग्रस्तवान्मां तथापि
ग्रस्तं निर्मातुमैषीरिति सुखदतया प्रापमन्तस्त्वदीयम् ।
सङ्कोचादगन्तुमिच्छन् बहिरथ भुजग ! प्राणवर्गस्तवाद्धा-
मन्निर्बद्धोऽपि मूर्धस्फुटनकृतितया धिग्गतः किं विदध्याम् ?' ॥३६॥ इत्येवम् ॥

"ततश्च तस्मात् कलितगणतया तरुनिचयादाचितकाचितदिव्यदीदिवितया चातिचपलं चलितस्य तस्य काचनातिदूरा भूरायतवनकलापविमलापसरोवरान्तरतया वराप्यवरतामाससाद । यामुपसद्य च सद्यः सुखविकसितमुखपङ्कजः पङ्कजलोचनः स्वं रोचनं वचनगोचरमाचचार ॥३७॥

"यथा—'भास्वन्महो योगविकासहृद्गत,-प्रभाम्बुजातं मधुसूदनप्रभम् ।
पश्यन्तु मित्राणि सुजीवनालय, महन्मनस्तुल्यतरं सरोवरम् ॥३८॥
एषा वनाली सरसी तथा मिथो, गुणेन पुष्टा गुणितेन सर्वदा ।
आद्या रसेन द्वयपूरणी यतः, प्रसूनसौरभ्यशतेन पुष्यते ॥३९॥

हे अघासुर ! तेज के सम्बन्ध से अन्धकार जिस प्रकार नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार मेरे स्पर्शमात्र से तेरी जातीमात्र अकस्मात् नष्ट हो जाती है, यह सब जानकर भी तू हमारे पास क्यों आया ? श्रीकृष्ण ने भी मानों इस प्रकार कहा— ॥३५॥

अथवा तूने असंख्य पशुओं को एवं सभी पशुपाल बालकों को निगल लिया था, इतने पर भी सन्तुष्ट न होकर तूने मुझको निगलने की इच्छा की । मैं भी इसी कारण सुखदान करने के उद्देश्य से तेरे अन्तःकरण में आ गया था । हे सर्प ! मेरे द्वारा रोका हुआ भी तेरा प्राणसमूह, संकोच के कारण बाहर जाने की इच्छा से युक्त हो, तेरे मत्थे को फोड़कर निकल गया । हाय ! तुझको धिक्कार है । इसमें मैं क्या करूँ ? ॥३६॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण सहचरगण के सहित, उस वृक्षसमूह से मनोहर छींकों में धरे हुए, दिव्य भात आदि अन्न को लेकर, अत्यन्त चञ्चलतापूर्वक चल दिये । चलते समय "लम्बे चौड़े वनसमूह एवं विमल जल से भरे हुए सरोवर हैं मध्य में जिसके" ऐसी कोई अनिर्वचनीय भूमि अति दूर पर मिली । वह विशाल होने पर भी थोड़ी सी मालूम पड़ती थी । जिस भूमि को प्राप्त होकर, कमलनयन श्रीकृष्ण का मुखकमल सुख से खिल उठा । फिर वे निजरुचिकारक विषय को वचनों द्वारा कहने लगे ॥३७॥

हे मित्रो ! देखो, इस सरोवर को । इसमें जितने भी कमल हैं, उनकी हृदयस्थित मनोहर प्रभा, सूर्य तेज के सम्बन्ध से विकास पा रही है, भ्रमरों के सहयोग से इसकी प्रभा और भी बढ़ गई है, सुन्दर निर्मल जल का यह आश्रय है, यह सरोवर महात्माओं के मन के समान परम पवित्र है । महात्माओं का हृदयकमल भी, तेजस्वी महोत्सव के द्वारा प्राप्त भक्तियोग से, सदैव विकसित रहता है । मधुसूदन भगवान् भी भ्रमरों की तरह उसकी प्रभा बढ़ाते रहते हैं ॥३८॥

यह वनश्रेणी तथा सरसी (सरोवर) आपस में समधिक गुण से सर्वदा परिपुष्ट हैं । उन दोनों में पहली जो वनश्रेणी है, वह रस से अर्थात् माधुर्य के द्वारा, नेत्र एवं नासिका इन दोनों की पूर्ति करने वाली है, कारण यह पुष्पों की सैकड़ों तरह की सुगन्ध से परिपुष्ट है । दूसरी जो सरसी अर्थात् सरोवर है, वह भी जल से किंवा माधुर्य आदि अनेक रसों से परिपुष्ट है ॥३९॥

स्फुरति पुलिनमच्छं कोमलं वालुकाभिः, कुसुम-फल-वन-क्ष्माप्रावृतं सूक्ष्मदूर्वम् ।
यदिह मृगजनानां वृक्षलक्षालयाना,-मुपविमलजलान्तं भाति शय्यायमानम् ॥४०॥

(भा० १०।१३।६)—

'अत्र भोक्तव्यमस्माभिर्दिवा रूढं क्षुधार्दिताः । वत्साः समीपेऽपः पीत्वा चरन्तु शनकैस्तृणम् ॥' ४१

"अथ समंभूमिस्थितं संयुज्य भोजनजननार्थं रचितमज्जनेषु कृतमिथःसज्जनेषु तेषु सुहृज्जनेषु प्रथमतस्तावदेवं जातम् ॥४२॥

"कृष्णं मध्ये लब्धवन्तः सखायः, सर्वं तत्तद्विस्मरन्तः स्व-दुःखम् ।
तत्कान्तीनां सन्ततं पातुकामा,-स्तस्थुर्यद्वत् पूर्णचन्द्रं चकोराः ॥४३॥

"ततश्च तत्पालनतृष्णेन कृष्णेन यत्नेन योजितभोजनेषु सवयोजनेषु काचिदन्या शोभा धन्यां तां वन्यां शोभयामास ॥४४॥

यथा—अन्तरान्तरमिलद्वलयानां, वल्गु बाल्यवयसामधिमध्यम् ।
सर्वतोऽभिमुखतां हरिरागा,-ल्लीलया भ्रमदपूर्वनटाभः ॥४५॥
बिभ्रद्वेणुं जठरपटयोः शृङ्ग-वेत्रे च कक्षे
वामे पाणौ मसृणकवलं व्यञ्जनान्यङ्गुलीषु ।

और देखो ! यह निर्मल पुलिन कितनी शोभा पा रहा है । बालुकासमूह द्वारा कितना कोमल हो रहा है । पुष्प, फल एवं जलसंयुक्त भूमि द्वारा यह पुलिन आवृत है । सूक्ष्म सूक्ष्म कोमल दूब घास से यह हरा भरा है । लाखों वृक्षरूप घरों के पास निर्मल जल मानों सीमा की तरह विद्यमान है, एवं वह स्थान पशुगणों के लिये मानों शय्यारूप से सुशोभित है ॥४०॥

इसलिये हम सबको यहीं भोजन करना चाहिये, क्योंकि दिन बहुत चढ़ गया है, हम सभी भूख से पीड़ित हैं । वत्सगण निकट में ही जल पीकर धीरे धीरे तृण चरते रहें ॥४१॥

तदनन्तर समान भूमि पर सम्पूर्ण खाद्य सामग्री को धर कर, भोजन करने के लिये स्नान करके आपस में उन सभी मित्रों के शृङ्गार कर लेने पर, प्रथम यह घटना घटी ॥४२॥

यथा—वे सब सखा श्रीकृष्ण को मध्य में प्राप्तकर, उन उन अपने समस्त दुःखों को भूल गये । पश्चात् चकोरगण जिस प्रकार पूर्ण चन्द्रमा की सुधा पीने की इच्छा करते हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्ण की कान्तियों को निरन्तर पीने की इच्छा वाले, वे सब सखा श्रीकृष्ण के चारों ओर बैठ गये ॥४३॥

उसके बाद उन मित्रों का पालन करने की तृष्णा से युक्त श्रीकृष्ण ने प्रयत्नपूर्वक समान अवस्थावाले सभी मित्रों के प्रति जब भोजन बाँट दिया, तब किसी अनिर्वचनीय शोभा ने श्रीकृष्ण की मित्रों सहित भोजनलीला के कारण, परमधन्य उस वनसमूह को सुशोभित कर दिया ॥४४॥

यथा—मनोहर बाल्यावस्था वाले मित्रों का मण्डल, बीच बीच में कंकण की तरह मिला हुआ गोलाकार था, उनके मध्य में विराजमान श्रीकृष्ण अपूर्व नट की तरह, अनायास भ्रमण करते हुए, सभी सखाओं के सम्मुख हो जाते थे ॥४५॥

तदनन्तर बालकृष्ण ने उदर में बँधे हुए वस्त्र की फेंट में वंशी को धारणकर, बाईं बगल में शृङ्ग एवं बेंत धारणकर, बायें हाथ में माखनमिश्रित दधिओदन का चिक्कण कौर धारण कर, अंगुलियों की

तिष्ठन्मध्ये प्रियसवयसां हासयन् हासितस्तै-
र्दिव्ये लोके कलयति मुदा भुक्तवान् बालकृष्णः ॥४६॥

"तदेवं परमोत्सवरतेषु तेषु वत्साः कच्छदेशादनच्छं तार्णप्रदेशं प्रविश्य प्रच्छन्ना बभूवुः । प्रच्छन्नेषु च तेषु विच्छिन्नभोजनरतीर्मित्रततीः स्वस्थयन् तदवस्थ एव स्वयं नीरन्ध्र-वनावनीध्र-मध्यमध्यासितानवीध्रदुर्गमार्गान् विविच्य कृतकृत्यताराहित्यं प्रतीत्य च निवृत्य तत्र च मित्रवर्गानपरिचित्य वैवित्त्यवशादुभयानपि सभयान् मत्वा विचिकित्सन् विचिकाय, काय-क्लेशतः केशवः सोऽयं किन्तया चिन्तयामास च,—॥४७॥

'अहो मातॄणां यच्छिशुकुलमसुभ्योऽपि दयितं
स्थितिं वत्सत्वेन प्रसजति तथा वत्सपतया ।
तदेतन्मत्प्राणप्रतिकृति-शरीरं क्व नु गतं
यदर्थं दुष्टाहेर्जठरमविशं हा विषमयम् ॥'४८॥

"तदेतदगुण-गुणगणनिधानस्य तस्य निरवधानमपि न चित्रमध्यस्यति । एष हि प्रेममयलीलावेश-वश्यतामापन्नः कदाचिदवश्यं पश्यन्नप्यपश्यन्निव भवति । तदा हि सद्य एवेदं प्रत्यपद्यत । आम् ब्रह्मणः खल्विदं कर्म । मम पुनरेतावन्तं कालं संजङ्घन्यमानसखि-

---

सन्धियों में अनेक व्यञ्जन किंवा अनेक प्रकार के अचार धारण कर, समान अवस्था वाले प्रिय सखाओं के बीच में बैठकर, सखाओं के द्वारा हँसाये जाने पर उनको हँसाते हुए, हर्षपूर्वक भोजन किया। इस प्रकार की लीला को स्वर्गवासीजन विस्मयपूर्वक देख रहे थे, तभी मानों भोजन लीला प्रारम्भ हुई ॥४६॥

इस प्रकार उन ग्वालबालों के भोजन लीलारूप महोत्सव में आसक्त हो जाने पर, सभी बछड़ा उस सरोवर के तीर से मलिन तृणसमूहयुक्त स्थान में प्रविष्ट होकर छिप गये। बछड़ाओं के छिप जाने के बाद भोजन के आनन्द से विच्छिन्न मित्रमण्डली को स्वस्थ बनाकर, स्वयं कवल, वेत्र, विषाण आदि धारण किये हुए, उसी अवस्था से निविड़ (घने) वन एवं पर्वतों के मध्य में विद्यमान मलिन दुर्गम मार्गों को ढूँढ़ कर, कृतकृत्यता की रहितता को जानकर, पुनः उसी भोजन के स्थान पर लौटकर, वहाँ पर मित्रसमूह को भी न देखकर, चित्त की व्याकुलता के कारण दोनों को ही भय से युक्त मानकर, संशय करते हुए श्रीकृष्ण उन सबको ढूँढ़ने लग गये, और वे कायक्लेश से "हाय ! यह क्या हुआ ?" इस प्रकार चिन्ता करने लग गये ॥४७॥

अहह ! जो शिशुकुल माताओं को प्राणों से भी प्रियतम है, तथा जो वत्स एवं वत्सपाल के रूप में स्थिति को धारण किये हुए है, इस शिशुकुल का शरीर मेरे प्राणों के समान है। हाय ! मैं जिसके लिये दुष्ट अघासुर के विषमय उदर में प्रविष्ट हुआ था, वह वत्स एवं वत्सपरूप शिशुकुल कहाँ चला गया ? ॥४८॥

अब "सबकी माया को दूर करने वाले, माया के अधिपति स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण यदि ब्रह्माजी की माया से मोहित हो जायेंगे, तो महान् विरोध आ जायगा" इस शंका का समाधान करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि—

देखो ! प्रधान प्रधान महान् गुणगणों के निधान, उन श्रीकृष्ण की पूर्वोक्तरूप असावधानता भी आश्चर्यजनक नहीं है। क्योंकि ये श्रीकृष्ण प्रेममयी लीला के आवेश के वशीभूत होकर, कभी कभी कर्तव्य

सङ्ग-प्रणयासङ्गवशाल्लङ्घितज्ञानतया न तदनुसन्धानं जातम्; न च तेन विरोधितयेदमाचरितम् । किन्तु मयि प्रेमस्थेमसंहितस्य तस्य व्रजहितस्य सम्प्रति मद्वैभवं प्रति विशेषवीक्षाप्रतीक्षा जातेत्येवमेवाचरितम् । यत एव खलु माया-वैभवतस्तदनन्यस्थानस्थितम्मन्यमेवान्यत्र वन्यभूमावाकृष्य पुनस्तत्रैव पुलिने प्रतिकृष्य तत्तद्वृन्दमनेनागोपायि । ततो न विरोधिबुद्धिरसौ । विरोधिषु मद्बुद्धिवीर्ययोर्निद्रागमेऽपि जागरुकताकलिता । ततो वयं भक्ते तस्मिन्नर्मकर्मठतामेव घटयिष्यामः तत्र च प्रायः श्रीमत्पितृचरणाभिप्रायमयतया या मम योगमाया साहायकमायाति, यदि तामेव सम्प्रति चावलम्बेय, तदा स्वयमेव तत्तद्रूपतां लभेय, नान्यद्धि मद्धितानां तेषां साम्यं भजेदिति । येन च शतानन्दस्य व्रजानन्दस्य च मन्दताऽमन्दतां विन्देत, तदेवं चिन्तयन्नेव सह सुहृल्लोकशोकं चिन्तयामास,—'हन्त ! हन्त ! कथं तान् मां विना तान्तान् विना समयं गमयिष्यामि ?' इति ॥४९॥

"ततश्च, यस्य यस्य च शुचा गुणरूपं, चिन्तयन्नभजत स्वतयाऽथ ।
तस्य सुष्ठु धुतभेदतयाऽसौ, जज्ञिवान् प्रयतनं व्यतिरिच्य ॥५०॥

विषय को निश्चितरूप से देखते हुए, समझते हुए भी, न देखने वाले की तरह, अनसमझ से हो जाते हैं (भगवद्रसिक ने भी कहा है कि—देखत भूली करै परै भूलन में नाहीं)। इसी कारण से वे उस समय शीघ्र ही इस प्रकार जान गये कि, हाँ, मुझे स्मरण आ गया। यह निश्चितरूप से ब्रह्मा का ही काम है। और मुझको इतने समय तक अतिशय मिलनसारु मित्रों के मण्डल में प्रेममयी आसक्ति के कारण, बोध का उल्लंघन हो जाने से, उन सब वत्स वत्सपालों का अनुसन्धान नहीं हुआ। और ब्रह्माजी ने भी विरोधी की तरह यह सब कार्य नहीं किया है, किन्तु मुझमें प्रेम की स्थिरता से युक्त, एवं व्रज के हितैषी उन ब्रह्माजी की इस समय मेरे वैभव को विशेष देखने की प्रतीक्षा (पूज्यता) उत्पन्न हो गई थी, इसीलिये ऐसा कार्य किया है। मैं निश्चितरूप से ऐसी माया के वैभव में नहीं फँसता, जिससे कि अपने को अन्य स्थान स्थित मानने लग जाऊँ, इसीलिये मुझको इस वनभूमि से दूसरी वनभूमि में खेंचकर, पुनः उसी पुलिन में खेंचकर, ब्रह्माजी ने वत्सवृन्द एवं वत्सपालवृन्द को गुप्त कर दिया है। अतः ब्रह्माजी की बुद्धि विरुद्ध नहीं है। कारण ब्रह्माजी ने मेरे इस रहस्य को भी भली प्रकार जान लिया है कि, निद्रा आने पर भी विरोधियों के प्रति, मेरी बुद्धि एवं पराक्रम की जागरूकता बनी रहती है, अर्थात् मेरे सो जाने पर भी, मेरे बुद्धि बल जागते ही रहते हैं। अतः हम उस भक्तराज पर बालकपन की चतुरता को ही संघटित करेंगे। उस कार्य में मेरे पूज्य पिताजी का अभिप्राय जिसमें है, ऐसी जो मेरी योगमाया, वह भी सहायक बनके आ रही है। यदि इस समय मैं उसी योगमाया का आश्रय कर लूँ, तब तो स्वयं ही वत्स एवं वत्सपालों के समान रूपों को प्राप्त कर सकता हूँ। यह बात भी निश्चित है कि मेरे हितैषी उन वत्स एवं वत्सपालों की समानता को अन्य कोई वस्तु नहीं पा सकती।

और ऐसा करने से ब्रह्मा एवं व्रजवासियों के आनन्द की जो अल्पता है, वह अधिकता को प्राप्त हो जायगी। इस प्रकार विचारते हुए भी, श्रीकृष्ण साथ साथ में मित्रजनों के शोक की भी चिन्ता करने लग गये। हाय ! हाय ! मेरे बिना महान् दुःखित, उन मित्रों के बिना, मैं समय को कैसे बिताऊँगा ? ॥४९॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण स्वकीयभाव से शोकाकुल होकर, चिन्ता करते करते (कीटभृङ्ग न्याय से), जिस जिस सखा और वत्स के गुण एवं रूप को प्राप्त हो गये, उस उस व्यक्ति के साथ भेदरहित होने के कारण, प्रयत्न के बिना ही अच्छी प्रकार उसी उसी रूप के बन गये ॥५०॥

"इति तथानुसन्धाय स्वतस्तत्तद्बाल-वत्सादि-रूपाणि सन्धाय सर्वसमाधाननिर्बन्धाय दिनान्तरवदेव व्रजागमनदेवनेन गेहं गेहं प्रवेशमासीनस्तां सन्ध्यामबन्ध्यां चकार ॥५१॥

"तन्मातरस्तु दिनान्तरादप्यन्तरङ्गतरमानन्दं विन्दन्ति स्म ॥५२॥

"तथाहि—सुते गोपेश्वर्या निज-निज-सुतप्रत्ययमुदा
तथा तन्मित्रत्वस्फुरणसुख-लक्ष्म्या द्विगुणितम् ।
पुरावद्वात्सल्यं व्रजपुर-पुरन्ध्रीर्विदधतो-
स्तदीया संसिद्धिर्यदधिनुत तद्भाति तदिव ॥५३॥

यद्यप्येकस्वरूपा व्रज-नृपतिसुतस्यापरे बालवत्सा
जातास्तर्ह्यप्यमी तत्प्रतिमपदमधुस्तत्र नेत्येव युक्तम् ।
तद्रूपं तद्गुणालिस्तदमितविहृतिश्चाश्रयः खल्वमीषां
तस्यापि स्वस्य चित्रस्थितिकृदिति यतस्तत्र तत्राभ्यधायि ॥५४॥

"तदेवं हानप्रायस्य तस्य हायनस्य पूरणाय पञ्चषाण्यहानि यदा हीनानि, तदा तु कृष्णविषयक-स्नेहजातीयस्नेहमनु स्वपरतत्परतायास्तेषु बालादिषु सम्यगवगम्यमानतया रामोऽपि विस्मित्य तेन सह प्रश्नोत्तरे विनिमित्य विनिश्चित्य च स्थितवान्, किन्तु तेषां

इस प्रकार अनुसन्धान करके, स्वतः उन उन बालक एवं वत्सादिकों के रूपों को धारण कर, समस्त समाधान करने के आग्रह के लिये, अन्य दिनों की तरह, व्रजागमन लीला के द्वारा प्रत्येक घर में प्रवेश करते हुए, श्रीकृष्ण ने उस दिन की सन्ध्या को सार्थक कर दिया ॥५१॥

उन वत्स एवं वत्सपालों की माताओं ने तो, अन्य दिनों से भी अधिक आन्तरिक आनन्द को प्राप्त किया ॥५२॥

श्रीयशोदा के लाला में अपने अपने पुत्र की प्रतीतिमय हर्ष से, तथा ये हमारे पुत्र "श्रीकृष्ण के मित्र हैं" इस प्रकार की स्फूर्तिरूप सुख सम्पत्ति से, व्रज की गोपियों का पहले की तरह का वात्सल्यभाव, दुगुना हो गया था। उन गोपियों के वात्सल्य सम्बन्धी अतिशय प्रेम ने उनको परितृप्त कर दिया। उनका वात्सल्यभाव भी (रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव) की तरह, उन्हीं के वात्सल्यभाव के समान शोभित था। यहाँ अनन्वयालंकार है ॥५३॥

यद्यपि इस समय अन्य बालक एवं वत्सगण सभी श्रीव्रजराजकुमार की एकता को प्राप्त होकर, एक स्वरूप हो रहे हैं, तो भी वे सब श्रीकृष्ण के समान रूप नहीं धारण कर सकते, यही सिद्धान्त युक्त है। कारण श्रीमद्भागवत एवं श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु आदि ग्रन्थों में कहा है कि—श्रीकृष्ण का रूप, एवं उनके गुणगण, तथा उनके अमित विहार, निश्चय ही इन वत्स एवं वत्सपालगणों के आश्रयस्वरूप हैं, और श्रीकृष्ण के ये पूर्वोक्त गुण स्वयं उनके लिये भी आश्चर्यान्वित कर देते हैं ॥५४॥

इस प्रकार लीला करते कराते एक वर्ष जब समाप्तप्राय हो गया, एवं उस वर्ष की पूर्ति के लिये पाँच छः दिन ही जब कम रह गये, तब कृष्णविषयक स्नेह जैसे स्नेह को लक्ष्य करके, एवं यह स्नेह इन सब बालकों में विराजमान है, ये अपने पराये को अच्छी प्रकार जानते हैं, इस बात को अच्छी प्रकार

सखीनामखिलानां विप्रलम्भलम्भितकष्टेन निजानुजे रुष्टतया पञ्चषाण्यहानि तेन सह वनं नाजिघाय । ब्रह्मा तु तत्र गुप्तमागतः श्रीकृष्णेन तर्क्यते स्म ॥५५॥

"यथा—यस्मादेति परैति पश्यति पुरः पश्चात्तथा पार्श्वतः
स्वात्मानं परितः स्तृणोत्यनुपदं संभ्राम्यति भ्राम्यति ।
लोप्त्रा लोप्त्रसवत्सवत्सप-गणं सन्दिग्धमालोकते
तस्मान्मे प्रतिभात्यसावनुदिशं वक्त्रं दधत् स्तेनकः ॥५६॥

"अथ ब्रह्मा तेषामर्वाचीनानां प्राचीनानां च बालादीनां रूपादिभिः परस्परमभेदमाकल्य चेतसाश्चर्यमाचर्य चार्वावः परिविन्दन् सर्वतोऽप्यदृष्टमहिष्ठताभूयिष्ठान् दृष्टवान् ॥५७॥

"ब्रह्माणं पश्यति श्रीदामादि-मित्रे तु स्वमित्राणामेवानयनेच्छा जातेति यदृच्छया तदन्वेषणावस्था प्रादुर्भूता साम्प्रतिकाश्चान्तर्भताः ॥५८॥

"तदेवं नाना-वैभवमनुभवतः कमलभवस्य त्रपतयानुतप्ततया च या रचितावाचीनता, सा स्वयं प्रणामाय परिणमति स्म ॥५९॥

समझकर, श्रीबलरामजी भी विस्मित होकर, पश्चात् श्रीकृष्ण के साथ प्रश्न एवं उत्तरों का आदान प्रदान करके, ब्रह्ममोहन लीला का निश्चय करके चुप रह गये । किन्तु उन समस्त सखाओं के वियोगजनित कष्ट के कारण, अपने छोटे भाई पर रुष्ट होकर, पाँच छः दिन तक उसके साथ वन में नहीं गये । ब्रह्माजी भी वहाँ पर वन में गुप्त रूप से आ गये । इस बात का अनुमान श्रीकृष्ण ने लगा लिया—॥५५॥

यथा—यह ब्रह्मा चोर है, इसीलिये चारों ओर मुख धारण किये हुए है । मैंने इसको निश्चित रूप से ब्रह्मा जान लिया है । क्योंकि यह आता है, पुनः चला जाता है । आगे, पीछे एवं दोनों बगल से चंचल होकर देख रहा है, अपने को चारों ओर से छिपा रहा है, प्रतिक्षण भयभीत हो जाता है एवं चक्कर लगाता है, लोभी होकर चोरी के द्वारा उपार्जित धन की तरह वत्स एवं वत्सपालगण को सन्देहपूर्वक देख रहा है । "बस, यही चोर के चिह्न होते हैं" ॥५६॥

तदनन्तर ब्रह्मा ने उन कृष्णरूप नवीन बाल वत्सादिकों के, एवं प्राचीन (पहले) बाल वत्सादिकों के परस्पर के अभेद को रूपादि चिह्नों से अच्छी प्रकार जानकर, अपने मन से आश्चर्यान्वित होकर, पुनः नवीन कृष्णरूप बाल वत्सों के पास पहुँचकर, उन सबको कहीं भी न देखी गई महत्ता से विशिष्ट देखा ॥५७॥

श्रीदामा आदि हैं मित्र जिनकें, ऐसे श्रीकृष्ण जब ब्रह्मा को देख रहे थे, तभी उनके मन में अपने वास्तविक मित्रों के लाने की इच्छा हो गई । इसी कारण स्वतन्त्र हरि की स्वतन्त्रता से उनके ढूंढनेवाली पहले दिन की सी (कवल, वेत्र, विषाण, वेणु विशिष्ट) अवस्था प्रगट हो गई, और श्रीकृष्ण की स्वरूप शक्ति के विलासरूप आधुनिक, अर्थात् नवीन बाल वत्स आदि अन्तर्धान हो गये ॥५८॥

अतएव इस प्रकार श्रीकृष्ण के अनेक वैभवों को अनुभव करते हुए ब्रह्मा का लज्जा एवं अनुताप के कारण मुख नीचा हो गया । बस, वह मुख की अधोमुखता (नीचापन) ही प्रणाम के लिये परिणत हो गई ॥५९॥

"तत्र च—एकमेकमधःकृत्वा मुखं तत्र चतुर्मुखः ।
नमन्नन्यमुखस्योर्ध्वीभावात् पूर्ति जगाम न ॥६०॥

यद्यपि न नमन्मुमुदे, विधिरेकास्यानवाग्भावात् ।
तदपि हरेर्मुखचन्द्रा,-लोकाऽलोपान्मुदं लेभे ॥६१॥

"अथापकृष्टम्मन्यः सन्ननन्यगतितया सुमेधा वेधाः स्तबकेनेव स्तवकेनेष्टवांश्च कृष्णम् । यत्र च चतुर्भिर्वक्त्रैरानुवान इव नुवन्नसौ सर्वमहानपि यत्किञ्चिद्गोकुलानुगतानुगतिमेव प्रतिनिजानुमतिमाततान ॥६२॥

"यथा चाह स्म (भा० १०।१४।३४)—
'तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां, यद्गोकुलेऽपि कतमांघ्रिरजोऽभिषेकम् ।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्द,-स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव ॥ इति ॥६३॥

"तदेवं व्रजमहिमहिमकर-कर-निकरजडीभूता वयं नोपपत्तिप्रत्यासत्तिं लभामह इत्यलमतिविस्तरेण ।" ॥६४॥

अथ स्निग्धकण्ठ उवाच,—"श्रीमद्व्रजयुवराजेन तत्र किमुक्तम् ?" मधुकण्ठः सस्मितमुवाच,—"न किमपि, किन्तु तत्र स्तुतिसमये तावत्—॥६५॥

उस प्रणाम के समय चतुर्मुख अपने एक एक मुख को नीचा करके प्रणाम करते हुए, दूसरे मुख के ऊपर हो जाने के कारण प्रणाम की पूर्ति को न प्राप्त कर सके ॥६०॥

यद्यपि एक मुख ऊपर रह जाने के कारण, नमस्कार करते हुए भी, ब्रह्माजी हर्षित नहीं हुए, तथापि ऊपर किये हुए मुख से, श्रीहरि के मुखचन्द्र के दर्शन का विच्छेद न होने के कारण हर्ष को प्राप्त हो गये ॥६१॥

तदनन्तर धारणावती बुद्धिवाले ब्रह्माजी ने अपने को निकृष्ट मानकर, अनन्य गति होने के कारण, पुष्पों के गुच्छे की तरह स्तोत्र से श्रीकृष्ण की पूजा की। और जिस पूजा में स्तुति करनेवाले की तरह, सबसे बड़े होकर भी, चारों मुखों से स्तुति करते हुए ब्रह्माजी ने, यत्किंचिद् व्रजवासीजनों की अनुगति के प्रति ही, अपनी अनुमति विस्तारित कर दी ॥६२॥

इस विषय में ब्रह्माजी ने श्रीमद्भागवत का वचन कहा, यथा—इस श्रीवृन्दावन की भूमि में या गोकुल में भी, यदि किसी लता पता आदि छोटी जाति में भी मेरा जन्म हो जाय तो, बड़े भाग्य की बात है। क्योंकि जिस तृणादि जाति में श्रीकृष्ण के प्यारे व्रजवासियों की चरणरज का अभिषेक प्राप्त हो जाता है। व्रजवासियों की महिमा इसी से अधिक है कि, देखो ! जिनके श्रीचरणों की रज आज भी, श्रुतियों के द्वारा ढूंढने योग्य है, वे ही श्रीमुकुन्द भगवान् जिन व्रजवासियों के समस्त जीवनस्वरूप हैं ॥६३॥

मधुकण्ठ कहता है कि—इस प्रकार व्रज की महिमारूप चन्द्रमा के किरण समूह से, जड़ीभूत (जड़प्राय) हुए हम, युक्तियों की समीपता को नहीं प्राप्त करते, अर्थात् अनुभव सिद्ध व्रज की महिमा को युक्तियों द्वारा नहीं समझाना चाहते। अतएव विशेष विस्तार से कोई प्रयोजन नहीं है ॥६४॥

पश्चात् स्निग्धकण्ठ बोला—भैयाजी ! वहाँ पर श्रीमान् व्रजयुवराज ने क्या कहा ? मधुकण्ठ मुस्क्याकर बोला—कुछ नहीं। किन्तु वहाँ पर स्तुति के समय—॥६५॥

'गोविन्दः स्मितमतनोत् स्तुवानमेनं, दृष्ट्वा यत् किमपि ददर्श तत्र चित्रम् ।
एकस्मिन् वदति चतुर्मुखे हि तस्मि,-श्चत्वारो दधति स्तोरिति भ्रमः स्यात् ॥६६॥

"स्तुत्युत्तरकालतस्तु,—

वयं गोपाश्चार्थवन्तो ब्रह्मा च त्वमनर्थवान् ।
ब्रूमस्त्वां किमितीवायमवदन् स्मितमातनोत् ॥"६७॥

"स्निग्धकण्ठ उवाच,—"परिसेधत्यपि वेधसि किं किञ्चिदप्युक्तम् ?"६८॥

मधुकण्ठ उवाच,—"स्तव-पर्यवसाने खलु निजरूपरूपतया सर्वपर्याप्तिमद्भिरपि पश्चादाविर्भूतवद्भिर्बालादिभिः परितोषपोषममन्यमानः स धन्यः स्वजनप्रेमजितः श्रीमानजितस्तान् व्रजबालादीनेवानेतुं यदा वाञ्छामानश्च, तदाञ्जलिबन्धव्यञ्जितां संज्ञामनु समनुज्ञां याचमानं विरिञ्चिं खल्वेवं लम्भिततदुपालम्भनर्मस्मितमनुज्ञापयामास,—'यदि तत्रभवतामाज्ञा विज्ञायते, तदा तान् पूर्वमेवानुसंहितान् संनिहितानानयामि' इति ॥६९॥

"ततश्च विरिञ्चिः किञ्चिन्नम्रनिटिलताघटितमुनिव्रतसुनिरूपितनिज-दुर्नीतितयानुज्ञायाः कर्मकर्तृत्वं व्यक्तीकुर्वन् भक्तिभरासक्तिपृक्तीकृतपुलकसंकुलतया स्वापराधमयबाधाव्याकुलतया च त्रिः परिक्रम्य बहुशः प्रणम्य च निजहर्म्यमेव जगाम ॥७०॥

स्तुति करते हुए ब्रह्मा को देखकर श्रीकृष्ण मुस्क्याने लग गये, क्योंकि वहाँ पर उन्होंने कोई एक आश्चर्य देखा कि, जब वे अकेले ब्रह्माजी ही स्पष्टरूपेण स्तुति को बोल रहे थे, तब मानों चार जन बोल रहे है, ऐसा भ्रम होता था ॥६६॥

स्तुति के अनन्तर तो "हम गोप हैं, तो भी तात्पर्य जानते हैं। तुम ब्रह्मा होकर भी श्रीकृष्ण के अभिप्राय को नहीं जानते, अथवा हम गोप होकर भी धनी हैं, तुम ब्रह्मा होकर भी निर्धन हो, अतः हम तुमको क्या कहें ?" इन बातों को न कहते हुए, श्रीकृष्ण मन्दमुस्क्यान करने लग गये ॥६७॥

स्निग्धकण्ठ बोला—ब्रह्माजी के चलते समय भी श्रीकृष्ण ने कुछ कहा क्या ? ॥६८॥

मधुकण्ठ बोला—स्तुति की समाप्ति हो जाने पर तो निश्चय ही निज अनुरूप रूप धारण करने के कारण, सब प्रकार की यथेष्टता से युक्त होने पर भी, पीछे प्रकट किये हुए बाल वत्स आदिकों से पूर्ण सन्तोष को न मानते हुए, अतएव धन्यवाद के योग्य, निजजनों के प्रेम के वशीभूत, श्रीमान् अजेय श्रीकृष्ण ने, उन्हीं पहले व्रज के बाल वत्स आदिकों को लाने की जब इच्छा की, तब ब्रह्माजी ने हाथ जोड़कर अधीनतापूर्वक श्रीकृष्ण से अनुमति माँगी। ब्रह्माजी की इस प्रकार की स्तुति से श्रीकृष्ण ने कौतुक सहित मृदु हास्य करते हुए उनको अनुज्ञापन किया कि—आप विशिष्ट सम्मान के पात्र हैं। अतः यदि आपकी आज्ञा जान ली जाय तो, जिनका अनुसन्धान मैंने पहले ही कर लिया है, उन पहले बाल वत्स आदिकों को अपने पास ले आऊँ ॥६९॥

तदनन्तर ब्रह्माजी किंचित् नीचा मस्तक करने से हुआ जो मौन, उस स्वीकृति रूप मौन व्रत से, अपनी दुर्नीति को भली प्रकार निर्धारित करते हुए, एवं अनुज्ञा के सम्बन्ध में कर्मकर्तृत्व को व्यक्त करते हुए (अत्यन्त सरलता पूर्वक हो जाने के कारण जो किया जानेवाला कर्म, यदि स्वतः सिद्ध होता दिखाई दे, तब वह कर्मकर्ता कहलाता है। अतः ब्रह्माजी इसी भाव को प्रकाशित करते हैं कि, हे प्रभो! आपकी आज्ञा स्वतः सिद्ध है, अतः मैं उसको देकर कर्म नहीं बनाना चाहता। इसी का नाम कर्म को कर्तृत्व व्यक्त करना

"श्रीकृष्णश्च मनसि तस्यापराधं मनागप्यनागमयन्नागमयमानः प्राग्दिष्टसदिष्टदेश-वेश-क्रियानतिक्रमिक्रमतयावस्थितांस्तान् वत्सांस्तत्सदृगवस्थैर्वत्सपालैर्मेलयामास ॥७१॥

"तथैव हि तेषां कालदेशविपर्ययाऽपर्यालोचनाय द्रुहिणदेवेन स्नेहदेहन्यनवद्यविद्येय-मुद्भाविता ॥७२॥

"एतदेवोक्तम्, (भा० १०।१४।४२)—

'ततोऽनुज्ञाप्य भगवान् स्वभुवं प्रागवस्थितान् ।
वत्सान् पुलिनमानिन्ये यथापूर्वसखं स्वकम् ॥' इति ॥७३॥

"अथ ते (भा० १०।१४।४५)—

'ऊचुश्च सुहृदः कृष्णं स्वागतं तेऽतिरंहसा ।
नैकोऽप्यभोजि कवल एहीतः साधु भुज्यताम् ॥' इति ॥७४॥

(भा० १०।१४।४६)—

'ततो हसन् हृषीकेशोऽभ्यवहृत्य सहार्भकैः । दर्शयंश्चर्माजगरं न्यवर्तत वनाद् व्रजम् ॥'७५॥

"चर्म चेदमेतावन्तं समयं यथावदेव योगमाययान्तर्धापितमिति गम्यम् ॥७६॥

है), और अतिशय भक्ति में आसक्ति के सम्मेलन से, उत्पन्न हुई पुलकावली से व्याप्त होने के कारण, एवं निज अपराधमयी बाधा की व्याकुलता से, तीन परिक्रमा करके, तथा अनेक बार प्रणाम करके अपने घर को ही चले गये ॥७०॥

श्रीकृष्णचन्द्र ने भी अपने मन में ब्रह्माजी के अपराध को किंचिद् भी न लाते हुए विलम्ब के कारण उनको अपने भवन की ओर भेजकर, पहले कहे गये काल, देश, वेश, भूषा आदि का अतिक्रमण न करके, पहली अवस्था में स्थित उन चरते हुए वत्सों को, उनकी समान अवस्थावाले वत्सपालों से मिला दिया ॥७१॥

और उसी प्रकार देश काल की विपरीतता की विवेचना न करने के लिये, ब्रह्माजी ने यह स्नेह बढ़ानेवाली अनिन्दित विद्या प्रगट की थी ॥७२॥

यही बात श्रीमद्भागवत में भी कही है कि—भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्माजी को ब्रह्मभवन जाने को अनुमति देकर, पश्चात् पहले की भाँति जिस पुलिन पर अपने सखा बैठे हैं, उसी पुलिन पर, पूर्वस्थित चरते हुए बछड़ाओं को ले आये ॥७३॥

तदनन्तर उन मित्रों ने भी मित्रवर्य श्रीकृष्ण से वेगपूर्वक कहा कि—हे भैया ! कृष्ण ! बछड़ाओं को लेकर आप बड़े शीघ्र ही चले आये। देखो ! हम सबने एक ग्रास भी नहीं खाया है। अतः इधर आइये, अच्छी प्रकार भोजन कीजिये ॥७४॥

उसके बाद हृषीकेश भगवान् हँसते हँसते बालकों के साथ भोजन कर, उस अजगर के चमड़े को दिखाते हुये, वन से व्रज को लौट आये ॥७५॥

और इस अजगर के चमड़े को इतने समय तक, अर्थात् सालभर तक, योगमाया ने उसी प्रकार गुप्त कर दिया, यही जानना चाहिये ॥७६॥

"ततश्च संवत्सरप्रसर-वत्सवत्सपालबालविरहविरहान्महतानन्देन महितस्तैरेव सहितः संहितसम्पद्व्रजं व्रजं प्रविशन् तत्तदुन्मर्याद-वत्सपरावर्तनाय निदिशन् पूर्वपूर्वतोऽप्यपूर्वं पर्व पर्वति स्म ॥७७॥

"तथा ह्युक्तम्, (भा० १०।१४।४७)--

'बर्ह-प्रसून-वनधातु-विचित्रिताङ्गः, प्रोद्दाम-वेणु-दल-शृङ्गरवोत्सवाढ्यः ।
वत्सान् गृणन्ननुगगीतपवित्रकीर्ति,-र्गोपीदृगुत्सवदृशिः प्रविवेश गोष्ठम् ॥'७८॥

"ततश्च पितृ-सम्बन्धिभिर्नन्दसूनुरिति, मातृ-सम्बन्धिभिर्यशोदासूनुरिति, तस्य नामानूद्य सद्य एव सिद्धमिति चिरन्तनमपि तच्चरितं जगे; ॥७९॥

"तद्यथा---'नन्द-तनूजनुरद्य व्यालम् । हतवान् हृतवानस्मत्कालम् ॥इति ध्रु॥
अद्य यशोदा-सूनुर्व्यालम् । हतवान् हृतवानस्मत्कालम् ॥इति वा॥
ओष्ठाधरमिह जलदतटालिः । दन्तावलिरपि दन्तकपालिः ॥
श्वासभरः खरदावजवातः । जिह्वायुगमपि वर्त्मनिपातः ॥
इत्युत्प्रेक्षिततमविविधाङ्गान् । व्यतिहासानाचरतः साङ्गान् ॥
अहिमन्वहितां कल्पयमानान् । गिरिरिति तं विशतः कृतमानान् ॥
तदुदरमध्यकृताभ्यनुवेशान् । निजविरहादि-विमूर्च्छितवेशान् ॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण ने सालभर तक होने वाले वत्स एवं ग्वालबालों के विरह से मुक्त होने के कारण, महान् आनन्द से पूजित होकर, उन्हीं सबके साथ अनन्तसम्पत्तिसम्पन्न व्रज में प्रवेश करते हुए, मार्ग से इधर उधर हो जाने वाले बछड़ाओं को लौटाने के लिये आदेश देते हुए, पहले पहले की अपेक्षा भी अपूर्व उत्सव की पूर्ति कर दी ॥७७॥

श्रीमद्भागवत में भी कहा है कि—गोपियों के नेत्रों के लिये उत्सवरूप है दर्शन जिनका, ऐसे श्रीकृष्ण जब व्रज में प्रविष्ट हुए, तब उनके अङ्ग मयूरपिच्छ, पुष्प एवं अनेक रंग की वनधातुओं से विशेष चित्रित थे, एवं उत्कृष्ट वेणु, दल (पत्ते की पीपनी) शृङ्ग आदिकों के सुमधुर शब्दों से जायमान उत्सव से वे युक्त थे, वत्सगणों को पुकार रहे थे, अनुगामी मित्रगण उनकी पवित्र कीर्ति का गायन कर रहे थे ॥७८॥

तदनन्तर पितृसम्बन्ध वाले व्यक्तियों ने 'नन्दकुमार' एवं माता से सम्बन्ध रखनेवाले व्यक्तियों ने 'यशोदानन्दन' इस प्रकार के उनके नामों का उच्चारणकर, सालभर पहले किये हुए भी, श्रीकृष्ण के चरित्र को तत्क्षण किये हुए की तरह गायन किया ॥७९॥

उनके गायन का अर्थ इस प्रकार है—आज नन्दकुमार ने उस सर्प को मार दिया, और हमारे काल को हर लिया। अथवा आज यशोदानन्दन ने उस सर्प को मार दिया, हमारे काल को हर लिया। उस सर्प के ओष्ठ एवं अधर मानों मेघाम्बर श्रेणी थे, दन्तपंक्ति भी पर्वतों की शिखरपंक्ति जैसी थी। उसके समस्त श्वास तीक्ष्ण दावानल से उत्पन्न वायु के समान थे, एवं दोनों जिह्वा भी मार्ग के समान थीं। इस प्रकार सम्पूर्ण रूप से प्रत्येक अङ्गों की उत्प्रेक्षा की है जिन्होंने, एवं सम्पूर्णरूप से परस्पर हास्य करने वाले, एवं जो सर्प का लक्ष्य करके सर्पभाव की कल्पना करने वाले, तथा जो पर्वत समझकर उसके मध्य में प्रवेश करने वाले हैं, और जिन्होंने उस सर्प के उदर में प्रवेश किया है, निज विरह से एवं उदर में प्रवेश करने से जो मूर्च्छितप्राय हो गये थे, तथा जो अपने स्नेह की अधिकता से युक्त हैं, एवं अपनी

स्नेहभरेण स्वेन समेतान् । स्वकनेत्रामृतवृष्टिसचेतान् ॥
तस्माद्बहिरथ निष्कासितवान् । पुनरिह निखिलं बत दर्शितवान् ॥
प्राणादधिकः सोऽयं प्राणात् । रक्षन्नस्मान् कुरुते त्राणात् ॥'८०॥

"इति श्रुत्वा च ते व्रजस्थाश्चिन्तयामासुः,—'साधु घातुकानां पातुकानाममीषां कथमिव जातु कामाः सिध्येयुः' इति ॥८१॥

"तदेवं सिद्धे सुखानुविद्धे तेषां समे समागमे प्रातस्तु बृहद्भ्रातरमनुगम्य प्रणयमय-रम्यरोषमनुनीय दीयमानविस्मयतया तानानीय तेन चैकत्र प्रणीय श्रीवत्सवत्सः पूर्ववदेव वत्सपालनमारेभे ।" ॥८२॥

अथ पुनर्मधुकण्ठः समापनाय सविस्मयमिवाह स्म,—
"ईदृशस्तनयो जातस्तव गोष्ठाधिनायक !
ब्रह्माण्डग्रामणीर्यस्य ब्रह्मापि ग्रामणीरिव ॥"८३॥

तदेवं कथकयोः कथां प्रथयित्वा सभ्येषु साक्षादिव कलिततत्तत्केलिसन्धयोः कृताञ्जलि-बन्धयोस्तद्दिनेऽपि पूर्ववदेव सर्वे गृहवर्त्मनि वर्तमाना निज-निज-स्पृहणीयं कर्म निर्मिमाणा अपि तामेव लीलां बृंहितां हृदि जगृहिरे ॥८४॥

॥ इति श्रीश्रीगोपालचम्पूमन्वघ-ब्रह्माघमोचनं नामैकादशं पूरणम् ॥११॥

नेत्ररूपी अमृत की वृष्टि से जिनको सचेत किया है, और उसके उदर से बाहर जिनको निकाला है, एवं दुबारा जिनको इस समस्त व्रज को दिखाया है, इस प्रकार के हम सब ग्वालबालों को जो प्राणों से भी अधिक प्यारे हैं, वे श्रीकृष्ण हमारे प्राणों की रक्षा करते हुए सदैव हमें बचाते रहते हैं ॥८०॥

इस प्रकार की बातें सुनकर व्रजवासीजनों ने विचार किया कि—साधुजनों के हत्यारे, पतनशील, इन राक्षसों के मनोरथ भी कभी किसी प्रकार सिद्ध हो सकते हैं ? अपितु नहीं ॥८१॥

इस प्रकार सुख से परिपूर्ण उनके सम्पूर्ण समागम के सिद्ध हो जाने पर, श्रीवत्सलांछन श्रीकृष्ण ने प्रातःकाल बड़े भैया श्रीबलदेवजी के पास जाकर, प्रणयमय रमणीय रोष को प्रकाशित कर, एवं आश्चर्य देने के कारण उन ग्वालबालों को लिवाकर, और उन श्रीबलदेवजी के साथ एक स्थान पर सम्मेलन करके, पहले की तरह वत्सपालन आरम्भ कर दिया ॥८२॥

पश्चात् मधुकण्ठ कथा समाप्त करने के लिये आश्चर्य से युक्त की तरह पुनः बोला—हे गोष्ठ के अधिनायक ! आपके ऐसा पुत्र उत्पन्न हुआ है कि, जिसकी सेवा में ब्रह्माण्ड संचालक महोदय ब्रह्मा भी, नापित की तरह उपस्थित होकर कार्य करते हैं ॥८३॥

इस प्रकार कथा को विस्तृत करके, सभ्यजनों में साक्षात् की तरह, जिन्होंने उन उन लीलाओं की स्थिति को दिखाया है, ऐसे दोनों कथावाचक हाथ जोड़कर जब खड़े हो गये, तब उस दिन भी पहले दिन की तरह, सभी श्रोता अपने अपने घर के मार्ग में वर्तमान होकर अपने अपने अभिलषित कार्यों को करते हुए भी, हृदय में उस दिन की सुनी हुई उसी विशाल ब्रह्ममोहनलीला को धारण करते रहे, अर्थात् स्मरण करते रहे (यही सच्चे श्रोताओं का लक्षण है) ॥८४॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीगोपालचम्पूकाव्ये अघासुरवधब्रह्माऽघमोचनं नाम
एकादशं पूरणं संपूर्णम् ॥११॥

अथ द्वादशं पूरणम्

गोचारणम्

अथ परेद्यवि च कथा प्रथते स्म। यथा स्निग्धकण्ठ उवाच,—"यद्यपि (भा० १०।८।२६) 'कालेनाल्पेन' इत्यादिरीत्या वर्षत्रय-त्रय-पर्ययेण तयोर्वयोगणना निर्णीता, तथापि कौमारं तु वर्षमेकमधिकमधिरूढम्। बालवत्सानां श्रीवत्सवत्सस्य च मिथो वत्सरविरहमयानुल्लासेन व्यतीतक्षणमयसंवत्सरकालबालवत्सानुरोधेन वा तस्य स्तब्धीभावात्। ततस्तद्भावानुगामितया रामस्य च तथा वृत्तं सुतरामेव वृत्तम्। तदनन्तरमखण्डं पौगण्डं तु वर्षद्वयेनैवापूर्यत, चिराल्लब्धबन्धुसंवासेन सम्यगुल्लासेन झटिति कैशोरघटनात्। तथा च प्रथां करवाम धेनुकवधावमधामगमनान्ते। तदेवमेव सङ्गच्छते 'कालेनाल्पेन' इत्यादि; (भा० १०।१३।४०)—॥१॥

'तावदेत्यात्मभूरात्ममानेन त्रुट्यनेहसा। पुरोवदाब्दं क्रीडन्तं ददृशे सकलं हरिम् ॥' इति; (भा० १०।१५।१) 'ततश्च पौगण्डवयःश्रितौ' इत्यादि च ॥२॥

अथ प्रकृतमनुसरामः,—"तदेवं विहरतोः सर्वेषां मनोहरतोरनयोः पञ्चमं वर्षमाश्वत् कौमारतः पारभूतं वयः समयाञ्चक्रे ॥३॥

बारहवाँ पूरण

गोचारण लीला

ब्रह्ममोहनलीला के अनंतर दूसरे दिन भी कथा प्रारंभ होगई। यथा, स्निग्धकण्ठ बोला—यद्यपि 'कालेनाल्पेन' इत्यादि भागवती रीति के अनुसार श्रीकृष्ण बलदेव की अवस्था की गणना तीन तीन वर्ष के अतिक्रमण के क्रम से निर्णीत की गई है, अर्थात् व्रज में तीन वर्ष की कुमारावस्था, उसके बाद तीन वर्ष की पौगण्डावस्था, एवं तीन वर्ष की किशोरावस्था मानीगई है, तथापि कुमारावस्था तो एक वर्ष अधिक चढ़गई। बालक, वत्सगण एवं श्रीकृष्ण के सालभर परस्पर विरहमय अनुल्लास के कारण, अथवा व्यतीत होगया क्षण की तरह सालभर जिनका, ऐसे बालक एवं वत्सगण के अनुरोध से कौमार अवस्था की स्थिरता हो गई। इसीलिये श्रीकृष्ण के भावानुगामी होने के कारण, श्रीबलरामजी का चरित्र भी, सुतरां उसी प्रकार संघटित हो गया, अर्थात् उनकी भी कुमारावस्था स्थिर हो गई थी। तदनन्तर अखण्ड पौगण्ड अवस्था तो दो ही वर्ष से पूरी हो गई। क्योंकि चिरकाल से मिला जो बन्धुओं का सहवास, उससे अच्छी प्रकार उत्पन्न उल्लास के कारण, शीघ्र ही किशोरावस्था की घटना घट गई। देखो! धेनुकासुर वध के अनन्तर श्रीकृष्ण जब घर आ जायेंगे, तब हम इस रीति का वर्णन कर सकेंगे। अतएव इस समय 'कालेनाल्पेन' अर्थात् "अल्प समय" इत्यादि वाक्य संगत हो सकता है ॥१॥

उसी प्रकार ब्रह्माजी ने अपने परिमाण से, अर्थात् ब्रह्मलोक के मान से त्रुटिमात्रकाल से आकर, गोपबालक एवं बछड़ों के सहित अथवा चौसठ कला परिपूर्ण श्रीहरि को पहले की तरह सालभर क्रीड़ा करते देखा। उसके बाद दोनों भाइयों ने पौगण्ड अवस्था का आश्रय लिया ॥२॥

अब हम प्रकृत, अर्थात् जो कथा पहले से चल रही है, उसका अनुसरण करते हैं। इस प्रकार विहार करते हुए एवं सबका मन हरण करते हुए, श्रीकृष्ण बलदेव का पांचवाँ वर्ष आ गया, कुमारावस्था के पीछे रहनेवाली पौगण्ड अवस्था आ गई ॥३॥

यथा—ऐषमोऽभवदसौ परुत्परा,-र्येवमादिनिखिलैर्यदागणि ।
हन्त तर्हि सहसा बकान्तकः, प्राप्तकान्ति विजहौ कुमारताम् ॥४॥

उद्गच्छद्बुद्धिशक्तिप्रथम-रुचिजयिश्यामता-शुभ्रतायुक्
किञ्चिद्विस्तीर्णवक्षःप्रभृतिवलयितायामनेत्रादिगात्रम् ।
केशं वेशं च पूर्वादधिकमितिमयत्केलिशिक्षाप्रवीणं
पौगण्डं प्रागचण्डं स्फुरदलमनयोर्मां दिदृक्षुं करोति ॥५॥

"तदा च कदाचिच्छ्रीव्रजराज्ञी सभान्तः प्रातरायाता श्रीमदभिनन्द-पत्नी सयत्नीभवन्ती तां पप्रच्छ,—'यातः ! कृष्णमातरद्य सद्यः प्रातरेव कुत्र वा भवज्जातः प्रयातः ?' ॥६॥

"व्रजराज्ञी तु सहासमाह स्म,—'हन्त ! तदेतद्वर्तमानसमयपर्यन्तं तस्योद्वर्तनस्नान-परिधानमयानि कर्माणि मया निर्मीयन्ते स्म । सम्प्रति मदपि लज्जामासज्जन् स्वकसवयः-सेवकप्रियः पृथगेव कृततत्तत्क्रियः स मा समया समायाति । आगत्य च प्रत्यहं मां पितरं यथायथमितरं च गुरुजनं पुरुगौरवं नमस्कारेण पुरस्करोति ॥७॥

"किञ्च तदवधि यदा सन्ध्यायां मया ध्यायमानागमनः सहवत्सः समागच्छति,तदा तदुपरि

यथा—सभी व्रजवासियों ने श्रीकृष्ण के विषय में "यह श्रीकृष्ण इस वर्ष में उत्पन्न हुआ है, परसाल में, परियार साल में हुआ है, इत्यादि रूप से जब गिनती की, तब तो बकान्तक श्रीहरि ने शोभा को प्राप्त होकर, कुमार अवस्था को त्याग दिया ॥४॥

श्रीकृष्ण बलदेव की सेवा में पौगण्ड अवस्था उपस्थित हो गई। इस अवस्था में बुद्धि शक्ति प्रकाश पाने लग गई। श्रीकृष्ण को श्यामता एवं श्रीबलदेव को शुभ्रता, कुमार अवस्था की कान्ति को जीतकर आ मिली। वक्षःस्थल आदि किंचिद् विस्तीर्ण हो गये, एवं नेत्र आदि गात्र के अन्य अवयव लम्बाई से युक्त होने लग गये। केश एवं वेश पहले की अपेक्षा अधिक प्रमाण में बढ़ने लग गये। इस अवस्था में दोनों ही क्रीड़ाशिक्षा में कुशल हो चले। अतः कुमारावस्था की अपेक्षा अधिक कोमलतायुक्त, एवं अच्छी प्रकार प्रकाश पाने वाली पौगण्ड अवस्था, मुझको श्रीकृष्ण बलदेव के दर्शनों का इच्छुक बना रही है ॥५॥

उस समय किसी दिन श्रीमती व्रजेश्वरी प्रातःकाल ही सभा में आ गई। श्रीमान् अभिनन्द की पत्नी ने सावधान होकर उनको पूछा कि—हे देवरानी ! हे कृष्ण जननि ! आज तुम्हारा लाला प्रातःकाल से ही शीघ्रतापूर्वक कहाँ चला गया ? ॥६॥

श्रीव्रजरानी तो हास्यपूर्वक बोलीं—अहह ! अरी ! देख, आज तक तो उस लाला कन्हैया के तैलमर्दन, उबटना लगाना, स्नान कराना, वस्त्र पहनाना आदि सभी कार्य मैं ही किया करती थी। किन्तु इस समय तो मुझसे भी लज्जा मानकर, अपने समवयस्क सेवकों का प्यारा होकर, अलग ही उन पूर्वोक्त कार्यों को करके वह बीच बीच में मेरे पास आ जाता है। और आकर प्रतिदिन मुझको, अपने पिताजी को, एवं यथायोग्य अन्य गुरुजनों को अधिक गौरवपूर्वक नमस्कार से सम्मानित करता है ॥७॥

किंच अघासुरवध के दिन से लेकर, सायंकाल में जब मैं उसके आने का ध्यान करती हूँ, एवं वह वत्सगण सहित जब आ जाता है, तब उसके ऊपर तीन बार पानी घुमाकर, उसी जल को पीकर, जीवित

वारि वारत्रयं भ्रमयित्वा पिबन्ती जीवन्ती भवामि स्म । सम्प्रति तु सशपथमेधमानयत्नवता तत्प्रतिषेधता तेन मम हस्तौ विहस्तौ क्रियेते । एवमेव रौहिणेयश्चेति ॥८॥

"तदेतदर्वाचीनं तद्वर्णनमपूर्वतयाकर्ण्य तन्मुखं निर्वर्ण्य सर्वा हसन्ति स्म ॥९॥

"सा पुनरुवाच,—'तदेतदबाल्यमिव च तस्यासमयमयत्वाद्बाल्यमेव मत्वा सुखमुपलभामहे, अनेन तु दुःखाक्रियामहे ।' ॥१०॥

"सर्वाः साशङ्कमूचुः—'हन्त ! किं तत् ?' सा प्राह,—'स्वयमचिरादेव गवां विचारमन्तरा विचारयिषितं यत् ।' सर्वा ऊचुः,—'नात्राप्यन्यथा मन्यस्व । गोपकुलतिलकायमानबालकानां स एष एव स्वभावः सर्वत्र नाभावमासीदति; किमुत तेष्वपि परमचित्रचरित्रस्य तस्य ।' इति ॥११॥

"अथ व्रजराजस्य सदस्यपि तस्य वृत्तमिदं वृत्तमासीत् । यथाह स्म सस्मितं समासन्नौ सन्नन्दनन्दनौ नन्दितसमाजः श्रीमन्नन्दराजः,—'भो ! आयुष्मन्तावद्य जात इव युष्मद्भ्रातृजातः स यथा सम्प्रति युवां प्रति वर्तते, न तथा मामिति लक्ष्यते । यतः किञ्चित्संकुचितविलोचनेन मामवलोचन्नालोच्यते । युवाभ्यां सह तु मधुरवार्तां वर्तयन्नेव दृश्यते ।' ॥१२॥

हो जाती हूँ । किन्तु आज कल तो शपथपूर्वक बढ़ते हुए यत्न से युक्त होकर, इस कार्य को निषेध करता हुआ, वह मेरे दोनों हाथों को कार्य करने में असमर्थ बना रहा है । रोहिणीनन्दन भी इसी प्रकार करता है । श्रीयशोदाजी के इस नवीन वर्णन को अपूर्वतापूर्वक सुनकर, उनके मुख को देखकर, सभी हँसने लग जाती हैं ॥८-९॥

श्रीयशोदाजी पुनः बोली—अशैशव की तरह इस पौगण्ड को असमय में उत्पन्न होने के कारण, उसके बालकपन को ही मानकर हम सुखी हो जाते हैं, किन्तु यह श्रीकृष्ण तो हमको दुःखित करता है ॥१०॥

सभी आशंकापूर्वक बोलीं—हाय ! वह किस प्रकार ? श्रीयशोदा बोली—उसने हमारे विचार के बिना स्वयं शीघ्र ही, गोचारण की इच्छा कर ली है । बस, यही दुःखद है । सभी स्त्रियाँ बोलीं—आप इस विषय में अन्य प्रकार की आशंका न करें । क्योंकि गोपकुल के भूषणस्वरूप बालकों का यही स्वभाव सभी स्थानों पर गोचारण के अभाव को नहीं प्राप्त करता । उन गोप बालकों में भी परम विचित्र चरित्रवाले श्रीकृष्ण के विषय में तो फिर कहना ही क्या है ? ॥११॥

तदनन्तर श्रीव्रजराज की सभा में भी श्रीकृष्ण का यह चरित्र इस प्रकार संघटित हुआ । देखो ! सभ्य समाज के आनन्ददाता श्रीमान् नन्दरायजी अपने पास में बैठे हुए मुस्क्याते हुए सन्नन्द एवं नन्दन नामक अपने छोटे भाइयों को इस प्रकार बोले—हे चिरंजीवी दोनों भ्राताओ ! आज पैदा हुए बालक जैसा, वह तुम्हारे भैया का बेटा श्रीकृष्ण, इस समय तुम दोनों चाचाओं के प्रति जैसा व्यवहार करता है, वैसा मेरे प्रति नहीं करता, ऐसा प्रतीत होता है । क्योंकि कुछ संकुचित नेत्र से ही मुझको देखता हुआ दिखाई पड़ता है । किन्तु तुम दोनों के साथ तो मीठी मीठी बातें करता हुआ दिखाई देता है ॥१२॥

"सन्नन्द उवाच,—'साम्प्रतमेवेदम्; यतः साम्प्रतं तत्रभवता तत्र शिक्षामयवीक्षा गाम्भीर्यमाचर्यते। आवाभ्यां तु कौमारकालीनेऽपि तस्मिन्नतिशालीने विधेयतया पर्यालोचितुं न पार्यते।' ॥१३॥

"पश्य पश्य,—

प्रथमं नममिह मातर,-मथ पितरं त्वां तथैवास्मान्।
प्रत्यूषः प्रतिसुहृदं, सत् कुरुतेऽसावतीव बाल्येऽपि ॥१४॥

"अथ क्रमागतेषु वत्सलतया समानमतेषु तदाकर्णनार्थमकिञ्चिद्वादिषु श्रीमदुपनन्दाभिनन्दादिषु तद्वर्ण्यमानमन्य-मुखादाकर्ण्य सानन्दविकसितमन्दहसितभ्राजिषु पुनः सन्नन्द-नन्दनौ प्रति श्रीव्रजराज उवाच,—'भवन्तावेकान्तमनुभवन्तावनुगम्य तौ रम्यकातराक्षिप्रान्तावसकृत्-प्रातरारभ्य प्रार्थितवन्ताविव ह्यः पूर्वेऽह्नि समन्ताद्भ्रातरावतिदूरादद्दक्षाताम्; तत् किमुच्यताम्?' ॥१५॥

"नन्दन उवाच,—'तदानीमेवेति किं वक्तव्यम्; किन्तु चिरादेव तयोस्तदभिरुचितमुपचितमस्ति। संकुचितभावाभ्यामावाभ्यां तु भवत्सु न श्रावितम्।' व्रजराज उवाच,—'किं तत्?' सन्नन्दः सस्मितमुवाच,—'स्वयमेव गवां सेवनमिति यत्।' उपनन्द उवाच,—

श्रीसन्नन्दजी बोले—यह उचित ही है। क्योंकि आप पूज्य हैं। इस समय आप श्रीकृष्ण पर सम्पूर्ण शिक्षाओं के देखने के विचार से, गम्भीरता का आचरण करते हैं। हम दोनों तो कुमारावस्था से युक्त होने पर भी, अत्यन्त सभ्य उस श्रीकृष्ण के विषय में, आज्ञाकारीपन का विचार भी नहीं कर पाते ॥१३॥

और देखो! देखो, यह श्रीकृष्ण अत्यन्त बालकपन में भी यहाँ पर प्रथम माता को, पीछे पिता कहकर आपको, एवं उसी प्रकार हम सबको प्रणाम करता है, और प्रतिदिन प्रातःकाल प्रत्येक मित्र का सम्मान करता है ॥१४॥

तदनन्तर वात्सल्यभाव के कारण समान मतवाले, श्रीनन्दजी की बातें सुनने के लिये चुप रहनेवाले, श्रीमान् उपनन्द, अभिनन्द आदिकों के क्रमशः आजाने पर, तथा श्रीनन्द, सन्नन्द आदिकों के संवाद को अन्य किसी के मुख से सुनकर, आनन्द सहित विकसित मन्द हास्य से शोभायमान हो जाने के बाद, श्रीव्रजराज सन्नन्द एवं नन्दन के प्रति पुनः बोले—देखो! आप दोनो भैया किसी रहस्य का अनुभव करते हुए, कृष्ण बलदेव के पीछे-पीछे जाकर, पश्चात् रमणीय एवं कातर नेत्रप्रान्तविशिष्ट उन दोनों भाइयों से प्रातःकाल से बारंबार मानों कुछ प्रार्थना सी कर रहे थे। और गत तृतीय दिन तो चारों ओर अनुसन्धान करके, बहुत दूर पर इन दोनों भ्राताओं को देख सके थे। यह बात सत्य है क्या? इन दोनों के सम्बन्ध में आप दोनों क्या कहना चाहते हैं? सो कहिये ॥१५॥

श्रीनन्दनजी बोले—उस तीसरे दिन की ही बातों को क्या कहें? किन्तु उन दोनों भ्राताओं की उस प्रकार की अभिलाषा तो बहुत समय से बढ़ रही है। संकुचित होने के कारण हम दोनों ने ही आपके प्रति नहीं सुनाई। श्रीव्रजराज बोले—वह क्या है? श्रीसन्नन्द मन्दमुस्क्यानपूर्वक बोले—स्वयं ही गैयाओं की

किमूचतुस्तौ ?' सन्नन्द उवाच,—'आवयोः प्रथमवयोऽतीतयोस्तातचरणानां स्वयं गोचारणमनाचारतामावरति' इति ॥१६॥

"तदेतद्वर्ण्यमानमाकर्ण्य तयोर्मुखं निर्वर्ण्य सविस्मयं तूष्णीम्भूष्णुतया विराजमाने व्रजेशाने सर्वेऽपि तमूचुः,—'यद्यप्यद्य जाताविव सुजातावमू, तथापि क्रमं विना बुद्धिनिष्क्रमस्य बलसंवलनस्य च सद्भावादस्माकं विस्मायकावेव भवतः। इतस्तु न विस्मायकौ भवतस्तपः-प्रभाव एव खल्वेवं भावमावहतीति। न खलु तत्तत्खलानां यत् परिमलनं जातम्, तत्र सहायतानां सहायता काचिदपि परिचिता, तस्मान्मङ्गलमेव सङ्गतं भविष्यति' इति ॥१७॥

"अथ तदा च कदाचिन्निजगृहिण्यापि सह रहसि श्रीव्रजराजस्य स एष प्रस्तावविशेष आसीत्, यत्र च तौ पुत्र-प्रेमयन्त्रिततया तदेतन्मन्त्रितवन्तौ,—'पश्यामः समयविशेषम्' इति ॥१८

"तदा च दिनकतिपयानन्तरं सभायां भासमानायां श्रीव्रजराजस्य वैलक्ष्यमालक्ष्य सर्वेऽनर्वाचीनगोपा मिथो निरीक्ष्य हसन्ति स्म ॥१९॥

"तत्र च श्रीव्रजराजे कथं कथमिति सस्मितमुक्तवति वदन्ति स्म,—'यदस्माभिरकस्माद्-विस्मायनमनुभूतम्, तदेव भवद्भिरपीति सम्भाव्यते।' व्रजराज उवाच,—'कथ्यतां तावत्तथ्यं भवद्भिः।' सर्व ऊचुः,—'यद्यपि चिरत एवेदं चरितम्, तथापि भवतापि गोचरितेन गो-चरिते-

---

सेवा करना, यही अभिलाषा है। श्रीउपनन्दजी बोले—उन दोनों भ्राताओं ने तुमसे क्या कहा है ? श्रीसन्नन्दजी बोले—हम दोनों की प्रथम अवस्था, अर्थात् कुमारावस्था के व्यतीत होने पर, इस समय पूज्यपाद पिताजी का स्वयं गोचारण करना उचित नहीं है ॥१६॥

यह वर्णित वचन सुनकर उन दोनों लालाओं के श्रीमुख को निहार कर, विस्मयपूर्वक श्रीव्रजराज मौनावलम्बी होकर शोभा पाने लगे, तब सभी जन उनको बोले कि—यद्यपि ये दोनों राजकुमार आज पैदा हुए बालकों के समान ही हमारी दृष्टि में हैं, तथापि क्रम के विना बुद्धि का प्रकाश, एवं बल का संयोग रहने के कारण, दोनों ही हमारे विस्मयजनक हैं। पूर्वोक्त बुद्धि विकाश आदि कारणों से ही, ये दोनों दिस्मय-जनक नहीं हैं, अपितु आपकी तपस्या का प्रभाव ही इस प्रकार के बुद्धि विकाश आदि भावों को प्राप्त करा रहा है। और देखो ! उन उन पूतना आदि दुष्टों का जो मर्दन हुआ, उस विषय में अनुकूलताओं की सहायता का कोई भी परिचय नहीं मिलता, अतः मङ्गल ही संगत होगा ॥१७॥

तदनन्तर उसी समय किसी एक दिन, अपनी घरवाली के साथ भी एकान्त में, श्रीव्रजराज का वही प्रस्ताव विशेष हुआ। जिस प्रस्ताव में उन दोनों ने ही पुत्र के प्रेम से यन्त्रित होकर, यह विचार किया कि, अभी तो समय विशेष की प्रतीक्षा करें ॥१८॥

तब कुछ दिनों के बाद देदीप्यमान सभा के बीच में, श्रीव्रजराज की आश्चर्य से युक्त दशा को देखकर, सभी वृद्ध गोप आपस में देखकर हास्य करने लग गये ॥१९॥

वहाँ पर श्रीव्रजराज के क्यों ? क्यों ? इस प्रकार मुस्क्याकर कहने पर सभी बोलने लगे कि—हम लोगों ने अकस्मात् जिस विस्मयजनक प्रसङ्ग का अनुभव किया हे, उसी का आपने भी अनुभव किया है, ऐसा प्रतीत होता है। श्रीव्रजराज बोले—तब तो आप सब सत्य सत्य कह दो। सभी बोले—यद्यपि यह चरित बहुत समय के बाद हुआ है, तथापि आपने भी गोचारण को लक्ष्य कर ऐसा ही किया होगा, क्योंकि

नातीव रचितम्; यत् खलु सर्वं गोजातम्, न तु भवज्जातमन्तरा पदमपि पदः प्रददाति। कथञ्चित्तेनैवाग्रावस्थितेनाद्य ताः प्रस्थापिताः सन्ति।' ॥२०॥

"व्रजराज उवाच,—'तदिदमकस्मात् कथं जातम्?' सर्व ऊचुः,—'भवत्पुत्रः कुत्रचिद्यत्र स्नेहं व्यञ्जयति, तत्र सर्वत्र चैवं दृश्यते।' व्रजराज उवाच,—'तर्हि किमगर्हितमर्हितं स्यात्?' सर्व ऊचुः,—'यत्र गत्यन्तरं नास्ति, तत् खल्वनन्तरमेव विधातुं युक्तम्। यत्तु तत्रभवन्तस्तत्र भीतायन्ते, तत् पुनर्वत्सपालनेऽपि न तुच्छायते; किन्तु भवत्तप एव प्रतपति प्रतीपानिति प्रतीयते। तस्माद्भवताद्भवतामनुज्ञा, या परम्परयापि परम्परमप्यमङ्गलं तारयिष्यति' ॥२१

"अथेदमाकर्ण्य निर्वर्णनत एव ज्ञापितानुज्ञानिजसमाजे श्रीमन्नन्दराजे सर्वानुमतिलब्धानन्दः श्रीमानुपनन्दः प्रथितसमज्ञान् समयज्ञान् जिज्ञासयामास, तैरपि बुधश्रवण-सुखप्रदमङ्गल-श्रवणसङ्गत-बुधश्रवणविशिष्टायामबहुलबाहुलाष्टम्यां बहुलापालनं बहुलमेतदिष्टमित्यादिष्टम् ॥२२

"श्रीमन्नन्दादयश्च सर्वे दुन्दुभिनिर्घोषेण घोषे तस्मिन्निर्विशेषमहस्त्रितयमहमहमिकया महः प्रचारयन्तस्तद्वत्सचारणबृहदुत्सवमप्यतिचरन्तस्तत् समाचरन्ति स्म ॥२३॥

सम्पूर्ण गोवृन्द आपके पुत्र के बिना, घर से बाहर चरने के योग्य भूमि में, एक चरण भर भी आगे चरण नहीं देता, अर्थात् गैयायें एक पैर भी आगे नहीं धरती हैं। आज श्रीकृष्ण ने ही आगे खड़े होकर, जैसे तैसे उन गौओं को वन में भेजा है ॥२०॥

श्रीव्रजराज बोले—यह कार्य अकस्मात् कैसे हुआ ?। सभी बोले—आपका पुत्र जहाँ कहीं भी अपने स्नेह को प्रकाशित करता है, वहाँ सब जगह ऐसी ही दशा देखी जाती है। श्रीव्रजराज बोले—तब क्या अनिन्दित गोचारण ही पूजित होगा? सभी बोले—जहाँ पर प्रकारान्तर नहीं है, वहाँ पर निश्चित रूप से तत्काल उसी कार्य को करना उचित है। और पूज्यपाद आप जो गोचारण में भयभीत हो रहे हैं, वह भय तो वत्सपालन में भी कम नहीं होता, किन्तु श्रीकृष्ण के प्रतिकूल जनों को तो आपका तप ही संतप्त कर देता है, हमें तो यही प्रतीत होता है। अतः आपकी अनुमति हो जानी चाहिये। जो अनुमति परंपरा से भी आगे आने वाले महान् अमङ्गल को नष्ट कर देगी ॥२१॥

तदनन्तर इन बातों को सुनते ही श्रीनन्दरायजी ने दृष्टिमात्र से ही, जब निजसमाज को अनुमति दे दी, तब सबकी अनुमति से आनन्द को प्राप्त हुए श्रीमान् उपनन्दजी ने, विख्यात कीर्तिवाले ज्योतिषी पण्डितों से गोचारण के शुभ मुहूर्त जानने की इच्छा प्रगट की। उन ज्योतिषियों ने भी ऐसा आदेश दिया कि, विद्वानों के कानों को भी सुखदायक है मङ्गल जिससे, ऐसे श्रवण से युक्त जो बुधवार, उसमें जो श्रवण नक्षत्र, उससे विशिष्ट जो कार्तिक शुक्लपक्ष की अष्टमी, उसमें यह गोपालन रूप कार्य अति उत्तम है। तात्पर्यार्थ यह है कि, जिस गोपाष्टमी की कथा का श्रवण विद्वानों को भी मङ्गलप्रद है, ऐसी बुधवार श्रवण नक्षत्र से युक्त गोपाष्टमी को, गोचारण करना बहुत श्रेष्ठ है ॥२२॥

श्रीमान् नन्दादि सभी गोपगण भी दुन्दुभि के शब्दों के सहित, उस व्रज में छोटे बड़े का ध्यान न देकर, परस्पर आत्मश्लाघापूर्वक तीन दिन तक, उत्सव का प्रचार करते हुए, उस वत्सचारण रूप बड़े उत्सव को भी अतिक्रमण करते हुए, केवल श्रीकृष्ण के द्वारा किये गये उस गोचारण महोत्सव को ही मनाते रहे ॥२३॥

"एकस्यैकस्य चेद्वक्तुर्वक्त्राणि स्युः सदाऽयुतम् ।
तदा तद्वक्तुमिच्छन्तु यद्यायुः सर्वदाऽयुतम् ॥२४॥

"दिग्दर्शनं तु यथा—

गोपालोचितनव्यवेषवलनै रक्षाविधानैर्द्विजा-
द्याशीर्भिः सुदिनाहलभ्यरचनैर्व्रज्याहंनीराजनैः ।
संगानान्वितवाद्य-नृत्य-निकरैः शश्वज्जयाद्यारवैः
श्रीमान् गोपमहेन्द्रसूनुरगमद्रामेण धेनूरनु ॥२५॥

"तदनुगतिरीतिरितीव च गन्तव्या । वाद्यगीतमङ्गलपरीतं पुरोधसः पुरोधाय धेनूः सन्निधाय ताश्च पाद्यादिभिरर्चिता विधाय मधुरग्रासैस्तासां समग्राणां तृप्तिमाधाय तासु नतिप्रभृतिभिर्मानमुपधाय पुनश्च प्रदानदक्षिणाभिः पुरोहितादीनक्षीणानन्दान् सन्धाय श्रीमत्पितृचरणादीन् मञ्जुलाञ्जलिवलितमग्रतो निधाय स्थितवति साग्रजे तस्मिन्नवरजे श्रीमांस्तत्पिता व्रजराजस्तावन्मणिमयलकुटीं तत्करे घटयामास । श्रीमती तन्माता च व्रजराज्ञी भाले तिलकं निदधे, निधाय च सा,—॥२६॥

राम ! प्रागस्य पश्चाद्भव सुबल ! युवां श्रीलदामन् ! सुदामन् !
दोः पार्श्वस्थौ भवेतं दिशि विदिशि परे सन्तु चात्मीयबन्धोः ।

एक एक वक्ता के यदि सदैव दशहजार मुख हो जायँ, और यदि उनकी आयु भी सर्वदा दशहजार वर्ष की बनी रहे, तब वे सब वक्ता मिलकर, उस एक दिन के गोचारण के सम्बन्ध में कुछ कहने की इच्छा कर सकते हैं ? ॥२४॥

दिग्दर्शनमात्र वर्णन तो इस प्रकार है, यथा—गोपालों के योग्य नवीन वेश भूषा से सुसज्जित होकर, नृसिंह बीज, एवं रक्षा विधायक औषधादि धारण, और ब्राह्मणादिकों के शुभाशीर्वाद ग्रहणपूर्वक, मङ्गलमय दिवस में आचरित वनगमन के योग्य, माताओं के द्वारा की गई आरति को स्वीकार कर, तथा सुमधुर संगीत से युक्त वाद्य, नृत्य समूह को देख सुनकर, निरन्तर जय जयकार के शब्दों से उपलक्षित होकर, श्रीमान् गोपराजपुत्र श्रीबलरामजी के सहित धेनुगण के पीछे पीछे वन को गये ॥२५॥

गोगण के पीछे पीछे जाने की रीति इस प्रकार समझो, यथा—बाजे गाजे के सहित मङ्गलाचार-पूर्वक पुरोहितों को आगे करके, धेनुओं को पास में लाकर, एवं अर्घ्य, पाद्य आदि से उनकी पूजा करके, मीठे मीठे ग्रासों द्वारा उन सब धेनुओं की तृप्ति करके, प्रणाम, प्रदक्षिणा आदि कार्य द्वारा उनका सम्मान करके, पुनः दान, दक्षिणा आदि के द्वारा पुरोहित आदि पण्डितों को परिपूर्ण आनन्द से युक्त करके, मनोहर अञ्जलि बन्धपूर्वक, अर्थात् हाथ जोड़कर, पूज्यपाद श्रीमान् पिता आदिकों को आगे उपस्थित करके, बड़े भैया के सहित उन छोटे भैया श्रीकृष्ण के खड़े हो जाने पर, उनके पिता श्रीमान् व्रजराज ने उनके हाथ में मणिमुक्ताजटित एक लकुट दे दी । और उनकी माता श्रीमती व्रजरानी ने उनके भाल पर तिलक रचना कर दी । तिलक रचना करके उसने—॥२६॥

श्रीकृष्ण के मित्रों को समझाते हुए कहा कि—हे बेटा ! बलराम ! देखो, तुम आत्मीयजनों के बन्धु इस श्रीकृष्ण के आगे आगे रक्षा के लिये बने रहो । बेटा सुबल ! तुम इसके पीछे पीछे रहो । हे श्रीयुक्त

इत्थं हस्ते विधृत्य प्रतिशिशु दिशती तत्र कृष्णस्य माता
तत्तत्कर्माधिकारश्रियमपि ददती नेत्र-नीरैररिक्त ॥२७॥

"अथ रोहिणीबृंहित-रुचिसम्पदुपनन्द-गृहिणीसंहितमहितमहिलाभिः सहितं यथायथं सङ्गमिते नानामङ्गले भुवि दिवि च महामहवहबहुलकुशल-कुतूहल-कोलाहलमनुमातरं पितरं कांश्चिदन्यांश्च नमस्कृत्य कृतकृत्यतया जिहि-जिहि-कारेणेरिताश्च गावः स्वाभिमुखमेव स्थिता न प्रस्थितवत्य इत्यनुपपत्त्या प्रत्यासन्नान् गुरून् परावर्त्य तासां पुरत एव सबलसखः स प्रस्थितवान् । प्रस्थितवति च तत्र श्यामवर्णे तर्णकाग्रिमतानिर्वर्णनेनेव मन्दं मन्दं गच्छन्तं गावस्तमन्वगच्छन् ॥२८॥

"तदेवं श्रीकृष्णरामावेतावथ स्वानुगमनकमनमनस्कान् जननीजनकप्रधानप्रवयस्कान् जनान् कथंकथमपि ततः पथः श्लथयित्वा स्वात्मानमपि तल्लोचनशृङ्खलाऽऽमोचनान्मोचयित्वा सखिभिरप्यखिलविलम्बिललितैर्नवगोपमहसोपवलितैः सह सहसा हसन्तौ लसन्तौ चाराय मध्ये मध्ये स्तब्धनिखिलगवीकौ लब्धमनोगवीकौ सुवलितचलितं गोवर्धन-दिशमुद्दिश्य चलतः स्म ॥२९॥

दामन् ! सुदामन् ! तुम दोनों, श्रीकृष्ण की दोनों भुजाओं के पास स्थित रहना। और अन्य बालक अन्य दिशा विदिशाओं में बने रहें। इस प्रकार अपने हाथ में पकड़ कर प्रत्येक बालक को आदेश देती हुई, श्रीकृष्ण की माता ने वहाँ पर उस उस कार्य के अधिकार की सम्पत्ति को सोंपते हुए, श्रीकृष्ण को एवं प्रत्येक बालक को अपने नयननीरों से अभिषक्त कर दिया ॥२७॥

तदनन्तर रोहिणी ने बढ़ाई है रुचिरूप सम्पत्ति जिसकी, ऐसी उपनन्द गृहिणी से मिली हुई सम्मानित व्रज महिलाओं के द्वारा, हितपूर्वक यथायोग्य अनेक मङ्गलाचार सम्पन्न हो जाने पर, तथा भूलोक और देवलोक में महामहोत्सव प्रकाशक, अधिक कुशल कुतूहलजनक कोलाहल के पश्चात्, माता पिता को और अन्यान्य कतिपय वृद्धजनों को नमस्कार कर, कृतार्थ होकर, श्रीकृष्ण ने 'जिहि', 'जिहि'कार शब्द से प्रेरित की हुईं भी गैयाँ, जब अपने अभिमुख ही स्थित हो गईं, किन्तु वन के लिये प्रस्थित न हुईं, तब ऐसी अड़चन के कारण निकटवर्ती माता पिता आदि गुरुजनों को लौटाकर, उन गैयाओं के आगे आगे ही, श्रीबलदेवजी एवं सखाओं के सहित प्रस्थान किया। उन श्यामसुन्दर के प्रस्थान कर देने पर, वत्सगणों के आगे चलने को देखने के लिये ही मानों, धीरे धीरे वन को चलते हुए उन श्रीकृष्ण के पीछे पीछे, गैयायें भी चल दीं ॥२८॥

पश्चात् इस प्रकार के नियम से, ये दोनों भैया श्रीकृष्ण बलराम, अपने पीछे पीछे ही चलने की इच्छा से युक्त मनवाले, जननी जनक आदि प्रधान प्रधान वृद्ध व्यक्तियों को, किसी प्रकार अनुनय विनय करके, उस वन के मार्ग से शिथिल बनाकर, अपने को भी उनकी नेत्ररूपी शृंखला के बन्धन से मुक्तकर, नवीन गोप तेज से संयुक्त, सबको स्थगित कर देनेवाले विलासकारी सभी सखाओं के साथ, सहसा हँसते हँसाते शोभा पाते हुए, एवं बीच बीच में चराने के लिये सब धेनुओं को रोककर, अपने मनोरथों को प्राप्तकर, अच्छी प्रकार पदविन्यासपूर्वक श्रीगोवर्धन की दिशा का उद्देश्य करके चल दिये ॥२९॥

"यत्र गावः सङ्केतितस्वरादिविशेषेणैव मिथः सङ्कीर्णा विकीर्णाश्च भवन्ति स्म, न तु दण्डेनोपघातं विशीर्णाः क्रियन्ते स्म। यत्र च सखिषु ताभ्यां सह परस्परं मण्डयन्तेषु नन्दयन्तेषु क्रीडाजनयन्तेषु च परमकौतुकमाविर्भवति स्म ॥३०॥

"तदेतन्निर्वर्ण्य देवैर्वर्णितं यथा—

'प्रत्येकं गाव एता बहिरपि च हरेः प्राणरूपा यदासां
शश्वत्तृप्तौ च तृप्तिं क्षुधि च कलयति क्षुद्विकारं स एषः।
आनीयानीय चैता निज-हृदि विदधद्घ्राणसौख्यं दधानः
श्लिष्यन्नुच्चैर्विविन्वन्नशनमुपददत् पालयन् स्वेन भाति ॥३१॥

उस्राणां प्राणसाम्यं वहति हरिरमूस्तं विना रिक्तवित्ता-
श्चित्रप्रायाः समन्ताद्यदिह वनतति-श्रीनिभा विस्फुरन्ति।
तल्लाभाद्घ्राणदृष्टिश्रवणसरसनस्पर्शयोगाद्बलन्ते
किन्तु स्याच्चित्रमेतद्बहिरुपवलितं तेषु तं स्वादयन्ति ॥३२॥

आहूतं कुरुते हरिः सखिजनं सोऽप्येनमेवं तथा
वक्ति श्लिष्यति जिघ्रति प्रहसति स्कन्धं स्पृशन् कर्षति।

जिस गोचारण में गैयायें 'हियो', 'हीयो' इत्यादि सांकेतिक शब्द विशेष से ही कभी कभी, आपस में संमिलित हो जाती हैं, तथा कभी कभी अलग हो जाती हैं। किन्तु दण्ड के द्वारा ताड़न करके कभी भी अलग नहीं की जातीं। और जहाँ पर सहचरगण, श्रीकृष्ण बलदेव दोनों भ्राताओं के साथ, जब आपस में वन्य पुष्पादिकों से अलंकृत हो, आनन्दित हो, क्रीड़ा करने लग जाते थे, तब परम कौतुक प्रगट हो जाता था ॥३०॥

जिस कौतुक को देखकर देवताओं ने इस प्रकार वर्णन किया है—देखो! ये प्रत्येक गैयाँ श्रीकृष्ण के बहिश्चर प्राणों के तुल्य हैं, कारण—इनके निरन्तर तृप्त हो जाने पर, यह श्रीकृष्ण अपने को तृप्त मानते हैं, एवं इन सबके भूखी रहने पर, अपने को भी निरन्तर भूखे ही समझते हैं। और देखो! इनको अपने पास ला लाकर, अपने हृदय से लगाकर, नासिका के सुख को धारण करते हुए, आलिङ्गन एवं अत्यन्त खोज करते हुए, उनको चारा देते हुए, पालन करते हुए, श्रीकृष्ण स्वयं शोभा पा रहे हैं ॥३१॥

श्रीकृष्णचन्द्र गैयाओं के प्राणों की समानता को धारण करते हैं, अर्थात् श्रीहरि गौओं के प्राणों के समान हैं। क्योंकि ये सब गैयायें श्रीकृष्ण के बिना चित्रलिखी सी होकर, इस वन में चारों ओर वनश्रेणी की शोभा के समान विराजमान दीखती हैं। वे सब श्रीकृष्ण की प्राप्ति से ही, नासिका, नेत्र, कान और जिह्वा के सहित स्पर्श के सम्बन्ध से स्फूर्ति प्राप्त करती हैं। किन्तु यह एक आश्चर्य की बात है कि, वे गैयाएँ घ्राणादि विषय संवलित श्रीकृष्ण को बाहर आस्वादन करती हैं। क्योंकि प्राणों का बाहर रहना, और घ्राणादिकों में आस्वाद्यत्व असम्भव है ॥३२॥

श्रीकृष्ण सखाओं को नाम ले लेकर बड़े प्रेम से बुलाते हैं। सखा भी उसी प्रकार श्रीकृष्ण को बुलाते हैं, उनके साथ मीठी मीठी बातें करते हैं, उनका आलिङ्गन करते हैं, उनके श्रीविग्रह को सूँघते हैं, उनके साथ हँसते हैं, एवं कंधे को छूकर श्रीकृष्ण को खैंचते हैं। इन बातों को तो रहने दो। अरे भाइयो! एक

आस्तां तच्च महाद्भुतं शृणुत भो ! यद्यन्तरं तर्क्यते
नैवात्मा पृथगस्य तस्य च भवेदित्येव विज्ञायते ॥३३॥

वदति सखिसमूहः कृष्णरामावितीदं, क्वचिदपि विनिमाय प्राह तत्तच्च युक्तम् ।
कलयत यदिमावप्यात्मनः स्थान एव, स्फुटमिह विदधाते यन्मिथस्तत्र तत्र ॥३४॥

"अथ तदेवं च स्थिते पूर्वत एव तदीयविमलपरिमल-माधुरीधारानन्दित-विदूरग-वृन्दावनस्थिर-चरजीवावलीभिर्जीवातुतयाजीव्यमानौ सम्प्रति तु सर्वा एव ता देवतापूर्वाः परमापूर्वदर्शनस्पर्शनादिभिर्लब्धपर्वणः कुर्वाते स्म ॥३५॥

"याः खलु सर्वातियायिसुखदायितयान्येषामपि पुण्याय पुण्यफलाय नैपुण्यमासेदुः ॥३६॥

"तत्रैव च सर्वसुखशंसिनी वंशी सर्वमात्मानं च कृतार्थतां प्रापितवती ॥३७॥

"यतः, न तद्वनं यन्न विहारमङ्गलं, नायं विहारः शुभगीतभृन्न यः ।
गीतं न तद्यन्न हि वंशिकाकृतं, वंशी न सा कृष्णमुखानुगा न या ॥३८॥

महान् आश्चर्य को तो सुनो। यद्यपि तुम सब श्रीकृष्ण और श्रीकृष्ण के सखाओं में परस्पर अन्तर का अनुमान लगाते हो, तथापि विचार दृष्टि से तो इन सखाओं की, एवं श्रीकृष्ण की आत्मा पृथक् नहीं हो सकती, यही जाना जाता है ॥३३॥

और देखो ! श्रीकृष्ण के सहचरगण कहीं कहीं "राम-कृष्णौ" इस पद को परिवर्तन कर "कृष्ण-रामौ" इस प्रकार बोल देते हैं। यह दोनों प्रकार से ही उचित है। इसीलिये तुम सब भी इन दोनों भ्राताओं को परमात्मा के स्थान पर ही जानो। अतएव ये दोनों जन इस स्थान पर, परस्पर स्पष्ट रूप से तत्तद् विषय में, इस प्रकार का विधान करते रहते हैं ॥३४॥

इस प्रकार की घटना के अनन्तर पहले से ही श्रीकृष्ण बलदेव की विमल सुगन्धमय माधुरी धारा से आनन्दित होकर, अत्यन्त दूरवर्ती वृन्दावन की स्थावर जंगमात्मक जीवश्रेणी, प्राणों की तरह श्रीकृष्ण बलदेव की सेवा शुश्रूषा करने लग गई। इस प्रकार वृन्दावनस्थ जीवश्रेणी के उपजीव्य (आश्रय) ये दोनों भ्राता, इस गोचारण के समय तो परम अपूर्व दर्शन, स्पर्शनादि द्वारा देवताप्रभृति उस समस्त जीवश्रेणी को, उत्सव युक्त कर देते थे ॥३५॥

जो वृन्दावनस्थ जीवश्रेणी सबकी अपेक्षा अधिक सुखदायिनी होने के कारण, निश्चय ही अन्य जीवों के भी सुन्दर पुण्यमय फल के लिये, निपुणता प्राप्त कर चुकी है ॥३६॥

और उसी वृन्दावन में सर्वसुखदायिनी वंशी, समस्त जीव जन्तुओं को एवं अपने को भी कृतार्थ कर चुकी है ॥३७॥

कारण यह है कि—जो विहारमय मङ्गल से युक्त नहीं, वह वन कहलाने योग्य नहीं। जो विहार शुभ सङ्गीत से परिपुष्ट नहीं, वह विहार के मध्य में गिनने के योग्य नहीं। जो संगीत वंशी के द्वारा निर्मित नहीं, वह संगीत ही नहीं। एवं जो वंशी श्रीकृष्ण के मुखानुगत नहीं, वह वास्तविक वंशी कहलाने योग्य नहीं ॥३८॥

"तद्दिने तु कान्तः सोऽयं वृत्तान्तः कर्णान्तः क्रियताम्,—

उदीर्णमुरलीकलः स्वगुणगातृगोपावृति,-र्बलेन सहितः स्फुरद्विविधमाधुरीविस्तृतिः ।
रसार्द्रमनिशस्मितं तदतिहार्दभाजां गवां, हितं स्वजनचित्तवद्वनमथाविशन्माधवः ॥३९॥

"स च नितान्त-प्रियजन-भानः काननान्तःसारस-रस-गन्ध-सरससुगन्धगन्धवाह-वाहित-नवपल्लवपाणिभिः स्फुरन्मधुरसखितर्तिं मधुपतिमालिङ्गन्नुत्सङ्गसङ्गिनं विधाय स्वानुव्रत-मधुव्रत-खग-मृग-मञ्जुगुञ्जितादिव्यञ्जनया खेलितुमिव प्रोत्साहयामास ।

"ततश्च कौतुकविशेषलम्भनाय व्रजराजतनूजः सस्मितमीक्षमाणः सविस्मयवदुत्प्रेक्ष-माणश्च निजाग्रजं प्रति सादरनर्मगन्धप्रबन्धिवनवर्णनं निर्ममे ॥४०॥

यथा—'नूनं भवान् विश्वपतिर्नमन्ति य,-द्बलिं गृहीत्वा तरवः पदं तव ।
पश्य प्रसूनादिशतेन तन्नत,-प्रबालशाखाशिखया स्पृशन्ति ते ॥४१॥
त्वं राजसे देव वनेऽत्र साम्प्रतं, वयं न पश्याम तथापि तामसाः ।
इतीव चक्षुष्मति जन्मलम्भनं, वृक्षा वृणानाश्चरणं तवाश्रिताः ॥४२॥

किन्तु उस दिन में हुआ वही यह मनोहर वृत्तान्त कर्णगोचर कीजिये । श्रीकृष्णचन्द्र ने मुरली की अस्फुट मधुर ध्वनि का विस्तार कर, निजगुणगायक गोपगणों से परिवेष्टित होकर, श्रीबलदेवजी के सहित सुन्दर अनेक प्रकार के माधुर्य का विस्तार किया । पश्चात् बारंबार मृदु मुस्क्यानपूर्वक, आत्मीयजनों के चित्त की तरह रस से स्निग्ध, एवं स्नेहमयी गैयाओं के परम हितकारक श्रीवृन्दावन में प्रवेश किया ॥३९॥

और नितान्त प्रिय जन की तरह प्रतीयमान उस वन स्वरूप मित्र ने, कमलों की आस्वादन योग्य जो गन्ध, उस सरस सुगन्ध से युक्त जो वायु, उसके द्वारा संचालित नवपल्लवरूप हस्त समूह द्वारा, मधुर सहचरगण विराजित श्रीकृष्ण एवं श्रीबलरामजी को आलिङ्गन करते हुए अपनी गोद में बैठाकर, अपने पीछे पीछे चलनेवाले भ्रमर, पक्षी, एवं मृगादिकों की मनोहर गुंजार आदि की व्यंजना, अर्थात् इशारा करके मानों सभी को खेलने के लिये प्रोत्साहित कर दिया । तदनन्तर उन मित्रों को कौतुक विशेष प्राप्त कराने के लिये, श्रीव्रजराजकुमार मृदुहास्य सहित देखते हुए, एवं विस्मित जन की तरह उत्प्रेक्षा करते हुए, अपने बड़े भैयाजी के प्रति आदरपूर्वक परिहास सम्बन्धीय प्रबन्ध विशिष्ट वन का वर्णन करने लग गये ॥४०॥

यथा—हे दादा भैया ! श्रीबलदेवजी ! आप निश्चय ही विश्व के पति हैं, क्योंकि ये श्रीवृन्दावन के वृक्ष पूजा के योग्य पत्र, पुष्प, फल आदि लेकर, पूजनीय आपके श्रीचरणों को प्रणाम कर रहे हैं । देखो तो सही । ये सब वृक्ष सैकड़ों प्रकार के पुष्पादिकों से, एवं नवीन नवीन पत्र युक्त शाखारूप शिखा के द्वारा, आपके श्रीचरणों को छू रहे हैं ॥४१॥

और श्रीवृन्दावन में जन्म देने पर भी ये वृक्ष आपके लिये क्यों नव रहे हैं ? इसका कारण सुनो । हे देवाधिदेव ! श्रीबलदेव ! आप इस वन में इस समय साक्षात् विराजमान हो, तो भी हम सब तमोगुण से युक्त होने के कारण, आपको नहीं देख पा रहे हैं । इस भाव को प्रकाशित करते हुए, ये वृक्ष आपके श्रीचरणों का आश्रय लेकर वरदान मांगते हैं कि, अबके तो हमारा जन्म नेत्रधारियों के कुल में हो जाय प्रभो ! ॥४२॥

गायन्ति त्वां षट्पदाश्चानुयान्तः, श्रीरोहिण्याः पुत्रमन्तर्हितश्च ।
इत्थं मित्राण्याहुरूहेऽहमेवं, सर्वेशस्त्वं न त्वमी सःमुनीशाः ॥४३॥

सुरम्यं नृत्यन्ति प्रमदशिखिनः स्नेहवलितं
हरिण्यः पश्यन्ति स्फुटमृदुकलं बिभ्रति पिकाः ।
नटा रामाः सूक्तप्रपठनविदः काननसदा-
ममी धन्या यस्माद्विदधति तवारादतिथिताम् ॥४४॥

अंघ्रिस्पर्शैर्धरित्री-गिरि-तृण-सरितस्ते नखश्रेणिलेख-
श्रीमच्चित्रैर्विचित्रद्रुमसमुदयगद्योतवीरुद्विभेदाः ।
स्निग्धेक्षाभिश्च धन्या मृग-विहग-गणा वक्षसः सङ्गलाभा-
देषा तत्रापि गोपीव्रततिरतितरां यत्स्पृहा सापि लक्ष्मीः ॥४५॥

पितृव्यान्मे क्षत्रादवतरणमाप्तः स तु भवान्
पितुर्गोपेशस्यात्मजपदमगाद्धर्मविधिना ।
अतस्त्वं गोपीनां परिणयनमाप्तासि तदियं
लता गोपीनाम्नी तव हृदयलग्ना प्रथयति ॥'४६॥

और श्रीरोहिणीनन्दन के रूप में छिपे हुए भी, आपके पीछे पीछे भ्रमण करने वाले ये भ्रमरगण, आपके यश का गायन करते हैं। मित्रगण तो ऐसा कहते ही हैं, किन्तु मैं भी ऐसा विचार करता हूँ कि, क्या आप सर्वेश्वर नहीं हैं ? अपितु, अवश्य ही हैं। और ये भ्रमरगण क्या श्रेष्ठ मुनीश्वर नहीं हैं ? अपितु, अवश्य हैं ॥४३॥

और देखो ! मत्त मयूरगण मनोहरतापूर्वक नृत्य कर रहे हैं। हरिणियाँ स्नेहपूर्वक आपको देख रही हैं। कोकिलकुल स्पष्टरूप से मृदु मधुरध्वनि कर रहा है। वनवासी जीवों में ये परमधन्य हैं, क्योंकि ये नट की तरह नाचनेवाले मयूर, स्त्रियों की तरह स्नेहभरी दृष्टि से देखने वाली ये हरिणियाँ, एवं पुरुषसूक्त का सा पाठ करनेवाले ये कोकिलगण, निकट आकर आपका आतिथ्य सत्कार कर रहे हैं ॥४४॥

और आपके श्रीचरणों के स्पर्श से पृथिवी, पर्वत, नदी एवं तृणपर्यन्त सभी धन्य हैं। आपके चरणों की नखपंक्ति से लिखा गया जो लेख, उसके द्वारा शोभायमान चित्रावली से परिपूर्ण जो विचित्र वृक्षश्रेणी, उस वृक्षश्रेणी में लिपटी हुई पुष्पादि से प्रकाशयुक्त अनेक प्रकार की लतायें भी धन्य हैं। स्निग्धतापूर्वक देखने के कारण मृग एवं पक्षीगण भी धन्य हैं। इन पूर्वोक्तों में भी यह गोपीव्रतति, अर्थात् शारिवा नाम की जो लता है, श्लेषपक्ष में जो गोपीसमूह है, वह अत्यन्त धन्य है। क्योंकि आपके जिस वक्षःस्थल के लिये वह लक्ष्मी भी ललचाती रहती है। उस अलभ्य वक्षःस्थल के संग का इसको लाभ हो गया है ॥४५॥

एवंगुणगणविशिष्ट आपका अवतार क्षत्रिय कुलोत्पन्न हमारे चाचा श्रीवसुदेवजी से हुआ है, एवं धर्मानुसार तो हमारे पिता गोपेश्वर श्रीनन्दजी के भी, पुत्रपद को आप प्राप्त कर चुके हैं। अतः आप गोपियों के साथ विवाह संस्कार को भी प्राप्त करोगे। क्योंकि इस बात को आपके हृदय पर लगी हुई, यह गोपी नाम की लता विख्यात कर रही है ॥४६॥

"अथाग्रजश्चानुजवाचममृतमिवाचम्य स्मितमाचरन्नुवाच,—'भवादृश एव तादृश-गुणगणभागीश्वरः कथमन्यं तत्र गण्यं करोति ?' इति ॥४७॥

"तदेवमखिलसखिभिः सह हसन्नर्मणा तेषां शर्म स्फुटमुत्तम्भयन् श्रीमद्वृन्दावन-वनशोभामपि स्वमिव तानुपलम्भयन् पशूनपि मानसगङ्गा-रोधांसि लम्भयन् स्वयमप्यय-मतितरां रेमे । तच्च प्रात्यहिकप्रायमेवं प्रथयिष्यामः ॥४८॥ यथा—

रमते रामं परितः कृष्णः । सखिगणगीतगुणेषु सतृष्णः ॥
अनुगायति पिकषट्पद-गानम् । परिजल्पति शुक-हंस-समानम् ॥४९॥
एवं चक्र-चकोर-बकादि । अनुरौति स्फुटहासविवादि ॥
द्वीपिमुखार्पितभीति पशूनाम् । रुतिमिव सृजति भयाय शिशूनाम् ॥५०॥
पक्षि-मृगादिकमहरहरचलम् । विरचितनामभिराह च सकलम् ॥
भ्रमति सखा यदि तस्मिन् कोऽपि । कर्षति विहसन् पणममुतोऽपि ॥५१॥
दूरगपशुमाह्वयति च नाम्ना । कृतगो-गोप-मनोरमसाम्ना ॥
गव्याहूतौ शिखिनां हूतिः । जाता यदसौ घनरुतिभूतिः ॥५२॥

तदनन्तर बड़े भैया श्रीबलदेवजी छोटे भाई की वाणी को अमृत की तरह आचमन करके, मन्द मुस्क्यान करते हुए बोले कि—आप जैसा व्यक्तिविशेष ही,पूर्वोक्त गुणगणों का भागी सर्वेश्वर हो सकता है। वह अन्यजन को उस स्थान पर कैसे गणनीय कर सकता है ? ॥४७॥

इस प्रकार सभी सखाओं के साथ हँसते हुए, लीला द्वारा उन सबके सुख को स्पष्टरूप से उत्तेजित करते हुए, एवं अपनी तरह उन सखाओं को श्रीवृन्दावन की शोभा को भी प्राप्त कराते हुए, पशुओं को मानसगङ्गा के तीर पर ले जाते हुए, श्रीकृष्ण स्वयं भी अतिशय क्रीड़ा करने लग गये। वह क्रीड़न भी प्रायः प्रतिदिन इस प्रकार से होता है। उसका हम स्पष्ट वर्णन करेंगे ॥४८॥

यथा—श्रीकृष्ण बलरामजी के आस पास चारों ओर खेलते रहते हैं। सहचरगण के द्वारा गाये गये अपने गुणों के प्रति वे सुनने की लालसा से युक्त रहते हैं। कोयल और भ्रमरों के गाने को सुनकर, पश्चात् उसी प्रकार गाने लगते हैं। तोता एवं हंस के समान बोली बोलते हैं ॥४९॥

इसी प्रकार चकवा, चकवी, चकोर आदि पक्षियों के समान शब्द करते हैं। वे स्पष्ट हास्य के द्वारा विवादी की तरह शब्द का अनुकरण करते हैं। बालकों को ड़राने के लिये व्याघ्र आदिकों से अर्पित है भीति जिस क्रिया में, अर्थात् व्याघ्र आदिकों से ड़रे हुए पशुओं की तरह शब्द करते हैं ॥५०॥

और वे प्रतिदिन पक्षी, मृग आदि एवं समस्त पर्वतों को नाम धर धर के बुलाते हैं। उस समय यदि कोई सखा भ्रम में पड़ जाता है, तो उससे भी हँस हँसकर पैसा आदि वस्तुओं को खेंच लेते हैं ॥५१॥

वे श्रीकृष्ण समस्त धेनु एवं गोपगणों के मनोहर नाम उच्चारण करके, दूरवर्ती पशु को बुलाते हैं। एवं धेनुसमूह के बुलाते समय मयूरों का बुलाना होगया, क्योंकि श्रीकृष्ण के द्वारा धेनुसमूह के बुलाने में मेघ के शब्द की सी सत्ता या ऐश्वर्य प्रगट हो गया था ॥५२॥

व्यतियुञ्जानो भ्रात्रा स्वकरम् । शंसति हसति सखीहितनिकरम् ॥
सखिभिर्विश्रमयन्नयमार्यम् । प्रणयति तत्पदलालनकार्यम् ॥५३॥

सुललितपल्लवतल्पविधानः । सुहृदूरुस्थिरमूर्धनिधानः ॥
केलिश्रममनुकृतशयनेहः । पुण्यतमैरुपवीजितदेहः ॥५४॥

अत्र च कैरपि लालितचरणः । अस्मत्तृष्णमात्रदपरिचरणः ॥
यः स्निग्धानां गानविनोदैः । निद्रामितवान् स्वरकृतमोदैः ॥५५॥

स्मरतां तन्नः किमपि मनःस्थम् । समयं सहते नान्यावस्थम् ॥
वयमिह के वा लुब्धंमन्याः ? लुब्धा यस्मिन् शुकमुखधन्याः ॥५६॥

"तदेवमेव वल्गुवलयिते लीलावलये पूर्ववन्निलयादाकलितमिष्टमिष्टान्नादिकं रसनया श्लिष्टं विधाय गवां जालं चालयन् पालयन् साग्रजव्रजराजतनूजः सवयोभिरायतीगवमवसर-मवगत्य गोत्रामात्राणां ततिं शनैरुपव्रजमनैषीत् । नीत्वा च तार्णकवात्सकभेदानां तथा

कभी भैया बलरामजी के द्वारा अपने हाथ को धारण कराते हुए, एवं कभी कभी उनके हाथ को स्वयं धारण करते हुए, श्रीकृष्ण सखाओं की चेष्टाओं को कहते हैं और हँस जाते हैं। और ये श्रीकृष्ण आर्यवर्य श्रीबलरामजी को सखाओं के द्वारा विश्राम कराते हुए, श्रीबलदेवजी की चरणसेवा के कार्य को स्वयं करते हैं ॥५३॥

कभी श्रीकृष्ण सुन्दर कोमल पत्रों से रची हुई शय्या पर शयन करते हैं, एवं कभी मित्र की जंघा पर स्थिरतापूर्वक मस्तक रखकर निद्रित हो जाते हैं। क्रीड़ा करने से थक जाने के पश्चात् वे सोने की चेष्टा करते हैं, उस समय पवित्रतम मित्रों के द्वारा उनके श्रीविग्रह की सेवा वीजना के द्वारा की जाती है ॥५४॥

उन सखाओं में से कुछ सखाओं द्वारा उनकी चरणसेवा की जाती है। उनके श्रीचरणों की सेवा हमारे लिये तो केवल अभिलाषामात्र देती है, अर्थात् उनकी सेवा करने की अभिलाषा तो हमारी भी है, परन्तु उनकी अहैतुकी कृपा के बिना हमको वह कैसे प्राप्त हो सकती है ? एवं जो श्रीकृष्ण स्नेही सखाओं के गान विनोद से, एवं मधुर स्वर के द्वारा जनित हर्ष से निद्रा को प्राप्त करते हैं, वे हम पर न जाने कब स्नेहमयी दृष्टि करेंगे ? ॥५५॥

अतएव हम जब उनका स्मरण करते हैं, तब हमारे हृदय में स्थित जो उनकी सेवा करने की वासना है, वह समय की अन्य अवस्था को, अर्थात् तत्कालोचित सेवा स्मरण भिन्न, अन्य कार्य को सहन नहीं करती। इस विषय में अपने को लोभी मानने वाले, हम कौन सी गिनती में हैं ? अर्थात् सामान्य हैं। जिन श्रीकृष्ण के ऊपर किंवा उनके सेवनरूप कार्य पर, श्रीशुकदेव प्रभृति आत्माराम, आप्तकाम, प्रशंसनीय महात्मागण भी लुब्ध हो रहे हैं ॥५६॥

अतः इसी प्रकार प्रतिदिन के नियमानुसार, मनोहरता से मिलित लीलासमूह के सम्पन्न हो जाने पर, पहले की भाँति अपने अपने घर से लाये हुए मनोहर मिष्ठान्न आदि को जिह्वा से संयुक्त करके, गोसमूह को व्रज की ओर चलाते हुए एवं उसकी रक्षा करते हुए, समान अवस्था वाले बन्धुगण एवं ज्येष्ठ भ्राता श्रीबलरामजी के सहित, श्रीव्रजराजकुमार गैयायें जिस समय घर को आती हैं, उस समय को जानकर, पृथिवी की अंशस्वरूपा गैयामात्र के समूह को, धीरे धीरे व्रज के पास ले आये। और ले जाकर, तत्काल व्याये हुए एवं कुछ दिन के व्याये हुए, भिन्न भिन्न वत्ससमूह को पृथक् पृथक् निवास करा दिया। तथा

स्त्रीगवीनां तास्वप्युपसर्या-सन्धिनी-प्रष्ठौही-धेनु-वष्कयणी-गृष्टि-परेष्टुका-समांसमीना-नैचिकी-कपिला-वशा-गोपतिप्रभृतीनां तत्र च गंगादिनाम्नां तथा पुङ्गवानां तेषु चार्षभ्य-दम्य-जात-ककुत्पूर्णककुज्जातोक्ष-महोक्ष-वृद्धोक्ष-युग्य-प्रासंग्य-शाकट-प्रष्ठवाट्प्रमुखानां तत्र च हंसादिनाम्नां परःकोटीनां कूटान् पृथक् पृथगवीवसत् । तत्र तत्र नस्तितानपि शिवकबद्धानचीकरत् ॥५७॥

ततश्च पूर्वपूर्वस्मादप्यपूर्वतया मङ्गलवस्तुनिकरकरैः पुरस्कृतक्षितिदेव-नरदेव-पुरःसरैर्व्रजवासिवरैरुपव्रज्य नीराज्य च सपशुपालबलः स गोपालः सदनं सादरमासादयामासे । प्रसादयामासे च सुललितलालनया जनितसुखजननी-मुखपुरन्ध्रीजनेन ॥५८॥

"अथ क्षणमात्रं तत्र विश्रम्य गोदोहनाय निर्गम्य रम्यदोह-पात्रसन्दोहं किङ्करनिकर-कराहृतं विधाय गवास्थानीमभिनिधाय महामहिम-गोप-समूहमनुकृतोपवेशं श्रीव्रज-नरेश-मनुज्ञाप्य वत्समोचनमाज्ञाप्य धेनुक-मध्यस्थितः स्वस्तिवाचनादि-प्रशस्तं समस्तचित्तमोहनं गोदोहनं नाम कर्म प्रथमं निर्ममे ॥५९॥

उन स्त्री जातिरूप गैयाओं में भी, उपसर्या (ऋतुमती अर्थात् ओसर), सन्धिनी (वृषभ के द्वारा आक्रान्त), प्रष्ठौही (पहले पहल गर्भ धारण करनेवाली), धेनु (नवप्रसूता), वष्कयिणी (चिरप्रसूता), गृष्टि (एक बार व्याई हुई), परेष्टुका (अनेक बार व्याई हुई), समांसमीना (प्रतिवर्ष व्याने वाली), नैचिकी (गैयाओं में उत्तम), कपिला, वशा (बन्ध्या), गोपति (कामधेनु) प्रभृति अनेक प्रकार की गउओं को पृथक् पृथक् निवास कराया। उन गैयाओं में भी गंगा, कालिन्दी आदि नामवालियों को अलग अलग वास कराया। तथा पुरुष जाति की गैयाओं में भी आर्षभ्य (सांढ बनाने योग्य), दम्य (जोतने योग्य), जातककुत् (जिसकी टाठ उठ रही है), पूर्णककुत् (पूरी टाठवाला), जातोक्ष (जवान बैल), महोक्ष (बड़े डील वाला बैल), वृद्धोक्ष (बूढ़ा बैल), युग्य (जूआ ढ़ोनेवाला), प्रासङ्ग्य (दमन करने के लिये पहले पहल कन्धे पर रक्खे हुए काठ को ढ़ोने वाला), शाकट (गाड़ी को खींचनेवाला), प्रष्ठवाट् (अभ्यास के लिये जूए के पास बँधा हुआ बैल), इत्यादि अनेक प्रकार के बैलों को और उनमें भी हंस, बक आदि नाम वाले करोड़ों से भी अधिक बैलसमूहों को अलग अलग निवास कराया। उन उन में नाथ से नथे हुए बैलों को भी खूँटाओं से बाँध दिया ॥५७॥

तदनन्तर पहले पहले दिनों की अपेक्षा भी अधिक आश्चर्यपूर्वक प्रधान प्रधान व्रजवासीजन, मांगलिक वस्तुओं को हाथों में धरके, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि प्रमुखजनों को आगे करके, उनके निकट जाकर, आरती उतारकर, ग्वालबाल एवं बलदेवजी के सहित, उन गोपालजी को आदरपूर्वक अपने घर को लिवा लाये। और सुखसंयुक्त जननी आदि, पतिपुत्रविशिष्ट पुरवासिनियों ने, अच्छी प्रकार प्यारपूर्वक उनको प्रसन्न किया ॥५८॥

तदनन्तर वहाँ पर क्षणभर विश्राम कर, गोदोहन के लिये नन्दभवन से निकलकर, रमणीय दोहनी समूह को सेवक समुदाय के हाथों से मँगवाकर, उन सब दोहन पात्रों को गउओं के खिड़क में रखवा कर, महामहिम गोपगणों के निकट बैठे हुए श्रीव्रजनरेश की आज्ञा पाकर, बछड़ाओं के खोलने की आज्ञा देकर, गोसमूह के मध्य में स्थित होकर, श्रीकृष्णचन्द्र ने स्वस्तिवाचनादि द्वारा प्रशस्त, समस्त चित्तमोहन गोदोहन नामक कार्य को पहले पहल निर्मित किया ॥५९॥

"तत्र च गृहान्निर्गमनं यथा—

हाटकलकुटीपाणि,-र्मणिचितनिर्योगराजदुष्णीषः ।
जितगजराजविलासः, सबलः कृष्णो ययौ गोष्ठम् ॥६०॥

"दोहनं यथा—

श्रीमत्पट्टवटान्तमौक्तिकलसन्निर्योगराजत्कचौ
गाढानद्धवरान्तरीयरुचिभिश्चित्राधराङ्गश्रियौ ।
ऊर्ध्वज्ञू क्षितिसंहिताग्रचरणौ जानुद्वयान्तः स्थित-
स्वर्णामत्रधरौ सितासिततनू धेनुर्दुहाते स्म तौ ॥६१॥

"ततश्च घटोध्नीनां तासां नातिदुग्धानामपि दुग्धानि तु प्रचुरं दुग्धानि विधाय गवादि-सम्भालनमनुगोपान् संविधाय तानि च पितुः पुरस्तान्निधाय कराभ्यामञ्जलिं सन्धाय स्थितवन्तौ सन्तौ तेन दूरतस्तदीयतुरीयकक्षापूरितचातुरीनिरीक्षणसुखस्थगितेन भूयोभूयश्चाहूय सव्यापसव्ययोरुपवेशितौ ॥६२॥

"यत्र च—अक्ष्णा तस्यापसव्येन सव्यं तच्चकृषे बलात् ।
अपि सव्येनापसव्यं रामं कृष्णं दिदृक्षुणा ॥६३॥

"किञ्च, एकहेतुमयमेव लोचने, द्वे च वाष्पमपरत्र विन्दतः ।
रामकृष्णयुगपद्विलोकने, ते तु गोपनृपतेर्यथायथम् ॥६४॥

उस प्रसङ्ग में घर से निकलने का वर्णन इस प्रकार हैं—श्रीकृष्ण नन्दभवन से जब गोष्ठ (खिड़क) में पधारे, तब उनके श्रीहस्त में सुवर्णमयी लकुटी थी, मणिखचित गोबन्धन रज्जू द्वारा, अर्थात् लोमना द्वारा उनकी पगड़ी शोभा पा रही थी, एवं श्रीबलदेवजी के सहित मत्त गजराज की चाल को परास्त कर रहे थे ॥६०॥

दोहन यथा—गौर श्यामल वपु वे दोनों भ्राता जब धेनुओं को दुहने लगे, तब सुन्दर रेशम की ड़ोरी के प्रान्तभाग में मोतियों की झालर से शोभायमान जो गोपादबन्धनी रज्जू, अर्थात् लोमना था, उस लोमना से द्रोनों के केशपाश सुशोभित हो रहे थे। दृढ़तापूर्वक बँधे हुए श्रेष्ठ नीलाम्बर पीताम्बर की कान्तिसमूह से, दोनों ही के नाभि से नीचे के अङ्गों की विचित्र शोभा हो रही थी। दोनों ही के घोंटू ऊपर की ओर हो रहे थे, दोनों के चरणों के पंजे भूमि से सटे हुए थे। दोनों ही भैया अपने अपने दोनों जानुओं, अर्थात् घोंटुओं के बीच में स्थित सुवर्णमयी दोहनी को धारण किये हुए थे ॥६१॥

तदनन्तर जिनकी ऐनरी घड़े के समान है, ऐसी उन धेनुओं के अच्छी प्रकार न दुहने पर भी बहुत सा दुग्ध दुहकर, अन्य छोटे मोटे गोपों को गोवत्स आदि सँभालने के भार को अच्छी प्रकार सोंपकर, एवं उन समस्त दुग्धों को पिताजी के आगे रखकर, दोनों हाथों से अञ्जलि को बाँधकर खड़े हुए दोनों भ्राताओं को, दूर से ही उनकी चतुर्थकक्षा परिपूरित गोदोहन की चातुरी के देखने से, उत्पन्न सुख से स्थगित (निश्चल) श्रीव्रजराज ने बारंबार स्नेहपूर्वक बुलाकर, अपनी बाईं और दाईं बगल में बैठा लिया ॥६२॥

और जहाँ पर श्रीराम कृष्ण के देखने की इच्छा वाले, श्रीव्रजराज के दक्षिण नेत्र ने बलपूर्वक वाम नेत्र को खेंच लिया, तथा वाम नेत्र ने बलपूर्वक दक्षिण नेत्र को खेंच लिया ॥६३॥

अपि च गोपराज श्रीनन्दजी के दोनों नेत्र राम कृष्ण का एक साथ दर्शन करते समय, इन कृष्ण बलराम के विषय में यथाविधि एक ही कारण समझकर, आँसुओं की वर्षा करने लग गये ॥६४॥

"तथा हि—सव्यमक्षि तनुजाद्व्रजेशितु,-र्भ्रातृजात् पुनरसव्यमस्रवत् ।
यत्र मानसमपि स्वयं द्विधा,-भिद्यताश्रुमिषमित्यबुध्यत ॥६५॥

"ततश्च, अग्रिमानग्रिमान् कुर्वन्नन्त्यानन्त्यान् समैः समम् ।
सोऽभितो रामकृष्णाभ्यां शोभितो गृहमाययौ ॥६६॥

"गृहमागत्य च सर्वामात्मगोष्ठीं मिष्टान्नादिभिः सुष्ठु तुष्टामकार्षीत् ॥६७॥

"ततश्चानन्दविशिष्टेषु विसृष्टेषु शिष्टेषु रामकृष्णौ निज-निज-धाम समागम्य रम्यतमशय्यामधिशय्य मातृभ्यामुपचर्यमाणौ परिचारकैः परिचर्यमाणौ सुखं निदद्रतुः ॥"६८॥

अथ स्निग्धकण्ठः समापनदिग्धं तदिदं वाक्यं साञ्जलि व्यानञ्ज,—

"ईदृशस्तनयो जातस्तव गोपधरापते !
आत्मारामाश्च यत्कीर्त्या यान्ति द्रागात्मविस्मृतिम् ॥६९॥

अथ श्रीदामादि-चमत्कारसारप्रदप्रथनस्य तदेतत्कथनस्य श्रवणान्ते, सैवेयं लीलेति भ्रान्ते, तत एव बहिर्वृत्तित उपशान्ते गोलोकधरित्रीकान्ते, जने च श्रेणीप्रान्ते, तौ सूतसुतौ यथावद्बद्धाञ्जलितयावस्थितौ चिरत एव पूर्वपूर्ववत्प्रीतिदानेन वासं प्रस्थापितौ विधाय ते सर्वे यथास्वमावासादिकमासादितवन्तः ॥७०॥

॥ इति श्रीश्रीगोपालचम्पूमनु गोचारणप्रचारणं नाम द्वादशं पूरणम् ॥१२॥

और देखो ! अपने पुत्र को देखकर श्रीव्रजराज का वाम नेत्र, एवं भैया के पुत्र बलराम को देखकर दक्षिण नेत्र अश्रु बहाने लग गया। जहाँ पर अश्रुओं के बहाने मन भी स्वयं दो प्रकार से अलग अलग हो गया था, यह भाव भी उन्होंने जान लिया ॥६५॥

उसके बाद श्रीव्रजराज अग्रगण्य गोपों को आगे करते हुए, एवं छोटे गोपों को पीछे करते हुए, समान अवस्था वालों के साथ दोनों बगल श्रीराम कृष्ण दोनों भ्राताओं से सुशोभित होकर, घर को चले आये ॥६६॥

और घर को आकर, समस्त आत्मीयजनों की सभा को मिष्टान्नादिकों से अच्छी प्रकार प्रसन्न करदिया ॥६७

तदनन्तर आनन्दविशिष्ट शिष्टजनों को बिदा कर देने के बाद, श्रीराम कृष्ण दोनों भ्राता अपने अपने भवन में आकर, रमणीय शय्या पर लेटकर, दोनों माताओं के द्वारा लालित होकर, सेवकों के द्वारा सेवित होकर, सुखपूर्वक शयन कर गये ॥६८॥

तदनन्तर स्निग्धकण्ठ ने हाथ जोड़कर प्रसङ्ग समाप्तिसूचक यह वचन व्यक्त किया कि—हे गोपभूपते ! आपके ऐसा विचित्र पुत्र उत्पन्न हुआ है कि, जिसकी कीर्ति के द्वारा आत्माराम, आप्तकाम, श्रीशुकदेव आदि मुनि भी, शीघ्र ही अपने स्वरूपानुसन्धान को भूल जाते हैं ॥६९॥

पश्चात् श्रीदामादि सखाओं को चमत्कार का सार देनेवाली, विस्तारित उस कथा के श्रवण के अन्त में, यह वही लीला है इस प्रकार कहकर, गोलोकराज श्रीनन्दजी के भ्रान्त हो जाने पर, इसी कारण बाह्यवृत्ति से उपशान्त हो जाने पर, एवं जनमात्र के पंक्ति लगाकर खड़े हो जाने के बाद, विधिपूर्वक हाथ जोड़कर खड़े हुए उन दोनों सूतपुत्रों को, बहुत देर बाद पहले पहले की भाँति प्रीतिदानपूर्वक, अपने घर के प्रति प्रेषित करके, वे सब सभासद् यथाविधि अपने अपने घर आदि को पहुँच गये ॥७०॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीगोपालचम्पूकाव्ये गोचारणप्रचारणनामकं द्वादशं पूरणं संपूर्णम् ॥१२॥

अथ त्रयोदशं पूरणम्

कालियदमनम्

अथ प्रतिप्रातरिव श्रीमद्व्रजराजसमाजे विराजमाने कथां कथयितुं समुत्कण्ठो मधुकण्ठो निजान्तश्चिन्तयामास,—॥१॥

"धेनुवारणारम्भलम्भकदिने धेनुकालम्भः खलु श्रीबादरायणिना तदीयचारणावसर-साम्यानुसारिणा पूर्वमेव वर्णितः। वस्तुतस्तु पौगण्डप्रान्त एव पण्डया निर्णीतः, तद्दिवसा-वसाने वेश्मप्रवेशे कैशोरांशावेशवर्णनात्। अतः श्रीपराशरेणापि कालियदमनानन्तरावसर एव सोऽयं सावसरः कृतः, श्रीहरिवंशे च स्पष्टमेव—'दमिते सर्पराजे तु कृष्णेन यमुनाह्रदे' इत्युक्त्वा धेनुकवधः समारब्ध। तदेव युक्त्यापि व्यक्तीभवति। कार्तिकवर्तमानशुक्लाष्टम्यां गोचारणारम्भसम्भवदिनतया पाद्मे स्पष्टतयोक्तिर्दृष्टा। पक्वतालफलकालो भाद्र एव, तत्र च धेनुकनिर्धूननप्रसिद्धिः। तस्मात् कालियदमनमेव प्रथमं प्रथयिष्यामः।" इति। स्पष्टं त्विदमभ्याचष्ट,—॥२॥

"कवयो ये भुवि ख्यातास्त एवाकवयो मताः।
सुखमायास्यतीत्येवं सुदुःखं वर्णयन्त्यमी॥"३॥

तेरहवाँ पूरण

कालियदमन लीला

गोचारण लीला के अनन्तर प्रत्येक प्रातःकाल की तरह, श्रीमान् व्रजराज का समाज जब विराजमान हो गया, तब कथा को कहने के लिये उत्कण्ठित मधुकण्ठ अपने अन्तःकरण में विचारने लगा कि— ॥१॥

व्यासनन्दन श्रीशुकदेवजी ने गोचारण के अवसर की समानता का अनुसरण करते हुए, गोचारण लीला के प्रारम्भिक दिन ही, पहले ही धेनुकासुर के वध का वर्णन किया है। वस्तुतस्तु, पौगण्ड अवस्था के अन्त में ही सदसद् विवेकिनी बुद्धि से उसके वध का निर्णय किया है। कारण—उस धेनुकासुर वध के दिन की समाप्ति में, गृहप्रवेश के समय किशोरावस्था के अंशों के आवेश का वर्णन किया है। अतः श्रीपराशरजी ने भी कालियदमन के परवर्ती समय में ही, वह धेनुकवध प्रस्तावित किया है। श्रीहरिवंशपुराण में तो स्पष्ट ही "यमुनाह्रद में श्रीकृष्ण के द्वारा कालियनाग के दमन हो जाने के बाद", इस प्रकार कहकर धेनुकवध का आरम्भ किया है। वह युक्ति के द्वारा भी स्पष्ट हो जाता है। यथा—कार्तिक मास की शुक्लपक्ष की अष्टमी के दिन ही, गोचारण का आरम्भ सम्भवतया हुआ है। पद्मपुराण में यह उक्ति स्पष्टतया देखी गई है। पके हुए ताल के फलों का समय भाद्रपद ही है, और उसी में धेनुकवध की प्रसिद्धि है। इसलिये हम पहले कालियदमन को ही विस्तारपूर्वक वर्णन करेंगे। इस प्रकार विचारकर स्पष्टरूप से तो यह कहा कि—॥२॥

जो प्राकृत विषय का वर्णन करने वाले कवि भूतल पर विख्यात हैं, वे वास्तविक अकवि ही मानने योग्य हैं, क्योंकि वे सब कविजन सुख प्राप्त होगा, इस आशा से अत्यन्त दुःखद विषय का ही वर्णन करते हैं॥३

इति तूष्णीकामासज्य पुनराह स्म,--

"अथवा—सुखं वा वीर्यं वा तदिह परमं यत्प्रतिमुखं
प्रतीपं निर्जित्यानवरतमतुल्यं विजयते ।
कविश्च श्रेयान् स स्फुरति खलु यस्तत्परतया
सदा तत्तद्गायन्नपि न परितस्तृप्यतितराम् ।।४।।

"अतः कालियनिर्यापनफलं तदिदं वृत्तमापाततः सुदुःसहमप्यायत्यां प्रत्याप्तबहुलसुख-सहचरतया वर्णनीयमेवास्माभिराकर्णनीयमेव च युष्माभिरिति याचित्वा सकम्पमुवाच,–।।५।।

"तदेवमर्जुनीषु पर्यगेव चिराय चार्यमाणासु परिकालियालयजलाशयाशयमेव चलितुं खलु श्रीबलरामः समनुज्ञां कलयाश्चक्रे, श्रीव्रजेश्वर्याः शिक्षितचर्यानुगमात् । श्रीबलावरजस्य तु तस्य विरत एवाविरतं तद्दिदृक्षा न क्षीणासीत् । बहलेन कुतूहलेन जन्मत एव दुर्जनतेजसाम-सहनतायामविकलेन तेजस्विताबलेन च ।।६।।

"तदेवं स्थिते सदावदेव कदापि कृष्णाग्रजन्मनः श्रवणाख्यं मासिकं जन्मर्क्षमतिथिवत् प्रथिंत व्रज-सदसि समाससाद । तदा च सङ्कर्षणः स खलु हर्षणमङ्गलस्नपनाद्यासङ्गतः स्वगृह एव सङ्गत आसीत् ।।७।।

इस प्रकार कहकर मौनावलम्बन कर, पुनः बोला कि—इस भगवत्सम्बन्धी विषय के वर्णन या श्रवण में महान् सुख हो, या महान् प्रभाव प्रकटित हो, वे दोनों ही श्रेष्ठ हैं। क्योंकि भगवत्सम्बन्धी विषय संमुख होकर, प्रतिकूल विषय को परास्त करके, निरन्तर अनुपमभाव से विजय को प्राप्त होता है। कवि भी वही श्रेष्ठ है एवं स्फूर्ति पाता है, जो कि भगवत्सम्बन्धी विषय में तदाकार होकर, सदैव तत्तद् विषय का गायन करता हुआ भी, सर्वतोभाव से अत्यन्त तृप्त नहीं होता ।।४।।

अतः कालियनाग के निकालनेरूप फल से युक्त यह वृत्तान्त, आपाततः अत्यन्त असह्य होने पर भी, भविष्य में प्रत्येक विषय में बहुत सुखदायक सङ्गी होने के कारण, हमको वर्णन करना उचित है। आप सबको श्रवण करना भी उचित है। इस प्रकार प्रार्थना करके कम्पित होकर कहने लगा— ।।५।।

इस प्रकार पहले की तरह बहुत दिन से चारों ओर जब गैयायें चराई जाती थीं, तभी श्रीव्रजेश्वरी की शिक्षित चर्या का अनुगमन करने के कारण, श्रीबलरामजी ने तो निश्चित रूप से कालियनाग के आलय स्वरूप जलाशय की दिशा को छोड़कर ही, चलने के लिये अपनी अनुमति दे दी थी। किन्तु अधिक कुतूहल के कारण, तथा जन्म से ही दुर्जनों के तेज की असहनता के प्रति, परिपूर्ण तेजस्वितारूप बल के कारण, श्रीबलदेवजी के छोटे भाई उन श्रीकृष्ण की तो बहुत दिन से ही, निरन्तर उस कालियह्रद के देखने की इच्छा क्षीण नहीं हुई थी ।।६।।

ऐसी स्थिति में सदा की तरह कभी कृष्ण के बड़े भाई श्रीबलदेवजी का श्रवणा नामक मासिक जन्म-नक्षत्र, अतिथि की भाँति व्रजसभा में उपस्थित हुआ। उस समय वे श्रीबलदेवजी तो निश्चितरूप से हर्ष-जनक मङ्गलमय अभिषेक आदि में आसक्त होने के कारण, अपने घर में ही रहने को बाध्य हो गये ।।७।।

"तदा च कासाञ्चनाभिनवानां गवामतिप्रत्यासन्नप्रसवानामवश्यमेव स्वावनीयतया विनापि तं वनीमनुगतसखः श्रीदामसखः प्रस्थितवान् । किन्तु सम्भोजनसमयसमयने समयं विधाय तदा च लब्धे विप्रलब्धेरवसरे तदितरं प्रति यः कालकूटतुल्यः कालकूटस्तन्मय-कालिन्दीयकालियह्लदहरितमेव त्वरितं हरिसुधा-वारिधिरवजगाहे ॥८॥

"तत्र गवामग्रेसरा ये गोपकुमारवरास्तेषु चानाशितंगवीन-नवीन-वनविभागावकलन-कलितबहल-कुतूहलजात-रभसतः किञ्चिद्विलम्बमालम्बमानेषु निदाघ-द्राघीयस्तृष्णा-व्याकुल-मग्रिमगोकुलं कालियविषाकुलं कृष्णा-जलं पिबति स्म । पानमात्राच्च विचेतनतया निपपात, ॥९॥

"क्षणतस्ते चाग्रेसरास्तदवलोकशोकधरा देह-जिहासया सहसा स्वयमपि धयन्तः पतन्ति स्म ॥१०॥

"इयं पुनर्योगमायाया एवानपाया गतिः, या खलु खलानामुत्कलनायासम्भवमपि सम्भावयति ॥११॥

"अथ मुहूर्तपूर्तावागतोऽयं तोयद-श्यामलमूर्तिर्मूर्तानिव तान् पश्यन्नन्यादृशश्यामलतामा-जगाम, विललाप च,—॥१२॥

उसी समय जिनके व्याने की अवधि अति निकट आ चुकी है, ऐसी कुछ नवीन गैयाओं की रक्षा अवश्य मुझे ही स्वयं करनी उचित है, ऐसी भावना करके श्रीदामा के सखा श्रीकृष्ण, श्रीबलदेवजी के बिना ही, अन्यान्य सखाओं के अनुगत होकर, छोटी सी वनी को चल दिये, किन्तु अच्छी प्रकार भोजन के समय सम्मिलित होने की प्रतिज्ञा करके । बस, उसी समय धोखा देने का अवसर मिल जाने पर, श्रीकृष्ण से भिन्न के प्रति जो कालकूट (विष) कालसमूह के समान है, ऐसे विष से परिपूर्ण यमुना सम्बन्धी कालियह्लद की दिशा को, श्रीहरिरूप सुधासमुद्र ने शीघ्र ही गमन किया ॥८॥

वहाँ पर गउओं के आगे चलनेवाले जो गोपकुमार थे, उन्होंने "जिस वन में पहले कभी भी गैया नहीं चराई गई, ऐसे नवीन वन विभाग के देखने से उत्पन्न अतिशय कुतूहल से जायमान, पूर्वापर विचार के अभाव के कारण" जब किंचिद् विलम्ब का अवलम्बन किया, अर्थात् देरी की, तभी ग्रीष्मकाल की विशाल तृष्णा (प्यास) से व्याकुल होकर, आगे चलनेवाले गोसमूह ने कालियनाग के विष से मिले हुए यमुनाजल को पी लिया, और पीते ही अचेत होकर भूमि पर गिर पड़ा ॥९॥

क्षणभर में वे आगे चलनेवाले ग्वारिया, उन धेनुओं की ऐसी दशा देखकर, शोकातुर होकर देह त्यागने की इच्छा से, सहसा स्वयं भी उसी जल को पीते हुए गिर पड़े ॥१०॥

किन्तु यह सब योगमाया की ही विघ्न या वियोगरहित परिपाटी है या स्वरूप है, जो कि दुष्टों के दमन के लिये असम्भव को ही सम्भव बना देती है ॥११॥

तदनन्तर मुहूर्त भर में आये हुए, नवघनश्याम शरीरवाले ये श्रीकृष्ण उन सब गैया एवं ग्वालबालों को मूर्च्छित देखकर, अन्य प्रकार की श्यामता को प्राप्त हो गये, अर्थात् काले कृष्ण भी उनके दुःख से अधिक काले पड़ गये । और विलाप भी करने लग गये—॥१२॥

'या गावः खलु देवता व्रजसदामस्माकमुच्चैस्तरां
ये बालाश्च सदैव जीवतुलितास्तेऽमी विपन्नाः पुरः ।
हा हन्त स्वयमस्मि तत्सहचरः किं भ्रातरं मातरं
तातं सर्वजनञ्च वच्मि मम धिक् चापल्यतः साहसम् ॥'१३॥

"ततश्च विप्रतीसारसारानुसारद्रुत-विद्रुततर-चेतसः श्रीव्रजकुलचन्द्रमसः क्रमशः सर्वेषां मुखमभिदत्तदृशः स्तिमितीकृतनिजाधारा नेत्राम्बुधारा निपेतुः, या एवांकुरीकृतवसुधाः सुधायमाना यथाक्रमं सर्वं चेतयामासुः । किन्तु मुरशत्रुः पुरः पुरःस्थगमनावेशादपुरःस्थदेशाश्रितानां चेतनां तदा न चिचेत, चिरादेव त्वचेतीत् ॥१४॥

"ते च चेतिताः सर्वे चिराय विचारप्रचारं नानुचरन्ति स्म; यस्मादात्मानमघनामधर-विषधरविषमविषमोहाद्रक्षितवन्तमघद्विषमेव तत्र तत्र भ्रमन्तमनुभूय भूयः स एव चेतना-मूलमिति निश्चितवन्तः ॥१५॥

"कृष्णस्तु तान् विलुलितवेशान् लब्धोपवेशान् दृष्ट्वा युगपदेव सर्वान् कृष्ट्वा पृथक् पृथगेवाश्लिष्टवान् ॥१६॥

जो सब गैयायें व्रजवासियों को देवता के समान पूज्य हैं, तथा हमारी तो और भी अधिक पूज्य हैं, और जो ग्वालबाल मेरे तथा व्रजवासियों के सदैव प्राण के समान प्यारे हैं, वे ये सब सामने ही आपत्ति में पड़े हैं। हाय! हाय! मैं उनका स्वयं सहचर हूँ। अब मैं घर जाकर उनके भैया, मैया, पिता एवं अन्य सभी लोगों को क्या कहूँ ? कुछ समझ में नहीं आता। अतः इस चपलता में प्रयुक्त मेरे साहस को धिक्कार है ॥१३॥

उसके बाद व्रजकुल चन्द्रमा श्रीकृष्ण का चित्त शीघ्र ही अत्यन्त पिघल गया, उन्होंने क्रमशः सभी के संमुख दृष्टि डाली, पश्चात् पश्चात्ताप के सारांशानुसार, निजाधार स्वरूप श्रीकृष्ण को गीला करती हुई, श्रीकृष्ण के नेत्रों की वे जलधारायें गिर पड़ीं कि, जिन्होंने ही पृथिवी को अंकुरित करके, अमृत के समान होकर क्रमशः सभी को सचेत कर दिया। किन्तु मुरबैरी श्रीकृष्ण पहले संमुखस्थ जनों के पास जाने के आवेश के कारण, जो संमुख नहीं थे उनकी चेतना को उस समय न जान सके, किन्तु कुछ विलम्ब से ही जान सके ॥१४॥

वे सब सखा चैतन्य होकर बहुत देर तक विचार एवं प्रचार, अर्थात् चलना फिरना आदि नहीं करते थे। कारण—उन्होंने अघनामधारी विषधर की विषम विषमयी मूर्च्छा से, अपनी रक्षा करनेवाले अघारि श्रीकृष्ण को ही, वहाँ वहाँ सबके संमुख घूमते हुए अनुभव करके, पुनः वे ही चेतना के मूल हैं ऐसा निश्चय किया ॥१५॥

श्रीकृष्ण भी, जिनके वेश भूषण आदि तितर बितर हो गये हैं, ऐसे उन सखाओं को अपने अपने स्थान पर बैठे देखकर, एक साथ ही सब को खींचकर, अलग अलग सभी से भुजभर के मिले ॥१६॥

"तदुक्तमेव,—'यदस्य खल्वौत्पत्तिक एवायमुपपत्तिमतीतवान् गुणः; यद्भावभावनः स्यात्तत्रानुरूपरूपाविर्भावनमसौ यौगपद्यमुपसद्य बहुत्रापि सद्य एवापद्यते' इति ॥१७॥

तत्र बालैर्मिलनं यथा—

दृष्टिर्बाष्पमिता तनुस्तिमितताम्न्तर्मतिर्लीनता-
मित्थं सङ्गतिसाधने तु निखिलेऽभीक्ष्णं गते व्यर्थताम् ।
किं सौख्यं किमसौख्यमेतदिति च स्फूर्ति विनावस्थितौ
कश्चित् कोऽपि न किञ्चिदुज्झितुमभूच्छक्तिप्रयुक्तश्चिरम् ॥१८॥

"गोभिर्यथा—

गावो हुंकृतिघोषणा वलयिताः कृष्णं लिहन्त्यश्चिरा-
त्तद्बाहुद्वयवेष्टनेन विलसत्कण्ठ्यः समुत्कण्ठिताः ।
यत्नात्त्याजिततद्ग्रहाश्च पशुपैः क्षिप्ताश्च तस्थुश्चिरं
तास्तद्वक्त्रसुधाकरद्युतिसुधापीतावतृप्तेक्षणाः ॥१९॥

"तदेवं सति तस्य भावविशेषोद्भवः समुद्भाव्यते । पूर्वमेवायं श्रीयुतकृष्णः पारावार-भविष्णुस्थास्नुचरिष्णुदुःखदानधृष्णोः कृष्णाधिष्ण्यस्य कालियस्य निराकरिष्णुतृष्णोऽपि

यह सिद्धान्त कहा भी है कि—इन श्रीकृष्ण का औत्पत्तिक, अर्थात् स्वाभाविक ही यह गुण युक्ति के मार्ग को अतिक्रमण कर गया है कि, जो इनके अनुस्मरण की भावना करता है, उसी उसी स्थान पर ये भक्त के भावानुसारी रूप को एक साथ ही प्रगट करके, अनेक स्थानों पर भी भक्तों के सामने शीघ्र ही पहुँच जाते हैं ॥१७॥

वहाँ पर बालकों से मिलना, यथा—श्रीकृष्ण जब मित्रों से मिलने लगे, तब उन सबकी दृष्टि अश्रुओं से व्याकुल हो गई, शरीर स्तब्ध (निश्चल) हो गया, एवं आन्तरिक बुद्धि विलीन हो गई। इस प्रकार मिलने के सभी साधन बारंबार व्यर्थ हो गये। तथा यह सुख है क्या ? अथवा दुःख है क्या ? इस प्रकार की स्फूर्ति के बिना स्थिति हो जाने पर, कोई भी जन किसी को थोड़ी सी देर के लिये भी, त्यागने को समर्थ न हुआ, अर्थात् न तो मित्र ही कृष्ण को छोड़ते हैं, और न कृष्ण ही मित्रों को छोड़ सकते हैं, ऐसी दशा हो गई ॥१८॥

गैयाओं से मिलना, यथा—गैयायें हुँकार शब्द करती हुई गोलाकार एकत्रित होकर, बहुत देर तक श्रीकृष्ण के अङ्गों को चाटती हुई, श्रीकृष्ण की दोनों भुजाओं के लपेटा से गले में शोभा पाने लग गईं। पश्चात् ग्वालबालों ने जब यत्नपूर्वक उत्कण्ठित धेनुओं के कण्ठ से श्रीकृष्ण की भुजाओं को छुड़ाया एवं दूर किया, तब वे श्रीकृष्ण के मुखचन्द्र की कान्तिसुधा के पान के विषय में अतृप्त नेत्रवाली होकर, बहुत देर तक खड़ी रहीं ॥१९॥

इस प्रकार की घटना के अनन्तर श्रीकृष्ण के भाव विशेष की उत्पत्ति की समुद्भावना करते हैं कि-पहले से ही ये श्रीमान् कृष्ण, श्रीयमुनाजी के दोनों तीरों पर उत्पन्न होनेवाले, स्थावर जङ्गम पदार्थमात्र को दुःख देने में धृष्ट, यमुना निवासी, ऐसे कालिय नाग के निकालने की तृष्णा से युक्त होकर भी, उस नाग

तत्पत्नीभ्योऽपत्रपिष्णुतया चिराय तूष्णीं बभूव। सम्प्रति तु गो-गोपालकालधर्मापातजाता-सहिष्णुतया वर्धिष्णुक्रोधः सुष्ठु जातः ॥२०॥

"ततश्च सावहित्थमित्थमुवाच,—'अहो वयस्याः! पश्यथ अत्रोदक-स्तम्भविद्या-कृतावकाश-प्रकाशमान-ह्रदिनी-ह्रदस्थितस्वसदने कालियाख्यमन्ददन्दशूकस्तिष्ठति। तेन च दुष्ठुनिष्ठ्यूतया सर्व एवाखर्वविषज्वालया ज्वलिताः पर्यग्देशा दृश्यन्ते। उपर्यध्युत्पतिताः पतत्रिणश्चात्र पतिता इत्यात्मनेत्राभ्यां प्रतीयताम्; येभ्यस्तु प्राणा जगत्प्राणाशनभयतः सद्य एव विप्रतिपद्येत्र स्वयमुत्पतन्तः कदापि न न्यवर्तन्त। सोऽयं पुनर्गरुत्मत्कृतामृतसेक एक एव कालकूटज्वालयापि कृतालम्बः कदम्बः सुललितदलादितया लालसीति। तस्मादस्योपरिग-कोटरपिठरे स्फुटं तदनवद्यममृतमद्यापि विद्यत इति प्रसह्याहमारुह्य पश्यानि। भवन्तस्तु गाः किञ्चिद्दूरचरतया चारयन्तश्चरन्तु।' ॥२१॥

"तदेतद्वदन् विगतकदनः कञ्जवदनः कदम्बमधिरुह्य परिकरं समूह्य स्वयं किरण-गणामृतघनाघनः सान्निध्यमात्रनिर्मितसाधर्म्ये तस्मिन् कालियहर्म्ये निर्मलजलक्रीडाकुतुकाय पपात। यत्र च तत्र सर्पह्रदगतजलं धनुःशतमुदसर्पत्। तच्च श्रीव्रजराजतपःप्रतापफलस्य

की पत्नियों से लज्जित होने के कारण, बहुत समय तक तो मौनी बने रहे। किन्तु इस समय तो गैया एवं ग्वालबालों की मृत्यु आजाने से उत्पन्न असहिष्णुता के कारण, श्रीकृष्ण का क्रोध अच्छी प्रकार भड़क उठा है ॥२०॥

तदनन्तर आकार को छिपाते हुए श्रीकृष्ण इस प्रकार बोले कि—हे प्रिय मित्रों! तुम सब एक आश्चर्य देखो। यहाँ पर जलस्तम्भन विद्या के द्वारा अवकाश स्थान करके जो यमुना ह्रद (तालाब) प्रकाश पा रहा है, उस ह्रद में स्थित अपने घर में कालिय नामक निन्दित दुर्दान्त एक सर्प रहता है। उसने खराब थूत्कार के द्वारा उत्पन्न की जो विशाल विष की ज्वाला, उससे चारों ओर के सभी प्रदेश जलते हुए दिखाई देते हैं। इस तालाब के ऊपर उड़नेवाले पक्षी भी इसी में गिर रहे हैं, इस बात को तुम अपने नेत्रों से ही प्रत्यक्ष कर लो। जिन पक्षियों के प्राणवायु, वायुभोजी कालिय सर्प के भय से शीघ्र ही आपत्ति सी में पड़कर, स्वयं उड़ते हुए कभी भी लौटते नहीं हैं। और यह जो कदम्ब वृक्ष दिखाई दे रहा है, इसका शरीर विष की ज्वाला से संयुक्त होकर भी, केवल गरुड़जी के द्वारा अमृत का सेक कर देने से सुन्दर पत्र पल्लवादि सहित अकेला ही अतिशय शोभा पा रहा है। अर्थात् एक कदम्ब को छोड़कर और सभी वृक्ष विष की ज्वाला से भस्म हो गये हैं। अतएव इस कदम्ब की ऊपरवाली खोंतर रूप बटलोई में, वह अनिन्दित अमृत आज भी स्पष्ट विद्यमान है, इसलिये मैं बलपूर्वक इस पर चढ़कर देख लूँ। आप सब तो कुछ दूर जाकर गैयाओं को चराते हुए विचरण करें ॥२१॥

इस प्रकार कहते हुए विकार रहित कमलमुख श्रीकृष्ण कदम्ब पर चढ़कर, फेंट कसकर, स्वयं किरण समूह रूप जल से वर्षालु मेघ होकर, अर्थात् मेघ जैसे ऊँची अटारी में प्रवेश करता है, उसी प्रकार अपनी सन्निधिमात्र से समानता को प्राप्त उस कालिय नाग के भवन रूप जलाशय में, निर्मल जल क्रीड़ारूप कौतुक के लिये कूद पड़े। जहाँ पर उस सर्प के जलाशय में जो जल है, वह सौ धनुष, अर्थात् चार सौ हाथ ऊपर की ओर उठ खड़ा हुआ। यह सब कार्य श्रीव्रजराज के तपःप्रभाव के फलस्वरूप, संख्यातीत बलवाले उन

सङ्ख्यातीनबलस्य तस्य न चित्रमित्येव मन्तव्यम्; येन हि पौगण्डतया नातिप्रचण्डमपि तदेव तद्वपुश्चण्डांशुकोटिवदतीवोद्दण्डतया तत्र कुण्डलिनां भाति स्म ॥२२॥

"ततश्च तस्यामरवारणवारणविक्रमक्रमतया घूर्णद्भुजापूर्णवार्घोषसङ्घर्षणया धर्षितस्तदुत्कर्षासहनसमाजः सहसा तनूनपान्महसाहिराजः स्वीयलीलान्तरीपान्तः स्वयं क्रीडाहर्षतः स्मितं वर्षन्तं पीतांशुकविद्युद्भवं करचरणाधररोहिताकरं वनमालाशचीपतिचापधरं सुललितनीलघनवरं तमेवाससाद ॥२३॥

"सम्प्रति तु कृतयवक्षारसारसन्धगन्धकेन्धनवह्नीयमानमेतमात्मना चच्छाद ननाद च। केवलबलिमानितामयासहिष्णुतया धृष्णगसौ नागजिष्णुरार्तोऽपि न निवर्तते स्म ॥२४॥

"अथ कालीयस्य वरुणपाशपालीयमानभोगाशनीयमानाशीराशिभ्यां याहंकृतिपूर्णाकृतिस्तस्याश्चूर्णीकृतिकौतुकाय योगमायामयकङ्कटसङ्घटिताङ्गताङ्गतस्तृणावर्तवर्तनसमुद्वर्तनः स मुहूर्तं तथैव वर्तते स्म; यत्र हि तस्य सदहितस्य भोगिनः शतमेकातिरेकाभोगा मर्कटिकाजालवद्विघटितशक्तयः सन्ति स्म। आशिषश्च तूलवर्तितुलां कलयामासुः ॥२५॥

श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में कुछ आश्चर्यजनक नहीं है, ऐसा ही मानना चाहिये। श्रीव्रजराज के तपःप्रताप के फल से ही पौगण्ड अवस्था के कारण, अत्यन्त प्रचण्ड न होने पर भी, वही श्रीकृष्ण का श्रीविग्रह, वहाँ पर सर्पों को करोड़ों सूर्यों की तरह प्रचण्डरूप से प्रतीत होता था ॥२२॥

तदनन्तर देवहस्ती ऐरावत के निवारण करनेवाले विक्रम की परिपाटी से घूमती हुई श्रीकृष्ण की भुजाओं से परिपूर्ण जल के शब्द के संघर्षण से, एवं अग्नि के समान तेज से तिरस्कृत हुआ वह सर्पराज कालिय, तथा श्रीकृष्ण के उत्कर्ष को न सहन करनेवाला है समाज जिसका, ऐसा वह कालिय नाग, सहसा अपने क्रीड़ाद्वीप के भीतर, स्वयं क्रीड़ा के हर्ष से मन्द मुस्क्यान रूपी जल की वर्षा करने वाले, पीताम्बर रूपी बिजली धारण करनेवाले, एवं अपने कर, चरण, अधर की लालिमा से लाल वर्णवाले वनमालारूपी सरल इन्द्रधनुष धारण करनेवाले, सुन्दर और श्रेष्ठ नीलमेघ के तुल्य उन श्रीकृष्ण को प्राप्त हो गया, अर्थात् वह उनके पास पहुँच गया ॥२३॥

और इस समय तो जिस गन्धक में जवाखार का सार मिला दिया हो, ऐसे गन्धकरूपी ईंधन की अग्नि के समान, इन श्रीकृष्ण को कालियनाग ने अपने शरीर द्वारा लपेट कर ढ़क लिया, एवं वह फुंकारमय अव्यक्त शब्द करने लग गया। वह सर्पराज केवल अपने को ही बलशाली मानता था, इसलिये किसी को भी नहीं सहता था। इस प्रकार की असहिष्णुता के कारण धृष्ट वह सर्पश्रेष्ठ पीड़ित होकर भी निवृत्त नहीं हुआ ॥२४॥

कालिय का उत्साह बढ़ाने के लिये श्रीकृष्ण ने जैसा वर्ताव किया उसको कहते हैं कि—तदनन्तर कालियनाग का वरुणपाश की श्रेणी के समान कठोर जो शरीर, एवं वज्र के समान जो उसकी दंष्ट्रा श्रेणी, उन दोनों वस्तुओं के द्वारा जो अहंकार की मूर्तिमान् पूरी आकृति, उसका चूर्ण करना रूप खिलवाड़ के लिये, योगमायामय कवच से युक्त सर्वाङ्गवाले, तृणावर्त के जीवननाशक, वे श्रीकृष्ण एक घड़ी तक उसी प्रकार बँधे रहे। और उन श्रीकृष्ण के ऊपर सज्जनद्वेषी उस कालिय नाग के एक सौ एक फण, मकड़ी के जाले की तरह शक्ति शून्य थे, तथा उसकी विषभरी दाढ़ें भी रूई की बत्तियों की समानता को प्राप्त थीं, अर्थात् अकिंचित्कर थीं ॥२५॥

"किन्तु यदा कदम्बादसौ कदम्बमाली कालियालय-कालिन्दी-शम्बरमपतत्तदातितप्त-हृदयतया हाहाकारकृतमिथःक्रेङ्कारः स खिन्नः सखिवारः स्थलच्चरणचारः सहसा तस्मिन्नेव ससार। गावश्च शावसहिताः सहितास्तमेवानुद्रावकतामवापुः ॥२६॥

"ततश्च स्वेषु विश्वेषु तमेव ह्रदं सावेगगदं प्रविशत्सु प्रतिदिशं गावश्च प्रविशन्तीत्येवं दृष्ट्वा परमकष्टं स्पृष्ट्वानुपायाः पशुपा नष्टप्राया भ्रष्टकाया यमुनायाः प्रह्वा इव कह्वासुर-जठरादिव तत्प्रत्यागत्याशया परं प्राणन्ति स्म ॥२७॥

"तत्र च—किं ज्ञप्तिः स्वपनं सुषुप्तिरथवा मूर्च्छा मृतिर्जीवनं
भात्येवं नहि निश्चिकाय निखिलः सोऽयं सखीनां गणः।
उस्राणां ततिरस्रवृष्टिकलितैः सा च प्रवाहैः पुन-
स्तर्हि स्वं हृदयं ह्रदं च तमथ क्ष्वेडैरिवापूपुरत् ॥२८॥

"तेषु च बहिरीदृगवस्थेषु तथान्तरनवस्थेषु न कोऽपि प्रकोपि तद्वृत्तं व्रजे वृत्तं कुर्यादिति विचार्य दिविषद्वर्य-व्रजेन मुहुरुत्पात-व्रातं प्रत्यापय्य तमनुसञ्चार्यते स्म ॥२९॥

"तत्र व्रज-प्रजावचनं यथा—
'दिवि भुवि खे चोत्पाताः, कथमिव तत्कालमुद्भूताः।
आम् नः सर्वेषां यः, प्राणेऽवधि तत्कृते त इमे ॥'३०॥

किन्तु जिस समय कदम्बमालाधारी वे श्रीकृष्ण कालियनाग के गृह स्वरूप श्रीयमुनाजल में कूद पड़े, उसी समय अत्यन्त तप्तहृदय के कारण हा हाकार करके, परस्पर बुरी तरह चिल्लाते हुए खेदयुक्त मित्रगण, चरणों की स्खलित गति से सहसा उसी स्थान पर चले आये। गैयायें भी बछड़ाओं के सहित एकत्रित होकर मित्र समूह के पीछे पीछे वहीं चली आईं ॥२६॥

पश्चात् सभी आत्मीयजन आवेगरूपी रोग से आक्रान्त होकर, जब उसी कालियह्रद में प्रवेश कर रहे हैं, एवं गैयायें भी चारों दिशाओं से प्रवेश कर रही हैं ऐसा देखकर, परम कष्ट पाकर निरुपाय नष्टप्राय भ्रष्टकाय गोपगण, यमुना के नम्र स्थानों की तरह गिर पड़कर, बकासुर के उदर से जिस प्रकार श्रीकृष्ण निकल आये थे, बस, उसी प्रकार की प्रत्यागमन की आशा से ही केवल प्राणधारण करते रहे ॥२७॥

वहां पर यह सम्पूर्ण सखाओं का समूह स्तब्धप्राय होकर, यह निश्चय न कर सका कि—यह क्या चेतना है अथवा स्वप्न ? यह क्या सुषुप्ति है अथवा मूर्च्छा ? यह क्या मरना है या जीना ? प्रतीत होता है। और उस धेनुश्रेणी ने भी अश्रुवृष्टि के द्वारा निर्मित झरनों से उस समय पहले अपने हृदय को, पश्चात् उस कालियह्रद को विष के प्रवाहों की तरह पूरा भर दिया ॥२८॥

उस समय उन ग्वालबालों की बाहिरी ऐसी दशा हो जाने पर, तथा भीतर अत्यन्त विकलता को प्राप्त हो जाने पर, तापयुक्त उस वृत्तान्त को कोई भी व्रज में प्रचारित न कर सकेगा, ऐसा विचारकर प्रधान प्रधान देवसमूह ने बारंबार उत्पातसमूह को प्रतीत कराकर, प्रत्येक व्रजवासी के प्रति यथार्थ विषय संचारित कर दिया ॥२९॥

उस समय व्रज की प्रजा के वचन, यथा—स्वर्ग में, भूमि में, एवं पृथ्वी पर तत्काल उत्पात कैसे उत्पन्न हो रहे हैं ? हाँ, स्मरण आ गया। जो हम सबके प्राणेश्वर हैं, उनके लिये ही ये सब उपद्रव हो रहे हैं ॥३०॥

"इति व्यग्रीभूय समग्राः प्रजाः सग्रामण्यस्तं व्रजाग्रगण्यसमाजं कृष्णाग्रजन्म-जन्मर्क्षमहसि सम्भोजनाय जनायतनतामाप्तवत्यः। किं बहुना ? व्रजमहीपति-पत्नी च व्रजमहिलाभिरपत्र-पामपहाय तत्राजिगमय सन्दिदेश च दूरदेशतः,—॥३१॥

'दुर्निमित्तमुदभूद्वलं विना, हा ययौ विषदिशं बलानुजः।
हन्त पूर्णसमयः स नाययौ, गोष्ठराट् कथमिहास्ति निर्वृतः?' इति ॥३२॥

"ततश्च, देहं गेहं तत्तदर्थश्च सर्वं, धिक् कुर्वन्तस्त्यक्तउत्पर्व-भोगाः।
ते गच्छन्तः कालियानच्छकच्छं, वातव्रातक्षिप्तचित्ता इवासुः ॥३३॥

"भ्रातृप्रभावज्ञानारामः श्रीरामस्तु तेषां शङ्कायामनिशामयन्नपि न तदानीं तद्भावमवाप, किन्तु रिरक्षिषामेव; अन्यथा ह्यन्यथापत्तिरेव स्यादिति समुचित एव भावः स्वयमेव योगमायया चितः ॥३४॥

"अथ स्व-मनस्येवं स विविवेच,—'वयमिदं मुहुरन्वीय नियमत एव जानीमः। यत् खलु तस्य खलवंशदव-हुतवहस्य निरस्यमानता न केनाप्यकेनापि कर्तुं शक्येत। तथाप्येते केवलस्नेहबलदेहा विद्युत्पातायमान-दुर्निमित्तलब्धजीवनसन्देहा निजजीवनमूलं पीतदुकूलं

इस प्रकार कहती हुई ग्राम के मुखियाओं सहित सारी प्रजा व्याकुल होकर, श्रीबलदेवजी के जन्म-नक्षत्र महोत्सव में, अच्छी प्रकार भोजन करने के लिये, जनों के उपयुक्त स्थान को प्राप्त करती हुई श्रीव्रजराज की सभा में आ गई। अधिक क्या कहें? श्रीव्रजराजपत्नी भी व्रजमहिलाओं के साथ लज्जा को त्याग कर वहाँ चली आई, और दूर से ही सन्देश देने लगी कि— ॥३१॥

हाय! बलदेव के बिना बलदेव का छोटा भाई आज विष की दिशा को चला गया है, इसीलिये अपशकुन उत्पन्न हो रहे हैं। हाय! बड़े खेद की बात है। भोजन करने का समय पूरा हो गया है, तो भी लाला कृष्ण नहीं आया है। इतने पर भी ये व्रजसम्राट् यहाँ पर सुखी होकर कैसे बैठे हैं? ॥३२॥

तदनन्तर वे सब व्रजवासी श्रीकृष्ण से भिन्न देह, गेह, परिवार आदि उन सब पदार्थों को धिक्कारते हुए, एवं श्रीबलदेवजी के जन्मनक्षत्रोत्सव के अनेक भोजनों को त्यागकर, कालीदह के मलिन तीर पर जाते हुए, वायुसमूह से विक्षिप्त चित्त वाले जनों की तरह स्थित हो गये ॥३३॥

अपने भैया श्रीकृष्ण के प्रभावज्ञान में रमण करनेवाले, श्रीबलरामजी तो उन व्रजवासियों की शंका होने पर भी आलोचना न करते हुए उस समय उन व्रजवासियों के से आर्तभाव को प्राप्त न हुए, किन्तु उनकी रक्षा की इच्छा को ही प्राप्त हुए, अर्थात् उनकी रक्षा का विचार करने लग गये। अन्यथा तो निश्चित रूप से उनकी अज्ञता ही घटित हो जाती। अतः योगमाया ने स्वयं समुचितभाव ही सम्पादित किया ॥३४॥

तदनन्तर श्रीबलरामजी अपने मन में इस प्रकार विवेचना करने लगे कि—हम बारंबार अनुसन्धान करके नियमपूर्वक यह जानते हैं कि, निश्चितरूप से खलवंश के दावानल तुल्य, उन श्रीकृष्ण की पराजय कोई भी दुःखपूर्वक भी नहीं कर सकता, तथापि इन व्रजवासियों का देह तो केवल स्नेह के बल पर टिका हुआ है, अतः वज्रपात के समान अपशकुनों से ये श्रीकृष्ण के जीने में सन्देह ग्रस्त हैं। इसीलिये अपने जीवन के मूलस्वरूप पीताम्बर के प्रति जाने के लिये, ये सब बलवती चेष्टा से युक्त हैं। अतः वन के अरणि

प्रति गमनाय दुर्मदेहा वर्तन्ते । तस्मादरण्यारण्यङ्गजदहन-सन्दहन-सहनतामन्द-समुद्दिष्ट-हिमद्रव-सन्द्रव-समुत्कटता-गलत्कट-वारण-दुर्गण-गणवदापाततस्तु मम वारणमपि न मंस्यते । यत् खल्वेतेषां तद्विश्लेषातिशयशङ्कित-दुःखमनु मय्यपि दुःखं दुःखनन-मूलं जातमस्ति, तदपि न व्यञ्जनाय प्राञ्जलतामर्हति, प्रज्वलितज्वलनवनमनु ज्वलनान्तरसन्तानवत् । तस्मात् केवलमङ्गलव्यङ्गसङ्गमि-सदिङ्गितविशेषसङ्गितया त ऐते सम्भावित-तद्भव्या भावनोया, न तु निराकरिष्णुतया । आवयोरावयो ह्येकप्राणतां खल्वेते मन्यन्ते' इति ॥३५॥

"अथ स एवं विविच्य सहसा जहास । तदनु किञ्चिल्लब्धाश्वासतया चलन्तश्च ते—

दुःखाघ्रात-प्राध्वतामन्दनेत्राः, कृष्णांघ्रिश्रीलक्ष्म-लब्धावलोकाः ।
वर्त्मन्यस्मिन् पिच्छिलेऽप्यश्रुभिस्ते, रामप्राप्त-न्यस्तहस्ता विचेलुः ॥३६॥

यथा यथा विदधुरतीव शीघ्रतां, तथा तथाप्यदधुरलं विलम्बिताम् ।
कथंकथञ्चन बत तं ह्रदं गता, दशां तु कां समधुरमी न वेद्मि ताम् ॥३७॥

"तत्र तु,—दृष्ट्वा कालिय-भोगसङ्कवलितं गोपालकं गोपका
नन्दाद्या बत गोपिकाश्च विदलच्चित्ता यशोदामुखाः ।

नामक काष्ठ से उत्पन्न अग्नि के सन्ताप को सहन करने में असमर्थ, एवं विस्तृत हिमद्रव की तरह जिसको द्रवीभाव प्राप्त है, एवं मत्तता के कारण जिसका गण्डस्थल चुचा रहा है, इस प्रकार के स्वभाव वाले हाथी के दुर्दान्त समूह की तरह, आपाततः ये व्रजवासी हमारे निवारण को भी नहीं मानेंगे । इसलिये इनके कृष्ण के विरह से अतिशय शंकित दुःख को लक्ष्य कर, मेरे हृदय में भी ऐसा दुःख उत्पन्न हुआ है, जिसका मूल उखाड़ना कठिन हो गया है । वह दुःख भी, जिस वन में अग्नि प्रज्वलित है, उसके पास में तापदायक वस्तु जिस प्रकार प्रभारहित हो जाती है, उसी तरह प्रकाश करने के लिये सरलता के योग्य नहीं । अतएव केवल मङ्गलमय परिहास से युक्त सुन्दर अभिप्रायविशेष के संयोग से, ये सब व्रजवासी श्रीकृष्ण के मङ्गल की संभावना से युक्त कर देने योग्य हैं, अर्थात् श्रीकृष्ण मङ्गलपूर्वक हैं । उनका अनिष्ट करनेवाला कोई नहीं, इस प्रकार समझाना ही उचित है । किन्तु कालीदह की ओर जाने से रोकने का भाव उचित नहीं । और हम दोनों भाइयों की एकप्राणता को, ये व्रजवासी बचपन से ही निश्चितरूप से जानते हैं ॥३५॥

इस प्रकार की विवेचना करके श्रीबलदेवजी सहसा हँस उठे । उसके बाद किंचित् आश्वासन प्राप्ति पूर्वक चलते हुए वे व्रजवासी, दुःख भरे लम्बे रास्ते की भावना करके अपने नेत्रों को विस्तारित करने लग गये, अर्थात् आँख फाड़ फाड़कर देखने लग गये । और श्रीकृष्ण के चरणों के शोभायुक्त चिह्नों द्वारा उनको देखने की शक्ति भी प्राप्त हो गई, अन्यथा तो वे श्रीकृष्णविरह से अन्धप्राय हो चले थे । उनके आँसुओं से आर्द्रप्राय, अर्थात् गीले इस कालीदह के मार्ग में वे सब पहले बलरामजी का हाथ जिसने पकड़ लिया है, उसी के हाथ में हाथ देकर कालीदह की ओर चल दिये ॥३६॥

वे सब चलते समय जैसे जैसे अत्यन्त शीघ्रता करते थे, वैसे वैसे ही वियोगभार के कारण अत्यन्त विलम्ब करने लग जाते थे । हाय ! वे सब किसी प्रकार अति कष्ट से उस कालीदह पर पहुँच गये । किन्तु वहाँ पहुँचकर उन्होंने कौन सी दशा को धारण किया, उसको तो मैं भी नहीं जानता ॥३७॥

हाय ! उस कालीदह पर जाकर कालिय सर्प के शरीर से तथा फणों के समूह से परिवेष्टित

हा ! शुष्काङ्गदशां महामलिनतामप्यूहुरित्थं यथा
तेषामान्तरवह्निनैषि बहिरप्युद्यातुमित्यूह्यते ॥३८॥

"तत्र च—मानुषान् बुद्धिराहित्यात् पशूनिव निरीक्ष्य ते ।
पशूंश्च क्रन्दनान्मानुषानिव क्लेशमैयरुः ॥३९॥

"ततश्च, तेषां सदा स्नेहमयात्मनां तदा, त्रासात्तु शुष्कीभवतां हिमादिव ।
मिथः समीक्षाभवतापसङ्गमाद्,-भूयो बभूव द्रवता रवेरिव ॥४०॥

स्नेहात् प्रवाहावलितुल्यतां यतां, व्रजौकसां द्रागविशतां विषह्रदम् ।
बालोऽप्यथावेशबलद्बलो बलो, द्रुतं महासेतुदशां ससाद सः ॥४१॥

"उवाच च,—
'प्रीतिः किं न्वनुजे न मे व्रजपते ! तात ! व्रजाधीश्वरि !
श्रीरोहिण्यपि मातरस्य तु सदा तत्त्वं परं वेद्म्यहम् ।
सत्यं वः पदपङ्कजाश्रयरुचां कुर्याममुष्य क्वचि-
न्नैकस्मिन्नपि मूर्धजे क्षतिलवो भावी यथा गर्गगीः ॥'४२॥

श्रीगोपाल प्यारे को देखकर, श्रीनन्दादि गोप एवं श्रीयशोदा प्रभृति गोपियाँ विदीर्ण चित्त हो गईं, अर्थात् उन सबके हृदय विदीर्ण हो गये। हाय ! हाय ! जिस प्रकार उन सबके अंग शुष्क दशा को प्राप्त हो गये, अर्थात् सूख गये उसी प्रकार महामलिनता को भी प्राप्त हो गये। अधिक क्या कहें ? उन सबकी आन्तरिक खेदाग्नि ने बाहर भी जाने की इच्छा प्रगट की थी, यह भी अनुमान किया जाता है ॥३८॥

और वहाँ पर वे सब, मनुष्यों को बुद्धिरहित होने के कारण पशुओं की तरह, तथा पशुओं को रोने के कारण मनुष्यों की तरह देखकर, महान् क्लेश को प्राप्त हो गये ॥३९॥

तदनन्तर हिम (बरफ) के संयोग से स्नेहमय घृतादि पदार्थ जैसे शुष्क हो जाते हैं, उसी प्रकार सर्वदा स्नेहमय जिनकी आत्मा है, वे सब व्रजवासी उसी समय कालिय के ड़र से शुष्क प्राय हो गये। एवं सूर्य की ताप के संबंध से स्नेहमय द्रव्य (घृतादि) जिस प्रकार पिघल जाते हैं, उसी प्रकार परस्पर दर्शन जनित ताप के संबंध से वे सब पुनः द्रवीभूत हो गये ॥४०॥

स्नेह की प्रबलता के कारण प्रवाहश्रेणी की समानता को प्राप्त हुए व्रजवासी, जब शीघ्रतापूर्वक विष भरे उस ह्रद में प्रवेश करने लगे, तब वे बाल्यावस्था वाले भी श्रीबलदेवजी आवेश के कारण, प्रबल बलशाली होकर, शीघ्र ही उनको रोकने के लिये महासेतु की दशा को प्राप्त होगये ॥४१॥

और बोले कि—हे व्रजाधीश ! पिताजी ! हे व्रजेश्वरि मातः ! यशोदे ! क्या छोटे भैया श्रीकृष्ण पर मेरी प्रीति नहीं है ? अपितु है ही। और हे मातः ! रोहिणि ! मैं इन श्रीकृष्ण के परमतत्त्व को सदैव जानता हूँ। मैं आप सबके चरणारविन्दों की प्रभा की शपथ कर सकता हूँ, अर्थात् सौगंद खाकर कहता हूँ कि, इन श्रीकृष्ण के एक बाल पर भी हानि का लेश नहीं होगा, क्योंकि श्रीगर्गाचार्यजी के वाक्य भी ऐसे ही हैं ॥४२॥

"तदेवं प्रशस्तेन स्वहस्तेन श्रीरामेण हस्तवारणे कृते—

विषह्लदान्ताद्विनिर्वर्तिताश्च ते, प्रतीयुरेवाधितदात्मनः स्थितिम् ।
यत्कालकूटज्वलनान्तरङ्गतं, स्वं मेनिरे वीक्ष्य तदन्तरे हरिम् ॥४३॥

कालियह्लदमिते बक-शत्रौ, गोकुलस्य रुदतः प्रतिशब्दात् ।
रोदसी च रुदती स्वनिरुक्तिं, बाढमज्ञपयतां रुदसिज्भ्याम् ॥४४॥

गोप्यो मिथः कण्ठविलग्नकण्ठा,-स्ता रोरुदामासुरलं विलप्य ।
स्मृतिं नयत् पूतनिकादिनाशं, यन्मातृसान्त्वाय मुहुर्बभूव ॥४५॥

एवं स्वगोष्ठमहिवेष्टविविक्षु वीक्ष्य, सस्त्रीकुमारमतिदुःखितमात्महेतोः ।
कृष्णः सरोषविततांङ्गतया तदङ्गं, छिन्दन् श्लथं विदधदाशु बलादुदस्थात् ॥४६॥

"तदेवं कृष्णस्योत्थानमेव कालियस्य व्युत्थानं जातमिति सर्वोऽपि जहर्ष ॥४७॥

यथा—तदा मुदा कलकलगर्जितर्जितं, व्रजौकसां शिशुसवयोजराजुषाम् ।
दिवौकसां कुसुमजवृष्टिसृष्टियुग्,-जयध्वनिध्वनियुततूर्यलङ्घिभिः ॥४८॥

इस प्रकार कहकर प्रशंसनीय निज हाथ के द्वारा श्रीबलरामजी ने जब उनकी रक्षा कर दी, तब वे सब व्रजवासी विषमय कालीदह से निवृत्त होकर, श्रीकृष्ण में ही अपनी आत्मा की स्थिति को भली प्रकार समझ गये, क्योंकि विष भरे कालियह्लद में श्रीकृष्ण को देखकर, वे सब अपने को भी विषरूपी अग्नि के बीच में स्थित मानते थे ॥४३॥

बकारि श्रीकृष्ण के कालीदह में प्रविष्ट हो जाने पर, रोते हुए समस्त गोकुलवासियों की रुदन की प्रतिध्वनि के कारण, रोते हुए आकाश एवं भूमि ने अपने 'रोदसी' नाम की व्युत्पत्ति 'रुद्' धातु एवं 'असिच्' प्रत्यय इन दोनों के द्वारा दृढ़तापूर्वक यथार्थ बता दी। अर्थात् रोदनार्थक रुद् धातु से औणादिक असिच् प्रत्यय होकर, नित्यद्विवचनान्त 'रोदसी' शब्द सिद्ध होता है। वह आकाश एवं भूमि दोनों का ही वाचक है। अतः व्रजवासियों के रुदन को सुनकर, आकाश भूमि दोनों भी रोने लग गये। तात्पर्य यह है कि जो आकाश एवं भूमि नाम से ही 'रोदसी' कहलाते थे, उन दोनों ने रुदनरूप कार्य के द्वारा भी, अपने नाम की सार्थकता बता दी ॥४४॥

वे सब गोपियाँ आपस में गले से गला मिलाकर, विशेष विलापकर, अत्यन्त रुदन करने लग गईं। जिस रुदन ने पूतना आदि के विनाश की स्मृति दिलाई, वही रुदन श्रीकृष्ण के प्रति विघ्नों के अभाव का स्मरण कराता हुआ, माताओं की सांत्वना के लिये विशेष लाभदायक बन गया ॥४५॥

इस प्रकार आबाल वृद्ध नर नारियों सहित अपने समस्त व्रज को, अपने ही कारण अत्यन्त दुःखित, एवं कालियनाग से वेष्टित कालीदह में प्रवेश करने का इच्छुक देखकर, श्रीकृष्णचन्द्र क्रोधपूर्वक अपने अंगों को लम्बे चौड़े करते हुए, उस सर्प के अङ्गों को तोड़ते हुए, एवं ढ़ीले करते हुए, उस सर्प के बन्धन से बलपूर्वक शीघ्र ही उठकर खड़े हो गये ॥४६॥

अतएव इस प्रकार श्रीकृष्ण का उत्थान ही कालियनाग का व्युत्थान, अर्थात् प्रतिरोध हो गया। यह जानकर सभी हर्षित हो गये ॥४७॥

यथा—उस समय देवगण पुष्पों से जायमान वृष्टि की सृष्टि करने लग गये। उसी पुष्पवृष्टि के साथ साथ जयध्वनि, एवं उस जयध्वनि के सङ्ग सङ्ग वाद्यध्वनि भी करने लग गये। किन्तु बाल, युवा, वृद्ध

"ततश्च समुत्तेजिततत्तेजोभिरुद्वेजितचित्तः कुण्ठतावगुण्ठितोत्कण्ठतया दूरत एवोत्कण्ठतया तिष्ठन्मूढधीरसौ गूढपात् प्ररूढक्रोधः स्वबोधरोधतस्तं प्रतिद्रोग्धुमुद्यतः सन्नुद्धतबुद्धिस्थूत्कार-फुत्कार-दृष्टिवारकृत-कूटं कालकूटं प्रकटीकुर्वन् गिरिकूटायमानः कर्तव्यविह्वलतया जिह्वाद्वय-समुदयेन मुहुः क्ष्वेडवाडवपक्वं सृक्किणीद्वयसमुदयलेहनाद्द्विजिह्वलेलिहानाद्याह्वयोऽस्मीत्युट्टङ्कनेन घटयितुकामः सर्वतो दृष्टवपुर्बभूव ॥४९॥

"ततश्चाखण्डाहितुण्डिकविद्यापण्डितवदुच्चण्डतया सकण्ठतुण्डावगुण्ठनाय सदर्पमभितः सर्पति सर्पाशनवाहने सर्पोऽयमपि शिरोभिः कृतपरिसर्पः सर्पन्नदेवापसर्पन्नुपसर्पंश्च जिह्मगवदेव जिह्मं गच्छंश्च परितो बभ्राम शश्राम च ॥५०॥

"तदेवमहीनमहीनं प्रति सांयुगीनता-रतोऽपि चिरतो लब्धच्छिद्रतयाभिद्रवन्नेव तदीय-समग्रग्रीवाग्रगण्यमूलनालमेव बलानुजन्मा बलादवजग्राह निजग्राह च ॥५१॥

"ततश्च विवशाङ्गसङ्गे तस्मिन्नुरङ्गमे तु—

उद्यद्रत्नचितेषु पुष्टनिटिल-प्रस्थेषु रङ्गश्रिया
शस्तेषु स्फुटनृत्यकृत्यकलनालोभेन शोभेक्षणः ।

प्रभृति व्रजवासियों की हर्ष के कारण उत्पन्न हुई कलकलमयी गर्जनाओं ने, देवताओं की उस जयध्वनि एवं वाद्यध्वनि को परास्त कर दिया। अर्थात् व्रजवासियों के हर्षनाद के सामने देवताओं की जय जयकार एवं वाद्यध्वनि को कोई भी नहीं सुन पाता था ॥४८॥

तदनन्तरअत्यन्त प्रदीप्त श्रीकृष्ण के तेजपुंज से उस मूढ़ बुद्धि सर्प का चित्त उद्विग्न हो गया। संकोच से ढ़के हुए उत्कण्ठित भाव के कारण, दूर से ही गला उठाकर रह गया। उस समय उसका क्रोध उत्पन्न हो गया। अपने ज्ञान के नष्ट हो जाने के कारण, उद्धत बुद्धिवाला होकर, श्रीकृष्ण के प्रति द्रोह करने को उद्यत हो गया। पुनः थूत्कार, फुंकार, दृष्टिपुंज आदि के द्वारा किया है ढेर जिसका, ऐसे भयंकर विष को प्रगट करता हुआ, पर्वत की शिखर के समान होता हुआ, किंकर्तव्यविमूढ़ होकर, दोनों जिह्वाओं के समुदाय से, विषरूपी अग्नि से पके हुए दोनों ओष्ठ प्रान्तों के समुदाय को, बारंबार चाटने के कारण, मैं ही द्विजिह्व, लेलिहान आदि नामों वाला हूँ। इस प्रकार की बातों को लेख के द्वारा संघटित करने के लिये अभिलाषा से युक्त होकर, चारों ओर से दिखाई देनेवाले शरीर से युक्त हो गया, अर्थात् उस कालिय का शरीर जल से बहुत ऊँचा होने के कारण, सभी को चारों ओर से दिखाई देने लग गया ॥४९॥

पश्चात् अकाट्य अहितुण्डिक, अर्थात् सँपेरा की विद्या में विशारद पण्डित की तरह जल्दबाजी के कारण, गरुड़वाहन श्रीकृष्ण, जब उस कालिय के गले के सहित मुखों को मूँदने के लिये घमण्डपूर्वक चारों ओर चक्कर लगा रहे थे, तब यह कालिय नाग भी अपने अनेक मस्तकों के द्वारा निकट आकर, सर्प की तरह कभी दूर एवं कभी निकट जाता हुआ, और कुटिलतापूर्वक चलनेवाले सर्प की तरह टेढ़ा चलता हुआ, चारों ओर चक्कर लगाने लगा, अतः थक भी गया ॥५०॥

अतएव ऐसी स्थिति में श्रीबलदेवजी के छोटे भाई श्रीकृष्ण ने उस विशालकाय सर्पराज के प्रति युद्ध की चतुराई में आसक्त होकर भी, बहुत देर से छिद्र प्राप्ति की भावना से घूमते हुए ही, उसके समग्र ग्रीवाओं के अग्रगण्य मूल नाल को ही बलपूर्वक ग्रहण कर लिया, और उसको दण्डित भी कर दिया ॥५१॥

उसके बाद सर्प के सारे अङ्गों के विवश होजाने पर तो, दमदमाते हुए रत्नों से व्याप्त, एवं नृत्य की शोभा से प्रशंसनीय, उस कालिय के परिपुष्ट ललाट रूप शिखरों पर, स्पष्ट नृत्य कार्य की रचना के लोभ से

द्योविद्योतनवाद्यगीतकलया संहाय साहायकं
श्रीकृष्णस्तदुपर्युदश्रुतमुदामुच्चै रुदारच्छविः ॥५२॥

"ततश्च, पुनर्व्रजः स्फुटसुखविस्मयारव,-प्लुवश्रिया स्पृशदमरव्रजं दिवि ।
असौ च तं भुवि बत यत्र चोभयोः, प्रतिध्वनिध्वनिविभिदा न तर्किता ॥५३॥

"ततश्च, शश्वद्गर्वदपर्वशर्वडमरुस्वर्वाद्यसर्वाद्यतां
विन्दन् कुण्डलि-दण्डनाय रभसादुद्दण्डसत्ताण्डवः ।
आरादूर्ध्वितमूर्ध्वितं भुजगराड् मूर्धानमुन्मर्दयन्
क्रोधाद्रोधकुतूहलाद्धरिरिहानर्ते ननर्त स्फुटम् ॥५४॥

"अथ—जयज्जयजयारवाः कुसुमवृष्टिसृष्टिप्रथाः
स्फुरत्पुलकपालयः प्रथितशर्मघर्माश्रवः ।
भुजङ्गशिरसीशितुस्तदनुकृत्यनृत्यं सुरा
भवाम्बुजभवादयः प्रमदगर्जमार्जन्मुहुः ॥५५॥

सर्पस्याननजालकूटघटनादुत्थानमात्मायुषा
निर्मञ्छ्याग्रनखस्य तस्य नटनं तन्मूर्ध्नि चात्यद्भुतम् ।

सुशोभित नेत्रों वाले श्रीकृष्ण आकाश की शोभा को बढ़ाने वाले, बाजे गाजे की कला से, एवं नेत्रों के जल से जिनका हर्ष व्याप्त हो रहा है, ऐसे गंधर्वादिकों की सेवारूप सहायता को स्वीकार कर, विशिष्ट रमणीय छवि से युक्त हो गये ॥५२॥

तदनन्तर स्पष्ट सुख एवं विस्मय के कोलाहल की गति की सम्पत्ति के द्वारा, व्रजधाम ने स्वर्ग में स्थित देवसमूह को छू लिया, एवं देवसमूह ने भी भूमि में स्थित व्रजधाम को, अर्थात् व्रजवासियों को छू लिया। क्योंकि जहाँ पर आनन्द के कारण दोनों ही की, ध्वनि प्रतिध्वनि का भेद लक्षित नहीं किया जा सका ॥५३॥

उसके पश्चात् निरन्तर गर्व को खण्डित करने वाला है महोत्सव जिनका, ऐसे शिवजी का जो डमरू एवं स्वर्गीय समस्त वाद्यों की प्राथमिकता को प्राप्तकर, अर्थात् श्रीकृष्ण के नृत्य से पहले ये सब बाजे बजने लग गये थे, इनको स्वीकार कर, सर्प को दण्ड देने के लिये वेगपूर्वक उच्चकोटि के नृत्य को स्वीकार कर, निकट में ऊपर ऊपर की ओर उठते हुए सर्पराज के प्रत्येक मस्तक का मर्दन करते हुए, क्रोध की तरह रुके हुए कुतूहल से इस नृत्यस्थान पर, श्रीकृष्ण स्पष्ट नाचने लग गये ॥५४॥

तदनन्तर शिव, ब्रह्मादि देवता कालियनाग के मस्तक पर अपने नियन्ता श्रीकृष्ण के उस अपूर्व नृत्य का अनुकरण कर, बारंबार आनन्दभरी गर्जना करने लग गये। उत्कर्ष भरे जय जयकारे लगाने लग गये। पुष्पों की वृष्टि की सृष्टि का विस्तार करने लग गये। उनके शरीर रोमाञ्चश्रेणी से सुशोभित हो गये। और अधिक सुख के कारण उनकी देह से पसीना एवं नेत्रजल बहने लग गया ॥५५॥

तदनन्तर श्रीव्रजराज एवं श्रीव्रजरानी आदि व्रज के समस्त प्राणी, उस कालियनाग के मुख जाल रूपी यन्त्र में प्रवेश कर, श्रीकृष्ण के पुनः उत्थान की अपने जीवन से आरती उतारकर, एवं उसके मस्तक

दृष्ट्वा श्रीव्रजराजतत्प्रणयिनीमुख्या व्रजप्राणिनो
नेत्रं गात्रमपि प्रफुल्लमभजन्मन्ये जगद्व्याप्तये ॥५६॥

मूर्धश्रेण्यां तस्य शून्ये च कृष्णे, नृत्यं कुर्वाणे तु चित्रं तदासीत् ।
तेन क्रोधान्मस्तकं यद् व्युदस्तं, तत्रानेन प्रापिता काललत्ता ॥५७॥

मुखै रुधिरमुद्वमन् गरलमुद्गिरन्नक्षिभिः
स्खलन्मणिकमस्तकस्थिततदंघ्रिचिह्नव्रणः ।
श्लथाङ्गकतया जहद्दनुजसङ्घजिद्रङ्गतां
व्यलोक्यत निजाङ्गनावलिभिरेष कालीयकः ॥५८॥

"ततश्चासावुपस्कीर्ण-विकीर्ण-मूर्त्या स्वपौरुषाऽपूर्त्यानन्यगतितास्फूर्त्या तत्कारणककारणा-निवारणाय तं नारायणमेव मत्वा शरणममन्यत ॥५९॥

"तदङ्गनाश्च—
न तावदार्द्रत्वमभूदमूषां, बहिर्मुखत्वं यदवध्यमुष्य ।
दृष्टे तु भक्त्यंकुरजन्मनि स्फुटं, कृष्णं गतिं जग्मुरमूस्तदर्थम् ॥६०॥

पर, आगे की ओर नख एवं अंगुलियों वाले श्रीकृष्ण के अद्भुत नृत्य को देखकर, अपने अपने नेत्र एवं गात्र की प्रफुल्लता को प्राप्त हो गये। मुझे तो यह बोध होता है कि, श्रीकृष्ण के आनन्दमय नृत्य को देखकर, व्रजवासियों के नेत्र एवं गात्र जगत् को व्याप्त करने के लिये ही खिल उठे ॥५६॥

श्रीकृष्ण उसकी मस्तक श्रेणी पर एवं आकाश में जब नृत्य कर रहे थे, तब तो यह एक आश्चर्य होता था कि वह कालियनाग क्रोध से जिस जिस मस्तक को ऊपर की ओर उठाता था, श्रीकृष्ण ठीक उसी उसी पर तालपूर्वक अपनी लात जमा देते थे ॥५७॥

उस समय नागपत्नियों ने इस कालियनाग को इस प्रकार देखा कि—मुखों से रुधिर को वमन कर रहा है, नेत्रों से जहर को उगल रहा है, मणिरहित मस्तकों के मध्य स्थित श्रीकृष्ण के चरणचिह्नों से घावयुक्त हो रहा है, और सभी अङ्गों के शिथिल हो जाने के कारण, दैत्यसंघ को जीतने वाले श्रीकृष्ण की नृत्यभूमि की अवस्था को त्याग रहा है ॥५८॥

तदनन्तर वह कालियनाग अपनी मूर्ति (शरीर) के छिन्न भिन्न एवं विक्षिप्त हो जाने से, अतएव अपने पुरुषार्थ की पूर्ति न होने के कारण, श्रीकृष्ण के बिना अब मेरी कोई भी गति नहीं है, इस प्रकार की स्फूर्ति हो जाने से, श्रीकृष्ण ही हैं कारण जिसके, ऐसी तीव्र वेदना निवारण करने के लिये, श्रीकृष्ण को ही साक्षात् नारायण मानकर, उन्हीं को रक्षक मानने लग गया, अतः उन्हीं के शरणागत हो गया ॥५९॥

इस कालियनाग की जब तक भगवान् से बहिर्मुखता रही, उसकी पत्नियों का चित्त भी तब तक उसके प्रति पिघला नहीं। किन्तु अब तो इसके हृदय में भक्ति का अंकुर जम गया है, ऐसे देखकर उसकी मुक्ति के लिये, वे नागपत्नियाँ स्पष्टरूप से सर्वप्राप्य श्रीकृष्ण की शरण में गईं ॥६०॥

काश्चित् कुमारानत्यर्थबालान् काश्चन तास्तदा ।
काश्चिदण्डानि पुरतस्तस्य न्यस्य व्यनंसिषुः ॥६१॥

"हसति च भक्तसान्त्वनतृष्णे कृष्णे तास्तु बहुधास्तवबुधा मुदाकुलाः पृदाकुपत्न्यः सकाकु विज्ञापयामासुः । तत्र संक्षेपनिक्षेपश्चायम्,—॥६२॥

'अस्त्येष स्फुरदमतिः सदर्पसर्प,-स्त्वं विश्वविद्दसि तथा कृपाम्बुराशिः ।
अस्मासु त्वदनुगतास्वमुष्य पत्नी,-भावश्चेदजनि यथायथं विधेहि ॥६३॥
दण्डं ते विदधतु ये स्वसङ्गमात्राद्,-दुष्टत्वं प्रशमयितुं न शक्नुवन्ति ।
त्वत्स्पर्शाज्झटिति ह्रदोऽपि सोऽयमौज्झत्, क्ष्वेडत्वं बलवदितीह नः समक्षम् ॥६४॥
मूर्खत्वं न इदमनुग्रहेऽपि यस्मा,-त्त्वत्सृष्टे स्फुटमिह भाति दण्डबुद्धिः ।
दण्डश्चेदमुमपरैरदण्डयिष्य,-स्तं कर्तुं कथमदधाः पदारविन्दम् ? ॥६५॥
सत्पुण्यैरिह खलु कैस्त्वदंघ्रिपद्म,-स्पर्शोऽयं परिबलते भुजङ्गराजे ।
दुष्पापैरपि बत कैरमुष्य देह,-स्तद्भारं द्रुतमृतिलंभनाय वेत्ति ॥६६॥

उनकी शरणागति इस प्रकार है कि—कुछ नागपत्नियाँ कुमारों को, एवं कुछ अत्यन्त बालकों को, तथा कुछ अण्डों को ही, उस समय श्रीकृष्ण के आगे धरकर, प्रणाम करने लग गईं ॥६१॥

भक्तों को सांत्वना देने की तृष्णावाले श्रीकृष्ण जब हँस रहे थे, तब अनेक प्रकार की स्तुति करने में चतुर, हर्ष से व्याकुल उन नागपत्नियों ने तो कातरतापूर्वक बहुत कुछ विज्ञापन किया था। उसमें का संक्षिप्त सारांश का निक्षेप यह है कि— ॥६२॥

हे प्रभो ! यह सर्प तो दर्प से युक्त है, अतः इसको कुमति की ही स्फूर्ति होती रहती है। आप तो सर्वज्ञ तथा दया के सागर हो। हम आपकी अनुगत हैं। अतः हमारे ऊपर यदि "ये सब इस नाग की पत्नी हैं" ऐसा आपका भाव उत्पन्न हो गया है, तब तो आपकी जैसी इच्छा, तैसे ही कीजिये ॥६३॥

जो व्यक्ति अपने सङ्गमात्र से दुष्टता को दूर करने के लिये समर्थ नहीं हैं, वे यदि दण्डविधान करते हैं तो करो। देखो, आपके स्पर्शमात्र से इस जड़ जलाशय ने भी, बलवान् विष विकार को शीघ्र ही त्याग दिया। यह घटना यहाँ हमारे प्रत्यक्ष ही है। अतः अब इसको अधिक दण्ड देने की आवश्यकता नहीं ॥६४॥

हे स्वामिन् ! हमारी तो यही मूर्खता है कि, आपके द्वारा किये हुए अनुग्रह में भी, यहाँ पर स्पष्टरूप से दण्डबुद्धि प्रतीत हो रही है। बस, यही मूर्खता का कारण है। और यदि यह सर्प दण्डनीय होता, तो आप दूसरे जनों के द्वारा दण्ड देते। ऐसी स्थिति में उस दण्ड को देने के लिये, स्वयं अपने पदारविन्द को इसके मस्तकों पर क्यों धारण किया ? इससे भावार्थ यही निकलता है कि, यह दण्ड नहीं, अपितु साक्षात् कृपा है ॥६५॥

हे प्रभो ! इस सर्पराज के मस्तकों पर यह आपके श्रीचरणारविन्दों का जो स्पर्श संघटित हो रहा है, यह न जाने इसके कौनसे सत्पुण्यों के द्वारा हो रहा है। और विशेष खेद की बात यह है कि, न जाने कौनसे दुष्पापों के कारण इसका शरीर शीघ्र मृत्यु प्राप्ति के लिये, उस आपके चरणस्पर्श को भाररूप समझ रहा है ॥६६॥

"तस्मात्—शीर्षच्छेद्यस्य यः कृष्णः शीर्षाणि कालियभोगिनः ।
अन्वगृह्णात् पदन्यासाच्चिह्नश्रेण्या गतिः स नः ॥६७॥

"अथ हीने तस्मिन्नहीने सदयं तदनुमोदमानः क्रोधं विनयमानः कृतयशोदायशोदानः स्वांघ्रिसङ्घट्टनत्रुटितात् कालियनिटिलादवतीर्य नातिप्रकटितवीर्य-स्तस्यावाग्वक्रतया स्थितस्याग्रे क्षणकतिपयं करुणाव्यग्रेक्षणतयाऽवतस्थे ॥६८॥

"अथ वनमाली कालिन्दीय-ह्रदमिव कालिय-हृदयं दायति स्म । तदा सोऽपि लीयमान-दोषतया तदीयरोषं प्रोषितमकरोत्; वलिताञ्जलिकरो दर्वीकरो विज्ञापयामास च,—'यद्यपि वृजिनगामिनो मम वृजिनमेव स्वभावस्तथापि तु—॥६९॥

'गुणो वा दोषो वा भवति मयि यः कृष्ण स भव-
द्वशस्थायी नित्यं मम तु कृतिसाध्यं किमपरम् ?
त्वदंघ्रिद्वन्द्वस्याश्रयणमिति चेत्तच्च शिरसि
त्वया मे विन्यस्तं मम तु कृतिसाध्यं किमपरम् ? ॥७०॥

'तस्मात् कामपि दिशं स्वयमेव मामादिश ॥'७१॥

इसलिये जिन श्रीकृष्ण ने मस्तकछेदन पूर्वक वध करने योग्य कालियनाग के मस्तक पर पदविन्यास पूर्वक, अनेक प्रकार के चरणचिह्नों की श्रेणी द्वारा उसे अनुगृहीत कर दिया, वे ही श्रीकृष्ण हमारे गति हैं ॥६७॥

तदनन्तर उस सर्पराज के कमजोर पड़ जाने पर, श्रीयशोदाजी को भी यश का दान करनेवाले श्रीकृष्ण, दयापूर्वक उसके भाव का अनुमोदन करते हुए, क्रोध को दूर करते हुए, अपने पादप्रहार से टूटे हुए कालिय के मस्तकों से उतर कर, अति पराक्रम को न प्रकाशित कर, नीचा मुख करके खड़े हुए उस कालिय के आगे, कुछ क्षणों तक कृपा करने को व्याकुल दृष्टिवाले की तरह खड़े रहे ॥६८॥

तदनन्तर यमुना सम्बन्धी कालियह्रद की तरह, कालियनाग के हृदय को भी, श्रीवनमाली ने शुद्ध कर दिया। उस समय कालिय ने भी दोषरहित हो जाने के कारण, श्रीकृष्ण के क्रोध को दूर कर दिया, और हाथ जोड़कर उस सर्प ने निवेदन किया कि—हे प्रभो ! मैं यद्यपि कुटिलतापूर्वक चलने वाला हूँ, अतः कुटिलता ही मेरा स्वभाव है, अथवा पापाचारी होने के कारण, यद्यपि पापाचरण ही मेरा स्वभाव है, तथापि हे कृष्ण ! मुझमें जो गुण अथवा दोष है, वह तो नित्य आपके ही वश में स्थित है, अतः मेरे कर्तव्य के द्वारा साध्य दूसरा कार्य कौनसा है, अर्थात् स्वतन्त्र होकर मैं कौनसा कार्य कर सकता हूँ ? कोई भी नहीं। और यदि आपके चरणारविन्द द्वन्द्व का आश्रय लेना ही सर्वशास्त्र सम्मत आपका उद्देश्य है, तो वह युगल चरणारविन्द तो आपने कृपा करके मेरे प्रत्येक मस्तकपर स्वयं रख दिया है, अतः मेरी कृति के द्वारा साध्य अब दूसरा कार्य कौनसा रह गया ? अर्थात् मेरे तो सब काम बन गये ॥६९॥७०॥

अतः आप स्वयं ही मुझको किसी दिशा को जाने का आदेश दे दीजिये ॥७१॥

"अथ स च सदेशरूपमिदमादिदेश,—'अहिपते ! त्यक्तदौर्जन्यतया धन्यस्यापि तव यस्मादहिता स्वयं जगदहिता, तस्मात् (भा० १०।१६।६०,६३)—॥७२॥

'नात्र स्थेयं त्वया सर्प समुद्रं याहि माचिरम्। त्वं ज्ञातयपत्यदाराढ्यो गोनृभिर्भुज्यतां नदी ॥७३

द्वीपं रमणकं हित्वा ह्रदमेतमुपाश्रितः। यद्भयात् स सुपर्णस्त्वां नाद्यान्मत्पादलाञ्छितम् ॥'७४

'रेफं विसृष्टं निर्मायादवसाने पदान्तगम्।
इति शासनविज्ञानां मतमेव मतं मम ॥७५॥
अधुना कालिय ! यस्मा,-न्मत्पदकृतलक्षणस्त्वमसि।
तदमुत्र च संभविता, मत्पदकृतलक्षणः स भवान् ॥'७६॥

"अथ दण्डवदेव पतितः कुण्डलिपतिस्तेन नखरसुधाकराकरकरसरसिरुहं शिरसि निधाय सुधासिक्ततनुतया नीरुग् निरमायि ॥७७॥

"एतदनन्तरलीला (भा० १०।१६।६४) 'तं पूजयामास' इत्यादिकं श्रीशुकवचनमनूद्य 'महत्त्वं च' इत्यादिना विशद्यते; (भा० १०।१६।६४-६७, १७।१३-१४)—॥७८॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण ने न्यायसंगत निकटतम यह आदेश दिया कि—हे सर्पराज ! अब तुम दुर्जनता त्याग देने के कारण परम धन्य हो गये हो। तो भी तुम्हारा सर्पत्व धर्म ही जगत्मात्र के लिये अहितकारक है, यह बात स्वयं प्रसिद्ध है। अतः हे सर्पराज ! अब तुमको यहाँ नहीं ठहरना चाहिये। अब तो तुम जाति, बेटा, नाती, स्त्री आदि के सहित शीघ्र ही समुद्र को चले जाओ। गोगण एवं मानवगण इस श्रीयमुना नदी का उपभोग करें ॥७२-७३॥

तुमने जिसके भय से रमणकद्वीप को त्यागकर, इस जलाशय का आश्रय लिया है, वह गरुड़ अब तुमको मेरे चरण चिह्नों से चिह्नित देखकर नहीं खायेगा ॥७४॥

पर वर्णों के अभाव में एवं पद के अन्त में विद्यमान रेफ को विसर्ग बना देना चाहिये, यह व्याकरण शास्त्र के विज्ञाताओं का मत है। इस प्रकार मेरा भी यही मत है कि मूर्ख या निन्दित नीच व्यक्ति, जो अपने स्थान में विद्यमान हो, उसको त्याग दे, अर्थात् दूर भगा दे। अतः तुमको यहाँ नहीं रहना चाहिये। इस श्लोक में 'रेफ' का र वर्ण, एवं मूर्ख तथा निन्दित अर्थ है। 'विसृष्ट' का विसर्ग, एवं त्याग अर्थ है। और 'शासन' का शास्त्र, एवं दण्ड अर्थ है ॥७५॥

हे कालिय ! इस समय जिस कारण से तुम मेरे चरणों के द्वारा किये गये चिह्नों से चिह्नित हो गये हो, इसीलिये परलोक में और रमणकद्वीप में भी, तुम गुणों से विख्यात हो जाओगे, तथा मेरे परमधाम में भी अपने गुणों से विख्यात हो जाओगे ॥७६॥

तदनन्तर दण्ड की भाँति भूमि पर पड़े हुए सर्पराज को, श्रीकृष्ण ने नखर पंक्तिरूप सुधाकरों के आकारस्वरूप अपने करकमल को, उसके मस्तक पर धरकर, अमृत से सींचे हुए शरीर वाले की तरह नीरोग बना दिया ॥७७॥

इसके बाद की लीला को तो "तं पूजयामास" इत्यादि श्रीशुकदेवजी के वचनों का अनुवाद करके "महत्त्वं च" इत्यादि ग्रन्थ के मूल श्लोकों द्वारा विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं, यथा— ॥७८॥

'तं पूजयामास मुदा नागपत्न्यश्च सादरम् । दिव्याम्बरस्रङ्मणिभिः परार्ध्यैरपि भूषणैः ॥
दिव्यगन्धानुलेपैश्च महत्योत्पलमालया । पूजयित्वा जगन्नाथं प्रसाद्य गरुडध्वजम् ॥
ततः प्रीतोऽभ्यनुज्ञातः परिक्रम्याभिवन्द्य तम् । सकलत्र-सुहृद्-पुत्रो द्वीपमब्धेर्जगाम ह ॥
तदैव सामृतजला यमुना निर्विषाभवत् । कृष्णं ह्रदाद्विनिष्क्रान्तं दिव्यस्रग्गन्धवाससम् ॥
महामणिगणाकीर्णं जाम्बूनदपरिष्कृतम् । उपलभ्योत्थिताः सर्वे लब्धप्राणा इवासवः ॥'
इति ॥७९-८३॥

"महत्त्वं च परार्ध्यत्वं चात्र दिव्यत्वमुच्यते । दिव्यत्वं तेषु कृष्णस्याप्यङ्गे देदीप्यमानता ॥
अतोऽस्यामूनि नित्यानि स्थितान्यरुणजा-ह्रदे । तेषु कौस्तुभनामा तु मणिः कृष्णे विराजते ॥
नक्षत्रेषु सदा पूर्णचन्द्रवत् पूर्वपर्वते । जगन्नाथं च यत् प्राह तथा तं गरुडध्वजम् ॥
तत्राश्चर्यं न चाचर्यं द्वारकायां हि विश्रुतम् । काद्रवेयस्य देवाभ-नानाशक्तिविधारिणः ॥
वर्त्मास्य सुरवर्त्म स्यादिति युक्त्यावगम्यते । अन्यत्तु जीवपीडाय तत् कथं कृष्ण-संमतम् ? ॥
वारिलीलापरामर्शः स्पर्शश्चाघरिपोर्यदा । तदैषामृततुल्यासीद्यमुनेत्यवगम्यते ॥

कालियनाग ने और उसकी पत्नियों ने हर्ष एवं आदरपूर्वक दिव्य वस्त्र, दिव्य माला, रत्न, बहुमूल्य आभूषण, दिव्य गन्ध, दिव्य चन्दन, एवं बहुत लम्बी कमलों की माला आदि सामग्री के द्वारा श्रीकृष्ण की पूजा की। इस प्रकार जगन्नाथ की पूजा कर, गरुड़ध्वज को प्रसन्नकर, तदनन्तर स्वयं प्रसन्न होकर, श्रीकृष्ण की आज्ञा पाकर, उनकी परिक्रमा एवं नमस्कार करके, वह कालियनाग पुत्र, कलत्र, एवं भाई बन्धुओं के सहित, समुद्र के द्वीप को चला गया ॥७९-८१॥

वे श्रीयमुनाजी तत्काल विषरहित अमृत के से जल वाली होगईं । तथा दिव्य माला, गन्ध, एवं वस्त्रों से संयुक्त, महामणिगणों से आकीर्ण (व्याप्त) सुवर्णमय आभूषणों से सुशोभित श्रीकृष्ण को, कालीदह से निकलने के बाद प्राप्तकर, सभी व्रजवासी सजीव प्राणों की तरह खड़े हो गये ॥८२-८३॥

अब इन पूर्वोक्त भागवत के श्लोकों में विद्यमान परार्ध्य, महत्त्व, दिव्यत्व, पदों का अर्थ ग्रन्थकार स्वयं पद्यों द्वारा करते हैं, यथा—यहाँ पर जिन वस्तुओं का महत्त्व, श्रेष्ठत्व या अमूल्यत्व प्रसिद्ध है, उनको ही दिव्य कहते हैं। किन्तु इस प्रसङ्ग में तो उन सबमें से श्रीकृष्ण के अङ्ग में भी जो वस्तु देदीप्यमान रहे, उसी का नाम दिव्य वस्तु है। यदि कहो कि तत्काल आभूषण कहाँ से आये ? तहाँ कहते हैं कि—इन श्रीकृष्ण की ये नित्य वस्तुएँ श्रीयमुनाजी के ह्रद में स्थित थीं। इन सब नित्य वस्तुओं के मध्य में कौस्तुभ नामक मणि तो, नक्षत्रों के बीच में उदयाचल पर पूर्णचन्द्रमा की तरह, सर्वदा श्रीकृष्ण के अङ्ग में विराजमान रहता है। और श्रीशुकदेवजी ने श्रीकृष्ण को जगन्नाथ एवं गरुड़ध्वज कहकर जो वर्णित किया है, उसमें किंचिद् भी आश्चर्य नहीं करना चाहिये। क्योंकि द्वारकालीला में ऐसा ही सुना जाता है। यदि कहो कि परिवार के सहित वह कालिय, रमणकद्वीप में कौन से मार्ग से गया ? तहाँ कहते हैं कि—कद्रु का बेटा कालिय देवता की तरह अनेक शक्ति धारण करने वाला था, अतः ऐसे शक्तिशाली उसका मार्ग आकाश ही हो सकता है, यह युक्ति से जाना जाता है। अतः वह सपरिकर आकाश मार्ग से ही गया, यह निश्चित सिद्धान्त है। अन्य भूमि सम्बन्धी मार्ग तो जीवों की पीड़ा के लिये हो जाता, वह मार्ग श्रीकृष्ण के सम्मत कैसे होता ? ॥८४-८८॥

और अघासुरारि श्रीकृष्ण का जब कालीदह में जलक्रीड़ा करने का विचार हुआ, उसके पश्चात्

कृष्णस्याक्लिन्नवेशत्वं कालियेनोपवाहतः । अकस्माद्दर्शनं यत्तन्नागालिपरिवारितः ॥
तस्मात् 'कृष्णं ह्रदात्' इत्यादुक्तं युक्तं प्रकाशते ॥ इति ॥८४-९०॥

"तन्निर्वर्णने विशेषस्तु वर्ण्यते,—

"कोलाहलस्त्वरितता विवशाङ्गचर्या, कम्पः स्खलद्वचनता स्रवदस्रता च ।
वीक्ष्यादितृप्तिपरिहानिरिति व्रजस्थाः, सौख्येऽपि दुःखमगमन् प्रतिलभ्य कृष्णम् ॥९१॥

आगतोऽयमिति केवलं मुदा, स्फूर्तिपूर्तिरभवद्व्रजौकसाम् ।
हन्त येन न वपुर्न वा मनः, किञ्चिदञ्चितुमवाप शक्तताम् ॥९२॥

"ततश्च, स्तम्भः सन्धिषु बन्धनं पुलकिता सान्द्रव्रणाभस्थिति-
र्बाष्पः स्रस्तविलोकनः स्वरभिदा कण्ठान्तरस्तम्भिनी ।
कम्पः पातवदन्तदन्तवलयः स्वेदस्तनुद्रावणः
स्यादेवं कृतवीक्षणः स्वसुहृदां व्यग्रीबभूव प्रभुः ॥९३॥

"अथ प्रथमत एव प्रथमतः स्थिताः समानवयसः सवयसः पयसस्तस्मात्मुत्तीर्णं निर्वर्ण्य विस्तीर्णतद्वर्णामृतभृतनयनतया स्थिताः क्रमतस्तदङ्गसङ्गरङ्गभूमितामितास्तदालिङ्गनरिङ्गत्सुखतरङ्गताङ्गता न तावत् प्रतिस्वमयमहमस्मीति तस्मिन्नचवेदिषुः ॥९४॥

उनके श्रीअङ्ग का जब स्पर्श हुआ, उसी समय ये श्रीयमुनाजी अमृत के तुल्य हो गई, ऐसा ही जाना जाता है ॥८९॥

और कालियनाग के द्वारा तीरभूमि को प्राप्त करने के कारण, श्रीकृष्ण का वेश गीला न हुआ। तथा श्रीकृष्ण का अकस्मात् जो दर्शन हुआ वह भी, नागश्रेणी के चारों ओर जो जल था उसके भीतर से ही हुआ। इस कारण से "श्रीकृष्ण को जलाशय से निकले हुए जानकर" इत्यादि वाक्य भी युक्तियुक्त शोभा पा रहा है ॥९०॥

अब श्रीकृष्ण के दर्शन होने पर जो विशेषता हुई उसका वर्णन करते हैं, यथा—कोलाहल, जल्दबाजी, समस्त अङ्गचर्या की विवशता, कम्पन, बोलते समय वचनों का टूट जाना, अश्रुजलपात, दर्शन आदि में तृप्ति का अभाव, इस प्रकार के भावों के उदय के कारण, श्रीकृष्ण को पाकर भी, व्रजवासीजन सुख के समय भी, दुःख को प्राप्त हो गये ॥९१॥

"श्रीकृष्णचन्द्र आगये" इस कारण केवल हर्ष से व्रजनिवासियों की स्फूर्ति की पूर्ति तो हो गई, किन्तु खेद की बात यही हुई कि जिसके कारण उनका शरीर एवं मन कुछ भी प्राप्त करने को सामर्थ्य न पा सका ॥९२॥

तदनन्तर स्तंभ (शरीर की निश्चलता), प्रत्येक सन्धियों में बन्धन, गाढ़े घाव की सी स्थिति वाली पुलकावली, दर्शनों को रोकनेवाला अश्रुपात, दूसरे के गले को भी रोकनेवाला स्वरभङ्ग, गिरने के समय की तरह दन्तपंक्ति को कटकटा देने वाला कम्प, एवं शरीर को फोड़नेवाला स्वेद (पसीना), इस प्रकार अपने बन्धुओं के सात्त्विक प्रेम विकारों को देखने वाले महाप्रभु श्रीकृष्ण भी व्याकुल हो गये ॥९३॥

तदनन्तर पहले से ही आगे की ओर बैठे हुए समान अवस्था वाले सब सखा, उस कालीदह के जल से उत्तीर्ण हुए श्रीकृष्ण को देखकर, विस्तीर्ण श्यामवर्णरूपी जल से अपने अपने नेत्रों को परिपूर्ण करके ठिटके से रह गये। पुनः क्रम से श्रीकृष्ण के अङ्ग सङ्ग की रंगभूमि के से भाव को प्राप्त होकर, उनके

"यद्वदेतांस्तद्वदेव श्रीमन्नन्दजन्मा क्रम-भजन-सम्माननया जननीं जनकं सुहृज्जनतामपि जनितानन्दान् जनयामास। यतस्तत एव ते सर्वे स्तब्धदेहा लब्धसुखदेहा बभूवुः ॥६५॥

"अहो! यदि सत्यवचसस्तेनावदिष्यंस्तदा तदिदं वा कः प्रतीयात्? यत् खलु गावश्च मृगाश्च तदागमनं मृगयमाणा व्रजजने चाभेदमाययुः। यच्च नगा अपि तद्दुःखतः शुष्कचराः सम्प्रति पुष्कलसुखास्तत्कालकलितपल्लवादिभिः प्रफुल्ला बभूवुरिति ॥६६॥

"तत्र च—सुहृल्लोका ये ये सुररिपुजिता यर्हि मिलिता-
स्तदा सत्यं सर्वे समयुरभितः प्रीतिमतुलाम्।
यदा तु श्रीमाता सपदि मिलिता प्रेमविवशा
तदास्तां तद्वार्ता सकलजनतागाद्द्रवदशाम् ॥६७॥

"अथ रामं स्वीयप्रभावभावनारामतायामप्यन्तर्व्रजजनदुःखतः शुष्कं तादृशतायामपि बहिर्लम्भितगंभीरताभृदुपालम्भसम्भवद्विकाशहासं हसन्नेव नमस्कुर्वन्नात्मन्यालिङ्गनं लम्भयंश्च चिरं तदुत्सङ्गसङ्गी बभूव ॥६८॥

आलिङ्गन से प्राप्त सुख की तरङ्गों में बहते हुए, सब मित्रों ने अपने अपने को "मैं इस नाम वाला मित्र हूँ", इस प्रकार स्वयं उन श्रीकृष्ण के प्रति निवेदन नहीं किया, अर्थात् श्रीकृष्ण के मिलनसुख में सब कुछ कहना भूल गये ॥६४॥

श्रीनन्दकुमार ने जिस प्रकार इन मित्रों को आनन्दित किया, उसी प्रकार क्रम क्रम से सबके पास जाकर सम्मानपूर्वक जननी, जनक एवं अन्य समस्त स्नेही जनता को भी आनन्दित कर दिया। जिस कारण से मित्रों की वह दशा हुई। उसी कारण से वे सब भी निश्चल देहवाले होकर, सुखसमूह को प्राप्त हो गये ॥६५॥

अहो! यदि श्रीशुकदेवादि सत्यवादी ऋषिगण इस कथा को न कहते, तो इस प्रकार की बातों पर कौन विश्वास करता कि—निश्चय ही गैया और मृग भी कालियह्रद में से श्रीकृष्ण के आने का अनुसन्धान करते हुए, अपने में और व्रजवासियों में अभेद को प्राप्त हो गये थे। अर्थात् श्रीकृष्णविरह में व्रजवासियों की जो दयनीय दशा हुई, वैसी ही गैया, मृगादिकों की भी हुई थी, और अधिक क्या कहें? देखो, वृक्षगण भी उन व्रजवासियों के दुःख से पहले सूख गये थे। इस समय अधिक सुख के कारण तत्काल स्वीकृत पत्र पुष्पादिकों से प्रफुल्लित हो गये हैं, इत्यादि ॥६६॥

और वहाँ पर जो जो बन्धु बान्धव लोग असुरजेता श्रीकृष्ण के साथ जब मिले, तब वे सब चारों ओर से अतुलनीय प्रीति को प्राप्त हुए थे, यह बात सत्य है। किन्तु जिस समय श्रीयशोदा माता प्रेम में विवश होकर, शीघ्रतापूर्वक श्रीकृष्ण से मिलीं, उस समय उनकी बात को तो रहने दो, क्योंकि श्रीयशोदा कृष्ण संमेलन को देखकर तो सारी जनता ही द्रवीभूत दशा को प्राप्त हो गई थी ॥६७॥

तदनन्तर स्वकीय, अर्थात् कृष्ण के प्रभाव की भावना से आनन्दित होने पर भी, श्रीबलरामजी अपने अन्तःकरण में व्रजवासियों के दुःख से शुष्कप्राय हो गये थे, ऐसी दशा में भी बाहर प्राप्त की जो गम्भीरता, उसको धारण करने वाला जो शोक तिरस्कार, उसी से हो रहा है विकाश जिसका, ऐसे हास्य को धारण किये हुए थे। इस प्रकार की दशा वाले श्रीबलरामजी को हँसते हँसते नमस्कार करते हुए, श्रीकृष्ण अपने में उनका आलिङ्गन प्राप्त कराते हुए, अर्थात् भुज भरके मिलते हुए, बहुत देर तक उनकी गोद में बैठे रहे ॥६८॥

"अथ तत्र जनानां विमर्शः,—

'हरेरेषा प्राप्तिर्यदि भवति निद्रावकलिता
तदा शोकोऽप्येष स्वयमयति तत्रैव तुलनाम् ।
असौ जाग्रद्भूता स्फुरति यदि वा तर्हि नितरा-
मभीष्टं सम्पन्नं कथमपि न शर्म-प्रतिहतिः ॥'९९॥

"अथ सर्वत एव निध्यानाय नष्टनिध्याप्तिवत् कृष्णं मध्ये निधाय परितश्चरितनिवेशेषु परिधिवेशेषु खर्वित-व्रीडेषु व्योमचारिणां लोचनाक्रीडेषु सर्वेषु स्त्रीपुंसानां खर्वेषु प्रथमप्रथित-भाविभविका ब्रह्मविदः सम्प्रत्यपि तं प्रत्याशिषां कृतदाना व्रजपतिं प्रत्युपालम्भमानाः प्रत्याययामासुः ॥१००॥ यथा—

'श्रीनन्दराज ! तनयस्तव सर्वशत्रु,-मर्दीत्यभाषि मुहुरप्यलमस्मकाभिः ।
प्रेम्णा तथापि निखिलं बत हन्तुमैच्छः, पुण्येन केवलमसौ द्रुतमाजगाम ॥' इति ॥१०१॥

"तदेवं शोकेन हर्षेण कालमजानति व्रजलोके रजनिरजनीति तत्रैव क्षुत्तृष्णाति-क्रमिकृष्णातिक्रमखेदेन कृशतां गताः प्रत्यूषं यावद्भूवुः । तत्र च सर्वामेव शर्वरीं व्रजोर्वीश-पत्नी सपत्नशङ्कया सुतमङ्क एव निवेशयन्ती परमावेशेन मुहुरपि तन्मुखनिरीक्षणसुख-

---

तदनन्तर वहाँ पर सभी जनों का यह परामर्श हुआ कि—श्रीकृष्ण की यह प्राप्ति यदि निद्रावस्था कहकर जानी जाय, तब तो यह शोक भी स्वयं उसी निद्रावस्था में स्वप्न की समानता को प्राप्त हो रहा है। अथवा यह श्रीकृष्ण की प्राप्ति यदि जागृत अवस्था में परिणत होकर स्फूर्ति पा रही है, तब तो हमारा अत्यन्त अभीष्ट सम्पन्न हो गया, एवं किसी प्रकार भी सुख की हानि नहीं ॥९९॥

पश्चात् चारों ओर से ही देखने के लिये नष्ट हुई निधि की प्राप्ति की तरह, श्रीकृष्ण को बीच में पधराकर, जिनकी लज्जा कम हो गई है, एवं जो आकाशचारी देवताओं के नेत्रों को भी हर्षप्रद वाटिका के समान हैं, ऐसे सभी अर्वों खर्वों की संख्या वाले व्रजवासी स्त्री, पुरुष जब सूर्य के चारों ओर वाले घेरे की तरह, श्रीकृष्ण के चारों ओर घेरा लगाकर बैठ गये, तब पहले से ही भावी मङ्गल का विस्तार करने वाले वेदवेत्ता ब्राह्मणों ने, इस समय भी श्रीकृष्ण के प्रति आशीर्वाद देकर, श्रीव्रजराज के प्रति उपालम्भ करते हुए विश्वास उत्पन्न कराया, यथा— ॥१००॥

हे श्रीनन्दरायजी ! यह तुम्हारा पुत्र सभी शत्रुओं का मर्दन करने वाला है। यह बात हमने तुमसे बारंबार अच्छी प्रकार कही है, तो भी तुमने प्रेम के कारण समस्त अमङ्गलों के नाश करने की इच्छा की है। किन्तु ये श्रीकृष्ण तो तुम्हारे पुण्य के प्रताप से शीघ्र ही आ गये ॥१०१॥

इस प्रकार शोक एवं हर्ष के कारण, व्रजवासियों को जब समय बीतने का ज्ञान न रहा, तभी रात्रि हो गई। इसलिये भूख प्यास का अतिक्रमण करनेवाली श्रीकृष्ण की ग्लानि से उत्पन्न खेद के कारण कृशता को प्राप्त होकर, प्रभातकाल पर्यन्त वहीं रह गये। और वहाँ पर शत्रुओं की आशङ्का से, सारी रात अपने पुत्र को गोद में ही लेकर बैठने वाली श्रीव्रजरानी, परम आवेश से बारंबार श्रीकृष्ण के श्रीमुख देखने से उत्सव से युक्त होकर भी, उनके चरित्र का स्मरण करके, उसी चरित्र से विस्मित होकर, प्रभात समय को प्राप्त हो गईं, अर्थात् माँ यशोदा को श्रीकृष्ण चरित्र चिन्तन से चकित होने के कारण, रातभर नींद नहीं

सक्षणात्रि तद्वृत्तस्मरणेन तस्माद्विलक्षणा प्रभातमाससाद । हन्त ! हन्त ! क्षुद्वन्तं तमपि गवां दुग्धमपि दुग्धं विधाय न पाययामास । सत्यं सर्व्वमत्रत्यं विषसकलङ्कमिति शङ्कया ॥१०२॥

"रात्रौ पुनरन्यदपि चरित्रं धन्यं जातम् । यदा कालियस्य कालिन्दी-जलान्निष्कलनम्, तत्कालत एव गूढपुरुषमुखात् परुषतया कलितवांस्तदा स दुर्जनवतंसः कंसश्चिन्तासन्तत-स्वान्ततया निरीह इवासीत् ॥१०३॥

"चिन्ता यथा—'हन्त ! हन्त ! सन्ततमस्माकमेव वीरास्तस्मादुन्मन्थमागच्छन्तः सन्तीति दुष्कीर्तिवह्निमुख-पिशाचि-मूर्तिरतीव हसन्ती हसन्तीव मदीयान् ज्वलयन्ती त्रिभुवनमयन्ती च नरीनर्ति । हंहो बलीयानपि कालीयः सपदि विलीयमानबलतां बलते स्म । तस्य तदिदं निर्वासनं निर्वासनमेव च मन्यामहे; यतो वयमपि निर्वासनतां गताः । तस्मादधुना तथा विधेयम्, यथास्मदीयानां नापचारस्तस्य चापकारः स्यात् ।' इति ॥१०४॥

"तदानीमेव चान्यतः स व्रजराजात्मजव्रजवासिनां तरणिजातीर एव वासमाकर्ण-यन्नभ्यर्णगतानाज्ञापयामास,—'भवन्तस्तत्र प्रविशन्तः समन्ततः प्रबलतया ज्वलनं प्रज्वलन-माचरन्तः स्वयमन्तर्धानमाचरन्तु ।' ॥१०५॥

"ततश्च तेषु तथाकृतचरितेषु विपोलति तु दवानले शीघ्रं पलायितेषु तेषु च सर्व एव व्रजभवनाः स्नेहवृत्तलब्ध-संभावनाः साग्रजं व्रजराजतनूजमेवाव्रज्य विज्ञापयामासुः,—॥१०६

आई । प्रातःकाल होने को आगया । हाय ! हाय ! भूखे प्यासे अपने लाला को भी, गैयाओं के दूध को भी दोहनकर स्नेहमयी माँ ने नहीं पिलाया, यह बात सत्य है । क्योंकि इस कालीदह के तीर की समस्त वस्तुएँ विष से कलंकित हैं, इस शंका से दूध नहीं पिलाया, अर्थात् प्रेम की परिपाटी अटपटी होती है ॥१०२॥

रात्रि में दुबारा एक दूसरा भी प्रशंसनीय चरित्र हुआ । जब कालियनाग का यमुनाजल से निकलना हो गया, उसी समय से प्रधान गुप्तचर से कठोरतापूर्वक जानने वाला वह दुर्जन शिरोमणि कंस, तभी चिन्ता से व्याप्त चित्त हो जाने के कारण निश्चेष्ट सा हो गया ॥१०३॥

उसकी चिन्ता, यथा—हाय ! हाय ! बड़े खेद की बात है कि निरन्तर हमारे वीर ही, उस बालक से मृत्यु को प्राप्त होते जा रहे हैं । इसलिये हमारी दुष्कीर्तिरूप अग्निमुख पिशाची की मूर्ति, अत्यन्त हँसती हुई, अँगीठी की तरह हमारे पक्षपातियों को जलाती हुई, तीनों भुवनों में जाती हुई, अतिशय नृत्य कर रही है । दूसरे खेद की बात यह भी है कि, हाय ! वह बलवान् कालियनाग भी शीघ्र ही निर्बलता को प्राप्त हो गया । उसके इस निकालने को तो हम वध ही समझते हैं, क्योंकि कालिय के निकाल देने से तो हम भी वासनारहित हो गये, अर्थात् कालिय जब तक कालीदह में था, तब तक तो हम इस वासना से युक्त थे कि यही कभी हमारे शत्रु को मार देगा, परन्तु अब तो वह वासना भी समाप्त हुई । अतः अब तो हमको उस प्रकार कार्य करना चाहिये, जिस प्रकार हमारे पक्षपातियों का अनिष्ट न हो, और उस हमारे शत्रु का अपकार हो जाय ॥१०४॥

उसी समय उस कंस ने दूसरे दूत से "व्रजराजकुमार एवं व्रजवासियों का निवास आज श्रीयमुना के तीर पर ही है" इस बात को सुनते हुए पास में बैठे हुए सेवकों को आज्ञा दी कि, तुम सब वहाँ पर प्रविष्ट होते हुए, चारों ओर प्रबलतापूर्वक अग्नि को जलाते हुए, स्वयं अन्तर्हित हो जाना ॥१०५॥

तदनन्तर कंस की आज्ञानुसार वहाँ जाकर उन्होंने अग्नि लगा दी, एवं अग्नि वृद्धि को प्राप्त हो जाने

'शङ्कामहे न मृत्योश्च न च कृच्छ्रप्रवाहतः ।
किन्तु त्वन्मुखचन्द्रांशु-दर्शनाभाववैशसात् ॥'१०७॥

"ततश्च, हरेः फूत्कारमात्रेण निर्ववौ दवदीपकः ।
उत्प्रेक्षन्ते तु मुनयस्तस्य तत्पानकर्तृताम् ॥१०८॥

"तदेवमहितेन य उपाहित उपाहितस्तस्मिन्नपवाहिते सर्व एव त्राणप्राणाः प्रभाते च प्रभाते तत्प्रभावत एव यथावस्थितं व्रजं व्रजवासिनः सानन्दं तमन्वविन्दन्त; किन्तु तस्मिन्नेव मधुरताकलिले कालिन्दी-ह्रदसलिले सङ्कर्षणेन कृतकृष्णाकर्षणेन विहरता सखिभिरखिलं सहधवलाव्रजं व्रजमपि समाहरता यदा बहलं कुतूहलं जातम्, तदा तेन गृहाय गमनमनुज्ञातम् ॥१०९॥

"तथा च गमनं यथा—
वाद्यैर्नृत्यैः प्रगीतैः श्रुतिशिवपठनैर्दिव्यभौमप्रसून-
प्रावृट्कल्पाभिवर्षैर्जय-जय-निनदैः शर्मकोलाहलैश्च ।
कृष्णं मध्ये विधाय प्रकटतरमहानन्दनिर्व्रीडभावा-
न्नृत्यन्तस्ते व्रजस्था व्रजनभिविविशुः खं यथा ज्योतिरोघाः ॥११०॥

पर, तथा उन सबके शीघ्र ही भाग जाने के बाद सभी व्रजवासियों ने, श्रीकृष्ण के स्नेहमय चरित्र से दुःख से छूटने की सम्भावना को प्राप्त होकर, अग्रज अर्थात् वड़े भैया के सहित श्रीव्रजराजकुमार के ही पास जाकर, यह अग्निकाण्ड निवेदन किया— ॥१०६॥

हे प्यारे कृष्ण ! देखो, हम सब मृत्यु से अथवा कष्ट के प्रवाह से किंचिद् भी शङ्का नहीं करते, किन्तु आपके मुखचन्द्र की चन्द्रिका के दर्शन के अभावरूपी दुःख से तो भारी शङ्का करते हैं ॥१०७॥

तदनन्तर श्रीहरि के फूत्कार मात्र से वह दावानलरूपी दीपक बुझ गया। किन्तु मुनिगण तो इस प्रकार की उत्प्रेक्षा करते हैं कि, उस दावानल का पान श्रीकृष्ण ने निजमुख से किया, अर्थात् अनन्त अपरिमित शक्तिशाली प्रभु के फूत्कारमात्र से ही, दावानल का शान्त होना भावुक भक्तों को रुचिकर है, पान करना तो आलंकारिक उत्प्रेक्षा मात्र है ॥१०८॥

अतएव इस प्रकार अहितकारी कंस के द्वारा जो अग्नि का उत्पात संयोजित किया था, उस उपद्रव के दूर हो जाने पर, सभी के प्राणों की रक्षा हो गई। पश्चात् प्रातःकाल के सुप्रकाशित हो जाने पर, श्रीकृष्ण के प्रभाव से ही यथावस्थित व्रज को समस्त व्रजवासी आनन्दपूर्वक उनके पीछे पीछे प्राप्त हो गये। किन्तु मधुरता से व्याप्त उसी कालीदह के जल में विहार करते हुए, एवं समस्त सखाओं के सहित सम्पूर्ण गोसमूह को भी व्रज की ओर समाहरण करते हुए, यमुनाकर्षणकारी संकर्षण के द्वारा जब बहुत कुतूहल उपस्थित हो गया, तब उन्होंने ही घर के लिये जाने की अनुमति दे दी ॥१०९॥

देखो, घर में जाने का प्रकार, यथा—सूर्यादि ज्योति समूह जिस प्रकार आकाश में प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार वे व्रजवासीजन, वाद्य, नृत्य, गीत, वेदादि माङ्गलिक स्तोत्रपाठ, वर्षाकालीन जल की वर्षा की तरह स्वर्गीय एवं पृथ्वी के पुष्पसमूह की वृष्टि, जय जय शब्द, तथा सुखमिश्रित कोलाहलपूर्वक श्रीकृष्ण को मध्य में करके, अतिशय प्रकट महान् आनन्द के कारण निर्लज्जभाव से नाचते नाचते व्रज में प्रविष्ट हो गये ॥११०॥

"तदनन्तरञ्च धवलाः परतश्चालयित्वा तत्पूर्वकालपालकासद्भावेऽपि श्रीमतां तत्रभवतां भवतामेषां प्रभावेण तत्रोदपात्रमात्रं न विकल्पमागादिति स्वल्पपरिभवायाप्यकल्पमाने समस्तव्रजे यातयाममपि यातयामतां नागतं तद्घृतपक्व-प्रचुरान्नमिति सद्यस्तनमिव राम-पर्वणि पूर्वाह्णेतनं गृहान्तः-संगृहीतजेमनसामग्री-समुदयं सर्व एव तावग्रजानुजावग्रतो विधायाव्यग्रं सम्यग्ग्रसयामासुः ।" ॥१११॥

तदेवमुद्घाटितगीःकण्ठः स मधुकण्ठः समापयामास,—॥११२॥

"ईदृशस्तनयो जातस्तव व्रजनराधिप ! ।
कंसादीन् दमयामास कालीय-दमनेन यः ॥" ११३॥

तदेवं तरीयमाणेन हरिणा वरीयसा व्रजपरीवारेण सरिताविवातरीषातां ते आपदाविति सुखदवृत्ते वृत्ते सभ्यानां तल्लीलासमाधेरभ्यवकर्षणाय स्तवनामृतवर्षणाय च साञ्जलिस्थितयोस्तयोश्चिराद्बहिरवहिततदुपसेवाः पूर्ववदेव सव्रजदेवाः सर्वे स्वं स्वं कार्यमासेदुः ॥११४॥

॥ इति श्रीश्रीगोपालचम्पूमनु कालियदवचण्डतादण्डनं नाम त्रयोदशं पूरणम् ॥१३॥

बाल्यविलासश्च पूर्णः ।

तदनन्तर धेनुगण को चारों ओर से संचालित करके, पहले दिन श्रीबलरामजी के उत्सव में जो भोजन सामग्री तैयार की गई थीं, उनका कोई संरक्षक नहीं था, तो भी श्रीमान् पूज्यपाद इन व्रजवासियों के प्रभाव से वहाँ पर जलपात्र मात्र भी इधर उधर नहीं हुए। इसीलिये समस्त व्रज में थोड़े से भी तिरस्कार की कल्पना न होने पर, कई पहर का बीता हुआ, अर्थात् वासी होकर भी नीरसता को न प्राप्त हुआ वह घी का पका हुआ प्रचुर अन्न, जो कि श्रीबलरामजी के जन्मनक्षत्र महोत्सव में पूर्वाह्णकाल में ही घर के भीतर भोजन सामग्री के रूप में संगृहीत किया था, उस सब खाद्य पदार्थ को तत्काल बनाये हुए ताजे की तरह प्राप्तकर, उन बड़े छोटे दोनों भाई श्रीराम कृष्ण को आगे करके सभी व्रजवासियों ने व्याकुलता से रहित होकर, अच्छी प्रकार खाया ॥१११॥

अतएव इस प्रकार की वाणी जिसने अपने मधुरकण्ठ से उद्घाटित की है, उस मधुकण्ठ ने कथाप्रसंग को समाप्त कर दिया और कहा कि— ॥११२॥

हे व्रजराज ! आपके ऐसा पुत्र उत्पन्न हुआ है कि, जिसने कालीय दमन के द्वारा कंसादि असुरों का दमन कर दिया ॥११३॥

इस प्रकार नौका का सा आचरण करने वाले श्रीहरि के द्वारा, विशाल व्रजपरिवार ने दो नदियों की तरह, कालियदमन एवं दावानल शान्तिरूप, उन दो आपत्तियों को पार कर लिया। इस प्रकार सुखदायक वृत्तान्त के समाप्त हो जाने पर, और सभासदों की उस लीलासमाधि के अपकर्षण करने के लिये, अर्थात् श्रोताओं की कथा समाधि को खोलने के लिये, एवं स्तुतिरूप अमृत की वर्षा करने के लिये, उन दोनों सूतकुमारों के हाथ जोड़कर खड़े हो जाने पर, बहुत क्षणों के बाद श्रीव्रजराज के सहित सभी व्रजवासीजन, श्रीकृष्ण की बाहरी लालन पालन आदि सेवा करके अपने अपने कार्य में नियुक्त हो गये ॥११४॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीगोपालचम्पूकाव्ये कालियदमन-दावानलनिर्वापणरूपं
त्रयोदशं पूरणं संपूर्णम् ॥१३॥
बाल्यविलासश्च संपूर्णः ।

अथ चतुर्दशं पूरणम्

अथ कैशोरलीला

धेनुकासुर-वधः

श्रीकृष्ण ! कृष्णचैतन्य ! ससनातनरूपक ! ।
गोपाल ! रघुनाथाप्त-व्रजवल्लभ ! पाहि माम् ॥१॥

तदेवं गोलोकविलासे श्रीगोपालपाल्यमान-गोपालानां नित्यलोकः श्रीगोलोकः कथितः। तत्र च श्रीगोपराजसभायामपूर्ववीक्षितकविक्षितिपति-कुमार-सुकुमार-कुमार-युगलावकलन-मुद्भावितम्। तदनन्तरमपि बाल्यविलासे तद्युगलेन कृष्णबाल्यचरितवर्णनं कालियदलन-लीलावसानमाचरितम्। सम्प्रति तु तत् प्रथितं कैशोरचरितमाख्यायते ॥२॥

तद्यथा—अथ दिनान्तरे च पूर्ववदेव व्रजनरदेवसभान्तरे तयोरेकतरः समुत्कण्ठतया स्निग्धकण्ठः स्वगतमिदमुवाच,—॥३॥

"अथ कैशोरं वर्णनीयम्; किन्तु रहस्यरसहारिप्रसभायां सभायामस्यां यथा लज्जा न सज्जा स्यात्तथा युज्यते। यदि च जातु निज-माधुरीबुभुक्षितकुक्षिम्भरिणा हरिणा स्वकसुखा-वहमिति रहस्तदनुयुज्येवहि, तदा तदुचितमेव तदुपचितमाचरिष्यावः" इति ॥४॥

चौदहवाँ पूरण

धेनुकासुरवध लीला

हे श्रीकृष्ण ! हे श्रीकृष्णचैतन्य ! हे श्रीसनातन सहित श्रीरूप ! हे श्रीगोपालभट्ट ! हे श्रीरघुनाथ युग ! हे आप्तजनगण वल्लभ ! अथवा हे व्रजवल्लभ ! आप सब मेरी रक्षा करें ॥१॥

इस प्रकार गोलोकविलास नामक द्वितीय पूरण में, श्रीगोपालजी के द्वारा पाल्यमान गोपालगणों का नित्यधाम, श्रीगोलोक कहा गया। वहाँ पर भी श्रीमान् गोपराज की सभा में अपूर्व भाव से परिदृष्ट जो कविराजनन्दन सुमति, उसके दोनों सुकुमार कुमारों का दर्शन उद्भावित किया। तदनन्तर बाल्यविलास में भी उन दोनों सूतकुमारों के द्वारा किया गया श्रीकृष्ण का बाल्यचरित वर्णन कालियदमनलीला पर्यन्त किया गया। इस समय तो उन दोनों सूतकुमारों द्वारा विस्तारित कैशोरचरित कथित होता है ॥२॥

वह इस प्रकार है—तदनन्तर दूसरे दिन पहले की तरह श्रीव्रजराज की सभा में, उन दोनों कथा वाचकों में से अकेला स्निग्धकण्ठ उत्कण्ठापूर्वक अपने मन मनमें यह बोला कि— ॥३॥

अब किशोरावस्था वर्णन करने योग्य है, किन्तु इस सभा में जितने सभ्यगण हैं, वे सब रहस्य रस द्वारा अत्यन्त मनोहर हैं। अतः ऐसी सभा में जिस प्रकार लज्जा न हो सके उसी प्रकार वर्णन करना उपयुक्त है, और यदि कदाचित् निज माधुरी की क्षुधा से पीड़ित, स्वउदरमात्रपूरक, अर्थात् निजमाधुरी के आस्वादन की लालसा से युक्त श्रीकृष्ण "अपने को सुखप्रद है" इस भाव से उस रहस्य को हम दोनों से पूछेंगे, तब तो श्रीकृष्ण की सुखवृद्धि में उचित उस रहस्य को विस्तारपूर्वक बढ़ाकर कहने की चेष्टा करेंगे ॥४॥

अथ स्पष्ट तु व्याचष्ट,—"ततश्च स्पष्ट कृतगमायां षष्ठसमायां समुल्लसितसम्मतिमये जन्मतिथिसमये हर्षसमृद्धिप्रदवर्षवृद्धिपर्वणि सर्वनिःश्रेयसमाविस्तरां विस्तारयतः समस्तं निस्तारयतस्तस्य श्रीमद्व्रजराजसुतस्य विश्वेषामेव मनश्चोरं कैशोरमुदयाञ्चक्रे ॥५॥

"तथाहि—राज्यं सम्यगुपेत्य कृष्ण-वपुषि त्रैलोक्यलक्ष्मीमये
क्रीडाभिर्लघु निर्गमय्य समयानौदार्यपर्याकुलम् ।
पात्राय स्वयमागताय गुणितावासाय सद्धे दिने
कैशोराय निजं प्रदाय विषयं पौगण्डमन्तर्दधे ॥६॥

"ततश्च, दृष्टिप्रसादकृतसामभिरंशुदानैः, शश्वन्मनोहरणनिर्मितबुद्धिभेदैः ।
अर्थान्तराभिविनिवेशजभावदण्डैः कैशोरकं वशयति स्म हरेः समस्तम् ॥७॥

"तत्र च—मुखे पूर्तिः कान्तिर्नयनयुगले दैर्घ्यमरुण-
प्रभा हृद्युच्छ्रायः प्रततिरपि मध्ये तु कृशता ।
इतीदं सौन्दर्यं यदवधि मनागप्यधिजगे
जगन्नेत्र-श्रेणी तदवधि हरौ तेन चकृषे ॥८॥

"तदित्थं तज्ज्येष्ठश्च निर्दिष्टः ॥९॥

तदनन्तर स्पष्ट व्याख्या करता हुआ स्निग्धकण्ठ बोला कि—पौगण्ड अवस्था के बाद जब स्पष्टरूप से छठवाँ वर्ष व्यतीत हो गया, तब उल्लासविशिष्ट सम्मति सूचक जन्मतिथि के समय में, आनन्द समृद्धिदायक वर्ष वृद्धि के महोत्सव में, सम्पूर्णरूप से प्रकाश करके सर्वसाधारण के मङ्गल का विस्तार, एवं सबका निस्तार करनेवाले उन श्रीमान् व्रजराजकुमार का, सबके मन को चुराने वाला कैशोर समय उदित हो गया ॥५॥

देखो, तीनों लोकों की शोभास्वरूप श्रीकृष्ण के शरीर में अच्छी प्रकार राज्य प्राप्तकर, क्रीड़ाओं के द्वारा शीघ्रतापूर्वक सब समयों को बिताकर, उदारता से भरा हुआ पौगण्ड, स्वयं आये हुए, सर्वगुणों के निवास, उत्कृष्ट ज्ञान वाले पात्रस्वरूप कैशोर के लिये सहर्ष अपने देश को देकर अन्तर्हित होगया ॥६॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण की किशोरावस्था ने दृष्टि की प्रसन्नता द्वारा किये गये नीतिशास्त्रोक्त सामरूप उपाय समूह द्वारा, कान्तिवितरण द्वारा, निरन्तर मन के हरने से निर्मित बुद्धि के भेदों द्वारा, एवं विषयान्तर में अभिनिवेश से उत्पन्न भावरूपी दण्डों के द्वारा, समस्त जगत् को अपने वश में कर लिया ॥७॥

और उस किशोरावस्था में मुखमण्डल में स्थूलता की पूर्ति एवं शोभा, दोनों नेत्रों में दीर्घता एवं रक्तवर्ण की प्रभा, वक्षःस्थल में ऊँचापन एवं विस्तार, किन्तु मध्यभाग में अर्थात् कटि में कृशता (पतलापन), इत्यादि प्रकार का यह अपूर्व सौन्दर्य श्रीहरि में अल्प मात्रा में भी जब से प्राप्त हुआ, तभी से उस सौन्दर्य ने संसार भर की नेत्रपंक्ति को अपनी ओर खैंच लिया ॥८॥

अतएव इसी प्रकार उनके बड़े भाई का भी निर्देश हो गया, अर्थात् श्रीबलरामजी की भी किशोरावस्था का वर्णन हो गया ॥९॥

"तदा च तालफलपाकावसरे वर्षाप्रसरे कदाचिन्निखिलसुखवर्धनस्य गोवर्धनस्य गिरेराग्नेय्यां हरिति हरिरामादयः सामोदा गाश्चारयन्तः सन्ति स्म ॥१०॥

"ततश्च पूर्वानुभवसम्पातातीतं पूर्ववातानीतमतिदूरतः सजातीयपूरधरं पवित्रमतालफल-जालसौरभ्य-भरमुपलभ्य पूर्वत एव तत्कीर्तिविवर्तितचित्ता व्रजवर्तिषु वित्तास्ते सर्वसहायाः स्पृहणीयाः सर्व एव तयोः सहाया हृदि स्पृहयाम्बभूवुः,—रामकृष्णाभ्यां वलिता वयमितश्चलिता रासभासुरराजभवनं तालवनं तत्पालगणमपि तथाविधं निभालयितुं नूतनकुतुकाः स्म; ततः स्वबुभुक्षासुक्षामतालक्ष्यविनोदादिमौ विनुदाम ।' इति ॥११॥

"ते च श्रीदाम-सुबल-स्तोककृष्ण-शबला बल-कृष्णयोः समबला लब्धमर्माणः सधर्माण इत्यत एव शश्वदखिलतया सखितया विराजन्ते । ययोरेव समं वीर्यमित्यादिकमीर्यत इति । ततः सततमेव क्रमते तत्पराक्रमे तेषां बुद्धिक्रम इत्यकृतशङ्काशेषेण प्रणयविशेषेण जिघत्सा-मिषेण च तदर्थं भ्रातृबलं बलभद्रं प्रार्थयामासुः,—॥१२॥ 'यथा—

तालानां वनमत्र पवित्रमफलं निर्हारि पूरं यतः
सौरभ्यं बत दूरमेति तदिदं भोगं विना निष्फलम् ।

उसी समय तालफलों के पकने का अवसररूप वर्षाकाल की उपस्थिति में, कदाचित् सकलसुख वर्धनकारी श्रीगोवर्धन गिरिराज की अग्निकोण वाली दिशा में, श्रीकृष्ण बलराम आदि समस्त मित्रगण आनन्दपूर्वक गैया चरा रहे थे ॥१०॥

तदनन्तर बहुत दूर से पूर्वी वायु के द्वारा लाई गई, पहले अनुभव के संयोग से रहित, सजातीय गंध समूह को धारण करनेवाली, पके हुए तालफलों की अतिशय सुगन्धी को प्राप्तकर, पहले से ही श्रीकृष्ण की कीर्ति में जिनका चित्त विशेषरूप से है, व्रजवासियों में जो विख्यात हैं, पृथिवी के भी जो स्पृहणीय हैं, वे सब श्रीकृष्ण बलदेव के सखा अपने हृदय में इच्छा करने लगे कि—हम सब कृष्ण बलदेव के सहित यहाँ से चलकर, धेनुकासुर के राजभवनरूप तालवन को, तथा उस वन के रक्षकगण को भी उसी प्रकार देखने के लिये, एक नवीन कौतुक से आक्रान्त हो रहे हैं। इसलिये अपनी भूख से कृशता के बहाने विनोदपूर्वक इन दोनों भाइयों को तालफलों के प्रति विशेष प्रेरित करदें ॥११॥

वे सब सखा श्रीदामा, सुबल, स्तोककृष्ण आदि मित्रों से मिश्रित चित्रविचित्र हैं। श्रीकृष्ण बलदेव के समान बलवान् हैं, मर्म को जानते हैं, सभी समान धर्म वाले हैं, इसी कारण से ही निरन्तर अखण्डित मित्रता से विराजमान हैं। मित्रता के लक्षण में भी कहा जाता है कि—जिनका परस्पर समान वीर्य हो, वे ही मित्र होते हैं, इत्यादि । इसीलिये उन सबकी बुद्धि की परिपाटी श्रीकृष्ण बलदेव के पराक्रम में निरन्तर ही बढ़ती रहती है। अतः किंचिद् भी शङ्का न करके प्रणयविशेष से खाने के बहाने, उन तालफलों के लिये भ्राता से युक्त श्रीबलभद्रजी के प्रति उन सबने प्रार्थना की ॥१२॥

यथा—यहाँ पर एक तालवन है, उसमें सब तालफल पके हुए हैं, क्योंकि चित्ताकर्षक गन्धसमूह बहुत दूर तक फैल रहा है। परन्तु खेद की बात यही है कि, वह तालवन भोग के बिना निष्फल है। उस वन के अधिपति मनुष्यों को खाने वाले गर्दभरूपधारी राक्षस हैं, ऐसा सुना जाता है। अतएव हे लम्बी

श्रूयन्ते हि खरा नराशनकरास्तस्याधिपा इत्यदः
श्रीरामायतदोर्युगार्पय तथा श्रीकृष्ण ! दुष्टापह ! ॥१३॥

"आयतदोर्युगेत्यनेन च ध्वनितमिदम्,—

'महाबाहुतया राम ! तर्क्यसे त्वञ्च विक्रमी ।
न तथा लक्ष्यथाः क्वापि लक्षणीयस्तु सम्प्रति ॥' इति ॥१४॥

"श्रीरामस्तु सस्मितमुवाच,—'भो भवन्तो लोभवन्तो भवन्तोऽप्यस्मत्तः प्रति प्रतीयध्वे; यतो मुग्धाः ! नियुद्धाभिमुखैर्भ्रूभङ्गसूचितशौटीर्यसुखैः प्रभवद्भिर्भवद्भिः कदाचिदावामपि पराभवमासाद्यावहे; तत् कथमावामेव याच्यावहे ?' ॥१५॥

"ते च प्रोचुः,—'सर्वतोऽप्यतिगुणवन्तौ भवन्तौ खल्वस्माकं सारौ राजकुमारौ । राजनीतिरीतिश्चैवमेव यद्राजकुलमेव व्रियते पुरष्क्रियते च । मृगयायां मृगताडनवन्न पुनरन्येन स्वयमग्रगण्येन भूयते । यदि तत् कुलं परमवीर्याकुलं भवति, तदा तु किमुत ? तत्र चाग्रजतया भवतः सदाऽप्राग्रचता नाग्रचायते । तस्माद्यद्यस्मदिच्छापूरणाय भवतोरिच्छा सङ्गच्छते, तदा नान्यदनुमन्यताम् ।' ॥१६॥

"तदेवं सहप्रहसिते शुभ्रांशुसिते कृष्णाग्रजे स्वयमग्रतो व्रजे सिंहनादमाददाना

भुजाओं वाले श्रीबलराम ! तथा हे दुष्टों को मारने वाले श्रीकृष्ण ! उन पके हुए फलों को हमें अर्पण कर दीजिये ॥१३॥

"लम्बी भुजाओं वाले" इस विशेषण से यह ध्वनि निकलती है कि, हे भैया बलरामजी ! महाबाहु होने के नाते तुम बड़े पराक्रमी हो, हम ऐसा अनुमान करते हैं। किन्तु ऐसा पराक्रम प्रगट करते हुए तुमको हमने तो कहीं देखा नहीं। किन्तु इस समय तो हम तुमको पराक्रम दिखाते हुए देखना चाहते हैं ॥१४॥

श्रीबलरामजी मन्दमुस्क्यानपूर्वक बोले—हे प्रिय मित्रो ! तुम सब लोभी होकर भी हमको तो अपने समान ही प्रतीत होते हो। क्योंकि हे भोले भाले मित्रो ! देखो, बाहुयुद्ध में अग्रसर होने वाले, भ्रूभङ्गमात्र से वीरता के सुख की सूचना देने वाले, प्रभावशाली आप सबके द्वारा कभी कभी तो हम दोनों भी पराजय को प्राप्त हो जाते हैं। अतः हम दोनों की ही प्रार्थना क्यों करते हो ? ॥१५॥

वे सब बोले—आप दोनों राजकुमार सबकी अपेक्षा अति गुणवान् हो, एवं हम सबके बीच में दृढ़ शक्तिशाली हो, यह निश्चित है। राजनीति की रीति भी इस प्रकार की है कि—राजवंश का वरण किया जाता है, एवं वही अग्रसर किया जाता है। क्योंकि देखो, शिकार खेलने में मृग के ताड़न की तरह राजपुत्र से भिन्न स्वयं कोई भी अग्रगण्य नहीं होता। यदि वह राजकुल परमशक्तिशाली हो, तब तो फिर कहना ही क्या है ? उसमें भी अग्रज होने के कारण आपकी सदा अप्रधानता समुचित नहीं। अतएव यदि हमारी इच्छा पूर्ण करने के लिये आप दोनों की इच्छा संगत हो, तब तो अन्य प्रकार की अनुमति नहीं देना। हमारे वाक्यों को भी अन्यथा न समझना ॥१६॥

अतएव इस प्रकार सखाओं के वचन सुनकर हास्य के सहित चन्द्रमा के समान श्वेतवर्ण वाले श्रीकृष्णाग्रज जब स्वयं आगे आगे चल दिये, तब व्रज में सिंहनाद करते हुए श्रीदामोदर आदि मित्रगण,

दामोदरादयः सामोदं तदनुप्लवाः प्लवमानतया तद्वनाय तदवस्था एव प्रतस्थिरे। गास्तु स्वस्थान एव स्थापयामासुः ॥१७॥

"प्रस्थाय च रामम्—

सोपालम्भमिवावदंस्तमनु तद्बाहू च मित्राणि य-
त्तेन द्राक् स च सेर्ष्यचित्तमिव तां गत्वा तु तालावलिम्।
सर्वामेव भुजायुगेन युगपद्विक्षिप्य सङ्घट्टयन्
विभ्रष्टानि मिथः फलानि विदधे घृष्टानि दिग्दन्तिवत् ॥१८॥
तज्ज्ञात्वास्त्रप-रासभाश्च परितः साक्रन्दमभ्याययु-
र्यान् दृष्ट्वा पशुपाः समाधवबलाः शश्वद्धसन्तः स्थिताः।
हासावेशवशात् कृतानवहितिं प्रत्यक्पदाभ्यां बलं
वज्राभ्यामिव धेनुकस्तमनुदत्तच्चैष नाबुध्यत ॥१९॥
न ज्ञातवानपि यतः स तु तं प्रहारं, तेनातिरोषभरनास्तिविवेकचर्यः।
भूयः पराक्स्थिति विनर्द्य विकीर्णलत्त,-स्तेनाथ वत्सक इवारचि धेनुकाख्यः ॥२०॥

"अथ ब्रह्माण्डमपि खण्डयितुं प्रचण्डतामण्डिताच्चण्डचण्डीशशूलादप्युद्दण्डप्रहारेण बलभुजदण्डेन तालमण्डलमण्डलेश्वरशिरसि चक्रीवच्छक्रारिर्विचकरे। तेन च तालपरावर-

---

आमोद प्रमोदपूर्वक, श्रीबलदेवजी के अनुचर बनकर, प्लुतगति से कूदते हुए उस तालवन के लिये, जैसे बैठे थे उसी अवस्था से उठकर चल दिये। गयाओं को तो अपने स्थान पर ही स्थापित कर गये ॥१७॥

प्रस्थान करके वे सब मित्र श्रीबलरामजी को एवं उनके बाद उनकी लम्बी भुजाओं को लक्ष्य करके, तिरस्कार सा करते हुए क्रोध बढ़ाने के लिये जो कुछ बोले, उसी के कारण श्रीबलरामजी ने शीघ्र ईर्षा से युक्त चित्त से, उन तालवृक्षों की पंक्ति के पास जाकर, दोनों भुजाओं से सम्पूर्ण तालपंक्ति को एक साथ विक्षिप्त कर, पुनः आपस में एकत्रित करते हुए, दिग्गज की तरह समस्त तालफल घसीट घसीट कर तोड़ दिये ॥१८॥

इस बात को जानकर राक्षसरूपी गधे चिल्लाते हुए चारों ओर से आ गये। उनको आते देखकर सभी ग्वारिया श्रीकृष्ण बलदेव के सहित निरन्तर हँसते हँसते खड़े रह गये। हास्य के आवेश के कारण उस समय श्रीबलरामजी कुछ सावधानी न कर सके, इसीलिये धेनुकासुर ने दो वज्रों के समान पिछले दोनों चरणों द्वारा श्रीबलरामजी को प्रहार किया, किन्तु उनको इस प्रहार का पता भी न चला ॥१९॥

श्रीबलरामजी ने तो उस प्रहार को किंचिद् भी नहीं जाना, इसी कारण उस धेनुकासुर का अतिशय क्रोध के भार से सब विवेक विचार नष्ट हो गया। पुनः उसने बलदेवजी की ओर विमुख होकर, ऊँचे स्वर से अपनी जाती का शब्द करके पादप्रहार किया। तदनन्तर श्रीबलदेवजी ने वह धेनुकासुर, वत्सासुर जैसा बना दिया, अर्थात् उसी की तरह पिछले पाँव पकड़कर पछाड़ कर मार दिया ॥२०॥

तदनन्तर ब्रह्माण्ड को भी खण्डित करने के लिये, प्रचण्डता से मण्डित शिवजी के भयंकर त्रिशूल से भी उद्दण्ड प्रहार करनेवाले, श्रीबलदेवजी के भुजदण्ड के द्वारा, वह गर्दभरूप दैत्य तालसमूह के अधीश्वर के मस्तक पर फेंक दिया गया। उस फेंकने के द्वारा बड़े छोटे तालवृक्षों की परम्परा में प्रलयकालीन दुर्निवार

परम्परासु यः खलु निहित आवेगसंस्कारः प्रलयजात-दुर्वारप्रभञ्जनाकारः, स तु हिन्दोलयं-स्तत्तदुपरिगमर्धमर्धमग्नि-यन्त्रप्रक्षिप्तमिव विक्षिप्तं विधाय प्रायः सर्वमेवाखर्वतालखर्वमयं तद्वनं निमेषमात्रेण वित्रोटयामास । यत्र स्वयन्तु भवन्तु तृणराजाः खल्विमे, तथापि तृणान्येवेति बलभद्रश्चिन्तयामास च ॥२१॥

"अथ तदनुगता देवविस्पर्धिनः परेऽप्यस्वरतया गर्दभा गर्दन्तः प्रतिघात् प्रतिघातमाचरन्तः सहसा रुद्धाध्वानः सह युध्वानः पर्यागतास्तृणवन्मताः परमानन्दाराम-रामकृष्णाभ्यां हसद्भ्यां विलसद्भ्यामेवाखव इव धृतासव एव तुच्छीकृत्य गृहीतपुच्छचरणास्तेषां तालभक्षणसौकर्यार्थ-मिवाधिमध्यमध्यवस्थित-तृणक्ष्मायत्युपरि क्षिप्रमेव परिक्षिप्ताः क्षपितजीविताः क्षितिनिपतिताः सह निस्तलतालफलैः केतव इव राहुर्भिदिनानि कानिचित् कंस-पक्षीयानभीषयन्त ॥२२॥

"रासभान् शमयितुः कियद्भवेत्, पौरुषं तदिति नावमन्यताम्
यद्दिविष्ठ-पटली तदापि तौ, वाद्य-गीत-कुसुमैरसेवत ॥२३॥

"अथ हाससहितमुपजहास च सा मघवत्प्रधाना धेनुकमघजिदभिप्रायमभिप्रयती ॥२४

यथा—'अघासुरः कालियकद्रुजन्मा,-प्यसोढवीर्यं यदि नास्मदीयम् ।
पुत्रीप्रमर्दिन् ! बत गर्दभ ! त्वं, कर्तुं कथं धाष्ट्र्यमियज्जगन्थ ?' ॥२५॥

पवनाकार उत्पन्न हुआ जो आवेगसंस्कार, उस आवेगसंस्कार ने तालवृक्षों को हिलाते हुए, उन उनके ऊपर के आधे आधे भाग को अग्नियन्त्र, अर्थात् अलातचक्र में फेंके हुए की तरह विक्षिप्त बनाकर, प्रायः लंबे लंबे खर्व संख्या वाले तालवृक्षों से भरे हुए, उस सम्पूर्ण तालवन को निमेषमात्र में तोड़ दिया । यद्यपि जिस तालवन में ये वृक्ष स्वयं निश्चितरूप से तृणराज (तालवृक्ष) कहलाते हों, तथापि बलभद्रजी तो उनको "ये वृक्ष मेरे सामने तृण ही हैं" ऐसा विचारते थे ॥२१॥

तदनन्तर धेनुकासुर के अनुगत एवं देवताओं से स्पर्धा करनेवाले, अन्य गदहे के से आकारवाले दैत्य भी भयंकरतापूर्वक गदहे की तरह शब्द करते हुए, क्रोध से दुलत्ती द्वारा प्रहार करते हुए, सहसा मार्ग को रोकते हुए, एक साथ युद्ध करने वाले चारों ओर से आ निकले । उस समय परमानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण बलदेव ने हँसते हँसते, खेलते खेलते तृण के समान मानकर, मूषकों की तरह, जीते हुए ही तुच्छ समझकर, पूँछ के सहित पिछले पाँव पकड़कर, मित्रों के फल खाने की सुविधा के लिये, बीच बीच में खड़े हुए ताल वृक्षों के ऊपर घुमाकर शीघ्र ही फेंक दिये । पुनः प्राणहीन होकर पृथ्वी पर पड़े हुए वे रासभरूपी दैत्य उन गोल गोल ताल फलों के सहित, राहुगणों के साथ मरकर पड़े हुए केतुगणों की तरह, कुछ दिन तक कंस के पक्षपातियों को भयभीत करते रहे ॥२२॥

रासभों अर्थात् गधों का विनाश करनेवाले का पुरुषार्थ ही कितना होता है, ऐसी भावना करके कोई अवज्ञा न करें । क्योंकि उस समय स्वर्गवासी देवगणों ने भी वाद्य, गीत, एवं पुष्पों के द्वारा श्रीकृष्ण बलदेव की सेवा की थी ॥२३॥

तदनन्तर इन्द्र आदि उस देवमण्डली ने अघासुरजेता श्रीकृष्ण के अभिप्राय को जानते हुए, हास्य सहित धेनुकासुर का उपहास किया ॥२४॥

श्रीकृष्ण का अभिप्राय इस प्रकार है, यथा—अघासुर एवं कद्रू का बेटा कालियनाग भी जब हमारे प्रबल पराक्रम को न सह सका, तब हाय ! हाय ! हे पुत्रीघातक गर्दभ ! धेनुकासुर ! तू इतनी धृष्टता करने को क्यों आ गया ? ॥२५॥

"अथ सद्यः पितृवनविलास-तालवनवास-रासभ-शवस्पृष्टानि तानि तालानि न तु तैः परामृष्टानि, न च तदीयतृणानि गावस्तर्णाविताः, किन्तु तद्विसृष्टानि तानि केचिदितर एव मानवा गावश्च विगतसाध्वसाध्वतया चिरं साध्वास्वादितवन्तः ॥२६॥

"तदेवं नृजग्धं तं सगणं क्रोधदग्धसूक्ष्मदेहपर्यन्तमाचर्य श्रीमान् कृष्णस्तु साग्रजः सहसखिव्रजः पुरस्कृतधेनुर्वादितवेणुर्व्रजन् व्रजमाजगाम ॥२७॥ यथा—

कमलदलविशाललोलनेत्रः, सखिजनगीतपवित्रचित्रकीर्तिः ।
सहबलमविशद्व्रजं सवेणुं, क्वणितकलं कलयन् व्रजेश-सूनुः ॥२८॥

(भा० १०।१५।४२)—

'तं गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धमाल्य,-सम्बद्धपिञ्छममलेक्षणचारुहासम् ।
आनन्दिवेणुमनुगेडितपुण्यकीर्ति, गोप्यः सतृष्णनयनाः परितः समीयुः ॥'२९॥

"तदेतत्पर्यन्तमुदन्तं समुदन्तः कथयित्वा तत्र च कृष्णमनश्चोरीणां नवकिशोरीणां तन्मुखविधुदर्शनशातजातभ्रूभङ्ग-तरङ्गसङ्गतानुरागसागरगरिमाणमनुस्मृत्य विस्मृतसर्वेन्द्रिय-कृत्यः सवाष्पकण्ठः स्निग्धकण्ठस्तस्यां सभायां मुहूर्तद्वयं मूर्तभावमेवाससाद ॥३०॥

तदनन्तर शीघ्र ही श्मशानविलासी तालवनवासी गर्दभों (गदहों) के मृतक शरीरों से छुये हुए, वे तालफल उन ग्वालबालों ने तो छुए भी नहीं, खाना तो बहुत दूर रहा। और उन ग्वालबालों ने उस वन के तृणों को अपनी गैयाओं को नहीं खवाया। किन्तु उन गोपों एवं गैयाओं के द्वारा छोड़े हुए, वे तालफल एवं तृणसमूह, किन्हीं अन्य मनुष्यों ने एवं गैयाओं ने, भयरहित मार्ग हो जाने के कारण, बहुत दिन तक अच्छी प्रकार स्वाद ले लेकर खाये ॥२६॥

अतएव इस प्रकार मनुष्यों को खाने वाले धेनुकासुर के परिवार सहित सूक्ष्मशरीर पर्यन्त क्रोध से जलाकर श्रीकृष्णचन्द्र भी, श्रीबलदेवजी एवं मित्रवर्ग के सहित, धेनुओं को आगे करके, वेणु बजाते हुए, धीरे धीरे चलकर व्रज को आ गये ॥२७॥

यथा—कमलदल के समान विशाल एवं चञ्चल हैं नेत्र जिनके, तथा मित्रजनों के द्वारा गाई गई है पवित्र विचित्र कीर्ति जिनकी, ऐसे श्रीव्रजराजकुमार मधुरतापूर्वक वेणु बजाते हुए, श्रीबलरामजी एवं धेनु-गण के सहित व्रज में प्रविष्ट हो गये ॥२८॥

श्रीकृष्ण वृन्दावन में गैया चराकर जब श्रीनन्दव्रज (नन्दगांव) को आये, तब गोधूलि से धूसरित उनके केशकलाप में बँधी हुई पुष्पों की माला में मयूरपुच्छ बँधे हुए थे, उनके नेत्र निर्मल एवं हास्य मनोहर था, उनकी वंशी सर्वानन्ददायक थी, एवं सहचरगण उनकी पवित्र कीर्ति की स्तुति कर रहे थे। उस समय दर्शन की लालसा से युक्त नेत्रों वाली गोपियाँ चारों ओर से आ गई ॥२९॥

बस, यहाँ तक के वृत्तान्त को हर्ष भरे अन्तःकरण से कहकर, और उसी प्रसङ्ग में श्रीकृष्ण के मन को चुराने वाली नवकिशोरियों के श्रीकृष्ण के मुखचन्द्र के दर्शन से उत्पन्न सुखसमूह से जायमान भ्रूभङ्ग-रूपी तरङ्गों से मनोहर अनुरागरूपी सागर के गौरव का स्मरण कर, जिसके सभी इन्द्रियों के कार्य विस्मृत हो गये हैं, एवं वाष्प के कारण जिसका गला रुक गया है, ऐसा स्निग्धकण्ठ, उस सभा में दो घड़ी तक मूर्च्छित हो गया ॥३०॥

"श्रीमद्व्रजराजादयस्तु तदभिप्रायमजानानाः सदयतया तदीय-सान्त्वविधये सावधाना नानाविधविधानमाचरन्तः सर्व एव चिन्तातुरा बभूवुः ॥३१॥

"तत्तद्विधानस्य चाकिञ्चित्करतायामविरतायां मधुकण्ठ एव तान् स्फुरदुत्कण्ठः सान्त्वितान् विधाय भ्रातुः सर्वेन्द्रियकुण्ठताशान्तये तदानीन्तनव्रजराज्ञी - सन्तततल्लालनसङ्गानमाततान ॥३२॥ यथा—

'हरिणा हलिना सहरिपुदलिना ।
रजनी-मुखमनु जननी-लालनमिति कलितं जितकलिना ॥ध्रु॥
निर्मञ्छन-नीराजन-मार्जन-वदनालोकनरचनम् ।
मर्दन-मज्जन-संवस्त्रणतः पश्चात् पुण्ड्रक-सचनम् ॥
रसचय-योजन-भोजनपूरण-सुरभित-नीरास्वदनम् ।
अगुरुद्रवयुतिरथ ताम्बूलस्वदनं सुखसंवदनम् ॥
सुकृतिजनं प्रति शय्या-संस्कृतिसमनुज्ञामनुशयनम् ।
प्रियसखसङ्गतिमनुसेव्यनुगतिमनु च मुदामतिचयनम् ॥' इति ॥३३॥

"तदेवमतिपरिचरितं हरिचरितवर्णनं मधुररागनीरन्ध्रं कर्णरन्ध्रं प्रविशदेव तं मूर्च्छामृच्छन्तमपि जागरयामास, नामधेयमिव निद्रालब्धचिद्राहित्यम् ।" ॥३४॥

श्रीमान् व्रजराज प्रभृति सभी सभासद् तो उसके अभिप्राय को न जानते हुए, दयाभावपूर्वक उसकी सांत्वना करने के लिये, सावधान होकर अनेक प्रकार के उपचारों को करते हुए चिन्तातुर हो गये ॥३१॥

और श्रीनन्दादि द्वारा किये गये उन उन उपचारों की निरर्थकता जब तक विशेष समय तक नहीं हुई, तभी उत्कण्ठा की स्फूर्ति वाले मधुकण्ठ ने ही उन सबको सान्त्वित करके, अपने भैया की सभी इन्द्रियों की स्तब्धता की शान्ति के लिये, तत्कालीन व्रजरानी के निरन्तर लालनकार्य के उत्कृष्ट गायन को विस्तृत किया, अर्थात् स्निग्धकण्ठ की मूर्च्छा को दूर करने के लिये, श्रीव्रजरानी के सायंकल में श्रीकृष्ण के लालन सम्बन्धी कार्यों का सूचक गायन का विस्तार किया— ॥३२॥

गायन का अर्थ, यथा—शत्रुओं का मर्दन करनेवाले हलधारी श्रीबलदेवजी के साथ कलिजेता श्रीकृष्णचन्द्र ने सायंकाल उपस्थित होने पर, माङ्गलिक द्रव्यों का स्पर्श, तालवृन्तादि द्वारा श्रम दूर करना, न्योछावर करना, आरती उतारना, अपनी चूनरी के छोर से लाला के मुख का मार्जन करना, लाला के मुख को देखना, तैल मर्दन, उबटन, स्नान, अंगप्रोक्षण, वस्त्र परिधान करना, पश्चात् तिलक रचना करना, रससमूह से युक्त भोजन से पूर्ति करना, सुगन्धित जल का पान एवं आचमन, अगुरु (गुग्गुल) एवं चन्दन का आघ्राण, ताम्बूल आस्वादन, पश्चात् सुखपूर्वक वार्तालाप करना, पुण्यात्मा सेवकों के प्रति शय्या के संस्कार की, अर्थात् अच्छी प्रकार खाट बिछाने की आज्ञा के अनन्तर शयन करना, प्रिय सुहृद्गणों के सहित सेवा, सङ्गति, पश्चात् हर्षराशि का अत्यन्त सञ्चय, इस प्रकार माताजी के लालन पालन को सहर्ष स्वीकार किया ॥३३॥

निद्रा के कारण प्राप्त अचेतना से युक्त व्यक्ति को उसका नाम (दूसरे के द्वारा पुकारने पर) जैसे

अथ स्वस्थावस्थतया कुण्ठतारहितस्ताद्दशगुणमहितः स्निग्धकण्ठः सवाष्पकण्ठमुवाच,—३५

"सोऽयं गोपालभूपाल ! तनयस्तव निर्दयः ।
मुग्धश्च मद्विधं मुग्धं करोति स्वैरलीलया ।।'३६।।

तदेवं वृत्ते निवृत्ते सर्वत्र च व्रजजने गृहवर्त्मानुवृत्ते नित्यवदेव व्रजमहेन्द्रतनूजस्तौ सूतराजतनूजौ सङ्गत एव निनाय । नीत्वा च तयोरात्मना तृतीयः सन् प्रसङ्गतः प्रच्छन्नतया पप्रच्छ,—।।३७।।

"कथयतं कथमेतावान् कस्मान्मूर्च्छावेशः क्लेश इव परामृष्टः ? इति । उभौ तु सगद्गदं जगदतुः,—किं ब्रूवहे, भवन्त इव सर्वमनुभवन्ति" इति ।।३८।।

कृष्णश्च सतृष्णमुवाच,—"जानीम एव केवलं न, किन्तु तदानीं स्वयमपि नितरामाचरामस्तथापि तद्वर्णनमाकर्णयितुमिच्छामः ।।३९।।

"तथाहि—स्वयमपि यत् पुरु रचितं, तद्यदि हृद्यं तदा सदा श्राव्यम् ।
काव्यं निजसचितं य,-त्तदिदं युवकां परस्परं शृणुथः ।।४०।।

उसको जगा देता है, उसी प्रकार मधुरराग परिपूर्ण पूर्वोक्त हरिपरिचर्यारूप, श्रीहरिचरित वर्णन ने कर्णछिद्र में प्रवेश करते ही, मूर्च्छा को प्राप्त हुए स्निग्धकण्ठ को भी जगा दिया ।।३४।।

तदनन्तर स्वस्थ अवस्था के कारण स्तब्धता से रहित, ताद्दश गुणों से पूजित या विभूषित स्निग्धकण्ठ वाष्प के कारण गद्गद कण्ठ होकर बोला कि— ।।३५।।

हे गोपराज ! आपका यह पुत्र अत्यन्त निर्दय है । क्योंकि मैं उनके चरित्र का वर्णन कर रहा हूँ, तो भी मुझको मूर्च्छित कर दिया । मैं तो स्वभाव से मूढ़ हूँ । उसके ऊपर भी वह अपनी स्वच्छन्दलीला द्वारा मुझ जैसे व्यक्ति को भी मुग्ध कर रहा है ।।३६।।

इस प्रकार उस दिन का वृत्तान्त समाप्त हो जाने पर, समस्त व्रजजनों को अपने अपने घर के मार्ग का अनुसरण कर लेने पर, नित्य की भाँति, श्रीव्रजराजकुमार उन दोनों सूतपुत्रों को अपने सङ्ग ही ले गये । और साथ ले जाकर उन दोनों के बीच में स्वयं तीसरे होकर, प्रसङ्गवशात् गुप्तरूप से पूछने लगे कि— ।।३७।।

तुम दोनों ही कहो कि क्लेश की तरह विचारा गया यह इतना मूर्च्छा का आवेश किस कारण से हुआ, एवं क्यों हुआ ? दोनों ही गद्गद होकर बोले—हे भगवन् ! हम दोनों क्या कहें, आप तो सभी का अनुभव कर रहे हैं ।।३८।।

श्रीकृष्ण भी तृष्णापूर्वक बोले कि—हम केवल जानते ही हों सो बात नहीं, किन्तु उस समय स्वयं अच्छी प्रकार आचरण भी करते हैं, तथापि उस वर्णन को सुनने की इच्छा करते रहते हैं ।।३९।।

देखो ! जो कार्य स्वयं भी अधिक मात्रा में किया गया हो, वह कार्य यदि मनोहर हो, तब तो सदैव सुनना चाहिये । क्योंकि यह स्वयंरचित जो काव्य है, उसको तुम दोनों भी आपस में आदरपुर्वक सुनते हो ।।४०।।

"तस्मात् प्रथमं तावत् प्रेयसीगणाधिकाया राधिकाया बिम्बोष्ठी-गोष्ठीमध्यमध्यास्य व्यस्यतामेषा पटीयसी रसपरिपाटी" ॥४१॥

उभौ सवाष्पतया परस्परं निरूपयन्तावूचतुः,—॥४२॥

"यदन्तर्यस्य सर्वं तत्तस्य जानात्यभीप्सितः।
स एव चेद्वसत्यन्तस्तन्तु जानीत कः परः?"४३॥

कृष्णश्च सानन्दमुवाच,—"तदद्य नक्तमेवानवद्या सेयं विद्या निवेद्यतामिति बाहुयुगं गृहीत्वा सखिगोष्ठीमनु तावमू नीत्वा बहलकुतूहलवेष्टितेन चेष्टितेन यावद्विरोचननिम्लोचनावसरं वासरं गमयामास ॥४४॥

॥ इति श्रीश्रीगोपालचम्पूमनु धेनुकासुर-मर्दनं नाम चतुर्दशं पूरणम् ॥१४॥

अतएव प्रेयसीगणों के मध्य में जो प्रधान हैं, जिनका नाम श्रीराधिका है, उनकी जो बिम्बोष्ठी सखियों की गोष्ठी (सभा) है, उसके बीच में बैठकर प्रथम इस अत्यन्त सुनिपुण रस की परिपाटी का विस्तार करो ॥४१॥

दोनों ही सजलनयन होकर परस्पर निरूपण करते हुए बोले— ॥४२॥

देखो! जिसके अन्तःकरण में जो वस्तु है, उस समस्त वस्तुमात्र को उसका स्नेहीजन जानता है यह निश्चित है। वह स्नेहीजन ही यदि अन्तःकरण में निवास करता है, तब फिर दूसरा व्यक्ति ऐसा कौन है, जो कि उसको जानने में समर्थ होगा? ॥४३॥

श्रीकृष्ण आनन्दपूर्वक बोले कि—तब तो आज की रात्रि में ही, इस अनिन्दित विद्या का निवेदन कर देना। यह कहकर दोनों की भुजाओं को पकड़कर, मित्रों की सभा में उन दोनों को ले जाकर, बहुत सी कौतुकपूर्ण चेष्टाओं द्वारा सूर्य के अस्तगमनकाल पर्यन्त दिन को बिता दिया ॥४४॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीगोपालचम्पूकाव्ये धेनुकासुरमर्दननामकं
चतुर्दशं पूरणं सम्पूर्णम् ॥१४॥

अथ पञ्चदशं पूरणम्

पूर्वानुरागः

अथ गोलोक-युवराजः सखिभिः सह राजमानः सायं प्रत्यवसाय मातुराज्ञामादाय वलितप्रभायां गोपराज-सभायां प्रतिरजनीव जनित-सर्वायत-पर्वाकृताभिप्राये प्रहरप्राये गुरूननुज्ञाप्य तदन्यान् प्रस्थाप्य महान्तःपुरं प्राप्य प्रसू-निदेशमवाप्य सुबल-मधुमङ्गलादिभिरन्तरङ्ग-सङ्गिभिः सङ्गतः सूताङ्गजाताभ्यां च ताभ्यामनुगतः प्राग्वर्णितगोकुलकमलपत्रस्थितं परमसुखसत्रतया प्रमितं श्रीराधारामधाम जगाम ॥१॥

अकस्मादागते च तस्मिन् सस्मितक्रीडानर्मजुषाममूषां सम्भ्रमभ्रमविस्मयस्मयत्रपापत्र-पादरादरहर्षतर्षादयस्ते भावा युगपदेव समुत्पन्नाश्चित्रीयमाणतां चित्रायमाणतामप्याचेरुः ॥२॥

तत्र च—अकस्मादायान्तं हरिमनुभवन्ती किल ह्रिया
दशामक्ष्णोर्नानाद्रुतमपिदधे सा नतमुखी ।
मुदा स्मेरा भुग्ना विकसितवती कुञ्चितवती
सवाष्पा स्तब्धाभाऽभवदिति समं या न घटते ॥३॥

पन्द्रहवाँ पूरण

पूर्वानुराग वर्णन

तदनन्तर गोलोक के युवराज श्रीकृष्ण मित्रों के सहित विराजमान होकर, सायंकाल में भोजन कर, माता की आज्ञा लेकर, प्रभा से युक्त श्रीगोपराज की सभा में, प्रत्येक रात्रि की तरह, उत्पन्न सभी के विस्तृत महोत्सवमय अभिप्रायसूचक प्रहरमात्र समय में, गुरुजनों की अनुमति लेकर, एवं गुरुजनों से भिन्न व्यक्तियों को अपने अपने घर भिजवा कर, विशाल अन्तःपुर को प्राप्तकर, माता की आज्ञा पाकर, सुबल, मधुमङ्गल आदि अन्तरङ्ग सखाओं से संमिलित होकर, उन दोनों सूतपुत्रों से अनुगत होकर, अर्थात् उन दोनों को अपना अनुगामी बनाकर, पूर्ववर्णित गोकुलरूप कमलपत्र में स्थित, परमसुख का स्थान कहकर, जिसकी उपमा दी गई है, ऐसे श्रीमती राधिका के उद्यानभवन में पधारे ॥१॥

वहाँ पर अकस्मात् श्रीकृष्ण के आ जाने पर मन्दमुस्क्यानपूर्वक हास परिहास का सेवन करने वाली उन सभी गोपियों के सम्भ्रम, भ्रम, विस्मय, गर्व, लज्जा, अपत्रपा, भय, आदर, हर्ष एवं इच्छा प्रभृति वे सब भाव एक ही साथ उत्पन्न होकर, आश्चर्य और स्तब्धभाव को उत्पन्न करने लग गये, अर्थात् सहसा श्रीकृष्ण को आते देखकर, सभी सखियाँ आश्चर्ययुक्त होकर चित्रलिखी सी बन गईं ॥२॥

श्रीराधिकाजी के भावविशेष को वर्णन करते हुए कहते हैं कि—अकस्मात् आते हुए श्रीकृष्ण को देखकर, लज्जा के कारण उन श्रीराधिकाजी का मुख नीचा हो गया, एवं अपने दोनों नेत्रों की अनेक प्रकार की अवस्था को उन्होंने शीघ्र ही छिपा लिया। उस समय वे कभी आनन्द से मन्दहासयुक्त हो जाती थीं, कभी टेढ़ी हो जाती थीं, कभी हर्ष से विकसित हो जाती थीं, तो कभी संकोच से संकुचित हो जाती थीं, कभी अश्रुओं से युक्त हो जाती थीं, तो कभी निश्चल सी बन जाती थीं, इस कारण जो अन्य सखियों के समान चेष्टा नहीं करती थीं, अर्थात् भावोद्रेकों में कोई भी रमणी श्रीराधिका के तुल्य नहीं हो सकती ॥३॥

अथ प्रगुणगुणालंकृता किङ्करी-ततिर्वितस्तिदघ्नराङ्कवास्तरणेन तमतिविस्तीर्ण मणिकीर्णमलिन्दमास्तीर्ण चक्रे । आस्तीर्णस्य च तस्य प्रतीचीप्रचितसुललिततूलिकायां प्राचीमुखतया स्वयं निविशमानः शुभ्रतारामचामरादिकराभिः किङ्करीभिः सेव्यमानः श्रीराधाया बहिरपि विराजमानप्राणः पाणिना तामादाय स्वरसमिलित-तदीयरसवेणी-समाप्लुवनजीवनानां श्रेणीकृतानामेणीदृशां गणाग्रदेशगततया वामदेशे निवेशयामास ।।४।।

दक्षिणतस्तु केवल-तदीयनवतरुणिमावतार-समुचितसेवाप्रकारकामनारामप्रथमवयसः सुबलादिसवयसः ।।५।।

यत्पङ्क्तिद्वयान्तिमसीम-मध्यगतौ तन्मिथुनाभिमुखताभिरतौ तादृशप्रणयसुकुमारौ सूतकुमारौ तस्थतुः, ययो रागतालादिसाहायकाय सखाय एव केचन सचन्ते स्म ।।६।।

यौ खलु द्वयोरपि तयोः सवयसामावल्योरर्धमणिसरवल्योरिवाग्रिमसीम-मध्यमधिकृत्य मिथः शोभाविनिमयशीलतया नीलपीतताविवेक-व्यतिरेकमय-महानायकायमानं सर्वत्र प्रथितदृष्टिप्रसादमपि मिथः समर्पितनेत्रत्रिभागरागं तन्मिथुनमवलोकयन्तौ द्वित्रक्षणं चित्रवदिवास्थिषाताम् ।।७।।

तदनन्तर सरल गुणों से अलंकृत दासीसमूह ने अत्यन्त विस्तीर्ण, मणिमुक्ताओं से जड़े हुए उस प्रांगण को या पौरी को, एक बिलाँत ऊँचे मृगछाला के बिछौने से आच्छादित कर दिया। बिछौने से ढ़के हुए उस प्राङ्गण की पश्चिम दिशा में सुसज्जित परम मनोहर तोषक के ऊपर, श्रीकृष्ण स्वयं पूर्वाभिमुख होकर विराजमान हो गये। सेविकायें शुभ्रता से सुशोभित चामर आदि हाथों में लेकर उनकी सेवा करने लग गईं। उस समय ऐसा प्रतीत होता था कि, श्रीकृष्ण मानों श्रीराधिका के बहिःस्थित प्राणस्वरूप ही विराजमान हैं। श्रीकृष्ण ने अपने करकमल द्वारा श्रीराधिका को ग्रहण करके, निजसुख में संमिलित प्रिया प्रियतम की रसरूप त्रिवेणी में गोता लगाना ही जिनका जीवन है, अर्थात् प्रिया प्रीतम के सुख में ही जो सुखी हैं, ऐसी समस्त श्रेणीबद्ध मृगनयनी व्रजाङ्गनाओं के अग्रभाग में अपनी बाईं ओर बैठा दिया ।।४।।

और दाहिनी ओर सुबल आदि समान अवस्था वाले सखा बैठा दिये। नूतन अवस्था वाले ये सभी सुबलादि प्रियनर्म सखा, केवल श्रीकृष्ण के नवयौवन के प्रकाश एवं समुचित सेवा की कामना द्वारा विराजमान रहते हैं ।।५।।

इन दोनों पंक्तियों की अन्तिम सीमा के ठीक मध्यभाग में वे दोनों सूतकुमार बैठ गये। वे दोनों भाई युगलसरकार श्रीराधाकृष्ण के संमुख बैठने में ही सदा निरत हैं, एवं वैसे स्नेह के अनुरूप नवीन अवस्था वाले हैं। और कुछ सखा ही जिन दोनों के राग एवं ताल आदि की सहायता के लिये संमिलित हो गये ।।६।।

उस समय श्रीराधाकृष्ण के समान अवस्था वाले सखा एवं सखियों की दोनों पंक्तियाँ मानों आधे मणिमय दो हारलताओं की तरह विद्यमान थीं। जो दोनों सूतपुत्र हैं वे निश्चय ही उन दोनों पंक्तियों की अन्तिम सीमा के ठीक बीच में अधिकार करके बैठे थे। उस समय परस्पर की शोभा स्वभाव से ही परिवर्तित हो रही थी, सुतरां नायकश्रेष्ठ श्रीकृष्ण की श्यामता एवं श्रीराधिका की पीतता की पृथकता, एवं परस्पर अभिन्नता भी अनुभूत हो रही थी। अतएव हार के मध्य में स्थित महानायकमणि के समान होकर दोनों ही 'राधाकृष्ण' रूप नायकों की दृष्टि की प्रसन्नता विख्यात होकर भी, उन दोनों के कटाक्ष परस्पर के

ततश्च प्रहस्य नवघनश्यामेनादिश्यमानतया सावधानतां दधानावानन्दादुभावेव संहिताञ्जलिकरौ नान्दीकरौ बभूवतुः ॥८॥

"तत्र वस्तु-निर्देशः—

इमौ गौरिश्यामौ मनसि विपरीतौ बहिरपि
स्फुरत्तद्वद्वस्त्राविति बुधजनैर्निश्चितमिदम् ।
स कोऽप्यच्छप्रेमा विलसदुभयस्फूर्तिकतया
दधन्मूर्तीभावं पृथगपृथगप्याविरुदभूत् ॥९॥

" अथ नमस्क्रिया—

श्रीरासां न तुलां बिभर्ति नितरामित्युद्धवः कीर्तयन्
यासामंघ्रि-रजो ननाम हरिणा यः स्वेन तुल्यो मतः ।
तासां तत्प्रियता-सुधाकरतनुं विष्वक् चकोरायिते-
नानेनानुगतां समस्तमहितां वन्दामहे राधिकाम् ॥१०॥

प्रति अनुरक्त थे। ऐसी अवस्था में उन श्रीराधाकृष्णरूप युगल जोड़ी का दर्शन करते हुए, वे दोनों सूतकुमार दो तीन क्षण तो मानों चित्रलिखे की भाँति बैठे रह गये ॥७॥

तदनन्तर नवघनश्याम के द्वारा आदिष्ट होने के कारण, सावधानता को धारण करते हुए, दोनों ही भाई आनन्द से दोनों हाथों की अंजली जोड़कर नान्दी (देव, द्विज, नृप आदिकों की आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक एवं वस्तुनिर्देशात्मक स्तुति को ही नान्दी कहते हैं) करने वाले हो गये, अर्थात् दोनों भाई श्रीराधाकृष्ण की तीनों प्रकार की स्तुति करने लग गये ॥८॥

उन तीनों प्रकार की स्तुति में वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरण इस प्रकार है, यथा—ये दोनों श्रीराधा कृष्ण क्रमशः गौर श्यामवर्ण के हैं, किन्तु मनमें विपरीत हैं, अर्थात् श्रीराधिका का मन श्रीकृष्ण में तदाकार होने से श्यामवर्ण का है, और श्रीकृष्ण का मन श्रीराधिका में तदाकार होने से गौरवर्ण का है। और वह मन बाहर भी स्फूर्ति पा रहा है, इसीलिये दोनों ही के वस्त्र क्रमशः गौर श्यामवर्ण के हैं। अर्थात् श्रीकृष्ण का पीताम्बर श्रीराधावर्ण विभावित श्रीकृष्ण के मन की प्रतीति करा रहा है, एवं श्रीराधिका की नीली साड़ी श्रीकृष्णवर्ण विभावित श्रीराधिका के मन की स्फूर्ति करा रही है। विद्वज्जनों ने इस विषय को इसी प्रकार निश्चित किया है। वह कोई अनिर्वचनीय निर्मल प्रेम दोनों प्रकारों से स्फूर्ति पाने के कारण, मूर्ति भाव को धारण करता हुआ अभिन्न होकर भी, मानों भिन्न भिन्न रूप से आविर्भूत हो गया है ॥९॥

तदनन्तर महाकाव्य प्रसङ्ग में नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण, यथा—श्रीलक्ष्मीजी भी इन गोपियों की अपूर्व शोभा की तुलना को बिलकुल धारण नहीं करतीं, इस प्रकार उच्चारण करते हुए श्रीउद्धवजी ने जिन गोपियों की चरणरज की बारंबार वन्दना की है, एवं श्रीकृष्णचन्द्र ने भी जिन उद्धवजी को अपने समान माना है। उन्हीं समस्त गोपियों के बीच में, श्रीकृष्ण प्रेमरूपी सुधाकर ही है शरीर जिनका, एवं चारों ओर चकोर का सा आचरण करने वाले श्रीकृष्ण के द्वारा जो अनुगत हैं, तथा सभी के द्वारा जो पूजित हैं, ऐसी श्रीमती राधिका की हम वन्दना करते हैं ॥१०॥

"अथाशीः—

प्रेमा योऽसौ राधिका-कृष्णयुग्मं, स्वानन्देन प्लावयित्वा सखीश्च ।

शश्वद्विश्वं प्लावयन् सुप्रसिद्धः, सोऽयं बुद्धिं नः समिद्धां करोतु ॥" ११॥

इति परस्परं सवैलक्ष्यस्मितमीक्षित्वा स्थितयोस्तयोः स्निग्धकण्ठ सोत्कण्ठमुवाच,—॥१२

"अथ श्रीकृष्ण-जन्मादि-माधुर्यवदेव श्रीराधिकायास्तत्तन्माधुरी वर्णनीयेति निर्णयेऽप्यति-विस्तीर्णता-सङ्कोचनाय किञ्चिदेव सूचयिष्यामः ॥१३॥

"तत्र श्रीमद्भागवते खल्वेतदुद्भावितम्, (भा० १०।५।१८)—

'तत आरभ्य नन्दस्य व्रजः सर्वसमृद्धिमान् । हरेर्निवासात्म-गुणै रमाक्रीडमभून्नृप ॥' इति॥१४

"तच्चैवं विशदयन्ति,—

'जन्मारभ्य हरेर्व्रजस्थलमभूद्विश्वर्धियुक्तं पुन-

र्लक्ष्मीणां रमणास्पदं च तदधिष्ठानाद्विशिष्याजनि ।

राधा यासु ललास पूर्णशशभृन्मूर्तीव तारासु सा

कान्तिः किन्त्विह चित्रभाववलिता या कृष्णपक्षाधिका ॥' १५॥

"बृहद्गौतमीयेऽप्येषा सर्वतो लब्धविशेषा प्रस्तूयते,—

अब आशीर्वादात्मक मङ्गलाचरण का निर्देश करते हैं, यथा—यह जो अनिर्वचनीय प्रेम श्रीराधा-कृष्णरूप युगल जोड़ी को अपने आनन्द से अभिषिक्त करके, एवं सखियों को भी अभिषिक्त करके, निरन्तर विश्व को भी अभिषिक्त करता हुआ सुप्रसिद्ध है। यह वही प्रेम हमारी बुद्धि को भी प्रदीप्त कर दे ॥११॥

इस प्रकार भावान्तर के सहित मृदुहास्यपूर्वक युगलसरकार का दर्शन करके बैठे हुए, उन दोनों भाइयों के बीच में से स्निग्धकण्ठ उत्कण्ठापूर्वक बोलने लगा कि— ॥१२॥

अब श्रीकृष्ण के जन्मादि माधुर्य की तरह श्रीराधिका की भी वह वह जन्मादि माधुरी वर्णन करनी होगी। यह निश्चय होने पर भी, अत्यन्त विस्तीर्णता का संकोच करने के लिये, हम किञ्चित् ही सूचित करेंगे ॥१३॥

इस विषय में श्रीमद्भागवत में यह निश्चितरूप से उद्भावित किया है कि—"हे राजन्! श्रीकृष्ण के जन्मदिवस से लेकर, श्रीहरि के निवास एवं उनके गुणसमूह के द्वारा, श्रीनन्दरायजी की व्रजभूमि सर्वप्रकार के ऐश्वर्यों से परिपूर्ण होकर, श्रीलक्ष्मीदेवी की तो उद्यान (वाटिका) स्वरूप हो गई थी ॥१४॥

पण्डितजन इसकी विशद व्याख्या इस प्रकार करते हैं—श्रीहरि के जन्म से लेकर यह व्रजमण्डल सभी सम्पत्तियों से युक्त हो गया था, और श्रीहरि का निवासस्थान होने के कारण तो विशेष करके लक्ष्मी-गणों का क्रीड़ास्थल ही बन गया था। तारागणों के बीच में जैसे पूर्णचन्द्रमा की मूर्ति प्रधान है, वैसे ही श्रीराधिका भी जिन गोपीरूपा अनन्त लक्ष्मीगणों के बीच में प्रधान रूप से देदीप्यमान थीं। जो कान्ति कृष्णपक्ष में अधिक है, किन्तु वही कान्ति इस विषय में विचित्रभाव से युक्त थी। पक्षान्तर में अर्थ यह है कि, कृष्णपक्ष से अर्थात् अपने चातुर्य के कारण श्रीराधिका, चन्द्रावली के यूथ से भी अधिक थीं ॥१५॥

बृहद् गौतमीय ग्रन्थ में भी ये श्रीराधिकाजी सबकी अपेक्षा अधिक उत्कर्ष को प्राप्त हैं, ऐसा कहकर

'देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता ।
सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिः संमोहनी परा ॥ इति ॥१६॥

"अलंलक्ष्मीणामेतदादीनां लक्ष्मीणां जन्म च श्रीमत्पर्जन्यमारभ्य धन्यतया लभ्यस्य पुरुषत्रयस्य परमातुलस्तोत्राणां मातुलगोत्राणां ये खल्वामुष्यायणकुलतानिर्बन्धिनः संबन्धिनस्तेभ्य एवेति मागधानामनुसन्धानं सयत्नीभूय यज्ञपत्नीस्त्यक्तवतस्तस्य तथाव्यक्तमर्यादतान्यथा न पर्याप्ततामापद्येत ॥१७॥

"तदेवं स्थितेषु च श्रीराधिकायास्तु सर्वतोऽप्याढ्यकुलीनाच्छ्रीमद्वृषभानुतया लब्धख्यातिकान्महागोपपयोनिधेर्जन्म सम्मतम् ॥१८॥

"अत्र चोपगायन्ति,—

'सत्यं बहुसुतरत्ना,-करतां स प्राप गोपदुग्धाब्धिः ।
किन्त्वमृतद्युति-राधा,-लक्ष्मीजननादगात् पूर्तिम् ॥'१९॥

"सा खलु श्रीकृष्णजन्मवर्षानन्तरवर्षे सर्वसुख-सत्रे राधानाम्नि नक्षत्रे जातेति राधाभिधीयते ॥२०॥

"जन्मानन्तरं तस्याः सन्माधुरी चेयं कृतावलोकेन लोकेन कीदृगिति पृच्छतः प्रति निरूपिता,—॥२१॥

प्रस्ताव किया गया है। यथा—श्रीकृष्णमयी देवी श्रीराधिका परदेवता कहकर पुकारी जाती हैं। वे ही श्रीराधिका सर्वशक्तिमयी, सर्वकान्तिस्वरूपा, एवं परासम्मोहिनी शक्ति हैं ॥१६॥

श्रीलक्ष्मीदेवी से भी श्रेष्ठ इन श्रीराधिका, ललिता, विशाखा आदि समस्त लक्ष्मीस्वरूपा गोपियों का जन्म भी, श्रीनन्दजी के पिता श्रीमान् पर्जन्य से आरम्भ करके सर्वशुद्ध एवं प्रशंसनीय तीन पुरुषों के उत्कृष्ट एवं अनुपम कीर्ति वाले मामा के गोत्र के जो प्रसिद्ध वंशोत्पन्न, और दृढ़तायुक्त जो संबंधी हैं, उन्हीं से हुआ है। ऐसा वंश के प्रशंसक मागधजनों का अनुसन्धान है। अतएव यत्नपूर्वक यज्ञपत्नियों को त्यागने वाले उन श्रीकृष्ण की उस प्रकार की प्रसिद्ध मर्यादा अन्यथा पूर्णता को प्राप्त नहीं हो सकती ॥१७॥

अतः इस प्रकार की स्थिति में श्रीराधिकाजी का जन्म तो सबकी अपेक्षा धनाढ्य एवं कुलीन वृषभानु नाम से प्राप्त कीर्ति वाले, महागोपरूप समुद्र से सर्वसम्मत है ॥१८॥

इस विषय में सभी विज्ञजन इस प्रकार गाते हैं, यथा—वह श्रीवृषभानु गोपरूप क्षीरसिन्धु, बहुत से पुत्ररूप रत्नों के कारण रत्नाकरता को प्राप्त हो गया यह बात सत्य है, किन्तु अमृतप्रभाशालिनी श्रीराधिका रूपा लक्ष्मी के जन्म के कारण वह परिपूर्णता को प्राप्त हो गया ॥१९॥

वे श्रीराधिकाजी निश्चितरूप से श्रीकृष्ण के जन्म वाले वर्ष से दूसरे वर्ष में, सर्वसुखसंयुक्त राधा नामक नक्षत्र में उत्पन्न हुई हैं, इसी कारण 'राधा' कही जाती हैं ॥२०॥

श्रीराधाजी के जन्म के अनन्तर व्रजवासी जब यह पूछते थे कि—"उस धन्या वृषभानु कन्या की माधुरी कैसी है ?" तब दर्शन करने वाले जनों ने उन पूछने वालों के प्रति उनकी इस उत्कृष्ट माधुरी का निरूपण इस प्रकार किया है— ॥२१॥

'नवेन्दुर्मूर्तिर्वा कनककमलं वक्त्रमथवा
चकोरौ नेत्रे वा विसरदमृतं दृष्टिरथवा ।
अपीत्थं राधायां यदि जिततुलायां न बलते
विकल्पः किं तर्हि प्रसजतितरां तत्तदुपमा ॥'२२॥

"आस्तां तावदसौ व्रजलक्ष्मीणां परमलक्ष्मीरखिलाश्च तास्तथा वर्ण्यन्ते ॥२३॥

यथा—हरिमनु विन्दति शश्व,-ल्लक्ष्मीरिति या तु सर्वतः ख्याता ।
तामपि किल गोपयितुं, गोपीसंज्ञा जयन्ति ता लक्ष्म्यः ॥२४॥

किञ्च, कृष्णानुरूपमप्यासां वयोवृद्धिः समृद्धयति ।
यथा चन्द्रमसः पुष्टिस्तथा तस्य रुचामपि ॥२५॥

"तत्र कौमारमध्यमध्यासीनायां श्रीराधिकायां तदानीन्तनानां केषाञ्चिन्नारीजनानामुत्प्रेक्षा यथा—॥२६॥ 'पश्य, पश्य,

अरुणितलघुशाटी-खण्डकस्राधराङ्गी, श्रवणगलवरन्ध्रप्रोतसुस्पर्शसूत्रा ।
रजसि निजसखीभिः क्रीडया लोलनेत्रा, मधुरिपुरतिबीजश्रीनिभा भाति राधा ॥२७॥

यह नवीन चन्द्रमा है अथवा मूर्ति, सुवर्ण का कमल है अथवा मुख, दो चकोर हैं अथवा नेत्रयुगल, विस्तृत अमृत है अथवा दृष्टि, उपमाओं को जीतने वाली श्रीराधा के विषय में यदि इस प्रकार की अनेक कल्पनायें भी जब नहीं हो सकतीं, तब "यह नवीन चन्द्रमा के समान है" इत्यादि उपमा कहाँ लागू हो सकती हैं ? ॥२२॥

व्रजलक्ष्मियों के बीच में परम लक्ष्मीस्वरूपा श्रीराधा को तो रहने दो, चन्द्रावली प्रभृति वे समस्त गोपियाँ भी इस प्रकार वर्णित की जाती हैं । यथा— ॥२३॥

जो लक्ष्मीदेवी श्रीहरि का सदैव अनुगमन करती हैं, इसीलिये वे सर्वत्र प्रसिद्ध हैं । श्रीहरि की अनुगामिनी उन लक्ष्मीदेवी को भी गोपन करने के लिये, अर्थात् उनकी रक्षा करने के लिये गोपी नाम धारिणी वे अनन्त लक्ष्मियाँ सब से उत्कृष्ट हैं ॥२४॥

अपि च पूर्णरूप से श्रीकृष्ण की भाँति, इन राधा प्रभृति गोपियों की अवस्था की वृद्धि भी समृद्धि को प्राप्त होने लगी । देखो, जैसे जैसे चन्द्रमा की पुष्टि होती जाती है, वैसे वैसे ही उसकी कान्तियों की भी पुष्टि होती जाती है ॥२५॥

उन सब गोपियों में से श्रीराधिकाजी जब कुमारावस्था के बीच में उपस्थित हो गईं, तब उस समय की कतिपय नारीजनों की उत्प्रेक्षा इस प्रकार है, यथा— ॥२६॥

अरी बहिनो ! देखो, देखो तो सही । इस परमपावन व्रज की रज में अपनी ललिता, विशाखा आदि सखियों के साथ खेलने के कारण, चञ्चल नेत्रोंवाली यह श्रीराधा, श्रीकृष्ण की प्रीति के बीज की शोभा के समान प्रतीत हो रही है । और इसके कटिप्रदेश से नीचे का अङ्ग लालवर्ण की छोटी सी साड़ी के टुकड़े से कैसा मनोहर मालूम पड़ता है, तथा इसके दोनों कानों में विद्यमान छोटे छोटे छिद्रों में सुख से स्पर्श करने योग्य कोमल कोमल ड़ोरे पुये हुए हैं ॥२७॥

केषाञ्चन पुनरेषा सविशेषा,—अपि रजसि विहारासङ्गिधीरानुरूप्या,-दजितकरगृहीती-भावमायाति राधा । इति । तदेवमीदृग्वयसि पर्यवसिते तदादीनां तासां सौन्दर्यसारस्य प्रचारः सर्वत एव प्रसर्पन्मातरपितरादिभिर्नापसर्पयितुमीशाञ्चक्रे चिन्तयामासे च,—'न जानीमहे, दुर्जनः कंसः किं सम्प्रति सम्प्रतिपत्स्यते ।' इति ॥२८॥

"अथ प्रत्यहमेव प्रत्येकमन्तःपरस्परमिलिताः सन्तश्च ते सर्वे विचारितवन्तः । साम्प्रतमेव पात्रसात् कर्तुमेताः साम्प्रतं तत्राप्यासां श्रीमन्नन्दनन्दनादवरस्तु न वरतामर्हति; अवर एव हि सर्वः ॥२९॥

"तथाहि—कन्या धन्यतमा रमामपि जितां कुर्वन्त्यमूर्नन्दजः
स्वस्मादूनदशां रमारमणमप्यासादयन् दृश्यते ।
तस्मात्तुल्यतया स एव वरतामर्हत्यमूषां तद-
प्यास्तां धामसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणा हि नस्तत्कृते ॥३०॥

"तत्र यद्यप्यधुना यज्ञसूत्रमलब्धवतस्तस्य न विवाहावसरः सम्भवति, तथापि सज्जनसमाजमाचर्य भाषाबन्धश्च सन्धातव्य इति ॥३१॥

किन्हीं किन्हीं महापुरुषों को यह श्रीराधा इस प्रकार सविशेष प्रतीत होती हैं, यथा—व्रजरज में विहार की आसक्ति से युक्त बुद्धिवाली यह श्रीराधा अनुरूप होने के कारण, श्रीकृष्ण के पाणिग्रहण करने वाली के भाव को प्राप्त हो रही है। अतएव इस प्रकार ऐसी अवस्था की समाप्ति होने पर, श्रीराधिका प्रभृति उन सब गोपियों के सौन्दर्य का सार सब ओर ही फैलने लग गया। जिसको उनके माता पिता आदि भी दूर न कर सके, अपितु चिन्ता करने लग गये कि, हम नहीं जानते कि वह दुर्जन कंस इस समय क्या कार्य करेगा ? ॥२८॥

तदनन्तर प्रतिदिन ही वे सब प्रत्येक के अन्तःकरण से परस्पर संमिलित होकर विचारने लगे कि—इस समय ही ये सब छोरियाँ योग्यपात्र के अधीन कर देनी उचित हैं। उसमें भी इन सब राधा आदि छोरियों का श्रीमान् नन्दनन्दन से अन्य कोई भी वर होने के योग्य नहीं है। क्योंकि कुल, रूप, धनादि से अन्य सब तुच्छ ही हैं ॥२९॥

देखो, ये सब परम प्रशंसनीय कन्यायें अपनी विशेपता से लक्ष्मी को भी पराजित कर रही हैं। और नन्दकुमार तो लक्ष्मीरमण नारायण भगवान् को भी, अपनी अपेक्षा न्यूनदशा को प्राप्त कराते हुए दिखाई देते हैं। अतः तुल्यता के कारण श्रीनन्दकुमार ही इन सबके वर होने योग्य हैं। उस बात को भी रहने दो। देखो, हम अधिक क्या कहें ? उन श्रीनन्दकुमार के लिये ही हम सबके घर, मित्र, प्रिय वस्तु, आत्मा एवं प्राण भी हैं ॥३०॥

उन सबमें से कुछ जन बोले कि—यद्यपि इस समय यज्ञोपवीतसंस्कार को प्राप्त न होने के कारण, श्रीकृष्ण के विवाह का अवसर संभव नहीं, तथापि सज्जनों की सभा करके वागदान तो कर ही देना योग्य है ॥३१॥

"तदेतद्विचार्य स्थितानां तेषां निश्चयावधारणपूर्वकं तन्निवारणं प्रति पूर्ववदेव वसुदेव-मन्त्रणया यन्त्रितविचारवर्गतयापि गर्गः सर्वदर्शितया तदिदं परामर्श,—॥३२॥

'तल्लीलाक्रमः खल्वयं दुरत्ययतया मयासुगमस्तल्लीलाशक्ति-प्रयुतानामस्माकं च तत्र प्रत्यग्वदाचरणेऽपि नारदवन्न प्रत्यवायस्तथापि तथा प्रथनीयम्, यथा तासां न प्रत्यवायः स्यादायत्यामिष्टप्राप्तिः स्यादखिलायत्यां पूर्णतदापत्तिश्च स्यात्।' इति ॥३३॥

"तदेवं विमृशन् स किल विलम्बमनवलम्बमानः श्रीमद्व्रजमाजगाम। आगम्य च निजमुटजतटं सध्यानमध्यासीनां पौर्णमासीं प्रति जगाम। गत्वा च सर्वमेवेदं निवेद्य पुनर्निवेदयामास,—'मयेदं तावत् कर्तव्यम्, भवत्या तु तासां यथान्यत्र पत्यादि-व्यवहारः सत्याय न कल्पते, किन्तु लोकप्रत्यायनमात्राय तथा व्यवहर्तव्यम्' इति ॥३४॥

"तदेवं तां सम्भाष्य श्रीमद्व्रजराजसम्भाषणं निर्वाह्य बाह्यावरणवासिनामावासेषु बभ्राम। ते च तमागतमकस्मान्निशाम्य शाम्यच्चिन्तातमसः स्व-स्व-मनोरथलब्धये लुब्धमनसः प्रणामादिभिः परिपूज्य कुशलमनुयुज्य प्रच्छन्नतया तमेवार्थं पप्रच्छुः,—'इदं तावच्छङ्कितं तत्र किं कर्तव्यम्' इति ॥३५॥

इस प्रकार विचार करके स्थित हुए उन व्रजजनों के निश्चय को अवधारणपूर्वक, उसका निराकरण करने के लिये पहले की तरह श्रीवसुदेवजी के विचार से, अपने विचार समूह को स्थिर करके, सर्वज्ञ होने के कारण श्रीगर्गाचार्यजी इस प्रकार विचार करने लग गये कि— ॥३२॥

श्रीकृष्ण की प्रगटलीला का यह क्रम निश्चितरूप से तो मेरे द्वारा भी अगम्य है, और उनकी लीला शक्ति से युक्त हम सबों का वहाँ पर प्रतिकूल (विरोधी) की तरह आचरण करने पर भी, नारदजी की तरह प्रत्यवाय की संभावना नहीं है, अर्थात् देवकी के पुत्रों को मारने के लिये कंस के प्रति उपदेश देने पर भी, श्रीनारदजी को जैसे अपराध नहीं लगा, उसी प्रकार हमें भी अपराध नहीं लगेगा, तथापि उस प्रकार विख्यात करना चाहिये कि, जिस प्रकार उन कन्याओं को प्रत्यवाय (अपराध) न लगे। और उत्तरकाल में उनको इष्ट की प्राप्ति हो जाय, तथा दन्तवक्र के वध के अनन्तर श्रीकृष्ण के पुनः व्रज में आ जाने पर पूर्ण रूप से श्रीकृष्ण की प्राप्ति हो जाय ॥३३॥

इस प्रकार विचार करते हुए श्रीगर्गमुनि सत्य ही विलम्ब न करके परम शोभा संपन्न श्रीव्रज में आ गये। और आ करके अपनी पर्णशाला में ध्यानमग्न होकर बैठी हुई श्रीपौर्णमासी के पास चले गये। वहाँ जाकर इन सारे ही विचारों को निवेदन कर, उन्होंने पुनः निवेदन किया कि, मुझे तो यह करना है, किन्तु आपको भी उस प्रकार व्यवहार करना चाहिये कि, जिस प्रकार उन कन्याओं का अन्यत्र पति आदि व्यवहार सत्यता के लिये कल्पित न हो, किन्तु लोगों को विश्वास दिलाने मात्र के लिये संघटित हो ॥३४॥

अतएव पौर्णमासी के प्रति इस प्रकार संभाषण करके, एव श्रीमान् व्रजराज के संभाषण को निर्वाहित करके, राजभवन के बाह्यप्रदेश में रहनेवाले, व्रजवासियों के घरों में भ्रमण करने लग गये। वे सब भी उनको अकस्मात् आते देखकर, चिन्तारूप अन्धकार से शान्ति प्राप्तकर, अपने अपने मनोरथ की प्राप्ति के लिये लुब्धचित्त होकर, प्रणामादि द्वारा पूजाकर, कुशल समाचार पूछकर, गुप्तरूप से उसी कन्या विवाह रूपी प्रयोजन को पूछने लग गये। हमें विवाह के विषय में यह शङ्का हो रही है, उसमें क्या करना चाहिये ? ॥३५॥

"स तूवाच,—'वयमिदं सर्वमपूर्वं पूर्वमपि जानीमहे । इदं च भवद्भिः सम्बद्धचमध्यवसितम्; किन्त्वेका शङ्का शंकुरिव मंक्षु हृदि परिवर्तते । यदा भवदङ्गजाताङ्गनानां व्रजराजाङ्गजवरकुमारेण सह सङ्गमः स्यात्तदा नातिविलम्बतः सर्वस्यापि व्रजस्य तदीयचिरविप्रलम्भलम्भनं भविता, किमुतामूषाम् ? ॥३६॥

"किञ्च, प्रौढतामूढवतीनां तु सहजतदनुरागस्वाभाव्येनादर्शनेऽप्युद्भवत्तत्स्फूर्तीनां न कोऽपि तस्माद्विनिवर्तनं कर्तुं समर्थः स्यादित्यपि कदर्थनान्तरं भविष्यति । तस्मान्नन्दकुलावतंसात् कंसाच्च वञ्चयितुं चञ्चलमेवान्येभ्यः सम्प्रदातव्या नव्याः कन्यकाः । तदेवमादिश्य प्रस्थिते यदु-पुरोहिते तत्कृतोपदेशोपजातादरो निज-निज-कन्यागोपनपरो गोपनिकरोऽपि तासां सम्प्रदानाय सम्प्रदानमन्वेष्टुं सुष्ठु चिन्तामवाप; किन्तु सन्ततमस्य सा लालसा तु नालसा जाता ॥३७॥

"तदेवमेतासां स्वतनयेन परिणयनं प्रति व्रजपतिजम्पती च पूर्वमतीव तीव्रस्पृहागृहीतचित्तावास्ताम् । विशेषतस्तु राधाया माधुर्यविशेषावधारणतः । किन्तु गर्गेण तद्वदेव निरस्ताविरग्रस्तमितप्रयत्नावभूताम् ॥३८॥

"अनुतापस्तु तयोर्नापजगाम । तद्भ्रातृपर्यायाश्च तदेकानुगतिमर्यादया पर्याकुलास्तासां

श्रीगर्गाचार्यजी बोले—हम इस सम्पूर्ण अपूर्व विषय को पहले से ही जानते हैं, और आप सबने भी योग्य सम्बन्ध समझकर निश्चित कर लिया है। किन्तु एक शंका मेरे मनमें शंकु, अर्थात् कील या खूटे की तरह परिवर्तित हो रही है। देखो, जब तुम्हारी कन्याओं का श्रीव्रजराज के सर्वश्रेष्ठ कुमार के साथ मिलन होगा, तब शीघ्र ही सम्पूर्ण व्रजवासियों को श्रीकृष्ण का बहुत दिनों का वियोग प्राप्त हो जायगा। इन कन्याओं के वियोग का तो कहना ही क्या है ? ॥३६॥

किंच ये कन्यायें जब प्रौढ़ अवस्था वाली हो जायेंगी, तब तो श्रीकृष्णविषयक सहज स्वाभाविक अनुराग के कारण, दर्शन न होने पर भी इनको श्रीकृष्ण की स्फूर्ति हुआ करेगी, अतः कोई भी जन उनको श्रीकृष्ण से निवृत्त करने को समर्थ न हो सकेगा। बस, यह एक और दूसरा कष्टदायक व्यापार होगा। इसलिये श्रीनन्दकुलमुकुटमणिस्वरूप श्रीकृष्ण से, एवं कंस से भी वंचना करने के लिये, शीघ्र ही अन्य व्यक्तियों के लिये, अपनी अपनी नवीन कन्याओं का दान कर दो। इस प्रकार आदेश देकर, यदुओं के पुरोहित श्रीगर्गमुनि के प्रस्थान करने के बाद, उनके किये हुए उपदेश में आदर करने वाला, एवं अपनी अपनी कन्याओं के गोपन में तत्पर गोपसमूह भी, उन कन्याओं का दान करने के लिये, वर को ढूंढ़ने को भली प्रकार चिन्तित हो गया। किन्तु इस गोपसमूह की कृष्णविषयक लालसा तो प्रबल ही होती गई ॥३७

अतएव इस प्रकार अपने पुत्र के साथ इन सब कन्याओं के विवाह के प्रति, श्रीव्रजराज एवं व्रजरानी दोनों जन, पहले से ही प्रबल इच्छा से आक्रान्त मन वाले थे। श्रीराधिकाजी के माधुर्य विशेष के निश्चय करने से तो अधिक इच्छुक थे। किन्तु श्रीगर्गाचार्य ने अन्य गोपों की भाँति इनको भी इस आग्रह से दूर कर दिया था, अतः दोनों ही प्राप्ति के प्रयत्न से रहित हो गये ॥३८॥

किन्तु उन दोनों का अनुताप शान्त न हुआ। श्रीनन्दजी के भाई बान्धव भी, एकमात्र नन्दजी के अनुगमन करने की मर्यादा से व्याकुल होकर, अपने अपने पुत्रों के लिये उन कन्याओं के दान को अन्याय

कन्यानां स्वपुत्राय न्यासमन्यायं मन्यमानास्ततः पराङ्मुखा बभूवुः। किं बहुना ? सर्व एव केवलस्नेहतस्तत्र कृष्णवरतायामेव जातेहतां संहितवन्तः समदृश्यन्त ॥३९॥

"यतः, योग्येन योग्यस्य तु नित्यसङ्गमः, कस्मै न रोचेत भृशं सचेतसे।
रत्नेन हेम्नः शरदा सरोऽम्भसः, सिताख्यपक्षेण यथा सुधारुचः ॥४०॥

"वरतासम्भावनाविषयाणां पितृवर्गश्च तादृगप्यनर्गलकर्णेजप-लब्धसंसर्गगर्गवचन-सर्गत एव भिन्नचित्ततामाप। पुत्रानप्यतिक्रम्य तत्र स्थितानां कृष्ण एव हि सुखसत्त्रायते ॥४१॥

"तदेवं ज्ञातरहस्योऽपि निर्णीतिनीतिप्रणीतये रहसि व्रजराजमुपव्रज्य स च तत्पितृ-वर्गः प्रतिस्वमेव तमर्थमर्थयामास। आमुष्यकुलिका कलिता धन्याः खलु ताः कन्याः कृष्णन्यासत एव सन्यायतामर्हन्ति। स यदि भवद्भिः स्वयमङ्गीक्रियते, तदा भङ्गीभिः प्रसङ्गसङ्गीक्रियतामस्माभिरिति ॥४२॥

"व्रजराजस्तु तदाकर्णमाकर्ण्य सनिश्वासमिदं विवर्णतया वर्णितवान्,—'अस्माभिः स्वपुत्राय सर्वथा न ते सम्बन्धाः सन्धातव्याः; किन्तु यूयमपीदं विदांकुरुत। यत् खलु

मानते हुए, उन कन्याओं के ग्रहण से पराङ्मुख हो गये। विशेष क्या कहें ? वे सभी जन केवल स्नेह के कारण, "श्रीकृष्ण ही वर हो जायँ" इस प्रकार की इच्छा को ही प्राप्त हुए दिखाई देते थे ॥३९॥

क्योंकि देखो, योग्यजन के साथ योग्यजन का नित्य संबंध, किस सचेत व्यक्ति को अतिशय रुचिकर न होगा ? अपितु होगा ही। जैसे रत्न के साथ सुवर्ण का, शरदृतु के साथ सरोवर के जल का, एवं शुक्लपक्ष के साथ चन्द्रमा का नित्य संयोग संबंध सभी को रुचिकर है, उसी प्रकार श्रीनन्दजी के भाई बन्धुओं को अपने पुत्रों के साथ विवाह की अपेक्षा, श्रीकृष्ण के साथ ही उन राधा आदि कन्याओं का विवाह रुचिकर था ॥४०॥

"श्रीकृष्ण ही वररूप में प्राप्त हों" यह सम्भावना केवल कन्याओं की ही नहीं थी, अपितु उन कन्याओं का पितृवर्ग भी इसी संभावना से युक्त था। तो भी वह पितृवर्ग अनर्गल चुगलखोरों के संसर्ग को प्राप्त हुए, गर्गमुनि के वचनों की सृष्टि से ही, चित्त की छिन्न भिन्न दशा को प्राप्त हो गया, अर्थात् उन सबका चित्त व्याकुल हो उठा। क्योंकि, अपने अपने पुत्रों का अतिक्रमण करके श्रीकृष्ण में निष्ठा रखने वाले, उन कन्याओं के माता पिताओं के लिये श्रीकृष्ण ही, सुखमय यज्ञ का सा आचरण करते प्रतीत होते थे, अर्थात् सदा सुख देते थे ॥४१॥

इस प्रकार रहस्य को जानकर भी निर्णय की नीति का प्रणयन करने के लिये, एकान्त में श्रीव्रजराज के पास जाकर, उन कन्याओं के पितृवर्ग ने एक एक होकर, श्रीकृष्ण के साथ अपनी अपनी कन्याओं के विवाहरूपी प्रयोजन की याचना की। और कहा कि वे हमारी कन्यायें सदाचारविशिष्ट प्रसिद्ध कुल में उत्पन्न हैं, अतः धन्य हैं। श्रीकृष्ण के प्रति अर्पण करने से ही वे नीतिपूर्वक पूजित हो सकती हैं। कृष्ण के संबंधरूपी कार्य को यदि आप स्वयं अङ्गीकार करते हैं, तब तो इशारों के द्वारा हम भी इस प्रसङ्ग को सङ्गी कर सकते हैं ॥४२॥

श्रीव्रजराज तो उनकी बातों को सुनते सुनते, विवर्ण होकर लम्बे लम्बे श्वास लेकर, यह वर्णन करने लगे कि—हमें अपने पुत्र के लिये वे सब सम्बन्ध सर्वथा नहीं करने हैं, किन्तु तुम सब भी यह समझ लो

युष्नाकमपत्यानि युष्माकमिवास्माकं स्नेहसातत्यवहानि समुद्वाहयितव्यानि च, तस्मादस्माभिरेव तत्र तत्र सत्राकुर्वद्भिः प्रयतनीयम् ।' तदेवं स्थगितसमुल्लासे निखिले च व्रजावासे व्रजपत्यनुमत्यनुसारतस्तासां पितरस्तद्वितरमाचरितुं रुचिं विनापि बहिरुद्यममाचरितवन्तः ॥४३

"तत्कुमार्यस्त्वतिबाल्यचर्यापर्याकुलतया न किञ्चिदपि चिदमत्रतां निन्यिरे ॥४४॥

"अथ या काचिद्वृन्दावन-गह्वरतः साक्षात् किल योगमायाया व्याजतस्तापस्यास्तत्र चाह्वयतः पौर्णमास्याः समभ्यर्णमहर्दिवं प्रायः किमपि मन्त्रयितुमागन्त्री दृश्यते । या च मानुष्यपि देवीयमानेति वा देव्यपि मानुषीयमाणेति वा लक्षयितुं न शक्यते; किन्तु सदानुकूलतया तद्वनपालितासिषाधयिषित-कृष्णलीलता राधादिषु च परमस्नेहलता यस्यामनुमीयते । सा वृन्दारिकेति निजाख्यां प्रख्यापयन्त्यपि जनवृन्देन लाघवाद्वृन्देति स्वेनैव नाम्ना समाम्नायते । सा च सम्प्रति सर्वशोच्यतामयतद्वार्ताश्रवणादतीवार्ता तदभ्यासमेवाभ्याजगाम ॥४५॥

"अभ्यागतामथ तां जपार्थमासीनापि पौर्णमासी तूर्णमुपव्रज्य नमस्कुर्वतीं परिष्वज्य शुभाशिषा च संयुज्य स्वच्छमनाः पप्रच्छ,—'कथ्यतां कथमसमयमिदं तव समागमनम् ?' इति ॥४६॥

कि—तुम्हारी जो सन्तान हैं वे तुम्हारी तरह हमारी भी निरन्तर स्नेह की पात्र हैं, उनका विवाह अवश्य करना चाहिये । अतः हम सब भी उस उस कार्य में सहायता करते हुए प्रयत्न करेंगे । इस प्रकार सभी व्रजवासियों का उल्लास स्थगित हो जाने पर, व्रजपति की अनुमति के अनुसार उन कन्याओं के पिता, उनका दान करने के लिये, रुचि न होने पर भी बाहिरी उद्यम करने लग गये ॥४३॥

उनकी कन्यायें तो अत्यन्त बालकपन के खेलों में आकुल होने के कारण, किंचिद् भी ज्ञान की पात्रता को न प्राप्त कर सकीं, अर्थात् हमारे विवाह की चर्चा चल रही है इस बात को किंचिद् भी न समझ सकीं ॥४४॥

वृन्दावन की अधिष्ठात्री वृन्दादेवी इन बातों को सुनकर व्याकुल होकर, उस विषय में उपाय करने की इच्छा से, पौर्णमासीजी के पास गईं । अब इस प्रसङ्ग का वर्णन करते हैं, यथा—जो कोई देवी वृन्दावन के गहन प्रदेश से "उसी वृन्दावन में साक्षाद् योगमायास्वरूपा, बहाने से तपस्विनी बनी हुई, एवं नाम से जो पौर्णमासी कहकर पुकारी जाती हैं" उन्हीं के पास प्रतिदिन प्रायः कुछ विचार करने को आती हुई दिखाई देती है । और जो मानुषी होकर भी देवी का सा आचरण करती है, अथवा देवी होकर भी मानुषी का सा आचरण करती है, इस बात का अनुमान नहीं किया जा सकता । किन्तु जिस देवी में सदैव अनुकूलता पूर्वक वृन्दावन की रक्षा का भाव, श्रीकृष्ण की लीलाओं को सिद्ध करने की इच्छा, और श्रीराधिका आदि सखियों में परम स्नेह लता का अनुमान किया जाता है, वही देवी अपने नाम को "वृन्दारिका" कहकर प्रसिद्ध करती हुई भी, लाघवता के कारण जनसमुदाय के द्वारा 'वृन्दा' इस अपने निजी नाम से ही पुकारी जाती है, वह देवी इस समय सभी के लिये परमशोचनीय उस बात के श्रवण से अत्यन्त आर्त होकर पौर्णमासीजी के निकट चली आई ॥४५॥

तदनन्तर जप करने के लिये बैठी हुई भी पौर्णमासी ने आई हुई वृन्दा के पास शीघ्र ही जाकर, नमस्कार करती हुई को आलिङ्गन कर, और उसे शुभाशीर्वाद देकर, स्वच्छ मन होकर पूछा कि—कहिये, यह असमय में तेरा आना कैसे हुआ ? ॥४६॥

"वृन्दाह,—'भगवति ! परमापदां पदमेकमुत्पन्नमस्ति, कथं तव निश्चिन्तता दृश्यते ?' पौर्णमासी उवाच,—'किं तावच्चिन्ताकारण तत्पदम् ?' वृन्दाह,—'हन्त ! याः खलु नित्यतया कृष्णस्य प्रेयस्य इति श्रूयन्ते, तासामप्यन्यसम्बन्धः सनिर्बन्ध इव दृश्यते ।' पौर्णमासी उवाच,—'कथमिवायं परामृश्यते ?' वृन्दाह,—'तस्यानुबन्धश्चक्षुषा स्पृश्यते ।' पौर्णमासी उवाच,—'न भविष्यति तासामन्येनान्येन संयोगसम्बन्धः, यतो मया हि मायया परा निर्माय निर्मास्यते तत्र प्रतिबन्धः ।' वृन्दाह,—'अथ तथापि लोकतः कलङ्कः शङ्कनीयः ।' पौर्णमासी उवाच,—'न स्यादपि तस्यापि स्थितिः, यतो मुनयः पुनरिदं गास्यन्ति, (भा० १०।३३।३८)—

'नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया ।
मन्यमानाः स्व-पार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः ॥' इति ।

'अतएव पुत्रोत्पत्त्यभावात् (भा० १०।२९।६) 'पाययन्त्यः शिशून् पयः' इत्यत्र 'शिशून्' इत्येव 'पयः' इत्येव च वक्ष्यन्ति, न तु सुतान् स्तनमिति । एतदपेक्षयैव क्वचित् पुत्रत्व-व्यपदेशश्च श्रीकृष्णपरिहासनिर्देशश्च सङ्गंस्यते ।' ॥४७॥

"वृन्दाह,—'यद्येवं तर्ह्यन्येन तासां पाणिपीडनं पुनरतीव पीडनम् । यत्र प्रायश्चित्तान्तरमपि न चिन्तयन्ति तन्त्रविदः, तत् कथं साम्प्रतं स्वव्रतमुपेक्षसे ?' पौर्णमासी

वृन्दा बोली—भगवति ! एक परम आपत्ति का स्थान प्राप्त हो गया है, तो भी तुम्हारी निश्चिन्तता कैसे दिखाई देती है ? पौर्णमासी बोली—चिन्ता का कारण, वह स्थान या विषय कौन सा है ? वृन्दा—हाय ! देखो, जो श्रीराधिका आदि गोपियाँ श्रीकृष्ण की नित्यप्रेयसी हैं; ऐसी सुनी जाती हैं, उनका भी अन्यजनों से सम्बन्ध आग्रहयुक्त सा दिखाई पड़ता है, अर्थात् व्रजवासीजन उनके वैवाहिक सम्बन्ध को अन्य जनों के साथ करते दिखाई देते हैं। पौर्णमासी—इस सम्बन्ध को (किये बिना भी) तुम अपने आप कैसे विचारती हो ? वृन्दा—उसका कारण मैं नेत्रों से देख रही हूँ। पौर्णमासी—उन श्रीकृष्ण की नित्य-प्रियाओं का अन्यान्य व्यक्तियों के साथ संयोग सम्बन्ध संघटित न होगा। क्योंकि मैं ही माया द्वारा अन्य गोपियों का निर्माण करके उस विषय में प्रतिबन्ध कर दूंगी। वृन्दा—तो भी लोगों से कलङ्क की शंका तो बनी ही रहेगी। पौर्णमासी—कलङ्क की शंका किंचिद् भी न रहेगी। क्योंकि श्रीशुकदेव प्रभृति मुनिजन इस प्रकार गायन करेंगे कि—"व्रजवासीजनों ने श्रीकृष्ण की माया से मोहित होकर, अपनी अपनी स्त्रियों को अपने अपने पास ही मानकर, श्रीकृष्ण के लिये कोई भी दोष नहीं लगाया"। अतएव पुत्रोत्पत्ति न होने के कारण "बालकों को दूध पिलाती हुई" इस स्थान पर—"बालकों को" यही, तथा 'दुग्ध' यही कहेंगे; किन्तु—"पुत्रों को स्तनपान कराती हुई" इस प्रकार न कहेंगे। इस प्रकार की अपेक्षा करके ही किसी स्थान पर पुत्रत्व का व्यपदेश, अर्थात् बहाना और श्रीकृष्ण के परिहास का निर्देश संगत होगा ॥४७॥

वृन्दा—यदि ऐसा ही है तो अन्यजनों के साथ उनका विवाह पुनः अत्यन्त कष्ट दायक होगा। क्योंकि जिस विषय में धर्मशास्त्र के ज्ञाता दूसरा प्रायश्चित भी नहीं स्मरण कर पाते। इसलिये इस समय तुम अपने व्रत की उपेक्षा क्यों कर रही हो ?। पौर्णमासी मुसक्या कर—हे भाविनि ! यह कभी भी नहीं होगा जो कि मैं "अन्यजनों के लिये उन गोपियों के दर्शन भी न होने देना रूप, अपने व्रत की उपेक्षा कर दूँ। तुम तो

सस्मितमुवाच,—'भाविन्येतदपि न भावि, त्वया तु रम्याननतया गम्यताम् ।' वृन्दा सानन्दं पदारविन्दयोः पतन्ती सानुमोदं रुरोद; सा तु तां निरवहित्थमुत्थाप्य सान्त्वयित्वा गहनाय प्रहापयामास ॥४८॥

"अथ वृन्दापि तथा विश्वसती निश्वसती च वित्रासरहिता द्वित्राहोरात्रान् गमयामास । दिनान्तरे तु तासामुद्वाहनिर्वाहमाकर्ण्य विवर्णवदना पौर्णमास्यभ्यर्णं पुनरपि तूर्णमुपतस्थाना मृतकप्रतीका तस्थौ ॥४९॥

"पौर्णमासी उवाच,—'किमिव वृत्तं वृत्तम्, यस्माद् भवत्युद्वृत्तचित्ता दृश्यते ?' वृन्दाह,—'मम मुखतः काचिदप्युक्तिर्न व्यक्तीभवति, किमिव वक्तव्यम् ?' पौर्णमासी उवाच, 'पङ्कजाक्षि ! न काचिदपि शङ्का मनसि शङ्कनीया ।' वृन्दा सरूक्षहासमाह स्म,—'भगवति ! कथमिव ?' पौर्णमासी उवाच,—'यदद्याप्यसिद्धनिर्वाह एव तासां विवाहः ।' वृन्दाह,—'विचक्षणे ! तमेतं चाक्षुषमेव विधाय सर्वेऽप्याचक्षते ।' पौर्णमासी उवाच,—'सम्प्रति ता बालिकाः कुत्र ?' वृन्दाह,—'तदिदमपि श्रुतम्; यदतिबालकतयावगताः पितृगेह एव ता निधाय ते गताः' इति ॥५०॥

"पौर्णमासी सप्रणयरोषमुवाच,—'अथ कथं मत्कथनं न प्रत्येषि, यत् किंवदन्तीमेव मुहुर्वदन्ती वर्तसे ?' वृन्दा सानन्दमुवाच,—'भगवति ! तदेतद्दतमनृतमेव भवतु, किन्तु मया

प्रसन्न मुख होकर अपने स्थान पर चली जाओ। वृन्दा हर्ष सहित चरणारविन्दों पर गिरती हुई अनुमोदन पूर्वक रोने लग गई। किन्तु पौर्णमासी ने वृन्दा को आकार न छिपाते हुए दोनों हाथों से उठाकर, सान्त्वना देकर, गहन वन के लिये भेज दिया ॥४८॥

तदनन्तर वृन्दा ने भी उस प्रकार विश्वास करते हुए निश्वास त्याग कर, उद्वेग रहित होकर, दो तीन अहोरात्र (दिनरात) बिता दिये। दूसरे दिन तो उन गोपियों के विवाह के निर्वाह को सुनकर, मलिन मुखवाली वृन्दा फिर भी, शीघ्र ही पौर्णमासी के पास उपस्थित होकर, मृतक की भाँति खड़ी हो गई ॥४९॥

पौर्णमासी—क्या बात हो गई जिससे तू विशेष व्याकुल चित्त दिखाई देती है ? वृन्दा—मेरे मुख से कोई भी वचन नहीं निकलता। कैसे कहूँ ? पौर्णमासी—हे कमललोचने ! तुम अपने मन में कोई भी शंका मत करो। वृन्दा रूखी हँसी करती हुई—भगवति ! आप ही कहिये, कैसे शंका न करूँ ? पौर्णमासी—क्योंकि आज भी उनके विवाह का निर्वाह सिद्ध नहीं हुआ है। वृन्दा—अयि पण्डिते ! सभी जन इस वृत्तान्त को प्रत्यक्ष करके ही कहते हैं। पौर्णमासी—इस समय वे राधा आदि कन्यायें कहाँ हैं ? वृन्दा—यह भी सुना जाता है कि, उन कन्याओं को अत्यन्त बालक समझकर, नातेदार उनके पिताओं के घर में ही छोड़कर चले गये ॥५०॥

पौर्णमासी प्रणय कोप पूर्वक—अच्छा, मेरे कथन पर विश्वास क्यों नहीं करती ? क्योंकि तू तो किंवदन्ती (जनश्रुति) को ही बारंबार बोलती जा रही है। वृन्दा आनन्दपूर्वक—भगवति ! यह सत्य किंवदन्ती असत्य ही हो जाय, किन्तु मैं इस अभिसन्धि को, अर्थात् जोड़मेल को नहीं समझ सकी।

नायं सन्धिरनुसन्धीयते ।' पौर्णमासी सहासमुवाच,–'न लोकेनातथ्यं कथ्यते, न च ग्रथ्यते स्म तासामुद्वाहबन्धः ।' वृन्दाह,–'नेदं च बुध्ये ।' पौर्णमासी उवाच,–'युक्तमेवेदम्; ॥५१॥

यतः, त्वय्यपि लीलाशक्त्या,-मवसरनाम्नी भवेद्विभोः शक्तिः ।
त्वामपि या भ्रमयन्ती, तस्मिंस्तस्मिन् प्रवर्तयति ॥५२॥

"वृन्दा सकाकु प्राह,—'तर्हि स्वयमेवेदं रहस्यं प्रकाश्यताम् ?' पौर्णमासी क्षणं हसित्वा नीचैरुवाच,–'युगपदेव देवि ! सर्वेषु तादृग्दुःस्वप्न एव केवलं जागरकल्पतया मया कल्पितः ।' वृन्दा विश्वस्य निश्वस्य च पुनरुवाच,–'तथापि तासां तथा ख्यातिरपि न युक्ता ।' ॥५३॥

पौर्णमासी उवाच,—'सापि न भविष्यति; यतो मुनय एव पुनः पुनरिदं गास्यन्ति, तत्र तापन्यां ताः पृच्छतीः प्रति दुर्वासाः (गो० ता० २।२७) 'स वो हि स्वामी भवति' इति, रासप्रसङ्गे च भगवान् बादरायणिः (भा० १०।३३।८) 'कृष्णवध्वः' इति, उद्धव-सन्देशे स्वयं श्रीकृष्ण एव च (भा० १०।४६।६) 'बल्लव्यो मे मदात्मिकाः' इति । तदिदं (भा० १०।४६।३) 'गच्छोद्धव व्रजं सौम्य पित्रोर्नः प्रीतिमावह' इति वल्लभाभिमानितामात्मनि व्यज्य श्रीकृष्णस्य वचनं ब्राह्मणादीनां मम ब्राह्मणीत्यादिवत् । तथा (भा० १०।४६।४) 'मामेव

पौर्णमासी हँसकर—लोग तो असत्य नहीं कहते हैं, किन्तु उनके विवाह का बन्धन भी गँठा नहीं हैं। वृन्दा—मैं यह भी न समझ सकी, अच्छी प्रकार समझाओ। पौर्णमासी—यह उचित ही है, जो कि तुमको समझ में नहीं आया ॥५१॥

क्योंकि तुम प्रभु की लीलाशक्ति हो। तुममें भी समय समय पर प्रभु की कालनामक शक्ति प्रगट हो जाती है, जो तुमको भी भ्रमित करती हुई, उस उस कार्य में प्रवृत्त कर देती है ॥५२॥

वृन्दा कातरतापूर्वक—यदि ऐसा है तो आप स्वयं ही इस रहस्य को प्रकाशित कर दीजिये। पौर्णमासी क्षणभर हँसकर धीरे से—हे देवि ! वृन्दे ! मैंने सभीजनों के प्रति केवल वैसा दुःस्वप्न ही, जागरण की तरह, एक साथ ही कल्पित किया था। वृन्दा विश्वास करके लंबे श्वास लेकर पुनः—ऐसा होने पर भी, उन नित्य प्रियाओं के सम्बन्ध में "यह अमुक की पत्नी है" ऐसी प्रसिद्धि भी तो उपयुक्त नहीं है ॥५३॥

पौर्णमासी—वह प्रसिद्धि भी न होगी। क्योंकि मुनिजन ही बारंबार इस प्रकार गाया करेंगे। उन में से गोपालतापनी ग्रन्थ में प्रश्न करती हुई उन गोपियों के प्रति, दुर्वासा मुनि ने कहा है कि—वे श्रीकृष्ण-चन्द्र निश्चितरूप से तुम्हारे स्वामी हैं। रासप्रसङ्ग में भगवान् श्रीशुकदेवजी ने भी "कृष्ण की वधूगण" कहकर वर्णन किया है। उद्धवजी को सन्देश देते समय स्वयं श्रीकृष्ण ने भी "ये गोपियाँ मेरी आत्मा स्वरूप हैं" ऐसा कहा है। एवं हे सौम्य ! उद्धव ! तुम व्रज को जाओ, तथा हमारे माता पिता की प्रीति को उत्पादन करो। जिस प्रकार ब्राह्मण आदिकों को "यह हमारी ब्राह्मणी है" इत्याकारक अभिमान रहता है, ठीक उसी प्रकार अपने में गोपत्व का अभिमान प्रकाशित करके ही, श्रीकृष्ण का भी "बल्लव्यो मे" अर्थात् गोपियाँ मेरी हैं, यह वचन है। तथा "मुझ परमात्मारूप प्रियतम पति को ही मन मन से प्राप्त हो गई"

दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः' इति प्रचुरं प्रचरतार्धपद्येन च ताभिरपि बहिर्दृष्ट्या परं तत्र क्वचिदुपपतित्वं प्रतीयते, शश्वदन्तर्दृष्ट्या तु पतित्वमेवानुभूयत इति सूच्यते; ॥५४॥

"यथा च (भा० १०।४७।२१) 'अपि बत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनाऽऽस्ते' इति; अथागमे च मन्त्रद्रष्टारो गोपीपदानन्तरं जनेत्यस्यान्ते वल्लभेति ।' तदिदं त्रिधा निरुक्तमप्यागमस्य रहस्य-रीतितया क्रमात् पूर्वपूर्वपक्षस्य पूर्वपक्षत्वमुत्तरस्य तूत्तरपक्षत्वं व्यञ्जितम्; ॥५५॥

"यथा गौतमीयतन्त्रे—

'गोपीति प्रकृतिं विद्याज्जनस्तत्त्वसमूहकः । अनयोराश्रयो व्याप्त्या कारणत्वेन चेश्वरः ॥
सान्द्रानन्दं परं ज्योतिर्वल्लभत्वेन कथ्यते । अथवा गोपी प्रकृतिर्जनस्तदंश-मण्डलम् ॥
अनयोर्वल्लभः प्रोक्तः स्वामी कृष्णाख्य ईश्वरः । कार्य-कारणयोरीशः श्रुतिभिस्तेन गीयते ॥
अनेकजन्मसिद्धानां गोपीनां पतिरेव वा । नन्दनन्दन इत्युक्तस्त्रैलोक्यानन्दवर्धनः ॥' इति ॥

"अत्र प्रथमा प्रकृतिः प्रधानम्, द्वितीया स्वरूपशक्तिः; तत्त्वानि महदादीनि, अंशाः—

'ज्ञान-शक्तिबलैश्वर्य-वीर्य-तेजांस्यशेषतः । भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः ॥'

इति विष्णुपुराणोक्ताः (६।५।७९); 'अनेकजन्मसिद्धानाम्' इति, 'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन' इति (४।५) श्रीभगवद्गीतावदनादित्वमेव बोधयति; 'पतिरेव' इति

इस प्रकार विशेषरूप से प्रचलित इस आधे श्लोक के द्वारा यही सूचित होता है कि, उन गोपियों को भी केवल बाहिरी दृष्टि से, श्रीकृष्ण में कभी कभी उपपतित्व की प्रतीति होती है, किन्तु अन्तर्दृष्टि से तो बारंबार निजपतित्व का ही अनुभव होता है ॥५४॥

और भी देखो ! भ्रमरगीत में गोपियाँ कहती हैं कि—हे भ्रमर ! हम तुमसे ज़ानना चाहती हैं कि, आर्यपुत्र आज भी मधुपुरी में विद्यमान हैं । तात्पर्य यही है कि 'आर्यपुत्र' शब्द निजपति के प्रति ही प्रयुक्त होता है । और आगम में मन्त्रद्रष्टा ऋषिगण भी, गोपालमन्त्र के अन्तर्गत गोपीपद के पीछे 'जन' एवं जन पद के पीछे 'वल्लभ' शब्द का प्रयोग करते हुए यही भाव दिखाते हैं कि, श्रीकृष्ण गोपियों के नित्यपति हैं । अतएव यह तीन प्रकार से कहे जाने पर भी, आगम की रहस्यरीति के कारण, क्रमशः पूर्व पूर्व पद को पूर्व-पक्षत्व एवं उत्तर पद को, अर्थात् पर पद को सिद्धान्तपक्षत्व व्यञ्जित किया गया है ॥५५॥

गौतमीय तन्त्र में, यथा—'गोपी' पद से प्रकृति को जानो । 'जन' शब्द का अर्थ तत्त्वसमूह समझो । इन दोनों के आश्रय को ईश्वर कहते हैं । इसीलिये ईश्वर सर्वव्यापक एवं सबके कारण हैं । 'वल्लभ' शब्द का अर्थ है घनानन्द परमज्योति । अथवा 'गोपी' शब्द का अर्थ है प्रकृति । प्रकृति के अंशसमूह का नाम 'जन' है । इन दोनों के वल्लभ श्रीकृष्ण नामक ईश्वर ही स्वामी कहे गये हैं । इसीलिये सम्पूर्ण वेद कार्यकारणभाव को देखकर, श्रीकृष्ण को ईश्वर कहकर गाते हैं । तथा तीनों लोकों के आनन्दवर्धक श्रीनन्दनन्दन ही, अनेक जन्मों से सिद्ध प्रसिद्ध गोपियों के पति ही, कहकर पुकारे जाते हैं । इस प्रसङ्ग में पहले प्रकृति शब्द से प्रधान लेना, एवं द्वितीय प्रकृति शब्द से स्वरूपशक्ति लेना । तत्त्व शब्द से महदादि प्रकृति के विकारों को जानना । द्वितीय स्वरूपशक्तिरूप प्रकृति के ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, एवं तेज ये छः अंश कहे गये हैं । त्यागने योग्य गुण आदिकों के बिना ये सब भगवत् शब्द के वाच्य हैं, ये सब बातें विष्णुपुराण में कही हैं । और "अनेक जन्मों में सिद्ध" यह वचन भी, हे अर्जुन ! मेरे एवं तेरे अनेक जन्म व्यतीत हो गये, इत्यादि

कदाचिदुपपतित्वव्यवहारस्तु मायिक एवेत्यर्थः; 'वा'-शब्दस्त्वस्यैवोत्तरपक्षताबोधनाय। अतएवाप्रकटलीलायां प्रकटमेव ब्रह्मसंहिता तथानुसंहितवती; ॥५६॥

"यत्र ब्रह्मा प्राह, (५।४८)—

'आनन्द-चिन्मय-रस-प्रतिभाविताभि,-स्ताभिर्य एव निजरूपतया कलाभिः।

गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो, गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥' इति ॥५७॥

"अत्र कलात्वान्निजरूपत्वे स्वतःसिद्धेऽपि निजरूपतयेति पुनरुपादानम्, न तु प्रकट-लीलामध्यवत् परकीयाभासतयोपलक्षिताभिस्ताभिरित्यर्थज्ञापनार्थम्। तथा च तत्रैव (५।६७)—'श्रियः कान्ताः कान्तः परमपुरुषः' इत्यत्र युक्तिं च दर्शितवान्। श्रीपरमपुरुषयो-रौपपत्यं नास्तीति। काशीखण्डे च धर्मराजः,—'गोपीपते यदुपते वसुदेवसूनो' इति; सङ्गीतशास्त्रे च,—'गोपीपतिरनन्तोऽपि वंशध्वनि-वशङ्गतः' इति; ॥५८॥

"भविष्यत्काव्येषु श्रीगीतगोविन्दे,—'पत्युर्मनः कीलितम्' इति। एतदभिप्रायेणैव लक्ष्यभेदेनोक्तम्,—

'त्वामप्राप्य मयि स्वयंवरपरां क्षीरोद-तीरोदरे

शङ्के सुन्दरि कालकूटमपिबन्मूढो मृडानी-पतिः।

श्रीभगवद् गीतोक्त वचन की तरह अनादिभाव को ही बोधित कर रहा है। 'पतिरेव' इस शब्द से दृढ़ता-पूर्वक श्रीकृष्ण ही गोपीपति हुए। किन्तु कदाचित् अर्थात् प्रकटलीला में जो उपपति व्यवहार सुना जाता है, वह मायिक ही है। श्लोक स्थित 'वा' शब्द भी गोपीपतित्वरूप उत्तरपक्ष को, अर्थात् सिद्धान्तपक्ष को समझाने के लिये है। अतएव ब्रह्मसंहिता अप्रकटलीला में स्पष्टरूप से ही पूर्वोक्त प्रकार का अनुसन्धान कर चुकी है ॥५६॥

जिसमें ब्रह्माजी कहते हैं कि—जो सबकी आत्मास्वरूप है, एवं जो आनन्द तथा चिन्मय रस द्वारा परिकल्पित, निजमूर्ति स्वरूप उन गोपीरूप कलाओं के सहित, गोलोक में ही निवास करता है, मैं उसी आदिपुरुष गोविन्द का भजन करता हूँ ॥५७॥

इस श्लोक में 'कलाभिः' पद से गोपियों का निजरूपत्व स्वतः सिद्ध हो गया। तो भी 'निजरूपतया' इस पद का पुनः ग्रहण "प्रकटलीला में जैसे गोपियों को परकीया का आभास रहता है, उस प्रकार का आभास अप्रकटलीला में नहीं। परकीयापन के आभास से रहित जो गोपियाँ हैं, उनके साथ गोलोक में श्रीकृष्ण निवास करते हैं" इस अर्थ को समझाने के लिये है। तथा उसी ब्रह्मसंहिता में—"गोलोकस्थ सभी गोपियाँ लक्ष्मीस्वरूप हैं। परमपुरुष श्रीकृष्ण ही उनके नित्यपति हैं" इत्यादि श्लोक में युक्ति भी दिखा दी है कि—लक्ष्मी एवं परमपुरुष का उपपतिभाव नहीं है। काशीखण्ड में धर्मराज ने भी—हे गोपीपते! हे यदुपते! हे वसुदेवसूनो! इत्यादि सम्बोधित किया है। संगीतशास्त्र में भी कहा है कि—गोपीपति अनन्त होकर भी वंशीध्वनि के वशीभूत हो गये थे ॥५८॥

भविष्यत् काव्यसमूह के बीच में श्रीगीतगोविन्द में भी "पति का मन कील दिया" ऐसा कहा है। इसी अभिप्राय से श्रीराधा एवं लक्ष्मी के अभेद से यह कहा है कि, श्रीकृष्ण राधा से कहने लगे कि—हे सुन्दरि! मैं ऐसी शङ्का करता हूँ कि, क्षीरसागर के तट पर मेरे निमित्त स्वयंवर में तत्पर हुई तुमको न

इत्थं पूर्वकथाभिरन्यमनसो विक्षिप्य वक्षोऽञ्चलं
राधायाः स्तनकोरकोपरि मिलन्नेत्रो हरिः पातु वः ॥' इति ॥५९॥

"अन्यत्र च—'गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः' इति; भगवच्छङ्कराचार्यकृते यमुना-स्तोत्रे च—'विधेहि तस्य राधिकाधवाङ्घ्रि-पङ्कजे रतिम्, इति । ललितमाधवे श्रीराधिकादीनां तथावर्णनं तु स्फुटमेव निर्वर्णितम् । उज्ज्वलनीलमणौ साक्षात् कथनया कुमारिकाणां साक्षादन्यसंबन्धाभावप्रथनया च परासामपि यदेव समृद्धिमदाख्यसम्भोगे ललितमाधवानुसारेण स्फुटमेवाङ्गीकृतमस्ति; भावार्थदीपिकायाञ्च (भा० १०।३३।२२)—'ऋषभस्य जगुः कृतानि' इत्यत्र 'ऋषभस्य पत्युः' इति । (भा० १०।३३।८) 'कृष्णवध्वः' इति स्वयमुक्तमिदमेव पतित्वं श्रीपरीक्षित्-प्रश्नोत्तरे पत्यन्तराभ्युपगमवादेनैव हि बहिरङ्गाणां बोधाय परमात्मतयापि श्रीबादरायणिना बोधितम् ॥६०॥

(भा० १०।३३।३६),—

'गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामपि देहिनाम् । योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्ष एष क्रीडनदेहभाक् ॥'

इत्यत्रान्तरङ्गान् प्रति स्वयमर्थः—गोपीनां काश्चिदव्यूढाः काश्चिद्व्यूढा इति द्विधात्र लोकमात्रप्रसिद्धानाम्; वस्तुतस्तु नित्यसिद्धानां सर्वतः श्रेयसीनां तत्प्रेयसीनामन्यासामपि

प्राप्तकर, शिवजी मूढ़ की तरह कालकूट विष को पी गये थे । इस प्रकार की पूर्व कथाओं से अन्य जगह मन वाली, श्रीराधा के वक्षःस्थल के अंचल को दूर करके, स्तनरूपी कलिकाओं पर नेत्रपात करने वाले श्रीकृष्ण तुम्हारी रक्षा करें ॥५९॥

अन्यत्र भी कहा गया है कि—मैं गोपियों के नित्यपति श्रीकृष्ण के पदकमलों के दासों के दासों का भी अनुदास हूँ । भगवान् श्रीशंकराचार्यकृत यमुना स्तोत्र में भी कहा गया है कि—हे मातः यमुने ! जो जन नित्यप्रति आपके इस स्तोत्र का पाठ करे, उसका अनुराग राधापति श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों में कर दीजिये । ललितमाधव नाटक में श्रीराधिका प्रभृति गोपियों का उस प्रकार का वर्णन तो स्पष्टरूप से ही देखा जाता है । उज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थ में साक्षात् कथन के द्वारा, एवं गोपकुमारियों के साथ साक्षात् अन्यजनों के सम्बन्ध के अभाव की ख्याति के द्वारा, अन्यान्य स्त्रियों के विषय में भी जो वर्णित है, वह समृद्धिमान् नामक सम्भोग में ललितमाधव नाटक के अनुसार स्पष्ट ही स्वीकृत है । श्रीधरस्वामिकृत भावार्थदीपिका टीका में भी "ऋषभस्य जगुः कृतानि" यहां पर 'ऋषभ' शब्द का पति ही अर्थ किया है । और मूल में 'कृष्णवध्वः', अर्थात् ये सब गोपियाँ श्रीकृष्ण की नित्यवधू हैं, ऐसा स्वयं कहा है । इसी नित्यपति भाव को श्रीपरीक्षितजी के प्रश्नोत्तर में अन्य पतियों की स्वीकृति को कहकर, बहिरङ्गजनों को समझाने के लिये, श्रीशुकदेवजी ने परमात्मारूप से भी, वे ही सबके पति हैं, ऐसा समझाया है ॥६०॥

"समस्त गोपियों के एवं उनके पतियों के तथा सभी प्राणियों के अन्तःकरण में, जो प्रभु, अन्तर्यामी रूप से विचरण करते हैं, वे ही सबके अध्यक्ष हैं । वे ही भक्तसुखदायिनी लीला करने के लिये देह धारण किये हुए हैं ।" इस श्लोक में अन्तरङ्ग भक्तों के प्रति तो यह अर्थ है कि—गोपियों के मध्य में कुछ अविवाहित हैं, एवं कुछ विवाहित हैं । इन दो प्रकारों से जो तीनों भुवनों में प्रसिद्ध हैं, वे ही गोपियाँ हैं । वास्तविक तो गोपियाँ नित्यसिद्ध हैं । ये ही सबकी अपेक्षा कल्याणकारिणी हैं, तथा श्रीकृष्ण की नित्य-

नानाभावसमृद्धानां कुमारीतरुणी-वृद्धानां तथा यथासंभवं तासां पतीनां तदुपलक्षिततया कुमार-ततीनां, किं बहुना ? सर्वेषामपि तदेकजीवानां व्रजजीवानां यानि तत्तदुचितताचित-तदीयक्रीडासाधनदेहानि, तदासक्तः सन्नन्तःशब्दाभिहिते महिते जगन्नेत्रादन्तर्हिते सदाभवे स्ववैभवे यश्चरति क्रीडति, स एष एवाध्यक्षः कदाचिज्जगत्प्रत्यक्षः सन् क्रीडति; तस्मान्निज-प्रेयसीभिः सममनादित एव मिथुनतेति कथनादौपपत्यमस्य नोपपत्त्यर्हम्, किन्तु परम-व्योमाधिपलक्ष्मी-नारायणवद्दाम्पत्यमेव तदर्हं भवतीति । तदिदं (भा० १०।९०।४८) 'जयति जननिवासः' इत्यादौ 'व्रजपुरवनितानां वर्धयन् कामदेवम्' इति पुरवनिताभिः सह तासां सह-पाठाद्द्रष्टव्यम् । श्रीमानुद्धवस्तु (भा० १०।४७।५८) 'एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वः' इत्यादावासामनुगतिं मुमुक्षुमुक्त-मद्विधभक्ता अपि 'वाञ्छन्ति' इत्युक्त्वा वृन्दावनचर्य इमाः क्व, तदीदृशभावव्यभिचारदुष्टास्त्वन्ये क्वेति वदन् कृष्णे परमात्मनि ह्येष रूढभाव इति प्रत्यक्षतो दर्शयन्नासु माहात्म्यविशेषं दर्शयति, (भा० १०।४७।६०) 'नायं श्रियोऽङ्ग' इत्यादौ श्रीप्रभृतिभ्यः पुनरपि विशेषयति च ॥६१॥

"अथ सानन्दापि वृन्दा पुनः पप्रच्छ,—'कथमीदृशी प्रक्रिया नातिप्रिया, नान्यथा क्रियते स्म भवत्या ? भवत्याः खलु नाशक्यं तवर्यते ।' ॥६२॥

प्रिया हैं । और इनसे भिन्न भी जो अनेक भावों से समृद्ध (युक्त) कुमारी, युवती, एवं वृद्धा हैं, उनके तथा यथा सम्भव उनके पतियों के, और उपलक्षणत्वेन उनके बालक समूहों के, अधिक क्या कहें ? देखो, एक-मात्र श्रीकृष्ण ही जिनके जीवन हैं, ऐसे सभी व्रजवासियों के जो तत्तद् योग्यता से युक्त, श्रीकृष्ण सम्बन्धी लीलाओं के साधन करनेवाले देह हैं, उन सब देहों में आसक्त होकर जो 'अन्तः' शब्द के द्वारा कथित, परमपूज्य, जगत् के नेत्रों से अन्तर्हित, नित्य सिद्ध स्वकीय वैभव में विचरण करते हैं, अर्थात् क्रीड़ा करते हैं, वे सर्वाध्यक्ष ये श्रीकृष्ण ही कभी कभी जगत् के प्रत्यक्ष होकर क्रीड़ा करते हैं । इसलिये अपनी नित्य-प्रिया गोपियों के साथ अनादिकाल से ही मिथुनभाव कहने के कारण, श्रीकृष्ण का गोपियों के प्रति उपपति भाव युक्तियुक्त नहीं हैं, किन्तु परमव्योमाधिनाथ लक्ष्मीनारायण की तरह, नित्य दम्पति भाव ही उनके योग्य है । इस नित्य दम्पतिभाव को "जयति जननिवासः" इत्यादि श्लोक में "व्रजपुरवनितानां वर्धयन् कामदेवम्" इस चतुर्थचरण में पुरवनिताओं के साथ, अर्थात् द्वारकापुर की वनिताओं के साथ, व्रज की वनिताओं का पाठ होने से देखना एवं समझना चाहिये । और श्रीमान् उद्धवजी तो "ये गोपवधू ही भूतल में सार्थक शरीरधारिणी हैं" इत्यादि स्थल में "इन गोपियों की अनुगति को—मुमुक्षु, मुक्त, एवं हमारे जैसे भक्त भी चाहते हैं ।" ऐसा कहकर "श्रीवृन्दावन में विहार करनेवाली ये नित्य सिद्ध गोपियाँ कहाँ ?" तथा ऐसे विशुद्धभाव के व्यभिचार से दुष्ट, अर्थात् ऐसे विशुद्ध प्रेमभाव से रहित अन्यान्य दुष्टजन कहाँ ?, ऐसा कहते हुए "परमात्मा स्वरूप श्रीकृष्ण के ऊपर यह अपूर्व भाव उत्पन्न हुआ है ।" ऐसा प्रत्यक्ष रूप से दिखाते हुए, इन व्रज की गोपियों के ऊपर माहात्म्य विशेष को दिखला रहे हैं । एवं "लक्ष्मी को भी यह सौभाग्य प्राप्त न हो सका" इत्यादि स्थल में लक्ष्मी आदिकों से फिर भी गोपियों को विशिष्ट कर रहे हैं ॥६१॥

तदनन्तर वृन्दादेवी आनन्दित होकर भी पुनः पूछने लगी कि—इस प्रकार की विवाह की प्रक्रिया सभी को अतिप्रिय क्यों न लगी ? एवं आपने भी उसको अन्यथा क्यों नहीं किया ? आपके लिये तो कोई भी कार्य अशक्य नही है । मैं ऐसी तर्कना करती हूँ ॥६२॥

"पौर्णमासी उवाच,—'रसविशेषसम्पादयित्री लीलावश्यकतावसरवैचित्रीयं सीताया रावणगृहगतिवन्नास्माभिरप्यन्यथा कर्तुं शक्यते। रसविशेषश्चैवमेव सङ्गच्छते। भ्रमजनितत्वादश्लीलताविश्लिष्टे परसम्बन्धस्याभासमात्रे दृष्टे सति तासां परनिवारणकुण्ठितानामुत्कण्ठावर्धनतः स्फुरदखर्वसुखगत्यां सर्वायत्यां विश्रान्तभ्रम-नितान्तस्थिरता-निरतकान्त-प्राप्तितस्तस्यातीव दीप्तताप्राप्तिरिति। तथा च भविष्यत्काव्येषु (१।२१) श्रीमदुज्ज्वलनीलमणिप्रमाणीकृतं प्राचां मतम्, तत्र मूलं यथा—

'लघुत्वमत्र यत् प्रोक्तं तत्तु प्राकृतनायके। न कृष्णे रसनिर्यास-स्वादार्थमवतारिणि॥'इति॥

प्रमाणं यथा (५।३)—

'नेष्टा यदङ्गिनि रसे कविभिः परोढा, तद्गोकुलाम्बुजदृशां कुलमन्तरेण।
आशंसया रसविधेरवतारितानां, कंसारिणा रसिकमण्डलशेखरेण॥"इति॥६३॥

"अत्र रसोत्कर्षस्य तर्षत एव 'कंसारिणावतारितानाम्' इति तासां नित्यं तन्निजप्रेयसीतया विहारस्तदवतारसमय एव तु रसमयमहोत्कर्षाय मायया परोढाव्यवहार इत्यतो न दोषः, प्रत्युत परमगुण एवेति भावः। इह चावतारितानामिति देवीचरतां साधारणलक्ष्मीचरतां च न प्रचारयति, (भा० १०।४७।६०)—'नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः,

---

पौर्णमासी बोली—रसविशेष को बढ़ानेवाली, लीला की आवश्यकता के अनुसार, यह समय समय की विचित्रता है। इसको "सीताजी के रावण के घर में जाने की तरह" मैं भी अन्यथा नहीं कर सकती। रस विशेष भी इसी प्रकार संगत होता है। भ्रम से जनित होने के कारण, अश्लीलता के संयोग से रहित, दूसरे के सम्बन्ध का आभासमात्र दिखाई देने पर, अन्य जनों के द्वारा निवारण से कुण्ठित (अवरुद्ध), उन व्रजवनिताओं की उत्कण्ठा की वृद्धि से उत्पन्न प्रचुर सुख की प्राप्ति है जिसमें, ऐसे उत्तरकाल में अर्थात् श्रीकृष्ण के पुनः व्रज में आगमन के समय, भ्रम की विश्रान्ति के कारण, नितान्त स्थिरता में निरत, अपने कान्त की प्राप्ति से, उस रसविशेष को अत्यन्त दीप्तभाव की प्राप्ति हो सकेगी। देखो, भविष्यत् काव्यों में श्रीमदुज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थ द्वारा प्रमाणीकृत प्राचीन रसिक विद्वानों का मत, उसमें मूल इस प्रकार है, यथा—"इस विषय में अन्य विवाहिता का निषेधरूप जो लघुभाव कहा गया है, वह केवल प्राकृत नायकमें ही घटित होगा। किन्तु रसों के सारभाग शृङ्गार रस के आस्वादन कराने के लिये ही जिनका अवतार है, ऐसे श्रीकृष्ण के ऊपर उक्त प्रकार का लघुभाव संघटित न हो सकेगा।" इस विषय में प्रमाण, यथा—प्राचीन कवियों ने अङ्गीरूप शृङ्गार रस में परोढ़ा (अन्य विवाहिता) को जो रस पुष्टीकारक नही माना, वह तो कमलनयनी गोपियों के समूह से रहित ही जानना। कारण रसिकचक्रचूड़ामणि श्रीकृष्ण ने उनका अवतार तो रस के उत्कर्ष की इच्छा से ही कराया है॥६३॥

इस श्लोक में "रसोत्कर्ष की तृष्णा से ही श्रीकृष्ण ने उन गोपियों का अवतार कराया है" ये जो कथन है, वह "उन गोपियों का श्रीकृष्ण की निज प्रियतमा रूप से नित्यविहार श्रीकृष्णावतार के समय में रसमय महोत्सव के बढ़ाने के लिये ही, माया द्वारा परोढ़ा व्यवहार है।"इस अभिप्राय के लिये है। इसलिये कोई दोष नहीं है। प्रत्युत परमगुण ही है। यही भावार्थ है। और इस श्लोक में 'अवतारितानाम्' यह पद "ये गोपियाँ पहले देवियाँ थीं, अथवा साधारण लक्ष्मी थी" इस बात का प्रचार नहीं करता। कारण—

स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः' इत्यनेन विरोधात् । तेनैवान्यतमतान्यथा-कारितया तदीयपरमलक्ष्मीत्वमेव तासां लक्ष्यते, इति ॥६४॥

"तदेवं च निरूप्य पुनरप्याह स्म; तदीदृशं परमरहस्यमाकाशाय च न प्रकाशनीयम् ।

"किन्तु—राधादीनां केवलानां केवलो नन्दनन्दनः ।
वरः स्यात् केवलं तस्मात् के बलात् कुर्युरन्यथा ? ॥६५॥

यतः, व्रजलक्ष्मीजनतायाः, हरिरिह रमणः परं न परः ।
कथमथ चकोरजाते,-र्वृत्तिश्चन्द्राद्भवेदन्यः ? ॥६६॥

"अथ वृन्दा तु—'भवतु याथाकथाचं यदिदमाचितम्, तदाचितमेव; किन्त्वायत्यां सर्वसुखसमुत्थापनं भवदभ्युत्थानमेव गत्यन्तराय भविता' इति प्रार्थ्य नमस्कृत्य च चलिता ॥६७

"पौर्णमासी तु प्राह,—
'अवचमवोचमुवाच च, वच्मि हि वक्तास्मि वक्ष्यामि ।
उच्यासमिदं वच्यां, वचानि नो चेदवक्ष्यं न ॥'६८॥

गोपियों ने जो प्रसन्नता का लाभ किया है, वह लाभ अत्यन्त अनुरागिणी लक्ष्मीदेवी को भी प्राप्त न हुआ। अतः कमल की सी गन्ध तथा कान्ति से युक्त स्वर्गीय दिव्याङ्गनाओं को, अथवा अन्य नारियों को तो कहाँ प्राप्त हो सकता है ? इस वचन से विरोध उपस्थित हो जायगा। इसलिए परोढ़ात्व भाव को अन्यथा कर देने के कारण, ये सब गोपियाँ श्रीकृष्ण की परम लक्ष्मी स्वरूप हैं। यही भाव लक्षित होता है ॥६४॥

इस प्रकार निरूपण करके पौर्णमासी फिर भी बोली कि—देखो, वृन्दे ! इस प्रकार के परम रहस्य को आकाश के लिए भी प्रकाशित नही करना। अर्थात् किसी सचेतन श्रोता के प्रति कहने की बात तो दूर रही, किन्तु निश्चेतन शून्यरूप आकाश को भी न सुनाना। तात्पर्य—जनशून्य एकान्त स्थान में अपने मन मनमें प्रकाशित करना भी निषेध है। इस प्रकार श्रीराधादि गोपियों का श्रीकृष्ण के साथ नित्य दाम्पत्य सिद्ध हो गया। उनमें परोढ़ात्व कदापि संगत नहीं है। इसी भाव को कहते हैं कि, किन्तु एक नन्दनन्दन ही केवल राधिका प्रभृत्ति सब गोपियों के केवल 'पर' अर्थात् उत्कृष्ट हो सकते हैं। अतः बल करके भी कौन जन उनके परोढ़ात्व को स्थापित कर सकते हैं ? ॥६५॥

क्योंकि इस विषय में यही सिद्धान्त है कि—व्रज की परम लक्ष्मी स्वरूपा गोपीजनों के केवल श्रीकृष्ण ही नित्यपति हैं, और कोई भी नहीं है। देखो, चकोर जाति के लिये चन्द्रमा से भिन्न अन्य जन कैसे जीवनस्वरूप हो सकता है ? यही दृष्टान्त यहाँ पर जँचता है ॥६६॥

तदनन्तर वृन्दा तो, अच्छा, जो हुआ सो होने दो। क्योंकि यह जो रहस्य संचित किया है, उसको गुप्त ही रखना होगा। किन्तु उत्तर काल में सर्व सुखों का समुत्थापन करनेवाला आपका उद्यम ही, अन्य गति के लिये हो जायगा। ऐसी प्रार्थना करके तथा नमस्कार करके चल दी ॥६७॥

पौर्णमासी तो उस वृन्दा के विश्वासार्थ देखी हुई बात की सत्यता के प्रतिपादक 'वच' धातु के दशों लकारों के प्रयोग करती हुई बोली कि मैंने कहा है, मैंने कहा है, मैंने कहा है। मैं अब भी कह रही हूँ। और आगे भी कहूँगी, पुनः कहूँगी। मैं यह कह सकती हूँ, मुझे यह कहना उचित है। यदि मैंने ऐसे सिद्धान्त को कभी कहा न होता, तो मैं नहीं कह सकती। [६७ संख्या वाले गद्य में वृन्दा के वाक्यमें "किन्त्वायत्यां सर्व-

"तदेवं तासां खेलामात्रविलासिनीनां स्ववासिनीनां मातरपितरादिभिरन्तःपुर्यामसूर्यं-पश्यतया धुताकर्णनकृष्णवर्णनतया च परितः परीतं वारितानामपि दीप्यमानकैशोरसामीप्य-समिद्धः स्वभावसिद्धः कृष्णभावः स्वयमुद्भूतवान् वारिदागमसमयं समया कासाञ्चिद्वल्ली-जातीनां पल्लव इव ॥६९॥

"यतः, हृदयमनङ्गस्तासा,-मविशद्वयसः क्रमादेव ।
श्यामाङ्गः स तु साङ्गं, विवेश सहसा ततः पूर्वम् ॥७०॥

"दृष्टान्तयन्ति चेदम्,—
'आसीदासु हरेः स्फूर्तिर्दर्शनश्रवणे विना ।
यथान्तःपुररुद्धासु कन्यासु मदनोद्गमः ॥'७१॥

"अतएवोक्तम्,—
'नवयौवनतः पूर्वं कृष्णे तासां तु या रतिः ।
तस्यां नातिशयोक्तिः सा स्वभावोक्तिस्तु मन्यताम् ॥'७२॥

"तदा च—यदा प्रसङ्ग-सङ्गत्या कृष्णेति वर्णद्वयं कर्णाभ्यर्णमापद्यते, वंशीवाद्यं वा

सुखसमुत्थापनं भवदभ्युत्थानमेव गत्यन्तराय भविता" यह जो कहा है इसका गूढ़ार्थ यह है कि, भविष्यत् काल में श्रीकृष्ण के साथ गोपियों का विवाह आपके ही अधीन है। इसके उत्तर में पौर्णमासी ने विवाहरूपी कार्य की दृढ़ता के लिए, तथा अपने वाक्य को त्रैकालिक सत्यता की ख्याति के लिए, 'वच' धातु के विविध प्रयोगों से, भावी विवाहरूपी कार्य की स्थिरता को प्रकाशित कर दिया। अतः पौर्णमासी देवी की वाणी का माहात्म्य अद्भुत है, तथा ग्रन्थकार का महान् शब्द कौशल एवं निर्णय की विशेष कुशलता तत्त्ववेत्ताओं को विवेचनीय है] ॥६८॥

अब गोपियों के पूर्वानुराग के वर्णन का उपक्रम करते हैं। यथा—इस प्रकार वे गोपियाँ अपने अपने पिता के घर में केवल बाल्यकालोचित खेल खिलवाड़पूर्वक ही क्रीड़ा करती थीं। उनके माता पिता आदि बन्धुजन अन्तःपुर में उनको ऐसे रखते थे कि, उनके ऊपर सूर्य की भी दृष्टि न पड़े, तथा श्रीकृष्ण के वर्णन, श्रवण आदि को दूर करते हुए, चारों ओर से घेरकर, सब ओर से उनका निवारण करते थे। तो भी उनके देदीप्यमान कैशोरभाव की समीपता के कारण बढ़ा हुआ, स्वभाव सिद्ध कृष्णभाव स्वयं उत्पन्न हो गया। जैसे वर्षाकाल के निकट में किन्हीं किन्हीं लता जातियों के पत्र स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं ॥६९॥

क्योंकि अवस्था के क्रम से अनङ्ग तो उन गोपियों के हृदय में ही प्रविष्ट हुआ था, किन्तु श्यामाङ्ग वह श्रीकृष्ण तो उससे भी पहले, सम्पूर्ण भाव से सहसा प्रविष्ट हो चुका था ॥७०॥

इस बात को दृष्टान्त के द्वारा प्रमाणित करते हैं, यथा—जैसे अन्तःपुर में अवरुद्ध कन्याओं के अन्तःकरण में भी काम का प्रादुर्भाव स्वयं हो जाता है। ठीक उसी प्रकार श्रीकृष्ण के दर्शन एवं श्रवण के बिना भी उनके अन्तःकरण में श्रीकृष्ण की स्फूर्ति होती थी ॥७१॥

अतएव प्राचीन कवियों ने भी कहा है कि नवीन यौवन से पहले ही श्रीकृष्ण में उन गोपियों का जो अतिशय अनुराग है, उसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है। अपितु उसको स्वभावोक्ति ही माननी चाहिए ॥७२॥

उस समय जब प्रसङ्गानुसार 'कृष्ण' ये दो वर्ण उनके कानों के पास आ जाते हैं, अथवा वंशी का शब्द कानों में पड़ जाता है, बस, उसी समय श्रीकृष्ण को ही देखती हुई सी हर्षित होकर, पुनः न

तदा तमेव पश्यन्त्य इव हृष्यन्त्यः पुनरप्यपश्यन्त्यस्तापमाप्नुवन्ति स्म, किन्तु, कश्चित् प्रति न किञ्चित् प्रकाशयामासुः; चेतसि तु भावयाम्बभूवुः ॥७३॥ यथा—

'यः कृष्णनामाक्षर-माधुरी-झरै,-रास्वाद्यते वेणुकलीरसैरपि ।
स एक एवाम्बुदरोचिरेष मे, कः स्वान्तमुच्चैः कुरुते पुरुव्यथम् ?' ॥७४॥

"तत्र च श्रीराधाया भावना यथा—

'याते कृष्णेति शब्दे श्रुति-पथममृतादप्यतिस्वादयुक्ते
वंशीवाद्ये च शश्वन्मनसि सपदि यः स्फूर्तिमाप्नोति सोऽयम् ।
आजन्माभ्यासहीनोऽप्यतिसुपरिचित-प्राय एवेति भाति
प्राप्तिव्यावृत्तितस्तु प्रसभमचिरतो नेष्यति प्राणवर्गम् ॥'७५॥

"पुनश्च सम्प्रति स्वयमेव परस्परमिवाह,—'राधे ! किमुदग्रं व्यग्रचित्तासि ? राधिके ! तदेतन्नावदधासि चेदवधानं विधेहि—

'श्रव्याणां स्वादसारं श्रुतिरनुमनुते यत्तु यद्वा सुधाब्धे-
र्मन्थाल्लब्धं रसज्ञा सुखहृदिजसुखं चित्तवृत्तिर्यदेव ।
किन्तत् कृष्णेति वर्णद्वयमयमथवा कृष्णवर्णद्युतीना-
माजीव्यः कोऽपि शश्वत् स्फुरति नवयुवेत्यूहया मोहितास्मि ॥'७६॥

देखती हुईं, वे गोपियाँ सन्ताप को प्राप्त हो जाती थीं। किन्तु इस बात को वे किसी के प्रति किंचिद् भी प्रकाशित नहीं करती थीं। केवल मन मनमें ही श्रीकृष्ण की भावना करती थीं ॥७३॥

यथा—अहह ! 'कृष्ण' नाम के अक्षरों की माधुरी के झरनों के द्वारा, तथा वंशी ध्वनि के मधुर रसों के द्वारा, जिसका आस्वादन किया जा रहा है, वह मेघ की सी कान्ति वाला एक ही पुरुष कौन है ? जो कि हमारे अन्तःकरण को अत्यन्त पीड़ा युक्त कर रहा है ॥७४॥

उन गोपियों के मध्य में श्रीराधिका की भावना, यथा—अहह ! अमृत से भी अत्यन्त स्वाद युक्त 'कृष्ण' ये शब्द तथा वंशी का बाजा मेरे कानों में आते ही, मेरे मनमें तत्क्षण जो स्फूर्ति को प्राप्त होता है, वह पुरुषविशेष तो जन्म भर से मेरे पास न रहकर भी, प्रायः अत्यन्त सुपरिचित ही प्रतीत होता है। यदि उसकी प्राप्ति न हुई तब तो वह हठपूर्वक शीघ्र ही हमारे प्राणों को ले बैठेगा ॥७५॥

फिर भी इसी समय प्रीति से उन्मत्त होकर स्वयं ही आपस में बतराने की तरह बोली—हे राधिके ! तुम्हारा चित्त इतना अधिक व्याकुल क्यों हो रहा है ? अरी राधिके ! यदि इस विषय में तू सावधानी नहीं करती है तो सावधान हो जा। और सुन। देख, श्रवण करने योग्य पदार्थों का जो स्वाद है, उसके सार को कान ही जान सकते हैं। अथवा क्षीरसमुद्र के मन्थन से प्राप्त अमृत के स्वादमय सारभाग को रसना ही जानती है, एवं हर्ष से युक्त हृदय से उत्पन्न सुख को चित्तवृत्ति ही समझती है, अर्थात् ये सब अवस्थायें मेरे ऊपर बीत रहीं है। तब तू बता तो सही, क्या वह स्वाद का सार 'कृष्ण' ये दो वर्ण हैं, अथवा कृष्णवर्ण की कान्तियों का आश्रय स्वरूप, यह कोई नवयुवक निरन्तर स्फूर्ति पा रहा है। मैं तो इस प्रकार के तर्क वितर्क से मोहित हो रही हूँ ॥७६॥

"एवं श्रीकृष्णस्य च तदीयप्रचरिष्णु-तत्तद्गुणभविष्णुतृष्णस्य भावरम्यता गम्यताम्,—॥७७

नाम्नि श्रोत्रं सदनसरणौ नेत्रमामोदपूरे
घ्राणं पृष्ठे वपुरपि गुणे सूक्तमासां मदीयम् ।
मां प्रोज्झ्यासीद्द्रुतमिति हरिः स्वीयदोषं विचारात्
प्रत्याख्याय स्फुटमनुसवं तत्र चित्रायते स्म ॥७८॥

राधाऋक्षे क्वचन गणकेनान्तिकाद्वर्ण्यमाने
दृष्ट्वा राधां घटयति जने सञ्जनं स्वस्य दूरात् ।
राधागेहान् मृदुलपवने वाति नास्मारि तत्तत्
कृष्णेनास्मिन् पुनरलमसौ सस्मरे सैव राधा ॥७९॥

"तदेवमपूर्वकृष्णदर्शनपर्वण्यजातपूर्वे यदा तु कालियदन्दशूकसन्दलनमासीत्तदा विध्वस्त-निरोधा राधादयोऽपि व्रजवासिसाधारणतया तत्र गच्छन्ति स्म । एतदर्थमेव कालियदमनार्थे तावान् विलम्बारम्भसम्भारस्तेन लम्भितः । तदेवं तत्र गतवतीनामपि बाल्यामोकतः शोकतश्च न लोकतस्तासां भावः स्वस्य विशेषं भावयामास, किन्तु प्रेमातिशयमात्रम् ॥८०॥

"तथाहि,—यदा दूरे नृत्यं फणिशिरसि चक्रे मुररिपु-
स्तदा ताभिः साक्षादरचि स इतीदं नहि मृषा ।

इसी प्रकार श्रीराधिका के प्रचरणशील तत्तद् गुणों के द्वारा प्रकाश पाने की तृष्णा वाले श्रीकृष्ण की भी भाव की रमणीयता को सुनकर समझ लो—॥७७॥

मेरे कान श्रीराधिका के नाम में, मेरे नेत्र श्रीराधा के घर के मार्ग में, मेरी नासिका श्रीराधा की सुगन्धी के समूह में, मेरा शरीर श्रीराधा के पीछे, एवं मेरी वाणी श्रीराधा के गुण वर्णन में ही लगी हुई थी, तो भी, वह मुझको त्याग कर शीघ्र ही भाग गई । इस प्रकार के विचार से श्रीकृष्ण अपने दोष को दूरकर, एकान्त में स्पष्टरूप से चित्र लिखे से खड़े रह जाते हैं ॥७८॥

कोई ज्योतिषी अपने निकट यदि राधा नामक नक्षत्र के विषय में कुछ वर्णन करता है, एवं राधा को देखकर जनमात्र आसक्ति करते हैं, तथा अपने से बहुत दूर पर विद्यमान राधा के भवन से कोमल वायु आ रही है, श्रीकृष्ण ने इन पूर्वोक्त बातों का स्मरण नहीं किया, केवल इस विषय में उन श्रीराधा का ही विशेष स्मरण करते रहे ॥७९॥

अतएव इस प्रकार अपूर्व कृष्ण दर्शनरूपी महोत्सव के पहले कभी न होने पर भी, जब कालीय नाग का दमन हुआ, उस समय रुकावट से रहित श्रीराधा आदि गोपियाँ भी, साधारण व्रजवासियों की तरह कालीदह पर चली गई थीं । श्रीराधा आदि गोपियों के दर्शनार्थ ही, श्रीकृष्ण ने कालियदमन करने के लिये उतने विलंब के आरंभ का उपक्रम किया था । अतः इस प्रकार कालियह्रद पर चली जाने पर भी, बालक-पन के अपरित्याग के कारण, तथा शोक के कारण, जगत् में उनका भाव अपनी विशेषता को प्रकाशित न कर सका । किन्तु अतिशय प्रेम मात्र को ही उत्पन्न कर गया ॥८०॥

देखो, जिस समय श्रीकृष्ण दूर ही कालिय सर्प के मस्तक पर नृत्य कर रहे थे, उस समय श्रीराधा आदि गोपियों ने श्रीकृष्ण का साक्षात्कार किया, यह बात मिथ्या नहीं है । तथापि बाल्यावस्था के कारण,

तथाप्यासां बाल्याद्बहुजनसमाजादपि शुचा
वृतेर्भावो नैव स्वरसमयतामण्वपि ययौ ॥८१॥

यदा कालीयस्य ह्रदवलयतः सोऽयमुदित-
स्तदा राधामुख्याः प्रथमकलनादेव पतिताः ।
बहिर्ज्ञानं नासीद्यदपि तदपि स्फूर्तिवलिता
न मूर्च्छां नामूर्च्छां ययुरहह रात्रिन्दिवमनु ॥८२॥

यद्यपि कृष्णस्तासां, कलनादन्तर्विकारमासन्नः ।
तदपि च समयान्तरजां, चकार गम्भीरतां शरणम् ॥८३॥

"ततश्च, प्रभाते ताः शकटसमारोहिततया व्रजमानीताः कथमपि स्वस्थतां याताः ॥८४॥

यथा—मुहुर्बन्धु-स्तोमे तदुपचरणादुत्थितमतौ
जनद्वारा तासां हरिरपि विमूर्च्छां कलितवान् ।
अथ व्यग्रीभूयामृतमिव मुरल्या मृदुकलं
जगौ ताश्च प्रापुर्बहिरवहितिं सत्वरतया ॥८५॥

"किन्तु तस्य वंशीशंसनमाधुर्यमेव तास्वभिषज्यदवबुध्य तदवधि तासां प्रतिबन्धाय बन्धवस्तेनातिनिर्बन्धं ययुरिति कदाचिच्चिरतो दर्शनमपि तस्य तासु पर्यवस्यति स्म ॥८६॥

अधिक जनसमुदाय के कारण, एवं शोकरूपी आवरण के कारण, उन राधादिकों का भाव अपनी नित्य सिद्धावस्था को किंचिद् भी प्राप्त न हो सका ॥८१॥

श्रीकृष्ण जब गोलाकार कालियह्लद से उठ खड़े हुए, तब श्रीराधा आदि गोपियाँ प्रथम दर्शन से ही भूमि पर गिर पड़ीं। यद्यपि उनको बाह्य ज्ञान नहीं था, तथापि स्फूर्ति से युक्त होकर, वे रात दिन न तो मूर्च्छा को प्राप्त होती थीं, और न अमूर्च्छा को ही। बस, यही आश्चर्य था ॥८२॥

यद्यपि श्रीकृष्ण भी उन राधादिकों के दर्शन से आन्तरिक विकार को प्राप्त हो गये थे, तथापि अन्य समय में उत्पन्न होने वाली गम्भीरता को ही रक्षक बना लिया ॥८३॥

तदनन्तर प्रातःकाल हो जाने पर वे राधा आदि गोपियाँ गाड़ियों में चढ़ाकर व्रज में लाई गईं, किसी प्रकार कष्टपूर्वक स्वस्थता को प्राप्त हो गईं ॥८४॥

यथा—सुबल आदि बन्धुवर्ग बारंबार श्रीकृष्ण के निकट जाकर एवं उनकी सेवा करके जब स्वस्थ बुद्धि वाला हो गया, तब अन्य जनों के द्वारा श्रीकृष्ण भी उन गोपियों की मूर्च्छा को जान गये। तदनन्तर व्याकुल होकर, अमृत की तरह मुरली के द्वारा मृदु मधुर गाने लग गये। वे राधादि गोपियाँ भी शीघ्रता पूर्वक बाहिरी सावधानी को प्राप्त हो गईं ॥८५॥

किन्तु श्रीकृष्ण की वंशी ध्वनि की माधुरी को ही उन राधादिकों के विषय में वैद्य की तरह जानकर, उस समय से उनके वे बन्धुगण, उनकी रुकावट के लिए अति आग्रह नहीं करते थे, इसी कारण कभी कभी बहुत दिनों पर श्रीकृष्ण का दर्शन भी उनको संघटित हो जाता था ॥८६॥

"अथ श्रीकृष्णस्य षष्ठे वर्षे गते तासां च ततः किञ्चिदूनतया मते समारब्धप्रपञ्चाद्भावादक्षोणानां नवकैशोरलक्ष्मीणामुदञ्चनं तस्य च तासां च तथा जातं यथा परस्परं स्पर्धयेव सञ्चयमञ्चदासीत् ।।८७।।

"तत्र तस्य श्रीकृष्णस्य यथा,—

वक्त्रं पूर्णकपोलकान्तिवलितं केशा भृशश्यामला
नेत्रे लोलविशालपाटलतटे वक्षः स्फुरद्विस्तृति ।
बाहुद्वन्द्वमखर्वपुष्टघटनं मध्यः कृशस्तत्परः
स्फीतस्तद्वदुरू पृथूभवितुमुद्गाते स्म तस्मिन् हरेः ।।८८।।

"तत्र च कस्यचिन्मर्मज्ञजनस्य नर्मवचनम्—

'तनौ श्यामा लक्ष्मीरभजदयमन्तर्हृदि पुनः
सदा गौरीरित्थं कपटमभिपश्यन्मुररिपोः ।
स्फुरन्नेत्र-द्वन्द्वं भजदरुणतामीषदभितो
मुहुः कर्णाभ्यर्णं व्रजति किल किञ्चित् कथयितुम् ।।'८९।।

"अथ तासां यथा,—

कटाक्षे कृष्णाभा स्फुटमधरयो रागगरिमा
कपोल-द्वन्द्वान्तः शुचिरुरसि चारून्नतिरुचिः ।

तदनन्तर श्रीकृष्ण का छठवाँ वर्ष बीत जाने पर, तथा राधादिकों का छठवाँ वर्ष श्रीकृष्ण से किंचित् न्यून ही बीता है, ऐसा जान लेने पर, सम्पूर्ण भावसमूहों के विस्तृत हो जाने के कारण, श्रीकृष्ण की एवं राधा आदि गोपियों की परिपूर्ण नवकैशोर शोभाओं का उदय उस प्रकार हुआ, जैसे परस्पर स्पर्धा से ही मानो वृद्धि को प्राप्त हो रहा है ।।८७।।

उनके बीच में उन श्रीकृष्ण की शोभा की वृद्धि, यथा—उस समय श्रीकृष्ण का मुख परिपूर्ण कपोलों की शोभा से संयुक्त, एवं केश कलाप अत्यन्त श्यामल हो गया था। दोनों नेत्र चंचल एवं विशाल, तथा प्रान्तभाग में श्वेत रक्तवर्णवाले हो गये थे। वक्षःस्थल विस्तार को पा रहा था। दोनों भुजायें पूरे परिमाण में परिपुष्ट होकर सुगठित हो गईं थीं। मध्यभाग पतला एवं उसके परे नितम्बभाग मोटा हो गया था। उसी प्रकार दोनों जंघायें भी, मोटी होने को उद्यत हो गईं थीं ।।८८।।

वहाँ पर किसी मर्मज्ञजन का परिहासमय वचन, यथा—देखो, भाइयो! ये श्रीकृष्ण अपने श्रीविग्रह में तो समस्त श्यामवर्ण की शोभा को धारण कर रहे हैं, किन्तु हृदय में सम्पूर्ण गौरवर्ण की शोभा का सेवन कर रहे हैं। श्रीकृष्ण के इस प्रकार के कपट को देखते हुए दोनों विशाल नेत्र, चारों ओर किंचित् लालिमा को धारण कर, निश्चितरूप से मानो कुछ कहने के लिये बारंबार दोनों कानों के पास जा रहे हैं ।।८९।।

अब श्रीराधा आदि गोपियों की पौगण्ड अवस्था में भी नव किशोर शोभा का दिग्दर्शन, यथा—कटाक्ष में स्पष्ट ही कृष्ण कान्ति, दोनों ओष्ठों में अरुण वर्ण का गौरव, दोनों कपोलों के मध्य में निर्मलता, एवं उनके वक्षःस्थल में सुन्दर उन्नति की शोभा, अर्थात् स्तनोद्रेक की शोभा हो रही है। अहह! ये उनके

अमी चेतोधर्मा बहिरहह यद्येवमुदिता
भवेत् किंवा तर्हि व्रज-मृगदृशां गोपनपदम् ? ॥६०॥

"तत्र श्रीराधां प्रति कस्याश्चिदुक्तिः,—

'भद्रा पद्मा धनिष्ठा शिविपशुपसुता पालिका श्यामला सा
चन्द्रावल्यप्यभीक्ष्णं वयसि निज-निज-श्रीसमुत्कर्षि दृष्टा ।
श्रीराधे त्वं पुनः स्वं जितकनकगुणं द्योतमुद्योतयन्ती
तद्दिव्यं श्यामधाम प्रथयसि परितः केन वा तन्न वेद्मि ?' ॥६१॥

"तत्रान्यस्या वचनम्,—

'विलसति कृष्णनवाब्दः, स्फुटमधिहृदयं प्रविश्य राधायाः ।
न भवति तद्यदि कथमिव, पुलकैः सह लोचने स्रवतः ॥' इति ॥६२॥

"तत्प्रभृति तासां भावना चेयम्,—

'तदेव यमुनारण्यं त एव च तमालकाः ।
तदेव चित्तमस्माकं साम्प्रतं किमिवान्यथा ? ॥६३॥

"ततश्च, शारद-प्रथमशुभ्रपञ्चमी, भाविरात्रिनिकराब्जसप्रभम् ।
सुभ्रुवां मुखमुरोज-युग्मम,-प्यापतुः प्रतिदिनं महोदयम् ॥६४॥

चित्त में उत्पन्न होनेवाले धर्म यदि बाहर भी इस प्रकार उदित हो गये हैं, तब ऐसी स्थिति में व्रजाङ्गनाओं के गुप्त रखने का कौन सा स्थान हो सकता है ? वह कहा नहीं जा सकता ॥६०॥

वहाँ पर श्रीराधिका के प्रति किसी सखी की उक्ति, यथा—भद्रा, पद्मा, धनिष्ठा, शैव्या, पालिका, श्यामला एवं वह चन्द्रावली भी, निरन्तर अपनी अपनी अवस्था में लक्ष्मी से भी विशिष्ट शोभायुक्त देखी जाती है। किन्तु हे राधिके ! तुम तो सुवर्ण के गुण को जीतनेवाले, अपने श्रीअङ्ग के प्रकाश को उद्दीपित करती हुई, चारों ओर उस दिव्य श्याम प्रभा का ही विस्तार कर रही हो। मैं उसको किसी कारण से भी नहीं जान रही हूँ ॥६१॥

वहाँ पर दूसरी सखी का वचन, यथा—अरी सखि ! देख, श्रीराधिका के हृदय में कृष्णरूप नवीन मेघ स्पष्ट ही प्रविष्ट होकर विलास कर रहा है। यदि उस नवीन मेघ का प्रवेश नहीं है, तो रोमांचों के सहित इसके दोनों नेत्र झरने की तरह क्यों झर रहे हैं ? ॥६२॥

उस समय से लेकर उन गोपियों की यह भावना हो गई थी कि—श्रीयमुनाजी से युक्त यह वही वृन्दावन है, ये वे ही तमाल के वृक्ष हैं, यह हमारा चित्त भी वही है, किन्तु इस समय अन्य प्रकार का कैसे परिणत हो गया ? ॥६३॥

तदनन्तर शरद् ऋतु के प्रथम शुक्लपक्ष की पंचमी से लेकर, आनेवाली रात्रियों के समूह में प्रगट होनेवाले चन्द्रमा एवं कमल के समान प्रभावाला, उन गोपियों का मुख एवं स्तनयुगल, प्रतिदिन महान् उदय को प्राप्त होने लग गया ॥६४॥

यदा राधा तासु प्रथमवयसाकीर्णकिरणा
तदा ताः सर्वाश्च प्रतिहत-समज्ञाः समभवन् ।
परं नानापुष्पावलिषु लतिकासु प्रथमतः
प्रफुल्लन्ती ख्यातिं सदसि सुरवल्ली बलयते ॥६५॥

"तत्र चेयं किंवदन्ती वदन्तीबभूव,—

'इन्दुर्मन्दति खञ्जरीटतरुणः खञ्जन्निवालोक्यते
दूनं भाति तिलप्रसूनमरुणाद्बिम्बं गुणाल्लम्बते ।
स्वर्ण-श्रीजयिवर्णजालविलसद्वल्ली न लीलायते
राधाया मधुरिम्णि यद्विधुरतामाप्नोति तन्माधुरी ॥६६॥

"तदेवं लब्धदरस्फोरे कैशोरे तासां स एव कृष्णप्रेमा तृष्णाविशेषमासादितवान् । व्रतति-ततीनां कृतव्रततित्वे लब्धसत्त्वे स्वाश्रयं प्रत्यभिमुखप्रसारस्तद्वलयनलालसमिव ॥६७॥

"तत्र तासां भावना यथा,—

'जन्मन्येतदहो किमत्र भविता यत्तस्य वक्षःस्थलं
विस्तीर्णातुलनीलरत्नमसृणं स्पृश्येत मद्वक्षसा ।
ताम्बूलं बत चर्वितं च मुखतः कृष्येत किं मन्मुखे-
नैवं केयमहो ममाद्य विमतिर्धर्मध्रुगभ्यागता ॥६८॥

जिस समय श्रीराधिका उन सब गोपियों के बीच में प्रथम अवस्था से, अपनी कान्ति किरणों को निक्षिप्त करने लग गईं, उस समय वे गोपियाँ तथा अन्य सभी स्त्रियाँ आच्छन्न कीर्ति होगईं, अर्थात् उन सब की कीर्ति लुप्त हो गई । क्योंकि अनेक प्रकार की पुष्पावलि से युक्त लताओं के बीच में, पहले से विकसित होती हुई केवल कल्पलता ही, सभा में ख्याति को प्राप्त होती है ॥६५॥

वहाँ पर यह किंवदन्ती बोलती हुई सी प्रचारित हो गई थी कि—चन्द्रमा मलिन सा हो गया है, तरुण खंजनपक्षी लंगड़ा सा दिखाई देता है, तिलपुष्प उपतप्त सा प्रतीत होता है, बिम्बफल अरुण गुण से रहित हो रहा है, सुवर्ण की शोभा को जीतनेवाले वर्ण समूह द्वारा विराजित लता भी प्रकाशित नहीं हो रही है । क्योंकि श्रीराधा की माधुरी में, अर्थात् श्रीराधा के मुख आदि की माधुरी के सामने चन्द्रमा आदि की माधुरी विकलता को प्राप्त हो रही है ॥६६॥

अतः इस प्रकार उन गोपियों की किशोरावस्था के किंचिद् विकसित हो जाने पर, वही श्रीकृष्ण विषयक प्रेम तृष्णा विशेष को प्राप्त हो गया । जैसे लता समूहों के विस्तारभाव को प्राप्त होने पर, अपने आश्रय के प्रति अभिमुख जो प्रसार है, वह उसके संयोग की लालसा वाला हो जाता है ॥६७॥

वहाँ पर उन श्रीराधा आदि गोपियों की भावना, यथा—अहह ! इस जन्म में क्या यह संयोग संघटित हो जायगा, जो कि हमारे वक्षःस्थल से विशाल एवं अतुलनीय नील रत्न के समान चिक्कण एवं कोमल, श्रीकृष्ण का वक्षःस्थल स्पर्श कर सकेगा ? और चर्वित ताम्बूल श्रीकृष्ण के मुख से हमारे मुख में कभी आकृष्ट हो सकेगा क्या ? अथवा यह विचार उचित नहीं । हाय ! हाय ! यह धर्म से द्रोह करनेवाली विमति मेरे पास आज कहाँ से आ गई ? ॥६८॥

"अथ प्रेमापि परमवरिमाणमाससाद । यथा—

पूर्वं यत्परितो हरेरनुभवात् कैशोरमाशूद्गतं
तत्तासु स्फुरितं तमेव विदधल्लीलाभिरुच्चैःस्थितम् ।
अप्याकर्णनदर्शनादिरहितास्ता देवताविष्टव-
च्चेष्टन्ते स्म यतः शशाक नहि यद्बोद्धुं जनश्चाण्वपि ॥६६॥

"तत्र तु—शून्यं पश्यति वाष्पपूरमनिशं मोमुच्यते कम्पते
स्विद्यत्युद्गतकण्ठकत्वमयते स्तम्भं पुनः प्राच्छति ।
म्लानिं गच्छति वाचितापि वचनं नाभाषते सेति तां
पश्यन्तो सुहृदां ततिर्मुहुरहो राधामशोचन्मुहुः ॥१००॥

"तस्या भावना चेयम्,—

'रूपेणामृतसिन्धुः, कीर्तिभिरमृतद्युतिर्यदपि ।
तदपि हरिर्मम हृदयं, विदहति हा धिग्विधिर्वामः ॥१०१॥

हृदयं पूर्वमलिप्तं, भावः कः पुनरलिप्त मे सहसा ?
स्मरदपि यस्य तु विषयान्, स्वयमथ चित्तं स्वतोऽपि जिह्रेति ॥'१०२॥

तदनन्तर प्रेम भी बहुत अधिकता को प्राप्त हो गया था, यथा—पहले जो किशोरावस्था श्रीहरि के चारों ओर के अनुभव से शीघ्र ही उत्पन्न हुई थी, वही किशोरावस्था उन गोपियों में स्फुरित होकर, श्रीहरि के अनुभव को ही कराती हुई, लीलाओं के द्वारा उच्चकोटि को प्राप्त हो गई। एवं श्रीकृष्ण के श्रवण, दर्शन आदि से रहित भी, वे गोपियाँ उन्मत्त की भाँति चेष्टा करती थीं। जिस कारण जनमात्र इस चेष्टा के भाव को किंचिद् भी जानने को समर्थ नहीं होता था ॥६६॥

उन गोपियों में से श्रीराधा तो श्रीकृष्ण विरह में जगत् को ही शून्य देखती हैं, निरन्तर अश्रुधारा को बहा रही हैं, कम्पित हो रही हैं, पसीना से युक्त हैं, रोमांचित हो जाती हैं, पुनः स्तम्भभाव को प्राप्त हो जाती हैं, हर्ष से रहित हो जाती हैं, बुलवाने पर भी वह वचन नहीं बोलती हैं। इस प्रकार उन राधा को देखते हुए बन्धुगण बारंबार शोक करने लग जाते थे ॥१००॥

श्रीराधिका की हार्दिक भावना तो यह थी कि—श्रीकृष्ण यद्यपि लोकोत्तर अपने रूप से अमृत के समुद्र हैं, एवं निष्कलंक कीर्तिकौमुदी समूह के द्वारा चन्द्रमा ही हैं, तो भी मेरे हृदय को जला रहे हैं, (क्योंकि अमृत का सिन्धु एवं चन्द्रमा तो अपनी शीतलता के कारण किसी को जलाते नहीं हैं) इसलिये मेरे प्रति जो विधाता वाम है उसको धिक्कार है ॥१०१॥

श्रीकृष्ण की भावना का दिग्दर्शन, यथा—पहले मेरा हृदय निर्मल था, किन्तु अब कौन से भाव ने मेरे हृदय को सहसा व्याप्त कर लिया ? क्योंकि जिस भाव के विषयों को स्मरण करता हुआ मेरा चित्त स्वयं अपने से भी लज्जित हो रहा है ॥१०२॥

"पुनश्च कालियदमनमन्वनुभूतं तासां भावं विभावयन्नाह,—

'पिता मे साधूनां कुलतिलकता-विश्रुतगति-
स्तथा माता साध्वीसमुदयविवेकाग्रिमलिपिः ।
कथं राधादीनां परमृगदृशां भावमभितो
भजत्यन्तः किंवा मम मृदुलता मां क्लमयति ॥१०३॥

'किञ्च, हन्त ज्ञानं मम विलुलितं क्वापि न स्यात् परन्तु
प्रेमार्द्रं तद्भवति सुतरां तासु तु प्रेयसीषु ।
यस्मात्तासु स्फुरति न धिया प्रेममय्या परात्वं
नापि ख्यातिं बहिरनुगया तां पराकर्तुमीशे ॥'१०४॥

"तच्चेष्टा च यथा—

मौनार्हे प्रतिभाषते स्म वचनौचित्ये मुनित्वं दधे
शोच्यत्वे हसति स्म हासकथने रूक्षत्वमेवाददे ।
प्रस्तावे व्रजसुभ्रुवां सखिजनैर्निर्मीयमाणे हरे-
र्यद्यप्येवमथापि वर्णविकृतेर्व्यत्यस्तिरालक्ष्यते ॥१०५॥

"तासां विवाहश्रवणे तु—

बहिः सुरसतां व्यञ्जन्नपि तर्हि बलानुजः ।
अन्तस्तु विरसः प्रैक्षि मर्मज्ञैः पक्वपीलुवत् ॥१०६॥

पुनः कालियदमन का लक्ष्य करके अनुभव किये हुए उन गोपियों के भाव को विचारते हुए श्रीकृष्ण बोले कि—मेरे पिता सज्जनों के कुलतिलक हैं, एवं उनकी कीर्ति विख्यात है, तथा हमारी माता का नाम पतिव्रताओं के समुदाय के आगे विचारपूर्वक सर्वप्रथम लिखा जाता है। तो भी राधा आदि परमृगाक्षीजनों के भाव को मेरा मन चारों ओर से क्यों सेवन कर रहा है ? अथवा मेरी कोमलता ही मुझको ग्लानि पहुँचा रही है ॥१०३॥

किंच खेद की बात तो यह है कि—मेरा ज्ञान कहीं भी विलुप्त नहीं हो सकता था, परन्तु वही ज्ञान उन प्रियतमा राधा आदि गोपियों में तो अत्यन्त प्रेमार्द्र (प्रेम से गीला) हो रहा है। जिस कारण से ही प्रेममयी बुद्धि से उनके प्रति "ये पराई हैं" ऐसा भाव स्फूर्ति नहीं पाता है। तथा बाह्य बुद्धि द्वारा उस परात्व ख्याति को दूर करने को भी मैं समर्थ नहीं हूँ ॥१०४॥

श्रीकृष्ण की चेष्टा, यथा—मौन योग्य विषय में उत्तर दे देते थे, एवं कहने योग्य विषय में मौन धारण कर लेते थे, शोचनीय विषय में हँसते थे, तथा हासपूर्वक कथन के विषय में भी रूखेपन को स्वीकार करते थे। मित्रजनों के द्वारा व्रज की गोपियों का प्रस्ताव करने पर यद्यपि श्रीकृष्ण की ये दशा हो जाती थी, तथापि वर्ण की विकृति के कारण विपरीतता लक्षित होती थी ॥१०५॥

गोपियों के विवाह की कथा के सुनने पर तो, बलदेवजी के छोटे भाई श्रीकृष्ण बाहर सुरसता को व्यक्त करते हुए दिखाई देते थे, तो भी उस समय मर्मज्ञजनों के द्वारा तो पके हुए पीलु फल की तरह, अर्थात् पका हुआ पीलु फल जैसे बाहर से सरस होकर भी भीतर में विरस होता है, ठीक उसी प्रकार वे भीतर से तो विरस देखे जाते थे ॥१०६॥

"तदेवं स्थिते तासां जन्यम्मन्यजनेन निज-निज-वधूनां नयनाय याच्यमानं तत्पितृकुलं तासु न तद्वाच्यमकार्षीत्; केवलं तु कर्णे कर्णे मिथ एव वर्णयामास ॥१०७॥

"तासु गर्गादीहितवर्गादपि क्रमादधिगतकृष्णैकतृष्णासु प्राणपर्यन्त-संक्षयाशङ्कया तमुद्वाहमपि न सहसा न च साक्षादुद्भावयामास, किमुत तादृगवस्थानां प्रस्थापनम् ?॥१०८

"अथ यथा दुर्वहश्च विवाह-निशमनसंक्रमः प्रथमलभ्यबाल्यमारभ्य पूर्वपूर्वक्रमलब्ध-विसरया परंपरयावधारित इति । क्रमविषयतया विषभक्षणवदभ्यासव्यासत एव सोढस्तथे-दमपि बाढं सोढव्यमिति तथैव श्रावयामास ॥१०९॥

"तास्तु तद्वार्तामात्रतः परमार्ता जाताः । यत्र च कष्टं भोः कष्टम्, जीवनमपि निष्ठीवन-मापयितुं व्यवसितिमायाताः ॥११०॥

"तथाहि प्रथमं तावत् प्रत्येकं पूर्वाह्णतः पूर्वमेव गृहादात्मानं निह्नुवानाः संभृतगंभीर-नीरमुच्छलत्तरङ्ग-सङ्घनिर्ह्राद-विलीयमानकर्णं कालवर्णं कालियह्रदमेव निर्व्यतिरेकविवेक-मन्तरेण भावान्तरेण भावयाम्बभूवुः ॥१११॥

अतएव ऐसी स्थिति में उन गोपियों के प्राक्तवरों के पिता आदि स्नेहीजनों के द्वारा, अपनी अपनी वधूओं को अपने अपने घर में लाने के लिये प्रार्थित, उनगोपियों के पितृवर्ग ने, उन पुत्रीरूप गोपियों के प्रति ससुर गृह में ले जाने के समाचार को नहीं सुनाया। केवल कान कान में आपस में ही वर्णन करने लग गये ॥१०७॥

और श्रीगर्गाचार्य के द्वारा तथा अनेक चेष्टाओं के द्वारा "इन हमारी कन्याओं के मन में तो केवल कृष्ण की ही तृष्णा है" ऐसे जानकर, प्राणों के नाश पर्यन्त की आशंका से उस काल्पनिक विवाह को भी उन कन्याओं के प्रति सहसा एवं साक्षात् प्रकाशित नहीं किया, फिर ऐसी अवस्थावाली उन कन्याओं का ससुराल में भेजना तो बहुत दूर रहा ॥१०८॥

तदनन्तर गोपियों के पिताओं ने विचारा कि, जैसे बालकपन से थोड़ा थोड़ा विष खाने वाले व्यक्ति को, अभ्यास के विस्तार के कारण वह सह्य हो जाता है, ठीक उसी प्रकार प्रथम प्राप्त बालकपन से लेकर, पूर्व पूर्व क्रम से प्राप्त विस्तार वाली परम्परा से, जैसे असह्य विवाह श्रवणरूप क्लेश को हम सबने सह लिया, उसी प्रकार क्रमानुसार कन्याओं के भेजने के कष्ट को भी दृढ़तापूर्वक सहना ही चाहिये। कन्याओं के पिताओं ने वरों के पिताओं को उसी प्रकार कान कान में ही इस समाचार को सुना दिया ॥१०९॥

किन्तु श्रीराधा आदि गोपियाँ तो उनकी बातों के श्रवणमात्र से परम व्याकुल हो गईं। जिसमें अत्यन्त कष्ट का विषय तो यह है कि, वे तो अपने जीवन को त्यागने के लिए निश्चय को प्राप्त हो गईं॥११०

देखो, पहले तो वे प्रत्येक ही पूर्वाह्ण काल से पहले ही घर से अपने को छिपाती हुईं, व्यभिचार शून्य विवेक के बिना, अर्थात् भिन्नता रहित ज्ञान के बिना, देह त्यागने की इच्छारूप भावान्तर से उस कालीय ह्रद पर पहुँच गईं, जो कि गंभीर नीर से भरा हुआ था, उछलते हुए तरङ्ग संघ के शब्द से कानों को पीड़ित कर रहा था, एवं स्वयं काले वर्ण का था ॥१११॥

"अथ ताः समस्ता एवाबलाः केवलतयाऽऽगता अपि समस्ता बभूवुः। परस्परमपरिचित-प्रायतया निचाययन्ति स्म; पप्रच्छुश्च,—'का भवत्यः ?' इति। प्रचिते च परिचये तत्राव्रजन-प्रयोजनमप्यन्वयुञ्जत ॥११२॥

"ततश्च समानवासना-वासित-मानस-व्यसन-शंसकदशन-वसनादि-रुचिविलोकनवलित-मिथःस्नेहादालिङ्गितकण्ठा मुक्तकण्ठमुत्कण्ठया स्फुटमेव रुरुदुर्विविदुश्च परस्परं हृदयम् ॥११३॥

"तदेवं कुलाङ्गनानामपि तासां स्वयमेव निष्कुलीकृतमनसामुत्कृष्टगुणतयाकृष्टसर्वनयना श्रीराधा तु स्वत एव मध्यमाधारतामापन्नातिकष्टतः प्रकटमेव निजनिश्चयमाविश्चकार ॥११४

"यथा—'यद्येतद्वपुरन्यसात्कृतमभूत् पित्रादिभिस्तर्ह्यदः
प्रेतग्रस्तमिवापि जीवदधिकं धिक्कारयोग्यं भवेत्।
धिक् चात्मानमहो यदेष सहतेऽप्येतस्य सङ्गापदं
तत्तीर्थाय बलाद्बलानुजकृते कर्तव्यमस्यार्पणम् ॥११५॥

'विस्तरमत्र चालं कृत्वा, यतः 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' इति नीतिनिघ्नतया नाति-विलम्बनमालम्बनीयम्' इत्युत्थाय ताभिः सह मिथो बद्धपाणितया पानीय-समीपं प्रस्थाय यमुनां प्रत्यञ्जलिं बलयन्ती साश्रुगद्गदमर्धोद्गतवर्णमुद्गदति स्म,—॥११६॥

तदनन्तर वे समस्त अबलायें कालीदह पर अकेली अकेली आकर भी सम्मिलित हो गईं। तथा आपस में प्रायः अपरिचित भाव से देखने लग गईं, और पूछने लगीं कि, आप कौन हैं ? क्रमशः परिचय बढ़ जाने पर वहाँ पर आने के प्रयोजन को भी परस्पर पूछने लग गईं ॥११२॥

तदनन्तर वे गोपियाँ समान वासना से वासित, मानसिक पीड़ा के कहने वाले ओष्ठ आदिकों की कान्ति के देखने से उत्पन्न, परस्पर के स्नेह से गले गले को आलिङ्गन करके, उत्कण्ठा के कारण गले को फाड़ फाड़ कर उच्चस्वर से रोने लग गईं, एवं परस्पर हृदय को भी जान गईं ॥११३॥

अतएव इस प्रकार कुलाङ्गना होकर भी, जब उन गोपियों के मन स्वयं ही कुल के त्यागने को तत्पर हो गये, अथवा जब उनके मानसिक भाव व्यक्त हो गये, तब अपने उत्कृष्ट गुणों के कारण, सबके नेत्रों को आकर्षित करने वाली श्रीमती राधिका ने तो स्वतः ही मध्यस्थ होकर, अति कष्ट से स्पष्ट ही अपने निश्चय को प्रकाशित कर दिया—॥११४॥

यथा—यदि यह मेरा शरीर पिता आदि आत्मीयजनों के द्वारा अन्यजन के अधीन कर दिया जायगा, तब तो प्रेत से ग्रसे हुए की तरह, यह जीता हुआ भी अधिक धिक्कार के योग्य हो जायगा। हाय! हाय! इस मेरे आत्मा को भी धिक्कार है, क्योंकि यह श्रीकृष्ण से भिन्नजन के सङ्गरूपी आपत्ति को सहन करेगा। इस-लिये मुझको बलपूर्वक श्रीकृष्ण की प्राप्ति के उद्देश्य से, इस शरीर को श्रीयमुना आदि तीर्थ के लिए, अर्पण कर देना चाहिये ॥११५॥

इस विषय में विस्तार से प्रयोजन नहीं है, क्योंकि "शुभ कर्म बहुत से विघ्नों से युक्त हुआ करते हैं" ऐसी नीति के अधीन होने के कारण, अति विलम्ब का अवलम्ब नहीं लेना चाहिये। इस प्रकार कहकर, स्वयं उठकर, उन सखियों के साथ हाथमें हाथ मिलाकर, जल के पास जाकर, श्रीयमुनाजी के प्रति अञ्जलि करती हुई श्रीराधिका, अश्रुधारापूर्वक गद्गद स्वर से, तथा आधे वर्ण ही जिसमें गले से बाहर निकल रहे हैं, ऐसे उच्च स्वर से, यों कहने लगी कि—॥११६॥

'गोष्ठक्ष्मापतिदंपती श्वशुरतां रामानुजः स्वामितां
वृन्दारण्यमिदं सदापि भजतामारामतां नः परि ।
याः स्नेहाद्वचतिबद्धहस्तमभितः कालिन्दि मग्ना भवत्-
पानीयान्तरमूर्भजन्तु सखितां त्वामाश्रितास्तद्वयम् ॥'११७॥

"अथ सहायान्तराण्यपि ताभिस्तदन्तराप्तानि यथा—तदेवममूमनु पुनरमूरसाधारण-बाधानामाधारतया प्राणधारणायां तु धुतकारणा ह्रदमगाधजलं बलमानाः प्रति प्रथिता-काशवाणी प्रत्यावर्तयितुं प्रत्याशां वर्धयामास ॥११८॥

"अहह गोपसुताः सहसाहसं, न सहसा कुरुतापुरुबुद्धयः ।
शृणुत वः प्रतिकूलकुसङ्गति,-र्न भविता न भवेन्न भविष्यति ॥११९॥

"तदेवम्—विहरावग्रहक्लिष्टा गोपीभूमिसरोजिनीः ।
कृत्वा गोःसुधया सिक्ता देवाब्दास्त्रिदिवं ययुः ॥१२०॥

"ततश्च विस्मयफुल्लविलोचनतया व्यतिविलोकमानासु तासु सूरजापूरतः काप्यदूरतः समेत्य श्रीराधामुपेत्य सर्वाश्चाहूय स्वयं विभूय तत्तद्गात्रं गृहीत्वा पात्रं मोचयितुमीहित्वा तीरं प्रतीरयामास ॥१२१॥

हे कालिन्दि ! हमारी तुमसे यही प्रार्थना है कि, श्रीव्रजेश्वरी (यशोदा) एवं श्रीव्रजराज (नन्द) ही हमारे सास ससुर हो जायँ, श्रीकृष्ण ही स्वामी हो जायँ, एवं यह श्रीवृन्दावन ही सदैव हमारा उपवन बन जाय । और जो स्नेह के कारण आपस में हस्त धारणपूर्वक चारों ओर से, आपके जल के मध्य में निमग्न हो रही हैं, वे सारी सखियाँ परस्पर में मित्र भाव को प्राप्त हो जायँ । इसीलिए हमने तुम्हारा आश्रय लिया है ॥११७॥

तदनन्तर इसी के बीच में उन डूबती हुई गोपियों को दूसरी सहायतायें भी मिल गईं, यथा—इस प्रकार राधिका का अनुसरण करके ये सब सखियाँ असाधारण बाधाओं की आधार होकर भी, अर्थात् इनके प्राण गँवाने में विशेष बाधाओं के उपस्थित होने पर भी, प्राण धारण के विषय में सब कारणों को ठुकरा कर, जब वे अगाध जल वाले कालीयह्रद में डूबने को तत्पर हो गईं, तब उनके प्रति प्रसिद्ध आकाशवाणी ने ह्रद प्रवेश से लौटाने के लिये, प्रत्याशा को बढ़ा दिया, यथा—॥११८॥

अहह ! हे गोपकन्याओ ! तुम सब मिलकर हठपूर्वक ऐसा साहस मत करो । ऐसा करने से तो तुम अल्पबुद्धि प्रतीत होती हो । देखो ! तुम श्रवण करो । तुम्हारे लिये श्रीकृष्ण से भिन्न अन्य प्रतिकूल जनकी कुसंगति कदापि नहीं होगी, नहीं होगी, एवं होने की संभावना भी नहीं है ॥११९॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण के विरहरूप अनावृष्टि के द्वारा दुःखित, गोपीरूप स्थलकमलिनियों को, वाणी-रूप अमृत से अभिषिक्त करके, देवतारूपी मेघगण स्वर्ग को चले गये ॥१२०॥

तदनन्तर विस्मय से प्रफुल्ल नेत्र होकर, जब वे गोपियाँ परस्पर दर्शन करने लग गईं, तब श्रीयमुनाजी के प्रवाह से पास में ही कोई अनिर्वचनीय देवी ने उपस्थित होकर, श्रीराधिका के पास जाकर, सबको बुलाकर स्वयं अनेक रूप से प्रगट होकर, उन उन गोपियों के गात्र को पकड़कर, यमुना के मध्य भाग को छुड़ाने के लिए चेष्टा करके, उनको तीर के प्रति प्रेरित कर दिया ॥१२१॥

"सा हि फुल्लेन्दीवरसुन्दरी स्वयमेव कालिन्दी। तया च तीरमानीतासु तासु वृन्दया कथिततत्तद्‌वृत्तवृन्दया मधुमङ्गलेन च वाञ्छिततदवृत्तमङ्गलेन सहिता परमहिता महिता पूर्णिमा च तूर्णमेवागता। ततः प्रतिस्वं तरुमात्रावलंबनगात्रतया निश्चेतनवत्-कृत-केतना व्रजनिकेतनाङ्गनाः सालिङ्गनसम्बोधनपूर्वं गीर्वाण-वर्णितवाणीवदेव वदमाना तत्रानुवद-मानाभ्यां वृन्दा-कालिन्दीभ्यां सार्धं बोधयामास ॥१२२॥

'बोधयित्वा च पुनर्भणति स्म,—'परममसृणमतीनां भवतीनां कथमेतावती कर्कशता जाता? ॥१२३॥

'वस्तुतस्तु—चन्द्रो न हतकलङ्कः, क्वचिदपि न कलङ्कि ववत्रं वः।
चन्द्रो मुहुरपि नश्यति, नश्यति नहि वर्ष्म युष्मदीयं तु ॥१२४॥

'किञ्च, तिसृभिरप्यस्माभिरपरोक्षं परोक्षमपि तथा साहाय्यं कार्यम्, यथा कृष्णमात्र-पतिगतीनां भवतीनां नानभीप्सितपुरुषशय्यायोगः स्यात् ॥१२५॥

'अथवा तद्विषयकस्य भावमात्रस्य स एष प्रभावः, किमुत भवद्विधानां महाभावस्य? यं खलु गोपवर्ग-नृपतिं प्रति गर्गः प्रतिज्ञातवान्, (भा१०।८।१८)—

उनको प्रेरित करने वाली वह देवी स्वयं कालिन्दी (यमुना) ही थी, जो खिले हुए नीलकमल के समान सुन्दर थी। उस यमुना के द्वारा जब वे गोपियाँ तीर पर पहुँचा दी गई, तब उन गोपियों के समस्त वृत्तान्त को कहने वाली वृन्दा के सहित, एवं उन गोपियों के वृत्तान्त के मङ्गल की कामना वाले मधुमंगल के सहित, परमहितैषिणी पूज्या श्रीपौर्णमासी शीघ्र ही आ गई। और उसके बाद प्रत्येक ही अपने अपने गात्र से वृक्ष मात्र का आश्रय लेने के कारण जो अपने अपने शरीर को अचेत बनाकर खड़ी हुई हैं, ऐसी उन व्रजवासिनी बालाओं को आलिङ्गन एवं सम्बोधनपूर्वक, देवोक्त वाणी की तरह कहती हुई पौर्णमासीजी, वहाँ पर परस्पर अनुवाद करने वाली वृन्दा एवं कालिन्दी के साथ उनको समझाने लग गई ॥१२२॥

और समझाकर पुनः बोली कि, अरी गोपियो! तुम्हारी बुद्धि तो बड़ी कोमल थी, तब इतनी कठोरता तुममें कहाँ से उत्पन्न हो गई? ॥१२३॥

वस्तुतस्तु देखो, चन्द्रमा कभी भी निष्कलङ्क नहीं है, किन्तु तुम्हारा मुख कहीं भी कलङ्कित नहीं है। चन्द्रमा बारंबार नष्ट हो जाता है, किन्तु तुम सबका शरीर नष्ट नहीं होता ॥१२४॥

और देखो, हम तीनों ही जनी प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष में भी, तुम्हारी उस प्रकार से सहायता करेंगी कि, जिस प्रकार एकमात्र श्रीकृष्ण ही पति एवं गति हैं जिनके, ऐसी तुम सबको श्रीकृष्ण से भिन्न अवांछित पुरुष की शय्या का संयोग न हो सके ॥१२५॥

अथवा श्रीकृष्ण विषयक भावमात्र का ही ऐसा प्रभाव है, फिर तुम्हारे जैसे व्यक्तियों के महाभाव के प्रभाव का तो कहना ही क्या है? देखो, जिस महाभाव को लक्ष्य करके गोपराज श्रीनन्द के प्रति श्रीगर्गाचार्य ने प्रतिज्ञा की है कि, हे नन्दजी! जो मानव महाभाग्यशाली इन श्रीकृष्ण में प्रीति करते हैं या करेंगे, उनके शत्रु उनका तिरस्कार इस प्रकार न कर पायेंगे, जैसे कि विष्णु के पक्षपाती देवताओं को असुर

'य एतस्मिन् महाभागे प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः। नारयोऽभिभवन्त्येतान् विष्णुपक्षानिवासुराः।।' इति। तस्मात् परमशुभवत्यः स्वयं भवत्यः पुनरत्र चिन्तां न कुर्वन्तु, किन्तु गुरु-वशंवदतया वदमानाः शमासीदन्तु' इति ।।१२६।।

"एवं तस्यां सान्त्वयन्त्यां तमाल,-स्याधःस्थात्री हेमगात्री ततिः सा।
न्यश्चद्वक्त्रा वाष्पनेत्रा तदीयां, पत्रश्रेणीं मार्जयन्त्येव तस्थौ ।।१२७।।

"तदेवं सानुव्रजनमात्मनः परिरभ्य ताः कृतप्रस्थितीरुपलभ्य तदुपदेशं विश्रभ्य सद्यः समुद्यन्तीं कृष्णाऽवलोकतृष्णां प्रतिलभ्य हस्तग्रहग्रहिलमहिलाभिः साहचर्यमाचर्य प्रच्छन्नवर्त्मना निष्प्रत्यूहनिगूहमानाङ्गं निजनिजाङ्गणसमीपवनं श्रीराधादयः समाजग्मुः ।।१२८।।

"तद्दिनतश्च,—विशाखा-ललितामुख्याः श्रीराधासख्यमैयरुः।
पद्मा-शैव्यादयश्चन्द्रावलेरित्यादि गम्यताम् ।।१२९।।

"तदेतदवधिका मुहुरधिका सहायतायाः सहायता तासु कृष्णतृष्णानिरतासु नाश्चर्या ।।१३०।।

"यतः साधारणस्यापि—
साहायकं सुविधिरिच्छति यस्य कर्तुं, तस्यानुकूलनिचितिं युगपच्चिनोति।
नानाग्रहर्क्षशकुनामरमानवास्तद्, राज्यादिलब्धिसमये ह्युदयन्ति भव्याः।।" इति।।१३१।।

तिरस्कृत नहीं कर पाते। इसलिए हे गोपियो! तुम सब तो स्वयं ही परम शुभ से युक्त हो, अतः तुम सब इस विषय में चिन्ता न करो। किन्तु माता पिता आदि गुरुजनों के अधीन होकर, यत्नपूर्वक बोलती हुई कल्याण को प्राप्त करो ।।१२६।।

श्रीपौर्णमासी जब इस प्रकार सान्त्वना दे रही थीं, तब तमाल वृक्ष के नीचे खड़ी हुई, सुवर्ण के समानगात्र वाली, नीचे मुखवाली, सजलनयनों वाली वह गोपियों की श्रेणी, उस तमाल वृक्ष की पत्र श्रेणी को ही मार्जित करती हुई, अर्थात् अपने हाथों से पोंछती हुई एकटक खड़ी रह गई ।।१२७।।

अतः पश्चात् इस प्रकार अनुगमनपूर्वक अपने को आलिङ्गन करके प्रस्थान करती हुई उन पौर्णमासी, वृन्दा एवं यमुना को देखकर, उनके उपदेश में विश्वास कर, शीघ्र उत्पन्न होती हुई श्रीकृष्ण के दर्शन की तृष्णा को जानकर, आपस में हस्तग्रहण करने के आग्रह से युक्त महिलाओं के साथ मित्रता करके, श्रीराधा आदि गोपियाँ गुप्त मार्ग से, निर्विघ्नता के कारण अपनी अपनी सखियों के अङ्गों का आलिङ्गन करती हुई, अपने अपने आँगन के समीप के वन में आ गईं ।।१२८।।

उसी दिन से विशाखा, ललिता आदि गोपियाँ श्रीराधा की मित्रता को प्राप्त हो गईं, अर्थात् श्रीराधा की सखी बन गईं। तथा पद्मा, शैव्या आदि गोपियाँ चन्द्रावली की सखी हो गईं, इत्यादि रहस्य जानना चाहिये ।।१२९।।

इसलिए उस समय से लेकर, बारंबार सहायता समूह की अधिक सहायता का होना, श्रीकृष्ण की तृष्णा में निरत उन गोपियों के पक्ष में कोई आश्चर्यजनक नहीं है ।।१३०।।

क्योंकि जिस साधारण जन की भी सुन्दर दैव सहायता करना चाहता है, तो उसकी अनुकूलता के समूह को एक साथ एकत्रित कर देता है। इसीलिये उसके राज्य आदि प्राप्ति के समय में शुभप्रद अनेक प्रकार के ग्रह, नक्षत्र, सगुन, देवता एवं मंगलमय ब्राह्मण आदि उदित हो जाते हैं ।।१३१।।

"प्रस्तूयमानं तु श्रूयताम्,—"अथ मधुमङ्गलं सङ्गिनं विधाय पूर्णमनाः पूर्णिमा वृन्दया सह सहसा हरि-समीपमाससाद ! भानुतनूजानुभावित-भाविभावविशेषश्लेषा समीपतः स्वागमनमपह्नुतवती। पथि पुनरिदं प्रच्छन्नं पप्रच्छ,—'वृन्दे ! व्रजेन्द्रनन्दनस्य प्रेम किमासु वर्तते ?' ॥१३२॥

"वृन्दाह,—'अथ किम् ? किन्तु निगूढम्।' यमुनाह,—'एतासान्तु स्पष्टमद्य दृष्टम्।' वृन्दाह,—'तच्च दशमदशावशादेव।' यमुनाह,—'तर्हि किं पारस्परिकं तत् परस्परं न जानते ?' वृन्दाह,—'यदपि तथा निगूढम्, तथापि विक्रियां विना प्रेम कथं ध्रियताम् ? सत्यां च विक्रियागत्यां परस्परं दुरपह्नव एव नवनवानुरागः कथमाव्रियताम् ? ॥१३३॥

'यतः, तमाला वक्षोजप्रभघुसृणमुद्रालिवलिता
नखाङ्क-श्रेणीभिः शबलितदलाश्चम्पकलताः।
सरोजानि श्यामान्युत कनकवर्णान्यधरज-
द्रवाण्येवं वन्यान्युभयरतिमत्र प्रथयति ॥'१३४॥

"तदेवं संपृच्छच प्रच्छन्नायां यमुनायां वृन्दामधुमङ्गलपूर्णपार्श्वा पूर्णिमा हरेरभ्यर्णमाजगाम। आगम्य च विरहताप-निर्वापणाय क्वचिदेकान्ते नितान्तकान्तचन्द्रकान्तशिला-मध्य-मध्यासीनं परमध्यानवन्तं तमन्तर्मनसं सन्तं निध्यातवती। तस्मात् प्रच्छन्ना चेदं सगद्गदमाकलितवती,—॥१३५॥

अब प्रस्तावित विषय का श्रवण करो। तदनन्तर मधुमंगल को संगी बनाकर, पूर्ण मनवाली पौर्णमासी, वृन्दादेवी के साथ सहसा श्रीकृष्ण के पास आ गई, तथा विचार लिया है भावी भावविशेष का संयोग जिसने, ऐसी यमुनादेवी पास में आकर, अपने आगमन को छिपाती हुई, मार्ग में गुप्तरूप से पुनः यह पूछने लगी कि—हे वृन्दे ! इन श्रीराधा आदि गोपियों में श्रीव्रजराजकुमार का प्रेम है क्या ? ॥१३२॥

वृन्दा बोली—और क्या ? है तो सही। किन्तु अत्यन्त गुप्त। यमुना बोली—इन गोपियों के प्रेम को तो आज मैंने स्पष्ट ही देख लिया। वृन्दा—वह भी दशमीदशा (मूर्च्छा) के कारण ही देख लिया। यमुना—तो क्या पारस्परिक उस प्रेम को वे गोपियाँ एवं श्रीकृष्ण परस्पर भी नहीं जानते हैं ? वृन्दा—यद्यपि गुप्त है, तथापि विकार के बिना प्रेम कैसे रह सकता है ? और विकार के उपस्थित होने पर, परस्पर में अत्यन्त कष्ट से छिपाने योग्य, नया नया अनुराग कैसे छिपाया जा सकता है ? दोहा—प्रेम छिपाये ना छिपै, हो ही जात प्रकाश। दाबे दूबे ना दबै, कस्तूरी की वास ॥१३३॥

क्योंकि देखो ! ये तमाल वृक्ष स्तनों की प्रभा से युक्त कुंकुम के चिह्नों से चिह्नित हैं। ये समस्त चम्पक लतायें नखों की चिह्न श्रेणी द्वारा मिश्रित पत्रोंवाली दिखाई देती हैं। तथा सभी कमल श्यामवर्ण के, एवं अधरों से जायमान समस्त द्रव द्रव्य सुवर्ण के से वर्ण के दिखाई देते हैं। इस प्रकार यह वन समूह भी, इस स्थान पर श्रीकृष्ण-गोपीरूप दोनोंजनों के प्रेम को प्रकाशित कर रहा है ॥१३४॥

इस प्रकार पूछकर श्रीयमुनाजी के अन्तर्हित हो जाने के बाद, वृन्दा एवं मधुमङ्गल को बगल में लेकर पौर्णमासी श्रीकृष्ण के निकट आगई, और आते ही, श्रीराधा आदि गोपियों के विरह से जायमान सन्ताप को दूर करने के लिये, कहीं एकान्त स्थान में, अत्यन्त रमणीय चन्द्रकान्त शिला के बीच में बैठे

'दोषाकरः स दोषा,-कर एव न चात्र सन्देहः ।
कमलं खल्वपि कमलं, राधावदनं तु शर्मणां सदनम् ॥'१३६॥

"तदेवं मुहुर्मोहमूहमाना शनैरुपसृत्य तदादृत्य ताः कृतकृत्यम्मन्या सास्रमाशीःसहस्रेणेदं श्रावितवती,—॥१३७॥

'विद्यते दुर्लभं किं ते विन्ते तद्यद्भवानपि ।
अवश्यवश्यतां यस्य पश्य लब्धास्तु मद्विधाः ॥'१३८॥

"कृष्णस्तु प्रेमपुषितेन घुषितेन तेन वाक्येन स्पष्टमपि तेषामिष्टमपि निजभावमस्तरिष्ट। सज्जातानां लज्जा केवलं बलाय सज्जतीति ॥१३९॥

"अथ कमललोचने सादर-दरसङ्कोचलोचन-निकोचतया कृतरोचने सा सप्ररोचनमवोचत,—'अयं मधुमङ्गलनामा स्वयं स्वसङ्गम-मङ्गलसङ्घेन सङ्गमनीयः' इति तत्पाणी समानीय हरिपाणी प्रति समर्पणीयतया प्रणीतवती ॥१४०॥

"हरिरपि 'स्वविहारसुखसारसमुपहार एवायम्' इति तमनुसन्धाय प्रेमबन्धाय

हुए, परम ध्यान मग्न, एवं दुःखित मनवाले श्रीकृष्ण को देखा। इसीलिये गुप्त होकर, अर्थात् श्रीकृष्ण के पासवाली लता की ओटक में होकर गद्गद वाणी से यह बोली कि— ॥१३५॥

वह दोषाकर, अर्थात् चन्द्रमा निश्चय ही दोषों का आकर (खजाना) है। इस विषय में अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। कमल भी निश्चित रूप से क मल ही है, अर्थात् जल का मल ही है। किन्तु श्रीराधिका का मुखारविन्द तो सुखों का घर ही है ॥१३६॥

इस प्रकार कहकर बारंबार मोह की तर्कना करती हुई धीरे धीरे निकट जाकर, एवं श्रीकृष्ण के आदर के कारण उन गोपियों को कृतार्थ मानती हुई, पौर्णमासी ने सजल नयन हो, हजारों आशीर्वादों के सहित यह वाक्य सुनाया कि— ॥१३७॥

हे कृष्ण ! आप जिस वस्तु के पाने का विचार कर रहे हो, वह क्या आपके लिये दुर्लभ है ? क्योंकि देखो तो सही। हम जैसे शक्तिशाली जन भी आपकी निश्चितवश्यता को प्राप्त हो गये हैं ॥१३८॥

श्रीकृष्ण ने तो प्रेम द्वारा परिपुष्ट, शब्दों के द्वारा घोषित उस पूर्वोक्त वाक्य से उन पौर्णमासी, मधुमङ्गल आदिकों को स्पष्ट ही इष्ट (अभिलषित) होने पर भी, अपने भाव को आच्छादित, अर्थात् गुप्त कर लिया। क्योंकि सज्जनगणों की लज्जा केवल अपनी वृद्धि के लिये हो जाती है ॥१३९॥

तदनन्तर आदर के सहित किंचित् संकुचित नेत्रों के मुद्रित भाव के द्वारा, कमलनयन श्रीकृष्ण ने जब अपनी अभिलाषा प्रकाशित कर दी, तब पौर्णमासी उत्साह प्रदर्शनपूर्वक बोली कि—इस मधुमंगल नामक विदूषक सखा को अपने संगमरूप मंगल समूह के सहित स्वयं संगत कर लो। इस प्रकार कहकर मधुमंगल के दोनों हाथों को लेकर श्रीकृष्ण के दोनों हाथों के प्रति समर्पण भाव से उसने प्राप्त करा दिया ॥१४०॥

श्रीकृष्ण ने भी "यह व्यक्ति निज विहार सुख के सारभाग को देनेवाला है" इस विचारपूर्वक उसका अनुसन्धान करके, प्रेमरूपी बन्धन के लिये इशारा करते हुए उसका आलिङ्गन किया। मधुमङ्गल ने भी

स्फुरदिङ्गितमालिङ्गितवान् । सोऽपि तं किल विलक्षणमश्लिक्षद्यत्र चाश्लिषन्मिथः पुलककुलम् ।।१४१।।

"तदेवमुपतिष्ठमानतया द्वयोरप्येकनिष्ठतायां जातायां पुनर्वृन्दावनचन्द्रमा वृन्दां निर्वर्ण्य पूर्णिमां प्रति वर्णयामास,–'केयं भवतीमनुवर्तमाना वर्तते ?' ।।१४२।।

"पौर्णमासी सस्मितमुवाच,—'किमियं न परिचीयते भवता ?' श्रीकृष्ण उवाच,– 'नूनं यन्नाम्ना वनमिदं धाम्ना समाम्नातमस्ति, सैवेयमनुमेया ।' पूर्णिमा तु स्मितपूर्णवदनं तामवादीत्,–'नाद्यावधि कथमस्य विद्यमाना बभूविथ?' श्रीकृष्णः सस्मितमुवाच,–'अपरिचिता न स्वयं मिलनाय समुचितायते ।' पूर्णिमाथ वृन्दामूचे,–'भवतु चेतः परं भवतो सचेतः सर्वदास्य दास्यमिवाचरन्ती चरिष्यति ।' ।।१४३।।

"अथ साश्रुवृन्दां वृन्दां प्रणमन्तीमेव रमारमणस्तु वनमालया पुरस्कुर्वन् वनमालया पुरश्चकारेति गमयामास ।।१४४।।

"तदनु च व्यञ्जितनिजसुखासञ्जनया पूर्णिमावृन्दयोर्वाचारञ्जनया चिराद्विराजमानः पुनर्गतयोस्तयोर्लब्धमहासहायतामहसा बृंहितमना महामनाः स तु पुरुषसिंहः सह गच्छतस्तत एव मधुमङ्गलतः कालियह्रदसङ्गतं प्रेयसीप्रसङ्गं श्रवसि सङ्गमयन् सखिसङ्घं सङ्गति स्म । स तु प्रसङ्गः सङ्गम्यते,—।।१४५।।

सत्य ही विलक्षण भाव से आलिङ्गन किया । जिस आलिंगन में दोनों के रोमाञ्च भी आलिंगन करने लग गये ।।१४१।।

अतः इस प्रकार मित्रता हो जाने के कारण, दोनों का ही एकसा भाव हो जाने के बाद, वृन्दावन-चन्द्र श्रीकृष्ण वृन्दा को देखकर, पौर्णमासी के प्रति वर्णन करने लगे कि— ।।१४२।।

आपका अनुगमन करनेवाली यह रमणी कौन है ? पौर्णमासी मुस्क्याकर बोली—क्या आपके साथ इसका परिचय नहीं है, अथवा आप इसको नहीं पहचानते क्या ? श्रीकृष्ण बोले—जिसके नाम से यह वन प्रभाव से पूर्ण होकर विख्यात है, निश्चय ही यह रमणी वही है, ऐसा अनुमान करने योग्य है । पौर्णमासी मन्दहास परिपूर्ण मुख से वृन्दा को बोली—अरी ! आज तक तू श्रीकृष्ण के पास क्यों उपस्थित नहीं हुई ? श्रीकृष्ण मन्दहास पूर्वक बोले—जो रमणी अपरिचित है, उसको स्वयं मिलने के लिये उपस्थित होना उचित नहीं । तब पौर्णमासी वृन्दा को बोली—अच्छा, जो हुआ सो हुआ । इससे आगे तू मन के सहित सदैव श्रीकृष्ण के दास्यभाव का सा आचरण करती हुई विचरण करेगी ।।१४३।।

तदनन्तर अश्रु प्रवाह के सहित प्रणाम करती हुई वृन्दा को, अपनी प्रसादी वनमाला के द्वारा पुरस्कृत करते हुए श्रीराधावल्लभ ने वनश्रेणी के द्वारा अग्रसर कर दिया, अतः उधर जाने के लिये प्रेरित कर दिया ।।१४४।।

उसके पश्चात् व्यंजित की हुई अपनी सुख की आसक्ति के कारण, पौर्णमासी एवं वृन्दादेवी की वाक्य रचना के द्वारा, श्रीकृष्ण बहुत देर तक देदीप्यमान होकर, पुनः उन दोनों देवियों के चले जाने पर, प्राप्त हुई महती सहायता के तेज से प्रफुल्ल चित्तवाले, उदारचेता वे पुरुषसिंह श्रीकृष्ण तो, अपने साथ जाते हुए मधुमङ्गल के द्वारा ही, कालीयह्रद पर बीते हुए अपनी प्रियतमा गोपियों के प्रसंग को, कानों में सुनते सुनते अपने मित्रसंघ के पास चले गये । वह प्रसंग भी विस्तारित किया जाता है, यथा— ।।१४५।।

'कस्मादागान्मुनीशा फणिह्रदवलयात्तत्र किं राधिकाद्या
हेतौ कस्मिंस्तमेतन्मम तु कथयतो रुध्यते हन्त कण्ठः ?
हा धिक् किं किं विधाता कुशलितमकरोदेव किं यावदेवं
सिध्येदित्थं स तेन व्यतिकथिततया व्यश्वसीन्न्यश्वसीच्च ॥'१४६॥

"पुनश्च श्रीकृष्ण उवाच,—'भगवत्याः पुरतः किमपि ताभिरुक्तम् ?' मधुमङ्गल उवाच,—'नहि नहि, किन्तु सा सुमुखी-ततिरधोमुखीभवन्ती सन्तीव्रलोचनजलस्खलनतस्तलं सिञ्चन्ती तमालमपि तं म्लापयामास ॥१४७॥

"श्रीकृष्ण उवाच,—'अथ तासां मनोरथपथः किमवगतः ?' मधुमङ्गल उवाच,—'अथ किम् ?' श्रीकृष्ण उवाच,—'कथमिव ?' मधुमङ्गल उवाच,—'ताभिर्मुहुरपि भवतः सवर्णस्य तमालस्यावलोचनरचनेन।' श्रीकृष्ण उवाच,—'विशेषेण चेत् कथ्यताम्।' मधुमङ्गल उवाच,—'कालिन्दी-वचनेन च, यतस्तां प्रविशन्तीनां तासामिमां काकुमाकुलीभवन्ती पश्चादस्मासु सानुकृतवती; यथा (१।१५।११७)—'गोष्ठक्ष्मापतिदम्पती' इत्यादि।' श्रीकृष्णः सगद्गदमुवाच,—'आगच्छ गच्छाव तावत् सखि-सङ्गम्' इति।" ॥१४८॥

श्रीकृष्ण मधुमंगल से पूछने लगे कि—पौर्णमासीदेवी कालीयह्रद के तट से मेरे पास किस कारण से आई थी ? वहाँ पर श्रीराधिका आदि अभी भी विद्यमान हैं क्या ? मधुमंगल बोला—हाय ! भैया कृष्ण ! इस प्रसंग को कहते हुए मेरा गला, न जाने किस कारण रुकता जाता है। श्रीकृष्ण बोले—हाय ! धिक्कार है। विधाता ने क्या क्या कार्य कुशलता युक्त किया ? और यह कार्य कहाँ तक सिद्ध होगा ? इस प्रकार श्रीकृष्ण ने मधुमङ्गल के साथ कथनोपकथन करते हुए विश्वास किया, एवं खेद से लम्बा श्वास भी लिया ॥१४६॥

श्रीकृष्ण पुनः बोले—भगवती पौर्णमासी के आगे उन गोपियों ने कुछ कहा भी ? मधुमङ्गल बोला—ना, ना। किन्तु उस सुमुखी श्रेणी ने अधोमुख होकर, प्रबल वेग से नेत्र जल गिरने के कारण, भूतल को भिजाते हुए, उस तमाल वृक्ष को भी मलिन कर दिया ॥१४७॥

श्रीकृष्ण बोले—अच्छा, तो उन गोपियों के मनोरथ की गति को तुमने जान लिया है क्या ? मधुमंगल बोला—और क्या ? अर्थात् अवश्य जान लिया है। श्रीकृष्ण—किस प्रकार ? मधुमङ्गल—उन्होंने आपके समान वर्णवाले तमाल वृक्ष को, बारंबार देखा था इसी कारण से जान लिया। श्रीकृष्ण—यदि उनका मनोरथ जान लिया है तो विशेषता पूर्वक कहो। मधुमङ्गल—यमुनाजी के वचन से भी जान लिया है। क्योंकि यमुनाजी में प्रवेश करती हुई उन गोपियों की, शोक के कारण इस कातर वाणी को स्वयं सुनकर, पश्चात् व्याकुल होकर, उस यमुनादेवी ने हमारे प्रति अनुकरण करके सुना दिया है। यथा—"श्रीव्रजराज एवं व्रजरानी ही हमारे सास ससुर हों" इत्यादि पूर्वोक्त श्लोक से जान लेना चाहिए। श्रीकृष्ण गद्गद होकर—अच्छा, तो आइये। हम तुम दोनों मित्रवर्ग के पास चलें ॥१४८॥

"अथ मधुकण्ठः सोत्कठं पप्रच्छ,—ततस्तासां का मतिर्जाता ? स्निग्धकण्ठ उवाच,—ततश्च व्रजसुन्दरीणामुन्मनस्तया धर्मत्रस्ततया च महती मनःकथा जाता; यथा—

'ननु यद्येवमुन्मनस्ताग्रस्ता धर्मरक्षणार्थमक्षमासि,तर्हि प्रत्यासन्न एव धर्मत्यागः, तत्राह—

धर्मस्त्याज्यः कथमतितरां लोकयुग्माभिनन्दी

'तर्हि लोक एव त्याज्यः, तत्राह—

लोकस्त्याज्यः कथमतितुलप्रार्थितार्थस्य धारी ।

'ननु तर्हि तेन चार्थेन किम् ?, तत्राह—

अर्थस्त्याज्यः कथमयमथ प्राणरक्षाधिकारी

'नन्वेतावति सङ्कटे प्राणत्याग एव त्राणदः, तत्राह—

प्राणस्त्याज्यः कथमिव न सा लालसा मां जहाति ॥'१४६॥

"क्षणं शून्यमिव स्थित्वा प्रतिस्वं पुनः स्वगतमूचुः,—

'हन्त तातजननी-कुलं कुलं, चान्यदाक्षिपतु मां यथा तथा ।
कृष्ण-रागरुचिरा मतिः कथं, जातु यातु रुचिमन्यभाविताम् ॥१५०॥

"पुनश्चिन्तायामपि सोद्वेगमूचुः,—

'निद्रा मम सुखदालि,-र्या तस्य स्फूर्तिविस्मृती दत्ते ।
तामपि चिन्ताक्रव्याद्, वृद्धा शश्वद्बलाद्ग्रसते ॥'१५१॥

तदनन्तर मधुकण्ठ ने उत्कंठापूर्वक पूछा कि—उसके बाद उन गोपियों की क्या बुद्धि हुई ? स्निग्धकण्ठ बोला—तदनन्तर व्रजसुन्दरीयों के व्याकुल होने के कारण, तथा धर्म से भयभीत होने के कारण, मन की लम्बी चौड़ी कथा हो गई । यथा—अपने अपने मन में स्वयं प्रश्नोत्तर करती हुई श्रीराधा आदि बोलीं कि—यदि इस प्रकार मानसिक रोग से ग्रस्त होकर, तू धर्म की रक्षा के लिये असमर्थ है, तब तो धर्म का त्याग पास में ही है । उस विषय में प्रश्न करती हुई बोली, प्र०—दोनों लोकों में प्रशंसनीय धर्म एकदम कैसे त्यागा जा सकता है ? उ०—तब तो लोक ही त्याग दो, अर्थात् संसार को ही त्यागना उचित है । प्र०—अतुलनीय प्रार्थित वस्तुओं को धारण करनेवाला संसार कैसे त्यागने के योग्य है ? अच्छा, यदि ऐसा है तो उस अर्थ से ही क्या प्रयोजन है ? प्राणों की रक्षा का अधिकारी यह अर्थ किस प्रकार त्याग दिया जाय ? उ०—अच्छा, तो इतने संकट में प्राणों का त्याग ही रक्षा करनेवाला है । प्र०—प्राण ही किस प्रकार त्याग दिये जायँ ? उ०—क्योंकि (श्रीकृष्ण से मिलन की) वह लालसा तो मेरा पिण्ड नहीं छोड़ती है ॥१४६॥

क्षणभर शून्य की तरह ठहरकर, पुनः प्रत्येक गोपी अपने अपने मन में बोली—हाय ! मेरे माता-पिता का कुल, या अन्य कोई कुल, मुझे चाहे जैसे आक्षेप लगाये, अथवा मेरा तिरस्कार करे, किन्तु श्रीकृष्ण सम्बन्धी अनुराग के कारण, सुन्दर मेरी बुद्धि, दूसरे के द्वारा चिन्तित अभिलाषा को, कभी किसी प्रकार भी प्राप्त हो सकती है ? अर्थात् कदापि नहीं ॥१५०॥

पुनः चिन्ता में भी उद्वेगपूर्वक बोलीं—निद्रा ही मेरी सुखदायिनी सखी है, जो कि श्रीकृष्ण की स्फूर्ति एवं विस्मृति को देती रहती है । किन्तु किया क्या जाय ? क्योंकि क्रमशः बढ़ी हुई चिन्तारूपी राक्षसी तो, उस निद्रा को भी बारंबार बलपूर्वक ग्रस लेती है ॥१५१॥

"तस्य च तथा वचनम्, यथा—

'रे रे चित्त ! प्रणयमयता-पारतन्त्र्यं किमेषि
त्वं तत्रापि व्यसनि यदि वा धर्मतस्तत् प्रयाहि ।
हंहो किंवा परगृहजुषां भाविनीनां च भावे
लग्नं मग्नं भवसि बहुधा प्रोज्झ्य तत्तद्विचारम् ॥'१५२॥

"तदेवमभिध्याभ्रमाभिध्यानतः कथं कथमपि क्षपितेषु तेषु दिनेषु व्रजवासिनां सम्भ्रमेण जातव्युत्क्रमे धेनुकवधविक्रमेडितवासरे प्रेयसा सह चमूरूदृशाममुषां परस्परमतिरम्यं सम्यग्दर्शनमासीत् ॥१५३॥

"तत्र तु,—तासां नित्यप्रेयसीनां मुरारे,-र्जन्मन्यस्मिन् विस्मृतात्मस्थितीनाम् ।
शोभा तस्य स्मारयन्तीव तत्त्वं, धर्मत्रासं द्राङ्मुहुर्लुम्पति स्म ॥१५४॥

"तथा च वर्णितं श्रीबादरायणिना, (भा०।१०।१५।४३)—

'पीत्वा मुकुन्दमुखसारघमक्षिभृङ्गै,-स्तापं जहुर्विरहजं व्रजयोषितोऽह्नि ।
तत्सत्कृतिं समधिगम्य विवेश गोष्ठं, सव्रीडहासविनयं यदपाङ्गमोक्षम् ॥'१५५॥

"तथाहि,—पीतं हरेर्वदनमब्जरसं प्रसह्या,-प्यासां दृशा रचितभृङ्ग-चकोर-भङ्गि ।
तेनापि सत्कृतिममन्यत स प्रशस्ता,-माजीव्यतां गतवतीषु तदासु युक्तम् ॥१५६॥

श्रीकृष्ण के भी उसी प्रकार के मानसिक वचन, यथा—अरे मेरे चित्त ! तू प्रेममयजनों की सी परतन्त्रता को क्यों प्राप्त कर रहा है ? अथवा यदि प्रेममयी परतन्त्रता में ही तू व्यसनी है, अर्थात् आसक्त है, तब तो धर्मानुसार उस प्रेम बन्धन को स्वीकार करले । हाय ! खेद तो इस बात का है कि—उन उन रमणीय विचारों को त्यागकर, पराये घर में रहने वाली उन रमणियों के भाव में, अनेक प्रकार से क्यों संलग्न एवं निमग्न हो रहा है ? ॥१५२॥

अतएव इस प्रकार अन्य विषयक अभिलाषा के भ्रम एवं चिन्ता के कारण, किसी प्रकार अति कष्ट से उन दिनों के बीत जाने पर, तथा व्रजवासियों के सम्भ्रम (आवेग) के कारण, विपरीतता से युक्त, धेनुकासुर के वध के विक्रम से प्रशंसित, दिन में प्रियतम के सहित उन मृगनयनी गोपियों को आपस में अतिरमणीय दर्शन अच्छी प्रकार से हुआ ॥१५३॥

उन गोपियों के बीच में श्रीकृष्ण की जो नित्य प्रिया हैं, एवं इस जन्म में जिनको अपनी स्थिति विस्मृत हो गई है, अर्थात् भूल में पड़ गई है, ऐसी उन गोपियों के सम्बन्ध में, स्वकीय नित्यपत्नीत्वरूप तत्त्व को स्मरण कराती हुई, श्रीकृष्ण की शोभा ने शीघ्र ही बारंबार लौकिक धर्म के भय को लुप्तकर दिया ॥१५४

देखो, श्रीशुकदेवजी ने भी वर्णन किया है, यथा—श्रीराधिका प्रभृति व्रजाङ्गनाओं ने अपने नेत्ररूपी भ्रमरों के द्वारा, श्रीकृष्ण के मुखारविन्दरूपी मधु को पीकर, दिन में श्रीकृष्ण के विरह से उत्पन्न हुए सन्ताप को त्याग दिया । और जिनका कटाक्ष फैंकना लज्जा, हास्य, एवं विनय से युक्त है, उन गोपियों के इसी प्रकार के सत्कार को स्वीकार करके, श्रीकृष्ण भी गोष्ठ में अर्थात् खिड़क में प्रविष्ट हो गये ॥१५५॥

और भी देखो ! उन व्रजाङ्गनाओं के नेत्रों ने, भ्रमर एवं चकोरों का सा भाव रचकर, श्रीकृष्ण के मुखकमल के रसको एवं श्रीकृष्ण के मुखचन्द्र की चन्द्रिका को,हठात् पी लिया । श्रीकृष्णने गोपियों के द्वारा

तस्मिन्नपाङ्गशरमोक्षमभूरकुर्वन्, व्रीडास्मिताश्चिनयनैरनुनिन्यिरे च ।
तेनापि सत्कृतिममन्यत स प्रशस्ता,-माजीविलोकचरितं किल तादृगेव ॥१५७॥

"किञ्च, कृष्णं लक्ष्यं विधायाभूरभ्यास्थन्नेत्रपत्रिणः ।
तच्च भक्तिरितीवाहुः शराभ्यास उपासनम् ॥१५८॥

"तदा च,—तास्तन्मुख-सुधारुचिरुचिपानापूर्णरुचयोऽपि बलतस्तत्कुलपालिकाभिर्निलयमेव नीताश्चकोरवध्व इव पञ्जरमध्यम् ॥१५९॥

"तदनु च,—आयाताः प्रतिबिम्बतां यदपि ताश्चित्तह्रदे श्रीहरे-
श्चित्रं तत्र तथापि बिम्बपदवीं स्थितया विकर्षेऽप्ययुः ।
यत्र प्रस्फुटतारका इव तदा सर्वा बभुः सर्वतः
श्रीराधा पुनरन्तरिन्दुवलयद्योतश्रिया दिद्युते ॥१६०॥

"तत्र च,—पूर्वं तासां व्यवसितिरभूदेवमीषत् कदाचित्
कृष्णं पश्यन्त्युपशममसौ लप्स्यते चित्तवृत्तिः ।

किये गये निजमुख पान से भी, अर्थात् भावपूर्वक किये गये निजमुख दर्शन से ही, विशिष्ट सत्कार मान लिया । क्योंकि जो जीवनवृत्ति का दान कर सकती हैं, उनके पक्ष में यही कार्य उपयुक्त है ॥१५६॥

इन सभी व्रजाङ्गनाओं ने श्रीकृष्ण के ऊपर कटाक्षरूपी बाणों की वृष्टि कर दी, एवं लज्जा और मन्दमुस्कयान से युक्त नेत्रों द्वारा, श्रीकृष्ण का अनुनय विनय भी किया । श्रीकृष्ण ने इस पूर्वोक्त कार्य से भी विशिष्ट सत्कार ही मान लिया, क्योंकि जीविकादायकजनों के द्वारा रचित वैसा ही व्यवहार प्रसिद्ध है । ये दोनों श्लोक—"पीत्वा मुकुन्दमुखसारघमक्षिभृङ्गैः" इस श्लोक के व्याख्या स्वरूप हैं ॥१५७॥

किंच इन श्रीराधा आदि गोपियों ने श्रीकृष्ण को लक्ष्य बनाकर, नेत्ररूपी बाणों का प्रक्षेप किया था । विज्ञजन इस प्रकार की तदाकारमयी उपासना को ही भक्ति कहते हैं । बाणों का अभ्यास ही उपासना है, अर्थात् गोपियाँ जिस प्रकार तदाकार होकर श्रीकृष्ण का दर्शन करती थीं, उसी प्रकार भगवान् को निहारना ही भक्ति है ॥१५८॥

और उसी समय चकोर की स्त्रियाँ जैसे जबरदस्ती पिंजरे में पहुँचा दी जाती हैं, ठीक उसी प्रकार श्रीकृष्ण के मुखचन्द्र की चन्द्रिका के पान से, जिनकी अभिलाषा अभी पूरी नहीं हुई थी, ऐसी वे गोपियाँ भी, उनकी कुलपालिकाओं के द्वारा बलपूर्वक अपने अपने घर को ही पहुँचा दी गई ॥१५९॥

उसके बाद यद्यपि वे समस्त व्रजाङ्गनायें श्रीकृष्ण के हृदयरूपी सरोवर में प्रतिबिम्बित हो गई थीं, तथापि आश्चर्य की बात यह है कि, वहाँ ठहरकर भी वे आकर्षण के विषय में बिम्बपदवी को प्राप्त हो गई । जिस स्थान पर वे सब गोपियाँ स्पष्ट दिखाई देनेवाले, तारागणों की तरह चारों ओर शोभा पारही थीं, किन्तु श्रीराधिका तो, अन्तःकरण में विद्यमान श्रीकृष्णरूप चन्द्रमण्डल से प्रकाशित शोभा के द्वारा देदीप्यमान हो रही थीं ॥१६०॥

और वहाँ पर पहले उन गोपियों का इस प्रकार का निश्चय था कि, यह हमारी चित्तवृत्ति कभी कभी श्रीकृष्ण को किंचिन्मात्र देखती हुई शान्ति को प्राप्त कर लेगी । किन्तु पश्चात् बारंबार श्रीकृष्ण के

दृष्टे दृष्टे पुनरथ मुहुस्तत्र चिन्तेयमासीत्
किं भूयश्च क्वचिदहह तद्वक्त्रलक्ष्मीं पिबाम ? ॥१६१॥

"तत्र च सखीष्वपि गोपन-प्रक्रियेयम्—
'नहि परपुरुषे वाञ्छा, मम सखि काचित् कथञ्चिदप्यस्ति ।
प्रकृतिः सेयं यदसित,-वस्तुनि दृष्टे भवेत् कम्पः ॥'१६२॥

"तत्र तु—राधा बाधाप्रतिहततनुः सर्वदा धारणाभि-
श्चित्ते शान्तीरपि निदधती व्याकुलासीदतीव ।
हा हा तस्याः प्रियसवयसोऽप्याशु तद्भावभावा-
त्तामेवापुः कटुतरदशां हन्त केऽमूमवन्तु ? ॥१६३॥

"तदेव परच्छन्दतामन्दतायामपि,—
सङ्कल्पः क्वचनान्वजीगमदितः साक्षात्कृतिं श्रीहरेः
स्वप्नः कुत्र च लोचनं क्व च वियोगार्तौ च राधादिषु ।
यैरेतैः सुधया लतास्विव तया तास्विन्दुबिम्बैर्जवा-
दुल्लासावलिलम्भनात्तरुणिमारम्भोऽपि सम्भावितः ॥"१६४॥

देखने पर भी, उनमें यह चिन्ता उपस्थित हो गई थी कि, हाय ! क्या फिर भी कभी कहीं श्रीकृष्ण के श्रीमुख की शोभा को पी सकेंगी ? अर्थात् उनके श्रीमुख का दर्शन अब हमको कब, और कहाँ संघटित होगा ? यही अनुराग की पराकाष्ठा है ॥१६१॥

और वहाँ पर अपनी सखियों के प्रति भी अपने भाव को गुप्त रखने की यह प्रक्रिया (प्रणाली) थी कि, हे सखि ! मेरी किसी प्रकार भी परपुरुष के प्रति कोई वांछा नहीं है। किन्तु मेरी यह प्रकृति है कि, श्यामवर्ण की वस्तु के देखते ही कम्प हो जाता है ॥१६२॥

और उन गोपियों के मध्यमें बाधाओं से पीड़ित शरीर वाली श्रीराधा तो सर्वदा धारणाओं के द्वारा अपने चित्त में शान्ति को धारण करती हुई भी, अत्यन्त व्याकुल हो गई थी। हाय ! हाय ! क्या कहा जाय? देखो, श्रीराधिका की प्रिय सखियाँ भी उनके भाव की सी भावना के कारण, शीघ्र ही उसी कटुतर दशा को अर्थात् व्याकुलता को प्राप्त हो गईं । हाय ! ऐसी स्थिति में राधिका की कौन रक्षा करें ? ॥१६३॥

और पराधीनता की मन्दता (अल्पता) में भी, उन राधादिकों का मानसिक संकल्प ही, यहाँ से आगे कहीं पर, श्रीहरि के साक्षात्कार को प्राप्त करा देता था। एवं कहीं स्वप्न तथा कहीं वियोग जनित पीड़ा में नेत्र भी, श्रीहरि का दर्शन करा देता था। तथा चन्द्रबिम्बों से टपकती हुई सुधा के द्वारा, लताओं में जैसे वेगपूर्वक अनेक उल्लास प्रगट हो जाते हैं, उसी प्रकार श्रीराधादिकों में उन संकल्पादिकों के कारण संघटित, श्रीहरि के साक्षात्कार के द्वारा यौवन के आरंभ की संभावना भी होने लग गई थी ॥१६४॥

अथ स्निग्धकण्ठः समापनदिग्धमाह,—

"स एष राधिके ! सर्वदुर्लभस्तव वल्लभः ।
त्वदर्थं पीडयाप्यार्तो दिनानि क्रीडयानयत् ॥"१६५॥

तदेवं सूताङ्गप्रभवशिशु-युग्मे कथयति
स्फुरत्प्रेमावेशात् प्रतिपदविविक्तेर्निघटनात् ।
कथा किं नाट्यं किं किमुत निजलीलेति विविधं
समज्यासौ सार्धं स्फुरणमजितेनाप्यनुययौ ॥१६६॥

अथ कथायां वृत्तायां चिरादेव च धीरतायां प्रवृत्तायां यथास्वं सूत-सुतद्वयाय वितीर्ण-सर्वेहिताः सर्वे शयनाय सदनं विविशुः ॥१६७॥

॥ इति श्रीश्रीगोपालचम्पूमन्वपूर्वपूर्वानुरागचर्याजागर्या नाम पञ्चदशं पूरणम् ॥१५॥

अनन्तर स्निग्धकण्ठ समाप्ति से व्याप्त वचन को बोला—हे श्रीमती राधिके ! यह वही तुम्हारा प्राणवल्लभ सर्वसाधारण के लिये दुर्लभ है । यह तुम्हारे लिये पीड़ा से आर्त होकर भी क्रीड़ा से दिनों को बिताता रहा ॥१६५॥

अतएव दोनों सूतकुमार जब इस प्रकार कह रहे थे, उसके बाद स्फुरित हुए प्रेमावेश से,एवं प्रतिक्षण विवेचना के अभाव के कारण, यह सभा श्रीकृष्ण के सहित—"यह कथा है क्या ? या नाटक है क्या ? अथवा निजलीला ही है क्या" ? ऐसी अनेक प्रकार की स्फूर्तियों का अनुगमन करने लग गई ॥१६६॥

तदनन्तर कथा समाप्त हो जाने के बाद, बहुत देर से धीरता के प्रवृत्त हो जाने पर, दोनों सूत पुत्रों के लिये यथायोग्य सब चेष्टाओं को समर्पण कर, या अभिलषित सभी पदार्थों को देकर, सभी श्रोताजन शयन करने के लिए अपने अपने घर में प्रविष्ट हो गये ॥१६७॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीगोपालचम्पूकाव्ये अपूर्व-पूर्वानुरागानुष्ठाने जागरणं नाम
पंचदश पूरणं संपूर्णम् ॥१५॥

अथ षोडशं पूरणम्

प्रलम्ब-दावानल-संवर्त-संहारः

अथ प्रभाते सभातेजसा प्रभाते परमप्रभाववतां गोमतां प्रभावुपविष्टे कृष्णविशिष्टे तस्मिन् सदसि पूर्ववन्मधुकण्ठश्च कथायां यथावदुपक्रमते स्म,—॥१॥

"स्निग्धकण्ठ ! मदुपकण्ठतया रामविक्रमान्तरमाकर्ण्यताम् ॥२॥ यथा—

"एवं गोचारणमिषमयं क्रीडति भ्रातृ-युग्मे
वृन्दारण्यं तपऋतुरगात् प्राणिनां नातिरुच्यः ।
धत्ते यद्द्राक् स च मधुगुणं तच्च नाश्चर्यचर्यं
तद्युग्मं यद्वसति सततं तत्र नित्यानुरागि ॥३॥
निर्झरस्वनवशाम्बुदागम,-भ्रान्तिझिल्लिकुलमाप मूकताम् ।
अंघ्रिपाश्च झरशीकरप्लुताः, पुष्पिताः पुनरमी मधुं दधुः ॥४॥
वनस्य च्छायाभिर्जडितजल-वृन्दे विकसतः
शुचावप्यब्जादेः पवनविततिर्माधव इव ।
तदेवार्द्रं कृत्वा कुसुमितमकार्षीदविरतं
मिथो योग्यानां यद्व्यतिवहति मैत्रीसुखशतम् ॥५॥

सोलहवाँ पूरण

प्रलम्ब-दावानल-संवर्त-संहार वर्णन

अनन्तर सभा के तेज से प्रातःकाल के प्रदीप्त हो जाने पर, एवं परम प्रभावशाली गोपों के स्वामी श्रीनन्दजी के सभा में उपविष्ट हो जाने के बाद, श्रीकृष्णविशिष्ट उस सभा में पहले की तरह क्रम प्राप्त मधुकण्ठ ने यथाविधि कथा का उपक्रम किया—॥१॥

मधुकण्ठ बोला—हे प्रिय स्निग्धकण्ठ ! मेरे पास बैठकर, श्रीबलरामजी के एक दूसरे पराक्रम का श्रवण करो ॥२॥

यथा—इस प्रकार गोचारण के बहाने दोनों भाई जब क्रीड़ा कर रहे थे, तभी क्रमानुसार वृन्दावन में ग्रीष्म ऋतु आ गया। यह ऋतु प्राणियों को अतिशय रुचिकर नहीं है, तो भी उसने शीघ्र ही वसन्त ऋतु के गुण को धारण कर लिया। यह बात कोई आश्चर्यजनक नहीं है। क्योंकि उस वृन्दावन में नित्य अनुराग करने वाले, श्रीकृष्ण बलदेव दोनों ही भाई निरंतर वास करते हैं, अतः श्रीवृन्दावन का महत्त्व विचित्र है॥३

पर्वतीय झरनों के शब्द के कारण, वर्षा ऋतु की भ्रान्ति वाला वर्षाती झींगुरों का समूह, मूकभाव को प्राप्त हो गया, अर्थात् चुप हो गया। और ये वृक्षगण भी झरनों के जल से आप्लुत होकर, एवं पुष्पित होकर (ग्रीष्म काल में भी), वसन्त ऋतु को पुष्ट करने लग गये ॥४॥

वसन्त की तरह ग्रीष्म में भी, वन की छायाओं के द्वारा सुशीतल जलवृन्द में, विकसित होते हुए कमल आदिकों के संबंधी सुगंधमय वायुसमूह ने, उस वन को ही आर्द्र करके निरन्तर पुष्पों से युक्त कर दिया। क्योंकि योग्य पदार्थों की, या योग्यजनों की मित्रता आपस में सैकड़ों प्रकार के सुखों को उत्पन्न कर देती है ॥५॥

तत्रासीन्नरजातीनां ग्रीष्मेऽपि ऋतुराण्मतिः ।
पिकभ्रमरमुख्यानां तिरश्चां तर्हि का कथा ? ॥६॥

माधवस्तु यदा मित्रैः प्रविशन् वेणुना जगौ ।
तदा द्विगुणितो रेजे माधवस्तत्र सोऽपरः ॥७॥

ते गृहे मणिभिरप्यलंकृता,-श्चारुकान्तिविधये यदुद्भवैः ।
पुष्पपल्लवमुखैरलंक्रियां, शश्वदादिषत तस्य किं ब्रुवे ? ॥८॥

"अथ श्रीदामप्रधानतया सुदाम-वसुदामादिषु सभासद्वद्गोजाल-सम्भालनाय नातिदूरतः पृथगुपविशत्सु लसत्सु बलानुज-बल-सुबलार्जुनादयस्तत्रागत्य नृत्यरङ्गाजीविभङ्गितया सङ्गत्य शुभाशिषा विशेषितवन्तः । तैश्च 'कुत्रत्या विचित्रनर्तकप्रायाः प्रायाता भवन्तः' इति पृष्टा हृष्टात्मानः स्फुटमुद्दिष्टवन्तः,–'भोः परमदानशूराः ! दूरादागता वयम्; यतः प्रथमं तावद्भवत्-कीर्तिनर्तितमनस्का जाताः, ततश्च शरीरेणापि भवदग्रे नर्तितुमिच्छवः, कुत्रापि चिराय वर्तितुं न समर्थाः । श्रोत्रयोरिव नेत्रयोरपि सुखं बिभ्रतः सम्प्रति वर्तामहे ।' ॥९॥

"तत्र च श्रीकृष्णः स्वानुवाच,—'अहो ! प्रत्येकमेवास्माकं लब्धवर्णाविमौ कर्णाविव

श्रीवृन्दावन में नरमात्र के लिए ग्रीष्म में भी, वसन्त बुद्धि उत्पन्न हो गई थी । फिर कोकिल, भ्रमर आदि पक्षियों के विषय में तो कहना ही क्या है ? ॥६॥

किन्तु माधव जब मित्रों के सहित प्रवेश करते ही वंशी के द्वारा गायन करने लग गये, तब वहाँ पर वह दूसरा ग्रीष्मरूप माधव (वसन्त) दुगुना सुशोभित हो गया ॥७॥

श्रीकृष्ण बलराम आदि वे सब सखा अपने अपने घर में, मणिमय आभूषणों से अलंकृत होकर भी मनोहर शोभा बनाने के लिए, ग्रीष्मरूप वसन्त से उत्पन्न पत्र पुष्पादि, वन की वस्तुओं के द्वारा बारंबार अलंकार पहनते थे । उस ग्रीष्म की और विशेषता क्या कहें ? यह सब श्रीधाम का ही वैशिष्टच है ॥८॥

अथ नटवर लीला—पश्चात् श्रीदामा जब राजा बनकर राज्य सिंहासन पर बैठ गया, एवं सुदामा, वसुदामा मन्त्रीपद पर बैठ गये, तथा अन्य सखा सभासदों की तरह गोसमूह को सँभालने के लिये, पास में ही पृथक् पृथक् बैठकर जब सुशोभित हो रहे थे, बस, तभी श्रीकृष्ण, बलराम, सुबल, अर्जुन आदि मित्रों ने नटों का सा वेष धारणकर, श्रीदामा की सभा में आकर, उनको शुभाशीर्वाद से विशिष्ट कर दिया, अर्थात् उनको शुभाशीर्वाद दिया । श्रीदामा आदिकों ने जब यह पूछा कि—"आप कहाँ के रहने वाले हैं ? कहाँ जायेंगे ? आप तो प्रायः विचित्र नर्तक लोग मालूम होते हो, अतः ठीक बताओ किस कारण यहाँ पधारे हो ?" तब वे मनमें हर्षित हो अपने आने के उद्देश्य को स्पष्ट कहने लगे कि—अजी, परम दानवीरो ! हम सब बहुत दूर से आये हैं । क्योंकि पहले आपकी कीर्ति ने ही हमारे मन को नचा दिया था । अनन्तर हम शरीर से भी आपके आगे नृत्य करने की इच्छा से युक्त होकर, कहीं भी अधिक समय तक न ठहर सके । अब हम नेत्रों में भी सुख को धारण करते हुए उस प्रकार विद्यमान हैं, जैसे कि पहले आपकी कीर्ति के श्रवण से कानों में सुख को धारण करते हुए विद्यमान थे ॥९॥

उनके मध्य में श्रीकृष्ण अपने साथियों से बोले–अहह ! हमारे प्रत्येकजन के ही, पण्डितरूप ये दोनों कर्ण (कान) ही महान् गुरु हो गये हैं । क्योंकि इन दोनों कर्णों की कृपा से ही, हम सबको इन महानुभावों

पुरुगुरू अभूताम्; याभ्यामेषां महाशयानां गुणानुभवमासाद्यामहे स्म। कियद्वा मानसं प्रशंसया मानयामः, येन तत्रैव सामोदं प्रोदसाहयिष्महि; चरणाभ्यां परितः किं नाचरितम्, याभ्यां मनोरथपथमलम्भयिष्महि; लोचनयुगलाय रोचनं किमन्यद्वितरामः, येन गुरूपदिष्टं तन्मिष्ट-मनुभाव्यामहे; नासा-द्वयात् किं नासादयाम, येनानेनामोदेन सामोदीक्रियामहे; त्वचः किं वचः कथयामः, यया तमिममदःसम्बन्धिगन्धवाहमवगाह्यामहे; आत्मनि तु सुभगनामधेयं भागधेयं कियदाधेयतां विन्देत, यस्य तत्तत्फलवलयेनान्तर्बहिरप्याव्रियामहे; अहो! अस्तु तावन्नाम्नैव श्रियं दातुरस्य महाराजस्य विराजमानता, पारिषदानामप्यमीषां महिमानमुप-निषदोऽपि वर्णयितुं न शक्नुवन्ति, येनात्मानमपि विस्मार्य नृत्यमनुवर्त्यामहे। किमसङ्कीर्ण-मस्मासु न वितीर्णममीभिर्महामहिमचरणैः, यत् खल्वतीतलोकेन निजालोकेन निर्निमेषतया सुपर्वाणः क्रियामहे। कतिशः स्वयं न प्रतिपालिता वयम्, यन्निजच्छायामापय्य पर्याप्यामहे; कतरद्वा मनःसन्तोषणं पोषणं न विहितम्, यन्निजदृष्टिसुधावृष्टिभिरभितर्प्यामहे; पश्यत पश्यत, नेत्रगतिविचित्रतामममीषाम्, यया खलु नृत्यमुपादिशद्भिरिवामीभिरनुगृह्यामहे; तस्मान्नृत्य-चर्यापरिचर्यापर्युत्सुका वयं तदर्थमेव योग्यमवसरं मृग्यन्तो वर्तामहे।' ॥१०॥

के गुणों का अनुभवरूप सौभाग्य प्राप्त हुआ है। (साथी बोले-आपका वचन सत्य है) और भाई! हम अपने मनका प्रशंसा द्वारा कितना मान करें, कि जिस मनने उन्हीं के गुणों का अनुभव करने में ही हमारा उत्साह बढ़ाया है, (साथी बोले–सत्य वचन)। और देखो, इन हमारे दोनों चरणों ने चारों ओर से हमारा कौन सा हित नहीं किया? अर्थात् सब कुछ किया। क्योंकि जिन दोनों के द्वारा हमने अपने मनोरथ के पथ को प्राप्त किया है, (साथी बोले–सत्य वचन)। हम इन अपने दोनों नेत्रों के लिये और दूसरा रुचिजनक पदार्थ क्या दें? क्योंकि जिनके द्वारा हम कर्णरूप गुरूपदिष्ट, श्रीदामादिकों के दर्शनरूप उस मिष्ट पदार्थ का अनुभव कर रहे हैं, और इस नासिका युगल से हमने क्या नहीं पाया? क्योंकि इन दोनों नासिकाओं की कृपा से ही, इनकी सुगन्धि द्वारा हम आनन्दित हो रहे हैं। त्वचा की बात क्या कहें? क्योंकि जिसके द्वारा इनके अङ्ग से सम्बन्ध वाली वायु का स्पर्श कर हम सुखी हो रहे हैं। और सौभाग्य नामक जो भाग्य है, वह हमारी आत्मा में कितना स्थित हो गया है। इसका हम वर्णन ही नहीं कर सकते। क्योंकि जिस भाग्य के पूर्वोक्त उस फलसमूह के द्वारा, हम भीतर और बाहर भी आवृत हो गये हैं, अर्थात् ढ़क गये हैं। अहह! इन महाराजा का नाम ही श्रीदामा है। इनकी सर्वोपरि महिमा का तो कहना ही क्या है? क्योंकि ये श्री के दाता हैं, इसी से तो इनका नाम श्रीदामा है। और इनके इन पार्षदों की महिमा को उपनिषद् भी वर्णन नहीं कर सकतीं। जिस महिमा के स्वाद को पाकर, हम अपने आत्मा को भी भुलाकर, सदा नृत्य करने में प्रवृत्त होते हैं। एवं इन महामहिमा वाले पूज्यों ने हमारे लिये कौन सा भरपूर दान नहीं दिया? अपितु सब कुछ दे दिया। क्योंकि इनका लोकातीत दर्शन ही, हमको निमेषरहित बनाकर, देवता पदवी पर पहुँचा रहा है। इन्होंने कितनी बार हमारा पालन नहीं किया? अपितु बहुत बार किया है। क्योंकि ये अपना आश्रय देकर हमको समर्थ बना रहे हैं। इन्होंने हमारे मन का सन्तोषजनक कौन सा पोषण नहीं किया है? अपितु सभी किया है। क्योंकि सुधा की वृष्टि करने वाली इनकी दृष्टि, हमको सब प्रकार से तृप्त कर रही है। आश्चर्य के साथ, अरे भाई! देखो, देखो। इनके नेत्रों की कैसी विचित्र गति है? ऐसा भान होता है कि—अपने नेत्रों की विचित्र गति से, हमको नृत्य सिखलाते

"सभासद ऊचुः,—'भो भोः सुशीलवासनाः! कुशीलवा इव स्तुवाना यदि सर्वपर्व-निर्वर्तका नर्तकाः स्थ, तर्हि भवद्भिः समर्हिता निजकलाकलापाः कल्प्यन्ताम्, विशेषादनेन श्यामधामनिकामवामविग्रहेण। यः खलु चित्राङ्गो न तु चित्राङ्गः, चन्द्रकी न तु चन्द्रकी, पीतांशुको न तु पीतांशुकः, श्यामघनो न तु श्यामघनः, वंशप्रवीणाधरो न तु वंशप्रवीणाधरः, गुणरूपी न तु गुणरूपी, विद्याधरो न तु विद्याधर इति वैचित्रीभिर्नेत्राणि चित्रयति ।।'११।।

"ततश्च, अर्जुन-सुबलादिभिरुपगाने, पाणि-शृङ्ग-दल-तालनिधाने।
नृत्यन्तं तं व्रजशिशुसभ्याः, प्रशशंसुर्ये श्रुतिनुतिलभ्याः ।।१२।।

'श्रीकान्तेऽप्यथ निष्क्रान्ते विवेशावेशतो बलः।
तदालोकः सभ्यलोकः श्लोकयामास तद्द्वयम् ।।१३।।

हुए, हमारे ऊपर अनुग्रह कर रहे हैं, अर्थात् यह इनकी नेत्रगति नहीं है, किन्तु हमको नृत्य सिखानेवाली अध्यापिका है। अतएव हम नृत्य द्वारा आपकी सेवा करने के लिये महान् उत्कण्ठित हैं। उसी के लिए योग्य अवसर को ढूँढ़ते हुए आपके पास उपस्थित हुए हैं ।।१०।।

ऐसा सुनकर सभासद् बोले—अहाहा! हे सुन्दरवासनायुक्त नर्तको! तुम नटों के समान स्तुति करते हो। यदि तुम सर्वानन्ददायी नर्तक हो तो, आप लोगों ने जिन कलाओं का अच्छी प्रकार अभ्यास किया है, उन नट कलाओं का प्रकाश करो। परन्तु यह जो परमसुन्दर श्याम रंगवाला नट है, इसको चाहिये कि यह नट, कलाओं को अधिक दिखावे। क्योंकि इसका विग्रह (शरीर) अत्यन्त ही सुहावना है। जो श्यामनट चित्राङ्ग होकर भी चित्राङ्ग नहीं है, अर्थात् इसके अङ्ग चन्दन आदिक के चित्रों से युक्त हैं, तो भी इसका अंग चित्र (लिखित मूर्ति) नहीं है। और जो चन्द्रकी होकर भी चन्द्रकी नहीं है, अर्थात् मयूरपिच्छ को धारण करने से चन्द्रकी है तो भी चन्द्रकी (मयूर) नहीं है। और जो पीतांशुक होकर भी पीतांशुक नहीं है, अर्थात् पीतांशुक (पीतवस्त्र वाला) होकर भी पीतांशुक (पीला वस्त्र) नहीं है। तात्पर्य—श्रीकृष्ण पीतवस्त्र-धारी है न कि पीला वस्त्र है। और जो श्यामघन होकर भी श्यामघन नहीं है, अर्थात् श्रीकृष्ण मेघसदृश श्याम है, किन्तु काली घटा नहीं है। यह वंशप्रवीणाधर होकर भी वंशप्रवीणाधर नहीं है, अर्थात् इसका अधर (ओष्ठ) वंशी के बजाने में प्रवीण है, किन्तु वंश में प्रवीण जो लोग हैं, उनकी अपेक्षा अधर (छोटा) नहीं है, अर्थात् वंश में सबसे उत्तम है। जो गुणरूपी होकर भी गुणरूपी नहीं हैं, अर्थात् उत्तमोत्तम गुण और भुवनमोहनरूप से युक्त है, किन्तु यह गुणस्वरूप नहीं है। और विद्याधर होते हुए भी विद्याधर नहीं है, अर्थात् यह चौंसठ विद्याओं को धारण करनेवाला है, तो भी विद्याधर (देवता विशेष) नहीं है, इत्यादि विचित्रताओं से यह श्यामनट हम सबके नेत्रों को आश्चर्य में निमग्न कर रहा है ।।११।।

उसके बाद हाथ, शृङ्ग, वेणु, एवं पत्रों से ताल देकर, जब नटवेषधारी अर्जुन, सुबल आदिक सहचर सुमधुर गान करने लगे, तब श्यामनट भी नृत्य करने लग गया। अतः वेद भी जिनका स्तुति द्वारा लाभ करते हैं, वे सभासद्रूप व्रज बालकगण, नाचते हुए श्यामनट की प्रशंसा करने लग गये ।।१२।।

अनन्तर श्रीकृष्ण जब नाट्य स्थान से बाहर हो गये, तब बड़े आवेश से श्रीबलरामजी रंगस्थल में प्रविष्ट होकर नृत्य करने लग गये। उस समय उनके नृत्य को देखनेवाले सभासद्रूप व्रज बालकों ने, उन दोनों ही कृष्ण बलदेव रूप नटों की प्रशंसा की—।।१३।।

यद्येतयोर्वर्णभेदः स्यान्नैव श्याम-गौरयोः ।
तदा न परिचीयेतामेतावङ्गगुणादिभिः ।।' इति ।।१४।।

''अङ्गहारे तडिल्लीलामङ्गे मेघेन्दुतां क्रमात् ।
व्यञ्जं व्यञ्जं विविशतुः संगगातृकुलाचले ।।१५।।

''अथ सभासदः स्व-स्व-हृदयविहारि मणिमयहारि हारादिकं ददतस्ते तु प्रत्याचख्युः,– 'न वयं द्रव्यवनीयका नर्तकनायकाः, किन्तु नियुद्धयाचनका एव शुभवन्तो भवन्तो मल्लतल्लजा इति वर्णनां कर्णयोः सञ्चित्य निश्चित्य च समन्ताद्विचित्य सर्वोर्ध्वं भवतां भवतां समितिं समागताः । अतस्तदेवास्मदीयाय तोषाय पोषाय च दीयताम्, न तु मोषाय नीयताम् ।।'१६।।

''तदेवमवधारयद्भिरेव हसद्भिस्तैः सभासद्भिरुपसर्पद्भिः सह सहजातौ कृतशातौ तत्रभवन्तौ तदारब्धवन्तौ ।।१७।। यत्र—

''भ्रामणैर्लङ्घनैः क्षेपैरास्फोटनविकर्षणैः ।
उरःपेषमिवामीभिर्न्ययुध्येतां बलाजितौ ।।१८।।

यथा—यदि इन श्याम और गोरे नटों का वर्ण भेद न होता तो, यह दोनों अंगगुण आदिक से पहचान करने में नहीं आते, अर्थात् इनका अंग और गुण तो एक समान ही है, केवल रंग में ही भेद है ।।१४।।

दोनों नट अंग में हार पहने हुए जब नृत्य करने लगे, तब हारों में तो विद्युत् भाव का और श्रीअंगों में मेघभाव, एवं चन्द्रभाव का क्रमशः प्रकाश होने लगा । जब वे दोनों नट अपने साथ गानेवाले नटरूप कुलपर्वतों के बीच में आकर प्रवेश कर जाते हैं, तब ऐसा ज्ञात होता है मानों मेघ और चन्द्र, विद्युत् के सहित पर्वत में आ विराजे हैं ।।१५।।

उसके बाद उन दोनों नटों के नृत्य को देखकर, सभासद् अत्यन्त प्रसन्न होकर, अपने अपने वक्षःस्थल पर विहार करनेवाले मणिमय मनोहर हार आदिकों को उपहार में देने लगे, तब देते हुए उनको निषेध कर दिया । और उन श्याम आदि नटों ने कहा कि—देखो ! हम नाचनेवालों में श्रेष्ठ हैं । इसलिए हम धन के याचक नहीं हैं, किन्तु हम तो कुस्ती माँगते हैं, और आप भी पुण्यात्मा एवं मल्लश्रेष्ठ हो, ऐसे आपके वर्णन को सुनकर, और निश्चय कर, तथा सब जगह ढूँढ़कर, आपको ही सर्वश्रेष्ठ समझकर, आपकी सभा में आये हैं । अतः हमारे सन्तोष और पुष्टि के लिये मल्लयुद्ध का ही दान करो । किन्तु इसको चुराइये न (यह सुनकर सभासद् बोले बहुत अच्छा) ।।१६।।

इस प्रकार निश्चय करके जब वे सभासद् हँसते हँसते उनके पास आगये, तब उन सभी के साथ वे पूज्य दोनों सहोदर भ्राता, सुखप्रदान पूर्वक मल्लयुद्ध करने लग गये ।।१७।।

एवं जिस स्थान पर श्रीकृष्ण बलदेव दोनों भाई भ्रामण (घुमाना), लाँघ जाना, फेंक देना, आस्फाटन (ताल ठोंकना), विकर्षण (खेंचातानी करना), इत्यादि क्रियाओं के द्वारा उन सबके साथ उनके वक्षःस्थल को पीसते हुए से युद्ध करने लग गये ।।१८।।

"ततश्चानवद्यया विद्यया तोषितेषु तेषु निखिलगुणिजनगर्वनिवर्तकेषु कृष्णादिनर्तकेषु सर्वदुरासदश्रीदामादिसभासदः स्वकसर्वकलावेदिता - निवेदिताचरणाय नृत्यविद्यामुद्भावयामासुः ॥१६॥

"यत्रानन्दकन्दलिततया स्वयमपि लब्धतृष्णाः कृष्णादयस्तदीयशिक्षा-परीक्षणाय सुदुर्गमतालादिधरास्तत्परिकरा एव बभूवुः ॥२०॥

"अतएवोक्तमृषिणा,—

'क्वचिन्नृत्यत्सु चान्येषु गायकौ वादकौ स्वयम् ।
शशंसतुर्महाराज ! साधु साध्विति वादिनौ ॥' इति ॥२१॥

"अथ गोषु गोचरतामतीतासु ततश्चलितवन्तस्ते,—

'बिल्वैः कुम्भैः करस्थामलकसमुदयैस्ताडयन्तो मिथस्ते
हासं हासं मृगेहा-विकिरभणितिभिर्दर्दुरादिप्लुताद्यैः ।
अस्पर्शिस्पर्शनार्थं नयनपरिवृतेर्मोचनैः कृष्णराज्य-
स्यन्दोलीसिंहपीठाद्यधिकृतिजसुखैर्निन्यिरे यामवर्गम् ॥'२२॥

तदनन्तर विशुद्ध मल्लयुद्धरूप विद्या द्वारा, निखिल गुणीजनों के गर्व का निवारण करनेवाले, श्रीकृष्ण आदि नट जब सन्तुष्ट कर दिये गये, तब सभी के लिये दुर्लभ श्रीदामा आदि सभासद्गण, अपनी सब कलाओं की जानकारी को निवेदन करने के लिए, नृत्यविद्या को प्रकाशित करने लग गये ॥१६॥

जहाँ पर परमानन्दित होने के कारण, स्वयं भी तृष्णा को प्राप्त कर, अर्थात् उत्सुक होकर, श्रीकृष्ण आदि नट, उनकी शिक्षा की परीक्षा लेने के लिए, अत्यन्त दुर्गम ताल आदि धारण करते हुए उनके परिकर ही हो गये ॥२०॥

अतएव महर्षि श्रीशुकदेवजी ने भी कहा है कि—हे महाराज परीक्षित् ! देखो, जब दूसरे सखा नृत्य करने लग जाते हैं, तब श्रीकृष्ण बलदेव स्वयं गाने बजानेवाले बन जाते हैं, एवं बहुत अच्छा, बहुत अच्छा, कहते हुए उनकी प्रशंसा करने लग जाते हैं ॥२१॥ इति नटवर लीला समाप्ता ॥

तदनन्तर गैयायें जब अदृश्य हो गईं, तब वे वहाँ से चल दिये । एवं वे सब सखा कभी आपस में बेल के फल, कुम्भ नामक वृक्ष के फल तथा हाथ में रक्खे हुए आँवलों के समूह के द्वारा ताड़ना करते हुए, हँसते हँसते मृगों की सी चेष्टा, एवं पक्षियों की सी बोलियों द्वारा, तथा मेढ़क आदि की तरह कूदना फाँदना इत्यादि रूप से खेलने लग जाते थे । और जो पीछे की ओर खड़ा होकर, दूसरे के नेत्रों को अपने हाथों से बन्द कर लेता है, उसी को अस्पर्शी कहते हैं । उस अस्पर्शी का स्पर्श करने के लिए (आँख मिचौनी खेल में) कभी कभी नेत्रों के आवरण को छुड़ाना, कभी श्रीकृष्ण को राजा बनाना, कभी श्रीकृष्ण बलदेव को भूला भुलाना, उनके राज्य सिंहासन की रचना करना, स्वयं मन्त्री आदि पद के अधिकारी बन जाना, इत्यादि क्रीड़ाओं से उत्पन्न सुखसमूह द्वारा प्रहर समूह को अनायास से बिता देते थे ॥२२॥

"तत्र च,—नृपतिरजनि कृष्णः स्तोककृष्णः प्रधानं, सुबलसविवरामस्यापि तद्वन्नृपत्वम् ।
उभयबलपती श्रीदामभद्रावितीदं,-विधविविधतया तौ राष्ट्रलक्ष्मीमकार्ष्टाम् ॥२३॥
क्वचित् स्थानं क्वचिद्यानं क्वाप्यर्थे सन्धि-विग्रहौ ।
पराजय-जयौ क्वापि क्रीडायामनुचक्रतुः ॥२४॥

(भा० १०।१८।१६)—

'एवं तौ लोकसिद्धाभिः क्रीडाभिश्चेरतुर्वने । नद्यद्रिद्रोणिकुञ्जेषु काननेषु सरःसु च ॥'२५॥

"तदेवं स्थिते दिनकतिपये च प्रस्थिते कदाचिदहर्मुख एव पूर्वपूर्वपूर्वदेव-निर्वापणभृत-निभृतचिन्ताकृतमतिभ्रंशस्य कंसस्य स्वयमभ्यासं प्रलम्बनामा देवध्रुगभ्याजगाम । अभ्यागम्य च प्रणम्य व्यक्तमेव तमनुयुक्तवान्,-'देव ! तव केयं परिदेवना बलवदावर्तमाना दृश्यते ?'॥२६॥

"कंस उवाच,—'न जानासि, ममान्वग्भूय स्थितं विशिष्टं किंवावशिष्टम् ?' प्रलम्ब उवाच,-'भवतु, मामपि याममेकं व्यापारय ।' कंसस्तु तूष्णीम्भूय दूयमानवदनः क्षणमासीत् । प्रलम्ब उवाच,-'देव ! कथमिव ?' कंसः सवैरस्यं विहस्य तस्य तत्र पतंगतां विभावयन्नुवाच,-'त्वमपि तमसि प्रज्वलज्ज्वलनवर्त्मनि वर्तनीयः ।' प्रलम्बः सक्रोधमुवाच,-'अहो ! सर्वङ्कष-ज्वालस्य कालस्य महिमा हिमाचलमपि ज्वलयति, यदाश्रितांस्तडागांश्च ताडयति ।' ॥२७॥

और वहाँ पर श्रीकृष्ण राजा बन गये। स्तोककृष्ण सखा उनका प्रधान मन्त्री बन गया। उसी प्रकार श्रीबलरामजी दूसरे वन के राजा बन गये, एवं सुबल सखा उनका प्रधान मन्त्री बन गया। और दोनों की सेना के सेनापति क्रमशः श्रीदामा एवं भद्रनामक सखा बन गये। इस प्रकार के अनेक भावों द्वारा वे दोनों भाई देश के राज्य को करते थे ॥२३॥

और वे दोनों भ्राता खेल खेल में किसी स्थान में स्थिति, किसी स्थान में युद्धयात्रा, कहीं पर प्रयोजनवशात् संधि एवं विग्रह, तथा किसी स्थान पर जय पराजय आदि का अनुकरण करते थे ॥२४॥

इस प्रकार वे दोनों भाई लोकप्रसिद्ध क्रीड़ाओं के द्वारा खेलते हुए—नदी, पर्वत, घाटी, कुञ्ज, वन, एवं सरोवर आदि स्थानों पर विचरण करते थे ॥२५॥

अथ प्रलम्बवध लीला—इस प्रकार की क्रीड़ामयी स्थिति में कुछ दिन व्यतीत हो जाने के बाद, कभी प्रातःकाल ही देवद्रोही प्रलम्ब नामक असुर कंस के पास स्वयं उपस्थित हो गया। उस समय कंस की बुद्धि पहले पहले पूतना आदि राक्षसों के मारे जाने के कारण, धारण की हुई पूर्ण चिन्ता से भ्रष्ट हो चुकी थी। प्रलम्बासुर ने आकर एवं प्रणाम करके कंस से स्पष्ट ही पूछा कि—महाराज ! बलपूर्वक बारंबार आती हुई यह तुम्हारी कौन सी महती चिन्ता दिखाई देती है ? अर्थात् आप किसी भारी चिन्ता में पड़े हुए दिखाई देते हो ॥२६॥

कंस बोला—तू जानता नहीं क्या ? देख, मेरी अनुकूलता में स्थित जो जो विशिष्ट असुर थे, उनमें से कौन अवशिष्ट रह गया है ? अपितु सारे ही मारे गये। प्रलम्ब बोला—अच्छा, तो मुझको भी एक पहर के लिए नियुक्त कर दीजिये। कंस तो चुप होकर सन्तप्त मुख से क्षणभर बैठा रह गया। प्रलम्ब पुनः बोला—महाराज ! यह मौन कैसे ? कंस विरसतापूर्वक हँसकर, उसकी वहाँ पर पतङ्गता को विचारता हुआ बोला, अर्थात् पतङ्गा जैसे अग्नि के पास जाते ही जल जाता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण के पास जाते ही यह भी न बचेगा, ऐसा विचारता हुआ बोला—तू भी अन्धकार में जलते हुए अग्नि के मार्ग में प्रवृत्त

"कंस उवाच,—'भवतु यथा भवदिच्छा।' इति निशम्य तमानम्य तदवमानितश्च तदैव दैवसन्दानिततया कृताविलम्बः प्रलम्बस्तादृशक्रीडापरेषु श्रीकृष्णवरेषु बालनिकरेषु प्राप्तदूर-भूर्विचारितवान्,—॥२८॥

'ताविमौ सुकुमारौ च सर्वमारौ कुमारौ यौ।
सहसा रहसा येन येन कंसादगंसाताम् ॥२९॥

'सर्वोऽप्यसौ सर्ववालेन कालेन घटितकठिनताभ्यामाभ्यां चर्वितगर्वः संवृत्तः, तदद्य समस्तवासरविसृमरविहारविसरजविश्वासप्रपञ्चनया वञ्चयन् बन्धुवदेव स्कन्धद्वये हस्तद्वयकृतबन्धं द्वयमपि प्रक्षिप्य क्षिप्रमेव भोजराजपरिसरं परि समुपहरिष्यामि।' इति ॥३०॥

"अथ स तु कल्की बल्कीकृत-कद्धरतादि-प्रच्छन्नस्पश-वेशतया पूर्वं गोष्ठमागत्य परितो दृष्टिं वितत्य वेश्मस्थित-गोपबालविशेषवेषं समुह्य तमेव च व्युह्य मिश्रीभवितुं शिश्रीषन् हसन्नेव तत्र प्रविष्टः परिदृष्टश्च कृष्णेन। दृष्ट्वा च तच्छलमेवास्वच्छस्वच्छलायावलंब्य 'भद्र! कथं विलम्बमालम्बथास्तथापि भद्रं दुद्यूषासमय एव समयितस्त्वमसि' इति विहस्य तदनुकृतगोप-बालसम्बन्धविशेषसम्बद्धं परिहस्य च बहुपरितोषितेन तेन सह सहचरत्वं बलस्य बलनिर्ज-यार्थमेव कलयाञ्चक्रे, ॥३१॥

होने योग्य है। प्रलम्ब क्रोधपूर्वक बोला—जिसकी ज्वाला सबको नष्ट कर देती है, ऐसे काल की महिमा हिमालय को भी जला देती है, एवं हिमालय में स्थित तालाबों को भी सुखा देती है ॥२७॥

कंस बोला—अच्छा, जैसी तुम्हारी इच्छा। इस प्रकार कंस की बात सुनकर, उसको नमस्कार कर, एवं उसी कंस से तिरस्कृत होकर, उसी समय दैव की प्रेरणा से निबद्ध हो जाने के कारण, विलम्ब न करने वाला प्रलम्बासुर, "श्रीकृष्ण हैं श्रेष्ठ जिनमें, ऐसे व्रज बालकगण जब पूर्वोक्त प्रकार की क्रीड़ाओं में लगे हुए थे तभी" कुछ दूर बैठकर विचारने लगा कि—॥२८॥

ये दोनों सुकुमार कुमार वही हैं, जिन्होंने कंस के भेजे हुए सभी असुर मार डाले। मैंने भी कंस के पास से आकर सहसा एकान्त में इन दोनों को पा लिया है ॥२९॥

और यह सारा ही असुर समाज, सर्वसंचालक काल के कारण संघटित कठिनता से युक्त इन दोनों कुमारों के द्वारा गर्वरहित हो गया है। इसलिए आज मैं समस्त दिन में विस्तारित विहार समूह द्वारा, उत्पन्न विश्वास के विस्तार से धोखा देता हुआ, अपने दोनों हाथों से बँधे हुए इन दोनों कुमारों को, बन्धु की तरह अपने दोनों कन्धों पर बैठाकर, शीघ्र ही भोजराज कंस के पास की भूमि में अच्छी प्रकार पहुँचा दूँगा ॥३०॥

उसके बाद वह दम्भी ढ़की हुई मलिनता आदि की तरह गुप्तचर के वेष से, पहले व्रज में आकर, चारों ओर दृष्टि फैलाकर, घर में स्थित गोपबालक विशेष के वेष को ही तर्क द्वारा कार्य सिद्धि करने वाला विचारकर, उसी वेष को धारणकर, मिलने के लिए आश्रय की इच्छा करता हुआ, हँसता हुआ ही मित्र मण्डल में प्रविष्ट होगया। श्रीकृष्ण ने उसको अच्छी प्रकार देख भी लिया। और उसको देखते ही दोषरहित अपने छल को प्रकाशित करने के लिए, उसके छल का अवलम्बन कर, श्रीकृष्ण बोले—भद्र! विलम्ब कैसे

ऊचे च,–'अद्यारभ्य सभ्य ! मम परमसुहृद्भवानेव, त्वामहमक्षिगततया स्थापयिष्यामि । श्रीदामा राममेवान्वेतु; स किल ह्यन्तर्वर्धनस्पर्धः स्पर्धनगणमेवार्हति' इति ॥३२॥

"स तु क्रतुभुक्शत्रुस्तत्र निर्विस्मयमेव कुस्मयमानतया तथा स्थितः; ॥३३॥ यतः,

विश्वचिकीरपि स विधिः, विपठीर्यस्माद्भवेत्तस्मिन् ।
को वा चतुरम्मन्यः, प्रथयतु निज-चातुरीं कृष्णे ? ॥३४॥

"अथार्भकसमुदयं विभागद्वयमयं विधाय तं च प्रलम्बं स्वबलपरिवृढतया दृढं निधाय तत्र च समत्सरमिव बल-प्रलम्बौ श्रीदामात्मानौ मिथःप्रतिसङ्घट्टिनौ सङ्घट्य परानपि सज्जःकुर्वाणतया तथा प्रघटय्य पराजितानां च शताय परिक्रीतानामिव वाहकत्वं प्रकटय्य सङ्गराय कृतसङ्गरः स माधवो विविध-क्रीडानिविडमना बभूव ॥३५॥

"ततश्च, अव्रीडक्रीडतायां जयतदितरयोर्वाहयन्तो वहन्त-
स्तस्मिन् वाहानुकर्तृंस्तुरगतुलनया हासयन्तो हसन्तः ।

किया ? तो भी अच्छा हुआ जो कि, तू क्रीड़ा के समय ही उपस्थित हो गया। इस प्रकार कहकर हँसकर, एवं उसके द्वारा अनुकरण किये गये गोपबालक के सम्बन्ध विशेष से युक्त वेष का परिहास कर, श्रीकृष्ण ने बलदेवजी के बल को जीतने के लिए ही, अधिक सन्तुष्ट किये हुए उस प्रलम्ब के साथ मित्रता स्वीकार करली ॥३१॥

और कहा कि हे सभ्य ! आज से लेकर हमारे परम मित्र आप ही हो (श्लेष पक्ष में पूरे बैरी हो, यह अर्थ है)। इसलिए मैं तुमको अपनी आँखों में धरकर रखूँगा (श्लेष पक्ष में 'अक्षिगत' द्वेष्य को कहते हैं, इसलिए मैं तुझको शत्रु रूप से रखूँगा यह अर्थ है)। श्रीदामा बलरामजी का अनुगामी बन जाय, क्योंकि वह बढ़ी हुई स्पर्धा से युक्त अन्तःकरण वाला है, अतः स्पर्धा से युक्त समूह में ही जाने के योग्य है (श्लेष पक्ष में 'किल' शब्द का मिथ्या अर्थ है, अर्थात् श्रीदामा के प्रति कहे गये मेरे वाक्य वास्तव में मिथ्या हैं) ॥३२॥

किन्तु वह देवशत्रु प्रलम्बासुर वहाँ पर आश्चर्यरहित होकर, बुरे गर्व से गर्वित होकर स्थित होगया ॥३३॥

क्योंकि विश्व के बनाने की इच्छा वाला वह ब्रह्मा भी, जिनसे विधिपूर्वक वेदों का अध्ययन करना चाहता है, उन्हीं श्रीकृष्ण के ऊपर, अपने को चतुर मानने वाला कौन व्यक्ति अपनी चतुराई को प्रकाशित कर सकता है ? ॥३४॥

पश्चात् श्रीकृष्ण बालकों के समूह को दो विभागों में विभक्त करके, और उस प्रलम्ब को दृढ़तापूर्वक अपनी सेना का स्वामी बनाकर, तथा वहाँ पर मात्सर्ययुक्त व्यक्ति की तरह, श्रीबलराम एवं प्रलम्बासुर को, श्रीदामा एवं अपने को अर्थात् श्रीकृष्ण को आपस में प्रतिद्वन्दी बनाकर, दूसरे सखाओं को भी अपने अपने पक्ष के सहायक रूप से संघटित कर, पराजित सखाओं का सौ रुपये से खरीदे हुए व्यक्तियों की तरह, वाहकत्व प्रगट करके, अर्थात् जो हारेगा वह जीते हुए को चढ़्ढी देगा ऐसा विचार प्रगट कर, युद्ध के लिए कृतप्रतिज्ञ होकर अर्थात् प्रतिज्ञा कर, अनेक प्रकार की क्रीड़ाओं में आसक्त मन वाले हो गये ॥३५॥

और उसके बाद लज्जारहित उस क्रीड़ा में, जय पराजय के मध्य में, जीतने वाले हारने वाले पर चढ़्ढी लेते हुए एवं हारे हुए जीतने वाले को चढ़्ढी देते हुए, उस समय कुछ सखा घोड़ाओं की तरह बन

मर्यादा-निर्णये तु प्रथितकलिकुलं वादयन्तो वदन्तः
प्रापुर्भाण्डीरमेते वनवनभुवि गाश्चालयन्तश्चलन्तः ॥३६॥

"तदेवं कुतूहले तु प्रबले बलं प्रलम्बस्कन्धारूढं सन्धातुं जितभुजगभुजः श्रीबलानुजः पराभवमगणयन् दुर्बलं दुर्बलमेव विचिन्त्य स्वीकृतं स्वगणमेव पराभावयामास ॥३७॥

"तस्यापाततस्तु वहनाय मानान्मनोग्लानिः स्यादिति स्वमपि तथा चकार ॥३८॥

"ततश्च, ऊहे कृष्णः श्रीदामानं, दैत्यः स श्रीरामाख्यानम् ।
अन्योऽप्यन्यं शूरम्मन्यः, सर्वः प्रोचे धन्यो धन्यः ॥३९॥

पूर्वं कृष्णः कौतुके येन दृष्टः, सौम्यः पश्चाद्रामकर्षे तु भीष्मः ।
इत्येवायं स प्रलम्बस्तु पर्यङ्,-मर्यादातः पर्यगात्तं प्रगृह्य ॥४०॥

रामः क्रीडाविष्टताश्लिष्टबोध,-स्तं नाज्ञासीद्दृष्टमात्रं न कृष्णः ।
पूर्वः प्रायेणर्जुताभिन्नचित्तः, पश्चाद्भावी चातुरीसद्धुरीणः ॥४१॥

"अथ तथापि गिरिनिवहनिभ-बहलसारतावह-दुर्वहस्वभावताभावितसङ्कर्षणवपुःकर्षण-जातधर्षणवशान्निविडपीडिततया व्रीडित-चित्ततया च स पुनः पुनरीडितम्मन्यः स्वमखर्वं पूर्वसिद्धं पूर्वदेव-वपुराविर्भावयामास ॥४२॥

कर, घोड़ाओं का अनुकरण करने वालों को हँसाते हुए, एवं स्वयं हँसते हुए, तथा मर्यादा के निर्णय में तो कुछ सखा कलह विस्तारपूर्वक, दूसरे को बुलवाते हुए स्वयं बोलते हुए, ये सब प्रकार के सखा प्रत्येक वन की भूमि में गैयाओं को चलाते हुए स्वयं चलते चलते भाण्डीरवट के पास पहुँच गये ॥३६॥

इस प्रकार के कुतूहल के प्रवल हो जाने पर, श्रीबलदेवजी को प्रलम्बासुर के कन्धे पर आरूढ़ करने के लिए, सर्प विजयी भुजाओं वाले श्रीकृष्ण ने, अपने तिरस्कार को न गिनते हुए, दुर्बल को दुर्बल ही समझकर, स्वीकृत अपने दल को ही, बलदेवजी के दल से पराजित करा दिया ॥३७॥

और अचानक उस प्रलम्ब को, बलदेवजी के ढ़ोने के लिए, गर्व के कारण मनोग्लानि अवश्य हो जायगी, इसलिए श्रीकृष्ण स्वयं भी ढ़ोने का काम करने लग गये ॥३८॥

उसके पश्चात् श्रीकृष्ण श्रीदामा को ढ़ोने लग गये, एवं वह प्रलम्बासुर श्रीबलरामजी को ढ़ोने लग गया। और अपने को शूरवीर मानने वाला दूसरा सखा दूसरे को चड्ढी देने लग गया, तब सभी सखा धन्य है धन्य है, ऐसे कहने लग गये ॥३९॥

जिस प्रलम्बासुर ने पहले क्रीड़ा के समय श्रीकृष्ण को मनोहर देखा था, पश्चात् बलरामजी को खेंचकर दूर ले जाते समय तो श्रीकृष्ण को भयंकर रूप से देखा। इस प्रकार वह प्रलम्ब श्रीबलराम को लेकर ढ़ोने की मर्यादा (सीमा) से आगे निकल गया ॥४०॥

क्रीड़ा में आविष्ट होने के कारण जिनका ज्ञान परिस्फुट नहीं हो रहा है, ऐसे बलरामजी ने उस दैत्य को नहीं पहचाना। श्रीकृष्ण ने तो पहले देखते ही पहचान लिया था। क्योंकि श्रीबलरामजी प्रायः सरलता से परिपूर्ण चित्त वाले हैं, किन्तु श्रीकृष्ण तो चतुरों के अग्रगण्य हैं ॥४१॥

तथापि पर्वत श्रेणी के समान अधिक सारता से पूर्ण, एवं दुर्वह (न ढ़ोने योग्य) स्वभावता से युक्त, श्रीबलरामजी के शरीर के ढ़ोने के कारण,उत्पन्न हुए खेद के वश से अत्यन्त पीड़ित होकर,एवं लज्जित चित्त

"यर्हि राममवहद्दनोः सुतः, शुभ्रधामवपुषं तमःप्रभः ।
इन्दुहारि तम इत्यमुं तदा, दिव्यलोकनिकरस्त्वमन्यत ॥४३॥

तस्मिन् किञ्चित्रासमासन्नवान् स, ज्येष्ठः पश्यन् द्राक् कनिष्ठस्य वक्त्रम् ।
तद्भ्राम्यद्भ्रूलीलया लब्धदृष्टि,-र्दुष्टं मुष्ट्याऽताडयत् सुष्ठु मूर्ध्नि ॥४४॥

ततः प्रहतमस्तकं रुधिररूषितं तद्वपुः
पतत्तुलितमुज्जहत् प्रतिहरि द्रुतं पुप्लुवे ।
यथाञ्जनमहीधरं दलितमक्तरक्तद्रवं
त्यजन् द्रवति वज्रकः सपदि वज्रपाणिं प्रति ॥४५॥

प्रलम्बपतनं दूरे प्रलम्बार्यातिरन्तिके ।
उभे ते युगपद्दृष्टे जज्ञाते स्मितविस्मितौ ॥४६॥

वाष्पश्लिष्टतया तस्मिन्माश्लिष्टौ भ्रातरौ मिथः ।
यावाश्लिष्यार्द्रतां याता बन्धुता बहिरन्तरम् ॥४७॥

महारवं कृतवति च प्रलम्बके, तदा द्रुतं मृतवति च द्यवि स्थिताः ।
सुनिर्वृता ववृषुरलं स्रजां कुलं, व्यतर्कयन्नुपहसितं हरेरपि ॥४८॥

होकर भी, उस प्रलम्ब दैत्य ने अपने को पुनः पुनः प्रशंसनीय मान कर, पूर्वसिद्ध अपने उसी लम्बे चौड़े असुर शरीर को प्रगट कर दिया ॥४२॥

अन्धकार के समान श्यामकान्ति वाला दनुपुत्र प्रलम्बासुर, जब चन्द्रमा के समान शुभ्र कान्ति वाले श्रीबलरामजी को कंधे पर धर कर लिए जा रहा था, उस समय देवसमूह ने तो इस असुर को ऐसा समझा कि, मानो चन्द्रमा के हरण करने वाला यह राहु ही जा रहा है ॥४३॥

उस समय लौकिक लीला के अनुसार किंचित् त्रास (भय) को प्राप्त हुए, बड़े भाई श्रीबलरामजी ने शीघ्र ही छोटे भाई श्रीकृष्ण के श्रीमुख को देखकर, एवं घूमती हुई उनकी भौंह के इशारे से ज्ञान को प्राप्त कर, उस दुष्ट के मस्तक पर अच्छी प्रकार मुक्के से मार दी ॥४४॥

तदनन्तर रक्तद्रव से लिपे हुए, एवं विदीर्ण हुए अंजन पर्वत को त्यागकर, वज्र जिस प्रकार शीघ्र ही इन्द्र के पास दौड़कर जाता है, ठीक उसी प्रकार वह प्रलम्बासुर मस्तक पर ताड़े हुए,एवं रुधिर से लिपे हुए, उस अपने शरीर को गिरते हुए पदार्थ की तरह त्याग कर, शीघ्र ही श्रीहरि के प्रति दौड़ पड़ा, अर्थात् श्रीकृष्ण में मिलकर मुक्त हो गया ॥४५॥

दूर में प्रलम्बासुर का गिरना, एवं श्रीकृष्ण के निकट श्रीबलरामजी का आजाना, एक साथ देखे हुए उन दोनों व्यापारों ने, सभी के मन्दहास्य एवं विस्मय को उत्पन्न कर दिया। अर्थात् एक साथ इन दोनों बातों को देखकर सभी सखा मुस्कयाते हुए चकित हो गये ॥४६॥

उस समय दोनों भैया प्रेमाश्रुओं से पूर्ण होकर आपस में भुज भर के मिले। और जिन दोनों भाइयों का आलिंगन कर बन्धुसमूह बाहर एवं भीतर से आर्द्रभाव को प्राप्त हो गया ॥४७॥

उस समय प्रलम्बासुर के महान् शब्द करने पर एवं शीघ्र ही मर जाने के बाद, स्वर्गस्थित देवगण आनन्दित होकर, यथेष्ट पुष्पमालाओं की वृष्टि करने लग गये। तथा प्रलम्बासुर के प्रति किये गये श्रीकृष्ण के उपहास की तर्कना भी करने लग गये ॥४८॥

वाहक-शिरसि प्रहरण,-मत्रादिष्टं सदा विहृतौ ।
मर्यादातिक्रान्ता, प्रलम्ब ! भवता तथा तु नास्माभिः ॥४९॥

"तदेवं प्रलम्बालम्भनसम्भ्रमेऽप्यनुद्भ्रान्तचित्तास्ते शृङ्गिणीवित्ताः कुणपताभितस्य प्रमीतस्य तस्य पितृवनवेशं प्रदेशलेशं परित्यज्य योजनव्यज्य-विस्तार-प्रशस्त-भाण्डीरतलमण्डल-मेवाधिष्ठाय विहारनिष्ठाः क्रीडापणस्य स्पृहयाय्या जयाय्या गृहयाय्यास्तृण-लोभाविष्टतया वृक्षषण्डाद्विप्रकृष्टामपि यमुनाकच्छालच्छमुञ्जाटवीं प्रविष्टानामन्धीभूतानां पादबन्धनाना-मन्वेषणाद्विश्लेषमाजग्मुः ॥५०॥

"ततः कथमप्यवधानतः प्रनष्टवित्ततया स्पष्टकष्टचित्ता रंहसा सङ्घशः सभयं ह्वयन्ते स्म । नूनं देशाधिपति-निदेशतः सदेशमागता एव केचित् क्रूरा गा दूरगा विदधुरिति च ध्यायन्ति स्म ॥५१॥

"ततश्च गवां खुरादिचिह्नै रह्नाय तासामध्वानं लब्ध्वा समस्ता एव ता हरिरह्वास्त ॥५२

"यथा—कृष्णे तटाग्रमधिरुह्य सुवर्ण-वर्ण,-वल्गूत्तरीयमनुघूर्ण्य वितीर्णहूतौ ।
गावः प्रतिस्वमभिनेदुरुदीर्णतापा, गर्जत्तडिद्घनघनाघनतृष्णयेव ॥५३॥

उपहास करते हुए श्रीकृष्ण प्रलम्ब के प्रति बोले—इस विहार में अर्थात् खेल में वाहक (चड्ढी देनेवाले) के मस्तक पर प्रहार करना सदैव से आदिष्ट है, किन्तु हे प्रलम्ब ! आपने जैसे मर्यादा का लंघन किया है, वैसे हम सबने तो किया नहीं । अर्थात् तुम चड्ढी देनेवालों की सीमा को लाँघकर आगे बढ़ चले, इसलिए अपनी मर्यादा का पालन करते हुए श्रीदाऊजी ने कस के मुक्का जमा दिया, इतने पर ही तुम मर गये तो इसमें दाऊजी का क्या दोष ? ॥४९॥

अतएव इस प्रकार प्रलम्बासुर के मृत्युरूप उद्वेग के उपस्थित होने पर भी, उद्वेग से रहित चित्तवाले, एवं गोगणरूप वित्त (धन) वाले वे सब ग्वारिया, मुर्दापन को प्राप्त होकर, मरे हुए उस प्रलम्बासुर के श्मशान के तुल्य स्थान के सम्बन्ध को त्यागकर, एक योजन (चार कोश) के विस्तारवाले प्रशंसनीय भाण्डीरवट के तल मण्डल में आकर क्रीड़ा में आसक्त हो गये । तथा क्रीड़ारूप पण की इच्छा करनेवाले, विजयशील, घर में जाने की इच्छावाले वे ग्वारिया, जो गैया भैंस घास के लोभ की आसक्ति के कारण, वृक्षसमूह से दूर होने पर भी, यमुना तीरस्थ उसी मलिन मुञ्जाटवी (मुंजवन) में प्रविष्ट हो गई थीं उनको ढूँढ़ने के कारण आपस में अलग अलग हो गये ॥५०॥

तदनन्तर किसी प्रकार सावधानी से, चित्त ठिकाने पर न रहने के कारण, स्पष्टरूप से कष्टयुक्त चित्त वाले वे ग्वारिया, वेग से एकसाथ मिलकर, भयपूर्वक उनको बुलाने लग गये । और निश्चय ही देशाधिपति कंस की आज्ञा से, पास में आकर कुछ क्रूर प्रकृति के जन ही, गैयाओं को दूर गामिनी कर गये हैं । इस प्रकार चिन्ता करने लग गये ॥५१॥

अनन्तर गैयाओं के खुर आदि चिह्नों के द्वारा शीघ्र ही उनके मार्ग को प्राप्तकर, श्रीकृष्ण उन सभी को बुलाने लग गये ॥५२॥

यथा—श्रीकृष्ण जब यमुनातट के ऊँचे भाग पर चढ़कर, सुवर्ण वर्ण के दुपट्टे को घुमाकर, ऊँचे स्वर से गैयाओं को बुलाने लग गये, तब अत्यन्त सन्तप्त हुई प्रत्येक गायें, बिजली से सुशोभित गर्जना

"तदेवं यदालम्भि चास्तम्भि च नैचिकीनिचयस्तदानीमेव च दृष्टनिर्विलम्बप्रलम्ब-प्रलयवराः कंसचरा लब्धावसरा मुञ्जाटवीमुद्भट-चेष्टतया वेष्टयित्वा निर्निवारणकृपीटकारण-वृष्टिं झटिति तादृश-दुष्टवौषट्कारास्पदतद्विलक्षणतेजसि तस्मिन् प्रतिपक्षता-कल्पनया निसृष्टवन्तः ॥५४॥

"या खलु ज्वालकलयापि सर्वं रोषादोषामास कल्पमिति प्रज्वलति महाज्वलने पट-पटायमानायां च महामुञ्जाटव्यां भीततयास्तव्यस्तचालास्ते गोपालाः सखिवलयारामतया कलितकेलि-जालाविह रामगोपालावेव भूरिदूरतः शरणतया समुपाजग्मुः ॥५५॥

"तत्र च—दवाग्निं दृष्ट्वा ते यदपि हरिरक्षापरतया
समीयुर्वैयग्र्यं तदपि निजरक्षामवृणुत ।
प्रसक्तिस्तस्येत्थं किल भवति सा चेदुयते
तदा शक्तिश्चास्य प्रभवति यथेच्छं मुहुरिति ॥५६॥

यथा (भा० १०।१९।९)—
'कृष्ण कृष्ण महावीर्य हे रामामितविक्रम ।
दावाग्निना दह्यमानान् प्रपन्नांस्त्रातुमर्हथः ॥' इत्यादि ॥५७॥

करनेवाले, एवं भारी वर्षा करनेवाले बादल की तृष्णा से, चातकी समूह की तरह चारों ओर से चिल्लाने लग गईं ॥५३॥

इस प्रकार की घटना के बाद जब गोसमूह मिल गया, एवं एक जगह स्थिर हो गया, उसी समय शीघ्र ही प्रलम्बासुर की मृत्यु की दशा को देखनेवाले, कंस के गुप्तचरों ने अवसर पाकर, मुञ्जवन को प्रबल चेष्टापूर्वक चारों ओर से घेरकर, उस प्रकार के दुष्ट 'वौषट्' इत्यादि अर्पण मन्त्र के आश्रय स्वरूप, अलौकिक तेजवाले श्रीकृष्ण के ऊपर विपक्षता (शत्रुता) की कल्पना करके, शीघ्र ही अनिवार्य अग्नि की वृष्टि की सृष्टि कर दी ॥५४॥

जिस अग्नि की वृष्टि ने निश्चय ही अग्निकणों के द्वारा भी, प्रायः क्रोधपूर्वक सभी को दग्ध सा कर दिया। जब वह महा अग्नि प्रज्वलित हो उठी, एवं मुञ्जाटवी पट पट शब्द करने लग गई, तब भयभीत होने के कारण, अस्तव्यस्त चालवाले वे गोपालगण, मित्रमण्डल के आश्रय स्वरूप होकर, अनेक प्रकार की क्रीड़ा करनेवाले श्रीकृष्ण बलदेव के पास ही शरणागत होकर आ गये ॥५५॥

और वहाँ पर वे गोपालगण दावानल को देखकर, यद्यपि श्रीकृष्ण की रक्षा में तत्पर होने के कारण, व्यग्रता को प्राप्त हो गये थे, तो भी उन्होंने अपनी रक्षा को भी मानों वर लिया। क्योंकि श्रीकृष्ण की रक्षारूप आसक्ति यदि भक्त के हृदय में ग्वालबालों की तरह होकर उत्पन्न हो जाती है, तब तो भक्तों की रक्षा के लिए श्रीकृष्ण की शक्ति भी स्वेच्छापूर्वक बारंबार प्रबल हो उठती है ॥५६॥

आपत्ति में श्रीकृष्ण की शरण जाना ही उचित है। उसमें प्रमाण यथा—हे प्यारे कृष्ण ! हे महाबलिष्ठ ! श्रीकृष्ण ! हे अमित बलशालिन् ! बलराम ! हम सब ग्वालबाल दावाग्नि से जले जा रहे हैं, एवं आप दोनों के शरणापन्न हैं, और आप दोनों ही रक्षा के लिए योग्य हैं, अतः हम सब की रक्षा करो ॥५७॥

"तदेवं दूरागतानां कार्पण्यपण्यभणितश्रवणमारभ्य तस्मादभ्यासगतानामपि भयमुपलभ्य श्रीमान् कृष्णस्त्विदं ससंरम्भं भावयामास,—॥५८॥

'आतननोऽप्यलममी मम प्रिया, हा दवं प्रति दवं समियृति ।
गीर्णमेव करवाण्यमुं ततः, को यमः क इह वा भवेद्धरः ?' ॥५९॥

'किन्तु मया वैश्वानरनिगरणं न सोढुं परिवृढा भवेयुरेते' इति विचिन्त्य प्रोवाच,—'मा भैष्ट नेत्रपुटं त्वनुद्घटितं घटयत' इति ॥६०॥

"निमीलद्विलोचनेषु च तेषु तदावेशवशया कृतप्रवेशया योगमायया तत्कालकल्पित-महाजलधर - कल्पापर - शरीरस्तत्रत्येनानल्पेनाननेन तमदुःखत एव सर्वं विभ्रक्षन्तं भक्षितवान् ॥६१॥

"तथा तदिच्छया सुधाचुलुकायमानमित्येके । तयैवं चान्यदपि चकार ॥६२॥

"यदुक्तम्, (भा० १०।१९।१३)—
'ततश्च तेऽक्षीण्युन्मील्य पुनर्भाण्डीरमापिताः ।
निशाम्य विस्मिता आसन्नात्मानं गाश्च मोचिताः ॥' इति ॥६३॥

"अथ धेनुततिं विनिवर्त्य हरि,-र्बलयुक्ततया मुरलीं कलयन् ।
सहचारिगणप्रथितात्मयशा, व्रजमागतवानहनि ग्लपिते ॥६४॥

इस प्रकार दूर से आये हुए उन ग्वालबालों के कातरता एवं स्तुतिपूर्ण वाक्यों के श्रवण से लेकर, अतः पास में आ जाने पर भी उनके भय को जानकर, श्रीमान् कृष्णचन्द्र तो क्रोधपूर्वक यह विचार करने लगे कि— ॥५८॥

हाय ! ये मेरे सखा मुझे अपनी आत्मा से भी अतिशय प्यारे लगते हैं, ये दावानल को देखकर अधिक भय को प्राप्त हो रहे हैं। अतः मैं इस दावानल को निगल ही जाऊँ, अर्थात् गले से नीचे ही उतार जाऊँ तो, इस विषय में यमराज, अथवा महादेव भी निषेध करनेवाले कौन होते हैं ? ॥५९॥

किन्तु मेरे द्वारा अग्नि के निगलने को ये सब सहन करने को समर्थ न हो सकेंगे, ऐसा विचार कर श्रीकृष्ण बोले कि—आप सब भय न करो। केवल अपने अपने दोनों नेत्रों को मूँद लो ॥६०॥

श्रीकृष्ण के वचन सुनते ही ग्वालबालों ने जब नेत्र बन्द कर लिए, तभी श्रीकृष्ण के आग्रह के वशीभूत होकर, प्रवेश करनेवाली योगमाया के द्वारा, तत्काल महामेघ के समान एक दूसरा शरीर कल्पित्त कर दिया गया। श्रीकृष्ण ने महामेघ तुल्य उस शरीर में विद्यमान महान् मुख के द्वारा, सब कुछ भस्म करते हुए उस दावानल को अनायास भक्षण कर लिया, अर्थात् पी लिया ॥६१॥

तथा कुछ विज्ञजन ऐसा कहते हैं कि—श्रीकृष्ण की इच्छा से वह दावानल अमृत की घूँट के समान हो गया था, और श्रीकृष्ण ने अपनी योगमाया के द्वारा दूसरा कार्य भी इसी प्रकार किया— ॥६२॥

जो कि श्रीमद्भागवत में कहा है, यथा—"तदनन्तर उन ग्वालबालों ने नेत्रों को खोलकर देखा कि, हम सब तो पुनः भाण्डीरवट को प्राप्त हो गये हैं। तथा अपने को एवं गैयाओं को दावानल से मुक्त देखकर सभी विस्मित हो गये थे" ॥६३॥

पश्चात् समस्त दिन बीत जाने पर सहचरगणों के द्वारा, जिनका निजी यश तत्काल विस्तारित्त किया जा रहा था, वे श्रीकृष्ण गोसमूह को वन से लौटाकर, श्रीबलदेवजी के सहित वंशी बजाते हुए व्रज में आ गये ॥६४॥

गवां धूलिर्नादः खुरघटितघट्टध्वनिघटा
हरेस्तासां हूतिः श्रवणगणभिद्वेणुरणितम् ।
अमीभिस्ते कृष्टास्तरतमतया गोकुलजना
न पृष्ठ्यं नाग्रीयं न सममविदुर्न स्वमपि च ॥६५॥

यद्यपि बहुसङ्घट्टन,-धूलिध्वान्तं च सर्वत्र ।
तदपि हरेर्मुखचन्द्रः, प्रतिजनमानन्दितं चक्रे ॥६६॥

"अथ पूर्ववन्मातरपितरादिरचित-सुखवितरौ भ्रातरौ निजनिलयं प्रविविशतुः ॥६७॥

"सखायश्च प्रलम्बदवानलकथाप्रथनया सर्वं विस्माययामासुः ।"६८॥

तदेतत् प्रोच्य समापनमाह स्म,—

"ईदृशस्तव गोपेन्द्र ! पुत्रः पुण्यकृतस्तवः ।
प्रेमार्द्रः सुहृदां यस्तु दावाग्निमपि पीतवान् ॥"६६॥

॥ इति श्रीश्रीगोपालचम्पूमनु प्रलम्ब-दव-संवर्त-निवर्तनं नाम षोडशं पूरणम् ॥१६॥

व्रज में आते समय गैयाओं की चरण धूलि, उनका हम्बारव, एवं खुरों के द्वारा घटित घट्ट घट्ट शब्द का समूह उत्पन्न होने लगा । और श्रीकृष्ण के द्वारा उन गैयाओं के बुलाने का शब्द, एवं सबके कानों को भेदन करनेवाली वंशीध्वनि भी होने लग गई । इन पूर्वोक्त धूलि आदि चिह्नों के द्वारा आकर्षित हुए वे गोकुल वासीजन, अपने पीछे खड़े हुए को, आगे खड़े हुए को, अपने समान को या बड़े को, अधिक क्या कहें तदाकार होने के कारण, अपने को भी न जान सके कि, हम कौन हैं, कहाँ खड़े हैं ? ॥६५॥

यद्यपि उस समय बहुतजनों के एकत्रित होने के कारण, धूलि के द्वारा सर्वत्र अन्धकार छा रहा था, तो भी श्रीकृष्ण के मुखचन्द्र ने प्रत्येक जन को आनन्दित कर दिया ॥६६॥

पश्चात् पहले दिनों की भाँति माता पिता आदि के द्वारा किये गये सुख विस्तार को प्राप्त करनेवाले दोनों भैया अपने घर में प्रविष्ट हो गये ॥६७॥

और सखाओं ने भी प्रलम्बासुर, एवं दावानल की कथा के विस्तार पूर्वक कथन द्वारा सभी को आश्चर्य युक्त कर दिया ॥६८॥

यह कहकर मधुकण्ठ समाप्ति वचन बोला—हे गोपेन्द्र ! आप सुकृतशाली हैं, बड़े बड़े पुण्यों के द्वारा जिसकी स्तुति की जाती है, ऐसा यह तुम्हारा पुत्र है, जो कि मित्रों के प्रेम से आर्द्र होकर दावानल को भी पी गया ॥६६॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीगोपालचम्पूकाव्ये प्रलम्बवधदावाग्निरूपप्रलय-निवर्तन-नामकं
षोड़शं पूरणं सम्पूर्णम् ॥१६॥

अथ सप्तदशं पूरणम्

वेणुशिक्षाच्छलेन प्रेयसीभिक्षा

अथ पूर्ववद्विलक्षणायां क्षणदासभायां समुत्कण्ठः स मधुकण्ठः कथयामास,—॥१॥

"पूर्वपूर्वानुसारेण धेनुकवधानन्तरव्यवहारेण प्रेयसीनां प्रत्यहमेव वर्धमानाः कमल-कलिकावदुत्कलिका मधुसूदनस्य बहिरीहितैर्दुरूहां स्पृहां बृंहयामासुः ॥२॥

"तत्रापि सर्वाधिकायाः श्रीराधिकायास्तु नितरां तत्र तूपलक्षणतया श्रीराधामाधव-योर्वर्ण्यते,—॥३॥

"प्रसङ्गेच्छा वीक्षास्पृहितमनुषङ्गाभिलषितं
पृथग्लोकद्वेषः प्रतिसमयमुद्वेगकलना ।
इमे भावा युग्मे युगपदुदितास्तत्क्रमवशा-
दहो दूरस्थित्योरपि दयितयोरेकरुचिता ॥४॥
आदर्शाविव तौ स्वच्छौ सदाभिमुखतां गतौ ।
राधामाधवयोर्भावौ मिथो भावानुपेयतुः ॥५॥

सत्रहवाँ पूरण

वेणुशिक्षा के बहाने प्रेयसी भिक्षा

इस सत्रहवें पूरण में अपनी किशोरावस्था की सफलता के लिए वंशी की शिक्षा के बहाने, गोपीगण-रूप रत्नों की भिक्षा का वर्णन होगा।

अनन्तर पहले की भाँति अलौकिक रात्रि की सभा में, उत्कण्ठायुक्त वह मधुकण्ठ कहने लगा—॥१॥

पहली पहली लीलाओं के अनुसार, धेनुकासुर के वध के पिछले व्यवहार के अनुसार, प्रतिदिन बढ़ती हुई कमल की कलियों की तरह, श्रीकृष्ण प्रियतमा गोपिकाओं की उत्कण्ठाओं ने, बाहिरी चेष्टाओं द्वारा दुरूह (दुस्तर्क्य) श्रीकृष्ण की इच्छा को बढ़ा दिया ॥२॥

उनमें भी सर्वाधिका श्रीमती राधिका की इच्छा को तो और भी अधिक बढ़ा दिया था। किन्तु उन सबमें से श्रीराधाकृष्ण के परस्पर के उद्‌बोधकभाव में इच्छा का वर्णन करते हैं ॥३॥

प्रस्तावना की इच्छा, दर्शन की इच्छा, मिलने की इच्छा, स्वभावतः प्रतिबन्धकजनों के ऊपर द्वेष, एवं प्रत्येक समय उद्वेग के चिह्न, ये सब भाव श्रीराधाकृष्णरूप युगल जोड़ी में एक साथ ही उदित (प्रकट) हो गये थे। आश्चर्य तो यह है कि, उसी क्रम के वशीभूत होने के कारण, दूर रहने वाले भी प्रिया प्रीतम की एक ही प्रकार की अभिलाषा थी ॥४॥

दर्पण की तरह निर्मल, एवं सदैव संमुखता को प्राप्त हुए श्रीराधा कृष्ण के भाव, आपस के अभि-प्राय को प्राप्त हो गये थे ॥५॥

भूयो भूयो दृश्यते र्यहि मूर्च्छा, राधायां वा श्रीहरौ वा रहस्तु ।
अन्योऽन्यस्य स्फूर्तिरेवाप्तितुल्या, कल्याणाय प्रायशः कल्पते स्म ॥६॥

"तदेवं ताभिस्तस्यातिदुर्लभस्य स्पृहातिशयवाहितया नातिहितायां शरद्यतिवाहितायां मार्गशीर्षस्तु तासां पतिम्मन्यगृहगमनाय मार्गशीर्षतामवाप ॥७॥

"यत्र च कन्यानां मातरपितरेषु तद्दानाय पूर्वमेव स्वयमनभिरुचितीकृतमुरजिदितरेषु स्वप्नदोषादेवान्यत्रावगत-तद्वितरेषु तत एव दुःखिततयानभिनन्दित-तत्सम्बन्धिनिकरेषु सम्प्रति तासामतिदुःखशुष्कता-दृष्ट्या भीतिपरेषु तत एव तत्प्रस्थापनायां स्थगितान्तरेषु लोकधर्म-विगानलब्धदरेषु च घूर्णितचित्ता पूर्णिमा तदिदं निर्दिदेश,—॥८॥

'भवन्तस्तावत्तटस्थीभवन्तस्तिष्ठन्तु, वयमेवामूरनुनीय तत्तद्गृहमुपनीय तत्तत्-प्रक्रियां क्रियाविषयीकरिष्यामः' इति ॥९॥

"अथ जन्यम्मन्यांस्तेषामनादरमवधाय मन्युं मन्यमानान् स्वयमेव सा देवतादिमान्या साम्ना सम्मान्य यथा स्वमनोषितमेवाङ्गीकारयाञ्चकार ॥१०॥

जब कभी एकान्त में श्रीराधिका में किंवा श्रीकृष्ण में बारंबार मूर्च्छा दिखाई देती थी, तब परस्पर की प्राप्तितुल्य स्फूर्ति ही प्रायः कल्याण के लिए समर्थ हो जाती थी ॥६॥

अतएव इस प्रकार उन गोपियों ने अत्यन्त दुर्लभ श्रीकृष्ण सम्बंधी अतिशय इच्छा को प्राप्त कराने वाली होने के कारण, अहितकर शरदृतु को जब बिता दिया, तब मार्गशीर्ष का महीना तो उनको काल्पनिक पतियों के घर जाने के लिए मार्ग के अवकाशभाव को प्राप्त हो गया था, अर्थात् पति के घर जाने के लिए मार्ग निर्देशक ही बन गया था ॥७॥

और जहाँ पर उन गोपकन्याओं के माता पिता उनका दान करने के लिए, जब पहले से ही श्रीकृष्ण से भिन्न जनों के प्रति स्वयं अरुचि प्रगट कर रहे थे, एवं स्वप्न में प्रगट हुए दोष से ही मानों श्रीकृष्ण से भिन्न के प्रति उन कन्याओं के दान को जान रहे थे, इसी कारण से जब वे दुःखित होकर उन कन्याओं के काल्पनिक सम्बंधीजनों का अभिनन्दन (सत्कार) नहीं कर रहे थे, तथा इसी समय उन कन्याओं के अतिशय दुःख के कारण प्रगट हुए रूखेपन को देखने से जब वे भयभीत हो रहे थे, और इसीलिए उन कन्याओं के पतिगृह प्रस्थान के विषय में जब वे स्थगित चित्त वाले हो रहे थे, एवं जब वे लोक और धर्म से अनादर होने के कारण भय को प्राप्त हो रहे थे, तब घबराये हुए चित्त वाली पौर्णमासी ने यह निर्देश किया कि— ॥८॥

आप सब तटस्थ (उदासीन) होकर बैठे रहो। हम ही इन सब कन्याओं की अनुनय विनय कर, उन उन के घर पहुँचा कर, ससुर के घर में गृहस्थ संबंधी धार्मिक कार्य में परिणत कर देंगी ॥९॥

पश्चात् देवादिकों की भी माननीया पौर्णमासी ने कन्याओं के पिता आदिकों के द्वारा अनादर को जानकर, अत्यन्त कुपित हुए जमाइयों के पिता आदि संबंधियों को स्वयं ही शान्तिपूर्वक सम्मानित कर, जैसी अपनी इच्छा थी उसी प्रकार ही अङ्गीकार करा लिया ॥१०॥

"कन्यास्तु ता धन्या वरम्मन्यालयान्तःप्रयाणं तत्र च लब्धतदञ्चलन्यासनिजाञ्चल-ताद्यन्यायमसम्मन्यमाना बभूवुः ॥११॥

"अथ ताः सा शपथप्रथनया तदालयेष्वसम्भवमपीष्टलम्भनमनिष्टविप्रलम्भनं च विश्रम्भविषयं विधाय दुःसहनानाव्यवसायाद्विष्कम्भ्य गमनकर्मणि लम्भ्यमानाः पथि तु स्वमायया गोपयन्ती तत्र तत्सदृगन्याश्चारोपयन्ती तत्तन्निर्वाहयामास; पश्चादेव च तास्तत्र वासयामास। तास्तु तत्र च परमत्रस्ता बभूवुः ॥१२॥

"यतः, यासां देहोऽप्येष वन्दीगृहाभः, कृष्णालाभाद्गोपिकानां बभूव।
तासां गेहं पैतृकं शर्मणे किं, यद्येवं धिक् श्वाशुरं वह्निरेव ॥१३॥
अप्यनुकूलं यासां, प्रतिकूलं स्याद्विदूरगे कृष्णे।
तासां प्रतिकूलं तु, स्फुटमेवासीत् कुकूलतल्पाभम् ॥१४॥

"तथापि पौर्णमासी तास्तत्तद्गेह-मध्यमध्यासीना विधाय यदा चलितुमुद्यतासीत्तदामूः पुनर्विचप्रचामाप्ता निश्चप्रचाकृते तदिदमादिष्टवती,—'यदा भवतीभिः स्वमर्यादालोपस्तर्क्यते, तदा प्रपलाय्य स्थीयताम्। समाधानं पुनः कयाविद्विद्ययास्माभिरेव विधातव्यम्, सहसा पलायनधाम च तत्र तत्र विधातव्यम्' इति ॥१५॥

भाग्यवती वे कन्यायें तो अपने को वर मानने वालों के घर में जाना, और वहाँ पर परस्पर अंचल का ग्रन्थि बन्धन प्राप्त करना, एवं ससुर के घर में धरोहररूप अपनी मलिन उक्ति, इत्यादि अन्याय को सहन करने में समर्थ न हो सकीं ॥११॥

अनन्तर श्रीपौर्णमासी ने शपथ (कसम) का विस्तार करके, उनके घरों में असंभव भी अपने इष्ट (श्रीकृष्ण) की प्राप्ति को, एवं अनिष्टरूप परपति के साथ होने वाले विच्छेद को, विश्वास योग्य बनाकर, असह्य अनेक व्यापारों को रोककर, गमनरूप कार्य में लगाई हुई उन कन्याओं को अपनी माया से मार्ग में ही गुप्त कर, एवं वहीं पर उनके सदृश अन्य कन्याओं का आरोप कर (निर्माण कर) द्विरागमन आदि उस उस कार्य का निर्वाह करा दिया। और पश्चात् उन वास्तविक गोपकन्याओं को वहीं पर, अर्थात् ससुराल में ही बसा दिया, किन्तु वे तो वहाँ पर अत्यन्त भयभीत हो गईं ॥१२॥

क्योंकि श्रीकृष्ण की अप्राप्ति के कारण जिन गोपियों को यह अपना देह भी कारागार के समान हो गया था, फिर उन सबके लिये पिता का घर क्या सुखजनक हो सकता है? यदि ऐसा है, तब तो ससुर के घर को तो धिक्कार है, क्योंकि वह तो अग्नि ही है, अर्थात् अग्नि की तरह जलाने वाला है ॥१३॥

श्रीकृष्ण के दूरगामी होने पर जिन गोपियों को अनुकूल विषय भी प्रतिकूल हो गया था, फिर प्रतिकूल विषय तो उनके संबंध में स्पष्ट ही तुषानल (भुस की अग्नि) की शय्या के समान हो गया था ॥१४॥

तथापि पौर्णमासी उन गोपियों को उन उन काल्पनिक पतियों के घर में बैठा कर, जब चलने को उद्यत हुईं, तब पुनः सन्देह को प्राप्त हुई उन गोपियों को सन्देह दूर करने के लिए यह आदेश दे गईं कि— जब तुमको अपनी मर्यादा का नाश विचारपूर्वक दृष्टिगोचर हो जाय, तभी यहाँ से भागकर स्थित हो जाना, अर्थात् भाग जाना। और उसका समाधान तो हमारे द्वारा किसी अनिर्वचनीय विद्या के प्रभाव से कर दिया जायगा, एवं भागने का स्थान भी उस उस स्थल में कर दिया जायगा ॥१५॥

"तदेवं राजकारागृहाद्वैरिकारागृह इव पितृगृहात्तत्र गत्वा वसन्तीषु,—

"यावानजनि निरोध,-स्तावत्युत्कलिकापि संववृधे ।
कृष्णप्रेमवतीषु, श्वासानिललीनतां याता ॥१६॥

यद्यपि मनसि समिद्धा, हरिपरिरिप्सा तथापि ताभिः सा ।
आव्रियते स्म विचारै,-स्ततिरिव वह्नेः सदिन्धनप्रकरैः ॥१७॥

"तच्च श्रीराधाप्रधानतया वर्ण्यते; यथा—

पीयूष-च्छविधारिहारिकिरणः सर्वत्र शश्वज्जडी-
भावप्रापिगुणः सदार्द्रहृदयः सुभ्रूचकोरीगतिः ।
सोऽयं हन्त मया कथं हरिरहो तत्-प्राणया त्यज्यतां
धर्मो गच्छति किन्त्वधर्मपदवीं रुद्ध्वा च हत्वा च माम् ॥१८॥

"श्रीकृष्णस्य च भावना यथा,—

'मदेकचेता मत्प्राणा राधाऽन्यवशतां गता ।
यां स्मरन्मम हा चेतश्चेतनामावरिष्यति ॥'१९॥

"ततश्च, राधां तथा स्मरन् कृष्णः स्निग्धं रागि विलोचनम् ।
कियन्त्यहानि मार्ष्टि स्म हन्त हारिद्रवाससा ॥२०॥

अतएव इस प्रकार राजकीय कारागार से छूट कर बैरी के कारागार में रहने की तरह, जब वे गोपियाँ पिता के घर से ससुर के घर में जाकर निवास कर रही थीं, तब उनको जितनी रुकावट उत्पन्न हुई, उतनी ही उत्कण्ठा भी अधिक बढ़ गई । एवं वही उत्कण्ठा श्रीकृष्ण प्रेमवती उन गोपियों में, प्राणवायु के साथ एकता को प्राप्त हो गई थी ॥१६॥

यद्यपि उन गोपियों के मन में श्रीहरि के पाने की इच्छा उद्दीप्त हो गई थी, तो भी उन्होंने मोटे मोटे गीले ईन्धन समूह के द्वारा अग्नि के समूह की तरह उस इच्छा को विचारों के द्वारा छिपा लिया ॥१७॥

श्रीराधिका को प्रधान करके, उस छिपानारूप कार्य का वर्णन करते हैं, यथा—जिनकी किरणें मनोहर एवं अमृत की प्रतिमूर्ति (चन्द्रमा) को धारण करने वाली हैं, एवं जिनके गुण सभी जगह सर्वदा जड़भाव को प्राप्त कराने के स्वभाव वाले हैं, तथा जिनका हृदय सदैव आर्द्र है, एवं जो स्त्रीरूप चकोरियों की एकमात्र गति हैं, बस, वे ही मेरे प्राण हैं । अतः खेद की बात तो यह है कि, वे ही श्रीहरि कैसे त्यागे जा सकते हैं ? किन्तु धर्म तो मुझको रोककर और मारकर अधर्म के मार्ग को जा रहा है ॥१८॥

श्रीकृष्ण की भावना, यथा—मेरे में एकमात्र चित्त वाली, मेरे में ही प्राणों वाली, श्रीराधिका दूसरे के वशीभूत हो गई है । हाय ! जिसको स्मरण करता हुआ मेरा चित्त, मेरी ज्ञानशक्ति को ढ़क लेगा, अर्थात् चेतना शून्य हो जायगा ॥१९॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण राधा को उस प्रकार स्मरण करते हुए, हलदी से रँगे हुए वस्त्र के द्वारा, स्नेही एवं अनुरागयुक्त अपने नेत्रों को कुछ दिन तक खेदपूर्वक पोंछते रहे ॥२०॥

"मिलनायातिवैयग्र्ये च—

धर्मातिक्रमि चित्तं, कथमधिमित्रं च तत् प्रकाशयेत ।
इति हरिरुपचितयुक्ति,-र्युयोज दूत्याय केवलां दृष्टिम् ॥२१॥

"इदमेव वक्ष्यते ताभिः, (भा० १०।३१।२)—

'शरदुदाशये साधुजातसत्,-सरसिजोदर-श्रीमुषा दृशा ।
सुरतनाथ ! तेऽशुल्कदासिका, वरद निघ्नतो नेह किं वधः ?' इति ॥२२

"यत,, कृष्णस्यान्यत्र दृक्प्रान्तः सद्भिः शास्त्रफलं स्मृतम् ।
हन्त तासु पुनः सोऽयमेभिः शस्त्रफलं मतम् ॥२३॥

"ततश्च, रात्रिन्दिवं वसति चेतसि हन्त भाव,-ज्वाला हरेरुत तदीयरमागणानाम् ।
सन्ध्याद्वये व्यतिविलोकसुखाज्यसिक्ता, साग्निद्विजालय इवाग्नि-ततिः समिद्धा ॥२४

तत्र च,—गोष्ठाद्वनं प्रविशतो वनतश्च गोष्ठं, लोकेन लोकनकृते सह माधवेन्दोः ।
सम्भूय सङ्गतवतीषु च तत्प्रियासु, राधा जयत्युडुषु पौर्णिमराधिकेव ॥२५॥

और श्रीराधिका से मिलने की अति व्यग्रता होने पर भी, श्रीकृष्ण अपने मित्रों के प्रति, धर्म के अतिक्रमण करने वाले उस चित्त को किस प्रकार प्रकाशित कर सकते थे ? इसलिए युक्तियों को एकत्रित करने वाले श्रीकृष्ण ने, केवल अपनी दृष्टि को ही उस समय, दूत संबंधी कार्य के लिये नियुक्त कर दिया था ॥२१॥

वे गोपियाँ भी रास में अर्न्तहित हो जाने के बाद, श्रीकृष्ण को लक्ष्य कर यही कहेगी कि—हे सुरतनाथ ! हे वरद ! हम सब आपकी बिना मूल्य की दासी हैं, तो भी आप शरत्कालीन सरोवर में अच्छी प्रकार उत्पन्न हुए सुन्दर कमल के भीतर की शोभा को चुराने वाली अपनी दृष्टि से हमारा वध कर रहे हैं, दृष्टि के द्वारा मारना क्या वध नहीं है ? क्या शस्त्र के द्वारा किया गया वध ही वध कहलाता है ? अतः तुम्हारी दृष्टि के द्वारा हरे गये हमारे प्राणों को प्रत्यर्पण कर दो, अर्थात् इसी बहाने से एक बार दर्शन दे दो । यही भावार्थ है ॥२२॥

क्योंकि श्रीकृष्ण के कृपाकटाक्ष को गोपियों से भिन्न भक्तरूप स्थान पर पड़ना तो सज्जनों ने शास्त्र का फलस्वरूप माना है । किन्तु हाय ! गोपियों के ऊपर फेंके हुए उसी कटाक्ष को इन सज्जनों ने शस्त्र के अग्रभाग को माना है ॥२३॥

उसके बाद की बात यह है कि—हाय ! श्रीकृष्ण के हृदय में और श्रीकृष्ण की नित्यप्रिया लक्ष्मी-स्वरूपा उन गोपियों के हृदय में, भावरूप ज्वाला रात दिन निवास करती थी, किन्तु वही भावरूपी ज्वाला प्रातःकाल व सायंकालरूप दोनों सन्ध्याओं में, परस्पर के दर्शन से जायमान सुखरूप घृत से सिक्त होकर, अग्निहोत्री ब्राह्मण के घर में प्रदीप्त अग्नि समूह की तरह, अच्छी प्रकार प्रदीप्त हो जाती थी ॥२४॥

और वहाँ पर गोष्ठ से वन में प्रवेश करते हुए, एवं वन से गोष्ठ में प्रवेश करते हुए, श्रीकृष्णचन्द्र के दर्शन करने के लिए, एकत्रित हुए लोगों के साथ मिलकर, एकत्रित हुई श्रीकृष्ण की नित्यप्रियारूपा उन गोपियों के बीच में श्रीराधिका, नक्षत्रों के मध्य में पूर्णिमा संबन्धी अनुराधा नक्षत्र की तरह, उत्कर्ष पा रही थी ॥२५॥

"तत्र च प्रगेतन-वनप्रस्थाने—

"मिथ्याहासानकुरुत हरिः स्पृष्टपार्श्वस्थहस्तं
वीक्षां वक्रप्रणयवलितामर्धमर्धं वितेने ।
आश्लेषाद्यं विहरणगणं मित्रवर्गेषु चक्रे
दूरे गत्वाप्यहह मुरलीसंविदः संव्यधत्त ॥२६॥

"इदमेव च ताभिर्वक्ष्यते, (भा० १०।३१।१०)—

'प्रहसितं प्रिय ! प्रेम-वीक्षितं, विहरणं च ते ध्यानमङ्गलम् ।
रहसि संविदो या हृदिस्पृशः, कुहक नो मनः क्षोभयन्ति हि ॥' इति ॥२७॥

"अथ सायन्तनागमने तु,—

यदा वा गोष्ठं सम्प्रविशति तदा च भ्रमरकै-
र्वृतं वक्त्राम्भोजं धन-खुरपरागैर्वलयितम् ।
अमूषां नेत्रालिष्वभिमुखतया दर्शयति त-
न्मिलत्पाशं यन्त्रं मदनरचितं बन्धुमिव तान् ॥२८॥

"एवमेव च ताभिर्वक्ष्यते, (भा० १०।३१।१२)—

'दिन-परिक्षये नील-कुन्तलै,-र्वनरुहाननं बिभ्रदावृतम् ।
धन-रजस्वलं दर्शयन् मुहु,-र्मनसि नः स्मरं वीर यच्छसि ॥' इति ॥२९॥

और वहाँ पर प्रातःकालीन वनगमन के समय श्रीकृष्ण मिथ्या हँसी करते थे, एवं अपने बगल के सखा के हाथ को छूते हुए, वक्रता एवं प्रेम से भरी हुई चितवन को आधी आधी विस्तार करते थे। और मित्रवर्ग के बीच में उनसे आलिङ्गन आदि अनेक विहारों को करते थे। अहह ! दूर जाकर तो मुरली के द्वारा गोपियों के प्रति अनेक संकेत करते थे ॥२६॥

गोपियाँ भी रास प्रसङ्ग में गोपीगीत में यही कहेंगी कि—हे प्यारे ! मोहन ! आपका हँसना, प्रेम-पूर्वक देखना, एवं आपका विहार, ध्यान करने पर भी मङ्गलदायक है, किन्तु एकान्त में हृदय को स्पर्श करनेवाले सांकेतिक शब्द तो हमारे मन को क्षुब्ध कर देते हैं ॥२७॥

अब सायंकाल में वन से लौटने के समय तो श्रीकृष्ण जब गोष्ठ में प्रवेश करते हैं, तब घुँघराली अलकावलियों से घिरे हुए, एवं गोधन के खुरों से उठी हुई धूलि से व्याप्त, अपने मुखारविन्द को इन गोपियों के नेत्ररूपी भ्रमरों के संमुख दिखाते हैं। उस समय यह बोध होता है कि—उन गोपियों के नेत्ररूप भ्रमरों को बाँधने के लिए कामदेव के द्वारा निर्मित, एवं बाँधने योग्य रस्सियों से युक्त कोई यन्त्र विशेष ही है क्या ? ॥२८॥

गोपियाँ भी गोपीगीत में इसी प्रकार कहेंगी, यथा—हे वीर ! सायंकाल में काली घुँघराली अलकों से ढ़के हुए, एवं गोधूलि से धूसरित अपने मुखकमल को दिखाते हुए, आप हमारे मन में बारंबार कामदेव का दान करते हो ॥२९॥

"एवमहरहरपि परस्परं स्पर्धयेव वर्धमानतया तासामुत्कलिकाः कलितमधुमाधवावधिकाला व्याकुलताकुलतां कलयामासुः ॥३०॥

"यथा वर्णितं प्रलम्बवधवासरसम्बन्धिसन्ध्यामनुसन्धाय (भा० १०।१९।१६)—

'गोपीनां परमानन्द आसीद् गोविन्द-दर्शने ।
क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवत् ॥' इति ॥३१॥

"अस्य चाभिधेयमिदम्,—

तासां कृष्णावलोके प्रमदसमुदितिर्न स्वरूपेण वक्तुं
शक्या किन्तु स्वकार्यस्फुरणपदतया किञ्चिदुद्देशमाप्ता ।
तद्विश्लेषे यथासां युगशतकदशां याति कालः कलाख्य-
स्तद्वत्तस्यानुषङ्गे युगशतमपि तद्भाति शश्वत् कलाभम् ॥३२॥

कलापि यदि विश्लेषे युगानां शततां गता ।
रात्रिन्दिवीयसंख्यायां तदा शङ्कामहे वयम् ॥३३॥

"एवं सायंप्रातिकावलोकनबलतः कथमपि निदाघेऽपि क्षपिते मयूरान् मदयित्नूनां गदयित्नूनां च स्तनयित्नूनां समागमः संवृत्तः ॥३४॥

इस प्रकार प्रतिदिन परस्पर स्पर्धा से ही मानों बढ़ी हुई, उन गोपियों की उत्कण्ठाओं ने तो, चैत्र वैशाख के समय को प्राप्तकर, व्याकुलता से आकुल कर दिया ॥३०॥

श्रीशुकदेवजी ने भी प्रलम्बासुर के वध के दिन वाली सन्ध्या का अनुसन्धान करके, इसी प्रकार वर्णन किया है, यथा—जिन गोपियों को श्रीकृष्ण के बिना, क्षणभर का समय भी सैंकड़ों युगों के समान प्रतीत होता था, उन्हीं को श्रीगोविन्द के दर्शन में परमानन्द प्राप्त होता था ॥३१॥

इस श्लोक का प्रतिपाद्य वाच्य विषय यह है कि—उन गोपियों को श्रीकृष्णदर्शन में जो आनन्द प्रगट होता था, वह स्वरूप से कहा नहीं जा सकता। किन्तु अपने कार्य की स्फूर्ति के स्थान को पाकर, किंचिद् उद्देश को प्राप्त होता है। जिस प्रकार इन गोपियों को श्रीकृष्ण के विरह में कला नामक काल भी, अर्थात् ८ सेकंड का समय भी सैकड़ों युगों की अवस्था को प्राप्त हो जाता था। उसी प्रकार श्रीकृष्ण के मिलने पर सैकड़ों युग भी, सदा एक कला के समान, अर्थात् ८ सेकंड के तुल्य प्रतीत होते थे ॥३२॥

श्रीकृष्ण के विरह में यदि एक कला का समय भी सैकड़ों युगों की दशा को प्राप्त हो जाता था, तब रात दिन की संख्या में तो हम शंका में पड़ जाते हैं, अर्थात् श्रीकृष्ण विरह में उनके रात दिन कैसे कटते होंगे ? ॥३३॥

इस प्रकार सायंकाल एवं प्रातःकाल के श्रीकृष्ण दर्शन के प्रभाव से, किसी प्रकार ग्रीष्मकाल व्यतीत हो जाने पर, मयूरों को हर्षित करने वाले एवं गर्जना करने वाले मेघों का समागम, अर्थात् वर्षाकाल उपस्थित हो गया ॥३४॥

"तत्र च—गृहनिगृहीतानां तासां मनः-कथा यथा—

'खर्जूरादिफलैः सुकन्दवलितैर्मित्रैः समं प्रावृषि
प्राश्वद्वृष्टिजवारिवारिणि तरुक्रोडेऽशनक्रीडनम् !
नीरप्रान्तशिलासु तासु दधियुग्भिस्सादि सम्भोजनं
दूराद्धेन्वनुहूतिरप्यघजिता नश्चित्तमुल्लुश्चति ॥'३५॥

"यत्र च—घनागमघनागमे विरमिताजितोन्मीलने
समस्तजन-शर्मदाः सपदि खञ्जरीटेक्षणाः ।
अमूः शुचिरुचि-श्रिया स्वहृदि कृष्ण-भावं गता
हरिव्रजवनप्रियास्तमसि लीनतामागताः ॥३६॥

यथा—अकुण्ठामुत्कण्ठां निरवधि वितर्यालि-विततिर्
यदा तासामग्रे हरिपरिचितं वृत्तमरुणत् ।
तदा वर्षाजातास्तडिदनुगताम्भोदवलिताः
प्रतीपाभाः कृष्ण-स्फुरणमधिकं हा विदधिरे ॥३७॥

नूनं निदाघेन विभूय जज्ञे, सन्तप्तिरासां हरिरागिणीनाम् ।
वर्षासु शाम्येदिति सङ्गिनीनां, निर्णीतिरासीद्विपरीतरीतिः ॥३८॥

उस समय घर में रुकी हुई गोपियों की मानसिक कथा, यथा—वर्षाऋतु में होती हुई वृष्टि के जल को रोकने वाली, वृक्ष की गोदी में मित्रों के सहित सुन्दर कन्दों से मिले हुए खजूर आदि फलों से श्रीकृष्ण की भोजन लीला, एवं जलप्रान्त (तीर) वर्ती उन उन विशाल शिलाओं पर बैठकर, दही से मिले हुए अन्नादि का भोजन, अर्थात् दध्योदन का भोजन, और श्रीकृष्ण के द्वारा दूर से गैयाओं का बुलाया जाना, इत्यादि कार्य हमारे चित्त को विदीर्ण कर रहे हैं, अर्थात् नोच रहे हैं ॥३५॥

और जिस स्थान पर घनी वर्षा आ जाने पर, विष्णु भगवान् के शयन कर जाने पर, श्लेषपक्ष में श्रीकृष्ण का दर्शन न होने पर, समस्त जनसुखदायिनी खंजननयनी, एवं श्रीहरि के व्रजस्थ वनों की प्यारी ये सब गोपियाँ, आषाढ़ की रुचिकर शोभा से, तथा श्लेषपक्ष में शृङ्गाररस की रुचिकर शोभा से, अपने हृदय में श्रीकृष्ण के भाव को पाकर, कृष्णवर्ण के अन्धकार में अथ च श्रीकृष्ण में तल्लीनता को प्राप्त हो गईं ॥३६॥

यथा—इन गोपियों की सखीश्रेणी ने इन गोपियों की निरन्तर अनिवार्य उत्कण्ठा को देखकर, पुनः विचार कर श्रीकृष्ण के परिचित चरित्र को जब अवरुद्ध कर लिया, अर्थात् श्रीकृष्ण की स्मृति भुलाने के लिए जब उनकी चर्चा करनी छोड़ दी, तब बिजली से युक्त मेघों से मिश्रित, एवं शत्रु के तुल्य दिखाई देने वाली वर्षाऋतु ही उत्पन्न होकर, हाय ! हाय ! अधिक रूप से श्रीकृष्ण की स्फूर्ति कराने लग गई ॥३७॥

श्रीहरि की अनुरागिणी इन गोपियों को ग्रीष्मऋतु से मिलकर ही सन्ताप उत्पन्न हुआ है, यह बात निश्चित है। किन्तु "यह सन्ताप वर्षा में शान्त हो जायगा" इस भावना से वर्षा की सङ्गति करने वाली गोपियों का पूर्वोक्त निर्णय विपरीत रीति को प्राप्त हो गया था, अर्थात् सन्तापहारिणी वर्षा भी सन्ताप-कारिणी हो गई थी ॥३८॥

वर्षा द्वितीया दधिरेऽक्षि-नीरै,-रन्तः स्फुरत्कृष्णघनाभिराभिः ।
इत्थं निनिन्दुः किल ते रुवन्तः, स्वाजीव्यवर्षानुगताः प्लवाद्याः ॥३९॥

कलापमासुरेतासु कलापाश्च कलापिनाम् ।
स्मरार्धचन्द्रबाणाभा यत्रैके भान्ति चोन्मुखाः ॥४०॥

वर्षाः शीतलताकरैर्निजगुणैरासां मनःशान्तता-
मानेतुं किल यद्यदत्र विदधुः सर्वं च तत् प्रत्युत ।
द्वेषं ता बत मेनिरे यदनु च प्राणालिभिः शङ्कितं
हन्त द्विष्टसुहृद्दशेयमुदिता हा हा विधेः का गतिः ? ॥४१॥

"अत्र तासां त्रासवचनम्,—

'इरम्मदरदास्तेऽमी नीरदा अपि सर्वदा ।
चर्वन्ति क्षौणि-पृष्ठस्थान् गर्जन्ति किल गर्वतः ॥४२॥

'अहो ! चित्रीयते सेयं प्रेमगति-वैचित्री, यतस्तादृशि च तद्वृत्ते कदाचिदानुकूल्य-स्पृशीव श्रीराधास्तुतीनामाधारता दृश्यते ।' ॥४३॥

जिनके अन्तःकरणरूपी आकाश में, कृष्णरूप श्याममेघ स्फूर्ति पा रहे हैं, ऐसी इन गोपियों ने अपने नेत्रों के जलसमूह से दूसरी वर्षाऋतु उत्पन्न कर दी है। इस प्रकार चिल्लाते हुए, एवं अपने जीवन की दायिका वर्षा के अनुगामी मेढ़क आदि वर्षाती जीव, पहली वर्षा की निन्दा करने लग गये ॥३९॥

इन गोपियों के प्रति मयूरों के पुच्छ उस समय कामबाणों से भरे हुए तूणीर (तरकस) का सा व्यवहार करते थे। जिनके बीच में कुछ मयूरपुच्छ ऊपर की ओर मुखवाले होकर, कामदेव के अर्धचन्द्राकार बाणों के समान शोभा पा रहे थे ॥४०॥

वर्षाऋतु ने शीतलताकारक अपने गुणों से इन गोपियों के मन को शान्तिभाव प्राप्त कराने के लिए, सत्य ही जो जो व्यवहार यहाँ पर किया, किन्तु उन गोपियों ने तो खेदपूर्वक उस शान्ति के सम्पूर्ण व्यवहार को द्वेष ही माना। और उसी के पश्चात् उनकी प्राणप्यारी सखियों ने भी शंका करी कि—हाय ! हाय ! यह मित्रों से भी द्वेष कराने वाली कौन सी दशा इन गोपियों पर प्रगट हुई है ? हाय ! हाय ! विधाता की कैसी विचित्र गति है ? ॥४१॥

वर्षाऋतु में उन गोपियों के भयमय वचन, यथा—देखो, ये समस्त नीरद (मेघ) श्लेषपक्ष में—ये मेघ सदा नीरद, अर्थात् दन्तविहीन होकर भी, बिजलीरूप दन्तपंक्ति से युक्त होकर, भूतल में स्थित व्यक्तियों को चबाये जा रहे हैं, एवं अहंकार से गर्ज रहे हैं ॥४२॥

अहह ! प्रेम के स्वरूप की यह विचित्रता आश्चर्यान्वित कर रही है, क्योंकि इन मेघों के चरित्र में उस प्रकार की प्रतिकूलता रहने पर भी, कभी कभी अनुकूलता का स्पर्श करने वाले की तरह, श्रीराधिका की स्तुतियों की आधारता देखी जाती है ॥४३॥

"यथा तस्यास्तत्पश्यन्त्या भावनेयम्,—

'अयि तडिस्त्वमसौ क्व नु किं तपः, कियदहो कृतवत्यसि तद्वद ।
यदिमम्बुधरं हरिवक्षस,-स्तुलितमालि गता रमसे सदा ॥'४४॥

"यत्र च प्रमादतः सा किञ्चन प्रोच्यापि सख्यामपि सङ्कोचादन्यथा प्रख्यापयामास,—॥४५॥

'अहह पश्यत कृष्णघनाघनं, प्रसजती चपला खलु खेलति ।
स्मरसि किं नु हरेः स्मरकौतुकं, नहि नहीदमृतोर्गुणवर्णनम् ॥' इति ॥४६॥

'कदाचिच्च,—मेघागम-समयेऽस्मि,-न्नधिगतहरिता दृशां सम्पत् ।
हरये स्पृहयसि राधे, नहि नहि शाद्वलविभूतये द्विषति ! ॥' इति ॥४७॥

'अथ श्रीकृष्णस्य च दिग्दर्शनं यथा—

शिखण्डिनां या कलनृत्य-माधुरी, शिखण्डचूडस्य सदाति-शर्मदा ।
न सानुसन्धानमिता तदस्तु य,-न्मूर्ध्नः शिखण्डं च जगाम विस्मृतिम् ॥४८॥

"तदेवं सुष्ठु चापष्ठुतामनुष्ठाय गतायां प्रावृषि शरदपि यथा—

आगमिष्यति शरद्भुवि द्यवि, स्वच्छतां विदधतीति चिन्तितम् ।
हन्त ताभिरुदये तदीयके, स्वं दधे द्विगुणभावनाविलम् ॥४९॥

यथा—मेघ को देखती हुई श्रीराधिका की भावना यह है कि—हे सखि ! विद्युत् ! आ हा हा ! तुम बताओ तो सही। किस स्थान पर, कितने परिमाण का कौनसा तप कर चुकी हो ? क्योंकि श्रीकृष्ण के वक्षःस्थल के समान श्यामवर्ण वाले इस जलधर को प्राप्तकर सदा क्रीड़ा करती रहती हो ॥४४॥

और वहाँ पर प्रमादवश स्पष्टरूप से कुछ कहकर भी, अपनी सखी के प्रति संकोच के कारण दूसरी प्रकार से कहने लगीं कि— ॥४५॥

अरी ! सखियो ! देखो तो सही। वर्षाशील इस श्यामघन में आसक्त होती हुई चपला (बिजली) निश्चय ही खेल रही है। सखी राधिका के प्रति बोली—हे राधिके ! श्रीकृष्ण के स्मरकौतुक को याद कर रही हो क्या ? श्रीराधा बोली—ना, ना। यह तो वर्षाऋतु के गुणों का वर्णन मात्र है ॥४६॥

कदाचित् श्रीराधिका बोली—अरी सखि ! देख, इस वर्षाऋतु के समय तो श्रीहरि के भाव को प्राप्त करने वाली ही, दृष्टियों की सम्पत्ति है। श्लेषपक्ष में—हरे रंग को प्राप्त करने वाली, अर्थात् हरे भरे नये नये तृणादिमय स्थान जिसमें हैं, ऐसी भूमि ही नेत्रों की सम्पत्ति है। सखी बोली—हे राधे ! तुम श्रीहरि की इच्छा करती हो क्या ? श्रीराधा बोली—ना, ना। अरी बैरन ! देख, मैं तो नये नये हरे भरे घासों से युक्त स्थान की विभूति की वांछा करती हूँ ॥४७॥

अब श्रीकृष्ण के भाव का दिग्दर्शन, यथा—उस वर्षाऋतु में मोरमुकुटधारी श्रीकृष्ण को अति सुखदायिनी भी, मयूरों की जो अव्यक्त मधुरध्वनि सहित नृत्य की माधुरी होती थी, वह उनके अनुसन्धान में नहीं आई। इस बात को तो रहने दो। देखो, अपने मस्तक का मोरपंख भी विस्मृति को प्राप्त हो गया, अर्थात् व भी राधा की तदाकारता में भुलावे में पड़ गया ॥४८॥

अब वर्षाऋतु में श्रीकृष्णविरह में हुई उन गोपियों की विकलता का वर्णन कर, शरद् में भी दर्शन करने का उपक्रम करते हैं, यथा—इस प्रकार अच्छी तरह प्रतिकूलता का आचरण कर वर्षाऋतु के चले

सतडिद्वारिदवृन्दं, निरीक्ष्य पूर्वं यदेव या तप्ता ।
तदपश्यन्त्यपि सेयं, सम्प्रति राधा भृशं दूना ॥५०॥

"तत्र च राधाकृष्णयोर्नखलिपिवलयित-किसलयदलद्वयगतं पद्यद्वयं वायुना परस्परं नीतम् ॥५१॥ तद्यथा—

'तडितः पुण्यशालिन्यः सदा या घनजीवनाः ।
तेन सार्धमदृश्यन्त नादृश्यन्त च तं विना ॥५२॥

आवृतिमजहादिन्दु,-र्विलसति हंसश्च नीलकञ्जश्च ।
वृन्दावनमनु हा धिग्, दैवं तत्तन्न दृश्यते तस्याः ॥' इति ॥५३॥

'राधाकृष्णावित्थमन्योऽन्यमाप्तं, दैवात् पत्रं शश्वदाश्लिष्य साश्रु ।
अन्तःशून्यस्वर्णबिम्बान्तरुप्तं, मध्ये हारं नायकं निर्मिमाते ॥'५४॥

"अत्र सखीनामपि खिन्नता यथा—

जलं कुमुदमम्बुजं विधुरुचिश्च यस्यां शर-
द्यहो विकसदात्मतामगमदाशु तस्यामपि ।

जाने के बाद, शरदृतु के वर्णन को भी सुनो। यथा—गोपियों ने अपने मन में यह विचारा था कि, आकाश में निर्मलता का विधान करती हुई शरदृतु भूमि पर आयेगी। किन्तु खेद की बात तो यह है कि, उस शरद् के उदय होते ही उन्होंने अपने को दुगुने रूप से मलिन बना लिया, अर्थात् वे श्रीकृष्णविरह में दुगुनी मलिन हो गई ॥४९॥

पहले बिजलियों से युक्त जिस मेघसमूह को देखकर जो सन्तप्त हो गई थीं, वे ही श्रीराधिका इस समय श्रीकृष्ण के तुल्य वर्ण वाले उस मेघसमूह को न देखती हुई अत्यन्त उत्तप्त हो गई ॥५०॥

और उस शरदृतु में भी, श्रीराधाकृष्ण की नखलिपि से युक्त, अर्थात् नखों द्वारा लिखित, दो नवीन पल्लवों में स्थित, दोनों जनों के दोनों श्लोकों को, लीलाशक्ति से प्रेरित वायु ने दोनों के पास पहुँचा दिया। ५१॥

वे दोनों श्लोक इस प्रकार हैं—श्रीराधिका का श्लोक, यथा—सदा श्यामघन ही जिनका जीवन है, वे बिजलियाँ ही पुण्यशालिनी हैं। क्योंकि जो श्यामघन के साथ ही दिखाई देती हैं, किन्तु उसके बिना कदापि नहीं दीखतीं ॥५२॥

श्रीकृष्ण निर्मित श्लोक, यथा—चन्द्रमा ने मेघों के आवरण को त्याग दिया, हंस एवं नीलकमल शोभा पा रहा है। किन्तु वृन्दावन को लक्ष्यकर, शरदृतु सम्बन्धी वे हंस, नीलकमल आदि पदार्थ मुझे दिखाई नहीं देते। अतः दैव को धिक्कार है ॥५३॥

इस प्रकार दैवयोग से परस्पर को प्राप्त हुए, पत्र को प्रेमाश्रुमोचन पूर्वक निरन्तर आलिङ्गन कर, श्रीराधा कृष्ण ने उस पत्र को, छिद्रयुक्त सुवर्ण की आकृति में पुरे हुए हार के बीच में, नायकमणि (रत्न-पदक) बना लिया ॥५४॥

इस शरद् में सखियों की भी खिन्नता का दिग्दर्शन, यथा—अहह ! जिस शरदृतु में जल, कुमुद पुष्प, कमल एवं चन्द्रमा की कान्ति, शीघ्र ही निर्मलता को किंवा विकसित भाव को प्राप्त हो गई है, उसी

मनो नयनमाननं दशनकान्तिरासां पुनः
सदा मलिनतामगादिति किमालिभिः सह्यताम् ? ॥५५॥

"अत्र च वर्णितं लब्धवर्णैरपि, (भा० १०।२०।४५)—
'आश्लिष्य समशीतोष्णं प्रसूनवनमारुतम् । जनास्तापं जहुर्गोप्यो न कृष्णहृतचेतसः ॥'५६॥

"यतः, सौन्दर्यं तन्नीलिमासौ द्युतिः सा, लावण्यं तत्ते च लीला-विलासाः ।
पीयूषश्रीण्यङ्गसङ्गे प्रियाणां, विश्लेषे तान्येव हालाहलानि ॥५७॥

"ततश्च, हरेर्गन्धवहान् सर्वे जगत्प्राणतया विदुः ।
तद्वियोगेन तु क्षामा रामास्तानाशुगाख्यया ॥५८॥

"तदेवं यद्यप्युत्कण्ठायाः परमकाष्ठा जाता, तथापि कापिदपि काञ्चित् प्रति न प्रकाशयामास । 'अधर्मेणापि तं भजानि' इति यथा तास्तथा कृष्णोऽपि, तत्र ता निर्विद्या-निर्विद्य खिद्यते स्म ॥५९॥

"कृष्णस्तूपायान्तरमपश्यन्नेत्र-विक्षेप-वेत्रविक्षेप-वित्रस्तानामपि तासां वश्यतामयाता-नामावश्यक-तद्भावनाय वंशीशंसन-विशेषमभ्यस्यति स्म ॥६०॥

शरदृतु में पुनः इन गोपियों का मन, नयन, मुख एवं दन्तों की शोभा, सदा मलिनता को प्राप्त हो गई है । अतः इनकी सखियाँ कैसे सहन करें ? ॥५५॥

इस विषय में विचक्षण श्रीशुकदेवजी ने भी वर्णन किया है, यथा—शरदृतु में सभीजनों ने समान भाव से शीतल एवं उष्ण, पुष्प प्रधान वनों की वायु को सेवन कर सन्ताप को त्याग दिया, किन्तु श्रीकृष्ण ने जिनके चित्त अपहरण कर लिए हैं, उन गोपियों ने सन्ताप को नहीं त्यागा, अर्थात् वे तो विरहानल से सन्तप्त ही बनी रहीं ॥५६॥

इस कारण गोपियों के वियोग में श्रीकृष्ण की भी विचित्र दशा थी, यथा—श्रीकृष्ण को प्रेयसी गोपियों के मिलने में वह अपना लोकोत्तर सर्वमोहक सौन्दर्य, वही नीलिमा, वही छवि, वही लावण्य (मनोहरता), और वे ही सब लीला के विलास, अमृत की सी शोभा वाले मालूम पड़ते थे । किन्तु उनके विरह में वे सब पदार्थ महाविष से उत्पन्न हुए से प्रतीत होते थे ॥५७॥

उसके अनन्तर सभी जन श्रीकृष्ण के अङ्गसम्बन्धी वायु मात्र को जगत् प्राणरूप से जानते थे। किन्तु श्रीकृष्णवियोग से क्षीण हुई गोपियाँ तो, उन वायुओं को बाण नाम से ही जानती थीं, अर्थात् बाण-रूप से ही समझती थीं ॥५८॥

अतएव इस प्रकार यद्यपि उत्कण्ठा की पराकाष्ठा हो गई थी, तथापि कोई भी गोपी किसी के प्रति प्रकाशित नहीं करती थी । "मैं अधर्म से भी श्रीकृष्ण का भजन करूँगी" इस प्रकार की धारणा वाली जैसी वे गोपियाँ थीं, उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी थे । उन गोपी कृष्णरूप दोनोंजनों के बीच में वे गोपियाँ तो निर्विद्या के कारण, दुःखित होकर खेद का अनुभव कर रही थीं, और श्रीकृष्ण उन नित्यप्रियाओं में आसक्ति के कारण खेदानुभव कर रहे थे ॥५९॥

श्रीकृष्ण तो दूसरा कोई उपाय न देखकर, नेत्र विक्षेपरूप वेत्र (बेंत) के प्रहार द्वारा भयभीत होने पर भी, जब वे गोपियाँ वश्यता को (अधीनता को) प्राप्त नहीं हुईं, तब आवश्यकरूप से उनको वशीभूत करने के लिए, वंशीवादन रूप कार्य का ही, विशेष रूप से अभ्यास करने लग गये ॥६०॥

"यथैव वक्ष्यते तत्र तत्र तदेवालक्ष्य ताभिः, (भा० १०।३५।१४)—'वेणुवाद्य उरुधा निजशिक्षाः' इति ॥६१॥

"अथ प्रथमतस्तन्मना निजाग्रजन्मना युगलीभूय मुरलीकलीमावर्तयति स्म ॥६२॥

"तत्र तु यदा समुद्दीपितभावान्तरे वनान्तरे गोचारणे सर्वमनसोऽप्यगोचरान् सहचरान् विस्मापयन्नतिकान्तगुणव्रजेन निजाग्रजेन सह स्वयमहरहः सहर्षं उत्कर्षं प्रवीणयन् वेणुशिक्षामीक्षयामास ॥६३॥

"तदा तासां तद्रूपस्फूर्तिरतीव पूर्तिमायाता। सा च यथावदेव, यतस्तस्य भाववैभवस्य स्वभाव एवायम्, यद्दूरतश्च स्वविषयं विषयीकरोति ॥६४॥

"तथा हि—अनुमानगता तासामर्थापत्तिः प्रतीयते।
यतः कृष्णस्य दयितास्ता एव न्यायपण्डिताः ॥६५॥

"तत्र याः पुनरतीव स्निग्धतादिग्धहृदयास्तद्दुःखतः शुष्कतामवापुर्न तु पुनः स्वकदुःखं पुष्कलं मेनिरे ॥६६॥

इसी प्रकार तत्तत् स्थल में वेणुवाद्य को ही लक्ष्य करके, गोपियाँ भी "वेणु वाद्य में हमको बहुत सी अपनी शिक्षा दीं" इत्यादि कहेंगीं ॥६१॥

पश्चात् श्रीकृष्ण पहले से ही गोपियों में मनवाले होकर, अपने बड़े भाई के साथ युगलरूप धारण कर, अर्थात् जोड़ी बनाकर, मुरली की सुमधुर ध्वनि की आवृत्ति करने लग गये ॥६२॥

किन्तु वहाँ पर जब भावान्तर के उद्दीपक वन के बीच में, गोचारण के समय, सबके मन के भी अगोचर, अपने सखाओं को विस्मयान्वित करते हुए, अति मनोहर गुणसमूह से विभूषित अपने बड़े भाई के साथ, स्वयं प्रतिदिन सहर्ष उत्कर्ष के चातुर्य को प्रगट करते हुए, वेणु शिक्षा को दिखाने लगे, अर्थात् उसकी पर्यालोचना करने लग गये ॥६३॥

उस समय गोपियों को श्रीकृष्ण के रूप की स्फूर्ति अत्यन्त पूर्ति को प्राप्त हो गई थी। वह पूर्ति भी नियम पूर्वक ही हुई थी। क्योंकि श्रीकृष्ण सम्बन्धी भाव के वैभव का यही स्वभाव है कि, वह दूर से भी अपने प्राप्य विषय को अपने अधीन कर देता है ॥६४॥

देखो! नैयायिक पण्डितगण अर्थापत्ति नामक प्रमाण को अनुमान के ही अन्तर्गत मानते हैं (अर्थापत्ति का स्वरूप यह है कि—देवदत्त मोटा है, दिन में भोजन नहीं करता है। किन्तु भोजन के बिना मोटापन रह नहीं सकता, इसलिए रात्रि भोजन की स्वतः प्रतीति हो जाती है) अतः उन गोपियों के सम्बन्ध में भी अर्थापत्ति ही प्रतीत होती है। यथा—क्योंकि वे गोपियाँ श्रीकृष्ण की ही नित्यप्रिया हैं, यदि श्रीकृष्ण की नित्यप्रिया न होतीं तो, उनके विरह में इतनी कातरता न होती, स्वाभाविकी कातरता के बिना नित्यप्रियात्व कैसे सिद्ध होता? बस, यही अर्थापत्ति प्रमाण का स्थूल-तात्पर्य है ॥६५॥

उन गोपियों में भी जो अत्यन्त प्रेमभाव से लिप्त हृदयवाली थीं, वे सब श्रीकृष्ण के दुःख से ही शुष्कता को प्राप्त हो गई थीं। किन्तु अपने दुःख को अधिक नहीं मानती थीं ॥६६॥

"यथा राधाया विशाखा ललिता पर्यायानुराधा च, चन्द्रावल्याः शैव्या पद्मा चेत्यादयः। तासु तु ताः स्वमात्रनिष्ठतां निष्टङ्क्य स्वयमेव ससौहार्दं निजहार्दमावेदयाञ्चक्रुः। तथापि तत्र प्रथमं रामसहिततापिहितमेव तं लुप्तवर्णपदं वर्णयामासुः ॥६७॥

"तत्र गीतं यथा—

'रामो रामानुज इति युगलम्।
कृतनटवेषतया पटु राजति गायति सखिगण-युगलम् ॥ध्रु॥
सरसरसालज-पल्लवतल्लज-पल्लवितामलशीर्षम्।
नवयौवनवनबीजांकुरमिव धारयदतनुचिकीर्षम्।
वांछितपिच्छावलिपरिलांछित-मणिनिचयाश्रितकेशम्।
दधदिव हरिधनुरनुगततारावलिवलिताम्बुदलेशम्।
वलयित-नवदलदुत्पलकर्णिक-कर्णयुगाद्भुतशोभम्।
लतिका कासाविति विस्मयकृतिमधुकृतिविनिहितलोभम्।
हस्तकमलमभि कमल-विघूर्णन-रमणकला-रमणीयम्।
मधुपगणं प्रति मधुकणवर्षणमकृत यतः कमनीयम्।

यथा—श्रीराधिका की विशाखा, ललिता, एवं पर्यायवाची अनुराधा इत्यादि अन्तरङ्ग सखियाँ थीं। और चन्द्रावली की शैव्या, पद्मा आदि थीं। उन विशाखा आदि सखियों में वे श्रीराधा आदि यूथेश्वरी, उन विशाखा आदिकों की केवल अपने में प्रीति की तत्परता को अच्छी प्रकार जानकर, स्वयं ही उनके प्रति मित्रतापूर्वक, अपने हृदय के भाव को आवेदन कर देती थीं। तो भी वहाँ पर प्रथम वे श्रीराधा आदि सखियाँ, श्रीबलरामजी के एक साथ होने के नाते आच्छादित हुए (ढ़के हुए) श्रीकृष्ण को ही लुप्त है श्याम-वर्ण जिसमें, ऐसे पद विन्यास पूर्वक वर्णन करने लग गईं। अथवा अशक्ति के कारण अधूरे वचनों से वर्णन करने लग गईं ॥६७॥

उस वर्णन में गीत, यथा—अरी सखि! देखो, सुनो। श्रीबलराम एवं उनके छोटे भाई, इन दोनों की जोड़ी नट का सा वेष बनाकर, चातुर्यपूर्वक विराज रही है, एवं मित्रगणों से संमिलित होकर, बहुत सुन्दर गायन कर रही है। और देखो! पुष्टिकारक धातुविशेष को रस कहते हैं। उस रस से युक्त जो आम्रवृक्ष, उससे उत्पन्न जो श्रेष्ठ पल्लव (नवीन पत्र), बस, दोनों भाइयों का निर्मल मस्तक उसी पल्लव से युक्त है। दोनों ही मानों नवयौवन-रूप वन का बीजांकुर ही धारण किये हुए हैं। दोनों की ही भक्त-हितार्थ कार्य करने की प्रबल इच्छा है। दोनों के ही केशकलाप, वाञ्छित मयूरपुच्छ समूह द्वारा चिह्नित एवं मणिश्रेणी द्वारा सुन्दर हो रहे हैं। दोनों ही मानो इन्द्रधनुष के अनुगत तारागण से युक्त मेघ के लेश (कण) को धारण कर रहे हैं। कंकण के से आकार से विकसित जो नवीन कमल, वही है कर्णभूषण जिनमें, ऐसे दोनों कर्णों से दोनों भाइयों की अद्भुत शोभा हो रही है। उस समय "यह कौन सी लता है?" इस प्रकार विस्मय करनेवाले भ्रमर के ऊपर दोनों ही भाई लोभ स्थापित कर रहे हैं। दोनों के करकमल में स्थित कमल के घुमाने से जो चतुरनर की कला, उसके द्वारा दोनों ही रमणीय हैं। कमल घुमाने का कारण यह है कि—दोनों ही भ्रमरगण के प्रति कमनीय मधु की वृष्टि कर रहे हैं। दोनों भाइयों का शरीर

मालामालापरिमलबलिबलि-वपुरलिवलितसदेशम् ।
अलिझंकृतिनुतिकोलाहलवह-बहुलकुतूहलवेशम् ।
सितमसितं वपुरसितं पीतं वसनं यस्य च गीतम् ।
तदिदं यदि गोकुलमनुगोकुलमयति तदाघमतीतम् ॥' इति ॥६८॥

"अपि तु तस्य गोकुल-सदेशप्रदेश-प्रवेश एव सर्वेषामभिनिवेश-हेतुः ॥६९॥

"यतः, चक्षुर्भाजां फलमिदमहो यद्व्रजस्य प्रवेशे
गोभिः साकं सखिवलयितं दृश्यते भ्रातृयुग्मम् ।
युग्मे तस्मिल्लघुरिह मुखाम्भोजमस्मिन्मुरल्या
दीप्तिः किञ्चिन्निगमनकलाशालिनेत्रं च तत्र ॥७०॥

"अत्र चैवं ध्वनितम्,—

'धामागतस्य समये सखि ! धेनु-सङ्गि,-संगायतो विहरतो हसतश्च तस्य ।
किञ्चिद्विमृग्यदिव चञ्चलताञ्चितारं, हा ! रागिनेत्रमनु विध्यति मानसं नः ॥'७१॥

बलशाली एवं मालासमूह की विशिष्ट सुगन्धी के उपहार से युक्त है। उसी सुगन्ध से आकर्षित होकर दोनों ही के आसपास भ्रमरगण चक्कर लगा रहे हैं। भ्रमरगण झंकार करके दोनों ही की स्तुति कर रहे हैं। उस समय ऐसा प्रतीत होता है, मानों दोनों ही के शरीर में कोलाहल धारण कर अधिक परिमाण का कौतूहल ही प्रवेश कर रहा है। और दोनों भाइयों का शरीर क्रमशः गौर श्याम वर्ण का कहा गया है, एवं वस्त्र भी क्रमशः नील पीत वर्ण के कहे गये हैं। इसलिए यह राम रामानुज की जोड़ी गोसमूह के साथ यदि गोकुल (व्रज) की ओर आ जाती है, तब तो हमारा सारा दुःख दूर हो जाता है ॥६८॥

सत्य बात तो यह है कि, उन दोनों भाइयों का गोकुल के निकटवर्ती स्थान में प्रवेश ही, सबके अभिनिवेश का, अर्थात् तदाकारता का कारण है ॥६९॥

क्यों कि अहह ! नेत्रधारियों के नेत्रों का फल तो यही है जो कि व्रज प्रवेश के समय गैयाओं के साथ, सखाओं से घिरे हुए, दोनों भाई दिखाई पड़ते हैं, अर्थात् राम श्याम की जोड़ी का जिसने दर्शन कर लिया, उसने अपने नेत्रों का फल पा लिया। किन्तु किन्हीं किन्हीं भक्तों के मत में इन दोनों भाइयों के बीच में जब छोटे को देखा जाता है, उसमें भी उसके मुखकमल को, मुखकमल में भी मुरली की शोभा को, एवं मुरली से सुशोभित उसी मुखकमल में किंचिद् रहस्य विज्ञापन की कला में निपुण नेत्र को, अथवा गोपियों को किंचिद् मोहित करने की कला में निपुण नेत्र को, जब जिसने देख लिया, तभी नेत्रों का फल पा लिया ॥७०॥

इस अगले श्लोक में भी इसी प्रकार का भाव ध्वनित होता है, यथा—हे सखि ! वन से घर में आने के समय, सखा एवं धेनुगण को संग लेकर—गाते गाते, खेलते खेलते, हँसते हँसते श्रीकृष्ण जब दिखाई पड़ते हैं, तब चंचलता से सुशोभित तारका से युक्त, एवं स्नेह भरा उनका नेत्र, मानों कुछ खोई हुई वस्तु को ढूंढ़ता हुआ सा, हमारे मन को निरन्तर विद्ध करता रहता है। हाय ! क्या करें ? ॥७१॥

"तस्मात्—सा किल कुलजा कुलजा, नयने तस्याः परं नयने ।
वेणुविनोदी मदनः, स भवति यस्याः स्वयं मदनः ॥७२॥

"तदेवमघदमनेन तासां क्रमपरम्परातः परस्परं स्वविषयाभिलाषव्यञ्जना-सङ्गनं किञ्चिल्लज्जापर्ययमाचर्य तादृशरम्यस्वविद्याबलतारतम्यविदुरतया विदूरतोऽपि तमवधार्य परपरतः परार्ध्यं समर्ध्यमानां पुनर्वेणु-शिक्षां विलक्षणीकुर्वता सङ्कर्षणः केवलं लक्ष्याय कल्पयाञ्चक्रे । यत्र हि सर्वमेव युगपन्मुग्धतादिग्धं बभूव ॥७३॥

"यत्र श्रीव्रजदेवीभिरपि निज-भावव्यक्तिं शङ्कमानाभिः सङ्कर्षणं लक्ष्यं विधाय तद्-वर्णयामासे ॥७४॥ यथा—

'वेणोः शिक्षामथ रचयतोर्धेनुरक्षादिलक्ष्या-
न्नानारण्यं प्रति विहरतोर्बिभ्रतोर्यष्टिरज्जू ।
स्तम्भं लोले चलनमचले कुर्वतोरत्यपूर्वं
भ्रात्रोरासीद्धत तनुभृतां धर्मतो वैपरीत्यम् ॥'७५॥

"अत्र चैवं ध्वनितम्,—
'नूनमेवं विदधतोः सर्वेषां धर्म-पर्ययम् ।
कृष्णो मूलमसौ चास्मद्धर्ममुन्मूलयिष्यति ॥'७६॥

इसलिए वेणुविनोद परायण वह मदन, अर्थात् श्रीकृष्ण ही स्वयं जिसके मोहित करनेवाले हैं, या प्रीतिपूर्वक हर्षित करनेवाले हैं, निश्चित रूप से वह कुलवधू ही कुलवधू है, एवं उसके नेत्र ही केवल सार्थक नेत्र कहाने के अधिकारी हैं ॥७२॥

इस प्रकार अघासुरदमनकर्ता श्रीकृष्ण ने उन गोपियों की क्रम परम्परा से आपस में स्वकीय विषयाभिलाष प्राकट्य के संमेलनपूर्वक, किंचित् लज्जा के क्रम का व्यतिक्रम कराकर, उस प्रकार की रमणीय निज विद्या बल के तारतम्य से सर्वज्ञ होने के कारण, दूर से ही उस मोहन, आकर्षण आदि कार्य को जानकर, अथवा दूर से ही बलरामजी को देखकर, निश्चय कर, एवं उत्तरोत्तर श्रेष्ठता की पराकाष्ठा पर पहुँची हुई, या अन्तिम संख्या से बढ़ी हुई वेणु शिक्षा को पुनः विलक्षण करते हुए, श्रीबलरामजी केवल लक्ष्य के लिए कल्पित कर लिए। क्योंकि जिस वेणु शिक्षा में सब पदार्थ ही निश्चितरूप से एकसाथ विमुग्धता से परिपूर्ण हो गये थे ॥७३॥

और जहाँ पर श्रीव्रजदेवियों ने भी अपने अपने भाव के प्रकाश की आशंका करते हुए, श्रीबलरामजी को लक्ष्य बनाकर, उस विषय का वर्णन किया है—॥७४॥

यथा—दोनों भ्राता जब वेणुशिक्षा, एवं गोरक्षा आदि के बहाने अनेक वनों में विहार करते थे, तथा यष्टि (लकुट), रज्जू धारण किये हुए थे, और अभिलाषयुक्त जन में अथवा चंचल जल में स्तम्भभाव को, एवं पर्वत आदि स्थावर पदार्थ में अत्यन्त अपूर्व चंचलता को स्थापित कर रहे थे, तब अहह ! देहधारी प्राणियों की स्वाभाविक धर्म से इस प्रकार की विपरीतता संघटित हो गई थी ॥७५॥

इस पूर्वोक्त श्लोक से गोपियों ने यह ध्वनि निकाली कि—इस प्रकार सभी के धर्म की विपरीतता का विधान करते हुए दोनों भाइयों के बीच में, निश्चितरूप से यह श्रीकृष्ण ही मूल कारण होकर, हमारे धर्म को जड़ से उखाड़ देगा ॥७६॥

"तदेवं भ्रातृभ्यां संगाने युगपदेव सर्वेषां मोहनमूहमानेनानुजेन विचारितम्,—'हन्त ! तासामेव मोहनाकर्षणे सुष्ठु ममाभीष्टे, तत्रापि राधाभिधायाः। तस्मात् पृथग्भवन् पृथगेव यथा जीवानां जातिर्यथायुक्तं तयोर्द्वयमेकं वा वहति, क्रमशो व्यक्तिरपि तथा शिक्षार्थं प्रयतिष्ये । तच्च तत्तन्मात्रातिशयिताभीप्सित - स्वरादिमर्म - समुद्भावनया सम्भविष्यति' इति ॥७७॥

"तदेवं विचारयता तेन परीक्षापर्यालोचनार्थमुत्तरमुत्तरां वश्यतामतीततराण्यवराणि सत्वानि क्रमशः स्ववशतामानीतानि, तथापि तत्प्रेयसीभिश्चित्तक्षोभमात्रं तु लेभ एव ॥७८॥

"तत्र यथा प्रथमतो गाः प्रति तद्गानमवकर्णितम्, तथा वर्णितम्; ॥७९॥ यथा—

'हरेर्वक्त्रं वेणुध्वनिमिषतया वर्षति सुधां
पिबत्येतां गव्या यदनु रसना-कर्णयुगलम् ।
अहासीत् प्रस्तब्धा निजविषयमन्या तु रसना
किमेतत् किं नैतद्भवति किमिवैतत् किमिति वा ॥'८०॥

अतएव इस प्रकार हम दोनों भाइयों के उत्तम रूप से गान करने पर, सभी प्राणियों के मोहित होने की संभावना है। इस प्रकार का तर्क करते हुए श्रीकृष्ण ने विचार किया कि—अहह ! केवल उन गोपियों के ही मोहन, एवं आकर्षण मेरे अभीष्ट (वांछित) हैं। उनमें भी श्रीराधिका नामक गोपी का ही मोहन, एवं आकर्षण अति वांछनीय है। इसलिए जीवमात्र के बीच में ब्राह्मण आदि जाति जिस प्रकार पृथक् ही है, उसी प्रकार मैं भी सबसे पृथक् होकर, वह जीवों की जाति योग्यतानुसार मोहन एवं आकर्षण के मध्य में से दोनों को, किंवा एक को धारण कर सके, और क्रमशः उन दोनों का प्रकाश भी जिस प्रकार हो सके, उसी प्रकार शिक्षा के लिए प्रयत्न करूँगा। और वह मोहन एवं आकर्षण भी, इन्द्रियों की वृत्ति को अत्यन्त अभिलषित स्वर आदिकों के मर्म, अर्थात् सार या तात्पर्य के अच्छी प्रकार प्राकट्य से ही हो सकेगा ॥७७॥

इस प्रकार विचार करते हुए श्रीकृष्ण ने परीक्षा की पर्यालोचना के लिए, जो प्राणी उत्तरोत्तर वश्यता को लाँघ गये हैं, अर्थात् जो एकसाथ वशीभूत नहीं हो सकते, उन पशु आदि प्राणियों को भी क्रमशः अपने वशीभूत कर लिया, तो भी श्रीकृष्ण की अति प्रिय गोपियों ने तो वशीभूत न होकर, केवल चित्त के क्षोभ मात्र को ही प्राप्त किया ॥७८॥

उन प्राणियों के बीच में जिस प्रकार पहले से गोगण के प्रति, श्रीकृष्ण का वंशीगान श्रवण किया, उसी प्रकार गोपियों ने वर्णन किया है—॥७९॥

यथा—अरी सखियो ! देखो, श्रीकृष्ण का मुखारविन्द वंशी की ध्वनि के बहाने अमृत की वर्षा कर रहा है। गोसमूह प्रेम से इस अमृत को पी रहा है। जिस पानरूप कार्य में दोनों कान ही जिह्वा बने हुए हैं। किन्तु दूसरी वास्तविक जिह्वा ने सम्पूर्ण रूप से स्तब्ध होकर निज विषय को, अर्थात् तृण आदि को त्याग दिया है। अथवा यह क्या अमृत है, यह क्या मेरे आस्वादन करने योग्य नहीं है, यह अमृत किस प्रकार प्राप्त हो सकता है, और यह अमृत किसके लिए है ? इत्यादि विचारपूर्वक स्तब्ध होती हुई जिह्वा ने समस्त खाद्य पदार्थों का परित्याग कर दिया ॥८०॥

"अत्रापि ध्वनितमिदम्,—

'गवामस्माकं च श्रवणमनु वेणोः समदशा
यदप्येषा जाता तदपि किल भेदो विलसति ।
अमूस्तद्वक्त्रेन्दुं सपदि कलयन्ति प्रतिपदं
वयं नैतद्विद्मः क्व भवति युगे तस्य कलनम् ?' ॥८१॥

"अथापरेद्युश्चापरां शिक्षामधिकृत्य वन्यान्यपि सत्वानि समाहृत्य मोहितानि ॥८२॥

"यथा—वंशः सोऽयं तु वीतंसः कंसशत्रोरितीर्यते ।
तेन शंसनतो यान्ति विध्वंसं मृग-पक्षिणः ॥८३॥

"तदपि ताभिरुद्भावितम्; यथा—

'वृन्दारण्यं प्रथयति भुवः कीर्तिमत्र स्वयं हि
श्रीमान् कृष्णो विहरति पदाम्भोज-लक्ष्मीं वितन्वन् ।
वेणोर्वाद्ये नटनघटनं बर्हिणः सभ्यभावं
वन्याः सर्वे ययुरिति सदा रङ्गतां यज्जगाम ॥'८४॥

"अत्र चेदं ध्वनितम्,—

'वृन्दारण्यस्य पुण्यं व्रजितुमिह न नः शक्तिरस्तीति चास्तां
यद्बर्ह्याद्याश्च भान्ति प्रतिपदसुकृतप्रोदयादस्मदर्ह्याः ।

इस श्लोक में भी गोपियों ने यह ध्वनि निकाली है कि—वंशी के श्रवण के अनन्तर गैयाओं की और हमारी यद्यपि यह समान (एकसी) ही दशा हो गई है तो भी, निश्चितरूप से कुछ भेद विराजमान है। क्योंकि ये गैयायें तो पद पद पर श्रीकृष्ण के मुखचन्द्र को तत्क्षण निहारती रही हैं। हम तो यह भी नहीं जानतीं कि हमारे लिए श्रीकृष्ण के मुखचन्द्र का दर्शन कौन से युग में होगा ? अर्थात् हमसे तो गोगण भी भाग्यशाली है ॥८१॥

तदनन्तर दूसरे दिन दूसरी शिक्षा का अवलम्बन कर, बनवासी सभी प्राणियों को एकसाथ मोहित कर दिया ॥८२॥

यथा—अरी सखियो ! श्रीकृष्ण की यह वंशी तो पशु पक्षियों के बाँधने का जालरूप प्रतीत होती है। क्योंकि जिसके बजते ही पशु पक्षीगण इसमें फँस जाते है, अर्थात् विमुग्ध हो जाते हैं ॥८३॥

तो भी गोपियों ने इसका यह भावार्थ निकाला है, यथा—अरी सखियो ! देखो, यह श्रीवृन्दावन, भूमि की कीर्ति को विख्यात कर रहा है, क्योंकि यहाँ पर श्रीमान् कृष्णचन्द्र अपने पादपद्मों की शोभा का विस्तार करते हुए स्वयं विहार करते हैं, और देखो ! वंशी बजते समय मयूरगण नृत्य के कार्य को सँभालते हैं, एवं वन में उत्पन्न होने वाले सभी पशु पक्षी आदि सभ्यभाव को प्राप्त हो जाते हैं। इस कारण यह वृन्दावन सदैव नृत्यशाला के भाव को प्राप्त होता रहता है, अर्थात् सदैव नृत्यशाला बना हुआ है ॥८४॥

इस श्लोक में भी गोपियों ने यह ध्वनि निकाली है कि—श्रीवृन्दावन के पुण्य को अर्थात् सौभाग्य को प्राप्त करने के लिए हमारी शक्ति नहीं है। इस बात को तो दूर रहने दो। क्योंकि जिस वृन्दावन के मयूर आदि भी प्रतिक्षण पुण्योदय के कारण, हमारे पूज्य होकर शोभा पा रहे हैं। हम तो घर में रहने वाले

गृह्याणां गृह्यकाः स्म स्फुटमिह तदलं गृह्यकेभ्यश्च गर्ह्या-
स्ते तस्य स्वैरमीक्षां विदधति न तदाभासमण्वप्ययाम ॥'८५॥

"अथ दिनान्तरेऽपि तेभ्यो विच्छिद्य हरिण्यस्तथा कृताः । तच्च पूर्ववत्ताभिर्वर्णितम्,—॥८६॥

'आश्चर्यं सखि कृष्णसार-दयितावृन्दं मिलद्भर्तृकं
जात्या मूढमपि व्यतीत्य भवतीरप्येवमीहां दधे ।
श्रुत्वा वेणुकलं हरिं प्रति गतिस्तद्रूपतश्चित्रता
तस्याऽप्यर्चनमुल्लसत्प्रणयतस्तत्रापि नेत्राञ्चलैः ॥'८७॥

"ध्वनितमपीदम्,—

'वयं जात्या नार्यः पुरुगुणवतामादृततमा-
स्तथा भर्तारस्तत्प्रणय-नय-सिद्ध-व्रजभुवः ।
हरिण्यो नेदृश्यस्तदपि पतिभिस्तं ययुरहो
धिगस्मान् दुष्पुण्या दधिम नहि तासामपि तुलाम् ॥'८८॥

"दिनान्तरे तु विशिष्य विहङ्गमास्तथाभावं गमिताः; तत्र च ताभिरभिहितम्,—

'अस्मिन् वने तु विहगा मुनयः प्रदिष्टाः, कृष्णतु तद्गुरुरिति प्रततं प्रतीमः ।
नैवान्यथा तदमुना किमपि प्रगीतं, मौनव्रतेन शृणुयुः परितो निविष्टाः ॥'८९॥

पशु पक्षियों से भी पराधीन हैं, इस विषय में स्पष्ट रूप से और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि हम तो ग्रामीण पशु पक्षियों की अपेक्षा भी निन्दनीय हैं। कारण यह है कि वे तो श्रीकृष्ण का दर्शन स्वतन्त्रतापूर्वक करते रहते हैं, और हम तो उनके अणुमात्र आभास को भी प्राप्त नहीं कर पाती हैं ॥८५॥

अनन्तर दूसरे दिन भी गृहस्थ-पशु-पक्षियों से पृथक् करके श्रीकृष्ण ने हरिणियाँ भी मोहित करके वशीभूत करलीं। गोपियों ने पहले की भाँति उसका भी वर्णन किया है— ॥८६॥

यथा—हे सखि ! आश्चर्य की बात तो यह है कि, कृष्णसार मृगों का पत्नीसमूह अपने अपने पतियों से मिलकर, जाति (स्वभाव) से मूर्ख होकर भी, आप सबका अतिक्रमण करके इस प्रकार की चेष्टा करता है कि, यह हरिणी समूह वंशी की सुमधुर ध्वनि को सुनकर, श्रीकृष्ण के निकट चला जाता है। श्रीकृष्ण के रूप दर्शन से चित्र लिखा सा खड़ा रह जाता है, एवं प्रगट होते हुए प्रेम के कारण श्रीकृष्ण पर ही कटाक्ष निक्षेप करके, उसी के द्वारा श्रीकृष्ण का पूजन करता रहता है ॥८७॥

गोपियों ने पूर्वोक्त श्लोक से यह ध्वनि भी निकाली है कि—हम सब जाति से नारी हैं, अधिक गुणवान् जनों के द्वारा अतिशय आदरणीय भी हैं, तथा हमारे पतिगण भी श्रीकृष्ण की प्रेममयी नीति द्वारा प्रसिद्ध व्रजभूमि में उत्पन्न होने वाले व्रजवासो हैं। किन्तु ये हरिणियाँ ऐसी नहीं हैं, तो भी अपने अपने पतियों के सहित श्रीकृष्ण को प्राप्त कर लेती हैं। अतः हमारे जैसी पापिनियों को धिक्कार है। क्योंकि हम सब उन हरिणियों की समानता को भी न धारणकर सकीं, अर्थात् हमारी अपेक्षा तो ये हरिणियाँ ही सौभाग्यशालिनी हैं ॥८८॥

दूसरे दिन तो विशेष करके पक्षी भी वेणुनाद के द्वारा विमुग्ध भाव को प्राप्त कर दिये। उस विषय में गोपियों ने भी कहा है कि—अरी सखियो ! देखो, इस श्रीवृन्दावन में जितने भी पक्षी हैं, वे सब मुनि

"अत्र तु सनिर्वेदं ध्वनितम्,—

'यस्मादसौ मुनिस्ते च मुनयः सर्वतः स्थिताः ।
तस्मात् काञ्चित् स्पृहामत्र नाञ्चितां कर्तुमर्हथ ॥'६०॥

"अथ दिनान्तरे देव्योऽपि तथा कृताः; तत्र ताभिर्वर्णनं यथा,—

'वेणूद्गानगुणेन तस्य परितः कृष्टे विमानोत्करे
देव्यो रूपविलासमोहन-कलामासाद्य मोहं गताः ।
यत्रेदं न विदुः किमेतदभितः पूर्वं श्रुतं वीक्षितं
वेति स्रस्तमभूत् कचादि किमु वा नैवेत्यपि प्रायशः ॥'६१॥

"अत्र च ध्वनितम्,—

'हन्त देव्योऽपि यत्रैतामवस्थामापुरञ्जसा ।
तदीयव्रज-भूबाला वराक्यस्तत्र का वयम् ?' ॥६२॥

"तदेवं चेतनांस्तथा वितथचेतनान् विधायाचेतनानपि चेतनानिवाचरितुमारभते स्म । अवलमर्यादया पर्याप्ताः स्फुटममूराक्रष्टुमचेतनमतिक्रम्यापि दुःशका इति ॥६३॥

कहे गये हैं । एवं श्रीकृष्ण ही इन सबके गुरु हैं । इस बात को हम विस्तारपूर्वक जानती हैं । यदि ऐसी बात न होती तो, ये सब श्रीकृष्ण के द्वारा वंशी में गाये गये किसी भी गायन को, श्रीकृष्ण के चारों ओर बैठकर, मौनव्रतपूर्वक नहीं सुन सकते थे ॥८९॥

इस श्लोक में तो स्वावमाननपूर्वक यह ध्वनित किया है कि, जिस कारण ये श्रीकृष्ण मुनि हैं, और ये चारों ओर बैठे हुए पक्षी भी मुनिजन हैं, उस कारण से तुम सब इन श्रीकृष्ण के विषय में किसी भी इच्छा को प्राप्त करने के लिए योग्य नहीं हो ॥६०॥

अनन्तर दूसरे दिन स्वर्गीय देवियाँ भी वेणुनाद से विमुग्ध करदीं । उस विषय में गोपियों के द्वारा वर्णन, यथा—श्रीकृष्ण के वेणुगान के गुण के द्वारा चारों ओर से विमान समूह जब आकर्षित कर लिए गये, तब विमानों में बैठी हुई देवियाँ, श्रीकृष्ण के रूप, विलास, एवं मोहन कला को पाकर मोहित हो गई । और जिस मोहावस्था में वे देवियाँ यह चारों ओर क्या हो रहा है, पहले क्या सुना था, अथवा क्या देखा था ? इसी प्रकार हमारे केश, अलंकार आदि भी स्खलित हो गये हैं या नहीं, इत्यादि प्रायः कुछ भी न जान सकीं ॥६१॥

इस श्लोक में भी यह ध्वनित किया है कि—हाय ! हाय ! जिस वेणुध्वनि में किंवा श्रीकृष्ण के विषय में दिव्य देवियाँ भी, जब अनायास में उस मोहावस्था को प्राप्त हो गईं, तब उस विषय में श्रीकृष्ण की व्रजभूमि में रहने वाली बिचारी हम व्रजबालायें कौन गिनती में हैं ? ॥६२॥

अतएव इस प्रकार श्रीकृष्ण ने वंशीध्वनि के द्वारा चेतन पदार्थों को चेतनारहित बनाकर, अचेतन पदार्थों को भी चेतनों की तरह करने के लिए उपक्रम किया । ये सब गोपियाँ अचल पदार्थों की मर्यादा से व्याप्त हैं, अर्थात् अचल की तरह हिलती डुलती नहीं हैं, यह बात स्पष्ट है । अतः अचेतन को अतिक्रमण करके भी इन सबका आकर्षण करना कठिन है ॥६३॥

"तत्र नदी-चरितं ताभिरेवं विचारितम्,—

'द्वीपिन्यः श्रवणेन वेणुरणितैः स्तम्भं गताः सभ्रमाः
फुल्लत्पूरतया स्फुरद्घनरसा हंसादि-गीः-शिञ्जिताः ।
उन्मर्याददशामिता मुररिपुं दूरेऽभिसृत्यागता
भङ्गालोलभुजैः सरोजवलयस्तस्यांघ्रियुग्मं दधुः ।।'६४।।

"अत्र चेदं ध्वनितम्,—

'नद्यः सिन्धुपतिव्रता हरि हरि प्रत्यक्तमर्यादिका-
स्तं विद्रुत्य मिलन्ति चेदहह का दीनास्तदानीं वयम् ?
किन्तु स्वैरमपूरुढूढसुकृता नास्मासु तत्तुल्यता
स्वल्पापीति निवृत्तिरेव सुखतो युक्ताथवा दुःखतः ।।'६५।।

"दिनान्तरे चाम्भोदवर्णनं यथा—

'मुरारेरम्भोदः सुहृदिति न वा केवलरुचा
स्वसादृश्यात् किन्तु व्यतिकृतहितत्वादपि सदा ।
असौ मल्लारेण प्रबलयति तं वेणुजनुषा
स चायं छायाभिः प्रशमयति तापं तदुपरि ।।'६६।।

उन अचेतन पदार्थों में पहले नदी का चरित गोपियों ने इस प्रकार विचारा कि— अरी सखियो ! देखो, समस्त नदियाँ, वेणुध्वनि के श्रवण के कारण स्तम्भित हो गईं, उनमें भँवर पड़ने लग गये, प्रवाह के प्रफुल्लित होने से उनका जल स्फूर्ति पाने लग गया, हंस आदि जलचर पक्षिया की सुमधुर वाणी से उनके आभूषणों का सा शब्द हो रहा था, वे उन्माद दशा को प्राप्त हो गई थीं, एवं दूर चलकर श्रीकृष्ण के निकट आ गई थीं, और पश्चात् उन नदियों ने अपनी तरङ्गरूप चंचल भुजाओं द्वारा, कमलरूप उपहार लेकर श्रीकृष्ण के दोनों चरणों को धारणकर लिया ।।६४।।

इस श्लोक में भी यह ध्वनि निकाली कि—हाय ! हाय ! समुद्र की पतिव्रतानारी नदियाँ ही जब मर्यादा को त्यागकर, दौड़कर श्रीकृष्ण से मिलती हैं, तब अहह ! हम जैसी दीन दुःखी नारियाँ कौन हैं ? श्रीकृष्ण के बिना कैसे रह सकती हैं ? किन्तु ये नदियाँ तो स्वतन्त्रता पूर्वक अत्युच्च पुण्य को प्राप्त कर चुकी हैं । अतः हम सब में थोड़ी सी भी उनकी समानता नहीं है । इसलिए सुख से अथवा दुःख से निवृत्त होना ही उचित है ।।६५।।

दूसरे दिन मेघों का वर्णन, यथा—अरी सखि ! यह मेघ केवल कान्ति से ही अपने सदृश होने के कारण श्रीकृष्ण का मित्र नहीं है, किन्तु आपस में सर्वदा हितकारी होने के नाते भी सच्चा मित्र है। देखो ! श्रीकृष्ण जब वेणु से उत्पन्न मल्लार राग से उस मेघ को प्रबल कर देते हैं, तभी वह मेघ श्रीकृष्ण के ऊपर अपनी छाया से सूर्य के ताप को शान्त कर देता है ।।६६।।

अत्र च ध्वनिः,—

'हंहो पश्य जडोऽपि वारिदचयः सर्वोपरि स्थाय्यपि
च्छायाभिः स्वरसैश्च तं परिचरत्यन्तश्चरप्रेमतः ।
कष्टं सुष्ठु वयं तदेकशरणप्राणस्थितिम्मन्यता
गण्यास्तस्य विना नु सेवनममूर्जीवाम धिग् जीवितम् ॥'९७॥

"अहो ! शिलामय्यपि शैलजातिः सुखमेवं भजते । यथा—

श्रीमान् गोवर्धनाद्रिः स्फुटमयमभितः श्रीहरेर्दासवर्यः
कृष्णे रामेण यस्मात्तमनु मुरलिकावादनायाधिरूढे ।
लब्धैर्यः सात्त्विकाभैश्चरणसरसिजस्पर्शजैरंकुराद्यैः
सर्वाङ्गीणद्रवैरप्यनुग-सखिधनं सेवते तं चिराय ॥९८॥

आस्तां गोवर्धनाद्रेः पुलकमुखदशा श्रूयतामन्यदेतत्
चित्रं चेन्न प्रतीतिर्भवति किल गिरौ दृश्यतां चापरत्र ।
यः स्निग्धत्वं समन्ताद्दधदिह मुरलीगानतश्चिक्कणाख्या-
मागाद्यत्रास्ति साक्षिप्रतिपदमुदितं कृष्ण-मुख्यांघ्रि-चिह्नम् ॥९९॥

"अत्र चेदं ध्वनितम्,—

'महतां पदवीमाप्तुं वांछा यद्यपि धृष्टता ।
तथाप्यनुगतिस्तेषां भाति चेदस्ति दृष्टता ॥'१००॥

इसमें भी यह ध्वनि है कि—अरी सखि ! देख, यह मेघसमूह जड़ होकर भी, एवं सबके ऊपर स्थित होकर भी, केवल आन्तरिक प्रेम से अपनी छाया द्वारा तथा अपने जल द्वारा श्रीकृष्ण की सेवा कर रहा है। किन्तु कष्ट की बात तो यह है कि—हम सब तो "श्रीकृष्ण के द्वारा ही गोपियों के प्राणों की स्थिति सुरक्षित है" इस प्रकार की मान्यता के कारण उन्नतम कोटि में गिनी जाती थीं, तो भी श्रीकृष्ण की सेवा के बिना हम जीवित हैं, इसलिए हमारे जीवन को धिक्कार है॥९७॥

अहह ! शिलामयी पर्वत जाति भी इसी प्रकार के सुख को प्राप्तकर रही है। यथा—अरी सखियो ! देखो, यह श्रीमान् गोवर्धन पर्वत स्पष्ट रूप से श्रीकृष्ण का प्रधान दास बना हुआ है। क्योंकि वंशी बजाने के लिए श्रीबलरामजी के सहित श्रीकृष्ण जब इस पर चढ़ जाते हैं, तब यह सात्त्विक गुण या सात्त्विक भावों के समान श्रीकृष्ण के चरण कमलों के स्पर्श से उत्पन्न हुए अंकुर आदिकों के द्वारा, एवं सर्वाङ्गव्यापी झरनों के जल से अनुगत सखा, एवं गोधन सहित श्रीकृष्ण की चिरकाल तक सेवा करता रहता है॥९८॥

श्रीगोवर्धन पर्वत की रोमांच आदि दशा को तो दूर रहने दो। दूसरा यह आश्चर्य सुनो। यदि विश्वास न हो तो, सत्य बात को दूसरे पर्वत में देख लो। देखो, जो पर्वत यहाँ पर चारों ओर से स्निग्ध-भाव को धारण करता हुआ, मुरली के गायन से चिक्कण नाम को प्राप्त हो गया, और जिस पर्वत में श्रीकृष्ण का प्रधान चरणचिह्न उदित (प्रगट) होकर प्रतिक्षण साक्षी दे रहा है॥९९॥

इसमें भी गोपियों ने यही ध्वनि निकाली है कि—यद्यपि महात्माओं की पदवी को प्राप्त करने की इच्छा करना भी धृष्टता है, तथापि शास्त्रों का अवलोकन, किंवा पूर्वाचार्यों के आचरण का दर्शन यदि किया है, तब तो उनकी अनुगति ही सुशोभित होती है॥१००॥

'तदेवं तासामतस्मिंस्तद्भावनां भावयन्नुन्माददशावशतां परिकलय्य विह्वलहृदयः सदयतया स मधुकण्ठः क्षणं गद्गदकण्ठः संवस्त्रितमुखः समस्तमनु न्यस्त-निजासुखः पुरु रुरोद, ॥१०१॥

अनूदितवांश्च श्रीराधानिबद्धमबद्धं पद्यमेकम्,—

'वेणोः पुण्यमतीव हन्त यदसावस्त्री च तस्याधरं
गोपीनां स्वमपि ह्रियं परिहरन् शश्वत् पिबन्नर्दति ।
तृप्त्या छर्दिनिभादमुष्य रणितान्नद्योऽपि फुल्लन्त्यमू-
र्यद्वंश्या नग-जातयोऽपि मधुभिर्बाष्पं मदाद्बिभ्रति ॥'१०२॥

''ध्वनितं चेदम्,—'याचेऽहं वंशदेहं न तु कुलजवधूदेहमाद्ये हि कृष्ण-
स्तृष्णग्भावेन सज्जन् बहुरुचि विहरन् दुर्लभः स्यात् परत्र ।
वंशीभावे चिदंशप्रशमनवशताविस्मृतात्मा यदि स्यां
तेन ज्ञायेय सेयं मम विरहद्रुतादारुतामागतेति ॥'१०३॥

''ततश्चेतसि चेदं विचारितम्,—
'गण्डं चुम्बसि कुण्डलस्थमकरि ! त्वं तस्य वंशि ! त्वम-
प्यास्यं लेक्षि तथाङ्गमङ्गमसकृन्माले ! त्वमालिङ्गसि ।

इस प्रकार उन गोपियों की अयोग्य वस्तु में श्रीकृष्ण की भावना को विचारता हुआ, एवं उनकी उन्माद दशा की विवशता को अच्छी प्रकार जानकर, दयालुता के कारण विह्वल हृदयवाला वह मधुकण्ठ क्षणभर गद्गद कण्ठ होकर वस्त्र से मुख ढककर, सभी सभासदों को शोकाकुल करने के अनन्तर, स्वयं दुःखी होकर अधिक रुदन करने लग गया ॥१०१॥

और श्रीराधिका द्वारा रचित, निरर्थक अर्थात् प्रयोजन की बातों से शुन्य एक श्लोक का अनुवाद करता हुआ बोला—श्रीराधिका के श्लोक का अनुवाद यह है कि—अहह ! इस वेणु का पुण्य बहुत है, क्योंकि यह वेणु पुरुष होकर भी, गोपियों के निजी धन स्वरूप श्रीकृष्ण के अधरामृत को लज्जा छोड़कर, निरन्तर पीता हुआ शब्द कर रहा है। पश्चात् अधिक तृप्ति के कारण वमनतुल्य इसके शब्द से ये नदियाँ भी फूली नहीं समाती हैं। और इस वेणु के वंशवाली वृक्ष जातियाँ भी मधुप्रवाह के द्वारा सहर्ष अश्रु धारण कर रही हैं ॥१०२॥

श्रीराधिका निर्मित पूर्व श्लोक में श्रीराधिका ने यह ध्वनि भी निकाली है कि—मैं तो वंश (बाँस) के शरीर की याचना प्रभु से करती हूँ, किन्तु विशुद्धकुल में उत्पन्न हुई वधू के शरीर की याचना नहीं करती। क्योंकि पहल वंश शरीर में, अर्थात् बाँस की बनी हुई वंशी में तो श्रीकृष्ण सतृष्ण भाव से आसक्त होकर, अधिक रुचिपूर्वक विहार करते हुए सुलभ हैं, किन्तु परत्र अर्थात् दूसरे विशुद्धकुलोत्पन्न वधू के देह में वे नितान्त दुर्लभ हैं। यदि वंशी रूप से उत्पन्न होने पर चैतन्यांश के नष्ट हो जाने के कारण, मैं अपने स्वरूप को भी भूल जाऊँ, तो भी श्रीकृष्ण तो सर्वज्ञता के कारण यह जान ही लेंगे कि—वह श्रीराधिका मेरे विरह से संतप्त होकर, काष्ठभाव को प्राप्त हो गई है, अर्थात् वंशी बनकर अवतीर्ण हो गई है ॥१०३॥

तदनन्तर श्रीराधिका ने अपने मन में यह विचार किया कि—हे कुण्डलस्थितमकरि ! (श्रीकृष्ण-मकरकुण्डले !) तू तो श्रीकृष्ण के कपोलों का चुम्बन कर रही है। हे वंशि ! तू भी उनके श्रीमुख का

तद्युक्तं यदतीतसर्वविधिका यूयं वयं तु स्फुटं
हा तत्तद्विधिभाग्विचारहतकेनाभीप्सिताद्वञ्चिताः ॥१०४॥
अहो सुमनसो मुक्ता वज्राण्यपि हरेरुरः ।
न त्यजन्ति वयं तत्र का वा स्मरवशाः स्त्रियः ? ॥१०५॥
चेन्न सङ्गमपरस्य विधत्ते, श्याम एष न तु तर्हि दुनोमि ।
अङ्कपालयति हा गतशङ्कः, सङ्गिनः कथमिदं कलयानि ?' इति ॥१०६॥

"तदेतत्पर्यन्तमन्तरस्पर्शिरागपरीते तस्य वेणुगीते कोऽपि सम्भ्रमः सर्वमेव व्रजं निघ्नं कुर्वन् विघ्नमाचरति स्म । स तु प्रातः प्रस्तोष्यते । इत्यञ्जलिं बद्ध्वा पुनरुवाच,—॥१०७॥

"अस्य त्वदीयकान्तस्य राधे ! जानाति कोऽपि न ।
प्रयासाभ्यन्तरस्थायित्वन्निमित्तप्रयासताम् ॥"१०८॥

तदेवं कथायां समाप्तप्रथायां सर्वे स्वस्वावासमासन्नाः ॥१०९॥

॥ इति श्रीश्रीगोपालचम्पूमनु वेणुशिक्षामिष-प्रेयसीभिक्षा नाम सप्तदशं पूरणम् ॥१७॥

आस्वादन कर रही है, तथा हे वनमाले ! तू तो वनमाली के अंग प्रत्यंग का बारंबार आलिगन कर रही है। यह सब तुम्हारे लिए उपयुक्त ही है। क्योंकि तुम सब तो सबसे अधिक भाग्यशालिनी हो, अथवा सब प्रकार के विधि निषेध को लाँघ चुकी हो। किन्तु हाय ! हमको तो स्पष्ट ही उस उस प्रकार की शास्त्रीय विधि के सेवन करनेवाले निन्दित विचार ने अभिलषित पदार्थ से वंचित कर दिया, अर्थात् ठग लिया ॥१०४॥

अहह ! आश्चर्य तो यह है कि—पुष्प समूह, मोतियों की माला, एवं हीरा, पन्ना आदि जवाहरात भी श्रीकृष्ण के वक्षःस्थल को नहीं त्यागते हैं, फिर उस विषय में काम (प्रेम) वशवर्तिनी हम स्त्रियाँ कौन गिनती में हैं ? ॥१०५॥

यह श्यामसुन्दर यदि दूसरे का संग नहीं करते हैं, तब तो मैं किंचिद् भी उपतप्त नहीं होती हूँ। किन्तु हे सखि ! खेद तो इस बात का है कि, यह अपने संग के सखाओं को निःशंक होकर आलिङ्गन करता है। मैं इसको कैसे सह सकती हूँ ? ॥१०६॥

बस, यहाँ तक अन्तःकरण को स्पर्श करनेवाले राग से युक्त, श्रीकृष्ण का वेणुगीत जब हो रहा था, तभी किसी सम्भ्रम ने अर्थात् हड़बड़ी ने सम्पूर्ण व्रज को अधीन करते हुए एक विघ्न मचा दिया। वह सम्भ्रम प्रातःकाल की कथा में प्रस्तुत किया जायगा। इस प्रकार कहकर अंजलि बाँधकर मधुकण्ठ पुनः बोला—॥१०७॥

हे श्रीमति ! राधिके ! ये तुम्हारे प्रियतम तुम्हारे मिलने के लिए जो प्रयास करते हैं, वह भी प्रयास के भीतर ही स्थायी रहता है, अर्थात् साधारण जनों के प्रयास की तरह सबको दिखाई नहीं पड़ता, अतः उस प्रयास के भाव को कोई भी जान नहीं पाता ॥१०८॥

इस प्रकार विस्तृत कथा की समाप्ति के बाद, सभी श्रोतागण अपने अपने निवास स्थान पर पहुँच गये ॥१०९॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीगोपालचम्पूकाव्ये वेणुशिक्षामिष-प्रेयसीभिक्षानामकं
सप्तदशं पूरणं सम्पूर्णम् ॥१७॥

अथाष्टादशं पूरणम्

इन्द्रमखभङ्गो गोवर्धनपूजनं च

अथ प्रभाते सदसि व्रजेशितु,-र्महाप्रभावेषु विभातपङ्क्तिषु ।
आनर्च्छ सामोदमुदश्रुकण्ठतां, स स्निग्धकण्ठः कथयाम्बभूव च ।।१।।

"अथ तस्मिन्नाश्विनावशेषे लब्धविशेषे यज्ञयोग्यवेशे व्रजाद्बहिःप्रदेशे सर्व एव पर्वणा सान्द्रानन्दव्रजा इव सप्रजा व्रजेन्द्रादयः सम्भ्रान्ताशयप्रायतया चरन्तः सुरेन्द्रयागयोगमाचरन्तः स्थानादिसञ्चिक्रियमाणानादिशन्तः स्व-स्व-वसतिं विहाय वसतिं बहिर्वसन्ति स्म ।।२।।

"तदा च कदाचिदेकस्यां सन्ध्यायां गोचारणभूभागतः समागतः सङ्कर्षणसहचारितया लब्धहर्षः सकुतुकतृष्णः श्रीकृष्णस्तदीयचरितमालोचितवान् । तत्रैव च प्रभूतकुतुकाकूत-सम्भूततया वसति स्म ।।३।।

"तदपि च यदपि पूर्वपूर्वसंवत्सरेषु दृष्टमित्यपूर्वदृष्टं न भवति, तथापि सम्प्रति प्रौढताप्रकाशतः शतमन्युं प्रति मन्युं जनयन् जनकादिषु प्रणयमयकोपं ज्ञापयन्नज्ञानत इव जिज्ञासाञ्चक्रे, तत्र तत्र कारणञ्चेदं चिन्तयाञ्चक्रे । यद्यपि शतपर्वपाणिरेवं गर्वायते,—'एते

अठारहवाँ पूरण

इन्द्रयज्ञभङ्ग और गोवर्धनपूजन

इस अठारहवें पूरण में इन्द्रमानमर्दन, एवं गोवर्धनमानवर्धन वर्णित होगा। अनन्तर प्रातःकाल में श्रीव्रजराज की सभा में महाप्रभावशाली गोपगणों की पंक्ति जब सुशोभित हो रही थी, तब वह स्निग्धकण्ठ गद्‌गदकण्ठ होगया, और हर्षपूर्वक कथा कहने लगा ।।१।।

पश्चात् उस आश्विन मास के समाप्त हो जाने पर, अर्थात् कार्तिक मास में, अन्य महीनों की अपेक्षा विशेषता को प्राप्त हो जाने पर, यज्ञ के योग्य वेश वाले व्रज के बाहिरी स्थान में, उत्सव के कारण घने आनन्द समूह से भरे हुए, पुत्र पौत्रादिरूप प्रजा के सहित श्रीव्रजराज आदि सभी व्रजवासी, प्रायः सम्भ्रान्त चित्त वालों की तरह घूमते हुए, इन्द्र के यज्ञ संबंधी उपाय को करते करते, स्थानादिकों का बारंबार अच्छी प्रकार संस्कार (सफाई) करने वाले सेवकों को आज्ञा देते हुए अपने अपने घर को त्याग कर रात को बाहर निवास कर रहे थे ।।२।।

उसी समय कदाचित् एक दिन सन्ध्या काल में गोचारण के भूमि भाग से आकर, श्रीबलरामजी के सहित हर्षित होकर, कौतूहलपूर्ण तृष्णा से युक्त श्रीकृष्ण, उन व्रजवासियों के चरित्र की आलोचना करने लग गये। और उन व्रजवासियों के अधिक कौतुकमय अभिप्राय से संमिलित होने के कारण, अर्थात् उनके अभिप्राय को अच्छी प्रकार जानकर उसी स्थान पर रह गये ।।३।।

यद्यपि श्रीकृष्ण ने इस इन्द्रयाग संबंधी चरित को पहले बीते हुए वर्षों में भी देखा था, अतः यह कोई अपूर्व देखना नहीं है। तो भी इस समय प्रौढ़ भाव के प्रकाश के कारण इन्द्र के प्रति क्रोध को उत्पन्न करते हुए, पिता आदिकों के ऊपर प्रणयकोप जनाते हुए, अज्ञान से जानने की तरह जानने की इच्छा करने लग गये। और तत्तत्स्थल में आगे कहे जाने वाले कारण को भी विचारने लग गये। श्रीकृष्ण का विचार,

गोपालनकारकाः के वराकाः ? निखिललोकलोकपालपालकस्य मम दक्षमुख्याः प्रजापतयः स्वीयमन्वन्तरपतिप्रभृतयः पृथिवीपतयः कमलजन्मजन्मप्रधाना मुनीशाना यजमाना विराजन्तेतरामिति, तथाप्येते मत्पितृपुरःसरास्तत्र भक्तिमतिरिक्तीकुर्वन्ति ।' इति ॥४॥

"अथ स्पष्टीकृतगौरव-सौष्ठवमन्तःकष्टपरामृष्टं पृष्टवान्,—

'कथ्यतां वः पितः कोऽयं सम्भ्रमः समुपागतः ?
यज्ञार्थो यदि देवः कः प्रमाणं किं फलं च किम् ?' ॥५॥

"व्रजेश्वरे तु ज्ञानपूर्वकप्रश्नविज्ञानतस्तदभिप्रायं प्रायः प्रतिपद्य सद्यः प्रतिवचनमदत्तवति पुनर्लाल्यतोचितबाल्यतो दीनताधीनमिवोवाच,—॥६॥

'यथा विधातुं भवतां तथा श्रोतुं च नः स्पृहा ।
उभयेषां यतस्तत्र विशेषाश्रयतास्थितिः ॥'७॥

"अथ 'किमस्माभिर्व्यक्तं वक्तव्यं गोत्रभित्सत्रं प्रति, किं वायं वत्सः प्रतिपत्स्यते' इति विचिकित्सति तातपादे तदेव किञ्चिदतिरिक्तं व्यक्तमिव कर्तुमिच्छति स्म,—॥८॥

यथा—यद्यपि वज्रपाणि इन्द्र इस प्रकार का गर्व करता है कि—"ये गोपालन करने वाले गोप बिचारे मेरी दृष्टि में कौन हैं ? क्योंकि मैं (इन्द्र) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के लोक पालों का भी पालक हूँ। मेरे दक्ष आदि प्रजापति, अपने मन्वन्तर के अधिपति प्रभृति पृथिवीपति, एवं ब्रह्माजी से है जन्म जिनका, ऐसे प्रधान प्रधान सनकादि नारदादि मुनीश्वर, यजमान होकर अतिशयेन विराजमान हैं।" तो भी हमारे पिता श्रीनन्द आदि व्रजवासी इन्द्र के ऊपर सबसे अधिक भक्ति को प्रकाशित करते हैं ॥४॥

इस प्रकार विचार करने के अनन्तर गौरव की सुन्दरता को स्पष्ट करते हुए, एवं अन्तःकरण के कष्ट के परामर्श पूर्वक श्रीकृष्ण ने पूछा कि—पिताजी ! कहिये तो सही। आप सबके यहाँ हर्ष के कारण शीघ्रता कराने वाला यह कौन सा कार्य उपस्थित हुआ है ? यदि यज्ञ के लिए है तो आपके यज्ञ का देवता कौन है? उसमें प्रमाण क्या है ? और उस यज्ञ का फल क्या है ? ॥५॥

किन्तु श्रीव्रजराज ने श्रीकृष्ण के ज्ञानपूर्वक किये गये प्रश्न को अच्छी प्रकार समझकर, प्रायः उसके अभिप्राय को भी जानकर, जब शीघ्र ही उत्तर नहीं दिया, तब श्रीकृष्ण लालन पालन के उचित बालकपन से, दीनता से अधीन हुए की तरह पुनः बोले—॥६॥

हे पिताजी ! देखो, आप सबकी इस कार्य को करने की जिस प्रकार इच्छा है, उसी प्रकार इस विषय के श्रवण की हमारी भी प्रबल इच्छा है। क्योंकि उस यज्ञ आदि कार्य में हम और आप दोनों की ही विशेषता का आश्रय करना ही मर्यादा है, अर्थात् कार्य करने के आप आश्रय हैं, तो हम श्रवण करने के विशेष आश्रय हैं ॥७॥

अनन्तर "क्या हमको स्पष्ट कह देना चाहिये, अथवा इन्द्रयाग के प्रति यह हमारा लाला अपने मनमें क्या समझेगा" इस प्रकार का संशय करने वाले पूज्यपाद पिताजी जब कुछ न बोले, तब श्रीकृष्ण ने उसी अतिरिक्त ज्ञानादि सम्पत्ति को व्यक्त (स्पष्ट) करने की सी इच्छा प्रगट की—॥८॥

'यथा च तात ! सर्वत्र निपुणानां वैज्ञानिकानां भवतां पुत्रा वयं न तावद्गोचारकता-मात्रपर्यवसित-पर्यालोचनाः, किन्तु किञ्चित् किञ्चिज्ज्ञाननीतिं धर्मरीतिमपि प्रतिपद्यामहे' इति व्यञ्जनया मञ्जु वदति स्म,—॥९॥

'सर्वक्षेत्रप्राज्ञ एकः परात्मा, तस्मिन् जीवाः सन्ति नैवातिभिन्नाः ।
एतद्विज्ञाः साधवो विद्वदिज्या,-स्तस्मादेषां गोपनं नैव युक्तम् ॥१०॥

योगिनां मतमेतच्चे न्नीतिरप्यवधार्यताम् ।
उदासीनोऽरिवद्वर्ज्यः सुहृदात्मैव सम्मतः ॥११॥

यद्येष पन्था धर्मस्य सोऽपि नास्त्यविचारतः ।
तत्र यद्विदुषः सिद्धिर्भवेन्नाविदुषः क्वचित् ॥१२॥

धर्मो वैदिक एवेष्टो लौकिकः क्वापि दृश्यते ।
भवद्भिः कस्तयोरेष विशेषत्वेन सम्मतः ?' ॥१३॥

"तदेवं स्वसुतस्य तस्य सुपर्वपति-मानचर्वणायाविर्भवन्तं सर्वमतज्ञतागर्वमखर्व-मालोचयन्नपूर्वतया भावनां कुर्वाणस्तेन च निजपक्षस्यापेक्षणीयतां लक्षयन्निदं व्रजपतिरुप-क्षिप्तवान्,—॥१४॥

यथा—हे पिताजी ! हम तो सर्वत्र कार्यकुशल आप जैसे विज्ञानियों के पुत्र हैं, हमारी पर्यालोचना (विचार धारा) केवल गोचारण रूप कार्य में ही समाप्त नहीं हो जाती, किन्तु हम कुछ कुछ ज्ञाननीति एवं धर्मनीति को भी जानते हैं । इस भाव को प्रकाशित करने के लिए मनोहरतापूर्वक बोले—॥९॥

देखो, पिताजी ! सभी क्षेत्रों के अर्थात् शरीरों के अच्छी प्रकार ज्ञाता परमात्मा एक है । सब जीव उसी में विद्यमान हैं । चिदंश कहे जाने के कारण अत्यन्त भिन्न नहीं हैं । इस रहस्य को विद्वानों के भी पूजनीय साधुजन अच्छी प्रकार जानते हैं। अतः उन साधुओं को यह रहस्य गुप्त रखना उचित नहीं है ॥१०॥

पिताजी ! यदि आप यों कहें कि, बेटा ! यह मत तो योगियों का है, तो ऐसी स्थिति में नीति को भी निश्चित करके धारण कर लीजिये । नीति यह कहती है कि—उदासीन व्यक्ति को बैरी के समान त्याग देना चाहिये, एवं मित्र तो अपनी आत्मा ही माना गया है ॥११॥

यदि कहो कि—यह इन्द्रयज्ञ तो हमारा कुल धर्म है, अतः धर्म का मार्ग स्वरूप है । ठीक है, किन्तु वह भी बिना विचार के करना उचित नहीं है । क्योंकि उस विषय में जानकार की ही सिद्धि होती है, अज्ञानी के लिए कहीं भी सिद्धि नहीं हो सकती । अतः समझकर ही कार्य करना उचित है ॥१२॥

वस्तुतः वैदिक धर्म ही सबको अभीष्ट है । कहीं कहीं लौकिक परम्परागत धर्म भी देखा जाता है । अतः आप सबके द्वारा विशेषरूप से सम्मानित, उन वैदिक एवं लौकिक रूप दोनों धर्मों में से, यह कौन सा धर्म है ? ॥१३॥

इस प्रकार अपने पुत्र के "इन्द्र का मानमर्दन करने के लिए" प्रगट होते हुए सर्व मतों की जानकारी रूप विशाल गर्व की आलोचना करते हुए, एवं अपूर्व भाव से भावना करते हुए, और उसी के द्वारा अपने पक्ष की अपेक्षणीयता (आदर) को लक्ष्य करते हुए, श्रीव्रजराज ने यह बात उठाई कि—॥१४॥

'धर्मोऽयं लौकिकस्तात ! यद्यपि स्यादथाप्यसौ ।
युक्तत्वादपि चाम्नायादाम्नायज इवेश्यते ॥१५॥
य इन्द्रो देवतात्र स्यात् पर्जन्यः स तु सर्ववित् ।
तस्यार्चनं कुलायातमस्माकं केतनं मतम् ॥'१६॥

"कृष्णस्तदेतत् कर्म कर्मप्रधानतया वर्ण्यमानं तदुत्तरमाकर्ण्य वासव-ह्रासवासनया कर्मकाण्डपण्डितम्मन्यानां मतमनुसृत्य देवताखण्डनमाह,—॥१७॥

'स्वतः कर्मवशा देवा दातुं कर्मानुसारिणः ।
ईशश्चेदस्ति कर्मानुगाम्यसौ का नु देवता ? ॥१८॥
सर्वं तद्भस्मनि हुतं परतन्त्रे यदर्पणम् ।
गार्हपत्ये हुतं तत्तु यदात्मात्नीय-पोषणम् ॥१९॥
तस्मादाभीरवैश्यत्वादघ्न्यासेवा तु नः कृतिः ।
देवता यदि मन्येत मन्तव्या सा तदाश्रया ॥'२०॥

"अथ शतमन्योरपि पर्जन्यतया तदाश्रयत्वमाशङ्क्य साङ्ख्य-सङ्ख्यावतां मतात् प्रत्याचचक्षे,—॥२१॥

हे प्रिय पुत्र ! यद्यपि यह धर्म लौकिक है, तथापि वृद्ध परंपरा से किंवा सम्प्रदाय क्रम से प्राप्त है। अतः उचित होने के कारण हम इस लौकिक धर्म को भी वैदिककी तरह अभीष्ट मानते हैं ॥१५॥

इस यज्ञ में इन्द्र नामक जो देवता है, वही सर्वज्ञ पर्जन्य कहलाता है। उसका पूजन कुलपरंपरा से चला आ रहा है। वही हमारी गोपजाति का कार्य माना गया है ॥१६॥

"यह कर्म, कर्म की प्रधानता के रूप से वर्णित हो रहा है"। श्रीकृष्ण पिताजी के इस प्रकार के उत्तर को सुनकर, इन्द्र के ह्रास (अवनति) की वासना से, जो अपने को कर्मकाण्ड के विषय में पूरे पण्डित मानते हैं, ऐसे पण्डित मानियों के मत का अनुसरण करके देवताओं का खण्डन करते हुए बोले—॥१७॥

पिताजी ! देवता तो स्वतः कर्मों के पराधीन हैं, स्वतन्त्र फल दाता नहीं हैं। यदि कहो कि कर्मानुसारी जनों को कर्मानुसार फल देने के लिए एक ईश्वर है, तो वह भी तो कर्मानुगामी ही है। अतः आप ही कहिये देवता कौन है, अर्थात् सर्व स्वतन्त्र देवता कौन सा है ? ॥१८॥

और देखो ! परतन्त्र के प्रति जो अर्पण है, वह सब भस्म में हवन करने के समान है। एवं आत्मा और आत्मीय का जो पोषण है, वह गृहस्थ संबंधी पाकादिसाधक, अग्नि में अर्पण करने के समान है। वह यज्ञ के लिए नहीं है ॥१९॥

इसलिए आभीर वश्य होने के नाते, गोसेवा ही हमारा प्रधान कार्य है। यदि आपको कोई देवता ही मानना है, तो वह भी गोसेवा के आश्रय स्वरूप ही है। यह मान लीजिये ॥२०॥

अनन्तर इन्द्र के भी पर्जन्य कहे जाने के कारण, उसके आश्रय की आशंका करके, सांख्य मत के पण्डितों के मत से श्रीकृष्ण ने इन्द्र की पूजा खण्डित कर दी— ॥२१॥

'रजोभूर्यवसाद्यर्थस्तस्मान्नेन्द्रो गवाश्रयः ।
किन्तु गोवर्धनाख्यानक्षोणीभृद् यः स एव सः ॥२२॥
निजाजीव्यतया गावः कुलागत्या च भूसुराः ।
आश्रयत्वे समक्षत्वं यान्त्येते न दिवौकसः ॥'२३॥

"तत्र मतान्तरं वितण्डापण्डितानां मतेन खण्डयति,—

'आप्तवागनुमानञ्च प्रत्यक्षादेव गम्यते ।
तस्मात् प्रत्यक्षमेव स्यात् प्रमाणं सर्वमर्दकम् ॥२४॥
तस्माद्गवां ब्राह्मणानामद्रेश्चारभ्यतां महः ।
ऐन्द्रैर्निर्मीयतां सेयं त्रिकर्मी हविषां कुलैः ॥२५॥
होमो यदि विधातव्यो वह्निमुद्दिश्य हूयताम् ।
आश्रयः स हि सर्वेषां प्रत्यक्षश्चानुभूयते ॥२६॥
अथ विप्राः प्रीणनीया दत्त्वा धेनूः सदक्षिणाः ।
स्वभाव एष भवतां विधिकिङ्करता नहि ॥२७॥

यथा—रजोगुण से जिसकी उत्पत्ति है, वही तृण घास आदि के प्रयोजन को सिद्ध कर सकता है। अतः इन्द्र गोधन का आश्रय नहीं हो सकता। किन्तु श्रीगोवर्धन नामक जो पर्वतराज है, वही गोगण का सच्चा आश्रय स्वरूप है ॥२२॥

गोगण हमारा जीवन स्वरूप है, एवं ब्राह्मणगण कुलगति के अनुसार हमारा हितकारी है। अतः आश्रय ग्रहण करने के विषय में ये दोनों ही हमारे सामने उपस्थित हो जाते हैं, देवगण नहीं ॥२३॥

श्रीकृष्ण पुनः वहाँ पर जो वितण्डावाद (बखेड़ाबाजी) के पण्डित हैं उनके मत के द्वारा, दूसरे मत का खण्डन करने लग गये। अर्थात् वेद वाक्य और अनुमान के द्वारा इन्द्र ही फल दाता है, ऐसा जो कहते हैं, उनके मत का निरास करते हुए बोले कि—देखो, पिताजी! आप्तवाक्य (वेद) एवं अनुमान प्रमाण भी प्रत्यक्ष प्रमाण से ही जाना जाता है। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण ही सर्वप्रमाणमर्दक, अर्थात् प्रधान प्रमाण माना जा सकता है ॥२४॥

अतः (प्रत्यक्षरूप से जब देखते हैं तो ये गिरिराज श्रीगोवर्धन ही, हमारे जीवनरूप गोधन के आश्रय स्वरूप हैं) इसलिए गो, ब्राह्मण, एवं गोवर्धनपर्वत का महोत्सव आरम्भ कर दीजिये। और इन्द्र के अर्पण करने के लिए जो घृतसमूह सञ्चित किया है, उसी के द्वारा यह त्रिविध कर्म, अर्थात् गो, ब्राह्मण, गोवर्धन पूजारूप कर्म सम्पन्न कीजिये ॥२५॥

यदि होम करना है तो अग्नि को उद्देश्य बनाकर हवन कीजिये। क्योंकि वह अग्निदेव सभी का आश्रय स्वरूप है, और प्रत्यक्षरूप से अनुभव भी किया जाता है॥२६॥

पश्चात् दक्षिणा के सहित गोदान करके ब्राह्मणों को सन्तुष्ट करना चाहिये। यह तो आप सबका स्वभाव ही है। आप सब विधि के बन्धन में नहीं हो ॥२७॥

अन्नं दत्त्वा ब्राह्मणादिश्वपाका,-न्तेभ्यः श्वभ्योऽप्यत्र गोभ्यस्तृणानि ।
क्षौणीभर्त्रे दीयतामन्नकूटो, यस्मादेषोऽप्यन्नकूटाभिधः स्यात् ॥'२८॥

''तदेवं श्वपाक-श्वपर्यन्तेभ्यः प्रदातव्यम्, न तु पाकशासनायेत्यभिप्रेत्य सर्वान्निवचनेकृत्य प्रत्येकं प्रवर्तयन् प्राह,—॥२९॥

'भुक्त्वा वस्त्रालेपवेशान् गृहीत्वा, विप्रं वह्निं गां परिक्रामताद्रिम् ।
नात्राप्यंघ्रिक्रामितावश्यकत्वं, स्वच्छन्दत्वाद्यानमप्यत्र दिष्टम् ॥३०॥

ये वा क्रतुभुजोऽप्यत्र जनास्ते स्युर्जनाविह ।
सुपर्वाणः सुमनसो निर्जराश्च सुरा इव ॥३१॥

'किञ्च, आढ्यङ्करणी सुभग,-ङ्करणी तद्वत् प्रियङ्करणी ।
श्रीगोवर्धनपूजा,-नाम्नी विद्या परिस्फुरति ॥३२॥
गोवर्धनगिरियज्ञा,-वज्ञातुर्गोत्रभित्पूजा ।
अन्धङ्करणी पलित,-ङ्करणी नग्नङ्करण्यपि च ॥'३३॥

''तदेवमग्रज-मुखं निरीक्ष्य मृदु हसित्वा पुनः सादरमाह स्म,—॥३४॥

और यहाँ पर ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल पर्यन्त नीच जाति को, एवं कुत्तों के लिए भी अन्न देकर, तथा गैयाओं के लिए तृण का दान कर, और श्रीगोवर्धन के लिए अन्नकूट को समर्पण कीजिये। क्योंकि ऐसा करने से यह पर्वत भी अन्नकूट नाम से विख्यात हो जायगा, अर्थात् इसका आज का पूजन भी अन्नकूटोत्सव कहलायेगा ॥२८॥

इस प्रकार चाण्डाल एवं कुक्कुर पर्यन्त सभी के लिए दान करो, किन्तु इन्द्र के लिए नहीं। इस अभिप्राय को दृढ़कर सभी व्रजवासियों को निरुत्तर बनाकर, प्रत्येक को श्रीगोवर्धन की पूजा में प्रवृत्त करते हुए श्रीकृष्ण बोले कि— ॥२९॥

पहले भोजन कर पश्चात् वस्त्र, भूषण, एवं चन्दन आदि धारण करके ब्राह्मण, अग्नि, गोगण, एवं श्रीगिरिराज की परिक्रमा करो। यहाँ पर चरणों के द्वारा परिक्रमा करना आवश्यकीय नहीं है। क्योंकि श्रीगिरिराज की परिक्रमा में तो स्वच्छन्दतापूर्वक यान (गाड़ी) आदि का भी आदेश शास्त्रकारों ने दिया है। भावार्थ यह है कि जिसकी जैसी सामर्थ्य, जैसी रुचि हो, उसी के अनुसार परिक्रमा कर लो ॥३०॥

और जो जन इस अन्नकूटोत्सव में श्रीगिरिराज का प्रसाद खायेंगे, वे सब इसी जन्म में देवताओं की तरह सुपर्वाणः (सुन्दर उत्सव से युक्त), सुमनसः (सुन्दर मन वाले), एवं निर्जराः (बुढ़ापे से रहित) हो जायेंगे, अर्थात् सर्व प्रकार से सुखी हो जायेंगे ॥३१॥

किंच श्रीगोवर्धन की पूजा नामक जो विद्या है, वह सबको धनी बनाने वाली, सौभाग्ययुक्त करने वाली, सुन्दरता देने वाली है। उसी प्रकार सबका प्रिय करने वाली है, इसीलिए सर्वोपरि है ॥३२॥

और जो व्यक्ति श्रीगोवर्धनपर्वत के यज्ञ का तिरस्कार करता है, एवं इन्द्र की पूजा करता है, उसके लिए, इन्द्र की पूजा. रजोगुण से अन्धा बना देती है, बूढ़ा बना देती है, एवं भूखा नङ्गा भी बना देती है ॥३३॥

इस प्रकार कहकर श्रीकृष्ण बड़े भाई का श्रीमुख देखकर, मन्द मन्द मुस्क्याकर पुनः आदरपूर्वक बोले— ॥३४॥

'इत्येतन्मे बालभावेन बुद्धं, गो-विप्राद्रि-प्रेप्सितं मद्धितञ्च ।
युष्मभ्यं चेद्रोचते र्तार्ह शीघ्रं, कार्यं विघ्नः स्याद्विभिन्न-प्रवेशे ॥३५॥
सर्वं यद् यन्मानसं वाचिकं वा, युष्मादृग्भिः साध्यते कायिकं वा ।
नित्यं तत्तद्दृश्यते मन्निमित्तं, तस्मादेतन्मद्धितत्वाद्विधेयम् ॥३६॥
अनुन्मत्तः स्वतः सर्वं वेत्ति स्वीयं हितं पितः ! ।
नोचेद्वेत्ति न च ब्रूते ब्रूते चेद्वेत्ति निश्चितम् ॥'३७॥

''तदेतद्विप्रलम्भलम्भनमप्यक्लिष्टवर्णनविशिष्टमाकर्ण्य तन्मुखञ्च निर्वर्ण्य तदेव सवर्णैरसवर्णैरप्यधिपर्वमागतैः सर्वकैर्निणिन्ये ॥३८॥

''तथाहि—प्रेष्ठः किञ्चिद्यद्ब्रवीति प्रतीतिं, सर्वेषां तद्याति नूनं रुचिञ्च ।
तच्चेदण्वप्यर्हितं र्तार्ह किंवा, वाच्यं तस्मात्तेऽप्यमन्यन्त तद्धि ॥''३९॥

तदेतदवधार्य मधुकण्ठस्त्वमुक्तकण्ठं परामृशति स्म,—''चेदप्यतिवेदः सुविचारतानश्वरः सोऽयमनीश्वरवादः कृतवक्रभावचक्रशक्रपराभवकौतुक-तात्पर्यमात्रपात्रतया तेन प्रयुक्तः; किन्तु

हे प्रिय व्रजवासियो ! देखो, मेरी यह बालकपन की जानकारी है, एवं गो, ब्राह्मण, तथा गिरिराज के लिए जो अत्यन्त प्रिय वस्तु है, वही मेरी हितकारी है । यदि आप सबको मेरा मत रुचिकर लगता हो, तो इस कार्य को शीघ्र ही कर डालो । क्योंकि ''मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना'' के अनुसार इस प्रस्ताव में विभिन्न जन के प्रवेश करने पर तो निश्चितरूप से विघ्न होने की संभावना है ॥३५॥

और आप जैसे व्यक्तियों के द्वारा जो जो मानसिक, वाचिक, कायिक कार्य सिद्ध किया जाता है, वह सब नित्यप्रति मेरी प्रसन्नता के लिए ही देखा जाता है, अर्थात् मेरी प्रसन्नता को बनाये रखना ही आप सबका जीवनव्रत है । इसलिए मेरे हितकारी होने के कारण, मेरे कहे हुए पूर्वोक्त कार्य को भी कर लीजिये ॥३६॥

हे पिताजी ! देखो, सावधान सुधीर व्यक्ति स्वकीय समस्त हितकर विषय को स्वतः ही जानता है । यदि जानता न होता तो कुछ बोलता नहीं । यदि बोलता है तो निश्चितरूप से जानता है, यह सिद्धान्त है ॥३७॥

अतएव विरोधोक्ति से युक्त होने पर भी, अविरुद्धार्थक समयोचित वर्णन से विशिष्ट, श्रीकृष्ण के पूर्वोक्त कथन को सुनकर, और उनके श्रीमुख को निहारकर, उस इन्द्र महोत्सव में आये हुए सजातीय गोपगण, एवं असजातीय ब्राह्मण आदि सभी जनों ने श्रीकृष्ण के कथन को ही, प्रामाणिकरूप से निर्णीत कर लिया, अर्थात् निश्चित कर लिया ॥३८॥

देखो, नीति तो यह है कि, अपना प्रियतम व्यक्ति जो कुछ कहता है, वह कथन सभी प्रियजनों के विश्वास को एवं रुचि को प्राप्त कर लेता है, यह निश्चित है । यदि वह कथन अणुमात्र भी योग्य है, अर्थात् प्रशंसनीय है, तब तो फिर कहना ही क्या है ? इसलिए उन श्रीनन्द आदि सभी व्रजवासियों ने श्रीकृष्ण के कथन को निश्चितरूप से मान लिया ॥३९॥

स्निग्धकण्ठ के पूर्वोक्त कथन को सुनकर, मधुकण्ठ अपने मन मन में यह विचार करने लगा कि—यद्यपि यह अनीश्वरवाद वेदों का अतिक्रमण कर गया है, अर्थात् वैदिक सिद्धान्त नहीं है, क्योंकि सुन्दर विचार के भाव में यह नष्ट हो जाता है, एवं किया है वक्रभाव (टेढ़ापन) का चक्र (समूह) जिसने, ऐसे इन्द्र

न प्रवृत्तिविरोधिपात्रतया, तथापि तत्र मित्रतातिचित्रतया लब्धनिगमविस्रब्धसर्वपुरुषार्थसार्थ-शिरोमणिरूपस्वरूपेषु तेषु व्रजभूपेषु नायुक्तः। ईश्वरज्ञानगुरुभिरपि तद्भावमेव परि सर्वोपरि-पुरुतापरामर्शात्। यथोक्तम्, (भा० १०।१४।३२)—

'अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोप-व्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥' इत्यादि ॥४०॥

"ततः कौतुकचारितयापि तेन यद्विचारितमिव सम्पद्यते, तदपि पारमार्थ्यवर्यतया पर्यवस्यतीत्येवमहो परममहोवरकरस्वभावधरः सोऽयं व्रजधरापति-वंशजन्मा शशधरः।" इति ॥४१॥

"अथ स्पष्टं चाचष्ट,—ततस्ततः? स्निग्धकण्ठ उवाच,—ततश्च दीपावलीनामानममा-वास्यामनु दीपावलीवलिकौतुकं प्रतिपद्य प्रतिपत्प्रातस्तु विश्रम्भतः परमाश्रवतामाश्रयमाणैरमी-भिर्यथा तेन विहितं तथा विहितम् ॥४२॥

"तत्र च मुख्यकल्पकल्पनाय विचित्रचित्रवितानपताकादिभिः सर्वसुखसंवर्धनस्य श्रीगोवर्धनस्य कूटमण्डलं मण्डयित्वा यथाविधि निर्बन्धसाधितसाधुगन्धबन्धुरपाद्यादिप्राज्य-सामग्रीभिरभिसभाज्य तमभिप्राज्यचरणाचलवदाज्यप्राघारनिर्झराश्चित्रवर्णव्यञ्जनव्यञ्जित-

---

के तिरस्कार करने में जो कौतुक, उसी के तात्पर्य मात्र के पात्र होने के कारण, श्रीकृष्ण ने इस निरीश्वर-वाद का प्रयोग किया है, किन्तु प्रवृत्तिशास्त्र की विरोधिनी प्रवृत्ति की भावना से प्रयोग नहीं किया। तथापि श्रीकृष्ण में मित्रभाव की अतिशय विचित्रता के कारण, वेद में विश्वास करनेवाले, एवं धर्मार्थ, काम, मोक्षरूप समस्त पुरुषार्थ समूह के शिरोमणि प्रेममय स्वरूप वाले, उन समस्त व्रजभूपतियों के ऊपर निरीश्वरवाद का प्रयोग करना उचित नहीं। क्योंकि ईश्वर सम्बंधी ज्ञान के गुरु श्रीब्रह्मा आदिकों ने भी व्रजवासियों के भाव को ही सर्वोपरि अधिकरूप से विचारा है। उन्होंने स्वयं इस प्रकार कहा भी है कि—अहो! श्रीनन्द आदि व्रजवासी गोपों के धन्य भाग्य हैं। वास्तव में उन्हीं का अहोभाग्य है। क्योंकि परमानन्दस्वरूप सनातन परिपूर्ण ब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण जिनके सगे सम्बंधी एवं मित्र हैं, इत्यादि ॥४०॥

इसलिए इन्द्र के दर्प चूर्णरूप कौतुक करने की इच्छा से युक्त होकर भी, श्रीकृष्ण ने जो विचार कर लिया, वह विचार भी परमार्थभाव के श्रेष्ठत्वरूप से परिणत हो जाता है। अहह! इस प्रकार श्रीगोवर्धन पूजनरूप परम महोत्सव के वरण (निर्धारण) करने के स्वभाव को धारण करने वाला, श्रीव्रजभूपति के वंश में उत्पन्न होने वाला, यह श्रीकृष्णरूप अपूर्व चन्द्रमा है ॥४१॥

इस प्रकार मानसिक विचार के अनन्तर मधुकण्ठ स्पष्ट बोला कि—उसके आगे का प्रसंग सुनाइये। स्निग्धकण्ठ बोला—तदनन्तर कार्तिक की अमावस्या के दिन दीपावली नामक दीपपंक्ति के उपहाररूप कौतुक को प्राप्तकर, प्रतिपदा के प्रातःकाल तो विश्वास के कारण श्रीकृष्ण की परम अधीनता का आश्रय करने वाले श्रीनन्द आदिकों ने, "श्रीकृष्ण ने जिस प्रकार पूजनादि किया" उसी प्रकार किया ॥४२॥

और वहाँ पर शास्त्रोक्त प्रधान विधान की कल्पना करने के लिए, चित्र विचित्र मनोहर मण्डप पताका आदिकों के द्वारा, सर्व सुखों की वृद्धि करनेवाले श्रीगोवर्धन के शिखर समूह को अलंकृत करके, विधिपूर्वक यत्न के द्वारा साधित, श्रेष्ठगन्ध से मनोहर, पाद्य, अर्घ्य प्रभृति बहुत सी सामग्री द्वारा संमान करके, श्रीगोवर्धन के चारों ओर आसपास के छोटे छोटे पर्वतों की तरह घृत के बहते हुए अनेक झरने, जिनमें

धातुरञ्जनाः, दुग्धतटिनीसङ्कुटिता दधितडागसङ्कुटिताः सम्पन्नमन्नकूटाः निकटादुपढौकयामासिरे । येषां प्राग्भावेनापूपिकं शाष्कुलिकमित्यादिभूयिष्ठनिष्ठानकूटनाम्ना स्थानान्यपि चिरमाम्नातानि ॥४३॥

"नानावाद्यं लोककोलाहलाढ्यं, स्वर्गं बाढं व्यानशे तत्र सत्रे ।
यत्तद्वैवक्ष्मापतेराश्विनेयौ, निर्णिन्याते कर्णशूले निदानम् ॥४४॥
सृष्टेष्वद्रेरन्नकूटेष्वनल्पः, कृष्णाकारः कश्चिदाविर्बभूव ।
अल्पीयस्त्वं केवलं भेदबुद्धे,-र्यस्मात् कृष्णे कारणत्वं जगाम ॥४५॥

"तञ्च प्रथमं वसुन्धराधरशिलासन्धितः समेधमानस्फुरदुत्सेधं प्रेक्षाकारिणः समुत्प्रेक्षामासुः,—॥४६॥

'पीतश्यामा किं प्रभा किं तडित्वान्, किंवा धातुद्योतिभूभृद्विभाति ।
सुष्ठूत्तिष्ठत् किंस्विदेतद्बकोजि,-न्मूर्तिव्यूहः स्फूर्तिमत्रातनोति ? ॥४७॥

कायप्रायतभाजिताञ्जनगिरिर्वस्त्राणि सन्ध्याभ्रजि-
द्विस्तारद्युतिमन्ति वेषमणयः सूर्यादिजेतृप्रभाः ।

विचित्र वर्णों के शाक आदि व्यंजनों के द्वारा गैरिक (गेरू) आदि अनेक प्रकार की धातुओं के रंग व्यंजित (प्रकाशित) हो रहे हैं, एवं दूध की नदियों के द्वारा दुस्तर, दही के तालाबों के द्वारा बनाये गये बड़े बड़े सुन्दर अन्नकूट निकट से ही व्रजवासियों ने भेंट कर दिये । जिन सब अन्नकूटों के पहले पहले यह पूआओं का कूट है, यह पूरियों का कूट है, ये अनेक प्रकार के व्यंजन (शाक) आदिकों के कूट हैं, इत्यादि नामों के द्वारा वे वे स्थान भी चिरकाल तक उन्हीं उन्हीं नामों से कहे जाने लगे ॥४३॥

श्रीगोवर्धन पूजनरूप उस यज्ञ में सभी जनों के कोलाहल से परिपूर्ण अनेक प्रकार के वाद्यों की ध्वनि ने स्वर्ग को व्याप्त कर लिया । स्वर्ग के वैद्य दोनों अश्विनीकुमारों ने जिस वाद्य ध्वनि को, इन्द्र के कर्णशूल नामक रोग के विषय में, आदिकारण रूप से निश्चित किया । अर्थात् श्रीगोवर्धन पूजन के समय अनेक प्रकार के बाजे बजे, उनकी ध्वनि से इन्द्र के कानों में कर्णशूल रोग हो गया, स्वर्गीय वैद्यों ने उसका मूल कारण इस ध्वनि को ही ठहराया । तात्पर्य—श्रीगिरिराज महोत्सव के वाद्यों की ध्वनि इन्द्र को असह्य हो गई ॥४४॥

श्रीगिरिराज के लिए अनेक अन्नकूट जब समर्पित कर दिये गये, तभी बहुत बड़ा श्रीकृष्ण के से आकारवाला कोई व्यक्ति श्रीगोवर्धन से प्रगट हो गया । दोनों का आकार एक सा होने पर भी श्रीकृष्ण में आकार का छोटापन ही केवल लोगों की भेद बुद्धि का कारण बन गया था ॥४५॥

और श्रीगोवर्धन की शिला की सन्धि से लेकर, अच्छी प्रकार बढ़ते हुए लम्बे आकारवाले उस व्यक्ति विशेष को पहले देखनेवाले विज्ञजन इस प्रकार की उत्प्रेक्षा करने लगे कि—॥४६॥

यह श्याम पीत वर्णवाली प्रभा है क्या ? अथवा मेघ है क्या ? अथवा हरताल आदि पीली धातुओं से प्रकाशित कोई पर्वत ही अच्छी प्रकार ऊपर को उठता हुआ शोभा पा रहा है क्या ? अथवा यहाँ पर पूतनारि श्रीकृष्ण का मूर्तिव्यूह ही स्फूर्ति का विस्तार कर रहा है क्या ? ॥४७॥

और जिसके शरीर की लम्बी चौड़ी प्रभा अंजन पर्वत को जीतनेवाली हैं, एवं जिसके वस्त्र सन्ध्याकालीन मेघ को जीतनेवाले विस्तार की छवि से युक्त हैं, तथा जिसके अलंकारों की मणियाँ सूर्य आदि की

उत्तंसा वरपुष्पभारबलवच्छाखासहस्राण्यहो
यस्य क्ष्माधरदेव एष कुरुते नेत्राणि चित्राणि नः ।।'४८।।

"ततः स तु चतुराननचातुरीचालनचतुरः कृष्णनाम्ना मधुरः सप्रश्रयं पप्रच्छ,—'भगवन् ! को भवान् ?' इति। "देवस्तु निर्घोषनिभ-घर्घरितस्वरेणाभ्रभ्रमं प्रथयन्नर्थेन तु तमन्यथयन् वचः प्रचारयामास,—'पूर्विताखर्वत्पर्वद्पर्वतः सोऽयमहमस्मि ।' इति ।।४९।।

"तदेतदवधार्य देवार्यमित्रः श्रीदामादिमित्रः स्वभुजौ प्रसार्य विस्फूर्जायमानकोलाहलानर्गलं गोपवर्गं निवार्य 'नमस्कार्यः खल्वसौ, यस्मात् करुणाव्यग्रताजाग्रन्महाविग्रह-समग्रविग्रहप्रकाशग्रहिलतया प्रत्यक्षप्रत्ययमेव स एव देवः प्रत्दवरुद्धवान्' इति सर्वान् प्रत्यखर्वां वाचमुवाच ।।५०।।

"उक्त्वा चाखण्डदण्डवन्नतिं कुर्वति सहसस्मितपूर्वजे तस्मिन् विस्मितमनसः सर्व एव प्रति पर्वतं तथाकुर्वत । कृत्वा च श्रद्धया बद्धाञ्जलिषु तदावलिषु सर्वसुखवर्धनः स गोवर्धनः पुनरुवाच,—।।५१।।

'नान्यदेववदस्माकं भेदं युष्मद्विचक्ष्महे ।
तत् पश्यत भवद्दत्तं प्रत्यक्षं भुञ्ज्महे वयम् ।।'५२।।

प्रभा को जीतनेवाली हैं, अहह ! अधिक क्या कहें ? देखो, श्रेष्ठ श्रेष्ठ पुष्पों के भार से युक्त हजारों शाखा ही जिसके मुकुट बने हुए हैं, ऐसा यह पर्वतराज हम सब के नेत्रों को अपने दर्शन से आश्चर्ययुक्त कर रहा है ।।४८।।

तदनन्तर चतुरानन (ब्रह्मा) की चातुरी को चूर्ण करने में चतुर, एवं श्रीकृष्ण नाम से मधुर उन श्रीनन्दलाल ने तो नम्रतापूर्वक पूछा कि—भगवन् ! आप कौन है ? श्रीगोवर्धन में से प्रगट हुए उस देव ने भी, वज्र की सी ध्वनिवाले घर्घर शब्द के द्वारा मेघ का सा भ्रम विस्तारित करते हुए, एवं अर्थ से तो मेघ के भ्रम को दूर करते हुए, यह वचन कहा कि—पहले की तरह फिर भी महत्त्वविशिष्ट उत्सव की पूर्ति करनेवाला मैं वही श्रीगोवर्धन पर्वत हूँ ।।४९।।

अतएव श्रीगोवर्धन के वचनों को निश्चित कर, दैत्यों के अमित्र एवं श्रीदामा आदिकों के मित्र, श्रीकृष्ण ने अपनी दोनों भुजाओं को फैलाकर, वज्र के समान कोलाहल करने के विषय में स्वतन्त्र गोपसमूह का निवारण कर, "यह गिरिराजदेव हमारे नमस्कार करने योग्य है, क्योंकि अपनी अहैतुकी कृपा की व्यग्रता से प्रगट होते हुए महान् शरीर के सम्पूर्ण विस्तार के प्रकाश करने के आग्रह से युक्त होने के कारण ही, उस गिरिराजदेव ने प्रत्यक्ष विश्वास को ही दृढ़तापूर्वक उत्पन्न किया है" इस प्रकार की सर्वोच्च वाणी को सभी व्रजवासियों के प्रति कहा ।।५०।।

और कहकर जब श्रीकृष्ण, मन्दमुस्कयान करनेवाले बड़े भाई बलदेवजी के सहित श्रीगिरिराज को साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम कर रहे थे, उस समय विस्मित मन से युक्त सभी व्रजवासियों ने श्रीगिरिराज के प्रति उसी प्रकार साष्टाङ्ग प्रणाम किया। एवं प्रणाम करके जब सब व्रजवासी श्रद्धापूर्वक हाथ जोड़कर पंक्ति बाँधकर खड़े हुए थे, तब सब प्रकार के सुखों को बढ़ानेवाले वे श्रीगोवर्धन पुनः बोले—।।५१।।

हे व्रजवासियो ! दूसरे देवता जिस प्रकार तुमको अपने से भिन्नरूप से देखते हैं, हम उस प्रकार हमारा एवं तुम्हारा भेद नहीं देखते हैं, क्योंकि तुम हमारे पार्षद एवं अंश स्वरूप हो। इसलिए देखो !

"तदेतदुक्त्वा च,—

अन्नान्याढककोटितण्डुलकृतान्यादाय तद्वचञ्जना-
न्यप्येष प्रतिकूटमेककवलप्राप्तान्नमादत्तथा ।
मध्यं मध्यमनुप्रकृष्य तु यथा नीरं पिबन् पल्वलान्
कुण्डान्याशु सरांसि किञ्च सरितो निन्ये क्षयं सर्वतः ॥५३॥

यदा ग्रासाय स करं प्रसारयति चाग्रतः ।
तदा सर्वे द्रवन्ति स्म सर्वतश्चटका इव ॥५४॥

मध्येकृत्य व्यञ्जनान्यन्नकूटं, ग्रासं ग्रासं पाणिना दक्षिणेन ।
तर्जन्यासावुद्दिशन् वामया तं, शक्रं लोलत्प्रान्तगत्या जहास ॥५५॥

दोष्णस्तस्याश्वतिपरिमितिग्रासहेतोः प्रसारे
चाकुञ्चे च स्थगितहरितः प्राप्ततत्तद्गतीनाम् ।
अक्ष्णामासीद्व्रजकुलभुवां चित्रवृन्देऽपि चित्रं
यत् क्वाप्येकं न किल गलितं सिक्थमेकं स्थितं न ॥५६॥

अन्यान्य देवता तो कभी भी प्रत्यक्ष भोजन नहीं करते देखे, किन्तु हम तो तुम्हारे द्वारा समर्पित अन्नकूट को प्रत्यक्ष ही भोजन कर रहे है ॥५२॥

अतएव इन वचनों को कहकर श्रीगिरिराज महाराज, करोड़ों आढ़क (आढ़क चार सेर को कहते हैं) परिमित चावलों के द्वारा सिद्ध किये गये सम्पूर्ण भात को, एवं उस भात के योग्य दाल, साग आदि अनेक व्यंजनों को ग्रहणकर प्रत्येक अन्नकूट को, एक ग्रास में आनेवाले अन्न की तरह खाने लग गये। तथा बीच बीच में जलपान करते हुए तो उन्होंने छोटे छोटे तालाबों को, कुण्डों को, बड़े बड़े कुसुम सरोवर आदि सरोवरों को, और मानसीगंगा आदि नदियों को खींच खींच कर सर्वतोभाव से समाप्त कर दिया ॥५३॥

श्रीगिरिराज ग्रास के लिए जब आगे की ओर अपना हाथ फैलाते थे, तब सभी भोज्यपदार्थ उनके हाथ की ओर चारों ओर से, चुग्गे की ओर चिड़ियों की तरह दौड़कर स्वयं चले आते थे ॥५४॥

समस्त व्यंजनों को बीच में धरकर अपने दाहिने हाथ से अन्नकूट को बारंबार ग्रास करते करते श्रीगिरिराज महाराज, चंचल है अग्रभाग जिसका, ऐसी अपनी बाईं तर्जनी अंगुली के द्वारा इन्द्र का उद्देश्य करके उसका परिहास करने लग गये ॥५५॥

श्रीगोवर्धन जिस समय अधिक परिमाणवाले ग्रास को लेने के लिए शीघ्र ही अपने दाहिने हाथ को फैलाते एवं सिकोड़ते थे, उस समय उनके हाथ की लम्बाई चौड़ाई से सभी दिशाएँ आवृत सी हो जाती थीं, और जिधर हाथ जाता था, व्रज की कुलांगनाओं के सारे नेत्र भी उधर ही चले जाते थे, ऐसी स्थिति में और अनेक आश्चर्यों के रहते हुए भी, व्रज की कुलांगनाओं के नेत्रों के लिए तो हाथ का शीघ्रतापूर्वक फैलाना, एवं संकुचित करना ही आश्चर्यजनक हो रहा था। क्योंकि इतनी शीघ्रता में एक ग्रास भी कहीं बीच में गिरा नहीं, एवं अन्नकूट का एक भी ग्रास बचा नहीं ॥५६॥

अतरीतृण्यत ग्रासान् भूभृद्भूभृद्यथा यथा।
अचलीवलृप्यताप्युच्चैर्मांसलाय तथा तथा ॥५७॥

तत्र च—बाला भीतिं यौवनोन्मत्तचित्ता, हासं वृद्धाश्चित्रमर्हास्तु भक्तिम् ।
याता ये ये तेषु सर्वेषु देवः, शुद्धां तुष्टिं कौतुकित्वाद्भाज ॥५८॥

दूराद्दूरात् पूरमादाय वारां, वक्त्रं शश्वत् क्षालयन्नद्रिदेवः ।
ष्ठीवन्नुच्चैः पृष्ठदेशे समन्ताद्,-वृष्टिं कुर्वन् शष्पसृष्टिं चकार ॥५९॥

गण्डूषाणामन्तरे वंशदण्डै,-र्दन्तान्तर्गान्यन्नपिण्डानि कृष्णन् ।
उद्यन्मूर्तिस्तत्र शैलाधिदेवः, पूर्तिं कुर्वन् प्राणभाजां ससर्ज ॥६०॥

ताम्बूलानां वीटिकाः कोटिखर्वं, कूटीकुर्वंश्चर्वयन् गर्वफुल्लः ।
प्रान्तच्छायामण्डलश्चण्डरश्मिः, प्रातर्यद्वत्तद्वदास्यं चकार ॥६१॥

जातं नीराजनस्य क्षणमनु निखिला मोहमापुर्यदेत-
त्तस्मिन् द्राघीयसि स्यात् कथमिति विविधाद् ध्वस्तचित्ता विचारात् ।

श्रीगिरिराज महाराज जैसे जैसे ग्रासों को बारंबार खाते थे, वैसे वैसे वे स्वयं भी अतिशय परिपुष्ट होने के लिए पुनः पुनः तैयारी करते जाते थे, अर्थात् खाते खाते ही लम्बे चौड़े रूप से परिपुष्ट होते जाते थे ॥५७॥

और उस समय जो जो बालक थे वे सब भयभीत हो गये, एवं यौवन से उन्मत्त चित्तवाले युवकगण हँसने लग गये, तथा वृद्धगण आश्चर्य को प्राप्त हो गये, और जो जो सेवा करने योग्य व्यक्ति थे वे सब गिरिराजजी में भक्ति को प्राप्त हो गये। श्रीगिरिराज महाराज तो कौतुकी होने के कारण, उन सभी प्रकार के व्यक्तियों के ऊपर विशुद्ध सन्तोष को प्राप्त हो गये, अर्थात् सभी से सन्तुष्ट हो गये ॥५८॥

तदनन्तर श्रीगिरिराज बहुत दूर से जल समूह को लेकर बारंबार अपने मुख को धोते हुए, एवं अपने पीछे की ओर जोर जोर से कुल्ला करते हुए, चारों ओर वृष्टि करते करते नई नई कोमल घास की सृष्टि करने लग गये ॥५९॥

और कुल्लाओं के बीच बीच में, अर्थात् आचमन करते समय बाँस के दण्डसमूह के द्वारा दाँतों के भीतर के अन्नपिण्डो को (अन्न के टुकड़ों को) निकाल कर, श्रीगिरिराज ने वहाँ पर अपनी दिव्य मूर्ति से प्रगट होकर, प्राणधारियों की पूर्ति करते हुए उन बाँस के डण्डों को फेंक दिया ॥६०॥

पश्चात् कोटि खर्व संख्यक पान की वीटिकाओं को एकत्रित कर, चबाते चबाते गर्व से प्रफुल्लित होकर, श्रीगिरिराज महाराज ने अपने मुख को उस प्रकार का बना लिया, जैसे कि प्रातःकाल आसपास के कान्ति समूह से सूर्यदेव अपनी रक्तवर्ण की शोभा को धारण करते हैं ॥६१॥

आरति करने का समय जब उपस्थित हुआ, तब तो सभी जन मोह को प्राप्त हो गये। उसका कारण यह था—वे विचारने लगे कि इतने लम्बे चौड़े देवता की आरती कैसे हो सकेगी ? इस प्रकार के अनेक विचारों से सभी का चित्त उथलपुथल हो गया था । किन्तु श्रीकृष्ण ने तो किंचित् हँसकर, स्वयं कल्पित

कृष्णस्त्वल्पं विहस्य प्रतिविधिमकरोत् कल्पिताद्यन्त्रभेदाद्-
यस्मिन् दीपाः सहस्रं तलमुपरि च ते चाल्यमाना विरेजुः ॥६२॥

"अथ सर्वमिच्छन्नन्विच्छन् प्रतीच्छन्नपि गिरिरयमहो ! गिरिं करोतीति निध्याय मूर्धनि बद्धाञ्जलितया सर्वस्मिन्नप्यूर्ध्वं स्थितवति सर्वतोऽपि वरान् वरान् विरचय्यातर्कितमन्तर्हिते परमहिते तस्मिन्नखण्डदण्डवत्प्रणामपूर्वमत्र द्वित्रक्षणं चित्रमिव सर्व एवासीत् ॥६३॥

"अवहिते च बहिरर्थे श्रीहरिरसौ सर्वान् पर्वतपर्वागतान् प्रत्युवाच,—

'अहो ! कलयताचलः करुणयात्मरूपं मह-
द्वहत्प्रकटतां भजन्नखिलमेव भुङ्क्ते स्म सः ।
अनादरकृतामयं दलयितेति सम्भाव्यते
पुरन्दरबलिग्रहादतिबली तथा तर्क्यते ॥'६४॥

"ततश्च सर्वोऽपि विस्रब्धः परमप्रेमभाजन-गोसभाजनमारब्धवान् । यत् खलु—

गोभिर्गोपा मिथः स्युः प्रतिपददयितास्तत्र नन्दव्रजस्था-
स्तत्र श्रीनन्दराजः स्वयमयमुपमा तत्र तत्रास्य पुत्रः ।

किये हुए यन्त्र के भेद से आरती की ऐसी सुव्यवस्था कर दी कि, जिस यन्त्रमयी आरती में धरे हुए हजारों दीपक दिखाई पड़ रहे थे, एवं यन्त्र के द्वारा ऊपर नीचे की ओर चलाये गये वे हजारों दीपक सुशोभित हो रहे थे ॥६२॥

तदनन्तर सब वस्तुओं को इच्छापूर्वक ढूँढ़कर ग्रहण करते हुए भी, ये गिरिराज प्रेमपूर्वक भक्षण कर रहे हैं, इस प्रकार के आश्चर्य को देखकर, सभी जन जब अपने अपने मस्तक पर अंजलि बाँधकर ऊपर की ओर खड़े हो गये, एवं सबकी अपेक्षा श्रेष्ठ श्रेष्ठ वरदानों को व्रजवासियों को देकर, परमहितैषी श्रीगिरिराज महाराज जब हठात् अन्तर्हित हो गये, तब वहाँ पर सभी जन साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणामपूर्वक दो तीन क्षण तक चित्र लिखे से खड़े रह गये ॥६३॥

सभी को बाह्य विषय का अनुसन्धान हो जाने के बाद, श्रीकृष्ण ने श्रीगोवर्धन पूजन महोत्सव में आये हुए सभी जनों के प्रति कहा कि—अहह ! हे व्रजवासियो ! तुम सब देखो तो सही । पुराण प्रसिद्ध यह गिरिराज कृपा करके विशाल अपने रूप को धारण कर, प्रकटित होकर सम्पूर्ण अन्नकूट को ही खा गया है । अपना अनादर करनेवालों का तो यह मर्दन करनेवाला है, ऐसी संभावना होती है, तथा इन्द्र के लिए समर्पित की जानेवाली भेंट को हठात् ग्रहण करने के कारण, यह गिरिराज अत्यन्त बलवान् है, ऐसी तर्कना भी होती है ॥६४॥

तदनन्तर सभी व्रजवासियों ने विश्वासयुक्त होकर परम प्रेमभाजन गोगण का पूजन प्रारम्भ कर दिया । वह पूजन निश्चित रूप से इस प्रकार हुआ, यथा—पहले तो वहाँ पर श्रीनन्दव्रज में रहनेवाले गोपगण धेनुगण के साथ आपस में पद पद पर दया के आधार हो रहे थे । उन सबके मध्य में स्वयं श्रीनन्दरायजी दया के आधारभूत थे, उनके विषय में तो यही उपमा है कि—उनके पुत्र श्रीकृष्ण तत् तत्

यद्येवं तर्हि गोवर्धनमहसि तदभ्यर्चने ते गवाद्याः
किं वर्ण्याः किं तु निर्वर्णनमनु परमं ज्ञेयभावं प्रयान्ति ॥६५॥

"तथा च—लब्धार्चाश्चारुवेशैः शबलितवपुषः प्राप्तभोगावलीका
वत्सैः पृक्ताः प्रमोदं पृथुतरमभजन् धेनवः सत्यमेव ।
किन्तु श्रीकृष्णदृष्टिप्रमदवलयिता यर्हि तर्ह्येव नोचेत्
केचिद्यद्वद्भजन्ते मधुरविधुरतः संस्कृतं षाडवादि ॥६६॥

"तद्दृष्टिपुष्टीकृतास्तु,—
स्वर्णनिर्मितविषाणसुरूपा, रूप्यसंवृतखुरा धृतहाराः ।
किङ्किणि-प्रकरझङ्कृतियुक्ता, नैचिकीनिचितयो रुचिमाश्चन् ॥६७॥

"तत्र गोपाः श्रीगोपालादि-गोपालसत्कृति-चमत्कृतिमधिगम्य विधिमनुगम्य चित्रकाङ्ग-निभचित्रातिरम्यवस्त्रावृताङ्गतया तर्णकमाक्रम्य कौतुकतो गाः सम्भ्रम्य तज्जात-हासकोलाहला-द्विरम्य ग्रासविश्राणनेन ता विश्रम्य परिक्रम्य प्रणम्य चाचार्यं वार्यमाचर्य वितानवितानेनाग्नि परिचर्य प्रदक्षिणावर्ततया वर्तमानश्च तं प्रदक्षिणं विरचय्य भूषणनिवहमहितानां पुरोहितादीनां पूजनमपि पूरयामासुः ॥६८॥

स्थल में स्वयं कार्यकर्ता के रूप में दृष्टिगोचर होते थे। यदि इस प्रकार की घटना है तब श्रीगोवर्धन के महोत्सव में, प्रथम उनके पूजन में, उन समस्त पूज्य गो आदिकों के विषय में, किस प्रकार क्या क्या वर्णन किया जाय ? किन्तु उनके दर्शन के अनन्तर तो, ये गो आदि पदार्थ, हमारे परम पूजनीय हैं, इस प्रकार के ज्ञेय भाव को प्राप्त हो जाते हैं ॥६५॥

देखो ! पूजा को प्राप्त करने वालीं, सुन्दर वेषसमूह के द्वारा विचित्र शरीर वालीं, भोग श्रेणी को प्राप्त करने वालीं, एवं अपने अपने बछड़ाओं से मिली हुई गैयायें बड़े भारी आनन्द को प्राप्त हुई, यह सब सत्य है। किन्तु जिस समय वे श्रीकृष्ण के दर्शनजनित आनन्द से युक्त होती थीं, तभी विशेष आनन्द का अनुभव करती थीं। श्रीकृष्ण दर्शन के अभाव में तो वे इस प्रकार आनन्दित नहीं होती थीं कि, जिस प्रकार कुछ रसिक व्यक्ति मधुर रस से रहित होने के कारण, वैद्यक रीति से संस्कृत षाडव आदि रस को भी सहर्ष स्वीकार नहीं करते (दही, खटाई, लवण, तैल या घृत, तिल एवं उरद आदि से मिलकर बने हुए रस को षाडव कहते हैं) ॥६६॥

श्रीकृष्ण के दर्शन से परिपुष्ट हुई सर्वश्रेष्ठ गैयायें तो सुवर्ण से मढ़े हुए सींगों के द्वारा सुन्दर रूप वाली होकर, चाँदी से मढ़े हुए खुरों वाली होकर, गले में हार धारण कर, किंकिणी समूह के झंकार से युक्त होकर, बड़ी भारी शोभा को प्राप्त हो गई ॥६७॥

और वहाँ पर विशिष्ट गोपों ने श्रीकृष्ण आदि ग्वाल बालों के सत्कार के द्वारा चमत्कार को प्राप्तकर, विधि का अनुसरण कर, चित्रपट के समान विचित्र एवं अत्यन्त सुन्दर वस्त्रों के द्वारा ढ़के हुए अंगवाले बछड़ों के पास जाकर, कौतुकपूर्वक गोगण को घुमाकर, उस घुमाने से उत्पन्न हुए हास्यमय कोलाहल से विराम लेकर, गोग्रास देकर उनको विश्राम कराकर, उनकी परिक्रमाकर, उनको प्रणामकर, आचार के योग्य जलसमूह से आचमन करके, पश्चात् यज्ञ के विस्तार के द्वारा अग्निदेव की पूजाकर, दक्षिणावर्तरूप से

"तत्र श्रीगोपाल-पूजा यथा—

स्नानीयांशुकचित्रकादिसुरभि-स्रक्कुण्डलाद्यं यदा-
श्चर्यं तत्र मुहुश्च तोषरहितास्तत्तत्परीवर्ततः ।
तद्गोवर्धनपूजनाङ्गपशुपाभ्यर्चासु कृष्णार्चने
तातामबादि-तदीयबान्धवजना नान्तं चिरादैयरुः ।।६९।।
यथा कृष्णस्तथा रामो रामो यद्वत्तथा स च ।
व्रजेशयोर्नात्र भेदस्तन्मित्रेष्वपि तद्दृशोः ।।७०।।

"गो-सम्भ्रमणं यथा—

यदा मुदा याति हरिः परोक्षतां, गवां तदा ता निजवत्स-कृष्टितः ।
व्यग्रीभवन्ति स्म यदा समक्षतां, यात्येष यान्ति स्म तदा तदात्मताम् ।।७१।।

"हासकोलाहलो यथा—

आकृष्टे वत्सवृन्दे किलकिलित-रवैर्मातरो रम्भमाणा
दन्तैराकर्षकांस्तान् व्यथयितुमभितो धावनार्ता यदा स्युः ।
हासं कोलाहलाढ्यं कलयति निखिले तर्हि कृष्णाननाब्जं
जीयादुद्धासहासद्रवमधु परितो मादनं यद्ववर्ष ।।७२।।

वर्तमान अग्नि की प्रदक्षिणा करके, भूषणसमूह द्वारा सुसज्जित पुरोहित आदि समस्त ब्राह्मणों के पूजन को भी पूरा कर लिया ।।६८।।

श्रीगोवर्धन पूजा में अंगभूत श्रीगोपगणों की पूजा, यथा—स्नान के योग्य जल, वस्त्र, तिलक, अङ्गलेप, माला, एवं कुण्डल आदि जो जो आश्चर्यजनक वस्तुएँ थीं, वहाँ पर उन उन वस्तुओं के लेने देने के कारण बारंबार सन्तोषरहित होकर, उस गोवर्धन पूजन की अंगस्वरूप गोपालगणों की पूजाओं में भी, श्रीकृष्ण की पूजा के समय तो पिता माता आदि उनके बान्धवजन बहुत देर तक पूजा के अन्त को न पा सके । अर्थात् प्रेमाधिक्य के कारण बहुत देर तक श्रीकृष्णपूजन करते रहे ।।६९।।

और श्रीव्रजेश्वर एवं श्रीव्रजेश्वरी की दृष्टि में जैसे कृष्ण हैं, वैसे ही बलराम हैं । जैसे बलराम हैं, वैसे ही कृष्ण हैं । इन दोनों भ्राताओं में किंचिद् भी भेद लक्षित नहीं होता था । और उनके मित्रों में भी उनके समान दृष्टि होने के कारण कुछ भेद नहीं था ।।७०।।

गोगण के साथ संभ्रमण, यथा—श्रीकृष्ण जिस समय हर्षपूर्वक गैयाओं के पास से अदृश्य हो जाते थे, उसी समय वे सब गैयायें अपने बछड़ों के खैंचने के कारण व्यग्र हो जाती थीं । श्रीकृष्ण जब उनके सामने आ जाते थे, तब तो वे तदाकार हो जाती थीं ।।७१।।

हास्यमय कोलाहल, यथा—ग्वालबालों के द्वारा बछड़ाओं का समूह जब खैंचकर गोगण से दूरकर दिया जाता था, तब उनकी मैया गैया किलकिलाकर रँभाती हुई, बछड़ाओं के खैंचने वाले ग्वारियाओं को अपने दाँतों के द्वारा पीड़ित करने को जब चारों ओर से दौड़ते दौड़ते कातर हो जाती थीं, तथा सभीजन जब कोलाहल से युक्त हँसी करने लग जाते थे, तब उच्चहास्यरूप क्रीड़ामय मधु से युक्त श्रीकृष्ण का मुखारविन्द ही उत्कर्ष को प्राप्त कर रहा था, क्योंकि वह मुखारविन्द मोहित करने वाले, उच्चहास्यमय क्रीड़ारूप मधु को चारों ओर बरसा रहा था ।।७२।।

"गो-ग्रासविश्राणनं यथा--

गोपा ऊचुः कृष्ण ! गोग्रासमेतं, हस्ताम्भोजस्पृष्टमीषत् कुरुष्व ।
तत्सौगन्ध्यप्राप्तसन्धानमेनं, गावः सुष्ठु प्रीतितः स्वादयन्ते ॥७३॥

"गो-विश्रमणं यथा,—

गोवर्धनाचलमहस्ययुतादियूथ,-गोरोधनाय पशुपा नहि तत्र शेकुः ।
फूत्कारकेलिकलया मुरली मुरारे,-रासीदलं यदसकौ गुणकोटिकल्पा ॥७४॥

"गो-परिक्रमणन्तु श्रीकृष्णेनेत्थं तदिष्टमादिष्टम्,—

'न भवति बत बहुलाना,-मतिबहुलानां परिक्रमः सद्यः ।
इत्येकस्या व्यक्तेः, क्रियतां यस्मादशेषगा जातिः ॥७५॥

तत्र प्रदक्षिणीकार्यमेकं वृद्धं गवौरसम् ।
मूलाराधनतः सर्वाराधनं विबुधैर्मतम् ॥७६॥

"गोषु प्रणामात्मिका भक्तिस्तु तेषां वर्णनाय नाभ्यर्णतामन्वेति; ॥७७॥ यतः,

---

गोग्रास का दान, यथा—गोपगण बोले कि—हे कृष्ण ! इस गोग्रास को तुम अपने करकमल से नेक छू लो। क्योंकि उस करकमल की दिव्य सुगन्ध से संयुक्त उस गोग्रास को सब गैयायें विशेष प्रीतिपूर्वक स्वाद लेकर खाने लग जाती हैं ॥७३॥

गोगण को विश्राम देना, यथा—उस गोवर्धन पर्वत के महोत्सव में दश दश हजार की संख्या वाले गैयाओं के झुण्ड को रोकने के लिए कोई भी गोप समर्थ न हुए। किन्तु उस समय मुरारि की मुरली ही अपनी फूत्कारमयी लीला की कला से, उनको रोकने में समर्थ हो गई। क्योंकि यह मुरली सबको बाँधने के लिए करोड़ों रस्सियों के समान है ॥७४॥

गोपगणों की अभीष्ट गोगण की परिक्रमा का तो श्रीकृष्ण ने इस प्रकार आदेश दिया कि—गोगण की परिक्रमा करना तो बड़े हर्ष की बात है। किन्तु असंख्य गैयाओं की परिक्रमा शीघ्र नहीं हो सकती, अतः एक व्यक्तिरूप गैया की ही सब जन परिक्रमा कर लो। क्योंकि जातिपदार्थ व्यक्ति मात्र में रहता है, अर्थात् जाति, एक निरवयव, नित्य, और अनेक व्यक्तियों में रहता है। अतः गोत्व जाति जैसे एक गौ में है, वैसे ही गोसमूह में भी है। इसलिए एक गौ की प्रदक्षिणा से सबकी प्रदक्षिणा मान ली जायगी ॥७५॥

यदि कहोकि इतनी गैयाओं में से हम कौनसी की परिक्रमा करें? वहाँ मैं कहता हूँ कि—इन सबमें से एक वृद्ध गोपुत्र की परिक्रमा कर लीजिये। क्योंकि मूल के आराधन से सबका आराधन हो जाता है, ऐसा विद्वानों ने माना है। उसमें प्रमाण यथा—(भा० ४।३१।१४) "यथा तरोर्मूलनिषेचनेन, तृप्यन्ति तत्स्कन्ध-भुजोपशाखाः", अर्थात् वृक्ष के मूल का सेचन करने से जैसे उस वृक्ष के स्कन्ध, बड़ी छोटी सभी शाखा, उपशाखा, पत्र, पुष्पादि परितृप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार मूलरूप एक प्रभु के आराधन से सबका आराधन हो जाता है। इस दृष्टान्त से एक वृद्ध वृषभ के आराधन से गौ मात्र का आराधन हो जायगा ॥७६॥

उन गोपगणों की गोगण में प्रणामात्मिका भक्ति, अर्थात् वन्दन भक्ति तो वर्णन करने के लिए समीपता को नहीं प्राप्त होती है, अर्थात् वर्णन नहीं की जा सकती है। वह भक्ति इनकी नित्य सिद्ध है ॥७७॥

भक्तः स्वभावात् किल गोपलोकः, श्रीनन्दलोकस्तु ततोऽपि गोषु ।
अस्याथ गोवर्धन-यज्ञयोगे, योगेशदुर्गा नमनाख्यभक्तिः ॥७८॥

"आचार्यवरणलक्षणमपि विलक्षणमेव तत्र ॥७९॥

"यतः, स्वयमव्रियताचार्यस्तत्र नान्यवदर्थितः ।
यत्र सुष्ठु सितं यष्टुश्चित्तं तत्रैव तस्य च ॥८०॥

"होमे तु—

गोवर्धनमहायज्ञे हुतभुग्व्याजतस्तदा ।
हरेः प्रताप एवेन्धाश्चक्रे शक्र-प्रतापनः ॥८१॥

यदाग्निर्दक्षिणावर्तो यज्ञे जज्ञे तदा जनः ।
सर्वश्च दक्षिणावर्तं परीवर्तमवर्तत ॥८२॥

कृते सत्रे वस्त्रं तिलकमथ चर्चामवयव-
प्रकारालङ्कारं सकलमिदमप्युत्तमतमम् ।
द्विजेभ्यः प्रायच्छल्लषितलषितं शश्वदनुगा-
न्मुदावादीद्यस्मिन् दद दद दमात्रं व्रजपतिः ॥८३॥

क्योंकि यह बात सत्यरूप से प्रसिद्ध है कि, गोगण के प्रति गोप लोग स्वभावतः भक्त हैं, फिर श्रीनन्दजी एवं उनके संबंधी जन तो उन गोपों से भी अधिक भक्त हैं। और श्रीगोवर्धन पूजन की संगति में तो इन सब लोगों की जो वन्दन नामक भक्ति है, वह सनकादि योगेश्वरों को भी दुर्ज्ञेय है ॥७८॥

उस यज्ञ में आचार्य वरण करने का लक्षण भी विलक्षण रूप से सम्पन्न हुआ ॥७९॥

क्योंकि अन्य स्थान में जैसे प्रार्थना करके आचार्य का वरण किया जाता है, यहाँ पर उस तरह से नहीं। उस गोवर्धन यज्ञ में तो स्वयं ही आचार्य का वरण हो गया। क्योंकि जिस यज्ञ में यजमान का चित्त अच्छी प्रकार बँधा हुआ था, उसी यज्ञ में आचार्य का चित्त भी निबद्ध था ॥८०॥

होम में तो उस समय श्रीगोवर्धन महायज्ञ में अग्नि के बहाने इन्द्र को सन्तप्त करने वाला श्रीकृष्ण का प्रताप ही प्रदीप्त हो उठा ॥८१॥

उस यज्ञ में अग्नि जब दक्षिणावर्त होकर प्रगट हो गया, तब सभीजन प्रदक्षिणा करते हुए चारों ओर घूमने लग गये ॥८२॥

अनन्तर अनुष्ठित उस यज्ञ में वस्त्र, तिलक, चर्चा (शरीर में चन्दन आदि अंगराग लगाना), अङ्गों के अनुसार अलङ्कार, इत्यादि अत्यन्त उत्तम उत्तम समस्त वस्तुओं को श्रीव्रजराज ने ब्राह्मणों के लिए समर्पित किया। तथा अपने सेवकों को हर्षपूर्वक बारंबार यही कह रहे थे कि, अभिलषित पदार्थों में से जिसको जो पदार्थ चाहिये उसी को दे दो। अधिक क्या कहें ? जिस यज्ञ में श्रीव्रजपति तो केवल हर्षपूर्वक दे दो, दे दो, इन्हीं शब्दों को बारंबार कहते सुनाई पड़ते थे ॥८३॥

दिव्यदातव्यसम्भारे व्रज-राजेन योजिते ।
परीक्षकास्तत्र परं तत्परीक्षकतां ययुः ॥८४॥

"यदनु सर्वेऽपि प्राणिनः प्रीणते स्म । तथाहि वन्दिजन-वन्दनम्,—
'अर्थेन पोषकान्नन्दादर्थेन च सदार्थिनाम् ।
वदान्यश्च वदान्यश्च वदान्यः को भवेदतः ?' ॥८५॥

"किन्त्वयमत्रातिशयः,—
अन्नात् पूर्तिरभूद्गलावधि बलाद् गोवर्धनाद्रेर्मखे
सर्वप्राणभृतां तथापि हृदयं नापूरि तत्राण्वपि ।
यस्मिन् स्निग्धमभूदशेषदिविषद्वृन्दं यदप्यत्र भोः
पश्याश्चर्यमथापि हन्त गतवान् संक्रन्दनः शुष्कताम् ॥८६॥

"अथ तदेवं विप्रत्राकृत-सत्रादिकः पुरोहितहितसहितः श्रीव्रजयुवराजमहितः स खलु विज्ञानां समाजः पुरस्कृतव्रजराजस्तद्यज्ञावशिष्टं परमविशिष्टमन्नमुपभुज्य वेशविशेषं संयुज्य गीतनिबद्धं सश्रद्धतया हरिचरितं प्रतिरसन् हसन् विश्वसन् लसन् परितो गोवर्धनं परिचक्राम ॥८७॥

श्रीव्रजराज के द्वारा आयोजित उस दिव्य दातव्य (देने योग्य) वस्तुओं के समूह में, वहाँ पर ब्राह्मणों की परीक्षा करके देने वाले दानाध्यक्ष तो केवल उन दातव्य वस्तुओं को चारों ओर से देखने वाले बन गये थे ॥८४॥

जिस महोत्सव का लक्ष्य करके सभी प्राणी परितृप्त हो गये थे। देखो, वन्दीजनों के द्वारा की गई उस समय की वन्दना (स्तुति), यथा—सदैव धन से ही प्रयोजन रखने वाले धनिकों के मध्य में, धन से या वस्तुमात्र से परिपुष्ट करने वाले, श्रीनन्दजी से भिन्न दूसरा कौन व्यक्ति अधिक दान देने वाला अथवा मधुर बोलने वाला हो सकता है ? अतः भाई ! तू ही बता दे ॥८५॥

किन्तु यहाँ पर यही बात अधिक आश्चर्यजनक हुई कि—इस गोवर्धन पर्वत के यज्ञ में सभी प्राणधारियों की अन्न के द्वारा तो बलपूर्वक गले तक पूर्ति हो गई थी, तथापि उनका हृदय तो अणुमात्र भी परिपूर्ण न हुआ, अर्थात् उस अपूर्व आनन्द को देखकर किसी का भी जी भरता नहीं था। अरे भाई ! इस यज्ञ में एक आश्चर्य और देखो। यद्यपि जिसमें सम्पूर्ण देवगण तो सन्तुष्ट हो गये, तथापि इन्द्र तो सूख गया, यही खेद या आश्चर्य की बात है।।८६॥

तदनन्तर इस प्रकार ब्राह्मणों के अधीन होकर यज्ञ आदि करने वाला, पुरोहित आदि हितैषीजनों से युक्त, एवं श्रीव्रजयुवराज (श्रीकृष्ण) के द्वारा पूजित वह विज्ञजनों का समाज, श्रीव्रजराज को आगे करके उस यज्ञ में अवशिष्ट परमविशिष्ट अन्न को अपने उपयोग में लाकर, अर्थात् प्रेम से यज्ञ का प्रसाद पाकर, वेषविशेष बनाकर, गीत में निबद्ध श्रीकृष्ण के चरित्र को श्रद्धापूर्वक गाता हुआ, हँसता हुआ, विश्वास एवं विलास करता हुआ, चारों ओर से श्रीगोवर्धन की परिक्रमा करने लग गया ॥८७॥

"यथा च प्रथा श्रीविष्णुपुराणे, (५।१०।४५)—

'विप्रांश्च भोजयामासुः शतशोऽथ सहस्रशः। गावः शैलं ततश्चक्रुरर्चितास्ताः प्रदक्षिणम् ॥'८८॥

"तत्र पूर्वापरीभावो यथा,—

धेनवोऽथ धवलादयो द्विजाः, स्वामिनः परिजना गुरुस्त्रियः।
नूत्नयौवतशतानि दासिकाः, श्रेणिमुख्यजनताश्च चक्रमुः ॥८९॥

आक्रष्टुं प्रतिदिशमत्र नेत्रमीनान्, वाद्यादिप्रकटनधी-वरा नटाद्याः।
कृष्णस्य प्रथितगुणालिगीतजालं, तन्वानाः पुनरिह धीवरत्वमापुः ॥९०॥

"तत्र गोपाङ्गनानां गानञ्च यथा; यत्र प्रश्नमयमर्धमेकस्यास्तदुत्तरमयं तु बहूनाम्,—

'गिरिपूजेयं विहिता केन ? अरवि शक्रपदमभयं येन।
गिरिपूजेयं विहिता केन ? पूतनिका सा निहता येन॥
गिरिपूजेयं विहिता केन ? तृणावर्ततनु-दलनं येन।
गिरिपूजेयं विहिता केन ? यमलार्जुनतरुरुदकलि येन॥
गिरिपूजेयं विहिता केन ? वत्स-बकासुर-हननं येन।
गिरिपूजेयं विहिता केन ? व्योमाघासुर-मरणं येन॥

इस प्रकार की प्रथा श्रीविष्णुपुराण में भी कही है, यथा—श्रीगोवर्धन पूजन के अनन्तर उन व्रजवासियों ने सैकड़ों, हजारों ब्राह्मणों को भोजन कराया। पश्चात् पूजित हुई वे गैयायें श्रीगोवर्धन की प्रदक्षिणा करने लग गईं ॥८८॥

उस परिक्रमा में आगे आगे कौन चले, एवं पीछे पीछे कौन चले इस विषय का वर्णन, यथा—आगे आगे धवला आदि धेनुगण, उनके पीछे क्रमशः ब्राह्मणगण, श्रीकृष्ण बलदेव एवं मित्रमण्डल सहित श्रीनन्द आदि स्वामीजन, सेवकजन, गुरुस्त्रीजन, नवीन नवीन सैकड़ों युवतियों का झुण्ड, हजारों दासियाँ, बढ़ई, जुलाहा, नाई, धोबी, चमार आदि मुख्य मुख्य कारीगरों का समूह, एवं अन्य साधारण जनसमूह, इस प्रकार चलकर सभीजन परिक्रमा करने लग गये ॥८९॥

वहाँ पर नट आदिकों का उत्कर्ष रूपकअलंकार से वर्णन करते हैं, यथा—वाद्य (बाजा) आदि प्रगट करने के विषय में 'धी-वर' बुद्धि में श्रेष्ठ, और श्लेषपक्ष में—मत्स्यजीवी लोगों के समान, नट आदि लोग यहाँ पर प्रत्येक दिशा में सभी जनों के नेत्ररूप मछलियों को आकर्षित करने के लिए, श्रीकृष्ण के प्रसिद्ध गुणसमूह के गीतरूपी जाल को, श्लेषपक्ष में-सूत्र आदि निर्मित मछली पकड़ने के जाल को विस्तारित करते हुए, अर्थात् फैलाते हुए, सच्चे धीवरत्व को प्राप्त हो गये थे ॥९०॥

श्रीगोवर्धन की परिक्रमा में गोपाङ्गनाओं का गाना, यथा—जिस गाने में प्रश्नमय आधा पद तो एक गोपी का है, उसका उत्तरस्वरूप आधा पद बहुत सी गोपियों का है, यथा—

प्रश्न—यह गिरिपूजा किसने की ? उत्तर—जिसने अपने इन्द्रपद को निर्भय कर दिया। प्र०—यह गिरिपूजा किसने की ? उ०—जिसने वह पूतना मार दी। प्र०—यह गिरिपूजा किसने की ? उ०—जिसने तृणावर्त के शरीर का दलन किया। प्र०—यह गिरिपूजा किसने की ? उ०—जिसने यमलार्जुन नामक वृक्ष

गिरिपूजेयं विहिता केन ? कालियदमनं कलितं येन ।
गिरिपूजेयं विहिता केन ? खरप्रलम्बक-शमनं येन ॥
गिरिपूजेयं विहिता केन ? दवयुग्मं परिपीतं येन ।
गिरिपूजेयं विहिता केन ? त्रस्यति कंसः सततं येन ॥' इति ॥६१॥

"किन्तु, तदैव गुणिनां गुणा विविधकौतुकान्यप्यहो
मनोहरणमावहन् व्रजनिवासिनां सर्वतः ।
यदाघ-रिपुवंशिकाकलतुषारकान्तित्विषा
जड़ीकृतशरीरता भवति तं तु कालं विना ॥६२॥

अग्रे काञ्चनरत्नशृङ्गवलिता धेन्वादिकाः सर्वत-
स्तासां गोपततीर्विधाय सखिभिः सार्धं हरिः साग्रजः ।
दीव्यद्दिव्य-सुवर्णवर्णवसनादुद्गच्छदङ्गप्रभः
कन्याकुंकुमयुक्कराङ्कविलसत्पृष्ठः स्फुरद्वेषवान् ॥६३॥

सद्गन्धारुणचूर्णरोचनतनुर्यष्टिं नभस्युत्क्षिपन्
गृह्णंश्च प्रतिकूलगामिधवला विद्रुत्य सङ्कोचयन् ।

उखाड़ दिये। प्र०—यह गिरिपूजा किसने की ? उ०—जिसने वत्सासुर एवं बकासुर का वध किया। प्र०—यह गिरिपूजा किसने की ? उ०—जिसके द्वारा व्योमासुर एवं अघासुर का मरण हुआ। प्र०—यह गिरिपूजा किसने की ? उ०—जिसने कालियनाग का दमन किया। प्र०—यह गिरिपूजा किसने की ? उ०—जिसके द्वारा धेनुकासुर एवं प्रलम्बासुर का शमन हुआ। प्र०—यह गिरिपूजा किसने की ? उ०—जिसने कालियदमन के दिन एवं मुंजाटवी में लगने वाले दिन, इस प्रकार दोनों दावानलों का पान किया। प्र०—यह गिरिपूजा किसने की ? उ०—जिससे कंस निरन्तर उद्विग्न रहता है ॥६१॥

किन्तु परिक्रमा के समय एक आश्चर्य की घटना यह और हो रही थी कि—गुणीजनों के गुण एवं अनेक प्रकार के कौतुक, व्रजवासियों के मन को चारों ओर से तभी हरण कर पाते थे, जब श्रीकृष्ण की वंशी की सुमधुर ध्वनिरूप तुषारकान्ति की प्रभा के द्वारा व्रजवासियों का शरीर जड़ीभूत नहीं होता था। अर्थात् वंशीध्वनि के द्वारा उनका शरीर जब जड़प्राय हो जाता था, उस समय को छोड़कर ही गुणियों के गुण एवं कौतुक उनके मन को हर पाते थे। क्योंकि व्रज में तो वंशी का ही सर्वोच्च उत्कर्ष है ॥६२॥

मित्रमण्डल एवं श्रीबलदेवजी के साथ श्रीकृष्ण की गोवर्धन परिक्रमा की परिपाटी का वर्णन दो श्लोकों में, यथा—काञ्चन एवं रत्न आदि से मढ़े हुए सींगों से युक्त धेनु आदि को आगे करके, उनके चारों ओर रक्षकरूप गोपसमूह को नियुक्त कर, सखागण एवं अग्रज के सहित श्रीकृष्ण ने गोवर्धन की परिक्रमा दी। उस समय उनके श्रीअङ्ग की प्रभा देदीप्यमान दिव्य सुवर्ण वाले पीताम्बर से बाहर छिटक रही थी। कन्याओं के कुंकुम से रचे हुए हाथों के चिह्नों से उनकी पीठ सुशोभित हो रही थी। स्वयं स्फूर्ति वाले वेष से युक्त थे। सुन्दर गन्ध से युक्त अरुण चूर्ण (अबीर गुलाल आदि) से उनका शरीर मनोहर हो रहा था। चलते चलते अपने लकुट को आकाश में फेंककर ग्रहण करते हुए, एवं दौड़कर प्रतिकूलगामिनी गैयाओं को

हासं क्रीडनकं मिथः करयुतिं संवादितां वादितां
कुर्वन् वादितवल्गुवेणु परितश्चक्राम गोवर्धनम् ॥६४॥ युग्मकम् ।
यदा हरिर्यत्र गतिं विलासत,-श्चकार मन्दं लघु वा यदृच्छया ।
तदा दृशः सर्वजनस्य तां दशां, तत्रापयुः सूत्रनियन्त्रिता इव ॥६५॥

"तदेवं बहुलकुतूहलतश्चालं चालममी गोपग्रामण्यस्तदेव रम्यं यज्ञधाम समागम्य परमानन्दाद्वाणिनीनिभवाग्गिनीप्रभृतिकृतनृत्यवाद्यगीतग्रामिणीं यामिनीं विश्राम्यन्ति स्म; प्रातश्च द्वितीयायामहिमकरकन्याया महिमश्रवणतः प्रवणतया तस्यां स्नानमाचर्य निकाय्यमेवा-गच्छन्ति स्म ॥६६॥

"तस्याश्च भ्रातृद्वितीयायां भ्रातृभिः प्रशस्तेन भगिनी-हस्तेन भोक्तव्यमिति परमधन्याभि-रुपनन्दादिकन्याभिर्मिथो मिलन्तीभिर्निमन्त्रितौ प्रणय-यन्त्रितौ तत्र सतृष्णौ च रामकृष्णौ सहचरनिकरेण सह भोजनकरेण सह महमरोचयताम् ॥६७॥

"तदेवं वृत्ते वृत्ते कृष्णस्य समुन्नद्धताबद्धया कुहनया मद्यज्ञप्रत्यूहनमिदमित्यूहमानः शक्रस्तु वक्रभावचक्रतया चुक्रोध ॥६८॥

संकुचित करते हुए, परस्पर में हास परिहास खेल खिलवाड़ करते हुए, तथा सम विषमभाव से करतालिका देते हुए, मनोहर वेणु बजाते बजाते परिक्रमा दे रहे थे ॥६३-६४॥

श्रीकृष्ण अपनी चाल को विलास एवं स्वेच्छापूर्वक जब जिधर मन्द या शीघ्रतायुक्त करते थे, तब सभी दर्शकजनों की दृष्टियाँ सूत्र से नियन्त्रित कठपुतलियों की तरह, उधर उधर उसी दशा को प्राप्त हो जाती थीं ॥६५॥

अतएव इस प्रकार अधिक कौतूहलपूर्वक चलते चलते उन गोपश्रेष्ठों ने, उसी रमणीय गोवर्धन पूजन यज्ञ के स्थान पर आकर, अतिशय आनन्द के कारण नर्तकी के समान चतुर स्त्री आदिकों के द्वारा किये गये नृत्य, वाद्य, गीत के समूह से परिपूर्ण उस प्रतिपदा की रात्रि में वहीं विश्राम किया। प्रातःकाल द्वितीया के दिन श्रीयमुनाजी की महिमा के श्रवण के कारण, नम्रतापूर्वक श्रीयमुनाजी में स्नान करके, अपने अपने घर को ही आगमन किया ॥६६॥

और उसी भ्रातृद्वितीया (भैयादूज) के दिन भ्राताओं को अपनी अपनी बहिन के मङ्गलमय हाथ से भोजन करना चाहिये, इस कारण से परमधन्य श्रीउपनन्द आदिकों की कन्याओं ने, परस्पर मिलकर श्रीकृष्ण बलराम को निमन्त्रित किया। इस प्रकार निमन्त्रित होकर, स्नेहसूत्र में बँधकर, अपनी भगिनियों के घर भोजन करने की लालसा से युक्त हुए दोनों भाइयों ने, साथ में भोजन करने वाले मित्रमण्डल के सहित उस महोत्सव की शोभा बढ़ाई। (भगिनी वदेत्—"भ्रातस्तवाग्रजाताहं तिलकं ते ददाम्यहम्। प्रीतये यमराजस्य यमुनाया विशेषतः।" अन्नदाने तु—"भ्रातस्तवाग्रजाताहं भुङ्क्ष्व भक्तमिदं शुभम्"। इति वाच्यम्। तथा अनुजा चेत् "भ्रातस्तवानुजाताहम्" इति च वदेत्।) ॥६७॥

इस प्रकार के चरित्र की समाप्ति के बाद, श्रीकृष्ण के पाण्डित्य के अभिमान से निबद्ध अहंकार की चर्या के द्वारा ही मेरे यज्ञ में यह विघ्न हुआ है, इस प्रकार तर्क करता हुआ इन्द्र तो वक्रभाव के चक्र का अवलम्बन करने के कारण क्रुद्ध हो गया ॥६८॥

"कृष्णेन तस्य या गूढापि खट्वारूढता तर्किता, सा कथमन्यथा सम्पर्कितया वर्तेतेति व्यक्तीकर्तुमिव मत्सरतस्तत्सहित-विश्वमहित-श्रीमन्नन्दादिनिन्दापूर्वकं संवर्तकमेघान् व्रजविघाताय प्रवर्तयामास ॥९९॥

"ततश्च, कौवेर्यां पूर्वमासीत् किमपि हिममरुत्कालिमा मेघलेशः
शम्पानिर्घोषवीप्सास्पृगिति पशुकुले गोष्ठमेवाशु नीते ।
गोपाद्या दुर्निमित्तप्रकरकलनया कृष्णमावृत्य वृत्ता-
स्तन्निर्देशात्तमद्रिं सपदि परिगतास्तस्थुरूर्ध्वं निरीक्ष्य ॥१००॥

"निर्देशो यथा—
इन्द्रो यदि महावृष्टिं नष्टसृष्टिं तनिष्यति ।
तदङ्गीकारिगिरिराट् कृपां साङ्गीकरिष्यति ॥१०१॥

"उपत्यकामुपेत्य तं विघ्नं निघ्नं कर्तुमद्रिमुपघ्नं कृत्वा कृताधिष्ठाने तु गोष्ठे गोष्ठेन्द्रतनये च समयं प्रतिपालयति ॥१०२॥

"घडद्घडदिति ध्वनद्घनघटाभिसङ्घट्टनैः
कठोरकुठकुट्टकैः कुटिलवायुभिः कुण्ठिते ।
प्रकोष्ठकुटकुट्टिमावटतटादिमत्युज्झिते
जने प्रकटमाट सा प्रथितधृष्टिवृष्टिप्रथा ॥१०३॥

श्रीकृष्ण ने इन्द्र की गूढ़ रूपसे रहने वाली भी जिस मूर्खता का अनुमान किया था, वह मूर्खता अन्य प्रकार के सम्पर्क से युक्त कैसे रह सकती है ? इसलिए मानो उस मूर्खता को प्रगट करने के लिए, मात्सर्य (ड़ाह) के कारण इन्द्र ने श्रीकृष्ण के सहित विश्वपूज्य श्रीमान् नन्दादि गोपों की निन्दा प्रकाशित करते हुए, प्रलयकारी मेघों को व्रज के विनाश के लिए प्रवर्तित कर दिया ॥९९॥

पहले तो उत्तर दिशा में किसी अनिर्वचनीय शीतलवायु का आविर्भाव, एवं थोड़े थोड़े मेघों की कालिमा प्रगट हुई। उन्हीं मेघों के साथ बारंबार बिजली की तड़कन का शब्द होने लगा। इसलिए पशुगण शीघ्र ही गोष्ठ में पहुँचा दिये गये। पश्चात् गोप आदि सभी व्रजवासीजन बुरे बुरे शकुन समूह को देखने के कारण श्रीकृष्ण को घेर कर खड़े हो गये, तथा श्रीकृष्ण की आज्ञा से शीघ्र ही श्रीगोवर्धन पर्वत के निकट जाकर, ऊपर की ओर देखकर खड़े हो गये ॥१००॥

श्रीकृष्ण की आज्ञा का निर्देश, यथा—इन्द्र यदि सृष्टि को नष्ट करने वाली महावृष्टि का विस्तार करेगा, तो उस वृष्टि को अङ्गीकार करने वाले श्रीगिरिराज महाराज सम्पूर्ण रूप से कृपा कर देंगे ॥१०१॥

पर्वत के निकट की भूमि को प्राप्त कर, उस विघ्न को अपने अधीन करने के लिए, श्रीगिरिराज के पास जाकर, व्रजवासीमात्र जब ठहर गये, और श्रीव्रजराजकुमार जब समय की प्रतीक्षा कर रहे थे, अथवा अपनी व्रजकी रक्षारूप प्रतिज्ञा का प्रतिपालन कर रहे थे—॥१०२॥

तथा 'घड़ घड़' इस प्रकार का शब्द करने वाली भयंकर घनघटा से संसर्ग रखने वाले एवं कठोर, अर्थात् पूर्ण विशाल वृक्षों को तोड़ने वाले कुटिल वायुसमूह के द्वारा किंकर्तव्यविमूढ़, एवं भीतर के कोठा, वृक्ष, मणिबद्ध भूमि, अवट (गड्ढ़ा), तट आदि को गिरने की आशंका से बुद्धिपूर्वक त्याग देने वाले व्रजवासी-

धाराः शक्रधनुर्विमुक्तशरतां तन्वन्ति वर्षोपला
वज्रत्वं बत वज्रपातनिचयाः सूर्यप्रपात-भ्रमम् ।
इत्थं दुःखितया हरिं गतिमिते गोष्ठे स गोवर्धनं
हस्तेऽधत्त यथा न केन च तदा शक्तं दराप्यूहितुम् ॥१०४॥

"तत्रैवं मेघङ्करे पुरन्दरे निविरीशवर्षादिना भयङ्करे चार्तिङ्करे च जाते क्षेमङ्करः स मुरारिः पुरा ह्येवं परामर्श,—॥१०५॥

'इन्द्रः स्वैराभिमानी मयि मदनुगते चावमानी ततश्च
स्वान्तान्मे दूरमानी तदमुमनु मया मानभङ्गः प्रसक्तः ।
गोष्ठं मद्गत्यशेषं मम मदनुगतस्यापि मुद्भृद्विशेषं
मच्चिते सावशेषं तदिदमथ मया प्राणसाम्येन धार्यम् ॥'इति ॥१०६॥

"समजनि हलिना न हरे,-र्गिरिधृतिसम्भ्रमवशेन संवादः ।
तदपि परस्परहार्द,-ज्ञानं तस्मिन्नजीजनत्तमिव ॥१०७॥

"तं नगमुन्नयमानश्चासौ रोमाञ्चतः सूचिनिचय-निचित-सर्वावयवानिव निचायन्नमूल-भीरुमाथुराभीरजाति - जातीय - गम्भीर - मधुरस्वर - विकस्वरदूरभू-विभूतिहूतिभिरूर्जित-

---

जन जब व्याकुल हो रहे थे, उसी समय जिसकी धृष्टता प्रसिद्ध है, ऐसी वह वृष्टि की परंपरा प्रगट होकर भ्रमण करने लग गई ॥१०३॥

उस समय जल की मोटी मोटी धारायें, इन्द्र के धनुष से छूटे हुए बाणों का सा विस्तार करने लगीं, वर्षाती ओले वज्र का सा विस्तार करने लगे, एवं वज्रपात के समूह सूर्य के गिरने के से भ्रम को विस्तारित करने लगे। इस प्रकार दुःखित होने के कारण व्रजवासीमात्र जब श्रीकृष्ण को शरण में चले गये, तब श्रीकृष्ण ने श्रीगोवर्धन को हाथ पर धर लिया। जिस प्रकार शीघ्रता से धारण किया उस प्रकार का किंचिद् भी तर्क (अनुमान) करने को उस समय कोई भी व्यक्ति समर्थ न हुआ ॥१०४॥

वहाँ पर पूर्वोक्त प्रकार से मेघकारी इन्द्र जब निविड़ वर्षा आदि के द्वारा भयंकर, एवं पीड़ा पहुँचाने वाला हो गया, तब कल्याणकारी वे मुरारी पहले इस प्रकार विचारने लगे कि—॥१०५॥

इन्द्र मेरे ऊपर स्वेच्छापूर्वक अभिमान करने वाला बन गया है, और मेरे अनुगामी जनों के विषय में अवज्ञा करने वाला हो गया है, इसलिए इन्द्र मेरे मन से अपने को बहुत दूर मानता है, अर्थात् इन्द्र के लिए मेरे मन में अब स्थान नहीं रहा है। अतएव इस इन्द्र का लक्ष्य करके ही मैंने इसके मान के भङ्ग करने का आयोजन किया है। और यह व्रज केवल मेरे ही आश्रित है, एवं मेरे और मेरे अनुगामी जनमात्र के लिए भी विशेष आनन्ददायक है, तथा यह व्रज मेरे चित में परिपूर्णरूप से समा गया है। इसलिए इस व्रज का मुझे प्राण के समान पोषण करना चाहिये ॥१०६॥

श्रीगोवर्धन धारण करने की शीघ्रता के वशीभूत होने के कारण, श्रीकृष्ण का बलदेवजी के साथ यद्यपि कोई संवाद नहीं हुआ, तो भी उनके आपस के सौहार्द ज्ञान ने श्रीबलदेवजी के मन में उस संवाद को उत्पन्न सा कर दिया ॥१०७॥

और उस पर्वतराज को ऊपर की ओर करते हुए, एवं रोमांच के कारण अपने संपूर्ण अंगों को सूइयों के समूह से व्याप्त जैसे धारण करते हुए, अर्थात् रोमांचित शरीर वाले श्रीकृष्ण अकारण भयशील

गर्जितादि-गर्वं सर्वं खर्वं विधाय प्रियङ्करतया व्यक्तमुक्तवान्,—यत्र खलु मुहुरपि हे-शब्दः प्लुततात्प्लुत एवासीत् ॥१०८॥

'तथाहि, अम्ब हे ! मा विलम्बस्व, तात हे ! अत्रैव यूयमायात; आर्य हे ! सर्वानादायागच्छ' इति प्रभृति ॥१०९॥

"तदेवं बलरामेण बलेनान्तिकमानीतेषु तेषु पुनरूचिवान्,—

'पितर्न कुरु सम्भ्रमं जननि ! नार्तिमावर्तय
प्रशाम्य सुहृदां तते ! मम तु कोऽपि नात्र श्रमः ।
यतो गिरिवरः स्वयं करुणया करे मामके
समुत्पतनलीलया स वरिर्वात तूलप्रभः ॥११०॥

'किञ्च, भूभृद्गर्तेऽप्यत्र निश्रेणियुक्ते, स्थानं पश्यन्नस्मि पातालकल्पम् ।
विस्तीर्णोऽभूदद्रिरित्यन्तरम्भः,-सङ्गातीते नो निपत्यादि चात्र ॥'१११॥

"पुनश्च तेषां भावान्तरं विभाव्य स्वकर्तृकधारणमप्यर्धमङ्गीकृत्य भणति स्म,—॥११२॥

'मातुर्मन्त्रणया मा मां निवर्तयत सत्तमाः ! ।
उदस्तो येन तद्धस्ताद्ध्वस्तः स्याद्गिरिराट् कथम् ? ॥११३॥

मथुरामण्डल निवासी गोप जाति के समान गम्भीर एवं मधुरस्वर के प्रकाश से बहुत दूर तक की भूमि में फैल जाने वाले बुलाने के शब्दों के द्वारा, मेघों की प्रबल गर्जना आदि के संपूर्ण गर्व को खर्व (छोटा) करके प्रिय करने वाले की तरह स्पष्ट बोले । दूर से बुलाने के जिन शब्दों में निश्चितरूप से बारंबार 'हे' शब्द प्लुतस्वर से ही व्याप्त था ॥१०८॥

यथा—हे अम्मा ! तू देर मत कर । हे पिताजी ! आप यहीं चले आओ । हे आर्य ! (बड़े भैया श्रीबलदेव !) आप सब व्रजवासियों को लेकर शीघ्र चले आओ, इत्यादि ॥१०९॥

इस प्रकार श्रीबलरामजी बलपूर्वक सब व्रजवासियों को जब श्रीकृष्ण के निकट ले आये, तब श्रीकृष्ण पुन: बोले कि—हे पिताजी ! आप भय न करें । हे जननि ! आप अपने मन में कष्ट मत पाओ । हे प्यारे मित्रो ! आप सब शान्ति धारण करो । क्योंकि श्रीगोवर्धन के धारण करने में मुझे कोई भी श्रम प्रतीत नहीं होता है । कारण—यह गिरिराज स्वयं कृपा करके मेरे हाथ पर ऊपर को उछलने की सी लीला के द्वारा, रुई के समान हलका होकर अतिशय विराजमान है ॥११०॥

किंच मैं तो सीढ़ियों से युक्त इस पर्वत के गर्त (गड्ढे) में पाताल के समान विशाल स्थान देख रहा हूँ । यह गिरिराज तो विस्तीर्ण होता जारहा है, अत: जल के सम्बन्ध से रहित इस गिरिराज के नीचे गिरने के योग्य गीली भूमि नहीं है ॥१११॥

"ये सात वर्ष के छोटे से कन्हैया पर्वत को कैसे धारण किये रहेंगे ? अत: इसके हाथ से यह अवश्य गिर जायेगा" उन व्रजवासियों के इस प्रकार के विचार को समझ कर, एवं अपने द्वारा किये गये पर्वत के धारण को भी आधा अंगीकार कर श्रीकृष्ण पुन: बोले—॥११२॥

हे सज्जनश्रेष्ठ ! व्रजवासियो ! मेरी माँ के विचार के अनुसार आप सब मुझको गोवर्धन धारण से निवृत्त मत करो । आप सब इस बात का भी तो किंचित् विचार करो कि "जिसने इस गिरिराज को अनायास उठा लिया है, उसके हाथ से यह गिरिराज कैसे गिर पड़ेगा ? इत्यादि ॥११३॥

'किञ्च, मा विलम्बध्वमत्यर्थं युष्मद्दुःखेन कम्प्रताम् ।
मयि गच्छत्यद्रिपतिः पतिता विशत द्रुतम् ॥'११४॥

"अथ पशुपजनस्तदीयहार्दाद्, द्रुतमविशन्निखिलस्तदाद्रिगर्ते ।
नहि शरणतया कदाचिदेनं, स भजति किन्तु तदेकतर्षबुद्धया ॥११५॥

"ततश्च, सुविन्यस्तनिःश्रेणिलब्धप्रवेशं, मणिश्रेणिविद्योतमानप्रदेशम् ।
गृहस्येव रत्नाङ्कभित्तिप्रकारं, तदूर्ध्वञ्च तत्तुल्यशोभाप्रचारम् ॥११६॥
सुखस्पर्शनण्याचितक्षौणिभागं, समस्तावकाशार्हसन्धाविभागम् ।
यथापेक्षविभ्राजितस्वच्छनीरं, सुखाकारिधर्माश्रिनीचैः समीरम् ॥११७॥
करे स्वस्य वामे तु वामे वसन्तं, गिरिं लीलयास्पृश्य सन्तं हसन्तम् ।
तदीयान्तरुद्यन्महाकुट्टिमस्थं, हरिं हारिरूपादिभिः प्रागवस्थम् ॥११८॥
दधद्वेणुमानम्रहस्तप्रधानं, कदाचिन्मुदा सख्युरंसे दधानम् ।
ददर्श प्रहर्षं सतर्षं सभीतिं, व्रजावासिलोको ययौ चातिरीतिम् ॥११९॥

किंच आप सब अधिक विलम्ब मत करो । क्योंकि आप सबके दुःख से मेरे कम्पित हो जाने पर, यह गिरिराज गिर जायगा । अतः शीघ्र ही इसके नीचे प्रवेश करो ॥११४॥

अनन्तर सभी गोपजन श्रीकृष्ण के स्नेह के कारण या उनके अभिप्राय के अनुसार, तत्काल शीघ्र ही श्रीगिरिराज के नीचे प्रविष्ट हो गये । क्योंकि यह गोपसमूह "श्रीकृष्ण हमारी रक्षा करेंगे" इस भाव से श्रीकृष्ण का भजन नहीं करता, किन्तु एकमात्र श्रीकृष्ण में ही तृष्णा रखने वाली बुद्धि से भजन करता है । तात्पर्य—श्रीकृष्ण की आज्ञा पालन करना ही अपना धर्म समझता है । अतः उनके कहते ही गिरिराज के नीचे प्रविष्ट हो गया ॥११५॥

तदनन्तर व्रजवासीजनों ने अपने मनोहर बायें हाथ पर धरे हुए गिरिराज को अनायास स्पर्श करके खड़े हुए एवं हँसते हुए श्रीकृष्ण को देखा । वह गिरिराज कैसा है ? उसका आठ विशेषणों से वर्णन करते हैं, यथा—उस गिरिराज में सुन्दर सुन्दर जो सीढ़ियाँ बनी हुई हैं उनके द्वारा उसके नीचे अनायास प्रवेश किया जा सकता था । उस गिरिराज के सभी स्थान मणियों की पंक्ति से चमक रहे थे । राजभवन की भींत जैसे रत्न खचित होती हैं, उसी प्रकार की भींत गिरिराज के नीचे थीं । और गिरिराज का ऊपर का भाग घर के समान शोभायमान लगता था । गिरिराज के नीचे की भूमि का भाग स्पर्श करने में सुखप्रद मणियों से जड़ा हुआ था, तथा सभी के बैठने के लिए अवकाश के योग्य मर्यादामय विभागों से युक्त था । और अपेक्षा (इच्छा) के अनुसार निर्मल जल भी विराजमान था, एवं उस गिरिराज के नीचे सुखकारक धर्मों से युक्त वायु, अर्थात् शीतल मन्द सुगन्ध पवन धीरे धीरे बह रहा था । अब किस प्रकार के श्रीकृष्ण को देखा उनका भी कुछ विशेषणों से वर्णन करते हैं, यथा—उस गिरिराज के मध्यभाग में नीचे की जो भूमि प्रकाशमान मणियों से खचित थी, उस पर श्रीकृष्ण खड़े थे, एवं अपने मनोहर रूप आदि के द्वारा पहली अवस्था जैसे ही प्रतीत होते थे । और वेणु को धारण करनेवाले अपने दाहिने हाथ को कभी कभी हर्षपूर्वक अपने सखा के कन्धे पर धारण कर लेते थे । व्रजवासीलोगों ने इस प्रकार श्रीकृष्ण को देखा । और देखते ही तृष्णा से युक्त, भय से युक्त, एवं अलौकिक रीति से युक्त विशिष्टहर्ष को प्राप्त किया ॥११६-११९॥

गोवर्धनाद्रिस्तत्रासीद्रत्नचित्रं महागृहम् ।
हरिर्यत्र हरिद्रत्नस्तम्भतारम्भिविभ्रमः ॥१२०॥

"अपि च—विलसति मणिदण्डश्रीर्मुकुन्दस्य बाहु,-स्तदुपरि परितोऽपि च्छत्रतुल्यो गिरीन्द्रः ।
प्रतिदिशमिह मुक्तादामवद्वारिधारा, व्रजसदनजनानां प्रत्युताभूद्विभूतिः ॥१२१॥

"ततश्च सहसा रोहिणीसहिता व्रजेश-गृहिणी तं पार्श्वयोर्गृहीतवती । तदिदं वर्णिभिर्निर्वर्ण्य वर्ण्यते स्म; ॥१२२॥ यथा—

'मातृभ्यां पार्श्वयुग्मे धृततनुरसकृन्मृज्यमानाननाब्जः
पित्राद्यात्मीयवर्गैः सपुलकमभितो वीक्षितोऽतवर्यकर्मा ।
सोऽयं स्मेराब्जनेत्रः कलितनटकलाहस्तकः सव्यहस्त-
न्यस्तक्षौणीभृदुच्चैर्जयजयनिनदान्वीडितः क्रीडतीव ॥१२३॥

गोवर्धनधरस्याग्रे विलासान् व्यञ्जतो बलः ।
कृत्स्नानुत्साहयत्येष नाट्ये वा नटनायकः ॥'१२४॥

उस समय श्रीगोवर्धन पर्वत रत्नों से चित्रित विशाल भवन के समान शोभा पा रहा था । श्रीकृष्ण जिस भवन में नीलमणि के स्तम्भ का सा विलास आरम्भ कर रहे थे, अर्थात् नीलमणियों के स्तम्भ जैसे प्रतीत होते थे ॥१२०॥

अपि च मणि निर्मित दण्ड की सी शोभा वाली श्रीकृष्ण की बाईं भुजा छत्रदण्ड के समान सुशोभित थी । उसके ऊपर चारों ओर श्रीगिरिराज विशाल छत्र के समान शोभा पा रहा था । इस छत्रतुल्य गिरिराज की प्रत्येक दिशा में गिरती हुई जल की धारायें, छत्र के चारों ओर लगी हुई मोतियों की मालाओं के समान शोभा पा रही थीं । इन्द्र ने यद्यपि व्रजवासीजनों को नष्ट करने का काम किया था, तो भी उनके पक्ष में श्रीहरि कृपा से यह सब कार्य उनके ऐश्वर्य का द्योतक ही हो गया, अर्थात् राजाओं के ऊपर जैसे छत्र लगता है, उसी प्रकार व्रजवासीमात्र के ऊपर श्रीगिरिराजरूप छत्र लग गया ॥१२१॥

तदनन्तर श्रीरोहिणीजी के सहित श्रीव्रजरानी ने श्रीकृष्ण को दोनों ओर से पकड़ लिया । वर्णन करने वाले व्यक्तियों ने इस छवि को देखकर इस प्रकार वर्णन किया है— ॥१२२॥

यथा—दोनों माताओं के द्वारा दोनों बगल से श्रीकृष्ण का शरीर धारण किया गया है, एवं दोनों माताओं के द्वारा ही अपने अपने अञ्चल से उनका मुखकमल पोंछा जा रहा है । पिता आदि आत्मीय जन-समुदाय के द्वारा रोमाञ्चित होकर, अलौकिक अतवर्य कार्य करने वाले श्रीकृष्ण चारों ओर से देखे जा रहे हैं । तथा खिले हुए कमल के से नेत्रों वाले, नट की सी कला को ग्रहण करने वाले, दोनों हाथों वाले, बायें हाथ पर गिरिराज को धारण करने वाले, एवं ऊँचे स्वर से किये गये जयजयकार की ध्वनि के सहित पूजित होने वाले, ये श्रीकृष्ण मानो क्रीड़ा कर रहे हैं, ऐसा प्रतीत होता है ॥१२३॥

नाटक में नटनायक जैसे सभी पात्रों को उत्साहित करता है, उसी प्रकार ये श्रीबलदेवजी गोवर्धन-धारी श्रीकृष्ण के आगे अनेक प्रकार के हास विलास करने वाले सभी जनों को उत्साहित करते जाते हैं ॥१२४॥

"तदेवं सति—

महावृष्टिर्गर्जः खरहिमपवनः स्फूर्जथुर्ध्वान्तमब्द-
स्तथा वज्रीत्येवंविधविविधगति-क्लेशहेतुर्बहिर्यः।
तमन्तर्निर्वर्षं मधुरनिगदितं चारुवायुः प्रगीतं
मरीचिश्चित्रश्रीरजितगिरिभृदित्याप्तशर्म व्यकारीत् ॥१२५॥

नृत्यस्तोत्रप्रगीतान्यतिचटुलनटाद्यर्थिनां दानचर्या
वर्याणां स्वस्तिपाठः श्रुतिसमयविदां क्रीडितं बालकानाम्।
गर्वात् खर्वाखिलानामिति सकलमभूद् यस्य तु प्रेमजातं
स श्रीगोवर्धनाद्रिप्रवर-धरकरः कं न तोषं पुपोष ? ॥१२६॥

गुरौ नम्रा तुल्ये स्मितयुगनुपाल्ये धृतजला
क्वचिल्लीलालोला मघवति तु वक्रा बत सती।
धृताद्रेर्दृष्टिस्तत्तदनुगुणमर्थं विदधती
क्रियामन्यां तस्य स्वमनु पुनरुक्तामकुरुत ॥१२७॥

अतएव इस प्रकार की घटना उपस्थित होने पर श्रीगोवर्धन के बाहर महाप्रलयकारी वर्षा, मेघों की गर्जन, तीक्ष्ण शीतल वायु, वज्र का शब्द, अन्धकार, बादल, एवं इन्द्र इत्यादि प्रकार के अनेक पदार्थ जो क्लेश के कारण बन रहे थे, किन्तु श्रीगोवर्धन के भीतर वे ही पदार्थ विपरीत गति को प्राप्त हो रहे थे। यथा—गोवर्धन के भीतर वर्षा का अभाव, सभी के मधुर वचनों का प्रयोग, मनोहर वायु, सुन्दर गायन, श्रीकृष्ण के अङ्ग की किरण, विचित्र शोभा, श्रीकृष्ण ही गोवर्धनधारी थे। इस प्रकार के सुखदायक पदार्थों ने क्लेश के कारण को विक्षिप्त कर दिया था, अर्थात् भगा दिया था ॥१२५॥

अति रमणीय नट आदि याचकों का नृत्य, स्तुति, सुन्दर गायन, श्रेष्ठजनों की दानचर्या, वेदोक्त आचार के वेत्ता पण्डितों का स्वस्तिवाचन, जिनके सामने गर्व से सभी इन्द्रादि छोटे मालूम पड़ते हैं, ऐसे व्रजबालकों की क्रीड़ा इत्यादि सम्पूर्ण कार्य जिनके प्रेमसमूहरूप हो गये थे, उन श्रीकृष्ण ने श्रीगोवर्धन गिरिराज को अपने कर पर धारण कर, उन व्रजवासियों के कौन से सन्तोष को पुष्ट नहीं किया ? अपितु सभी को किया ॥१२६॥

श्रीगोवर्धनधारी श्रीकृष्ण की दृष्टि गुरुजनों के ऊपर नम्रतायुक्त, मित्रों के ऊपर मृदुहासयुक्त, सेवकों के ऊपर प्रेमाश्रुयुक्त, एवं श्रीराधिका चन्द्रावली आदि किन्हीं किन्हीं प्रियाजनों पर विलासमयी चंचलता से युक्त होती हुई, किन्तु हाय ! इन्द्र के ऊपर तो टेढ़ी होती हुई, और गुरु आदि जनों में यथायोग्य भावार्थ को प्रकाशित करती हुई, वही श्रीकृष्ण की दृष्टि अपनी ओर लक्ष्य करके श्रीकृष्ण की अन्य क्रियाओं को पुनरुक्त दोष से दूषित कर रही थी। अर्थात् उस समय आत्मीयजनों का भयनिवारण, सन्तोष साधन आदि सभी कार्य श्रीकृष्ण की दृष्टि ही सिद्ध कर रही थी, उनकी और क्रियायें तो पुनरुक्त सी मालूम पड़ती थीं ॥१२७॥

गिरिधरवदनेन्दो रश्मिपीयूषधारां, पिबदिह पशुजातं सप्तरात्रिन्दिवानि ।
क्षुधमपि सतृषं तन्नाययौ तर्हि तस्य, प्रणयिजनगणानां किं ब्रुवे न ब्रुवे किम् ।।१२८।।

श्रीमुखेन जनता सुधारसैः,-रस्य भूधरधरस्य पूर्यते ।
एवमप्यवयती तदा प्रसू,-स्तन्मुहुर्बहुरसैरपूरयत् ।।१२९।।

सप्ताहर्निशनिर्मिता गिरिभृता ये ये विलासास्तदा
तान् कल्पैरपि सप्तभिः कथयिता शेषोऽपि नाशेषतः ।
एवं चेद्वचनैरमूस्त्रिचतुरैः सच्चातुरी-वर्जितै-
स्तूर्णं वर्णितवान् कविः स्वयमसौ दुर्भूय दोदूयते ।।१३०।।

"तदेवमत्र प्रस्तावे लब्धावस्थाने तत्र शक्रस्तु दुष्टक्रममनुष्ठितवान् । प्रथमं तावत् प्रथमानेन वातेन वा तेन ते प्रलयं गता इति सन्दिह्य तदैव तद्दैवतशतमेव तत्र प्रभूतद्रुततया प्रस्थापितवान् । तत्तु तस्मादतिसत्वरमागत्वरतया तदभीष्टं प्रत्याचष्ट । ततश्च बलारातिर्बलात् प्रवर्तित-प्रसारेण जलासारेण तद्विलापनं प्रतीत्य च सत्यताप्रतिपत्तये जलददेवानेव तद्वार्तायां वर्तयामास ।।१३१।।

श्रीगिरिधारीलाल के मुखचन्द्र की किरणरूपी अमृतधारा का पान करता हुआ, वह गो आदि पशुओं का समूह भी, जब गिरिराज के नीचे सात दिन एवं सात रात तक भूख प्यास को भी प्राप्त न हुआ, अर्थात् साधारण पशुओं को भी जब भूख प्यास नहीं लगी, तब श्रीकृष्ण के प्रेमी जनसमुदाय के सम्बन्ध में क्या कहें और क्या न कहें ? अर्थात् कैमुत्यन्याय से प्रेमीजनों की भूख प्यास का अभाव स्वतःसिद्ध हो गया ।।१२८।।

ऐसी स्थिति में भी माँ का वात्सल्य, यथा—इन श्रीगिरिधारीलाल के श्रीमुख के मन्दमुस्कयानरूप सुधामय रसों के द्वारा सारी जनता परिपूर्ण हो रही है, इस प्रकार जानती हुई भी स्नेहमयी माँ यशोदा उस समय "लाला की भूख प्यास का ध्यान देकर" उस श्रीमुख को बार बार परिपूर्ण कर देती थीं ।।१२९।।

और उस समय सात दिन रात पर्यन्त श्रीगिरिधारीलाल ने जो जो अपूर्व लीलाविलास किये थे, उन सबको सम्पूर्णरूप से हजार मुख वाले शेषजी भी सात कल्पों के द्वारा भी, अर्थात् ब्रह्मासम्बन्धी सात दिनों में भी नहीं कह सकते । ऐसी स्थिति में अनुप्रास, यमक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारमयी सच्चातुरी से रहित, तीन चार वचनों के द्वारा शीघ्रतापूर्वक वर्णन करने वाला यह कवि तो स्वयं दुःखित होकर बारंबार उपतप्त हो रहा है ।।१३०।।

इसलिए यहाँ पर इस प्रकार का प्रस्ताव जब स्थिरता को प्राप्त हो गया, तब वहाँ पर इन्द्र तो अपने दुरात्मापन का अनुष्ठान करने लग गया, अर्थात् निन्दित कार्य करने लग गया । प्रथम तो वे व्रजवासी वृद्धि को प्राप्त हुए, एवं पीड़ा पहुँचाने वाले वायु के द्वारा ही नष्ट हो गये होंगे । इस प्रकार सन्देह कर, उसी समय "वायुदेव ही जिनके इष्टदेव हैं" ऐसे सैकड़ों सेवक अधिक द्रुततापूर्वक कार्य करने के लिए भिजवा दिये । उन सैकड़ों दूतों ने तो उस व्रज से शीघ्र ही आकर के इन्द्र के अभीष्ट को खण्डित कर दिया, अर्थात् व्रज में वायु द्वारा कोई अनिष्ट नहीं हुआ, यह वचन सुनाया । तदनन्तर इन्द्र ने "बलपूर्वक प्रेरित विस्तार वाले जलधारा के सम्पात के द्वारा" व्रज के डूबने को जानकर भी उसकी सत्यता को जानने के लिए, मेघों के अधिष्ठातृ देवताओं को ही उस बात के विषय में प्रवर्तित कर दिया ।।१३१।।

"वर्तिताश्च ते तद्वीक्षितेन पथा प्रत्यागत्य यथापूर्वं तत्प्रत्याशापदं प्रत्याख्याय स्थितवन्तः ॥१३२॥

"ततश्च परममपूर्वं मत्वा मनस्यतीव धूर्वणं गत्वा घनाघनबृंहणः स घनाघनः स्ववाहनं घनाघनं क्रोधादंकुशेन मङ्क्षु जघान, हत्वा च किञ्चिदग्रतो गत्वा सत्वरमैरावतीय-वह्निमह्नि चापह्नुतनेत्रवीर्यं विकीर्य दूत्याय तद्देवतामवतारयामास। सा च ततो निवृत्य प्रवृत्त्यन्तरं निवेदयामास,—॥१३३॥

'देव ! परमाश्चर्यचर्येयमवधार्यताम्; यत् खलु स एव बलिभोजनवलितबलः सन्नचलः सम्यगुत्पतन्निवाऽवलोक्यते।' ॥१३४॥

"इन्द्र उवाच,—'दृश्यतां कीदृशमनन्तरमन्तरं जातम् ? लब्धशोकश्च व्रजलोकः कुत्र वा सपुत्रः प्रयातः ?' ॥१३५॥

"अथ सर्वे यथाज्ञापयन्तीति विद्रुत्य पुनः सङ्गत्य संहत्य प्रत्यभाषन्त,—'सर्वदैव सर्व-दैवतमान्य शतमन्यो ! मन्यामहे ते सर्वे शतपर्वसगर्भविद्युद्वह्निना प्रलीनतामेव नीताः; यद्बहिर्न हि विलोक्यन्ते।' ॥१३६॥

"इन्द्रः सहर्षमुवाच,—'आयुष्मद्भिर्युष्माभिः पुनरपि निरूप्यताम्।' ॥१३७॥

वे भी कार्य में प्रवृत्त होकर इन्द्र के द्वारा देखे गये मार्ग से लौटकर, पहले की भाँति इन्द्र की आकांक्षा के विषय को खण्डित कर चुप बैठ गये ॥१३२॥

उसके बाद परम आश्चर्य को मानकर, अपने मन में भारी ग्लानि पाकर, बरसाती मेघों को बढ़ाने वाले उस इन्द्र ने, अपने वाहनरूप ऐरावत हाथी को, क्रोधपूर्वक अंकुश से शीघ्र ही ताड़ना दी। और ताड़ना देकर, कुछ आगे जाकर, दिन में भी नेत्रों के पराक्रम को दूर करने वाली, बिजली सम्बन्धी अग्नि को शीघ्र ही फेंककर दूत कार्य के लिए बिजली के देवता को नीचे उतार दिया। वह बिजली सम्बन्धी देवता वहाँ से लौटकर दूसरे प्रकार के वृत्तान्त को निवेदन करने लगी कि— ॥१३३॥

हे देव ! आप परम आश्चर्यमयी इस चर्चा को देखो तो सही। क्योंकि निश्चितरूप से व्रजवासियों की भेंट के भोजन से बलवान् होकर, वह पर्वतराज ही अच्छी प्रकार ऊपर की ओर उठता हुआ सा दिखाई देता है ॥१३४॥

इन्द्र बोला—देखो, उसके बाद किस प्रकार का अन्तर हो गया है, और शोक को प्राप्त हुए व्रजवासी लोग पुत्रों के सहित कहाँ चले गये हैं ? ॥१३५॥

अनन्तर सभी दूत "जैसी आपकी आज्ञा" ऐसे कहकर दौड़कर व्रज में जाकर, पुनः इन्द्र के पास आकर, परस्पर सम्मिलित होकर प्रत्युत्तर देने लगे कि—हे सदैव सर्वदेव माननीय इन्द्रदेव ! वे सब व्रज-वासी तो वज्र है गर्भ में जिसके, ऐसी बिजलीरूप अग्नि ने नष्ट ही कर दिये हैं। हम को तो ऐसा ही प्रतीत होता है। क्योंकि वे बाहर कहीं भी दिखाई नहीं देते हैं ॥१३६॥

इन्द्र सहर्ष बोला—तुम सब चिरंजीवी हो ! अतः फिर भी जाकर व्रज की दशा को देखो ॥१३७॥

"अथ तथा पुनः सङ्गत्य गत्यन्तरं प्रथयामासुः,—'दिवीश्वर ! नाद्यापि ते नश्वरतां प्राप्ताः, प्रत्युत पातालतल इव गिरिगर्ततले प्रविश्य तद्दिश्यतीवानन्दकोलाहलं कुर्वन्तः प्रतीयन्ते; अचलश्च स्वयं बलानुजहस्तन्यस्तप्रायग्रावनिकायमयकायतया प्रतीयते ।' ॥१३८॥

"इन्द्र उवाच,—'लक्षयामि, मया पूर्वं छिन्नपक्षतिरप्यसौ पुनः किं सपक्षः सम्पन्नः, यत एव गर्ववान् स पर्वतः सर्वतस्तेषामक्षयाय पक्षपातमाचचार । भवतु नाम, तमेनं पुनर्निह्लादिह्लादिनीवह्निप्रहारेण संहारे योजयामि येन तदीयतले बलमानतया लब्धावलेपास्तेऽपि तूर्णमेव चूर्णतामासादयन्ति ।' इति ॥१३९॥

"तथा च—तद्वह्निमाविद्धं विधाय प्रणिधानद्वारा तदन्यथा प्रणिधाय मनसि कोपप्रकोपमाधाय मुहुरपि तदेव सन्धाय व्यर्थताकदर्थितपुरुषार्थः पुनर्नूतनदूतगणं प्रहापयन्नाह स्म,—'अरे ! निरूप्यतां तिरोभूय, भूयः किं तत्र चित्रमिव वर्तते, येनाशनेरपि प्रचारः स्वव्यवहाराद्व्यभिचारं सञ्चचार ।' ॥१४०॥

"अथामी च तथागत्य स्वप्रत्यक्षं प्रत्याययामासुः,—'सुत्रामन् ! न तत्र कुत्रचिदपि द्वित्राण्यपि पत्राणि स्रस्तानि दृश्यन्ते, न च काचित् पिपीडिकापि पीडिता; तदेवं यद्युपरितनं वृत्तं परितो वृत्तम्, तदा विलसित-रङ्गतरङ्गाणामन्तरङ्गाणां वार्ता तु दूरे वर्तताम् ॥'१४१॥

अनन्तर उसी प्रकार पुनः जाकर, इन्द्र के पास आकर, व्रजवासीजनों के जीवन के दूसरे उपाय को विस्तारपूर्वक कहने लगे—हे स्वर्गेश्वर ! वे व्रजवासी तो आज भी विनष्ट नहीं हुए हैं। अपितु पातालतल की तरह गिरिगर्त के नीचे प्रविष्ट होकर, उधर की ओर भारी आनन्दमय कोलाहल करते हुए प्रतीत हो रहे हैं। और वह पर्वतराज भी श्रीकृष्ण के हाथ में धरा हुआ प्रायः पत्थर के समूहमय शरीर वाला प्रतीत होता है ॥१३८॥

इन्द्र बोला—मैं देखता हूँ। क्योंकि पहले मैंने इसके पंख काट दिये थे, मालूम पड़ता है यह फिर भी पंखों वाला हो गया है क्या ? । इसीलिए अहंकारी वह पर्वत व्रजवासियों की रक्षा के लिए चारों ओर से पक्षपात कर रहा है। अच्छा, जो हुआ सो हुआ। मैं फिर भी शब्द युक्त वज्राग्नि के प्रहार से इसको संहार में नियुक्त करता हूँ, अर्थात् मारता हूँ। जिसके कारण उस पर्वत के नीचे बैठने से गर्व को प्राप्त हुए वे व्रजवासी भी शीघ्र ही चूर्ण हो जायेंगे ॥१३९॥

और उस वज्राग्नि को ताड़ित करके, अर्थात् वज्र के द्वारा पर्वत को विद्ध करके, समाधि के द्वारा उसको व्यर्थ समझकर, अपने मन में क्रोध की अधिकता को धारण कर, बार बार तिरस्कार का ही अनुसंधान कर, सारे प्रयत्नों की व्यर्थता के कारण निंदित पुरुषार्थवाला इन्द्र, दुबारा नवीन दूत समूह को भेजता हुआ बोला—अरे भाइयो ! तुम सब दुबारा दुबक कर देखो कि, उस पर्वत के नीचे क्या आश्चर्य सा हो रहा है, जिसके कारण वज्र का प्रचार भी अपने व्यवहार से व्यर्थ हो गया ॥१४०॥

अनन्तर वे दूतगण उसी प्रकार गुप्त रूप से आकर अपने प्रत्यक्ष किये हुए विषय को विश्वासयुक्त कर के बोले कि—हे देवराज ! वहाँ तो कहीं भी दो तीन पत्ते भी, टूटे हुए नहीं दिखाई देते, और कोई चींटी भी दुःखित नहीं दीखती। इसलिए यदि ऊपर का वृत्तान्त चारों ओर इस प्रकार सुरक्षित रूप से विद्यमान है, तब जिनके रङ्ग तरङ्ग विलास कर रहे हैं, अतः गोवर्धन के नीचे विद्यमान उन अंतरंग व्रजवासी

"अथ तं निखिलोच्च शिलोच्चयं प्रति प्रतिहतनिजटङ्कतया सशङ्कः स वज्रपाणिर्विस्मय-लज्जा-भयानि सज्जंश्चिरमेव तूष्णीम्भूष्णुतया चिन्तयामास,—'आम् कृष्णाकारमनु विष्णुरेव तत्राविर्भविष्णुतामाससाद। कथं वा स च परात् पराजिष्णुतामासीदतु, यः खल्वहार्यमपि हार्यतामासादयामास।' ॥१४२॥

"अथ तदानीमेव मूढः संज्ञया शङ्खचूडः कंससपक्षः कश्चिद्यक्षः प्रतिकृष्टमतितयातिहृष्टः सङ्क्रम्य प्रणम्य च प्रोवाच,—'महेन्द्रदेव! द्रुमिलदानवनन्दन-महीन्द्रसदनाद्भवत्पदारविन्दं विन्दमानः सोऽयमस्मि। स हि परमहितसहिततया दुन्दुभिसन्दोहनिर्घोषं प्रतिदिशं जोषयित्वा भवन्तं प्रति प्रीतिपरिणामं प्रणामं निर्दिदेश सन्दिदेश च,—'तदिदं भवद्भिर्यदेतदनुष्ठितम्, तेन परमतुष्टिमापन्ना वयम्; यतः क्षुद्रतमनिर्मितगर्वकिर्मीरितमहदतिक्रमः समस्तस्य च दुःसहः सम्पद्यते। बलादुत्पतनलोलपिपीलिकावदमूदृशां तद्दिष्टतः प्राप्तदिष्टान्तता च दृष्टा। किञ्च, कियद्वाभीरजातीनां यजमानतया भवत्प्रयोजनं जनिता? वयमेव हि नानायज्ञाननुज्ञाप्य भवत्सु सन्तर्पणमर्पयिष्यामः।' ॥१४३॥

"अथ तदेतदवधार्य स देवकुलनिर्धार्यश्चमत्कारमाससाद। यत्रैवं चिन्तामाप,—'अहो! शक्राशनव्यसनतया मम बुद्धिर्न सदा शुद्धिमवरुणद्धि; यतो मित्रामित्रता-वैपरीत्यं परीत्य

प्राणियों की बात को तो बहुत दुर रहने दो। अर्थात् श्रीगोवर्धन के ऊपर के वृक्षों के एक दो पत्र तक जब नहीं टूटे, तब गिरिराज के नीचे बैठे हुए व्रजवासियों की रक्षा के विषय में तो कहना ही क्या है? ॥१४१॥

पश्चात् सब से ऊँचे उन गिरिराज के ऊपर पत्थर फोड़ने वाली अपनी टाँकियाँ टूट जाने के कारण, शंकायुक्त वह इन्द्र विस्मय, लज्जा, एवं भय को प्राप्त होकर, बहुत देर तक चुप होकर विचार करने लगा। हाँ, स्मरण आगया। श्रीकृष्ण के आकार में विष्ण ही व्रज में प्रगट हुआ है, अतःवह दूसरे के द्वारा पराजय को कैसे प्राप्तकर सकता है? जो कि दूसरे के द्वारा निश्चितरूप से न उठाने योग्य पर्वत को भी उठा रहा है ॥१४२॥

उसके बाद उसी समय कंस का पक्षपाती, मूढ़मति, शंखचूड़ नामक कोई यक्ष, निकृष्ट बुद्धि के कारण अति हर्षित होकर, इन्द्र के पास आकर, प्रणाम कर के बोला—हे महेन्द्रदेव! मैं "द्रुमिल नामक दैत्य का पुत्र, पृथ्वी पति जो कंस है", उसके भवन से आकर आपके पादपद्मों को प्राप्त करने वाला वही शंखचूड़ हूँ। उस कंस ने आपके परम हितैषी होने के कारण, प्रत्येक दिशा में दुंदुभी (नगाड़ा) के समूह के शब्द को करवा कर, आपके प्रति प्रीति के परिणाम स्वरूप, प्रणाम का निर्देश किया है, और यह संदेश भी दिया है कि—आपने व्रज के विनाश के लिए इस कार्य का जो अनुष्ठान किया है, उससे हम परम सन्तुष्ट हो गये हैं। क्योंकि अत्यन्त क्षुद्र व्यक्तियों के द्वारा किये गये गर्व से मिश्रित महापुरुषों का जो अतिक्रमण है, वह सभी के लिए असह्य हो जाता है। अतः बलपूर्वक ऊपर को उछलने की चेष्टा करने वाली चींटी की तरह इन सब गोपों का भी, महदतिक्रमरूप दैव से प्राप्त हुआ प्रलय दिखाई देता है। किंच गोपजाति वाले इन व्रजवासियों की यजमानी से आपका कितना प्रयोजन सिद्ध होगा? हम ही आप से अनेक यज्ञों की अनुमति लेकर, उनका अनुष्ठान कर, आपको भली प्रकार सन्तुष्ट कर देंगे ॥१४३॥

अनन्तर इस बात को सुनकर निश्चित करके देवकुलशिरोमणि वह इन्द्र चमत्कार को प्राप्त हो गया। जिस चमत्कार में इस प्रकार की चिन्ता करने लगा कि—हाय! हाय! शक्र (गाँजा, सिद्धि या

नीत्यतिक्रममापन्नवानस्मि । तदेतच्च, गोत्रभिदिति स्वनामस्फुरदुपश्रुतिफलमिव मम प्रतिभाति ॥१४४॥

'किञ्च, गर्विणः सुष्ठु मे युक्ताप्येषाभिभवभावना ।
आत्तगर्वोऽभिभूतः स्यादिति पर्यायता यतः ॥'१४५॥

"प्रकाशन्तु स्वदासानुवाच,—'भवतु निवर्तन्तां संवर्तवर्तना मेघावर्ताः । अवरजन्मायमिति व्रजराज-तनूजं प्रति तितिक्षाभाज एव वयं शिक्षामात्रपात्रतामासादितवन्तः, न तु कथमप्यन्यथाभावभावनव्यथाम् ।' इति ॥१४६॥

"अथ यक्षमप्यादिदेश,—'निजं राजानमिदं सन्दिश । मुहुः कोपितोऽपि सोऽपि भवांस्तस्माद्भयमिव भावयन् वर्तत इत्यवधारयत एव ममाधिकः क्रोधस्तत्र वर्धते स्म । यदि तदपि तथ्यं स्यात्तदा वयं याथातथ्यमेव प्रथयिष्यामः, शतमन्योः सहस्राक्षस्य शतकोटि-हस्तस्य ममापि कः खलु खलतयानभीप्सितं कुर्वीत ?' ॥१४७॥

'अपि च—त्वं पुण्यजनसेव्यश्रीर्देवानां प्रियतां गतः ।
सोऽप्यग्रे त्वद्विधानां स्याद्भोजानां गोपदारकः ॥'१४८॥

गिरिमल्लिका) के भोजन करने का व्यसन होने के कारण, मेरी बुद्धि सदा शुद्धि को नहीं प्राप्त कर पाती। उसी के कारण आज मित्र एवं शत्रुभाव की विपरीत दशाको प्राप्त कर, नीति का अतिक्रमण कर चुका हूँ। अतः यह सब नीति का उल्लंघन आदि कार्य भी "गोत्रभिद्" इस अपने नाम के द्वारा परंपरा से जनों में प्रचारित उपश्रुति का सा फल मुझे प्रतीत होता है। भावार्थ यह है कि—गाँजा पीकर जैसे लोग कार्याकार्य के विचार से शून्य हो जाते है, उसी प्रकार मैं गोत्रभिद् अर्थात् अपने कुल का या श्रेष्ठ मार्ग का भेदन करने वाला बन गया हूँ, इसीलिए संसार में "गोत्रभिद्" नाम से प्रचारित हूँ ॥१४४॥

किंच अच्छी प्रकार गर्व करने वाले मेरे संबंध में श्रीकृष्ण के द्वारा की गई यह तिरस्कार की भावना उचित ही है। कारण—पर्याय का क्रम ऐसा देखा जाता है कि, अहंकार को धारण करने वाला व्यक्ति अवश्य तिरस्कृत हो सकता है ॥१४५॥

स्पष्टरूप से अपने सेवकों को बोला—अच्छा, जो हुआ सो हुआ। किन्तु अब तो प्रलयकारी मेघों के आवर्त (भँवर) निवृत्त हो जायँ। यह श्रीकृष्ण वामन रूप से हमारा छोटाभाई है, इसलिए व्रजराज-कुमार के प्रति तो हम क्षमा धारण करने वाले ही हैं। केवल शिक्षा देने मात्र के पात्र बने हुए हैं, किन्तु श्रीकृष्ण के तिरस्कार की भावना करके किसी प्रकार भी व्यथा को प्राप्त नहीं हुए हैं ॥१४६॥

पश्चात् शंखचूड़ यक्ष को भी आदेश दिया कि—अपने राजा को यह सन्देश देना कि, श्रीकृष्ण के कार्यों द्वारा बार बार क्रोधित किये गये भी आप, श्रीकृष्ण से भय की सी भावना करते हुए विद्यमान हो, ऐसा निश्चय करते हुए ही मेरा क्रोध श्रीकृष्ण के ऊपर अधिक बढ़ रहा है। और यदि वह भय भी सच्चा है, तब तो हम यथायोग्य विषय का ही विस्तार करेंगे। मैं सौ यज्ञ करने वाला हूँ, हजार नेत्रों वाला हूँ, वज्र हाथ में रखने वाला हूँ, अतः संसार में कौन व्यक्ति दुर्जनता से मेरे विरुद्ध कार्य कर सकता है ?॥१४७॥

और देखो ! तुम पुण्यजनों के द्वारा सेवन करने योग्य संपत्तिवाले हो, निन्दा पक्ष में—तुम राक्षसों के द्वारा सेव्यश्री हो। अमरकोष में 'पुण्यजन' राक्षस को कहते हैं। एवं देवताओं की प्रियता को प्राप्त हो गये हो, पक्ष में—निन्दित भाव को या पशुभाव को या मूर्खता को प्राप्त हो गये हो। हे गोप ! अर्थात् हे राजन् ! आप जैसे भोजवंशियों के आगे भी वह आपका दारक, अर्थात् विदारण कर्ता हो सकता है

"तदेतदनुभूय कुपूयः खल्वसौ दूयमानहृदयतया यक्षः प्रतस्थे, स्वेन चानीतं सन्देशं प्रवाहे मूत्रितमिवातस्थे। तदेवमपध्वस्तम्मन्यः शतमन्युश्च शतमन्युतया विमानगतिं प्रति विमानगतिमासाद्य सद्यः सानुशयं संशयानतया शयानतया च निजान्तर्निलयमयाञ्चक्रे। शाब्दिकाष्टकमनुविशिष्टतया रलयोर्व्यत्ययमिवावेत्य निरयमेव च तं मन्यते स्म ॥१४६॥

"तथाहि—विक्षेप्तुं व्रजमैच्छदेष पवनैर्विक्षेपमाप स्वयं
वर्षैर्धर्षयितुं च धर्षमगमद्गाढं विडौजा हृदि।
वज्रैस्ताडयितुं तथाप शिरसि स्वे वज्रताड्यात्मतां
साधूत्पातकरत्वमर्जति विपर्यस्ता गतिर्युज्यते ॥१५०॥

"तदेवं गेहगुहामवगाहमाने कौशिके—
अथ द्यवि दिवाकरः प्रकटभावमाट द्रुतं
दिशः स्फुरणमागमन् धरणिराप वर्त्मप्रथाम्।

क्या? केवल श्रीकृष्ण पक्ष में अर्थ, यथा—पुण्यात्मा जनों के द्वारा ही श्रीकृष्ण की शोभा सेवन करने योग्य है। गो, ब्राह्मण, साधु, एवं सनातनधर्म की रक्षा करने के कारण ही, श्रीकृष्ण देवताओं के प्रिय हो गये हैं। और आप जैसे भोजवंशवालों के मध्य में जो श्रीनन्दादि गोप हैं उन्हीं के वे पुत्र हैं ॥१४८॥

इन्द्र के पूर्वोक्त वचनों का अनुभव कर वह कुपूय (अधम) यक्ष सन्तप्त हृदय वाला बनकर वहाँ से चल दिया, एवं अपने द्वारा लाये गये सन्देश को, उसने जलके प्रवाह में मूत्र के समान निष्फल ही निश्चित किया।

अतएव इस प्रकार अपने को धिक्कृत मानता हुआ इन्द्र भी सैकड़ों प्रकार के शोकों से युक्त होकर, विमान के द्वारा जाने के विषय में मानरहित की सी दशा को प्राप्तकर, पश्चात्तापपूर्वक संशययुक्त होकर, शयन करने वाले की तरह शीघ्र ही अपने घर के भीतर चला गया। और इन्द्र ने अपने उस निलय (घर) को—(इन्द्र, चन्द्र, काशकृत्स्न, आपिशली, शाकटायन, पाणिनि, अमरसिंह, एवं जैनेन्द्र) इन आठ वैयाकरणों के मत को लक्ष्य बनाकर, विशेष करके 'र ल' इन दोनों वर्णों के विपरीत क्रम को जानकर, अर्थात् अष्ट वैयाकरणों के मत में 'र' के स्थान में 'ल' और 'ल' के स्थान में 'र' ही, दोनों वर्णों की एकता के कारण मान लिया जाता है ऐसा समझकर, निरय (नरक) ही मान लिया। तात्पर्य—भगवत्पराङ्मुख होने के कारण, इन्द्र को अपना घर नरक के समान दुःखदायी ही प्रतीत हुआ ॥१४६॥

इसलिए ठीक ही कहा है, यथा—देखो, यह इन्द्र वायुसमूह के द्वारा व्रज को उखाड़कर फेंक देना चाहता था, किन्तु वात के रोगी की तरह स्वयं विक्षिप्त हो गया। वर्षा के द्वारा व्रज को नीचा दिखाना चाहता था, किन्तु अपने हृदय में भारी नीचता को प्राप्त हो गया, एवं व्रज को वज्र के द्वारा ताड़ित करना चाहता था, किन्तु अपने शिर में वज्र के से प्रहार के समान ताड़ित होगया। यह उचित ही है क्योंकि जो व्यक्ति साधु सन्तों से उत्पात करने को सामग्री जुटाता है, उसके लिए विपरीत गति होना युक्तियुक्त है। तात्पर्य—साधुओं के ऊपर छोड़ा हुआ तेज, छोड़ने वाले का ही अकल्याण कर देता है ॥१५०॥

अतएव इस प्रकार इन्द्र उल्लू की तरह जब अपने घररूपी गुफा में छिपकर बैठ गया, तभी आकाश में सूर्य शीघ्र ही प्रकाशित हो गया। सब दिशायें स्फूर्ति पाने लगीं, पृथ्वी मार्ग का प्रचार करने लग गई।

तदा च नयनश्रवश्चरणसंहतिः प्राणिना-
मिदं निजनिजाश्रयत्रयमनु स्ववृत्तिं ययौ ॥१५१॥

निर्याति मेघजाते हरिरथ पशुपानाख्यदुच्चैरमुष्मा-
न्निर्यात प्रात्तगृह्या दर च दरमतिं मा कुरुध्वं त्वरध्वम् ।
यस्मिन् गाम्भीर्यभाजि स्फुटवचसि घनाः पूर्वमप्यस्य कान्त्या
भूभृद्भूत्या च धूताः पुनरहह ययुर्गर्जगर्वाद्विधूतिम् ॥१५२॥

"अथ तदाम्रेडितप्रेरितलया वादितबहुलकाहलादिहलहलायमान-कोलाहलमाचर्य हरिदासवर्यगिरिहृदयायमानकुहरात् तत्पुरत एव निर्व्रजन् सगोसमजव्रजजनसमाजः सयशःस्नेहप्रसरदेह इव तस्य विरराज ॥१५३॥

"गावस्तावत् पुरस्ताद्गिरिवरविवराच्चाल्यमानाः समन्ता-
दारादप्यन्तरन्तर्गिरिधरवदनं द्रष्टुमासन्निवृत्ताः ।
यासां निर्यापणायां मुहुरपि तदलं लोकमानः स लोकः
स्तब्धीभावं प्रपन्नः परवशदशया तत्र वैयग्र्यमाप ॥१५४॥

और उस समय प्राणियों के नेत्र, श्रोत्र, एवं चरणसमूह, अपने अपने आश्रयस्वरूप इन तीन इन्द्रियों का अवलम्बन कर, अपनी अपनी दर्शन, श्रवण, आदि वृत्ति को प्राप्त हो गया ॥१५१॥

पश्चात् मेघसमूहमात्र जब चले गये, तब श्रीकृष्ण गोपों के प्रति उच्च स्वर से बोले कि—हे व्रजवासियो ! अपने अपने घर की सारी सामग्री लेकर गिरिराज के नीचे से निकल पड़ो। एवं किंचिद् भी भय की बुद्धि मत करो, केवल निकलने की शीघ्रता करो। और देखो ! गम्भीरता से युक्त स्पष्ट वचनों वाले जिस गोवर्धन पर्वत में समस्त मेघ, पहले तो श्रीगोवर्धन की कान्ति से तथा भूमि के धारणरूप वैभव से कम्पित हुए थे, किन्तु अहह ! इस समय तो पुनः गर्जनारूप अहंकार से भी खण्डित हो गये ॥१५२॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण की बारंबार की प्रेरणा से प्रेरित होने के कारण, बजाये गये बहुत से काहल (तुर्री नफीरी) आदि बाजाओं के हलहलायमान कोलाहल को करके, हरिदासश्रेष्ठ श्रीगिरिराज के हृदय के तुल्य कुहर (विवर-बिल) रूप अन्तःपुर से श्रीकृष्ण के सामने ही निकलता हुआ, गोसमूह के सहित वह व्रजजनों का समाज, यश एवं स्नेह के द्वारा विस्तारित श्रीकृष्ण के शरीर के समान विराजमान हो गया। अर्थात् श्रीगिरिराज के नीचे से निकलता हुआ गोसमूह तो श्रीकृष्ण के मूर्तिमान यश के समान, और व्रजवासियों का समूह मूर्तिमान स्नेह के समान शोभा पा रहा था ॥१५३॥

सबसे पहले श्रीगिरिराज के नीचे से गोपों के द्वारा चलाई गई समस्त गैयायें, चारों ओर से निकट से भी थोड़ी सी दूर जाकर, बीच बीच में श्रीगिरिधारीलालजी के श्रीमुख को देखने के लिए लौट आती थीं। उन सब गैयाओं के बाहर निकाल देने पर भी, बारंबार अच्छी प्रकार श्रीकृष्ण के श्रीमुख को देखने वाला वह व्रजवासियों का समूह, स्तब्धभाव को प्राप्त होकर, वहाँ पर परवश दशा से, अर्थात् स्नेह के अधीन वाली दशा के कारण, व्यग्रता को प्राप्त हो गया था ॥१५४॥

"अथ कथमपि निर्गिरिवरविवरः सर्वः परस्परमनुयानं परीक्ष्य निर्निमेषतया श्रीकृष्ण-निष्क्रमणं प्रतीक्ष्य क्षणतस्तदपि निरीक्ष्य जीव इव जीवननिभं तमासीदन् पुनरतीव मुदमवाप ॥१५५॥

"यतः, स्वभावः सौन्दर्यं गुणगरिमभूमा मृदुलता-
खिलव्यापिप्रेमा गिरिधृतिरपि स्वावनकृते ।
क्रमादेते धर्माः प्रणयमनु सान्द्रीकृतिपरा
यदीयाः सोऽभ्यागान्निजदृशि गिरेस्तस्य तलतः ॥१५६॥

"किन्तु, यद्वदुत्थापितस्तद्वत् कृष्णेनाद्रिः स रोपितः ।
दृष्टश्च सर्वलोकेन प्रकारस्तु न लक्षितः ॥१५७॥

"दर्शनादनन्तरन्तु,—
अतिशयितमवेगप्रेमधारानिमग्ना, विवशपशुपलोका गोत्रगर्तान्मिलन्तम् ।
हरिमभि परिरम्भाद्यात्मयोग्यं दधाना,-दधुरनु निजलाभं व्युत्क्रमञ्च क्रमञ्च ॥१५८॥

' गोप्यस्तत्र तु मान्यभाववलिता दध्यक्षतादिस्फुर-
न्मङ्गल्यद्रव्यसभाजितं विरचयामासुर्जितस्वर्पतिम् ।

पश्चात् किसी प्रकार गिरिराज के नीचे से निकला हुआ सारा जनसमुदाय, परस्पर के अनुगमन की परीक्षा लेकर, निर्निमेष होकर, श्रीकृष्ण के निकलने की प्रतीक्षा कर, जीव जैसे प्राण को पाकर सन्तुष्ट हो जाता है, उसी प्रकार क्षणभर में प्राण के समान श्रीकृष्ण के निकलने को देखकर, एवं उनको पाकर पुनः अत्यन्त आनन्द को प्राप्त हो गया ॥१५५॥

क्योंकि मनोहर स्वभाव, सौन्दर्य, गुणों के गौरव की अधिकता, कोमलता, सर्वव्यापी प्रेम, एवं आत्मीयजनों की रक्षा के लिए गोवर्धन धारण, जिन श्रीकृष्ण के ये धर्म क्रमशः प्रेम का लक्ष्य करके प्रगाढ़ता को प्राप्त हो गये थे। अतः वे ही श्रीकृष्ण उन गिरिराज के नीचे से निकलकर जब अपने जनों की दृष्टि के गोचर हो गये, तब उनके आनन्द के विषय में कहना ही क्या है ? ॥१५६॥

किन्तु उस समय यह घटना बड़ी आश्चर्यजनक हुई कि—श्रीकृष्ण ने उस पर्वतराज को जिस प्रकार उठाया था, उसी प्रकार पुनः स्थापित कर दिया। सब लोगों ने श्रीकृष्ण के हाथ पर तो गिरिराज को देखा, परन्तु उसके उठाने और धरने के प्रकार को किसी ने भी नहीं देखा ॥१५७॥

दर्शन के अनन्तर तो स्थायी प्रेम की धारा में निमग्न होकर विवश हुए गोपजन, पर्वत के गर्त से, अर्थात् श्रीगिरिराज के नीचे से निकलकर मिलते हुए श्रीकृष्ण को लक्ष्य बनाकर, अपनी अपनी योग्यता के अनुसार, अतिशय आलिङ्गन आदि को धारण करते हुए, अपने अपने लाभ के प्रति विपरीत क्रम, एवं यथाक्रम को धारण करने लग गये। यहाँ पर गुरुवर्ग से पहले ही श्रीकृष्ण से भुज भर के मिलना ही विपरीत क्रम है, एवं एक भाव वाले जनों का क्रमशः मिलना ही यथाक्रम है। किन्तु व्रजजनों के अलौकिक प्रेम में सभी क्रम शोभा पा रहा है ॥१५८॥

और वहाँ पर माननीय भाव से युक्त प्राचीन गोपियाँ तो, इन्द्र को पराजित करने वाले श्रीकृष्ण को दधि, अक्षत आदि मनोहर मङ्गलमय द्रव्यों के द्वारा सम्मानित करने लग गईं। यद्यपि ऐसी सम्मानमयी स्थिति है, तो भी श्रीकृष्ण के मस्तक पर हाथ धरकर, उनको आशीर्वाद देने लग गईं। जिस भक्त ने कभी

यद्यप्येवमथापि मूर्ध्नि च करं धृत्वा तमाशीशिषन्
संवित्ते तदिदं स एव य इदं हृद्यन्वभूत् कर्ह्यपि ॥१५९॥

"श्रीव्रजेश्वर्यादीनां मिलनं तु श्रीमन्मुनिवर्येणैवं वर्ण्यते स्म। यत्र चेदं सुष्ठुतरमनुष्टुप्छन्दसा स्वल्पवद्यमपि पद्यममृतसम्भृतकुम्भवदक्षयरसं प्रसूते (भा० १०।२५।३०)—

'यशोदा रोहिणी नन्दो रामश्च बलिनां वरः।
कृष्णमालिङ्ग्य युयुजुराशिषः स्नेहकातराः ॥' इति ॥१६०॥

"तथाहि—अहह ! नवनवनीत-नीतिसुकुमारा कुमारतनुरियमखर्वपर्वतभारतः कीदृगभवद्भवति भविष्यति चेति स्नेहमयसन्देहरीतिभीतिमन्तस्ते, तदेतत् क्लेशकुलमस्मद्वपुरावेशं सदेशतया प्रयास्यतीत्यभिप्रयन्त इव तमाश्लिष्यन्तस्तत्राप्यविश्वासा इव विशेषादशेषाशिषः प्रयुञ्जाना निजवंशं यशस्वितादियुक्तं कुर्वाणा इव ते तत्तन्नाम्ना समाम्नाताश्चिरं वाष्पनिष्पत्तिभित्तनेत्रवृत्तयः संवृत्ताः ॥१६१॥

"तत्र यद्यपि यौगपद्यतस्तूर्णमेव चतुर्णां मिलनं समपद्यत, तथापि प्रेमतारतम्यमनुक्रम्य कृष्णावधानक्रमः क्रमते स्म यस्मात्तस्मादेव तथा श्रीशुकदेवः प्रचक्रमे 'यशोदा' इत्यादिना ॥१६२

भी अपने हृदय में, वात्सल्यभाव के अनुसार इस प्रकार के लालन का अनुभव किया है, वह वात्सल्यभाव प्रधान भक्त ही, व्रज की वात्सल्यमयी वृद्ध गोपियों के द्वारा किये गये, इस लालन के प्रकार को जान सकता है ॥१५९॥

श्रीव्रजेश्वरी आदिकों का मिलन तो श्रीमान् मुनिवर्य श्रीशुकदेवजी ने इस प्रकार वर्णन किया है। जिस मिलन में अनुष्टुप् छन्द से निबद्ध होने के कारण, थोड़े से कथनीय से युक्त, परम मनोहर भी यह श्लोक, अमृत से भरे हुए घड़े की तरह, अक्षयरस को उत्पन्न करता रहता है। यथा—श्रीयशोदा, श्रीरोहिणी, श्रीनन्द एवं बलवानों के अग्रगण्य श्रीबलराम, ये सब स्नेह से कातर होकर, श्रीकृष्ण का आलिङ्गन कर आशीर्वाद देने लगे ॥१६०॥

इस श्लोक का मार्मिक अर्थ यह है कि—देखो, अहह ! बड़े खेद की बात है कि, नवनवनीत (माखन) के समान अत्यन्त सुकुमार यह हमारे लाला का शरीर, विशाल पर्वत के भार से कैसा श्रान्त होगया होगा ? या हो रहा है, एवं हो जायगा, इस प्रकार स्नेहमय सन्देह की रीति से भयभीत हुए, वे श्रीयशोदा आदि स्नेहीजन, लाला का पर्वत धारण करने का जो क्लेशसमूह है, वह हम सबके शरीर के संसर्ग की निकटता से दूर हो जायगा। अपने अपने मन में ऐसा अभिप्राय करते हुए से, श्रीकृष्ण का आलिङ्गन करते करते, उसमें भी अविश्वासी से होकर, विशेष करके समस्त आशीर्वादों का प्रयोग करते हुए, अपने वंश को यशस्विता आदि से युक्त करते हुए से, श्रीयशोदा आदि नाम से प्रसिद्ध वे स्नेहीजन, बहुत देर तक अश्रुप्रवाह की उत्पत्ति के कारण, नेत्रों के दर्शन आदि व्यापार से रहित हो गये ॥१६१॥

वहाँ पर यद्यपि शीघ्र ही एकसाथ ही, चारों का मिलन हो गया था, तथापि प्रेम के तारतम्य का अनुक्रम करके श्रीकृष्ण का बोधक्रम, जिस कारण से वृद्धि को प्राप्त हुआ, उसी कारण श्रीशुकदेवजी ने उसी प्रेम के तारतम्य के अनुसार क्रमशः श्रीयशोदा, रोहिणी, नन्द इत्यादि रूप से वर्णन किया है ॥१६२॥

"यत्र ज्ञानक्रियाशक्तिभ्यां बलं बलमानस्यापि बलदेवस्य तादृशी स्नेहकातरता निरता, तत्र किमुतापरस्य । स खल्वपर एवेति ॥१६३॥

"तत्र च,—माता साश्रु ममार्ज वक्त्रमभितस्तातः शिखामस्पृशद्-
द्वावप्यङ्गकुलं निभाल्य परितः पप्रच्छतुः शन्तमम् ।
मित्राद्याः समवाहयन्नवयवानेवं व्रजस्थाः परे
प्रत्येकोचितमेव सेवनमधुः प्राणा हि सर्वस्य सः ॥१६४॥

"अत्रापरापि कौतुकपरम्परावधार्यताम् । गते च कंस-पक्षे यक्षे यदा स खलु वृद्धश्रवा वृद्धश्रवस्त्वमेवात्मानं प्रतिमन्यते स्म, तदा सावहित्थमिदमुत्थापितवान्,—'भो मदीयगणाः ! समवधीयताम् । स खलु दानवारिर्वारितमदुद्यमतया विपक्षवदाचरन्नपि वैरिशमनतया मया सहायतया निश्चितस्तत्परीक्षार्थमेव च तथा विभीषित इत्यभिनन्दनीय एव भवद्भिः' इति ॥१६५॥

"ततश्च सव्रज-व्रजराजनन्दननिष्क्रमाद्यनन्तरम्,—
दिवि देवगणाः साध्याः सिद्धगन्धर्वचारणाः । तुष्टुवुर्मुमुचुस्तुष्टाः पुष्पवर्षाणि सर्वतः ॥१६६॥
शङ्खदुन्दुभयो नेदुर्दिवि देवादिवादिताः । जगुर्गन्धर्वपतयो येषां तुम्बुरुरादितः ॥१६७॥

जिन श्रीकृष्ण के विषय में ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति के द्वारा सामर्थ्य को धारण करने वाले, श्रीबलदेवजी की भी उस प्रकार की स्नेहमयी कातरता संघटित हो गई, उन्हीं श्रीकृष्ण के विषय में अन्य जनों का तो कहना ही क्या है ? क्योंकि वे श्रीबलदेवजी निश्चितरूप से श्रीकृष्ण से अभिन्न ही हैं ॥१६३॥

माता यशोदा सजलनयन होकर, श्रीकृष्ण के मुख को चारों ओर से पोंछने लग गई। पिताजी शिखा का स्पर्श करने लग गये। फिर दोनों ने ही समस्त अङ्गों को चारों ओर से देखकर, विशेष कुशलता की बातें पूछीं। मित्र आदि स्नेहीजन श्रीकृष्ण के हाथ, पैर आदि अवयवों को दबाने लगे। इसी प्रकार अन्य व्रजवासी भी प्रत्येक उचित सेवा को करने लग गये। क्योंकि श्रीकृष्ण सभी व्रजवासियों के प्राण हैं ॥१६४॥

यहाँ पर एक और भी कौतुक की परम्परा हुई, उसका भी श्रवण करो। यथा—कंस के पक्षपाती उस यक्ष के चले जाने पर, जब उस इन्द्र ने विचारा कि, मेरा यश तो अब बूढ़ा हो गया, तब आकार छिपाते हुए यह बात उठाई कि—हे मेरे सेवको ! तुम सब सावधान होकर सुनो। वह श्रीकृष्ण मेरे उद्योग के निवारण करने के कारण, बैरी का सा आचरण करने वाला होकर भी, मेरे बैरियों का विनाश करने वाला होने के कारण, मेरे द्वारा सहायकरूप से निश्चित किया गया है। उसकी परीक्षा के लिए ही, वह उस प्रकार भयभीत किया गया है। अतः आप सब के द्वारा वह श्रीनन्दकुमार अभिनन्दन करने योग्य ही है ॥१६५॥

पश्चात् पर्वत के नीचे से व्रजवासियों के सहित व्रजराजनन्दन के निकल आने के अनन्तर, आकाश में देवगण, साध्यगण, सिद्ध, गन्धर्व, चारण आदि सन्तुष्ट होकर, चारों ओर से स्तुति करने लग गये, एवं पुष्पों की वृष्टि करने लग गये ॥१६६॥

आकाश में देवता आदिकों के द्वारा बजाये गये शंख दुंदुभि आदि बजने लगे। गन्धर्वों के स्वामी गाने लगे, जिनके मुख्य तुम्बुरु कहलाते हैं ॥१६७॥

तदा दिवि भुवि स्थितैर्विविधवाद्यगीतादिभिः, कृतस्तवतया चलन्मुदितगोपवृन्दैर्वृतः।
दिविष्ठमहिलाजयि-प्रकटगीतगोपीतति,-स्फुरत्परमसम्मदं व्रजमगाद् व्रजेशात्मजः ॥१६८॥

गर्तं प्रविष्टाः शकटादिदध्य,-क्षतान्तिमार्थप्रचिता यथा ते।
तथा निवासं पुनराप्तवन्तः, किञ्चिन्न नाज्ञासिषुरर्थनाशम् ॥१६९॥

"गिरि-गर्तान्निष्क्रमणे यथोक्तं श्रीबादरायणिना (भा० १०।२५।२९)—'गोप्यश्च सस्नेहमपूजयन्मुदा दध्यक्षताद्भिः' इति ॥१७०॥

"गोपराज ! तव सूनुरीदृशः, शैलमप्यधृतः यः स्वकानवन्।
यश्च शक्रमपि घातमन्तरा,-प्युद्धुतं व्यधित दूरदेशतः ॥१७१॥

धृत्वा गिरिमसौ नैकधुरतामागतः परम्।
भवतां जगतां चागादपि सर्वधुरीणताम् ॥१७२॥

"तदेवं कथाप्रथनपूर्वकं पूर्ववन्निजनिजप्रयोजनाय कृतव्रजनायां जनतायामनु कृष्णं रवेः समस्तमस्तं यावत् कृतविहारौ सूतकुमारौ पुनरपि रजनीसभायां सभाजितौ नन्दिताजितौ बभूवतुः।" ॥१७३॥

उस समय स्वर्ग एवं भूमि में स्थित अनेक प्रकार के वाद्य गीत आदिकों के द्वारा जिनकी स्तुति की गई है, अतः चलते हुए प्रसन्न गोपवृन्दों से जो घिरे हुए हैं, ऐसे श्रीव्रजराजकुमार, स्वर्गस्थ महिलाओं के गायन को जीतने वाले प्रगट गीत हैं जिनके, ऐसे गोपीसमूह के द्वारा अत्यन्त हर्ष जिसमें स्फूर्ति पा रहा है, ऐसे व्रज में पधारे ॥१६८॥

वे व्रजवासी गाड़ी आदि से लेकर, दधि अक्षत पर्यन्त वस्तुओं से युक्त होकर, जिस प्रकार श्रीगिरिराज के गर्त में अर्थात् नीचे प्रविष्ट हुए थे, उसी प्रकार आनन्द से अपने अपने निवास स्थान पर पुनः पहुँच गये। और अपनी वस्तुओं के किंचिद् भी नाश को न जान सके, अर्थात् उनकी जब कोई भी वस्तु नष्ट नहीं हुई, तब अर्थ के नाश को कैसे जान सकते थे ? ॥१६९॥

गिरिराज के नीचे से निकलने पर श्रीशुकदेवजी ने भी कहा है, यथा—गोपियों ने स्नेह एवं हर्ष के सहित दधि, अक्षत, एवं जल के द्वारा श्रीकृष्ण की पूजा की। इससे प्रतीत होता है कि व्रजवासियों की कोई भी वस्तु नष्ट नहीं हुई ॥१७०॥

इसके बाद कथावाचक श्रीव्रजराज से बोला—हे श्रीगोपराज ! आपका पुत्र ऐसा अद्भुत है कि, जिसने स्वकीयजनों की रक्षा करते हुए श्रीगिरिराज को भी धारण कर लिया। और जिसने मारेपीटे बिना ही बहुत दूर के स्थान से इन्द्र को भी पराजित कर दिया ॥१७१॥

और गिरिराज को धारण कर यह तुम्हारा प्यारा लाला, केवल एक इन्द्र के लिए ही अग्रगण्यता को प्राप्त नहीं हुआ है, अपितु आप सब की एवं समस्त जगत् की सर्वाग्रगण्यता को प्राप्त हो गया है ॥१७२॥

इस प्रकार कथा के विस्तारपूर्वक पहले की तरह, अपने अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए, जनता जब सभामण्डप से चली गई, तब वे दोनों सूतकुमार भी, श्रीकृष्ण के पीछे पीछे सूर्य के समस्त अस्तगमन पर्यन्त विहार करके, फिर रात्रि की सभा में भी सम्मानित होकर, श्रीकृष्ण का अभिनन्दन करने वाले बन गये ॥१७३॥

तत्र प्रथमतः परमश्रेयसीं तत्प्रेयसीं प्रति स्निग्धकण्ठ उवाच,—॥१७४॥

"स्वल्पापि लीला भवदीयतां गता, विस्तारमायाति तथा बकी-रिपोः ।
राधे ! विवेक्तुं नहि शक्यते यथा, प्रथीयसी का बत का तनीयसी ?॥"१७५॥

"तामप्यस्माकं ग्रन्थलाघवाय सङ्कोचयतां कविषु लाघवमेव पर्यवस्यति । तथाप्यकुण्ठ-बुद्ध्या स्वयमेव सा बहुधा बुध्यताम्" इत्युक्त्वा भ्रातरमाह स्म,—"आर्य ! कथकाचार्य ! भूयः श्रूयताम्,—॥१७६॥

गिरेरेव परं सत्रं हरिणा न प्रकाशितम् । किन्तु श्रीराधिकादीनामाननेन्दुरुचेरपि ॥
यदा तु मखसम्भारः कृष्णेन विपुलीकृतः । तदालङ्कारसम्भारस्ताभिरप्युररीकृतः ॥
यदा दीपालिरज्वालि शिखरं शिखरं प्रति । स चामूश्च मिथस्तर्हि व्यदृश्यन्तावृतस्थलात् ॥
यदा प्रवर्तितस्तस्मिन् बकहन्त्रा गिरेर्महः । प्रावर्ति च तदा ताभिस्तद्दिदृक्षामहामहः ॥
यदा समुदिता जाता महिला भूमिभृन्मखे । तदा ता मुदिता जाता हरिदर्शननिश्चितेः ॥
कृष्णे संलापमाचेरुर्यदा विविधसुभ्रुवः । तदार्थबोधसदृशं दृशं ताश्च न्ययूयुजन् ॥

वहाँ पर प्रथमतः परमकल्याणकारिणी श्रीकृष्ण की अतिशय प्यारी, श्रीराधिका के प्रति स्निग्ध-कण्ठ बोला—॥१७४॥

हे राधिके ! आपकी एवं पूतनारि श्रीकृष्ण की थोड़ी सी लीला भी उस प्रकार विस्तार को प्राप्त हो जाती है कि—जिस प्रकार हर्ष के कारण "कौनसी लीला विस्तीर्ण है, एवं कौनसी अत्यन्त सूक्ष्म है" इसकी विवेचना नहीं की जा सकती ॥१७५॥

यद्यपि हम ग्रन्थ के लाघव के लिए उस विशाल लीला को संकुचित कर देते है, इतने पर भी कवियों के बीच में हमारा ही लाघव परिणत हो जाता है। तो भी आप अपनी अकुण्ठित बुद्धि से उस लीलाको स्वयं ही अनेक प्रकार से समझ लो। इतना कहकर अपने बड़े भाई से बोला—आर्य ! कथकाचार्य ! पुनः श्रवण कीजिये ॥१७६॥

देखो, भैयाजी ! श्रीकृष्ण ने केवल श्रीगोवर्धन का यज्ञ ही प्रकाशित नहीं किया, किन्तु श्रीराधिका आदि गोपियों के मुखचन्द्रों की रुचि का अर्थात् चन्द्रिका का, अथच अभिलाषा का भी महोत्सव प्रकाशित कर दिया था ॥१७७॥

श्रीकृष्ण ने जब गोवर्धन यज्ञ की पुष्टि का विस्तार किया, तब श्रीराधिका आदि गोपियों ने भी अलंकारसमूह को स्वीकार कर लिया ॥१७८॥

और जब गिरिराज के प्रत्येक शिखर पर दीपकों की पंक्ति प्रज्वलित हो उठी, तब श्रीकृष्ण एवं ये श्रीराधिका आदि गोपियाँ ढ़के हुए स्थान से आपस से दिखाई देते थे, अर्थात् आवरणयुक्त स्थल पर बैठकर भी सुखपूर्वक परस्पर दर्शन कर रहे थे ॥१७९॥

और उस व्रज में बकारि श्रीकृष्ण ने जब श्रीगिरिराज का महोत्सव प्रवर्तित किया, तब उन श्रीराधिका आदि गोपियों ने श्रीकृष्णदर्शनेच्छारूप महामहोत्सव चालू कर दिया ॥१८०॥

जिस समय व्रज की सारी महिलायें श्रीगिरिराजयज्ञ में सम्मिलित हो गईं, उस समय श्रीकृष्ण-दर्शन के निश्चय के कारण वे श्रीराधा आदि गोपियाँ हर्षित होगईं ॥१८१॥

जब अनेक प्रकार की स्त्रियाँ श्रीकृष्ण के विषय में आपस में भाषण करने लग गईं, तब उन श्रीराधा आदिकों ने अर्थज्ञान की समानता वाली अपनी दृष्टि को नियुक्त कर दिया ॥१८२॥

यदाद्रिर्जनतादृष्टिं कृष्टवान् प्रकटीभवन् । आशाधाम ययुः स्वैरं तदासामक्षि-पक्षिणः ॥
यदा गोपूजनं कर्तुमारब्धं सर्वकैस्तदा । ताभिः प्रतिस्वं धेन्वर्चाप्रश्नास्पदमकारि सः ॥
यदा गोपालपूजाया महो व्यक्तमभूद्बहिः । तदा मनोमहस्तासां वक्त्रे वक्त्रे व्यलोक्यत ॥
गोपपृष्ठं यदा दृष्टं कन्या-पाण्यङ्कितं पुरु । तदासां पाणयः कृष्णं स्प्रष्टुमुत्कण्ठितां गताः ॥
होम-काले यदा कृष्णः प्राविशद्ब्रह्म-संसदि । हुतं बत तदा ताभिर्मानसं विरहानले ॥
गिरेः परिक्रमे यर्हि व्यवधानं ययौ हरिः । तदा तां व्यवधामेव गिरीयन्ति स्म तत्प्रियाः ॥
यष्टिं यह्युत्क्षिपन् गृह्णन् कृष्णश्चक्राम तर्हि ताम् । दृष्ट्वा दूरादञ्जनास्रैर्भानुजा भानुजायत ॥
यदा यदा मिथो रूपं द्रष्टुमासीदसम्भवम् । गवानुद्रवलक्ष्येण स तासां मध्यमद्रवत् ॥
धेन्वनुद्रवणव्याजात् स्पृशन् वव्राज यां हरिः । चिल्लीवल्लीताड्यमानस्तया स स्तम्भमीयिवान्॥

विशालरूप से प्रगट होते हुए गिरिराज ने जनता की दृष्टि जब अपनी ओर आकर्षित करली, तब श्रीराधा आदि गोपियों के नेत्ररूपी पक्षियों ने स्वेच्छापूर्वक श्रीकृष्णदर्शन होने के कारण, आशारूपी घर को प्राप्त कर लिया ॥१८३॥

जब सब जनों ने गोपूजन करना आरम्भ कर दिया, तब श्रीराधा आदि गोपियों ने श्रीकृष्ण को प्रत्येक धेनुपूजा का प्रश्नास्पद बना लिया। अर्थात् प्रत्येक गोपी अपनी अपनी धेनुपूजा के विषय में श्रीकृष्ण से पूछने लग गई, अतः श्रीकृष्ण स्नेहानुसार सभी के प्रश्न के स्थान बन गये ॥१८४॥

जब गोपालपूजा का महोत्सव बाहर प्रगट हो गया, तब श्रीराधा आदि गोपियों का मानसिक महोत्सव प्रत्येक गोपी के मुख पर दिखाई देता था, अर्थात् उनकी मानसिक प्रसन्नता को उनके मुख प्रकाशित कर रहे थे ॥१८५॥

सभी ग्वालबालों की पीठ जब कन्याओं के हाथों के चिह्नों से अधिक चिह्नित देखी, तब श्रीराधा आदि सभी गोपियों के हाथ इसी बहाने श्रीकृष्ण को स्पर्श करने के लिए उत्कण्ठित हो गये ॥१८६॥

होम करने के समय श्रीकृष्ण जब ब्राह्मणों की सभा में प्रविष्ट हो गये, तब हाय ! हाय ! राधा आदि उन गोपियों ने अपने अपने मनको विरहानल में पटक दिया, अर्थात् विरहरूपी अग्नि में उसका हवन कर दिया ॥१८७॥

श्रीगोवर्धन की परिक्रमा के समय श्रीकृष्ण गोपियों की दृष्टि से जब व्यवधान को प्राप्त हो जाते थे, तब श्रीकृष्णप्रिया वे राधा आदि गोपियाँ उस व्यवधान को ही पर्वत के समान मानती थी ॥१८८॥

श्रीकृष्ण अपने लकुट को ऊपर की ओर फेंक कर पुनः ग्रहण करते हुए जब चल रहे थे, तब दूर से ही उस लकुट को देखकर वृषभानुनन्दिनी श्रीराधा कज्जलयुक्त नेत्रजल द्वारा, भानुनन्दिनी श्रीयमुना जी की सी चेष्टा करने लग गई, अर्थात् कज्जलयुक्त अश्रुप्रवाह से यमुना के समान श्यामवर्ण की होगई ॥१८९॥

और आगे पीछे चलने के कारण जब जब परस्पर का रूप देखने को असम्भव, अर्थात् कठिन हो जाता था, तब तब श्रीकृष्ण गैयाओं के पीछे पीछे दौड़ने के बहाने, उन राधा आदि गोपियों के बीच में दौड़कर चले जाते थे ॥१९०॥

गैया के पीछे दौड़ने के बहाने श्रीकृष्ण जिस राधा को छूकर चले गये, उसी राधिका के द्वारा उसकी भ्रूलता से ताड़ित होकर वे स्तम्भभाव को प्राप्त हो गये ॥१९१॥

यदा राधामनु स्पृष्टि दृष्टिरस्य गता तदा । अयं सर्वं विसस्मार किन्तु सस्मार तन्मुखम् ॥
यदा रात्रावभूद्वासः सर्वेषामेकधामनि । तच्छब्दमात्रतात्पर्याः श्रुतितां र्तह्हि ता ययुः ॥
कृष्णायास्तु यदा कृष्णश्चिक्रीड स्रोतसि स्वयम् । तदा मोदिन्यमूस्तस्मिन्नक्रीडन्नतिदूरतः ॥
भगिनीनां गृहे र्यह्हि भोक्तुमभ्याययौ हरिः । सख्यलक्ष्यात्तदा तासां सर्वास्तत्राप्यमूर्गताः ॥
यथापूर्वं यदा सर्वे प्रतिस्वं वासमव्रजन् । तदा कारागृहे हन्त मेनिरे ताः पुनर्गतिम् ॥
यदा संवर्तमेघास्ते प्रावर्तन्त तदा तु ताः । अकामयन्त कृष्णाय स्वस्वच्छत्रायमाणताम् ॥
यदा सुहृद्भिश्छत्राद्यैर्लालितं तमलोकयन् । स्वाङ्गभेत्रीममूर्वृष्टिं तदा सौधीममंसत ॥
विच्छिन्नप्रखरासारच्छत्रे तत्रेह दीव्यति । कृष्णे स्वैरं गता दृष्टिं मेनिरे वृष्टिमामृतीम् ॥
अभिकृष्णं यदा सर्वः शैलगर्तेऽन्ववर्तत । गृहप्राप्तनिधीनां वा तदा तासां स्थितिर्मता ॥

स्पर्श करने के बाद श्रीकृष्ण की दृष्टि जब श्रीराधा की ओर चली गई, तब श्रीकृष्ण सब कुछ भूल गये, किन्तु श्रीराधिका के मुख को न भूले, अर्थात् उसी का स्मरण करने लग गये ।।१९२।।

रात्रि में जब सभी जनों का एक ही स्थान पर निवास हुआ, तब 'तत्' शब्द मात्र में तात्पर्य रखने वाली श्रुतियों के समान, वे श्रीराधा आदि गोपियाँ श्रीकृष्ण के शब्द मात्र में तात्पर्य रखती हुई श्रवणनिष्ठ हो गई । अर्थात् उस समय ध्यान देकर श्रीकृष्ण के प्रत्येक शब्द को सुनती रहीं ।।१९३।।

भ्रातृद्वितीया के प्रातःकाल श्रीकृष्ण जब यमुनाजी के स्रोत में स्वयं क्रीड़ा करने लग गये, तब श्रीराधा आदि गोपियाँ अति दूर होकर भी, हर्षयुक्त श्रीकृष्ण के ऊपर भाव प्रकाश करती हुई क्रीड़ा करने लग लई ।।१९४।।

श्रीकृष्ण जब जपनी बहिनों के घर भोजन करने को पधारे, तब श्रीकृष्ण की बहिनों के साथ मित्रता के बहाने, वे राधा आदि सब गोपियाँ भी, वहाँ पर चली आई ।।१९५।।

सभी व्रजवासी पहले की तरह जब अपने अपने घर चले गये, तब हाय ! हाय ! वे गोपियाँ तो पुनः अपने अपने घर में जाने को कारागार में जाने के समान मानने लग गई ।।१९६।।

जब प्रलयकालीन वे मेघ वर्षा करने में प्रवृत्त हो गये, तब तो वे गोपियाँ श्रीकृष्ण की सेवा के लिए, अपने को छत्र बनने की कामना करने लग गई, अर्थात् यदि इस समय हमारा शरीर छाता बन जाता, तो श्रीकृष्ण के ऊपर सेवार्थ लग जाता, इस प्रकार की इच्छा करने लग गई ।।१९७।।

जब मित्रों के द्वारा श्रीकृष्ण को छत्र आदिकों से सेवित देखा, तब श्रीराधा आदि गोपियों ने अपने अङ्गों का भेदन करने वाली वृष्टि को अमृत की वृष्टि समझा ।।१९८।।

और जिसके द्वारा तीक्ष्ण धारासम्पात विच्छिन्न हो जाता है, इस प्रकार के छत्र के नीचे श्रीकृष्ण जब क्रीड़ा कर रहे थे, तब स्वेच्छापूर्वक श्रीकृष्ण की दृष्टि में आई हुई उन गोपियों ने उस वृष्टि को, अमृत की वर्षा ही माना ।।१९९।।

श्रीगिरिराज के नीचे जब सब व्रजवासी श्रीकृष्ण के निकट बैठ गये, तब उन गोपियों की स्थिति ऐसी मानी गई है, जैसे कोई घर में ही निधि को प्राप्त करके चुप बैठ जाय, अर्थात् श्रीकृष्ण ही गोपियों के निधि हैं, वे घर में ही मानो मिल गये ।।२००।।

निमेषरहितास्तदा प्रतिनिमेषमासेदिरे, हरेर्मुख-सुधारसं रसनया दृगाकारया।
अहोरजनिसप्तकं व्रजचकोरनेत्राः कियत्, कुतः सुकृतमुद्गतं न इति विस्मृतीरव्रजन् ॥

राधा तत्र सुखातिसीमदृशया युक्तापि मुक्तावली-
स्वच्छे नेत्रजले तदीक्षणभवे कोष्णत्वमित्थं गता।
हा धिग् दैव ! सदैव नास्ति तव कोऽप्युच्चै विवेको यतः
कान्तस्यानिशदर्शितस्य च चिरादद्रिः करे दर्श्यते ॥२०२॥

यदा गिरिवरं दधे मुरहरस्तदा लोचनं, निजार्थितविनाकृतामपि दिशं स निन्ये मुहुः।
इदं भजति राधिका दिगवलोकनाय च्छलं, कृते तदवलोकनं कृतमिदं कृती स्यादिति।
कदाचिदिह चेत् प्रथां भजति राधिकाया मुखं, तदा फलमयं मम श्रमतमः प्रसज्जेदिति ॥
अयं गिरिवरं दधे करुणयेति कारुण्यवान्, समस्तमभि तर्क्यते तदिह चित्त ! धैर्यं भज।
निरन्तरितलोचनप्रभववृष्टिमग्नीभवद्, वपुश्च तव रक्षितेत्यकृत भावमेषा तदा ॥

उस समय निमेषरहित वे गोपियाँ प्रत्येक निमेष में, दृष्टिरूप जिह्वा के द्वारा, श्रीकृष्ण के मुखचन्द्र दर्शनरूप सुधारस को स्वादपूर्वक प्राप्त कर रही थीं। और व्रजवासिनी चकोरलोचना वे श्रीराधा आदि गोपियाँ, सात दिनरात पर्यन्त उसी सुधा का पान करती हुई, इस बात को भी भूल गई थीं कि—हमारा यह कितना अनिर्वचनीय पुण्य कहाँ से उत्पन्न हुआ है ? ॥२०१॥

वहाँ पर सुख की चरमसीमा को प्राप्त होने वाली दृष्टि से युक्त हुई भी श्रीराधा, श्रीकृष्ण के दर्शन से उत्पन्न हुए मुक्तावली के समान स्वच्छ नेत्रजल में किंचित् उष्णता (गरमाई) को प्राप्त हो गई थीं। और बोलीं कि—हे दैव ! तुमको सदैव धिक्कार है, क्योंकि तुमको कोई भी ऊँचा विवेक नहीं है। कारण—तुमने जिन हमारे प्यारे का सात दिनरात निरन्तर दर्शन कराया, तुम उन्हीं के कमल कोमल कर पर इतने दिन तक इतना भारी पर्वत क्यों दिखा रहे हो ? ॥२०२॥

कथावाचक का वचन, यथा—मुरारि ने जब गिरिराज को धारण किया, तब अपने नेत्र को वे स्वकीय प्रार्थना से शून्य दिशा की ओर भी बार बार ले जाते थे। उसका अभिप्राय यह है कि यह मेरा नेत्र श्रीराधिका की ओर देखने के लिए छलबल कर रहा है। यदि इसने श्रीराधा का दर्शन कर लिया, तब तो यह कृतकृत्य हो जायगा। दूसरा भाव यह है कि—यदि कदाचित् श्रीराधिका का मुख मेरे इस नेत्र की ओर उठ जायगा, तब तो मेरा यह गोवर्धन धारण करने का भारी परिश्रम सफल हो जायगा ॥२०३॥

इन दयालु श्रीकृष्ण ने दया करके ही गिरिराज को धारण किया है। सभी जन इस प्रकार की तर्कना करते हैं। अतः हे मेरे चित्त ! तुम यहाँ पर धैर्य धारण करो। उस समय श्रीराधिकाजी ने इस प्रकार का भाव भी किया था कि—हे मेरे चित्त ! जो दयालु(कृष्ण)इन्द्र कृत वृष्टि में मग्न होते हुए व्रज की रक्षा करेंगे, वे ही निरन्तर मेरे नेत्रों से उत्पन्न होने वाली वृष्टि में मग्न होते हुए, तुम्हारे शरीर को भी बचा लेंगे ॥२०४॥

गिरेर्गर्त्तान्निष्क्रामणवचनमाकर्ण्य दयिता, मुरारेस्तं प्राणप्रतिममपहायापि निरयुः ।
स एवं तं भारं बत विसृजतीत्थं स तु परं, तदासां विश्लिष्टेर्भरमसहमानो निरगमत् ॥

किं गिरेर्विवरतो बहिर्गतः, किं स वा स्वहृदयादिति स्फुटम् ।
नातिबोद्धुमशकन् हरिप्रिया,-स्तर्हि यर्हि निरगादसौ प्रियः ॥२०६॥
यद्दृगम्बु ववृषुः स्तनभूभृद्, भूरिभूमिबलयेषु मृगाक्ष्यः ।
उद्धृतप्रथितभूभृति तस्मि,-स्तत् किमप्यकथयन्निजहार्दम् ॥"२०७॥

अथ समापनमाह,—

"राधे ! परितो यासीद्,-गोवर्धनधारिणस्तदा करुणा ।
साम्रान्नयनप्रान्तात्, प्रान्तास्त्वय्येव सा सुविश्रान्ता ॥"२०८॥

तदेतदपि कथनशेषं समाप्य पूर्ववदेव सूतसुतयोर्गतयोः सर्वेऽपि यथास्वं प्रस्थिताः ॥२०९

॥ इति श्रीश्रीगोपालचम्पूमनु गोत्रभिद्गर्वखण्डन-गोवर्धनगोत्रमानवर्धनं नामाष्टादशं पूरणम् ॥१८॥

पर्वत के गर्त से अर्थात् नीचे से निकलने के लिए श्रीकृष्ण के वाक्य को सुनकर, कृष्णप्रिया वे राधा आदि गोपिकायें, उन प्राणप्रियतम श्रीकृष्ण को त्यागकर बाहर निकल आई । श्रीकृष्ण को त्याग कर गिरिराज के नीचे से निकलने का उनका यह भाव था कि—वे हमारे प्राणप्यारे उस भार को उतार रहे हैं, अतः हमको शीघ्र निकलना ही उचित है। किन्तु श्रीकृष्ण तो उस समय उन राधा आदि गोपियों के वियोग के भार को मानो न सहते हुए, शीघ्र ही गिरिराज के नीचे से निकल पड़े ॥२०५॥

गोपीप्रिय श्रीकृष्ण गिरिगर्त से जब निकल पड़े, तब कृष्णप्रिया गोपियाँ स्पष्टरूप से यह भी समझने को समर्थ न हुई कि—वे श्रीकृष्ण पर्वत के विवर से बाहर निकले हैं क्या ? अथवा अपने हृदय से निकले हैं क्या ? ॥२०६॥

और मृगलोचना गोपियों ने अपने अपने स्तनरूपी पर्वतों के अधिकतर भूमिमण्डलों के ऊपर जिस नेत्रजल की वर्षा की, उस नेत्रजल ने उठाने के कारण विख्यात कर दिया है गिरिराज को जिन्होंने, उन श्रीकृष्ण के प्रति अपने किसी अनिर्वचनीय हार्दिक भाव को कह दिया । अर्थात् अपने अपने स्तनरूपी पर्वतों पर बरसता हुआ गोपियों का नेत्रजल, यह भाव प्रकाशित कर रहा था कि—हे श्यामसुन्दर ! इन्द्र कृत वृष्टि से व्याकुल व्रजवासियों को बचाने के लिए, जैसे आपने गोवर्धन का उद्धार किया है, इसी प्रकार इन स्तनरूपी पर्वतों का उद्धार करके इन्हें भी बचा लो ॥२०७॥

पश्चात् स्निग्धकण्ठ समाप्ति का वचन बोला—हे श्रीराधिके ! गोवर्धन धारण के समय गोवर्धनधारी श्रीकृष्ण की जो करुणा चारों ओर बरस रही थी, वह तो श्रीकृष्ण के सजल नयनप्रान्त से प्रान्त को पाकर, अर्थात् ठिकाने को पाकर तुममें ही अच्छी प्रकार विश्राम कर रही थी ॥२०८॥

अतः इस कथन शेष को भी समाप्त कर, पहले की भाँति उन दोनों सूतकुमारों के चले जाने के बाद, सभी जन यथायोग्य अपने अपने घर को चल दिये ॥२०९॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीगोपालचम्पूकाव्ये इन्द्रमानमर्दन-गोवर्धनपर्वतमानवर्धन-नामकं
अष्टादशं पूरणं संपूर्णम् ॥१८॥

अथैकोनविंशं पूरणम्

इन्द्रत्वस्तम्भनं गवेन्द्रत्वप्राप्तिश्च

अथ प्रभाते सभातेजसा विभातयोः सूतजातयोर्मधुकण्ठनामा कथयामास,—॥१॥

"तदेवं तादृक्सम्पदि प्रतिपदि गोवर्धनसमर्धनं सिद्धम् । तृतीयामारभ्य नवम्यधिकं रम्यं तद्धारणमद्धावधार्यताम् ॥२॥

"अथ तादृशदृशा रम्यायां दशम्यां श्रीव्रजराजसमाजमनु निमन्त्रणया प्रामाणिकमाणिक्य-व्रजजनाः सुखयोजनं भोजनं संयुज्य मुखवासनं मुखवासनमुपयुज्य वार्तां वर्तयामासुः ॥३॥

"यत्र क्षितिधरधारणनिध्यानान्निर्धारयन्तः पूतनावधादिकमेतदवधिकमसम्भावितं सम्भावितं चाविशेषतया तत्कर्मविशेषतया गणयामासुः ॥४॥

"पुनश्चैवमाहुः,—

'वावहिः पर्वतं बालः सासहिर्न तु चाचलिः ।
बहिरेव यथा वृष्टिः पापतिर्न तदन्तरे ॥'५॥

"तदेवं परमप्रभावता तावद्विस्मयजननी जननीतिमतिक्रामति । तस्यामपि सत्यामत्या-

---

उन्नीसवाँ पूरण

इन्द्रत्व की रुकावट और गवेन्द्रत्व की प्राप्ति

अनन्तर प्रातःकाल सभा के तेज से देदीप्यमान दोनों सूतपुत्रों के मध्य में से मधुकण्ठ नामक कहने लगा—॥१॥

अतः पूर्वोक्त प्रकार से उत्सवरूप सम्पत्ति से युक्त, कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा के दिन, श्रीगोवर्धन का अच्छी प्रकार वर्धन, अर्थात् पूजन कार्य सिद्ध हो गया। तृतीया के दिन से लेकर नवमी पर्यन्त, उस गोवर्धन का धारण यथार्थरूप से अवधारण (निश्चय) समझो ॥२॥

पश्चात् उस प्रकार की दृष्टि से रमणीय दशमी के दिन, श्रीव्रजराज के समाज को लक्ष्यकर, विज्ञ-शिरोमणि व्रजवासीजनों ने निमन्त्रणपूर्वक सुखदायक भोजन करके, मुखसौरभजनक ताम्बूल आदि वस्तु सेवन कर यह बात चलाई ॥३॥

जिस बातचीत में गोवर्धन धारण के देखने के कारण, निश्चय करते करते, पूतना के वध से लेकर गोवर्धन के धारण पर्यन्त, असम्भावित एवं सम्भावित समस्त श्रीकृष्ण के कर्म को विशेषता की गिनती में लाने लग गये ॥४॥

पुनः इस प्रकार बोले—देखो ! इस बालक ने विशाल पर्वत को अतिशयेन धारण कर लिया, पर्वत के अतिशय भार को भी अतिशयेन सह लिया, किन्तु किंचिद् भी चलायमान नहीं हुआ। और आश्चर्य देखो ! वर्षा जैसे पर्वत के बाहर ही बार बार पड़ती रही, उस प्रकार पर्वत के भीतर तो बिन्दुमात्र भी नहीं पड़ी ॥५॥

इस प्रकार तुम्हारे लाला की अधिक प्रभावशालिता आश्चर्यजनक है, एवं लौकिक नीति का अतिक्रमण कर रही है, अर्थात् अलौकिकता की द्योतक है। और उस अधिक प्रभावशालिता के रहते हुए

सक्तिमयस्नेहचयस्वभावता मादृशामन्यादृशामपि तस्मिन्निश्चिता विस्मितिमातनोति। तस्य च मादृक्षु विसदृक्षु च यासौ लक्ष्यते, सा तु परमविलक्षणतयातीव वैलक्ष्यं लक्षयति ॥६॥

"किञ्च, प्रत्येकं स्वे तनूजे प्रबलयति जनः स्वैरमेवानुरागं
सर्वेषां नस्त्वदीये स कथमथ कथं शक्यते नापि मोक्तुम्।
सर्वेष्वप्यस्य सोऽयं स्फुरति सहभवस्तादृगेव व्रजेश !
स्मारं स्मारं तदेतत् न कथमपि मनागुक्तियुक्ती व्रजामः ॥७॥

"तदेवं प्रवणतया श्रवणतः श्रीमान्नन्दः प्रजातानन्दः प्रणयमयतया सम्मतसमयतया च गर्गसिद्धान्तवर्गमेवानुगद्य निरवद्यसौहृद्यतस्तेषाममन्देहोद्भवसन्देहोद्यमं संयमनमनैषीत्, ॥८॥

(भा० १०।२६।१५) 'श्रूयतां मे वचो गोपा ! व्येतु शङ्का च वोऽर्भके' इत्यादिना। अन्ते चोक्तवान्,—

'यदवधि मामुपदिश्य, प्रास्थित गर्गस्तदवधि जानामि।
शिशुरयमद्भुतचर्यां, बलयति नारायणीयया शक्त्या ॥'९॥

"तदेवं श्रीमन्नन्दराजवाक्यतस्तदवकलनानन्दभाजस्तं यदा समस्तजनाः समस्तजनानन्दन-तन्नन्दनवार्तया नन्दयन्तः सन्ति स्म, तदा निजवृन्दैर्वृन्दारकैश्च वन्द्यमानतया नन्द्यमानतया च वृन्दावनचन्द्रः सहसा सहरामः समाजगाम ॥१०॥

भी, हे व्रजराज ! तुम्हारे उस लाला में हम जैसों की तथा अन्य जैसों की भी, आसक्तिमय स्नेहसमूह की सहज पराकाष्ठा निश्चितरूप से है, अतः वह पराकाष्ठा जनमात्र के लिए विस्मय का विस्तार करती है। और उस श्रीकृष्ण की हम जैसों पर एवं अन्यान्य व्यक्तियों पर जो स्नेह की पराकाष्ठा देखी जाती है, वह तो अत्यन्त विलक्षणतापूर्वक महान् आश्चर्य को दिखाती है ॥६॥

किंच प्रत्येक जन अपने अपने पुत्र के ऊपर स्वेच्छापूर्वक अनुराग को बढ़ाता रहता है, किन्तु आपके पुत्र श्रीकृष्ण के ऊपर हम सबका वह अपूर्व अनुराग क्यों है ? और वह छोड़ा भी क्यों नहीं जाता है ? हे व्रजराज ! श्रीकृष्ण का वह सहज अनुराग हम सब पर भी वैसा ही स्फूर्ति पा रहा है। इसलिए हम सब तो इन बातों को बार बार याद कर, किसी प्रकार कुछ भी कह नहीं पाते, एवं किसी समाधान की युक्ति को भी नहीं प्राप्त कर पाते हैं ॥७॥

इस प्रकार व्रजवासियों के वचनों को नम्रतापूर्वक श्रवण करने से आनन्दित हुए श्रीमान् नन्दरायजी ने, अधिक प्रेमपूर्वक एवं प्रतिज्ञा की सम्मति देकर, श्रीगर्गमुनि के सिद्धान्तवर्ग का अनुवाद करके प्रशंसनीय सुहृदता से उन व्रजवासियों की प्रशंसनीय चेष्टा से उत्पन्न सन्देह के उद्योग को शान्त कर दिया ॥८॥

और हे गोपगणो ! मेरे वचनों को सुनो। एवं इस बालक के प्रति जो तुम्हारी शंका है, वह दूर हो जाय, इत्यादि कहकर, अन्त में भी यह वचन कहा कि—जब से श्रीगर्गाचार्यजी मुझको उपदेश देकर चले गये, तब से मैं तो दृढ़तापूर्वक यही जानता हूँ कि, यह मेरा बालक श्रीनारायण भगवान् की शक्ति के द्वारा अद्भुत लीला को प्रगट कर देता है ॥९॥

इस प्रकार श्रीनन्दरायजी के वचन सुनकर, आनन्द को प्राप्त हुए समस्त जन, जब श्रीनन्दरायजी को समस्तजनआनन्दप्रद उनके पुत्र की बातों से आनन्दित करते हुए सभा में विद्यमान थे, उसी समय

"समाजश्चायं सममेव तं परिवेष इव परितश्छादयामास, चकोरवार इव तत्कान्तिमास्वादयामास, कुमुदसमुदय इव तदभिमुखतया स्वं प्रसादयामास, चन्द्रकान्तसंघ इव निजमङ्गमङ्गमार्द्रतामासादयामास, वारांनिधिरिव चात्मानमुल्लोलतया सम्पादयामास ॥११॥

"तदेवं स्थिते सर्वस्मिन्नपि स्वस्थतया चावस्थिते क्षणकतिपये च प्रस्थिते सर्व एव ते सामाजिकाः प्रतिस्वममन्देन्दिरादात्ममन्दिरादानीतपीतसितासित - प्रशस्त - वस्त्रसङ्कुरं सदलङ्करणादिकं तञ्च तद्भ्रातरं तत्पितरञ्च पृथक् प्रथगलङ्काराय स्वीकारयाञ्चक्रुः ॥१२॥

"यथैवं बहिरेभिराचरितम्, तथान्तःपुरे सराममातृकां गिरिधरस्य मातरमभि चैषां महिलाभिर्विरचितमिति निर्विशेषमेव तदुभयत्र पर्वासीत् ॥१३॥

"अथ सुरपुरे सुरेशस्य वृत्तमनुवृत्यताम् ॥१४॥

"इतो गत्वा दैन्यं मत्वा स्खलदोजा विडौजाः क्षयं गच्छन्नप्यसौ क्षयमृच्छन्निव स्थितवान्न तु शचीमचीकमत, न च निर्जरसदसि निर्जगाम ॥१५॥

श्रीवृन्दावनचन्द्र कृष्णचन्द्र निज बन्धुवृन्द एवं देववृन्द के द्वारा वन्दित एवं आनन्दित होकर, श्रीबलरामजी के सहित सहसा वहाँ आ गये ॥१०॥

सभा में बैठा हुआ वह गोपसमाज सूर्य के चारों ओर मण्डलाकार परिधि के समान, श्रीकृष्ण को चारों ओर से एकसाथ घेरने लग गया। चकोरसमूह की तरह श्रीकृष्ण के मुखचन्द्र की चन्द्रिका का आस्वाद लेने लग गया, कुमुद समुदाय की तरह उनके सम्मुख होकर अपने को प्रसन्न करने लग गया, चन्द्रकान्तमणियों के समूह की तरह अपने प्रत्येक अंग को आर्द्र करने लग गया, और समुद्र की तरह अपने को उछालने लग गया, अर्थात् पूर्णचन्द्र के उदय पर समुद्र जैसे उत्ताल तरङ्ग हो जाता है, वैसे ही व्रजवासी गोपसमाज श्रीकृष्णचन्द्र को देखकर आनन्द से उछलने लग गया ॥११॥

ऐसी स्थिति में जब सब स्वस्थ होकर अपने अपने स्थान पर बैठ गये, एवं कुछ क्षण बीत गये, तब वे सभी सामाजिक गोपगण, प्रत्येक ही उत्कृष्ट लक्ष्मी (सम्पत्ति) से युक्त अपने अपने घर से लाये गये पीत, श्वेत, नील रङ्ग वाले प्रशंसनीय वस्त्रों से युक्त सुन्दर सुन्दर अलंकार आदि वस्तुओं को, श्रीकृष्ण को, उनके भ्राता बलदेवजी को, एवं उनके पिता श्रीनन्दजी को अलग अलग शोभार्थ धारण करने के लिए स्वीकार कराने लग गये, अर्थात् तत्काल धारण कराने लग गये ॥१२॥

जिस प्रकार बाहरी सभा में इन व्रजवासियों ने रचना की, उसी प्रकार अन्तःपुर में उन व्रजवासियों की स्त्रियों ने बलराम की माता श्रीरोहिणी के सहित गिरिधारीलाल की माता श्रीयशोदाजी को वस्त्र एवं अलकार आदि धारण करा दिये। इस प्रकार दोनों जगह समान ही महोत्सव हुआ ॥१३॥

अब स्वर्ग में हुए इन्द्र के वृत्तान्त का अनुसरण करो ॥१४॥

व्रज से लौटकर, दीनता को मानकर, तेजरहित हुआ इन्द्र अपने घर जाते हुए भी मानो मरने की सी इच्छा करके बीच में ही ठहर गया। किन्तु न तो उसने इन्द्राणी की इच्छा की, और न वह देवसभा में ही गया ॥१५॥

"तदेवं वर्ण्यमानमवकर्ण्य वाचस्पतिर्वास्तोष्पतिमनुरहसं भर्त्सयामास; यतः स खलु विबुधानामपि विबुधः ॥१६॥

"भर्त्सनं यथा,—

'यस्मादभजसि विष्णुं, जिष्णो ! तस्मादनेधितासे त्वम् ।
न विना चन्द्रं विन्दति, जीवनवृत्तिं वनस्पतिः कोऽपि ॥१७॥

अथवा सहस्रदृशमप्यहो ! भवादृशमभिभूय भृशीभवन्ती तादृशी मदान्धता नासदृशी, यतः सुरेशोऽसि । किन्त्वमृतपता तव कथं मृतपता जाता ? यतस्त्यक्तप्राणप्रायकाय-प्रणयतः प्रमादः सोऽयमापतितः ॥१८॥

'तथा च स्मरन्ति—

अपस्नात इव स्नातोऽप्यलमस्पृश्य एव सः ।
मृतकं वपुरासज्जन् यः सद्भ्यो भयदायकः ॥१९॥

'किञ्च, वृषाह्वय ! तव चेदमत्यविचारत एव ॥२०॥

'तथाहि—यदालम्बाज्जनः प्राणं यस्माद्रक्षितुमिच्छति ।
वैपरीत्यं तयोः कुर्वन्ननुन्मत्तो न कथ्यते ॥'२१॥

इस प्रकार के वर्णित समाचार को किसी दूत से सुनकर बृहस्पति ने इन्द्र को एकान्त में फटकार लगाई। क्योंकि बृहस्पति देवताओं के भी पुरोहित पण्डित हैं, अतः सबके सामने इन्द्र को फटकारना उचित न समझकर एकान्त में फटकार लगाई ॥१६॥

फटकार, यथा—हे इन्द्र ! जिस कारण से तू विष्णु (श्रीकृष्ण) का भजन नहीं करता, उसी कारण से तू वृद्धि को नहीं पायेगा। क्योंकि चन्द्रमा के बिना कोई भी वृक्ष जीवनवृत्ति को नहीं प्राप्त कर पाता ॥१७॥

अथवा तुम जैसे हजार नेत्र वाले को भी दबाकर अधिकता को पाती हुई वैसी मदान्धता अयोग्य नहीं है, अर्थात् उचित ही है, क्योंकि तुम 'सुराणामीशः' के अनुसार सुरेश हो, निन्दा पक्ष में—"सुरायाः मदिराया ईशः" के अनुसार मदिरेश हो। तात्पर्य-मदिरा के स्वामी की मदान्धता स्वतः सिद्ध है। किन्तु तुम्हारा अमृत पीने का भाव चाण्डालता को कैसे पा गया ? क्योंकि प्रायः प्राणरहित काया में स्नेह के कारण ही यह प्रमाद उपस्थित हुआ है ॥१८॥

देखो, पण्डित लोग इसी बात का स्मरण रखते हैं कि—जो प्राणी सज्जनों के लिए भयदायक है, वह तो मृतकतुल्य अपने देह में आसक्ति करता हुआ, स्नान करने पर भी मृतक के उपलक्ष्य में स्नान करने वाले की तरह अधिक अस्पृश्य ही है ॥१९॥

किंच हे वृषाह्वय ! पक्षे—हे बैलनामक ! यह सब कार्य तुम्हारे अविचार से ही हुआ है ॥२०॥

देखो, जनमात्र जिसके आश्रय से, एवं जिसके द्वारा अपने प्राणों को बचाना चाहता है, उन अंतर्यामी एवं परमात्मा के विपरीत आचरण करता हुआ प्राणी, उन्मादी ही कहा जाता है ॥२१॥

"इन्द्र उवाच,—'अविचारितमेवाचरितमिदं मया, भवद्भिस्तु साम्प्रतं साम्प्रतमुपदिश्यताम् ।' ॥२२॥

"वाचस्पतिरुवाच,—'शतमन्यो ! तादृशविसदृशतायां शतधृतिरेव धृतिमासादयिता; तस्मात्तदनुसरणमेव शरणम् ।' ॥२३॥

"तदेवं जम्भभेदी सखेदीभवन्नवधाय धातारमेव गत्वा सङ्कोचममत्वा स्वापराधमवधारयामास ॥२४॥

"स तूवाच,—'हन्त ! विबुधाधिपेनाप्यबुधेन भवता भवता दुःसाधबाधः सोऽयं महानेवापराधः कृतः; यं खलु साधवः सकृदप्यवधारयन्तस्त्वामवधीरयन्तः सावधानाः श्रोत्रमपिदधते । तथापि सृष्टिविधित्सादुर्विधिना विधिना मया तदिदमुपदिश्यते । पूर्वं तन्महिमजिज्ञासया धाष्टर्यमनुष्ठितमस्तीति तन्मात्रकिल्विष-विषमविषमविषहमानेन मया दुर्मानमयागाधभवदपराधक्षमापणाय क्षमता न लभ्यते ॥२५॥

'किन्तु,—

'गवां कण्डूयनं कुर्याद् गोग्रासं गोप्रदक्षिणाम् । नित्यं गोषु प्रसन्नासु गोपालोऽपि प्रसीदति ॥'

इति गौतमादि-सम्मत्या गोजातिषु प्रीतिरीतिपरीतस्य तस्य क्षमापणाय कातरस्त्वं तज्जातिमातरं सुरभीमेव भजस्व, न चेदसुरतः सुरभीसङ्गतिर्भविष्यति ।' ॥२६॥

इन्द्र बोला—मैंने तो यह सब बिना विचारे ही कर डाला। किन्तु अब आप योग्य उपदेश दीजिये ॥२२॥

बृहस्पति बोले—हे इन्द्र ! उस प्रकार की विषमता में तो ब्रह्मा ही धैर्य धारण करायेंगे। अतः उनका अनुसरण करना ही एकमात्र रक्षक दिखाई देता है ॥२३॥

अतएव इन्द्र इस प्रकार खेदयुक्त होकर, सावधान होकर, ब्रह्मा के पास जाकर, संकोच को न मान कर, अपने अपराध को निश्चित करने लग गया ॥२४॥

ब्रह्मा बोले—हाय ! तुमने विबुधों के, अर्थात् देवताओं के एवं पण्डितों के अधिपति होकर भी, मूर्ख बनकर यह महान् अपराध कर डाला है, जिसका निराकरण तुम्हारे द्वारा कठिन है। क्योंकि जिस अपराध को एक बार निश्चय करते हुए, साधुजन तुम्हारा तिरस्कार करते हुए, सावधान होकर अपने कानों को भी ढ़क लेते हैं। तथापि सृष्टि के निर्माण की इच्छारूप दुर्विधि (दुष्टविधान) वाला मैं विधि, तुमको यह उपदेश देता हूँ कि, पहले श्रीकृष्ण की महिमा के जानने की इच्छा से, मैं भी धृष्टता कर चुका हूँ। अतः उस धृष्टतामात्र पापरूप विषम विष को न सहता हुआ, मैं तो दुष्ट गर्वरूप तुम्हारे अगाध अपराध की क्षमा कराने के लिए क्षमता (योग्यता) को नहीं प्राप्त कर पाता हूँ ॥२५॥

किन्तु धार्मिक जन को प्रतिदिन गोगण का कण्डूयन (खुजलाना), गोग्रास, गोप्रदक्षिणा करनी चाहिये। क्योंकि गोगण के प्रसन्न होने पर, गोपाल भी प्रसन्न हो जाते हैं। इस प्रकार गौतम आदिकों की सम्मति के अनुसार गोजाति में प्रीति की रीति से व्याप्त, उन श्रीकृष्ण की क्षमा याचना के लिए तुम कातर होकर, उस गोजाति की माता कामधेनु की ही सेवा करो। यदि ऐसा न करोगे तो दैत्यों से देवताओं के लिए पुनः भय की सङ्गति उपस्थित हो जायगी ॥२६॥

"अथ सुनासीरस्त्वसुरभीतः सुरभीलोकमासाद्य सद्यस्तदवद्यचरितप्रचाराद्विमनसमपि तां मातुः स्वसारं मुहुः प्रसाद्य वेधसः सविधमेवानिनाय ॥२७॥

"ततश्च विधातेदमभिदधे,—'अयि ! सुरभि ! सुरपति-भी-सान्त्वनार्थमसुरान्तकस्यान्तिकं गच्छ; गत्वा च त्वमस्य नूनमेवमेव लब्धदुश्च्यवननाम्नः परकिल्विषकीर्तनभिया किल कविपरिषदुपेक्षणीयतन्नामधेयस्य कृष्णतश्च्यवनं विच्यावय। तच्च स्वसम्पदुपकण्ठ-कुण्ठीकृतापरवैकुण्ठलोकगोलोकमहेन्द्रता मर्त्यलोकेऽप्यस्य व्यक्तीभवतादिति; तदभिषेक-सेवातिरेकतः सम्भविता।' इति ॥२८॥

"अथ हरिवासरदिवसे सुरभिः सुरराजमनु वृन्दावनभूपरि भुवर्लोकभागमागम्य तदवसरं प्रतीक्षामास। तत्र च दूरतः सुरपतिं सुरभिरभिहितवती,—॥२९॥

'नासौ मेघः पश्य गोवर्धनाद्रि,-र्नायं नव्यस्तस्य भागः स कृष्णः।
नेयं विद्युल्लोलपीतांशुकश्री,-र्नैतन्मन्दं गर्जितं नर्मवार्ता ॥३०॥

तदनन्तर इन्द्र असुरों से भयभीत होकर, सुरभीलोक में जाकर, तत्काल उस अपने निन्दित चरित्र के प्रचार से खिन्नमन वाली भी, अपनी मौसी उस कामधेनु को बार बार अनुनय विनय से प्रसन्न कर, ब्रह्माजी के पास ही लिवा लाया ॥२७॥

पश्चात् ब्रह्माजी ने यह कहा कि—अयि सुरभि ! तू इन्द्र के भय की सान्त्वना के लिए, असुरों का अन्त करने वाले श्रीकृष्ण के पास चली जा। और वहाँ जाकर तुम निश्चितरूप से इसी प्रकार, दुश्च्यवन नाम को प्राप्त करने वाले, एवं दूसरे का पाप कहने के भय से, विज्ञजनों की सभा में जिसका नाम उपेक्षित है, अर्थात् नहीं लिया जाता, ऐसे इस इन्द्र का कृष्ण की ओर से जो पतन हो गया है, उसको सँभालो। (इन्द्र का नाम दुश्च्यवन क्यों है ? इसका व्युत्पत्तिलभ्यार्थ यह है—"दुःसहश्च्यवननामा ऋषिर्यस्य", अर्थात् असह्य है च्यवन ऋषि जिसको, अथवा "दूषिते पापरूपे विषये च्यवते पततीति दुश्च्यवनः" दूषित पापरूप विषय में जो धड़ाम से गिर पड़ता है, इसीलिए इन्द्र का नाम दुश्च्यवन पड़ गया है) और ऐसा करने से अपनी सम्पत्तिस्वरूप गोधन की समीपता के कारण, दूसरे वैकुण्ठ आदि लोक कुण्ठित कर दिये हैं जिसने, ऐसे गोलोक की महेन्द्रता का पद मर्त्यलोक में भी श्रीकृष्ण का प्रगट हो जाय, अर्थात् भूलोक में भी श्रीकृष्ण गोलोकमहेन्द्र कहलावें ऐसा कार्य करो। वह गोलोकेन्द्र पद भी श्रीकृष्ण का अभिषेक एवं सेवा की अधिकता से ही सम्भव हो सकेगा ॥२८॥

तदनन्तर एकादशी के दिन कामधेनु, इन्द्र के साथ श्रीवृन्दावन की भूमि के ऊपर 'भुवर्लोक" के विभाग में आकर, श्रीकृष्णाभिषेक के अवसर की प्रतीक्षा करने लग गई, और वहाँ पर इन्द्र के प्रति दूर से ही बोली—॥२९॥

हे इन्द्र ! देखो, यह मेघ नहीं है, किन्तु श्रीगोवर्धन पर्वत है। यह गोवर्धन का कोई नवीन एक भाग (अंश) नहीं है, किन्तु वह श्रीकृष्ण है। यह बिजली नहीं हैं, किन्तु चंचल पीताम्बर की शोभा है, एवं यह मन्द मन्द मेघ की गर्जन नहीं है, किन्तु सखाओं के साथ श्रीकृष्ण की परिहासमयी वार्ता है ॥३०॥

'पश्य पश्य, सम्यगुत्पतिष्णुः पतगजिष्णुर्विष्णुवाहनः सोऽयमस्मदप्युपरिभागमारूढः सन् विद्युद्गूढवारिदवार इव यस्य छायामिच्छन् किल यत्र छायां प्रसारयति ॥३१॥

'सोऽयं तु,—

श्रीगोवर्धनशैलरत्नदृशदि प्रक्षिप्तशुभ्रास्तरे
वामोरुस्थितकञ्जचारुचरणे सव्यं करं दक्षिणे ।
न्यस्यन्नन्यमपूर्वरूपमुरलीनाले मनागत्र नः
स्मेरेणाक्षितटेन सन्दधदहो मन्ये कृपां वर्षति ॥३२॥

'अत्र चायमस्मन्मिलनमङ्गीकुर्वन्नेव सङ्गिनः प्रसङ्गान्तराय प्रस्थापितवान्, बलदेवश्च नाद्य वनमागतवानिति चास्थीयते; तस्मादतिस्वच्छतरचेतसममुं भवांस्तावन्निभृततया निभृतमव्यग्रतया चाभ्यग्रं गत्वा दण्डवन्नत्वा प्रसादयितुमर्हति ॥३३॥

'यतः, स्वयमपराध्यति कुरुते, प्रभुमभि तन्मार्जने सहायं यः ।
तस्येदं परशक्तेः, दर्शनमथ नैव दैन्यस्य ॥३४॥
यस्मिन् स्वयमपराधी, नमति रहस्तं सहायनिर्विण्णः ।
कृपयति सा जनमात्रं, दैन्यावस्था महाजनं किमुत ? ॥३५॥

'ततश्च पश्चादेव विशेषनिवेदनायाहमायास्यामि ।' ॥३६॥

और देखो ! देखो, अच्छी प्रकार उड़ने वाले, पक्षीराज ये श्रीगरुड़जी हमारे से भी ऊपर के भाग में चढ़कर, बिजली से ढ़के हुए मेघसमूह की तरह, जिन श्रीकृष्ण की छाया की, पक्षे—आश्रय की इच्छा करते हुए, गोवर्धन के ऊपर अपनी छाया का विस्तार कर रहे हैं ॥३१॥

किन्तु वे कृपालु श्रीकृष्ण तो श्वेत बिछौने से ढ़की हुई श्रीगोवर्धन पर्वत की रत्नशिला पर बैठकर बाईं जंघा पर स्थित, कमल से भी मनोहर दाहिने चरण के ऊपर बायाँ हाथ रखते हुए, एवं दूसरे अपने दाहिने हाथ को अपूर्व रूपयुक्त मुरली के दण्ड पर धारण करते हुए, मन्दमुस्क्यान से युक्त कटाक्ष के द्वारा, यहाँ पर खड़े हुए हम सब के ऊपर कृपा की वर्षा कर रहे हैं, ऐसा मैं मानती हूँ ॥३२॥

और यहाँ पर श्रीकृष्ण ने हमारे मिलन को अंगीकार करते हुए ही, अपने संगी सखाओं को दूसरे प्रसंग के लिए कहीं भेज दिया है, एवं श्रीबलदेवजी आज वन में नहीं आये हैं ऐसा प्रतीत होता है । अतः तुम अत्यन्त निर्मल चित्तवाले श्रीकृष्ण को, विनीतभाव से एकान्त में गुप्तरूप से, तथा व्यग्रता से रहित होकर, उनके पास जाकर, दण्डवत् प्रणाम करके प्रसन्न कर सकते हो ॥३३॥

क्योंकि जो व्यक्ति स्वयं अपराध करता है, एवं उस अपराध के मिटाने के लिए किसी समर्थ व्यक्ति को सहायक बनाता है, उसका वह कार्य दूसरे की शक्ति का प्रदर्शन मात्र है, किन्तु दीनता का दिखाना नहीं है ॥३४॥

एवं जिसके प्रति स्वयं अपराधी है, उसको यदि अपराधी जन सहायक से रहित होकर एकांत में साष्टांग प्रणाम करता है, तब वह दीनतामयी अवस्था जनमात्र को कृपायुक्त कर देती है, फिर महापुरुष को कृपायुक्त कर देती है, इसमें तो कहना ही क्या है ? ॥३५॥

इसलिए विशेष बातों को निवेदन करने के लिए मैं पीछे ही आऊँगी ॥३६॥

"अथ पाकशासनस्तदनुशासनमुररीकृत्य प्रच्छन्नतया मुरलीधरसमीपमागत्य प्रत्यग्रं चरणखरदण्डयोर्दण्डवत् पपात ॥३७॥

"इन्द्रो ननाम च यथांघ्रिनखा मुरारे,-रग्र्यामममुष्य मुकुटे मणितामवापुः।
चक्रन्द चाथ स यथाम्बक-कैरवाम्बु,-माध्वीकविद्रवविधौ विधुतामगच्छन् ॥३८॥

"अथ क्रन्दति संक्रन्दने पङ्कजलोचनः सङ्कोचतः किरीटाग्रमग्रहस्तेन साग्रहमुदस्तमाचरन्नुवाच,—॥३९॥

'भगवन्नेवमयुक्तं मा कार्षीरार्षीणां वाणीनां त्वमेक एवातिरेकतः परायणमसि।' वज्रपाणिस्तु मूर्ध्नि प्रसज्जिताञ्जलिपाणितया सलज्जं स्वयं स्ववज्रहत इव मौनमेवाससञ्ज ॥४०

"यतः, परस्य कायं वध्नाति तेजसा वचसा मनः।
शक्तः शक्तश्च सोऽयं यस्तस्य भक्तः कथं न कः? ॥४१॥

"तदेवं तस्य तेजसा कृपया च सुपर्वाधिपस्य विविधा गतिर्जाता; ॥४२॥ यथा—
अन्यत्र चन्द्रति हरिः शक्रे तर्हि स्म सूर्यति।
शक्रोऽपि सूर्यत्यन्यस्मिन् खद्योतति हरौ स्म सः ॥४३॥

तदनन्तर इन्द्र सुरभी की आज्ञा को स्वीकार कर, गुप्तरूप से मुरलीधर के पास आकर, साक्षात् चरणकमलों पर दण्ड के समान गिर पड़ा ॥३७॥

और इन्द्र ने जैसे ही प्रणाम किया, तैसे ही श्रीकृष्ण के चरणनख इन्द्र के मुकुट पर श्रेष्ठ मणियों के समान शोभापाने लगे। और जैसे ही वह इन्द्र रोने लगा, तैसे ही अर्थात् तत्काल ही उसके नेत्ररूप कुमुदों के जलरूप मधु के गिराने के लिए, वे ही चरणनख चन्द्रभावको प्राप्त होगये, अर्थात् चन्द्रमा बन गये। तात्पर्य—चन्द्रमा के उदय होते ही कुमुदपुष्पों में से जैसे मधु चुचाने लग जाता है, तैसे ही श्रीकृष्ण के नखचन्द्रों को देखते ही इन्द्र के नेत्र चुचाने लग गये ॥३८॥

पश्चात् इन्द्र जब चरणों में पड़ा पड़ा रो रहा था, तब कमलनयन श्रीकृष्ण संकोच से अपने हाथ के अग्रभाग से, उस मुकुट के अग्रभाग को आग्रहपूर्वक ऊपर को उठाते हुए बोले—॥३९॥

भगवन्! ऐसा अयुक्त व्यवहार न करो। क्योंकि ऋषि प्रणीत सभी वाणियों के तुम अकेले ही तो एकमात्र आश्रय हो। इन्द्र तो इन वचनों को सुनकर मस्तक पर अंजलि बाँधकर, लज्जापूर्वक स्वयं अपने वज्र के द्वारा ताड़ित सा होकर चुप हो गया ॥४०॥

क्योंकि जो श्रीकृष्ण अपने तेज से दूसरे के शरीर को बाँध लेते हैं, एवं वचन के द्वारा दूसरे के मन को बाँध लेते हैं, इसीलिए जो समर्थ एवं प्रिय बोलने वाले कहे जाते हैं, उन श्रीकृष्ण का कौन व्यक्ति किस प्रकार भक्त न होगा? ॥४१॥

अतएव इस प्रकार श्रीकृष्ण के तेज से एवं उनकी कृपा से इन्द्र की अनेक प्रकार की दशा हो गई ॥४२॥

यथा—श्रीकृष्ण दूसरे भक्तों पर चन्द्रमा का सा शीतल व्यवहार करते हैं, तो भी इन्द्र के ऊपर तो सूर्य का सा व्यवहार करने लग गये। और देखो, इन्द्र भी दूसरे पर सूर्य का सा व्यवहार करता था, किन्तु श्रीकृष्ण के ऊपर तो वह खद्योत (पटबीजना) का सा व्यवहार करने लगा। अर्थात् औरों के सामने तो सूर्य के समान तेजस्वी बन जाता था, किन्तु श्रीकृष्ण के आगे तो खद्योत सा बन गया ॥४३॥

यदा मौनं ससज्जासौ तदा मूक इवाभवत् ।
यदा तु स्तोतुमारब्धस्तदागाद्वावदूकताम् ॥४४॥

यथामुं स्तुतवानिन्द्रस्तथा वक्तुं न शक्यते ।
श्रीव्रजेन्द्र ! यतः सोऽयं त्वत्तः संकुचति स्फुटम् ॥४५॥

"अवमानमनालोच्य कवमानः स पुनरेवमञ्जसा तदुपसञ्जहार, ॥४६॥

(भा० १०।२७।१२)—
'मयेदं भगवन् गोष्ठनाशायासारवायुभिः। चेष्टितं विहते यज्ञे मानिना तीव्रमन्युना ॥' इति॥४७॥

"अयं च प्रहस्य प्रोवाच,—
'मया तेऽकारि मघवन् ! मखभङ्गोऽनुगृह्णता ।
यन्मत्पित्रादिसच्छ्रेष्ठान्नातिक्रामेर्मम स्मरन् ॥४८॥

सुरश्चेद्विषयाभोगगर्वाद्रोचेत वासव ! ।
तदा विप्रश्च शोभेत शौष्कलम्मन्यता मदात् ॥४९॥

अहमुन्मूलयिष्यामि शक्र ! त्वद्वैरिपक्षगान् ।
कथं मन्मन्यसे भीतिं नीतिमेव प्रवर्तय ॥'५०॥

और इन्द्र ने जब मौन धारण कर लिया था, तब ये श्रीकृष्ण गूँगे से बन गये थे, एवं इन्द्र ने जब स्तुति करनी आरम्भ की थी, तब श्रीकृष्ण अतिशय बड़े वक्ता बन गये थे ॥४४॥

हे श्रीव्रजराज ! इन्द्र ने जिस प्रकार श्रीकृष्ण की स्तुति की थी, उस प्रकार इस सभा में कहा नहीं जा सकता, क्योंकि ये श्रीकृष्ण आप से संकोच करते हैं। यह बात स्पष्ट है ॥४५॥

अपमान को न विचार कर, श्रीकृष्ण का विशेषरूप से वर्णन करता हुआ वह इन्द्र, पुनः झटपट स्तुति का उपसंहार कर गया ॥४६॥

और बोला कि—हे भगवन् ! तीव्र क्रोध वाले मुझ अभिमानी ने अपना यज्ञ नष्ट हो जाने पर व्रज को नष्ट करने के लिए, मूसलधार वर्षा एवं प्रचण्ड आँधी के द्वारा, यह बुरी चेष्टा की थी। अतः क्षमा कीजिये प्रभो ! ॥४७॥

ये श्रीकृष्ण तो हँसकर बोले कि—हे इन्द्र ! मैंने तुझ पर अनुग्रह करते हुए ही तेरे यज्ञ को नष्ट किया है, क्योंकि अब तुम विमद होकर मेरा स्मरण करते हुए, मेरे पिता आदि सज्जनश्रेष्ठ व्यक्तियों का अतिक्रमण न कर सकोगे ॥४८॥

और हे इन्द्र ! देवता भी यदि विषयों की परिपूर्णता के गर्व से शोभा पा सकता है, तब तो ब्राह्मण भी मांस भोजनजनित अहंकार से शोभा पा सकता है। अर्थात् मांस खाने से ब्राह्मण की जैसे शोभा नहीं, तैसे विषयों की भरमार से देवता की शोभा नहीं ॥४९॥

तथा हे इन्द्र ! तुम्हारे बैरियों के पक्षपातियों को मैं जड़ से उखाड़ दूँगा, अतः तुम मुझ से भय क्यों मानते हो ? केवल नीति को प्रवृत्त करो (चलाओ) ॥५०॥

"अथ दूरतः सुरभिरभीतमिव तमभीक्ष्य हुङ्कारतः स्वसन्तान-सन्तानमाकार्य कार्य-विदुषी सतृष्णनयना कृष्णमभिजगाम ॥५१॥

"कृष्णश्च स्वजातिरीतिकावस्थितित एवावनमन्तीमिव तामिमां सहसा सहसाम ससम्भ्रममञ्जलिसञ्जितकरः सञ्जगाद,—'माता कथं समागाता ?' ॥५२॥

"ततश्चाशिषः सिषासन्ती ताः सम्भ्रमादनुद्भाव्य सुरभ्युवाच,—

'एते मदन्वया धन्या गोत्वं त्वां सेवितुं गताः ।
अहं तु नेदृक्पुण्या यद्गोचरत्वं च नागता ॥५३॥

'अथवा—दैत्यघाती भवान्नित्यं सर्वलोकैकपालकः ।
वयं च लोकमध्ये स्मस्त्वन्नाथाः स्वत एव तत् ॥'५४॥

"ततस्तदिदं किञ्चित् प्रार्थये,—

'गो-सूक्तं भाषते गावः पदं सर्वसुपर्वणाम् । तद्ब्रह्मादौ सुपर्वत्वमवन् विन्द गवेन्द्रताम् ॥५५॥
तवेदं कियदैश्वर्यं यद्ब्रह्मावधिपालनम् । वैकुण्ठकुण्ठताकारि यस्य गोलोकवैभवम् ॥५६॥
सर्वस्य पालकात् क्वापि खण्डपालनमिष्यते । जगत्प्रकाशकाद्भानोर्निजधामप्रकाशवत् ॥५७॥

तदनन्तर सुरभी दूर से ही इन्द्र को निर्भय देखकर, हुंकार के द्वारा अपनी सन्तान के विस्तार को, अर्थात् गोसमूह को बुलाकर, समयानुसार कार्य को जानकर, दर्शन की तृष्णा से युक्त नेत्रों वाली होकर, श्रीकृष्ण के सम्मुख चली आई ॥५१॥

श्रीकृष्ण भी "अपनी जाति की रीति भाँति के अनुसार नमती हुई सी उस कामधेनु को" सहसा शान्ति एवं सम्भ्रमपूर्वक हाथ जोड़कर बोले कि—माताजी ! कैसे पधारीं ? ॥५२॥

तदनन्तर आशीर्वाद देने की इच्छा वाली भी वह कामधेनु आवेग के कारण, अर्थात् हड़बड़ाहट से उन आशीर्वादों को न प्रगट कर बोली—हे भगवन् ! ये मेरे वंश वाले धन्य हैं, जो कि आपकी सेवा करने के लिए, गोभाव को प्राप्तकर भूतल पर आगये । किन्तु मैं तो ऐसी पुण्यात्मा नहीं हूँ, क्योंकि मैं तुम्हारी दृष्टिगोचर भी न हो पाई ॥५३॥

अथवा आप नित्य ही दैत्यों को मारने वाले एवं सब लोकों के एकमात्र पालक हो । हम भी लोकों के बीच में ही रहते हैं, अतः स्वतः ही आप हमारे भी नाथ (रक्षक) हो ॥५४॥

अतः मैं थोड़ी सी यह प्रार्थना करती हूँ कि—महाभारत में जो गोसूक्त हैं, वह यह कहता है कि, गोमात्र सब देवताओं की एवं समस्त उत्सवों की आश्रयस्वरूप हैं । अतः आप ब्रह्मा आदि देवों के संबंध में गवेन्द्रपद को प्राप्त करो ॥५५॥

और वह गवेन्द्रता भी हमारे हित के लिए ही स्वीकार करो । आपका तो उसमें कुछ स्वार्थ नहीं है । क्योंकि ब्रह्मलोक पर्यन्त का जो पालन करना है, वह आपका कौन सा भारी ऐश्वर्य है ? अर्थात् यह तो आपका सामान्य ऐश्वर्य है, क्योंकि आपका गोलोक सम्बन्धी वैभव तो अपने सामने वैकुण्ठ को भी कुंठित करने वाला है ॥५६॥

यदि आप कहें कि गवेन्द्रमात्र बनने से मेरी सर्वेन्द्रता में हानि आजायगी, सो बात नहीं । इस विषय में यही दृष्टान्त है कि, जगत् भर को प्रकाशित करने वाले सूर्य के द्वारा, जैसे अपना धाम भी

नास्माकं केवलमिदं मतं किन्तु विधेरपि । यद्गूवेदस्य चेन्द्रस्य दुर्बुद्धेः शुद्धिभावनम् ॥५८॥
त्वत्कृपायाः परं स्थानं वयमित्येष वासवः । आशिश्रिये यदस्मांस्तद्द्वारमात्राय कल्पते ॥५९॥
यस्मान्मृग्यति तामेव मद्विधाद्भवतः कृपाम् । कूपादिव रसान्तःस्थां तर्षो घनरसस्थितिम् ॥६०॥
देवाधिदेव ! पश्येन्द्रः पश्यंस्तव पदद्वयम् । सूचयत्यभिषेकं ते नेत्रधारासहस्रतः ॥'६१॥

"अथ तत्र सचित-सङ्कोचनेन विलोचनेन गोचरितानुमतेः श्रीगोकुलपतेः प्रसाद-मासादयन्ती सुरर्षिसुरमातृसुरपतिसुरतलिभिरुपसुरप्रभृतिभिश्च साकं सुरभिः सरभसमसुरमर्दनं पुरस्कर्तुं पुरःसरतामवाप ॥६२॥

"ते हि द्रुहिणेन तावनु समनुज्ञाता द्रुतमेव विद्रुत्य निह्नुत्य च राजीवलोचनं राजीयन्तः परितः स्थिता बभूवुः; यत्र रुद्रद्रुहिणावपि तेषामग्रेसरतामवापतुः ॥६३॥

"ततश्च सुरभिरभिहितवती,—'श्रीमद्व्रजमहेन्द्रकुलचन्द्र ! भवद्भवदीयचरणानामनु-चरणतस्तावदत्रत्यानि तीर्थानि सार्थकान्येव जातानि । धेनवश्च युष्मद्विहितदुग्धधयनाद्धन्यता-मधुः ।' ॥६४॥

प्रकाशित किया जाता है, उसी तरह सर्वपालक आपके द्वारा, कहीं कहीं खण्डपालन की इच्छा भी युक्ति संगत है ॥५७॥

यह केवल हमारा ही मत नहीं है, किन्तु विधाता का भी यही मत है। क्योंकि आपके गवेन्द्र बन जाने से इस दुर्बुद्धि इन्द्र का संशोधन हो जायगा ॥५८॥

और "हम आपकी कृपा के उत्कृष्ट स्थान हैं" इस कारण से ही इस इन्द्र ने हमारा जो आश्रय लिया है, वह तो केवल द्वारमात्र के लिए कल्पित किया जाता है, क्योंकि आप गो-प्रिय हो ॥५९॥

और जैसे प्यासा प्राणी भूमि के भीतर विद्यमान जल के स्वरूप को कुएँ से ढूँढ़ लेता है, उसी प्रकार यह इन्द्र भी द्वारमात्र हम जैसों से आपकी उसी कृपा को ढूँढ़ रहा है ॥६०॥

हे देवाधिदेव ! देखो तो सही । यह इन्द्र आपके दोनों चरणों को देखता हुआ अपने नेत्रों की हजार जल धाराओं द्वारा आपके अभिषेक को सूचित कर रहा है ॥६१॥

पश्चात् वहाँ पर संकोचयुक्त नेत्र के द्वारा अनुमति देने वाले श्रीकृष्ण की कृपा को प्राप्त करती हुई कामधेनु, नारदादि देवर्षि, अदिति आदि देवमाता, देवराज इन्द्र, वरुण आदि देवगण, एवं गन्धर्व आदि उपदेवगणों के साथ वेगपूर्वक, असुरमर्दक श्रीकृष्ण को अभिषेक के द्वारा पुरस्कृत (पूजित) करने के लिए अग्रसर हो गई ॥६२॥

वे समस्त देवता, उपदेवता, एवं ऋषिगण, ब्रह्मा की आज्ञानुसार "सुरभि एवं इन्द्र" इन दोनों के पीछे पीछे शीघ्र ही दौड़कर, और गुप्त होकर ही कमलनयन श्रीकृष्ण को राजा बनाने की इच्छा करते हुए, चारों ओर स्थित हो गये । एवं जहाँ पर शिवजी ब्रह्माजी, ये दोनों भी उन सब के अग्रसर बन गये ॥६३॥

तदनन्तर सुरभी बोली—हे श्रीमान् व्रजराजकुलचन्द्र ! इस व्रज के श्रीयमुना आदि जितने तीर्थ हैं, वे तो आपके सहित, आपके मित्र गोप गोपियों के चरणों की सेवा से प्रायः सार्थक हो गये हैं। और आपके द्वारा दुग्धपान करने के कारण धेनुश्रेणी भी, धन्यता को धारण कर चुकी है ॥६४॥

"ततश्च स्वर्गस्थिततीर्थवरस्य गङ्गानिर्झरस्य तथात्मीयस्याप्यूधोभरस्य त्वदाराधनया व्यर्थताबाधाय पयः समाहर्तुं भवन्तं विधिमर्थयामहे। अथवा यथाऽऽदिश्यते, तथावश्यं प्रथयामः ॥६५॥

"कृष्णः सस्मितमुवाच,—'यथेष्टमनुष्ठीयताम् ।' ॥६६॥

"अथाभ्रवाहन-भ्रू भ्रमणतः ससम्भ्रममभ्रमातङ्गः स्वःसङ्गतगङ्गातः समुद्दण्डित-शुण्डादण्डेनाम्भः-सम्भृतान्निधिकुम्भान् निर्विलम्बमेव मुहुरपि लम्भयामास। सुरभिरपि सुरभिपयसा सुरपति-सरसीमुपगिरिं विभराञ्चकार ॥६७॥

"ततश्च, वाद्यस्पृग्गीतनृत्यैरुपसुरसदसां स्तोत्रमन्त्रैर्ऋषीणां
हर्षान्दोलातिकोलाहलजयनिनदैर्ब्रह्मरुद्रादिकानाम् ।
उत्सर्पद्भक्तिरिन्द्रः सह हरिदधिपैस्तद्गणैश्चाभ्यषिञ्चत्
कृष्णं येनैव सर्वेऽप्यहह सुखसुधासिक्तरूपा बभूवुः ॥६८॥
अदितिर्मातृकृत्यानि स्वसृकृत्यानि पार्वती ।
गरुत्मान् भृत्यकृत्यानि चाहृत्यात्र मुदं ययौ ॥६९॥

"तदेवं यदा निर्णिक्ततया देवगणस्तमसिक्त, तदा,—

"कीर्तिर्याता दिगन्तं परिमलवलनाप्यभ्रमीद्भूमिगोलं
मङ्गल्यध्वानधारादिगनुगकरिणां प्राविशत् कर्ण-गर्तम् ।

इसलिए स्वर्गस्थित तीर्थश्रेष्ठ श्रीगंगा के झरने की, एवं अपनी ऐनरी के भार की, अर्थात् अपने स्तनों के भार की जो व्यर्थता है, उसको आपकी आराधना के द्वारा दूर करने के लिए, गंगाजल एवं दुग्ध को लाने को हम आपकी आज्ञा की प्रार्थना करते हैं। अथवा आप जैसी आज्ञा दें, अवश्य वैसे ही पालन करें ॥६५॥

श्रीकृष्ण मुस्क्याते हुए बोले—जैसी इच्छा, वैसे ही करो ॥६६॥

तदनन्तर इन्द्र के भ्रू भंग (इशारा) मात्र से ऐरावत हाथी, स्वर्गस्थ गंगा से वेगपूर्वक अपने सुण्डा-दण्ड के द्वारा, जल से भरे हुए रत्ननिर्मित कलशों को शीघ्रतापूर्वक बारंबार लाने लगा। और कामधेनु भी अपने सुगंधित दुग्ध के द्वारा गिरिराज के निकट इन्द्र सरोवर को भरने लग गई ॥६७॥

तदनन्तर गन्धर्व आदि सभासद्गणों के बाजे से युक्त गीत नृत्य के द्वारा, ऋषिगणों के स्तुति परक मन्त्रों के द्वारा, ब्रह्मा और रुद्र आदि प्रधान प्रधान देवताओं के हर्ष से आंदोलित अत्यन्त कोलाहल से पूर्ण जय जय की ध्वनियों के द्वारा, इन्द्र प्रबलभक्ति से युक्त होकर, दिक्पालगण एवं उनके गणों के सहित, श्रीकृष्ण का अभिषेक करने लग गया। अहह! कैसे आनन्द का विषय है कि, जिस अभिषेक के द्वारा सभी जन सुखमयी सुधा से प्रायः अभिषिक्त से हो गये ॥६८॥

और इस अभिषेक में अदिति माता के कार्यों को, पार्वती भगिनी के कार्यों को, एवं गरुड़जी सेवक के कार्यों को सम्पन्न कर हर्षित होगये ॥६९॥

इस प्रकार देवगणों ने विशुद्धतापूर्वक जब श्रीकृष्ण का अभिषेक किया, तब श्रीकृष्ण की कीर्ति दिग्-दिगन्त में चली गई। सुगन्धित द्रव्यों के संसर्गवाले उनके श्रीअंग की सुगन्ध भी भूमण्डल में घूम गई,

इत्थं सर्वत्र हर्षप्रसरभरवरप्रावृषा प्राणिजातेः
शाते जातेऽपि कंसः सरटपटलराट्-चेष्टया वेष्टयते स्म ॥७०॥

"तदेवं स व्रजेन्द्रनन्दनः सर्वदिग्गतान् यदा दिग्ये, तदा तु—

यावद्विष्णुपदं विभाति परमव्योमादि तावत्यपि
श्रीगोलोकपदं प्रशस्तिमयते लक्ष्मीपरार्धास्पदम् ।
तत्रापीन्द्रतया विभासि नितरां गोविन्दनाम्ना यथा
तेन त्वं जगदङ्ग तद्वदवतादित्यूचिरे ते समम् ॥७१॥

आकाशकुसुमैः सार्धमाकाशवचनं तदा ।
गोविन्द इति यद्वित्तं ततः किमिव साद्भुतम् ? ॥७२॥

इन्द्रश्छत्रं विवस्वान् बहुविधमधुरालंकृतीनां कदम्बं
ब्रह्मा लीलाब्जमीशः स्वरचितमुरलीं माधवाय व्यतानीत् ।
अन्यं च स्व-स्वमर्थं त्रिदशपति-ततिर्यत् पुनः सर्वमेषां
पूर्वं चापूर्वमासीदभवदथ तदङ्गावृतीज्यासु पूज्यम् ॥७३॥

"तदेवं स्थिते,—

राजद्राजासनमुपरिग-च्छत्रचित्रं सुरम्य-
भ्राम्यद्वालव्यजनयुगलं प्रस्फुरद्दिव्यवेशम् ।

एवं माङ्गलिक शब्दों की धारा दिग्गजों के कर्णकुहर में प्रविष्ट हो गई। इस प्रकार सर्वत्र हर्ष के विस्तार की अधिकतामयी श्रेष्ठ वर्षा के कारण, प्राणीमात्र के लिए सुख होने पर भी, कंस तो गिर्गिटगणों के राजा की सी चेष्टा से वेष्टित हो गया, अर्थात् ककँटाओं के स्वामी की तरह मस्तक हिलाने लग गया ॥७०॥

अतएव इस प्रकार वे श्रीव्रजराजकुमार जब सभी दिशाओं में विद्यमान लोगों पर दया करने लग गये या उनकी रक्षा करने लग गये, तब तो परमाकाश से लेकर जितना भी विष्णुपद या आकाश है, उतने सारे आकाश में परार्ध संख्या की सम्पत्ति का स्थानस्वरूप, श्रीगोलोकधाम ही प्रशंसा को प्राप्त होता है। हे प्यारे श्यामसुन्दर ! उस परमव्योमस्वरूप श्रीगोलोक में भी आप जैसे इन्द्ररूप से एवं गोविन्द नाम से शोभा पाते हो, वैसे ही उसी गोविन्द नाम से युक्त होकर जगत् की रक्षा करो। इस प्रकार सभी देवता एकसाथ बोलने लग गये ॥७१॥

उस समय देदीप्यमान एवं आकाश से गिरते हुए पुष्पों के सहित 'गोविन्द' इस नाम को कहती हुई आकाशवाणी जो प्रसिद्ध हो गई, इससे और अधिक आश्चर्य क्या हो सकता है ? ॥७२॥

उस समय श्रीकृष्ण के लिए इन्द्र ने छत्र दिया, सूर्य ने अनेक प्रकार के मनोहर अलंकारसमूह दिये, ब्रह्मा ने लीलाकमल दिया, एवं शंकरजी ने स्वरचित मुरली दे दी ! इसी प्रकार सुरपतिसमूह ने अन्य भी अपनी अपनी उत्तम वस्तुएँ समर्पण कर दीं। इन्द्र आदि देवताओं की ये सब वस्तुएँ पहले से ही अपूर्व थीं, देने के बाद तो वे सब वस्तुएँ श्रीकृष्ण के अङ्गदेवता एवं आवरणदेवताओं की पूजा में पूज्य हो गईं ॥७३॥

ऐसी स्थिति में जिनका राज्यसिंहासन प्रकाशमान हो रहा है, जिनके ऊपर अद्भुत मनोहर छत्र शोभा पा रहा है, एवं रमणीय दो चमर दोनों ओर ढुल रहे हैं, तथा जिनका दिव्य वेष शोभा पा रहा है,

कृष्णं दृष्ट्वा सुरपरिवृतं स्तब्धनेत्राणि दूरा-
च्चित्राणीव क्षण-कतिपयं तत्र मित्राणि तस्थुः ॥७४॥

"ततश्च कृपया स्नपितनयनारविन्देन गोविन्देन कृतमानन्दनमनु फुल्लतया पूर्वतः पुरुषु महेन्द्रादिदेवगुरुषु छत्रादिकं तरुषु सन्धाय निजहितनिबन्धाय तत्पदद्वन्द्वमेव वन्दं वन्दममन्दवाष्प निस्यन्दं निजामवज्ञास्पदतां विज्ञाप्य तमनुज्ञाप्य दूरं विन्दमानेषु लब्धविगतनिन्दमानेषु सखि-सन्दोहः शन्दोहमनुविन्दन् मन्दं मन्दमाससाद; ॥७५॥ आसद्य च,—

अद्राक्षीदहसीदवोचदलगीदाजिघ्रदप्यच्युतं
छत्राद्यं च चचाय मित्रपटली पप्रच्छ भूयश्च तम् ।
सोऽपि व्याजमिहाचचार बहुधा सा न प्रतीयाय तं
किन्तु प्रीतिभरं मिथः प्रबलयन् हासस्तदावर्धत ॥७६॥

"ततश्च, इह स्थितैः पृथगपरैस्तु भूषणै,-र्विभुः परस्परमपि तानभूषयत् ।
अमी तदा सकनकदण्डचामरैः, परिच्छदैः स्वयमपि तं सिषेविरे ॥७७॥

"तस्मिन्नथ राजन्यति सखि-वृन्दे,—

दृष्ट्वा देवतर्तिविदूरतरतस्तं सेव्यमानं सुहृ-
द्वर्गैस्तद्गुणरूपशीलतुलितैः स्वप्रत्ततत्तच्छ्रिया ।

और जो स्वयं देवताओं से घिरे हुए हैं, ऐसे श्रीकृष्ण को दूर से ही देखकर, श्रीकृष्ण के मित्र निर्निमेष नेत्रों से, कुछ क्षणों तक, वहाँ पर चित्रलिखे से खड़े रह गये ॥७४॥

तदनन्तर अपनी कृपारूप सुधा से स्नान किये हुए नयनकमलों वाले श्रीगोविन्द के द्वारा किये गये विशेष आनन्द को देखकर, पहले की अपेक्षा अधिक प्रफुल्लित हुए, एवं पहले निन्दा और मान को प्राप्त होकर, पुनः श्रीकृष्णपूजा से निन्दा और मानरहित हुए देवपूज्य इन्द्रादिक देवता, छत्र, चमर आदिकों को वृक्षों पर लटका कर, अपने अपने हित के साधन के लिए श्रीकृष्ण के दोनों चरणों को बार बार नमस्कार कर, विशेष अश्रुप्रवाहपूर्वक अपनी तुच्छता को जनाकर, उनकी आज्ञा लेकर जब दूर चले गये, तब सखाओं का समूह पूर्णसुख को प्राप्त होकर, धीरे धीरे श्रीकृष्ण के पास आ गया ॥७५॥

और आते ही श्रीकृष्ण को देखने लग गया, परस्पर हँसने लग गया, बातें करने लग गया, श्रीकृष्ण से मिलने लग गया, एवं उनको सूंघने लग गया, और छत्र आदि वस्तुओं को देखने लग गया, पश्चात् वही मित्रमण्डल श्रीकृष्ण को बार बार पूछने भी लग गया कि, यह क्या खेल था ? श्रीकृष्ण ने भी ऐश्वर्य छिपाने के लिए वहाँ पर बहुत सी बहानेबाजी की, किन्तु मित्रमण्डल ने उनकी बातों पर विश्वास नहीं किया। अपितु उस समय परस्पर अतिशय प्रीति को प्रबल करता हुआ हास्य ही वृद्धि को प्राप्त हो गया ॥७६॥

उसके बाद श्रीकृष्ण ने वहाँ पर धरे हुए दूसरे बहुत से आभूषणों के द्वारा, सखाओं को परस्पर विभूषित कर दिया। उस समय वे सखा भी, सुवर्ण दण्डयुक्त चमर, छत्र आदि उपकरणों के द्वारा, स्वयं श्रीकृष्ण की राजोचित सेवा करने लग गये ॥७७॥

पश्चात् श्रीकृष्ण और सखागण जब राजा का सा व्यवहार कर रहे थे, तब श्रीकृष्ण के समान गुण, रूप एवं स्वभाव वाले मित्रवर्ग के द्वारा सेवित श्रीकृष्ण को देखकर, और श्रीकृष्ण के द्वारा दी गई तत्तत्

तान् स्वज्ञानविलाससञ्चितफलं मेने तथा तामपि
स्वप्रेमार्जितकर्मसम्पदममंस्तान्यन्न मान्यं ततः ॥७८॥

"तदेवमारब्धेऽपि गमने स्तब्धे सति सतीपति-प्रभृतयस्तस्मिन्नभिषेकप्रभवं प्रभावान्तरं पश्यन्तः परस्परं साद्भुतमिदमुद्भावयामासुः,—॥७९॥

'यथा—कृष्णार्चारचि दैवतैः सुखमयुर्लोकाश्च गावस्तथा
पृथ्वीं दुग्धभृतां व्यधुर्बहुविधान्नद्यो रसान् सुस्रुवुः ।
वृक्षा मध्वधुरुद्दधुश्च गिरयो रत्नानि निर्वैरतां
जीवाः प्रापुरहो महत्यपचितिः पुष्यत्यकर्तृनपि ॥८०॥

'किञ्च, इन्द्रः क्रूरचरित्रमाचरितवान् यत्तेन चिन्तागमे
चित्तं कम्पमियर्ति चेद्गिरि कथं चित्तेन तद्व्यज्यताम् ।
कृष्णस्तत्र च यां कृपां बत तया चित्तं द्रवीभूतता-
मायाति स्वयमेव चेद्गिरि कथं चित्तेन सा व्यज्यताम् ?' ॥८१॥

"अथ चरमाचलं चुचुम्बिषति भानुबिम्बे विलम्बः संवृत्त इत्यविलम्बमेव गो-निकुरम्ब-संवलनया सखिभिः समं व्रजं व्रजन् व्रजराजजन्मा सम्मानयद्भिर्निर्जरव्रजैरुपर्यतुलपुष्पवर्षैरुपचर्य व्रजद्भिरनुवव्रजे ॥८२॥ यथा—

शोभा सम्पत्ति से सेवित उन मित्रों को बहुत दूर से ही देखकर, देवसमूह ने उनको अपने ज्ञान के विलास से संचित फलस्वरूप माना, तथा अपने आप दी हुई उस सम्पत्ति को अपने प्रेम के द्वारा उपार्जित कर्म सम्पत्ति है, ऐसा माना। क्योंकि श्रीकृष्ण के द्वारा दी हुई वस्तु से अधिक अन्य कोई भी वस्तु नहीं है ॥७८॥

इस प्रकार के विचित्र चरित्रों को देखकर, चलना आरम्भ करने पर भी जब चलना स्थगित हो गया, तब शंकर आदि देवता श्रीकृष्ण में अभिषेक से उत्पन्न दूसरे प्रभाव को देखते हुए, आश्चर्यपूर्वक आपस में इस प्रकार की भावना प्रगट करने लग गये—॥७९॥

यथा—देवताओं ने श्रीकृष्ण की पूजा की, सभी लोग सुखी हो गये, गोगण ने पृथ्वीको दुग्ध से परि-पूर्ण कर दिया, नदियाँ अनेक प्रकार के रसों को प्रवाहित करने लग गईं, वृक्षों ने मधुको धारण कर लिया, पर्वतों ने शिखर आदि ऊँचे स्थानों पर मणियों को धारण कर लिया, एवं सर्प-नकुल, कौआ-उल्लू, कुत्ता-बिल्ली आदि परस्पर स्वाभाविक वैर करने वाले जीव भी निर्वैर हो गये। आश्चर्य की बात तो यही है कि—महापुरुषों के प्रति की गई जो पूजा है, वह पूजा, न करने वालों को भी पुष्ट कर देती है, अर्थात् कुछ भक्तों के द्वारा की गई भी भगवत्पूजा संसार का कल्याण कर देती है ॥८०॥

किंच इन्द्र ने जो क्रूरकर्म किया उसके द्वारा चिन्ता के आजाने पर चित्त यदि कम्पित हो जाता है, तब उस कम्पित चित्त के द्वारा वह क्रूरकर्म वाणी पर कैसे प्रकाशित किया जा सकता है ? और श्रीकृष्ण ने उसके ऊपर जो कृपा की, हाय ! हाय ! उस कृपा के द्वारा चित्त यदि स्वयं द्रवीभूत हो जाता है, तब उस पिघले हुए चित्त के द्वारा श्रीकृष्ण की वह अहैतुकी कृपा,वाणी पर कैसे व्यक्त की जासकती है ?॥८१॥

तदनन्तर सूर्यबिम्ब जब अस्ताचल का चुम्बन करना चाहता था, तब बिलम्ब हो गया ऐसी भावना कर शीघ्र ही गोसमूह को एकत्रित कर, सखाओं के सहित व्रज को चलते हुए जो श्रीव्रजराजकुमार हैं,

"दिव्यातपत्रसितचामरशस्तहस्तैः, संसेव्यमानसविधः सखिभिः प्रगीतः ।
पुष्पव्रजेन विविधैर्विबुधैश्च सिक्तः, श्रीपृक्तकान्तिरजितः सदनं ससाद ॥८३॥
निशमितमकरोन्निशामितं च, द्युजनि-विभूषणभूषणाङ्गमेतम् ।
व्रजनृपतिमुखव्रजः समन्ता,-दजनि च सात्त्विकराजिराजिमूर्तिः ॥८४॥

"यत्तु निशम्य रम्यचेता रामः सानुक्रोशं क्रोशमात्रमुपव्रज्य निजावरजविजयं पश्यन् सुखवश्यमनास्तमालिङ्ग्य मूर्धानमाशिङ्घ्य क्षणकतिपयमुपविश्य वचनचातुरीभिस्तत्प्रसङ्गं सङ्गतवान् । ततश्च निजानुजेन पूर्वमेव स्वकृते निर्दिश्य रक्षितैर्दिव्येष्वपि दिव्यतालक्षितैरनल्पैराकल्पैः सोऽयमग्रजः स्वकरेण विराजयामासे । ततश्च स्वानुजं गुरुजनानामग्रतस्तादृशतया प्रयातुं सङ्कोचमरोचयन् सोऽयमग्रजः शनैः शनैरनैषीत् ॥८५॥

"अथ तस्मिन् दिने तु गोसन्दोहदोहनिबन्धनं तदनुबन्धिजनान् सन्धाय स्वयं तु तत्तदुदन्तानुसन्धानाय धेनुसन्निधान एव सानन्दं नन्दराजः सन्निधाय वन्दमानं सरामसखिवृन्दं गोविन्दं पुरस्ताद्विधाय सममेव बन्धुभिः सममासनमासज्जन्नासामास ॥८६॥

उनके ऊपर अतुल पुष्पों की वर्षा से उनको पूजा करके, एवं सम्मान करके चलता हुआ देवसमूह, उनका अनुगमन करने लग गया—८२॥

यथा—दिव्य छत्र एवं श्वेत चमर से जिनके हाथ सुशोभित हैं, ऐसे सखाओं से जिनके दोनों बगल का स्थान सेवित है, एवं सखाओं के द्वारा ही जिनकी कीर्ति का चलते चलते गायन हो रहा है, तथा अनेक प्रकार के देवताओं के द्वारा बखेरे गये पुष्पसमूह से जो अभिषिक्त होते जारहे हैं, और जिनकी कान्ति शोभा से संयुक्त है, वे श्रीकृष्ण अपने घर पहुँच गये ॥८३॥

उस समय श्रीकृष्ण के प्रत्येक अंग स्वर्गीय मनोहर आभूषणों से विभूषित हैं, इस बात को सुनकर एवं श्रीकृष्ण को साक्षात् देखकर, श्रीव्रजराज आदि सभी व्रजवासीजन चारों ओर से, स्तम्भ, स्वेद, रोमांच आदि सात्त्विक प्रेम के विकारों की पंक्ति से सुशोभित शरीर वाले बन गये ॥८४॥

और जिस गोविन्दाभिषेक को सुनकर रमणीय चित्तवाले श्रीबलरामजी तो अनुकम्पापूर्वक एक कोस तक श्रीकृष्ण के अगवानी जाकर, अपने छोटे भाई की विजय को देखकर, सुख से परिपूर्ण मनवाले होकर, श्रीकृष्ण को आलिंगन कर, एवं उनके मस्तक को सूंघकर, कुछ क्षणों तक मार्ग में ही बैठकर, अपनी वचन चातुरी के द्वारा, उस प्रसंग को जान गये । तदनन्तर श्रीकृष्ण ने अपने हाथों से पहनाये हुए बहुत से आभूषणों द्वारा अपने बड़े भाई श्रीबलदेवजी को सुशोभित कर दिया । वे आभूषण पहले से श्रीबलदेवजी का निर्देश करके ही रख छोड़े थे, एवं दिव्य आभूषणों की अपेक्षा भी विशेष दिव्यता से लक्षित थे । पश्चात् श्रीबलदेवजी माता पिता आदि गुरुजनों के आगे उस प्रकार के ठाटबाट से जाने में संकुचित हुए श्रीकृष्ण के संकोच को छुड़ाते हुए उनको धीरे धीरे लिवा ले गये ॥८५॥

अनन्तर उस दिन तो गोसमूह के दोहनरूप कार्य में, गोदोहन में चतुर जनों को लगाकर, एवं स्वयं उस छत्र, चमर आदि की प्राप्ति के वृत्तान्त को जानने के लिए, धेनुगण के निकट ही आकर, और बलराम तथा सखाओं के सहित अपने को नमस्कार करते हुए गोविन्द को आगे करके, श्रीनन्दरायजी बन्धुओं के सहित एक आसन पर बैठते हुए, आनन्दपूर्वक विराजमान हो गये ॥८६॥

"तत्र चानन्तरमाचरितागतिभिः सम्यगुरीकृतश्रीरामानुजानुमतिभिः सूनृतवादिभिः श्रीदामादिभिः ससमाजाय व्रजराजाय दिव्यच्छत्राद्यर्चामत्रादिषु समर्पितेषु सन्तर्पितेषु च सर्वेषु तदप्रच्छन्नमेव स पप्रच्छ,—'कथ्यतां तथ्यं किमिदं वृत्तं वृत्तम्' इति ॥८७॥

"श्रीदामा प्राह,—'वयमपि गो-सङ्कलनाय कलितभूरिदूरतया चिरं विरम्य स्थिता न सम्यगवगम्यं तदाचराम; किन्तु सामग्रीयमेव निज-सम्यग्गीतिमावेदयति।' इति ॥८८॥

"ततो नम्रतां विन्दति श्रीगोविन्दे परस्परमवधाय 'साधु-श्रीदामन्! साध्विदमुक्तम्' इत्यभिधाय सर्व एवानर्वाचीनगोपाश्चित्रप्रतिकृतय इव द्वित्रक्षणं निर्निमेषतामवापुः ॥८९॥

"मधुमङ्गलस्तूच्चैः सहासमाह स्म,—'श्रीमन् व्रजराज! श्रूयताम्,—॥९०॥

'गौरेका गिरमातनोदथ पुमानन्यः सहस्रेक्षणो-
ऽनंसीत् कोऽपि करी सितः स्वरुदकान्याहृत्य शश्वद्ददौ।
कौचित् पञ्चचतुर्मुखाङ्कवलितौ स्तोत्रप्रथाश्चक्रतु-
स्ते चान्ये च महामहेन सिषिचुर्गोपेश! पुत्रं तव ॥'९१॥

"अथ स्वयं चात्र सर्वतश्चित्रं माङ्गलिकं कर्म निर्मातुं युक्तमिति विचार्य चित्रायमाणे कृष्णप्राणे ससमाजे व्रजराजे विष्णुपदवरिष्णुवाणीयमाविर्बभूव,—॥९२॥

और वहाँ पर पीछे पीछे आने वाले, श्रीकृष्ण की अनुमति को अच्छी प्रकार स्वीकार करने वाले, सत्य एवं प्रिय बोलने वाले श्रीदामा आदिकों ने, समाज के सहित श्रीव्रजराज के लिए जब दिव्य छत्र आदि की पूजा के सहित, वे स्वर्गीय पात्र आदि समर्पण कर दिये, और उन दिव्य वस्तुओंको पाकर जब सब सन्तुष्ट हो गये, तब उन सबके सामने ही श्रीव्रजराज ने पूछा कि—सत्य कहो, यह वृत्तान्त कैसे हुआ ? ॥८७॥

श्रीदामा बोला—हम सब तो गैयाओं को इकट्ठी करने के लिए बहुत दूर जाकर, बहुत देर तक विरत होकर खड़े रहे, अतः उस वृत्तान्त को अच्छी तरह नहीं जान सके। किन्तु यह स्वर्गीय दिव्य छत्रादि सामग्री ही अपना खासा परिचय दे रही है ॥८८॥

तदनन्तर श्रीगोविन्द जब नम्रता को प्राप्त हो रहे थे, तब परस्पर में समझकर, शाबाश! श्रीदामन्! तुमने यह ठीक कहा, इत्यादि कहकर सभी बूढ़े बड़े गोप चित्रलिखित मूर्तियों की तरह, दो तीन क्षण तक पलकरहित हो गये ॥८९॥

मधुमंगल तो हँसता हुआ ऊँचे स्वर से बोला—हे श्रीमन्! व्रजराज! सावधान होकर सुनिये—॥९०॥

मैंने तो दूर से यह देखा था कि—एक गैया तो आवाज लगा रही थी, दूसरा हजार नेत्रवाला पुरुष श्रीकृष्ण को नमस्कार कर रहा था, कोई सफेद हाथी स्वर्ग के जल को लाकर बारबार दे रहा था, एवं पाँच तथा चार मुख वाले कोई दो व्यक्ति स्तुति का विस्तार कर रहे थे, और हे गोपेश्वर! वे सब तथा अन्य बहुत से जन महामहोत्सव के साथ तुम्हारे पुत्र का अभिषेक कर रहे थे ॥९१॥

पश्चात् यहाँ पर भी सब से विचित्र माङ्गलिक कार्य स्वयं करना उचित है, इस प्रकार विचार कर, सभ्यगणों के सहित, कृष्णगतप्राण श्रीव्रजराज, जब आश्चर्ययुक्त होकर चित्रलिखे से बैठे थे, तब यह आकाशवाणी प्रगट हुई कि—॥९२॥

'यथाभ्यषिञ्चाम वयं व्रजेशितः, संसज्य गोविन्दतया सुतं तव ।
समं समस्तैः कृतमङ्गलं तथा, तं यौवराज्येन जवाद्विराजय ॥'९३॥

"अथ तदेतदमृतवर्षत इव हर्षर्धर्जिता व्रजवर्षीयांसः परस्परं विचार्य कार्यमाण-मङ्गल्यतौर्यत्रिकपौर्वापर्यतः स्वस्तिवाचनादिकमाचार्य-द्वारा समाचर्य प्रतिस्वमपि विविध-विधानदानपूर्वकं पर्व पूरयित्वा युवराजतया तं सभाजयामासुः ॥९४॥

'आगम्याथ शतं शतं व्रजमहेन्द्राणीप्रधानाङ्गनाः
प्रत्येकं मणिदीपसन्ततिकरा मङ्गल्यकोलाहलाः ।
नीराज्याभिसभाज्य रत्ननिकरैर्निर्मञ्छ्य गेहं प्रति
स्नेहं मूर्तमिवातियत्नवलिता गोविन्दमानिन्यिरे ॥९५॥

"ईदृशस्ते व्रजाधीश ! सुतः सूतसुखोत्सवः ।
यो गवेन्द्रतया गां च गां च गां च सुखाकरोत् ॥९६॥
सुभगम्भविष्णु जातं, जगदपि कृष्णाभिषेकतः पश्चात् ।
अन्धम्भावुकमासी,-द्भावुकशून्यं कुलं तु दनुजानाम् ॥"९७॥

तदेवं दिवाकथायां वृत्तायां नक्तमपि सा पूर्ववद् वृत्ता । यथा मधुकण्ठ उवाच,–॥९८॥

हे व्रजराज ! हम सब ने मिलकर जैसे तुम्हारे पुत्र को गोविन्दपद पर अभिषिक्त किया है, ठीक उसी प्रकार आप भी, सब व्रजवासियों के साथ मिलकर, माङ्गलिक भूषणों से भूषित उसी पुत्र को शीघ्र ही युवराजपद से अलंकृत कर दीजिये ॥९३॥

तदनन्तर इस प्रकार की आकाशवाणी को सुनकर, अमृत की वर्षा की तरह, हर्ष से युक्त हुए व्रज के वृद्ध गोपों ने, आपस में विचार करके, पश्चात् कराने योग्य माङ्गलिक नृत्य, गीत, वाद्य आदि के पूर्वापर भाव के कारण, पहले आचार्य के द्वारा स्वस्तिवाचन आदि कराकर, प्रत्येक ही अनेक प्रकार के विधान से दानपूर्वक महोत्सव की पूर्ति करके, श्रीकृष्ण को युवराजपद से सम्मानित कर दिया, अर्थात् युवराज बना दिया ॥९४॥

पश्चात् श्रीव्रजेश्वरी आदि प्रधान प्रधान सैंकड़ों महिलायें आकर, प्रत्येक ही मणिमय दीपकों की श्रेणी को हाथों में लेकर, माङ्गलिक कोलाहल करते करते श्रीगोविन्द की आरती करके, सम्मान करके, रत्नसमूह द्वारा न्योछावर करके, अतियत्न से युक्त होकर, श्रीगोविन्द को मूर्तिमान् स्नेह की तरह घर को लिवा लाईं ॥९५॥

कथक्कड़ महोदय श्रीव्रजराज से बोला—हे व्रजाधीश ! सुखमय महोत्सव को उत्पन्न करने वाला, तुम्हारा लाला ऐसा विचित्र है कि, जिसने गवेन्द्रपद को पाकर, गोजाति को, पृथिवी को, एवं स्वर्ग को अनुकूलतापूर्वक सुखी कर दिया ॥९६॥

श्रीकृष्ण के अभिषेक से सम्पूर्ण जगत् तो प्रथम सुन्दरता एवं सौभाग्य से युक्त हो गया । किन्तु पश्चात् भावुकता से शून्य दैत्यों का कुल तो, प्रायः अन्धा सा हो गया ॥९७॥

इस प्रकार दिन की कथा समाप्त होने पर, रात में भी वह कथा पहले की तरह हुई, यथा—मधुकण्ठ बोला—॥९८॥

"भवेदनल्पं कुत्रापि स्वल्पं कुत्रापि पोषकम् ।
यथान्नव्यंजनं लोके यथा रसरसायनम् ॥९९॥

"तस्मात् संक्षिप्तमप्येतद्विस्तरवदेव मन्तव्यम् । तथा हि—तस्मिन् महसि नीरन्ध्र-पुरन्ध्रीभिः सममासामपि समागमनं वृत्तम्, यत्रोपकण्ठगतानामप्यमूषां वस्त्रावगुण्ठितानि नेत्राण्यतीवोत्कण्ठितानि जातानि ॥१००॥

"तस्मिंश्च तस्य विवाहसमतावहे महामहे मनसीदमसीममाभिर्विभावितम्,—॥१०१॥

'केयं जगत्यहह राजति गोपकन्या, धन्या यया तु करपीडनमस्य गन्ता ।
हा योग्यतामपि विधाय विधिः समस्ता,-मस्तं निनाय बत नस्तममुं धिगस्तु ॥१०२॥

'भवतु, तदपि किन्त्विदमतीवाऽन्याय्यम्,—
'कुलीना रूपिण्यः परमगुणशीलाः प्रणयिता-
भृदुत्कण्ठाकण्ठागततुलितजीवा बत वयम् ।
न तावद्वंशी तत्तदनुगुणतामञ्चति जडा
तथाप्येषा हा धिक्कलितहरिसङ्गा न तु वयम् ॥'१०३॥

थोड़ी सी भी कथा महान् पुष्टिकारक होती है । उसको दृष्टान्त से समझो, जैसे लोक में अन्न व्यंजन कहीं पर अधिक मात्रा वाला, एवं कहीं पर थोड़ी मात्रा वाला भी पुष्टिकारक हो सकता है, और रसमय रसायन (औषधविशेष) तो जैसे थोड़ा सा भी पुष्टिकारक हो सकता है ॥९९॥

इसलिए संक्षिप्त होने पर भी, इस कथाप्रसङ्ग को विस्तार वाला ही मानना चाहिये । देखो ! श्रीकृष्ण के युवराजपद सम्बन्धी महोत्सव में ठसाठस भरी हुई, पुत्र एवं कन्यावाली कुलाङ्गनाओं के साथ, इन श्रीराधा आदि गोपियों का भी आना हुआ था । और जहाँ पर निकटवर्तिनी होने पर भी, इन गोपियों के वस्त्रों से ढ़के हुए नेत्र अत्यन्त उत्कण्ठित हो गये थे ॥१००॥

और श्रीकृष्ण के विवाह की समतावाले उस महोत्सव में इन गोपियों ने, अपने अपने मन में इस प्रकार की असीम भावना प्रगट की थी कि— ॥१०१॥

हाय ! हाय ! जगत् में ऐसी कौनसी गोपकन्या धन्या होकर विराजमान है, जिसको कि श्रीकृष्ण का पाणिग्रहण संस्कार प्राप्त होगा ? हाय ! खेद की बात तो यह है कि, विधाता ने जाति, कुल, रूप आदि से हमारी सारी योग्यता को बनाकर भी, हमारे सम्बन्ध में श्रीकृष्ण को अदृश्य कर दिया । अतः उस विधाता को धिक्कार है ॥१०२॥

अच्छा, वह पाणिग्रहण संस्कार भी जिस भाग्यशालिनी के साथ होना है हो जाय, किन्तु यह बड़ा भारी अन्याय है कि—हम सब कुलीन हैं, मनोहर रूपवाली हैं, अच्छे गुण, स्वभाववाली हैं, एवं प्रेमभरी उत्कण्ठा के कारण हमारे प्राण मानो गले में आरहे हैं । और यह जड़ वंशी तो पूर्वोक्त प्रकार की अनुकूलता को भी प्राप्त नहीं है । हा ! धिक् ! तो भी यह सौत वंशी, श्रीहरि के संग को पा गई, किन्तु हम न पा सकीं ॥१०३॥

'केव सेयं वराकी केवलमुखचूषणसुखा; यतः,—
'आलिङ्ग्य कण्ठमुरसि प्रतिपद्य कान्ति, माले ! कटं प्रकटमेव सदा दधासि ।
न श्रीहरिर्न भवती न तु वा जनोऽयं, सङ्कोचलेशमयते त्वमतोऽसि धन्या ॥'१०४॥

"तदेवं मनसि वदन्तीषु,—

"पूर्णां दृष्टिं विधिवशतया काचिदाप्नोन्मुरारे-
रर्धं काचिद् व्रजजनगता काचिदस्यास्त्रिभागम् ।
काचित् किञ्चिन्न च तदखिलं तुल्यतामेव दध्रे
सर्वासां यन्मनसि चक्लृपे हन्त तापाय तत्तत् ॥१०५॥

"अथ तस्यामेव निशायां चन्द्रशालिकायां कृतशयनेन कञ्जनयनेन तासामपराह्लेतनापाङ्गसाङ्गशरनिकरसङ्गलब्धभङ्गे हृदि समुत्थितव्यथतया जातनिशीथजागरतायामविरतायां तासु निजानिर्वृतिं विवृतीकर्तुं तामिव च तर्तुं पुरहर-कृत-वितर-नव-मुरलीकलः खुरलीभिः कलयामासे ॥१०६॥

"तदा केदाररागस्तु प्राप केदारतां निशि ।
गोपीभिर्वासना-बीजमुप्तं यत्रांकुरायितम् ॥१०७॥

यह बिचारी वंशी कौन सी है ? यह तो केवल मुख के चूसने से ही सुख पाती है । क्योंकि धन्य तो यह वनमाला है ऐसे बोलीं, यथा—हे वनमाले ! तू श्रीकृष्ण के कण्ठ को आलिङ्गन कर, उनके वक्षःस्थल पर शोभा को पाकर, उनके कटिप्रदेश को प्रगटरूप से ही सदा धारण करती रहती है । इतने पर भी श्रीकृष्ण एवं तू और ये देखने वाले सब जन, संकोच के लेश को भी नहीं प्राप्त कर पाते, अतः तू ही धन्य है ॥१०४॥

इस प्रकार श्रीराधा आदि गोपियाँ अपने अपने मन में जब बोल रही थीं, तभी दैवयोग से किसी गोपी ने श्रीकृष्ण की पूर्ण दृष्टि प्राप्त कर ली, किसी ने आधी दृष्टि प्राप्त की, एवं व्रजवासियों की भीड़ में खड़ी हुई किसी ने दृष्टि का तीसरा भाग प्राप्त किया, तथा किसी गोपी ने तो इस समस्त विषय में कुछ भी नहीं प्राप्त किया, केवल तुल्यता को ही धारण किया । किन्तु सभी गोपियों के मन में जो जो संकल्प हुए, अहह ! वे सब सन्ताप के लिए ही हुए ॥१०५॥

तदनन्तर उसी रात में अटारी में सोने वाले कमलनयन श्रीकृष्ण ने, उन राधा आदि गोपियों के सायंकालीन कटाक्षरूप सम्पूर्ण बाणसमूह के संग से, अस्वस्थतायुक्त अपने मन में उत्पन्न हुई पीड़ा के कारण, निरन्तर आधी रात तक जागने पर, उन गोपियों के प्रति अपने मानसिक दुःख को प्रगट करने के लिए, और मानो उसी दुःखसमुद्र को तरने के लिए, शिवजी की दी हुई नवीन मुरली की मनोहर ध्वनि अभ्यास परम्परापूर्वक आरम्भ कर दी ॥१०६॥

उस समय रात्रि में गाया गया केदारराग तो साक्षात् केदाररूप (खेतरूप) ही बन गया था, क्योंकि जिस केदाररागरूप खेत में गोपियों के द्वारा बोया गया वासनारूपी बीज अंकुरित हो गया ॥१०७॥

"तत्र च—'तू'कारः खलु माथुरेषु परित'स्त्व'ङ्कारभाषा मता
सोऽयं वैणवगानतः प्रतिपदं प्रायः परामृश्यते ।
प्रत्येकं युगपत् प्रियां निशमयन् कृष्णो यदा तं जगौ
मत्वा स्वं प्रति तत् प्रतिस्वमपि ताः सर्वा विमूर्च्छां ययुः ॥१०८॥

"किञ्च,—आनुषङ्गिकतयापि स गाना,-दास्वधाद् यदविदुस्तदमूश्च ।
उद्दिदेश पुरु यां बत सा तु, स्वं च सम्प्रति विवेद न राधा ॥"१०९॥

तदेवमल्पसमयमयमपि कल्पचयमयमिव कल्पयित्वा कथकः समापयन् कथनं श्लथयामास,—॥११०॥

"सोऽयं ते रमणो राधे ! लब्धः कृच्छ्रेण यस्त्वया ।
त्वद्विनाभावतः सौख्यं यश्च कुत्रापि नाप्तवान् ॥"१११॥

तदेवं संक्षेपेणापि कथिते प्रथिते मुहूर्त-द्वयं मूर्तवदेव ताश्च ते च तूष्णीम्भावमासेदुः, पुनश्च यथायथमावासं समासेदुः ॥११२॥

॥ इति श्रीश्रीगोपालचम्पूमनु जम्भभेदि-सुरेन्द्रता-स्तम्भन-नगेन्द्रधर-
गवेन्द्रतालम्भनं नामैकोनविंशं पूरणम् ॥१९॥

और उसमें भी मथुरामण्डल निवासी लोगों में त्वंकार की जगह प्रायः 'तू'कार का प्रयोग माना गया है, अर्थात् 'तुम' बोलने की जगह प्रायः 'तू' कहकर बोलते हैं। अतः वही 'तू' कार वेणु के गान से प्रायः पद पद पर विचारा जाता है। प्रत्येक प्रिया को एकसाथ सुनाते हुए श्रीकृष्ण जब उस तूकार को मुरली में गाने लगे, तब वे प्रत्येक गोपियाँ उस तूकार के गायन को अपने अपने प्रति मानकर सभी मूर्च्छित हो गईं ॥१०८॥

किंच श्रीकृष्ण ने गौणरूप से वंशी के तूकारमय गायन के द्वारा, इन गोपियों में जिस अनुराग को धारण किया, भावभरी उन गोपियों ने भी, उसको जान लिया। और हर्ष की बात तो यह है कि, श्रीकृष्ण ने वंशी में जिसका मुख्यरूप से अधिक उद्देश्य किया था, वह भावमयी श्रीराधिका तो सम्प्रति भाव में विभोर होकर अपने को भी भूल गई ॥१०९॥

अतएव इस प्रकार थोड़े से समय को भी, कल्प कल्पान्तर के समान मानकर, कथा समाप्त करते करते कथावाचक ने कहना शिथिल कर दिया— ॥११०॥

हे राधिके ! देखो, ये तुम्हारे वे ही राधारमण हैं, जो कि तुमने बड़े कष्ट से पाये हैं। और जो तुम्हारे बिना कहीं भी सुख न पा सके ॥१११॥

इस प्रकार संक्षेप से कही हुई भी कथा जब विस्तृत हो गई, तब चार घड़ी तक वे सब सखियाँ एवं सब सखा मूर्ति की तरह चुपचाप बैठे रहे। पश्चात् जैसे आये थे, वैसे ही अपने अपने भवन को चले गये ॥११२॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीगोपालचम्पूकाव्ये सुरेन्द्र-सुरेन्द्रपदस्तम्भन-नगेन्द्रधरगवेन्द्रपदलम्भन-
नामकं ऊनविंशं पूरणं सम्पूर्णम् ॥१९॥

अथ विंशं पूरणम्

श्रीनन्दराजस्य वरुणलोकगमनम्, गोलोकदर्शनं च

अथ प्रभातकथायां स्निग्धकण्ठ उवाच,—"तदेवमेकादशी-कथा कथिता । तां च तिथिमशिथिलतया प्रथितमनोरथां प्रतीत्य नित्यवदेव व्रजदेवः सम्यगुल्लासमुपोवास ॥१॥

"किन्तु पारणकारणमवशीर्णामेव द्वादशीमवशिष्टामवधाय बह्ववशिष्टायामपि रजन्यां विशिष्टविधिबलतः स्नानादि-कलनाय कालिन्दीं प्रविष्टवान्, प्रविश्य च यथायथमत्रस्नुः सस्नौ; स्नात्वा चान्तरेव वारिणः श्रीनारायणमेकायनतया सागमनिष्ठमुपतिष्ठमानः सुष्ठु ध्यातुमारब्धवान् । तत्र चायं जन्मत एव तन्मयतया सन्मतिरासीत् । तादृश-नन्दनलाभानन्दतस्तु तत्राप्यतिशयं विन्दति स्म । ततश्च तद्विध-ध्यानावधानतः समाधिमनवधिमापन्नवन्तं तं सर्वतः प्रचरन्तः प्रचेतसश्चराः सहसा समासाद्य सद्यः स्वीयस्वामिनिवासं प्रत्येव प्रवासयामासुः । एष निवासविशेषश्च तस्य जलस्तम्भविद्यालम्भितारम्भवान् स्वत एव भास्वान् भास्वत्-कन्याहृदस्थविवरस्याधःप्रदेशे सदेश एव रसाविवरदेशे निवेशमासीदिति । न च कृष्णप्रभवता विदित-महितानुभावस्य तस्य तथानयनं नयवतां न सम्भावनीयम् । स हि निरन्तरमिदं

बीसवाँ पूरण

श्रीनन्दजी का वरुणलोक में जाना एवं गोलोक का दर्शन

अनन्तर प्रातःकाल की कथा में स्निग्धकण्ठ वक्ता होकर बोला—इस प्रकार एकादशी के दिन बीती हुई कथा भाई मधुकण्ठ ने कही । और स्थिरतापूर्वक उस एकादशी तिथि को सर्वमनोरथ पूरण करने वाली समझ कर, श्रीव्रजराज ने नित्य की तरह बड़े उल्लासपूर्वक उपवास किया ॥१॥

किन्तु पारण की कारणभूत क्षीण प्राय द्वादशी तिथि को थोड़ीसी अवशिष्ट जानकर, बहुत सी बची हुई रात्रि में ही, विशिष्टविधि के अनुसार स्नान आदि करने के लिए, श्रीयमुना में प्रवेश किया, और प्रविष्ट होकर विधिपूर्वक निर्भय स्नान करने लग गये । स्नान करके जल के भीतर ही एकाग्रचित्त से वैदिकनिष्ठापूर्वक, श्रीनारायण की मानसिक पूजा करते करते अच्छी प्रकार ध्यान करना आरम्भ कर दिया । श्रीनारायण की उपासना में तो ये श्रीनन्दजी जन्म से ही तन्मय होने के कारण निर्मलबुद्धि थे । वैसे लोकोत्तर पुत्र की प्राप्ति के आनन्द से तो वे श्रीनारायण की उपासना में और अधिकता को प्राप्त हो गये थे । तदनन्तर उस प्रकार के ध्यान की सावधानी के कारण, असीम समाधि को प्राप्त हुए श्रीनन्दजी को, चारों ओर घूमते हुए वरुण के चर सहसा उनके पास आकर, शीघ्र ही अपने स्वामी के निवासस्थान के प्रति उठा ले गये ।

यह वरुणलोक का निवासविशेष वरुण की जलस्तम्भनी विद्या के द्वारा आरब्ध होने वाला एवं स्वतः प्रकाशमान था, तथा यमुनाजी के कालियह्रदस्थ विवर के नीचे के प्रदेश के पास में ही भूमि के बिलमय स्थान में निविष्ट था । और श्रीकृष्ण के पिता होने के नाते विख्यात एवं पूजित महानुभाव उन श्रीनन्दजी का, उस प्रकार वरुणलोक में ले जाना नीतिमानों की दृष्टि में माननीय नहीं है, सो बात नहीं ।

चिन्तयति,—'यदस्य मद्भाग्यजाततः सञ्जातस्य सुतस्य यथोत्तरप्रथमानमानतया परमप्रेम-हर्षदमुत्कर्षं शश्वदेव पश्याम' इति। ततस्तदेवासकृदेव योगमापयितुं तल्लीलायामुपयोगमायाताया योगमायाया एव समयास्त एते पूतनागमनादिवत् ॥२॥

"अथ तथावेशिनमेव व्रजेशानं यदा पाशिनः पुरतस्तदादेशाभिनिवेशिनस्ते सञ्चारितवन्तस्तदा तदाकारत एव तं निर्धारयन् पुनश्च नारायणधारणावन्तमवधारयन्नयमतिदरादराभ्यां कृतदिव्यवस्त्रादिप्रशस्तितया वरशय्यामेवाधिशाययामास ॥३॥

"स्वयं च पितृहरणासहिष्णुकृष्णागमनमनन्तरमेव मन्वानः सुदूरदृष्टिहेतुं पूर्द्वारमधितिष्ठन्नूर्ध्वमेव तिष्ठति स्म ॥४॥

"अथात्रत्यं वृत्तमनुवृत्यताम्। यदा खलु श्रीकृष्णस्य तातः कृष्णा-पाथसि तन्नाथवत्तामात्रधनानां जनानामदृश्यभामवाप, तदा दिशि दिशि कान्दिशीकास्ते जलमवगाह्य तदप्राप्तितस्तद्बाह्यं प्रदेशमागताः। आगम्य च विक्रोशन्त एव व्रजमभिगच्छन्तः कृष्णरामाग्रण्यस्तान् व्रजग्रामण्यः कलितासुखान् स्वाभिमुखानेव लेभिरे ॥५॥

"तत्र च वृत्ते श्रुतमात्रे परमदुःखपात्रे सर्वतः कृतमनोविरामौ कृष्णरामौ विक्रम्य सर्वमतिक्रम्य परमोत्कण्ठितमत्या झटिति गत्या पृथिवीमपि घट्टयन्तौ तमेव घट्टमाटतुः। तत्र

क्योंकि श्रीनन्दजी निरन्तर यही स्मरण करते रहते थे कि—मेरे भाग्यसमूह से उत्पन्न हुए इस पुत्रके परम प्रेममय हर्षप्रद उत्कर्ष को उत्तरोत्तर वृद्धि के परिमाण से युक्त निरन्तर ही देखते रहें। इसलिए श्रीनन्दजी के स्मरण के अनुसार श्रीकृष्ण के उत्तरोत्तर उत्कर्ष का सयोग प्राप्त कराने के लिए, उनकी लीला में उपयोग में आने वाली योगमाया के ही, पूतना आदि के आने की तरह ये सब आचरण या संकेत हैं ॥२॥

तदनन्तर ध्याननिमग्न हुए श्रीव्रजराज को जब वरुण के आगे उनके आज्ञाकारी दूतों ने स्थापित किया, तब श्रीव्रजराज के आकार से ही व्रजराज को निश्चय करके पुनः श्रीनारायण की धारणा (ध्यान) से युक्त जानकर, वरुणदेव ने अत्यन्त भय एवं आदर के सहित दिव्यवस्त्र आदि से सजाकर, श्रेष्ठ शय्या पर ही शयन करा दिया ॥३॥

ओर स्वयं "अपने पिता के हरण को न सहने वाले श्रीकृष्ण के आने को तदनन्तर ही मानता हुआ" बहुत दूर से देखने के कारणरूप अपने पुर के द्वार पर स्थित होकर दण्ड की तरह खड़ा हो गया ॥४॥

अब व्रज के वृत्तान्त का अनुसरण करो। जब श्रीकृष्ण के पिता यमुना जल में उनकी अधीनता मात्र को धन मानने वाले जनों को दिखाई नहीं दिये, तब तो वे सब भयभीत हो प्रत्येक दिशा में दौड़ कर, जल में गोता लगाकर भी उनको न पाने के कारण, जल के बाहर आगये। बाहर आते ही रोते एव चिल्लाते हुए व्रज की ओर चल दिये। पश्चात् कृष्ण बलराम हैं आगे आगे जिनके, ऐसे व्रज के कुछ मुखियाओं ने महादुःखी हुए उन लोगों को अपने सम्मुख ही प्राप्त किया ॥५॥

और वहाँ पर परमदुःखास्पद उस घटना के श्रवणमात्र से दुःखित हो, चारों ओर चित्त को चलाने वाले कृष्ण बलदेव, विक्रमपूर्वक सबको लाँघकर, उत्कट उत्कण्ठा से युक्त शीघ्र गति से पृथ्वी को भी चलाते हुए उसी घाट पर आगये। तथा वहाँ पर सम्पूर्णरूप से व्याकुल, अग्रज श्रीबलराम को आलिङ्गन

च कृष्णः समग्रवग्रमग्रजमालिङ्गन् रिङ्गदस्रमेवेदमश्रावयत्,—'भ्रातर्मातरमकातरतयाभिरक्ष्य सर्व एव रक्षणीयाः, यावदहं पितरमानीय सुखवितरं करवाणि, मातर्यत्रागतायां तु न कथञ्चिदपि पर्याप्तिं पर्यापयितुं शक्ष्यामि' इति ॥६॥

तदेवं कृतसंवादमात्रः पितरमानेतुं निर्मितयात्रः संहनन-बृंहित-सिंहलज्जः संहित-परिकरसज्जः पातालविवरद्वारपात्रं सरित्पात्रमनु ममज्ज ॥७॥

"अनन्तरं च व्रजेश्वरीप्रधानाः सर्व एव तत्र चरणमात्रमादधाना राममेकमवदधानाः कृष्णमनुसन्दधानाः पप्रच्छुः,—'क्व नु यातस्त्वदनुजातः ?' इति ॥८॥

स तु तां व्रजेन्द्रसुदृशं विसदृशदृशं परामृशन्नुवाच,—'मातर्न कातरतामायाहि; स तु सम्प्रत्येव जनकमादाय स्वजनसुखं जनयिष्यति' इति ॥९॥

"अथ स्व-मातरमुवाच,—'हन्त ! त्वमपि कथं मां हन्तासि ? मयि विश्वासतः श्वासमात्रावशिष्टामेतां पाहि ।' ॥१०॥

"ततश्च सर्व एवानर्वाञ्चः कालियदमन-प्रक्रमतस्तद्वचनमक्लमप्रममेव मन्वानास्तां विश्रमयामासुः ॥११॥

"किन्तु, किं स्वप्नः किमु जागरः किमथवा मूर्च्छा किमुन्मादिता
वेत्येतत् परिचेतुमापुरसकृद्बुद्धिं न तस्मिन् जनाः ।

कर अश्रु बहाते हुए श्रीकृष्ण ने यह सुनाया कि—भैयाजी ! मैं जब तक पिताजी को लाकर सुख का वितरण करूँ, तब तक आप सावधानी से माताजी की रक्षा करके सभी की रक्षा करना । माताजी यदि यहाँ आगई तब तो मैं किसी प्रकार भी न पिताजी को पा सकूँगा, एवं न किसी की रक्षा ही कर सकूँगा ॥६॥

पश्चात् श्रीकृष्ण केवल इस प्रकार वार्तालाप कर, पिताजी को लाने के लिए यात्रा कर, अपने शरीर की परिपाटी से सिंह की लज्जा को बढ़ाकर, कमर में कसी हुई फेंट से सुसज्जित होकर, पाताल विवर के द्वारयोग्य यमुनाजी के मध्य में निमग्न हो गये ॥७॥

तदनन्तर श्रीव्रजेश्वरी आदि सभी व्रजाङ्गनायें उसी घाट पर चरणमात्र धरकर, अकेले बलरामजी को देखकर, श्रीकृष्ण का अनुसन्धान करती हुई पूछने लगीं कि—तुम्हारे छोटे भाई कहाँ गये हैं ? ॥८॥

श्रीबलरामजी तो श्रीयशोदाजी को विरूपाकार वाली देखते हुए बोले—माताजी ! आप कातरता को मत प्राप्त होओ, क्योंकि श्रीकृष्ण अभी पिताजी को लेकर यहाँ आकर स्वजनों के सुखको उत्पन्न कर देंगे ॥९॥

पश्चात् अपनी माँ से बोले—हाय ! तू भी मुझ को क्यों पीटेगी ? देख, माँ ! मुझपर विश्वास कर । श्वास मात्रावशिष्ट श्रीयशोदाजी को बचा ले ॥१०॥

तदनन्तर सभी बूढ़े बड़े गोप कालियदमन के अनुसार, श्रीबलरामजी के वचन को ग्लानिरहित यथार्थ अनुभव से युक्त मानते हुए, श्रीव्रजरानी को विश्राम कराने लग गये ॥११॥

किन्तु उस समय सभी जन यह क्या स्वप्न है, अथवा जागरण ? यह मूर्च्छा है, अथवा उन्माद ? इस विषय को समझने के लिए बारंबार बुद्धि को न पा सके । किन्तु उत्कण्ठा से आवृत हृदयवाले उन

किन्तूत्कण्ठितताबगुण्ठितहृदां तेषामभूद्वागियं
हाहा श्रीव्रजराज ! हा बत हहा श्रीकृष्ण ! कुत्रासि भोः ! ॥१२॥
जनीचतुष्टयधृता प्रायुष्टचित्ता व्रजेश्वरी ।
श्वासास्तितातर्कपात्रं हाहा मात्रं जगाद सा ॥१३॥

"अथ तुङ्गाचलजलचितसुरङ्गा-प्रवेशतः प्रचेतः-सदनगतस्य तस्य व्रजलक्ष्मीदयितस्य चरितमनुपचरितमवधार्यताम् ॥१४॥

"यदा तु ते यादसाम्पतिभवनं जवतः श्रीव्रजराजमभाजयंस्तदा स च तत्र सचते स्म ॥१५

"यथा च—

स्निग्धश्यामलरुच्यपि क्रुदरुणद्योतादहृश्यं वपु-
र्ध्वान्तध्वंस्यपि तीव्रताशबलनाद्दृग्रोधनं दृग्द्वयम् ।
कोमल्यादिगुणापि रोषरभसादुग्रा तथा तस्य गोः
कल्पान्ताब्दतडिद्ध्वनि-भ्रमधरान् विस्माययन्ते स्म तान् ॥१६॥

"ततश्च बिलं बलमानः 'स खलु जम्बुकः क्व नु वर्तते' इति जल्पकल्पनया तस्मिन्नवज्ञा-वर्धनस्य श्रीमन्नन्दकुलसमर्धनस्य भृशमर्दिधिषति दृशमर्दिदिषति च तेजसि बहलकोलाहल-

---

जनों के मुख से केवल यही वाणी प्रगट हो रही थी कि—हाय ! हाय ! हे श्रीव्रजराज ! हाय ! हाय ! हाय ! हे प्यारे श्रीकृष्ण ! आप कहाँ हो ? ॥१२॥

उस समय चार जनियों के द्वारा धारण की हुई प्रायः दग्धचित्त वाली व्रजेश्वरी श्रीयशोदा, अपने श्वासों के अस्तित्व के तर्कपात्र, हा हा मात्र कह रही थीं, अर्थात् मेरे श्वास अभी हैं, इस बात को बताने वाले, हा हा कार मात्र कर रही थीं ॥१३॥

अब ऊँचे एवं अचल जल से व्याप्त सुरङ्ग में प्रवेशकर वरुणलोक में गये हुए, एवं व्रजकी लक्ष्मी-स्वरूपा श्रीराधा आदिकों के प्यारे श्रीकृष्ण के, यथार्थ चरित्र का श्रवण कर धारण करो ॥१४॥

जिस समय वरुण के दूतों ने श्रीव्रजराज को वेगपूर्वक वरुण के भवन में पहुँचाया था, उसी समय श्रीकृष्ण भी वहाँ पर सम्मिलित हो गये ॥१५॥

यथा—उस समय स्निग्ध श्यामवर्ण की कान्ति वाला भी श्रीकृष्ण का शरीर क्रोध में रक्तवर्ण के से प्रकाश के कारण, अदृश्य (देखने में भयंकर) प्रतीत हो रहा था, एवं अन्धकार को दूर करनेवाले भी उनके दोनों नेत्र तीव्रता के सम्मेलन से देखने वालों के नेत्रों की शक्ति को रोक रहे थे, और कोमलता आदि गुण से युक्त भी उनकी वाणी क्रोध के वेग से उग्र मालूम पड़ती थी। इस प्रकार श्रीकृष्ण का शरीर, नेत्र, एवं वाणी, ये तीनों मिलकर प्रलयकालीन मेघ, बिजली, तथा मेघ की गर्जन के भ्रम को धारण करने वाले वरुणलोक वासियों को विस्मत (चकित) करने लग गये। अर्थात् श्रीकृष्ण के शरीर को प्रलयकालीन मेघ के समान, उनके नेत्रों को बिजली के समान, एवं उनकी वाणी को मेघ की ध्वनि के समान मानकर सभी विस्मित हो गये ॥१६॥

पश्चात् "बिल में दुबक कर बैठे हुए गीदड़ की तरह वरुणलोकरूपी बिल में पड़ा हुआ वह नीच वरुण कहाँ है ?" इस प्रकार बोली की कल्पना द्वारा उस वरुण के ऊपर तिरस्कार बढ़ाने वाले, एवं श्रीमान् नन्दजी के कुलको बढ़ाने वाले श्रीकृष्ण के अत्यन्त बढ़ने की इच्छा वाले, तथा नेत्रों को ताड़ित

प्रवाहमवलम्बमानः स्वगलबलयितचेलतया क्ष्मामेलितभालः सर्बजलपालः शङ्कितकलिः कलिताञ्जलिर्विदूरभूगत एवाखण्डदण्डवत् प्रणनाम ॥१७॥

"तस्य चेदृशात् खर्वगर्वतावलोकनात् सर्व एव तन्नाथास्तथा प्रथाश्चक्रुः ॥१८॥

"ततश्च तरुणारुणकमललोचनः सर्वरोचनः करुणया पुरःसरतामासद्य सद्यस्तं वरुणं पप्रच्छ,—'ते तु कुत्र परमधर्मावरणा मदीयपितृचरणाः ?' इति ॥१९॥

"वरुणस्तु गलितधैर्यसञ्जनः साञ्जलितया सान्त्वं वचो व्यानञ्ज,—'पुरुषोत्तम ! यत्र खलु तत्रभवांस्तत्र परमसावसमः परममहान् सम्भवति नान्यत्र, किन्तु तेषामेषां किङ्कराणां किं करवाणि शासनमात्मनश्चेति तदनुशासनमाशासे ।' ॥२०॥

"कृष्णः सशान्तस्वान्तमाह स्म,—'वराकाणामेषां दण्डः केवलं दण्डयितुः पौरुषं खण्डयति । अविलम्बस्पर्शमेव तु दर्शयतात्तातचरणसरोजातम् ।' ॥२१॥

"अथ यथादिशन्ति दीर्णदीनादीनवास्तत्रभवन्तः इति । वारिराजः श्रीव्रजराज-विराजमानसदनपर्यन्तं पन्थानं तच्चरणमूलतः परमदुकूलानुकूलं चकार । तत्र निनाय च गोपकुलनायककुलनायकम् ॥२२॥

करने की इच्छा वाले तेज में, अधिक कोलाहल के प्रवाह का अवलम्बन करता हुआ, अपने गले में वस्त्र को लपेट कर भूमि पर मत्था टेकने वाला, कलह की शंकावाला, जलमात्र की रक्षा करने वाला, वह वरुणदेव हाथ जोड़कर बहुत दूर की भूमि में स्थित होकर ही, साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करने लग गया ॥१७॥

वरुण के इस प्रकार गर्व के ह्रास को देखकर, वरुण के द्वारा पालित सभी लोग उसी प्रकार साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करने लग गये ॥१८॥

तदनन्तर नवीन रक्तकमलदल के से नेत्रों वाले सर्वप्रिय श्रीकृष्ण, कृपापूर्वक आगे बढ़कर शीघ्र ही उस वरुण को पूछने लगे कि—भक्तिरूप परम धर्म के आचरण करनेवाले, पूज्यपाद वे हमारे पिताजी कहाँ पर हैं ? ॥१९॥

धैर्य से रहित हुआ वरुण तो हाथ जोड़कर अत्यन्त मधुर वचन बोला—हे पुरुषोत्तम ! सर्वपूजनीय आप निश्चितरूप से जहाँ विराजते हैं, वहाँ पर निवास करनेवाला साधारणजन भी सर्वोत्कृष्ट एवं परम महान् हो सकता है, दूसरे स्थान पर नहीं। फिर आपके नित्यपिता के महत्त्व को कौन कह सकता है ? किन्तु आपके पिता को उठाकर लाने वाले इन सेवकों को कौनसा दण्ड विधान करूँ ? और अपने लिए कौनसा दण्ड निश्चित करूँ ? अतः इस विषय में उस दण्ड के अनुशासन को आपके द्वारा ही चाहता हूँ ॥२०॥

श्रीकृष्ण शान्तियुक्त मन से बोले—इन बिचारे अज्ञानियों को दण्ड देना केवल दण्ड देने वाले के भी पुरुषार्थ को खण्डित कर देता है। अतः तुम शीघ्रतापूर्वक हमारे पूज्य पिताजी के चरणकमलों का दर्शन कराओ ॥२१॥

पश्चात् वरुण बोला—हे दीनजनों के दुःख, दोष, दारिद्र्य दूर करनेवाले ! परमपूज्य प्रभो ! आपकी जैसी आज्ञा। इस प्रकार कहकर जलपति वरुण ने श्रीकृष्ण के चरणमूल से लेकर, श्रीव्रजराज से विराज-मान भवन पर्यन्त, सम्पूर्ण मार्ग को श्रेष्ठ श्रेष्ठ रेशमी दुपट्टाओं से आच्छादित (ढका हुआ) करवाकर, अनुकूल बना दिया। और गोपकुल के नायकसमूह के नायक श्रीकृष्ण को वहाँ पर लिवा ले गया ॥२२॥

"उवाच च, (भा० १०।२८।८)—

'गोविन्द ! नीयतामेष पिता ते पितृवत्सल' इति ॥२३॥

'इदमहं जानाम्येव, तत् कथमन्यथा चरामि, कथं वा परादस्य पराभवः स्यात्' इति भावः ॥२४॥

"तदेवं वरुणस्य पाशाद् यद्भयपात्रायमाणत्वम्, तस्मादपि स्वप्रभावेण मोचकस्य तस्य,— ॥२५॥

"उपलभ्य च सौरभ्यमलभ्यस्य सुतस्य सः ।
अभ्याययौ बहिर्वृत्ति सभ्यानां विस्मयं वहन् ॥२६॥
उन्मीलयामास विलोचने स, श्रीमन्मुखं तस्य च सन्ददर्श ।
सन्दर्शनादेव बभूव सास्रः, स्वप्नायितं चास्रवृतेरमंस्त ॥२७॥

"कृष्णस्तु तच्चरणयुगलतलस्पर्शपूर्वकं तमालिङ्गन्नुन्नमितवान्,—'तात ! सोऽहमागतोऽस्मि' इत्यधिगमितवांश्च ॥२८॥

"तत्र द्वयोरपि समग्रव्यग्रतामागच्छतोरथ हरिस्तु परितः परीतपरपरीवारपरीहासशङ्कया संकुचितचित्तस्तत्र चात्मनि च वाष्पादिविकारव्यतिरिक्ताकारतामासादयितुं व्याजहार,—'तात ! परितः समवधीयताम् ।' ॥२९॥

"अथ व्रज-सुत्रामा परितः समीक्ष्य च 'कुत्रावामागतौ' इति सवैलक्ष्यं पुत्राननमीक्षते स्म ॥३०॥

और बोला कि—हे पितृवत्सल ! गोविन्द ! ये आपके पिताजी हैं, इन्हें लिवा ले जाइये ॥२३॥

"आपके पिता हमारे भी माननीय हैं" यह मैं अच्छी प्रकार जानता हूँ, अतः अन्यथा आचरण कैसे करूँगा ? और दूसरे के द्वारा इनका तिरस्कार भी कैसे हो सकता है ? यही मेरे कहने का भाव है ॥२४॥

इस प्रकार वरुण के पाशनामक अस्त्र द्वारा जो भय उत्पन्न हुआ था, उससे भी अपने प्रभाव से मुक्त करनेवाले, अलभ्य अपने पुत्र श्रीकृष्ण के अङ्ग की सुगन्धी को पाकर, श्रीनन्दजी सभ्यजनों को विस्मित करते हुए, समाधि से विरत हो बाह्यवृत्ति को प्राप्त हो गये ॥२५-२६॥

पश्चात् श्रीनन्दजी ने अपने नेत्र खोल दिये, और श्रीकृष्ण के श्रीमुख का भली प्रकार दर्शन किया। दर्शन करते ही प्रेमाश्रुओं से युक्त हो गये, एवं अश्रुजल के आवरण के कारण उस दर्शन को स्वप्न के तुल्य ही माना ॥२७॥

श्रीकृष्ण ने उस समय उनके चरणयुगल के तले को छूकर आलिङ्गन करते करते उनको उत्थापित कर दिया। और हे पिताजी ! मैं आपका लाला श्रीकृष्ण आ गया हूँ, यह कहकर उनको सचेत किया ॥२८॥

वहाँ पर दोनों ही जब पूर्ण व्यग्रता को प्राप्त हो गये, तब श्रीकृष्ण तो चारों ओर खड़े हुए वरुण के परिवार वालों के परिहास की आशंका से चित्त में संकुचित होकर, श्रीनन्दजी में एवं अपने अश्रुप्रवाह आदि के विकार से रहित आकार को प्राप्त कराने के लिए बोले—पिताजी ! अच्छी प्रकार सावधान हो जाइये ॥२९॥

तदनन्तर श्रीव्रजेन्द्र चारों ओर देखकर, हम तुम दोनों कहाँ आ गये हैं ? इस प्रकार कहकर आश्चर्यपूर्वक लाला के मुख को देखने लग गये ॥३०॥

"स चोवाच,—'तात ! मा तन्यतामन्यथाभावः; यथाव्रजनमेव, स्वव्रजं व्रजिष्यावः । ततः पुरतश्चरणकमलमवधीयमानमाधीयताम् ।' ॥३१॥

"तत्र तु तथाकुर्वति व्याकुलताकुलकाकुपूर्वं वरुण उवाच,—

'कृपालुस्त्वमहो कृष्ण ! द्वयोरेकतरं कुरु ।
दण्डं वाथ प्रसादं वा नापराधं तु शेषय ॥'३२॥

"तदेवं कृतयात्रतया स्थितयोरपि क्षणमात्रमवस्थितयोस्तयोर्महोपचारांश्चरणाग्रतः समर्पितानाचरन् प्रणाममाचचार, चचाल च स ताभ्यां सह यावद्विवराभ्यासम् । आगम्य च तदभ्यासं तद्वर्त्मभागस्थितनीरं विभागमागमय्य ताभ्यां सह व्रजं प्रति प्रहित-जनप्रहितमहिता-लंकृतिमुखपरिवर्हसम्भृतिमुहूर्तसुखपूर्तितः कृतकृत्यम्मन्यतया नृत्यन्निव निववृते ॥३३॥

"तदा तीरस्थाना व्रजजनिजनाः प्राणरहित-
प्रभास्तद्वर्त्मेक्षास्थितशिथिलजीवस्थितिदशाः ।
पितापुत्रो तौ निर्व्यथनसदनान्निर्व्यथतया
गतौ दृष्ट्वा भूयोऽप्यहह सुखतन्द्रीमभिययुः ॥३४॥

"केवलस्तु बलदेवस्तावभिजगाम, प्रणनाम च व्रजराजम् । दत्तसुखसमाजे व्रजराजे तु तमुपगुह्य विस्मृतबाह्यतया किञ्चन चासमूह्य क्षणकतिपयं विरमति, पुनश्च रामे पुनः

श्रीकृष्ण भी बोले कि—पिताजी ! अन्य प्रकार के भाव का विस्तार न करो, अर्थात् शंका मत करो । जिस प्रकार हम दोनों आये थे, उसी प्रकार अपने व्रज में चले जायेंगे । इसलिए चरणकमलों को सावधानी से आगे की ओर रखिये ॥३१॥

वे दोनों जब चलने को उद्यत हुए, तब वरुण व्याकुलता से आकुल एवं कातरतापूर्वक बोला—हे प्रभो ! श्रीकृष्ण ! आप दयालु हैं, दो बातों में से एक अवश्य सम्पन्न करो । मुझे दण्ड दो, या मुझपर कृपा करो । किन्तु अपराध को अवशिष्ट मत रहने दो । क्योंकि दण्ड अथवा कृपा के बिना अपराध नष्ट होना असम्भव है ॥३२॥

अतएव इस प्रकार यात्रा करके क्षणभर के लिए खड़े हुए, उन पिता पुत्र दोनों के आगे, अनेक प्रकार के बड़े बड़े वस्त्र, भूषण आदि उपकरणों को अर्पण कर वरुण ने साष्टांग प्रणाम किया । और उन दोनों के साथ भूमि पर आने के बिल के निकट तक गमन भी किया । और उस बिल के पास आकर उसके मार्ग में खड़े हुए जल को इधर उधर हटाकर, उन दोनों के साथ व्रज को जाने के लिए भेजे गये सेवकजनों के ऊपर, श्रेष्ठ अलंकार आदि राजोचित सामग्री के भार को रखवाकर, दो घड़ी तक सुख से परिपूर्ण होकर, अपने को कृतार्थ मानकर, नृत्य सा करता हुआ लौट आया ॥३३॥

उस समय तीर पर बैठे हुए, प्राणरहित की सी कान्ति वाले, तथा उन दोनों के आने के मार्ग को देखने के लिए खड़ेहुए, एवं जीवनस्थिति की दशा से शिथिल हुए, व्रजवासी लोग भूमि के छिद्र में विद्यमान वरुण के घर से सुखपूर्वक आये हुए, उन दोनों पिता पुत्रों को देखकर, हाय ! हाय ! दुबारा भी सुखमयी मूर्च्छा को प्राप्त हो गये ॥३४॥

केवल एक श्रीबलदेवजी ही उन दोनों के अगवानी गये, और उन्होंने श्रीव्रजराज को प्रणाम किया । और सुखसमूह को देकर, बलरामजी को आलिङ्गन कर, बाह्यदशा को भूल जाने के कारण कुछ भी न

पुनर्ममति रामानुजः सहसा सहसा परिक्रम्य परमरम्यनिजस्पर्शामृतस्पर्शनतः प्रथमं मातरमेव कातरः पुनर्जीवलोकमालोकयामास, क्रमशस्त्वन्यमन्यमपि ॥३५॥

"समागते पितरि हरेरुभावमू, मिलन्त्यपि व्रजजनताऽमिलन्मिथः ।
तदा न सा परिबुबुधे परं परं, परन्तु तावखिलमवैत् परापरम् ॥३६॥

हम्बारावैर्जनकलकलैः स्वर्गतः पुष्पपातै-
र्वाद्यैर्नृत्यैः स्तवरवशतैरुत्थितेऽन्योऽन्यमर्दे ।
श्रीमान् रामः पशुसमुदयं वारयँल्लोकवृन्दं
श्लक्ष्णालापैरपि समुचितस्थाननिष्ठं चकार ॥३७॥

"तत्र च,—स्वयं दत्त्वा शुभ्रासनमिह महागोपपतये
यथायोग्यं चान्यान् विदधदुपविष्टानथ बलः ।
उपान्तप्रक्रान्तस्थितिमनुजमापृच्छ्य परितः
कथामेतां शृण्वन् पशुप-कुलमश्रावयदपि ॥३८॥

"तत्राथ दत्तस्वातन्त्र्यतया विप्रानामन्त्र्य परमान्नादिभिः सन्तर्प्य तदभीप्सितानि वीप्सया समर्प्य द्वादश्यतिक्रमभिया तत्प्रवणधिया 'व्रतमिदमच्छिद्रप्रथमस्तु' इति प्रार्थ्य

कहकर, कुछ क्षणों तक व्रजराज जब चुपचाप खड़े थे, तथा श्रीबलरामजी जब तक उनको बारंबार नमस्कार कर रहे थे, तब श्रीकृष्ण ने शीघ्र ही अलक्षितभाव से घूमकर, कातर होकर, परम रमणीय अपने स्पर्शामृत के संयोग से पहले अपनी माता को ही, पुनर्जीवलोक का दर्शन कराया, अर्थात् बाह्य चेष्टा का भान कराया। पश्चात् क्रमशः अन्यान्य व्रजवासियों को भी सचेतकर जीवलोक का दर्शन कराया ॥३५॥

श्रीकृष्ण के पिताजी के आ जाने पर, व्रज की जनता उन दोनों से मिलती हुई भी आपस में मिलने लग गई। उस समय वह जनता दूसरे को न समझ सकी, किन्तु सम्पूर्ण परापर को केवल "श्रीनन्द एवं श्रीकृष्ण" को ही जान गई। अर्थात् सारी जनता को प्रेमावेश के कारण श्रीनन्द एवं श्रीकृष्ण के सिवाय अपना पराया कोई भी दिखाई नही देता था ॥३६॥

उस समय गोगण के हँबारव से, जनों के कलकल शब्द से, स्वर्ग से पुष्पों के गिरने से, वाद्य से, नृत्य से, सैकड़ों प्रकार के स्तोत्रों के शब्द से, परस्पर में एक प्रकार का संघर्ष खड़ा हो जाने पर, श्रीमान् बलरामजी ने पशुसमुदाय को रोककर, मीठी मीठी बातों से सभी लोगों को यथायोग्य स्थान पर बैठा दिया ॥३७॥

और वहाँ पर श्रीबलदेवजी ने महागोपपति श्रीनन्दजी के लिए स्वयं श्वेतवर्ण का आसन देकर, अन्यजनों को भी यथायोग्य स्थान पर बैठाकर, अपने पास बैठे हुए श्रीकृष्ण से वरुणलोक की सारी कथा पूछकर, उसको स्वयं सुनकर, गोपसमूह को भी सुना दी ॥३८॥

पश्चात् उसी यमुनातट पर स्वतन्त्रता दानपूर्वक ब्राह्मणों को निमन्त्रण देकर, परमान्न (खीर) आदि पदार्थों के द्वारा उनको अच्छी प्रकार तृप्तकर, उनके अभिलषित पदार्थों को बार बार दक्षिणा के रूप में देकर, द्वादशी के अतिक्रमण के भय से, तत्परबुद्धि से "यह हमारा एकादशी का व्रत निश्छिद्ररूप से विख्यात

गीर्भिस्तदाशीर्भिस्तत्र सामर्थ्यं समर्थ्य कृतार्थम्मन्यास्ते धन्या बहुलकुतूहलतः सर्व एव व्रजमाव्रजन्ति स्म ॥३९॥

"यत्र व्रजाध्यक्षः स्वयमध्वानं व्रजन्मध्येसुतद्वयमभ्राजिष्ट ।" ॥४०॥

अथ कथकस्तामेतां कथां समापयन् श्रीव्रजेश्वरं प्रत्याह,—

"पाशिपाशेन सम्बन्धस्त्वय्यासीन्नेति का कथा ।
तद्भयेनापि नासीत्त्वत्पुत्रस्यास्य प्रभावतः ॥४१॥

तदुक्तं वरुणेनास्य करुणां वीर्यभीरुणा ।
'गोविन्द ! नीयतामेष पिता ते पितृवत्सल !' ॥" इति ॥४२॥

"अथ दिनान्तरे कृष्णमन्तरेण सभान्तरे निविष्टा गोपकुलशिष्टा व्रजपतिं प्रति तत्रत्यं चित्रं पप्रच्छुः ॥४३॥

"स च लोकपालस्य तस्य तं महोदयमैहिकलोकानामालोकपथातीतमस्तोकं श्लोकयामास; 'तत्र च मित्राणि ! चित्रं श्रूयताम्' इति तद्वासिनां कृष्णे भक्तिमतिरिक्तां वर्णयामास ॥४४॥

"तद्वर्णनानन्तरं तु निजनिजमन्तरमनु विस्मितानां तस्मिन्नीश्वरतालम्भक-सम्भावनया सर्वेषामेव सेयं भावना जाता,—'यदि चानश्वरप्रतिपत्तिवशादयमीश्वरस्तथाप्यौत्पत्तिकस्नेह-

---

हो" ऐसी प्रार्थना कर, एवं उन ब्राह्मणों की आशीर्वादरूप वाणियों के द्वारा उस व्रत की पूर्ति में सामर्थ्य का समर्थन कर, अपने को कृतार्थ मानते हुए, वे भाग्यशाली सभी गोपजन, बड़े कौतूहलपूर्वक व्रज को चले आये ॥३९॥

और जिस गोपसमूह में व्रजराज स्वयं मार्ग में चलते हुए दोनों पुत्रों के बीच में शोभा पा रहे थे ॥४०॥

तदनन्तर कथावाचक इस कथा को समाप्त करता हुआ श्रीव्रजेश्वर के प्रति बोला—हे व्रजेश्वर ! वरुण के पाश से तुम्हारे शरीर में कोई सम्बन्ध नहीं हुआ। इस बात का तो कहना ही क्या है ? क्योंकि तुम्हारे लोकोत्तर इस पुत्र के प्रभाव से तो वरुण के भय से भी सम्बन्ध नहीं हुआ ॥४१॥

अतः इसके पराक्रम से डरे हुए वरुण ने इसकी करुणा का वर्णन करते हुए कहा था कि—हे पितृ-वत्सल ! गोविन्द ! ये आपके पिताजी हैं, इन्हें आप लिवा ले जाइये ॥४२॥

तदनन्तर दूसरे दिन श्रीकृष्ण के बिना ही सभा में बैठे हुए सदाचारपरायण गोपों ने, व्रजपति के प्रति वरुणलोक में होने वाले आश्चर्य को पूछा ॥४३॥

श्रीव्रजराज ने भी उस लोकपाल वरुण के इस मृत्युलोक के लोगों के दर्शनपथातीत उस महान् उदय (उन्नति) की भूरि भूरि प्रशंसा की। और उसमें भी "हे मित्रो ! आश्चर्य की बात सुनो" यह कहकर उस वरुणलोक में रहने वालों की श्रीकृष्ण के ऊपर विशिष्ट श्रद्धाभक्ति का भी वर्णन किया ॥४४॥

उस वर्णन के अनन्तर तो अपने अपने अन्तःकरण में विस्मित हुए, सभी गोपों की श्रीकृष्ण में ईश्वरता प्रतिपादक शक्ति की सम्भावना से, यह भावना उत्पन्न हुई कि—यद्यपि ध्वंसरहित ज्ञान के कारण यह ईश्वर हो सकता है, यह बात ठीक है, तो भी, स्वाभाविक स्नेहसम्पत्ति के विषय के आश्रयस्वरूप

सम्प्रतिविषयाश्रयतामयनिरामयसुखदायीति तु सदा मुख्यञ्प्रतीतसर्वतर्ष समुत्कर्षं द्रष्टुं सुष्ठु मुहुरुल्लसत्येव नश्चेतोवृत्तिः। तच्च किमनेन निर्बाधं साधयिष्यते ?' इति ॥४५॥

"एष चाशेषाणामेषां स्वापरपर्यायज्ञातितया स्वाभेदेन विज्ञायमानानामेतदभिज्ञाय कारुण्यजातयन्त्रणया शीघ्रतापरतन्त्रतया चिन्तितवान्,—॥४६॥

'अहो ! एते च ते ते मम परमस्वजना मयि पारमैश्वर्यं पर्यालोच्य सर्वतोऽप्यसम्भवं मद्वैभवमनुभवितुमिच्छन्ति, किन्तु नानुभवन्ति, यत एव लोकपालवैभवमात्रं चमत्कारपात्रं कुर्वन्ति; तादृशं तद्वैभवं पुररेषां स्वगतिमयमेव, तत्तु तन्नयमपि यन्नानुभवन्ति, तत् खल्वविद्याकामकर्मनिर्मितोच्चावचगतिमति जगति विरचितमवतारमनु सर्वसाधारणम्मन्यतया बुद्धिबाधात एव ॥४७॥ सा चैषाम्, (भा० १०।११।५८)—

'इति नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां मुदा। कुर्वन्तो रममाणाश्च नाविन्दन् भववेदनाम् ॥'

(भा० १०।१६।१०)—'कृष्णेऽर्पितात्मसुहृदर्थकलत्रकामाः' इति; (भा० १०।६५।६) 'कृष्णे कमलपत्राक्षे संन्यस्ताखिलराधसः' इति ॥४८॥

रोगरहित सुखों को देने वाला है। इसलिए हमारे चित्त की वृत्ति तो, सब वासनाओं को दूर करने वाले श्रीकृष्ण के उत्कर्ष को देखने के लिए, सदैव अच्छी प्रकार बारबार उल्लसित होती रहती है। क्या श्रीकृष्ण निर्विघ्नतापूर्वक अपने लोकोत्तर उत्कर्ष का दर्शन हमको करायेंगे ?॥४५॥

और इधर ये श्रीकृष्ण "ये सब गोप आत्मीय एवं अनात्मीय के पर्याय के भेद से हमारी ही जाति के हैं, तथा मैं इनको अपने से अभिन्न ही समझता हूँ" इस प्रकार जानकर करुणा समूह से नियन्त्रित एवं शीघ्रता के पराधीन होकर विचार करने लगे—॥४६॥

अहह ! ये सभी लोग मेरे परम स्वकीय जन हैं, मेरे में परमेश्वरता का विचार कर, सर्वतोभाव से असम्भव, अर्थात् सर्वसाधारण के अनुभव के अगम्य, मेरे वैभव का अनुभव करना चाहते हैं। किन्तु ये अनुभव नहीं कर पा रहे हैं। इसी कारण से वरुण के साधारण वैभव मात्र को अपने चमत्कार का पात्र बना रहे हैं, अर्थात् उसीसे चमत्कृत हो रहे हैं। वैसा लोकोत्तर मेरा जो वैभव है, वह इन सब का निजगतिमय ही है। उस निजगतिमय वैभव का ये जो अनुभव नहीं कर पा रहे हैं, वह केवल इनको अपने स्वरूप का ज्ञान न होने से ही रुका हुआ है। क्योंकि अविद्या, काम, एवं कर्मों के द्वारा देवता, मनुष्य, पशु, पक्षि आदि ऊँची नीची गतियाँ उत्पन्न होती हैं। यह मायामय जगत् इस प्रकार की गतियों का आश्रयस्वरूप है। इस प्रकार के जगत् में मेरा जो अवतार प्रगट हुआ है, उसको मेरे प्रेम के वशीभूत होकर सर्वसाधारण के समान मानने के कारण इनकी बुद्धि में बाधा पड़ गई है। इन नित्यसिद्ध श्रीनन्दादि गोपों की बुद्धि में संसारी अविद्या, काम, कर्मादि द्वारा कोई बाधा उपस्थित नहीं हो सकती। इनके पक्ष में अविद्या आदि शब्दों का भावार्थ यह है, यथा—श्रीकृष्ण की लीला में अधिक आवेश के कारण अन्य वस्तुओं का अननुसन्धान ही 'अविद्या' शब्द वाच्य है। श्रीकृष्ण के सुख के लिए विचित्र मनोरथ ही 'काम' शब्द वाच्य है। श्रीकृष्ण के अनुकूल कार्य करना ही 'कर्म' शब्द वाच्य है। यही अर्थ षड्गोस्वामीगण सम्मत है। श्रीजीव गोस्वामी ने श्रीमद्भागवत १०।२८।१३, के क्रमसन्दर्भ में यही अर्थ किया है ॥४७॥

उनकी बुद्धि का दिग्दर्शन, यथा—इस प्रकार श्रीनन्दादि गोपगण हर्षपूर्वक श्रीकृष्ण बलदेव की कथा को करते हुए, उसी कथा में रमण करते हुए, सांसारिक वेदना को न प्राप्त कर सके। क्योंकि ये सब अपनी आत्मा, सुहृद, धन, कलत्र एवं सब कामनाओं को श्रीकृष्ण के ऊपर न्योछावर कर चुके थे। एवं

'तथा च, (भा० १०।१४।३५)—

'एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव ! रातेति न-
श्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन्मुह्यति ।
सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता
यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते ॥'४६॥

इत्यादिभिः प्रमितसर्वोपरिमद्वशीकारिप्रेममहिम्नां यद्यपि नाविद्यादिमयी, तथाप्येषामन्य-साधारणम्मन्यतामसहमानोऽहं मदीयप्रेम-सन्दोहमयमोहाभिलाष-लालनाजालतः सञ्जायमाना-मप्येतां तन्मयीमेव मन्ये ॥५०॥

'वस्तुतस्तु तादृशप्रेमर्णेनानादिकल्पत एवान्येभ्यः प्रत्तानवकाशामुत्तमर्णतां गतानामप्येषां मय्यर्पितसर्वार्थानां गतिरेव मम गतिस्तदनुगतमेव च मम परमं वैभवम्, न पुनरतः परमपि परं सम्भवति ॥५१॥

इन गोपों ने कमलदललोचन श्रीकृष्ण के निमित्त समस्त भोग, स्वर्ग और मोक्ष तक त्याग रखा था ॥४८॥

और देखो, ब्रह्माजी स्तुति करते हुए श्रीकृष्ण से कहते हैं कि—हे देव ! इन व्रजवासियों को इनकी सेवा के बदले में आप क्या फल देंगे ? सम्पूर्ण फलों के फलस्वरूप—आप से बढ़कर और कोई फल तो है ही नहीं, यह सोच कर मेरा चित्त मोहित हो रहा है। क्योंकि मेरा यह चित्त आप से बढ़कर कहीं भी किसी को नहीं पारहा है। आप उन व्रजवासियों को अपना स्वरूप देकर भी, उऋण नहीं हो सकते। क्योंकि आपके स्वरूप को तो वह पूतना भी अपने कुल के सगे भाई अघासुर, बकासुर आदि के साथ प्राप्त कर चुकी, जिसका केवल वेष ही साध्वी स्त्री का सा था, पर हृदय तो महान् क्रूर था। फिर जिनके घर, धन, स्वजन, प्रिय, शरीर, पुत्र, प्राण और मन सब आपके लिए ही हैं, उन व्रजवासियों को भी वही फल देकर आप कैसे उऋण हो सकते हैं ? ॥४६॥

इत्यादि भागवतीय प्रमाणों से व्रजवासियों के प्रेम की महिमा सर्वोपरि है, एवं उन्हीं का प्रेम मुझको वश में करने वाला है। हमारे विरह में इनके मन में जो बाधा उपस्थित होती है, वह यद्यपि अज्ञानमयी नहीं है, तो भी मैं इन व्रजवासियों की अन्य साधारण जनों की सी मान्यता को न सहता हुआ, मेरे प्रेम समूहमय मोह के कारण इनकी जो अभिलाषा है, उसके द्वारा मेरे लालन पालन आदि के समूह के कारण उत्पन्न हुई इस बुद्धि बाधा को अविद्यामयी ही मानता हूँ। किन्तु इनके पक्ष में वह बुद्धि बाधा अविद्या-मयी नहीं है। इसका तात्पर्य ४७ वें गद्य की टीका में खोल चुके हैं ॥५०॥

वस्तुतस्तु इन व्रजवासियों के वैसे अपूर्व प्रेमरूपी ऋण के द्वारा अनादिकल्प कल्पान्तरों से लेकर, आजतक अन्य भक्तों के लिए जिस उत्तमर्णता को मैंने अवकाश नहीं दिया, उस उत्तमर्णता को प्राप्त करने वाले, एवं मेरे लिए ही सब वस्तुओं को समर्पण करने वाले इन व्रजवासियों की जो गति है, वही मेरी भी गति है। और मेरा जो परम वैभव है, वह भी इनके ही अनुगत है। अतः इन व्रजवासियों की प्रेममयी गति से भिन्न और कोई भी श्रेष्ठ नहीं हो सकता ॥५१॥

'तदेवं जलावितुर्वैभवादपि पितुर्मम यश्चमत्कारः, स तु मां दुःखाकरोति । तस्मादेतेषां यथा मयि प्रेमावेशस्तथा नैतेषु ममेति तदनुसन्धानवता मया तदेतदेषामेव वैभवमेतेषामेव शुभानुध्यानमययोगमायानुभावतः साम्प्रतमेनाननुभावयानि ।' इति ॥५२॥

"तदेतद्विचिन्तनानन्तरं दिनान्तरे पुनरादिवराहपुराणवाचक-याचकविप्रद्वारापुरद्वारा-स्थानीस्थितिकविचित्रपित्राद्याभीरवीरपरिषदं प्रति कार्तिकवर्तिपूर्णिमास्नानमक्रूराभीष्टप्रदे ब्रह्महृदे तूर्णमेव पूर्णतत्फलतां साधयतीत्यवधारयन् सारतया धारयंस्तत्प्रातः सर्वास्तान् दायादादीनाय सत्रा तत्रागतवान् ॥५३॥

"आगत्य च सर्वेण सह तत्र निमज्य तमुत्सृज्य तीरमासज्य प्रकृतितः परतया सच्चिदानन्द-घनं परमस्वरूपरूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दतयात्मारामाणामप्यलभ्यघनं गोपानां स्वनिकेतमेतं गोलोकमावरकशक्तिमपाकृत्य व्यक्तीकृतवान् ॥५४॥

"तिरस्करणीं निराकृत्य विचित्रं दिव्यचित्रमिव यं खल्वस्य नराकृतिपरब्रह्मणः स्वलोकतया ब्रह्मणो लोक इत्याचक्षते ॥५५॥

अतएव इस प्रकार जलपति वरुण के वैभव से हमारे पिताजी को जो चमत्कार हो रहा है, वह मुझे दुःखी कर रहा है। इसलिए इन व्रजवासियों का मेरे में जैसा प्रेम का आवेश है, वैसा मेरा इन में नहीं है। इस बात का अनुसन्धान करता हुआ, यदि मैं विचार की दृष्टि से देखता हूँ तो, मेरा जो वैभव है यह सब इन्हीं का है। अतः इन व्रजवासियों के शुभ का ही चिन्तन करने वाली योगमाया के प्रभाव से, इस समय इन्हीं के वैभव को, इनको अनुभूत करा दूँ, अर्थात् दिखा दूँ ॥५२॥

इस प्रकार के विचार के अनन्तर दूसरे दिन फिर आदिवराह पुराण के वाचक याचकविप्रके द्वारा, सुशोभित पुर के द्वार पर स्थित सभा में, विराजमान पिता आदि विचित्र गोप वीरों की गोष्ठी के प्रति, कार्तिक मास की पूर्णिमा का स्नान ही अक्रूर का अभीष्ट देने वाले ब्रह्महृद में शीघ्र ही फल की परिपूर्णता को सिद्ध कर देता है, ऐसा निश्चय कर, एवं इस बात को साररूप से धारण कर, श्रीकृष्ण प्रातःकाल उन सब अपने जाति भाई आदि गोपगणों को लेकर, उन्हीं के साथ ब्रह्महृद पर (अक्रूरघाट पर) चले आये ॥५३॥

और आते ही सभी के साथ ब्रह्महृद में गोता लगा कर, उन सब को वहीं छोड़ कर तीर पर आकर, प्रकृति से परे विराजमान नित्य, ज्ञान एवं आनन्द से परिपूर्ण गोलोकधाम को प्रगट कर दिखाया। उस धाम के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, एवं शब्द आदि सभी विषय परमस्वरूप रूपवाले हैं। वह धाम आत्माराम मुनिगणों के लिए भी अलभ्य है, तथा मूर्तिमान् वह गोलोकधाम गोपों का निजी निवासस्थान है। उस लोक को देखने की सामर्थ्य सब में नहीं हो सकती। क्योंकि वह लोक भगवान् की आवरकशक्ति से आवृत है। अतः श्रीकृष्ण भगवान् ने उस आवरकशक्ति को दूर करके, उस गोलोक को प्रगट कर दिया ॥५४॥

और जिस गोलोक को नराकृतिवाले परब्रह्म इन श्रीकृष्ण का निजी लोक होने के नाते, विज्ञजन ब्रह्मलोक भी कहते हैं। नाटक में परदा हटाकर जैसे विचित्र विचित्र चित्र देखे जाते हैं; उसी प्रकार श्रीकृष्ण ने अपनी आवरकशक्तिरूप परदा हटाकर, उस गोलोक का दर्शन कराया ॥५५॥

"यत्र किल स्वेषामेव मध्यमध्यासितं निजकुलतिलक-कृष्णाकारतया परिचितं कृत-जन्मादिगोकुललीलास्तुति-श्रुतिसाक्षिकतयातिनिश्चितं तमेतं सलोकमालोकयन् व्रजलोकः सर्वशोकं व्यतीत्य विस्मयानन्दसन्दोहतः प्रतिक्षणमेव सुखसंरोहमवाप ॥५६॥

"तदेवं व्यज्य रज्यन्मनसस्तान् व्रजलोकान् गोलोकतः स दैतेयारिर्दैतेयपीडनादिक्रीडां पूरयितुं पुनर्व्यवधापितवांश्च ।" ॥५७॥

अथ कथकः समापनमाह,—

"ईदृग्व्रजेश ! पुत्रस्ते जितलोकेशलोककम् ।
यस्त्वां च तव लोकं च लोकमेतमलोकयत् ॥५८॥
अधिगोलोके गोपाः, स्वयमधिगोपेषु गोलोकः ।
इति कलयन् वनमाली, यस्तं व्यानञ्ज तं नौमि ॥"५९॥

"तदेवं प्रातःकथायां प्रयातायां विभावरीकथा विभाति स्म; यथा स्निग्धकण्ठ उवाच,–

"यदा यातः पित्रा सह वरुणलोकं हरिरसौ,
तदा राधादीनां स्थितिरिह मृषा का प्रथयिता ?
जडानां जाड्यं स्यादसुखसुखबुद्धिस्तु सुधियां,
न शून्यस्य प्राप्तिं भजति परितः कापि च दशा ॥६०॥

और जहाँ पर गोपों ने अपने बीच में बैठे हुए निजकुलतिलक, श्रीकृष्ण के आकार से परिचित श्रीकृष्ण को देखा। वेदगण मूर्तिमान् होकर जिनकी जन्मादि गोकुल सम्बन्धी लीला को गाकर स्तुति कर रहे हैं। इस से वेदगण साक्षी होकर, गोपों के प्रति श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य को निश्चित कर रहे हैं। इस प्रकार गोलोक के सहित श्रीकृष्ण को देखते हुए व्रजवासी लोग, सब शोकों को त्यागकर, विस्मय से युक्त आनन्द समूह से, प्रतिक्षण नई नई सुखोत्पत्ति को प्राप्त हो गये ॥५६॥

अतएव इस प्रकार गोलोक दिखाकर दैत्यारि श्रीकृष्ण ने, दैत्यों के पीड़न (विनाश) आदि की लीला को पूरी करने के लिए, गोलोक के देखने में अनुरक्त चित्तवाले, व्रजवासी लोगों को पुनः गोलोक से व्यवहित (दूरस्थित) कर दिया ॥५७॥

अनन्तर कथावाचक प्रसङ्ग समाप्त करता हुआ बोला—हे व्रजेश ! आप का पुत्र ऐसा लोकोत्तर है कि, जिसने आपको, आपके गोपजनों को, वरुण आदि लोकपालों के लोकों को जीतने वाले, इस गोलोक को दिखा दिया ॥५८॥

गोलोक के बीच में सब गोप रहते हैं, एवं गोपों के बीच में स्वयं गोलोक है। इस बात को दिखाते हुए जिस वनमाली भगवान् ने उस गोलोक को व्यक्त कर दिया था, मैं उसको नमस्कार करता हूँ ॥५९॥

इस प्रकार प्रातःकाल की कथा समाप्त हो जाने पर, रात्रि की कथा सुशोभित हुई। यथा—स्निग्ध-कण्ठ बोला–ये श्रीहरि पिताजी के सहित जब वरुणलोक को चले गये थे, तब श्रीराधा आदि की जो स्थिति इस व्रजमें हुई, वह प्रायः मिथ्या, अर्थात् नहीं के बराबर हुई। उसका विस्तार ही क्या हो सकता है ?क्योंकि जड़वस्तुओं का जड़तारूप धर्म ही हो सकता है, एवं चेतन बुद्धिमानों की ही यह सुख है, यह दुःख है, ऐसी बुद्धि हो सकती है। किन्तु कोई भी दशा सर्वतोभाव से शून्य की प्राप्ति को नहीं सेवन कर पाती ॥६०॥

यदाऽयासीत् कृष्णः किल वरुणलोकं पितृकृते,
तदा श्रीराधायाः श्वसितममुना सार्धमगमत् ।
यदाऽऽयासीत्तस्मादयमथ तदा तत्र सहसा,
समागादित्येषा परमिह कवीनां सुकविता ॥६१॥

"किञ्च, आयाते तु व्रजपति-सुते पाशिलोकात्तदा का-,
प्येका राधामनु तमनु च स्निग्धभावा विदग्धा ।
औत्सुक्यं तद्द्वयमनु निशि श्रावयन्ती द्विनिष्ठं,
चेतोवृत्तेर्मुखमिव तयोरञ्जसा जायते स्म ॥६२॥

"तत्र श्रीराधानिष्ठम्, तद्यथा,—
'यदि मां नयसि विधात,-र्लोकान्तरमन्तरा हरेः सेवाम् ।
नय मां तन्मुख-सुषमा,-ससुखां विरहान्न दुःखितां तस्य ॥'६३॥

"श्रीकृष्णनिष्ठं यथा,—
'आनीताः पितृचरणा, वारुणलोकात् प्रनन्दिता लोकाः ।
हा राधा मम शोकाद्,-बाधागीर्णा न जीर्णास्ति ॥'६४॥

अत्र काक्वा जीर्णास्त्येवेति सम्भाव्यते ॥६५॥

श्रीकृष्ण अपने पिता को लाने के लिए जब वरुणलोक को चले गये थे, तब श्रीराधिका का जीवन भी श्रीकृष्ण के साथ ही चला गया था। पश्चात् जब श्रीकृष्ण उस वरुणलोक से लौट आये, तब सहसा अर्थात् अतर्कितरूप से श्रीराधा का जीवन भी लौट आया था। किन्तु इस स्थान पर सुकवियों की इस प्रकार की सुकविता ही श्रेष्ठ है ॥६१॥

किंच व्रजराजकुमार जब वरुणलोक से आ गये, तब किसी स्निग्धभाव वाली सुचतुर एक वृद्धा ने श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण को लक्ष्यकर, रात्रि में दोनों के प्रति, दोनों में रहनेवाली उत्सुकता को श्रवण कराया। उस समय सुनाती हुई वह वृद्धा श्रीराधा-कृष्ण की चित्तवृत्ति की मानो मुख ही बन गई थी ॥६२॥

उन दोनों में से श्रीराधा की उत्सुकता, यथा—हे विधातः! तुम श्रीकृष्ण की सेवा के बिना मुझको दूसरे लोक में ले जा रहे हो तो, श्रीकृष्ण के श्रीमुख की परमशोभा से सुखसम्पन्न हुई ही मुझको ले चलो। किन्तु उनके विरह से दुःखित हुई मुझको मत ले चलो ॥६३॥

श्रीकृष्णनिष्ठ उत्सुकता, यथा—मैं पूज्य पिताजी को वरुणलोक से लिवा लाया, उस कार्य से अपने सभी जन आनन्दित भी कर दिये। किन्तु हाय! वह राधा मेरे शोक से बाधाओं से ग्रस्त होकर, जीर्ण नहीं हुई है क्या? ॥६४॥

इस श्लोक में काकूक्ति के द्वारा "मेरे विरह में राधा जीर्ण ही हो गई है" यही अर्थ संभावित होता है ॥६५॥

"तदेवं सा तस्यां तस्मिन्नपि रहसि निवेद्य विशेषतः श्रीकृष्णमप्युपालब्धवती; यथा—

'रागं विनास्ति हृदयं, माधव ! तव रोचते च तत्तुभ्यम् ।
इति नियतं कनकाङ्गी, पाण्डुभवति स्फुटं राधा ॥'६६॥

"ततश्च तस्य स्नेहवशाद्देहद्रवीभावं व्यवस्य पुनः प्रहस्य प्रोवाच,—

'भवान् गुणी माधव ! राधिकापि सा, येनातिदूरादपि सुष्ठु कृष्यते ।
राधापि बाढं सरसा निजालया,-दप्येवमार्द्रीक्रियते यया भवान् ॥"६७॥

मधुकण्ठ उवाच,—"केयं वृद्धा ? यतस्तत्र नान्यजनस्य प्रवेशः सम्भवतीति पूर्वं निर्णीतम् ।" ॥६८॥

स्निग्धकण्ठः सहासमाह,—"पौर्णमास्येव नानावेशेन तत्र प्रविशतीति ॥६९॥

"अथ तदारभ्य,—

"निशीथं निशीथं तदासौ प्रकर्षा,-दगासीन्मुरल्येति तथ्यं मृषा न ।
अमूस्तु प्रतीयुः स्फुटं मर्मभेदी, स वा कः शरैर्यश्छिनत्त्याशु सर्वम् ॥७०॥

निवेशे संवेशे मथि पथि जने पाथसि वने
हरिर्यद्यप्युद्यन् प्रतिहरितमेव स्फुरितवान् ।

इस प्रकार वह चतुर वृद्धा श्रीकृष्ण की उत्सुकता को राधा के प्रति, एवं श्रीराधा की उत्सुकता को श्रीकृष्ण के प्रति एकान्त में निवेदन कर, विशेष करके श्रीकृष्ण का ही उपालम्भ करने लग गई । यथा—हे माधव ! तुम्हारा हृदय अनुराग से शून्य है, अतः अनुरागशून्य हृदय ही तुम्हारे लिए रुचिकर है । इसलिए सुवर्ण के से अङ्गवाली श्रीराधा तुम्हारे विरह में स्पष्टरूप से सफेद, एवं पीली पड़ गई है । यह बात निश्चित है ॥६६॥

तदनन्तर स्नेह के कारण श्रीकृष्ण के देह के द्रवीभाव को निश्चित कर, वह वृद्धा हँसकर पुनः बोली—हे माधव ! आप बड़े गुणी (सद्गुणशाली या रज्जूधारी) हो । क्योंकि आप अति दूर से भी उस राधिका को भी, अच्छी तरह आकर्षित कर लेते हो । और वह राधिका भी अत्यन्त सरस (अनुरागवती या जलमयी) है, क्योंकि जो अपने घर में बैठकर भी, आपको इस प्रकार आर्द्र (अनुरक्त या जलसिक्त) कर रही है ॥६७॥

मधुकण्ठ बोला—यह वृद्धा कौन है ? क्योंकि वहाँ पर अन्यजन का प्रवेश तो सम्भव नहीं । यह पहले ही निर्णीत हो चुका है ॥६८॥

स्निग्धकण्ठ हास्यपूर्वक बोला—वह पौर्णमासी ही है । वही अनेक वेष से वहाँ प्रविष्ट होती रहती है ॥६९॥

तदनन्तर उसी दिन से लेकर, श्रीकृष्ण प्रतिदिन आधी रात में, मुरली के द्वारा उत्कृष्ट गायन करते थे । यह बात सत्य है, मिथ्या नहीं । और ये श्रीराधा आदि गोपियाँ भी, इस बात को स्पष्ट जान गई थीं कि, जो आधी रात में सबको शीघ्र ही बाणों के द्वारा विद्ध कर रहा है, वह मर्मभेदी व्यक्ति कौन है ? ॥७०॥

यद्यपि श्रीकृष्ण घर में, शयन में, दधिमन्थन के दण्ड में, मार्ग में, जनमात्र में, जल में, एवं वन में सभी जगह प्रगट होकर, प्रत्येक दिशा में ही स्फूर्ति पा रहे थे, तो भी श्रीराधिका की विरहजनित पीड़ा तो,

स्फुटं द्रष्टुं स्प्रष्टुं तदपि तदलब्धेर्विधुरजाद्
दधे राधाबाधा तदनधिगमादप्यधिकताम् ॥"७१॥

अथ समापनम्,—

"ईदृशस्ते पतिः श्यामे ! यत्कान्तेस्त्वं परा गतिः ।
अत्राभिलाषः शोभा वा कान्तिरित्यधिगम्यताम् ॥"७२॥

॥ इति श्रीश्रीगोपालचम्पूमनु वरुणलोकालोक-चमत्कारतिरस्कारक-
गोलोकावलोकनं नाम विंशं पूरणम् ॥२०॥

अथैकविंशं पूरणम्

वस्त्रहरण-कथा

तदानीं पुनः स्निग्धकण्ठ उवाच,—"अथ गर्गकृत-व्रजवर्गभेदमय-समयतः पश्चादुद्भूताः काश्चिदन्याश्च धन्याः प्रभूता नानाकुलप्रसूता या व्रजकुमारिकाः स्वभावतः कृष्णभावानुसारिकास्तासां कौमारपारमारभ्य वासना वर्णनीया; ॥१॥ यथा—

कुमारीणां तासामघजिति पतिः स्यादिति रुचि-
र्यदा जाता तर्हि प्रतिपदमुपायाकृतधियाम् ।

श्रीकृष्ण के दर्शन एवं स्पर्शन के अभाव से, तथा व्याकुलता से जनित दर्शन स्पर्शन की अप्राप्ति के कारण, स्पष्ट दर्शन एवं स्पर्शन करने के लिए, अधिकता को धारण कर गई थी ॥७१॥

पश्चात् प्रसङ्ग समाप्त करके स्निग्धकण्ठ बोला—हे श्यामे ! श्रीराधिके ! तुम्हारा पति ऐसा स्नेही है कि, जिसकी कान्ति (इच्छा) की तुम ही एकमात्र उत्कृष्ट गति हो। यहाँ पर अभिलाषा या शोभा को ही कान्ति कहते हैं, ऐसा समझना चाहिए ॥७२॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्ना-भाषाटीकासहिते
श्रीगोपालचम्पूकाव्ये वरुणलोकदर्शनचमत्कार-तिरस्कारक-
गोलोकदर्शनं नाम विंश पूरणं संपूर्णम् ॥२०॥

इक्कीसवाँ पूरण

वस्त्रहरण लीला

उसी रात्रि की सभा में स्निग्धकण्ठ पुनः बोला—अब श्रीगर्गमुनि के द्वारा किये गये व्रजवासियों के वर्गभेदमय समय के पश्चात्, कितनी ही बहुत सी अन्य धन्य कन्यायें उत्पन्न हुई थीं। और जो अनेक कुलों में उत्पन्न हुई व्रज की कुमारी कन्यायें, स्वभाव से ही श्रीकृष्ण के भावानुसारिणी थीं, उनकी कुमारावस्था की समाप्ति से लेकर, उत्पन्न हुई वासना वर्णन करने योग्य है। अतः उसका वर्णन करते हैं ॥१॥

यथा—उन कुमारियों की श्रीकृष्ण में "यही हमारे पति हो जायँ" इस प्रकार की रुचि जब से उत्पन्न हुई, तभी से पद पद पर उनकी प्राप्ति के उपाय में वे अकुशल ही रहीं। अतः संसार में कृष्णपक्ष की

विधुश्रीणां शश्वद् बत बहुलपक्षस्थितिजुषां
तमस्कृद्विश्वस्मिन्नहह कृशता नित्यमजनि ॥२॥

"ततश्च तदर्थमनुरहसं नानादेवतामर्थयमाना व्यर्थमिव भ्रमन्ति स्म ॥३॥

"प्रार्थना चेयम्,—

'व्रजेशित्रोः सद्मवासः परं श्वसुरतानयोः ।
कृष्ण एव पतिर्भूयान्मम जन्मनि जन्मनि ॥'४॥

"ततश्च कदाचित् कालिन्दीमनु परस्परं विन्दमाना बभूवुः ॥५॥

"युक्तं च तत्, यतः,—

"एकं पदमुद्देश्यं, भवति समन्ताद् बहूनां चेत् ।
विविधभुवामपि तेषां, मिलनं घटते यथा सतीर्थानाम् ॥६॥

"मिलितानां तासां परस्परं हार्दमपि जातम् ॥७॥ तथाहि,—

"दिशि दिशि जाताः स्निग्धा, व्यतिमिलिताः सुष्ठु बिभ्रति स्नेहम् ।
मेदुरमुदिरसमूहे, मुहुरपि यस्मात्तथा दृष्टम् ॥८॥

"तत्र जाते च सौहार्दे हार्दमपि परस्परं व्यक्तम् ॥९॥

स्थिति का सेवन करनेवाली, चन्द्रमा की कान्तियों की अन्धकार की जननी कृशता, जैसे नित्य ही उत्पन्न होती रहती है, उसी प्रकार अहह ! निरन्तर श्रीकृष्ण के पक्ष का सेवन करनेवाली, चन्द्रमा की सी शोभा-वाली उन कुमारियों की दुःखदायिनी कृशता, नित्य ही उत्पन्न होने लग गई ॥२॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण की प्राप्ति के लिए, एकान्त में अनेक देवताओं की प्रार्थना करती हुईं, कुछ काल तक व्यर्थ की तरह घूमती रहीं ॥३॥

उनकी प्रत्येक की प्रार्थना भी यह थी कि—प्रत्येक जन्म में श्रीव्रजराज एवं व्रजरानी के घर में ही मेरा निवास हो। केवल ये ही ससुर एवं सास के रूप में प्राप्त होते रहें, और श्रीकृष्ण ही प्रत्येक जन्म में मेरे पति हो जायँ ॥४॥

उसके बाद कदाचित् यमुना के तीर पर, सभी कुमारियाँ परस्पर सम्मिलित हो गईं ॥५॥

यह मिलन उचित ही है, क्योंकि अनेक स्थानों पर उत्पन्न होने वाले बहुत से व्यक्तियों का यदि एक ही प्राप्तव्य स्थान का सर्वतोभाव से उद्देश्य हो तो, उन सबका मिलन इस प्रकार संघटित हो जाता है कि, जिस प्रकार एकपठनरूप उद्देश्यवाले, एक गुरु से पढ़ने वाले, अनेक देशों के छात्रों का, एकत्र सम्मेलन हो जाता है ॥६॥

मिलने के बाद उन सब कुमारियों की परस्पर मित्रता भी हो गई ॥७॥

और देखो ! प्रत्येक दिशा में उत्पन्न होने वाले स्नेहीजन, परस्पर सम्मिलित होकर, अच्छी प्रकार स्नेह धारण करते हैं। क्योंकि उस प्रकार के स्नेह की परिपाटी स्निग्ध मेघों के समूह में बार बार देखी जाती है ॥८॥

और उन कुमारियों में सर्वतोभाव से मित्रता होने पर, उनका परस्पर हार्दिक भाव भी व्यक्त हो गया ॥९॥

"यतः, हृ तमप्येकाश्रयिणां, हृदयं व्यक्ति मिथो याति ।
तत्तु व्यतिमिलितं चे,-द्वद र्तांह स्यात् पिधानं किम् ? ॥१०॥

"ततश्च परस्परं हृद्बाष्पमुद्गीर्णवतीनां दृग्बाष्पमपि विकीर्णवतीनां तासां दशान्त-दशावशाङ्गतया सम्भाव्यमानानामनुक्षणं सुखाकांक्षिणी पारिकांक्षिणी वेशविशेषं विन्दमाना तत्र वृन्दाऽऽगता ॥११॥

"सा ह्येवं पुरा चिन्तितवती,—'राग एव खल्वासां व्रजनागरस्य तस्य समागमाय वागगोचरशक्तिभागवसीयते ॥१२॥

'रागश्च लोकरीतिमयप्रणयत एव जागरूकतया गरीयान् वरीवर्तीति देवतान्तरा-राधनमेव साधयितव्यम्, न तु तदाराधनम् ।' इति ॥१३॥

"अथाऽऽगम्य च तत्कृताभिवादनस्वकृताभिवदनविधौ लब्धविधौ साभिदधाति स्म,—॥१४

'अहमत्रैव वने वसन्ती भवतीनां भाववतीनामवस्थाः पश्यन्ती दयाविदीर्णहृदया समायातास्मि । तदियं मम सिद्धा विद्या स्वकर्णानुविद्धा विधीयताम् । नातिप्रयासभाविता च भवतीनां भविता, किन्तु मासमात्रमत्र श्रमाभासः ॥१५॥

क्योंकि एक स्थान या एकजन का आश्रय करनेवाले व्यक्तियों का गुप्त किया हुआ भी हृदय, अर्थात् हार्दिकभाव आपस में प्रगट हो जाता है। फिर यदि वह हृदय परस्पर में सम्मिलित ही हो जाय, तब ऐसी स्थिति मे उस हृदय का ढ़कना ही कौनसा हो सकता है ? ॥१०॥

तदनन्तर उन कुमारियों ने अपने अपने हृदय की वासना को आपस में उगल दिया, अर्थात् प्रगट कर दिया, अश्रुप्रवाह को बहाने लग गईं, उनके प्रत्येक अङ्ग अन्तिम दशा (मूर्च्छा या मृति) को प्राप्त होने लगे। इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रतीयमान दशावाली उन कुमारियों की भावना का अनुमान लगाकर, प्रतिक्षण उनके सुख की चाहना वाली वृन्दादेवी तपस्विनी का सा वेषविशेष बनाकर वहाँ पर चली आई ॥११॥

वृन्दादेवी ने पहले यह चिन्तन किया था कि—व्रजनागर श्रीकृष्ण के समागम के लिए इनके हृदय में उत्पन्न हुआ जो अनुराग है, वह तो वाणी की अगोचर शक्ति से युक्त है, ऐसा निश्चय होता है, अर्थात् वाणी से उसका प्रगट करना कठिन है ॥१२॥

और अनुराग भी लोकरीतिमय प्रेम से जागृत होकर ही गौरवयुक्त बना रहता है। अतः इन कुमा-रियों के लिए दूसरे देवता का आराधन ही साधन करने योग्य है, किन्तु साक्षात् श्रीकृष्ण का आराधन नहीं, क्योंकि उसमें तो ये लज्जित हो जायँगी ॥१३॥

पश्चात् आकर उन कुमारियों के द्वारा किया गया नमस्कार, एवं स्वयं किया गया आशीर्वाद आदि शिष्टाचार का विधान जब पूरा हो गया, तब वह वृन्दा बोली— ॥१४॥

हे कुमारियो ! मैं इसी वन में रहती हूँ, तुम सब भाव से युक्त हो, तुम्हारी अवस्था को देखकर मेरा हृदय दया से विदीर्ण हो गया, अतः तुम्हारे पास आई हूँ। इसलिए मेरी इस सिद्ध विद्या को तुम सब अपने अपने कर्णगोचर करो। इससे तुमको कोई परिश्रम से युक्त नहीं होना पड़ेगा, किन्तु एक मास तक इसमें परिश्रम का आभासमात्र करना पड़ेगा ॥१५॥

'सा खलु मन्त्रमयी योगमाया मया दयावती साधितास्ति' इति ॥१६॥

"तदेवं तासां कर्णविवरमनु मन्त्र-वर्णान् निधिवन्निधाय तद्विधिमपि सविधिमभिधाय मुदान्तर्हितवती सान्तर्हितवती। ततश्च तास्तदुपदेशलग्नाः परमसुखमग्ना बभूवुः ॥१७॥

"यतः, नित्यं तावदनल्परागमहिमा सर्वं सहायीयति
प्राप्नोत्येष तु योग्यकल्पमथ चेद्धत्ते सदुल्लासिताम्।
तस्मिंस्ताद‍ृगभूद् गुरुः स्वयमसौ शक्तिः परा वैष्णवी
पूज्या मन्त्रवरश्च वांछितधरस्तासामितः किं सुखम्? ॥१८॥

"अतएवामूर्विश्रभ्य मार्गशीर्षीयशीर्षायमाणतालभ्यप्रतिपदमारभ्य सङ्कल्य व्रतमारब्धवत्यः; यत्रारुणकृतारुणगुणप्रसरमवसरमनु परस्परं गृहविसरतः समाकारणापरा व्यतिबद्धकरा यमुनागमनतत्परा गानपरायणा बभूवुः; ॥१९॥

"यत्र परस्पर-परीहासप्रायतया निजाभिप्रायं व्यञ्जयामासुः ॥२०॥ यथा—

वह सिद्धविद्या भी और कुछ नहीं है, वह तो मन्त्रमयी दयावती योगमाया ही, मैंने सिद्ध कर ली है ॥१६॥

इस प्रकार कहकर उनके कर्णविवर में मन्त्र के वर्णों को निधि की तरह धरकर, विधान के अनुसार उसकी विधि को बताकर, अन्तःकरण में हित से युक्त वह वृन्दादेवी सहर्ष अन्तर्धान हो गई। पश्चात् वे कुमारियाँ भी वृन्दा के उपदेश में लगकर, परमसुख में निमग्न हो गई ॥१७॥

क्योंकि अधिक अनुराग की यही महिमा है कि, वह सभी को नित्य सहायक बनाना चाहती है, अतः वह अपने अनुकूल सहायता भी पा लेती है। फिर यदि यह अधिक अनुराग की महिमा मुख्य विधि को या योग्य उपाय को प्राप्त कर लेती है, तब तो सुन्दर उल्लास को धारण कर लेती है। अतः उस अनुराग की महिमा में किंवा श्रीकृष्ण की प्राप्ति के विषय में, वैसा वृन्दादेवीरूप अलौकिक गुरु स्वयं प्राप्त हुआ। वह वृन्दादेवी पूजनीया परावैष्णवी शक्ति ही है, उसके द्वारा दिया गया श्रेष्ठ मन्त्र भी वाञ्छा का पोषक हुआ। इसलिए उन कुमारियों को इससे अधिक और कौनसा सुख हो सकता है? (सब प्रकार की साधन सम्पत्ति होने पर भी, गुरुद्वारा मन्त्रदीक्षा से दीक्षित हुए बिना, श्रीहरि की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस परम्परा की सुरक्षा के लिए, सभी गोपकन्याओं ने श्रीवृन्दादेवी से मन्त्रदीक्षा ली, और उन्हीं के आदेशानुसार वैष्णवी-देवी कात्यायनी का अनुष्ठान कर, अपने इष्ट श्रीकृष्ण को अनायास प्राप्त कर लिया।) ॥१८॥

अतएव उन्होंने विश्वास करके, मार्गशीर्ष मास की विशिष्ट पहली प्रतिपदा तिथि से लेकर, परस्पर सम्मिलित होकर, व्रत करना आरम्भ कर दिया। जिस व्रत में सूर्य के सारथि अरुण के द्वारा किये गये अरुण गुण के विस्तार से युक्त अरुणोदय काल में, परस्पर गृहसमूह से प्रत्येक को बुलाती हुई, परस्पर हाथ में हाथ मिलाती हुई, वे कुमारियाँ श्रीयमुना तीर पर जाने को तत्पर होकर, गाने में तत्पर हो गई ॥१९॥

और जिस गाने में प्रायः परस्पर परिहासपूर्वक अपने अपने अभिप्राय को प्रगट करने लग गई ॥२०॥

'त्वामुपयन्ता सखि ! वनमाली । सकलशुभाकरवरगुणशाली ॥ध्रु॥
यत्र व्रजपतिरितरुचिरुचिताम् । वार्तां चालयिता सुखसचिताम् ॥
श्रुत्वा तत्तव मातरपितरौ । सुखमयितारौ कृतधनवितरौ ॥
हरिरपि मुदमिह हृदि गोपयिता । सखिभिर्नर्मणि यः कोपयिता ॥
गणकनिदिष्टतरे सुदिनाहे । वेशं धास्यति स निजविवाहे ॥
नीलरुचो-चितगौरदुकूलम् । घनचपलालिरुचामिव मूलम् ॥
अन्तरवसनगकंचुक-पीतम् । चित्रप्रच्छदरुचिपरिवीतम् ॥
मुकुटकिरीटतिरीट-विराजम् । अलकावलिमणिचित्रकभाजम् ॥
कुण्डलमण्डितगण्डविभागम् । ताम्बूलच्छविजिदधररागम् ॥
अधरावृतये करधृतचेलम् । ग्रैवेयकमनुकृतमणिमेलम् ॥
साङ्गदकङ्कणमुद्रिकहस्तम् । आवापकधृतिवलयितशस्तम् ॥
हारवलितहृदि धृतमणिराजम् । वनमालादिकमाल्यसमाजम् ॥
मणिमयभृङ्गलसदवलग्नम् । चरणविभूषणगणरुचिमग्नम् ॥
वेषे चास्मिन्नेतदपूर्वम् । यत्तु न दृष्टं क्वचन च पूर्वम् ॥

निज निज अभिप्राय व्यञ्जक परिहासमय गायन, यथा—हे सखि ! सकल शुभों के आकर एवं श्रेष्ठ गुणशाली वनमाली तेरे साथ विवाह करेंगे। और देख ! जिस विवाह के निमित्त में रुचि को प्राप्त हुए व्रजपति श्रीनन्दबाबा सुख से युक्त उचित बात को चलायेंगे।

तुम्हारे माँ बाप उस बात को सुनकर, सुखी होकर, धन का वितरण (दान) करेंगे। एवं श्रीकृष्ण भी इस विवाह सम्बन्ध में उत्पन्न हुए हर्ष को, हृदय में ही छिपा लेंगे। और सखागण भी जिसको हँसी हँसी में कुपित कर देंगे।

ज्योतिषी के द्वारा आदरपूर्वक बताये हुए शुभ दिन में, वे श्रीकृष्ण अपने विवाह में विवाह के योग्य वेष को धारण करेंगे। उस वेष का कतिपय विशेषणों के द्वारा वर्णन, यथा—उस विवाहोचित वेष में श्रीकृष्ण की श्यामकान्ति में मिला हुआ एक गौरवर्ण का दुपट्टा होगा, वह दुपट्टा भी बादल में चमकती हुई बिजलियों की कान्ति का मूल होगा। अर्थात् श्रीकृष्ण के श्याम अङ्ग पर हलदी से रँगा हुआ वह दुपट्टा बादल में चमकती हुई बिजली के समान शोभा पायेगा।

भीतर के वस्त्र में विद्यमान कंचुक (झँगुला) के द्वारा वह वेष पीला ही प्रतीत होगा, एवं विचित्रवर्ण के उत्तरीय से वेष्टित होगा। और मुकुट, किरीट के साथ शिरोवेष्टन (साफा, पगड़ी) विराजमान होगा, एवं वह वेष अलकावलि, मणि, और सुन्दर तिलक से युक्त होगा।

और उस वेष में श्रीकृष्ण का कपोलस्थल मणिमय कुण्डलों से मण्डित होगा, एवं ओष्ठों की लालिमा ताम्बूल की कान्ति को भी जीतने वाली होगी। तथा ओष्ठों को ढकने के लिए हाथ में एक वस्त्र, अर्थात् रुमाल होगा। गले के आभूषणों में मणियों का सम्मेलन होगा।

श्रीकृष्ण के दोनों हाथ उस वेष में बाजूबन्द, कङ्कण, एवं मुद्रिका (अँगूठी) से युक्त होंगे, एवं विवाह के योग्य मङ्गलमय हलदी से रँगे हुए हस्तसूत्र से (कङ्कणरूप पहुँची से) वेष्टित होंगे। हार से युक्त हृदय पर मणिराज कौस्तुभ विराजमान होगा, तथा वनमाला आदि मालाओं का समूह होगा।

अङ्गं भूषणमपि किल सर्वम् । सर्वाभरणं स्वयमिति गर्वम् ।।
अथ मणिशकटाधिष्ठितमेतम् । कलयिष्यन्ति सुहृद्भिरुपेतम् ।।
तं जन्यानां शकटपरीतम् । कुसुमैर्वर्षिष्यन्ति सगीतम् ।।
शकटध्वनियुतवाद्यशतेन । मुदमाप्स्यति स स्वयमपि तेन ।।
तद्ध्वनिकलने तव सखि ! वित्तम् । धृतमपि यत्नाद्भविता भित्तम् ।।
स यदा गन्ता द्वार-सदेशम् । सखि ! विजह्याः सुखमूर्च्छावेशम् ।।
तमुपव्रजिता सा तव गोष्ठी । स्त्री-ततिरपि गास्यति बिम्बोष्ठी ।।
उपयानं तद्वाद्यवितानम् । गालिप्रायं तदपि च गानम् ।।
सारात्रिक-निर्मंछनदृष्टिम् । कर्तारस्ते सकुसुमवृष्टिम् ।।
मण्डपवरमुपनीते श्यामे । सुखसम्मर्दो भविता रामे ! ।।
गोपेन्द्रादिकगणपूजामनु । नर्मकुतूहलमुदयेद् वरतनु ! ।।
पूर्वं विधिमपि कृत्वा सद्विधि । आनेष्यन्ति त्वामिह सहनिधि ।।
वरपुरतस्त्वां शिथिलितगात्रीम् । स्थापयितारः प्रियरतिपात्रीम् ।।
तातस्तव करमथ दधदब्लम् । ग्राहयिता वरकरमनु सजलम् ।।

मणिमयी शृङ्खला (कौधनी) से मध्यभाग शोभा पायेगा, चरणों के आभूषणों की कान्ति से वह वेष विशेष निमग्न होगा। अधिक क्या कहूँ ? हे सखि ! इस पूर्वोक्त वेष में ये सब अपूर्व वस्तुएँ होंगी, जो पहले कहीं भी नहीं देखी होंगी।

श्रीवनमाली का प्रत्येक अङ्ग उस समय सब प्रकार के भूषणमात्र को यह कहता हुआ प्रतीत होगा कि, मैं तो स्वयं सभी भूषणों का भी भूषण हूँ। उसका यह गर्व युक्तियुक्त है। क्योंकि श्रीमद्भागवत (३।२।१२) में भी "भूषणभूषणाङ्गम्" यह विशेषण श्रीकृष्ण के विग्रह का दिया है। तात्पर्य—श्रीकृष्ण के अङ्ग ही भूषणों को भी भूषित करने वाले हैं। उसके बाद मणिमय शकट (गाड़ी) में चढ़े हुए, एवं मित्रों से युक्त हुए, विवाह करने के लिए बरात लेकर जाते हुए, इन श्रीवनमाली को सभीजन देखेंगे।

बरात में चलनेवाले वर के स्नेहीजनों की गाड़ियों से घिरे हुए वनमाली के प्रति, सभीजन गाते गाते पुष्पों की वर्षा करेंगे। चलती हुई गाड़ियों की ध्वनि से युक्त सैकड़ों प्रकार के वैवाहिक बाजाओं के द्वारा वे स्वयं भी हर्ष को प्राप्त हो जायेंगे।

हे सखि ! उस वनमाली की बरात के कोलाहल की ध्वनि को सुनते ही, महान् यत्न से धारण किया हुआ भी, तेरा चित्त खण्डित वा विचलित हो जायगा। और हे सखि ! देख, वरवेषशाली वह वनमाली जब तेरे दरवाजे के पास आ जायेगा, तब तू सुखमयी मूर्च्छा के आवेश को त्याग देना।

और हे सखि ! तत्काल तुम्हारे घर के स्वजन सम्बन्धी सभीजन वर के पास सत्कारार्थ अगवानी जायेंगे, एवं बिम्ब के से अधरोंवाली स्त्रियों की श्रेणी भी उस समय विवाहसम्बन्धी गाने गायेंगी। वह वर के पास अगवानी जाना भी अनेक प्रकार के बाजे गाजे के सहित होगा, और स्त्रियों का वह गाना भी प्रायः गालियों से युक्त होगा।

और वे तुम्हारे स्वजन गानेवाली स्त्रियों के सहित वर के पास जाकर, पुष्पों की वर्षा के सहित वर की आरति एवं न्योछावर करके वर का दर्शन करेंगे। हे सुन्दरि ! उसके बाद श्यामसुन्दर जब विवाह के योग्य श्रेष्ठ मण्डप के पास उपस्थित किये जायेंगे, तब तेरे सुख का प्रवाह उथल-पुथल हो जायगा।

तत्र च भवती सुमुखि ! सुखेन । किं भवतेति ज्ञाता केन ? ॥

किं बहुना तव करसंयमनम् । कृतमिव पश्याम्यमुना कमनम् ॥' इति ॥२१॥

"तदेवं यमुनां प्राप्य द्रुतमेव गानं समाप्य वेलायां बाल्यचापल्येन कल्ये प्रोज्झितचेला एव मिथःकृतमेला वेलायां निमज्जन्ति स्म । निमज्ज्य च कौषेयतया क्षालनां विनापि न परिहेयमिति तदेव चेलं परिधाय सेव्याया देव्याः सैकतीमर्चामर्चितां विधाय मन्त्रमनुसन्धाय धाम समायान्ति स्म ॥२२॥

"तदेवं तावन्मासं यावद्विधाय तत्पूरकदिनं व्रतस्यापि पूरकं जातमिति परमानन्द-पूरणतः सूरजापूरमनु दूरनिर्जनता-जातनिर्व्रीडतया क्षणमक्रीडन् ॥२३॥

"तदेवं पूर्वपूर्वं जानन् व्रजराज-नन्दनस्तुष्टमनाः कुमार-चतुष्टयमनुविधं विधाय तत्र प्रस्थाय गुप्तमुप्तचित्ततया ताः पश्यति स्म ॥२४॥

"ये खलु दाम-सुदाम-वसुदाम-किङ्किणि-संज्ञास्तस्य प्रज्ञाहङ्कार-चित्तमनसां बहिः-प्रकाशतया लब्धसमज्ञास्तन्त्रविज्ञातृभिर्विज्ञायन्ते, त एते हि कुमारा जातचतुःपञ्चवर्षाः

हे वरतनु ! श्रीगोपराज नन्दबाबा आदिकों की पूजा के बाद हासपरिहासमय कौतूहल उठ खड़ा होगा। पश्चात् सुन्दर विधि के अनुसार विवाह की पहली विधि को पूरी करके रत्नादिकों के सहित, तुझको तेरे घर के स्वजन इस वरमण्डप में लिवाकर लायेंगे।

एवं अपने प्यारे की प्रीति की पात्रस्वरूप तथा शिथिल अङ्गोंवाली तुझको वर के आगे बैठा देंगे। उसके बाद तुम्हारा पिता तुम्हारे कोमल हाथ को धारण करता हुआ, मन्त्रपूत जल से युक्त वर के कर में ग्रहण करा देगा।

और हे सुमुखि ! उस समय तू सुख के मारे किस प्रकार की हो जायगी, इस बात को कौन जान सकेगा ? अरी ! देख, अधिक क्या कहूँ ? मैं तो उस वनमाली के द्वारा तेरा कमनीय पाणिग्रहण संस्कार किया हुआ सा ही देखती हूँ ॥२१॥

इस प्रकार गाते गाते यमुना को प्राप्तकर, शीघ्र ही गाने को समाप्तकर बाल्यसुलभ चञ्चलता के कारण, प्रातःकाल तीर पर ही वस्त्रों को उतार के धरकर, आपस में सम्मिलित होकर, जल में निमग्न हो जाती थीं। स्नान करने के बाद "रेशमी वस्त्र धोने के बिना भी, त्यागने के योग्य नहीं होता" इसलिए बिना धुले हुए उसी रेशमी वस्त्र को धारण कर, सेवा के योग्य कात्यायनीदेवी की बालुकामयी प्रतिमा की पूजाकर, "कात्यायनि ! महामाये ! महायोगिन्यधीश्वरि ! । नन्दगोपसुतं देवि ! पतिं मे कुरु ते नमः ॥" (भा० १०।२२।४) इस मन्त्र का स्मरण कर अपने अपने घर को चली आती थीं ॥२२॥

इस प्रकार एक मास पर्यन्त इसी व्रत के अनुष्ठान को कर, "उस मास का दिन इस हमारे व्रत का भी पूरक हो गया है" ऐसी भावना कर, परमानन्द की पूर्ति के कारण, यमुनाजी के प्रवाह को लक्ष्य करके, एवं दूर तक निर्जनता के कारण उत्पन्न हुई निर्लज्जतापूर्वक आनन्द से जलक्रीड़ा करने लग गईं ॥२३॥

इस प्रकार पहले पहले उनके व्रत के प्रसङ्ग को जानते हुए, व्रजराजकुमार सन्तुष्टमन से चार बालकों को अनुगामी बनाकर, वहाँ आकर उनके ऊपर चित्त लगाकर, गुप्तरूप से उन कुमारियों को देखने लग गये ॥२४॥

दाम, सुदाम, वसुदाम, किङ्किणी नाम वाले जो चार सखा श्रीकृष्ण के साथ वस्त्रहरण लीला में आये थे, उनको तन्त्रशास्त्र के विज्ञाताजन, श्रीकृष्ण के मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार इन चारों के बाहर

परस्परसवयस्कताधृत-हर्षाः कृष्णादनुदिनमासादित-प्रेमवर्षाश्चलनारम्भत एव 'कुत्र यामः' इति पृच्छन्त एव गच्छन्तः कृततत्सङ्गमागच्छन्ति स्म ॥२५॥

"तदेवम्—सङ्गे विधाय चतुरश्चतुरः कुमारा,-नागम्य तत्र करवारित-तत्प्रहासः ।
नम्रीभवन्नलमलक्षिततां प्रपद्य, सद्यस्तदंशुकचयं स हरिर्जहार ॥२६॥
हृत्वा स सत्वरकदम्ब-नगाधिरोह,-पूर्वं सडिम्भनिकरः स्फुटमुज्जहास ।
श्रुत्वा प्रहासमथ गोप-कुमारिकाणां, वर्गः सम सभयमूर्ध्वितदृष्टिरासीत् ॥२७॥
गम्भीरस्वरसङ्गतं तदितरानुद्भाव्यसभ्यश्रियं
हासं तं परिचित्य बाल्यवलितास्ताः प्रेक्ष्य चान्योऽन्यतः ।
वस्त्राण्यप्यनभीक्ष्य तत्र विधृतान्युच्चं तु वक्षःस्थलं
कृत्वा नीचमुदक्तवक्त्रमुदके न्यक्चक्रिरे पद्मिनीः ॥२८॥
अतलिननलिनवनानां, भ्रममिह चक्रुर्मुखानि तासां न ।
हेमन्ते तदयोगात्, किन्तु न्यक्कारमेवात्र ॥२९॥

"ततश्च, क्षणमधिजलमध्यं तस्थुरानम्रनेत्राः, पुनरुदयति शीतेऽद्राक्षुरेताः कदम्बम् ।
अपि हरिरधिशाखं गुप्तमूर्तिः पुरासीत्,पुनरवृतिमयासीच्चातुरक्ष्याय ताभिः ॥३०॥

प्रकाशित होने के कारण , कीर्ति को प्राप्त हुए ही ये चार स्वरूप हैं, ऐसा जानते हैं । वे ये ही चारों कुमार चार पाँच वर्ष के थे, परस्पर मित्रता के कारण हर्ष को धारण करने वाले थे, एवं श्रीकृष्ण से प्रतिदिन प्रेम की वर्षा को प्राप्त करते रहते थे। अतः यमुनातट पर चलने के आरम्भ से ही "भैया ! हम कहाँ चलें?" इस प्रकार श्रीकृष्ण से पूछते हुए ही चलते चलते उनके साथ साथ वहाँ पर चले आये ॥२५॥

इस प्रकार चतुरचूड़ामणि श्रीकृष्ण चार कुमारों को संग में लेकर, यमुनातट पर आकर, हाथ के इशारे से उन कुमारों की हँसी को रोककर, नतमस्तक होकर, अदृश्य भाव को प्राप्तकर, शीघ्र ही उन कुमारियों के वस्त्रसमूह को चुरा ले गये ॥२६॥

पुनः श्रीकृष्ण वस्त्र चुराकर, शीघ्रतापूर्वक कदम्ब वृक्ष पर चढ़कर, उन चारों बालकों के सहित ऊँचे स्वर से स्पष्ट हँसने लग गये । पश्चात् गोपकुमारियों का समूह उस अट्टहास को सुनकर, एकसाथ भयपूर्वक ऊपर को दृष्टि फैलाने लग गया ॥२७॥

और बालकपन से युक्त वे गोपकुमारियाँ गम्भीर स्वर से युक्त, एवं श्रीकृष्ण से भिन्न जनों के द्वारा जिसकी मङ्गलमयी शोभा का अनुभव किया जाता है, ऐसे उस हास्य के परिचय को पाकर, आपस में देख कर, तीर पर धरे हुए वस्त्रों को न देखकर, अपने ऊँचे वक्षःस्थल को जल के नीचे कर, तथा जल के ऊपर केवल मुख को उठाकर, अपने मुख की शोभा से कमलिनियों को तिरस्कृत करने लग गईं ॥२८॥

यमुनाजल में निमग्न हुईं गोपकुमारियों के मुखों ने, अधिकतर खिले हुए कमलों के वन के भ्रम को उत्पन्न नहीं किया, किन्तु यहाँ पर उन कमलवनों को धिक्कारमात्र दिया है । क्योंकि हेमन्तऋतु में खिले हुए कमलों का सम्बन्ध ही नहीं होता । वे प्रायः नष्ट हो जाते हैं ॥२९॥

तदनन्तर वे कुमारियाँ क्षणभर तो नीचे नेत्र करके जल के बीच ही खड़ी रहीं, पुनः शीत का उदय होते ही कदम्ब को देखने लग गईं । और श्रीकृष्ण भी पहले तो कदम्ब की शाखाओं में शरीर को छिपाकर बैठे थे, किन्तु अब तो उन कुमारियों के साथ चार नेत्रों का सम्मेलन करने के लिए, अर्थात् साक्षात्कार के लिए प्रगट हो गये ॥३०॥

तासां जलस्थवपुषां वदनेषु कृष्ण,-स्यारूढनीपक-तरोः सहसा दृगन्तः ।
पद्मेषु पद्मप-कलामदधादमुष्मिन्, यासां च नीरभृति चातक-रीतिमाप ॥३१॥

"ततश्च, उच्चकैर्जहसुर्बालाश्चुक्रुधुस्तत्र बालिकाः ।
ऊचुश्चेदं तु वः कृत्यं व्रजादृत्यं भविष्यति ॥३२॥

"अथ कृष्णेन मुहुरपि शिक्षिता बालाः प्रोचुः । तत्र प्रथमं यथा,—
'कृत्यं वा किमकृत्यं वा न विद्मो वयमण्वपि ।
शिक्षार्थं किन्तु वः प्राप्ता वीक्ष्याज्ञासिष्म तत् पुनः ॥'३३॥

"अथ सर्वाः सलज्जं परस्परमीक्षित्वा पुनरूचुः,—
'यः कश्चिच्छिक्षकस्तस्माद्भवद्भिः सुष्ठु शिक्षितम् ।
अभ्यस्यथ व्रजे तच्च स्वगुरोर्मान-वृद्धये ॥'३४॥

"पुनस्तच्छिक्षिता डिम्भाः प्रोचुः,—
'किमर्थोऽयमुपालम्भस्तन्न विद्मस्तु किञ्चन ।
भवत्यो जलचारिण्यो वयं वृक्षाग्रगामिनः ॥'३५॥

"ता ऊचुः,—
'विक्रान्तिर्लुण्टतां योग्या यद्वः शाखाग्रगामिता ।
दीनता लुण्टितानां स्याद्यन्नः सलिलगाहिता ॥'३६॥

जल में स्थित है शरीर जिनका, ऐसी उन कुमारियों के मुख पर, कदम्ब वृक्ष पर चढ़े हुए श्रीकृष्ण का कटाक्ष, कमलों पर बैठे हुए भ्रमर की सी कला धारण करने लग गया। और मेघ के ऊपर चातकों का जैसा व्यवहार होता है, श्रीकृष्ण के ऊपर इन कुमारियों का कटाक्ष भी, वैसा ही व्यवहार करने लग गया ॥३१॥

उसके बाद वे चारों बालक ऊँचे स्वर से हँसने लग गये। बालिकायें उन पर कुपित हो गईं। और बोलीं कि "यह तुम्हारा वस्त्र चुरानारूप कार्य" व्रज में आदरणीय हो जायगा ॥३२॥

पश्चात् श्रीकृष्ण के द्वारा सिखाये हुए बालक पुनः बोले—उसके मध्य में प्रथम वाक्य, यथा—यह कार्य करने योग्य है या नहीं करने योग्य, इस बात को हम किंचिद् भी नहीं जानते। किन्तु तुम्हारी शिक्षा ग्रहण करने के लिए आये हैं, तुम्हारे दर्शन से ही उस शिक्षा को समझ गये हैं ॥३३॥

अनन्तर सभी बालिकायें आपस में देखकर, लज्जापूर्वक पुनः बोलीं—जो तुम्हारा शिक्षक है, उससे तुम सबने अच्छी प्रकार शिक्षा पा ली है। अब अपने गुरु का मान बढ़ाने के लिए, व्रज में उस शिक्षा का अभ्यास कर रहे हो ॥३४॥

श्रीकृष्ण के द्वारा सिखाये हुए बालक पुनः बोले—अरी बालिकाओ! यह उपालम्भ (तिरस्कार) हमको क्यों दिया जा रहा है? क्योंकि हम तो इस विषय में कुछ भी नहीं जानते। कारण तुम सब जल-चारिणी हो। हम सब वृक्ष के अग्रभाग में चढ़े हुए हैं ॥३५॥

बालिकायें बोलीं—विक्रम दिखाना चोरों का उचित धर्म है। इसलिए तुम्हारा वृक्ष के अग्रभाग में चढ़ना देखा जाता है। और जिनका माल चोरी में चला गया, उनको दीनता करना ही उचित है। इसीलिए हम सबका जल में अवगाहन करना ही देखा जाता है ॥३६॥

"अथ श्रीकृष्णः स्वयमेव सकोपविस्मयमिव वक्ति स्म,–'किं लुण्ठितं भवतीनाम् ?'॥३७॥

"ता ऊचुः,–'अहो बत ! कथमस्माकमसंख्यतया दुःसम्बरमम्बरं संवरणमापद्यते ?३८॥

"श्रीकृष्ण उवाच,—'भवतीनामम्बरावरणता विद्यत एव, तदम्बरं वा कथमपहारेण संवलनमवलम्बताम् ?' ॥३९॥

"ता ऊचुः,—

'अम्बरमप्यम्बरता,-मासादयितुं तवास्ति सामर्थ्यम् ।
इह दामोदर ! चौर्यं, कियदिव शौर्यं समर्पयतु ?' ॥४०॥

"अथ कृष्णः सस्मयमाह स्म,—'न नग्ना एताः पाथसि मग्नाः । तदिदं तु मया परिहसितमेव,दृष्टं भवद्भिर्दुष्ठुप्रकृतीनामाकृतिमात्रसुष्ठुतायुतानामासामनुष्ठितम्; यन्मदीयान्येव शस्तानि वस्त्राणि विहारतः समस्तव्यस्ततया यत्र तत्र विस्रस्तानि, तान्येता दरिद्राणां कन्याः स्फुटमन्यायतया परिचित्य च विचित्य परिदधत्यो मादृशस्तु दृशः सकाशाद्गोपनं कामयमाना बाढं जलमेवावगाढाः । यानि खल्वतिस्वच्छानां तिग्मच्छविकन्याजलानामन्तरप्यप्रच्छन्नान्येव लक्ष्यन्ते, यान्येव चासां जलमग्नप्रत्यङ्ग-लग्नानि स्वर्णसवर्णवर्णानि वर्णा इव निर्वर्ण्यन्ते, तस्मात् प्लवन्त एव भवन्तः प्रत्येकमेताः करगृहीतकराः समानयन्ताम् ।' ॥४१॥

पश्चात् श्रीकृष्ण स्वयं ही मानो कोप एवं विस्मय के सहित बोले—हमने तुम्हारा क्या चुरा लिया ? ॥३७॥

बालिकायें बोलीं—हाय ! बड़े खेद की बात है। हम सब असंख्य हैं, अतः हमारे असंख्य वस्त्रों को छिपाना कठिन है, तो भी न जाने उन वस्त्रों को कैसे छिपाया जा रहा है ? ॥३८॥

श्रीकृष्ण बोले—तुम सबका अम्बर से, अर्थात् वस्त्रों से, श्लेषपक्षे–आकाश से, ढ़के रहना विद्यमान ही है। अतः ऐसी स्थिति में वह अम्बर (वस्त्र या आकाश) चुरा करके किस प्रकार हमारे अधीन हो सकता है ? आकाश पक्ष में–कैसे इकठ्ठा किया जा सकता है ? यह अर्थ है ॥३९॥

वे सब कुमारियाँ बोलीं—हे दामोदर ! वस्त्र को भी आकाशरूप में परिणत कर देने की तुम्हारी सामर्थ्य है। किन्तु यहाँ निर्जन स्थान पर चोरी करना, तुमको कितनी शूरवीरता को समर्पित कर सकता है ? ॥४०॥

उसके बाद श्रीकृष्ण सगर्व बोले कि—हे मित्रो ! ये जल में धँसी हुई कन्यायें नग्न नहीं हैं। अतः मैंने तो इनके साथ यह परिहासमात्र ही किया है। और दुष्ट प्रकृतिवाली आकृतिमात्र से सुन्दरता वाली, इन कन्याओं का चरित्र आप सबने देखा, जो कि मेरे ही उत्तम उत्तम वस्त्र, क्रीड़ा के कारण समस्त व्यस्तभाव से जहाँ तहाँ गिर पड़े थे, उन सब वस्त्रों को ये दरिद्रियों की कन्यायें स्पष्ट अन्यायपूर्वक पहचान कर, अर्थात्–"यह वस्त्र मेरे योग्य है, यह मेरे योग्य है" इस प्रकार परिचयपूर्वक एकत्रित कर, एवं धारण कर, हम जैसों की दृष्टि से छिपने की इच्छा करती हुई, निश्चय ही जल में निमग्न हो गई हैं। क्योंकि जो वस्त्र अति निर्मल यमुनाजल के भीतर भी स्पष्ट ही दिखाई दे रहे हैं। और जो इन कन्याओं के जल में डूबे हुए प्रत्येक अङ्गों में लगे हुए सुवर्ण के समान चमकीले मेरे वस्त्र हैं, वे सब अक्षरों की तरह अलग अलग दिखाई देते हैं। इसलिए आप सब दौड़कर, कूदते हुए जाकर, अपने हाथों में इनके हाथ पकड़कर, इन प्रत्येक कन्याओं को मेरे पास ले आओ ॥४१॥

"तदेतदवधार्य तीरपर्यन्तमवतीर्य सम्भ्रमप्रतीक्षिताल्पकालान् कृष्णाज्ञापालान् बालानमूः प्रत्यूचुः,—॥४२॥

"कथं स्तम्भमवलम्बध्वे ? निःशङ्कमेव संक्रामत। सखीः प्रति च प्रावोचन्,—'अत्रैवानीय पानीयवाससुखं लुण्ठाकानेतानाकण्ठमासादयत।' ॥४३॥

"अथ तान् प्रति च,—

'आहरवसनामाहर,-वनितां यस्मात् क्रियां सदाधीध्वे।
कात्यायनी-प्रसादा,-त्तमपि विकर्षाम तोयान्तः॥'४४॥

"अथ तदेतच्छ्रुतवन्त एव द्रुतवन्तः स्खलन्त इव नीपतर्वन्तमासद्य सद्यस्तमेव तरुमारुरुहुः॥४५॥

"कृष्णस्तु सहासं स्पष्टमिदमभ्याचष्ट,—'अहो! शुभंयूयमानानामासामहंयुता भवतीनां भवतु पश्यामस्तत्र भवतीषु देवताप्रभावं यावदेव तदेतमुदवासमुरीकृत्य भवत्यस्तिष्ठन्ति, तावद्वयमपि धृतनिष्ठास्तरोरुपरिष्टादेव नभोवासमुररीकृत्य तिष्ठाम।' ॥४६॥

"अथ तत्र तदुत्तरमुररीकुर्वत्यः सर्वाः सश्लेषमात्महृद्गतमुद्गमयामासुः,—॥४७॥

श्रीकृष्ण के इन वाक्यों को सुनकर, तीर तक उतरकर, आवेग के कारण थोड़े से समय की प्रतीक्षा करनेवाले, श्रीकृष्ण की आज्ञा का पालन करनेवाले, उन बालकों के प्रति वे कन्यायें बोलीं— ॥४२॥

हे बालको! स्तम्भभाव का अवलम्बन क्यों कर रहे हो, अर्थात् चुपचाप क्यों खड़े हो? निःशंक होकर हम पर धावा बोल दो। अपनी सखियों के प्रति भी बोलीं कि—अरी सखियो! इन लुटेरों को यहीं लाकर, कण्ठ तक डुबाकर इनको जल में निवास करने के सुख को प्राप्त करा दो ॥४३॥

उसके बाद बालकों के प्रति बोलीं—अरे बालको! देखो, तुम सब जिस गुरु के पास "वस्त्रों को चुराओ, स्त्रियों को चुराओ" इस प्रकार की क्रिया का सदा अध्ययन करते हो, याद रखो, श्रीकात्यायनी देवी की कृपा से उस तुम्हारे गुरु को भी, हम सब पानी के भीतर खैंच सकती हैं। अतः तुम्हारा खैंचना तो सामान्य बात है ॥४४॥

अनन्तर वे बालक इस बात को सुनते ही दौड़ पड़े, एवं खिसलते हुए से, कदम्ब वृक्ष तक पहुँचकर, शीघ्र उस वृक्ष पर ही चढ़ गये ॥४५॥

श्रीकृष्ण तो हास्यपूर्वक इस प्रकार स्पष्ट बोले—अहो! आश्चर्य! शुभ से युक्त स्त्रियों का सा आचरण करने वाली, तुम सबको बड़ी भारी अहंकार से युक्तता है। अच्छा, होने दो। हम भी देखते हैं। तुम्हारे ऊपर देवता का प्रभाव या अनुग्रह कैसा है? तुम सब जब तक इस जल के निवास को अंगीकार करके बैठी रहोगी, तब तक हम सब भी निष्ठा को धारणकर, वृक्ष के ऊपर ही आकाश के निवास को स्वीकार करके बैठे रहेंगे ॥४६॥

तदनन्तर वहाँ पर श्रीकृष्ण के उत्तर को स्वीकार करती हुईं, वे सब कुमारियाँ, श्लेषालंकारपूर्वक अपने मनोगतभाव को प्रकाशित करने लग गईं ॥४७॥

'न नादेयभयं तस्य तरौ यस्य भवेत् स्थितिः ।
पात्रसात्कृतगात्राणां पृच्छया नादेयता पुनः ।।'४८।।

"ततश्च तन्मुखतुषारकरतस्तुषारकरतरङ्गनिकरतश्च कम्पमानाः सनर्मानुकम्पममूरयमुवाच,—।।४९।।

'अहो ! हिमश्रथश्लथाङ्गसन्धयः परमदुर्बलाः सर्वाभिरेवार्वागागम्यताम् ।' ।।५०।।

"तास्तु भ्रूभङ्गसङ्गतमूचुः,—'पुनः किमर्थमागमयितुमर्थयसे ?' कृष्ण उवाच,—'वनदेवतया हृतं मया तु प्रसह्य तस्याः समाहृतं वासः समासाद्यताम् ।' ता ऊचुः,—'किमतः शेषमन्वेषयामः ?' तदेतदुक्त्वान्तर्वारिण एव प्रसारितकराः किञ्चिदभ्यानंचुः ।।५१।।

"कृष्णस्तु सांगुलिव्यङ्गमुवाच,—'अये शतपत्रपत्रनेत्राः ! सविधेऽत्रागम्यताम् ।' ता ऊचुः,—'तवैतदेहीहं कर्म कथमिव ?' कृष्ण उवाच,—'मम दृष्टिविसृष्टिश्च विशिष्टतामाप्नोति ।' इति । ता ऊचुः,—'तर्हि किमर्हितं भवेत् ?' कृष्ण उवाच,—'ग्रहणातिवृत्तिर्वस्त्रपरिवृत्तिश्च न स्यात् ।'

जिस व्यक्ति की स्थिति (स्थान) तरौ, वृक्ष पर या पक्षान्तरे–नौका पर हो, अर्थात् जो वृक्ष पर या नौका पर बैठा हो, उसको नदीसम्बन्धी भय प्राप्त नहीं हो सकता । और जिन व्यक्तियों ने अपने शरीर को दोनों तीरों के मध्यस्थ जल को या श्लेषपक्ष में–योग्यपात्र को समर्पित कर दिया है, उनके सम्बन्ध में पुनः नादेयता, अर्थात् नदी के सम्बन्ध का पूछना कैसा ? श्लेषपक्ष में–अदेयता का पूछना ही नहीं बन सकता, अर्थात् जो नदी के बीच में पड़े हैं, उनको नदी का सम्बन्ध है कि नहीं यह प्रश्न, तथा जो योग्यपात्र को अपना शरीर तक दे चुके हैं, वे कुछ दे सकते हैं या नहीं, ऐसी अदेयता का प्रश्न निर्मूल है। (तरु या तरि, इन दोनों शब्दों का सप्तमी में 'तरौ' यही एकसा रूप एकवचन में बनता है। पात्र शब्द से कोष के अनुसार नदी के बीच का जल एवं योग्य व्यक्ति, ये दो ही अर्थ यहाँ ग्रहण किये हैं। और नदी शब्द से तद्धित में 'ढक्' प्रत्यय होकर नादेय पद बना, एवं दा धातु से कृदन्त का 'यत्' प्रत्यय होकर 'देय' बना। पश्चात् न देय–अदेय, इस प्रकार नञ् समास के बाद –न अदेय–नादेय बना। इन दोनों प्रकार के नादेय पदों से भावार्थक तल् प्रत्यय होकर नादेयता शब्द बना है।) ।।४८।।

उसके बाद श्रीकृष्ण के मुखचन्द्र से एवं शीतलताकारी तरङ्गसमूह से काँपती हुईं, उन गोपकुमारियों के प्रति श्रीकृष्ण परिहास एवं कृपा के सहित बोले— ।।४९।।

हे परमदुर्बल कुमारियो ! जाड़े के मारे तुम्हारे सारे अङ्गों की सन्धियाँ शिथिल हो गई हैं, अतः तुम सब अभी चली आओ ।।५०।।

वे सब तो भौंह को टेढ़ी करके बोलीं—पुनः किसलिए अपने पास आने के लिए प्रार्थना करते हो ? श्रीकृष्ण बोले—वनदेवता के द्वारा लाये गये, पुनः मेरे द्वारा बलपूर्वक उससे छीनकर इकट्ठे किये गये, तुम्हारे वस्त्रों को तुम सब ग्रहण कर लो। वे बोलीं—इसके पीछे हमारी और कौन सी वस्तु शेष रह गई, जिसका हम अन्वेषण करें ? यह कहकर जल के अन्दर से ही, हाथ फैलाती हुईं थोड़ी सी दूर सम्मुख आईं ।।५१।।

श्रीकृष्ण तो अंगुली का इशारा करके बोले—हे कमलदल के समान नेत्रों वाली कुमारियो ! यहाँ पास में चली आओ। वे बोलीं—"इधर आओ, इधर आओ" तुम्हारा यह कर्म कैसा और किसलिए है ? श्रीकृष्ण बोले—मेरी दृष्टि और वस्त्रों की विसृष्टि, अर्थात् दान विशिष्टता को प्राप्त हो रहा है। वे बोलीं—

ताश्च परस्परमूचुः,–'अहो मुग्धाः ! वञ्चयितुमेवेयं प्रपञ्चना ।' कृष्णस्तु ताः सन्दर्श्य जिह्वां सन्दश्य बभाषे,–'सत्यमेवेदं ब्रवीमि, नासत्यम् ।' ताः पुनः प्रत्यूहमूहमाना व्यत्यूचुः,–'अहो ! मूढबुद्धयः ! सुव्यक्तान्तर्निगूढहासः परीहास एवायमस्य ।' ॥५२॥

"कृष्णस्तु गूढमपि स्मितमगूढसमूढप्रियवद्यतयाप्यवादीत्,—'हन्त ! नहि नहि, यस्माद्व्रतकृशतया भृशदयाविषया एव यूयम्, न तु दूयमानतामर्हथ ।' ॥५३॥

"ता ऊचुः,—

'स्पृहयालुश्चान्य-वस्त्रं गृहयालुश्च यः स तु ।
शीतालुषु दयालुश्चेदाश्चर्यातिशयालुता ॥

'भवतु विस्रब्धं वदत, कदा सत्यं वक्तुमारब्धं तत्रभवद्भिः ?' ॥५४॥

"कृष्ण उवाच,—'कदापि नानृतं वचसि कृतवानस्मि ।' ता ऊचुः,–'कः कथयति ?' कृष्णः सहासमुवाच,–'अहो ! कूटकूटं घटयमानाः ! यद्यन्यथा मन्यध्वे, परमधर्मपरानेतानेव समेतान् पृच्छत ?' ताः सहासमूचुः,–'सत्यमेते भवतः प्राप्तमर्माणः सधर्माणश्च दृश्यन्ते ।' कृष्ण उवाच,–'हन्त ! मुष्टिसम्बध्यमध्यमाः ! प्रतीतिमतीथ चेत् प्रत्यक्षत एव लक्ष्यताम् । सर्वाभिरेवागम्य न वा सर्वानतिरेकया कयाचिदेकयापि ।' ॥५५॥ ततश्च,

---

तब क्या योग्य हो सकता है ? श्रीकृष्ण बोले–ग्रहण का अतिक्रम, अर्थात् वस्त्र लेने का उल्लंघन, और वस्त्रों का परिवर्तन (उलटापलटी), अर्थात् किसी का वस्त्र किसी के पास पहुँच गया, ऐसा उलट फेर न हो सकेगा। वे परस्पर बोलीं—अरी बावरी बहनो ! यह प्रपञ्च हम सबको ठगने के लिए ही रचा जा रहा है। श्रीकृष्ण तो उनके वस्त्र उनको दिखाकर, जिह्वा को दाँतों से काटकर बोले—मैं तुमसे यह सत्य ही कह रहा हूँ, असत्य नहीं। वे पुनः विघ्न की आशंका करती हुई आपस में बोलीं—अरी मूढ़ बुद्धिवाली छोरियो ! श्रीकृष्ण का यह परिहास ही है, क्योंकि इस परिहास में अच्छी तरह छिपाया हुआ हास्य भी प्रकाशित हो रहा है ॥५२॥

श्रीकृष्ण तो स्पष्टरूप से प्रियवचन धारणकर, गुप्त हास्यपूर्वक बोले—हाय ! यह कभी परिहास नहीं, त्रिकाल में परिहास नहीं, क्योंकि तुम सब देवी का व्रत करने के कारण, अति कृश हो गई हो। अतः विशेष दया की पात्र हो, अधिक सन्ताप प्राप्त करने के योग्य नहीं हो ॥५३॥

वे बोलीं—जो व्यक्ति दूसरे के वस्त्र को इच्छापूर्वक ग्रहण करने के स्वभाव वाला है, वह व्यक्ति यदि शीतभीत व्यक्तियों के ऊपर दयालु हो जाय, तब तो आश्चर्य की पराकाष्ठा हो जाय। अच्छा, इस बात को तो जाने दो। पूरे विश्वास से युक्त वचन कहिये। पूजनीय–आपने सत्य बोलना कब से आरम्भ कर दिया है ? ॥५४॥

श्रीकृष्ण बोले—मैंने तो अपने वचन में असत्य का सम्मेलन कभी भी नहीं किया है। वे बोलीं—कौन कहता है ? श्रीकृष्ण हास्यपूर्वक बोले—अहो ! कपटसमूह की चेष्टा करनेवाली बालिकाओ ! यदि तुम मेरी बात को असत्य मानती हो, तो परमधर्मपरायण सम्मिलित हुए इन बालकों को पूछ लो। वे भी हँस कर बोलीं—सत्य है। ये भी आपके मर्मज्ञ एवं समान धर्म वाले ही दिखाई देते हैं। श्रीकृष्ण बोले—बड़े खेद की बात है। हे मुष्टि के द्वारा ग्रहण करने योग्य मध्यभाग वाली बालिकाओ ! यदि तुमको मेरी बातों

"तस्य तत् क्ष्वेलितं श्रुत्वा बालाः प्रेमपरिप्लुताः ।
व्रीडिताः प्रेक्ष्य चान्योऽन्यं जातहासा न निर्ययुः ॥५६॥
तीरे गन्तुं लज्जा, स्थातुं नीरे च शीतमित्युभयम् ।
समजनि जाड्यं युगपत्, तदिमास्तत्रैव किञ्चिदब्रुवत ॥५७॥
'व्रजनृपकुलरत्न ! त्वं व्रजप्रीतिशाली, व्रजजनमहनीयश्चासि याचामहे तत् ।
वयमतितरशीतव्यग्रताग्रस्तचित्ता, वितर वितर वासश्चानयं मा च कार्षीः ॥'५८॥

"कृष्ण उवाच,—'ममानयः को वा नयनविषयः कृतः; प्रत्युत सत्कुलप्रभवतीनां भवतीनां वनदेवताहृतवस्त्राणां साहाय्यमेव कार्यमिति तथा मयारब्धमस्ति, न तु भवतीनां चेलचेलप्रचये मादृशामभिलाषमेलः सम्भवति । तस्मादस्मत्परितोष-पोषणाय यदि किञ्चिदपि दत्थ, तदा तन्मदादेव देवताविरोधमप्यनुरोधविषयीकुर्मः ।' ॥५६॥

"अथ तदेतदेवमवधारितवत्यः कात्यायनीव्रतवत्यस्तदेतन्मनसि विचारितवत्यः,—'हन्त ! यदस्माभिर्मनसि रञ्जितम्,तदेवायं व्यञ्जितं कर्तुं प्रयतते । तस्मादस्माकमयमेव समयः; किन्तु किमपि लक्ष्यमेवात्र लक्ष्यम्, तदपि स्वत एव लब्धम्; यत् पृथुशीतभीततादिकमत्र प्रकटमेव घटते ।' ॥६०॥

पर विश्वास न हो, तो तुम सबजनी एकसाथ आकर, या तुम सबमें जो मुखिया हो, वह कोई अकेली ही आकर, हमारी सचाई को प्रत्यक्ष देख लो ॥५५॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण की उन हँसी मसखरी की बातों को सुनकर, वे बालायें प्रेम से सराबोर हो गईं, एवं तनिक सकुचाकर, एक दूसरी की ओर देखकर मुसकराने लग गईं, पर जल से बाहर नहीं निकलीं ॥५६॥

तीर पर जाने को लज्जा होती है, जल में रहने को जाड़ा बाधा करता है, इस प्रकार उन सबको दो प्रकार का जाड़ा एकसाथ उत्पन्न हो गया । इसलिए ये सब वहीं पर खड़ी रहकर किंचित् बोलीं—॥५७॥

हे व्रजराजकुल के रत्न ! आप व्रजवासियों की प्रीति से सुशोभित हो, एवं व्रजजनों के पूजनीय हो। अतः भारी शीत के कारण व्यग्रता से ग्रस्त चित्तवाली हम सब आपसे प्रार्थना करती हैं कि—हमको वस्त्र दे दो, हमको वस्त्र दे दो । अन्याय मत करो ॥५८॥

श्रीकृष्ण बोले—तुमने मेरा कौनसा अन्याय देखा ? अपितु तुम सब ऊँचे कुल में पैदा हुई हो, एवं तुम्हारे वस्त्रों को वन के देवता हरकर ले गये थे । ऐसी स्थिति में तुम्हारी सहायता करनी चाहिए, इसीलिए मैंने वैसा ही कार्य आरम्भ किया है । किन्तु तुम्हारे निकृष्ट वस्त्रसमूह पर मेरे जैसे व्यक्तियों की अभिलाषा का सम्मेलन सम्भव नहीं । इसलिए हमारे सन्तोष की रक्षा के लिए यदि तुम कुछ भी देती हो, तब तो उसी के आनन्दमय मद से वनदेवता के विरोध को भी हम अनुकूलता का विषय बनावें ॥५६॥

उसके बाद कात्यायनी का व्रत करनेवाली वे कुमारियाँ इस प्रकार निश्चयकर, मन मन में यह विचारने लग गईं कि—हाय ! हमने अपने मनमें जो अभिलाषा की थी, ये तो उसी को प्रकाशित करने का प्रयत्न कर रहे हैं । इसलिए हमारा भी यही मौका है । किन्तु यहाँ पर कोई बहाना देखना चाहिये । वह भी स्वतः ही मिल गया । क्योंकि जाड़े का भय आदि यहाँ पर प्रगट ही घटित हो रहा है ॥६०॥

"अथ तं प्राहुः,—'हा ! हा ! द्रुतमनेन हैमनेन पवनेन शीतपरीततया जीवनविपरीततां वयमायाताः; तस्मान्मर्मभेदकं नर्म वृथा मा कृथाः, किन्तु वस्त्रमेव सेवय। यद्वा वांछसि, तत्तु लांछनमङ्गीकृत्यापि करिष्यामः !' ॥६१॥

"कृष्णः सस्मितमुवाच,—'हन्त ! यदि मदिष्टं दास्यथ, तर्हि दास्यमेव स्वीकुरुत।' अथ ताश्चिन्तयामासुः,–'हन्त ! सहसा मर्मस्पर्शे कर्मठतामेव लब्धवानसौ। भवतु, वयमपि नर्माश्रित्य तदेव शर्माङ्गीकुर्मः।' ॥६२॥

"स्पष्टं च प्रोचुः, (भा १०।२२।१५)—'श्यामसुन्दर ! ते दास्यः' इति। कृष्णश्च सस्मितमाह स्म,—'तत्र च यन्ममोदितम्, तदनुमोदितं पुरतः कुरुत।' ॥६३॥

"अथ ताः परस्परमालोचनपूर्वं निकोचितलोचनमूचुः,–'भवतु, (भा० १०।२२।१५)–'करवाम तवोदितम्' इति ॥६४॥

"तदेवमपि कृष्णे सतृष्णेऽपि तूष्णीमेव स्थिते पुनरूचुः, (१०।२२।१५)–'देहि वासांसि धर्मज्ञ' इति ॥६५॥

"अत्र चान्यथा निजाङ्गीकारसभङ्गाभावाद्धर्म एव मर्मबाधायां नात्मानं संवर्मयेदिति भावः ॥६६॥

पुनः श्रीकृष्ण से बोलीं—हाय ! हाय ! हम सब तो इस अति शीतल वायु के द्वारा, शीत से व्याप्त होकर, मृत्यु की पहली अवस्था को प्राप्त हो गई हैं। अतः मर्मभेदक वृथा हँसी मसखरी अब मत करो। किन्तु वस्त्रों को पहनाओ। और आप जो चाहते हो, उसको तो हम कलंक का टीका लगाकर भी पालन करेंगी ॥६१॥

श्रीकृष्ण मुस्क्याकर बोले—बड़े हर्ष की बात है। यदि तुम मेरी इष्टवस्तु को देती हो, तब तो मेरी दासता (अधीनता) को ही स्वीकार कर लो। तब वे मनमें विचारने लगीं कि—हाय ! ये प्यारे तो मर्म को स्पर्श करनेवाले कर्म की निपुणता को ही प्राप्त होते जा रहे हैं। अच्छा, होने दो। हम भी परिहास का आश्रय लेकर, उसी सुख को अङ्गीकार करती हैं ॥६२॥

पश्चात् स्पष्ट बोलीं—हे श्यामसुन्दर ! हम सब आपकी दासियाँ हैं। श्रीकृष्ण मुस्क्याकर बोले—मैंने जो तुमसे वहाँ पर कहा था, पहले उसका अनुमोदन कर दो ॥६३॥

तदनन्तर ये सब परस्पर आलोचनापूर्वक नेत्रों को संकुचित कर बोलीं—अच्छा, जाने दो। "हम आपका कहना करेंगी" ॥६४॥

इतने कहने पर भी तृष्णायुक्त श्रीकृष्ण जब चुप खड़े रहे, तब पुनः वे ही बोलीं—हे धर्मज्ञ ! हमारे सब वस्त्रों को दे दीजिये ॥६५॥

यहाँ पर यह भावार्थ है कि—अन्य प्रकार से अपनी प्रतिज्ञा के भङ्ग होने के कारण, धर्म में ही मार्मिक पीड़ा पहुँचाने के लिए, अपने को कवच से युक्त न कर ले। तात्पर्य—यदि आप सच्चे धर्मज्ञ हैं, तो परपीड़ा पर कमर मत कसो। हमारे वस्त्रों को लौटा दो ॥६६॥

"तथापि तथा स्थिते तस्मिन् कौतुकनिगूढस्मिते पुनरूचुः, (भा० १०।२२।१५)—'नो चेद् राज्ञे ब्रुवामहे' इति ।।६७।।

"अत्र च भयनिर्मुक्तमिमं तद्युक्तमात्रमाचरितुमुक्तमिदम्, न तु वस्तुतः ।।६८।।

"तदेष व्याजपदेन राजपदेन यं विशेषमवबुध्यते, तमेव बुध्यतां नाम निकाममित्यभिप्रायः ।।६९।।

"कृष्णश्च तदुपयुक्तमुक्तवान्,—'अहो ! कदा दास्यो भविष्यथ, कदा वा ममोदितं करिष्यथ, तत्तु नोपलभामहे। यदि वेत्थं सत्यमेव, तदा गत्यन्तरमन्तरा जलादुत्थाय सर्वसम्पदुत्थाय स्मितेन समेतमेव समेत, न तु सूक्ष्मयापि रूक्षतया। न चेन्मिथ्यासङ्कल्पजल्पानां तत एवाधर्ममर्मकल्पानां साहाय्यमस्माभिः कथं वा प्रथनीयम् ?।।७०।।

"तथापि तासामनुत्थानमुट्टङ्क्य कठिनताघटितमाचष्ट,—'न वयं वृथा कृताशानां कन्यापाशानां वः सम्बन्धमनुरुन्ध्महे; किन्तु,

'इदं च मे दयालुत्वमेव बुध्यध्वमञ्जसा ।
नो चेन्नाहं प्रदास्ये किं क्रुद्धो राजा करिष्यति ?' ।।७१।।

इतने पर भी कौतुक से गूढ़ मुस्क्याने वाले श्रीकृष्ण जब चुप ही खड़े रहे, तब वे पुनः बोलीं—यदि आप राजीबाजी हमारे वस्त्र नहीं दोगे, तो हम राजा से कह देंगी। यहाँ पर परलोक से भय न होने पर भी, लोक में राजा से तो सभी भय करते हैं। अतः हम कंस से जाकर तुम्हारी शिकायत कर देंगी, यही राजन् शब्द का भाव है। अथवा ऐसे धर्मात्मा श्रीव्रजराज के पुत्र होकर भी, तुम लाड़चाव के कारण शक्षित नहीं हो पाये, तुमको उनसे शिक्षा दिलायेंगी। यह भी राजपद का भाव है ।।६७।।

और यहाँ पर गोपियों का भय दिखाने का जो कथन है, वह भयरहित श्रीकृष्ण को, भय से युक्त करने मात्र के लिए है, वस्तुतः नहीं है ।।६८।।

इसलिए ये श्रीकृष्ण छल के आश्रयस्वरूप इस राजपद के द्वारा, जिस विशेषता को समझ रहे हैं, उसी को स्वेच्छापूर्वक समझते रहें, यही अभिप्राय है ।।६९।।

पश्चात् श्रीकृष्ण भी उन गोपकुमारियों के उपयोग की बात बोले—हे कुमारियो ! तुम कब दासी बनोगी, और कब मेरे कहे को करोगी ? वह तो हम प्राप्त नहीं कर पा रहे। यदि तुम्हारा कहना ध्रुवसत्य है, तब तो दूसरे उपाय के बिना जल से उठकर, सब प्रकार की सम्पत्ति को उठाने के लिए मन्दमुस्क्यान से युक्त होकर, मेरे पास चली आओ। किन्तु थोड़े से भी रूखेपन से नहीं। यदि ऐसा नहीं करती हो, तो मिथ्या संकल्प से बकनेवाली, एवं उसी कारण से अधर्म के मर्म की कल्पना करनेवाली, तुम जैसियों की सहायता हमको किस प्रकार विस्तार करनी चाहिए ? ।।७०।।

इतने कहने पर भी उनका जल से उठना न देख विचार कर, कठोरता से युक्त वचन बोले—वृथा आशा करनेवाली तुम्हारे जैसी निकृष्ट कन्याओं के सम्बन्ध को हम नहीं चाहते। किन्तु तुम सब इसको मेरी यथार्थ दयालुता ही समझो। यदि इतने पर भी नहीं समझोगी, तो मैं तुम्हारे वस्त्र नहीं दूँगा। राजा क्रुद्ध होकर मेरा क्या करेगा ? ।।७१।।

"अत्र च राजपदं व्याजाय व्याजहार। ततश्च मौनं प्रतिलभ्य तासां भयमुपलभ्य तेन करुणसभ्यशिरोमणिना प्रत्ययमाचर्य कथञ्चित् प्रत्यये चाचरिते शीतार्ततानिर्वर्तितवार्तता-माहर्तुं व्रीडानिविडजडवपुषोऽपि जडादुत्तेरुरिति वार्तयन्ति। तद् यदि तथा स्यात्तदा वस्तुतस्तु तत्कारणमिदमस्तु ॥७२॥

"प्रार्थ्यं चेत् फलति तदा भजेम देहं, नो चेन्नो इति समयस्य यैव सीमा।
तासां सा यदि विफला क्व तर्हि लज्जा, निर्वस्त्रागतिविधये हिमं तु लक्ष्यम् ॥७३॥

"तदेवं कथञ्चिदुदकादुदस्ताश्च ता न व्यक्तावयवा जाताः। किन्तु,
हस्तपल्लवकृताग्रवस्त्रिकाः, केशविस्तृतिधृतापराम्बराः।
आदिनिष्ठितकनिष्ठदारिकाः, कुब्जिकावदमिलन् कुमारिकाः ॥७४॥

"ततश्च पश्य कृष्ण! पश्य, सर्वतस्त्रस्ता एता लोप्त्राणि वस्त्राणि पाथस्येव स्रस्तानि विधायागता इति संलप्य प्रबलहासं वल्गति बालवर्गे हरिस्त्विदं भावितवानतीव दयामयामास ॥७५॥ यथा—

इस श्लोक में श्रीकृष्ण ने राजपद को छल करने के लिए कहा है। श्रीव्रजराज के लक्ष्य से नहीं। तदनन्तर मौन धारणकर, उनके भय को जानकर, करुणा के प्रकाश द्वारा सभ्यशिरोमणि श्रीकृष्ण ने शपथ करके, जब किसी प्रकार विश्वास करा दिया, तब वे कुमारियाँ लज्जा के कारण, अधिक जड़ के समान शरीर वाली होकर भी, शीतजनित पीड़ा को दूर करनेवाली नीरोगता को लाने के लिए, जल से बाहर उतर आईं, पुराणवेत्ता पण्डितजन ऐसी बात कहते हैं। वह जल से उनका निकलना भी यदि शीत के कष्ट से है, तो भी वास्तविक उसका कारण यह हो सकता है— ॥७२॥

यथा—हमारा प्रार्थनीय विषय यदि सफल होता है, तब तो हम देह धारण करेंगी, अन्यथा देह धारण नहीं करगी। इस वाक्य में उन कुमारियों की प्रतिज्ञा की सीमा का जो निर्देश है, उनकी वह सीमा यदि निष्फल होती है, तब लज्जा कहाँ रहेगी? और वस्त्रों से रहित दशा में श्रीकृष्ण के पास आने के लिए तो हिम, अर्थात् जाड़ा ही एक पूरा बहाना है, अर्थात् जाड़े का बहाना बनाकर निर्वस्त्र भी आ सकती हैं ॥७३॥

इस प्रकार अनेक शंका समाधान के बाद, महान् कष्ट से वे कुमारियाँ जल से उठ खड़ी हुईं, तो भी उनके सब अवयव प्रकाशित नहीं हुए। किन्तु वे कुमारियाँ अपने अपने हस्तरूपी पल्लव से आगे का वस्त्र बनाकर, अर्थात् हाथों से आगे का भाग ढककर, एवं केशों के विस्तार के द्वारा अन्य सब वस्त्रों को धारण कर, अर्थात् केशों की लम्बाई से अन्य सब अङ्गों को ढाँककर, तथा अपने अपने आगे छोटी छोटी छोरियों को रखकर, कूबड़ी की तरह देह नवाकर, श्रीकृष्ण के पास आ मिलीं ॥७४॥

तदनन्तर अरे भैया कृष्ण! देखो, देखो तो सही। सब ओर से डरी हुईं ये कुमारियाँ, चुराये हुए तुम्हारे वस्त्रों को जल में ही पटक कर आ गई हैं। इस प्रकार आपस में सम्भाषण करके बालकवर्ग जब प्रबल अट्टहास कर रहा था, तब श्रीकृष्ण तो अग्रिम विचार करते हुए, भारी दया को प्राप्त हो गये— ॥७५॥

"शशधरतन्वा तुलना,-माहतलक्षणतया ययुर्यदपि ।
तदपि च तां सहसामू,-राहतलक्षणतया जिग्युः ॥७६॥

एताः सत्कुलसम्भवा वरमहो वांछन्ति देहव्ययं
न व्रीडाक्षयमेवमप्यथ दशामेतां गता मत्पुरः ।
बीजं चात्र परन्तु मद्विमुखताशङ्का ततः कुण्ठता-
मुत्कण्ठा किरती विलोडयति मामासां निजाशर्मणि ॥७७॥

तथाप्यासां सुष्ठु तन्निष्ठां निष्टङ्कयितुं पङ्कदर्शिनं मनोरथस्पर्शिनं परिहासमप्यतीव स्पष्टयितुं चित्तमिदमुत्कण्ठते । यदागता अपि सङ्कोचावगाहतः परस्परमाहत-प्रकाशावयवा एव तिष्ठन्ति' इति ॥७८॥

"प्रकाशन्नुवाच,—'अरे रे ! चपलाः ! कथं भवन्तो हसन्ति ? एताः खलु नग्निका एव कथं वा नग्निकाभावे दोषमर्हन्ति ?' इति ॥७९॥

"अथ पुनर्वस्त्रकदम्बं कदम्बस्कन्धसन्धिविशेषे सप्रत्याहारं तत्प्रत्यक्षसंवलिततया सन्धाय प्रेमबन्धाय सस्मितं ताः प्रत्येवमाह स्म,—'दास्याङ्गीकार-कारणात् प्रदास्याम्येव

यथा—यद्यपि ये कुमारियाँ गुणों के द्वारा विख्यातजनों के स्वभाव को प्राप्त होने के कारण, चन्द्रमा की मूर्ति के साथ तुलना को प्राप्त हो गई थीं, तो भी इन कुमारियों ने अपनी निष्कलंकता के कारण, उस तुलना को जीत लिया ॥७६॥

अहो ! कैसे आश्चर्य की बात है कि, सत्कुल में उत्पन्न हुई ये कुमारियाँ अपने देह के नाश को भले ही चाहती हैं, किन्तु इस प्रकार लज्जा के नाश को नहीं चाहतीं, क्योंकि कुलाङ्गनाओं का यही भूषण है। इतने पर भी ये मेरे सामने इस प्रकार की दशा को प्राप्त हो गई हैं। परन्तु "मैं पीछे विमुख होकर निषेध कर दूँगा" इस प्रकार की मेरी विमुखता की आशंका ही, इनकी ऐसी दशा में मूल कारण है। इसलिए इनकी उत्कण्ठा संकुचित भाव को दूर फेंकती हुई, मुझको ही अपने सुख के अभाव में आलोचित कर रही है। अर्थात् ऐसे विशुद्ध स्नेहवाली गोपियों से विमुख होने पर तुमको सुख न मिलेगा, ऐसी आलोचना कर रही है ॥७७॥

तथापि इनके लज्जा के त्याग के विषय में मेरी विमुखता की आशंका को निश्चित करने के लिए, दोष को देखनेवाले एवं मनोरथ का स्पर्श करनेवाले, परिहास को भी अच्छी तरह स्पष्ट करने के लिए, यह चित्त उत्कण्ठित हो रहा है। क्योंकि ये मेरे पास आकर भी, संकोच में मग्न होने के कारण, परस्पर अस्पष्ट है प्रकाश जिनका, ऐसे अङ्ग-प्रत्यङ्गों से युक्त होकर ही खड़ी हैं ॥७८॥

इस प्रकार मनमें विचारकर श्रीकृष्ण स्पष्ट बोले—अरे ! ओ ! चञ्चल बालको ! तुम सब क्यों हँस रहे हो ? ये सब कुमारियाँ नंगी ही हैं, अतः नंगेपन की दशा में किस प्रकार दोषभागी हो सकती हैं ? अथवा ये सब कन्यायें "नग्निकाऽनागतार्तवा" इस अमरकोष के अनुसार रजोधर्म से रहित ही हैं, अतः मासिकधर्म से रहित दशा में, किस प्रकार दोषभागी हो सकती हैं, अर्थात् कदापि नहीं ॥७९॥

तदनन्तर कदम्बवृक्ष की शाखाओं की सन्धिविशेष में धरे हुए, वस्त्रसमूह को ग्रहणपूर्वक, उनकी आँखों के सामने दिखाकर, प्रेम का बन्धन जोड़ने के लिए, उन कुमारियों के प्रति मृदुमुस्क्यानपूर्वक बोले—

तान्येतानि वस्त्राणि, किन्तु पूर्वमशक्यनिर्णयः, सम्प्रति तु निर्वर्ण्य निर्णीतः सोऽयं सद्गुरुतो यजतनमतां प्राप्तवतीनां भवतीनां दुर्नयः सपदि मां विवर्णयन् वर्तते, तदेतदवधार्यतां भवतीभिः ॥८०॥

'शम्बरं प्रविविशे विनाम्बरं, यत्तदेव जलदेवहेलनम् ।
छिद्रमावरितुमत्र तद् व्रते, शीर्षभाक्करयुगं स नम्यताम् ॥'८१॥

"तास्तु तत्र सापत्रपचित्ताश्च परमभीतिभित्तास्तथाकार्यतयावधार्य 'पश्यत केऽपि शब्दायन्ते' इति बालानां दृष्टीः प्रतार्य 'पतिरेव देवता' इति विचार्य सपरिहास-विलास-व्याजतस्तमेव नमश्चक्रुः,—'स्वामिन् ! नमस्तुभ्यम्' इति ॥८२॥

"ततश्च कृष्णः सकौतुकतृष्णतया तासां प्रतिप्रतीकं संदृश्य स्निग्धतां विदग्धतामपि परामृश्य लब्ध-प्रसादमेलः खेलावलितं चेलानि यथास्वमर्पयामास । यत्र च दृष्टिपथसेवनादेव भवतीनां पुष्टिदीर्घतादिकं मम मुष्टिगतं जातम्, कथमन्यथा समर्पणं कुर्यामित्येवं तुष्टिं ददानः स्वविचक्षणतां लक्षयामास ॥८३॥

मेरी दासता के अङ्गीकार करने के कारण, तुम्हारे ये सब वस्त्र तो अवश्य दूँगा, किन्तु पहले जिसका निर्णय करना कठिन था, अब तो साक्षात् देखकर तुम्हारी उस दुर्नीति का निर्णय हो गया। अतः सद्गुरु के द्वारा "पूजा करो, नमस्कार करो" इस प्रकार की क्रिया को प्राप्त करनेवाली होने पर भी, तुम्हारी वह दुर्नीति मुझको शीघ्र ही विवर्ण (मलिन) करती हुई वर्तमान है। इस बात को तुम सब निश्चय करके समझ लो ।।८०॥

तुम सब नंगी होकर वस्त्रों के बिना जल में जो प्रविष्ट हो गईं, यही जलदेवता का तिरस्कार हो गया। बस, तुम सबसे यही दुर्नीति बन गई है। इसलिए इस व्रत में होनेवाले छिद्र (दोष) को ढ़कने के लिए, अपने अपने मस्तक पर दोनों हाथ धरकर, उस देवता को नमस्कार कर दो ।।८१॥

वे सब कुमारियाँ तो वहाँ पर दूसरे बालकों से चित्त में लज्जित होकर, भारी भय से विदारित होकर, उस प्रकार नमस्कार, स्वामी की आज्ञानुसार अवश्य करने योग्य है, ऐसा निश्चयकर, "अरे बालको! देखो, देखो। उधर कोई हल्ला गुल्ला कर रहे हैं" ऐसे कहकर बालकों की दृष्टि को ठगकर दूसरी ओर घुमा कर, पतिव्रता का पति ही देवता होता है, ऐसा विचारकर परिहासविलास के बहाने श्रीकृष्ण को ही "हे स्वामिन्! आपके लिए नमस्कार है" इस प्रकार कहकर नमस्कार करने लग गईं ।।८२॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण ने कौतुक एवं तृष्णा के सहित, उनके प्रत्येक अङ्ग को निरीक्षण कर, एवं उनकी स्निग्धता तथा रमणीयता को भी विचारकर, प्रसन्नता के सम्मेलन को प्राप्त होकर, खेलपूर्वक हँसते हँसते विधिपूर्वक वस्त्रों को समर्पित कर दिया। और जिस समर्पण में नेत्रमार्ग के द्वारा अनुभव करने के कारण, तुम सबकी पुष्टि (मोटापन), एवं दीर्घता (लम्बाई) आदि सब मेरी मुट्ठी में आ गई है। इसके देखे बिना मैं विधिपूर्वक कैसे समर्पण कर सकता था ? इस प्रकार कहकर सन्तोष देते हुए, अपनी पण्डिताई को भी दिखा दिया ।।८३॥

"किन्तु, प्रातिकूल्यवचनं च सौहृदा,-दानुकूल्यमभिगम्य शर्मदम् ।
पश्य वस्त्रहरणादिना हरिः,प्रत्युत प्रमदयाम्बभूव ताः ॥८४॥

"ततश्च वृक्षादवतीर्णवति तस्मिन्,—
"लज्जासंवरणार्थमम्बरमधुर्बाला भृशं लज्जिता-
स्तर्हि स्वाङ्गवृतिं दधुर्मुहुरहो व्यक्ताऽन्तरङ्गारति ।
कृष्णादल्पविवृत्तवक्त्रकमलास्तस्थुर्द्दृगन्तः पुन-
स्तत्रागाद् व्रजसुभ्रुवामहह भोः ! कामस्य वामा गतिः ॥८५॥
यदर्थमत्रागतवानयं हरि,-र्वरार्पणं विस्मृतवांस्तदेव तु ।
तासां मुखाम्भोजततेर्मधूलिका,-सौरभ्यमात्रं परिरम्य नासया ॥८६॥

"ततश्च, भृङ्गश्रेण्य इवाम्भोजं रसपूर्णं कुमारिकाः ।
भर्तृकामास्तदा कृष्णं वरीतुं परितः स्थिताः ॥८७॥

"अथ तेषु चाकरालेषु बालेषु 'चल चल किंवा करणीयमत्र' इति करद्वयं वसनादि-परिकरचयं चाकृष्य हृष्यत्सु वितरणीयं वरमम्बरहारिताहारी हरिः स्वयमनुसंहितवान् ॥८८॥

किन्तु देखो, आश्चर्य की बात । प्रतिकूल वचन भी सच्ची मित्रता के कारण, अनुकूलता को प्राप्त होकर, सुखदाई होता है । इसी रहस्य को देख लो कि, श्रीकृष्ण ने वस्त्रहरण आदि के द्वारा उन कुमारियों को रुष्ट करने के बदले, महान् हर्षित कर दिया ॥८४॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण जब वृक्ष से नीचे उतर आये, तब महान् लज्जित हुईं वे बालिकायें लज्जा को ढ़कने के लिए, वस्त्र धारण करने लग गईं । उस समय वे अपने अपने अङ्गों के आवरण को धारण कर रही थीं, तो भी आश्चर्य यह था कि—उनकी अन्तरङ्ग प्रीति बार बार व्यक्त (स्पष्ट) होती जा रही थी । और श्रीकृष्ण को पाकर उनका मुखकमल थोड़ा सा खिल उठा, इसी प्रकार उनके सामने खड़ी हो गईं । किन्तु उन व्रजसुन्दरियों का कटाक्ष पुनः श्रीकृष्ण की ओर चला गया । अहह ! मित्रो ! काम की गति बड़ी टेढ़ी है ॥८५॥

ये श्रीकृष्ण जिस वरदान को देने के लिए यहाँ पर आये थे, उसी वर को देना तो वे भूल गये । कारण—नासिका के द्वारा उन गोपकन्याओं के मुखारविन्दश्रेणी की मधुश्रेणी की सौरभ (सुगन्ध) मात्र को ग्रहणकर वे विस्मृति में पड़ गये थे ॥८६॥

उसके बाद मधुकरश्रेणी जैसे रसपरिपूर्ण कमल को वरने के लिए, उसके चारों ओर स्थित हो जाती है, ठीक उसी प्रकार उस समय पति की कामनावाली वे गोपकुमारियाँ भी, अनुराग रसपरिपूर्ण श्रीकृष्ण को वरने के लिए, उनके चारों ओर खड़ी हो गईं ॥८७॥

तदनन्तर परम कोमल वे चारों बालक "भैया कृष्ण ! चल, चल । यहाँ पर हमको क्या करना है ?" यह बात कहकर श्रीकृष्ण के दोनों हाथों को, तथा वस्त्र भूषण आदि एवं कमर की फेंट के समूह को खेंचकर जब हर्षित हो रहे थे, तब वस्त्रहरण के कारण मनोहर श्रीकृष्ण देने योग्य अपने वर को स्वयं अनुसन्धान (याद) करने लग गये ॥८८॥

"ततश्च, तासां विज्ञाय गोपालः स्वकरस्पर्शकाम्यया ।
धृतव्रतानां सङ्कल्पं कल्पयामास सिद्धिदम् ॥८९॥

"यथा—स्वस्यार्थः स तु यद्विभाति परतः स्वीयं समाराधनं
मय्याविष्टमनास्त्वनादरमथाचर्यात्र माराध्यति ।
तत्राद्ये स्वयमस्मि शश्वदुपमा यूयं द्वितीये ततः
सङ्कल्पो निरुपाधिरेष भवतीष्वेवातिसत्यो मतः ॥९०॥
सर्पिर्भृष्टतमा गुडक्वथितताभाग्भाश्च धाना यथा
रस्यन्ते स्वयमेव बीजवदमूस्तन्वन्ति नान्यस्पृहाम् ।
मन्मात्रस्पृहिणां मदीयभजनं नो तद्वदन्यस्पृहं
किन्तु स्याद्रसनीयरूपमिति चेद् युष्माकमास्तां कथा ॥९१॥

"तदेवमाकर्णिनीर्वरवर्णिनीः सद्य एव गान्धर्वपर्व सम्पद्यताम्' इत्यभिप्रायतया सापत्रपनयनाः स्वीकृतिमयसमयमपेक्षमाणाः प्रति समर्धकतया समर्धकतां गच्छन् पुनरच्छमुवाच,—॥९२

'यथा—मिथः स्वीकारः स्यात् परिणयविधिस्तत्परिकराः
परे ते ते धर्माः स पुनरुदबोधि स्वयमिह ।

उसके बाद अपने करकमल के स्पर्श की कामना से व्रत को धारण करनेवाली उन सब कुमारियों के संकल्प को जानकर, श्रीगोपालजी ने उस संकल्प को सिद्धि देने वाला बना दिया ॥८९॥

यथा—दूसरे की आराधना करके उससे यदि अपना स्वार्थ सिद्ध होकर प्रकाश पाता है, तब तो उसको दूसरे की आराधना न कहकर, एक प्रकार से अपनी ही आराधना कहनी चाहिए। किन्तु मेरे में मन लगाने वाला निष्काम भक्त तो, यहाँ पर अपनी भक्ति को छिपाने के लिए बाह्यदृष्टि से मेरा अनादर करके भी, मेरा ही सच्चा आराधन करता है। उन दो प्रकार के व्यक्तियों में से पहले के विषय में तो मैं स्वयं ही चिरकाल के लिए उपमारूप बना हुआ हूँ, और दूसरे निष्काम व्यक्ति के विषय में तुम सब पूर्ण उपमारूप बनी हुई हो। अर्थात् मेरे जैसा स्वार्थी नहीं, तुम्हारे जैसा परमार्थी (निष्काम) नहीं। इसलिए निष्कपट निष्काम जो यह संकल्प है, वह तो आप सबमें ही अत्यन्त सत्य माना गया है ॥९०॥

जिस प्रकार घी के द्वारा अतिशय भूँजे हुए, एवं गुड़ की चासनी के द्वारा पकाये गये धान, स्वयं रस लेने के योग्य ही होते हैं, किन्तु वे धान बीज की तरह "अंकुरोत्पत्तिरूप" दूसरी इच्छा को प्रगट नहीं करते। उसी प्रकार केवल मेरी चाहना करने वालों का मेरा भजन भी, दूसरी सांसारिक वासना को उत्पन्न नहीं करता, किन्तु रसनीयरूप ही हो जाता है। यदि ऐसी बात है, तब तुम्हारे जैसे निष्काम भक्तों के विषय में तो कहना ही क्या है ? ॥९१॥

इस प्रकार के भाव श्रवण करनेवाली "शीघ्र ही गान्धर्व विवाहमय महोत्सव सम्पन्न हो जाय" इस अभिप्राय से, लज्जायुक्त नेत्रों वाली, स्वीकृतिमय समय की अपेक्षा करने वाली, उन श्रेष्ठतम गोपाङ्गनाओं के प्रति, वर देने वाले की तरह, समृद्धिकारिता को प्राप्त होते हुए, श्रीकृष्ण पुनः निर्मलतापूर्वक बोले—॥९२॥

यथा—परस्पर का स्वीकार ही विवाह का मुख्य विधि होता है, और दूसरे "ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस, पैशाच" ये जो विवाह के धर्म हैं, वे सब तो स्वीकार के अधीन हैं।

अतो यूयं सिद्धा व्रजगमनमेवाद्य कुरुत
क्षपायां कस्याश्चित् किल मिलनमप्याशु भविता ॥'६३॥

"तदेवं ताभ्यः प्रतिश्रुतवति तस्मिन्नधिकमेव तासामावेशो जातः । यथाह श्रीशुकः, (भा० १०।२२।२८)—

'इत्यादिष्टा भगवता लब्धकामाः कुमारिकाः ।
ध्यायन्त्यस्तत्पदाम्भोजं कृच्छ्रान्निर्विविशुर्व्रजम् ॥'६४॥

"तथाहि—अक्षिभ्यां वक्त्रबिम्बाद्भुजयुगरुचिभाग्मध्यभागान्नितम्बा-
दूरुभ्यां जानुयुग्मात् पदसरसिरुह-द्वन्द्वमापुर्मुरारेः ।
व्रीडानम्राः स्वदृग्भ्यामहह मृगदृशस्तद्वियुक्तौ तु तत्तत्
पश्चाद् दृष्टं पदं तु प्रतिपदमुदभूदन्तरे लग्नमासाम् ॥६५॥

द्वे चित्त-वाससी नीत्वा कुमारीणां परं ददे ।
न पूर्वं तु निराकारं गोपनीयमितीव सः ॥६६॥

यत्तर्ह्यन्तिमघस्रपूर्यमपि ता देव्यर्चनं सम्मदाद्
विस्मृत्य व्रजमेव जग्मुरभवंस्तेनैव पूर्णक्रियाः

वह स्वीकार यहाँ पर स्वयं ही अच्छी प्रकार ज्ञात हो गया है। अतः तुम सब गान्धर्व विवाह की रीति से कृतार्थ होकर, आज तो व्रज को ही चली जाओ। और किसी रात्रि में मिलना भी, निश्चितरूप से शीघ्र ही हो जायगा ॥६३॥

इस प्रकार उनके प्रति श्रीकृष्ण के प्रतिज्ञा करने पर तो, उनका आवेश अधिक उत्पन्न हो गया। यथा—श्रीशुकदेवजी ने कहा है कि—हे राजन्! भगवान् के द्वारा इस प्रकार आदेश पाकर, वे कुमारियाँ अपना मनोरथ पाकर, श्रीकृष्ण के चरणकमल का ध्यान करती हुईं, बड़ी कठिनाई से व्रज में प्रविष्ट हुईं ॥६४॥

और देखो! लज्जा के भार से नम्र हुईं, मृगलोचना उन कुमारियों ने, अपने नेत्रों के द्वारा, श्रीकृष्ण के नेत्रों को प्राप्तकर, अर्थात् अनुभवकर, पश्चात् क्रमशः मुखबिम्ब को, दोनों भुजाओं की कान्ति से युक्त मध्यभाग को, नितम्बभाग को, दोनों जंघाओं को, दोनों जानुओं को प्राप्तकर, दोनों चरणकमलों को प्राप्त कर लिया। पुनः श्रीकृष्ण के वियोग में तो पहले देखे हुए नेत्र, मुखबिम्ब आदि अङ्गों के पीछे देखा हुआ श्रीकृष्ण का युगल चरणकमल तो, उन कुमारियों के अन्तःकरण में ही संलग्न हो गया, और प्रतिक्षण उदय पाने लगा ॥६५॥

श्रीकृष्ण ने गोपकुमारियों के चित्त एवं वस्त्र दोनों वस्तु लेकर केवल वस्त्र दे दिया, किन्तु पहले लिए हुए निराकार चित्त को नहीं दिया। इसी कारण से वह गोपनीय हो गया ॥६६॥

उस समय अन्तिम दिन में पूर्ण करने योग्य देवी के पूजन तथा उद्यापन को भी "पतिरूप में श्रीकृष्ण की प्राप्तिरूप" हर्ष की अधिकता के कारण भूलकर, वे कुमारियाँ व्रज को ही जो चली आईं, वह उनकी

प्रेम्णो यस्य तु तच्च तच्च लषितं तस्याथ साक्षात्फलं
कृष्णाङ्गीकृति-शर्म चेद् बबलिरे किं शिष्टमिष्टं परम् ?" ॥९७॥

मधुकण्ठ उवाच,—"मासिकमिष्टमनु मिष्टं मिष्टं भुक्तवती देवी कथमिष्टदानार्थमागमनं मुक्तवती ?" ॥९८॥

स्निग्धकण्ठ उवाच,—

"राग एव किल सिद्धिकृदासां, नास्मदर्चनमिति प्रतिपद्य ।
नागमद् वरविधाविह दुर्गा, किन्तु रागविषयः स्वयमेव ॥'९९॥

मधुकण्ठ उवाच,—"नूनमेताश्च गर्गेणैव गोविन्दादपेताः कृताः । स्निग्धकण्ठ उवाच,—कृताः, किन्तु न साक्षात् । मधुकण्ठ उवाच,—कथमिव ? स्निग्धकण्ठ उवाच,—यद्यपि साध्वीशिरोमणिरमणीनां राधादीनां दीनायमानानामालोचनसङ्कोचतस्तस्य पुनर्व्रजागमनमनु मनो न जातम्, तथापि तदनुसन्धानं विना व्रतबन्धादिद्वयं न सन्धातव्यमिति श्रीव्रजपतिजम्पत्योः कृतनिबन्धतया राधादीनां वधूनामलाभादुत्पन्नमनस्कारप्रतिबन्धतया च ताः परम्परया पराकृताः ।" ॥१००॥

क्रिया तो श्रीकृष्ण की प्राप्ति से ही परिपूर्ण हो गई। क्योकि जिस प्रेम का अभिलषित वह देवीपूजन एवं उद्यापन था, उस प्रेम का साक्षात् फल तो श्रीकृष्ण के द्वारा पत्नीरूप में, अङ्गीकार का सुख ही था। वह यदि उनको मिल गया, तब उनका और परम इष्टविषय कौनसा अवशिष्ट रह गया ? ॥९७॥

मधुकण्ठ बोला—भैया स्निग्धकण्ठ ! एक बात बताओ कि, एक महीना भर की पूजा के उपलक्ष में मीठे मीठे माल खाने वाली देवी, इष्टवस्तु देने के लिए आने को क्यों छोड़ गई, अर्थात् क्यों नहीं आई ? ॥९८॥

स्निग्धकण्ठ बोला—उन कुमारियों की इष्टसिद्धि को करनेवाला उनका अनुराग ही निश्चितरूप से हो सकता है, किन्तु मेरा पूजन नहीं, ऐसा जानकर ही, वह दुर्गादेवी (कात्यायनी) वरदान के विधान के समय यहाँ नहीं आई, किन्तु अनुराग के पात्र श्रीकृष्ण ही स्वयं आगये ॥९९॥

मधुकण्ठ बोला—निश्चय ही श्रीगर्गमुनि ने ही ये कन्यायें श्रीकृष्ण के निकट से दूर कर दी गई । स्निग्धकण्ठ बोला—करीं तो सही, किन्तु साक्षात् रूप से नहीं। मधुकण्ठ बोला—किस प्रकार ? स्निग्धकण्ठ बोला—यद्यपि पतिव्रताओं की शिरोमणि श्रीराधा आदि रमणियाँ हैं, किन्तु श्रीकृष्ण के वियोग में वे दीन दुःखी हो रही हैं, अतः ऐसी अवस्था में उनके देखने के संकोच से, श्रीगर्गमुनि का मन पुनः व्रज में आने को तत्पर न हुआ, तथापि श्रीगर्गमुनि के अनुसन्धान के बिना "व्रतबन्ध (उपनयन) एवं विवाह ये दोनों कार्य नहीं करने चाहिये" इस प्रकार व्रजराज एवं व्रजरानी दोनों के अङ्गीकार के कारण, तथा श्रीराधा आदि वधूगण के न मिलने से उत्पन्न हुए, मानसिक क्षोभ के प्रतिबन्ध के कारण, वे कुमारियाँ परम्परापूर्वक श्रीकृष्ण से वियुक्त कर दी गई ॥१००॥

मधुकण्ठ उवाच,—"र्तीह ताः कुमारिकाः कथमासन् ? स्निग्धकण्ठ उवाच,—बहिः कौमारेण रहस्तु श्रीहरिपरिणीतता-व्यवहारेण। मधुकण्ठ उवाच,—सत्यम्, बाल्यमेव खलु पूर्वासां बोधस्य विरोधं कुर्वाणमासीदिति विपरीत-रीतिर्जाता कथमिव ज्ञानोत्तराणामुत्तरासां सा भवेत् ?" इति ॥१०१॥

तदेतत्कथां प्रथयित्वा कथकः श्रीराधां बोधयति स्म,—

"एवं बलानुजातेन यद्विलम्बावलम्बनम्।
तद्बलं बलवज्जातं तव संवलनं विना ॥१०२॥

"यत एव पूर्वं स्तब्धा वेणुशिक्षा तेन पुनरारब्धा। यत्र कथाविशेषप्रथनं पद्यद्वयं साम्प्रतलीलामयमपि (भा० १०।३१।२) 'शरदुदाशये साधुजात-' इत्यादिवत्तासां वचसा रसावहं स्यादिति तद् द्वारा श्रीपरीक्षिच्छिक्षागुरुणा निक्षिप्तम्; ।।१०३॥

"तद्यथा (भा० १०।२६।३६)—
'यर्ह्यम्बुजाक्ष ! तव पादतलं रमाया, दत्तक्षणं क्वचिदरण्यजन-प्रियस्य।
अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमक्षमङ्ग !, स्थातुं त्वयाभिरमिता बत पारयामः ॥'
इति तासां रासरजन्यारम्भे दैन्यसम्भेदनं निवेदनम्, ॥१०४॥ (भा० १०।२१।१७)—

मधुकण्ठ बोला—श्रीगर्गमुनि के वचन में बँधे रहने के कारण, श्रीराधा आदिकों का वैवाहिक सम्बन्ध नहीं हो पाया, यह बात तो मैंने मान ली, किन्तु यमुनातट पर जिनका गान्धर्व विवाह हो गया, वे कुंआरी कन्या कैसे रह गईं ? स्निग्धकण्ठ बोला—बाहर कुमारावस्था से रहीं, किन्तु एकान्त में श्रीकृष्ण के साथ विवाहसम्बन्धी व्यवहार से रहीं। मधुकण्ठ बोला—यह बात सत्य है, क्योंकि बालकपन ही उन कुमारियों के ज्ञान का विरोध करता रहा, अतः विपरीत रीति हो गई, अर्थात् बाल्यावस्था की प्रधानता रही। स्निग्धकण्ठ बोला—जिनका ज्ञान उत्तरोत्तर अधिक है, ऐसी राधिका आदि गोपियों की वह विपरीत गति कैसे हो सकती है ? अर्थात् ज्ञान की प्रधानता के कारण श्रीकृष्ण से वियोग रहा ॥१०१॥

अतः इस कथा का विस्तार करके कथावाचक, श्रीराधा को समझाने लग गया कि—हे श्रीमती ! राधिके ! श्रीकृष्ण ने इस प्रकार जो विलम्ब का अवलम्बन किया, तुम्हारे मिलन के बिना उस विलम्ब के अवलम्वन का बल प्रबल हो गया था ॥१०२॥

जिस कारण से श्रीकृष्ण ने पहले स्थगित की हुई भी, वेणुशिक्षा पुनः प्रारम्भ कर दी। जिस वेणु-शिक्षा में कथाविशेष के विस्तारक दो श्लोकों को, इस लीला के उपयोगी होने पर भी "शरदुदाशये साधुजातसत्" इत्यादि श्लोकों की तरह, उन गोपियों के वचन के साथ विशेष रस देने वाले हो जायेंगे, इस विचार से श्रीपरीक्षितजी के शिक्षागुरु श्रीशुकदेवजी ने, उन गोपियों के द्वारा रासलीला के प्रसङ्ग में, तथा वेणुगीत में स्थापित कर दिये ॥१०३॥

वे दोनों श्लोक, यथा—हे प्यारे कमलनयन ! तुम बनवासी ग्वालबालों के प्यारे हो, और वे भी तुमसे बहुत प्यार करते हैं। इससे प्रायः तुम उन्हीं के पास रहते हो। यहाँ तक कि तुम्हारे जिन चरणों की सेवा का अवसर, स्वयं लक्ष्मीजी को भी कभी कभी मिल पाता है, उन्हीं तुम्हारे चरणों के तलभाग का स्पर्श हमने किया, और तुमने हमको स्वीकारकर आनन्दित किया, उसी दिन से हम दूसरे के सामने एक

'पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगाय-पदाब्जराग,-श्रीकुंकुमेन दयितास्तनमण्डितेन ।
तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरूषितेन, लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम् ॥'

इति पूर्ववर्णितवेणुवर्णनमयम् ॥१०५॥

"तदिदं स्पर्शद्वितयं कान्तयोगज-भोगविशेषमयं न स्यात्, रास-रजन्यां दक्ष्यमाणकृष्ण-प्रत्याख्यानायुक्तेः। रासारम्भ एव (भा० १०।२९।१) 'भगवानपि रन्तुं मनश्चक्रे' इत्युक्तेश्च । तदेवं (भा० १०।२९।३६) 'त्वयाभिरमिता' इत्यस्य तु तत्स्पर्शानन्तरं त्वया सर्वतोभावेन प्रयुक्तरत्याख्यभावा इत्येवार्थः सङ्गच्छते ॥१०६॥

"तस्मादथेदं विव्रियते । तदेवं दीर्घरात्रतया मन्दतापात्रं हेमन्तार्धेन सार्धं शिशिरं परि निशि निशि वंशीशंसितमभ्यस्यति तस्मिन् वसन्त आयातः । स च सार्वत्रिक-चार्वनुभवोऽपि वृन्दावने वृन्दारकतामविन्दत ॥१०७॥ यथा—

वसन्तति निदाघोऽपि वसन्तस्यात्र किं ब्रुवे ?
वसन्तं यत्र गोविन्दं सर्वसन्तः सदा विदुः ॥१०८॥

क्षण भी खड़े होने को समर्थ नहीं हैं। इस श्लोक में रासवाली रात्रि के आरम्भ में, उन गोपियों का दीनता प्रकाशपूर्वक निवेदन है ॥१०४॥

वेणुगीत के श्लोक का भाव, यथा—अरी भटू ! हम तो वृन्दावन की इन भीलनियों को ही धन्य और कृतकृत्य मानती हैं। ऐसा क्यों सखी ? इसलिए कि इनके हृदय में बड़ा प्रेम है। जब ये हमारे कृष्ण प्यारे को देखती हैं, तब इनके हृदय में भी उनसे मिलने की तीव्र आकांक्षा जाग उटती है, एवं प्रेम की व्याधि लग जाती है। उस समय ये क्या उपाय करती हैं ? यह भी सुन लो। हमारे प्रियतम की प्रेयसी गोपियाँ, अपने वक्षःस्थलों पर जो सुन्दर केसर लगाती हैं, वह श्यामसुन्दर के चरणों में लगी होती है, और वे जब वृन्दावन के घासपात पर चलते हैं, तब उनमें भी लग जाती है। ये सौभाग्यवती भीलनियाँ उसे उन तिनकों से छुड़ाकर, अपने स्तनों और मुखों पर मल लेती हैं। इस प्रकार अपने हृदय की प्रेमपीड़ा को शान्त करती हैं। यह श्लोक पूर्ववर्णित वेणु वर्णनमय है ॥१०५॥

इसलिए यह दो प्रकार का स्पर्श, श्रीकृष्ण के मिलने से उत्पन्न अनुभवविशेष का स्वरूप नहीं हो सकता। क्योंकि रासवाली रात में श्रीकृष्ण उन गोपियों को निषेध न कर सकेंगे, यही कहा जायगा। और रास के आरम्भ में ही "भगवान् ने भी रमण करने के लिए मन किया" यह कहा है। अतः इसी प्रकार 'त्वयाभिरमिता' का तो, उस स्पर्श के अनन्तर तुम्हारे द्वारा सर्वतोभाव से, हमारे ऊपर रतिनामक भाव प्रयुक्त किया है। यह अर्थ ही युक्तिसङ्गत है ॥१०६॥

इसलिए अब यह विवरण करते हैं कि—इस प्रकार लम्बी रात होने के कारण, जड़ता के पात्र आधे हेमन्त के सहित, शिशिरऋतु को लक्ष्यकर, प्रत्येक रात में श्रीकृष्ण जब वंशी के बजाने का अभ्यास करते थे, तब वसन्तऋतु आ गया। और वह वसन्त सब जगह मनोहर अनुभववाला होकर भी, श्रीवृन्दावन में तो सर्वश्रेष्ठता को प्राप्त हो गया ॥१०७॥

यथा—इस श्रीवृन्दावन में तो ग्रीष्मऋतु भी वसन्त का सा आचरण करता है, फिर वसन्त का वैशिष्ट तो कहना ही क्या है ? सभी सन्त इस बात को जानते हैं, एवं अनुभव भी करते हैं कि—"जिस वृन्दावन में श्रीगोविन्द नित्य निवास करते हैं" उसकी महिमा कौन कह सकता है ? ॥१०८॥

"तथापि हेमन्तशिशिरावपि तापदा-पदायतनतया यस्य यासां च प्रतिभासेते स्म। तथा च तासां कृष्ण-कृष्ण-प्रेयसीनां निदाघनियतपूर्वभावी वसन्तः किमिव तादृशतायामपूर्वः स्यात् ? ॥१०६॥

"तथा च तत्प्रेयसीनां प्रत्येकं भावना,—

'समागन्ता यर्हि प्रथममृतुराजः सखि ! तदा
ऋतूनामन्यायं बत कथयितास्मीति लषितम्।
तदास्तामेष प्राक् परभृत-शिलीवक्त्र-ततिभि-
र्वितर्जन्नेवास्मान् कृतवृजिनकं धिक् प्रविशति ॥११०॥
द्विरेफो बर्बरः प्रोक्तः परपुष्टश्च चेटकः।
तौ चाग्रण्यौ मधोर्दृष्टौ याप्यता काप्यतः किमु ? ॥१११॥

'किञ्च, प्रसूननिकराः स्मितं सरसिजानि नेत्रप्रथां
पिकाः परमपञ्चमं मधुलिहांगणाश्चुम्बनम्।
हरेर्निगमयन्ति चेत् क्व नु कुतः कथं वा गति-
र्भवेदहह नः समं सपदि माधवीयैर्वृतम् ॥११२॥
ऋतुराजः प्रणाय्योऽयं न्याय्यमत्र न विद्यते।
प्रपलाय्य क्व वा यामः श्यामं नः स तु कर्षति ॥११३॥

तथापि परस्पर के विरह के कारण, हेमन्त एवं शिशिरऋतु भी, जिन श्रीकृष्ण को एवं कृष्णप्रेयसी जिन गोपियों को, ताप देने वाली आपत्ति के स्थानरूप प्रतीत होते थे, फिर उनको ग्रीष्मऋतु के नियत पूर्ववर्ती वसन्त किस प्रकार "तापदायिनी आपत्ति की स्थानरूपता में" अपूर्व, अर्थात् कम हो सकेगा ? ॥१०६॥

उक्त विषय में श्रीकृष्ण की प्रत्येक प्रेयसी की भावना, यथा—हे सखि ! देख, ऋतुराज वसन्त जब पहले पहल आयेगा, तब मैं सब ऋतुओं के अन्याय को उसके सामने कह दूँगी, मैंने अपने मनमें इस प्रकार की इच्छा की थी। उस इच्छा की बात तो दूर रहने दो। यह निगोड़ा वसन्त तो पहले ही, कोकिल एव भ्रमरसमूह द्वारा हमको फटकारता हुआ, दुःखदानपूर्वक प्रवेश कर रहा है, अतः इसको धिक्कार है ॥११०॥

भ्रमर, बर्बर अर्थात् नीच कहा गया है, और कोकिल दास कहलाता है। वे दोनों ही वसन्तऋतु के अग्रगण्य (सेनापति) हमें दिखाई देते हैं। अतः हे सखि ! इस वसन्त की इससे अधिक अधमता और क्या हो सकती है ? अब कौन स्त्री कैसे दिन काटे ? ॥१११॥

किंच पुष्पश्रेणी श्रीकृष्ण के मृदुमधुरहास्य को, कमलश्रेणी उनके नेत्रों के विस्तार को, कोकिलश्रेणी उनके विशिष्ट पञ्चमस्वर को, एवं भ्रमरश्रेणी यदि उन्ही हरि के चुम्बन का बोध, हम सबको करा रही हैं, तब हमारी कहाँ, किसके द्वारा, किस प्रकार गति, अर्थात् निर्वाह हो सकेगा ? हाय ! हाय ! देखो तो सही। वसन्त में उत्पन्न हुई इन सब वस्तुओं ने तो, सम्पूर्ण जगत् शीघ्र ही आवृत कर लिया ॥११२॥

और यह ऋतुराज वसन्त हम सबको तो असम्मत है, क्योंकि इसमें न्याय नहीं है। अतः हम कहाँ भागकर जायँ। किन्तु वह वसन्त तो हमको श्यामसुन्दर के प्रति खेंचकर ले जा रहा है ॥११३॥

धूमाः षट्चरणा विसर्पिखरतास्पर्शा मृदुस्पर्शना
ज्वालाः किंशुकसञ्चया दिशि विदिश्यङ्गारसाराः पिकाः ।
भस्मान्यत्र परागपुष्पपटलान्यग्निर्मधुश्छद्मना
हा हा कृष्णघनं विना कथय को निस्तार-विस्तारकः ?' ॥११४॥

"अत्र श्रीकृष्णस्यापि भावनेयम्,—
'यदि न भवति गोप-सुन्दरीणा,-मयमथ मेलयितेति सम्प्रतीतिः ।
कुसुमशरशरप्रणेतुरस्य, स्फुटमनयं तमृतोः सहेत को वा ?' ॥११५॥

"राधामाधवयोश्च यथा,—
'राधा राधापदं मासि माधवे विधुतां विधुः ।
प्रियासङ्गकृते लब्धुं पौर्णमासीमवैक्षत ॥'११६॥

"पुनः सर्वासामुद्वेगो यथा,—
'द्विजानां काकली तत्र वियोगे यागसम्मिते ।
अजनि व्रजतन्वीनां धाय्येवाग्निसमिन्धनी ॥'११७॥

यह वसन्तरूप दावानल धूम आदि के छल (बहाने) से हमको जला रहा है। हाय ! सखि ! इस समय श्रीकृष्णरूप मेघ के बिना कौन व्यक्ति (चातकी सदृश) हम सबके निस्तार का विस्तारक हो सकता है ? अग्नि की समानता भी इस वसन्त में प्रत्यक्ष देख लो। भ्रमरगण ही इसमें धूम के समान हैं, कोमल वायु भी इसमें फैलनेवाली तीक्ष्णता के स्पर्श से युक्त है, पलाश (ढ़ाक) पुष्पसमूह ही इसमें ज्वाला के समान है, कोकिलसमूह ही इसमें दिशा विदिशाओं में घूमने वाले अङ्गारसार (उल्मुक) के समान हैं, और पराग (पुष्पधूलि) समूह के सहित पुष्पसमूह ही इसमें भस्मसमूह के समान प्रतीत हो रहा है। अतः हमको जलाना आश्चर्य नहीं ॥११४॥

इस वसन्त में श्रीकृष्ण की भी यह भावना हो गई थी कि—यह वसन्त गोपसुन्दरियों का मिलाने वाला नहीं है। यदि ऐसा अच्छी प्रकार का ज्ञान हो जाता, तो कामदेव के बाणों का निर्माण करनेवाले इस वसन्त के उस प्रत्यक्ष अन्याय को कौन व्यक्ति सहन कर सकता था ? अर्थात् केवल मैं ही नहीं, अपितु और कोई भी सहन नहीं कर सकता था ॥११५॥

श्रीराधा एवं माधव दोनों ही की भावना, यथा—श्रीराधाजी तो वैशाखमास में अपने प्रिय श्रीकृष्ण से मिलने के लिए ही राधापद को, अर्थात् विशाखानक्षत्र के स्थान को प्राप्त करने के लिए, तथा विधु (श्रीकृष्ण) भी अपनी प्रिया राधिका से मिलने के लिए ही, चन्द्र के स्वरूप को प्राप्त करने के लिए पौर्णमासी तिथि की या योगमाया की प्रतीक्षा या दर्शन करने लग गये ॥११६॥

पुनः कृष्णप्रेयसी सभी गोपियों का उद्वेग, यथा—वसन्तऋतु में पक्षियों की अव्यक्त मधुरवाणी, व्रज-सुन्दरियों के यज्ञतुल्य वियोग में, अग्नि को प्रज्वलित करनेवाली ऋग्वेद की ऋचा के समान हो गई, अर्थात् यज्ञ में ब्राह्मणों के द्वारा उच्चारण की गई सुमधुर ऋचा, जैसे अग्नि को प्रदीप्त कर देती है, उसी प्रकार वसन्त में पक्षियों की सुमधुर वाणी, गोपियों के वियोगरूप अग्नि को अधिक उद्दीप्त करने लग गई ॥११७॥

"अत्र वृन्दया शिक्षितः शुकः कश्चिच्छ्रीकृष्णपुरतः प्रजजल्प,—

'सहन्ते शशिनो ज्वालां वायोः क्ष्वेडं पिबन्ति च ।
राधादयो महाबाधा वैयग्र्याद् व्रजनायक ! ॥'११८॥

"अत्र च कस्यामपि चम्पकलतायां श्रीराधया स्वहस्तेन लिखितं पद्यमिदं वृन्दा श्रीगोविन्दं दर्शयामास ॥११९॥ यथा—

'वृन्दावने तमालस्त्वमहं चम्पकवल्लिका ।
अगयोर्नौ मिथः सङ्गो वृन्दयैव न चान्यथा ॥'१२०॥

"तच्च दृष्ट्वा मुहुरपि नयनाभ्यां स्पृष्ट्वा कृष्णः सतृष्णमिदमचिन्तयत्,—'हन्त ! भद्रां पद्मां नित्यमागच्छन्नपि भद्रां पद्मामद्यापि नागच्छन्नस्मि । श्यामलाभामधुरतामञ्चन्नपि श्यामला-भिलाषविधुरतामञ्चन्नस्मि । नखर-विजित-चन्द्रावलीकतामाप्नुवन्नपि चन्द्रावलीं प्रति लब्धतृष्णतामाप्नुवन्नस्मि ॥१२१॥

'हन्त ! हन्त ! यद्यप्येवमेवम्, तथापि क्रमप्राप्तसुललितविशाखान्वितराधतामाव्रजन्नप्य-लब्धसुललितविशाखान्वितराधतां यदाव्रजामि, तदिदं मामतिदुःखाकरोति । तस्या राधाया एव नूनमियं विदग्धतानिदिग्धतानिदिग्धबुद्धेः पटीयसी परिपाटी' इति ॥१२२॥

इसी समय वृन्दा के द्वारा सिखाया हुआ कोई शुक (तोता), श्रीकृष्ण के आगे आकर बोला—हे व्रजनायक ! महती मानसिक पीड़ा से संयुक्त श्रीराधा आदि गोपियाँ, व्याकुलता के कारण, चन्द्रमा के निकट से भी अग्नि की सी ज्वाला को सह रही हैं, एवं मलयसम्बन्धी वायु से भी विषपान कर रही हैं। अर्थात् आपके विरह में शीतल चन्द्र भी अग्निज्वाला के समान तापप्रद, एवं शीतल वायु भी विष के समान प्रतीत होता है ॥११८॥

और इसी समय किसी एक चम्पकलता के पत्र पर श्रीराधा के द्वारा अपने हाथ से लिखा हुआ यह पद्य, वृन्दादेवी ने श्रीगोविन्द को दिखाया ॥११९॥

उसका अर्थ, यथा—इस वृन्दावन में आप ही तमालवृक्ष हो, एवं मैं चम्पकलता हूँ। अतः स्थावर या गतिरहित हम तुम दोनों का परस्पर संयोग तो, वृन्दावन की अधिष्ठात्री वृन्दादेवी के द्वारा ही, संघटित हो सकता है, अन्यथा नहीं ॥१२०॥

श्रीकृष्ण उस पत्र को बारम्बार दोनों नेत्रों के द्वारा देखकर, एवं छूकर तृष्णापूर्वक यह विचारने लगे कि—हाय ! मैं सर्वोत्तम मङ्गलमयी लक्ष्मी को नित्य प्राप्त होता हुआ भी, भद्रा एवं पद्मा नामवाली गोपी को आज भी प्राप्त नहीं कर पा रहा हूँ। और श्यामलवर्ण की कान्ति की मधुरता को प्राप्त करता हुआ भी, श्यामला (श्रीराधिका) में तो अभिलाषा के विच्छेद को प्राप्त कर रहा हूँ। अथवा मुझ श्यामसुन्दर पर है अभिलाषा जिसकी, उस राधिका से तो वियोग को प्राप्त हो रहा हूँ। तथा अपने नखों के द्वारा चन्द्रावली (चन्द्रपंक्ति) के जीतने के भाव को प्राप्त होता हुआ भी, मैं चन्द्रावली सखी के प्रति भारी तृष्णा के भाव को प्राप्त हो रहा हूँ ॥१२१॥

हाय ! हाय ! यद्यपि मेरी ऐसी स्थिति है, तथापि क्रमप्राप्त सुन्दर विशाखानक्षत्र से युक्त, वैशाख मास को प्राप्त करता हुआ भी, मैं सुन्दर ललिता, विशाखा नाम की सखियों से युक्त, श्रीराधिका को जब नहीं प्राप्त कर पा रहा हूँ, तब ऐसी स्थिति में पूर्वोक्त सब वस्तुएँ मुझको अत्यन्त दुःखी कर रही हैं। और

"अथ माधवपूर्णिमामासज्य सर्वतो विरज्य च पूर्णशिक्षाविलक्षणम्मन्यमना माधवः किञ्चन दुर्गमं गहनमवगाहमानः परममुरलीधमनलीलया धैर्यमूनयन्नमूः प्रधूनयति स्म, मुहुः प्रधर्षयन्नाकर्षति स्म च । साधारणतया राधापि समागमिष्यतीति ॥१२३॥

"राधा तु तत्र द्वित्रप्रहरं चित्रवदेवासीन्न पुनराकृष्टतामवलिष्ट पूर्वमन्येषामाकर्षणे ता इव ॥१२४॥

"अथ श्रीवनमालिशालि वृन्दावनमिन्द्रनीलकान्तिभिर्वलितमिव दृशा, यमुनाजल-परमाणुभिः परिचितमिव त्वचा, मृगमद-परागैः सरागमिव नसा विचार्य ताभिर्विविशे ॥१२५॥

"ततश्च, एका द्वित्राश्चतस्रो युतवियुततया पञ्चषाः सप्त चाष्टौ
पंक्तिस्तद्वृद्धिसंख्या-मिति-रहिततमास्तत्र याताः समन्तात् ।
यस्माद्व्यक्तिं प्रपन्ना कलितमुरलिकात् कर्षणीनामविद्या
तच्छ्रीवक्त्रं निरीक्ष्य प्रतिहतमतयः शर्म-लीना बभूवुः ॥१२६॥

"ततः समर्यादाश्च ताः सहसा हरेः समर्यादं सज्जमाना लज्जया तत्रावहित्थामप्यवलम्बमानास्तस्य चरणस्पृष्टिप्रथमकं दृष्टिपथमधितिष्ठन्ति स्म ॥१२७॥

इस पत्रिका में भी चतुरता से परिपूर्ण बुद्धिवाली, श्रीराधिका की ही यह लिखने की पटुतर परिपाटी निश्चित होती है ॥१२२॥

तदनन्तर वैशाख की पूर्णिमा को प्राप्तकर, सबसे विरक्त होकर, अपने मनमें अपने को पूर्ण शिक्षा से विलक्षण मानने वाले श्रीकृष्ण ने, किसी दुर्गम वन में प्रवेशपूर्वक परम मनोहर मुरलीवादन की लीला के द्वारा, धैर्य को दूर करते करते श्रीराधा आदि गोपियों को कम्पित कर दिया । और बार बार व्याकुलता उत्पादनपूर्वक अपनी ओर खेंच लिया, कारण सब गोपियों में मिलकर श्रीराधा भी साधारण होकर, यहाँ आ जायगी । सबको आर्कषित करने का यही अभिप्राय था ॥१२३॥

पहले अन्य पशु पक्षियों के आकर्षण के समय, अन्य गोपियाँ जैसे आकृष्ट नहीं हुई थीं, उसी प्रकार अब केवल गोपियों के आकर्षण में, श्रीराधा तो वहाँ पर दो तीन पहर तक चित्रलिखी सी बैठी रहीं, किन्तु वंशी के द्वारा आर्कषित नहीं हुईं । अर्थात् और सब आकृष्ट हो गईं ॥१२४॥

तदनन्तर श्रीवनमाली के प्रवेश से सुशोभित श्रीवृन्दावन को "मानो इन्द्रनीलमणि की कान्तियों से युक्त है", ऐसा अपने नेत्रों से विचारकर, एवं "यमुनाजल के परमाणुओं से ही मानो व्याप्त है", ऐसा अपनी त्वचा से विचारकर, तथा "कस्तूरी के पराग (सूक्ष्म सूक्ष्म अंश) समूह के द्वारा मानो सुरञ्जित है" ऐसा अपनी नासिका से विचारकर, अर्थात् अनुभव कर उन गोपियों ने उस वृन्दावन में प्रवेश किया ॥१२५॥

पश्चात् एक, दो, तीन. चार, पाँच, छः, सात, आठ, नौ, या दश—इस प्रकार अकेली अकेली या सम्मिलित होकर, सब गोपियाँ चारों ओर से उस वृन्दावन में आ गईं । वे सब गोपियाँ दश की वृद्धि की संख्या के अतिशय परिमाण से रहित थीं, अर्थात् असंख्य थीं । उसके बाद श्रीकृष्ण के मुरली बजाने वाले जिस श्रीमुख से आकर्षणीनामक विद्या प्रगट हुई है, उस श्रीमुख को भली प्रकार देखकर, वे सब गोपियाँ बुद्धिरहित होकर या स्थिरचित्त होकर, सुख में तल्लीन हो गईं ॥१२६॥

पश्चात् मर्यादापूर्वक सहसा श्रीकृष्ण के पास जाती हुईं वे गोपियाँ, लज्जा के कारण वहाँ पर अपने आकार के छिपाने को भी स्वीकार कर, अर्थात् भाव छिपाकर, पहले श्रीकृष्ण के चरणों का स्पर्श कर, उनके विशाल नेत्रों के सामने खड़ी हो गईं ॥१२७॥

"तत्र च,—यद्यपि मुरहरपुरतः, किञ्चन न व्यञ्जितं ताभिः ।
तदपि विलक्षणमेवा,-प्रथयदमूषां विलक्षणं भावम् ॥१२८॥

"तदेवं स च समात्मने तिष्ठमाना गोष्ठरमणीर्निरीक्ष्य क्षणकतिपयं तल्लक्ष्मीनिष्ठमना आसीत् । पश्चात्तु राधिका-सामानाधिकरण्यं विना निर्जनारण्यमपि सङ्गतास्ता भङ्गीविशेषादनङ्गीकुर्वंश्चावङ्गीरायत्यामङ्गीकारकारणावधारणाञ्चि किञ्चिद् व्यञ्जनया रञ्जयन्निव कञ्जनयनः पुनरकृतस्पृहाय च गृहाय प्रहापयामास ॥१२९॥

"तत्र भङ्गीविशेषो यथा,—
'मया स्वभावान्मुरली निनादिता, तस्माद्भवत्यः किल सङ्गता इह ।
अतः परोयुर्बत चेत् परे जनाः, शङ्के ततः सुष्ठ्वति नात्र तिष्ठत ॥' इति ॥१३०॥

"रञ्जना यथा—
'व्रजत बत निवृत्य द्राग् व्रजं नाप्रतीतिं, कुरुत मयि न किं वः प्रीतिमप्यस्मि वेद्मि ।
अहह यदि न वेद्मि प्राणसख्यस्तदा सा, भवदभिमतसिद्धिं स्वेन शीघ्रं दधीत ॥'इति॥१३१

यद्यपि उन गोपियों ने वहाँ पर श्रीकृष्ण के सामने, अपना कोई भी मनोभाव प्रकाशित नहीं किया, तो भी श्रीकृष्ण के आगे उनके अकारण खड़े होने ने ही, उनके विचित्र मनोभाव को विस्तारपूर्वक प्रकाशित कर दिया ॥१२८॥

अतएव इस प्रकार अपने लिए ही अच्छी प्रकार भाव को प्रकाशित करती हुई, व्रजसुन्दरी गोपियों को देखकर, श्रीकृष्ण का मन कुछ क्षणों तक उनकी शोभा में निश्चल हो गया। किन्तु उसके बाद कमलनयन श्रीकृष्ण ने, श्रीराधिका के एकसाथ होने के बिना निर्जन वन में आई हुई भी, उन सुन्दराङ्गी गोपियों को किसी (संकेत) इशारेविशेष से अङ्गीकार न करते हुए, उत्तरकाल में अङ्गीकार करने के निश्चय से युक्त किसी अभिप्राय को प्रकाशित करके कुछ मनोरञ्जन सा करते हुए, जिस घर में पुनः जाने की इच्छा नहीं, उसी अपने अपने घर के लिए उनको भिजवा दिया ॥१२९॥

वहाँ पर अङ्गीकार न करने का संकेतविशेष, यथा—अरी गोपियो! देखो, मैंने तो अपने सरल स्वभाव से ही वंशी बजाई थी (तुमको बुलाने को नहीं), मुझे तो निश्चय होता है कि, तुम सब उसी कारण से यहाँ पर आकर सम्मिलित हो गई हो। और मुझे यह भी शंका होती है कि—इस वंशी के शब्द से जैसे तुम सब घर छोड़कर चली आई हो, उसी प्रकार यदि अन्यजन भी चले आये तो, खेद का समाचार बन जायगा। इसलिए अब अच्छाई तो यही है कि, तुम सब यहाँ पर मत खड़ी रहो ॥१३०॥

उनकी मनोरञ्जना, यथा—हाय! तुम सब लौटकर शीघ्र ही व्रज को चली जाओ। मेरे ऊपर अविश्वास नहीं करना। मैं क्या तुम्हारी प्रीति को भी नहीं जानता? अवश्य जानता हूँ। अहह! हे प्राणप्यारी सखियो! यदि मैं तुम्हारी निश्छल निश्चल प्रीति को नहीं जानता हूँ, तो वह तुम्हारी विशिष्ट प्रीति ही, तुम्हारी अभिमत सिद्धि को स्वयं शीघ्र ही पुष्ट कर देगी ॥१३१॥

"यत्र तु तासाम्,—

नातृपत् कृपणा-दृष्टिर्नात्राप्सीत् प्रापिता श्रुतिः ।
नाताप्सीत् प्राच्छिता नासा, नातर्पीदर्पितं मनः ॥१३२॥

"तदेवं गीतम् (भा० १०।२९।३६) 'यह्र्यम्बुजाक्ष' इत्यादि ॥१३३॥

"राधायान्तु तत्र याम-द्वयं चेतनाविरामतः प्राप्तबाधायां बन्धुसमवाये च निवृत्तसर्वोपाये तूर्णमेव तदभ्यर्णं पूर्णिमा वृन्दया सह विन्दमाना बभूव । विन्दमाना च कष्टभागतिस्पष्टमाचष्ट,—॥१३४॥

'यदि मदुटजकुटजमेतामेकाकिनीं याममात्रायाममवसरं वासयथ, तदा मया नातिविरामया प्रतिकर्तव्यम्' इति ।१३५॥

"ततश्च सर्वसम्मतया कथमपि जातया तस्यास्तत्र सङ्गत्या स्फुरदत्यावेशमङ्गला मधुमङ्गलेन शार्ङ्गिणमानायितवती, आनाय्य चासनादिना सभाज्य स्मितस्फुरदुपालम्भं सम्भाषते स्म,–'भवतु,भवता यत् कृतं तत् कृतमेव, सम्प्रति तत्र सम्प्रतिपत्तिं विधेहि ॥'१३६

"कृष्णः समन्दाक्षमुवाच,—'हन्त, कीदृशं कथमिव ?' पौर्णमासी उवाच,—'आर्ताना-

---

श्रीकृष्ण के ऊपर देखने के लिए पड़ी हुई उन गोपियों की दीनदृष्टि उनके दर्शन से तृप्त न हुई, श्रीकृष्ण के मधुर वाक्यों में लगाये हुए उनके कान श्रवण से तृप्त न हुए, एवं श्रीकृष्ण के अङ्ग की सुगन्धि में लगाई हुई उनकी नासिका सूँघने से तृप्त न हुई, तथा श्रीकृष्ण के प्रति अर्पित किया हुआ उनका मन भी तृप्त नहीं हुआ । अर्थात् गोपियों की कोई भी इन्द्रिय श्रीकृष्ण में संसक्त होकर उनको त्यागना नहीं चाहती थी ॥१३२॥

अतएव इस प्रकार के भाव का प्रदर्शक 'यह्र्यम्बुजाक्ष !' इत्यादि इन गोपियों के मुख से ही रास के आरम्भ में गाया गया है । इसका अर्थ पहले आ चुका है ॥१३३॥

आज की वंशी के द्वारा आकर्षित होकर, श्रीराधिकाजी इन गोपियों के साथ नहीं आईं । उसका कारण, यथा—वहाँ पर दो पहर तक मूर्च्छा से श्रीराधा के ऊपर बाधा उपस्थित हो जाने पर, बन्धुसमुदाय जब "मूर्च्छा दूर करने के" सब उपायों से प्रायः निवृत्त हो चुका, तब पौर्णमासी, वृन्दादेवी के साथ शीघ्र ही श्रीराधा के पास आ गई । और आते ही दुःखित होकर अत्यन्त स्पष्ट बोली— ॥१३४॥

हे श्रीराधा के बन्धुओ ! तुम सब मेरी झोंपड़ी के निकट कुटज नामक वृक्ष के नीचे, यदि इस अकेली राधा को, एक प्रहर के विस्तार वाले समय तक निवास करा दो, तो मैं शीघ्र ही इसकी चेतना के लौटाने का प्रबल प्रयत्न करूँ ॥१३५॥

उसके बाद सबकी सम्मति से, किसी प्रकार श्रीराधा का उनकी पर्णकुटी पर जब पहुँचना हो गया, तब अत्यन्त आवेशमय मङ्गल की स्फूर्तिवाली पौर्णमासी ने, मधुमङ्गल के द्वारा श्रीकृष्ण को वहाँ बुलवा लिया । बुलवाते ही आसन आदि से सम्मान करके, मन्दमुस्क्यान में स्फूर्ति पाते हुए उपालम्भपूर्वक बोली—अच्छा, आपने जो कुछ किया सो तो किया ही, किन्तु इस समय उस विषय में कर्तव्यविशेष का उत्तरविशेष दीजिये या स्वयं उपाय कीजिये ॥१३६॥

श्रीकृष्ण लज्जा के सहित बोले—हाय ! वह कैसे ? किस प्रकार होगा ? पौर्णमासी बोली—हम आर्त

मस्माकं बहुवार्ता न वार्तत्वाय वर्तते, किन्तु निजमूर्तिस्पर्शतस्तस्या मूर्तिमपसारय ।' कृष्ण उवाच,–'का सा ?' ॥१३७॥

"मधुमङ्गलः सप्रणयरोषमुवाच,—

'अन्तरे वसति यस्य चञ्चला, ज्ञायते न जलदेन तेन चेत् ।
व्यक्तिमीषदपि तर्हि सङ्गता, गोप्यते किमिति सा मुहुर्मुहुः ?' ॥१३८॥

"पौर्णमासी तु स्मित्वा तस्य मुखं पश्यन्ती कृष्ण-मुखं पश्यति स्म । श्रीकृष्ण उवाच,– 'स एष वातूलतया तरलः कामं जल्पतु नाम, यदसभ्यानामभ्याख्यानमेव च लभ्यम् । भवतीनामाज्ञा तु नावज्ञातुं शक्यते; किन्तु युक्तमेव नियुज्यताम् ।' ॥१३९॥

"वृन्दाह,—'गोकुल-कुल-पालक! सर्व-गोकुलकुलविलक्षणलक्ष्मी-लक्षणा सा भवत्स्पर्श-परामर्शत एव बहिर्दर्शं प्राप्नोति चेत्, का तव हानिः ?' ॥१४०॥

'हन्त ! हन्त !

कृष्ण ! चेद् बत राधायामुदासीनो भवानपि ।
उदास्स्व किमहं तत्र कठोरहृदया ब्रुवे ?' ॥१४१॥

"क्षणं विभाव्य पुनरुवाच,—

'सातिश्रीर्भवतात्याजि श्रीवक्षा न भवांस्तया ।
वयन्तु सरला युग्मे युग्मं रोद्धुं न शक्नुमः ॥'१४२॥

हो रही हैं, बहुत सी बातें हमारी नीरोगता के लिए नहीं हो सकतीं, किन्तु अपने शरीर के स्पर्श से उसकी मूर्च्छा को दूर करो। श्रीकृष्ण बोले—वह कौन है ? (जिसकी मूर्च्छा दूर की जायगी) ॥१३७॥

मधुमङ्गल प्रणयकोपपूर्वक बोला—जिसके भीतर (पक्षे-अन्तःकरण में) वह चञ्चला बिजली (पक्षे-राधा) निवास करती है, उसको यदि वह मेघ नहीं जानता, तब थोड़ी सी भी प्रगट होते ही, उस चञ्चला को वह मेघ बार बार छिपाता क्यों है ? अर्थात् जाने बिना छिपाने की चेष्टा असम्भव है, इसी प्रकार तुम भी जान बूझकर छिपा रहे हो ॥१३८॥

पौर्णमासी तो मुस्कयाकर मधुमङ्गल के मुख को देखती हुई श्रीकृष्ण के मुख को देखने लग गई। श्रीकृष्ण बोले—यह यो वातुल (वायुरोग से ग्रस्त) होने के कारण चञ्चल है, अतः यह (मधुमङ्गल) तो चाहे जो बकता रहे, क्योंकि असभ्यजनों का तो दूसरे सभ्य व्यक्ति पर झूठा आक्षेप लगाना ही योग्य है। आपकी आज्ञा तो तिरस्कृत नहीं की जा सकती, किन्तु उचित कार्य में ही नियुक्त कीजिये ॥१३९॥

वृन्दा बोली—हे गोकुलकुल की रक्षा करनेवाले ! सम्पूर्ण गोकुलकुल की जो विलक्षण शोभा है, उस शोभा से चिह्नित वह रमणीशिरोमणि आपके स्पर्श करनेमात्र से यदि बाह्यज्ञान को प्राप्त कर लेती है, तो इसमें आपकी क्या हानि है ? ॥१४०॥

हाय ! हाय ! हे कृष्ण ! खेद की बात तो यह है कि—आप भी यदि राधा के ऊपर उदासीन होते हो तो, भले ही उदासीन हो जाओ। किन्तु तुम्हारी दशा को देखकर तो मैं भी, कठोर हृदयवाली बन गई। इससे अधिक आपके विषय में मैं क्या कहूँ ? ॥१४१॥

क्षणभर विचारकर पुनः बोली—वह श्रीराधिका अपनी शोभा से लक्ष्मी का भी अतिक्रमण कर गई है। आपने उसको भी त्याग दिया है। उसके बिना आप 'श्रीवक्षाः' नाम भी धारण नहीं कर सकोगे।

"कृष्णस्तूष्णीं स्थितवान् । पौर्णमासी उवाच,—'व्रजजनव्रजजीवन ! वाचंयमतामाचरन् कथमिव गिरं मम न सङ्गिरसे ?' ॥१४३॥

"श्रीकृष्ण उवाच,—'अधर्म एवात्र मर्मभेदी भवति ।' इति ॥१४४॥

"पौर्णमासी उवाच,—'अधर्मः खलु मया स्वीकृत एव, धर्मस्तु तव वर्धताम् ॥'१४५॥

"श्रीकृष्ण उवाच,—'स्पर्शनं विनान्यदनुमन्यताम् ॥'१४६॥

"वृन्दाह,—'दर्शनं तावत् क्रियताम्, तन्मात्रेण सिद्धयात्रे सति परमगुणपात्रे भवति कथमन्यदथ प्रार्थयितास्महे ?' ॥१४७॥

"अथ—

'देहेन्द्रिय-मनो-बुद्धि-प्राणादीनां प्रियं प्रिये ! । त्वदनादरभाजो मे जातं सर्वमनादृतम् ॥'१४८

इति राधां प्रति चेतसि चिन्तयन्तं कृष्णमन्तः सतृष्णमपि बहिस्तूष्णीकतामेव पुष्णन्तं मधुमङ्गलः करसरसिजे गृहीत्वा कुटजकुञ्जगृहमेव नीतवान्; नीत्वा च तत्पर्यन्तभुवि वृन्दां रक्षित्वा बाह्यमवगाह्य पूर्णिमां चावाह्य तस्मिन्नन्ते-गुरुतया तत्रकीयं वृत्तं चित्रवदीक्षितवान् ॥१४९॥

(जिसके वक्षःस्थल में स्वर्णरेखारूप से श्रीजी हैं उसी को श्रीवक्षाः कहते हैं) किन्तु हम सब तो सरल हैं, अतः तुम्हारी युगलजोड़ी में मिलन को नहीं रोक सकती हैं ॥१४२॥

यह सुनकर भी श्रीकृष्ण चुप खड़े रहे । तब पौर्णमासी बोली—हे व्रजवासीजनसमुदाय के जीवन ! मौनी बनकर मेरी वाणी को किस प्रकार अङ्गीकार नहीं करते हो ? ॥१४३॥

श्रीकृष्ण बोले—इस विषय में अधर्म ही मर्मभेदी हो रहा है । बस, यही मौनी बनने का कारण है ॥१४४॥

पौर्णमासी बोली—मैं सब जानती हूँ । अतः अधर्म को तो मैंने स्वीकार कर लिया, किन्तु तुम्हारा धर्म ही बढ़ता रहे ॥१४५॥

श्रीकृष्ण बोले—स्पर्श के बिना अन्य कार्य की अनुमति दीजिये ॥१४६॥

वृन्दा बोली—तब दर्शन ही कर लीजिये । यदि दर्शन करनेमात्र से आपकी यात्रा सिद्ध हो जाय, तो फिर परमगुणसम्पन्न आपके प्रति हम दूसरे विषय की प्रार्थना ही क्यों करेंगी ? ॥१४७॥

तदनन्तर "हे प्रिये ! तुम्हारा अनादर करनेवाला जो मैं हूँ, अतः मेरे तो देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, प्राण आदिकों की सभी प्रिय वस्तुएँ अनादर की पात्र हो गई ।" इस प्रकार राधा के प्रति मन मन में चिन्ता करते हुए, अन्तःकरण में तृष्णा से युक्त होकर भी, बाहर से मौन को ही पुष्ट करते हुए श्रीकृष्ण को, मधुमङ्गल उनके दोनों करकमलों को पकड़कर, कुटज वृक्ष के निकुञ्ज गृह में ही लिवा ले गया । और ले जाते ही, उसकी पास की भूमि में वृन्दा को रखकर, स्वयं बाहर आकर, पौर्णमासी को बुलाकर, उस निकुञ्ज के पास गुरु की तरह बैठकर, वहाँ के चरित्र को चित्र की तरह देखता रहा ॥१४८–१४९॥

"तत्र श्रीवृन्दावचनं यथा—

'इन्दुरिन्दुभ्रमं याति दर्पणः प्रतिबिम्बताम् ।
मोहं पद्मालया यत्र कृष्ण ! तन्मुखमीक्ष्यताम् ॥'१५०॥

"ततश्च समावृताजस्रपुलकास्रतया स च तदालुलोके, ॥१५१॥ यथा चाद्यापि सख्यो गायन्ति,—

'तां रहसि गतां किसलयशयनशयानाम् ।
हरिरालोकत निजमुरलीकलकलया चित्रितभानाम् ॥ध्रु॥
या निज-वदनामृतरुचिना तन्मुखविधुरत्नमजस्रम् ।
बहुलमसिस्रवदिह यद्भातं प्रतिपद-सम्पतदस्रम् ॥
यस्या हृदयं स्वान्तरमनु तत्कायं भजदवकलितम् ।
बहिरपि तं प्रतिबिम्बव्याजाद् व्यानञ्जात्मनि वलितम् ॥
यस्यां दोषत्रयमिति मतिभिः प्रत्तं कुंकुमरागम् ।
मेने मुररिपुरथ साक्षादिव यातं हृद्गतरागम् ॥
यां पश्यन् स तु सात्त्विकभावं दधदपि चित्तविकारम् ।
भेजे यत्र प्रतिकृतिकृदपि प्रतिकृतिरिति च विचारम् ॥

वहाँ पर वृन्दा का वचन, यथा—हे कृष्ण ! राधा के जिस मुख पर चन्द्रमा भी दूसरे चन्द्रमा के से भ्रम को प्राप्त हो जाता है, एवं दर्पण भी दूसरे दर्पण की तरह जिसमें प्रतिबिम्बित हो जाता है, तथा लक्ष्मीदेवी भी अपने मुख से जिस मुख को अत्यन्त सुन्दर मानकर मोहित हो जाती है, उस मुख का दर्शन तो भली प्रकार कर लो ॥१५०॥

उसके बाद श्रीकृष्ण निरन्तर रोमाञ्च एवं नेत्रजल से आवृत होकर, श्रीराधिका के मुख का दर्शन करने लग गये ॥१५१॥

सखियाँ जिसका आज भी गायन करती हैं, यथा—

श्रीकृष्ण ने एकान्त निकुञ्ज में आई हुई, नवीन पत्रों की शय्या पर सोई हुई, एवं अपनी वंशी की अव्यक्त मधुरध्वनि की कला से चित्रलिखी सी प्रतीत होती हुई, राधिका को देखा। और जिस राधा ने अपने मुखरूप चन्द्रमा के द्वारा, श्रीकृष्ण के मुखरूप चन्द्रकान्तमणि को निरन्तर अधिक मात्रा में प्रस्रवित कर दिया और प्रतिक्षण अश्रुधारा बहाता हुआ वह श्रीकृष्ण का मुखरूप चन्द्रकान्तमणि, श्रीराधिका के मुखरूप चन्द्रमा के पास अधिक प्रदीप्त हो गया। और उस समय श्रीराधिका का हृदय अपने भीतर, श्रीकृष्ण के श्रीविग्रह की सेवा करता दिखाई देता था। उसी हृदय ने अपने में साक्षात् विद्यमान श्रीकृष्ण को, प्रतिबिम्ब के बहाने बाहर भी व्यञ्जित (प्रकाशित) कर दिया था। और सन्निपातरूप त्रिदोष की आशंकायुक्त बुद्धिवाली सखियों ने, श्रीराधिका के वक्षःस्थल आदि पर जो कुंकुमराग अर्पित किया था, श्रीकृष्ण ने उस कुंकुमराग को "राधा के हृदय में वर्तमान अनुराग ही मानो बाहर साक्षात् प्रगट होगया है" ऐसा माना। और जिस राधा को देखकर स्तम्भ, स्वेद आदि सात्त्विक भावों को धारण करते हुए भी, श्रीकृष्ण, चित्त की विकृति को प्राप्त हो गये। तथा जिस राधा के विषय में मूर्च्छा के प्रतीकारकर्ता होकर भी, यह तो राधिका की प्रतिमा है, साक्षात् राधा नहीं है, ऐसे विचार को भी प्राप्त हो गये थे। और वे श्रीकृष्ण जिस सच्ची राधा के द्वारा भी, "इस राधा को उद्देश्य बनाकर मेरे भाव की परीक्षा करनेवाला

स यया प्रतिकृतिताभ्रममागादेवं भावनशाली ।
भावपरीक्षणकृन्मे कृतकोऽप्येतामिन्द्रकजाली ।।
तदपि च यत्र स्पृहयन्नथ यामेनां मेने राधाम् ।
वृन्दा याञ्चां प्रत्याचष्ट च दधदपि दुःखाद् बाधाम् ।।
स पुनर्यस्या हेतोः शोचन् व्याजितवृन्दावननम् ।
विदधे यद् हृदि निजपदपल्लवमभितो जीवनजननम् ।।' इति ।।१५२।।

''क्रमस्तु यथा, तत्र तस्य च दुर्निवारं विकारं निशाम्य काम्यमानमर्थमेव वृन्दा प्रार्थयामास,—'श्रीव्रजयुवराज-परमप्रेमवती खल्वसौ ।।१५३।।

'यतः, हन्त कृष्ण ! तव यौवनस्थितौ, भोगतर्षमनुमाय तन्मयम् ।
दुःखमात्मनि विकृष्य सन्ततं, स्वीयशर्म विजहावियं रमा ।।१५४।।

'तदेतदवधाय भवानप्येतदर्थं वेणुवादनादिकं कुर्वन्नेवास्ते; तस्मादवधानं सन्धाय समाधीयताम् ।।'१५५।।

''श्रीकृष्णः सगद्गदमुवाच,—'किं कर्तव्यम् ?' वृन्दाह,—'हस्तमेव हृदि विन्यस्तं कुरु ।' श्रीकृष्ण उवाच,—'तदेतदत्यनुचितम् ।' वृन्दाह,—'तर्हि चरणमेव तथाचर ।' श्रीकृष्णस्तूष्णीं

कृत्रिम (बनावटी) इन्द्रजाली भी (निपुण व्यक्ति नहीं है जो कि) स्वयं प्रतिमा के भ्रम को प्राप्त हो गया है'' इस प्रकार की भावना करते हुए प्रतिमा के भ्रम में पड़ गये थे। तथापि श्रीकृष्ण अपने हृदय में जिस राधा की इच्छा करते रहे, इस प्रतिमा को राधिका का सच्चा स्वरूप मान गये। तथा दुःख के कारण मानसिक पीड़ा को धारण करते हुए भी, श्रीकृष्ण ने वृन्दा की प्रार्थना का निराकरण कर दिया, अर्थात् ठुकरा दिया। पुनः उन्हीं श्रीकृष्ण ने श्रीराधिका के कारण शोक करते करते छलयुक्त वृन्दा की याचना पूरी कर दी। तथा सर्वतोभाव से पुनर्जीवम को उत्पन्न करनेवाले, अपने पदपल्लव को, श्रीराधिका के हृदय पर धारण कर दिया ।।१५२।।

श्रीराधिका के हृदय पर पदपल्लव धरने का क्रम तो इस प्रकार है, यथा—उस कुटज निकुञ्ज में श्रीकृष्ण के एवं श्रीराधा के अनिवार्य विकार को देखकर, वृन्दादेवी ने कामना के योग्य वस्तु की ही प्रार्थना की, कि यह श्रीमती राधिका निश्चय ही श्रीव्रज के युवराज की परम प्रेमवती है ।।१५३।।

क्योंकि हे कृष्ण ! इस व्रजरमा श्रीराधिका ने तुम्हारे यौवन की स्थिति में भोगतृष्णा का अनुमान लगाकर, एवं उस भोगतृष्णामय दुःख को निरन्तर अपने में खींचकर, अपने सुख को त्याग दिया है, अर्थात् यह आपकी विरहवेदना से मूर्च्छित पड़ी है, हमारे लिए तो बड़े खेद की बात है ।।१५४।।

इसकी दशा को जानकर ही आप भी, इसके सुख के लिए वेणुवादन आदि कार्य कर रहे हो। इसलिए सावधानी को धारणकर इसकी दुरवस्था का समाधान करो ।।१५५।।

श्रीकृष्ण गद्गद होकर बोले—तो मुझे अब क्या करना चाहिये ? वृन्दा बोली—आप अपने हस्त-कमल को ही इसके हृदय पर धर दो। श्रीकृष्ण बोले—यह तो अत्यन्त अनुचित है। वृन्दा बोली—यदि हाथ नहीं धरते हो तो अपने चरण को ही धर दो। यह सुनकर भी श्रीकृष्ण चुप खड़े रहे। वृन्दा ने उनके

तस्थौ । वृन्दा पादयोः पतन्ती,–'हन्त ! मा विलम्बमवलम्बस्व' इति काकुव्याकुला तयोरेकं बलादिव तस्या हृदि संवलयामास ॥१५६॥

"कृष्णश्च कम्पसम्पदा पदारविन्दं सन्दधदेव वैवश्यवश्यतां विन्दति स्म ॥१५७॥

"ततश्च सञ्जीवनीपल्लवविन्यासवत्तल्लवस्पर्शत एव चक्षुःपुटयुगमुद्घटय्य तया स एव दृष्टः ॥१५८॥

"तदैव च,—

सुभ्रुवो मुररिपोश्च दृग्द्वयं, बिम्बदम्भमविशत् परस्परम् ।
शोभया व्यतिविलोभतः स्फुटं, तावमुष्य परिवृत्तिमैच्छताम् ॥१५९॥

"तदैव स चात्रकीयापत्रपातः शिरसि वसनावरणः सहसा निर्गम्य पूर्णिमां प्रणम्य च चलित एवासीत्; किन्तु स्खलन्निव चलन् कर्मणा नर्मणा च मधुमङ्गलदत्तावलम्बः सखि-कुलं संवलते स्म ॥१६०॥

"सा च स्वप्नमिव पश्यन्ती वैवश्यत एव समुत्तिष्ठन्ती निरक्षर-सूक्ष्मरोदनं चानुतिष्ठन्ती यदा वृन्दया सादरं कृतसान्त्वा, तदा दरशान्त्वा पूर्णिमां नत्वा वृन्दया सह सुहृत्तमेक्षित-तदागमे तस्मिन्नपराह्णतमे व्रजं गत्वा कथमपि समयकतिपयान् गमयामास ॥१६१॥

चरणों पर गिरकर, हाय ! हाय ! विलम्ब न कीजिये । यों कहकर शोक की कातरता से व्याकुल होकर, श्रीकृष्ण के उन दोनों चरणों मे से एक को मानो बलपूर्वक श्रीराधिका के हृदय पर संलग्न कर दिया ॥१५६॥

श्रीकृष्ण भी कम्परूप सम्पत्ति को पाकर, अर्थात् कम्पित होकर, चरणकमल धरते धरते ही, विवशता की अधीनता को प्राप्त हो गये ॥१५७॥

तदनन्तर सञ्जीवनीलता के पत्र के धरने की तरह, श्रीकृष्णचरण के किंचित् स्पर्श से ही, दोनों नेत्र-पुटों को खोलकर, श्रीराधिका ने श्रीकृष्ण का ही दर्शन किया ॥१५८॥

और उसी समय श्रीराधिका के एवं श्रीकृष्ण के दोनों नेत्र परस्पर में बिम्ब के दम्भ (छल) में प्रविष्ट हो गये, अर्थात् दोनों के नेत्रों में, दोनों के ही नेत्र प्रतिबिम्बरूप से प्रविष्ट होकर, दोनों के लिए परस्पर बिम्बरूप बन गये । और शोभा के कारण परस्पर विशेष लोभ से वे दोनों राधाकृष्ण ही, अपने अपने दोनों नेत्रों के परस्पर परिवर्तन को चाहने लग गये ॥१५९॥

और श्रीकृष्ण तो उसी समय वृन्दादेवी की लज्जा से अपने मस्तक पर वस्त्र ढाँककर, निकुञ्ज से सहसा निकलकर, पूर्णिमा को प्रणाम कर चल ही दिये । किन्तु खिसलते हुए से चलते चलते कर्म से एवं नर्म से, अर्थात् परिहासपूर्वक दिये हुए मधुमङ्गल के हाथ के अवलम्बन को पाकर, अपने सखाओं के झुण्ड में जा मिले ॥१६०॥

और श्रीराधिका भी स्वप्न सा देखती हुई, विवशता से ही शय्या से उठती हुई, चुपचाप थोड़ा सा रोदन करती हुई, तथा जब वृन्दा ने आदरपूर्वक सान्त्वना की तब थोड़ी सी शान्त होकर, पूर्णिमा को नमस्कार कर, एवं "अन्तरङ्ग ललिता आदि सखियों द्वारा जिस समय उसका आगमन देखा गया" उस अतिशय अपराह्ण (सायंकाल) के समय में, वृन्दा के साथ व्रज में जाकर, किसी प्रकार कष्टपूर्वक कुछ समय को बिताने लग गई ॥१६१॥

"तदारभ्य तु स खलु परस्परं स्पर्शोऽयं स्पर्शायैव परं सञ्चक्लृपे ॥१६२॥

"यतः सकृत्तादृशं सुखमुपलभ्य क्षणात्तद्वियुक्तया तया कथमिव प्रथमानं दुःखं स्तभ्यताम्; तत्तु सुखं स्वसंवेद्यमेव, न तु निवेद्यम् ॥१६३॥

"तथा हि—तयोर्यावस्थासीद् व्यतिमिलनशर्म प्रसजती
कविः को वा तां स्यात् कवयितुमिह स्वल्पकमपि ? ।
ययोः काश्मीरं तत् पतितमपि पारम्परिकम-
प्यहो पौलिन्दीनामपि तदिव शश्वद् व्यतनुत ॥१६४॥

"तदेवं यदा हरेः पदारविन्दं विन्दमानानि कुंकुमपङ्कानि तृणेषु कृततदङ्कानि पुलिन्दीजातालङ्कारतया जातानि, तदानीमन्यासां धन्यानां पूर्ववदपूर्वानुभवरचन-पूर्वकं वचनमिदम्, (भा० १०।२१।१७)—'पूर्णाः पुलिन्द्य' इत्यादि ॥१६५॥

"अत्र चेदं व्यञ्जितम्,—
आस्तां सा दयिता यदीयकुचयुक् श्रीकुंकुमं तत्पदं
प्राप्तं तत्तृणमप्यहो विजयतां साक्षात्तु तत्सङ्गि यत् ।
अस्मत्तस्तु पुलिन्दजातिसुदृशां भाग्यं च दूरे स्थितं
यास्तत् प्राप्य निजाङ्ग-लेपनसुखादासेदिरे पूर्णताम् ॥"१६६॥

किन्तु उस समय से लेकर परस्पर का वह स्पर्श निश्चितरूप से, केवल सन्ताप देने के लिए ही सम्पन्न हो गया ॥१६२॥

क्योंकि एक बार "श्रीकृष्ण के स्पर्शरूप" वैसे विचित्र सुख को पाकर क्षणभर में उस सुख से वियुक्त हुई उस राधा के द्वारा विस्तार को पाता हुआ वियोगमय दुःख किस प्रकार रोका जा सकता था ? और वह सुख भी तो केवल अपने जानने योग्य ही था, दूसरे के प्रति निवेदन करने योग्य नहीं था ॥१६३॥

और देखो ! उस समय परस्पर मिलन के सुख को देनेवाली श्रीराधा-कृष्ण की जो अवस्था हुई थी, उसका यहाँ पर थोड़ा सा भी वर्णन करने के लिए कौन सा कवि समर्थ हो सकता है ? अपितु कोई भी नहीं। क्योंकि श्रीराधा के वक्षःस्थल पर एवं श्रीकृष्ण के चरणतल पर लगे हुए, तथा श्रीकृष्ण के चलते समय घास पर गिरे हुए, अतः परम्परा से प्राप्त हुए कुंकुम ने ही, वन की भीलनियों की भी श्रीराधा-कृष्ण की सी, निरन्तर सुखमयी अवस्था विस्तृत कर दी थी ॥१६४॥

अतएव इस प्रकार श्रीकृष्ण के पदारविन्द को प्राप्त करनेवाले, एवं तृणों के ऊपर श्रीराधाकृष्ण के मिलन के चिह्न को प्रकाशित करनेवाले, कुंकुमपङ्क जब भीलनीसमूह के भी अलङ्काररूप बन गये थे, तब अन्य धन्य गोपियों का पहले की अपूर्व अनुभव की रचनापूर्वक यह वचन वेणुगीत में संघटित हुआ था कि "पूर्णाः पुलिन्द्य इत्यादि" वे वन की भीलनियाँ भी पूर्ण मनोरथ हुई, इत्यादि ॥१६५॥

और "पूर्णाः पुलिन्द्य" इस श्लोक में गोपियों ने यह ध्वनि भी व्यञ्जित की थी कि—श्रीकृष्ण की प्रियतमा उन श्रीराधिका की सौभाग्यमयी विशेषता की बात तो बहुत दूर रहने दो। क्योंकि जिनके स्तनों पर लगा हुआ शोभायमान कुंकुम, श्रीकृष्ण के चरण को प्राप्त हो गया। अहह ! हमारी दृष्टि में तो वह वन का तृण भी सर्वोत्कर्ष को प्राप्त हो जाय, जो कि दयिता कुचकुंकुमरञ्जित श्रीकृष्णचरण के साक्षात् संगवाला

अथ कथकः समापनमाह स्म,—

'स ईदृक्प्रणयी लब्धस्त्वया राधे ! पुरा तु यः ।
नानामनोरथं चक्रे रथवद्भूवदाप्तये ॥"१६७॥

॥ इति श्रीश्रीगोपालचम्पूमनु कुमारीवस्त्रहरण-सुकुमारीसमस्तकर्षणं नामैकविंशं पूरणम् ॥२१॥

अथ द्वाविंशं पूरणम्

यज्ञपत्न्यन्नभिक्षा

अथ प्रभातकथायां प्रभातप्रथायां मधुकण्ठः स्फुरदुत्कण्ठस्तल्लीलान्तरं शंसन् संसदुपलब्धं कर्तुमारब्धवान् । तत्र श्रीदशमस्कन्धप्रबन्धसङ्गमन-मङ्गलाचरणपूर्वकं तत्कथनम् ॥१॥

"यथा—गत्वा काम्यकमद्रिधातुरुचियुक् कुर्वन् व्रजं दक्षिणं
घर्मर्त्तौ धवलानिखर्वशततृड्निर्जिष्णुकृष्णां व्रजन् ।
वृक्षान् सुष्ठु पथि स्तुवन् धवलया पीतां च कृष्णां पिबन्
क्षुद् व्याजादधियज्ञपत्नि-करुणाकारी हरिः पातु नः ॥२॥

बन गया। और हम सबसे तो भीलजाति की स्त्रियों का भाग्य भी बहुत दूर उच्चकोटि पर स्थित हो गया, जो कि तृणों पर लगे हुए उस कुंकुम को पाकर, अपने अङ्गों पर लेपन करने के सुख से, अपने मनोरथ की परिपूर्णता को प्राप्त हो गईं, अर्थात् कृतकृत्य हो गईं ॥१६६॥

अनन्तर कथावाचक महोदय प्रसङ्ग की समाप्ति का वचन बोला—हे राधिके ! तुमने ऐसा स्नेही श्यामसुन्दर प्राप्त किया है कि, जो तुम्हारी प्रथम प्राप्ति के लिए रथ की तरह अनेक मनोरथ करता रहा ॥१६७॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीगोपालचम्पूकाव्ये कुमारीवस्त्रहरणं सुकुमारीसमस्तकर्षणं
नाम एकविंशं पूरणं सम्पूर्णम् ॥२१॥

बाईसवाँ पूरण

यज्ञपत्नियों के अन्न की भिक्षा

इस बाईसवें पूरण में श्रीकृष्ण के मित्रों की क्षुधा निवृत्ति के बहाने, यज्ञपत्नियों के लिए अभिलषित वरदान दिया गया है, यह विषय वर्णित होगा।

अनन्तर प्रातःकालीन कथा की परिपाटी के प्रदीप्त हो जाने के बाद, मधुकण्ठ अत्यन्त उत्कण्ठित होकर श्रीकृष्ण की दूसरी लीला का वर्णन करता हुआ सभा में समझाने के लिए आरम्भ करने लग गया। उस प्रसङ्ग में भी श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्धीय प्रबन्ध के सम्मेलन सहित मङ्गलाचरणपूर्वक उसका कथन इस प्रकार है— ॥१॥

यथा—प्रथम काम्यवन में जाकर पर्वत की गेरु आदि धातुओं की शोभा से युक्त होकर, व्रज को अपनी दाहिनी ओर करते हुए, ग्रीष्मऋतु में सैकड़ों अर्बों खर्बों गैयाओं की तृष्णा (प्यास) को जीतने के स्वभाववाली कृष्णा (श्रीयमुना) के निकट जाते हुए, मार्ग में अच्छी प्रकार वृक्षों की स्तुति करते हुए

"तथाहि—अथ गोपैः परिवृतो यशोदानन्दनन्दनः ।
वृन्दावनाद्गतो दूरं चारयन् गाः सहाग्रजः ॥३॥
निदाघार्कातपे तिग्मे छायाभिः स्वाभिरात्मनः ।
आतपत्रायितान् वीक्ष्य द्रुमान्मित्राण्यभाषत ॥४॥

"तत्र च मेघनिर्घोषनिभ-गम्भीरतासम्भृत-मधुरस्वरत एव हर्षमुत्कर्षयन् मित्रमुख्यान् प्रत्येकं रचिताभिमुख्यांश्चकार ॥५॥ यथा, (भा० १०।२२।३१)—

'हे स्तोककृष्ण ! हे अंशो ! श्रीदामन् ! सुबलार्जुन ! ।
विशाल ! वृषभौजस्विन् ! देवप्रस्थ ! वरूथप ! ॥' इति ॥६॥

"तत एव च तानमृतकृताभिषेकानिव कृत्वा सकौतुकमुवाच,—'मां सुखयन्त एवाभिमुखतस्त एते तरवो विराजन्ते; तस्माद्भवद्भिर्विलोक्य पृथक् पृथगुपश्लोक्यन्ताम् ॥'७॥

"सर्वे विहस्य प्रोचुः,—'भवानेवास्मासु विस्मायकतया कविमण्डलाखण्डल-गण्ड-मण्डनमस्ति; तस्मादात्मनैव वर्णयतु ॥'८॥

"कृष्णः सस्मितमुवाच,—'श्रूयतां नाम,—

एते नाङ्गत एव किन्तु गुणतोऽप्यद्धा महान्तो मता
यत्तापादिनिवारणैः स्ववपुषा जीवानवन्तः स्थिताः ।

पहले गोगण के द्वारा पान की हुई यमुना के जल को पीते हुए, एवं क्षुधा के बहाने याज्ञिक ब्राह्मणों की पत्नियों पर करुणा करनेवाले श्रीहरि हमारी रक्षा करें ॥२॥

देखो, ग्वालबालों से घिरे हुए, एवं श्रीबलदेवजी के सहित, श्रीयशोदानन्दन नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र, गैयाओं को चराते हुए, वृन्दावन से दूर चले गये ॥३॥

एवं ग्रीष्मकाल के सूर्य की तीखी ताप में अपनी शीतल छायाओं के द्वारा, अपने प्रति छत्रों का सा व्यवहार करनेवाले वृक्षों को देखकर, अपने मित्रों से बोले— ॥४॥

उस बोलने में भी, मेघ के शब्द के समान गम्भीरता से युक्त, मधुर स्वर से ही हर्ष को उत्कर्षित करते हुए प्रत्येक प्रधान प्रधान मित्र को अपने सम्मुख कर लिया ॥५॥

यथा—हे स्तोककृष्ण ! हे अंशो ! हे श्रीदामन् ! हे सुबल ! हे अर्जुन ! हे विशाल ! हे वृषभ ! हे ओजस्विन् ! हे देवप्रस्थ ! हे वरूथप ! इत्यादि सम्बोधन करते हुए, श्रीकृष्ण ने मुख्य मुख्य मित्रों को अपने सम्मुख किया ॥६॥

उसके बाद ही उन मित्रों को मानो अमृत से अभिषिक्त करके कौतुकपूर्वक बोले कि—हे प्रिय मित्रो ! ये व्रज के वृक्ष मुझको सुखी करते हुए, मेरे ही सम्मुख विराजमान हैं, अतः आप सब इनका दर्शन कर, पृथक् पृथक् श्लोकों के द्वारा इनकी स्तुति करो ॥७॥

सभी मित्र हँसकर बोले कि—आप ही हम सबके बीच में विस्मय को उत्पन्न करनेवाले होने के कारण, कविमण्डलरूप महेन्द्र के कपोलस्थल के भूषणस्वरूप हो । अतः स्वयं ही वर्णन करो ॥८॥

श्रीकृष्ण मन्दहास्यपूर्वक बोले—अच्छा, तो आप सब श्रवण करो । देखो, ये वृक्ष केवल अपने अंग से ही नहीं, किन्तु गुण से भी साक्षात् महात्मा माने गये हैं । कारण—ये अपने शरीर के द्वारा ताप आदि

एषामेव च जन्म यत्तु फलवद् दृश्येत तच्चेत्थम-
प्यूहध्वं यदशेषजीवनतया राजन्त्यमी सर्वतः ॥९॥

'किञ्च, फलैः पुष्पैश्छाया-च्छदन-समिदाद्यैश्च तरवः
स्वभावाद्विश्वेषामुपकृतिविधा धन्यतनवः ।
नराः कर्ह्यप्येके विधिवशतया तत्कृतिकृत-
स्ततो भक्ताः पूर्वे सुकृतमनु भाक्ताः किल परे ॥१०॥

'अत्र वृन्दावन-वास्तव्यता पुनरेषां स्तव्यतामप्यतिक्रामति' इति गूढमभिमतम् ॥११॥

"सर्वे सस्मितमूचुः,—'कविचक्र-चक्रवर्तिना भवता न किंवा सुप्रशस्तङ्करं भविता, ततो यदेव योजयिष्यते, तदेव विजेष्यते ॥'१२॥

"तथाहि—

वाचोयुक्तिपटुर्यत्र त्वं वदावदतां गतः ।
वाचस्पतिश्च तत्र स्यान्न वाचःपतिरण्वपि ॥१३॥

"कृष्णोऽपि सस्मितमुवाच,—'भवतु कदाचिदेतदप्यनुभविष्यथ' इति नानासुखवितर-करपुरुहभूरुहाणां वन्यया मिहिर-कन्यातीरमुदन्यया मुदा जगाम ॥१४॥

निवारण के कारण, जीवों की रक्षा करते हुए स्थित हैं। बस, यही महात्माओं का लक्षण है। और इनका ही जन्म जो सफल है, वह भी प्रत्यक्ष दीख सकता है, उसको भी इस प्रकार समझो। क्योंकि ये सब वृक्ष सब ओर से प्राणीमात्र के जीवनरूप होकर विराजमान हैं ॥९॥

किंच ये सब वृक्ष, फल, पुष्प, छाया, पत्र, काष्ठ आदि के द्वारा, स्वभाव से ही सबका उपकार करने के कारण, प्रसंशनीय शरीर वाले हैं। कुछ मनुष्य भी कभी कभी दैववशात्, वृक्षों की तरह सबका हित करते हैं। इसलिए पूर्ववर्ती जो वृक्ष हैं, वे निरपेक्ष सबके हितकारी होने के कारण, सच्चे भक्त हैं, और पुण्य का लक्ष्य करके दूसरों का हित करनेवाले मनुष्य तो गौणभक्त हैं ॥१०॥

इस श्लोक में "चिन्मय श्रीवृन्दावन में वास करना भी, इन सब वृक्षों की प्रशंसनीयता की, सीमा को भी लाँघ रहा है, अर्थात् साधारणजन इनकी स्तुति भी पूर्णरूप से नहीं कर सकता" यही गूढ़ अभिप्राय है ॥११॥

सभी मित्र मृदुहास्यपूर्वक बोले—भैया ! कन्हैया ! आप कविकुल के चक्रवर्ती हो। अतः आपके द्वारा कौन अनायास प्रशंसा के योग्य न होगा ? अर्थात् होगा ही। तात्पर्य—आप जिसकी प्रशंसा कर दोगे वह पदार्थ अनायास, सबका मङ्गलकारक हो जायगा। इसलिए आप जिस विषय की योजना करोगे, वही विजय को प्राप्त हो जायगा ॥१२॥

देखो, जिस स्थान पर उक्ति प्रत्युक्ति में सुनिपुण आप ही विशिष्ट वक्ता के भाव को प्राप्त हो जाओगे, अर्थात् विशिष्ट वक्ता बन जाओगे वहाँ पर वाचस्पति (बृहस्पति) भी, वाणी के स्वामी नहीं हो सकते, अर्थात् किंचिद् भी बोलने में समर्थ नहीं हो सकते ॥१३॥

श्रीकृष्ण भी मुस्क्याकर बोले—अच्छा, जाने दो। कदाचित् इस बात का भी अनुभव तुम सब कर लोगे। इस प्रकार कहकर अनेक प्रकार के सुख देने वाले बहुत से वृक्षों की वनपंक्ति के बीच से, प्यास के कारण हर्षपूर्वक यमुना के तट पर चले गये ॥१४॥

"तत्र च,—व्यञ्जन् भ्रिप-शंसनस्ववचनं यज्ञाङ्गनानुग्रहं
चात्मीयागमि भोज्यवर्त्म स यदा सन्त्यज्य कृष्णां गतः ।
तर्हि स्वच्छतरा हिमाः शुभकराः स्वादूरपः पीतवा-
नघ्न्यानां निकरस्ततः स्वयमपुर्गोपालकास्तन्मुखाः ॥१५॥

"ततश्च विदूरं समुज्झितातलिनफलिनतर-तरुव्रजस्य व्रजराज्ञीप्रहित-माध्याह्निकभोज्य-सम्पत्तिवियोज्यताभागुपसत्तिकस्य कृष्णस्य तत्तृष्णतां वितर्क्य तद्भावभावितया स्वयमप्यतीव तत्तृष्णाभाजः स्तोककृष्णादयस्तदभावभावना अपि प्रणयमयपर्युत्सुकतया व्यञ्जित-तत्कृत-भोजनवर्त्मवञ्चनाः कराञ्चलचालनपूर्वकं तद्याञ्चामकुर्वत, ॥१६॥ (भा० १०।२३।१)—

'राम ! राम ! महाबाहो ! कृष्ण ! दुष्टनिबर्हण ! ।
एषा वै बाधते क्षुन्नस्तच्छान्ति कर्तुमर्हथः ॥' इति ॥१७॥

"कृष्णस्तु सस्मितमुवाच,—'अत्रालोकपथाशोकवनिकायामनशनीयप्रसवायामशनायन्तस्ते भवन्तः कुत्र वा प्सातव्यं लप्स्यन्ते ? ॥१८॥

'आर्तिश्चेद्दूरिर्वात, तर्हि निकटामपि कुटिलया सूरतनयाघटनया दूरायमाणामितस्तु दक्षिणाहि या शूरसेनपुरी, तामुत्तरेण निरवज्ञं यज्ञशालामालामालोकयन्त एवानेन सम्यगु-

---

और वहाँ पर वृक्षों की स्तुति करनेवाले अपने वचन को एवं यज्ञपत्नियों के ऊपर अनुग्रह को प्रकाशित करते हुए, श्रीकृष्ण अपने सखाओं के लिए, नित्य आने वाले मध्याह्न भोजन की सामग्री के मार्ग को त्यागकर, जब श्रीयमुना तीर पर चले आये, तब गोगण ने अति निर्मल शीतल मङ्गलकारक सुस्वादु यमुनाजल का पान किया, उसके बाद श्रीकृष्ण आदि ग्वालबालों ने स्वयं पान किया ॥१५॥

तदनन्तर अत्यन्त फलविशिष्ट ऊँचे ऊँचे वृक्षसमूह को त्यागने वाले, व्रजरानी श्रीयशोदा के द्वारा भेजी हुई मध्याह्नकाल की भोजन सम्पत्ति के वियोग की समीपतावाले, श्रीकृष्ण की उस भोजन सम्बन्धी तृष्णा की तर्कना करके, श्रीकृष्ण के भाव से भावित होने के कारण स्वयं भी उस भोजन की तृष्णावाले, स्तोककृष्ण आदि सभी सखा भोजन सामग्री के अभाव की भावना वाले होकर भी, प्रेममयी उत्सुकता से "श्रीकृष्ण के द्वारा की गई भोजन के मार्ग की वञ्चना को" प्रकाशित करते हुए कराञ्चलचालनपूर्वक अर्थात् हाथों का इशारा करते हुए भोजन की प्रार्थना करने लग गये ॥१६॥

यथा—हे राम ! हे लम्बी भुजाओं वाले बलराम ! हे दुष्टों को नष्ट करनेवाले श्रीकृष्ण ! यह क्षुधा हम सबको बाधा दे रही है, अतः आप दोनों उसको शान्त करने योग्य हो, इसलिए शान्त करो ॥१७॥

श्रीकृष्ण तो मुस्कयाकर बोले—यहाँ पर जो अशोकवृक्षों की वनी है, इसके बीच में लोगों के आने जाने का मार्ग भी नहीं दीखता है, और इस अशोक वनी के फल भी खाने योग्य नहीं हैं, अतः यहाँ पर भोजन को चाहने वाले आप सब कहाँ पर भोजन को प्राप्त करोगे ? ॥१८॥

यदि तुम सबको क्षुधा की अतिशय पीड़ा है, तो यज्ञशाला के समूह को देखते देखते ही अच्छी प्रकार उधर ही जाने वाले इस मार्ग से वहाँ पर चले जाओ। यह यज्ञशालासमूह अत्यन्त निकट होने पर भी, यमुना की टेढ़ी चाल के कारण बहुत दूर मालूम पड़ता है। यहाँ से अर्थात् इस अक्रूरघाट से दक्षिण दिशा में जो शूरसेनपुरी (मथुरा) है, उस पुरी के उत्तर की ओर यह यज्ञशाला विद्यमान है। तुम सब अवज्ञा

पतिष्ठमानेन पथा प्रतिष्ठध्वम्; गत्वा च तान् कार्मान् कर्मठाचार्यानार्यतमस्य मम च नाम्ना याचध्वम्; किन्तु भिक्षाकाणां तितिक्षामात्रमुचितमिति शिक्षा मनसि कार्या ।।'१९।।

"अथ तेऽपि केऽपि संवलिताश्चलिताः । स्वयमयं तु तदीयगत्यागतिदृष्टयर्थमुपनदं महाकुट्टिममधितष्ठौ ।।२०।।

"ततश्च, सौरभ्यं धूमधारा यजुरनुपठनं शुभ्रशाला द्विजानां
गत्यागत्यादिचेष्टाः शुभयुतहुतभुग्वेदिभागृत्विजश्च ।
गत्वा नत्वाप्यभीक्ष्णं पुटित-करतयाऽनादरेऽप्यस्थुरेते
यस्माद्ब्रह्मण्यदेवस्वतुलितसुहृदः किन्त्विदं मां दुनोति ।।२१।।

"ततश्च तान् प्रकृतिश्लेषेण केनाप्याकृतिविशेषेण वेषेण च गोपान् ज्ञात्वा विप्रता-गर्वपर्वतमारूढास्ते तु व्यूढबहुल-स्थलदृष्टयस्तिष्ठन्ति स्म; तथापि सखायस्ते कृष्णस्य बुभुक्षा-सुक्षामतां साक्षादिवानुभूय दूयमानमनसः स्वयमेव निवेदयामासुः ।।२२।।

"यतः,

हुं फट् श्रौषड्वौषडित्येवमाद्याः, शब्दा यस्मिन्न क्वचित् कृष्णमुख्याः ।
तस्मिंस्तेषां किं रुचिः स्यात् परन्तु, श्रीकृष्णार्थं किं न ते मानयन्ति ? ।।२३।।

को त्यागकर, वहाँ जाकर, कर्मशील एवं कर्म करने में निपुणजनों के आचार्य माथुर ब्राह्मणों के पास, मेरे बड़े भाई बलरामजी तथा मेरे नाम से भिक्षा माँगना । किन्तु "भिक्षुओं को केवल सहनशीलता धारण किये रहना ही उचित है" यह शिक्षा मनमें धारण किये रहना ।।१९।।

तदनन्तर वे कतिपय मित्र भी एकत्रित होकर चल दिये । एवं ये श्रीकृष्ण तो उनके यातायात को देखने के लिए, स्वयं यमुना नदी के पास बड़े टीले पर बैठ गये । कुट्टिम शब्द यद्यपि मणिखचित भूमि का वाचक है, तथापि यहाँ पर प्रसङ्गानुसार ऊँची भूमि का वाचक है, यह जानना चाहिये ।।२०।।

उसके बाद जिस स्थान पर घृत आदि की सुगन्धि, धूमश्रेणी, यजुर्वेद का पाठ, श्वेतवर्ण की यज्ञ-शालाएँ, ब्राह्मणों की यातायात की चेष्टा, मङ्गलमय अग्नि, एवं वेदी पर बैठे हुए ऋत्विग्गण (होतागण) विद्यमान थे, वे सब मित्र उसी स्थान पर जाकर, बारम्बार नमस्कार करके भी, उन कर्मठ ब्राह्मणों के द्वारा अनादर करने पर भी, हाथ जोड़कर खड़े रहे । क्योंकि ये सब सखा ब्रह्मण्यदेव (ब्राह्मणभक्त) श्रीकृष्ण की अपनी आत्मा के समान हैं । (अतः ये भी अनादर करने पर भी, ब्राह्मणों में भक्ति के कारण उनके आगे हाथ जोड़कर खड़े रहे) । किन्तु ग्रन्थकार कहते हैं कि—उनका इस प्रकार अनादरभाव से वहाँ पर खड़ा रहना, मुझको दुःखित करता है ।।२१।।

उसके बाद स्वभाव के संयोग से एवं किसी प्रकार के आकृतिविशेष के कारण, उन सबको गोप जानकर, ब्राह्मणता के गर्वरूप पर्वत पर चढ़े हुए वे याज्ञिक ब्राह्मण तो, यज्ञशाला में रचित अनेक स्थलों पर ही दृष्टि डालते हुए चुपचाप बैठे रह गये । तथापि वे सखागण श्रीकृष्ण की क्षुधा के कारण, अत्यन्त क्षीणता को साक्षात् की तरह अनुभव करके, दुःखित मन हो स्वयं ही निवेदन करने लगे ।।२२।।

क्योंकि जिस यज्ञ में हुँ फट्, श्रौषट् , इत्यादि शब्दों का प्रयोग तो यथेष्ट हो रहा है, और श्रीकृष्ण नाम ही है मुख्य जिनमें, ऐसे शब्दों का प्रयोग कहीं भी नहीं हो रहा है, ऐसे कृष्णभक्तिविहीन उस यज्ञ में, उन सखाओं की क्या रुचि हो सकती थी ? परन्तु श्रीकृष्ण के लिए वे सखा उस यज्ञ का सम्मान नहीं करते हैं सो बात नहीं, अपितु मान करते ही हैं । अतः श्रीकृष्ण के लिए भिक्षा भी माँगते हैं ।।२३।।

"अथ निवेदनं चेदम्,—'भो भो भूमिदेवाः! किञ्चिदेवावधानं विधीयताम्, रामरामानुजौ खलु परमप्रभावयुजौ श्रुतवद्भिर्भवद्भिरवधारितावेव स्तः। तौ चात्र भवद्विधानां सन्निधानमेव धेनुसेवनानुरोधादागतवन्तौ। किन्त्वद्य सद्य एवानवद्यक्रीडामयशूरता-कौतुकपूरतस्तत इतः सङ्गत्या प्रत्यासन्नापि श्रीगोपाधि-भू-सदनभूर्विदूरायमाणास्माकं भाति स्म, गृहलोकेन च न तथालोचयाम्बभूविमहे। तत एव साक्षाल्लक्ष्मीपतिगृहायमाणगृहाद्भोजनसंयोजनं विना क्रीडायुधि च क्षुधितावभूताम्। ततश्च कुलपरम्पराप्राप्तव्यवहारं पर्यायतया पितृपर्यायतया भवत्सु सङ्कोचमपर्यालोचमानौ पितृभवनादिव भवदीयसवनादन्नं याचितमकुर्वाताम्।' इति ॥२४॥

"अथ तथापि मनसि भक्तिरसिकतावशिकतया तदसत्कृत्य तूष्णींभूष्णुषु तेष्वन्तर्वाणिम्मन्येषु तादृगधन्येषु पुनरमी मनसि मीमांसामासुः,—॥२५॥

'नूनमस्मानेते मूढान्मत्वा गूढानुभाषणा बभूवुस्तस्माद्गत्यन्तररचननिषिद्धभावाय सिद्धान्ततश्चामीषां सुष्ठु मौनविद्धान्तस्तां कुर्मः' इति ॥२६॥

"अथ स्पष्टं पुनरूचुः,—

'दीक्षाद्यग्नीषोमपश्वङ्गहोम,-प्रान्तं विज्ञैर्याज्ञिकान्नं न भोज्यम्।
सौत्रामण्यां सर्वदा नेति विप्रा,-स्ताभ्यामन्यत्रास्ति तद्ग्राह्यमेव ॥' इति ॥२७॥

उसके बाद यह निवेदन किया कि—हे ब्राह्मणो! आप सब थोड़ी सी सावधानी धारण करो, अर्थात् हमारी ओर थोड़ा सा मन दो। "श्रीकृष्ण बलदेव दोनों ही भाई विशिष्ट प्रभाव से युक्त हैं" इस बात को शास्त्रज्ञानसम्पन्न आप सबने निश्चितरूप से स्थिर ही कर लिया है। वे दोनों भाई आप जैसों के पास में ही गोचारण के अनुरोध से आ गये हैं। किन्तु आज शीघ्र ही विशुद्ध क्रीड़ामय शूरवीरता के कौतुकसमूह के कारण, इधर उधर जाने से गोपनायक श्रीनन्दजी के भवन की भूमि निकटवर्ती होने पर भी, हमको दूर जैसी मालूम पड़ती है। और घर के लोगों के द्वारा आज हम दिखाई भी नहीं दिये हैं। इसीलिये साक्षात् लक्ष्मीपति श्रीनारायण के घर के समान, अपने घर से भोजन के आने के बिना, क्रीड़ायुद्ध में दोनों ही भाई क्षुधार्त हो गये हैं। अतएव कुलपरम्परागत व्यवहार के अनुसार पिता के समान होने के कारण, आप सबमें संकोच की पर्यालोचना न करते हुए, अपने पिता के भवन की तरह, आपके यज्ञ से अन्न की याचना कर रहे हैं ॥२४॥

उसके बाद उनकी याचना को सुनकर भी, मनमें भक्ति की रसिकता से शून्य होने के कारण, उनकी याचना को ठुकराकर अपने को शास्त्रवेत्ता माननेवाले, उस प्रकार के अधन्य वे याज्ञिक ब्राह्मण जब मौनी बन गये, तब श्रीकृष्ण के सखा मन मन में विचार करने लगे— ॥२५॥

इनके आकार से निश्चित होता है कि, ये सब हमको मूर्ख समझकर मौनी बन गये हैं। अतएव दूसरे प्रकार की गति की रचना के निषेध के लिए सिद्धान्त के द्वारा ही, इनके अन्तःकरण को अच्छी प्रकार मौन से ही विद्ध करते हैं— ॥२६॥

इस प्रकार विचारकर पुनः स्पष्ट बोले—हे ब्राह्मणो! देखो, जिनकी आदि में तो यज्ञ की दीक्षा हुई हो, एवं अन्त में अग्निषोमीय पशु का अङ्गभूत होम होता हो, ऐसे याज्ञिकों का अन्न विज्ञजनों के भोजन के

'अत्रभवद्भवदनुष्ठानदृष्टित एवास्माभिस्तदवसरः स्फुटं निष्टङ्कित इति भावः' ॥२८॥

"तदेवं भिक्षानिष्ठानामिव तस्मिन्नुपतिष्ठमानानामपि शास्त्रार्थं नयमानानां तदवधार्य ते वार्याचार्या मनसि पर्यालोचयामासुः,—'हन्त ! ब्राह्मणा एवास्माकमेतान् ब्रह्मविचारमपि विशिष्टतया लोभादनुशिष्टवन्तः सन्ति। येन तत्रापि कृतमुखतया मुखरतामापन्नाः। भवतु, तथाप्येते परमेभ्यतयोपलभ्यमानाः किञ्चिद्दानरूपमवदानं विना प्रत्युतादानाय परमत्रागताः। अहो ! कलिप्रवेशदेशस्य देशरूपमिदम् ॥२९॥

'किञ्च, केचिच्च विपश्चितस्तयोरीश्वरतामारोपयन्ति; तर्हि बत ! गर्हितं क्षुधादिकं कथमेतावर्हतः ?'

"तदेतद्विभाव्य दुर्विभावभावतया तथा स्थितेषु बहुपचनतायामपि मितम्पचेषु द्विजातितायामपि यथाजातेषु याज्ञिककितवतां यातेषु तेषु याञ्चायां वदमानताकदनतः परस्परमीक्षित्वा मन्दं मन्दं मन्दाक्षमन्दतया श्रीगोविन्दमेव ते विन्दन्ते स्म ॥३०॥

योग्य नहीं होता। और सौत्रामणी यज्ञ में तो भोजन करना सदैव निषिद्ध है। इसलिए उस पञ्चङ्गभूत होम एवं सौत्रामणी यज्ञ से अन्यत्र (दूसरे यज्ञ में) तो याज्ञिक अन्न ग्राह्य ही है। अतः उसका दान कीजिये ॥२७॥

और यहाँ पर होते हुए आपके अनुष्ठान के देखने से ही, हम सबने उस अन्नदान के अवसर को स्पष्टरूप से विचार लिया है कि—यही अन्नदान का अवसर है, यही श्लोक का भावार्थ है ॥२८॥

इस प्रकार भिक्षुकों की तरह उस यज्ञ में अन्न की याचना करनेवाले, एवं युक्तिपूर्वक शास्त्रीय अर्थ की स्थापना करनेवाले, उन ग्वालबालों की बातों को सुनकर, वरणीय एवं पूजनीय वे याज्ञिक ब्राह्मण मन मन में विचारने लगे कि—बड़े खेद की बात है कि, ब्राह्मणों ने ही हमारे इस सम्पूर्ण वैदिक विचार को भी, इन ग्वालबालों के प्रति लोभ के कारण विशेषतापूर्वक उपदिष्ट कर दिया है, अर्थात् समझा दिया है। उसी कारण से ये सब उस वैदिक विचार में भी, कुशलतापूर्वक वाचालता को प्राप्त हो गये हैं। अच्छा, इस बात को तो रहने दो। तथापि ये सब तो बड़े धनी प्रतीत होते हैं। कुछ दानरूप विशुद्ध कर्म किये बिना ही, केवल यहाँ पर अन्न ग्रहण करने के लिए आ गये हैं। अहो ! ये सब बातें तो जिस देश में कलियुग का प्रवेश होगया हो, उसके योग्य हैं। अर्थात् कलियुग में नीचजन भी शास्त्रज्ञान की बातें बनाकर, साधु ब्राह्मणों से भी दान लेने की धृष्टता किया करते हैं ॥२९॥

किंच कोई कोई पण्डितजन श्रीकृष्ण बलदेव में ईश्वरता का आरोप करते हैं, अर्थात् उन दोनों को परमेश्वर मानते हैं। यदि वे परमेश्वर हैं, तब वे निन्दित क्षुधा आदि प्राकृत गुणों को कैसे प्राप्त हो सकते हैं ? इस प्रकार विचारकर श्रीकृष्ण के अभिप्राय को न जानने के कारण, मौनी बनकर बैठनेवाले, बहुत अन्न पकाने के स्थान पर भी परिमित पकानेवाले, अर्थात् अधिक धन होने पर भी कृपणता करनेवाले, संस्कार के द्वारा द्विजन्मा होने पर भी मूर्खतावाले, एवं याज्ञिकता की धूर्तता को प्राप्त होनेवाले उन ब्राह्मणों के विषय में, अपनी प्रार्थना के प्रबल प्रयत्न की निष्फलता से, वे ग्वालबाल आपस में देखकर लज्जा की मन्दता के कारण, धीरे धीरे श्रीगोविन्द को ही प्राप्त हो गये, अर्थात् श्रीकृष्ण के पास चले गये ॥३०॥

"गोविन्दश्च तांस्तथाविधान्नेत्रपथान् विधाय मनोहतान् विज्ञाय च हसति स्म,—'एहि मन्यामहे, याज्ञिकेभ्यः स्वलभ्यमभ्याददिध्वे यथा वृक्षेभ्यः' इति ॥३१॥

"तेऽपि सस्मितमूचुः,—'तत्तु भवन्त एव जानन्ति; वयमपि यत्प्रेरणसमीरणविकीर्ण-मनसो जाताः ॥'३२॥

"कृष्णस्त्वन्तर्यज्ञपत्नीनां स्वावलोकप्रयत्नानां सञ्ज्ञानंस्तत्र चावश्यलाभं प्रतिजानानः प्रहस्य प्रोवाच,—'आ एवं मन्यध्वे ! तर्हि भद्रम् । मया तु पत्रिणामेषां सत्रिणां च तेषां तारतम्यावधारणार्थमेव तत्रभवन्तः प्रस्थापिताः ॥३३॥

'ततस्तु, अमानिनां यथा धर्मः स्थितस्तद्वन्न मानिनाम् ।
अद्यापि चेन्न प्रतीथ द्राक् तत्पत्नीः प्रतीत च ॥३४॥

'भवन्ति च भवन्त इव यज्ञपत्नीजना मत्प्रेममात्रसयत्नधनाः । ये खलु धृतमदन-वलोकधर्षं द्व्यहतर्षं जलं पिबन्ति, त्र्यहात्यासं द्वित्रग्रासं भुञ्जते ।' सर्वे सवैलक्ष्यमाचक्षत,—'हन्त सत्यमेवेदम् ।' कृष्ण उवाच,—'बाढम् ।' सर्वे साश्चर्यमूचुः,—'तर्हि कुतुकमिदं विदाङ्कुरवाम ॥'३५॥

श्रीकृष्ण भी उस प्रकार से हताश उन ग्वालबालों को देखकर, अपने प्रार्थनीय से निवारित जानकर हँस गये। और बोले कि—आओ ! प्यारे मित्रो ! मालूम होता है कि जैसे वृक्षों से फल ले आते थे, उसी प्रकार उन याज्ञिक ब्राह्मणों से अपने प्राप्त करने योग्य वस्तु को ले आये हो ? ॥३१॥

वे भी मन्दमुस्क्यानपूर्वक बोले—उसको भी आप ही जानते हैं। क्योंकि हम सब भी जिसकी प्रेरणा-रूप वायु से विक्षिप्त चित्तवाले बन गये ॥३२॥

श्रीकृष्ण तो अपने दर्शन के लिए प्रयत्न करनेवाली, यज्ञपत्नियों के अन्तःकरण की बात को जानकर, उनका स्मरण करते हुए और वहाँ पर अवश्य प्राप्ति की प्रतिज्ञा करते हुए हँसकर बोले—यदि तुम सब मुझे इस प्रकार जानकार मानते हो, तब तो बहुत अच्छी बात है। क्योंकि मैंने तो (निरपेक्ष परोपकारी) इन वृक्षों के तथा उन यज्ञ करनेवाले ब्राह्मणों के तारतम्य को निश्चयपूर्वक जानने के लिए ही, आप सबको उनके पास भेजा था ॥३३॥

उसके बाद पुनः बोले कि—देखो, भाइयो ! अमानीजनों का जैसा धर्म होता है, वैसा मानीजनों का नहीं होता। यदि तुमको आज भी मेरी बात पर विश्वास न हो तो, शीघ्र ही उन यज्ञ करनेवालों की पत्नियों के पास चले जाओ ॥३४॥

और वे यज्ञपत्नीजन आप सबकी तरह, मेरे प्रेममात्र धन में ही प्रयत्न करनेवाली हैं। और मेरे दर्शन के अभाव की पीड़ा को धारण करती हुई, दो दिन प्यासी रहकर तीसरे दिन थोड़ा सा जल पीती हैं, तथा तीन दिन बिताकर दो तीन ग्रास भोजन करती हैं। यह बात सुनकर सभी सखा आश्चर्यपूर्वक बोले—अहह ! क्या यह बात सत्य है ? श्रीकृष्ण बोले—निश्चय सत्य है। सभी आश्चर्यपूर्वक बोले—तब तो इस कौतुक को हम सब (प्रत्यक्ष करके) जान लेंगे ॥३५॥

"इति कृष्णोद्यमनु सोद्यमतया तत्र तन्निमेषत एव जिगमिषत्सु तेषु सप्रणयवत्सु कृष्णः सतृष्णमुवाच,—'अन्नं च तत्र श्रीमदार्यादिसहितमदर्थमर्थयध्वम् ।।'३६।।

"अथ पुनरतीव कौतुकद्रवतः परस्परमतीत्य द्रवन्तः पत्नी-शालायां द्विज-पत्नी-र्विलोकयामासुस्ताभिर्विलोकयामासिरे च, कृष्णात् प्रति च निश्चिक्यिरे ।।३७।।

"विलोकनात् पूर्वक्रमस्तु यथा—

सा कापि ध्वनिमाधुरी स्वरकलारागावलीवल्गुता
वर्णन्यासशुभंयुता कविजनस्तव्यार्थचित्रप्रथा ।
कंसारेर्गुणरूपकेलिकलना वाष्पादिभिः सार्द्रता
यज्ञस्त्रीकलिता क्रमादिह सखीनार्द्रानकार्षीन्मुहुः ।।३८।।

"ततश्च ताः—

गवाध्वसम्बद्धनिबद्धवस्त्रकान्, प्रशस्तवेत्रान्मुरलीपुरस्कृतान् ।
पिच्छावतंसानवतंससुन्दरान्, विलोक्य कृष्णागममप्यमंसत ।।३९।।

ततश्च यत् कृष्णसमागमं ते, व्यजिज्ञपन् विज्ञवराः प्रणम्य ।
तास्तद् द्विरुक्तायितमप्यपूर्वं, पूर्वं च मत्वा न विदुः स्म कृत्यम् ।।४०।।

इस प्रकार कहकर श्रीकृष्ण के वचन के पश्चात् प्रेमभरे वे ग्वालबाल, उद्योगपूर्वक पलकभर में ही जब वहाँ पर जाने की इच्छा कर रहे थे, तभी श्रीकृष्ण तृष्णापूर्वक बोले—देखो, मित्रो ! वहाँ पर अन्न भी, पूजनीय श्रीबलदेवजी के सहित मेरे लिए माँगना ।।३६।।

उसके बाद उन ग्वालबालों ने अत्यन्त कौतुकमय वेग के कारण, एक दूसरे को परस्पर में लाँघकर, दौड़ते हुए जाकर पत्नीशाला में विप्रपत्नियों को देखा, और विप्रपत्नियों ने ग्वालबालों को देखा, तथा उन ग्वालबालों को श्रीकृष्ण के प्रतिनिधि रूप में ही निश्चित किया ।।३७।।

उन यज्ञपत्नियों के दर्शन से पहले का क्रम तो इस प्रकार है, यथा—यज्ञपत्नियों के द्वारा वर्णन की गई उस अनिर्वचनीय किसी ध्वनि की मधुरता ने, सप्तस्वरों की कला से युक्त रागश्रेणी की रमणीयता ने, वर्णों के विन्यास की मङ्गलयुक्तता ने कविजनों के द्वारा प्रशंसनीय अर्थ की विचित्र प्रथा ने, श्रीकृष्ण के गुण, रूप, लीला आदि की वर्णना ने, एवं प्रेम के कारण उत्पन्न हुए वाष्प आदिकों से प्रगट हुई स्नेहमयी आर्द्रता ने, यज्ञपत्नीशाला में श्रीकृष्ण के सखाओं को क्रमशः बारम्बार आर्द्र कर दिया, अर्थात् स्नेह से द्रवीभूत कर दिया ।।३८।।

तदनन्तर उन यज्ञपत्नियों ने गोचारण के मार्ग के योग्य वस्त्रों को धारण करनेवाले, प्रशंसनीय वेत्र (बेंत) वाले, मुरली को आगे करनेवाले, मस्तक पर मोरपङ्ख का भूषण धारण करनेवाले, तथा कानों के भूषणों के द्वारा परम सुन्दर उन ग्वालबालों को देखकर, श्रीकृष्ण के आगमन को ही मान लिया ।।३९।।

तदनन्तर विज्ञवर उन ग्वालबालों ने ब्राह्मणियों को प्रणाम कर, श्रीकृष्ण के आगमन का जो विज्ञापन किया, उसको वे यज्ञपत्नियाँ बार बार कहने पर भी, पहले आश्चर्य को ही मानकर, गृहसम्बन्धी सभी कार्यों को भूल गईं ।।४०।।

यस्याजस्रदिदृक्षया विदलितप्रायाः सदामूः स्थिता-
स्तस्य प्राणसुहृद्वराः स्वयममी तत्प्रेरणादागताः ।
तत्सम्प्राप्तिमवादिषुः पुनरदः प्रार्थ्यं च किञ्चित्तद-
प्यन्नं तत्र कथं कथं कथय ताः प्राप्स्यन्ति धैर्य-स्थितिम् ? ॥४१॥

"ततश्च, योग्यमत्र किमयोग्यमित्यमू,-र्नेयभोज्यविवृतावनिर्णयाः ।
तत्तदीयमखिलं च भाजनं, क्षिप्रमाददत विप्रसुभ्रुवः ॥४२॥
अथ पुरस्कृतगोपसुतायुता, विविधभोजनभाजनमस्तकाः ।
प्रतिपदक्रमणं कियदग्रतः, स इति तर्षगिरः परिचक्रमुः ॥४३॥
आमोदः कान्तिपूरः सुखदपदता गर्जदूर्जस्विभाषा
विद्युद्विद्युद्घनश्रीः स्मितवदनविधुद्योतलक्ष्मीप्रचारः ।
आयान्त्वित्युक्तिहस्तप्रथनमधुरिमा यत्क्रमादाविरासीत्
कंसारातेस्तदासां प्रतिपदमुदभूदबाढमाकर्षणाय ॥४४॥
यामुने सममशोककानने, गोपकैः स विहरन्मुदान्वितः ।
ऐक्षि भूसुरवधूभिरीक्ष्यतां, ध्यानमेव गतमित्यमानि च ॥४५॥

और देखो ! जो यज्ञपत्नियाँ श्रीकृष्ण के निरन्तर दर्शन की इच्छा से प्रायः विदलित चित्त होकर स्थित थीं, एवं उन्हीं श्रीकृष्ण की प्रेरणा से उन्हीं के प्राणप्यारे मित्रवर्य, वे सब ग्वालबाल स्वयं आकर उपस्थित हो गये, तथा श्रीकृष्ण की प्राप्ति को भी उन्होंने कह दिया, और श्रीकृष्ण का प्रार्थनीय विषय भी बहुत थोड़ा सा था, वह भी, अन्न ही माँगना था। अब बताओ, ऐसी स्थिति में वे यज्ञपत्नियाँ किस किस प्रकार धैर्य की स्थिति को प्राप्त करेंगी ? ॥४१॥

तदनन्तर वे यज्ञपत्नियाँ इस समय क्या करना उचित है, क्या नहीं, इस प्रकार के विचार में पड़ कर, श्रीकृष्ण बलदेव के पास ले जाने योग्य भोजन के विवरण करने में निर्णयरहित हो गईं। अतः उन विप्रपत्नियों ने अनेक प्रकार के भोजनों से भरे हुए सारे पात्रों को शीघ्र ही ग्रहण कर लिया ॥४२॥

उसके बाद अयुत (दश हजार) संख्यावाले गोपबालकों को आगे करके, अनेक प्रकार के भोजनों के पात्रों को अपने अपने मस्तक पर धरकर, चलनेवालीं वे ब्राह्मणियाँ प्रत्येक चरण के धरने में "श्रीकृष्ण आगे और कितनी दूर हैं ?" इस प्रकार दर्शन की तृष्णाभरी वाणी को बोलती हुईं, चारों ओर से चल दीं ॥४३॥

उस समय श्रीकृष्ण के अङ्ग की दिव्य सुगन्ध, कान्ति का प्रवाह, सुख देने के स्थान का भाव, गर्जती हुई तेजस्विनी भाषा, चमकती हुई बिजली से युक्त मेघ की सी शोभा, मन्दमुस्क्यान से युक्त मुखरूपी चन्द्रमा की प्रकाशयुक्त शोभा का प्रचार, "आप सब आइये पधारिये" इस प्रकार कहकर हाथ चलाने की मधुरिमा, इत्यादि भाव जो क्रमशः प्रगट हुए, वे सब मानो उन यज्ञपत्नियों को पद पद पर खेंचने के लिए ही समर्थ हो गये ॥४४॥

तदनन्तर यमुना तीरवर्ती अशोकवन में, ग्वालबालों के सहित हर्षपूर्वक विहार करते हुए, श्रीकृष्ण को विप्रपत्नियों ने देखा। और "फुल्लेन्दीवरकान्तिमिन्दुवदनं बर्हावतंसप्रियं" इत्यादि रूप से वे श्रीकृष्ण

यत्र भूसुरभार्यास्तं सुरभाव्यपदं ययुः ।
अशोक-काननं तत्तु बभूवाशोक-काननम् ॥४६॥

"ततश्च ताः सपुलकपुलकतया तमवलोकयामासुः ॥४७॥

"तथाहि लोकानां गीतम्,—

'कृष्णमपश्यन् पीतदुकूलम् ।
बिभ्रतमर्चिततममर्चिर्नवघनचपलारुचिमूलम् ॥ध्रु॥
शिरसि शिखण्डावलिमुरसि स्रजमपि दधतं गिरिधातुम् ।
इन्द्रधनुर्युगमध्यमधुरतरसन्ध्यां ध्रुवमतियातुम् ॥
उदयदरुणदरकिरणं तम इव विरचित-चिरतरशोभम् ।
नवकिसलयदलवलितं कचकुलमनु कलिताखिललोभम् ॥
भालोपरिमिलदलक-तति श्रुतिकुमुदमुदश्चि कपोलम् ।
स्मितमुखमुपमितलक्षणतारायुगधरशशधरगोलम् ॥

का नित्य जो ध्यान किया करती थीं, वह ध्यान ही मानो आज साक्षात् दर्शनीयता को प्राप्त हो गया है, ऐसा मान लिया ॥४५॥

जिस अशोक कानन (वन) में ब्राह्मणपत्नियों ने, देवताओं के द्वारा चिन्तनीय चरणोंवाले श्रीकृष्ण को प्राप्त किया, वह अशोक कानन तो सच्चा ही अशोक कानन बन गया, अर्थात् शोकरहित कानन, अथवा "न विद्यते शोको यत्र (बहुव्रीहौकप्) तादृशं आननं यस्मात् तथा भूतं" नहीं है शोक जिसके ऊपर, ऐसा शोकरहित मुख जिसके द्वारा हो जाता है, एवंगुणविशिष्ट वह अशोक कानन हो गया ॥४६॥

तदनन्तर उन यज्ञपत्नियों ने पुलकावलियों से युक्त होकर श्रीकृष्ण का दर्शन किया ॥४७॥

उनके दर्शन सम्बन्धी विषय को वर्णन करनेवाला लोगों का गायन, यथा—प्रभा से युक्त नवीन मेघ में चमकती हुई चपला (बिजली) की कान्ति के मूलस्वरूप, एवं परम प्रशंसनीय पीताम्बर को धारण किये हुए श्रीकृष्ण को यज्ञपत्नियों ने देखा ॥ध्रुव॥

उस समय मानो दो इन्द्रधनुषों के मध्य में अतिशय मनोहर सन्ध्याकाल को जीतने के लिए ही, श्रीकृष्ण अपने मस्तक पर शिखण्डावली (मयूरपिच्छपंक्ति) को, वक्षःस्थल पर वनमाला को, एवं गेरु आदि पर्वत की धातुओं को धारण किये हुए थे ।

और प्रातःकाल में उदय होते हुए अरुण की थोड़ी सी किरणों से युक्त अन्धकार की तरह, बहुत देर तक शोभा की रचना करनेवाले, एवं नवीन रक्तवर्ण के पत्रों से युक्त श्रीकृष्ण के काले केशसमूह को देख कर, सभी को बारम्बार देखने का लोभ उत्पन्न हो जाता था ।

श्रीकृष्ण के ललाट पर घुंघराली अलकावली सम्मिलित हो रही थी, कानों के श्वेतवर्ण के कुमुदपुष्पों के हर्ष से कपोल शोभायुक्त हो रहे थे, एवं श्रीमुख मन्दहास्य से युक्त था । उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानो दो ताराओं को दोनों ओर धारण करने वाला, लाञ्छन से युक्त, गोलाकृति चन्द्रमा ही उपमित हो रहा है, अर्थात् उपमा पा रहा है । यहाँ पर श्रीकृष्ण का मुख ही चन्द्र स्थानीय है, अलकावली लाञ्छन स्थानीय है, दोनों कानों के श्वेतकुमुद पुष्प ही युगलतारा स्थानीय हैं, ऐसा जानना चाहिए ।

कृतनटवेषविशेषविलक्षणलक्षणमुपचितरूपम् ।
कर्तुमिवामृतवृष्टिमुदितमिह कञ्चन जलधरभूपम् ॥
चित्रं तत्र च मित्र-स्कन्धार्पितबन्धावरहस्तम् ।
निर्मलकमलविधूनन-दक्षिण-दक्षिणकररुचि-शस्तम् ॥' इति ॥४८॥

"श्रुत्वा शश्वत् स्फुटमहह यं द्रष्टुमाशा निबद्धा
स द्रागैक्षि स्वयमिति गतस्तत्कृतस्तापवर्गः ।
यः कश्चिद्वा व्यवहिततया तस्य लेशस्तु शिष्टः
सोऽप्यावेशान्मिलनतुलितात्तासु न स्फूर्तिमाप ॥४९॥

"अथ भोजन-भाजनानि शिरस्तःकृत्य स्थितासु तासु सकलभावविचक्षणः स्मितावलोक-लक्षण-स्वमुखमाधुर्यधुर्यः सुविचार्य यस्य कृते प्रयस्यन्ति स्म, तास्तदेतदवधार्य तासां वांछितं किञ्चिदञ्चयन् वञ्चयंश्च काञ्चनवसनः काञ्चन वाचमुवाच, ॥५०॥

"(भा० १०।२३।२५)—'स्वागतं वो महाभागा' इति प्रायश्चायमस्याभिप्रायः,—
'अहो बत महाभागा युष्माकं भूरिभारता ।
जाता सङ्कोचयत्यस्मान् पृच्छध्वे स्वागतं ततः ॥' इति ॥५१॥

उस समय विशेषरूप से नटवेष ही बना रखा था, उससे विलक्षण चिह्न प्रकाश पा रहे थे, एवं रूप भी अच्छी प्रकार वृद्धि को पा रहा था। इन सब चिह्नों के द्वारा यही बोध होता था कि, मानो कोई एक जलधरराज अमृत की वर्षा करनें के लिए ही, इस अशोकवाटिका में प्रगट हुआ है।

उसमें भी आश्चर्य की बात तो यह है कि—अपने मित्र के कन्धे पर अपना वामहस्त अर्पित करके, एवं निर्मल कमल को परमप्रवीण अपने दक्षिण हाथ द्वारा घुमा रहे थे, उस घुमाने की शोभा से प्रशंसनीय हो रहे थे। इस प्रकार की शोभा से युक्त श्रीकृष्ण को ब्राह्मणियों ने देखा ॥४८॥

अहह ! उन यज्ञपत्नियों ने जिनके विषय में, निरन्तर श्रवण कर जिनको साक्षात् देखने के लिए, अपने हृदय में आशा का बन्धन डाला था, वे श्रीकृष्ण उन्होंने स्वयं शीघ्रतापूर्वक देख ही लिए, अतः दर्शन की आशा से जनित मानसिक तापसमूह दूर हो गया। और उस मानसिक ताप का जो कुछ लेश, वियोग के कारण दूर रहने से अवशिष्ट रह गया था, वह भी प्रायः मिलन के सदृश आवेश से उन यज्ञपत्नियों में स्फूर्ति नहीं पा सका ॥४९॥

उसके बाद भोजन के पात्रों को मस्तक पर ही धरकर, वे ब्राह्मणियाँ जब खड़ी थीं, उसी समय सभी के भाव को जानने में सुचतुर, मन्दमुस्क्यानयुक्त दर्शनस्वरूप, अपने मुख के माधुर्य के दान करने में अग्रगण्य, सुवर्ण के से पीताम्बर को धारण करनेवाले श्रीकृष्ण अच्छी प्रकार विचारकर, "जिस अन्न के भार के लिए वे प्रयास कर रही थीं, उनके उस प्रयास को निश्चित कर" उनकी अभिलाषा का किंचित् सम्मान करते हुए, एवं किंचिद् वञ्चित करते हुए, कुछ वाणी बोले— ॥५०॥

हे महाभाग्यवती ब्राह्मणियो ! आपका स्वागत है। प्रायः इस कहने का अभिप्राय यह है कि—अहो ! खेद का विषय, हे महाभाग्यवतियो ! आप सबका अधिक भार से पीड़ित होना ही, हमको संकुचित कर रहा है। इसीलिए आप पूछी जाती हो कि, आपका आगमन सुखपूर्वक हुआ है न ? इति ॥५१॥

"तदेवमेहिस्वागतां क्रियामाचर्य तत्प्रत्युत्तरसङ्कथने तासां सङ्कोचं विचार्य पुनरुवाच,—'आस्यताम्' इति ॥५२॥

"अस्य चायमभिप्रायः,—

'स्वागतपृच्छादिकमपि, विश्रमकार्यं विलम्बितं तनुते ।
तस्मात्तत्परिपाटी,-मजहां भवतीभिरास्यतामेव ॥' इति ॥५३॥

"ततश्च प्रणयप्रणेयतया विख्यातः सोऽयमासामसङ्कोचाय स्वयं भारमवतारयन्नेव समुपविशन्नेव च ताः सदेश एव समुपवेशयामास ॥५४॥

"पुनरुवाच च,—'करवाम किम्' इति ॥५५॥

"अत्र चेदं निवेदनमिव विभावितवान्,—

'अस्मानयमुपकर्तुं, वांछति तद्दते तु संकुचन्नास्ते ।
इति संकुचितात्मानः, स्वयमनुजानन्तु तत्तु भूदेव्यः ॥'५६॥

"अथ तासामात्मदर्शनमात्रवांछाविमर्शनपूर्वमुवाच, (भा० १०।२३।२५)—'यन्नो दिदृक्षया प्राप्ता उपपन्नमिदं हि वः' इति ॥५७॥

"अत्र चायमर्थः,—

'अस्मद्दर्शनमात्रं, यद्वोऽभीष्टं तदेव युक्तं च ।
तत्र हि हेतुर्यूयं, तादृशसुष्ठुस्वभावाः स्थ ॥'५८॥

पश्चात् "आइये, आपका स्वागत है" इस प्रकार की क्रिया का आचरणकर, उसके प्रत्युत्तर कहने के विषय में उनके सङ्कोच को विचार कर, श्रीकृष्ण पुनः बोले कि—"आप बैठ जाइये" ॥५२॥

इस कथन का यह अभिप्राय है कि—स्वागत पूछना आदि यद्यपि शिष्टाचार है, तथापि वह पूछना आदि पथिक के विश्राम आदि कार्य में किंचिद् विलम्ब का विस्तार कर देता है। इसलिए मैंने उस परिपाटी को त्याग दिया है, अतः "आप सब बैठ जाइये" यही वचन प्रयोग किया है ॥५३॥

तदनन्तर प्रेम के वशीभूत होकर, विख्यात हुए श्रीकृष्ण ने, उनके सङ्कोच को दूर करने के लिए, उनके मस्तक से स्वयं भोजन के भार को उतारते ही, और स्वयं आसन पर बैठते ही, उन ब्राह्मणियों को भी अपने पास ही बैठा लिया ॥५४॥

पुनः बोले—"कहिये, आपकी क्या सेवा करें ?" ॥५५॥

इस कथन में श्रीकृष्ण ने इस निवेदन का सा विचार किया कि—"ये श्रीकृष्ण हमारा कुछ उपकार करना चाहते हैं, उस उपकार के बिना तो संकुचित हो रहे हैं" इस बात को मन मन में विचार कर संकुचित आत्मावाली ब्राह्मणियों के भाव को जानकर बोले कि—हे ब्राह्मणियो ! तुम्हारी आत्मा जिस कारण संकुचित है, उसको मैंने जान लिया है। अतः उस उपकार के लिए मुझे स्वयं अनुज्ञा दीजिये ॥५६॥

उसके बाद उन ब्राह्मणियों की केवल अपने दर्शनमात्र की वाञ्छा को विचार कर बोले—हे विप्रपत्नियो ! आप सब हमको देखने की इच्छा से जो आई हो, यह आपका मनोरथ युक्तियुक्त है ॥५७॥

इस कथन का गूढ़ार्थ यह है कि—हे ब्राह्मणियो ! हमारा दर्शनमात्र ही जो तुम्हारा अभीष्ट है, वही युक्तियुक्त है। उस विषय में भी उस प्रकार के सुन्दर स्वभाववाली तुम सब कारणरूप हो ॥५८॥

"अथ तस्य स्वभावस्य सुष्ठुभावत्वं विभावयन् पुनरुवाच,—

'मद्विषया वः प्रीतिः, कौशल्यादेव नान्यतः सचते ।
यन्मयि कुशलाः सर्वे, वीक्ष्यन्ते प्रीतिकर्त्तारः ॥'५९॥

"तत्र कुशलानां कैमुत्यं प्रत्याययन्नुवाच,—

'पश्याम्यहमिह सर्वं, मत्प्रेमांशादशेषगप्रीतिम् ।
निरुपधि यन्मयि जन्तुः, प्रीणात्यन्यत्र सोपाधि ॥'६०॥

"तदेवं साधारणतावधारणं तथा सन्निधानस्थितिविधानमुपसीदत् प्रत्याचक्षाणः प्राह स्म,—

'सर्वत्र तु मत्स्फूर्ति,-र्न भवति बत सर्वदेति पूर्तिर्न ।
भवतीरनु सा नित्या, यैव च मत्सन्निधानरूपैव ॥६१॥
तस्मात् पतिसुतवलितं, निलयं त्वरया प्रयात ता यूयम् ।
मम च ततः सुखमुच्चैः, सामञ्जस्यं हि सर्वतो वश्मि ॥'६२॥

"तदेवं व्रजदेवकुमारतः श्रुतं सुकुमारमपीदं वचनमापात-सम्पातहीनतया दुःसहरचनं मन्यमानाः प्रतिवचनमाचेरुः,—॥६३॥

तदनन्तर उनके उस स्वभाव की सुन्दरता को विचारते हुए पुनः बोले—हे ब्राह्मणियो! तुम्हारी मद्विषयक जो प्रीति है, अर्थात् मुझ में जो निष्काम प्रीति है, वह भी तुम्हारी कुशलता से ही अर्थात् तुम्हारे सौभाग्य से ही संघटित हुई है, दूसरे कारण से ऐसी विशुद्ध प्रीति नहीं मिलती है। क्योंकि सभी चतुरजन मुझ में ही प्रीति करते हुए देखे जाते हैं ॥५९॥

वहाँ पर चतुरजनों के सम्बन्ध में कैमुत्यन्याय समझाते हुए बोले, अर्थात् "सर्वसाधारणजन ही मुझ में जब प्रीति करते हैं, तब चतुरजन भी मुझ में प्रीति करते हैं, इस विषय में तो कहना ही क्या है?" इस प्रकार कैमुत्यन्याय का बोध कराते हुए बोले—

मैं इस संसार में समस्त प्राणीमात्र को मेरी प्रीति के अंशमात्र से ही, सर्वत्र प्रीति करता हुआ देखता हूँ। क्योंकि प्राणीमात्र मुझ में तो निष्कपट स्वाभाविक प्रीति करता है, मुझसे भिन्न अन्य देवादिकों में तो फल की इच्छा से, सकाम प्रीति करता है ॥६०॥

अतएव इस प्रकार जगत् की साधारणता के अवधारण (निश्चय) पूर्वक, तथा प्रसंगानुसार प्राप्त हुए उन ब्राह्मणियों के अपने पास में रहने के विधान को खण्डित करते हुए श्रीकृष्ण बोले—हे ब्राह्मणियो! देखो, कैसे खेद की बात है कि, सभी जगह सभी साधकों में मेरी स्फूर्ति नहीं होती, इसीलिए सर्वदा उनकी पूर्ति भी नहीं हो पाती। किन्तु आप सबको लक्ष्यकर या आश्रयकर वह स्फूर्ति नित्य ही विराजमान है। और तुम में जो प्रतिक्षण मेरी स्फूर्ति है, वह भी मेरी सन्निधिरूप ही समझो ॥६१॥

इसलिए एवंगुणविशिष्ट तुम सब यहाँ से पति पुत्र आदि से युक्त अपने घर को शीघ्र ही चली जाओ। ऐसा करने से मुझको महान् सुख होगा। क्योंकि मैं सब ओर से सामञ्जस्य को चाहता हूँ ॥६२॥

इस प्रकार व्रजराजकुमार से सुने हुए इस सुकुमार वचन को भी, आपाततः संगति से हीन होने पर भी, वस्तुतः युक्तियुक्त होने के कारण, दुःसह रचना से युक्त मानती हुई ब्राह्मणियाँ प्रत्युत्तर देने लगीं—॥६३॥

'एतत्प्रकारमपि नार्हसि वक्तुमीश !, प्राहुर्भवानिव भवानिति तत् प्रसीद ।
सत्यं कुरुष्व करवाम किमेवमङ्गी,-कारं निजांघ्रिपरिवारदशां दिशस्व ॥६४॥

विहाय सुहृदः परान् व्रजनरेशगेहेश्वरी-
पदाम्बुजमुपाश्रिताः परिचरेम तं त्वा सदा ।
इमां वचनचातुरीं बत तुरीयपूर्तिं गता-
मुरीकुरु पुरुश्रवः ! श्रवणमङ्गल ! श्रीपते ! ॥'६५॥

"अथ विकचमान-कमलसमानलोचनः सङ्कोचमनयं चालोचमानः सविनयमुवाच,—

'यथा वो बान्धवा नाभ्यसूयेरन्न च मज्जनाः ।
सुरेशाश्चानुमोदेरंस्तथा कुरुत नान्यथा ॥६६॥
युष्माकं विप्रभार्याणां परिचर्यार्थमाहृतिः ।
केनापि नानुमोद्येत प्रतीक्ष्यः समयस्ततः ॥'६७॥

"तदेवं लोचनतृष्णास्पदाय च कृष्णाय ताश्चिरस्थिरतां प्रत्यरोचमानास्तस्य सङ्कोचमालोचमानास्तत्र नातिविलम्बमानास्तदाज्ञामालम्बमानाः पत्रामत्रादिषु भोज्यं संयोज्य निजकुप्यपात्राण्याददमानास्तेन सादरं विसर्ज्यमानाः सखिभिरनुव्रज्यमाना मुहुः परावृत्य

हे जगदीश ! आपको तो इस प्रकार कठोर वचन बोलना भी उचित नहीं है। क्योंकि सभी भक्ति-तत्त्ववेत्ता "आपके समान आप ही दयालु हो" ऐसा कहते हैं। अतः आप हम पर प्रसन्न हो जाइये। और आपने हम से अभी (हम आपकी क्या सेवा करें ?) इस प्रकार का अङ्गीकाररूप जो वचन कहा था, उसको सत्य कीजिये, तथा अपने चरणों के सेवक वर्गों की दशा को अर्पण कीजिये, अर्थात् हमको भी निज-चरणसेविका बना लीजिये ॥६४॥

हे विपुलकीर्ते ! हे श्रवणमात्र से मंगल करनेवाले ! श्रीपते ! हम अपने सांसारिक सभी सुहृदों को छोड़कर, श्रीव्रजराज की गृहेश्वरी नन्दरानीजू के चरणारविन्दों का आश्रय लेकर, सदा आपकी परिचर्या (सेवा) किया करेंगी। अतः सम्पूर्णता को प्राप्त हुई हमारी इस वचन चातुरी को सहर्ष अङ्गीकार करो ॥६५

तदनन्तर खिले हुए कमल के समान नेत्रोंवाले श्रीकृष्ण, संकोच एवं अन्याय की आलोचना करते हुए विनयपूर्वक बोले—हे ब्राह्मणियो ! तुम्हारे बन्धुजन, एवं मेरे बन्धुजन जिस प्रकार दोषाविष्कार न कर सकें, तथा ब्रह्मा आदि देव भी जिस प्रकार अनुमोदन कर दें, उसी प्रकार करो। अन्यथा करना उचित नहीं ॥६६॥

और देखो ! आप सब ब्राह्मणों की भार्या हो। अतः सेवा के लिए तुम्हारे अङ्गीकार को कोई भी अनुमोदन न कर सकेगा। इसलिए "मेरी सेवा के योग्य देह की प्राप्ति, तथा प्राकृत देह के त्यागरूप" समय की प्रतीक्षा करना उचित है, अथवा शास्त्र के सिद्धान्त का विचार करना उचित है ॥६७॥

श्रीकृष्ण की इन बातों को इस प्रकार सुनकर, नेत्रों की तृष्णा के स्थानस्वरूप श्रीकृष्ण के निकट अपनी चिरकाल तक उपस्थिति को रुचिकर न मानती हुईं, वे यज्ञपत्नियाँ श्रीकृष्ण के संकोच की आलोचना (देखभाल) करती हुईं, वहाँ पर अधिक विलम्ब न करती हुईं, श्रीकृष्ण की आज्ञा को स्वीकार करती हुईं, पत्ररचित पात्रों में भोजन को धरकर, अपने पीतल आदि के पात्रों को ग्रहण करती हुईं,

तमेव विलोकमाना भृशं संवर्धिकृच्छ्रं कलयमानाः कथंकथमपि गृहगतिं प्रति सचमानाः स्ववंशप्रथमानां यशःप्रथां प्रथयमाना वेश्मान्तः प्रविशन्ति स्म ॥६८॥

"किन्तु, यां यामाशामहह वनितास्ता द्विजानामपश्य-
न्नाशापूर्तिं प्रतिपदमसावाचरत् तासु शीघ्रम् ।
सा हि श्यामं कनकवसनं वीक्षिताकारमासां
वारंवारं दृशि विदधती चित्रभावं चकार ॥६९॥

"एवं चिरेण गृहं गृहीतवतीषु तु तासु,—
अन्नपात्राणि पात्राणि रत्नानां वीक्ष्य सक्षणाः ।
गृहाणि च गृहाधीशा न हीशामासुरूहितुम् ॥७०॥

"अनन्तरं तु,—
बाल्यक्रीडाक्रीतफलेनानेन मणिपूरितान् ।
स्वगृहान् वीक्ष्य ते विप्राः स्वपत्नीमतिमन्वयुः ॥७१॥

"ऊचिरे च,—
'तस्मै विश्वजनीनाय यास्तद्भोगीनमाहरन् ।
ता एवासन्नात्मनीना दीनास्तु बत मादृशाः ॥७२॥

श्रीकृष्ण के द्वारा आदरपूर्वक बिदाई पाती हुईं, सखाओं के द्वारा अनुगमन पाती हुईं, बारंबार लौटकर श्रीकृष्ण को ही देखती हुईं, श्रीकृष्णवियोग में अत्यन्त बढ़नेवाले कष्ट को प्राप्त होती हुईं, किसी प्रकार अति कष्ट से घर जाने के प्रति चेष्टा करती हुईं, अपने वंश के पूर्वजों के यश की प्रथा (प्रणाणी) को विस्तारित करती हुईं, अपने अपने घर के भीतर प्रविष्ट हो गईं ॥६८॥

किन्तु हर्ष की एवं आश्चर्य की बात तो यह हुई कि, घर में जाकर भी वे ब्राह्मणों की स्त्रियाँ जिस जिस दिशा को देखती हैं, वह दिशा ही इनके विषय में शीघ्र ही पद पद पर इनकी आशा को पूर्ण कर देती थी। क्योंकि वह दिशा पहले जिसके आकार का दर्शन कर चुकी हैं. ऐसे पीताम्बरधारी श्यामसुन्दर को, बारंबार उनके नेत्रों के आगे प्रगट करती हुई, आश्चर्यमयभाव को प्रगट कर देती थी। अर्थात् वे चकित होकर जिधर दृष्टिपात करती थीं, उधर ही श्रीकृष्ण का साक्षात्कार कर पाती थीं, यह उनकी तन्मयता का ही लक्षण है ॥६९॥

इस प्रकार बहुत देर के बाद जब वे घर को प्राप्त कर चुकीं, तब तो उनके घर के स्वामी अन्न के पात्रों को रत्नमय पात्र देखकर, एवं घरों को भी रत्नमय देखकर, आनन्द से परिपूर्ण होकर कुछ भी तर्क वितर्क करने को समर्थ न हो सके ॥७०॥

उसके बाद तो बाल्यलीला में फल खरीदनेवाले श्रीकृष्ण ने फल बेचनेवाली की डलिया जैसे रत्नों से भर दी थी, उसी प्रकार उन्हीं के द्वारा मणियों से परिपूर्ण अपने घरों को देखकर, उन ब्राह्मणों ने अपनी स्त्रियों की बुद्धि का अनुगमन किया, अर्थात् वे भी श्रीकृष्ण को परमेश्वर मानने लग गये ॥७१॥

और बोले कि—विश्व के हितकारी श्रीकृष्ण के लिए जो हमारी स्त्रियाँ श्रीकृष्ण के भोग के हितार्थ खाद्य सामग्री ले गईं, वे ही अपनी आत्मा की हितकारिणी हुईं। हाय! हम जैसे दुर्बुद्धि जन तो दीन ही रहे ॥७२॥

मा जीवन् यस्य कृष्णाय क्रमते चक्षुरादि न ।
'म्रियमाणश्च मा यस्य तस्मै तत् तत् प्रवर्तते ॥७३॥

स किञ्जीवः स कुब्रह्मः सुपर्वहतकश्च सः ।
राजीवनयनं यस्तु नाजीवनतया भजेत् ॥'७४॥

''अथ कृष्णाय तृष्णां ते दधुर्वृष्णिपुरद्विजाः ।
किन्तु धृष्णक्कंसभिया नाजग्मुः कृष्णमीक्षितुम् ॥७५॥
एकेन केनचित् पूर्वं भार्यामार्यातिगामिव ।
निवार्य वार्यता लब्धा वार्यतायामिति श्रुतम् ॥७६॥

''ततश्च तेषामुचितमेव, यतः,—
'क्षणादुच्चैः क्षणान्नीचैर्गतिभाजां कनीयसाम् ।
रेणूनामिव कार्माणां विषमा रीतिरीक्ष्यते ॥७७॥

पूर्वो कृष्णस्य सेवायामिष्टो वा तत्र यः सदा ।
अधीतो वा भागवते भक्तपूर्वो स तं भजेत् ॥७८॥

जिस व्यक्ति की चक्षु आदि इन्द्रियाँ श्रीकृष्ण के लिए सेवार्थ प्रवृत्त नहीं होती हैं, वह तो निन्दित जीवन से मरा ही भला। और जिसकी चक्षु आदि इन्द्रियाँ श्रीकृष्ण के सेवार्थ प्रवृत्त होती हैं, वह व्यक्ति कभी न मरे॥७३॥

और जो व्यक्ति जीवनभर कमलनयन श्रीकृष्ण का भजन नहीं करता, वह तो कुत्सित (निन्दित) जीव है, वही निन्दित ब्राह्मण है या कुतपस्वी है, वही दुर्दैव के द्वारा पीड़ित है, ऐसा समझना चाहिये॥७४॥

उसके बाद वे मथुरावासी ब्राह्मण श्रीकृष्ण के देखने के लिए, अपने अपने मन में तृष्णा को तो धारण कर चुके थे, किन्तु अत्यन्त धृष्ट कंस के भय से श्रीकृष्ण को देखने के लिए उनके पास न आ सके॥७५॥

किसी एक ब्राह्मण ने, पति का उल्लंघन करनेवाली की तरह अपनी स्त्री को (श्रीकृष्ण के दर्शनार्थ जाने से) रोककर, (यज्ञादि श्रेष्ठ कार्य की) वरणीयता में निषिद्धता को प्राप्त कर लिया ऐसा सुना जाता है। (वह स्त्री तो श्रीकृष्ण के ध्यानपूर्वक देह त्यागकर श्रीकृष्ण से जा मिली)॥७६॥

उसके बाद श्रीकृष्णदर्शन की लालसा से युक्त हुए भी, वे ब्राह्मण कंस के डर के मारे उनके दर्शनार्थ जो नहीं जा सके, उनका ऐसा करना उचित ही प्रतीत होता है, क्योंकि क्षणभर में ऊँची एवं क्षणभर में नीची गति को प्राप्त करनेवाले, अत्यन्त छोटे छोटे धूलिकणों की तरह भगवत् प्रीतिविहीन, कर्मपरायणजनों की रीति प्रायः विषम ही देखी जाती है॥७७॥

जो व्यक्ति पहले अर्थात् पूर्वजन्म में श्रीकृष्ण की सेवा कर चुका है, अथवा जो पहले श्रीकृष्ण प्रीत्यर्थ सदा यजन पूजन कर चुका है, अथवा जो पहले श्रीमद्भागवत का विधिपूर्वक अध्ययन कर चुका है, अथवा पहले जो भजन कर चुका है, वह अधिकारी व्यक्ति ही (इस जन्म में भी श्रीकृष्ण का भजन कर सकता है)॥७८॥

"अथ हरिरिदमन्नं सख्ययुक्तानसङ्ख्यान्, निजकरकृतपूर्ति प्राशयन् धेनुसङ्ख्यान् ।
स्वयमपि हसितेन श्लाघयास्वादनेन, प्रतिपदमुपयुज्य स्फारपर्व व्यतानीत् ।।७९।।

"तत्र च तैर्भोज्यमधुरादिभिरुपयोज्यमानः श्रीकृष्णं मधुमङ्गल उवाच,–'सुष्ठु मिष्टमिदं पाकिमतापन्नमन्नजातं याचितकमप्यमृतायते; नेदृशमापमित्यकममृतं वा; यत् खलु भूमिस्खलितं सरजसं कणमप्यभ्यवहर्तुमीहामहे । तस्मादस्माकमेव पर्णशालाभ्यर्णे ताः कुटीर्विधाय तिष्ठन्तु, तत्कृतमधुरपरिपाक-पाकशाकसूपपूपपुटीस्तु सवयसो वयमेव युष्मभ्यमुष्णाः कोष्णा एव समर्पयिष्यामः । तत्राप्याह, प्राग्रहरतया प्राग्रहर एव भविष्यामीति स्थिते को वायं दोषः, किन्तु रोषभिया न वक्तुं शक्ताः स्म ।।'८०।।

"कृष्ण उवाच,–'आद्यून! नूनमुन्मदिष्णुलयापत्रपिष्णुतामप्यतिचरिष्णुर्जातोऽसि ।।८१।।

"अथ सर्वेऽपि हसन्तः प्रोचुः,–'प्रियवयस्य ! यद्यप्यसौ पराह्नतारोचनमापन्नस्तर्हि स एष एव तुन्दपरिमृज इव विप्रसुन्दरीणां तासामुपासनां घटयमानस्तद् वाट-तटगमुटजमधितिष्ठन् सम्भवदाशितम्भवान् मिष्टमिष्टविघसभोजनान्निजमिष्टं रचयतु ।।'८२।।

उसके बाद श्रीकृष्ण ने उन यज्ञपत्नियों के इस सात्त्विक अन्न को, अपने हाथों में भर भर कर, सख्यभाव से युक्त असंख्य ग्वालबालों को खिलाते हुए, स्वयं भी हास्य परिहास, प्रशंसा, एवं आस्वाद के सहित प्रत्येक वस्तु को उपयोग में लाकर, महामहोत्सव का विस्तार कर दिया ।।७९।।

उस महोत्सव में श्रीकृष्ण के द्वारा उन खाने योग्य मधुर पदार्थों के द्वारा उपसंयुक्त किया गया, अर्थात् भरपेट खिलाया गया मधुमङ्गल श्रीकृष्ण से बोला—भैया कन्हैया ! अच्छी प्रकार पका हुआ एवं अत्यन्त मीठा यह अन्नसमूह, याचना के द्वारा प्राप्त होने पर भी, अमृत जैसा प्रतीत होता है । और जो वस्तु किसी वस्तु के बदले में प्राप्त होती है उसको 'आपमित्यक' कहते हैं, एवं बिना माँगे जो वस्तु मिलती है उसको 'अमृत' कहते हैं । ये दोनों प्रकार की खाद्य वस्तुएँ भी ऐसी स्वादजनक नहीं मालूम पड़तीं, जैसा कि माँगा हुआ भी इन ब्राह्मणियों का अन्न स्वाद लगता है । इसलिए भूमि पर गिरे हुए, धूलि से सने हुए, जिसके एक कण को भी, हम सब खाने की चेष्टा कर रहे हैं । अतः मेरी इच्छा तो यह है कि–वे ब्राह्मणियाँ हमारी पर्णशाला के पास ही कुटी बनाकर रह जायँ तो भला हो, ऐसा करने से उनके द्वारा बनाये गये मधुर परिपाक से युक्त पाक, शाक, दाल, पूआ, पूरी आदि के डिब्बा तो, हम सब चतुर सखा ही, तुम्हारे लिये किंचित् उष्ण ही, समर्पित कर दिया करेंगे । उनमें भी मैं श्रेष्ठ होने के कारण, पहले खानेवाला ही बन जाऊँगा । ऐसी स्थिति यदि बन जाय तो उसमें कौन दोष है ? किन्तु आपके कोप के भय से हम कुछ कह नहीं सकते हैं ।।८०।।

श्रीकृष्ण बोले—अरे आद्यून, अर्थात् भुक्खड़ ! पेटू ! तू तो निश्चय ही उन्मादी होने के कारण लज्जाशील व्यक्ति के भाव को भी अतिक्रमण करनेवाला बन गया है, अर्थात् पूरा निर्लज्ज बन गया है ।।८१

पश्चात् सभी हँसते हुए बोलें—हे प्रिय मित्र ! यदि यह मधुमङ्गल दूसरे के अन्न को खाकर जीने वाले की सी रुचि को प्राप्त हो गया है, तब तो यह आलसी की तरह उन ब्राह्मण पत्नियों की उपासना को करता हुआ, उनके मार्ग के किनारे पर बनी हुई पर्णशाला में बैठकर, विशेष तृप्तिकारक मीठे मीठे उनके उच्छिष्ट भोजन से अपने अभीष्ट की रचना कर ले, अर्थात् अपने मनोरथ को पूरा कर ले ।।८२।।

कृष्ण उवाच,—'साधूक्तं व्यक्तमिदं भगवतीविदितं विधास्यामः ॥'८३॥

"मधुमङ्गलस्तु सक्रोधमिवोवाच,—'युवराज ! गर्धनतया कुक्षिम्भरयस्त एत एव मुहुरशनायां स्मरयन्तः सर्वत्र च घस्मरा एव भण्यन्ते, भिक्षायामक्षामसमुद्यमतया सर्वान्नीनाश्च लक्ष्यन्ते, न तु वयम् ॥'८४॥

"सर्वेऽप्यूचुः,—'वावदूक ! विप्रतया भवानेव यायजूकतायां जञ्जपूकतामासीदन् पुरोडाशानां दन्दशूकस्तदास्वादाय जागरूकतामासादयति । अस्माभिस्तु भवज्जातेर्द्विजातेः परीक्षैवाचरिता' इति ॥८५॥

"तदेवं हसत्सु सखिसभासत्सु स्वयमाशितम्भवेनोदनसम्भारेण भुक्त्वा सुहितः सर्वहितः श्रावितवेणुर्धेनूः प्राप्य तत्तत्कथाकौतुकतस्तदर्थमनुगवमासादितदृष्टिव्रजं श्रीमद्व्रजमवाप्य निजविरहदहनं निर्वाप्य स्वक-रूपामृतेनाप्याययामास ॥८६॥

"सखायस्तु 'याज्ञिकेषु जग्मिवांसोजक्षिवांसश्च वयम्' इति सङ्कोचेन न कश्चिदप्यूचिवांसश्च ॥"८७॥

श्रीकृष्ण बोले—मित्रो ! तुमने बहुत ठीक कहा । इस विषय को स्पष्ट ही भगवती पौर्णमासीजी के लिए विदित कर देंगे ॥८३॥

मधुमङ्गल तो कुछ क्रुद्ध सा होकर बोला—हे युवराज ! अत्यन्त अभिलाषी या लोभी होने के कारण ये सब आपके पेटू सखा ही बारंबार क्षुधा को याद दिलाते हुए, सभी जगह खानेवाले (पेटू) कहलाते हैं। और भिक्षा माँगने में अधिक उद्यमशील होने के कारण, सबका अन्न खानेवाले दिखाई देते हैं । किन्तु हम ऐसे नहीं हैं ॥८४॥

सभी सखा बोले—हे वाचाल ! मधुमङ्गल ! ब्राह्मण होने के नाते आप ही निन्दित यज्ञ कराने के विषय में, निन्दित जप करनेवाले के भाव को प्राप्त करते हुए, यज्ञ के पूआओं को बार बार चबानेवाले होकर, उनके स्वाद लेने के लिए जागरूकता को (जागनेवाले के भाव को) प्राप्त कर रहे हो । किन्तु हम सबने तो आपकी जाति जो ब्राह्मण जाति है केवल उसकी परीक्षा ही की थी (भिक्षा माँगना हमारा मुख्य उद्देश्य नहीं था) ॥८५॥

इस प्रकार सभी मित्रगोष्ठी के हास्य परिहास करने के बाद, स्वयं तृप्तिकारक ओदनसमूह के द्वारा खा पीकर, तृप्त हुए सर्वहितैषी श्रीकृष्ण ने वेणु सुनाकर, धेनुओं को प्राप्तकर, उन उन कथाओं के कौतुक से श्रीकृष्ण के दर्शनार्थ गैयाओं की लम्बाई तक दृष्टिसमूह को फैलानेवाले श्रीमान् व्रज को प्राप्त कर, अपनी विरहाग्नि को समाप्त कर, अपने रूपामृत के द्वारा उसको परितृप्त कर दिया ॥८६॥

सखाओं ने तो "हम याज्ञिकों के यहाँ गये थे, एवं उनका भोजन किया था" इत्यादि कुछ भी संकोच के कारण नहीं कहा ॥८७॥

अथ कथकः कथासमापनमाह स्म,—

"सोऽयं श्रीगोकुलाधीश ! कुलाधीशस्तवोदितः ।
आकर्षणाद्गुणा यस्य सर्वाननुगुणान् व्यधुः ॥" ८८॥

॥ इति श्रीश्रीगोपालचम्पूमनु यज्ञभार्या-सदुपचर्यापर्याप्तिर्नाम द्वाविंशं पूरणम् ॥२२॥

अथ त्रयोविंशं पूरणम्

श्रीरास-लीलारम्भः

अथ रासारम्भे निजशपथसम्भेदं वेदयंस्तदिदं याचनमाचिनोमि,—

"निजे काव्ये सर्वं रसवलनमस्तीति लिखता
मया धाष्ट्र्यात् स्पष्टीकृतमतिरहस्यं तु यदिह ।
तदेतद्गोविन्दं व्रजविजनकान्तानुचरणं
दधद्भिर्योग्यस्य श्रवसि परमर्प्यं न सदसि ॥" इति ॥१॥

तदनन्तर कथावाचक समाप्तिद्योतक वचन बोला—हे श्रीगोकुलनायक ! ये श्रीकृष्ण आपके ऐसे कुलपति उत्पन्न हुए हैं कि, जिनके गुण ही सबको आकर्षित करने के कारण, सभी को इनके अनुकूल बना देते हैं ॥८८॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीगोपालचम्पूकाव्ये यज्ञभार्या-सदुपचर्या-पर्याप्तिनामकं
द्वाविंशं पूरणं सम्पूर्णम् ॥२२॥

तेईसवाँ पूरण

श्रीरासलीला वर्णन

इस तेईसवें पूरण में श्रीकृष्ण एवं गोपियों का प्रथम कृष्णसङ्गजनित रङ्ग, उक्ति प्रत्युक्तियों की भङ्गी, एवं संगीत का वर्णन होगा ।

ग्रन्थकार की शपथपूर्वक प्रार्थना—अब इस रासलीला के आरम्भ में अपनी शपथ के संयोग को जनाता हुआ, मैं पाठकों से यह प्रार्थना करता हूँ कि—मेरे काव्य में सभी रसों का संयोग है, इस प्रकार लिखते हुए मैंने धृष्टता के कारण, यहाँ पर अत्यन्त गोपनीय विषय को भी स्पष्ट कर दिया है । अतः श्रीगोविन्द को एवं व्रज के एकान्त स्थल में हुए व्रजाङ्गनाओं के अनुचरण को, अर्थात् रासलीला के प्रसङ्ग को हृदय में धारण करनेवाले सज्जनों को चाहिये कि, वे इस गोपनीय रासलीला के रहस्य को, श्रद्धायुक्त किसी योग्य अधिकारी के कान में ही अर्पित करें, किन्तु श्रद्धाविहीन अनधिकारीजनों की सभा में कदापि अर्पित न करें । तात्पर्य—"नामान्यनन्तस्य हतत्रपः पठन्, गुह्यानि भद्राणि कृतानि च स्मरन् ।" (भा० १ । ६ । २७) व्यासजी के प्रति कही हुई नारदजी की इस उक्ति से यह अभिप्राय जाना जाता है कि—भगवान् के श्रीकृष्ण, गोविन्द, मुकुन्द, माधव आदि नामों का तो निर्लज्ज होकर उच्च स्वर से कीर्तन करने पर, उनके द्वारा तो स्थावर जङ्गमात्मक समस्त प्राणियों का कल्याण हो सकता है, किन्तु भगवान् की नित्यप्रियाओं के सहित हुई प्रेमपरिपाटी से पूर्ण जो रासलीला है, वह तो केवल विशुद्ध हृदय में स्मरण करने योग्य है । अनधिकारी श्रोताओं की सभा में प्रकाशित करने योग्य नहीं है । श्रीमद्भागवत के इस वाक्य के अनुसार ही श्रीजीव गोस्वामीजी यह रासलीला के आरम्भ में शपथ दिला

अथ रात्रिकथायां प्रथ्यमानप्रथायां मधुकण्ठः स्निग्धकण्ठं स्निग्धकण्ठमप्यालम्बमानः संबभाषे, यत्र प्रथममिदं प्राञ्जलि व्यञ्जयामास,—

"रासकेलिरजनिष्ट जागरं, सस्फुटं भवतु तत्कथा तथा।
कारणं भवति यस्य यद्विधं, तस्य तद्विधतया मता स्थितिः॥"२॥

"तदेतदाकर्ण्य सानन्दं निर्वर्ण्य च सर्वेऽपि प्रोचुः,—"युक्तियुक्तमेव चेदमुक्तम्,—॥३॥

"यतः, परमा या रसधारा, सा यदि मध्ये वियुक्तिमायाति।
पूर्वापरसंवलना,-भावान्नैव स्वरूपमायाति॥४॥

तस्माद् यथेच्छमविच्छेदमेवेदं प्रस्तूयताम्॥"५॥

मधुकण्ठः सानन्दमुवाच,—

"मुखं शशिमुखीगण-प्रचुरमोहसंरोहणं,दृशोर्युगममूदृशां मृगदृशां दृशां घूर्णनम्।
तनुः सुतनुमण्डलीधृतिविखण्डनी श्रीहरे-स्तदाजनि यदा जनिं मृगयते स्म रासोत्सवः॥६

रहे हैं कि—यह अतिगुह्य रासलीला सर्वसाधारण के आगे वर्णन करनी उचित नहीं है। अतः जो व्यक्ति मेरी शपथ को लाँघकर वर्णन करेगा, वह अपराध का भागी होगा। अतः विशिष्ट श्रद्धायुक्त विशुद्ध अन्तः-करण की कामनावाला व्यक्ति ही, इस लीला के श्रवण एवं वर्णन करने का अधिकारी है।

यथा—विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः, श्रद्धान्वितोऽनुश्रृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं, हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥ (भा० १०।३३।४०) ॥१॥

इस प्रकार पहले पूरण में यज्ञपत्नियों पर किये गये अनुग्रह का वर्णन कर "मयेमा रंस्यथ क्षपाः" (इन आगे आनेवाली रात्रियों में मेरे साथ रमण करोगी) श्रीकृष्ण की इस प्रतिज्ञा के अनुसार क्रम प्राप्त रासलीला का वर्णन करने के लिए प्रसङ्गानुसारिणी रात्रि की कथा का आरम्भ करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि, तदनन्तर रात्रि की कथा की प्रथा (ख्याति) जब प्रथित होने लगी, तब मधुकण्ठ सुन्दर स्निग्धकण्ठ का अवलम्बन करता हुआ, अर्थात् सुमधुर कण्ठपूर्वक स्निग्धकण्ठ से बोला। बोलने के समय पहले हाथ जोड़कर यह व्यक्त करने लगा कि—रासलीला जब खिलखिलाकर जागृत होकर स्वयं प्रगट होगई, तब उसकी कथा भी सुस्पष्टतापूर्वक ही होनी चाहिये। क्योंकि जिस वस्तु का कारण जिस प्रकार का होता है, उसकी स्थिति उसी प्रकार से मानी गई है॥२॥

इस बात को सुनकर आनन्दपूर्वक मधुकण्ठ को देखकर सभी बोले—यह आपने युक्तियुक्त ही कहा है॥३॥

क्योंकि उत्कृष्ट जो रस की धारा है, वह यदि बीच में ही टूट जाती है, तब तो पूर्वापर के संयोग से रहित होने के कारण, अपने यथार्थ स्वरूप को प्राप्त नहीं कर पाती॥४॥

इसलिए अपनी इच्छा के अनुसार अविच्छेदपूर्वक (निरन्तर) इस मधुर विषय को प्रस्तुत करो॥५॥

मधुकण्ठ आनन्दपूर्वक बोला—जिस समय रासोत्सव अपने प्रादुर्भाव की गवेषणा कर रहा था, अर्थात् प्रगट होना चाहता था, उस समय श्रीकृष्ण का मुख, चन्द्रमुखी गोपीगणों को यथेष्ट मोह उत्पन्न करने वाला हो गया था, एवं श्रीकृष्ण के दोनों नेत्र इन मृगलोचना गोपियों के नेत्रों को घुमानेवाले बन गये, तथा श्रीकृष्ण का श्रीविग्रह सुन्दरी मण्डली के धैर्य को खण्डित करनेवाला हो गया॥६॥

मुखं विधुविमोहनं नयनमब्जदृग्लोभनं
रुचिर्घनरुचीहितप्रथमसङ्ग-रङ्गप्रदा ।
रमारमणरामणीयकविभूषिरामावले-
स्तदाजनि यदा जनिं मृगयते स्म रासोत्सवः ॥७॥

"अथ पूर्वक्रमेण पूर्णिमाश्रमे (भा० १०।२१।१७) 'पूर्णाः पुलिन्द्य' इत्यादि वृत्ते निर्वृत्ते सत्यपूर्णम्मन्यतया राधिकामात्रकर्षाय हरिस्तर्षं धृतवान्,—'कथमहो ! निभृतमिदं सम्भृतं स्यात् ?' इति ॥८॥

"तत्र काचित्तत्कुंकुमलिप्तचरी वनचरी श्रीराधामनु करुणया तरुणारुणकमललोचन-मुवाच,—॥९॥

'तव मुरलीमिव नितरां, विषमशरः स विजितो भवता ।
अहह न जाने कथमिव, शुष्कां विद्धां च तां कुरुते ॥'१०॥

"तदा च वनगीर्वाणीभिराकाशवाणीयमुद्भाविता,—
'शुष्का तप्तशलाकया च परितो विद्धा सुवंशोद्भवा
सेयं ते मुरली प्रियेति नियतं विज्ञातवान् मन्मथः ।

और रासोत्सव जब अपने प्रादुर्भाव को ढूँढ़ रहा था, तब श्रीकृष्ण के सौन्दर्य की शोभा बढ़ानेवाली व्रजाङ्गनाश्रेणी का मुख, चन्द्रमा को या श्रीकृष्ण को भी विशेष मोहित करनेवाला बन गया, उन गोपियों के नेत्र चन्द्रमा के नेत्रों को किंवा कमलनयन श्रीकृष्ण के नेत्रों को लुब्ध करनेवाले बन गये, और उनकी देहकान्ति भी घनी कान्तियों के द्वारा वाञ्छित प्राथमिकसङ्ग के रङ्ग को देनेवाली होगई, पक्षे—घनश्याम (श्रीकृष्ण) के द्वारा भी अभिलषित प्राथमिक सङ्ग के रङ्ग को देनेवाली बन गई ॥७॥

तदनन्तर पहले क्रम के अनुसार पौर्णमासी के आश्रम में "श्रीराधिका के स्तनस्थित श्रीकृष्ण के चरणों में लगे हुए, पुनः तृणों पर चिपटे हुए, कुंकुम के स्पर्श से भिल्लजाति की स्त्रियाँ भी कृतार्थ हो गई" इत्यादि चरित्र के निवृत्त हो जाने पर भी श्रीकृष्ण ने अपने को अपूर्ण मानते हुए, केवल श्रीराधा को आकर्षित करने के लिए मनमें यह तृष्णा धारण की थी कि—अहह ! एकान्त मे श्रीराधा का मिलनकार्य किस प्रकार परिपूर्ण होगा ? ॥८॥

और वहाँ पर जिसका अङ्ग उसी पूर्वोक्त कुंकुम से लिप्त हो चुका है, ऐसी कोई बनचरी, श्रीराधिका को लक्ष्य करके करुणापूर्वक तरुण अरुणकमलदललोचन श्रीकृष्ण से बोली— ॥९॥

हे श्यामसुन्दर ! आपने वह पापी विषमबाण (काम) तो जीत लिया, तो भी हाय ! हाय ! न जाने वह काम उस राधिका को आपकी मुरली की तरह क्यों अत्यन्त सुखा रहा है एवं ताड़ित कर रहा है ? ॥१०॥

उसी समय वनदेवियों ने भी यह आकाशवाणी प्रकाशित की—हे श्यामसुन्दर ! जो सुन्दर वंश से उत्पन्न हुई, सूर्य की ताप में सुखाई गई, पश्चात् तपी हुई लोह की सलाई से चारों ओर बेधी गई, ऐसी वह मुरली भी आपको अत्यन्त प्रिय लगती है, इस बात को कामदेव ने अच्छी प्रकार जान लिया है।

तां शुष्यद्वपुषं विधाय कुलजां बाणैर्निजैः पञ्चभि-
र्विद्धाङ्गीं विदधाति हा बकरिपो ! त्वत्प्रीतये सम्प्रति ॥११॥

"तर्ह्येव चाधीरतया भ्रमन् वनमाली क्वचन तमाले कुंकुमालेखमिममालोकयामास,—॥१२

'अनङ्गार्चिर्भिन्ना त्वदतिशुभगाङ्गावृतमना
मुरल्यां रागश्रीपरिमलकुलं सम्भृतवती ।
सदा श्यामां कान्तिं दिशि विदिशि चाऽभावयमतो
मयाप्तं कृष्णत्वं तदपि न हि कृष्णत्वमभितः ॥'१३॥

"तदेतन्निशमनपूर्वकान्निशामनान्मुरशमनेन तदिदं विचारितम्,—'हन्त ! हन्त ! राधाया एवेयमसाधारणवागर्थवती लिपिः सेयं सम्भवेदेवमपि कुलजन्मतया तया मन्मथ-विकारमाच्छादयन्त्या स्थीयते। तस्मान्निखिलावृतिध्वंसनं वंशीशंसनं परं मम शरणम्'इति॥ १४

"तदेवं राधासुधादुर्भिक्षादितस्तितिक्षामभजन् स पुनर्वेणुशिक्षाभिक्षामेव केवलां सेवते स्म;॥१५

"यत्र वर्षा अपि तर्षाकरतया व्यतीयुः, समृद्धगर्धनतया शरदप्यर्धं वर्धते स्म ॥१६॥

इसीलिए हे बकारे ! इस समय वह कामदेव आपकी प्रीति के लिए, ऊँचे कुल में उत्पन्न हुई उस राधिका को, आपके विरहरूपी ताप से सूखे शरीरवाली बनाकर, अपने पाँचों बाणों के द्वारा, उसके प्रत्येक अङ्ग को विद्ध कर रहा है। हाय ! आपके हृदय की गति को कौन जान सकता है ? यह भाव है॥११॥

उसी समय अधीर होकर घूमते हुए वनमाली ने किसी तमाल पर कुंकुम से लिखा हुआ यह लेख देखा— ॥१२॥

यथा—मैं कामाग्नि की जलती हुई ज्वाला के द्वारा या श्रीकृष्ण की कान्ति की प्रभा के द्वारा, छिन्न भिन्न संतप्त हो चुकी हूँ, एवं तुम्हारे अत्यन्त सुन्दर अङ्गों के द्वारा मेरा मन आवृत हो गया है। और तुम्हारी मुरली में राग की शोभा का जो माधुर्यसमूह है, उसको मैं हृदय में धारण कर चुकी हूँ, तथा दिशा विदिशाओं में सदैव श्यामकान्ति की भावना या दर्शन कर चुकी हूँ। इसलिए मैंने श्रीकृष्ण की तन्मयता तो प्राप्त कर ली है, तो भी सर्वतोभाव से श्रीकृष्ण का स्वरूपत्व नहीं प्राप्त कर पाई ॥१३॥

अतएव पूर्वोक्त श्रवणपूर्वक इस लेख के दर्शन से श्रीकृष्ण ने अपने मन में यह विचार किया कि—हाय ! हाय ! इस प्रकार की असाधारण वाणी एवं अर्थ से युक्त यह लिपि (लेख) श्रीराधा की ही हो सकती है। इतना होने पर भी उच्चकुल में उत्पन्न होने के कारण, वह राधिका कामविकार को आच्छादित करती हुई चुप बैठी है। इसलिए इस समय सबके आवरण को ध्वंस करनेवाला वंशी का बजाना ही मेरा संरक्षक है ॥१४॥

इस प्रकार राधारूपीसुधा के दुर्भिक्षरूपी कष्ट से पीड़ित होकर, सहनशीलता को न प्राप्त करते हुए, श्रीकृष्ण पुनः केवल वेणुशिक्षा की भिक्षा को ही सेवन करने लग गये ॥१५॥

जिस वेणुशिक्षारूप भिक्षा के सेवन में श्रीराधा के मिलन की तृष्णा को बढ़ानेवाली वर्षा भी व्यतीत हो गई। बढ़ी हुई अभिलाषापूर्वक शरत्काल भी आधा वृद्धि को प्राप्त हो गया था ॥१६॥

"तत्राहरहःशिक्षा तु यथा,—

यर्ह्याकर्षविधिं हरिर्मुरलिकाशिक्षासु तस्याः क्रमा-
च्चक्रे तर्हि गताश्चिरात् परपरक्षोभास्त एते तया ।
कम्पो घूर्णनमासनाद् विचलनं द्वित्रक्रमा वास्तुतो
निष्क्रान्तिर्वनवर्त्मवर्तनमुपव्रज्या च दूराध्वनि ॥१७॥

"किञ्च, राधाकर्षकृते कृता मुरलिकाशिक्षाथ या या तदा
सा सा तेन सदाशया वलयिताप्यासीदलं निष्कला ।
तामेतां नतकन्धरः सपुलकं वन्देऽहमुच्चैः सदा
या कृष्णस्य मनोरथावलिमहो पूर्णामकार्षीत् मुहुः ॥१८॥

"तथाहि—तदेवं प्रावृषि वेणुशिक्षापरीक्षातृष्णगसौ कृष्णः समयं प्रतीक्षमाणः शरल्लक्ष्मीमागतां लक्षितवान्; लक्षयन्नेव च विचारितवान्,—॥१९॥

'इयं खलु स्वभावतः स्वच्छा मल्लीलापरिच्छदतां यदि गच्छति, तदा प्रमदावलिमृच्छामः । किन्तु समयमयतया सर्ववश्यकारिणमपि भावं वश्यं कुर्वतीमेनां पश्यामि, यथा मामपि राधा ॥२०॥

उस बढ़े हुए शरत्काल में, अर्थात् आश्विन मास के शेष में प्रतिदिन वंशी की शिक्षा, यथा—श्रीकृष्ण ने मुरली की शिक्षाओं में श्रीराधा के आकर्षण का व्यापार जब क्रमशः प्रारम्भ कर दिया, तब बहुत देर बाद श्रीराधा ने उत्तरोत्तर क्षुभित करनेवाले ये भाव प्राप्त किए । यथा—पहले कम्प, पीछे घूमघुमेर अर्थात् चित्त की भ्रान्ति, आसन से विचलित होना, घर से दो तीन पैर बाहर निकल आना, वन के मार्ग में खड़े हो जाना, एवं दूर तक मार्ग में चले जाना, इत्यादि ॥१७॥

किंच उस समय श्रीकृष्ण ने श्रीराधा को आकर्षित करने के लिए जो जो मुरली की शिक्षा की, वह वह मुरली की शिक्षा सदा आशा से युक्त होकर भी, निःशेष कलाओं से पूर्ण होकर अत्यन्त यथार्थ हो गई । अतः मैं इस मुरली की शिक्षा को नतमस्तक एवं रोमाञ्चित हो, सदैव उच्चकोटि के भाव से नमस्कार करता हूँ । क्योंकि हर्ष की बात यह है कि—जिस मुरली की शिक्षा ने श्रीकृष्ण की मनोरथावलि को बार बार परिपूर्ण कर दिया, अतः वह सर्ववन्दनीय है ॥१८॥

देखो ! इसीलिए इस प्रकार वर्षाऋतु में वेणुशिक्षा की परीक्षा की तृष्णावाले, वे श्रीकृष्ण समय की प्रतीक्षा करते हुए, आई हुई शरदृतु की शोभा को देखने लग गये । और देखते देखते ही विचारने लगे कि—॥१९॥

यह स्वभाव से ही निर्मल शरदृतु यदि हमारी लीला के उपकरणभाव को प्राप्त होजाती है, तब तो हम हर्षसमूह को प्राप्त कर लेंगे । किन्तु समय (काल) स्वरूप होने के कारण, मैं तो इसको सबको वशीभूत करनेवाले पदार्थ को भी, अपने वश में करती हुई देख रहा हूँ । दृष्टान्त—जैसे सबको वशीभूत करनेवाले मुझको भी, श्रीराधा अपने वश में कर लेती है ॥२०॥

'ततो यद्यस्यामपि वश्यतां व्यस्यन् भावान्तरभावितत्वं भावयितुं प्रभवामि, तदा राधायामपि तदाधानाय निर्बाधतां गतवानस्मीत्यवदधामि ।।'२१।।

"तदेवं विचारयन्नग्रेचरं मङ्गलं विलोचयन्नुवाच,—'अहो ! श्वोवसीयसमेवाध्यवसीयते ।।२२।। यतः,

खञ्जनखेलारञ्जित,-कञ्जं नयनं नयन् विधिः स मम ।
राधामंगुलनेत्र,-स्फुरदाननमाशु सञ्जयिता ।।'२३।।

"तदेतच्छुभशकुनमनुभवता यावत् पौर्णमासं मासमेव सर्वत एव वेणुधरेण वेणुस्वनचर्या सञ्चार्यते स्म ।।२४।। ततश्च,

वंशीकलादुदयतः शरदि प्रभावा,-न्मल्लीभिरप्यतुलफुल्लदशां गताभिः ।
रात्रीर्निभाल्य मुहुरुल्लसिताः स राम,-भ्राता रतिं रतिकृतेऽकृत बल्लवीभिः ।।२५।।

"ततश्च तूर्णमेव पूर्णचन्द्रा बहुतिथी तिथिरतिथिरिव तस्य प्रसन्नतां विधातुमासन्नवती । तत्र चाह्नायाह्नि वनविहारशाली वनमाली धेनूरादाय व्रजागमनं विधाय सायं प्रत्यवसाय निजचन्द्रशालिकालिन्दं विन्दमानः स्फुटमादित्येऽस्तंगत्य स्थिते सतारासमुदयं तं सान्द्रचन्द्रिकं चन्द्रमुदयन्तं पश्यंस्तद्वश्यभावविशेषश्लेषतस्तदिदं चिन्तयामास,— ।।२६।।

इसलिए यदि इस शरदृतु के विषय में मैं भी, वश्यता का विस्तार करताहुआ, दूसरे भाव से भावित (युक्त) करने को समर्थ हो जाऊँगा, तब तो श्रीराधा में भी दूसरे भाव की स्थापना करने के लिए, अर्थात् अपने वश में करने के लिए निर्बाध समर्थता को प्राप्त हो गया हूँ, ऐसा जान लूँगा या मान लूँगा ।।२१।।

अतः इस प्रकार विचार करते हुए अग्रवर्ती मङ्गलमय शकुन को देखते हुए श्रीकृष्ण बोले—अहो ! इस शकुन के द्वारा तो भावी मङ्गल ही निश्चित हो रहा है ।।२२।।

क्योंकि वह विधाता मेरे नेत्रों के सामने दो खञ्जन पक्षियों की क्रीड़ा से सुशोभित, इस कमल को प्राप्त करता हुआ, राधा के मनोहर नेत्रों से विराजमान मुख को भी शीघ्र ही मिला देगा । यह इस शकुन दर्शन का फल है, यह ध्वनि है ।।२३।।

अतएव इस शुभ शकुन का अनुभव करतेहुए, वंशीधर ने आश्विन मास की पूर्णिमा से लेकर कार्तिकी पूर्णिमा पर्यन्त महीनाभर, सब ओर वंशीध्वनि की चर्या सञ्चारित कर दी ।।२४।।

तदनन्तर शरदृतु में वंशी की सुमधुरध्वनि से उदय होते हुए प्रभाव के कारण, अतुल फुल्ल दशा को प्राप्त हुई मल्लिकाओं द्वारा, अधिक सुशोभित रात्रियों को निहारकर, रामभ्राता श्रीकृष्ण ने गोपियों के साथ रमण करने के लिए रुचि को प्रगट किया ।।२५।।

उसके बाद अनेक तिथियों को या अनेक विलासों को पूर्ण करनेवाली पौर्णमासी तिथि, अतिथि की तरह, श्रीकृष्ण की प्रसन्नता को करने के लिए शीघ्र ही उपस्थित हो गई । उस दिन शीघ्र ही दिन में वनविहारशाली वनमाली धेनुओं को लेकर, व्रज में आकर, सायंकालीन भोजनकर, अपनी चन्द्रशालिका की पौरी को प्राप्तकर, सूर्यदेव के स्पष्टरूप से अस्त हो जाने पर, तारागणों के सहित सान्द्र (गाढ़ी) चन्द्रिका (चाँदनी) से युक्त उदय होते हुए, उस चन्द्रमा को देखते हुए, उद्दीपनविभावस्वरूप उस चन्द्रमा के वशीभूत भावविशेष के संयोग से, यह विचार करने लगे कि— ।।२६।।

'जागुडपिण्डसपिण्डं, किं विधुबिम्बं तदेतदुन्नमति ।
किं वा रोषारुणरुचि, मुखमिदमुद्भाति कामस्य ॥२७॥

'पुनश्च, कुंकुमरस-संकुलमिव, किं विधुबिम्बं पुरः स्फुरति ।
अथवा राधामुखमिद,-मुदयति यमुनावनात् पुरतः ॥२८॥

'तत्र यदि विधुबिम्बमेवेदम्, तदा तदिदं विभाव्यते,—
पूर्णश्चन्द्रोऽयमैन्द्रीं हरितमनुगतः प्रेयसीं दूरदेशा-
दस्या वक्त्रं विलिम्पन् घुसृणशबलितेनेव शश्वत् करेण ।
तद् व्याजान्मामसूट्कक्कृतिमुपदिशतीवाद्य सद्यः किशोरं
शुभ्रात्मा यस्तदीयं भवति विरचनं सर्वतो भद्रमेव ॥'२९॥

'किञ्चायमिदमप्युपदिशन्निव सम्भाव्यते,—
विधुरहं हरितः प्रतिदिक्पति,-प्रणयिनी रमयन् जनशर्मदः ।
त्वमिह किं नु विधो ! स्थगितायसे, पर-रमा-रमणं प्रति सम्प्रति ? ॥३०॥

'तदेवं सर्वथैव दैवानुकूल्यतश्चन्द्रचन्द्रिकासान्द्रितशुभस्तस्य ककुभमेव गन्तुं शन्तुरस्मि ॥३१

कुंकुम के गोला के समान गोलाकार यह (पूर्वदिशा में) चन्द्रबिम्ब ही उदय हो रहा है क्या ? अथवा (इतने दिन तक श्रीकृष्ण ने गोपियों के साथ विहार नहीं किया) इसी कारण क्रोध से रक्तवर्ण की कान्तिवाला, यह कामदेव का मुख ही प्रकाशित हो रहा है क्या ? ॥२७॥

पुन: विचारने लगे कि—कुकुमरस से व्याप्त सा हुआ यह चन्द्रबिम्ब ही सम्मुख स्फूर्ति पा रहा है क्या ? अथवा आगे की ओर यमुनाजी के वन से यह राधिका का मुख प्रगट हो रहा है क्या ? ॥२८॥

इन दोनों के बीच में यदि यह चन्द्रबिम्ब ही है, तब तो यह विचार किया जा सकता है कि—यह पूर्णचन्द्र दूरदेश से अपनी प्रियतमा पूर्वदिशा के पास आकर, कुकुम से मिश्रित अपने कर के द्वारा, इसके मुख को निरन्तर लिप्त करता हुआ, अर्थात् पोतता हुआ या मलता हुआ, आज उसी मुखलेपन के बहाने, मुझ नवकिशोर को भी शीघ्र ऐसे ही कार्य का उपदेश सा दे रहा है कि—(तुम भी अपनी प्रियतमा गोपियों के साथ ऐसा ही व्यवहार करो) इससे मुझे यह अर्थान्तिरन्यास भी सूझ रहा है कि, जो शुभ्रात्मा है, अर्थात् जिसकी आत्मा निर्मल है, उसकी रचना सर्वतोभाव से मङ्गलमय ही होती है ॥२९॥

किंच यह चन्द्रमा यह उपदेश भी देता हुआ सा प्रतीत होता है कि—मैं चन्द्रमा हूँ, मैं प्रत्येक दिक्पाल की प्रियास्वरूप प्रत्येक दिशा से रमण करता हुआ भी जनमात्र को सुख देता हूँ। किन्तु हे श्रीकृष्णचन्द्र ! तुम इस किशोर अवस्था में पररमणीरमण के प्रति अथवा इस समय परमरमास्वरूप श्रीराधाप्रभृति गोपियों के साथ रमण के प्रति क्यों चुपचाप बैठे हो ? तात्पर्य—वे दिक्पाल मेरे ऊपर जिस प्रकार द्वेष प्रकाशित नहीं करते हैं, उसी प्रकार तुम्हारे ऊपर भी कोई द्वेष न करेगा ॥३०॥

अत: इस प्रकार सर्वथा दैव की अनुकूलता के कारण, चन्द्रमा की चन्द्रिका से सान्द्रित (घनीभूत) शुभवाला मैं मङ्गलमय पथिक, उस चन्द्र की दिशा की ओर ही जाने को तत्पर हूँ ॥३१॥

'यतः, निखिलमेव वनं विधुनाऽमुना, दिशि दिशि प्रतिरञ्जितमीक्ष्यते ।
मदनुकूलमिदं शकुनं भवे,-दिति गतिर्मम तत्र शुभावहा ॥३२॥

'अथ यदि कामाभिधानस्य कोपधामाननमिदम्, तदा विषमबाणस्य तस्यानुयानमेव भयनिर्वाणं विश्राणयति ॥३३॥

'यदि च तस्या एव कान्तिसदनं वदनमिदं विद्यते, तदा तु सुतरामेव तद्दिशं प्रविशतस्तन्मम शर्म मर्म प्रविशतीति ॥३४॥

'किञ्च, प्रयाणे वर्तते चित्तं नृत्यत्यक्षि च दक्षिणम् ।
तस्माद् वृत्तं च नृत्यं च कान्ताभिर्भविता मम ॥'३५॥

तदेतदुट्टङ्कय निष्टङ्कय च प्रणयपणसन्तुष्टं दामादिकुमारचतुष्टयं सङ्गतः प्रसज्य तद्द्वारा निद्रा-व्याजादन्यान् द्वारपालकतया तत्रैव संवलय्य निभृतकृतप्रतीहारतश्चरण-विहारतस्तामेव हरितं हरिर्मुरलीधरकरतयानुसरन् दिनकर-तनयतीरमन्ववतीर्णवान्, ॥३६॥

"अवतीर्य च विचारितवान्,—
'न क्रुद्धकामाननमेतदस्ति, प्रयाति यच्छुभ्रदशामुदञ्चत् ।
वियोगिराधास्यमिदं च न स्याद्,-यतः कलङ्कादि भवेद्विभेदि ॥'३७॥

क्योंकि मेरे उपदेशक इस चन्द्रमा के द्वारा, समस्त वन ही प्रत्येक दिशा में सुरञ्जित दिखाई देता है। यह पूर्वोक्त शकुन मेरे अनुकूल हो सकता है। इसलिए उस वन में मेरा जाना शुभदायक प्रतीत होता है ॥३२

उसके अनन्तर विचारने लगे कि—यदि कामनामक व्यक्ति का क्रोध का स्थानस्वरूप यह मुख है, तब तो उस कामदेव का अनुगमन ही भय से मुक्ति को दे रहा है, ऐसा प्रतीत होता है ॥३३॥

और यदि शोभा का स्थान यह श्रीराधिका का मुख ही है, तब तो उस दिशा की ओर प्रवेश करने वाले मेरे मर्मस्थल में अत्यन्त ही सुख प्रवेश कर रहा है, ऐसा प्रतीत होता है ॥३४॥

किंच मेरा चित्त उसी दिशा की ओर जाने में तत्पर है, एवं दाहिना नेत्र नृत्य कर रहा है। इसलिए उन राधा आदि रमणियों के साथ मेरा व्यवहार एवं नृत्य अवश्य होगा ॥३५॥

इसी प्रकार विचारकर, एवं इसी विचार को स्थिरकर, प्रेमरूपी मूल्य से सन्तुष्ट होनेवाले दाम, सुदाम, वसुदाम, किंकिणी नामक चार गोपकुमारों को संग लेकर, उन्हीं के द्वारा अपनी निद्रा के बहाने, अन्य सखाओं को द्वारपालरूप से वहीं संयुक्तकर, वन की ओर एकान्त में बने हुए दरवाजे से चरणों के द्वारा ही चलकर, उसी पूर्वदिशा का अनुसरण करते हुए श्रीकृष्ण हाथ में मुरली लेकर, यमुना के तीर पर उतर पड़े ॥३६॥

उतरते ही विचारने लगे—यह कुपित हुए काम का मुख नहीं है, क्योंकि यह तो ऊपर की ओर आता हुआ शुक्लदशा को प्राप्त हो रहा है। और यह वियोगिनी राधा का मुख भी नहीं है, क्योंकि श्रीराधा का मुख तो निष्कलङ्क है। इसमें तो कलङ्क आदि चिह्न उससे भिन्न करनेवाले निश्चित हो सकते हैं ॥३७॥

"ततश्च मृगलांछन एवायमिति निश्चित्य पुनर्विचारितवान्,—

'शार्वरं शर्वरीशानः संहर्तुं सिंहतां गतः ।
पूर्वपर्वतमारोहन् सर्वं पर्वति पर्वणा ॥३८॥

'किन्तु, चन्द्रमा राधिका-वक्त्रमनुकुर्वन् विराजते ।
तदाकारमिदं चेतः कथं मम विदूयते ?' ॥३९॥

"पुनर्विभाव्य चन्द्रं प्रति प्राह स्म,—

'अनुपमरुचिरस्मि सर्वलोके,-ष्विति भगवन्नमृतद्युते ! न दृप्य ।
ननु भवदुपमा दशापि तस्या,-श्चरणनखा विलसन्ति राधिकायाः ॥'४०॥

"तदेवं विचिन्त्य समुचितस्थानं विचित्य दूरतश्चतुरांश्चतुरः कुमारान् वर्त्मनि वर्तमानतया विधाय स्वयमुपसरितमुच्चतरचत्वरमात्मना रूढं सन्धाय व्रजदिशमवधाय वेणुं मुखे निधाय वादयिष्यमाणश्चिन्तयामास,—॥४१॥

'प्रथमं राधागमनमेव साधयामः । तां विना फलस्य च विफलतां कलयामि । तदागमनकमनीयतया तु रमणीनामन्यासामप्यागतिर्मम मनसि रमणीयतामायाममानयति; ॥४२

'किन्तु तदेव भव्यं कथं भव्यमित्येव प्रतिपत्तव्यम् । आम् आम् बाणविद्याप्रवीणेनेव वैणविकेन मया तथा योक्तव्यम्, यथा तेन सैवाविष्टा कृष्टा च भवति नापरा' इति । तदेवं सम्प्रधार्यावधार्य च तेन वेणुमेवं वादयिष्यामीति यदा विचार्यते स्म, ॥४३॥

तदनन्तर यह 'चन्द्रमा' ही है, ऐसा निश्चयकर, पुनः विचारने लगे कि—यह रात्रिपति चन्द्र तो रात्रि के गाढ़े अन्धकार को दूर करने के लिए, पक्षे—घातक हाथी को मारने के लिए सिंह बनकर, पूर्वी पर्वत पर चढ़ता हुआ पौर्णमासीरूप महोत्सव के द्वारा सबको परिपूर्ण कर रहा है ॥३८॥

किन्तु यह चन्द्रमा राधिका के मुख का अनुकरण करता हुआ विराजमान है, तो भी राधिका के मुख में तदाकार हुआ यह मेरा चित्त क्यों सन्तप्त हो रहा है ? ॥३९॥

पुनः विचारकर चन्द्रमा के प्रति बोले कि—हे भगवन् ! अमृतद्युते ! चन्द्र ! आप इस बात का अहङ्कार न करें कि—"मैं ही सब लोकों में अनुपम कान्तिवाला हूँ" क्योंकि आपके समान तो उस श्रीमती राधिका के दश चरणनख भी शोभा पा रहे हैं ॥४०॥

अतएव इस प्रकार विचारकर श्रीकृष्ण वंशी बजाने के समुचित स्थान को ढूंढ़कर, उन चारों चतुर कुमारों को दूर से ही मार्ग में बैठाकर, स्वयं यमुना के निकट एक अतिशय ऊँचे चबूतरे पर चढ़कर, व्रज को ओर ध्यान देकर, एवं बजाने के लिए वेणु को अपने मुख पर धरकर विचारने लगे कि—॥४१॥

सब से पहले राधिका के आगमन को ही सिद्ध करूँ । क्योंकि उसके बिना तो रास में रमणरूप फल की निष्फलता ही देखता हूँ । राधा के आगमन की कमनीयता से तो अन्यान्य रमणियों का आना भी मेरे मन में लम्बीचौड़ी रमणीयता को ला सकता है ॥४२॥

किन्तु राधिका का आगमनरूप मङ्गल किस प्रकार हो सकेगा ? पहले इसी बात का विचार करना चाहिये । हाँ हाँ, जान लिया । बाणविद्या में प्रवीण (परशुराम आदि) की तरह वेणुविद्या में प्रवीण मुझको उस प्रकार की योजना करनी चाहिये कि, जिस प्रकार वह राधिका ही उस वेणु प्रयोग के द्वारा

तदा च ताभिः सान्द्रचन्द्रिकचन्द्रमसः संदृष्टिवशतया सांदृष्टिकमिदं परामृष्टं,—हन्त! स खल्वयमोषधीशोऽप्याधिव्याधितजनानस्मानद्य सद्यः प्रतिरित्सेदेव, न तु चिकित्सेत्'इति॥४४

"ततश्च तत्क्षणं किञ्चिद्विलक्षणं शशलक्ष्माणमालक्ष्य वृन्दा चेदं चिन्तितवती,–॥४५॥

'हन्त! हन्त,

तासां कृष्णवियोगाग्निवाष्पैर्विष्वग् विनिःसृतैः।
आदर्श इव पश्यान्धश्चन्द्रमा मन्दतां गतः॥'४६॥

"अथ चमूरुदृशाममूषां मुहुरपि सम्मुखतया वशीकृतिमिवापन्नः शशी स्वदिशि तदा मदादुन्नतेन कृष्णस्य गभस्तिशतेन तस्य स्फूर्त्तिं समानिनायेति॥४७॥

"तदवलोकनाय व्याकुलताकुलायमानासु तासु,—

शारदेन शशिना हरिं प्रति, प्रस्थितिः सममयोजि सुभ्रुवाम्।
प्रत्ययोजि किल तेन सा तदा, मंक्षु तस्य मुरलीकलेन तु॥४८॥

"यतस्तदैव च,—

अनुरागेण रागेण वर्णभागेन माधुरीः।
कलयन्तं कलं वेणोः कलयामास केशवः॥४९॥

आविष्ट एवं आकृष्ट हो जाय, दूसरी कोई न हो जाय। अतः इस प्रकार सुविचार कर, एवं निश्चय कर, श्रीकृष्ण ने "मैं वेणु को इस प्रकार बजाऊँगा" जब ऐसा विचार किया—॥४३॥

तभी उन गोपियों ने निविड़ (गाढ़ी) चन्द्रिका (ज्योत्स्ना) से युक्त चन्द्रमा के अच्छी प्रकार देखने के कारण, शीघ्र मिलने वाले इस फल का विचार किया कि—हाय! यह चन्द्रमा भी मानसिक व्यथा से पीड़ित हम सब जनियों को आज तत्काल मार ही ड़ालेगा, किन्तु हमारी व्याधि का प्रतीकार न कर सकेगा॥४४॥

उसके बाद उसी क्षण में चन्द्रमा को कुछ विलक्षण देखकर वृन्दादेवी ने यह विचार किया कि—॥४५॥

हाय! हाय! देखो तो सही। मुख की भाफ के द्वारा दर्पण जैसे अन्धा हो जाता है, उसी प्रकार उन राधा आदि गोपियों के चारों ओर फैलनेवाले, एवं श्रीकृष्ण के वियोगरूप अग्नि से प्रगट होनेवाले वाष्प (भाफ या अश्रु) समूह के द्वारा यह चन्द्रमा मलीनता को प्राप्त हो गया है॥४६॥

तदनन्तर उन मृगलोचना गोपियों के बारंबार सम्मुख होने के कारण, वशीभूत हुआ सा चन्द्रमा, उस समय अपनी दिशा की ओर मद से उठती हुई श्रीकृष्ण की सैंकड़ों किरणों के द्वारा, श्रीकृष्ण का स्फूर्ति दिलाने लगा॥४७॥

श्रीकृष्ण के दर्शनार्थ वे गोपियाँ जब व्याकुलता का आचरण कर रही थीं, तब शरत् कालीन चन्द्रमा ने उन गोपसुन्दरियों का श्रीकृष्ण के प्रति प्रस्थान संघटित कर दिया। इसी कारण से उस समय श्रीकृष्ण की मुरली की मधुर ध्वनि ने तो, उस प्रस्थान को शीघ्र ही अधिक दृढ़ कर दिया॥४८॥

इसीलिए उसी समय श्रीकृष्ण ने अनुराग, राग, एवं वर्णविभाग के द्वारा, समस्त माधुरी का विस्तार करती हुई वेणु की सुमधुर ध्वनि को फैलाना आरम्भ कर दिया॥४९॥

"तत्रानुरागो यथा,—

'साश्रुकण्ठनयनं सकण्टकं, कम्पसम्पदयनं स माधवः ।
राधिका-विरहजाधिबाधितः, श्रव्यवेणुकलभव्यमाजगौ ॥'५०॥

रागो यथा,—

"रागमीदृशमसावचीक्लृपत्, प्राप राग इव यः प्रियाहृदि ।
यः स्फुटं न रसितः पुरा भुवि, क्वापि नामृतवदङ्ग विश्रुतः ॥'५१॥

"तत्प्रणादमयवर्णविभागो यथा,—

'अयि ! सुधांशुसुधामुखि ! राधिके !, मधुरभावधुरामधुमाधवि ! ।
मयि सदा दयिते ! दयिते ! चिरं, तव गुणैर्हृदयं मम दीर्यते ॥'५२॥

"अथ बाण इव वेणुनादे प्रवीणः स्वयमसावनेन तस्याः सिद्धां विद्धतामवबुध्य सुध्यग्रणीरन्याश्च तन्न्यायमाजुहाव ॥५३॥

"तत्र वर्णविभागस्त्वेवम्,—

'अहह गोपसुता ! मम गीःमिता, धरथ हन्त मनोरथदुर्धराम् ।
इति भवामि भवज्जितलज्जित,-स्तदुदयं सुदयं कुरुत प्रियाः ! ॥'५४॥

उन तीनों में से अनुराग का वर्णन, यथा—राधिका के विरह से जनित मानसी व्यथा से पीड़ित हुए वे श्रीकृष्ण गद्गद कण्ठ एवं सजल नयन हो, तथा रोमाञ्चों से युक्त हो, और कम्परूप सम्पत्ति के मार्गरूप बन कर, अर्थात् विशेष कम्पित होकर, सुनने योग्य वेणु के मधुर मङ्गलमय गीत को गाने लगे ॥५०॥

राग का वर्णन, यथा—श्रीकृष्ण ने वेणु में ऐसे अद्भुतराग की कल्पना करी कि, जो राग अनुराग की तरह कृष्णप्रिया गोपियों के हृदय में पहुँच गया। और जो राग भूमि पर पहले किसी के द्वारा स्पष्टरूप से आस्वादित नहीं हुआ, एवं अमृत की तरह पुनः कहीं पर विख्यात भी नहीं हुआ था ॥५१॥

उस वेणु का अनुराग भरे शब्दों से युक्त नादपूर्ण वर्णों का विभाग, यथा—हे सुधांशुसुधामुखि ! राधिके ! हे मधुरभाव के भार के कारण वसन्तकालीन माधवीलते ! हे मेरे ऊपर सदैव दयायुक्त ! प्रिये ! तेरे गुणों के द्वारा मेरा हृदय बहुत दिन से विदीर्ण हो रहा है ॥५२॥

तदनन्तर बाण की तरह वेणु बजाने में प्रवीण एवं बुद्धिमानों में अग्रगण्य श्रीकृष्ण, इस वेणुनाद के द्वारा राधिका की विद्धता को सिद्ध समझ कर, राधिका की तरह अन्य गोपियों को भी बुलाने लग गये ॥५३॥

उन गोपियों के बुलाने में वर्णों का विभाग तो इस प्रकार है, यथा—अहह ! हे गोपसुताओ ! यह बड़े खेद की बात है कि—तुम सब मेरी वाणी में बँधकर मनोरथ के द्वारा भी दुर्धर (न धारण करने योग्य) दशा को धारण कर रही हो। इसलिए मैं पहले आप सब से (प्रेम के द्वारा) पराजित होकर, पीछे लज्जित हो रहा हूँ। अतः हे प्रियगोपियो ! सुन्दर दया से युक्त अपने उदय को प्रगट करो, अर्थात् दयापूर्वक यहाँ पर चली आओ ॥५४॥

"अथ यदा पीतवसनेन गीतमेवमुद्गीतम्, तदा तासामेव कर्णाभ्यर्णतामागतं तत्र च यथायथमभिरुचितमेव चित्तीकृतं रागादिकमवधार्य निवार्यतातिक्रमनिरतास्थिरताः प्रतस्थिरे। तत्र च कृष्णाभिमुखतामेवातस्थिरे, नान्यत् किमपि ॥५५॥

"तथाहि,—

या यत्र कर्मणि गतास्तदनुस्थितिं ता, विस्मृत्य तस्य मुरलीश्रुतिदिव्यनेत्राः ।
दृश्यप्रभं तमभिवव्रजुरश्रुनीर,-स्रोतस्वतीमयतया निजजीवनेशम् ॥५६॥

"तदा च,—गोकुलकुमुदाक्षीणां, कुमुद्वतीनां तदा तथा कुमुदाम् ।
अकुरुत कुमुदाधीशः, स तदा शतधा परां सुमुदम् ॥५७॥

"तदा च,—शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिन्निरुद्धाः प्रस्थितिं प्रति ।
कृष्णं तत्रैव ताः प्रापुरित्येवं मुनिजल्पितं ॥"५८॥

अत्र च स्निग्धकण्ठेनान्तश्चिन्तितम्,—"ताः एताः खलु पाद्मोत्तरखण्डदृष्ट-दण्डकारण्य-गत-मुनिवर्यतया साधकचर्यस्तदानीमपि लक्ष्मीवर्याणां राधिकादि-नित्यतद्भार्याणां स्वकाम्यं

तदनन्तर पीताम्बरधारी श्रीकृष्ण ने जब इस प्रकार का गायन प्रगट किया, तब वह गायन उन गोपियों के ही कानों के पास आ गया। उस गायन में भी अपनी अपनी रुचि के अनुसार ही जाने गये राग आदि को धारण करके, वहाँ जाने पर श्रीकृष्ण के द्वारा अपनी निवार्यता का जो अतिक्रमण, उसके द्वारा जिनकी अस्थिरता (चञ्चलता) दूर हो गई है, ऐसी वे गोपियाँ दृढ़ मन से श्रीकृष्ण के पास ही चल दीं। उस चलने में भी सब ने श्रीकृष्ण की सम्मुखता को ही स्वीकार कर लिया, और कुछ भी नहीं ॥५५॥

देखो! जो गोपी जिस कार्य के निमित्त गई थीं, वे सब गोपियाँ उस उस कार्य के अनुष्ठान को भूलकर, श्रीकृष्ण की मुरली ध्वनि के श्रवण से दिव्यनेत्रों से युक्त होकर, अश्रुरूप जल से उत्पन्न हुई एक प्रकार की पूर्ण नदीरूप होकर, साक्षात् के समान दिखाई देने वाले अपने जीवननाथ उन श्रीकृष्ण के सम्मुख चल दीं। नदी पक्षे—समुद्र के सम्मुख चल दीं ॥५६॥

और उस समय कुमुदिनीनायक उस चन्द्रमा ने श्रीकृष्णपूजार्थ कुमुदधारिणी गोकुलवासिनी कुमुदके से नेत्रोंवाली उन गोपियों के लिए, एवं कुमुदावली के लिए, अथवा पृथ्वी को आनन्दित करनेवाली विकसित लता वृक्ष आदि जाति के लिए, सैंकड़ों प्रकार से सर्वोत्कृष्ट एवं सुन्दर आनन्द प्रगट कर दिया ॥५७॥

और उस समय कुछ गोपियाँ अपने प्राकृत पतियों की सेवा करती हुईं, श्रीकृष्ण के पास प्रस्थान (गमन) के प्रति पतियों द्वारा घर में ही निरुद्ध हो गई थीं। वे ध्यानयोग के द्वारा वहीं पर श्रीकृष्ण को पा गईं। इस प्रकार श्रीशुकदेवजी ने कहा है ॥५८॥

इस विषय में स्निग्धकण्ठ ने अपने अन्तःकरण में विचार किया कि—पतियों के द्वारा घर में रोकी गईं गोपियों का विवरण इस प्रकार है। पद्मपुराण के उत्तरखण्ड में वर्णित है कि—श्रीरामचन्द्रजी जब दण्डकारण्य में पधारे थे, उस समय वहाँ पर रहनेवाले मुनिजनों ने श्रीरामजी के रूप पर विमुग्ध होकर, शृङ्गारभाव की वासना की थी, वे ही गोकुल में स्त्री-देह को प्राप्तकर, शृङ्गारभाव से श्रीहरि को पाकर मुक्त हो गये थे। वे सब मुनिरूपा गोपी साधकचरी, अर्थात् पहले जन्म में साधन करने के कारण साधन-सिद्धा कही जाती हैं। श्रीकृष्णावतार के समय भी लक्ष्मी से भी श्रेष्ठ, श्रीराधिका आदि श्रीकृष्ण की नित्य-

साम्यमनवाप्ता यथा तदवाप्य श्रीकृष्णमवाप्तास्तथा वर्ण्यमिति स्थिते (भा० १०।२६।११)—

'तमेव परमात्मानं जारबुद्धयापि सङ्गताः । जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः ॥'

इत्येव प्रतिपत्तये कल्पते ॥५९॥

"उक्तं च पाद्मोत्तरखण्ड एव,—

'ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्नाः समुद्भूताश्च गोकुले ।
हरिं सम्प्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवात् ॥'इति॥

"किन्तु (भा० १०।३३।३८) 'नासूयन् खलु कृष्णाय' इत्युक्तदिशा तदीयास्तु न तदूहितुमीशामासुरिति ज्ञेयम् । यच्च (भा० १०।६।३५) 'जिघांसयापि हरये स्तनं दत्त्वाप सद्गतिम्" इत्यस्य सदृशेन 'तमेव परमात्मानं जारबुद्धयापि' इत्यादिना साधनस्य निकर्षरूपमपेरभिधेयं फलस्य तु सर्वोत्तमरूपत्वं प्रतिपद्यते ॥६०॥

"तच्च युक्तम्, यतः,—

तासां कृष्णः परात्मा न तु पर इति न प्राप्नुयाज्जारतां तत्
प्रान्ते प्राप्तः पतित्वं ददवुचितमतिं जारमत्यापि वित्तः ।

कान्ताओं के समान अपने वाञ्छनीय को वे मुनिरूपा गोपी प्राप्त न कर पाईं । और जिस प्रकार अपने वाञ्छनीय सादृश्य (नित्यकान्ताओं की समानता) को प्राप्तकर श्रीकृष्ण को पा गईं, उस प्रकार वर्णन करने योग्य है । ऐसी स्थिति में "उन मुनिरूपा गोपियों ने उन परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण को उपपति की बुद्धि के द्वारा भी प्राप्तकर, घर में ध्यानयोग के द्वारा गुणमय (प्राकृत) देह को त्याग दिया, एवं वे तत्काल भवबन्धन से मुक्त हो गईं" यह श्रीमद्भागवत का सिद्धान्त ही समझने समझाने के लिए समर्थ है ॥५९॥

पद्मपुराण के उत्तरखण्ड में कहा भी है कि—"वे सब दण्डकारण्यवासी मुनिजन स्त्रीभाव को प्राप्त होकर, गोकुल में गोपीरूप से उत्पन्न हुए थे, पश्चात् कामभाव के द्वारा श्रीकृष्ण को प्राप्तकर, संसारसागर से मुक्त हो गये" इति । किन्तु उनके प्राकृत पतियों ने "नासूयन् खलु कृष्णाय" इस उक्ति के अनुसार श्रीकृष्ण के गुणों में कोई दोषारोपण नहीं किया । और वे "किस प्रकार श्रीकृष्ण को प्राप्त हो गईं" इस प्रकार की विवेचना करने के लिए भी वे समर्थ न हुए, यह सिद्धान्त अवश्य जानने योग्य है । और "मारने की इच्छा से भी श्रीहरि को अपना स्तन देकर पूतना ने सद्गति प्राप्त कर ली" इसी वाक्य के समान "उन परमात्मा श्रीकृष्ण को उपपति बुद्धि से भी प्राप्तकर वे मुनिरूपा गोपियाँ मुक्त हो गईं" इत्यादि वाक्य के द्वारा 'अपि' शब्द की वाच्यस्वरूपा साधन की निकृष्टता, और फल की सर्वोत्तमरूपता अंगीकार की जाती है या जानी जाती है— ॥६०॥

वह उचित ही है क्योंकि—उन साधनसिद्धा मुनिरूपा गोपियों के लिए श्रीकृष्ण ही परमात्मा थे, किन्तु परपति नहीं थे । इसी कारण श्रीकृष्ण जारता को, अर्थात् उपपतिभाव को नहीं प्राप्त हो सकते । और उनके द्वारा जारबुद्धि से विचारे गये भी श्रीकृष्ण उचित बुद्धि को देते हुए, उनके प्राकृत देह के त्यागने के बाद सच्चे पतिभाव को ही प्राप्त हो गये । क्योंकि मारने की इच्छा वाली, धात्री (धाई) के समान वेष वाली, पूतना के हृदय में भी, समुचित बुद्धि अर्पण करने के कारण, श्रीकृष्ण ने अत्यन्त स्थिर वात्सल्यभाव को प्राप्त किया था । इसी प्रकार जारबुद्धि से भजन करने पर भी, मुनिरूपा गोपियों को नित्य पतिरूप में

यद्वद् बक्यां जिघांसावपि समुचितमत्यर्पणाल्लाल्यभावं
लेभे धात्रीनिभायां स्थिरतममिह यद् युक्तितस्तत्फलं हि ॥६१॥

"तथापि (भा० १०।२९।१३)—

'उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षज-प्रियाः ॥'६२॥

इत्यनुसारात् प्रेमांशेन तु तासां महदेव वैलक्षण्यमनुगतम् ॥६३॥

"न च नित्यकान्तास्वपि प्रकटलीलायां जारबुद्धिर्दृश्यत इति तस्याः श्लाघैव वाच्या ॥६४॥

"यतः, या नित्या एव कान्ता दनुजकुल-रिपो राधिकाद्या न तासां
श्लाघां सा जारताधीरचिरजनिरियात् किन्तु रागः स नित्यः।
तां भित्त्वा विघ्नकर्त्रीं द्रुतमुदितवता तेन तं नित्यकान्तं
प्रापुस्ता नापरासामिव वपुरपरं स प्रतीक्षेत तासाम् ॥"इति॥६५॥

श्रीकृष्णरूप फल की जो प्राप्ति है, उस फल की प्राप्ति तो इस पूतना के दृष्टान्त से ही निश्चित हो गई। तात्पर्यार्थ यह है कि—जो जहर देनेवाले को भी समुचित बुद्धि देकर कृतार्थ करते हैं, फिर श्रीकृष्णप्रिया मुनिरूपा गोपियों को वे श्रीकृष्ण कृतार्थ करेंगे, इस विषय में तो कहना ही क्या है? वस्तुतः जार शब्द श्रीकृष्ण के पक्ष में साधारण जारता का वाचक नहीं है, अपितु (जरयति कामवासनामिति जारः) इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो भक्त के हृदय की कामवासना को नष्ट करता है, ऐसा कृष्ण ही जार शब्द वाच्य है। क्योंकि वस्तु की शक्ति ज्ञान की अपेक्षा नही करती। जैसे पारस पत्थर अनजान में भी छूकर लोहे को सुवर्ण बना देता है, एवं अग्नि अनजान में भी जलाता ही है, इत्यादि ॥६१॥

देखो ! इसी बात को पुष्ट करते हुए श्रीशुकदेवजी ने परीक्षित् के प्रति कहा है कि—हे राजन् ! यह बात मेंने तुमसे पहले ही कह दी है कि, श्रीकृष्ण से द्वेष करता हुआ शिशुपाल भी जब सिद्धि को प्राप्त कर गया, तब श्रीहरिप्रिया गोपियों ने सिद्धि का लाभ किया इसमें तो कहना ही क्या है ? अर्थात् उनकी इष्ट-सिद्धि में तो शंका करने की आवश्यकता ही नहीं ॥६२॥

इस उक्ति के अनुसार प्रेम के अंश की अधिकता के कारण तो, उन मुनिरूपा गोपियों की महती: विलक्षणता लक्षित होती है ॥६३॥

और प्रगटलीला में श्रीकृष्ण की नित्यकान्ता गोपियों में भी जारबुद्धि देखी जाती है, इसलिए उस जारबुद्धि की श्लाघा करनी उचित है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता ॥६४॥

क्योंकि दैत्यारि श्रीकृष्ण की श्रीराधा आदि जो नित्यकान्ता हैं; उनकी तत्काल उत्पन्न होने वाली वह जारता बुद्धि श्लाघा (प्रशंसा) को प्राप्त नहीं हो सकती। किन्तु उनका वह नित्य अनुराग ही श्लाघा को प्राप्त कर सकता है। क्योंकि विघ्न करने वाली उस जारताबुद्धि को विदीर्ण कर शीघ्र ही उत्पन्न होने वाले उनके लोकोत्तर अनुराग के द्वारा वे नित्यकान्ताएँ नित्यकान्त श्रीकृष्ण को पागईं। कारण घर में रुकी हुई मुनिरूपा गोपियों की तरह, उन राधा आदि नित्यकान्ताओं का वह लोकोत्तर अनुराग दूसरे शरीर की प्रतीक्षा नहीं कर सकता ॥६५॥

तदेतद् विचिन्त्य स्फुटं प्रोचे,—"ततस्ततः ?" ॥६६॥

मधुकण्ठ उवाच,—"अभिसृतवतीनां विशेषो यथा—

श्रुते मुरलिकाकले निजनिजाह्वयप्रापके
समं व्रजनतभ्रुवः सपदि फुल्लदेहा बभुः।
अनङ्गमपि वर्धितं विहितवानहो यस्तदा
कथं न किल वर्धयेन्निजकलाबलेनाङ्गनाः ? ॥६७॥

"किञ्च, सत्वरप्रसारवत्स्वसत्त्वधामहायिनी। सर्वगुर्वहार्यकूटवारणातियायिनी ॥
नाथमेकमन्वनेकदारसम्पदर्पिणी। ओघमोघमन्वनन्तभक्तलोकतर्पिणी ॥६८॥
लोलकेश-शैवलाञ्चिकर्णपूरचक्रिणी। पुष्पजातनिष्प्रपातशुभ्रफेनचक्रिणी ॥
उच्छलन्नवीनमीन-नेत्रनीर-गात्रिणी। अग्रिमाध्वमात्रपात्रसम्मुखानुयात्रिणी ॥६९॥
मन्दचालबाहुनालपाणिपद्मशालिनी। अच्छबालकच्छपाङ्गवत्सजन्मजालिनी ॥
जूतिधूतिकृत्कुटीरतीरधीरगामिनी। ऊरुभूरुहालिपातसम्प्रपातकामिनी ॥७०॥
काञ्चिकाञ्चिकङ्कणादिशिञ्जदम्भसञ्जिनी। प्रायशस्तु हंससंघशब्दितानुरञ्जिनी ॥
तूर्णतूर्णघूर्णनादिसंकुलाङ्गनर्तिनी। पूर्णपूर्णभावगूर्णजाड्यजातवर्तिनी ॥७१॥

इस प्रकार विचार कर स्निग्धकण्ठ स्पष्ट बोला कि—भैया ! मधुकण्ठ ! उसके आगे का प्रसङ्ग क्या है ? ॥६६॥

मधुकण्ठ बोला—श्रीकृष्ण के प्रति अभिसार करने वाली गोपियों की विशेषता, यथा—अपने अपने नाम को अपने अपने कान में पहूँचाने वाले मुरली के सुमधुर स्वर के सुनते ही, सभी व्रजाङ्गनाएँ एकसाथ तत्काल प्रफुल्लित शरीर वाली होकर देदीप्यमान हो गईं। अहो ! मुरली के जिस मधुर स्वर ने अङ्गहीन उस काम को भी जब वृद्धिको प्राप्त कर दिया, तब वह मुरली का मधुर स्वर अपनी कला के बल से गोपाङ्गनाओं को किस प्रकार न बढ़ा सकेगा ? अतः उनका शरीर प्रफुल्लित हो गया ॥६७॥

किंच अड़सठवें श्लोक से तिहत्तरवें श्लोक तक कुलक है, अर्थात् छः श्लोकों का एक सम्बन्ध है। अतः उन सब का इकट्ठाही अर्थ लिखते हैं, यथा—नदीश्रेणी की समानता वाली यह सखियों की श्रेणी, सिन्धु के तुल्य उत्ताल तरङ्गों से युक्त अङ्गवाले, श्याम तेज के कारण सुन्दर मनोहरता वाले, निर्भीकपति-रूप माधव को शीघ्र ही प्राप्त हो गई। वह सखीश्रेणी कैसी थी उसके क्रमशः विशेषण, यथा—वह सखी-श्रेणी शीघ्रतापूर्वक फैलनेवाले आत्मिक बल के द्वारा, अपने अपने घर को त्यागनेवाली, सास ससुर आदि सभी गुरुओं के दृढ़तर निवारण को उल्लंघन करने वाली, एक प्राणनाथ को लक्ष्य करके अनेक स्त्रीरूप सम्पत्ति को अर्पण करने वाली, एवं यूथ के यूथ भक्तों को लक्ष्य करके, अनन्त भक्तजनों को तर्पित करने वाली थी। और चञ्चल केशकलापरूप शैवाल (काई) से युक्त कर्णपूर (कर्णफूल), अर्थात् मण्डलाकार कुण्डलोंवाली, केशकलाप से गिरते हुए पुष्प समूहरूप सफेद फेन के समूहवाली, उछलते हुए नवीन मीनों की तरह नेत्रों का जो नीर उससे युक्त गात्रवाली, आगे के मार्गमात्र के आधाररूप श्रीकृष्ण के सम्मुख यात्रा करने वाली थी। और वह सखीश्रेणी मन्दचाल से युक्त बाहुनालरूप करकमलों के द्वारा शोभावाली, निर्मल बाल कच्छप (छोटा कछुआ) के समान स्तनरूप जालवाली, वेग से अपनी अपनी

वेशवस्त्रसन्निवेशचञ्चलत्वभङ्गिनी । तत्तदर्थवैपरीत्यकारिवेगसङ्गिनी ॥
यन्निमित्तमात्मसर्वसङ्गभङ्गभाविनी । यत्र सर्वनामरूपविस्मृतिश्च भाविनी ॥७२॥

श्यामधामसुष्ठुवाममेतमत्र सद्भवम् । सिन्धुतुल्यमुत्तरङ्गदङ्गमाशु माधवम् ॥
पूर्वपूर्वभिन्नयातिरुत्तरात्तसङ्गतिः । आपगालिसम्मिताप सेयमालिसंहतिः ॥७३॥

"तास्तत्र च,—

शुभंयु-वनमञ्जुले सवितृजारुचा संकुले
प्रसूनगणराजिते भ्रमरकोकिल-भ्राजिते ।
सुगन्धमरुदञ्चिते कुमुदबन्धुशोभाचिते
समस्तगुणनिश्चिते निधितया चिरं सञ्चिते ॥७४॥

स्थले मणिज-चत्वरं समधिरुह्य तं सत्वरं
विचित्रमुरलीकलं विरचयन्तमुद्यत्कलम् ।
घनाघनघनश्रियं तडिदभीषुवस्त्रप्रियं
मणिद्युतिविकस्वरं ददृशुरङ्गि दिव्यस्मरम् ॥७५॥ युग्मकम् ॥

कुटीको दूर त्याग कर यमुना तीर पर धीरे धीरे जानेवाली, अपनी अपनी जङ्घारूप वृक्षश्रेणी के पात के सम्प्रपात, अर्थात् अच्छी प्रकार चलने को कामनावाली थी। तथा काञ्ची (कोंधनी) से युक्त कंकण आदि की मधुर ध्वनि के सम्बन्धवाली, प्राय: हंससमूह के शब्द का अनुकरण करनेवाली, जल्दी जल्दी घूमघुमेर आदि से व्याप्त (युक्त) अपने अङ्ग को नचानेवाली, पूर्ण से भी पूर्ण सात्त्विक भाव के उदय से होनेवाली जड़ता के समूह से युक्त होनेवाली, वेश एवं वस्त्रों के सन्निवेश (यथास्थान धारण) करने के समय चञ्चलतारूप तरङ्गों से युक्त होनेवाली, अपने अपने स्थान पर वस्त्र भूषण आदि धारण करने की विपरीतता करने वाले वेग के संयोगवाली, जिसके निमित्त अर्थात् श्रीकृष्ण की प्राप्ति के लिए अपने सभी प्रियजनों के सङ्ग के भङ्ग की भावनावाली, और जिस भावना में या श्यामसिन्धु में मिलते ही सर्व प्रकार के नाम एवं रूपों की विस्मृति हो जायगी, ऐसे श्यामसिन्धु के पास चलते समय पहले पहले की अपेक्षा भिन्न गति (चाल) वाली, अथवा पहले पहले विभिन्न स्थानों से आनेवाली होकर भी, पश्चात् एकभाव से एकत्र सम्मिलित होनेवाली थी ॥६८-७३॥

और वहाँ पर जाकर उन गोपियों ने कैसे स्थल पर, कैसे श्रीकृष्ण का दर्शन किया उसका वर्णन, यथा—वहाँ पर उन गोपियों ने शुभयुक्त वन से मनोहर, श्रीयमुना की कान्ति से परिव्याप्त, पुष्पसमूह से विराजित, भ्रमर कोकिल आदि से भ्राजित (दीप्त), सुगन्धमय वायु से युक्त, चन्द्रमा की शोभा से व्याप्त, समस्तगुणों से परिपूर्ण, निधिरूप से चिरकाल से सञ्चित किये हुए ऐसे स्थल में, मणियों से बने हुए एक ऊँचे चबूतरे पर शीघ्र ही चढ़कर, जिसमें अनेक प्रकार की कला (स्वर भेद) उत्पन्न हो रही हैं, ऐसे विचित्र मुरली के सुमधुर स्वर की रचना करते हुए, वर्षाऋतु मेघ की सी शोभावाले, बिजली की सी किरणों से युक्त पीताम्बर से प्रेम रखनेवाले, एवं मणियों की कान्ति से शोभायमान मूर्तिमान दिव्य कामस्वरूप श्रीकृष्ण को देखा। यहाँ दो श्लोकों में अन्वय के कारण युग्मक है ॥७४-७५॥

"निर्माय कृष्णमभितः स्थितिमत्र गौरी,-पंक्तिस्तदा तमवलम्बितुमुत्कचित्ता ।
मध्ये तमालमुपलभ्य सुवर्णवर्ण,-वल्लीततिर्विलसतीति किल व्यलोकि ॥७६॥

"अथ,—

वंशीदूतिकया निमन्त्र्य कलिताः सौरभ्यधारासखी-
संघैः सादृति भूरिदूरसरणेरानायिताः सुभ्रुवः ।
प्राप्ताः स्वान्तिकमात्मरोचिरमृतान्यप्याशिताः प्रेयसा
तृप्तिं नैव ययुर्न वा विरमितं तद् दानकर्माऽमुना ॥७७॥

"प्रत्युत,—

नव्याः कलाधराः शुभ्रा भ्राजिनक्षत्रमालिकाः ।
अराललोचनाः कृष्णचकोरं तृष्णजं व्यधुः ॥७८॥

"अथ कृष्णस्तत्र सतृष्णमचिन्तयत्,—अहो ! नवतारुण्यस्य पुण्यसम्पद एता वर-लावण्यस्य मत्क्रेतव्य-नव्य-पण्यश्रेण्यस्त्रिलोकीलक्ष्म्याश्चूडामणयः स्फुरन्मन्मथस्य जीवनौषधयः कुमुदायमान-मदीयलोचनयोर्नवीनाश्चन्द्रकलाः सहावतीर्य रुचिं वितीर्य विराजन्ते ॥'७९॥

वहाँ पर गौरवर्णवाली गोपियों की पंक्ति श्रीकृष्ण के चारों ओर खड़ी होकर, उनका अवलम्बन करने को उत्कण्ठा से युक्त चित्तवाली हो गई। उस समय वह गोपी पंक्ति ऐसी दिखाई देती थी कि, बीच में तमाल वृक्ष को पाकर उसके चारों ओर सुवर्णवर्णवाली लताओं की पंक्ति ही मानो शोभा पा रही है ॥७६॥

अनन्तर वंशीरूपिणी दूती के द्वारा निमन्त्रण देकर बुलाई गईं, सुगन्धि की धारारूप सखीसमूह के द्वारा आदरपूर्वक बहुत दूर के मार्ग से लाई गईं, एवं अपने निकट आई हुईं, अतः प्रियतम श्रीकृष्ण के द्वारा अपनी कान्तिरूप अमृत का भोजन कराई गईं भी वे गोपियाँ तृप्ति को न प्राप्त हुईं, और गोपीजन-वल्लभ श्रीकृष्ण ने अपनी कान्तिरूप अमृत का दानरूप कर्म भी समाप्त न किया ॥७७॥

प्रत्युत (अपने शोभामृत के दान के बदले में) नव यौवनवाली, चन्दन आदि के द्वारा बनाई गई अनेक प्रकार की चित्रकला को धारण करने वाली, शुक्लवस्त्रों के द्वारा शुक्लवर्णवाली, देदीप्यमान मणिमय हारों को धारण करनेवाली, कुटिल नेत्रोंवाली उन गोपियों ने श्रीकृष्णरूप चकोर को अपने दर्शन के प्रति तृष्णायुक्त कर दिया। दृष्टान्त पक्ष में—चन्द्रमा की नवीन कलाओं को धारण करनेवाली, शुक्लवर्ण वाली, टेढ़े दर्शनवाली, चमकती हुई नक्षत्रश्रेणी ने काले चकोर को इच्छुक कर दिया ॥७८॥

अनन्तर श्रीकृष्ण वहाँ पर तृष्णापूर्वक विचारने लगे कि—आहा ! कैसी आश्चर्य की बात है कि—ये सब गोपियाँ तो नव यौवन के श्रेष्ठ लावण्य की पुण्य सम्पत्ति (पुण्यफल) स्वरूप हैं, एवं मेरे द्वारा खरीद ने योग्य नवीन द्रव्य की दूकानों की पंक्तिस्वरूप हैं, तीनों लोकों की शोभा की मुकुटमणिस्वरूप हैं, जागृत हुए काम की जीवनौषधिस्वरूप हैं, कुमुद पुष्प का सा आचरण करनेवाले मेरे दोनों नेत्रों के लिए तो नवीन चन्द्रकलास्वरूप हैं, और एक ही साथ अवतीर्ण होकर शोभा का वितरण करती हुईं विराजमान हैं ॥७९॥

"तदेवं स्थिते,—

कृष्णाऽपाङ्गशरः साङ्गं भित्त्वाऽपाङ्गशरं मम ।
मनोरथिनमुद्भेत्तुं किल प्राविशदन्तरम् ॥८०॥

इति ताः प्रत्येकं प्रत्येतव्यं चक्रुः ॥८१॥

"वस्तुतस्तु हरेस्तासु सर्वासु लतास्विव द्वित्रलवसेवनपूर्वकमपूर्वतया भ्रमन्नेत्रभ्रमर-युगलं कमलिन्यामिव राधायां निर्बाधां स्थितिमातस्थे ॥८२॥

"आस्थितवतीति च तत्रेदं स तु विचारयामास,—

'शोभायाः शुभदा शोभा रमायाः परमा रमा ।
सेयं मल्लोचनस्यापि राधिका चारुलोचनम् ॥'८३॥

"तदेवं सति सा च तदीय-तादृशदृशः स्पर्शतः कम्पसम्पदुन्मीलनरसप्रसरवशतया क्षोभं लभमानापि तं प्रति प्रहितलोभां शोभामुवाह ॥८४॥

ऐसी स्थिति के बाद हाय! हाय! यह श्रीकृष्ण का कटाक्षरूपी बाण मेरे कटाक्षरूपी बाण को साङ्गोपाङ्ग भेद कर, मेरे मनरूपी रथी (योद्धा) को अधिक भेदन करने के लिए, निश्चय ही मेरे अन्तःकरण में प्रविष्ट हो गया है ॥८०॥

इस प्रकार उन प्रत्येक गोपियों ने पूर्व श्लोकोक्त विषय को अपने अपने ज्ञान के गोचर किया, अर्थात् श्रीकृष्ण के कटाक्षरूपी बाण की क्रिया प्रत्येक के ही हृदय में स्फुरित हुई ॥८१॥

वस्तुतस्तु भ्रमर जैसे कुछ काल तक सब लताओं का सेवन कर, घूमते घूमते पश्चात् कमलिनी के ऊपर ही जैसे चिरकाल तक स्थित हो जाता है, ठीक उसी प्रकार श्रीकृष्ण का नेत्ररूपी भ्रमर-युगल भी दो तीन क्षण तक सेवनपूर्वक, लतारूप उन सब गोपियों के ऊपर अपूर्वरूप से घूमता हुआ, पश्चात् कमलिनी तुल्य राधिका के ऊपर ही बाधारहित चिरकाल तक स्थित हो गया, अर्थात् दो तीन क्षण गोपियों के सौन्दर्यरूप मकरन्द का पान कर, चिरकाल तक राधिका के सौन्दर्यरूप मकरन्द का पान करता रहा ॥८२॥

पुनः राधिका के स्थिर हो जाने के कारण, श्रीकृष्ण राधिका के उत्कर्ष के विषय में यह विचारने लगे कि—यह राधिका तो शोभा की भी शुभदायिनी शोभा है, लक्ष्मी की भी परम लक्ष्मी है, एवं मेरे नेत्रों की भी सुन्दर दर्शनशक्ति है। तात्पर्य—राधिका के दर्शन बिना तो मैं भी प्रायः अन्धा सा ही रहता हूँ ॥८३॥

अतः इस प्रकार की स्थिति में, अर्थात् श्रीकृष्ण जब टकटकी लगाकर राधिका का दर्शन कर रहे थे, तब श्रीराधिका श्रीकृष्ण के उस प्रकार के नेत्रों के स्पर्श से प्राप्त कम्परूपी सम्पत्ति के द्वारा, प्रफुल्लित रसविस्तार के वशीभूत होने के कारण क्षोभ को प्राप्त होती हुई भी, श्रीकृष्ण के प्रति लोभ की प्रेरणा करने वाली शोभा को धारण करती रही ॥८४॥

"अत्र च प्रश्नोत्तरमयं पद्यम्,—

'स्मेरयोः प्रति विधूद्यदस्रयो, राधिकानयनयोस्तुलां वद ? ।
शारदं विकचमेचकोत्पलं, यन्मरन्दझरमोचि तत् किमु ?' ॥८५॥

"तदेवं स्थिते ताः पुरःस्थिता यद्यप्यनवद्यसंवनन-प्रवीणवेणुविद्यामदिता लज्जामुज्जहति स्म, तथाप्यवितथाभिजात्यतया नम्रताकम्रा मुनिव्रतमेवानुववृतिरे ॥८६॥

"श्रीकृष्णस्तु यदा विशिष्टललनामध्यमध्यावसन्नेवमद्योतिष्ट, तदा तासां परमदुर्लभ-परिमलमात्राणामपि वैणवमधुरगीतमधुमदिततया स्वयमेव कृताभियात्राणामागतिं दृशोः पथि निर्माय सनर्मस्मितस्तद्विधां बुद्धिमुपधया लब्धशुद्धिमवधारयन्निव तन्मुखादुन्मुखानुरागजाग-रूक-वागमृतमास्वादयितुं तासु च समुत्सुकतामासादयितुं निजान्तिकस्थितियाञ्चागर्भेण स्फुरदु-पेक्षासन्दर्भेण वचसा ताः क्षोभयामास ॥८७॥ 'यथा—

महाभागा ! युष्मन्मिलनमभवन्नः शुभकृते
ततः पृच्छाम्यत्रागमनमिदमव्याहतमिति ।
तदेतावत्क्लेशादभिगमनतः संकुचितधीः
स भूयः संपृच्छे भवदभिमतं किं नु करवै ?' ॥८८॥

और इसी समय प्रश्नोत्तरसूचक श्रीकृष्णोक्त पद्य, यथा— प्रश्न—श्रीकृष्ण के सम्मुख होते ही प्रफुल्लित होनेवाले, अश्रुधारा बहानेवाले राधिका के नेत्रों की उपमा बताओ ? स्वयं उत्तर देते हुए बोले—जो मकरन्द के झरने बहाता है, वह शारदीय खिला हुआ नीलकमल, राधिका के नेत्रों के तुल्य नहीं है क्या ? ॥८५॥

ऐसी स्थिति के बाद श्रीकृष्ण के सम्मुख खड़ी होनेवाली वे गोपियाँ, यद्यपि दोषरहित वशीकरण क्रिया में प्रवीण वेणुविद्या के द्वारा, उन्मत्त होकर लज्जा को त्याग चुकी थीं, तथापि सत्य ही सद्वंश में उत्पन्न होने के नाते, नम्रता की कमनीयता के कारण मौन का ही अनुसरण करती रहीं ॥८६॥

श्रीकृष्ण तो जब विशिष्ट महिलारूप गोपियों के मध्य में बैठते ही शोभा पा रहे थे, तभी अत्यन्त दुर्लभ मनोहर गन्धमात्र से युक्त गात्रोंवाली होकर भी, वेणु के मधुरगीतरूप मधु के द्वारा मत्त होने के कारण, स्वयं ही यात्रा करनेवाली उन गोपियों के आगमन को दृष्टिगोचर करके, परिहासपूर्वक मन्दहास करके, उनकी उस प्रकार की बुद्धि को धर्म आदि की परीक्षा के द्वारा, शुद्धि को प्राप्त हुई है या नहीं, इस बात का निश्चय सा करते हुए, एवं उनके मुख से उत्पन्न अनुराग के द्वारा, जागरूक (प्रफुल्लित) वाणीरूप अमृत का स्वाद लेने के लिए, तथा उनके हृदय में उत्कण्ठा को प्राप्त कराने के लिए, उनको क्षुभित करने लग गये । जिस वाक्य के द्वारा श्रीकृष्ण ने उनको क्षुभित किया था, उस वाक्य के भीतर तो अपने पास में रहने की प्रार्थना भरी थी, एवं बाहर से उपेक्षा की रचना प्रतीत हो रही थी ॥८७॥

यथा—हे महाभाग्यशालिनी गोपियो ! हमारे मङ्गल के लिए ही तुम्हारा मिलन हुआ है । इसलिए मैं पूछता हूँ कि तुम्हारा यहाँ पर आगमन निर्विघ्नतापूर्वक तो हुआ है न ? इतने पर भी उत्तर न पाकर पुनः श्रीकृष्ण बोले—अतएव इतने भारी क्लेशपूर्वक तुम्हारे आगमन से संकुचित बुद्धि होकर, मैं पुनः तुम सबसे पूछता हूँ कि, मैं तुम्हारा कौनसा अभिमत कार्य करूँ ? ॥८८॥

"तदेवमत्रादरज्ञापनया ज्ञात्वाप्यज्ञानविज्ञापनया च स्वेषूपेक्षापेक्षयोरेकतरतया तदभिप्रायं प्रायशो बोद्धुमसमर्थासु तासु तत एवानभिव्यक्तकिञ्चिदर्थासु पुनः सनर्म च तथा वाचं प्राह,—॥८९॥

'पृच्छतोऽपि पुरतो मम भव्यं, मौनमेव कुरुथ प्रतिगीर्यत् ।
तद्भवद्व्रजगृहे गृहभाजां, किं निरामयमथ प्रतिभाति ?'९०॥

"ततश्च मिथःसस्मितनिरीक्षितासु तासु पुनरुवाच,—
'तदिदं दुरभिप्रायं, बोद्धुं भवदीयमस्मि न समर्थः ।
स्वयमिह यूयं तस्मात्, कथयत सङ्कोचमुद्धूय ॥'९१॥

"पुनरतीव संकुचतीर्निरीक्ष्य योजनाविशेषश्लेषमयतयापि तथा प्रथयामास,—॥९२॥
'अथ न भवति कार्यं ब्रूथ तन्नेति बुद्धं, व्रजमनु चलचित्ता यात नाध्वं मयात्र ।
वनमिदमतिघोरं रात्रिरत्रातिघोरा, स्वयमतिशयिघोरप्राणि-वृन्दैः परीता ॥ ९३॥

अतएव इस प्रकार पूर्वोक्त श्लोक के आधे भाग में आदर की विज्ञापना से अपने प्रति कुछ भाव जानकर भी, पश्चात् "तुम्हारा कौन सा अभिमत करूँ ?" इस प्रकार अज्ञान की विज्ञापना के द्वारा अपने भक्तों पर उपेक्षा एवं अतेक्षा की एकतरता के कारण, जब वे गोपियाँ श्रीकृष्ण के अभिप्राय को प्रायः समझने में असमर्थ हो गईं, और इसीलिए जब वे कुछ भी अपने अर्थ, अर्थात् अभिधेय को या प्रयोजन को प्रकाशित नहीं कर रही थीं, तब श्रीकृष्ण पुनः परिहासपूर्वक इस प्रकार बोले— ॥८९॥

मैं तुम्हारे सामने पूछ रहा हूँ तो भी तुम सब प्रत्युत्तर देने के प्रति, मौन को ही मङ्गलमय विवेचित कर रही हो, अर्थात् मौन को ही अच्छा समझकर चुप खड़ी हो। इसलिए मैं पुनः पूछता हूँ—तुम्हारे व्रज के घरों में रहनेवाले बन्धुजनों की नीरोगता है क्या ? मुझे तो नीरोगता मालूम पड़ती है। यदि कुशलता न होती तो तुम्हारा यहाँ पर आना ही सम्भव न था ॥९०॥

तदनन्तर जब वे गोपियाँ आपस में मन्दमुस्क्यानपूर्वक देखने लग गईं, तब श्रीकृष्ण पुनः बोले—तुम्हारे इस प्रकार के दुरभिप्राय को समझने के लिये मैं समर्थ नहीं हूँ। इसलिए तुम सब यहाँ पर संकोच को त्यागकर स्वयं आने के कारण को कह दो ? ॥९१॥

श्रीकृष्ण उनको पुनः अत्यन्त संकुचित होती देखकर, योजनाविशेष से श्लेषालंकार की अधिकता-पूर्वक पूर्वोक्त प्रकार से, अर्थात् उपेक्षा एवं अपेक्षाभरी रचना से अपने वाक्यों का विस्तार करने लग गये— ॥९२॥

यथा,—यदि व्रज में कोई रोग नहीं है तो अपने कार्य को कहो ? यदि कहो कि उस कार्य को तो आपने जान ही लिया है, तहाँ श्रीकृष्ण कहते हैं कि—अरी गोपियो ! तुम्हारे अभिप्राय से उस कार्य को मैंने नहीं समझा है। यह सुनकर भी उनको लज्जा से मौनी देखकर बोले—हे चञ्चल चित्तवाली गोपियो ! व्रज को चली जाओ। यहाँ पर मेरे साथ मत बैठी रहो। क्योंकि यह वन भारी भयंकर है, इस वन में रात्रि भी अत्यन्त भयावनी मालूम पड़ती है, और यह रात्रि स्वयं अत्यन्त भयंकर सिंह, व्याघ्र आदि हिंसक प्राणीसमूह के द्वारा घिरी हुई है ॥९३॥

"अत्र आध्वमिति न यातेति वा योजना ॥६४॥

पुनस्तद्वदेव श्लेषयितुं सोपानविशेषं चकार,—'न चेदृशी स्वैरता भवादृशीनां सदृशी भवति, यतः—मातरपितर-प्रमुखाः, सहजाः पतयश्च वः सन्ति' इति ॥६५॥

"पुनः सहासमाह स्म,—'श्रूयन्तेऽपि तनूजाः' इति ॥६६॥

अत्र कथकश्चिन्तयामास,—"वृन्दापौर्णमासी-संवादगतसिद्धान्तानुसारिधिया (भा०-१०।३३।२६)—'सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः, सर्वाः शरत्काव्यकथारसाश्रयाः' इत्यनेन प्रतिपन्नस्य तत्रकीयरसस्यालम्बनवैरूप्याद्वैरस्यापन्नताभिया च तदिदं परिहसितमेवेति विद्वन्मततया व्यक्तीकरिष्यामि' इति ॥६७॥

अथ तदेव स्पष्टमाचष्ट,—

"तदेवं ताभिः सह रन्तुं कृतवंशीध्वनिः स तु सरसानां शिरोमणिर्यद्यपि तासामुत्पत्तित एव स्वमात्रसात्कृतपतिभावानामन्यत्र पतिरिति प्रतीतिर्लोकसंवदन-वशंवदतामात्रमयो

इस श्लोक में योजना की विशेषता से श्लेषालङ्कार की रचना इस प्रकार समझो—'नाध्वं' के न कार को 'यात' के साथ जोड़ दो, और आध्वं को अत्र के साथ जोड़ दो, तब 'न यात' 'अत्र आध्वं' ऐसा वाक्य बनने से यह अर्थ हो गया कि—अरी गोपियो! तुम व्रज को मत जाओ, किन्तु यहाँ मेरे साथ ही बैठी रहो ॥६४॥

पुनः उसी प्रकार श्लेष की रचना करने के लिए सोपानविशेष, अर्थात् सीढ़ीविशेष या अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए उपायविशेष को करने लग गये। यथा—हे गोपियो! तुम जैसियों के सम्बन्ध में ऐसी स्वतन्त्रता योग्य नहीं है। क्योंकि तुम्हारे माता पिता आदि आत्मीयजन हैं, एवं सहोदर भाई तथा पति भी विद्यमान हैं ॥६५॥

पुनः हास्यपूर्वक बोले—सुना जाता है कि तुम्हारे तो बेटा भी हैं ॥६६॥

इस विषय में कथावाचक विचार करने लगा कि—वृन्दा एवं पौर्णमासी के सम्वाद में स्थित सिद्धान्तानुसारिणी बुद्धि से "श्रीकृष्ण ने सुरत कार्य को अपने में ही अवरुद्ध करके, रस के आश्रित सभी शरत्कालीन काव्य कथाएँ सेवन की थीं" इस वचन के द्वारा जाने गये व्रजगोपी सम्बन्धी रस की आश्रया-लम्बनस्वरूप गोपियों के देह आदि की पुत्र आदि के जन्म से विरूपता हो जाने के कारण, विषयालम्बन-स्वरूप नायक की रुचि का अभाव हो जायगा, इसलिए विरसता की प्राप्ति के भय से "तुम्हारे बेटा भी सुने जाते हैं" यह कहना तो परिहासरूप ही है। अतः मैं इस बात को विद्वानों के मत के अनुसार प्रगट करूँगा ॥६७॥

अनन्तर उसी विषय को स्पष्ट बोला—अतएव इस प्रकार उन गोपियों के साथ रमण करने के लिए, वंशीध्वनि करनेवाले रसिकशिरोमणि श्रीकृष्ण ने, यद्यपि इस प्रकार निर्मल अर्थ की सम्भावना की थी कि—ये सब गोपियाँ जन्म से लेकर मेरे ऊपर ही पतिभाव समर्पण कर चुकी हैं, इसलिए अन्यत्र (अभिमन्यु आदि में) जो पतिरूप प्रतीति है, वह तो केवल लौकिक सम्वाद के विषय में अधीनतामात्र को प्रकाशित करती है, और केवल मेरे सङ्गम की कामनारूप जो व्रत है, वह दूसरे के अङ्गसङ्गमरूप विरूपता को जीत

केवलस्व-सङ्गम-कामनाव्रतश्चापराङ्गसङ्गमरूपविरूपतानिर्जयीति विशदमर्थं तासु स्वीय-कान्ता-भाव-समुत्पत्त्यन्यथानुपपत्त्या सम्भावितवान् ॥९८॥

"यद्यपि च तासामजातपुत्राणामपि देवरम्मन्यपुत्रादिषु पुत्रता-व्यवहारः केवलं सन्निहितबालकविषयकवत्सलता-स्वभावाकारस्तत्सम्बन्धाभिमानस्तु बहिरेवाचार इत्याप्त-वचनान्निर्धारितवांस्तथापि तत्तदुल्लेखनकर्मणा नर्ममात्रमाचरितवान्। तदाचर्य च तद्बन्धूनामन्धायमानानामपि तदन्वेषणनिर्बन्धाद्भयं विचार्य सामर्षमिव विवक्षितमुवाच,—'कथमिह तत्तद्भयं कुरुथ' इति। अत्र च षष्ठी पञ्चमी वा समस्यते ॥९९॥

"किञ्चात्र खण्डमखण्डं च पद्यं यथायथमनूढा ऊढाभासाश्च ता दृष्ट्वाचष्टेति गम्यते। तत्रानूढाः प्रति सहजा इत्यन्तम्; ऊढाभासाः प्रति श्रूयन्तेऽपि तनूजा इत्यन्तम्। अखण्डं तु सर्वाः प्रतीति ज्ञेयम् ॥१००॥

"पुनश्चार्थध्वनिसंवलनया चित्तमान्दोलयामास,—

'दृष्टं मद्वनमत्यपूर्वकुसुमैर्दिव्यर्तुना पूजितं
द्योतैश्चर्चितमिन्दुना यमुनया चात्मानिलैर्नर्तितम्।

लेने वाला है। क्योंकि उन सब गोपियों के ऊपर जो मेरा निजपत्नीभाव उत्पन्न हुआ है, दूसरे के अङ्ग के सङ्गम से तो उस भाव की असिद्धि ही हो जायगी ॥९८॥

और यद्यपि पुत्रोत्पत्ति से रहित उन गोपियों का भी, अपने को गोपियों के देवर माननेवाले व्यक्तियों के पुत्रादिकों के ऊपर जो पुत्र का सा व्यवहार है, वह तो केवल पास में रहनेवाले बालकों के ऊपर वात्सल्य स्वभाव के आकार वाला है, और वह पति पुत्र आदि के सम्बन्ध का अभिमान तो केवल बाहरी आचार मात्र है, स्वाभाविक नहीं। इस विषय को श्रीकृष्ण ने आप्तवाक्य से निश्चित कर लिया था, तो भी उन्होंने पति, पुत्र आदि के उल्लेखरूप कर्म के द्वारा, परिहासमात्र किया था। और उस परिहास करने के बाद अपनी माया से मोहित होने के कारण, अन्धों के समान बने हुए उन गोपियों के सम्बन्धियों के उनके ढूँढ़ने के आग्रह से भय को विचारकर, श्रीकृष्ण मानो क्रोधपूर्वक अपने वक्तव्य को बोले—अरी गोपियो! तुम सब यहाँ पर उन उन अपने सम्बन्धियों से क्यों भय कर रही हो? और यहाँ पर 'तत्तद्भयं' इस पद में पचमी तत्पुरुष या षष्ठी तत्पुरुष समास किया जाता है, तब यह अर्थ होगा कि—उनसे भय अथवा उनका भय ॥९९॥

किंच इस प्रसङ्ग में—"मातरपितर-प्रमुखाः" इत्यादि जो पद्य है, वह खण्ड एवं अखण्डभाव से यथायोग्य अनूढ़ा एवं ऊढ़ाभास उन गोपियों को देखकर श्रीकृष्ण ने कहा है, ऐसा जाना जाता है। ये गोपियाँ दो प्रकार की हैं—एक तो अनूढ़ा (अविवाहिता), दूसरी ऊढ़ाभास (विवाह के आभासमात्र सम्बन्ध वाली)। उन सबमें से अनूढ़ाओं के प्रति वह पद्य 'सहजाः' यहाँ तक कहा है, एवं ऊढ़ाभास गोपियों के प्रति "श्रूयन्तेऽपि तनूजाः" यहाँ तक कहा है, तथा अखण्ड (सम्पूर्ण) श्लोक–मातरपितर-प्रमुखाः, सहजाः पतयश्च वः सन्ति। श्रूयन्तेऽपि तनूजाः, कथमिह तत्तद्भयं कुरुथ ॥ इति। तो सभी गोपियों के प्रति कहा है, ऐसा जानना चाहिये ॥१००॥

अब शब्द की अभिधावृत्ति से तो श्रीकृष्ण की गोपियों में उदासीनता, एवं अर्थ की ध्वनि के द्वारा उनकी निगूढ़ प्रार्थना का वणन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि—ध्वनि दो प्रकार की होती है—शाब्दिक

सामग्रीयमुदेति देवनिचिताऽस्माकं विहारक्रमे
तस्मादेतदभावतस्तु व इह स्तव्या न वास्तव्यता ॥१०१॥

'किन्तु, दिष्टेनाप्ते तत्र गत्वा स्व-गोष्ठे, कष्टेनापि स्वीयधर्मं कुरुध्वम् ।
पत्युर्भक्तिर्बालवत्सादिपाल्य,-व्यक्तीनां यः पालनादिश्च दिष्टः ॥१०२॥

'ततः कष्टसाध्यं तं धर्मं बाध्यमानं विधायात्राविकलसर्वधर्मफले मम सुखविहारस्थले प्रविशत ।

'अन्यथा पुनरुद्यद्विधुवनमिदं भवतीनां विधुवनाय सम्पत्स्यत इति याञ्चापक्षाभिप्रायः ॥१०३॥

"पुनः स विमर्शमिव प्रोवाच,—

'अहमहह न बुध्ये स्मेति पूर्वं प्रलापं, चकर तदिह यूयं तद्विचार्य क्षमध्वम् ।
रतिविसरविलासैर्यन्त्रणादागता य,-त्तदुचितमखिलं यत् स्निग्धता मय्युपैति ॥१०४॥

तदपि च यद्वद्विरहे, प्रीतिस्तद्वन्न सान्निध्ये ।
भवति ततो गृहयानं, भवतीनामौचितीं तनुते ॥'१०५॥

एवं आर्थिक। पुनः श्रीकृष्ण आर्थिक ध्वनि के संयोग से गोपियों के चित्त को आन्दोलित, अर्थात् डाँवाँडोल करने लग गये। यथा—अरी गोपियो! तुमने जिस मेरे वन को देखा है, वह यह श्रीवृन्दावन अपूर्व पुष्पों के द्वारा एवं दिव्य शरदृतु के द्वारा पूजित है, चन्द्रमा ने अपनी चन्द्रिका से इसे चर्चित (अनुरञ्जित) कर दिया है, एवं यमुना ने अपने सम्बन्धी वायु के द्वारा इसको नचा दिया है। हमारे विहार के क्रम की उपस्थिति में, देवताओं के द्वारा सञ्चित यह पूर्वोक्त सामग्री उत्पन्न हो जाती है। इसलिए अब हमारे विहारक्रम के अभाव से तो तुम सब को यहाँ पर निवास करना प्रशंसनीय नहीं है ॥१०१॥

किन्तु सौभाग्य से प्राप्त हुए अपने व्रज में जाकर, कष्ट से भी अपने धर्म का पालन करो। क्योंकि पति की भक्ति, एवं बालक, वत्स आदि पालन करने योग्य व्यक्तियों का लालन पालन आदि जो धर्म है, वह शास्त्र के द्वारा उपदिष्ट है ॥१०२॥

यहाँ पर श्रीकृष्ण के प्रार्थनापक्ष का अभिप्राय यह है कि—हे गोपियो! इसलिए कष्टसाध्य उस लौकिक धर्म को ठुकरा कर, परिपूर्ण सभी धर्मों के फलस्वरूप, मेरे इस सुखमय विहारस्थल में प्रवेश करो। यदि ऐसा न करोगी तो उदय हुए चन्द्रमा से युक्त यह वन तुमको कम्पित करने के लिए समर्थ हो जायगा ॥१०३॥

पुनः श्रीकृष्ण विचारते हुए से बोले—हाय! हे गोपियो! मैं तुम्हारे भावको न समझ पाया, इसीलिए पहले कुछ प्रलाप (अनर्थक वचन) प्रयोग कर गया, अतः तुम सब उसको अनर्थक वचन विचार कर क्षमा कर दो। और तुम प्रीतिसमूह के विलासों के कारण, दुःखपूर्वक जो यहाँ तक आई हो, यह सब उचित ही है। क्योंकि ऐसा करने से मुझ में स्नेह का भाव उपस्थित हो रहा है ॥१०४॥

तथापि मेरे विरह में भक्त के हृदय में जिस प्रकार प्रीति उत्पन्न होती है, उस प्रकार सन्निधि में नहीं होती। इसलिए तुम सब का घर में जाना ही उचितता का विस्तार कर रहा है ॥१०५॥

"अत्र च प्रीतिविषयाद् दूरे स्थितिर्न युक्तेति विरोधिलक्षणया याञ्चापक्षः सङ्गम्यते ॥१०६॥

"ततश्च, पूर्वं यच्चिरतः स्पृहावलनया संक्लृप्तमासीत् पुन-
र्वंश्याकारणया बलादुपचितं तद्भग्नमुच्चैर्यतः।
तच्छ्रुत्वा दयिताद्व्यलीकवचनं बाढं न निश्चिक्यिरे
किं न स्मः किमु वा स्म इत्यपि तदा गोपालवामभ्रुवः ॥१०७॥
तदासां निश्चलाङ्गीनां काञ्चीनामपि राजयः।
समं समन्ततः क्लेशात्तूष्णीकामेव सङ्गताः ॥१०८॥
'ततश्च, वाष्पव्याजादासां, प्रियकृतपरिहृतिसमूढसन्तापः।
मन्ये हृदयाम्भोरुह,-निवहः स्वरसान् मुहुश्च सुस्राव ॥'१०९॥

"तत्र चैवं विचारयामासुः,—
प्राणांस्त्यजाम दयितस्य पदे लुठाम, कुप्याम तत्र विनिवृत्य गृहं व्रजाम।
कृष्णां विशाम च न वा कठिनायमान,-मेतं स्वभालमभिहत्य निचाययाम ॥'११०॥

"तत्र तु,—शिरःपीडा वाष्पव्यथितगलता हृद्गतमहा-
प्रकम्पः प्रत्यङ्गस्खलनमिति नानाविकृतयः।

यहाँ पर भी "अपनी प्रीति के पात्र से दूर रहना उचित नहीं" इस विरुद्धलक्षणा के द्वारा श्रीकृष्ण का प्रार्थनापक्ष जाना जाता है ॥१०६॥

तदनन्तर उन गोपियों ने इच्छा की प्रबलता से, पहले चिरकाल से ही जो संकल्प मन में स्थिर किया था, पुनः वंशी की बुलाहट के द्वारा जो संकल्प बलपूर्वक वृद्धिको प्राप्त हुआ था, वह अन्त में एकसाथ भग्न हो गया। गोपियाँ तो उस समय प्रियतम के मुख से उस अप्रिय वचन को सुन कर "हम यहाँ पर हैं या नहीं हैं, अथवा हम जीवित हैं या मर गईं" इस बात को भी दृढ़तापूर्वक निश्चित न कर पाईं ॥१०७॥

और उस समय निश्चल अङ्गवाली उन गोपियों की कटि की मेखलाओं (करधनियों) की पंक्तियाँ भी चारों ओर से एकसाथ क्लेश के कारण मानो मौन को ही प्राप्त हो गईं ॥१०८॥

तदनन्तर प्रियतम श्रीकृष्ण के द्वारा किये गये परित्याग के कारण परिपूर्ण सन्तापयुक्त, उन गोपियों का हृदयरूपी कमलों का समूह अश्रुप्रवाह के बहाने मानो अपने मकरन्दरूप रसों को बारम्बार बहाने लग गया ॥१०९॥

गोपियाँ वहाँ पर अपने अपने मन में इस प्रकार विचारने लगीं कि—हम सब प्राण त्याग दें, अथवा प्राणप्यारे के चरण तल में लोट जायँ, किंवा उनके ऊपर क्रोध को प्रकाशित करें, या लौट कर अपने घर को चली जायँ, यमुना में प्रविष्ट हो जायँ, अथवा कठोरता करनेवाले इन श्रीकृष्ण को अपने मत्थे को फोड़कर दिखा दें ॥११०॥

उस समय तो प्रियतम के रूखेपन से युक्त होते ही गोपियों के शिर दर्द, वाष्प के कारण गले की व्यथा, हृदयवर्ती महान् कम्प, प्रत्येक अङ्ग का खिसलना, इत्यादि अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न होकर

प्रिये रूक्षे जाता दलयितुममूराववृतिरे
परं तद्वक्त्रान्तःप्रसदनमगात् पालयितृताम् ॥१११॥

मसीवलितदृग्जलस्रव-तमोभिराराद्रुरः-
स्थलं वलितकुंकुमप्रचितिसन्ध्यमावृण्वतीः ।
अवाङ्मुखविधूर्वधूः सपदि पौर्णमासीशशि-
स्फुरन्निशि च तामसीरिव चचाय तस्मिन् हरिः ॥११२॥

"ततश्च किञ्चिदमर्षे सति,—

श्वासदीर्णमधुराधरश्रियः, कोमलांघ्रिदलकीर्णभूमयः ।
हन्त कान्तमपि तं नतभ्रुवो, विव्यधुर्नदनसायकाग्रिभिः ॥११३॥

"तदेवं क्षोभे सति दाडिमादन्तःसक्तरक्तबीजानामिव निजानां भावानां हृदयान्निष्कुलाकृतिः स्वयमेव जाता, तथापि वैदग्धीदिग्धतया प्रियगीर्वदेव सन्दिग्धमूचुः । यदद्यापि गायन्ति,—॥११४॥ यथा—

'इममिव मा कुरु पुनरतिवादम् ।
भक्तजनान् भज मुहुरितरांस्त्यज, विभुरिव रहितविवादम् ॥ध्रु॥

उन्हीं को विदीर्ण करने के लिए चारों ओर से घेर ने लग गये केवल श्रीकृष्ण के मुख में जो प्रसन्नता थी, वही उनकी रक्षकता को प्राप्त हो गई, अर्थात् श्रीकृष्ण के मुख की प्रसन्नता ने ही, उनको दशमी दशा से बचा लिया ॥१११॥

उस स्थल पर श्रीकृष्ण ने कुंकुम संयोग के द्वारा व्याप्त अपने वक्षःस्थल को, निकटस्थित कज्जल से युक्त नेत्रों से झरते हुए जलरूप अन्धकारसमूह द्वारा ढकनेवाली, एवं अपने मुखरूपचन्द्र को नीचे करनेवाली गोपवधुओं को, तत्क्षण पौर्णमासी के पूर्णचन्द्र से विराजित रात्रि में भी, अन्धकारमयी रात्रियों के समान देखा ॥११२॥

उसके बाद किञ्चित् क्रोध उत्पन्न होने पर शोकजन्य गरम श्वासों के द्वारा, अपने मधुर अधरों की शोभा को नष्ट करनेवाली, एवं कोमल चरण के अँगूठा से भूमि को खोदनेवाली वे गोपियाँ अहह प्रियतम श्रीकृष्ण को भी, अपने नेत्ररूपी बाणों के अग्रभाग द्वारा विद्ध करने लग गई ॥११३॥

अतएव इस प्रकार क्षोभ उत्पन्न होनेपर, पक कर स्वयं फटे हुए अनार के फल से भीतर में रहनेवाले रक्तवर्ण के बीज, जैसे स्वयं ही बाहर निकल पड़ते हैं, उसी प्रकार उन गोपियों के हृदय से अपने अपने भावों का बाहर निकलना स्वतः सिद्ध हो गया। तथापि चातुरी से परिपूर्ण होने के कारण, प्रियतम की वाणी के समान अच्छी प्रकार वृद्धिपूर्ण वाक्य बोलीं । जिसको आज भी लोग गाते रहते हैं ॥११४॥

गाने का अर्थ, यथा—हे प्यारे श्यामसुन्दर ! तुम पहले की तरह पुनः अतिकटु वचनों का प्रयोग न करो। श्रीनारायण भगवान् की तरह हम भक्तजनों को निर्विवाद सर्वदा सेवन करो, एवं अभक्त जनों को त्याग दो ॥ध्रु०॥ और इस संसार में पति पुत्र आदि की सेवा करना ही स्त्री जाति का अधिक धर्म है, इस

पतिपुत्रादिकभजनमिहाधिकमिति यं वदसि विचारम् ।
स त्वय्येव हि तिष्ठतु न तु बहिरिति विमृशामः सारम् ॥'११५॥

"अनयोरर्थश्लेषोऽयमुभयमेव पक्षं विशेषयति ॥११६॥

'अथ धवसुतमुखगणतस्तव सुखमस्ति सतां हृदि यातम् ।
तदपि च न हि भवदनुसरणं भवदिच्छति युवतीजातम् ॥'११७॥

"अत्र सन्दिग्धकाकुपदं नहीति पदं तदिच्छानिर्धारणे, यद्वा, निषेधे ॥११८॥

'स्वामाशामनुवर्धय वरतनु-ततिरिह लभतां शातम् ।
सततानश्वरवर ! वरदेश्वर ! न वितनु वितनूत्पातम् ॥'११९॥

"अत्रानुवर्धयेति समेधने छेदने वा ॥१२०॥

'गृहकर्माण्यनुचित्तं सुखतनु भवता नह्यपिनद्धम् ।
चरणौ प्रचलत इह न च बलतः प्रतिगमनं किल बद्धम् ॥'१२१॥

प्रकार के जिस विचार को तुम कहते हो, वह विचार तो सब प्रकार से तुम में ही स्थित रहे, अर्थात् हम तो तुमको ही नित्यपति मानती रहें, किन्तु तुम से भिन्न बाहरी जन में वह विचार स्थिर न हो। हम तो इसी बात को साररूप से विचारती हैं ॥११५॥

गाने की पूर्वोक्त दोनों टेकों में विद्यमान यह 'अर्थश्लेष' अलङ्कार दोनों ही पक्षों को विशेषित कर रहा है, अर्थात् तुम नित्यपति हो, हम नित्यपत्नियाँ हैं, इसलिए तुम्हारे, हमारे दोनों ही पक्षों की विशेषता कर रहा है ॥११६॥

और हम आप से प्रश्न करती हैं कि—पति पुत्र आदि लोगों से जो सुख होता है, उसकी अपेक्षा तुम्हारा सुख क्या सज्जनों के हृदयङ्गम नहीं है ? अर्थात् भवदीय सुख ही साधुसम्मत सुख है। तथापि युवतीसमूह सर्वथा विद्यमान आपके अनुसरण को नहीं चाहता है ॥११७॥

यहाँ पर सन्देहयुक्त काकूक्ति का द्योतक जो 'नहि' पद है, वह इच्छा के निर्धारण अर्थ में अथवा निषेधार्थ में प्रयुक्त हुआ है ॥११८॥

हे निरन्तर अविनश्वरवर ! हे अभिलषित वर देनेवाले ईश्वर ! आप अपनी आशा को बढ़ाओ। क्योंकि आपकी आशा की वृद्धि में युवतिसमूह सुख को प्राप्त कर ले। किन्तु कामजन्य उपद्रव को मत बढ़ाओ ॥११९॥

यहाँ पर 'अनुवर्धय' यह पद वृद्धि अथवा छेदन अर्थ में प्रयुक्त है। तब भावार्थ यह निकला—अपनी आशा की वृद्धि करो, परन्तु हमारी सुन्दर आशा का छेदन भी मत करो ॥१२०॥

और हे प्राणधन ! हमारा चित्त घर के कामों को लक्ष्य करके सुखरूप हो रहा था। आप ही बताइये, क्या आपने उस चित्त को अपने गुणों में नहीं बाँध लिया है ? अपितु सुखस्वरूप होकर आपने बाँध ही लिया है। इसलिए हमारे दोनों चरण आपके चरणमूल से एक चरण भी नहीं चल रहे हैं। अतः बलपूर्वक प्रतिगमन अवरुद्ध हो गया, यह निश्चय है ॥१२१॥

"अत्र सुखतन्विति भवतेत्यस्य चित्तमित्यस्य वा विशेषणम्; अपिनद्धमिति बन्धनाभावे बन्धने वा; न चेति पूर्व-नहिवत्; किलेति निश्चयेऽनृते वा ॥१२२॥

'स्वभव-तापभरममृतधराधररसभरतः स्वत एव ।
नाशय यदि न हि मादृशमपि स हि संक्रमिता सखिदेव ! ॥'१२३॥

"अत्र स्वभवेति कामे स्वजाते वा; मादृशमित्यस्मत्सदृशे जनेऽस्मदर्थे वा ॥१२४॥

'लक्ष्मीसुखदमपि भवतः पदमहह पुलन्दीभव्यम् ।
स्पृष्टं यदवधि दृष्टं तदवधि सर्वं जगदपसव्यम् ॥'१२५॥

"अत्रापसव्यं प्रतिकूलमित्युभयपक्षेऽपि समञ्जसम्; आक्षेप-पक्षे पुलिन्दीभव्यमिति नीच-गामित्वं व्यज्यते ॥१२६॥

'लक्ष्मीर्व्रजमनु तुलसीवनमनु भवदुदयस्फुरदुदया ।
दृश्यत इति तव पदधूल्याप्लुवमिच्छत्यपि पतिहृदया ॥१२७॥
यस्या वीक्षणमपि वलितक्षणपार्षदवृन्दनिधानम् ।
तद्वद्वयमपि हृदि वाञ्छामपि नह्यामः सवितानम् ॥'१२८॥

यहाँ पर 'सुखतनु' यह पद 'भवता' का या 'चित्त' पद का विशेषण है। 'अपिनद्ध' यह पद बन्धन के अभावार्थ में अथवा बन्धन अर्थ में प्रयुक्त है। अर्थात् 'अपि' के अलोपपक्ष में बन्धन के अभाव में और 'अपि' के अलोप के अभावपक्ष में बन्धन अर्थ में है। 'न च' यह पद पहले 'नहि' के समान निर्धारण अथवा निषेधार्थ में, तथा 'किल' यह पद निश्चय या असत्य अर्थ में प्रयुक्त है ॥१२२॥

और हे सखाओं के साथ क्रीडा करनेवाले ! भगवन् ! आपके द्वारा उत्पन्न हुई मानसिक ताप की अधिकता को अमृतधारी अपने अधरों के रसमय झरनों द्वारा स्वतः ही नष्ट कर दो। यदि ऐसा न करोगे तो वह ताप की अधिकता हमारे जैसों पर आक्रमण कर बैठेगी ॥१२३॥

यहाँ पर 'स्वभव' पद कामदेव या अपने से उत्पन्न अर्थ में, और 'मादृशम्' यह पद हमारे जैसे जनों पर अथवा हमारे लिए इस अर्थ मे प्रयुक्त है ॥१२४॥

अहह ! हे प्राणनाथ ! लक्ष्मी को सुखदायक होकर भी भिल्लनियों का शुभजनक, आपका चरण हम सबने जब से स्पर्श किया है, तभी से दिखाई देनेवाला यह सारा जगत् ही प्रतिकूल प्रतीत होता है ॥१२५॥

यहाँ पर 'अपसव्यम्' शब्द का जो प्रतिकूल अर्थ है, वह दोनों पक्षों में ही उचित है। किन्तु आक्षेपपक्ष में 'पुलिन्दीभव्यम्' इस पद से वह आपका चरण "हम जैसी उच्चकुलोत्पन्नाओं को छोड़कर" नीचगामी है, यह अर्थ व्यञ्जित हो रहा है ॥१२६॥

हे प्राणेश्वर ! देखो, व्रज को एवं तुलसीवन को, अर्थात् श्रीवृन्दावन को लक्ष्य करके, आपके प्रादुर्भाव के कारण जिसका उदय प्रकाश पा रहा है, ऐसी वह लक्ष्मी भी यहाँ प्रत्यक्ष प्रतीत हो रही है। और निज पति में मनवाली परम पतिव्रता भी, वह लक्ष्मीदेवी आपकी चरणरज में स्नान करना चाहती है ॥१२७॥

और देखो, कृपा की बात तो दूर रहने दो। जिस लक्ष्मीदेवी के दर्शन को भी हर्षयुक्त आपके देवा द पार्षदवृन्द निधिरूप मानते हैं (वह लक्ष्मी भी आपकी सेवा के सौभाग्य में अनुरक्त है), उस लक्ष्मीदेवी की तरह, हम सब भी अपने अपने मन में (आपकी चरणधूलि में स्नान करने की) इच्छा को भी विस्तारपूर्वक बाँधे बैठी हैं ॥१२८॥

"अत्रापि-शब्दः समुच्चये पूर्ववत् काक्का निषेधे वा ॥१२९॥

'तत्त्वं सुकृपय कृतवृजिनात्यय ! तव याश्चरणे रक्ताः ।
ता भवतः स्मित-वीक्षणविस्मितचित्ताः कुरु निज-भक्ताः ॥'१३०॥

"इदमुभयत्र च योग्यम् ॥१३१॥

'अलकावृतमुख ! कुण्डलधृतसुख ! हसितविभूषितनेत्र ! ।
दत्ताभयभुजवक्षःश्रीयुज ! दास्यो वयमपि तेऽत्र ॥'१३२॥

"अत्र चापिः पूर्ववत् ॥१३३॥

'तव मुरलीकलमपि च रूपबलमनुभूयाऽभवदेव ।
द्रुमकुलमपि पुलकांकुरसंकुलमिह का नारी देव ! ॥'१३४॥

"अत्र केति कैमुत्ये निषेधे वा ॥१३५॥

'व्यक्तं व्रजभयहरलीलाचयदेवस्त्वमसि स कोऽपि ।
तन्नो निजकरमपि शिरसि च धर दासीनां भ्रमतोऽपि ॥'१३६॥

"अत्र न इति नो इति वा छेदः, उत्तरत्र पक्षे दासीनामपीत्यन्वयः ॥१३७॥

यहाँ पर 'अपि' शब्द समुच्चय अर्थ में, अथवा पहले की तरह काकूक्ति के द्वारा निषेध अर्थ में प्रयुक्त है ॥१२९॥

हे सर्वदुःख विनाशक ! प्रभो ! अतः आप अच्छी प्रकार कृपा करो। कारण—जो हम सब वनिताएँ आपके चरणों में अनुरक्त हैं, वे सब आपके मन्दहास्ययुक्त कटाक्ष द्वारा चकित चित्तवाली हो रही हैं। अतः उन हम सबको अपनी भक्त (सेविका) बना लो ॥१३०॥

पद्य का यह अंश 'आक्षेप या प्रार्थना' इन दोनों पक्षों में भी योग्य है ॥१३१॥

हे अलकावली से आवृत मुखवाले ! हे मकराकृति कुण्डल धारण करने से सुखित होनेवाले ! हे हँसी से विभूषित नेत्रोंवाले ! हे अभयप्रद भुजाओंवाले ! हे वक्षःस्थल पर स्वर्णरेखारूपिणी लक्ष्मी के संयोगवाले ! श्यामसुन्दर ! आपके इस प्रकार के दर्शन कर हम सब भी आपकी दासी होना चाहती हैं ॥१३२॥

यहाँ पर भी 'अपि' शब्द पहले की तरह समुच्चय, एवं निषेध अर्थ में प्रयुक्त है ॥१३३॥

हे देव ! आपकी मुरली की सुमधुर ध्वनि, एवं लोकोत्तर रूप के बल को भी अनुभव कर, जड़जाति वृक्षसमूह भी, जब पुलकांकुरों से व्याप्त हो गया, तब इस संसार में ऐसी कौन स्त्री है, जो कि आपकी पूर्वोक्त मुरलीध्वनि आदि का अनुभवकर पुलकिताङ्गी एवं धैर्य से रहित न होगी ? ॥१३४॥

यहाँ पर 'का' यह पद कैमुत्यन्याय के अर्थ में अथवा निषेधार्थ में प्रयुक्त है ॥१३५॥

यह बात स्पष्ट है कि व्रज के भय को हरनेवाली लीला के समूह से विशिष्ट जो कोई देव है, वह अनिर्वचनीय शक्तिसम्पन्न तुम्हीं हो। अतः हे देव ! हम जो आपकी दासी हैं, उनके मस्तक पर भ्रम से भी, अर्थात् भूलकर भी, एक बार अपने करकमल को भी तो धर दो ॥१३६॥

यहाँ पर 'नो' शब्द को 'नः' ऐसा छेदकर अस्मद् शब्द के षष्ठी के बहुवचन को 'बहुवचनस्य वस्नसौ' के द्वारा आदेश होकर बना हुआ 'नः' शब्द समझो, अथवा अव्यय 'नो' शब्द समझो। तब भावार्थ यह हुआ कि—

"तदेवं स्थिते—

तथा विलापतापेन न तासां विव्यथे हरिः ।
यथा राधा प्रेङ्खितभ्रू-धनुरिङ्खिद्दृगाशुगैः ॥१३८॥

अथ व्यथितमानसः प्रथितभावकारुण्यतः
प्रहस्य मुदिताननः स्वक-रहस्यमुल्लासयन् ।
प्रतिस्वमनयत् प्रियां द्रुतमतिः स्वपार्श्वं बली
बलादपि बलानुजो बलयति स्म लीलां प्रति ॥१३९॥

आमृशन्नङ्गुलीः पाणिं प्रकोष्ठं बाहुमप्यथ ।
तासां हरिकरस्तृप्तिं नागाद्धनमिवाधनः ॥१४०॥

यदपि च राधा तासु, स्वमभिजुगोपायुतादिसङ्ख्यासु ।
तदपि च हरिणा स्पष्टं, दृष्टा तारासु चन्द्रलेखेव ॥१४१॥

राधा यर्हि स्वकर,-स्पृष्टा जाता मुराराते: ।
अतिविस्मितये जज्ञे, तर्हि च सा तत्र चन्द्रलेखेव ॥१४२॥

हम दासियों के भी मस्तक पर, अथवा हम जैसी दासियों के भी मस्तक पर, भूल से भी अपने हाथ को न धरो। यह अर्थ आक्षेपपक्ष में समुचित है। और दोनों पक्षों में 'दासोनामपि' यह अन्वय है ॥१३७॥ यहाँ तक गायन का अर्थ है।

अतएव इस प्रकार की स्थिति के बाद श्रीकृष्ण उन गोपियों के विलापरूप ताप से वैसे व्यथित नहीं हो पाये, जैसे कि श्रीराधिका के द्वारा किंचित् कम्पित किये गये भ्रूरूप धनुष् से चलतेहुए नेत्ररूपी बाणों के द्वारा व्यथित हो गये ॥१३८॥

तदनन्तर विस्तृत अभिप्राय से युक्त करुणा से दुःखित मनवाले (गोपियों की उदासी दूर करने के लिए), हँसकर प्रसन्न मुखवाले, गोपियों की प्रार्थना से द्रवीभूत मतिवाले, बलवाले, एवं बलदेवजी के छोटे भाई श्रीकृष्ण अपने रहस्य को उल्लासयुक्त करते हुए, प्रत्येक गोपीरूप प्रिया को अपने पास लिवा ले गये, तथा बलपूर्वक रासलीला के प्रति सम्मिलित कर लिया ॥१३९॥

जिस प्रकार निर्धन व्यक्ति धन को स्पर्श करता हुआ भी, तृप्ति का लाभ नहीं कर पाता, ठीक उसी प्रकार श्रीकृष्ण का करकमल उन गोपियों की अंगुली, हाथ, मणिबन्ध (कलाई से कुहनी के बीच का भाग) एवं भुजा को भी स्पर्श करते करते तृप्ति को प्राप्त न हुआ ॥१४०॥

यद्यपि अयुत (दश हजार) आदि अनेक संख्यावाली उन गोपियों के बीच में श्रीराधा ने लज्जाशीलता के कारण अपने को सर्वतोभाव से छिपा लिया था, तो भी श्रीकृष्ण ने ताराओं के मध्य में चन्द्रलेखा की तरह उनको स्पष्ट देख लिया ॥१४१॥

श्रीराधिका जब श्रीकृष्ण के निज कर के द्वारा छू ली गईं, तभी वे श्रीराधिका वहाँ पर चन्द्रलेखा की तरह, श्रीकृष्ण के अत्यन्त आश्चर्य के लिए हो गईं, अर्थात् श्रीराधा ने अपने दुर्लभ स्पर्श के कारण श्रीकृष्ण को चकित कर दिया ॥१४२॥

गोप्यः कृष्णं तत्र कृष्णश्च राधा,-माश्लिष्योच्चैरावजन्मर्मशर्म ।
भावश्रेण्यः स्थायिभावं स्वभावो, यद्वत् पुण्याद् वासनां पूर्वलब्धाम् ॥१४३॥

"तत्र काश्चिद्भीरुरिव निभाल्य वनपाल्यः परीहासतः परस्परमूचुः,—
'जलदे विलसति विद्युद्, बिभ्यति हृदयानि भीरूणाम् ।
किं परिहससि सखि ! त्वं, किं न हि पश्यसि पुरश्चित्रम् ? ॥१४४॥

आत्मारामा अप्यहो यस्य गन्धाद्,-ब्रह्मानन्दं बाढमाच्छादयन्ति ।
पूर्णानन्दः स स्वयं हन्त ताभिः, स्वानन्दाय क्रीडनाय प्रयेते ॥"१४५॥

अथ समापनम्,—

"ईदृगप्ययि राधे ! यस्तासां मुखनिरीक्षकः ।
त्वदुत्कर्षरसायासीदिव तासु परीक्षकः ॥"१४६॥

॥ इति श्रीगोपालचम्पूमनु प्रथमसङ्गरङ्गज-वाकोवाक्यभङ्गीसङ्गीतं नाम त्रयोविंशं पूरणम् ॥

व्यभिचारी आदि भाव की श्रेणियाँ जैसे स्थायीभाव को पाकर सुखी होती हैं, एवं स्वभाव जैसे पुण्य के द्वारा पहले जन्म में पाई हुई सुन्दर बासना को पाकर सुखी होता है, उसी प्रकार वहाँ पर गोपीश्रेणी श्रीकृष्ण को आलिङ्गन कर, एवं श्रीकृष्ण राधिका को आलिङ्गन कर, मार्मिक सुख को प्राप्त होगये ॥१४३॥

वहाँ पर कुछ सखियों को भीरु (डरपोक) सी देखकर वनदेवी परिहासपूर्वक परस्पर बोलीं—बादल की गोद में बिजली विलास कर रही है, भीरुजनों के हृदय भयभीत हो रहे हैं। अरी सखि ! तू परिहास क्यों कर रही है ? सामने ही आश्चर्य क्यों नहीं देख रही है ? ॥१४४॥

यथा—अहह ! आत्मारामजन भी जिन श्रीकृष्ण के श्रीविग्रह की दिव्य गन्ध के कारण, अपने ब्रह्मानन्द को अत्यन्त आच्छादित कर लेते हैं। हाय ! वही परिपूर्णानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण उन गोपियों के साथ अपने आनन्द के लिए क्रीडा करने को प्रयत्न कर रहे हैं ॥१४५॥

अनन्तर मधुकण्ठ प्रसङ्ग समाप्त करता हुआ बोला—हे राधिके ! जो श्रीकृष्ण इस प्रकार के पूर्वोक्त गुणयुक्त होकर भी, उन सब गोपियों के निरीक्षक बनकर, तुम्हारे उत्कर्षरूपी रस को प्रकाशित करने के लिए ही, मानो उन गोपियों पर परीक्षक बने थे। "अर्थात् इस गोपिका में राधा का सादृश्य है या नहीं", बस, इसी भाव से तुम्हारे उत्कर्ष को सिद्ध करने के लिए ही, श्रीकृष्ण ने चाव से अन्य गोपियों का मुख-मण्डल निहारा था, अन्यभाव से नहीं। तात्पर्य—सर्वोच्च प्रीतिपात्र तो तुम्हीं हो ॥१४६॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासंहिते
श्रीगोपालचम्पूकाव्ये रासलीलाप्रसंगे प्रथमसंगरंगजनितोक्तिप्रत्युक्ति-
रचना-संगीत-वर्णन नाम त्रयोविंश पूरणं सम्पूर्णम् ॥२३॥

अथ चतुर्विंशं पूरणम्

रासेऽन्तर्धाने राधा-सौभाग्य-वर्णनम्

ततः स्निग्धकण्ठ उवाच,—

"अथ संक्षेपेण वर्णितम्, यथा (भा० १०।२९।४३)—

'ताभिः समेताभिरुदारचेष्टितः, प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिरच्युतः ।
उदारहासद्विजकुन्ददीधिति,-र्व्यरोचतैणाङ्क इवोडुभिर्वृतः ॥' इति ॥१॥

"तत्र प्रथमचरणः प्रथमं श्लोकसात्क्रिययाऽलंक्रियया परिचर्यते ॥२॥

"कान्तस्य ताभिः स्वकरं स्पृशन् करः, सर्पन् परं चावयवं वितर्कितः ।
कीर्णश्च तस्यान्तरमन्तरं व्रजन्, दृष्टः पुनस्तज्जितकाङ्क्षितां गतः ॥३॥

"अथ द्वितीयचरणः,—

"प्रियं नियुतशोऽप्यमूर्न हि विलोकमानाः समं
निमेषमुपसेदिरे यदियमेव दिव्या स्थितिः ।

चौबीसवाँ पूरण

रासलीला में श्रीकृष्ण के अन्तर्हित हो जाने पर राधिका के सौभाग्य का वर्णन

इस चौबीसवें पूरण में रासलीला में राधिका के सहित श्रीकृष्ण का अन्तर्धान, एवं गोपियों का विलाप आदि वर्णित होगा ।

उसके बाद स्निग्धकण्ठ बोला—गोपी-कृष्ण सम्मेलन के बाद श्रीशुकदेवजी ने उस सम्मेलन की शोभा का संक्षेप से इस प्रकार वर्णन किया है, यथा—तारागण से परिवेष्टित पूर्णचन्द्र जैसे शोभा पाता है, उसी प्रकार प्रियतम के दर्शन के कारण प्रफुल्ल मुखवाली सब गोपियों से घिरे हुए, उदार चरित एवं उदार हास्ययुक्त, दन्तरूप कुन्दकलिकाओं की कान्तिमय किरणों से विराजित निर्विकार श्रीकृष्ण शोभा पाने लगे ॥१॥

अब इस पूर्वोक्त श्लोक में जो प्रथम चरण है, पहले उसीको श्लोक के अधीन बनाकर, अर्थात् उसके विस्तृतभाव का श्लोक बनाकर, एवं अलङ्कार आदि के द्वारा परिष्कृत कर, उसका सेवन करते हैं ॥२॥

यथा—गोपियों ने प्रियतम के हाथ को, अपने अपने हाथ को छूकर, दूसरे हृदय आदि अवयव की ओर जाता हुआ विचार कर उसे दूर फेंक दिया । और फेंका हुआ भी वह प्रिय का हाथ अवकाश पाकर, उसी हृदय आदि अवयव के बीच में जाता हुआ पुनः गोपियों ने देख लिया, अतः वह लज्जा के कारण पुनः लौट आया, एवं पराजय को प्राप्त हो गया ॥३॥

अब "प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिरच्युतः" इस द्वितीय चरण की व्याख्या, यथा—लाखों की संख्यावाली वे गोपियाँ एकसाथ प्रियतम को देखती हुई निमेष को भी न प्राप्त कर सकीं, अर्थात् निर्निमेषनेत्रों से एकटक प्रियतम को निहारती रहीं । क्योंकि यही दिव्य अर्थात् देवताओं की सी स्थिति (मर्यादा) आश्चर्य-जनक थी । और प्रिय श्यामसुन्दर ने जो अपना दर्शनरूप विशुद्ध अमृत अर्पण किया, उसको वे एकसङ्ग

प्रियेण निजमर्पितं यदवलोकशुद्धामृतं
समं बुभुजिरे पृथक् तदधिकं तु किं वर्ण्यताम् ? ॥४॥

"अथ सिंहावलोक-न्यायाद्द्वितीयतृतीयचरणौ च यथा,—

"यथा दृशं दिशि दिशि ता दधुर्मुहु,-स्तथा हरिस्तदभिमुखं दधे दृशम् ।
यदाऽन्वभूदरहितचातुरक्ष्यतां, तदाहसीत् स्फुटमसकृत् कृतक्रमम् ॥५॥

"तद्वदुत्तरार्धं च,—

"कविभिः कृष्णे शशिता, तासु च नक्षत्रता कविता ।
किन्तु स्मितमुखदीव्य,-द्विलसितवृन्दैरमी वरिताः ॥६॥

"ततश्च नाना-नर्म-कर्मठतया हठवत्तया च कृष्णेन किञ्चिदसङ्कोचे विरचिते प्रायशः सर्वावयवे चावलोचिते निचोलादिविपर्यये च परिचिते सास्रं बहु विहस्य तदिह सर्वमेव यथावत् पर्याचितमाचेरे ॥७॥

"तदेवमाचर्य ससुखमुदङ्मुखगतिचर्यया यमुनातीरवनश्रेणीं शोभयन्नेणीदृशस्ताः स्वकान्तिभिराचकर्ष ॥८॥

पृथक् पृथक् भोजन कर गईं । अतः उस दर्शनामृत की अपेक्षा जो अधिक अधरामृत है, वह कैसे वर्णन किया जा सकता है ? ॥४॥

अनन्तर सिंहावलोकनन्याय (सिंह शिकार मारकर जब आगे बढ़ता है, तब पीछे फिर फिर कर देखा करता है । इसी प्रकार जहाँ अगली और पिछली सब बातों की एकसाथ आलोचना की जाती है, वहाँ इस उक्ती का व्यवहार किया जाता है ।) से द्वितीय तृतीय चरण की परिष्कृत व्याख्या, यथा—वे गोपियाँ जिस प्रकार प्रत्येक दिशा में बारम्बार नेत्रों को स्थापित करती थीं, उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी उनके सम्मुख अपने नेत्रों को स्थापित कर लेते थे । और श्रीकृष्ण ने जब चार आँखों की एकता का, अर्थात् 'चतुरक्षिसम्मेलन' का अनुभव किया, तब तो वे बारबार क्रमपूर्वक स्पष्ट हँसने लग गये ॥५॥

उसी प्रकार अर्थात् सिंहावलोकनन्याय के अनुसार प्रथम श्लोक का उत्तरार्ध, अर्थात् तृतीय चतुर्थ चरण भी व्याख्या द्वारा परिष्कृत किया जाता है, यथा—इस श्लोक में कवियों ने उपमा के द्वारा श्रीकृष्ण में चन्द्रभाव का, और गोपियों में नक्षत्रभाव का वर्णन किया है, किन्तु मन्दमुस्क्यानयुक्त श्रीमुख एवं शोभायमान विलासवृन्दों के द्वारा, "ये श्रीकृष्ण एवं गोपियाँ ही" अधिकरूप से वर्णित कर दिये गये हैं । क्योंकि चन्द्रमा एवं नक्षत्रों में मन्दहासविलास आदि कहाँ ? अतः इस श्लोक में उपमान की अपेक्षा उपमेय की अधिकता होने के कारण 'व्यतिरेकालंकार' है ॥६॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण ने अनेक प्रकार के हासपरिहासमयी निपुणता एवं हठीलापन के कारण, जब कुछ संकोच दूर कर दिया, प्रायः गोपियों के सभी अवयवों का दर्शन कर लिया, एवं उनके वस्त्र आदिकों की विपरीतता भी जब भली प्रकार जान ली, तब सजलनयनपूर्वक बहुत हँसकर, इसी स्थल पर सभी वस्त्र-भूषण आदिकों को यथास्थान निवेशित कर दिया ॥७॥

अतएव इस प्रकार का आचरणकर, सुखपूर्वक उत्तरदिशा की ओर गमन की चर्या के द्वारा, यमुना तीरस्थ वनश्रेणी को शोभित करते हुए, श्रीकृष्ण ने उन मृगलोचना गोपियों को अपनी शोभाश्रेणी के द्वारा आकर्षित कर लिया ॥८॥

"यत्र लब्धहर्षश्चन्द्रमसमपि निजदक्षिणतः समाकर्षन्निव सङ्गितयाङ्गीचकार ॥६॥

"तदनु च सर्वाभिरर्वाचीन-यौवनाभिस्तमेकमनुसरन्तीभिरतएव परस्परं सङ्गमपरिहरन्तीभिरत एव सहसानुपलब्धानुरहसकणिकाभिरत एव तन्मिलनविशेषाय कलितपुरूत्कलिकाभिः सह स हरिस्तादृशतामेव परामृशति स्म ॥१०॥

"अथान्यथानुपपत्त्या संगानसुखमेवावलम्बमानः केवलं चञ्चच्चञ्चरीकलुलित-ललित-सुकुमार-कुसुमाञ्चितं वनमेवायं सर्वगुणशाली वनमाली चञ्चति स्म ॥११॥

"किन्तु, संगानं तदिदं परस्परगुणग्रामानुभूतेः स्वतः
शर्माप्यत्र मनोरथान्तरकृतेः शश्वद्बभूवास्पदम् ।
यत्रालिङ्गन-चुम्बनादिविधये तासां हरेरप्यदः
सौख्यं लक्ष्यमभूत् परावृतिविधां चावेशिता निर्ममे ॥१२॥

"तदेतद्वर्णितं यथा श्रीबादरायणिना (भा० १०।२६।४४)—
'उपगीयमान उद्गायन् वनिता-शतयूथपः ।
मालां बिभ्रद्वैजयन्तीं व्यचरन्मण्डयन् वनम् ॥' इति ॥१३॥

और जहाँ पर हर्षित हुए श्रीकृष्ण ने, मानो चन्द्रमा को भी अपनी दाहिनी ओर आकर्षित करते हुए, सङ्गीरूप से अङ्गीकार कर लिया ॥६॥

और उसके बाद सभी नवीन यौवनवालीं, केवल श्रीकृष्ण का ही अनुसरण करनेवालीं, अतएव परस्पर के सङ्ग को न त्यागनेवालीं, अतएव सहसा अनुपलब्ध एकान्त की कणिका को प्राप्त करनेवाली, अतएव श्रीकृष्ण के मिलनविशेष के लिए अधिक उत्कण्ठा को धारण करनेवालीं, उन गोपियों के साथ विद्यमान श्रीकृष्ण, उन गोपियों की सी उत्कण्ठा का विचार करने लग गये, अर्थात् उनकी तरह स्वयं भी उत्कण्ठित हो गये ॥१०॥

तदनन्तर अन्य प्रकार के सुख की असम्भावना करके सुन्दर गानजनित सुख को ही अवलम्बन करते हुए, सर्वगुणशाली वनमाली घूमनेवाले भ्रमरों के द्वारा, छिन्न या चलाये गये मनोहर एवं सुकोमल पुष्पों से युक्त वन में ही भ्रमण करने लग गये ॥११॥

किन्तु परस्पर के गुणग्राम के अनुभव करने से यह उत्कृष्ट गीत स्वतः उपस्थित हो गया था। और इस समय सुख भी दूसरे किसी मनोरथ के करने का निरन्तर आश्रयस्वरूप हो गया था। एवं जिस सुख में आलिङ्गन चुम्बन आदि व्यापार के लिए गोपियों का एवं श्रीकृष्ण का भी गानजनित अपरिमित सौख्य ही लक्ष्य हो गया था, और उस विशुद्ध सुख में जो आवेश था, उसने आवरण के प्रकार का भी निर्माण कर दिया था ॥१२॥

श्रीशुकदेवजी ने उस प्रसङ्ग का इस प्रकार वर्णन किया है, यथा—गोपाङ्गनाओं के सैकड़ों यूथों के स्वामी श्रीकृष्ण, वैजयन्तीमाला को धारणकर, वृन्दावन को विभूषित करते हुए विचरण करने लगे। उस समय कभी गोपियाँ अपने प्रियतम के गुण एवं लीलाओं का गान करती थीं; तो कभी श्रीकृष्ण, गोपियों के प्रेम और सौन्दर्य के गीत गाते थे ॥१३॥

"गानविशेषश्च' (श्रीविष्णुपुराणे) श्रीपराशरेण,—

'कृष्णः शरच्चन्द्रमसं कौमुदीं कुमुदाकरम् । जगौ गोपीजनस्त्वेकं कृष्णनाम पुनः पुनः ॥'१४॥

"तथा हि—

विधुरयमागतवान् शरदं प्रति सम्प्रति । इतवान् विधुरथ नहि भवतीः प्रति ।
माधव ! जय गोकुलवीर ! जय जय कृष्ण ! हरे ! ॥१५॥

कुमुदाकरचलनं न भवेदिति सेयम् । कौमुदिकागादिदमुन्नेयम् ।
केशव ! जय शर्मशरीर ! जय जय कृष्ण ! हरे ! ॥१६॥

कुसुमवनी मधुपैरियमञ्चति कान्तिम् । मदभीषुभिरिव भवतीः कान्तिम् ।
श्यामल ! जय हार्दसमीर ! जय जय कृष्ण ! हरे ! ॥१७॥

पुष्पितकुञ्जचये वृन्दाचितशोभा । भवदनुगतये किल कृतलोभा ।
मोहन ! जय संविदि धीर ! जय जय कृष्ण ! हरे ! इत्यादि ॥१८॥

गान की विशेषता (विष्णुपुराण में) श्रीपराशरजी ने वर्णन की है, यथा—श्रीकृष्ण अपने गायन में शरत्कालीन चन्द्रमा को, उसकी चन्द्रिका को, एवं कुमुद पुष्पों की आकरस्वरूप यमुना को गा रहे थे। किन्तु गोपियाँ तो केवल एक श्रीकृष्ण के नाम को ही बारम्बार गा रही थीं ॥१४॥

उन दोनों के गायन को देखो। किन्तु इस गाने की सब टेकों में पूर्वार्ध में श्रीकृष्ण का गायन है, एवं उत्तरार्ध में गोपियों का, यह याद रखना चाहिये। गायन का अर्थ, यथा श्रीकृष्ण बोले—इस समय यह चन्द्रमा शरदृऋतु के प्रति आगमन कर चुका है, किन्तु मैं कृष्णरूप चन्द्रमा तुम्हारे प्रति नहीं आया हूँ क्या ? अपितु आ ही गया हूँ। गोपियाँ बोलीं—हे माधव ! आपकी जय हो। हे गोकुलवीर ! आपकी जय हो। हे कृष्ण ! हे हरे ! तुम्हारी जयजयकार हो ॥१५॥

श्रीकृष्ण-कुमुदाकर (जलाशय) का एक स्थान से दूसरे स्थान पर चलना फिरना नहीं हो सकता, इसीलिए यह कुमुद पुष्पों को खिलानेवाली चन्द्रिका (चाँदनी) स्वयं सर्वत्र चली जाती है, यह बात जान लेनी चाहिये। गोपी—हे केशव ! हे सुखमयशरीर ! हे कृष्ण ! हे हरे ! तुम्हारी जयजयकार हो प्रभो ! ॥१६॥

श्रीकृष्ण—यह पुष्पों की वनी भ्रमरों के द्वारा उस प्रकार शोभा को प्राप्त हो रही है, जिस प्रकार मेरी किरणों के द्वारा तुम कान्ति को (शोभा को या अभिलाषा को) पा रही हो। गोपी—हे श्यामल ! तुम्हारी जय हो ! हे हार्दिकभाव के प्रेरक ! (हार्द शरीर पाठ में) हे प्रेममय शरीर ! हे कृष्ण ! हे हरे ! तुम्हारी जयजयकार हो ! बलिहारी प्रभो ! ॥१७॥

श्रीकृष्ण—पुष्पित (पुष्पयुक्त) निकुञ्जसमूह में वृन्दादेवी के द्वारा जो शोभा बढ़ाई गई है, वह शोभा तुम्हारा अनुगमन करने को, अर्थात् तुम्हारी सेवा के लिए निश्चय ही लोभ कर रही है। गोपी—हे मदन-मोहन ! हे संविदि धीर ! अर्थात् हे प्रतिज्ञा में धीर ! आचार में धीर ! ज्ञान में धीर ! युद्ध में धीर ! सम्भाषण में धीर ! कर्म करने में धीर ! संकेत में धीर ! नाम में धीर ! सन्तोष देने में धीर ! और बुद्धि में धीर रहनेवाले ! कृष्ण ! हे हरे ! तुम्हारी बारम्बार जयजयकार हो प्रभो ! ॥१८॥

"तदेवं गायते प्रियाय प्रतिगृणतीषु तासु नवयुवतीषु पुनः श्रीशुकवचनातिरहस्यं यथा (भा० १०।२९।४५-४६)—

'नद्याः पुलिनमाविश्य गोपीभिर्हिमवालुकम् । जुष्टं तत्तरलानन्दिकुमुदामोदवायुना ॥१९॥

बाहुप्रसार-परिरम्भ-करालकोरु,-नीवी-स्तनालभन-नर्म-नखाग्र-पातैः ।

क्ष्वेल्यावलोक-हसितैर्व्रजसुन्दरीणा,-मुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार ॥'इति॥२०॥

"तदेतद् यथा—तदेवं भ्रामं भ्रामं जातप्रसरेऽप्यलब्धावसरे सतृष्णकृष्णसहितमहित-महिलाविसरेऽभिलषितविलसिताय विरलता न जाता ॥२१॥

"अजातायां च तस्यां कृष्णया तरङ्गकरनिकरचितमहरहरवकलितं पुलिनविशेषमेव तदुचितं प्रबलमवकलयामास ॥२२॥

"बलानुजन्मा यः खलु हिमवालुकेव वालुका यस्मिंस्तादृश इति परमशुभ्र-शुभ्रगुणतया विभ्राजते स्म ॥२३॥

"यत्रैव च तादृश-सर्वगुणपूर्णपूर्णिमानिजद्विजराजविराजमानसुषमा-सुषम-प्रतिसंक्रम-परभाग-जागरूक-महा-महसा सहसा नयनानि नाभ्युदयदयनानि भवन्ति स्म ॥२४॥

नवयुवती गोपियाँ पूर्वोक्त प्रकार से गायन करनेवाले प्यारे के उद्देश्य से जब उनकी श्लाघा कर रही थीं, तब पुनः श्रीशुकदेवजी के वचन में अत्यन्त रहस्य संघटित हुआ, यथा—सुशीतल बालुका से युक्त एवं यमुनाजी की तरल तरङ्गों के स्पर्श से शीतल होने के कारण, सर्वानन्दप्रद और कुमुदिनी की सहज सुगन्ध से युक्त वायु के द्वारा सेवित, ऐसे यमुनाजी के पावन पुलिन में गोपियों के साथ प्रविष्ट होकर, श्रीकृष्ण ने हाथ फैलाना, आलिङ्गन करना, हाथ, चोटी, जाँघ, नीवी, और स्तन आदि का स्पर्श करना, विनोद करना, नखक्षत करना, विनोदपूर्ण चितवन से देखना, और मुसकाना आदि क्रियाओं के द्वारा, गोपियों के दिव्य कामरस को, परमोज्ज्वल प्रेमभाव को उत्तेजित करते हुए, उन्हें क्रीडा द्वारा आनन्दित कर दिया ॥१९–२०॥

श्रीमद्भागवत के इन दोनों श्लोकों की रहस्यमयी विशिष्ट व्याख्या, यथा—इस प्रकार वन में बारम्बार भ्रमण करके विशिष्ट स्नेह उत्पन्न होने पर भी, अवसर न मिलने पर तृष्णायुक्त कृष्ण के सहित, माननीय गोपमहिलाओं के समूह में, अभिलषित विलास के लिए विरलता (अलग अलग होने की भावना) उत्पन्न हुई ॥२१॥

उस विरलता (विलग भावना) के उत्पन्न न होने पर, श्रीकृष्ण ने यमुना के द्वारा अपने तरङ्गरूप करसमूह से सञ्चित एवं प्रतिदिन देखे हुए, पुलिनविशेष को ही, रासलीला के योग्य विशिष्ट बलशाली विचार लिया ॥२२॥

और कर्पूर के समान कोमल एवं शुक्लवर्ण की बालुका है जिसमें, ऐसे उस यमुनापुलिन में बलदेवजी के छोटे भाई जो श्यामसुन्दर हैं, वे भी निश्चितरूप से शुक्ल और उज्ज्वल गुण के भाव से देदीप्यमान हो गये ॥२३॥

और जिस पुलिन में उस प्रकार के सभी गुणों से परिपूर्ण पूर्णिमा के निजी सम्बन्धी चन्द्रमा की विराजमान परम शोभा की रमणीयता के प्रतिसंक्रमण से, अर्थात् संयोग से सर्वोत्कृष्ट परस्पर शोभा से

"यत्रैव च तूलिकावदनुकूलिका वालुका वस्त्रमात्रमास्तरणमपेक्षते स्म; ॥२५॥

"यत्रैव च कलिन्द-तनया स्वयं वलितसखीनया सौगन्धिक-सुगन्ध-गन्धवाह-वहनादिना सेवां वहति स्म ॥२६॥

"तत्र चात्र श्रीकेशवः प्रवेशमनुभूय प्रतिप्रेयस्यपि युग्मीभूय बाहुप्रसारादिलीलां शीलयामास ॥२७॥

"सा चेयं परमरहस्येति रहस्येव किञ्चिद् व्यस्यते ॥२८॥

"यथा मिथस्तत्तन्मिथुनम्,—

"बाहुप्रसारमकरोत् परिरम्भणाय, बाहू तु तत्करणतां चिरमीयतुर्न ।
यो यस्य नैति वशतां स कथं नु तस्य, प्राप्नोतु साधकतमस्थितिमञ्जसैव ? ॥२९॥

कृतं च परिरम्भणं न परिहर्तुमीशावमू
बभूवतुरघारि-तत्प्रियवधूजनावात्मना ।
कथञ्चिदपि वीरुधा भवति चेत्तरोः सङ्गम-
स्तयोः कथमपृक्तता स्वयमनीहयोर्जायताम् ? ॥३०॥

प्रकाशमान महान् तेजपुञ्ज के द्वारा, नेत्रसमूह सहसा स्वेच्छापूर्वक दर्शन देने वाले नहीं हो रहे थे, अर्थात् अधिक चकाचोंध के कारण देखने में समर्थ नहीं हो रहे थे ॥२४॥

और जिस पुलिन में तूलिका (गद्दा या तोषक) के समान अनुकूल जो बालुका है, वह केवल एक वस्त्ररूप आस्तरण (बिछौना या पलङ्गपोष) की अपेक्षा कर रही थी, अर्थात् इसके ऊपर एक पलङ्गपोष मात्र बिछा देने से कोमल तोषक जैसी मालूम पड़ती थी ॥२५॥

और जहाँ पर श्रीयमुनाजी स्वयं सखी की तरह सेवा की रीति नीति को स्वीकार कर, कल्हार नामक कमलों के सुगन्ध से युक्त वायु के चलने आदि के द्वारा सेवा कर रही थी ॥२६॥

और पूर्वोक्त गुणविशिष्ट उस पुलिन में श्रीकृष्ण प्रवेश का अनुभव कर, तथा प्रत्येक प्रेयसी के प्रति युगलजोड़ी होकर, बाहुप्रसार आदि लीला का अनुशीलन करने लग गये ॥२७॥

और यह बाहुप्रसार आदि लीला परम रहस्यमयी (गोपनीय) है, अतः (ऐकान्तिक अन्तरङ्गजन के निकट) एकान्त में ही किंचिद् विस्तारित की जाती है ॥२८॥

यथा—उस श्रीकृष्ण-गोपीरूप प्रत्येक युगलजोड़ी ने परस्पर आलिङ्गन करने के लिए, अपनी अपनी दोनों भुजाएँ तो फैलाईं, किन्तु दोनों भुजाएँ तो बहुत देर तक आलिङ्गनरूप कार्य की विशेष साधकता को प्राप्त न हो पाईं । उसका दृष्टान्त यह है कि—जो वस्तु जिसके वशीभूत नहीं हो पाती, वह बस्तु उस व्यक्ति के साधकतम की अर्थात् 'करण' की स्थिति को अनायास कैसे प्राप्त हो सकती है ? ॥२९॥

और स्तम्भभाव के बाद "श्रीकृष्ण एवं उनकी प्रिय वधूजन" अर्थात् वे दोनों प्रत्येक जोड़े ही, किये हुए आलिङ्गन को मन से स्वयं त्यागने को समर्थ न हुए । क्योंकि यदि किसी प्रकार दैवयोग से वृक्ष का लता के साथ संयोग हो जाता है, तो स्वयं चेष्टारहित उन 'वृक्ष और लता' दोनों की पृथकता कैसे हो सकती है ? ॥३०॥

सखीनामप्यास्या-रहितसमये यत् प्रणयिनोः
परीरम्भारम्भात् प्रबलसुखमूर्च्छा समजनि ।
तयोस्तां विच्छेत्तुं परमहह नानाविलसित-
प्रतीक्षा सुप्तेव स्वयमथ जजागार परितः ॥३१॥

"ततश्च, रहसि संकुचती पुनरप्यसौ, निजकरेण हरेरकिरत् करम् ।
व्यथितताभिव तां तु विवृण्वतीं, तदनुमृष्टिमिषादयमस्पृशत् ॥३२॥
वदनं तव वृण्वते बत, भ्रमरा नानुगतास्ति काचन ।
इति लालयति स्म स च्छला,-दलकानां ततिमप्यमूमनु ॥३३॥
ऊरुस्पर्शे निरस्तेऽपि नीवीमस्पृक्षदच्युतः ।
निःशङ्कयाचकानां हि तथाचरितमीक्ष्यते ॥३४॥
कलयति संवस्त्रयति, स्वं हस्तयते स्म तस्य या रामा ।
प्रणयी स हरिस्तस्याः, स्पृशति च चोलीं वितूस्तनव्याजात् ॥३५॥
वक्षस्ते किमपि निरीक्ष्यते प्रफुल्लं, स्पर्शश्चाण्वपि सहते चलाक्षि ! यन्न ।
तस्मान्मन्नखनखरञ्जनीस्पृगेव, स्यान्नीरुक् तदिति हरिर्जहास चात्र ॥३६॥

वृन्दा आदि अन्तरङ्ग सखियों की उपस्थिति से रहित समय में "प्रत्येक श्रीकृष्ण एवं प्रत्येक गोपी" इन दोनों स्नेहीजनों के आपस में आलिङ्गन के प्रारम्भ करते ही, प्रबल सुखमयी मूर्च्छा उत्पन्न हो गई। उसके बाद अहह ! उन दोनों की उस प्रबल सुखमयी मूर्च्छा को दूर करने के लिए, केवल चुम्बन आदि अनेक प्रकार के विलासों की प्रतीक्षा, जो कि शयन सा कर रही थी, स्वयं चारों ओर से जाग पड़ी, अर्थात् मूर्च्छा दूर हो गई ॥३१॥

तदनन्तर एकान्त में भी संकुचित होती हुई गोपीरूप प्रियवधू ने, पुनः अपने हाथ से श्रीकृष्ण के हाथ को अलग फेंक दिया। किन्तु अपने आलिङ्गन द्वारा कुछ दुःख सा प्रगट करती हुई, उस गोपी को श्रीकृष्ण ने उसके हाथ के अनुमार्जन (भाड़ने पोंछने) के बहाने से पुनः छू लिया ॥३२॥

हाय ! हाय ! प्रिये ! तुम्हारे मुख को (भ्रमण करनेवाले या भ्रम देनेवाले) ये भ्रमरगण चारों ओर से घेर रहे हैं, क्या तुम्हारे साथ कोई सङ्गिनी पीछे पीछे नहीं आई है ? (जो इन भ्रमरों को दूर भगा दे) इत्यादि बातों के बहाने श्रीकृष्ण उस पर चुम्बन आदि प्यार करने लग गये, और इस प्रिया को लक्ष्य करके भ्रमर भगाने के बहाने, उसकी अलकावली को भी सँभालने लग गये ॥३३॥

जघाओं का स्पर्श दूर कर देने पर भी, निर्विकार श्रीकृष्ण ने उसके कटिवस्त्र को हठात् छू लिया। क्योंकि संसार में निःशंक याचकों की उसी प्रकार की हठमयी प्रलोभनमयी रीति देखी जाती है ॥३४॥

जो रमणी श्रीकृष्ण के साथ कलह करती है, अथवा लज्जा से अपने को वस्त्रों से ढांकती है, या श्रीकृष्ण के हाथ को दूर फेंक देती है, वे प्रेमी श्रीकृष्ण धूली दूर करने के बहाने उसी की चोली को छू लेते हैं ॥३५॥

हे चञ्चलाक्षि ! तुम्हारा जो वक्षःस्थल थोड़े से भी स्पर्श को नहीं सहता है, वही वक्षःस्थल कुछ अपूर्वभाव से प्रफुल्लित भी दिखाई दे रहा है। इसलिए मेरे नखरूपी नखरञ्जनी (नख काटने की नहरनी) के छूते ही वह वक्षःस्थल नीरोग हो जायगा, यों कहकर श्रीकृष्ण इस प्रसङ्ग में हँस गये ॥३६॥

मधुसूदनतां मुखाम्बुजे, हरितां हृद्भवकुम्भिकुम्भयोः ।
गतवान् बत नन्दजः कथं, रतिनाथ-प्रभवाय नार्हति ॥३७॥

अथ यत् कथनीयतोचितं, कथितं तत् प्रथितं च किञ्चन ।
यदथाकथितं द्विकर्मकं, स्मृतिरीत्या तदवेहि पाणिनेः ॥३८॥

"इत्येवं स्थिते,—

"गोप्यस्ताः प्रतिपद्य सर्वविषयश्रेयांसमात्मप्रियं
स्वाधीनं सपदि प्रतिस्वमसकृत्तत्रातिगर्वं दधुः ।
लोकश्चेद्बहुराजराष्ट्रवसतिर्जङ्गन्ति भङ्गं तदा
तस्यान्तर्हितता हितेति किल सोऽप्यन्तर्दधे माधवः ॥३९॥

अहह ! यह और आनन्द का विषय है कि, जो नन्दकुमार प्रेयसी गोपी के मुखरूप कमल के ऊपर, भ्रमरभाव को एवं उसके दोनों स्तनरूप हाथी के मस्तक के दोनों भागों पर, सिंहभाव को प्राप्त हो गये, वे ही कामदेव की उत्पत्ति के लिए कैसे योग्य नहीं हो सकते ? इस बात को स्वयं विचार लो ॥३७॥

भगवान् पाणिनि ने 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म', 'तथायुक्तं चानीप्सितम्', 'अकथितं च' इन सूत्रों के द्वारा तीन प्रकार का कर्म स्वीकार किया है, यथा—ईप्सिततम, अनीप्सित, अकथित भेद से। इन तीनों में ईप्सिततम कर्म ही मुख्य है। अनीप्सित कर्म दो प्रकार का है—द्वेष्य एवं अनपेक्ष्य भेद से। मुख्य कर्म के उपयोगी का नाम ही ईप्सिततम है। और जो एक क्रिया में मुख्य हो, ईप्सित भी हो, वह दो प्रकार का अविवक्षित कर्म ही 'अकथित' नाम वाला है। इन तीनों कर्मों में से कहने योग्य जो मुख्यकर्म है, वह पहले श्लोक में "श्रीकृष्ण भ्रमरभाव को प्राप्त होगये" इस अंश के द्वारा कहा जाचुका है। वह कथित कर्म ही कुछ प्रथित (विख्यात) भी कर दिया है। और "श्रीकृष्ण सिंहभाव को प्राप्त हो गये" यही अनीप्सित कर्म है। कारण वही उस गोपी के भाव का उद्दीपक है, अतः वह मुख्यकर्म नहीं है। और "श्रीकृष्ण ने प्रियवधू के निकट रति की याचना की" बस, यही अकथित कर्म है। दोनों दम्पतियों का कर्म जिसमें है, ऐसा द्विकर्मक प्रयोग यद्यपि पूर्व श्लोक में स्पष्ट नहीं है, तथापि श्रीपाणिनि की स्मृति (अष्टाध्यायी) की रीति के अनुसार अर्थात् 'अकथितं च' इस सूत्र की रीति के अनुसार 'प्रियवधूं रतिं याचते' इस प्रकार जान लो ॥३८॥

अब सब गोपियों की अपेक्षा श्रीराधा का वैशिष्ट्य वर्णन करने के लिए, कारण निर्देशपूर्वक श्रीकृष्ण का अन्तर्धान वर्णन करते हैं। यथा—पूर्वोक्त प्रकार से 'बाहुप्रसार परिरम्भ' आदि प्रेममयी लीला जब हो रही थी, तभी उन सब गोपियों ने सभी विषयों में श्रेयस्कर, अपने प्यारे श्रीकृष्ण को सर्वथा अपने अधीन जानकर, प्रत्येक ने ही तत्काल बारम्बार तत्तद्विषय में अत्यन्त गर्व को धारण कर लिया। "जिस देश में बहुत से राजा हों, ऐसे देश में निवास करनेवाला जनसमुदाय, यदि बारम्बार भङ्ग को, अर्थात् पीड़ा या पराजय को प्राप्त करता रहता है, तो उस जनसमुदाय का उस देश को छोड़कर, अन्तर्धान हो जाना ही हितकारक है", ऐसा विचार निश्चयकर श्रीकृष्ण भी गर्वीली गोपियों को छोड़कर (उनके गर्व को शान्त करने के लिए) अन्तर्हित हो गये (छिप गये)। (अत्र 'जङ्गन्ति' इति यङ्लुगन्तं गम्धातोर्लटि प्रथमपुरुषे एकवचनान्तं रूपं ज्ञेयम्।) ॥३९॥

"तेन च विचारितं खल्विदम्,—'अहह ! मम परममुद्देश्यमेव विस्मृतदेश्यमभूत्, यतः सर्वाभिरेव निर्विशेषं रममाणे मयि रमाशिरोमणीयमाना राधापि साधारणतां गता ॥४०॥

'किञ्च, स्व-मनोरथप्रथनायां राधायाः प्रथमा प्रथमानागमनता सम्प्रति प्रतिपन्ना, तस्मान्महामह एव मम हिताय महीयते। स च शारदताविशारदतायामस्यां पौर्णमास्यां रासरस एव तूर्णं पूर्णतामर्हति ॥४१॥

एष तु सर्वासामैकमत्यप्रतिपत्त्यनुसारत एव सारतां प्रसारयति। ऐकमत्यं च प्रत्येकं साभिमानान्तरासु परासु किञ्चिन्मदुदासीनतापरं दासीकर्तुमासीदति। तस्मादशेषगुणाधिकां राधिकामादाय तिरोधाय स्थास्यामि' इति ॥४२॥

"तदेतद् विभाव्य भाव्यमर्थं साधयन् माधवस्तत्र तत्रालसकरचरणादिक्रियां प्रियां प्रियां प्रत्युवाच,—'नूनं वञ्चितकाञ्चीध्वनितया कयाचिदप्यत्र स्थीयत इति नास्थीयते, तच्च मम भवदेकानुचारिविहारितया विचारितीक्रियते, तस्मादत्यायासवत्या भवत्या स्थीयताम्। मया तु समया मृगयमाणतां निर्माय नातिसमयविराममागमनीयम् ॥'४३॥

और श्रीकृष्ण ने अन्तर्धान के विषय में यह विचार किया—अहह ! राधिका के साथ विहार करना ही मेरा परम उद्देश्य था, वह तो प्रायः विस्मृत ही होगया। क्योंकि मेरे द्वारा सभी गोपियों के साथ विशेषता से रहित रमण करने पर तो, श्रीलक्ष्मी की भी शिरोमणितुल्या राधिका भी साधारणता को, अर्थात् अन्य गोपियों की समानता को प्राप्त हो गई ॥४०॥

किंच अपने मनोरथ के विस्तार के विषय में, इस समय श्रीराधिका का पहला प्रसिद्ध आगमन भी हो ही गया है। इसलिए महामहोत्सव ही मेरे हित के लिए पूजित हो रहा है। और वह महोत्सव शरत्-कालीन विषयों में विशारदता (चतुरता) से युक्त इस पौर्णमासी में, एवं रासरस में ही शीघ्र परिपूर्ण होने योग्य है ॥४१॥

किन्तु यह रासरस भी सब गोपियों की एक मति के ज्ञान के अनुसार ही श्रेष्ठता को विस्तारित कर रहा है। और वह ऐकमत्य, अर्थात् सब की मति का एकसा होना भी "मैं ही श्रीकृष्ण की प्यारी हूँ, और नहीं है" इस प्रकार के अभिमान से युक्त अन्तःकरणवाली अन्य प्रत्येक गोपी के ऊपर किंचिद् मेरी उदासीनतापरक होकर भी, उन सब को (निरभिमान बनाकर) दासी बनाने के लिए प्राप्त हो रहा है। अतः सर्वगुणाधिका राधिका को साथ लेकर अन्तर्धान होकर स्थिति करूँगा ॥४२॥

अतः इस प्रकार विचार कर, भावी प्रयोजन को सिद्ध करते हुए, श्रीकृष्ण उस उस क्रीड़ा में आलस्ययुक्त कर-चरण आदि की क्रियावाली प्रत्येक प्रिया के प्रति बोले—निश्चय ही अपनी मेखला की ध्वनि को छिपानेवाली कोई भी दूसरी रमणी यहाँ पर स्थित है, ऐसा मुझे प्रतीत नहीं होता। और इसी-लिए केवल तुम्हारा ही अनुगमन करके मेरा जो विहार हो सके, मैं ऐसा विचार कर रहा हूँ। तुम अधिक थक गई हो, अतः यहीं बैठी रहो। मैं तो पास में ही उस (चुप खड़ी हुई) रमणी को ढूंढ़ कर, अधिक समय न लगाकर शीघ्र ही आ जाऊँगा ॥४३॥

"तदेतदभिधाय ततस्ततः सर्वतश्चान्तर्धाय राधया सह सहसा जगाम ॥४४॥

"अथ समयकतिपयव्यत्ययमसहमाना सा सा च ततस्तत उत्थाय प्रस्थाय च तमन्विच्छन्तीति भ्रमणात् क्रमश एकद्वादितया परस्परं मिलिताः। मिलिताश्च ताः परस्परमप्रतीतितः शपथं प्रथयमानाः कृष्णपथमेवान्वेषयामासुः ॥४५॥

"किन्तु, अन्वेष्टुं कृष्णमिष्टं निकटमभिगतं चिन्तयित्वा प्रदूनाः
कर्तुं तन्नैव शेकुः परमहह गताः क्लान्तिमेता निपेतुः।
स्थित्वा तद्वच्चिराय स्फुरणमयममुं प्राप्य सर्वाः समन्ता-
न्मत्वाऽन्योन्यं तमेव प्रतिहतमतयश्चक्रुरालिङ्गनादि ॥४६॥

"ततश्च, यास्तु तृष्णाकुलतया कृष्णभाववशं गताः।
कृष्णायन्ते स्म ता एव सर्वपालकतामिताः ॥४७॥

"अथ कथञ्चिदनुसंहितबहिरर्थाः समयं गमयितुमसमर्थाः पूर्वाभ्यासवशान्निजरक्षाया वशान्निखिलसुखदशीलां बाल्यादिकतल्लीलां गातुमारब्धास्तदादेशपरिरब्धा बभूवुः ॥४८॥

"तत्र च कृष्णमन्विच्छन्त्यस्तत इतो गच्छन्त्यस्तरुवल्लीपल्लीमपि मुहुरपि पृच्छन्ति स्म, उन्मादवृत्तेरनुवृत्तेः ॥४६॥ यथा—

केवल इतना ही कहकर, वहाँ वहाँ सभी गोपियों के निकट से अन्तर्हित होकर, राधिका के साथ सहसा (तत्काल) चले गये ॥४४॥

अनन्तर कुछ समय के बीतने को न सहन करती हुई वह वह, प्रत्येक गोपी वहाँ वहाँ से उठकर, और कुछ चलकर श्रीकृष्ण के पीछे पीछे जाने की इच्छा करती हुई, भ्रमण करते करते क्रमशः एक, दो इत्यादि नियम से सभी परस्पर सम्मिलित हो गई। मिलित होकर भी वे सब (श्रीकृष्ण मुझको छोड़कर अन्यत्र जारहे हैं) इस प्रकार के प्रत्येक के वाक्य में परस्पर अविश्वास के कारण, शपथ का विस्तार करती हुई, श्रीकृष्ण के मार्ग का ही अन्वेषण करने लग गई ॥४५॥

किन्तु प्रियतम श्रीकृष्ण को ढूँढ़ने के लिए उनको निकट आये विचार कर, सन्तप्त होकर किसी प्रकार भी उनको निकटस्थ करने को समर्थ न हुई। किन्तु हाय ! हाय ! ये सब गोपियाँ तो केवल ग्लानि को पाकर भूमि पर गिर पड़ीं। इसी प्रकार बहुत देर तक भूतल पर पड़ी रह कर, पुनः स्फूर्तिमय श्रीकृष्ण को पाकर सभी गोपियाँ चारों ओर से, परस्पर को ही श्रीकृष्ण मानकर, विरह में नष्ट बुद्धि होकर, आलिङ्गन आदि करने लग गई ॥४६॥

और तदनन्तर जो गोपियाँ श्रीकृष्ण सङ्ग की तृष्णा से व्याकुल होकर, श्रीकृष्ण के भाव के वशीभूत हो गई, वे ही सब की रक्षा के भाव को प्राप्त होकर, श्रीकृष्ण का सा आचरण करने लग गई ॥४७॥

उसके बाद किसी प्रकार बाह्यज्ञान का अनुसन्धान करने वाली वे गोपियाँ, समय बिताने को समर्थ न होकर, पूर्वाभ्यास के वश से अर्थात् 'यदि जीवन रहा तो फिर भी मिलने की सम्भावना है' इस प्रकार की पहली भावना के कारण, अपनी रक्षा की कामना से, सभी को सुख देने के स्वभाववाली, श्रीकृष्ण की बाल्यादि लीला गाने को प्रारम्भ कर, श्रीकृष्ण के या उनकी लीला के आवेश से संयुक्त हो गई ॥४८॥

और वहाँ पर श्रीकृष्ण को ढूँढ़ती हुई, अतएव इधर उधर जाती हुई, वे गोपियाँ वृक्ष एवं लताओं की परम्परा को भी बारम्बार, श्रीकृष्ण का पता पूछती थीं। यह सब उनकी उन्माद की वृत्ति के अनुसरण का ही प्रभाव था ॥४६॥

"लीलां गायंस्तत्तदावेशवश्य,-स्तत्तद्भावं प्राप गोपी-निकायः ।
चित्रं कृष्णावेशितामाप या या, गौराङ्गी सा कृष्णवर्णा प्रतीता ॥५०॥
अद्यापि स्मृतमुत्तपत्यहह मच्चित्तं यदेता मुहुः
पृच्छन्ति स्म हरिं वियोगविधुरा हा हा तरूनप्यहो ।
आस्तां तन्मम हृद्यरुन्तुदमिदं गीताभिरेतत्कृते
घोराद्भीतिभिरुन्मदिष्णुहृदया घोरानुकारं दधुः ॥५१॥

"तदीदृशलीलावेशः परपर-गच्छ-पृच्छाभिनिवेशतः क्रमशः प्रचितनिष्क्रमीकृतीमवाप; यत् पृच्छाभिनिवेशश्चैवमपगच्छति स्म ॥५२॥ यथा—

"कांश्चिद्विकासिकुसुमैरुपहासभावान्, कांश्चिन्नताग्रवलनैर्विमुखीकृतास्यान् ।
कांश्चिन्मदालिविरुतै रुषितोक्तियुक्तान्, मत्वा तरूंस्तदनुयोगरसाद्विरेमुः ॥५३॥

"ततश्च क्षितिमेव प्रश्नलक्षितीकृतवत्यः, ॥५४॥ यथा—

'अहो ! किमकरोस्तपः कियदिहोर्वि ! यच्छ्रीहरेः
पदस्पृगनुविन्दसे पुलकरूपनानांकुरान् ।

यथा—गोपियों का समूह श्रीकृष्ण लीला को गाता हुआ, श्रीकृष्ण के आवेश के वशीभूत होकर, उनके उन उन भावों को प्राप्त हो गया, अर्थात् तदाकार हो गया। आश्चर्य की घटना तो यह हुई कि—जो जो गोपी श्रीकृष्ण के आवेश को प्राप्त हुई, वह वह गौरवर्ण के अङ्गोंवाली होकर भी, उस समय कृष्ण के से श्यामवर्णवाली प्रतीत होती थी ॥५०॥

कथावाचक खेदपूर्वक बोला कि—हाय ! हाय ! श्रीकृष्ण के वियोग से विकल हुईं इन गोपियों ने (सचेतनों की बात तो दूर रहने दो, किन्तु) अचेतन (बाह्यचेतनाशून्य) वृक्षों से भी श्रीकृष्ण के बारे में बार बार पूछा, जिस प्रसङ्ग का स्मरण करते ही हाय ! आज भी मेरा चित्त उत्तप्त हो रहा है। उत्तप्त होने को बात तो दूर रहने दो, मेरे मन में तो मर्मच्छेदक यह बात अधिक खटकती है कि—श्रीकृष्ण की प्राप्ति के लिए गाई गईं भयङ्कर पूतना आदि राक्षसों से भीतिमय गीतियों (गाना) के कारण, उन्मत्त हृदयवाली उन गोपियों ने तदाकार होकर, उन पूतना आदि के भयङ्कर आकार को धारण कर लिया था ॥५१॥

अतः इस प्रकार का जो लीला का आवेश था वह 'अरी सखी ! दूसरे वृक्ष के पास चल, एवं कृष्ण का पता पूछ।' इस प्रकार दूसरे दूसरे वृक्षों से पूछने के अभिनिवेश के कारण, क्रमशः बढ़ी हुई निकलने की क्रिया को प्राप्त हो गया। जिसके कारण पूछने का अभिनिवेश (आग्रह) इस प्रकार दूर हो गया ॥५२॥

यथा—कुछ वृक्षों को विकसित हुए पुष्पों के कारण, उपहास के भाव से युक्त मानकर, एवं कुछ वृक्षों को अग्रभाग के नीचा होने के कारण, विमुख किये हुए मुखों से युक्त मानकर, तथा कुछ वृक्षों को मदमत्त भ्रमरों के शब्दों के कारण, क्रोधमयी उक्ति से युक्त मानकर, वे गोपियाँ उन से पूछने के रस से विरत (शान्त) हो गईं ॥५३॥

उसके बाद उन्होंने पृथ्वी को ही अपने प्रश्न का लक्ष्य बना लिया ॥५४॥

यथा—अहह ! हे भूदेवि ! बताइये, तुमने इस जन्म में कितने परिमाणवाला कौनसा अनिर्वचनीय तप किया है, जिसके कारण तुम श्रीहरि के चरणों का स्पर्श पा रही हो, एवं पुलकावलीस्वरूप अनेक प्रकार के अंकुरों का लाभ कर रही हो ? अच्छा, बताओ तो सही। वह रोमाञ्च आदि तुमने त्रिविक्रम

त्रिविक्रमजविक्रमात् किमिव तत्त्वया सम्भृतं
वराहपरिरम्भतः किमथवा क्वचित् किन्तु न ॥५५॥

पृथ्वी क्षमा च नाम्ना त्वं तत्पदाङ्कमुदङ्किता ।
तस्मात्त्वामेव तं प्रष्टुं तवेमां गतिमागताः ॥' इति ॥५६॥

"तदेवं सर्वासु तर्वादिकं पृच्छन्तीषु तत इतश्च गच्छन्तीषु तदीयं सौरभ्यं परिरभ्य जगत्प्राणेषु सन्निधानं प्रति प्रणीतप्रयाणेषु तद् वैदग्धीदिग्धस्निग्धहृदया राधासखीसमुदया हरिणीं प्रति कृतप्रणयाः सानुमोदतया हारि व्याहरन्ति स्म, ॥५७॥ (भा० १०।३०।११-१२)–

'अप्येण-पत्न्युपगतः प्रिययेह गात्रै,-स्तन्वन् दृशां सखि ! सुनिर्वृतिमच्युतो वः ।
कान्ताङ्ग-सङ्गकुच-कुंकुमरञ्जितायाः, कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः ॥५८॥
बाहुं प्रियांस उपधाय गृहीतपद्मो, रामानुजस्तुलसिकालिकुलैर्मदान्धैः ।
अन्वीयमान इह वस्तरवः प्रणामं, किं वाभिनन्दति चरन् प्रणयावलोकैः ?' ॥५९॥

भगवान् से उत्पन्न हुए पराक्रम के कारण धारण किया है क्या ? अथवा (वराह पत्नी होने के नाते) कभी अवसर वश प्राप्त हुए वराह भगवान् के आलिङ्गनमय सौख्य से धारण किया है क्या ? किन्तु हम तो कहती हैं कि वह बहुत पुराना कारण अब रोमाञ्चजनक नहीं है, यह तो हमारे प्यारे नन्ददुलारे के तात्कालिक चरण स्पर्श का ही प्रभाव मालूम पड़ता है ॥५५॥

और हे वसुन्धरे ! तुम कर्म से एवं नाम से भी पृथ्वी, अर्थात् स्थूल, एवं क्षमा हो, अर्थात् सहनशील हो। इसलिए भी श्रीकृष्ण के चरणचिह्नों से उत्पन्न हर्ष से अङ्कित प्रतीत हो रही हो। अतः हम श्रीकृष्ण को पूछने के लिए तुम्हारी ही शरण आई हैं ॥५६॥

इस प्रकार सभी गोपियाँ जब वृक्षादिकों से कृष्णविषयक प्रश्न कर रही थीं, एवं श्रीकृष्ण को ढूँढ़ने के लिए इधर उधर जारही थीं, और श्रीकृष्ण की दिव्यसुगन्ध को स्पर्शकर वायुसमूह जब निकट ही बह रहा था, तब राधाकृष्ण की चातुरी से संयुक्त एवं स्निग्धहृदयवाली (अन्य गोपियों के साथ ही कृष्ण को ढूँढ़ने वाली) राधा की ललिता विशाखा आदि सभी सखियाँ, हरिणी के प्रति प्रेम करती हुई, अनुमोदनपूर्वक मनोहर वाक्य बोलीं—॥५७॥

अरी सखी ! हरिणियो ! हमारे प्यारे श्यामसुन्दर के अङ्गसङ्ग से सुषमा सौन्दर्य की धारा बहती रहती है, वे कहीं अपनी प्राणप्रिया के साथ तुम्हारे नयनों को परमानन्द का दान करते हुए इधर से ही तो नहीं गये हैं ? क्योंकि देखो, देखो। यहाँ गोपीकुलपति श्रीकृष्ण की कुन्दकली की माला की मनोहर गन्ध आरही है, जो माला उनकी परमप्रेयसी के अङ्गसङ्ग से हुए कुचकुंकुम से अनुरञ्जित रहती है ॥५८॥

हे तरुवरो ! उनकी माला की तुलसी में ऐसी सुगन्ध है कि, उसकी गन्ध के लोभी मतवाले भौंरे प्रत्येक क्षण उस पर मँडराते रहते हैं। उनके एक हाथ में लीलाकमल होगा, और दूसरा हाथ अपनी प्रेयसी के कन्धे पर धरकर, हमारे प्यारे श्यामसुन्दर इधर से विचरते हुए अवश्य गये होंगे। जान पड़ता है, तुम लोग उन्हें प्रणाम करने के लिए ही झुके हो। परन्तु उन्होंने अपनी प्रेमभरी चितवन से भी तुम्हारी वन्दना का अभिनन्दन किया है या नहीं ? ॥५९॥

अत्र खलु एणेति पत्नीति सखीति पदत्रयेण 'हे प्रशस्तनेत्रे ! मादृशमानुषीसदृशविचार-सञ्चरितवृन्दावनक्षेत्रे ! तत्तदस्मदीय-सुखप्रख्येण सुखेन लब्धमद्विधसख्ये' ! इति व्यज्य सुखरज्यमानहृदयाः प्राहुः,—॥६०॥

'प्रियया सममच्युतः श्रीकृष्णः श्लिष्टतया तस्याः सकाशादविश्लिष्टः सन्नदसीयशोभा-कृतासङ्गैरङ्गैर्युष्माकं तादृशां दृशां केवल-स्वदर्शनजानन्दादप्यतिशयितमानन्दमुत्कर्षयन् किं युष्मत्समीपमाप ? तत्र तन्मिथुनश्लाघागर्भवचनेन हेतुं रचयन्ति,—कान्तेति । गोकुलराज-कुलतिलकस्य या कुन्दमाला, तस्याः कुत्राप्यलभ्यसौरभ्यमिह तद्भारमिलज्जवभङ्गनिभवायु-सङ्गतः प्रसरति । कीदृश्याः ? मालायाः कान्तापरमपुण्येन परमसर्वसाद्गुण्येन तस्यापि लालसस्य या परमास्पदरूपा, तस्या अङ्गसङ्गे कुचकुंकुमपङ्ककुलसंकुलायाः । अतः सन्तत-परिचयविशेषेण तत्सौरभ्यविशेषं परिरभ्य स्फुटमस्माभिस्तथा समुपलभ्यत इत्यर्थः ॥६१॥

'अथ तां तद्दर्शनजातेन हर्षेण सम्प्रति तद्वियोगजातेन तर्षेण स्थगितवचनामाशङ्क्य तेन च तयोः सङ्गममेव निष्टङ्क्य परमानन्दतस्तदीयविलासविशेषं वन्दमानास्तत्र तत्र

श्रीमद्भागवत के इन दोनों श्लोकों की विशेष मार्मिक व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार स्वयं बोले—पहले श्लोक में 'एण', 'पत्नी', 'सखि' इन तीनों पदों के द्वारा हे प्रशस्तनेत्रे ! अर्थात् हे प्रशंसनीय विशाल नेत्रों वाली ! हे हम जैसी मानुषियों के सदृश विचार के द्वारा श्रीवृन्दावन क्षेत्र में विचरण करनेवाली ! मृगपत्नि ! 'हे सखि' शब्द की व्याख्या, यथा—हे हमारे उस उस कृष्ण दर्शनादि सुख के समान सुख के द्वारा हमारी जैसी कृष्णप्रियाओं के सख्यभाव को प्राप्त करनेवाली ! हरिणि ! इन पूर्वोक्त गुणों के कारण तू हमारी सखी हैं, क्योंकि सुखदुःख की प्राप्ति में हम तुम दोनों ही समान हैं। इस प्रकार का भाव प्रगट कर, उस मृगी के सुख से अनुरागयुक्त हृदयवाली वे राधा की सखियाँ बोलीं— ॥६०॥

हे सखि ! हरिणियो ! अच्युत (श्रीकृष्ण) अपनी प्रिया राधिका के साथ आलिङ्गित होने के कारण, उस अपनी प्रिया के पास से अलग न होकर, उसी प्रिया की अपूर्व शोभा में आसक्ति करनेवाले, अपने मनोहर अङ्गों के द्वारा तुम्हारे उस प्रकार के प्रशंसनीय विशाल नेत्रों के, केवल अपने (श्रीकृष्ण) दर्शन से उत्पन्न आनन्द से भी, अतिशय आनन्द को बढ़ाते हुए तुम्हारे पास आये थे क्या ?

और वे राधा की सखियाँ उस हरिण-हरिणी के जोड़े की प्रशंसा से युक्त वचन के द्वारा, यहाँ आने के कारण की रचना करती हैं कि कान्तेत्यादि, अर्थात् व्रजराजकुलतिलक श्रीकृष्ण की जो कुन्दमाला है, उसकी सुगन्धी कहीं भी सुलभ नहीं है, वह सुगन्धी यहाँ पर उस माला के भार से मिलते हुए वेग से तिरस्कृततुल्य वायु के सङ्ग से, चारों ओर फैल रही है। कैसी माला को गन्ध यहाँ फैल रही है, इसके उत्तररूप उसका विशेषण कहती हैं कि—कान्ता के परमपुण्य से एव उत्कृष्ट सभी सद्गुणों के द्वारा, श्रीकृष्ण की लालसा की भी जो परम प्रेमास्पदस्वरूपा कान्ता (राधा) है, उसी कान्ता के अङ्ग में लगने पर, स्तनों पर स्थित कुंकुमपङ्क के समूह द्वारा जो माला व्याप्त थी, उसी की गन्ध यहाँ फैल रही है। अतः निरन्तर परिचयविशेष के कारण, उस माला के गन्धविशेष को ग्रहणकर, हमको भी स्पष्टरूप से उसी प्रकार की उपलब्धि (प्राप्ति) हो रही है। यह अर्थ प्रथम श्लोक का हुआ ॥६१॥

दूसरे श्लोक की व्याख्या, यथा—तदनन्तर उस हरिणी को पहले तो राधाकृष्ण के दर्शन से उत्पन्न हुए हर्ष के कारण, एवं अब उनके वियोग से उत्पन्न हुई तृष्णा से या पुनः दर्शन की पिपासा के कारण

पल्लवादिभरनम्राणां कम्राणां पुरूणां तरूणामपि तदीय-सौविदल्लादि-भृत्यविशेषभावेन तद्वन्दनमुत्प्रेक्ष्य प्रियया सह विहाररतेन तेन तेषामभिनन्दनं सन्दिहानास्तयोस्तादृशविलासावेशातिशयमाहुः,—बाहुमिति ॥६२॥

"अथ तस्यामुदासीना वदन्ति स्म,—

'लता इमाः पृच्छत या न लोकिताः, पुरा तरुश्लिष्टतयापि पुष्पिताः ।
सम्प्रत्यमूः स्पर्शवशाद् बकी-रिपोः, पुष्पान्वितास्तन्नखचित्रमत्र हि ॥'६३॥

"अथ तस्माल्लब्धविस्मये पुनरकस्मादखिलशुभपदानि तदीयपदनलिनयोरमलिनानि पदानि दधाना वसुधा सुधामिव सुधामावलिं तासामन्यासामपि तदप्रतीतिस्पृशि दृशि किरति स्म; यानि प्रेक्ष्य चामूभिरुत्प्रेक्ष्यते स्म,—॥६४॥

'इयं क्षितिर्मुनिचरिता तदुत्तरं, ददे न हीत्यवमृशती पुनर्ददे ।
ध्वजाम्बुजाद्युपवलितांघ्रिलांछन,-प्रदर्शनादिव लिखती तदागमम् ॥'६५॥

"कियद्दूरे तु ताभिस्तत्पदान्तराण्येव पदान्तराणि प्रतिपन्नानि ॥६६॥

स्थगित, अर्थात् अवरुद्ध वचनवाली समझकर, उसकी चुप्पी के कारण राधाकृष्ण के मिलन की ही तर्कना कर, परमानन्दपूर्वक उनके विलासविशेष की प्रशंसा करती हुई, राधा की सखियाँ वहाँ वहाँ पर पत्र पुष्पादि के भार से नम्र हुए, मनोहर बहुत से वृक्षों के भी, राधाकृष्ण के अन्तःपुर के रक्षक कंचुकी आदि सेवकविशेषों के भाव से उनकी वन्दना की उत्प्रेक्षा कर, प्रिया के साथ विहार में रत रहनेवाले श्रीकृष्ण के द्वारा, उन वृक्षों का अभिनन्दन हुआ है या नहीं, इस बात का सन्देह करती हुई, श्रीराधाकृष्ण के उस प्रकार के विलास में आवेश की विशेषता को वर्णन करती हुई, वृक्षों के प्रति बोलीं कि—'बाहुं प्रियांस' इत्यादि। यह दूसरे श्लोक की अवतरणिकामात्र हुई। अर्थ पूर्ववत् जान लेना ॥६२॥

वहाँ पर तीन प्रकार की नायिका थीं—कुछ राधा की स्वपक्षा, कुछ विपक्षा, एवं कुछ राधा से उदासीन थीं। उन तीनों में से राधा की स्वपक्षा ललिता आदि की उक्ति के बाद, राधा के उदासीन पक्ष वाली बोलीं—अरी सखियो! इन लताओं से तो पूछो। जो कि पहले वृक्षों से मिली हुई होने पर भी, पुष्पों से युक्त नहीं देखी थीं। इस समय तो ये सब पूतनारि श्रीकृष्ण के स्पर्श वशतः पुष्पों से युक्त देखी जा रही हैं, और इन लताओं पर तो उनके नखों के चित्र भी निश्चित दीख रहे हैं ॥६३॥

अनन्तर अकाल में ही पुष्पित लताओं के देखने से विस्मय प्राप्त हो जाने पर, पुनः अकस्मात् श्रीकृष्ण के निखिल शुभों के स्थानस्वरूप चरणकमलों के निर्मल चिह्नों को धारण करती हुई पृथिवी, उन उदासीन गोपियों की तथा अन्य सभी गोपियों की दृष्टि में "जो दृष्टि यहाँ पर श्रीकृष्ण के आने के विश्वास का स्पर्श भी नहीं करती थी" अमृत की वृष्टि की तरह, सुन्दर प्रभापुञ्ज को फेंकने लग गई। जिन चरणचिह्नों को देखकर गोपियाँ उत्प्रेक्षा करने लगीं— ॥६४॥

अरी सखियो! देखो, यह पृथिवी मुनियों के से चरित वाली है, इसीलिए मनन एवं विचारशीला इस पृथिवी ने "मैंने गोपियों के प्रश्न का उत्तर नहीं दिया" इस प्रकार का विचार करते हुए ध्वज, कमल, आदि के चिह्नों से युक्त, श्रीकृष्ण-चरणचिह्नों के प्रदर्शन से मानो उनके यहाँ आगमन को लिखते हुए, पुनः मौनी की तरह उत्तर दे ही दिया ॥६५॥

कुछ दूर पर तो उन गोपियों ने श्रीकृष्ण के चरणचिह्नों के बीच में दूसरे चरणचिह्न देखे ॥६६॥

"तथाहि,—तदनु तस्य पदं पदमन्तरा, पदमनीदृशमाददृशे परम् ।
अनतमल्पममध्यकृशं ध्वजा,-द्युपचितं विपरीतदिशि श्रितम् ॥६७॥

"तत्र चेदमनुमीयते स्म,—
'मृगाक्ष्या लक्ष्यं स्यादिह चरणचिह्नं हरिपद-
प्रसक्तं वैशिष्ट्यादपि तु नहि पूर्वत्र किमपि ।
स्फुटं तस्मात् काञ्चिद् हृदि विदधदत्रार्पयदसौ
प्रसिद्धा स्तेनानां जगति हि कृताङ्कप्रशमिता ॥६८॥

असव्य-सव्यौ यूनोर्यत् पदाङ्कौ व्यतिमर्दिनौ ।
तत्तर्क्यते मिथः स्पष्टमंसन्यस्तप्रकोष्ठता ॥'६९॥

"तदेवं साधारणीनां वर्णनमाकर्ण्य राधासख्यः पुनरालपन्ति स्म,—
'परस्परकरग्रहस्फुरदमन्दखेलास्पदं, प्रमत्तकरिदम्पतिस्थिति तयोस्तु यूनोर्युगम् ।
यदत्र विजने वने विगतशृङ्खलं लीलया, विधास्यति परं महस्तदतिसुष्ठु पुष्णाति नः ॥'७०॥

यथा—देखो, उसके पश्चात् श्रीकृष्ण के प्रत्येक पदचिह्न के बीच में दूसरे प्रकार का पदचिह्न ही केवल उनको दिखाई दिया। वह पदचिह्न नवा हुआ नहीं था, अर्थात् ऊँचा था, छोटा, बीच में मोटा, एवं ध्वजा आदि चिह्नों के समूह से युक्त, तथा कृष्णचरणों की बाईं ओर सम्मिलित हो रहा था ॥६७॥

उस चरणचिह्न में गोपियों ने यह अनुमान लगाया कि—अरी सखियो ! देखो, यहाँ पर विशेषता के कारण हरिचरणों से मिला हुआ भी यह चरणचिह्न किसी मृगलोचना का ही लक्षित हो सकता है, किन्तु पहले तो कुछ भी लक्षित नहीं हुआ। इसलिए यह बात स्पष्ट है कि—श्रीकृष्ण ने किसी प्राणप्रिया को अपने हृदय पर धारण कर, अर्थात् गोद में उठाकर, यहाँ पर अर्पण कर दिया है, अर्थात् उतार दिया है। क्योंकि "किये हुए अपने चरणचिह्नों को मिटा देना" यह चोरों का व्यवहार संसार में प्रसिद्ध है। इसलिए गोद में लेकर चलते समय, प्रियतमा का चरणचिह्न नहीं बन पाया, अब उतारने के बाद बना हुआ स्पष्ट दिखाई दे रहा है ॥६८॥

और युवक-युवती, कृष्ण एवं राधा इन दोनों के दाहिने एवं बायें चरणचिह्न जिस कारण से, आपस में सटे हुए दिखाई दे रहे हैं, उसी कारण से उन दोनों की परस्पर अंसन्यस्तप्रकोष्ठता स्पष्ट ही तर्कित होती है, अर्थात् दोनों के सटे हुए चरणचिह्नों के देखने से अनुमान लगता है कि, दोनों ही दोनों के कन्धों पर हाथ धरकर, परस्पर चिपटकर चले होंगे। कुहनी से नीचे के भाग को प्रकोष्ठ कहते हैं ॥६९॥

इस प्रकार उदासीन गोपियों के वर्णन को सुनकर, राधा की सखियाँ पुनः बोलीं—अरी सखियो ! देखो, परस्पर करग्रहण के द्वारा विराजमान और उत्कृष्ट लीला का आस्पद (प्रतिष्ठा)स्वरूप, एवं प्रमत्त हस्तिदम्पति की सी स्थितिवाला, उन दोनों युवक-युवती का जोड़ा इस निर्जन वन में अपनी रहस्यमयी लीला के द्वारा, स्वाधीनतापूर्वक जिस परममहोत्सव का विधान करेगा, वह महोत्सव हमारी उत्तमरूप से पुष्टि करेगा, ऐसा प्रतीत होता है ॥७०॥

"अथ तत्र सुहृदां वचनम्, (भा० १०।३०।२८)—

'अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः ॥ इति ॥७१॥

अयमर्थः,—'नूनमनया परमनयया कोऽप्यनश्वरशक्तिरङ्गीकृत-भक्तभक्तिरीश्वर एव निर्बाधितमाराधितः, न तु देवतामात्रम् । स च सकलहरित्पति-पतिः श्रीहरिरेव, न च हरः सृष्टिकरश्च । हरितायामपि सर्वावतारविस्तारवान् स्वयंभगवानिति सम्भावितोभवति न चान्यस्तदंशतयापि लब्धप्रशंसः । तादृशचमत्कारकारणमप्यवतारयन्ति,—'यन्न इति । यां खलु गुणरूपमहसा सहसा निखिलहृदयं विन्दमानः श्रीगोविन्दः स्वयमयं निनाय, न तु न इव न निनाय । तत्परिपाटी च प्रत्युरसं विधाय प्रीतिरीतिपरीततया कृता, न तु तद्विपरीततया प्रीतिरपि स्मरमहःप्रवहरहःसंहततया, न तु सामान्यतामान्यतया, रहः संहननमपि शर्मसम्पदंहति-बृंहितगुणवंहिततया, न तु तदसंहिततया । तच्च सर्वगुणविस्मायिकानामप्यस्माकं त्यागजागरूक-समयत एव, न तु तद्विनिमयत इति स्वयं गच्छन्नेव निनाय' इति ॥७२॥

उसके बाद राधा की सुहृद सखियों का वचन, यथा—अवश्य ही सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण की इसने आराधना की होगी । इसीलिए इस पर प्रसन्न होकर, हम सबको छोड़कर, श्रीगोविन्द इसको एकान्त में ले गये हैं ॥७१॥

ग्रन्थकार स्वयं इस श्लोक की व्याख्या करते हैं, यथा—इस भागवतीय पद्य का यह भावार्थ है कि—अवश्य ही परमनीतिमती इस रमणीमणि ने किसी अनिर्वचनीय, अविनश्वर शक्तिसम्पन्न, एवं भक्तों की भक्ति को अङ्गीकार करनेवाले ईश्वर (सर्वनियन्ता) की ही, निरन्तर आराधना की है, किन्तु साधारण देवमात्र की नहीं ।

और वह ईश्वर भी सब दिग्पालों के पति श्रीकृष्ण ही है, शिव और ब्रह्मा नहीं । हरिभाव से युक्त होने पर भी, वे श्रीकृष्ण सभी अवतारों के विस्तारकारी स्वयं भगवान् (षडैश्वर्य परिपूर्ण) हैं, ऐसा सम्भावित होता है । उनके अंशावतार होने के नाते प्रशंसा प्राप्त करनेवाले श्रीनारायण भी इनके सदृश नहीं हैं । उस प्रकार के चमत्कार के कारणस्वरूप, श्रीकृष्ण को भी प्रेममयी गोपियाँ भूतल पर अवतरित (प्रगट) कर लेती हैं, अथवा उस प्रकार के चमत्कार के कारण को भी, अवतरणिकापूर्वक गोपियाँ कहती हैं 'यन्नो विहायेत्यादि' । गुण, रूप, एवं लोकोत्तर तेज के द्वारा सहसा सभी के हृदय को प्राप्त करते हुए, अर्थात् वश में करते हुए ये श्रीगोविन्द निश्चय स्वयं ही जिस प्रियतमा को ले गये, (न तु न इव न निनाय) किन्तु हमारा जैसे परित्याग कर दिया, उस प्रकार उसका परित्याग नहीं किया । उसके ले जाने की परिपाटी भी अपने वक्षःस्थल पर धारणकर प्रीति की रीति की परिपूर्णतापूर्वक प्रदर्शित कर दी, किन्तु प्रीति की विपरीततापूर्वक नहीं । प्रीति भी काममहोत्सव की बाहरी यात्रा से एकान्त में सम्मिलित होकर प्रगट कर दिखाई, किन्तु सर्वसामान्यतामयी मान्यता से नहीं (अपितु विशेषता प्रदर्शनपूर्वक) । एकान्त में मिलन भी सुखसम्पत्ति के दान से बढ़े हुए गुण के द्वारा बहुलता (अधिकता)पूर्वक ही हुआ, किन्तु उस प्रकार के सुखदान के सम्मेलन से रहिततापूर्वक नहीं । और वह उस प्रकार से ले जाना भी सब गुणों को विस्मित कर देने वाली जो हम हैं, ऐसी हम सबके त्याग के जागरणशील समय से ही हुआ. किन्तु हमारे त्यागने के समय का परिवतन कर कालान्तर से नहीं । इसलिए जाते जाते ही प्रियतमा को स्वयं ले गये ॥७२॥

"तदेवमेव मन्यामहे,—'या खलु धन्या राधाभिधा विधात्रा निःसाधारणनामगुणरूपतया निर्मिता, सैव दैवकृतानुकूल्या भवितुमर्हति। तत्र यद्यपि तादृश-भगवदाराधन-साधनतया तन्नामनिर्वचनं सचितरचनं भवेदथापि फलसम्बन्धनिर्बन्ध एव श्रेयानिति राधयति गोविन्दम्, गोविन्देन वा राध्यते इति निरुक्तिरेव युक्तिमतीति मतिगम्यम्' इति ॥७३॥

"अथ पुनस्तस्यामुदासीनाः प्रोचुः,—

'अयि कलयत एते रेणवोऽप्यत्र धन्या, यदजितपदपद्मस्पर्शभाजः स्फुरन्ति।
ध्रुवमघमपहर्तुं ब्रह्मभर्गाब्धिकन्या, दधति शिरसि यांस्तद्दर्शभाग्यं स्तवाम ॥'७४॥

"अथ काचित्तस्यां प्रतिस्पर्धिनी वर्धमानमत्सराग्निर्धूमशिखायमानं वचनमुज्जगार,—

'भवति सुखदमस्मिन् श्रीहरेरंघ्रिचिह्नं, यदि न सजति तस्या हन्त दुर्नीतिमत्याः।
कलयत बत धाष्टर्यं सुष्ठु भावत्कभोग्यं, तदधरमधुजुष्टं कुर्वती सा निलिल्ये ॥'७५॥

श्रीकृष्ण जिस प्रेयसी को गोदी में उठाकर अन्तर्धान हुए थे उसका नाम क्या था, इस अपेक्षा में राधा की सुहृदसखियाँ बोलीं कि—अतएव हम तो इस प्रकार मानती हैं कि—जो 'राधा' नामवाली सौभाग्यवती रमणी विधाता ने असाधारण नाम, गुण, रूप देकर निर्मित की है; बस, निश्चितरूप से वह ही दैवकृत अनुकूलता से युक्त होने के योग्य है। और उस राधा में यद्यपि उस प्रकार के लोकोत्तर भगवदाराधनरूप साधन होने के कारण उनके यथार्थ 'राधा' इस नाम के निर्वाचन की विधि सङ्गत हो सकती है, तथापि 'राध साध-संसिद्धौ' धातु का अर्थ—प्रयोजन सिद्धि या आराधना करना होने पर भी, 'फल के सम्बन्ध में आग्रह' यह अर्थ ही श्रेयस्कर है, इसलिए (राधयति गोविन्दम्) वह रमणी गोविन्द की आराधना करती है, अथवा (गोविन्देन राध्यते) गोविन्द ही जिसका आराधन करते हैं, अतः उसका नाम 'राधा' है। यह दोनों प्रकार की व्युत्पत्ती ही युक्तियुक्त है, अतः बुद्धि से जानने योग्य है। यहाँ तक 'अनयाराधितो' की व्याख्या हुई ॥७३॥

उसके बाद राधिका में उदासीन भाववाली नायिकाएँ पुनः बोलीं—अरी सखियो! देखो तो सही। यहाँ की तो ये रेणु भी धन्य हैं, क्योंकि ये श्रीकृष्ण के पादपद्मों के स्पर्श को पाकर विराजमान हो रही हैं। श्रीकृष्ण के अदर्शनरूप अघ, अर्थात् दुःख को दूर करने के लिए, जिन रेणुओं को 'ब्रह्मा, शिव, एवं लक्ष्मीदेवी' ये सब निश्चितरूप से अपने अपने मस्तक पर धारण करते हैं। अतः इन रेणुओं ने जिस अपूर्व-भाग्य से श्रीकृष्णदर्शन पाये, हम तो इन रेणुओं के उसी भाग्य की भूरि भूरि प्रशंसा करती हैं ॥७४॥

तदनन्तर राधा के ऊपर स्पर्धा करनेवाली कोई गोपी 'जिसके कि मन में बढ़ती हुई मात्सर्यरूप अग्नि धधक रही थी' अपने मुख से धूमशिखा के समान वचन उगलने लग गई, यथा—हाय! बड़े खेद की बात है कि—उस दुर्नीतियुक्त रमणी का चरणचिह्न यदि इस से संसक्त (सटा हुआ) न होता, तब तो इस स्थान पर विद्यमान यह श्रीकृष्ण का चरणचिह्न मुझको सुखप्रद होता। हाय! तुम उस रमणी की धृष्टता को तो अच्छी प्रकार देखो। वह तो तुम्हारे भोगने योग्य श्रीकृष्ण के अधररूप मधु का सेवन करती हुई छिप गई है ॥७५॥

"अथ तस्याः सख्यः पुनरूचुः,—

'कथमहह पदानि तानि तस्याः, सुभगतराङ्कपदानि न स्फुरन्ति ।
अपि हृदि दधदेव तां निनिन्ये, सखि ! दयितां दयितः सुजातगात्रीम् ॥'७६॥

"अथ पुनः प्रतिस्पर्धिनीनां वचनम्,—

'पश्योत्सङ्गकृताङ्गनावलयिनः कामातुरस्यासकृत्
तद् वस्त्रादिक-संवृतिप्रथनया व्यग्रस्य लक्ष्माण्यतः ।
निम्नव्यस्तपदानि माल्यघुसृणास्तीर्णानि घर्माम्भसा
भूयः सिक्ततमानि वेल्लितलताक्षेपात्तवर्त्मानि च ॥'७७॥

"अथ सखीनां वचनम्,—

'न्यग्जानुद्वयलक्षणस्य पुरतः सूक्ष्मं पदाङ्क-द्वयं
वैमुख्येन धृतं व्यनक्ति सुदृशस्तस्यास्तदूर्वोः स्थितिम् ।' इति;

"अथ स्पर्धिनीनाम्,—

'तस्मिन् गर्भकमाल्यखण्डपतनादुद्दण्डमालक्ष्यते
कामिन्याः किल कामुकेन रचिता केशस्य वेशक्रिया ॥'७८॥

इस बात को सुनकर अन्तःकरण में कुपित होकर राधा की सखियाँ पुनः बोलीं—अहह ! अत्यन्त सुन्दर ध्वज, कमल आदि चिह्नों के स्थानस्वरूप उस राधिका के पदचिह्न कैसे स्फूर्ति नहीं पा रहे हैं ? अपितु पा रहे हैं । हे सखि ! देख, प्रियतम श्रीकृष्ण उस कोमलाङ्गी प्रियतमा को अपने हृदय पर धारण करते हुए ही ले गये हैं ॥७६॥

तदनन्तर पुनः राधा से प्रतिस्पर्धा (डाह) करनेवाली का वचन, यथा—हे सखि ! अपनी गोद में ली हुई रमणी से युक्त, कामातुर, एवं बारम्बार उस रमणी के वस्त्र आदि गोपन या ढाँकने के कारण व्यग्र हुए श्रीकृष्ण के पदचिह्नों को तो नेक देख । जो पदचिह्न भार के कारण नीचे की ओर अस्तव्यस्त भाव से विक्षिप्त हो रहे हैं, माला में स्थित कुंकुम के द्वारा व्याप्त और पसीना के जल से बारम्बार अत्यन्त सिक्त हो रहे हैं, अर्थात् भीज रहे हैं, एवं किञ्चित् चलती हुई टेढ़ी लता के निक्षेप पर्यन्त मार्ग का ग्रहण करनेवाले हैं ॥७७॥

अनन्तर राधा की सखियों का वचन, यथा—अरी देखो ! नवे हुए दोनों घुटनों के चिह्न के आगे ही विमुखतापूर्वक धरे हुए उस सुलोचना राधा के सूक्ष्म सूक्ष्म दोनों चरणचिह्न, उसके श्रीकृष्ण की जङ्घाओं पर बैठने को स्पष्ट कह रहे हैं ॥इति;

पश्चात् राधा से डाह करनेवालियों का वचन, यथा—उस समय उस रमणी के केशपाश में स्थित माला के खण्ड खण्ड होकर गिर जाने के कारण, परम प्रेमी श्रीकृष्ण ने कामुक की तरह उस कामुकी के केशपाश की वेशक्रिया (वेणीगुन्थनलीला) विशेषरूप से की है, ऐसा दिखाई देता है, यह बात निश्चित है ॥७८॥

"किञ्च, अत्राप्रगुणताबद्धा मिथ, पद्धतिपद्धतिः ।
राधामाधवयोः क्रीडां निर्व्रीडां वेदयत्यसौ ॥७९॥

"अथ ताः सनिजवृन्दया वृन्दया परिष्कृतस्य लतामन्दिरवृन्दस्य द्वारं तयोः प्रवेशद्वारं विविक्षन्ति स्म ॥८०॥

"तत्र तया समधुतया मधुरं पुष्पवृन्दं तथा प्रवेशदेशे निवेशितम्, यथा तल्लोलुभशुभंयु-मधुकरनिकरा एव दौवारिका इव निवारका जाताः ॥८१॥

"ते हि प्रवेशारम्भत एव धृतसंरम्भाः प्रविशतामभिमुखं धावन्तः स्वक-शिलीमुखता-मर्थान्तरेणापि प्रथयन्ति स्म ॥८२॥

"अथ कथञ्चन श्लथतां चिरतः प्रथयमानेषु तेषु क्रमशः सर्वास्तर्वादिपल्लववेल्लनपूर्वकमा-विद्धपद्धतितया प्रविश्य परमपूर्वं तद्धाम निशामयामासुः ॥८३॥ यथा—

"पिकप्रथितपञ्चमं भ्रमरपूर्णमन्द्रस्वरं, मरुच्चलितपल्लवप्रकटवाद्यमुद्यत्प्रभम् ।
भुजङ्गरिपुनर्तन-ज्ञपितचञ्चलावारिभृ,-द्विभावलित-तद्द्वयातुलसभासदङ्गीकृतम् ॥८४॥

किञ्च यहाँ पर घबड़ाकर टेढ़ी मेढ़ी चाल से सम्बद्ध (संयुक्त) एवं राधामाधव के परस्पर चरणों की ताड़ना से युक्त यह मार्ग उन दोनों की निःसंकोच क्रीडा को जना रहा है ॥७९॥

तदनन्तर वे सभी गोपियाँ आत्मीयजनवृन्द से युक्त वृन्दादेवी के द्वारा संशोधित लतागृह समूह के द्वार को 'राधामाधव' का प्रवेश द्वार जानकर, वहीं पर प्रवेश करने की इच्छा करने लगीं ॥८०॥

किन्तु उस तलागृह वर्ग के प्रवेश द्वार पर वृन्दादेवी ने मधुमिश्रित मधुर पुष्पवृन्द को उस प्रकार से स्थापित किया था कि, जिस प्रकार उस पुष्पमधु के लोलुप एवं शुभयुक्त मधुकरनिकर ही द्वारपालों की तरह प्रवेश करनेवालों के निवारक हो गये थे ॥८१॥

वे सब मधुकर प्रवेश के आरम्भ से ही क्रोध को धारण कर प्रवेश करनेवालों के सम्मुख दौड़ते हुए अपनी शिलीमुखता को, अर्थात् 'भ्रमर' नाम के भावको, दूसरे अर्थ के द्वारा अर्थात् बाणरूप दूसरे अर्थ के द्वारा प्रकाशित करने लग गये। 'अलिबाणौ शिलीमुखौ इत्यमरः' ॥८२॥

उसके बाद वृन्दा की प्रेरणा से कुछ देर बाद किसी प्रकार जब वे भ्रमरगण शिथिलता का विस्तार करने लगे, अर्थात् कुछ मार्ग देने लगे, तब सभी सखियाँ तरु लता आदि कों के पत्र कम्पनपूर्वक, कुटिल मार्ग को पकड़ कर, लतागृह में प्रविष्ट होकर, वहाँ पर परम अपूर्व उस स्थान को देखने लग गईं ॥८३॥

यथा—उस लतागृह में कोकिलकुल पञ्चमस्वर का विस्तार कर रहा था, भ्रमरगण परिपूर्ण गम्भीर स्वर कर रहे थे, वायु के द्वारा कम्पित पल्लवों से वाद्यध्वनि प्रगट हो रही थी, अतः विचित्र शोभा प्रगट हो रही थी, और मयूरगणों के नृत्य से सूचित बिजली से युक्त मेघ की सी प्रभा से संयुक्त, श्रीराधा-कृष्ण-रूप युगलजोड़ी की श्रीरूपमञ्जरी आदि सेविकारूप अतुलनीय सभासदों के द्वारा, वह लतागृह अङ्गीकृत था। और उस लतागृह के सभी स्थल विचित्रपुष्पों से व्याप्त थे, बड़ी बड़ी विशाल अनेक शय्याओं से वह

विचित्रकुसुमैश्चितस्थलमनल्पतल्पाकुलं, बहुव्यजनचामरं सुरभिवीटिकासम्पुटम् ।
सचन्द्रवरचन्दनागुरुगुरूरुपात्रान्वितं, लतागृहरहःपुरं ध्वनयति स्म ताः प्रत्यदः ॥८५॥
युग्मकम् ॥

"किञ्च,

"अयं कुसुमसञ्चयश्चरणपातजातश्लथ,-स्तदेतदपि तल्पकं विघटिताङ्गभङ्गीस्थिति ।
इदं व्यजनचामरं गलितयन्त्रजान्दोलनं, तथा सुरभिवीटिकाद्यपि विभुक्तमुक्तीकृतम् ॥८६
ततः किमिव पृच्छथ स्ववदवेत मामुज्झितं, परं द्रुतमितः परं व्रजत तत्र तं प्राप्नुत ।
अमी पिकमुखा मम स्फुटमुपेयुरुत्पितसुतां, स्वयं भवति दुःखिते भवति कस्य वाङ्गीकृतिः ?८७
युग्मकम् ॥

"किञ्च,

इदं मृगमदावृतं घुसृणबिन्दुमन्दोक्षितं, क्षितं शयनकं ततः सपरिवृत्तिलक्ष्माप्यदः ।
परस्पर-विपर्यय-प्रथितिशालि यद्बान्धवं, कुलं कथममुष्य न स्फुरतु पारिभावी दशा ?८८

"अथ तयोर्वृत्तमनुवृत्यताम् ॥८९॥

स्वयं घिरा हुआ था, वहाँ पर बहुत से व्यजन (विजना) एवं चामर थे, सुगन्धमय पान की बीड़ियों से भरे हुए सुन्दर सुन्दर पानदान भी धरे थे, और वह लतागृह कर्पूर के सहित जो श्रेष्ठ अगुरु चन्दन, उस अगुरु चन्दन के बड़े बड़े विशालपात्रों से युक्त था। इस प्रकार की विविध सामग्री परिपूर्ण यह लतागृहरूप अन्तःपुर उन सब गोपियों के प्रति पूर्वोक्त सामग्री के कारण, साक्षात् अन्तःपुर का बोध कराने लग गया। दो श्लोकों में अन्वय के कारण यह युग्मक है ॥८४-८५॥

और देखो! यह पुष्पों का समूह भी दोनों के चरणपात से शिथिल हो गया है, यह शय्या भी दोनों के अङ्गों के द्वारा अस्तव्यस्त स्थितिवाली मालूम पड़ती है, यहाँ पर ये व्यजन एवं चामर भी यन्त्र के द्वारा स्वयं चलने के साधन से रहित हुए पड़े हैं, तथा सुगन्धमय पान की बीड़ी आदि भी पहले भोगकर पीछे छोड़ दी हैं। इसलिए यह लतागृह अपनी दशा से हमें यह भी स्पष्ट कह रहा है कि—यहाँ पर श्रीकृष्ण नहीं हैं, अतः मुझ से किस प्रकार पूछ रही हो? अपने समान मुझको भी त्यागा हुआ ही जानो। अतः यहाँ से शीघ्र ही दूसरे स्थान पर चली जाओ। वहीं पर श्रीकृष्ण को प्राप्त कर लो। और देखो! ये सब कोकिल आदि भी मेरी तरह स्पष्ट उड़जाने की इच्छा कर रहे हैं। उसका दृष्टान्त, यथा—स्वयं दुःखित होने पर कौन व्यक्ति किसे को अङ्गीकार कर पाता है? अपितु नहीं। अतः वहीं पर जाना मेरा भी अभीष्ट है। यह भी युग्मक है ॥८६-८७॥

किंच कस्तूरी से व्याप्त एवं कुंकुम बिन्दुओं से कुछ सिंचित (छिड़की हुई) यह शय्या भी क्षीण हुई पड़ी है, इसलिए उन दोनों प्रिया-प्रीतम के करवट बदलने के चिह्नों से भी यह युक्त है। और उन दोनों का यह जो अन्तरङ्ग बान्धववर्ग है, वह भी परस्पर की विपरीत दशा के विस्तार से शोभायमान है। अतः इस बन्धुवर्ग की अनादर सम्बन्धिनी दशा क्यों प्रकाशित न होगी? अपितु अपने इष्ट के विरह में यह दशा अवश्य प्रकाशित होगी ॥८८॥

अब राधा-कृष्ण के वृत्तान्त का अनुसरण करो ॥८९॥

"यदा तु निकुञ्जपुरद्वारि प्रवेशकृतावेशानां तासां कोलाहल-विकलतावकलिता, तदा सम्भ्रमवलितेन राधाललितेन तेन ततः प्रचलनकलनाय तस्याः स्वस्य च चेलसम्भालनादिकमारब्धम्, न तु लब्धम् ॥६०॥

"किन्तु—उत्कर्णतासमवकर्णनवस्त्रवेषा,-धानानि या विवशता निजगार तां च ।
तूर्णिर्यदा निगिरति स्म तदा मुरारि,-र्लब्धक्षणः प्रणयिनीवलितं निलिल्ये ॥६१॥

"अथाग्रिमकथाप्रथनाय परामृश्यते । न चैवमपि तासां तस्य च कामुकतासामान्यं मन्यताम् । तन्निकामकतानिवारणस्य करणस्य कारणं स्वरूपं तावन्निरूप्यते ॥६२॥

"प्रेतप्रायशरीराः, सर्वे ते कामुकाः कलिताः ।
कृष्णः सान्द्रानन्द,-स्तस्य च राधामुखाः शोभाः ॥६३॥

"यथोक्तम् (भा० १०।६०।४५)—
'त्वक्श्मश्रुरोमनखकेशपिनद्धमन्त,-र्मांसास्थिरक्तकृमिविट्कफपित्तवातम् ।
जीवच्छवं भजति कान्तमतिर्विमूढा, या ते पदाब्जमकरन्दमजिघ्रती स्त्री ॥'६४॥

जिस समय निकुञ्ज के पुरद्वार पर प्रवेश के लिए आवेश करनेवाली उन गोपियों की कोलाहलमयी विकलता जान ली, उसी समय सम्भ्रम (जल्दबाजी) से युक्त उन राधारमण ने उस निकुञ्जगृह से चलना अङ्गीकार करने के लिए, राधिका के एवं अपने वस्त्रों के सँभालने आदि का कार्य आरम्भ तो किया, किन्तु वेग से चलने की उतावली में उसको पूरा न कर पाये ॥६०॥

किन्तु निकुञ्ज से निकल चलने की जिस विवशता ने ऊँचे कान करके उन सखियों के वचन सुनना, एवं वस्त्र वेषभूषा आदि के धारण को निगल लिया, अर्थात् स्थगित कर दिया, और चलने की शीघ्रता ने जब उस विवशता को भी निगल लिया (समाप्त कर दिया), तब अवसर पाकर श्रीकृष्ण, प्रेयसी राधिका के सहित छिप गये ॥६१॥

अब अग्रिम कथा के विस्तार के लिए कुछ मार्मिक सिद्धान्त का विचार किया जाता है, यथा—इस पूर्वोक्त प्रकार के वर्णन से उन प्रेममयी गोपियों की एवं श्रीकृष्ण की कामुकता की सी सामान्यता नहीं मानना, क्योंकि उनकी साधारण कामुकता के निवारण के असाधारण कारण एवं स्वरूप का सुन्दर निरूपण करते हैं—॥६२॥

देखो, संसार में जितने भी कामुक जीव हैं, वे सब प्रायः मृतकतुल्य शरीरवाले कहे जाते हैं (मलमूत्रादिधारी होने के कारण मनुष्यशरीर, एवं नश्वर होने से देवशरीर, ये दोनों ही मृतप्राय कहे जाते हैं) । किन्तु श्रीकृष्ण तो सच्चिदानन्दघन मूर्तिवाले हैं, और राधा आदि जो गोपियाँ हैं वे सब श्रीकृष्ण की शोभा, अर्थात् प्रभा या कलास्वरूप हैं, अर्थात् कला कलावान् में एवं प्रभा प्रभावान् (सूर्य चन्द्र आदि) में जैसे भेद नहीं होता, उसी प्रकार श्रीकृष्ण एवं गोपियों में परस्पर भेद नहीं है । अतः सामान्य कामुकता खण्डित हुई ॥६३॥

इस सम्बन्ध में श्रीरुक्मिणीजी की उक्ति है कि—हे सच्चिदानन्दघन ! प्राणनाथ ! जो स्त्री आपके पदारविन्द द्वन्द्व के मकरन्द को नहीं सूँघ पाती है, वह स्त्री केवल निजपति में मतिवाली अथवा सुन्दरमतिवाली होकर भी, अत्यन्त विमूढ कहने योग्य है । क्योंकि वह स्त्री तो बाहर से त्वचा, दाढ़ी, मूछ, रोम, नख, केश आदि से ढके हुए, और भीतर मांस, हड्डी, रक्त, कृमि (कीड़े), विष्ठा, कफ, पित्त, वात इत्यादि घृणित पदार्थों से भरे हुए, जीते हुए भी मृतकतुल्य पति का सेवन करती है ॥६४॥

'कृषिर्भू-वाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः । तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥'९५॥

'नराकृति परं ब्रह्म', (भा० १०।१४।२२) 'त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते' इति (भा० १०।३२।१०)—'ताभिर्विधूतशोकाभिर्भगवानच्युतो वृतः । व्यरोचताधिकं तात ! पुरुषः शक्तिभिर्यथा ॥' इति च । भावश्च न कामतां भावयते, किन्तु तन्निभप्रेमविशेषतामेव ॥९६॥ यतः,

उत्कण्ठा प्राप्तियोगः प्रतिपदमिलनाश्लेषचुम्बादिकेलिः
श्रीगोपीकृष्णयोरप्यवरतरुणयोरप्यमी तुल्यरूपाः ।
किन्तु प्राचोर्मिथः स्युर्निरुपधिहितता-मात्रशर्मप्रधाना-
स्तेऽर्वाचोरात्मतृप्तिप्रबलनपरतामात्रक्लृप्ताः प्रथन्ते ॥९७॥

''यथैव स्वयमेव तास्तत्प्रेमदेवता वदिष्यन्ति, (भा० १०।३१।१९)—
'यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु, भीताः शनैः प्रिय ! दधीमहि कर्कशेषु' इत्यादिना ॥९८॥

श्रीकृष्ण सच्चिदानन्दस्वरूप हैं, इसमें उपनिषद् एवं भागवत के प्रमाण, यथा—'कृष्' शब्द भूवाचक है, 'ण' कार आनन्दवाचक है, उन दोनों की एकतारूप जो परंब्रह्म है वही कृष्ण कहा जाता है (इसकी विशेष व्याख्या इस ग्रन्थ के प्रथम श्लोक की व्याख्या में है)। यहाँ पर परंब्रह्म शब्द से भी नराकृति परंब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण का ही ग्रहण है । ब्रह्माजी की उक्ति, यथा—'हे भगवन् आप अनन्त हैं, एवं आपका श्रीविग्रह नित्यसुखबोधस्वरूप है' इत्यादि । श्रीकृष्ण एवं गोपियों के अभेद में श्रीशुकदेव का वाक्य प्रमाण, यथा—'हे प्रिय परीक्षित् ! यों तो भगवान् श्रीकृष्ण अच्युत और एकरस हैं, उनका सौन्दर्य माधुर्य निरतिशय है, फिर भी विरहव्यथा से मुक्त हुईं गोपियों से घिरे हुए उनकी शोभा और भी अधिक हो गई थी । ठीक वैसे ही, जैसे परमपुरुष परमेश्वर अपने नित्य ज्ञान, बल, आदि शक्तियों से सेवित होने पर और भी अधिक शोभा पाता है, इति । और भगवत् सम्बन्धी जो भाव है वह रति की अभिलाषा को उत्पन्न नहीं करता, किन्तु तत्तुल्य (रति के व्यापार के समान) प्रेम की विशेषता को ही उत्पन्न करता है ॥९५-९६॥

क्योंकि प्राकृत युवक-युवती की जिस प्रकार प्रथम दर्शन की उत्कण्ठा, मिलन का उपाय, एवं मिलने पर प्रतिक्षण मिलना, आलिङ्गन करना, और चुम्बन आदि क्रीडा होती है, उसी प्रकार गोपी एवं कृष्ण का भी दर्शनेच्छा आदि व्यापार समान रूपवाला ही प्रतीत होता है, किन्तु अप्राकृत गोपीगण एवं सच्चिदानन्द-रूप श्रीकृष्ण इन दोनों प्राचीनतम युगल जोड़ी की 'चुम्बन' आदि लीलाएँ तो केवल निष्कपट हित से भरी एवं परस्पर सुख की प्रधानतामयी होती हैं । और आधुनिक प्राकृत युवक-युवती के वे उत्कण्ठा आदि सभी भाव तो, केवल आत्मतृप्ति की प्रबल तत्परता द्वारा रचित होकर विस्तारित होते हैं ॥९७॥

गोपी-कृष्ण की जिस प्रकार निष्कपट प्रेममयी लीलाएँ हुईं, उस प्रकार को आगे इसी प्रसङ्ग के गोपीगीत में, प्रेम द्वारा क्रीडा करनेवाले देव (श्रीकृष्ण) की भावस्वरूपा वे गोपियाँ स्वयं कहेंगी कि—हे प्रिय श्यामसुन्दर ! आपके जिस परम कोमल चरणारविन्द को हम भयभीत होकर अपने कठोर स्तनों पर धीरे धीरे धारण करती थीं, आप उस कोमल चरणारविन्द से ही छिप छिप कर विचरण कर रहे हो । क्या कंकड़ पत्थर आदि लगने से उसमें पीड़ा नहीं होती ? हमें तो इसकी सम्भावना मात्र से ही चक्कर आरहा है, अर्थात् हम अचेत होती जारही हैं; क्योंकि हमारे जीवनस्वरूप तो आप ही हैं, अथवा हमारा जीवन आपके लिए ही है, इत्यादि ॥९८॥

"तस्माल्लक्षणविशेषात्तत्प्रेमविशेष एवासौ कामावशायत इति कामतयोपचर्यते, न तु वस्तुतस्तुत्तया स्मर्यते । अतस्तत्केलिश्रुतिफलश्रुतिरपि तथा विश्रुतिः, (भा० १०।३३।४०)—

'विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः, श्रद्धान्वितोऽनुश्रृणुयादथ वर्णयेद् यः ।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं, हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥' इति ॥६६॥

"तासामेष च भावविशेषतः खलु सर्वेषामपि महतां महत्तराणां महत्तमानामप्यन्वेषण-पदवीमनवच्छिन्नतया नवीकरोति ॥१००॥

"यथा च प्रथयिष्यते श्रीमदुद्धवेन, (भा० १०।४७।५८)—

'एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो, गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः ।
वांछन्ति यद्भवभियो मुनयो वयं च, किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य ॥' इति ॥१०१॥

इसलिए भावरूप लक्षण की विशेषता के कारण, गोपियों का यह प्रेमविशेष ही कामना की सी इच्छा करने से, उपचारमात्र के लिए काम कहा जा सकता है, किन्तु वस्तुतः गोपियों के भाव को कोई भी शास्त्र या महापुरुष कामरूप से स्मरण नहीं करता, क्योंकि 'प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत्प्रथाम्' पद्मपुराण की इस उक्ति के अनुसार, गोपियों का प्रेम ही 'काम' नाम से प्रसिद्ध हो गया है । वस्तुतः वह प्राकृत काम नहीं है, तो भी अज्ञानियों की दृष्टि में वह काम जैसा प्रतीत होता है । अतः गोपियों के विशुद्ध प्रेममयी रासलीला के श्रवण की फलश्रुति भी उसी प्रकार से विख्यात है । यथा—हे परीक्षित् ! जो धीर (स्थिरचित्त) पुरुष व्रजयुवतियों के साथ श्रीकृष्ण के इस चिन्मय रासविलास का, गुरु एवं शास्त्रों के वचनों में विश्वासमयी श्रद्धा के साथ, बारबार श्रवण और वर्णन करता है; वह भगवान् के चरणों में प्रेमलक्षणा पराभक्ति को पाकर, बहुत शीघ्र ही अपने हृदय के रोग कामादि विकार को परित्याग कर देता है, अर्थात् कामादि दोषरहित हो जाता है ॥६६॥

और उन सब गोपियों का यह भावविशेष, निश्चय ही महद् व्यक्ति (भवभीत व्यक्ति), महत्तर व्यक्ति (मुनिगण), महत्तम व्यक्ति (श्रीउद्धव) आदिकों के भी अन्वेषण के मार्ग को, अर्थात् "यह गोपियों का सा अद्भुत विशुद्धभाव हम को कैसे और कहाँ मिले ?" इस प्रकार के अनुसन्धान के मार्ग को निरन्तर नवीन करता रहता है ॥१००॥

श्रीमान् उद्धवजी इस बात को विस्तारपूर्वक कहेंगे, यथा—इस भूतल पर केवल इन गोपियों का ही शरीर धारण करना श्रेष्ठ एवं सफल है; क्योंकि ये सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्ण के परम प्रेममय दिव्य महाभाव में स्थित हो गई हैं । प्रेम के जिस उच्च कोटि के भाव को संसार के भय से भीत मुमुक्षुजन, बड़े बड़े मुक्त मुनिजन, और हम भक्तजन भी चाहते रहते हैं, किन्तु हमें अभी तक वह भाव प्राप्त न हो सका । यह बात सत्य है कि, जिसको भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाकथा के रसका चसका लग गया है, उसको कुलीनता की, द्विजाति समुचित संस्कार की, और बड़े बड़े यज्ञ यागों में दीक्षित होने की क्या आवश्यकता है ? अर्थात् पूर्वोक्त तीन प्रकार के ब्रह्मजन्मों की कोई अपेक्षा नहीं । अथवा यदि भगवान् की कथा का रस नहीं मिला, उसमें रुचि नहीं हुई तो 'अनेक महाकल्पों तक बार बार ब्रह्मा होने से ही क्या लाभ ? ॥१०१॥

"अतएव तादृशतत्प्रेमतृष्णः श्रीकृष्णश्च तेन स्वस्य वशतामुरीकरिष्यति, (भा० १०।३२।२२)—
'न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां, स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः' इत्यादिना ॥१०२॥

"तदेवं सति तासु सर्व एवान्येऽपि गुणाः स्वत एवानुगुणा भवन्ति; (भा० ५।१८।१२)—
'यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना, सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः' इतिवत् ॥१०३॥

"ततश्चैवं वर्ण्यते,—
'यदमितरस-शास्त्रे व्याञ्जि वैदग्ध्यवृन्दं, तदणुमपि न वेत्तुं कल्पते कामिलोकः ।
तदखिलमपि यस्य प्रेमसिन्धौ न किञ्चि,-न्मिथुनमजितगोपीरूपमेतद् विभाति ॥'१०४॥

"तदेवं सति च सर्वासु तासु श्रीराधा पुनरसाधारणतां धारयति; यथोक्तम् (भा० १०।३०।२८)—'अनयाराधितो नूनम्' इत्यादिना ॥१०५॥

"तदेवमाकलिते निर्गलिते फलितमवकलितं क्रियते,—

अतएव उस प्रकार के अनिर्वचनीय गोपियों के प्रेम में तृष्णावाले श्रीकृष्ण भी, उसी प्रेन के द्वारा अपनी अधीनता तक स्वीकार करेंगे। यथा—हे प्रिय गोपियो! मुझसे तुम्हारा यह मिलन, यह आत्मिक संयोग सर्वथा निर्मल और निर्दोष है। यदि मैं अमर शरीर से, अमर जीवन से, अनन्त काल तक तुम्हारे प्रेम, सेवा और अपूर्व त्याग का बदला चुकाना चाहूँ तो भी, नहीं चुका सकता। मैं जन्म जन्म के लिए तुम्हारा ऋणी हूँ। तुम अपने सौम्य स्वभाव से, प्रेम से, मुझे उऋण कर सकती हो। परन्तु मैं तो तुम्हारा ऋणी ही हूँ ॥१०२॥

अतः इस प्रकार की स्थिति में, अर्थात् प्रेम की पराकाष्ठामयी स्थिति जिनको अनायास लब्ध होगई, उन गोपियों के प्रति अन्य सभी भगवत्सम्बन्धी गुण भी स्वतः ही अनुकूल हो गये थे। अर्थात् उनमें सभी श्रेष्ठ गुण स्वतः निवास करते थे। जैसे श्रीप्रह्लादजी ने भी कहा है– जिस व्यक्ति की भगवान् में भगवत्सेवा-मात्र निष्ठामयी निष्काम भक्ति है, उसके हृदय में सब देवता सभी दिव्य गुणों के सहित निवास करते हैं ॥१०३॥

इस प्रकार वे गोपियाँ सभी सद्गुणों की आश्रयस्वरूप हैं, इसीलिए भक्तितत्त्वज्ञ विज्ञजन इस प्रकार वर्णन करते हैं, यथा—देखो! रसव्यञ्जक अमित रसशास्त्र में जो भी चातुर्यसमूह व्यक्त किया है, कामी लोग उसके अणुमात्र भाग को भी समझने को समर्थ नहीं हैं। वह सम्पूर्ण चातुर्यसमूह भी जिसके प्रेमरूपी समुद्र में किंचिद् भी प्रतीत नहीं होता, वह यह कृष्ण-गोपीरूप युगल जोड़ी शोभा पा रही है ॥१०४॥

अतएव ऐसी स्थिति में उन सभी अनन्त गोपियों में श्रीराधा तो सबकी अपेक्षा महती विशेषता को धारण करती हैं। यथा—कहा भी जा चुका है कि—'अनयाराधितो नूनम्' इत्यादिरूप से (श्रीमती राधिका के पचीस विशिष्ट गुण 'श्रीउज्ज्वलनीलमणि' के श्रीराधा-प्रकरण (११-१५) में वर्णित हैं। उनका नाम निर्देश, यथा— १–मधुरा, २–नववयाः, ३–चलापाङ्गा, ४–उज्ज्वलस्मिता, ५–चारुसौभाग्यरेखाढ्या, ६–गन्धोन्मादित-माधवा, ७–सङ्गीत-प्रसराभिज्ञा, ८–रम्यवाक्, ९–नर्मपण्डिता, १०–विनीता, ११–करुणा-पूर्णा, १२–विदग्धा, १३–पाटवान्विता, १४–लज्जाशीला, १५–सुमर्यादा, १६–धैर्यशालिनी, १७–गाम्भीर्य-शालिनी, १८–सुविलासा, १९–महाभावपरमोत्कर्ष-तर्षिणी, २०–गोकुलप्रेमवसतिः, २१–जगत्श्रेणीलसद्यशाः, २२–गुर्वर्पित-गुरु-स्नेहा, २३–सखीप्रणयाधीना, २४–कृष्णप्रियावलीमुख्या, २५–सन्तताश्रव-केशवा) ॥१०५॥

अतः इस प्रकार बहती हुई रसधारा के समान कथन के पश्चात् तात्पर्यार्थ प्रकाशित किया जाता है–

'एवं राधाप्रेमधामा ययाऽसा,-वात्मारामोऽप्याप्तकामोऽप्यदभ्रम् ।
रेमे यस्मात् कामिनां कामिनीनां, न्यक्कारोऽभूदात्मनैवेति मन्ये ॥'१०६॥

"आत्मारामता ह्यत्र परमानन्दरूपतया, आत्मकामता च परमलक्ष्मीलक्षणगोपीलक्ष-वल्लभताविलक्षणतया ॥१०७॥

"अदभ्रता च ताः परित्यज्यापि तस्यामखण्डिततताया व्यज्यमानतयेति प्रसज्यते ॥१०८

"तत्र च सति,—

अन्योऽन्यानुगतिं यदप्यनुसृतौ प्रेम्णः प्रवाहौ तयो
राधामाधवयोस्तदप्यनुपदं कौटिल्यमासीदतः ।
यो गाम्भीर्यमपां जवं च दधते पूरः स हि प्रेक्ष्यते
सावर्तप्रचयस्ततः परतरः सारल्यकैवल्यवान् ॥१०९॥

"यथोक्तम् (उ० नी० १५।१०२),—

'अहेरिव गतिः प्रेम्णः स्वभाव-कुटिला भवेत् ।
अतो हेतोरहेतोश्च यूनोर्मान उदञ्चति ॥' इति ॥११०॥

"तदेवं स्थिते तन्मयविलासविशेषो वर्ण्यते—

पूर्वोक्त कथनानुसार श्रीराधिका प्रेम की स्थानस्वरूप हैं, क्योंकि जिस राधिका के साथ आत्माराम, आप्तकाम, परंब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण भी चिरकाल तक विशेष क्रीडा करते रहे। जिस क्रीडा के द्वारा प्राकृत कामी एवं कामिनीगण को अपने आपही धिक्कार या घृणा हो गई, ऐसा मैं मानता हूँ ॥१०६॥

यहाँ पर श्रीकृष्ण की आत्मारामता तो परमानन्दस्वरूप होने के कारण है, और आप्तकामता भी परमलक्ष्मी के लक्षणों से लक्षित लाखों गोपियों की वल्लभता (प्रियतमता) की विलक्षणता के कारण है ॥१०७॥

और अदभ्रता अर्थात् रमण (क्रीडा) की अधिकता भी, उन सब गोपियों को त्यागकर भी, श्रीराधिका में श्रीकृष्ण के अखण्डितभाव के प्रकाश के कारण प्रसक्त (स्थिर) होती है ॥१०८॥

और श्रीराधा के उत्कर्ष सिद्ध हो जाने पर, उन दोनों राधा-माधव के प्रेम के दोनों प्रवाह यद्यपि परस्पर के अनुगमन का अनुसरण कर रहे थे, अर्थात् राधा का प्रेमप्रवाह श्रीकृष्ण का अनुगमन कर रहा था, और श्रीकृष्ण का प्रेमप्रवाह श्रीराधा का अनुगमन कर रहा था, तो भी वे दोनों प्रेमप्रवाह प्रतिक्षण कुटिलता को प्राप्त हो गये। क्योंकि प्रेम की गति सर्प की गति के समान टेढ़ी ही होती है। दृष्टान्त यथा— जो जल का समूह पहले गम्भीरता और वेग को धारण करता है, वही पीछे भँवरसमूह के सहित देखा जाता है। और सबसे पीछे तो सरलता से युक्त ही देखा जाता है। अर्थात् महासागर को प्राप्त कर स्थिर हो जाता है। इसी प्रकार प्रेमप्रवाह भी पीछे स्थिरता को प्राप्त हो जाता है ॥१०९॥

यह बात उज्ज्वलनीलमणि में भी कही है कि, सर्प की तरह प्रेम की गति स्वभाव से ही कुटिल होती है। अतः कारण से या अकारण ही युवक-युवती के मन में मान उत्पन्न हो जाता है ॥११०॥

इस प्रकार प्रेम की टेढ़ी गति की सिद्धि के अनन्तर प्रेममय विलासविशेष का वर्णन करते हैं, यथा—

'दरमुकुलितनेत्रा तिर्यगालम्बिकण्ठी, शिथिलित-भुजयुग्मा स्तब्धसक्थीयमासीत् ।
तदपि च मधुहन्त्रा जानता स्वं कृतार्थं, मुहुरपि हसिता किं भ्रूकुटिं नापि कुर्यात् ?'१११॥

"तदेवं वृत्ते वृत्ते नेतरि चानुनेतरि मानवत्तस्याः किञ्चिदहम्मानस्पर्शोऽपि सुदर्शो बभूव । यथा च तया पूर्वं नात्यूहापोहसामर्थ्यमासीदित्यधुना खल्विदं भावितम्,—

'एतावन्तं दिष्टमज्ञासिषं न, प्रेयःसङ्गात् किन्त्विदानीं तदूहे ।
प्रेयान् सर्वाः प्रोज्झ्य मामेव रम्यां, सङ्गम्यान्तःकाननं यन्निनाय ॥'११२॥

"ततश्चाग्रिमगमनाय व्यग्रेण नाथेन प्रार्थितापि सा लालित्येन किञ्चिदालस्यमपि व्यञ्जयामास ॥११३॥ यथा—

'त्वद्गात्र-स्पृष्टतामात्रश्लथाङ्गगतितां गताम् ।
स्पन्दाय चातिमन्दां मां यत्र तत्र स्वयं नय ॥'११४॥

"तदनु च तदुदासीनताधीनभावसमूहमूहमानः प्रणयवानपि प्रणयमानवानिदं सोपालम्भ-परीहासलम्भमुवाच,—'कथं भवत्या मुह्यते ? मम स्कन्ध एव सनिर्बन्धमारुह्यताम्'इति॥११५

यद्यपि श्रीराधिका के नेत्र आलस्य के कारण कुछ मुंदते जा रहे थे, तन्द्रा के कारण कण्ठ भी वक्रता का अवलम्बन कर रहा था, दोनों भुजाएँ शिथिल हो गई थीं, एवं जंघाएँ निश्चेष्ट हो गई थीं, तथापि श्रीकृष्ण ने अपने को कृतार्थ जानते हुए बारम्बार उनकी हँसी की, इतने पर श्रीराधिका अपनी भ्रूकुटि क्यों न टेढ़ी करेंगी ? ॥१११॥

अतः इस प्रकार की घटना के बाद नायक श्रीकृष्ण भी जब अनुनय विनय कर रहे थे, तब राधिका के मन में मान की तरह कुछ अहंभाव का स्पर्श भी अच्छी प्रकार दृष्टिगोचर हो गया। और पहले जैसे (प्रेममयी विस्मृति के कारण) राधा के मनमें अत्यन्त ऊह (वितर्क) एवं उसका अपोह (खण्डन) करने की सामर्थ्य नहीं थी, किन्तु अब तो अहंमान के स्पर्श के कारण राधा ने वह सामर्थ्य प्राप्त कर ली, अतः मन मन में यह विचार किया कि—इतने समय तक मैं अपने सौभाग्य को भी न जान पाई, किन्तु अब तो प्रियतम के मिलने के कारण उस सर्वश्रेष्ठ सौभाग्य का अनुमान करती हूँ कि, जिसके कारण प्रियतम सब गोपियों को छोड़कर, मुझको ही सर्वश्रेष्ठ रमणीय रमणी जानकर साथ में वन के बीच में लिवा लाये ॥११२॥

उसके बाद आगे चलने के लिए व्यग्र हुए प्राणनाथ के द्वारा प्रार्थना करने पर भी, कोमलता के कारण ललितभावपूर्वक राधिका कुछ आलस्य भी व्यक्त करने लग गई ॥११३॥

यथा—हे प्यारे मोहन ! आपके अङ्गों के स्पर्शमात्र से मेरे सारे अङ्ग शिथिल हो गये हैं, और मैं किंचिद् भी चलने को समर्थ नहीं हूँ । अतः आप मुझको जहाँ आपका मन हो, वहाँ स्वयं ले चलो ॥११४॥

तदनन्तर राधिका की उदासीनता के अधीन जो भावसमूह थे, उनका वितर्क करतेहुए, प्रीतिविशिष्ट होकर भी श्रीकृष्ण, प्रेम के मान से युक्त हो, उपालम्भपूर्वक परिहास करते हुए बोले—प्रिये ! आप क्यों मुग्ध हो रही हैं ? आग्रहपूर्वक मेरे कन्धे पर ही चढ़ जाओ ॥११५॥

"तदा च तज्जया सेर्ष्यलज्जयाधःसज्जदाननमस्याः पश्यन्नन्तर्हितवानपि सकौतुक-मन्तर्हितवान् ॥११६॥

"सहसान्तर्हिते च तस्मिन् विस्मिता विस्मिता च सा विधुरहिता कुमुदिनीव विधुरिता बभूव ॥११७॥

"तत्र किल सानुलापं विललाप च,—

'हा नाथ ! हा रमण ! हा प्रियतातिकान्त !, हा हा क्व गच्छसि महाभुज ! हा क्व वासि ?
दास्यां सदा कृपणताजुषि नन्वमुष्या,-मात्मोपकण्ठमपि सूचय जीवितेश ! ॥'११८॥

"अत्रास्तु तावत्तव रूपनिरूपणं त्वन्निकटभूमिबोधघटनयापि धीरतां धारयामि' इति ध्वनितम् ॥११९॥

"ततश्च,—यद्यप्येवमपि चतुरशिरोमणिना तेन विचारितमस्ति स्म; यथा,–यद्येतस्याश्च मया परित्यागः परित्यक्ताभिः सम्प्रति प्रतीयते, मया पृथगेनया च सङ्गम्यते, तदा परस्पर-मासत्त्यां सत्यां महारासमहः सम्पद्यते' इति। तथापि स्नेहवशान्मूर्च्छन्तीं तामागच्छति तस्मिन्नच्छ-हृदये मृगयमाणा मृगलोचना द्रुतमागच्छन्ति स्म ॥१२०॥

उस समय उपालम्भसहित परिहास के वचनों से उत्पन्न हुई ईर्षायुक्त लज्जा के कारण, नीचे की ओर झुके हुए राधिका के मुख को देखते देखते, श्रीकृष्ण भीतर से हितैषी होकर भी, कौतुकपूर्वक अन्तर्धान हो गये ॥११६॥

श्रीकृष्ण जब सहसा अन्तर्हित हो गये, तब राधिका विस्मित हो गईं, उनके मुख की मन्द मुसकान चली गई, और चन्द्रमा से रहित कुमुदिनी की तरह, कृष्णचन्द्र के वियोग से विकल हो गईं ॥११७॥

और उस समय एक बात को बार बार कहती हुईं विलाप करने लग गईं—हा नाथ ! हा रमण ! हा प्रेम के कारण अति मनोहर ! हाय ! हाय ! तुम कहाँ जा रहे हो ? हे विशाल भुजाओं वाले ! प्रियतम ! कहाँ छिपे बैठे हो ? हे जीवितेश्वर ! सदैव मन्दभागिनी इस दीन दासी पर कृपा करके अपनी निकटता की सूचना भी तो दीजिये ॥११८॥

इस श्लोक में 'आत्मोपकण्ठमपिसूचय' इस पद से "तुम्हारे रूप के निरूपण (दर्शन) की बात को तो दूर रहने दीजिये, किन्तु तुम्हारे निकट की भूमि के ज्ञान की चेष्टा के द्वारा भी, धीरता धारण कर लूँ, इतना प्रबन्ध तो कर दीजिये" यह ध्वनि निकली है ॥११९॥

तदनन्तर यद्यपि चतुरशिरोमणि श्रीकृष्ण ने उस समय इस प्रकार विचार भी किया था कि—पहले मेरे द्वारा त्यागी गईं उन चन्द्रावली आदि सब गोपियों को "मेरे द्वारा किया गया इस राधिका का परित्याग" यदि इसी समय ज्ञात हो जाय, और मेरी पृथक्ता में ही इस राधिका से उनका सम्मिलन हो जाय, तब तो परस्पर के सङ्गम (मिलनरूप) लाभ होने पर महारासोत्सव भली प्रकार सम्पन्न हो जाय। तथापि मूर्च्छित होती हुईं राधिका के निकट निर्मल हृदयवाले श्रीकृष्ण स्नेहवशात् जब तक आही रहे थे, इतने में श्रीकृष्ण को ढूंढ़ती हुई मृगनयनी सब गोपियाँ शीघ्र ही आगईं ॥१२०॥

"ततश्च सम्भ्रमतः प्रच्छन्नतां गच्छति श्रीकृष्णे,—

"एषा चम्पकमालिकात्र पतिता किं चन्द्रलेखाऽथवा
कान्तीनामधिदेवता भवति वा वृन्दावनश्रीरुत ? ।
हा कष्टं न हि चेष्टते किमियमित्युद्विग्नधीवृत्तय-
स्तामावव्रुरमूश्च्मूरुनयना भृङ्गीनिभाः पद्मिनीम् ॥१२१॥

तत्रान्यास्तु सखीनिभाः समभवंस्तस्यां द्रवन्मानसाः
प्राणप्राणसमाः समानमनसः सख्यश्चितं तत्यजुः ।
यस्मिन्नास्त्यवलम्बनं किल किमप्यस्मिन् विधिः सद्विधि-
स्तादृक्षेषु विलक्षणेषु बलयत्यन्यच्च धन्यं बहु ॥१२२॥

कृष्णप्रसङ्गपरिवासितमङ्गनाना,-मङ्गं यदा तु नसि सङ्गतिमङ्गति स्म ।
सारङ्गलङ्गिमदृशः परमङ्गसङ्घा, नाचेतिषुः सवयसोऽपि तदाङ्गतुल्याः ॥१२३॥

"तदा तु—

काश्मीरार्द्रं कापि सिन्दूरलिप्तं, क्वापि च्छिन्नं क्वापि भिन्नं क्व चापि ।
अन्तःपीताच्छादनं तन्निचोलं, पश्यन् सङ्घः सङ्गिनीनां ननन्द ॥१२४॥

उसके बाद श्रीकृष्ण जब हड़बड़ाहट के कारण शीघ्रतापूर्वक छिप गये, तब "हाय ! यहाँ पर यह चम्पा की माला पड़ी है क्या ? अथवा चन्द्रलेखा पड़ी है क्या ? यह शोभामात्र की अधिष्ठात्री देवी है क्या ? अथवा वृन्दावन की मूर्तिमती शोभा ही है क्या ? हाय ! बड़े कष्ट की बात है। यह कोई शारीरिक चेष्टा क्यों नहीं करती ?" इस प्रकार कहते कहते जिनकी बुद्धि की वृत्तियाँ उद्विग्न होगई, उन भ्रमरी के समान मृगलोचना गोपियों ने कमलिनी के समान उस राधिका को चारों ओर से घेर लिया ॥१२१॥

और वहाँ पर राधा की सखियों के समान अन्य जो गोपियाँ थीं वे भी राधिका के निमित्त मन मन में द्रवीभूत हो गई। और जो राधिका के प्राणों के भी प्राण समान, एवं समान मनवाली ललिता आदि सखियाँ थीं, वे तो बिलकुल चेतना रहित हो गई, अर्थात् राधिका की दयनीयदशा को देख मूर्च्छित हो गई। जिसको किसी का भी अवलम्बन (आश्रय) नहीं, उस जन के निमित्त भी उत्तम-विधानयुक्त विधाता कोई न कोई अवलम्बन संघटित कर देता है, और उसी प्रकार के अवलम्बनरहित विलक्षण व्यक्तियों के निमित्त तो अन्य बहुत से प्रशंसनीय अवलम्बन जुटा देता है ॥१२२॥

श्रीकृष्ण के सहवास से सुवासित उन गोपाङ्गनाओं का अङ्ग, जब मृग से भी मनोहर नेत्रोंवाली राधाकी नासिका में संयोग को प्राप्त हुआ, तब केवल राधा के ही अङ्गसमूह सचेत हुए हों, सो बात नहीं, किन्तु राधा की अङ्गतुल्य सखियाँ भी सचेत हो गई ॥१२३॥

उस समय अन्य सखियों का समूह राधिका की चूनरी (उत्तरीयवस्त्र) को देखकर आनन्दित होगया। वह चूनरी कहीं पर कुंकुम से गीली हो रही थी, तो कहीं पर सिन्दूर से लिप्त थी, एवं कहीं पर छिद गई थी, तो कहीं पर फट गई थी, और राधिका के सुवर्णतुल्य पीतवर्ण को ढ़कनेवाली थी एवं बेहोशी में उतर कर पास ही पड़ी थी ॥१२४॥

स्वयमपि यदपि तदा सा, हरिपरिमलभागथापि तासां तु ।
आगन्तुकसुबहूनां, गात्रात्तद्भागुवाह वैलक्ष्यम् ॥१२५॥

"तदेवं सर्वा एव हृद्यसौहृद्यविस्रब्धास्ताभात्मैकध्यमागतां मध्यमध्यास्य तया सह परस्परपरीरम्भबद्धाः सुदुस्तरदुःखनद्धाः पुरु रुरुदुः ॥१२६॥

"सुदुस्तरं रुदित्वा चताममूस्तु पप्रच्छुः,—'अस्माकं खलु 'न दुःखं पञ्चभिः सह' इति कल्पेनानल्पमपि दुःखं कल्पत्वाय नाकल्पतकल्पम् । ततस्तन्नातिप्रष्टव्यं भवतीत्यनन्यगत्या भवत्यास्तु तत्त्यागः कथमिति कथ्यताम्,कथं वा विकलताहेतुः केवलता जाता,तदपि च ॥१२७

"सा पुनरनुतापविपदुत्तरमुत्तरमुवाच,—
'कुतः कथं कुत्र च तेन नीता, चकार किं वाऽहमिदं न जाने ।
अनेन हीना तु विचारयामि, स्वीयं तु दौरात्म्यमनर्थहेतुः ॥'१२८॥

"ततश्च धैर्यपर्ययतः पुनः क्रन्दनमनुविन्दमाना खिन्नतानतिभिन्नसखीकाभिः काभिश्चित् कृतसान्त्वना मार्जितानना वेशनिवेशकृतमानना सा सममुन्नमयामासे ॥१२९॥

यद्यपि उस समय वे राधिका स्वयं भी श्रीकृष्ण के अङ्ग की मनोहर गन्ध का सेवन कर चुकी थीं, तो भी आगन्तुक (आई हुई) उन अनेक गोपियों के गात्र में से श्रीकृष्ण की मनोहर गन्ध को पाकर चकित हो गई ॥१२५॥

अतः इस प्रकार वे सब गोपियाँ प्रिय की मित्रता में विश्वासयुक्त होकर अपने तुल्य एकभाव को प्राप्त हुई, अर्थात् श्रीकृष्ण के वियोग में अपनी समानता को प्राप्त हुई उन श्रीराधिका को अपने बीच में बैठाकर, उन्हीं के साथ आपस में भुजा में भुजा मिला कर, आलिङ्गनरूप प्रेमरज्जू में बँधकर, एवं वियोग-रूप महादुःख में निमग्न होकर बहुत रुदन करने लग गई ॥१२६॥

अतिशय रुदन के बाद सभी गोपियों ने राधिका से पूछा कि—हे राधिके ! देखो, 'न दुःखं पञ्चभिः सह' अर्थात् पाँच व्यक्तियों के साथ रहने से दुःख नहीं सताता है । इस न्याय के अनुसार हमारा महान् दुःख भी हमको दुःखित करने की सामर्थ्य के लिए किंचिद् भी समर्थ न हो सका । अतः आप तो अकेली होने के कारण वियोग से अधिक दुःखी हो, इसलिए अधिक पूछना उचित नहीं । किन्तु अनन्यगतिवाली आपका उनके द्वारा त्यागना कैसे सम्भव हुआ, यह कहिये ? और विकलता का कारणरूप केवलता (अकेलापन) कैसे होगई, उसको भी कहिये ? ॥१२७॥

राधिका पुनः अनुतापरूप विपत्ति से भरा हुआ उत्तर बोली—श्रीकृष्ण मुझको कहाँ से, किस प्रकार, कहाँ पर ले आये, और उन्होंने क्या क्या किया ?यह मैं कुछ नहीं जानती हूँ । किन्तु उनसे विहीन होकर तो विचार करती हूँ कि, अपना दुरात्मापन ही अनर्थ का हेतु है ॥१२८॥

उसके बाद धैर्य से रहित हो जाने से पुनः रुदन को प्राप्त हुई राधिका को खिन्नता में समानतावाली किन्ही सखियों ने सान्त्वना देकर, उसका मुख पोंछकर, वेष को सँभालकर, उसका मानकर, शोभापूर्वक एकसाथ उठा लिया ॥१२९॥

"तया च सममुन्नयनमयामासे,—'सम्प्रति च कुत्र स प्रतिलम्यते' इति ॥१३०॥

"सा चोवाच,—'नातिदूरमक्रूरचेताः स तु कुतुकितया विलसति, न तु कितवतया; ॥१३१॥

"यतः, 'गोकुलराजकुमारः, शुचिरतिगम्भीरधीर्ह्रीमान् ।
तदपि च मर्यादां नः, स्वीकारायात्यजत् करुणः ॥'१३२॥

'तस्मात्तदीयचरणचरितवर्त्मानुचरणमेव नः श्रेयः ।' तदेतद्वचनं रचयमाना वनप्रचयं पुष्पावचयपरा इव विचिन्वन्ति स्म ॥१३३॥

"ततो ध्वजादिपदानि पदपद्मचिह्नानि क्रमतस्तावदमूरन्वक्रामन् यावत्तानि स्पष्टानि दृष्टानि। परतस्तु परिवीरुन्महीरुहनिविडतमारण्यधरण्यन्धतमप्रविष्टानि दृष्ट्वा न्यवर्तन्त, न च तत्रावर्तन्त ॥१३४॥

"तत्र चेदं विचारयामासुः,—'नूनमस्मज्जया लज्जया सज्जन्नसाविह सहसा न साक्षाद्भवितुमध्यवस्यति, तस्मात्तदवरोधनिरोधनिरोधाय भूरियं दूरतः परिहरणीया, परिहृत्य च सा पुलिनधरणिरेवानुसरणीया ॥१३५॥

'यत्राहमत्रास्मि, तत्रभवत्यस्तु कुत्रत्यतामिता इत्यपदेशादपत्रपामपनयन्नयमपरोक्षतां प्रपनीपद्यते ॥'१३६॥

और बैठाकर राधिका के साथ उन्होंने विचार किया कि, इस समय श्रीकृष्ण कहाँ पर पुनः उपलब्ध होंगे ? ॥१३०॥

श्रीराधिका बोली—कोमलचित्तवाले श्यामसुन्दर तो कौतुकपूर्वक पास में ही क्रीडाविलास कर रहे हैं, किन्तु धूर्ततापूर्वक नहीं ॥१३१॥

कारण—यद्यपि श्रीगोकुलराजकुमार अत्यन्त पवित्र, अत्यन्त गम्भीर बुद्धिवाले, लज्जावान् और परमदयालु हैं, तथापि मर्यादा को स्वीकार कराने के लिए, अर्थात् 'इस प्रकार का गर्व पुनः नहीं करना' यह शिक्षारूप स्थिति को अङ्गीकार कराने के लिए हमको त्याग गये ॥१३२॥

इसलिए उनके चरणों के चलने के मार्ग का अनुगमन करना ही हमारा श्रेयस्कर है। अतएव सभी गोपियाँ इसी प्रकार के वचन की रचना करती हुई, पुष्प चुननेवालियों की तरह समस्त वन में श्रीकृष्ण को ढूँढ़ने लग गईं ॥१३३॥

तदनन्तर उन गोपियों ने ध्वज कमल आदि के आश्रयस्वरूप चरणकमल के चिह्नों का क्रमशः वहीं तक अनुगमन किया, जहाँ तक वे स्पष्ट दिखाई देते थे। उसके आगे तो अनेक लताओं से घिरे हुए वृक्षों के कारण सघन वन की भूमि में भारी अन्धकार में प्रविष्ट हुए देख कर वे वहाँ से लौट आईं, वहाँ से आगे नहीं बढ़ीं ॥१३४॥

वहीं पर यह विचार करने लगीं कि—निश्चय ही हम सब से उत्पन्न हुई लज्जा से युक्त होते हुए, श्रीकृष्ण यहाँ पर सहसा प्रगट होने के लिए उत्साह नहीं कर रहे हैं। इसलिए उनके अन्तर्धान की रुकावट को दूर करने के लिए, हम सब को यह भूमि दूर से ही त्याग देनी चाहिये। और त्यागकर वह पुलिनभूमि अनुसरण करने योग्य है ॥१३५॥

और देखो ! 'जिस समय मैं इस स्थान पर था उस समय आप सब कहाँ पर चली गईं थीं ?' इस बात के बहाने हम सब से लज्जा को दूर कर अतिशय प्रत्यक्षता को प्राप्त हो जायँगे ॥१३६॥

"तदेतद्विचार्य समाचर्य च पर्यन्वेषणास्तमुद्दिश्य दिश्यं दिश्यं वनं प्रविश्य स्वयमन्विच्छन्तमिव सञ्चरन्तं दैन्यसैन्यमयमतिगानवितानमाचरन्ति स्म" इति ॥१३७॥

तदेवं तेषां सभासदां कथासमाधेरवधये कथकः समापनमाह,—

"ईदृगेष वरः कृष्णस्तव वृन्दावनेश्वरि ! ।
त्वां विना तु परःकोटीरपि नाङ्गीचकार यः ॥"१३८॥

॥ इति श्रीश्रीगोपालचम्पूमनु श्रीराधासौभाग्यश्रवणसुभाग्यं नाम चतुर्विंशं पूरणम् ॥२४॥

अथ पञ्चविंशं पूरणम्

विप्रलम्भात् कृष्णप्राप्तिः

अथ मधुकण्ठ उवाच,—"तच्च गानमवधीयताम्; यथा—

'व्रजविधो ! दशास्माकमीक्ष्यतां, व्रजविधो ! दशास्माकमीक्ष्यताम् ॥१॥

अतएव यह विचार कर और उसका पालन कर श्रीकृष्ण को ढूँढ़ते ढूँढ़ते ग्लानि को प्राप्त हुई वे गोपियाँ, श्रीकृष्ण का उद्देश्य करके प्रत्येक दिशा में जितने वन थे उन सब में प्रवेश कर, ऊँचे गाने का विस्तार करने लग गईं। वह गायन स्वयं चाहते हुए से श्रीकृष्ण के पीछे पीछे विचरण कर रहा था, और दीनता की सेनामय था ॥१३७॥

अतएव इस प्रकार उन श्रोतारूप सभासदों की कथारूप समाधि की अवधि को जताने के लिए कथावाचक समाप्तिद्योतक वचन बोला—हे वृन्दावनेश्वरि ! श्रीराधे ! तुम्हारे ये श्रीकृष्णरूप वर ऐसे अपूर्व स्नेही हैं कि, तुम्हारे बिना तो जिन्होंने अन्य करोड़ों गोपियों को भी अङ्गीकार नहीं किया ॥१३८॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते श्रीगोपालचम्पूकाव्ये श्रीराधासौभाग्य-श्रवणसुभाग्यं नाम चतुर्विंशं पूरणं सम्पूर्णम् ॥२४॥

पचीसवाँ पूरण

विप्रलम्भ (वियोग) से श्रीकृष्ण की प्राप्ति

इस पचीसवें पूरण में गोपीजनवल्लभ श्रीकृष्ण गोपियों के लोकोत्तर गायन के वशीभूत होकर, स्वयं प्रगट होकर, उन गोपियों के शोक एवं प्रणयकोप को, मधुर सान्त्वना द्वारा शान्त करेंगे, यह वर्णन होगा।

अनन्तर मधुकण्ठ बोला—चौबीसवें पूरण के अन्त में जिस गान के विस्तार की चर्चा की थी, अब उस गान का श्रवण करो। यथा—हे गोकुलचन्द्र ! तुम हमारी दयनीय दशा को देख लो। हे व्रजचन्द्र ! तुम्हारे विरह में हुई हमारी अपूर्व अवस्था का दर्शन कर लो ॥१॥

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः,श्रयत इन्दिराप्यस्य भू-रजः ।
तदपि हाऽजहा नस्त्वमत्र भो !, वयमिमः कथं वान्यतां प्रभो ! ॥२॥
परमजातिभागुत्तमं स्वतः, शरदिजं च यत् पङ्कजं ततः ।
दलकुलावृतेः कान्तिदेवतां, हरसि यद् दृशा शश्वदेव ताम् ॥३॥
कथमहो वयं स्वच्छतामिता, भवितुमीश्महे तद् बहिःस्थिताः ।
अपि किल त्वया याश्चया सिताः, स्वयममूर्वरेणापि सन्दिताः ॥४॥
इति गतास्तव प्रेष्यतां पुनः, किमु तया दृशा हंसि तास्तु नः ।
यदिह शस्त्रतः केवलं वधः, स्फुरति नाक्षितस्तन्मतं त्वधः ॥५॥
बहुविधाद्भयाद् यत्त्वयावितं, सकलगोकुलं काननान्वितम् ।
तदपि मन्महे स्वावनं यत,-स्त्वदनुरागतः सोऽपि किं हतः ? ॥६॥
कृपणपालक ! श्रीव्रजेश्वरी,-तनुज ! योग्यधीरस्ति नश्वरी ।
इति तवात्मवल्लिप्तिरिक्तता, परगपीडया भाति तिक्तता ॥७॥

हे निग्रहानुग्रहसमर्थ प्रभो ! आपके प्रादुर्भाव के कारण यह व्रज अधिक उत्कर्ष को प्राप्त हो रहा है, एवं लक्ष्मीदेवी भी इस व्रजभूमि की रज की सेवा कर रही है। हाय ! इतने पर भी तुम हम सबको यहाँ पर छोड़ गये हो। और हम सब व्रज से भिन्नता को कैसे प्राप्त होजायँ, अर्थात् आपके द्वारा सारा व्रजमण्डल ही जब उत्कर्ष पा रहा है, तब हम ही आपके द्वारा त्याग की योग्यता को कैसे प्राप्त हो रही हैं ? ॥२॥

उत्तम जातिवाला एवं स्वतः अपने गुणों से उत्तम और शरत्काल में उत्पन्न हुआ जो कमल है, अतः पत्रसमूह से घिरे हुए उस कमल के भीतर से उसकी शोभारूप देवता को निरन्तर जब तुम अपनी मोहिनी दृष्टि से हर लेते हो, तब हम सब किस प्रकार स्वच्छता से युक्त रहने को एवं आपकी उस मोहिनी दृष्टि से बाहर स्थित रहने को समर्थ हो सकती हैं ? अर्थात् जो नेत्र, कमल के हजारों पत्रों में छिपी हुई शोभा-सम्पत्ति को अनायास चुराने में चतुर है, उसी आपके नेत्र को बाहर पड़ी हुई हमको चुराने में कौनसा परिश्रम करना पड़ेगा ? फिर आपने तो हम सबको प्रार्थना करके बाँध रखा है, और व्रतपरायण इन गोपियों को स्वयं वरदान के द्वारा भी बाँध रखा है, यह बात प्रसिद्ध है ॥३-४॥

इसलिए पूर्वोक्त प्रकार से जब हम आपकी दासियाँ ही बन गई, तब हम सबको उसी दृष्टि से क्यों मार रहे हो ? और इस संसार में "शस्त्र के द्वारा ही वध होता है, नेत्र से नहीं" यह जो मत चल रहा है वह मत तो निकृष्ट है ॥५॥

और अनेक वनों से युक्त सम्पूर्ण गोकुल की अनेक प्रकार के भय से जो आपने रक्षा की थी, हम तो उस रक्षा को भी अपनी रक्षा ही मानती हैं। कारण—आपके अनुराग से ऐसा ही प्रतीत होता है। किन्तु अब आपने उस रक्षारूप कार्य का भी वध कर दिया क्या ? अर्थात् अब दीनदुःखियों की रक्षा करनी छोड़ दी क्या ? ॥६॥

हे दीनजनपालक ! हे श्रीयशोदानन्दन ! आपमें योग्य बुद्धि तो है, किन्तु वह स्थायी नहीं है। अथवा दीनदुःखियों का पालन करनेवाली यशोदाजी के बेटा होने के नाते, आपमें योग्य बुद्धि तो है, किन्तु स्थिर नहीं है। इसलिए आत्मा की तरह आपकी जो निर्लिप्तता है, वह दूसरों को पीड़ा देने के कारण तिक्तता (तीतापन) से युक्त प्रतीत होती है ॥७॥

त्वमसि नान्यवत् कोऽपि कोपनः, स्फुरसि यत् प्रभो ! विश्वगोपनः ।
तदिह पद्मजाभ्यर्थितः स्वभूः, परमसात्वतादन्वयादभूः ॥८॥

इति तवेशितुः सुष्ठु यः करः, प्रथितसंसृतेर्भीतिभीकरः ।
शिरसि नः कुरु श्रीकरग्रहं, तमिह नान्यथा भावयाग्रहम् ॥९॥

व्रजगभीहृतौ वीर ! योषितां, शमयसि स्मितेनैव रोषिताम् ।
तदिह नान्यथा दण्डनं कुरु, प्रकटयानन-श्रीमहः पुरु ॥१०॥

यदपि ते पदं श्रीनिकेतनं, वृजिनजिन्महापुण्यकेतनम् ।
तदपि गोगणस्यानुवर्तनं, विषभृतः शिरोवर्तिनर्तनम् ॥११॥

यदधि तत्तदप्यात्तदुःस्थितिः, स्वयमभूत्ततः शान्तताक्षितिः ।
अहह तन्मनाङ्नस्तु वक्षसि, स्वविरहज्वले किं न रक्षसि ? ॥१२॥

मधुरलीलया कर्णरम्यया, विशदवाक्यया व्यक्तगम्यया ।
मुखसुगन्धितासात्म्यया चिरा,-त्तृषमिता वयं हन्त ते गिरा ॥१३॥

हे प्रभो ! तुम अन्य साधारणजनों की तरह कोई क्रोध करनेवाले नहीं हो, क्योंकि तुम तो विश्व के रक्षकरूप से स्फूर्ति पा रहे हो। इसीलिए तुम स्वयंभू होकर भी, ब्रह्माजी द्वारा प्रार्थित होकर, विश्व की रक्षा के लिए, श्रेष्ठ यदुवंश से अथवा परमभागवत (श्रीदेवमीढ़जी के) वंश से प्रगट हुए हो ॥८॥

इसलिए विश्व की रक्षा करनेवाले परमैश्वर्यशाली तुम्हारा जो सुन्दर करकमल है, एवं जो प्रसिद्ध संसार के भय को भी भयभीत करनेवाला है, और लक्ष्मीजी के कर को भी ग्रहण करनेवाला है, उसी कर-कमल को हमारे मस्तक पर धर दीजिये। इस विषय में हमारे आग्रह को अन्यथा न विचारिये, अथवा मस्तक पर न धरने का आग्रह न कीजिये ॥९॥

हे व्रजवासियों के भयहरण के विषय में वीरता दिखाने वाले ! वीर प्रभो ! मानिनी स्त्रियों के क्रोध को तो अपनी मन्दमुसकान से ही शान्त कर देते हो। इसलिए हम सबके ऊपर दूसरे प्रकार का दण्ड न कीजिये। किन्तु अपने श्रीमुख की शोभा का विशाल महोत्सव प्रगट कर दीजिये ॥१०॥

हे भगवन् ! तुम्हारा चरण यद्यपि शोभा का स्थान है, पाप एवं दुःखों पर विजय पाने वाला है, और महापुण्यों का निवासस्थान है, तथापि गोगण का अनुगमन करनेवाला, एवं कालियनाग के मस्तक पर नृत्य करनेवाला है ॥११॥

और कालियदमन आदि कष्टदायक विषय में अधिकार करके जो स्वयं दुर्दशा को प्राप्त हो चुका है, इसलिए वह शान्ति का स्थान है, यही कहना उचित है। अहह ! हमारा जो वक्षःस्थल तुम्हारे विरहानल से प्रज्वलित हो रहा है, उसी वक्षःस्थल पर तुम शान्ति के स्थान उसी चरण को किंचिद् भी क्यों नहीं रखते हो ? ॥१२॥

हा ! नाथ ! मधुरविलास से युक्त, कानों के लिए रमणीय, विशद् वाक्यों से युक्त, स्पष्ट ज्ञातव्य से युक्त, मुख की सुगन्धि की एकतास्वरूप, ऐसी आपकी वाणी के द्वारा हम सब बहुत देर से पिपासा (प्यास) को प्राप्त हो गई हैं ॥१३॥

तव कथामृतं तप्तजीवनं, कविभिरीडितं कल्मषापहम् ।
प्रवितरन्ति ये तेषु दुर्जनाः, सपदि नः कृते ज्ञप्तवर्जनाः ॥१४॥

प्रहसितं तव प्रेङ्खिलोचनं, विहरणक्रमाद् भावरोचनम् ।
मुरलिकारुतं सर्वशोचनं, विपिनतस्तु नः प्राणमोचनम् ॥१५॥

चलसि यर्हि वा धेनुचारणे, दलति धीस्तु नस्तत्र कारणे ।
शिलतृणांकुरैर्याविसन्नता, किल भवत्पदोः सास्मकान् गता ॥१६॥

अहह जाज्वलत्यन्तराणि नः, स्मर निजान् जनान् दीनमानिनः ।
चरणपङ्कजं हृद्यमूढशां, रमण ! हे त्वया धीयतां भृशम् ॥१७॥

अहह यर्हि यास्यह्नि काननं, कुटिलकुन्तलं श्रीमदाननम् ।
मुहुरपश्यतां तर्हि स क्षणः, स्फुरति सर्वदा कल्पलक्षणः ॥१८॥

किमिह तन्न वा वाच्यतां व्रजे,-न्निमिरपीह यच्छप्यते व्रजे ।
कथमहो वयं तास्तु गोपिका, न हि भवाम वा तत्र कोपिकाः ॥१९॥

और त्रिविधतापतप्त प्राणियों के जीवनस्वरूप, श्रीब्रह्मा आदि कवियों के द्वारा प्रशंसित, पापविनाशक, ऐसे आपके कथामृत को जो सज्जन बाँटते हैं, उनमें से दुर्जन तो वे ही हैं, जो हमारे लिए तत्काल निषेध का विज्ञापन करते हैं ॥१४॥

हे प्यारे श्यामसुन्दर ! तुम्हारा मनोहर हास्य, तुम्हारे चञ्चल नेत्र, एवं तुम्हारा विहार क्रमशः भक्तों के भाव को रुचिकर बनाता हुआ प्रेमपर्यन्त प्रकट कर देता है। आपकी मुरलीध्वनि तो सभी को शोकाकुल करनेवाली है, और वन से आती हुई मुरलीध्वनि तो हमारे प्राणों को ले बैठती है ॥१५॥

हे नाथ ! तुम जब धेनु चराने के निमित्त वन को चलते हो, तब उसके कारण तो हमारी बुद्धि विदीर्णप्राय हो जाती है। क्योंकि उस समय आपके कोमल चरणों में शिला, तृण, अंकुर आदि के द्वारा जो पीड़ा पहुँचती है, वह तो अभिन्न होने के नाते हमको ही प्राप्त हो जाती है ॥१६॥

हा ! प्राणनाथ ! आपके चरणों की वह पीड़ा याद आते ही हमारे अन्तःकरणों को अत्यन्त जला देती है। अतः अपने को दीन मानने वाले निजजनों का स्मरण तो करो प्रभो ! हे रमण ! तुम अपने उसी प्रकार के चरणकमल को हमारे हृदय पर अधिकरूप से धर दीजिये ॥१७॥

अहह ! तुम जब गोचाराणार्थ वन को जाते हो, तब तुम्हारे घुंघराली अलकोंवाले शोभायुक्त श्रीमुख को बारम्बार न देख पाने वाले, हम सब जनों को वह क्षण, सदा कल्प के समान स्फूर्ति पाता रहता है ॥१८॥

"वह क्षणभर का काल कल्प जैसा प्रतीत होता है" यह बात हमारे पक्ष में क्या कहने की योग्यता को पा सकती है ? अपितु नहीं। क्योंकि इस व्रज में तो निमिराजा को भी प्रतिक्षण शाप दिया जाता है। अहो ! उन व्रजवासियों में भी हम तो सदा दर्शन चाहनेवाली गोपियाँ हैं, तब निमेष का प्रतिबन्ध डालने वाले उस निमिराज के ऊपर कैसे कुपित न होंगी ? ॥१९॥

विततगीतिकाजालसन्दिताः, स्वकजनानतिक्रम्य चार्दिताः ।
करमिता महारण्यभृद्दिशि, छलमय ! स्त्रियः कस्त्यजेन्निशि ? ॥२०॥
प्रहसितं प्रिय ! प्रेमवीक्षणं, विहसितादिकं वल्गुलक्षणम् ।
बृहदुरः श्रियो धाम वीक्ष्य ते, निजविमूढताऽस्माभिरीक्ष्यते ॥२१॥
दिनलयेऽलकध्वान्तमेकतः, प्रसृतगोरजः सन्ध्यमन्यतः ।
मुखतया मतं यामिनोश्वरं, दर्शयन्मुहुर्यच्छसि स्मरम् ॥२२॥
स्व-रतिवृद्धितोऽनन्यकांक्षिणी, भवति वंशिका यत्र साक्षिणी ।
तमधर-द्रवं शोकनाशनं, वितर वीर ! भोः ! प्राणदाशनम् ॥२३॥
इति तु यत्त्वया कामकल्पनं, किल कलाबलात् तन्न कल्पनम् ।
वयमनारतं स्नेहभावनाः, कथमयामहे जातु कामनाः ॥२४॥
प्रकटता तु ते गोष्ठवासिनां, वृजिननाशिनी प्राणभासिनाम् ।
वितर नः सकृत् त्वत्स्पृहायुजां, यदिह सूदनं स्निग्धहृद्रुजाम् ॥'२५॥

हे छलिया नन्दकिशोर ! देखो, हम तुम्हारे विस्तृत वेणुगीत के जाल में फँस गई हैं, अर्थात् बँध गई हैं। अपने स्वजनों को लाँघकर तुम्हारे पास आ गई हैं, और तुम्हारे हाथ में पड़ गई हैं। अब आप ही बताइये ऐसी स्थिति में घनघोर वन से युक्त दिशा की ओर रात्रि में स्त्रियों को कौन त्याग सकता है ? ॥२०॥

हे प्रियतम ! तुम्हारे प्रिय हास्य को, प्रेमभरी चितवन को, सुन्दर लक्षणों से युक्त वाग्विलास आदि को, और लक्ष्मी का निवासस्थानरूप विशाल वक्षःस्थल को देखकर, हम तो अपनी विशेष विमुग्धता ही देख रही हैं। अर्थात् हम भी जब विमुग्ध हो जाती हैं, तब अन्य नारियों का तो कहना ही क्या है ? ॥२१॥

हे गोकुलचन्द्र ! तुम सायंकाल में एक ओर, अर्थात् ऊपर के भाग में अलकावलीरूप अन्धकार से युक्त, और नीचे के भाग में विस्तृत गोरजरूप सन्ध्या से युक्त, इस प्रकार मुखरूप से माने गये चन्द्रमा को, अर्थात् अपने मुखचन्द्र को दिखाते हुए, हमारे मनमें बारम्बार काम प्रदान करते हो ॥२२॥

अतएव हे वीर ! आपमें अपनी प्रीति बढ़ाने के कारण, अन्य विषय में अभिलाषा न करनेवाली वंशी, जिस अधरामृत में साक्षी है, एवं जो शोक को नष्ट करनेवाला है, तथा जो हम जैसे प्राणहीनों को प्राणप्रद भोजनस्वरूप है, उसी अधरामृत का दान दीजिये ॥२३॥

इसलिए हमारे ऊपर तुमने जो काम की कल्पना की है, वह भी निश्चय ही अपनी कलाकौशल के बल से ही की है, यही कहा जा सकता है। क्योंकि हम सब तो आपके ऊपर स्नेह की भावनावाली हैं, अर्थात् आपके सुख में ही सुखी रहनेवाली हैं। अतः हम अपनी कामनाओं को कदाचित् किस प्रकार प्राप्त करेंगी (यह भी आप ही जानते हो) ? ॥२४॥

और हे भगवन् ! आपका व्रजमण्डल में जो प्राकट्य (प्रगट होना) है, वह तो प्राणसमान आपके द्वारा ही प्रकाशमान व्रजवासियों के दुःख को नष्ट करनेवाला है। अतएव हे स्नेही सखे ! यहाँ पर आपमें स्नेह करनेवाले हृदय के रोगों को दूर करनेवाली जो कोई औषधी है, हम तो आप से उसी की चाहना से युक्त हैं, अतः एकबार भी तो उस औषध का हमारे लिए दान करो। तुम्हारे गुणों को कभी न भूलेंगी स्वामिन् ! ॥२५॥

"तदेतदुद्गाय तदध्येतदित्याहुः, (भा० १०।३१।१९) 'यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहम्' इत्यादि ।।२६।।

अत्र चेदं गद्यम्,—यत् किल कमलतः कोमलतायुगलं तव चरणयुगलं स्तनावनु स्नेहतः संहननायेहमानाश्च वयं तावतिकर्कशाविति तर्कतश्च स्तम्भमानाः शनैरेव तयोस्तद्दधीमहीति वांछामस्तदहो ! कठिनमनस्तया दुरटामटवीमनुघटयति त्वयि कूर्पादिभिस्तत् किं न व्यथते ? किन्तु व्यथत एव; यतस्तद्भावनाजुषां भवदेकायुषामस्माकं मनसि तन्मंक्षु संक्रामति। तस्मात्तदटनमेवास्माकं हृत्पीडा, तल्लालनमेव तच्छमनमिति तल्लालनमेव देहीति भावः ।।२७

"तदेवं सति—

गीतेरासीद्विपरिणमनं तर्हि तासां विलाप-
स्तस्याप्युच्चै रुदितमिति यन्नाद्भुतं तत्तु तासु।
कृष्णं द्रष्टुं प्रभवति बलाद् यस्य तृष्णातिधृष्णक्,
तस्यान्यस्याप्यहह शतधा दृश्यते तत्तदत्र ।।२८।।

"अथ तथामसृणमसृणिकमश्रु नुदतीषु रुदतीषु सुदतीषु तदनुषङ्गत एव तमसः सङ्गतः

वे गोपियाँ उच्चस्वर से यह गान गाकर अन्त में यह श्लोक भी बोलीं—'यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहमित्यादि' इसकी स्वयं व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार बोले—यहाँ पर इस श्लोक के भावार्थ का यह गद्य है, यथा—हे प्यारे ! श्यामसुन्दर ! तुम्हारा जो चरणयुगल है, वह तो सत्य ही कमल से भी अधिक कोमलता से युक्त है, हम उसको अपने स्तनों का लक्ष्य करके उसके मिलने के लिए चेष्टा करती हुईं, किन्तु वे हमारे दोनों स्तन तो अत्यन्त कठोर हैं, इस विचार से निश्चेष्ट होती हुईं, "धीरे धीरे ही उन दोनों स्तनों पर उस परमकोमल चरणयुगल को धारण करें" ऐसी इच्छा करती हैं। अतएव हाय ! तुम्हारा मन कठोर होने के कारण, तुम जब दुःखपूर्वक भ्रमण करने योग्य वन में उसी चरणयुगल को चलाते हो, तब वह कंकड़ पत्थर आदि से व्यथित नहीं होता है क्या ? किन्तु अवश्य ही व्यथित होता है। क्योंकि उस चरणयुगल की भावना से युक्त एवं आप ही जिनके एकमात्र प्राण हैं, ऐसी हम सब गोपियों के मन में तो उन चरणों की व्यथा, संक्रामक रोग की तरह शीघ्र ही संक्रमण कर लेती है, अर्थात् आ जाती है। इसलिए उन दोनों चरणों का चलना ही हमारे हृदय की पीडास्वरूप है, एवं उनका लालन, पालन, सेवन ही हमारे हृदय की पीडा को शान्त करनेवाला है। अतः उन दोनों चरणों की सेवा को ही प्रदान कीजिये प्रभो ! यही भावार्थ है ।।२६-२७।।

अतएव ऐसी स्थिति में गाने से भी श्रीकृष्ण जब प्रगट न हुए, तब उन गोपियों के गाने का विपरिणाम (रूपान्तर अर्थात् दूसरा रूप) विलाप प्रारम्भ हो गया। उस विलाप का रूपान्तर ही ऊँचे स्वर से रोना प्रारम्भ हो गया। उनका यह ऊँचे स्वर से जो रोना है, वह प्रेममयी प्रतिमास्वरूप उन गोपियों में कोई आश्चर्य नहीं है। क्योंकि देखो ! श्रीकृष्ण के दर्शन के लिए जिस व्यक्ति के हृदय में, अति प्रगल्भ-दुर्दमनीयतृष्णा प्रबलता से उत्पन्न हो जाती है, गोपियों से भिन्न उस अन्य भक्तव्यक्ति के भी, वे ऊँचे स्वर से रोना एवं विलाप आदि यहाँ पर अहह ! सैंकड़ों प्रकार के व्यापार देखे जाते हैं ।।२८।।

उसके बाद पूर्वोक्त प्रकार से सुन्दर दन्तपंक्तिवाली वे गोपियाँ जब स्नेहपूर्वक निरंकुश (निरन्तर) अश्रु बहा रही थीं, एवं रुदन कर रही थीं, तभी उन गोपियों के रुदन के सम्बन्ध से ही शोक से युक्त

क्रमशस्तन्निशमयन्निशामयन्मुरशमनः स्वकनयनसलिल-कलिलतया नयनलक्षेणाप्यलक्षितः सहसा महसावृतः सर्वासां मध्यमध्यासितवानम्बरावृततया स्वप्रथामावृतवांश्च ॥२९॥

"एका तु तत्र तस्य मनागागमनाधिगमकमन-नयनापि पूर्ववदिदमपूर्वस्फुरणपुरस्कृत-मिति केवलं कृष्ण कृष्णेत्यलं कलकलतया कलं कलयामास ॥३०॥

"आकर्णिततद्वर्णकर्णाश्च वरवर्णिन्यस्तन्निर्णायकस्वाभ्यर्णतन्निर्वर्णनास्तूर्णमेव पूर्णता-मवापुः ॥३१॥

"महाघनघनाघनघनसङ्गमान्निदाघद्राघीयस्तयातिह्रसदोघा ह्रदिन्य इव। उभयत्र हि गतप्रायजीवनताऽभिप्रायमागता ॥३२॥

"तन्निर्वर्णनं च यथा,—

आविस्तासु बभूव नर्म तदिति व्यञ्जन् वियुज्यापि स
स्मेरः संकुचदन्तरं स्वमधियन् पीताम्बरप्रावृतः।
कर्तुं सद्विनयं स्रगंशयुगलं हस्तद्वयेनामृशन्
स्रग्वी मन्मथमन्मथस्थितिरतिश्रीणां गतिः श्रीपतिः ॥३३॥

होकर, अन्धकारमय सघन वन से आकर, क्रमशः उनके गाने एवं रोने आदि को सुनते हुए, और उनको देखते हुए, श्रीकृष्ण अपने अपने नेत्र नेत्रजल से व्याकुल होने के कारण, गोपियों के लाखों नेत्रों से भी अलक्षित होकर, सहसा अपने तेज से आवृत होकर, सब गोपियों के बीच में आकर बैठ गये, और विशिष्ट-वस्त्रों से आवृत होने के कारण, उन्होंने गोपियों का त्यागरूपी अपनी प्रसिद्धि को छिपा लिया ॥२९॥

उन गोपियों में से एक जनी तो श्रीकृष्ण के किंचित् आगमन को जान लेने से, मनोहर नेत्रों से युक्त होकर भी, पहले की भाँति यह अपूर्व स्फूर्तिरूप पुरस्कार ही है, ऐसा मानकर कोलाहलपूर्वक केवल 'कृष्ण' 'कृष्ण' इस प्रकार मधुरध्वनि करने लग गई ॥३०॥

और उस गोपी के 'कृष्ण' 'कृष्ण' इन वर्णों के सुननेवाले कानों से युक्त अन्य सभी गुणवती गोपियाँ, उन वर्णों के निर्णायक श्रीकृष्ण को अपने पास ही देखकर, शीघ्र ही पूर्णता (कृतार्थता) को प्राप्त हो गईं ॥३१॥

पूर्णता की उपमा, यथा—ग्रीष्मऋतु की लम्बाई के कारण अत्यन्त क्षीण वेगवाली नदियाँ, जैसे बड़े बड़े आकारवाले वर्षालु बादलों के घनिष्ठ सम्बन्ध से परिपूर्ण हो जाती हैं, उसी प्रकार गोपियाँ भी, श्रीकृष्ण वियोगरूप ग्रीष्मऋतु से शुष्क प्राय होकर, पुनः घनश्याम के जीवनरूप दर्शन से परिपूर्ण हो गईं। इन नदी एवं गोपीरूप दोनों पक्षों में—गतप्राय-जीवनता अभिप्राय को प्राप्त हो गई थी। अर्थात् 'जीवन' शब्द जल एवं प्राणधारण का वाचक है, ग्रीष्म में नदियाँ प्रायः जलहीन हो जाती हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्णविरह में गोपियाँ भी प्रायः जीवनरहित सी हो गई थीं, यही गतप्राय जीवनता का अभिप्राय है ॥३२॥

श्रीकृष्ण का दर्शन प्रकार, यथा—गोपियों से अलग होकर भी, "वह अन्तर्धान तो केवल परिहास था" यह भाव प्रकाशित करते हुए, मन्दमुसकान से युक्त होकर भी, अपने अन्तःकरण को संकुचित जानते हुए, पीताम्बर से आवृत होकर भी, उत्कृष्ट विनय को प्रदर्शित करने के लिए, माला के दोनों भागों को दोनों हाथों से स्पर्श करते हुए, अर्थात् अत्यन्त विनीत की तरह क्षमा प्रार्थना के लिए, दोनों हाथों से छूते

"ततश्च, प्रियस्त्यागव्रीडाद्विदधदिव ताटस्थ्यमभितः
स ताभिः कान्ताभिस्त्वरिततरमासादि परितः ।
समुद्रः सङ्कोचं समयकलितं चेद् वलयते
तदा नद्यः सद्यश्चपलगतितां सन्निदधति ॥३४॥

"तत्राहंप्रथमिकया समुपेतासु तासु प्रथमतः श्रीपराशरेण कथिता काचित्; यथा—
'काचिदायान्तमालोक्य गोविन्दमतिहर्षिता ।
कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति प्राह नान्यदुदैरयत् ॥'३५॥—इयं भद्रानाम्नी ।

"अथ श्रीबादरायणिवर्णिता वर्ण्यन्ते,—
'काचित् करं मुरारातेराचचार निजाञ्जलौ ।
नवपल्लवपात्रान्तर्यथा कमलतल्लजम् ॥'३६॥—एषा चन्द्रावली ।

"तथा—'एका तदंघ्रिकमलं व्याजतः कुचयोर्दधे ।
लब्धवांछितनिष्पत्तिः कुर्वतीव शिवार्चनम् ॥'३७॥—एषा पद्मा ।

हुए, श्रीराधिका निर्मित कुन्दपुष्पों की माला को धारण किये हुए, कन्दर्प दर्प दलन करनेवाली स्थितिवाले, लक्ष्मी से विशिष्ट रूपवाली गोपियों के आश्रयस्वरूप, अतः मुख्यश्रीपति श्रीकृष्ण उन गोपियों के बीच में प्रगट हो गये ॥३३॥

उसके बाद गोपियों के त्यागने से उत्पन्न हुई लज्जा के कारण, सर्वतोभाव से उदासीनता सी धारण करनेवाले प्रियतम श्रीकृष्ण को उन व्रजाङ्गनाओं ने शीघ्र ही चारों ओर से घेर लिया। दृष्टान्त—समुद्र यदि कभी कालक्रम से प्राप्त हुए संकोच को धारण कर लेता है, तब एकमात्र उसीके आश्रय में रहनेवाली नदियाँ चपलता के स्वरूप को धारण कर लेती हैं, अर्थात् चपलतापूर्वक शीघ्र ही अपने पति समुद्र से जा मिलती हैं ॥३४॥

वहाँ पर "मैं पहले जाऊँगी", मैं ही पहले जाऊँगी इस क्रिया के द्वारा वे सभी गोपियाँ जब श्रीकृष्ण के पास पहुँच गईं, तब पहले विष्णुपुराण में श्रीपराशरजी ने किसी गोपी के विषय में कहा है, यथा—कोई गोपी श्रीगोविन्द को आते देखकर, अत्यन्त हर्षित होकर, केवल हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! यही बोलती रही, और कुछ भी उच्चारण नहीं करती थी ॥३५॥ यह भद्रा नामक गोपी थी ।

अब श्रीशुकदेवजी द्वारा वर्णित गोपियों का वर्णन करते हैं—जिस प्रकार कोई नवीन पत्ररूपी पात्र के भीतर, अर्थात् नये पत्ते के बनाये हुए दोना में श्रेष्ठ कमल को धारण करता है, उसी प्रकार किसी गोपी ने श्रीकृष्ण के करकमल को अपनी अञ्जली में धारण कर लिया ॥३६॥ यह चन्द्रावली थी ।

तथा—वांछित सिद्धिको प्राप्त करनेवाली एक गोपी शिवजी का पूजन सा करती हुई किसी बहाने से अपने दोनों स्तनों पर श्रीकृष्ण के चरणकमल को धारण करने लग गई ॥३७॥ यह चन्द्रावली की सखी पद्मा थी ।

"तथा—'काचिदञ्जलिनागृह्णात्तन्वी ताम्बूल-चर्वितम् ।
यदा तदीयरागस्य पात्रीवाचरति स्म सा ॥'३८॥—इयं शैव्या ।
एताश्च दक्षिणतः स्थिताः ।

"तथा—'काचिद्दधार तद् बाहुमंसे चन्दनरूषितम् ।
या देहतः स्नेहतश्च व्यानञ्ज स्व-समर्थताम् ॥'३९॥—सेयं श्यामला वामतः ।

"तथा—'अपगमितनिमेषा या तु तस्यास्यमब्जं, नयन-युगमलीन्द्रद्वन्द्वमुच्चैरपीप्यत् ।
अवकलितमकार्षीद् रूपकं तत्तदेषा, रसरसनविभूतेर्जिग्यतुस्ते तु यद्यत् ॥'४०॥
—असौ ललिता ।

"तथा—'तस्मिन् काप्यवलोकमात्रबलवल्लज्जाप्रसज्जन्मना
मीलन्नेत्रतया विचित्रपुलका चित्रायमाणा स्थिता ।
तामन्तर्वलितप्रियां प्रति ममाश्चर्यं वियोगस्थिते-
र्मध्ये योगमिहापि भोगमितवत्येषेति या चिन्त्यते ॥४१॥—एषा खलु विशाखा ।

"तथा—'प्रेमा कोपं प्रसवति वृथाप्यस्त्रमत्रास्ति नेत्रं
तच्च स्थानादचलमपि सद् विध्यदुद्भाति दूरम् ।

तथा—किसी कृशाङ्गी गोपी ने अपनी अञ्जली के द्वारा श्रीकृष्ण के प्रसादी चर्वित ताम्बूल को ग्रहण कर लिया। जब वह श्रीकृष्ण के सम्बन्धी अनुराग के पात्र का सा आचरण कर रही थी तभी ग्रहण किया ॥३८॥ यह भी चन्द्रावली की सखी शैव्या थी। ये पूर्वोक्त गोपियाँ श्रीकृष्ण की दाहिनी ओर स्थित थीं।

तथा—जिसने देह से और स्नेह से अपनी सामर्थ्य प्रकाशित कर दी, ऐसी किसी गोपी ने चन्दन चर्चित श्रीकृष्ण की भुजा अपने कन्धे पर धर ली ॥३९॥ यह श्यामला नाम की गोपी श्रीकृष्ण के बाईं ओर थी।

तथा—निर्निमेष दृष्टिवाली जिस गोपी ने अपने दोनों नेत्ररूप श्रेष्ठ भ्रमरयुगल को अधिक परिमाण में श्रीकृष्ण के मुखकमल का पान कराया ,इस गोपी ने उस उस रूप का यथेष्ट आस्वादन किया कि, जिस जिस रूप को उसके दोनों नेत्ररूप भ्रमरों ने श्रीकृष्ण मुखकमल के मकरन्द रस के सेवन के वैभव के कारण जीत लिया था—॥४०॥ यह ललिता थी।

तथा—कोई गोपी तो श्रीकृष्ण के निकट उनके दर्शनमात्र से प्रबल लज्जा में निमग्न मनवाली होकर, नेत्र मूँदकर, विचित्र पुलकों से युक्त होकर, चित्रलिखी सी बैठी रह गई। और जिसको ध्यान के द्वारा अन्तःकरण में ही प्रियतम मिल गये, उस गोपी के प्रति मेरे मन में तो यही आश्चर्य उत्पन्न हो रहा है कि, यह तो वियोग की स्थिति के बीच में योग को, एवं योग में भी अन्तःकरण में श्रीकृष्णदर्शनरूप भोग को प्राप्त हो गई। इसीलिए मैं ध्यान में जिसका स्मरण करता हूँ—॥४१॥ यह विशाखा ही थी।

तथा—जिस लोकोत्तर चरित्रा गोपी का प्रेम व्यर्थ ही श्रीकृष्ण के ऊपर कोप धारण कर लेता है। इस कोपरूप कार्य की पूर्ति के विषय में नेत्र ही अस्त्र है। और वह नेत्ररूप अस्त्र भी अपने स्थान से न चल

वेधश्चासौ व्रणमपि विना श्रीहरेः क्लेशदः स्या-
देवं यस्याः किमपि चरितं तामिमां वर्णयेत् कः ॥'४२॥
—असौ तु श्रीराधा; ता एताः सम्मुखतः ।

"तथा—'कृष्णमेघागमोल्लासपल्लवद्वदन-श्रियः ।
सर्वाश्च लब्धपर्वाणः सद्यः सिद्धाः पुनर्नवाः ॥'४३॥—एताः सर्वतः ।

अतिपरिमितिशोभा-भाजनं कृष्णरूपं, नयदनुपमकान्ति यौवतं तद्विरेजे ।
इदमुपमितिशून्यं यत्तु काव्यं समाप्तं, स इह न मम दोषस्तद्धि तत्त्वं तथैव ॥४४॥

"तदेवं तासां तस्य च परस्परं परममदनमदप्रद-वदन-नयन-निलय-लीलया चन्द्रचकोर-शीलता लतावदुत्फुल्लतां गता ॥४५॥

"तथा च क्षणकतिपये लब्धक्षणप्रचये ताः सादरमादाय जलजात-जातसमीरणसमीर-सरणितरणिजा-तरलतर - तरङ्गरङ्गनिभनीरसनीड - तीर - सरसैकसैकतं पुलिनान्तरं निर्व्रीडं क्रीडन्नेव वृन्दावनदेवः सेवयामास ॥४६॥

कर दूर स्थित कृष्णरूप लक्ष्य को वेधन करता हुआ विशेष देदीप्यमान है। और वह वेधन भी बिना छिद्र किये ही, श्रीकृष्ण को क्लेशप्रद हो सकता है। इस प्रकार जिसका चरित्र अनिर्बचनीय है, ऐसी इस गोपी का कौन व्यक्ति वर्णन कर सकता है ? ॥४२॥ यह तो श्रीमती राधा ही थीं। ललिता-विशाखा-श्रीराधा ये तीनों श्रीकृष्ण के सम्मुख थीं।

तथा—श्यामवर्ण के मेघ के आगमन से पुनर्नवा नामक औषधविशेष जिस प्रकार नवीन पत्रों से उल्लसित हो जाती है, उसी प्रकार श्रीकृष्णरूप मेघ के आगमन से उल्लासयुक्त पल्लवों की तरह मुख की शोभा से युक्त होनेवालीं सभी गोपियाँ, महान् उत्सव को प्राप्तकर (पुनर्नवा पक्ष में—गाँठ को प्राप्तकर) शीघ्र ही कृतार्थ हो गईं ॥४३॥ ये सब गोपियाँ श्रीकृष्ण के चारों ओर खड़ी थीं।

उस समय परिमाणरहित शोभा के पात्रस्वरूप श्रीकृष्ण के रूप को भी अनुपम शोभा को प्राप्त करानेवाला वह व्रजयुवतियों का समूह, यमुनापुलिन में विशेष देदीप्यमान था। यह कविता उपमारहित ही जो समाप्त कर दी, वह मेरा दोष नहीं है। क्योंकि यह 'गोपी-कृष्ण'-रूप तत्त्व अनुपमेय ही है। अतः यथार्थ कहने में कोई दोष नहीं है ॥४४॥

अतएव इस प्रकार उन गोपियों का एवं श्रीकृष्ण का परस्पर अप्राकृत काम के मद को देनेवाले, मुख एवं नेत्रों की आश्रयरूप लीला के द्वारा, चन्द्र-चकोर का सा पवित्र जो स्वभाव है, वह लता की तरह प्रफुल्लित हो गया ॥४५॥

और देखो ! उत्सवसमूह को प्राप्त करानेवाले कुछ क्षण जब बीत गये, तब श्रीवृन्दावनविहारी उन गोपियों को आदरपूर्वक अपने साथ लेकर, निःसंकोच क्रीडा करते करते ही दूसरे पुलिन को सेवन करने लग गये। वह पुलिन कमलसमूह की प्रेरक वायु के मार्ग में विद्यमान यमुनाजी की अति चञ्चल तरङ्गों के विनोदतुल्य जल के पास जो तीर था, उसकी अद्वितीय (श्रेष्ठ) सरस बालुका से युक्त था ॥४६॥

"तदेव खलु प्रशस्तभङ्ग-सङ्घलक्षेण हस्तलक्षेण परमधन्यया स्वयमेव रविदेव-कन्यया कञ्जकिञ्जल्कपिञ्जलतामंजुल-गन्ध-गन्धवाह - परिरब्धकोमलसिताभ्रशुभ्रवालुकाभिरतिनिश्चित-चित्तया चितम्, तत्र च शारदसुधाकरकर-निकर-सुधालिप्ततया दूरतोऽपि तमस्तोमशमनं जल-स्थलकुसुम-समुदयामोदामोदमदितमुखरमधुकरमधुरीकृतमुरीकृतवान् ॥४७॥

"उरीकृते च तस्मिन् परमोपादेये नादेये पुलिने स्मितविलसितनेत्रः स्वनाम्ना सित-शतपत्रनेत्रः सर्वासामर्वाचीनवयसां सवयसां स्वहस्त-विन्यस्त-प्रशस्तकुंकुमग्रस्त-नव-स्तन-वस्त्र-विस्तृतिकृतस्वस्तिकासनस्तत्र स्तोत्रभङ्गीसङ्गीत-कलारङ्गभूमितामवाप स तापनोदनः ॥४८॥

"यथा—ऊर्ध्वं ग्लौरातपत्रं तलमनु पुलिनं हीरचूर्णाचिताङ्गं
श्रीमत् पीठं समन्तात् कुसुमवनशतं तोरणानीव यस्य ।
तं दिव्यस्वर्णवर्णव्रजकुलजरमा-राजिविभ्राजिदेहं
स्नेहश्रीकाम्यगेहं हरिमणिरुचिरं प्राणनाथं स्मरामि ॥४९॥

"ततश्च वृन्दावनसेविकाभिर्वृन्दाप्रधान-काननदेविकाभिः परमप्रयत्न-पाल्यमाल्यदिव्य-गन्ध-सन्ध-चन्द्र-चन्दन-मधुरमधुमदानुकूल-ताम्बूलाद्यं ददानाभिर्मुहूर्तार्धं वर्धमान-परिहास-विलासं प्रेयसीसहितः प्रेयान्महितमहत्तया शुशुभे ॥५०॥

श्रीकृष्ण ने उसी पुलिन को (महारास के लिए) स्वीकार कर लिया। वह पुलिन अत्यन्त स्थिर चित्त वाली परमधन्या सूर्यकन्या (श्रीयमुना) ने प्रशंसनीय तरङ्गसमूहरूप अपने लाखों हाथों के द्वारा स्वयं ही कमलों की केशर से मिली हुई मनोहर गन्ध से युक्त वायु के द्वारा आलिङ्गित, एवं कोमल कर्पूर के समान जो शुक्लवर्ण की बालुकाएँ हैं उनके द्वारा व्याप्त कर रखा था, अर्थात् ढक रखा था। और उसमें भी शरत्कालीन चन्द्रमा के किरणसमूह में स्थित सुधा से लिप्त होने के कारण, वह पुलिन दूर से ही अन्धकार समूह को दूर करनेवाला था। और जल एवं स्थल में उत्पन्न हुए पुष्पसमूह की मनोहर गन्ध से जायमान हर्ष के कारण, मतवाले एवं वाचाल भ्रमरों ने वह पुलिन सुमधुर बना रखा था ॥४७॥

और अङ्गीकार किये हुए परम उपादेय उस नदी सम्बन्धी पुलिन में मन्दहास के विलास से युक्त नेत्रोंवाले, अपने कमलनयन नाम के कारण सफेद कमल के से नेत्रों वाले, और नवीन अवस्थावाली सभी सखियों के अपने अपने हाथों के द्वारा स्थापित प्रशंसनीय कुंकुम से युक्त, नवीन स्तनों के वस्त्रों के विस्तार से रचे गये स्वस्तिक आसन को अङ्गीकार करनेवाले, तथा गोपियों के विरह सन्ताप को दूर करनेवाले श्रीकृष्ण, स्तोत्र रचना के द्वारा सङ्गीत कला के सहित रङ्गभूमि (नाट्यशाला) के भाव को प्राप्त हो गये ॥४८॥

यथा—जिनके ऊपर चन्द्रमा ही श्वेतछत्र बना हुआ है, और जिनके नीचे यमुनापुलिन में हीरा मणियों के चूर्ण से जटित अङ्गवाले शोभायुक्त आसन के चारों ओर सैकड़ों पुष्पवन ही नगर के बाहरी दरवाजे के समान शोभा पा रहे हैं, और जिनका श्रीविग्रह दिव्य सुवर्ण के से वर्णवाली गोपीरूप रमाओं की श्रेणी से विराजमान है, एवं जो स्नेह सम्पत्ति द्वारा अभीष्ट वस्तुओं के आलयस्वरूप हैं, उन इन्द्रनीलमणि से भी मनोहर प्राणनाथ श्रीकृष्ण का मैं स्मरण करता हूँ ॥४९॥

तदनन्तर विशिष्टप्रयत्न से पालन करने योग्य माला आदि के दिव्यगन्ध के संसर्ग से युक्त, कर्पूर एवं चन्दन के सहित जो मधुर मधु, उसके द्वारा आनन्द के अनुकूल ताम्बूल आदि सामग्री को धारण करनेवाली

"शोभमानश्च निगूढमानाभिरमूभिर्व्रजचमूरुदृग्भिः संवादमकल्पत ॥५१॥

"ततश्च तासां वृथात्मपरित्यागदोषलब्धपोषरोषमयाभिप्रायकतया जातं चित्तशोषं मोषं नयन्तीनां तोषप्रायं व्यञ्जयन्तीनामनुनयगर्भनानाविनोदसन्दर्भवार्तां वर्तयति तस्मिन्,—

"काचित् करं चरणमस्य परा तयोरु,-मन्यावलग्नमपरा मृदु मर्दयन्ती ।
अन्तर्निगूढकुपिता बहिरच्छभावा, भ्रूलोचनप्रसृमरस्मितमभ्युवाच ॥५२॥

"केचिदेवं च वर्णयन्ति,—

'नयनचलनैर्भ्रूभङ्गीचालैर्निगूढमृदुस्मितैः,-र्ललितलपितैरन्तर्भङ्गैर्बहिर्वलितार्जवैः ।
चतुरमनसस्तस्मिन् कृष्णं प्रियं वशवर्तिनं, प्रणयनयतः प्राहुः पृक्तप्रहेलिकमङ्गनाः ॥'५३

"अयि ! चतुरपुरन्दर ! प्रहेलिकाकलिकामेकां विकाशय ॥५४॥ यथा—

"भजन्ति भजतः केचिन्नान्येऽन्यानेव केचन ।
उभयांश्चापरे केऽपि नोभयानगतीन् परे ॥५५॥

एवं वृन्दावन की सेवा करनेवाली वृन्दा आदि वनदेवियों के साथ, आधी घड़ी तक बढ़ते हुए परिहास-विलास को प्रकाशित कर, प्रेयसी गोपाङ्गनाओं के सहित प्रियतम श्रीकृष्ण प्रशसनीय महिमा के प्रकाशपूर्वक शोभा पाने लगे ॥५०॥

और सुशोभित होते हुए ही अपने अपने मनमें गुप्तरूप से मान को रखनेवाली उन व्रजाङ्गनाओं के साथ सम्वाद करने लग गये ॥५१॥

उसके बाद वृथा ही अपने परित्यागरूप दोष के कारण, पुष्टि को प्राप्त हुए क्रोधमय अभिप्राय के भावपूर्वक उत्पन्न हुए चित्त के रूखेपन को गुप्त करनेवाली, एवं बाहर से प्रायः सन्तोष को व्यक्त करनेवाली उन गोपियों के साथ, श्रीकृष्ण जब अनुनय विनय से युक्त अनेक विनोद की रचनापूर्ण बातें बना रहे थे, उसी समय कोई गोपी श्रीकृष्ण के हाथों को, कोई चरणों को, कोई दूसरी जंघाओं को, तथा अन्य कोई मध्यभाग (पीठ) आदि को कोमलतापूर्वक दबाती हुई, अन्तःकरण में गूढरूप से कुपित होकर भी, बाहर से निर्मल भाव को प्रगटकर, भौं एवं नेत्रों के सहित कोमल मन्दमुसकान के विस्तारपूर्वक बोली— ॥५२॥

इस बोलने के विषय में कुछ विज्ञजन इस प्रकार वर्णन करते हैं, यथा—उस समय वहाँ पर चतुर मनवाली कुछ गोपियाँ कटाक्षविक्षेप, भ्रूविक्षेप, गूढ मृदु मधुरहास्य, रमणीय वचन, आन्तरिक कुटिलता, बाहरी सरलता आदि से विशिष्ट होकर, अपने प्रेम के वशवर्ती प्रियतम श्रीकृष्ण के प्रति, प्रेम की नीतिपूर्वक प्रहेलिका (पहेली) से युक्त वचन बोलीं— ॥५३॥

अयि चतुरशिरोमणे ! एक पहेली की कड़ी का गुप्त अर्थ खोल दो–(व्यक्तीकृत्य कमप्यर्थं स्वरूपार्थस्य गोपनम् । यत्र बाह्यार्थसम्बद्धं कथ्यते सा प्रहेलिका ॥) ॥५४॥

यथा—कोई तो सेवा करनेवालों की सेवा करते हैं, एवं कोई कोई व्यक्ति सेवा करनेवालों की भी सेवा नहीं करते । और कोई कोई अपनी सेवा न करनेवालों की भी सेवा करते हैं, और कुछ दूसरे जन सेवा करनेवाले एवं सेवा न करनेवाले दोनों ही की सेवा करते हैं । और कोई कोई सेवा करनेवाले एवं सेवा न करनेवाले इन दोनों प्रकार के जनों की सेवा नहीं करते । अन्य कुछ व्यक्ति आश्रयहीन जनों की सेवा करते हैं । ये कौन कौन व्यक्ति कहलाते हैं ? यह हमारा प्रश्न है ॥५५॥

"श्रीकृष्णस्तु चित्ते तदवबुध्याभिधत्ते स्म,—

'अर्थज्ञाः कृतहन्तारो धार्मिका धर्मगार्थिनः ।
विमूढपूर्णमुक्ताश्च दयावन्तश्च ते क्रमात् ॥'५६॥

"तच्छ्रुत्वा च परस्परमसरलचिल्लिभिरमूभिश्चिल्लीवल्लीवेल्लनेनेदं ज्ञापितम्,—

'चातुरीभिरिह नस्तु कर्षतो, धर्मधाम दिशतः समुज्झतः ।
नर्दयं पुनरमुष्य शिष्यते, येन नास्मदतिदुःखमीक्ष्यते ॥'५७॥

अत्र 'चातुरीभिः' इति तस्यानर्थज्ञता, 'धर्मधाम दिशतः' इत्यधार्मिकता, तदुभयाभ्यां च तदुभयरहितता, पुनः 'चातुरीभिः' इति विमूढता, 'ताभिर्नस्तु कर्षत' इति पूर्णता मुक्तता च, तत्र स्वकृतानुद्देशेन कृतहन्तृता च निषिद्धा । त्यागे चास्मद्दुःखवीक्षणाभावेन निर्दयता तु शेषितेति श्लिष्यति ॥५८॥

"स तु तदेवमवबुध्य स्वशुद्ध्यवगमनाय पुनरुवाच,—

'नाहं तेषां सदृगपि तु मां लुब्धमूहध्वमृद्धौ
प्रेम्णस्तां तद्विषयविरहं हन्त कृत्वापि वश्मि ।

श्रीकृष्ण तो मन मन में (ये गोपियाँ मेरे ही मुख से मुझको अकृतज्ञ बनाना चाहती हैं) गोपियों के ऐसे भाव को समझकर बोले—देखो ! तुम्हारे प्रश्न के अनुसार वे सब क्रमशः स्वार्थपरायण, कृतघ्न, धार्मिक, धर्म को प्राप्त होनेवाले, प्रयोजन विशिष्ट, महामूर्ख (विमूढ), आप्तकाम (पूर्ण), आत्माराम (मुक्त) और दयालु कहलाते हैं ॥५६॥

श्रीकृष्ण का यह उत्तर सुनते ही आपस में टेढ़ी भौं वाली उन गोपियों ने भ्रूलता सञ्चालनपूर्वक यह विज्ञापित किया—अरी बहिनो ! देखो, हम सबको वंशीध्वनि आदि अनेक चातुरी के द्वारा इस विहारस्थल में आकर्षित करनेवाले, एवं "तुम सबको घर में रहना ही धर्म है, अतः वहीं चली जाओ" इत्यादिरूप से धर्मस्थान का उपदेश देने वाले, पुनः पास में बुलाकर भी त्यागने वाले, इन श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में यदि विचार करें तो, इनकी केवल निर्दयता ही बाकी रह जाती है, उस निर्दयता के कारण ही तो ये हमारे महान् दुःख को नहीं देख पाते ॥५७॥

इस श्लोक की स्वयं व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि—इस श्लोक में गोपियों ने 'चातुरीभिः' इसके द्वारा श्रीकृष्ण की 'अनर्थज्ञता' एवं 'धर्मधाम दिशतः' इसके द्वारा अधार्मिकता दूर कर दी । और 'चातुरी' एवं 'धर्मोपदेश' इन दोनों विशेषणों के द्वारा अर्थज्ञता एवं धार्मिकता इन दोनों की रहितता निषेध कर दी । पुनः 'चातुरीभिः' इसके द्वारा विमूढता, 'ताभिर्नस्तु कर्षतः' इसके द्वारा पूर्णता एवं मुक्तता निषेध कर दी । उसमें भी अपनी इच्छा से किये हुए अन्तर्धान का उल्लेख न करने के कारण कृतघ्नता निषेध कर दी । और त्यागने पर हमारे दुःखों के न देखने के कारण निर्दयता तो अवशिष्ट रह जाती है, यही भावार्थ युक्तियुक्त है ॥५८॥

श्रीकृष्ण तो पूर्वोक्त प्रकार से अपनी निर्दयता को समझकर, अपनी शुद्धि को जताने के लिए पुनः बोले—हे सखियो ! मैं पूर्वोक्त स्वार्थी आदि व्यक्तियों के समान नहीं हूँ, इसलिए तुम मुझको किसी बात का लोभी मत विचारो । मैं प्रेम की वृद्धि के विषय में उस प्रेमवर्धक स्थानस्वरूप विरह को स्वीकार करके

युष्मान् वाच्यं किमिह मयका मायितावत् प्रतीते-
रेतद्यन्मे व्यसनमसकृन्मां च दुःखाकरोति ॥५९॥

यूयं हित्वा निखिलमनिशं कामयध्वे परं मां
मत्काम्यास्तु प्रयुतनियुतं प्रेमभेदेन सन्ति ।
तस्मान्न प्रत्युपकृतिकला-लेशकल्पं विधातुं
शक्नोमीति प्रथयत निजैः सद्गुणैरेव तुष्टिम् ॥'६०॥

"तदेवमनवद्यं कृष्णवद्यमवधार्य,—

"मनोज्ञत्वेन न परं स्वरूपत्वमिहान्वभूत् ।
बुधत्वेनापि कृष्णस्य सतृष्णोऽयं प्रिया-गणः ॥६१॥

"तत्र गीर्वाणीनामाकाशतः परिहासवाणीयम्,—

'रुचिमनु कुटिलाक्षीणां, स्तुतिमनु जिह्मं ब्रुवाणानाम् ।
माधव ! गोपवधूनां, गुणतः कस्मान्मुदं तनुषे ? ॥'६२॥

"स एको जयतान्मानमातङ्गो व्रजसुभ्रुवाम् ।
हरिणा निर्जितस्यापि यस्य वीर्याद् विभीयते ॥"६३॥

भी, उस प्रेम की वृद्धि को ही चाहता रहता हूँ । अतः मैं तुम्हारे प्रति इस विषय में और क्या कहूँ ? अधिक मीठी बातें बनाने से तो कपटीभाव की सी प्रतीति हो जायगी । इसलिए मेरी यह दुरवस्था ही मुझको एवं तुम सबको दुःखित कर रही है ॥५९॥

हे प्रेयसीप्रेमप्रतिमा गोपियो ! देखो, तुम सब तो सबको त्यागकर निरन्तर केवल मुझको ही चाहती हो, किन्तु मेरे वाञ्छनीय तो दास्य, सख्य आदि प्रेम के भेद से लाखों करोड़ों भक्त हैं । इसलिए तुम्हारी कामना केवल मुझमें होने से एवं मेरी कामना अनेक भक्तों में होने के कारण, मैं तुम्हारे प्रति प्रत्युपकार की कला के लेश के समान भी नहीं कर सकता हूँ । अतः तुम सब अपने सद्गुणों के द्वारा ही सन्तोष को विख्यात करो ॥६०॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण के अनिन्दित वचन को सुनकर, केवल कृष्ण की तृष्णा वाला यह कृष्णप्रिया गोपियों का समूह, श्रीकृष्ण के पूर्णपाण्डित्य, सत्यवादिता आदि गुणों के रहते हुए भी, उनकी मनोहरता के कारण यहाँ पर अन्य पाण्डित्य आदि का अनुभव न कर सका । सच्चे प्रेम का यही स्वरूप है ॥६१॥

वहाँ पर उस समय आकाश से देवाङ्गनाओं की यह परिहासवाणी प्रगट हुई—हे माधव ! मिलन की रुचि को लक्ष्य करके भी कुटिल नेत्रोंवाली, एवं स्तुति को लक्ष्य करके भी कुटिलतापूर्वक बोलनेवाली इन गोपियों के कौन से गुण से तुम हर्ष का विस्तार कर रहे हो ? बताओ तो सही ॥६२॥

और व्रजाङ्गनाओं का वह मुख्य मानरूप मातङ्ग (हाथी) सदा विजय को प्राप्त होता रहे । क्योंकि श्रीकृष्ण के द्वारा पराजित होने पर भी, जिस मानमातङ्ग के पराक्रम से श्रीकृष्ण भयभीत होते रहते हैं । बस, यही उसकी विचित्रता है ॥६३॥

अथ समापनम्,—

"वैदग्धीदिग्धबुद्धीद्धः सोऽयं राधे ! सखा तव ।
अलम्भूष्णुं तत्र मेने यस्त्वां तूष्णीं स्थितामपि ॥"६४॥

॥ इति श्रीश्रीगोपालचम्पूमनु विप्रलम्भस्तम्भन-श्रीकृष्णलम्भनं नाम
पञ्चविंशं पूरणम् ॥२५॥

अथ षड्विंशं पूरणम्

श्रीरासविलासविस्तारः

अथ स्निग्धकण्ठ उवाच,—

"सुवचनमघशत्रोः शृण्वती श्रेणिरासां, विरह-जनितदुःखं पूर्वसिद्धं व्यधावीत् ।
परमिह न तदेव व्याधुनोत् किन्तु शङ्का,-न्तरमपि यदमंस्त स्पष्टमायत्तमेतम् ॥१॥

"तदेवममूरुत्फुल्लवदन-कञ्जसदन-मंजुनयनखञ्जरीटाः स पुनर्मञ्जुलमाभासते स्म,—॥२॥

'युष्मत्कृते स्म सुचिरान्मनसास्मि दूय,-मानेन यूयमपि तस्थ मदर्थमेव ।
तस्याथ दुर्लभतमस्य मनोरथस्य, प्राप्ताविहानुरहसं महमाचराम ॥'३॥

अनन्तर प्रसङ्ग समाप्तिद्योतक वचन, यथा—हे राधे ! तुम्हारे प्यारे ये सखा श्यामसुन्दर चातुर्य-मिश्रित बुद्धि से देदीप्यमान हैं, क्योंकि जो उस गोपीमण्डल में चुप खड़ी हुई भी तुमको सबसे अधिक होनहार मानते रहे ॥६४॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीगोपालचम्पूकाव्ये वियोगदूरीकरण-श्रीकृष्णप्रापणं नाम
पञ्चविंशं पूरणं संपूर्णम् ॥२५॥

छब्बीसवाँ पूरण

श्रीरासविलास का विस्तार

अनन्तर स्निग्धकण्ठ बोला—श्रीकृष्ण के सुन्दर वचन सुनती हुई गोपीश्रेणी ने पूर्वसिद्ध अन्तर्धान निमित्त श्रीकृष्ण के विरह से उत्पन्न हुए दुःख को दूर कर लिया। और केवल विरहजनित दुःख को ही दूर नहीं किया, किन्तु भावीविरह की दूसरी शंका को भी खण्डित कर दिया, क्योंकि श्रीकृष्ण के पूर्वोक्त वचनों से इनको स्पष्टरूप से अपने अधीन ही समझ लिया ॥१॥

अतएव पूर्वोक्त प्रकार से अपने प्रियतम की प्रसन्नता के कारण खिले हुए, मुखकमलरूप गृह में मनोहर नेत्ररूप खञ्जनपक्षी है जिनके, ऐसी गोपियों के प्रति श्रीकृष्ण पुनः मनोहरतापूर्वक बोले—॥२॥

हे प्रियतमा ! गोपियो ! देखो, मैं बहुत दिन से तुम्हारे लिए उत्तप्त मन से ही विद्यमान रहा, और तुम भी मेरे लिए ही सन्तप्त चित्त से स्थित रहीं। अब उस अत्यन्त दुर्लभ मनोरथ की प्राप्ति के निमित्त, इस दिव्य वृन्दावन में रहस्य के सहित हम तुम मिलकर महोत्सव मनावें ॥३॥

"स च रासरसरूप एव निरूप्यते,—

"तथाहि—दीपः शारदभूरिपूरितशशी यत्रास्ति वृन्दावनं
रङ्गः श्रीव्रजनायिकाः स्वयमिमा यूयं कलाकोविदाः ।
तं चेमं समयं समेत्य मुदितः सोऽहं हरिः किं परं
कर्तास्मि क्षणमन्तरा तमपि किं रासं विना भोः प्रियाः ! ॥४॥

"इति क्षीणतमा व्रज-जलधिसम्भवाक्षीणचन्द्रमाः सर्वा अपि ताश्चकोराक्षीरषडक्षीण-युगपदालिङ्गनादिना सुखलक्षलक्षितीकृत्य बलवदादृत्य रासनृत्यविषये निर्जम्बालमस्तम्ब-जालमबन्धुरं बन्धुरं कमलबन्धुजा-पुलिनमावृत्य परस्परकरसंवलनया वलयाकाराश्चकार ॥५॥

"कृते च वलये,—

"कृष्णायाः पुलिनं गतेन रमणेनापूरि कामस्तदा
तेनामुष्य मनस्तथा प्रतिपदं तेन द्वयं चक्षुषोः ।
तेनाङ्गस्फुरदङ्गनासमुदयस्तेनाथ पूर्वं परं
सर्वं पर्व च तद् ब्रुवे किमपरं नाद्यापि विश्राम्यति ॥६॥

और वह महोत्सव भी रासरसरूप ही निरूपित हो रहा है। देखो! देश, काल, पात्र भी रासरस के अनुकूल ही दिखाई दे रहे हैं, यथा—जिस विशुद्ध व्रजमण्डलरूप स्थान में विशेष परिपूर्णमण्डलवाला शरत्-कालीन चन्द्रमा ही दीपक है, एवं श्रीवृन्दावन ही रङ्गभूमि (क्रीडास्थल) है, और सकलकलाप्रवीण ये तुम सब स्वयं श्रीव्रजनायिका बनी हुई हो। और पहले उद्देश्यमय इस समय को पाकर मैं वही तुम्हारा प्यारा दीनजनदुःखापहारी हरि भी प्रसन्न हूँ। ऐसी स्थिति में मैं उत्सव के बिना अन्य क्या कार्य करूँगा? और हे प्रियाओ! उस उत्सव को भी रास के बिना क्या करूँगा? ॥४॥

इस प्रकार कह कर निज जनों के शोकरूप अन्धकार को दूर करनेवाले, व्रजरूप क्षीरसमुद्र से उत्पन्न होनेवाले परिपूर्ण चन्द्ररूप श्रीकृष्णचन्द्र ने, उन चकोरलोचना सभी गोपियों को परस्पर सलाहपूर्वक एकसाथ आलिङ्गन आदि के द्वारा, लाखों प्रकार के सुखको लक्षित कराकर, अर्थात् दिखाकर, एवं अधिक आदर करके, रासमय नृत्य करने के लिए, कीचड़ से रहित, कुश काश आदि से रहित, ऊँची नीची भूमि से रहित (समतल) मनोहर यमुनापुलिन को घेर कर, परस्पर करग्रहणपूर्वक, उन गोपियों को मण्डलाकार बना दिया ॥५॥

उस मण्डल (गोलाकार) की रचना के बाद, श्रीयमुनापुलिन में बिराजमान राधारमण श्रीकृष्ण ने उस समय गोपियों का मनोरथ पूरा कर दिया। उस मनोरथ ने श्रीकृष्ण के मन को परिपूर्ण कर दिया, उस परिपूर्ण मन ने श्रीकृष्ण के दोनों नेत्रों को प्रतिक्षण पूर्ण कर दिया, उन दोनों नेत्रों ने शोभायमान अङ्ग-वाले गोपाङ्गना समुदाय को परिपूर्ण कर दिया, और उस अङ्गना समुदाय ने तो पूर्वापर सम्पूर्ण महोत्सव को ही परिपूर्ण कर दिया। अतः इससे अधिक और क्या कहूँ? श्रीकृष्ण का वह दिव्य रासलीला महोत्सव आज भी विश्राम नहीं ले रहा है, अर्थात् दिव्य दृष्टिवालों को आज भी वही नित्यरासविलास श्रीवृन्दावन में होता दिखाई देता है ॥६॥

"तदेवं स्वकलितचये वलये वनमाली शोभानिचयमुपलभमानश्चिन्तयामास,—॥७॥

'उपरि यथोज्ज्वलमिन्दो,-र्वलयं पुलिनं तथा भुवि च।
किन्तु कलङ्कस्तस्मि,-न्निर्मलरमणी-कुलान्यत्र ॥'८॥

"तदहो! चामीकरमणिसराकारोऽयं रमणीय-रमणीवलयः प्रतियुग्ममध्यं यदि महा-मरकतायमान-नायक-सम्बध्यमानतामाबध्नाति, तदा हृद्यतामापद्यते ॥९॥

"तच्च तथा-वेशेन मत्प्रवेशेन परं सिध्यतीति निध्याय स्थितः सन्नकस्माद् यथा मनोरथाकारमेवावस्थितवान्, यथा स्वयमपि कथमिति तु न तत्प्रथनमवाप ॥१०॥

"ततश्च, हरिहरिणाक्षीवलितं, पुलिनं तद् वल्गु भाति स्म।
स्वप्रतिबिम्बेनादाद्, यद्विधुबिम्बाय सारूप्यम् ॥११॥
सुहृदिन्दोः पुलिनं तत्,-पुलिनस्याभून्नतभ्रुवां प्रचयः।
तत्प्रचयस्य च वलनं, श्रीयुतगोपालमूर्तीनाम् ॥१२॥

"यत्र च—
परस्परकरावलिग्रथितमण्डलीमण्डनी,-रनुस्वमबलामिलन्नुभयतस्तदा माधवः।
तदीयभुजपाश्यया कलितमृष्टपृष्ठस्तथा, तदंसनिहितात्मदोरभवदेष रासोद्यमे ॥१३॥

अतः पूर्वोक्त प्रकार से स्वयं जिस मण्डल का विस्तार किया है, उस मण्डल के मध्य में शोभा के समूह को प्राप्त होते हुए, श्रीवनमाली अपने मन में विचार ने लगे— ॥७॥

जिस प्रकार आकाश में ऊपर उज्ज्वल चन्द्रमण्डल है, उसी प्रकार भूतल में भी परम उज्ज्वल यमुनापुलिन विद्यमान है। उस चन्द्रमण्डल में तो कलङ्क है, किन्तु इस पुलिन में तो निर्मल रमणीकुल विराजमान है ॥८॥

इसलिए हर्ष की बात तो यह है कि, सुवर्णमणि निर्मित हार के से आकार वाला यह रमणीय रमणीमण्डल, प्रत्येक जोड़ी के बीच में यदि महामरकतमणि के समान नायकमणि, अर्थात् मध्यमणि के द्वारा संयुक्त हो जाय, तब तो मनोहरता को प्राप्त हो जाय ॥९॥

और वह मनोहरता भी "प्रत्येक जोड़ी के बीच" उसी प्रकार के वेषवाले मेरे प्रवेश के द्वारा ही सिद्ध हो सकती है। इस प्रकार विचार कर खड़े हुए श्रीकृष्ण, अकस्मात् जिस प्रकार मनोरथ किया था, उसी प्रकार के आकार से युक्त होकर स्थित हो गये। किन्तु किस प्रकार मनोरथाकार परिणत हो गया इस ख्याति को स्वयं भी न प्राप्त हुए ॥१०॥

तदनन्तर वह सब अनेक रूप धारण आदि उनकी लीलाशक्ति के द्वारा हुआ, इसी का वर्णन करते हैं कि—उस समय श्रीकृष्ण एवं गोपियों से संयुक्त वह यमुनापुलिन मनोहर शोभा पारहा था, जिस पुलिन ने अपने प्रतिबिम्ब के द्वारा चन्द्रमण्डल के लिए समानरूपता दे दी थी ॥११॥

और उस समय वह पुलिन चन्द्रमा का मित्र हो गया था, एवं गोपियों का समूह पुलिन का मित्र, तथा श्रीकृष्ण की अनेक मूर्तियों का मिलन ही गोपीसमूह का मित्र हो गया था ॥१२॥

और जिस रासमण्डल में उस रास के उद्योग में श्रीकृष्ण उन प्रत्येक गोपियों के दोनों बगल सम्मिलित होगये, उसमें वे गोपियाँ परस्पर बाहुसमूह के द्वारा गुथीहुई मण्डली की शोभा बढ़ा रही थीं। ये

गौरीकृष्णौ गौरीकृष्णा,-वित्थं लक्षे लक्षे युग्मे ।
वृत्ताकारे वंशीशंसी, राधासङ्गी तस्थौ मध्ये ॥१४॥

रासं प्रारभत स्वयं हरिरसौ कैशोरकं मानय-
न्नित्येवं स पराशरोऽपि भगवान् प्रावोचदुच्चैर्यतः ।
तस्माद्गोप-वधूभिरेव सफलं तज्जातमित्थं तु मे
हंहो पश्यत वच्मि वा किमपरं रोम्णां च जातं महः ॥१५॥

स विविधवनिता-वृन्दै,-र्यदपि बहुप्रेयसी तदा जज्ञे ।
तदपि च राधाज्ञप्ति,-र्मन्ये तस्यापराः कृतयः ॥१६॥

"तदेवम्,—अनङ्गमङ्गेन निजेन साङ्गं, कृत्वाधिरङ्गक्षिति सङ्गमय्य ।
अङ्गीचकाराङ्गजमङ्गहारै,-र्नव्याङ्गनासङ्गममङ्गलाय ॥१७॥

कलितकनकभासः स्मेरनेत्रा विधूति,-क्षुभितवलयवीथीशिञ्जितव्यक्ततालाः ।
विविधगतिविहारानङ्गसाराङ्गहारा, हरिहरिमणिमूर्तीरन्तरा ता विरेजुः ॥१८॥

श्रीकृष्ण भी उन गोपियों की भुजारूप रज्जू द्वारा ग्रहण की हुई निर्मल पीठ से युक्त थे, तथा उन प्रत्येक गोपियों के कन्धे पर अपनी भुजा को अर्पण किये हुए थे ॥१३॥

और "गौरी एवं कृष्ण, गौरी एवं कृष्ण" इस प्रकार गोलाकार उस लाखों की संख्यावाली युगल-जोड़ी के मण्डल के बीच में, वंशी बजानेवाले श्रीकृष्ण श्रीराधिका के सङ्गी बनकर स्थित हो गये ॥१४॥

उन रसिकशेखर श्रीकृष्णचन्द्र ने किशोरावस्था का सम्मान करतेहुए, स्वयं रास प्रारम्भ कर दिया। जिस कारण से भगवान् श्रीपराशर ने भी उच्चस्वर से विष्णुपुराण में 'सोऽपि कैशोरकवयो मानयन् मधुसूदनः' इसी प्रकार कहा है। उसी कारण से 'वह किशोरावस्था गोपाङ्गनाओं के साथ ही सफल होगई' इस प्रकार मैंने भी वर्णन कर दिया। अहह ! हे अन्तरङ्ग श्रोताओ ! मेरी ओर देखो तो सही। मैं और अधिक क्या कहूँ ? मेरे तो रोमाञ्चों का ही महोत्सव उत्पन्न होगया है—('एकादशसमास्तत्र गूढार्चिः सबलोऽवसत्' इत्युक्तदिशा एकादशभिर्वर्षैरेव सर्वा व्रजलीलाः कृताः। तत्र सप्तमवर्षवयसि गोवर्धनधारणं, अष्टवर्षवयसि रासलीला। अष्टवर्षीय-बालस्य पौगण्डमेवत्वः "कौमारं पञ्चमाब्दान्तं पौगण्डं दशमावधि। कैशोरमापञ्चदशात् यौवनं तु ततः परम्" इत्युक्तेः। अतः पौगण्डे कैशोरलीला असम्भाव्या। अत्र समाधानं—अचिन्त्य महिम्ना पौगण्ड एव कैशोरता सम्पादिता। अलं बहुना। अत्र विशेषजिज्ञासाचेत्तर्हि (भा० १०।२९।१।) श्रीविश्वनाथचक्रवर्ति टीकारम्भो द्रष्टव्यः) ॥१५॥

उस समय श्रीकृष्ण यद्यपि अनेक प्रकार के स्त्रीसमूह के कारण बहुप्रेयसी (बह्व्यः प्रेयस्यो यस्य) अर्थात् बहुत सी प्रियतमाओंवाले बनगये थे, तथापि राधा तो श्रीकृष्ण की ज्ञानशक्ति थी, एवं अन्य गोपियाँ उनकी क्रियाशक्ति थीं, मैं ऐसा ही मानता हूँ ॥१६॥

अतः इस प्रकार अपने अङ्ग के द्वारा अनङ्ग को भी साङ्गोपाङ्ग बना कर, रङ्गभूमि में पहुँचाकर, श्रीकृष्ण ने नवीन अङ्गनाओं के सङ्गमरूप मङ्गलाचरण के लिए, कर पादादि संचालन के सहित, काम सम्बन्धी कार्य को अङ्गीकार कर लिया ॥१७॥

उस समय देह की कान्ति से कनक की कान्तिको चुरानेवाली, प्रफुल्लित नेत्रोंवाली, चलने के कारण क्षुभित हुई चूड़ियों की पंक्ति के शब्द से स्पष्ट ताल लगानेवाली, अनेक प्रकार की गति के विहार करने-

"ततश्च, नवीनविनतभ्रुवां निज-नवीनकान्तच्छवी-
जुषां नटनचातुरीकुलधुरीणलीलायुजाम् ।
चलद्वलयशृङ्खलावलितनूपुराणां ध्वनि-
र्नटाध्व-निधि-तालतां ध्वनयति स्म यावद्दिवम् ॥१९॥

रासे शिञ्जिततालजालमुदभूत्तद्वद्यथा खेचरा-
नप्याकृक्षदहो विदूरतरतः कृत्वेव पूर्वस्थितान् ।
द्योयानाभिधमञ्चसञ्चयगता वाद्यं च गीतं च ये
सभ्यत्वं च समं मदाद्विदधतः स्वं नात्र निश्चिक्यिरे ॥२०॥

"तत्र देवीनां सङ्कल्पः,—
'पश्य पश्य,—हरिणा गानमासादि गानेन रमणीकुलम् ।
रमणीभिरथो गानं गानेन स हरिः पुनः ॥२१॥

पुलिनं विलसत्कृष्णं, कृष्णं सालिङ्गनाङ्गनं कलय ।
आङ्गनमभिनवगीतं, गीतं सङ्गीतसङ्गि सङ्गीतम् ॥'२२॥

"तत्र स्वयमारम्भे लास्यसम्भेद एव जातः ॥२३॥

वाली, अनङ्ग के साररूप अङ्ग के हारोंवाली वे सब गोपियाँ, इन्द्रनीलमणि की सी श्रीकृष्ण की मूर्तियों के बीच बीच में विराजमान हो रही थीं ॥१८॥

उसके बाद सभी गोपियाँ रासमण्डल में नृत्य कर रही थीं, उनकी नवीन भौं नव रही थीं, एवं वे अपने अपने नवीन प्रियतम की कान्ति का सेवन कर रही थीं, और वे नृत्य चातुरी के समूह की उत्कर्षमयी लीला से युक्त थीं। उनके चलते हुए कंकणों की शृङ्खला से मिली हुई नूपुरों की ध्वनि, नृत्यमार्ग के निधि-रूप ताल के भाव को स्वर्ग तक प्रकाशित कर रही थी ॥१९॥

अहह ! उस समय रास में भूषणों का शब्द एवं हाथों का तालसमूह उस प्रकार उत्पन्न हुआ कि, जिस प्रकार उस सामूहिक शब्द ने बहुत दूर से आकाशचारी देवादिकों को भी पूर्वस्थित जैसे करके ही आकर्षित कर लिया। और जो देव उपदेव विमान नामक अपने अपने मञ्च (शय्या)समूह पर बैठे हुए रास देख रहे थे, वे सब यहाँ पर आनन्द के कारण एकसाथ गाना, बजाना एवं सभ्य समाज का व्यवहार करते हुए, अपने स्वरूप को भी भूल गये। अर्थात् हम कौन हैं, कहाँ है ? इस बात का भी वे निश्चय न कर पाये ॥२०॥

वहाँ पर आकाशस्थ देवियों का वार्तालाप, यथा—अरी ! बहिनो ! देखो, देखो। श्रीहरि ने गायन प्राप्त कर लिया, एवं गायन ने गोपाङ्गनासमूह को प्राप्त कर लिया, तथा गोपाङ्गनाओं ने गायन को और गायन ने पुनः श्रीहरि को ही प्राप्त कर लिया; अर्थात यह कैसा आश्चर्यमय चक्र घूम रहा है ॥२१॥

अरी ! बहन ! विलास करते हुए श्रीकृष्ण से युक्त इस पुलिन को देख, एवं गोपाङ्गनाओं के आलिङ्गन से युक्त श्रीकृष्ण को देख, और अभिनव गीत गानेवाले अङ्गनासमूह को देख, तथा सङ्गीत-शास्त्र के अनुसार अच्छी प्रकार गाये गये गीत को सुन ॥२२॥

और उस रास के आरम्भ में स्वयं नृत्य सम्मेलन भी हो गया ॥२३॥

"तद्‌यथाभिनयं यथा—

"अङ्गहारचलदङ्गहारिषु, स्वान्तहारिविलसद् विहारिषु ।
लास्यकारिषु च लास्यमाचरन्, भ्रूनटीघटितनेत्रनर्तका: ॥२४॥

"तौर्यत्रिकशौर्यवराणां खेचराणां वाद्ये तूद्भूते ताण्डवमण्डलं च साभिनयम् । यथा—
उद्यद्दुन्दुभिमड्डुडिण्डिम-डमर्वाद्ये मृदङ्गं गते
वाद्ये द्योपदविद्यवाद्यनदने सद्योऽथ विद्योतिते ।
ते तद्य ुद्भटनाट्यनीतिघटनासङ्घट्टनिष्कुण्ठता-
मुत्कण्ठा: पदपाणिकण्ठकटिसम्मोटालिकोटिं दधु: ॥२५॥

"तत्र च शस्त्रप्रशस्तानामिव तेषां कृतहस्तकानां पुनर्लक्ष्यादच्यव एव लक्षित: ॥२६॥

"तथाहि—हित्वा हित्वाप्यत्र हस्तालिबन्ध,-तालालम्बाहस्तकानि प्रदर्श्य ।
गौरी-श्यामा लाघवात् पूर्णमाना, रासोल्लासे तद्वदासन् पुनश्च ॥२७॥

और नृत्य सम्मेलन भी अभिनयपूर्वक हस्तचालनादि द्वारा हुआ, यथा—उस रासमण्डल में श्रीकृष्णरूप अनेक नट जब नृत्य कर रहे थे, तब अपनी अपनी भ्रुकुटीरूप नटी के साथ अपने अपने नेत्ररूप नर्तकों का सम्मेलन करनेवाली गोपियाँ भी नृत्य करने लग गई । कृष्णरूप नर्तक अपने अपने अङ्गों के विक्षेप के कारण चलते हुए हस्त पादादि अङ्गों से मनोहर हो रहे थे, एवं चित्तको हरनेवाले विलासयुक्त विहार से विशिष्ट थे ॥२४॥

और नृत्य (नाचना), गीत (गाना), वाद्य (बजाना) आदि की शूरवीरता में श्रेष्ठ आकाशचारी देव, गन्धर्व आदि उपदेवों का वाद्य जब उत्पन्न हो गया, अर्थात् आकाश में जब देवताओं के बाजे बजने लगे, तब अभिनयपूर्वक, अर्थात् इशारा आदि के द्वारा मन के अभिप्राय प्रकटनपूर्वक मण्डलाकार नृत्य, यथा—बजने के लिए उद्यत दुन्दुभि, मड्डु (जलतरङ्ग), डिण्डिम (डुगडुगी), और डमरु आदि बाजे जब मृदङ्ग को पाकर मिल गये, और स्वर्ग में विद्यमान बाजाओं के शब्द भी जब शीघ्र ही प्रकाशित हो उठे, तब उत्कट नृत्य की नीतिमय घटना के सम्बन्ध से मौनभाव एवं सुन्दर महती उत्कण्ठा से युक्त, वे श्रीकृष्ण एवं गौराङ्गी गोपियाँ सभी हाथ, पैर, कण्ठ, कटि आदि के मोड़ने की श्रेणी के करोड़ों भेद धारण करने लगे ॥२५॥

और शस्त्रविद्या में प्रशंसनीय एवं बाण चलाने में सुनिपुण व्यक्ति जैसे लक्ष्य (निशाने) से कभी भी नहीं चूकते, उसी प्रकार वहाँ पर गोपी-कृष्णरूप मण्डल भी परस्पर धारण करने में निपुण था, अत: परस्पर करबन्धनरूप लक्ष्य से चूकता ही नहीं दीखता था ॥२६॥

देखो, रासमण्डल में अनेक गोपी-कृष्ण एक बार हस्तसमूह को परस्पर बाँधकर भी पुन: हाथों के बन्धन को छोड़कर, ताल अवलम्बनपूर्वक हाथों की क्रियाओं को दिखाकर, शीघ्रता के कारण अपने अपने चित्त की उन्नति को परिपूर्ण कर, पुन: उस रास के उल्लास में पहले की भाँति, परस्पर हाथ बाँधकर स्थित हो गये ॥२७॥

पुष्प-वृन्दमपतन्मुहुर्मुहुः, कृष्णगौरतनुमण्डलीमनु ।
वृष्टिरूर्ध्वमधरत्र नीरभृद्,-विद्युदालिरिति यत्र चित्रता ॥२८॥

"अत्र देवा देव्यश्च भव्यभावभवान्नव्यपरिभवात् कमलाक्षं साक्षादिव सम्बोधयन्तस्तथा योगमायाया योगतः परं स्वस्वयोग्यमन्तः समधिगम्य रम्यमिदं वाद्यकोलाहलावृतमुज्जगुः ॥२९

"तदेतदेकीकृत्यानुगीयते,—

'जय जय सद्गुणसार ! ।
जगति विशिष्टं कलयितुमिष्टं गोकुल-लसदवतार ! ॥ध्रुवम्॥३०॥
कमलभवेश्वरवैकुण्ठेश्वरपत्नीचिन्तितसेव ! ।
राजसि रासे वलितविलासे निजरमणीभिर्देव ! ॥३१॥
नटवत् परिकर ! निखिलकलाधर ! रचितपरस्परमोद ! ।
आलिङ्गनमुखविततमहासुख ! बल्लववधूहृततोद ! ॥३२॥
व्यतिवीक्षणकृतसात्त्विकपरिवृतमण्डलमनु बहुमूर्ते ! ।
व्रजतरुणीगणरचितनयनपणसचितवशीकृतिपूर्ते ! ॥३३॥

उस समय श्रीकृष्ण एवं गौरविग्रहवाली गोपीमण्डली को लक्ष्य करके, देवताओं के द्वारा गिराया गया पुष्पसमूह बारम्बार गिर रहा था। अर्थात् आकाश से बारम्बार पुष्पों की वृष्टि हो रही थी। किन्तु जिसमें आश्चर्य की बात यही थी कि, वर्षा तो ऊपर की ओर से हो रही थी और मेघमण्डली के सहित विद्युत्श्रेणी नीचे की ओर भूमि पर थी। अर्थात् श्याममेघस्वरूप श्यामसुन्दरश्रेणी एवं बिजली के समान चमकती हुई गोपीश्रेणी भूमि पर ही तो थी ॥२८॥

इसी समय देवता और देवियाँ मङ्गलमय मनोहरभाव से उत्पन्न हुए अपने नवीन परिभव के कारण, कमलनयन श्रीकृष्ण को साक्षात् सम्बोधन करते हुए, तथा भगवत्कृपारूपिणी योगमाया के सम्बन्ध से अपने अपने योग्य उत्कृष्ट विषय को अन्तःकरण में समझकर, वाद्यों के कोलाहलपूर्वक आगे कहे जाने वाले इस रमणीय गायन को उच्चस्वर से गाने लगे ॥२९॥

उन देव एवं देवियों के इस गीत को मैं एकत्रित करके अनुगायन (पीछे गायन) करता हूँ यथा— जगत् में विशिष्ट सुख को देने के लिए गोकुल में शोभायमान अवतार लेनेवाले ! एवं सद्गुणों के सार ! प्रभो ! आपकी बारम्बार जयजयकार हो ॥३०॥

हे देव ! ब्रह्मा, शिवजी एवं विष्णुपत्नी-लक्ष्मी ये सब आपकी सेवा की चिन्ता करते रहते हैं कि, श्रीकृष्णसेवा का सुअवसर कब मिले, और आप अपनी रमणियों के सहित विलासयुक्त रास में विराजमान हो ॥३१॥

हे भक्तों की रक्षा के लिए नट की तरह प्रतिक्षण फेंट कसकर तैयार रहनेवाले ! सम्पूर्ण (६४) कलाओं को धारण करनेवाले ! परस्पर आनन्द की रचना करनेवाले ! गोपियों के लिए आलिङ्गन आदि महासुख का विस्तार करनेवाले ! एवं गोपाङ्गनाओं की व्यथा को हरनेवाले ! प्रभो ! आपकी जयजयकार हो ॥३२॥

और हे परस्पर के दर्शन से उत्पन्न स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च आदि सात्त्विक भावों से परिवृत (युक्त) गोपीमण्डल को लक्ष्यकर अनेक मूर्ति धारण करनेवाले ! प्रभो ! एवं व्रज के युवतीगण के ऊपर किये गये नेत्रों के व्यवहार के सङ्ग से वशीकरण की पूर्ति करनेवाले ! प्रभो ! तुम्हारी बारम्बार जय हो ॥३३॥

चरणकञ्जधृतिकरपल्लवकृतिचिल्लीवलितविहारान् ।
मध्यभङ्गततिमणिकुण्डलगतिपुलकस्वेदविकारान् ॥३४॥
कलयति भवता घनसाम्यवता तडिदिव सर्वा ललना ।
अपि वः परिमितितरतमतामिति सेयं ज्ञपयति तुलना ॥३५॥
सुमधुरकण्ठे नृत्योत्कण्ठे तव रतिमात्रप्रीते ।
त्वत्स्पर्शामृतमदचयसंवृतचित्ते भावक्रीते ॥३६॥
युवतीजाते गीतजशातेनावृतविश्वप्रभवे ।
यस्त्वं राजसि तत् सुखभागसि नम एतस्मै प्रभवे ॥३७॥
या सह भवता विस्मयमवता स्वरजातीरतिशुद्धम् ।
गायति सेयं निखिलैर्गेयं कलयति निजगुणरुद्धम् ॥३८॥
तत उत्कर्षं वलयितहर्षं वलयति येयं गाने ।
सा श्रीराधा वलिताराधा भवता कलिता माने ॥३९॥
येयं रासे श्रमजविलासे विगलन्मल्लीवलया ।
सा भवदंसे लसदवतंसे धरति करं वरकलया ॥४०॥

और मेघ की समानता वाले आपके साथ विजली की समानता वाली सभी, अर्थात् प्रत्येक गोपीरूप ललना एकसाथ चरणकमलों का धरना, परस्पर करपल्लव का सम्मेलनरूप कार्य, एवं भ्रूलता से युक्त विहारों को, और मध्य अङ्ग, अर्थात् क्षीण उदर के मोड़ने की श्रेणी, एवं मणिमयकुण्डलों की चाल, तथा रोमाञ्च, पसीना आदि अनेक विकारों को धारण कर रही है। अतः आप सबकी मेघ एवं बिजली की समानता की जो यह तुलना (उपमा) है, वह आप सबके परिमाण के तारतम्य को जना रही है। अर्थात् गोपियों की तो बिजली के समान कृशाङ्गता को एवं आपकी मेघ के समान पुष्टाङ्गता को जना रही है। यह युग्मक है ॥३४-३५॥

और सुमधुर कण्ठवाले, नृत्य की उत्कण्ठावाले, तुम्हारी प्रीतिमात्र से प्रसन्न रहनेवाले, तुम्हारे स्पर्शरूप अमृत से उत्पन्न मदसमूह से आवृत (ढ़के हुए) चित्तवाले, सङ्गीत से उत्पन्न हुए सुख के द्वारा विश्व के स्थान को आच्छादित करनेवाले, एवं आपके भावमात्र से खरीदे हुए, ऐसे युवतीसमूह में जो तुम विराजमान हो, और उनके सुख के भागी हो, अतः निग्रहानुग्रह समर्थ ऐसे प्रभु के लिए हमारा कोटिशः प्रणाम है। यह भी युग्मक है ॥३६-३७॥

इन गोपियों में भी राधा की विशेषता, यथा–हे प्रभो! विस्मय की रक्षा करनेवाले, अर्थात् आश्चर्य-युक्त आपके साथ जो रमणी अत्यन्त शुद्धतापूर्वक निषाद, ऋषभ, गान्धार आदि स्वरसमूह को गा रही है, यह तो सबके द्वारा गायन करने योग्य गीत को, अथवा आपको अपने गुणों से पराजित कर रही है ॥३८॥

और उसके बाद यह जो रमणी अपने गायन में हर्ष प्रकाशपूर्वक उत्कर्ष को प्रस्फुटित कर रही है, वह श्रीमती राधिका आपकी आराधना से युक्त है, अथवा आपके द्वारा आराधित है, इसीलिए आपके द्वारा विशिष्ट सम्मान में स्वीकार की गई है। अर्थात् आप भी उसका विशेष सम्मान करते हो ॥३९॥

और यह जो रमणी श्रम से जायमान विलास से युक्त रास में विराजमान है, एवं जिसकी वेणी में

या चांसं परिभुजपरिघं परिचुम्बति तव सविनोदम् ।
हृष्यति सेयं तन्वगणेयं यद्रोम च सामोदम् ॥४१॥

चलकुण्डलधर ! गण्डमुकुरवर ! समिषस्पर्श-विधाने ।
ताम्बूलद्रवपरिवर्तादुद्रवमयसे चुम्बनदाने ॥४२॥

एषा नर्तनकीर्तनवर्तनशिञ्जितजातसुताला ।
तव रामानुज ! करमतुलाम्बुजमिषमाधादधृदि बाला ॥४३॥

अथ रासक्रमपरिवलितश्रमवनितालम्बितदेह ! ।
परितोभ्रमणकगणविश्रमणक ! समुदितपरमस्नेह ! ॥४४॥

कविकृतनिश्चयशुभ्रयशश्चय ! मालासमुदयहारिन् ! ।
जय जय जय जय, जय जय जय जय, जय जय रासविहारिन् !' इति ॥४५॥

"राजसि रासे वलितविलासे' इत्युक्तं, रूपमेवं निरूपयन्ति,—
'रूपं यन्निजनित्यसौभगशिरोरत्नं नराकृत्यसा-
वानीयात्र यदीयशक्तिविभवस्याग्र्यां स्थितिं प्रैक्षयत् ।

स्थित मल्लिका पुष्पसमूह नीचे गिर रहा है, वही रमणी इस समय कर्णभूषण से सुशोभित आपके कन्धे पर श्रेष्ठ कलापूर्वक अपना हाथ धर रही है ॥४०॥

और जो तुम्हारे कन्धे को लक्ष्य करके विनोदपूर्वक तुम्हारे भुजरूप परिघ (अर्गल) का चुम्बन कर रही है, अतः यह हर्षित हो रही है। और इसके शरीर में अनगिनती जो रोम हैं, वे भी रोमाञ्च के बहाने आनन्दपूर्वक हर्षित हो रहे हैं ॥४१॥

हे चञ्चल कुण्डल धारण करनेवाले ! श्याम ! आपके दोनों कपोल श्रेष्ठ दर्पण के समान सुन्दर हैं। और तुम बहानेपूर्वक स्पर्श करने के निमित्त चुम्बन दान करने में, ताम्बूल द्रव के परस्पर परिवर्तन के कारण परिहास को प्राप्त हो रहे हो, अर्थात् परिहास कर रहे हो ॥४२॥

हे रामानुज ! नृत्य एवं गायन करने से जो भूषणों की ध्वनि, उसी से उत्पन्न सुन्दर ताल लगानेवाली यह बाला, अनुपम कमल के तुल्य तुम्हारे करकमल को अपने हृदय पर धारण कर रही है ॥४३॥

औद रास की परिपाटी के द्वारा उत्पन्न हुए परिश्रम से युक्त वनिताओं के द्वारा आश्रित देहवाले ! प्रभो ! एवं रासमण्डल के चारों ओर भ्रमण करनेवाले अपने परिवारवर्ग को विश्राम देनेवाले ! तथा अच्छी प्रकार उत्पन्न हुए परम स्नेहवाले ! भगवन् ! तुम्हारी बारम्बार जयजयकार हो ॥४४॥

हे कवियों के द्वारा निश्चित किये गये निर्मल यशसमूह वाले ! एवं वनमाला, वैजयन्तीमाला आदिकों के समुदाय को धारण करनेवाले ! रासविहारिन् ! प्रभो ! तुम्हारी निरन्तर जयजयकार हो ॥४५॥

"हे प्रभो ! तुम विलासयुक्त रास में विराजमान हो" इस प्रकार कहे गये रूप को ही विज्ञजन इस प्रकार निरूपण करते हैं, यथा—श्रीकृष्णचन्द्र ने अपने नित्य सौभाग्य के मुकुटमणिस्वरूप जिस नराकृति रूप को भूतलपर लाकर, जिस रूप की शक्ति के वैभव की सर्वश्रेष्ठ मर्यादा को दिखला दिया, आश्चर्य की बात तो यह है कि, अपने सम्पूर्ण रूप, गुण आदि को अच्छी प्रकार जाननेवाले श्रीकृष्ण भी जिस अपने रूप

चित्रं विस्मयते यतः स्वयमपि स्वाशेषसंवेदिता
तस्मिन् भूषणभूषणेऽप्यधुरमूः शोभां स्वया शोभया ॥'४६॥

"तदुक्तम्, (भा० ३।२।१२)—'यन्मर्त्यलीलौपयिकम्' इत्यादि, (भा० १०।३३।७)–'तत्रातिशुशुभे' इत्यादिकम् ॥४७॥

"तदेवं सति श्रीराधिकायां तु कैमुत्यमेव स्तुत्यं जातम् ॥४८॥

"युवतीजात इत्यादावेवं वर्णयन्ति,—

'तासां व्रजकिशोरीणां नित्यमप्रसवात्मनाम् ।
गुणैः सप्रसवैः पूर्णं विश्वमप्यन्वयैरिव ॥'४९॥

"या सह भवतेत्यादावुपश्लोकयन्ति च,—

'शर्वब्रह्मसुरेशमुख्यदिविषद्वृन्दानि यद्गानतः
शश्वन्मोहमयुस्तमेव दयितं कृत्वानुगं या जगौ ।
सार्धं तेन पराश्चमत्कृतिपरास्तां निर्निमाणामपि
व्यर्थीकृत्य विविक्तरागवलनां वन्दामहे राधिकाम् ॥'५०॥

से स्वयं विस्मित हो जाते हैं, एवं जो श्रीकृष्ण का रूप भूषणों को भी विभूषित कर देता है, (अर्थात् भूषणों से श्रीकृष्ण के रूप की शोभा नहीं बढ़ती, किन्तु पहने हुए भूषणों की ही शोभा बढ़ जाती है) इस प्रकार के गुणों से युक्त श्रीकृष्ण के रूप में भी वे सब गोपाङ्गनाएँ अपनी शोभा के द्वारा शोभा को धारणकर देती हैं। अतः गोपियों के यथार्थ उत्कर्ष का कौन वर्णन कर सकता है ? ॥४६॥

तृतीय स्कन्ध में श्रीकृष्ण का वह रूप "यन्मर्त्यलीलौपयिकं" इत्यादि से पूर्वोक्त प्रकार से ही कहा गया है, तथा गोपियों के द्वारा उसी श्रीकृष्ण के रूप की शोभावृद्धि में 'तत्रातिशुशुभे ताभिः' इत्यादि रासस्थ श्लोक ही प्रमाणरूप से कहा है। अर्थात् उस रासमण्डल में भगवान् यशोदानन्दन उन गोपियों के साथ उसी प्रकार अत्यन्त सुशोभित हुए, जैसे सुवर्ण की मणियों के बीच में ज्योतिर्मय महाइन्द्रनीलमणि सुशोभित होता है ॥४७॥

अतः ऐसी स्थिति में श्रीराधिकाजी में उन सब गोपियों की अपेक्षा जो वैशिष्ट है वह तो कैमुत्यन्याय से ही प्रशंसनीय हो गया। अर्थात् उन गोपियों के द्वारा ही जब श्रीकृष्ण की शोभा बढ़ गई, तब श्रीराधिका के द्वारा उनकी सर्वोत्कृष्ट शोभा बढ़ेगी, इस विषय में तो कहना ही क्या है ? यही कैमुत्यन्याय का स्वरूप है ॥४८॥

और "हे प्रभो ! युवतीसमूह में तुम विराजमान हो" इत्यादि के विषय में मर्मज्ञ विज्ञजन इस प्रकार वर्णन करते हैं—पुत्र पौत्ररूप सन्तान से युक्त अनेक वंशों के द्वारा जैसे विश्वपूर्ण है, उसी प्रकार उत्पत्तिरहित नित्य एकरस रहनेवाली उन व्रजकिशोरी गोपियों के विस्तारयुक्त गुणों के द्वारा विश्व परिपूर्ण हो गया था ॥४९॥

और 'या सह भवता' इत्यादि पूर्वगीत के अंश के विषय में रहस्यवेत्ता श्लोकों के द्वारा इस प्रकार स्तुति करते हैं—जिन श्रीकृष्ण के गायन से शिव, ब्रह्मा, इन्द्र आदि देववृन्द बारम्बार मोह को प्राप्त हो गये थे, अर्थात् मोहित हो गये थे, उन्ही प्रियतम श्रीकृष्ण को अनुगामी बनाकर जिसने गायन किया, और उन गोपियों द्वारा गाई गई विशुद्ध राग रचना को भी व्यर्थ बनाकर श्रीकृष्ण के सहित अन्य सभी गोपियों को चमत्कारपरायण करनेवाली उन्ही श्रीराधिका की हम वन्दना करते हैं ॥५०॥

"तामेवोद्दिश्य चलकुण्डलेत्यादौ च कवयन्ति;

"तदधररसमाचान्तं, प्रागकृत द्विर्यदेष तद्युक्तम् ।
द्विजसंस्कृतताम्बूलं, कथमद्यादन्यथा तस्याः ? ॥५१॥

"किञ्च, कृष्णः स्नेहस्य मूलं किल लसति वपूरूपमित्येवमस्मि-
स्तादृग्नन्दव्रजान्तर्जनसदसि सदैवानुभूतिप्रचारः ।
सोऽयं यासाममंस्त प्रणयमयऋणान्यात्मनि प्रेयसीनां
तासामप्यूर्ध्वमूर्ध्वप्रथितनिधिमणिं राधिकामेव नौमि ॥५२॥
राधा स्वकान्तं वशितं विधाय, निःशेषमाक्रीडति तेन सार्धम् ।
नाहं तथेतीव शिवा शिवान्त,-स्तनौ निलीनार्धतनुच्छलेन ॥५३॥

"अथवा—अर्धेनार्धेन तन्वा व्यतिमिलनवतो रुद्रयोरेष भावः
काव्यज्ञैस्तवर्यते यः स पुनरिह मया मन्यतां भण्यमानः ।
प्रेम्णा यौ पूर्णरूपौ त्रिजगति विदितौ राधिकामाधवाख्यौ
पूर्णाङ्गत्वं तयोरप्यतितदसमयोर्नावपीत्यौचितं न ॥५४॥

और उन्ही श्रीराधिका का उद्देश्य करके 'चलकुण्डलधर' इत्यादि के विषय में रसिक कविजन वर्णन करते हैं, यथा—श्रीकृष्ण ने पहले श्रीराधिका के अधर रस का दो बार जो आचमन किया, वह युक्ति-युक्त है, क्योंकि अन्यथा (यदि दो बार आचमन न करते तो) श्रीराधिका के दाँतों के द्वारा संस्कृत ताम्बूल को कैसे खाते ? अर्थात् आचमन करके भोजन करना ही शास्त्रसङ्गत है ॥५१॥

अब दूसरी युक्ति से श्रीराधिका की विशेषता दिखाते हैं—किंच श्रीकृष्ण ही स्नेह के मूलस्वरूप हैं, एवं वे सत्य ही मूर्तिमान् होकर विलास कर रहे हैं। इन श्रीकृष्ण में इस प्रकार के अनुभव का प्रचार उस प्रकार के महास्नेही श्रीनन्दजी के व्रज के अन्तर्गत जनों की सभा में सदैव होता रहता है। एवं-गुणविशिष्ट श्रीकृष्ण भी जिन प्रेयसी गोपियों के प्रेममय ऋणों को अपने ऊपर ही मानते रहे। अतः मैं तो उन सब गोपियों के ऊपर से भी ऊपर विख्यात, निधियों की भी रत्नस्वरूप श्रीराधिका को ही नमस्कार करता हूँ ॥५२॥

श्रीराधिका अपने प्रियतम को वशीभूत करके उसके साथ सम्पूर्णरूप से निरन्तर क्रीडा करती रहती है, "किन्तु मैं उस प्रकार से नहीं" ऐसा विचार कर ही मानो पार्वती, शिवजी के शरीर के भीतर आधे शरीर के बहाने लीन हो गई है, अर्थात् लज्जा से मानो छिप गई है ॥५३॥

अथवा शरीर के आधे आधे भाग से परस्पर में सम्मिलित होनेवाले शिव-पार्वती के जिस इस भाव की काव्यज्ञ जन जो तर्कना (उत्प्रेक्षा) करते हैं, शिव-पार्वती के "अर्धनारी-नटेश्वर" होने के भाव को मैं कह रहा हूँ, उसको आप सब समझलो पश्चात् मानलो। शिव-पार्वती दोनों ही परस्पर में "प्रेम से परिपूर्णरूपवाली श्रीराधा-माधव नामक जो युगलजोड़ी तीनों लोक में विख्यात है, उस युगलजोड़ी का ही, प्रेम के पूर्णरूप होने के कारण, सारे अङ्गों की पूर्णता से युक्त रहना उचित है। अतः उस जोड़ी के अत्यन्त असमान हम तुम दोनों के लिए भी, वैसा प्रेमपूर्णाङ्गभाव अपने में मान लेना उचित नहीं है" इस प्रकार विचार कर ही मानो लज्जा के मारे, आपस में आधे आधे अङ्ग में धँस कर, अर्धनारी-नटेश्वर बन गये ॥५४॥

"तदेवं सति,—

वाद्ये गीते च दिव्ये प्रमदशिथिलिते भूषणानामलीना-
मप्यासीद् ध्वानवर्गः प्रतिनिधिसमये तस्य तस्यापि तत्र ।
खेदे जाते तथागात् प्रबलनटकला लास्यतां येन केश-
कर्णोत्तंसावतंसप्रमुखवरसभा तद्वदुल्लास्यते स्म ।।५५।।
एवं परिष्वङ्गकराभिमर्श,-स्निग्धेक्षणोद्दामविलासहासान् ।
समं प्रियाभिर्व्यतिकृत्य नृत्यन्, व्यञ्जीदसौ सप्रतिबिम्बबिम्बम् ।।५६।।

"ततश्च, मालाः केशालिवेशान् कुचयुगलपटीर्मण्डनान्यन्यवासां-
स्यप्येता नैव शेकुः कलयितुमसकृद् रासपर्वावसाने ।
ध्याते यत्रापि सम्प्रत्यपि मुनिविततिर्विस्मरत्येव सर्वं
चित्रं तत्प्रेयसीनां तदिह भवति किं तादृशे तत्प्रसङ्गे ।।५७।।
तं दृष्ट्वाप्यथ रासमम्बरगता रामाश्च कामार्दिता
मोहं प्रापुरदश्च तावदभितोऽप्यास्तां परं श्रूयताम् ।
चन्द्राद्यैरुपलक्षितं नभसि यद् बंभ्रम्यते सर्वदा
ज्योतिश्चक्रमिदं च विस्मयकरी चस्कम्भ यन्माधुरी ।।५८।।

अतः ऐसी स्थिति में स्वर्गीय गाने बजाने, हर्ष के कारण जब शिथिल पड़ गये, तब भूषणों का एवं भ्रमरों का शब्दसमूह होने लग गया। और गोपी एवं देवियों के प्रतिनिधि के समय में वहाँ पर वाद्य एवं गीत की खिन्नता हो जाने पर, प्रबल नृत्यकला उस प्रकार प्रकाशित हुई जिससे कि, केश एवं कानों के दोनों भूषण ही जिस में प्रमुख (प्रधान) हैं ऐसी वह सभा, गाने बजाने की तरह उल्लसित हो गई। अर्थात् केश एवं कानों के भूषण भी नाचने लग गये ।।५५।।

श्रीकृष्ण ने इस प्रकार प्रेयसी गोपियों के साथ परस्पर आलिङ्गन, हाथ से हाथ को छूना या ग्रहण करना, स्नेहपूर्वक देखना, रमणीय क्रीडा, एवं हास परिहास आदि करके नृत्य करते करते, बिम्ब एवं प्रतिबिम्ब की समानता प्रकाशित कर दी ।।५६।।

उसके बाद रासलीला की समाप्ति के समय तो ये गोपियाँ आनन्द से विह्वल हो जाने के कारण, अपनी अपनी माला, केशकलाप के जूड़ा, चोली, कंचुकी, आभूषण एवं ओढ़नी आदि अन्यान्य वस्त्रों को सँभालने के लिए समर्थ न हो सकीं। जिस लोकोत्तर रससमूहमय रासलीला का आज भी विशुद्ध हृदय से ध्यान करने पर, मुक्त मुनिगण भी सब कुछ (मैं और मेरा आदि) भूल जाते हैं। इसलिए उस प्रकार के रासप्रसङ्ग में श्रीकृष्णप्रियतमाओं को जो अपने वस्त्र आदि सँभालने की शक्ति न रही, वह कोई आश्चर्यजनक नहीं है ।।५७।।

आकाश में स्थित देवाङ्गनाएँ उस रास को देखकर मिलन की कामना से पीडित होकर मोह को प्राप्त हो गई। और यह मोहनरूपी कार्य चारों ओर फैल गया। इस बात को तो रहने दो, दूसरी बात सुनो। देखो, आश्चर्यकारिणी रासकी जिस माधुरी ने, जो बारंबार निरन्तर आकाश में घूमता रहता है, ऐसा चन्द्र सूर्यादि ग्रहों से विशिष्ट यह तारामण्डल भी रोक दिया था ।।५८।।

"तदेवं लीलालुब्धासु परमावेशतः सप्रियासु तासु विलुभित-क्रियासु रासविलासः समुपरराम ॥५६॥

"उपरमति च तस्मिंस्तत्तदननुसन्धानसन्धिमनु तानि मिथुनानि यथावत् कुञ्जाय कुञ्जाय पृथक् पृथगन्तर्दधिरे, ॥६०॥

"अन्तर्धाय च तत्तन्मिथुनं परस्परपरिकरपरिष्कारपरायणतामाससाद ॥६१॥

"तत्र च प्रत्येकं तेषामालिङ्गनादिसचिवं वचनादिरचनमेवासीत् ॥६२॥ यथा—

"हन्त मामन्तरा कान्तमन्तराप्तं तमस्त्वया ।
इति ब्रुवन्तं श्लिष्यन्तं तं साऽसिश्चन्निजाश्रुभिः ॥६३॥

"ततश्च, हन्त क्लमः समजनि स्फुटमद्विहारा,-दस्या नवीनतरुपल्लवकोमलायाः ।
ज्ञातश्च हन्त न मयेति पृथक् स तासां, साश्रुर्ममार्ज मुहुराननघर्मविन्दून् ॥६४॥

वाष्पे मृज्ये हरिर्वाष्पं स्वेदे स्वेदं तदा दधे ।
गोपालकुलसुभ्रूणां श्रमे रासविलासजे ॥६५॥

अतः इस प्रकार परम आवेश के कारण, श्रीकृष्ण के सहित वे गोपियाँ जब लीला में लुब्ध हो गईं, एवं उनकी सारी क्रियाएँ जब शिथिल हो गईं, तब रासविलास समाप्त हो गया ॥५६॥

उस रासलीला के समाप्त होते ही, वंशी के द्वारा आकर्षण आदि पूर्वानुभूत उस उस विषय के अनुसन्धान के भेद प्रभेद को लक्ष्य करके, गोपी-कृष्णरूप वह समस्त युगलजोड़ी, विधिपूर्वक अपनी अपनी कुञ्ज में पधारने के लिए पृथक् पृथक् अन्तर्धान हो गई ॥६०॥

और अन्तर्हित होते ही वह वह युगलजोड़ी परस्पर के वस्त्र भूषण आदिकों के सँभालने की तत्परता को प्राप्त हो गई ॥६१॥

और उस वेषभूषा आदि की रचना में भी उन प्रत्येक युगलजोड़ियों की आलिङ्गन आदि के सहित वचन आदिकों की रचना ही हो रही थी ॥६२॥

यथा—हाय ! प्रिये ! मुझ कान्त के बिना तुम ने अपने चित्त में महान् शोक पाया है, इस प्रकार कह कर आलिगन करते हुए श्यामसुन्दर को उस प्रत्येक निकुञ्जस्थ गोपी ने अपने आँसुओं से भिजा दिया ॥६३॥

उसके बाद हाय ! हाय ! नवीन तरुपल्लव से भी कोमलांगी इस प्रिया को मेरे संग विहार करने से स्पष्ट ही खेद उत्पन्न हो गया है । हाय ! अब तक मैंने उस खेद को जाना भी नहीं, इस प्रकार कह कर, स्वयं भी प्रेमाश्रु बहाते हुए श्रीकृष्ण पृथक् पृथक् उन प्रत्येक गोपियों के मुख के पसीने की बूँदों को बार बार पोंछने लग गये ॥६४॥

उन गोपालकुल की अंगनाओं के रासविलास से उत्पन्न हुए परिश्रम के समय, श्रीकृष्ण अपने द्वारा पोंछने योग्य गोपी के आँसुओं के निमित्त आँसू एवं पसीना पोंछने के निमित्त, पसीना धारण कर लेते थे ॥६५॥

"तत्र बहुलसामग्रीवाहिनीनां वृन्दासखीवाहिनीनां कृतप्रश्नवृन्दायां वृन्दायां व्याकुलितं श्रीकृष्णवर्णनम् ॥६६॥ यथा—

"सास्त्रालोकनमञ्चलानिलकृतिर्वक्त्रालकाद्युन्मृजा
गण्डान्तःपरिचुम्बनं पटयुगाधानं तनूचर्चनम् ।
ताम्बूलार्पणमत्यपूर्वमधुरालापः स्तवप्रक्रिया
सेयं रासपरिश्रमप्रशमनी कान्तासु कृष्णक्रिया ॥६७॥

"अथ कान्तावर्णनं यथा—

"वक्रस्मेरविलोकनं नवदलैः संवीजनं मार्दवा-
दङ्गानामभिमर्दनं विघटितस्रग्वस्त्रसंयोजनम् ।
सम्यङ्मर्मगनर्मशर्मरचनं ताम्बूलचन्द्रार्पणं
सेयं रासपरिश्रमप्रशमनी कृष्णे प्रियाणां क्रिया ॥६८॥

"ततः स्वयमागत्य प्रत्यक्षीकृत्य चान्यथामन्यमानायां तस्यां सस्मितं पुनरमूरूचुः,—॥६९

'दृष्टं देवि मिथो हरिव्रजवधू-द्वन्द्वव्रजेनामुना
स्वीकृत्य प्रमदात् प्रयत्नविधिना नेपथ्यमङ्गे धृतम् ।

उस समय बहुत सी सेवा सामग्री को ढोनेवाली वृन्दा की सखीरूप सेनासमूह का अनेक प्रश्न करनेवाली वृन्दा के प्रति व्याकुलतापूर्वक श्रीकृष्ण का वर्णन—॥६६॥

यथा—स्वयं सजलनयन होकर देखना, अपनें अंचल से वायु करना, मुख एवं अलकावली आदि का उन्मार्जन (पोंछना), कपोलों के बीच चुम्बन करना, नीचे ऊपर के दोनों वस्त्रों को पहनाना, शरीर में चन्दन के द्वारा चित्र बनाना, ताम्बूल अर्पण करना, अत्यन्त अपूर्व मधुर वार्तालाप करना, एवं गोपी के रूप गुणादि का वर्णन करना, बस, कान्ताओं के निमित्त की गई श्रीकृष्ण की यह क्रिया उनके रासके परिश्रम को दूर करनेवाली थी ॥६७॥

अब कान्ताओं के प्रेमकृत्य का वर्णन, यथा—मन्दमुसकानपूर्वक तिरछे नैनों से देखना, नवीन पत्रों के द्वारा बीजना करना, कोमलतापूर्वक हाथ पैर आदि अंगों को दबाना, उलट-पुलट हुई माला एवं वस्त्र आदि को ठीक कर देना, अच्छी प्रकार मर्मगामी परिहासमय सुख की रचना करना, ताम्बूल के सहित कपूर देना, श्रीकृष्ण के निमित्त की गई प्रियाओं की यह क्रिया श्रीकृष्ण के रास के परिश्रम को शान्त करनेवाली थी ॥६८॥

उसके बाद स्वयं आकर और प्रत्यक्ष देखकर अन्यथा मानती हुई, अर्थात् इस गोपी-कृष्णरूप युगल-जोड़ी के बीच में ऐसी स्त्रियों के प्रवेश की सम्भावना नहीं, इस प्रकार विचारती हुई वृन्दादेवी के प्रति बहुत सी सामग्री को ढोनेवाली वे अन्तरंग सेविकाएँ पुनः मुसक्याकर बोलीं—॥६९॥

हे देवि ! वृन्दे ! यह बात हमने प्रत्यक्ष देखी है कि, श्रीकृष्ण-गोपीरूप इस युगलजोड़ी के समूह ने हमारी दी हुई वेषभूषा आदि सामग्री सहर्ष स्वीकार कर, प्रयत्न विधानपूर्वक अंग में धारण करली।

एतद्यत्र सखि ! क्षणादपगतं किं ब्रूमहे तद् वरं
गीर्नः सा भवतान्मृषा न तु रहस्तद् व्यक्तिमापद्यताम् ॥'७०॥

"अथ वृन्दा सस्मितं चेतसि चिन्तयामास,—"सत्यमाहुरिमा यत् पुनःपुनः श्रमापनोदनं सर्वेन्द्रियामोदनं शुभवेशं गानविनोद-विशेषमारभमाणानि तानीमानि मिथुनानि दृश्यन्ते ॥"७१॥

अथ स्निग्धकण्ठः समापनमाह स्म,—
"राधे ! त्वद्वल्लभः सोऽयं सर्वेषामपि दुर्लभः ।
वरीतुं त्वामन्तरङ्गमन्या गोपीर्वृतीयति ॥"७२॥

॥ इति श्रीश्रीगोपालचम्पूमनु रासविलासप्रसारणं
नाम षड्विंशं पूरणम् ॥२६॥

हे सखि ! जिस ऐकान्तिक विलास में यह सारी वेषभूषा क्षणभर में दूर हो गई, उसके विषय में हम और क्या कहें ? किन्तु हम तो इसी बात को श्रेष्ठ मानती है कि, रहस्य खोलनेवाली हमारी वह वाणी भले ही मिथ्या हो जाय, किन्तु वह रहस्य व्यक्त नहीं होना चाहिये ॥७०॥

तदनन्तर वृन्दा मन्दमुस्कयानपूर्वक चित्त में विचारने लगी—ये सेविकाएँ सत्य ही कह रही हैं। क्योंकि गोपी-कृष्णरूप ये युगलजोड़ियाँ तो श्रम को दूर करनेवाले, सब इन्द्रियों को हर्षित करनेवाले, शुभ वेश (रीति) वाले, गाने के विनोदविशेष को आरम्भ करते हुए दिखाई दे रहे हैं ॥७१॥

अनन्तर स्निग्धकण्ठ समाप्तिसूचक वचन बोला—हे श्रीराधिके ! पूर्वोक्त गुणविशिष्ट ये तुम्हारे प्राणवल्लभ सर्वसाधारण के लिए दुर्लभ होकर भी, अन्तरङ्गस्वरूपा तुमको छिपाने के लिए, अन्य गोपियों को तो मानो घेरा (वाड) की तरह तुम्हारे चारों ओर लगा रहे हैं ॥७२॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीगोपालचम्पूकाव्ये रासविलास-विस्तारणं नाम
षड्विंशं पूरणं सम्पूर्णम् ॥२६॥

अथ सप्तविंशं पूरणम्

जलकेलिर्वनभ्रमणं राससमाप्तिश्च

मधुकण्ठ उवाच,—

"अथ विलसितखेदस्वेदकुल्यायमानाः, सह हरिवरगौर्यः सूर्यपुत्रीं समीयुः ।
यदमितशतमेताः सा भजन्ती स्रवन्ती, सरभसरसपूर्तिं तत्क्षणादेव भेजे ॥१॥

अतिक्रम्य स्वमर्यादां श्यामः श्यामाश्च मां ययुः ।
इतीव यमुना श्यामा द्रागतिक्रामति स्म ताम् ॥२॥

"अथाङ्गरुचा घनचपला घनायमाना वाचा च चातकभणितस्तनितायमाना घनागमलक्ष्मीरिव लक्ष्मीलक्ष्मीपतीनां सभा सा मिहिरजाप्रवाहनभसि परस्परं हस्तग्राहमवगाहमाना भासते स्म ॥३॥

"मिथःप्रहसितप्रथाकलकलः समाकर्षणं, मुहुः स्तिमितगात्रता पृथुलवेपथुप्रक्रमः ।
तदेतदथ यत् स्थितं बत जलावगाहात् पुरा, तदेवमनुमीयते समुदियाय तस्य च्छविः ॥४॥

सत्ताईसवाँ पूरण

जलक्रीडा-वनभ्रमण एवं रासलीला की समाप्ति

अनन्तर मधुकण्ठ बोला—रासविलास के अनन्तर विलास के खेद से उत्पन्न हुए पसीने के कारण, छोटी छोटी बनावटी नदियों का सा आचरण करती हुईं, श्रीकृष्ण की रमणीय वे रमणियाँ एकसाथ यमुनाजी पर पहुंच गईं। इन अगणित गोपियों की सेवा करती हुई वह यमुनानदी तत्काल वेगपूर्वक या हर्षपूर्वक रस (जल या अनुराग) की पूर्ति को प्राप्त हो गई ॥१॥

श्रीकृष्ण एवं नित्य नवयौवना गोपियाँ अपनी मर्यादा, कृष्णपक्षे—गोपियों के साथ जातिरूप योनिसम्बन्ध, एवं गोपीपक्षे—कुल लज्जादि को त्यागकर मेरे पास आई हैं। मानो इसीलिए वह श्यामा यमुना भी शीघ्र ही अपनी मर्यादा को लाँघ गई, अर्थात् हर्षित होकर उछल पड़ी ॥२॥

तदनन्तर अपनी अपनी अङ्ग की कान्ति के द्वारा, सघन बिजली एवं मेघों का सा आचरण करनेवाली, एवं अपनी अपनी वाणी के द्वारा, चातक के से शब्द एवं मेघों की सी गर्जना करनेवाली, वर्षालक्ष्मी की सी शोभावाली, लक्ष्मीस्वरूपा गोपियों की एवं लक्ष्मीपतिस्वरूप अनन्त कृष्णरूपों की वह सभा, यमुना के प्रवाहरूप आकाश में परस्पर हाथ पकड़कर अवगाहन करती हुई, अर्थात् गोता लगाती हुई देदीप्यमान हो गई। यहाँपर गोपी-कृष्णरूप सभा को वर्षाऋतु की उपमा दी है। इसमें अनन्त गोपियों को बिजली, अनन्त कृष्णरूपों को मेघ समझना, और गोपियों की वाणी चातक के समान है, तो श्रीकृष्ण के अनेक रूपों की वाणी मेघ की गर्जना की सी है, यह समझना ॥३॥

और आपस में हासपरिहास के विस्तार के साथ सुमधुर कलकलध्वनि, आपस में खींचातानी, बारम्बार (पसीने के कारण) भीगे हुए गात्र से युक्त हो जाना, अधिक कँपकँपी का आरम्भ, अहह ! गोपी-कृष्णरूप युगलजोड़ियों के शरीर में जल में अवगाहन (गोता लगाना) से पहले ही जो चिह्न स्थित थे, उनसे यह अनुमान किया जाता है कि, मानो उस जलावगाहन की छबि ही उत्पन्न हो गई है ॥४॥

यदा जलं न हि विविशुर्नतभ्र् व,-स्तदामुना प्रसिषिचिरे समं तथा ।
अमुं यथा लघुगतिमत्र मेनिरे, विभूभवन्नुदकभृदञ्चतीति ताः ॥५॥

जलादेवं सिषेचामूर्घनं घनरसप्रदः । विविशुर्जलमेवामूर्यथासारशरार्दिताः ॥६॥

तदावलग्नदघ्नं वार्मग्नाश्चपललोचनाः । कृष्णसारवधूरूपाः पुरस्ताद्गतिमद्विषन् ॥७॥

यदा तासां नेत्रप्रतिफलनमिश्रा झषगणा, मुहुर्नैवागच्छन् परिचितिविधानं कथमपि ।
तदा स्पर्धाबद्धा इव मृदुलमङ्गं भृशममी, स्पृशन्तो भीरूणां मुरहरदृशोः कौतुकमधुः ॥८॥

हंसा गतीश्चक्रखगाः पयोधरा,-न्मीना दृशः सारसनानि सारसाः ।
तासामुपेत्यापगता यतस्तदा, तेषां तु साम्राज्यमपूरि सर्वतः ॥९॥

मुखवृन्दं खलु तासां, कमलान्यभिभूय बभ्राजे ।
तज्जातिषु तदधिकता, विधुता वा किं निदानमस्ति स्म ॥१०॥

"ततश्च लोचननिकोचं हसन्तीषु तासु स्वयं तेन नागरचन्द्रेण प्रवर्तिता व्यात्युक्षी यथा—

नतभ्रू गोपियाँ जब जल में प्रविष्ट नहीं हुईं तभी, श्रीकृष्ण ने उन सबको एकसाथ सिक्तकर दिया, अर्थात् भिजा दिया। गोपियाँ श्रीकृष्ण को जलसिंचनरूप कार्य में जैसे शीघ्रगतिवाले मानती थीं, वैसे ही अनेक मूर्ति धारणकर जलधारण करनेवाले श्रीकृष्ण भ्रमण कर रहे हैं, यह भी मानती थीं ॥५॥

प्रगाढ रस को देनेवाले या जल को देनेवाले श्रीकृष्ण, जल में जाकर उन गोपियों को उस प्रकार अधिकरूप से सींचने लगे कि, जिस प्रकार जलधारा के सम्पातरूप बाणों से पीडित होकर वे सब जल में ही प्रविष्ट हो गईं। क्योंकि जल में निमग्न हो जानेपर धारासम्पातरूप बाणों की व्यथा नहीं होगी, यही भावार्थ है ॥६॥

उस समय कृष्णसार नामक मृगकी पत्नियाँ जैसे मृगों को आगे जाने से रोक देती हैं, तैसे ही चंचल-लोचना उन गोपियों ने कमरतक जल में धँसकर श्रीकृष्ण का सम्मुख जाना रोक दिया ॥७॥

जिस समय उन गोपियों के नेत्रों के प्रतिबिम्बों में मिली हुईं अनेक मछलियाँ बारम्बार परिचय करती हुईं भी "ये नेत्र हमारे हैं, या गोपियों के" इस प्रकार के परिचय की विधि को किसी प्रकार भी न प्राप्तकर सकीं, तब वे मछलियाँ मानो स्पर्धा के बन्धन में बँधी सी होकर, भयशील गोपियों के कोमल अङ्ग को बार बार छूती हुईं, श्रीकृष्ण के नेत्रों के कौतुक को पुष्ट करने लग गईं ॥८॥

हंसगण उन गोपियों की चाल को, चकवा पक्षी उनके स्तनों को, मछलियाँ उनके नेत्रों को, सारस पक्षी उनकी कांची (करधनी) को प्राप्त करते ही, वहाँ से चले गये। क्योंकि उस समय उन हंस आदिकों का साम्राज्य सर्वतोभाव से परिपूर्ण, अर्थात् समाप्त हो चुका था। तात्पर्य—सम्राट के सामने जैसे साधारण राजा परास्त हो जाते हैं, वैसे ही वे हंस आदि गोपियों की चाल आदि से परास्त होकर भाग गये ॥९॥

निश्चय ही उस समय गोपियों का मुखसमूह कमलों को परास्त करके विशेष शोभा पाने लगा। उनके परास्त करने में कमलों की जाति में गोपियों के मुखसमूह की अधिकता, अथवा मुखसमूह का चन्द्रभाव ही मूल कारण था ॥१०॥

उसके बाद सभी गोपियाँ जब कटाक्षपूर्वक हँस रही थीं, तब नागरचन्द्र (चतुरराज) श्रीकृष्ण के द्वारा स्वयं प्रवर्तित परस्पर जलसेचनरूप युद्ध का वर्णन, यथा—विमान में बैठी हुई देवाङ्गनाएँ परस्पर

"मेघं विद्युद्विद्युतं चात्र मेघः, सिञ्चत्युच्चैर्मेघतुल्ये प्रवाहे ।
चित्रं चित्रं चित्रमेतत् किमेतत्, नाट्यं पश्येत्यूचिरे व्योमरामाः ॥११॥
ततश्चाकण्ठनिर्मग्ना महिलाः कमलाननाः ।
मधुसूदनसंसक्ता कमलिन्य इव स्थिताः ॥१२॥
गणे गौराङ्गीणां हरिरचितधर्षात् परिभवं
गते तत्र स्वर्णाम्बुजघनवनी निह्नुतिमदात् ।
विपर्यासो यर्ह्यस्फुरदिह च नीलाम्बुजवनी
तदा तस्यापह्नुत्यपचितिकृतेऽभूदनुपदम् ॥१३॥
अम्बुजगन्धि तथाम्बुज,-रूपं मधुयुग्यथाम्बुजं तदिव ।
तासां तस्य च वदनं, किं जलकेलावदाद्भ्रमं न मिथः ॥१४॥
कथञ्चिदपि या लब्धा हरिणाम्भोजकानने ।
किमपि व्यञ्जयामास तस्या हाहाकृतिः परम् ॥१५॥
स्मितविलसितनीलाम्भोजमासीददेका, मुखमनु हरिवक्त्रस्फूर्तिसन्दिग्धचित्ता ।
इह च वरमरन्दस्वादमासाद्य सद्यः, समरुचियुवतीभ्यः शङ्किनी स्वं जुगोप ॥१६॥

कहने लगीं कि—आश्चर्य ! आश्चर्य ! महान् आश्चर्य ! अरी बहन ! देख तो सही । यह कैसा विचित्र नाटक है कि, मेघ के समान श्यामवर्णवाले श्रीयमुनाजी के प्रवाह में बिजली मेघ को सींच रही है, एवं मेघ बिजली को विशेषरूप से सींच रहा है ॥११॥

तदनन्तर कण्ठपर्यन्त जल में निमग्न हुईं कमलमुखी गोपाङ्गनाएँ श्रीकृष्ण से संयुक्त होकर, भ्रमरों से संयुक्त कमलिनियों की तरह शोभायुक्त हो गईं ॥१२॥

गौराङ्गी गोपाङ्गनाओं का गण श्रीकृष्ण के द्वारा रचे गये धर्षण के कारण, जलयुद्ध में जब परास्त हो गया, तब सुवर्ण वर्णवाली घनी वनी ने उसको गुप्त होने का सहारा दे दिया, अर्थात् वे सब अपने से वर्णवाले कमलों में छिप गईं । और इस युद्ध में जब विपरीतता स्फूर्ति पाने लगी, अर्थात् गोपियों के द्वारा जब श्रीकृष्ण हार गये, तब नीलकमलों की वनी (सघन वन) श्रीकृष्ण की गोपन (छिपाना) रूप सेवा के लिए पद पदपर सहायक हो गई, अर्थात् श्रीकृष्ण नीलकमलों में मिलकर अपने को छिपा लेते थे ॥१३॥

इस जलक्रीडा में गोपियों के एवं श्रीकृष्ण के कमल की सी सुगन्धवाले, तथा कमल के से रूपवाले मुख ने मधु से युक्त कमल की तरह, आपस में क्या भ्रम को नहीं दिया ? अपितु दे ही दिया । अर्थात् जल में निमग्न हुए अनन्त गोपी-कृष्ण परस्पर के मुख को ही कमल समझकर भ्रान्त हो जाते थे कि, ये कमल हैं या मुख ? ॥१४॥

उस समय श्रीकृष्ण ने कमलवन में जो कोई गोपी किसी प्रकार यदि प्राप्तकर ली तो उस गोपी का केवल हाहाकार शब्द ही किसी अनिर्वचनीय सुख-दुःखरूप विषय को प्रगटकर देता था ॥१५॥

अपने मुख को लक्ष्यकर श्रीकृष्ण के मुख की स्फूर्ति के सन्देह से युक्त चित्तवाली एक गोपी ने मन्द-हास से विलसित नीलकमल को, अर्थात् श्रीकृष्ण के मुख को पा लिया । और इस मुखकमल में शीघ्र ही श्रेष्ठ मधु के आस्वाद को प्राप्तकर, अपने समान रुचिवाली युवतियों से शङ्का करके अपने को छिपा लिया ॥१६॥

दुर्लभं यदजनि स्वयंग्रहा,-लिङ्गनं तदिह जातमञ्जसा ।
र्याह मग्नमनया गभीरवा,-रुज्जहार हरिरप्यमूमथ ॥१७॥

द्रुतमथ वररामा ! वारि वक्षोजदघ्ने, युगपदयि ! भवत्यः प्राणनाथं विजेतुम् ।
स्थगितगतिकराभ्यामिच्छवः सेक्तुमुच्चैः, कथमथ बत जिग्युर्जिग्यिरे वा कथं नु ॥१८॥

पद्मिन्या मुखपद्मं मुद्रितमपि स मधुसूदनः पिबति ।
इति मिषकलया सुदृश,-श्छलितदृशस्तद्वदाचरत् कृष्णः ॥१९॥

हरिणा हृदये तासां वितीर्णा नखरव्रणाः ।
अद्भुतं सहसा श्लिष्टा मदनेषुकृतव्रणाः ॥२०॥

औपजानुकभुजस्तु यदासौ, पार्श्वतीय-मुखतीयतयासीत् ।
औपकर्णिकदृशां स तदासा,-मौपनीविककरोऽप्यजनिष्ट ॥२१॥

यदा राधा वारिकेलौ सखीनां पुरतो गता ।
विनापि सेकं स तदा जडतामभजत् प्रियः ॥२२॥

श्रीकृष्ण का जो आलिङ्गन स्वयं ग्रहण करना दुर्लभ था, वह आलिङ्गन इस जल में अनायास संघटित हो गया। और श्रीकृष्ण के आलिङ्गन को प्राप्त करनेवाली यह गोपी जब गम्भीर जल में गोता लगा गई, तब श्रीकृष्ण ने भी इसको जल के ऊपर उछाल दिया ॥१७॥

अनन्तर जलक्रीडा देखनेवाली देवाङ्गनाएँ बोलीं—हे श्रेष्ठ रमणीस्वरूपा गोपियो ! आप सबने एक-साथ स्तनपर्यन्त जल में शीघ्र प्रविष्ट होकर, अपने प्राणनाथ को जीतने के लिए रुकी हुई गतिवाले अपने अपने हाथों के द्वारा विशेष सींचने की इच्छा से युक्त होकर, उनको किस प्रकार जीत लिया, और तुम्हारे प्राणनाथ ने तुमको किस प्रकार जीत लिया ? विचारनेपर दोनों ही बातें हर्षप्रद हैं ॥१८॥

अरी ! गोपी ! देख, कमलिनी का मुखकमल मुँदा हुआ था, तो भी वह भ्रमर उसका हठात् पान कर रहा है। इस प्रकार के छल की कला के द्वारा जिसके नेत्र छल लिए, ऐसी सुनैनी गोपी के साथ श्रीकृष्ण भी भ्रमर का सा आचरण करने लग गये, अर्थात् उसके मुखमधु का पान करने लग गये ॥१९॥

आश्चर्य की बात तो यह है कि, श्रीकृष्ण ने उन गोपियों के हृदयपर जो नखों के व्रण (आघात) किये थे, वे सहसा श्रीकृष्ण से मिलते ही उनके हृदय में कामबाणों के द्वारा की हुई व्यथा को देने लग गये ॥२०॥

किन्तु पास में खड़े होने के कारण, एवं मुख के निकटस्थित होने के कारण, श्रीकृष्ण जब उन गोपियों के घुटनों के पासतक फैलती हुई भुजा से युक्त हो गये, तब तो वे कर्णपर्यन्त विशाल नेत्रोंवाली उन गोपियों की नीवी के पासतक जानेवाले हाथों से युक्त हो गये। अर्थात् श्रीकृष्ण जब सम्मुख खड़े होकर उनके घुटनोंतक हाथ फैलाने लगे, तब तो धीरे धीरे उन गोपियों के कटिवस्त्र के बन्धन के पास भी हाथ फैलाने लग गये ॥२१॥

जलक्रीडा करने के निमित्त श्रीराधिका जब सब सखियों के आगे चली गईं, तब तो प्रियतम श्रीकृष्ण जल के सेक के बिना ही जडता को प्राप्त हो गये ॥२२॥

राधापुरःसरतया जलकेलियुद्धे, कृष्णं चकार जडमुद्यममन्तरापि ।
नैतद् विवेद वनितानिचितिर्मिथस्तु, स्वीयामभिन्नपदसौ जितकाशितां च ॥२३॥
अलकवलयिनेत्रं कञ्जनेत्रेण कीर्णं, स्वमनु मधुपतीक्ष्णं कञ्जमुन्नीय तस्याम् ।
सभयमपगतायां तत्र सेनाधिपायां, स तु तदनुगसैन्यं प्राविशच्चाविशच्च ॥२४॥

"ततश्च, नीरकेलिभृतरागचक्षुषा,-मट्टहासनिभहासरोचिषाम् ।
मारयुद्धलसदुद्धतश्रियां, रौद्रवद् व्यजनि सोऽप्यसौ रसः ॥२५॥
ततः क्रीडायुद्धं दधदघरिपुर्नीरविहृति-
प्रथायामेकाकी व्रजयुवतिकोटीभिरभितः ।
तथा कृत्वा तीरं प्रसभमितवान् सम्प्रति यथा
पुरा कात्यायन्या भजनकृतिकन्यास्वकुरुत ॥२६॥

"ततश्च, मरालकूजिता नीरवसना नीरजानना: ।
चञ्चद्भ्रमरका नीरजानां नाल्य इव स्थिताः ॥२७॥
अथ हा हा हासशब्दाः प्रवृत्ता नीरतीरयोः ।
एके चातकगीस्तुल्याः परेऽल्पस्तनितप्रभाः ॥२८॥

श्रीराधिका ने जलक्रीडा युद्ध में अग्रसर होकर, किसी उद्यम के बिना भी, श्रीकृष्ण को जड अर्थात् निश्चल कर दिया, किन्तु गोपियों के समूह ने आपस में इस बात को नहीं समझा। और श्रीकृष्ण ने तो ऐसा करके श्रीराधिका से अपने अभेद को एवं जयशीलता को जना दिया ॥२३॥

कमलनयन श्रीकृष्ण ने अलकावलियों से घिरे हुए अपने नेत्र को जब राधिका की ओर फेंक दिया, एवं गोपीरूप सेना की नायिका राधिका भी, अपनी ओर लक्ष्य करके आते हुए भ्रमरों से तीक्ष्ण एक कमल की तर्कना करके, जब वहाँ से भयपूर्वक दूर चली गई, तब श्रीकृष्ण भी राधिका की अनुगामी सेना को प्राप्त हो गये और उसी में घुलमिल गये ॥२४॥

और उसके बाद जिनके नेत्र जलक्रीडा के कारण लाल या अनुराग से भरपूर हो गये थे, एवं जिनके हास्य की प्रभा अट्टहास के समान थी, तथा कामयुद्ध में जिनकी शोभा विराजमान एवं उद्धत (विशेष) हो रही थी, उन सब गोपियों का वह अपूर्वरस भी रौद्ररस के समान हो गया था ॥२५॥

तदनन्तर जलविहार के विस्तार के निमित्त अकेले ही श्रीकृष्ण करोड़ों व्रजयुवतियों के साथ चारों ओर क्रीडायुद्ध करते हुए इस समय उस प्रकार वस्त्रहरण करके वेगपूर्वक तीरपर चले गये, जिस प्रकार पहले कात्यायनी का भजन करनेवाली कन्याओं के विषय में वस्त्रहरण किया था ॥२६॥

उसके बाद हंस की सी बोलीवालीं, जलरूप वस्त्रोंवालीं, कमल के से मुखोंवालीं, एवं हिलते तथा ललाटपर लटके हुए केशोंवालीं वे सब गोपियाँ, कमल की डण्डियों की तरह जल में ही खड़ी रहीं। कमलों की डण्डियाँ भी हंसों के द्वारा ध्वनित रहती हैं, जल में वास करती हैं, कमल ही उनके मुख होते हैं, एवं भ्रमरगण उनके ऊपर भ्रमण करते रहते हैं। यह दृष्टान्तपक्ष में अर्थ हुआ ॥२७॥

तदनन्तर नीर एवं तीरपर हा ! हा ! रूप हास्य के शब्द होने लग गये। जल में स्थित गोपियों के शब्द तो चातक की सी वाणी के समान श्रीकृष्णमेघ की प्रार्थनामय थे। और दूसरे अर्थात् तीरपर खड़े हुए श्रीकृष्ण के शब्द गोपीरूप चातकों की सान्त्वनार्थ मेघ की कोमल गर्जना के तुल्य थे ॥२८॥

"ततश्च बहुधा परिहस्य विनोदविशेषाय सख्यातिरेक-विवेकाय च द्वाभ्यां द्वाभ्यामेकमेकमंशुकं दत्तवान्, हरिस्ताः सर्वा वस्त्रैकैकवेष्टितद्विद्विकाययष्टीरुत्थिता निरीक्ष्य प्रतिमुखं परीक्ष्य च बहु जहास ॥२९॥

"हसित्वा च तासामुत्तमुत्तमं वासस्तथा धारयन्तीनां चञ्चलतासम्भृतं तिर्यगञ्चलतासंवृतं संभवदरुणगुणं मध्ये मध्ये स्तम्भननिपुणं क्वचन क्वचन चाकस्मिकस्मितलम्भं विनापि दृगम्भः क्रन्दितेन विलोकितदम्भं विलोचनसंरम्भं लम्भं लम्भं त्रिलोकीमोहने चिकीर्षिततदीयरुचिदोहने कुसुमासारकारिणी विमानचारिणीसंहतिः प्रशस्तवस्त्रालङ्कारमाल्यादीनां पुटीः पेटाश्च तत्पुरतः शनैः पातनमनैषीत् ॥३०॥

"कृष्णस्तु ताः सर्वस्तुताः समुन्नवस्त्राः पश्यन्नतिसमुन्नता-नन्दवश्यः स्वयमनुरज्य समुपयुज्य विभज्य च तानि वस्त्रादीनि प्रत्तवान् ॥३१॥

"तत्र प्रथमतः स्वल्पेनैव तेन तेन विच्छित्तिर्जाता ॥३२॥ यथा—

"मज्जनेन तनुरोचिराचितं, सूक्ष्मशुभ्रवसनं सतच्छवि ।
चित्रकं द्युतिविचित्रमित्यदः, प्रायवेशमरुचन् हरिप्रियाः ॥३३॥

और उसके बाद श्रीकृष्ण ने अनेक प्रकार का परिहास करके विनोदविशेष के लिए, एवं आपस की मित्रता की अधिकता की जानकारी के लिए, दो दो गोपियों के लिए एक एक वस्त्र दे दिया। पश्चात् श्रीकृष्ण एक एक वस्त्र के द्वारा परिवेष्टित दो दो कायारूप यष्टिवाली उन सब गोपियों को जल से उठती हुई देखकर, एवं प्रत्येक के मुख की परीक्षा करके अधिक हँसने लग गये ॥२९॥

और हँसकर गीले तथा उत्तम उस वस्त्र को पूर्वोक्त प्रकार से धारण करनेवालीं उन गोपियों के चंचलता से भरे हुए, टेढ़े अंचल के भाव से ढके हुए, होते हुए अरुणगुण से युक्त, एवं बीच बीच में होनेवाली रुकावट में निपुण, तथा कभी कभी कहीं कहीं आकस्मिक मन्दहास्य से युक्त, और अश्रुजल के बिना भी रोने के द्वारा दम्भ का दर्शन करानेवाले, ऐसे नेत्रों के आडम्बर को बारम्बार प्राप्तकर, चाहना के अनुसार गोपियों की रुचि को पूर्ण करनेवाले, त्रिभुवनमोहन श्रीकृष्ण के ऊपर पुष्पों की वृष्टि करनेवाली, विमानचारिणी देवाङ्गनाश्रेणी ने प्रशंसनीय वस्त्र, भूषण, माला आदिकों की डिबियाँ एवं भारी भारी पेटियाँ श्रीकृष्ण के आगे धीरे धीरे धरती पर गिरा दीं ॥३०॥

श्रीकृष्ण ने तो सभी के द्वारा प्रशंसित एवं गीले वस्त्रोंवाली उन गोपियों को देखते हुए, अत्यन्त उच्चकोटि के आनन्द के वशीभूत होकर, स्वयं अनुरक्त होकर, अपने उपयोग में लाकर, सभी को प्रसादी बनाकर, विभागकर उन वस्त्र आदिकों को सभी गोपियों के लिए दे दिया ॥३१॥

उन वस्त्रादिकों के दान के बाद पहले थोड़े से ही उस उस वस्त्रादि के द्वारा अङ्गराग किंवा शोभा हो गई ॥३२॥

यथा—श्रीकृष्णप्रियाएं प्रायः इस प्रकार के वेष से देदीप्यमान हो गईं। स्नान के द्वारा शरीर की कान्ति बढ़ गई, शरीर की कान्ति के सहित सूक्ष्म एवं शुक्लवर्ण का वस्त्र सुशोभित हो गया, और तिलक भी शोभा से विचित्र ही दीखता था ॥३३॥

"बहुभिर्भूषणैस्तु तत्र तत्र मिथुने परमशोभानेत्रलोभाय जायते स्म ॥३४॥

"तथाहि—यदा सदा-नूतनवेशयौवनं, तथाविधाभिः सममीक्षते हरिम् ।
मत्वा तदा नव्यवधूवरानमून्, दिव्यो जनः पुष्प-कुलानि वर्षति ॥३५॥

"अथ वनविहाराय हरिणाक्षीणां ततिरेवमादि व्याजं व्याजहार,— ॥३६॥

'अनङ्गो नाम सेनानीः कृष्ण ! कस्तव विद्यते ?
हन्त दर्शय तं नित्यं सखीयं मां ब्रवीति यम् ॥'३७॥

"श्रीकृष्णस्तु गूढस्मितमूचिवान्; तत्र श्रीराधां प्रति यथा—
'राधे ! मैषीर्द्रष्टुमनङ्गम् ।
तस्य तु पश्य गणं कृतसत्कृतसुकृतसुलम्भितसङ्गम् ॥ध्रु॥३८॥

तरुवल्लीततिदम्पतिपल्ली भवतीमतिथीयन्ती ।
आकारयति चलन्नवपल्लवपाणिभिरात्मीयन्ती ॥३९॥

सा पुनरिह कुसुमानि किरति पथि रचयितुमास्तरचर्याम् ।
कोकिलकुलमपि तव हूतिं किल कलमनु कलयति वर्याम् ॥४०॥

अनेक भूषणों के द्वारा तो गोपी-कृष्णरूप उस उस युगलजोड़ी में नेत्रों को लुभाने के लिए परम-शोभा उत्पन्न हो गई थी ॥३४॥

देखो, देवसमूह सदा नवीन वेष एवं नित्य नवयौवन से युक्त गोपियों के सहित नित्य नवीन वेष एवं नित्य नवयौवन से युक्त श्रीकृष्ण को जब जब देखता था, तब तब इनको नवीन वर-वधू मानकर पुष्प-समूह की वर्षाकर देता था ॥३५॥

उसके बाद हरिणलोचना गोपीश्रेणी वनविहार करने के लिए छलपूर्वक इस प्रकार के वचन बोली—॥३६॥

यथा—हे प्रियतम ! कृष्ण ! तुम्हारा अनङ्ग नामक कौन सा सेनापति है ? अहह ! जिसके विषय में यह मेरी सखी नित्य ही मुझसे कहती रहती है, उसका नेक दर्शन तो करा दीजिये ? ॥३७॥

श्रीकृष्ण तो गुप्तरूप से मुसक्याकर बोले—उनमें भी श्रीराधा के प्रति, यथा—हे राधिके ! तुम अनङ्ग को देखने की इच्छा मत करो। किन्तु उस अनङ्ग के परिकर को देख लो। जिसका कि सङ्ग सत्कारपूर्वक किये गये सुकृत के द्वारा प्राप्त होता है ॥३८॥ध्रु॥

और देखो, वृक्षलतासमूहरूप जो दम्पति है, वही एक छोटा सा ग्राम है। वह छोटा सा ग्राम मानो तुमको अपना अतिथि बनाना चाहता हुआ, एवं अपने जनका सा व्यवहार करता हुआ, चलते हुए नवपल्लवरूप अपने हाथों के द्वारा तुम को बुला रहा है ॥३९॥

और वह छोटा सा ग्राम ही तुम्हारे सुख विहारार्थ मार्ग में शय्या की परिचर्या करने के लिए, पुष्पों को बखेर रहा है। और कोकिलसमूह भी सुमधुर ध्वनि का अवलम्बन करके, तुम्हारा श्रेष्ठ आह्वान-कर रहा है ॥४०॥

भ्रूङ्कारेण च भेरीशब्दं भ्रमरा विदधति ससुखम् ।
शिखिशतमपि बत तनुते नर्तनमभितश्चालीप्रमुखम् ॥४१॥
निजरुचिदीपं परितः प्रथयति सोऽयं रजनीस्वामी ।
एष च पन्थाः स्वं विस्तृतवांस्त्वत्पदरजसां कामी ॥' इति ॥४२॥

"अथ सवितृसुताया धन्यवन्याप्रदेशे, विरचितबहुवेशे ता विरेजुः सकान्तम् ।
तमनु परपरस्मिन् वासरे कार्यमन्यद्, बिलसितमनुकान्तं सूचयामास कान्तः ॥४३॥

अथ भ्रमरदम्पति-र्व्रजजनः प्रतिस्वं निजा-
लयादनुगतिं दधद्ध्रुविकगीतवद्गीतवान् ।
अहो किमिव सोऽपि तं निजरमायुतं तद्वन-
प्रभुं प्रमितवाननुव्रजति तत्र सर्वत्र च ॥"४४॥

अथ स्निग्धकण्ठः पप्रच्छ,—

"रात्रिः किञ्चिन्मात्रशेषत्वमागाद्,-बंभ्रम्यन्ते स्मापि तस्मिन् सपत्न्यः ।
क्रीडा तृष्णा धृष्णगेवाङ्ग ! जाता, हा किं चक्रे तत्र कृष्णाङ्गनाभिः ?"४५॥

तत्र मधुकण्ठ उवाच,—"ततश्च तद्वनस्य निर्वर्णनपूर्वकं वर्णनं विधाय केलिकलापे विधीयमाने,—

और भ्रमरगण भ्रूङ्कार के साथ सुखपूर्वक भेरी (दुन्दुभि) का सा शब्द कर रहे हैं। तथा सैकड़ों मयूर भी हर्षपूर्वक चारों ओर प्रधान सखियों की तरह, चाली आदि नृत्य के भेदपूर्वक नृत्यकर रहे हैं ॥४१॥

और यह रात्रि का स्वामी चन्द्रमा अपनी कान्तिरूप दीपक को चारों ओर फैला रहा है और तुम्हारी चरणरज की कामनावाला यह मार्ग अपने आपको फैला रहा है ॥४२॥

तदनन्तर अनेक प्रकार के वेशों की रचना से युक्त, श्रीयमुनाजी के प्रशंसनीय वनसमूह के प्रदेश में वे गोपियाँ प्रियतम श्रीकृष्ण के सहित शोभा पाने लगीं। और प्रियतम श्रीकृष्ण ने भी जिस दिन रासलीला हुई थी उस दिन के पीछे "अगले अगले दिनों में दूसरा विलास करना चाहिये" यह सूचना प्रत्येक गोपी को दे दी ॥४३॥

उसके बाद भ्रमर-भ्रमरीसमूहरूप जन अपने स्थान से प्रत्येक युगलजोड़ी का अनुगमन करता हुआ, माङ्गलिक गीत की तरह गायन करने लगा। अहो ! कैसे आश्चर्य की बात है कि, वह भ्रमर-भ्रमरीसमूह-रूप जन भी, लक्ष्मीस्वरूपा अपनी गोपियों के सहित उस वृन्दावन के स्वामी श्रीकृष्ण को भली प्रकार जानता हुआ, वहाँपर सब जगह उनका अनुगमन करता रहता है ॥४४॥

अनन्तर स्निग्धकण्ठ ने पूछा कि—भैया मधुकण्ठ ! रात्रि तो किंचित्मात्र ही शेष रह गई थी, और उस रात्रि के शेषभाग में ही कृष्ण के सहित वे गोपियाँ पुनः पुनः भ्रमणकर रही थीं। उनकी क्रीडा की तृष्णा पुनः प्रबल ही होती जा रही थी। हाय ! ऐसी स्थिति में रात्रि के उस शेषभाग में श्रीकृष्ण की अङ्गनारूप गोपियों ने क्या किया ? ॥४५॥

मधुकण्ठ तत्काल बोला—तदनन्तर दर्शनपूर्वक उस वन का वर्णन करके जब अनेक क्रीडाएँ की जा रही थीं, तब श्रीकृष्ण ने प्रेयसी गोपियों के साथ परस्पर छिपे हुए जनों का अन्वेषण करनारूप जो

"अन्योऽन्यं निह्नुतान्वेषणकृतिविहृतिं प्रेयसीभिर्मुरारि-
र्यां चक्रे सा रहस्तन्मिथुनमिथुनताकारणं जायते स्म ।
यत्रान्विष्यानुयाता विविधगतिवपुःस्फूर्तिना तेन या या
कुञ्जान्तस्तं गृहीत्वा पृथगपरदृशां दूरतां साश्वति स्म ॥४६॥

कथञ्चन ददर्श या क्वचिदपीह कृष्णान्वितां
वधूं रहसि कामपि स्वयमिदंविधा काचन ।
प्रतीतिमगमन्नहि स्फुटममूं तमालान्वितां
स्फुटत्पुरटयूथिकां सपदि मन्यमाना हृदि ॥४७॥

शिञ्जितं विहगकाकली-कुलै,-र्गानमन्यभृतसम्भृतस्वरैः ।
रूपमप्यथ तमाल-चम्पक,-श्रेणिभिर्मुहुरवारि तादृशाम् ॥४८॥

यत्र सन्तमसमस्ति सन्ततं, तद्वनं न परदुर्गमं परम् ।
कुञ्जमध्यलसदोषधीश्रिया, तत्र तत्र मिथुनर्धिवर्धि च ॥४९॥

अथ रहसि गिरां विलासकम्र, चलदमलाङ्गविकासिरोमहर्षम् ।
स्मरवलयिकलास्पृहातिलोलं, दिदिवुरलं युगलानि तानि तत्र ॥५०॥

विहार किया था; बस, वह 'आँखमिचौली'रूप विहार ही एकान्त में श्रीकृष्ण-गोपीरूप युगलजोड़ी की सुरतक्रीडा का कारण हो गया था। और जिस वृन्दावन में अनेक प्रकार की गति एवं शरीरों को प्रगट करनेवाले श्रीकृष्ण ने, जिस जिस गोपी को ढूँढ़कर प्राप्तकर लिया, वह वह गोपी श्रीकृष्ण को पकड़कर कुञ्ज के भीतर पृथक् पृथक् अन्यजनों की दृष्टि से बहुत दूर चली जाती थी ॥४६॥

एकान्त में श्रीकृष्ण से स्वयं मिली हुई जो कोई गोपी इस वन में किसी प्रकार किसी स्थानपर, श्रीकृष्ण से युक्त किसी वधू को एकान्त में यदि देख लेती थी तो भी, वह इस विश्वासपर न पहुँची कि यह गोपी ही कृष्ण से मिली हुई है, क्योंकि वह तो तत्काल अपने मनमें स्पष्टरूप से श्यामतमाल से मिली हुई खिलती हुई सुवर्ण की जूही नामक लता को ही मानती रही ॥४७॥

उस प्रकार की ऐकान्तिक क्रीडा करनेवाली उन युगलजोड़ियों के भूषण शब्द को पक्षियों के कलरवकुल ने छिपा लिया, एवं उनके गाने को कोकिलगण के परिपुष्ट स्वरों ने दबा लिया, और उनके रूप को तमाल एवं चमेली की पंक्तियों ने बारम्बार निवारणकर दिया ॥४८॥

और जिस वन में निरन्तर गाढ़ा अन्धकार है, वह वन केवल दूसरों के लिए दुर्गम ही नहीं, किन्तु निकुञ्ज के बीच में देदीप्यमान औषधी की शोभा के द्वारा, तत्तत् स्थलपर उस युगलजोड़ी की समृद्धि को भी बढ़ानेवाला हो रहा था ॥४९॥

अनन्तर उस वन में उस उस निकुञ्ज में गोपी-कृष्णरूप वे युगलजोड़ियाँ अत्यन्त क्रीडा करने लग गईं। क्रीडा करते समय उनके रमणीय वाक्यविलास होने लगे, चलते हुए निर्मल अङ्गों में रोमाञ्च विकसित हो उठे, एवं काम से युक्त चुम्बन आदि कलाओं की वाञ्छा से अति चञ्चलता हो चली ॥५०॥

"अथ क्रमवशादद्भुत-भयानक-रौद्र-बीभत्स-वत्सल-करुण-वीर-हास्य-शान्त-शृङ्गाररसाः शृङ्गारानुकूलतया यथायोगं रसयितुमासादिताः ॥५१॥

"यथा—क्वचिदहीन-तुहिनमरीचिमरीचिविरोचमानकानने परिचितापरिचित-नाना-विधमृग-पक्षि-वृक्षवल्ली-विलक्षणताविलोकनाय कृतपरिभ्रमणम्। क्वचिदपि मदाकुलभ्रमरकुल-संकुलगूढकुडुङ्ग-कुसुमचय-चयनाय कम्पमानप्राणप्रणयिनीजनस्य प्रकटचाटुताघटनाय तत्र बलादिव विरचित-प्रवेशनाभिनिवेशम्। क्वचिदपि धृष्ट-षट्पददष्टता-लब्ध-कष्टस्पष्टदुष्परिहर-वाष्पललनावकलनादुद्दण्डितेन सनालकेलिखरनालदण्डेन तद्दण्डनाय मकरकुण्डल-तुण्डपर्यन्त-स्पर्शिरोककोकनदायमान-नेत्रपुण्डरीकम्। क्वचिदपि ललितविलासवलितानन-ललनावपुरनुभूय जुगुप्सितीकृत-स्थलकमल-स्थलावलोकनम्; क्वचिदपि शुकनिकराधिगमनीयरमणीयवाणी-विलासकलनाय सलालनकलितकलकलाकलापम्; क्वचिदपि निजलीलामिलद्वुल्लभाव-विलुलितसुललितमुकुलकुललतावकलनेन विकलतया विगलितनयनजललेशम्; क्वचिदपि

तदनन्तर क्रमपूर्वक अद्भुत, भयानक, रौद्र, बीभत्स, वात्सल्य, करुण, वीर, हास्य, शान्त एवं शृङ्गार आदि रस भी शृङ्गाररस के अनुकूल होने के कारण, यथायोग्य आस्वादित कराने के लिए लीला-शक्ति ने प्राप्त करा दिये— ॥५१॥

यथा—वे ही श्रीकृष्ण, प्रेयसीयों के साथ विलास करने लगे। इस लम्बे गद्य में 'विललास' क्रिया है, और क्रमशः अद्भुत आदि रसों के द्योतक प्रघट्टकों के अन्त में सभी क्रिया के विशेषण हैं, यह जानना। वे ही श्रीकृष्ण किसी स्थानपर पूर्णचन्द्र की किरणों से शोभायमान वन में, परिचित अपरिचित अनेक प्रकार के पशु-पक्षी, वृक्ष-लता आदिकों की विलक्षणता को देखने के लिए, परिभ्रमण करते करते, गोपियों के रमणकार्य के उपयुक्त हो गये थे। यहाँपर अद्भुतरस प्रकाशित हो रहा है। और कहींपर मतवाले भ्रमरसमूह से व्याप्त, एवं गुप्त निकुञ्ज के पुष्पसमूह का चयन करने के लिए, काँपते हुए प्राणप्रियारूप जन की स्पष्टरूप से चाटुता (चापलूसी) करने के लिए, उस निकुञ्ज में मानो बलपूर्वक प्रवेश के अभिनिवेश (आग्रह) की रचना करने लग गये। यहाँपर पुष्पों का भ्रमरों से व्याप्त होने के कारण, भयानकरस प्रकाशित हो रहा है। और किसी स्थानपर धृष्ट (ढीठ) भ्रमरों के द्वारा काटने से प्राप्त हुए कष्ट के कारण, स्पष्ट ही दुःख से भी न दूर करने योग्य, आँसुओं से युक्त गोपाङ्गना के देखते ही, ऊपर को उठाये हुए, एवं नाल के सहित तीखे लीलाकमलरूप दण्ड के द्वारा, उन भ्रमरों को दण्ड देने के लिए, मकराकृति कुण्डलों के मुखतक स्पर्श करनेवाले, अर्थात् कर्णपर्यन्त विशालतावाले एवं प्रदीप्त रक्तकमल के से श्रीकृष्ण के नेत्रकमल लाल लाल हो गये। यहाँपर रौद्ररस झलक रहा है।

और कहीं पर मनोहर विलासों से युक्त मुखवाली रमणियों के शरीरों का अनुभव करके, घृणा के योग्य स्थलकमलों के स्थल को देखने लग गये। यहाँपर बीभत्सरस चमक रहा है।

और किसी स्थानपर शुकपक्षीसमूह के द्वारा अध्ययन करने योग्य रमणीय वाणीविलास को सिखाने के लिए, लालनपूर्वक (प्यारपूर्वक) मधुर एवं अस्पष्ट ध्वनि की कला के समूह को सिखाने लग गये। यहाँपर वात्सल्यरस है।

और कहींपर अपनी लीला से मिलते हुए चञ्चलभाव के कारण मर्दित (मिड़े हुए) सुन्दर कलिका-समूह से युक्त लताओं के देखने के कारण, उत्पन्न हुई विकलता से श्रीकृष्ण के नेत्रों से जल के बिन्दु गिरने लगे यहाँ करुणरस टपक रहा है।

प्रौढतासमूढगूढगर्वपर्वखर्वणाय सदम्भरम्भोरुवरूथमनु निर्व्यूढप्ररूढमारसम्प्रहारम्; क्वचिदपि मिथुन-मिथःकेलिकलानुकृति - नियति - वलित - प्रतिच्छायावलोक-कौतुकवाहितया विहित-बहुदासम् । क्वचिदपि परस्परमपरस्परस्पर्शसुखपरामर्शजातविषयजातनिवृत्ति-चित्तवृत्तितया निमीलद्विलोचनरोचमानम्; क्वचिदपि निर्यन्त्रणरमणश्रमपरतन्त्रतन्द्रायामपि तदेव रमणं भूयः समनुभूय रागसागरायमाणजागरम् । स एष केशवः प्रेयसीभिः सह विललास ॥५२॥

"भ्रमरमिह निभाल्य दत्तचुम्बं, व्रततिषु कीरमपीह दाडिमीषु ।
पुनरपि रमणी मनोजवश्य,-स्थितिरमणाय बभूव बल्लवीषु ॥५३॥

अलिरिह वदनोपदंशमासी,-न्मधुरसपानकरः सरोजिनीनाम् ।
यदजितरमणी-ततिर्निरीक्ष्य, स्फुटमभजन्मदनं विदूरतोऽपि ॥५४॥

"तच्च तच्च न वर्णयितुमात्मशक्तिं निर्वर्णये; यतः,
"तां ज्योत्स्नीं तच्च वृन्दाविपिनमपि च तत्-कुञ्ज-वृन्दं तथा ताः
शय्या द्वे द्वे च ते ते हरि-हरिणदृशौ ताश्च सप्रेमलीलाः ।

और किसी स्थान पर बड़प्पन के कारण बढ़ी हुई गुप्त गर्वरूपी गाँठों को छोटी करने के लिए, छलयुक्त रम्भोरु गोपाङ्गनाओं के समूह को लक्ष्य करके, प्रबल कामयुद्ध की रचना करने लग गये। यहाँपर वीररस छलक रहा है।

और कहींपर गोपी-कृष्णरूप युगलजोड़ी की परस्पर क्रीडाकला के अनुकरण के नियम से युक्त प्रतिबिम्ब के देखने में जो कौतुक, उस कौतुक के प्रापक होने के कारण, बहुत सा हास्य करने लग गये। यहाँ हास्यरस है। और किसी स्थानपर आपस में भिन्न भिन्न (गोपी-कृष्णरूप व्यक्तियों) के स्पर्शसुख के विचार से उत्पन्न हुए विषयसमूह से निवृत्त चित्तवृत्ति से युक्त होने के कारण, नेत्रों की अभिलाषापर्यन्त संकुचित हो गई थी। यहाँपर शान्तरस संघटित हो रहा है।

और कहींपर बाधारहित रमण करने से जो परिश्रम हुआ, उस परिश्रम के अधीन प्राप्त हुई निद्रा में भी, उस रमणसुख को दुबारा अच्छी प्रकार अनुभव करके, अनुराग के सागर की तरह जागरण संघटित हो गया था। यहाँपर शृङ्गाररस शोभा पा रहा है। श्रीकृष्ण ने प्रेयसीयों के साथ इस प्रकार विहार किया ॥५२॥

और इसी स्थानपर लताओंपर बैठकर उनको चुम्बन का दान देनेवाले भ्रमर को एवं अनार के फलोंपर आसक्त हुए शुक (तोते) को भी देखकर, रमणकर्ता श्रीकृष्ण फिर भी कामाधीन की सी स्थिति-वाले होकर, गोपियों में रमण करने को तत्पर हो गये ॥५३॥

और यहींपर कोई भ्रमर अपने मुख से काटकर कमलिनियों का मधुरस पी रहा था, जिसको देख-कर श्रीकृष्ण का रमणीगण बहुत दूर से भी, स्पष्ट ही काम की या श्रीकृष्ण की सेवा करने लग गया ॥५४॥

उस उस गूढ-विहार के वर्णन के लिए मैं अपने में शक्ति नहीं देख पा रहा हूँ। क्योंकि शरत्कालीन चन्द्र की चन्द्रिका से युक्त उस पूर्णिमा की रात्रि को, और उसी अपूर्व वृन्दावन को, उस लोकोत्तर निकुञ्ज-समूह को, तथा उन अनिर्वचनीय शय्याओं को, एवं कृष्ण-गोपीरूप उन अनेक युगलजोड़ियों को, और

पश्यत् पश्यन्मनो मे सपदि विषयितामुज्झदत्रानुमुह्यत्-
पश्यत् द्राग्याति तत्तद्विषयवलयतां हन्त पश्यानि केन ? ॥५५॥

"तदेतदिह सामान्यतया वर्णितम्, विशेषतः पुनरेवम्,—

अन्या वर्ण्याः सन्ति यत्र स्फुरेन्न, श्रीराधायाः कापि सौभाग्यलक्ष्मीः ।
तस्याः स्फूर्तौ वर्णनायां न शक्या, साप्येवं चेदन्यवार्ता तु दूरे ॥५६॥

"ततश्च परस्परं परपरागमनाशङ्कया मंक्षु संकुचितलीला-विलासाः सविश्लेषं वेषं संश्लेषवलितं विधाय वल्लीगृहपल्लीनां बहिर्वर्तिसन्निवेशवेषं स्थलीविशेषं क्रमतः क्रामन्ति स्म ॥५७

"यत्र कृष्णस्याप्यैकध्यमुद्बुध्यते स्म ॥५८॥

"तथा च तं क्रान्त्वा च दारुणतापदारुणप्रकाशसान्निध्यं निध्यायन्ति स्म ॥५९॥

"ततः, पूर्वस्यां दिशि काचनारुणरुचिच्छायाऽऽवृणोच्चन्द्रिकां
चन्द्रोऽप्याशु तदा पतन्निव करैरालम्बतास्ताचलम् ।
इत्थं कैरविणी-कुलं किल दरग्लानिं ययावित्यमू-
स्तद् रासाङ्कितरात्रिशान्तिविबुधा मम्लुश्च कृष्णप्रियाः ॥६०॥

प्रेमयुक्त उन नृत्य गीतादि लीलाओं को देखता देखता मेरा मन तत्काल अनुसन्धान की शक्ति को छोड़ता हुआ, पश्चात् यहींपर विमुग्ध होता हुआ, पुनः पुनः उसी लीला को देखता हुआ, शीघ्र ही तत्तद् विषयरूप असाध्य कण्ठरोग से आक्रान्त हो रहा है। हाय ! तब बताओ, मैं किसके द्वारा तत्तद् विषय को देख सकता हूँ ? ॥५५॥

इस प्रकार ग्रन्थकार सामान्य वर्णन में भी अपनी अशक्ति को दिखाकर, विशेष वर्णन में कैमुत्यन्याय दिखाते हुए कहते हैं कि—यहाँ पर यह विषय सामान्यरूप से वर्णित हुआ, किन्तु इसकी विशेषता तो इस प्रकार है—जहाँपर श्रीराधिका की कोई भी सौम्यलक्ष्मी की स्फूर्ति नहीं हो पाती, वहाँपर अन्य गोपियों का वर्णन किया जा सकता है। किन्तु श्रीराधिका की स्फूर्ति होनेपर तो, जब उनकी वह अपूर्व सौभाग्य-लक्ष्मी भी वर्णन नहीं की जा सकती, तब अन्य रूप गुण श्रीकृष्ण का वशीकार आदि के वर्णन की बात तो बहुत दूर है ॥५६॥

उसके बाद सभी गोपी-कृष्ण आपस में दूसरे जनों के आने की आशङ्का से शीघ्र ही लीलाविलासों को संकुचितकर, बेमेल हुए अपने अपने वेष को पहले की तरह सम्बन्धयुक्त बनाकर, लतागृहरूप छोटे छोटे ग्रामों के बाहर की सजी हुई विहरण के योग्य अकृत्रिम भूमिविशेष में क्रमशः टहलने लग गये ॥५७॥

जिस स्थलीविशेष में श्रीकृष्ण की भी एकरूपता ज्ञात होती थी, किन्तु बहुरूपता नहीं ॥५८॥

और उस स्थलविशेष में टहलकर दारुणतापदायक सूर्य की कान्ति की सन्निधि का ध्यान करने लग गये, या अरुणोदय के प्रकाश की समीपता को देखने लग गये ॥५९॥

तदनन्तर पूर्वदिशा में किसी अपूर्व अरुणप्रभा की शोभा ने चन्द्रिका (चाँदनी) को ढक लिया। उस समय मानो चन्द्रमा ने भी शीघ्र ही गिरते हुए की तरह अपने हाथरूप किरणों से अस्ताचल का सहारा ले लिया। इसी प्रकार कुमुदिनीसमूह भी किंचिद् ग्लानि को प्राप्त हो गया। इसी कारण रासरस से अङ्कित उस रात्रि की समाप्ति को जानती हुई, वे सब कृष्णप्रियाएँ भी हर्ष से रहित हो गईं ॥६०॥

"तत्र खेचर-स्त्रीणां वचनम्,—

'नीचभाववलयो बलाद्व्रज,-न्नूर्ध्वतां निपततीति निश्चितम् ।
पश्य गोपसुमुखीमुखातिगः, पुष्करात् स्खलितवानसौ विधुः ॥६१॥

'किञ्च, अह्रियत कुवलयमाला, लीला गोपाङ्गनापाङ्गैः ।
इति किल दूनितबन्धुः, कुवलयबन्धुः पपात हा सिन्धुम् ॥६२॥

"श्रीव्रजदेवीनामपि,—

'ताराणां वृन्दमामृद्नन्नस्माकमपि सर्वतः ।
अयमाक्रमतेऽनूरुर्व्योम चाक्रामति द्रुतम् ॥६३॥

"ततश्च तासां तथाभावं विभाव्य भव्यस्वभावः स श्रीमान्नव्य-किशोरतानव्यसद्भावः प्रतिस्वमालिङ्गितानां दर्शितप्रणय-सम्पदिङ्गितानां वक्त्रकमलं स्रवदस्रं ममार्ज ॥६४॥

"सान्त्वयन्नेव चेदं सान्त्वमुवाच,—

'अच्छिन्नं समयं वहामि भुजयोरन्तः सखि ! त्वामिति
प्रत्याशा यदि सिध्यतीह तदपि स्वान्तं न मे तृप्यति ।
सिद्धौ तत्र तु विघ्नजातमतुलं बन्ध्वादिसम्भालनं
तस्माद्गेहगतेरवश्यवलने मा म्लानिरासाद्यताम् ॥'६५॥

उस समय आकाशचारिणी देवियों के वचन, यथा—जो व्यक्ति मात्सर्य आदि नीचभावरूप कङ्कण को धारण करनेवाला होकर, बलपूर्वक ऊँचे स्थानपर जाता है तो भी, नीचे ही गिर पड़ता है। यह बात निश्चित है। देखो, अहङ्कार के कारण सुमुखी गोपियों के मुख की शोभा का अतिक्रमण करनेवाला यह चन्द्रमा भी आकाश से गिर पड़ा है ॥६१॥

किंच गोपाङ्गनाओं के कटाक्षों के द्वारा कुमुदश्रेणी का विलास लज्जित हो गया है, मानो इसीलिए सन्तप्त हो गये हैं कुमुदरूप बन्धु जिसके, ऐसा वह कुमुदबन्धु (चन्द्रमा) भी हाय ! बन्धुओं के दुःख से समुद्र में गिर पड़ा है ॥६२॥

श्रीव्रजदेवियों का भी खेदमय वचन, यथा—हाय ! यह सूर्य का सारथि लँगड़ा होकर भी, ताराओं के समूह का मर्दन करता हुआ, और हम सब गोपियों के समूह को भी सब ओर से कान्तिविहीन करता हुआ, ऊपर को आ रहा है। और आकाशपर भी शीघ्र ही आक्रमणकर रहा है ॥६३॥

तदनन्तर उन गोपियों के उस प्रकार के लोकोत्तर भाव को देखकर, भव्य स्वभाववाले, एवं नवीन किशोरावस्था से युक्त प्रशंसनीय सुन्दर भाववाले श्रीमान् कृष्णचन्द्र, जो प्रत्येक अपने द्वारा आलिङ्गित हैं तथा जो प्रेमसम्पत्ति के विचित्र इशारे दिखा चुकी हैं, ऐसी उन गोपियों के अश्रुधार बहानेवाले मुखकमल का मार्जन करने लग गये ॥६४॥

और उनको सांत्वना देते हुए ही आगे कहे जानेवाले अत्यन्त मधुर वचन बोले—हे सखि ! मैं तुझको अपनी दोनों भुजाओं के बीच में सदैव धारण किये रहूँ, इस प्रकार की मेरी प्रत्याशा यदि सिद्ध हो जाय तो भी यहाँपर मेरा अन्तःकरण तृप्त नहीं होता है। उस प्रत्याशा की सिद्धि में तो "बन्धु आदि के द्वारा हमारा तुम्हारा सँभालना" इत्यादि अतुल विघ्नसमूह की सम्भावना है। इसलिए अब घर में जाने से तो अवश्य मिलन का निमित्त बन सकता है। अतः तुम ग्लानि को मत प्राप्त करो ॥६५॥

"इति पूर्ववदेव प्रत्येकं हस्तेन व्यतिषज्य सज्यमानविहारतया व्रजवर्त्मानुवर्तते स्म ॥६६

"यद्यपि वनितावशता,-मन्तर्यातस्तथाप्यसौ कृष्णः ।
भजति स्निग्धानन्यान्, सत्पुरुषाणामियं शैली ॥६७॥

"अथ लब्धपरस्परविच्छेदेषु च तत्तत्पल्लीवर्त्मभेदेषु प्रायेण प्राप्तगणसङ्गमत्रोटतामधिककोटतया भाविनीसमुदयः स्वयं न भावयितुमीशाम्बभूव ॥६८॥

"क्रमेण चात्यन्तरङ्गतत्तदङ्गनागणे गणेयतयावशिष्टे तेन सह निजनिजोपवनान्तर्वर्तिगेहाङ्गणवर्त्मभेदमासाद्य क्षणं गमनाद् विरराम रेमे च ॥६९॥

"तत्र च—गाढोपगूढचरितं पटु चुम्बितं तद्, विश्रम्भभागभिहितं बहुमानितं च ।
तासां गतौ रचयता व्रजराज-पुत्रे,-णाकारि किं न किमितो गणनां न वेद्मि ॥७०

"ततश्च ताः सगद्गदं जगदुः,—
'सम्भावितं न बलते स्म यदस्मकाभि,-स्त्वत्प्राप्तिरत्र भवितेति तया च जातम् ।
विज्ञापनन्तु न इदं शृणु कृष्ण ! तस्मिन्, अङ्गीकृतं परिहरन्ति न जातु सन्तः ॥७१॥

इस प्रकार कहकर पहले की तरह प्रत्येक गोपी के हाथ से हाथ मिलाकर, विहार में आसक्त होकर, व्रज के मार्ग का अनुसरण किया ॥६६॥

यद्यपि ये श्रीकृष्ण अपने अन्तःकरण में गोपियों के वशीभूत हो गये थे तो भी, माता पिता आदि अन्य स्नेहीजनों की सेवा करते थे। क्योंकि सत्पुरुषों की यही शैली (स्वभाव या रीति) होती है ॥६७॥

उसके बाद परस्पर के विच्छेद को प्राप्त करानेवाले उन उन छोटे छोटे ग्रामों के भिन्न भिन्न मार्गों में, कोटि संख्या से भी अधिक गोपाङ्गनाओं का समुदाय, प्रायः प्राप्त हुए सखीगण के सङ्गम के टूटने के भाव को स्वयं विचारने के लिए समर्थ न हुआ। अर्थात् अनेक मार्गों से अनेक सखियाँ पृथक् पृथक् चली गईं, परन्तु भावावेश के कारण कोई भी इसका अनुसन्धान न कर सकी ॥६८॥

और क्रमशः अत्यन्त अन्तरङ्ग श्रीराधिका का ललिता आदि अङ्गनागण जब गिनने के योग्य अवशिष्ट रह गया, तब उसी गण के साथ अपने अपने उपवन के भीतर में विद्यमान घर के आँगनों के मार्गों के भेद को प्राप्तकर, श्रीकृष्ण ने क्षणभर चलने से विराम लिया, एवं कुछ क्रीडा भी की ॥६९॥

और उस उपवन में अन्तरङ्ग सखियों के साथ गाढालिङ्गनमय चरित की रचना करते हुए, अच्छी प्रकार चुम्बन करते हुए, "हे प्रिये ! मैं तुमको कभी नहीं त्यागूंगा" इस प्रकार विश्वासभरे कथन की रचना करते हुए, और महान् सम्मान करते हुए श्रीव्रजराजकुमार ने कौन कौन सा कार्य नहीं किया ? अपितु सभी किया। इसलिए मैं तो उन सब की गणना को नहीं जानता हूँ ॥७०॥

तदनन्तर वे गोपियाँ गद्गद होकर बोलीं—हे प्यारे श्याम ! हम सब ने कभी यह सम्भावना भी नहीं की थी कि, आपकी प्राप्ति इस दिव्यातिदिव्य निकुञ्जस्थल में हमको हो जायगी। किन्तु वह आपकी प्राप्ति तो आपकी अहैतुकी अनुकम्पा से हो गई, यह हमारा परमसौभाग्य है। किन्तु हे श्रीकृष्ण तुम्हारी उस प्राप्ति के विषय में हमारे इस विज्ञापन को सुन लो। देखो, सज्जनजन अङ्गीकार किये हुए जन को कभी भी त्यागते नहीं हैं। इस बात को याद रखना ॥७१॥

"ततश्च, मिथो मिथुनमुत्तरं विरहमूहमानं मिथः
पतन्नयनवारिभिः समभिषिक्तमाश्लिष्यत ।
तदेवमखिलं वपुर्नियतमार्द्रमासीद् बहि-
स्तदस्य हृदयं पुनर्व्यजनि तादृगन्तर्बहिः ॥७२॥

"ततश्च, सहकान्तः कान्तासमुदयः शकुन्तकुलकलकोलाहलात् प्रातरिति कलितचमत्कारः कम्पसम्पत्सम्पतदस्रमजस्रभावनानिदानं कथञ्चिदेव विश्लेषमियेष ॥७३॥

"तथा विश्लिष्य च,—

"तिर्यक् पश्यन्मुहुरपि मिथस्तत्र तत्रापि सास्रो-
भावाद् व्यस्रं मिथुनमथ तत् कृष्णराधादि-नाम ।
गेहं गच्छद्यदिह गमनायाऽशकन् तन्न चित्रं
धन्यानां स्यादुचितमखिलं यत्प्रयत्नं विनापि ॥७४॥

अजनि बहुव्यथतान्त,-र्बहुदयितानां वियोगतस्तस्य ।
सर्वावरकरुगन्तर,-मिव जज्ञे सा तु राधिकावियुतिः ॥७५॥

ज्यौत्स्नीं शारदिकां विहृत्य विविधं तस्मिन् बलादागतं
वीक्ष्य ब्राह्ममुहूर्तमुल्ललधियश्छन्नाधवमूर्तिक्रियाः ।

उसके पश्चात् गोपी-कृष्णरूप वह युगल परस्पर में परस्पर के अधिक विरह की सम्भावना करता हुआ, धाराप्रवाह से गिरते हुए प्रेमाश्रुओं से अच्छी प्रकार अभिषिक्त होकर, आलिङ्गन करने लग गया। इस प्रकार सारा शरीर तो बाहर से निश्चितरूप से भीग ही गया था, तो भी इस युगलजोड़ी का हृदय तो फिर भी बाहर भीतर से पहले जैसा ही हो गया ॥७२॥

तदनन्तर श्रीकृष्णरूप कान्त के सहित वह कान्तासमुदाय पक्षीकुल के मधुर कोलाहल के कारण, प्रातःकाल हो गया यह जानकर आश्चर्य से युक्त होकर, कम्परूप सम्पत्ति के सहित गिरते हुए अश्रुओं से युक्त, एवं निरन्तर भावना के मूल कारणस्वरूप वियोग को किसी प्रकार कष्टपूर्वक चाहने लगा ॥७३॥

और उस प्रकार वियुक्त होकर 'राधा कृष्ण' आदि नामवाला वह अनेक युगलस्वरूप परस्पर बार-बार टेढ़ीचाल से देखता हुआ, उसमें भी तत्तत् समय में सजलनयनों के कारण नेत्रजल से रहित होकर, अपने अपने घर में जाता हुआ भी वह अनेक युगलस्वरूप पुनः इस स्थानपर आने को जो समर्थ हुआ, वह आश्चर्य की बात नहीं है। क्योंकि भाग्यशाली पुण्यात्माओं के सभी कार्य प्रयत्न के बिना भी सिद्ध हो जाते हैं, यह उचित ही है ॥७४॥

श्रीकृष्ण के चित्त में चन्द्रावली आदि अनेक प्रियाओं के वियोग से भारी व्यथा उत्पन्न हो गई थी। किन्तु वह राधिका का वियोग तो सब रोगों को ढकनेवाला दूसरा रोगविशेष सा ही हो गया ॥७५॥

शरत्कालीन चन्द्रिका से युक्त पूर्णिमा की रात में उस पुलिन में अनेक प्रकार के विहार करके, बलपूर्वक आये हुए ब्राह्ममुहूर्त को देखकर, गोपियों की बुद्धि चञ्चल हो उठी, उनकी मूर्ति एवं सब क्रियाएँ

तत्तत्केलिकलाविलासवलितस्वान्ताः स्वकान्तप्रियाः
स्वान्तस्तर्षमनन्तरीषदुदित-श्रान्तिव्रजं प्राविशन् ॥७६॥

"स एष रासोत्सवविशेषश्च निवृत्त इति बहिरेव वृत्तं नान्तः ॥७७॥ यतः,

"रासोत्सवं किल समाप्य गृहादिकृत्य,-व्यग्राश्च तन्मयतया व्रजवामनेत्राः ।
नानाविलासमयनर्तनगीतवाद्यं, साक्षादिव व्यदधतात्र च तत्तदेव ॥७८॥

नेता येषु तु रासकेलिषु भवेत् कृष्णः स्वयं नायिकाः
श्रीजैत्रव्रजसुभ्रुवो रसकथास्तत्रैव निर्लाञ्छनाः ।
तत्तद्वर्णनमेव काव्यविबुधाः कात्स्न्र्येन कुर्युः परं
किन्तु श्रीशुकसम्मतं न यदिदं पूर्येत तैः सर्वकैः ॥"७९॥

स्निग्धकण्ठ उवाच,—"हन्त ! चत्वारस्ते कुमारकाः क्व गताः ?" मधुकण्ठ उवाच,—"पूर्वमारूढमहातरवः पश्चान्निजप्रभोः स्वगृहवर्त्मानुवर्तनमवधार्य दूरचरिष्णुतया तूष्णीमेवानुवर्तिष्णुतामवापुः" इति ॥८०॥

निर्जन मार्ग में होने लगीं, उनके अन्तःकरण तत्तत् क्रीडा कलाओं के विलास से युक्त थे, ऐसी निजकान्त की प्यारी वे गोपियाँ भीतर से तो श्रीकृष्ण मिलन की तृष्णा से युक्त होकर, एवं बाहर से किञ्चित् उत्पन्न हुई विश्रान्ति से युक्त होकर व्रज में प्रविष्ट हो गईं ॥७६॥

कथावाचक महोदय अपना भाव प्रकाशित करता हुआ बोला कि—यह रासलीला का उत्सवविशेष जो समाप्त हुआ, वह तो केवल बाह्यदृष्टि से समाप्त हुआ, अन्तर्दृष्टि से नहीं ॥७७॥

क्योंकि वे व्रजाङ्गनाएँ रासोत्सव को समाप्त करके गृहादि कार्यों में व्यग्र हो गईं यह बात सत्य है, किन्तु पूर्वानुभूत रासोत्सव की तन्मयता के कारण, घर में भी उन उन अनेक प्रकार के विलासमय नाचना, गाना, बजाना आदि को साक्षात् की तरह अनुभव करती रहीं ॥७८॥

जिन रासलीलाओं में अनन्तगुण सम्पन्न श्रीकृष्ण स्वयं नायक बने हों, एवं लक्ष्मी को जीतनेवाली व्रजाङ्गनाएँ जिनमें स्वयं नायिका बनी हों, उन रासलीलाओं में ही रस की कथा निर्मल हो सकती हैं। इसलिए काव्यज्ञ पण्डितजन तो सम्पूर्णरूप से उत्कृष्टतापूर्वक तत्तद् विषयों का वर्णन ही कर सकते हैं। किन्तु शुकदेवजी की यह सम्मति नहीं है कि, वे सब काव्यज्ञ पण्डित मिलकर भी इस रासलीला के वर्णन की यथार्थ पूर्तिकर सकें। अर्थात् सम्पूर्णरूपेण रासलीला के वर्णन की किसी को भी सामर्थ्य नहीं है, यही श्रीशुकदेवजी का मत है ॥७९॥

सन्देह निवारणार्थ स्निग्धकण्ठ बोला—भैयाजी ! आपने रासलीला के आरम्भ में श्रीकृष्ण के साथ वन में जानेवाले दाम, सुदाम, वसुदाम, किङ्किणी नामक चार कुमारों की चर्चा की थी, अहह ! वे चारों कुमार रास के समय कहाँ चले गये ?

मधुकण्ठ बोला—पहले तो वे एक विशाल वृक्षपर चढ़ गये थे, पीछे अपने स्वामी श्रीकृष्ण का निजी भवन के मार्ग में अनुगमन जानकर, दूर रहने के भाव को धारणकर चुपचाप रहकर ही, श्रीकृष्ण का अनुसरण करते रहे। तात्पर्य यह है कि—ये चारों कुमार श्रीकृष्ण के मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार इन चार अन्तरिन्द्रियों के मूर्तिमान्स्वरूप तन्त्रशास्त्र में कहे हैं। किन्तु श्रीकृष्ण की रहस्यमयी रासलीला में किसी इन्द्रिय की अपेक्षा नहीं है। क्योंकि श्रीकृष्ण के सभी अङ्ग समस्त इन्द्रियमय हैं (अङ्गानि यस्य

तदेवं मधुकण्ठः प्रथितमपि रासलीलावर्णनं त्रियामानियमतः संक्षिप्य तदीयसमाधेर्विक्षिप्यमाणतासञ्जनाय साञ्जलिर्व्यञ्जयामास,—॥८१॥

"स ईदृग्वल्लभो लब्धस्त्वया श्रीमति ! राधिके ! ।
यं भेजे रासरभसात् त्रिलोकी नायिकानिभा ॥८२॥

"अथ कञ्जनेत्रः कृताञ्जलितया प्रतीक्षितानुज्ञासारौ सूतकुमारौ स्वान्तिकमाहूय भूयः परिचस्कार निजानामङ्गानामङ्गनानामपि परिष्कारद्रव्येण ॥८३॥

"यदनु दानपर्वणा सर्व एव भासमानः सभासज्जनः प्रत्येकमेकव्यक्तिरपि क्रियालाघवाद् बहुविधनिभां व्यक्तिमवाप ॥"८४॥

ततो ब्राह्ममुहूर्ते मुहूर्तविश्रमाय सर्व एव स्व-स्वधाम जगाम ॥८५॥

॥ इति श्रीश्रीगोपालचम्पूमनु रासप्रपञ्चपञ्चपूरणीपूरणं नाम
सप्तविंशं पूरणम् ॥२७॥

सकलेन्द्रियवृत्तिमन्ति, इत्यादि ब्रह्मसंहिता) । इसलिए ये चारों साक्षीरूप से दर्शन करने के लिए श्रीकृष्ण ने ही ऊँचे वृक्षपर चढ़ा दिये थे ॥८०॥

प्रसङ्ग को समाप्त करते हुए ग्रन्थकार स्वयं बोले कि—इस प्रकार मधुकण्ठ ने महान् विस्तृत रासलीला के वर्णन को भी रात्रि की समाप्ति के नियमानुसार संक्षेप करके, रासलीला वर्णन एवं श्रवणमयी उसकी समाधि के बाहरीभाव की प्राप्ति के लिए हाथ जोड़कर यह भाव व्यक्त किया कि—॥८१॥

हे श्रीमति ! राधिके ! तुमने ऐसा अपूर्व प्रियतम प्राप्त किया है कि, नायिका के समान यह त्रिलोकी-रूप वधू रासलीला के हर्षमय वेग के कारण, जिस की निरन्तर सेवा करती रहती है ॥८२॥

तदनन्तर हाथ जोड़कर निज प्रभु की आज्ञा के सार भार की प्रतीक्षा करनेवाले, दोनों सूतकुमारों को कमलनयन श्रीकृष्ण ने अपने पास बुलाकर, जिन दिव्यद्रव्यों के द्वारा अपने अङ्गों की एवं निजाङ्गनाओं की सेवा की जाती है, उन्हीं प्रसादी द्रव्यों के द्वारा उन दोनों की सम्मानपूर्वक अधिक शोभा बढ़ा दी ॥८३॥

जिसके पश्चात् सभी सभासद्जन दानरूप उत्सव के द्वारा शोभा पाते हुए, प्रत्येक एक एक व्यक्ति होकर भी, दानक्रिया की शीघ्रता के कारण, अनेक प्रकार के व्यक्ति के समान प्रकाश पाने लगे ॥८४॥

पश्चात् सभीजन ब्राह्ममुहूर्त में मुहूर्तभर विश्राम करने के लिए अपने अपने भवन में चले गये ॥८५॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीगोपालचम्पूकाव्ये रासलीलाविस्तारक-पञ्चपूरणीपूरणं नाम
सप्तविंश पूरणं संपूर्णम् ॥२७॥

अथाष्टाविंशं पूरणम्

अम्बिकावन-गमनम्

(श्रीकृष्णस्य नवमवर्षीया लीला)

अथ प्रत्यहवत् प्रभातभासमानायां सभायां स्वावसरजातप्रसरः स्निग्धकण्ठः सोत्कण्ठमाह स्म,—"मधुकण्ठ ! श्रूयतामनन्तरं हरिचरितम् ॥१॥

"ततः सर्वानन्दवर्षे हरेर्नवमे वर्षे परुत्नादप्यधिकतया यत्नादैषमस्त्ये सामस्त्येन कृतविस्तारे गिरियज्ञसारे निर्वृत्ते मासकतिपये च वृत्ते विलक्षणलक्षणा शिवक्षणदातिप्रचुरं जनसमाजमाजहार ॥२॥

"किन्तु प्रायशो यशोधनादिकामनया सामानाधिकरण्यादम्बिकारण्याय सममम्बिकापतिपूजनार्थं जना वर्षं वर्षं प्रति सहर्षं गच्छन्ति, यच्छन्ति च विविधानि धनानि, किमुत तस्यां योगविशेषादसमायां समायाम् । यत्र कुतूहलावकलनादि-लीला-कल्लोलिनी-कल्लोल-लोल-श्रीगोपाल-चालित-चित्ता गोपालाः, किं बहुना, गोपालक्षितिपालचरणाश्च तद्यात्रास्पृहापात्रतामवापुः ॥३॥

अट्ठाईसवाँ पूरण

व्रजवासियों का अम्बिकावन में जाना, एवं श्रीकृष्ण की नौमें वर्ष की लीला

इस अट्ठाईसवें पूरण में श्रीकृष्ण ने गोपों के सहित अम्बिकावन में जाकर सुदर्शन नामक विद्याधर को ऋषियों के शाप से मुक्ति किया, यह कथा वर्णित होगी ।

अनन्तर प्रतिदिन की तरह देदीप्यमान प्रातःकाल की सभा में अपनी कथा के अवसर में जिसको प्रेम उत्पन्न हो गया, वही स्निग्धकण्ठ उत्कण्ठापूर्वक बोला—भैया ! मधुकण्ठ ! आगे का हरिचरित श्रवण कीजिये ॥१॥

अनन्तर सभी प्रकार के आनन्दों की वर्षा करनेवाला श्रीकृष्ण का नवम वर्ष जब उपस्थित हो गया, एवं परसाल में होनेवाले गिरिराज पूजन की अपेक्षा इस नवमें वर्ष में होनेवाला, अधिक भावमय प्रयत्न के कारण, पूर्णरूप से किये गये विस्तारवाला, साररूप गिरिराज का पूजन जब निवृत्त हो गया, एवं कतिपय (कुछ) मास जब व्यतीत हो गये, तब फाल्गुन में उपस्थित हुई विलक्षण लक्षणों से युक्त शिवरात्रि ने अतिविशाल जनसमाज को अपनी ओर आकर्षित कर लिया ॥२॥

किन्तु सभी व्रजवासीजन प्रायः यश एवं धनादि की कामना करके सबकी आधाररूप पूजा की समानता के कारण, एकसाथ अम्बिकापति (शिवजी) की पूजा के लिए प्रतिवर्ष हर्षपूर्वक अम्बिकावन को जाते रहते हैं, और अनेक प्रकार के धनों का दान भी करते हैं, फिर नक्षत्र आदि के योगविशेष से अनुपम उस वर्ष में वे कितना दान करेंगे, इसका कोई अनुमान नहीं लगा सकता । और जिस शिवरात्रि की यात्रा में कौतूहल के दर्शन आदि लीलारूप नदी की तरङ्गों से चञ्चल हुए श्रीगोपालजी के द्वारा जिनके चित्त चलायमान कर दिये, वे सभी गोपाल उस अम्बिकावन की यात्रा की इच्छा के पात्र बन गये । अधिक क्या कहें ? व्रजभूमि के पालक पूज्यपाद श्रीव्रजराज भी उसी प्रकार की इच्छा के पात्र बन गये ॥३॥

"सञ्चेरिरे च तेऽचिरेण महारम्भसम्भार-भारहारविशङ्कट-शकटवारनिःसारणया तत्र जनैर्नानासामग्रीरगर्ह्यं वह्यानडुहश्चानांसि वाहयन्तः कोलाहलकुतूहलमन्वभूवंश्च ॥४॥

"यत्र पुत्रानुरागपरिमलनिर्मलपात्री व्रजधरित्री-क्षितिपालयित्री नानागोपकलत्राणां सुखसत्रायमाणतया तैः सत्रा सत्रयात्रां चकार। किं बहुना, गो-गोकुलपालनकृते कृतेहानुपनन्दाभिनन्दादीनृते सर्व एव पर्वपूर्वं चलन्ति स्म। यत्र लाल्यभावतः सन्नन्दनन्दनावग्रजमनुव्रजतः स्म, लालकभावात्तज्जन्मानमनु च ॥५॥

"तत्र विशेषतस्तु,—

मुखकमलविराजन्नाट्यदृक्खञ्जरीटा, स्तनकनकजकुम्भभ्राजिपत्रावलीका।
चरणसरसिजानां हंसकस्वानरम्या, व्रजजनिमहिलाली तत्र भव्यं बभार ॥६॥

"ततश्च, न परं चाक्षुषमासी,-त्तद्व्रजजनचलनं विदूरतः किन्तु।
शकटघटाटननादाद्,-वादादप्यन्धवेद्यं च ॥७॥

सुराणां नृणां च प्रतिपदबहूभावमयतां, सवाद्यैर्गीताद्यैः सह कुसुमवर्षैर्जयरवैः।
मुकुन्दालोकाय प्रथितपथिकालीशबलनैः, समन्तात् संघट्टै रभिययुरमी आम्बिकवनम् ॥८॥

और वे सब विशाल आयोजन की सामग्री के भार को ढोनेवाले बड़े बड़े शकट (गाड़ी) समूह को बाहर निकालकर शीघ्र ही चल दिये। उस चलने में अनेक प्रकार की सामग्री को सेवकजनों से ढुवाते हुए, एवं प्रशंसनीय द्रव्यों को ढोनेवाले बैलों के द्वारा गाड़ियों को चलाते हुए कोलाहल के कौतूहल का अनुभव करने लग गये ॥४॥

और जिस अम्बिकावन के निमित्त पुत्रविषयक अनुरागरूप मनोहर गन्ध की निर्मल पात्रस्वरूपा, एवं व्रज को धारण करनेवाली धरती का पालन करनेवाली व्रजरानी श्रीयशोदा ने, अनेक गोपाङ्गनाओं को सदा सुख देनेवाली का सा व्यवहार करते हुए उन्हीं गोपों के साथ यात्रा कर दी। अधिक क्या कहें ? गोगण और गोकुल की रक्षा करने के लिए चेष्टा करनेवाले उपनन्द, अभिनन्द आदि को छोड़कर, सभी जन उत्सवपूर्वक चल दिये। और जिस चलने में भी नन्दजी के छोटे भाई सन्नन्द, नन्दन ये दोनों ही पोष्यभाव के कारण, नन्दजी के पीछे पीछे चल रहे थे, एवं पोषकभाव से श्रीनन्दकुमार के साथ साथ चल रहे थे ॥५॥

उस यात्रा में विशेष करके तो व्रज में उत्पन्न होनेवाली महिलाश्रेणी उस समय अनेक मङ्गल चिह्नों को धारण कर रही थी। उस महिलाश्रेणी के मुखकमलपर नेत्ररूप दो दो खञ्जनपक्षी सुन्दर नृत्य कर रहे थे, एवं उसके स्तनरूप सुवर्ण कलशोंपर केसर कस्तूरी मिश्रित चन्दन की चित्रावली प्रदीप्त हो रही थी, तथा चरणकमलों के नूपुरों के शब्द से वह महिलाश्रेणी रमणीय हो रही थी ॥६॥

उन व्रजवासीजनों का वह चलना केवल दूर से ही नेत्रगोचर नहीं हो रहा था, किन्तु बैलगाड़ियों की घटा के चलने के शब्द से एवं चलनेवालों की बातचीत से वह चलना अन्धों के भी जानने योग्य हो रहा था ॥७॥

और प्रतिक्षण अधिकता को प्राप्त होते हुए देवता एवं मनुष्यों के गाने बजाने आदि के साथ, तथा पुष्पवृष्टि एवं जय जयकारों के सहित, और श्रीकृष्णदर्शनार्थ आती हुई विख्यात पथिकश्रेणी के सम्मेलनपूर्वक चारों ओर से संघटित होकर वे सभी व्रजवासी अम्बिका के वन को चल दिये ॥८॥

"तत्र च—भ्रात्रा सत्रा हरिस्तत्रारुह्य कम्बलिवाह्यकम् ।
विचित्रमित्रयन्त्रीणां वृतं पृतनया ययौ ॥९॥

कदाचिदुन्नतं तत्र शकटं घटयन् पृथक् ।
अभीष्टं द्रष्टुमुत्कण्ठी स स्म सुष्ठु प्रतिष्ठते ॥१०॥

सखिबलबलवान् विहारचर्यां, पथि विदधत् कुतुकं च लोकमानः ।
मुहुरुपचरितः स्वयं जनन्या, बकरिपुराम्बिककाननं विवेश ॥११॥

"तत्र च—जंघालास्ते लक्षशो लोकसंघा,-स्तीर्थं याताः कृष्णमापुश्च दैवात् ।
तृष्णा-दीनाः पाथसस्तत्प्रयाताः, सौधीं यद्वद्वृष्टिमन्ते लभन्ते ॥१२॥

"तस्मिन्निदमद्भुतमुद्भूतमभूत्,—
उत्फुल्लनेत्रकमलं पुलकप्रसार,-शैवालमश्रुमिलदूर्मिजनप्रवाहः ।
आक्रम्य सेतुमधिगम्य सुरम्यकृष्ण,-शोभामहाम्बुधिमगाज्जलतामपीह ॥१३॥

"ततश्चाभिख्यामात्रतः कृतसर्ववशीभावस्य तस्य तदासेचनक-रूपनिरूपणात् पश्य पश्येत्येवास्मिन् पश्यति लोके कथञ्चित्-कृतनिवारणे च तस्मिन् कोलाहलकारणे व्रजवासिजनः सर्व एव यथायथमावासमाससाद ॥१४॥

उनमें भी श्रीकृष्ण तो भैया बलदेवजी सहित छोटी सी बैलगाड़ी में चढ़कर, एवं मित्रों की चित्रविचित्र छोटी छोटी गाड़ियों की सेना द्वारा घिरकर जा रहे थे ॥९॥

और श्रीकृष्ण वहाँपर कभी कभी अपनी गाड़ी को सबसे ऊँची एवं पृथक् करते हुए अभीष्ट महोत्सव को देखने के लिए अच्छी प्रकार प्रस्थान कर रहे थे ॥१०॥

मित्ररूप सेना से बलवान् श्रीकृष्ण मार्ग में खेल खिलवाड़ करते हुए, कौतुक देखते हुए, माता के द्वारा स्वयं बारंबार लालित होकर अम्बिकावन में प्रविष्ट हो गये ॥११॥

और वहाँपर प्यास से दीनजन जल के कारण चलते चलते दैवयोग से जैसे अन्त में अमृतमयी वृष्टि को प्राप्तकर लेते हैं, ठीक उसी प्रकार अतिवेग से चलनेवाले वे लाखों लोगों के झुण्ड उस अम्बिका तीर्थ में आकर, सौभाग्य से श्रीकृष्ण को पा गये ॥१२॥

वहाँपर यह बात अद्भुत हुई कि, इस तीर्थ में जनतारूपी जलप्रवाह मर्यादा को तोड़कर, श्रीकृष्ण की मनोहर शोभारूप महासमुद्र को प्राप्तकर, जलता को या प्रेम के कारण जड़ता को भी प्राप्त हो गया था । उस जनप्रवाह में खिले हुए नेत्र ही कमल थे, रोमाञ्चों का फैलाव ही शैवाल (जलकाई) था, एवं अश्रु ही मिलते हुए तरङ्ग थे ॥१३॥

तदनन्तर नाममात्र से या शोभामात्र से सबको वशीभूत करनेवाले श्रीकृष्ण के उस समय जिसके दर्शन से तृप्ति का अन्त नहीं होता, उसको आसेचनक कहते हैं, ऐसे रूप को देखते ही देखो, देखो । यह कह कर सभी लोग जब बारबार श्रीकृष्ण दर्शन कर रहे थे, एवं उस कोलाहल का कारण किसी प्रकार जब निवारण कर दिया गया, तब सभी व्रजवासीजनों ने यथायोग्य निवासस्थान को प्राप्तकर लिया ॥१४॥

"आसद्य च पुरोहितहितसहिततया कृतस्नानदानव्यापारे श्रीव्रजराजविराजमान-समाजवारे कुतुकतस्तैर्थिकसार्थदर्शनार्थं स्नातानुलिप्ततादीप्तः सखिरामारामरमणः कमनकमल-लोचनस्तत्र तत्र भ्रमणक्रममाचचार ॥१५॥

"यत्र नानादेशजानां वेशनिवेशनिर्वेशसंवेशभाषाभिनिवेश-क्रियाविनिवेशविशेषाननुभूय बहुलकुतूहलमाकलयाम्बभूव ॥१६॥

"यत्र च 'कृष्णं पश्य रामं पश्य श्रीदामानं पश्य' इत्यमी पश्यन्तः कोलाहलं बंहयामासुः ॥१७॥

"यत्र च तदीयवृन्दानि गोविन्दीय-सुन्दरतामरन्दविनिस्यन्दममन्दं नयनरसनया रसयन्ति । मोहातिशयवन्ति विहितहितसर्वस्वात्मनिवेदनं सास्रनम्रकम्रवदनं सदनसदना-दासीदन्ति च सञ्जिताञ्जलितया तस्थुः ॥१८॥

"श्रीकृष्णस्तु तदङ्गीकृत्यापि शीलवृत्त्या तदीयस्नेहं साङ्गीकुर्वन् 'मदीया एव भवद्भवदीयार्था मत्प्रत्यर्पणतः प्रतिस्वं यथानिष्ठमवतिष्ठन्ताम्' इति सन्तोषयन् क्रमशो निजाश्रममेवाश्रममाजगाम ॥१९॥

और निवासस्थान को पाकर पुरोहित एवं हितैषीजनों के सहित, श्रीव्रजराज से विराजमान सभास्थ जनसमूह ने जब स्नान दानादि व्यापार कर लिया, तब कौतुक से तीर्थवासी जनसमुदाय के दर्शनार्थ मनोहर कमल के से नेत्रोंवाले श्रीकृष्ण, पहले स्नान एवं पीछे चन्दन आदि अनुलेपनके भाव से प्रदीप्त होकर, सुबल श्रीदामा आदि मित्र एवं बलरामजी के साथ उपवनों में भ्रमण करते करते तत्तत् स्थलों में भ्रमण की परिपाटी का आचरण करने लग गये ॥१५॥

और उस भ्रमण के क्रम में अनेक देशों में उत्पन्न हुए जनों के वेश (पहनावा) निवेश (सैन्य-विन्यास, शिविर, तम्बू), निर्वेश (वेतन या उपभोग), संवेश (शयन), भाषा (बोली), अभिनिवेश (आग्रह या आसक्ति), क्रिया विनिवेश (रहन सहन की परिपाटी), इत्यादि विशेषताओं का अनुभव कर अधिक कुतूहल प्रकाशित किया ॥१६॥

और उसी क्रम में कृष्ण को देख ! बलराम को देख ! श्रीदामा को देख ! इत्यादि कहकर देखते हुए वे नाना देशवासी जन कोलाहल को बढ़ाने लगे ॥१७॥

और जहाँपर अनेक देशों में रहनेवाले जनवृन्द श्रीगोविन्द की सुन्दरतारूप मधु के झरनों का नेत्ररूपी जिह्वा से विशेष स्वाद लेते हुए, अतिशय मोहित होते हुए, हितकर सर्बस्व आत्मनिवेदनकरण-पूर्वक, एवं अश्रुयुक्त नम्र व मनोहर मुख से, घर घर से निकलकर आते हुए हाथ जोड़कर खड़े हो जाते थे ॥१८॥

श्रीकृष्ण तो उनकी दी हुई सब वस्तुओं को अङ्गीकार करके भी, अपने शीलस्वभाव से उनके स्नेह को परिपूर्ण करते हुए "आप सब एवं आपकी सब वस्तुएँ मेरी ही तो हैं, किन्तु अब मेरे द्वारा प्रति अर्पण करने के कारण, अर्थात् लौटा देने से प्रत्येक वस्तु पहले की तरह यथास्थान भरी रहने दो" यों कहकर उन सबको सन्तुष्ट करते हुए, क्रमशः अनायास अपने आश्रमपर ही चले आये ॥१९॥

"आगम्य च सायन्तनमशनं सङ्गत्य मातुर्मानसमानन्देन वितत्य प्रशस्तवस्त्रमालालङ्कारसारं परिकृत्य सखिभिरात्मानं परिवृत्य सर्वभागवतशिवप्रदस्य भागवतपरम्परापरमगुरोः शिवस्य वरिवस्यायां शिवरात्रियात्रिभिः पित्रादिभिरेकाग्रतया स्वमङ्गलकृते कृतजागरं स्वीय-परकीय-राजकीय-जनकीयबहलकोलाहलप्रकारं शिवागारमनु नानाविद्याविस्मायकतया विद्यमानान् संपश्यति स्म ॥२०॥

"सर्वे व्रजजनास्तत्र कल्पवृक्षसमा बभुः ।
अधिदेव इवादीप्यद्धन्यः पर्जन्यनन्दनः ॥२१॥

"प्रभाते च प्रभाते वदान्यताप्रचाराहूतविप्रादीनामगणेयगणाय गुणगुणितान्नादिदानतः सम्मानतश्च वितानितयशसि श्रीव्रजराजसदसि तेषु तत्तीर्थयात्रिशतेषु च चिरपरिचित-चरवत् परमप्रीतिस्फीतीभावननीतितः कथमपि प्रस्थापितेषु तस्याममावस्यायां तस्मिन्नेव व्रजवसतिभिः सह पितृभ्यां लालितः स हरिर्वासतेयीमुवास ॥२२॥

"ततः सा च रात्रिर्यात्रिकजनप्राचुर्यपूर्यमाणा नासीदिति कोलाहलापगमेन ह्यस्तनजागरक्लमेन च सुप्तिः सर्वतश्च निर्भरमेवाविर्भवति स्म ॥२३॥

"यत्र दनुजामित्रस्तु व्रीडातः क्रीडातश्च किञ्चिद्दूरगतः सखिजनजनितसुखं निद्रायते स्म ॥२४

और आते ही सायंकालीन भोजन कर, माता के मन को आनन्द से बढ़ाकर, प्रशस्त वस्त्र, माला एवं उत्कृष्ट अलंकार धारण कर, सखाओं से अपने को घेरकर, सभी भगवद् भक्तों को मङ्गलदायक, भक्तों की परम्परा के परमगुरु श्रीशिवजी की पूजा में, शिवरात्रि के यात्री माता पिता आदि के सहित, अपने अपने मङ्गल के लिए जिस मन्दिर में एकाग्रतापूर्वक जागरण किया जा रहा था, और जो स्वकीय, परकीय, राजकीय जनों के अधिक कोलाहल से पूर्ण था, ऐसे शिवमन्दिर के निकट जो व्यक्ति अनेक विद्याओं से सब को विस्मित करते हुए विद्यमान थे, उनको भली प्रकार देखने लग गये ॥२०॥

वहाँपर सभी व्रजवासीजन कल्पवृक्ष के समान शोभा पा रहे थे । और परमधन्य पर्जन्यनन्दन श्रीनन्दजी तो उनके बीच में कल्पवृक्षरूप उन व्रजवासियों के अधिष्ठातृदेव चन्द्रमा की तरह देदीप्यमान थे ॥२१॥

अनन्तर प्रातःकाल के प्रकाशित हो जानेपर व्रजराज के अतिशय दानीपन के प्रचार से आकर्षित होकर आये हुए ब्राह्मणादिकों के अगणित समुदाय के लिए, अनेक प्रकार के गुणों से युक्त अन्नादि के दान से, एवं सम्मान से विस्तृत यशवाली श्रीव्रजराज की सभा में विराजमान उन सैंकड़ों अम्बिकावन के तीर्थयात्रियों को, पहले से ही चिर परिचित की तरह, परमप्रीति से विशाल भावनामयी नीति से, किसी प्रकार प्रस्थापित कर देने के बाद, उस अमावस्या के दिन उसी अम्बिका वन में व्रजवासियों के सहित मातापिता के द्वारा लालित हुए श्रीकृष्ण रातभर निवास करते रहे ॥२२॥

अनन्तर वह रात यात्रीजनों की अधिकता से परिपूर्ण नहीं थी, इसीलिए कोलाहल के दूर हो जाने से एवं पहले दिन के जागरण के परिश्रम से, निद्रा चारों ओर प्रगाढतापूर्वक प्रगट हो गई ॥२३॥

उन सब में श्रीकृष्ण तो मातापिता की लज्जा से एवं खेल खिलवाड़ के कारण, कुछ दूर जाकर, मित्रों के द्वारा उत्पन्न हुए सुख से सो गये ॥२४॥

"अथ तस्यां निशि दिशि दिश्यपि दर्शिततमसि रहितदन्तगरः कश्चिज्जरदजगरः सर्पः सर्पन् व्रजराजचरणराजीवं निजगार ॥२५॥

"तेन च वीर्यवत्तया निगीर्यमाणे चरणे शरणेच्छुर्व्रजधरणीशः सन्ततकृष्णस्फूर्तिपूर्ति-प्रवितचित्ततया जाग्रदेव कृष्णमुद्दिश्य चुक्रोश ॥२६॥ यथा—

"कृष्ण ! कृष्ण ! बत कृष्ण ! कृष्ण हे !, तात ! मामजगरो ग्रसेत किम् ।
इत्यसौ स्मरणतस्तनूजने,-स्तस्य मोहमयभावमाययौ ॥२७॥

"अथ तत्पार्श्ववर्तिनः शूरचक्रवर्तिनश्चन्द्रहासमादाय समुत्थिताश्चन्द्रमसं ग्रसमानं राहुमिव बाहुशालिनस्तं पश्यन्तः प्रव्यथिता व्यर्थीभूततत्प्रहारप्रयासास्तदुपायान्तरमपश्यन्तश्च व्यग्रताक्वथिताः शरारुभिर्ज्वलदग्रोदग्रदारुभिर्जघ्नुः ॥२८॥

"तथाप्यत्यजति तत्राजगरे प्रथमशब्दादेव जाग्रद्व्रजराजतनूजः सुरगजराज इव धावंस्तह्यैवाजगाम ॥२९॥

"आगच्छतश्च तस्य स दीर्घतरदीर्घपृष्ठः पुच्छमनु वाटघटितन्यायेन चरणपल्लवस्पृष्टतां प्राप ॥३०॥

उसके बाद प्रत्येक दिशा में अन्धकार दिखानेवाली उस रात्रि में, विष से रहित दाँतोंवाला कोई बूढ़ा अजगर सर्प सरकता हुआ, श्रीव्रजराज के चरणकमल को निगल गया ॥२५॥

उस अजगर ने प्रबलतापूर्वक जब चरण को निगल लिया, तब रक्षक की इच्छावाले व्रजभूपति निरन्तर श्रीकृष्ण की स्फूर्ति की पूर्ति से व्याप्त चित्त होने के कारण, जागते ही श्रीकृष्ण को उद्देश्य कर रोते हुए पुकारने लगे— ॥२६॥

हा कृष्ण ! हा कृष्ण ! हे वत्स ! कृष्ण ! हे कृष्ण ! लाल ! तेरे रहते हुए भी, यह अजगर मुझ को लील ही जायगा क्या ? इस प्रकार कहते कहते व्रजराज अपने उस पुत्र के स्मरण के कारण मोहमय भाव को प्राप्त हो गये ॥२७॥

तदनन्तर पास में बैठे हुए श्रेष्ठ वीरगण तलवार को लेकर खड़े हो गये, एवं प्रबल भुजाओं से सुशोभित वे वीरवर चन्द्रमा को निगलते हुए राहु की तरह, उस अजगर को देखते हुए, अति दुःखी हो गये। और अपनी अपनी तलवार के प्रहार के प्रयास की व्यर्थता से दूसरे उपाय को न देखते हुए, व्याकुलता से दग्ध होकर, घातक एवं जलते हुए अग्रभाग से युक्त भयंकर काष्ठों से उसको पीटने लग गये ॥२८॥

तो भी उस अजगर ने जब नन्दजी को नहीं छोड़ा, तब उन नन्दजी की पहली पुकार से ही जागे हुए, व्रजराजकुमार ऐरावत की तरह दौड़ते हुए उसी समय आपहुँचे ॥२९॥

मार्ग में पड़ी हुई वस्तु जैसे अनायास पैर छू लेती है, उसी प्रकार के वाटघटितन्याय से मार्ग में पड़ा हुआ अत्यन्त लम्बा चौड़ा वह अजगर पूंछ की ओर, आते हुए श्रीकृष्ण के चरणपल्लव के स्पर्श के भाव को अनायास प्राप्त हो गया ॥३०॥

"तत्स्पृष्टश्चायं विसृष्टतच्चरणः स्वयमकस्मात् सर्पाकारादुत्सर्पन् वपुरन्तरमन्तरेण विद्याधराकारं धारयति स्म ॥३१॥

"तत्करपल्लवस्पृष्टचरणाः श्रीव्रजराजचरणाश्च यथावद्विराजमानतामापुः ॥३२॥

"ततः साश्चर्यं कृतावलोकेषु सर्वलोकेषु सुदर्शननामधरः स तु विद्याधरचरः पुनर्लब्धस्वरूपवरस्तं प्रशंसन् स्वशापवृत्तान्तं शंसंस्तदीयां क्षमामाशंसंस्तदनुज्ञातः स्वाधिष्ठानमेव प्रतिष्ठते स्म ॥३३॥

"ये पूर्वं तत्रापत्रपामपहाय श्रीव्रजपतिपत्नीप्रभृतयः कुलस्त्रीजनाः किमुतान्ये संसृज्यमानतयानुसृत्य कृत्यमूढतामनुबभूवुः । सम्प्रति तु ते यथायथं मिथः समुपगूढाः केवलमूढरोदना बभूवुः ॥३४॥ यथा—

'तातं कृष्णश्च रामश्च कृष्णं रामं च मातरः ।
मातृश्चान्यास्तथान्योऽन्यमन्ये शिश्लिषुरुन्मदाः ॥'३५॥

"तदेवं कृतक्षप्रणायां क्षपायां तत्क्षणमेव तूर्णगमनमनसः सममनःसमूहमारोहन्तश्चिरगन्तव्यं पन्थानमन्तिकमिवातिक्रान्तवन्तः प्राप्तवन्तश्च निजव्रजम् ॥३६॥

उनके चरण स्पर्श करते ही उस अजगर ने श्रीनन्दजी के चरण को छोड़कर, स्वयं अकस्मात् सर्प के आकार से उठते हुए दूसरे शरीर के बिना ही, विद्याधर के आकार को धारण कर लिया ॥३१॥

पूज्यपाद श्रीव्रजराज भी श्रीकृष्ण के करपल्लवों द्वारा चरणों के छूते ही, पहले की तरह शोभा पाने लगे ॥३२॥

उसके बाद सभी लोग इस घटना को जब आश्चर्यपूर्वक देख रहे थे, तब सुदर्शन नामक वह भूतपूर्व विद्याधर पुनः अपने सुन्दर रूप को पाकर, श्रीकृष्ण की प्रशंसा करता हुआ एवं अपने शापके वृत्तान्त को कहता हुआ, उनकी क्षमा को चाहता हुआ, उनकी आज्ञानुसार अपने स्थान को ही चला गया ॥३३॥

वहाँपर पहले लज्जा को छोड़कर, श्रीव्रजरानी आदि जो कुलाङ्गनाएँ थीं, वे सब भी सम्मिलितभाव से पास में आकर जब किंकर्त्तव्यविमूढ़ता का अनुभव कर रही थीं, तब अन्य साधारण स्त्रियों का तो कहना ही क्या है ? किन्तु अब तो वे सब की सब यथायोग्य परस्पर मिलती हुईं, केवल रोने को धारण करनेवाली हो गईं ॥३४॥

सभीजनों का परस्पर मिलन यथा—कृष्ण-बलदेव पिताजी को, एवं सभी माताएं कृष्ण-बलदेव को, और अन्य स्त्रियां माताओं को आलिङ्गन करने लग गईं । तथा अन्य सभीजन प्रेमोन्मत्त होकर, आपस में मिलने लग गये ॥३५॥

अतएव इस प्रकार रात्रि के बीत जानेपर, तत्काल ही शीघ्र चलने में मनवाले सब व्रजवासी एकसाथ गाड़ियों के समूहपर चढ़ते हुए, बहुत देर चलने योग्य मार्ग को निकट की तरह अतिक्रमण करते हुए अपने व्रज में पहुँच गये ॥३६॥

"यत्रोपनन्दादयः सनन्दनं सहसमाजं श्रीमन्नन्दराजमनवद्यवाद्यगीतपरीतवेदघोषानुगत-सर्वघोषा यथायथं संसज्य नीराज्य च व्रजोपवनमावास्य स्नपनादिभिरुपास्य च तत्रैव निजगृहजनं प्रापय्य पाकं समापय्य च सर्वानेव सम्भोज्य सुखेन संयोज्य च वर्त्म-वार्तां सम्पृच्छ्य हर्षधर्षादिकं समृच्छ्य च स्वस्ववसतिमनु वसतौ वासयामासुः ॥"३७॥

अथ समापनमाह,—

"ईदृशस्ते व्रजाधीश ! पुत्रश्चित्रयशाः शशी ।
यदंघ्रिनखरज्योत्स्ना तमः सर्वमनीनशत् ॥"३८॥

॥ इति श्रीश्रीगोपालचम्पूमन्वम्बिकावन-गमनसंविधानं
नामाष्टाविंशं पूरणम् ॥२८॥

अथैकोनत्रिंशं पूरणम्

निर्जन-विलासबाहुल्यम्

अथ रात्रिकथां पुनः स्निग्धकण्ठः प्रथयामास,—

"यदा रासाद्वासं रहसि ययुराभीरवनिता,-स्तदा शङ्कां जग्मुः स्वयमपि तु नासां गृहजनाः ।
यदन्यास्तद्रूपा व्यधित हरिमाया प्रतिगृहं, यथामीभिर्ज्ञातं निववृतिर एताः पथ इति ॥१॥

जिस व्रज में भी विशुद्ध वाद्य गीत से युक्त वेदध्वनि के सहित, अगवानी आये हुए श्रीउपनन्द आदि गोपों ने, श्रीकृष्ण के सहित एवं यात्रियों के समूह के सहित श्रीमान् नन्दरायजी से, यथायोग्य मिलकर, उनकी आरती उतार कर, व्रज के उपवन में बसाकर, स्नानादि से उनकी सेवाकर, और वहीं पर अपने सेवकवर्ग को घर भेजकर, भोजन मँगवाकर, सभी को भोजन कराकर, सुख से संयुक्तकर, मार्ग की बात पूछकर, तथा हर्ष की पराकाष्ठा आदि को प्राप्त होकर, रात्रि को अपने अपने घरपर निवास करा दिया ॥३७॥

अनन्तर कथावाचक समाप्तिद्योतक वचन बोला—हे व्रजेश्वर ! तुम्हारा पुत्र विचित्र यशवाला ऐसा अपूर्व लोकोत्तर चन्द्रमा है कि, जिसके चरणनखों की चन्द्रिका ही समस्त (बाहर भीतर के) अन्धकार को नष्ट कर देती है ॥३८॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रिविरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीगोपालचम्पूकाव्ये अम्बिकावनगमन-विधाननामकं
अष्टाविंशं पूरणं सम्पूर्णम् ॥२८॥

उन्तीसवाँ पूरण

निर्जन विलास की अधिकता

इस उन्तीसवें पूरण में प्रियतमा गोपाङ्गनाओं के साथ कौतुकपूर्ण निर्जनक्रीडा वर्णित होगी ।

अनन्तर पुनः स्निग्धकण्ठ ही वक्ता होकर, रात की कथा को विस्तारित करने लगा कि—जिस समय गोपाङ्गनाएँ रास के कारण एकान्त में निवास कर गईं, तब उनके घरवाले जन भी स्वयं शंका को नहीं प्राप्त हुए कि, हमारी गोपियाँ कहाँ गईं ? कारण—श्रीहरि की योगमाया ने प्रत्येक घर में उन गोपियों के से रूपवाली दूसरी गोपियाँ रच दी थीं, जिससे घरवाले जन यही जानते रहे कि, ये सब तो मार्ग से ही लौटकर चली आई हैं ॥१॥

"अथ तदनन्तररात्रिसन्ततीर्नानारसरासविलासादिभिरतिवाहयति श्रीगोविन्दे वृन्दा तु विविधसाहायकं समाहरति स्म ॥२॥ यथा—

"उपव्रजं न्यस्यति सा तमालान्, दीप्रौषधीश्च व्रजदूरदेशे ।
इत्यादि तत्राभिसृतौ सवृन्दा, वृन्दा हरेः सेवनमाचचार ॥३॥

"तदा च—अचीचकासद्विपिनान्याजीहयदिह प्रियाः ।
रासायातत्वरद्रात्रीरत्राम्रूरजजागरत् ॥४॥

आररम्भत रम्भोरूर्लम्मं लम्भं ततो हरिः ।
हारानिव विहारांस्तान् कारं कारं दधे हृदि ॥ युग्मकम् ॥५॥

"कदाचन चौर्यचर्यया तासां गृहमायाति, तत्रेयं दिक्,—
साहाय्ये ललितायाः, कलयन् वेशं विशाखायाः ।
विपरीते विपरीतं, हरिरविशत्तमसि वेश्म राधायाः ॥६॥

"तत्रान्धे तमसि काम्यमानवाम्यामालि प्रत्यालिच्छलवचनम्,—
'सुसखीयति ते सुभ्रूरसौ गोपमतल्लिका ।
शपे तुभ्यं लपेयं च स्वयं सख्यमुरीकुरु ॥७॥

उसके बाद श्रीकृष्ण जब अनेक रसों से युक्त रासविलासादि के द्वारा, रासलीला के पीछे की रात्रिश्रेणी को व्यतीत कर रहे थे, तब वृन्दादेवी ने अनेक प्रकार की सहायता जुटा दी ॥२॥

यथा—अपने सेवकवर्ग के सहित वह वृन्दादेवी निविडान्धकारमय श्याम तमाल के वृक्षों को तो व्रज के निकट स्थागित कर देती थी, और प्रकाशमय प्रदीप्त औषधियों को व्रज के दूर देश में धर देती थी, इत्यादिरूप से वह अभिसार के मार्ग में श्रीहरि की सेवा करती थी ॥३॥

और उस समय विपिनों को विकसित कर देती थी, एवं कृष्णप्रियाओं को यहाँपर लिवा लाती थी, रासलीला के लिए शीघ्रता करती थी, और रातभर इन गोपियों को जगाती रहती थी । तदनन्तर श्री कृष्ण रम्भोरु प्रियाओं को बारम्बार प्राप्तकर आलिङ्गन करते थे, एवं उन लोकोत्तर विहारों को करते करते हारों की तरह हृदय में धरते रहते थे ॥४-५॥

कभी कभी श्रीकृष्ण चोरी की रीति से उन गोपियों के घर आते थे, उस आने में यह रीति थी कि—ललिता की सहायता मिलनेपर विशाखा का वेष धारण करते हुए, एवं विशाखा की सहायता मिलनेपर ललिता का वेष बनाकर, श्रीहरि अन्धकार में श्रीराधा के घर में प्रवेश करते थे ॥६॥

उस घोर अन्धकार में प्रतिकूलता की कामना करनेवाली सखी के प्रति दूसरी सखी का छलमय वचन यथा—हे सुभ्रूः! राधिके ये! गोपश्रेष्ठ श्रीकृष्ण तुम्हारे सम्बन्ध में सुन्दर सखाका सा व्यवहार करते हैं । अतः मैं तुम्हारे लिए शपथपूर्वक कह रही हूँ कि, तुम इन से स्वयं मित्रता अङ्गीकार कर लो ॥७॥

"तत्र कथञ्चिदपि तदागमने वृद्धाभिः किञ्चिदिवावगते कुञ्जानेव स्वलीलया कञ्जलोचन-स्ताभिः समं रञ्जयति ॥८॥

"तत्र तत्प्रेयस्या वृद्धाभिवञ्चनाचंचुता । यथा—

"यस्त्वां रात्रिषु वृद्धे !, मामपि देवो विभीषयते ।
स तु मन्त्रिभिरुत्कलितो, गोष्ठात् कुञ्जान् विमर्दयति ॥९॥

"तस्मादत्रान्यथा मावगास्तत्र च मागा इति ध्वनितम् ॥१०॥

"अथ सख्याः—

सत्यं जरति ! मदाल्या, वरयुजि गण्डे मकरवतंसाङ्कः ।
न मया लिखितः कुतुका,-न्न मृषामुष्याः सपत्न्या च ॥११॥

"अत्र मम सखीत्वेन तस्याश्च सपत्नीत्वेन विरोधलक्षणाप्राप्तेर्मयैव लिखित इति तया ध्वनितम् । तदनुवादिना कविना तु तस्य मृषात्वमिति ॥१२॥

"अथ व्रज एव विघ्ननिघ्नतया प्रोषितभर्तृका वर्ण्यते ॥१३॥

वहाँपर जटिला आदि वृद्धाओं को श्रीकृष्ण का आना यदि किसी प्रकार किंचित् ज्ञात सा हो गया, तब तो कमलनयन श्रीकृष्ण अपनी अलौकिक लीला के द्वारा, उन सब गोपियों के साथ निकुञ्जों को ही शोभित कर देते थे ॥८॥

उस समय कृष्णप्रेयसी राधा की वृद्धाओं को वञ्चना करने की निपुणता, यथा—हे वृद्धे ! देखो, जो देवता रात के समय तुझ को एवं मुझको भी भयभीत करता रहता है, वह तो अब मन्त्रवेत्ताओं के द्वारा हमारे गोठ से चालित होकर, निकुञ्जों को तोड़ रहा है ॥९॥

इसलिए इस घर में उस देवता की स्थिति न होने के कारण, अब कुछ अन्यथा मत समझ, और उस निकुञ्ज के पास भी मत जाना । इस प्रकार की ध्वनि इस श्लोक से निकल रही है ॥१०॥

बुढ़िया को ठगने के लिए एक सखी की चतुराई, यथा—अरी बुढ़िया ! देख, इस मेरी सखी के कुंकुम से युक्त कपोल के ऊपर, मकर के से भूषण का चिह्न है, यह बात सत्य है । किन्तु मैंने उसे कौतुक से नहीं लिखा है, इसकी सौतने लिखा है । यह बात भी मिथ्या नहीं है ॥११॥

इस श्लोक में उस सखी ने यह ध्वनित किया कि—मेरी सखी होने के नाते, और उसकी सौत होने के नाते, विरोधीलक्षणा की प्राप्ति होने के कारण, मैंने ही लिखा है । किन्तु उसका अनुवाद करने-वाले कवि ने तो उस चिह्न का, या उस सखी की ध्वनि का मिथ्यात्व ही ध्वनित कर दिया ॥१२॥

अब परकीयारूप से प्रतीत होनेवाली वस्तुतस्तु स्वकीया श्रीकृष्ण की नायिकाओं में से आठ प्रकार की नायिकाओं* का वर्णन करते हैं । व्रज में ही विघ्न की अधीनता के कारण पहले प्रोषितभर्तृका

---

*इस विषय में विशेष जानकारी के लिए श्रीलरूपगोस्वामि द्वारा संकलित 'श्रीपद्यावली' ग्रन्थ अवश्य देखने योग्य है । उसकी भाषाटीका भी इस चम्पू की टीकाकार द्वारा विरचित है, जिसमें आपको श्रीकृष्ण-महिमा, भगवत्प्रेम का सौभाग्य, भगवन्नाम माहात्म्य, भक्तवात्सल्य, भक्तों की उत्कण्ठा, वृन्दावन माहात्म्य, गोपियों का प्रबल प्रेमोत्कर्ष, श्रीराधा का पूर्वराग, सखियों का परिहास, श्रीराधा-कृष्ण की परस्पर उक्ति-प्रत्युक्ति, रास इत्यादि विषय का सरस-रसमय-सुन्दर संग्रह मिलेगा । यह ग्रन्थ अचिन्त्य, अतुलनीय, असमोर्ध्व, वैष्णवदार्शनिक सिद्धान्तमणियों का उद्घाटन करने में प्रेम-लक्षणाभक्ति की मंजूषा स्वरूप है । मूल्य रुपया २.२५ । प्राप्तिस्थान—श्रीपुरुषोत्तम दास, ११७ गोपीनाथ घेरा, वृन्दावन (मथुरा), उ० प्र०

"तत्र श्रीकृष्णस्य भावना,—

'राधां पश्यसि जल्पसि स्पृशसि च स्वात्मन्नथालिङ्गसि
स्वस्मिंस्तत्तदनुक्रियामपि तयारब्धां भजन्नन्दसि ।
विश्रम्भं न हि मन्यसे तदपि चेदन्यां दशां यामित-
स्तत्प्राप्तिं मनुषे तया कथय भो ! किन्ते सुखं सेत्स्यति ? ॥१४॥

"श्रीकृष्णं प्रति सखीवचनम्—

'भूषणमग्निप्रायं, भूषणनिभमग्निमप्यसौ राधा ।
त्वद्विरहे या कलयति, सा कथमन्यैः समाधेया ? ॥१५॥
तस्याः प्राणा भवान् सा च भवत्प्राणा इति स्फुटम् ।
एतद्वाचा लघूकर्तुं प्राणन्तीं मान्तु धिक् प्रभो ! ॥'१६॥

अथोत्कण्ठिता

"तत्र च तं प्रति सखीवचनम्,—

'तामेव प्रेरयत्युच्चैरुत्कण्ठा त्वान्तु नैति सा ।
इति तस्यामसौ कृष्ण ! वितृष्णा शर्म नाश्नुति ॥१७॥

का वर्णन करते हैं । जिस का पति विदेश में हो उसी का नाम 'प्रोषितभर्तृका' है (दूरदेशं गते कृष्णे भवेत् प्रोषितभर्तृका। दूरदेशो वनादिश्च मथुरा द्वारकादि च ॥ उज्ज्वलनीलमणिः, ५।८९) अर्थात् श्रीकृष्ण जब दूर देश में चले जाते थे, तब उनकी नायिका प्रोषितभर्तृका हो जाती थी । यहाँपर दूर देश से वृन्दावन के अवान्तर वन एवं मथुरा द्वारका आदि जानना ॥१३॥

प्रोषितभर्तृका के विषय में श्रीकृष्ण की भावना, यथा—

हे स्वात्मन् ! (अरे मेरे भोलेभाले मन !) तू राधा को देखता है, उसके साथ बातें करता है, उसको छूता है, एवं आलिङ्गन भी करता है । और उस राधा के द्वारा आरम्भ किये गये उन देखने आदि के अनुकरणों को भी अपने में सेवन या अनुशीलन करता हुआ आनन्दित हो रहा है । तो भी यदि तू मेरे कहने-पर विश्वास नहीं मानता है, तब क्या अन्य दशमीदशा को प्राप्त होकर, यह विचार करता है कि उसकी प्राप्ति हो जायगी ? अरे मन ! कह तो सही, उस समय उसकी प्राप्ति से तेरा कौन सा सुख सिद्ध होगा ? ॥१४॥

उसी समय श्रीकृष्ण के प्रति सखी का वचन—हे श्यामसुन्दर ! देखो, जो राधिका तुम्हारे विरह में भूषण को प्रायः अग्नि के समान, एवं अग्नि को भी भूषण के समान मानती है, तब वह दूसरे उपायों से कैसे समझाई जा सकती है ? ॥१५॥

हे प्रभो ! यह बात स्पष्ट है कि आप तो राधिका के प्राण हो, और राधिका तुम्हारे प्राण है । किन्तु इस बात को वाणी के द्वारा छोटी करने की चेष्टा करनेवाली मुझ को धिक्कार है ॥१६॥

अब उत्कण्ठिता का वर्णन, यथा— (जो नायिका निरपराध प्रियतम के ऊपर उत्सुक होकर भी, उसके पास जाने में विलम्ब करती है, भावज्ञजन उसी को विरहोत्कण्ठिता कहते हैं । अनागसि प्रियतमे चिर यत्युत्सुका तु या । विरहोत्कण्ठिता भाववेदिभिः सा समीरिता ॥ उ०नी०मणिः, ५।७९)उसीके विषयमें श्रीकृष्ण

अस्रैः कम्पैर्विवर्णच्छविकुलवलनैर्गद्गदै रोमहर्षैः
स्वेदैः स्तम्भैर्विमोहैर्मुरहर ! दलितप्रायदेहां विधाय ।
न त्यक्तुं न ग्रहीतुं कथमपि सुशका प्राणघातावरोधा-
दुत्कण्ठा कण्ठलग्नाशनकवलनिभां तान्तु दुःखाकरोति ॥१८॥
परमगुणस्त्वं माधव !, दोषापूर्णप्रभावोऽसि ।
कथमिव तां गुणरूपा,-कृतिमधिचित्तं समादध्याः ॥'१९॥

अथाभिसारिका

"तत्र तां प्रति कस्याश्चिदुत्प्रासवचनम्,—
'सन्ध्यायां क्व नु यासि लोलनयनाप्यग्राय नैकाग्रहा
तत्राप्यग्रतमं स्थलं किमपि तच्चेतस्यलं बिभ्रती ।
सा चैषा न हि बुध्यते तव गतिर्दृष्ट्वा तमालं मुहु-
र्विष्टब्धा धृतभङ्गिसङ्गिसवयोमध्ये मुहुर्लीयसे ॥२०॥

के प्रति सखी का वचन, यथा— हे कृष्ण ! जो उत्कण्ठा उस राधिका को ही अधिक प्रेरित करती है, वह उत्कण्ठा आपके तो पासतक नहीं आती। इसीलिए वह उत्कण्ठा राधिका के ऊपर तृष्णा से रहित होकर सुख नहीं पाती है ॥१७॥

और हे मुरारे ! वह उत्कण्ठा राधिका को अश्रु, कम्प, विवर्णता की छविकुल का सम्मेलन, गद्गद स्वर, रोमाञ्च, पसीना, स्तम्भ, एवं मूर्च्छा आदि आठ सात्त्विक भावों के द्वारा, प्रायः विदीर्ण देहवाली बना कर, न तो किसी प्रकार त्यागी जा सकती है, और न ग्रहण ही की जा सकती है, अतः प्राणघात के अवरोध के कारण, गले में अटके हुए भोजन के टूक के समान दुःखदायिनी वही उत्कण्ठा, राधिका को तो महान् दुःखी कर रही है ॥१८॥

हे माधव ! तुम परमगुणवान् हो । कटाक्षपक्ष में—केवल गुणरहित हो, और दोषा अर्थात् भुजा के द्वारा पूर्ण प्रभाववाले हो, पक्षे—दोषों के कारण तुम्हारा प्रभाव अपूर्ण है । इसलिए तुम प्रसिद्ध गुण रूप आकृतिवाली उस राधिका को अपने चित्त में किस प्रकार स्थापित कर सकते हो ? पक्षे—गौणरूप आकृतिवाली यह अर्थ है ॥१९॥

अभिसारिका का वर्णन, यथा—(जो नायिका नायक का अभिसार कराती है, अथवा स्वयं भी समयानुसार अभिसार करती है, एवं जिसका वेष चाँदनी व अँधेरी रात में गमन करने के योग्य है, अर्थात् शुल्कपक्ष में शुक्लवस्त्र एवं कृष्णपक्ष में श्यामवस्त्र हैं, वही अभिसारिका कहाती है । याभिसारयते कान्तं स्वयं वाभिसरत्यपि । सा ज्योत्स्नीतामसीयान-योग्यवेषाऽभिसारिका ॥ उ० नी० मणिः, ५।७१) उस अभिसारिका अवस्था में राधिका के प्रति किसी सखी की हँसी की बात, यथा—अरी सखी ! सन्ध्या के समय चंचल नेत्र होकर कहाँ जा रही है ? उसमें भी आगे जाने के लिए अधिक आग्रहवाली हो रही है । और उसमें भी अत्यन्त आगेवाले किसी अनिर्वचनीय स्थल को ही चित्त में अधिक धारण करती हुई यह तेरी गति (चाल) मेरे तो समझ में नहीं आती । और बारबार तमाल को देखकर विशेष निश्चल होकर, इशारे को धारण करनेवाली संग की सहेलियों में बारबार छिपती जारही है ॥२०॥

अम्बरमणिसंवलितं, चरमाचलमधिजगन्थ पूर्वाद्रिम् ।
शङ्के यन्निजकृत्यं, कर्तुं कृष्णान्तिकं यासि ॥'२१॥

"तत्राभिसारो यथा—

"अन्याश्चाभिसरन्ति भाववलिताः शुभ्रक्षपायां धृतैः
शुभ्रं र्वेषवरैर्विधाय पिहितं स्वं सत्यमेतद्वचः ।
तस्मिन् गोपवराङ्गनाः पुनरमूः कान्ताङ्गसङ्गस्मृते-
र्जातानन्दतया स्मितद्युतिवृतास्तेषां व्यधुर्व्यर्थताम् ॥२२॥

सामानाधिकरण्यं, तेजस्तमसो रहोकलितम् ।
कवयन्त्यपि यत् कृष्ण,-भ्रान्ति तमसि व्रजस्त्रीणाम् ॥२३॥

आरम्भादपि कम्पते हृदयकं प्रस्थानतः स्तम्भते
पादद्वन्द्वमहो मनस्यनुमिलन् देहं निरुन्धे प्रियः ।
यासां गोपनतभ्रुवामभिसृतौ तासां परं कारणं
दैवं यन्नयते तदन्तिकममूस्तं वा बलात् कर्षति ॥२४॥

मेरी दृष्टि में तो तू सूर्य से युक्त अस्ताचल को उदयाचल ही समझ बैठी है । अतः मैं तो यही शंका करती हूँ कि, तू अपना कार्य (विहार, पक्षे—स्नान आदि) करने को कृष्णान्तिक (कृष्ण के निकट, पक्षे—यमुना के निकट) जा रही है ॥२१॥

श्रीकृष्ण के निकट अभिसार का वर्णन, यथा—अन्य साधारण नायिकाएँ तो शुक्लपक्ष की रात में पहने हुए शुक्लवर्ण के वस्त्र, चन्दन, पुष्प आदि के श्रेष्ठ वेषों के द्वारा, अपने को ढककर, भाव से युक्त होकर, निज निज कान्त के निकट अभिसार करती हैं। यह बात सत्य है। किन्तु उसी शुक्लपक्ष के अभिसार में, अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के अङ्ग-सङ्ग की स्मृति से उत्पन्न हुए आनन्द के कारण, मन्दहास्य की कान्ति से आच्छादित होकर, इन श्रेष्ठ गोपाङ्गनाओं ने तो उन शुक्लवस्त्र आदिकों के वेषों की व्यर्थता (निष्फलता) कर दी ॥२२॥

अहो आश्चर्य ! प्रकाश एवं अन्धकार की एक आधार में वर्तमानता संघटित हो गई। इसी कारण साधारण जन "व्रजाङ्गनाओं को अन्धकार में श्रीकृष्ण की भ्रान्ति हो गई" ऐसे भी वर्णन करते हैं ॥२३॥

और देखो ! जिन गोपाङ्गनाओं के अभिसार में आरम्भ से ही हृदय काँप उठता है, दोनों चरण चलने से रुक जाते हैं, मन मन में मिलते हुए प्रियतम देह को रोक देते हैं, ऐसी स्थिति में उन गोपियों के अभिसार के विषय में तो, केवल दैव ही कारण कहा जा सकता है । क्योंकि वह दैव ही इन गोपियों को श्रीकृष्ण के निकट ले जाता है, अथवा श्रीकृष्ण को ही बलपर्वक गोपियों के निकट आकर्षित कर देता है ॥२४॥

"कदाचित् काचित् काञ्चिद्दिवापि कृष्णसमीपं छलतः संवलयति । यथा—

'आलि ! पश्य परितः शिखि-वृन्दं, भीतिरीतिरहितं नटदस्ति ।
बाढमस्य विहरन्नधिमध्यं, नव्यनीरदवरः प्रतिभाति ॥'२५॥

"अत्र निर्जनत्वं मध्यस्थितकृष्णत्वं च ध्वनितम् ॥२६॥

अथ वासकसज्जा

पुष्पाण्याचिनुते विचित्य चिनुते तल्पं व्रजस्याङ्गना
यन्नास्ति त्रिजगत्यपि स्फुटमहो वैकुण्ठवीथिष्वपि ।
एवं वासकसज्जिका लसति सा छायाद्वितीया यदा
सङ्गिन्याचितसङ्गतिः पुनरसौ वेत्तीव किञ्चिन्न हि ॥२७॥

"तत्र चोत्कण्ठावश्यायां तस्यां तं प्रति सखीवचनम्,—

'तल्पं कृत्वा भवदभिगमं चिन्तयन्ती समन्ता-
त्तत्रादृष्टे भवति समयक्षेपलेशाक्षमा सा ।
चक्रे चक्राङ्कितकर ! महाकम्पसम्पद्विहस्ता
शस्ताकल्पं कृतमपि च तत् कर्णयन्ती विशीर्णम् ॥'२८॥

कभी कभी तो कोई सखी किसी सखी को, दिन में भी छल से श्रीकृष्ण के पास पहुँचा देती है, यथा—अरी सखि ! देख, यह मयूरवृन्द भय की रीति से रहित होकर, चारों ओर नृत्य कर रहा है। निश्चय ही इस मयूरवृन्द के बीच में विहार करता हुआ नूतन जलधर प्रकाशित हो रहा है ॥२५॥

यहाँपर भीति-रीतिरहित शब्द से निर्जनता एवं "अधिमध्यं नव्यनीरदवरः" इससे श्रीकृष्ण की मध्य में स्थिति प्रतिध्वनित हो रही है ॥२६॥

अब वासकसज्जा का वर्णन, यथा—(अपने को निवास करानेवाले नायक के आने के अवसर के कारण, एवं नायक मेरे पास आयेंगे इस हेतु जो नायिका अपने देह गेह को सजाती है, वही वासकसज्जा कहती है। स्ववासकवशात् कान्ते समेष्यति निजं वपुः। सज्जीकरोति गेहं च या सा वासकसज्जिका ॥ उ० नी० मणिः, ५।७६) जो व्रजाङ्गना पुष्पों को चुनती है, और चुनकर ऐसी पुष्पशय्या की रचना करती है, जो शय्या तीनों भुवनों में भी नहीं है, यह बात तो स्पष्ट है, किन्तु वैकुण्ठ की श्रेणी में भी नहीं है, यही आश्चर्य है। इस प्रकार अकेली वासकसज्जा जब शोभा पाती है, तब तो वह पुनः संगिनियों से मिलकर भी, मानो कुछ भी नहीं जान पाती ॥२७॥

वहाँपर जब वह वासकसज्जा उत्कण्ठा के वशीभूत हो जाती है, तब श्रीकृष्ण के प्रति उसकी सखी का वचन, यथा—हे चक्रपाणे ! वह मेरी सखी शय्या को रचकर चारों ओर से आपके आने की चिन्ता करती हुई, वहाँपर आपके न देखनेपर, लेशमात्र समय बिताने में असमर्थ होकर, महत्ती कम्परूप सम्पत्ति के द्वारा व्याकुल होकर, रचे हुए उस मङ्गलमय वेषभूषा को भी फेंकती हुई नष्ट कर चुकी है ॥२८॥

अथ विप्रलब्धा

"तत्र च तं प्रति सखी-वचनम्,—

'भुक्तिं मुक्तिं च तनुते न परं भवदागमः ।
भक्तिं व्यनक्ति च व्यक्तं सुहृत्सु परमेश्वर ! ।।'२९।।

अथ खण्डिता

"तत्र च तं प्रति सखी-वचनम्,—

'कुर्यास्त्वं खण्डितां काश्चिन्नखराद्यङ्कसङ्गतः ।
तं विना यां तथाकार्षीस्तत्र ते महती कला ।।'३०।।

"खण्डितां प्रति तस्याः सुहृदुपालम्भरचनं तद्दूतीवचनम्,—

'मानिनि ! वच्मि त्वामह,-मिह सुहृदां तव शृणोतु वृन्दं च ।
सहजा या निजवृत्ति,-र्गोविन्दे स्वयमुपास्व तामेव ।।'३१।।

"तत्र कठोरायमाणां प्रति च,—

'मानाग्निमयदृग्बाणं मुञ्च त्वं किं नु गर्वसि ।
राधे ! कृष्णश्च दृक्पर्यक्पर्जन्यास्त्रं विमोक्ष्यति ।।'३२।।

अब विप्रलब्धा का वर्णन, यथा—(संकेत करके भी दैवयोग से प्राणवल्लभ के न आनेपर जिसका चित्त व्यथित हो जाता है, विज्ञजन उसी को विप्रलब्धा कहते हैं। कृत्वा सङ्केतमप्राप्ते दैवाज्जीवितवल्लभे । व्यथमानान्तरा प्रोक्ता विप्रलब्धा मनीषिभिः ।। उ० नी० मणि: ५।८५) उस विप्रलब्धा के विषय में श्रीकृष्ण के प्रति उसकी सखी का वचन, यथा—हे परमेश्वर ! आपका शास्त्र केवल भोग एवं मोक्ष का ही विस्तार करता है, सो बात नहीं है, किन्तु आपके स्नेही भक्तों के ऊपर प्रेमलक्षणा भक्ति को भी स्पष्टरूप से प्रकाशित कर देता है। प्रकृत पक्ष में—हे परमेश्वर ? स्नेहभरी प्रेयसी गोपियों के पास आपका आना केवल भुक्ति (सुरत) एवं मुक्ति (सुरत के अन्त) का ही विस्तार नहीं करता, किन्तु अनुरागात्मिका भक्ति को भी स्पष्ट प्रकाशित कर देता है। अतः उसको देकर अपनी सेवा को व्यक्त करो यह भाव है ।।२९।।

अब खण्डिता का वर्णन, यथा—(जिसका प्रियतम समय का उल्लंघन कर, अन्य नायिका के साथ उपभोग कर उसके भोग के चिह्नों से अंकित होकर, प्रातःकाल आवे वही खण्डिता कहलाती है । उल्लङ्घ्य समयं यस्याः प्रेयानन्योपभोगवान् । भोगलक्ष्माङ्कितः प्रातरागच्छेत् सा हि खण्डिता ।। उ० नी० मणि: ५।८३) उस खण्डिता के विषय में श्रीकृष्ण के प्रति उसकी सखी का वचन, यथा—हे श्यामसुन्दर ! तुम नख आदि चिह्नों से चिह्नित होकर, किसी भी नायिका को खण्डितकर सकते हो। किन्तु उन नखादि चिह्नों के बिना जिस नायिका को तुमने खण्डित करदिया, उसके विषय में तुम्हारी भारी कारीगरी है ।।३०।।

खण्डिता के प्रति उसकी सखियों के उपालम्भ की रचना से युक्त उसकी दूती का वचन—हे मानिनि! तुम्हारे प्रति यहाँपर मैं जो कुछ कहरही हूँ, उसको तुम और तुम्हारा सखीवृन्द भी सुन ले । तुम्हारी श्रीकृष्ण को सन्तुष्ट रखने की जो स्वाभाविक अपनी वृत्ति थी, तुम तो श्रीकृष्ण के ऊपर उसी वृत्ति की उपासना की कामना करती रहो ।।३१।।

श्रीकृष्ण के ऊपर कठोर का सा व्यवहार करती हुई खण्डिता के प्रति उसकी दूती का वचन—हे राधिके ! तू गर्व क्यों करती है ? अपने मानाग्निमय नेत्ररूपी बाण को श्रीकृष्ण के ऊपर छोड़ दे । किन्तु

"अथ सम्भ्रमादागतस्य नखरादिस्पर्शात् क्षतायमानरक्तिम्ना समक्तस्य कान्तस्य वचनं तस्याः प्रतिवचनं च,—

'दयिते ! दयित ! कथं त्वं, मलिनमुखी धिग् न वेत्सि हा किमिदम् ।
नखरदनक्षतमूहे, त्वयि सुप्ते सुप्तिराक्षसी चक्रे ॥'३३॥

"अथ तस्याः सख्या संवादः,—

'जलदे विलसति विद्युद्,-बिभ्यति हृदयानि भीरूणाम् ।
हससि हरिं किमु मुग्धे !, न हि हृदि चित्रं स्तुवेऽहमेतस्य ॥'३४॥

"अथ तस्याः कृष्णं प्रति,—

'आवृणुतामरुणांशु,-र्नखपदसिन्दूरचिह्नानि ।
अञ्जनमपि कृष्णाभं, तत्तु तवौष्ठः स्फुटं कुरुते ॥३५॥

पूर्वां हरितमाक्रम्य निष्क्रामन् कृष्णनीरदः ।
निह्नुते शशभृल्लेखां हरिदन्तरलज्जया ॥३६॥

याद रख, श्रीकृष्ण भी चारों ओर चलनेवाला अपना नेत्ररूपी पर्जन्यास्त्र तेरे ऊपर छोड़ देंगे । अतः मेरे कहने से मान को त्याग दे, यही भाव है ॥३२॥

तदनन्तर शीघ्रतापूर्वक आये हुए, एवं नख आदि के स्पर्श से क्षत का सा आचरण करनेवाली लालिमा से व्याप्त हुए श्रीकृष्ण का वचन एवं खण्डितानायिका राधिका का प्रत्युत्तर—श्रीकृष्ण बोले—हे प्यारी ! राधा बोली—हे प्यारे ! कृष्ण—तेरा मुख क्यों मलिन हो रहा है ? राधा—धिक्कार है, हाय ! तुम इस मलिनता के कारण को नहीं जानते क्या ? कृष्ण—हाय तेरे शरीर में ये किसके चिह्न हैं ? मैं तो नख या दन्तों के आघात की आशंका करता हूँ । राधा—नहीं, नहीं । ये चिह्न तो तुम जब सो गये थे, तब निद्रारूप राक्षसी कर गई ॥३३॥

पश्चात् राधा का अपनी सखी के साथ संवाद, यथा—राधा बोली—अरी सखि ! देख, बादल में बिजली चमक रही है, जिसको देखकर भीरुजनों के हृदय भयभीत हो रहे हैं । सखी बोली—हे मुग्धे ! श्रीकृष्ण की हँसी क्यों कर रही है ? राधा बोली—नहीं, हँसीं नहीं कर रही हूँ, किन्तु मैं तो इनके हृदयपर जो नखों का चित्र है, उसकी स्तुति कर रही हूँ ॥३४॥

श्रीकृष्ण के प्रति राधिका का वाक्य—हे चतुरशिरोमणे ! आपकी प्रेयसी के द्वारा आपके शरीर में किये गये नखचिह्न, एवं सिन्दूर के चिह्नों को अरुणवर्ण की किरणोंवाला प्रातःकालिक सूर्य भले ही छिपा ले, और तुम्हारी कालीकान्ति काले अंजन को भी भले ही ढक ले, किन्तु उस अंजन को तुम्हारा लाल लाल ओष्ठ तो स्पष्ट प्रकाशित कर रहा है ॥३५॥

और देखो ! पूर्वदिशा को आक्रमण करके निकलता हुआ यह काला बादल दूसरी दिशा से होनेवाली लज्जा के कारण चन्द्रमा की रेखा को छिपा रहा है, उसी प्रकार तुम भी पहली प्रेयसी चन्द्रावली को आक्रमण करके यहाँ आते हुए, मेरी लज्जा के कारण उसके चिह्नों को छिपा रहे हो ॥३६॥

स्त्रीभावमाकलयितुं कमठानुकारं, गच्छन्महाद्रितलमाश्रितवान् भवान् यत् ।
तन्नाजितस्य न तवानुचितं यतस्त्वं, स्वां देवतां रमयितुं सुधयोद्यतोऽसि ॥३७॥
मामपि हित्वा क्रीडसि, तामपि हित्वेति नानृतं वचनम् ।
एकं तत्र जहाते,-रन्यद्रूपं दधातेर्हि ॥३८॥
नीरसा सरसा वेति विविक्तिर्नातिकामिनाम् ।
पश्य वंश्या मुखं नायं पिबन्नुज्झति माधवः ॥'३९॥

"तत्र श्रीकृष्णस्य वचनम्,—
'राधे ! वपुषा तन्वी, कोमलहृदयातिसूक्ष्मधीरसि च ।
मानः कथमेतावा,-न्माति त्वयि तत्तु पृच्छामि ॥४०॥
मुखमब्जं तव रसना, पल्लवपत्री कथं वचः क्रूरम् ।
आम् ज्ञातं किल यस्मा,-त्तन्मूलं भाति हृद्वज्रम् ॥'४१॥

"भवतु च,—
यथा मे रोचते मानो न प्रसादस्तथा तव ।
यत्र स्वाधीनताव्यक्तिं कुरुषे ताडनेन च ॥४२॥

और स्त्रियों के भाव को जानने के लिए, पक्षे—मोहिनी अवतार को दिखाने के लिए कच्छप का अनुकरण करते हुए, तुमने मन्द्राचल के तल का जो आश्रय लिया था, वह अजित नामवाले तुम्हारे सम्बन्ध में अनुचित नहीं है। क्योंकि तुम अमृत के द्वारा अपनी देवता को रमण कराने को उद्यत हुए थे। अतः मेरे साथ रमण करने को उद्यत हुए तुमको वैसे चिह्न धारण करना उचित ही है, यह भाव है ॥३७॥

और तुम मुझको त्यागकर क्रीडा करते हो, एवं उस चन्द्रावली को भी धारण कर क्रीडा करते हो, यह वचन मिथ्या नहीं है। कारण—पहला एक 'हित्वा' रूप ओहाक् त्यागे धातु का है, और दूसरा 'हित्वा' डुधाञ् धारणपोषणयोः धातु का है। अर्थात् क्त्वा प्रत्यय परे रहते 'जहातेश्च क्त्वि', 'दधातेर्हिः' इन सूत्रों के द्वारा एकसा ही रूप बनता है, इसी प्रकार भावार्थ दो प्रकार का होनेपर भी, आप एकसा ही रूप बनाते रहते हो ॥३८॥

और अत्यन्त कामीजनों को यह नीरस है, अथवा सरस है, इस प्रकार का विवेक नहीं रहता। दृष्टान्त—देखो, ये वंशीवाले लक्ष्मीपति होकर भी, नीरस वंशी के मुख का पान करते हुए, उसको नहीं त्यागते हैं ॥३९॥

उसी समय श्रीकृष्ण का वचन, यथा—हे राधे ! तू शरीर से तो छोटी या क्षीण है, एवं कोमल हृदयवाली है, और अति सूक्ष्म बुद्धिवाली भी है। किन्तु मैं तो यह पूछता हूँ कि, इतना लम्बा चौड़ा मान तुझ में कैसे समा जाता है ? ॥४०॥

और तेरा मुख कमल के समान कोमल है, एवं जिह्वा नवीनपत्र के समान कोमल है, तो भी तेरे वचन ऐसे कठोर कैसे हैं ? हाँ, मैंने जान लिया। कारण—तेरा हृदयरूपी वज्र ही उस वचन की कठोरता का मूल मालूम पड़ता है ॥४१॥

अच्छा, इस बात को तो रहने दो। मेरे लिए तो तुम्हारा मान जैसे रुचिकर लगता है, तैसे प्रसन्नता नहीं। क्योंकि जिस मान में तुम वाणी के द्वारा ताड़ना करके स्वाधीनता प्रकाशित करती हो ॥४२॥

अर्दितोऽपि रुषा राधे ! लीलाब्जेनास्मि नार्दितः ।
हन्त मत्कण्टकैरेतत्त्वदंघ्रिसुहृदर्द्यते ॥'४३॥

"तदेवमुपवदमाने तस्मिन् पुनस्तस्या वचनम्,—
निर्वृत्यम्बुधिकुम्भजः स्थितिमहामेघावली-मारुतः
प्राणानां पवनाशनस्तनुवनीनैदाघदावानलः ।
सोऽयं ते विरहो यया बत मया सोढस्तया वा कथं
सोढुं हन्त न शक्ष्यते नवनवः पद्मापते ! दुर्नयः ?' ॥४४॥

"एवं रुदतीं सखीमालक्ष्य सखी तं प्राह,—
'अनुरागवती सन्ध्या स्वच्छोऽयं वासरस्ततः ।
स्थाने तया तस्य सङ्गो न रात्र्या मलिनात्मना ॥'४५॥

"त्वयि तु तदेतद्विपरीतं प्रतीयते, ततो न स्वच्छतेति व्यञ्जना ॥४६॥

"ततः सा मानिनी पुनस्तामाह,—
'दीपज्वाला मम हृदि गता स्नेहमुद्धूय वक्रे !
चक्रे येन प्रतिहतिमिता तं कथं निन्दसि त्वम् ? ।

और हे राधे ! तुम्हारे द्वारा क्रोध करके लीलाकमल से ताड़ित होकर भी, मैं पीडित नहीं होता हूँ । किन्तु खेद तो यह है कि, यह तुम्हारा चरणरूपी मित्र इतना कोमल है कि, मेरे रोमाञ्चों से भी पीडित हो रहा है ॥४३॥

श्रीकृष्ण एकान्त में इस प्रकार लुभाकर जब बातें कर रहे थे, तब पुनः राधिका का वचन—हा ! लक्ष्मीपते ! सुखरूप समुद्र को सोखने के लिए अगस्त्यरूप, मर्यादारूप महामेघसमूह को उड़ाने के लिए वायुस्वरूप, प्राणवायुओं को पीने के लिए सर्परूप, एवं शरीररूप वनी को जलाने के लिए ग्रीष्मकाल की दावानलस्वरूप, ऐसा यह तुम्हारा बिरह जिस कठोर हृदयवाली मैंने सह लिया, हाय ! उसी प्रकार की मेरे द्वारा तुम्हारी नई नई दुर्नीति क्या न सही जा सकेंगी ? ॥४४॥

इस प्रकार कहकर रोती हुई राधिका को देखकर, उसकी सखी कृष्ण से बोली—यह सन्ध्या अनुराग से युक्त है, और यह दिन भी निर्मल है । इसलिए उस अनुरागवती सन्ध्या के साथ उस निर्मल दिन का मिलना उपयुक्त है, किन्तु मलिन आत्मावाली उस रात्रि के साथ नहीं ॥४५॥

किन्तु तुम में तो इससे विपरीतता प्रतीत हो रही है, इसलिए तुम में स्वच्छता नहीं, यह भाव व्यञ्जित हो रहा है ॥४६॥

उसके बाद वह मानिनी राधा पुनः सखी से बोली—हे टेढ़ी चाल से बोलनेवाली सखि ! जिन श्रीकृष्ण ने मेरे हृदय में स्थित दीपकरूप ज्वाला तेल को नष्ट करके उसको विनष्ट कर दिया, तू उनकी निन्दा क्यों करती है ? क्योंकि क्लेश का कारणरूप स्नेह के नष्ट हो जाने से, मैं तो तत्काल सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से रहित ही हो जाऊँगी । और ये श्रीकृष्ण भी अनेक गोपीसमूह को पाकर, हर्ष को प्राप्त हो जायँगे । अहह ! तब किसी को क्या दुःख रहेगा ? ॥४७॥

निर्द्वन्द्वाहं सपदि भवितास्म्येव सोऽप्येष नाना-
गोपीसंघात् प्रमदमयिता हन्त किं कस्य दुःखम् ?' ॥४७॥

"अथ तस्य तद्बाष्पापसारणाय व्याजरचनं वचनम्,—
'मीनादपि तन्मुक्ता,-फलमुद्भवतीति रत्नशास्त्रार्थम् ।
पश्यन्निव मम हस्त,-स्तव मुखमभियाति मानिनि ! प्रसभम् ॥'४८॥

"ततश्च सा विमुखीभवन्ती मनसीदं वदन्ती कलहान्तरिताभावमाससाद ॥४९॥

'ऐषीस्त्वं यदि मानस, मानेनामुं वशीकर्तुम् ।
वशगेऽप्यस्मिन् कृष्णे, त्यजसि न किं तं वृथाभूतम् ?' ॥५०॥

"तदा च सखी तमुवाच,—
'या तव हृदयविदारं, नखरैरकरोन्मुराराते ! ।
तां मनुषे प्रियदयितां, ज्वलति तु तस्माद्दृगस्माकम् ॥५१॥

या खलु मानममानं, दध्रे त्वन्मानजीवना दयिता ।
घटते गोपीवल्लभ !, तस्याः स्फुटमसुगमः सुगमः ॥'५२॥

अनन्तर राधिका के आँसुओं को पौंछने के लिए श्रीकृष्ण का छलकी रचना से युक्त वचन—हे मानिनि ! मछली से एवं सीप से भी मोतियों की उत्पत्ति होती है, यह रत्नपरीक्षाशास्त्र का कथन है । अत: मेरा हाथ उस रत्नपरीक्षकशास्त्र के अर्थ को देखता हुआ सा हठात् तुम्हारे मुख की ओर आरहा है । यहाँपर राधिका के नेत्र ही मछली के समान हैं, एवं अश्रु विन्दु ही मुक्ताफल जैसे हैं, यह जानना ॥४८॥

तदनन्तर वह राधिका विमुख होती हुई मन मन में यह कहती हुई—कलहान्तरिता नायिका के भाव को प्राप्त हो गई । (या सखीनां पुरः पादपतितं वल्लभं रुषा । निरस्य पश्चात्तपति कलहान्तरिता हि सा ॥ उ० नी० मणि:, ५।८७) उसका लक्षण, यथा—"जो नायिका सखियों के सामने चरणोंपर गिरे हुए कान्त को क्रोध से त्यागकर, पीछे पश्चात्ताप करती है, वही कलहान्तरिता कहाती है" ॥४९॥

राधा का मानसिक कथन यह है—अरे मेरे मन ! तू यदि मान के द्वारा श्रीकृष्ण को वशीभूत करना चाहता है तो, श्रीकृष्ण के स्वयं वशीभूत हो जानेपर भी, उस वृथाभूत (निरर्थक) मान को क्यों नहीं त्यागता है ? ॥५०॥

उस समय राधा की सखी श्रीकृष्ण से बोली—हे मुरारे ! जिस रमणी ने नखों के द्वारा तुम्हारे हृदय को विदीर्ण कर दिया है, उसी को तुम अपनी प्रियदयिता मानते हो । बस, हमारी आँखें तो इसीलिए जलती हैं ॥५१॥

और हे गोपीजनवल्लभ ! जो रमणी सम्मान को अनादर करके धारण करती है, अथवा अपरिमित मान को धारण करती हैं, बस, वही तुम्हारे सम्मान की जीवनस्वरूप संघटित हो जाती है । यह निश्चित है । और उसी के लिए असुगम (दुर्लभ) भी तुम्हारा मिलना सुगम (सुलभ) हो जाता है । इसीलिए राधा मान किये बैठी है ॥५२॥

"इति सखीषु पराङ्मुखीषु बहु तटस्थतां घटयन् दूरदेशीयदेशमटति स्म यदासौ, तदा तु,—

"राधाया दृष्टमानायाः सृष्टरोमाञ्चसञ्चयाः ।
वैणवध्वनिजातीया जीयासुः कीचकस्वनाः ॥५३॥

"तदेवगम्य वामाया वचनम्,—
'न वदसि परुषं रुषं न धत्से, मनसि च तत्र कथं कृतापराधे ?
हरि हरि सततं विमानिताहं, त्वयि बत शर्म कदापि नाप राधे ! ॥'५४॥

"तत्र तस्या मनःकथा,—
'मानं कुर्विति वक्ति सा प्रियसखी मानं न वेद्मि स्फुटं
कौटिल्येन यदि प्रसिध्यति स तत् कौटिल्यमेवात्र किम् ।
हा तस्य स्मितकञ्जचारुनयनं श्यामस्य मन्मानसं
द्रष्टुं वांछति हन्त कष्टमपरां स्फूर्तिं कथं गच्छतु ? ॥५५॥
आगस्कृतेऽपि तस्मै, रज्यति हृदयं खलं तदेतन्मे ।
त्यक्तुं तदपि न शक्यं, कथमिव स हरिः परित्याज्यः ?' ॥५६॥

इस प्रकार कहकर सखियों के पराङ्मुख हो जानेपर, विशेष उदासीनता की चेष्टा करते हुए, श्रीकृष्ण जब थोड़ी सी दूर के स्थानपर भ्रमण करने लग गये, तब तो जिसका मान देखा गया उस राधा के सम्बन्ध में वे छिद्रयुक्त बाँसों के शब्द ही विजय को प्राप्त हो जायँ । लीलाशक्ति के द्वारा उत्पादित वे सछिद्र वंशों के शब्द वंशी की ध्वनि के समान थे, एवं राधा के रोमाञ्चसमूह की सृष्टि करनेवाले थे ॥५३॥

उन वंश के शब्दों को उद्दीपनरूप से जानकर, कुटिल स्वभाववाली सखी का वचन—हे राधे ! देख, श्रीकृष्ण जब अपराध कर चुके हैं, तब उन के ऊपर तू कठोर वाक्यों का प्रयोग क्यों नहीं करती एवं मन मन में क्रोध को क्यों नहीं धारण करती ? हाय ! हाय ! खेद की बात तो यह है कि—मैं निरन्तर तुम्हारे द्वारा अपमानित होकर, कभी भी तुम्हारे निमित्त सुख नहीं पा सकी । (हरि हरि, शिव शिव, राम राम, इत्यादि विभक्ति प्रतिरूपक अव्यय हैं, ये सब प्रायः खेदसूचक हैं । सभी काव्यों में इनका प्रयोग देखा गया है)॥५४॥

उस समय राधिका की मानसिक कथा, यथा—वह प्रियसखी तो यह कहती है कि 'तू मान कर' । और मैं स्पष्ट ही मान करना जानती नहीं । यदि कहो कि वह मान तो कुटिलता से ही प्रसिद्ध होता है । मैं यहाँपर उस कुटिलता को भी नहीं जानती । हाय ! मेरा मन तो उन श्यामसुन्दर के मन्दहास्य से युक्त मनोहर नेत्रकमल को देखना चाहता है । हाय ! कष्ट ! वह मेरा मन दूसरे प्रकार की स्फूर्ति को कैसे प्राप्त हो सकता है ? ॥५५॥

और अपराध करनेवाले श्रीकृष्ण के लिए भी मेरा हृदय अनुराग करता है, अतः यह खल अर्थात् विचारशून्य है । मेरे द्वारा जब वह खलहृदय भी नहीं त्यागा जा सकता, तब वे श्रीकृष्ण किस प्रकार त्यागे जा सकते हैं ? ॥५६॥

"ततश्च, बलान्मानं शिक्षयन्तीरपि तत्र सखीततीः ।
राधया सार्धमाकर्षन् जीयाद्वेणुकलस्वनः ॥५७॥

"तस्या मुखमवकलय्य तत्तदुपमाजातीयतया संशय्य स्थितवन्तं कान्तं प्रति सखीवचनम्—
'अस्मिन्नपि विधुबुद्धिं, कर्तुं मा कृष्ण ! साहसं कार्षीः ।
सर्वं जेतृ तदेतद्,-भ्रूधनुरनु नेत्रबाणमुत्क्षिपति ॥'५८॥

"ततश्च, भ्रमरीवाम्बुजारण्यं शफरीव जलाशयम् ।
कृष्णं लब्ध्वा पूर्वमेव दृष्टा सामून्न तूत्तरम् ॥५९॥

अथ स्वाधीनभर्तृका

नित्यं या याचितापि प्रियतमहरिणा नेच्छति स्पर्शमात्रं
वाचा सेयं मुहुस्तं निदिशति रसनामप्यहो संवरीतुम् ।
तन्मन्ये नूनमस्यावयवसमुदितिर्दिव्यसीधुप्रकारः
सङ्गादप्यङ्ग ! यस्य प्रभवति मुहुरुन्मादलक्ष्मीरमूदृक् ॥६०॥

उसके बाद वहाँपर राधिका को बलपूर्वक मान सिखानेवाली सखियों की टोली को, राधिका के सहित आकर्षण करती हुई वंशीध्वनि की जय हो ! ॥५७॥

राधिका के मुखको देखकर "यह कमल है या चन्द्र है ?" इत्यादि तत्तद् उपमा के भेदों के कारण, संशय करके खड़े हुए श्रीकृष्ण के प्रति, राधा की सखी का वचन—हे कृष्ण ! तुम इस राधिका के मुख में यह चन्द्रमा है, ऐसी बुद्धि करने का साहस भी नहीं करना । कारण—यह तो सब को जीतनेवाला भ्रूरूप धनुष् है, नेत्ररूपी बाण को ऊपर की ओर फेंकता रहता है । चन्द्रमा में ये बातें कहाँ हैं ? अतः यह चन्द्र से भिन्न है ॥५८॥

उसके बाद कमलवन को प्राप्तकर जैसे भ्रमरी देखी जाती है, और जलाशय को प्राप्तकर जैसे मछली देखी जाती है, उसी प्रकार वह राधिका पहले ही श्रीकृष्ण को प्राप्त करके देखी गई, किन्तु उत्तरकाल में नहीं । अथवा राधिका भ्रमरी की तरह श्रीकृष्ण के मुखकमल के मकरन्द के पान में आसक्त देखी गई । किन्तु मछली की तरह नहीं देखी गई । क्योंकि जल में धँस जाने के कारण, उसको भ्रमरी जैसा सुख नहीं मिल पाता ॥५९॥

अब स्वाधीनभर्तृका का वर्णन करते हैं—(जिसका प्रियतम अपने आधीन, एवं पास में ही रहता है वह स्वाधीनभर्तृका होती है । स्वायत्तासन्नदयिता भवेत् स्वाधीनभर्तृका । सलिलारण्यविक्रीडा-कुसुमावचयादिकृत् ॥ उ० नी० मणिः ५।६१) जो स्वाधीनभर्तृका राधिका प्रियतम श्रीकृष्ण के द्वारा नित्य प्रार्थित होनेपर, स्पर्शमात्र भी नहीं चाहती थी, अहो ! कैसा आश्चर्य ? वही राधिका आज अपनी करधनी सँभालने के लिए किंवा वस्त्र को संवरण (ढकने) के लिए वाणी के द्वारा बारबार श्रीकृष्ण को आदेश दे रही है । इसलिए मालूम पड़ता है कि, श्रीकृष्ण के अङ्गसमुदाय निश्चय ही दिव्य मादकद्रव्यविशेष हैं । हे अङ्ग ! प्रिय मधुकण्ठ ! जिस उन्मादक द्रव्यविशेष के सङ्ग के कारण, बारंबार प्रार्थनामयी उन्मादरूप सम्पत्ति राधिका जैसी ही प्रगट हो जाती है ॥६०॥

"तत्र च—वक्ति रूपं यदा कृष्णस्तदा सा राधिकाधिकम् ।
शृणोति नैव तत्तस्य पश्यन्ती रूपमद्भुतम् ॥६१॥

"एतदनन्तरं सखीनां निभृतालापः,—
'अपि लीलायितमनया, चम्पकलतया तमालाधः ।
प्रागल्भ्यात् पुनरेतां, तदुपरि रमण-स्पृहां वेद्मि ॥'६२॥

"अथ श्रीमत्परमरूपगुरूपदेशमयस्वप्नकलितं प्रातस्तन-ललितरागसंवलितं ललिता-गीतम्,—॥६३॥

'जागरणादथ कुञ्जवरे, वीक्षितभास्कर-रुचिनिकरे ।
कान्ता-निद्रा-भङ्गकरे, अपि सङ्कलितस्वपरिकरे ॥
मम धीर्मज्जति कंसहरे, मौलिशिखोपरि-पिच्छधरे ॥ध्रुवम्॥
मुहुरुल्लासित-युवतिकरे, सममनया बहिरयनचरे ॥
घनगहनाध्वनि गमनपरे, तत्र च बहु कृतसुखवितरे ।
आशास्तम्भितविरह-गरे, धाम्नि सनातनशर्महरे ॥ इति ॥६४॥

दिनान्तरे सखीसौभाग्यम्;—
किञ्चिद्विलोक्य कुञ्जे, सख्याः प्रागल्भ्यमेकान्तात् ।
स्मेरा करमनु मुरलीं, प्रादाद् बर्हावलिं शिरसि ॥६५॥

और वहाँपर श्रीकृष्ण जब राधिका के रूप की अधिक प्रशंसा करते हैं, तब वे श्रीराधिका श्रीकृष्ण का अत्यन्त अद्भुत रूप देखती हुई, अपने रूप की प्रशंसा नहीं सुनतीं ॥६१॥

इसके अनन्तर सखियों का रहस्यमय आलाप, यथा—अष्टसखियों में से एकजनी बोली—अरी सखियो ! देखो, तमालरूप श्रीकृष्ण के अधोभाग में चम्पकलतारूप राधिका ने भी यथेष्ठ लीला की है। पुनः ढीठता के कारण इस राधारूप चम्पकलता को उस तमाल के ऊपर क्रीडा करने की इच्छावाली समझती हूँ ॥६२॥

तदनन्तर जिसका स्वरूप परम शोभायमान है, ऐसे गुरुदेव के उपदेशमय स्वप्न के द्वारा प्राप्त, एवं प्रातःकालीन ललितराग से युक्त, ललिता सखी का गीत, यथा—गीत मूल में है । उसका भावार्थ यह है कि—जागने के अनन्तर श्रेष्ठकुञ्ज में सूर्य की कान्तिसमूह को देखनेवाले, प्रेयसी राधिका की निद्रा को भङ्ग करनेवाले, अपने परिकर का निरीक्षण करनेवाले, मस्तक के ऊपर मयूरपंख धारण करनेवाले, युवतियों के कर को बारम्बार ऊपर को करनेवाले, राधिका के साथ बाहरी वनके मार्ग में विचरण करनेवाले, सघन वन के मार्ग में जाने की आसक्ति करनेवाले, और वहींपर बहुत से सुखों का वितरण करनेवाले, पुनर्मिलन की आशा के द्वारा विरहरूपी विष को स्तम्भित करनेवाले, अपने धाम में नित्य सुख देनेवाले, कंस के प्राणों को हरनेवाले—श्रीकृष्ण में मेरी बुद्धि निमग्न हो रही है ॥६३-६४॥

दूसरे दिन सखी का सौभाग्य, यथा—किसी सखी से कुञ्ज के भीतर एकान्त स्थान पाकर सखी की किंचित् ढीठता या बुद्धिमत्ता को देखकर, मुसक्याकर उसके हाथ में तो मुरली दे दी, और मस्तकपर मयूर-पुच्छश्रेणी दे दी ॥६५॥

"तां प्रति श्रीराधा किमपीदमाचर्य प्रोवाच,—

'शेते मञ्जुनिकुञ्जतल्पमनु स प्रेयानिति प्रेयसि !
त्वां वेणुं किल हर्तुमस्य कुतुकात् प्राहैषमस्मि द्रुतम् ।
तन्तु त्वं परिहृत्य चागतवती श्रान्तेव च प्रेक्ष्यसे
तद्वर्त्मान्यदुरीचकर्थ रभसाद् यन्मादृशां दुर्गमम् ॥'६६॥

"तदेवं तासां तस्य च प्रावृषिजकृषिवद्दैववशत एव वशे वशंवदे तदनन्तरं वसन्तपञ्चमीमनु वसन्तरागं जनयन् गोपालजनीभिर्मिलित्वा श्रीमान् गोपालः खलु खेलति स्म ॥६७॥

"तथाहि—तस्यां पञ्चम्यामुत्कण्ठितषट्पदखण्डिततुण्डमुद्राकुलमुकुलमण्डलतया प्रथममुन्मीलितेषु केषुचित् पुण्ड्रकेषु श्रीमन्माधव-राधादीनामबाधमागमनमसम्भाव्य भृशमुन्मनायमानायां वृन्दायां सुमनायमाना काचिदालिपालिरागम्य तामुल्लासितवती,—॥६८॥

'सखि वृन्दे ! कथमिव मन्दतां विन्दसे ? आगम्य रम्यमिदमवगम्यताम् ॥'६९॥

"वृन्दाह,—'कीदृशम् ?' "सा प्राह,—यादृशं भवदभिरुचितम् ।' "वृन्दाह,—'कथ्यतां तथ्यम् ।' "सा प्राह,—'काचिदाली माधवी-मण्डलमनु माधवं माधव-प्रकाशदर्शनतः समुज्जृम्भितराधाविप्रलम्भ-बाधं निभाल्य तामुल्लोलयामास । उल्लोल्य च सङ्गतश्चलन्ती सखीभिरिदं वसन्तरागेण गायन्ती वल्लभमपि लम्भयामास ॥७०॥

उसी सखी के प्रति राधिका किसीरीति का प्रकाशकर यह बोली—हे सखि ! हमारे प्रियतम मनोहर निकुञ्जमें शय्यापर शयन कर रहे हैं, इसीलिए तो हे प्यारी सखि ! मैंने कौतुक के कारण तुझको उनकी वंशी को हरण करने के लिए शीघ्र भेजा था। किन्तु तू तो उस वंशी को छोड़कर ही चली आई और थकी माँदी सी दीख रही है। इसलिए मालूम होता है कि, जो मार्ग मुझ जैसियों के लिए दुर्गम है, तूने वेग के कारण उसी दूसरे मार्ग का अवलम्बन ले लिया ॥६६॥

इस प्रकार सभी गोपियों की एवं श्रीकृष्ण की अभिलाषा वर्षा में होनेवाली खेती की तरह, दैववशतः जब वशीभूत अर्थात् परिपूर्ण हो गई, तब उसके बाद वसन्तपंचमी को लक्ष्यकर वसन्तराग को उत्पन्न करते हुए, श्रीगोपालजी गोपाङ्गनाओं से मिलकर क्रीडा करने लगे ॥६७॥

उसी पंचमी के दिन उत्कण्ठित भ्रमरों के द्वारा खण्डित हैं मुखमुद्रासमूह जिनके, ऐसी अधखिली कलिकाओं के मण्डल के कारण, कुछ वासन्ती माधवी लताएँ जब पहले ही खिल गईं, और श्रीमान् माधव एवं राधिका आदिकों के बाधारहित आगमन की संभावना न करके, वृन्दादेवी जब अधिक उन्मनी सी हो रही थी, तब सुन्दर मनवाले का सा व्यवहार करनेवाली किसी सखीश्रेणी ने आकर, वृन्दादेवी को आह्लादित कर दिया ॥६८॥

अरी सखि वृन्दे ! मन्दता को किस प्रकार प्राप्त हो रही हो? हमारे पास आकर इस रमणीय विषय को समझलो ॥६९॥

वृन्दाबोली—कैसा ? सखीश्रेणी बोली—जैसा आपको रुचिकर हो ! वृन्दा बोली—सत्य कहिये। सखीश्रेणी बोली—देखो, माधवीलताओं के समूह के पास वसन्तऋतु के स्पष्ट दर्शन के कारण, बढ़ी हुई

"गानं यथा—'कृष्णवनं सखि ! भाति सरङ्गम् ।
भवतीमिव लघु नेतुमधीशं, सेवितमधुरससङ्गम् ॥ध्रु॥
आगरमितमिव माधविकाशतमनुकृतजृम्भाभङ्गम् ।
चुम्बति मधुपगणे कृतभङ्गि स्मारयति प्रियसङ्गम् ॥
सरसरसालजमुकुलकुलं परिपुलकयविव सममङ्गम् ।
आकारितमिव तव कुरुते पिककुलमनुकलयदनङ्गम् ॥
त्वाञ्चेलाकलिचन्दनमरुता वासयतानुलवङ्गम् ।
कर्षति मधुरिपुमधु-पर्वोदितवीणावेणुमृदङ्गम् ॥
नीतायां त्वयि माधवि ! माधवमाधवगानतरङ्गम् ।
किरति परागचयं लोचनमिव नटयति चारुकुरङ्गम् ॥
इति सा लब्ध्वा वल्लभमनिशं मनसा वलितासङ्गम् ।
जयति निरुपमरूपिणि ! मध्ये यमुनामानसगङ्गम् ॥'७१॥

"अत्र च पद्यमेकं गद्यते,—
वनरुचिरुचिरः श्रीमान्, मदनविनोदाय नुन्नगोपीकः ।
अभितः सुरभितदेशः, सुमुखि ! विलोकस्व माधवः स्फुरति ॥७२॥

राधिका की वियोगमयी बाधा से युक्त श्रीकृष्ण को देखकर, किसी सखी ने राधिका को क्षुभित कर दिया। और क्षुभित करके भी उसीके सङ्ग चलती हुई उस सखी ने सखियों के साथ, वसन्तराग से गातेगाते, अग्रिम गाने को श्रीकृष्ण के पास भी पहुँचा दिया ॥७०॥

गान यथा—हे सखि ! देख, श्रीकृष्ण का यह वृन्दावन रङ्ग के सहित कितना सुहावना लग रहा है। तुम्हारी तरह शीघ्र ही श्रीकृष्ण को प्राप्त कराने के लिए मधुरस के समूह को सेवित कर रहा है, अर्थात् धारण कर रहा है। और इस वन में जम्हाई की तरङ्गों का अनुकरण करनेवाली, अतएव जागरण को प्राप्त होती हुई सौ सैंकड़ों माधवीलताएँ, भ्रमरगणों के चुम्बन करनेपर, इशारे कर कर मानो प्यारे के सङ्ग का स्मरण करा रही हैं। और सरस आमके वृक्षोंसे उत्पन्न कलिकासमूहवाला यह वन, एकसाथ सारे शरीर को मानो पुलकित कर रहा है, और यहाँ का कोकिलसमूह अनङ्ग को बढ़ाता हुआ तुम्हारा आह्वान सा कर रहा है। और जिसमें लवङ्गलताएँ विद्यमान हैं, तथा श्रीकृष्ण के वसन्तोत्सव में वीणा, वेणु, मृदङ्ग प्रकाशित हो रहे हैं, ऐसा यह वृन्दावन सुगन्धजनक एवं वस्त्रों को किंचित् कँपानेवाले, चन्दनवनकी वायु के द्वारा तुमको आकर्षित कर रहा है।

हे माधवि ! राधिके ! तुमको वहाँ पहुँचा देनेपर तो यह वन श्रीकृष्ण के वसन्तसम्बन्धी गान की तरङ्गों से युक्त होकर पुष्पों के परागसमूह को फैला रहा है। और सुन्दर हरिणस्वरूप अपने नेत्र को मानो नचा रहा है। हे निरुपमरूपवती ! सखि ! देख, यमुना एवं मानसीगंगा के बीच में मनसे ही जिनके मिलन की प्रार्थना की है, ऐसे प्रियतम श्रीकृष्ण को निरन्तर पाकर, श्रीराधिका जययुक्त हो रही हैं ॥७१॥

इस गाने के विषय में एक श्लोक कहा जाता है। उसका तात्पर्यार्थ यह है—हे सुमुखि ! देख तो सही, यहाँपर माधव अर्थात् वसन्त एवं श्रीकृष्ण सुशोभित हैं। दोनों ही वन की शोभा द्वारा रुचिकर हैं,

"तदेवं निशम्य तत्र विन्दमानां वृन्दामनु पुनरेवं दर्शयामास । यथा—

'राधा हरिरपि पुलकिवसन्तम् । गायति निजमुदमनु विकसन्तम् ।।ध्रु।।
उपदिशते दिशि दिशि गुणयन्तम् । पिकमनु पञ्चममतिचिरयन्तम् ।।
वासन्ती-मधु रहसि धयन्तम् । शंसति मधुलिहमनुगायन्तम् ।।७३।।

मधुरसमनु गानं रमयन्तम् । रसयति विनिमितमधरमयन्तम् ।।
मलयजसुरभिधुरं खञ्जन्तम् । कवयति गन्धवहं प्रसजन्तम् ।।७४।।

वाद्यगणं गुणवलितदिगन्तम् । अनुनृत्यति मदलोलदृगन्तम् ।।
चपलाघनसमरुचिमनु तं तम् । नटयति शिखिगणमपि निपतन्तम् ।।७५।।

किरति चूर्णमनु पूर्णदनन्तम् । सममालीललनाभिरनन्तम् ।।
श्रमजलकणगणमनु विलसन्तम् । वहति परागभरं रुचिमन्तम् ।।'इति।।७६।।

"अथ तावतीं गतिमप्यसहमानाः सहमाना गुरवः कुरवमाचर्य पर्यवस्थया तासां स्वतन्त्रतामावार्य सर्वतो निरोधमुद्बोधयामासुः ।।७७।।

दोनों ही श्रीमान् हैं अर्थात् शोभायुक्त हैं, दोनों ही कामक्रीडा के लिए गोपियों को प्रेरित करनेवाले हैं, एवं दोनों ही चारों ओर के प्रदेश को सुगन्धित करनेवाले हैं ।।७२।।

अत: इस प्रकार के वर्णन को सुनकर, वहाँपर आती हुई वृन्दादेवी को वही सखी पुन: इस प्रकार दिखाने लगी, यथा—राधिका एवं श्रीकृष्ण भी रोमांचित होकर, अपने हर्षको लक्ष्य करके विकसित होते हुए वसन्तराग को गा रहे हैं ।।ध्रु।। बहुत देरतक शब्द करनेवाली कोयल को प्रत्येक दिशा में पंचमस्वर को गाने के लिए उपदेश दे रहे हैं। तथा एकान्त में माधवीलता के मधु को पीते हुए एवं अपने पीछे पीछे गाते हुए भ्रमर की प्रशंसा कर रहे हैं ।।७३।।

और गान को लक्ष्यकर सन्तुष्ट करते हुए तथा नियमपूर्वक अपने अधर की ओर आते हुए भ्रमर को मधुरस आस्वादन करा रहे हैं और चन्दन की सुगन्ध के भार से युक्त, अतएव धीरे धीरे बहते हुए, एवं अपने शरीर से लगते हुए वायु का वर्णन कर रहे है ।।७४।।

और गुणों के द्वारा दिगन्तव्यापी वाद्यसमूह को लक्ष्य करके, हर्ष के कारण चंचल कटाक्षपूर्वक नृत्य कर रहे हैं । और बिजली एवं मेघ के समान रुचिवाली उन उन वस्तुओं को एकसाथ नचा रहे हैं, तथा निकट में आते हुए मयूरगण को भी नचा रहे हैं ।।७५।।

और निरन्तर आकाश एवं पृथ्वी को पूर्ण करनेवाले चूर्ण, अर्थात् अबीर गुलाल को सखीरूप ललनाओं के सहित अधिक परिमाण में फेंक रहे हैं । और पसीने के कणसमूह के सहित अधिक विलास करते हुए शोभायमान पराग (पुष्प धूलि) के भार को धारण कर रहे हैं ।।७६।।

तदनन्तर गोपियों के गर्वयुक्त सास ससुर आदि गुरुजन उनकी उतनी रीति को भी न सहन करते हुए, कुत्सित शब्द करके अर्थात् डाट फटकार करके, विरोध के द्वारा उनकी स्वतन्त्रता को रोककर, चारों ओर से निरोध प्रगट करने लग गये ।।७७।।

"यत्र खलु रक्षिणीवर्गस्ताः सर्वतः समचक्षिष्ट । येन स्वत एव कृष्णस्य च तद्वश्यता जाता । तदेवं विधुरेण सर्वत्र च तत्र विधुरे सति,—

पद्यां पश्यति वेणुमाकलयति प्रेष्यादिकं प्रेषय-
त्यन्यं कृत्स्नमुपायमाचरति यत् कान्तः सकान्तः पुरा ।
तद्गुर्वादिनिरोधबन्धविधिषु प्रौढेषु ह्याकर्षणं
जज्ञे निष्फलमेव येन च तयोर्मर्माणि भेदं ययुः ॥७८॥

"तत्र चोभयोर्मनः-कथा यथा,—

'न प्राग्दृष्टिरमुष्य यत् प्रियजनस्यासीत्तदुच्चैः सुखं
मन्ये सा बत साम्प्रतं समभवद्यत्तस्य तद्दुःखदम् ।
तस्य स्वस्य च या क्रमेण ममता जाताधुना सा द्वयं
चूर्णीकर्तुमथेच्छतीह किमहं कर्तास्मि कर्ता स किम् ? ॥७९॥

रात्रावद्यातिमात्रं प्रणयिजनमहं तं ददर्शाप्यसौ मां
नैतावन्मात्रमत्र प्रतिनवमदनं हन्त पस्पर्श च द्राक् ।
यद्येष स्वप्न एव स्फुरति न हि तदाप्यात्मनः प्राणरक्षां
मन्ये जाग्रद्दशा वा तदपि न हि हहा कृष्णकान्ते ! क्व नु त्वम् ॥'८०॥

जिस निरोध में रखवाली करनेवालियों का समूह उन गोपियों की सब ओर से देखभाल रखता था । जिसके कारण श्रीकृष्ण की स्वयं ही उनको अधीनता हो गई । अतः इस प्रकार वियोग के कारण उन सभी के विकल हो जानेपर, कान्तः (श्रीकृष्ण) सकान्तः (श्रीराधिका के सहित) मार्ग को देखते हैं, वेणु बजाते हैं, सुबल, मधुमङ्गल आदि अन्तरंगसेवकों को भेजते हैं, अन्य सभी उपाय करते हैं । किन्तु राधिका के सास आदि गुरुजनों द्वारा निरोधरूप बन्धनविधियाँ जब विशेषता को धारण करने लगीं, तब तो हाय ! घासफूस के उद्देश्य से किये गये खेती के व्यापार की तरह, मिलन के उद्देश्य से किये गये वे सबव्यापार निष्फल हो गये । जिसके कारण राधाकृष्ण दोनों के ही मर्मस्थान विदीर्ण हो गये ॥७८॥

उस प्रतिबन्ध के समय दोनों के ही मानसिक कथन, यथा—पहले इस प्रियजन का दर्शन जबतक मुझको नहीं हुआ था, तबतक तो मैं अपने को बहुत सुखी मानता था, या मानती थी, किन्तु हाय ! अब प्रियजन का दर्शन जो अच्छी प्रकार हो गया, वह वियोग में महादुःखदायी हो रहा है । और उस प्रियजन की व मेरी क्रमशः जो ममता उत्पन्न होगई, वह ममता अब हम दोनों को ही चूर्ण करना चाहती है । अतः इस विषय में मैं क्या करूँगा एवं वह हमारा प्रियजन ही क्या करेगा ? ॥७९॥

आज की रात में मैंने उस स्नेहीजन को बहुत देरतक खूब देखा, उसने भी मुझको भरपेट देखा । केवल इतना ही नहीं, किन्तु अहह ! यहाँपर प्रत्येक नवीन कामनापूर्वक दोनों ने शीघ्र ही परस्पर स्पर्श भी किया । यदि यह पूर्वोक्त व्यापार स्वप्नसा ही स्फूर्ति पा रहा है, तो भी मैं अपने प्राणों की रक्षा नहीं समझता या नहीं समझती अथवा यह सब जागृतदशा ही स्फूर्ति पा रही है, तो भी मैं अपने प्राणों की रक्षा नहीं मानता, या नहीं मानती । हा ! हा ! हे कृष्णकान्ते ! अर्थात् हे कृष्ण की प्रिये ! पक्षान्तरे—हे श्याम-कान्तिवाले ! कृष्ण ! तुम कहाँ हो ? ॥८०॥

'श्यामाङ्गमन्तरा देहः सुहृदः सर्व एव च।
अन्तर्मनोभिदस्तापं दधते वह्निजालवत् ॥'इति॥८१॥

"एवं सञ्चुक्रुधुस्ते ते रुरुधुश्च वधूर्यदा।
तदा कृष्णस्तीर्थयात्रां तृष्णया च्छद्म निर्ममे ॥८२॥

यदा कृष्णानुरक्ताभिः सा यात्रा ताभिराकलि।
मनोराज्यं तदा प्राज्यमचायि निरचायि च ॥८३॥

यदा प्रतस्थे गोविन्दो विन्दन् शकटमुन्नतम्।
तदा दृक्पक्षिणां ताभिर्लक्षिता बन्धविच्युतिः ॥८४॥

रात्रिं रात्रिं वसन्ति स्म यत्र ते तत्र निश्चितम्।
अभूदमूषु सम्प्राप्तिर्विधोर्दाक्षायणीष्विव ॥८५॥

"तथा हि,—ताभिः स्वस्य विदूरगाभिरभिसारोद्यन्मदाभिस्तदा
गत्यर्थं कृतवासकाभिरुदितप्रोल्लासितत्केलिभिः।

और (जो स्त्री शीतकाल में उष्ण, एवं उष्णकाल में शीतल होजाती हो, उसी को श्यामा कहते हैं। शीतकाले भवेदुष्णा ग्रीष्मकाले च शीतला। तप्तकाञ्चनवर्णाभा सा स्त्री श्यामेति कथ्यते॥) एवंगुण-विशिष्टा श्यामा (राधिका) के अङ्ग के बिना, पक्षे—श्यामसुन्दर के अङ्ग के बिना, सारा शरीर एवं सारे सुहृद् सम्बन्धीजन, मर्मस्थान का भेदन करते हुए, अग्नि की ज्वाला की तरह संताप देर हे हैं। (अत्र कृष्ण पक्षे—श्यामाया अङ्ग; राधा गोपीपक्षे—श्यामस्य श्रीकृष्णस्य अङ्ग—इति विग्रहः। सर्व इति एकवचनं बहुवचनं च। अन्तर्मनोभिद इति—अन्तर्मनोभिनत्ति इति देहपक्षे, भिन्दन्तीति सुहृत्पक्षे, क्रमशः कप्रत्ययान्तं क्विप्प्रत्ययान्तं च रूपं बोध्यं, तदन्ते सन्, सन्त इति च योज्यम्। दधते इति–देहपक्षे दधधातोः सुहृत्पक्षे धाञो रूपं ज्ञेयम्) ॥८१॥

इस प्रकार वे वे गुरुजन जब अत्यन्त क्रुद्ध हो गये, एवं अपनी अपनी बहूबेटियों को बाहर जाने से रोकने लग गये, तब श्रीकृष्ण ने गोपियों के मिलन की तृष्णा से अम्बिकावन की तीर्थयात्रा का बहाना बनाया ॥८२॥

श्रीकृष्णानुरागिणी उन गोपियों ने वह तीर्थयात्रा जब प्राप्तकर ली, तब तो उन्होंने प्रचुर मनोराज्य को देख लिया, एवं उसका दृढ निश्चय भी कर लिया ॥८३॥

श्रीकृष्णचन्द्र ऊँची गाड़ीपर चढ़कर जब तीर्थयात्रा को चल दिये, तब उन गोपियों ने अपने अपने नेत्ररूपी पक्षियों की बन्धुरूप बन्धन से मुक्ति देख ली ॥८४॥

वे सब यात्री प्रत्येक रात्रि में जहाँ जहाँ निवास करते थे, वहाँ वहाँपर अश्विनी, भरणी आदि नक्षत्ररूप दक्ष की बेटियों में चन्द्र के सम्मेलन की तरह, इन गोपियों में श्रीकृष्ण का सम्मेलन हो जाता था ॥८५॥

और उस समय श्रीकृष्ण उस मार्ग में उन सब गोपियों के साथ अनेक प्रकार की निजी लीलाएँ करते थे। वे गोपियाँ अपने सम्बन्धीजनों से बहुत दूर रहती थीं। अभिसार के लिए उनका हर्ष प्रगट हो रहा था। वे श्रीकृष्ण के पास जाने के लिए अभिलाषा करती रहती थीं। उन सभी में उल्लासयुक्त अभिमत

काभिश्चित् परिवञ्चिताभिररतिव्याप्ताभिरुद्वासित-
द्वन्द्वाभिर्विविधस्वकेलिमभजत्तस्मिन् स कृष्णः पथि ॥८६॥
यर्हि च तीर्थं याता, गोकुललोकास्तदा हरिर्विदधे ।
गुणजीविस्त्रीवेशं, तासामासत्तिसौख्याय ॥८७॥

"तत्र ज्योतिर्मन्त्रयोगतन्त्रविदुषीवेषो यथा,—

सर्वज्ञे किं त्रिलोक्यां सुखकरसदनं कृष्णगोष्ठं किमस्मि-
न्नाजीव्यं कृष्णगानं किमतुलविभवप्रापणं कृष्णलिप्सा ।
किं भोग्यं कृष्णरूपं परिणतिरिह का कृष्णलब्धिः समन्ता-
दित्येवं राधिकायां प्रतिवचनकृती पातु नः कृष्णदम्भः ॥८८॥

"दूतीवेशो यथा,—

कासि प्रेष्या किमीया तव तमनुगता किंगुणा तस्य तुल्या
तत्र स्यात् किं प्रमाणं विजनगृहगता पश्य मे सर्वमङ्गम् ।
इत्येवं दिग्वितानप्रणिहितिवलितं सस्मितं तन्निदिष्टा
राधागीर्भङ्गिमात्रात् परिचितिमकरोदस्तु तत् काम्यवस्तु ॥८९॥

केलियाँ प्रगट हो रही थीं । उनमें से कुछ गोपियाँ सास आदि के द्वारा श्रीकृष्ण के पास जाने से वंचित थीं, तो भी उनकी कृपा से उनसे मिल जाती थीं । वे सभी घर के कामकाजों की अनिच्छा से व्याप्त थीं, और वे सुख-दुःख, भूख-प्यास आदि द्वन्द्वों को त्याग चुकी थीं ॥८६॥

और गोकुलवासी लोग जब तीर्थपर पहुँच गये, तब श्रीकृष्ण उन गोपियों के पास मिलनरूपी सुख के लिए, गुणों से अपनी जीविका चलानेवाली विदुषी, दूती, वैद्यानी, एवं मालिन आदि स्त्रियों के से वेष को धारण कर लेते थे ॥८७॥

उन सब में से ज्योतिषशास्त्र, डामर आदि मन्त्र, दूसरे द्रव्य के संयोग से सोना चाँदि आदि अनेक रूप बना देना, कठपुतली नचाना, इत्यादि जाननेवाली विदुषी का वेष, यथा—गोपियाँ बोलीं—हे सर्वज्ञे ! तीनों लोकों में सुखदायक स्थान कौन सा है ? उ०—श्रीकृष्ण का व्रजमण्डल । प्र०-इस व्रज में जीवन का अवलम्बन क्या है ? उ०—श्रीकृष्ण सम्बन्धी गायन । प्र०—अतुल वैभव प्राप्त करानेवाली कौन सी वस्तु है ? उ०—श्रीकृष्ण प्राप्ति की इच्छा । प्र०—भोग्य के योग्य कौन वस्तु है ? उ०—श्रीकृष्ण का रूप । प्र०—इस संसार में सुन्दर फल कौन है ? उ०-श्रीकृष्ण की प्राप्ति । इस प्रकार राधिका के निकट प्रत्युत्तर देने में कुशल श्रीकृष्ण का दम्भ हमारी रक्षा करे ! ॥८८॥

दूती का वेष, यथा—प्र०-अरी ! तू कौन है ? उ०—दूती हूँ । प्र०—किसकी दूती है ? उ०—तुम्हारे जो प्यारे हैं उनकी अनुगत दूती हूँ । प्र०—तू कितने गुणोंवाली है ? उ०—तुम्हारे प्यारे के तुल्य गुणोंवाली हूँ । प्र०—उसमें क्या प्रमाण हो सकता है ? उ०—सूने घरमें चलकर मेरे सारे शरीर को देख लो । इस प्रकार की बातचीतों के विस्तार में प्रणिधानपूर्वक एवं मन्दमुसकान के सहित श्रीकृष्ण के द्वारा आदिष्ट हुई श्रीराधा ने वाणी के इशारेमात्र से श्रीकृष्ण का परिचय कर लिया । बस, हमारे लिए तो वही कामना के योग्य वस्तु हो जाय ! अर्थात् राधिका के प्रति कहे गये "तुम मेरे शरीर को देख लो" यह वाक्य ही हमारी कामना के योग्य वस्तु हो जाय ! ॥८९॥

"तदेवं श्रीराधया तद्विरहचिन्तासंबाधयापि गततद्बाधया क्वचिदन्यथान्यथा च रजन्यन्तरे पुनः पुनरन्यबहुविधवेशं केशवं निशाम्य भणितम् ॥९०॥ यथा—

'सेयं भिषगसिताङ्गी, मम हृद्दाहं चिकित्सितुं लब्धा ।
स्पृशती सखि ! करनाडी,-मन्याङ्गं धिक् कुतः स्पृशति ? ॥९१॥

श्यामा वैणविकीयं, विदूरवासा निशार्धमुद्भूतम् ।
सख्यः स्थलमिदमल्पं, तन्मम तल्पन्तु संकुचद्भवतु ॥९२॥

कविरियमतुला भवतु, श्यामाव्यक्तिः स्वधीततद्विद्या ।
अस्माकं रह एषा, कथमिव जानाति तन्न जानामि ॥९३॥

श्यामा चित्रकरीयं, चित्रं विजने प्रकाशयति ।
मामिव कामपि यत्र, स्वतुलितपुंसान्वितां सखि ! व्यधित ॥९४॥

रहसि तदेतद्वच्मि, त्वयि सखि ! न परत्र कुत्रापि ।
ताम्बूलिकीयमसिता, मोहनमन्त्रं विजानाति ॥९५॥

इसी प्रकार दूसरी दूसरी रात में भी, पुनः पुनः दूसरे अनेक प्रकार के वेषवाले श्रीकृष्ण को देखकर श्रीकृष्ण की विरह चिन्ता से विशेष बाधित होकर भी, उनके दर्शन की बाधा से मुक्त हुई राधा ने कहीं कहीं दूसरी दूसरी प्रकार से भी कहा—॥९०॥

यथा—हे सखि ! ललिते ! देख, ये श्यामवर्णवाली वैद्यपत्नी मेरे हृदय के दाह की चिकित्सा करने के लिए उपस्थित होकर, हाथ की नाडी को स्पर्श करती करती मेरे दूसरे अङ्गको क्यों छू रही है ? अतः इसको या मुझको धिक्कार है । अर्थात् वैद्य को तो नाडी छूने का अधिकार है, अन्य अङ्गों को छूने का नहीं । अतः अनधिकार चेष्टा करने करानेवाली इसको एवं मुझको धिक्कार है ॥९१॥

अरी सखियो ! देखो, वंशी बजाने में निपुण इस श्यामा नारी का निवासस्थान बहुत दूर है, और आधीरात हो गई है, अतः इस समय यह अपने वासस्थान पर जाने में असमर्थ है । और यह हमारा स्थान भी थोड़ा सा ही है, इसलिए मेरी शय्या संकुचित हो जाय तो अच्छा हो । अर्थात् मेरी खाट को सरका कर, इसकी खाट भी, यहीं बिछा दो तो ठीक है ॥९२॥

और यह श्यामवर्णवाली विदुषी अच्छी प्रकार काव्यविद्या को, एवं चौंसठ कलाओं (विशेष विवरण उत्तरचम्पू ८।७१ में देखिये) को अध्ययन करनेवाली होने के कारण, अनुपम कवि हो सकती है । किन्तु हमारे सारे रहस्य को यह किस प्रकार जानती है, इस बात को मैं भी नहीं जानती ॥९३॥

और हे सखि ! चित्र बनानेवाली यह श्यामा नारी एकान्त में चित्र को प्रकाशित करती है । इसलिए जिस एकान्त स्थल में इसने मेरे समान किसी नारी को अपने समान रूपवाले पुरुष से संयुक्त बना दिया है । अतः यह विचित्र चित्रकार मालूम पड़ती है ॥९४॥

अरी सखि ! ललिते ! मैं तुमसे एकान्त में कहती हूँ, और दूसरे के पास कहीं भी नहीं; देख ! ताम्बूल बेचकर जीविका करनेवाली यह साँवली नारी मोहनमन्त्र को जानती है । अर्थात् इसके हाथ के ताम्बूल खाने से सभी मोहित हो जाते हैं ॥९५॥

सेयं मालाकारी, मूर्तिर्मालाः प्रसारयति ।
तस्य श्यामलमूर्तेः, कस्मात्पुष्पेषु-वासनां तनुते ? ॥९६॥

फलविक्रयिणी श्यामा, फलमिह विविधं प्रसारयति ।
बिल्वं केवलमथ किं, गृह्णत्यस्मान् विलोकयति ॥९७॥

सेयं श्यामा न सती, हारव्यतिहारसम्भवद्द्रव्या ।
अपरिचितापि स्वेन हि, मणिसरपरिधापनं वष्टि ॥९८॥

यदवधि तदगुरुसत्त्वं, तस्या गृह्णामि गन्धजीविन्याः ।
तदवधि गुरवो मयि सखि !, कृष्णमकृष्णं च न ब्रुवते ॥'९९॥

"अत्र श्रीवत्सलक्षणस्याप्येतदुपलक्षणं बहुरचनं वचनं लक्षणीयम्; ॥१००॥ यथा—

'सीवनविज्ञा स्वयमपि, परशिल्पानां विलोकनात्कर्त्री ।
साहं प्रणयिव्यक्ति,-र्लोकय गोपि ! स्वहृद्गतां चोलीम् ॥१०१॥

और यह मालिन के से स्वरूपवाली नारी मालाओं का विस्तार करती है, यह तो ठीक है, किन्तु उन श्याम मूर्तिवाले श्रीकृष्ण के पुष्पों में वासना को क्यों बढ़ा रही है ? अथवा 'पुष्पेषुवासनां' यह एकपद होनेपर, यह अर्थ होगा कि—श्रीकृष्णसम्बन्धी कामवासना को क्यों विस्तारित कर रही है ? ॥९६॥

और फलों को बेचनेवाली यह श्यामा यहाँपर अनेक प्रकार के फलों का विस्तार कर रही है। पश्चात् केवल बिल्व (बेल) के फल को ही ग्रहण करती हुई हमारी ओर क्यों देखती है ? मालूम पड़ता है कि बिल्वफल के समान मेरे स्तनों का इशारा करती है ॥९७॥

और यह श्यामा नारी सती नहीं मालूम पड़ती, क्योंकि इसके शरीर में हारों के बदला-बदली के द्रव्य विद्यमान हैं। अर्थात् यह दूसरे के हार को भी अपने की तरह धारण कर लेती है; यह सती का लक्षण नहीं है। और यह अपरिचित होकर भी, मेरे गले में अपने आप मणियों के हारविशेष को पहनाना चाहती है ॥९८॥

और हे सखि ! गन्ध से जीविका चलानेवाली उस वणिकपत्नी के पास से मैं जब से अगुरु चन्दनपङ्क को ग्रहण करती हूँ, तभी से मेरे सास ससुर आदि गुरुजन, मेरे प्रति कृष्ण एवं अकृष्ण की कोई चर्चा नहीं करते। अथवा कृष्ण के प्रति ईर्ष्या के कारण, कृष्णागुरु एवं अकृष्ण चन्दन, इत्यादि कुछ भी नहीं कहते ॥९९॥

अनन्तर श्रीवत्सचिह्नधारी श्रीकृष्ण के पूर्वोक्त वेष उपलक्षणमात्र हैं। वस्तुतः इनसे भिन्न और भी बहुत सी रचना से युक्त वाक्य लक्ष्य करने चाहिये ॥१००॥

यथा—नाना वेषधारी श्रीकृष्ण बोले—हे गोपि ! मैं सिलाई के काम में चतुर होकर, दूसरों की कारीगरी के देखनेमात्र से स्वयं भी, अनेक प्रकार की कारीगरी कर लेती हूँ। ऐसी होकर भी, मैं स्नेहीजनों में ही प्रकट होती हूँ। अतः मेरे वक्षःस्थल पर मेरी बनाई हुई चोली को देख ले, यदि पसन्द आवे तो तेरे लिए भी ऐसी ही बनाकर पहना दूँगी ॥१०१॥

अहमिह रञ्जनकारी, श्यामाभिख्या जगद्गतख्यातिः ।
या मम वस्त्रं वस्ते, विकसति हृत्कञ्जरञ्जनाप्यस्याः ॥१०२॥

दर्पणकार्मुकविद्रुम,-मुक्ता विक्रेतुमीहसे स्पष्टम् ।
गूढं सम्पुटयुगलं, क्रेतुमहन्तु व्रजस्त्रि ! पृच्छामि ॥१०३॥

संवाहननिपुणात्मा, सुतनुरहं तव निषेवणं लिप्सुः ।
मत्स्पर्शाशजसौख्यं, सुभगे ! ब्राह्मं सुखं जयति ॥'१०४॥

"तत्र च सति—

कङ्कणकारिस्त्रीवद्,-वेशं केशवमुपेत्य याः काश्चित् ।
दक्षिणवामचरित्रं, तेनुस्ता न हि करवामहे सदसि ॥१०५॥

अन्धकारमयपक्षलक्षिता,-मम्बिकावनगतिं विधाय ताम् ।
यद्यदिष्टमभवन्मुरारिणा, मिष्टमिष्टमतनिष्ट तद्बहु ॥१०६॥

"तदेवं च सति—

कंसारेर्हृदयाब्जसम्भवदलीवीथीयमाना व्रज-
प्रेयस्यः स्फुटमन्तरान्तरपदं याताः क्रमादन्ततः ।

और मैं यहाँपर रंगरेजे के काम को भी कर लेती हूँ। मेरा नाम श्यामा है। और इसी नाम से जगत्भर में मेरी ख्याति है। जो स्त्री मेरे द्वारा रंगे हुए वस्त्र धारण करती है, उसके हृदयकमल की रंजना भी विकसित हो जाती है ॥१०२॥

हे व्रजनारि ! तुम तो स्पष्टरूप से दर्पण, धनुष्, प्रबाल, मूंगा एवं मोतियों को ही बेचना चाहती हो। किन्तु मैं तो सदा गुप्त रहनेवाले दो गोल गोल डिब्बों को खरीदने के लिए तुमसे पूछती हूँ, तुम्हारे पास बिकाऊ हैं क्या ? ॥१०३॥

और हे महाभागे ! गोपि ! मैं शरीर दबाने के काम में भी निपुण स्वरूपवाली हूँ, एवं मेरा शरीर सुन्दर तथा कोमल भी है। मैं तुम्हारी सेवा भी प्राप्त करना चाहती हूँ। और मेरे स्पर्श से जो सुख उत्पन्न होता है, वह ब्रह्म के साक्षात्कार के सुख को भी जीत लेता है ॥१०४॥

ऐसी घटना के बाद चूड़ी बनानेवाली मनिहारिन के से वेषवाले अथवा कंकण आदि भूषण बनानेवाली स्त्री के से वेषवाले केशव के पास आकर, जिन किन्हीं गोपियों ने सरलता एवं कुटिलता के चरित्र विस्तारित किये, सभा में हम उन सबका वर्णन नहीं करते ॥१०५॥

और अन्धकारमय कृष्णपक्ष से युक्त उस अम्बिकाबन में गमन करके गोपियों के मन में जो जो अपना अभीष्ट हुआ था, उसको श्रीकृष्ण ने मधुर एवं सुन्दर अभिलाषपूर्वक अधिक परिमाण में विस्तारित कर दिया ॥१०६॥

अतएव ऐसी स्थिति में इस पूरण का तात्पर्य यह है कि—श्रीकृष्ण के हृदयरूप कमल से उत्पन्न हुए पत्रों के ऊपर पंक्ति का सा आचरण करनेवाली प्रियतमा व्रजाङ्गनाएँ, अन्त से लेकर क्रमशः चन्द्रावली एवं ललिता आदि पृथक् पृथक् भीतर के स्थान को प्राप्त हो गईं। अतः ये सब गोपियाँ अप्राकृत एवं

एवं चेद्भवतान्न तत्र च वयं सन्दिह्य विब्रूमहे
राधा यत्किल कर्णिकास्थितिमगादस्माकमत्राग्रहः ॥"१०७॥

अथ समापनम्—

"सुदर्शनस्य शापान्तकारी राधे ! सुदर्शनः ।
अतिकान्तस्तवैवातिकान्तः सोऽयं बकान्तकः ॥"१०८॥

॥ इति श्रीश्रीगोपालचम्पूमनु रहःकुतूहलवहबहलरहः
क्रीडाख्यमेकोनत्रिंशं पूरणम् ॥२९॥

अथ त्रिंशं पूरणम्

शङ्खचूडवधो निर्लज्जहोलिकाक्रीडा च

अथ मधुकण्ठः प्रभातकथां क्रमतः प्रक्रमते स्म,—

"अम्बिकावनगतिर्बभूव सा, केलिकर्मणि हरेः समर्धनी ।
आगतावपि तदा पुनर्व्रजे, होलिकाप्रमदपर्वपद्धतिः ॥१॥

"तत्र च पर्वणि सर्व एव स्त्रीपुंसजनः प्रमत्तगण इव गायन्नृत्यन् युध्यन् क्रीडतीति मध्यदेशतः समुदाचारः प्रचरति; भविष्योत्तरपुराणप्रामाण्यस्य पुराणानां मान्यतया ॥२॥

श्रीकृष्ण की स्वरूपशक्ति की विलासमात्र हैं यह बात शास्त्र में स्पष्ट है। यदि इस प्रकार की व्यवस्था है तो भले ही ठीक है, उस विषय में सन्देह करके हम विरुद्ध नहीं बोलना चाहते। किन्तु जो राधिका श्रीकृष्ण के हृदयरूप कमल की कर्णिका (मध्यभाग) के स्थान को प्राप्त हो गई; बस, हमारा तो उन श्रीराधिका के विषय में ही आग्रह है। हमारे ऊपर भी वे अनुग्रह करती रहें, यही करबद्ध प्रार्थना है॥१०७॥

अब प्रसङ्ग समाप्ति प्रकाशक पद्य, यथा—हे राधिके ! बकासुरनिहन्ता तुम्हारे ये श्रीकृष्ण, अति कमनीय एवं सुन्दर दर्शनीय हैं; तथा सुदर्शननामक विद्याधर के शाप का अन्त करनेवाले हैं, और अन्यान्य कान्ताओं को अतिक्रमण करके तुमसे ही नित्य संबद्ध हैं ॥१०८॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रिविरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीगोपालचम्पूकाव्ये ऐकान्तिक-कुतूहलपूर्णं प्रचुरैकान्तिक-क्रीडाख्यं
एकोनत्रिंशं पूरणं सम्पूर्णम् ॥२९॥

तीसवाँ पूरण

शङ्खचूड़ का वध एवं निर्लज्ज होलिका की क्रीडा

इस तीसवें पूरण में पहले शङ्खचूड़ यक्ष का वध, पश्चात् श्रीकृष्ण बलदेव का स्व-स्व प्रेयसी गोपियों के साथ निर्लज्ज फाल्गुन का होली महोत्सव वर्णित होगा।

अनन्तर मधुकण्ठ प्रातःकालिक कथा को क्रमशः आरम्भ करने लगा—वह अम्बिकावन की यात्रा श्रीकृष्ण के क्रीडारूप कार्य में विशेष वृद्धिजनक हुई। और उस समय व्रज में आते ही पुनः होलिका के आनन्दमय पर्व की पद्धति प्रारम्भ हो गई ॥१॥

उस होली के आनन्दमय महोत्सव में स्त्री-पुरुष, आबाल-वृद्ध, सभीजन मतवाले जनसमूह की तरह गाते गाते, नाचते नाचते, युद्ध करते करते क्रीडा करते हैं। इस प्रकार का आचार मध्यदेश से प्रचलित है।

"अथ तत्र यदा पूर्णगुणफाल्गुनपूर्णिमा-निशायां कुतुकतृष्णक् कृष्णश्च रामश्च ढुण्ढापर-पर्यायहोलिकागृहगृह्यायां भुवि रमते स्म, तदाकस्मादुत्तरस्मादागतः कश्चिद् यद्यपि गुह्यका-धिपसंग्राह्यस्तथापि गुह्यकगर्ह्यतया कंसशुभाशंसनस्तत्र क्रीडन्तीर्व्रजयुवतीः प्रति दुर्दृष्टिं विधाय तदाकृष्टिं चिन्तितवान् ॥३॥

"चिन्तयन्नेव च सहसा तत्र प्रविष्टः स खलु दुर्ध्यानाविष्टस्तस्मादकस्मादङ्गनानां गणमुद-जवज्जवतः कालयामास ॥४॥

"अथ साग्रजः सोऽयं गदाग्रजस्तमसभ्यस्वभावमुपलभ्य पूर्वं तत्पर्वरसिकवैहासिकवेश-विशेषं दधृषं मन्वानः स्थगित इवासीत् ॥५॥

"ततश्च, प्रतिहरिगतिचेष्टा शङ्खचूडेन रुद्धा, दृगपि रुतिरपि द्राक् कृष्णरामेति तासाम्।
यदयमतुलवेगद्रोहिरूपातिशब्दैः, प्रतिपदमनुवर्ती वृत्तिलोपं चकार ॥६॥

"अथ तत्र श्रीकृष्ण-वाक्यम्,—
'प्रत्यायन्त्योऽप्यतिजवभरादस्य घोरान्निवृत्ताः
पश्यन्त्यो नावपि धिगमुतस्त्रासविध्वस्तनेत्राः।

इस आचार के सम्बन्ध में शास्त्रीय प्रमाण भी है। क्योंकि भविष्योत्तरपुराण की प्रामाणिकता प्राचीनजनों के माननीय होने के कारण, यह आचार शास्त्रीय है ॥२॥

अनन्तर वहाँपर जब पूर्णगुणों से युक्त फाल्गुन की पूर्णिमा की रात में कौतुक की तृष्णा से युक्त श्रीकृष्ण बलदेव 'ढुण्ढा' (हिरण्यकशिपु की बहिन जो प्रह्लाद को गोद में लेकर आग में बैठनेपर जल मरी) इस प्रकार के दूसरे नामवाली होली के स्थान की बाहरी भूमि में क्रीडा कर रहे थे, तभी अकस्मात् (एकाएक) उत्तरदिशा से शङ्खचूड़ नामक कोई यक्ष आ गया। यद्यपि यह यक्ष कुबेर का प्रतिपाल्य था, तथापि गुह्यकजनों के द्वारा निन्दनीय होने से, यह कंस की शुभ कामना से युक्त होकर, वहाँपर खेलती हुई व्रजयुवतियों के प्रति कुदृष्टि करके उनके आकर्षण का विचार करने लगा ॥३॥

और बुरे विचार में पड़ा हुआ वह यक्ष, विचारते विचारते ही सहसा उन व्रजाङ्गनाओं के झुण्ड में धँसकर, व्रजाङ्गनागण को उस स्थान से पशुओं की प्रेरणा की तरह वेगपूर्वक उत्तर दिशा की ओर चलाने लगा ॥४॥

तदनन्तर बलरामजी के सहित वे श्रीकृष्ण, उस यक्ष को असभ्य स्वभाववाला जानकर भी, उस धृष्ट को उस होली के उत्सव में रसिक विदूषक (मसखरा) के वेषविशेषवाला मानते हुए, पहले कुछ निश्चेष्ट से बने रहे ॥५॥

उसके पश्चात् तो शङ्खचूड़ ने उन गोपियों की श्रीकृष्ण की ओर आने की चेष्टा रोक दी, दृष्टि भी रोक दी, एवं 'कृष्ण', 'राम' इस प्रकार की पुकार भी रोक दी। क्योंकि इस यक्ष ने अतुलवेग, विकटरूप, एवं भयङ्कर शब्द के द्वारा, प्रतिक्षण अनुगामी होकर, उन गोपियों की इन्द्रियों की वृत्ति को नष्ट कर दिया था ॥६॥

अनन्तर वहाँपर श्रीकृष्ण वाक्य, यथा—भैया बलदेवजी! देखो तो सही। हमारी ओर लौटकर आती हुई भी ये गोपियाँ इस दुष्ट के भयङ्कर विशेष वेग से उधर ही लौट रही हैं; हम दोनों को देखती

क्रोशन्त्योऽपि प्रतिरुतिकृतानेन नीरुद्धशब्दाः
भ्रातस्तर्ह्यप्यहह किममू रक्षितुं न द्रवाव ?' ॥७॥

"तदेवं निश्चिन्वानौ तं भीषणारम्भतया स्तम्भयितुं विचिन्वानौ सहसा शालद्वयं सहसा त्रोटयन्तौ पुनस्तद्विटपादिकमपि प्रमोटयन्तौ सुदृढभुजाग्रजाग्रत्तद्युगलतया प्रबलतया च तावनुदुद्रुवतुः। तदनुविद्रववशादन्येऽपि संविद्रते स्म ॥८॥

"तदा च,—इत्थं न तर्कितं लोकैरनयोः शालहस्तयोः।
शालौ किं लघुतां यातौ विग्रहौ गुरुतामुत ॥९॥

"ततश्च, अग्रे शुभ्रं रौहिणेयं विधाय, श्रीगोविन्दः प्राद्रवच्छङ्खचूडम्।
कीर्तिस्तोमप्रायतां तस्य तन्व,-न्नेष प्रायस्तं पुरस्तात् करोति ॥१०॥

विलोक्य सबलं हरिं परमविक्रमं सक्रमं
विसृज्य वनिताजनं त्वरितमद्रवद्गुह्यकः।
बलस्य किल कालताममत मृत्युतां यद्धरे-
र्युगं तदुचितं यतः स स जगाम तत्तत्कृतिम् ॥११॥

हुई भी, इस दुष्ट के भय से व्याकुल नेत्रोंवाली होकर उधर ही लौट रही हैं; अतः हम दोनों को धिक्कार है। और हा राम! हा कृष्ण! इस प्रकार रो-रोकर, चिल्लानेपर भी, प्रतिध्वनि करनेवाले इस यक्ष ने, उन गोपियों के शब्द रोक लिए हैं। हाय! इतनेपर भी हम दोनों इन सबकी रक्षा करने के लिए क्यों नहीं दौड़ रहे हैं ? ॥७॥

इस प्रकार निश्चय करते हुए वे दोनों भाई भयङ्कर आडम्बरपूर्वक उस यक्ष को रोकने के लिए, ढूंढ़ते ढूंढ़ते सहसा बलपूर्वक शाल के दो वृक्ष तोड़ते हुए, पुनः उन वृक्षों की शाखा पत्ते आदि को चूर्ण करते हुए, सुदृढ भुजाओं के अग्रभाग में उन दोनों वृक्षों को लेकर, प्रबलतापूर्वक उसके पीछे दौड़ पड़े। उन दोनों के दौड़ने के कारण, होली में खेलने वाले और जन भी, उनके पीछे पीछे दौड़ पड़े ॥८॥

और उस समय शालवृक्ष को हाथ में लेकर दौड़ते हुए, श्रीकृष्ण बलदेव के विषय में इस प्रकार की तर्कना, सम्भावना या निश्चय न कर सके कि—दोनों शाल के पेड़ ही हलके हो गये, अथवा श्रीकृष्ण बलदेव के शरीर ही भारी हो गये ॥९॥

उसके बाद शुक्लवर्ण के रोहिणीनन्दन को आगे करके श्रीकृष्ण शङ्खचूड़ के पीछे दौड़ने लगे। ये श्रीकृष्ण शीघ्र भागने में कम नहीं हैं, तो भी श्रीबलदेवजी की कीर्तिश्रेणी की अधिकता को विस्तृत करते हुए, प्रायः श्रीबलदेवजी को ही आगे कर देते थे ॥१०॥

और वह शङ्खचूड़ बलदेवजी के सहित परमपराक्रमी श्रीकृष्ण को देखते ही, आक्रमण के सहित वनिताजन को छोड़कर शीघ्र ही भाग गया। उस समय शङ्खचूड़ ने बलदेवजी के सम्बन्ध में काल (यमराज) की, एवं श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में साक्षात् मृत्यु की जो भावना अपने मनमें मानी थी, वे दोनों ही बातें उचित हैं। कारण—राम कृष्ण दोनों ही उस समय यमराज एवं मृत्यु के कार्य को प्राप्त हो रहे थे ॥११॥

"तेन विसृष्टायां चाबलावलावयं बलाभिधस्तत्संवलनाय तत्र स्थितः ॥१२॥

"अथ श्रीमान् दनुजगजसिंहस्तदनुजस्तु सविक्रमं विक्रममाणः प्रहस्य स्फुटमौत्तराहस्य च तस्य दाक्षिणात्यं पलायनमवेत्य दूरेत्यं तं प्रत्यवज्ञया तरुयष्टिं हस्ताद्विभ्रष्टां चकार ॥१३॥

"विद्रुत्य लब्धसनीडः पुनरसौ विक्रीडनचतुरचित्तस्तत इतस्तं विद्राव्य चेष्टितेन वेवेष्टि-स्म, नृसिंह इव हिरण्यकशिपुं रिपुं सनिग्रहमेव जग्राह च ॥१४॥

"ततस्तं हस्तरोधं गृह्णन्नह्नाय मणिगृहीतये स्फुरन्नुरसिलः करसरसिजेन तच्छिरसि कक्खटीभावविघटितदधीचिमुन्यस्थिजेन गृहीतसंग्राहसारं प्रहारमाजहार ॥१५॥

'उत्तरस्मिन्ननेहसि मृतदेहप्रतीकादानमनुत्तरम्' इतीव भ्रंशयामास च तस्य तमुत्तंसम् ।

"स पुनराततायी दुर्मायी मणिमनु प्राणानपि व्यक्तमेव त्यक्तवान् । तद्धनमात्रजीवन-यात्रः खल्वसौ ॥१६॥

"ततश्च, जीवो रत्नं वेति भेदाक्षमं त,-ज्ज्योतिर्मात्रं वस्तु यक्षाद् गृहीत्वा ।
पश्यन्तीनां योषितां कंसवैरी, निन्ये कामं रामसायुज्यमेव ॥१७॥

शङ्खचूड़ के द्वारा अबलापंक्ति के छोड़ देनेपर, बल नामक वे बलरामजी तो, उनकी रक्षा करने के लिए वहीं खड़े रह गये ॥१२॥

पश्चात् दैत्यरूप हाथियों के मर्दनकारी सिंहरूप श्रीमान् श्रीकृष्ण ने तो पराक्रमपूर्वक पादक्षेप करते हुए हँसकर, एवं स्पष्ट ही उत्तरदिशा से आनेवाले उस यक्ष के दक्षिण की ओर भागने को जानकर, दूर-वर्ती उस यक्ष के प्रति अवज्ञा करके, अपने हाथ से वृक्षरूपी लठिया दूर फेंक दी ॥१३॥

पुनः खेलने में चतुर चित्तवाले श्रीकृष्ण ने दौड़कर, उस यक्ष के पास पहुँच कर, उसको इधर उधर दौड़ाकर, घूमधुमेर के द्वारा घेर लिया। और श्रीनृसिंहदेव ने अपने बैरी हिरण्यकशिपु को जैसे पकड़ लिया था, उसी प्रकार निरोधपूर्वक उसको पकड़ भी लिया ॥१४॥

उसके बाद हाथ के द्वारा रोककर उस यक्ष को पकड़ते हुए, एवं शीघ्र ही उसके मस्तक की मणि को लेने के लिए स्फूर्ति पाते हुए, चौड़ी छातीवाले श्रीकृष्ण ने, कठोरता में दधीचिमुनि की हड्डियों से उत्पन्न हुए वज्र को भी तोड़ देनेवाले, अपने करकमल के द्वारा, उसके मस्तकपर मल्ल व्यक्ति के सार-संग्रहपूर्वक प्रहार किया ॥१५॥

और उसके पीछे के समय में "मृतक देह के अङ्गों को ग्रहण करना श्रेष्ठ नहीं है" ऐसे विचार कर उस यक्ष के शिरोभूषण को नीचे गिरा दिया। तथा दुष्टमायाविशिष्ट एवं आततायी उस शङ्खचूड़ ने मणि के गिरते ही स्पष्टरूप से प्राणों को भी त्याग दिया। क्योंकि उसकी जीवनयात्रा तो मणिरूप धनमात्र से चल रही थी। अर्थात् मणि के दूर होते ही, उसका मरना निश्चित था ॥१६॥

उसके बाद 'यह जीव है या रत्न' इस प्रकार के भेद के अयोग्य वह ज्योतिर्मय वस्तु यक्ष से लेकर श्रीकृष्ण ने उन गोपियों के देखते देखते स्वेच्छापूर्वक बलरामजी से ही संयुक्त कर दी। अर्थात् गोपियों का आदर न करके वह मणि श्रीबलरामजी को भेंट कर दी ॥१७॥

"तं चाभिपन्नं मुखं व्यादाय विन्नपातं पन्नर्मणिं व्यापन्नं दृष्ट्वा श्रीकृष्णाभिप्रायमभि-प्रयद्भिर्दिविषद्भिरुपहसितम् ॥१८॥ यथा—

'स्त्रीरत्नं पुरु परकीयमादिथास्त्वं, स्वं चूडामणिमपि हारयाञ्चकर्थ ।
अत्याक्षीर्वत निजजीवनं च धिक् त्वां, व्यादाः किं मुखमथ वक्तुमत्र यक्ष ! ॥"१९॥

तदेवं कर्णरसनया रस्यमानमाचर्य रहस्यं विहस्य च स्निग्धकण्ठः पुनः सवाष्पकण्ठमुवाच,—

"तत्क्षोभणं तद्द्रवणं तथा तद्,-विक्रीडनं तद्धननं स्व-शत्रोः ।
तद्रक्तरज्यन्मणिपाणिरोचि,-र्मय्यद्य सद्यः प्रभमस्य भाति ॥"२०॥

पुनर्मधुकण्ठ उवाच,—"तदेवं दलितचूडे शङ्खचूडे निष्पीडिते क्रीडिते च व्रीडितेन निवृत्ते कोलाहल-परम्परातः कातरताविरतप्रकृतयः सर्व एव व्रजोर्वी-पतिप्रभृतयः समागत्य विस्मित्य च तादृशदुष्टनष्टीभावतः पुनर्भयसन्देहेनास्पृष्टाः स्पष्टानन्दसन्दोहदोहास्तत्पर्वक्रीडां निर्व्रीडा इव विवव्रुः ॥२१॥

"विवृत्य च शास्त्रविप्रतिपत्ति-विप्रयोजयितृविप्रेभ्यः सूतसर्वानन्दगुण-प्रभूतसूत-मागध-वन्दिभ्यश्च परमावदानानि दानानि बहूनि चक्रुः । ताभ्यश्च शस्तवस्त्रादीनि प्रस्थापयामासुः । स्वस्थायमानाः समाजग्मुश्च कृष्णकृष्णाग्रजौ पुरस्कृत्य निजं व्रजमिति ॥२२॥

पश्चात् जिसकी मणि गिर पड़ी है, अतः मरे हुए मुख फैलाकर धरतीपर पड़े हुए, उस अपराधी यक्ष को देखकर, श्रीकृष्ण के अभिप्राय को जानते हुए, देवताओं ने उसका उपहास किया ॥१८॥

यथा—हे दुष्ट यक्ष ! तूने दूसरों के बहुत से स्त्रीरूप रत्नों को ग्रहण किया था, इसीलिए तू अपने मस्तक की मणि को भी हरा गया । पश्चात् अपने जीवन को भी त्याग गया, अब क्या कहने के लिए मुख फाड़ रहा है ? अतः तुझको धिक्कार है ॥१९॥

अतएव इस प्रकार कर्णयुगलरूप जिह्वा के द्वारा इस प्रसङ्ग का आस्वादन करके, छिपाने योग्य, हँसकर स्निग्धकण्ठ पुनः गद्‌गदकण्ठ होकर बोला—भैया मधुकण्ठजी ! देखो, शङ्खचूड़ के द्वारा गोपियों को क्षोभ एवं उनका हरण, फिर उसका भागना, तथा उसके साथ श्रीकृष्ण का क्रीडायुद्ध एवं उसका मारना, और इन श्रीकृष्ण के निजी शत्रु उस यक्ष के रक्त से रञ्जित जो मणि, उस मणि से युक्त जो श्रीकृष्ण का हाथ, उस हाथ की कान्ति आज भी मेरे निकट तो तत्काल जैसी प्रभावाली प्रतीत हो रही है ॥२०॥

पुनः मधुकण्ठ बोला—इस प्रकार शङ्खचूड़ का मस्तक जब विदीर्ण हो गया एवं वह मर गया, तथा लज्जा के कारण होली का खेलना जब निवृत्त हो गया, तब कोलाहल की परम्परा से हुई कातरता के कारण, जिनके मन्त्री आदि प्रकृति के जन अपने अपने कार्यों से विरत हो गये, ऐसे श्रीव्रजराज आदि सभी व्रजवासीजन, वहाँपर आकर, चकित होकर, उस प्रकार के दुष्ट के नष्ट हो जाने के कारण, पुनः भय एवं सन्देह से रहित होकर, स्पष्ट ही आनन्दसन्दोह से परिपूर्ण होकर, निर्लज्जों की तरह, उस होली के महोत्सव की क्रीडा को विस्तारित करने लगे ॥२१॥

और होलिकोत्सव की क्रीडा को विस्तृत करके, पश्चात् समन्वयपूर्वक, शास्त्रों के विरोध को दूर करनेवाले, विज्ञ ब्राह्मणों के लिए, तथा सभी के आनन्दप्रद गुणों को उत्पन्न करनेवाले, बहुत से सूत, मागध, वन्दिजनों के लिए परमनिर्मल बहुत से दान कार्य करने लग गये । और उन श्रीराधा आदि गोपियों

"एवं विचित्रविक्रीडः पुत्रस्ते गोष्ठनायक ! ।
तं क्रोधवह्नौ ढुण्ढाग्रे यक्षोरभ्रं जुहाव यः ॥"२३॥

अथात्र रात्रिकथायां मधुकण्ठस्तां होलिकाकथामेव विशेषतः सेवयामास,—॥२४॥

"शिवक्षपायामथ यापितायां, वल्गूत्सवा फाल्गुनपूर्णिमागात् ।
पक्षद्वयस्यास्य यथैव कान्तिः, पर्वद्वयस्यास्य च तद्वदस्ति ॥२५॥

हिमे गते हिमरुचिरुज्ज्वलं बभा,-वफल्गुनि स्वमहसि फल्गुपर्व च ।
न वाभवन् कथमथ तत्र गोपिका, मदोत्करादपि परिभूतगोपिका ॥२६॥

"अथ बलक्षपक्षसपक्षकैरवप्रकरशोभाकर-क्षपाकर-करनिकरकरम्बितां स्वमनोरथ-प्रथनावलम्बितां क्षपामन्वीक्ष्य सर्वास्तत्पर्वानर्वाचीनसमुदाचारगर्वान्मुदा बहिराविर्भवन्ति स्म। ॥२७॥ यथा—

"मुहुरगणितगौरवाः समन्तात्, प्रणयमदात् परिधाय दिव्यवेशम् ।
अपि बत जनतासु होलिकायां, हरिमभिसस्रुरहो व्रजस्य नार्यः ॥२८॥

के लिए प्रशंसनीय वस्त्र भूषण आदि भिजवा दिये। इस कार्य के बाद मानो स्वस्थ से होते हुए, श्रीव्रजराज आदि सभी व्रजवासी, श्रीकृष्ण बलदेव को आगे करके अपने व्रज को चले आये ॥२२॥

प्रातःकाल के कथाप्रसङ्ग को पूर्ण करता हुआ मधुकण्ठ बोला—हे श्रीव्रजराज ! तुम्हारा पुत्र ऐसी विचित्र विविध क्रीडा करनेवाला है कि, जिसने ढुण्ढा नामक होली के आगे ही उस यक्षरूप मेष (मेढ़ा) का अपनी क्रोधरूप अग्नि में हवन कर दिया ॥२३॥

अनन्तर इस रात्रि की कथा में मधुकण्ठ उस होली की कथा को ही विशेषरूप से सेवन करने लगा ॥२४॥

अनन्तर शिवरात्रि के व्यतीत होनेपर, मनोहर उत्सववाली फाल्गुन की पूर्णिमा आ गई। इस फाल्गुन के दोनों पक्षों की जैसे शोभा है, तैसे ही इन शिवरात्रि एवं होलिकारूप दोनों महोत्सवों की विशेष शोभा है ॥२५॥

शीतकाल के बीतते ही चन्द्रमा उज्ज्वलरूप से शोभा पाने लगा। और अति महान् अपने तेज में होली एवं फाग का उत्सव भी शोभा पाने लगा। उसके बाद उस महोत्सव में हर्ष या गर्व की अधिकता से, अपनी रखवाली करनेवालियों का भी तिरस्कार करनेवाली गोपियाँ कैसे सम्मिलित न होंगी ? अपितु हो ही गईं ॥२६॥

पश्चात् शुक्लपक्ष के आत्मीय कुमुदसमूह की शोभा करनेवाले, चन्द्रमा की किरणश्रेणी से युक्त, एवं अपने मनोरथ के विस्तार के आश्रय से युक्त रात्रि को देखकर, उस पर्व के प्राचीन आचार के गर्व के कारण, सभी गोपियाँ हर्षपूर्वक घर से बाहर निकल पड़ीं ॥२७॥

यथा—अहह ! महान् हर्ष की बात है कि, सभी व्रजाङ्गनाएँ बारम्बार गौरव की गिनती न करती हुईं, प्रेममय मद के कारण दिव्य वेष धारण कर, जनता के बीच में ही, होली के उत्सव में चारों ओर से श्रीकृष्ण के पास आ गईं ॥२८॥

"तदेवं सद्मसद्मनां सखीपद्मवरूथिनीभिः सह यूथनाथाः कवचस्थितिरचनकंचुलिकादि-वस्त्रैः सुरभिकषायमोचन-यन्त्रप्रभृतिशस्त्रैर्बहुल-काहलादि-वादित्रविचित्र-कुतूहलैः सकेलि-गालिरीतिमय-गीतिकोलाहलैः सार्वत्रिकतत्पार्वणरीत्या निर्लज्जतया सज्जतया च व्रजपुरद्वार-पुरःस्थितहोलिकायतनाग्रीयसमप्रायतप्राङ्गणविहारसङ्गररङ्गभुवि सङ्गता बभूवुः ॥२९॥

"याः खलु बलबलानुजयोर्यथास्वं पृथक् पृथगनुरागधरणाद्विभागमागतास्तत्तन्निष्ठदृष्टि-तया तिष्ठन्ति स्म ॥३०॥

"तत्र ताभिरीर्यमाणं वर्धितशौटीर्यपरिमाणं कलकलमाकलय्य जय्यतामय्यस्ता इति भावनां पर्यवसाय साहाय्याय सखिघटया कटकं सङ्घटय्य तद्वदेव सज्जतया बलबलानुजावपि वल्गु वलन्तौ तत्रैव गच्छतः स्म ॥३१॥

"गतौ चानवद्यवाद्यघोषेण घोषं बधिरयन्तौ प्रतिसेनामवधीरयामासतुः । येन समु-द्दीपितमानाः प्रतिसेनायमानश्च तास्तथा वाद्यतः सम्मुखतामासाद्य परितस्तानपि सर्वानति-चित्रयामासुः ॥३२॥

"यत्र प्रतिस्पर्धया वर्धमानयोस्तयोर्यूथवरूथिनीप्रमाणयोरेकत्र माधवः परत्र तु राधा राजायते स्म, जायते स्म च तेन जनानामतिविस्मयः ॥३३॥

इस प्रकार घर घर की पद्म संख्यावाली सखीरूप सेनाओं के सहित, श्रीराधिका आदि यूथेश्वरी गोपियाँ भी, कवच की सी रचनावाली कञ्चुकी आदि वस्त्रों के सहित, सुगन्धित कसैले रंग को फेंकनेवाले पिचकारी आदि शस्त्रों के सहित, नफीरी, चंग, डफ (ढप), ढोल आदि बाजाओं के विचित्र कौतूहल के सहित, और परिहासयुक्त गालियों की रीतिमय गायन के कोलाहल के सहित, सर्वत्र होनेवाली उस होली के उत्सव की रीति के अनुसार निर्लज्जतापूर्वक सजधज करके, व्रज के पुरद्वार के आगे धरी हुई होलिका के स्थान के आगे, सम्पूर्ण लम्बे चौड़े प्राङ्गण में, क्रीडायुद्ध की रङ्गभूमि में सम्मिलित हो गईं ॥२९॥

और जो गोपियाँ श्रीकृष्ण बलदेव में यथायोग्य पृथक् पृथक् अनुराग धारण करने के कारण, विभाग को प्राप्त थीं, वे सब क्रमशः श्रीकृष्ण एवं बलदेवजी के ऊपर ही अपनी अपनी दृष्टि को ठहरा कर खड़ी हो गईं ॥३०॥

उस रङ्गभूमि में उन गोपियों के द्वारा उच्चारित, एवं शूरवीरता के परिमाण से बढ़े हुए कोलाहल को सुनकर, "वे सब गोपियाँ हमारे द्वारा अवश्य जीती जा सकती हैं" इस प्रकार की भावना को निश्चित करके, अपनी अपनी सहायता के लिए सुबल, मधुमङ्गल आदि सखाओं की टोली के द्वारा गोलाकार व्यूह बनाकर, गोपियों की तरह सजधज कर श्रीकृष्ण बलदेव भी 'हो, हो, होरी' इस प्रकार की मनोहर गर्जना करते हुए, होलिकायुद्ध की उसी रङ्गभूमि में चल दिये ॥३१॥

और जाते ही ढप ढोल आदि विशुद्ध वाद्यों के शब्द के द्वारा, व्रज को बहिरा बनाते हुए, विपक्ष की सेना की अवज्ञा करने लग गये । जिस वाद्य शब्द के द्वारा जिनका गर्व प्रदीप्त हो उठा. ऐसी वे गोपियाँ भी, विपक्षी सेना का सा आचरण करती हुईं, तथा बाजे गाजे के सहित, सम्मुख होकर, उन सब ग्वालाओं को भी चारों ओर से अति चकित करने लग गईं ॥३२॥

और जहाँपर परस्पर की स्पर्धा के कारण, उन दोनों यूथरूपी सेनाओं की इयत्ता जब बढ़ती जा रही थी, तब उन दोनों सेनाओं में एक ओर श्रीकृष्ण, एवं दूसरी ओर श्रीराधिका, दोनों ही राजा का सा

"तथा हि— यद्वच्छुभ्रतरप्रकीर्णकमणिच्छत्रादिकं श्रीहरे-
रासीत्तद्वदमूभिरप्रथि तदा श्रीराधिकायामपि ।
किञ्चाभ्यां न परस्परं नयनयोः प्रान्तश्च सेहे यथा
जेतृत्वं क्व नु जेयता च भविता कुत्रेति नात्रोहितम् ॥३४॥

"तदेवं परस्परमुत्साहमानतामसहमानतामप्यधिकृत्य कृतकृत्यतासमाहारयोर्मनोहरणायाभिहारविहारयोस्तयोरनीकिनीसहितयोः सर्वमहितयोः समञ्जसतामिव सञ्जयन्ती व्रजराजसवयःपुरोहित-श्वशुरावरजदारतया गन्तव्यपक्षं नर्मशर्मणा रञ्जयन्ती काचिदर्धवृद्धा तत्प्रेमसमृद्धा मध्यस्थपदवीमध्यास्य प्रगल्भतया गत्या वात्यायमाना राधावर्गमध्यात् तत्प्रतिपक्षस्य क्षमाधवं श्रीमन्माधवं सन्निहितवती ॥३५॥

सन्निधाय च यथायथं प्रथमानस्मिततया कृतेऽभिवादनेऽभिवदने च तेषां सर्वेषां शृण्वतामब्रवीत्,—॥३६॥

"अहं किल प्रज्ञा प्राज्ञा च महाधराधीशगणकृताराधाया श्रीराधाया दूतकर्मणि प्रभूततामासन्नास्मि । तदेतदवधार्यताम् ॥३७॥

व्यवहार करने लग गये। अर्थात् सखाओं की सेना के तो श्रीकृष्ण राजा बन गये, एवं सखीसेना की राजा श्रीराधिका बन गईं। उसके कारण सभीजनों को अति आश्चर्य उत्पन्न हो गया ॥३३॥

देखो! जिस प्रकार श्रीकृष्ण के अत्यन्त शुक्लवर्ण चामर एवं मणिमय छत्र आदि राजोचित सामग्री थी, उसी प्रकार गोपियों ने श्रीराधिका के ऊपर भी तत्काल वैसे ही छत्र, चामर आदि विस्तारित कर दिये। किंच राधा-कृष्ण दोनों ही परस्पर नेत्रों के प्रान्त को जैसे सहन नहीं कर रहे थे, उसी प्रकार उन दोनों ने "कौन से पक्ष में विजय होगी, एवं कौन से पक्ष में पराजय होगी ?" इस विषय में कुछ भी तर्कवितर्क नहीं किया ॥३४॥

अतएव इस प्रकार आपस में उत्साहमानता को (उत्साह करनेवाले के भाव को), एवं असहमानता को (सहन न करनेवाले के भाव को) अधिकार करके, कृतार्थता को बटोरनेवाले मन को हरने के लिए होलीरूप युद्ध में ललकार कर विहार करनेवाले, एवं सेना के सहित तथा सर्वजनपूजित उन दोनों राधा-कृष्णरूप राजाओं का सामञ्जस्य सा (न्याय सा) करती हुई, श्रीव्रजराज के समवयस्क पुरोहित के ससुर के छोटे भाई की स्त्री होने के नाते गन्तव्यपक्ष को, अर्थात् राधा-कृष्णरूप उभय पक्ष को परिहासमय सुख के द्वारा सुखी करती हुई, ऐसी कोई अर्धवृद्धा नारी, राधा-कृष्ण के प्रेम से समृद्ध होकर, मध्यस्थ के पथ को अङ्गीकार करके, प्रतिभा (नव नवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा) से युक्त होने के कारण, या धृष्टता के कारण, अपनी चाल से वायुसमूह का सा आचरण करती हुई, राधिका के वर्ग के बीच से, उसके विपक्षी राजा श्रीकृष्ण के निकट उपस्थित हो गई ॥३५॥

और वह अर्धवृद्धा श्रीकृष्ण के निकट जाकर, मन्दहास्य विस्तारपूर्वक, नमस्कार-आशीर्वाद-कुशल-प्रश्न आदि सदाचार जब हो चुका, तब उन सब ग्वालबालों के सुनते सुनते ही बोली—॥३६॥

मैं सभी विषयों को अच्छी तरह जाननेवाली बुद्धिमती पण्डितानी हूँ। इसलिए बड़े बड़े भूपति जिसकी आराधना करते रहते हैं, ऐसी श्रीमती राधिकारानी के दूतसम्बन्धी कार्य में विशेषता को प्राप्त हो गई हूँ। अतः तुम सब मेरे दूतसम्बन्धी कर्म का श्रवण करो ॥३७॥

"इत्युक्तमात्रामेतां मधुमङ्गलः सहासमाह स्म,—'किमुक्तमवधार्यताम्' इति। "तच्छ्रुत्वा सर्वस्मिन् प्रहसति सोवाच,—॥३८॥

'बधिरोऽयं भवतां सभासत्' इति। "मधुमङ्गल उवाच,—'युक्तं तदेवं निरर्गलत्वम्, यतस्तस्या धराधीशाया वशा भवती, कस्य वान्यस्य वशा भविष्यति?' ॥३९॥

"श्रीकृष्णस्तु सगाम्भीर्यमुवाच,—'निकाममेव निवेद्यताम्।' दूती तु तया शिष्टाचार-प्रतिपालयित्र्या विशिष्टमिदमादिष्टमित्यर्धोक्ते विष्णुर्विष्णुरित्युक्त्वा प्रोवाच,—'शचीजयि-तदीय-सचिववराभिरिदमादिष्टम्। सर्वत्र प्रसृमरसमज्ञामस्मदीयराज्ञीमवज्ञाय दूरतश्च किमुत पुरतश्छत्राद्विकधारणं भवतामसाधारणम्॥'४०॥

"अथ कृष्णः सभाभिः सह हसित्वा प्रोवाच,—'सत्यं तदादेशतस्तदभिनिवेशं त्यजामः; किन्तु युद्धं विना राज्ञां नेदं वेदबुद्धं स्यादिति युद्धाय सन्नद्धया भवत्या भाव्यमित्येव वक्तव्यम्॥'४१॥

"अत्र मधुमङ्गलः सम्मुखः गतस्तदिदमाह स्म,—'देव! तदिदमेव समाकर्ण्यताम्, जातितः स्त्री चास्त्री यो जनस्तस्मिन् वामतारामे नाममात्र रामापदमागते नार्जवचर्यया

उसके इतना कहते ही मधुमङ्गल उसको हास्यपूर्वक बोला—यह तूने क्या कहा कि 'सुनिये' यह बात सुनकर जब सब हँसने लगे, तब वह दूती बोली— ॥३८॥

आपका यह सभासद् बहिरा मालूम पड़ता है। मधुमङ्गल बोला—तुम्हारी यह उच्छृङ्खलता उचित ही तो है। कारण—आप धराधीश्वरी उन राधिका के वशीभूत होकर, कटाक्षपक्षे—उनकी वशा, अर्थात् हथिनी होकर, दूसरे किसके वशीभूत होंगी? ॥३९॥

श्रीकृष्ण तो गम्भीरतापूर्वक बोले—अजी! स्वेच्छापूर्वक निवेदन कीजिये। तुम्हारी रानीसाहब का क्या आदेश है? दूती तो "शिष्टाचार का प्रतिपालन करनेवाली हमारी रानी राधिका ने यह विशिष्ट आदेश दिया है कि"—इतनी आधी बात कहते ही कान छूकर 'विष्णु', 'विष्णु' इस प्रकार कहकर बोली—अपने बुद्धिकौशल से इन्द्राणी को जीतनेवाली, राधिका की श्रेष्ठ मन्त्राणी, ललिता आदिकों ने यह आदेश दिया है कि—जिनकी कीर्ति सर्वत्र फैल रही है ऐसी हमारी रानी राधिका की अवज्ञा करके, उनके परोक्ष में दूर से भी आपको राजोचित छत्र चामरादि धारण करना उचित नहीं है। फिर सामने का तो कहना ही क्या है? ॥४०॥

अनन्तर श्रीकृष्ण सभासदों के सहित हँसकर बोले—सत्य ही उनके आदेश से छत्र चामरादि धारण के आग्रह को या आसक्ति को हम त्याग देंगे, किन्तु युद्ध किये बिना ऐसा करना राजाओं के सम्बन्ध में वेदविहित नहीं हो सकता। इसलिए आप कवच आदि धारण करके युद्ध के लिए तैयार हो जायँ। बस, यही समाचार अपनी रानी से कह देना ॥४१॥

उसके बाद मधुमङ्गल सम्मुख आकर यह बोला—हे देव! आप मेरी एक यही बात सुन लीजिये। फिर आपके मनमें आवे सो कीजिये। देखो, जो जन जाति से तो स्त्री है, एवं अस्त्र भी धारण करता है, अतः कुटिलता के उपवनस्वरूप एवं नाममात्र से स्त्री के स्वरूप को प्राप्त हुए, ऐसे उस जन के ऊपर सीधी

कार्यमर्यते। तस्मादार्जववर्जनादूर्जस्विनस्ते वयमेव दूत्याय स्थापनीयाः प्रस्थापनीयाश्च। अस्मासु चाहमेव प्रहापणीयः, यतः कोविदोऽस्मि ॥४२॥

"दूती सहासमाह स्म,—'लालाटिक! भवान् यदि कोविदस्तर्ह्यन्यः कोऽविदः?'४३॥

"मधुमङ्गलः सोत्प्रासमुवाच,—जल्पाकि! कल्पयामि, भवती तस्याः सभाया विन्दुरस्ति, तथापि त्रयीतनोर्ममाग्रतः स्थितिरपि तव न स्थिरतां लभेत ॥'४४॥

"दूती सावज्ञमुवाच,—'विशारदाया मम पुरतः शारदस्त्वं कियद्वा वदितासि? तस्मान्नीवाकवलितमाकलय ॥'४५॥

मधुमङ्गलः सरोषं श्रीकृष्णमवलोच्य वक्ति स्म,—'परवक्तव्या खल्वियं वक्तव्या भवतीति नास्माकं वक्तव्या भवितुमर्हति; किन्तु सेयं तावदत्र निरुध्यताम्, यावदहं तद्वृत्तमवबुध्य सुध्यग्रणीर्भवन्तमवरुणध्मि ॥४६॥

"दूती सहासमुवाच,—'नूनं भवतां दूतः सोऽयमग्रत एव व्यग्रतामवाप। यन्मामत्र रुन्धन्नेव तत्र जिगमिषति, तस्मान्न मादृगिव निःशङ्कः सोऽयमिति भवतां कलङ्काय परं प्रतिपत्स्यते। युक्तमेव च तत्तदावयोः। स्वामिगुणा हि परिजनमनुयन्ति ॥'४७॥

चाल से कार्य करना सङ्गत नहीं है। इसलिए सीधेपन को त्यागकर आप, हम सब तेजस्वी महाबलिष्ठजनों को ही दूत सम्बन्धी कार्य के लिए नियुक्त कर दीजिये, और आपके विपक्षीजनों के पास भेज दीजिये! हम सब में से भी मुझको ही भिजवा देना। क्योंकि इस विषय में मैं पूरा पण्डित हूँ ॥४२॥

दूती हास्यपूर्वक बोली—हे स्वामी के ललाट को ताकनेवाले एवं काम करने में असमर्थ! कोविद! यदि आप कोविद (पण्डित) हैं, तब दूसरा कौन व्यक्ति मूर्ख है? ॥४३॥

मधुमङ्गल हँसी की बात बोला—हे जल्पाकि, अर्थात् निष्प्रयोजन अधिक बकनेवाली! देख, मैं तो कल्पना करता हूँ कि उस नारीसभा के बीच में आप ही एक विन्दु (विज्ञाता) कटाक्षपक्षे—जल की बिन्दु मात्र हो। तथापि वेदमूर्ति, पक्षे—सूर्यस्वरूप मेरे सामने तुम्हारी स्थिति भी स्थिरता को न पा सकेगी। अर्थात् सूर्य के सामने जैसे एक बिन्दु जल का ठहरना कठिन है, उसी प्रकार सकल वेदवेत्ता मेरे सामने तेरा ठहरना कठिन है ॥४४॥

दूती अवज्ञापूर्वक बोली—मैं परमनिपुण हूँ। मेरे सामने प्रतिभारहित तू कितना बोलेगा? इसलिए बोलना छोड़कर सुन। तात्पर्य—अधिक बोलेगा तो तेरा गला सूख जायगा ॥४५॥

मधुमङ्गल श्रीकृष्ण को देखकर रोषपूर्वक बोला—हे राजन्! कृष्ण! यह दूती हमारे विपक्षियों के अधीन है, अतः निन्दित है। इसलिए हमारे सामने बोलने योग्य नहीं हो सकती। किन्तु जबतक बुद्धिमानों में अग्रगण्य मैं, इनकी रानी के वृत्तान्त को समझ कर आपके पास लौट आऊँ, तब तक आप इस दूती को निरोध करके रखना। छोड़ना नहीं ॥४६॥

दूती हँसीपूर्वक बोली—राजन्! यह आपका दूत तो युद्ध होने से पहले ही व्याकुलता को प्राप्त हो गया, यह बात निश्चित है। क्योंकि मुझको यहाँ रोकता हुआ वहाँ जाना चाहता है। इसलिए यह दूत मेरी तरह निःशङ्क नहीं है। इस कारण यह तो केवल आपके कलङ्क के लिए प्रतिपन्न हो जायगा, अर्थात् समझ

"कृष्ण उवाच,—'भामिनि ! स्वामिगुणत्वं पुनः प्रकारान्तरेण मन्तव्यम् । सा खलु वामा, वयन्तु दक्षिणाः ?' इति ॥४८॥

"दूत्युवाच,—'यूयं खल्वपसव्याः' इति सत्यमेव, यतः स्वेषां दक्षिणतावाचित्वेऽपि प्रतिकूलतां न जहीथ ॥'४९॥

"मधुमङ्गलस्तु तदशृण्वन्निव प्रोवाच,—'महाराज ! वामात्वमेव खलु तासां बलाय न कल्पते, यस्मादबलाः ॥'५०॥

"दूत्युवाच,—'दोषज्ञाः खलु भवन्तः कथमिव गुणानुसन्धानं कुर्वन्तु ?' ॥५१॥

"मधुमङ्गल उवाच;—'दोषैकदृक् पुरोभागीत्येवं यच्छाब्दिकैर्मतम् ।
तस्मात्त्वमेव पुरतः सुधीभिस्ताभिराहिता ॥'५२॥

"दूत्युवाच,—'असङ्ख्यावतां भवतां पुरतः कथमेकसङ्ख्यावती प्रत्युत्तरं दद्याम् ? भवांस्तु तत्रानुबन्ध एव । तथापि सर्वे शृण्वन्तु—तासामबलात्वं खलु विरोधिलक्षणया, यतः शस्त्रशरीरत्वमेव दृश्यते । तदेतच्च तन्मुख्यामुपलक्ष्य लक्ष्यताम्,—॥५३॥

लिया जायगा। इसलिए हम दोनों दूतों की पूर्वोक्त दशा उपयुक्त ही है, अर्थात् मेरी निःशङ्कता मधुमङ्गल की व्याकुलता उचित ही है। क्योंकि यह बात प्रसिद्ध है कि—स्वामी के गुण सेवकजनों में आ जाते हैं ॥४७॥

श्रीकृष्ण बोले—हे भामिनि ! (कोपने !) तुम्हारा कहना ठीक है, किन्तु यहाँपर स्वामी के गुणों के भाव को दूसरी तरह से मानना चाहिये। यथा—वह तुम्हारी रानी वामा (प्रतिकूल) है, और हम तो दक्षिण (सरल) हैं ॥४८॥

दूती बोली—तुम सब अपसव्य (दक्षिण एवं प्रतिकूल) हो, यह बात निश्चित सत्य है। क्योंकि तुम सब अपने जनों की दक्षिणतावाचित्व होनेपर भी, प्रतिकूलता को नहीं छोड़ रहे हो ॥४९॥

मधुमङ्गल तो उसकी बात न सुनता हुआसा बोला—हे महाराज ! उन गोपियों का वामात्व गुण ही अर्थात् प्रतिकूलता गुण ही, पराक्रम दिखाने को समर्थ नहीं है। इसी कारण ये अबला कहाती हैं ॥५०॥

दूती बोली—आप सब निश्चितरूप से दोषों को ही जाननेवाले हैं, अतः किसी के गुणों का अनुसन्धान किस प्रकार कर सकते हैं ? यह अर्थ तो हुआ कटाक्षपक्ष में। स्तुतिपक्ष में यथा—आप सब पण्डित हैं, अतः गौण कैसे हो सकते हैं ? ॥५१॥

मधुमङ्गल बोला—"केवल दोषों को देखनेवाला व्यक्ति ही अग्रसर होता है" यह शब्दार्थ के निर्णायक पण्डितों का मत है। इसी कारण राधिका आदि उन पण्डिताओं ने तू ही आगे भेज दी है ॥५२॥

दूती बोली—आप सब मूर्खों के सामने मैं प्रधान पण्डितानी कैसे प्रत्युत्तर दे सकती हूँ ? इति कटाक्षपक्षे। स्तुतिपक्षे यथा—संख्यातीत आप सबके सामने मैं एक संख्यावाली कैसे प्रत्युत्तर दे सकती हूँ ? और हे मधुमङ्गल ! उन सब सखाओं में आप तो अनुबन्ध हो, अर्थात् मुख्य के अनुयायी ही हो। तथापि सभी सुन लो। देखो ! मधुमङ्गल ने उन सबला गोपियों को भी जो अबला बताया है, उन सबका वह अबलात्व (अबलापन) तो, "राक्षसों के प्रति जैसे पुण्यजन शब्द प्रयुक्त होता है, अर्थात् पुण्यजन शब्द जैसे राक्षस को भी पर्यायवाचक होने से समझा देता है" इस प्रकार की विरोधीलक्षणा से संघटित है।

'केशाः पाशाश्चलनयनयुगं बाणयुग्मं नमद्भ्रू-
श्चापः कर्णावरिपरिदधतौ नासिका दिव्यशस्त्री ।
दन्ता वज्राण्यपरतदपरं तर्क्यमेवं तदेत-
च्छस्त्रै राधा स्वयमुदयवती को बलीयानतोऽन्यः ?' ॥५४॥

"अत्र 'को वा बलीयानतोऽन्यः' इति कृष्णमेव कटाक्षेण पश्यन्ती प्राह स्म ॥५५॥

"एवं विवदमानयोरनयोः कृष्णस्तु तया प्रस्तुतं तस्याः सौन्दर्यमवधार्य क्षणं धीरतां सन्धार्य प्रोवाच,—'दूति ! जातित एव प्रतीपदर्शिन्यसि, किं ब्रुवे ? किन्तु मदीयदूत-निर्मिता राजनीतिरियं न तु भीतिः ।' 'ततो भवती तावदत्र स्थितिमनुभवतु, मम दूतस्तत्र गच्छतु, ततः सञ्चारकाणामाचारेण समाचारेण समाचारे लब्ध-प्रचारे यथायथमाचरितव्यम् ॥'५६॥

"पुनर्मधुमङ्गलं प्रत्युवाच,—'भद्रं स्वयमेव तत्र गम्यताम्' इति ॥५७॥

"दूत्युवाच,—'न्याये युक्तौ प्रमाणे च स्थितो मध्यस्थ उच्यते ।
परं मध्ये स्थितो यः स्यात् स मध्यस्थावरः स्मृतः ॥५८॥

वस्तुतस्तु वे सबला हैं। कारण उनका शरीर शस्त्रमय देखा जाता है। इस बात को उन सबकी मुखिया श्रीमती राधिका को उपलक्षण मानकर देख लो। अपना बोधक होकर दूसरे का जो बोध करा दे, उसको उपलक्षण कहते हैं, अर्थात् राधिका के शस्त्रमय शरीर के ज्ञान से सबका ज्ञान हो जायगा ॥५३॥

देखो ! राधिका के केश ही पाश नामक अस्त्र हैं, चञ्चल नेत्रयुगल ही दो बाण हैं, नमती हुई भ्रू ही धनुष् है, दोनों कान ही चक्र के से कुण्डल को धारण करनेवाले हैं, नासिका ही दिव्य छुरी है, एवं सब दन्त भी अनेक वज्र हैं, इसी प्रकार राधिका के नख आदि दूसरे अङ्ग भी अस्त्रों की तरह तर्कना के योग्य हैं। अतएव इन पूर्वोक्त शस्त्रों के द्वारा हमारी राधिकारानी जब स्वयं उन्नति से युक्त हैं, तब उनसे दूसरा कौन बलिष्ठ है ? ॥५४॥

यहाँपर उस दूती ने "राधिका से भिन्न कौन बलिष्ठ है ?" इतने अंश को तो कटाक्ष के द्वारा श्रीकृष्ण को ही देखती हुई ने कहा ॥५५॥

इस प्रकार मधुमङ्गल एवं दूती दोनों जब विवाद कर रहे थे, तब श्रीकृष्ण तो उस दूती के द्वारा प्रस्तुत (वर्णित) श्रीराधिका के सौन्दर्य का श्रवण कर, क्षणभर धीरता को धारण करके बोले—हे दूति ! तू स्वभाव से ही प्रतीपदर्शिनी (प्रतिकूल देखनेवाली) एवं श्लेषपक्षे—जाति से भी नारी है, अतः तुझसे क्या कहूँ ? किन्तु मेरे दूत मधुमङ्गल के द्वारा निर्मित यह राजनीति है। भय की कोई बात नहीं है। इसलिए तुम मधुमङ्गल के आनेतक यहाँपर बैठी रहो। और मेरा दूत मधुमङ्गल वहाँपर चला जाय। उसके बाद दूतों के व्यवहार के द्वारा, सुन्दर आचरण के द्वारा, दोनों ओर का समाचार जब प्रचारित हो जाय, तब यथायोग्य व्यवहार करना ॥५६॥

श्रीकृष्ण पुनः मधुमङ्गल के प्रति बोले कि—अच्छा, तुम स्वयं ही वहाँपर चले जाओ ॥५७॥

दूती बोली—जो व्यक्ति न्याय, युक्ति एवं प्रमाण (श्रुति स्मृति आदि) में स्थित रहता है, वही मध्यस्थ कहलाता है। किन्तु जो व्यक्ति न्याय, युक्ति आदि के बिना केवल मध्य में स्थित हो जाता है, वह तो 'मध्य-स्थावर' अर्थात् बीच में खड़े होनेवाला वृक्षादिस्वरूप है, पक्षे—(मध्यस्थ-अवर) मध्यस्थों में छोटा है, अर्थात् नीच है ॥५८॥

"सोऽयं पुनश्छेक एव, ततः शिक्षामपि नार्हतीति स्वैरमेव गच्छतु ।।'५९।।

"मधुमङ्गलस्तु 'विशस्ता खल्वियं कथं शस्तं वदतु नाम' इति निवेद्य 'यथादिशन्ति महाराजमहाशयाः' इति प्रस्थितवान्; प्रस्थाय च तासां स्थानमासीदन्नाशीराशिभिः प्रसादमासादयामास ।।६०।।

"सर्वाश्च नमस्कृत्य सस्मितं कृत्यं पृच्छन्ति स्म ।।६१।।

"मधुमङ्गलस्तु 'भवतीनामेतन्नृत्यदर्शनमेव कृत्यम्' इति प्रोच्य प्रत्युवाच,—'किञ्च भवतीनां दूती तत्र गता वर्तते ब्रूते च। अस्माकं राज्ञी सार्वभौमं भवन्तं मिलितुमिच्छति' इति। तदवधार्य विस्मयादस्माकं राज्ञा चाज्ञापितम्,—'सा खलु परानुगता जातास्तीति श्रूयते। तस्मादेतन्न श्रद्दध्याम। अतः स्वस्य स्वसा काचिदस्मासु कस्मैचन विवहनाय दीयताम्। तदा तस्याः श्वोवसीयसाय स्यात्' इति ।।६२।।

"सर्वाः सभ्रूविजृम्भमाहुः स्म,—'वाचाटतापाटवमयधूर्ततायाः मूर्तिरेवायं स्फुटमन्यथाकारं वदन्नस्मान् वञ्चयितुमेवाजगामासीत्, स कदाचिदेवं कद्वदायेत। सा पुनरस्माकं सञ्चारिका नेमां कुचरतामाचरेत्; किन्तु बद्धेति सम्बध्यते ।।६३।।

और यह तुम्हारा दूत पुनः केवल छेक (घर में पाला हुआ पशु-पक्षी) ही है, पक्षे—चतुर है। इसलिए शिक्षा देने योग्य या ग्रहण करने योग्य नहीं है। तो भी स्वेच्छापूर्वक भले ही वहाँ चला जाय ।।५९।।

मधुमङ्गल तो "यह दूती निश्चय ही मङ्गलशून्य है, अतः मङ्गल की बातें कैसे बोल सकती है ?" यह निवेदन कर एवं श्रीकृष्ण के प्रति "महानुभाव महाराज जैसा आदेश दें" यों कहकर चल दिया। और चलकर उन गोपियों के स्थान को प्राप्त करते हुए, मधुमङ्गल ने आशीर्वाद की श्रेणी के द्वारा उनको प्रसन्न कर दिया ।।६०।।

वे सब भी नमस्कार करके, मुसकाकर आने के कृत्य को पूछने लगीं ।।६१।।

मधुमङ्गल तो "आप सबका यह नृत्य देखना ही मेरा मुख्य काम है" इस प्रकार कहकर प्रत्युत्तर देने लगा। आप सबकी एक दूती हमारी सभा में गई है और कहती है कि—हमारी महारानी, आप सार्वभौम से मिलना चाहती हैं। यह सुनकर निश्चय कर, हमारे राजाजी ने भी विस्मयपूर्वक आज्ञा दी है कि वह तुम्हारी रानी तो दूसरे पुरुष के अनुगत हो गई है, ऐसा सुना जाता है। इसलिए हम मिलन की बात पर विश्वास नहीं कर सकते। अतः अपनी किसी बहिन को, विवाहने के लिए हम सब में से किसी के लिए यदि वे दान कर दें, तब यह सम्बन्ध तो उनके मङ्गल के लिए हो सकता है ।।६२।।

सभी भौं टेढ़ी करती हुई बोलीं—यह दूत तो वाचालता की निपुणता से पूर्ण धूर्तता की मूर्ति ही है। स्पष्ट ही अन्य प्रकार से बोलता हुआ, हमको ठगने के लिए ही आया है। श्रीकृष्णचन्द्र कभी ऐसी बुरी बात बोल सकते हैं ? अर्थात् कदापि नहीं। और वह हमारी दूती भी इस प्रकार की दोषयुक्त भाषा का व्यवहार नहीं कर सकती। किन्तु वह श्रीकृष्ण ने बाँध ली है, ऐसी सम्भावना होती है ।।६३।।

"विशाखोवाच,—'यथाकारं तथाकारं वा वदतु, सोऽयं कथङ्कारं यूयमिदं विचारयथ; यतो विप्रस्यास्य कृतं खलु विप्रकृतमेव भण्यते, कथमिव प्रकृतं स्यात् ?' ॥६४॥

"मधुमङ्गल उवाच,—'को वात्र मम लाभः ?' ॥६५॥

"विशाखोवाच,—'अये ! भद्र ! विप्रलब्धमपि तथैवानुसन्धेयम् ॥'६६॥

"तदेवं प्रत्यादिष्टस्तु मधुमङ्गल उवाच,—'सर्वक्लमथमथनानां शमथदमथसत्पथप्रथनपराणामथ कथं न भवत्यस्माकमेवायं दोषः ? यत् खलु सन्ध्यनुसन्धानं एताभिस्तु युद्धमेवानुबद्धमस्ति ॥६७॥

"अथ श्रीराधिकाभिदधाति स्म,—'किंबलः संबलते भवदीयः स राजा, यस्मादेतावद्गर्वायसे ?' ॥६८॥

"मधुमङ्गल उवाच,—

'उच्चाटनं गुणगणप्रथनाद्विकृष्टि,-र्वंशीकलाद्विकलनं वररूपवृन्दात् ।
स्तम्भो विलासवलयाद्वशता च वाणी,-माधुर्यतः सुमुखि ! यस्य बली ततः कः ? ॥६९॥

'किञ्च, द्राघिष्ठक्षेपिष्ठ,-प्रेष्ठवरिष्ठस्थविष्ठबंहिष्ठाः ।
अस्मन्नृपतेः पुरतः, सर्वे गर्वेण रिच्यन्ते ॥७०॥

विशाखा बोली—यह ब्राह्मण स्वेच्छापूर्वक जैसे तैसे बोलता है तो बोलता रहे ! किन्तु तुम सब पूर्वोक्त प्रकार से क्यों विचारती हो ? क्योंकि इस ब्राह्मण का किया हुआ कार्य तो विप्रकृत अर्थात् अनादर से युक्त ही कहाता है। अतः प्रकृत (मुख्य विषय) कैसे हो सकता है ? ॥६४॥

मधुमङ्गल बोला—ऐसी बात बनाने से मेरा क्या लाभ ? ॥६५॥

विशाखा बोली—अये ! भद्र ! विप्रलब्ध, अर्थात् वञ्चित (ठगे गये) विषय को भी, विप्रकृत (अनादृत) की तरह ही अनुसन्धान कर लो ॥६६॥

मधुमङ्गल तो इस प्रकार निरस्त होकर बोला—सब प्रकार की ग्लानि को मिटानेवाले एवं शम (शान्ति), दम (इन्द्रियनिग्रह)रूप सन्मार्ग के प्रचार में लगे हुए जो हम हैं, अतः हमारा तो इस प्रकार का दोष किसी प्रकार भी नहीं है, जो कि ये गोपियाँ सन्धि के अनुसन्धान को भी युद्ध ही समझ बैठी हैं ॥६७॥

अनन्तर श्रीमती राधिका बोली—आपके वे राजा कैसे बलवान् हैं, किस प्रकार के बल से समर्थ हैं ? जिस कारण तुम इतना गर्व दिखा रहे हो ॥६८॥

मधुमङ्गल बोला—हे सुमुखि ! देखो, जिन श्रीकृष्ण के लोकोत्तर गुणगणों के विस्तार से सभी को उच्चाटन हो जाता है, जिनकी वंशी की सुमधुर ध्वनि से सभी का आकर्षण हो जाता है, जिनकी श्रेष्ठ सौन्दर्यराशि से सबको विकलता हो जाती है, जिनके क्रीडामण्डल से स्तम्भभाव हो जाता है, और वाणी के माधुर्य से सभी का वशीकरण हो जाता है। अब तुम्हीं बताओ उन श्रीकृष्ण से दूसरा कौन बलवान् है ? ॥६९॥

किञ्च हमारे राजाधिराज श्रीकृष्ण के सामने दीर्घतम, क्षिप्रतम, प्रियतम, उरुतम, स्थूलतम, एवं बहुलतम ये सभी प्रकार के राजा गर्व से रहित हो जाते हैं ॥७०॥

'अपि च—वृन्दिष्ठक्षोदिष्ठ,-ज्येष्ठगरिष्ठह्रसिष्ठसाधिष्ठाः ।
अस्मन्नृपतेरग्रे, विपरीताभापरीताः स्युः ॥'७१॥

"अथ श्रीराधा तु तदवधारणादन्तःप्रेमबाधां कथमपि समाधाय ललितामुखमीक्षितवती ॥७२॥

ललिता तु सविप्रलापमाललाप,—

'स वेणुर्मूकबधिरो यत्रागाद् वावदूकताम् ।
तत्रायं किं न वाग्मी स्याद् ब्रह्मवंशसमुद्भवः ?' ॥७३॥

'किन्तु यथास्माकं दूती निरुद्धा, तथा तमेतमपि निरुध्य युद्धाय सन्नह्यामः । अनन्तरन्तु परमप्रचण्डाः स्वपितृपुरोहित-पोगण्डाः समादिश्यन्ताम् । ते च स्त्रीवेशमेवास्य बलात् कुर्वन्तु । कृते च तद्वेशे श्रीव्रजराजपुरोहितभागिनेयः सोऽयं न चार्भकस्तत्र गच्छन्नस्मदीयसन्देशवर्णांस्तत्कर्णाभ्यर्णान् करोतु—अस्माकमन्या कन्या न विद्यते, किन्तु सिंहलद्वीपाद्दीपाभा पद्मिनीयमेका जितसर्वातिरेकाऽऽनीतास्ति, सा तु स्वयं राज्ञा परिणीयताम् । 'तत्र पद्मिनीप्रायेण दुष्कुलसद्मजेति नावज्ञातव्या,—॥७४॥

'विषादप्यमृतं ग्राह्यममेध्यादपि काञ्चनम् । नीचादप्युत्तमा विद्या स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥' इति हि स्मर्यते ॥'७५॥

और भी देखो ! हमारे भूपति के आगे श्रेष्ठतम, क्षुद्रतम, वृद्धतम, गुरुतम, ह्रस्वतम, एवं बाढतम (बहुत भला) इत्यादि प्रकार के सभी लोग विपरीत कान्ति से व्याप्त हो सकते हैं ॥७१॥

अनन्तर श्रीराधिका तो उसके वचनों को सुनकर, अन्तःकरण में उठी हुई प्रेममयी बाधा को कष्टपूर्वक संकुचित करके, ललिता के मुख को देखने लग गईं ॥७२॥

ललिता भी विरोधोक्तिपूर्वक बोली—देखो, रानी जू ! जहाँपर वह गूँगी बहरी वंशी भी अत्यन्त बोलनेवाले के भाव को प्राप्त हो गई, वहाँपर ब्राह्मणवंश में उत्पन्न होनेवाला यह व्यक्ति, युक्तियुक्त बोलनेवाला नहीं हो सकता क्या ? ॥७३॥

अतः इन बातों को तो रहने दो । किन्तु जैसे हमारी दूती उन्होंने रोक ली है, तैसे उनके इस दूत को रोककर हम सब भी युद्ध के लिए तैयार हो जायँ । पश्चात् अपने पिताजी के पुरोहित के परमप्रचण्ड नवकिशोर बालकों को आदेश दे दीजिये । वे भी बलपूर्वक इस मधुमङ्गल का स्त्री का सा वेष ही बना दें । स्त्रीवेष बनाने के बाद श्रीव्रजराज के पुरोहित की बहिन का बेटा जो कि अब कोई अबोध बालक नहीं है, वह वहाँपर जाते ही हमारे सन्देशमय वर्णों को श्रीकृष्ण के कानतक पहुँचा दे । यथा—हमारे दूसरी कन्या नहीं है, किन्तु सिंहलद्वीप से दीपक के समान कान्तिवाली, सब नारियों की विशेषता को जीतनेवाली, यह एक पद्मिनी मँगाई है । उसको तो स्वयं भूपति श्रीकृष्ण ही विवाह लें तो भला हो । उसमें भी "यह पद्मिनी प्रायः दुष्कुल के घर में पैदा हुई है" इस कारण इसकी अवज्ञा न कर दें ॥७४॥

कारण मनुस्मृति में कहा है कि—अमृत को विष से भी ग्रहण कर लेना चाहिये, सुवर्ण को अपवित्र विष्ठा आदि से भी ग्रहण कर लेना चाहिये, नीच व्यक्ति से भी उत्तम विद्या ले लेनी चाहिये, एवं स्त्रीरूप रत्न को दुष्कुल से भी अङ्गीकार कर लेना चाहिये ॥७५॥

"मधुमङ्गल उवाच,—'ननु भवत्यश्च पद्मिन्यस्तर्हि ता एव कथं कुले नार्नाहिताः ?' ॥७६॥

ललिता सरोषमुवाच,—

'आवृता जगति पद्मिनी यया, पद्मया जितवती सदापि ताम् ।
राधिकादिरपि पद्मिनीतया, भण्यतां ततिरहो मृगीदृशाम् ॥'७७॥

"अथ श्रीराधिका हसित्वा चिल्लीचालनया लसित्वा च स्वपितृपुरोहितबालकानां पञ्चाशतं तद्वेशायादिश्य राजपुरोहितस्वस्रीयेण च तथा सन्दिश्य युद्धकौतुकायाभिनिविश्य तस्य स्त्रीवेशस्य पुरतः स्थितिं निर्दिश्य चामूभिश्चमूरुचक्षुश्चमूभिरभिक्रान्तवती युद्धाभिमुखतया च स्थितवती कृष्णं च मनस्याहितवती ॥७८॥

"तत्र च—अबीभषदयं होलीमवभाषदियं तथा ।
अदीदिपदसौ भावमसौ च तमदीदिपत् ॥७९॥

"ततश्च राजायमानगोकुलयुवराजस्तं निकारप्रकारं वटुमुखतः कटुनिभं कर्णपुटमानीय तां दूतीं स्वपक्षरक्षिताभिः काभिश्चित् प्रगल्भतालक्षिताभिस्तादृशस्त्रीभिः पुरुषवेशां विधाय तेन वटुना सन्दिदेश,—'तस्याः कन्यायाः सोऽयमेव धन्यो वरः' इति । "सन्दिश्य च तामपि मधुमङ्गलवत् पुरः प्रणीयाभिषेणयामास ॥८०॥

मधुमङ्गल बोला—यदि आप सब भी पद्मिनी हैं, तो वे पद्मिनी ही कुल से किस प्रकार अयोग्य हैं ? ॥७६॥

ललिता क्रोधपूर्वक बोली—जगत्भर में जिस लक्ष्मी ने पद्मिनी को अधीन कर लिया है, उस लक्ष्मी को सदैव जीतनेवाली श्रीराधिका आदि मृगलोचनाओं की श्रेणी को भी पद्मिनीरूप से निर्देश करो। अर्थात् हम सब व्रजाङ्गनाओं को साधारण पद्मिनी नहीं कहना ॥७७॥

तदनन्तर श्रीराधिका हँसकर, एवं भौं चलाने से सुशोभित होकर, अपने पिता के पचास पुरोहित बालकों को, मधुमङ्गल के स्त्रीवेष बनाने के लिए आदेश देकर, राजपुरोहित की बहिन के बेटा के द्वारा, पूर्वोक्त प्रकार से सन्देश देकर, युद्धरूप कौतुक के लिए आग्रह प्रकाशित कर, स्त्री के से वेषवाले मधुमङ्गल के सामने ही स्थिति का निर्देश कर, इन मृगलोचना गोपियों की सेनाओं के सहित, निडर होकर, बैरियों के सामने निकल पड़ी। और युद्ध के सम्मुख होकर खड़ी हो गई, तथा तन मन में श्रीकृष्ण की धारणा भी करने लग गई ॥७८॥

और वहाँपर श्रीकृष्ण अपने गण को नियुक्त करके होली की कथा कहवाने लग गये। उसी तरह श्रीराधिका भी अपनी सेना के द्वारा होली की कथा कहवाने लग गई। श्रीकृष्ण ने राधिका के भाव को उद्दीप्त कर दिया, तथा राधिका ने श्रीकृष्ण के भाव को उद्दीप्त कर दिया ॥७९॥

उसके बाद राजा का सा व्यवहार करते हुए श्रीगोकुलयुवराज भी, राजपुरोहित की बहिन के बेटे के मुख से कटुतुल्य पूर्वोक्त तिरस्कार के प्रकार को सुनकर, अपने पक्ष के द्वारा रक्षित, धृष्टता से लक्षित (युक्त) कुछ उस प्रकार की स्त्रियों के द्वारा, उस दूती को पुरुष के से वेषवाली बनाकर, उसी ब्राह्मण वटु

"तदेवं मिथः कृते नियातने तयोः काभिश्चिदन्याभिः कुतुककृते तटस्थतया तत्र मङ्क्ष्टमानाभिः प्रकटहठतया द्वयोस्तत्तद्वेशविशेषिणोः कृतसन्धे पटाञ्चलबन्धे जाते चोभयतश्च नानाहासप्रबन्धे श्रीराधापक्ष-लक्षिताभिर्मृगाक्षीभिरिदमाख्यायि,—'वर्षीयसानेन वरेणास्मत्पद्मिनीयं धर्षिता, तस्माद्युद्धार्थमुद्यमः संबध्यताम् ॥'८१॥

"ततः संबद्धेषु शुषिरादिभिः सार्धं युद्धवाद्यार्थमानद्धेषु,—

नर्माङ्गगालिरुदकक्षिपयन्त्रयुक्ति,-र्दण्डीप्रपातननिवर्तनकेलिरीतिः ।
कान्ताकृतिव्यतिकृतग्रहणं सखीनां, साहायकं युधि बभौ हरिहोलिकायाः ॥८२॥

"चिरतश्च कृष्णकेलिकलावकलनकेवलतया विकलितस्वस्वकेलिकलहप्रलापेषु राम-श्रीदाम-सुदामादि-कलापेषु तल्लीलातृष्णक् कृष्ण एव स्वप्रेयसीभिः सह सहसाहवनिभं विहरति स्म ॥८३॥

"प्रथमं तावदसावमूश्च परस्परं स्निग्धा व्यतिषज्य व्यतिविद्धा बभूवुः ॥८४॥

के द्वारा सन्देश भिजवा दिया कि—"उस तुम्हारी कन्या के सम्बन्ध के लिए यही वर धन्य है।" सन्देश देकर पुरुषवेषधारिणी उस दूती को भी मधुमङ्गल की तरह आगे करके सेना के सहित अभिमुख (सम्मुख) चल दिये ॥८०॥

इस प्रकार परस्पर नीचे झुकाने का निमित्त बना लेनेपर, रानी-राजारूप राधा-कृष्ण के कौतुक करने के लिए वहाँपर उदासीनभाव से सम्मिलित होनेवाली कुछ अन्य स्त्रियों के द्वारा प्रगट हठ-पूर्वक स्त्री एवं पुरुषवेष से विशिष्ट (युक्त) मधुमङ्गल एवं दूती इन दोनों के वस्त्रों के गँठबन्धन जब कर दिये, तथा दोनों पक्षों की ओर से अनेक प्रकार के हास्यमय प्रबन्ध जब उत्पन्न हो गये, तब श्रीराधिका के पक्ष में दिखाई देनेवाली मृगलोचनाओं ने यह कहा कि—इस अत्यन्त बूढ़े वर ने हमारी इस पद्मिनी का तिरस्कार कर दिया है। अतः युद्ध के लिए उद्योग कीजिये ॥८१॥

उसके बाद वंशी आदि वाद्यों के सहित युद्ध के लिए मुरज (मृदङ्ग) आदि बाजे जब सम्मिलित हो गये, तब हास परिहास की अङ्गस्वरूप गालियाँ देना, जल फेंकनेवाले पिचकारी आदि यन्त्रों का प्रयोग करना, लठिया के द्वारा दूसरे को गिराना एवं लौटानारूप क्रीडा का व्यवहार करना, एवं गोपरमणियाँ जिस प्रकार कार्य करती थीं, उसी प्रकार की उल्टापल्टी का ग्रहण करना, इत्यादिरूप से मित्रों की सहायता श्रीकृष्ण के होलीयुद्ध में शोभा पाने लगी ॥८२॥

बहुत देरतक केवल श्रीकृष्ण की लीलाकला के दर्शन करने के कारण श्रीबलराम, श्रीदामा, सुदामा आदि ग्वालबालों के समूह ने अपनी अपनी क्रीडामय कलहप्रलाप (अनर्थकवचन) जब दूर कर दिये, तब होलीलीला के अभिलाषी केवल श्रीकृष्ण ही अपनी प्रेयसी गोपियों के साथ बलपूर्वक विहार करने लगे ॥८३॥

पहले श्रीकृष्ण एवं वे गोपियाँ स्नेहयुक्त होकर, परस्पर सम्मिलित होकर, क्रीडायुद्ध में मर्दित होने लगे ॥८४॥

"यतः, भ्रू कार्मुका नेत्रबाणा ये तेषां मारसंयति ।
अङ्गास्त्राणां हन्त किं स्यादपराद्धपृषत्कता ? ॥८५॥

"अथ पुनर्दण्डादण्डि खण्डनपूर्वकं बाहाबाहविबहलमेवायं हरिराहवमुवाह ॥८६॥

"तथा हि— दोरान्दोलनमंगुलीपरिमलं केशग्रहं वेशनुत्-
पाण्योश्चञ्चलतां तथा परपरं वाचां विचारात् परम् ।
कुर्वं स्तत्परदारसैन्यमविशत् कृष्णस्तथा स्वं यथा
कुत्रागादिति वेद न स्म जनता साप्यस्तु नापि स्वयम् ॥८७॥

"ततश्च क्रमशः परपरातिक्रमपूर्वकमपूर्वोत्साहवृतयोः सखीभिरावृतयोरसाधारणक्रीडारणजवयो राधामाधवयोरेव व्यतिषङ्गः प्रसङ्गमायातः ॥८८॥

"तत्र च—यथायथं तत्कौतुकावकलनतः स्वस्वव्यापारं परित्यज्य व्यज्यमानचित्रतया चित्रायमाणा वरवर्णिन्यः सौवर्णवरणाकारतया वृण्वाना मिथस्तद्वर्णयामासुः ॥८९॥

"तथाहि गीतम्,—
'पश्य पश्य सखि ! होलीयुद्धम् ।
राधामाधवकृतमनुरहसं सुचिरं भवदनुरुद्धम् ॥ध्रु॥९०॥

कारण—कामरूप युद्ध में जो जो भ्रूरूप धनुष् एवं नेत्ररूप बाण हैं, उन सबका अङ्गरूप अस्त्रों के सम्बन्ध में निशाने से चूकनेवाले का भाव क्या हो सकता है ? अहो ! कदापि नहीं ॥८५॥

पश्चात् श्रीकृष्ण ने पुनः खण्डनपूर्वक अधिक मात्रा में इस प्रकार का होलीयुद्ध प्रवर्तित कर दिया कि, जिसमें बारम्बार दण्डों के द्वारा ही प्रहार किया जाता हो, एवं बारम्बार बाहुओं के द्वारा ही प्रहार किया जाता हो ॥८६॥

और देखो ! उस समय श्रीकृष्ण अनेक गोपियों के हाथों को फेंकते हुए अँगुलियों का मर्दन करते हुए, केशों को पकड़ते हुए, गोपियों के वेष को बिगाड़नेवाले अपने दोनों हाथों की चञ्चलता प्रगट करते हुए, तथा विचार से भी परे उत्तरोत्तर वाग्युद्ध करते हुए, पराई या शत्रुरूप स्त्रियों की सेना में उस प्रकार प्रविष्ट हो गये कि, जिस प्रकार अपने को श्रीकृष्ण की जनता भी यह न जान सकी कि—"श्रीकृष्ण कहाँ चले गये ?" उस जनता की बात तो दूर रहने दो । स्वयं श्रीकृष्ण भी नहीं जान पाये कि, मैं किस प्रकार प्रविष्ट हुआ हूँ । यहाँपर श्रीकृष्ण के वेग की अत्यधिकता व्यञ्जित हो रही है ॥८७॥

उसके बाद क्रमशः उत्तरोत्तर सबके उल्लङ्घनपूर्वक अपूर्व उत्साह से भरे हुए, अनेक सखियों से घिरे हुए, एवं असाधारण क्रीडायुद्ध में वेग से युक्त राधा-कृष्ण का परस्पर मिलन ही आसक्ति को प्राप्त हो गया ॥८८॥

और उस समय यथायोग्य उस कौतुक के देखने के कारण, अपने अपने व्यापार को छोड़कर, प्रगट होते हुए आश्चर्य के कारण, चित्रलिखी सी गोपाङ्गनाएँ राधा-कृष्ण को सुवर्णनिर्मित परकोटा के से आकार से चारों ओर से घेरती हुई, उनके युद्ध को परस्पर वर्णन करने लगीं— ॥८९॥

उस युद्ध के वर्णन करनेवाले गीत का अर्थ, यथा—अरी ! सखि ! राधा-माधव ने जिस युद्ध की रचना की है, उस अपूर्व होलीयुद्ध को देख ! देख तो सही ! यह युद्ध तुम सबके मध्यमय एकान्त में बहुत देरतक तुम्हारे अनुरोध से ही तो हो रहा है ॥९०॥

दण्डादण्डिगते परिखण्डिततरतमतो व्यतिरोधम् ।
व्यतिषञ्जनमिह भाति तडिद्घनरुचिजयलसदुद्बोधम् ॥९१॥
मस्तकवस्त्रस्खलनारम्भात् पिहिते तन्मुखयुगले ।
भ्रमरवरायितमेकेनास्मिन्नन्यस्मिन् बहु कमले ॥९२॥
भुजभुजगेन हरेर्बहुधारचि हृदि तस्याः फणलीला ।
चक्रवाकयुगगीर्णिरवाकलि यत्र मुहुः कृतिशीला ॥९३॥
अपि पुनरस्मिन्नवकलयत किल निरवनिरुहततिदेशम् ।
अभिनवकनकलतापरिवलयिततरुणतमालकुलेशम् ॥९४॥
तं युवती-कुलसाहायककृतबलराधा वशबलिनम् ।
रचयति नयति च निजविषये दिशि रभसरसादपि बलिनम् ॥९५॥
नीतं तं नवपीतपटं मृगनाभिजलैरभिषिक्तम् ।
तनुते सुतनूततिरिह वितनुप्रमदमदादतिरिक्तम् ॥९६॥

और देख, सखि ! दोनों ओर से दण्डों के द्वारा प्रहार करके जो युद्ध प्रवृत्त होता है, उसका नाम 'दण्डादण्डि' है । अत: दण्डादण्डि स्वरूप को प्राप्त हुए इस होलीयुद्ध में, श्रेष्ठता एवं अतिश्रेष्ठता के खण्डित हो जाने के कारण, प्रिया-प्रीतम दोनों का परस्पर निरोध एवं परस्पर मिलन शोभा पा रहा है। इस अवस्था को देखने से मालूम होता है कि, दोनों का युद्ध बिजली एवं मेघ की कान्ति को जीतने के कारण विलसित हो रहा है ॥९१॥

और मस्तक से वस्त्र खिसलने के आरम्भ से उन दोनों के मुखयुगल जब ढक गये, तब दोनों मुखों में से एक मुख ने कमल के समान दूसरे मुखपर श्रेष्ठ भ्रमर का सा व्यवहार प्रारम्भ कर दिया । अर्थात् अधररूप मधु पीने लग गया ॥९२॥

और श्रीकृष्ण की भुजारूप सर्प ने राधिका के हृदयपर अनेक प्रकार की फणलीला, अर्थात् करार्पण-रूप क्रीडा रच दीं । अतएव जिस हृदयरूप सरोवर में हरि भुजारूप सर्प के द्वारा स्तनरूप चकवा-चकवी के जोड़े का निगलना देखा गया । कारण—हरि के कररूप सर्प की फणलीला, युगल चक्रवाक के निगलने के स्वभाव को बार बार प्रकाशित कर रही थी ॥९३॥

और हे सखियो ! तुम इस मुखयुगल में वृक्षश्रेणी से रहित स्थान में अभिनव सुवर्णलता से परिवेष्टित तरुण तमालतरुपति का दर्शन करो ॥९४॥

और युवतीकुल की सहायता से रचे गये बल से युक्त जो राधिका है, वह श्रीकृष्ण को अपने वशवर्ती बना रही है, एवं परम बलवान् श्रीकृष्ण को भी हर्षरूप रस के कारण, अपने अधिकार की ओर ले जा रही है ॥९५॥

और बलपूर्वक राधिका के अधिकार में प्राप्त हुए, नवीन पीताम्बरधारी श्रीकृष्ण को इस होलीयुद्ध में गोपाङ्गनाश्रेणी महान् हर्षमय मद के कारण, कस्तूरीमिश्रित जल के द्वारा अत्यन्त अभिषिक्त कर रही है, अर्थात् भिजा रही है ॥९६॥

सेयं राधा स्वयमिह मुरलीं यद् बत हरति सयत्नम् ।
न तदद्भुतमिव यदहरदस्य प्रथमं हृन्मणिरत्नम् ॥९७॥

अथ रामादिः सखिजनता तं पश्यन्ती विनिरुद्धम् ।
सन्धिमधित्सत विसृजन्ती ताः प्रति दूतं गुणशुद्धम् ॥९८॥

रामः स यदा फाल्गुनपर्वणि देयं मेने दातुम् ।
प्रतिभुवमादायाथ तदा हरिराभिरमन्यत रातुम् ॥९९॥

जाते सन्धावखिलेनापि च शंसति दिव्ये लोके ।
निजनिजकान्तामोहविरोहणगीतिः स स विलुलोके ॥' इति॥१००॥

"एवं स्थिते परस्परं चर्चरिकारचन-निचायने विस्मायके जाते समाजद्वये च मिथः किञ्चिद्दूरं याते कस्मादप्यकस्मान्मूढधीः शङ्खचूडः समागतः स तु विगीत एवेत्यलमतितद्विस्तरेण ॥"१०१॥

और इस युद्ध में वे ही बलिष्ठा राधिका, यत्न के सहित मुरली का जो अपहरण कर रही हैं, यह घटना कोई विशेष अद्भुत सी नहीं है। कारण—राधिका ने श्रीकृष्ण की हृदयरूप श्रेष्ठमणि को तो पहले ही चुरा लिया था। तात्पर्य—हृदय चुरानेवाले के लिए मुरली चुराना कठिन नहीं है ॥९७॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण की बलराम आदि मित्ररूप जनता श्रीकृष्ण को सखियों के बीच में विशेष घिरे हुए देखकर, विशुद्ध गुणयुक्त एक दूत को, राधिका आदि गोपियों के प्रति भेजती हुई, सन्धि करने की इच्छा करने लगी ॥९८॥

तदनन्तर श्रीबलरामजी ने उस फाल्गुन के होली महोत्सव में मणि मुक्ता आदि देय वस्तु जब देनी अङ्गीकार कर लीं, तब राधिका आदि गोपियों ने भी बीच में जामिनदार को लेकर, श्रीकृष्ण का देना मान लिया ॥९९॥

इस प्रकार सन्धि हो जानेपर, सभी जनों के सहित देवता लोग भी जब प्रशंसा कर रहे थे, तब राधिका आदि असाधारण निजीकान्ताओं में विमुग्धता उत्पन्न हो जाने के कारण, जिनका गायन किया गया, वे ही श्रीहरि सबके दृष्टिगोचर हो गये ॥१००॥

इस प्रकार की स्थिति के बाद चर्चरिका नामक वाद्यविशेष, या गानविशेष की रचना का दर्शन या श्रवण जब विस्मयजनक हो रहा था, एवं 'गोपी तथा ग्वालबाल' इन दोनों का समाज जब परस्पर प्रेमपूर्वक कुछ दूर चला गया था, तभी मूढबुद्धिवाला शङ्खचूड़ कहीं से अकस्मात् आ गया था, वह तो निन्दित ही था, अतः तिरस्कारपूर्वक मारा भी गया। जिसकी चर्चा पहले आ चुकी है। इसलिए उसके विषय में पुनः विस्तार करने की आवश्यकता नहीं है ॥१०१॥

"अथ समापनम्,—

शङ्खचूडं निहतवान् यन्मणिं दत्तवानपि ।
राधे ! कान्तस्तवायं तत् कृतवांस्त्वत्कृते द्वयम् ॥"१०२॥

॥ इति श्रीश्रीगोपालचम्पूमनु निर्व्रीडहोलिका-विक्रीडनं नाम त्रिशं पूरणम् ॥३०॥

अथैकत्रिंशं पूरणम्

नानारागविचित्रचरित्रम्

(श्रीकृष्णस्य दशमवर्षीया लीला)

अथ स्निग्धकण्ठः प्रभातकथां प्रथयामास,—"तदेवं प्रतिक्षणमेव परमप्रेमलक्षणलीलां फुल्लदुल्लासतः स गोकुलबन्धुर्दशमं संवत्सरं संवलते स्म ॥१॥

"स तु नृशंसः कंसः क्रमशः सर्वेषु निर्मितनिजगर्वेषु तर्हि निस्तर्हितेषु वैरशुद्धिं प्रति प्रतिगतबुद्धिः सर्वतः श्रेष्ठतया रक्षितावरिष्ट-केशिनावाहूय संरभमाणतया सभयतया चाभिहितवान्,—'मयावज्ञया नातियोग्या एव तत्र विनियोग्याः कृताः, स तु दारक इति बुद्धया; किन्तु स्फुटमसौ सर्वेषां दारक एव जातः। ततः कौसीद्यखिद्यमानतया भवन्तावनुयुज्येते, किमिह युज्यते ?' इति ॥२॥

अनन्तर प्रसङ्ग समाप्ति करनेवाला वचन, यथा—हे श्रीमति ! राधिके ! देखो, तुम्हारे नित्यकान्त श्रीकृष्ण ने शङ्खचूड़ को मार दिया, और उसकी मणि बलरामजी को दे दी। ये दोनों काम जो किये, वे तुम्हारे लिए ही किये ॥१०२॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रिविरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीगोपालचम्पूकाव्ये निर्व्रीडहोलिका-विक्रीडनं नाम
त्रिशं पूरणं सम्पूर्णम् ॥३०॥

इकतीसवाँ पूरण

अनेक रागिनियों से युक्त विचित्र चरित्र तथा श्रीकृष्ण की दसवें वर्ष की लीला

इस इकतीसवें पूरण में अरिष्टासुर का वध, एवं राधाकुण्ड कृष्णकुण्ड का प्रकाश, तथा श्रीराधिका का उत्कर्ष वर्णित होगा। अनन्तर स्निग्धकण्ठ प्रातःकाल की कथा को विस्तारित करने लगा—पूर्वोक्त प्रकार से प्रतिक्षण परम प्रेमलक्षणा लीलाओं के द्वारा विकसित होते हुए, उल्लास से गोकुल के बन्धु श्रीकृष्ण ने दशमवर्ष में पदार्पण किया ॥१॥

उधर वह क्रूर कंस तो अपने गर्व का निर्माण करनेवाले पूतना आदि सभी राक्षस जब क्रमशः मारे गये, तब अपने वैर के प्रतिकार के प्रति निविष्ट बुद्धि होकर, सबकी अपेक्षा श्रेष्ठभाव से रखे हुए अरिष्टासुर एवं केशी, इन दोनों दानवों को बुलाकर, क्रोधयुक्त होकर भयपूर्वक बोला कि—"वह कृष्ण तो छोटासा

"तावूचतुः,—'देव ! तदेतदेव प्रतीक्ष्य स्थिरतयाभीक्ष्णं वर्तावहे। साम्प्रतं तु साम्प्रतमाज्ञाप्यताम्। अथवा किमाज्ञापनया ? विनापि तां विनियुक्ता एव युक्तसेवकतया वयमित्युत्थाय साम्युत्थानप्रणामं प्रस्थितयोस्तयोः कंसः शशंस,—'अरिष्टस्तावत् प्रतिष्ठताम्। इष्टापत्तिविपत्तितस्तु केशी च तत्प्रतिवेशी भविता ॥'३॥

"तदेतदवधाय तौ च गृहमागत्य सातत्यत एव तदर्थमाजगृहतुः ॥४॥

"अथ कदाचिल्लोहितायमाने सायं मार्तण्डरश्मिमण्डले नाम्नारिष्टः सर्वदिविषदरिष्टः सर्वत्र च रंहसा जङ्घन्यमानः सर्वाश्चाघ्ना जेघ्नीयमानः श्रीमन्तं गोष्ठद्वारान्तमाजगाम ॥५॥

"यदा हि चित्रायुतपूर्णचन्द्रां पूर्णिमामनु तूर्णितचेताः स्वसुख-वर्धनगोवर्धनविलोकनकामनया श्रीरामकनिष्ठः किञ्चिद्दूरं प्रविष्ट आसीत् ॥६॥

"ततश्च, भूकम्पक्रमणान्महीध्रचलनं तस्यागतेर्वारिभृद्-
विक्षोभं नदनान्निशाचरवरं वैकृत्यभागाकृतेः।
तद्रूपाद्रिविनिश्चयं ककुदि वार्मुग्वृन्दसङ्घट्टना-
दुन्नीय व्रजगप्रजा दिशि दिशि द्राक् कान्दिशीक्यं गताः ॥७॥

बालक है" इस प्रकार की बुद्धि से, मैंने उसकी अवज्ञा करके, उसके मारने के निमित्त, अत्यन्त अयोग्य पूतना आदि ही नियुक्त किये थे। किन्तु वह कृष्ण तो स्पष्ट ही उन सबका विदारक ही हो गया। इसलिए आलस्य से या विजय की इच्छा से रहित होने के कारण, खेद से युक्त होकर, मैं तुम दोनों से पूछता हूँ कि–इस विषय में अब क्या करना उचित है ? ॥२॥

वे दोनों बोले—हे राजन् ! हम दोनों तो आपकी आज्ञा की प्रतीक्षा करके ही इतने दिनतक निरन्तर चुपचाप बैठे रहे। अब तो योग्य आज्ञा दीजिये। अथवा आज्ञा देने की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि योग्यसेवक होने के नाते हम तो आज्ञा के बिना ही प्रायः नियुक्त हैं। यों कहकर उठकर उन्नति या गौरव के सहित प्रणामपूर्वक जब वे दोनों प्रस्थान के लिए तत्पर हो गये, तब कंस बोला—अरिष्टासुर प्रस्थान कर दे ! किन्तु कृष्ण को नष्ट करने में विपत्ति की सम्भावना से केशी भी उसके साथ एक स्थानपर निवास करनेवाला होगा ॥३॥

कंस की आज्ञा को धारण कर, अपने घर आकर, वे दोनों ही निरन्तर श्रीकृष्ण के अनिष्ट के लिए आग्रह करने लगे ॥४॥

अनन्तर कदाचित् सायंकाल में सूर्य का किरणमण्डल जब लाल लाल हो चला, तब सब देवताओं के लिए अशुभरूप अरिष्ट नामक असुर, सभी जगह वेगपूर्वक कुटिलगति से चलता हुआ, सभी गैयाओं को बार बार हिंसा करता हुआ, शोभायमान गोष्ठ के दरवाजे के निकट आ गया ॥५॥

जिस समय श्रीकृष्ण चित्रानक्षत्र से युक्त पूर्ण चन्द्रमावाली चैत्री पूर्णिमा को लक्ष्य कर, अपने सुख को बढ़ानेवाले श्रीगोवर्धन के दर्शन की कामना से, शीघ्रता से युक्त चित्त होकर, नन्दग्राम से थोड़ी सी दूर ही गोवर्धन के मार्ग में प्रविष्ट हुए थे, उसी समय अरिष्टासुर आया था ॥६॥

उसके बाद उस अरिष्टासुर के आने के कारण, उसके चलने से भूकम्प को, अथवा भूकम्प के सहित पादविक्षेप से पर्वतों के चलने को जानकर, उसके शब्द से बादलों के विक्षोभ को जानकर, विकृतता से युक्त

किञ्चित् किञ्चिन्मूत्रणादापगानां, गूथत्यागाद् गण्डशैलावलीनाम् ।
सृष्टि कर्ता पश्यतारिष्टनामा, देवारिष्टः पर्वतात्मा प्रतीतः ॥८॥

वृषदम्भी ससंरम्भं रम्भणं यद्व्यधादसौ ।
तेनासीद्व्यक्तसन्दर्भः स्वयं गोगर्भपातिना ॥९॥

वप्रं यदापस्किरते स्म शृङ्गा,-दिभिर्विकुर्वाणतया वृषः सः ।
तदाखिलं गोकुलमाशु मृद्भिः, प्रच्छन्नमासीद्वनमण्डलं च ॥१०॥

यत्र यत्र खुरमादधाति स, क्ष्मापि तत्र बलते विदीर्णताम् ।
नेत्रतुल्यबिलतः समुच्छ्रितं, वारि रोदननिभं बिभर्ति च ॥११॥

"तत्र लोकानां वचनम्,—
'जातु मातु गिरिरेष समन्ता,-दुच्चलन्नपि तथाविधमूर्तेः ।
किन्तु शृङ्ग-तलगं रवियुग्मं, हा व्यसिस्मयत गोकुललोकम्॥'इति॥१२॥

"एवमुद्घ्नता गवामुद्घान्निघ्नता च सर्वं वस्तु प्रस्तुभ्यता चारिष्टेन कृतादाक्रुष्टात् कष्टमनुस्पृष्टवन्तस्ते गोष्ठनिष्ठा गोनरप्रकृष्टाः कृष्णाय मुहुर्विक्रुष्टवन्तः ॥१३॥

उसकी भयङ्कर आकृति से उसको श्रेष्ठ निशाचर जानकर, एवं उसके कन्धेपर के डिल्लापर मेघवृन्द के संघर्षण से, उस प्रकार के पर्वत के निश्चय को जानकर, व्रज की सारी प्रजा भय के मारे शीघ्र ही प्रत्येक दिशा में भाग गई ॥७॥

और किंचित् किंचित् मूतने से नदियों की सृष्टि करनेवाला, एवं मल के त्यागने से छोटे छोटे पर्वतों की सृष्टि करनेवाला, वह अरिष्ट नामक असुर देवताओं का मूर्तिमान अरिष्ट (अशुभ) ही पर्वताकार प्रतीत हो रहा है, इसको तुम सब देख लो ॥८॥

और बैलरूप मे छिपे हुए उस कपटी असुर ने क्रोध एवं आडम्बरपूर्वक जो रँभाने का शब्द किया था, गैयाओं के गर्भ को गिराने वाले उसी शब्द के द्वारा उसकी रचना या मर्म स्वयं व्यक्त हो गया था ॥९॥

और बैल वेषधारी वह असुर हर्षित होकर अपने सींग आदि के द्वारा जब खेत की मेंड़ आदि ऊँची भूमि को उखाड़ कर इधर उधर फेंक रहा था, तब वह सारा गोकुल एवं वनमण्डल मिट्टी के द्वारा शीघ्र ही ढक गया था ॥१०॥

वह असुर जहाँ जहाँ खुर धरता था, वहाँ वहाँपर धरती फट जाती थी। और नेत्र के समान गड्ढों से उछलते हुए जल को वह धरती रोने के आँसुओं के तुल्य धारण कर लेती थी ॥११॥

वहाँपर लोगों का वचन, यथा—चारों ओर उछल कर चलता हुआ भी यह पर्वत कदाचित् परिमाण को प्राप्त हो सकता है ? किन्तु उस प्रकार की भयङ्कर मूर्तिवाले इस पर्वत के शृङ्गों के नीचे विद्यमान दो सूर्यों ने, अर्थात् असुर के सींगों के नीचे के सूर्य के समान दमदमाते दोनों नेत्रों ने, हाय ! गोकुल के सभी लोगों को विस्मित कर दिया ॥१२॥

इस प्रकार गर्व करनेवाले, श्रेष्ठ गोगण को मारनेवाले, सभी वस्तुओं को नष्टभ्रष्ट करनेवाले, अरिष्टासुर के द्वारा किये गये भयङ्कर शब्द से कष्ट का अनुभव करनेवाले, प्रधान प्रधान व्रजवासी श्रीकृष्ण को बुलाने के लिए ऊँचे स्वर से चिल्लाने लगे ॥१३॥

"सूरतः स तु दूरतस्तेषामवगतविक्रोशनलेशमात्रः कुत्राप्यकृतयात्र इव सम्मुखत एवावतस्थे। अवस्थाय च मा भैष्टेत्यभयमुद्दिष्ट विधाय क्रोधाविष्टस्तमरिष्टमाजुहाव बलीवर्दक्रोधवर्धन-नर्दविशेषेण। तदिदन्तु तं प्रति सम्प्रति 'सुकरार्दनस्त्वमसि' इति ज्ञापनाय ॥१४

"अथ चोवाच यथा (भा०१०।३६।७)—

'सपालैः पशुभिर्मन्द त्रासितैः किमसत्तम !।
मयि शास्तरि दुष्टानां त्वद्विधानां दुरात्मनाम् ॥'इति॥१५॥

"पुनश्च, 'पिण्डीशूर ! विदूरः सन् क्रूरतां त्वं किमृच्छसि ?
सामुद्रपुर इव मां कुम्भजातं प्रपूरय ॥'इति॥१६॥

"तदिदं च तस्य गाम्मन्यस्य जिघांसया लोकानां गोत्वभ्रमापगमनया चोक्तवानिति गम्यते ॥१७॥

"किञ्च, आस्फोटनं कृतमनेन तदा यदस्मा,-दास्फोटनं समभवद्दनुजश्रुतीनाम् ।
कोपं चकार स तु यद्वृषभस्तदुच्चैः, कोपं ववर्ष शिशुवन्नहि जाहसीति ॥१८॥

किन्तु वे दयालु श्रीकृष्ण तो दूर से ही उनके लेशमात्र रोने के शब्द को समझ कर, कहीं भी यात्रा न करके मानो सम्मुख ही खड़े हो गये। और खड़े होते ही "हे व्रजवासियो ! डरो मत" इस प्रकार के वचन से अभयदान देकर, क्रोध में भरकर बैल को क्रोध बढ़ानेवाले शब्दविशेष के द्वारा उस अरिष्टासुर को बुलाने लगे। नर्दनपूर्वक यह बुलाना तो इस समय अरिष्टासुर के प्रति यह बात समझाने के लिए था कि—"तू मेरे द्वारा अनायास मारा जायगा" इत्यादि ॥१४॥

पश्चात् श्रीकृष्ण बोले—अरे मूढ ! ओ अतिशय असज्जन ! तेरे जैसे दुष्ट दुरात्माओं के शासन करनेवाले मेरे रहते हुए, गोपालों के सहित इन पशुओं को उद्विग्न करने से तेरा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? १५॥

और ओ चून के गोलेपर वीरता दिखानेवाले वीर ! तू मुझसे अत्यन्त दूर रहकर क्यों क्रूरता को प्राप्त हो रहा है ? अतः मेरे पास आकर, समुद्र के प्रवाह की तरह मुझरूप घटसमूह को, पक्षे—अगस्त्य को नेक परिपूर्ण तो कर दे, अर्थात् एक घट से पैदा होनेवाले अगस्त्यमुनि के पेट को समुद्र का प्रवाह जैसे पूर्णरूपेण नहीं भर सका, वैसे ही तुम जैसे दैत्यरूप समुद्र प्रवाह के द्वारा मेरा भरना कठिन है। क्योंकि मैं घटसमूहरूप हूँ। अतः मेरे पास आते ही तेरा मरना निश्चित है ॥१६॥

और उपमान की अपेक्षा उपमेय की अधिकता दिखाते हुए, श्रीकृष्ण ने व्यतिरेकालङ्कारपूर्वक जो पूर्वोक्त वचन कहे हैं, वे तो अपने को बैल माननेवाले उस असुर के मारने की इच्छा से, एवं "यह बैल है या असुर" लोगों के इस प्रकार के भ्रम को दूर करने के लिए ही कहे हैं, यह जाना जाता है ॥१७॥

किंच उस समय श्रीकृष्ण ने युद्ध के लिए ललकार के जो ताल ठोकी, उसके शब्द के द्वारा दैत्यों के कान फूट गये। वह अरिष्टासुर जब कोप करने लगा, तब श्रीकृष्ण ने भी बालक की तरह भारी कोप की वर्षा कर दी, पुनः अतिशय हँसी नहीं की, सो बात नहीं, अपितु पुनः पुनः हँसते भी रहे ॥१८॥

कृष्णः सख्युः स्कन्धदेशे स्वबाहुं, निक्षिप्यासावुद्धसन्नेव तस्थौ ।
येन क्रोधं वर्धयामास तस्य, प्रेयोवर्गाणां च सन्देहसर्गम् ॥१९॥

वृषस्त्वसौ रज इव पुच्छमार्जनी,-परिभ्रमैर्घनगणलक्षमुत्क्षिपन् ।
क्षितिं क्षतामथ खुरवज्रविज्वलत्,-खनित्रकैर्विदधदगाद्धरिं प्रति ॥२०॥

स वज्रति स्म न परमाशु विद्रवं, प्रतिद्विषत्प्रतिरुततीव्रतां प्रति ।
न केवलं हरिरिह हासमाययौ, सखापि यः परिकृततद्भुजांसकः ॥२१॥

"तादृशतया स्पष्टमविप्रकृष्टे च तस्मिन् श्रीमान् कृष्णस्तु शृङ्गद्वयमेवाभिजग्राह ॥२२॥ यथा—

शृङ्गे ये पूर्वतां नीते जयाय वृषरक्षसा ।
स्वसन्दानाय ते सृष्टे कृष्ण-दोष्णोर्वशं गते ॥२३॥

बाहुपाशसिततीव्रशृङ्गकः, स स्फुटं प्रतिमुखं सरन्नपि ।
प्रत्यगष्ट दश च क्रमान् बलाद्,-दित्यपत्यरिपुणापयापितः ॥२४॥

अयमुद्धतस्तदिह नास्ति भारता, न फलं विनोदनकलाविनोदतः ।
इति माधवः स्फुटमरिष्टमुत्क्षिप,-न्नतिरोढया बत विवृत्तिमाटिटत् ॥२५॥

ये श्रीकृष्ण तो अपने किसी सखा के कन्धेपर, अपनी भुजा धरके ऊँचे स्वर से हँसते हुए ही खड़े रहे। और उस ऊँचे हास्य के द्वारा श्रीकृष्ण ने असुर के क्रोध को बढ़ा दिया, एवं अपने मित्रवर्गों की सन्देहसृष्टि छेदन कर दी ॥१९॥

किन्तु यह वृषभासुर तो अपनी पुच्छरूप मार्जनी (झाडू) के घुमाने के द्वारा धूली की तरह लाखों मेघों को इधर उधर फेंकता हुआ, और वज्र की तरह जलते हुए अपने खुररूप कुदालों के द्वारा भूमि को क्षत विक्षत करता हुआ, श्रीकृष्ण की ओर दौड़ पड़ा ॥२०॥

और वह अरिष्टासुर केवल शीघ्र दौड़ने के प्रति ही वज्र का सा व्यवहार नहीं कर रहा था, अपितु निज शत्रु श्रीकृष्ण की प्रतिध्वनि की तीव्रता के प्रति भी वज्र का सा आचरण कर रहा था। इस समय केवल श्रीकृष्ण ही हास्य को प्राप्त नहीं हुए थे, अपितु वह सखा भी खूब हँस रहा था कि, जिसके कन्धेपर श्रीकृष्ण की भुजा धरी थी ॥२१॥

उस प्रकार वज्र की तरह दौड़ने के कारण वह असुर जब स्पष्ट ही अत्यन्त निकट आ गया, तब श्रीमान् कृष्ण ने दृढतापूर्वक उसके दोनों सींग पकड़ लिए ॥२२॥

यथा—उस वृषासुर ने जो दोनों सींग अपनी विजय के लिए आगे की ओर कर रखे थे, वे दोनों श्रीकृष्ण की भुजाओं के वशीभूत होकर, अपने बन्धन के लिए ही हो गये ॥२३॥

श्रीकृष्ण की भुजारूप फन्दे में बँधे हुए तीव्र सींगोंवाला एवं स्पष्टरूप से आगे की ओर आता हुआ भी वह असुर, दिति के पुत्रों के बैरी श्रीकृष्ण ने बलपूर्वक अठारह पर पीछे की ओर हटा दिया ॥२४॥

और यह असुर उद्धत (उच्छृङ्खल) स्वभाव का है, अतः इसमें प्रेम के भार का भाव भी नहीं है, इसलिए इसके साथ क्रीडाकला की प्रेरणा से कुछ फल भी नहीं है, यह विचार कर श्रीकृष्ण ने अरिष्टासुर को स्पष्ट ही ऊपर को फेंकते फेंकते अत्यन्त अवज्ञापूर्वक उलटा करके डाल दिया, अर्थात उसके पैर ऊपर को एवं पीठ नीचे को करके चित पटक दिया ॥२५॥

व्यवर्तत हरिक्षिप्तः परं नोक्षासुरः क्षितौ ।
हासावेशवशे क्षिप्तः स्वर्गेऽपि स्वर्गिणां गणः ॥२६॥

पपात पुच्छं भुवि शृङ्गयोर्बला,-च्छृङ्गे तु पुच्छस्य निपेततुर्भुवि ।
पृष्ठांघ्रि चैवं वृषरक्षसस्तदा, युक्तं तदस्मिन् विपरीतकारिणि ॥२७॥

तज्जा लज्जाप्युत्थिता तस्य सोऽपि, प्रत्युत्तस्थावभ्ययुंक्तापि भूयः ।
कृष्णस्त्वेनं पातयन् वामशृङ्गे,-णोत्कृत्तेनामुष्य वक्त्रं चुकुट्ट ॥२८॥

"शृङ्गोत्पाटनं घटयंस्त्विदमाचष्ट,—
'अभद्रस्यापि भवतो भद्राकृतिविधारिणः । विषाणमुण्डनाद्भद्राकृतिरेव प्रशस्यते ॥'२९॥

"अथार्द्रवसनं यथा परिनिपीडयन् जीवनं, विकर्षति जनस्तथा तमकरोदरिष्टं हरिः ।
मलानि च यदाऽकिरच्छमलमूत्ररक्तादिका,-न्यसौ परमशुद्धतामपि जगाम कैवल्यतः ॥३०॥
लयं परममागतस्तदपि यत्पदं नैर्ऋतं, ययावयमिति स्मृतं मुनिभिरेतदुच्चै रुषा ।
प्रसूनमथ यन्मुदा ववृषुरादितेयास्तद-, प्यमित्रविलयाद्भवेदुचितमीदृशात् किं पुनः ? ॥३१॥

और श्रीकृष्ण के द्वारा फेंका हुआ वह वृषासुर ही केवल धरती पर लोटपोट नहीं हो रहा था, अपितु इसकी दुर्दशा को देखकर, हास्यरस के आवेश के वश में पड़ा हुआ देवसमूह भी, स्वर्ग में लोटपोट हो रहा था ॥२६॥

उस समय उस वृषासुर के सींगों के बल से उसकी पूंछ भूमिपर गिर पड़ी, और पूंछ के बल से दोनों सींग भूमिपर गिर पड़े। इसी प्रकार पीठ के बल से चरण एवं चरणों के बल से पीठ गिर पड़ी। विरुद्धकर्म करनेवाले इस असुर के विषय में ये सब कार्य उपयुक्त ही हैं ॥२७॥

उस अरिष्टासुर के मन में धरती में पछाड़ खाने से उत्पन्न हुई लज्जा भी खड़ी हो गई, एवं वह भी सँभलकर खड़ा हो गया, और दुबारा प्रहार करने को भी जुट गया। श्रीकृष्ण ने भी इसको पुनः गिराते ही, उखाड़े हुए बायें सींग के द्वारा उसका मुख कूट दिया ॥२८॥

उसके सींग को उखाड़ते हुए श्रीकृष्ण ने यह भी कहा कि—हे असुर ! तू अभद्र (अमङ्गलरूप) होकर भी, भद्र (बैल) की सी आकृति धारण करनेवाला है, अतः तेरे सींगों का मुण्डन कर देने से तेरी भद्र हुए पुरुष की सी, या भद्रा (गौ) की सी आकृति ही प्रशंसनीय है ॥२९॥

पश्चात् गीले वस्त्र को अच्छी प्रकार निचोड़ता हुआ पुरुष जैसे उसके जल को बाहर निकाल देता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण ने निष्पीडन करते हुए उस अरिष्टासुर को जीवन (प्राण)रहित बना दिया। और इस असुर ने भी मरते समय विष्ठा, मूत्र, रक्त आदि मल जब त्याग दिये, तब वह कैवल्य से अर्थात् मलादि की रहितता से, पक्षे—मोक्ष से परम विशुद्धता को भी प्राप्त हो गया ॥३०॥

वह असुर यद्यपि मोक्ष को प्राप्त हो गया था, तो भी "यह यमपुरी में गया" ऐसा जो श्रीशुकादि मुनियों ने उसके विषय में स्मरण किया, वह स्मरण तो केवल कृष्णद्वेषी होने के कारण, विशेष कोप से ही हुआ। पश्चात् देवताओं ने श्रीकृष्ण के ऊपर जो पुष्पों की वृष्टि की, वह भी शत्रु के नष्ट हो जाने से की। क्योंकि इस प्रकार के शत्रु के नष्ट होने से पुष्पवृष्टि के सिवाय और क्या उचित हो सकता है ? ॥३१॥

"अत्र च श्रीगोकुलप्राणाभिप्रायमभिप्रयद्भिस्तदेव चानुवदद्भिर्दिविषद्भिरुपहसितम्,—

'वत्सं लघुं दैत्यतयावगच्छन्, जघान बाल्येऽप्यहमुक्षदैत्य ! ।
प्रौढः कथं त्वामतिभीष्मवर्ष्म,-प्रष्ठं न जानानि न घातयानि ॥'इति ॥३२॥

"अत्र गोकुलजनस्य गोकुलजीवनस्य च भावमाविशन्नेव श्रीशुकदेवस्तदिदं वदति स्म (भा० १०।३६।१५)—

'एवं ककुद्मिनं हत्वा स्तूयमानः स्वजातिभिः ।
विवेश गोष्ठं सबलो गोपीनां नयनोत्सवः ॥'इति॥३३॥

"आयाते व्रजमच्युते रिपुजयस्वस्तिप्रशस्तीडिते
सर्वेऽप्युन्मदतां गता बहुविधं संवादमुन्निर्ममुः ।
किन्तु द्राक् पितरावमुष्य वदनं तद्वीक्ष्यमाणावमू
स्वैर्बाष्पाम्बुभिराप्लुतं ममृजतुर्विक्रुश्य मूकाविव ॥"३४॥

अथ समापनम्,—"अयं स स्तवभाक् सूनुस्तव गोपनराधिप ! ।
पुषितास्त्रिदशा येन मुषितास्त्रिदशारयः ॥"३५॥

अथ रात्रिकथायामपि स्निग्धकण्ठ एवाभिदधे,—"एवं होलिकाप्रान्तकान्तक्रीडान्तरानुसारेणाभीरवीरसरसिजाक्षीणामक्षीणानङ्गानां वृत्तकृष्णसङ्गानां बहुधा निर्वृत्तं रात्रिवृत्तं स्वयमेव सखीभिरनुसन्धीयताम् । "वासरावसरश्चायं मदुक्तिनिदिग्धदिग्दर्शनतः परामर्शमानीयताम् ॥३६॥

और उस समय श्रीगोकुलवासियों के प्राणधन श्रीकृष्ण के अभिप्राय को जाननेवाले, एवं उसी का अनुवाद करनेवाले देवताओं ने उस असुर का उपहास किया—हे वृषासुर ! मैं बालकपन में भी एक छोटे से बछड़े को असुररूप से जानते हुए मार चुका हूँ । अतः अब किशोर अवस्थावाला मैं अतिभयंकर देहवालों में अग्रगामी तुझको कैसे नहीं जान सकूँगा, एवं कैसे नहीं मार सकूँगा ? ॥३२॥

इस विषय में गोकुलवासीजनों के एवं गोकुलजीवन श्रीकृष्ण के भाव में आविष्ट होते हुए, श्रीशुकदेवजी ने भी यह कहा है कि—इस प्रकार वृषासुर को मारकर, एवं अपनी जातिवाले गोपों के द्वारा प्रशंसित होकर, गोपियों के नेत्रों के उत्सवस्वरूप श्रीकृष्ण, बलदेवजी के सहित गोष्ठ में प्रविष्ट हो गये ॥३३॥

पश्चात् शत्रुपर विजय पाने से प्राप्त हुए मङ्गल के कारण, प्रशंसापूर्वक स्तुत हुए श्रीकृष्ण जब व्रज में आ गये, तब सभी व्रजवासी उन्मत्तता को प्राप्त होकर, अनेक प्रकार के संवाद की रचना करने लगे । किन्तु श्रीकृष्ण के माता पिता तो अपने नेत्रों के जल से व्याप्त श्रीकृष्ण के मुख को देखते हुए शीघ्र ही पोंछने लग गये । और ऊँचे स्वर से रोकर पश्चात् गूँगे से खड़े रहे ॥३४॥

प्रसङ्ग की समाप्ति का द्योतक वचन, यथा—हे गोपराज ! आपका यह प्यारा पुत्र ही स्तुति का पात्र है, क्योंकि जिसने सब देवता तो पुष्ट कर दिये, एवं देवताओं के बैरी चुरा लिए, अर्थात् नष्ट कर दिये ॥३५॥

अनन्तर रात की कथा को भी स्निग्धकण्ठ ही कहने लगा—इस प्रकार होली के प्रान्त में मनोहर दूसरी क्रीडा के अनुसार श्रीकृष्ण का सङ्ग प्राप्त करनेवाली, अक्षीणकामनावाली कमलनयनी गोपियों के

"यथा चाह श्रीपराशरः, (वि० पू० ५।५७)—
'स तथा सह गोपीभी रराम मधुसूदनः। यथाब्दकोटिप्रतिमः क्षणस्तेन विनाभवत् ॥'३७॥

यथा च श्रीशुकः, (भा० १०।३५।१)—
'गोप्यः कृष्णे वनं याते तमनुद्रुतचेतसः।
कृष्ण-लीलाः प्रगायन्त्यो निन्युर्दुःखेन वासरान् ॥'इति॥३८॥

"तथाहि—यदा खल्वहरहरह्नः क्षयमासाद्य वाद्यगीतनृत्यं विवृत्य सहचरसङ्गिनीभिः शृङ्गिणीभिः सह स हरिर्व्रजजनस्नेहधनः स्ववेश्म प्रविशति, तदा विगतपरिमाणा विमानानुचारिणः सर्व एव सममुपर्युपरिचारिणः सह गणेन कणेहत्य स्पष्टं द्रष्टुमिच्छन्तस्तदभावलब्धकदनाः सदनान्तपर्यन्तमायान्ति। कृतवेश्मप्रवेशे तु तस्मिन् विस्मयस्थगिततया सलालसतया च तत्र तत्र चित्रायमाणा रात्रिं गमयन्ति स्म ॥३९॥

"शरणान्तरात् पुनर्यावन्निःसरति स एष शरणागतायागतानुसरणः। तदेवं यदा निःसरति, निःसृत्य च गोपगोगणसञ्चरणाय वेणुं रणयति, तदातनं चरितं गोचरतामतिचरदपि निजभावप्रभावसम्पदा चक्षुषीव रचितं विधाय श्रीमदाभीरभीरुभिरभिगीतम् ॥४०॥ यथा—

अनेक प्रकार से निष्पन्न हुए रात्रि के चरित्र तो सखियाँ स्वयं अनुसन्धान कर लें। और इस दिन में होनेवाले प्रस्ताव को मेरी उक्तियों से भरे हुए दिग्दर्शन से परामर्श कर लीजिये ॥३६॥

श्रीपराशरजी ने भी कहा है, यथा—मधुसूदन श्रीकृष्ण गोपियों के साथ उस प्रकार से क्रीडा करते थे, जिस प्रकार श्रीकृष्ण के बिना गोपियों को एकक्षण भी करोड़ों वर्षों के समान हो जाता था ॥३७॥

श्रीशुकदेवजी की उक्ति, यथा—हे राजन्! परीक्षित्! गोचारणार्थ श्रीकृष्ण के वन में चले जानेपर, गोपियों का चित्त भी उन्हीं के साथ चला जाता था। अतः वे गोपियाँ मिलकर कृष्णलीलाओं को गाती हुईं दुःख से दिन बिताती थीं ॥३८॥

और देखो! जब प्रतिदिन दिन की समाप्ति को प्राप्तकर वाद्य, गीत, नृत्य आदि का विस्तार करके, सहचरगणों की सङ्गिनी गैयाओं के साथ व्रजवासियों के स्नेहमात्र धनवाले श्रीकृष्ण अपने भवन में प्रवेश करते थे, तब अपरिमित एवं विमानों से चलनेवाले सभी देवगण एकसाथ ऊपर ऊपर आकाश से चलते चलते अपने गणों के सहित तृप्तिपर्यन्त स्पष्ट श्रीकृष्ण को देखना चाहते हुए, दर्शन के अभाव से क्लेश पाकर श्रीकृष्ण के भवन की सीमातक आ जाते थे। और श्रीकृष्ण के घर में प्रविष्ट हो जानेपर तो, विस्मय से स्थगित होकर, लालसापूर्वक तत् तत् स्थलोंपर चित्र लिखित से खड़े होकर रात्रि को बिताते थे ॥३९॥

शरणागत के लिए आगमन का अनुसरण करनेवाले वे श्रीकृष्ण जब तक पुनः अपने भवन के भीतर से निकलते थे, तबतक दर्शनार्थी देव चित्र लिखे से देखते रहते थे। इस प्रकार जब भवन से निकलते थे, और निकल कर गोपों के सहित गोगण को चराने के लिए वेणु बजाते थे, उस समय का चरित इन्द्रियों के गोचर न होनेपर भी, अपने भाव के प्रभावरूपी सम्पत्ति के द्वारा, प्रत्यक्ष की तरह नेत्रगोचर करके श्रीमती गोपियों ने गाया है—॥४०॥

'अवधारय सखि ! तव सखि-वृत्तम् ।
विरहिजनानां जनयति हृदयं, विदयतया बत कृत्तम् ॥४१॥
ध्रुवमिदं परपरत्रापि ॥
वामभुजाकृतवामकपोलकमुल्लचिल्लीभासम् ।
सुकुमारांगुलिविलसितमुज्ज्वलवेणुमुखं मृदुहासम् ॥४२॥
रागकलाकुलिताखिलभूचरगानकलैरनुविद्धम् ।
व्योमगयानजनीजनमोहनमनुगमिताखिलसिद्धम् ॥'४३॥

"ततश्च मुहुरपि तावन्मात्रे तासां गानपात्रे सति वनव्रजयोर्मध्यमध्यास्य हर्षं तर्षं च धास्यन् वंशं शंसयति स्म ॥४४॥

"ततश्च ताभिर्गीतं यथा—
"चित्रं लक्ष्मीरेखासौ हृदि चपला न भवति चपला ।
मणिमम्बरमणिमनु तारावलिरपि सा राजति तरला ॥४५॥
यस्य स चायं वेणुकलोऽमृतवर्षी कलयति गव्याम् ।
सतृणकदशनामुन्नतकर्णामत्रामर्थिषु भव्याम् ॥'४६॥

यथा—हे सखि ! तुम्हारे सखा श्रीकृष्ण के चरित्र को श्रवण कर। हाय ! हम जैसे विरहिजनों के हृदय को तो निर्दयतापूर्वक छिन्नभिन्न कर देता है ॥४१॥

उत्तरोत्तर के पद गायन में भी इसी टेक को जोड़ते जाना। तुम्हारा सखा बाईं भुजापर बाँये कपोल को धरकर, चंचल भ्रू युगल से प्रभा को उत्पन्न कर रहा है। वेणु के उज्ज्वल मुख को अपनी सुकोमल अंगुलियों से सुशोभित कर रहा है, एवं मृदु हास्य भी कर रहा है ॥४२॥

और वह अपनी राग कला के द्वारा भूमिपर चलनेवाले सभी प्राणियों को व्याकुल कर रहा है, एवं गाने के मधुर शब्दों से सभी को अपने में आसक्त कर रहा है। तथा देवाङ्गनासमूह को मोहित कर रहा है, एवं सभी सिद्धजनों को अपने अनुगत कर रहा है ॥४३॥

उसके बाद बारंबार उन गोपियों के उतनी मात्रा में गान के पात्र हो जानेपर, श्रीकृष्ण वन एवं व्रज के बीच में उपस्थित होकर, गोपियों के हर्ष और अभिलाषा को पुष्ट करते हुए वंशी बजाने लगे ॥४४॥

उसके बाद गोपियों ने गान किया, यथा—अरी सखि ! तुम्हारे सखा के हृदयपर विद्युतरूपा लक्ष्मी की रेखा कभी भी चंचल नहीं होती, अपितु सदैव स्थिर बनी रहती है, यह आश्चर्य है। और सूर्यरूप कौस्तुभमणि को लक्ष्य करके वह चंचल तारावली भी, अर्थात् मुक्ताहारविशेष भी विराजमान है, यह भी बड़ा आश्चर्य है, क्योंकि सूर्य के सामने तारापंक्ति का विलास कभी नहीं होता ॥४५॥

और जिसका अमृत की वर्षा करनेवाला वह प्रसिद्ध वेणु का सुमधुर शब्द, गोसमूह को तृण के सहित दाँतोंवाला, एवं ऊंचे किये हुए कर्णरूप पानपात्रोंवाला, तथा धर्मपरायण जनों के प्रति मङ्गलरूप बना रहा है ॥४६॥

"ततश्च अतुच्छपिच्छगुच्छपुष्पगुच्छधातुच्छविभिर्मल्लपरिच्छदं गच्छति स्म श्रीगोपिकानां प्रच्छन्नरमणः ॥४७॥

"तं गत्वा च सत्वरप्रथमपयःपायनाय गङ्गायमुनादिनाम्ना गाः सुविकस्वरसरसिजं सरः प्रति क्रमाद्वेणुगानतः समाकारयति तस्मिन् व्रजरमानाथे बुद्धनिजाकारण इव रुद्धप्रवाह-प्रसरतयास्थिरतामुत्कलिकामप्यनुसरति विदूरचरसरिद्विसरे च पुनरासां गीतं यथा—॥४८॥

'चन्द्रकधातुदलस्तबकादिककृतमल्लोत्तमवेषम् ।
आकारयति स गाः सरिदाली लभते तत्र विशेषम् ॥४६॥

कम्पितभङ्गभुजा किल तत्पदरज आशुग-ततिनीतम् ।
लघु सुकृतास्मादृगिव स्पृहयति विदती स्वमनभिनीतम् ॥'५०॥

"अथ तदा तदाहूतिकृतामानन्दविभूतिमारभ्य तच्चरितमुपलभ्य कदाचिद्व्रजधरित्री-शित्रीसदसि गताभिः काभिश्चन ताभिरुत्कण्ठया सुष्ठु प्रतुष्टूषमाणाभिरपि निजभावं पिधाय भावान्तरसाधारण्यं विधाय तदिदं तद्वर्णनं तन्निर्वर्णनमिवासीत् ॥५१॥

उसके बाद श्रीमती गोपियों के प्रच्छन्न (गुप्त) विलासी श्रीकृष्ण उत्तम मयूरपुच्छ के गुच्छा, पुष्पों के गुच्छा, एवं गेरु आदि धातुओं की शोभा के द्वारा मल्ल के से वेष को प्राप्त हो गये ॥४७॥

और वन एवं व्रज के बीच के स्थान में जाकर, श्रीकृष्ण शीघ्र ही पहले जल पिलाने के लिए खिले हुए कमलों से युक्त सरोवरों के निकट, वेणुगान के द्वारा क्रमशः गङ्गा, यमुना आदि नाम से गैयाओं को जब बुला रहे थे, एवं व्रज की लक्ष्मीरूपा गोपियों के स्वामी श्रीकृष्ण के द्वारा किये गये उस गैयाओं के बुलाने को मानो अपने ही बुलाने को समझनेवाला, अत्यन्त दूरवर्ती गंगा, यमुना आदि नदियों का समूह, प्रवाह का बहाव रुक जाने के कारण जब स्थिरता एवं उत्कण्ठा का भी अनुसरण कर रहा था, तब पुनः गोपियों का गीत, यथा—॥४८॥

हे सखि ! देख, श्रीकृष्ण जब मयूरपुच्छ, गेरु आदि धातु, नवीन पत्र, पुष्पों के गुच्छे आदि पदार्थों के द्वारा रचे गये उत्तम मल्लवेषपूर्वक गैयाओं को बुलाते हैं, तब नदीश्रेणी भी विशेषता को प्राप्तकर लेती है ॥४६॥

यथा—तरङ्गरूप भुजाओं को कम्पित करनेवाली, थोड़े पुण्यवाली, अतएव अपने को अयोग्य समझने-वाली, वह नदीश्रेणी वायुसमूह के द्वारा लाई गई श्रीकृष्ण की चरणरज को हमारी तरह चाहती रहती है ॥५०॥

अनन्तर उस समय श्रीकृष्ण के आह्वान से जनित आनन्द के वैभव से लेकर उनके चरित को उपलब्ध करके, कदाचित् व्रजभूमि की नियन्त्री श्रीव्रजरानी की सभा में जानेवाली कुछ गोपियों के द्वारा उत्कण्ठा के कारण अच्छी प्रकार श्रीकृष्ण की स्तुति करने की इच्छा करके भी अपने भाव को छिपाकर, दूसरे भाव की साधारणता को प्रगट कर, आगे कहा जानेवाला श्रीकृष्ण का जो वर्णन हुआ, वह तो साक्षात् दर्शन जैसा ही हुआ ॥५१॥

"तत्र गानान्तरं यथा—

'आदिपुरुष इव वैभवशाली ।
अनुचरवर्णितवीर्यसमुन्नतिरयमुदयति वनमाली ॥ध्रु॥५२॥
स गवाकारणमुरलीकलमनु तनुते यत्र वनं च ।
तद्रूपान्तर्यामिस्फुरणजभावान् कलयति पञ्च ॥५३॥
पुष्पहसितमधुबाष्पनवांकुरपुलकततीरनुयातम् ।
एजन्नमदपि शाखाततिभिर्यत् किल कलयति शातम् ॥'५४॥

"तदेवमनिङ्गानामपीङ्गानामिव शश्वदिङ्गव्यङ्गं विहितवान् ॥५५॥

"अथ समासन्ने विनोदेनाह्लायवन्मध्याह्ने क्वचिन्महासरसि सरसिजसौरभसरसेन घनरसेन स्नानलीलामभिनिविश्य केवलतिलकवनमालावलितवेशभङ्गिसङ्गितापूर्वकमपूर्वे तस्मिन्नेकान्ते कुसुमितवनान्ते कान्ते महाशैलप्रान्ते पल्लवलसदुरुतरतरुतलविलसितशिलाया-मुपविश्य विराजन्नुस्रावारचारं प्रति भूरिदूरीभावमितेषु मित्रेषु निजसौरभरभससमुदितमुदित मधुरमधुकरनिकरगानकृतावधानस्तद्भूङ्कारकारणस्वरसारमनु कुतुककृतानुसन्धानस्तदनु-सारिवेणुचारिरणितेन सुरचितसारसादिरसाधानः सोऽयं रमते स्म ॥५६॥

वहाँपर दूसरा गायन, यथा—हे सति यशोदे ! देखो, अनुचरों के द्वारा जिनके पराक्रम की समुन्नति वर्णित है, अतः आदिपुरुष नारायण की तरह अचल वैभवशाली वे वनमाली उदय को प्राप्त हो रहे हैं ॥५२

और वे वनमाली गोगण को बुलानेवाले मुरली के सुमधुर शब्द का निरन्तर विस्तार करते रहते हैं। जिसके विस्तार में श्रीवृन्दावन भी श्रीकृष्णरूप अन्तर्यामी की स्फूर्ति से उत्पन्न होनेवाले पाँच सात्त्विक भावों को धारण कर रहा है ॥५३॥

वे पाँचों भाव, यथा—वह वन पुष्पविकासरूप हास्य, मधुरूप अश्रु, नवीन अंकुररूप पुलकावली अनुसरण करता हुआ, काँपती हुई एवं नमती हुई शाखाश्रेणी के द्वारा, अपने आन्तरिक सुख को प्रकाशित कर रहा है ॥५४॥

अतएव इसी प्रकार वृक्षादि स्थावर पदार्थों की भी जङ्गम पदार्थों की सी चेष्टा प्रकाशित कर दी ॥५५

अनन्तर विनोद के सहित शीघ्रता की तरह मध्याह्नकाल उपस्थित हो जानेपर, श्रीकृष्ण किसी विशाल सरोवर में कमलों की सुगन्ध के कारण सरस जल के द्वारा स्नानलीला का अभिनिवेश करके, केवल तिलक वनमाला से युक्त वेष की रचना के संयोगपूर्वक, सङ्ग के मित्रों सहित उस अपूर्व एकान्त में, कुसुमित वन के निकट मनोहर विशाल पर्वत के प्रान्त में, पल्लवों से सुशोभित एक विशाल वृक्ष के नीचे बिछी हुई मनोहर शिलापर बैठकर विराजमान होते हुए, एवं गोसमूह को चराने के लिए, मित्रों के बहुत दूर चले जानेपर, निज अङ्ग की सुगन्ध के अतिशय आकर्षणमय वेग से सम्मिलित एवं हर्षित हुए मधुर मधुकर समूह के गाने में मन लगाकर, तथा उन्हीं मधुकरों की भुङ्कारूप ध्वनि के कारणस्वरूप षड्ज आदि स्वर के सार को (माधुर्य को) लक्ष्य कर, कौतुकवश उसी का अनुसन्धान कर, और मधुकरों के भुङ्कार के अनुसारी वेणुध्वनि के द्वारा सारस आदि पक्षियों के लिए अच्छी प्रकार रस को अर्पण कर क्रीडा करने लगे ॥५६॥

"तच्च यथा,—रम्यतिलकनवतुलसीदलभरवनमालानिविकासी ।
निजसौरभवशमधुपगीतमनुगायति वेणुविलासी ॥५७॥
अथ सारसयुतहंसायुततति रलमनुगम्य परीता ।
परितो न्यविशत तामाविशती रुतिमिह या हरिगीता ॥५८॥

"ततश्च ततस्ततः समागते साग्रजे समग्रे सखिवर्गे तदानीन्तन-बर्हिप्रबर्ह-बर्हादिनाना-वन्यनेपथ्यप्रथ्यमानशोभलोभनीयरूपवरीयस्तया प्रशस्तस्रजीयस्तया च विस्तृतशातस्य तस्य गोचारणचरितं प्रचारणीयम् ॥५९॥

"तथाहि—क्वचिदपि क्षितिभृति वृक्षशून्यक्षितिगतपुण्यतृणं धेनुषु चरन्तीषु वह्नीयमान-माध्याह्निक-ललाटन्तपतपनतापापनोदाय वेणुं वादितवान् । यत्र बलाहकास्तत्प्रतिमल्लनिभ-मल्लाररागबलादाहृतास्तेषां शीललतावलनाय बभूवुः ॥६०॥

"यच्च वाद्यमुद्भवत्पुरुगुरुगरिमगिरिद्रोणीः प्रतिध्वनयत्तत्परम्परया च सर्वमपि तथा रणयत्त्रिलोकीलोकमपि तत्कौतुकालोकनायाकर्षति स्म ॥६१॥

"तथा च सति तत्तदनुभूय भूयश्च ताभिरिदं तस्यामेव सभायां वर्णितम्,—
'धृतवनमाल्यवतंसलसद्वनवेशततिर्बलसङ्गी ।
गिरितटमनु गोचारणकारणवेणुविनोदनरङ्गी ॥६२॥

वही क्रीडा, यथा—रमणीय तिलक एवं नवीन तुलसीदलों की अधिकता से युक्त वनमाला के द्वारा अत्यन्त शोभित होनेवाले, वेणु के द्वारा विलास करनेवाले श्रीकृष्ण निज अङ्ग की सुगन्ध के अधीन हुए भ्रमरगणों के समान गायन कर रहे हैं ॥५७॥

अनन्तर सारसों से युक्त अयुत (दशहजार) संख्यावाली हंसों की श्रेणी श्रीकृष्ण का अनुगमन करके, श्रीकृष्ण के द्वारा गाई गई वेणु की जो सुमधुर ध्वनि है, उसी में आविष्ट (तदाकार) होती हुई परस्पर घिरकर श्रीकृष्ण के चारों ओर बैठ गई ॥५८॥

उसके बाद श्रीबलरामजी के सहित चारों ओर से सम्पूर्ण मित्रवर्ग के आजाने पर, तत्कालीन मयूरों में श्रेष्ठ मयूर के पंख आदि अनेक प्रकार के वन के भूषणों के द्वारा विस्तारित शोभा से युक्त मनोहर रूप की अतिशय श्रेष्ठता के कारण, एवं प्रशंसनीय माला से विशिष्ट होने के कारण, सुख का विस्तार करनेवाले श्रीकृष्ण का गोचारण सम्बन्धी चरित प्रचार करने योग्य है ॥५९॥

देखो ! किसी पर्वतपर वृक्षों से शून्य भूमिपर विद्यमान पवित्र तृण को जब गोगण चरने लग गया, तब अग्नि के समान दोपहर के सूर्य की तपन के सन्ताप को दूर करने के लिए श्रीकृष्ण वेणु बजाने लगे। और जहाँपर वंशी बज रही थी, वहींपर श्रीकृष्ण की बराबरी के मल्ल के समान मल्लार राग के बल से आकर्षित हुए मेघ, पूर्वोक्त सन्तापों की शीतलता करने के लिए आकाश में उपस्थित हो गये ॥६०॥

और वेणु का जो वाद्य था वह उत्पन्न होता हुआ, बहुत से बड़े बड़े पर्वतों की विशाल गुफाओं को प्रतिध्वनित करता हुआ, एवं उसी प्रतिध्वनि की परम्परा से सम्पूर्ण संसार को उसी प्रकार प्रतिध्वनित करता हुआ, तीनों लोक के लोगों को भी उस कौतुक को देखने के लिए आकर्षित कर रहा था ॥६१॥

ऐसी स्थिति के बाद तत्तद् विषय का अनुभव करके उन सब गोपियों ने पुनः श्रीयशोदाजी की सभा में ही यह वर्णन किया कि—धारण की हुई वनमाला एवं मयूरमुकुट से शोभायमान, वन के वेष की

विश्वं भ्रमयति कर्षति वर्षति मुदमपि घनगणहारी ।
सान्द्रच्छायामनु शीतलतनुरनुसखि सुखसञ्चारी ॥६३॥

कुसुमं वर्षन्निजरुचिवितरणसौहृदमेनमुपास्ते ।
अम्बुधरः स्फुटमुपगन्ता न च किन्तु च्छत्रमिवास्ते ॥६४॥

"ततश्च तत्रातिघने घनच्छाये विहारं विच्छायति स्म । तदेतच्च व्रजराजजायासमाजमनु साधारणसम्प्रधारणतया ताभिर्वर्णितम्; यथा—॥६५॥

'स्वसुतं कलयत केलिकलाबुधमात्मोपक्रमवेणुम् ।
विधिशिवमोहनविविधस्वरमयरागनिर्वर्तितधेनुम् ॥'इति॥६६॥

"तदनन्तरञ्च प्रायशः काश्चिद्व्रजदेवीर्व्रजादह्नि चापह्नुत्य व्याजं व्यज्य वा तदागमनवर्त्मनि तदनुवर्तनाय वर्तमानास्तं पश्यन्तीः पुनरपश्यन्तीरिव दूरात् परिहरन्तीरित्थं काश्चिद्दूतिकाः परिहसन्ति,—

'मदान्धे ! राजते पिञ्छी न स पिञ्छी पुरस्तव ।
वेणुध्वानी जगत्प्राणः स जगत्प्राण एष न ॥'इति॥६७॥

श्रेणीवाले, बलदेवजी के संगवाले, पर्वत के तटोंपर गोचारण के कारणरूप वेणु के बजाने में अनुराग रखनेवाले, वेणुध्वनि के द्वारा मेघों को आकर्षित करनेवाले, वृक्षों की घनी छाया में बैठकर शीतल शरीर-वाले, एवं प्रत्येक सखा के प्रति सुख का संचार करनेवाले—श्रीकृष्ण अपनी सुमधुर वेणुध्वनि के द्वारा, सम्पूर्ण विश्व को चंचल बना रहे हैं, सभी को अपनी ओर आकर्षित कर रहे हैं, तथा हर्ष को भी बरसा रहे हैं ॥६२–६३॥

अपनी श्यामकान्ति के वितरण (दान) करने से मित्रता करनेवाला मेघ, नन्हीं नन्हीं बूंदों को बरसाता हुआ, श्रीकृष्ण की उपासना कर रहा है, किन्तु स्पष्टरूप से उनके निकट नहीं आता हुआ भी ऊपर छत्र सा छाया रहता है ॥६४॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण वहाँपर अत्यन्त घनी घन की छाया में सुख से विहार करते हैं। उसी विहार को श्रीनन्दरानी की सभा में साधारण जनों के समर्थनपूर्वक जताने के लिए गोपियों ने इस प्रकार वर्णित किया है— ॥६५॥

अरी ! मैया यशोदा ! तुम अपने लाला का दर्शन एवं श्रवण तो करो। देखो, वह क्रीडा सम्बन्धी कलाओं में पूर्ण पण्डित है, किसी के द्वारा बिना सीखे स्वयं ही वेणु बजाना आरम्भ कर रहा है, एवं ब्रह्मा, शिव आदि विशिष्ट देवताओं को भी मोहित करनेवाली विविध स्वरमयी राग रागिनी के द्वारा धेनुगण को लौटा रहा है ॥६६॥

तदनन्तर प्रायः श्रीराधिका एवं चन्द्रावली आदि कुछ व्रजदेवियाँ व्रज से बाहर निकल कर दिन में छिपकर, कोई बहाना बनाकर, श्रीकृष्ण के आने के मार्ग में उनका अनुसरण करने के लिए खड़ी होकर, श्रीकृष्ण को देखती हुई भी नहीं देखती हुई की तरह, दूर से ही मार्ग को छोड़ देती हैं। कुछ दूतियाँ उनका इस प्रकार परिहास करती हैं—हे मदान्धे ! तेरे सामने यह मयूर विराजमान है, किन्तु मयूरपिच्छधारी श्रीकृष्ण नहीं हैं। कारण—वेणु बजानेवाले श्रीकृष्ण तो जगत्भर के प्राण हैं, किन्तु यह मयूर तो जगत् का

"श्रीकृष्णञ्च छलेन विज्ञापयन्ति; यथा—

'ज्योत्स्नां तनोति ललितां दधते विचित्रां, शाखां दधाति निखिलं जयतीतिभंग्या ।
चन्द्रावलीश्च ललिताश्च विशाखिकाश्च, राधाश्च ताः सखिसदस्यपि सूचयन्ति ॥'६८॥

"तत्र काश्चिद्देव-पूजाव्याजेन दुष्प्रापपुष्पादिकमवचिन्वाना बहलकलहमूलतां प्रयान्ति ॥६९॥

"काश्चित्तु नव्यभव्यगव्यादिकं तदर्थमेवानयन्ति, तथापि नात्मना तस्मिन्नर्पयन्ति । तत एव कृत्रिमदानचत्वरदेशमपदेशमवरुध्य वर्त्म विनिरुध्य पृच्छन्तं तं प्रति क्रयविक्रयिकरीत्यान्यथा ख्यापयन्ति । दिव्यादपि दिव्यमेतद्विज्ञाय यज्ञपत्नीरनु कृतयत्नासु क्रयिकतामाश्रयमाणासु यज्ञभुक्पतिव्रतासु सत्याकृति-कृतिनीवाकपरीपाकमाकलय्य कृत्स्नं वस्नं च सङ्कलय्य विक्रेतव्यमिति ॥७०॥

"तत्र पुष्पावचये प्रणयिना सह वाकोवाक्यम्; यथा—

'का यूयं वनदेवताः कुरुथ किं पुष्पाणि सञ्चिन्महे
किं निर्मास्यथ देवतार्चनमतो यूयं कथं देवताः ? ।

प्राण नहीं है । अथवा यह तो सछिद्र बाँसों को बजानेवाला जगत्प्राण (वायु) है, किन्तु जगत् का प्राणप्यारा वह श्रीकृष्ण नहीं है ॥६७॥

और वे ही दूतियाँ छलपूर्वक श्रीकृष्ण को भी जना देती हैं कि—चन्द्रावली आदि सखियाँ इसी वन में छिपी पड़ी हैं । यथा—हे कृष्ण ! चन्द्रिका को फैला रही है, ललितभाव को धारण कर रही है, विचित्र शाखा को पकड़ रही है, सबपर विजय पा रही है । इस प्रकार के इशारे से वे दूतियाँ सखाओं की सभा में भी चन्द्रावली, ललिता, विशाखा एवं राधिका को सूचित कर रही हैं ॥६८॥

वहाँपर कुछ गोपियाँ देवपूजा के बहाने दुष्प्राप्य पुष्प आदि को चुनती हुई बहुत कलह का कारण बन रही हैं ॥६९॥

और कुछ गोपियाँ तो नवीन मनोहर नवनीत आदि पदार्थ श्रीकृष्ण के लिए ही ले आ रही हैं, तो भी स्वयं श्रीकृष्ण के प्रति अर्पण नहीं कर रही हैं । इसीलिए बनावटी दान लेने के चबूतरेपर, अर्थात् दानघाटीपर, बहाना बनाकर, उनके मार्ग को रोककर पूछते हुए श्रीकृष्ण के प्रति वे गोपियाँ क्रय विक्रय करनेवालों की तरह, अपने पदार्थों का मूल्य अधिक बता रही हैं । यथा—हमारा पदार्थ दिव्य से भी दिव्य है, अर्थात् श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ है, यह जानकर यज्ञपत्नियों को लक्ष्यकर जो यत्न कर रही हैं, वे सब देववधू (पक्षे—कृष्णवधू) वाणिज्य का अवलम्बन कर रही हैं । और कह रही हैं कि—हम तो सचाई के लिए अपने द्रव्य की साई या पेशगी के कार्य की मूल्यक्रिया, एवं मूल्य की न्यूनता अधिकता का परिणाम समझ कर, सारे मूल्य को जोड़कर, अपनी वस्तु बेचेंगी अन्यथा नहीं ॥७०॥

वहींपर पुष्प चुनते समय स्नेही श्रीकृष्ण के साथ प्रश्नोत्तरमय वार्तालाप, यथा—श्रीकृष्ण बोले—अरी ! तुम कौन हो ? गोपियाँ—पुष्प चयन कर रही हैं । श्रीकृष्ण—पुष्पों को चुनकर क्या करोगी ? गोपियाँ—देवपूजन करेंगी । श्रीकृष्ण—यदि तुम देवता होकर भी देवपूजन करोगी तो तुम किस प्रकार देवता हो ? गोपियाँ—यह देवपूजन तो हमारा क्रीडामात्र है, किसी फल के लिए नहीं है । श्रीकृष्ण—यदि

तच्च क्रीडनमेव नः स्फुटमभूदस्माभिरीदृग्विधै-
रैकात्म्यं व इति प्रसह्य विहरन् हारी हरिः पातु वः' ॥७१॥

"कदाचिच्च,—'का यूयं वनदेवताः कुरुथ किं पुष्पाणि गृह्णीमहे
राज्यं नस्त्रिदशैर्विहापितमिदं देव्यो वनस्यात्र काः ? ।
अस्मज्जातिभिरर्पितं यदि तदाप्यस्माकमुच्चैः स्थितिः
स्यादेवं सविवादमङ्गजरणः कृष्णस्य ताभिर्बभौ ॥'७२॥

"कदाचिच्च कस्याश्चिद्दूत्या सह कृष्णस्य वाकोवाक्यम्,—
'इयं का स्त्री स्त्रीत्वं भवति कथमीषत्पदमिदं
किमस्थाने सिद्धं तव वचनमस्थानकमिदम् ।
न काकोरुद्भूतं भवति तदहो काकुरिह का
तदेवं दूतीवाग् जयति हरिणाक्ष्या हरिमनु ॥'७३॥

ऐसी बात है तब तो इसी प्रकार के भाववाले हमारे साथ तुम्हारी एकता स्पष्ट ही सिद्ध हो गई। अर्थात् 'समानशीलव्यसनेषु सख्यं' के अनुसार हमारा तुम्हारा निरपेक्ष क्रीडारूप एकसा व्यवहार होने के कारण, हमारा तुम्हारा एकसा भाव स्पष्ट हो गया। इस प्रकार कहकर हठपूर्वक गोपियों के साथ विहार करने वाले, एवं पुष्पों के हार धारण करनेवाले मनोहर श्रीकृष्ण तुम्हारी रक्षा करें— ॥७१॥

और कदाचित् श्रीकृष्ण उन्हीं से पुनः —तुम कौन हो ? गोपियाँ—हम वनदेवता हैं। श्रीकृष्ण—तुम क्या कर रही हो ? गोपियाँ—पुष्पों को ग्रहण कर रही हैं। श्रीकृष्ण—इस वन का राज्य तो देवताओं ने हमारे लिए दे दिया है, अतः यहाँपर तुम कौनसी वनदेवियाँ हो, अर्थात् तुम्हारा यहाँ क्या अधिकार है ? गोपियाँ—इस वन का राज्य तो हमारी जातिवालों ने हमारे लिए अर्पण किया है। श्रीकृष्ण—यदि ऐसी बात है तब तो हमारी स्थिति सबसे ऊँची है, अर्थात् गोपजाति में हमारी ही प्रधानता है, अतः इस वनपर हमारा ही अधिकार समुचित है। इस प्रकार विवाद करते करते गोपियों के साथ श्रीकृष्ण का कामयुद्ध शोभा पाने लगा ॥७२॥

और किसी दिन किसी प्रेयसी की दूती के साथ श्रीकृष्ण की उक्ति प्रत्युक्ति, यथा— श्रीकृष्ण— 'इयं का' अर्थात् यह स्त्री कौन है ? उत्तर—'स्त्री' है। श्रीकृष्ण—'का स्त्री' इन दोनों शब्दों को मिलाकर छलपूर्वक—तुम्हारा स्त्रीत्व कैसे सिद्ध होगा ? क्योंकि व्याकरण में ईषद् (थोड़े) अर्थ में 'किम्' शब्द के स्थान में 'का' आदेश होता है। इसलिए 'का स्त्री' शब्द का अर्थ 'ईषत् स्त्री' अथवा 'अल्प स्त्री' इस प्रकार समझ कर श्रीकृष्ण पुनः 'किम्' शब्द के स्थान में यह 'ईषत्' पद सिद्ध हो गया। दूती—'पद' शब्द का स्थान अर्थ समझ कर—तुम्हारा यह वचन 'अस्थानक' है अर्थात् इस स्थानपर उपयुक्त नहीं है, अथवा इस वचन का इस स्थानपर अवकाश नहीं है। श्रीकृष्ण—तुम्हारा 'का' पद 'कु' पद से उत्पन्न नहीं है। दूती—'काकु' शब्द का भय अर्थ मान करके—अहो ! आश्चर्य ! श्यामसुन्दर ! यहाँपर भय कौनसा है ? अतएव इस प्रकार हरिणलोचना राधिका की दूती की वाणी श्रीकृष्ण को लक्ष्य करके विजय को पा रही है, अर्थात् उत्कर्ष को प्राप्तकर रही है ॥७३॥

"अथ गव्यविक्रय-व्याजतः क्रीडाविवादो यथा—

'का यूयं किल गव्यविक्रयिकिका लक्ष्मीमतीत्य स्थितिं
प्राप्तानां न तदस्ति सम्भवपदं युष्माकमासां क्वचित् ।
मूल्यं तामतिपत्य तस्य विदितं तस्मान्न तद्दूषणं
दानं तर्हि ममापि तद्वदमितं दत्ताथ घट्टेशितुः ॥'७४॥

"अथ सखीन् प्रति श्रीकृष्णस्यादेशः,—

'गृह्णीध्वं पूर्वमासां फलमतुलबलाद् घट्टचर्याविघट्टं
कर्त्रीणां तस्य चान्ते वितनुत परितो रोधनं बोधनं च ।
बुध्येरन् यद्यमूर्न स्फुटतरमटवीकारया धारयिष्या-
म्येताः किंवा हरिष्ये स्वयमथ पिहिताः सम्यगन्विष्य नीवीः ॥'७५॥

"तदेवमुदित्वा मुदित्वा च तत्तदाचरितवति तस्मिन् कथञ्चिद्गृहमागत्य गत्यन्तरेण सखीषु तत् प्रख्यापयन्तीभिरिदमपि गीतम्,—

'तं शृणु मद्विधमोहनकरणम् ।
ध्वजवज्रांकुशकुशलपदार्पणभूरुहपुनरंकुरणम् ॥ध्रुवम्॥

दानलीला— अनन्तर दूध, दही आदि गव्यवस्तु बेचने के बहाने से क्रीडामय विवाद, यथा— श्रीकृष्ण—अरी ! तुम कौन हो ? गोपियाँ—अजी ! हम तो दूध दही बेचनेवाली हैं। श्रीकृष्ण—ये तुम सब तो लक्ष्मी को अतिक्रमण करके सर्वोच्च स्थिति को प्राप्तकर चुकी हो, इसलिए तुम सबके सम्बन्ध में वह दूध दही बेचना आदि कार्य कहीं भी सम्भावना का स्थान नहीं है। गोपियाँ—हम सबने लक्ष्मी को अतिक्रमण करके ही उस दूध दही का मूल्य जान लिया है। अर्थात् हमारे दूध दही का मूल्य आज लक्ष्मी से भी अधिक है। अतः व्रज में उसका क्रय विक्रय आदि दूषण नहीं, अपितु हमारा भूषण है। श्रीकृष्ण— यदि तुम व्यवसायिनी हो तो मैं भी घट्टपाल (घटवारिया) हूँ, मेरे काम में भी उसी प्रकार दोष की सम्भावना नहीं है; इस कारण मेरे लिए अमित दान दीजिये ॥७४॥

अब सखाओं के प्रति श्रीकृष्ण का आदेश, यथा—हे सखाओ ! देखो, मैं इनका घटवारिया हूँ, अतः मेरे लिए कर अवश्य देना चाहिये। किन्तु आज ये सब यदि कर नहीं देना चाहें तो, तुम सब घाट की परिपाटी को तोड़नेवाली इन ग्वालिनियों के पहले तो अतुल बलपूर्वक फल को, अर्थात् अधिक लाभ को छीन लो। उसके बाद इन सबको चारों ओर से रोक लो, एवं 'श्रीकृष्ण यहाँ के घटवारिया हैं' इस बात को भली प्रकार समझा दो। यदि ये तुम्हारे समझानेपर भी सुस्पष्ट न समझ सकेंगी, तब तो मैं स्वयं वनरूप कारागार के द्वारा इन सबको धारण कर लूँगा। अथवा अच्छी तरह टटोल कर छिपाये हुए इनके नीवी को, अर्थात् मूलधन को या कटिवस्त्र के बन्धन को स्वयं हर लूँगा ॥७५॥

अतः इस प्रकार कहकर, हर्षित होकर श्रीकृष्ण के तत्तत् आचरण कर लेनेपर, किसी प्रकार कष्ट से घर आकर, अपनी अपनी सखियों में उस अनुभूत विषय को दूसरी प्रकार से कहती हुईं उन गोपियों ने यह गीत भी गाया था कि—हे सखि ! हमजैसे जनों को मोहित करने के लिए, असाधारण कारणस्वरूप श्रीकृष्ण का चरित्र सुन। देख ! ध्वजा, वज्र, अंकुश आदि चिह्नों से युक्त एवं शुभप्रद अपने पदार्पण के

गजगति विहरति गायति नृत्यति वादयते च स वंशम् ।
अस्मत्पद्धतिमावृणुतेऽपि च नाथति घट्टगमंशम् ॥'७६॥

"तदेवं नौकया रमणमप्यवगमनीयम् । "यदा हि क्वचिदमूश्चमूरुदृशस्तदीयसौन्दर्यसारावलोकनकुतुकिदृशः समूहव्यूहमाचर्य विहारचर्यया तमुपसद्य च परिहासतः परतश्चरणचर्यामाचरन्ति, तदा चतुराननविमोहनः स च खलु सहचरसहस्रविस्रम्भमहकरः सहचरतया सर्वतः पर्वतनिर्झरानेकीभावेनावर्ज्य स्फुटमर्ज्यमानसुखतया मध्ये तासां वामतायुजां मोहनाय कूलमुद्रुजां दुर्ध्यानकारणां दुर्निवारणां सरिद्वरां प्रवर्तयति । प्रवर्त्य च पुरुषद्वयद्वयसीयमिति व्यवसीयमानतया तस्यां नाव्यतया भाव्यायां बहुलपलाशदलमयीं महातरणिं सरणिमनु सखिभिरखिलमणिः प्रणीय कर्णधारायमाणस्ताभिरातरवितरविस्तारादिकातराभिः प्रणयमयनयतया प्रणीतकलहं बहुलविलासं निचुलितालङ्कारकलनाय कलयति ॥७७॥

"तदपि गीतं यथा—'सरितं नावं रचयति च द्रुतमस्माकं पथि तस्याम् ।
आरोहयते पारयितुं नः स्पृशति मिषादपि यस्याम् ॥'७८॥

द्वारा तृण आदि को पुनः अंकुरित कर रहे हैं, और वे गज की सी चाल से विहार कर रहे हैं, एवं गायन कर रहे हैं, नृत्य कर रहे हैं, तथा वंशी भी बजा रहे हैं। और हमारे मार्ग को रोक लेते हैं एवं जबरदस्ती घाट का कर माँगते हैं ॥७६॥

नौकालीला—इसी प्रकार नौकालीला भी जानने योग्य है, यथा—जिस समय कहींपर ये मृगनयनी गोपियाँ श्रीकृष्ण के सौन्दर्यसार के दर्शनार्थ कौतुकपूर्ण नेत्रोंवाली होकर, सखीसमूह से व्यूह की सी रचना करके, विहारचर्यापूर्वक श्रीकृष्ण के पास जाकर, पश्चात् परिहासपूर्वक क्रीडायुद्ध करने लग जाती हैं, उस समय ब्रह्मा को भी मोहित करनेवाले श्रीकृष्ण हजारों सखाओं के सहित केलिकलह करते हुए, एकसाथ मिलकर पर्वत के झरनों को एकभाव से, अर्थात् एकधारा बनाकर, एवं स्पष्ट प्राप्त होते हुए सुख के भावपूर्वक, कुटिलता से युक्त उन गोपियों को मोहित करने के लिए, किनारे को तोड़नेवाली चिन्तातीत कारणवाली कष्ट से भी अनिवार्य, ऐसी एक श्रेष्ठ नदी मार्ग में प्रवर्तित कर देते हैं। और प्रवर्तित करते ही 'यह नदी दो पुरुषों के, अर्थात् सात हाथ के परिमाण की गहरी है' इस प्रकार निश्चयपूर्वक नौका के द्वारा तरने योग्य विचारी गई उस नदी में, बहुत से पलाश (ढाक) के पत्रों से बनी हुई विशाल नौका को सखाओं के सहित पहुँचा कर, पश्चात् गोपियों के मार्ग को लक्ष्यकर, कर्णधार (मल्लाह) का सा व्यवहार करते हुए अखिलमणि श्रीकृष्ण, नौका की उतराई देने के विस्तार आदि में कातर होनेवाली उन गोपियों के साथ, प्रेममयी नीतिपूर्वक कलह एवं विविध विलास करते करते पहने हुए वस्त्र एवं आभूषणों को लेने के लिए उद्यत हो जाते हैं ॥७७॥

नौकालीलामय गीत, यथा—अरी ! सखियो ! उस श्याम की ढिठाई कहाँतक कहें ? देखो, हमारे मार्ग में शीघ्र ही तो नवीन नदी का निर्माण कर देते हैं, तथा नौका भी बना लेते हैं, और हम सबको पार करने के लिए उस नौकापर चढ़ा भी लेते हैं, जिसमें कि बीच बीच में किसी बहाने से हमारा स्पर्श भी कर लेते हैं ॥७८॥

"ताभिरेवात्र श्लोकितं यथा—

'आरोहाय विधाय संस्तवमिलत्पर्यङ्कस्तवं तद्वचः-
साहाय्यं विरचय्य नः सखि ! नदीमध्यं यदा जग्मिवान् ।
वृण्वन् दुर्वितरं तदातरपणं विष्कभ्य नौकां न कां
चक्रे वक्रकलाकलापकलनां चक्राङ्कपाणिः स तु ॥'७६॥

"तदेवं साक्षात्कृतमनोरथततिः समभीप्सितगृहगतिः सखिभिश्चरितजल्पः पुनः स्नानादिरचिताकल्पस्तत्रैव च कुत्रचन तटिनीतटे कदापि यमुनानिकटे पयःपायनाय सङ्कुटितां गोघटां घटयन् क्रमशश्च गणनया गणशः प्रकटयंस्तन्मननचरितार्थतया जगौ ॥८०॥

"तच्च ताभिरनुपठितं यथा,—

'मणिमालाकृतगोगणगणनापूरणमनु सानन्दम् ।
प्रणयितरांसगभुजमुद्गानं हृतहरिणीकममन्दम् ॥
कृष्णं कलयत मोहनमन्त्रगमेणीमेणीनयनाम् ।
न यदि तदा कथमुभयव्यक्ति वीक्षे तदपृथगयनाम् ॥'इति॥८१॥

उस नौकालीला की प्रशंसा गोपियों ने घर में भी की है, यथा—हे सखि ! देख, हम सबको नौका में चढ़ाने के लिए परिचय से मिलते हुए, एवं चारों ओर स्तुति से भरे हुए मीठे वचन बनाकर, एवं 'मैं तुमको नदी के पार उतार दूँगा' ऐसे वचन की सहायता की रचना करके, हमको नौका में चढ़ाकर जब नदी के बीच में आ गये, तब कष्ट से देने योग्य नौका की उतराई माँगते हुए, चक्र के चिह्न से युक्त करवाले श्रीकृष्ण ने नौका को रोककर, कौन कौन सी वक्र कलासमूह की रचना नहीं की ? अपितु सब प्रकार की कुटिलता की ॥७६॥

इस प्रकार वन में भी अपने मनोरथसमूह को प्रत्यक्ष करनेवाले, पुनः घर में जाने की अभिलाषा करनेवाले, मार्ग में मित्रों से वार्तालाप करनेवाले, अपने घर में जाकर पुनः स्नानादि द्वारा वेषरचना करनेवाले श्रीकृष्ण, वहींपर किसी नदी के तटपर, और कभी यमुना के निकट जलपान कराने के लिए, एकत्रित की हुई गोश्रेणी को संघटित करते हुए, क्रमशः गिनती करके, दलरूप से प्रगट करते हुए, उस अपूर्व गोगण की शोभा के मनन से चरितार्थ होकर गाना गाने लगे ॥८०॥

उस पूर्वोक्त गायन का अनुगान सभा में स्थित गोपियों ने भी किया, यथा—अरी सखियो ! मोहन-मन्त्र का गायन करनेवाले श्रीकृष्ण का दर्शन करो । देखो ! मणिमाला के द्वारा की गई अपने गोगण की गणना की पूर्ति को लक्ष्य करके आनन्द के सहित विराजमान हैं, अत्यन्त स्नेही सखा के कन्धेपर अपनी भुजा को धरे हुए हैं, उच्चस्वर से गायन कर रहे हैं, उसी गायन के द्वारा अधिक मात्रा में हरिणियों को आकर्षित कर रहे हैं । और श्रीकृष्ण के निकट आई हुई मृगी को एवं मृगलोचना इस रमणीमणि को भी देख लो । यदि कहो कि—हमें तो मृगलोचना नहीं दिखाई देती, तो मैं दो व्यक्तियों को कैसे देख रही हूँ ? क्योंकि उस रमणी की श्रीकृष्ण से पृथक् गति ही नहीं है ॥८१॥

"ततश्चेतस्ततः सखिभिरखिलैः प्रणीतानीतामन्दमकरन्द-सुन्दर-कुन्ददामभिर्मुकुन्दः कृतालंकृतिर्यथा विजहार, श्रेणीकृतगोसमाहृतिर्यथा चाससार, तथा वर्णितम्, किन्तु तद्विलम्बतः कातर्यपर्याकुलायाः श्रीव्रजेश्वर्याः सभागततया स्वभावगोपनया ॥८२॥

"तथा हि—'आगतमिव हरिमचिरम् ।
कलयत सुहृदां दयया यदसौ नगमपि दध्रे सुचिरम् ॥ध्रुवम्॥
कुन्दस्रगवितकौतुकवेशं गोगोपैर्विहरन्तम् ।
मृदुमृदुमरुदनुवीजितमनुलवमखिलमनांसि हरन्तम् ॥
सुरवन्दिभिरभिवन्दितमवहिततत्कृतनर्तनवाद्यम् ।
मुनिसमुदयनुतिगुणितं गुणितानिपुणं जगदभिवाद्यम् ॥
अथ गोधनगणमनु सममनुगैस्तद्वर्णितगरिमाणम् ।
श्रमकान्तिभिरपि सुखकारिणमितवेणुकलावरिमाणम् ॥
खुररेणुप्लुतमाल्यमनोहरमीषद्घूर्णितनयनम् ।
एतं पश्यत निजजनमानदमीप्सितगव्यानयनम् ॥
कुण्डललक्ष्मीभृतपाण्डुद्युतिगण्डं गजपतिखेलम् ।
क्षणदापतिवत् प्रमुदितमुदितं प्रागधि-सन्ध्यावेलम् ॥'इति॥८३॥

उसके बाद समस्त सखाओं के द्वारा इधर उधर से बनाकर लाई हुई, उत्कृष्ट मकरन्द से सुन्दर कुन्द की मालाओं के द्वारा अलंकृत होकर, श्रीकृष्ण ने जिस प्रकार विहार किया एवं श्रेणीबद्ध गोगण को एकत्रित करके वे जिस प्रकार घर में आये, गोपियों ने उस विषय का उसी प्रकार वर्णन तो किया, किन्तु श्रीकृष्ण के आगमन के विलम्ब के कारण, कातरता से व्याकुल हुई श्रीव्रजेश्वरी के सभा में जाने के हेतु, अपने भाव को छिपाकर ही किया ॥८२॥

उस विषय का वर्णन, यथा—अरी सखियो ! शीघ्र ही आते हुए से श्रीकृष्ण का दर्शन करो। क्योंकि इन्होंने अपने बन्धुओंपर दया करके बहुत समयतक गोवर्धन पर्वत को भी धारण किया था। और देखो ! कुन्द की मालाओं के द्वारा श्रीकृष्ण का लीलावेश सुरक्षित है, वे गो एवं गोपों के साथ विहार करते आ रहे हैं। मन्द मन्द वायु के द्वारा उनका अनुवीजन हो रहा है, एवं वे प्रतिक्षण सबके मन का अपहरण कर रहे हैं। देवरूप वन्दियों के द्वारा उनकी वन्दना की गई है, देवताओं के द्वारा किये गये नृत्यवाद्य में वे सावधान हैं। मुनिसमुदाय के द्वारा उनकी स्तुति का अभ्यास किया गया है, गुणियों के भाव में वे स्वयं निपुण हैं, तथा जगद् वन्दनीय हैं। पश्चात् गोधनसमुदाय के निकट सभी सखाओं ने एक-साथ उनका गौरव वर्णित किया है, वनभ्रमण से उत्पन्न हुए परिश्रम की शोभाओं के द्वारा भी सबके सुखकारी हैं, एवं वेणुवादन की कला की श्रेष्ठता को प्राप्तकर चुके हैं। और गोगण के खुरों से उठी हुई व्रजरज से व्याप्त माला के द्वारा भी कितने मनोहर हैं, एवं दोनों नेत्रों को थोड़े थोड़े घुमा रहे हैं, निजजनों को मान देनेवाले हैं, तथा सायंकाल में व्रज में गोगण को लौटाकर लाना ही जिनका अभिलषित है, एवं-गुणविशिष्ट श्रीकृष्ण का दर्शन करो। और जिनके दोनों कपोलोंपर कनक कुण्डलों की शोभा से भरी हुई पाण्डु छवि छा रही है, गजेन्द्र के समान क्रीडा करते हुए मन्द मन्द चल रहे हैं, तथा सन्ध्या के समय

अथ वैष्णवं वाराहमपि पुराणं प्रमाणमनुसृत्य गत्यन्तरं प्रत्याययिष्यामः ॥८४॥

"एवं समयनसमयानवलोकतः समयाकरणाय तद्वर्णनावगाहरोचनासु कर्णजाहविलोचनासु चेतसि रचिततदीयशोचनः श्रीकमललोचनः समागम्य यथायथमवितथरम्य-सुखधारया सर्वं सुखाकुर्वन्नपि तासां विरहदहनज्वालाविशेषावशेष-सन्तप्तभंगुरापाङ्गपत्रिसपत्राकृतस्तदप-सारणाय मुरलीकलीकलया गोधनालय-गोवर्धनाचलयोरन्तराले ता एवानन्यगतितया सङ्कलय्य निर्वृतिं परिकलय्य च वसन्तसन्ततरासाय युक्तिमुक्ति-विषयां संवलय्य तासामाशासानाना-माशां ददमानः स्वव्रजतः प्रगर्जदरिष्टकृतारिष्टकष्टतः प्रकटमाक्रुष्टं श्रुतवान् । श्रुतमात्रे च तत्र निजनिजवर्त्मना ताभिः सह सहसा व्रजमावव्राज । तदनन्तरन्तु वृत्तं पूर्वमेव वृत्तमस्ति ॥८५

तत्रेमां गाथां प्रथयन्ति,—

'गतस्य रासविक्रीडामागतस्य वृषासुरम् ।
देवैर्न दृष्टः कृष्णस्य सम्भ्रमः किमुत श्रमः ?' ॥८६॥

पूर्वदिशा में उदित होनेवाले पूर्ण चन्द्रमा की तरह विशेष हर्षित हैं। ऐसे नन्दलाल की नेक झाँकी तो कर लो ॥८३॥

अब विष्णुपुराण एवं वराहपुराण को भी प्रमाणरूप से अनुसरण करके वासन्तिकरास के लिए दूसरे प्रकार का बोध करायेंगे ॥८४॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण के मिलन के समय को न देखने के कारण, समय बिताने के लिए पूर्वोक्त वर्णनरूप सरोवर में गोता लगाने की रुचिवालीं, कर्णपर्यन्त विशालनेत्रोंवालीं गोपियाँ जब श्रीनन्दरानी की सभा में विद्यमान थीं, तब कमलनयन श्रीकृष्ण अपने मन में उन्हीं का शोक करके शीघ्र ही वहाँपर आकर, सत्य एवं रमणीय सुखमयी धारा के द्वारा सभीजनों को यथायोग्य सुखी करते हुए भी, उन गोपियों के विरहरूप अग्नि की ज्वालाविशेष के बचे हुए अंश से सन्तप्त कुटिल कटाक्षरूप बाणों के द्वारा अत्यन्त विद्ध होकर, उस वेध की व्यथा को दूर करने के लिए, मुरली की सुमधुर ध्वनि की कला के द्वारा, गोष्ठ एवं गोवर्धन पर्वत के बीच में अनन्यगति होने के कारण, उन गोपियों को ही अपने निकट एकत्रित कर, सुख को प्राप्तकर, वसन्त में निरन्तर रासलीला के लिए बनाई हुई युक्ति को "वसन्तकाल में निरन्तर रास करना चाहिये" इस प्रकार की उक्ति के विषय से जुटाकर, पश्चात् आशा करनेवाली गोपियों की आशा का दान करते हुए, अपने व्रज की ओर से विशेष गर्जना करनेवाले, अरिष्टासुर के द्वारा किये गये अनिष्ट-रूप कष्ट से प्रगट हुए रोने के एवं बुलाने के शब्द को सुनने लग गये। उस शब्द के सुनते ही अपने अपने मार्ग से गोपियों के सहित झटपट व्रज में चले आये। आने के बाद का अरिष्टासुर वधरूप वृत्तान्त तो पहले ही बीत चुका है ॥८५॥

अरिष्ट वध के प्रसङ्ग में विज्ञजन इस गाथा को प्रकाशित करते हैं, यथा—वसन्तकालीन रासलीला में गये हुए एवं उसी बीच में वृषासुर के निकट आये हुए, श्रीकृष्ण के वेग की शीघ्रता को ही जब देवताओं ने नहीं देखा, तब उनका परिश्रम नहीं देखा। इस विषय में तो कहना ही क्या है ? ॥८६॥

"यदा खलु रिष्टः सोऽयमरिष्टस्तदापि तदरिणा हरिणा निजाविष्टता नापकृष्टा। वीर्यस्य बहुविकीर्यमाणतामवाप्तस्य पर्याप्तविषयतां सोऽयमनासीदन् दितिसूनुरासीदिति ॥८७॥

"अनपकृष्टायाञ्च तस्यां स रङ्गभूभागस्तत्सङ्गमतः सागस्क इव पार्ष्णिप्रहाराल्लम्भित-विदरतया विभागमागमितः। य एव विभागस्तीर्थतां समर्थयन्निखिलपुरुषार्थं प्रत्यन्वर्थता-माससाद ॥८८॥

"यत्र च श्रीहरिरयं स्वयमखिलैः सखिभिर्मज्जन् सज्जनानामाचारं प्रचारयामास। पातालान्महातीर्थमिदं समुत्थितमितीत्थं व्यज्य निमज्ज्य समुन्मज्ज्य बहु विसर्ज्य च सर्वव्रज-जनतया जनितशर्मा गीतरिपुविजयकर्मा व्रजमेवाबव्राज ॥८९॥

"आव्रज्य च श्रीव्रजराजादीन् प्रणय-विनयाभ्यां सुसभाज्य विश्रमणव्याजतः शय्यागृह-मासज्य सङ्केतितवेणुसंक्वणितेन परमानुरागसागरः सर्वतः श्रेयसीरमूः प्रेयसीः पूर्वकृतव्रज-व्रजबाह्यविभागमरय्यां मह्यां सङ्कलय्य केनाप्यव्यज्यतया पुनरपि रासायासादितवान् ॥९०॥

और जब वह अरिष्टासुर मारा गया तब भी उसके बैरी श्रीकृष्ण ने अपने आवेश को दूर नहीं किया। क्योंकि वह दैत्य बहुत से फैलाव को प्राप्त हुए श्रीकृष्ण के पराक्रम के परिपूर्ण स्थल को प्राप्त नहीं कर सका, अर्थात् वह दैत्य श्रीकृष्ण के पूरे पराक्रम के दिखाने का पर्याप्त स्थान नहीं था, अतः श्रीकृष्ण का आवेश दूर न हुआ ॥८७॥

अतः उस आविष्टता के दूर न होनेपर वह युद्धस्थल उस दैत्य के सङ्ग से मानो अपराधयुक्त हो गया था, अतः श्रीकृष्ण ने अपनी एड़ी के प्रहार से विदीर्णता को प्राप्त होने के कारण वह विभाग को प्राप्त कर दिया। श्रीकृष्ण की एड़ी से फटा हुआ वह भूमि का विभाग, अपनी तीर्थता (पवित्रता) का समर्थन करता हुआ, धर्मार्थ-काम-मोक्षरूप समस्त पुरुषार्थ देने के प्रति सार्थकता को प्राप्त हो गया। इसी स्थान का नाम श्रीकृष्णकुण्ड या श्यामकुण्ड हो गया ॥८८॥

और जिस कृष्णकुण्ड में सभी सखाओं के सहित स्वयं स्नान करते हुए, इन श्रीकृष्ण ने सज्जनों के (पवित्र तीर्थ में स्नान करना मानवमात्र का कर्तव्य है) इस प्रकार के आचार का प्रचार कर दिया। पश्चात् यह महातीर्थ पाताल से प्रगट हुआ है, इस प्रकार उसके स्वरूप को प्रकाशित कर, उसमें गोता लगाकर, उससे अच्छी प्रकार बाहर आकर, बहुत सा दान देकर, पश्चात् व्रज की सारी जनता के द्वारा जिनका सुख उत्पन्न किया है, एवं शत्रुविजयरूप कर्म का गायन किया गया है, वे श्रीकृष्ण व्रज को ही चले आये ॥८९॥

और आते ही श्रीव्रजराज आदि वृद्धपुरुषों को प्रेम एवं विनय के द्वारा सम्मानित कर, विश्राम करने के बहाने अपने शयनभवन में आकर, परम अनुराग के सागर श्रीकृष्ण ने पहले स्वयं आगमनपूर्वक, व्रज से बाहरी विभागवाली भूमि में, संकेतविशिष्ट वेणु की ध्वनि के द्वारा, सर्वापेक्षा श्रेयसी (श्रेष्ठ) उन प्रियतमा गोपियों को एकत्रित कर, किसी को भी प्रतीत न होनेवाले प्रकार से फिर भी रासलीला के लिए प्राप्त कर लिया ॥९०॥

"तत्र च— राधयास्वादिता यासीन्माधुरी माधवाधरे ।
सैवानुभूता मुरलीकलीखुरलिकामनु ॥६१॥

"तत्रैव च— अभिसारे चलचेला, व्रजतन्वीनां तती रुरुचे ।
अपि किं विजयपताका, दधिरेऽनङ्गस्य सङ्गतिं पुरतः ॥६२॥

"यत्र च पथि प्रथमलब्धनिर्गमया परमरमया निखिलकलिताराधया राधया सममेकान्तः कान्तस्य नर्म महदेव शर्म पुपोष ॥६३॥

"यदा हि चिन्तासन्तापतान्तस्वान्ता सा कान्ता तादृशविपत्तिमुत्तीर्णं तं कान्तं रहः संहितवती, तदा लज्जामर्यादामप्यसज्जन्ती परिष्वज्य व्यज्यमानस्तम्भमुखसात्त्विकसम्भवा चिरं विचाररहिततामाचरति स्म ॥६४॥

"स च तथैव तामनुचरति स्म ॥६५॥

"ततश्च सखीभिः कथञ्चन सान्त्वितयोः कान्तयोः कान्तस्तु स्वनिर्मितं तत्कुण्डं तासां दृष्टिकिर्मीरितं निर्मिमाणः सनर्मं कान्तां व्याजहार,—॥६६॥

'पश्य पश्य, मम कमलाकरोऽयं सागर इव गिरिराजमासज्य कमलोद्भवं भासयिता; सुधाकर इवैकदेशस्थित्यापि निजरुचिभिः कुमुदवनं विकासयिता; दम्भोलिपाणिरिव

और वहाँपर श्रीकृष्ण के अधर में श्रीराधिका ने जिस माधुरी का आस्वादन किया था, वह माधुरी मुरली की सुमधुर ध्वनि के अभ्यास में अनुभूत होती थी ॥६१॥

और उसी स्थानपर अभिसार के समय चञ्चल वस्त्रोंवाली व्रजाङ्गनाओं की श्रेणी शोभा पा रही थी। उनको देखकर यह मालूम पड़ता था कि, मानो कामदेव की विजय पताकाएँ ही आगे की ओर सुन्दर चाल को धारण कर रही हैं क्या ? ॥६२॥

और जिस अभिसार के मार्ग में सबसे पहले निकलने का अवसर पानेवाली, परम लक्ष्मीस्वरूपा सभी के द्वारा आराधित श्रीमती राधिका के साथ, एकान्त के कारण प्रियतम श्रीकृष्ण का जो परिहास हुआ, उसने महान् सुख को पुष्ट कर दिया ॥६३॥

और चिन्तारूप सन्ताप से ग्लानि को प्राप्त हुए हृदयवाली वह कृष्णकान्ता राधिका अरिष्टासुर के साथ युद्धरूप विपत्ति से उत्तीर्ण हुए उन प्रियतम श्रीकृष्ण से जब मिल गईं, तब लज्जा की मर्यादा को भी त्यागती हुईं, प्रियतम का आलिङ्गन करके प्रकाशित होते हुए, स्तम्भ स्वेद आदि सात्त्विकभावों की उत्पत्ति से युक्त होकर, बहुत देरतक विचार से रहित जन का सा आचरण करने लगीं ॥६४॥

श्रीकृष्ण भी उसी प्रकार प्रेमविवश होकर राधिका का अनुकरण या अनुगमन करने लगे ॥६५॥

तदनन्तर सखियों के द्वारा किसी प्रकार प्रिया-प्रीतम के सान्त्वित होनेपर, प्रियतम श्रीकृष्ण तो अपने द्वारा बनाये हुए उस श्यामकुण्ड को, उन सखियों के दृष्टिगोचर करते हुए परिहासपूर्वक प्रियाजी से बोले— ॥६६॥

हे प्रिये ! देखो, देखो। श्यामकुण्ड नामक यह हमारा सरोवर सागर की तरह श्रीगिरिराज का संयोग पाकर (सागरपक्षे—मन्दराचल का संयोग पाकर) अनेक प्रकार के कमलों की उत्पत्ति को,

सदम्भोलितया विलासी; अम्भोजजनिरिव भुवनविसर्जनेन प्रभासी; त्रिपुरजिष्णुरिव सहसागर-मानशमनः; श्रीमान् विष्णुरिव परमहंसचक्राश्रयताकमनः; श्रीराम इव रोहिणी-सुखसञ्चारी; किं बहुना, श्रीरामानुज इव च शिष्टकष्टप्रद-पापारिष्टहारी। तदेतन्मया खलु कृतसुकृतप्रसरं सर इदमचिरं विरचय्य चरितार्थता लब्धा, भवत्या तु नेदृशनैपुण्यं पुण्यं कृतमिति गुण्यनुगुणता कथमाप्स्यते ? ॥'९७॥

"अथ तस्याः सवयसस्त्विदं परिहसन्ति स्म,—'न वयं वृषघ्नतानिघ्नतया विघ्नमवाप्ताः, येन प्रायश्चित्तत इव लोकस्य प्रायश्चित्तमाराधयामः ॥'९८॥

"कृष्णः सहासमाह स्म,—'न खल्वसौ वृषः, किन्तु वृषविरोधी वृषतामिषवानसुरः। तस्मात्तत्पक्षपातितया भवतीनामेव वृषघ्नता पर्यवस्यतीति भवतीनामेव निष्कृतिः कृतिविषयतामर्हति। 'तत्र च 'प्रजाकृतं राजनि' इति राजनीतिन्यायेन भवदीयराजायमानायामस्यामेव सा जायमाना स्यादित्यसावेव तत्र प्रधानतयाऽवधीयते ॥'९९॥

पक्षे—कमला (लक्ष्मी) की उत्पत्ति को प्रकाशित करनेवाला है। एवं चन्द्रमा की तरह एक स्थान में स्थित होकर भी, अपनी कान्तिश्रेणी द्वारा 'कौ' (पृथिवी में) 'मुदां अवनं' (हर्षों की रक्षा को) चन्द्रपक्षे—कुमुदवन को विकसित करनेवाला है। तथा वज्रपाणि इन्द्र की तरह (सत्) उत्तम, (अम्भः) जल, (अलि) भ्रमर आदि से युक्त होकर, पक्षे—वज्र से युक्त होकर विलास कर रहा है। और कमल से उत्पन्न होनेवाले ब्रह्मा, जैसे अनेक भुवनों की सृष्टि करके शोभायमान हैं, उसी तरह यह कुण्ड भी भुवन, अर्थात् जल की सृष्टि करके विराजमान है। और त्रिपुरासुरपर विजय पानेवाले शङ्कर जैसे सहसा (एकाएक) गर (जहर) का मान शमन करनेवाले हैं, उसी प्रकार यह सरोवर भी अपनी विशालता एवं पवित्रता के कारण, सागर का मान खण्डन करनेवाला है। और श्रीमान् विष्णु जैसे परमहंस, अर्थात् जीवन्मुक्त महात्माओं के समूह के आश्रय से सुन्दर हैं, उसी प्रकार यह कुण्ड भी राजहंस चक्रवाक आदि पक्षियों का आश्रयस्वरूप होने से मनोहर है। और श्रीबलरामजी जैसे अपनी माता रोहिणी का सुख सञ्चार करनेवाले हैं, उसी प्रकार यह श्यामकुण्ड भी रोहिणी, अर्थात् धेनुमात्र के सुख का सञ्चारक है। और अधिक क्या कहूँ ? देखो, श्रीबलरामजी का छोटा भाई मैं, जैसे शिष्टजन–कष्टदायक–पापी अरिष्टासुर का विनाशक हूँ, उसी प्रकार यह कुण्ड भी शिष्टजनों को कष्टप्रद पापरूप दुःख को दूर करनेवाला है। इसलिए मैंने तो सुकृत का विस्तार करनेवाले इस सरोवर की शीघ्र ही रचना करके कृतार्थता प्राप्तकर ली। किन्तु प्रिये ! तुमने तो ऐसी निपुणता से युक्त कोई पुण्य किया नहीं, अतः गुणियों के बीच में किस प्रकार गणना प्राप्त करोगी ? ॥९७॥

अनन्तर श्रीराधिका की समवयस्क सखियाँ तो इस प्रकार परिहास करने लगीं कि—हम सब वृष को मारने की सी अधीनता से विघ्न को प्राप्त नहीं हुई हैं, जिससे कि प्रायश्चित्त के कारण की तरह प्रायः लोगों का मनोरञ्जन करें। तात्पर्य—बैल को मारकर तुमने ही पाप कमाया है, अतः तुम्हीं प्रायश्चित्त करने के अधिकारी हो, हम सब नहीं ॥९८॥

श्रीकृष्ण हास्यपूर्वक बोले—यह निश्चय ही वृष, अर्थात् धर्म या बैल नहीं था, किन्तु बैल का सा बहाना बनानेवाला यह असुर तो धर्म का एवं गोसमूह का विरोधी था। अतः उसकी पक्षपातिनी होने के कारण धर्मनाशकता तुम्हारे सम्बन्ध में ही पर्यवसान पाती है, अर्थात् पापी का पक्ष लेने से यह पाप तुम्हारे ऊपर ही लगता है। इसलिए प्रायश्चित्त करना तुम्हारा ही कर्तव्य है। और उसमें भी "प्रजा का किया

"सख्य ऊचुः,—'भवतु, तथापि यथाकथमपि भवत्प्रसङ्गत एव सङ्गतः खल्वयं दोष इति तन्मोषकृते भवत्कृतमेवानुकर्तव्यम् ॥१००॥

'या खलु भवन्मङ्गलतः सरसीभूतायाः सवयसः सरसी भविता, सा पुनरमरतरङ्गिणीव कृष्णाङ्गरागविलासिनी; अमृतनिधिप्रियावलिरिव बहुलताराङ्गताभासिनी; सुत्रारुगृहनेत्रीवोपेन्द्रदेवरतामोदातिरेकिणी; सावित्रीमुखविचित्रश्रुतिरिव नालीकिनी; उमामूर्तिरिव गिरिराजादुद्भवधात्री; मामूर्तिरिव हरि-हृदि विलासपात्री; रामशक्तिरिव गाम्भीर्यतः प्रलम्बमानमदमज्जनी; किं बहुना,, राधेव राधान्तिमपूर्णविधोर्वशतासज्जनी' इति ॥१०१॥

"अथ सतृष्णः श्रीकृष्णस्तु राधा-चिबुकं करेणादरेण दराप्युन्नम्य स्मितरम्यमिदमाह स्म,—

'तद्वक्त्रं यदि को विधुः स्मितकला सा चेत् प्रभा निष्प्रभा-
स्ते दन्ता यदि भानि धिग् यदि च ते नेत्रे चकोरैरलम् ।

हुआ पाप राजा के ऊपर चढ़ता है" इस प्रकार की राजनीति के न्याय से तुम्हारी राजास्वरूप इस राधिका के ऊपर ही वह वृषघ्नता उत्पन्न हो जायगी। इस कारण उस प्रायश्चित्त करने के विषय में यह राधिका ही प्रधानरूप से निश्चित होती है, अर्थात् इसको ही प्रायश्चित्त करना चाहिये ॥६६॥

सखियाँ बोलीं—अच्छा, जो हो। तथापि यह दोष निश्चितरूप से यथाकथंचित् आपके सम्बन्ध से ही प्राप्त हुआ है। अतः उस दोष को दूर करने के लिए हमको भी आपके किये हुए कार्य का ही अनुकरण करना चाहिये ॥१००॥

और देखो, श्यामसुन्दर! आपके मङ्गल के लिए सरसता को प्राप्त होनेवाली हमारी समवयस्क सखी राधिका की जो सरसी (राधाकुण्ड नामक सरोवर) होगी, वह निश्चय ही श्रीगङ्गाजी की तरह, श्रीकृष्ण के अङ्गराग से विलास करनेवाली होगी। गङ्गापक्षे—श्यामवर्ण के अङ्गराग, किंवा श्रीयमुनाजी के अङ्गसम्बन्धी अनुराग से विलासिनी होगी। और चन्द्रमा की प्रियाश्रेणी जिस प्रकार बहुत से तारारूप अङ्गों के द्वारा विराजमान है, उसी प्रकार वह सरसी भी बहुत लोगों को तारनेवाले अङ्ग से युक्त होकर विराजमान होगी। और इन्द्र की पत्नी शची जिस प्रकार वामनरूप देवर के भाव के कारण अतिशय हर्षयुक्त है, उसी प्रकार वह सरसी भी उपेन्द्रदेव (श्रीकृष्ण) के रत (रमण अर्थात् स्नान) से अतिशय आमोद (आकर्षक सुगन्ध) वाली हो जायगी। और गायत्री आदि विचित्र श्रुति (वेद) जैसे "न अलीकिनी" अर्थात् मिथ्या कहनेवाली नहीं हैं, उसी प्रकार वह सरसी भी 'नालीकिनी', अर्थात् कमलों से युक्त होगी। और पार्वती की मूर्ति (शरीर) जैसे गिरिराज (हिमालय) से उत्पत्ति को धारण करनेवाली है, उसी तरह वह सरसी भी श्रीगोवर्धन से उत्पत्ति धारण करनेवाली होगी। और श्रीलक्ष्मी की मूर्ति जैसे श्रीनारायण के वक्षःस्थलपर विलास की पात्र है, उसी प्रकार वह सरसी आपके हृदय में विलास की पात्र होगी। और श्रीबलरामजी की शक्ति जैसे गम्भीरता के कारण प्रलम्बासुर के मान एवं मद को नष्ट करनेवाली है, उसी तरह वह सरसी भी गम्भीरता के कारण अपनी थाह पानेवाले की विशेष लम्बाई के मान मद को डुबानेवाली होगी। और अधिक क्या कहें? देखो, विशाखानक्षत्र जैसे वैशाख के अन्तिम पूर्णचन्द्रमा को अपने वश में कर लेता है, उसी प्रकार वह सरसी भी राधिका के निकटस्थित पूर्णचन्द्र जो श्रीकृष्ण हैं उनको भी अपने वश में करनेवाली होगी ॥१०१॥

अनन्तर श्रीराधिका को प्रसन्न रखने की लालसा से युक्त, श्रीकृष्ण तो श्रीराधिका की ठोड़ी को आदरपूर्वक अपने हाथ से थोड़ी सी ऊँची करके, मन्दमुसकान से सुन्दरतापूर्वक यह वचन बोले—पूर्णचन्द्र

इत्थं सर्वजनादसौ सहगणं स्वं प्रत्यवज्ञा-वच-
स्त्वत्प्राशस्त्यमयं निशम्य हृदये राधे! मुहुर्म्लायति ॥'१०२॥

"अथ पुरतश्चलित्वा क्रमतः सर्वपथीनाभिः सर्वाध्वनीनाभिः सर्वाङ्गीणकम्पाभिः सर्वाभिर्मिलित्वा विधु-विधूततमसि यामिन्यां सपर्वतः पर्वतराजमनु ऋतुराजविराजमानकाननगतं सर्वतोऽप्यधिकविलासविततं रासमुल्लासयामास ॥१०३॥

"तत्र देवीनां वाणी,—

'इयं विद्युदिदं शक्र-धनुः सोऽयं नवाम्बुदः ।
शश्वद्घनरसं वर्षन्नमूः कर्षति चातकीः ॥'१०४॥

"तत्र वयःसौभाग्यं यथा--

कान्तिः कान्तिसमूहजातघनजिल्लावण्यमीदृग्घन-
प्रोद्यन्मौक्तिकजेतृरूपवरिमा विश्वादिकृन्मोहनः ।
एवञ्चेदजितस्य सार्वदिकता कैशोरके वा तदा
पूर्णे कः कवितामियान्नवनवास्तत्रापि यत्र श्रियः ॥१०५॥

से भी विशिष्ट राधिका का मुख यदि उदित हो जाता है तो फिर उसके सामने चन्द्रमा कौन है? और राधिका के मुख की वह मन्दहासकला यदि उदित हो जाती है तो चन्द्रमा की प्रभा फीकी पड़ जाती है, एव राधिका की वह दन्तपंक्ति यदि उदित हो जाती है तो नक्षत्रों को धिक्कार है, तथा राधिका के वे विचित्र नेत्र यदि उदित हो जाते हैं तो फिर चकोरों की कोई आवश्यकता नहीं। इस प्रकार चन्द्रमा, सभी जनों से अपने परिकर के सहित, अपने प्रति तुम्हारी प्रशंसामय अवज्ञा के वचन को सुनकर, अपने हृदय में बारम्बार हर्षरहित हो जाता है ॥१०२॥

अनन्तर आगे की ओर चलकर क्रम क्रम से सभी मार्गों को व्याप्त करनेवालीं, सभी मार्गों में विशेष चलनेवालीं, सर्वाङ्गव्यापी कम्पवालीं सभी गोपियों से मिलकर, श्रीकृष्ण ने चन्द्रमा के द्वारा जिसका अन्धकार दूर कर दिया, ऐसी रात्रि में श्रीगोवर्धन के निकट, वसन्तऋतु से विराजमान वन में, सब रासों की अपेक्षा अधिक विलासों से विस्तृत, रासलीला को महोत्सवपूर्वक उल्लसित कर दिया ॥१०३॥

वहाँपर देवाङ्गनाओं की वाणी, यथा—यह बिजली, यह इन्द्रधनुष्, यह वही नवीनमेघ निरन्तर जल बरसाता हुआ, इन चातकियों को अपनी ओर आकर्षित कर रहा है। यहाँपर श्रीकृष्ण का पीताम्बर विद्युत् है, उनका भ्रू युगल ही इन्द्रधनुष है, स्वयं ही नवमेघ हैं, माललयपूर्वक निरन्तर का गाना ही जल है, एव गोपियाँ ही चातकी हैं, ऐसा जानना चाहिये ॥१०४॥

उस समय की अवस्था का सौभाग्य, यथा—श्रीकृष्ण की कान्ति शोभा के समूह से उत्पन्न हुए दिव्य मेघ को भी जीतनेवाली है, उनका लावण्य भी इसी प्रकार के मेघ में प्रकाशित होते हुए मोतियों की शोभा पर भी विजय पानेवाला है, एवं रूप की श्रेष्ठता विश्व के आदिकर्ता ब्रह्मा को भी मोहित करनेवाली है। यदि श्रीकृष्ण की अल्पकिशोर अवस्था में इस प्रकार की नित्यकान्ति है, तब उस किशोरावस्था के पूर्ण होनेपर उसका यथार्थरूपेण कौन वर्णन कर सकता है? और जिस पूर्ण किशोरावस्था में नित्य नई नई शोभाएँ उत्पन्न होती हैं, उसके विषय में तो फिर कहना ही क्या है? ॥१०५॥

"यथा च पुरस्त्रीजनोदितमनुमोदितं श्रीबादरायणिना, (भा० १०।४४।१४)—
'गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूपं, लावण्यसारमसमोर्ध्वमनन्यसिद्धम् ।
दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुराप,-मेकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य ॥'इति॥१०६॥

"कान्तीनां मथनाद्भवन्तु जलदाः केचित् कदाचित् क्वचि-
त्तेऽप्युच्चैर्विलसन्ति तर्हि तडितः क्रीडन्ति चेत्तादृशाः ।
इत्थं कृष्णघने तडित्तुलनया ता वर्णयन् श्रीशुक-
स्तासामव्यभिचारिशोभयितृतां व्यानञ्ज पश्य स्फुटम् ॥१०७॥

"तथा च तेन तद्वर्णनम्, (भा० १०।३३।८)—
'पादन्यासैर्भुजविधुतिभिः सस्मितैर्भ्रूविलासै-
र्भज्यन्मध्यैश्चलकुचपटैः कुण्डलैर्गण्डलोलैः ।
स्विद्यन्मुख्यः कबररशनाग्रन्थयः कृष्ण-वध्वो
गायन्त्यस्तं तडित इव ता मेघ-चक्रे विरेजुः ॥'इति॥१०८॥

कंस की रङ्गभूमि में बैठी हुई मथुरा की स्त्रियों के कथन का श्रीशुकदेवजी ने भी अनुमोदन किया है, यथा—सखि ! पता नहीं, गोपियों ने कौन सा तप किया था ? जो कि अपने नेत्ररूप पानपात्रों से इनकी रूपमाधुरी का नित्य निरन्तर पान करती रहती हैं। इनका रूप लावण्य का सार है, अतुलनीय है, सर्वोत्कृष्ट है, वस्त्र भूषणों की अपेक्षा न करके स्वयंसिद्ध है, अथवा इनसे दूसरे जन में ऐसा रूप सिद्ध नहीं हो सकता; यह रूप प्रतिक्षण नवीन होता जाता है, अतः नित्य नूतन है। सर्वसाधारण के लिए इसका दर्शन भी दुर्लभ है। और यह रूप सम्पूर्ण यश, सौन्दर्य, ऐश्वर्य का एकान्त स्थानस्वरूप है ॥१०६॥

श्रीकृष्ण की कान्तियों का मन्थन करके यदि कदाचित् कुछ मेघ कहींपर उत्पन्न हो जायँ, और वे मेघ भी यदि अधिक विलास करें, और गोपियों की कान्ति को मथकर वैसी ही स्थिर बिजलियाँ यदि उन मेघों के साथ क्रीडा करें, तब गोपी-कृष्ण की उपमा बने। अतः इस प्रकार कृष्णरूप मेघ में विद्युत् की तुलना करके, उन गोपियों का वर्णन करते हुए, श्रीशुकदेवजी ने श्रीकृष्ण में उन गोपियों के नित्य शोभा करनेवाले भाव को स्पष्ट प्रकाशित कर दिया है। उसको देख लो ॥१०७॥

श्रीशुकदेवजी के द्वारा जो वर्णन हुआ वह इस प्रकार है—हे परीक्षित् ! नृत्य के समय गोपियाँ तरह तरह से ठुमक ठुमक कर अपने पाँव धरती थीं, कभी अपने हाथ उठाकर भाव बतातीं, तो कभी बड़े कलापूर्ण ढङ्ग से मुसकरातीं तथा कभी भौं मटकाती थीं, नाचते नाचते उनकी पतली कमर ऐसे लचक जाती थी, मानो टूट गई हो। उनके स्तन हिल रहे थे, तथा वस्त्र उड़े जा रहे थे। कानों के कुण्डल हिल हिलकर कपोलोंपर आ जाते थे। उनके मुखोंपर पसीने की बूंदें झलक रही थीं, केशों की चोटियाँ एवं नीवी की गाँठें ढीली पड़ गई थीं। इस प्रकार कृष्णप्रियतमा वे गोपियाँ उनके साथ गा गाकर नाच रही थीं। उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो बहुत से श्रीकृष्ण तो साँवले साँवले मेंघमण्डल हैं, और उनके बीच बीच में चमकती हुई गोरी गोपियाँ बिजली हैं। उनकी शोभा असीम थी। यहाँपर वृष्टि के स्थानपर स्वेदबिन्दु, एवं मेघ की गर्जना के स्थानपर सङ्गीत जानना चाहिये ॥१०८॥

"तत्र च सम्प्रति यथा—

प्रतिक्षणममी गुणा हरिरमासु वृद्धिं गता
दिनं दिनमिति ब्रुवे किमिह सर्वदैवं स्थिते ।
नवे वयसि किन्तरामिह च तत्र वा किन्तमा-
मरिष्टशमनान्तनिश्यजनि यत्र सा चर्चरी ॥१०९॥

"रासोत्सवोऽयमपि यथा—

यदा पूर्वं वृत्तः शरदमनु रासः किल तदा, बभूवाद्यारम्भाद्दिविजमपि वाद्यादि सचिवम् ।
यदान्ये तत्पश्चाद्व्यरचिषत ते तर्ह्यखिलजि-,न्महासङ्गीतार्हं व्यरचि हरिराधादिभिरदः ॥११०

उपर्युडुगणः क्षितौ सुरभिचित्रपुष्पावलि-, स्तथा तदनु चन्द्रिका विविधरत्नलक्ष्मीरिह ।
स तत्र शशलाञ्छनो विमलवक्त्रसङ्घा इत-, स्तदेवमुभयोः स्थितिर्गगनरासरङ्गश्रियोः ॥१११॥

दिव्याः काननवीथयः क्षितिधनं गोवर्धनक्षौणिभृ-
न्नानारत्नविलासिरासवलयं शुभ्रांशुशुभ्रा निशा ।
लक्ष्मीवन्दितलक्ष्मयोषिदुपमाचारूपमापुंलस-
ल्लास्यं राधिकयाधिकं निखिलकं तत् केन किं वर्ण्यताम् ? ॥११२॥

और उसमें भी इस समय जो विशेषता दीखती है वह, यथा—श्रीहरिप्रिया इन गोपियों में ये 'पादन्यास' आदि गुण प्रत्येक दिन में, एवं प्रतिक्षण में वृद्धि को प्राप्त हो गये। इस विषय में मैं क्या कहूँ ? क्योंकि सदैव बाल्य, पौगण्ड आदि में भी नवीन अवस्था रहनेपर, इस नवीन किशोरावस्था में पुनः क्या वर्णन हो सकता है ? और उसमें भी इस पूर्ण किशोरावस्था में कितनी विशेषता होगी, इसका वर्णन पुनः कैसे हो सकता है ? क्योंकि जिस समय अरिष्टासुर का नाश होनेवाली रात्रि में तो, वह गुणों की वृद्धि नाचने गाने की तरह हुई थी ॥१०९॥

यह वसन्तकालिक रासोत्सव का वर्णन, यथा—पहले शरदृऋतु में जब रासोत्सव हुआ था, तब तो प्राथमिक आरम्भ के कारण, स्वर्गीय वाद्य आदि भी सहायक हो गये थे। किन्तु उसके पश्चात् श्रीकृष्ण ने अन्य जितने भी रास रचे, तब श्रीकृष्ण एवं राधा प्रभृति गोपियों ने ही सबपर विजय पानेवाले महा-सङ्गीत के योग्य ये वाद्य आदि रचे थे ॥११०॥

रास के समय की शोभा, यथा—ऊपर तारागण था, एवं भूमिपर सुगन्धमय विचित्र पुष्पावली सुशोभित थी, तथा आकाश में चाँदनी छिटक रही थी, एवं भूतलपर अनेक रत्नों की शोभा थी, आकाश में वह अकेला चन्द्रमा था, तो इधर भूमिपर निर्मल मुखसमूहों का प्रकाश था, इस प्रकार 'आकाश एवं रास की रङ्गभूमि की शोभा' इन दोनों ही की स्थिति विचित्र थी ॥१११॥

दिव्य वन की पंक्तियाँ, भूमि का धनस्वरूप श्रीगोवर्धन पर्वत, अनेक प्रकार के रत्नों से शोभायमान रासमण्डल, पूर्णचन्द्र की चन्द्रिका से शुक्लवर्ण की रात्रि, एवं लक्ष्मी के द्वारा बन्दित चिह्नों से युक्त गोपीरूप स्त्रियों के द्वारा तथा उपमा के भी सुन्दर उपमारूप श्रीकृष्णरूप पुरुष के द्वारा शोभायमान नृत्य, और उसमें भी सम्पूर्ण साजबाज श्रीमती राधिका के द्वारा और अधिक सुशोभित था। अतः उस समस्त विषय का कौन कवि यथार्थ वर्णन कर सकता है ? ॥११२॥

"यतः, ज्योत्स्नी सा दिद्युते सेव स रङ्गः स्वतुलाधृतः ।
सुदृशोऽमूरमूदृश्यः कृष्णः स्वोपम एव सः ॥११३॥
सौन्दर्यमिव साद्‌गुण्यं सर्वोर्ध्वं यत्र दीव्यति ।
साद्‌गुण्यमिव सौन्दर्यं राधिका साखिलाधिका ॥११४॥

"स एष एव महारासरसः किञ्चदागमकृता चावगमितः,—
'वसन्तकुसुमामोदसुरभीकृतदिङ्मुखे ।
गोवर्धनगिरौ रम्ये स्थितं रासरसोत्सुकम् ॥' इति ॥११५॥

"अथ तद्वसन्तरासविलासरजन्याः प्रातरेव सखीभिरगण्याभिः कृताराधया तदीय-साहायकसम्बाधया श्रीराधया स्वकरकमलकलिते ललिते सर्वसुखं वलयितुमुल्लले तस्मिन् पल्वले तयोः कान्तयोरलमेव सुखपरिमलः समुल्ललास ॥११६॥

"तथा हि— कदाचित् कुण्डस्याम्भसि विहरते कर्ह्यपि बहिः
कदाप्यन्तः कुञ्जे क्वचनसमये रासवलये ।
समं राधादेव्या हरिरखिलसख्यालिसुखदः
पुरा तत्तन्नित्यं स्मरयति मनो नः स्वमभितः ॥११७॥

कारण चन्द्रिका से युक्त वह रासवाली चाँदनी रात्रि उसी रात्रि के समान शोभित थी, वह रास का रङ्गस्थल भी अपनी उपमा से ही पुष्ट था, अर्थात् निरुपम था। वे सुनयना गोपियाँ भी उन्हीं के समान थीं, अर्थात् निरुपम थीं। और वे श्रीकृष्ण भी अपनी उपमा से ही उपमित थे, अर्थात् उपमारहित थे। अतः अनन्वयालङ्कार परिपूर्ण उस सारे समाज को कौन प्राकृत कवि किस प्रकार वर्णन कर सकता है? यह भावार्थ है ॥११३॥

और जिन श्रीराधिका में सौन्दर्य की तरह सद्‌गुणों का समूह सबसे ऊँचा विराजमान है, एवं जिनमें सद्‌गुणों के समूह की तरह स्वाभाविक सौन्दर्य विराजमान है, वे श्रीमती राधिका तो उस रासमण्डल में सबकी अपेक्षा अधिक थीं ॥११४॥

इस पूर्वोक्त वासन्तिक महारासरस को तन्त्रशास्त्रकार ने स्तोत्र आदि के द्वारा किंचिद् विज्ञापित किया है, यथा—वसन्तऋतु के पुष्पों की मनोहर गन्ध ने जहाँपर दिशाओं के मुखों को सुगन्धित कर दिया है, ऐसे परम रमणीय श्रीगोवर्धन पर्वत में श्रीकृष्ण रासरस के उत्सुक होकर स्थित रहे ॥११५॥

अनन्तर उस वसन्तकाल के रासविलासवाली रात्रि के प्रातःकाल ही, अगणित सखियों के द्वारा जिनकी आराधना की गई है, एवं उन्हीं की सहायता से जो जकड़ी हुई हैं, अर्थात् भरी हुई हैं ऐसी श्रीराधिका के निज करकमलों के द्वारा निर्मित, एवं सब प्रकार के सुख को उत्पन्न करने के लिए, लहराते हुए (राधाकुण्ड नामक) उस मनोहर सरोवर में, उन दोनों प्रिया-प्रीतम का अत्यन्त ही सुखरूप परिमल (मनोहर गन्ध) भली प्रकार उल्लसित हो गया ॥११६॥

देखो! समस्त सखीश्रेणी के सुखदाता श्रीकृष्ण पहले श्रीराधिकादेवी के साथ, कभी राधाकुण्ड के जल में विहार करते थे, तो कभी बाहर विहार करते थे, एवं कभी कुंज के भीतर विहार करते थे, तो किसी समय रासमण्डल में विहार करते थे। वे ही दयालु श्रीकृष्ण अपनी उन उन नित्य वस्तुओं को चारों ओर से हमारे मन को स्मरण करा रहे हैं ॥११७॥

"किं बहुना ? तत्रेयमपि पुराणानां गाथा,—

'यथा राधा प्रिया विष्णोस्तस्याः कुण्डं प्रियं तथा ।
सर्वगोपीषु सैवैका विष्णोरत्यन्तवल्लभा ॥'इति॥ ११८॥

पुनः स्मृतिमभिनीय समापनं पद्यं निजगाद,—

"अन्योन्यं मिलनस्पृहा मिलनमप्यस्याहतिर्दानवाद्-
यस्मात्तद्धतिरात्तनर्ममिलनं कुण्डद्वयस्य क्रिया ।
सर्वासामधिमध्यमुज्ज्वलतया रासान्तरालस्थितिः
श्रीराधाऽजितयोर्मनो मम मनागद्यापि नैवोज्झति ॥"११९॥

इति वैवश्यपारवश्यमासीदन् सीदन्निव मूर्च्छामृच्छन् स्निग्धकण्ठः सर्वानेव च तत्तद्भाव-भावनात् भावयामास ॥१२०॥

"तच्च युक्तम्, यतः,

अतिपूर्वं यदपूर्वं, निजमतिदुर्लभमतीव हृद्यं च ।
वृत्तं तत् प्रतिनवतां, प्रयाति भूयोऽनुभूयमानं च ॥"१२१॥

"तदेतद्वर्णयित्वा स्निग्धकण्ठः समापनमाह स्म,—

"राधे ! त्वद्वल्लभः सत्यं सर्वैरपि सुदुर्लभः ।
सुलभोऽप्यधुना योऽयं भवत्या मन्यतेऽन्यथा ॥"१२२॥

अधिक क्या कहें ? इस विषय में पुराणों की यह गाथा भी प्रसिद्ध है कि, श्रीकृष्ण को राधिका जैसे प्रिय लगती हैं, तैसे ही राधिका का कुण्ड भी श्रीकृष्ण को प्रिय लगता है। क्योंकि सब गोपियों के बीच में श्रीकृष्ण को एकमात्र वह राधिका ही अत्यन्त प्रिय लगती हैं ॥११८॥

कथाप्रसङ्ग की समाप्ति को स्मृति में लाकर कथावाचक पुनः एक श्लोक बोला—श्रीराधिका एवं श्रीकृष्ण की सर्वप्रथम परस्पर मिलन की इच्छा, उसके बाद मिलन, पश्चात् जिस दैत्य के कारण इस मिलन का बिछोह हुआ, उस अरिष्ट दैत्य का मारना, पश्चात् परिहास ग्रहणपूर्वक मिलन, उसके पश्चात् कृष्णकुण्ड एवं राधाकुण्ड का निर्माण, उसके बाद सभी गोपियों के बीच में उज्ज्वलतापूर्वक रासमण्डल में स्थिति, ये सब विषय आज भी मेरे मन को किंचिद् भी नहीं त्याग रहे हैं। अर्थात् आज भी मेरे मनोराज्य में साक्षात् से अनुभूत हो रहे हैं ॥११९॥

इस प्रकार कहते कहते विवशता की अधीनता को प्राप्त करता हुआ, एवं शिथिल सा होकर मूर्च्छा को पाता हुआ, स्निग्धकण्ठ सभी श्रोताओं को उसी भाव की भावना से युक्त करने लगा ॥१२०॥

वह उचित ही है क्योंकि जो चरित्र बहुत पहले हो चुका हो, आश्चर्यजनक हो, निजी हो, अत्यन्त दुर्लभ एवं मनोरम हो, वह चरित्र पुनः पुनः अनुभव में लानेपर प्रतिक्षण नवीनता को प्राप्त होता रहता है ॥१२१॥

इतना वर्णन करके स्निग्धकण्ठ समाप्तिद्योतक वचन बोला—हे राधिके ! तुम्हारे प्यारे श्रीकृष्ण सर्वसाधारण के लिए सुदुर्लभ हैं, यह बात सत्य है। किन्तु इस समय तुम्हारे लिए जो सुलभ हो रहे हैं, उन अपने वल्लभ को आप दुर्लभ मान रही हैं ॥१२२॥

"अथ कथञ्चिदपि जातसान्त्वने तन्मनसान्त्वनेकविकारे पारेमनोरथ-पथमखिलशोभा-शुभपथ्य-नेपथ्यसार-तन्यमानदानतस्तौ सूतकुमारावाराधयामासुराशु राधारमणप्रभृतयः कृतसाधारणातिक्रमप्रकृतयः सदः-रुदः सदयतया शुभाशीर्भिरभ्युदयमासादयामासुश्च ॥१२३॥

ततश्च पूर्वपूर्ववदेव सर्वे स्वधाम समासन्नाः स्वप्नतश्च तत्तदनुभवन्तश्चरितजागरा इव वासरादिमासादितवन्तः ॥१२४॥

॥ इति श्रीश्रीगोपालचम्पूमनु नानारागविचित्रचरित्रचित्रमेकत्रिंशं पूरणम् ॥३१॥

अथ द्वात्रिंशं पूरणम्

(केशिदैत्यवधः)

अथ पुनः प्रातःकथां यथावत् प्रथयिष्यामः। यथा—मधुकण्ठः प्रथमतः कण्ठरवमकृत्वा मनसि निर्णिक्तमिदं विविक्तवान्,—"एतदनन्तरं यद्यपि ये खल्वस्मासु बाल्यादेव स्तुहि-कृष्णतां गतास्तेषां भगवल्लीलासुखवर्षिदेवर्षिवरचरणानां कंसं प्रति शंसनं शंसनीयतामासन्नम्। तथापि भगवल्लीलाधिकृतिमनुवर्तमानानां सर्वदोपाकुर्वाणानां न तूवाकुर्वाणानां तेषां तत्रौ-चितीमप्यनौचितीं चित्तीकुर्वन्त्यविपश्चित इति तथैवैषां परमविपश्चितामपि व्रजवासिनां

अनन्तर किसी प्रकार सान्त्वना हो जाने पर, एवं उन श्रोताओं के मनों के तो अनेक प्रेमविकार हो जानेपर, मनोरथ पथातीत अखिल शोभा द्वारा शुभ एवं हितकर वेषरचना के सारभाग द्वारा विस्तारित दान के द्वारा, अलौकिक स्वभावसम्पन्न श्रीराधारमण आदि श्रोताओं ने उन दोनों सूतकुमारों का शीघ्र ही सम्मान किया, और सभासदों ने भी दयालुतापूर्वक उन दोनों को शुभाशीर्वादों के द्वारा अभ्युदय को प्राप्तकर दिया ॥१२३॥

तदनन्तर सभी सभासद् पहले पहले दिनों की तरह अपने अपने घर पहुँच गये। और उन्होंने स्वप्न से भी उन्हीं लीलाओं का अनुभव करते हुए जागरण करनेवालों की तरह प्रातःकाल को प्राप्तकर लिया ॥१२४॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रिविरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीगोपालचम्पूकाव्ये नानारागविचित्रचरित्रचित्र
एकत्रिंशं पूरणं सम्पूर्णम् ॥३१॥

बत्तीसवाँ पूरण

केशी दैत्य का वध

अनन्तर पुनः प्रातःकाल की कथा को यथाविधि विस्तारित करेंगे, यथा—मधुकण्ठ पहले मौन होकर अपने मन में इस विशुद्ध विषय को विचारने लगा कि, इसके बाद यद्यपि जो हमारे विषय में बाल्यावस्था से ही "श्रीकृष्ण की स्तुति करो" इस प्रकार बारबार कहने के भाव को प्राप्त थे, अतः भगवल्लीला के सुख की वर्षा करनेवाले पूज्यपाद देवर्षिवर्य उन्हीं श्रीनारदजी का कंस के प्रति कुछ कथन कहने की समीपता को प्राप्त हो गया है, तथापि भगवल्लीला के अधिकार का अनुसरण करनेवाले, सर्वदा श्रीहरि की सेवा करनेवाले, अतः हिंसा की सूचना न करनेवाले, श्रीनारदजी के उस कथन में मूर्खजन

विनिश्चित-निजप्रेमजातीय-लसदद्वितीयसुखप्रकर्षाणां नातिहर्षाय स्यादिति चानिर्णेयवक्तृनाम्ना तदाम्नातव्यम्" इति ॥१॥

अथ सापलापं स्पष्टमभ्याचष्ट,—"श्रीहरिणारिष्टे विद्विष्टे विलष्टेन च कंसेन वर्षं यावन्न कश्चित् प्रस्थापितः, केशी च गच्छन् पुनः स्ववेश्म प्रवेशितः—'वृथा वैरं मा कृथाः' इति ॥२॥

"अथ मुख्यमाघकृष्णैकादश्यां कश्चिद्दिविष्ठः सार्वदिकज्ञानमहिष्ठस्तं प्रति प्रतिकूल एव सन्ननुकूल इव श्रीवसुदेवस्य रहस्यं वृत्तमनुवृत्तश्चकार ॥३॥

येन खलु रामकृष्णावपि वसुदेवसुततयोदायसाताम् । "ततश्च तत्कृतप्रतिरोधाद्धन्तु-मशक्यतया वसुदेव-देवक्यौ पुनर्मंक्षु लोहशृङ्खलया कारागारे क्रुद्धेन सता सतां विरुद्धेन तेन निरुद्धे ॥४॥

"निरुध्य चार्वमतिनार्वदानवः समाहूय भूयश्च नियुक्तः । नियुक्तमात्रश्चायं व्रजाय कृतयात्रः प्रातरेव तत्रायातः, व्रजश्चारिष्टवधादधस्तान्नन्दीश्वरगिरिमारभ्य परपरस्तात् कृतवास इति दूरत एव तं लब्धवान् ॥५॥

उचितता को भी अनुचितरूप से अपने चित्त में ग्रहण करते हैं। उसी प्रकार परमविज्ञानी एवं विशेष निश्चित किये हुए प्रेम के समान श्रीकृष्णसम्बन्धी सुख से विराजमान अद्वितीय सुख की अधिकतावाले इन व्रजवासियों के सम्बन्ध में भी नारदजी का कंस के प्रति स्वयं कहना अत्यन्त हर्षप्रद न होगा, इसलिए वक्ता के नाम का निर्णय न करके कंस के प्रति गूढ रहस्य कह देना चाहिये ॥१॥

अनन्तर बात को छिपाता हुआ मधुकण्ठ स्पष्ट बोला—श्रीकृष्ण के द्वारा अरिष्टासुर के मारे जानेपर दुःखित हुए कंस ने एक वर्षतक कोई भी दैत्य श्रीकृष्ण के पास नहीं भेजा। और जाते हुए केशी को भी "वृथा बैर मत करो" यह कहकर पुनः अपने घर में ही प्रविष्ट करा दिया ॥२॥

उसके बाद प्रधान माघ मास के कृष्णपक्ष की एकादशी के दिन तीनों काल के ज्ञान से पूजित किसी स्वर्गीयजन ने, अर्थात् श्रीनारदजी ने ही, कंस के प्रति प्रतिकूल होते हुए भी अनुकूल की तरह, श्रीवसुदेवजी के "श्रीनन्दभवन में दोनों पुत्रों को गुप्तरूप से पहुँचानारूप" रहस्यमय वृत्तान्त को सूचित कर दिया ॥३॥

जिस सूचना के द्वारा श्रीकृष्ण बलदेव भी श्रीवसुदेवजी के पुत्र निश्चितरूप से सूचित हो गये। तदनन्तर वसुदेव देवकी को मारनेपर तुले हुए एवं कुपित हुए सज्जनविरोधी कंस ने स्वर्गीय नारदजी के निषेध करने से, मारना कठिन हो जाने के कारण, पुनः वसुदेव देवकी लोह की साँकल के द्वारा शीघ्र ही कारागार में निरुद्ध कर दिये ॥४॥

और दोनों को निरुद्ध करके मूढमति कंस ने घोड़ारूपी केशीदानव बुलाकर पुनः नियुक्त कर दिया। यह केशी भी नियुक्त होते ही व्रज के लिए यात्रा करके प्रातःकाल ही वहाँपर चला आया और व्रज भी अरिष्टवध के पीछे नन्दीश्वर पर्वत से लेकर परे परे केशी के निवास से युक्त था, अतः दूर से ही केशी उस व्रज को प्राप्त हो गया ॥५॥

"यत्र च स प्रखरतरखरखुरघृष्टिच्छिन्नक्षोणिपृष्ठतया गोष्ठमागच्छन् सटाघटामुदस्य नभस्यभिभ्रमयन् भ्रेषवशाददभ्रभयादभ्रप्रच्छन्नतया तत्तद्वृत्तमायच्छतां विमानपरिच्छदानां विमानानुच्छादयामास पूर्वपूर्वमानानिव, यत एव निर्जराश्च ते स्फूर्जदूर्जस्वलतागर्जनतः सजरा इव जाताः ॥६॥

"ततश्च जङ्घालगतिलङ्घितांघ्रिपः स पुनरखर्वगर्वतः सर्वमेव धुन्वन्नर्वदानवः सिंहसंहतिरिव घर्घरितनिर्घोषमाततान ॥७॥

"आतते च निर्घोषे सम्यगर्गलितमहार्गलावर्गदुर्घट्टविकटकण्टक-कवाट-दुर्घट-निर्गममत्युदग्रं दुर्गायमाण-गरिष्ठगोष्ठविशङ्कट-कुठशाखावृतिसङ्घं सङ्घशः समुल्लङ्घितवत्यः सास्नावत्यः प्लुतगत्या सोद्भ्रमं सपद्यटवीं प्रत्येव च द्रुतं परिद्रुतवत्यः ॥८॥

"तदगणयन्नेव गोष्ठस्योपशल्यं प्रविष्टः परितश्च घोटमानः स देवद्विड्घोटकस्तु तमरिष्टमोटकमेव धोरितरीतिगत्यान्विष्टवान् ॥९॥

"अथ गवां द्रवाच्छोकाविष्टाः प्रष्ठगोष्ठपतिविशिष्टाः सर्व एव गोमिनो लोका निजान्योकांसि झगिति समुज्झन्तस्तदभिमुखमेव परमुन्मुखतया चक्रमुः। "यान् समग्रानप्यतिक्रम्य सम्यग्रभसमग्रत एव गच्छंश्छाताऽसच्छातकर्मा रामावरजन्मा राममप्यतिक्रम्याभ्यमित्रीयतया चित्रीयते स्म ॥१०॥

और जिस व्रज में उस केशी ने अत्यन्त तीक्ष्ण से भी तीक्ष्ण अपने खुरों की रगड़ के द्वारा, भूतल को छिन्नभिन्न करके खिड़क में आते हुए, एवं अपनी गर्दन की जटाश्रेणी को ऊपर की ओर आकाश में चारों तरफ घुमाते घुमाते, यथोचित स्थान से भ्रष्ट होने के कारण अधिक भय से मेघों में छिपकर, उस केशी के उस उस चरित्र को ग्रहण करनेवाले विमानचारी देवताओं के विमानों को उनके पहले पहले अभिमानों की तरह इधर उधर भगा दिया। जिसके कारण जरा (बुढ़ापा) से रहित वे देवगण भी उस केशी की वज्र की सी तेजस्विनी गर्जना से सजरा (बुढ़ापे के सहित) की तरह हो गये ॥६॥

उसके पश्चात् अतिशय वेगवाली गति से वृक्षों को लाँघनेवाले, घोड़े की सी आकृतिवाले उस केशी दैत्य ने पुनः विशाल गर्व से सभी को कँपाते हुए, सिंहों के समूह की तरह विकट शब्द का विस्तार कर दिया ॥७॥

उस भयङ्कर शब्द के फैल जानेपर सभी गैयाएँ घबराहटपूर्वक, कुदकती हुई चाल से तत्काल वन के प्रति शीघ्र ही दौड़ पड़ीं। अच्छी तरह अड़बंगाओं की तरह लगे हुए बड़े बड़े अड़बंगासमूह से खोलने के अयोग्य, विकट कण्टकयुक्त किवाड़ों के कारण उनका बाहर निकलना कठिन था, एवं अत्यन्त ऊँचे किले की तरह विशाल खिड़क की बड़े बड़े वृक्षों की शाखाओं की जो वाड़श्रेणी थी, गैयाएँ श्रेणीपूर्वक एकसाथ उस वाड़ को भी लाँघ गईं ॥८॥

इस प्रकार के दुर्गम खिड़क को कुछ भी न गिनता हुआ, खिड़क के प्रान्तभाग में प्रविष्ट होकर चारों ओर फेरीलगाता हुआ, देवताओं का द्वेषी एवं अश्व की आकृतिवाला वह केशी, घोड़ों की पहली रीति की चाल से, अरिष्टासुर का मर्दन करनेवाले श्रीकृष्ण को ही ढूंढ़ने लग गया ॥९॥

अनन्तर धेनुओं के दौड़ने के कारण, शोक से आकुल हुए अग्रगण्य श्रीव्रजराज से युक्त सभी गोपगण, शीघ्र ही अपने अपने घरों को त्यागते हुए, ऊपर की ओर मुख करके, केवल केशी के ही सम्मुख चल दिये। और जिनके कर्म असज्जनों के सुख का छेदन करनेवाले हैं, वे ही बलरामजी के छोटे भाई श्रीकृष्ण जिन

"ततः समग्रव्यग्रतां गता व्रजजनाग्रण्यस्तमभिक्रममाणं प्रत्याचक्षाणास्तवैतदाचक्षत,—
'अयं वाजी वज्रत्तनुरुहततिर्व्रज्रिविजयी, निजध्वानस्फूर्जाद्विजितदिविजप्रोज्झितपथः ।
भवांश्छायाप्रायप्रभवनवतापिञ्छतुलित-, स्ततस्त्वं मा यासीः सपदि पुरतस्तस्य पुरतः ॥'११॥

"तदेवमत्याहिते प्रत्यासन्ने मातरपुत्रयोरपीदं विवदनमासीत्,—
'पुत्र ! क्व गच्छसि हयं कलयामि मातः !, प्रोद्दामदुर्व्यववसितः खलु हन्त सोऽयम् ।
किं नः करिष्यति स वा विगतस्वसादी, त्वं याहि गेहमहमस्मि विचेतनः किम् ?' ॥१२॥

"ततश्च क्षोभात् प्रोद्भावितधाष्टर्या गोष्ठाधीशमपि सेदं निर्दिष्टवती,—
'मया बाल्यान्नैव त्वयि गृहपतावुद्ध ुरवचः, प्रयुक्तं किन्त्वद्य प्रकटयितुमिष्टं निशमय ।
कथं न त्वं सर्वैः सह सपदि गृह्णासि पृथुकं, कथं वा नान्येऽपि प्रतिहयमयन्ति व्रजपते ! ॥'१३॥

"अनादित एव दितीकृतदितितनुजः श्रीरामानुजस्तु तदेवं वर्ण्यमानमवकर्ण्य विहस्य मातरं विश्वास्य विश्वविश्वासास्पदसुखदस्तं सासूक्षणं क्षणं निरीक्ष्य स्वमुपह्वरमानेतुमाह्वयत ॥ १४

सब व्रजवासियों का अतिक्रमण करके, पश्चात् श्रीबलरामजी के भी आगे जाकर, शत्रु के अभिमुख जाकर आश्चर्य प्रकाशित करने लगे ॥१०॥

तदनन्तर सम्पूर्ण व्यग्रता को प्राप्त हुए व्रजजनों के अग्रगण्य मान्यजन, शत्रु की ओर जाते हुए श्रीकृष्ण को निषेध करते हुए, यह बोले कि—हे व्रजजनजीवन ! श्याम ! देखो, यह घोड़ा साधारण नहीं है, इसके रोमसमूह वज्र का सा आचरण कर रहे हैं, यह स्वयं इन्द्रपर विजय पानेवाला है, और यह अपने शब्द के प्रकाश से परास्त हुए देवताओं के मार्ग को भी छुड़ा देता है, और तुम तो प्रायः छाया में ही उत्पन्न होनेवाले नवीन तमालवृक्ष के समान कोमल हो, अतः तुम नन्दग्राम से सहसा उस असुर के सामने मत जाओ ॥११॥

अतएव इस प्रकार का महान् भय पास में उपस्थित होनेपर, माँ यशोदा एवं पुत्र श्रीकृष्ण का भी यह विवाद उपस्थित हुआ—यशोदा—हे पुत्र ! तू कहाँ जा रहा है ? कृष्ण—अरी माँ ! मैं घोड़ा को देख रहा हूँ । पुनः माता—हाय ! बेटा ! देख, इस घोड़े का आन्तरिक विचार या चेष्टा का प्रकार तो बहुत बुरा मालूम पड़ता है । यह निश्चय है । श्रीकृष्ण—अरी माँ ! सवारी से रहित हुआ वह घोड़ा हमारा क्या बिगाड़ करेगा ? अतः मैया तू तो घर को चली जा । क्योंकि मैं हित अनहित के विचार से शून्य कोई अचेतन हूँ क्या ? अतः विचार से ही कार्य करूँगा ॥१२॥

तदनन्तर क्षोभ के कारण धृष्टता को प्रकाशित करती हुई श्रीयशोदाजी, श्रीव्रजराज के प्रति भी यह निर्देश करने लगीं—हे स्वामिन् ! देखो, आप घर के स्वामी हो, अतः मैंने बाल्यकाल से ही आपके प्रति विनयरहित वचन का प्रयोग कभी भी नहीं किया, किन्तु आज तो मैं अपने अभीष्ट को प्रगट करने के लिए, जो कह रही हूँ उसको सुन लीजिये । हे व्रजराज ! तुम स्वयं सभी बन्धुओं के सहित इस छोटे से बालक को झटपट क्यों नहीं पकड़ रहे हो ? और उस घोड़े के प्रति दूसरे जन क्यों नहीं जा रहे हैं ? ॥१३॥

किन्तु श्रीकृष्ण तो अनादिकाल से ही दैत्यों का खण्डन करनेवाले हैं, अतः इस प्रकार के वर्णन को सुनकर, हँसकर माता को विश्वास दिलाकर, विश्वभर के विश्वासास्पद सुख के दाता होकर, क्षणभर अवज्ञापूर्वक उस दैत्य को देखकर, अपने निकट लाने के लिए उसको बुलाने लग गये ॥१४॥

"स च पूतनारिणाहूतस्तत्तेजसाऽन्तः परिभूतः शूरम्मन्यतया तस्मिन्नधूतः प्रथमतस्ताव-न्निजपराक्रमक्रमणाय क्रमशः प्रत्यग्गत्यनुक्रममन्थरतया विक्रममाणस्तं प्रति सम्प्रति यमुनां यावदवकाशक्षोणीं विश्राणितवान्। दूरतस्तु निजाभिद्रवस्य तेजस्विता भवेदिति क्षोणीं विश्राण्य च कृष्णं निर्धार्यंतया निर्धार्य देवार्यर्वा गर्वाद्धर्यक्षलक्षस्येव गर्जितमर्जन्नरिपक्षं तर्जति स्म ॥१५॥

"ततश्च सर्वं युगपदरिरिषतीव चिकरिषतीव जिगरिषतीव च तस्मिंस्तदसहमानः सहसा सिंहनादं बृंहयन् सिंहसंहननः स च कृष्णस्तं धृष्णजमभिसाग्रहमभिग्रहमेव जग्राह। समग्र एव व्रजश्च व्यग्रतया तदनुगतिमिति स्थिते स तु तत् पश्यन्नुत्तेरिताख्यया गत्या तमेव रोषादमन्दमभ्यवचस्कन्द ॥१६॥

"यत्र— व्योम सोऽयमतियन्निराप्लवत्, तत् पिबन्निव मुखं व्यदीदरत्।
एवमंघ्रियुगलेन यद्व्यहं,-स्तच्च तत्प्रतिगतं हरिर्व्यधात् ॥१७॥

"ततश्च, द्रागुच्छलच्चरणपुच्छमतुच्छमेत,-मुच्छूनरोम-ततिगुच्छवदुन्नमय्य।
चिक्षेप चापशतक-क्षितिलक्षिताग्रे, डिण्डीरपिण्डमिव वारिधिभङ्गसङ्घः ॥१८॥

पूतनारि श्रीकृष्ण के द्वारा बुलाया हुआ देववैरी अश्वरूपधारी वह दैत्य उनके तेज से अन्तःकरण में तिरस्कृत होकर भी, वीरमानी होने के कारण, श्रीकृष्ण के निकट कम्पित न होकर, पहले अपने पराक्रम का विस्तार करने के लिए, पीछे की गति की शिथिलता के कारण पादप्रक्षेप करता हुआ, श्रीकृष्ण के प्रति यमुनाजी तक की अवकाशमयी भूमि को दे गया, पश्चात् दूर से ही अपने दौड़ने की तेजस्विता हो सकेगी इसीलिए पृथ्वी को देकर, अर्थात् श्रीकृष्ण के सामने की भूमि को छोड़कर, और श्रीकृष्ण को ही कार्यकर्ता-रूप से निश्चित करके, अहङ्कार से लाखों सिंहों की तरह गर्जना की अर्जना करता हुआ अपने शत्रुपक्ष को फटकारने लगा ॥१५॥

तदनन्तर वह दैत्य जब सबको मानो एकसाथ ही प्राप्त करना चाहता था, फेंकना चाहता था, एवं मानो निगलना ही चाहता था, तब सर्वाङ्गसुन्दर श्रीकृष्ण ने उसकी दुष्टता को न सहते हुए, एवं सहसा सिंह की सी ध्वनि बढ़ाते हुए, उस धृष्ट दैत्य को आग्रहपूर्वक ललकार कर पकड़ लिया, और समस्त व्रज-वासियों ने ही श्रीकृष्ण के पीछे पीछे जाना अङ्गीकार कर लिया। ऐसी स्थिति में वह केशी तो उन व्रजवासियों की चेष्टा को देखता हुआ "वेग से अन्धा होकर न देखता हुआ एवं न किसी की बात को सुनता हुआ" ऐसी उत्तेरित नामक गति (चाल) के द्वारा क्रोध से शीघ्रतापूर्वक श्रीकृष्ण के सम्मुख ही आगया ॥१६॥

आते समय भी वह केशी मानो आकाश को लाँघता हुआ सा कूदता हुआ, एवं मानो आकाश को पीता हुआ सा अपने मुख को फैलाने लगा। और इसी प्रकार अगले दोनों चरणों से जिस आकाश को ताड़ित कर रहा था, श्रीकृष्ण ने उस आकाश को पराङ् मुख कर दिया, अथवा दोनों चरणों द्वारा श्रीकृष्ण की जो ताड़ना करने लगा, वह ताड़ना श्रीकृष्ण ने विमुख कर दी ॥१७॥

और उसके बाद समुद्र का तरङ्गसमूह जैसे फेन के पिण्ड को दूर फेंक देता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण ने शीघ्र ही जिसके पैर एवं पूँछ ऊपर को उछल रहे थे, उस बलिष्ठ केशी को बढ़े हुए रोंगटों के गुच्छे की तरह ऊपर को करके सौ धनुष् के परिमाण से लक्षित भूमि के अग्रभाग में फेंक दिया ॥१८॥

स लब्धसंज्ञः पुनरुत्थितस्तदा, व्यादाय वक्त्रं तरसापतद्धरिम् ।
सोऽप्यस्य वक्त्रे भुजमुत्तरं हसन्, प्रादान्महाद्दर्दुरकस्य नागवत् ॥१६॥
दिव्याहिवत् कृष्णभुजश्च तद्‌गला,-वटे स्फुटं वीररसादवर्धत ।
महाविषज्वालहता इवापि तद्,-रदास्तदा पेतुरमुष्य तेजसा ॥२०॥
दन्ता निपेतुः सममिन्द्रियाण्य,-प्युद्धूतिमापुर्वपुराप कम्पम् ।
जरात्र तत्कालमुदित्य मृत्युं, प्रतीक्षमाणा किल वर्तते स्म ॥२१॥
यदास्य कण्ठं रुरुधे स तद्भुज,-स्तदाखिलाङ्गानि विदीर्णतां ययुः ।
तस्यैव शोकादिव तानि यत्परं, तदाश्रयाण्येव भवन्ति सर्वशः ॥२२॥
विशन्तं केशिनः कण्ठं कृष्ण-दोर्दण्डमेव किम् ।
जगत्प्राणाशनं मत्वा तस्य प्राणा विदुद्रुवुः ? ॥२३॥
एकं द्वारं रुद्धमेतद्‌गलाख्यं, मन्निष्क्रान्तौ तानि भूयांसि कुर्याम् ।
इत्थं किं तत्प्राणवर्गः समन्ता,-च्छिद्राण्याचर्याथ तस्मात् प्रतस्थे ? ॥२४॥
तस्य प्राणे निर्गते देहगेहात्, कार्ष्णो बाहुर्निर्गतः प्राघुणाभः ।
गेहं तच्च स्वामिनं तं विनाभून्, खण्डं खण्डं दिष्टतः किञ्च नष्टम् ॥२५॥

और वह केशी सचेत होकर जब पुनः उठ खड़ा हुआ, तब मुख फाड़कर वेग से श्रीकृष्ण की ओर दौड़ पड़ा। श्रीकृष्ण ने भी हँसते हँसते विशाल मेढ़क के मुख में सर्प की तरह, उस दैत्य के मुख में अपनी बाईं भुजा को प्रविष्ट कर दिया ॥१६॥

उस समय केशी के मुखरूप गड्ढे में, श्रीकृष्ण की भुजा दिव्य सर्प की तरह स्पष्ट ही वीररस से बढ़ने लगी। और उस भुजा के तेज से उस केशी के सारे दाँत भी मानो महाविष की ज्वाला से ताड़ित हुए की तरह धरती में गिर पड़े ॥२०॥

केशी के दाँत गिर पड़े एवं सारी इन्द्रियाँ भी एकसङ्ग निश्चेष्टता को प्राप्त हो गईं, शरीर काँपने लगा तथा उसके शरीर में बुढ़ापा तत्काल प्रगट होकर, मृत्यु की प्रतीक्षा करने लग गया ॥२१॥

श्रीकृष्ण की उस भुजा ने जब उस केशी के कण्ठ को रोक लिया, तब उसके सारे अङ्ग विदीर्ण हो गये। मानो उस कण्ठ के शोक से ही वे सब अङ्गप्रत्यङ्ग उस कण्ठ की रुकावट के ही अनुगामी हो गये ॥२२॥

उस समय केशी के कण्ठ में प्रविष्ट होते हुए, श्रीकृष्ण के भुजदण्ड को जगत्‌भर के प्राणनाशक ही मानकर उसके प्राण निकल भागे क्या ? ऐसी उत्प्रेक्षा हो रही थी ॥२३॥

यह कण्ठ नामक एक द्वार तो रुक गया है, अतः मेरे निकलने के निमित्त मैं बहुत से दरवाजे कर लूँ। मानो इस प्रकार विचार कर ही उस केशी का प्राणसमूह चारों ओर छिद्र करके उस देह से चल पड़ा ॥२४॥

केशी के देहरूप घर से उसके प्राण निकल जानेपर श्रीकृष्ण का हाथ (सूने घर से) अतिथि की तरह बाहर निकल पड़ा। उस समय उस केशी के प्राणरूप स्वामी के बिना वह देहरूपी घर खण्ड खण्ड हो गया। और शुभ अदृष्ट से उसका लिङ्गदेह भी नष्ट हो गया या दैवयोग से प्राकृत शरीर अदृश्य हो गया ॥२५॥

केशिकण्ठावटात्तेन निरकोषि यदा भुजः। तदा स्वभावमेवाप्तः संहारे दिव्यबाणवत् ॥२६॥
अन्ते मुक्तं तेन गूथमित्युक्तं युक्तमिष्यते। तादृशां मुक्तिकृत् कृष्ण-कृपा या सातियुक्तिका ॥२७॥
द्विधाकृतं केशि-देहं वर्णयन्ति द्विधाकृतम्। जरासन्धनिभं केचित् केचित् कर्कटिकानिभम् ॥२८॥

"तदेवमश्वदैतेये वपुषा लब्धद्वैते स्वरूपेण तु लब्धाद्वैते प्रमनसां विकीर्णसुमनसां सुमनसां कृष्णाभिप्रायमभिप्रयतामुक्तिर्यथा—

'आस्यं व्यादाः सपदि निखिलं मद्वपुस्त्वं गरीतुं
तत्राहं तत् परिकलयितुं तद्गले बाहुमाधाम्।
तेनैवासौर्यदि विगलितप्राणकस्तर्हि तावद्-
गर्विन्नर्वन्नहह सहसा साहसं किं न्वकार्षीः?' इति ॥२९॥

"अथ व्रजः कलकलशब्दमब्दवत्, सृजन्मुहुर्हरिमचलं मुदावृणोत्।
स वृष्टिवत् प्रमदजमस्रमस्रव,-ज्झरप्रभं स च तदसूत भूतले ॥३०॥

"अथ सर्वे सतृष्णा मध्यमध्यासितकृष्णाः प्रेमतारतम्यरम्यतया यथास्वमन्तरन्तर्लब्धान्तरास्तदन्तव्यन्तरितत्वेऽपि तदनन्तरम्मन्यास्ते धन्यास्तदपरमप्यालिङ्गन्तस्तमेव मन्वाना विकारवृन्दमविन्दंत ॥३१॥

श्रीकृष्ण ने केशी के कण्ठरूपी गड्ढे से जब अपनी भुजा निकाल ली, तब वह भुजा उपसंहार के समय दिव्य बाण (ब्रह्मास्त्र) की तरह विस्तार को छोड़कर, अपने पहले स्वभाव को प्राप्त हो गई ॥२६॥

अन्त के समय उस केशी ने मल को त्याग दिया, यह बात जो श्रीमद्भागवत में कही है, वह भी उचित ही है। क्योंकि उस प्रकार के पापियों की मुक्ति करनेवाली श्रीकृष्ण की जो कृपा है, वह युक्ति से अतीत है, अर्थात् श्रीकृष्ण की कृपा होनेपर अपवित्रता आदि दोष नहीं रहते, अतः वह सर्वप्रकार के मलों का अपहरण कर लेती हैं ॥२७॥

दो खण्ड किये हुए केशी के देह को विज्ञजन दो प्रकार से वर्णन करते हैं, यथा—कुछ जन तो जरासन्ध की तरह, एवं कोई कोई ककड़ी के फल की तरह, अर्थात् पकी फूट की तरह खिल गया ऐसा कहते हैं ॥२८॥

अतएव इस प्रकार घोड़े की आकृतिवाले केशीदैत्य के शरीर से तो दो भागों में विभक्त हो जाने पर, एवं जीवरूप से श्रीकृष्ण का सायुज्य प्राप्त हो जानेपर, प्रसन्न मनवाले, पुष्पों की वृष्टि करनेवाले, श्रीकृष्ण के अभिप्राय को जाननेवाले देवताओं की उक्ति, यथा—अरे! दैत्य! मेरे समस्त शरीर को निगलने के लिए ही तूने तत्काल अपना मुख फैलाया था, मैंने भी उस मुख में निगलने को देखने के लिए तेरे गले में अपनी भुजा अर्पण की थी, यदि उस भुजा के अर्पण मात्र से ही तू प्राणरहित हो गया, तब हे गर्वीले! घोड़े! हाय हाय! सहसा ऐसा साहस क्यों कर बैठा? ॥२९॥

अनन्तर मेघ की तरह बारम्बार कलकल शब्द करते हुए व्रजवासियों ने, अचल खड़े हुए श्रीकृष्ण को हर्षपूर्वक चारों ओर से घेर लिया। और वह व्रजजनसमुदाय हर्ष से जायमान अश्रुओं को वर्षा की तरह बहाने लगा, पश्चात् वही जनसमूह झरने के समान उस अश्रुप्रवाह को भूमिपर उत्पन्न करने लग गया ॥३०

तदनन्तर वे सभी व्रजवासी अभिलाषा से युक्त होकर, श्रीकृष्ण को अपने बीच में रखकर, प्रेम के तारतम्य की रमणीयता के कारण, यथायोग्य बीच बीच में अवकाश को पाकर, एवं केशी का नाश होने

"ततश्च क्षणकतिपयात् प्रतिगतबहिर्मतितया सहकृष्णाः कृष्णा-घट्टमटित्वा सस्नुः ॥३२॥ यत् खल्वद्यापि केशितीर्थतया तीर्थवर्याः पर्यवयन्ति । यस्य च भास्वत्पुत्र्याः प्रतिलोमगतिं प्रति किञ्चिन्निकटत एव कुठ-कूटघटिततटघट्टान्तरमधिष्ठाय तत्परिश्रमशमनाय विशश्रमुः । द्वितीयघट्टश्चायं चेनघट्ट इति वृद्धैश्चीरघट्ट इति चाधुनिकैरुद्घुष्यते । चेनेति विश्रमसुखस्य हि माथुरभाषा ॥३३॥

"अथ विश्रम्य च कंसभ्रंशनशंसनमिदं केशिध्वंसनमिति रम्यसुखं सम्यगवगम्य द्विगुण-फुल्लमुल्लसन्तस्तन्तन्यमानकीर्तिनर्तित-मुखैर्वन्दिमुखैर्वन्दितमन्तर्विन्दमानं श्रीगोविन्दमावृण्वन्तः श्रीमन्तं व्रजदेवमनु व्रजन्तस्ते व्रजजनाः प्रथमं गोव्रजमयोजयन् ॥३४॥

"होही-जाते गोदुहां तत्र जाते, कार्ष्णं तत्तु प्रस्फुटं पर्यवायि ।
आसाराणां नर्दिते यद्वदुच्चै,-रम्भोदस्य स्निग्धगम्भीरशब्दः ॥३५॥

"अथ शत्रुं जितवन्तस्ते व्रजयुवराजादि-गोमन्तः प्रतिस्वं गोवृन्दमन्वितवन्तः परं व्रज-राजादय एव व्रजमाव्रजितवन्तः ॥३६॥

"कंसस्तु केशिध्वंसनमपि शृण्वन् व्यग्रमना विग्र इव गृहान्न निःससार ॥"३७॥

पर भी, उसका नाश न मानते हुए, वे धन्य व्रजजन श्रीकृष्ण से भिन्न को आलिङ्गन करते हुए भी, श्रीकृष्ण ही मानते हुए, सात्त्विक विकारसमूह को प्राप्त हो गये ॥३१॥

उसके बाद कुछ क्षणों के अनन्तर उन व्रजवासियों ने बाहरी बुद्धि को प्राप्तकर, श्रीकृष्ण के सहित यमुना के घाटपर जाकर स्नान किया ॥३२॥

जिस घाट को आज भी शास्त्रज्ञ पण्डितजन केशीघाटरूप से जानते हैं। और जिस घाट के निकट ही यमुनाजी की टेढ़ी चाल के प्रति वृक्षसमूह से युक्त दूसरे घाट का आश्रय लेकर, श्रीकृष्ण का परिश्रम दूर करने के लिए सभी ने विश्राम किया। वृद्धजन इस दूसरे घाट को 'चैनघाट' एवं आधुनिकजन 'चीरघाट' ऐसा कहके पुकारते हैं। 'चैन' यह विश्रामवाचक सुख की मथुरामण्डल की भाषा है, इसीलिए वृद्धजन चीरघाट को 'चैनघाट' कहते थे ॥३३॥

तदनन्तर कुछ देर विश्राम लेकर, यह केशी का विनाश कंस के विनाश का ही सूचक है। इसलिए अच्छी प्रकार सुन्दर सुख को जानकर, दुगुनी प्रफुल्लता से उल्लसित होते हुए, एवं अत्यन्त विस्तारित कीर्ति के द्वारा जिनके मुख नाच रहे हैं, ऐसे वन्दी आदि जनों से वन्दित सबके मध्य भाग को प्राप्त हुए श्रीकृष्ण को घेरते हुए, तथा श्रीमान् व्रजराज के निकट जाते हुए वे सब व्रजवासीजन पहले गोगण को नियुक्त करने लग गये ॥३४॥

वहाँपर गोपों के गऊओं को बुलाने के 'ही ही' नामक शब्दसमूह के उत्पन्न होनेपर, श्रीकृष्ण का वह 'ही ही' शब्द तो स्पष्ट ही उस प्रकार सब की पहचान में आता था कि, जिस प्रकार धारासम्पात के शब्द होनेपर भी, मेघ का ऊँचा एवं स्निग्ध गम्भीर शब्द पृथक् पहचान में आता है ॥३५॥

तदनन्तर शत्रु को जीतनेवाले श्रीव्रजराजकुमार आदि वे सब ग्वारिया, प्रत्येक अपनी अपनी गैयाओं के पीछे पीछे चलने लगे। केवल श्रीव्रजराज आदि ही व्रज में चले आये ॥३६॥

कंस तो केशी के विनाश को सुनते हुए भी व्यग्रचित्त होकर, नकटे की तरह लज्जा के मारे घर से बाहर नहीं निकला ॥३७॥

अथ समापनम्,— "सोऽयं तव व्रजाधीश ! सुतः सूतमनोरथः ।
केशिनं चात्र यश्चक्रे यमस्य प्रतिवेशिनम् ॥"३८॥

॥ इति श्रीश्रीगोपालचम्पूमनु केशिध्वंसनशंसनं नाम द्वात्रिंशं पूरणम् ॥३२॥

अथ त्रयस्त्रिंशं पूरणम्

सर्वमनोरथ-पूरणम्

अथ निशीथिनीकथायां कुण्ठः समुत्कण्ठश्च मधुकण्ठः सगद्गदं जगाद,—"तदेवं रामानुजस्य रमणीनामप्यमूषां दिनं दिनमप्यनुपरमणं रमणमतीव जीवनसमतामवाप । "यत्र समुत्कण्ठाप्यकुण्ठा जाता ॥१॥

यतः, यदपि परस्परमिलनं, हरिगोपीनां चिरान्न विच्छिन्नम् ।
तदपि न तृष्णा शान्ता, स्वाप्निकपाने यथा पिपासूनाम् ॥२॥

"तत्र तु रमणं यथा,—
अन्योऽन्यं रहसि प्रयाति मिलति श्लिष्यत्यलं चुम्बति
क्रीडत्युल्लसति ब्रवीति निदिशत्युद्भूषयत्यन्वहम् ।

अनन्तर प्रसङ्ग समाप्तिद्योतक वचन, यथा—हे व्रजराज ! जिसने यहाँ पर केशी को यमराज का निकटवर्ती बना दिया, वह तुम्हारा पुत्र सभी मनोरथों को उत्पन्न करता हुआ विराजमान है ॥३८॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रिविरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीगोपालचम्पूकाव्ये केशिविनाशसूचकं नाम
द्वात्रिंशं पूरणं सम्पूर्णम् ॥३२॥

तैंतीसवाँ पूरण

सब के मनोरथों की पूर्ति

इस तैंतीसवें पूरण में श्रीकृष्ण एवं उनके भक्तों के मनोहर मनोरथ की पूर्ति का वर्णन होगा ॥

अनन्तर रात्रि की कथा में असमर्थ एवं अच्छी प्रकार उत्कण्ठित हुआ मधुकण्ठ गद्गद होकर बोला—इस प्रकार श्रीकृष्ण एवं उनकी प्रियतमा गोपियों की प्रतिदिन विरामरहित जो क्रीडा थी, वह अत्यन्त जीवन की समता को प्राप्त हो गई थी और जिस क्रीडा में अच्छी प्रकार की उत्कण्ठा भी असंकुचित हो गई थी ॥१॥

कारण यद्यपि श्रीकृष्ण एवं गोपियों का परस्पर मिलन बहुत समय पर्यन्त विच्छिन्न नहीं हुआ था, तो भी स्वप्नावस्था के जलपान में प्यासे व्यक्तियों की प्यास जैसे शान्त नहीं होती, उसी प्रकार उनके परस्पर मिलन की तृष्णा शान्त न हुई ॥२॥

उस समय वहाँपर क्रीडा, यथा—गोपियाँ एवं श्रीकृष्ण दोनों ही परस्पर एकान्त में जाते हैं, मिलते हैं, आलिङ्गन करते हैं, अत्यन्त चुम्बन करते हैं, क्रीडा करते हैं, उल्लसित होते हैं, प्रेम की बातें करते हैं, "मेरे वेश की रचना करो" परस्पर इस प्रकार की आज्ञा देते हैं, एवं प्रतिदिन बारंबार नई नई वेष रचना

गोपीकृष्णयुगं मुहुर्बहुविधं किन्तु स्वयं नोहते
शश्वत् किं नु करोमि किं न्वकरवं कुर्वीय किं वेत्यपि ॥३॥

"उत्कण्ठायान्तु तदेव पद्यं बहुविधमित्यनन्तरमेवं पठनीयम्—
........................किन्त्वेतदेवोहते
तच्चैतन्न हि जागरस्थमपि तु स्वप्नादिचित्तभ्रमः ॥४॥

"किं बहुना ? तदनुभवे च तासां भावनेयम्,—
'उत्पत्तिरक्ष्णोरभितो न सत्फला, याभ्यां न तस्याद्भुतरूपमीक्षितम् ।
हा कर्णयोरप्यलमर्थदा न सा, याभ्यां श्रुतं नैव हरेः सुभाषितम् ॥५॥

हा चक्षुरादीनि हरेः समागमे, यद्यागमिष्यन् श्रवणादि कर्म च ।
तदाव्रजिष्यन् विषयोणि नाप्यमू,-न्यसूयया धिग् व्यतिदूयमानताम् ॥'इति॥६॥

"कदाचिच्च— साङ्गालिङ्गनलङ्गिमेऽङ्गवलयासङ्गेऽपि शार्ङ्गी तदा
गोपीनां स्फुरति स्म दूरगतया प्रेमापगापूरतः ।
यस्मादुत्कलिकाकलापवलना वृत्तिं बहिर्लुम्पती
स्वप्नाभं दिशती सतीमपि दृशि स्फूर्तिं मुहुर्लुम्पति ॥७॥

करते हैं। किन्तु स्वयं इस प्रकार का तर्क वितर्क नहीं करते थे कि—मैं निरन्तर क्या कर रहा हूँ, या कर रही हूँ? क्या कर चुका, या क्या कर चुकी ? अथवा क्या कार्य कर सकूँगा, या कर सकूँगी ? इत्यादि ॥३॥

किन्तु उत्कण्ठा उत्पन्न होनेपर तो पूर्वोक्त श्लोक के तृतीयचरण के 'बहुविध' इस पद के अनन्तर इस प्रकार पढ़ना चाहिये। उसका अर्थ, यथा—किन्तु गोपी-कृष्णरूप युगलजोड़ी यही तर्क वितर्क करती थी कि—यह हमारा एकान्त में जाना मिलना आदि कार्य जागृत अवस्था में नहीं है, किन्तु स्वप्न आदि में होने-वाला चित्त का भ्रम ही है। अतः गमन, मिलन, चुम्बन आदि भी यथार्थ नहीं है ॥४॥

विशेष क्या कहें ? देखो, उन मिलन आदि के साक्षात् अनुभव होनेपर भी, उन गोपियों की प्रेमोन्मादमयी यह भावना थी कि, हाय ! जिन हमारे नेत्रों ने श्रीकृष्ण का वह लोकोत्तर रूप नहीं देखा, उन नेत्रों का जन्म सर्वतोभाव से सुन्दर फलवाला न हो सका। और हमारे जिन दोनों कानों ने श्रीहरि का सुन्दर भाषण नहीं सुना, हाय ! उन दोनों कानों का जन्म भी अत्यन्त अर्थदायक नहीं हुआ ॥५॥

हाय ! श्रीहरि के समागम के समय हमारी चक्षु, कर्ण आदि इन्द्रियाँ यदि श्रवण आदि कर्म को प्राप्त हो जातीं, अर्थात् नेत्र सुनने का कार्य एवं कान देखने का कार्य इत्यादिरूप से यदि हमारी सभी इन्द्रियाँ सभी कार्य करने में समर्थ हो जातीं, तब तो ये चक्षु आदि इन्द्रियाँ असूया के कारण, परस्पर सन्ताप के भाव को प्राप्त नहीं होतीं। अतः असूया से परस्पर सन्तप्त होने के भाव को धिक्कार है ॥६॥

और कभी कभी तो सम्पूर्ण आलिङ्गन से मनोहर अङ्गमण्डल के सङ्ग में विद्यमान भी, श्रीकृष्ण उस समय गोपियों की प्रेममयी नदी के प्रवाह के कारण दूरवर्ती जैसे स्फूर्ति पाते थे। कारण उनकी उत्कण्ठा के समूह की जो रचना थी, वह बाहरीवृत्ति को लुप्त करती हुई, नेत्रों में विद्यमान स्फूर्ति को भी स्वप्न के तुल्य प्राप्त कराती हुई बारंबार लुप्त कर देती थी ॥७॥

"श्रीराधायास्तु सुतरामनिर्वचनीयमेव सर्वं तत्प्रथमतया मिथस्तन्मिथुनस्यापि ॥८॥

"तथा हि— राधाऽजानादसङ्गे दनुजविजयिनः सङ्गमारादसङ्गं
सङ्गे चैवं समन्ताद् गृहसमयसुखस्वप्नशीतादिकानि ।
एतस्या वृत्तिरेषाऽजनि सपदि यदाऽन्यद्विचित्रं तदासीत्
कान्ताकान्तस्वभावोऽप्यहह यदनयोर्वैपरीत्याय जज्ञे ॥९॥

"तदेवमतिभूमितामिते भावभूमनि तेन च सर्वाभ्यर्णतामिव याते वृत्तजाते स्वस्ववधू-निरोधाय नियुक्तपुरुजनीजनेषु च गुरुषु तदुट्टङ्कनतः कृष्णस्तु तृष्णालज्जाभ्यां सज्जन्मनाः स्वमानसमन्वेवं भावयामास ॥१०॥

'हन्त किमिदमन्तरा जातम् ? कौलीनं खलु कौलीनं जनं कौ लीनमिव करोतीति मन्मनः कञ्चन विचारमाचारञ्च न सञ्चरति । लोकश्च शोकं प्रयास्यतीति निजवर्ग्यमनु दुःखं पाणिसर्ग्यं स्वयमेवाकरवम्, ततः किं करवाणि ?' ॥११॥

किन्तु श्रीराधिका के वे समस्त दर्शन, श्रवण आदि कार्य तो अत्यन्त अनिर्वचनीय ही हो गये थे । एवं परस्पर राधा कृष्णरूप युगलजोड़ी के भी, पहले श्रीराधा के एवं पश्चात् श्रीकृष्ण के सभी भाव संघटित हुए ॥८॥

देखो ! श्रीराधिका, दैत्योंपर विजय पानेवाले श्रीकृष्ण के वियोग में मानसिक स्फूर्ति के कारण उनका संयोग जानती थीं, और श्रीकृष्ण के निकट के संयोग में भी प्रेमोन्माद के कारण उनका वियोग ही जानती थीं । इसी प्रकार संयोग एवं वियोग दोनों में ही चारों ओर घर, समय, सुख, स्वप्न तथा शीतोष्णादि द्वन्द्व जानती थीं । इन श्रीराधिका की तत्काल जब ऐसी वृत्ति उत्पन्न हो गई, तब एक दूसरा विचित्र आश्चर्य यह हुआ कि—अहह ! इन राधा-कृष्ण का कान्ता एवं स्वामी का स्वभाव भी विपरीतता के लिए हो गया था । अर्थात् कान्त का आचरण कान्ता में, एवं कान्ता का आचरण कान्त में आ गया था ॥९॥

अतएव इस प्रकार भाव की अधिकता जब अतिशय विशेषता को प्राप्त हो गई, एवं उसी भाव की अधिकता के कारण गोपी-कृष्ण का वृत्तान्तसमूह जब मानो सबके निकट ही पहुँच गया, और अपनी अपनी पुत्रवधुओं को रोकने के लिए, सास-ससुर आदि गुरुजनों ने जब बहुत से स्त्री-पुरुष नियुक्त कर दिये, तब उस रुकावट के इशारे से श्रीकृष्ण तो, तृष्णा एवं लज्जा के कारण, आसक्त मनवाले होकर, अपने मन में इस प्रकार विचार करने लगे— ॥१०॥

हाय ! हमारी एवं गोपियों की क्रीडा के बीच में यह रुकावट क्यों उत्पन्न हो गई ? यह बात भी निश्चित है कि लोकापवाद, अच्छे कुल में उत्पन्न हुए जन को पृथ्वी में मानो विलीन सा कर देता है । इसीलिए मेरा मन किसी विचार एवं कुलाचार का संचार नहीं कर पा रहा है । और उस प्रकार के आचार से जनमात्र ही शोक को प्राप्त हो जायगा । इस विचार से अपनी गोपजाति में उत्पन्न हुए जन को लक्ष्य करके मैंने स्वयं अपने हाथ के द्वारा ही दुःख की सृष्टि कर डाली । अतः अब मैं क्या करूँ ? ॥११॥

"पुनः सप्रणिधानमिदं विविनक्ति स्म,—'नेदमनाचारमिव प्रतिभाति। भाति हि मम चित्तमनेन, न तु म्लानिं याति ॥'१२॥

"पुनरपि च परामपर्श,—'ताः पुनर्मम पराङ्गना एवानुभूयन्ते, न तु पराङ्गनाः। तस्माद्भवेदत्र विशेषः सन्दर्भविशेषः; यमेव खल्वहमिव लोकोऽप्ययमनिर्णीय नूनं गर्गदुर्वर्णनयास्मदपयानं निर्णीय च शीर्णीभवन् शङ्कया सङ्कसुकतामुरीचक्रे, येन चामूरपि नूनं स्वं धिक्कुर्वन्ति ॥१३॥

'यथा— व्रजे जातेर्जाता व्रजजनसमानप्रकृतिता
ततः कृष्णे प्रेमा तमनु सहसा तं प्रति गतिः।
ततस्तत्रासङ्गस्तमनु विपरीतं किमपि तत्
ततो व्यक्तं तच्च प्रथय सखि! धिक् किं नु करवै ?'इति॥१४॥

'अथ तं पराङ्गनापराङ्गनाविचारगर्भं सन्दर्भं पुनरस्मिन्निजनिजाभिलषित-कल्लोल-लोल-मत्प्रेम-कल्लोलिनी-वल्लभे मदङ्गसङ्गतमरुल्लवेनापि वेल्लति बल्लवावलये न सम्यगनुसन्धातुं सन्धां लभामहे ॥१५॥

पुनः मनोयोगपूर्वक यह विवेचना करने लगे कि—यह मेरा आचरण, अनाचार जैसा तो नहीं प्रतीत होता। क्योंकि गोपियों के साथ विशुद्ध स्नेहरूप इस मेरे आचरण से मेरा चित्त प्रफुल्लित प्रतीत हो रहा है, किन्तु ग्लानि को नहीं पा रहा है ॥१२॥

पुनः विचारने लगे कि—वे गोपियाँ भी मेरी दृष्टि में, लक्ष्मीरूप होने से श्रेष्ठ अङ्गना ही अनुभूत हो रही हैं। किन्तु पराई स्त्रीरूप से अनुभूत नहीं हो रही हैं। अतः इस विषय में कोई प्रबन्धविशेष हो सकता है। जिस प्रबन्धविशेष को यह साधारण जनमात्र निश्चय ही मेरी तरह निर्णय न करके, और निश्चय ही श्रीगर्गाचार्य की दुर्मन्त्रणा के द्वारा, हम दोनों भाइयों के मथुरा गमन को निर्णय करके, विशीर्ण (दुःखित या क्षीण) होता हुआ शंका के कारण सङ्कसुकता (अस्थिरता) को स्वीकार कर चुका है। जिसके कारण ये गोपियाँ भी निश्चय ही अपनी आत्मा को धिक्कार देती हैं ॥१३॥

यथा—प्रत्येक गोपी अपनी अपनी सखी से कह रही है कि—हे सखि! देख, व्रज में जन्म होने के कारण मेरा स्वभाव व्रजवासीजनों के समान सीधा हो गया। उसी भोले स्वभाव से श्रीकृष्ण में मेरा प्रेम हो गया, उस विशुद्ध प्रेम को लक्ष्य करके ही सहसा श्रीकृष्ण के प्रति जाना बन गया। उस आने जाने से ही श्रीकृष्ण में मेरी आसक्ति हो गई। पश्चात् आसक्ति के कारण कोई अनिवार्य लोकापवाद उपस्थित हो गया। उसके बाद वह विपरीत लोकापवाद प्रगट भी हो गया। अतः मुझको धिक्कार है। हे सखि! तू ही बता, अब मैं क्या करूँ? ॥१४॥

उसके बाद पुनः निज निज अभिलषितरूप तरङ्गों से चञ्चल मेरे प्रेमरूप नदी के लिए, समुद्रस्वरूप इस गोपीमण्डल के मेरे अङ्ग में लगी हुई वायु के लेश से भी, क्षुभित हो जानेपर तो हम "यह पराई स्त्री है, अथवा यह पराई स्त्री नहीं है", इस प्रकार के विचार से युक्त उस अभिप्राय को अच्छी तरह अनुसन्धान करने के लिए, मर्यादा को नहीं प्राप्तकर रहे हैं ॥१५॥

'किञ्च यदि च वास्तवतया न विद्यते दोषस्तथापि तत्कथापि प्रथयति मम सङ्कोच-मिति व्रजाद्व्यवधातुमिवावदधाति मे चित्तवृत्तिः ॥१६॥

'तदेतद्व्यवधानमेव चायतामायतिशुद्धिं विधास्यति ॥१७॥

'ऋण-व्रण-कलङ्कानां काले लोपो भविष्यति' इति न्यायेन मम सम्यगनुसन्धानेन तेषां लोकानां पश्चात्तापमनु सदुपदेशग्रहणेन च ॥'१८॥

"अथ तदेतद्विभाव्य पुनः सोद्वेगं विभावयाम्बभूव,—

'हा गोष्ठं विपिनं पशून् व्रजजनं दासान् सखीन् प्रेयसी-
स्तातं मातरमप्यहो कथममूं हास्यामि राधामपि ।
मां यान्यङ्ग ! विना क्षणं कथमपि प्राप्स्यन्ति नात्मस्थितिं
यान्यन्तर्ज्वलनप्रभाणि विदधत् प्राप्स्यामि दाहप्रथाम् ॥'१९॥

"पुनर्विभाव्यात्मानमुद्दिश्याह,—

'अन्तःपुरीयसि वनेषु सखीयसि त्वं, वन्यान् मृगान्निज-तनूयसि गोपरामाः ।
दृष्टश्चकोरनयनाभिरमूभिरिन्दु,-दर्शं कथं वहसि कृष्ण ! परत्र तृष्णाम् ?' ॥२०॥

किञ्च वास्तविकरूप से तो उन गोपियों के नित्य पति होने के कारण, मेरे उनके सम्बन्ध में यद्यपि कोई दोष नहीं है, तथापि उस मिथ्या दोष की चर्चा भी मेरे सङ्कोच का विस्तार कर रही है। इसलिए मेरी चित्तवृत्ति अब कुछ दिन के लिए व्रज से व्यवधान करने के लिए, अर्थात् दूर रहने के लिए निर्णय कर रही है ॥१६॥

अतएव व्रज से मेरा यह व्यवधान ही अर्थात् दूर रहना ही, उत्तरकाल में, अर्थात् मेरे पीछे, विशाल विशुद्धि का विधायक हो जायगा, क्योंकि उस समय नित्य दाम्पत्य प्रगट हो जायगा ॥१७॥

और "ऋण, व्रण (घाव), एवं कलंक का समयपर लोप हो जायगा" इस नियम के अनुसार मेरे अच्छी प्रकार अनुसन्धान के द्वारा, एवं मेरा मिथ्यापवाद उड़ानेवाले उन लोगों के पश्चात्ताप को लक्ष्य करके, योगमाया आदि सज्जनों के उपदेश के ग्रहण करने के कारण, वह मिथ्या दोष भी नष्ट हो जायगा ॥१८॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण इस प्रकार विचार करके फिर भी उद्वेगपूर्वक चित्त में विचारने लगे कि—हाय ! इस प्यारे व्रज को, वृन्दावन को, गोगण आदि पशुओं को, प्यारे व्रजवासीजनों को, रक्तक; पत्रक आदि दासों को; सुबल, श्रीदामा आदि सखाओं को; ललिता आदि प्रियतमा गोपियों को, पिता माता को, और अहह ! उन प्यारी राधिका को भी किस प्रकार त्यागूँगा ? हे मेरे चित्त ! देख, जो व्रज एवं वृन्दावनादि मेरे पूर्वोक्त परिकर हैं, वे सब मेरे बिना एक क्षण भी, किसी प्रकार भी अपनी स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकेंगे। और अग्नि के समान कान्तिवाले जिन व्रज आदि सब पदार्थों को अपने अन्तःकरण में धारण करता हुआ, मैं अत्यन्त दाह को प्राप्त हो जाऊँगा ॥१९॥

पुनः विचार कर अपने को ही उद्देश्य बनाकर बोले—हे कृष्ण ! तुम व्रजमण्डल के अनेक वनों में अन्तःपुर का सा व्यवहार करते हो, एवं वन में उत्पन्न होनेवाले मृगों के प्रति मित्रों का सा व्यवहार करते हो, तथा राधाप्रभृति गोपियों के प्रति अपने शरीर का सा व्यवहार करते हो, और उन चकोरनयना गोपियों

"पुनः प्रेयसीरनुसन्धाय,—

यस्मिन्नारोपिता हारास्तासां हन्त मया हृदि ।
साम्राज्यं हा करिष्यन्ति तस्मिन्नप्यस्र-बिन्दवः ॥२१॥

"तत्र च श्रीराधामनुसन्धाय हन्त हन्तेति प्रोच्य पुनराह,—

'हा चन्द्रद्रवयुतचन्दनेन सिक्ता, राधायास्तनुलतिका मया सहार्दम् ।
सैषा मद्विरहजलोचनोदगाहा, म्लास्यन्ती प्रतपति सम्प्रतीह मां च ॥२२॥
या पूर्वमुपलब्धासीन्नवचन्द्रकलोपमा । वह्नेः शिखेव सा जाता राधा दन्दग्धि हृन्मम ॥२३॥
राधाप्रेमप्राध्वमत्रागतोऽहं, हा प्राध्वः स्यामाशु सोऽहं कथं वा ।
तस्मात् प्राध्वंकृत्य धीवृत्तयोऽस्मि,-न्नेव प्राध्वं कुत्रचिन्नापरत्र ॥'२४॥

"इति क्षणं वाष्पायमाणेक्षणतया तूष्णीमासीत् । पुनश्च तथा तथा भावनव्राते जाते 'हन्त हन्त कथमहमहो क्लीवमानः पुनः शोकप्रपञ्चमश्नामि, यतः सम्प्रति भिद्दूरं चित्तं न विदुरतां विन्देत' इति विचिन्तयति स्म ॥२५॥

"तदेवं सावधानं सहसा रहस्तद्विमुञ्चन् सहचर-सहचारितामापन्नः, किन्तु नातिप्रसन्नतया ।" "एतदनन्तरमुदन्तं तु प्रातरेव प्रथयिष्यामि" इति सगद्गदं गदित्वा सहस्निग्ध-

---

के द्वारा तुम प्रतिदिन चन्द्रमा की तरह देखे गये हो, तो भी इन सबको छोड़कर दूसरे स्थानपर जाने की तृष्णा क्यों धारण कर रहे हो ? ॥२०॥

पुनः प्रेयसी गोपियों का अनुसन्धान करके बोले—हाय ! गोपियों के जिस कोमल हृदयपर मैंने अनेक प्रकार के हार पहनाये थे, हाय ! उसी हृदयपर अब मेरे वियोग में अश्रुबिन्दु अपना साम्राज्य करेंगे ॥२१॥

उन सब गोपियों के बीच में भी श्रीराधिका का अनुसन्धान करके हाय ! हाय ! इस प्रकार कहकर पुनः बोले—हाय ! राधिका की जो शरीररूप लता मैंने प्रेमपूर्वक कपूर के चूर से मिले हुए चन्दन के द्वारा सींची थी, वही राधिका की शरीररूप लता अब मेरे विरह से जायमान नेत्रजल में स्नान करके म्लान (हर्षरहित) होती हुई, इस होनेवाले विरह में मुझको भी सन्तप्त कर रही है ॥२२॥

पहले जो राधिका मैंने नवीन चन्द्र की कला के समान उपलब्ध की थी, वही राधिका आज अग्नि की शिखा के समान होकर, मेरे हृदय को अत्यन्त दग्ध कर रही है ॥२३॥

और राधिका के प्रेमबन्धन में पड़कर ही तो मैं इस व्रज में आया हूँ । अतः हाय ! वही मैं अब दूर देश के मार्ग का अवलम्बन करनेवाला कैसे हो जाऊँ ? इसलिए हे मेरी बुद्धि की वृत्तियो ! इस व्रज में ही अनुकूलता को धारण कर यहींपर बैठ जाओ। और दूसरी जगह कहीं भी जाने की चेष्टा मत करो ॥२४॥

श्रीकृष्ण इस प्रकार मन मन में कहकर आँसुओं से डबडबाते नेत्रों को धारण कर क्षणभर चुप बैठे रहे। पुनः उस उस प्रकार की भावनासमूह के प्रगट हो जानेपर, हाय ! हाय ! मैं सामर्थ्यविहीन होकर पुनः किस प्रकार शोक के विस्तार को प्राप्तकर रहा हूँ ? क्योंकि ऐसा करने से तो इस समय स्वयं विदीर्ण हुआ मेरा चित्त, जानकारी के भाव को भी न प्राप्तकर सकेगा ? इस प्रकार चिन्ता करने लग गये ॥२५॥

अतः इस प्रकार सावधानीपूर्वक उस एकान्त के विचार को सहसा त्यागते हुए, श्रीकृष्ण मित्रों के संग सम्मिलित हो गये, किन्तु अतिशय प्रसन्नतापूर्वक नहीं। "इसके आगे के वृत्तान्त को तो प्रातःकाल ही

कण्ठः स मधुकण्ठः स्ववाससा वदनं वसानः सशब्दं रुदन्नलब्ध-तदवसानश्चिरमासीत् ॥२६॥

चिरत एव तु तस्माद्विरम्य श्रीराधामाधवादीनपि स्वसाधारणानधिगम्य तदिदमवादीत्,—

"सुखाकुर्वन्त एवाध्वं तदिदं सुखमात्मनः ।
कथागतन्तु तद्दुःखं कथकानेव बाधताम् ॥'इति॥२७॥

"तदेवं तयोः सदनमासन्नयोः श्रीराधामाधवादयश्च पुनः स्वप्नलब्धमिव तद्दुःखं सुखपर्यवसानमुपलब्धं विधाय यथास्वमावासमासादयामासुः ॥२८॥

अथ प्रातःकथायां स्निग्धकण्ठ उवाच,—"तदेवं कंसगृह्यानन्यानन्यायभाजो निगृह्यार्व-वेशि-केशिवधात् पूर्वमहर्मुखे चालितचक्षुररविन्दः श्रीमान् गोविन्दश्चेतसि चिन्तितवान्,— 'प्रायः सर्व एव हिंसिताः कंसपक्षीयाः; केशी चाद्य श्वो वाऽऽपतिष्यति । केवलं कुवलयापीडः करी वरीवर्ति । 'अन्ये चान्यायभाजः शूरम्मन्याश्चाणूरतल्लजाः कतिचिन्मल्लाश्च ॥२९॥

स तु भोजवंशध्वंसनः कंसः श्रीमद्व्रजराज-तादात्म्यविराजमानमस्मत्-पितरं श्रीमदानकदुन्दुभि द्वन्द्वकारी दुन्वन्नेव वर्तते, सम्प्रति तु लोहशृङ्खलया रुन्धन्नस्तीत्यपि श्रूयते । भयातिशयमयतया च कंसः स्वयमिह न समयिष्यते ॥३०॥

विख्यात करूँगा" इस प्रकार गद्गदतापूर्वक कहकर, स्निग्धकण्ठ के सहित वह मधुकण्ठ अपने वस्त्र के द्वारा अपने मुख को ढकता हुआ, शब्दपूर्वक रोता हुआ, उस रोने के पार को न पाकर चिरकालतक रोता ही रहा ॥२६॥

बहुत देर बाद उस रुदन से विराम लेकर श्रीराधामाधव आदि श्रोताओं को भी अपने समान ही समझ कर यह बोला कि—हे श्रीराधामाधव आदि श्रोताओ ! देखो, तुम सबतो इस अपने सुख को अनुकूल करते हुए ही सभा में बैठे रहो। किन्तु वर्णन करते करते कथा में जो दुःख विद्यमान है, वह विरहजन्य दुःख तो हम जैसे कथावाचकों को ही पीड़ित करता रहे ॥२७॥

अतएव इस प्रकार कहकर उन दोनों कथावाचकों के अपने घर पहुँच जानेपर, श्रीराधामाधव आदि श्रोताजन भी पुनः स्वप्न मे पाई हुई वस्तु की तरह, अस्थिर उस वियोगजन्य दुःख को सुखरूप में परिणत हुआ उपलब्ध करके, यथायोग्य अपने अपने निवासस्थानपर पहुँच गये ॥२८॥

अनन्तर प्रातःकाल की कथा में स्निग्धकण्ठ बोला—पूर्वोक्त प्रकार से अन्याय का सेवन करनेवाले, पूतना आदि कंस के पक्षपाती अन्यान्य सभी राक्षसों का निग्रह करके, अश्ववेषधारी केशी के वध से पहले प्रभातकाल में ही, अपने नेत्रकमल को घुमाते हुए, श्रीमान् कृष्णचन्द्र अपने मन में विचारने लगे—कंस के पक्षवाले प्रायः सभी राक्षस मैंने मार दिये । और केशी दैत्य भी आज या कल आ पड़ेगा, अतः मारा जायगा । केवल कुवलयापीड़ नामक हाथी ही अच्छी तरह विद्यमान है । और अन्याय करनेवाले, अपने को शूरवीर माननेवाले कुछ मल्ल भी जीते जागते विद्यमान हैं, जिनमें चाणूर श्रेष्ठ है ॥२९॥

और भोजवंश का विध्वंस करनेवाला कलहकारी वह कंस तो, श्रीमान् व्रजराज के अभिन्नभाव से विराजमान हमारे पिता श्रीवसुदेवजी को, सन्तप्त करता हुआ विद्यमान है। इस समय तो यह भी सुना जाता है कि—वह दुष्ट, पिताजी को लोहे की साँकल के द्वारा रोकता हुआ विद्यमान है । और भय की अधिकता से परिपूर्ण होने के कारण, वह कंस इस व्रज में स्वयं नहीं आयेगा ॥३०॥

'तत्र लब्धान्तरे तत्प्रधानतास्वव्यपेक्षतया न तत्र मम गन्तव्यमस्ति । यतः पितृमुखावितृकः खल्वहम्, न तु स्वतन्त्रमन्त्रः, किन्तु योग्यं व्याजान्तरं मृग्यते । भवतु, यथाप्राप्तं तत् समाप्तव्यम् । तदलमलं तच्चिन्तनमलेन ॥'३१॥

"तदेतद्विचार्य च,—'हन्त हन्त ! तत्र प्रयाणे च जाते न जाने कियान् कार्यपर्यायावरोधः स्यात्' इति; 'कथं व्रजं विना समयं गमयिष्यामि' इति । "पुनः सास्र चिन्तयाञ्चकार,—॥३२॥

'विना मां तातः प्राग् न पिबति जलं सा च जननी
विना मामुच्छ्वासान् विसृजति बताऽसूनिव मुहुः ।
यथा तौ हा तद्वद्व्रजमनुगता विश्वजनता
तदास्तां तिर्यञ्चोऽप्यहह हृदि शल्यं विदधति ॥३३॥

'तदिदं न चाग्रजमपि वेदयितुमुत्सहे ।

'यतः, दुःखायते पुमान् कश्चित् कश्चिद्वा यः सुखायते ।
पूर्वस्मिन्न दयालुत्वं परस्मिस्तु दयालुता ॥'३४॥

उस विषय में दूसरे कारणों का अवकाश उपस्थित होनेपर भी, उस प्रकार की प्रधानता में दूसरे की अपेक्षा न करके केवल स्वतन्त्ररूप से मेरा मथुरा में जाना उचित नहीं है। कारण—मैं भी तो पिता श्रीनन्दजी आदि से सुरक्षित हूँ, अतः स्वतन्त्र विचारवाला नहीं हूँ। किन्तु इस विषय में किसी उचित बहाने को ढूंढ़ रहा हूँ। अच्छा, जाने दो। समयपर जैसा उपस्थित होगा उसी प्रकार कार्य समाप्त कर देना चाहिये। इसलिए उस प्रकार की मलिन चिन्ता करने से कोई प्रयोजन नहीं ॥३१॥

और इस प्रकार विचारकर, हाय ! हाय ! मेरा मथुरा में जाना हो जानेपर तो न जाने कितने कार्यक्रम में रुकावटे हो जायगी। इसलिए व्रज के बिना मैं अपने समय को कैसे बिताऊंगा ? इस कारण अश्रुप्रवाहपूर्वक पुनः चिन्ता करने लगे— ॥३२॥

यथा—हाय ! मेरे बिना मेरे पिता श्रीनन्दजी पहले जलपान भी नहीं करते हैं, एवं मेरे बिना देखे माँ यशोदा भी प्राणों की तरह बारम्बार लम्बे लम्बे श्वास छोड़ती रहती हैं। हाय ! जिस प्रकार वे दोनों माता पिता करते हैं, उसी प्रकार व्रज में रहनेवाली सारी जनता व्यवहार करती है। इस बात को तो रहने दो। आहा ! यहाँ के पशु पक्षी भी, मेरे बिना देखे अपने अपने हृदय में शल्य को धारण करते रहते हैं ॥३३॥

अतः इस विषय को बड़े भाई श्रीबलदेवजी के प्रति भी निवेदन करने को साहस नहीं कर रहा हूँ। कारण—जो कोई पुरुष दूसरे के प्रति दुःख निवेदन करता है, अथवा जो कोई पुरुष दूसरे के प्रति सुख निवेदन करता है, उन दोनों प्रकार के व्यक्तियों में से पहले व्यक्ति में, अर्थात् दुःखद समाचार सुनानेवाले पुरुष में दयालुता नहीं है। और दूसरे व्यक्ति में, अर्थात् सुखदायी समाचार सुनानेवाले पुरुष में दयालुता है ॥३४॥

"तदेवं प्रार्तविचारमाचर्य तदैव दैवत आपतितं केशिनं च मृत्युं प्रापय्य गोचारणाय चरणचर्यया वनं सञ्चरन्तं श्रीकान्तं क्वचिदेकान्तगतया हर्षितः श्रीमान् देवर्षिः सपदि साक्षादासेदिवान् । स चासन्नमागच्छन्तमच्छपरिच्छदं श्रीनारदं ददर्श ॥३५॥

"दृष्ट्वा च गीर्देवतादेहमिवाक्षररूपतां धरन्तम्, गङ्गाप्रवाहमिव विष्णुपदादवतरन्तम्, कैलासमिव वैष्णवलक्ष्मशिवमूर्तिम्, निजयशःस्तोममिव विविधगानकृतकर्णपूर्तिम्, क्षीरनीरनिधिमिवान्तर्वासितनारायणादिनामानम्, अमन्दकला-सान्द्रचन्द्रमसमिवान्तरङ्गतया धृतकृष्णधामानम्, शारदनीरदसमुदायमिव शर्मनेत्राप्यधारा वर्षन्तम्, भक्तिविशेषासक्तिव्यक्तनिजभक्तप्रहासमिव कृतहर्षं तं परामर्श ॥३६॥

"स च तमेवं ददर्श—सदाचरणसुष्ठुतायां साधुपद्मवत्, सदाशेषसुखदपदपृष्ठतायां कृततद्विधतनुश्रीकमठवत्, जङ्घालसत्कटकशोभितायां विजयध्वजवत्, सहजानूरुनामशस्ततायां गारुत्मतस्तम्भवत्, काकुद्मतविततायां निजव्रजतटवत्, शुभशोभावलग्नप्रह्लादकतायां नरसिंहवत्, भुवनकमलरमणीयनाभितायां सरोवरवत्, नारायणवद्वा । वरगुणरसमापीताम्बर-

इस प्रकार के विचार को प्रातःकाल ही करके, उसी समय दैवयोग से आये हुए केशी को मृत्यु के हवाले करके, पश्चात् गोचारण के लिए पैदल ही वन में विचरण करते हुए, श्रीपति कृष्णचन्द्र को कहींपर एकान्त में स्थित होने के कारण, हर्षित होनेवाले श्रीमान् देवर्षि नारदजी ने तत्काल साक्षात् प्राप्तकर लिया। श्रीकृष्ण ने भी निकट में आते हुए निर्मल वेषवाले श्रीनारदजी को देख लिया ॥३५॥

और उनको देखकर नारदरूप से जान लिया। सरस्वती का शरीर जैसे अकार ककारादि वर्णों के रूप को धारण करनेवाला है, उसी प्रकार श्रीनारदजी भी अक्षर रूप को, अर्थात् नित्य रूप को धारण किये हुए थे। गङ्गाजी का प्रवाह जिस प्रकार विष्णु भगवान् के चरण से अवतीर्ण हुआ है, उसी प्रकार श्रीनारद भी विष्णुपद से (आकाश से) उतर रहे थे। कैलास पर्वत जैसे वैष्णवों में प्रधान शिवजी की मूर्ति से युक्त है, वैसे ही श्रीनारद भी तुलसी, माला, तिलक आदि वैष्णवों के चिह्नों से मङ्गलमूर्ति थे। अपने अर्थात् श्रीकृष्ण के यशसमूह की तरह अनेक प्रकार के सङ्गीत के द्वारा सभी के कानों की पूर्ति करनेवाले थे। क्षीरसागर जैसे अपने भीतर श्रीनारायण आदि नामवाले शेषशायी भगवान् को निवास कराता रहता है, वैसे ही श्रीनारद भी अपने अन्तःकरण में श्रीनारायण आदि अनेक भगवन्नाम स्थापित किये हुए थे। पूर्ण सोलह कलाओं से घना चन्द्रमा जैसे अपने भीतर चिह्नरूप श्यामतेज को धारण करता है, वैसे ही श्रीनारद भी अन्तरङ्ग पार्षद होने के नाते, श्रीकृष्ण के प्रभाव को धारण किये हुए थे। शरत्कालीन मेघ-समुदाय जैसे सुखदायक जल की धारा वर्षाता है, वैसे ही श्रीनारद भी श्रीकृष्ण के दर्शनजन्य सुख से नेत्रों की जलधारा वर्षा रहे थे। और भक्तिविशेष में आसक्ति के कारण प्रगट हुए अपने भक्त के उत्कृष्ट हास्य की तरह श्रीनारदजी भी आनन्द कर रहे थे ॥३६॥

श्रीनारदजी ने भी श्रीकृष्ण को इस प्रकार देखा, यथा—चरणों की सदैव सुन्दरता के विषय में, श्रीकृष्ण सुन्दर कमल के समान थे, अर्थात् श्रीकृष्ण के दोनों चरण सदैव सुन्दर दिव्य कमल के समान हैं। पक्षे—सदाचार की सुन्दरता में वे पद्मसंख्यावाले सज्जन व्यक्तियों के समान थे। सदा समस्त सुखदायक चरणों की पीठ के विषय में, पक्षे—सदैव शेषजी को सुखदायक स्थानरूप अपनी पीठ के विषय में—चरण व चरण की पीठसदृश शरीरवाले सुन्दर कच्छप के समान थे, अर्थात् श्रीकृष्ण के चरणों के ऊपर का भाग कछुआ के समान उतार चढ़ाव का था। और जङ्घा अर्थात् पींडुरीन में विराजमान कटक (कडुला)

तायां नव्यरव्यंशुवत्, सन्ततमुदरश्वसनचलतायां पिप्पलदलवत्, हृदयङ्गमस्वर्णरेखाश्रीकतायां नीलमणिनिकषपट्टवत्, सद्गुणरत्नालयहृदयतायां रत्नाकरवत्, मर्यादापर्यापणभुजतायां जिष्णुरत्नार्गलवत्, अङ्गदादिलब्धप्रवेष्टतायां कौशल्यागर्भमङ्गलवत्, रोचमानमुद्राकरतायां कल्पवल्लीपल्लववत्, समुत्कण्ठस्वररूपतायां पाञ्चजन्यवत्, द्विजताराधिराजदास्यतायां द्विजराजवत्, नासया शुकमुखसक्तिजेतृशोभितायां स्वयमेव यद्वत्, निजसत्यव्रतभक्तरोचनविलोचनतायां नवीनदिव्यमीनवत्, चन्द्रकशोभकेशनिर्माणतायां समीरदागमसमयनीरदवत्, मकराङ्कालंकृतश्रवणतायां मकरध्वजवत्, सर्वदा सर्वत्रामृतवर्षि-शितिमूर्तिकृतपूर्तितायां पुनरमृतरश्मिवत्, रोहिणी-यशोदा-

---

की शोभा के विषय में, पक्षे—अत्यन्त वेगवाली सुन्दर सेनाओं की शोभा के विषय में, विजय की ध्वजा के समान; पक्षे—विजयसूचक पताका के समान। और दोनों घुटनों के सहित जो दोनों जङ्घा, उन दोनों की ख्याति के द्वारा स्तुति के विषय में, पक्षे—सहज (सहोदर) जो अनूरु (गरुड के बड़े भाई) के नाम की प्रशंसा के विषय में, गरुडमणिनिर्मित स्तम्भ के समान, पक्षे—गरुडरूप स्तम्भ के समान। अर्थात् श्रीकृष्ण की दोनों जङ्घा गरुडमणि के खम्भ के समान थीं। और काकुद्मत (नितम्ब अर्थात् कटिप्रदेश) की विशालता के विषय में पक्षे—काकुद्मत अर्थात् बैलों के समूह के विस्तार के विषय में, अपने व्रज के तट के समान; अर्थात् व्रज के तट जैसे सुन्दर एवं विशाल हैं, श्रीकृष्ण के नितम्ब भी उसी प्रकार विशाल थे। और शुभ शोभा से युक्त मध्यभाग (कमर) के द्वारा सबको आह्लादित करने के विषय में, नरश्रेष्ठ के समान, पक्षे—शुभजनक शोभा में लगे हुए प्रह्लादजी के भाव के विषय में, नरसिंह के समान। और भुवनरूप कमल के द्वारा नाभिप्रदेश की रमणीयता के विषय में, श्रीनारायण के समान, अथवा जल एवं कमलों के द्वारा क्षेत्रप्रदेश की रमणीयता में सरोवर के समान, अर्थात् श्रीकृष्ण की नाभि, कमल से युक्त गम्भीर सरोवर के समान थी। और श्रेष्ठ डोरी से युक्त सुवर्ण की करधनी है जिसपर ऐसे सुन्दर पीताम्बर के भाव में, पक्षे—श्रेष्ठ पीत नामक गुणरूप रसना (जिह्वा) के द्वारा आकाश को अधीन करने के विषय में, नवीन सूर्य की किरणों के समान, अर्थात् श्रीकृष्ण का पीताम्बर उत्कृष्ट सूत्रों की डोरी से युक्त था, अतः नवीन सूर्य की किरणों के समान चमक रहा था। और निरन्तर उदर में जो श्वास वायु है उसके द्वारा चञ्चलता के विषय में, पक्षे—सदैव किंचिद् वायु द्वारा चञ्चलता में प्रसिद्ध पीपल के पत्र के समान, अर्थात् श्रीकृष्ण का उदर थोड़ी सी वायु से चलते हुए पीपल के पत्र के समान उतराव चढ़ाव का था। और मनोहर सुवर्ण रेखा की शोभा से विशिष्टता के विषय में, श्रीकृष्ण का वक्षःस्थल नीलमणि की परीक्षा के लिए कसौटी के पत्थर के समान था। उत्कृष्ट गुणरूप रत्नों के आश्रयस्वरूप हृदय के भाव में समुद्र के समान, अर्थात् समुद्र जैसे श्रेष्ठ गुणवाले रत्नों का आलय है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण का हृदय श्रेष्ठ गुणरूपी रत्नों का आलय था। और मर्यादा की रक्षारूप भुजाओं के भाव में विजयशील रत्ननिर्मित अर्गल (अड़बंगा) के समान, अर्थात् श्रीकृष्ण की दोनों भुजा मर्यादा की रक्षा के लिए इन्द्रनीलमणि से बने हुए अर्गल के समान थीं। और अङ्गद (बाजूबन्द) आदि आभूषणों के लाभ से युक्त प्रवेष्ट (बाहु) के भाव के विषय में, पक्षे—जिसके द्वारा अङ्गद आदि वानरों का लाभ हुआ ऐसी भुजा के भाव के विषय में, कौशल्यानन्दन राम के समान मङ्गलवत्, अर्थात् श्रीकृष्ण की भुजाएँ बाजूबन्द से युक्त थीं, एवं अङ्गद आदि को एकत्रित करनेवाली श्रीरामजी की भुजा के समान सबकी रक्षा में समर्थ थीं। और प्रकाशमान मुद्रिका (अँगूठी) से युक्त हाथों के भाव के विषय में, पक्षे—रुचिकर हर्ष को देनेवाली खान के भाव के विषय में, कल्पलता के पत्र जैसे रुचिकर हर्ष को देनेवाली खान से युक्त हैं; वैसे ही श्रीकृष्ण के हाथ भी

नन्दनन्दनतायां रौहिणेयवत्, नरसिंहतासंहितसंहननतायां पुनर्नरसिंहवत्, मुहुरपूर्वमानरूपतायां पुनर्मीनमहीनवत्, पटिष्ठताविघटितबलिगर्विष्ठभावतायां वामनदेववत्, उत्पथवृषलाञ्छितवृष-निन्दकतायां जिननन्दनवत्, पयोराशिनिमज्जद्दुर्धरगोत्रसमुद्धरणधुर्यतायां पुनः श्रीकमठवत्, धरणीधरहारिविहारितायां वाराहावतारवत्, कृतवीर्यजातदुर्जन-क्षत्रक्षपणतायां भार्गवरामवत्, भावि-कालयवनसंयमनतायां विष्णुयशस्तनयवत्, लक्ष्मणचरितरचितप्रचुरसुखतायां पुनः श्रीरामचन्द्रवदिति ॥३७॥

प्रकाशमान अँगूठियों से युक्त थे। और हर्ष के सहित कण्ठ एवं स्वररूप के भाव के विषय में, पक्षे—अच्छी प्रकार उत्कण्ठाप्रद स्वर एवं रूप की विद्यमानता के विषय में, पाञ्चजन्य शङ्ख के समान, अर्थात् श्रीकृष्ण का कण्ठ एवं स्वर सर्वतोभाव से पाञ्चजन्य शङ्ख के समान था।

और (संस्कार के द्वारा) द्विजता को देनेवाले श्रेष्ठ ब्राह्मणों की दास्यता के विषय में, अथवा द्विज (दन्त), तारा (नेत्रों के तारे), पक्षे—आकाश के तारे उनसे विराजमान मुख की शोभा में, पक्षे—आस्यतायां (स्थिति के विषय में) चन्द्रमा के समान और नासिका के द्वारा शुकपक्षी के मुख की सजावटपर विजय पाने वाली शोभा से युक्तभाव के विषय में (दूसरा दृष्टान्त न होने के कारण), स्वयं अपने ही समान, अर्थात् श्रीकृष्ण की नासिका की कोई उपमा ही नहीं है। एवं भक्तों की रक्षारूप अपने सच्चे व्रत के द्वारा भक्तों को रुचिकर नेत्रों के भाव के विषय में, पक्षे—अपना सत्यव्रत नामक राजा जो पहले कल्प में भक्त था उसकी वांछापूर्ति के विषय में, नवीन दिव्य मीन के समान, भावार्थ—श्रीकृष्ण के नेत्र भक्तों की वांछापूर्ति के लिए दिव्य मत्स्य के समान थे। मोरपंख की शोभा से युक्त केश रचना के विषय में, पक्षे—चन्द्रमा को सुशोभित करनेवाले ईश, अर्थात् महादेव के निर्माण के विषय में, अच्छी प्रकार शब्द के सहित आनेवाले वर्षाकालीन मेघ के समान, और मकर के चिह्न से युक्त कुण्डलों से अलंकृत कर्णयुगल के भाव के विषय में, पक्षे—मकर के चिह्न से अलंकृत सुनने के विषय में, कामदेव के समान और सर्वदा सर्वत्र अमृत की वर्षा करनेवाली श्याममूर्ति, पक्षे—शुक्लमूर्ति के द्वारा की गई परिपूर्णता के विषय में, पुनः चन्द्रमा के समान और रोहिणी अर्थात् गोगण के एवं यशोदा तथा नन्द के आनन्द देने के विषय में, बलराम। पक्षे—रोहिणी को यश देनेवाला जो आनन्द तद्रूप पुत्रता के विषय में, क्रमशः गोगण के लिए वत्स के समान, चन्द्रपुत्र बुध के समान, एवं बलराम के समान और नरश्रेष्ठता से युक्त देह के भाव के विषय में, पक्षे—नर एवं सिंह के भाव से युक्त शरीर के भाव के विषय में, पुनः नरसिंह के समान और बारबार अपूर्व मान (सम्मान), पक्षे—(परिमाण) सम्बन्धी रूपता के विषय में, श्रेष्ठ मीन के समान और अतिशय चतुराई के द्वारा बलवानों के गर्वितभाव को दूर करने के विषय में, पक्षे—अत्यन्त छलने की चतुराई के द्वारा बलि राजा के गर्वित भाव को दूर करने के विषय में, वामनदेव के समान। कुपथ में पड़े हुए वृष (इन्द्र) के द्वारा लांछित वृष (धर्म) की निन्दकता के विषय में, और बुद्ध पक्ष में—कुपथगामी वृषल अर्थात् शूद्रों का जो आञ्छित (आयत), अर्थात् लम्बा चौड़ा धर्म उसकी निन्दकता के विषय में, बुद्धदेव के समान और कुपित इन्द्र के द्वारा बरसाये हुए समुद्रतुल्य जलसमूह में डूबते हुए व्रजवासियों को बचाने के लिए दुर्धर गोवर्धन को उठाने की अग्रगण्यता के विषय में, पक्षे—समुद्र में डूबते हुए दुर्धर मन्दराचल को अपने ऊपर धारण करने की श्रेष्ठता के विषय में, पुनः श्रीकच्छप भगवान् के समान और धरणीधर (श्रीबलरामजी) के साथ मनोहर विहार करने के विषय में, पक्षे—पृथ्वी धारणरूप मनोहर विहार करने के विषय में श्रीवराह अवतार के समान, और किये हैं पराक्रमसमूह जिन्होंने, ऐसे दुर्जन क्षत्रियों का विनाश करने के भाव में, पक्षे—कृतवीर्य-जात (सहस्रबाहु अर्जुन) आदि दुर्जन क्षत्रियों के विनाश के विषय में, श्रीपरशुराम के समान और कलिकाल

"तदेवमर्थश्लेषेण शब्दश्लेषेण च मिथश्चिन्तितसदुपमानयोरनयोः श्रीदेवर्षिरमुं श्रीहर्षिश्रीनिधानं वेदपारायणतः स्तूयमानं विधाय वीकाशं निवेदयामास,—॥३८॥

'शमितः शमितो येन दानवोऽसौ सदानवः। स परोऽपरतां यातः सोदयोऽनुदयो भवान् ॥३९॥

अविलम्बेन ये डिम्बे हसताऽहसत त्वया। ते सर्वे पूतनापूर्वाः पूनाः पूताश्च सर्वतः ॥४०॥

गुणैरगुणतां यातस्त्वमसौ नन्दनन्दन !। बिभर्षि वसुधां चित्रं स्थित्वापि वसुधोपरि ॥४१॥

शशधरमूर्तिः शुक्ला, गङ्गा विशदा सरस्वती श्येनी।
कीर्तिस्तव तु बकान्तक !, शुभ्रा सर्वं करोति शुभ्राभम् ॥४२॥

त्वत्कीर्त्या श्वेतितः कंसोऽप्येतत् कृष्ण ! मृषोदितम्।
तत्स्पर्शस्तस्य नास्त्येव किन्तु तद्भीतिवैकृतम्' ॥४३॥

में होनेवाले म्लेच्छों का संयमन करने के विषय में, पक्षे—भावी कालयवन के विनाश के विषय में, विष्णुयशा ब्राह्मण के पुत्र कल्कि के समान और लक्ष्मण (लक्ष्मीवान्) अर्थात् शोभायुक्त चरितों की रचना के द्वारा प्रचुर (विशेष) सुख देने के विषय में, पक्षे—लक्ष्मणजी के सहित किये गये चरितों की रचना के द्वारा प्रचुर सुख के भाव विषय में, पुनः श्रीरामचन्द्र के समान। श्रीनारदजी ने इस प्रकार श्रीकृष्ण का दर्शन किया। यहाँतक ददर्श क्रिया का सम्बन्ध है ॥३७॥

अतः पूर्वोक्त प्रकार से अर्थश्लेष एवं शब्दश्लेष के द्वारा परस्पर सुन्दर उपमाओं का विचार करनेवाले, श्रीकृष्ण एवं श्रीनारदजी, इन दोनों के बीच में से श्रीदेवर्षि नारदजी श्रीजी (श्रीराधिका) को हर्षित करनेवाली शोभा के निधान श्रीकृष्ण के प्रति, वेदपारायण के द्वारा स्तुति करके स्पष्ट निवेदन करने लगे— ॥३८॥

जो केशीदानव आपके द्वारा मारा गया वह कल्याण को प्राप्त हो गया। आप सदा स्तुति को प्राप्त हैं। वह दैत्य शत्रु होकर भी शत्रुता से रहित हो गया। आप भी समानभाव से प्रकाशित हो एवं दया का अनुसरण करनेवाले हो ॥३९॥

और हे भगवन् ! पहले बालकपन में आपने शस्त्ररहित युद्ध में जो पूतना आदि राक्षस हँसते हँसते शीघ्र ही मार दिये, वे सब नष्ट होकर भी सर्वतोभाव से पवित्र हो गये ॥४०॥

हे नन्दनन्दन ! एवंगुणविशिष्ट जो आप हो सो तो प्रभो ! अनन्त दिव्य गुणों के द्वारा अगुणता (मुख्यता) को प्राप्त हो गये हो। किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि, तुम पृथ्वी के ऊपर स्थित होकर भी पृथ्वी को धारण कर रहे हो। इस विरोधाभास का समाधान यह है कि—शेष रूप से पृथ्वी को धारण कर रहे हो, एवं नन्दनन्दन रूप से उसका पोषण कर रहे हो ॥४१॥

हे बकासुरनाशक ! प्रभो ! देखो, चन्द्रमा की मूर्ति शुक्ल है, श्रीगंगा भी श्वेत वर्णवाली हैं, एवं सरस्वती भी श्वेतवर्णवाली हैं, इन सबकी शुक्लता तो क्रमशः शैत्यांश में, पवित्रांश में, एवं वर्णनीय अंश में ही मानी गई है, किन्तु शुक्लवर्णवाली तुम्हारी विशुद्ध कीर्ति तो सभी को शुक्लवर्ण के समान कर रही है ॥४२॥

हे कृष्ण ! श्यामवर्णवाला कंस भी तुम्हारी कीर्ति के द्वारा श्वेतवर्ण विशिष्ट हो गया है, यह कथन मिथ्या है। कारण—आपकी कीर्ति का स्पर्श उसको प्राप्त ही नहीं है, किन्तु आपकी उस कीर्ति के भय से विकृतता ही है। अतः वह कंस भी जिस प्रकार श्वेतवर्ण का हो जाय, आपके द्वारा मुक्त होकर पवित्र हो जाय, वही उपाय करो। यह ध्वनि निकल रही है ॥४३॥

"तदेवं स्थिते तु किञ्चिन्मम निवेदनमस्ति,—

'तथा हि— प्रेमा वशयति सर्वं, खल्विति न मृषा प्रसिद्धिरुद्भाति।
कृष्ण ! त्वमपि स यस्मा,-न्न भजसि पूर्वापरानुसन्धानम् ॥४४॥
तस्माद्विमनसमधियं,-स्त्वामहमागच्छमाच्छन्नम्।
तां स्मारयितुमवश्यं, या सम्भविता भवल्लीला ॥४५॥
लोकेऽस्मिस्तव भक्ता, बहवः क्रमशश्च ते पाल्याः।
तस्मादवश्यमुदियुः, पौर्वापर्येण ता लीलाः ॥४६॥
केशिनं दितिजमश्ववेशिनं, यो जघान स भवानथाभवान्।
तान् विधातुमपरान् सतां परा, नुच्चकैः प्रभविताखिलाविता ॥'४७॥

'तथा हि— केलिमात्रेण ते दैत्या यद्विदेलिमतां गताः।
पचेलिमस्तेन तापात् कंसः प्रध्वंसमेष्यति ॥४८॥
क्रूरः स नेतुं सद्यस्त्वामक्रूरं तु प्रहास्यति।
त्वं च मात्रादिकं हित्वा यात्रां तं हन्तुमाप्स्यसि ॥'४९॥

"अथ सवैवर्ण्यं निर्वर्ण्य तथावस्थितवति तस्मिन् भावान्तरमृषिरुद्भावयन्नुवाच,—
'ततश्च सुजनरोष्टारं कंसं क्रोष्टारमिव रोषितासि ॥५०॥

अतः इस प्रकार की स्थिति में तो मेरा आपसे कुछ निवेदन है। यथा—हे कृष्ण ! "प्रेम निश्चय ही सबको वश में कर लेता है"। इस प्रकार की जो प्रसिद्धि प्रकाशित हो रही है वह मिथ्या नहीं है। क्योंकि तुम भी व्रजवासियों के प्रेम के वशीभूत होने के कारण, सर्वज्ञ होकर भी पूर्वापर का अनुसन्धान नहीं कर रहे हो। भावार्थ—यदि आप पूर्वापर का अनुसन्धान करते तो तुम्हारे माता पिता—देवकी वसुदेव को वैसा क्लेश नहीं भोगना पड़ता, परन्तु आप तो व्रजवासियों के प्रगाढ प्रेम में सब कुछ भूल गये हो ॥४४॥

इसलिए आगे जो तुम्हारी लीला अवश्य होगी उसका स्मरण दिलाने के लिए, तुमको विमनाः (उदास चित्तवाले) जानता हुआ, मैं गुप्तरूप से तुम्हारे निकट आया हूँ ॥४५॥

और इसलोक में तुम्हारे बहुत से भक्त हैं, वे सभी क्रमशः पालन करने योग्य हैं। अतः पूर्वापर के नियम से (मथुरा एवं द्वारका की) वे सब मनोहर लीलाएँ अवश्य ही प्रगट होंगी ॥४६॥

और हे प्रभो ! जिन आपने अश्ववेशधारी केशीदैत्य को मार दिया, वे ही आप सज्जनों के दूसरे कंस आदि उन बैरियों को भी विमुक्त करने के लिए, विशेष करके सभी के संरक्षक हो जाओगे ॥४७॥

और देखो, आपकी क्रीडामात्र से वे पूतना आदि सब दैत्य जो स्वयं छिन्नभिन्न भाव को प्राप्त हो गये, बस, उन्हीं दैत्यों के मरने के सन्ताप से स्वयं परिपाकदशा को प्राप्त हुआ. कंस भी विध्वंस को प्राप्त हो जायगा ॥४८॥

और वह क्रूर कंस तुमको मथुरा ले जाने के लिए शीघ्र ही अक्रूर जी को भेजेगा। तुम भी माता पिता आदि सभी बन्धुओं को त्यागकर कंस को मारने के लिए यात्रा करोगे ॥४९॥

तदनन्तर विवर्णतापूर्वक नारदजी को देखकर, श्रीकृष्ण के उसी प्रकार चुपचाप बैठे रहनेपर, श्रीनारदजी उनके भावान्तर अर्थात् क्रोध को उत्पन्न करते हुए बोले कि—तदनन्तर तुम सुजनों के मारनेवाले कंस को शृगाल (गीदड़) की तरह मार डालोगे ॥ ५०॥

यतः, कूपमण्डूकवत् कंसः कण्डूतिं खण्डयन्निजाम् ।
त्वत्कर्कशभुजाभोगि-सङ्घर्षं लब्धुमिच्छति ॥५१॥

'यं खलु मातरिपुरुषं पुरुषोत्तमस्त्वमिह जीवग्राहं ग्रहीष्यसि, समूलघातं हनिष्यस्यकृतकारं करिष्यसि, करग्राहं गृह्णंश्च विश्रान्तिपर्यन्तमश्रान्तिविक्रमतया विकक्ष्यसि ॥५२॥

'हर्षवर्द्धिः पाणिकर्षं निष्कर्षंस्तमनेकपम् ।
द्रक्ष्यसे पुण्डरीकाक्ष ! त्वं व्यक्तं हरितां गतः ॥५३॥

"तत्र संक्षेपार्थनिक्षेपश्चायम्,—

'अक्रूरं द्वारमात्रं विदधदथ भवान् वृष्णिधिष्ण्यानि गत्वा
भंक्त्वा त्रैयक्षचापं सपदि कुवलयापीडकं पीडयित्वा ।
मल्लान् हत्वा परश्वो दनुजजनितनुं कंसकं ध्वंसयित्वा
राज्यं दत्त्वोग्रसेनं प्रति निजजनकौ मोचयिष्यत्यवश्यम् ॥'५४॥

"अत्र पौराः पौराणिकीमिव गाथां गातारः,—

'उन्मीलन्नीलशुभ्रारुणकमलजिती खञ्जनध्वंसिलीला-
चाञ्चल्ये सिंहसंघप्रमथनमवताव्यञ्जिनी यस्य नेत्रे ।
चेष्टा दुर्दुष्टवृन्दप्रशमपटुकलाकल्पिनी मज्जयन्ती
पीयूषे सज्जनालीर्नववयसि वरा श्यामलः कोऽयमेति ? ॥५५॥

कारण—कूपमण्डूक (कुएँ के मेढक) के समान तुच्छ कंस अपनी खुजली को मिटाने के लिए, तुम्हारे कठोर भुजारूप सर्प से संघर्ष को प्राप्त करना चाहता है। अर्थात् सर्प से संघर्ष करनेवाले मेढक का बचना जैसे कठिन है, उसी प्रकार आपसे संघर्ष करनेवाले कंस का बचना कठिन है ॥५१॥

और तुम पुरुषोत्तम हो, अतः अपनी माता के ऊपर ही पुरुष बने हुए दुराचारी जिस कंस को, इस रङ्गमञ्च में जीते ही पकड़ लोगे, पश्चात् समूल नष्ट कर दोगे, किसी के द्वारा न किये गये की तरह कार्य करोगे, और इस कंस को अपने हाथ से पकड़ते हुए, तुम उसकी मृत्यु पर्यन्त रुकावटरहित विक्रम प्रदर्शन-पूर्वक, अखाड़े में घसीटोगे ॥५२॥

और हे कमलनयन ! स्पष्ट ही सिंह के भाव को प्राप्त हुए तुम उस कंसरूपी हाथी को, अपने हाथ के द्वारा खेंचकर घसीटते हुए आनन्द से युक्त मित्रों के सहित देखोगे ॥५३॥

मथुरा में होनेवाले संक्षिप्त चरित्र का निचोड़ यह है कि—आप अक्रूर को द्वारमात्र (उपायमात्र) बनाकर, मथुरा में यदुवंशियों के स्थानोंपर जाकर, यज्ञशाला में धरे हुए शंकरजी के धनुष् को तोड़कर, तत्काल कुवलयापीड़ हाथी को मारकर, एवं चाणूर आदि मल्लों को मारकर, परसों अर्थात् आज से तीसरे दिन जिसके शरीर का जन्म द्रुमिल नामक दैत्य से हुआ है, ऐसे कंस का विध्वंस करके, पश्चात् उग्रसेनजी को राज्य देकर, देवकी वसुदेव नामक अपने माता पिता को अवश्य ही बन्धन से मुक्त करोगे ॥५४॥

इस मथुरा गमन के समय पुरवासीजन पुराणों की गाथा की तरह यह गायेंगे कि—जिसके दोनों नेत्र खिलते हुए नील, श्वेत, अरुणवर्ण के कमलों को जीतनेवाले हैं, खञ्जन के मान का मर्दन करनेवाली लीला की चपलता से युक्त हैं, एवं सिंहसमूह के मर्दन के विषय में जो हर्ष उसके भाव की सूचना करनेवाले हैं,

"कृष्णः स्वगतमुवाच,—'उग्रसेनाय राज्यं दास्यामीति युक्तमेव खलूक्तम्; यतो मम व्रजागमनमेव रमणीयम्।' प्रकाशं चाह स्म,—'ततस्ततः ?' ॥५६॥

"ऋषिरुवाच,—'ग्राम्याः पौरा नृपालाः सदसि नभसि तु स्वर्गसङ्गीतविज्ञा
देवा देवाधिनाथा विधि-शिव-विधिजास्ते वयं च स्तुवानाः।
रक्तत्यग्दन्तिदन्तच्छविरविकरभागंसकौ लूनमल्लौ
द्रक्ष्यामो भ्रातरौ वां कवलितबलवत्कंसकं त्वामपीह ॥५७॥

'तत्र मल्लसभागतानामिदं कोलाहलकुतूहलं भविता,—
'किमिदं श्यामलं रूपं मधुरं रौद्रमेव वा।
स्त्री चास्त्री च न यद्विद्याद् वस्त्रमस्त्रं यथायथम् ॥५८॥

'पापकंसे चापवर्गमिते—वधार्हस्यापि कंसस्य स्त्रीणां दृग्वारि-बिन्दवः।
धरण्यां निपतिष्यन्ति द्रावयिष्यन्ति हृत्तव ॥'५९॥

"कृष्ण उवाच,—'हन्त ! तौ मम निजजनकाविति भवता कावुक्तौ ?' ॥६०॥

"ऋषिः सहासमुवाच, (भा० १०।८।१४)—
'प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातस्तवात्मजः। वासुदेव इति श्रीमानभिज्ञाः सम्प्रचक्षते ॥'

और जिसकी श्रेष्ठ चेष्टा नवीन अवस्थारूप अमृत में सज्जनश्रेणी को निमग्न करती हुई, अत्यन्त दुष्टवृन्दों के नाश करने के विषय में चतुरकला की रचना करनेवाली है, ऐसा यह साँवलिया कौन आरहा है ? ॥५५॥

श्रीकृष्ण अपने मन मन में बोले—"मैं उग्रसेन के लिए राज्य समर्पण करूँगा" यह नारदजी ने युक्त ही कहा है, क्योंकि मेरा तो वहाँ से लौटकर व्रज में आना ही रमणीय है। पश्चात् स्पष्ट बोले—नारदजी ! आगे की भविष्यवाणी कहिये ? ॥५६॥

श्रीनारदजी—इस मथुरा में सभा में बैठे हुए ग्रामीणजन, पुरवासीजन एवं भूपालवर्ग और आकाश में स्वर्गीय संगीत के ज्ञाता तुम्बुरु आदि गन्धर्व, इन्द्र आदि देवता, एवं देवताओं के स्वामी ब्रह्मा, शिव तथा ब्रह्मपुत्र सनकादि वे सब एवं हम सब भक्त मिलकर स्तुति करते हुए, रक्त को त्यागनेवाले कुवलयापीड़ हाथी के दाँतों की छवि से सूर्य की सी किरणों का सेवन करनेवाले कन्धों से युक्त, और चाणुर आदि मल्लों को छिन्नभिन्न करनेवाले तुम दोनों भाइयों को देखेंगे। पश्चात् बलवान् कंस को मारनेवाले, तुम्हारा भी दर्शन करेंगे ॥५७॥

और वहाँपर मल्लों की सभा में बैठे हुए जनों का इस प्रकार कोलाहलमय कौतुक होगा कि—क्या यह श्यामल रूप मधुर है अथवा भयङ्कर ही है ? जिस श्यामल रूप को स्त्री एवं स्त्री से भिन्न अथवा ब्रह्मचारी भी नहीं जान सकते। क्योंकि इस श्यामल रूप के वस्त्र एवं अस्त्र यथायोग्य ही हैं ॥५८॥

और पापी कंस के मुक्त हो जानेपर तो वध के योग्य होनेपर भी, कंस की स्त्रियों के नेत्रों के जलबिन्दु धरतीपर गिरेंगे, एवं वे अश्रुबिन्दु तुम्हारे हृदय को पिघला देंगे ॥५९॥

श्रीकृष्ण—हाय ! नारदजी ! मथुरा में मेरे जो निजी माता पिता आपने कहे वे कौन हैं ? अर्थात् मेरे नित्य माता पिता श्रीयशोदा एवं श्रीनन्दजी के रहते हुए, वे किस प्रकार मेरे जनक हैं ? ॥६०॥

श्रीनारदऋषि हास्यपूर्वक—तुम्हारे नामकरण के समय श्रीनन्दजी के प्रति श्रीगर्गजी ने यह वचन कहा था कि—"हे व्रजराज ! यह तुम्हारा पुत्र पहले किसी जन्म में वसुदेवजी के भी उत्पन्न हुआ था, इसलिए

इति गर्गोक्तप्रकारौ। "कृष्णः साश्चर्यस्मितमुवाच,—'ततस्ततः ?' "ऋषिरुवाच,—'वसुदेवादयस्तु नष्टं चिन्तामणिमिव स्पष्टं विन्दमानास्त्वां हातुं न हि सहिष्यन्ते ॥६१॥

'तव च तदनुरोधाय यदूनामितस्ततः पलायनसमवायदूनानामवरोधाय च निश्चितचित्तस्य कतिचिद्वासराणि न सावसराणि भविष्यन्ति ॥६२॥

'त्वदनुषङ्गतस्तत्र सङ्गता तदपेक्षितीकृत्य व्रजक्षितिपतिप्रभृतिव्रजजनतापि शाकटवाटपटनिवासमासत्स्यति ॥६३॥

'तथापि विरतः कंसप्रथितव्यथतया प्राप्तवितथताया यदुराजराजधान्याः स्फुरदुग्रसेनेनाप्युग्रसेनेन दुःसमाधानं समाधानम्। स्वयं बहुप्रणिधानत एव स्यादिति क्षणमपि क्षणमलभमानश्चिरायमाणे निजव्रजप्रयाणे विचार्य रामेण सममैकचर्यचर्यया स्वजनव्रजे विराजमानं व्रजेशमुपव्रज्य स्वस्य व्रजागमनमवश्यकार्यतया निर्धार्य व्रजमेव व्राजयिष्यसि ॥'६४॥

"कृष्ण उवाच,—'हन्त ! ते किं त्यजन्त एव मामाव्रजिष्यन्ति ?' ॥६५॥

"ऋषिरुवाच,—

'नन्दादयस्तव परं महताग्रहेण, प्राप्स्यन्ति गोष्ठमथ तद्वपुषात्मना न।
दृश्यं भवेद्वपुरिति स्फुटमस्य तस्मिन्, सङ्कोचिता समुचिता न तु तद्वदात्मा ॥'६६॥

पण्डितजन इसको श्रीमान् वासुदेव भी कहते हैं" इस प्रकार की गर्गोक्ति के अनुसार वे दोनों भी तुम्हारे जनक हैं। श्रीकृष्ण आश्चर्यपूर्वक मुस्कयाकर—अच्छा, उसके बाद क्या होगा ? ऋषि—श्रीवसुदेवजी आदि यादव तो तुमको नष्ट हुई चिन्तामणि की तरह स्पष्टरूप से पाकर त्यागने को समर्थ न होंगे ॥६१॥

पुनः वसुदेवजी आदि के अनुरोध के लिए,एवं कंस के डर से इधर उधर दौड़ने के सम्बन्ध के कारण सन्तप्त हुए यदुवंशियों की प्राप्ति के लिए, एवं उनको यथास्थानपर अवरुद्ध करने के लिए, निश्चित चित्तवाले तुम्हारे कुछदिन अवकाश से युक्त न होंगे ॥६२॥

और तुम्हारे साथ मथुरा में आई हुई श्रीव्रजराज आदि व्रज की जनता भी, उन दिनों की अपेक्षा करके शकटसमूह के द्वारा घिरे हुए पटगृह (तम्बू) में ही ठहरी रहेगी ॥६३॥

तो भी बहुत दिनतक कंस के द्वारा विस्तृत पीडा के भाव के कारण, व्यर्थता को प्राप्त हुई यदुवंशी राजाओं की राजधानी मथुरा का समाधान, स्फूर्तिवाली भयंकर सेनावाले उग्रसेनजी के द्वारा भी कठिन हो जायगा। पश्चात् "स्वयं अधिक चित्त की एकाग्रता से ही मथुरा का समाधान हो सकेगा" इस कारण एक क्षण भी अवसर न प्राप्त करते हुए, तुम अपने व्रजप्रयाण के विषय में देरी होनेपर विचार करके श्रीबलरामजी के सहित एक प्रकार के विचार की दृढ़ता करके, स्वजनसमुदाय में विराजमान श्रीव्रजराज के निकट जाकर, व्रजमण्डल में अपने आने को अवश्य कर्तव्यरूप से निश्चित करके, अर्थात् श्रीनन्दजी के प्रति अपने व्रज में आने के विषय में दृढ़ाकर, श्रीनन्दजी को परिकरसहित व्रज में ही भिजवा दोगे ॥६४॥

श्रीकृष्ण—हाय ! तो वे श्रीनन्दादि मुझको मथुरा में छोड़कर ही व्रज में चले आयेंगे क्या ?॥६५॥

श्रीनारदजी—श्रीनन्दजी आदि व्रजवासी तो केवल तुम्हारे महान् आग्रह से शरीर के द्वारा तो व्रज को प्राप्तकर लेंगे, किन्तु मन से नहीं, अर्थात् उनका मन तो तुम्हारे पास ही रह जायगा। क्योंकि शरीर दृश्य होता है, इसलिए तुम्हारे द्वारा किये गये उस महान् आग्रह के विषय में इस स्थूल शरीर का संकुचित

"कृष्ण उवाच,—'हन्त ! किमहं वक्ष्यामि ?' ऋषिरुवाच,—'तत्रभवता तदिदं सङ्कीर्णं गीर्णमाचरिष्यते; (भा० १०।४५।२३)—
यात यूयं व्रजं तात ! वयं च स्नेहदुःखितान् । ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां सुखम् ॥'
इति । 'तदिदमेव भवदाश्वासनं तेषां विश्वासस्य शश्वायमानतामाचरिष्यति ॥'६७॥

"कृष्ण उवाच,—'कदाहमागमिष्यामि ?' "ऋषिरुवाच—'यदा सुहृदां हृदयङ्गमं सुखमुत्पत्स्यते ।' "कृष्ण उवाच,—'तच्च कदा ?' "ऋषिरुवाच,—'तेषां सुखस्योत्पत्तये तु दूरं व्याप्तुमुन्मुखं भविता ॥६८॥

"कृष्ण उवाच,—'अहो बत ! वियतीव कियती व्याप्तिस्तत्र ?' "ऋषिरुवाच,—'तत्तत्कार्यजालतः कालक्षेपं क्षेपयत्यपि भवति यावत् कंसपक्षलक्षविध्वंसनम् यावद्भवत्पुत्रादिविचित्रसम्पद्गणश्च सम्पत्स्यते ॥'६९॥

"कृष्ण उवाच,—'अहो महात्मन् ! महद्व्यसनं खलु मयि न्यसनमायास्यति; यतो दीर्घसूत्रता मम बन्धनाय निर्बन्धमापत्स्यते ॥'७०॥

होना स्पष्ट ही समुचित है । किन्तु उस प्रकार मन दृश्य नहीं, अतः उसका संकुचित होना भी उचित नहीं । भावार्थ यह है कि—व्रजवासियों का शरीर तो तुम्हारे आग्रह से संकुचित होकर व्रज में चला आयेगा, परन्तु उनका मन तो निःसंकोचपूर्वक तुम्हारे पास ही रह जायगा ॥६६॥

श्रीकृष्ण—हाय ! तो मैं उनको विदा करते समय क्या कहूँगा ? श्रीनारदजी—पूजनीय आपतो इस प्रकार की प्रतिज्ञा को कथनपूर्वक आचरण करोगे कि—हे पिताजी ! तुम तो व्रज में चले जाओ । किन्तु हम दोनों भाई तो इन यदुवंशीरूप सुहृदों के सुख की व्यवस्था करके, हमारे स्नेह से दुःखित हुए हमारी जातिवाले तुम सबको देखने के लिए अवश्य आयेंगे । फिर निश्चितरूप से वहीं रहेंगे । बस, आपका यह आश्वासन ही उन व्रजवासियों के विश्वास की निरन्तरता का आचरण करेगा ॥६७॥

श्रीकृष्ण—मैं लौटकर व्रज में कब आऊँगा ? श्रीनारदजी—श्रीवसुदेव आदि सुहृदों का हृदयङ्गम सुख जब उत्पन्न हो जायगा तब आओगे । श्रीकृष्ण—वह सुख कब उत्पन्न होगा ? श्रीनारदजी—उनके सुख की उत्पत्ति के लिए तो दूरतक व्यापक होने को उन्मुख होना पड़ेगा ॥६८॥

श्रीकृष्ण—अहो ! खेद, कहिये आकाश की तरह उस सुखोत्पत्तिरूप कार्य के विषय में कितनी व्यापकता शक्ति है ? अर्थात् वह कार्य कितना लम्बा चौड़ा है ? ऋषि—उन उन कार्यसमूहों के द्वारा आपके कालक्षेप करनेपर भी, अर्थात् समय बितानेपर भी, जबतक कंस के पक्षपाती लाखों दैत्यों का विध्वंस होगा, एवं जबतक आपके पुत्रपौत्रादि विचित्र सम्पत्तिसमूह सम्पन्न होगा, तबतक उस कार्य की व्यापकता है ॥६९॥

श्रीकृष्ण—अहो ! महात्मन् ! इन बातों से तो निश्चित होता है कि, मेरे ऊपर महाविपत्ति आपड़ेगी । जिसके कारण मेरे बन्धन के लिए दीर्घसूत्रता (बहुत देर में कार्य करनेवाले का भाव) आग्रह को प्राप्त हो जायगी ॥७०॥

ऋषिरुवाच,—'मा तापमापद्यस्व, भवतः स्वभाव एवायम्, यत् कदाचिदन्तरङ्गाणां परिवारसङ्घानां सुखभङ्गं स्वाङ्गानामिव विषह्य बहिरङ्गाणां दुःखभङ्गं करोषि ॥'७१॥

"कृष्ण उवाच,—'भवतु, भाविकथा प्रथ्यताम् । तत्र मदीयदुर्वृत्ततामयं व्रजदुःखवृत्तं तावदास्ताम्, पुरवृत्तं पुरस्तादनुवर्त्यताम्, येनाहमुपरक्तस्तत्र निष्प्रतिभतां व्यक्तमाप्स्यामि ॥७२॥

"ऋषिरुवाच,—'साम्प्रतं तव गायत्रव्रतमेव सगर्गेण वसुदेवादियदुवर्गेण प्रथयिष्यते । यत्र च व्रजतः कर्णीरथारोहिणी रोहिणी च तत्र नेष्यते, न तु व्रजजनः कश्चित् । क्षात्रविधान-पात्रतया तन्निर्माणे तस्य निर्माणदुःखं दुःखननमूलं भविता' इति ॥७३॥

"कृष्णः स्वगतमिदमधिगतवान्,—'हन्त ! प्रसङ्गतस्तद्दुःखमेवासङ्गं लभते; मन्मातृ-सङ्गिनी हि सा रोहिणी कथं तद्भङ्गिनी भविष्यति ?' इति । 'ततः कथान्तरं पृच्छाम इति स्पष्टं पप्रच्छ,—'ततस्तद्व्रताचारानन्तरं किन्तरामाचरिष्यामि ?' ॥७४॥

"ऋषिरुवाच,—'ततः सान्दीपनि-सन्दीपितविद्यासभामवन्तीमवन्तीमासाद्यानवद्यविद्या-समुदायाय भ्रातरौ युवामकातरौ सब्रह्मचारितया गौरवसंकुलतया गौरवं कुलमेष्यथः; यत्र

ऋषि—सन्ताप न कीजिये। क्योंकि आपका यही स्वभाव है कि, अपने निजी अङ्गों की तरह अन्तरङ्ग (व्रजवासी) परिवारसमूहों के सुखभङ्ग को कभी कभी सहन करके भी बहिरङ्ग (मथुरा एवं द्वारकावासी) जनों के दुःख नष्ट करते हो ॥७१॥

श्रीकृष्ण—अच्छा, रहने दो। आगे होनेवाली कथा को कहिये। उसमें भी व्रज के त्यागरूप मेरी दुर्वृत्ततामय व्रजसम्बन्धी दुःखद चरित्र को रहने दीजिये। केवल मथुरापुरी के वृत्तान्त को मेरे सामने प्रगट कीजिये। जिसके कारण मैं दुःखों से पीडित होकर वहाँपर स्पष्ट ही प्रतिभा से रहितता को प्राप्तकर लूँगा ॥७२॥

ऋषि—इस समय तो श्रीवसुदेव आदि यदुवंशीगण, श्रीगर्गाचार्य के सहित तुम्हारे यज्ञोपवीत संस्कार को सम्पन्न करेंगे। जिस यज्ञोपवीत संस्कार में परदा लगे हुए रथ में चढ़ी हुई श्रीरोहिणी व्रज से मथुरा में लाई जायँगी। किन्तु व्रजवासी कोई भी न लाया जायगा। इस संस्कार में व्रजवासियों को, न बुलाने का यही कारण था कि—क्षत्रियसमुदाय के विधान की योग्यतानुसार उस यज्ञोपवीत संस्कार की रचना देखनेपर, व्रज के जनमात्र का जो अपरिमित दुःख होगा, उसका मूल उखाड़ना कठिन हो जायगा ॥७३॥

श्रीकृष्ण अपने मन मन में यह जान गये कि—हाय ! प्रसङ्गक्रम से उस संस्कार में व्रजजनों के न आने से जो दुःख है, वह ही मेरे मन में आसक्ति का लाभ कर रहा है, कारण मेरी माता की सङ्गिनी वह रोहिणी माँ उसके सङ्ग को भङ्ग करनेवाली कैसे होगी ? अर्थात् मेरी माँ को छोड़कर अकेली कैसे मथुरा चली आयेगी ? इसलिए दूसरी कथा को पूछते हैं, इस प्रकार विचार कर स्पष्ट पूछा कि—उस यज्ञोपवीत-रूप व्रताचार के अनन्तर मैं किस प्रकार आचरण करूँगा ? ॥७४॥

ऋषि—तदनन्तर सान्दीपनि मुनि के द्वारा प्रकाशित विद्यासभा की रक्षा करनेवाली अवन्ती नगरी में जाकर, विशुद्ध विद्यासमुदाय की प्राप्ति के लिए तुम दोनों भाई अकातर (हर्षित) होकर, परस्पर ब्रह्मचर्यव्रत धारणपूर्वक गौरव से व्याप्त होकर, गुरुकुल में जाओगे। जिस गुरुकुल में गुरुदेव के एकबार कथनमात्र से सम्पूर्ण विद्या को अध्ययन और धारण करते हुए दोनों भाई चारों ओर चमत्कार फैला दोगे।

सकृन्निगदमात्रेण सर्वां विद्यामधीयन्तौ धारयन्तौ च सर्वतश्चमत्कारमर्पयिष्यथः; यत्रेदं सखेदमुपश्लोकयन्महाँल्लोकसङ्घः परस्परं सविस्मयमालोकयिष्यति; ॥७५॥ यथा—

'अङ्गं पल्लवकोमलं प्रभवनं लक्ष्मीपरार्धाश्रितं
सेव्यत्वं समसेवकायुतमनोराज्याभमुद्भ्राजते ।
यस्य श्रीरमणस्य सोऽपि नितरां वागीश्वरी-लोभनो-
ऽप्याचार्याण्युपदिष्टकाष्ठघटनं शर्म-श्रिया निर्ममे ॥'७६॥

'तदेवं चतुःषष्टिमात्रैरहोरात्रैः सर्वास्वपि कलास्वधीतिना भवता गुरुपत्नीभिक्षित-पञ्च-जनभक्षित-तत्-पुत्रानयनमयदक्षिणानिवेदने चेदं लोका व्यतिवेदयिष्यन्ते; ॥७७॥ यथा—

'वस्त्वस्ति यत्तद्गुरवे प्रदीयता,-मदुर्लभं चेदथवा सुदुर्लभम् ।
नष्टं वपुर्यद्गुरुजस्य तद्वपु,-ष्मन्तं यमात् पश्य तमानिनाय सः ॥७८॥

'ततश्च, यमादपि समानेता गुर्वपत्यं त्वया यदा ।
विवदेरन्मुखे तर्हि म्रियेरन्नरयो हृदि ॥'७९॥

"कृष्णः स्वगतम्,—'न जाने, जनेन तद्वर्ण्यमानमाकर्ण्य निरवलम्बतां संवलमानानां मय्यनुकम्पासम्पातवतामम्बादीनां का दशा भविता, या सम्प्रति च मम हृत्कम्पाय सम्पद्यते ।' 'भवतु, प्रस्तावान्तरं विस्तारयामः' इति स्पष्टमाचष्ट,—'भगवन् ! कोऽसौ पञ्चजनः ?'॥८०॥

जिस गुरुकुल में खेदपूर्वक श्लोकों के द्वारा तुम दोनों की इस प्रकार प्रशंसा करता हुआ महान् जनसमुदाय परस्पर आश्चर्यपूर्वक देखेगा ॥७५॥

यथा—जिन श्रीकान्त श्रीकृष्ण का अङ्ग नवीनपत्र से भी कोमल है, जिनका शरीर शोभा की पराकाष्ठा को प्राप्त है, किंवा जिनका प्रभवन (प्रभुत्व) परार्ध संख्यावाली लक्ष्मी के आश्रित है, एवं जिनका सेव्यभाव एकसाथ अयुत (दशहजार) अर्थात् अपरिमित सेवकों के अभीष्ट वस्तु के विकाश से युक्त होकर शोभा पा रहा है। और विशेष करके सरस्वती को लुब्ध करनेवाले होकर भी, वे ही श्रीकान्त, गुरुपत्नी की आज्ञा से लकड़ी लाने के कार्य को सुखसम्पत्ति के द्वारा सम्पादन कर रहे हैं ॥७६॥

इस प्रकार केवल चौंसठ दिन में ही सभी कलाओं का, अर्थात् चौंसठ कलाओं (विशेष विवरण उत्तरचम्पू ८।७१ में देखिये) का अध्ययन करनेवाले आपके द्वारा गुरुपत्नी के द्वारा याचित, पञ्चजन नामक राक्षस के द्वारा भक्षित, ऐसे गुरुपुत्र का लानारूप गुरुदक्षिणा निवेदन के विषय में सभी लोग परस्पर यह विज्ञापन करेंगे कि— ॥७७॥

यथा—जो वस्तु गुरुदेव द्वारा माँगी गई है, वह सुलभ हो या अत्यन्त दुर्लभ हो, वह गुरुदेव के लिए दे देनी चाहिये, यह शिष्यों का धर्म है। क्योंकि देखो, गुरुपुत्र का जो शरीर नष्ट हो गया था, उस शरीर से युक्त गुरुपुत्र को यमराज से श्रीकृष्ण ले आये, एवं उसको गुरुदक्षिणा में दे दिया ॥७८॥

और उसके बाद तुम गुरुपुत्र को यमराज से भी जब ले आओगे, तब तुम्हारे वैरी केवल मुख में विवाद ही करेंगे, किन्तु हृदय में तो जल जल के मर जायेंगे ॥७९॥

श्रीकृष्ण मन मन में विचारने लगे कि—न जाने जनमात्र के द्वारा वर्णित किये गये गुरुपुत्र के लाने आदि के प्रसङ्ग को सुनकर अवलम्बनरहितता का आश्रय लेनेवाले एवं मेरे ऊपर दयासुधा बरसानेवाले माता आदि जनों की कौन सी दशा होगी ? क्योंकि जो दशा याद करने से अब भी मेरा हृदय कँपने के

"ऋषिरुवाच,—'जयविजयवत् कस्माच्चित् कारणाच्छङ्खासुरतां प्राप्तोऽसौ प्रसिद्धः शङ्खविशेष एव । त्वञ्च तदङ्गमादास्यसे ॥८१॥

किन्तु, 'यदा यदा ध्मापयिता भवान् दरं, नेत्रे तदार्द्रे इव ते भविष्यतः ।
लब्धं यशोदा-स्तनपानजं सुखं, कृपा-भरेण स्मरणप्रथावतः ॥'८२॥

"कृष्णः सोद्वेगमुवाच,—'एतद्वस्तूद्देशं विना कथान्तरं प्रस्तूयताम् ।' ऋषिरुवाच,—'किञ्चिदन्यदल्पं श्रूयताम् । वृत्तविद्यस्त्वं मथुरायामागतमात्रः श्रीमद्व्रजाय कृतयात्रस्तत्रत्य-पित्रादिभिः कृतसङ्कोचनस्तदाज्ञालङ्घनं नायत्यां मङ्गलमिति रचितविचारतया चरितशोचनः स्वानुकूल्यकैवल्यलसदुद्धवमतिविनीतमुद्धवमेवाभिनीतं मत्वा व्रजजनानामनाविजमानताजन-नाय नियोजयिष्यसि ॥८३॥

तेषां सङ्कोचत एव न च व्रजजनमात्मोपह्वरमाह्वयिष्यसि ॥८४॥

'ते ह्येवं रहस्यं मंस्यन्ते, कृष्णस्य व्रजमात्रतृष्णस्य व्रजदेशे प्रवेशे पुनर्लम्भनं विप्र-लम्भतः स्तम्भनमेव लप्स्यते । व्रजजनस्यात्र प्रवेशश्च तथावेश एवेति । अथ व्रजजनः स च

लिए युक्त हो रही है । अच्छा, इस बात को रहने दो । दूसरे प्रस्ताव का विस्तार करेंगे । यह विचार कर स्पष्ट—भगवन् ! वह पञ्चजन कौन था ? ॥८०॥

ऋषि—भगवन् ! जय विजय की तरह किसी कारण से शंखासुरता को प्राप्त हुआ, वह प्रसिद्ध दक्षिणावर्त शंखविशेष ही पञ्चजन था । तुम भी (शङ्ख के आकारवाले) उसके अङ्ग को ग्रहण करोगे ॥८१॥

किन्तु आप उस शङ्ख को जब जब बजाओगे, तब तब आपके नेत्र गीले से हो जाया करेंगे । कारण उस समय आपको यह भान होगा कि मुझे श्रीयशोदा माँ के स्तनपानजन्य सुख प्राप्त हो रहा है, पश्चात् कृपा की अधिकता से उस सुख के स्मरण की परिपाटी से विशिष्ट हो जाओगे । अर्थात् यशोदा के स्तनपान की याद करोगे । क्योंकि उस शङ्ख का मुख यशोदाजी के स्तन के आकार का है ॥८२॥

श्रीकृष्ण उद्वगपूर्वक—श्रीयशोदा माँ के स्तनपानादि वस्तुओं के उद्देश्य के बिना दूसरी कथा का प्रस्ताव रखिये । ऋषि—कुछ थोड़ी सी दूसरी बात सुन लीजिये । देखो, विद्याध्ययन समाप्त करके मथुरा में आते ही, तुम शोभायमान व्रज के लिए जाने को तत्पर हो जाओगे । किन्तु मथुरावासी पिता वसुदेव आदिकों द्वारा तुम्हारा जाना संकुचित कर दिया जायगा । श्रीवसुदेवजी आदि की आज्ञा का लंघन करना भविष्य में मङ्गलजनक न होगा, ऐसा विचार करके तुम शोकाकुल हो जाओगे । पश्चात् आपकी निजी अनुकूलता में ही जिसकी एकमात्र निष्ठा है, उसी के कारण जिसका उत्सव शोभित होता रहता है, ऐसे अत्यन्त विनीत श्रीउद्धव को ही सुविज्ञ समझ कर, व्रजवासियों के उद्वेग की रहितता की उत्पत्ति के लिए, व्रज में जाने को नियुक्त कर दोगे ॥८३॥

और श्रीवसुदेवजी आदिकों के सङ्कोच से ही व्रज के जनमात्र को अपने निकट नहीं बुलाओगे ॥८४॥

वे वसुदेवजी आदि इस प्रकार के रहस्य को समझेंगे कि—केवल व्रजमात्र में तृष्णा रखनेवाले श्रीकृष्ण के व्रजप्रदेश में प्रवेश करनेपर, पुनः मथुरा में श्रीकृष्ण की प्राप्ति व्रजवासियों के वियोग के कारण रुकावट को ही प्राप्त हो जायगी । और व्रज के जनमात्र का मथुरा में प्रवेश करना भी, उसी प्रकार के आवेशवाला ही है । अर्थात् व्रज के जनमात्र में श्रीकृष्ण की आसक्ति है, अतः उसके साथ यदि चले गये तो

स्वयमपि नायास्यति। (भा० १०।४५।२३) 'ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्यामः' इति रहस्यत्वद्वचनस्य भवद्भिस्तु नागम्यतामिति स्वारस्यभङ्गप्रसङ्गः स्यादिति ॥८५॥

'तथा स्वारस्यमपि तादृशतन्मन्त्रणायन्त्रणया, न तु स्वतन्त्रतया। किञ्च, तव चेतसि यः कोऽप्यन्यः सङ्कोचः सम्प्रति सम्प्रतीतिं विना रोचमानतां प्रतिपन्नवानस्ति, सोऽपि व्रज-भूमावाव्रजनादिवर्जने साहायकं मुहुर्निर्वाहयिता ॥८६॥

'व्रजजनं प्रति तद्विदन्तु वेदवदपरतन्त्रं मन्त्रं निवेदयिष्यसि। सम्प्रति च भवतां सम्बन्धे जरासन्धादिभिः कृतानुसन्धे तत्रापि निर्बन्धात् कटकेन धाटी घटयिष्यते' इति ॥८७॥

'तथास्मिन्नुद्धव-द्वारा पित्रादिषु वाचिकपत्रिका; यथा--

'सम्बन्धाद्वः समन्तादहमपि स तथा यामि तं वृष्णि-वृन्दे
युष्माकं प्राणयोग्यप्रणयभुवि तथैवावनं संविधित्से।
किन्त्वेषा मूर्तिरत्र स्वयमपि तु भवत्पार्श्ववर्ती ममात्मा
किं वा मूर्तिश्च तस्मिन् भवति हि भवतां स्फूर्तिरेव प्रमाणम् ॥८८॥

हमारा वियोग बना धरा है। और आपकी प्रीति का पात्र वह व्रज का जनमात्र भी आपके निकट स्वयं नहीं आयेगा। कारण श्रीनन्दजी की बिदाई के समय आपने यह कहा था कि—"हम अपने जातिभाई तुम सबको देखने आयेंगे" इस प्रकार के रहस्यमय तुम्हारे वचन के "किन्तु आप कोई भी यहाँ आने का कष्ट न करें" इस प्रकार के स्वारस्य के भङ्ग का प्रसङ्ग बन जायगा। अतः कोई न आयेगा ॥८५॥

उस प्रकार का स्वारस्य (स्वरसता) भी श्रीगर्गमुनि की उस प्रकार की विचारधारा के प्रभाव से ही होगा, किन्तु स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं। किञ्च तुम्हारे चित्त में दूसरा "मैं क्षत्रिय कन्या के साथ विवाह करूँ अथवा गोपकन्या के साथ" इस प्रकार का जो सङ्कोच इस समय उस प्रकार की प्रसिद्धि के बिना रुचिकर भाव को प्राप्त हो रहा है, वह सङ्कोच भी व्रजभूमि में आगमन आदि के निषेध में बारम्बार सहायता का निर्वाह करेगा ॥८६॥

यदि कहो कि इतने दिन तक व्रजवासी मेरे विरह में कैसे रहेंगे? तहाँ सुनो। व्रजवासियों के प्रति तो वेद की भाँति स्वतन्त्र अपना यह विचार निवेदन करोगे कि—हे व्रजवासियो! देखो, इस समय हमारे एवं आपके परस्पर सम्बन्ध के विषय में जरासन्ध आदि के द्वारा अनुसन्धान कर लेनेपर तो, वे व्रज में भी आग्रहपूर्वक सेना के द्वारा छलबल से आक्रमण संघटित कर देंगे। अतः इस समय हमारा तुम्हारा परस्पर कहीं भी आना जाना उचित नहीं है ॥८७॥

तथा इस व्रज में उद्धवजी के द्वारा माता पिता आदि के निकट सन्देशपत्रिका भेजोगे, यथा—हे पिताजी आदि मेरे प्यारे व्रजवासियो! आप सबके प्रति मेरा यह नम्र निवेदन है कि—यदुवंशियों के समूह में आप सबका जैसे पिता प्रपितामह आदि अनेक रूप से चारों ओर से जो सम्बन्ध है, उसी सम्बन्ध से उसी प्रकार मैं भी उसी सम्बन्ध को प्राप्त हूँ। अतः तुम्हारे प्राणों के समान प्रेमास्पदरूप यादवसमूह में भी तुम्हारी तरह रक्षा का संविधान करना चाहता हूँ। उसमें भी विशेषता यह है कि—यह मेरा शरीर ही मथुरा में है, किन्तु मेरा आत्मा तो आप सबके निकटवर्ती ही है। अथवा हमारा शरीर एवं आत्मा (मन) दोनों ही व्रज में विद्यमान हैं। कारण इस विषय में आप सबकी स्फूर्ति ही प्रमाण है ॥८८॥

'किञ्च, आयास्यामीति किं जल्पेद् बद्धः प्रणयरज्जुभिः ।
येन बद्धस्तु तस्येच्छामनिच्छाञ्चानुयाति सः ॥८९॥

'श्रीवसुदेवादीनां देवद्विडुपद्रवस्य विद्रवः खलु भवदभिमत एवेति तु मया मतमेव । 'अथ पुरस्तादुद्धव-दर्शनमात्रेण च ते परमसुखं प्राप्स्यन्ति ॥९०॥

'यतः, अपरिचयेऽप्यवलोकाद्, भक्तं भक्तः पिपर्ति कृष्णस्य ।
स्वरमात्रात्तद्गाना,-रम्भः सुजनं प्रमोदयति ॥९१॥

'ततश्च, तव विश्लेषान्नव-नवार्तास्ते त्वद्वार्तामेव वार्तामनुवर्तमाना वार्तायमानाः शीघ्रमिव वियन्ति कियन्ति वासराणीव तं कतिचिन्मासान् वासयित्वा पर्यवसाने तद्द्वारा स्वं भावमेवापेक्ष्य मुद्रितमुखेन स्वस्तिमुखेन सन्देक्ष्यन्ति ॥९२॥ यथा—

'ईश्वरस्त्वमिति सोऽयमस्मका,-नुद्धवः समुपदिश्य गच्छति ।
पुत्र ! तत्तु न वयं स्म मन्महे, नास्मदेष भवतस्तु मर्मवित् ॥
अथवा— हन्त ! तत्र न वयं स्म मन्महे श्रीशता किमु सुते न रोचते ॥९३॥

किञ्च जिन व्रजजनों की प्रेमरूपी डोरियों के द्वारा बँधे हुए आप "मैं व्रज में आऊँगा" इस प्रकार कैसे कह सकते हैं । किन्तु जिस अपने कथन के द्वारा बँधे हुए वे ही आप, उन व्रजजनों की व्रजगमनरूप इच्छा का एवं मथुरा में रहने की अनिच्छा का अनुगमन करते रहते हो ॥८९॥

और श्रीवसुदेव आदिकों के असुरों के द्वारा किये गये उपद्रव का विनाश करना तो आपके अभिमत ही है, अतः मेरा भी यही मत है । तदनन्तर आगे की ओर से आते हुए उद्धवजी के दर्शनमात्र से वे सब व्रजवासी परमसुख को प्राप्त करेंगे ॥९०॥

कारण—पहला परिचय न होनेपर भी श्रीकृष्ण का जो भक्त है, वह अपने दर्शनमात्र से दर्शन करनेवाले भक्त को तृप्तकर देता है, अर्थात् पूर्णसुखी कर देता है । उसका दृष्टान्त यह है कि—गायन का जो आरम्भ है, वह पहले स्वरमात्र से, अर्थात् आलापचारी से ही, सुजनमात्र को अति हर्षित कर देता है ॥९१॥

और उसके बाद वे व्रजवासी तुम्हारे वियोग से नये नये प्रकार से आर्त होकर, अर्थात् प्रतिक्षण पीडित होकर, तुम्हारी बातचीत को ही कृषि आदि जीविका की तरह अनुसरण करते हुए, एवं नीरोगता का आचरण करते हुए, शीघ्र ही बीते हुए कुछ दिनों की तरह, उद्धवजी को कई महीनोंतक वहींपर बसाकर पश्चात् उन्हीं उद्धव के द्वारा अपने गूढभाव की ही अपेक्षा कर, अर्थात् तुम्हारे व्रज में आने की अपेक्षा करके, जिसका मुख बन्दकर दिया है, ऐसे गुप्तपत्र के द्वारा तुमको सन्देश भेजेंगे ॥९२॥

पत्र का भाव, यथा—स्वस्तिश्री प्रिय पुत्र ! शुभाशीर्वादपूर्वक विदित हो कि, तुम्हारे द्वारा भेजे हुए ये उद्धव, हमारे प्रति "तुम ईश्वर हो" ऐसा उपदेश देकर जा रहे हैं । किन्तु पुत्र ! हम तो उद्धवजी की बातों को नहीं मानते । क्योंकि ये हमारे एवं तुम्हारे वास्तविक मर्म को नहीं जानते । अथवा उद्धव की कही हुई ईश्वरता का यह भावार्थ है कि—हाय ! हम क्या उद्धवजी के उपदेश के विषय में कुछ नहीं समझते अपितु समझते हैं । क्योंकि अपने पुत्र के विषय में श्रीशता (लक्ष्मीपतिता) अर्थात् भारी धनिकता, पिता के लिए रुचिकर नहीं है क्या ? अर्थात् हमारा पुत्र ऐश्वर्यशाली हो गया तो अच्छा ही है । किन्तु वात्सल्यरसोपासक हम लोगों के पक्ष में परमेश्वरता रुचिकर नहीं है ॥९३॥

किञ्च यद्यहो सुत ! भवानधीश्वर,-स्तर्ह्यपि स्फुरतु ते पदाब्जयोः ।
प्रीतिरत्र च परत्र नः सदा, कृष्णतामनु यतः सतृष्णता ॥'६४॥

"कृष्ण उवाच,—'उद्धवस्तु किं मां वक्ष्यते ?'

"ऋषिरुवाच,—'विना चन्द्रं शरल्लक्ष्मीर्विना पुष्पं मधून्नतिः ।
विना पयोदं वर्षाश्रीर्विना त्वां का व्रजस्थितिः ?' इति ॥६५॥

* "कृष्णः सास्रमुवाच,—'यादवके मम विलम्बसंवलनकारणं विशेषेण च वर्णय ।' ऋषिरुवाच,—'तत्र भक्तं भजमानस्य कवचं बिभ्राणस्य शत्रून्निघ्नानस्य तव व्यासङ्गान्तरमपि लब्धान्तरतामाप्स्यति ॥'६६॥

"कृष्णः सोद्वेगमुवाच,—'हन्त ! किं तत् ?' ऋषिरुवाच,—'यत् खलु वसुदेवस्वस्रीयाणां युधिष्ठिरादीनां धृतराष्ट्रेण दुष्टभ्रष्टराष्ट्रीकृतानां पक्षस्य पुष्टीकरणाय भविता । ते च त्वामेव परमातिष्ठमाना भक्तवश्यतां वावश्यमानस्य तव कैतवरहितभक्तिभाज इति । यदर्थं प्रथम तस्तावदभिजातमभिजातं चाक्रूरं दूततया दूरमापयिष्यसि ॥६७॥

'प्रकृतव्यासङ्गः पुनरङ्गीभूतः प्रभूत एव; यतः कंसपक्षनिर्हरणं तदापि त्वया कृताकृतमेव वर्त्स्यति ॥६८॥

किंच हे पुत्र ! यदि तुम अधीश्वर हो तो हर्षपूर्वक तुम से हमारा यही कहना है कि—हमारी प्रीति तो इसलोक एवं परलोक में तुम्हारे चरणारविन्दों में ही स्फूर्ति पाती रहे । कारण हमारी लालसा तो सदैव कृष्ण के स्वरूप के लक्ष्यपर ही डटी हुई है, किन्तु ईश्वरता सम्बन्धी रूपपर नहीं ॥६४॥

श्रीकृष्ण—तो उद्धव व्रज से लौटकर मुझसे क्या कहेंगे ? ऋषि—जैसे चन्द्रमा के बिना शरद् की शोभा, पुष्पों के बिना वसन्त की उन्नति, एवं मेघों के बिना वर्षा की शोभा किसी काम की नहीं, उसी प्रकार आपके बिना व्रज की स्थिति भी डाँवाँडोल है, यही कहेंगे ॥६५॥

श्रीकृष्ण आँसू बहाते हुए—यदुवंश के समूह में (एवं यद् व्रजे इस पाठ में—व्रज में आने के विषय में) मेरे विलम्ब के संयोग सम्बन्ध के कारण को विशेषरूप से कहिये ? विलम्ब का कारण पूछने का तो यही तात्पर्य है कि—कारण मालूम हो जानेपर उसका शीघ्र ही निराकरण करके व्रज में लौट आयें । ऋषि—वहाँपर भक्तों की स्वभावतः सेवा करनेवाले, कवचधारण करनेवाले, एवं शत्रुओं का वध करनेवाले तुम्हारे सम्बन्ध में अन्य भक्तों का घनिष्ठ संपर्क भी अवकाश को प्राप्त हो जायगा ॥६६॥

श्रीकृष्ण उद्वेगपूर्वक—हाय ! वह कौनसा ? ऋषि—धृतराष्ट्र की प्रेरणा से दुष्ट शकुनि आदि द्वारा जो अपने राष्ट्र (देश) से भ्रष्टकर दिये गये, एवं जो वसुदेवजी की बहिन (कुन्ती) के पुत्र हैं, उन श्रीयुधिष्ठिर आदिकों से जो घनिष्ठ संपर्क है, उन्हीं के पक्ष की पुष्टि करने के लिए विलम्ब का कारण होगा । तुम भक्तों की अधीनता को ही बारंबार चाहते हो, एवं कपटरहित भक्तियुक्त हो । इसी कारण वे युधिष्ठिर आदि केवल तुम्हारा ही सहारा लेते रहेंगे । और जिन युधिष्ठिर आदिकों के पक्ष पोषणार्थ पहले से ही कुलीन, नीतिनिपुण, एवं पण्डित श्रीअक्रूरजी को दूत बनाकर मथुरा से दूर (हस्तिनापुर) भिजवाओगे ॥६७॥

और युधिष्ठिर आदि भक्तों का सङ्ग पुनः प्रधान होने के नाते विशेष ही है । कारण उस समय भी कंस के पक्ष का विनाश तुम्हारे द्वारा किया गया भी कुछ अवशिष्ट रह जायगा ॥६८॥

'तथा हि—वराकेषु कंसपक्षीयेषु चान्येषु तीर्थकाकतां गतेषु यत् खल्वस्तिः प्राप्तिश्चेति तस्य तत्र कलत्रद्वयमस्ति। 'तत् पुनर्वैधव्येनान्धीभूतमिव स्वबन्धुजनदत्तानुसन्धीभवत्पितृतया धृताश्वासनिर्बन्धं जरासन्धं गमिष्यति ॥९९॥

'यत्र च— विस्रस्तकेशवेशाद्योस्तयोः कंसस्य भार्ययोः।
द्रक्ष्यन्ति विहसिष्यन्ति चाङ्गानि पथिका अपि ॥१००॥

'ततस्तत्प्रेरणया जरासन्धः प्राप्तजरासन्ध इव कालरूपतावन्तं भवन्तमेव त्रयोविंशतिसंख्याभिरक्षौहिणीभिरभियास्यति ॥१०१॥

'तादृशतां भृशमविद्वान्, कीटक इव कृपीटयोनिमभियाय चाभिया मथुरां, मथ्नन्निवावरिष्यति ॥१०२॥

'ततश्च, इन्द्वर्कद्योतकेलिं कुतुककलनया निर्मिमाणावधृष्यौ
जारासन्धं तदन्धं तम इव कटकं त्रोटयन्तौ भवन्तौ।
एकं तं मागधेशं तम इव घृणया बाढमुत्सृज्य पर्व-
प्राप्तं सर्वं स्वभक्तं स्वमहसि दधतौ भास्यतः शश्वदेव ॥१०३॥

'एवं सप्तदशस्वप्यभिसम्पातेष्वपयातेषु कूटीकृतम्लेच्छकोटित्रयप्रकटकटकः स महाजवनः कालयवनः प्रातरेवातिदूरतः सामुद्रपूर इवालोकिष्यते, येन नीवृदेव निवृतो भविता ॥'१०४॥

देखो, कंस के तुच्छ पक्षपातियों में, एवं निन्दनीय भाव को प्राप्त हुए अन्य द्विविद आदि के रहनेपर भी, अस्ति एवं प्राप्ति नामक जो दो स्त्रियाँ कंस की हैं, वे दोनों ही विधवापन के कारण, अन्धी सी होकर, तथा निजबन्धुओं के द्वारा उनका अनुसन्धान प्राप्त करनेवाले पिता होने के नाते, उनके आश्वासन का आग्रह धारण करनेवाले जरासन्ध के निकट चली जायँगी ॥९९॥

और पिता के घर जाते समय जिनके केश वेशविशेष आदि सब अस्तव्यस्त हो गये हैं, ऐसी उन कंस की दोनों स्त्रियों के अङ्गों को पथिकजन भी देखेंगे एवं उपहास करेंगे ॥१००॥

तदनन्तर उन दोनों की प्रेरणा से जरासन्ध मानो वृद्धता के संयोग को प्राप्त हुआ सा होकर, कालरूपता को प्राप्त हुए आपके सम्मुख ही तेईस अक्षौहिणी सेना के सहित आगमन करेगा ॥१०१॥

और अपनी दाहकता को अच्छी तरह न जाननेवाला मूर्ख पतङ्गा, जैसे अग्नि के निकट दौड़कर जाता है, उसी तरह आपकी शक्ति को भी भली प्रकार न जाननेवाला जरासन्ध भी, भय से रहित होकर मथुरा के निकट आकर, उसका मन्थन सा करता हुआ उसको चारों ओर से घेर लेगा ॥१०२॥

उसके बाद कौतुक रचनापूर्वक चन्द्र सूर्य के प्रकाश की क्रीडा का निर्माण करते हुए, एवं जरासन्ध की सेना को गाढ़े अन्धकार की तरह नष्ट करते हुए तुम दोनों भाई, अकेले जरासन्ध को अवज्ञापूर्वक राहु की तरह दृढ़तापूर्वक छोड़कर, पश्चात् आपके विजय महोत्सव में सम्मिलित हुए अपने सभी भक्तों को, अपने तेज में पुष्ट करते हुए निरन्तर ही शोभा पाओगे ॥१०३॥

इसी प्रकार सत्तरह महायुद्ध बीत जानेपर, तीन करोड़ म्लेच्छों को एकत्रित कर सेना को प्रगट करनेवाला महान् वेगवाला वह प्रसिद्ध कालयवन, प्रातःकाल ही बहुत दूर से समुद्र के प्रवाह की तरह दिखाई देगा। जिसके कटक के कारण मथुरामण्डल का सारा देश ही व्याप्त हो जायगा ॥१०४॥

"कृष्ण उवाच,—'भूरिदूरतया शात्रवपात्रतारहितः स कस्मादस्माकमहिततामाप्स्यति ? ॥१०५

"ऋषिरुवाच,—'यदुवर्गबाधितगार्ग्याराधितभर्गवरस्फुरदुपसर्गजनिसर्गत एव यादवदवं प्रति भयदवविसर्गनिरर्गले तस्मिन् जरासन्धानुसन्धानादेव। स चात्रावश्यमरणवश्यतामाप्स्यतीति मत्प्रेरणाच्च ॥'१०६॥

"कृष्ण उवाच'—'कथं तर्हि तस्य गर्हितस्य मरणं भविता ?' "ऋषिरुवाच,—गर्हितत्वमेव तत्त्वतः खल्वहितं कारणम्। प्रकारं चामुं सहास्यमुद्गास्यन्ति,—

'शीतं महस्तदनुसृत्य मुकुन्दमूर्ते,-र्म्लेच्छाधिराडधितमःकटु-कीटतुल्यः।
एष ज्वलज्ज्वलनवन्मुचुकुन्दतेजः,-सङ्गादलं वलितविस्मिति भस्मति स्म ॥'१०७॥

"अथ कृष्णः स्वगतमधिगतवान्,—'न जाने, योजनशतकमर्दति तस्मिन् दुर्दमदुर्जनसम्मर्दे मत्प्रमदसत्रव्रजतुल्यव्रजः परिक्षिप्ततया विक्षिप्तचित्तः कुत्र वा व्रजिष्यति ?' ॥१०८॥

"ऋषिस्तु तदभिप्रयन् प्रथयति स्म,—'काम्यकतः पश्चिमायां दिशि गिरितटगतगरिष्ठाटवीमटिष्यति; किन्तु भवता यादवानामिव व्रजभवनानामरितस्तनिष्यमाणसन्तापसन्तानाभावाय तदिदं चिन्तयिष्यते ॥१०९॥

श्रीकृष्ण—बहुत दूर रहने के कारण हमारी शत्रुता की पात्रता से रहित वह म्लेच्छ, किस कारण हमारी शत्रुता को प्राप्त करेगा ? अर्थात् अकारण ही हमसे क्यों बैर बाँध बैठेगा ? ॥१०५॥

ऋषि—यदुवंशियों के द्वारा बाधित हुए जो गर्गगोत्री, उन गर्गगोत्रवालों के द्वारा आराधित शंकरजी के वरदान से स्फूर्ति पानेवाले उत्पात के द्वारा (कालयवन के) जन्म की सृष्टि से ही, यादवरूपी वन के प्रति भयरूप अग्नि के लगाने में उच्छृङ्खल उस कालयवन में जरासन्ध के अनुसन्धान से ही, एवं "वह कालयवन यहाँपर अवश्य ही मरण के वशीभूत हो जायगा" अर्थात् मारा जायगा। इस कारण मेरी प्रेरणा से भी वह कालयवन तुम सब यदुवंशियों से शत्रुता करने लगेगा ॥१०६॥

श्रीकृष्ण—तब उस निन्दित यवन का किस प्रकार मरण होगा ? ऋषि—उसका निन्दितभाव ही यथार्थरूप से योग्य कारण होगा। उसके मरने के अग्रिम प्रकार को उस समय के लोग हास्यपूर्वक ऊँचे स्वर से गायेंगे कि—अधिक तमोगुणी कटु (कड़वे) कीट के तुल्य एवं म्लेच्छों का सम्राट् यह कालयवन, श्रीमुकुन्द की मूर्ति के उस शीतल तेज का अनुसरण करके, जलती हुई अग्नि के समान मुचुकुन्द राजा के तेज के सङ्ग से, अत्यन्त आश्चर्य में पड़कर, भस्म का सा आचरण कर गया, अर्थात् भस्म हो गया ॥१०७॥

अनन्तर श्रीकृष्ण अपने मनमें विचारने लगे कि—सौ योजनतक पीडित करनेवाले उन दुर्दमनीय दुर्जनों के अच्छी प्रकार पीडित करनेपर, मेरे लिए आनन्ददायक जो व्रज (समूह) है, उसके तुल्य जो व्रज का जनमात्र है, वह चारों ओर दौड़धूप करने के कारण, विक्षिप्त चित्त होकर न जाने कहाँपर जायेगा ? ॥१०८॥

श्रीनारद ऋषि तो श्रीकृष्ण के मानसिक अभिप्राय को जानकर विस्तारपूर्वक कहने लगे कि—काम्यवन से पश्चिम दिशा की ओर पर्वत के तटपर विद्यमान विशालवनी में भ्रमण करेगा। किन्तु आप यदुवंशियों की तरह व्रजवासियों के भी, शत्रुओं के द्वारा विस्तारित किये गये सन्तापसमूह को दूर करने के लिए, अपने मन में यह चिन्ता करोगे कि—॥१०९॥

'सम्प्रति शरणागततया कृतमदनुसरणानां यादवानामवनाय युक्ततया नियुक्त इवास्मि। 'ततस्तत्र गरिष्ठं प्रकोष्ठान्तरं विधेयम्। हन्त ! यदि गोवर्धनधरणतः (भा० १०।२५।१८)— 'तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहम्। गोपाये स्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत आहितः॥' इत्यनुसृत्य कृतरक्षाणां मत्प्राणावलिलक्षाणामिव व्रजाध्यक्षाणां यद्यरयस्ते च रयाद् विघ्न-निघ्नतां करिष्यन्ति, तदा सर्वमेव खर्वं स्यात्। तेषामटवीषु गोकोटिलक्षरक्षकाणां रक्षा च प्रकोष्ठघटनया दुर्घटा ॥११०॥

'तथा—'रहोभूतमरूभूतं चक्षूभूतं मनीकृतम्।
यस्य यत् तत् कथं तेन त्यज्यतां व्यज्यतामपि ?'

इति न्यायेन तत्र सम्प्रति गमनमपि तत्रकीयसङ्कोचविशेषत एव विशेषतः प्रसह्य मह्यं न रोचते। सङ्कोचान्तरं तु तस्य नान्तरीयकमेव मन्ये। ततः सम्प्रति साक्षान्मम तत्र स्थितिमपि न लक्षयामि, तस्मात्तेषु बहिःशश्वदुदासीनताविन्यसनमेव मयि तदुदासीनतायां प्रवीणता-माचरति। तत एव शत्रवस्तत्र मद्बहिरङ्गताया जानाना गृह्णीरन्' इति ॥१११॥

इस समय शरणागतभाव से मेरा अनुसरण करनेवाले यादवों की रक्षा के लिए, मैं उपयुक्तभाव से प्रायः नियुक्त ही हूँ। अतः व्रज में व्रजवासियों की रक्षा को लिए, एक दूसरा भारी किला बनाना चाहिये। हाय ! यदि गोवर्धनधारण से "मैं ही जिसका स्वामी हूँ, एकमात्र मैं ही जिसका अवलम्बन हूँ, एवं मैं ही जिसका रक्षक हूँ, अतः उस व्रज की मैं अपनी योगमाया के बल से रक्षा करूँगा, यह मेरा दृढ़तापूर्वक धारण किया हुआ व्रत है" इस अपने व्रत का अनुसरण करके मैंने जिनकी रक्षा की है, एवं जो मेरे बहिश्चर लाखों प्राणों की श्रेणी के समान हैं, उन व्रजपति व्रजवासियों के सम्बन्ध में भी यदि वे जरासन्धादि मेरे शत्रु, वेगपूर्वक विघ्न की अधीनता कर डालेंगे, तब तो मेरा पूर्वोक्त समस्त व्रत ही छोटा पड़ जायगा। और वनों में कोटिलक्ष संख्यावाली धेनुओं की रक्षा करनेवाले उन गोपों की रक्षा, परकोटा से युक्त किले की रचना से भी कठिन प्रतीत होती है। अर्थात् किले में गोचारण नहीं हो सकता ॥११०॥

और "जिस व्यक्ति की जो वस्तु एकान्त के भाव को प्राप्त है, मर्म के भाव को प्राप्त है, नेत्र के भाव को प्राप्त है, एवं मन के भाव को प्राप्त है, अर्थात् जो वस्तु एकान्तरूप, मर्मरूप, नेत्ररूप, मनरूप हो रही है; वह व्यक्ति उस वस्तु को किस प्रकार त्याग सकता है एवं प्रगट कर सकता है ?" इस नीति के अनुसार इस समय उस व्रज में मेरा जाना भी मुझे वहाँ के संकोचविशेष के कारण ही, अधिकतर सहसा रुचिकर नहीं है। उनके शत्रुकृत पीडारूप दूसरे संकोच को तो मैं ऐकान्तिक नहीं मानता। अतः इस समय व्रज में मेरी साक्षात् स्थिति को भी मैं नहीं देख रहा हूँ। इसलिए उन सब व्रजवासियों के ऊपर निरन्तर बाहरी उदासीनता की स्थापना ही, मेरे में व्रजवासियों की उदासीनता के विषय में, निपुणता (चतुराई) का आचरण कर रही है। अतः दोनों ओर की उदासीनता के कारण ही, मेरे शत्रु उस व्रज में मेरी बहिरङ्गता को जानते हुए, व्रज को मुझ से बहिरङ्ग ही ग्रहण कर लेंगे, अतः व्रजपर चढ़ाई न करेंगे। यहाँतक श्रीकृष्ण का मानसिक विचार हुआ ॥१११॥

'तदेवं व्रजत उदासीनायमानस्य तव तादृशचिन्तामात्रेणाचिन्त्यशक्त्या द्रागेव दूरतः समुद्रान्तःपुरीविशेषस्य व्यक्त्या तत्र च यदूनां झटिति प्रसक्त्या तमुरीकरिष्यसि। नदनन्तरमेव कालयवने कालवदाचरिष्यसि, मुचुकुन्दं च प्रति मुकुन्दस्त्वं कुन्दसुन्दरदन्तकान्तिकन्दलित-मन्दहासमयसमयरचन-वचनविलासतः कृपामुल्लासयिष्यसि ॥११२॥

'अथ मथुरामेव रामेण सह सहचरयदुकुमारवृतः प्रतिगत्य पत्यभाववतः पुरुधा म्लेच्छतस्तान् म्लेच्छयोधान् निधनमेव रोधयमानस्तदमानधनानि निजराजधनानीति द्वारकां हारयन्नपि म्लेच्छपरिच्छदतया मनसि नाच्छतां मंस्यसे ॥११३॥

'अथ पुनः पुनर्जात इव स राजा जराजातः पूर्वपूर्ववदेव मधुपुरीमारुन्धानस्तद्धन-हर्तृणां भर्तृन् युष्मानेव प्रत्यभिगमिष्यति ॥११४॥

'ततश्च तद्धनानामवरक्षणाय निजजनानां रक्षणाय चाक्षामश्यामशुभ्रताशुभ्रवपुषौ परमपुरुषौ कुतुकविशेषादव्यञ्जितरुषौ शुभवन्तौ भवन्तौ सद्रवमपद्रवन्तौ तद्धर्षत इव वस्तुतस्तु तद्धर्षतः प्रवर्षणाख्यं गिरिमारोक्ष्यतः ॥११५॥

आगे नारदजी की उक्ति, यथा—अतः पूर्वोक्त प्रकार से व्रज से उदासीन का सा व्यवहार करते हुए, तुम्हारी उस प्रकार की चिन्तामात्र से अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से, शीघ्र ही मथुरामण्डल से बहुत दूर पर समुद्र के बीच में द्वारका नामक पुरीविशेष के प्रकाशित हो जाने के कारण, उसी पुरीविशेष में शीघ्र ही यदुवंशियों के पहुँचने से तुम उसी पुरीबिशेष को (अपने रहने के लिए) अङ्गीकार कर लोगे। तदनन्तर ही कालयवन के ऊपर काल का सा आचरण करोगे। और उसी प्रसङ्ग में तुम मुकुन्द होकर भी, कुन्द की कलिका से भी सुन्दर अपनी दन्तपंक्ति की कान्ति से मिले हुए मन्दहासमय, एवं सदाचार की रचना से युक्त वचनों के विलास से, श्रीमुचुकुन्द के प्रति अपनी कृपा प्रकाशित करोगे ॥११२॥

पश्चात् सहचारी यदुवंशीय कुमारों से घिरकर श्रीबलरामजी के सहित मथुरा में ही आकर, कालयवनरूप स्वामी से रहित अतः अनेक प्रकार के अपशब्दों का प्रयोग करते हुए, उन म्लेच्छ योद्धाओं को मृत्यु के प्रति ही अवरुद्ध करते हुए, अर्थात् उन सब यवन वीरों को मारकर, उनके अपरिमित धनों को अपने राजा उग्रसेनजी के धन हैं ऐसे मानकर, द्वारका में पहुँचाते हुए भी तुम, म्लेच्छों के उपकरणरूप आभूषणादि होने के कारण, अपने मन में निर्मलता नहीं मानोगे ॥११३॥

अनन्तर बारम्बार उत्पन्न हुए की तरह वह राजा जरासन्ध, पहले पहले की भाँति मथुरा को अवरुद्ध करता हुआ, म्लेच्छों के धन का अपहरण करनेवाले व्यक्तियों के पालन करनेवाले तुम्हारे सम्मुख ही आगमन करेगा ॥११४॥

तदनन्तर म्लेच्छों के धन की रक्षा न करने के लिए एवं अपने जनों की रक्षा करने के लिए, परिपूर्ण श्यामता एवं शुक्लता से उज्ज्वल शरीरवाले तुम दोनों परमपुरुष, कौतुकबिशेष के कारण क्रोध को न प्रकाशित कर, मङ्गलयुक्त होकर, वेगपूवक दौड़ते हुए मानो जरासन्ध के दबाव से, वास्तविक तो दौड़ने के आनन्द से प्रवर्षण नामक पर्वत पर चढ़ जाओगे ॥११५॥

'आरुह्य च तं तु द्रुह्यद्भिः प्रसह्य दह्यमानमुज्झन्तावेकादशयोजनसमुत्तुङ्गशृङ्गादुत्प्लुत्य भूरिदूरं युवां पतिष्यथः, पतित्वा च द्वारकापतितामागमिष्यथः ॥११६॥

'स तु वां प्रतापमविदन्निजपश्चात्ताप-पाप-पादप-बीजायमानमभिशापं हृदि वापं वापं गृहमवाप्स्यति । गीर्वाणश्रेण्याकाशवाण्या तु हसिष्यते,—॥११७॥

मृधे तु विजितः पुरा त्वमसि यद्द्वयेनामुना, स सप्तदशवारकं विजित एव किं तद्गिरा ?। अहो सकुतुकद्रवे प्रकटमद्य चाजी यथा, जरासुत ! न यद्ध्रुवं तमदसीयमानर्च्छिथ ॥११८॥

"कृष्ण उवाच,—'लब्धदुर्गाणां यदुवर्गाणां बलं वा तेषां बलमेव वावलम्बनं विधाय तदापि किं व्रजं नाव्रजिष्यामि ?' ॥११९॥

"ऋषिः स्वगतमाह स्म,—'अहो ! तादृशि सङ्कोचेऽप्येतादृगस्योत्कण्ठा मादृगन्तर्बुद्धिं कुण्ठयति' इति ॥१२०॥

स्पष्टं तु स्पष्टं कारणमाचष्ट,—'एकस्मिन् कंसे ध्वंसिते बहवस्तत्सम्बन्धिबान्धवा जरासन्धवत् कंसायिस्यन्ते, कथमागमनं स्यात् ?' ॥१२१॥

"कृष्ण उवाच,—'दर्शनमात्रार्थमपि न स्यात् ।' "ऋषिः सरूक्षहासमुवाच,—'न हि, न हि ।' कृष्ण उवाच,—'कथमिव ?' "ऋषिरुवाच,—'वसुदेवाद्यनुज्ञां विनेति विज्ञापितमेव ।'

और, चढ़ते ही द्वेषियों के द्वारा हठपूर्वक जलाये गये उस पर्वत को त्यागते हुए, तुम दोनों भाई ग्यारह योजन (४४ कोस) ऊँचे शिखर से कूदकर, बहुत दूर गिर पड़ोगे। और गिरकर भी द्वारका की पालकता को प्राप्त हो जाओगे ॥११६॥

किन्तु वह जरासन्ध तो तुम दोनों के प्रताप को न जानकर, निज पश्चात्तापरूपी पापवृक्ष के बीज के तुल्य अभिशाप (बुरी भावना) को अपने हृदय में बारंबार बोकर अपने घर ही पहुँच जायगा। उस समय देवश्रेणी तो आकाशवाणी के द्वारा उसका उपहास करेगी—॥११७॥

यथा—हे जरासन्ध ! इन दोनों भाइयों के द्वारा तुम जो पहले युद्ध में पराजित हुए, वही तुम सत्तरहबार क्रमशः परास्त ही हो गये, उस बात को वाणी के द्वारा कहने से क्या प्रयोजन है ? किन्तु आश्चर्य तो यही है कि, आज प्रत्यक्ष ही खिलवाड़पूर्वक दौड़ने में बकरियों की श्रेणी की तरह तुम कृष्ण बलदेव की उस चाल को नहीं प्राप्तकर पाये, यह बात निश्चित है ॥११८॥

श्रीकृष्ण—क्यों भगवन् ! जिनको द्वारकारूप दुर्ग (किला) की प्राप्ति हो गई है, उन यादवगणों के सम्बन्ध में उनका शारीरिकबल या सेनाबल ही अवलम्बन बना करके भी, मैं व्रज में नहीं आऊँगा क्या ? ॥११९॥

ऋषि अपने मन में बोले कि—अहो ! उस प्रकार के संकोच के रहते हुए भी, श्रीकृष्ण की ऐसी विचित्र उत्कण्ठा, हम जैसे विवेकियों के अन्तःकरण को भी कुण्ठित कर रही है ॥१२०॥

स्पष्ट कारण को तो स्पष्टरूप से—एक कंस का विध्वंस होनेपर बहुत से कंस के सम्बन्धी बान्धव जरासन्ध की तरह कंस का सा व्यवहार करेंगे। अतः किस प्रकार आना हो सकेगा ? ॥१२१॥

श्रीकृष्ण—क्या दर्शनमात्र के लिए भी आना न हो सकेगा ? ऋषि रूखी हँसीपूर्वक—नहीं नहीं। श्रीकृष्ण—किस प्रकार ? ऋषि—"श्रीवसुदेव आदि की अनुज्ञा के बिना" यह बात मैंने पहले ही जना

"कृष्ण उवाच,—'तर्ह्यागमनमेव न भविता।' "ऋषिरुवाच,—'भविता, किन्तु कालविलम्बतया। भवांस्तु व्रजागमनं मनसिकृत्य विवाहकृत्यविमुखतया स्थास्यति, किन्तु तदपि व्यभिचरिष्यति ॥१२२॥

"कृष्ण उवाच,—'हन्त ! किं तत्र कारणम् ?' ऋषिरुवाच,—'रैवतनामा कश्चित् प्राचीनः सुराजा द्रुहिणविहिततया रौहिणेयाय यदा दुहितरं वितरिष्यति, तदा वसुदेवदेवक्यादिभिरीडितैर्विवाहाय बहुधा विहिताम्रेडितैः कृतः स च प्रयत्नस्त्वया सपत्न इव नानुमोदिष्यते ॥१२३॥

'तदेवमेव वासरशते गते कदाचित् कश्चिदुद्विजमान इव द्विजन्मा विजने सन्तं भवन्तमाव्रजिष्यति ॥१२४॥

आव्रज्य च स धन्यात्मा पितृपरवत्याश्च परसात्कृतिमयस्वभयावृततयापावृतायमानाया भीष्मककन्यायाः सन्यायां पत्रिकां सापत्रपमिव त्वय्यर्पयिष्यति ॥१२५॥

तस्याः संक्षेपतस्त्वयमर्थविक्षेपः,—

'तव स्वभावेनाकृष्टा स्वस्य वा त्वयि केशव !।
कृष्येय चेद्बलादन्येनासून्मध्ये जहाम्यहम् ॥'इति॥ १२६॥

ततश्च मर्मस्पृशा धर्मदृशा विधर्माद्भयं भावयमानस्त्वमन्यथामन्यमानतां न लप्स्यसे। किं बहुना, विवाहमपि निर्वाहयिष्यसे ॥१२७॥

दी है। श्रीकृष्ण—तब तो व्रज में आना ही न होगा। ऋषि—होगा तो सही, किन्तु समय की विलम्बतापूर्वक। और आप तो व्रज के आगमन को मन में धारण करके द्वारका में विवाहसम्बन्धी कृत्य से विमुख होकर स्थित रहोगे, किन्तु वह विवाह की विमुखता भी व्यर्थ हो जायगो ॥१२२॥

श्रीकृष्ण—हाय ! उस विषय में क्या कारण है ? ऋषि—रैवत नामक कोई प्राचीन उत्कृष्ट राजा ब्रह्माजी के द्वारा नियुक्त होकर, श्रीबलदेवजी के लिए जब अपनी रेवती कन्या का दान कर देगा, तब पूजनीय श्रीवसुदेव देवकी आदि के द्वारा बहुत प्रकार से दो तीन बार कहनेपर, तुम्हारे द्वारा किया गया भी वह विवाह निषेध का प्रयत्न, बैरी की तरह अनुमोदन नहीं किया जायगा ॥१२३॥

इसी प्रकार कहते सुनते सौ दिन बीत जानेपर, किसी दिन कोई भयभीत होता हुआ सा ब्राह्मण, एकान्त में विराजमान आपके निकट आयेगा ॥१२४॥

और आते ही वह धन्यात्मा ब्राह्मण, पिता के अधीन रहनेवाली, श्रीकृष्ण से भिन्न दूसरे को दान करनारूप अपने भय से व्याकुल होने के कारण, स्वतन्त्रता का आचरण करनेवाली, भीष्मक की कन्या (रुक्मिणी) की न्याययुक्त पत्रिका को लज्जित की तरह तुम्हें अर्पण करेगा ॥१२५॥

उस पत्रिका का संक्षेप से अर्थ का निचोड़ तो यह है कि—हे केशव ! मैं तुम्हारे लोकोत्तर स्वभाव से या अपने नैसर्गिक स्वभाव से तुम्हारे में आकर्षित हो गई हूँ। यदि इसी बीच में दूसरे के द्वारा बलपूर्वक आकर्षित कर ली जाऊँगी, तब तो अपने प्राणों को ही त्याग दूँगी ॥१२६॥

उसके बाद मर्म का स्पर्श करनेवाली धर्ममयी दृष्टि के द्वारा विधर्म से भय की भावना करते हुए, तुम अन्यथा माननेवाले के भाव को नहीं प्राप्त करोगे। अधिक क्या कहें ? विवाह का भी निर्वाह कर लोगे ॥१२७॥

'यथा च लोके कथा प्रथामाप्स्यति,—

'भीष्माद्रिस्थितरुक्मिणीमणिमयश्रेणीविलोकस्पृहां
शार्दूलस्थितिमाश्रिता नृपसुतास्तावन्मदान्निर्ममुः ।
यावच्छंखनिनादगर्जदलितप्रागल्भ्यतत्तत्सभा-
मध्यध्वंसि-नृसिंहनव्यतरुणश्चक्रे मनाङ् नोद्यमम् ॥'१२८॥

'तदेवं पर्ययमागतायां मर्यादायां तादृशपर्यायितया काश्चिदन्याश्च धन्याः कन्यास्ताम-धिविन्नां प्रणयन् परिणेतासि । ताश्च भवन्तमन्तरेण न शरीरस्थितिमनुसरेयुः' इति ॥१२९॥

'तत्र सत्यभामां तावत्पाणौ प्रणेष्यसि, यत्र जाम्बवतीमपि संवलयिष्यसि, यत्र च जाम्बवान् कूकुदमुदं लप्स्यते ॥१३०॥

तथा हि समासेन कथयिष्यन्ति,—

'प्रसेने निःसेने निजसहजनौ दिव्यमणिभाग्-, गले सिंहध्वस्तेऽरचयदभिशस्तं हरिमसौ ।
यदा सत्राजित्तर्ह्यनुमृगयमाणो मणिममूं, स कन्यामृक्षेन्द्रादलभत स तस्मादपि पुनः ॥'१३१॥

'मणिमन्वेष्टुं चिररात्राय कान्तारं गते तु त्वयि परमकान्ते पुनर्निर्दरतया भल्लूकदरं प्रविष्टे द्वारकायां सुष्ठु कष्टमापतिष्यति ॥१३२॥

और लोकभर में इस प्रकार की कथा ख्याति को प्राप्त हो जायगी व्याघ्र की सी स्थिति का आश्रय करनेवाले राजपुत्र, मद के कारण, भीष्मकराजरूप पर्वतपर स्थित रुक्मिणीरूप मणिमयश्रेणी के दर्शन की इच्छा तभीतक करते रहे, जबतक शङ्ख के शब्द की सी अपनी गर्जना के द्वारा दलित (चूर्ण) करदी है प्रगल्भता जिसकी, ऐसी जो तत्तत् सभा, उस सभा के मध्य का विध्वंस करने के स्वभाववाले नरसिंहरूप नवीन तरुण ने किंचित् उद्यम नहीं किया ॥१२८॥

अतः इस प्रकार "मैं विवाह नहीं करूँगा" इस मर्यादा का व्यतिक्रम हो जानेपर, रुक्मिणी की सी परिपाटी के अनुसार (अनेक विवाह करनेपर भी), उस रुक्मिणी को अधिविन्ना (पहली पत्नी) बनाते हुए, कुछ अन्य धन्य राजकन्याओं के साथ विवाह करोगे। वे सब राजकन्याएँ आपके बिना अपने शरीर की स्थिति का भी अनुसरण नहीं कर सकेंगी ॥१२९॥

रुक्मिणी से भिन्न अन्य उन राजकन्याओं में से, पहले सत्यभामा का पाणिग्रहण करोगे। जिस सत्यभामा के विवाहप्रसङ्ग में जाम्बवती को भी सम्मिलित कर लोगे। और जिस जाम्बवती के विवाह में ऋक्षराज जाम्बवान् कुकुद व्यक्ति का सा हर्ष प्राप्त करेंगे। (जो अलंकृत की हुई कन्या को सत्कारपूर्वक देता है, उसको 'कुकुद' कहते हैं)॥१३०॥

देखो, भगवन्! उस समय के लोग उस प्रसङ्ग को संक्षेप से यों कहेंगे कि—स्यमन्तक नामक दिव्यमणि से युक्त गलेवाले अपने सहोदर भाई प्रसेन के सेनारहित हो जानेपर, पश्चात् सिंह के द्वारा मारे जानेपर, इस सत्राजित् ने श्रीकृष्ण को जब झूठे ही कलङ्कित कर दिया, तब उस स्यमन्तकमणि को ढूँढ़ते हुए श्रीकृष्ण ने ऋक्षराज से जाम्बवती कन्यासहित उस मणि को प्राप्तकर लिया, पुनः उन्हीं श्रीकृष्ण ने सत्राजित् से भी सत्यभामा नामक कन्या के सहित उस मणि को प्राप्तकर लिया ॥१३१॥

और हे भगवन्! उस मणि को ढूँढ़ने के लिए चिरकालतक परमरमणीयस्वरूप तुम्हारे दुर्गम मार्गयुक्त भारी वन में चले जानेपर, पुनः निर्भयतापूर्वक ऋक्षराज जाम्बवान् के बिल में प्रविष्ट हो जाने-पर तो, द्वारका में महान् कष्ट आ पड़ेगा ॥१३२॥

'यतः, यर्हीतिर्भवतः कृष्ण ! तर्हीतिर्न तु दुर्लभा ।
अक्ष्णोरीतिस्तु लोकानां रीतिरेव तदा मता ॥'१३३॥

'प्राप्तायां सरत्नायां सत्यभामायां रत्नं पुनः स्वस्मिन्नर्पितेनावगीतेन सत्रा सत्राजित्येव प्रत्यर्पयिष्यसि ॥१३४॥

'यदा च पाण्डवानामुद्दण्डं दाहवृत्तमतथ्यं कथ्यमानमाकर्ण्य तूर्णमेव हस्तिनापुरं प्रस्थितौ भविष्यथः । 'तदा गर्भे सुहितस्त्वदहितः शतधन्वा तु वां दूरगौ मन्वानः प्राप्तरत्नं सत्राजितं सयत्नं सपत्नवन्निहत्य रत्नमपहृत्य तच्च कर्णेटिरटिराकारिणमक्रूरं प्रत्यपह्नुत्य ज्ञातिहत्या-भीत्या कुशस्थलादवगत्य विद्रोष्यति ॥१३५॥

'अथ स्वपुरमागत्य तदधिगत्य तमेवानुपदितयानुसृत्य निहत्य च मणिमसङ्गत्य पश्चाद-क्रूरात् प्रतिपत्य स्वमभिदुर्जनाभिशापमार्जवान्मार्जयिष्यसि ॥'१३६॥

"कृष्णः स्वगतमुवाच,—
'सङ्गः क्वायं व्रजस्थानां मदेकप्राणताजुषाम् ।
क्व वा यदूनां सत्राजिच्छतधन्वादिशालिनाम् ?' ॥१३७॥

कारण—हे कृष्ण ! आपका जब प्रवास हो जाता है, तब अतिवृष्टि अनावृष्टि आदि उपद्रव दुर्लभ नहीं है । और उस समय आपके भक्तलोगों की आँखों का झरना, यह तो एक प्रकार का प्रचार ही माना गया है ॥१३३॥

और मणि के सहित सत्यभामा की प्राप्ति हो जानेपर, पुनः उस मणि को अपने में लगाये गये झूठे कलङ्क के सहित तुम सत्राजित् के प्रति ही प्रत्यर्पण कर दोगे ॥१३४॥

और जब तुम दोनों भाई पाण्डवों के लाक्षागृह में दाहरूप महाभयङ्कर वृत्तान्त को झूठे ही कहे हुए सुनकर शीघ्र ही हस्तिनापुर को प्रस्थान कर दोगे, तब गर्भेसुहितः (अनुचित चेष्टा करनेवाला) तुम्हारा बैरी शतधन्वा तो तुम दोनों को दूर गये हुए मानता हुआ, रत्न जिसको प्राप्त हो गया है, उस सत्राजित् को प्रयत्नपूर्वक शत्रु की तरह मारकर, मणि चुराकर, पश्चात् उसी मणि को कर्णेटिरटिराकारिणं (चपलता के कारण अनुचित चेष्टा करनेवाले) अक्रूर के पास गुप्तरूप से धरकर, जाति की हत्या के भय से कुशस्थल (द्वारका) से निकल कर भाग जायगा ॥१३५॥

तदनन्तर तुम इस समाचार को सुनकर, अपनी पुरी में आकर, शतधन्वा के व्यापार को जानकर, पीछे दौड़नेवाले की तरह उसी का अनुसरण कर, उसको मारकर, मणि को न पाकर, पश्चात् अक्रूर से पाकर, अपने को लक्ष्य करके दुर्जनों के द्वारा लगाये गये झूठे कलङ्क को सरलतापूर्वक मिटाओगे ॥१३६॥

श्रीकृष्ण अपने मनमें बोले कि—एकमात्र मुझमें ही प्राणों के समान प्रीति करनेवाले व्रजवासियों का यह विशुद्ध सङ्ग कहाँ ?· एवं सत्राजित् शतधन्वा आदि कुविचारी जनों से शोभा पानेवाले यदुवंशियों का (उपद्रवमय) सङ्ग कहाँ ? अर्थात् इन दोनों के सङ्ग में महान् वैषम्य है ॥१३७॥

'अथवा—

भवेद्यः प्रोष्य पापीयांस्तस्य किं कर्म शर्मदम् ? ।
यद्यत् करोति तत्रैव स्नात्वा कालक एव सः ॥'१३८॥

"स्पष्टं चाचष्ट,—'कथान्तरं प्रथ्यताम्। यदनन्तरं गोष्ठस्था ममानन्तरस्था भविष्यन्ति ॥'१३९

"ऋषिरुवाच,—'तदप्यायास्यति श्रूयताम्। अथ भवता तास्तत्तदुपायमुपायंसतेति वर्ण्यमानमाकर्ण्य मृगयायां परीता रविदुहिता च त्वां वरीता। एतन्निर्वर्ण्य च जना वर्णयिष्यन्ति ॥१४०॥ यथा—

'सूर्ये जीवति तत्कन्या तमनापृच्छ्य पश्यत।
स्वयं वृतवती कृष्णं वराकी कान्यकन्यका ?' ॥१४१॥

'अथ राजाधिदेव्या नन्दिनीं मित्रविन्दां स्वयंवरणेन भवन्तमनुविन्दमानां तत्र भ्रातृभ्यां विन्दानुविन्दाभ्यां निन्द्यमानां युद्धेन विन्दमानः परिणेतासि ॥'१४२॥

"कृष्ण उवाच,—'राजाधिदेवी खल्वानकदुन्दुभेर्भगिनीति भण्यते, सत्राजिदपि गोत्रजतया तर्हि कथमिदं लोकगर्हितमर्हिष्यति ?' ॥१४३॥

अथवा जो व्यक्ति ऐसे प्रेमियों को छोड़कर परदेश में जाकर अति निन्दनीय हो जाय, उसका कौन सा कर्म सुखदायक हो सकेगा ? और वहाँपर भी वह जो जो कार्य करता है, उसमें स्नान करनेपर भी वह मलिन ही बना रहता है ॥१३८॥

पश्चात् स्पष्ट—ऋषिजी ! दसरी कथा कहिये। जिस कार्य के अनन्तर मेरे प्यारे व्रजवासी मेरे निकटवर्ती हो जायँगे ॥१३९॥

ऋषि—वह समय भी आयेगा। सुनिये, अनन्तर "आपने उन रुक्मिणी आदि को उस उस उपाय से विवाह लिया" इस समाचार को लोगों से वर्णित हुआ सुनकर, शिकार के समय मिली हुई सूर्यकन्या कालिन्दी भी तुमको पतिरूप से वर लेगी। इस बात को देखकर एवं सुनकर लोग यह वर्णन करेंगे ॥१४०॥

यथा—देखो, आश्चर्य की बात है कि, सूर्य के जीवित रहते हुए भी उसकी कन्या कालिन्दी ने, उन अपने बाप को न पूछकर श्रीकृष्ण को स्वयं वर लिया। ऐसी स्थिति में बिचारी दूसरी कन्या ऐसी कौन है, जो कि श्रीकृष्ण के वरण को न चाहती हो ? ॥१४१॥

अनन्तर राजाधिदेवी की पुत्री मित्रविन्दा को युद्ध के द्वारा पाकर विवाहोगे। तुम जब उसके स्वयंवर में जाओगे, तब वह आप में आसक्त होकर आपको ही प्राप्त होगी, किन्तु उस प्रकार के कार्य की विन्द एवं अनुविन्द नामक उसके भाई निन्दा करेंगे कि, तू तो श्रीकृष्ण के पिता की बहिन की बेटी है, अतः यह सम्बन्ध विरुद्ध है ॥१४२॥

श्रीकृष्ण—राजाधिदेवी तो निश्चय ही हमारे पिता वसुदेवजी की बहिन कही जाती है, और सत्राजित् भी सगोत्री ही कहलाता है। तब यह लोकनिन्दित कार्य किस प्रकार योग्य होगा ? ॥१४३॥

"कृष्णः ससङ्कोचलोचनमुवाच,—'तदपि कथम् ?' "ऋषिरुवाच,—'यादवप्रभवाणामयमेव कुलक्रमसमाचारः ॥'१४४॥

ऋषिः सहासमुवाच,—'राजाधिदेव्या इव श्रुतकीर्तेरपि सुतां भद्रामुपयंस्यसे ।'

• "कृष्णः स्वगतमुवाच,—'न खल्विदं ज्ञातेयम्, किन्तु कापेयमेव । तथापि भद्रमेवेदम् । यस्मादनेन सम्बन्धेन व्रजबन्धवस्तदिदं मंस्यन्ते । नासौ तेषां गोत्रतया स्तोत्रविषयतामात्मनि मन्यते, किन्तु गोत्रान्तरमितानामस्माकमेव' इति ॥१४५॥

"ऋषिरुवाच,—'मित्रविन्दामनु चेदं वन्दिष्यन्ते,—

यथार्थनाम्ना साम्नाता मित्रविन्दा स्वबन्धुभिः ।
स्वमित्रं विन्दमाना या तदमित्रान्निराकरोत् ॥१४६॥

'भद्रामनु च वर्णयिष्यन्ति,—

श्रुतकीर्तिः सुता-व्याजात् कीर्तिमेव व्यजायत ।
कृष्णसात्कृतितः सा तु भद्राप्यजनि विश्रुता ॥१४७॥

'अथ नाग्नजितीमप्युद्वक्ष्यसि । यत्र सप्तानां वृषभाणां युगपद्बन्धः खलु तत्पित्रा पणबन्धतया स्थापयिष्यते ॥१४८॥ तत्र च—

यदा त्वं सप्तवृषभानुद्दितानाचरिष्यसि ।
तदा त्वद्गोपतां स्मृत्वा बाष्पं मोक्ष्यामहे वयम् ॥'१४९॥

ऋषि हँसकर—राजाधिदेवी की पुत्री की तरह श्रुतकीर्ति की पुत्री भद्रा को भी विवाह लोगे। श्रीकृष्ण सङ्कोचपूर्वक नेत्रों को मीचते हुए—यह कार्य भी कैसे होगा, कारण वह भद्रा भी तो मेरी बूआ की बेटी है ? ऋषि—यदुवंश में पैदा होनेवालों का कुलपरम्परागत यही अच्छा आचार है ॥१४४॥

श्रीकृष्ण अपने मनमें—यह कर्म तो निश्चय ही जाति के भाव का नहीं है, किन्तु वानरसम्बन्धी कर्म या भाव ही है, तो भी यह अच्छा ही है। कारण—इस सम्बन्ध से व्रजवासी बन्धुगण यह विचार करेंगे कि, ये श्रीकृष्ण उन यादवों के गोत्री होकर अपने में प्रशंसनीयता नहीं मानते हैं, किन्तु दूसरे गोत्र को प्राप्त हुए हमारे गोत्री होकर ही अपने को प्रशंसनीय मानते हैं ॥१४५॥

ऋषि—मित्रविन्दा को लक्ष्य करके इस प्रकार प्रशंसा करेंगे कि, वह मित्रविन्दा तो अपने बन्धुओं के द्वारा सार्थक नाम से कहीगई है। क्योंकि जिसने अपने निजीमित्र श्रीकृष्ण को पाकर, श्रीकृष्ण के बैरियों का निराकरण कर दिया ॥१४६॥

और भद्रा को लक्ष्य करके भी वर्णन करेंगे कि—श्रुतकीर्ति ने तो बेटी के बहाने अपनी मूर्तिमान कीर्ति ही पैदा कर दी। और वह भद्रा नामक कन्या भी, श्रीकृष्ण के लिए आत्मसमर्पण करने के कारण विख्यात हो गई ॥१४७॥

अनन्तर तुम नाग्नजिती को विवाहोगे। जिसके विवाह में उसका पिता सात उद्धत बैलों का एकसाथ बाँधना ही शर्तरूप से स्थापित कर देगा ॥१४८॥

और उस विवाह में जब तुम सातों बैलों को एकसाथ बाँध दोगे, तब हम तुम्हारे गोपालपन को याद करके आँखों से प्रेमाश्रु बहायेंगे ॥१४९॥

"कृष्ण उवाच,—'हन्त ! युष्मभ्यमपि रोचते खल्वियं मल्लीला ?' "ऋषिरुवाच,—'आस्तामस्मद्वार्ता, बाढमस्मत्पित्रेऽपि । यथा प्रार्थितम् (भा० १०।१४।३४) 'तद्भूरि भाग्यम्' इत्यादिना । तत्र च या कापि तव प्रेयसी लीला, सा तु परमश्रेयसी । यत्सम्बन्धेन भवन्मन्त्रद्वयं मन्त्रराजतया प्रचारितमावाभ्याम् ॥१५०॥ 'तथा हि—

नृपो न हरिसेविता व्ययकृती न हर्यर्पकः, कविर्न हरिवर्णकः श्रितगुरुर्न हर्याश्रितः ।
गुणी न हरितत्परः सरसधीर्न कृष्णाश्रयः, स न व्रजरमानुगः स्वहृदि सप्त शल्यानि मे ॥'१५१॥

"कृष्णः स्वगतमुवाच,—'साधीयान् ममानुभवः, स तु न सबाधीभवितुमर्हति । यतश्च न स्वानुभव एवायमनुभावश्च, तन्मनो नान्यथा मन्यस्व' इति ॥१५२॥

स्पष्टं च पृष्टवान्,—'ततस्ततः ?' "ऋषिरुवाच,—'तदेवं काव्यश्रेणीरिव नानादेश-वेशभाषारसैरेणीदृशः पाणौकृत्य पूर्वपूर्ववद्रागिणीं मद्राधिपतेरपि कन्यां सन्यायतया वर्या भार्यावर्यां करिष्यसि । न केवला सा, तासामधराः षोडशसहस्रपरिमाणाश्चापराः ॥१५३॥

श्रीकृष्ण—हाय ! यह विवाहसम्बन्धी मेरी लीला तुम्हारे लिए भी रुचिकर है ? ऋषि—हमारी बात तो रहने दो । आपकी लीला तो हमारे पिता श्रीब्रह्माजी के लिए भी अत्यन्त रुचिकर है । यथा—उन्होंने 'तद्भूरिभाग्यं' इत्यादिरूप से आपके नित्यलीलास्थल व्रजभूमि में तृण आदि होने की प्रार्थना आपसे ही की है । और उन सब लीलाओं में तुम्हारी जो कोई भी प्रियतम लीला है, वह तो अत्यन्त मङ्गलजनक है । जिस प्रेयसीलीला के सम्बन्ध से तो हम दोनों पिता पुत्रों ने आपके 'दशाक्षर' एवं 'अष्टादशाक्षर' इन दोनों मन्त्रों को मन्त्रराजरूप से प्रचारित कर दिया है ॥१५०॥

देखो, प्रभो ! (१) जो राजा होकर भी श्रीहरि का सेवक नहीं, (२) जो मनमाना व्यय करनेवाला होकर भी हरि के अर्पण करनेवाला नहीं, (३) जो कवि होकर भी हरि का वर्णन करनेवाला नहीं, (४) जो गुरुदेव का आश्रय लेकर भी हरि के आश्रित नहीं, (५) जो गुणी होकर भी हरि के परायण नहीं, (६) जो सरस बुद्धिवाला होकर भी श्रीकृष्ण के आश्रयवाला नहीं, एवं (७) वही सरस बुद्धिवाला व्यक्ति व्रज की रमा श्रीराधिकादि गोपियों का अनुगामी नहीं,—ये सातों व्यक्ति तो मेरे हृदय में बाण की नोक की तरह प्रतिक्षण चुभते रहते हैं । (श्रीगुरुदेव का आश्रय लेकर भी श्रीहरि के आश्रित न होने में गुरु-शिष्य की अयोग्यता ही कारण है । यथा—हरै शिष्यधन शोक न हरई । सो गुरु घोर नरक में परई ॥ गली गली गुरु फिरत हैं, हमसे दीक्षा लेउ । नरक परो या स्वर्ग हो, धोती रुपिया देउ ॥ भलो भयो गुरु मर गये, चेलन परि गयो चैन । छठे महिना आवते धोती रुपया लेन) ॥१५१॥

श्रीकृष्ण मन मन में बोले कि—मेरा अनुभव अत्यन्त अधिक है । वह किसी से बाधित भी नहीं हो सकता । क्योंकि केवल अपना अनुभव ही नहीं, अपितु अपना यह प्रभाव भी किसी से बाधित नहीं हो सकता । अतः हे मेरे मन ! तू अन्यथा विचार मत कर ॥१५२॥

स्पष्टरूप से तो पूछा कि—ऋषिजी ! आगे क्या होगा ? ऋषि—इस प्रकार काव्यश्रेणी की तरह अनेक देश, वेश, भाषा एवं रसों से मनोहर मृगलोचनाओं को विवाह कर, पहले पहले की तरह अनुरागिणी एवं पतिवरा मद्रदेश के राजाकी लक्ष्मणा नाम की कन्या को भी न्यायपूर्वक श्रेष्ठ भार्या बना लोगे । केवल वही नहीं, उन आठ पटरानियों से छोटी सोलह हजार के परिमाणवाली और कन्याएँ भी अपनी भार्या बनाओगे ॥१५३॥

'तत्र मद्रकन्यायाः परिणयन्यायं भद्रमेवं वर्णयिष्यन्ति,—

'अत्युच्चैर्बद्धवेध्याऽप्रकटझषतनोश्छेदमाकर्ण्य पण्यं
कन्याया मद्रपातुः क्षितिपतिनियुतासाध्यमेकस्तु पश्चात् ।
दूरादागम्य पश्चादपि च विलुलुवे तां हरिर्यः स पश्चाद्-
भूत्वा तान् युक्तमार्दद् युधि तदपि मताग्रीयता तस्य चित्रा ॥१५४॥

'कन्यानां षोडशसहस्राण्युद्दिश्य च सहस्रवक्त्रतामेव देवताः प्राप्स्यन्ति ॥१५५॥

'तत्र दिग्दर्शनम्, यथा—

अथ नरकनिकाय्यं नारकं मेनिरे ता,-स्तदधिकमपि तं तु श्रीहरिर्मन्यते स्म ।
नरकहरणनामाप्यत्र यत्नातियत्नं, यदकृत यदिहासीद्व्यग्रताविद्धबुद्धिः ॥१५६॥

'नरकवधप्रक्रियां चैवं वर्णयिष्यन्ति,—

'भित्त्वा दुर्गाणि कृष्णः ससुतमुरयुतं भौममुन्मथ्य राज्ये
तत्पुत्रं स्थापयित्वा सुरनरदुहितृर्बन्धनादुज्जहार ।
देवाम्बाकुण्डलाद्या मणिगिरिवरुणच्छत्रमुद्धृत्य तच्च
प्रत्यर्प्य क्षुद्रवृष्णः सह मणिगिरिणाप्यग्रहीत् पारिजातम् ॥१५७॥

उन सबमें से मद्रराज की कन्या के विवाह की रीतिनीति को लोग मङ्गलपूर्वक ही वर्णन करेंगे, यथा—मद्रराज की कन्या के विवाह का ऐसा प्रण था कि, बहुत ऊँचे स्थलपर बाँधे हुए एवं वेधन करने योग्य एक अदृश्य मछली के शरीर को जो छेदन कर देगा, वही कन्या विवाह लेगा। किन्तु वह मत्स्यवेध असंख्य भूपतियों के भी असाध्य होगया था। इस प्रकार के प्रण को सुनकर पश्चात् अकेले अर्जन ने दूर से आकर, बाण के द्वारा उस मछलो का केवल स्पर्शमात्र किया, सबसे पीछे आकर जिन श्रीहरि ने उस मछली को छिन्नभिन्न कर दिया, उन्हीं श्रीहरि ने सबसे पीछे होकर भी युद्ध में उन सब राजाओं को उचितरूप से पीडित कर दिया, तो भी उनकी आश्चर्यकारिणी अग्रगण्यता मानी गई ॥१५४॥

और सोलह हजार कन्याओं का उद्देश्य करके देवगण सहस्रवदन के भाव को ही प्राप्त हो जायँगे ॥१५५॥

उसमें दिग्दर्शन, यथा—अनन्तर देवतागण नरकासुर के घर को नरक के समान ही मानते थे। किन्तु श्रीहरि तो उसके घर को नरक से भी अधिक मानते थे। क्योंकि नरकहरण नामवाले होकर भी श्रीहरि ने यहाँपर इस नाम के विषय में महान् प्रयत्न किया। कारण—इस नरकासुर के घर में से सोलह हजार कन्याओं को छुड़ाना, अदिति के कुण्डल एवं वरुण का छत्र आदि लाना, इनके निमित्त श्रीहरि की बुद्धि व्यग्रता से विद्ध हो गई थी ॥१५६॥

देवगण नरकवध की प्रक्रिया को इस प्रकार वर्णन करेंगे—श्रीकृष्ण ने नरकासुर के अनेक प्रकार के दुर्गों को तोड़कर, पुत्रों के सहित मुर नामक दैत्य से युक्त नरकासुर का मन्थन कर, उसके पुत्र भगदत्त को उसके राज्यपर स्थापित कर, देवता एवं मानवों की कन्याओं को कारागाररूप बन्धन से उन्मुक्त कर दिया। और देवमाता अदिति के कुण्डल आदि द्रव्य, मणिपर्वत के सहित वरुण के छत्र को लेकर, उन सब वस्तुओं को यथायोग्य देकर, पश्चात् क्षुद्र इन्द्र के मणिपर्वत के सहित पारिजात (कल्पवृक्ष) को भी बलपूर्वक ग्रहण कर लिया ॥१५७॥

'तदेवं तव स्वर्गस्थविघ्नहन्तृतां तत्र च वृत्रघ्नः कृतघ्नतामवधाय वयमेवं मन्यामहे ॥१५८॥

'त्वामर्चन्ति यदा स्वर्ग्यास्तदा स्वर्गः सुरालयः ।
त्वां नार्चन्ति यदा स्वर्ग्यास्तदा स्वर्गः सुरालयः ॥१५९॥

'युक्तमेव च तत्,—

'अजनाशमसौ नष्टो जीवनाशं ननाश च ।
ऊर्ध्वशोषं स चाशुष्यत् कृष्ण ! यस्त्वत्पराङ्मुखः ॥'१६०॥

"कृष्ण उवाच,—'ततस्ततः ?' "ऋषिरुवाच,—'तदेवं तत्र सर्वस्वास्थ्यमय-गार्हस्थ्यचये प्रतिश्वस्तनं स्फुरदुपचये सति सुतसम्पत्तिरपि मतिमतीत्य प्रत्यहं प्रत्येष्यते । किं बहुना, भवद्वद्वर्षषट्कानन्तरमेव यौवनप्रपञ्चतस्तेषामपि प्रजाताः प्रजास्तावत्येव दिष्टे दृष्टयौवना भविष्यन्ति । भवान् पुनरीदृशतया परं नववयाः स्थास्यति ॥१६१॥

'तथा च पौराणी वाणी, (भा० १०।५५।१९)—'नातिदीर्घेण कालेन स कार्ष्णी रूढ-यौवनः' इति; तं च (भा० १०।५५।२८) 'कृष्णं मत्वा स्त्रियो ह्रीताः' इति च । 'तत्र च कैमुत्यमिदमबधिरमात्राणामनवधिकमवधाननिधानपात्रायते ॥१६२॥

यथा (भा० १०।४५।१९)—

'तत्र प्रवयसोऽप्यासन् युवानोऽतिबलौजसः ।
पिबन्तोऽक्षैर्मुकुन्दस्य मुखांबुजसुधां मुहुः ॥'इति॥१६३॥

इस प्रकार तुम्हारे तो स्वर्ग में रहनेवाले देवताओं के विघ्नहरण करने के भाव को एवं उसी में इन्द्र की कृतघ्नता को निश्चित करके हम तो इस प्रकार की विवेचना करते हैं कि—स्वर्गवासी देवगण जब तुम्हारी पूजा करते हैं, तब तो स्वर्ग सच्चा सुरालय (देवालय) है । और वे ही स्वर्गवासी जब तुम्हारी पूजा नहीं करते, तब वही स्वर्ग सुरा (मदिरा) का आलय (गृह) ही है ॥१५८-१५९॥

यह भी उचित ही है कि—हे कृष्ण ! जो व्यक्ति तुमसे विमुख है, वह तो प्रायः बकरे की तरह नष्ट हो चुका, जीते ही विनष्ट हो गया, और वह तो ऊपर ही ऊपर सूख गया समझो ॥१६०॥

श्रीकृष्ण—उसके आगे क्या होगा ? ऋषि—इस प्रकार तुम्हारे सर्वस्वास्थ्यमय गृहस्थसम्बन्धी कार्यकलाप के प्रत्येक भावी दिन में वृद्धि को प्राप्त हो जानेपर, पुत्ररूप सम्पत्ति भी बुद्धि का अतिक्रमण करके प्रतिदिन बढ़ती ही प्रतीत होगी । अधिक क्या कहें ? आपकी तरह छः वर्ष के अनन्तर ही यौवन के विस्तार से, उन तुम्हारे पुत्रों के द्वारा उत्पन्न हुई वे सन्तान भी, उतने ही समय में देखे गये यौवन से युक्त हो जायँगी और आप तो पुनः केवल इसी प्रकार नवकिशोर ही स्थित रहोगे ॥१६१॥

देखो, इस विषय में श्रीमद्भागवतपुराण की वाणी भी है कि—वह कृष्णपुत्र प्रद्युम्न अल्प समय से ही यौवन को प्राप्त हो गया, और उस प्रद्युम्न को श्रीकृष्ण समझ कर स्त्रियाँ लज्जित हो गईं, और उनमें भी केवल बधिर व्यक्तियों से भिन्न सभी के लिए यह कैमुत्यन्याय अवधिरहित सावधानी के निधान का आधारस्वरूप हो रहा है ॥१६२॥

यथा—उस मथुरा में उग्रसेन आदि वृद्ध पुरुष भी अपनी अपनी नेत्ररूप इन्द्रियों के द्वारा श्रीकृष्ण के मुखारविन्द की सुधा को बारंबार पीते हुए अत्यन्त बल एवं तेज से युक्त युवा (जवान) हो गये थे ॥१६३॥

'एतेन श्रीमद्व्रजे तु तदतिशयात् स्फुटमेव तदतिशयः सङ्क्रमितः ॥'१६४॥

"कृष्ण उवाच,—'अहो ! महात्मन् ! महानयमत्ययः सम्प्रत्यपि दुरत्ययं दुःखमर्पयति। यत्तावद्विलम्बं तत्रावलम्बितास्मि। भवतु, प्रकृतं प्रक्रियताम् ॥'१६५॥

"ऋषिरुवाच,—'शम्बरेण जन्मत एव द्युम्नवत्तव गृहादपहृतस्य प्रद्युम्ननाम्नस्त्वत्पुत्रस्य सम्पराये संबद्धं तद्धननचरित्रं विचित्रतया गास्यन्ति ॥१६६॥ यथा—

'कृष्णेऽपि धृष्णग्भविताऽत्र कः पुमान्, यस्तु स्वयं योद्धुममुं व्रजिष्यति।
यदद्य जातं खलु तस्य जातकं, हृत्वा ततो मृत्युमवाप शम्बरः ॥१६७॥

'अथ प्राद्युम्निमनु चाम्नास्यन्ति,—

'ऊषां बाणस्य कन्यां रहसि गतमनेनानिरुद्धं निरुद्धं
युद्धे बुध्वा तमेतं द्रुतमभिगतवान् युध्यतोऽग्र्यान्निहत्य।
ब्रह्माण्डध्वंसदक्षज्वलनवहमहाशूलभृच्छूलपाणि
तत्पक्षं निर्जयंस्तद्भुजबलमलुनाद्यस्तु तत्रान्यकः कः ?' ॥१६८॥

"कृष्ण उवाच,—'विस्मयः खल्वयम्, यद्विस्मरिष्याम्येव व्रजवार्ताम् ॥'१६९॥

इस कारण श्रीमान् व्रज में तो मथुरा एवं द्वारका इन दोनों पुरियों से विशेषता होने के हेतु स्पष्ट ही नवयौवन की अधिकता समुचित हो गई ॥१६४॥

श्रीकृष्ण—अहो ! महात्मन् ! यह महान् कष्टकर समय का व्यतिक्रम तो, इस समय भी दुस्तर दुःख दे रहा है कि, वहाँपर इतने विलम्ब का अवलम्बन करूँगा। अच्छा, जाने दो। मुख्यप्रसङ्ग की प्रक्रिया कहो ॥१६५॥

ऋषि—शम्बरासुर के द्वारा जन्म से ही धन की तरह तुम्हारे घर से चुराये गये, प्रद्युम्न नामक तुम्हारे पुत्र के युद्ध में गीतरूप से संबद्ध उस शम्बर के मारने के चरित्र को लोग विचित्रतापूर्वक गायेंगे ॥१६६॥

यथा—यहाँपर श्रीकृष्ण के विषय में भी ऐसा कौन पुरुष धृष्ट होगा जो कि, स्वयं श्रीकृष्ण के प्रति युद्ध करने को जायेगा। क्योंकि शम्बरासुर आज ही पैदा हुए श्रीकृष्ण के बालक को हर कर, उसी बालक से मृत्यु को प्राप्त हो गया ॥१६७॥

उसके बाद प्रद्युम्न के पुत्र अनिरुद्ध को लक्ष्यकर, लोग तुम्हारी प्रशंसा करते हुए कहेंगे कि—बाणासुर की कन्या ऊषा के निकट एकान्त में पहुँचे हुए अनिरुद्ध को इस बाणासुर के द्वारा युद्ध में निरुद्ध जानकर, जो श्रीकृष्ण उसी बाणासुर के पास शीघ्र ही चले गये, और युद्ध करते हुए प्रधान प्रधान योद्धाओं को मारकर ब्रह्माण्ड के विध्वंस करने में चतुर, तृतीय नेत्ररूपी अग्नि को धारण करनेवाले, महात्रिशूलधारी शंकरजी को एवं उनके पक्षपाती महासेनापति स्कन्द आदि को पराजित करते हुए, बाणासुर की हजारों भुजाओं के बल को छिन्नभिन्न कर चुके, उन श्रीकृष्ण के विषय में दूसरा कौन टिक सकता है ? ॥१६८॥

श्रीकृष्ण—निश्चय ही आश्चर्य तो यही है जो कि, मैं व्रज की बात को भी भूल जाऊँगा ॥१६९॥

"ऋषिरुवाच,—'न हि, न हि; सा हि तव हितमनसि रागमयी जागरूकतामेव परामागमिष्यति। 'हन्त! तत् खलु निरन्तरमन्तर्गतम्, तत् कथमन्तर्गतमिव जायेत? किन्तु पूर्वनिर्दिष्टगुर्वनादिष्टता परं तस्मिन्निर्दिष्टिविश्लिष्टिमाचरिष्यति ॥१७०॥

'तदा च कदाचन रामेण सह रहस्यवार्ता तव वर्तिष्यते। यत्र स्वगमनमनालोच्य रामः शश्वदनुशोच्य व्रजस्थानां स्मृतितः प्रच्यवमानवाष्पस्त्वया च तथानुशोचता प्रोच्यमानस्तव सन्देशं प्रवेशयन् माथुरव्रजदेशप्रवेशं गोपवेशमेवावेश्य प्राप्स्यति, प्राप्य च स यथा कथाविषयस्तथा समस्य वर्णयिष्यन्ति ॥१७१॥

'व्रजस्थानां रामः स्वसहजवियोगार्चिषि हविः, पुरा सत्यं जज्ञे पुनरिह तु जातः सुखकृती।
यतस्तेषां ज्वालां स्फुरदमृतवाचा प्रशमयं-, स्तदीयां स्फूर्तिं दृग्विषयमिव चक्रे स्वबलतः ॥१७२

'किमन्यद्वा विन्यसितव्यम्। तेन तथा ते नन्दिता यथा सर्वेऽपि स्वयं सपर्वप्रायतया तं प्रार्थयामासुः ॥१७३॥

'तदुपभोगतृष्णया चिरपालित-सुकुमार-कौमार-कुसुमानां सुरवल्लीसमता-सुषमाणामलब्धचरतदीय-संश्लेषाणामाभीरकुमारीविशेषाणामङ्गीकाराय ॥१७४॥

ऋषि—नहीं नहीं। वह व्रज की बात तो तुम्हारे हितमय मन में अनुरागपूर्ण होकर उत्कृष्ट जागृत दशाको ही प्राप्त हो जायगी। हाय! जो वस्तु निरन्तर ही अन्तःकरण में रखी है, वह किस प्रकार विस्मृत हो जायगी, अर्थात् कैसे भूल में पड़ जायगी? किन्तु पहले निर्देश की गई श्रीवसुदेव आदि गुरुजनों की जो आदेश (आज्ञा) की रहितता, वही केवल उस व्रजकी बात के भूलने के विषय में निर्देश का वियोग कर देगी ॥१७०॥

और उस समय किसी दिन बलरामजी के साथ तुम्हारी गुप्त बातचीत होगी। जिस बातचीत में अपने व्रजगमन को न देखकर श्रीबलरामजी बारम्बार शोक करके व्रजवासियों की स्मृति से आँसू बहाकर, उन्हीं की तरह शोक करते हुए तुम्हारे द्वारा कथित होकर, तुम्हारे सन्देश को व्रज में प्रविष्ट कराते हुए, गोपवेश को प्रगट कर, मथुरामण्डल के अन्तर्गत व्रजदेश में प्रवेश प्राप्त करेंगे। और व्रज में प्रवेश को प्राप्तकर, वह कथा का बिषय जिस प्रकार है, विज्ञजन उसी प्रकार वर्णन करेंगे ॥१७१॥

यथा—श्रीबलरामजी पहले मथुरा गमन के समय व्रजवासियों के सम्बन्ध में अपने सहोदर श्रीकृष्ण की वियोगरूप ज्वाला में हविष्य बन गये थे, यह बात सत्य है। किन्तु पुनः श्रीकृष्ण से भी पहले इस व्रज में आकर तो सुखकारक बन गये। कारण—उन व्रजवासियों की विरहज्वाला को अमृतमयी अपनी वाणी द्वारा शान्त करते हुए, उन्होंने श्रीकृष्ण की स्फूर्ति अपनी अचिन्त्यशक्ति के प्रभाव से व्रजवासियों के मानो दृष्टिगोचर ही कर दी ॥१७२॥

और आपके सामने दूसरी कौनसी बात रखूँ? देखो, श्रीबलरामजी ने उन व्रजवासियों को उस प्रकार से आनन्दित कर दिया कि, जिस प्रकार वे सब ही उत्सव की अधिकतापूर्वक स्वयं उनकी प्रार्थना करने लगे ॥१७३॥

श्रीबलरामजी के उपभोग की तृष्णा से ही, बहुत दिन से सुरक्षित सुकोमल कौमाररूप पुष्पोंवाली कल्पलताओं के समान परमशोभावाली, पहले कभी भी बलरामजी के संयोग को न प्राप्त करनेवाली, अनङ्गमञ्जरी आदि गोपकुमारियों के अङ्गीकार के लिए उनसे प्रार्थना की ॥१७४॥

श्रीमान् बलदेवश्च यथावदेव तथा वलयामास। वलयित्वा च व्रजं प्रति प्रबलितानुजागमनविश्वासः स्वप्रेयसीरिहैव विहाय द्वारकामपि निश्चिन्त इव चलिष्यति। आगत्य च द्वारकां त्वामपि सान्त्वयिष्यति। त्वं तु यथाकर्तव्यावशेषं विधाय व्रजश्लेषमवाप्स्यसि ॥१७५॥

"कृष्ण उवाच,—'कियानवशेषस्तावांश्च विशेषः कथ्यताम्।' "ऋषिरुवाच,—'क्रमश एव प्रक्रमणीयः। तथा हि—व्रजं प्रति चलितवति सकलगुणभद्रे बलभद्रे पुण्ड्रकमण्डलपतिः कृत्रिमवासुदेवतया चित्रितरूपस्त्वां स्पर्धया वर्धमानगर्वः साधुक्रोधसमुद्बोधनमेवं सन्देक्ष्यति, (भा० १०।६६।५)—

'वासुदेवोऽवतीर्णोऽहमेक एव न चापरः।
भूतानामनुकम्पार्थं त्वं तु मिथ्याभिधां त्यज ॥'इति॥१७६॥

'प्रतिसन्देक्ष्यन्ति तु तं यदवः; यथा—
पुण्ड्रकेश ! स भवानभूद्धरिः, काशिराड् न किमिहाभवच्छिवः।
मित्रतामशिवतां तथासज,-न्नन्यथा प्रथितवान् स तु त्वयि ॥१७७॥

वृत्तान्तेनामुना तु त्वद्वृत्तान्तः सोऽयमीक्ष्यते।
कृतान्तेनाचिरेण त्वं कृतान्त इव वर्तसे ॥'इति॥१७८॥

श्रीमान् बलदेवजी ने भी उन गोपकुमारियों को विधिपूर्वक पत्नीरूप में अङ्गीकार कर लिया। अङ्गीकार करके पश्चात् बलदेवजी व्रजवासियों के प्रति अपने छोटे भाई श्रीकृष्ण के आने के विश्वास को दृढ़ा कर, अपनी प्रियतमा गोपियों को व्रज में ही छोड़कर, निश्चिन्त की तरह द्वारका को भी चल देंगे। और द्वारका में आते ही तुमको भी सान्त्वना देंगे। तुम तो दन्तवक्र वधरूप यथाकर्तव्यकार्य को समाप्त कर व्रज के संयोग को प्राप्त करोगे ॥१७५॥

श्रीकृष्ण—ऋषिजी ! कहिये, कर्तव्यकार्यों की उतनी विशेषता कितनी अवशिष्ट है ? ऋषि—उसका आरम्भ क्रमशः ही करना उचित है। देखो, सर्वगुणश्रेष्ठ बलभद्रजी के व्रज के प्रति चल देनेपर, पौण्ड्रकदेश का राजा बनावटीवासुदेव (श्रीकृष्ण) के से रूप से आश्चर्यमय रूपवाला होकर, तुमसे स्पर्धा के कारण बढ़ते हुए गर्व से युक्त होकर, सज्जनों के क्रोध को अच्छी प्रकार जगाता हुआ सा, तुमको इस प्रकार सन्देशा देगा कि—प्राणियों के ऊपर अनुकम्पा करने के लिए तो मैं अकेला ही वासुदेव अवतीर्ण हुआ हूँ, दूसरा कोई नहीं। अतः हे कृष्ण ! तुम अपने मिथ्या वासुदेव नाम को त्याग दो ॥१७६॥

यदुवंशी उसके प्रति यह प्रतिसन्देश देंगे कि—हे पुण्ड्रक नरेश ! यदि तुम ही वासुदेव हो गये हो, तब तुम्हारा मित्र काशीराज, काशी में शिवजी क्यों नहीं हो सका ? अतः वह काशीराज तो तुम्हारे विषय में मित्रता तथा अशिवता (अमङ्गलता) को प्राप्त होता हुआ, अन्यथा ख्याति कर गया ॥१७७॥

और तुम्हारे इस वृत्तान्त के द्वारा, हमें तुम्हारा यह वृत्तान्त (प्रकार) दिखाई देता है कि, शीघ्र ही कृतान्त (यमराज) के द्वारा तू कृतान्त इव (मरा हुआ सा) विद्यमान है, इति ॥१७८॥

"कृष्ण उवाच,—'ततस्ततः ?' "ऋषिरुवाच,—'ततस्तद्वधानन्तरं त्वं तु तं तन्मित्रं काशीराजमपि प्राप्तनाशीकरिष्यसि। तयोः शिवाद्यपचितिरप्यपचितिमेव करिष्यति ॥१७९॥

'ततश्च, यदा सत्रायिता तत्र काशीश-तनयस्तदा।
तस्मात् कष्टायमानः सन्नष्टिमुच्चैरटिष्यति ॥१८०॥

'अथ रामस्तु द्विविदं रामसेनाग्रामग्रामण्यं विदन्नपि हनिष्यति। यथा च कथयिष्यन्ति,—

'आश्रित्य रामं द्विविदः स्वेच्छया नरकं श्रितः।
इति तन्निष्कृतिं कुर्वन् रामोऽन्यस्तमदण्डयत् ॥१८१॥

'श्रीराममुद्दिश्य च वन्दिवृन्दानि वन्दिष्यन्ते,—

'हालालोहितलोचने हलभृति व्याकोषशोणाब्जयुग्-
गङ्गाभ्रान्तिभराकरा मधुकराः कोटिर्गताः कूटताम्।
किञ्च क्षौणिशठा हटादघरिपोस्तेजः प्रसुप्तं यश-
स्युद्बुद्धं किल वर्धितुं तदिति ते वार्धि गतिं सङ्गताः ॥'१८२॥

"कृष्ण उवाच,—'हन्त ! महर्षे ! वाटघटितन्यायेनापि मम व्रजसम्बन्धिभिः समं समन्वयः किं न भविता ?' ॥१८३॥

श्रीकृष्ण—उसके बाद क्या होगा ? ऋषि—तदनन्तर उस पौण्ड्रक के वध के बाद तो तुम उसके मित्र उस काशीराज को भी नाश को प्राप्त कर दोगे। उन दोनों की शिव आदि की पूजा भी हानि ही करेगी ॥१७९॥

उसके बाद पिता के मर जाने के कारण, काशीराज का बेटा सुदक्षिण, जब काशी में पाप के लिए यज्ञ करेगा, तब उस बुरे यज्ञानुष्ठान के कारण, पाप के लिए कष्ट करता हुआ, विशेष विनाश को प्राप्त हो जायगा ॥१८०॥

उसके बाद बलरामजी तो द्विविद नामक वानर को, श्रीरामजी के सेनासमूह के अग्रगण्य जानकर भी मार देंगे। विज्ञजन उसके सम्बन्ध में इस प्रकार कहेंगे कि—श्रीरामजी का आश्रय लेकर भी द्विविद स्वेच्छा से नरकासुर के आश्रित हो गया। इसलिए उसके पाप का प्रायश्चित्त करते हुए दूसरे राम (श्रीबलराम) ने उसको वध का दण्ड दे दिया ॥१८१॥

श्रीबलरामजी को उद्देश्य करके वन्दीगण इस प्रकार स्तुति करेंगे—हलधारी बलदेवजी के नेत्र मद्यपान के कारण लाल हो जानेपर, करोड़ों भ्रमरगण खिले हुए लाल कमलों से युक्त गङ्गा के भ्रम की अधिकता के आश्रित होकर, कूटता को (ढेरी के भाव को) प्राप्त हो गये, अर्थात् झुण्ड के झुण्ड एकत्रित हो गये। किञ्च कूटतां गताः (कपट के भाव को प्राप्त हुए) भूमि में जो शठ थे, वे अघारि श्रीकृष्ण के सोये हुए तेज को हठात् बढ़ाने के लिए, एवं वह तेज यश के विषय में निश्चय ही जागृत हो गया है, इसीलिए समुद्र की तरह क्षुभित हो गये ॥१८२॥

श्रीकृष्ण—हाय ! महर्षे ! जिस प्रकार मार्ग में अनेक देश के पथिकों का सम्मेलन हो जाता है, इसी नियम के अनुसार व्रजवासियों के साथ मेरा सम्मेलन नहीं होगा क्या ? ॥१८३॥

"ऋषिरुवाच,—'भविता; यतस्तदेव वृत्तं क्रमतः क्रमते स्म। 'तथा हि—यदा रामस्तीर्थयात्रां करिष्यति, यस्याश्चान्ते भीष्मादिशान्तताप्रान्ते दुर्योधनवधः सम्पत्स्यते, तस्याः प्राग् यदा कदापि सूर्योपरागः सागरवत् पर्वगरिमाणमागन्ता ॥१८४॥

यश्चैवं वर्णयिष्यते,—

'ग्रस्तसूर्येण तमसा तमसा व्यापि तद्दिनम् ।
उदिते हरिवक्त्रेन्दौ स्मेराजनि कुमुद्वती ॥'इति॥१८५॥

'तदा तु—कंसप्रतापिताः सर्वे वयं याता दिशं दिशम् ।
एतर्ह्येव पुनः स्थानं दैवेनासादिताः स्वसः ॥'इति॥१८६॥

'श्रीवसुदेव-वचनात् कंसवधान्नातिव्यवधानकाले कुरुभुवि सुविमलजातीया भारतीयाः प्रजाः प्रायः प्रयास्यन्ति ॥१८७॥

यत्र भीष्मयुधिष्ठिरोग्रसेनादिसंसक्तानां भवदीयमहिष्ठभक्तानां समागमः परमेष्ठिगोष्ठीमपि कनिष्ठां करिष्यति ॥१८८॥

'किं बहुना, भवानपि तत्र भविता, व्रजवासिततिरपि व्रजिता, यतः परिमिलनाय परस्परमधिकमभिकतां गतानां लक्ष्यमात्रं त्वदादिकं लक्ष्यते ॥'१८९॥

ऋषि—होगा। कारण वह मिलनका वृत्तान्तही क्रमशःवृद्धि को प्राप्त होरहा है। देखो, श्रीबलरामजी जब तीर्थयात्रा करेंगे, और जिस तीर्थयात्रा के अन्त में भीष्मादिकों के युद्ध से शान्त होने के पश्चात् दुर्योधन का वध होगा। उसी तीर्थयात्रा से पहले जब कभी भी सूर्यग्रहण समुद्र की तरह उत्सव के गौरव को प्राप्त हो जायगा, अर्थात् पूर्णिमा को समुद्र जैसे वृद्धि को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार वृद्धि को प्राप्त हो जायगा ॥१८४॥

और जिस सूर्यग्रहण का कविजन इस प्रकार वर्णन करेंगे—जिसने सूर्य को ग्रस्त कर लिया, उस राहु के कारण वह दिन अन्धकार से व्याप्त हो गया था। किन्तु श्रीहरि के मुखरूप चन्द्रमा के उदित होने पर तो दिन में भी कुमुदिनी खिल गई ॥१८५॥

और उस समय "हे भगिनि! हम सब तो कंस के द्वारा सन्तापित होकर दिशा दिशा में भटकते डोले थे। किन्तु दैवयोग से इस समय ही, पुनः अपने स्थान को प्राप्त हुए हैं" कुन्ती के प्रति श्रीवसुदेवजी के इस वचन से कंस वध के निकटवर्ती समय में ही कुरुक्षेत्र में विशुद्ध जातीवाली भारतीय प्रजा प्रायः जायगी ॥१८६-१८७॥

और जिस कुरुक्षेत्र में श्रीभीष्म, युधिष्ठिर, उग्रसेन आदि से संसर्ग रखनेवाले आपके विशिष्ट भक्तों का समागम ब्रह्माकी सभा को भी छोटी कर देगा ॥१८८॥

अधिक क्या कहें ? आप भी वहाँ उपस्थित होंगे, और व्रजवासियों की टोली भी जायगी। जिसके कारण सर्वतोभाव से मिलने के लिए, परस्पर अधिक अभिलाषा को प्राप्त हुए उन सबके बीच में, "तुम्हीं हो आदि में जिसके" ऐसा लक्ष्यमात्र दिखाई देता है ॥१८९॥

"कृष्णः सास्त्रमुवाच,—'ततस्ततः ?' "ऋषिरुवाच,—'ततश्च,
यथार्कतप्तो जलबिन्दुरिन्दुना, निदाघदग्धं विपिनं पयोमुचा ।
विषार्दितं वार्भवता विलोक्यते, सङ्घात्तथा त्वद्विरही त्वया व्रजः ॥'१६०॥

"कृष्णः सगद्गदमुवाच,—'ततस्ततः ?' "ऋषिरुवाच,—'ततश्च,
माता तातः पितृसहचरा भ्रातरो बन्धुवर्गा
दासा हृद्यास्तव निजजनाः केचिदन्ये च तत्र ।
प्राप्स्यन्ति त्वां भवति च भविष्यन्ति तेऽनन्यचित्ता-
स्तेष्वावेशाद् बहुषु भविता नैकचेता भवांस्तु ॥१६१॥

'ततश्च, त्वं व्रजेति-निजप्रेम गोपयन्निव वत्स्यसि ।
व्रजस्तु स्वगुणैस्तत्र सर्वप्रेयान् भविष्यति ॥१६२॥

'तत्र च— यदा यदा द्रक्ष्यति तान् भवांस्तदा, पूर्णं स्वमूर्णोनविता दृशोर्जलम् ।
भवन्तमप्येवममी यथामुना, कण्ठान्तमन्तर्हृदयं निरोत्स्यते ॥१६३॥

'तदेवं वैशाखमारभ्य वर्षा यावदतिहर्षात्त्वां निर्निमेषमेव निर्वर्णयन्तस्ते व्रजवासिनः संवत्स्यन्ति । तदन्ते सदनूकतया लब्धमूकस्थितिषु श्रीमन्नन्दादिषु तेषामानकदुन्दुभिप्रभृतीनां

श्रीकृष्ण प्रेमाश्रु बहाते हुए—उसके बाद क्या होगा ? ऋषि—उसके बाद तो सूर्य द्वारा सन्तप्त जलका बिन्दु जैसे इन्दु के द्वारा, ग्रीष्मकाल से जला हुआ वन जैसे मेघ के द्वारा, एवं कालिय के विष से पीडित जमुना जल जैसे आपके द्वारा देखा जाता है, अर्थात् उन उन वस्तुओं का कष्ट मिटाने के लिए ही, उन उन इन्दु आदि के द्वारा उन उन सूर्यतप्त जलादि का दर्शन जैसे किया जाता है, ठीक उसी प्रकार तुम्हारा विरही व्रज का जनमात्र तुम्हारे द्वारा उसी प्रकार देखा जायगा ॥१६०॥

श्रीकृष्ण गद्गद होकर—अच्छा, उसके बाद क्या होगा ? ऋषि—उसके बाद माता पिता, तुम्हारे पिता के मित्र एवं भ्रातागण, तुम्हारे मित्रगण, दासवर्ग, एवं तुम्हारे हृदयङ्गम कुछ प्रेयसीरूप अन्य आत्मीय जन भी, वहाँ पर तुमको प्राप्त करेंगे । और वे सभी व्रजवासी तुममें अनन्य चित्त वाले हो जायेंगे । किन्तु तुम तो उन बहुत से व्रजवासियों में आवेश होने के कारण अनेक चित्त वाले हो जाओगे ॥१६१॥

और उसके बाद तुम तो वहाँपर व्रजवासिजनों के ऊपर अपने प्रेम को अत्यन्त गुप्त करते हुए से निवास करोगे । किन्तु व्रजका तो जनमात्र ही वहाँपर अपने अपूर्वगुणों के द्वारा सभी का अतिशय प्यारा हो जायगा ॥१६२॥

और उस कुरुक्षेत्र में आप जब जब उन व्रजवासियों को देखोगे, तब तब आपके नेत्रों का परिपूर्णजल बारंबार अपने को अर्थात् नेत्रों को आच्छादित कर लेगा । और उसी प्रकार वे व्रजवासी भी जब जब आपको देखेंगे, तब तब उनके नेत्रों का वह जल कण्ठपर्यन्त उनके अन्तर्हृदय को रोक लेगा ॥१६३॥

अतएव इस प्रकार वे व्रजवासी वैशाख से लेकर वर्षातक, अतिहर्ष से निमेषरहित नेत्रों से एकटक तुम्हारा दर्शन करते हुए, कुरुक्षेत्र में निवास करेंगे । वर्षा के बाद सद्वंश एवं सुन्दर स्वभाव होने के कारण, मौनी होकर गूंगे की तरह बैठे हुए श्रीमान् नन्दादि व्रजवासियों के ऊपर, श्रीवसुदेव आदि उन

परमस्निग्धान्तःकरणतां विलोच्य जातपुत्रपौत्रावलोकनेन क्षितविपक्षपक्षप्रायतावकलनेन च स्वस्मिन्नविश्वस्तिस्त्रस्तितः समाश्वस्तिमपि विलोक्य सर्वश्लोक्यचरितः सहायीकृतबलरामोद्धव-रोहिणीकतया तैः सह निजवृन्दावन-व्रजदर्शनमेकान्ते मन्त्रणापूर्वकं विचिन्त्य निश्चित्य च श्रीमन्नन्दादीन् ससान्त्वं माथुरानेव प्रस्थापयिष्यसि ॥१६४॥

'इदमेव बादरायणिरप्याह, (भा० १०।८४।६७)—'ततः कामैः पूर्यमाणः सव्रजः सहबान्धवः' इत्यादिना, (भा० १०।६५।६), 'कृष्णे कमलपत्राक्षे संन्यस्ताखिलराधसः' इति पूर्वोक्तेस्त्वदागमनतात्पर्या एव तेषां कामा इति। प्रस्थापनसमयतस्तेषां विशेषावस्थावर्णनं तु तत्तदस्माकं बुद्धिमास्तृणोतीत्यलमतिविस्तरेण ॥'१६५॥

"कृष्ण उवाच,—'अस्मदवस्थां तु वर्णय।' "ऋषिरुवाच,—'कुरुस्थलात् कुशस्थल-मागत्य स्थितः स भवान् पाण्डवराजेन राजसूयमन्त्रणायास्मद्द्वारा निमन्त्रितः सन्निन्द्रप्रस्थं प्रस्थास्यते ॥१६६॥

'ततश्च सत्वरं गत्वा भीमप्रभृतये दिक्सीमविजययशांसि दत्त्वा भीमद्वारा जरासन्धं हत्वा तत्कृतबन्धानि नृपवृन्दानि मोचयित्वा विजितेन राजव्रजेन युधिष्ठिरं रोचयित्वा राजसूयेन याजयिष्यसि ॥१६७॥ तत्र जरासन्धघातनं यथा—

यदुवंशियों के अन्तःकरण के परमस्नेही भाव को विचार कर और उत्पन्न हुए पुत्र पौत्रों के देखने के कारण, तथा शत्रुपक्ष को प्रायः विनष्ट हुआ देखने के कारण, अपने में अविश्वास के दूर हो जाने से सुखीपन को भी देखकर सभी के द्वारा प्रशंसनीय चरितवाले तुम, बलराम, उद्धव, एवं रोहिणी को सहायक बनाकर, उन्हीं के साथ एकान्त में विचारपूर्वक, अपने वृन्दावन एवं समस्त व्रज के दर्शन का स्मरण कर एवं निश्चय करके, श्रीमान् नन्दादि व्रजजनों को सान्त्वनापूर्वक मथुरा-सम्बन्धी देशों को ही प्रस्थापित कर दोगे ॥१६४॥

इसी बात को श्रीशुकदेवजी ने भी कहा है कि—"उसके बाद श्रीनन्दजी सभी मनोरथों से परिपूर्ण होकर, व्रजवासी बन्धु बान्धवों के सहित, यदुवंशियों के द्वारा बिदा होकर, व्रज में चले आये" इत्यादि। और यहाँपर कामना शब्द से "वे व्रजवासी कमलनयन श्रीकृष्ण के ऊपर अपनी सारी सम्पत्ति न्योछावर कर चुके हैं" इस प्रकार की पूर्वोक्ति के कारण उनकी कामनाएँ तुम्हारे व्रज में आने के तात्पर्य से ही भरी पड़ी हैं। और कुरुक्षेत्र की बिदाई के समय से उन व्रजजनों की उन उन विशेष अवस्थाओं का वर्णन तो हमारी बुद्धिपर परदा डाल देता है। अतः अत्यन्त विस्तार से प्रयोजन नहीं है ॥१६५॥

श्रीकृष्ण—भगवन्! हमारी अवस्था का वर्णन तो कर दो। ऋषि—कुरुक्षेत्र से द्वारका में आकर, कुछ दिन ठहर कर, आप युधिष्ठिर से राजसूय यज्ञ के विचार के लिए, मेरे ही द्वारा निमन्त्रित होकर, इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) को प्रस्थान करोगे ॥१६६॥

तदनन्तर शीघ्र ही दिल्ली जाकर, भीमसेन आदि के लिए दिशाओं की सीमातक विजय एवं यश को देकर, भीम के द्वारा जरासन्ध को मारकर, जरासन्ध के द्वारा कारागार में बँधे हुए राजाओं के वृन्द को छुड़ाकर, दिग्विजय में जीते हुए राजसमूह के द्वारा युधिष्ठिर को देदीप्यमान बनाकर, एवं आनन्दित कर, राजसूय के द्वारा अपनी पूजा करवाओगे ॥१६७॥

'बन्धं बन्धं यमनु मुमुचे तं जरासन्धमेनं, हन्यामद्धा स्वयमथ यदि श्रव्यमेतन्न तर्हि ।
इत्थं कृष्ण ! त्वमिह कलयन् भीमसेनेन युद्धाद्,-धर्म्याद्दैत्यप्रकृतिममुकं घातयिष्यस्युपेत्य ॥१९८

'मिलदर्तनगिरिगर्तवर्तमाननृपाणां कृपया मोचनम्, यथा—
'कारागारान्धतामिस्रबन्धादन्धायितान्नृपान् । स्वरूपवृष्टिभिः सृष्टदृष्टीन् परिकरिष्यसि ॥१९९॥

'राजसूयम्, यथा—
निर्जित्य क्षितिपति-मण्डलानि पाण्डोः, पुत्रैस्तान्यनुगमितानि सङ्घट्य्य ।
चेदीशं सदसि निहत्य तद्विरुद्धं, तेषां तद्विरचयितासि राजसूयम् ॥२००॥

यज्ञे तस्मिन् नृलोका नृपतितदधिपा विप्र-विप्रर्षिवर्याः
स्वर्गस्थाः स्वर्गपालास्त्रिदशमुनिवराः किञ्च वेधाः शिवश्च ।
दृष्ट्या श्रुत्यापि तत्तद्बहुविधभगवद्रूपवृन्दस्य विज्ञाः
पश्यन्तो रूपमेतत्तव किमपि मुहुर्विस्मरिष्यन्ति सर्वम् ॥२०१॥

'तदेवं राजसूयं सन्तान्य कुन्त्याः सन्तानान् सम्मान्य यदा द्वारकायां गन्तासि, तदा साधूनां शल्यं शाल्वं लोहमयव्योमचारिपुर्या पर्यगेव तामावार्य चञ्चूर्यमाणं दृष्ट्वा पूर्यमाणपाञ्चजन्यः सन्नातिप्रयत्नतस्तं देव-सपत्नं हनिष्यसि ॥२०२॥

दिग्विजय के प्रसङ्ग में जरासन्ध का मारना, यथा—"जिस जरासन्ध को मथुरा में सत्तरहबार युद्ध में बाँध बाँधकर मैंने स्वयं छोड़ दिया, उसी इस जरासन्ध को यदि में स्वयं साक्षात् मार डालूँ तो यह बात सज्जनों के सुनने योग्य न रहेगी" अतः हे कृष्ण ! तुम यहाँपर इस प्रकार विचार कर, धर्मयुक्त युद्ध की कल्पना करके, दैत्यों के से स्वभाववाले इस जरासन्ध को भीमसेन के द्वारा मरवा डालोगे ॥१९८॥

और अर्तन (घृणा) के सम्मेलन से युक्त पर्वत की गुफा में वर्तमान राजाओं की कृपापूर्वक बन्धन से मुक्ति, यथा—हे भगवन् ! तुम कारागाररूप अन्धतामिस्र नरकतुल्य बन्धन के कारण, अन्धे से बने हुए राजाओं को अपने रूप की वृष्टियों के द्वारा उत्पन्न दृष्टिवाले बना दोगे, अर्थात् उनकी ज्ञानदृष्टि को भी परिष्कृत कर दोगे ॥१९९॥

राजसूय का वर्णन, यथा—पाण्डुपुत्र भीमार्जुन आदि के द्वारा तुम भूपतियों के समूह को जीत-कर, एवं जीते हुए उन भूपतियों को अपने अनुगत बनाकर, पाण्डवों के विरोधी चेदीराज शिशुपाल को सभा में ही मारकर, उन पाण्डवों के उस राजसूय को सम्पन्न करोगे ॥२००॥

और उस राजसूय यज्ञ में मनुष्य लोग, मण्डलेश्वर राजा, उनके अधिपति चक्रवर्ती, ब्राह्मण, विप्रर्षिगण, स्वर्गवासी गन्धर्व आदि देवगण, इन्द्रादि देवगण, देवर्षिश्रेष्ठ, किंच ब्रह्मा और शिवजी ये सब, वामन, रामचन्द्र आदि उन उन भगवद् रूपों के समूह के दर्शन से एवं श्रवण से भी जानकार थे, तो भी तुम्हारे इस अनिर्वचनीय रूप को बारंबार देखते हुए सब कुछ भूल जायेंगे ॥२०१॥

इस प्रकार राजसूय को विस्तारित कर, कुन्ती पुत्रों को सम्मानित कर, जब द्वारका में जाओगे, तब सज्जनों के कण्टक एवं देवताओं के शत्रु उस शाल्व को, शिवजी की दी हुई लोहमयी आकाशचारिणी पुरी के द्वारा, उस द्वारकापुरी को चारों ओर से घेरकर, निन्दितरूप से घूमते हुए देखकर, पाञ्चजन्यशंख को पूरी तरह से बजाकर, अनायास मार डालोगे ॥२०२॥

'ततश्च, क्रुध्यद्युध्यत्सौभपुरं व्योमाध्व द्वारकारुधम् ।
ध्वंसयिष्यसि तद्यद्वत् त्रिपुरं त्रिपुरान्तकृत् ॥२०३॥

'अत्र च गास्यन्ति,—'उडुम्बरे कृमिस्तावन्निजाडम्बरगर्वितः ।
यावन्न दन्तिदन्तानामन्तः पतति तत्फलम् ॥'२०४॥

"कृष्ण उवाच,—'अद्यापि कतिविलम्बा व्रजभूगतिः ?' "ऋषिरुवाच,—'आयतावेवायाता श्रूयताम् ।' "तदेतत् प्रोच्य महर्षिणा मनसि प्रोच्यते स्म,—'एषा च कलिलोकैर्विरलैरेवावकलयिष्यते । अस्या हि बहिर्मुखान् प्रत्यवगुण्ठयितुमन्तर्मुखांस्तूत्कण्ठयितुं महर्षिभिः परोक्ष-प्रायीकृतायाः खल्वस्मदादि-संवादमय्याः श्रीभागवत-भारत-पाद्मादीनामेकवाक्यताकरणत एव शक्या प्रतीतिरिति ॥२०५॥

तदिदं च किञ्चन मदुपदेशनिदिग्धं मधुकण्ठ-स्निग्धकण्ठाभ्यां प्राप्तकृष्णोपकण्ठाभ्यां क्षीरकण्ठाभ्यामपि स्वकण्ठादेव चम्पूद्वयमपूर्वरचनया सम्पूर्णं कुर्वद्भ्यामुत्तर-चम्पूत्तरभागमञ्चद्भ्यां तत्तच्छास्त्रमतविस्तारणया प्रस्तोष्यते, ॥२०६॥

तदेव समस्य विचार्यते—'यदा शाल्वयुद्धमुद्बुद्धम्, तदा पाण्डवानां दुरोदरदण्ड इति वनपर्व-कथा । शाल्वस्य तु प्राणान् दण्डयित्वा मधुपुरपुरद्वारि वक्रताचण्डः सविदूरथदन्तवक्रः

उसके बाद त्रिपुरासुर का अन्त करने वाले शिवजी ने जिस प्रकार उसके तीनों पुरों का विध्वंस कर दिया था, उसी तरह तुम भी क्रोध करनेवाले, युद्ध करनेवाले, आकाशरूप मार्गवाले, द्वारका को रोकनेवाले, ऐसे सौभपुर का ध्वंस कर दोगे ॥२०३॥

कविजन सौभपुरध्वंस के सम्बन्ध में इस प्रकार गायेंगे कि—गूलर के फल में बैठा हुआ कृमि (भिनुगा) तभीतक अपने आडम्बर से गर्वित बना रहता है, जबतक वह फल, हाथी के दाँतों के बीच में नही पड़ता ॥२०४॥

श्रीकृष्ण—अभी भी व्रजभूमि में जाना कितने विलम्ब से युक्त है ? ऋषि—आयति (उत्तरकाल) में व्रजभूमि में जाना आ ही रहा है, सुनिये । इतना कहकर महर्षि अपने मन मन में बोलने लगे—श्रीकृष्ण के द्वारका से व्रज में आने को कलिकाल में होनेवाले विरले ही लोग जान सकेंगे (किन्तु सर्वसाधारण नहीं)। इतने पर भी बहिर्मुख जनों के प्रति गुप्त करने के लिए, एवं अन्तर्मुख उपासकों को तो उत्कण्ठित करने के लिए—श्रीपराशर, वेदव्यासादि महर्षियों के द्वारा प्रायः अप्रत्यक्ष कर दी गई जो व्रज में आने की वार्ता है, और जो निश्चय ही अस्मदादि अर्थात् नारदादिकों के संवादमयी है, इसकी प्रतीति तो श्रीमद्भागवत, महाभारत, एवं पद्मपुराण आदिकों की एकवाक्यता करने से ही की जा सकती है ॥२०५॥

और मेरे किञ्चित् उपदेश से वृद्धि को प्राप्त हुआ यह व्रज में आने का प्रसङ्ग, श्रीकृष्ण की समीपता को प्राप्त करनेवाले, दुग्ध के समान मधुर कण्ठवाले अथवा दूधमुँहे बालक की तरह छोटी अवस्थावाले होकर भी, अपने कण्ठ से ही अपूर्व रचनापूर्वक दोनों विशाल चम्पूग्रन्थों को सम्पूर्ण करनेवाले, और उत्तरचम्पू के उत्तरभाग को प्राप्त करनेवाले, मधुकण्ठ–स्निग्धकण्ठ नामवाले दोनों मेरे शिष्यों द्वारा, उत्तरचम्पू के उत्तरभाग में, उन उन शास्त्रों के मतों के विस्तारपूर्वक प्रस्तुत किया जायगा ॥२०६॥

वही संक्षेप करके यहाँ भी विचारा जाता है, यथा—जिस समय शाल्व का युद्ध प्रगट हुआ था, उसी समय पाण्डवों के सम्बन्ध में जूए के द्वारा वनवासरूप दण्ड हुआ था। यह महाभारत के वनपर्व की कथा

खण्डखण्डशः खण्डितश्च तेनानेन भवितेति पाद्मोत्तरखण्ड-प्रथा। तदनन्तरं च पुनर्व्रजागमनमस्य महादेव-देव्योः संवादरहस्यमये तत्रैव स्पष्टं निष्टङ्कयते। यत् खलु सत्यसङ्कल्पतयानल्पसमज्ञाविज्ञातानाम् (भा० १०।४१।१७)—'आयास्ये' इति दौत्यकैः, (१०।४६।३४)—'आगमिष्यत्यदीर्घेण' इत्यादिबहुतराद्भगवद्भागवतानां प्रतिज्ञानुसारात् श्रीमद्भागवतेनाप्युद्भावितम्। न केवलं प्रतिज्ञामात्रं तत्र प्रतीतिपात्रीकृतम्, किन्तु तदागतिरप्यधिगतीकृता ॥२०७॥

'तथा हि प्रथमे (भा० १।११।९) द्वारकाप्रजा-वचने—'यर्ह्यम्बुजाक्षापससार भो भवान्, कुरून् मधून्वाथ सुहृद्दिदृक्षया' इति प्रत्यक्षं लक्ष्यते, न च तत्तु कालान्तरगतम्। कुरुक्षेत्र-यात्रायां हि स्फुटमस्य वचनं तस्य तत्कालतामेव रचयति। तथा हि (भा० १०।८२।४२)—

'अपि स्मरथ नः सख्यः! स्वानामर्थचिकीर्षया। गतांश्चिरायिताञ्छत्रुपक्षक्षपणचेतसः ॥'इति॥

'विदूरथान्तशत्रुवधमेवावधिमत्र करोति नान्यदिति ॥२०८॥

तदेवं स्थिते तदनन्तरं च लब्धान्तरतया तेनानेन तेषां प्रकृतिजागोचरप्रकृतिस्वपदाविर्भावनं च तत्र पाद्म एवोद्भावितम्। तदपि ब्रह्महृदमज्जन-तदुन्मज्जनादनन्तरं तद्दर्शितवत

है। और शाल्व के प्राणों को दण्ड देकर, कुटिलता करने में अत्यन्त कोप करनेवाला दन्तवक्र, अपने भाई विदूरथ के सहित, मधुपुरी के द्वारपर इन्हीं श्रीकृष्ण के द्वारा खण्ड खण्ड करके खण्डित कर दिया जायगा। यह पद्मपुराण के उत्तरखण्ड की कथा है। और उसके पश्चात् श्रीकृष्ण का पुनः व्रज में आना, शिव-पार्वती के संवादमय रहस्य में पद्मपुराण में ही स्पष्ट दिखाई देता है। और व्रजागमन सत्यसंकल्प होने के नाते, विशाल कीर्ति द्वारा विख्यात भगवान् श्रीकृष्ण एवं भगवद्भक्त श्रीउद्धवजी की क्रमशः "मैं अवश्य व्रज में आऊँगा", इस प्रकार दूतों के द्वारा सन्देश दिया एवं "श्रीकृष्ण शीघ्र ही व्रज में आयेंगे" इत्यादि बहुत सी प्रतिज्ञाओं के अनुसार श्रीमद्भागवत ग्रन्थ ने भी निश्चितरूप से प्रगट कर दिया है। केवल प्रतिज्ञामात्र ही प्रतीति की पात्र बनाई हो, सो बात नहीं। किन्तु श्रीकृष्ण का व्रज में आना भी साक्षात् लिखकर दिखा दिया है ॥२०७॥

देखो, प्रथमस्कन्ध में द्वारका की प्रजा के वचन में स्पष्ट दिखाई देता है कि—हे कमलनयन! तुम अपने सुहृदों के देखने की इच्छा से जब कुरुदेश में अथवा मधुपुरीसम्बन्धी देशों में जाते हो, इत्यादि। और वह व्रज में आना दूसरे समय का भी नहीं है, क्योंकि कुरुक्षेत्र की यात्रा में श्रीकृष्ण का वचन—उस व्रज के आगमन को उसी समय का बता रहा है। यथा—देखो, हे सखियो! अपने भक्तों के प्रयोजन सिद्ध करने की इच्छा से चले जानेवाले, एवं शत्रुपक्ष के नष्ट करने में चित्त लगानेवाले, अतः तुम्हारे पास आने में देरी लगानेवाले, हमको भी कभी याद कर लेती हो क्या? इस वाक्य में विदूरथ पर्यन्त शत्रु वध ही "व्रजागमनरूप विषय में" अवधि प्रमाणित कर रहा है, और कुछ नहीं ॥२०८॥

अतः ऐसी स्थिति में विदूरथ के वध के अनन्तर अवकाश प्राप्त होने के कारण, इन्हीं श्रीकृष्ण ने उन व्रजवासियों के निकट प्रकृतिज, अर्थात् मायाबद्ध जीवों के अगोचर अपनी स्वरूपशक्ति के द्वारा अपने गोलोकधाम का प्रागट्य भी किया। यह विषय भी उस पद्मपुराण में ही प्रकटित है, और ब्रह्महृद में गोता

एतस्य चैतदीयानाञ्चाभिप्रायेण श्रीमद्भागवतेनाभिप्रेतम्; (भा० १०।२८।११,१३,१४,१७) 'अपि नः स्वगतिं सूक्ष्माम्' इति, 'न वेद स्वां गतिं भ्रमन्' इति, 'गोपानां स्वं लोकम्' इति, 'कृष्णं च तत्र छन्दोभिः स्तूयमानम्' इत्यनेन ॥२०९॥ अतएव स्कान्दे—

'वत्सैर्वत्सतरीभिश्च सरामो बालकैर्वृ तः। वृन्दावनान्तरगतः सदा क्रीडति माधवः ॥'

सदा स्थितिप्रयोगश्चात्र वैकुण्ठनाथस्य ध्रुवगजेन्द्राद्यर्थमन्यत्र गमनेन वैकुण्ठ इव श्रीव्रजेन्द्र-नन्दनस्य मथुरादिगमनेन वृन्दावनेऽपि न बाध्यते ॥२१०॥

अत्रेदं विचारयामः,—

'जननीवेशसम्बन्धाभासात् पूतनिकापि सा। जननी-गतिमव्राजीदिति कैमुत्ययोगतः ॥२११॥

उपकृष्णं कृष्णघोषः सुगोगोपं तदाप्स्यति। अतिदुःखं दुष्प्रतीपं तद्गोलोकं सुशर्म च ॥२१२॥

'किञ्च,

साङ्गं यावद्वैभवं च व्रजः कृष्णं व्रजिष्यति। सकृष्णमनुकृष्णं यो धास्यते च सरामकम् ॥२१३॥

सद्वादशस्कन्धमेवं श्रीभागवतमीक्षते। यथाशक्ति बुधोऽन्यस्य शक्तिप्रति न विद्यते ॥'२१४॥

लगाकर निकलने के अनन्तर उस गोलोक को दिखानेवाले, श्रीकृष्ण के एवं उनके प्रिय व्रजजनों के अभिप्राय के अनुसार, वह भी श्रीमद्भागवत के द्वारा अभिप्रेत है, यथा—"श्रीहरि हमारे को भी अपनी सूक्ष्मगति (स्वरूप या लोक) का लाभ करायेंगे क्या ?" इत्यादि। "कर्मानुसार अनेक योनियों में घूमता हुआ जीव अपनी वास्तविक गति (स्वरूप या गन्तव्यस्थान) को नहीं जानता" इत्यादि। "श्रीकृष्ण ने गोपों को अपना लोक दिखाया" इत्यादि। "और उस गोलोक में वेदों के द्वारा स्तुति किये गये श्रीकृष्ण को देखकर व्रजवासी विस्मित हो गये" इत्यादि द्वारा ॥२०९॥

अतएव स्कन्दपुराण में भी कहा है कि—श्रीकृष्ण ग्वालबालों से घिरकर श्रीबलरामजी के सहित, श्रीवृन्दावन के मध्य में रहकर, बछड़े एवं बछड़ियों के सहित सदैव क्रीडा करते रहते हैं। इस श्लोक में वृन्दावन में सदा स्थित रहने का वाचक 'सदा' शब्द का जो प्रयोग है, वह ध्रुवजी एवं गजेन्द्र आदि भक्तों के प्रयोजन के लिए अन्यत्र जाने से वैकुण्ठनाथ का सदा वैकुण्ठ में रहना जैसे बाधित नहीं होता, उसी प्रकार श्रीव्रजराजकुमार का मथुरा आदि में जाने से भी, श्रीवृन्दावन में सदा रहना बाधित नहीं होता ॥२१०॥

पहले "गोपानां स्वं लोकं" इस उक्ति से गोलोक को गोपों का निजीधाम बताया। उसमें आश्चर्य नहीं। इस विषय में यही विचार करते हैं कि—"जननी के वेष के सम्बन्ध के आभासमात्र से वह पापिनी पूतना भी जब जननी की गति को प्राप्त हो गई, तब इसी कैमुत्यन्याय के सम्बन्ध से श्रीकृष्ण की सदैव समीपता के कारण, श्रीकृष्ण का समस्त व्रज गो गोपों की समृद्धि से युक्त, दुःखों से रहित, शत्रुओं की समृद्धि से रहित, और सम्पूर्ण सुखों से सम्पन्न, उस गोलोक को अवश्य प्राप्त करेगा। अतः उनका निजीलोक स्वतःसिद्ध है ॥२११-२१२॥

किञ्च वह व्रज साङ्गोपाङ्ग सम्पूर्ण वैभव से युक्त श्रीकृष्ण को प्राप्त करेगा, और जो व्रज श्रीकृष्ण के सदृश, श्रीकृष्ण के योग्य विषय का श्रीबलराम के सहित पोषण करेगा ॥२१३॥

बुद्धिमान् जन अपनी शक्ति के अनुसार श्रीमद्भागवत को द्वादश स्कन्धपर्यन्त इसी प्रकार के सिद्धान्तों से भरा हुआ देखता है। किन्तु भक्तिविमुख अन्य साधारण जन की तो देखने की शक्ति का लेश भी विद्यमान नहीं है ॥२१४॥

"तदेवं विमृष्य तु श्रीदेवर्षिः स्पष्टमाचष्ट,—'यदा त्वं राजसूयतः सुखं सम्भूय स्वालय-चलनारम्भं सम्भावयिष्यसि, तदा वक्रभावचक्रतः शक्रमपि जिगीषुर्दन्तवक्रस्त्वां केवलं सर्वचंक्रमणचक्रबलं वितर्कयन् बलेन बलेन च विनाभूतेन त्वया केवलेन गदायुद्धमध्वन्यन्विच्छन् मधुपुरीमागन्तुमुरीकरिष्यति ॥२१५॥

तामागत्य च गत्यन्तरं चिन्तयन्मन्मुखतस्तव द्वारकासम्मुखप्रस्थानं शाल्वसंस्थापनं चाऽऽस्थाय सद्यस्त्वां प्रत्येव दुःस्थात्मतया प्रस्थास्यते ॥२१६॥

'तदैव च मनोजूति-विभूतिमयेन मया कथनया निजव्रजगमनाय तदेवास्पदमास्पदं कुर्वं लब्धमनोरथस्तादृशदिव्यरथश्च त्वं तत्क्षणमेव मथुरापुर-द्वारि प्राप्तगतिप्रथस्तं गदावन्तं निष्क्रामन्तं द्रक्ष्यसि ॥२१७॥

स्रक्ष्यसि च त्वां प्रति क्रामन्तं तं प्रति गदां, स्रक्ष्यन्ते च प्रत्यस्त्राणीव त्वदाभिमुख्येन करूषमुख्येन तेन चैद्येनेव सात्मज्योतिष्का निष्कास्य प्राणाः ॥२१८॥

'अत्र च श्लोकः खल्वयम्—

'भीमस्याहं तुल्यसंविद् गदाया, द्वन्द्वाघाते माधवं मागधाभम् ।
जित्वा राज्यं माथुरं साधयिष्या,-म्येवं नङ्क्ष्यत्येष को दन्तवक्रः ? ॥२१९॥

इस प्रकार मनमें विचार कर श्रीदेवर्षि नारद स्पष्ट—हे भगवन् ! तुम जब राजसूय यज्ञ से सुख पाकर अपने घर को चलने के आरम्भ की सम्भावना करोगे, तब कुटिलता के चक्र से शक्र (इन्द्र) को भी जीतने की इच्छावाला दन्तवक्र, तुमको केवल सुदर्शनचक्र के बल से सबपर आक्रमण करनेवाले विचार कर, सेना एवं बलदेवजी से रहित हुए, केवल अकेले तुम से ही, मार्ग में गदायुद्ध की इच्छा करता हुआ, मधुपुरी (मथुरा) में आने के लिए अङ्गीकार करेगा ॥२१५॥

और मथुरा में आकर दूसरे उपाय का विचार करता हुआ, मेरे मुख से तुम्हारे द्वारका के सम्मुख प्रस्थान को, एवं शाल्व के वध को स्वीकार करके दुःखित चित्त होकर, तत्काल तुम्हारे प्रति ही प्रस्थान कर देगा ॥२१६॥

और उसी समय मानसिक वेग के वैभव से परिपूर्ण मेरे कथन के अनुसार अपने व्रज में जाने के लिए, उसी कृत्य को प्रतिष्ठा का आश्रय करते हुए, अपने हार्दिक मनोरथ को पाकर, उसी प्रकार के दिव्य रथवाले तुम तत्काल ही मथुरापुरी के द्वारपर गमन की प्रसिद्धि को पाकर, अर्थात् शीघ्र ही मथुरा के द्वारपर पहुँच कर, गदा से युक्त निकलते हुए उस दन्तवक्र को देखोगे ॥२१७॥

और तुम्हारे प्रति आक्रमण करते हुए उसके प्रति तुम अपनी गदा को फेंककर चलाओगे। और तुम्हारे सम्मुख होनेवाला करूषदेश का मुखिया वह दन्तवक्र भी शिशुपाल की तरह, अपनी आत्मा की ज्योति के सहित अपने प्राणों को निकाल कर, प्रत्यस्त्रों की भाँति तुम्हारे ऊपर छोड़ देगा, अर्थात प्राणों सहित अपनी आत्मा को आपमें मिला देगा ॥२१८॥

दन्तवक्र के विनाश के विषय में यह श्लोक है, उसका भावार्थ यह है कि—गदायुद्ध के प्रहार में मैं भीम के समान आचार विचारवाला हूँ, अतः जरासन्ध के तुल्य श्रीकृष्ण को जीतकर मथुरा का राज्य सिद्ध कर लूंगा। प्रश्न—इस प्रकार की भावना करते करते कौन नष्ट हो जायगा ? उत्तर—यह दन्तवक्र ॥२१९॥

'ततश्च, दन्तवक्र-चितावह्निप्राये क्रोधे तव स्वयम् ।
विदूरथश्च पतिता दूरतः क्रूरकीटवत् ॥२२०॥

'तदेवं दन्तवक्रं विदूरथमपि विदूरतस्तदा गदाचक्रघातं घातयित्वा स्ववचनसत्यङ्कारः स्वजनहृद्रुजामगदङ्कारः स्वीयमुखानामस्तुङ्कारः श्रीमद्व्रजविराजमानराजकुमारः स्वकव्रज-कुलमेव भवान्मथुराभवाननुयोक्ष्यते। तत्तु सर्वं प्रगाढभावमवगाढं कुरुक्षेत्रादागतेरर्वाग्भव-दागमनमर्यादाभ्यन्तरीणकालं कालमिव चालयितुं पुनरपि विधेः सुदिनायमानतां प्रतिपालयितुं सम्प्रति यमुनापारीणं जातमित्यवकलय्यानुकामीनेन निजदिव्यविमानेन समुत्तीर्य दिविषद्भिः कुसुमैरवकीर्यमाणः सहसा तद्वासश्वासत्तुमुद्योक्ष्यते ॥२२१॥

'उत्तीर्णे च त्वयि सर्वतः कीर्णेन नन्दिताशेषेण रथघर्घरितविशेषेण त्वदागमनमेव मन्वानास्त्वत्परिमलवलनेन तु निश्चिन्वाना: सर्वविधा एव त्वदेकावधानतः प्रधावनमेव तन्वानाः श्रीमन्नन्दाद्यभिधानाः सन्निधानं विनापि शिखण्डिमण्डलवदमी मार्तण्डमण्डलस्थ-मेघखण्डमिव दिव्यरथारूढं त्वामगूढं निशाम्य सम्यगूढप्रमदा बहल-कोलाहलं कलयिष्यन्ति ॥२२२॥

'कलयन्तश्च स्तम्भ-स्वेद-रोमोद्भेद-स्वरभेद-रोदन-विभेद-प्रलयमयतया स्पन्दनमप्य-विन्दमानाः स्यन्दनाद् दूरतस्तत्तदवस्था एव स्थास्यन्ति ॥२२३॥

और उसके बाद प्रायः दन्तवक्र की चिता की अग्निरूप तुम्हारे क्रोध में वह विदूरथ भी क्रूरकीट की तरह, दूर से ही स्वयं गिर पड़ेगा ॥२२०॥

इस प्रकार उस समय तुम दूर से ही गदा के द्वारा दन्तवक्र को, एवं चक्र के द्वारा विदूरथ को मार कर, "मैं व्रज में अवश्य आऊँगा" इस प्रकार के अपने वचन को सत्य करनेवाले, निजजनों के हृदयरोग की चिकित्सा करनेवाले, अपने भक्त आदिकों की प्रशंसा या रक्षा करनेवाले, एवं श्रीमान् व्रज में विराज-मान व्रजराज श्रीनन्द के कुमार आप, अपने व्रजवासियों के विषय में मथुरावासियों से ही पछोगे। किन्तु वह समस्त व्रजजनसमुदाय तो प्रगाढभाव में गोता लगाकर, कुरुक्षेत्र से आने के पीछे एवं आपके आने की मर्यादा के भीतर के समय को, काल की तरह दूर फेंकने के लिए, और फिर भी विधाता की सुदिनकारिता की प्रतीक्षा करने के लिए, इस समय यमुनापार चला गया है। यह जानकर आप स्वेच्छाचारी अपने दिव्य विमान से उतर कर, देवताओं के द्वारा बरसाये हुए पुष्पों से आच्छादित होकर, उन व्रजवासियों के निवासस्थान को प्राप्त करने के लिए सहसा उद्योग करेंगे ॥२२१॥

और तुम्हारे उतरते ही चारों ओर फैलनेवाले, सबको आनन्दित करनेवाले, आपके रथ के घर्घर शब्दविशेष से तुम्हारे आगमन को ही मानते हुए, तुम्हारे गात्र के दिव्यगन्ध के सम्पर्क से तो निश्चय करते हुए, सर्व प्रकार से केवल तुम्हारे ध्यानसे विशेष दौड़ने का ही विस्तार करते हुए, श्रीमान् नन्द आदि वे व्रजवासीजन तुम्हारी निकटता के बिना भी, मयूरवृन्द जैसे सूर्यमण्डल में स्थित मेघखण्ड को देखता है, उसी प्रकार दिव्यरथ में चढ़े हुए तुमको प्रत्यक्ष देखकर, अच्छी प्रकार हर्ष को प्राप्त होकर बहुत कोलाहल करेंगे ॥२२२॥

और कोलाहल करते करते स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, मूर्च्छा आदि अनेक सात्त्विक दशाओं से पूर्ण होने के कारण, शरीर चलने की चेष्टा को भी नही प्राप्त करते हुए, वे व्रजवासी तुम्हारे रथ से दूर ही पूर्वोक्त तत्तत् अवस्थावाले ही खड़े रहेंगे ॥२२३॥

'त्वं पुनः सहसा रथादवतीर्य तेषां पथा यथावीर्यं धावन् सकलगीर्वाणविकीर्यमाण-कुसुमादिवादितवादित्रादिकृतमानः सर्वथाप्यसम्भावितस्वमानः परमासक्त्या सर्वानपि तान-नर्वाचीनशक्त्या च पृथक् पृथगेव च युगपदेव च सङ्गच्छन् समालिङ्गंस्तत्तदङ्गसङ्गतं स्वाङ्गमपि न ततो भिन्नमङ्गीकरिष्यसि। 'ते च तथा शोकापनुदं दत्तमुदं त्वां लभमानाः सर्वे जन्यवस्त्वदनन्यम्मन्या भविष्यन्ति ॥२२४॥

'तथा च गास्यते,—'यदाऽऽयातः कृष्णः पुनरपि यदूनां नगरत-
स्तदा गोपाः सोऽपि प्रतिनिजमधुर्मोदनिवहम्।
व्यतिश्लिष्टा यर्हि प्रतिजनमिदं नाजनि मना-
गयं कृष्णः कृष्णः किमहमिति तर्हि स्फुटतरम् ॥२२५॥

'यतः, यद्वत् कल्यन्तिमानां सुकृतविरहिणां सत्यधर्मावतारः
पृथ्वीस्थानां महाऽवग्रहद्रुतवपुषां वर्षुकाब्दप्रचारः।
आकूपारह्लदानां मुनिहृतपयसां नव्यगङ्गाप्रसार-
स्तद्वद्गोष्ठस्थितानां तव विरहरुजां हन्त ते सङ्गसारः ॥२२६॥

'अथ चिराय प्रतिमावत् प्रतिस्वं लब्धत्वत्परिष्वक्तिषु व्रजजनव्यक्तिषु पूर्वमव्यक्ती-भावमापन्ना मधुमङ्गलपूर्णाभ्यर्णा पौर्णमासी सवृन्दा वृन्दा च सममप्रच्छन्नतां गच्छन्ती तु

और तुम पुनः सहसा (झटपट) रथ से उतर कर यथाशक्ति उन्हीं के मार्ग से दौड़ते हुए, सभी देवताओं के द्वारा फेंके हुए पुष्पादि एवं बजाये हुए वाद्य आदि के द्वारा सम्मानित होकर भी, "मैं सर्वेश्वर हूँ" इस प्रकार के अपने अभिमान की सर्वथा सम्भावना न कर, परम आसक्ति एवं अनादिसिद्ध अपनी अनिर्वचनीय शक्ति के द्वारा, उन सभी व्रजवासियों को पृथक् पृथक् ही एवं एक समय ही मिलते हुए, गाढालिङ्गन करते हुए, उन उनके अङ्ग से सटे हुए अपने अङ्ग को भी, उनसे अलग स्वीकार नहीं करोगे, अर्थात् उनसे मिलते ही रहोगे। और वे सब व्रज के प्राणी भी उस प्रकार से शोक को दूर करनेवाले, आनन्द को देनेवाले तुमको प्राप्त करते हुए, अपने को तुमसे अभिन्न माननेवाले हो जायँगे ॥२२४॥

कविजन उस दशा को इस प्रकार गायेंगे—श्रीकृष्ण जब यादवों की नगरी द्वारका से पुनः व्रज में चले आये, तब गोपगण एवं वे श्रीकृष्ण इन सभी ने अपने अपने प्रति आनन्दसमूह को धारण कर लिया। और जब प्रत्येक जन से परस्पर मिलने लग गये, तब तो "यह कृष्ण है कि मैं कृष्ण हूँ" इस प्रकार किञ्चिद् भी अत्यन्त स्पष्ट नहीं हो पाया ॥२२५॥

कारण—कलि के अन्त में होनेवाले पुण्यरहित जनों के सम्बन्ध में जैसे सत्ययुग के धर्म का अवतार, एवं अत्यन्त अनावृष्टि से पीड़ित शरीरवाले पृथ्वीस्थ जनों के सम्बन्ध में जैसे वर्षा करनेवाले मेघों का प्रचार, और जिनका जल अगस्त्यमुनि ने हर लिया था, ऐसे समुद्र से लेकर सरोवरपर्यन्त सभी जलाशयों के सम्बन्ध में जैसे नवीन गङ्गा का प्रसार आनन्दजनक है, ठीक उसी प्रकार तुम्हारे विरह के रोगी व्रज-वासियों के सम्बन्ध में, अहह! तुम्हारा सङ्गरूप रसायन भी परम आनन्दजनक है ॥२२६॥

तदनन्तर बहुत देरतक प्रतिमा की तरह प्रत्येक व्रजवासी व्यक्ति को तुम्हारा आलिङ्गन प्राप्त हो जानेपर, पहले प्रगट न होनेवाली पौर्णमासी, मधुमङ्गल को पास में लेकर, एवं अपनी सहचरियों के

सुखसंमूर्च्छनान्मूर्च्छामिव गताभ्यस्ताभ्यः साभ्यसूयमिव क्रमाद्बहिर्वृत्तिं यच्छन्ती तद्वनिकायां तन्निकायमुपवेशयिष्यति ॥२२७॥

'तथा च कथयिष्यन्ति,—

'कृष्णं मध्यगतं विधाय पितरौ तद्भ्रातरः स्त्रीगणा-
स्तन्मित्राणि कुटुम्बसंवलनया चान्ये चिरात् प्राप्तितः ।
मुञ्चन्तः स्फुटमश्रु तस्य सुखदञ्चारूपचारं चिरं
विस्मृत्य स्थगितक्रियाः समभवन् मूकाश्च वैस्वर्यतः ॥२२८॥

'त्वं तु तत्र स्त्रीकुमारं पुत्रपौत्रं कुब्जवामनं दासीदासमपि सर्वं यथायथं तोषयिष्यसि ॥२२९॥

'दारुकस्तु दारुवदेव दूरस्थितस्तत्प्रेमवश्यतया कौतुकमिव द्रक्ष्यति ॥२३०॥

'ततश्च तत्रासीना पौर्णमासी कुपितेवाऽऽलपिष्यति,—अहह ! किमिदमविदन्त इव कुर्वन्तः स्थ ? पथि परिश्रान्तमिमं कथमिव न विश्रान्तं कुरुथ ? ॥२३१॥

'तदेवं जातचमत्काराभ्यां त्वत्परिश्रमकातराभ्यां मातरपितराभ्यामुभयतः स्वस्वभुजया-कृतालिङ्गनमयप्रणयचेष्टितः सर्वैरेव च परितो वेष्टितः स्वगोष्ठ-प्रकोष्ठमध्यग-शकटघटाघटित-वाटमवाप्स्यसि ॥२३२॥

सहित वृन्दादेवी एकसाथ प्रगट होती हुई, सुख की परिपूर्णता से मानो मूर्च्छा सी प्राप्त हुए उन व्रजवासी व्यक्तियों के लिए 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' के अनुसार उनके अधिक प्रेमरूपगुण में मानो दोषारोपणपूर्वक क्रमशः बाह्यचेष्टा को देती हुई, उसी वनी में उस व्रजजनसमुदाय को अच्छी प्रकार बैठा देगी ॥२२७॥

उस दृश्य को देखनेवाले जन भी कहेंगे कि—श्रीकृष्ण को मध्यस्थ बनाकर, अर्थात् बीच में बैठाकर उनके चारों ओर बैठे हुए—माता, पिता, उनके भाई, व्रजाङ्गनाएँ, श्रीकृष्ण के मित्रगण, कुटुम्ब के सम्बन्ध से आये हुए अन्य सभीजन, बहुत दिन में श्रीकृष्ण की प्राप्ति के कारण स्पष्ट ही आँसू बहाते हुए, श्रीकृष्ण के सुखदायक मनोहर सत्कार आदि उपचार को बहुत देरतक भूलकर निश्चेष्ट हो गये, और स्वरभङ्ग के कारण सभी गूँगे बन गये ॥२२८॥

और तुम तो वहाँपर स्त्री, बालक, पुत्र, पौत्र, कूबड़े, बौने, दासी, एवं दास आदि सभीजनों को यथायोग्य सन्तुष्ट करोगे ॥२२९॥

और तुम्हारा सारथि दारुक तो काष्ठ की तरह दूर बैठकर उन व्रजवासियों के प्रेम के वशीभूत होने के कारण कौतुक सा देखेगा ॥२३०॥

उसके बाद वहाँपर बैठी हुई पौर्णमासी कुपित सी होकर, सम्भाषण करेगी कि—अहह ! तुम सब अनजान की तरह यह क्या कर रहे हो ? मार्ग में थके हुए श्रीकृष्ण को विश्रान्त क्यों नहीं करते ? ॥२३१॥

इस प्रकार तुम्हारे ऐश्वर्य से चमत्कार को प्राप्त हुए, एवं तुम्हारे परिश्रम से कातर हुए, दोनों माता पिताओं के द्वारा दोनों ओर से अपनी अपनी भुजा से किये हुए तुम्हारे आलिङ्गनमयी चेष्टा से युक्त, और सभी व्रजवासियों के द्वारा चारों ओर से घिरे हुए तुम, अपने व्रज के एकस्थान के मध्य में खड़ी हुई बैलगाड़ियों की श्रेणी द्वारा घिरे हुए गृहरूप स्थान को प्राप्त करोगे ॥२३२॥

'ततश्च ते सर्वे भवत्परिचर्यामयपरिसर्याकृतः सम्भ्रममेवाचरिष्यन्ति, न तु कार्यक्रमम् ।।२३३।।

'तथा हि— यर्ह्यागन्तास्यघहर ! चिराद् द्वारकातस्तदा ते
सर्वेऽप्येते व्रजजनिजना श्रेष्ठमध्यस्थनिघ्नाः ।
धावन्तोऽपि प्रतिदिशमहो तत्तदेकैककार्यं
कुर्वन्तोऽपि स्थगितकृततामेव यास्यन्ति हन्त ।।२३४।।

यद्यपि गोपाः सम्यक्, परिचरितुं त्वां न तर्हि शक्ष्यन्ति ।
तदपि च तत्प्रमदामृत,-भोगास्त्वामी सदैव पोक्ष्यन्ति ।।२३५।।

'तदारभ्य च—

'किं भोक्तव्यं क्वासितव्यं स्वपनीयं क्व वाऽमुना ? ।
इति मात्रादिधीयात्रा नात्रायास्यति तृप्तताम् ।।२३६।।
सखायस्ते सुखाधीना विस्मरिष्यन्ति सर्वकम् ।
स्मरिष्यन्ति तु तां त्वत्कां पुनः संश्लेष-नव्यताम् ।।२३७।।
दासाश्च तव दाशार्ह ! पुनराशां स्वमूर्तिषु ।
धास्यन्ति सेवासुधया विधास्यन्ति यदाप्लवम् ।।२३८।।
गावः प्राग्वद्भवत्स्फूर्तिप्रभावस्थिततद्दशाः ।
तद्वदेव सदैवामूर्धास्यन्ति प्रमदं त्वयि ।।२३९।।

तदनन्तर वे सब व्रजवासी, आपकी सेवारूप इधर उधर चारों ओर दौड़धूप करनेवाले होकर भी, शीघ्रता को ही करते रहेंगे किन्तु कार्यक्रम के अनुसार नहीं ।।२३३।।

और देखो, हे अघहर ! तुम जब द्वारका से बहुत दिन में लौटकर आओगे, तब ये उत्तम, मध्यम, अधमरूप सभी व्रजवासीजन, अहो ! प्रेम से प्रत्येक दिशा में दौड़ते हुए भी, तत्तत् एक एक कार्य करते हुए भी, हाय ! निश्चलभाव को ही प्राप्त हो जायँगे ।।२३४।।

यद्यपि गोपगण उस समय अच्छी प्रकार तुम्हारी सेवा करने को समर्थ न हो सकेंगे, तथापि उस सेवा में आनन्दरूप अमृत का उपभोग करके, वे गोपगण तुमको पुष्ट कर देंगे ।।२३५।।

और आपके आगमन के समय से लेकर तो इन श्रीकृष्ण को क्या खाना चाहिये, कहाँ बैठना चाहिये, एवं कहाँपर सोना चाहिये ? इस प्रकार विचारती हुई माता पिता आदि की बुद्धि की गति तृप्ति को न प्राप्त होगी ।।२३६।।

और सुबल, श्रीदामा आदि तुम्हारे सखा तुम्हारे आगमन के सुख के वशीभूत होकर, सब कुछ भूल जायँगे । किन्तु केवल तुम्हारे मिलन की उस नवीनता को ही याद करेंगे ।।२३७।।

हे दाशार्ह ! हे यदुवंशशिरोमणे ! रक्तक, पत्रक आदि तुम्हारे दासगण भी, अपनी शारीरिक स्थिति के विषय में पुनः आशा धारण करेंगे, अर्थात् पहले आपके वियोग से प्रायः मृतक से हो गये थे, किन्तु अब जीने की आशा धारण करेंगे, क्योंकि अब तो आपकी सेवारूप अमृत से नित्य स्नान करेंगे ।।२३८।।

वे गऊएँ भी पहले की तरह आपकी स्फूर्ति के प्रभाव से स्थित हुई उसी दशा को पाकर, उसी तरह सदैव तुम्हारे विषय में हर्ष धारण करेंगी ।।२३९।।

शिशवः पशवश्चैव वयांसि च पयांसि च ।
येऽन्ये हृद्या जना हृद्यास्तव तेषां तु का कथा ? ॥२४०॥

'कूर्मस्येव स्मरणानुभावेन तव तेन त्वदीयाः पूर्ववदेव हि ते स्थातारः । तथैव व्रजाद्बलदेवः कुशस्थलीमासाद्य त्वयि निवेदयिष्यति ॥२४१॥ यथा श्रीहरिवंशे—
'तथैवाध्वगवेषेण सोपश्लिष्टो जनार्दनम् । प्रत्यग्रवनमालेन वक्षसाभिविराजता ॥
उपविष्टं तदा रामं पप्रच्छ कुशलं व्रजे । बान्धवेषु च सर्वेषु गोषु चैव जनार्दनः ॥
प्रत्युवाच ततो रामो भ्रातरं साधुभाषिणम् । सर्वेषां कुशलं कृष्ण ! येषां कुशलमिच्छसि ॥'इति॥ ॥२४२॥

'तदेवं स्थितेऽपि तदा तव सदा व्रजावस्थितिप्रतीतिस्तु तेषां नातिजनिष्यते । स्यन्दनं तदत्र तदवस्थमेव स्थापितमस्तीत्यनास्थाभावनया ॥२४३॥

'किञ्च, तव सवयसः प्रवयसः प्रतीदं प्रतीपमावेदयिष्यन्ति । प्रियवयस्यस्य नातिसौमनस्यं मनस्यभ्यस्यते, यतो निजतानुरागजनतासु तासु प्रागिव नानुरागं जागरमागमयति । ताश्च तथा दृष्ट्वा लगितदुःखस्थगिततया शुष्का इव तिष्ठन्ति ॥२४४॥

और व्रज के शिशु, पशु, पक्षी, यमुनाजल, भाण्डीर आदि वृक्ष भी जब आपके ऊपर प्रेम प्रदर्शित करेंगे, तब अन्य जो आपके हृदयङ्गम मनोहर गोपीगण एवं यज्ञपत्नी आदि जन हैं, उनके सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है ? ॥२४०॥

कछुआ के बच्चे जैसे उसके स्मरण के प्रभाव से ही जीते रहते हैं, उसी प्रकार तुम्हारे व्रजवासीजन तुम्हारे द्वारका चले जानेपर भी, तुम्हारे स्मरण के प्रभाव से पहले की तरह स्थित रहेंगे । अतः व्रज से द्वारका में पहुँच कर श्रीबलदेवजी तुमसे व्रजवासियों की उसी प्रकार की सी स्थिति का निवेदन करेंगे ॥२४१॥

यथा—श्रीहरिवंशपुराण में भी कहा है कि—उसी प्रकार पथिक के से वेशवाले बलरामजी ने नवीन वनमाला से युक्त, अतः परम शोभायमान, अपने ऐसे वक्षःस्थल के द्वारा उन श्रीकृष्ण का आलिङ्गन किया। उस समय श्रीकृष्ण ने आसनपर बैठे हुए बलरामजी से व्रज के विषय में, सभी बान्धवों के विषय में, एवं गोगण के विषय में कुशलता पूछी । उसके बाद मधुरभाषी अपने भैया श्रीकृष्ण के प्रति बलरामजी ने प्रत्युत्तर दिया कि—हे भैया कृष्ण ! तुम जिनके कुशल की कामना करते हो, उन सभी व्रजवासियों का कुशल है ॥२४२॥

अतः ऐसी स्थिति बन जानेपर भी, अर्थात् आपके व्रज में आजानेपर भी, उस समय तुम्हारी सदैव व्रज में रहने की प्रतीति तो उन व्रजवासियों को अत्यन्त उत्पन्न न होगी, क्योंकि ''वह आपका रथ तो यहाँपर उसी प्रकार सजा सजाया ही स्थापित कर रखा है'' इस प्रकार की अनास्था की भावना से सशंक ही रहेंगे ॥२४३॥

किञ्च तुम्हारे सखागण, वृद्धजनों के प्रति इस प्रतिकूलता का निवेदन करेंगे कि—हमारे प्यारे सखा श्रीकृष्ण के मन में अत्यन्त सुस्थता प्रतीत नहीं होती । कारण—अपनेपन के अनुरागवाली उस व्रज की जनताओं के ऊपर ये पहले के से अनुराग को जागृत नहीं कर रहे हैं । वे समस्त जनताएँ भी इनके अनुराग की जागृति के अभाव को देखकर मानो हृदय में लगे हुए दुःख से निश्चल होकर प्रायः सूखी सी बैठी हैं ॥२४४॥

'तदेतदाकर्णयन्तः प्राप्तकदनान्तरतया विवर्णवदनास्ते त्वन्मातरपितरादयः कातरतामवाप्स्यन्ति ॥२४५॥

'त्वं तु जन्तुमात्रचित्तज्ञस्तद्विज्ञाय स्वयमेव तान् विज्ञापयिष्यसि,—कथं भवन्तो नाद्याप्यानन्दादुद्भवन्तो दृश्यन्ते ? ॥२४६॥

सर्वे तु सगद्गदं गदिष्यन्ति,—अस्माकमानन्दकारणं त्वदवधारणपदवीं विन्दत एव। 'अथ त्वं वक्ष्यसि,—बाढम्, किन्तु येन भवद्भिः सन्दिह्यते सोऽयं शताङ्गः साङ्गभवत्कार्यसङ्गमनाय सङ्गे रक्षिततया लक्ष्यते। यथा वान्यथाऽऽज्ञापयथ, तथा प्रथयिष्यामि ॥२४७॥

एतदेव प्रागेव निवेदितं मया, (भा० १०।४५।२३)—

'यात यूयं व्रजं तात ! वयं च स्नेहदुःखितान्।
ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां सुखम् ॥'इति॥

'ज्ञातीन्' इति युष्मन्मध्यत एवासौ वासः सम्भविष्यति, 'द्रष्टुम्' इति तत्र च युष्मद्दर्शनमेवास्माकं पुरुषार्थ इत्यर्थः; यद्वा, 'द्रष्टुम्' इति दर्शनविषयीभवितुमित्यर्थः, (भा० १०।१४।६)- 'तथापि भूमन् ! महिमाऽगुणस्य ते, विबोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिः' इत्यत्र बोधविषयीभवितुमितिवत्, ॥२४८॥

सखाओं की ऐसी बातों को सुनते हुए, अन्तःकरण में कष्ट प्राप्त होने के कारण मलिन मुखवाले, वे तुम्हारे माता पिता आदि वृद्धजन कातरता को प्राप्त हो जायँगे ॥२४५॥

किन्तु जनमात्र के चित्त को जाननेवाले तुम तो, उनकी कातरता को जानकर, उनको स्वयं विज्ञापन करोगे कि—आप सब आज भी आनन्द के कारण उन्नत होते हुए क्यों नहीं दिखाई देते हो?॥२४६॥

वे सब तो गद्‌गद होकर कहेंगे कि—हमारे आनन्द का कारण तो तुम्हारे निश्चय के मार्ग को ही प्राप्त हो रहा है। तात्पर्य—तुम्हारा व्रज में रहना निश्चित हो जानेपर ही, हमारा आनन्द उन्नत हो सकता है, अन्यथा नहीं। उसके बाद तुम कहोगे कि—तुम्हारी बात ठीक है, किन्तु आप सब जिस कारण सन्देह कर रहे हैं, वह यह रथ तो साङ्गोपाङ्ग आपके कार्य की सिद्धि के लिए सङ्ग में सुरक्षित भाव से रखा हुआ दिखाई दे रहा है, अथवा तुम सब जिस प्रकार की दूसरी आज्ञा दोगे, उसी प्रकार विस्तार करूँगा ॥२४७॥

यह बात तो मैंने आपसे पहले ही निवेदन करदी थी कि—हे पिताजी ! आप व्रज को चले जाओ। हम तो सुहृद्‌रूप यदुवंशियों को सुख देकर, हमारे स्नेह से दुःखी हुए, हमारी ही जातिवाले तुम सबको देखने आयेंगे। यहाँपर "हमारी जातिवाले" इस कथन का भाव यह है कि—यह मेरा नित्यनिवास तो तुम सबके बीच में ही अच्छी तरह से होगा। और "देखने को आयेंगे" यहाँपर यह भाव है कि—तुम्हारा दर्शन ही हमारा पुरुषार्थ है, अथवा मैं ही तुम्हारे दृष्टिगोचर होने को आऊँगा। यह अर्थ भी, 'तथापि भूमन्' इस श्लोक के 'विबोद्धुं' शब्द के "बोधगम्य होने को" इस अर्थ की तरह जानना चाहिये ॥२४८॥

एतदुद्धवेन च भवत्सु समुद्बुद्धं चक्रे, (भा० १०।४६।३४-३५)—

'आगमिष्यत्यदीर्घेण कालेन व्रजमच्युतः ।
प्रियं विधास्यते पित्रोर्भगवान् सात्वतां पतिः ।।
हत्वा कंसं रङ्गमध्ये प्रतीपं सर्वसात्वताम् ।
यदाह वः समागत्य कृष्णः सत्यं करोति तत् ।।'इति।।२४६।।

'सात्वतां पतिरपि पूर्णषडैश्वर्यसम्पत्तिरपि पित्रोर्युवयोर्व्रजेशित्रोः परमसुखश्रियं सदा स्वलालनारूपं प्रियं विधास्यते । तत्राप्यच्युत एवावस्थास्यते, यतस्तत्ततो हेतोरद्यापि सत्यं शपथं करोति, कुर्वन्नेव वर्तत इत्यर्थः । तदनेनैव नयेन भवतां प्रणयर्णं विनयेय, न तु मनागपि गमनागस्त्वेन ।।२५०।।

'तथा हि— पित्रादिप्रतिरूपरूपवसुदेवादिप्रतीघातजाद्-
दुःखात् कंसविनाशनार्थमगमं शीघ्रां निवृत्तिं विदन् ।
तत्रासीत् सुहृदां मनोरथततिर्युद्धायतिर्दुर्हृदां
चैवं तद्व्यसनं समाप्य यदि च प्रागां क्व वा याम्यहम् ?' इति।।२५१।।

'ततः श्रीव्रजेश्वरानुमत्या प्रत्यासन्नाः सर्वेऽपि प्रार्थयिष्यन्ते । एवं चेदिह च तव द्वारकावदेव बहलगृहबृंहणाय स्पृहयामः। अन्यथाकरणं तु यदस्माकमधन्यतां वहतीति ।।२५२

और यह विषय उद्धव ने भी आप सबके निकट पहले ही अच्छी तरह जागृत कर दिया था कि— श्रीकृष्ण भगवान् यदुवंशियों के रक्षक हैं, अतः वे थोड़े से समय में ही व्रज में आयेंगे, और माता पिताओं का प्रिय कार्य करेंगे,और सभी यदुवंशियों के द्वेषी कंस को रङ्गस्थल के बीच में मारकर, तुम सबके निकट आकर, व्रज में आने के सम्बन्ध में श्रीकृष्ण ने जो कुछ कहा है, वह अपने वचन को अवश्य सत्य करेंगे ।।२४६।।

उद्धवजी के द्वारा कथित दोनों श्लोकों का भावार्थ यह है कि—वे श्रीकृष्ण, यदुवंशियों के पति होकर भी एवं पूर्णषडैश्वर्य सम्पत्तिवाले होकर भी, व्रजेश्वरी व्रजेश्वररूप तुम दोनों माता पिताओं के परमसुख सम्पत्तिस्वरूप सदा निज लालनपालनरूप प्रिय कार्य करेंगे। उस व्रज में भी निरन्तर ही स्थित रहेंगे, यह 'अच्युत' शब्द का भाव है। कारण—सदैव व्रज में रहने के कारण ही, श्रीकृष्ण आज भी 'सत्य' अर्थात् शपथ करते हुए ही विद्यमान हैं। अतः इस नीति के अनुसार अब तो आप सबके प्रेम के ऋण को चुकाऊँगा; किन्तु व्रज से किंचिद् भी बाहर जाने के अपराध के भाव से नहीं, अर्थात् व्रज से बाहर जाकर अपराधी नहीं बनूंगा ।।२५०।।

क्योंकि देखो, हे मेरे प्यारे व्रजवासियो ! मैं तो मेरे पिता श्रीनन्दजी आदि के समान स्वरूपवाले श्रीवसुदेव आदि की कंस के द्वारा दी हुई पीडा से उत्पन्न हुए दुःख से शीघ्र ही निवृत्ति जानता हुआ, कंस के विनाश के लिए मथुरा चला गया था। वहाँपर जाते ही श्रीवसुदेव आदि सुहृदों के मनोरथों का विस्तार हो गया, एवं शत्रुओं के युद्धों का आयति (प्रभाव) उपस्थित हो गया। इस प्रकार उस अनिष्ट को समाप्त कर मैं यदि निश्चितरूप से व्रज में आ ही गया तो अब कहाँ जाऊँ ? अर्थात् अब तो सदैव यहीं रहूँगा ।।२५१।।

श्रीनारदजी बोले कि—उसके बाद श्रीव्रजराज की अनुमति से सभी व्रजवासी तुम्हारे निकट आकर प्रार्थना करेंगे कि—यदि ऐसी ही बात है, तब तो हम यहाँपर भी द्वारका की तरह तुम्हारे बहुत से घरों

'तदेतदाकर्ण्य भूमिं निर्वर्ण्य त्वं तु तस्मिन्नसन्तुष्ट इव चेतसि चिन्तयितासि। 'गृह'-शब्दः खल्वेभिर्गृहिणीपर्यायतया पर्यवसायितः। तत्र च हन्त! मम स्वान्तं कीदृशं वाऽमी विधास्यन्तीति ॥२५३॥

'अथ पुनर्विभावयितासि,—भवतु, पूर्णज्ञाना तूर्णविधाना च पौर्णमास्यत्र सर्वं शर्म निर्मास्यति न त्वन्यथाकर्मतां धास्यतीति। व्यक्तं तु वक्ष्यसि। तर्हि रोहिणीमाता रौहिणेय-भ्राता च द्वारकागारादाकारणीयौ। तावेव सर्वमर्वाग्भाव्यं निवेदयिष्यतः ॥२५४॥

'अथ पुनर्दारुकसारथिं प्रति प्रथयिष्यसि,—भो! सारथे! सरथः प्रथमानयाऽत्यन्तीन-तया भवान् यदुभवनमासाद्य सद्यः श्रीमद्भ्रातरं तन्मातरं च प्रापयेति, पुनर्विचार्य वक्ष्यसि,—हन्त! तमुद्धवमप्यानयेति ॥२५५॥

'ततस्तद्वन्दारुके दारुके पवनमनुहरमाणेन यानेन मुहूर्तमात्रार्धतस्तैः सार्धमागते तस्मिन् विस्मितमनसः श्रीमन्नन्दादयः परमानन्दाशयतया सहसा भवदागमनवदेव सहसा महसा तोद्यमानाऽऽतोद्यव्रजं तान्निजालयमानेष्यन्ति ॥२५६॥

की वृद्धि चाहते हैं। इससे अन्यथा करना तो हमारी निर्धनता या अकृतार्थता या अभागेपन को प्राप्त कर रहा है ॥२५२॥

व्रजवासियों की यह बात सुनकर भूमि को निहार कर तुम तो उनके कथनपर असन्तुष्ट से होकर, अपने चित्त में विचारोगे कि—इन व्रजवासियों ने 'बहलगृह' पद में गृह शब्द का जो प्रयोग किया है, वह तो निश्चय ही '"न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते" इस नीति के अनुसार 'गृहिणी' के पर्यायरूप से समाप्त कर दिया है' अर्थात् ये सब मेरे अनेक विवाह करना चाहते हैं। और हाय! उस विषय में ये गोप मेरे चित्त को किस प्रकार का विधान करेंगे या समझेंगे? ॥२५३॥

उसके बाद पुनः विचारोगे कि—अच्छा, जो हो। इस विषय में पूर्णज्ञानवाली एवं शीघ्र विधान करनेवाली पौर्णमासी ही सब सुखों का निर्माण कर देगी। किन्तु कार्य के बिपरीत भाव को नहीं धारण करेगी। पश्चात् स्पष्ट कहोगे कि—यदि ऐसी बात है तब तो रोहिणीमाता एवं रोहिणीनन्दन भ्राता श्रीबलदेव, ये दोनों ही द्वारका के घर से बुला लेने चाहिये। क्योंकि वे दोनों ही पीछे होनेवाले सभी कार्य का निवेदन करेंगे ॥२५४॥

पश्चात् पुनः अपने सारथि दारुक के प्रति कहोगे कि—हे सारथे! तुम विख्यात एवं अत्यन्त चलने वाली चाल से रथ के सहित द्वारका में पहुँच कर, तत्काल श्रीमान् भैया बलरामजी को एवं उनकी माता रोहिणी को लिवा लाओ। पुनः विचार कर कहोगे कि—हे सारथे! मेरे प्यारे उस उद्धव को भी लेते आना ॥२५५॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण की वन्दना करनेवाला वह दारुक, पवनपर विजय पानेवाले विमान के द्वारा, केवल आधी घड़ी में ही उन सबके साथ जब आजायगा, तब चकित मनवाले श्रीमान् नन्दादि गोप परमानन्दमय अभिप्रायपूर्वक सहसा आपके आगमन की तरह बलपूर्वक महोत्सवपूर्वक सभी प्रकार के वाद्यसमूह को बजाते हुए उन सबको अपने घर लिवा लायेंगे ॥२५६॥

'गतेषु च दिनेषु त्रिचतुरेषु परमचतुरा रामादयस्ते व्रजस्थाऽभिरुचितमेव तुभ्यं रोचयिष्यन्ति—॥२५७॥

'येषां प्रेमगुणैर्यस्त्वं बद्धः सुष्ठुतया हरिः। तस्य तैर्विनिबद्धा ये कुर्युस्ते कथमन्यथा ? ॥२५८॥

'सर्वे च मिलित्वा निर्णेष्यन्ति मान्याः कन्याविचारम्, कात्यायन्याराधिकास्ताः कन्या धन्यादयः सन्यायतामर्हन्तीति ॥२५९॥

'रामोद्धवौ तु परमनिष्णातौ कृष्णवज्ज्ञात्वा तूष्णीमेव स्थास्यतः ॥२६०॥

'ततस्तदर्थमारम्भे लब्धसम्भेदे व्रजपतिजम्पती पूर्णमनोगती पूर्णिमाभ्यर्णमासाद्य सद्यस्तस्यां वरिवस्यापूर्वकं सर्वं निवेदयिष्यतः ॥२६१॥

'सापि वक्ष्यति,—तदपि भद्रमेव; किन्तु वर्याः परमवर्या राधादयः कथं वा न स्वीकार्याः ? ॥२६२॥

'तौ तु सवैलक्ष्यं वक्ष्यतः,—काः खलु राधिकाद्यभिधाः ? सा वक्ष्यति,—धन्यानां वृषभान्वादीनां कन्या एव। पुनस्तौ वक्ष्यतः,—सुध्यादिगुरो ! न बुध्यामहे; निःशोध्यं तु बोध्यताम्। सा तु सहासं वक्ष्यति,—यथा कात्यायन्याराधिकानां कन्यात्वमेवमन्यासां

पश्चात् तीन चार दिन बीत जानेपर, परमचतुर श्रीबलरामजी आदि आपके वे अन्तरङ्गजन, व्रजवासियों की रुचि को ही तुम्हारे लिए रुचिकर बना देंगे ॥२५७॥

और तुम संसार के बन्धनों का हरण करनेवाले हरि होकर भी, जिनकी प्रेमरूपी रज्जुओं द्वारा अच्छी प्रकार बँध गये, उन्हीं तुम्हारे प्रेमरूप रज्जुओं के द्वारा जो विशेष बँधे हुए हैं, वे आपके प्रियजन अन्यथा किस प्रकार कर सकते हैं ? ॥२५८॥

और वे सभी माननीयजन मिलकर "तुम्हारे विवाह के योग्य" कन्याओं का विचार निर्णय करेंगे कि—कात्यायनी का आराधन करनेवाली वे धन्या आदि कन्या ही नीतिपूर्वक विवाह के योग्य हैं ॥२५९॥

सभी विषयों में परमकुशल श्रीबलराम एवं उद्धव तो श्रीकृष्ण की तरह जान बूझकर चुप ही बैठे रहेंगे ॥२६०॥

तदनन्तर सम्मिलित होकर कन्याओं के निर्णय के लिए उपक्रम कर देनेपर, व्रजेश्वर एवं व्रजेश्वरी दोनों ही पूर्ण मनोरथ होकर, पौर्णमासी के पास जाकर, तत्काल पूजापूर्वक उनके प्रति सब कुछ निवेदन कर देंगे ॥२६१॥

पौर्णमासी भी कहेगी कि—"धन्या आदिकों की जो कन्यात्व की योग्यता है" वह भी मङ्गलमय ही है। किन्तु वरण करने योग्य एवं परमश्रेष्ठ राधिका आदि किस प्रकार स्वीकार करने योग्य नहीं हैं ? ॥२६२॥

वे दोनों नन्द एवं यशोदा तो आश्चर्यपूर्वक कहेंगे कि—राधिका आदि नामवाली वे कन्याएँ कौन सी हैं ? पौर्णमासी कहेगी कि—भाग्यशाली श्रीवृषभानु आदि गोपों की ही कन्याएँ हैं। पुनः वे दोनों कहेंगे कि—हे बुद्धिमानों की आदि गुरो ! पौर्णमासि ! हम नहीं समझ रहे हैं। स्वच्छरूप से अर्थात् साफ साफ समझा दीजिये। वह हास्यपूर्वक कहेगी कि—जिस प्रकार कात्यायनी का आराधन करने-

राधिकादिकानामपि । तौ पुनरुत्फुल्लनयनं वक्ष्यतः,—विस्पष्टं कथ्यताम्, यदि विषयमयेऽप्यस्मादृशि कृपाविषयताऽऽचर्यते ॥२६३॥

सा वक्ष्यति,—भवन्तः खल्विदं नानुभवन्त इव सन्ति । यत् पुनरद्यापि कन्या एव ता धन्याः । मायाकल्पितच्छायाप्राया एवान्यत्र परिणायिताः, तच्च स्वप्नवदेव । तस्मान्मर्यादालङ्घनपर्यायतया ता एव च शय्यादौ पर्यवसाय्यन्ते इति । किञ्च, तदिदं किञ्चन भवन्तावनु सवेदनं निवेदयामि । तास्तदेकानुरक्ता मादृशसान्त्वनया परमद्यावधि धैर्यसंपृक्ताः सम्प्रति तु त्यक्तमात्रारिक्तप्राणगात्रा भविष्यन्ति । तासां तदिदं न केवलमहमेव विदत्यस्मि, किन्तु सर्वापि व्रजजनता । तच्च पूर्वमपि किञ्चित् किञ्चिद्विशेषतस्तु कृष्णकृत-वृष्णिस्थानप्रस्थानगत-तदनवस्थाऽवस्थायाम्, यत इदं मुनयोऽपि वर्णयिष्यन्ति ॥२६४॥

'तत्र पूर्वं यथा (भा० १०।३५।१७)—'कुजगतिं गमिता न विदामः, कश्मलेन कबरं वसनं वा' इत्यादिना; उत्तरं तु (भा० १०।३९।२८)—'निवारयामः समुपेत्य माधवं, किं नोऽकरिष्यन् कुलवृद्धबान्धवाः' इत्युक्त्वा, (भा० १०।३९।३१) 'विसृज्य लज्जां रुरुदुः स्म सुस्वरं, गोविन्द ! दामोदर ! माधव' इत्यादिना; (भा० १०।४७।९) 'कृष्णदूते व्रजं याते

वालियों का कन्यात्व है, उसी प्रकार राधा आदिकों का भी कन्यात्व है। वे दोनों पुनः खिले हुए नेत्र-पूर्वक कहेंगे कि—यदि हम जैसे पूर्ण अज्ञानियोंपर भी आप कृपापात्रता का आचरण करती हैं, तब तो स्पष्ट कह दीजिये ॥२६३॥

पौर्णमासी कहेगी कि—आप निश्चितरूप से इस बात का अनुभव न करते हुए ही विद्यमान हैं, जो कि वे भाग्यशालिनी राधिका आदि आज भी कन्या ही हैं। क्योंकि माया के द्वारा कल्पित प्रायः छायारूप राधिका आदि गोपियाँ ही दूसरी जगह विवाही गई हैं । और विवाह भी स्वप्न की तरह मिथ्या ही है। इसलिए मर्यादालंघन के क्रम के कारण, वे मायाकल्पित प्रतिबिम्बरूप गोपियाँ ही शय्या आदि के विषय में सङ्गत हो सकती हैं, किन्तु श्रीकृष्ण की नित्यप्रेयसी राधा आदिकों को परशय्या का स्पर्श नहीं हो सकता । किंच आप दोनों को लक्ष्य करके मैं वेदनापूर्वक किंचित् यह निवेदन करती हूँ कि—स्वरूपसिद्ध वे राधिका आदि कन्याएँ एकमात्र श्रीकृष्ण में अनुरक्त हैं, केवल हम जैसों की सान्त्वना से आजतक धैर्य से संयुक्त हैं, किन्तु अब तो त्यागने मात्र से प्राणरहित गात्रवाली हो जायँगी । उनके उस प्रकार के भाव को केवल मैं ही जानती हूँ, सो बात नहीं है। किन्तु व्रजकी सारी जनता जानती है। ओर उसको श्रीकृष्ण के मथुरा जाने से पहले भी जनता कुछ कुछ जानती थी । विशेषतापूर्वक तो श्रीकृष्ण के मथुरा प्रस्थान करनेपर उनकी जो अनवस्थामयी दशा हुई उसमें ही जान पाई । कारण—श्रीशुकदेवादि मुनिजन भी इसका वर्णन करेंगे—॥२६४॥

उसमें मथुरा जाने से पहले की अवस्था, यथा—"हाय ! स्थावरों की सी दशा को प्राप्त हुई हम मूर्च्छा के कारण अपनी चुटिया को एवं वस्त्रों को भी नहीं जान पाती हैं" इत्यादि से। उसके बाद मथुरा प्रस्थान के समय की अवस्था, यथा—अरी सखियो ! हम सब श्रीकृष्ण के निकट जाकर उनको मथुरा जाने से रोक दें। इतनेपर भी हमारे कुल के वृद्ध बान्धवगण हमारा क्या करेंगे ? इतना कहकर लज्जा त्यागकर हे गोविन्द ! हे दामोदर ! हे माधव ! इस प्रकार पुकारती हुई सुन्दरस्वर से रोने लगीं,

उद्धवे त्यक्तलौकिकाः' इत्यादिना; (भा० १०।४७।१०) 'गतह्रियः' इत्यादिना; (भा० १०।६५।११) 'मातरं पितरं भ्रातृन् पतीन् पुत्रान् स्वसृरपि । यदर्थे जहिम दाशार्ह ! दुस्त्यजान् स्वजनान् प्रभो ! ॥' इत्यादिना; (भा० १०।४७।६१) 'या दुस्त्यजं स्वजन-मार्यापथं च हित्वा' इत्यादिना च ॥२६५॥

'तत्र 'पतीन् पुत्रान्' इति यदुक्तम्, तत् खलु गौणीमेव वृत्तिमनुक्रम्य, न तु मुख्यामिति भवत्प्रश्नानुक्रमेण प्रख्यास्यामि । तत्र यद्यन्यथा मन्यध्वे, तर्ह्येवमाचक्ष्महे,—नरकादानीत-गुरुकुमारतया जितधर्मराजधामा राजदघजिन्नामा सोऽयमेतदनुरक्तजनोऽप्यधर्मस्य कलयापि स्प्रष्टुं द्रष्टुं च न शक्यत एव, किन्तु लज्जामात्रं तस्य तस्य च मर्यादापर्यापकमिति वस्तुतस्तु न केवलं रागत एव तास्तादृशीं गतिमागताः, किन्त्वनादिसिद्धस्वभावतया तद्वधूभावतश्चेति मन्त्र-द्रष्टारोऽपि निष्टङ्कयन्ति । तदेतद् बलरामोद्धवौ च सुष्ठु जानीत इति तावपि प्रष्टव्यौ, अन्यथा तासु तत्सन्देशहरता तयोर्न देशरूपतामासीदेत् ॥२६६॥

'पुनस्तौ वक्ष्यतः,—वत्सः किमिदमनुसन्दधाति ? सा वक्ष्यति,—स च पूर्वं किञ्चिदनु-संहितवानासीत् । उत्तरं तु सम्यग्विदन्नेवास्ते, किन्तु सम्प्रति लज्जया नावधानं सज्जयति ।

इत्यादि । और श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने के बाद की अवस्था, यथा—श्रीकृष्ण के दूत उद्धवजी के व्रज में आते ही उन गोपियों ने सारे लौकिककार्य त्याग दिये, इत्यादि । वे लज्जारहित हो गईं, इत्यादि । हे दाशार्ह ! हे प्रभो ! जिनके निमित्त माता, पिता, भ्राता, पति, पुत्र, बहिन, एवं दुस्त्यज स्वजनों को भी त्याग दिया, इत्यादि । और जो दुस्त्यज स्वजनों को एवं सज्जनों के मर्यादामय मार्ग को त्यागकर मुकुन्द के मार्ग का सेवन करने लगीं, इत्यादि ॥२६५॥

यदि कहो कि, उन गोपियों का दूसरे की शय्या का संसर्ग नहीं, तो पति एवं पुत्र कहाँ से आये ? तहाँ कहती हूँ कि, पूर्वोक्त श्लोक में पति एवं पुत्रादिकों का जो कथन है, वह निश्चय ही गौणी (अप्रधान) वृत्ति का आश्रय लेकर है, किन्तु मुख्य वृत्ति का आश्रय लेकर नहीं है । इस बात की भी मैं तुम्हारे प्रश्ना-नुसार व्याख्या करूँगी । और उन राधिका आदि गोपकन्याओं की यदि तुम पति पुत्रादि की अन्यथा व्यवस्था मानते हो, तब तो हम अभी स्पष्ट कहेंगी कि, नरक से गुरुपुत्र को लाने के कारण, जो श्रीकृष्ण धर्मराज यमके तेजको जीतनेवाले हैं, एवं जिनका 'अघजित्' नाम स्पष्ट ही विराजमान है, वे ही ये श्रीकृष्ण ऐसे निरञ्जन हैं । अतः इन श्रीकृष्ण में अनुराग करनेवाली राधिका आदि गोपकन्यारूप जन भी अधर्म के लेश के द्वारा भी छुआ एवं देखा नहीं जा सकता । किन्तु श्रीकृष्ण एवं श्रीकृष्णानुरक्त गोपीजन की लज्जामात्र ही मर्यादाकी साधक है । वास्तविक तो वे राधादि गोपियाँ केवल अनुरागसे ही उस प्रकारकी दशा को प्राप्त हुई हों, सो बात नहीं है, किन्तु अनादि सिद्धस्वभाव से और श्रीकृष्ण के वधूभाव से ही पूर्वोक्त दशा पर पहुँची हैं । इस बात को मन्त्रद्रष्टा श्रीगौतम आदि ऋषि भी, 'गौतमीय' तन्त्रादि अपने ग्रन्थों में उल्लिखित करते हैं । इस विषय को श्रीबलराम एवं उद्धव ये दोनों ही अच्छी प्रकार जानते हैं । अतः उन दोनों को भी पूछ लो । अन्यथा उन दोनों का राधिका आदि गोपियों के निमित्त श्रीकृष्ण का दूतभाव सामञ्जस्य को नहीं प्राप्त होता, अर्थात् न्यायसंगत न होता । अतः वे राधादि गोपियाँ विशुद्ध कन्या ही हैं ॥२६६॥

वे दोनों श्रीनन्द यशोदा पुनः कहेंगे कि—हमारे लाला इन गोपियों के भाव का अनुसन्धान करते हैं क्या ? पौर्णमासी कहेगी कि—वह तुम्हारा लाला पहले तो थोड़ा ही अनुसन्धान करता था, पीछे तो

तौ वक्ष्यतः,—तासां तदर्थप्राणजिहासां किमसौ जानाति ? सा वक्ष्यति,—उक्तमेव समग्विदन्नास्त इति ॥२६७॥

'यतः पूर्वमप्युद्धवे तथा समुद्बुद्धं कृतवान्, यथा च तद्वचनं सत्यवचसश्च गास्यन्ति, (भा० १०।४६।३-६)—

'गच्छोद्धव ! व्रजं सौम्य ! पित्रोर्नौ प्रीतिमावह । गोपीनां मद्वियोगाधिं मत्सन्देशैर्विमोचय ॥
ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः । मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः ॥
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम् ॥
मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः । स्मरन्त्योऽङ्ग ! विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः ॥
धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चन । प्रत्यागमनसन्देशैर्बल्लव्यो मे मदात्मिकाः ॥' इति॥
॥२६८॥

'अत्र 'मत्सन्देशैः' इति, (भा० १०।४७।३६) 'मय्यावेश्य मनः कृष्णे विमुक्ताशेषवृत्ति यत् । अनुस्मरन्त्यो मां नित्यमचिरान्मामुपैष्यथ ॥' इति पर्यवसानैरित्यर्थः । 'मामेव दयितम्' इति, 'मे बल्लव्यः' इत्यत्र तु विशेषोऽप्यस्ति, तस्मात्तदेकव्रतजीवनव्रतानां तद्भार्याणां नान्या गतिर्न्याय्या ॥'२६९॥

अच्छी प्रकार जानता ही है । किन्तु इस समय लज्जा के कारण अवधान नहीं करता है । वे दोनों कहेंगे कि—हमारा लाला कृष्ण उन राधिका आदि गोपियों की उसी के निमित्त प्राण त्यागने की इच्छा को जानता है क्या ? वह कहेगी कि—मैंने पहले ही कह दिया है कि, अच्छी प्रकार जानता है ॥२६७॥

कारण—व्रज में आने से पहले भी उद्धव के प्रति उस प्रकार भलीभाँति जना चुका है कि, जिस प्रकार सत्य वचनवाले श्रीकृष्ण के उस वचन को मुनिजन भी गायन करेंगे । यथा—हे सौम्य ! उद्धव ! तुम व्रज में जाओ, और हमारे मातापिता के हर्ष को उत्पन्न करो । एवं मेरे सन्देशों के द्वारा गोपियों की मेरे वियोग से हुई मानसिक व्यथा को दूर करो । उन गोपियों का मन मुझ में ही लगा हुआ है, मैं ही उनका प्राण हूँ, उन्होंने मेरे लिए देहसम्बन्धी सभी खानपान त्याग दिये हैं, एवं वे मनके द्वारा मुझको ही अतिशय प्रियतम पति और आत्मा जान चुकी हैं, पा चुकी हैं । जो व्यक्ति मेरे निमित्त लौकिकधर्मों को त्याग चुके हैं, मैं उनका भरणपोषण करता हूँ । और हे प्यारे उद्धव ! प्रियतमों के भी प्रियतम मेरे दूर होते ही, वे व्रजाङ्गनाएँ मेरा स्मरण करती हुई, विरह की उत्कण्ठा से विह्वल होकर, विमुग्ध हो रही हैं । और मेरे में मन लगानेवाली मत्स्वरूपा वे गोपियाँ, मेरे लौटने के सन्देशों के कारण ही, प्रायः अत्यन्त कष्ट से किसी प्रकार प्राण धारण कर रही हैं ॥२६८॥

यहाँपर "मेरे सन्देशों के कारण" इस शब्द के अर्थ का पर्यवसान यह है कि—हे गोपियो ! सांसारिक सभी वृत्तियों से विमुक्त हुआ जो तुम्हारा मन है, उसको मुझ कृष्ण में ही लगाकर, मुझको ही नित्य स्मरण करती हुई, तुम सब शीघ्र ही मुझ को प्राप्त कर लोगी । और "मुझ प्रियतम को" एवं "मेरी गोपियाँ" इस बात में तो बहुत विशेषता है । इसलिए एकमात्र श्रीकृष्ण में अनुराग करनारूप व्रत ही जिनका जीवन व्रत है, ऐसी उन श्रीकृष्णभार्याओं की अन्य गति नीतियुक्त नहीं है ॥२६९॥

"कृष्ण उवाच,—'ततस्ततः ?' ऋषिरुवाच,—'ततस्तौ भावयिष्यतः,—सत्यमस्माक प्रकटतरेऽपि लोकधर्मघटनानर्हप्रतीकारेऽपि तासां विघटनदुःखे यदद्यापि स्नुषाकरणस्पृहा नापयाति, प्रत्युत सातत्यत एव तासु स्नुषाभानं विभाति। धर्मान्यथाभावे तु नास्माकं भावे तदुदयेत्' इति ॥२७०॥

'अथ तौ स्पष्टं वक्ष्यतः,—रहस्यमिदं लोकाः कथं मंस्यन्ते ? सा वक्ष्यति,—मायायाः स्वभावव्याप्तिरियमव्यभिचारितया लक्ष्यते, यदवश्यमायत्यां विदितरहस्यतामायातीति। तदपि प्राप्तकालतां कलयति स्म ॥२७१॥

'यतः सर्वेषामपि सत्सङ्कल्पानामुपरि प्रभवतोर्भवतोर्निगूढा या तदर्थमुत्कण्ठा, सा ह्यधुना परां कोटिमारूढा झटिति रूढकार्या भवेदेव। तौ वक्ष्यतः,—स्वीयामनन्यसम्बन्धितां ताः कथं विदन्ति ? ॥२७२॥

'सा वक्ष्यति,—पूर्वं 'स वो हि स्वामी भवति' इति दुर्वाससो वचनेनापि सम्यङ्ना-विदुः, किन्तु पश्चाद्विविदुः ॥२७३॥

'तौ वक्ष्यतः,—कथमिव ? 'सा वक्ष्यति,—उद्धवेन श्रीकृष्णाभिप्रायमनुव्यक्तीकरणात्। अत एवोक्तम्, (भा० १०।४७।२१)—'अपि बत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनाऽऽस्ते' इति। 'तौ वक्ष्यतः,—तासां श्वशुरम्मन्यादीनां येऽनुगतास्ते प्रायेणानुतापं प्राप्स्यन्ति ॥२७४॥

श्रीकृष्ण—उसके बाद क्या होगा ? ऋषि—वे दोनों नन्द यशोदा तो अपने मन में विचारेंगे कि—लौकिकधर्म की योजना द्वारा जिसका प्रतीकार नहीं हो सकता, राधिका आदिकों के उस विरहदुःख के सत्य ही प्रगट होनेपर, आज भी उनके ऊपर से हमारी उनको पुत्रवधू बनाने की लालसा दूर नहीं हो रही है। प्रत्युत (बल्कि) निरन्तर ही उनके ऊपर पुत्रवधू की प्रतीति प्रकाश पारही है। और दाम्पत्यभाव से रहित केवल अनुराग के भाव में तो हमारे वात्सल्यभाव में, वह पुत्रवधूभान उदित (प्रगट) नहीं हो सकता ॥२७०॥

तदनन्तर स्पष्ट कहेंगे कि—मायाकल्पित इस विवाह आदि के रहस्य को साधारण लोग कैसे मानेंगे ? तब पौर्णमासी कहेगी कि—माया की स्वाभाविक आवरणशक्ति नित्य ही दिखाई दे रही है, क्योंकि उत्तरकाल में, अर्थात् पीछे अवश्य ही जिसका रहस्य विदित हो जाता है, और वह जाना हुआ रहस्य भी समय की अपेक्षा करता है ॥२७१॥

कारण—सुन्दर सङ्कल्प (विचार) करनेवाले सभी जनों के ऊपर प्रभाव रखनेवाले, आप दोनों दम्पतियों के हृदय में, श्रीकृष्ण के साथ उन गोपियों का विवाह करने के लिए जो गुप्त उत्कण्ठा है, वह इस समय पराकाष्ठा को प्राप्त होकर, शीघ्र ही कार्यरूप में परिणत हो ही जायगी। वे दोनों कहेंगे कि—वे राधा आदि गोपियाँ श्रीकृष्ण के साथ अपने अनन्यसम्बन्ध के भाव को किस प्रकार जानती हैं ? ॥२७२॥

पौर्णमासी कहेगी कि—पहले कन्यावस्था में तो "श्रीकृष्ण तुम्हारे स्वामी हो जायँगे" दुर्वासा ऋषि के इस प्रकार के वचन से भी अच्छी तरह नहीं जान पाईं। किन्तु मथुरागमन के पश्चात् जान गई हैं ॥२७३॥

वे दोनों कहेंगे—किस प्रकार ? पौर्णमासी कहेगी—उद्धव के द्वारा श्रीकृष्ण का अभिप्राय प्रगट करने के पश्चात् जान गईं। अतएव श्रीराधिका ने कहा कि—हे उद्धवजी ! हमारे प्रियतम इस समय मथुरा

'अथ सा तु परुषमिव वक्ष्यति,—तत् किमासां परमसाध्वीनां माध्वीकवन्मधुर-स्निग्धतावलितानां दुष्कर-तरणदुःखभास्करपुष्कलतापशुष्कता सोढव्या । तथा सर्वधुरीणता-प्रवीणस्य निजकुलधुरन्धरस्य गोवर्धनधरस्य दुर्धरलज्जाभारसज्जनमनुमोदनीयम् । वस्तुतस्तु तेषामपि न सुखभङ्गप्रसङ्गः; (भा० १०।१४।३५)—'यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशया-स्त्वत्कृते' इति श्रीब्रह्मवचनात्; (भा० १०।१६।१०)—'कृष्णेऽर्पितात्मसुहृदर्थकलत्रकामाः' इति श्रीशुकवचनादपि; तथा च रचनमस्माभिराचरणीयम्, यथा सर्वसुखसचनमेव स्यात् ।।२७५

'तदेतन्निरूप्य सा पुनः सहासं वक्ष्यति,—साम्प्रतं प्रततं कुतुकान्तरं भवद्भ्यां किल नावकलितम् । यत् खलु युष्मन्नन्दन आनन्दद्यूते तासां पतिम्मन्यांस्तत्पर्यन्तं सर्वं जितवान्, लज्जामेव सज्जन्न तद्गृहमानीतवानिति ।।२७६।।

'तदिदं गुप्तमपि कृतमादिवराहनामा भगवानपि स्वपुराणे साक्षितया लक्षयतीति सर्वथात्र नान्यथा मन्तव्यम् । यथा—

'द्यूतक्रीडा भगवता कृता गोपजनैः सह । पणावहासरूपेण जिता गोप्यो धनानि च ।
गोपैरानीय तत्रैव कृष्णाय विनिवेदिताः ।।इति।।२७७।।

में ही हैं । पुनः वे दोनों कहेंगे—अपने को उन गोपियों के ससुर माननेवाले व्यक्तियों के जो अनुगत व्यक्ति हैं, वे प्रायः पश्चात्ताप करेंगे कि यह क्या हुआ ? ।।२७४।।

अनन्तर वह पौर्णमासी तो मानो कठोरतापूर्वक कहेगी—तो क्या परमपतिव्रता एवं मधु की तरह मधुर स्निग्धता से युक्त उन राधा आदि गोपियों का, दुस्तर दुःखरूप सूर्य के सम्पूर्णताप द्वारा, सूख जाना सहन करने योग्य है ? तथा सबकी अपेक्षा श्रेष्ठता से निपुण, निजकुलधुरन्धर गोवर्धनधारी श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में, दुःख से धारण करने योग्य लज्जा के भार का सम्पर्क अनुमोदन करने योग्य है, और वास्तविक-रूप से विचारो तो अपने को गोपियों के ससुर माननेवालों के जो अनुगत जन हैं, "श्रीकृष्ण के साथ गोपियों का वैवाहिक सम्बन्ध होनेपर" उनके भी सुख की हानि का प्रसङ्ग नहीं बनता । क्योंकि "जिन व्रजजनों के घर, धन, मित्र, प्रियजन, आत्मा, पुत्र, प्राण, एवं समस्त अभिप्राय तुम्हारे लिए, अर्थात् श्रीकृष्ण के लिए हैं" इस प्रकार के श्रीब्रह्माजी के वचन से, एवं "व्रजवासियों ने अपनी आत्मा, सुहृदवर्ग, धन, स्त्री, एवं समस्त कामनाएँ श्रीकृष्ण के ऊपर न्योछावर कर रखी हैं" इसी प्रकार के श्रीशुकदेवमुनि के वचन से व्रजवासीमात्र की हानि का प्रसङ्ग नहीं है । और उस प्रकार की रचना हम कर देंगी कि जिस प्रकार सभी के सुखों का संसर्ग हो जाय ।।२७५।।

इस व्यवस्था का निरूपण करके पौर्णमासी पुनः हास्यपूर्वक कहेगी कि—निश्चय ही आप दोनों ने इस समय चारों ओर फैला हुआ दूसरा कौतुक नहीं सुना है, जोकि तुम्हारे लड़ैतेलाल ने आनन्दमय जूए में, अपने को राधा आदि गोपियों के पति माननेवाले, अभिमन्यु या आयनघोष आदि व्यक्तियों की आत्मापर्यन्त, सारी वस्तुएँ जीत ली हैं । केवल लज्जा प्राप्त करते हुए ही तुम्हारा लाला, उन वस्तुओं को तुम्हारे घर नहीं लाया है ।।२७६।।

अतः गुप्तरूप से किये हुए भी इस आनन्दमय जूए के प्रसङ्ग को आदिवराह नामक भगवान् भी अपने वराहपुराण में साक्षीरूप से दिखा रहे हैं । अतः इस विषय में सर्वथा अन्यथा (कल्पित) न मानो । यथा—भगवान् श्रीकृष्ण ने गोपों के साथ जुआ का खेल किया, एवं प्रत्येक दावपर हँसी हँसी के रूप से गोपों की

'तौ वक्ष्यतः,—तत्पित्रादीनां तन्मित्रादीनां वा को व्यवसायः ? 'सा वक्ष्यति,—तेऽपि मयोपदिष्टं तत्त्वीकृत्य पृष्टकृत्यास्तदिदमुद्दिष्टवन्तः,—

'अहो परस्पर्शसुभीरु यद्वपु,-र्यत् कृष्णसारप्रणयैकशर्म च ।
तासां मृगीणामिव तत्परं प्रति, प्रदित्सवो व्याधमनांसि बिभ्रति ॥२७८॥

'तौ वक्ष्यतः,—राधिकाद्याराधिकानां का वार्ता ? 'सा वक्ष्यति,—मत्पृष्टाभिस्ताभिरप्येवमादिष्टम्,—

यथा सीतादेव्या दशमुखकृतार्तिर्विपदभूद्-
यथा वा रुक्मिण्या विवहनविधिश्चेदिपकृते ।
तथा राधादीनां परगृहगतिर्या बत विपत्
कथं तस्या नित्या स्थितिरभिमता हन्त सुहृदाम् ? ॥२७९॥

'तौ वक्ष्यतः,—अथ राधिकादीनामार्तानां का वार्ता ? ॥२८०॥

'सा वक्ष्यति,—देयमधीनं कार्त्स्न्ये,-नाभिव्याप्त्या च तत्र कृष्णे स्वम् ।
तद्रूपं रचयित्वा, सातिप्रत्ययपदानि ता दधिरे ॥२८१॥

कन्याएँ एवं धन जीत लिये । गोपों ने भी सभी गोपकन्याएँ जुआ खेलने के स्थानपर ही लाकर, श्रीकृष्ण को समर्पण कर दीं ॥२७७॥

पश्चात् वे दोनों कहेंगे कि—उन गोपियों के पिता आदि एवं उनके बन्धु आदिकों का कौन सा व्यवसाय है ? अर्थात् वे क्या करनेपर तुले हैं ? पौर्णमासी कहेगी—वे भी मेरे उपदेश को यथार्थ मानकर, मुझसे ही अपने कर्तव्य को पूछकर, अपना यह उद्देश्य सुना चुके हैं कि—अहो ! जिन मृगियों का जो शरीर मृग से भिन्न के स्पर्श में महान् भयभीत है, एवं कृष्णसार नामक मृगविशेष के प्रेममात्र में ही सुखी है, अतः उन मृगियों के रक्षक, यदि उनको कृष्णसारमृग से दूसरे मृग के लिए देना चाहते हैं, तब तो वे रक्षकरूप दाता, व्याधों के से कठोर मन को धारण कर रहे हैं । इसी प्रकार राधिका आदिकों का जो शरीर श्रीकृष्ण से भिन्न, दूसरे पुरुष के स्पर्श से भयभीत है, एवं एकमात्र श्रीकृष्ण के साररूप प्रेम में सुखी है, अतः उनके शरीर को जो श्रीकृष्ण से भिन्न के लिए देना चाहते हैं, वे भी व्याध के समान क्रूरचित्तों को धारण कर रहे हैं ॥२७८॥

पश्चात् वे दोनों नन्द यशोदा कहेंगे—राधिका आदि की आराधना करनेवाली ललिता आदि सखियों की कौन सी बात है ? पौर्णमासी कहेगी—मेरे द्वारा पूछी हुई उन सखियों ने भी इस प्रकार कहा है कि—श्रीसीताजी के लिए जैसे रावणकृत पीडा ही विपत्ति हो गई थी, एवं रुक्मिणी को जैसे शिशुपाल के लिए विवाहरूप विधि ही विपत्ति बन गई थी, हाय ! ठीक उसी प्रकार राधिका आदिकों के लिए भी जो पराये घर में जाना है, वही विपत्ति संघटित हो गई है । हाय ! उन राधा आदि के सुहृदों को उस विपत्ति की नित्यस्थिति किस प्रकार अभिमत है ? विधाता जाने ॥२७९॥

वे दोनों नन्द यशोदा कहेंगे—अनन्तर कृष्णविरह में पीड़ित राधिका आदि गोपियों की कौन सी बात है, कहिये ? ॥२८०॥

पौर्णमासी कहेगी—जिस प्रकार पाणिनि के "विभाषा साति: कार्त्स्न्ये" इत्यादि सूत्रों के अनुसार साति प्रत्यय समग्ररूप अर्थ में, अभिव्याप्ति अर्थ में, देय अर्थ में, एवं अधीन अर्थ में होता है, उसी प्रकार

'तौ वक्ष्यतः,—ताः किं साक्षादनुयुक्ताः ? 'सा वक्ष्यति—अथ किम्, यतस्तासां मर्म-प्रकटनकर्मठतया मया पृष्टम्,—भो ! विपश्चितः ! काश्चिदेवं वदन्ति । ताः खलु कृष्णे प्रेममात्राखर्वसर्वस्वाः, प्रेमा च बलवद्विरोधिसद्भावमिलद्भयप्रयासप्रच्छादनपरिच्छदतया यथा वर्धते, न तथाऽन्यथा । 'तर्हि कथं तासामप्यन्यासामिव पतितया तत्सम्पत्तिकामना निकाम-मन्तरनुवर्तत इति ? ॥२८२॥

'तदेतदाकर्ण्य पाटलपटलसवर्णवर्णिन्यस्ता वरवर्णिन्यस्तदिदमवर्णयन्त ॥२८३॥

'हन्त ! तासामेव सविरोधस्तदवरोधः सम्भवताद्घृतीयमाना द्वितीयपतिभावना च, न पुनरन्यस्याः कस्याश्चिदपि । या खलु तदवरोधविरोधवाञ्छा, सा वा कथं प्रेमप्रथनमयी स्यादिति न बुध्यामहे । 'अस्माकम् (भा० १।११।३३)—'यद्यप्यसौ पार्श्वगतो रहोगत,-स्तथापि तस्यांघ्रियुगं नवं नवम्' इत्येव बोधविषयो भवति ॥२८४॥

'किन्तु— बुधिताः पैतृकजनता बुद्धाः श्वशुराभिमानिनो लोकाः ।
मानिताः सर्वेऽप्यस्माभिर्न मतो धर्मस्तु केनापि ॥२८५॥

राधिका आदि गोपियों ने श्रीकृष्ण के निमित्त अपनी आत्मा को तद्रूप बनाकर, अर्थात् अपने को श्रीकृष्ण के सर्वतोभाव से आत्मसात् करके, जल में लवण की तरह उन्हीं में व्याप्त होकर के, एवं आत्मदान करके, तथा अपने को उन्हीं के अधीन करके, सातिप्रत्यय के पदों को, अर्थात् चिह्नों को धारण कर लिया है ॥२८१॥

वे दोनों पुनः कहेंगे—वे राधिका आदि गोपियाँ आपने साक्षात् पूछी हैं क्या ? पौर्णमासी कहेगी—और क्या ? कारण उनके मर्म को प्रगट करने की निपुणतापूर्वक मैंने उनसे पूछा कि—हे सुविज्ञ गोपियो ! तुम्हारे विपक्षवाली कुछ नारियाँ इस प्रकार कहती हैं कि—वे राधा आदि गोपियाँ श्रीकृष्ण के ऊपर प्रेम के लेशमात्र से सर्वस्व वस्तु छोटी, अर्थात् तुच्छ करनेवाली हैं, और प्रेम भी प्रबल विरोधी की स्थिति से मिलते हुए भय, प्रयास, परदा, आवरण आदि उपकरणों के कारण जैसे बढ़ता है, उस प्रकार उन भय आदि के अभाव में नहीं बढ़ता। तब उन राधा आदिकों के अन्तःकरण में अन्य स्त्रियों की तरह, पतिरूप से श्रीकृष्ण की प्रेमसम्पत्ति की कामना किस प्रकार सम्पूर्णरूप से उपस्थित है ? ॥२८२॥

यह वचन सुनकर गुलाब के पुष्पसमूह के समान वर्णवाली वे उत्तम स्त्रियाँ यह वर्णन करने लगीं— ॥२८३॥

हाय ! उन हमारी विपक्षवाली नारियों के लिए ही श्रीकृष्ण की प्राप्ति विरोधयुक्त हो जाय, और घृणास्पद द्वितीय पति की भावना हो जाय । किन्तु दूसरी किसी की भी ये दशा न हो । और विरोध करके श्रीकृष्ण के पाने की जो इच्छा है, वह किस प्रकार प्रेम के विस्तारमयी हो सकेगी ? यह बात हम नहीं समझतीं । क्योंकि हमको तो "यद्यपि श्रीकृष्ण हमारे पास में हैं, एवं एकान्त में भी हैं, तथापि उनके चरणयुगल प्रतिक्षण नये नये ही हैं" यही बोध का विषय हो रहा है, अर्थात् हम यही जानती हैं ॥२८४॥

किन्तु हमने पितासम्बन्धी जनता समझा दी है, ससुराभिमानी लोग भी समझा दिये हैं, एवं सभी का सम्मान भी कर दिया है, किन्तु इनमें से किसी ने भी हमारे वास्तविक धर्म को नही समझा है ॥२८५॥

'यदस्माकं बाल्यादेव तस्मिन् निजरमणताभावनां दूरीकर्तुमाग्रहमुरीकुर्वन्ति, तस्मादस्मान्मा स्नेहपेषं पिण्ढि, किन्तु स्वाभीष्टमेव विशिण्ढि ॥२८६॥

'अथ तौ वक्ष्यतः,—भवत्या किमुद्भावितम् ? 'सा वक्ष्यति,—ततो मया हसित्वा श्वसित्वा च ताभ्यः प्रत्याशामात्रं प्रत्यासादितमस्ति। यदि भवतोरिच्छा समृच्छते, तास्तु दैवतस्तावन्निजप्राणवल्लभस्य वल्लभत्वेनालाभाल्लब्धमहादुःखास्तत्र च स्वस्यान्यहस्तपतिततया जुगुप्सितम्मन्यता-शुष्कास्तत्र च प्रियाप्रिय-विप्रकर्ष-सन्निकर्षतः प्राप्तमनोधर्षास्तत्र च निरन्तरं शङ्कमानैः पतिम्मन्यादिभिर्मङ्क्षु मङ्क्षुकृतनिवारणभर्त्सनादिनिकर्षास्ततस्तत एव च (भा० १०।२९।१०) 'दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रताप-'इत्याद्युक्तताद्दगवस्थाभ्योऽपि महानुरागतः पीडनाद्बहुलदहनाकारकारागारवसतिम्मन्यतया निगीर्णसर्वक्षणं क्षणमपि कल्पं मन्वानाः सम्प्रति तदीय-महाविरहवहसमयमतीत्य चात्मानं प्रति तदुपेक्ष्यतामप्युत्प्रेक्ष्य लज्जामात्रपर्यवसानमासज्य च धिक्कृतम्मन्या दशमीमपि दशां तन्वानाः। किं बहुना, बहिरन्तःसुकुमारतायामपि कौमारत एव व्याधानुविद्धस्निग्धकाननप्रत्यासत्त्यपरित्यागिमृगीवत् प्रखरदरापारपरपारवश्य-

---

कारण—हमारी बाल्यावस्था से ही श्रीकृष्ण में निजपतिस्वरूप की जो भावना है, उसको दूर करने के लिए आग्रह को अङ्गीकार कर रहे हैं। इसलिए हे भगवति ! पौर्णमासि ! तुम हम सब को स्नेह के द्वारा मत पीसो। किन्तु अपने अभीष्ट को ही विशिष्ट कर दो ॥२८६॥

तदनन्तर नन्द यशोदा दोनों कहेंगे—आपने उनकी बात का क्या समर्थन किया ? पौर्णमासी कहेगी—उसके बाद मैंने हँसकर एवं श्वास लेकर उनके लिए प्रत्याशामात्र प्राप्त करा दी है। यदि आप दोनों की इच्छा हो तब तो शुभ हो। वे राधा आदि गोपकन्याएँ तो दैवयोग से अपने प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण के पतिरूप से न मिलने से, महान् दुःख को प्राप्त होकर, उसमें भी अपने को दूसरे के हाथ में पड़जाने के कारण, अपने को घृणित मानने के भाव से शुष्क होकर, उसमें भी प्रिय के वियोग एवं अप्रिय के संयोग से मन में ग्लानि पाकर, और उसमें भी निरन्तर शंका करनेवाले एवं अपने को पति माननेवाले, इत्यादि व्यक्तियों के द्वारा शीघ्रातिशीघ्र किये गये अतिशय निवारण, फटकारना आदि के कष्ट को पाकर, उसके बाद पूर्वोक्त कारण से ही "प्रियतम के असह्य विरहरूप प्रचण्ड ताप से तपी हुई, घर में मुँदी हुई जो गोपी रासलीला में नहीं पहुँच पाई, उनकी जैसे दुरवस्था हुई थी" उस प्रकार की अवस्थावालियों से भी महान् अनुराग से पीडित होने के कारण, और निवासस्थान को भी भारी अग्नि के से आकारवाले कारागार मानने के कारण, समस्त उत्सव को निगलनेवाले एक क्षण को भी एक कल्प मानती हुई, और इस समय तो श्रीकृष्ण के महाविरह को प्राप्त करानेवाले समय को बिताकर, एवं अपने प्रति श्रीकृष्ण की उदासीनता की सम्भावना कर, अन्त में लज्जामात्र को पाकर, अपने को धिक्कृत मानकर, मृत्युरूप दशमीदशा का विस्तार करती हुई, अधिक कहने से क्या प्रयोजन ? देखो, बाहर एवं भीतर दोनों प्रकार से सुकुमारता होनेपर भी, कुमारावस्था से ही व्याधों से व्याप्त, स्निग्ध वन की निकटता को न त्यागनेवाली हरिणी की तरह, प्रचण्ड भय से अपार उत्कृष्ट पराधीनता के द्वारा प्राप्त हुई, विचित्र दुरवस्था से व्याप्त होने के कारण, देखने एवं सुननेवाले सभी जनों के हृदय को कम्पित करती हुई, वे राधा आदि गोपियाँ किसी के द्वारा उपेक्षित नहीं की जासकतीं। अर्थात् उनकी इस दशा को देखने सुननेवाला कोई साधारण जन भी उपेक्षा नहीं कर सकता। हाँ, कोई ऐसा ही निर्दयी उपेक्षा कर सकता है कि, जिसको

लब्धविचित्रदुर्गतिसंप्लुततया पश्यतां शृण्वतामपि हृदयं धुन्वाना रसोऽयमिति मन्यमानेन निष्करुणकौतुकेन केनचिदेवोपेक्षितुं शक्यन्ते, न पुनरन्येन ॥२८७॥

'तौ सास्रं वक्ष्यतः,—सम्प्रति ताः कां गतिं मतिश्चासादयन्ति ? ॥२८८॥

'सा वक्ष्यति,— कुर्वन्ति मौनं क्रन्दं वा शून्यं पश्यन्ति वर्त्म वा।
कृष्णं वाञ्छन्ति मृत्युं वा तासामेवंविधा गतिः ॥२८९॥

'पुनस्तौ सास्रं वक्ष्यतः,—सम्प्रति ताः प्रति वत्सस्य का विधित्सा ? ॥२९०॥

'सा वक्ष्यति,—तदेतत् पश्चादपि निश्चीयताम् । यत् खलु प्रेयसां प्रेमा क्षेमं तद्भावनामयप्रेमानुरूपमेव स्वस्थेमानं लभते, न तु स्वाग्रहग्रहिलतामिति ॥२९१॥

'तौ वक्ष्यतः,—मन्यामहे तथाप्यस्मत्तः सङ्कोचं रोचयिष्यति ॥२९२॥

'सा वक्ष्यति,—भवतां हृदि सदा विद्योतमानः सोऽयं तदपि वेत्ति, तस्मान्नितान्तं नान्यथा करिष्यति । किं बहुना, भवदाश्रवमनु सर्वेषामेव संश्रवः प्रतिभाति, किमुत तस्य ? ॥२९३॥

'तौ वक्ष्यतः,—तर्हि गर्गनिषेधवेधस्य का चिकित्सा ? ॥२९४॥

निर्दयता से ही कौतुक है, एवं जो "यह निर्दयीपन भी एक प्रकार का रस है" ऐसा माननेवाला है । अतः इससे भिन्न कोई भी दयालु व्यक्ति उनकी उपेक्षा नहीं कर सकता । अतः मैं कहती हूँ कि तुम दोनों को भी उनकी उपेक्षा करना उचित नहीं है ॥२८७॥

नन्द एवं यशोदा दोनों ही आँसु बहाते हुए कहेंगे कि—अब वे गोपियाँ कौन सी दशा को एवं बुद्धि को प्राप्त होरही हैं ? पौर्णमासी कहेगी—वे मौन को धारण करती हैं या रुदन करती हैं, कभी श्रीकृष्ण के बिना संसार को सूना देखती हैं, अथवा कभी श्रीकृष्ण के आने के मार्ग को निहारती रहती हैं । कभी श्रीकृष्ण को चाहती हैं, तो कभी उनकी प्राप्ति के अभाव में मृत्यु को चाहती हैं, उनकी इस प्रकार की दशा है ॥२८८-२८९॥

वे दोनों पुनः आँसू बहाते हुए कहेंगे—इस समय उनके प्रति हमारे लाला श्रीकृष्ण की कौन से विधान की इच्छा है ? ॥२९०॥

पौर्णमासी कहेगी—इस बात का निश्चय पीछे कर लेना । क्योंकि अतिशय प्रियजनों का जो प्रेम है, वह तो उस प्रियकी भावनामय प्रेम के अनुरूप कुशल को ही, अपनी स्थिर वस्तु कहकर लाभ करता है, किन्तु अपने आग्रह के सहित ग्राहकता को नहीं । अर्थात् अपने हठ को ग्रहण नहीं करता ॥२९१॥

वे दोनों कहेंगे—हम जानते हैं एवं मानते हैं, तथापि हम दोनों से संकोच को प्रगट करेगा ॥२९२॥

पौर्णमासी कहेगी—तुम्हारे हृदय में सदैव प्रकाशमान वह श्रीकृष्ण, उस अभिलषित विषय को भी जानता है, इसलिए वह अभीष्ट विषय को अत्यन्त अन्यथा नहीं करेगा । अधिक क्या कहूँ ? देखो, आपके अङ्गीकार के अनुसार सभी का अङ्गीकार प्रतीत हो रहा है, फिर श्रीकृष्ण के अङ्गीकार में तो कहना ही क्या है ? ॥२९३॥

वे दोनों कहेंगे—तब "मेरी सम्मति के बिना श्रीकृष्ण का विवाह नहीं करना" गर्गाचार्य के इस प्रकार के निषेधरूप रोग की क्या चिकित्सा है ? ॥२९४॥

'सा सहासं वक्ष्यति,—स खलु लीलानैयत्यमेव तत्रत्यदोषतयाध्यस्तवान् । स्वयजमानहितसमीहितसंहिततया, न तु परम-शुभ-निवेशवेशरूपाणामासां क्लेशलेश-प्रवेशदा सदेशता सम्भवति ॥२९५॥

'तौ वक्ष्यतः,—सम्प्रत्यस्माभिः किमिव सोपानमुपेयम् ? ॥२९६॥

'सा वक्ष्यति,—सोपानं मयाचेयम्, भवद्भिस्तु सर्व एव व्रजजना भोजनाय प्रणयेन निमन्त्र्य निमन्त्र्यन्ताम् । तर्ह्यन्तःपटीक्षेपान्नटीनामाकार इव तत् प्रकटीभविष्यति ॥२९७॥

'तौ वक्ष्यतः,—यथाज्ञापयन्ति विज्ञानामाचार्यवर्याः ॥'२९८॥

"कृष्ण उवाच,—'ततस्ततः ?' "ऋषिरुवाच,—'ततः सा प्रत्यक्षत एव तावभि बहुलमभिवदन्तो गृहाय प्रहापयिष्यति ॥"२९९॥

अथ कथकस्य मनःकथा—"ततश्च पूर्णिमा मनसि विविवेच,—'श्रीकृष्णलीलायामनादिसिद्धं श्रीमद्भागवतमेव मुख्यं प्रमाणम् ।' 'तत्र या खलु रासयोगे (भा० १०।२९।१) 'योगमायामुपाश्रितः' इत्यनेन नित्यव्यक्तिस्वरूपशक्तिवृत्तिविशेषका या योगमाया तन्निर्वाहकतया बादरायणिना समुदीरिता, सा पुनरहमेव । तत्र तेन रासं प्रकाशं परीक्षित्-परिषदि वर्णयित्वा तत्र प्राप्तमवर्णत्रितयं निरस्य रस्यतया समाहितम् । तथा सम्प्रति व्रजेऽपि

पौर्णमासी हास्यपूर्वक कहेगी—वे गर्गाचार्य तो अपने यजमान वसुदेवजी के हित की चेष्टा से युक्त होने के कारण, मथुरा में होनेवाले उपनयन आदि क्षत्रियोचित संस्कार में दोष आ जाने के भाव से, प्रगट लीला के नियम को ही स्थापित कर गये हैं । किन्तु परममङ्गलमय निवेश, वेश, एवं रूपवाली उन राधा आदियों के सम्बन्ध में क्लेश के लेशमात्र प्रवेश को देनेवाली, निषेधरूप रोग की निकटता नहीं हो सकती ॥२९५॥

वे दोनों कहेंगे—इस समय हमको कौन से सोपान (सीढ़ी) अर्थात् उपाय का अवलम्बन करना चाहिये ? ॥२९६॥

पौर्णमासी कहेगी—उपाय को जुटाना तो मेरा काम है, आप तो केवल सभी व्रजवासीजनों को भोजन के लिए प्रेमपूर्वक निमन्त्रण देकर, उनके साथ विचार करो । उसी समय भीतर का परदा हटाते ही, नटिनियों का सा आकार प्रगट हो जायगा ॥२९७॥

वे दोनों कहेंगे—विज्ञानियों की आचार्यवर्य आप जैसी आज्ञा देंगी, हमभी उसी प्रकार करेंगे ॥२९८॥

श्रीकृष्ण—ऋषिजी ! उसके बाद क्या होगा ? ऋषि—उसके बाद तो वह पौर्णमासी उन दोनों के सम्मुख प्रत्यक्ष ही अनेक बातें करती हुई, उन दोनों को घर के लिए ही भिजवा देगी ॥२९९॥

अनन्तर कथावाचक की मानसिक कथा, यथा—उसके बाद पौर्णमासी अपने मन में विचार करने लगी कि—श्रीकृष्ण की लीला में अनादिकाल से सिद्ध श्रीमद्भागवत ही मुख्य प्रमाण है। उसके बीच में रासलीला के सम्बन्ध में पहले ही "श्रीकृष्ण ने योगमाया का आश्रय लेकर क्रीडा करने का विचार किया" इस वचन के द्वारा नित्य प्रकाशित स्वरूपशक्ति की वृत्तिविशेषस्वरूप जो योगमाया श्रीशुकदेवजी ने रासलीला के निर्वाहकरूप से कही है, वह तो मैं ही हूँ । और उसी में श्रीशुकदेवजी ने श्रीपरीक्षित् की सभा में स्पष्टरूप से रासलीला का वर्णन कर, एवं उस लीला में प्राप्त हुए तीन आक्षेपों का निराकरण करके

तत्प्रसक्तमिति ज्ञात्वा मयापि समाधेयम् । तत्र (भा० १०।३३।३०) 'तेजीयसां न दोषाय' इतिवदत्रापि यद्यपि 'नरकादानीत' इत्यादिना तल्लेपसम्भावनाऽपयापितैव ॥३००॥

'अथ परदारवारसमाहारकारणानाचारश्च यथा (भा० १०।३३।३६) 'गोपीनां तत्पतीनां च' इत्येनेन यं परिहारमापितस्तथात्रापि ताश्च 'न केवलं रागत एव तादृशीं गतिमागताः' इत्यादिना तासु तदीयनित्याङ्गनाभावव्यङ्गतः स च साङ्गीकृतः ॥३०१॥

'तथापि (भा० १०।३३।३८) 'नासूयन् खलु कृष्णाय' इतिवदसूयाभासवत्तया सम्भाविताास्तत्पतिम्मन्याः समाधातव्याः । तच्च तद्रहस्यं पूर्वं गुप्तमासीदिति मायाद्वारा यथागुप्त समाहितम्, साम्प्रतं तु व्यक्तमभूदिति तथा तद्द्वारा व्यक्तमेव समाधेयम्; येन च सर्वेषामपि सर्वसमाधानमाधेयं भविता, अन्यथा तत्तत्करणं वृथापरं स्यात्' इति ॥३०२॥

अथ स्पष्टमाचष्ट,—"ऋषिरुवाच,—'दिनान्तरे तु सर्वनिमन्त्रणायां तथावृत्तान्ते वर्तिते सर्वाः साधारणमहोदयाः श्रीराधादयश्च तत्रागमिष्यन्ति; किन्तु पूर्वत एव जनसङ्गीतव्रजेश-

रसपूर्वक समाधान कर दिया । उसी प्रकार इस समय व्रज में भी वे आक्षेप आ लगे हैं, यह जानकर मुझे भी उनका समाधान करना चाहिये । उसमें भी "तेजस्वी जनों का कोई भी कार्य दोषजनक नहीं है" इसी तरह इस पूरण में भी २६६ गद्य में यद्यपि "श्रीकृष्ण यमालय से भी गुरुपुत्र को ले आये" इत्यादि के द्वारा आक्षेप के सम्बन्ध की संभावना प्रायः दूर ही कर दी ॥३००॥

उसके बाद श्रीमद्भागवत में जैसे परस्त्रीसमूह को एकत्रित करने का कारणरूप अनाचार "जो श्रीकृष्ण, गोपियों के एवं उनके पतियों के तथा सभी प्राणियों के अन्तकरण में विचरण करते हैं, एवं सभी के अध्यक्ष हैं, वे रासलीला से कैसे दोष भागी होंगे ?" इत्यादि के द्वारा जिस परिहार को प्राप्तकर दिया, उसी प्रकार यहाँपर भी "वे गोपियाँ केवल अनुराग से ही उस प्रकार की दशा को नहीं प्राप्त हुई हैं, किन्तु अनादिसिद्ध स्वाभाविक पतिभाव से हुई हैं" इत्यादि २६६ गद्यस्थ वचन के द्वारा, उन गोपियों में श्रीकृष्ण के नित्यसिद्ध भार्याभाव के व्यङ्ग से वह परिहार साङ्गोपाङ्ग कर दिया है । अर्थात् वे गोपियाँ श्रीकृष्ण की जब नित्यसिद्धभार्या हैं, तब परदाराभिमर्शनरूप दोष कहाँ रहा ? ॥३०१॥

तथापि "अपनी स्त्रियों को अपने ही निकट मानते हुए, व्रजवासियों ने श्रीकृष्ण के लिए कोई दोषारोपण नहीं किया" इस भागवतीय समाधान की तरह, असूया के आभासवालों के भाव से सम्भावित एवं अपने को राधा आदिकों के पति माननेवाले व्यक्ति भी समाधान करने योग्य हैं, और उन गोपियों का नित्य श्रीकृष्णवधूरूप जो रहस्य गुप्त था, वह भी माया के द्वारा गुप्तरूप से समाहित (समाधान) कर दिया। किन्तु इस समय तो वह नित्यकान्तारूप रहस्य प्रगट हो गया है, अतः उसी प्रकार माया द्वारा उसका स्पष्ट ही समाधान करना उचित है । क्योंकि जिस स्पष्ट समाधान के द्वारा, सभी के सर्व प्रकार के आक्षेपों का समाधान अर्पित हो जायगा, अर्थात् गोपियों की मायामूर्तियों के साथ दूसरों का विवाह हुआ, एवं स्वरूप-शक्तिरूप गोपियों का विहार श्रीकृष्ण के नित्य प्रेयसीरूप में हुआ, यह समर्थन हो जायगा । इस प्रकार का सिद्धान्त स्वीकार न करनेपर तो, उन गोपियों का मायाकल्पितत्त्वादि करना निरर्थक ही हो जायगा ॥३०२॥

कथावाचक अपने मानसिक विचार को इस प्रकार स्थिर करके स्पष्ट बोला—श्रीनारदऋषि बोले—देखो, भगवन् ! दूसरे दिन तो सभी के निमन्त्रण के प्रसङ्ग में उस प्रकार के वृत्तान्त का वर्ताव हो जानेपर, सामान्यरूप से जिनके उत्सव का उदय हो गया, वे सभी श्रीराधा आदि गोपियाँ भी नन्दालय में आयेंगी ।

निर्मितानङ्गीकाराणामात्मनां दुःखभङ्गीसङ्गितां मंस्यन्त एव । तव च रूक्षतावीक्षणेन ताः सूक्ष्माङ्गतां गमिष्यन्ति । तत्र साम्प्रतमन्यासां स्वसमानकन्यानामङ्गीकारेण हृत्कमलेऽपि भङ्गितामापत्स्यन्ते ॥३०३॥

'तथा च भावी श्लोकः—

'दावत्रस्ता मृग-दुहितरश्चन्द्रहीनाश्चकोर्यः, स्रस्ता वृक्षान्नवकलतिका नीररिक्ताः शफर्यः ।
ऊर्जप्रान्ताद्बहिरपगता हन्त नव्याब्जनाल्यो, यद्वद्दृष्टा हरिविरहिता राधिकाद्याश्च तद्वत् ॥३०४

'तदेवं तासां कृच्छ्रायमाणानाममिताभ्यमितताद्दृश्वरी श्रीव्रजेश्वरी तु वाष्पपूर्णनयना पौर्णमासीं निर्वर्णयिष्यति । सा तु वदिष्यति,—सर्वे सर्वतोऽप्यन्विच्छन्तु । यथाद्यतन-निमन्त्रणतः कश्चिदपि न पश्चिमतामञ्चति' ॥३०५॥

"श्रीकृष्ण उवाच,—'ततस्ततः ?' "ऋषिरुवाच—ततस्तदाकर्णनमात्रतः सर्वे सर्वतो निर्वर्णनाय सङ्गत्य सत्वरमेव चागत्य यथावत् कथयिष्यन्ति । तेषु काश्चिन्महिलास्तु किञ्चिदप्यप्रस्तुत्य श्रीराधिकादिकाः प्रत्यपूर्वतापूर्वं द्रक्ष्यन्ति । ततः पौर्णमासी वक्ष्यति,— किमिव पश्यथः; किमिव च किञ्चिन्न कथयथ ? ॥३०६॥

किन्तु महोत्सव में आनेपर भी, बहुत पहले से ही, सभी जनों में गाया गया, श्रीव्रजराज के द्वारा निर्माण किया गया अस्वीकार जिनका, ऐसी अपनी आत्माओं को वे गोपियाँ दुःख की मुद्रा से संयुक्त ही मानेंगी। और तुम्हारे रूखेपन को देखकर तो वे अति कृशता को प्राप्त हो जायँगी। और इसी समय अपने समान धन्या आदि अन्य कन्याओं के अङ्गीकार करने से तो, वे अपने हृदयकमल में भी कुटिलता को प्राप्त हो जायँगी ॥३०३॥

उनकी उस समय की दशा का दर्शन करानेवाला भावी श्लोक, यथा—दावानल से भयभीत मृग की बालिकाएँ (बच्चियाँ), चन्द्र से विहीन चकोरियाँ, वृक्ष से गिरी हुई नवीन लताएँ, जल से विहीन मछलियाँ, सर्वतृप्तिकारक जलाशय से बाहर आई हुई नवीनकमल की डण्डियाँ जिस प्रकार दुर्दशायुक्त देखी जाती हैं, हाय ! उसी प्रकार श्रीकृष्ण से विरहित श्रीराधिका आदि गोपियाँ भी महती दयनीय दशा से युक्त देखी गई हैं ॥३०४॥

अतएव इस प्रकार महान् कष्ट का अनुभव करती हुई, उन गोपियों की अपरिमित अभ्यमितता (रुग्णता) को देखनेवाली, श्रीव्रजेश्वरी तो आँसुओं से पूर्ण नेत्रवाली होकर, पौर्णमासी की ओर देखेगी। पौर्णमासी भी कहेगी—हे व्रजवासियो ! आप सब सर्वतोभाव से एकसाथ ही इच्छा करो। जिस प्रकार आज के निमन्त्रण में कोई भी पीछे न रह जाय ॥३०५॥

श्रीकृष्ण—उसके बाद क्या होगा ? ऋषि—उसके बाद उस वचन के सुनते ही सभी व्रजवासी चारों ओर से दर्शन के लिए सम्मिलित होकर, शीघ्र ही आकर यथायोग्य कहेंगे। उन सब जनों में से कुछ महिलाएँ तो अपना किञ्चिद् भी प्रस्ताव न रखकर, श्रीमती राधिका आदिकों के प्रति अपूर्व भावपूर्वक देखेंगी। उसके बाद पौर्णमासी कहेगी—अरी ! तुम क्या देख रही हो ? और कुछ भी क्यों नहीं कह रही हो ? ॥३०६॥

'ता वक्ष्यन्ति,—किमिव वक्ष्यामः, यतः सर्वैराहतं मन्येत । 'पौर्णमासी वक्ष्यति,—तथ्यश्चेत् कथ्यताम्, मयि कृष्णमातरि च । तास्तु नीचैर्वक्ष्यन्ति,—तत्राप्येतासां राधिकादिकानां धृततुल्यतापूर्तीर्मूर्तीरपश्याम: । पौर्णमासी स्पष्टं वक्ष्यति,—अन्याश्च पुनरच्छं गच्छन्तु ॥३०७॥

"कृष्ण उवाच,—'ततस्ततः ?' "ऋषिरुवाच,—'ततो बहलकुतूहलवहा बहुला महिलास्तत्र तत्र गत्वा ज्ञाततादृशतत्त्वाः पुनः पौर्णमास्यन्ते लब्धसत्त्वास्तद्वदेवावर्तयिष्यन्ति । वार्ता चैषा व्रजराजसभापर्यन्तं पर्यवसिष्यति । व्रजराजश्च पौर्णमासीमनु तूर्णमासाद्य प्रसाद्य च वक्ष्यति,—भगवति ! परमविस्मापननिदमस्मान् बोधय ॥३०८॥

'पौर्णमासी वक्ष्यति,—भवत्कन्याभावाभिमानिन्यामार्यायामिदमाश्चर्यं पर्यवस्यति । भवांस्तु सर्वव्रजस्थं स्त्रीपुंसव्रजमेकसभानुगतं करोतु ॥'३०९॥

"श्रीकृष्ण उवाच,—'ततस्ततः ?' "ऋषिरुवाच,—'तदेतदवधार्य ज्ञातकार्यगतिना व्रजभूपतिना तदभिहिते तथाविहिते तव हितवती पौर्णमासी महितायां तस्यामेव सभायामाहितब्रह्मासनमासीना किमपि प्रणिहितवती भविता । तदव्यवहितमेव च सिंहपृष्ठाहित-

---

वे महिलाएँ कहेंगी—हे भगवति ! हम क्या कहेंगी ? कारण हमारे कथन को सब बिलकुल मिथ्या मान लेंगे । पौर्णमासी कहेगी—यदि सत्य है तो मेरे निकट एवं श्रीकृष्ण की माता के निकट कह दो । वे धीरे धीरे कहेंगी—हम तो पहले दर्शन न होनेपर भी इन सब राधिका आदिकों की समानता को पूर्णरूप से धारण करनेवाली मूर्तियों को देख रही हैं । पौर्णमासी स्पष्ट कहेगी—दूसरी महिलाएँ पुनः प्रसन्नतापूर्वक चली जायँ ॥३०७॥

श्रीकृष्ण—उसके बाद क्या होगा ? ऋषि—तदनन्तर अधिक कुतूहल को धारण करनेवालीं बहुत सी महिलाएँ तत्र तत्र अर्थात् राधा आदि के निकट जाकर, उस प्रकार के स्वरूप को जानकर, पुनः पौर्णमासी के निकट धैर्य को पाकर, जिस प्रकार देखा उसी प्रकार बता देंगी । और यह बात श्रीव्रजराज की सभातक पहुँच कर समाप्त हो जायगी । श्रीव्रजराज भी पौर्णमासी को लक्ष्यकर शीघ्र ही उसके निकट जाकर, उसको प्रसन्न कर कहेंगे—हे भगवति ! इस परम विस्मयजनक व्यापार को हमें समझा दो ॥३०८॥

पौर्णमासी कहेगी—यह आश्चर्य तो आपके कन्याभाव के अभिमानवाली आर्या (दुर्गा) में ही समाप्त हो जायगा, अर्थात् इस आश्चर्य को वे ही समझ कर समाप्त करेंगी । आप तो सभी व्रजवासी स्त्री-पुरुषसमूह को एक सभा में सम्मिलित कर दो ॥३०९॥

श्रीकृष्ण—उसके बाद क्या होगा ? ऋषि—इस बात को निश्चय कर, कार्य की गति को जाननेवाले व्रजराज के द्वारा, पौर्णमासी के कथन का उसी प्रकार पालन हो जानेपर, अर्थात् सभी का निमन्त्रण हो जानेपर, तुम्हारी हितकारक पौर्णमासी उसी प्रशंसनीय सभा में, समाधि लगाने योग्य अर्पित ब्रह्मासनपर बैठकर, कुछ प्रणिधान से विशिष्ट, अर्थात् कुछ समाधि में प्रविष्ट हो जायगी । तब प्रणिधान के समय ही, जिसका पूजनीय शरीर सिंह की पीठपर स्थापित है, अर्थात् जो सिंहपर बैठी है, त्रिशूल आदि महान् आठ आयुधों से परिवेष्टित है, एवं देवीगण से सेवित है, ऐसी देवी वेगपूर्वक आकाश से अवतीर्ण होगी । और आकाश से उतरते ही, देवी होने के कारण, भूमि के स्पर्श को न माननेवाली वह देवी, पौर्णमासी का,

महितविग्रहा महायुधाष्टकवेष्टिता देवीगणसेविता देवी नभसः सरभसमवतरिष्यति। अवतीर्ण-मात्रा च पौर्णमास्या व्रजेश्वरयोः कृष्णकृष्णाग्रजयोरन्येषामपि भूमिस्पृशाममूमिस्पृग्मानिनी यथान्यायमभिवादनादिकमाकाशत एव प्रकाशयिष्यति ॥३१०॥

'ततः साश्चर्यं पर्यवलोकमानेषु तेषु देवी वक्ष्यति,—कथं वेह सन्देहः क्रियते ? पूर्वत एव तावदुभयविधा एता नापूर्वतया मन्तव्याः। पूर्वासां सजातीया द्वितीया हि योगमायाऽऽज्ञया गर्गविघ्नं निघ्नत्या मायया मया निर्मिताः; संज्ञायाश्छायावत् रत्यास्तन्मायाकल्पितावच्च ॥३११

'ताश्चेमा 'गृहगृहात् संगृह्णामि' इति तथाह्नाय सापह्नवं कुलवधूमध्ये विधाय पुनर्वक्ष्यति,—लक्ष्यतां कुलपालिकाभिरुभयविलक्षणता, यत् परमलक्ष्मीलक्ष्माणि प्रागाग-तानामेव लक्ष्यन्ते, नार्वागागतानाम्। तथाहि मणितत्त्वदृशामिव तादृशां दृष्टिभिरेव नेत्रानन्दक-सौन्दर्यविशेषवृष्टिस्ताभ्य एव लभ्या, न त्वन्यासाम्, न च पुनराभ्यश्चाकचिक्यचिक्कणकाच-तुल्याभ्यः'॥३१२॥

व्रजेश्वरी यशोदा, एवं व्रजेश्वर नन्दजी का, तथा कृष्ण बलदेव का और भूमि को स्पर्श करनेवाले अन्य पूज्य व्रजवासियों का न्यायपूर्वक, अर्थात् यथायोग्य नमस्कारादि शिष्टाचार आकाश से ही प्रकाशित कर देगी ॥३१०॥

उसके बाद उन सभी सभासदों के आश्चर्यपूर्वक देखते देखते देवी कहेगी—तुम सब इन राधा आदि गोपियों के दो दो रूपों के विषय में सन्देह क्यों कर रहे हो ? ये तो विवाह के पहले से ही दो दो प्रकार के रूपवाली हैं, अतः अपूर्वरूप से, अर्थात् आश्चर्यरूप से मत मानो। क्योंकि पहली नित्य श्रीकृष्णप्रेयसियों के तुल्य रूपवाली दूसरी छायारूप गोपियाँ, योगमाया की आज्ञा से गर्गमुनिकृत निषेधरूप विघ्न को दूर करती हुई, मैंने ही माया द्वारा बनाई थीं। उनकी द्विरूपता में दृष्टान्त, यथा—सूर्यपत्नी संज्ञा की जिस प्रकार छाया नामक दूसरी मूर्ति संज्ञा के द्वारा ही बनाई गई थी, एवं कामपत्नी रति की माया कल्पित दूसरी मूर्ति जैसे शम्बरासुर के घर में स्पष्ट ही रही, उसी प्रकार इन गोपियों के विषय में भी जानो ॥३११॥

और इन मायाकल्पित गोपियों को मैं प्रत्येक घर से इकट्ठी करती हूँ, यों कहते ही झटपट गोपनपूर्वक, अर्थात् छिपाकर कुलवधुओं के बीच में रखकर, पुनः कहेगी कि—कुलपालिका (कुलीन स्त्रियाँ) दोनों ही प्रकार की गोपियों की विलक्षणता को देख लें। कारण—सभा में पहले आई हुई नित्यप्रियाओं के ही अङ्गों में महालक्ष्मी के चिह्न दिखाई दे रहे हैं, किन्तु पीछे आनेवाली मायाकल्पित गोपियों के नहीं। क्योंकि देखो, मणि मुक्ताओं के यथार्थ तत्त्व को जाननेवाले देखते ही पहचाननेवाले परीक्षकों की सी दृष्टियों-वाली कुलीन पतिव्रताओं की दृष्टियों के द्वारा ही, नेत्रों को आनन्ददायक सौन्दर्यविशेष की वृष्टि, उन नित्यकान्ता राधिका आदिकों से ही प्राप्त हो सकती है। किन्तु चमचमाते चिकने चोपड़े काच के समान रूपवाली इन मायाकल्पित गोपियों से नहीं हो सकती। किन्तु "गुञ्जा गहहिं परशमणि खोई" के अनुसार अपरीक्षकों को जैसे चमचमाते चिकने काच के टुकड़े ही अच्छे लगते हैं, हीरा, मणि, मुक्ता नहीं। उसी प्रकार अकुलीन स्त्रियों को राधिका आदिकों के देखने से नेत्रानन्ददायक सौन्दर्यविशेष की वृष्टि प्राप्त नहीं हो सकती ॥३१२॥

"कृष्ण उवाच,—'ततस्ततः ?' ऋषिरुवाच,—'अथ सर्वाभिस्तथा तदाश्चर्यं साक्षात्कार्यमाणमवधार्य तदार्याणां समज्यायां निवेदयिष्यते,—हन्त ! यथावदेव देवी वदतीति ॥३१३॥

ततः श्रीव्रजराज-वचनम्,—तर्ह्यधुना किं विधेयम् ? 'देवी वक्ष्यति—भोजने निवृत्ते मन्निर्वर्तिताः स्वस्वपतिगृहमनुवर्तन्ताम्; परास्तु कृष्णमात्रपतिसम्मतिपरायणाः स्वस्वपितृगृहम्; मया तु यमुनातटेऽष्टहस्तालये स्थास्यते, यथा यदा मातृचरणैराज्ञाप्यते, तथा तदा व्यवहर्तव्यम् ॥३१४॥

कृष्ण उवाच,—'ततस्ततः ?' "ऋषिरुवाच,—'तदेवमाप्रच्छनपूर्वकमापृच्छ्य प्रच्छन्नायां देव्यां सर्वेषु बल्लववलयेषु प्रह्लन्नेषु वर्णानां वरवर्णिनीभिर्वर्ण्यमानं तदाकर्ण्य भवत्पतिव्रतास्तु तत्क्षणादेव ज्र्तिपरित्यक्तमूर्तिका व्यक्तनिजकान्तिस्फूर्तिकाश्च भविष्यन्ति ॥३१५॥ 'तथा हि—
राहुग्रासादिव शशिकला वारिदादृक्षमाला, वर्षाधर्षात् पुलिनरुचयः स्पर्शनाद्दीपलक्ष्म्यः ।
निष्क्रम्यामूः परपरिभवात्तत्क्षणं विन्दमानाः, कान्तिं स्वीयां नयनकदनं मोचयेयुर्जनानाम् ॥३१६
'तत्र च,— तारासु चन्द्रवलयस्य कलाः कलासु, तस्यातिचारु दधते स्फुरणं यथा श्रीः ।
गोपाङ्गनाह्वयरमासु विशाखिकादि,-सख्यः सखीषु च तथा वृषभानुपुत्री ॥'३१७॥

श्रीकृष्ण—उसके बाद क्या होगा ? ऋषि—उसके बाद सभी महिलाएँ उस प्रकार से उस आश्चर्य को साक्षात् किये गये देखकर, निश्चय करके, श्रेष्ठजनों की उस सभा में निवेदन करेंगी कि—अहह ! देवी यथार्थ सत्य ही तो कह रही है ॥३१३॥

उसके बाद देवी के प्रति श्रीव्रजराज का वचन,यथा—तो अब क्या करना चाहिये ? देवी कहेगी—भोजन कार्य निवृत्त हो जानेपर, मेरे द्वारा बनाई हुईं छायारूप गोपियाँ अपने अपने पतियों के घर विद्यमान रहें। और जो श्रीकृष्ण की स्वरूपशक्ति के तुल्य हैं, एवं कृष्णमात्र को ही पति होने की सम्मति देने में तत्पर हैं, वे राधिका आदि गोपियाँ तो अपने अपने पिता के घर रहें। और मैं भी श्रीयमुनातटपर अष्टहस्त नामक स्थान में स्थित रहूँगी। पूज्यपाद श्रीयशोदा आदि माताएँ जब जैसी आज्ञा करेंगी, तब वैसा ही व्यवहार करूँगी ॥३१४॥

श्रीकृष्ण—उसके पश्चात् क्या होगा ? ऋषि—इस प्रकार सम्मानपूर्वक पूछकर देवी के अन्तर्हित हो जानेपर, सभी गोपसमूहों के सन्तुष्ट हो जानेपर, ब्राह्मणादि वर्णों की उत्तम स्त्रियों के द्वारा वर्णित पूर्वोक्त बात सुनकर, आपकी पतिव्रताएँ श्रीराधिका आदि गोपियाँ तो तत्काल ही, विरहज्वर से रहित शरीर-वाली एवं प्रकाशित निजकान्ति की स्फूर्तिवाली हो जायँगी ॥३१५॥

और देखो, राहु के ग्रास से निकली हुईं चन्द्रकलाएँ, मेघमण्डल से निकली हुईं नक्षत्रमालाएँ, वर्षा के तिरस्कार से निकली हुईं पुलिन की शोभाएँ, एवं वायु के बन्धन से निकली हुईं दीपक की शोभाएँ अपनी स्वाभाविकशोभा को पाकर, जिस प्रकार दर्शकों की नेत्रपीडा दूर कर देती हैं, ठीक उसी प्रकार दूसरों के अनादर से निकलकर, श्रीराधा आदि गोपियाँ भी तत्काल अपनी स्वाभाविकी कान्ति को प्राप्त करती हुईं, दर्शकजनों के नेत्रों की पीडा को मुक्त कर देंगी ॥३१६॥

और उनमें भी ताराओं के समूह में जैसे चन्द्रमण्डल की कलाएँ स्फूर्ति धारण करती हैं, एवं उन कलाओं के बीच में जैसे चन्द्रमण्डल की शोभा अत्यन्त रमणीय स्फूर्ति को धारण करती है, ठीक उसी प्रकार गोपाङ्गना नामक लक्ष्मियों के बीचमें, अर्थात् लक्ष्मीस्वरूपा साधारण गोपियों के बीच में, विशाखा

"कृष्ण उवाच,—'ततस्ततः ?' ऋषिरुवाच,—'ततो देव्यादेशवशा यथायथं ते विहितवन्त एव। तथापि विधिं विना न संग्राह्यास्ता इति श्रीव्रजराजादिभिर्विहिते च तस्मिन् विवाहविचारे भवांस्त्वग्रजस्य विवाहार्थमागृह्य तं तदर्थरक्षितकौमारा द्वारकात आगत्य कदाचित्तेन प्रसादीकृतस्वविहाराः काश्चिन्नित्यकिशोरिका विधिना च विवाह्य नैरपेक्ष्यमिवावगाह्य विगतपूर्वशङ्कः परमललित-माधवसमयमालम्ब्यालंकृतपूर्णमनोरथाङ्कः श्रीव्रजराजगृहिणीमुहुराग्रहगृहीततया शनैरेव स्वविवाहमङ्गीकारसङ्गिनं करिष्यति ॥३१८॥

'तत्र बहुलमहसा श्रीरामविवहने जाते तं जातं समासतः समासां सर्वमेव त्वत्कृतविवाहमेवं वर्णयिष्यन्ति,—

गोधुङ्न्यर्बुदगेहगेहबलवद्वाद्यानवद्यध्वनि-
प्रोल्लासिव्रजमण्डले दिविषदां वादित्रचित्रे महे।
आदान-प्रतिदान-दान-रचनोदारैः सदारैर्नरै-
र्निर्व्यूढा मुरजिद्विवाहपटली ज्ञाता न तत्तद्भिदा ॥३१९॥

आदि सखियाँ स्फूर्ति, अर्थात् विशेषता को धारण करती हैं, एवं ललिता विशाखा आदि अष्टसखियों के बीच में श्रीवृषभानुनन्दिनी अत्यन्त मनोहर स्फूर्ति को, अर्थात् शोभा को धारण करती हैं। इस श्लोक में श्रीमती राधिका का असमोर्ध्व वैशिष्ट्य सिद्ध हो गया है ॥३१७॥

श्रीकृष्ण—उसके बाद क्या होगा ? ऋषि—उसके बाद देवी के आदेश के वशीभूत हुए उन व्रजवासियों ने यथायोग्य कार्य कर ही दिया। तथापि "विधि के बिना वे राधिका आदि ग्रहण नहीं करनी चाहिये" इसलिए श्रीव्रजराज आदिकों के द्वारा, इस विषय में विवाह का विचार हो जानेपर, आप तो अपने बड़े भाई श्रीबलरामजी के विवाह के लिए उनसे आग्रह करके, उन्हीं के लिए अपने कुँआरेपन को रखनेवाली, एवं द्वारका से आकर कदाचित् (भा० १०।६५।१७—द्वौ मासौ तत्र चावात्सीन्मधुं माधवमेव च। रामः क्षपासु विहरन् गोपीनां प्रीतिमावहन् ॥ इत्यादि भागवतीया कथा—अत्रानुसन्धेया।) जिनका निजविहार श्रीबलरामजी ने ही प्रसादी कर दिया है, ऐसी नित्यकिशोरी कुछ गोपियों का विवाह विधिपूर्वक श्रीबलरामजी के साथ करवाकर, अपने विवाह के लिए मानो उदासीनता का सा आश्रय लेकर, "ये गोपियाँ पर स्त्री हैं" इस प्रकार की पहली आशंका से रहित होकर, परममनोहर वसन्त के समय का अवलम्बन लेकर, पूर्णमनोरथ के चिह्नों से अलंकृत होकर, एवं श्रीनन्दरानी के बारंबार आग्रह में पड़कर, धीरे धीरे ही अपने विवाह को अपनी स्वीकृति से युक्त करोगे ॥३१८॥

उसमें भी महोत्सवपूर्वक श्रीबलरामजी का विवाह हो जानेपर, श्रीराधा आदि सभी गोपियों के सङ्ग एकसाथ हुए आपके उस विवाह को विज्ञजन संक्षेप से इस प्रकार वर्णन करेंगे—गोपों के अरब खरब संख्यावाले प्रत्येक घर में बड़े बड़े प्रबल वाद्यों की विशुद्ध मनोहर ध्वनि से विशेष उल्लासयुक्त व्रजमण्डल में, देवताओं के वाद्यों के द्वारा विचित्र महोत्सव में आदान-प्रदानरूप (विवाह में परस्पर लेना-देनारूप) दान की रचना में मधुरभाषी उदार मनुष्यों के द्वारा अपनी अपनी स्त्रियों के सहित, श्रीकृष्ण का विवाह आनन्दपूर्वक सम्पन्न हुआ, किन्तु उसके भेद प्रभेद की विशेष अवस्था किसी को ज्ञात न हुई। अर्थात् प्रत्येक घर में पृथक् पृथक्रूप से प्रगट हुए श्रीकृष्ण ने एकसाथ ही विवाह कार्य सम्पन्न किया है, इत्यादि भेद को कोई ध्यान में नहीं ला रहा था ॥३१९॥

'तदेवमङ्गीकारेण च (गी० ४।११) 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' इति भवतः समाधिः समाधीयेत ॥३२०॥

'अत्र 'ये यथा' इति ये यदिच्छयेत्येवमेव विवक्षितम् । यतश्च साधारणजनमन्वनुराग-लङ्घितलोकधर्ममर्यादासङ्घानामङ्गनान्तराणामप्यन्तर्वृत्तिस्तत्तद्गृहिणीपदस्पृहिणी दृश्यते । किमुत भवन्तमनु सन्ततप्रियाणां मायामयात्यया‌देव लब्धान्यथाभावप्रायाणाम् ? (भा० १०।२१।९)–'गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणु,-र्दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम् । भुंक्ते' इति तद्वाक्यव्यक्त-तादृशाभिप्रायाणां स्वतस्तादृशाभिप्रायत्वे सत्यपि भ्रमरगीतायाम् (भा० १०।४७।२१) 'अपि बत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनाऽऽस्ते' इत्यादौ, 'भुजमगुरुसुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत् कदा नु' इत्यनेन तदीयं प्रकटं तथा स्वीकारं प्रार्थयमानानां भवद्गृहिणी-भावस्पृहाबृंहणमिति स्थिते तथैव तद् योजयितुं शक्यत इति । सर्वेषामस्माकं धैर्यपर्यापण-मेवमेव भवताचरिष्यते ॥३२१॥ 'यतः,

गतानामुत्पत्त्या त्वयि रतिमपि त्वद्विवहना-, न्निरस्तानां त्वत्प्राप्त्यभिलषितसंन्यस्तजगताम् ।
अमूषामुत्कण्ठा यदि हतफला तर्हि बलतां, कथं वा विश्वासस्त्वयि मुरहरास्माकमभितः ? ॥३२२

अतः इस प्रकार के अङ्गीकार के द्वारा ही आपकी "जो भक्त मुझको जिस प्रकार, भजते हैं मैं भी उनका उसी प्रकार भजन करता हूँ" यह गीतोक्त प्रतिज्ञा समाधान हो सकती है ॥३२०॥

यहाँपर "ये यथा मां प्रपद्यन्ते" का, "ये यथा" का यह अर्थ विवक्षित है कि—जो भक्त जिस इच्छा से मेरे शरणागत होते हैं, मैं उनकी उसी इच्छा को पूरा करता हूँ। कारण—साधारणजन को लक्ष्य करके अनुराग के द्वारा जो लोक एवं धर्ममर्यादा के समूह को लाँघ चुकी हैं, ऐसी विशिष्टनायिकाओं की चित्तवृत्ति भी उन उन अनुरागी व्यक्तियों के गृहिणीपद की इच्छा करती देखी जाती है । फिर आपको लक्ष्य करके जो आपकी नित्यसिद्ध प्रिया हैं, एवं जो मायारूप रोग को लाँघने के कारण ही प्रायः तुम्हारे स्वकीयाभाव को प्राप्त हैं, उनकी चित्तवृत्ति तुमको लक्ष्य करके तुम्हारे गृहिणीपद की इच्छा करे, तो उस सम्बन्ध में कहना ही क्या है ? और देखो, जो "अरी ! गोपियो ! इस वंशी ने ऐसा कौन सा पुण्य किया है कि, जो गोपियों की निजीवस्तु श्रीकृष्ण के अधरामृत का पान कर रही है ?" इस प्रकार के अपने वाक्य द्वारा उस प्रकार के अभिप्राय को स्पष्ट कर चुकी हैं, एवं जो स्वतः इस प्रकार के, अर्थात् गृहिणीपद के अभिप्राय के रहते हुए भी भ्रमरगीत में—"हाय ! इस समय हमारे प्राणनाथ मथुरा में हैं" इत्यादि स्थल में एवं "अहो ! अगुरु की सी सुगन्धवाली अपनी भूजा को हमारे मस्तकपर कब रखेंगे ?" इस वाक्य के द्वारा स्पष्ट ही उस पत्नीभाव की प्रार्थना कर रही हैं । उन गोपियों के सम्बन्ध में आपके गृहिणी-भाव की स्पृहा का बढ़ाना ही उचित है । ऐसी स्थिति में उनकी प्रार्थना के अनुसार वह गृहिणीपद संयुक्त किया जा सकता है । इस प्रकार की लीलाओं से आप, हम सबके धैर्य की तृप्ति सिद्ध करोगे ॥३२१॥

कारण—हे कृष्ण ! श्रीराधिका आदि जो गोपियाँ जन्म से ही तुम्हारे में प्रीति को प्राप्त हैं, तथापि तुम्हारे विरह के कारण तुम्हारे विवाह के सम्बन्ध से निरस्त हैं, एवं तुम्हारी प्राप्ति की अभिलाषा से ही, जो समस्त जगत् को भली प्रकार त्याग चुकी हैं । अतः उन प्रेममयी गोपियों की उत्कण्ठा भी यदि निष्फल हो जाय, तब तुम्हारे ऊपर हमारा विश्वास सर्वतोभाव से किस प्रकार संचारित हो सकता है ? ॥३२२॥

'तदेतदवधाय मधुकण्ठेनामुक्तकण्ठमनुसन्धीयते स्म,—अहो ! तदेतत्पर्यन्तं फलमागताया भगवल्लीलालताया माधुर्यप्रसविता ॥३२३॥

'तथा हि— प्राग्दूरप्रियता तनो गुरुजनध्वस्तप्रयत्नात्मता
तत्पश्चाच्छ्रुतिलोकलङ्घिरभसाद् गुप्ता प्रियाङ्गीकृतिः ।
तस्माद्दूरमहावियोगचिरता तत्प्रान्तमुद्वाहतः
प्राप्तश्चेन्मिथुनं मिथो हरिरमारूपं सुखं किं परम् ?" इति ॥३२४॥

अथ प्रकृत-तत्कर्तृक-कथा । "कृष्ण उवाच,—'ततस्ततः ?' "ऋषिरुवाच,—'ततश्च सर्वेषां गतये दुहितुः पतये तुभ्यं कौतुकावहानि बहूनि यौतुकानि परमधन्यां निजनिजकन्यां च प्रस्थाप्य ते गोपाः सोपाध्यायाः सदा तदा ध्यायं ध्यायं दिवस्पृथिव्यावपि स्वानन्दसमुद्रमुद्रिते करिष्यन्ति ॥'३२५॥

"कृष्ण उवाच,—'ततस्ततः ?' "ऋषिरुवाच,—'तत्र च कविलोकानां श्लोकावेतावुदेष्यतः,—

यर्ह्यायाता व्रजनृप-गृहं राधिकाद्यास्तदासां
स्व-ज्योत्स्नाभिस्तदलमभवद्धेमधामप्रकारम् ।
गोलोकाख्यं पदमुदयिता यत्तु तस्य प्रकाश-
स्तासां श्रीणामनुगत इति द्योतनं यत्र जातम् ॥३२६॥

इस प्रकार का सिद्धान्त स्थापित करके, मधुकण्ठ ने अपने कण्ठ को बन्द कर, मन मन में अनुसन्धान किया कि—अहो ! यहाँतक फल को प्राप्त हुई भगवान् को लीलारूप लता के माधुर्य की उत्पादकता कैसी आश्चर्यजनक है ? ॥३२३॥

देखो, पहले बाल्यकालमें गोपी-कृष्णरूप प्रियजनों का परस्पर दूर रहना, उसके बाद परस्पर मिलने के सारे प्रयत्नों का सास ससुर आदि गुरुजनोंके द्वारा नाश, उसके पश्चात् वेदाचार, एवं लोकाचार को लाँघनेवाले हर्ष के वेग के कारण, गुप्तरूप से प्रिय श्रीकृष्ण का अङ्गीकार करना, तदनन्तर श्रीकृष्ण का मथुरा द्वारका आदि दूर स्थानोंपर जाने के कारण, महान् वियोग का चिरकालतक रहना, और उस प्रकार के विरह के अनन्तर यदि विवाहके द्वारा श्रीकृष्ण एवं लक्ष्मीरूप गोपियों का जोड़ा परस्पर संयोग को प्राप्त हो गया, तब इससे परे और क्या सुख हो सकता है ? ॥३२४॥

अनन्तर मधुकण्ठ के द्वारा की गई प्रसङ्गानुसारी कथा, यथा—श्रीकृष्ण—कहिये, उसके बाद क्या होगा ? ऋषि—उसके बाद सर्वसाधारण के गति एवं अपनी अपनी बेटी के पतिरूप तुम्हारे लिए हर्षदायक बहुत से दहेज देकर, एवं परमधन्य अपनी अपनी कन्या को बिदा करके, वे गोप अपने पुरोहितों के सहित उस समय का सदैव ध्यान करते करते, स्वर्ग एवं पृथिवी दोनों को ही, अपने आनन्दरूप समुद्र से परिपूर्ण प्रकाशित कर देंगे ॥३२५॥

श्रीकृष्ण—उसके बाद, उसके बाद ? ऋषि—उस प्रकार के विवाह महोत्सव के प्रसङ्ग में कविजनों के ये दोनों श्लोक उदय होंगे—जिस समय श्रीराधिका आदि गोपियाँ विवाह कराकर अपने घर से श्रीव्रजराज नन्दजी के घर चली आईं, उसी समय नन्दालय, उनकी असाधारण अपनी कान्तियों के द्वारा सुवर्ण

असंख्यगणन-स्नुषागणनिवासमाकस्मिकं, कथं व्रजपती तदा विदधतुस्तथा तच्छृणु ।
गृहा इव तरुव्रजा यदिह भान्ति यावत्स्पृहं, वनान्युपवनप्रभाण्यतिसहस्रसंस्थान्यपि ॥" ३२७॥

तदेतदवधाय मधुकण्ठेनामुक्तकण्ठं पुनरनुसन्धीयते स्म,—

"बाढं विवाहादिभिरसङ्कोचे विरोचमान एव गोपजातिभिर्नारीभिः सह गोपजाति-योग्यवेशधारिणस्तस्य लीलानैरन्तर्यमपि तदोचिततया पर्यालोचितं पाद्मोत्तरखण्डे दन्तवक्र-वधानन्तर-तद्व्रजागमने ॥३२८॥ यथा—

'कालिन्द्याः पुलिने रम्ये पुण्यवृक्षसमाचिते । गोपनारीभिरनिशं क्रीडयामास केशवः ॥
रम्यकेलिसुखेनैव गोपवेशधरः प्रभुः । बहुप्रेमरसेनात्र मासद्वयमुवास ह ॥' इति॥३२९॥

किञ्च,　'यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपाः'
इत्याद्यप्यधियन् कयाचिदुदितं गोपालिकागीरिति ।
भावोन्मादज-गाननृत्यविवशः श्रीगुण्डिचापर्वसु
श्रीचैतन्यतनुर्मतं स भगवानङ्गीकरिष्यत्यदः ॥" ३३०॥

के घर के समान हो गया। और उस समय गोलोक नामक स्थान प्रगट हो जायगा । जो स्थान गोकुल का प्रकाश या एक स्वरूप है, अतः उसका जो प्रकाश है वह उन राधिका आदि व्रजकी लक्ष्मियों के अधीन है, इसलिए गोकुल में ही उसका प्रकाश हो गया ॥३२६॥

यदि कहो कि—व्रजराज श्रीनन्द एवं व्रजरानी श्रीयशोदा इन दोनों ने संख्यातीत गिनतीवाली पुत्र-वधूश्रेणी का निवासस्थान उस समय अकस्मात् (एकदम किस प्रकार निर्मित किया होगा ? तब ऐसी आशंका में उनके निवासस्थान के प्रकार को सुनो। क्योंकि इस व्रजरूप गोकुल में स्वेच्छापूर्वक वृक्षसमूह भी घरों के समान शोभा पारहे हैं, और बड़े बड़े वन भी असंख्य आकारोंवाले उपवनों की सी प्रभावाले प्रकाशित हो रहे हैं। अतः सब व्यवस्था सुचारुरूप से हो गई ॥३२७॥

इस प्रकार के सिद्धान्त को स्थापित कर, अपने कण्ठ को रोककर, मधुकण्ठ ने मन मन में पुनः अनुसन्धान किया कि—हाँ, विवाह आदि के द्वारा असंकोच के प्रकाशित हो जानेपर, तत्काल ही गोपजाति की स्त्रियों के साथ गोपजाति के योग्य वेष धारण करनेवाले, श्रीकृष्ण की लीला की निरन्तरता भी पद्म पुराणके उत्तरखण्डमें दन्तवक्र के वध के अनन्तर श्रीकृष्ण के व्रजमें आनेपर, उनके पति-पत्नीभाव के उचित-रूप से पर्यालोचित की है ॥३२८॥

यथा—पुण्यमय वृक्षों से व्याप्त रमणीय यमुनापुलिन में, श्रीकृष्ण गोपाङ्गनाओं के सहित निरन्तर क्रीडा करते थे। और गोपवेष धारण करनेवाले प्रभु श्रीकृष्ण ने इस यमुनापुलिन में मनोहर विहारसुख के द्वारा ही, बहुत प्रेमरस से दो मास निवास किया था ॥३२९॥

किंच "जिस श्यामसुन्दर ने हमारी कुमारावस्था को हर लिया, वे ही हमारे वर हैं, एवं वे ही चैत्र-मास की मनोहर रात्रियाँ हैं" इत्यादिरूप से किसी रमणी के द्वारा कहे गये इस पद्य को, किसी गोपी की वाणी है, ऐसे जानते हुए, एवं भावमय उन्माद से उत्पन्न हुए गान नृत्य के विवश होकर, श्रीकृष्णचैतन्य शरीरधारी भगवान् श्रीकृष्ण; श्रीगुण्डिचायात्रा के महोत्सवों में इस योग्य मत को अङ्गीकार करेंगे ॥३३०॥

तदीदृगेव भाविनि विदग्धमाधव-ललितमाधवाह्वये पूर्वोत्तर-नाटकद्वये सर्वरचनायाः परमफलतया सर्वान्ते प्रकारान्तरेणावकल्पते,—

'तवात्र परिमृग्यता किमपि लक्ष्म साक्षादियं, मया त्वमुपसादिता निखिललोकलक्ष्मीरसि ।
यथा जगति चञ्चता चणकमुष्टिसम्पत्तये, जनेन पतिता पुरः कनकवृष्टिरासाद्यते ।।'३३१।।

इति श्रीकृष्णवाक्यादिना;

'सख्यस्ता मिलिता निसर्गमधुरप्रेमाभिरामीकृता
यामीयं समगंस्त संस्तववती श्वश्रूश्च गोष्ठेश्वरी ।
वृन्दारण्यनिकुञ्जधाम्नि भवता सङ्गोऽप्ययं रङ्गवान्
संवृत्तः किमतः परं प्रियतरं कर्तव्यमत्रास्ति मे ?' ।।३३२।।

इति पूर्णमनोरथाङ्क-पूरक-श्रीराधावाक्यपर्यन्तेन ग्रन्थेन ।।३३३।।

तदिदमेव श्रीमद्भगवद्भक्तिरसामृतसिन्धुनिधिरूप-श्रीमदुज्ज्वलनीलमणावपि सर्वरस-परिपाटीपूर्तिसारमूर्ति-समृद्धिमदाख्यसम्भोगतया दर्शितम् ।।३३४।।

अतः इसी प्रकार का दाम्पत्य, श्रीरूपगोस्वामी के द्वारा भविष्यत् में निर्मित होनेवाले, 'श्रीविदग्ध-माधव', 'श्रीललितमाधव' नामक पहले—दूसरे, दोनों नाटकों में समस्त रचना के परमफलस्वरूप से सभी के अन्त में, रुक्मिणी-सत्यभामा आदिकों का, चन्द्रावली-राधिका आदिरूप से कल्पित होता है, यथा—मैंने तुम्हारे किसी अनिर्वचनीय चिह्न को ढूँढ़ते हुए यहांपर साक्षात् तुम्हीं प्राप्त करलीं । तुम समस्त भुवनों की शोभा हो, अर्थात् तुम्हारी प्राप्ति भी सौभाग्य से ही हुई है । यथा—एक मुट्ठी चने की सम्पत्ति पाने के लिए, संसार में भटकते हुए दरिद्रीजन को जैसे सामने पड़ी हुई सुवर्ण की वृष्टि प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार तुम (राधिका) पा गई हो ।।३३१।।

इस प्रकार के श्रीकृष्ण के वाक्य आदि व्यवहार से, श्रीसत्यभामा का श्रीराधारूप से ही प्रकाश है । श्रीराधिका के वाक्य से नित्यदाम्पत्य का समर्थन, यथा—हे प्यारे श्यामसुन्दर ! जो स्वाभाविक मधुरप्रेम से अतिशय मनोहर की गई हैं, वे ललिता विशाखा आदि सखियाँ मिल ही गईं । और यह भगिनी चन्द्रा-वली भी मिल गई, एवं चिरकाल से परिचित यह सास श्रीव्रजेश्वरी भी प्राप्त हो गईं । श्रीवृन्दावन के निकुञ्जस्थल में रङ्गराग हासपरिहास से विशिष्ट यह सङ्ग भी आपके साथ हो ही गया । अतः इस विषय में इससे दूसरा मेरा और कौनसा अत्यन्त प्रिय कार्य करना शेष है ? अर्थात् कोई नहीं ।।३३२।।

इस प्रकार पूर्णमनोरथ नामक अङ्क की पूर्ति करनेवाले श्रीराधिका के वाक्यपर्यन्त ग्रन्थ के द्वारा पूर्वोक्त नित्यदाम्पत्य सूचित हुआ है ।।३३३।।

और यह नित्यदाम्पत्य ही 'श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु' ग्रन्थ की निधिस्वरूप 'श्रीउज्ज्वलनीलमणि' ग्रन्थ में भी सर्वरसों की परिपाटी की पूर्ति की सारमूर्तिस्वरूप समृद्धिवान् नामक सम्भोग के रूप से प्रदर्शित किया है ।।३३४।।

तेषामुपासना-वासना चेदृश्येव तदीयश्लोकेनावलोक्यते,—

'गोपेशौ पितरौ तवाचलधर ! श्रीराधिका प्रेयसी
श्रीदामा सुबलादयश्च सुहृदो नीलाम्बरः पूर्वजः ।
वेणुर्वाद्यमलंकृतिः शिखिदलं नन्दीश्वरो मन्दिरं
वृन्दाटव्यपि निष्कुटः परमतो जानामि नान्यत् प्रभो ! ॥'इति॥३३५॥

अथ पुनः श्रीकृष्ण-नारद-संवादं मधुकण्ठः कण्ठतः प्रकटयामास,—"ऋषिरुवाच,—'तदेवं मासद्वितये सर्वेषामेव परमानन्देन लब्धव्यत्यये दत्तव्रजोद्धवः कदाचिद्भवान् रामोद्धवाभ्यां समं सम्मन्त्र्य श्रीव्रजमहेन्द्रादीन् परमगौरवादामन्त्र्य निवेदयिष्यति,—अधुना यद्याज्ञा राज्ञामाज्ञायेत, तदा स्यन्दनोऽयं सदारुको द्वारकां विन्देत ॥३३६॥

'अथ परमहृदयालुतामयदयालुरसौ श्रीव्रजराजस्तु वक्ष्यति,—यथा तत्र श्रीमद्भ्रातृ-प्रभृतीनां भृतिभुक्पर्यन्तानां दुःखं न स्यात्तथा च प्रथनीयम् ॥३३७॥

'भवान् वक्ष्यति,—सर्वथा सर्वेषामादृत्यास्तत्रभवतां भृत्यास्तत्र प्रद्युम्नादयः प्रद्योतन्त एव; तथापि भवतामपूर्तिश्चेत्तदा भवदाराधनवशतयाऽस्मन्मूर्तिव्यूहमपि तत्र नारायणः पारयिष्यति ॥३३८॥

पूर्वोक्त ग्रन्थकार पूज्यपाद श्रीरूप गोस्वामीजी की उपासना की वासना भी ऐसी ही, अर्थात् राधा-कृष्ण की नित्यदाम्पत्यमयी ही उन्हीं के श्लोक से देखी जाती है, यथा—हे गोवर्धनधारिन् ! गोपेश्वरी श्रीयशोदा एवं गोपेश्वर श्रीनन्द, ये दोनों ही तुम्हारे नित्यसिद्ध मातापिता हैं, श्रीमती राधिका ही नित्यप्रेयसी हैं, श्रीदामा एवं सुबल आदि ही अनन्त सखा हैं, श्रीबलराम ही बड़े भ्राता हैं, वेणु ही तुम्हारा वाद्य है, मोरपंख ही मुख्य अलंकार है, नन्दीश्वर पर्वत अर्थात् नन्दग्राम ही तुम्हारा भवन है, और श्रीवृन्दावन ही तुम्हारे घर का उपवन है। हे प्रभो ! इनसे परे मैं और कुछ नहीं जानता हूँ ॥३३५॥

अनन्तर मधुकण्ठ अपने कण्ठ से पुनः श्रीकृष्ण-नारद संवाद को प्रगट करने लगा—देवर्षि नारद बोले—भगवन् ! इस प्रकार परमानन्दपूर्वक सभी के दो मास बीत जानेपर, व्रज में उत्सव को देनेवाले आप कदाचित् श्रीबलराम एवं उद्धवजी के साथ विचार कर, श्रीव्रजराज आदिकों को परमगौरवपूर्वक सम्बोधित करके निवेदन करेंगे कि—पिताजी ! आप गोलोक के राजा हैं, अतः अब यदि आप की आज्ञा हो जाय तो, दारुक नामक सारथि के सहित यह रथ द्वारका में पहुँच जाय ॥३३६॥

पश्चात् परममनोहर स्वभाव से परिपूर्णदयालु वे श्रीव्रजराज तो कहेंगे कि—द्वारका में जिस प्रकार मेरे भ्राता श्रीवसुदेवजी से लेकर, वेतनभोगी सेवकोंतक, किसी को भी दुःख न हो, उसी प्रकार कार्य का विस्तार करो ॥३३७॥

आप कहेंगे—पिताजी ! सभी के सर्वथा आदरणीय एवं पूज्यपाद आपके प्रद्युम्न आदि सेवक देदीप्यमान ही हैं, तथापि यदि आपके कार्य की अपूर्ति दिखाई देती है, तो आपकी आराधना के वशीभूत होने के कारण, श्रीनारायणभगवान् 'वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध' रूप हमारी चतुर्व्यूह मूर्ति को भी, कार्य सिद्धयर्थ सिद्ध कर देंगे ॥३३८॥

'पुनर्व्रजराजो वक्ष्यति,—रोहिणीरामवदयमुद्धवश्चास्मदेकसम्पदुद्धवस्तस्मादयमपि तथाचरणीयः ॥३३९॥

'भवान् वक्ष्यति,—यत्र भवदिच्छा, तद्वा किं न सेत्स्यति ? किन्त्वाज्ञान्तरं ज्ञापय ॥३४०॥

'व्रजराजो वक्ष्यति,—जैवातृक ! भवतामक्रूरादिरचितेनातिचिरं भवता विरहेण चिराय तर्वन्तिमः सर्व एव जीवः सुष्ठु दुर्जीवनमवाप; ततो न किमपि प्रत्येति। ततस्त्वद्विरहपरिहाराय नान्यजनलोचनगोचरः स्यामिति प्रार्थयते। ततो निःशलाकमालयविशेषं संश्लेषय ॥३४१॥

'भवान् वक्ष्यति,—हन्त ! वृन्दावन एव तादृशं प्रकाशवृन्दं वर्तते। यत् खलु ब्रह्महृदे निमज्ज्य पुनस्तस्मादुन्मज्ज्य च भवद्भिः पूर्वमप्यपूर्वं दृष्टमस्ति। शताङ्गस्यास्य कामङ्गामितया तत्प्रवेशितापि प्रतिवेशीयते। ततो-यथाज्ञाप्यते प्राज्ञानां राज्ञा ॥३४२॥

'व्रजराजो वक्ष्यति,—वत्स ! तदेव प्रच्छन्नं वनं गच्छामः। ततः सप्रतिश्रवश्रवणं भवान् वक्ष्यति,—यथा महेच्छानामिच्छा, तथैव सेत्स्यति ॥३४३॥

पुनश्च तिर्यगवेक्ष्य पार्श्वलक्ष्यं दारुकमादेक्ष्यसि,—सारथे ! तथा रथं प्रथय, यथा सर्व एव व्रजस्तत्रान्तर्भवंस्तद्धाम प्रविशंश्च धामग्रामतः स्वर्वासिनामपि दृगारामतां नासीदति ॥३४४

पुनः श्रीव्रजराज कहेंगे कि—रोहिणी एवं बलराम की तरह यह उद्धव भी, हमारी समस्त सम्पत्ति का एकमात्र उत्सवस्वरूप है। अतः इसके प्रति भी उसी प्रकार व्यवहार करना चाहिये, अर्थात् इसको भी हमारे निकट ही रखना उचित है ॥३३९॥

आप कहेंगे—जिस कार्य में आपकी इच्छा हो, वह क्यों न सिद्ध होगा ? किन्तु दूसरी आज्ञा दीजिये ॥३४०॥

श्रीव्रजराज कहेंगे—हे दीर्घायुष्मन् ! लाल ! अक्रूर आदि के द्वारा रचे गये, एवं चिरकालतक होनेवाले रोहिणी बलराम आदि तुम्हारे विरह के कारण व्रज के वृक्षोंपर्यन्त सम्पूर्ण जीवनमात्र ही महान् दुःखमय जीवन को प्राप्त हो गया था। अतः कोई व्रजवासी तुम्हारे यहाँ निरन्तर रहने के विषय में विश्वास नहीं कर रहा है। इसलिए व्रजका जीवमात्र तुम से यह प्रार्थना करता है कि—तुम्हारे विरह को दूर करने के लिए मैं दूसरे जनके नेत्र गोचर न होऊँ। इसलिए पुत्र ! परमपवित्र ऐकान्तिक किसी स्थानविशेष को प्राप्त कराओ, जहाँपर तुम्हारा वियोग न हो ॥३४१॥

आप कहेंगे कि—अहह ! श्रीवृन्दावन में ही उस प्रकार का प्रकाशसमूह है। जो कि ब्रह्महृद में निमग्न होकर, पश्चात् उससे बाहर निकल कर, आप सभी व्रजवासियों ने पहले भी, अपूर्व स्थान देखा था। और इस हमारे रथ के स्वेच्छाचारी होने के कारण, उस प्रकाशसमूह में प्रवेश करना भी, निकटवर्ती की तरह आचरण करता है। इसलिए विज्ञानियों के राजाधिराज आपकी जैसी आज्ञा हो, वैसा ही होगा ॥३४२॥

श्रीव्रजराज कहेंगे—पुत्र ! उसी गुप्तवन में चलें। तदनन्तर अङ्गीकारपूर्वक श्रवण करते हुए आप कहेंगे—बड़े अभिप्रायवाले आप जैसे महाशयों की जैसी इच्छा, उसी प्रकार कार्य सिद्ध होगा ॥३४३॥

पुनः तिरछी नजर से देखकर, बगल में दीखनेवाले दारुक को आदेश दोगे कि—हे सारथे ! हमारे रथ को उस प्रकार विस्तारित करो, जिस प्रकार व्रज का समस्त जनमात्र ही उसमें समाता हुआ, उसी

'अथ तेन सूतेन तु तथाकृतप्रथे रथे सर्व एव व्रजप्राणिव्रजः स्वैरं निविशमानस्तं देशं प्रविवेश ॥३४५॥

'तदेवं सति— उत्सर्पज्ज्योतिरालीविभववशतया तं रथं तूर्ध्वभाजं
चर्माक्षा मेनिरे तद्ध्र ुपरिगततया तत्पदोपासकाश्च ।
कृष्णाब्रह्मह्रदात् प्रागपि मुरजयिना लम्भिता गोमिनो यां
तां वृन्दारण्यमध्ये गतिमिह सुगतास्तद्विदश्चार्वपश्यन् ॥३४६॥

तत्र पर्जन्यवर्याश्च ये गताः प्रागदृश्यताम् । द्रक्ष्यन्ते तेऽपि तत्रैव तदाश्चर्यं भविष्यति ॥३५७॥

'ततश्च, वृन्दारण्ये सकल्पद्रुमविविधलतामञ्जुकुञ्जादिधन्ये
घोषे चिन्तामणीन्द्र-प्रथितनिलयताचित्तवृत्तिप्रमोषे ।
रामाद्यैः कामधुग्गव्यनुगतिकुतुकी लक्षलक्ष्मीप्रकार-
श्रीगोपीप्राणसारः स जयति नितरां गोपगोप्तुः कुमारः ॥"३४८॥

अथ स्निग्धकण्ठ उवाच,—"ततस्ततः ?" मधुकण्ठ उवाच,—"तदेवमन्यं च वृत्तान्तं वर्णितवान् । श्रीमान् व्रजसुखवर्षी देवर्षिश्च परस्परं हर्षितां प्रपन्नः सवाष्परोमहर्षादिभिः सम्पन्नः स्निग्धसंवादविच्छेदतः परिखिद्य शनैरेव च विच्छिद्य स्वस्व-वर्त्मानुवर्तते स्म ।

गोलोकधाम में प्रवेश करता हुआ, एवं अपने तेजपुञ्ज के द्वारा स्वर्गवासियों के भी नेत्रों की रमणीयतारूप से प्रत्यक्ष न हो सके ॥३४४॥

तदनन्तर उसी दारुक सारथि के द्वारा उसी प्रकार विस्तारित किये गये रथमें, व्रजका सम्पूर्ण प्राणी-समूह स्वेच्छापूर्वक प्रविष्ट होता हुआ, उसी गोलोक प्रदेश में प्रविष्ट हो गया ॥३४५॥

इस प्रकार गोलोक में प्रवेश करनेपर चर्मचक्षुवाले प्राकृतिक जन, ऊपर को फैलते हुए तेजपुञ्ज के वैभव के वशीभूत होने के कारण, उस रथ को ऊपर के सातों लोकों को प्राप्त मानने लगे। श्रीकृष्ण के चरणोपासक भक्तजन उस समय रथ को वैकुण्ठगत मानने लगे। पहले भी श्रीकृष्ण ने यमुनाजी के ब्रह्मह्रद के द्वारा सभी गोप जिस गोलोक की गति (स्वरूप) को पहुँचा दिये थे, इस समय वे ही गोप वृन्दावन के बीच में उसी गति को सुखपूर्वक प्राप्त हो गये। उस गोलोक को अच्छी प्रकार जाननेवाले गोपगण उस गति को, अर्थात् प्राप्य अपने लोक को उत्तमरूप से देखने लग गये ॥३४६॥

वहाँपर व्रजराज के पिता श्रेष्ठ श्रीपर्जन्य आदि जो पहले अदृश्य हो गये थे, वे भी वहीं दिखाई देंगे। यही आश्चर्य होगा ॥३४७॥

और उसके बाद कल्पवृक्ष एवं अनेक प्रकार की लताओं के सहित मनोहर निकुञ्ज आदि से प्रशंस-नीय श्रीवृन्दावन के मध्य में, श्रेष्ठ चिन्तामणियों के द्वारा विस्तारित भवनों के कारण, चित्तवृत्ति को चुरानेवाले, गोपों के निवासरूप गोलोक मे, श्रीबलराम आदि सखाओं के सहित, कामधेनुरूप गोगण के अनुगमन करने के कौतुकी, लाखों लक्ष्मियों के समान शोभावाली गोपियों के प्राणधनस्वरूप, एवं गोपों के रक्षक श्रीव्रजराज के कुमार, श्रीकृष्ण अत्यन्त उत्कर्ष को प्राप्त हो रहे हैं। उनकी सदा जय हो ॥३४८॥

तदनन्तर स्निग्धकण्ठ बोला—भैयाजी ! उसके बाद क्या होगा ? मधुकण्ठ बोला—इसी प्रकार श्रीनारदजी ने दूसरा वृत्तान्त का भी वर्णन किया। पश्चात् व्रज के सुखों की वर्षा करनेवाले श्रीमान् कृष्ण-चन्द्र एवं श्रीमान् देवर्षि नारदजी, दोनों ही परस्पर हर्षित होकर, प्रेमाश्रुओं के सहित रोमाञ्च आदि से

श्रीमद्व्रजेन्द्रनन्दनस्तु तत्कथापर्यन्तानन्देन पर्याप्तः सर्वं तद्दुःखजातमाच्छन्नतामापन्नमेव चकार। तत्र भगवन्तः श्रीदेवर्षिचरणा यद्यद्भावितया समुद्भावितवन्तस्तत् सर्वममूदेव ॥३४९

"तदनन्तरमपि यथा व्रजस्य राज्ञानुज्ञापितम्; तथा वासुदेवप्रसादाद्वसुदेवप्रवीणानां तद्वर्त्मवीक्षादीनानां दारुककथित-तत्तद्वृत्ताभोगभोगपीनानां स्वल्पकालतामापकमायाधीनानां तदागमनाशया बहिरेवासीनानां तदिष्टसिद्धिरिन्धाम्बमूवेति ॥"३५०॥

तदेवमाकर्ण्य सर्वेऽपि सभासदः प्रोचुः,—"ततस्ततः ?" मधुकण्ठ उवाच,—"ततश्च सर्वसुखारामाभ्यां श्रीरोहिणीरामाभ्यां गोपोचितवेषाद्यभिनिवेशलब्धसखिगणप्रवेशोद्धवेनोद्धवेन च सार्धमस्मिन्नेव गोलोकनामके परमदुरवलोके लोके परमविभववतां भवतां मध्ये विभवन्नेव सोऽयं विराजते ॥"३५१॥

पुनः सर्वेऽप्यूचुः,—"ततस्ततः ?" मधुकण्ठ उवाच,-"ततश्च सर्वतः प्रसरदमन्द-भवदानन्दकल्लोललोलन्मनस्तया वयमप्यागम्य भवद्भवदीयकृपामात्रगम्यं रम्यं वासवर्यमजर्यसङ्गममासादयाम ॥"३५२॥

युक्त होकर, स्नेह भरे संवाद के विच्छेद के कारण, विशेष खेद पाकर, धीरे धीरे अलग होकर, अपने अपने मार्ग का अनुसरण करने लगे । श्रीमान् व्रजराजनन्दन ने तो गोलोक प्राप्ति की कथापर्यन्त के आनन्द से परिपूर्ण होकर, व्रजवासियों के विरह से उत्पन्न हुए सम्पूर्ण उस दुःखसमूह को आवृत कर लिया, अर्थात् ढक लिया । उस कथाप्रसङ्ग में भी उत्पत्ति प्रलय आदि के ज्ञान से सम्पन्न, पूज्यपाद देवर्षि श्रीनारदजी महाराज ने जो जो चरित्र, आगामीरूप से उत्थापित किया था, वह सम्पूर्ण चरित्र हो ही गया है ।।३४९।।

उसके बाद श्रीव्रजराज ने भी जैसे अनुज्ञा दी, उसी प्रकार श्रीकृष्ण के अनुग्रह से श्रीवसुदेवजी हैं प्रवीण जिनमें, एवं श्रीकृष्ण के आने के मार्ग को देखने से जो पल पलपर दीन हो रहे थे, और दारुकके द्वारा कहे हुए श्रीकृष्ण के उस उस वृत्तान्त की परिपूर्णता के सेवन से जो मोटे हो गये थे, तथा जो थोड़े से समय के भाव की ज्ञापक माया के, अर्थात् श्रीकृष्ण की इच्छारूप कृपा के अधीन थे, और श्रीकृष्ण के आगमन की आशा से जो द्वारकापुर से बाहर ही बैठे थे, उन द्वारकावासियों की इष्टसिद्धि प्रकाशित हो गई ।।३५०।।

इस प्रकार के चरित्र को सुनकर, सभी सभासद् बोले—उसके बाद क्या हुआ कहिये ? मधुकण्ठ बोला—उसके बाद सभी के सुखों की विश्रामभूमिस्वरूप श्रीरोहिणी एवं श्रीबलरामजी के सहित, और गोपोचित वेषभूषा आदि में अभिनिवेश के कारण, श्रीकृष्ण के मित्रमण्डल में प्रवेश प्राप्त करने से जिनको उसत्व प्राप्त होता है, ऐसे श्रीउद्धवजी के साथ, अभक्तों के लिए सर्वथा अदृश्य, गोलोक नामक इसीलोक में परमवैभवशाली आप सबके बीच में, अपने माधुर्यादिगुण से योग्यता को प्राप्त होते हुए, वे ही श्रीकृष्ण विराजमान हैं ।।३५१।।

पुनः सभी बोले—उसके बाद, उसके बाद ? मधुकण्ठ बोला—चारों दिशाओं में फैलते हुए आप सबके महान् आनन्द की तरङ्गों से चञ्चलचित्त होने के कारण हम भी यहाँ आकर, आप एवं आप सब व्रजवासियों के भक्तों की कृपामात्र से प्राप्य, अविनाशी संयोग से युक्त, रमणीय श्रेष्ठ निवासस्थान को प्राप्त कर सके हैं ।।३५२।।

श्रीव्रजराज उवाच,—"कथं कथमिति कथ्यताम् ।" मधुकण्ठ उवाच,—"पूर्वं तावदस्मदीयानां दुष्प्रारब्धवशादद्यश्वश्चिचलिषयात्राऽऽशुयात्रायां विलम्बनमासीत् । तत्र च सति श्रीमद्व्रजप्राणस्य यदुषु संक्रमणमवकर्ण्य प्राणवियोजनमिवासीत्, चिराय तु व्रजे तत्प्रतिसंक्रमणश्चाकर्ण्य सद्यश्चलितुमुद्यमे कृतप्रक्रमे तदनुगतव्रजजनस्य तस्य मर्त्यलोकालोकपथादन्तर्धानमवधार्य वारिधिप्रवेशमुद्यच्छतां दयार्वाषश्रीदेवर्षि-चरणाचरितनिदेशमुपनिषत्कृत्य जीविकाकृत्य च श्रीवृन्दावनागमनं जातम् । जाते चागमने तत्तत्पदं कृष्णरूप्यक्रीडास्पदतया निरूप्य मूर्च्छानन्तरं जागरमृच्छतामस्माकमकस्मादत्रानुप्रवेशः कथं जात इति न याथातथ्यं प्रथयितुं शक्यते स्म ।।"३५३।।

सर्वे साश्चर्यमूचुः,—"ततस्ततः ?" मधुकण्ठ उवाच,—"ततो भवच्चरणराजीवलोकनतः पुनर्जीवनलाभोपक्रमेण क्रमेण च भवदुपसेवनाय श्रीगोपाल-पूर्वचम्पूं सम्पूर्णयन्तस्तदिदं सुदिनाहमासीसदामेति किंवान्यत् कथनीयम् ?" ।।३५४।।

तदेतदुक्त्वा समापनमिदं पद्यं निगद्य पणायति स्म,—

"सोऽयं गोपेन्द्र ! पुत्रस्तव महितमहीयःसु शश्वन्महीय्य-
स्त्वन्नानाबन्धुतानामपि विविधतया बन्धुताबद्धबुद्धिः !

श्रीव्रजराज बोले—इस गोलोक में तुम सब कैसे कैसे आये हो, सो कहो ? मधुकण्ठ बोला—पहले तो हमारे खोटे प्रारब्ध के कारण, आज चलेंगे या कल चलेंगे, इस प्रकार की इच्छा से युक्त चला चली की शीघ्र यात्रा में विलम्ब हो गया था, और उस विलम्ब के होते ही, व्रज के प्राण श्रीमान् श्रीकृष्ण का (मथुरा में जाकर) यदुवंशियों में मिलना सुनकर, हमारे प्राण निकल से गये थे । बहुत समय के बाद व्रज में श्रीकृष्ण के प्रतिसंक्रमण (लौटकर आने) को सुनकर, शीघ्र चलने के लिए उद्यम के आरम्भ करनेपर, श्रीकृष्ण के अनुगत व्रजवासियों का मर्त्यलोक के दर्शनमार्ग से अन्तर्धान सुनकर, निश्चय कर हम सब (प्राण त्यागने के लिए) समुद्र में प्रवेश का उद्योग कर रहे थे, इतने में ही (हमारे सामने प्रगट हुए) दया की वर्षा करनेवाले पूज्यपाद देवर्षि श्रीनारदजी द्वारा दी हुई आज्ञा को, उपनिषद् की तरह प्रमाण मानकर, जीविका की तरह जीवन का उपाय मान करके, हमारा श्रीवृन्दावन में आगमन हो गया । और आगमन के हो जानेपर, उस उस स्थान को श्रीकृष्ण की भूतपूर्व क्रीडा का आश्रयरूप से देखकर, पहले मूर्च्छा को, पश्चात् जागरण को प्राप्त होते हुए, हम लोगों का इस गोलोक में अकस्मात् अनुप्रवेश किस प्रकार हो गया, यह बात यथार्थरूप से नहीं कही जा सकती ।।३५३।।

सभी आश्चर्यपूर्वक बोले—उसके बाद. उसके बाद ? मधुकण्ठ बोला—उसके बाद आप सबके चरणकमलों के दर्शन से, पुन: जीवन लाभ के उपक्रम के द्वारा, क्रमश: आपकी सेवा करने के लिए, 'श्रीगोपालचम्पू' की पूर्वचम्पू को सम्पूर्ण करते हुए, हम आज इस सुन्दर दिन को प्राप्त कर पाये हैं। अत: और कौन सा चरित्र कहने योग्य है ? सो आज्ञा दीजिये ।।३५४।।

मधुकण्ठ इतना कहकर समाप्तिसूचक अग्रिम श्लोक को बोलकर स्तुति करने लगा—हे गोपेन्द्र ! यह जो तुम्हारा पुत्र है, वह पूजनीय व्यक्तियों में जो श्रेष्ठ व्यक्ति हैं, उन सब में भी निरन्तर पूजनीय है । और तुम्हारे साथ जिन व्यक्तियों की नानाप्रकार की बन्धुता (मित्रता) है, उनके साथ भी तुम्हारे पुत्र की बुद्धि अनेक प्रकार से बन्धुता में बद्ध है । और शिव ब्रह्मा आदि देवताओं के अन्त:करण में यावत् ध्येय

यस्माल्लब्धा भवन्तः शिवकमलभवाद्यन्तरध्येयवर्गाद्-
दूरं धाम प्रभावं विभवमपि महाप्रेममाधुर्यमत्र ॥"३५५॥

तदेतदुक्त्वा भ्रातरं प्रत्युवाच,—

"गोपालयशसा स्पृष्टं यन्मृष्टं सूतजन्म च । तत्तु स्पर्शमणेर्जातं जातरूपमयोऽपि नः ॥३५६॥

"तथा हि— अत्र श्रीव्रजराजराजितसभामध्ये क्रमध्येयता-
साध्ये श्रीहरिरेष रामसहितः प्रत्यक्षतामागतः ।
तत्रापि स्वकथा-प्रथां कथयितुं नः सम्यगादिष्टवान्
कारुण्यं किमथास्य वर्ण्यमसकृत् पुण्यं च किं नः सखे ! ?"३५७॥

तदेवं श्रीव्रजदेवकुमार-सुकुमारमुखमभिपश्यन्नंकुरवत्पुलककुलसंकुल-कलेवरताबलेन पुनर्जुनतामर्जयन्निव ततश्च स्तम्भसम्भजनमतिगम्भीरकम्पसम्पत्-सम्पतन-साम्प्रततया लुम्पन् पतन्निव पुनश्च निर्निमिषतानिर्मित-सुपर्वतामात्मनि पर्वन् पूर्वावस्थामवस्थापयन्निव समनन्तरं च लब्धप्रपञ्च-नवनवदलवलयवलित-वल्गुपुट-शोभालोभाकर-करसम्पुटमनूनवाष्पनव्यदिव्य-प्रसूनपूर्णं कुर्वन्नुपहरन्निव सस्निग्धकण्ठः स मधुकण्ठः पूर्ववदेव पूर्वदेव-मात्रा-रुचिकरं वरं वरयामास,—॥३५८॥

ज्ञेय पदार्थवर्ग है, उससे भी दूर, अर्थात् अलभ्य सर्वोपरि प्रभावशाली गोलोकधाम को, आप सब जिस कृष्ण से ही प्राप्त हो गये हो, एवं इस गोलोक में लोकोत्तर ऐश्वर्य एवं लोकोत्तर महाप्रेम के माधुर्य को भी जिस कृष्ण के द्वारा प्राप्त हो गये हो, वही अनिर्वचनीय श्रीकृष्ण तुम्हारा वशवर्ती पुत्र है । अतः आप ही स्तुति करने योग्य हैं ॥३५५॥

इतना कहकर अपने छोटे भाई स्निग्धकण्ठ के प्रति बोला—भैया ! देखो, हमारा तुम्हारा जो सूत-कुल का जन्म है, वह श्रीगोपालजी के यश से स्पर्श पाकर, केवल पवित्र ही नहीं हुआ, अपितु वह स्पर्शमणि (पारस पत्थर) के स्पर्श से लोहे की तरह सुवर्ण (पक्षे—सुन्दरवर्णवाला) भी बन गया है ॥३५६॥

देखो, भैया ! सर्वप्रथम श्रीगोलोक ध्येय है, पश्चात् परकोटाओं के सहित सात कक्षाओं से सुसज्जित श्रीव्रजराज आदि का अन्तःपुर ध्येय है, उसके पीछे यह सभा ध्येय है । अतः इस गोलोक में इस प्रकार के क्रम की ध्येयता के साध्य एवं श्रीव्रजराज से विराजमान इस सभा के बीच में, श्रीबलरामजी के सहित ये श्रीकृष्ण हमें साक्षात्कार को प्राप्त हो गये । और उसमें भी अपनी कथा की प्रथा (परिपाटी या प्रसिद्धि) को कहने के लिए हमको स्वयं अच्छी प्रकार आज्ञा दी । अतः इन श्रीहरि की दयालुता और हमारा पुण्य बारंबार वर्णन किया जा सकता है क्या ? कदापि नहीं ॥३५७॥

अतएव इस प्रकार श्रीव्रजराजकुमार के सुकुमार श्रीमुख को सर्वतोभाव से देखता हुआ, मधुकण्ठ स्निग्धकण्ठ के सहित अंकुरों की तरह पुलकावली से व्याप्त, शारीरिक बल के कारण मानो पुनः यमलार्जुनभाव को प्राप्त करता हुआ, अर्थात् रोमाञ्चित होने के कारण "पहले नारदजी के शाप से प्राप्त हुए यमलार्जुन वृक्ष की तरह" स्थावरभाव को प्राप्त होता हुआ, उसके बाद अत्यन्त गम्भीर कम्परूप सम्पत्ति की धारा के औचित्य के कारण, स्तम्भभाव की प्राप्ति का लोप करता हुआ, अर्थात् दूर करता हुआ, गिरता हुआ सा पुनः निर्निमेषभाव से निर्मित देवभाव को (देवत्व को) अपने में प्राप्त करता हुआ, एवं स्थिरचित्तवाली पहली सी अवस्था को अपने में स्थापित करता हुआ, और तदनन्तर विस्तार को प्राप्त हुए नये नये पत्रसमूह से युक्त, मनोहर पत्रपुट (दोना) की शोभा को लुभाने के उत्पत्ति स्थानस्वरूप,

"वाणी कंसरिपो ! तवानुकथनं कर्णौ कथाकर्णनं
हस्तौ सन्ततसेवनं हृदयमप्युत्कण्ठया धारणम् ।
शीर्षं गोकुलवस्तुमात्रनमनं दृष्टी समस्तव्रज-
प्रेष्ठानां स्थितिवीक्षणं च भजतां नौ नैव तत्तद्बहिः ॥"३५९॥

तदेवं लब्धभक्तिप्रपञ्चं तं च तं च कुब्जन्मनसं भूयो भूय आहूय प्रमदव्रजविराजमानः श्रीमान् व्रजराजः सभाजन-भाजनतया निजसमीपमापयामास, समुपवेशयामास च; तेन च सर्वमपि समाजं शर्मणा भ्राजयामास ॥३६०॥

ततश्च, पुण्ड्रं पूर्वाङ्गचर्चा निजमणिवलितालंकृतिर्दिव्यताम्बू-
लाग्र्यं प्राग्र्य-स्व-वस्त्रव्रततिरिति बहु स्वात्मनैवोपयुज्य ।
गन्त्र्यो वाहाः समन्तात् परिजनजनताः स्पृह्यगृह्यादिवस्तू-
न्येतान्यन्यैः समर्प्य द्वयमभिहितवान् श्रीलगोलोकराजः ॥३६१॥

"अद्यारभ्यानुपाल्येत लाल्येन भवतोर्द्वयम् ।
अस्य मात्रा तथा माता तद्वत् पित्रा मया पिता ॥"३६२॥

अपने करसम्पुट (अञ्जलि) को परिपूर्ण अश्रु बिन्दुरूप नवीन दिव्यपुष्पों से पूर्ण सा करता हुआ, एवं उस अञ्जलि को मानो श्रीकृष्ण के चरणों मे भेंट करता हुआ, पूर्वदेवमात्रा (असुर—विनाशक) श्रीकृष्ण से पहले की तरह अपना मनभाया वर माँगने लगा ॥३५८॥

यथा—हे कंसारे ! हम दोनों भाइयों की वाणी तुम्हारी कथा कहने को प्रवृत्त होती रहे, एवं कर्ण-युगल तुम्हारी कथा का श्रवण करते रहें, दोनों हाथ निरन्तर सेवा करते रहें, हमारा हृदय भी उत्कण्ठा-पूर्वक तुमको धारण करता रहे, हमारा मस्तक गोकुल की वस्तुमात्र को नमस्कार करता रहे, एवं हमारे दोनों नेत्र समस्त व्रजवासियों के अतिशय प्रियपदार्थों का मर्यादापूर्वक दर्शन करते रहें, यही वरदान दीजिये, प्रभो ! किन्तु इससे भिन्न विषय को हम दोनों की तत्तत् इन्द्रियाँ कभी भी सेवन न करें, यही प्रार्थना है ॥३५९॥

इस प्रकार भक्ति के विस्तार को प्राप्त करनेवाले, एवं अतिशय नम्रता से संकुचित मनवाले, मधुकण्ठ एवं स्निग्धकठ को बारंबार बुलाकर, हर्षसमूह से विराजमान श्रीमान् व्रजराज ने, सम्मान के पात्र होने के कारण अपने निकट प्राप्त करा लिया, एवं दोनों को अच्छी प्रकार बैठा लिया । इस प्रकार के सम्मान के द्वारा सभास्थित सारे समाज को सुख से विराजमान कर दिया ॥३६०॥

और उसके बाद तिलक, नाभि से ऊपर के सारे शरीर की शोभा की सामग्री, अपनी प्रसादीमणियों से युक्त अलंकार, दिव्य एवं श्रेष्ठ ताम्बूल, श्रेष्ठ श्रेष्ठ अपने वस्त्रों की श्रेणी, इत्यादि बहुत सी वस्तु अपने आप समर्पण कर, तथा अनेक गन्त्री (छोटी छोटी बैलगाड़ी), अनेक घोड़े, चारों ओर सेवा करनेवाले सेवक-वर्ग, एवं वांछनीय घर के कार्य के योग्य अनेक वस्तुएँ, अन्य सेवकों के द्वारा दिलवा कर, श्रीमान् गोलोक-राज श्रीनन्दजी ने दोनों कथावाचकों से कहा—॥३६१॥

देखो, भाइयो ! आज से लेकर तुम दोनों का लालन पालन तो हमारे लाला श्रीकृष्ण करेंगे, एवं श्रीकृष्ण की माता तुम्हारी माता का पालन करेगी, तथा उसी प्रकार श्रीकृष्ण का पिता, अर्थात् मैं, तुम दोनों के पिता का पालन करूँगा ॥३६२॥

जयध्वनियुतास्तदा ववृषुरुद्धताः सद्धनं, यथा बत सदःसदस्तदवगाह्य बाह्यं गृहम् ।
तथान्तरगता यतश्चपलमेव तत्-पूरितं, स्थलं किल कृतक्रियं व्यसृजदात्मलब्धान् जनान् ॥३६३

तदेवं कथासातौ दत्तसातौ मधुकण्ठ-स्निग्धकण्ठौ सदैव लब्धकृष्णोपकण्ठौ च तद्विलास-विलोकनोत्कण्ठौ प्रतिक्षणममन्दपरमानन्दमनुविन्दमानावेव विराजेते ॥३६४॥

अत्र पूर्वमापाततः सुदुर्बोधताशङ्कया यद्यपि न वर्णितस्तथाप्यस्यां श्रीगोलोककृतप्रभायां सभायां शान्तवेशतया पुरोधसां मध्यसंबध्यमानासनः सुखाकृतसर्वस्वजनः सर्वेषामग्रण्यः श्रीमान् पर्जन्यः पर्जन्य इव सर्वसुखं वर्षन्नासीत् । वरीयसी वरीयसी चान्तःसभायां तथा लब्धप्रभा समवर्तत । श्रीमानुद्धवश्च सर्वेषामुद्धव एवाजनीति सर्वजनीनं सुखं कियद्वर्णनीयम् ? ॥३६५॥

रहस्यं पुनरिदं रस्यमानं विधीयताम् ॥३६६॥

वृन्दारण्याभिधाने सरसि सरसिजश्रेणिलक्ष्मीषु गोपी-
ष्वेका राधाभिधा सा विभवति सततं दिव्यसौगन्धिकश्रीः ।
भ्राम्यन् यामेव लब्धुं व्रजपतितनयश्चार्वमूर्वत्र्मवृत्तीः
सर्वा निर्माय यस्यामलिरिव कलया केलिमुच्चैस्तनोति ॥३६७॥

आहा ! कैसा आनन्द का विषय है कि, उस समय सभी सभासद् हर्ष से उद्धत होकर जय जयकार करते करते, सभा के बाहर के घर में, अर्थात् बरामदे में आकर, जिस प्रकार श्रेष्ठ धन की वर्षा करने लगे, उसी प्रकार सभा के भीतरवाले व्यक्ति जिस दानको देखकर, शीघ्र ही श्रेष्ठ धन से भरे हुए स्थान में आकर खड़े हो गये । और वह स्थल ही मानो हाथ का इशारा करता हुआ अपने आप आये हुए जनों को दान देने लगा ॥३६३॥

इस प्रकार कथा समाप्त हो जानेपर, सभी को सुख देकर मधुकण्ठ एवं स्निग्धकण्ठ दोनों ही, सदैव के लिए श्रीकृष्ण की समीपता पाकर, श्रीकृष्ण के लीलाविलासों को देखने के लिए उत्कण्ठित होकर, प्रतिक्षण महान् परमानन्द को प्राप्त करते हुए सभा में ही विराज रहे हैं ॥३६४॥

इस ग्रन्थ में पहले सभा के वर्णन प्रसङ्ग में, आपाततः अत्यन्त समझ में न आने की आशंका से यद्यपि श्रीपर्जन्यबाबा का बैठना वर्णन नहीं किया था, तथापि श्रीगोलोक की शोभाकारिणी इस सभा में, शान्त वेष से पुरोहितों के बीच में आसन लगाकर, सभी आत्मीयजनों को सुख के अनुकूल वनाकर, सभी के अग्रगण्य श्रीमान् पर्जन्यबाबा मेघ की तरह, सभी सुखों की वर्षा करते हुए विराजमान थे। और अत्यन्त श्रेष्ठ वरीयसी नामक श्रीपर्जन्यबाबा की धर्मपत्नी भी, अन्तःपुर की सभा में उसी प्रकार शान्त वेष से शोभा को प्राप्त होकर विराजमान थीं । और श्रीमान् उद्धव तो सभी के उत्सवरूप ही हो गये थे । अतः सर्वजन हितकारक सुख कितना वर्णन किया जा सकता है ? ॥३६५॥

किन्तु सभी श्रोता वक्ता इस अग्रिम रहस्य का रसास्वादन करें ॥३६६॥

देखो, यह श्रीवृन्दावन नामक वन ही मानो दिव्य सरोवर के समान है । इसमें ललिता, विशाखा, चन्द्रावली आदि अनन्त व्रजलक्ष्मी ही मानो विकसित कमलश्रेणी के समान हैं, इन सब गोपियों के बीच में, दिव्यकमल की सी शोभावाली एक वे श्रीमती राधा नामक दिव्यकमलिनी ही, निरन्तर उत्कर्ष को प्राप्त हो रही हैं । और भ्रमर जिस प्रकार साधारण कमलों को त्यागकर कमलिनी में ही विहार करता है, उसी प्रकार व्रजराजनन्दन श्रीकृष्ण जिन श्रीराधिका को प्राप्त करने के लिए ही, भ्रमण करते करते

श्रीकृष्ण ! कृष्णचैतन्य ! ससनातनरूपक ! । गोपाल ! रघुनाथाप्त ! व्रजवल्लभ ! पाहिमाम् ॥ ३६८
संवत्पञ्चकवेदषोडशयुतं शाकं दशेष्वेकभाग्-, जातं यर्हि तदाखिलं विलिखिता गोपालचम्पूरियम् । वृन्दाकाननमाश्रितेन लघुना जीवेन केनापि तद्-, वृन्दाकाननमेव सम्भृतिकलां धत्तां समन्तादिह ॥३६९॥

प्रायः सर्वा हरेर्लीलाः क्रमशः सूचिता मया । यथास्वं लब्धरुचिभिरुपास्यन्तां महात्मभिः ॥३७०॥

इति श्रीश्रीमन्माध्वगौडेश्वरसंप्रदायाचार्यवर्येण हस्तामलकवन्निजहृदयविन्यस्तसमस्तसद्ग्रन्थ-
तात्पर्येण वेद-वेदाङ्ग-षड्दर्शनेतिहास-पुराण-स्मृति-वाकोवाक्य-काव्यालंकारादि-
निखिलशास्त्रपारावाराऽवारपारीणेन सन्देहग्रन्थिच्छेदनसमर्थेन वैष्णव-
सिद्धान्तसाम्राज्यसंरक्षकेन श्रीमद्रूप-सनातनानुगतेन
श्रीमद्वल्लभात्मजेन जीवजीवातुना
श्रीजीवगोस्वामिना विरचितायां
श्रीमद्गोपालपूर्वचम्प्वां सर्वमनोरथपूरणं नाम त्रयस्त्रिंशं पूरणं सम्पूर्णम् ॥३३॥

रमणीय भाव से उन सब गोपियों को, मार्ग की पाथेयरूप बनाकर या सोपानश्रेणीरूप (सीढ़ी की पंक्तिरूप) बनाकर, चौसठ कला (विशेष विवरण उत्तरचम्पू ८।७१ में देखिये) से उपलक्षित होकर, जिन श्रीमती राधिका में ही विशेषतापूर्वक क्रीडा का विस्तार करते रहते हैं ॥३६७॥

ग्रन्थसमाप्ति में भी ग्रन्थकार मङ्गलाचरण करते हैं—हे श्रीकृष्ण ! हे श्रीकृष्णचैतन्य ! हे श्रीसनातनगोस्वामि-सहित श्रीरूपगोस्वामिन् ! हे श्रीगोपालभट्टगोस्वामिन् ! हे श्रीरघुनाथदास गोस्वामिन् ! हे आप्तव्रजवल्लभ ! मेरी रक्षा करो प्रभो ! (इसकी विशेष व्याख्या आरम्भ में है) ॥३६८॥

ग्रन्थकार ग्रन्थकी समाप्ति के समय का निरूपण करते हैं—जिस समय विक्रम संवत् १६४५ एवं शकाब्द १५१० प्रारम्भ हो गया, उसी समय श्रीवृन्दावन का आश्रय लेनेवाले किसी छोटे से जीवने (यह ग्रन्थकार की दैन्योक्ति है) स्तुतिपक्ष में तो—'लघु क्षिप्रमरं द्रुतं' एवं 'त्रिष्विष्टेऽल्पे लघुः' अमरकोष के इस प्रमाण के अनुसार यह अर्थ होगा कि—शीघ्रतापूर्वक रचना करनेवाले, एवं भक्ति का गूढ रहस्य प्रतिपादन करने के कारण, भक्तों के इष्टस्वरूप एवं जीवनरूप श्रीजीव गोस्वामीजी महाराज ने यह गोपालचम्पू सम्पूर्णरूप से लिख दी थी, इस ग्रन्थ में श्रीवृन्दावन ही चारों ओर से परिपूर्णता की पुष्टि धारण करता रहे ॥३६९॥

ग्रन्थकार पाठकों से निवेदन करते हैं कि—मैंने श्रीकृष्ण की सभी लीलाएँ प्रायः क्रम से ही सूचित की हैं । अतः दास्य, सख्य, वात्सल्य आदि रसों में रुचि को प्राप्त करनेवाले महात्माजन यथायोग्य स्वेच्छापूर्वक उन उन लीलाओं की उपासना करें, अर्थात् उन उन लीलाओं का सेवन करें ॥३७०॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रिणा विरचितायां श्रीकृष्णानन्दिनी-
नाम्नी भाषाटीकायां सर्वमनोरथपूरणं नाम त्रयस्त्रिंशं
पूरणं सम्पूर्णम् ॥३३॥

कैशोरविलासः सम्पूर्णः ।

श्रीगोपालपूर्वचम्पूः सम्पूर्णा ।

टीकाकार का नम्र निवेदन—

श्रीकृष्णानन्ददासानुचरविरचिता टीकिकेयं समाप्ता
भक्तानां सौख्यदात्री प्रतिपदममलप्रेमपीयूषपात्री ।
दृष्ट्वेमां गद्यपद्यप्रकटनचतुरां भावुका ! भावसिन्धौ
स्नात्वा पूर्वं ततो मां स्नपयत कृपया बालकं मातृकेव ॥१॥

यान् यान् भावान् स्फोरयामासुरस्या,- श्चम्वा मेऽन्तर्जीवगोस्वामिपादाः ।
ते ते न्यस्ताष्टीकिकायां मयास्यां, वर्षं यावत् पूर्तिपात्रं गतायाम् ॥२॥

स्वान्तः सुखाय लिखिता ननु टीकिकेयं, स्यादेव भिन्नजनतासुखशान्तिहेतुः ।
सेतुः स्वकावतरणाय विनिर्मितोऽपि, स्यादेव भिन्नजनतातरणाय हेतुः ॥३॥

श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी भाषाटीकाऽऽप्तनिर्वृतिः ।
यन्नाम्ना निर्मिता सेयं सोऽयं नित्यं प्रसीदतु ॥४॥

स्वाचार्यवर्यकरपंकजयुग्ममध्ये, चम्पूरियं सविवृतिः परिकल्प्यते नु ।
गोलोकगोऽपि सुविलोक्य च दिव्यदृष्ट्या, दृष्ट्याऽऽद्रया स्वकरुणां मयि स प्रकुर्यात् ॥५॥

भावार्थ :—पूज्यपाद गुरुदेव श्री श्री १०८ श्री कृष्णानन्ददासजी महाराज के कृपापात्र (वनमालिदास नामक) एक लघुतर अनुचर के द्वारा विरचित यह (पूर्व गोपालचम्पू की) भाषाटीका सम्पूर्ण हो गई। यह टीका रसिक भक्तों के लिए परमसुखदायिनी है, एवं पद-पद पर निर्मल प्रेमरूपपीयूष की पोषिका है। हे भावुक सज्जनो ! आपके श्रीचरणों में मेरी करबद्ध प्रार्थना है कि, प्रथम तो श्रीगोपालचम्पू के गद्य एवं पद्यों के भाव को प्रगट करने में चतुर इस टीका को देखकर, भावरूपी सिन्धु में स्वयं गोता लगाकर, तदनन्तर भावमयी माता जैसे अपने बालक को स्नान कराती है, उसी प्रकार मुझ बालक को भी भावसिन्धु में कृपया स्नान करा देना ॥१॥

पूज्यपाद श्रीजीवगोस्वामीजी महाराज ने मेरे अन्तःकरण में इस पूर्वगोपालचम्पू के ~~निज निज~~ जिन जिन भावों को स्फुरित किया है, मैंने एक वर्ष में परिपूर्ण होनेवाली इस भाषाटीका में उन्हीं उन्हीं भावों को स्थापित कर दिया है ॥२॥

यह टीका मैंने स्वान्तः सुखाय लिखी थी, तो भी मुझ से भिन्न जनता के भी सुख एवं शान्ति की हेतु हो ही जायगी। उसमें दृष्टान्त यह है कि—केवल अपने पार होने के लिए बनाया गया भी सेतु (पुल), बनानेवाले व्यक्ति से भिन्न जन समुदाय के भी पार जाने का कारण बन ही जाता है ॥३॥

श्रीकृष्ण को आनन्दप्रद होने के कारण, या "नामैकदेशे नाममात्रग्रहणं" इस न्याय के अनुसार 'श्रीकृष्णानन्ददास' नामक हमारे श्रीगुरुदेव को आनन्ददायिनी होने के नाते—'श्रीकृष्णानन्दिनी' नामवाली यह भाषाटीका, आप्तजनों को परमसुखदायिनी है। अतः यह टीका जिनके नाम से बनाई गई, वे श्रीकृष्ण एवं हमारे पूज्य गुरुदेव मुझ दीन हीन पर नित्य प्रसन्न होते रहें ॥४॥

अब व्याख्या सहित इस पूर्वचम्पू को मैं अपने श्रीगुरुवर्य के दोनों करकमलों में सादर समर्पित करता हूँ। इस समय दिव्यधाम श्रीगोलोक में विराजमान भी मेरे श्रीगुरुदेव दिव्य दृष्टि से इसका अवलोकन करके स्नेहमयी दृष्टि से मेरे ऊपर अपनी अहैतुकी कृपा करते रहें। यही मेरी उनके श्रीचरणों में करबद्ध प्रार्थना है ॥५॥

श्रीरामकृष्णौ विजयेतेतमाम्

श्रीमध्वगौरांगौ जयतः

श्रीश्रीमन्माध्वगौडेश्वरसंप्रदायाचार्यवर्येण हस्तामलकवन्निजहृदयविन्यस्त–
समस्तसद्ग्रन्थतात्पर्येण वेद–वेदाङ्ग–षड्दर्शनेतिहास–पुराण–स्मृति–
वाकोवाक्य–काव्यालंकारादि–निखिलशास्त्रपारावाराऽवार–
पारीणेन सन्देहग्रन्थिच्छेदनसमर्थेन वैष्णवसिद्धान्त–
साम्राज्यसंरक्षकेन श्रीमद्रूप–सनातनानुगतेन–
श्रीमद्वल्लभात्मजेन जीवजीवातुना

श्रीजीवगोस्वामिना विरचिता

श्रीगोपालचम्पूः

(उत्तरचम्पूः)

"श्रीकृष्णानन्दिनी"

हिन्दी भाषाटीकाकारः

निखिलशास्त्रपारावारपारदृश्व–सख्यावताराष्टोत्तरशतस्वामिश्रीकृष्णानन्ददासजी–
महाराजानां शिष्यः काव्यवेदान्ततीर्थो घटिकाशतको वृन्दाटवीवसति–
लब्धकवित्वशक्तिः, महाकविः

श्रीवनमालिदासशास्त्री

प्रकाशकः
श्री नरोत्तम दास ब्रह्मचारी
श्रीगोपीनाथ गौड़ीय मठ,
पुरात्तन दाऊजी मन्दिर, गोपेश्वर रोड,
वृन्दावन (मथुरा), उ.प्र.

प्रथमावृतिः १००० प्रति (श्री श्रील वनमालिदास शास्त्रीजी द्वारा)
द्वितीयवृतिः १००० प्रति (श्रीगोपीनाथ गौड़ीय मठ द्वारा) १७ अक्टूबर, २००४
ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीमद् भक्ति प्रमोद पुरी गोस्वामी महाराजजी की
आविर्भाव तिथि (५१७ गौराब्द)

प्राप्ति स्थानः
१) श्रीगोपीनाथ गौड़ीय मठ, पुरात्तन दाऊजी मन्दिर, गोपेश्वर रोड, वृन्दावन
२) श्रीभक्ति प्रमोद वाणी निवास, ११७—सेवा कुञ्ज गली, वृन्दावन
३) श्रीराधादामोदर मन्दिर, सेवा कुञ्ज, वृन्दावन
४) श्रीकृष्णानन्द स्वर्गाश्रम, रेलवे फाटक के पास, वृन्दावन
५) खण्डेलवाल एण्ड सन्स, अठखम्बा बाजार, वृन्दावन

मुद्रकः रैक्मो प्रेस, नई दिल्ली

समर्पण

ॐ विष्णुपाद परमहंस परिव्राजकाचार्यवर्य अष्टोरत्तशत श्रीश्रीमद् भक्तिप्रमोदपुरी गोस्वामी महाराजजीके श्रीकरकमलोंमें (उनकी १०६वीं आविर्भाव तिथिके उपलक्ष्य में)

श्रीश्रीकृष्णचैतन्यचन्द्राय नमः

निवेदन

जय रूप सनातन भट्ट रघुनाथ। श्रीजीव गोपाल भट्ट दास रघुनाथ॥
एइ छय गोसाईर करि चरण–वन्दन। याहा हैते विघ्ननाश अभीष्टपूरण॥

श्रीश्रीगुरु–गौराङ्ग–गान्धर्विका–गिरिधारी श्रीश्रीराधा–गोपीनाथ तथा श्रीगौर–गदाधरकी अपार करुणा से 'श्रीगोपालचम्पुः' अनेक प्रकार की बाधाओं और विघ्नों को अतिक्रमकर संस्कृत भाषामें मूल तथा हिन्दी भाषाटीका सहित भक्तों की प्रसन्नता हेतु प्रकाशित हुआ। गौड़ीय वैष्णव समाज के निकट इस अमूल्य ग्रन्थ का परिचय प्रदान करना अनावश्यक है।

श्रील जीव गोस्वामी पाद स्वयं इस ग्रन्थ की रचना के विषय में कहते हैं कि मैंने "श्रीकृष्णसन्दर्भ" नामक ग्रन्थ में जिस सिद्धान्तरूपी अमृत का संग्रह किया था–उसी का–अब इस काव्यग्रन्थ निर्माणरूप–बुद्धिरूपिणी जिह्वा द्वारा आस्वादन करता हूँ।

"उसी सिद्धान्तरूप अमृत का आस्वादन करने वाला मैं इस काव्य रचना के बहाने अपने मन को भी काव्यतुल्य ही बनाता हूँ, अर्थात् मन को भी काव्यामृत का आस्वादन करने वाली जिह्वा के समान बनाता हूँ। परन्तु भक्ति प्रधान सत्काव्यानुशीलन परायण महात्मागण यदि मेरे द्वारा रचित इस ग्रन्थ को दृष्टिगोचर कर लेंगे तब तो मणिकांचन का सा संयोग हो जाएगा, अर्थात् सुवर्ण खचितमणि जिस प्रकार सबके नेत्रों को आश्चर्यान्वित कर देती है उसी प्रकार यह "गोपालचम्पूः" काव्य भी पण्डितजनों की दृष्टि को चकित कर देगा।

"श्रीकृष्णचन्द्र जिनको अपनी पूज्यकोटि में गिनते हैं उन्हीं श्रीनन्द, उपनन्द प्रभृति गोपगणों की सर्वतोभावेन प्रसन्नता के लिए विनिर्मित यह गोपालचम्पू नामक ग्रन्थ सर्वदा विद्यमान रहे। यद्यपि श्रीगोकुलवासी गोपगण बहुत समय से श्रीकृष्ण के साथ ही अन्तर्हित हो गए हैं तथापि श्रीरूप सनातन जैसे महात्माओं के सन्मुख तो आज भी श्रीनन्दादि गोपगणों का समूह लीला करता हुआ सर्वोत्कर्षपूर्वक विद्यमान है। तत्त्वतः श्रीब्रजवासी गोपगण अब भी ब्रज में लीला कर रहे हैं, जो चर्मचक्षुवालों के अगोचर हैं। अतः इस गोपालचम्पू से उनकी प्रसन्नता अवश्यंभाविनी है।"

इस ग्रन्थ की परिसमाप्ति करते हुए श्रील जीव गोस्वामी पाद अपनी विनम्रता को प्रकाशित करते हुए कहते हैं कि 'हे प्रभो! आप अपने शरणागत ब्रजवासीरूप जनता एवं हम जैसी भक्तजनता के आनन्दसमुदाय का विस्तार करने के लिए स्वयं प्रपञ्चातीत होकर भी, इस भूतलपर प्रपञ्च का अनुकरण करते हो। वस्तुतः "जन्म कर्म च मे दिव्यम्" के अनुसार आपकी लीलाएँ भी प्रपञ्चातीत है। आपकी कृपा बिना उनका स्वारस्य नहीं जाना जा सकता है।

"किन्तु रसों के स्थानस्वरूप इन रसिकजनों के निकट तो मेरा यही विज्ञापन है कि—श्रीशुकदेवजी ने श्रीराधिका आदि जो गोपियाँ 'काचित्' 'काचित्' इस प्रकार कहकर विशेष गुप्त कर दी थीं, उन्हीं गोपियों का नाम लेकर, रहस्यमयी गुप्तलीला को प्रकाशित करके मेरा

मन काँप रहा है। अर्थात् रासलीला के प्रसङ्ग में श्रीशुकदेवजी ने जिनका नाम नहीं लिया था, मैंने उन गोपियों का नाम क्रमशः लिख दिया है, अतः मेरा मन विशेष कम्पित हो रहा है।

"उसके बाद अपनी विनम्रता को प्रकाशित करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि—मैंने अपने गोपालचम्पू नामक काव्य में सभीरसों के संयोग को जनाते हुए महती धृष्टता कर दी है, यह मुझे कष्ट है। क्योंकि हाय! यह धृष्टता श्रीहरि एवं हरिप्रिया गोपियों के लिए बारंबार लज्जाजनक हो गई है। यदि (अथवा) धीर गंभीर विज्ञजन मेरे काव्य को जब दृष्टिगोचर करें, तब अपनी वाणी के गोचर न करें, अर्थात् जब नेत्रों से देखकर पढ़ें, तब वाणी द्वारा अरसिकजनों में इसका प्रकाश न करें। क्योंकि अपात्र में तत्त्वमात्र के जाने से अचिन्त्य अपराध की सम्भावना से भयभीत हुआ (श्रीजीवगोस्वामीरूप) यह कविजन इस प्रकार की चाटु (चापलूसी या विनय) प्रगट कर रहा है।

"अथवा 'मेरा यह काव्य सरस है' इस प्रकार जनाते हुए मैंने जो धृष्टता की है, वह कष्टरूप है। हाय! वह धृष्टता ब्रजाङ्गनारूप कुलाङ्गनाओं के लिए बारम्बार लज्जाकारक भी है, तो भी वे कुलाङ्गनाएँ उस लज्जा के स्पर्श से रहित हो सकती है, कारण वे तो महाकवियों की बुद्धि की (काव्यरूप) सम्पत्ति की बाड़ से घिर कर, अथवा कवियों का अतिक्रमण करनेवाली अपनी बुद्धिरूप सम्पत्ति के घेरे से घिर कर, संसारीजीवों के चित्त से दूर एकान्त में श्रीहरिसेवा कर रही हैं। अतः हमारी उस प्रकार की धृष्टता में कोई दोष नहीं है, यह तात्पर्य है।"

श्रीब्रह्मसंहिताके ३७वें श्लोकके 'निजरूपतया' पदकी सुविस्तृत व्याख्यामें श्रील भक्तिविनोद ठाकुरने श्रीरूप गोस्वामीपादके परकीय-सिद्धान्त तथा श्रीजीव गोस्वामीके स्वकीय-सिद्धान्तके विषयमें जो अत्यन्त सूक्ष्मतम विवेचन द्वारा सुसामञ्जस्य स्थापन किया है, वह अत्यन्त आश्चर्यजनक सुमहान कार्य है। 'निजरूपतया'—अर्थात् ह्लादिनी-शक्तिकी वृत्तिसमूह एक-एक कलाके रूपमें प्रकटित हैं। वे कलाएँ चौंसठ प्रकारकी हैं, जैसे—नृत्य, गीत, वाद्य, नाट्य, आलेख्य, विशेषकछेद्य, तण्डुल-कुसुम-वणि विकार, पुष्पास्तरण, दशन-वसनाङ्गराग, मान-भूमिका-कर्म, शय्या रचन, उदक वाद्य, उदक घात, चित्रायोग, माल्यग्रन्थन-विकल्प, शेखरापीड़-योजन, नेपथ्ययोग, कर्णपत्रभङ्ग, गन्धयुक्ति, भूषण-योजन, ऐन्द्रजाल, कौमारयोग, हस्त-लाघव, चित्र-शाकपूप-भक्ष्यविकार-क्रिया, पानक-रसरागासव-योजन, सूची-वाप-कर्मादि, सूत्रक्रीड़ा, प्रहेलिका, प्रतिमाला, दुर्वचक-योग, पुस्तक-वाचन, नाटिका-आख्यायिका दर्शन, काव्य-समस्या पूरण, पट्टिका-वेत्रवाण-विकल्प, तर्ककर्म, तक्षण, वास्तुविद्या, रौय-रत्न-परीक्षा, धातुवाद, मणिराग-ज्ञान, आकर-ज्ञान, वृक्षायुर्वेद-योग, मेष कुक्कट- शावक-युद्ध-विधि, शुक-सारिका प्रपालन, उत्सादन, केश-मार्जन कौशल, अक्षर-मुष्टिका-कथन, म्लेच्छितक-विकल्प, देश-भाषा-ज्ञान, पुष्प-शकटिका निमित्त ज्ञान, यन्त्रमातृका, धारणमातृका, सम्पट्य, मानसी-कार्य-क्रिया, क्रिया विकल्प, छलितक योग, कोष छन्दो-ज्ञान, वस्त्र-गोपन, द्यूत, आकर्षण क्रीड़ा, बालक क्रीड़नक, वैनायिकी विद्या, वैजयिकी विद्या और वैतालिकी विद्या—ये सारी विद्याएँ मूर्त्तिमती होकर रसके प्रकरण-रूपमें गोलोक धाममें नित्य प्रकट हैं तथा जड़ जगतमें चित्शक्ति-योगमायाके द्वारा ब्रजलीलामें सुन्दर रूपसे प्रकटित हैं। इसलिए श्रील रूप गोस्वामीपादने कहा है—

'सदानन्तैः प्रकाशैः स्वैर्लीलाभिश्च स दीव्यति।
तत्रैकेन प्रकाशेन कदाचिज्जगदन्तरे॥
सहैव सपरिवारैर्जन्मादि कुरुते हरिः।

कृष्णभावानुसारेण लीलाख्या शक्तिरेव सा॥
तेषां परिकराणाञ्च तं तं भावं विभावयेत्।
प्रपञ्चगोचरत्वेन सा लीला प्रकटा स्मृता॥
अन्यास्त्वप्रकटा भान्ति तादृश्यस्तदगोचराः।
तत्र प्रकटलीलायामेव स्यातां गमागमौ॥
गोकुले मथुरायाञ्च द्वारकायाञ्च शार्ङ्गिनः।
यास्तत्र तत्राप्रकटास्तत्र तत्रैव सन्ति ताः॥'

"अर्थात् गोलोकमें श्रीकृष्ण सदासर्वदा अपने अनन्त-लीला-प्रकाशोंके साथ सुशोभित हैं। कभी-कभी जगतमें भी वे उन लीलाओंके साथ अवतरण करते हैं। श्रीहरि अपने परिकरोंके साथ जन्म आदि लीलाओंको प्रकट करते हैं। श्रीकृष्णकी इच्छाके अनुरूप लीलाशक्ति भी उनके परिकरोंको उन-उन भावोंमें विभावित करती हैं। श्रीकृष्णकी जो लीलाएँ प्रपञ्चमें गोचर होती हैं, उन्हें सामूहिकरूपमें प्रकट-लीला कहते हैं और वे लीलाएँ ही प्रपञ्चके अगोचर अप्रकटरूपमें गोलोकमें होती रहती हैं, उन्हें अप्रकट-लीला कहते हैं। प्रकट-लीलामें कृष्ण गोकुल, मथुरा और द्वारकामें गमनागमन करते हैं। परन्तु जो लीलाएँ उक्त तीनों स्थानोंमें अप्रकट हैं, वे चिन्मय धाम वृन्दावन आदि स्थानोंमें नित्य ही प्रकट रहती हैं। इन सिद्धान्त वाक्योंसे यह विदित होता है कि प्रकट और अप्रकट लीलामें कुछ भी भेद नहीं है।

"इस श्लोककी टीकामें और उज्ज्वल-नीलमणि टीकामें तथा कृष्णसन्दर्भ आदिमें अस्मदीय आचार्यचरण श्रीजीव गोस्वामीपादने कहा है कि इन प्रकट लीलाओंमें कुछ मायिक सम्बन्ध संश्लिष्ट रहनेके कारण उनमें कुछ माया-प्रत्यायित (मायिक प्रतीतिमय) कार्य दृष्टिगोचर होते हैं, जो स्वरूप-तत्त्वमें कदापि रहने योग्य नहीं हैं; जैसे असुर-संहार, परनारी संग तथा जन्मादि अनेक कार्य हैं; जो स्वरूप-तत्त्वमें कदापि संभव नहीं हैं। गोपियाँ—श्रीकृष्णकी स्वरूप-शक्तिगत तत्त्व हैं; वे श्रीकृष्णकी स्वकीया पत्नियाँ हैं; अतएव उनमें परदारत्व कैसे संभव है? तब प्रकटलीलामें जो परदारत्व दीखता है, वह केवल मायिक प्रतीति-मात्र है।

"श्रीजीव गोस्वामीपादके इस कथनका एक गूढ़ार्थ है, उसका प्रकाश होने पर सब प्रकारकी शंकाएँ अपने आप दूर हो जाएँगी। श्रीजीवगोस्वामीचरण गौड़ीय-वैष्णवोंमें तत्त्वाचार्य हैं, वे श्रीलरूप, सनातन गोस्वामीके प्रधान अनुगताचार्य हैं, इसके अतिरिक्त वे कृष्णलीलामें मञ्जरी भी हैं, इसलिए ऐसा कोई भी गूढ़-तत्त्व नहीं है, जिसे वे न जानते हों। कुछ लोग उनके गूढ़ अभिप्रायको न समझकर उनके कथनोंका स्वकपोल कल्पित अर्थ कर उसके पक्ष और विपक्षमें तर्क उपस्थित करते हैं। श्रीरूप सनातनके मतानुसार प्रकटलीला और अप्रकट लीलामें कोई भेद नहीं है—दोनों अभिन्न हैं। एक प्रपञ्चातीत प्रकाश है और दूसरा प्रपञ्चस्थित प्रकाश है—केवल यही भेद है। प्रपञ्चातीत प्रकाशमें द्रष्ट-दृष्टगत सम्पूर्ण विशुद्धता है। बड़े सौभाग्यसे श्रीकृष्णकी कृपा होने पर जो लोग प्रपञ्च सम्बन्ध सम्पूर्ण रूपसे छोड़कर चिज्जगतमें प्रविष्ट होते हैं और यदि उनमें साधनकालीन रसवैचित्र्यकी आस्वादन-सिद्धि रहती है, तभी वे गोलोककी सम्पूर्ण विशुद्ध लीलाका दर्शन और आस्वादन कर सकते हैं। ऐसे पात्र सुदुर्लभ होते हैं। दूसरी ओर प्रपञ्चमें रहकर भी जिन्होंने भक्तिकी सिद्धि लाभकर कृष्णकी कृपासे चिद्रसकी अनुभूति प्राप्त की है, वे भौम-गोकुलकी लीलामें गोलोक लीलाका दर्शन करते हैं। इन दोनों प्रकारके अधिकारियोंमें भी कुछ तारतम्य है, वस्तुसिद्धि नहीं होने तक उस गोलोक लीलाके दर्शनमें कुछ-कुछ मायिक प्रतिबन्ध रहते हैं।

दूसरी तरफ स्वरूपसिद्धिके तारतम्यसे स्वरूपदर्शनका तारतम्य होता है। इस स्वरूपदर्शनके तारतम्यानुसार भक्तोंके गोलोक दर्शनका तारतम्य भी अवश्य स्वीकर करना होगा। नितान्त मायाबद्ध व्यक्ति भक्तिचक्षुरहित होता है। उनमेंसे कोई-कोई केवल मायाकी विचित्रतामें आबद्ध होते हैं और कोई-कोई भगवद्वहिर्मुख-निर्विशेष-ज्ञानका आश्रय लेकर अपने चरमविनाशके पथ पर अग्रसर होते हैं। वे लोग भगवान्‌की प्रकट लीलाको देखकर भी अप्रकट लीलासे सम्बन्धरहित उसे केवल जड़ीय व्यवहारमात्रके रूपमें ही देखते हैं। इसलिए अधिकारी भेदसे गोलोक दर्शनकी गति ही ऐसी है।

"इसमें सूक्ष्म विचार यह है कि जैसे गोलोक मायातीत सम्पूर्ण शुद्ध तत्त्व है, उसी प्रकार भौम-गोकुल भी शुद्ध और सर्वथा मलशून्य होने पर भी योगमायारूप चित्‌शक्ति द्वारा जड़जगतमें प्रकटित हैं। प्रकट और अप्रकट विषयमें तनिक भी मायिक दोष, हेयता और असम्पूर्णता नहीं है। केवल देखनेवाले जीवोंके अधिकारोंके अनुरूप ही कुछ-कुछ पार्थक्य प्रतीत होता है। दोष (मल), हेयत्व, उपाधि, माया, अविद्या, अशुद्धता, फल्गुत्व, तुच्छत्व और स्थूलत्व, देखनेवाले जीवके जड़-भावित चक्षु और बुद्धि अहंकारनिष्ठ हैं। ये सब दृश्यवस्तुनिष्ठ नहीं हैं। जो जितने ही अधिक दोष रहित हैं, वे उतना ही अधिक विशुद्ध तत्त्वदर्शनमें समर्थ होते हैं। शास्त्रोंमें जो तत्त्व प्रकाशित हुआ है, किन्तु उन तत्त्वोंकी आलोचना करनेवाले व्यक्तियोंके अधिकारके तारतम्यसे तत्त्व मलयुक्त अथवा मलरहित अनुभूत होते हैं। श्रीरूप सनातनके विचारसे भौम-गोकुलमें जितनी प्रकारकी लीलाएँ प्रकटित हुई हैं, वे समस्त लीलाएँ मायागन्धरहित विशुद्ध रूपमें अवस्थित हैं। इसलिए परकीया भाव भी किसी न किसी प्रकार अचिन्त्य शुद्ध भावसे गोलोकमें अवश्य ही वर्तमान है। योगमाया द्वारा कृत समस्त प्रकाश ही शुद्ध है। परदारा-भाव (परकीया भाव) योगमाया कृत है। इसलिए वह शुद्धतत्त्वमूलक है। किन्तु वह शुद्धतत्त्व क्या है?—इस पर कुछ विचार करनेकी आवश्यकता है। श्रीलरूप गोस्वामीने लिखा है—

'पूर्वोक्त-धीरोदत्तादि चतुर्भेदस्य तस्य तु।

पतिश्चोपपतिश्चेति प्रभेदाविह विश्रुतौ। पतिः स कन्यायाः यः पाणिग्राहको भवेत्। रागेणोल्लंघयन् धर्मं परकीया-बलार्थिना। तदीय-प्रेम-सर्वस्वं बुधैरूपपतिः स्मृतः॥ लघुत्वमत्र यत् प्रोक्तं तत्तु प्राकृत-नायके। न कृष्णे रसनिर्यास-स्वादार्थमवतारिणी॥'

"तत्र नायिकाभेद-विचारः,—"नासौ नाट्यरसे मुख्ये यत् परोढ़ा निगद्यते। तत्तु स्यात् प्राकृत-क्षुद्रनायिकाद्यनुसारतः॥"—इन श्लोकोंमें श्रीलजीव गोस्वामीने सुगंभीर विचारकर परकीया भावको योगमायाकृत जन्मादि लीलाकी भांति विभ्रम-विलासके रूपमें प्रतिष्ठित किया है। "तथापि पतिः पुरवनितानां द्वितीयो व्रजवनितानां"—अर्थात् द्वारकामें पति भाव है तथा व्रजसुन्दरियोंमें परकीया भाव है, ऐसा माना है। श्रीलरूप-सनातन गोस्वामीके सिद्धान्तानुसार भी योगमायाकृत विभ्रम-विलास स्वीकृत हुआ है। तथापि श्रीलजीव गोस्वामीने जब गोलोक और गोकुलके एकत्वका प्रतिपादन किया है, तब गोकुलमें सभी लीलाओंका मूलतत्त्व अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा। जो विवाहकी विधियोंके अनुसार कन्याका पाणिग्रहण करते हैं, वे पति कहलाते हैं। जो अनुरागके वशीभूत होकर परकीया-रमणीको प्राप्त करनेके लिए धर्मका उल्लंघन करते हैं, वे उपपति कहलाते हैं। गोलोकमें विवाह-विधि बन्धनरूप धर्म नहीं है, इसलिए वहाँ उक्त लक्षणयुक्त पतित्व भी सम्भव नहीं है। साथ ही वैसी-वैसी स्वीय स्वरूपाश्रिता गोपियोंका अन्यत्र विवाह न होनेके कारण उनका परदारत्व भी नहीं है। वहाँ स्वकीया और परकीया—इन दोनों प्रकारके भावोंकी पृथक्-पृथक् स्थिति भी

सम्भव नहीं है। प्रकटलीलामें (प्रापञ्चिक जगतमें) विवाह विधिबन्धनरूप एक धर्म है, कृष्ण उस धर्मसे सर्वथा अतीत हैं। इसलिए माधुर्यमण्डलरूप धर्म योगमाया द्वारा संगठित होता है। कृष्ण उस धर्मका उल्लंघन कर परकीया रसका आस्वादन करते हैं। योगमाया द्वारा प्रकटित यह धर्म-उल्लंघन लीला प्रपंचमें ही प्रपंच द्वारा आच्छादित नेत्रोंसे दीख पड़ती है। वास्तवमें श्रीकृष्णलीलामें वैसा लघुत्व नहीं है।

"परकीया रस ही समस्त रसोंका सार है। गोलोकमें ही उसका अभाव है—ऐसा कहकर गोलोकको तुच्छ मानना होगा। परमुपादेय गोलोकमें परमुपादेय रसास्वादन नहीं है, ऐसा कदापि सम्भव नहीं है। सर्वावतारी कृष्ण उसे किसी रूपसे गोलोकमें और किसी आकारसे गोकुलमें आस्वादन करते हैं। इसलिए परकीया रूप धर्मलंघन प्रतीति मायिक जड़नेत्रों द्वारा प्रतीत होने पर भी किसी न किसी रूपमें उसकी सत्यता गोलोकमें भी है। "आत्मारामोऽप्यरीरमत्" (श्रीमद्भा.१०/२९/४२) आत्माराम होने पर भी रमण किया, "आत्मन्यवरूद्धसौरतः" (श्रीमद्भा.१०/३३/२६) सत्यकाम श्रीकृष्णने सुरत सम्बन्धी हाव-भावोंको अपने हृदयमें स्थापन पूर्वक 'रेमे व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिविम्बविभ्रमः" (श्रीमद्भा.१०/३३/१७) जैसे नन्हा-सा शिशु निर्विकार होकर अपनी परछाईके साथ खेलता है, वैसे ही रमा-रमण भगवान् श्रीकृष्णने व्रजसुन्दरियोंके साथ क्रीड़ा-विहार किया—इत्यादि शास्त्रवचनोंके द्वारा यह प्रतीत होता है कि आत्मारामता ही श्रीकृष्णका अपना स्वरूप धर्म है। श्रीकृष्ण ऐश्वर्यपूर्ण चिज्जगत्में अपनी आत्मशक्तिको प्रकटकर स्वकीया भावसे रमण करते हैं। वहाँ स्वकीया बुद्धि प्रबल रहनेके कारण दास्य रस तक ही रसकी गति होती है, किन्तु गोलोकमें करोड़ों-करोड़ों गोपियोंके रूपमें प्रकट कर स्वकीया भावको भूलकर उनके साथमें नित्य रमण करते हैं। स्वकीया अभिमानमें रसकी अत्यन्त दुर्लभता नहीं रहती। इसलिए अनादि कालसे गोपियोंमें स्वाभाविक रूपसे परोढ़ाका अभिमान प्रबल रहता है। और श्रीकृष्ण उस अभिमानके अनुरूप अपने अन्दर उपपतिका अभिमान अंगीकार कर वंशीरूप प्रियसखीकी सहायतासे रासादि लीलाओंको सम्पन्न करते हैं।

"गोलोक नित्यसिद्ध एवं मायिक प्रत्ययसे सर्वथा अतीत एक रसपीठ है। इसलिए वहाँ उस अभिमानसे ही रस-प्रवाह सिद्ध होता है। वात्सल्य रस भी वैकुण्ठमें नहीं है, ऐश्वर्यकी ऐसी गति है, किन्तु परम माधुर्यमय गोलोकमें (स्थित व्रजमें) इस रसके मूल-अभिमानके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वहाँ नन्दयशोदा प्रत्यक्ष हैं, किन्तु जन्म-व्यापार वहाँ नहीं है। जन्मके अभावमें नन्दयशोदाका जो पितृत्व-मातृत्व आदि अभिमान है, वह वस्तुतः नहीं है, परन्तु अभिमान मात्र है। जैसे— "जयति जननिवासो देवकीजन्मवादः" इत्यादि रस-सिद्धिके लिए यह अभिमान नित्य है। इसी प्रकार शृंगार रसमें भी परोढ़ा और उपपति अभिमान मात्र नित्य होनेसे कोई दोषकी बात नहीं होती अथवा वह शास्त्रके विरुद्ध भी नहीं है। व्रजमें जब गोलोक तत्त्व प्रकट होते हैं, उस समय प्रापञ्चिक जगत्में प्रपञ्चमय दृष्टिसे उक्त दोनों अभिमान कुछ स्थूल दिखलायी पड़ते हैं। केवलमात्र यही भेद है। वात्सल्य रसमें नन्दयशोदाका पितृत्व और मातृत्व अभिमान कुछ स्थूल आकारमें जन्मादि लीलाके रूपमें प्रतीत होता है तथा श्रृंगार रसमें गोपीगत परोढ़ा अभिमान स्थूल रूपमें अभिमन्यु-गोवर्धन आदिके साथ विवाहके रूपमें प्रतीत होता है। वास्तवमें गोपियोंका पृथक् सत्तागत पतित्व न तो गोलोकमें है और न गोकुलमें। इसलिए शास्त्रमें ऐसा कहा गया है "न जातु व्रजदेवीनां पतिभिः सह संगमः" अर्थात् व्रजदेवियोंका अपने पतियोंके साथ कभी संगम नहीं हुआ। इसलिये रस-तत्त्वाचार्य श्रीरूपगोस्वामीने लिखा है कि उज्ज्वल रसमें नायक दो प्रकारके होते हैं। जैसे—"पतिश्चोपपतिश्चेति प्रभेदाविह विश्रुतौ" अर्थात् पति और उपपति भेदसे

नायक दो प्रकारके होते हैं। श्रीलजीव गोस्वामीने इसकी टीकामें लिखा है—"पतिः पुरवनितानां द्वितीयो व्रजवनितानां" अर्थात् द्वारकापुरीकी वनिताओंके नायक पति होते हैं और व्रजमें नायक श्रीकृष्ण व्रजवनिताओंके उपपति होते हैं। अपनी टीकाके इन वचनोंसे ही श्रीलजीव गोस्वामीने वैकुण्ठ और द्वारकामें कृष्णका पतित्व तथा गोलोक-गोकुलमें नित्य उपपतित्व स्वीकार किया है। गोलोक तथा गोकुलनाथमें उपपतिके लक्षण सम्पूर्ण रूपमें देखे जाते हैं। श्रीकृष्ण द्वारा अपनी आत्मारामता रूप धर्मका उल्लंघन होता है। उसमें परोढ़ा मिलनके लिए राग ही उस धर्मलंघनका हेतु है। गोपियोंका नित्य परोढ़ा अभिमान ही वह परोढ़त्व है। वस्तुतः उनका पृथक् सत्तायुक्त पति न रहने पर भी केवल अभिमान ही वहाँ पर उनका परकीया-रमणीभाव सम्पादन करता है। इसलिए "रागेणोल्लंघयन् धर्मं" इत्यादि सभी लक्षण माधुर्यपीठमें नित्य वर्तमान रहते हैं। भौम-व्रजमें वही भाव कुछ अंशोंमें प्रापञ्चिक चक्षुविशिष्ट-व्यक्तियोंके द्वारा स्थूलरूपमें लक्षित होता है। इसलिए गोलोकमें स्वकीया और परकीया रसका अचिन्त्य भेद और अभेद है। भेद नहीं है, ऐसा भी कहा जा सकता है तथा अभेद नहीं है, ऐसा भी कहा जा सकता है। परकीय सार जो स्वकीय निवृत्ति अर्थात् विवाहविधिरहित-रमण एवं स्वकीय-सार जो परकीय निवृत्तिरूप स्वरूपशक्तिरमण है—ये दोनों एक रस होकर भी उभय वैचित्र्यके आधारके रूपमें नित्य विराजमान हैं। गोकुलमें उसी रूपमें रहने पर भी केवल प्रपंचके दर्शकोंकी दृष्टिमें दूसरे प्रकारसे दीखता है।

"गोलोकवीर श्रीगोविन्दमें धर्माधर्मशून्य पतित्व और उपपतित्व निर्मल रूपमें विराजमान है। गोकुलवीरमें वैसा रहने पर भी योगमायाके द्वारा प्रतीति वैचित्र्य हुआ करता है। यदि ऐसा कहा जाय कि योगमाया जो कुछ प्रकाश करती है वह परम सत्य होता है, इसलिए परकीया भाव भी वैसे ही परम सत्य है। इस शंकाको दूर करनेके लिए कहते हैं कि रसास्वादनमें जैसे अभिमानकी प्रतीति रह सकती है और उसमें कोई भी दोष नहीं है, क्योंकि वह निराधार नहीं है, किन्तु जड़बुद्धिमें जो हेय प्रतीति होती है, वही दोषयुक्त है। वह हेय प्रतीति शुद्ध जगत्में नहीं है।

"वास्तवमें श्रीलजीव गोस्वामीने यथायथ सिद्धान्तका ही प्रतिपादन किया है और प्रतिपक्षका सिद्धान्त भी अचिन्त्यरूपसे सत्य है। केवल स्वकीयावाद और परकीयावादको लेकर वृथा विवाद करना ही मिथ्या और वागाडम्बरपूर्ण है। जो लोग निरपेक्ष होकर श्रीलजीव गोस्वामी एवं प्रतिपक्षकी टीकाओंको अच्छी तरहसे अनुशीलन करेंगे, उनके हृदयमें किसी भी प्रकारकी शंका उठनेकी सम्भावना नहीं है। शुद्ध वैष्णव जो कुछ कहते हैं, वह सब सत्य होता है। उसमें पक्ष और प्रतिपक्ष नहीं होता। उनके वाक्य-कलहमें कुछ रहस्य होता है। जड़बुद्धिसम्पन्न लोग शुद्धवैष्णवताके अभावमें शुद्ध वैष्णवोंके प्रेम कलहका रहस्य न समझ पानेके कारण उनमें पक्ष-विपक्षका केवल आरोप करते हैं। "गोपीनां तत्पतीनाञ्च"—इस रासपञ्चाध्यायीके श्लोककी वैष्णवतोषणी टीकामें जो विचार दिया है, भक्त श्रीलचक्रवर्तीपादने उसे बिना किसी आपत्तिके अपने मस्तक पर धारण किया है।

"गोलोकादि चिद्विलासके सम्बन्धमें कोई भी विचार करते समय श्रीमन्महाप्रभु और उनके अनुगत श्रीगोस्वामियोंके द्वारा दिये गये एक उपदेशको स्मरण रखना उचित है। वह यह कि भगवत्-तत्त्व कभी भी निर्विशेष नहीं है, वह जड़ातीत नानाप्रकारकी विशेषताओं और विलासोंसे भरपूर है। भगवद् रस—विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारी इन चार प्रकारकी चिन्मय विचित्रतापूर्ण सामग्रियों द्वारा परमास्वादनीय सुन्दर रूपमें गोलोक और वैकुण्ठमें नित्य विद्यमान रहता है। गोलोकका वह रस योगमायाके प्रभावसे भक्तोंके कल्याणके लिए जगतीतलमें प्रकटित होकर व्रजरसके रूपमें प्रतीत होता है। इस गोकुल रसमें जो कुछ देखा जाता है, वह सबकुछ गोलोकरसमें विशद् रूपसे

प्रतीत होना आवश्यक है। इसलिए नागर-नागरयोंका विचित्र-भेद और उसमें रस-विचित्रता, भूमि-नदी-पर्वत-गृह-द्वार-कुञ्ज और गाय प्रभृति समस्त गोकुलोपकरण ही यथायथ समाहित रूपमें गोलोकमें अवस्थित है। केवल जड़बुद्धिविशिष्ट व्यक्तियोंकी उनके सम्बन्धमें जो जड़-प्रतीति रहती है, वह गोलोकमें नहीं है। विचित्र व्रजलीलामें अधिकार भेदसे गोलोककी पृथक्-पृथक् स्फूर्तियाँ होती हैं। उन विविध स्फूर्तियोंके कौन-कौनसे अंश मायिक और कौन-कौनसे अंश शुद्ध हैं—इस विषयमें एक स्थिर सिद्धान्त होना कठिन है। भक्तिचक्षु प्रेमाञ्जन द्वारा जितने ही शोधित होंगे, हृदयमें क्रमशः विशद् स्फूर्ति उदित होगी। इसलिए इस विषयमें तर्क-वितर्ककी कोई आवश्यकता नहीं है। तर्क-वितर्कसे अधिकार उन्नत नहीं होता । गोलोक तत्त्व-अचिन्त्य भावमय है। ऐसे अचिन्त्य भावको चिन्ता द्वारा अनुसंधान करनेसे भूसा कूटनेके समान व्यर्थ परिश्रमकी भाँति निष्फल चेष्टा होगी। अतः ज्ञानचेष्टासे उपरत रहकर, भक्तिचेष्टाके द्वारा अनुभूति लाभ करना ही कर्त्तव्य है। जिस विषयको ग्रहण करनेसे अन्तमें निर्विशेष प्रतीतिका उदय होता है, भक्तिमार्गमें उसका परित्याग करना अत्यन्त आवश्यक है। मायिक प्रतीति-शून्य शुद्ध पारकीयरस अतीव दुर्लभ है। गोलोक लीलामें उसका वर्णन है, उसीका अवलम्बन कर रागानुग भक्त साधन करेंगे। ऐसा करनेसे सिद्धि होने पर अधिकतम उपादेय मूलतत्त्वको प्राप्त कर सकेंगे। जड़बुद्धिसम्पन्न व्यक्तियोंकी पारकीय चेष्टामयी भक्ति बहुधा जड़गत विधर्मके रूपमें बदल जाती है। ऐसा लक्ष्य करके ही हमारे तत्त्वाचार्य श्रीलजीव गोस्वामीचरणने उत्कण्ठित होकर जिन विचारोंका उल्लेख किया है, उसका सार ग्रहण करना ही शुद्ध वैष्णवता है। आचार्यकी अवज्ञा करते हुए मतान्तर स्थापनका प्रयत्न करनेसे अपराध होता है।"

श्रीश्रीचैतन्य चरितामृत के अनुभाष्य १।१०।८५ में परमाराध्यतम नित्यलीलाप्रविष्ट श्रीश्रील भक्ति सिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी ठाकुर 'प्रभुपाद' जी श्रीश्रील जीव गोस्वामी पादके विषय में वर्णन करते हुए कहते हैं कि अनभिज्ञ प्राकृत सहजिया-सम्प्रदाय में श्रीजीवगोस्वामी प्रभु के विरुद्ध तीन अपवाद प्रचलित है, उसके द्वारा कृष्णविमुखता हेतु हरिगुरुवैष्णव-विरोध के कारण अवश्य ही उनके अपराध ही बढ़ते हैं।

(१) जड़प्रतिष्ठाभिक्षु एक दिग्विजयी पण्डित ने निष्किञ्चन श्रीरूप-सनातन से जयपत्र लिखवाकर गुरुवर्गों की (श्रीरूप-सनातन की) मूर्खता ज्ञापन करते हुए श्रीजीव को भी जयपत्र लिख देने के लिए कहा। श्रीजीवप्रभु ने वैसा सुनकर दिग्विजयी को पराजित करके गुरु के अपवादकारी की जिह्वा को स्तम्भित करके गुरुदेव की पद-नख-शोभा की मर्यादा प्रदर्शनपूर्वक प्रकृत "गुरुदेवतात्मा" शिष्य का आदर्श प्रदर्शन किया। सहजिया लोग कहते हैं—श्रीजीव के ऐसे आचरण से उनकी तृणादपि सुनीचता और मानद-धर्म के विरोध हेतु श्रीरूप गोस्वामी प्रभु ने उनकी अत्यधिक भर्त्सना करके परित्याग कर दिया, बाद में श्रीसनातन गोस्वामी प्रभु के इङ्गित से पुनः श्रीजीवप्रभु को स्वीकार किया।

ऐसे गुरुवैष्णवविरोधीगण, कृष्णकृपा से जिस दिन अपने आपको गुरुवैष्णवों के नित्यदास रूप में स्वीकार करेंगे, उसी दिन श्रीजीवप्रभु की कृपा प्राप्त करके वास्तविक 'तृणादपि सुनीच' और 'मानद' होकर हरिनाम-कीर्त्तन करने के अधिकारी होंगे।

(२) कोई-कोई अनभिज्ञ कहते हैं—कविराज गोस्वामी प्रभु के 'चरितामृत'-रचना-सौष्ठव और अप्राकृत ब्रजरस-महात्म्य के दर्शन से अपनी प्रतिष्ठा के कम होने की आशङ्का से श्रीजीव में हिंसा उदित होने से उन्होंने मूल 'चरितामृत' ग्रन्थ की पाण्डुलिपि कुँए में फैंक दी। कविराज

गोस्वामी ने ऐसा श्रवण करते ही अपने प्राण त्याग दिये। उनके 'मुकुन्द' नामक शिष्य ने पहले से ही मूल पाण्डुलिपि की नकल करके रखी थी, तभी पुनः चरितामृत प्रकाशित हुई, नहीं तो चरितामृत ग्रन्थ जगत से लुप्त हो जाता।

ऐसी घृणित वैष्णव-विद्वेषमूलक कल्पना-नितान्त मिथ्या और असम्भव है।

(३) और कोई-कोई इन्द्रियतर्पण-तत्पर व्याभिचारी कहते हैं,—श्रीजीवप्रभु ने श्रीरूप गोस्वामी के मतानुयायी ब्रज गोपियों के 'पारकीय' रस को स्वीकार न करके 'स्वकीय' रस का अनुमोदन किया। वे रसिक भक्त नहीं थे, अतएव उनका आदर्श ग्रहणीय नहीं है।

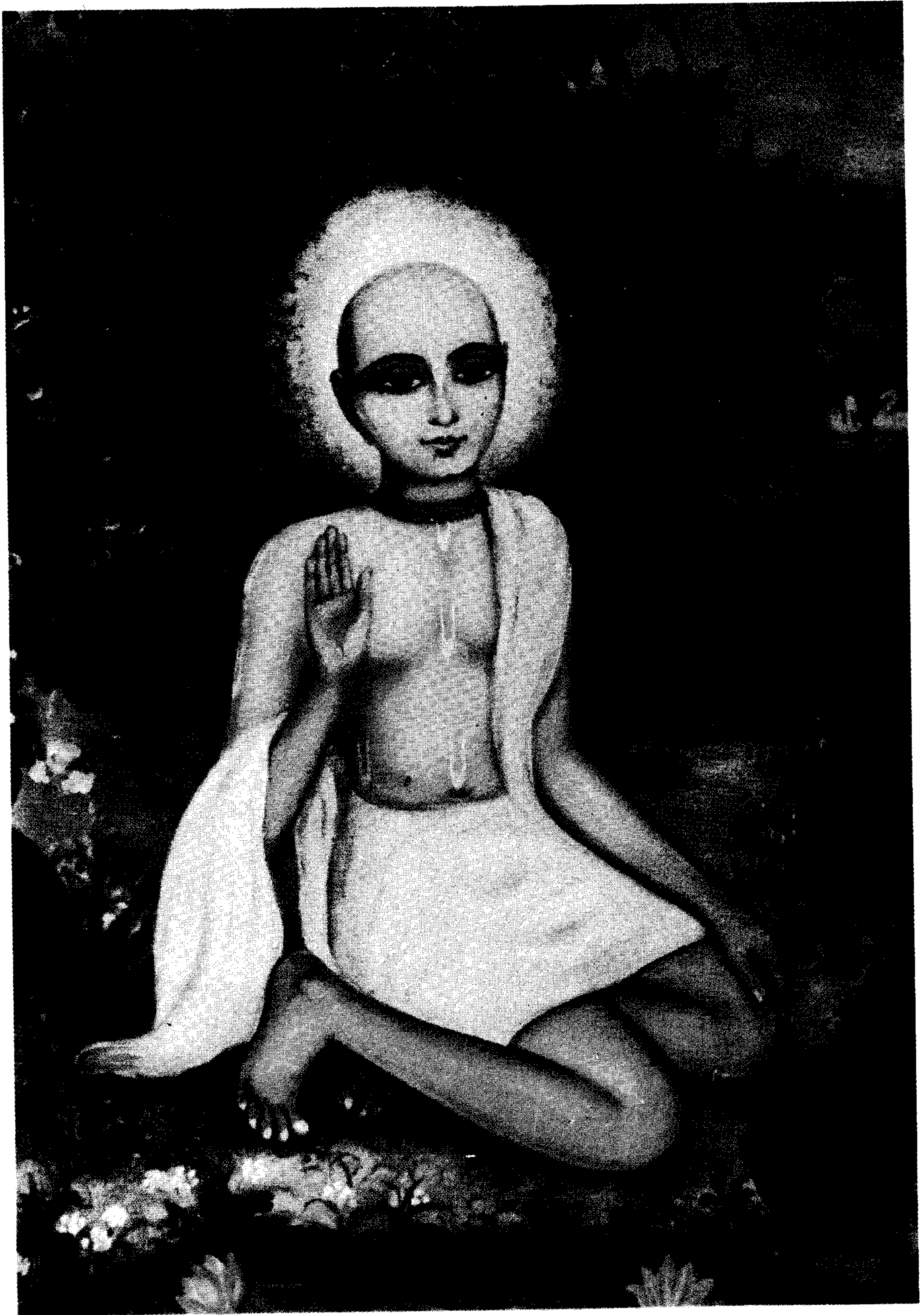
"प्रकटकाल में अपने अनुगतगणों में से किसी-किसी भक्त को 'स्वकीय रस' के प्रति रुचिविशिष्ट देखकर उनके मङ्गल के लिए, उनके अधिकार को जानकर तथा बाद में अनधिकारी व्यक्ति अप्राकृत परम-चमत्कारमय पारकीय-ब्रजरस के सौन्दर्य और महिमा को नहीं समझकर स्वयं वैसा कार्य करने जाकर व्याभिचार को बढ़ावा देंगे, इसलिए वैष्णवाचार्य श्रीजीवप्रभु ने स्वकीय-वाद को स्वीकार किया है, किन्तु इससे उनको अप्राकृत पारकीय ब्रजरस का विरोधी नहीं समझना चाहिए, क्योंकि वे स्वयं श्रीरुपानुगवर है,—साक्षात् श्रील कविराज गोस्वामी के शिक्षागुरुओं में अन्यतम हैं।"

श्रील वनमाली दास शास्त्रीजी ने इस ग्रन्थ की हिन्दी भाषा टीका करके सभी हिन्दी भाषी भक्तों का परम उपकार किया है। अनुवाद की भाषा एक ओर जैसे सुसंयत और सुमार्जित है, दूसरी ओर वैसे ही गम्भीर मर्यादायुक्त गौरवसे अलंकृत है, किन्तु ऐसा होने का अर्थ यह नहीं है कि शब्दविन्यास गुरुत्वपूर्ण होने के कारण कहीं भी पर कठिन नहीं है। इस ग्रन्थ में एकसाथ लीला, रस, भाव एवं सिद्धान्त प्रभृति समस्त जानने योग्य विषयों की पूर्ण अभिव्यक्ति है।

वर्त्तमान परिस्थिति में कागज का मूल्य तथा मुद्रण का व्यय अत्यधिक बढ़ जाने के कारण ग्रन्थ का मूल्य कम न कर पाने के कारण दुखी हूँ। किन्तु यही आश्वासन है कि ग्रन्थ से प्राप्त मूल्य केवल श्रीमन् महाप्रभु की सेवा कार्य में ही लगेगा।

मेरी अयोग्यता वश इसमें कुछ भूल-त्रुटि रहना सम्भवपर है। इसमें जो त्रुटि है, वह मेरी अज्ञता के कारण है, अदोषदर्शी श्रीवैष्णवों के चरणों में प्रकाशन में विलम्ब हेतु क्षमा प्रार्थना पूर्वक कृपा भिक्षा करता हूँ।

श्रीगुरु-वैष्णव-कृपाप्रार्थी,
नरोत्तम दास



श्रील जीव गोस्वामी



श्री श्री राधा दामोदर

श्रीउत्तरगोपालचम्पू–विषयसूची

वामपार्श्वस्थाङ्का गद्यपद्यसंख्यासूचकास्तथा दक्षिणपार्श्वस्थाङ्काः पृष्ठसंख्यासूचका ज्ञेयाः ।

प्रथमं पूरणम्

[व्रजजनानुरागः]

द्वितीयं पूरणम्

[अक्रूर-क्रूरता-पूरणम्]

तृतीयं पूरणम्

[श्रीमथुरापुर-प्रस्थानम्]

चतुर्थं पूरणम्

[श्रीमथुरापुर-प्रवेशः]

पंचमं पूरणम्

[कंसवध-कथा]

षष्ठं पूरणम्

[श्रीनन्द-विसर्जनम्]

सप्तमं पूरणम्

[श्रीव्रजे श्रीनन्दप्रवेशः]

अष्टमं पूरणम्

[चतुःषष्टि-विद्याध्ययनम्]

नवमं पूरणम्

[गुरुतनय-समानयनम्]

दशमं पूरणम्

[उद्धव-सन्देशः]

एकादशं पूरणम्

[दूत-भ्रमकर-भ्रमरसंभ्रमः]

द्वादशं पूरणम्

[उद्धवस्य व्रजानन्द-संपादनम्]

त्रयोदशं पूरणम्

[जरासन्धबन्धनम्]

चतुर्दशं पूरणम्

[कालयवन-जय-विवरणम्]

पञ्चदशं पूरणम्

[श्रीबलदेव-विवाहः]

षोडशं पूरणम्

[श्रीरुक्मिणीपाणिपीडनम्]

सप्तदशं पूरणम्

[श्रीसत्यभामादि-विवाह-सप्तकम्]

अष्टादशं पूरणम्

[षोडशसहस्र-कन्याविवाहः]

एकोनविंशं पूरणम्

[बाणयुद्ध-कथा]

विंशं पूरणम्

[श्रीबलदेवस्य-व्रजागमनम्]

एकविंशं पूरणम्

[पौण्ड्रकाद्यर्थं श्रीबलदेव-द्वारकागमनम्]

द्वाविंशं पूरणम्

[द्विविदवानर-वधकथा]

त्रयोविंशं पूरणम्

[श्रीनन्दादिसम्मिलनो कुरुक्षेत्रयात्रा]

चतुर्विंशं पूरणम्

[श्रीव्रजवासिनां व्रजं प्रत्यागमनम्]

पंचविंशं पूरणम्

[श्रीमदुद्धव-मंत्रणा]

षड्विंशं पूरणम्

[जरासन्धवधो राजन्यमोचनं च]

सप्तविंशं पूरणम्

[राजसूययज्ञकथनम्]

अष्टाविंशं पूरणम्

[शाल्ववध-कथा]

एकोनत्रिंशं पूरणम्

[भाविकथा-प्रथनम्]

त्रिंशं पूरणम्

[दन्तवक्रवध: श्रीकृष्णस्य पुनर्व्रजागमनं च]

एकत्रिंशं पूरणम्

[श्रीराधादि-बाधासमाधानम्]

द्वात्रिंशं पूरणम्

[सर्वसमाधानाऽऽधानपर्वपर्वणम्]

त्रयस्त्रिंशं पूरणम्

[श्रीराधा-माधवाऽधिवास-प्रसाधनम्]

चतुस्त्रिंशं पूरणम्

[श्रीराधाकृष्णालङ्कारसंपद्वर्णनम्]

पंचत्रिंशं पूरणम्

[श्रीराधामाधव-विवाह-निर्वाहः]

षट्त्रिंशं पूरणम्

[श्रीराधा-माधव-व्यतिषङ्ग:]

सप्तत्रिंशं पूरणम्

[सर्वसुखपूर्ण-श्रीगोलोकप्रवेश:]

——:o:——

* श्रीगुरुदेवाय नमः *

श्रीगुरुस्मरणाष्टकम्

बुड़ालाख्ये ग्रामे जनिरपि यदीया समभवत्, यदीयो भोलाराम इति विदितोऽभूद्धि जनकः ।
स्वयं यः सौन्दर्याश्रिततनुरभूद् भूसुरवरः, स आचार्यः किं मे नयनपदवीं यास्यति पुनः ॥

ततो यातो हित्वा गृहमपि हि यः षोडशसमो, मुदा काशीं तत्राऽध्यलमपठदल्पैरपि दिनैः ।
विपश्चिद्वर्याच्छास्त्रमलघु तिवाडीति विदितात्, स आचार्यः किं मे नयनपदवीं यास्यति पुनः ॥

गजानन्दैर्नीतः पुनरपि च संन्यासिसरणिं, ततो दातुं सर्वे मठपतिपदं यस्य च कृते ।
बभूवुः संसक्तास्तदपि नहि यस्तत्समनयत्, स आचार्यः किं मे नयनपदवीं यास्यति पुनः ॥

ततो यातो हित्वा मठपतिपदं यो विषमिव, मुदा वृन्दारण्यं हरिजनशरण्यं शुभकरम् ।
अभूद् यस्तत्राऽपि प्रभुजनप्रसङ्गात्प्रभुजनः, स आचार्यः किं मे नयनपदवीं यास्यति पुनः ॥

भुवि भ्रामं भ्रामं श्रुतिशरचयैर्नास्तिकमृगाः, कृताः पापारण्यान्नरकभयदाद् धर्मवनगाः ।
न यत्राऽऽस्ते भीतिः शमनमृगयुत्यक्तशरजा, स आचार्यः किं मे नयनपदवीं यास्यति पुनः ॥

विलुप्तप्राया सख्यरसपरिपाटी प्रकटिता, तथा तद्रक्षार्थं सखिरसपरो येन रचितः ।
बृहद्ग्रन्थो यस्य प्रणिगदति कीर्तिं च विमलां, स आचार्यः किं मे नयनपदवीं यास्यति पुनः ॥

श्रुतीनां पत्री नास्तिकमदविनाशाय लिखिता, तथा भक्तिग्रन्थेष्वपि बहुषु टीका विलिखिताः ।
तथा येन श्रीभागवत-सुविमर्शो विरचितः, स आचार्यः किं मे नयनपदवीं यास्यति पुनः ॥

सदा स्वादं स्वादं बलहरिकथाकीर्तनरसं, प्रियैर्भक्तै रात्रिन्दिवमपि च यो नैव बुबुधे ।
तथा वै यस्याऽजागरुरखिलशास्त्राणि हृदये, स आचार्यः किं मे नयनपदवीं यास्यति पुनः ॥

गुरूणामस्माकं प्रथितयशसामष्टकमिदं, शरीरी यो नित्यं पठति मुदितो भावसहितः ।
गुरौ तस्य प्रीतिर्भवति विमला भावविपुला, तथा श्रीमद्रामानुजबलकृपाभाजनमपि ॥

त्रिभिः शून्यैर्द्वाभ्यां खलु परिमिते विक्रमसमे, शुभे मार्गे मासे सितदलवरे चाष्टकमिदम् ।
तथा वृन्दारण्ये तरणिदुहितू रोधसि वस,-न्नकार्षीदार्तात्मा भुवि हि वनमालीति विदितः ॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रि-विरचितं-पूज्यपाद श्री श्रील१०८
स्वामि श्रीकृष्णानन्ददासजी महाराज स्मरणाष्टकं सम्पूर्णम् ।
कृतेनाऽनेन श्रीगुरुदेवः प्रसन्नो भवतु ॥



॥ श्रीमते रामभद्राय नमः ॥

श्रीरामभद्रदशकम्

भूमेरभद्रमवतारयितुं शिवाद्यै,-रभ्यर्थितः सुरगणैर्भगवन्! सदैन्यम्।
स्वीकृत्य तत्सुवचनं तदपाकरोस्त्वं, हा रामभद्र! किमभद्रमपैति नो मे ॥१॥

कौशल्यया दशरथेन पुरा भृशं वै, संप्रार्थितः स्वकमभद्रमपावरीतुम्।
भूत्वा तयोः सुतनयस्तदपाकरोस्त्वं, हा रामभद्र! किमभद्रमपैति नो मे ॥२॥

मारीचरूपमधिकं स्वमभद्रजातं, दूरं विधातुमृषिणा भृशमर्थितो वै।
रक्षन् सवं लघु ऋषेस्तदपाकरोस्त्वं, हा रामभद्र! किमभद्रमपैति नो मे ॥३॥

शैली वने निपतिता विजनेऽप्यहल्या, तस्यास्त्वभद्रमिह गौतमशापरूपम्।
मार्गे व्रजन् करुणया तदपाकरोस्त्वं, हा रामभद्र! किमभद्रमपैति नो मे ॥४॥

सीताविवाहसमये समभद्ररूपं, शैवं धनुः स्वहृदये मिथिलाधिराजः।
मत्वाऽऽस शोकविकलस्तदपाकरोस्त्वं, हा रामभद्र! किमभद्रमपैति नो मे ॥५॥

कैकेयिकाकुवररूपमभद्रजातं, ज्ञात्वा पितुर्दशरथस्य सहर्षमाशु।
संपाल्य पैत्रवचनं तदपाकरोस्त्वं, हा रामभद्र! किमभद्रमपैति नो मे ॥६॥

मैत्रीं विधाय ननु सूर्यसुतेन साकं, तस्याप्यभद्रमिह पूर्वजबन्धुरूपम्।
हत्वाऽपि वालिनमरं तदपाकरोस्त्वं, हा रामभद्र! किमभद्रमपैति नो मे ॥७॥

मैत्रीं विभीषण उपागत आशु कर्तुं, तस्याप्यभद्रमभवत् कपिवाक्यरूपम्।
मैत्रीं विधाय सहसा तदपाकरोस्त्वं, हा रामभद्र! किमभद्रमपैति नो मे ॥८॥

वर्षं तु ते विरहदं जनकात्मजाया, आसीदभद्रमिह राक्षसराजरूपम्।
शीघ्रं त्वया करुणया तदपाकरोस्त्वं, हा रामभद्र! किमभद्रमपैति नो मे ॥९॥

श्रीपादयोर्विरहरूपमभूदभद्रं, दीर्घं तवैव भगवन्! भरतस्य साधोः।
आलिंग्य तं तु सदयं तदपाकरोस्त्वं, हा रामभद्र! किमभद्रमपैति नो मे ॥१०॥

श्रीरामभद्र-दशकं दशकं मनुष्यो, नित्यं मुदा पठति भावनया समं यः।
श्रीरामभद्रकृपया भुवि भूरि सौख्यं, भुक्त्वा ततः स हरिधाम समेति नूनम् ॥११॥

लोकाभ्रशून्यमिथुनैश्च मिते हि वर्षे, श्रीविक्रमार्कनृपतेरपि भाद्रमासे।
वृन्दावने रचितवान् बहुभावपूर्णं, श्रीरामभद्र-दशकं वनमालिदासः ॥१२॥

इति श्रीरामभद्र-दशकं समाप्तम्

—निर्माणकालः वि० सं० २००७ भाद्रपद

* श्रीरामकृष्णाभ्यां नमः *

प्रातः स्मरणस्तोत्रम्

प्रातः स्मरामि बलकृष्णपदारविन्दं, वज्रांकुशध्वजसरोरुहलांछनाढ्यम् ।
उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल, -ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम् ॥१॥
प्रातः स्मरामि बलकृष्णकरारविन्दं, नेत्राञ्जनाङ्कलगनादिव रूढभृङ्गम् ।
मित्रैः सुदामवसुदाममुखैरुदूढं, प्रातः प्रबोधपरया च यशोदयाऽपि ॥२॥
प्रातः स्मरामि बलकृष्णमुखारविन्दं, सच्चित्तमानससरोवररूढमूलम् ।
सेव्यं सदाऽस्य मकरन्दमुदात्तभृङ्गैः, सच्छास्त्रकाननविसारिसुगन्धपुञ्जम् ॥३॥
प्रातः स्मरामि बलकृष्णसुनामधेयं, ध्येयं सदैव हृदयेऽपि परावरैश्च ।
मुक्तिं ददानमपि हेलनया गृहीतं, यच्चेतिहासनिगमागमगीतकीर्ति ॥४॥
प्रातः स्मरन्ति भुवि पद्यचतुष्कमेतद्, ये मानवाः स्मरति तानपि रामकृष्णः ।
वृन्दाटवीवसतिलब्धकवित्वशक्ति,-रित्याह तत्सहचरो वनमालिदासः ॥५॥

श्रीविश्वनाथ-पंचकम्

सर्वैः समर्चितपदाम्बुजसर्वकाल !, गङ्गाकपर्दपरिशोभितचन्द्रभाल ! ।
दाक्षायणीसमभिभूषितवामभाग !, हे विश्वनाथ ! किमनाथमुपेक्षसे माम् ॥१॥
जाज्वल्यमानमभितो गरलाग्निना त्वं, लोकं विलोक्य सहसा कृपया परीतः ।
पीत्वा गरं समभिरक्षितसर्वलोक !, हे विश्वनाथ ! किमनाथमुपेक्षसे माम् ॥२॥
खिन्नं यदा जगदिदं त्रिपुरासुरेण, दृष्टं तदा करुणयाऽपि भृशं परीतः ।
हत्वा द्रुतं तमसुरं सुखितं चकर्थ, हे विश्वनाथ ! किमनाथमुपेक्षसे माम् ॥३॥
गंगावतारसमयेऽपि भगीरथेन, संप्रार्थितः करुणया जगदुद्धृधर्थं ।
धृत्वा कपर्दविवरे बहु गाङ्गमम्भो, हे विश्वनाथ ! किमनाथमुपेक्षसे माम् ॥४॥
गण्डूषवारिपरिप्रेक्षिणि वैजनाम्नि, म्लेच्छेऽपि तुष्टिमगमः किमु पूजके तु ।
नाम्ना ततोऽसि विदितः खलु वैजनाथः, हे विश्वनाथ ! किमनाथमुपेक्षसे माम् ॥५॥
यः पंचकं त्रिनयनस्य मुदा ब्रवीति, तस्योपरि त्रिनयनः करुणां करोति ।
वृन्दाटवीवसतिलब्धकवित्वशक्ति,-रित्याह शंभुकृपया वनमालिदासः ॥६॥

॥ इति श्रीविश्वनाथ-पञ्चकं समाप्तम् ॥

—निर्माणकाल वि० सं० २००४ पौष शु० द्वितीया प्रातः

卐 श्रीरामकृष्णौ विजयेतेतमाम् 卐

* श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः *

श्रीश्रील-श्रीजीवगोस्वामि-प्रभुपाद-विरचिता

* श्रीश्रीगोपालचम्पूः *

उत्तर-चम्पूः

अथ प्रथमं पूरणम्

व्रजजनानुरागः

मङ्गलाचरणम्

श्रीकृष्ण ! कृष्णचैतन्य ! ससनातनरूपक ! ।
गोपाल ! रघुनाथाप्त-व्रजवल्लभ ! पाहि माम् ॥१॥

टीकाकर्तुर्मङ्गलाचरणम्

श्रीमध्वाचार्यवर्यान् निजहृदि विशदे भावयित्वा नितान्तं
श्रीकृष्णानन्ददासान् सखिरसविभवाँल्लब्धवर्णान् गुरून् स्वान् ।
रामं श्रीकृष्णचन्द्रं सखिगणसहितं श्रीयशोदं सनन्दं
नित्यानन्दं च गौरं निजगणवलितं भाष्यमस्याः प्रकुर्वे ॥१॥

श्रीमद्भागवतं महामृतनिधिं सम्मथ्य सन्दर्भतः
कृष्णं पूर्णतमं प्रकाश्य शशिनं हस्तामलक्यादिवत् ।
यो जानाति तमो विधूय विधिवत् सन्दर्शयन् स्वाश्रितान्
जीवाञ्जीवयतीति सद्गुणगणं तं जीवमीशं भजे ॥२॥

महाऽज्ञानेनान्धान् व्रजपतिसुतप्रेमरहितान्, विनिर्जित्योवाच प्रणयसरणिं नास्तिकजनान् ।
सुषट्सन्दर्भादीन् य इह विदधे ग्रन्थनिवहान्, स जीवो गोस्वामी किरतु मयि प्रेमामृतकणम् ॥३॥

यदि भवानुदितो न भवेद् रवि,-र्नवनवैः किल भक्तिमरीचिभिः ।
क इह रूपमुखादि-महात्मनां, भवति पुस्तकपद्मविकाशकः ॥४॥

इन्द्रतिरस्कृतिरोषा,-दन्तर्धानं गतोऽपि यः पूर्वम् ।
पुनरपि प्रादुरभूदिव, जीवः स जीवस्य रूपेण ॥५॥

विज्ञैर्यैर्या व्यरचि मधुरा गूढभावा महार्था, विद्वत्तायाः सुमददमनी श्रीलगोपालचम्पूः ।
तद्भावेप्सोर्मम तु हृदये तद्गता गूढभावा-, स्तैः स्फोर्यन्तां सदयहृदयैर्जीव-गोस्वामिपादैः ॥६॥

श्रीजीवगोस्वामिविनिर्मितायां, चम्प्वाममुष्यां वनमालिदासः ।
टीकामिमामारभते स्म भव्यां, भूनेत्रशून्याक्षिमिते हि वर्षे ॥७॥

श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी भाषाटीका विलिख्यते ।
सर्वेषामस्तु सौख्याय कृष्णभक्तिजुषां नृणाम् ॥८॥

सम्पूर्णासीदाशु गोपालचम्पू,-रेषां यस्मादाशयादेव पूर्वा ।
एषा तस्मादुत्तराप्युत्तरा स्या,-देवं देवं तं कमन्यं भजेम ।।२।।

अथानुपूर्व्या पूर्वकथानुकथनीया । अस्ति किल कलितनिखिलवृन्दावनं वृन्दावनं नाम वनम् । यत्र ज्योतिश्चक्रमिव व्योम्नि, धर्म इव धर्मिणि, तत्त्वनिर्णय इव वेदे, सुखमिवाभीप्सितलाभे, रस इव विभावादिवर्गे, षाड्गुण्यमिवात्मनि; स्वयमिव स्वप्रेमणि, नारायण इव परमव्योम्नि, सर्वेषामाश्रयः स च कृष्णः सतृष्णग्जनानुभवनीयतया निजां निजाश्रयणीयतामुरीकरोति ।।३।।

श्रीकृष्णानन्दिनी टीका—

व्रजवासियों का अनुराग

हे श्रीकृष्ण ! हे श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभो ! हे श्रीसनातनगोस्वामि सहित श्रीरूपगोस्वामिन् ! हे श्रीगोपालभट्टगोस्वामिन् ! हे श्रीरघुनाथदासगोस्वामिन् ! हे आप्तव्रजवल्लभ ! श्रीवल्लभ ! मेरे जनक ! आप सब सर्वतोभाव से मेरी रक्षा करें। इस श्लोक की विशेष व्याख्या पूर्वचम्पू के आदि में है, वहीं देख लेनी चाहिये ।।१।।

मङ्गलाचरण श्लोकोक्त इन महानुभावों के जिस आन्तरिक अभिप्राय से ही 'पूर्व गोपालचम्पू' शीघ्र सम्पूर्ण हो गई, उसी अभिप्राय से यह 'उत्तर गोपालचम्पू' भी श्रेष्ठ ही बन जायगी। इस प्रकार की स्थिति में हम उन पुराणप्रसिद्ध श्रीगोपालजी से अन्य कौन से देव का भजन करें ? अर्थात् किसी का नहीं। इस श्लोक में ग्रन्थकार की अनन्य निष्ठा का प्रदर्शन हुआ ।।२।।

अब आनुपूर्वी क्रम से पहली कथा कहने योग्य है। यथा—मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभी प्रकार के वृन्दों की आश्रयरूप से रक्षा करनेवाला श्रीवृन्दावन नामक एक वन है। जिस वन में आकाश में नक्षत्र-मण्डल की तरह, धर्मवाले व्यक्ति में धर्म की तरह, वेद में तत्त्वनिर्णय की तरह, स्वकीय अभीष्ट लाभ में सुख की तरह; विभाव, अनुभाव, संचारीभाव आदि के समूह में रस की तरह, अपने प्रेम में अपने की तरह, अपने में अर्थात् श्रीकृष्ण में—समग्र ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान, एवं वैराग्य इन छः गुणों की तरह, परव्योम (श्रीवैकुण्ठ) में श्रीनारायण की तरह, सभी के आश्रयस्वरूप वे श्रीकृष्ण अपने में तृष्णा रखनेवाले जनों के अनुभवनीयरूप से अपनी नित्य आश्रयणीयता को अङ्गीकार करते हैं। अर्थात् आकाश में नक्षत्र-मण्डल जैसे नित्य रहता है, धार्मिक व्यक्ति में धर्म जैसे नित्य रहता है, अथवा अग्नि आदि पदार्थों में उष्णत्व आदि धर्म जैसे नित्य रहता है, वेद में तत्त्वनिर्णय जैसे नित्य रहता है, अभीष्ट वस्तु के लाभ में सुख जैसे नित्य रहता है, विभावादि वर्ग में रस जैसे नित्य रहता है, अपने में (श्रीकृष्ण में) षडैश्वर्य जैसे नित्य रहता है, एवं अपने प्रेम में श्रीकृष्ण स्वयं ही जैसे नित्य रहते हैं, तथा वैकुण्ठ में श्रीनारायण भगवान् जैसे नित्य रहते हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्ण श्रीवृन्दावन में नित्य विराजमान रहते हैं। तात्पर्य—श्रीवृन्दावनधाम नित्य है। यहाँ के सूर्य, चन्द्रमा आदि ग्रह प्राकृत की तरह प्रतीत होकर भी, प्राकृत नहीं हैं। क्योंकि वे सूर्यादि ग्रह वृन्दावन के स्वकीय तेज द्वारा उत्तमरूप से दीप्तिशाली एवं चित्शक्ति के प्रकाश-विशेष होने के नाते अप्राकृत हैं। भगवान् श्रीकृष्ण की नरलीला प्राकृत की तरह प्रतीयमान होकर भी, जिस प्रकार अप्राकृत एवं चिन्मय है; उसी प्रकार उनके परिकरगण एवं उनकी लीलाएँ भी अप्राकृत तथा चिन्मयस्वरूप हैं। अतः यह वृन्दावन पृथ्वी का तिलकस्वरूप होकर भी, प्राकृत भूखण्डविशेष नहीं है। क्योंकि महावैकुण्ठनाथ आदिकों के अंशीस्वरूप होकर भी, श्रीकृष्ण जिस प्रकार प्राकृत मनुष्य की तरह

यत्र चान्तर्धानविद्यया विद्यमानमस्मदादीनामालोकमतीतं धाम गोलोकनाम समामनन्ति । यत्र च गोलोके सकलचिन्तामणीयमानचिन्तालेशः केशवः सर्वानन्दभासिनां तद्वासिनां प्रेमनामपञ्चमपुमर्थसम्पत्पर्युदञ्चन-प्रपञ्चसञ्चयव्यसनममुञ्चं स्तद्वशत एव यथायथं पुत्रादितया विलसन्न कुत्रापि व्यभिचरति ।।४।।

तादृशात्तस्मादेव च निष्क्रम्य रम्यतया तैः सममसमं प्रकाशमानः स खलु खलनाशनस्तदिदं जगदपि कदाचित् प्रमदयति; दिव्यनृत्यनायक इव नेपथ्यस्थानादथ तद्वत्तत्र प्रविशति च ।।५।।

तदेवं स्थिते वाञ्छित-सदन्त-वक्रदन्तवक्रसंयदुदन्ततः परतः पुनस्तेषां वक्ष्यमाणप्रमाणलक्ष्यतया तत्प्रदेशप्रवेशः स यदा बभूव, तदा कदाचिदनवद्य-हरिभक्तिविद्याविशारद-सर्वमनोरथपारदश्रीनारदकृपाकूपारतरङ्गलब्ध-तत्प्रसङ्गसारौ मधुकण्ठ-स्निग्धकण्ठाभिध-सूतप्रभवनवकुमारौ श्रीमद्व्रजमहेन्द्रतत्कुमारादिभिर्विराजमानं तदेव सदनमासदताम् ।।६।।

लीला करते रहते हैं, उसी प्रकार उनका लीलाधाम श्रीवृन्दावन महावैकुण्ठ आदि धामों का अंशीस्वरूप होकर भी, भूविशेष की सी लीलाओं से युक्त है । फलतः भगवान् श्रीकृष्ण आकार से मनुष्य की तरह प्रतीत होकर भी, जैसे प्राकृत मनुष्य नहीं कहे जा सकते, उसी प्रकार यह वृन्दावन प्राकृत भूमिविशेष की तरह परिलक्षित होकर भी, प्राकृत भूमिविशेष नहीं कहा जा सकता ।।३।।

और विज्ञजन कहते हैं कि—जिस श्रीवृन्दावन में गोलोक नामक धाम विद्यमान है, वह धाम अपनी अन्तर्धान विद्या से हम जैसों के दृष्टिगोचर नहीं हो पाता है । और जिस गोलोक में सभी प्रकार के भावुकभक्तों की अभिलाषा पूर्ति के लिए, चिन्तामणि का सा आचरण करनेवाली चिन्ता के लेश से युक्त श्रीकृष्ण, सभी प्रकार के आनन्दों से प्रदीप्त होनेवाले गोलोकवासियों के प्रेम नामक पंचम पुरुषार्थ सम्पत्तिरूप ऋण के विस्तारमय संचय के व्यसन को न त्यागते हुए (अर्थात् गोलोकवासियों के सदैव ऋणी बनकर), उनके प्रेम के वशीभूत होकर ही, यथायोग्य पुत्र, मित्रादिरूप से विलास करते हुए अन्यत्र कहीं भी नहीं जाते हैं ।।४।।

और खलों को नष्ट करनेवाले वे श्रीकृष्ण उस प्रकार के दिव्यातिदिव्य लोकोत्तर श्रीगोलोकधाम से ही बाहर निकल कर, रमणीयभाव से उन्हीं गोलोकवासियों के सहित अतुल्यरूप से प्रकाशित होकर, कभी कभी इस मायामय जगत् को भी हर्षित कर देते हैं । एवं दिव्यनृत्यनायक जिस प्रकार नेपथ्यस्थान (वेषरचना गृह) से बाहर निकल कर रङ्गमञ्चपर स्वेच्छानुसार नृत्य आदि का विस्तार कर, पुनः नेपथ्यस्थान में ही प्रविष्ट हो जाता है, ठीक उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी गोलोक से निकल कर, जगत् में अपनी लीलाओं को प्रकाशित कर उसी गोलोक में प्रविष्ट हो जाते हैं ।।५।।

अतः इस प्रकार की स्थिति में सज्जनों के अन्त की इच्छा करनेवाले कुटिल दन्तवक्र के युद्धरूप वृत्तान्त के पीछे, अर्थात् दन्तवक्र के मर जाने के बाद, पुनः उन गोलोकवासियों का आगे कहे जानेवाले, पद्मपुराण के उत्तरखण्ड आदि के प्रमाणों के लक्ष्य से, उस गोलोक के प्रदेश में वह प्रवेश जब हो गया था, उसी समय कभी रागानुगा विशुद्ध हरिभक्तिरूप विद्या में विशारद, एवं सभी के मनोरथों को पूरा कर देनेवाले, श्रीनारदजी की कृपारूप समुद्र की तरङ्गों के द्वारा, उनके प्रसङ्ग के सारभाग को प्राप्त करनेवाले—मधुकण्ठ स्निग्धकण्ठ नामक सूतपुत्ररूप दोनों नवीनकुमार भी, श्रीमान् व्रजराज एवं उनके कुमार श्रीकृष्ण आदि से विराजमान उसी गोलोकरूप गृह को प्राप्त हो गये थे ।।६।।

तदा च तदाचरितनियोगं परि तदेकवृत्तितया तन्त्रीनियन्त्रितगीतयन्त्रतुल्यौ परमकुल्यौ परस्परं कथकतां कथङ्कथिकतामपि मुहुः संप्रथय्य सर्वशर्मशीलां श्रीकृष्णस्य व्रजलीलां कथायामुन्मीलयामासतुः ।।७।।

तत्र च तस्य पितृपैतामहं वृत्तं पूर्वं तौ वृत्तं कुर्वन्तौ तच्चरितभव्यमय-नव्यकाव्यस्यापि तदिवाचरितवन्तौ जन्मवृत्तेन च जन्मवृत्तमिव ।।८।।

समनन्तरं च यद्विचित्रं तस्य चरित्रं सक्रमतया समवर्णयताम् ।।९।।

तच्चेत्थमुत्तरकथा-प्रथनार्थमनुस्मर्यते,—अहो ! येन खलु पूतना पूतनारी बभूव, शकटः स कटवल्लघुतया पतनमवाप, तृणावर्तस्तृणावर्तवद्विघटिताङ्गतां गतवान् । अर्जुनयुगलं चार्जुनवत् कृतमनुग्रहं जग्राह । तत्र वत्सकस्तद्वत्सकः, बकस्तु बक एव ।।१०।।

व्योमश्च व्योमवदेव भवितुं युक्तः । आस्तामपीदम्, तदिदं तु तत्रातिचित्रम्, यदहो ! अघोऽप्यनघ आसीत्, कालियश्च मुक्तकञ्चुक इव जीवन्नेव निर्मुक्ततयाभिधीयत इति ।।११।।

और उसी समय श्रीनारदजी के श्रीकृष्णचरितकथन विषयक आदेश को लक्ष्य करके, उसी में एकाग्रता अवलम्बनपूर्वक, तन्त्री (वीणा के तार) से संयुक्त सारङ्गी आदि गीतयन्त्र के समान, परममाननीय दोनों सूतकुमारों ने परस्पर सन्देह निवारणपूर्वक वक्ता एवं प्रश्नकर्ता के भाव को बार बार विस्तारित करके, सर्वसुखमय स्वभाववाली श्रीकृष्ण की व्रजलीला को अपनी कथा में प्रकाशित कर दिया ।।७।।

और उसमें भी उन दोनों भाइयों ने श्रीकृष्ण के पिता एवं पितामह आदि के चरित्र को पहले अध्ययन करते हुए, पश्चात् जन्म के वृत्तान्त के बीत जानेपर भी, लोग में जैसे जन्म की घटनाओं का व्यवहार होता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण के चरित्ररूप मङ्गलमय नवीन (श्रीगोपालचम्पू नामक) काव्य का भी, बीते हुए या अध्ययन किये हुए की तरह, व्यवहार कर दिखाया।।८।।

तदनन्तर श्रीकृष्ण का जो विचित्र चरित्र है, वह कहने की अपूर्व परिपाटीपूर्वक वर्णन कर दिया ।।९।।

अब वही श्रीकृष्ण का चरित्र आगे की कथा का विस्तार करने के लिए इस प्रकार अनुस्मरण किया जाता है । यथा—अहो ! जिन श्रीकृष्ण के द्वारा पापिनी पूतना भी पूतनारी (पवित्र नारी) बन गई । वह शकटासुर भी चटाई की तरह हलकेपन से शीघ्रतापूर्वक पतन को प्राप्त हो गया, अर्थात् पलट गया । तृणावर्त भी तृणावर्त (बवंडर) की तरह अस्तव्यस्तभाव को प्राप्त हो गया, दोनों यमलार्जुन वृक्षों ने भी अर्जुन के ऊपर किये हुए अनुग्रह की तरह, श्रीकृष्ण कृत अनुग्रह को ग्रहण कर लिया । और वह वत्सासुर तो श्रीकृष्ण के विषय में गोवत्स की तरह कोई भी पराक्रम न दिखा सका, बकासुर तो बगुला ही रहा, अर्थात् तुच्छ ही रहा ।।१०।।

और व्योमासुर तो आकाश की तरह शून्यप्राय होने के लिए, अर्थात् मरने के लिए ही उचित था । अच्छा, इस बात को भी रहने दीजिये । किन्तु श्रीकृष्ण के विषय में यह तो और भी अधिक आश्चर्य है जो कि—अहह ! वह अघासुर भी निष्पाप हो गया । कालीयनाग भी केंचुलीरहित सर्प की तरह जीता हुआ ही, भक्ति के भाव को धारण कर, जीवन्मुक्तरूप से कहा जाता है ।।११।।

तदेवमपि परमवीर्यशाली शालीनता-वशंवदतया निजज्यायसि यशः संवलयन् धेनुकप्रलम्बौ तत्प्रतापानलज्वालायां लम्बमानौ यश्चकार, तेन लब्धमधुराचारताप्रचारश्चायं नश्चेतसि विकारसारमासादयति ॥१२॥

अहो ! निजजनेषु सौहृद्यहृद्यतां तस्य पश्य, यः खलु तानवन् दवहुताशनमपि निजाशन-माचचार ॥१३॥

वर्षगणनया पौगण्डोऽप्यविकलाङ्गतया वामभुजं गिरिच्छत्रं परि प्रचण्डं दण्डं चकार। हंहो ! तस्य बहलकुतूहलतामपि कलय, योऽयं कुदर्शनतां प्राप्तमपि सुदर्शनं सुदर्शनमेव निर्मितवान्। शङ्खचूडनाम्नः खल्वस्य मणिचूडता न युक्ता स्यादितीव यक्षतया वित्तस्य यक्षवित्तस्य तस्य शङ्खमात्रावशेषतया चूडामणिमपजहार, अरिष्टं रिष्टं चकार, केशिनः प्रत्ययमाकृष्य तदर्थेन चात्मनि कृतार्थतां प्रकृष्य केशवतां निर्देशयामास ॥१४॥

किञ्च, या जन्मश्रीरजनि गदिता या च कौमारशोभा
या पौगण्डद्युतिरघरिपोर्या च कैशोरलक्ष्मीः ।

अतएव इस प्रकार परमपराक्रमशाली होकर भी श्रीकृष्ण ने सुशीलता के वशीभूत होकर, अपने बड़े भाई श्रीबलरामजी के ऊपर कीर्ति का प्रचार करते हुए, धेनुकासुर एवं प्रलम्बासुर इन दोनों को, श्रीबलरामजी के प्रतापरूप अग्नि की ज्वाला में जो संलग्न कर दिया, उस कार्य से तो मधुर आचरण के प्रचार का लाभ करनेवाले, ये श्रीकृष्ण हमारे चित्त में सात्त्विक विकारों की प्रबलता को प्राप्त करा रहे हैं ॥१२॥

अहो ! निजजनों के ऊपर श्रीकृष्ण की मित्रता एवं प्रेम को तो देखो ! जिन्होंने उन मित्रों की रक्षा करते हुए दावानल को भी अपना भोजन बना लिया ॥१३॥

और वर्षों की गिनती से पौगण्ड अवस्था के होकर भी जिन्होंने परिश्रम से रहित होकर, गोवर्धन-रूप छत्र को लक्ष्य करके अपनी वाम भुजा को प्रचण्ड दण्डस्वरूप बना लिया। प्रिय सज्जनो ! श्रीकृष्ण के विशेष कौतूहल को भी देख लो कि, जिन्होंने कुदशर्नता (कुरूपता) को प्राप्त हुए, सुदर्शन नामक गन्धर्व को भी सुन्दर दर्शनवाला बना दिया। और होलीलीला में बुरे भाव से उपस्थित हुए इस शंखचूड़ नामक दैत्य के मस्तकपर मणि का रहना उचित नहीं हैं, मानो यह विचार कर ही श्रीकृष्ण ने यक्षरूप से विख्यात, एवं केवल यक्षों की तरह धन की रक्षामात्र करनेवाले उस शंखचूड़ की शंख, अर्थात् ललाट की हड्डीमात्र अवशिष्ट रखकर, चूड़ामणि का अपहरण कर लिया। और अरिष्टासुर को मार दिया। एवं केशाः सन्ति अस्य, अर्थात् केश हैं जिसके, इस विग्रह वाक्य से केश शब्द से विशिष्टार्थ में इन् प्रत्यय होकर, जो केशी शब्द बना उससे इन् प्रत्यय को खींचकर, पक्षे—केशी की चेतना का अपहरण कर, और इन् प्रत्यय के समान अर्थवाले "केशाद्वोऽन्यतरस्याम्" इस सूत्र के द्वारा होनेवाले व प्रत्यय के द्वारा अपने में कृतार्थता को (कृतकृत्यता को) पक्षे—कृताभिधेयता को बढ़ाकर, केशवता का निर्देश कर दिया, अर्थात् केशी को मारकर, अपने में सच्ची केश विशिष्टता का निर्देश कर दिया ॥१४॥

और श्रीकृष्ण की जो जन्मलीला की शोभा उत्पन्न हुई, एवं जो कुमारावस्था की शोभा कही गई, तथा पौगण्ड अवस्था की जो शोभा और किशोरावस्था की जो शोभा कही गई; वह वह एक शोभा

एका सा सा हृदयमहरन्नस्तदा द्रागिदानीं
संहत्यामूस्तदथ बलवल्लोभतः क्षोभयन्ति ॥१५॥
पित्रोर्वात्सल्यमादिस्थितवयसि मुकुन्दस्य पौगण्डभावे
सख्यं तेषां बहूनां किमपि मृगदृशां नव्यतारुण्यलक्ष्याम् ।
स्मारं स्मारं मनो नश्चलति न पुरतः किन्तु तत्राथ भूयः
संभूयास्ते गृहान्र्तर्निधिमिव वणिजः सुष्ठु दूरं प्रयातुः ॥इति॥१६॥

तदेवमपि तत्तुलया तत्पोषार्थमुद्यमान्तरं कुर्वन्तः परामृशामः । यद्यपि तत्र तत्र मोहनताधुर्यं तन्माधुर्यं तौ सूतसुतौ यथायोगं व्यञ्जितवन्तौ, तथापि 'न विना विप्रलम्भेन संभोगः पुष्टिमश्नुते' इति-रीत्या व्रजसतृष्णेन श्रीकृष्णेन भक्तदुःखभारनिःसारविशारदस्य श्रीनारदस्य संवादमनु तस्य यदुनिगमगमनं पुनर्व्रजागमनं गोलोकधामसङ्गमनमपि समासाद्वर्णितवन्तौ ॥१७॥

तत्तत् सर्वं वर्ण्यमानमवकर्ण्य दिनान्तरे लब्धान्तरे पूर्ववदेव पूर्वाह्ले श्रीकृष्णसनाथ-सभाभासमानः श्रीव्रजनाथप्रधानः सव्रजजनस्तद्गमनादिकस्य व्यासं तावेव पप्रच्छ ॥१८॥

यतः, यदप्यन्तःपीडा प्रतननिजदुःख-श्रवणत-
स्तथावद्भाता स्यात्तदपि मनुजास्तन्न जहति ।

ही हमारे हृदय को उसी समय शीघ्र हर ले गई। इस समय तो वे सभी शोभाएँ सम्मिलित होकर, हमारे उसी हृदय को देखने के लोभ से प्रबलतापूर्वक क्षुभित कर रही हैं ॥१५॥

श्रीकृष्ण की कुमारावस्था में माता पिता के वात्सल्य को, एवं पौगण्ड अवस्था में श्रीदामा आदि उन बहुत से सखाओं की मित्रता को, और नवीन तरुणता की शोभा में मृगनयनी श्रीराधिका आदि गोपियों के अनिर्वचनीय मधुरभाव को बारंबार स्मरण करके हमारा मन उनकी आगे की लीला में नहीं चल पा रहा है। किन्तु बारंबार फिर भी उन्हीं पूर्वोक्त भावों में घुलमिलकर इस प्रकार विद्यमान है कि, जैसे बहुत दूर परदेश में जानेवाले वणिक की निधि अच्छी प्रकार घर के भीतर छिपी रहती है ॥१६॥

अतएव इस प्रकार होनेपर भी निधि की तुलना से श्रीकृष्ण के मनोहर भाव से, उन वात्सल्य आदि रसों की पुष्टि के लिए, हम दूसरे उद्योग को अर्थात् वियोग के वर्णन को करते हुए विचार करते हैं। यद्यपि वे दोनों सूतकुमार मोहनता के भार को वहन करनेवाले श्रीकृष्ण के माधुर्य को यथाविधि प्रकाशित कर चुके हैं, तथापि "वियोग के बिना सम्भोगसुख पुष्टि को नहीं प्राप्त होता" इस रीति के अनुसार व्रज में तृष्णा रखनेवाले श्रीकृष्ण के साथ भक्तों के दुःखमय भार को दूर करने में विशारद (निपुण) श्रीनारदजी के संवाद को लक्ष्य बनाकर श्रीकृष्ण के यदुपुरी में गमन को एवं पुनः व्रज में आने को, और गोलोकधाम में अच्छी प्रकार जाने को भी (पूर्वचम्पू के अन्त में) संक्षेप से वर्णन कर गये ॥१७॥

वर्णन किये गये उस सम्पूर्ण विषय को सुनकर, दूसरे दिन अवकाश को पाकर, पहले की भाँति पूर्वाह्न समय में श्रीकृष्ण से सनाथ हुई सभा में देदीप्यमान श्रीव्रजराज हैं प्रमुख जिसमें, ऐसे व्रज के उस जनमात्र ने श्रीकृष्ण के यदुपुरी में जाने आदि के विस्तार को उन दोनों सूतकुमारों से ही पूछा ॥१८॥

कारण—यद्यपि अपने पुराने दुःख के श्रवण से उसी प्रकार अन्तःकरण की पीडा प्रदीप्त हो जायगी, तो भी मनुष्य उस बीती हुई दुःखमयी बात के श्रवण को उस प्रकार नहीं त्यागते कि जिस प्रकार सूखे

व्रणं शुष्कीभावं गतमपि निजं ते स्मृततया
बलात् पीडं पीडं निविडमनुभूतं विदधति ॥१६॥

अथवा— चिराद्बन्धौ लब्धेऽप्यसुखमभितो याति न तदा
गृहीत्वा तत्कण्ठं न यदि विलपेत्तत् प्रियतमः ।
सदा शालीनस्तु स्वयमिदमकुर्वन् व्रजजन-
स्तथा कृष्णस्ताभ्यां सदसि कथकाभ्यामकथयत् ॥२०॥

अथ पृष्टौ च तौ सुखदुःखस्पृष्टौ श्रीरामचन्द्रसभायां कुश-लवाविवास्यां श्रीकृष्णचन्द्र-सभायां प्रतुष्टुवाते । तत्र प्रथमतः स्निग्धकण्ठः समुत्कण्ठतया बभाषे ॥२१॥

तत्र च मङ्गलाचरणम्—

"गीर्देवीमनुयामः, सकलश्रुतिसारभागवतरूपाम् ।
यद्रससिद्धान्ताभ्यां, नवमपि काव्यं प्रमाणतां याति ॥२२॥

"अथ पूर्वचम्पूमनुस्मृत्य कथा,—

"दिनं दिनं चैवमनन्दि स व्रजः, कृष्णेन कृष्णः स भृशं व्रजेन च ।
सिताख्यपक्षः सितकान्तिना यथा, सिताख्यपक्षेण यथा सितद्युतिः ॥२३॥

हुए भी अपने घाव को स्मरण करके, प्रबलतापूर्वक बारंबार पीडित हो निविड (घना) अनुभव करते हैं। इसी प्रकार व्रजवासी भी अपने वियोगमय दुःख की वार्ता के श्रवण से विमुख नहीं हुए, यह भाव है ॥१६॥

अथवा बहुत दिनों के बाद परदेश से आये हुए बन्धु को प्राप्त करनेपर भी, उस समय यदि वह प्रियतम जन उस अपने वियोगीजन के कण्ठ को ग्रहण करके विलाप नहीं करता है, तो वह वियोगमय दुःख सर्वतोभाव से दूर नहीं होता है। इसी प्रकार सदैव विनम्र रहनेवाला व्रज का जनमात्र तो पूर्वोक्त विलापादि स्वयं वर्णन न करता हुआ, उसी प्रकार श्रीकृष्ण ने भी स्वयं कुछ न कहकर सभा में उन दोनों सूतपुत्रों के द्वारा सब कुछ कहवा दिया ॥२०॥

तदनन्तर व्रजवासियों के द्वारा पूछे हुए वे दोनों सूतकुमार (श्रीकृष्णलीला स्वभावतः सुखमय होने-पर भी, विरह वर्णन के समय मानसिक दुःख होने के कारण) सुखदुःख से संयुक्त होकर, श्रीरामचन्द्र की सभा में कुश एवं लव इन दोनों भाइयों ने जैसे रामचरित की प्रस्तावना की थी, उसी प्रकार श्रीकृष्णचन्द्र की सभा में आगे की कथा प्रस्तुत करने लगे। उन दोनों में से पहले स्निग्धकण्ठ ही उत्कण्ठापूर्वक कहने लगा। यहाँतक ग्रन्थकारकृत प्रस्तावना हुई। अब प्रसङ्ग प्रारम्भ होता है ॥२१॥

उसमें मङ्गलाचरण, यथा—समस्त श्रुतियों की सारस्वरूप श्रीमद्भागतरूप श्रीसरस्वतीदेवी का हम अनुसरण करते हैं कि, जिस श्रीमद्भागवतरूप सरस्वतीदेवी के रस एवं सिद्धान्त से उपलक्षित (युक्त) नवीन, अर्थात् 'श्रीगोपालचम्पू' आदि काव्य भी प्रामाणिक हो जाता है ॥२२॥

अनन्तर पूर्वचम्पू का अनुस्मरण करके कथा का उपक्रम, यथा—शुक्लपक्ष जिस प्रकार चन्द्रमा के द्वारा; एवं चन्द्रमा जिस प्रकार शुक्लपक्ष के द्वारा हर्षित होता है, उसी प्रकार वह व्रज का जनमात्र प्रतिदिन श्रीकृष्ण से प्रसन्न रहता था, एवं वे श्रीकृष्ण व्रज के जनमात्र से अत्यन्त प्रसन्न रहते थे ॥२३॥

"तदेवमपि—

"कृष्णायासीत्तस्य तृष्णा समन्तात्, तृष्णायै वा कृष्ण इत्यत्र भेदः ।
नाभूदित्थं पूरुषं स्वप्रकृत्या, युक्तं विज्ञास्तत्र दृष्टान्तयन्ति ॥२४॥

पिपासूनां नीरं क्षुदुदयवतामन्नमभितः, प्रतप्तानां शीतं हिमजडहृदां तप्तनिकरः ।
यथा तद्वत् कृष्णः समजनि यदा गोकुलभुवां, तदा वैयग्र्यं स प्रतिजनसुखाय प्रतिगतः ॥२५॥

तातस्तद्भ्रातृवर्गस्तदखिलभगिनीभर्तृजामातृमुख्या
माता मातुः पितुश्च स्वसृमुखमहिलास्तद्वदन्ये च ये ये ।
सर्वेषामेव तेषां युगपदपि वसन्नन्तरे वासयंश्च
स्वान्तस्तान् वासुदेवश्रुतिभणितमिव व्यञ्जयामास कृष्णः ॥२६॥

सुरपतिमणिमानिताङ्गलक्ष्मीः, शरदिजसारससारहारिनेत्रः ।
निखिलमतिगतिः कथं न स स्यात्, पितृजननीसुखमाधुरीधुरीणः ॥२७॥

अतएव ऐसी स्थिति में भी व्रज के जनमात्र की तृष्णा श्रीकृष्ण को सन्तुष्ट करने के लिए ही थी, एवं श्रीकृष्ण भी व्रज के जनमात्र की तृष्णा (मनोरथ) को पूरा करने के लिए तत्पर थे। इस विषय में किंचिद् भी भेद नहीं था। इस प्रकार इस विषय में विज्ञजन अपनी प्रकृति (स्वभाव) से युक्त पुरुष को ही दृष्टान्त बनाते हैं। अर्थात् पुरुष जैसे अपनी प्रकृति को प्रसन्न करता है, एवं प्रकृति जैसे पुरुष को प्रसन्न करती है, इस विषय में भेद नहीं है। उसी प्रकार प्रसन्न करने के विषय में श्रीकृष्ण एवं व्रजवासियों में किंचिद् भी भेद नहीं था ॥२४॥

और पिपासु (प्यासे) व्यक्तियों के सम्बन्ध में जल जैसे सुखदायक होता है, क्षुधार्त (भूखे) प्राणियों के पक्ष में अन्न जैसे तृप्तिकारक होता है, चारों ओर से तपे हुए जनों के लिए हिम आदि शीतल पदार्थ जैसे सुखदायक होते हैं, एवं शीत से जड़प्राय हृदयवाले जनों के लिए अग्नि आदि तप्तपदार्थों का समूह जैसे सुखकारक है, ठीक उसी प्रकार श्रीकृष्ण गोकुलवासियों के सम्बन्ध में जब सुखदायक बन गये, तब वे प्रत्येक जन के सुख के निमित्त व्यग्रता को प्राप्त होगये ॥२५॥

और अपने पिता तथा उनके भ्रातावर्ग, उनकी सब भगिनी (बहिन), भगिनीपति, जामाता (जमाई) आदि सम्बन्धीजन, और माता, एवं मातापिता की भगिनी आदि महिलाएँ (स्त्रियाँ), और उसी प्रकार अन्य जो जो व्रजवासीजन हैं, उन सभी के अन्तःकरण में एकसाथ निवास करते हुए, एवं अपने अन्तःकरण में उन सबको निवास कराते हुए, श्रीकृष्ण ने "वासुदेव एवेदं सर्वम्" अर्थात् यह दृश्यमान सम्पूर्ण जगत् ही वासुदेवस्वरूप है। इस वासुदेवोपनिषत् की उक्ति की तरह अपना एवं व्रजवासियों का एकत्व प्रकाशित कर दिया ॥२६॥

और वे श्रीकृष्ण पितामाता की सुखरूप माधुरी के वहन करनेवाले किस प्रकार न हो सकेंगे ? अपितु होंगे ही। कारण—जिनके अङ्गों की मनोहर शोभा (परास्त होने के कारण) इन्द्रनीलमणि के द्वारा भी सम्मानित है, अर्थात् उनके सब अंग इन्द्रनीलमणि से भी सुन्दर हैं। और जिनके नेत्र शरद् ऋतु में होनेवाले कमलों के सारभाग को हरनेवाले हैं, अर्थात् उनसे भी सुन्दर हैं; और स्वयं अन्तर्यामी होने के कारण जो सबकी बुद्धि में संचार करनेवाले हैं ॥२७॥

ध्याने कूर्मवदीक्षणे शकलिवद् घ्राणग्रहे धेनुवत्
स्पर्शे पक्षिवदस्य पोषणपरौ शश्वद्व्रजेशावमू ।
नित्यं नित्यमुदश्वदुत्कलिकिकामाशां चिराद्वर्धितां
कैशोरे प्रतिपद्य सुष्ठुफलितां जाड्यं मुदा जग्मतुः ॥२८॥

सद्भ्रातृतां स्वमनु तस्य समीक्ष्य रामः, फुल्लाङ्गतां प्रतिदिनं गतवान् यथा तु ।
शेषप्रमाणतनुतां तनुयादसौ किं, दिष्टक्रमादिति जना मतिमिष्टवन्तः ॥२९॥

मुख्यः प्राणस्तद्विभेदाश्च यद्वत्, कृष्णस्तद्वच्छ्रीलदामादयश्च ।
एकात्मानः शश्वदुद्दिश्य चैकं, कार्यं यत्ते यान्ति तत्तद्विहारम् ॥३०॥

येषां सेव्यः समजनि स हरिः सेवकानां निजानां
तेषां प्राणप्रतिकृतिरभवद्देहसादृश्यभाजाम् ।
साहाय्यं तं प्रति तमपि विना ते न तिष्ठन्ति सोऽपि
न्यास्थत्तत्र स्वमिति बुधमता तेषु दृष्टान्ततेयम् ॥३१॥

और "दर्शनध्यानसंस्पर्शैर्मत्स्यकूर्मविहङ्गमाः । पुष्णन्ति स्वान्यपत्यानि तथाऽहमपि पद्मज ! ॥ (ह०भ० वि० १०।१६१) अर्थात् केवल दर्शन, ध्यान, एवं अच्छी प्रकार के स्पर्श के द्वारा, क्रमशः मछली, कछुआ, पक्षी, ये सब अपनी सन्तान को जिस प्रकार पुष्ट करते हैं, हे ब्रह्माजी ! मैं भी अपने भक्तों का उसी प्रकार पोषण करता हूँ ।" इस वचन के अनुसार वात्सल्यरस के मूर्तिमान स्वरूप, निरन्तर श्रीकृष्ण के लालन पालन पोषण में ही लगे हुए श्रीव्रजेश्वर एवं श्रीव्रजेश्वरी ये दोनों ही जन, श्रीकृष्ण की रक्षा के ध्यान के विषय में कच्छप के समान, देखने भालने के विषय में मछली के समान निर्निमेष, एवं श्रीकृष्ण का अंग सूँघने के समय धेनु के समान, तथा स्पर्श करने के समय पक्षी के समान होकर, नित्यप्रति बढ़ती हुई उत्कण्ठा से युक्त, एवं बहुत दिनों से बढ़ाई हुई अपनी आशारूप लता को, श्रीकृष्ण की किशोरावस्था में अच्छी प्रकार फली हुई प्राप्तकर, हर्ष के कारण जड़ता को प्राप्त हो गये ॥२८॥

और श्रीबलरामजी तो अपने को लक्ष्य करके, अर्थात् अपने ऊपर श्रीकृष्ण का सुन्दर या श्रेष्ठ भ्रातृभाव देखकर, प्रतिदिन यथावत् प्रफुल्लित अङ्गोंवाले हो गये थे । जिसके कारण भक्तजन तो इस विषय में यह विवेचना करने लगे थे कि, ये श्रीबलरामजी प्रेम के सौभाग्य के वशीभूत होकर, कालक्रम से श्रीकृष्ण के शय्या आदि रूप में, शेषजी के प्रमाण की मूर्ति का विस्तार करेंगे क्या ? अर्थात् शेष ही बनेंगे क्या ? ॥२९॥

जिस प्रकार जीव का मुख्य प्राण एक ही है, उसके भेद ही प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान आदि हैं, ठीक उसी प्रकार श्रीकृष्ण ही मुख्य अर्थात् अंशी हैं, एवं श्रीदामा आदि सखा श्रीकृष्ण के अंश हैं । अतएव वे श्रीकृष्ण के एकात्मा स्वरूप हैं । इसलिए वे एकमात्र श्रीकृष्ण के प्रीतिरूप एक ही कार्य का उद्देश्य करके मित्रता के योग्य विहार को प्राप्त होते हैं, अर्थात् विहार करते हैं ॥३०॥

श्रीकृष्ण के सेवकों की स्थिति का वर्णन, यथा—वे श्रीकृष्ण जिन निजी सेवकों के सेव्य बन गये थे, देह की समानता को प्राप्त हुए उन्हीं सेवकों के वे श्रीकृष्ण प्राणों की प्रतिमूर्ति हो गये थे । यहाँपर देहस्थानीय सेवक हैं, एवं प्राणस्थानीय श्रीकृष्ण हैं । अतएव वे श्रीकृष्ण के सेवक, श्रीकृष्ण के प्रति सेवारूप सहायता के बिना, एवं श्रीकृष्ण के बिना तनिक देर भी सजीव स्थित नहीं रहते हैं; और श्रीकृष्ण ने भी

वत्सगोष्ठविपिनादि चेद्भुजेद्,-घ्राणतर्पणमघारिसौरभम् ।
तर्हि तत्र धवलावलिर्भवेद्,-द्रागजागरधरा न चान्यदा ॥३२॥
श्रद्दध्यान्न जगद्यदस्य तु गुणैर्वन्याश्च ते प्राणिनः
सन्ति द्रागनुगाः परस्परमपि प्रीणन्ति यद्द्वेषिणः ।
यद्येवं स्वयमेव सोऽपि भगवान् श्रीयुक्तवैयासकिः
श्रीमद्भागवताख्यवज्रलिपिभिर्निष्टङ्कयेन्नाग्रतः ॥३३॥
तत्तद्यद्यपि शर्मजातमभवद् गोष्ठे तथाप्यच्युत-
द्वेषाय प्रहितान्मुहुर्निजभटात् कंसेन भीरुत्थिता ।
तस्मादत्र न तर्हि शान्तिरजनीत्युन्नीय लीलामिमां
चित्तं धूतभयामिहानवरतं निर्वक्तुमन्विच्छति ॥"३४॥
अथ तद्दुःखं स्मरन्तं व्रजेश्वरं प्रति सान्त्वनं समापनमाह स्म,—
"गोष्ठे दुःखागदङ्कारः कुलालङ्कार एष ते ।
सर्वां शङ्कां पुनर्धुन्वन्नर्वागङ्कागतस्तव ॥"इति॥३५॥

अपनी आत्मा को उन सेवकों में स्थापित कर दिया है । इस प्रकार उन सेवकों के विषय में यह दृष्टान्त का भाव पण्डितों के सम्मत है ॥३१॥

और वत्स, गोष्ठ (खिड़क), एवं वन आदि भी यदि नासिका को तृप्त करनेवाली श्रीकृष्ण के अङ्गकी सुगन्धि को सेवन करते हैं, तब तो वहाँपर धेनुओं की पंक्ति उसी सुगन्धि का सेवन कर, शीघ्र ही निद्रा को धारण करनेवाली हो जाती थी, किन्तु अन्य समय में नहीं । अर्थात् श्रीकृष्ण के अङ्ग की सुगन्धि के सेवन के समय तो गैयाएँ विभोर होकर सोती थीं; अन्य समय नहीं ॥३२॥

अतः उन श्रीकृष्ण में जगत् का कौनसा प्राणी श्रद्धा न करेगा ? अपितु, अवश्य ही करेगा । क्योंकि इन श्रीकृष्ण के लोकोत्तर गुणों के द्वारा वन में उत्पन्न होनेवाले वे पशु पक्षी आदि प्राणी भी शीघ्र ही उनके अनुगामी हो रहे हैं; एवं परस्पर निरन्तर द्वेष करनेवाले सर्प–नकुल आदि प्राणी भी परस्पर तृप्त हो रहे हैं । यदि ऐसी बात है तभी तो स्वयं श्रीयुक्त व्यासनन्दन "उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामगतिं गतिम् । वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥"—इस लक्षण से युक्त भगवान् श्रीशुकदेव भी "यत्र नैसर्गदुर्वैराः सहासन् नृमृगादयः । मित्राणीवाजितावासद्रुतरुट्तर्षकादिकम् ॥ भा. १०।१३।६०" इत्यादि रूपवाले श्रीमद्भागवत नामक दृढतर लेखों के द्वारा निरूपण कर सकते हैं । किन्तु श्रीकृष्ण के प्रगट होने से पहले ऐसा निरूपण नहीं कर सकते ॥३३॥

इस प्रकार व्रज एवं व्रजवासियों की महिमा का निरूपण कर, अब कंस के द्वारा किये हुए उपद्रवों से उनके दुःख का दिग्दर्शन करते हैं, यथा—यद्यपि व्रज में वे वे अपूर्व सुखसमूह संघटित हुए, तथापि श्रीकृष्ण के ऊपर द्वेष करने के लिए कंस के द्वारा भेजे हुए, पूतना आदि अपने सैनिकों से भय उठ खड़ा हुआ था । इस कारण व्रज में उस समय शान्ति उत्पन्न नहीं हुई । यह विचार कर इस व्रज में मेरा चित्त तो भय को दूर करनेवाली इस श्रीकृष्णलीला को निरन्तर क्रमशः कहना चाहता है ॥३४॥

तदनन्तर स्निग्धकण्ठ उस बीते हुए दुःख को स्मरण करते हुए श्रीव्रजराज के प्रति सान्त्वनारूप समाप्ति का वचन बोला—हे श्रीव्रजेश्वर ! देखो, कंसकृत भय से जिसके लिए तुम्हारे मन में महान् कष्ट

तदेवं श्रीव्रजेश्वर-सभान्तः प्रातःकथा कथिता। यस्यां सव्यवधानदेशे निवेशेन श्रीव्रजेश्वर्यादयः श्रीराधादयश्च प्रतिनिजकर्णमभ्यर्णितवर्णवर्णं चक्रुः ॥३६॥

अथ पूर्ववदेकान्ते कान्ते विराजमानश्रीकान्ते श्रीराधिकानिशान्ते निशान्तस्तत्कथाशेषः संश्लेषमवाप ॥३७॥

यत्र च स्निग्धकण्ठ उवाच,—

"स्वयं लक्ष्मीरप्यच्युतहृदि गताप्यन्यवपुषा, तपस्तप्त्वा यं क्वाप्यलभत न रासादिमहसि।
तमेतं गोविन्दं वशितमनुविन्दन् व्रजरमा-,गणः शर्माविन्दत् कियदिति कथं कः कथयतु ? ॥३८॥

प्रसादं यं स्वप्नेऽप्यलभत न लक्ष्मीरपि हरे-
स्तमेतं श्रीगोप्यः समदधत रासादिमहसि।
अहो यस्या भाग्यं स्पृहितमपि ताभिर्न कलितं
किमस्या राधायाः कवयतु कविस्तन्मयसुखम् ?" इति ॥३९॥

था, इस समय तो दुःखरूप रोगों का चिकित्सक एवं तुम्हारे कुल का भूषण, यह श्रीकृष्ण इस व्रज में सब प्रकार की शंका को दूर करता हुआ, बीते हुए वियोगमय समय के बाद, पुनः तुम्हारी गोद में ही आगया है। अतः अब किसी प्रकार के दुःख की आशंका नहीं है ॥३५॥

इस प्रकार श्रीव्रजेश्वर की सभा में प्रातःकाल की कथा कही गई। जिस सभा में पुरुषों की दृष्टि के अगोचर स्थान में बैठ करके व्रजेश्वरी श्रीयशोदा आदि महिलाएँ एवं श्रीराधिका आदि गोपियाँ भी, अपने पास में आये हुए कथा के प्रत्येक अक्षर को अपने अपने कर्णगोचर कर रही थीं ॥३६॥

अनन्तर पहले को भाँति श्रीकृष्ण जिसमें विराजमान हैं, ऐसे एकान्त में श्रीराधिका के मनोहर घर में, रात्रि में उसी कथा का शेषभाग संयोग को प्राप्त हो गया, अर्थात् पूर्वचम्पू से आगे की कथा प्रारम्भ हो गई ॥३७॥

और जिसमें (वैकुण्ठनाथ की पत्नी महालक्ष्मी से भी इन व्रजाङ्गनाओं का सौभाग्य अधिक है, इस बात का निर्देश करता हुआ) स्निग्धकण्ठ बोला कि—स्वयं लक्ष्मीदेवी भी तपस्या करके स्वर्णरेखारूप दूसरे शरीर से, श्रीकृष्ण के हृदयपर विराजमान होकर भी, रासलीला आदि महोत्सव में जिन श्रीकृष्ण को साक्षात् रूप से कहीं भी न प्राप्त कर सकीं, उन्हीं श्रीकृष्ण को व्रज की लक्ष्मीस्वरूपा गोपीश्रेणी ने अपने वश में आये हुए प्राप्त कर कितना सुख प्राप्त किया, इस बात को कौन कवि किस प्रकार कह सकता है ? ॥३८॥

सब गोपियों में श्रीराधिका का सौभाग्य और भी अधिक है। देखो, लक्ष्मीदेवी ने श्रीकृष्ण के संयोग आदि सुखरूप जिस कृपा को स्वप्न में भी प्राप्त नहीं किया, उसी को श्रीमती गोपियों ने रासादि महोत्सव में अच्छी प्रकार धारण किया था। किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि—जिन श्रीमती राधिका के सौभाग्य को उन सब गोपियों ने इच्छा करके भी नहीं प्राप्त किया। अतः इन श्रीराधिका के तन्मयसुख को कवि क्या वर्णन कर सकता है ? भावार्थ—यह सुख तो वेदादि शास्त्रों के भी अगोचर है ॥३९॥

अथ क्षणमुष्णीभूय तुष्णीम्भूय च पुनराह,—"तथापि भ्रातर्मधुकण्ठ ! तदिदं मुक्तकण्ठं पुनरनुवदितुं शक्तिर्न प्रसक्तीभवति ॥४०॥ यतः,

"कुलीनानां श्लाघ्या निजकुलजलोकैः परिवृति-
स्तथार्याणां रीतिर्यदपि किल तासामविचला ।
तथाप्युच्चैस्तत्तद्विचलनकृतिर्ध्वस्तनिखिला
मुकुन्दप्रेमार्तिर्मम हृदि विमोहं प्रथयति ॥"४१॥

पुनः सास्रं श्रीराधामुखमीक्षमाण उवाच,—
"खरांशोरंशुस्पृग्वपुरिव खरांशोर्मणिततिः-, विधोः कान्तिस्पर्शिस्थितिरिव विधो रत्नविततिः ।
मुहुर्ज्वालां हन्त द्रवमपि वहन्ती यदभव-, न्मुरारेर्दिङ्मात्राद्भ्रमयति तदेषा मम मनः ॥"४२॥

तदेवमेवावृत्त्या पुनरपि तत्तद्विषयमुवाच,—
"यथा— यदा दृष्टिं यातः कथमपि हरिस्तासु स तदा
परं स्फूर्तिभ्रान्तिं रचयति पुरावन्न तु परम् ।

उसके बाद श्रीकृष्ण के भावी विरह को स्मरण कर क्षणभर सन्तप्त होकर, और चुप होकर पुनः बोला कि—तथापि हे भैया मधुकण्ठ ! इस विरह को उच्चस्वर से पुनः अनुवाद करने के लिए, मेरी शक्ति संलग्न नहीं हो रही है ॥४०॥

कारण—अपने वंश के लोगों के द्वारा उन गोपियों का सब ओर से जो संरक्षण था, वह कुलीनजनों के प्रशंसनीय था, तथा उनकी सतीसाध्वियों की सी जो रीति थी वह भी अचल थी, तथापि विशेषरूप से तत्तद् विषय से विचलित कर देनेवाली, सभी पदार्थों का त्याग करनेवाली, श्रीकृष्ण के प्रेम से होनेवाली जो पीडा गोपियों के पक्ष में थी, वह प्रेमपीडा मेरे हृदय में विशेष मोह को विस्तारित कर रही है। श्रीकृष्ण-प्रेमजनित पीडा के कारण ही गोपियों का लज्जा आदि का त्यागना संभव हुआ है, यह भावार्थ है ॥४१॥

अश्रु बहाता हुआ स्निग्धकण्ठ श्रीराधिका के मुख को निहारता हुआ पुनः बोला—सूर्यकान्तमणियों की श्रेणी सूर्य की किरणों के स्पर्श से युक्त शरीरवाली होते ही, जिस प्रकार ज्वाला को धारण करनेवाली हो जाती है, एवं चन्द्रकान्तमणियों की श्रेणी चन्द्रमा की कान्ति के स्पर्श करनेवाली स्थितिपर पहुँचते ही, अर्थात् चन्द्रकिरणों का स्पर्श पाते ही जिस प्रकार द्रव को धारण करनेवाली हो जाती है, ठीक उसी प्रकार, अहह ! श्रीकृष्ण के दिग्दर्शन मात्र से बारंबार ज्वाला को एवं द्रव, अर्थात् सरसता को धारण करती हुई ये श्रीमती राधिका मेरे मन को भ्रमित कर रही हैं। अर्थात् सूर्यकान्तमणि तो सूर्य की किरणों के स्पर्श से, तथा चन्द्रकान्तमणि चन्द्रकिरणों के स्पर्श से ही पूर्वोक्त भाव को धारण करती है, किन्तु श्रीराधिका तो स्पर्श किये बिना, श्रीकृष्ण के दिग्दर्शनमात्र से पूर्वोक्त दशा को प्राप्त हो जाती हैं। इस आश्चर्य को याद करके मेरा मन भ्रान्त हो जाता है ॥४२॥

अतएव इसी प्रकार आवृत्ति करके पुनः तत् तद् विषयपर बोलने लगा, यथा—वे श्रीकृष्ण जब उन गोपियों के किसी प्रकार भी दृष्टिगोचर हो जाते थे, तब वे उन गोपियों में पहले की तरह केवल स्फूर्ति की भ्रान्ति को उत्पन्न कर देते थे, किन्तु साक्षात्कार को नहीं। और वे श्रीकृष्ण जब कहींपर उन गोपियों

यदा स्पृष्टिं प्राप्तः क्वचिदपि तदापि प्रथमवत्
तदेतद्वैयग्र्यं मम हृदयमुच्चैर्दलयति ॥४३॥
तदेतद्वैयग्र्यं वृषरविसुतायामधिगमाद्-
विदूरं यद्गुप्तं हसति किमु वा रोदिति यदा ।
तदा तस्या हासे स्फुरति निखिलं हृष्यतितरां
तथा रोदे ग्लानिं कलयतितरां हा जगदपि ॥४४॥
यदा रासानन्दप्रभृतिहरिलीलाः सुवलिता-, स्तदा गोप्यः सत्यं परमपरमं शर्म समयुः ।
परं यातायातं रचयदभितस्तद्विरहजं, महादुःखं तासां हृदयमसकृन्मर्दयति नः ॥४५॥
प्रियाणां सर्वासां परमुपरि राधां प्रणयवा-
नसाधारण्येन स्वहृदि स पुरा लालयति यत् ।
तदेतन्नः सर्वं सुखमहह हा नाथ रमणे-
त्यदः स्तोकश्लोकः पिबति किमहं वच्मि करवै ? ॥४६॥
इदं स्मारं स्मारं ज्वलति मम धीर्यद्व्रजमृगी-
दृशां लज्जालूनां हरिमनु रतिर्व्यक्तिमगमत् ।

के स्पर्श को प्राप्त हो जाते थे, तब भी वे पहले की तरह स्फूर्ति की भ्रान्ति को ही उत्पन्न करते थे, किन्तु आलिङ्गनादि सुख को नहीं। अत: उन गोपियों की व्यग्रता मेरे हृदय को विशेषरूप से विदीर्ण कर रही है ॥४३॥

और उसी प्रकार की व्यग्रता वृषभानुनन्दिनी श्रीराधिका में प्राप्त होते ही वे श्रीराधिका (श्रीकृष्ण की स्फूर्ति की भ्रान्ति से), जब विचारातीत गुप्तरूप से हँसती हैं, अथवा शोक के उदय होते ही जब रोने लग जाती हैं, तब उनके हास्य की स्फूर्ति होनेपर सम्पूर्ण जगत् अत्यन्त हर्षित हो जाता है, एवं उनके रोने-पर हाय ! सम्पूर्ण विश्व ग्लानि का अनुभव करता है ॥४४॥

और जिस समय रासकालीन आनन्द प्रभृति श्रीहरि की लीलाएँ अच्छी प्रकार सम्मिलित हो गई थीं, उस समय तो सभी गोपियाँ उत्तमोत्तम सुख को भली प्रकार प्राप्त हो गई थीं, यह बात सत्य है। किन्तु इस समय जो गोपियाँ सब की अपेक्षा महान् सुख पा चुकी हैं, उन्हीं का श्रीकृष्ण के विरह से उत्पन्न होनेवाला जो महान् दु:ख है, वह चारों ओर यातायात करता हुआ, अर्थात् एक महादु:ख चला गया, एवं दूसरा महादु:ख आ गया, इस प्रकार के भाव को उत्पन्न करता हुआ, हमारे हृदय को बारंबार चूर्ण कर रहा है ॥४५॥

श्रीकृष्ण सभी गोपाङ्गनारूप प्रियाओं के बीच में केवल श्रीराधिका के ऊपर अधिक स्नेहवाले होकर, पहले असाधारण रूप से अपने हृदय में श्रीराधिका का जो लालन पालन करते थे, अत: वह लालन पालन ही, एवं अहह ! हा नाथ ! हा रमण ! हा प्रियतम ! हे विशाल भुजाओंवाले श्याम ! तुम कहाँ छिपे हो प्यारे ! ? रास के आरम्भ में इस प्रकार का थोड़ा सा श्लोक भी, हमारे सारे सुख को ही पी रहा है, अर्थात् नष्ट कर रहा है ! अत: अब मैं क्या कहूँ, एवं क्या करूँ ? अर्थात् कुछ भी समझ में नहीं आता ॥४६

और लज्जाशील व्रजाङ्गनाओं की आन्तरिक प्रीति श्रीकृष्ण को लक्ष्य बनाकर प्रगट हो गई। इस बात को बारंबार स्मरण करके मेरी बुद्धि जली जा रही है। अच्छा, इस बात को तो रहने दीजिये।

तदास्तां राधायाः सविधमिव तस्य स्फुरणकृत्-
प्रमायास्तं द्रष्टुं दृशि कुटिलता मां विदहति ॥४७॥

अन्यत् पश्यति कृष्णमन्यवचने कृष्णं ब्रवीत्यन्यवाक्-
श्रुत्यां कृष्णमहो शृणोति सततं या गोपसुभ्रूततिः ।
तस्यां किं बत गोपन-प्रबलतां यद्यश्नुवाना स्फुटं
राधाया जडता न हि प्रबलतां यायादमूदृश्यपि ॥४८॥

"अथ बल्लवीवल्लभस्यापि तथा कथा प्रथनीया,—॥४९॥

"एका श्रीर्यद्वशे भाति तद्वशे सुखसन्ततिः ।
श्रीकोटीर्वशयन् कृष्णस्तत्कोटिं स्फुटमर्हति ॥५०॥

"तथापि लीलारसविशेषवशतया तदानीमन्यथा-प्रथयापि सन्तः समपश्यन्त । यथा—॥५१॥

"म्लानौ म्लानिं रुचौ रोचिः प्रेयसीनामनुव्रजन् ।
वीक्षितः सोऽयमन्तर्ज्ञैर्वृत्तीनां वृत्तिमानिव ॥५२॥

किन्तु श्रीकृष्ण की स्फूर्तिकारक यथार्थ ज्ञानवाली श्रीराधिका के नेत्र में, मानो निकट में ही श्रीकृष्ण को देखने के लिए जो कुटिलता है, वह स्मरण करते ही मुझको विशेष दग्ध कर रही है ॥४७॥

और देखो ! जो गोपाङ्गनाश्रेणी श्रीकृष्ण से भिन्न वस्तु को भी भावावेश के कारण, निरन्तर श्रीकृष्ण ही देखती है, एवं दूसरे के कहने के विषय में भी श्रीकृष्ण को कहती है, तथा दूसरी बातों के सुननेपर भी निरन्तर श्रीकृष्ण को ही सुनती है, अहह ! इस प्रकार की उस गोपाङ्गनाश्रेणी में स्पष्टरूप से व्याप्त होती हुई, श्रीराधिका की प्रेममयी जड़ता यदि प्रबलता को न प्राप्त हो सके, तो कौन सा भाव गुप्त रह सकता है ? अर्थात् कोई भी नहीं। तात्पर्य—अन्य गोपियों की अपेक्षा राधिका की प्रेममयी जड़ता अधिक प्रबल है, वही सब गोपियों में व्याप्त होकर उनके भाव को छिपा देती है ॥४८॥

श्रीकृष्ण में गोपियों की जिस प्रकार प्रीति थी, उसी प्रकार श्रीकृष्ण की प्रीति गोपियों में थी या नहीं, इसके उत्तर में कहते हैं कि—अब गोपीजनवल्लभ श्रीकृष्ण की उसी प्रकार की प्रेममयी कथा ग्रथित करने योग्य है ॥४९॥

देखो, जिस व्यक्ति के वश में सांसारिक सम्पत्तिरूप लक्ष्मी शोभा पाती है, उसी के वश में सुखों का समूह शोभा पाता रहता है। अतः अपनी स्वरूपशक्तिरूपा करोड़ों भुवनलक्ष्मियों को अपने वश में करते हुए श्रीकृष्ण स्पष्ट ही करोड़ों सुखों को प्राप्त करने योग्य हैं ॥५०॥

तथापि सन्तजन लीलारसविशेष के अधीन होकर, उस समय दूसरी रीति से भी, अर्थात् गोपी आदि प्रेमीजनों के विरह में दुःख के विस्तार के भान से युक्त भी श्रीकृष्ण को देखते हैं ॥५१॥

यथा—कृषी (खेती) आदि जीविकावाला व्यक्ति जिस प्रकार कृषी आदि जीविकाओं की ग्लानि (हानि) में ग्लानि को, एवं उन्हीं जीविकाओं की वृद्धि में हर्ष को प्राप्त होता हुआ देखा जाता है, उसी प्रकार अन्तःकरण की बात को जाननेवाले विज्ञजनों के द्वारा वे श्रीकृष्ण भी, अपनी प्रेयसी गोपियों की ग्लानि में ग्लानि को, एवं उनकी दीप्ति में प्रकाश को, अर्थात् उनकी प्रसन्नता में प्रसन्नता का अनुसरण करते हुए देखे गये हैं ॥५२॥

गाम्भीर्यान्मुरशत्रोः, स्फुटमब्धेरिव न भाति कार्श्यादि ।
किन्तु तदन्वयिजीवन,-धाराणां तेन तच्च तर्क्येत ॥५३॥
यद्यपि तासां लाभे, हरिणा न स्वैरिता याता ।
तदपि स्वस्मिन्नभिमति,-मात्रे शश्वत्कृतार्थता मेने ॥५४॥
आस्तां व्रजसुभ्रूणा,-मभिसृतिसङ्केतधाममिलनादि ।
स्वैरस्थितिरपि तासा,-मवकलिता कृष्णमुन्मुदं कुरुते ॥५५॥
बलिमुषिता निजलक्ष्मी,-रिव लब्धुं ताः सदोत्कतां यातः ।
कृष्णश्चिन्तामणिव,-त्तासु च राधामचिन्तयन्नितराम् ॥५६॥

निमेषः कल्पः स्यादपि नयनपक्ष्माचलवर-, स्तथा दृग्वार्यब्धिर्व्रजवररमाः पश्यति हरौ ।
तदोदृग् भावः किं समचरदमूभ्यस्तमथवा, ततोऽमूरित्येवं द्वयमपि न निर्णीतिमयते ॥५७॥
किमेषा स्फूर्तिर्मे व्यतिमिलनकर्त्री वनितया, तया किंवा साक्षात्कृतिरिति विवेकाविदुरधीः ।
हरिः स्वान्तज्वालावलयितवपुः क्वापि बलवत्-, प्रफुल्लाङ्गः क्वापि प्रतिमुहुरुदग्रं भ्रममगात् ॥५८

और देखो ! नदियों के जल की वृद्धि अथवा ह्रास (कमी) होनेपर भी, जिस प्रकार समुद्र की कोई वृद्धि अथवा ह्रास नहीं होता, उसी प्रकार गम्भीरता के कारण श्रीकृष्ण की कृशता आदि प्रतीत नहीं होतीं, किन्तु श्रीकृष्ण के अनुगत (पक्षे—समुद्र के अनुगत) जीवन की धारा (पक्षे—जल धारा)-वाली गोपियों (पक्षे—नदियों) की कृशता आदि से (गोपियों के विरह में) श्रीकृष्ण की (पक्षे—समुद्र की) कृशता आदि का अनुमान किया जा सकता है ॥५३॥

यद्यपि उन गोपियों के प्राप्त होनेपर भी श्रीकृष्ण को स्वतन्त्रता नहीं मिली, तथापि अपने में "मैं इनका प्रियतम हूँ" इस प्रकार के अभिमानमात्र में उन्होंने निरन्तर कृतार्थता मान ली ॥५४॥

और उन व्रजाङ्गनाओं का अभिसार, केशवकुंज आदि संकेत स्थान, एवं वहाँपर मिलन आदि श्रीकृष्ण को आह्लादित करते हैं, इस बात को तो दूर रहने दो, क्योंकि उन गोपियों की स्वाभाविक स्थिति भी देखने मात्र से श्रीकृष्ण को अत्यन्त हर्ष से युक्त कर देती है ॥५५॥

और दैत्यराज बलि के द्वारा अपहरण की हुई अपनी स्वर्गीय सम्पत्ति को पाने के लिए, इन्द्र जिस प्रकार सदैव उत्कण्ठित रहता था, उसी प्रकार श्रीकृष्ण उन गोपियों को प्राप्त करने के लिए सदैव उत्कण्ठा को प्राप्त रहते थे। और उन गोपियों में भी वे चिन्तामणि की तरह निरन्तर श्रीराधिका का ही चिन्तन करते रहते थे ॥५६॥

और श्रीकृष्ण जब व्रज की लक्ष्मीस्वरूपा उन गोपियों को देखते थे, तब एक निमेषभर का समय भी कल्पभर हो जाता था, एवं अपने नेत्रों का पलक भी पर्वतश्रेष्ठ हो जाता था, तथा अपने नेत्रों का जल भी समुद्र के समान हो जाता था। इसलिए इस प्रकार का भाव उन गोपियों की ओर से ही श्रीकृष्ण के प्रति प्रचारित हुआ है क्या ? अथवा श्रीकृष्ण की ओर से उन प्रेयसी गोपियों के प्रति प्रचारित हुआ है क्या ? इस प्रकार ये दोनों बातें ही निर्णय को नहीं प्राप्त हो रही हैं, अर्थात् ऐसा लोकोत्तर भाव, विचार का विषय नहीं है ॥५७॥

और उस प्रेयसी वनिता के साथ मेरी यह स्फूर्ति परस्पर मिलानेवाली है क्या ? अथवा साक्षात्कार ही परस्पर का संयोजक हो गया है क्या ? प्रेम के कारण इस प्रकार की विवेचना में अनभिज्ञ बुद्धिवाले

"तदेवं दुःखनिगीर्णं यथाकथञ्चन यद्वर्णितम्, यच्चान्यदितोऽप्यतितरां वर्णयितुमभ्यर्णी-क्रियते, तत् खलु सर्वायत्यां परमसुखगत्याः प्रत्यासत्तये संपत्स्यते, दुर्गमकूपमरुभूभुवामनूप-गमनाय दुर्गलङ्घनवत् ॥५९॥

"न च वर्णनायां तस्यै संपत्स्यत इत्येव वक्तव्यम्। पश्यत पश्यत, तदेतद्राधामाधव-निर्बाधव्यतिमिलननिर्वर्णनायां संप्रत्यपि संपद्यते; यत एव च यत्किञ्चित्तद्वर्णयितुं शक्यते ॥६०॥

"तच्च वर्णनं यथा—एवं कृष्ण-कृष्णप्रियाणां कृतसम्मोहेन महाभावाधिरोहेण समं पूर्णं कैशोरमपि तूर्णमायातम् ॥६१॥ "तत्र श्रीकृष्णस्य यथा—

श्रीगोपाधिपदुग्धसिन्धुजनितं सत्कीर्तिशुभ्रं स्फुरत्-
कृष्णाभावलितं सुदीर्घनयनज्योतिर्विधूताम्बुजम्।

श्रीकृष्ण कहींपर स्फूर्ति होनेपर तो, अपनी अन्तर्ज्वाला से युक्त शरीरवाले होकर, एवं कहींपर प्रेयसी के साक्षात्कार होनेपर, विशेष प्रफुल्लित अङ्गोंवाले होकर, बारंबार अत्यन्त ऊँचे भ्रम को प्राप्त हो जाते थे ॥५८॥

यहाँपर यदि कहो कि विरह में तो नायक नायिका को, एवं सभ्य समाज को दुःखका ही अनुभव होता है, किन्तु सुख का नहीं। अतः विरह का वर्णन क्यों किया, एवं क्यों पुनः उसी का वर्णन करने जा रहे हो? उस विषय में कहते हैं कि—अतएव इस प्रकार दुःख से निगला हुआ, अर्थात् दुःख से पूर्ण जो विरहमय चरित्र यथाकथंचित् (जिस किसी प्रकार) वर्णन किया गया, एवं इससे भिन्न मथुरा गमनादि विरहमय जो चरित्र वर्णन करने के लिए अत्यन्त निकटवर्ती किया जा रहा है, वह सब तो सबसे पिछले समय में परमसुख की प्राप्ति की निकटता के लिए ही संघटित हो जायगा। उसका दृष्टान्त यह है कि—जिस मरुभूमि में कूपपर्यन्त अत्यन्त दुर्लभ है, ऐसी मरुभूमि में जन्म लेनेवाले व्यक्ति, जिस प्रकार प्रायः अधिक जलवाले प्रदेश में जाने के लिए, दुःख से लाँघने योग्य प्रदेश को भी लाँघकर परमसुख को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार इस विरह वर्णन में भी परमसुख की सम्भावना है। यहाँपर व्रज की लीलाओं का वर्णन ही दुर्गम कूप मरुभूमि स्थानीय है, एवं मथुरा द्वारका आदि की लीलाओं का वर्णन ही दुर्गम लंघन स्थानीय है, तथा पुनः व्रज में आने का वर्णन ही अनूप (जलप्राय प्रदेश) में गमन स्थानीय है, यह जानना चाहिये ॥५९॥

और उनकी लीला के वर्णन के समय ही उस परमसुख की प्राप्ति की निकटता के लिए यह भाव संघटित होगा, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। कारण—देखो, देखो! इन श्रीराधा-माधव के परस्पर मिलन के दर्शन में इस समय इस किशोरावस्था में भी वह सुख संघटित हो रहा है। इसी कारण अंकुरोत्पत्ति की तरह यत्किंचित् ही वर्णन किया जा सकेगा ॥६०॥

वह वर्णन इस प्रकार है, यथा—देखो! इस प्रकार मोहकारी महाभाव की चढ़ाई के सहित श्रीकृष्ण एवं कृष्णप्रियाओं की पूर्ण किशोरावस्था भी शीघ्र ही उपस्थित हो गई ॥६१॥

उनमें श्रीकृष्ण की किशोरावस्था का वर्णन, यथा—मैं श्रीकृष्णरूप चन्द्रमा का भजन करता हूँ। वह कैसा है? इसके उत्तर में, श्रीकृष्ण में चन्द्रमा के धर्म आरोपित करता हुआ वर्णन करता हूँ। चन्द्रमा की उत्पत्ति क्षीरसमुद्र से हुई है, उसी प्रकार श्रीकृष्णचन्द्र गोपराज श्रीनन्दरूप क्षीरसमुद्र से उत्पन्न हुए हैं। आकाश का चन्द्र शुक्लवर्ण का है, ये कृष्णचन्द्र श्यामवर्ण हैं। तथापि इसका सामञ्जस्य यह है कि—कवियों की सम्प्रदाय में यश को शुक्लवर्ण का माना है, अतः श्रीकृष्णचन्द्र अपनी सुन्दर कीर्ति के द्वारा शुक्लवर्णवाले हैं।

गोपीनेत्रचकोरजीवनरुचिं कामप्रचाराकरम्
कैशोरामृतपूर्णमव्ययकलं गोविन्दचन्द्रं भजे ॥६२॥

"तासां यथा—वक्त्रेन्दुस्फुटनेत्रकैरवरुचिः पाण्डूभवद्गण्डभू-
र्वक्षोजन्मसहस्रपत्रमुकुलामन्दा वलिभ्राजिता ।
नव्यस्तव्यनितम्बबिम्बपुलिनश्रीकारिणी श्रीहरे-
राभीरी-नवयौवनस्थितिरधाज्ज्यौत्स्नीव नेत्रप्रथाम् ॥६३॥

"तदेवमुभयेषां नवयौवनसागर-परमानुरागसुधाकरयोः परस्परं भूरि-परिपूरिताकरयोः सर्वत्र प्रचारः सञ्चचार । सञ्चरति च तस्मिन् यदेव तासां पूर्वं कृष्णकर्तृकपरिणयनापनयनाय गर्गः किल व्यञ्जितं चकार, तदेव लोकमस्तोकशङ्कासञ्जितमाचचार ॥६४॥

"यदि कृष्णेन सममासामङ्गसङ्गः स्यात्तदार्वागेव सर्वमेव गोकुलं तद्विरहाकुलं स्यादिति ॥६५॥

वस्तुतः स्फूर्ति पानेवाली अपनी श्यामकान्ति से मिश्रित हैं। चन्द्रमा स्फुरित कलङ्करूप कालीप्रभा द्वारा आक्रान्त है। कृष्णचन्द्र अपने विशाल नेत्रों की ज्योति के द्वारा कमल का तिरस्कार करनेवाले हैं, तो चन्द्रमा दूरतक जानेवाली अपनी ज्योति के द्वारा कमल को मलिन कर देता है। चन्द्रमा को देखकर चकोर जैसे अपने जीवन में रुचि रखते हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्णचन्द्र की कान्ति भी गोपियों के नेत्ररूप चकोरों की जीवनस्वरूप है। चन्द्रमा काम प्रचार का आकरस्वरूप है, उसी प्रकार कृष्णचन्द्र भी काम, अर्थात् "प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत्प्रथाम् । इत्युद्धवादयोऽप्येतं वाञ्छन्ति भगवत्प्रियाः" इस उक्ति के अनुसार गोपियों के विशुद्ध प्रेम के प्रचार के आकर (खजाना)स्वरूप हैं। चन्द्रमा जैसे अमृत से पूर्ण है उसी प्रकार कृष्णरूप चन्द्र भी किशोरावस्थारूप अमृत से परिपूर्ण हैं। चन्द्रमा की कलाओं का तो व्यय हो जाता है, किन्तु श्रीकृष्णचन्द्र की चतुःषष्ठि कलाओं (विशेष विवरण उत्तरचम्पू ८।७१ में देखिये) में से एक का भी व्यय नहीं होता ॥६२॥

उन गोपियों की पूर्ण किशोरावस्था का वर्णन, यथा—अपने मुखरूप चन्द्रमा के द्वारा खिले हुए नेत्ररूप कुमुदपुष्पों की शोभावाली, पीले होते हुए गण्डस्थल (कपोलों)वाली, स्तनरूप कमलों की कलिकावाली, अतः प्रशंसावाली, उदर की त्रिबली से शोभा पानेवाली, नवीन एवं स्तुति के योग्य अपने नितम्ब बिम्बरूप पुलिन की शोभा करनेवाली, गोपियों की इस प्रकार की जो नवयौवन की स्थिति है, वह चन्द्रिका (चाँदनी) से युक्त रात्रि की तरह श्रीकृष्ण के नेत्रों के विस्तार को धारण करने लग गई ॥६३॥

अतएव इस प्रकार गोपी-कृष्णरूप दोनों के पक्ष में—नवयौवनरूप सागर में परम अनुरागरूप जो दो चन्द्रमा हैं, जो कि परस्पर विशेष परिपूर्ण, अर्थात् कथारूप अमृत के उत्पत्ति स्थानस्वरूप हैं, उन दोनों का प्रचार सर्वत्र संचारित हो गया। उस प्रचार के संचारित होनेपर (पूर्वचम्पू में श्रीनन्दजी के प्रति) पहले ही श्रीगर्गमुनि ने गोपियों के सम्बन्ध में, श्रीकृष्ण के द्वारा किये गये विवाह को दूर करने के लिए सत्यरूप से जो आदेश प्रकाशित किया था, उस प्रकाशन ने ही लोगों को भारी शंका से युक्त कर दिया ॥६४॥

यदि श्रीकृष्ण के साथ इन गोपियों का अङ्गसङ्ग, अर्थात् विवाह हो गया, तब तो मथुरागमन करते ही सम्पूर्ण गोकुल श्रीकृष्ण के विरह से व्याकुल हो जायगा ॥६५॥

''गर्गवचनमेव च मातरपितरादिभिः कृष्णाय तासां वितरं विघ्ननिघ्नं चकार ॥६६॥

''यत्र च साक्षाद्योगमाया कृष्णं वरिवस्यन्ती स्वात्मनो गोपनाय पूर्णिमा नाम्ना तपस्यन्ती कृच्छ्रवश्यन्ती गत्यन्तरमपश्यन्ती तासामन्यत्र विवाहं मृषाभावव्यञ्जकमेव निर्वाहयामास। सर्वत्रानल्पस्वप्नकल्पनायामपि प्रायतया जागरप्रायतया प्रचारणात्। तथा तासां पत्याभासाङ्ग-सङ्गमं च भङ्गमासादयामास। तथैव हि (भा० १०।३३।३८) 'नासूयन् खलु कृष्णाय' इत्यादिरीत्या शुकेनेव श्रीशुकेन दिग्दर्शिता ॥६७॥

''तदेवं सति स च ताश्च परमतर्षकृताकर्षतया प्रच्छन्नतया च परस्परं सङ्गमहर्षमपि कथञ्चिदाचितं चक्रुः ॥६८॥

''अथ पूर्वोक्तरीत्या तासां सन्निहितलोकेषु प्रतीत्या महानुरागस्य क्रमादवगमाद्-गुरुभिर्मनसि भावितभावि-कृष्णसङ्गमाशङ्कतया वचसि तु विभावित-वधूजन-वनगमनकलङ्क-तया निर्मिते निरोधे मिलदुद्बोधे बलानुजन्मा द्विजन्मानं नर्मप्रियसखतयानुवर्तमानं नाम्ना मधुमङ्गलतया समाम्नातं तत्प्रसङ्गसङ्गतं चकार,—'कथं राधादीनामागमनबाधा बहून्य-हान्यधिकृत्य दृश्यते ?' इति ॥६६॥

और श्रीगर्गाचार्य के वचन ने ही माता पिता आदिकों के द्वारा श्रीकृष्ण के लिए उन गोपियों के दान को विघ्न के अधीन कर दिया ॥६६॥

और जहाँपर श्रीकृष्ण की सेवा परिचर्या करती हुई, एवं अपने स्वरूप को छिपाने के लिए नाम से, पूर्णिमा तपस्या करती हुई, तथा कष्ट के अधीन का सा आचरण करती हुई, दूसरे उपाय को न देखती हुई साक्षात् योगमाया ने, उन गोपियों के अन्यत्र अर्थात् दूसरे के साथ विवाह को मिथ्याभाव व्यंजक ही निर्वाहित कर दिया। क्योंकि प्रायः करके विशाल स्वप्न की कल्पना में भी सर्वत्र प्रायः जागरणरूप से ही प्रचार देखा जाता है। अर्थात् जैसे घोर निद्रा में सोनेवाला व्यक्ति स्वप्न में दूसरे के घर में जाता है, एव वृक्षादिकोंपर चढ़ता भी है, किन्तु यह कुछ भी सत्य नहीं है, इसी प्रकार मिथ्या विवाह में भी पत्नीत्व का व्यवहार हो सकता है, किन्तु सङ्गमादि नहीं हो सकता। उसी प्रकार योगमाया ने उनके पतियों के आभासमात्र जो पति हैं, उनके अङ्गसङ्ग को भी भङ्ग कर दिया। और जिस प्रकार मैंने सिद्धान्त का दिग्दर्शन किया है, उसी प्रकार शिक्षित शुकपक्षी की तरह यथार्थरूपेण श्रीशुकदेवजी ने भी ''अपनी अपनी स्त्रियों को अपने अपने पास मानते हुए, व्रजवासियों ने श्रीकृष्ण की माया से मोहित होकर, श्रीकृष्ण के ऊपर मिथ्या दोषारोपण नहीं किया'' इत्यादि रीति से दिग्दर्शन कराया है ॥६७॥

अतः इस प्रकार के सिद्धान्त की स्थिति में श्रीकृष्ण ने एव उन गोपियों ने परमतृष्णा से आकर्षित होकर, गुप्तरूप से परस्पर सङ्गम के हर्ष को भी किसी प्रकार संचित कर लिया ॥६८॥

अनन्तर पूर्वोक्त रीति से उन गोपियों के निकटवर्ती लोगों में प्रतीति होने से उनके महान् अनुराग के क्रम को जान लेने के कारण, उनके सास ससुर आदि गुरुजनों के द्वारा, अपने मन में अनुशीलित भावी श्रीकृष्ण के सङ्गम की आशंका के कारण, एवं वचन में भी विशेष तर्कयुक्त किये गये वधूजनों के वनगमन के कलङ्क के कारण किये गये निरोध (रुकावट) के विशेष प्रकाशित हो जानेपर, श्रीकृष्ण ने प्रियनर्म सखा होने के नाते सदैव अनुगमन करनेवाले, मधुमङ्गल नाम से कहे जानेवाले ब्राह्मण के प्रति वह रहस्य

"मधुमङ्गल उवाच,—'पुरूणां गुरूणां निरोध एव निदानतया तत्र बोधविषयीभवति।'
"श्रीकृष्ण उवाच,—'अहो! ततदपि रहोवृत्तं किं गुरूणां कर्णेषु वृत्तम्?' ॥७०॥
"मधुमङ्गल उवाच,—

'नान्तर्बहिरपि यस्यां, स्फुरति ज्ञानं मनोविकृतौ।
एकस्यापि न तस्या, न व्यक्तिः स्यादमूदृशां किमुत?' ॥७१॥

"श्रीकृष्ण उवाच,—'पूर्वमपि पूर्बहिरन्तर्गमने तासु नवयौवनं गतासु गुरुनिरोधः पुरुरेवासीत्। अधुना तु कीदृगधिकः?' ॥७२॥

"मधुमङ्गल उवाच,—'यद्यपि नास्मन्मुखतः सुखतया निःसरति रतिप्रतिकूलमिदम्, तथापि भवत्प्रश्नप्रथात एव कथाविषयीक्रियते। तथा च श्रुतं मया खल्विदं विश्रुतं कुलपालिकानां तासु गालिदानमवकल्यताम्,—॥७३॥

'किं धिग्ध्यायसि हन्त निश्वसिषि किं वर्त्मानि किं प्रेक्षसे
किं सख्या मुखमत्र पश्यसि कुचौ किं दृग्जलैः सिञ्चसे?
मूर्च्छामृच्छसि किंतरां किमसकृत् कृष्णेति वर्णद्वयं
तस्यां जल्पसि किं पुनः पुलकितां कम्पं च तन्तन्यसे॥'इति॥७४॥

प्रसङ्ग से सङ्केत कर दिया, अर्थात् सुना दिया। और कहा कि—सखे! मधुमङ्गल! बताओ ता सही। बहुत दिनों से श्रीराधा आदिकों के मेरे पास आगमन की बाधा कैसे दिखाई देती है? ॥६९॥

मधुमङ्गल बोला—भैया! उस विषय में तो बहुत से गुरुजनों का निरोध ही आदिकारणरूप से बोध का विषय हो रहा है। अर्थात् गुरुजनों का निरोध ही राधा आदिकों के आने की बाधा का कारण ज्ञात होता है। श्रीकृष्ण बोले—हाय! वह वह ऐकान्तिक चरित भी गुरुजनों के कर्णगोचर हो गया क्या? ॥७०॥

मधुमङ्गल बोला—उन्माद दशा में मन की विकृति हो जानेपर जिस नायिका में बाहर का ज्ञान भी स्फूर्ति नहीं पाता है, उस नायिका के एक ज्ञान का भी प्रकाश नहीं होता, अपितु हो ही जाता है, अथवा एक जन के लिए भी उस नायिका का प्रकाश नहीं होता सो बात नहीं, अपितु, हो ही जाता है। फिर उन प्रगाढ प्रेममयी गोपियों के प्रकाश के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है? ॥७१॥

श्रीकृष्ण बोले—नवयौवन को प्राप्त हुई उन गोपियों के निमित्त तो पहले भी नगरी के बाहर एवं भीतर जाने के विषय में गुरुजनों का निरोध बहुत ही था, किन्तु कहो, इस समय कैसा अधिक है? ॥७२॥

मधुमङ्गल बोला—भैया कृष्ण! मेरे मुख से तो प्रीति के प्रतिकूल यह निरोध आदि का विषय यद्यपि सुखपूर्वक नहीं निकलता है, तथापि आप के प्रश्न की रीति के अनुसार ही उसको कथन का विषय करता हूँ। देखो, मैंने भी आपकी उन प्रेयसियों के विषय में कुलीनस्त्रियों का यह प्रसिद्ध गाली देना निश्चितरूप से सुना है, उसको आप सुन लीजिये या समझ लीजिये ॥७३॥

यथा—अरी! बहू! धिक्कार है, तू क्या ध्यान कर रही है? लम्बे लम्बे स्वाँस क्यों ले रही है? बारंबार मार्गों को क्यों देख रही है? यहाँपर अपनी सखी का मुख क्यों देख रही है? अपने दोनों स्तनों को नेत्रों के जल से क्यों सींच रही है? मूर्च्छा को क्यों प्राप्त हो रही है? और बारंबार 'कृष्ण' इन दोनों

'अथ कुलपालिकापालिकायास्तासां दूनताकर्या ननान्दुः प्रतिस्वं मातरं प्रति वचनचर्यादिग्वर्णनं चावकर्ण्यताम्,—॥७५॥

दृग्वीथीं कुलपालिकाः श्रुतिपथं तासां कथा नासिका-
वर्त्मानिकसुगन्धिधूपरचना वव्रुर्मया योजिताः ।
तस्याः कृष्णमयी दशा मनसि या सा केन यत्नेन वा
गच्छेदावृततां ततो जननि ! किं मह्यं वृथा कुप्यसि ?' इति ॥७६॥

"तदेवं वर्ण्यमानमाकर्ण्य क्षणं सम्लानवर्णं निवर्ण्य च पुनरसावस्या वार्तया विशेषानुवर्तनाय मधुमङ्गलं प्रस्थाप्य चिन्तां चान्तः प्राप्य विचारयति स्म,—॥७७॥

'तमेतं जनरवं मम गुरवश्चानुभवमानीतवन्तः सन्ति, प्रायशः परमयशसः पितरश्च तत्र कर्णवितरं करिष्यन्ति । तर्हि कितरामन्तरायमिमं तरयिता ?' इति क्षणं शून्यायमानमनाः पुनश्चिन्तयामास,—'इतो व्यवधानमेव खलु कलुषतां गतस्य मम निधानं भवति ॥७८॥

'तथा हि—कलङ्को यत्र स्यादपरिहरणीयार्थकृतक-
स्ततो दूराद्द्राव्यं कुलजनि-जनेनैवमुचितम् ।

वर्णों को उस सखी के निकट क्यों कह रही है ? तथा बारंबार रोमाञ्च एवं कम्प को क्यों विस्तारित कर रही है ? इत्यादि ॥७४॥

अब कुलीनस्त्रियों की रक्षा करनेवाली एवं अपने वचनों से आपकी प्रियाओं को संतप्त करनेवाली ननद की अपनी अपनी माता के प्रति जो वचनों की परिपाटी है, उसका किंचिद् वर्णन भी सुन लीजिये ॥७५

अरी मैया ! देख, मेरे द्वारा नियुक्त की गई वे कुलीन गोपियाँ नेत्रमार्ग को आवृत कर लेती हैं, उनकी बातचीत कानों के मार्ग को ढक लेती हैं, एवं उनकी अनेक सुगन्धमय धूपों की रचना नासिका के मार्ग को रोक लेती हैं. तो भी इस प्रकार की दशावाली मेरे मन में श्रीकृष्णमयी जो दशा है, वह किस प्रयत्न से ढकी जा सकती है ? अथवा उस तुम्हारी पुत्रवधू के मन में जो श्रीकृष्णमयी दशा है वह किस प्रयत्न से आवृत हो सकती है ? इसलिए अरी मैया ! तू मेरे ऊपर वृथा ही क्यों कोप कर रही है ? ॥७६॥

मधुमङ्गल के द्वारा वर्णित किये गये इस प्रकार के विषय को सुनकर, क्षणभर मलिनवर्णपूर्वक देखकर, श्रीकृष्ण पुनः इसी बात के विशेष अनुशीलन करने के लिए, या तत्त्व जानने के लिए मधुमङ्गल को भेजकर, अपने अन्तःकरण में चिन्ता को पाकर विचार करने लगे कि—॥७७॥

मेरे गुरुजन, गोपियों के साथ गुप्त सम्बन्धरूप इस जनरव को, अर्थात् लोगों के शब्द को अनुभव में ला चुके हैं, एवं परमयशस्वी पिताजी भी प्रायः उस विषय में कर्णदान करेंगे, अर्थात् इस विषय को सुन लेंगे। ऐसा होनेपर मैं इस विघ्न को किस प्रकार पार करूँगा ? इस प्रकार क्षणभर सूने से मनवाले होकर श्रीकृष्ण पुनः विचारने लगे कि—मिथ्या कलंक को प्राप्त हुए मेरे सम्बन्ध में इस व्रज से व्यवधान करना ही, अर्थात् दूर जाना ही निधान है, अर्थात् उपायरूप है ॥७८॥

देखो ! जिस स्थानपर अपरिहार्य एवं कृत्रिम प्रयोजनवाला अथवा लुप्त न होनेवाला कलङ्क हो जाय, कुलीनजन को वहाँ से दूर हो जाना चाहिये, यही उचित है। वह कलङ्क भी समय से लुप्त हो

स कालाल्लुप्तः स्याद्भवति हि च तत्र प्रतिविधि-
स्तदस्मान्मे गोष्ठाद्व्यवहितिरकष्टं प्रसजति ॥७९॥

येषां पित्रादीनां, स्नेहो मम जीवनं गोष्ठे।
अहह कु-दैवादभितः, सङ्कोचस्तेभ्य एव सञ्जातः ॥'८०॥

"अथ पुनरन्यथा चिन्तयामास,—

'प्राणास्त्यजन्तु देहं, देहः प्राणानपि त्यजतु।
हरि गोप्यस्तु मिथस्ताः, प्राणाः कथमिव मिथस्त्याज्याः ?' ॥८१॥

"पुनस्तदपि चान्यथा चकार,—

'एकस्मिन्नावासे, दम्पत्योर्भवति दुःसहो विरहः।
तस्माद्दूरे गमनं, समयं गमनीयतां नयति ॥८२॥

'किन्तु हा वृषभानुभानु-कीर्तिदाकीर्तिदायिनि ! हा जन्मत एव मन्मनस्तया सन्मनस्ताधायिनि ! हा कुमारतामारभ्य कायवाङ्मनःसुकुमारतापर्वणा सर्वहर्षिणि ! हा मद्विनाभाव-भावनाज्वालाजालसमुत्कर्षिततर्षिणि ! हा गत्यन्तररहिततया कथञ्चित् किञ्चिन्मां सङ्गम्य च मुहुरसङ्गम्य दुःखदग्धे ! हा दयिते ! दयिते ! मयि विस्रब्धे ! सम्प्रति दुष्ठुनिष्ठुरतया

जायगा, एवं उस कलङ्क के विषय में प्रतिविधि (प्रतीकार) भी हो जाता है। इसलिए इस व्रज से मेरा व्यवधान (दूर होना) ही सुखपूर्वक सङ्गत हो रहा है ॥७९॥

और इस व्रज में जिन पिता माता आदि आत्मीयजनों का स्नेह ही मेरा जीवनस्वरूप था, हाय ! दुर्भाग्य के कारण चारों ओर से उन्हीं से संकोच उत्पन्न हो गया है ॥८०॥

उसके बाद श्रीकृष्ण पुनः दूसरे प्रकार से चिन्ता करने लगे कि—प्राण भले ही देह को त्याग दें, एवं देह भी प्राणों को त्याग दे, किन्तु हाय ! परस्पर प्राणस्वरूप वे गोपियाँ परस्पर किस प्रकार त्यागी जा सकेंगी ? ॥८१॥

पुनः उस विचार को भी अन्यथा कर दिया कि—एक ही निवासस्थानपर स्त्री-पुरुष का विरह असह्य हो जाता है, इसलिए दूर में जो जाना है, वह समय को बिताने के भाव को प्राप्त कर देता है। अतः इस समय मेरा दूर देश में जाना ही युक्तियुक्त है ॥८२॥

इस प्रकार कर्तव्य का निर्णय करके श्रीराधिका के अपूर्वभाव को स्मरण कर, विलाप करते हुए बोले—किन्तु हा ! वृषभानु नामक अपने पिता की किरणों को एवं कीर्तिदा नामक अपनी माता की कीर्ति को देनेवाली राधिके ! हा ! जन्म से ही मेरे में मन होने के कारण सुन्दरमन के भाव को धारण करनेवाली प्रिये ! हा ! कुमारावस्था से लेकर काया, वाणी, एवं मन की सुकुमारतारूप महोत्सव के द्वारा सबको हर्षित करनेवाली प्राणेश्वरि ! हा ! मेरे बिनाभाव की अर्थात् मेरे विरह की भावनारूप ज्वालाजाल में विशेष तृष्णावाली ! अर्थात् मेरे विरहाग्नि के समूह में अत्यन्त कष्ट पानेवाली प्रिये ! हाय ! दूसरा उपाय न होने के कारण मुझको किसी प्रकार कष्ट से थोड़े से समय के लिए पाकर,

मया त्यक्तुमिष्यमाणा कथं जीविष्यसि ? हा सर्वसुखाधिके ! राधिके ! कुत्र वामुत्र गमिष्यसि ?' इति ॥८३॥

"अथ मधुमङ्गलः सङ्गम्य तदिदमरम्यं निर्वेदयामास,—

'निरचिन्वंस्ते सर्वे, राधादीनां निरोधसातत्यम् ।
यस्माद्गृहपाल्यस्ता, हरिणीरेता निरुन्धते परितः ॥' इति ॥८४॥

"तदेवं पर्यगपर्यवस्यदिदन्तया चिन्तया लब्धुं चामूरसम्भावनया भावनया समयं गमयितुमसमर्थः स्खलदर्थः सतृष्णः स तु कृष्णः सवयोभिः सममेव रममाणस्त्रियामां विरमयति स्मेति कृतं हृन्मर्मभङ्गकरेणातिप्रसङ्गेन ॥"८५॥ तदेतदुक्त्वा कथकः समापनमाह,—

"राधे ! न युक्तमुक्तं स्यान्मुक्तशातमथापि वाम् ।
मिथः प्रेमभरं व्यक्तं वक्तुमुद्यतवानहम् ॥८६॥

पुरा कथेयं कथिता मुरारे रागबृंहणी ।
पश्य सोऽयं प्राणनाथः प्रसादं तव वाञ्छति ॥"८७॥

पुनः बारंबार न पाकर दुःख से दग्ध होनेवाली प्रिये ! हा ! दयायुक्ते दयिते ! हा मेरे में विश्वास करनेवाली प्रिये ! इस समय निन्दनीय कठोरता के कारण मेरे द्वारा त्यागने की इच्छा का विषय होकर तुम मेरे बिना किस प्रकार जीवित रहोगी ? हा सर्वसुखाधिके ! राधिके ! तुम मेरे विरह में कौन से परलोक में जाओगी ? ॥८३॥

उसके बाद मधुमङ्गल ने श्रीकृष्ण से मिलकर यह अरमणीय विषय निवेदन किया कि—भैया कृष्ण ! वे सास ससुर आदि गुरुजन श्रीराधा आदिकों के निरोध की निरन्तरता को निश्चित कर चुके हैं। जिस निश्चय के कारण वे घर की सेविकाएँ भी सुवर्ण की प्रतिमारूप इन उत्तम स्त्रियों को (पक्षे—मृगियों को) चारों ओर से रोक रही हैं ॥८४॥

अतएव इस प्रकार सम्पूर्णरूप से समाप्त नहीं होनेवाली इदन्ता (इस प्रकार करना चाहिये, यह दृढ़ विचार) जिसमें, ऐसी चिन्ता के कारण इन गोपियों को प्राप्त करने के लिए, असम्भावनामयी भावना से समय को बिताने के लिए असमर्थ, एवं जिनका प्रयोजन नष्ट हो गया है, अतः तृष्णा से युक्त उन श्रीकृष्ण ने तो, समवयस्क मित्रों के साथ ही आमोद-प्रमोदरूप क्रीडा करते करते रात्रि बिता दी। अतः हृदय के मर्म को भेदन करनेवाले इस अतिप्रसङ्ग से और प्रयोजन नहीं है ॥८५॥

इतना कहकर कथावाचक स्निग्धकण्ठ प्रसङ्ग की समाप्ति का द्योतक वचन बोला कि—हे श्रीमति ! राधिके ! मैंने सुख से रहित तुम्हारे विरह का प्रतिपादक जो प्रसङ्ग कहा है, वह यद्यपि उचित नहीं है, तथापि मैं तो तुम दोनों के (अर्थात् राधा-कृष्ण के) परस्पर प्रेम की अधिकता को स्पष्ट कहने को उद्यत हो रहा हूँ। अतः नीतिरहित दुःखदायी विरह वर्णन के विषय में मेरा यही भाव है ॥८६॥

और श्रीकृष्ण के अनुराग को बढ़ानेवाली यह तो मैंने पुरानी, अर्थात् बीती हुई कथा कही है। अतः देखो तो सही, वे ही तुम्हारे प्राणनाथ तुम्हारी प्रसन्नता की वाञ्छा कर रहे हैं ॥८७॥

तदेवं यथाकथा तथा लीलाप्रथामुपलभमानास्तदन्ते च तस्याः सम्प्रति नास्तितायां विश्वस्तिकृताश्वस्तिका निजनिजभवनं सर्व एव सानन्दं पर्वतया जग्मुः। श्रीराधामाधवौ च निजशय्यागृहं सुखमय्या स्पृहया गृहयाञ्चक्राते ॥८८॥

इति श्रीश्रीमदुत्तरगोपालचम्पूमनु व्रजजनानुरागसागरप्रथनं नाम प्रथमं पूरणम् ॥१॥

अथ द्वितीयं पूरणम्

अक्रूर-क्रूरता-पूरणम्

अथापरेद्युः प्रभातविराजमानायां सव्रजयुवराजव्रजराजसभायां कथा; यथा—॥१॥

मधुकण्ठ उवाच,—"अथ केशिवधात् पूर्वस्यां क्षपायां लब्धक्षयायामरुणे चारुणे जाते स खलु कमलेक्षणश्चपलेक्षणतया क्षणकतिपयमिदं चिन्तयामास,—॥२॥

'अहो! स्वप्नः सोऽयम्; यत्र मञ्चात् कृतस्रंसनः कंसः स मया समाकृष्ट इव दृष्टः। सम्प्रत्याशु च तदेव प्रत्यासन्नम्; यदद्य श्वः केशी मदभिनिवेशी भवन् यमस्य प्रतिवेशी भविता। तदनन्तरं कंसध्वंसनमेव प्रसक्तम्। प्रसक्ते च तस्मिन्मम निगम एव गमनं

अब ग्रन्थकार प्रसंग समाप्ति का प्रकार कहते हैं—अतएव पूर्वोक्त प्रकार से कथावाचक ने जैसे कथा कही, उसी प्रकार लीला की प्रथा को प्राप्त करते हुए, और उस कथा के अन्त में इस समय उस बीती हुई कथा की अविद्यमानता (अभाव) में जो विश्वास, उसमें आश्वासन करनेवाले सभी श्रोताजन आनन्दपूर्वक एवं उत्सव के भावपूर्वक अपने अपने घर को चले गये। और श्रीराधा-माधव ने भी सुखमयी इच्छा से अपने शय्यागृह को ग्रहण कर लिया ॥८८॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रिविरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीमदुत्तरगोपालचम्पूकाव्ये व्रजजनानुरागसागरख्यापनं नाम
प्रथमं पूरणं सम्पूर्णम् ॥१॥

दूसरा पूरण

अक्रूर की क्रूरता की पूर्ति

इस दूसरे पूरण में श्रीअक्रूरजी के द्वारा श्रीकृष्ण बलदेव की जो सर्वजन दुःखदायिनी मथुरा यात्रा है, उसका वर्णन होगा।

अनन्तर दूसरे दिन प्रातःकाल में विराजमान एवं सभी व्रजवासी और युवराज श्रीकृष्ण से युक्त श्रीव्रजराज की सभा में जो कथा हुई, उसका वर्णन, यथा—॥१॥

मधुकण्ठ बोला—अनन्तर केशी के वध से पहली रात बीत जानेपर, और अरुण (सूर्य के सारथि) के अरुणवर्ण हो जानेपर, अर्थात् अरुणोदय हो जानेपर, कमलनयन वे श्रीकृष्ण चंचल नेत्रों के भावपूर्वक कुछ क्षणोंतक यह विचार करने लगे कि—॥२॥

अहो! यह स्वप्न कैसा आश्चर्यजनक है? जिसमें वह कंस मञ्च से नीचे गिरा हुआ, एवं मेरे द्वारा अच्छी प्रकार घसीटा हुआ सा देखा गया है। इस समय वही घटना शीघ्र ही पास में आ गई है, जोकि वह केशी मेरे में अभिनिवेश करनेवाला होकर, आज या कल यमराज का निकटवर्ती हो जायगा। तदनन्तर कंस का ध्वंस (विनाश) ही उपस्थित हो जायगा। और उसके उपस्थित होते ही, मेरा मधुपुरी में जाना

समयलब्धतया युक्तिविस्रब्धम् । यतस्तस्य मत्त्रस्तस्य न खल्वत्र यात्रा युक्तिपात्रायते । तस्य चाद्यापि वृष्णिषु तर्जनायामनारतस्य मयि च दुर्जनविसर्जनायामविनाकृतस्य विनाशनं विना तत्र चात्र च मत्पितुरुभयकुलं भयाकुलं स्यात्' इति ॥३॥

"अथ पुनश्चिन्तयति स्म,—'हन्त ! हन्त ! यदि कार्यपर्यायतस्तत्र सुविलम्बः संवलते, तदा मन्मात्रादिप्राणानां नात्राङ्गसङ्गमङ्गलं तर्कयामि ॥४॥, ततश्च

'मातुर्नेत्रचकोरचन्द्रवदनस्तातस्य दृक्-चातक-
श्रेणीवारिभृदन्यगोकुलजनस्याप्यक्षिपद्मांशुमान् ।
सोऽहं तान् परिहृत्य हन्त गमनं कुर्वीय चेत्तर्ह्यहो
चन्द्रादित्रयवन्ममापि भविता धिग्वातचक्रभ्रमः ॥'५॥

"तदेवमेवमम्बुजलोचने शय्यायामेव चिरं रचितशोचने सहसा केशी सदेशीबभूव । अस्य च निर्ग्रन्थनं प्रथमग्रन्थत एव कथया ग्रन्थनमाससाद ॥६॥

ही समय से प्राप्त होने के कारण, युक्तिपूर्वक विश्वासास्पद हो जायगा । कारण—मुझसे डरे हुए उस कंस का यहाँपर आना निश्चय ही युक्तिसङ्गत नहीं है । और आज भी यदुवंशियों के ऊपर निरन्तर डाँट फटकार में लगे हुए, एवं मेरे मारने के उद्देश्य से पूतना आदि दुर्जनों के भेजने में लगे हुए, उस कंस के विनाश के बिना, मथुरा में तो मेरे पिता वसुदेवजी के, एवं यहाँपर व्रज में मेरे पिता श्रीनन्दजी के, इस प्रकार दोनों ही कुल भय से व्याकुल हो जायँगे ॥३॥

उसके बाद पुन: विचारने लगे कि—हाय ! हाय ! यदि कार्यक्रम के अनुसार मुझे मथुरा में अत्यन्त विलम्ब हो गया तो, मेरे माता पिता आदि स्नेहीजनों के प्राणों का यहाँपर अङ्ग के सङ्गरूप मङ्गल की तर्कना (अनुमान) नहीं कर रहा हूँ । अर्थात् मेरे वियोग में उनके प्राण एवं देह का परस्पर विच्छेद हो जायगा । यही सम्भावना कर रहा हूँ ॥४॥

और उसके बाद यह भी विचारणीय विषय है कि—मैं अपनी माता के नेत्ररूप चकोरों के लिए चन्द्रमा के समान मुखवाला हूँ, एवं पिता के नेत्ररूप चातकों की श्रेणी के लिए मेघरूप हूँ, तथा अन्य व्रजवासीजनों के नेत्ररूप कमलों के लिए सूर्यरूप हूँ, अर्थात् तत्तद् रूप से इन सबका जीवनरूप हूँ । हाय ! ऐसा होकर के भी मैं यदि उन सब स्नेहीजनों को त्यागकर मथुरा गमन कर दूँगा, अहह ! तब तो चन्द्रमा, मेघ, एवं सूर्य इन तीनों की तरह, मेरे को भी वातचक्र (वायुसमूह) के द्वारा भ्रम, अर्थात् उन्माद हो जायगा । अत: ऐसे स्नेहीजनों को त्यागने की इच्छा करनेवाले मुझको धिक्कार है । यहाँपर दृष्टान्तपक्ष में—वायुचक्र के द्वारा चन्द्र मेघादिकों का भ्रम, अर्थात् भ्रमण अर्थ जानना । और श्रीकृष्ण का आन्तरिक भाव यह है कि—इन प्रेममूर्ति व्रजवासियों को त्यागकर, मुझे वातुल (पागल) की भाँति न जाने कहाँ कहाँ भटकना पड़ेगा ? ॥५॥

अत: कमलनयन श्रीकृष्ण अपनी शय्या में ही इस पूर्वोक्त प्रकार से जब बहुत देरतक शोक कर रहे थे, तभी केशीदैत्य सहसा निकटवर्ती हो गया था । और इस केशी का वध करना तो पूर्वचम्पू से ही कथा के द्वारा ग्रथित हो चुका है ॥६॥

"अथ श्रीगोपेश्वरीलाल्यस्तु लाल्यमानधवलाकलापच्छलात् पाल्यमानयशास्त्रिदशालय-मुनेरहः सहभावमाससाद । यत्र च संशयानुशयातिशयमयमानं मुनिस्तं विभावितया भावितत्तल्लीलया सान्त्वयामास ॥७॥

"ततः समस्तशस्तपालः श्रीगोपालस्तं विसर्ज्य प्रसज्यमानमनस्तापतयापि बहिरुपहितसर्वसुख-श्रीमुखप्रकाशतया सखिरामारामतया च सहगोव्रजं व्रजमाजगाम ॥८॥ यथा—

दाम्ना दाम्ना सुरसुमनसां स्वर्गिभिः पूज्यमानं
साम्ना साम्ना द्रुहिणसदसां वीथिभिः स्तूयमानम् ।
नाम्ना नाम्ना सपशुपशुपां सम्मुखान्निर्मिमाणं
धाम्ना धाम्ना सुखदमखिलः प्राप तं दृश्यमानम् ॥९॥

"अत्र च सुराणां वचनम्,—

'इन्दोरभ्युदयात् परं विकसति द्राक् कैरवाणां गणः
सिन्धुः क्षुभ्यति कान्तिपानमयते दूराच्चकोरव्रजः ।
गोपाः पश्य मुदा मुरारिकलनादेषामशेषां दशां
गच्छन्तोऽप्यतितृप्तितावशतया धावन्ति यावद्गति ॥'इति॥१०॥

उसके वध के बाद गोपेश्वरी श्रीयशोदा के द्वारा लालन करने योग्य, श्रीकृष्ण ने तो अपने द्वारा पाल्यमान (सुरक्षित) धेनुवृन्द के चराने के बहाने, अपने यश की रक्षा करते करते एकान्त में देवर्षि श्रीनारदजी का एकत्र मिलन प्राप्त कर लिया, और जिस मिलन में संशय एवं पश्चात्ताप की अधिकता को प्राप्त होते हुए श्रीकृष्ण को श्रीनारदजी ने प्रकाशित की गई आगे होनेवाली उस उस लीला के द्वारा सान्त्वना से युक्त कर दिया ॥७॥

उसके बाद समस्त मङ्गलों की रक्षा करनेवाले श्रीगोपालजी श्रीनारदजी को बिदा करके, व्रजवासियों के भावी वियोग के कारण उपस्थित होते हुए मानसिक ताप से युक्त होकर भी, बाहर सभी सुखों को उपस्थित करनेवाले अपने श्रीमुख के प्रकाश के भावपूर्वक, और सखागण एवं बलरामजी के सहित खेल खिलवाड़ के भावपूर्वक गोवृन्द के सहित व्रज में चले आये ॥८॥

यथा—गोचारण के बाद वन से लौटकर दिखाई देते हुए श्रीकृष्ण को सभी व्रजवासियों ने प्राप्त कर लिया । उस समय मार्ग में वे, देवताओं के द्वारा देवपुष्पों की प्रत्येक माला से पूजित हो रहे थे, ब्रह्मा की सभा में बैठनेवाले ऋषियों की पंक्ति के द्वारा शान्तिपूर्वक सामवेद से उनकी स्तुति की जारही थी, एवं पशुओं के सहित पशुपालों के प्रत्येक नाम के द्वारा वे उनको अपने सम्मुख कर रहे थे, तथा अपनी श्रीमूर्ति की कान्ति के द्वारा सर्व सुखदायक थे ॥९॥

इस विषय में देवताओं का वचन, यथा—चन्द्रमा के उदय होने के बाद कुमुद नामक पुष्पों का समूह शीघ्र ही विकसित हो जाता है, समुद्र क्षुभित हो जाता है, और चकोरों का समूह दूर से ही चन्द्र की कान्ति के पान को प्राप्त कर लेता है । किन्तु विचार करके देखो, ये सब गोप हर्षपूर्वक श्रीकृष्ण के दर्शन से इन कुमुद, समुद्र, एवं चकोर आदिकों की सम्पूर्ण दशा को प्राप्त होते हुए भी, अत्यन्त तृप्ति के भाव के वशीभूत होकर, अपनी दौड़ने की गति के अनुसार चारों ओर दौड़ रहे हैं ॥१०॥

"तदेवम्,—आलोकः प्रीतिभाजां कृतिबलनिकरः किङ्कराणां हृदन्तः-
सारः सख्यस्थितानां हृदि लसदसवस्तातमात्रादिकानाम् ।
आत्मा रामान्तराणां हरिरिह समगात् केशिनं घातयित्वा
गेहं यर्ह्येष तर्हि प्रतिनिजमगमंस्ते च देहं प्रसिद्धाः ॥११॥

स्वेनाम्बा निरमञ्छयत्तमथ दृङ्नीरं व्यमुञ्चत् पिता
सर्वेऽन्ये परिफुल्लदङ्गवलितां रोमाञ्चितामाश्रिषुः ।
अन्यच्च क्वचन स्फुरद्वचनतातीतं तदासीद् यदा
हत्वा केशिनमाव्रजत् कलकलान्दोलिव्रजं स प्रभुः ॥१२॥

"ततश्च प्रातरतुलोत्पातकातरतया नातिसम्भालितलालनवितरौ मातरपितरौ पुत्रं परि समाश्लेषितरौ गृहापन-स्नेहालपन-स्नपन-दिव्यवासः-पटवास-समर्पणलेपानुलेपप्रथनया तं क्षणकतिपयं विश्रमयामासतुः । "यतस्तं सदा कोमलमेव कलयाम्बभूवतुर्युद्धादिसमये तु नारायणव्यक्तीकृत-तात्कालिकशक्तिमयमिति ॥१३॥

अतएव इस प्रकार प्रायः प्रीति के भागी दाम, सुदाम आदि दास सखाओं के दर्शनरूप, अर्थात् नेत्र-स्वरूप, सेवकों के प्रत्येक कार्य के बलसमूहरूप, सख्यभाव में स्थित श्रीदामा आदि सखाओं के हृदय के भीतर के साररूप, पिता माता आदिकों के हृदय में देदीप्यमान प्राणस्वरूप, एवं राधिका आदि प्रियतमाओं के आत्मा, अर्थात् जीवनरूप ये श्रीकृष्ण, इस व्रज में केशी को मारकर जब अपने घर चले आये, तब वे प्रसिद्ध प्रीतिभागी आदि स्नेहीजन प्रत्येक अपने अपने देह को प्राप्त हो गये थे । अर्थात् श्रीकृष्ण केशी को मारकर जबतक लौटकर घर को नहीं आये थे, तबतक प्रीतिभागी आदि सभी प्रेमियों के देह मृतकप्रायः उनसे रहित ही थे, श्रीकृष्ण के आते ही वे भी अपने अपने शरीर को प्राप्त हो गये ॥११॥

और केशी को मारकर वे प्रभु (समर्थ) श्रीकृष्ण जब हर्षमय कलकल शब्द से आन्दोलित व्रज में आगये, तब उनकी माता ने अपनी आत्मा के द्वारा उनकी न्योछावर की, अर्थात् पुत्र के सभी अङ्गोंपर हाथ फेरकर माता ने प्यार किया, पिता श्रीनन्दजी प्रेमाश्रु बहाने लगे, एवं अन्य सभी व्रजवासी प्रफुल्लित अङ्गों से युक्त रोमाञ्च को प्राप्त हो गये । और उन व्रजवासियों का किसी किसी स्थानपर अन्य प्रकार का जो भाव उपस्थित हुआ था, वह तो स्फूर्ति पानेवाले वचनों के भाव से भी परे था, अर्थात् उसका वाणी के द्वारा निरूपण असम्भव है ॥१२॥

और प्रातःकाल ही केशी के आगमनरूप अतुलनीय उत्पात से कातरता के कारण, पुत्र के लालन पालनरूप दान की विशेष सँभालना न करनेवाले, एवं पुत्र को आलिङ्गन करनेवालों में श्रेष्ठ माता पिता ने, श्रीकृष्ण को घर में लाना, स्नेहपूर्वक बोलना, स्नान कराना, पश्चात् दिव्य वस्त्र, सुगन्धित द्रव्य का चूर्ण आदि देना, पश्चात् भोजन, सुगन्धित द्रव्यों का लेप, एवं चन्दन आदि का विस्तार करके कुछ क्षणोंतक विश्राम करा दिया । कारण—माता पिता दोनों ही वात्सल्यरसरूप होने के कारण, श्रीकृष्ण को सदा कोमल ही देखते थे । किन्तु दैत्यों के साथ युद्धादि के समय तो अपने इष्टदेव श्रीनारायण भगवान् के द्वारा प्रगट की गई तात्कालिक शक्ति से परिपूर्ण देखते थे । अतः उनके वात्सल्य में विघात नहीं हो पाता था ॥१३॥

"अथ गवां दोहनावसरावरोहः स्यादिति सर्वसुखपालः श्रीलगोपालः स्वयमग्रजेन समग्रीभूय तदीयसामग्रीकरकिङ्करनिकरमाहूय तासामग्रीयभूभागमागतवान् । आगतमात्रे च तत्र सरामश्यामगात्रे,—॥१४॥

हुङ्कारघोषरचिताखिलशब्दमोषः, स्रागब्दकान्तिममुमास्तृत धेनुसङ्घः ।
वत्सात् विनापि बलवत्स्नवमेष तैस्तं, सद्वत्सलः सहबलः शबलं चकार ॥१५॥

"तत्र तु,—सर्वं चकार स हरिः परितः पुराव,-द्दध्रे सुरर्षिवचसा तु विदूनमन्तः ।
यद्यप्यदस्तदपि तस्य निजव्रजाय, प्रत्यागतिर्हृदि कृता स्थिरतां पुपोष ॥१६॥

"तथा हि, तस्य भावानामुद्भावना,—

'कंसं हन्तुं प्रयाणि स्फुरति पितृमुखप्रेम तद्विघ्नरूपं
देवर्षेर्वाङ् न मिथ्या कथमथ विरहं हा सहेय व्रजस्य ? ।
निर्णीतेऽप्यत्र जाते कृतमसुखमयेनास्य चिन्तामलेन
स्मर्तव्यं तत्तु नित्यं यदिह सुखमयं वैभवं भाविसङ्गे ॥'१७॥

"इत्यचिन्त्यत चानेन रथः कश्चन चैक्ष्यत ।
महतां हृदये याति प्रतिबिम्बं हि बिम्बताम् ॥१८॥

अनन्तर गोदोहन का समय बीत जायगा इस कारण से, सर्वसुखपालक श्रीमान् गोपालजी, बड़े भाई श्रीबलरामजी के साथ स्वयं आगे होकर, गोदोहन सम्बन्धी दोहनी आदि सामग्री से युक्त हाथोंवाले सेवक-वर्ग को बुलाकर, गोगण के अग्रिम भूभागपर आगये। और बलरामजी के सहित श्यामसुन्दर के वहाँपर आते ही, अपने हुङ्कार के शब्दों की रचना से सभी शब्दों को चुरानेवाले गोगण ने, मेघ की सी कान्तिवाले इन श्यामसुन्दर को शीघ्र ही चारों ओर से घेर लिया। उस समय बलदेवजी के सहित गोगणपर सुन्दर वात्सल्य रखनेवाले इन श्यामसुन्दर ने, बछड़ों के बिना भी प्रबलतापूर्वक दुग्ध को बहानेवाले गोगण को बछड़ों से सम्मिलित कर दिया ॥१४-१५॥

वे श्रीकृष्ण वहाँपर सभी कार्यों को सर्वतोभाव से पहले की भाँति ही कर रहे थे, किन्तु देवर्षि नारदजी के वाक्य से (मथुरागमन निश्चित हो जाने के कारण) अपने अन्तःकरण को तो सन्तप्त ही धारण कर रहे थे। यद्यपि (व्रजवासियों के भावी विरह के कारण) यह स्थिति थी, तथापि हृदय में निश्चित किया हुआ अपने व्रज के प्रति जो पुनः आगमन है, उसने ही श्रीकृष्ण की स्थिरता को पुष्ट कर दिया ॥१६॥

देखो, श्रीकृष्ण के भावों का प्राकट्य—कंस को मारने के लिए तो मैं चला जाऊँ, किन्तु उस प्रस्थान में पिता आदि व्रजजनों का प्रेम उसका विघ्नरूप स्फूर्ति पा रहा है, और देवर्षि की वाणी भी मिथ्या न हो सकेगी। अतः हाय ! मैं व्रज के विरह को किस प्रकार सहन करूँगा ? अथवा इस विरह के विषय में निर्णय हो जानेपर भी, दुःखमय इस चिन्तारूपी मल से कोई प्रयोजन नहीं है। किन्तु इस व्रज में भावी मिलन में जो सुखमय वैभव होगा, उसका नित्य स्मरण करते रहना चाहिये। अर्थात् इतने लम्बे विरह के बाद भी जब पुनर्मिलन अवश्यंभावी है, तब चिन्ता से उपस्थित दुःख को दूर करना ही उचित है ॥१७॥

श्रीकृष्ण ने गोदोहन के समय इस प्रकार का विचार किया, और उसी समय कोई रथ देखा। क्योंकि महात्माओं के हृदय में पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब बिम्ब के भाव को, अर्थात् मूलस्वरूप को प्राप्त हो जाता

"रथस्थपुरुषस्य दर्शने तु,—

रथी निरस्त्रः स्याद् दूत इति कृष्णेन तर्कितम् ।
कंसात् कस्मादसावागादित्यन्यैरपि शङ्कितम् ॥१९॥

"तदा च वारुणीमनुरक्तः पतनसक्तः स दिननाथः कृतनदीनाथपाथःक्वाथः स्वमालोकं लोकमपि तमसि वेशयामास ॥२०॥

"सत्यं सूर्यस्तुर्य,-प्रहरस्यान्तं ययौ किन्तु ।
सबलहरिः प्रतिहरितं, हारिततिमिरं व्यधान्निजं किरणम् ॥२१॥

"तत उन्मुखतां यातेषु गोपजातेषु सममुन्नमितकर्णसङ्घातेषु च गोव्रातेषु तदवलोकन-सतृष्णौ बलकृष्णौ रथस्थः स दूरत एवाक्रूरः साक्षात् परिचितिं विनापि परिचितवान् ॥२२॥

यतः—"चक्षुरेव परिचायकं भवेद्, रूपमात्र इति गीः सतां मता ।
तादृशामनुभवे तु कर्णयो,-र्दृष्टिशक्तिरपि कृष्टिमृच्छति ॥२३॥

अस्तु तावदनयोः सुरूपता, नीलरत्नविधुलोभिशोभयोः ।
अंघ्रिचिह्नमपि चित्रसन्निभं, दूरतोऽपि तममूमुहन्मुहुः ॥२४॥

है। तात्पर्य—श्रीकृष्ण ने मथुरा जाने के विषय में जो विचार किया था, मानो वह विचार ही रथरूप से उपस्थित हो गया ॥१८॥

और रथपर बैठे हुए पुरुष के दर्शन में श्रीकृष्ण ने तो यह विचार किया कि—अस्त्ररहित जो रथी है, वह दूत ही हो सकता है। किन्तु यह व्यक्ति कंस के निकट से क्यों आया है? इस प्रकार की शंका अन्य व्रजवासियों ने की ॥१९॥

और उस रथी (अर्थात् अक्रूर) के आते समय वारुणी (पश्चिम दिशा, पक्षे—मदिरा) में अनुरक्त अतः पतन में आसक्त, एवं समुद्र के जल का अपनी किरणों के द्वारा परिपाक कर देनेवाले उस सूर्य ने अपने प्रकाश को एवं सारे संसार को भी अन्धकार में प्रविष्ट करा दिया ॥२०॥

सूर्यदेव चार पहर के अन्त में यहाँ से चले गये, यह बात सत्य है। किन्तु बलदेवजी के सहित श्रीकृष्ण ने प्रत्येक दिशा में अन्धकार को दूर करनेवाली अपनी दिव्य किरणों का विधान कर दिया ॥२१॥

उसके बाद (रथ को देखने के लिए) गोपसमूह जब ऊपर की ओर मुख करनेवाला हो गया, एवं गोगण जब एकसाथ कर्णसमूह को ऊपर को उठाने लग गया, तब उस रथ के देखने की तृष्णा से युक्त श्रीकृष्ण बलदेव को रथ में बैठे हुए, उस अक्रूर ने साक्षात् परिचय के बिना भी दूर से ही पहचान लिया ॥२२॥

कारण—"रूपमात्र के ग्रहण करने में नेत्र ही परिचायक हो सकता है" इस प्रकार की वाणी सज्जनों के सम्मत है। और श्रीकृष्ण जैसे महानुभावों के अनुभव करने में तो नेत्रों की शक्ति भी कानों में आकर्षण को प्राप्त हो जाती है, अथवा दृष्टिशक्ति भी कानों के आकर्षण को प्राप्त कर लेती है ॥२३॥

और (अक्रूरजी को मोहित करने के विषय में) इन्द्रनीलमणि एवं चन्द्रमा को लुभानेवाली शोभावाले इन कृष्ण बलदेव की सुरूपता (सुन्दरता) को तो दूर रहने दो, किन्तु चित्र के समान उनके चरणचिह्न ने भी अक्रूरजी को दूर से ही बारंबार मोहित कर दिया ॥२४॥

"तयोस्तादृशरूपमपि निरूपितवान्; यथा,—

'एकः श्यामद्युतीनामभिमतविभवस्याधिदेवावतार-
स्तत्सध्र्यङ् शुभ्रशोभासमुदयसुभगाभोगसारप्रसारः ।
तत्रादिर्वस्त्रकान्तिप्रचितिभगवतीकृष्टलक्ष्मीप्रचारः
किञ्चान्यः कान्तवासश्छविशवलनया सृष्टपूर्वानुकारः ॥२५॥

'तथा— आद्यः कृष्णाम्बुजश्रीविजयिमुखमहाशोभया दत्तमोद-
स्तत्सध्र्यङ् पुण्डरीकद्युतिपरिचयजिद्वक्त्ररोचिर्विनोदः ।
तत्रादिर्नेत्रशोभाविरचितरुचिमत्खञ्जनद्योतनोदः
किञ्चान्यश्चक्षुरन्तारुणकुसुमरजःपिञ्जरालिप्रतोदः ॥२६॥

'तथा— आद्यः श्रीकुण्डलान्तर्झषमुखसुखकृद्द्योतगण्डस्थलीक-
स्तत्सध्र्यङ् शश्वदेकश्रुतिकिरणलसत्कर्णिकाभावलीकः ।
तत्रादिश्चापवद्भ्रूमिल-तिलकुसुमघ्राणबाणच्छवीकः
किञ्चान्यस्तद्द्वितीयद्युतिजितविलसत्कामचेतोगवीकः ॥२७॥

श्रीअक्रूरजी श्रीकृष्ण बलदेव के उस प्रकार के अपूर्व रूप का भी निरूपण करने लगे, यथा—एक अर्थात् श्रीकृष्ण तो श्यामवर्ण की कान्तियों के अभिमत (अनुकूल) जो वैभव हैं, उसके जो अधिष्ठातृदेव हैं उसके अवतारस्वरूप हैं। और उनके सहचारी अर्थात् श्रीबलदेवजी शुक्लवर्ण की शोभासमूह की जो सुन्दर परिपूर्णता उसके सार का प्रसार करनेवाले हैं। उन दोनों में से पहले जो श्रीकृष्ण हैं, वे अपने वस्त्र की शोभासमूहरूप जो भगवती गौरी है, उस गौरी के समान पीतवर्ण की शोभा द्वारा जो शोभा आकृष्ट है, उस शोभा का प्रचार करनेवाले हैं। किंच दूसरे भाई जो श्रीबलदेव हैं, वे अपने मनोहर वस्त्र की छवि की शबलना के द्वारा, अर्थात् काले पीले वर्ण की मिलावट के द्वारा, श्रीकृष्ण के से अनुकरण की सृष्टि कर रहे हैं। भावार्थ—दोनों के ही पीताम्बर नीलाम्बर अवर्णनीय शोभावाले हैं ॥२५॥

तथा आद्यः अर्थात् पहले जो श्रीकृष्ण हैं, वे नीलकमल की शोभापर विजय पानेवाले अपने श्रीमुख की महती शोभा के द्वारा आनन्द का वितरण करनेवाले हैं। एवं उनके सहचर जो श्रीबलदेव हैं, वे श्वेतकमल की कान्ति के परिचय को जीतनेवाले अपने श्रीमुख की प्रभा के द्वारा कौतूहल से युक्त हैं। उन दोनों में से श्रीकृष्ण तो अपने नेत्रों की अपूर्व शोभा के द्वारा कान्तिमान् खञ्जन पक्षी के नेत्रों के प्रकाश का खण्डन करनेवाले हैं। किंच दूसरे भाई श्रीबलदेव अपने नेत्रप्रान्त के द्वारा रक्तवर्ण के पुष्पों के पराग-समूह को व्यथा देनेवाले हैं। अर्थात् श्रीकृष्ण के नेत्र खञ्जन के नेत्रों से भी मनोहर हैं, एवं बलदेवजी के नेत्र लाल पुष्पों की पराग से भी सुन्दर अरुणारे मतवाले हैं ॥२६॥

तथा श्रीकृष्ण शोभा से युक्त दोनों कुण्डलों के बीच में सुखकारी जो मकर का मुख है, उसके द्वारा प्रकाशित कपोलस्थलीवाले हैं; अर्थात् दोनों कुण्डलों की परछाईं उनके दोनों कपोलोंपर पड़ रही है। और उनके सहचर श्रीबलदेवजी निरन्तर एक कर्ण में किरणों के द्वारा शोभायमान कर्णभूषण (कुण्डल) की कान्तिश्रेणी से युक्त हैं। भावार्थ—बलदेवजी के सर्वदा एक कान में विराजमान जो कुण्डल है, उसकी अपूर्व शोभा से वे सुशोभित हैं। और उन दोनों में पहले जो श्रीकृष्ण हैं, वे धनुष् के समान अपनी दोनों भौं में मिलती हुई तिल के पुष्प के समान जो नासिका है, वह धनुष्पर चढ़े हुए बाण की छवि दे रही है,

'तथा— आद्यः स्वर्नाथरत्नद्युतिभुजभुजगद्योतिरत्नैर्विचित्र-
स्तत्सध्र्यङ् पुष्परागाभिधमणिरचितस्तम्भजिद्बाहुचित्रः ।
तत्रादिः श्रीलनीलच्छविनिकषदुरःस्वर्णरेखापवित्रः
किञ्चान्यः क्रोडभासाशिवगिरिमणिभूकान्तिसम्पल्लवित्रः ॥२८॥

'तथा— आद्यः साङ्गाधराङ्गच्छवि-कवि-कवितावर्धनानर्द्धि-युक्त-
स्तत्सध्र्यङ् तद्वदेव प्रतिलवरुचिरः सर्वविद्वद्भिरुक्तः ।
तत्रादिः पद्मजिद्भ्यां निजकटकवरायेव पद्भ्यां प्रयुक्तः
किञ्चान्यस्तत्सहायाविव निजचरणौ चालयन् भीप्रयुक्तः ॥२९॥

'तथा— आद्यः सार्द्राङ्गनीलप्रगुणतरुलताहस्तताशस्तखेल-
स्तत्सध्र्यङ् कन्दुकार्थं कृतहलतुलया शाखया लब्धमेलः ।
तत्रादिः संकुचद्धीरवयवनिचयव्याप्तये क्लृप्तचेलः
किञ्चान्यस्तस्य तद्वन्मिलनकृतिकृते वीक्षितागामिवेलः ॥'इति॥३०॥

ऐसी शोभा से युक्त हैं। किंच दूसरे जो बलदेवजी हैं, वे श्रीकृष्ण के समान अपनी अपूर्व शोभा के द्वारा जीते हुए विलासयुक्त कामदेव की चित्तभूमिपर अधिकार किये बैठे हैं ॥२७॥

तथा पहले जो श्रीकृष्ण हैं, वे इन्द्रनीलमणि की सी कान्तिवाली जो भुजारूप सर्प हैं, उनमें प्रकाशमान रत्नों के द्वारा विचित्र मालूम पड़ते हैं। एवं उनके सहचर जो बलदेव हैं, वे भी पद्मराग नामक मणि से बने हुए स्तम्भ की शोभा को जीतनेवाली अपनी भुजाओं से विचित्र प्रतीत हो रहे हैं। उन दोनों में पहले जो श्रीकृष्ण हैं, वे शोभायुक्त नील छविवाला जो निकष-पाषाण (कसौटी का पत्थर) उसके समान आचरण करनेवाले वक्षःस्थलपर जो स्वर्णरेखा है उससे पवित्र हैं, अर्थात् सुशोभित हैं। किंच दूसरे जो बलदेवजी हैं, वे भी अपने वक्षःस्थल की शोभा द्वारा कैलासरूप मणिभूमि की शोभासम्पत्ति का छेदन करनेवाले हैं, अर्थात् अपहरण करनेवाले हैं ॥२८॥

तथा पहले जो श्रीकृष्ण हैं, वे अङ्ग के सहित अधर अङ्ग की छवि से युक्त जो कवियों की कविता उसके द्वारा बढ़नेवाली अनेक सम्पत्तियों से युक्त हैं। और उनके सहचारी श्रीबलदेवजी भी, सभी विद्वानों के द्वारा श्रीकृष्ण के समान ही प्रतिक्षण रमणीय कहे गये हैं। उन दोनों में पहले जो श्रीकृष्ण हैं, वे कमल-विजयी अपने चरणों के द्वारा मानो अपनी व्रजरूप राजधानी की श्रेष्ठता के प्रतिपादन के लिए, अर्थात् व्रज में नग्न चरणों से भ्रमण करने के लिए नियुक्त किये हैं। किंच दूसरे श्रीबलदेवजी भी, श्रीकृष्ण के चरणों के सहायक की तरह अपने चरणों को चलाते हुए—मानो भय से प्रयुक्त हैं ॥२९॥

तथा पहले जो श्रीकृष्ण हैं, वे गीले अङ्गों से युक्त, अर्थात् सर्वतोभाव से गीली एवं नीलवर्णवाली सरल (सीधी) जो तरुलता है, वह हाथ में होने के कारण, प्रशंसनीय खेलों से युक्त हैं। और उनके सहचर बलदेवजी भी, गेंद को उछालने के लिए, हल की तुलना करनेवाली शाखा के द्वारा मेल को प्राप्त हो रहे हैं। उन दोनों में से पहले श्रीकृष्ण तो, अपने अङ्गों के समूह के ढकने के लिए संकुचित बुद्धि होकर, वस्त्र धारण किये हुए हैं। किंच दूसरे जो श्रीबलदेवजी हैं, वे शोभा से श्रीकृष्ण के समान होकर, श्रीकृष्ण का पुनः व्रज में मिलन कराने के लिए आगामी समय का निरीक्षण कर रहे थे ॥३०॥

"किञ्च, शिती सतडिदंशुकौ सदवतंसवामश्रुती, पुरुप्रभवरोहिणी सुखसुतौ बलाख्यान्वितौ।
सकेलिमितधेनुकौ परिहृतान्यजन्मास्पदौ, ददर्श बलकेशवौ कलभवत् स वत्सान्तरे ॥३१

"अपि च— असितमणिसुवर्णवर्णवासः, कटिघटितामलशृङ्गवेणुसङ्गौ।
करधृतपटुपट्टशुल्वयष्टी, मुसलि-हरी हरतः स्म चित्तमस्य ॥३२॥

"दर्शनमात्रतश्च निश्चलनफलयात्रः कम्पसम्पत्पात्रशंकुवत्पुलकसंकुलगात्रतया सहसा सहसारं रथादवततार ॥३३॥

"अवतीर्य च विकीर्यमाणाङ्गतया साङ्गमेव प्रणनाम। तन्मात्रपरिणामतया विशश्राम च। निजपितृव्यतादितायां तु बभ्राम ॥३४॥ यतः,

"प्रभावानुभवी यः स्यात् प्रभावस्तस्य कारणम्। गुरुलाघवभावाय सर्वमेवान्यथान्यथा ॥३५॥

किंच इस प्रकार रूप का निरूपण करके श्रीअक्रूरजी ने गोवत्सों के बीच में खड़े हुए श्रीबलराम एवं श्रीकृष्ण का दर्शन किया। वे दोनों ही क्रमशः गौर श्यामवर्ण के थे, दोनों ही बिजली के समान चमकीले नीलाम्बर पीताम्बर धारण किये हुये थे। दोनों के ही वामकर्ण में सुन्दर कर्णाभूषण थे, दोनों ही क्रमशः पुरुवंश में उत्पन्न होनेवाली रोहिणी एवं गयामैया के सुखदायक पुत्र थे। एवं बलरामजी 'बल' नाम से युक्त थे, एवं श्रीकृष्ण "डलयो रलयोश्चैकत्वस्मरणात्" के अनुसार 'वरा' अर्थात् श्रेष्ठ, आख्या अर्थात् नाम से युक्त थे। दोनों ही क्रीडापूर्वक धेनुओं की गिनती करनेवाले एवं धेनुकासुर को मारनेवाले थे। और दोनों ही गोपजाति से भिन्न जन्म की प्रतिष्ठा का परिहार करनेवाले थे। अर्थात् अपने को व्रजवासी गोप मानने में ही प्रसन्न थे ॥३१॥

और क्रमशः नीलमणि एवं सुवर्णवर्ण के समान नीलाम्बर पीताम्बर से युक्त, कटिप्रदेशपर निर्मल शृङ्ग, एवं वेणु के संयोग की रचना करनेवाले, तथा हाथों में रेशमी रस्सी एवं यष्टि को धारण करनेवाले, श्रीबलदेव एव श्रीकृष्ण इन दोनों भाइयों ने श्रीअक्रूरजी के चित्त को हर लिया ॥३२॥

उसके बाद स्थिर-फलवाली यात्रावाले श्रीअक्रूरजी दोनों के दर्शनमात्र से कम्परूप सम्पत्ति के पात्र, एवं बाण की नोक के समान रोमाञ्चों से व्याप्त शरीरवाले होने के कारण, सारांश के सहित सहसा रथ से उतर पड़े ॥३३॥

और उतर कर प्रत्येक अङ्ग विक्षिप्त होने के कारण, अक्रूरजी ने साष्टाङ्ग प्रणाम ही किया। एवं प्रणाममात्र के परिणाम के भाव से विश्राम भी कर लिया। यदि कहो कि—श्रीकृष्ण बलदेव तो अक्रूरजी से छोटे थे, एवं भाई के पुत्र थे, अतः उनको प्रणाम कैसे किया? तहाँ कहते हैं कि—अपने चाचापन आदि के भाव में तो अक्रूरजी भ्रान्त (अस्थिर चित्त) हो गये थे ॥३४॥

कारण—जो व्यक्ति प्रभु के प्रभाव का अनुभवी है, उसके लिए तो प्रभु का प्रभाव ही, गुरुत्व (बड़प्पन), एवं लघुत्व (छोटापन) आदि के भाव के लिए कारण हो सकता है। अन्यथा अर्थात् प्रभाव का अनुभव न होनेपर तो, सभी कुछ अन्यथा हो सकता है। अर्थात् मैं "चाचा लगता हूँ" इत्यादि जानने को समर्थ हो सकता है। अतः उन दोनों की भगवत्ता के ज्ञान के कारण, अपने को छोटा मानते हुए श्रीअक्रूरजी ने उन दोनों को साष्टाङ्ग प्रणाम किया ॥३५॥

"तदेवमविरामं प्रणाममेव प्रसजति तस्मिन् 'गावः पराः पयः सवयःसमवायेन दुह्यन्तां नीयन्तां च तद्गृहान्' इति निदिशन्नतीवादरसङ्कुरतया सङ्कर्षणसहायः कृपापूरतः पुरतः संहाय स चायं सिंहायमानसंहननः साभ्युत्थानं कराभ्यां तमुत्थापयामास ॥३६॥

"स तु गद्गदगदान्न तु स्वनाम गदितुं शशाक ॥३७॥

"ततश्च प्रवयःपशुपचयेषु विरचिततत्परिचयेषु तद्व्यग्रताकातरौ तौ भ्रातरौ पितृव्यताव्यवहारमपि विस्मृत्य तमालिङ्गनेनादृत्य निजनिजपाणिना तत्पाणी विधृत्य स्वालयमेवानिन्यतुः ॥३८॥

"हरिस्तु सद्व्यवहारं समाहरन्नग्रजमेव तत्र निजाग्रेसरं चकार ॥३९॥

"अथ स याथातथ्यमातिथ्यप्रथमभागं स्वागतादिकं प्रथयित्वा सहानुजन्मा रोहिणीजन्मा रससम्पन्मयं भोज्यप्रचयं तस्मै बलयामास । भुक्तवते तु तस्मै मुखवासनं मुखवासमुखं ससुखं समर्पयामास । तदनन्तरमेव च श्रीमद्व्रजराजं प्रति तं भाजयामास ॥४०॥

"तत्र च— अक्रूरं प्रणतं मिलन् व्रजपतिः कंसोत्थदुःखं स्मरन्
साम्राशीर्वचसाखिलक्लमहरं यद्यद्गुणैस्तुष्टुवे ।

अतएव अक्रूरजी इस प्रकार निरन्तर जब प्रणाम ही कर रहे थे, तब "बाकी बची हुई गौओं को हमारे सखागण ही दोह लें, एवं उन गौओं को गोशालाओं में ही पहुँचा दें" मित्रों को इस प्रकार का आदेश देते हुए, अत्यन्त आदर से मिश्रित होकर बलदेवजी के सहित कृपा के प्रवाह से आगे की ओर जाकर, सिंह के समान दृढ शरीरवाले इन श्रीकृष्ण ने गौरवपूर्वक अपने दोनों हाथों से अक्रूरजी को ऊपर उठा लिया ॥३६॥

अक्रूरजी तो गद्गदरूपी रोग के कारण अपना नाम कहने को भी समर्थ न हो सके ॥३७॥

और उसके बाद वृद्ध गोपसमूह के अक्रूरजी से परिचय कर लेनेपर, अक्रूरजी की व्यग्रता से कातर हुए वे दोनों भाई, पितृव्यता (चाचापन) के व्यवहार को भी भूलकर आलिङ्गन के द्वारा अक्रूरजी का आदर करके, अपने अपने हाथ के द्वारा उनके दोनों हाथों को धारण कर अपने भवन में ही लिवा लाये ॥३८॥

उस समय श्रीकृष्ण ने तो सद् व्यवहार का अवलम्बन करते हुए अक्रूरजी के सत्कारादि विषय में अपने अग्रज को ही अपना अग्रेसर बना दिया ॥३९॥

अनन्तर उन रोहिणीनन्दन ने भी अपने छोटे भाई श्रीकृष्ण के सहित यथायोग्य अतिथि सत्कार के प्रथम भागस्वरूप 'स्वागत' आदि का विस्तार करके, श्रीअक्रूरजी के लिए अनेक रसों की सम्पत्ति से युक्त भोजनसमूह को निवेदित किया । और उनके भोजन कर लेनेपर उनके लिए मुख को सुगन्धित करनेवाले कर्पूर से युक्त ताम्बूल, चन्दन, माला आदि सुखपूर्वक समर्पण कर दिये, और तदनन्तर ही उनको श्रीमान् व्रजराज के निकट पहुँचा दिया ॥४०॥

और वहाँपर नम्र हुए अक्रूर से मिलते हुए श्रीव्रजराज ने, कंस की ओर से उठे हुए दुःख को स्मरण करते हुए, अश्रुओं के सहित आशीर्वादमय वचन के द्वारा सम्पूर्ण थकान को दूर करते हुए, गुणों के द्वारा अक्रूरजी की जिस जिस भाँति स्तुति की, यह सब व्यवहार तो उनके योग्य ही है । किन्तु इन

सारल्येऽप्यलमस्य तादृशि मनःक्रौर्यं तदीयं स्मर-
च्चित्तं क्षुभ्यति जाज्वलीति मम हा भस्मीभवत्यद्य च ॥४१॥

"अथ तेन विश्रामायादिष्टं वासमासज्य पर्यङ्कोपविष्टं सम्मानिततया सुखाविष्टं पुनस्ताभ्यां कृतजननीसंभृतभोजनाभ्यां सह रहसि निविष्टमक्रूरं स्वयं कृष्णस्तद्दर्शनतः समुद्बुद्धकंसवधादितृष्णस्तदिदमिष्टं पप्रच्छ ॥४२॥

यत्र च क्रमचातुरी साधुरीतिरियं सर्वसुखधुरीणतां वहति,—
'किं तात ! सौम्य ! सुखमागतमत्र शं वः, किं तत्र कंसहतके न हते चिरस्य ।
तौ जीवतः किमिव वा पितराविदानीं, किं वा तवागमनमङ्गलबीजमासीत् ?' ॥४३॥

"अथाक्रूर उवाच,—'तस्य यादववीरेषु वैरानुबन्धः खलु भवता कृतानुसन्ध एव; विशेषतस्तु देवकीविवाहगताहमारभ्य यः स च भवच्छ्रवसि सच्चमान एवास्ते । मद्विधस्तु तत्र वर्त्मशतपर्विकास्तम्बवदेव वर्वर्ति । वसुदेवसहोदरदेवभागपुत्रः परमशुद्धः स उद्धवनामापि भवद्विरहव्याधिः पवनव्याधितयाभिधीयत इत्युर्वरित इवास्ति ॥'४४॥

अक्रूर की उस प्रकार की दिखावटी अतिशय सरलता होनेपर भी (व्रजवासियों के परस्पर विरह के कारक होने के कारण), उनके मन की क्रूरता को याद करता हुआ मेरा चित्त क्षुभित हो रहा है, बारंबार जल रहा है, हाय ! आज तो भस्मीभूत हुआ जा रहा है । यह कथावाचक की उक्ति है ॥४१॥

उसके बाद श्रीव्रजराज के द्वारा विश्राम करने के लिए आदिष्ट (बताये हुए) निवासस्थान को प्राप्तकर, पलंग के ऊपर बैठे हुए, एवं सम्मानित होने के कारण सुख में निमग्न हुए, पुनः माँ यशोदा रोहिणी के द्वारा संगृहीत भोजन जिनने कर लिया है, उन कृष्ण बलदेव के सहित, एकान्त में बैठे हुए श्रीअक्रूर को उनके दर्शनमात्र से कंसवध आदि की तृष्णा जिनके हृदय में अच्छी प्रकार जाग उठी है, उन श्रीकृष्ण ने यह इष्ट विषय पूछा ॥४२॥

और जिसे पूछने में (आगे कही जानेवाली) यह क्रमचातुरी से युक्त सुन्दररीति सर्वसुखों की वाहकता को धारण कर रही है, यथा—हे सौम्य तात ! (चाचाजी) आपका यहाँपर आगमन सुखपूर्वक तो हुआ है न ? और हत्यारे कंस के बहुत समय से न मारे जाने के निमित्त मथुरा में तुम सबको क्या सुख हो सकता है ? एवं इस समय वे हमारे मातापिता किस प्रकार जीवित हैं ? अथवा आपके आगमनमय मङ्गल का मूल कारण क्या है सो कहिये ? ॥४३॥

श्रीअक्रूरजी बोले कि—श्रीउग्रसेन आदि यदुवंशीय वीरों के ऊपर कंस की जो शत्रुता है, निश्चितरूप से उसका अनुसन्धान तो आपने कर ही लिया है । और विशेष करके तो श्रीदेवकी के विवाहवाले दिन से लेकर (आकाशवाणी के कारण) जो शत्रुता है, वह भी आपके कान में पहुँच ही चुकी है । हमारे जैसा व्यक्ति तो वहाँपर (सबके चरणों का आघात सहनेवाले) मार्ग की दूब के गुच्छे की तरह ही विद्यमान है । और श्रीवसुदेवजी के सहोदर (भ्राता) देवभाग का पुत्र, परम शुद्ध उद्धवनामक आपका प्रिय सखा भी, आपके विरह की व्याधि से युक्त होकर, सज्जनों के द्वारा पवनव्याधिरूप वायुरोग से युक्त सा कहा जाता है, इसीलिए बचा हुआ सा रह गया है । अर्थात् कंस ने उसको बात का रोगी समझ कर पीडित करने से छोड़ दिया है । वस्तुतः उद्धवजी का 'पवनव्याधिः' यह एक दूसरा नाम भी है ॥४४॥

"श्रीकृष्ण उवाच,—'तदेतदपि ज्ञायते। साम्प्रतं तु सप्रतीकं कथ्यताम् ॥'४५॥

"अक्रूरस्तु परितो निरीक्ष्य तदिदं सूक्ष्माक्षरमुवाच,—'अथ श्रीनारदस्तु त्वादृशि विजयसुखसारदस्तादृशि दुर्जन्मपारद इति स तव व्रजप्रेमावृतस्य तस्य च भयेनास्तृतस्य युयुत्सायामुत्साहनाय देवक्याः सप्तमाष्टम-गर्भतया युवामनुचितमिव सूचितवान् ॥४६॥

'आदौ देवक्या गर्भः खलु रोहिण्यां मायया लब्धसन्दर्भः कृतः श्रीवसुदेवः पुनस्तां मायामपि यशोदायां लब्धसम्भवां विज्ञाय देवक्याः सम्भूतं त्वां तत्पर्यङ्के निधाय तां तस्यां लब्धसम्भवां चकार' इति ॥४७॥

"श्रीकृष्ण उवाच,—'ममेदमाश्चर्यमिव भाति ॥'४८॥

"अक्रूर उवाच,—'श्रीमदानकदुन्दुभिमुखादप्यद्वन्द्वीभवन्नहमनेन सफलितकर्णद्वन्द्वीभवन्नस्मि ॥'४९॥

"अथ श्रीकृष्णः क्षणं विलक्ष इव निरीक्ष्य सहसा तदिदमन्तश्चिन्तितमवाप,—'आम् आम् तदिदमलुप्तज्ञानस्यापि मम व्रजस्नेहावेशवशात् पुरतः स्फुरन्नासीत्; सम्प्रति तु विस्मृत-स्वप्नवन्निमित्तं प्राप्य स्फुरति स्म,—(भा० १०।८।१५, १४) 'बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते' इति, 'प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातस्तवात्मजः' इति च व्रजावितारं श्रीमत्पितरं प्रति गर्गसिद्धान्तवर्गमेते न पर्यालोचितवन्तः सन्ति ॥५०॥

श्रीकृष्ण बोले—यह भी मैं जानता हूँ, किन्तु अब तो साङ्गोपाङ्ग कहिये ? ॥४५॥

अक्रूर तो चारों ओर देखकर थोड़े से अक्षर विन्यासपूर्वक यह बोले कि—अनन्तर श्रीनारदजी तो तुम्हारे जैसे व्यक्ति के ऊपर विजयसुख के सार को देनेवाले हैं, एवं कंस जैसे के ऊपर दुष्टजन्मों का पार देनेवाले हैं, अर्थात् मोक्ष देनेवाले हैं। इसी कारण वे नारदजी व्रज के प्रेम से आवृत (ढके) हुए तुम्हारे एवं भय से आच्छादित (ढके हुए) उस कंस की युद्ध की इच्छा में उत्साह बढ़ाने के लिए, तुम दोनों को देवकी के सप्तम अष्टम गर्भरूप से अनुचित की भाँति सूचित कर गये ॥४६॥

पहले देवकी का गर्भ निश्चय ही माया के द्वारा रोहिणी में रचना को प्राप्त कर दिया। श्रीवसुदेवजी ने पुनः उस माया को भी श्रीयशोदा में जन्म लेनेवाली जानकर, देवकी से उत्पन्न हुए तुमको यशोदाजी के पलंग पर धरकर उस माया को देवकी में जन्म लेनेवाली बना दिया ॥४७॥

श्रीकृष्ण बोले—मेरे को तो यह सब आश्चर्य सा मालूम पड़ता है ॥४८॥

श्रीअक्रूरजी बोले—मैं तो अकेला ही श्रीमान् वसुदेवजी के मुख से सुनकर इस पूर्वोक्त वृत्तान्त के द्वारा दोनों कानों की सार्थकता कर चुका हूँ ॥४९॥

उसके बाद श्रीकृष्ण क्षणभर विलक्ष (आश्चर्य से युक्त) की तरह देखकर, सहसा अन्तःकरण में यह स्मरण करने लगे कि—हाँ हाँ ! जानलिया, यद्यपि मेरा ज्ञान लुप्त नहीं है, तो भी व्रज के स्नेह के आवेश के वश से मेरे सामने (पहले वसुदेव के द्वारा भी तुम उत्पन्न हुए हो, इत्यादिरूप अक्रूर का) यह कथन स्फूर्ति नहीं पा रहा था, अर्थात् याद नहीं आरहा था। तात्पर्य—व्रज का स्नेह सब कुछ भुला देता है। उसी के कारण मैं तो अपने को नन्दात्मज ही मानता रहा, और रहूँगा। किन्तु इस समय तो भूले हुए स्वप्न की तरह (अक्रूरजी के कथनरूप) निमित्त को प्राप्तकर वह सब विषय स्फूर्ति में आगया (अर्थात् याद आगया),

'यत् खलु व्रजावित्र्यां श्रीमन्मदीयसवित्र्यां लब्धजठरवासया मायया सह द्विभुजतया लब्धहृत्कमलवासस्य मम श्रीदेवक्या हृदयसम्भवदुदयमद्रूपविशेषचतुर्भुजरूपाच्छादन-प्रार्थनायां तत्र सञ्चारः सम्पन्न इत्यस्याप्रतिपन्नतया तन्मात्रप्रतीतिमागतवन्तः। भवतु, मया तु पितृव्य-तायाः पितृतायाश्चानुसर्तव्यतया कर्तव्य एव तयोरुद्धारः' इति ॥५१॥

"स्पष्टं चाचष्ट,—'ततस्ततः?' "अक्रूर उवाच,—'ततश्च वसुदेववधसमुद्यतं तमधमं सान्त्वतः शमयित्वा भ्रमयित्वा च स तु क्रतुभुग्-मुनिर्यथायथं गतः। तत्र गते तूच्छृङ्खलः कंसः कालायसशृङ्खलया सनिर्बन्धं तव पितरौ बबन्ध' इति ॥५२॥

"अथ भ्रातरावुभावपि सास्रावश्रावयताम्,—'तर्हि किं पित्रोरेव सन्देशप्रवेशाय भव-दायातं जातम्?' "अक्रूरः सलज्जमुवाच,—'नहि नहि; किन्तु कंसस्य तौ खलु निजयातना-मपि सहेते। न खलु भवच्छ्रवसि च तत्पातनाम्; किन्तु तदिदमहमेव निवेदयामि,—॥५३॥

भवद्भ्यां यदि जाताभ्यां गताभ्यां योग्यतामपि।
पित्रार्तिर्न निवर्तेत पुत्रीया कुत्र वर्तताम्?' इति ॥५४॥

और ये व्रजवासीजन "हे नन्दजी! तुम्हारे पुत्र के बहुत से रूप एवं बहुत से नाम हैं; इति तथा यह तुम्हारा पुत्र पहले किसी समय में वसुदेवजी के भी प्रगट हुआ था" इस प्रकार व्रजपालक श्रीमान् मेरे पिताजी के प्रति कहे गये गर्गमुनि के सिद्धान्तवर्ग की पर्यालोचना (विचार) नहीं कर पाये हैं ॥५०॥

कारण—व्रज की रक्षा करनेवाली श्रीमती मेरी माताजी के उदर में निवास को प्राप्त करनेवाली माया के साथ मैं द्विभुजरूप से माता के हृदयकमल में वास प्राप्त कर चुका हूँ। और देवकी के हृदय से मेरे रूपविशेष चतुर्भुजरूप का उदय हुआ था। पश्चात् श्रीमती देवकी माता ने मेरे चतुर्भुजरूप को छिपाने की प्रार्थना की थी। अतः श्रीदेवकी की प्रार्थना में वहाँपर मेरा संचार सम्पन्न हो गया था। इस बात को न जानने के कारण ये व्रजवासी उतने मात्र की प्रतीति (विश्वास) को प्राप्त हो गये हैं कि—ये श्रीकृष्ण तो केवल यशोदाके गर्भ से ही द्विभुजरूप से उत्पन्न हुए हैं। अच्छा, जो हो। मुझे तो श्रीनन्दजी के पुत्र होने के नाते श्रीवसुदेवजी के चाचापन का, एवं उनके चतुर्भुजरूप से जन्मलेने के नाते पितापन का अनुसरण कर्तव्य होने के कारण, श्रीवसुदेव एवं देवकी का संकट से उद्धार करना ही चाहिये ॥५१॥

अन्तःकरण में यह विचार कर श्रीकृष्ण अक्रूरजी से स्पष्ट बोले—कहिये, उसके बाद क्या हुआ? अक्रूरजी बोले कि—उसके बाद श्रीवसुदेवजी के वध करने को उद्यत हुए उस अधम कंस को अत्यन्त मधुर वचनों से शान्त कर, एवं उसको भ्रम में डाल कर वे देवर्षि नारद यथायोग्य चले गये। उनके चले जानेपर तो उस उच्छृङ्खल कंस ने लोहे की साँकल के द्वारा आग्रहपूर्वक तुम्हारे मातापिता को बाँध लिया ॥५२॥

अनन्तर कृष्ण बलदेव दोनों ही भाई सजलनेत्र हो सुनाने लगे कि—तो क्या मातापिता का सन्देश पहुँचाने के लिए ही आपका आगमन हुआ है? अक्रूरजी लज्जापूर्वक बोले—ना ना, किन्तु निश्चय ही वे दोनों तुम्हारे माँ बाप कंस के सम्बन्ध से अपनी यातना को भी सह रहे हैं, किन्तु तुम दोनों के कान में उस यातना के पड़ने को नहीं सह पाते हैं, अतः अपने दुःखदसमाचार को भी आपतक नहीं पहुँचाते हैं। किन्तु इस समाचार को तो मैं ही स्वयं निवेदन कर रहा हूँ कि—॥५३॥

आप जैसे दोनों पुत्रों के उत्पन्न होनेपर, एवं योग्यता को प्राप्त कर लेनेपर भी, यदि मातापिता की पीडा निवृत्त न हो सकी, तब पुत्र उत्पन्न करने की इच्छा कहाँ रहेगी? ॥५४॥

"श्रीकृष्णस्तु तत्रोद्वेगं हृदि निगुह्य सावज्ञमुवाच,—'कंसः किं नाम शशंस ?' "अक्रूर उवाच, 'शंसनं तस्य कति प्रतिशंसानि ? तात्पर्यं तु पर्यगिदमेव पर्यवसीयताम्— भूतराजधनुर्महव्याजतः स्वसमाजं साहाय्यमानाय्य दुर्मन्त्रणयास्मान् प्रतार्य तत्कुतूहलकलनाय प्रजान्तरवद्भवन्तावपि निजव्रजवन्तावस्मद्द्वारैवाजुहाव यदर्थं तदेव' इति ॥५५॥

"रामः सहासमाह स्म,—'बृंहितक्षुधि सिंहे मत्तमतङ्गजबृंहितं खल्विदम् ॥'५६॥

"श्रीकृष्ण उवाच,—'भवतु, वयमपि समागम्य तमपि बलिमर्पयित्वा भूतेशं तर्पयिष्यामः। किन्तु, तद्भूतराजसभाजनं कदा ?' "अक्रूर उवाच,—'चतुर्दश्याम्' इति ॥५७॥

"तदेवं शेषं विशेषमपि पृष्टवेषं विधाय श्रीकृष्णः प्राह,—'विचारादस्माकं परममङ्गलमेव यस्मादिदं तस्माच्छ्रीमत्पितृचरणेषु गोचरमाचराम ॥'५८॥

"तदेवमुक्त्वा तं तस्मिन्नेव मुक्त्वा सरामस्तत उत्थाय पितृपरिसरमाजगाम। अथ तदादेशादुपवेशानन्तरं तेन वीक्षितमुखकञ्जः समञ्जदञ्जलि वचसा तदिदं व्यञ्जयामास,—'तात ! मङ्गलवृत्तं किमपि वृत्तमस्ति, किन्तु युगपदेव पर्वेव सर्वेभ्यः श्रावयितव्यम् ॥'५९॥

"अथ व्रजराजः सन्देहमन्देहतया सानन्दमिवोपनन्दादीनानाययामास। यत्र च किञ्चिदपि विहितापिधानविधानाः श्रीव्रजेश्वरीप्रधाना लब्धसन्धाना जाताः। ततः सुखमुपविष्टेषु तेषु

श्रीकृष्ण तो वहाँपर उद्वेग को हृदय में छिपाकर अवज्ञापूर्वक बोले—अच्छा, कंस ने क्या कहा है ? अक्रूर बोले—उसके कथन का कितना प्रतिकथन करूँ, किन्तु उसके कथन का सर्वतोभाव से यही तात्पर्य निश्चय कर लीजिये कि—शंकरजी के धनुष्यज्ञ महोत्सव के बहाने से, अपने समाज को सहायक बनाकर, अपने दुर्विचार से हम सबको धोखा देकर, उसी कौतूहल को देखने के लिए, दूसरी प्रजा की तरह अपने व्रजजनों से युक्त आप दोनों भाइयों को भी, हमारे द्वारा ही वह कंस जिस लिए बुला रहा है, बस, वही तात्पर्य है ॥५५॥

श्रीबलरामजी हास्यपूर्वक बोले—जिसकी क्षुधा बढ़ गई है ऐसे सिंह के विषय में, मत्त गजेन्द्र की गर्जना की तरह निश्चय ही कंस का यह विचार व्यर्थ है ॥५६॥

श्रीकृष्ण बोले—अच्छा, जो हो। हम भी अच्छी प्रकार मथुरा में आकर कंस को भी भेंट देकर, शंकरजी को तृप्त करेंगे। किन्तु वह शंकरजी का पूजन कब होगा ? अक्रूरजी बोले—चतुर्दशी को ॥५७॥

अतएव अवशिष्ट विशेष वाक्य को भी पूछे हुए की तरह बनाकर श्रीकृष्ण बोले—हमारे जिस विचार से यह मथुरागमन परममङ्गलरूप ही प्रतीत होता है, उसी विचार से यह वृत्तान्त श्रीमान् पूज्य पिताजी के प्रत्यक्ष कर दें, तभी ठीक है ॥५८॥

इस प्रकार कहकर अक्रूरजी को उसी स्थानपर छोड़कर, बलरामजी के सहित वहाँ से उठकर, पिताजी के निकट चले आये। तदनन्तर पिताजी के आदेश से बैठ जाने के अनन्तर, पिता के द्वारा जिनका मुखकमल देखा गया, वे श्रीकृष्ण हाथ जोड़कर अपने वचन से यह भाव व्यक्त करने लगे कि—हे पिताजी ! कोई मङ्गलमय वृत्तान्त संघटित हुआ है, किन्तु महोत्सव की तरह सभी व्रजवासियों के लिए एकसाथ ही सुनाने योग्य है ॥५९॥

उसके बाद श्रीव्रजराज ने सन्देह में मन्द चेष्टा से युक्त होकर अर्थात् मानो निःसन्देह होकर, आनन्दपूर्वक श्रीउपनन्द आदिकों को अपने निकट बुलवा लिया। और उपनन्दादिकों के जिस लिवालाने में

शिष्टेषु श्रीविष्टरश्रवाः किञ्चिद्विहसन्निवाचष्ट,—'अस्मान् प्रति सम्प्रति भोजक्षितिभृदिष्ट इव सन्दिष्टवानस्ति। यत्प्रजानिभाः प्रजा यूयमिह महेशधनुर्महामहे सहेशाः सहशावकाः सावकाशमागच्छत। विशेषतस्तु निजवीर्यतः समीर्यमाण-निजदर्शनतृष्णौ रामकृष्णौ च' इति ॥६०॥

"व्रजराज उवाच,—'भवन्मन इदं किं मनुते; यद्भवति वसुदेवाद्भवति चास्मिंस्तस्य प्रीतिर्भवति?' इति ॥६१॥

"श्रीकृष्णः सस्मितमुवाच,—'यद्यन्यथा स्यात्तथापि वृथापथ एव तन्मनोरथः, यद्भवत्प्रभावबलसंहितस्य बलसहितस्य मम कः खल्वहितमाहितं कुर्वीत। यत एव खल्वा-बल्यबल्यमाने बाल्येऽपि मम पूतनादयस्ते धूततामापन्नाः। किमुत तद्बलत एव बलितां बलमानाभ्यामावाभ्यां बकवत्सकमुखानां सुखादेव प्रतिरित्सनं जातम्' इति ॥६२॥ 'तत्र च,—बक एकङ्गिलस्तावदघः सर्वङ्गिलः स्थितः। इन्द्रः सर्वङ्कषस्तेषु कंसकः कं समीयति?' ॥६३॥

कुछ परदे का विधान जिनका कर दिया है, ऐसी वे श्रीव्रजेश्वरी (यशोदा) प्रभृति गोपियाँ भी एकता को प्राप्त हो गईं, अर्थात् वे सब भी वहाँपर आगईं, यह वाक्यार्थ है। उसके बाद उन उपनन्दादि शिष्ट-व्यक्तियों के सुखपूर्वक बैठ जानेपर, श्रीविष्टरश्रवाः (श्रीकृष्ण) कुछ हँसते हुए से स्पष्ट बोले—इस समय भोजराज कंस ने हम सबके प्रति प्रिय की भाँति यह सन्देश दिया है कि—दूसरी प्रजा के समान उत्तमरूप से जन्म लेनेवाले, तुम सब व्रजवासी इस मथुरा में, शंकरजी के धनुष्यज्ञ नामक महामहोत्सव में, अपने भूपति के सहित एवं बालकों के सहित, अवकाशपूर्वक चले आओ। विशेष करके तो अपने पराक्रम से अपने दर्शन की तृष्णा की प्रेरणा करनेवाले राम-कृष्ण दोनों भाई भी चले आवें ॥६०॥

यह सुनकर श्रीव्रजराज बोले—क्यों, लाल! तुम्हारा मन यह मानता है क्या? जो कि तुम्हारे ऊपर एवं वसुदेवजी से उत्पन्न होनेवाले इस बलरामपर उस कंस की प्रीति हो रही है। अर्थात् कंस की प्रीति में तुम्हारा मन कैसी साक्षी देता है? ॥६१॥

श्रीकृष्ण मुसक्याकर बोले—यदि इससे अन्यथा होगा, अर्थात् यदि कंस प्रीति न करेगा तो भी, उसका मनोरथ वृथामार्गवाला, अर्थात् व्यर्थ ही हो जायगा। कारण आपके प्रभाव के बल से संयुक्त एवं बलदेवजी के सहित जो मैं हूँ, अतः कौन व्यक्ति मेरा अहित स्थापित कर सकता है? और जिस कारण से ही निर्बलता से युक्त मेरी बाल्यावस्था में भी, वे पूतना आदि राक्षस विध्वस्त हो गये। फिर उस बल से ही बलीरूप से निरूपित होनेवाले हम दोनों के द्वारा बकासुर, वत्सासुर आदिकों का सुख से ही जो मारना बन गया, इस विषय में तो कहना ही क्या है? ॥६२॥

और हमारे अनिष्टकारी उन दुष्टों में बकासुर तो केवल मुझ अकेले को ही निगलनेवाला था, एवं अघासुर बछड़ों के सहित सब ग्वालबालों को निगलनेवाला होकर मार्ग में स्थित हुआ था। और उन सबमें इन्द्र तो अतिवृष्टि आदि के द्वारा सभी व्रज को मिटाने वाला ही बन गया था। किन्तु उनमें से कोई भी हमारा अनिष्ट न कर सका। अतः उन सबमें तुच्छ कंस किसके समान आचरण करता है, अर्थात् किसके समान है? तात्पर्य—किसी के समान नहीं ॥६३॥

"तदेतन्निशम्य मिथो निशाम्य च सम्यगप्रतिपत्तिपराहतेषु तेषु मात्रादिषु च कृतयात्राभङ्गप्राणालिषु पुनरुवाच,—'गोकोटिभिर्घटितकोटीनामस्माकमन्यस्मिन्नटितुमपि घटना न दृश्यते। राज्ञामाज्ञामतिक्रम्यापयाने च तदागमनमयं भयं भवत्येव; किमुत स्थाने। ततः सङ्कोचं विना तत्रास्मद्गमनमेव तस्य शमनमुपलभामहे ॥'६४॥

"तदेतदाकर्ण्य सवैवर्ण्यमुपनन्दं प्रति श्रीमान्नन्दः प्राह स्म,—'किं कर्तव्यम् ?' इति ॥६५

"स चोवाच,—'तत्र गम्यमिति सम्यगेवाह वत्सः। अगतिर्नाम कामं तस्य क्रोधमस्य च भयं बोधयति, गतिस्तु तं तदप्यपगमयति। किञ्च, यदपूर्वमपूर्वं पूर्वमपि रक्षां कुर्वदासीत्तदेव सर्वमर्वाञ्चमप्यापद्वारं तारयिष्यति ॥'६६॥

"अथ तदेवं युक्तिं बलयति गोपालवलये प्रभावभावपूर्णपूर्णिमा च तूर्णमेव तत्रागता ॥६७॥

"ततश्च व्रजराजेन कृते प्रश्ने सा सस्नेहमुवाच,—'भवन्नन्दनस्य मथुराप्रयाणे सर्वानन्द एव स्यात्। कंसादयः सर्व एव नृशंसा ध्वंसाय सम्पत्स्यन्ते, किन्तु व्रजागतावस्य विलम्बसंवलनं पश्याम इति यथायुक्तमध्यवस्यन्तु ॥'६८॥

श्रीकृष्ण के इस वाक्य को सुनकर एवं परस्पर सुनाकर वे उपनन्दादि जब अच्छी प्रकार (उसके अभिप्राय को) न जानने के कारण (शोक से) ताड़ित हो गये, और माता आदि जब यात्रा के भङ्ग करने में अपने प्राणसमूह को नियुक्त करने लगीं, अथवा मूर्च्छित प्रायः होने लगीं, तब श्रीकृष्ण पुनः बोले कि—हमारा उत्कर्ष करोड़ों गऊओं के द्वारा निर्मित है, अर्थात् हम महासुखी हैं, अतः हमारी मथुरा आदि अन्य स्थान में जाने की चेष्टा भी नहीं देखी जाती है। और देखो ! राजाओं की आज्ञा को लाँघकर भाग जाने में तो, यहाँपर उस कंस का आगमनमय भय है ही, फिर योग्य विषय के उल्लंघन करने में उसके आने का भय है, इस विषय में तो कहना ही क्या है ? अर्थात् हम सब यदि कंस की आज्ञानुसार मथुरा न जायँगे तो कंस यहाँ अवश्य आयेगा, और उपद्रव मचायेगा। इसलिए हम तो संकोच के बिना वहाँपर हमारा जाना ही, कंस का शमन करनेवाला समझते हैं, या प्राप्त करते हैं ॥६४॥

यह सुनकर श्रीमान् नन्दजी मलिनतापूर्वक उपनन्दजी के प्रति बोले कि—भैयाजी ! इस समय क्या करना चाहिये ? ॥६५॥

उपनन्द बोले—अब "मथुरा में आना योग्य है," यह बात लाला कृष्ण ठीक ही तो कह रहा है, और न जाना तो कंस के यथेष्ट क्रोध को जना रहा है, और उसके द्वारा इस व्रज के भय को भी जना रहा है। और मथुरा में जाना तो कंस के क्रोध को एवं भय को भी दूर कर रहा है। किंच जो हमारा असाधारण अदृष्ट (भाग्य) पहले भी रक्षा करता रहा, वही अदृष्ट आधुनिक सम्पूर्ण आपत्ति के समूह को तार देगा, अर्थात् वर्तमान की सारी आपत्तियों से बचा देगा ॥६६॥

उसके बाद गोपगण जब इस प्रकार युक्ति को मिला रहे थे, अर्थात् युक्तिपूर्वक विचार कर रहे थे. तब प्रभाव एवं व्रज के भाव से परिपूर्ण पूर्णिमा वहाँपर शीघ्र ही चली आई ॥६७॥

उसके बाद श्रीव्रजराज के प्रश्न करनेपर वह स्नेहपूर्वक बोली—देखो, नन्दजी ! आपके लाला के मथुरागमन में सर्वानन्द ही होगा। कंस आदि सभी क्रूरव्यक्ति ध्वंस को प्राप्त हो जायँगे। किन्तु श्रीकृष्ण के पुनः व्रज में आने के विषय में हम विलम्ब के संयोग को देख रहे हैं, इस बात को आप सब यथायोग्य निश्चय कर लो ॥६८॥

"उपनन्द उवाच,—'अविलम्बागमनाद्विलम्बागमनमपि श्रेय एव वैरिशमनं तु यदि स्यादिति गमनमेव वरं रमणीयम्। ततः सर्वेऽपि गत्यन्तरमसङ्गत्य सङ्गतमिदमुच्यत इति प्रोच्य किञ्चिदप्यननुशोच्य श्रीमन्मुखं विलोच्य श्रीकृष्णं प्रश्नविषयं कृतवन्तः—तत्र गन्तव्यता कदा मन्तव्या ?' ॥६९॥

"श्रीकृष्ण उवाच,—'गतिं च प्रातस्त्रयोदश्यां युक्तिवश्यां पश्यामः, चतुर्दश्यां खलु महस्तन्महनोयतामाप्स्यति ॥'७०॥

"तदेवं स्वान्तःपरिदेवनेहमेवेह पश्यति व्रजनरदेवे सर्वेऽप्यूचुः,—'सर्वं घोषमनुघोषणा सद्य एवासाद्यताम्, यथा प्रातरेव गोपाः सोपायना राजसभामभियान्ति' इति ॥७१॥

"अथ श्रीमन्नन्दराजश्च समाजं व्याजहार,—'भगवत्या सम्मते भवतां मते सर्वमेव मङ्गलं सङ्गंस्यत इति भद्रमादिश्यन्ताम्, दिश्या दिश्या गोपाः प्राभृतप्रभृतिकृते' ॥७२॥

"तदेवं लब्धानुमतिर्वृन्दावनपतिर्निजपरिचारकानादिदेश—'कथ्यतामिदमुत्तारं क्षत्तारं प्रति' इति ॥"७३॥

"तदेवं विज्ञाय व्रजराज्ञी तु मोहेनाज्ञीभवन्ती न किञ्चिदपि वक्तुं व्यक्तुं वा शशाक" इति वदन् मधुकण्ठश्च निरुद्धकण्ठस्तद्वदेवासीत् ॥७४॥

श्रीउपनन्द बोले—यदि बैरियों का शमन हो तो शीघ्र आने की अपेक्षा विलम्ब से आना भी श्रेयस्कर ही है। अतः मथुरागमन ही श्रेष्ठ एवं रमणीय है। तदनन्तर सभीजनों ने दूसरे उपाय को न पाकर "उपनन्दजी यह सङ्गत (सङ्गति से युक्त) ही कह रहे हैं" यह कहकर, कुछ भी न शोचकर, श्रीकृष्ण के श्रीमुख को देखकर, श्रीकृष्ण का ही अपने प्रश्न का आधार बना लिया, अर्थात् उन्हीं से पूछने लगे कि—लाला कृष्ण ! उस मथुरा में कब जाने के योग्य भाव को मानते हो, अर्थात् वहाँपर कब जाना उचित समझते हो ? ॥६९॥

श्रीकृष्ण बोले—जाने को तो कल प्रातःकाल त्रयोदशी में ही युक्तियुक्त देख रहे हैं। कारण—चतुर्दशी में तो पूर्वोक्त महोत्सव कंस की पूजनीयता को प्राप्त हो जायगा ॥७०॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण के वाक्य सुनकर भी, श्रीव्रजराज अपने अन्तःकरण की विलापपूर्ण चेष्टापूर्वक ही जब यहाँपर देख रहे थे, तब सभीजन बोले—हे व्रजराज ! समस्त व्रज में शीघ्र ही उस प्रकार की घोषणा करा दी जाय कि, जिस प्रकार प्रातःकाल ही सब गोप भेंट के सहित राजसभा में चले आवें ॥७१॥

तदनन्तर श्रीमान् नन्दरायजी सभ्य समाज से बोले—देखो, भाइयो ! भगवती पौर्णमासी की सम्मति में एवं आप सबके मत में सब मङ्गल ही मङ्गल संगत होगा। अतः भेंट आदि के लिए प्रत्येक दिशा के योग्य गोपों को अच्छी प्रकार आदेश दे दीजिये ॥७२॥

अतएव वृन्दावनपति श्रीकृष्ण ने इस प्रकार की अनुमति को पाकर अपने सेवकों को आदेश दिया कि—इस समाचार को द्वारपाल के प्रति उच्चस्वर से कह दो ॥७३॥

इस प्रकार के समाचार को जानकर श्रीव्रजरानी तो मोह से अज्ञानी होती हुई कुछ भी कहने को, अथवा अपना भाव व्यक्त करने को समर्थ न हो सकीं। इस प्रकार कहता हुआ मधुकण्ठ भी श्रीव्रजरानी की तरह अवरुद्ध कण्ठवाला ही हो गया ॥७४॥

"अथ कथायाः सभायामपि तद्वदेव मोहं गच्छति ससमाजे व्रजराजे तस्य चरणराजीव-युगं युगपद्गृह्णन् व्रजयुवराजः पुनस्तमाजीवयन्नुवाच,—'तात ! कथं कातरायसे ? यथापूर्वं कथामात्रं खल्विदम्, सोऽयमहं पुनर्भवदनुध्यानरम्यतया कंसं निर्दम्य चिरात् पुनरागम्य भवद्दृष्टिपथानुवर्तीभवन्नेवास्मि' इति ॥"७५॥

ततः सपुलकपालितमङ्कपालयति व्रजभूपाले सर्वं एवाखर्वमानन्दगर्वमुवाहेति कथायां शान्तप्रथायां मधुकण्ठ उवाच,—

"कुत्र वा रमतां पुत्रस्तवान्यत्र व्रजाधिप ! ।
भक्तानुकम्पासम्पाती पश्य ते वश्य एव सः ॥"७६॥

अथ श्रीकृष्णकृतमहसि राधासदसि च रात्रिकथायां मधुकण्ठः सगद्गदमुवाच,—"अयि ! सम्प्रति श्रीमाधवेन हृतविरहबाधे ! श्रीराधे ! पूरावृत्तमवधीयताम्,—॥७७॥

"स्फूर्जथुप्रतिममूर्जितं तदा, घोषणं सपदि घोषमन्वभूत् ।
यद्बभूवुरपराः पराहता, हा हता इव च राधिकादिकाः ॥७८॥

"तथा सति— काश्चिन्म्लानाननास्तच्छ्रवणदहनजज्वालया काश्चनासन्
क्षीणाङ्गस्त्रस्तवेषा जडनिभवपुषः काश्च काश्चिद्विचित्ताः ।

उसके बाद कथा की सभा में भी सभ्यसमाज के सहित श्रीव्रजराज श्रीव्रजरानी की तरह, अथवा साक्षात् तत्काल होनेवाली लीला की तरह जब मोह को प्राप्त होने लगे, तब उनके दोनों चरणकमलों को पकड़ते हुए, श्रीकृष्ण उनको पुनः सचेत करते हुए बोले—पिताजी ! आप कातर से क्यों हो रहे हैं ? यह प्रसङ्ग तो पहले बीते हुए की तरह निश्चय ही केवल कथामात्र है। अर्थात् आप तो मेरे बीते हुए चरित्र की कथा सुन रहे हैं। और वही मैं तो आपके अनुध्यान की रमणीयता से कंस को मारकर, बहुत दिनों के बाद पुनः व्रज में आकर, इस समय सभा में आपके दृष्टिमार्ग का अनुवर्ती होता हुआ, अर्थात् साक्षात् होता हुआ ही तो बैठा हूँ। अर्थात् अब भावी वियोग की आशंका नहीं है। अब तो प्रेमपूर्वक बीते हुए चरित्र की कथा सुनो ॥७५॥

उसके बाद श्रीव्रजराज पुलकावली के सहित श्रीकृष्ण को गोद में लेकर जब आलिङ्गन कर रहे थे, तब सभीजनों ने विशाल आनन्दमय गर्व को धारण कर लिया। इस प्रकार कथा में शान्ति की प्रसिद्धि हो जानेपर मधुकण्ठ बोला—हे व्रजेश्वर ! देखो, आपका पुत्र यहाँपर अथवा अन्य किसी स्थानपर भले ही क्रीडा करता रहे, तो भी भक्तोंपर अनुकम्पा की वृष्टि करनेवाला वह तुम्हारा लाला, देखो, तुम्हारे वश में ही है ॥७६॥

उसके बाद श्रीकृष्ण के द्वारा प्रकाशित की गई श्रीराधिका की सभा में रात्रि की कथा में मधुकण्ठ गद्गद होकर बोला—अयि श्रीमति ! राधिके ! अब तो श्रीकृष्ण ने आपके विरह की बाधा अपहरण कर ली है। अतः पुराने चरित्र का श्रवण कीजिये ॥७७॥

श्रीकृष्ण का मथुरागमन आरम्भ होते ही, उस समय वज्र के शब्द के समान अत्यन्त ऊँची घोषणा, शीघ्र ही व्रज में अनुभूत होने लगी। जिसके कारण अन्य गोपियाँ श्रीकृष्ण विरह से ताडित हो गईं, और हाय ! श्रीराधिका आदि व्रजाङ्गनाएँ तो प्रायः मृतक सी हो गईं ॥७८॥

उस प्रकार की घटना के बाद मथुरा में जाने की उस घोषणा के श्रवण (सुनना)रूप अग्नि से उत्पन्न हुई ज्वाला के द्वारा, कुछ गोपियाँ तो हर्षरहित मुखवाली हो गईं। और कुछ क्षीण अङ्गवाली एवं

ता एताः केन वर्ण्या य इह निज-हृदि स्पृष्टतद्भावकष्टः
किंवा तत्स्पृष्टिशून्यः स च स च यदलं जाड्यमेव प्रयाति ॥७९॥

अथ निशि रमणीनां मूर्च्छनं निर्ममे या, चिदुदयमपि कल्ये घोषणा सैव चक्रे ।
वपुषि दहनतप्ते भेषजं तेन तप्ति,-र्विषमपि विषदुष्टे श्रेष्ठमिष्टं भिषग्भिः ॥८०॥

"लब्धचेतनानां चासां कंसादाशङ्कायामपि प्रस्तुतातङ्कायां देवताकलितमिव रक्षणाय फलितं किञ्चिदन्यदिदंभावप्रभावचेतितं पौर्णमास्या च पुरतो निश्चितीकृतं चेतसि स्फुरति स्म ॥८१॥

"यस्मिन्नघः कालियकाद्रवेयः केशी तथारिष्टवृषश्च नष्टः ।
कंसश्च तस्मिन् मृत एव स स्या-न्न तत्र शङ्कालवकोऽपि भाति ॥'इति॥८२॥

"तदेवं विश्वस्य सम्मतं विश्वस्य पुनश्चिन्तयन्ति स्म,—
'बकी-रिपोः कंसजयेऽपि सिद्धे, शङ्केमहि स्वार्थविनष्टिमेताम् ।
भवेदसौ यादवराजधान्यां, राजेति गोष्ठे कथमत्र तिष्ठेत् ? ॥८३॥

अस्तव्यस्त वेषवाली हो गईं । तथा कुछ जड़ के समान शरीरवालीं एवं कुछ विशेष चिन्ता से युक्त हो गईं । अतः इन गोपियों का यथार्थरूपेण कौन वर्णन कर सकता है ? अर्थात् कोई नहीं । क्योंकि जो व्यक्ति इस प्रसङ्ग में अपने हृदय में उन गोपियों के भाव से कष्ट का स्पर्श करनेवाला है, अर्थात् अनुभव करनेवाला है, अथवा जो व्यक्ति उनके भाव से कष्ट के स्पर्श से रहित है, वह व्यक्ति इनकी दशा को कैसे वर्णन कर सकता है ? कारण—पूर्वोक्त वह दोनों व्यक्ति अत्यन्त जड़ता को ही प्राप्त हो रहे हैं । अर्थात् प्रथम व्यक्ति गोपियों की दशा के स्मरण से उत्पन्न हुए स्तम्भभाव के कारण अत्यन्त जड़ता (निश्चेष्टता) को, एवं दूसरा भावशून्य व्यक्ति जड़ता (मूर्खता) को ही प्राप्त हो जाता है ॥७९॥

उसके बाद श्रीकृष्ण के मथुरा जाने की जिस घोषणा ने रात्रि में गोपरमणियों की मूर्च्छा का निर्माण कर दिया, उसी घोषणा ने प्रातःकाल उनकी चेतना का उदय भी कर दिया । यदि कहो कि जो घोषणा मूर्च्छित करनेवाली है, वह चैतन्य कैसे कर सकती है ? इस विरोध के परिहार का दृष्टान्त यह है कि, वैद्यों ने अग्नि के द्वारा जले हुए शरीर में अग्नि के द्वारा तपाना, एवं विष से दूषित शरीर में विष को भी श्रेष्ठ औषध माना है ॥८०॥

पश्चात् चेतना को प्राप्त करनेवाली इन गोपियों के चित्त में कंस से प्रस्तुत (वर्तमान) है आतङ्क, अर्थात् प्रिय के विरह से जायमान ताप जिसमें, ऐसी आशंका उपस्थित होनेपर भी, उनके प्राणों की रक्षा के लिए मानो देवताओं के द्वारा निर्मित होकर फलित हुआ, एवं श्रीकृष्ण के भाव के प्रभाव से विज्ञापित हुआ, और पौर्णमासी के द्वारा पहले ही निश्चित किया हुआ, कुछ दूसरा यह भाव स्फुरित हुआ कि—॥८१

श्रीकृष्ण के जिस प्रभाव में अघासुर, कद्रू का पुत्र कालियसर्प, केशीदैत्य, एवं अरिष्टासुर नामक बैल भी नष्ट हो गया, उसी प्रभाव में वह कंस भी मर ही जायगा । अतः इस प्रकार के प्रभावशाली उन श्रीकृष्ण के विषय में तो शंका का लेश भी नहीं प्रतीत होता है ॥८२॥

इस प्रकार विश्वास करके पुनः वे गोपियाँ सर्वसम्मत यह विचार करने लगीं कि—श्रीकृष्ण का कंस पर विजय सिद्ध होनेपर भी, हम तो अपने इस स्वार्थ के विनाश की शंका करती हैं कि—कंसपर विजय पाते ही ये श्रीकृष्ण मथुरा में राजा हो जायँगे, इस कारण इस व्रज में कैसे स्थित रहेंगे ? ॥८३॥

ग्रामीणा वयमिह गोपवर्ग-कन्या, नागर्यः पुरमनु सन्ति राजपुत्र्यः ।
कृष्णस्तु ग्रहिलमना गुणेषु तस्मा,-दस्यान्तः कथमिव नः प्रतिस्मृतिः स्यात् ? ॥८४॥

निमेषः कल्पः स्याद्यदवकलने यस्य विपिने
गतौ यत् कृच्छ्रं तत् कलयति न आत्मा न तु परः ।
मधोः पुर्यां तस्य व्रजनमथ राज्याय यदिदं
कथं तद्वास्माकं बत किमपि धैर्यं कलयतु ? ॥८५॥

अस्माकं रागजातिर्बत लषति न नः शर्म तस्यापि राज्यं
किन्त्वेकान्तस्थमिच्छत्यनुलवमपि तं सेवितुं प्राणकान्तम् ।
आत्माप्यन्तर्धिया तद्दृगमृतविरहं मीनवच्छङ्कमान-
स्तत्प्रागेवातिशुष्यन् गणयति न परं नापरं किञ्चनात्र ॥८६॥

हा तस्य स्मितचारुवक्त्रवलयं खेलाञ्चि नेत्राञ्चलं
चित्रानन्दविधायिगीर्विलसितं लीलाकुलं लोकनम् ।
साक्षात्कृत्य न जातु तत्तदुपमां चासोढ या विघ्नधी-
स्त्यागार्तिं यदि सा सहेत गरलं तत्रामृतं वेत्ति न ॥८७॥

और हम सब तो इस व्रज में ग्रामीण, एवं गोपवर्ग की कन्याएँ हैं, तथा मथुरापुरी में अनेक नगरवासिनी राजपुत्री हैं । और श्रीकृष्ण भी उन नगरवासिनी कन्याओं के माधुर्यादि गुणों में आग्रह से युक्त चित्तवाले हैं । इस कारण इन श्रीकृष्ण के अन्तःकरण में हमारी प्रतिस्मृति किस प्रकार हो सकेगी ? अर्थात् हमारा स्मरण कैसे रहेगा ? ॥८४॥

हाय ! जिन श्रीकृष्ण के अदर्शन में एक निमेष का समय भी कल्प के समान प्रतीत होता है, एवं जिनके वनगमन के समय जो विरहमय महान् कष्ट है, उसको केवल हमारा आत्मा (मन) ही जानता है, दूसरा कोई नहीं । और मधुपुरी में श्रीकृष्ण का राज्य के हेतु जो यह गमन है, वह तो हमारे किसी भी धैर्य को किस प्रकार सम्पादन करेगा ? अर्थात् यह मथुरागमन तो हमारे धैर्य को सर्वथा नष्ट कर देगा । क्योंकि वनगमन से आने का समय तो सायंकाल निश्चत है, अतः कुछ धैर्य रहता है, किन्तु इस मथुरागमन में तो अवधि निश्चत नहीं, अतः यह मथुरागमन हमारे धैर्य की कैसे रक्षा करेगा ? यह भावार्थ है ॥८५॥

हमारे अनुराग की जो जाति है वह हमारे सुख को एवं उन प्राणप्यारे के राज्य को भी नहीं चाहती है । किन्तु एकान्त में स्थित उन प्राणप्रिय श्यामसुन्दर को प्रतिक्षण ही सेवन करना चाहती है । और मछलियाँ जैसे जल के क्षीण होने की शंका से उसके क्षीण होने से पहले ही सूख जाती हैं, ठीक उसी प्रकार आन्तरिक बुद्धि से श्रीकृष्ण के दर्शनरूप अमृत के विरह की शंका करता हुआ, हमारा आत्मा भी उस भावी विरह से पहले ही अत्यन्त शुष्क होता हुआ, इस समय न किसी उत्कृष्ट विषय की गिनती करता है, न दूसरे ही विषय की, अर्थात् कुछ भी विवेचना करने में समर्थ नहीं है ॥८६॥

हाय ! उन श्रीकृष्ण के मन्दमुसक्यान से मनोहर मुखमण्डल, क्रीडा से युक्त नेत्राञ्चल (कटाक्ष), एवं विचित्र आनन्दविधायक वाणी के विलास को, तथा लीला से व्याप्त दर्शन को साक्षात्कार करके, जो स्त्री विघ्न बुद्धि से युक्त होकर, अर्थात् श्रीकृष्ण के मुखमण्डल आदि के दर्शन करते समय, उनकी उपमा को विघ्न माननेवाली बुद्धि से युक्त होकर, निरुपम उन उन मुखमण्डलादि की उपमा को कभी भी सहन न

"तदेवं चिन्तातुराः पुराय कृतयात्रं श्यामगात्रं विलोकितुं निष्कलङ्काशङ्काः सर्वा एवाभिद्रवन्ति स्म । यात्राविधानं तु प्रातरभिधानं यास्यति ॥"८८॥

तदेतदभिधाय मधुकण्ठः प्रतिपत्तिविपत्तितः स्तब्धतां लब्धवति माधवे राधां तु समुद्यन्मूर्च्छाबाधां निरीक्ष्य मंक्षु पुनराह स्म,—

"राधे ! पूर्वकथा सेयं न तु साम्प्रतिकी स्थितिः ।
पश्य त्वद्वदनं म्लानं पश्यन् म्लायति सोऽप्यसौ ॥"८९॥

तदेवं क्षुधि भोजनमिव तदन्ते संयोगरसमेव परिवेष्य सर्वानपि सुखेन विशेष्य कथक-युगलं निजावासं समाससाद, श्रीराधा-माधवौ च निज-मोहन-मन्दिरमिति ॥९०॥

इति श्रीश्रीमदुत्तरगोपालचम्पूमनु अक्रूर-क्रुरता-पूरणं नाम द्वितीयं पूरणम् ॥२॥

कर सकी, वह स्त्री यदि श्रीकृष्ण के त्याग (विरह) की पीडा को सहन कर सकेगी, तब तो वह स्त्री मानो विष एवं अमृत के विभाग को नहीं जानती है ॥८७॥

अतएव इस प्रकार चिन्ता से आतुर होकर, एवं कलङ्क की आशङ्का से रहित होकर, सभी गोपियाँ मथुरापुरी को यात्रा करनेवाले श्यामशरीर श्रीकृष्ण को देखने के लिए चारों ओर से दौड़ पड़ीं । किन्तु मथुरा की यात्रा का विधान तो कल प्रातःकाल की कथा में कहा जायगा ॥८८॥

इस पूर्वोक्त प्रसङ्ग को कहकर मधुकण्ठ—"प्रतिपत्ति (ज्ञान) में विपत्ति (बाधा) आजाने के कारण, अर्थात् व्रजवासियों के भावी विरह की चिन्ता से ज्ञानशून्य हो जाने के कारण, श्रीकृष्ण जब स्तम्भभाव को प्राप्त होने लगे" तभी अच्छी प्रकार उत्पन्न होती हुई मूर्च्छा की बाधा से युक्त राधा को देखकर, पुनः शीघ्र बोला कि—हे राधिके ! यह तो पहले बीती हुई कथा है, किन्तु आधुनिक स्थिति नहीं है । अर्थात् अब श्रीकृष्ण का विरह नहीं होना है । नेक सावधान होकर देखो तो सही, हर्षरहित तुम्हारे मुख को देखते हुए, वे ही ये तुम्हारे प्यारे श्याम हर्षरहित हो रहे हैं ॥८९॥

अब ग्रन्थकार प्रसङ्ग की समाप्ति का निर्देश करते हुए स्वयं कहते हैं कि—इस प्रकार भूख में भोजन की तरह वियोग के अन्त में (पूर्वोक्त ८९ श्लोक से) संयोगरस को ही परोस कर, सभी श्रोताओं को सुख विशिष्ट बनाकर, दोनों कथावाचक अपने निवासस्थानपर पहुँच गये । और श्रीराधा-माधव की जोड़ी अपने मोहनमन्दिर में चली गई ॥९०॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रिविरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीमदुत्तरगोपालचम्पूकाव्ये अक्रूर-क्रूरता-पूरणं नाम
द्वितीयं पूरणं सम्पूर्णम् ॥२॥

अथ तृतीयं पूरणम्

श्रीमथुरापुर-प्रस्थानम्

अथ श्रीकृष्णकृतमहसि श्रीव्रजराज-सदसि प्रातःकथायां स्निग्धकण्ठ उवाच,—'अयि ! श्रीव्रजराज ! राजमानश्रीहरिमुखरुचिविराजमान ! पुनरिममितिहासमवभासयामः ॥१॥

"अथ रात्राववशिष्टस्वल्पमात्रायां यात्रामात्रायामपि पात्राचितगात्रायां रामभ्रात्रा रचितेन पूतनादिवधाचरितेन संबद्धा विरुदावल्यः प्राबल्यतः स्तुतिकृद्भिः प्रस्तुतिमापिताः सर्वानेव गर्वादुत्साहयामासुः। वर्ततां तावदन्येषां वार्ता, यत्र तत्पितरौ च कंसध्वंसनमपि सिद्धमिति मत्वा नन्दितरौ वन्दिभ्यः कृतबहुधनवितरौ बभूवतुः ॥२॥

"श्रीव्रजेशगृहिणी-गतिं गता, रोहिणी न पृथगत्र वर्ण्यते ।
प्रातिबिम्बरुचिवर्णनं पुन,-र्जल्पतां भजति बिम्बवर्णने ॥३॥

"अथ प्रस्थानस्थमङ्गलवेलायामारब्धमेलायां पुनस्तन्मन्त्रणाया यन्त्रणाय लब्धवैयग्र्या-वेशयोर्व्रजेशयोर्ज्योतिर्निपुणाः शकुनज्ञानसद्गुणाश्च द्वारि सङ्गम्य रम्यजनद्वारा तावात्मागमन-मधिगमयामासुः ॥४॥

तीसरा पूरण

मथुरापुरी का प्रस्थान

इस तीसरे पूरण में श्रीकृष्ण बलदेव का मथुरागमन, एवं व्रजवासियों की असह्य विरहव्याधि का वर्णन होगा ।

अनन्तर श्रीकृष्णकृत प्रकाश से युक्त श्रीव्रजराज की सभा में प्रातःकाल की कथा में स्निग्धकण्ठ बोला—हे देदीप्यमान श्रीहरि के मुख की कान्ति से विराजमान ! श्रीव्रजराज ! देखो, हम पहले बीते हुए इस चरित को पुनः प्रकाशित करते हैं ॥१॥

अनन्तर रात्रि जब स्वल्पमात्र ही अवशिष्ट थी, एवं श्रीकृष्ण की मथुरायात्रा का परिमाण भी जब राजमन्त्री के ऊपर अङ्गसहित व्याप्त हो गया था, अर्थात् श्रीकृष्ण की यात्रा का भार जब राजमन्त्री के ऊपर आपड़ा था, तब बलरामजी के भाई श्रीकृष्ण के द्वारा किये गये पूतना आदि के वधमय चरित्र से युक्त, एवं स्तुतिकर्ताओं के द्वारा प्रबलतापूर्वक प्रस्ताव को प्राप्त की गई विरुदावलियों ने, अर्थात् छन्दविशेष से बँधी हुई गद्य-पद्यमयी रचनाओं ने, सभीजनों को गर्वपूर्वक उत्साहित कर दिया । दूसरे जनों की बात को तो दूर रहने दो । देखो, जिन विरुदावलियों में श्रीकृष्ण के मातापिता, कंस वध को भी सिद्ध हो गया, ऐसा मानकर अत्यन्त हर्षित होकर, वन्दीजनों के लिए बहुत से धन का वितरण करनेवाले हो गये थे ॥२॥

और श्रीरोहिणीजी, श्रीयशोदाजी की दशा को ही प्राप्त हो गई थीं, अतः यहाँपर उनका पृथक् वर्णन नहीं करते हैं । क्योंकि बिम्ब के वर्णन करनेपर प्रतिबिम्ब की शोभा का जो वर्णन है, वह पुनरुक्ति के भाव को प्राप्त हो जाता है । अर्थात् श्रीयशोदा की दशा वर्णन कर देनेपर श्रीरोहिणी की दशा का भी वर्णन हो गया ऐसा समझ लेना चाहिये । यहाँपर श्रीयशोदा बिम्ब हैं, एवं श्रीरोहिणी उनकी प्रतिबिम्ब स्थानीय हैं, यह भाव है ॥३॥

अनन्तर प्रारम्भ हो गया है बन्धुओं का समागम जिसमें, ऐसे प्रस्थान करने के मङ्गलमय समय के

"अनन्तरमन्तःपुर एवताननन्तरितान् विधाय तदानीमुचितदानीयनिधानपात्रपाणी शपथं सम्प्रथय्य तौ प्रच्छन्नं पप्रच्छतुः,—'सर्वमनुभवद्भिर्भवद्भिः किमवधीयते ?' इति ॥५॥

"ते प्रोचुः,—'कथमयं नितान्तसुखवृत्तान्त एकान्ततया पृच्छ्यते ? सर्वेषां पुरत एव सोऽयं पुरस्कर्तव्यः ॥६॥ 'तथा हि—

भीतिं मा कुरुतं व्रजक्षितिपती ! युष्मत्तनूजः स्फुटं
कंसं ध्वंसगतं विधाय भविता त्रैलोक्यलक्ष्मीपतिः ।
यद्वां कीर्तिकलापनर्तितमुखी शश्वत्त्रिलोकी भवेद्
वेदः पञ्चमवेदतन्त्रसहितः साक्षित्वमत्राप्स्यति ॥'७॥

"अथ तेभ्यश्च बह्वीमंहतिसंहतिं विधाय हृदि सुखं निधाय शरणतया ध्यातनारायण-चरणयोरनयोः परिवारितभृत्यौ कृतप्रातःकृत्यौ तावेतौ सखिसमेतौ निकामभीषितदनुजौ रामरामानुजौ समाजग्मतुः ॥८॥

उपस्थित हो जानेपर, पुनः मथुरा प्रस्थान के विचार को संकुचित करने के लिए, व्यग्रता के आवेश को प्राप्त हुए, व्रजराज एवं व्रजरानी के द्वारपर आकर ज्योतिषशास्त्र में निपुण, एवं शकुन के जानने में श्रेष्ठगुणवाले पण्डितों ने, अपने आगमन को किसी रमणीय जन के द्वारा उन दोनों के प्रति विज्ञापित कर दिया ॥४॥

उसके बाद व्रजराज एवं व्रजरानी इन दोनों ने अपने अन्तःपुर में ही, उन ज्योतिषियों का साक्षात्-कार करके, उस समय धरने के पात्ररूप अपने अपने दोनों हाथों में, उचित एवं देनेयोग्य द्रव्य को लेकर, शपथ को विस्तारित कराकर, उन सब से गुप्तरूप से पूछा कि—आप सब तो सभी विषयों का ज्ञानदृष्टि से अनुभव करनेवाले हो, अतः हमारे लाला के मथुरा प्रस्थान के विषय में आप सब क्या समझते हैं, सो कहो ? ॥५॥

ज्योतिषी पण्डित बोले—इस नितान्त सुखमय वृत्तान्त को आप एकान्तरूप से अकेले ही क्यों पूछ रहे हो ? यह वृत्तान्त तो सभी के आगे ही पुरस्कृत करने योग्य है ॥६॥

देखो, हे व्रजेश्वर ! एवं हे व्रजेश्वरि यशोदे ! आप दोनों किसी प्रकार का भय न करें। क्योंकि तुम्हारा यह पुत्र स्पष्टरूप से कंस को मारकर तीनों लोकों का लक्ष्मीपति हो जायगा। कारण—यह त्रिलोकी निरन्तर तुम दोनों की कीर्तिकलाप से नाचते हुए मुखवाली हो जायगी, अर्थात् तुम दोनों के यशःसमूह से तीनों लोक नाच उठेंगे। और इस विषय में इतिहास पुराणरूप पञ्चमवेद एवं तन्त्रशास्त्र के सहित चारों वेद, साक्षीभाव को प्राप्त हो जायँगे ॥७॥

उसके बाद उन ज्योतिषियों के लिए बहुत सा दानसमूह देकर, हृदय में सुख धारण कर, ये दोनों नन्द-यशोदा जब रक्षकरूप से अपने इष्ट श्रीनारायण के चरणों का ध्यान कर रहे थे, तब सेवकों से घिरे हुए, प्रातःकालीन कृत्य किये हुए, एवं मित्रों से युक्त होकर, दैत्यों को यथेष्ट भयभीत करनेवाले, वे दोनों राम-कृष्ण भैया वहींपर चले आये ॥८॥

"समागम्य च तयोः रोहिणीसहितयोः पदारविन्दानि वन्दित्वा तदङ्कपालिसङ्गशालितया चिरं नयनयोः स्यन्दित्वा स्थितयोरेतयोरेकद्वादिक्रमेण शतातिक्रमेण सर्वेऽप्यन्तरङ्गा लब्धसम्भ्रमतरङ्गास्तदन्तःपुरमागताः ॥९॥

"अथ मद्रङ्कुरदीपभद्रनिपादीनां मध्यमध्यासीनयोः सार्द्रनयनयोरनयोर्विकसद्वदनाम्बुजयोरग्रजानुजयोः सर्वतः खर्वविचारतया स्थितेषु सर्वेषु स पुनरक्रूरः क्रूरस्तदेतद्बहिःप्रदेशतः सन्दिदेश,—'सर्वमङ्गलसङ्गतं कथमेतल्लग्नं सम्यग् न यात्रालग्नं क्रियते' इति ॥१०॥

"ततश्चताविमौ शूराणामग्रिमौ कंसघाताय लब्धतृष्णौ रामकृष्णौ चित्रायमाणानां पित्रादीनां चरणवन्दनायानन्दनाय च मधुरं विधुरताविधूननमपि गदन्तौ गद्गदवर्णराशिभिराशीरनुगामनुज्ञामादाय प्रसादायतसम्पदा यदा तत्स्थानात् प्रस्थानाय पदारविन्दं ददानावदृश्येताम्, तदा तदादीनां सम्मदालिभिः सममद्वन्द्वतां विन्दद्दिव्यदुन्दुभिद्वन्द्ववृन्दवाद्यमशेषाभिवाद्यतया समुल्ललास ॥११॥

"तथा च श्रीकृष्णमुद्दिश्य श्लोकयन्ति,—

'कंसध्वंसकृते यदा निजगृहात् कृष्णेन यात्रा कृता
तर्ह्यारम्भत एव दुन्दुभिशतं वृन्दारकैर्वादितम् ।

और आकर रोहिणीसहित उन दोनों मातापिता के चरणारविन्दों की वन्दना करके, उन दोनों की गोद के सङ्ग से सुशोभित होकर, बहुत देरतक नेत्रों से प्रेमाश्रु बहाकर, जब ये दोनों भाई माँ बाप की गोद में बैठे थे, तब एक दो तीन इत्यादि के क्रम से सैंकडों से अधिक सभी अन्तरङ्गजन, शीघ्रता की तरङ्गों को प्राप्त कर, उनके अन्तःपुर में चले आये ॥९॥

तदनन्तर यात्रा कालोचित मङ्गलजनक दीप एवं मङ्गलमय घट आदि के मध्य में बैठे हुए, प्रेमाश्रुओं से सरस नेत्रोंवाले, विकसित मुखारविन्दवाले इन दोनों राम-कृष्ण के चारों ओर जब सभी अन्तरङ्गजन छोटे विचार के भाव से स्थित थे, तब वह अक्रूर क्रूर होकर, अन्तःपुर के बाहरीस्थान से सन्देशा देने लगा कि—"सर्वमङ्गल संयुक्त इस लग्न को अच्छी प्रकार यात्रा से संयुक्त क्यों नहीं कर रहे हो ?" अर्थात् यात्रा करके इस लग्न को सफल बनाओ ॥१०॥

उसके बाद वीरों के अग्रगण्य ये दोनों राम-कृष्ण कंस वध के लिए तृष्णा को प्राप्त होकर, चित्र के समान निश्चल बैठे हुए मातापिता आदि की चरण वन्दना करने के लिए, एवं उनको आनन्दित करने के लिए विकलता को दूर करनेवाले मधुरभावपूर्वक बोलते हुए, गद्गद वचनों से आशीर्वाद की अनुगामिनी अनुमति को ग्रहण कर, प्रसन्नतारूप विस्तृत सम्पत्ति से युक्त होकर, जब उस स्थान से प्रस्थान करने के लिए अपने चरणकमल विन्यास करते हुए दिखाई दिये,तब उन राम-कृष्ण आदिकों की हर्षश्रेणी के सहित एकता को प्राप्त होता हुआ, दिव्य दुन्दुभि युगल का जो समूहरूप वाद्य है, वह सभी वाद्यों के श्रेष्ठरूप से शोभापाने लगा ॥११॥

और देखो, श्रीकृष्ण को उद्देश्य बनाकर कविजन इस प्रकार की श्लोक रचना करते हैं, यथा—श्रीकृष्ण ने कंस वध करने के लिए जब अपने घर से यात्रा की, तब देवताओं ने आरम्भ से ही सैंकड़ों दुन्दुभि बजानी आरम्भ कर दीं। उस समय दूसरे जन की बात को तो दूर रहने दो। देखो, वह पिता एवं

आस्तामन्यकथा यथा स च पिता माता च सा चिन्तया
क्लान्तात्मापि मुदं समस्तभविकानन्दस्य मूलं ययौ ॥'१२॥

"अथ रथस्थाने सानेकवेदादिघोषमङ्गलपोषं कृतागमनयोरनयोः सर्वतः सर्वमेव गोकुलमाकुलं बभूव ॥१३॥

"तत्र चैकतः श्रीव्रजराजादयः परतस्तु तदीयजायादय इति स्थिते प्रस्थितेरनुज्ञापनाय पणायति परितः कृताञ्जलिसञ्जने कञ्जलोचने सर्वेऽप्यूचुः,—'अस्माभिर्भवता प्रस्मारितसर्वैः सर्वैरपि भवता सममेवागमनीयम् ॥१४॥ यतः,—

'माता भस्त्रेव सेयं बकशमन ! तव त्वद्वशश्वासवर्गा
सोऽयं तातश्च तद्वत् किमपरमखिलं गोकुलं तादृगेव ।
सर्वेषां शश्वदन्तर्हृदि वससि यतस्त्वं ततस्त्वां विना किं
गेहैरर्थैः शरीरैरसुभिरपि भवेत् प्राणिनां गोकुलस्य ॥'१५॥

"तदेवमस्रस्तम्भं लम्भयत्सु गोपसभासत्सु तादृशदृशा श्रीकमलदृशा स्वयमुक्तम्,—
'यूयं मे प्राणतोऽपि प्रियतमसुहृदो यन्निमित्तं दवाग्निं
मेनेऽहं पानकाभं तमपि गिरिवरं कन्दुकप्रायमेव ।

वह प्रेममयी माता ये दोनों वियोग की चिन्ता से ग्लानि से युक्त मनवाले होकर भी, समस्त मङ्गलमय आनन्द के मूलस्वरूप हर्ष को प्राप्त हो गये ॥१२॥

तदनन्तर अनेक वेद आदिकों के शब्द से जो मङ्गल है उसकी पुष्टिपूर्वक, इन दोनों भाइयों के रथ के स्थानपर आगमन करनेपर, समस्त गोकुल (व्रज) चारों ओर से व्याकुल हो गया ॥१३॥

उन सबमें से श्रीकृष्ण के एक ओर श्रीव्रजराज आदि थे, एवं दूसरी ओर उनकी पत्नी आदि खड़ी थीं। ऐसी स्थिति में प्रस्थान की अनुमति के लिए, कमलनयन श्रीकृष्ण जब हाथ जोड़कर चारों ओर स्तुति कर रहे थे, तब सभी व्रजवासी बोले—आपके द्वारा हमको आपकी सभी लीलाओं का अच्छी प्रकार स्मरण आगया है. अतः हम सबको भी आपके साथ ही आगमन करना उचित है। अर्थात् हम सब भी आपके साथ ही आगमन करेंगे ॥१४॥

कारण—हे बकासुर का शमन करनेवाले श्याम ! देखो, लुहार की चमड़े की धौंकनी की वायु जैसे लुहार के अधीन है, उसी प्रकार यह तुम्हारी माता भी तुम्हारे अधीन ही श्वाससमूहवाली है, अर्थात् इसके प्राण तुम्हारे ही अधीन हैं। और ये तुम्हारे पिता व्रजराज भी माता की तरह तुम्हारे अधीन प्राणोंवाले हैं। और अधिक क्या कहें ? सम्पूर्ण गोकुल (व्रज) ही उस प्रकार का है। अर्थात् तुम्हारे अधीन होकर ही श्वास प्रश्वास ले रहा है। क्योंकि तुम सभी के अन्तःकरण में निरन्तर निवास करते हो, इसलिए तुम्हारे बिना गोकुलवासी प्राणियों का घरों से, धनों से, अपने शरीरों से, एव प्राणों से क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकेगा ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥१५॥

अतएव इस प्रकार कहते कहते गोपसमूह जब अश्रुप्रवाह के सहित स्तम्भभाव को प्राप्त हो गये, तब उन्हीं की तरह सजल दृष्टिवाले कमलनयन श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा कि—हे व्रजवासियो ! देखो, तुम मेरे प्राणों से भी अधिक प्रियतम सुहृद हो। जिनके निमित्त मैंने दावानल को भी ठण्ढाई की तरह शीतल

यद्यप्येतन्न युक्तं वचसि रचयितुं स्यादथापि क्लमं वः
पश्यंस्तत्तद् यथा प्रागकरवमधुना तद्वदेव प्रवच्मि ॥१६॥
मातुर्जीवनमेव तातचरणाः किञ्च व्रजावासिना-
मात्मानस्तनया मम प्रियतमा गच्छन्तु साकं मया ।
तिष्ठेयुर्बत येऽपि ते पुनरमी स्पष्टं जनन्यास्तथा
धेनूनां चरणान्वयाद् विदधतां मत्प्राणरक्षामिह ॥१७॥

'किञ्च, श्रीमत्पितृचरणानां प्रतिनिधितया तत्तत्प्रतिविधिरचनाय तदग्रजयुग्मं व्रजनिष्ठमेव तिष्ठतात्; अङ्गप्रत्यङ्गरूपतया तदनुजयुग्मं तु सङ्गमेव सङ्गच्छतात् ॥'१८॥

"अथ तत्र तत्र यत्नतस्तेषु युक्तेषु यथायथं नियुक्तेषु यथा यथा मातृतद्यातृप्रभृतिषु पितृभ्रातृजस्वभ्रातृप्रचितिषु चानुज्ञापनसमापनं तथा तथा वर्णनं लुप्तवर्णपदतामाप्नोतीत्यलमतिप्रसङ्गेन ॥१९॥

"किन्तु तेषां कंसहननेऽतिविलम्बं विना प्रत्यागमने च नासम्भावनासीदितीदमेव विषोदन्मर्मतामतिचक्राम" इति । कथां समाप्य स्निग्धकण्ठः पुनरुवाच,—

समझा था, एवं उस विशाल गिरिराज को भी प्रायः गेंद के समान ही समझा था । यद्यपि ये सब बातें वाणी में कहने योग्य नहीं हैं, तो भी तुम्हारे क्लेश को देखते हुए मैंने पहले जो जो कार्य जिस प्रकार किया था, इस समय उसी प्रकार कह रहा हूँ । अतः गर्वादि दोष नहीं है ॥१६॥

और देखो, मेरे पूज्य पिताजी जो हैं वे मेरी माता के जीवनरूप ही हैं । अतः पिताजी के गमन से माता का गमन सिद्ध हो जायगा । किंच व्रजवासियों के जो पुत्र हैं वे उनकी आत्मास्वरूप हैं, एवं मेरे अतिशय प्रिय हैं । अतः वे सब मेरे साथ चलें । अर्थात् गोपबालकों के मेरे साथ जाने से समस्त गोपों का भी जाना सिद्ध हो जायगा । और जो व्यक्ति यहाँपर रहें वे स्पष्टरूप से मेरी माता की, तथा धेनुओं की चरणसेवा करके मेरे प्राणों की रक्षा करते रहें । अर्थात् माता की चरणसेवा एवं धेनुओं की चरणसेवा ही मेरी प्राणरक्षा की हेतु है । अतः यदि मेरे ऊपर तुम सबका स्नेह है, तो मेरे कथनानुसार करो ॥१७॥

किंच मेरे पूज्य श्रीमान् पिताजी के प्रतिनिधिरूप से, उनके दोनों बड़े भाई राजसम्बन्धी तत्तत् कार्य करने के लिए, व्रज के मध्य में ही स्थित रहें । और पिताजी के अङ्ग-प्रत्यङ्गरूप होने के कारण, उनके दोनों छोटे भाई तो मेरे सङ्ग ही चले चलें ॥१८॥

उसके बाद उस उस स्थानपर प्रयत्नपूर्वक उन उन योग्य व्यक्तियों के यथाविधि नियुक्त कर देनेपर, जिस जिस प्रकार माता एवं माता की यातृ प्रभृति (देरानी जेठानी आदि) के निकट, और अपने पिता के भ्राताओं से उत्पन्न हुए अपने भ्रातागण के निकट अनुमति लेना, उस उस प्रकार से वर्णन करना तो लुप्तवर्ण पदता को प्राप्त हो रहा है, अर्थात् वर्णनीय विषय के वर्ण एवं पदों का लोप होता जा रहा है, तात्पर्य—अधूरे वचन निकल रहे हैं । अतः अत्यन्त प्रसङ्ग से कोई प्रयोजन नहीं है ॥१९॥

किन्तु उन सबको कंस के मारने में एवं अति विलम्ब के बिना पुनः लौटने में कोई असम्भावना नहीं थी । बस, इसी कारण विषाद करता हुआ कथावाचक मर्म के भाव का अतिक्रमण कर गया । अतः प्रातःकाल की कथा को समाप्त करके स्निग्धकण्ठ पुनः बोला—हे महाराज ! मैंने जो कुछ पहले कहा है इसको आप प्राचीन वृत्तान्त ही समझें । क्योंकि असुरों को मारनेवाले ये मुरारि तो तुम्हारी गोद में ही

"यन्मयेदं पुरावृत्तं पुरावृत्तं प्रतीयताम् ।
राजन् ! सुरारिहन्ताऽयं तव क्रोडे मुरान्तकः ॥"२०॥

तदेवमायतिरम्यं निशम्य श्रीव्रजराजेन च तं परस्परास्रसार्द्राङ्गतयालिङ्गितं निशाम्य सर्वेऽप्यानन्दगर्वेण निजनिजगम्यं जग्मुः । यदा श्रीव्रजराज्ञी तमन्तरङ्गद्वाराहूय भूयः परिरभ्य नवमिव लभ्यं चकार ॥२१॥

अथ रात्रिकथायामारब्धप्रथायां श्रीराधामाधवयोरग्रतः स्निग्धकण्ठ उवाच—"अयि ! सम्प्रति सन्ततलब्धकृष्णासङ्गने ! तत्कान्तिनर्तितनेत्रखञ्जने ! सर्वाधिके ! श्रीराधिके ! पुनरिदं पुरावृत्तं कर्णवृत्तं क्रियताम् । अथवा तदा रथपथमागते ससमाजे व्रजयुवराजे तत्प्रेयसीनां वृत्तं मन्मतिवृत्तिमतिवृत्तं कथं कथयितुं शक्नोमि ? ॥२२॥ "तथा हि,—

मूर्खत्वं निर्घृणत्वं हरिहरणमिह क्रौर्यमक्रूरनाम्ना
सर्वेषां बुद्धिलोपं शकुनसुभगताकल्पनं चात्र कृत्ये ।
धातुः पश्येति शश्वद्विकलितवचसामार्यगोष्ठीगतानां
धीराणामप्यमूषां भ्रमजनितदशा हन्त मां दन्दहीति ॥२३॥

बैठे हैं (यहाँपर स्नेह की अधिकता के कारण श्रीव्रजराज आदि व्रजवासी श्रोताओं को बीते हुए विषय में भी, जब जब वर्तमान का सा भ्रम हो जाता है, तब तब ग्रन्थकार "यह प्रसङ्ग वर्तमान नहीं है, अपितु बीता हुआ है" यह स्मरण करा देते हैं। यह ग्रन्थकार की महती रचना कुशलता है।) ॥२०॥

इस प्रकार उत्तरकाल में रमणीय उस वाक्य को सुनकर, और श्रीव्रजराज के द्वारा परस्पर अश्रु-प्रवाह से गीले शरीरपूर्वक आलिङ्गन किये हुए श्रीकृष्ण को देखकर, सभीजन आनन्दमय गर्वपूर्वक अपने अपने गन्तव्य स्थानपर चले गये। जब कि श्रीव्रजरानी ने अन्तरङ्ग सेवक द्वारा श्रीकृष्ण को बुलाकर बारंबार आलिङ्गन कर, मानो नवीन प्राप्त हुआ सा कर दिया था ॥२१॥

अनन्तर रात्रि की कथा के आरम्भ की ख्याति हो जानेपर, श्रीराधा-माधव के आगे स्निग्धकण्ठ बोला—अयि ! सम्प्रति (इस समय) निरन्तर श्रीकृष्ण का मिलन प्राप्त करनेवाली एवं श्रीकृष्ण की कान्ति से अपने नेत्ररूप खञ्जन को नृत्य करानेवाली सर्वाधिके ! राधिके ! इस पुराने इतिहास को पुनः कर्णगोचर कीजिये। अथवा उस समय परिकर के सहित व्रजयुवराज श्रीकृष्ण के रथ के मार्ग में आ जानेपर, उनकी प्रियतमाओं का जो वृत्तान्त मेरी बुद्धि की वृत्ति को अतिक्रमण कर गया है, उसको मैं किस प्रकार कह सकता हूँ ? ॥२२॥

देखो ! अक्रूर के नाम से उपलक्षित विधाता की मूर्खता एवं निर्दयता को, एवं इस व्रज में श्रीकृष्ण हरणरूप क्रूरता को, तथा विधाता के द्वारा किये गये सबकी बुद्धि के लोप को, और इस मथुरागमनरूप कार्य में, शकुनों की सुन्दरता की कल्पना को तो देखो। इस प्रकार निरन्तर विकलित वचनोंवाली, श्रेष्ठ जनों की सभा में जानेवाली, एवं परमधीरतावाली भी इन व्रजाङ्गनाओं की (श्रीकृष्णविरह में) भ्रमजनित जो दशा है, हाय ! वह मुझको अब भी बारंबार दग्ध कर रही है ॥२३॥

नोपालभ्यो विधाता स तु भवति परस्तद्वदक्रूरनामा
किन्त्वेष प्राणनाथः स्वविरहकृदुपालभ्यते नन्दपुत्रः ।
एवं तासां मृदूनामपि दुतहृदयज्वालरूपैर्विलापै-
रद्यापि स्मर्यमाणैः प्रतिपदमपि नस्तप्यते चित्तवृत्तिः ॥२४॥

आभिर्भाग्यं वधूनां मधुनगरभुवां यन्नुतं भाविकृष्ण-
प्रेक्षायां हन्त तस्माद्गतिरपि च निजा तत्र चैषीति शङ्के ।
इच्छां चासां मृदूनां स्वयमपि रहसि प्रेक्ष्यमाणे निजाङ्गे
लज्जाविस्तारभाजामसकृदहह तां चिन्तयित्वा दुनोमि ॥२५॥

तासां नातिप्रतीतं मधुपुरगमने श्रीहरेः कुर्वतीनां
वज्राणां पाततुल्यः शिरसि यदभवत्तद्रथारोहजल्पः ।
तस्मान्निन्दा कृता यद्व्रजपतिसदसामप्यमूदृग्भिरुच्चै-
र्दुःखप्राचुर्यमेतन्मम विकलयति स्वान्तमद्यापि हन्त ॥२६॥

आयात प्राणसख्यो वयमिह निकटाः कोटयः प्राणनाथं
प्रत्यावृत्तं वितन्मः किमिव गुरुजना नः करिष्यन्ति नाम ।

अथवा विधाता उपालम्भ के योग्य नहीं है, क्योंकि वह तो अन्य जन है, अर्थात् हमारा आत्मीयजन नहीं है। उसको उपालम्भ देना व्यर्थ है, उसी प्रकार अक्रूर नामक भी परायाजन ही है। अतः उससे भी कुछ कहना उचित नहीं। किन्तु हम तो स्वकीयविरहकारी प्राणनाथ, इन नन्दलाल को ही उपालम्भ देती हैं। इस प्रकार कोमलतावाली भी उन गोपियों के सन्तप्त हृदय की ज्वालारूप जो विलाप हैं, अतः स्मरण किये गये उन विलापों के द्वारा आज भी, हमारी चित्तवृत्ति पद पदपर सन्तप्त हो रही है ॥२४॥

और इन श्रीकृष्णप्रेयसी गोपियों ने मथुरावासिनी स्त्रियों के भावी श्रीकृष्णदर्शन के विषय में जिस भाग्य की प्रशंसा की थी, हाय ! उसी भाग्य की अपेक्षा उन्होंने मथुरा में अपने जाने की इच्छा भी की थी, मैं ऐसी आशंका करता हूँ। क्योंकि मथुरा जाने में श्रीकृष्णदर्शन सम्भव है। और एकान्त में स्वयं भी अपने अङ्ग के देखनेपर "यह शरीर श्रीकृष्ण के सङ्ग के बिना व्यर्थ ही चला जायगा, अतः वहाँपर जाना ही श्रेष्ठ है" इस प्रकार के विचार से लज्जा के विस्तार को सेवन करनेवालीं, कोमलाङ्गी व्रजाङ्गनाओं की उस इच्छा को बारंबार स्मरण कर, अहह ! मैं तो भारी सन्तप्त हो रहा हूँ ॥२५॥

और श्रीकृष्ण के मथुरागमन के विषय में अत्यन्त विश्वास न करनेवाली उन गोपियों के मस्तक पर, श्रीकृष्ण के रथ में चढ़ने का जो कोलाहल है, वह वज्रों के पतन के समान जो हुआ, इसी कारण इस प्रकार की विरहव्यथित गोपियों ने व्रजराज के सभासदों की भी जो उच्चस्वर से निन्दा की थी, हाय ! यह दुःख की विशालता आज भी मेरे मन को विकल कर रही है ॥२६॥

और अरी प्राणप्यारी सखियो ! तुम सब इस राजमार्ग में चली आओ। क्योंकि करोड़ों की संख्या-वाली हम सब गोपियाँ निकटवर्तिनी होकर, प्राणनाथ को लौटाकर ले आवें। ऐसा करनेपर भी हमारे ससुर आदि गुरुजन हमारा क्या अनर्थ करेंगे ? क्योंकि हम तो श्रीकृष्ण के निमित्त कुल की कान (मर्यादा)

इत्थं तास्तं द्रवन्तीर्मृदुचरितवतीरप्यलं तीव्रभावाः
क्षिप्ताश्चक्रुर्यदन्ये तदिह मम बलात् प्राणघातं करोति ॥२७॥

हा हा सा रासगोष्ठी नवनवमिलनोल्लासशश्वद्विलासा
तल्लीलाकल्पवल्ली-समुदयजनुषामंकुरश्रीः क्व याता ? ।
हा धिग्याऽक्रूरनाम्ना कितवनृपतिना दीक्षिता गोपगोष्ठी
सेयं तत्सर्वनाशिन्यजनि कुत इति क्रोशिका मां दहन्ति ॥२८॥

आस्तां रासादिलीलावलिरपि ललिता हा दिनान्ते निशान्तेऽ-
प्यश्वन् गोभिर्विलासी सहसखिनिचयः साग्रजः कृष्णचन्द्रः ।
अस्मान्नेत्रान्तलक्ष्मीविलसितकलया पुष्टवान् सुष्ठु यस्तं
गोपास्तूर्णं नयन्ति क्व सममितिगिरो गोपिका मां तुदन्ति ॥२९॥

''तदेवं स्थिते— ''राधा यद्यपि मूर्च्छिता समभवत्तस्यास्तथापि प्रिय-
श्चित्तान्तः स्फुरति स्म तद्वदभितो यद्वच्छताङ्गं गतः ।
सोऽयं यद्यपि दृष्टिकृष्टिमकरोदस्याः सकाशान्निज-
क्षोभाद्बिभ्यदियं तथाप्यनुदिशं हा तद्दृशि व्यानशे ॥३०॥

को पहले ही त्याग चुकी हैं। इस प्रकार कोमल चरितवालीं होकर भी अत्यन्त तीव्रभाववालीं, अतः श्रीकृष्ण की ओर दौड़ती हुई उन प्रेममयी गोपियों को, अन्य ससुर आदि जनों ने जो श्रीकृष्ण के निकट से दूर हटा दिया, वह दूर हटाना इस समय भी प्रबलतापूर्वक मेरे प्राणोंपर आघात कर रहा है ॥२७॥

अहह ! जो रासगोष्ठी श्रीकृष्ण के नये नये मिलन से जो उल्लास, उसके द्वारा निरन्तर होनेवाले विलास से युक्त थी, एवं श्रीकृष्ण की लीलारूप कल्पलता के समुदाय के जन्मों की अंकुररूप शोभा से युक्त थी, हाय ! हाय ! वह रासगोष्ठी आज कहाँ चली गई ? हा ! धिक्कार है कि जो गोपसभा अक्रूर नामक धूर्तराज से दीक्षित (शिक्षित) हुई थी, वह गोपसभा श्रीकृष्ण के सभी विहारों का विनाश करनेवाली किस कारण बन गई ? इस प्रकार विलाप करनेवालीं गोपियाँ मुझको आज भी दग्ध कर रही हैं ॥२८॥

और मनोहर रास आदि लीलाश्रेणी भी भले ही दूर रहे। हाय ! विलासी जो श्रीकृष्णचन्द्र सखा-मण्डल के सहित, एवं बड़े भाई बलदेवजी के सहित, सायंकाल एवं प्रातःकाल गोगण के साथ विचरण करते हुए भी, अपने कटाक्ष की शोभा के विलास की शिक्षा के द्वारा, हम सबको भली प्रकार पुष्ट करते थे, उनको भी ये सब गोप एकसाथ शीघ्र ही कहाँ ले जा रहे हैं ? इस प्रकार की विलापमयी वाणीवाली गोपियाँ, मुझको (उनकी दशा याद आ जाने के कारण आज भी) व्यथित कर रही हैं ॥२९॥

अतः इस प्रकार की स्थिति में श्रीराधिका यद्यपि मूर्च्छित हो गई थीं, तो भी प्रिय श्रीकृष्ण उनके चित्त के भीतर चारों ओर उस प्रकार स्फूर्ति पा रहे थे कि, जिस प्रकार रथमें बैठा हुआ व्यक्ति चारों ओर भ्रमण करता है। और अपने क्षोभ से भयभीत होते हुए इन श्रीकृष्ण ने श्रीराधिका की ओर से यद्यपि अपनी दृष्टि का आकर्षण कर लिया था, अर्थात् राधिका की ओर से दृष्टि हटाली थी, तो भी हाय ! यह राधिका, श्रीकृष्ण की दृष्टि में चारों ओर से व्याप्त हो गई, अर्थात् समा गई ॥३०॥

तस्यां सभायां रुरुदुर्यदेता, गोविन्द ! दामोदर ! माधवेति ।
तत्र स्मृतेऽद्यापि मनो ममेदं, खेदं भजत् प्राणभृतिं न वष्टि ॥३१॥
एवं बत सुदतीनां, रुदतीनामप्यरुन्तुदः स रथी ।
अक्रूरः क्रूरमना, दूरं हरिमहृत सूरजापूरम् ॥३२॥
कृष्णस्तन्मुख्यवर्गस्तदनुगतरथस्तत्पताकातदुद्यद्-
धूलीनां पालिरित्थं क्रममनु निमिषप्रोज्झितं वीक्षमाणा ।
प्रत्यावृत्तौ निराशा व्रजयुवतितनिः प्राणमत्यक्ष्यदेष
प्राक् चेन्नात्मागतिस्वीकृतिकृतिलिपिभिः सत्यमत्र व्यधास्यत् ॥३३॥
यद्यपि सुरमुनिकथिता, स्वस्यागतये विलम्बिता ज्ञाता ।
तदपि च बलयिततृष्णे,-नास्यां कृष्णेन नादृतिः कलिता ॥३४॥

तत्र तस्य तासां च सस्वेदजलकुंकुमरागेण साश्रुकज्जलभागेन च मुहुर्मिथो लिखिता दूत्यसङ्गतमधुमङ्गलपत्रिकाः पत्रिका यथा—

'आयास्याम्याशु हत्वा तमधिमधुपुरं कंसमप्यस्ति दूरं
वत्साद्याघातधाम्नः पुरमपि किमदस्तत् प्रियाः कुत्र दुःखम् ? ।

और उस सभा में इन सब गोपियों ने हे गोविन्द ! हे दामोदर ! हे माधव ! यों पुकार पुकार कर जो रुदन किया था, उस रुदन का स्मरण करनेपर, आज भी मेरा यह मन खेद को प्राप्त होता हुआ, प्राण धारण करना नहीं चाहता । (इस प्रसङ्ग में ग्रन्थकार का सबसे बड़ा रचना कौशल यह है कि—मथुरा-गमन के समय गोपियों के द्वारा किये गये विलाप को भी कथावाचक के द्वारा ही करवा दिया ।) ॥३१॥

हाय ! खेद तो इस बात का है कि—इस प्रकार रोती हुई सुदती (सुन्दर दाँतोंवाली) उन गोपियों के भी मर्म को व्यथित करनेवाला अतः क्रूर (कठोर) चित्तवाला वह रथी अक्रूर, जहाँपर यमुना प्रवाह है उसी दूरवर्ती स्थानपर, श्रीहरि को हर कर ले गया ॥३२॥

प्रश्न—उस समय गोपियों के प्राण धारण का क्या अवलम्बन था ? उत्तर—पहले कृष्ण, उसके बाद उनके मुख्य गोपों का समूह, उसके पश्चात् उनका अनुगत रथ, अनन्तर रथ की पताका, उसके बाद उस रथ से उठा हुआ धूलिसमूह, इस प्रकार के क्रम को लक्ष्य कर, निर्निमेषपूर्वक स्थिर नेत्रों से देखती हुई व्रजाङ्गनाश्रेणी श्रीकृष्ण के लौटने में निराश होकर, प्राणों को तो त्याग देती, किन्तु इस लौटने के विषय में मथुरागमन से पहले ही, ये श्रीकृष्ण अपने आने की स्वीकृति के करने में जो लेख हैं, उनके द्वारा यदि शपथ न करते तो, अर्थात् पुनः आने के विषय में उनके शपथभरे लेख ही उनके प्राणधारण के अवलम्ब थे ॥३३॥

यद्यपि व्रज में पुनः अपने आने के निमित्त देवर्षि नारद के द्वारा कहा गया विलम्ब श्रीकृष्ण को ज्ञात था, तो भी (लौटकर आने की) प्रबल तृष्णावाले श्रीकृष्ण ने उस विलम्ब के विषय में आदर नहीं ग्रहण किया ॥३४॥

उस समय श्रीकृष्ण के एवं गोपियों के स्वेदजल (पसीना) के सहित कुंकुमराग के द्वारा और नेत्र-जल के सहित काजल के भाग के द्वारा बारंबार परस्पर (अर्थात् पहले श्लोक में श्रीकृष्ण के द्वारा, एवं पीछे के श्लोक में गोपियों के द्वारा क्रमशः) लिखी हुई, एवं दूतसम्बन्धी कर्म में योग्य मधुमङ्गल ही

किन्त्वन्यत् प्रार्थितं यद्भवदभिरुचितं तद्विधत्त प्रसत्त्या
प्राणे प्राणेश्वरीभिर्मयि किमपि परं हन्त मन्तव्यमन्तः ॥३५॥
गच्छन्नेष त्वमद्य स्फुरसि दयित ! भोः ! कंसघातं विधाय
स्वीकर्तुं राजतां तत् कथमथ भवतादागतिस्ते व्रजाय ? ।
तस्मादस्माभिरर्थ्यं तदिदमिह भवांस्तत्र नानाविराज-
त्तीर्थे सर्वार्थदे नः स्मृतिमनु ददतामञ्जलीनां त्रयाणि ॥३६॥
नालं मे राज्यलिप्सा कथमपि बलते निर्ममे तत्र सत्यं
कंसं हत्वा यदूनां सुखमभिबलयन्नस्मि चायातकल्पः ।
बद्धः स्यात् कृष्णसारः सपदि विधिवशात्तर्हि किं पार्थिवादे-
र्मानस्तस्मिन् सुखाय प्रभवति न वनं नापि कान्तासुसङ्गः ॥३७॥
वृन्दं क्रीडावनानां बहुविधमभितोऽप्यस्ति तत्राथ राज्ञां
कन्या बह्व्योऽपि कान्तास्तव विभववशादुद्भविष्यन्ति धन्याः ।

जिनका इधर उधर पहुँचानेवाला वाहन है, ऐसी पत्रिकाएँ, यथा—हे प्रियाओ ! देखो, मैं मथुरा में उस कंस को मारकर शीघ्र ही आ जाऊँगा । एवं वत्सासुर आदि दैत्यों के वधस्थान से यह मथुरापुर कोई दूर है क्या ? अतः हे प्रियाओ ! दुःख की सम्भावना कहाँ ? किन्तु दूसरा जो कुछ भी आप सबकी रुचि के अनुकूल प्रार्थित कार्य है, उसको प्रसन्नतापूर्वक करो । अतः तुम्हारे प्राणस्वरूप मुझपर, हाय ! तुम सब प्राणेश्वरियों को और दूसरा भी कुछ मानने योग्य भाव तुम्हारे अन्तःकरण में है ? यदि है, तो उसका प्रकाश करना उचित है ॥३५॥

गोपियों की पत्रिका—हे प्रियतम ! देखो, ये तुम तो आज मथुरा में जाकर कंस को मारकर, उसके राजत्व को स्वीकार करने के लिए स्फूर्ति पा रहे हो, अतः व्रज के लिए तुम्हारा आगमन किस प्रकार हो सकेगा ? अतः इस विषय में हमारी यही प्रार्थना है कि, उस सर्वाभीष्टप्रद अनेक प्रकार से विराजमान तीर्थ में आप हमारी स्मृति को लक्ष्य कर, अर्थात् हमारी याद कर करके हमारे लिए जल की तीन अञ्जलि दान कर देना । जिससे आपका मिलनरूप हमारा अभीष्ट भी सिद्ध हो जायगा, यह भावार्थ है ॥३६॥

श्रीकृष्ण की पत्रिका—हे प्रियाओ ! मेरे हृदय में राज्य पाने की अत्यन्त इच्छा नहीं है । और यदि वह वासना किसी प्रकार उपस्थित भी होगी तो, उसके विषय में मैं शपथ करता हूँ कि—कंस को मारकर, यदुवंशियों के सुख को सर्वतोभाव से संघटित करता हुआ, आये के समान ही हूँ, ऐसा समझो । और देखो, यदि कोई कृष्णसार नामक मृग दैववशात् शीघ्र ही बन्धन में पड़ जाय तो उसके विषय में, बाँधनेवाले राजा आदि का मान क्या सुख के लिए हो सकता है ? कदापि नहीं । क्योंकि न तो वहाँ राज-महल में उसके लिए स्वच्छन्द भ्रमण करने योग्य वन है, एवं न हृदयङ्गम कान्ताओं का मनोहर सङ्ग ही है । इसी प्रकार मेरे विषय में भी समझलो ॥३७॥

गोपियों की पत्रिका—देखो, प्यारे श्याम ! उस मथुरा में चारों ओर अनेक प्रकार के क्रीडावनों का समूह विद्यमान है । और वहाँपर राजाओं की भाग्यशालिनी बहुत सी कन्याएँ तुम्हारे वैभव के कारण तुम्हारी कान्ताएँ बन जायँगी । अतः उन उन वस्तुओं के मिल जानेपर तुम्हारा मन इस व्रज में, एवं

तत्तलाभे मनस्ते कथमिह भवितास्मासु वा किं तपोभि-
र्लब्धे भोगे विचित्रे पुनरपि तनुमानीहते वन्यवृत्तीः ॥३८॥
सत्यं ताः केलिवन्या विदधति लषितं सर्वतः सत्यमेव
क्षोणीपालादिकन्याः परमगुणगणस्तोत्रभाजः स्फुरन्ति ।
सत्यं कुर्वे त्रिलोकी मम न हि रतिदा नापि तत्रस्थरामा
यद्वद् वृन्दावनं मे तदनुगतरमा यद्वदेता भवत्यः ॥३९॥
सा ते सर्वाङ्गशोभा बत समधिगता येन नेत्रेण येन
श्रोत्रेणाश्रावि वंशी समगमि वपुषा येन च स्पर्शलक्ष्मीः ।
तेनैवालक्षि दूरं गमनमवगतं तेन सन्दिष्टमुग्रं
तेन स्वं विप्रलब्धं रचितमिति हहा जीवितं धिग्विधिं धिक् ॥४०॥
येयं दृष्टिर्मया वश्छविपरिकलनात् कृष्यते या श्रुतिर्वाग्-
दूरस्था रच्यते या तनुरपि मिलनाद्दव्यते सव्यपेक्षम् ।
यद्येतास्तत्र तत्र प्रतिकृतिकृतये न ह्यधीना मम स्यु-
स्तर्ह्येताः स्वैरिणीर्वा कथमहमहह प्राणसख्यः ! सहेय ? ॥४१॥

हमारे विषय में किस प्रकार साङ्गोपाङ्ग होगा ? अर्थात् कदापि न होगा । क्योंकि देखो, अनेक तपों के द्वारा विचित्र भोग के मिल जानेपर, कोई भी देहधारी प्राणी फिर भी वन में होनेवाली (फल आदि की) जीविकाओं को चाहता है क्या ? अर्थात् कदापि नहीं ॥३८॥

श्रीकृष्ण की पत्रिका—हे प्रियाओ ! यह बात सत्य है कि, उस मथुरा में चारों ओर वे क्रीडावनों के समूह वाञ्छित वस्तु का विधान करते हैं, एवं यह बात भी सत्य ही है कि, अपने परम गुणगणों के द्वारा प्रशंसा की पात्र राजादिकों की कन्याएँ स्फूर्ति पा रही हैं। किन्तु मैं शपथ करता हूँ कि—जिस प्रकार वृन्दावन मेरा प्रीतिप्रद है, एवं उस वृन्दावन की अनुगामिनी लक्ष्मीस्वरूपा ये तुम सब गोपियाँ जिस प्रकार प्रीतिप्रद हो, उस प्रकार मथुरा की तो क्या चलाई ? ये तीनों लोक भी मेरे प्रीतिप्रद नहीं हैं, एवं वहाँ रहनेवाली विशिष्ट स्त्रियाँ भी मेरे लिए प्रीतिप्रद नहीं हैं ॥३९॥

गोपियों की पत्रिका—हा ! प्राणेश्वर ! खेद की बात तो यही है कि, हमारे जिस नेत्र ने आपकी वह अनिर्वचनीय सर्वाङ्गशोभा प्राप्त की थी, एवं जिस कान ने आपकी भुवनमोहिनी वंशी सुनी थी, और जिस शरीर ने तुम्हारे अपूर्व लोकोत्तर स्पर्श की सम्पत्ति प्राप्त की थी, हमारे उसी हतभागे नेत्र ने आपका दूर जाना देख लिया, एवं उसी कर्महीन कान ने मथुरागमनरूप भयंकर सन्देश भी अनुभूत कर लिया, और उसी भाग्यहीन शरीर ने अपने विरह की रचना भी कर ली। अतः हाय ! हाय ! हमारे जीवन को धिक्कार है, एवं (ऐसा सुन्दर संयोग बनाकर ऐसी दुर्घटना करनेवाले) विधाता को भी धिक्कार है ॥४०॥

श्रीकृष्ण की पत्रिका—हे प्राणप्यारी सखियो ! देखो, मेरी यह जो दृष्टि तुम्हारी अपूर्व शोभा के देखने से मेरे द्वारा ही दूर खींची जा रही है, एवं जो कान तुम्हारी मनोहर वाणी से दूर किये जा रहे हैं, और यह शरीर भी तुम्हारे मिलन से अपेक्षापूर्वक दव्यते (दूर किया जा रहा है) अन्यथा यदि ये दृष्टि आदि इन्द्रियाँ उस उस विषय में प्रतीकार करने के लिए मेरे अधीन नहीं हो सकेंगी तो, हाय ! मैं इन स्वतन्त्र दृष्टि आदिकों को किस प्रकार सहन कर सकूँगा ? ॥४१॥

अक्रूरः क्रूरभावं विधिरशुभविधिं मित्रमामित्रचर्यां
यस्यामस्यां दशायां सरभसमगमत्तत्र कान्यस्य वार्ता ? ।
अस्मज्जीवोऽप्यजीवस्थितिमिह नियतं प्राप्नुयादेवमत्र
स्वामिन्न व्याधिवत्तत्प्रतिविधिरुदियात् कालकल्पे विलम्बे ॥४२॥
आयास्याम्येव शीघ्रं न खलु मम मनस्यन्यवार्तास्ति काचित्
काचिद्वा दैवतः स्यात्तदपि न भवतीर्जातु दीनास्त्यजानि ।
या या मध्ये मदाप्तिर्मुहुरिह भविता तां पुनः स्वप्नरूपां
मा शङ्कध्वं यथा प्रागसति च विरहे शङ्कमाना बभूव ॥'इति ॥४३॥

"एतावन्मानमन्यासां वाचिकं हरिणाऽजनि ।
राधाया मूकतानूकममितं यत्तु निर्ममे ॥४४॥
ततः स्ववृन्देन निशान्तमापिता, बलेन बालास्तदुरीकृतागतिम् ।
प्राचीनतद्रीतिशतेन निश्चितां, विनिर्मिमाणा मुहुरेव तां जगुः ॥"४५॥

तदेवं स्निग्धकण्ठस्य कथितमनु व्यथितमनसि श्रीराधिकादिसदसि विकलः कमललोचनः स्वयमेव समवोचत,—

गोपियों की पत्रिका—हमारी जिस इस वर्तमान दशा में (भाग्य के फेर से) अक्रूर भी वेगपूर्वक क्रूरभाव को प्राप्त हो गया, एवं विधाता भी वेगपूर्वक अशुभविधान को प्राप्त हो गया, तथा मित्रजन भी वेगपूर्वक सर्वतोभाव से शत्रुओं की चर्या को प्राप्त हो गया है, उस विषय में दूसरे की तो बात ही क्या है ? इस विषय में तो हमारा जीवन भी निश्चय ही अजीवन की स्थिति को प्राप्त हो जायगा। अतः हे स्वामिन् ! इस प्रकार इस विषय में असाध्य व्याधि के समान, काल के समान तुम्हारे विलम्ब में, उसका प्रतीकार भी उत्पन्न न हो सकेगा ॥४२॥

श्रीकृष्ण की पत्रिका—हे प्रियतमा गोपियो ! तुम निश्चय मानो मैं शीघ्र ही लौटकर आजाऊँगा। मेरे मन में कोई दूसरी बात नही है। यदि दैवयोग से कोई बात हो भी गई तो भी, तुम सबको कदापि दीनदुःखी नहीं छोड़ूँगा। और इस विरह की अवस्था में बीच बीच में जो जो मेरी प्राप्ति बारंबार तुमको होगी, उसको तुम सब स्वप्नरूप ही है ऐसी आशंका नहीं करना। जैसे पहले मेरा विरह न होनेपर भी, विरह की आशंका करती रहीं ॥४३॥

श्रीकृष्ण के साथ अन्य गोपियों का तो केवल इतना ही सन्देश पत्रादिक के द्वारा हुआ। किन्तु श्रीराधिका की मूकता (गूँगापन) के अनूक (शील स्वभाव) से युक्त जो सन्देश श्रीकृष्ण के साथ निर्मित हुआ, वह तो अमित ही था ॥४४॥

तदनन्तर आत्मीयजनसमुदाय के द्वारा बलपूर्वक घर में पहुँचाई गई गोपबालाएँ, श्रीकृष्ण के द्वारा (शपथपूर्वक) अङ्गीकार किये गये आगमन को, श्रीकृष्ण की पुरानी सैंकड़ों रीतियों (व्यवहारों) के द्वारा निश्चित करती हुईं, बारंबार श्रीकृष्ण के अङ्गीकृत आगमन को ही गाती रहीं ॥४५॥

अतएव इस प्रकार स्निग्धकण्ठ के कथन को लक्ष्यकर श्रीराधिका आदि सभासद् जब व्यथित मनवाले हो गये, तब कमलनयन श्रीकृष्ण विकल होकर स्वयं ही बोले—हे श्रीराधे ! (अपनी कथा के श्रवण

"राधे ! श्रवसि नावेशं कुरु किन्तु विलोचने ।
वृत्तं संमन्यसे हन्त वर्तमानं न वीक्षसे ॥"४६॥

तदेतन्निशम्य रम्यं तन्मुखं निशाम्य शाम्यत्पीडा सव्रीडा तत्काल-बलमानशीतलनयन-जलबिन्दुभिस्तत्पदारविन्दद्वन्द्वमिन्दीवराक्षी शिरसा निषेवमाणा सुचिरं सिषेच ॥४७॥

अथ सर्वेषां सुखसन्दोहे संभृतदोहे सर्वे पर्वेव लभमाना निजनिजालयं संबभूवुः । श्रीराधामाधवौ च मोहनमन्दिरं विन्दतः स्मेति ॥४८॥

इति श्रीश्रीमदुत्तरगोपालचम्पूमनु माथुरपुरस्थानप्रस्थानं नाम तृतीयं पूरणम् ॥३॥

अथ चतुर्थं पूरणम्

श्रीमथुरापुर-प्रवेशः

ततः श्रीव्रजयुवराजविराजमानव्रजराजकारितप्रथायां प्रातःकथायां मधुकण्ठ उवाच,—॥१॥

"अथ सम्प्रति श्रीव्रजराजलोचनसुखद-वेषः स एष श्रीव्रजयुवराजस्तदा स्वमातरं कातर-मनस्तया गृहगमनं प्रति प्रतिकूलमनसं मत्वा क्रोशमर्धमर्धं गत्वा तस्या भावान्तराय काञ्चित् काञ्चिद्भोजनादिसामग्रीमग्रीयामग्रीयां पथि श्रममपनेतुमिव प्रहितैः स्वहितैर्याचितवान् ॥२॥

करते समय) केवल कर्ण में ही आवेश मत करो, किन्तु नेत्र में भी कुछ आवेश धारण करो । हाय ! तुम तो बीते हुये अपने समाचार को वर्तमान मान रही हो, और वर्तमान स्थिति को बिलकुल नहीं देख रही हो कि, "मैं तुम्हारा हृदयेश्वर मथुरा आदि से लौटकर सदैव के लिए तुम्हारे पास ही विद्यमान हूँ" ॥४६॥

श्रीकृष्ण के कहे हुए इन वचनों को सुनकर एवं उनके रमणीय श्रीमुख को निहार कर जिनकी हार्दिक पीडा शान्त हो गई है, वे कमलनयनी श्रीराधिका लज्जा से युक्त होकर, तत्काल प्रबलता को प्राप्त हुए शीतल नेत्रजल के बिन्दुओं के द्वारा, श्रीकृष्ण के दोनों चरणारविन्दों को अपने मस्तक से सेवन करती हुईं, बहुत देरतक अभिषिक्त करती रहीं ॥४७॥

अनन्तर सभी सभासदों के सुखसन्दोह (सुखसमूह) के अच्छी प्रकार परिपूर्णता धारण कर लेनेपर, सभी सभासद् मानो उत्सव का सा लाभ करते हुए अपने अपने घर को चले गये । और श्रीराधा-माधव की जोड़ी अपने मोहनमन्दिर को प्राप्त हो गई ॥४८॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रिविरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीमदुत्तरगोपालचम्पूकाव्ये मथुरापुर-प्रस्थानं नाम
तृतीयं पूरणं सम्पूर्णम् ॥३॥

चौथा पूरण

मथुरापुरी में प्रवेश

पूर्वोक्त प्रकार की रात्रि की कथा के अनन्तर श्रीव्रजयुवराज (श्रीकृष्ण) से विराजमान श्रीव्रजराज के द्वारा जिसकी प्रसिद्धि कराई गई है, उस प्रातःकाल की कथा में मधुकण्ठ बोला— ॥१॥

श्रीकृष्ण के मथुरा चल देनेपर, इसी समय श्रीव्रजराज के नेत्रों के सुखदायी वेषवाले इन श्रीव्रज-युवराज ने, उस समय अपनी माता को कातर मनवाली होने के कारण, अपने गृहगमन के प्रति प्रतिकूल मनवाली जानकर, एक कोस के चौथाई भाग में जाकर, उनके दूसरे भाव के लिए, अर्थात् अपने विरह की

"ततस्तद्द्वारा तत्प्रयाणक्रमवचने तद्याचितरचने चावेशाद्वेश्मप्रवेशः कालातिक्रान्ता-वक्लेशलेशश्च तस्या वृत्तः ॥३॥

"अथ यावद्व्रजेश्वरादयः स्वस्वशकटं घटयन्ति स्म, तावन्निजरथं प्रथमानजवतया वामया गत्या गान्दिनीसुतः कालिन्दीतीर्थविशेषं प्रत्यासादितवान् । कदाचिद्वर्त्मनश्च निवर्त्तेयातामेताविति व्रजस्थानां दृष्टिवञ्चनाय । ते तु सरलप्रज्ञास्तत्कौटिल्यगतिमविज्ञाय दक्षिणया गत्या मधुपुरीदिशमुरीकृतवन्तः ॥४॥

"यदा चाक्रूरस्तत्र माध्याह्निकं धर्मकर्म कुर्वन्नपूर्वं कमपि विगतभवं भगवद्विभवं पश्यन्नश्यदुत्तालगतितामवाप, तदा तु ते 'किं तावदिदम्' इति सचिन्ताः पथि व्यथिततया चिरं तस्थुः ॥५॥

"अक्रूरे वारिमग्ने रहसि रथगतौ रामकृष्णौ व्यधत्तां
वार्तामाविश्य यां यां शृणुत मम मुखादद्य संक्षेपतस्ताम् ।
किं किं पुर्यां विधेयं तदिदमिदमहो तत्र वा संशयः कः
किं गोष्ठे तत्तु भाग्यं स्मरति मयि मुहुः कण्ठमस्रं रुणद्धि ॥६॥

कातरता को भुलाकर, दूसरे कार्य में लगाने के लिए, कुछ कुछ श्रेष्ठ श्रेष्ठ भोजनादि सामग्री की याचना, मानो मार्ग में श्रम को दूर करने को ही भेजे हुए अपने हितैषीजनों के द्वारा माता से की ॥२॥

उसके बाद माँ के पास भेजे हुए जनों के द्वारा, श्रीकृष्ण के मथुरागमन के क्रमयुक्त वचन में एवं श्रीकृष्ण के द्वारा माँगी हुई सामग्री की रचना में आवेश होने के कारण, माँ यशोदा का अपने घर में प्रवेश हो गया, और कुछ समय बीत जानेपर कुछ सुख का लेश भी हो गया ॥३॥

उसके बाद श्रीव्रजेश्वर आदि गोप जब अपनी अपनी बैलगाड़ियों को चलाने की चेष्टा कर रहे थे, तब गान्दिनीनन्दन अक्रूर ने अपने रथ को, ख्याति पाते हुए वेग के भाव से कुटिल गतिपूर्वक, श्रीयमुनाजी के तीर्थविशेषपर, अर्थात् ब्रह्मह्रदपर पहुँचा दिया। कदाचित् व्रजवासी इन श्रीकृष्ण बलदेव को मार्ग से ही लौटाकर ले गये तो मेरा काम न बनेगा, यह विचार कर अक्रूर ने व्रजवासियों की दृष्टि को धोखा देने के लिए, अपने रथ की कुटिलगति स्वीकार की थी। किन्तु सरल बुद्धिवाले व्रजवासियों ने तो अक्रूर की कुटिलताभरी गति को न जानकर सरलगति से, अर्थात् सीधे मार्ग से मधुपुरी की दिशा को अङ्गीकार कर लिया ॥४॥

और अक्रूर जब उस ब्रह्मह्लद में मध्याह्नकालीन धर्म कर्म करते हुए, किसी अपूर्व एवं प्रपञ्चातीत भगवान् के वैभव को देखते हुए, नष्ट होती हुई उत्तालगति के भाव को प्राप्त हो गये, अर्थात् जल में स्थिरता को प्राप्त हो गये, तब वे श्रीनन्दादि व्रजवासी तो "श्रीकृष्ण बलदेव के आने में यह विलम्ब क्यों हो रहा है ?" इस प्रकार की चिन्ता से युक्त होकर, बहुत देरतक मार्ग में व्यथित भाव से खड़े रहे ॥५॥

और अक्रूर के जल में निमग्न हो जानेपर, एकान्त में रथ में बैठे हुए श्रीकृष्ण बलदेव ने, भावी विचार में आविष्ट होकर जो जो बात की थी, आज मेरे मुख से उसी बात को तुम सब संक्षेप से सुनो। "भैया ! उस मथुरापुरी में क्या क्या कार्य करने योग्य है ? अहो ! यह यह कार्य करने योग्य है, और वहाँ-पर कंसादिकों के विध्वंस में संशय भी कौनसा है ? अर्थात् कोई नहीं। और वहाँ से लौटकर व्रज में क्या कार्य करना है ?" इस प्रकार श्रीकृष्ण बलदेव की बात को श्रवण करनेवाले अपने अनिर्वचनीय भाग्य का

"अथ चिराल्लब्धदृष्टिपथे च सरामकृष्णतद्रथे पुरष्कृतश्रीमन्नन्दाः सर्वे सानन्दा बभूवुः। ततश्च तत्रैव क्षणमुपविश्य परस्परमुपदिश्य मन्त्रं बलयित्वा दैवमेव च सदैव सहायतया कलयित्वा बल्लववलयः पुरः पुरतः स्थलं चलति स्म ॥७॥

"तत्र तत्र च पथिकानां भाग्यप्रथिमा केन वर्ण्यताम् ॥८॥ "यत्र हि,—

'पुराद्विदूरादथ यद्गतागतं, जना व्यधुर्ये परितोऽपि ते पथि।
आकस्मिकं वीक्ष्य हरेर्मुखाम्बुजं, विसस्मरुस्तद्वपुषो दृशोरपि ॥९॥

स पुरं प्रविशन् देवी खरमाविश्य दक्षिणे। ववास या तत्र नाम्ना खरवासेति तां व्यधात् ॥१०

अद्यापि तां जनाः सर्वे मथुरायाः परिक्रमे। दक्षिणे सुष्ठु कुर्वन्तः स्पृश्यन्तेऽपूर्वया मुदा ॥११॥

"तत्र च सर्वसुखाय काम्यमुपवनं निशाम्य स्वयं रथादवतीर्य कीर्यमाणतत्प्रदेशतया शकटघटावमोचनं विधाय पुनरक्रूरं सन्निधाय स्वं प्रति सम्प्रति निजनिकायगमनाय कृतयत्ने तत्र स्वार्थविद्रत्ने समयान्तरमेव तद्योग्यमिति समयमभिधाय कृततद्विसर्जनः पिपालयिषित-

---

मेरे में स्मरण करनेपर, उत्पन्न हुए प्रेम के आँसू मेरे गले को बारबार रोक रहे हैं। अतः उन सारी बातों के कहने की मेरी सामर्थ्य नहीं, यह कथावाचक का भाव है ॥६॥

उसके बाद रामकृष्ण के सहित अक्रूर के रथ के बहुत देर में दृष्टिगोचर हो जानेपर, श्रीमान् नन्द प्रभृति सभी व्रजवासी आनन्द से युक्त हो गये। और उसके बाद क्षणभर वहींपर बैठकर परस्पर उपदेश देकर, अपने विचार को दृढ बनाकर, एवं दैव को ही सदैव सहायकरूप से मानकर, वह गोपमण्डल मधुपुरी के आगे के स्थल को चल दिया ॥७॥

और वहाँ वहाँपर बीच बीच में श्रीकृष्ण बलदेव का दर्शन करनेवाले पथिकों के भाग्य की विशालता कौन वर्णन कर सकता है ? ॥८॥

क्योंकि जिसमें जो मनुष्य दूर के गाँव से यातायात (आना-जाना) कर रहे थे, अथवा जो मनुष्य चारों ओर से भी यातायात कर रहे थे, वे सब मार्ग में अकस्मात् श्रीकृष्ण के मुखारविन्द को देखकर, अपने अपने शरीर के एवं नेत्रों के भी यातायात को भूल गये। अर्थात् निर्निमेष नेत्रों से दर्शन करते हुए स्थिरभाव से खड़े के खड़े रह गये ॥९॥

श्रीकृष्ण ने मधुपुर में प्रवेश करते ही वहाँपर उस देवी को 'खरवासा' इस नाम से विहित कर दिया, अर्थात् युक्त कर दिया कि जिस देवी ने खर (गधे) में प्रवेश करके मथुरा की दाहिनी ओर शब्द किया था ॥१०॥

आज भी सब भक्तजन मथुरा की परिक्रमा में, उस देवी को भली प्रकार अपनी दाहिनी ओर करते हुए, अपूर्व आनन्द से युक्त हो जाते हैं ॥११॥

और वहाँपर सभी के सुख के लिए कमनीय उपवन को देखकर, स्वयं रथ से उतर कर, उपवन के प्रदेश को व्याप्त करने के भाव से, बैलगाड़ियों की श्रेणी को खोलकर, पुनः अक्रूर के निकट जाकर, एवं इसी समय अपने प्रति अपने घरपर चलने के लिए प्रयत्न करनेवाले, स्वार्थ को जाननेवालों में श्रेष्ठ अक्रूर के प्रति, "दूसरे समय में ही अर्थात् कंस को मारकर ही, तुम्हारे घरपर आना योग्य है" इस प्रकार प्रतिज्ञा को कहकर, अक्रूर का विसर्जन करनेवाले, सज्जनों के पालन करने की इच्छावाले श्रीकृष्ण ने सायंकाल प्राप्त कर, श्रीबलरामजी को आगे करके, अपने निकट के स्थान को सखाओं से युक्त कर, जिसमें

सज्जनः सायमासाद्य वाद्यमानदिव्यवादित्रं विचित्रं तत्पुरं रामपुरःसरतया सखिभिर्वलित-सदेशः श्रीकेशवः प्रविवेश । यत्र तेन दृश्यमाना नगरी तं पश्यन्तीव व्यदृश्यत ॥१२॥

"तथा हि, यस्याः खलु स्वस्मिन्नभिमुखानि गोपुराणि मुखानीव तेन लक्षितानि,—तानि च स्फटिकघटिततया स्मितच्छविशवलितानीव; अक्षीणानि गवाक्षलक्षाणि पुनरक्षीणीव, तानि च विलक्षणनिजेक्षणतया क्षपितनिमेषाणीव; मणिकुट्टिमपटलानि महाट्टालकपटलानि निटिलानीव, तानि च लडहवड्डवडभीकूटतया निजेक्षणपर्वणि धृतमुकुटानीव; गोपुरपुरस्तादगतानि तोरणशतानि चिल्लीवलयानीव, तानि च मन्दवातसम्पातकम्पाकुलतया स्तोकस्वावलोकजातभावभङ्गीसङ्गीनीव; लब्धशिल्पिपाटवानि हाटककपाटयुगलानि कान्ति-सम्पदन्तःशोभमानदन्तकुलानीव, तानि च समुद्घटिततया स्वीयसुन्दरतावन्दनार्थं व्यादीय-मानानीव; हाटकसङ्कटितशक्रनीलालीनि शृङ्गाटकनिलयादीनि स्वकान्तिस्फुरदन्तःकरण-चक्राणीव, तानि च स्वावलोकक लोकवलनया समुल्लसितानीव; स्वर्गरत्नकृतयत्नानि विटङ्क-रत्नानि विचित्रालङ्करणानीव, तानि च धृतापारशिखिपारावतरावबारतया तत्कौतुकचाञ्चल्य-

---

तत, आनद्ध, सुषिर, एवं घन नामक चार (ततं वीणादिकं वाद्यमानद्धं मुरजादिकम् । वंश्यादिकं तु सुषिरं कांस्यतालादिकं घनम् ॥ इत्यमरः) प्रकार के दिव्य बाजे बजाये जा रहे हैं, उस विचित्र मधुपुर में प्रवेश किया । और जिस प्रवेश में श्रीकृष्ण के द्वारा देखी गई, वह मथुरानगरी श्रीकृष्ण को देखती हुई सी दिखाई दी ॥१२॥

देखो, जिस मथुरानगरी के अपनी ओर मुखवाले अनेक पुरद्वार श्रीकृष्ण ने नगरी के मुखों जैसे ही देखे । और वे पुरद्वार भी स्फटिकमणियों से संयुक्त होने के कारण, मन्दमुसक्यान की शोभा से मिले हुए से देखे । एवं जिस पुरी के बड़े बड़े लाखों भरोखा श्रीकृष्ण ने मानो उस पुरी की आँखों के समान देखे । और वे भरोखारूप आँखें भी विलक्षण निज (श्रीकृष्ण) के देखने के भाव से मानो निमेषरहित ही देखीं । और जिस नगरी के मणियों से जड़ी हुई छत्तोंवाले बड़े बड़े अटारियों के समूह उसके मस्तकों के समान देखे । और वे बड़ी बड़ी अटारियों के समूहरूप मस्तक भी लडह (सुन्दर), एवं वड्ड (बड़ी बड़ी), वडभी (चन्द्रशालिका) के कूट (समूह) के कारण अपने दर्शनरूप महोत्सव में मानो मुकुट धारण किये हुए से देखे । और जिस पुरी के पुरद्वार के आगे लगे हुए सैंकड़ों तोरण (बन्दनवार) श्रीकृष्ण ने मानो उस पुरी के भ्रू मण्डल के समान देखे । एवं वे भ्रू मण्डलरूप सैंकड़ों तोरण भी मन्दमन्द वायु की गति से जो कम्प, उससे व्याकुल होने के कारण किञ्चित् अपने, अर्थात् श्रीकृष्ण के दर्शन से उत्पन्न हुई भाव की परिपाटी के सङ्गी ही देखे । और कारीगरों की चतुराई से युक्त सुवर्णमय कपाट (किवाड़)युगल भी मानो शोभारूप सम्पत्ति के मध्य में शोभायमान दन्तपंक्ति के समान देखे । और वे सुवर्णमय कपाटयुगल भी खुले होने के कारण मानो अपनी, अर्थात् श्रीकृष्ण की सुन्दरता की स्तुति करने के लिए पुरी के मुख खोले जा रहे हैं ऐसे देखे । और सुवर्ण से व्याप्त जो इन्द्रनीलमणियाँ उनकी श्रेणी से युक्त जो चौराहे के भवन आदि हैं, वे मानो उस पुरी के अपनी कान्ति से स्फूर्ति पानेवाले अन्तःकरण के समूह जैसे देखे । और वे चौराहे के भवन आदि भी अपने, अर्थात् श्रीकृष्ण के दर्शन करनेवाले लोगों के संसर्ग से मानो उल्लासयुक्त जैसे देखे । और जिनके निर्माण में स्वर्गीय रत्नों के द्वारा यत्न किया गया है, ऐसे जो कबूतर आदि पक्षियों के रक्षा-गृह हैं, वे मानो उस पुरी के विचित्र अलंकार हैं ऐसे देखे । और वे कबूतर आदि पक्षियों के रक्षागृह भी,

सञ्जितशिञ्जितानीव; विधातुरपि चमत्कारकारणानि विविधधातुप्राचीराणि प्रशस्तवस्त्राणीव, तानि च सम्प्रति समुज्ज्वलितवर्णतया पत्त्रोर्णानीव; परितो विद्योतमानान्युद्यानानि परिवारवलयानीव, तानि च नानापुष्पफलवलनया तत्तदुपहारसंवलितानीव ॥१३॥

"सेयं स्वयमेव प्रतिवीथि सफलरम्भा-क्रमुकस्तम्भारोपपूर्णकुम्भसम्भारैः सपुलकेव च सम्भाविता। परितः परिष्कृततीरगम्भीरपरिखानीरेण स्वेदाम्बुनेव संवलिता च विलोक्यते स्म ॥१४॥

"अथ लब्धपुरप्रवेशे वृन्दावनेशे वृन्दावनचरितमस्य दृष्टवच्चरीणां खेचरीणां तदा काचिदन्यदा च काचिदियं वर्णना निर्वर्णनीया ॥१५॥

"तथा हि, पश्यत पश्यताऽसूर्यम्पश्या अप्येताः कृष्णदर्शनमहसि सर्वंसहतया ललाटन्तपतपन-तप्ततां गतास्तथा वाचंयमा अप्यमूः स्वनिवारकान् प्रति पुनरप्रियंवदतापदतया परन्तपतामापुरिति ॥१६॥ "यत्र सति,—

अपूर्वं पूर्वत्मन्यसितसितचन्द्रौ विलसत-, स्तदूर्ध्वं हर्म्याग्रे किल कमलवन्या विकसति।
बकीजिद्रामौ वा वनविहृतिशीलाविह पुरे, निरीक्षन्ते रामा यदि तदतिचित्रं विजयते ॥१७॥

अपने में धारण किये हुए असंख्य मयूर एवं कबूतरों के शब्दसमूह होने के कारण, कृष्णदर्शनरूप कौतुक से जो चंचलता उससे युक्त भूषणों के शब्द के से देखे। और विधाता के भी आश्चर्यजनक अनेक प्रकार की धातुओं के जो परकोटा हैं, वे मानो उस नगरी के प्रशंसनीय वस्त्रों के से देखे। और वे अनेक धातुओं के परकोटा भी इस समय अच्छी प्रकार उज्ज्वलवर्ण होने के कारण पत्रोर्ण, अर्थात् धुलाये हुए रेशमी वस्त्रों के से देखे। और नगरी के चारों ओर प्रकाशमान जो उपवन हैं, वे मानो उस नगरी के परिवारमण्डल जैसे देखे। और वे उपवन भी अनेक प्रकार के पुष्प एवं फलों के संसर्ग से मानो उस उस विषय के उपहार से संयुक्त से देखे। इस लम्बे चौड़े वाक्य में श्रीकृष्ण ही देखने के कर्ता हैं, एवं गोपुर आदि सब कर्म हैं, तथा लक्षितानि यह एक क्रिया है, उत्प्रेक्षा अलंकार प्रधान है, यह जानना चाहिये ॥१३॥

और वही यह मथुरानगरी स्वयं ही प्रत्येक गली में फलों के सहित केला के वृक्ष, क्रमुक (सुपारी) के वृक्षों के स्तम्भों का आरोपण, एवं पूर्णकलश आदि सामग्रीयों के कारण श्रीकृष्ण ने रोमाञ्चित सी सम्भावित की। और चारों ओर परिस्कृत (स्वच्छ) तीरवाली गम्भीर जो परिखा (खाई) उसके जल के द्वारा मानो पसीने के जल से संयुक्त सी देखी ॥१४॥

उसके बाद वृन्दावनेश्वर श्रीकृष्ण के मधुपुर में प्रवेश का लाभ कर लेनेपर, इनके वृन्दावन के चरित्र को पहले देखनेवाली, आकाशचारिणी देवियों का उस समय में कोई अपूर्व वर्णन, एवं अन्य समय में यह कोई अपूर्व वर्णन पाठकों के देखने योग्य है ॥१५॥

यथा—आकाशचारिणी देवियाँ बोलीं—अरी बहिनो! देखो, देखो तो सही। सूर्य को न देखनेवाली भी ये मथुरावासिनी स्त्रियाँ श्रीकृष्ण के दर्शनरूप महोत्सव में सब कुछ सहनेवाले के भाव से ललाटन्तप (सूर्य) के ताप से सन्तप्त हो गई हैं। एवं मौन व्रतवाली होकर भी ये स्त्रियाँ श्रीकृष्ण के दर्शन में अपने को निवारण करनेवाले प्रियतम सम्बन्धियों के प्रति, अप्रिय बोलनेवालों के भाव के स्थानस्वरूप हो जाने के कारण शत्रुता को प्राप्त हो गई हैं ॥१६॥

और आकाशचारिणी देवियों के जिस वर्णन में यह वर्णन भी है कि—अरी सखियो! एक आश्चर्य

अहह मधुपुरीयं कृष्णमाधुर्यसङ्गा,-ल्लसति मधुपुरीव प्रेक्ष्यतामालिवर्ग ! ।
अपि च सुवदनाभिश्चन्द्रशालाः समन्ता,-दतिजवमधिरूढाश्चन्द्रशालाः स्फुरन्ति ॥१८॥

एताः कुण्डलितैककर्णलतिका दत्ताञ्जनैकेक्षणा
लाक्षारञ्जनमञ्जुलैकचरणाः संवस्त्रितैकस्तनाः ।
इत्येकैकविधा हरिं प्रति ययुस्तन्नाद्भुतं मन्यतां
यस्मादाययुरेकसर्गगतितामाकर्ण्य तस्यागतिम् ॥१९॥

स्नानेन द्रुतमुज्झितेन वपुषि प्सानेन हृन्मारुते
व्रीडेनाभिनिवेशमात्मनि जवादुज्झन्त्य एव स्त्रियः ।
वस्त्राणां च विपर्ययेण निखिलव्यत्यासविज्ञापिकाः
श्रीकृष्णं परितः समाययुरसूर्धिष्ण्यादधिष्ण्यादपि ॥२०॥

मनांसि तासामरविन्दलोचनः, कर्षन्नपि द्रागददान्महोत्सवम् ।
गजेन्द्रलीलेन मृगेन्द्रविक्रमे,-णाम्भोधिजानन्दकरेण चात्मना ॥२१॥

और देखो । इस मथुरापुरी के मार्ग में तो श्याम एवं गौरवर्ण के दो चन्द्रमा, अर्थात् कृष्ण बलदेवरूप दो चन्द्रमा अपूर्वरूप से विलास कर रहे हैं, और उस मार्ग के ऊपर महलों के अग्रभाग में, अर्थात् अटारियोंपर कमल के वनों का समूह विकसित हो रहा है । और वन विहरणशील श्रीकृष्ण बलराम को इस पुरी में भी यदि पुर की वनिताएँ देख रही हैं, तब तो वह अत्यन्त आश्चर्य उत्कर्ष को पा रहा है । अर्थात् सदैव वन-विहरणपरायण जन का नगर में दर्शन अत्याश्चर्यजनक ही तो है ॥१७॥

अहह ! हे सखीवृन्द ! देखो तो सही । यह मधुपुरी तो श्रीकृष्ण के माधुर्य के सङ्ग से मधुपुरी की तरह, अर्थात् शहद की नगरी की तरह शोभा पा रही है । और सुन्दर मुखवाली स्त्रियाँ जिनके ऊपर अत्यन्त वेगपूर्वक चढ़ गई हैं, वे चन्द्रशालाएँ भी चन्द्रशालाओं की तरह, अर्थात् चन्द्रमा के घरों की तरह स्फूर्ति पा रही हैं ॥१८॥

और ये जो स्त्रियाँ हैं, इनमें से कोई कोई तो एक ही कान में कुण्डल धारण करनेवाली हैं, कोई एक ही आँख में काजल लगाये हुए हैं, एवं कोई कोई महावर से रचे हुए मनोहर एक चरणवाली हैं, तथा कोई कोई एक ही स्तन को वस्त्र से ढाँकनेवाली हैं । इस प्रकार एक एक प्रकार के अधूरे शृङ्गारवाली ये सब स्त्रियाँ श्रीकृष्ण के प्रति (दर्शनार्थ) जो चली आईं, उसको आश्चर्य मत मानो । कारण—श्रीकृष्ण के आगमन को सुनते ही ये सब एकाग्रदशा के भाव को प्राप्त हो गई थीं ॥१९॥

और श्रीकृष्ण का आगमन सुनते ही, झटपट त्यागे हुए स्नान से अपने शरीर में अभिनिवेश को त्यागती हुईं, एवं तत्काल त्यागे हुए भोजन से प्राणवायु में अभिनिवेश त्यागती हुईं, तथा शीघ्र त्यागी हुई लज्जा से अपने मन में वेगपूर्वक अभिनिवेश को त्यागती हुईं, और वस्त्रों के धारण की विपरीतता से, सभी वेषभूषा आदि की उलटापलटी का विज्ञापन करनेवाली, ये स्त्रियाँ घर से एवं बाहर से भी, श्रीकृष्ण के निकट चारों ओर से चली आईं ॥२०॥

उस समय कमलनयन श्रीकृष्ण ने उन मथुरावासिनी स्त्रियों के मन को आकर्षित करते हुए भी अपनी गजेन्द्र की सी चाल से, मृगेन्द्र (सिंह) के से विक्रम से एवं सिन्धुजा लक्ष्मीदेवी को भी आनन्दित करनेवाले अपने श्रीविग्रह के द्वारा उनके लिए शीघ्र ही महान् उत्सव का दान कर दिया ॥२१॥

आसीद्यच्छ्रुतमेव मानसहरं तद्दृष्टिवर्त्मागतं
तच्चाथ स्वयमेव दृष्टिसुधया स्वं सेक्तुमुद्यन्महः ।
आकृष्यात्मनि तच्च लोचनगुणेनासन् यदा तास्तदा
तत्स्फूर्तिच्छविगह्वरस्थिततया तद्दूरतां नाविदुः ॥२२॥

पद्मिन्यस्ताश्चलतनुयुजः फुल्लवक्त्रारविन्दाः, प्रासादाग्रं हरिपरिचयायाधिरूढाः समन्तात् ।
यावद्यावत् पथि सुमनसां वृष्टिमाचेरुरुच्चै-, स्तावत्तावद्बत सुमनसां वृद्धिमेवाभिजग्मुः ॥"२३

तदेतत् खेचरीणां वचनमनूद्य कथकेन स्वयमुद्यते स्म,—

"तेऽमी विप्रा मम शिरसि संवासमासादयन्तां, ये दुर्ध्वंसं सुरमुनिवरैरप्यवज्ञाय कंसम् ।
सद्गन्धाम्भः कुसुमदधिभिः साक्षतैः पूर्णपात्रैः, प्रत्युद्गम्य स्वयमनुययुः कृष्णमभ्यर्चनाय ॥२४

ऊचुः सर्वेऽपि पौरा यदपि पशुभृतस्तेऽपि सर्वेऽतिपुण्या-
स्तन्नारीणां तथापि स्फुटतरमहिमा मोहमन्तस्तनोति ।
एता माधुर्यपूरं न तु परमपरं चेतसा सन्दधानाः
कृष्णं रामं च लोकाद्भुतमहवपुषं शश्वदालोकयन्ति ॥२५॥

और श्रीकृष्णरूप जो वस्तु सुनने मात्र से ही मन को हरनेवाली थी, वही पुनः दृष्टि के मार्ग में आ गई, अर्थात् नेत्रों के सामने आगई, और वही वस्तु अपने दर्शनरूप अमृत से स्वयं ही अपनी आत्मा को अभिषिक्त करने के लिए, उत्पन्न होते हुए महोत्सवरूप बन गई, फिर तो उसकी मनोहरता में कहना ही क्या है ? और जब वे स्त्रियाँ अपने अपने नेत्ररूप गुण (रस्सी) के द्वारा उस कृष्णरूप वस्तु को अपने अपने मन में आकर्षित करके विद्यमान थीं, तब तो वे श्रीकृष्ण की स्फूर्ति की शोभारूप गह्वर (गुफा) में स्थित हो जाने के कारण, "श्रीकृष्ण हम से दूर हैं" इस भाव को भी न जान सकीं। अर्थात् अपने नेत्रों के द्वारा अपने मन में खींचे हुए श्रीकृष्ण का अनुशीलन करनेके कारण अपने को उनके पास ही समझती रहीं ॥२२

और चंचल शरीरवालीं एवं खिले हुए मुखारविन्दवालीं वे उत्तम स्त्रियाँ, श्रीकृष्ण के दर्शन के लिए चारो ओर से अपनी अपनी अटारियोंपर चढ़कर, मार्ग में श्रीकृष्ण के ऊपर विशेषतापूर्वक जैसे जैसे पुष्पों की वर्षा करती रहीं, तैसे तैसे पुष्पों की वृद्धि को ही प्राप्त हो गईं। श्लेषपक्षे—देवताओं के या सज्जनों के हर्ष की वृद्धिकारक ही हो गईं ॥२३॥

आकाशचारिणी देवियों के इस पूर्वोक्त वचन का अनुवाद करके कथावाचक स्वयं बोला—जो माथुरब्राह्मण देवश्रेष्ठ एवं मुनिश्रेष्ठों के द्वारा अजेय कंस को ठुकरा कर उत्तम गन्धयुक्त जल, पुष्प, दधि, एवं अक्षतों के सहित पूर्णपात्रों के द्वारा श्रीकृष्ण के अगवानी आकर, स्वयं पूजा करने को श्रीकृष्ण का अनुगमन करते रहे, वे ब्राह्मण तो मेरे मस्तकपर निवासस्थान प्राप्त करें। अर्थात् वे तो मेरे शिरोधार्य हो जायँ ॥२४॥

उस समय सभी पुरवासी बोले कि—यद्यपि पशुओं का पालन करनेवाले वे सब गोप भी अत्यन्त पुण्यात्मा हैं, तो भी उनकी स्त्रियों की, अर्थात् गोपियों की अत्यन्त स्पष्ट जो महिमा है, वह तो हमारे अन्तःकरण में मोह का विस्तार कर रही है। कारण ये गोपियाँ तो अपने चित्त से केवल श्रीकृष्ण के माधुर्य प्रवाह को भली प्रकार धारण करती हुईं,एवं उनके ऐश्वर्यादिक को न धारण करती हुईं, लोगों के लिए अद्भुत उत्सवरूप श्रीविग्रहवाले श्रीकृष्ण को तथा श्रीबलराम को निरन्तर देखती रहती हैं ॥२५॥

"तदेवं स्थिते तत्रावस्थिते च कौतुकसतृष्णे श्रीकृष्णे कृतपरिजनसङ्गसङ्गततया रङ्गकारः कश्चिन्नर्दद्गर्दभसहस्रमर्दयंस्तिर्यग्वर्त्मना पर्यागात् ॥२६॥

"पर्यागते च तस्मिन्नसावसन्मानमर्दनः क्रीडाधृतगोवर्धनश्चिन्तितवान्,—'नूनमनून-वर्गस्य दूनसर्वस्य तस्य सपरिकरस्य पर्वपरिधानसामग्री-सम्यग्रीतिरियमनेन प्रणीय नीयते । पुरप्रवेशाय मङ्गलं चेदमात्मनो वेशाय नेष्यामः । तस्मात् प्रथमतस्तत्पराहतिपुण्याहं निर्वाहयं-स्तावदेनं याचनरचनेन जातक्रोधमाचर्य पुनरतिचर्य स्फुटमपचर्य च तदेतदाच्छादनवृन्द-माच्छिनदानि' इति ॥२७॥

"प्रकाशमपि सहासाभासमाह स्म, (भा० १०।४१।३३)—

'देह्यावयोः समुचितान्यङ्ग वासांसि चार्हतोः ।
भविष्यति परं श्रेयो दातुस्ते नात्र संशयः ॥' इति ॥२८॥

"रजकः स तु रजसा तमसा च मनसि व्याप्तः सर्वत्र लब्धख्यातेस्तस्य दानवारातेः प्रभावं शृण्वन्नपि न हृदि स्पृष्टवान् । तत्पर्यवसायिवस्त्राणाममीषां तत्प्रभावादेव तत्र समागमं कंसप्रभावादेवेति परामृष्टवान् । तेन तेन दृशि व्याप्तश्च फणधारीन्द्रवारीन्द्रनाकचारीन्द्रप्रभृत्यु-पहारीकृतदीव्यद्दिव्यवस्त्रसंवस्त्रणमपि तस्य न दृष्टवान् । ततश्चासावुद्भासुरासुरभावस्तदनु-भावमननुभूय दूयमानतया बहु जहास, (भा० १०।४१।३५-३६)—॥२९॥

अतएव ऐसी स्थिति में कौतुक देखने की तृष्णावाले श्रीकृष्ण जब उस राजमार्ग में ही अवस्थित हो गये, तब साथ में किये हुए सेवकवर्ग से संयुक्त होकर, कोई धोबी चिल्लाते हुए हजारों गधाओं को चलाता हुआ टेढ़ेमार्ग से चला आया ॥२६॥

और उस धोबी के आते ही असज्जनों का मानमर्दन करनेवाले, एवं खेल खेल में गोवर्धन को धारण करनेवाले, ये श्रीकृष्ण विचार करने लगे कि—निश्चय ही यह धोबी विशेष परिकरवाले अतः सबको पीडा पहुँचानेवाले उस कंस के परिकर के सहित इस उत्सव में पहनने योग्य वस्त्रों की जो सामग्री सुन्दर रीति-वाली है, इसको यह सजाकर ले जा रहा है। अतः (जैसा देश तैसा वेष के अनुसार) पुर में प्रवेश करने के लिए, इस मङ्गलमय वस्त्रसमूह को हम सब ग्वालवाल अपने वेष के लिए ले लेंगे। इसलिए पहले से ही उस कंस की मृत्यु का पुण्याहवाचन निर्वाहित करता हुआ, मैं पहले इस धोबी को माँगने की रचना से क्रोधयुक्त बनाकर, पुनः इसका अतिक्रमण कर, और स्पष्ट ही अपकार कर, इस सारे वस्त्रसमूह को छीन लूँ ॥२७॥

यह विचार कर स्पष्टरूप से भी हास्य के आभासपूर्वक बोले— हे प्रिय ! धोबी ! हम दोनों भाई योग्यपात्र हैं, अतः तू हम दोनों के लिए समुचित वस्त्रों को दे दे। ऐसा करने से तुझ दाता का परमपुण्य अथवा परममङ्गल होगा। इसमें सन्देह नहीं ॥२८॥

वह धोबी तो अपने मन में रजोगुण तमोगुण से व्याप्त होकर, सर्वत्र ख्याति प्राप्त करनेवाले दैत्यारि श्रीकृष्ण के लोकोत्तर प्रभाव को सुनता हुआ भी, हृदय में उसका स्पर्श न पा सका। और श्रीकृष्ण की सेवा में ही अन्त में जिनका पर्यवसान होना है, ऐसे इन वस्त्रों का श्रीकृष्ण के प्रभाव से ही उस राजमार्ग में जो समागम हुआ, उसको भी कंस के प्रभाव से ही विचारने लगा। और अपनी प्राकृत दृष्टि में रजोगुण तमोगुण से व्याप्त हुआ वह धोबी श्रीकृष्ण के शेष, वरुण, इन्द्र आदि देवताओं द्वारा उपहार (भेंट) किये हुए

'ईदृशान्येव वासांसि नित्यं गिरिवनेचराः।
परिधत्त किमुद्वृत्ता राजद्रव्याण्यभीप्सथ ॥
याताशु बालिशा मैवं प्रार्थ्यं यदि जिजीविषा ।
बध्नन्ति घ्नन्ति लुम्पन्ति दृप्तं राजकुलानि वै ॥'३०॥ इत्यादिना ।

"तदनु च,— उपहसन्तमसन्तममुं सरन्, सरजसं रजकं व्रजराजजः ।
निजकरं कलयन् करवालभं, सपदि लावनिभं विलुलाव तम् ॥३१॥
अपाव्रजन्नथ रजका हरेर्दिशः, पटास्तु ते स्फुटमलुठन् दृशोः पथि ।
स्वयं ययुर्यदभजमानताममी, समासजन्निह भजमानतामिमे ॥३२॥

"तदा च स्वकान्तिभिः कान्तीकृतघस्त्रं वस्त्राणां परःसहस्रमजस्रसुन्दरपुरन्दरस्तदिदं तदिदं गृह्यतां गृह्यतामिति सखिभिः प्रेर्यमाणतया विचार्य तेषु स्वपरिधार्यमसकृन्निःसार्य सहसहजसहचरवारः परिधार्य निर्धार्यचूडामणितया सर्वनिर्धार्यः सन्मत्तवनगजराज इव नगर्यामयं विजहार ॥३३॥

देदीप्यमान दिव्यवस्त्र के आच्छादन को (ओढ़ने को) भी न देख पाया। उसके बाद असुरभाव के प्रकाश-वाला वह धोबी श्रीकृष्ण के प्रभाव का अनुभव न करके, उपतप्त सा होकर बहुत हँसने लगा, पीछे बोला कि— ॥२९॥

सदैव पर्वत एवं वन में विचरण करनेवाले तुम सब वहाँपर भी ऐसे ही वस्त्र पहनते हो क्या ? तुम लोग बहुत उद्दण्ड हो गये हो, तभी तो राजकीय द्रव्यों को लूटना चाहते हो। अरे मूर्खो ! जाओ, जल्दी भाग जाओ। यदि कुछ दिन जीने की इच्छा हो तो फिर इस तरह मत माँगना। कारण—तुम जैसे उच्छृङ्खलों को राजकर्मचारी बाँध लेते हैं, मार देते हैं, और उनकी सारी वस्तुओं को छीन लेते हैं ॥३०॥

उसके बाद तो इस प्रकार उपहास करनेवाले असज्जन एवं रजोगुणी उस धोबी के निकट जाते हुए, श्रीव्रजराजकुमार ने अपने करकमल को तलवार के समान बनाकर, लाव नामक पक्षी की तरह उस धोबी को शीघ्र काट डाला ॥३१॥

अनन्तर उसके अनुचररूप सब धोबी श्रीकृष्ण के निकट से इधर उधर भाग गये। एवं वे सब वस्त्र तो नेत्रों के सामने स्पष्ट ही लुढ़क गये। बाकी बचे धोबियों का भागने का कारण तो यह था कि, ये धोबी स्वयं 'अभजमानता'को (अभक्तोंके भाव को) प्राप्त हो गये थे। और वस्त्रोंका श्रीहरिके सामने लुढ़कने का कारण यह था कि,ये वस्त्र इह (इन श्रीकृष्ण के निमित्त) 'भजमानता' को, अर्थात् श्रीकृष्ण की सेवा की योग्यता को प्राप्त हो गये थे ॥३२॥

उस समय निरन्तर सुन्दर रहनेवालों में श्रेष्ठ, ये श्रीकृष्ण अपनी कान्ति के द्वारा दिन को सुशोभित करनेवाले, उन हजारों से भी अधिक वस्त्रों को देखकर, भैया ! यह लीजिये, यह लीजिये। इस प्रकार सखाओं के द्वारा प्रेरित होकर, विचार करके उन वस्त्रों में से अपने पहनने योग्य वस्त्रों को बार बार निकाल कर, बलदेवजी एवं सखागण के सहित पहन कर, निश्चय करके कार्य करनेवालों के शिरोमणिरूप से सर्वसम्मत होकर, मत्त गजेन्द्र की तरह मथुरानगरी में भ्रमण करने लग गये। (श्रीकृष्ण ने उस धोबी से जिन वस्त्रों की याचना की थी, वे कंस के पहने हुए पुराने वस्त्र नहीं थे, अपितु नवीन वस्त्र माँड़ी निकालने के लिए धोने को एवं रंगने को उस धोबी को दिये थे। वह धोबी केवल वस्त्र धोनेवाला ही नहीं

"विहरति च विहसद्बहुसख्यावस्मिन् प्रख्यातगुणतया सर्वातिशायकः कश्चिद्वायकः समस्तमल्लतल्लजलीलासमुचितविरचितचेलालङ्कारमतल्लिकां वलयामास ॥३४॥

"यः खलु खलकंसभिया व्रजमव्रजन्नपि निजसम्बन्धिजनगत्यागत्यासन्न-सुखसम्पन्न-तद्वार्ततया तं द्रष्टुमार्तमानस आसीत् ॥३५॥

"सम्प्रति तु— अपूर्वमेकमत्रासीत् पूर्वं नैक्ष्यत यत् क्वचित् ।
तस्मै सद्यो ददौत्कर्ष्यं सारूप्यं स्वस्य केशवः ॥३६॥
दृष्टस्तच्छायया स्पृष्टः कुर्वंस्तद्वेशमेष यः ।
त्यक्तस्तु न तया व्यक्तं सारूप्यं तन्न्यरूप्यत ॥३७॥

"अथवा तत्र तदावेशमेव प्रशंसामः,—॥३८॥

"तथा हि,— पेशस्कार्यविशात्, कीटस्तद्रूपतां चिरादेति ।
कृष्णावेशः किं न हि, वायकमाश्वेव कृष्णवत् कुरुताम् ? ॥३९॥

तं वायकप्रकरनायकमस्मि वन्दे, निर्मञ्छयामि शिरसातिरसात् प्रणौमि ।
यश्चित्रसीवनपटं मणिवेशवेशं, वेशं न्यवेशयदलं बलकेशवाङ्गे ॥४०॥

था, अपितु रंगकार (रंगरेजा) भी था। ऐसा भाव भा० १०।४१।३२ "रजकं कश्चिदायातं रङ्गकारं गदाग्रजः" से निकलता है) ॥३३॥

हँसते हुए बहुत से सखाओंवाले श्रीकृष्ण जब भ्रमण कर रहे थे, तब अपने प्रसिद्ध गुणों के कारण सर्वश्रेष्ठ किसी दर्जीने समस्त मल्लश्रेष्ठों की जो क्रीडा, उसके योग्य रचना किये गये श्रेष्ठ श्रेष्ठ वस्त्र एवं भूषणों की रचना कर दी । अर्थात् श्रेष्ठ वस्त्रभूषणों के द्वारा दर्जी ने श्रीकृष्ण बलदेव को श्रेष्ठ मल्लों के समान सजा दिया ॥३४॥

जो दर्जी दुष्ट कंस के भय से व्रज में स्वयं न जाकर भी, अपने सम्बन्धिजनों के व्रज में जाने आने के कारण, अपने निकट आई हुई सुख से युक्त श्रीकृष्ण की वार्ता के भाव से, श्रीकृष्णदर्शनार्थ आर्तचित्त रहता था ॥३५॥

इस समय तो यहाँपर एक अपूर्व घटना हुई, जो पहले कभी कहीं भी नहीं देखी गई। वह यह थी कि—श्रीकृष्ण ने तत्काल अपनी समानरूपता उस दर्जी के लिए उत्कर्षपूर्वक दे दी ॥३६॥

यह जो दर्जी है, वह श्रीकृष्ण के वेष को बनाता हुआ श्रीकृष्ण की छाया से स्पर्श करता हुआ देखा गया । किन्तु उस छाया ने उस दर्जी को त्यागा नहीं, इसीलिए उस दर्जी की श्रीकृष्ण की समानरूपता देखी गई ॥३७॥

अथवा छाया के स्पर्श से ही उसको सारूप्य की प्राप्ति नहीं हुई, किन्तु उसका श्रीकृष्ण में आवेश भी कारण हैं, अतः श्रीकृष्ण में उस दर्जी का जो आवेश है, उसी की प्रशंसा करते हैं ॥३८॥

उसका दृष्टान्त देखो, साधारण कीट (कीड़ा) भृङ्गी के आवेश से बहुत देर में भी उसकी समान-रूपता को प्राप्त कर लेता है, फिर श्रीकृष्ण का आवेश उस दर्जी को शीघ्र ही श्रीकृष्ण के समान नहीं कर सकेगा क्या ? अपितु, कर सकेगा । यही भावार्थ है ॥३९॥

कथावाचक उस दर्जी के भाग्य की प्रशंसा करता हुआ बोला कि—मैं तो दर्जियों के समूह के नायक उस दर्जी की वन्दना करता हूँ, न्योछावर करता हूँ, एवं अत्यन्त रसपूर्वक मस्तक से प्रणाम करता हूँ कि—

"अथ यः खलु मथुरागारः परमसुभगाचारः कश्चिन्मालाकारः सुदुष्प्रापपुष्पाय प्रायशः श्रीवृन्दावनं मुहुर्विन्दति स्म। विन्दन्नपि स खलु धन्यः श्रीमद्वन्यवेशं केशवमपि पश्यति स्म। "पश्यन्नपि तत्राविश्य पुष्पाहरणमपदिश्य तत्र चाभिनिविश्य यत्र यत्र यदासौ हरिर्विहरति, तत्र तत्र च पुष्पहारमुपहारमुपहारं भ्रमति स्म। तदप्यास्तामहो! तत्रात्मीयसख्यसुखधाम्नः सुदाम्नः समनाम्नि मित्रतामपि सोऽयं तोयदसुन्दरः स्वयमुरीकरोति स्म। तथा च सति स खल्वत्र वसतीति सम्प्रति सहसा सह सहचारिभिर्विचारितवता परमसच्चरितवतानेन नागरान् पृच्छता तेभ्यः सुखमुखरतां यच्छता तस्य गृहमेवानुजगृहे ॥४१॥

"स हि पूर्वमेव तदागमनमवकलय्य रिक्तपाणितया मिलने दोषं संशय्य सुकुमार-कुसुमसमूहचितां तदुचितां मालां विरचय्य गन्तव्यमिति तत्रासज्य स्थितवान् ॥४२॥

"अथ यत्र स एकचित्ततया रहसि मर्मवित्ततुल्यं माल्यं निर्मिमाणस्तद्वदवहितस्वहित-महितजनसहित आसीत्तत्पर्यन्तमप्यकृतजल्पस्वल्पसखिसेवितपर्यन्तौ तावेतौ गतवन्तौ ॥४३॥

जिसने श्रीकृष्ण बलदेव के श्रीअंग में सुन्दर वेश का सन्निवेश (रचना) किया। उस वेश में भी विचित्र सिलाई से युक्त वस्त्र थे, एवं वह वेश मणियों के वेश के समान था ॥४०॥

इस प्रकार दर्जी को कृतार्थ करके श्रीकृष्ण ने किसी माली को भी कृतार्थ किया। यह कहता हुआ कथावाचक बोला—जिसका घर मथुरा में था, एवं जिसका आचरण परमसुन्दर था, ऐसा कोई माली दुर्लभ पुष्पों के लिए प्रायः श्रीवृन्दावन को बारबार प्राप्त करता रहता था। प्राप्त करता हुआ भी वह भाग्यशाली माली शोभायमान वन के वेश को धारण करनेवाले श्रीकृष्ण को भी देख लेता था। देखता हुआ भी श्रीकृष्ण में आविष्ट होकर, पुष्प चुनने का बहाना बनाकर, पश्चात् श्रीकृष्ण में ही मन से अभि-निविष्ट होकर, ये श्रीकृष्ण जब जब जहाँ जहाँ विहार करते थे, तब तब तहाँ तहाँपर बारंबार पुष्पहार को भेंट करके, उनके पीछे पीछे घूमता रहता था। अच्छा, इस बात को भी दूर रहने दो। आश्चर्य तो यह है कि—मेघ के समान सुन्दर इन श्रीकृष्ण ने अपने मित्रभाव के सुखमय स्थानस्वरूप, सुदामा नामक सखा के समान नामवाले, इस माली के ऊपर मित्रता भी स्वयं स्वीकार करली थी। (श्रीकृष्ण के सुदामा नाम के दो सखा हैं, एक व्रजलीला में, दूसरे द्वारकालीला में। पहला गोप, दूसरा ब्राह्मण, तीसरा यह सुदामा नामक माली भी मथुरालीला में सम्मिलित हुआ। इस प्रकार सुदामा नाम के तीन सखा, श्रीकृष्ण की तीनों धामों की लीला में क्रमशः सुखदायक हुए)। ऐसी घटना घट जानेपर "वह सुदामा माली निश्चय ही यहाँपर निवास करता है" इस समय सखाओं के साथ सहसा इस प्रकार विचार करनेवाले, एवं परम-सच्चरित्रवाले इन श्रीकृष्ण ने, नागरिक लोगों से उसका पता पूछते हुए, तथा उनके लिए सुखसमूह देते हुए, उसके घर को ही अनुगृहीत कर दिया। अर्थात् श्रीकृष्ण सुदामा माली के घर स्वयं पहुँच गये ॥४१॥

वह माली तो पहले ही श्रीकृष्णके आगमन को जानकर, "रिक्तपाणिर्न पश्येत्तु गुर्वीश्वरभिषङ्नृपान्" इस उक्ति के अनुसार 'खाली हाथ होकर मिलने में दोष है' ऐसा संशय करके सुकोमल पुष्पसमूह से व्याप्त, एवं श्रीकृष्ण के योग्य माला को बनाकर (श्रीकृष्ण के पास) चलना चाहिये, इस कारण घर में ही आसक्त होकर बैठा रह गया ॥४२॥

उसके बाद वह मालाकार एकचित्त होकर, एकान्त में मार्मिक धन के समान माला को बनाता हुआ, उसी प्रकार एकचित्तवाले अपने हितैषी एवं प्रशंसनीय लोगों के साथ जहाँपर बैठा था, वहाँतक

"तत्र कृतगमनयोः पुनरनयोः परमरमणीयपरिमले दलितकुसुमसमूहसौरभरभसबले तदवधेयतां गते समाधेरुत्थित इव स महाभागधेयः सुदामनामधेयः सन्ततनिजध्येयमेव रूपं निध्येयतामनैषीत् । निध्यायन्नेव च लज्जानम्रताकम्रतरः पुलककुलसंकुलकलेवरः शीघ्रतातिरसात् केवलेन शिरसा नत्वा वरासनादिकमपि दत्त्वा सद्भाग्यतयात्मानं मत्वा गद्गदनिगदतया स्तुवंस्तयोरनयोर्भक्तिपर्यन्तं प्रसादं गत्वा सखिसमेतावेतावादृत्य दिव्यमालादिभिरलंकृत्य दूरानुव्रजनपूर्वकं विससर्ज ।।४४।।

"तत्रालङ्कारसमये कोऽप्येष विनोदचमत्कारविशेषः सञ्जातः । या काचिद्दिव्यमाला सामिकृतापि दीव्यन्ती बभूव, यामेव मुहुः पश्यन्तं तं पश्यन्मालाकारः सलज्जतया नम्रतासज्जदाकारः सम्भृताशीरासीत्, तामेव शीघ्रमेव सह परिवारेण विरचय्य तस्मिन् पर्यर्पयामासेति; विसृष्टिसमये चेदं साभिवादनदैन्यं निवेदयामास,—'हन्त ! यदि दुरन्तस्यापि तस्यातिपर्यन्तभूरागम्यत, तदा सर्वप्राणताविलसद्भ्यां भवद्भ्यां सावधानतया भाव्यम्' इति ।।४५।।

कुछ भी न बोलनेवाले थोड़े से सखाओं से आसपास में घिरे हुए, वे दोनों श्रीकृष्ण बलदेव वहाँपर चले गये ।।४३।।

पुनः वहाँपर गमन करनेवाले श्रीकृष्ण बलदेव के श्रीअङ्ग की परमरमणीय मनोहर जो सुगन्धि, जो कि पुष्पसमूह की सुगन्धि के वेगरूप बल का चूर्ण करनेवाली थी, वह दिव्य सुगन्धि जब उस माली की ज्ञानविषयता को प्राप्त हो गई, अर्थात् पुष्पों की सुगन्धि को दबानेवाली श्रीकृष्ण बलदेव के अङ्ग की सुगन्धि उस माली को जब ज्ञात हो गई, तब समाधि से उठे हुए योगी की तरह, महाभाग्यशाली सुदामा नामक वह माली, निरन्तर अपने ध्येयरूप को ही दृश्यता को प्राप्त करने लगा । अर्थात् निरन्तर अपने ध्यान करने योग्य श्रीकृष्ण बलदेव के रूप को देखने लग गया । और देखता हुआ ही लज्जा एवं नम्रता के द्वारा, अत्यन्त मनोहर होकर तथा रोमाञ्चसमूह से व्याप्त शरीरवाला होकर, शीघ्रता के अतिशय रस से केवल मस्तक द्वारा ही प्रणाम कर, श्रेष्ठ आसन आदि को देकर, अपने को श्रेष्ठ भाग्यशाली मानकर, गद्गद वाणी से बोलकर स्तुति करता हुआ, इन दोनों कृष्ण बलदेव के भक्तिपर्यन्त प्रसाद को, अर्थात् कृपावर को प्राप्त कर, पुनः सखाओं के सहित इन दोनों भाइयों का आदर कर, दिव्यमाला आदि से सजाकर, बहुत दूरतक अनुगमनपूर्वक बिदा कर आया ।।४४।।

वहाँपर श्रीकृष्ण बलदेव की सजावट के समय कोई यह विनोदमय चमत्कारविशेष हुआ कि—जो कोई भी दिव्यमाला आधी बनी हुई भी प्रकाशमान हो रही थी, और जिस अधबनी माला को ही बारबार देखते हुए, श्रीकृष्ण को देखता हुआ वह मालाकार, लज्जितभाव से नम्रता से युक्त आकारवाला होकर पूर्ण मनोरथ हो गया था, अतः उस माला को ही परिवार के सहित शीघ्र ही बनाकर, श्रीकृष्ण के प्रति समर्पण कर देता था । और श्रीकृष्ण बलदेव के विसृष्टि (बिदाई) के समय प्रणाम एवं दीनतापूर्वक उसने यह निवेदन किया कि—हाय ! भैया ! यदि तुम दोनों उस दुरन्त कंस की अत्यन्त निकट की भूमि में आगये हो, तब तो सबके प्राणरूप से विलास करनेवाले आप दोनों को सावधान हो जाना चाहिये । यही मेरी प्रार्थना है ।।४५।।

"विसृष्टावेतौ तु पुष्पवन्तौ दुष्प्रधर्षतेजसा सर्वं खर्वयामासतुः ॥४६॥

अत्रेदं मच्चित्तमध्यमध्यारोहति,—

"भक्ताः सन्ति सहस्रशः स्फुटममी श्रीकृष्णमन्विच्छव-
स्तेष्वासन्नतदीयचारुचरणा राजन्ति चानेकशः ।
वन्दे तं तु सुदामदामरचनाचुञ्चुं यदन्वेषयन्
श्रीकृष्णः सबलः स्वयं गृहमसावर्थीव तस्यान्वगात् ॥४७॥

"अथ तत्र पथि चायं हरिः सर्वचमत्कारकारणं किमपि कौतुकं चकार; ॥४८॥ यथा—

"काञ्चित् कुब्जां सुवक्त्रां स्फटिकजघटभागङ्गरागं वहन्तीं
याचित्वामुं विलिम्पन्निजवपुरमुना स्वानपि भ्राजयित्वा ।
तामृज्वीं संविधाय स्वगुणमहिमभिर्विस्मितीकृत्य लोकान्
शोकान् कंसे निधाय स्वयमघदमनस्तत्र भूयश्चुकूर्द ॥४९॥

"अत्रेदं विचारयामः,—

"लालसीति यदि हार्दमार्जवं, कृष्णभक्तिमनु बाह्यमन्यथा ।
बाह्यमप्यलमृजु प्रजायते, साक्ष्यमागतमिह त्रिवक्रया ॥५०॥

सुदामा माली के द्वारा राजमार्ग में पहुँचाये गये, एवं एक उक्ति से कहे जानेवाले ये दोनों कृष्ण बलदेव तो, अपने दुष्प्रधर्ष (अनिवार्य) तेज के द्वारा सबको छोटा करने लग गये। श्लेषपक्ष में—पुष्पवन्तौ का सूर्य-चन्द्र अर्थ है, वे दोनों भी अपने तेज के सामने सबके तेज को तुच्छ कर देते हैं ॥४६॥

इस मालाकार भक्त के प्रसङ्ग में मेरे चित्त के बीच यह बात चढ़ रही है कि—श्रीकृष्ण का अन्वेषण करनेवाले ये हजारों भक्त तो स्पष्ट ही विद्यमान हैं। उन भक्तों में से निकटवर्ती हैं श्रीकृष्ण के चारुचरण जिनके, ऐसे भी अनेक भक्त विराजमान हैं। किन्तु मैं तो माला की रचना में प्रसिद्ध उस सुदामा नामक मालाकार की वन्दना करता हूँ। कारण—जिसका अन्वेषण करते हुए, अर्थात् जिसको ढूँढ़ते हुए ये श्रीकृष्ण, बलदेवजी के सहित याचक की भाँति स्वयं उसके घर गये थे ॥४७॥

उसके बाद उस राजमार्ग में भी इन श्रीकृष्ण ने सभी के चमत्कार का कारण कोई कौतुक किया था— ॥४८॥

यथा—अघदमनकारी श्रीकृष्ण स्फटिकमणि के घट में भरे हुए अङ्गराग (चन्दन आदि) को ले जाती हुई, सुन्दर मुखवाली किसी कुब्जा नामक स्त्री से उस अङ्गराग को माँगकर, उसी के द्वारा अपने शरीर को पोतते हुए, अपने सखा श्रीबलदेव आदि को भी सुशोभित कर, पश्चात् उस कुब्जा को सीधो बनाकर, अपने गुणों की महिमाओं के द्वारा लोगों को विस्मित कर, अनेक प्रकार के शोकों को कंस के ऊपर धरकर, वहाँपर बारंबार कूदने लगे ॥४९॥

कुब्जा के प्रसङ्ग में हम यह विचार करते हैं कि—श्रीकृष्ण की भक्ति को लक्ष्य बनाकर यदि भक्त की हृदयसम्बन्धी सरलता अतिशय शोभा पारही है, एवं बाह्यशरीरसम्बन्धी टेढ़ापन अत्यन्त शोभा पारहा है, तब तो श्रीकृष्ण की भक्ति को लक्ष्यकर बाहरी टेढ़ापन भी अत्यन्त सीधा हो जाता है। इस विषय में तीन जगह से टेढ़ी कुब्जा ही साक्षी के भाव को प्राप्त हो गई है। तात्पर्य—भक्त के हृदय की सरलता शरीर की कुटिलता को मिटा देती है। और हृदय की कुटिलता शारीरिक सरलता की शोभापर भी धब्बा लगा

आर्दयद्रजकं कुब्जान्तानन्यान् स समार्धयत् ।
कंसस्तेनापि तेनापि ध्वंसमेव प्रपन्नवान् ॥५१॥
सद्भावं च प्रभावं च प्रेक्ष्य भावं च तस्य तम् ।
यथायथमथानर्चुः पथा लब्धं वणिक्पथाः ॥५२॥

"अत्रापि तेषां वाणिज्यमेव विलक्षणमुत्प्रेक्ष्यते; यथा—

"बहुलोकाद् बहुधा वणिज्यया, फलमन्वर्जितवन्त एव ते ।
अघशत्रोर्यदिह स्वयं न त,-न्न पितार्जन्न पितामहादयः ॥५३॥

ततः पौरान् पृच्छन्नयमथ मखस्थानमनु य-, न्निरस्तस्तत्पालैः प्रसृततररक्ताक्षिविकृतैः ।
धनुः कर्षन् हर्षाल्लघु यदभनक् तन्न हि जनः, कदेत्यद्धाऽद्रक्ष्यन्न यदि तदकूजिष्यदभितः ॥५४॥

क्रेङ्कारं यदकृत चापमैशमुच्चै,-र्निर्भेत्तुं बकरिपुणा विनम्यमानम् ।
तत् कंसं ज्ञपयदिवायमत्र कः स्याद्,- भूतेशः पतिरुपगश्च यत्र नेशे ॥५५॥

"तत्र च विशेषः—कोटी द्वे शतकोटिहस्तगजराड्दन्तप्रभे लस्तकः
स्तम्भभ्रान्तिकृदेकवज्रघटितः कृत्स्नं महद्यत्र च ।

देती है। अतः कुब्जा की आन्तरिक सरलता के कारण भक्ति के प्रताप से बाह्य कुटिलता भी दूर हो गई ॥५०॥

श्रीकृष्ण ने धोबी को मार दिया एवं कुब्जा है अन्त में जिनके, ऐसे दर्जी तथा मालाकार आदि अन्य सब भक्तों को बढ़ा दिया। कंस तो इन दोनों कार्यों से भी ध्वंस को ही प्राप्त हो गया ॥५१॥

और वाणिज्य करनेवाले व्यापारी श्रीकृष्ण के उस प्रकार के सद्भाव को, प्रभाव को, एवं उसी प्रकार की चेष्टा को देखकर, मार्ग से प्राप्त हुए श्रीकृष्ण की यथायोग्य पूजा करने लगे ॥५२॥

इसमें भी उनका वाणिज्य ही विलक्षणरूप से उत्प्रेक्षित होता है, यथा—मथुरावासी उन वणिग्जनों ने वाणिज्य के द्वारा, बहुत से लोगों से बहुत प्रकार का फल (लाभ) उपार्जन किया ही होगा, यह बात ठीक है, किन्तु आज यहाँपर उन्हीं व्यापारियों ने श्रीकृष्ण से जो अपूर्व फल स्वयं उपार्जन किया, उसको न तो उनके पिता ने तथा पितामह आदि ने ही उपार्जन किया होगा ॥५३॥

उसके बाद पुरवासियों से यज्ञ के स्थान को पूछते हुए, एवं उसी के निकट जाते हुए श्रीकृष्ण ने, अत्यन्त विस्तृत लाल लाल नेत्रों के कारण विकट शरीरवाले, यज्ञ के रक्षकों के द्वारा निवारित होकर भी, हर्षपूर्वक धनुष् को खींचकर शीघ्र ही जो तोड़ दिया, उस धनुष् के तोड़ने को जनमात्र साक्षात् कदापि नहीं देख पाते, यदि वह धनुष् टूटते समय चारों ओर से शब्द न करता तो। यहाँपर श्रीकृष्ण ने अपनी क्रिया का अतिशय लाघव दिखलाया है ॥५४॥

और बकारि श्रीकृष्ण के द्वारा तोड़ने के लिए विशेष नवाये गये शिवजी के धनुष् ने जो ऊँचे स्वर से क्रेङ्कार शब्द किया, उस शब्द ने मानो कंस को यह विज्ञप्ति दे दी कि—इन श्रीकृष्ण के विषय में और दूसरा कौन समर्थ हो सकता है ? क्योंकि जिनके विषय में सर्वरक्षक एवं समीपवर्ती शिवजी भी कुछ समर्थ न हो सके ॥५५॥

और उस धनुष् के तोड़ने में विशेष बात यह थी कि—जिस धनुष् के दोनों अग्रभाग शतकोटि, अर्थात् वज्र है हाथ में जिसके, ऐसे इन्द्र के ऐरावत हाथी के दाँतों की सी प्रभा से युक्त थे, एवं जिस धनुष्

दिव्यं तत्त्रिपुरप्रधूननधनुर्बाह्यं त्रिशत्या नृणा-
मर्चिभिः परिचर्चिताखिलहरिच्चक्रे विभिन्नं हरिः ॥५६॥

"तदा च— शेषः स्वे मूर्ध्नि घूर्णां समुदितिरपि दिग्दन्तिनां दन्तभेदं
छेदं ब्रह्मा स्वधाम्नस्त्रिजगदमनुत ध्वस्तमुच्चैः समस्तम् ।
नाश्चर्यं तद् यदेतत् कुलिशकठिनताकूटजित्कोट्यखण्ड-
ब्रह्माण्डध्वंसचण्डं हरधनुरमुना खण्डदण्डं व्यधायि ॥५७॥

"तथापि— कृष्णो वार्मुग्यदासीद्धनुरमरपतेस्तद्धनुस्त्रोटजाग्नि-
स्तस्मिन् विद्युद्धुताशः कटकटितरवः स्फूर्जितं गर्जितं च ।
कालः सोऽवग्रहान्तक्षणतुलिततया सज्जनानां विभातः
कल्पान्तप्रावृषस्तु स्फुरणबलनया दुर्जनानामदीपि ॥५८॥

"ततश्च 'हन्यतां हन्यताम्' इति जङ्घन्यमानेषु जेघ्नीयमानेषु च माशाब्दिकेषु सैनिकेषु—
"कदारोप्या मौर्वी धनुषि बत कृष्यापि च कदा
शरस्तत्तद्यत्नाद्रिपुमनु विसृज्यः स स कदा ।

का मध्यभाग स्तम्भ की सी भ्रान्ति करनेवाला था, और एकमात्र वज्र अथवा हीरक आदि से निर्मित था, तथा जिस धनुष् में सम्पूर्ण अङ्ग ही विशाल थे, एवं त्रिपुरासुर को नष्ट करनेवाले शंकरजी का वह धनुष दिव्य था, तथा तीन सौ मनुष्यों के द्वारा ढोने योग्य था, एवं अपनी कान्तियों के द्वारा सभी दिशाओं को लिप्त कर देता था, एवंगुणविशिष्ट उस धनुष् को श्रीकृष्ण ने अनायास तोड़ दिया ॥५६॥

और उस धनुष् के तोड़ते समय उसके शब्द से शेषजी ने अपने मस्तकपर घूमघुमेर मान ली, दिग्गजों के समूह ने भी अपने दाँतों को टूटने को मान लिया, एवं ब्रह्माजी ने अपने धाम के छेद को मान लिया, तथा तीनों लोकों ने विशेष करके समस्त वस्तुओं का विध्वंस ही मान लिया। उसमें कोई आश्चर्य नहीं मानना चाहिये, क्योंकि यह शिवजी का धनुष् वज्र की कठिनता के समूह को जीतनेवाला था. एवं करोड़ों अखण्ड ब्रह्माण्डों का विध्वंस करने में तीक्ष्ण था, उसको भी श्रीकृष्ण ने खण्डदण्ड, अर्थात् गन्ना बना लिया, भावार्थ—गन्ने की तरह तोड़ डाला ॥५७॥

तथापि श्रीकृष्ण जब मेघरूप हो गये थे, तब वह शिवजी का धनुष् कृष्णरूप मेघ में इन्द्र का धनुष् हो गया था, उस धनुष् के टूटने से उत्पन्न हुई अग्नि ही उसमें विद्युत् (बिजली) अग्नि हो गई थी, एवं कट कट शब्द ही वज्रपातजनित ध्वनि, और मेघ की गर्जना हो गई थी। अतः धनुष् तोड़ने का वह समय सज्जनों के पक्ष में तो वृष्टि के प्रतिबन्ध (रुकावट) के अन्तिम क्षण के समानरूप से ही प्रतीत हुआ। और दुर्जनों के पक्ष में वही समय कल्प के अन्त में होनेवाली प्रलयकालीन वर्षा की स्फूर्ति के संयोगरूप से प्रदीप्त हो गया था ॥५८॥

और उसके बाद कंस के सैनिक 'मारो' 'मारो' यों कहकर जब कुटिलतापूर्वक दौड़ रहे थे, एवं बारंबार मार रहे थे,तथा कुछ सैनिक 'श्रीकृष्ण को मारो मत' (अपितु जीते ही कंस के पास ले चलो) इस प्रकार जब कोलाहल कर रहे थे, तब अहह ! कब तो धनुष्पर मौर्वी (धनुष् की डोरी) चढ़ानी चाहिये, एवं कब खींचनी चाहिये, तथा धनुष्पर चढ़ाने आदि उन उन प्रयत्नों से वह वह बाण, शत्रु को लक्ष्य

इतीवायं कृष्णः स्फुटमुपहसंस्तस्य धनुषः
कृताभ्यां खण्डाभ्यां परबलमहन्नाशु सबलः ॥५९॥

"अथ तत्र कंसस्य वड्वडभीमारूढवता केनचित् प्रश्नोत्तराणि—

'हंहो क्रेङ्कार-रावः किमिति धनुरगाच्छ्याम एकः सशुभ्रः
किं तस्मात्तस्य वेदीं पददलितभुवं निर्ममे वक्षि किं धिक् ?।
आस्तां तत् सावहेलं तदपि निजबलादुद्धृतं लघ्वकार्षीद्
आः किं तद्देव ! वक्ष्ये किमिव पुनरदः सैन्ययुक्तं ममर्द ॥'इति ॥६०॥

"एवं कंसस्य वस्त्रं सहरजकपति स्वैरमाच्छिद्य भूय-
श्चापं छित्त्वा ससैन्यं प्रहितमपि बलं तेन संमर्द्य शश्वत् ।
निःशङ्कावेशलेशः पुरविभवममुं प्रेक्षमाणो विजह्रे
योऽयं स श्रीव्रजेशप्रभवकुलमणिर्मां प्रमत्तं करोति ॥६१॥

वीर्यप्रागल्भ्यतेजःस्फुरितसुभगतां वीक्ष्य पौराः समन्ता-
देतौ श्रीकृष्णरामौ विबुधवरतया मन्यमाना जजल्पुः ।

करके कब छोड़ने योग्य है, अर्थात् कब तो धनुष्पर डोरी चढ़ी, कब खिची, कब उसपर बाण चढ़ा, एवं कब शत्रु का वेधन हुआ, इत्यादि बाह्य क्रियाओं में व्यर्थ ही विलम्ब होगा। इस प्रकार स्पष्ट उपहास करते हुए इन श्रीकृष्ण ने बलदेवजी के सहित स्वयं किये हुए उस धनुष् के दो टुकड़ों के द्वारा शीघ्र ही कंस की सेना मार डाली ॥५९॥

तदनन्तर वहाँपर विशाल चन्द्रशाला में अपने साथ चढ़े हुए किसी सेवक के साथ कंस के प्रश्नोत्तर, यथा—प्रश्न—हाय ! हाय ! यह क्रेंकार शब्द क्यों हो रहा है ? उत्तर—गौरवर्णवाले बालक के साथ एक श्यामवर्ण का बालक शिवजी के धनुष् के निकट चला गया, अतः क्रेंकार शब्द हो रहा है। प्र०—उस धनुष् के निकट जाने से ही शब्द क्यों हुआ ? उ०—उस बालक ने उस धनुष् की वेदी की भूमि को अपने चरणों से चूर्ण कर दिया। प्र०—हाय ! धिक्कार है ! तू यह क्या कह रहा है ? उ०—राजन् ! इस बात को तो दूर रहने दो। उस साँवले बालक ने उस धनुष् को भी अपने बल से अवहेलनापूर्वक शीघ्र ही उठा लिया। प्र०—हाय ! यह किस प्रकार सम्भव है ? उ०—हे महाराज ! क्या कहूँ या किस प्रकार कहूँ ? देखो, सेना के सहित उस धनुष् को तो उस बालक ने मर्दित (टूक टूक) कर दिया ॥६०॥

अब पहले वृत्तान्त का स्मरण करता हुआ कथावाचक स्वयं बोला कि—इस प्रकार कंस के वस्त्रों को धोबियों के स्वामी के सहित स्वेच्छापूर्वक छीनकर (रजकपक्षे—धोबियों के स्वामी को मारकर) पुनः शिवजी के धनुष् को तोड़कर, एवं उस कंस के द्वारा भेजे हुए सेना के सहित बल को भी निरन्तर मर्दन कर, तथा निःशंक आवेश के लेश से युक्त होकर, इस मथुरापुरी के वैभव को देखते हुए जिन्होंने विहार किया, वे ही श्रीव्रजराज से उत्पन्न होनेवाले उन्हीं के कुलमणिस्वरूप श्रीकृष्ण, अपनी पुरानी लीलाओं की याद दिलाकर मुझको आज भी प्रमत्त बना रहे हैं ॥६१॥

पश्चात् अद्भुत पराक्रम, साहस, एवं लोकोत्तर तेज से स्फूर्ति पानेवाली सुन्दरता को चारों ओर से देखकर, इन श्रीकृष्ण-बलराम को देवश्रेष्ठरूप से मानते हुए पुरवासी परस्पर बोले—ओहो ! भाइयो !

हंहो पश्य प्रतापच्छविरविमनयोराशु पश्यन्निरंशुः
सोऽयं विश्वप्रसिद्धो रविरपि नियतं प्रत्यगद्रौ निलिल्ये ॥६२॥

"ततश्च तस्य सङ्घट्टनार्थं निजनिकटादटत्युद्भटे कटके भयात् कंसेन कृतविघटने तस्य कूटतान्तरमवधाय तमवज्ञाय सखिभिः सङ्घटितखेलौ लब्धवेलौ शाकटवाटमेवाटतुः ॥६३॥

"शकटावासमासज्य च सोऽयम् 'अधर्मवतां वधः परमधर्म एव' इति तत्कर्मानन्तरं स्नानं परित्यज्य चरणमात्रमवनिज्य ताभ्यां पयसा सिक्तं भक्तमुपभुज्यते स्म ॥६४॥

"तन्मां द्रवयति हरिणा, सायं शकटावमोचने भुक्तम् ।
यत् पाथेयं मात्रा, सदयं क्षीरोपसेचनं प्रहितम् ॥"६५॥

तदेवं कथिते सर्वस्मिन्नपि व्रजजने व्यथिते मधुकण्ठः पुनः समापयन्नुवाच,—

"यत् कंसघाताय गतं बकारिणा, स्वप्नायितं तद् व्रजराज ! मन्यताम् ।
पश्याग्रतस्ते वयसा नवश्रिया, तेनैव भाति स्वयमब्जलोचनः ॥६६॥

"तदेवं ससमाजः श्रीव्रजराजस्तं नेत्रेण गात्रेण च यथायथमालिङ्गन् सर्वाङ्गरिङ्गत्प्रमदमुल्लास ॥"६७॥

देखो तो सही। इन श्रीकृष्ण बलराम के प्रताप के शोभारूप सूर्य को देखता हुआ, शीघ्र ही प्रभा से हीन होकर, वह विश्वप्रसिद्ध सूर्य भी निश्चय ही अस्ताचल में छिप गया ॥६२॥

उसके बाद श्रीकृष्ण को क्षुभित करने के लिए, उद्भट कटक (भयङ्कर सेना) के अपने निकट से चले जानेपर, एवं भय से कंस के द्वारा उस कटक को दूर कर देनेपर, उस कंस के दूसरे छल को जानकर, उसका तिरस्कार कर, अपने सखाओं के साथ खेल करते हुए दोनों भाई, सायंकाल के समय को पाकर, अपनी बैलगाड़ियों के पड़ावपर ही चले आये ॥६३॥

और गाड़ियों के निवासस्थानपर आते ही "यह अधार्मिक व्यक्तियों का जो वध है, वह परमधर्म ही है" अतः उस कर्म के अनन्तर (करने योग्य) स्नान को भी त्यागकर, केवल चरणों को धोकर, वे दोनों भाई दुग्ध से सिंचित खीर आदि अन्न का भोजन करने लगे ॥६४॥

स्नेहमयी माता यशोदा ने दयापूर्वक दुग्ध से सिक्त जो पाथेय (टोसा) श्रीकृष्ण के साथ भेजा था, एवं सायंकाल में गाड़ियों के पड़ावपर श्रीकृष्ण के द्वारा रुचिपूर्वक जो खाया गया, वह पाथेय आज भी मुझको द्रवीभूत कर रहा है ॥६५॥

इस प्रकार मथुरा गमनादिरूप वृत्तान्त के कह देनेपर, एवं श्रोतारूप सभी व्रजवासियों के व्यथित हो जानेपर, प्रसङ्ग को समाप्त करता हुआ मधुकण्ठ पुनः बोला—हे व्रजराज ! देखो, कंस को मारने के हेतु श्रीकृष्ण ने जो मथुरागमन किया था, उसको तो अब स्वप्न के समान मान लीजिये। क्योंकि कमलनयन श्रीकृष्ण तो नवीन शोभावाली अपनी उसी अवस्था से तुम्हारे सामने स्वयं शोभा पारहे हैं, इस बात को प्रत्यक्ष देख लीजिये ॥६६॥

अतएव इस प्रकार श्रीव्रजराज सम्पूर्ण समाज के सहित श्रीकृष्ण को नेत्र से गात्र से, यथायोग्य आलिङ्गन करते हुए, सभी अङ्गों में व्याप्त होते हुए हर्षपूर्वक उल्लसित हो गये, अर्थात् प्रसन्न हो गये ॥६७॥

अथ श्रीकृष्णकृतमहसि राधिकासदसि च कथावशेषः । यथा मधुकण्ठ उवाच,—

"यावद्गोष्ठात् प्रतस्थे पुरमघविजयी तावदारभ्य सभ्या
वीराहँ तस्य शर्मप्रकरमधिजगुस्तत्तदुल्लासवाग्भिः ।
अन्तर्विज्ञाः प्रियाणां विरहजकदनं श्वासदैर्घ्येण मध्ये
मध्ये संलक्ष्य दुःखादहह मुहुरपि श्वासरोधं समीयुः ॥६८॥

यदा ता नागर्यः किल निजविलोकाय समयु-, स्तदा सत्यं तासामनु मुखमपश्यद् बकरिपुः ।
तथा तत्राप्येष स्पृहितमकरोदित्यपि ऋतं, व्रजस्त्रीसारूप्यं यदिह मृगयामास परितः ॥६९॥

"तदेतावदपि श्रीराधादीनां कृताशीर्भिर्गीर्भिरेव सम्पन्नम्; तथा हि श्रीशुकवचनम्, (भा० १०।४२।२४)—

'गोप्यो मुकुन्दविगमे विरहातुरा या, आशासताशिष ऋता मधुपुर्यभूवन् ।
संपश्यतां पुरुषभूषणगात्रलक्ष्मीं, हित्वेतरान् नु भजतश्चकमेऽयनं श्रीः ॥' इति॥७०॥

"अथ कथासदसि वलिता श्रीललिता सोत्प्रासं पप्रच्छ,—'भवेत् स्त्रीमात्रस्पृहितमप्यनुगृहीतममूदृशाम्; यत् किमपि नाकार्यमार्यचरितानाम्, कुब्जायां सुचरितं तु कथं न्युब्जीकृतम् ?' ॥७१॥

तदनन्तर रात्रि के समय श्रीकृष्ण के द्वारा किये गये उत्सव एवं तेज से युक्त, श्रीराधिका की सभा में कथा का अवशिष्ट भाग, यथा—मधुकण्ठ बोला—अघासुरपर विजय पानेवाले श्रीकृष्ण जब से व्रज से मथुरापुरी को चले गये थे, तभी से लेकर सभ्यजन उस उस प्रकार की उल्लासभरी वाणियों के द्वारा, श्रीकृष्ण के वीरजनोचित सुखसमूह का गायन करते रहे। एवं श्रीकृष्णप्रियाओं के आन्तरिकभाव को जाननेवाले विज्ञजन तो, उनके श्वासों की लम्बाई से बीच बीच में श्रीकृष्ण के विरह से जायमान ग्लानि को भली प्रकार देखकर, हाय ! उन्हीं के दुःख से बारंबार अपने श्वासों की रुकावट को भी प्राप्त हो जाते थे ॥६८॥

और जिस समय वे मथुरानगर की स्त्रियाँ अपना दर्शन करने के लिए सम्मिलित होकर चली आईं, उस समय श्रीकृष्ण उनके मुख को देखने लग गये, यह बात सत्य है। तथा उन नागरिक स्त्रियों में भी इन श्रीकृष्ण ने कुछ इच्छा भी की थी, यह बात भी सत्य है, कारण—इस मथुरा में श्रीकृष्ण ने चारों ओर से व्रजाङ्गनाओं की समानरूपता की ही खोज की थी ॥६९॥

अतः मथुरावासिनी स्त्रियों के लिए श्रीकृष्ण का दर्शन भी, श्रीराधिका आदि गोपियों के किये हुए आशीर्वादमय वचनों के द्वारा ही सिद्ध हुआ था। इस विषय में श्रीशुकदेवजी का वचन ही प्रमाणरूप से देखिये गोपियों ने श्रीकृष्ण की मथुरायात्रा के समय उनके विरह से आतुर होकर, जिन आशीर्वादों की आशा की थी, अर्थात् इच्छा की थी वे सब आशीर्वाद मधुपुरी में पुरुषभूषण श्रीकृष्ण के अङ्ग की शोभा को देखनेवाले मधुपुरीवासी जनों के सम्बन्ध में अक्षरशः सत्य हो गये। क्योंकि श्रीकृष्ण की शोभा अपूर्व थी। कारण—अपना भजन करनेवाले ब्रह्मा आदि देवताओं को त्यागकर लक्ष्मीजी श्रीकृष्ण का ही आश्रय चाहती थीं ॥७०॥

उसके बाद कथा की सभा में सम्मिलित हुई श्रीललिता ने हास्यपूर्वक पूछा कि—इन श्रीकृष्णसदृश पुरुषश्रेष्ठों के अनुग्रह का पात्र स्त्रीमात्र ही स्पृहा (इच्छा) से युक्त हो सकता है, कारण—श्रेष्ठ चरितवाले

श्रीकृष्णस्तु तत्प्रथकौ कथकौ ससङ्कोचमालोचयन्नुवाच,—"भवन्ताविह मम मर्मानुभवन्तावेव स्त इति तां कथां यथावद्वदताम् ।।"७२।।

कथकावूचतुः,—"श्रीमति ! ललिते ! श्रूयताम्,—

"यः खलु करुणाशील,-स्तस्य विचार्या प्रवृत्तिर्न ।
निखिलोपेक्षितजीवे, बाढं यस्यार्द्रता भवति ।।७३।।

"किञ्च, कुतुकी कुतुकाकृष्टो,-ऽप्यतिकरुणश्चेद्दरिद्रवश्यः स्यात् ।
अत्र हि केशवकुब्जा,-वृत्तं वृत्तं सुधीसहस्रेण ।।"७४।।

अथ तयोर्मधुकण्ठ एवोवाच,—"तथा चानेन पुरस्तादिदं विचारितम्,—

"चन्द्रति वदनविलासा,-दष्टावक्रति तथाङ्गकौटिल्यात् ।
तस्मादेषा पृच्छ्या, तरलति चित्तं हि कौतुकात् परितः ।।७५।।

"आम् आम् सा खल्वेषा सैरिन्ध्री कंसाय गन्धसन्धायिनी भवति । यत् खल्वेकाकिनी कलितप्रयत्नं गन्धभाजनरत्नं सनिर्बन्धं कराभ्यां रुन्धाना राजावरोधमनुरुन्धाना तर्क्यते, तस्माद्वस्त्रमिव तस्य पर्वणि शस्तमिमं निर्हारिणं गन्धमपि निर्हराणि; किन्तु स्त्रीयं खलु

व्यक्तियों के सम्बन्ध में कोई भी कार्य अकार्य नहीं है । किन्तु हे कथावाचक महोदय ! आपने प्रातःकाल की कथा में कुब्जा के विषय में जो सुन्दर चरित्र था उसको कूबड़ा क्यों कर दिया, अर्थात् विस्तारपूर्वक न कहकर छोटा क्यों कर दिया ? ।।७१।।

संकोचपूर्वक आलोचना करते हुए श्रीकृष्ण तो उस चरित्र को कहनेवाले दोनों कथावाचकों से बोले—यहाँपर तुम दोनों ही मेरे मर्म का अनुभव करनेवाले हो । अतः उस कुब्जा की कथा को यथावत् कह डालो ।।७२।।

दोनों कथावाचक बोले—हे श्रीमति ललिते ! श्रवण कीजिये । देखो, जो व्यक्ति निश्चय ही करुणामय स्वभाववाला है, एवं सभी के द्वारा उपेक्षित जीव के ऊपर भी जिसका स्नेह का भाव दृढ़तापूर्वक होता है, उस व्यक्ति का चरित्र (शंकापूर्वक) विचार करने योग्य नहीं है ।।७३।।

किंच कौतुक से आकृष्ट हुआ कौतुकीव्यक्ति यदि अत्यन्त दयालु हो तो, वह दरिद्र के भी वशीभूत हो सकता है । इस विषय में हजारों विद्वानों ने श्रीकृष्ण एवं कुब्जा के चरित्र को दृष्टान्तरूप से वृत्त किया है, अर्थात् पढ़ा है ।।७४।।

अब उन दोनों में से मधुकण्ठ बोला—देखो, ललिते ! इन श्रीकृष्ण ने पहले अपने मन में यह विचार किया कि—यह कुब्जानारी अपने मुख के विलास से तो चन्द्र का सा आचरण कर रही है, एवं सभी अङ्गों की कुटिलता से, अर्थात् टेढ़ेपन से अष्टावक्र ऋषि का सा आचरण कर रही है । अतः यह पूछने योग्य है, कारण—मेरा चित्त कौतुक से चारों ओर से चंचल हो रहा है ।।७५।।

हाँ, हाँ, स्मरण आगया, स्मरण आगया । "चतुःषष्टिकलाऽभिज्ञा शीलरूपादिसेविनी । प्रसाधनोपचारज्ञा 'सैरन्ध्री' परिकीर्तिता ।।" इस लक्षण से युक्त यह सैरन्ध्री (दासी) कंस के लिए चन्दन, इत्र, फुलेल आदि गन्धमय द्रव्यों का संयोजन करनेवाली है । कारण—निश्चय ही यह अकेली ही प्रयत्न करके श्रेष्ठ गन्ध के पात्र को आग्रहपूर्वक दोनों हाथों से ढकती हुई, कंस के अन्तःपुर की ओर जाने का अनुरोध करती

लोभयितव्या, न तु रजकवत् क्षोभयितव्या। लोभः पुनरस्यां कुरूपताघटितकुटिलाङ्गतया स्फुटं पुरुषसङ्गरहितायामनङ्गरङ्गजन्मत एव सुकरः स्यात्। अनङ्गरङ्गमपि लब्धमदङ्गावलोकनाया नान्यतः पर्यालोचयामि। तस्मादहमेव तन्निर्वहणं सममर्मविलासनर्मणा निर्मिमीय। तदेवं विचार्य चतुराचार्यः स्पष्टमाचष्टे,—'वरोरु! गन्तुमुत्कतां गता का त्वमसि?' ॥७६॥

"सोवाच,—"सुन्दरास्य! दास्यहमस्मि।' "श्रीकृष्ण उवाच,—'कस्य?' "सोवाच,—'कंसस्य।' "श्रीकृष्ण उवाच,—'रामाशिरोमणि! किं नामासि?' "सा सलज्जमुवाच,—'सुभगशक्र! त्रिवक्रा' इति। "श्रीकृष्णः सगणः सहासमुवाच,—'तर्हि सान्वयः खल्वयमाह्वयः?' "पुनः श्रीकृष्ण उवाच,—'सर्वाङ्ग-ग्लेपनहरणमनुलेपनमिदं कस्य?' "सा सहासमाह स्म,—'विदग्धशेखर! या यस्य किङ्करी, सा तदर्थमेव सर्वं चरीकरीति। "श्रीकृष्ण उवाच,—'मधुरभाषिणि! दासी कापि स्वामिसम्मता, कापि तदुदासीनस्थलगामितया नाति तन्मता दृश्यते।' "सोवाच,—सुवदन! तदपि सत्यं वदसि; साहं तु तस्य सम्मता, न तावदन्यथा मता॥'७७॥

"सर्वे सोपहासमूचुः,—'परमरमणीयाङ्गीयं कथमिव तदङ्गीकारं न धारयतु?' ॥७८॥

हुई प्रतीत होती है। इसलिए कंस के वस्त्रों की तरह, उत्सवमें मङ्गलमय एवं दूर से ही आकर्षण करनेवाले इस गन्धमय द्रव्य का भी अपहरण कर लूँ। किन्तु यह स्त्री लुब्ध करने योग्य है, किन्तु धोबी की तरह क्षुब्ध करने योग्य नहीं है। अतः कुरूपता से युक्त कुटिल अङ्गों के कारण, स्पष्टरूप से पुरुष के संग से रहित, इस स्त्री में लोभ की उत्पत्ति भी, अनङ्गरङ्ग के जन्म से ही अनायास हो सकती है। और मेरे अङ्गों के दर्शन का लाभ करनेवाली इस स्त्री के अनङ्गरङ्ग को भी, दूसरे व्यक्ति से अनुसन्धान नहीं करता हूँ। इसलिए मैं ही उस अनङ्गरङ्ग के निर्वाह को, मार्मिक विलास से युक्त परिहास के द्वारा निर्मित करूँ। इस प्रकार विचार कर चतुरशिरोमणि श्रीकृष्ण स्पष्ट बोले—हे वरोरु! जाने के लिए उत्कण्ठा के भाव को प्राप्त हुई तू कौन है? ॥७६॥

वह बोली—हे सुन्दरमुखवाले श्याम! मैं दासी हूँ। श्रीकृष्ण बोले—किसकी (दासी है)? वह स्त्री बोली—कंस की (दासी हूँ)। श्रीकृष्ण बोले—हे रमणीशिरोमणि! तुम्हारा नाम क्या है? वह लज्जापूर्वक बोली—हे सुन्दरेन्द्र! मेरा नाम 'त्रिवक्रा' है। श्रीकृष्ण अपने साथियों के सहित उससे हास्यपूर्वक बोले—तब तो यह तुम्हारा नाम "त्रीणि वक्राणि यस्यां सा" इस अन्वय से युक्त होने के कारण निश्चय ही सार्थक है। श्रीकृष्ण पुनः बोले—सभी अङ्गों की ग्लानि का अपहरण करनेवाला यह अनुलेपन (गन्धमयचन्दनादि द्रव्य) किसका है? वह हास्यपूर्वक बोली—हे चतुरशिरोमणे! देखो, जो जिसकी दासी है वह उसके लिए ही सम्पूर्ण वस्तुओं का बारंबार निर्माण करती रहती है। श्रीकृष्ण बोले—हे मधुरभाषिणि! देखो, कोई दासी तो स्वामी के सम्मत देखी जाती है, एवं कोई स्वामी के उदासीन स्थलपर जानेवाली होने के कारण, स्वामी के अत्यन्त सम्मत नहीं देखी जाती। वह बोली—हे सुवदन! वह भी तुम सत्य ही कह रहे हो। किन्तु मैं तो स्वामी के सम्मत ही दासी हूँ, अतः अन्यथा, अर्थात् अनादर की दृष्टि से सम्मत नहीं हूँ ॥७७॥

श्रीकृष्ण के सभी मित्र उपहासपूर्वक बोले—परमरमणीय अङ्गोंवाली यह नारी कंस के अङ्गीकार को किस प्रकार न धारण करेगी? अपितु, करेगी ही ॥७८॥

"श्रीकृष्ण उवाच,—'तथ्यं कथ्यताम्। क्व नु तस्य सम्मतासि ?' "सा सप्रणय-रोषमुवाच,–'दृष्टमपि कथमिदं पृष्टं क्रियते? बहलपरिमलशर्मण्यस्मिन्ननुलेपकर्मण्येव।' "श्रीकृष्ण उवाच,—'स्फुटमन्याश्च त्वादृशिम्मन्या धन्यास्तस्य विद्यन्ते।' "सोवाच,—'सन्तु नाम; किन्तु मद्भावितमेव भोजपते रतेर्भावनाय कल्पते।' "श्रीकृष्ण उवाच,—'यदि न गर्ह्यम्मन्यसे, तर्ह्यहमस्य भाजनमभ्यस्य सौरभ्यमनुभवितुमिच्छामि।' "सोवाच,—'गुरुभ्यः शपे, तुभ्यं ममाप्रदातव्यं किमपि नास्ति।' "श्रीकृष्ण उवाच,—'एवं चेदावाभ्यां तदिदं तावद्वितर॥'७९

सा तु सानुरागस्मितमाह स्म,—'विश्वाद्भुतनवयुवानौ युवां विना कस्तावदेतादृगा-मोदपात्रपात्रतामर्हति ? ततो यदृच्छया सर्वमेव प्रतीच्छतम्॥'८०॥

"अथ सखायः परस्परं नीचैरिव सहासमूचुः,—'हन्त ! द्वयमपि चकमे कामिनीयम्।' "श्रीकृष्णस्तु तां स्तुतां विदधत् प्रत्युवाच,—'तर्ह्यचिरादेव तव भविकं भविष्यति।' इति॥८१॥

"तदेवं श्रीकृष्णस्य परमरमणीयरूपविलासहास-स्नपितलपितमाधुरीणां सा धुरीणचित्ता ताभ्यां द्वाभ्यामपि पर्वकृते कृतं सर्वमपि तदनुलेपनं रचितार्पणं चकार॥८२॥

श्रीकृष्ण बोले—हे सुन्दरि ! सत्य कहो। तुम उस कंस के कौन से कार्य में सम्मत हो ? वह प्रणय-कोपपूर्वक बोली—आप स्पष्ट देखे हुए इस कार्य को भी पुनः क्यों पूछ रहे हो ? देखो, मैं तो अधिक मनोहर सुगन्धमय सुख से भरे हुए इस अनुलेपरूप कार्य में ही कंस के सम्मत हूँ। श्रीकृष्ण बोले—यह बात स्पष्ट है कि उस कंस के अपने को तुम्हारे समान माननेवाली अन्य भी भाग्यशालिनी दासियाँ हैं। वह बोली—हैं तो रहने दो। किन्तु मेरे द्वारा बनाया हुआ अनुलेपन (चन्दन आदि) ही भोजपति कंस की प्रीति को सम्पादन करने को समर्थ है। श्रीकृष्ण बोले—यदि तुम निन्दनीय न मानो तो मैं इस अनुलेपन का बारंबार सेवन करके सुगन्धि का अनुभव करना चाहता हूँ। वह बोली—गुरुजनों की शपथ करती हूँ कि, तुम्हारे लिए मेरी कोई भी वस्तु अदेय नहीं है। श्रीकृष्ण बोले—यदि ऐसी बात है, तब तो हम दोनों भाइयों के लिए अनुलेपन का वितरण कर दो॥७९॥

वह तो अनुरागभरी मन्द मुस्कानपूर्वक बोली—इस विश्व में तुम दोनों ही अद्भुत नवयुवक हो। अतः तुम दोनों के बिना इस प्रकार के अत्यन्त सुगन्ध के पात्र का योग्यपात्र कौन हो सकता है ? इसलिए स्वेच्छापूर्वक या स्वतन्त्रतापूर्वक सम्पूर्ण ही ग्रहण कर लीजिये॥८०॥

तदनन्तर सभी सखा परस्पर मानो धीरे धीरे हास्यपूर्वक बोले—अहह ! यह कामिनी तो इन दोनों को ही चाहती है। श्रीकृष्ण तो उस कुब्जा को स्तुति से युक्त करते हुए बोले—यदि सम्पूर्ण चन्दन देना चाहती हो, तब तो शीघ्र ही तुम्हारा मङ्गल हो जायगा॥८१॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण के परमरमणीय रूप एवं विलासमय हास्य से नहलाये हुए भाषण की माधुरियों को धारण करनेवाले चित्त से युक्त, उस कुब्जा ने उत्सव के लिए तैयार किया सम्पूर्ण अनुलेपन, उन दोनों के लिए ही अर्पण कर दिया॥८२॥

"यत् खलु गौरमेचकभागाभ्यां द्विधाकृतमुदयच्चान्द्रमसबिम्बमिव सान्द्रमपि सलिल-विरलतया किल वस्तुतस्तु श्रीनिधिकरसन्निधिवशतया तदखिलेषु सखिषु च पर्याप्तिमवाप ॥८३

"कृष्णस्तत्र सुपीतपीतनमयीं चर्चां दधद्द्युते
रामः श्यामकुरङ्गनाभिमुखसद्गन्धश्रियाऽशोभत ।
यद्वद्विद्युदितद्युतिर्विजयते विद्युत्वदुद्यत्तनु-
र्यद्वद्विस्फुरदङ्कसङ्कररुचिश्चादभ्रशुभ्रद्युतिः ॥"८४॥

अथ पुनः कथासदसि लज्जाप्रथाकरकथाविशेषप्रत्यासन्नतया सन्नकण्ठे मधुकण्ठे सस्मितं ललिता ललाप,—"अग्रिममपि कौतुकमव्यग्रं कथ्यताम् । यत्र युष्मदीशितुरस्य वेशः स्वार्थान्तराय सम्पद्यते स्म ॥"८५॥

मधुकण्ठः समाधानमधत्त,—"तदेवं तयानुरज्य चर्चया सज्यमानः सोऽयं पूतनादीनामपि पूतताविधायी दीनदयानुयायी चिन्तयामास,—'एषा खलु रुचिराननाप्यङ्गसारल्य-वैकल्यात् कलितहृच्छल्या मयि च कृतानुकूल्या कृपयानुपाल्या स्यादापाततस्तु ममावलोकनं तच्छल्यमस्या निर्दल्यमानं कर्तुमर्हति' इति ॥८६॥

और जो चन्दन गौर श्यामरूप दो भागों के द्वारा दो प्रकार से विभक्त होकर, उदित होते हुए चन्द्रमा के बिम्ब की तरह, गाढ़ा होकर भी, जल की न्यूनता के कारण थोड़ा होकर भी वस्तुतः श्रीकृष्ण के करकमलों की सन्निधि के कारण, वह चन्दन उन सभी सखाओं के निमित्त पर्याप्त (यथेष्ट, अर्थात् स्वेच्छापूर्वक लगाने योग्य) हो गया था ॥८३॥

उन दोनों भाइयों में से श्रीकृष्ण तो सुन्दर पीतवर्णवाले कुंकुम से परिपूर्ण चन्दन लगाने की शोभा को धारण करते हुए सुशोभित हो गये। और श्रीबलराम श्यामवर्ण की कुरङ्गनाभि (कस्तूरी) आदि सुन्दर सुगन्धि की शोभा से सुशोभित हो गये। इस विषय में दृष्टान्त ये हैं कि—जिस प्रकार बिजली से युक्त शोभावाला मेघ का उदय होनेवाला शरीर उत्कर्ष को प्राप्त होता है, श्रीकृष्ण भी उसी प्रकार शोभा पाने लगे। और विशेष स्फूर्ति पानेवाले कलङ्क के सम्पर्क की शोभावाला एवं बहुत सी शुक्ल कान्तिवाला चन्द्रमा जैसे उत्कर्ष को प्राप्त होता है, श्रीबलराम भी उसी प्रकार शोभा पाने लगे ॥८४॥

उसके बाद रात्रि की कथा की सभा में लज्जा का विस्तार करनेवाले कथाविशेष की समीपता के कारण, मधुकण्ठ के कण्ठावरोध से युक्त हो जानेपर, अर्थात् उसका कण्ठ रुक जानेपर, ललितादेवी पुनः मुसकाकर बोली—भैया मधुकण्ठ! उस अगले कौतुक को भी अव्यग्रतापूर्वक कह दो। जिस कौतुक में तुम्हारे स्वामी (श्रीकृष्ण) का वेश (श्लेषपक्षे—वेशो वेश्याजनसमाश्रयः) अपने दूसरे स्वार्थ के लिए, अर्थात् कुब्जा के उपभोग के लिए सम्पन्न हो गया था ॥८५॥

मधुकण्ठ ने समाधान किया कि—अतएव इस प्रकार उस कुब्जा के साथ अनुराग कर, एवं चर्चया "चन्दन आदि लगाने के द्वारा" किंचित् आसक्त होकर, पूतना आदिकों की भी पवित्रता करनेवाले, एवं दीनोंपर जो दया है, उसका अनुगमन करनेवाले वे श्रीकृष्ण अपने मन में विचारने लगे कि—यह कुब्जा निश्चय ही मनोहर मुखवाली होकर भी, अपने अङ्गों की सरलता के अभाव से, अपने हृदय में शोक शंकु (खूँटा) से युक्त होकर, मेरे में "चन्दन को अर्पण कर" अनुकूलता कर चुकी है, अतः कृपापूर्वक रक्षा करने

"स्पष्टं चाचष्ट,—'त्रिवक्रे ! त्वामवक्रां कर्तुमनुज्ञां याचे।' "अथ सा च तां वाचं नर्म जानती सस्मितमुवाच,—'अथकिम्, किन्तु कथमिव ?' "श्रीकृष्ण उवाच,—'ग्रहण-विशेषचातुर्येण।' "ततश्चाखर्वं सखिसभासत्सु हसत्सु सा सरोमाञ्चमुवाच,—'तर्हि मम वासगृहमासद्यताम् ॥'८७॥

"श्रीकृष्णः स्वयमपि विहसन्नाह स्म,—'न तावदत्र तावती प्रक्रिया तर्क्या। विश्वस्य चमत्काराय विश्वस्य सम्प्रत्येव सन्निधाय पश्य।' "अथ तस्यां सकम्पं सन्निदधत्यां सर्वस्य च पश्यतश्चमत्कारं व्यस्यन्नसौ नटकलामिव घटयामास ॥८८॥ यथा—

"पदे पदाभ्यामामृश्य कुब्जकं वामपाणिना।
तर्जनीमध्यमाभ्यां तु चिबुकं तामृजुं व्यधात् ॥८९॥

ततस्तस्याः पृष्ठाद्यवयवनतेः सा कुटिलता, कटाक्षं स्थौल्यं तु स्तनजघनसक्थि स्फुटमगात्। मुकुन्दस्य स्पर्शान्न तदिदमपूर्वं भवति यत्, परासां सुभ्रूणामपि सुभगता तामभिगला ॥९०॥

"अथ हलहलायमानं कोलाहलं लोकश्चित्रतया यं कलयामास; तद्विशेषस्तु न केनचित् प्रस्तूयेत; किन्तु शुभगङ्करण्या तस्य विद्यया सुभगम्भावुकायास्तदनन्तरवृत्तेन तु तस्या वृत्तेनेदं परामृशामः ॥९१॥

योग्य हो सकती है। और तत्काल मेरा दर्शन ही इस कुब्जा के हृदय के शोकशंकु को चूर्ण करने के लिए योग्य है ॥८६॥

यह विचार कर स्पष्ट बोले—हे त्रिवक्रे ! मैं तुमको सीधी करने के लिए तुमसे अनुमति की याचना करता हूँ। उसके बाद वह कुब्जा उस बात को हँसी जानती हुई, मन्द मुसकानपूर्वक बोली—हाँ, इसमें तो कोई हानि नहीं। किन्तु वह सीधापन किस प्रकार सम्पन्न होगा ? श्रीकृष्ण बोले—ग्रहणविशेष की चातुरी के द्वारा सम्पन्न होगा। पश्चात् सखाओं की सभा में बैठनेवाले सभी सखाओं के उच्च स्वर से हँस जानेपर, वह कुब्जा रोमाञ्चित होकर बोली—तब तो मेरे निवासस्थानपर पधारिये ॥८७॥

श्रीकृष्ण स्वयं भी हँसते हुए बोले—तुम्हारा शरीर सीधा करने के विषय में उतनी प्रक्रिया विचार करने योग्य नहीं है। संसारभर के चमत्कार के लिए विश्वास करके इसी समय मेरे निकट आकर देख ले। उसके बाद वह कुब्जा जब कम्पपूर्वक श्रीकृष्ण के निकटवर्तिनी हो गई, अर्थात् पास में आगई, तब सबके देखते देखते चमत्कार का विस्तार करते हुए, श्रीकृष्ण ने नटों की कला की सी चेष्टा कर डाली ॥८८॥

यथा—श्रीकृष्ण ने अपने दोनों चरणों के द्वारा उसके दोनों चरणों को दबाकर, उसके कुब्ब को बायें हाथ से दबाकर, एवं तर्जनी तथा मध्यमा अंगुली के द्वारा उसकी ठोड़ी को पकड़ कर, झटका मारकर उसको सीधा कर दिया ॥८९॥

तदनन्तर उस कुब्जा के पीठ आदि अवयवसमूह की कुटिलता (टेढ़ापन) उसके कटाक्ष में चली गई, एवं उसके कुब्ब की स्थूलता उसके स्तन, जंघा, एवं उरु में स्पष्ट ही चली गई। श्रीकृष्ण के स्पर्श के कारण यह कोई अपूर्व बात नहीं हो रही है, क्योंकि उस समय दूसरी सुन्दरियों की सुन्दरता भी उस कुब्जा को प्राप्त हो गई थी ॥९०॥

उसके बाद मथुरावासी लोगों ने आश्चर्यपूर्वक हलचलमय जिस कोलाहल को किया, उसकी विशेषता को तो कौन प्रस्तुत कर सकता है ? किन्तु सुन्दरतारूप सौभाग्य को करनेवाली, श्रीकृष्ण की विद्या के

"सम्पत्तिः किल गर्वमाशु तनुते दैन्यं विपत्तिर्बला-
देवं शास्त्रकथा वृथा न जगति स्यादेतदाकल्यताम् ।
कुब्जा सा किल रूपयौवनकलासम्पद्वती यर्ह्यभूत्
तर्ह्येवाशु हरेश्चकर्ष रभसादस्योत्तरीयाञ्चलम् ॥६२॥
ईशितां यदि भजेत दुर्गत,-स्तर्ह्यपि स्फुरति नीतिरस्य न ।
एहि वीर ! भज मां स्मरातुरा,-मित्युवाच जनधाम्नि कुब्जिका ॥"६३॥

ललितोवाच,—"यद्येवमनन्तलीलस्य खल्वस्य सा भोगवती जाता, तदास्मद्विधा-तलस्पर्शतास्थितिरपीयं तस्याः सदृशतां याता, तस्मादग्रचमेवाव्यग्रतया कथ्यताम् ॥"६४॥

मधुकण्ठः ससङ्कोचमुवाच,—"ततश्च परमदयालुः कौतुकपरतया सोऽयं सर्वाति-शयालुरपि लज्जालुतां सज्जन् समानवयसः सवयसः कौमारादेकारामं राममपि सस्मितं निशामयंस्तद्वञ्चनमयं स्मयं बिभ्राणः प्राह स्म, (भा० १०।४२।१२)—

'एष्यामि ते गृहं सुभ्रु ! पुंसामाधिविकर्षणम् ।
साधितार्थोऽगृहाणां नः पान्थानां त्वं परायणम् ॥'इति॥"६५॥

द्वारा सौभाग्य या सुन्दरता का उपभोग करनेवाली, कुब्जा के पीछे होनेवाले चरित्र के द्वारा तो, हम यह विचार करते हैं कि— ॥६१॥

सम्पत्ति निश्चितरूप से शीघ्र ही गर्व का विस्तार कर देती है, एवं विपत्ति बलपूर्वक दीनता का विस्तार कर देती है, इस प्रकार की शास्त्र की कथा जगत् में वृथा नहीं हो सकती। इस बात को देख लो, सुनलो, या समझलो। वह कुब्जा जब रूप, यौवन, एवं कलाओं की सम्पत्तिवाली हो गई; बस, तभी शीघ्र ही इन श्रीकृष्ण के दुपट्टे को वेगपूर्वक खींचने लग गई। उस विषय में यही दृष्टान्त है ॥६२॥

दरिद्रव्यक्ति दैवयोग से यदि प्रभुता को प्राप्त भी करले, तो भी इसकी नीति स्फुरित नहीं हो पाती, अर्थात् वह न्याय का व्यवहार नहीं कर पाता। देखो, इसीलिए तो वह कुब्जा जनसमुदाय से भरे हुए उस मथुरा के मार्गरूप स्थान में भी, श्रीकृष्ण से यह बोली कि—हे वीर ! आप हमारे घर की ओर आइये, एवं मुझ कामातुर को स्वीकार कीजिये ॥६३॥

ललिता बोली—यदि इस प्रकार अनन्त लीलावाले (श्लेषपक्षे—अनन्तः शेषः, अर्थात् शेषजी की सी लीलावाले) इन श्रीकृष्ण की वह कुब्जा उपभोग के योग्य हो गई (श्लेषपक्षे—भोगवती नामक नागों की पुरी ही यदि हो गई), तब तो यह हम जैसों की अतल स्पर्शतास्थिति भी (अतिशय गम्भीर मर्यादा भी) (श्लेषपक्षे—अतल नामक नीचे के लोक के स्पर्श की स्थिति) उस कुब्जा की समानता को प्राप्त हो गई। इसलिए अगले वृत्तान्त को ही सावधानीपूर्वक कहो ॥६४॥

मधुकण्ठ सङ्कोचपूर्वक बोला—उसके बाद परमदयालु वे ही ये श्रीकृष्ण कौतुक के पराधीन होकर, स्वभावतः सबका अतिक्रमण करनेवाले होकर भी, लज्जाशीलता को स्वीकार करते हुए, समान अवस्था-वाले मित्रों को, एवं कुमारावस्था से एकसाथ विहार करनेवाले श्रीबलराम को भी, मन्द हास्यपूर्वक सुनाते हुए, उस कुब्जा की वञ्चनामय ईषद् हास्य को धारण कर बोले—हे सुभ्रु ! मैं अपने प्रयोजन को सिद्ध करके, मानवमात्र की मानसीव्यथा को दूर करनेवाले, तुम्हारे घर में अवश्य आऊँगा। कारण—घर गृहस्थी से रहित हम जैसे पथिकों के लिए तुम्हीं तो परम आश्रयस्वरूप हो ॥६५॥

ललिता सस्मितमुवाच,--"अहो ! महद्भिर्यदुक्तम्, तदेव युक्तमपश्याम ।" विशाखोवाच,--"किं तदुच्यताम् ।" ललिता सहासमुवाच,--

''प्रासादीयति यः कुट्यां पर्यङ्कीयति मञ्चके ।
तस्य सन्तोषशीलस्य कुब्जिकाप्यप्सरायते ॥"इति॥९६॥

किञ्चिदिव विहस्य श्रीराधोवाच,-"स्वानुरोधः खलु परानुरोधाय स्यात्तत् कथमयमेवं न ब्रूयात् ?" ॥९७॥

मधुकण्ठ उवाच,—"भवतीषु तावदयं तादृश एव, तत्र पुनर्वयमीदृशं परामृशामः,—
"कृपालूनां दीनः स्वमभि यदि दृङ्मात्रमयते, तदा सर्वा तेषां भवति विभुता तस्य वशगा ।
त्रिवक्रायां कृष्णः क्षणिककुतुकाद्दृष्टिमदधा-दहो सासीत्प्रेयस्यनुकृतिकृते वल्गितबला ॥९८॥

"तथापि तु-- "करुणाशीलः सोऽयं, सकुतुकलीलः समन्ततः स्फुरतु ।
प्रभवेदेनं बन्धुं, बन्धुं राधे ! तवैव सत्प्रेम ॥"९९॥

तदेवं राधामाधवौ मिथःसुखापने कथासमापने मोहनमन्दिरमेवाविन्देताम् ॥१००॥

॥ इति श्रीश्रीमदुत्तरगोपालचम्पूमनु श्रीमथुरापुरान्तःप्रवेशनिर्देशो नाम चतुर्थं पूरणम् ॥४॥

ललिता मुसक्याकर बोली—अहो ! महात्माओं ने जो कुछ कहा है, हम तो उसी को उचितरूप से देख रही हैं। विशाखा बोली—वह क्या ? कहिये तो सही। ललिता हास्यपूर्वक बोली—जो व्यक्ति अपनी छोटी सी पर्णकुटी में राजाओं के महल का सा व्यवहार करता है, अर्थात् अपने को महल में ही रहनेवाला मानता है, एवं टूटे से मचान में भी पलङ्ग का सा आचरण करता है, उस सन्तोषशील व्यक्ति के सम्बन्ध में तो कुब्जा (कूबड़ी स्त्री) भी, अप्सरा का सा आचरण करती है ॥९६॥

यह सुन श्रीराधिका मानो नेक हँसकर बोलीं—अपनी अनुकूलता ही दूसरे की अनुकूलता के लिए हो सकती है, इसीलिए ये श्रीकृष्ण "हे सुभ्रु ! मैं तुम्हारे घर आऊँगा" इस प्रकार क्यों न कहेंगे ? ॥९७॥

मधुकण्ठ बोला—हे राधिके ! देखो, ये श्रीकृष्ण आप सब व्रजाङ्गनाओं के विषय में तो उसी प्रकार के विशुद्धभाव से युक्त हैं, किन्तु कुब्जा के अङ्गीकार के विषय में तो हम इस प्रकार परामर्श (विचार) करते हैं कि—अपने को लक्ष्य बनाकर दीनव्यक्ति यदि सहज दयालुजनों की दृष्टिमात्र को प्राप्त कर लेता है, अर्थात् उनके दृष्टिगोचर हो जाता है, तब उन दयालुजनों की सारी प्रभुता उस दीनव्यक्ति के अधीन हो जाती है। श्रीकृष्ण ने क्षणिक कौतुक से कुब्जा के ऊपर दृष्टि डाली थी, अहो ! कैसा आश्चर्य है कि वह कुब्जा इतने से ही श्रीकृष्ण की प्रेयसियों का अनुकरण करने के लिए, घोड़े की तरह चौकड़ी मार कर चलने के बल से युक्त हो गई ॥९८॥

तथापि दयालु स्वभाववाले एवं कौतुकपूर्वक लीला करनेवाले ये श्रीकृष्ण सभी भक्तों के हृदय में चारों ओर से यदि प्रकाशित होते हैं,तो भले ही प्रकाशित होते रहें, किन्तु हे श्रीमति राधिके ! इन प्रियतम बन्धु को बाँधने के लिए तो तुम्हारा सुन्दर प्रेम ही समर्थ हो सकता है ॥९९॥

इस प्रकार परस्पर सुखदायक कथा की समाप्ति हो जाने पर, श्रीराधा-माधव अपने मोहनमन्दिर में पहुँच गये ॥१००॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रिविरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीमदुत्तरगोपालचम्पूकाव्ये मथुरापुरान्तः प्रवेशो नाम
चतुर्थं पूरणं सम्पूर्णम् ॥४॥

अथ पञ्चमं पूरणम्

कंसवध-कथा

अथ श्रीकृष्णेन भासमानायां श्रीव्रजराजसभायां पुनः प्रातःकथा यथा—

स्निग्धकण्ठ उवाच,—"अथ रजनिरजनि; प्रजातायां च यस्यां बहुशिवायमाना शिवा श्रीकृष्णं प्रति शिवा जाता, कंसं प्रति स्फुटमशिवेति स्थिते तस्यां रजन्यां स्वप्न-जागरयोस्तस्य महाभयजनन्यां व्यतीतायां स पुनर्दम्भी गम्भीरं मल्ललीलारम्भं सम्भृतवान् ॥१॥

ततश्चालंकृतानां चालंकृतानां च शुभ्रमञ्चप्रपञ्चानामधिमध्यमध्यस्तं रङ्गस्थलं भ्राजमानचित्रविरचनं बभ्राजे। विद्युद्भ्राजमानादभ्रशरदभ्राणां तारकितं नभ इव ॥२॥

"तत्राप्युन्नततममञ्चमञ्चन् कंसः स्वयमखिलदुर्जनराजावतंसति स्म। तत्तु राजाधिपतागर्वग्रस्ततया सम्भवदपि त्रस्ततायामेव पर्यवस्यति स्म ॥३॥

"तत्र च— अक्रूरानकदुन्दुभी यदकृत स्वे मञ्चके प्रान्तयोः
पौरीणां गणभाजि देवकसुतां नन्दादिकान् दूरगे।
किञ्च द्वारि गजं दधे कुवलयापीडं निजाग्रस्थले
मल्लान् कूटतया स भोजनृपतिस्तस्मान्न कः क्षुभ्यति ? ॥४॥

पाँचवाँ पूरण

कंसवध लीला

इस पाँचवें पूरण में कुवलयापीड़ हाथी, चाणूर, मुष्टिक आदि मल्लों के सहित कंस का वध वर्णित होगा। अनन्तर श्रीकृष्ण के द्वारा विराजमान श्रीव्रजराज की सभा में पुनः प्रातःकाल की कथा, यथा—स्निग्धकण्ठ बोला—श्रीकृष्ण बलदेव के मथुरा भ्रमण के बाद रात्रि हो गई। और जिस रात्रि के होते ही बहुत सी शिवा (शृगाली), अर्थात् गीदड़ियों का सा आचरण करती हुई शिवा (भवानीदेवी) श्रीकृष्ण के प्रति तो मङ्गलरूप हो गई, एवं कंस के प्रति स्पष्ट ही अमङ्गलरूप हो गई। ऐसी स्थिति में कंस की स्वप्न एवं जागृत अवस्था में महाभयजनक उस रात्रि के बीत जानेपर, उस दम्भी कंस ने पुनः गम्भीर मल्ललीला के आरम्भ को परिपुष्ट कर दिया ॥१॥

उसके बाद विशेषतापूर्वक बनाये गये और सजाये गये शुक्लवर्ण के मञ्चों के विस्तार के बीच में विद्यमान जो रङ्गस्थल था, वह देदीप्यमान चित्र विचित्र रचनाओं से उस प्रकार विराजमान था कि, जिस प्रकार बिजली से देदीप्यमान बहुत से शरत्कालीन मेघोंके बीच में ताराओं से आकाश विराजमान हो ॥२॥

उस रङ्गस्थल में भी अत्यन्त ऊँचे मञ्च को पाकर, अर्थात् उसपर बैठकर, कंस स्वयं समस्त दुर्जन राजाओं के शिरोभूषण का सा व्यवहार कर रहा था, अर्थात् मुकुटमणि बन कर बैठा था। और वह अत्यन्त ऊँचे मञ्चपर बैठना तो राजाओं के आधिपत्यरूप गर्व से ग्रस्त होने के कारण, सम्मान का विषय होकर भी, श्रीकृष्ण की ओर से भयभीतरूप में परिणत हो रहा था ॥३॥

और उसमें भी भोजराज कंस ने अपने मञ्च के निकटवर्ती प्रान्त में, अर्थात् अपने दोनों बगल में जिस कारण से अक्रूर एवं वसुदेव को निविष्ट कर रखा था, और पुरवासिनी स्त्रियों के समुदाय से युक्त मञ्चपर देवकी को, तथा श्रीनन्दादि गोपों को अपने से दूरवर्ती मञ्चपर निविष्ट कर रखा था, किंच रङ्ग-

"तत्र च— कंसाज्ञयासीद् यद्वाद्यमत्र मल्लकलोचितम् ।
तदेव मङ्गलं जज्ञे प्रस्थाने रामकृष्णयोः ॥५॥

"अथ तयोर्निजतदनर्गलताव्यञ्जनाय स्वयमनागम्य प्रथमप्रस्थापित-स्थविरगोपवर्गयोः कृतप्रातःकृतिसर्गयोर्यदा रङ्गपुरद्वारपुरप्रदेशप्रवेशः समजनि, तदा तु लोककोलाहलत एव सर्वस्तत् कलयामास ॥६॥

"ततश्च सदोत्कटं मदोत्कटं गलत्कटं नगो वा नागो वेति निर्णिनीषतां कृतव्रीडं कुवलयापीडं निष्पीडयितुमंशुकमापीडं च दृढीकुर्वन्नग्रजसखिव्रजकृतानुव्रजनः सुरेतरमर्दनः स्वयमग्रेसरतामवाप ॥७॥

"स्निग्धा न्यषेधन् ये तत्र गिरा स्वं शत्रवस्तथा ।
उभयांस्तान् स्मितेनैव पश्यन् द्विपमगाद्धरिः ॥८॥

"ततश्च श्रीहरिणा—"तद्वर्त्मप्रार्थनं तत्कुपितगजमपि प्रार्दनं तन्निजाङ्ग-
स्याभीक्ष्णं तस्य शुण्डारदपदवलनं तत्ततो मोचनं च ।
तत्पुच्छाकर्षणं तद्भ्रमणमभिमुखीभूय तत्ताडनं तद्-
विद्रुत्य द्राक् पतित्वा द्रवभरमनु निष्पातनं संभ्रमय्य ॥९॥

स्थल के द्वारपर कुवयापीड़ नामक हाथी को रख छोड़ा, एवं अपने आगे के स्थान में कपट के भाव से निश्चलतापूर्वक चाणूर आदि मल्लों को रख छोड़ा था, उस कारण से कौन व्यक्ति क्षुभित न होगा ? ॥४॥

और उसमें भी कंस की आज्ञा से इस रङ्गस्थल में मल्लों की कलाओं के उचित जो बाजा बजा था, वह बाजा ही श्रीकृष्ण बलदेव के रङ्गस्थल में प्रस्थान के समय मङ्गलरूप हो गया था ॥५॥

उसके बाद अपनी सहज स्वतन्त्रता को व्यक्त करने के लिए स्वयं न आकर, पहले वृद्ध गोपसमुदाय को भेजनेवाले एवं प्रातःकालीन कृत्य का अनुष्ठान जिन्होंने कर लिया, ऐसे उन दोनों कृष्ण बलदेव का जब रङ्गस्थल के अग्रिम प्रदेशपर प्रवेश हुआ, तब तो लोगों के कोलाहल से ही सब जनों ने उनके प्रवेश को जान लिया ॥६॥

उसके बाद सदैव भयंकर एवं मतवाले तथा अपने गण्डस्थल से मद बहानेवाले और "यह पर्वत है, या हाथी है" इस प्रकार के निर्णय करने की इच्छावालों को लज्जित करनेवाले कुवलयापीड़ हाथी को विशेष पीडित करने के लिए, अर्थात् मारने के लिए अपने पीताम्वर को एवं मुकुट को दृढ करते हुए, एवं बड़े भाई बलरामजी को तथा सखामण्डल को अपना अनुगामी बनाते हुए, असुरों का मर्दन करनेवाले श्रीकृष्ण स्वयं अग्रसर हो गये ॥७॥

वहाँपर जो स्नेहीजन तथा शत्रुजन अपने को हाथी के पास जाने से वाणी के द्वारा रोक रहे थे, उन दोनों प्रकार के व्यक्तियों को अपनी मन्दमुसकान से ही देखते हुए, श्रीकृष्ण हाथी के निकट चले गये ॥८॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण के द्वारा उस रङ्गस्थल के मार्ग की याचना, पश्चात् पीलवान के द्वारा कुपित किये गये हाथी के निकट जाना, पुनः बारंबार अपने शरीर को उस हाथी की सूँड़, दाँत, एवं चरणों में प्रविष्ट करना, पश्चात् उनसे छुड़ाना, हाथी की पूँछ को खींचना, उस हाथी को घुमाना, उसके सम्मुख होकर उसकी ताडना करना, उसके सामने दौड़कर शीघ्र ही धरती में गिरकर पुनः वेग की अधिकता के साथ हाथी को घुमाकर धरती में गिराना, पुनः अपने ऊपर प्रहार से वञ्चित किये हुए उसके दोनों दाँतों

तद्दद्भ्यां वञ्चिताभ्यां क्षितिहतिवलनात् क्षोभणं तत् पुनश्च
प्रत्यासद्याग्रहस्तग्रहणरचनया स्रंसनं भूमिपृष्ठे ।
तद्वर्ष्माक्रम्य तत्तद्दशनविघटनं तेन तद्घातनं च
द्रष्टॄन् सिन्धोस्तरङ्गप्रतिममनयदुन्मज्जनं मज्जनं च ॥१०॥ युग्मकम् ॥

हस्तिनः कथिते घाते हस्तिपां तत्कथा वृथा ।
मल्ले क्षुण्णे तु तत्स्थानां यूकानां तत् किमुच्यताम् ? ॥११॥

"तदा चायं विशेषः,—

"पर्यटन्नट एवायं सिंह एव स संहरन् ।
भिन्दन् भिदुरमेवेति करिणा हरिरैक्ष्यत ॥१२॥

हत्वा नागं दन्तयुग्मं गृहीत्वा, भ्रात्रे प्रादात् कंसशत्रुस्तदेकम् ।
एको निर्मात्यावयोर्यद् यशस्तद्,-द्विष्ठं दिष्टं स्यात् समन्तादितीव ॥१३॥

कुञ्जरं हरिरघातयद्बलो,-ऽप्यत्र रक्तमदबिन्दुभिश्रितः ।
पारिपार्श्विकतया तदन्तिके, च्छाययेव यदसौ तदाऽभ्रमत् ॥१४॥

के द्वारा भूमि में प्रहार के सम्बन्ध से उसको क्षुभित करना, पुनः उस हाथी के निकट आकर उसकी सूँड़ की ग्रहण करने की रचना के द्वारा उसको भूतलपर गिराना, पश्चात् हाथी के शरीर का आक्रमण कर उसके दोनों दाँतों को उखाड़ना, एवं उसी दाँत के द्वारा उस हाथी का वध करना, इस प्रकार समुद्र की तरङ्गों की समानतावाले श्रीहरिचरित ने दर्शकजनों को आनन्द में उन्मग्न एवं निमग्न कर दिया ॥९-१०॥

कुवलयापीड़ हाथी का वध कह देनेपर उसके रक्षक पीलवानों के वध की कथा कहना व्यर्थ है। इस विषय में दृष्टान्त यह है कि—मल्ल के चूर्ण हो जानेपर उसके शरीर में रहनेवाली जूँओं के मरने के सम्बन्ध में फिर कहना ही क्या है ? अर्थात् उनका वध तो अनायास साथ में ही हो जाता है ॥११॥

उस समय विशेष बात यह थी कि—उस हाथी ने चारों ओर घूमते हुए श्रीकृष्ण को मानो नट ही देखा, एवं अपना संहार करते समय सिंह ही देखा, तथा अपने शरीर को विदीर्ण करते समय मानो वज्र ही देखा ॥१२॥

कंसारि श्रीकृष्ण ने हाथी को मारकर उसके दोनों दाँतों को लेकर, उनमें से एक दाँत भैया बलदेवजी को दे दिया। इस बात से मानो चारों ओर यह उपदेश दिया कि—हम दोनों भाइयों में से एक-जन जिस यश का निर्माण करता है, वह यश दोनों में ही स्थित हो सकता है। भावार्थ यह है कि—कवियों के सम्प्रदाय में यश को सफेद माना है, हाथी का दाँत भी सफेद होता है, अतः उस सफेद दाँत को समर्पण करते समय यह भाव दिखाया कि—हाथी के मारने का आधा यश मानो श्रीबलदेवजी को भी समर्पित कर दिया ॥१३॥

हाथी को तो श्रीकृष्ण ने मारा, किन्तु यहाँपर बलदेवजी भी हाथी के रक्त एवं मद के बिन्दुओं से व्याप्त हो गये थे। कारण उस समय बलदेवजी श्रीकृष्ण के निकट चारों ओर पार्श्ववर्ती (पास में) होकर, छाया की तरह भ्रमण कर रहे थे ॥१४॥

"तदेवं गीर्वाणा अपि यद्बृंहितबाणाद्भयमयमानास्तत एव किल शश्वदस्वप्नान्नाम्नाप्य-स्वप्ना जाताः, सोऽयं कुवलयापीडः करी दानवारिवरीयानपि दानवारिकृतदानमाप्तवानिति ते पुनर्लेखा विस्मयेन लेखा इवासन्। तत्र च सति कंसं प्रति सहसा न कश्चन भिया शशंस ॥१५॥ "तदनु च—

"पूर्वाह्लुण्ठितनृपांशुकशोभितांशू, सद्योविघातितमहागजदन्तपाणी।
तद्रक्तदानरचिताङ्गदकङ्कणौ तौ, तादृग्गणैर्विविशतुर्नृपतेः पुरस्तात् ॥१६॥

शौर्यमेव पुरुषस्य भूषणं, यत्र हेयमपि याति गेयताम्।
दन्तिरक्तमदबिन्दवस्तनुं, कंससंसदि तयोररूरुचन् ॥१७॥

द्विषन्तो भीष्माङ्गं ददृशुरजितं तर्हि पुरत-, स्तटस्था मध्यस्थं प्रणयमनसः शर्मवपुषम्।
विशेषं तत्रापि स्फुटमधिययुस्ते बहुविधं, यथा भावस्तद्वद्युगपदयमुच्चैर्विभवति ॥१८॥

अतएव इस प्रकार देवगण भी जिस कुवलयापीड़ की गर्जनारूप बाण से भय को प्राप्त होते हुए, सत्य ही मानो इसी कारण से निरन्तर शयन न करने से, नाम से भी 'अस्वप्नाः' हो गये। यद्यपि सर्वदा शयन न करने के कारण देवताओं का 'अस्वप्नाः' यह नाम चिरकालीन है, तथापि कवि ने यहाँपर कुवलया-पीड़ की गर्जना के भय से शयन न करने के कारण 'अस्वप्नाः' यह नाम उत्प्रेक्षित किया है। और यह कुवलयापीड़ हाथी देवताओं में श्रेष्ठ होकर भी, दैत्यारि श्रीकृष्ण के द्वारा खण्डन को प्राप्त हो गया। इस कारण पुनः वे 'लेखाः' (देवगण) विस्मय से 'लेखा इव' (लेखों की तरह किंवा चित्रलिखों की तरह) हो गये थे। एवं उस हाथी के मारे जानेपर भय के कारण सहसा किसी ने भी इस वृत्तान्त को कंस के प्रति नहीं कहा ॥१५॥

और उसके बाद पहले दिन (मथुरा भ्रमण के समय) लूटे हुए कंस के वस्त्रों के द्वारा शोभित किरणोंवाले, तत्काल मारे हुए विशाल हाथी के दाँतों को हाथ में लेनेवाले, एवं उस हाथी के रक्त से तथा मदजल से रचे हुए बाजूबन्द एवं कंकणोंवाले वे दोनों भाई, उसी प्रकार की शोभा से युक्त बन्धुगणों के सहित, भूपति कंस के आगे (रङ्गस्थल में) प्रविष्ट हो गये ॥१६॥

शौर्य ही पुरुष का भूषण है, जिसमें हेय (त्याज्य) वस्तु भी प्रशंसापूर्वक कहने योग्य हो जाती है। इसी बात को देख लो कि—कंस की सभा में हाथी के रक्त एवं मद के बिन्दुओं ने श्रीकृष्ण बलदेव के शरीर को सुशोभित कर दिया था ॥१७॥

उस समय शत्रुओं ने श्रीकृष्ण को भयङ्कर अङ्गोंवाला देखा, एवं सामने बैठे हुए तटस्थ (उदासीन) व्यक्तियों ने 'न भयानक, न सुखद' ऐसा मध्यस्थरूप से देखा। और प्रेम से युक्त मनवाले स्नेहीजनों ने श्रीकृष्ण को सुखमय शरीरवाला देखा, उसमें भी वे स्नेहीजन अनेक प्रकार की विशेषता को स्पष्ट ही प्राप्त कर रहे थे। कारण—ये श्रीकृष्ण, जिसका जैसा भाव है, उसी प्रकार एकसाथ विशेषतापूर्वक प्रकाशित होते रहते हैं। (श्रीकृष्ण—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, शृङ्गार, हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक और बीभत्स इन द्वादश रसों के विषय हैं। जिनको कंस के रङ्गस्थल में प्रवेश करते समय सभी जनों ने स्व-स्व रसानुसार देखा था। जिसका वर्णन भा० १०।४३।१७ "मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः" इत्यादिरूप से किया है। अन्य ग्रन्थों में भी इसका वर्णन मिलता है, यथा—भ० र० सि० ४।८।८४-८५ "दैत्याचार्या····", ल०मा०ना० ४।४ "दैत्याचार्या····", बृ०वै०तो०, सं० वै० तो०, सा० द०; भा० १०।४३।१७,

वर्ण्यं तद्वा कियदिह भवेत्तस्य माधुर्यवर्यं, जीवत्कंसेऽप्यथ सदसि यद्वन्दितं लोकलक्षैः ।
तेजस्तद्वा कतिपयमितः कथ्यतां यत्र मग्नं, प्राणन्तं तं मृतमिव सुरा मेनिरे भोजराजम् ॥१९

"अथागतौ च गृहीतमृणालनालहस्तहस्तिनाविव धृतदन्तिदन्तौ बृहदुरस्वन्तौ सोऽयमेव किमिति सावहेलशंसनेन कंसं विलोक्य तौ श्लोक्यचरितौ तं पृष्ठदेशपरामृष्टं कुर्वन्तौ तत इतो दृष्टिविसृष्टिं चक्रतुः ॥२०॥

"ततश्च परिवृत्य श्रीहरिः पुनरहो पश्यत त्रिदिवस्य वर्त्मार्धमेवानुवर्तमानः सोऽयं वर्तते, तस्मात्तत्र प्रस्थापनमस्य नातिदुरावस्थापमिति हसित्वा सखिभिरखिलैः सह लसित्वा च परस्परं परं वृत्तं वर्तयामास ॥२१॥

"अथ स्वहतगजरक्तरक्ततया प्रलयकालव्यक्तनीललोहितायमानतापात्रस्य गात्रस्य विलोकनमात्रतः प्राप्ततेजोध्वंसं कंसं काविमाविति शंसन्तं पार्श्ववर्तिनः प्रोचुः,—एतावेव तौ' इति ॥२२॥

"कंस उवाच,—'अनयोः करयोः किं दृश्यते ? गात्रं वा केन चित्रपात्रं कृतम् ?' सर्वेऽप्यूचुः,—'कुवलयापीडस्य दन्ताविवाकल्येते गात्रं च तद्रक्तरक्तं भवेत् ।' "कंसः ससंरम्भ-

---

गो० लीला० १७।२०-२१ "वदान्येशस्तृष्णा·····", गर्गसंहिता मथुराखण्ड ७।३६-३७ "मल्लाश्च मल्लं", कृष्णलीलास्तवः ३६९-३७० "महावीर महारम्य", इत्यादि) ॥१८॥

श्रीकृष्ण का वह श्रेष्ठ माधुर्य यहाँपर कितना वर्णन किया जा सकता है ? कारण—कंस के जीते जी उसी की सभा में भी लाखों लोगों ने जिस लोकोत्तर माधुर्य की प्रशंसा की, अर्थात् उसका यथार्थरूपेण वर्णन करना कठिन है । और यहाँपर श्रीकृष्ण का वह विशिष्ट तेज भी कितना कहा जा सकता है कि, जिस तेज में डूबे हुए एवं जीते हुए उस भोजराज कंस को देवताओं ने मृतक सा ही समझा था ॥१९॥

तदनन्तर रङ्गस्थल में आनेवाले, अपनी सूँड़ में मृणाल के नाल को ग्रहण किये हुए दो हाथियों की तरह, हाथी के दाँत को (कंधेपर) धारण करनेवाले, विशाल वक्षःस्थलवाले, एवं "अत्यन्त दुर्दान्त वह कंस यही है क्या ?" इस प्रकार तिरस्कारपूर्वक कह करके कंस को देखकर, प्रशंसनीय चरितवाले कृष्ण बलदेव ने कंस को अपनी पीठ की ओर करते हुए इधर उधर चारों ओर दृष्टिपात किया ॥२०॥

उसके बाद कंस की ओर फिरकर श्रीकृष्ण बोले—अरे भाइयो ! आश्चर्य देखो तो सही । यह कंस मेरे डर के मारे स्वर्ग के आधे मार्ग का अनुगमन करता हुआ विद्यमान है, अतः वहाँपर इसका भेजना अत्यन्त असाध्य नहीं है । इस प्रकार हंसकर सभी सखाओं के साथ सुशोभित होकर परस्पर में परम चरित्र प्रवर्तित कर दिया ॥२१॥

अनन्तर अपने द्वारा मारे गये हाथी के रक्त से रक्तवर्ण होने के कारण, प्रलयकाल में प्रगट हुए महादेवजी के से आचरण के पात्ररूप श्रीकृष्ण के गात्र के अवलोकनमात्र से तेजविहीन हुए एवं "ये दोनों कौन हैं ?" इस प्रकार कहते हुए कंस के प्रति उसके निकटवर्ती जन बोले—हे राजन् ! ये दोनों वे ही कृष्ण बलदेव हैं "जिन्होंने शंकर के धनुष् को तोड़ दिया" ॥२२॥

कस बोला—इन दोनों के हाथों में यह क्या दिखाई देता है ? एवं इन दोनों का शरीर किस वस्तु के द्वारा चित्रित किया है ? सभी पार्श्ववर्ती बोले—राजन् ! कुवलयापीड़ हाथी के दोनों दाँत से ही दिखाई दे रहे हैं, एवं इनका शरीर भी उस हाथी के रक्त से रक्तवर्णवाला हो सकता है । कंस क्रोध एवं अहंकार-

दम्भमुवाच,—'हंहो ! अंहोवलिता ! द्वयमपि वाङ्मात्रपात्रायमाणमिदमसम्भवम् ।' "अथ पुनरदत्तोत्तरेषु भयोत्तरेषु च तेषु स्वयमेव तयोः प्रभावस्तं बोधयामास ॥२३॥

"यतः, यदि त्वं रे कंस ! स्वयमसि बली र्ताह धिगमुं
कथं द्वारे नागं कलयसि न तत्र स्वकवपुः ? ।
रदाभ्यां स श्रेयानिति यदि तदावामिव कथं
न तौ गृह्णासीति ध्वनितममुकाभ्यां स्वकलया ? ॥२४॥

"तदेवं सति— "सोऽयं पूतनिकामहन् शकटकं व्यावर्तयत् तं मरुद्-
दैत्यं प्रार्दयदर्जुनद्वयमपि प्रार्दत् तदित्यादिकम् ।
श्रीमद्गोकुलकेलिमस्य कलयँल्लोकः पुरा पश्यत-
स्तांस्तर्ह्यार्द्रयदद्य चार्द्रयति भोः पश्चापरान् शृण्वतः ॥२५॥

"तत्र च नयनयोर्विस्तारणया ताभ्यां तयोः सकलमपि रूपं युगपत् पातुमिव वर्णनारसरसनाय रसनायाश्चालनया निखिलमपि माधुर्यं लेढुमिव तल्लाभपर्वगर्वतः स्फुटनासापुटप्रफुल्लनया ताभ्यां समस्तमपि सौरभ्यमभ्यन्तरे प्रवेशयितुमिव मुहुरप्यस्ताभ्यां हस्ताभ्यां निर्देशनया ताभ्यां साङ्गमप्यङ्गमालिङ्गितुमिवेहमाने सुखं च सचमाने सुरनरसर्गे शब्दायमाने च चित्रवादित्रवर्गे सर्वेषां मुखतः सर्वसुखदस्तुतिः प्रस्तुतिमवापेति ॥२६॥

पूर्वक बोला—ओरे ! पापियो ! वाणीमात्र की पात्रताका आचरण करनेवाली ये दोनों बातें ही असम्भव हैं। उसके बाद निकटवर्ती जनों के पुनः उत्तर न देनेपर, एवं अधिक भयभीत हो जानेपर, स्वयं श्रीकृष्ण-बलदेव के प्रभाव ने ही कंस को समझा दिया ॥२३॥

कारण—अरे कंस ! यदि तू स्वयं बलवान् है, तब तो तुझको धिक्कार है। क्योंकि इस रङ्गस्थल के द्वारपर उस हाथी को क्यों स्थापित किया ? वहाँपर अपने शरीर को क्यों न स्थापित किया ? यदि तू उस हाथी को दो दाँतों के कारण ही श्रेष्ठ मानता है, तब हम दोनों की तरह उन दोनों दाँतों को क्यों ग्रहण नहीं करता है ? कृष्ण-बलदेव ने अपनी कला के द्वारा ही यह बात ध्वनित कर दी ॥२४॥

इस प्रकार की घटना के बाद पूतना को इसी ने मारा है, शकटासुर को इसी ने पलटा है, उस तृणावर्त दैत्य को इसी ने पीडित किया है, दोनों यमलार्जुन वृक्षों को भी इसी ने उखाड़ा है, इस प्रकार श्रीकृष्ण की शोभायमान व्रज की लीला को वर्णन करते हुए, पहले कंस के आगे रङ्गस्थल में बैठे हुए जन-मात्र ने, उस समय श्रीकृष्ण बलदेव को देखनेवाले जनों को स्नेहयुक्त कर दिया था। अहो ! देखो, आज भी श्रवण करनेवाले अन्य जनों को वह वर्णन स्नेहयुक्त कर रहा है ॥२५॥

और वहाँपर अपने अपने नेत्रों के विस्तार के कारण उन नेत्रों के द्वारा, कृष्ण बलदेव के सम्पूर्णरूप को भी मानो एकसाथ पीने के लिए, एवं वर्णनरूप रस के आस्वाद के लिए जिह्वा के चलाने के कारण, मानो सम्पूर्ण माधुर्य का भी आस्वाद लेने के लिए, तथा कृष्ण बलदेव की प्राप्तिरूप महोत्सव के गर्व से, स्पष्ट नासापुटों की प्रफुल्लता से उन दोनों नासापुटों के द्वारा मानो सम्पूर्ण सुगन्ध को अपने अन्तःकरण में प्रवेश कराने के लिए, और बारंबार फेंके हुए दोनों हाथों के निर्देश से मानो उन दोनों हाथों के द्वारा, श्रीकृष्ण बलदेव के सम्पूर्ण अङ्ग को भी आलिङ्गन करने के लिए, सुर नरों की सृष्टि जब चेष्टा कर रही

"स एष तत्प्रभावविशेषः शश्वद्भावनामभिभवन् विभवति स्म। यत्र कंसेन युद्धाय पूर्वमेव प्रेरिता विपरीतवादितायामपि मल्लाः स्तुतावेव पर्यवसिताः ॥२७॥

"तथा हि—तदेवं स्थिते क्रूरधामा चाणूरनामा शशंस; यत्र हे नन्दसूनो ! हे रामेति निरादरपितृनाम्ना विना च तन्नाम्ना सम्बोधनद्वयमन्यथाबोधनाय प्रवर्तितमपि सरस्वत्या तद्वागिन्द्रियं स्तुत्यर्थमेव नर्तितमासीत्। हे पितृनाम्ना स्वनाम्ना च सुचरितसमुदाचारकुमार-द्वयतया समानावतार ! श्रूयतामिति ॥२८॥

"श्रीकृष्णः सस्मितमुवाच,—'काममाज्ञाप्यताम्।' "चाणूर उवाच,—'भवतोर्भागधेयं चेतसि कियदाधेयतामाप्नोतु।' "श्रीकृष्ण उवाच,—'कीदृशम् ?' "चाणूर उवाच—'तेऽमी महाराजचरणा भवतोरनुग्रहमयदिदृक्षाचरणा विराजन्ते' इति। "श्रीकृष्ण उवाच,—'सत्यम्, किञ्चिदस्मत्कृत्यं पुनरुपदिश्यताम्।' "चाणूर उवाच,—'सङ्गतमेवेदं भवतः सङ्गीर्णम्; तथापि युवयोरितः शश्वत्पराङ्मुखता नास्मान् सुखयति ॥'२९॥

"श्रीकृष्ण उवाच,—'वयं वनेचरा नरा न राजगणे गणेयानां नीतिमुन्नीतिमानयामः। सम्प्रति तु भवदुपदेशमेवानुसरन्तः स्वदेशरूपमाचरिष्यामः ॥'३०॥

थी, एवं अपूर्व सुख को प्राप्त हो रही थी, और विचित्र वाद्यसमूह जब बज रहे थे, तब सभीजनों के मुख से सर्वजनसुखदायक स्तुति प्रस्तुत (प्रारम्भ) हो गई ॥२६॥

और यह श्रीकृष्ण बलदेव का लोकोत्तर प्रभावविशेष निरन्तर पर्यालोचना को दबाता हुआ विशेष बढ़ गया था। जिस प्रभावविशेष में कंस के द्वारा पहले ही प्रेरित किये गये मल्ल विपरीत बोलने में भी कृष्ण बलदेव की स्तुति में परिणत हो गये ॥२७॥

देखो, ऐसी स्थितिमें कठोर शरीरवाला चाणूर नामक मल्ल बोला—जिस बोलने में-"हे नन्दसूनो ! हे राम !" इस प्रकार आदररहित पिता के नाम के द्वारा और बलरामजी के नाम के साथ पिता के नाम के बिना, दोनों सम्बोधन दूसरी तरह से, अर्थात् निन्दा जताने के निमित्त प्रवर्तित होकर भी, सरस्वतीदेवी के द्वारा चाणूर की वाणीरूप इन्द्रिय मानो स्तुति के लिए ही नचा दी थी। यथा—हे नन्दसूनो ! इस प्रकार पिता के नाम से, एवं हे राम ! इस प्रकार अपने नाम से ही सुन्दर चरित एवं हर्ष से युक्त व्यवहारवाले दोनों कुमार होने के कारण, समान अवतारवाले तुम दोनों मेरी बात को सुनो ॥२८॥

श्रीकृष्ण मन्दहासपूर्वक बोले—स्वेच्छापूर्वक आज्ञा कीजिये। चाणूर—आप दोनों का भाग्य, चित्त में कितनी स्थिति के भाव को प्राप्त हो सकता है ? अर्थात् कितना धारण किया जा सकता है ? (यह मैं नहीं जानता)। श्रीकृष्ण—कैसा भाग्य ? चाणूर—ये पूज्यपाद महाराज कंस आप दोनों के ऊपर अनुग्रहमयी देखने की इच्छा के आचरण से युक्त होकर सभा में विराजमान हैं। श्रीकृष्ण—यह बात सत्य है, किन्तु हमारे करने योग्य किसी कार्य का उपदेश दीजिये। चाणूर—आपका यह सङ्गीर्ण (अङ्गीकार) सङ्गति से युक्त ही है, तथापि तुम दोनों की राजा की ओर से निरन्तर जो विमुखता है, वह हमको सुखित नहीं करती है ॥२९॥

श्रीकृष्ण—हम तो वन में विचरण करनेवाले मनुष्य हैं, अतः राजकीय सेवकों में जो गण्यमान्य व्यक्ति हैं, हम उनकी नीति को उन्नतिपर नहीं पहुँचा रहे हैं। किन्तु अब तो आपके उपदेश का अनुसरण करते हुए अपने योग्य विषय का आचरण करेंगे ॥३०॥

"चाणूर उवाच,—'सम्प्रति युवां प्रति राजवर्यचरणा यदादिशन्ति, तत् पुनराचर्यताम् ।' "श्रीकृष्णः सविनयमिवाह स्म,—'मल्लतल्लज ! यथायथमादिश्यताम् ।' चाणूर उवाच,—'अस्माभिः सह भवन्तावथ क्रीडासुखमनुभवन्ताविह भवताम् ।' "श्रीकृष्ण उवाच—'बालानामस्माकं क्रीडावलोचनं राज्ञां रोचनमेव, किन्तु युष्माभिरिति शोचनमेव प्रतिपद्यते । तस्माद्भवतामेव तदिदमुपहासप्रकाशनम्, न तु तत्रभवतां राजविभववतामुपपद्यते ।' "चाणूर उवाच,—'राजचरणेभ्य एव शपे, राज्ञामेवेयमाज्ञा ।' श्रीकृष्ण उवाच,—'कथमिव ? ॥३१॥

"चाणूर उवाच,—'बालस्त्वं न हि पूतनादिदलनादासीर्न वाविद्यथाः

पौगण्डः क्षितिभृद्विधारणमुखक्रीडाकुलव्यापृतेः ।

नैवायं घटसे किशोर इति च प्रत्यक्षदिग्दन्तिवद्

दन्तिप्रार्दनतान्तकर्मरचनाद् राज्ञस्ततः कौतुकम् ॥'३२॥

'अयं तु तव ज्यायान् प्रलम्बाद्यालम्भकर्मणा ज्यायानेव ॥'३३॥

"श्रीकृष्ण उवाच,—'वृथास्मद्द्वेषादेव पापात्तेषामन्यथापत्तिर्जाता, पर्वतश्च लब्धमखपर्वतया शतपर्वपाणेर्गर्वखर्वणार्थं स्वयमेव तथा जातः । स्वयं तु वयं यथावदेव सर्वथा वर्तामहे । धनुरपि पुरातनतया पुरा घुणाकीर्णमिव जीर्णं वहद्भिर्दूराद्विकीर्णतया स्वयमेव

चाणूर—अब तुम दोनों के प्रति राजाधिराज जो आदेश दें उसी का पुनः आचरण करो । श्रीकृष्ण मानो विनयपूर्वक—हे मल्लश्रेष्ठ ! यथायोग्य कार्य का आदेश दीजिये । चाणूर—आज आप दोनों हम सबके साथ क्रीडा सुख का अनुभव करते हुए, यहाँपर उपस्थित रहो । श्रीकृष्ण—हम सब बालक हैं, अतः हमारे खेलों को देखना राजाओं को रुचिकर ही है, यह ठीक है, किन्तु तुम सबके साथ मिलकर किये हुए खेलों को देखना तो शोक को ही प्राप्त कर रहा है ! इसलिए आप सबके साथ जो क्रीडा करना है, वह आप सबका ही उपहास प्रकाशित करना है । किंच राजकीय वैभववाले पूज्यपाद आप सबके लिए हम सब बालकों के साथ क्रीडा करना युक्तियुक्त नहीं है । चाणूर—पूज्यपाद महाराज की शपथ करता हूँ कि, यह हमारे महाराज की ही आज्ञा है । श्रीकृष्ण—किस प्रकार है ? ॥३१॥

चाणूर—भयंकर पूतना आदि दैत्यों के दलन करने के कारण, तुम पहले भी बालक नहीं थे, एवं **गोवर्धन** धारण आदि क्रीडासमूह में संलग्न रहने के कारण, पौगण्ड अवस्थावाले भी तुम नहीं थे । और अब प्रत्यक्ष ही दिग्गज की तरह कुवलयापीड़ हाथी का मारना ही है अन्त में, जिनके ऐसे धनुर्भङ्गादि कर्म करने के कारण ये तुम किशोर भी संघटित नहीं हो रहे हो । अतः तुम्हारे महाबली होने के कारण, हमारे साथ युद्धरूप क्रीडा देखने में हमारे राजा को महान् कौतुक हो रहा है ॥३२॥

और ये तुम्हारे बड़े भाई बलराम भी प्रलम्ब, धेनुक आदि के मारने के कार्य से अति श्रेष्ठ ही हैं, या बड़े ही हैं ॥३३॥

श्रीकृष्ण—हमारे ऊपर वृथा द्वेष एवं पापाचरण के कारण उन पूतनादि राक्षसों की मृत्यु हो गई । और श्रीगोवर्धन पर्वत भी यज्ञीय उत्सव का लाभ करने के कारण, इन्द्र के अहंकार को छोटा करने के लिए स्वयं ही उस प्रकार मेरे हाथपर स्थित हो गया था । किन्तु हम तो स्वयं सर्वथा श्रीव्रजराजकुमार रूप से ही वर्तमान रहते हैं । और देखो, वह शंकरजी का धनुष् भी पुराना होने के कारण पहले ही घुण से व्याप्त की तरह जीर्ण ही था, एवं ढोनेवालों से दूर फेंका जाने के कारण स्वयं ही विदीर्ण होकर, मेरे

दीर्णं सत् स्पर्शमात्रात् विशीर्णं जातम्। कुवलयापीडश्च पीडयितुं द्रवन्नपद्रवन्तं मामनासद्य सद्यः पृथिव्यन्तर्दन्तावक्गाढावावरंस्तावाक्रष्टुं न शशाक, परन्तु प्रघट्टयमानतया त्रुट्यन्तावेव घटयन् स्वप्राणानपि विघटयामासेति। तत्र तत्र शीघ्रताघ्रातालोकेन लोकेन पुनरहमेव तत्र कारणतया घटयामासे। तथा हस्तिपा अपि तदधस्ताद्धस्तिमापन्ना एव विपन्ना इति मान्यथा मन्यथाः ॥'३४॥

"चाणूर उवाच,—'भवतानुचितमेव संकुचितचित्तीभवता तदिदमपलप्यते। राजमहाशयास्तु तत्र तत्र न जातानुशयाः, प्रत्युत चिराय निजान्तिकस्थापितानां गर्वितानां गर्वदमनार्थमेव तत्र प्रस्थापितानां तेषां वृथाकृतपालनविशेषाणां परीवर्ताद्भवन्तावेव केवलावात्मबलाय कल्पयितुमिच्छन्ति ॥'३५॥

"श्रीकृष्ण उवाच,—'तदतीवास्माकं विस्मायकं भाग्यम्; किन्त्वात्मनात्मनः स्तुत्याः प्रस्तुत्या लज्जामहे। यदेतं श्रीमहाराजमिन्द्रपदमपि प्रापयितुं सेवां करिष्यामः; तथापि मल्लविद्यायां न वयं कृतविद्या इति संकुचति चित्तम् ॥'३६॥

"चाणूर उवाच,—'एतदप्यपलपितं वृथा मा कृथाः। यच्छ्रुतं विश्रुतमिदम्। गोपाः खलु गोपालनं कुर्वन्तः सदास्माकं विद्यामभ्यस्यन्तीति। तस्मादकपटतयास्माभिर्युष्माभिरपि राज्ञामाज्ञा पालनीया, न तु चालनीया ॥'३७॥

स्पर्शमात्र से टूट गया (इसमें मैं क्या करूँ ?), और कुवलयापीड़ हाथी भी मुझको पीडित करने को दौड़ता हुआ, भय से दौड़ते हुए मुझको न पाकर, शीघ्र ही पृथ्वी के भीतर दोनों दाँतों को गाड़ कर, उनको निकालने में समर्थ न हुआ, परन्तु अधिक हिलाने के कारण उनको तोड़ता हुआ अपने प्राणों को भी छोड़ गया। किन्तु उस उस स्थानपर मेरी अत्यन्त शीघ्रता (फुर्ती) को देखनेवाले लोगों ने उस हाथी के मारने में, मुझको ही कारणरूप से कल्पित कर लिया, तथा हाथी के रखवारे भी उस हाथी के नीचे पिचल कर ही मर गये। अतः दूसरी प्रकार से मत समझो ॥३४॥

चाणूर—आप तो व्यर्थ ही संकुचित चित्तवाले होकर असली बात को छिपाने के लिए यह निषेध कर रहे हो। हमारे राजा महाशय तो उस उस विषय में, अर्थात् उन सबके मारे जाने में पश्चात्ताप (पछतावा) नहीं कर रहे हैं। अपितु, चिरकाल से जो अपने पास रखे थे एवं अहंकारी थे, और अहंकार का दमन करने के लिए ही जो व्रज में भेजे गये थे, तथा जिनका पालनविशेष भी वृथा ही किया था, उन पूतना आदि राक्षसों के बदले केवल आप दोनों भाइयों को ही अपने बल के लिए कल्पित करने की इच्छा कर रहे हैं ॥३५॥

श्रीकृष्ण—तब तो हमारा वह भाग्य अत्यन्त विस्मयजनक है। किन्तु अपने आप अपनी स्तुति के प्रस्ताव से तो हम लज्जित होते हैं। कारण—इन महाराज कंस को इन्द्रपद प्राप्त कराने के लिए भी (श्लेषपक्षे—मृत्यु के बाद स्वर्ग प्राप्त कराने के लिए भी) हम सेवा करेंगे। तथापि मल्लविद्या में हम जानकारी नहीं कर पाये हैं, अतः हमारा चित्त संकुचित हो रहा है ॥३६॥

चाणूर—इस बात को भी वृथा ही मत छिपाओ, क्योंकि यह बात प्रसिद्ध सुनी जाती है कि—गोपगण गोपालन करते करते सदैव हमारी मल्लविद्या का अभ्यास किया करते हैं। इसलिए हमको एवं तुमको भी राजाओं की आज्ञा निष्कपटभाव से पालन करने योग्य है, किन्तु टालने योग्य नहीं है ॥३७॥

"श्रीकृष्ण उवाच,—'तथापि वन्यानामस्माकं न धन्या तद्विद्या विद्यत इति सद्यस्तावद्युष्मच्छिष्टिमाचरन्तः स्वयं राज्ञः संज्ञपनाय च सम्पत्स्यामहे ॥'३८॥

"अथ तदेतत्पर्यन्तमुदन्तं सन्तन्य दन्तिदन्तद्वयं कंसपुरतस्तद्वक्षसीव मंक्षु शंकुवन्निखन्य मुष्टिकेन मुष्टिप्रहारहतप्रलम्बश्चाणूरेण चानूरुविहगानुजवाहनः ससज्ज । लब्धबलप्रशस्तिना महाहस्तिनाऽभिनवतया दीव्यद्दिव्यसिंह इव ॥३९॥

"तत्र च— हस्ताहस्ति भुजाभुजि प्रथयतोरंघ्र्यंघ्रि चाभून्मह-
ज्जानूजानु कटाकटि प्रथनया क्रोधः समुद्बुद्धवान् ।
मुष्टामुष्टि तलातलि प्रथमकं यच्चान्यदासीत्तयो-
र्युद्धं तद्धरिमल्लयोर्बहुविधं बुद्धं कियत् कल्पताम् ? ॥४०॥

किन्तु चाणूरकं कृष्णः कामपालश्च मुष्टिकम् ।
हस्तरोधं दधत् कंसे श्वासरोधं विनिर्ममे ॥४१॥

एकं तत्र बभूव चित्रमखिलज्ञानातिदूरं यथा
साङ्गं स्वाङ्गमकर्षि यर्हि हरिणा विन्यासि तद् यर्हि च ।
व्यत्यासः स्फुरति स्म तर्हि बलवन्मल्ले तु किञ्चास्फुरद्-
दूरादप्यसकृत् पविप्रतिनिधिर्घातादिकानां विधिः ॥४२॥

श्रीकृष्ण—तथापि वनवासी होने के नाते हमारी वह मल्लविद्या प्रशंसनीय नहीं है, इसलिए तत्काल तुम्हारी आज्ञा का पालन करते हुए, हम स्वयं राजा को संज्ञपनाय (अच्छी प्रकार निवेदन करने के लिए, श्लेषपक्षे—मारने के लिए) समर्थ हो जायँगे ॥३८॥

अनन्तर यहाँतक वार्तालाप का विस्तार करके, पश्चात् कंस के सामने हाथी के दोनों दाँतों को मानो उसके वक्षःस्थलपर ही झटपट खूँटे की तरह गाड़ कर, अपने मुक्के के प्रहार से प्रलम्बासुर को मारने वाले बलरामजी मुष्टिक से भिड़ गये, एवं बल की प्रशंसा को पानेवाले विशाल हाथी के साथ नवीनरूप से खिलाड़ी दिव्य सिंह की तरह, अरुण के छोटे भाई गरुडरूप वाहनवाले श्रीकृष्ण चाणूर से भिड़ गये ॥३९॥

और वहाँपर हाथों हाथों के द्वारा, भुजा भुजाओं के द्वारा, एवं चरणों चरणों के द्वारा, प्रवृत्त हुए युद्ध का विस्तार करते हुए, उन दोनों का महान् युद्ध हुआ। और जानु जानु के द्वारा, कटि कटि के द्वारा, प्रवृत्त हुए युद्ध के विस्तार से क्रोध भी, भली प्रकार उत्पन्न हो गया। एवं कृष्ण तथा चाणूरमल्ल का जो पहला युद्ध मुष्टि मुष्टि के द्वारा, एवं हथेली हथेली के द्वारा प्रवृत्त हुआ था, और दूसरा जो अनेक प्रकार का युद्ध हुआ था, वह कितना जाना जा सकता है ? अर्थात् उसकी कल्पना नहीं हो सकती ॥४०॥

किन्तु कृष्ण ने चाणूर को एवं बलराम ने मुष्टिक को हाथ से रोक कर धारण करते हुए, कंस में भी श्वासों की रुकावट पैदा कर दी ॥४१॥

वहाँपर सभी के ज्ञानातीत एक आश्चर्य हुआ था। यथा—जिस समय श्रीकृष्ण अपने अङ्ग को सभी अङ्गों के सहित खींच लेते थे, एवं जिस समय रख देते थे, उस समय मल्ल के ऊपर तो भारी विपरीतता स्फूर्ति पाती थी। किंच दूर से भी घात आदिकों की विधि वज्र की प्रतिनिधिरूप से ही स्फूर्ति पा रही थी ॥४२॥

सत्यं प्राहरतां मल्लावपि माधव-रामयोः ।
जवाद् बहूयमानौ तौ न तु तल्लक्ष्यतां गतौ ॥४३॥

"तदेवं स्थिते तत्प्रभावमननुभवतामनुभवतामपि कंसं प्रत्येव दोषशंसनमासीत् । तत्र पूर्वेषु मल्लानामपि यथा—तत्र चादौ तेषां भावनेयम्,—

'एतौ स्यातां सुष्ठु बालौ बलिष्ठौ, किन्तु श्रेष्ठां मल्लविद्यां न वित्तः ।
तस्मात् कस्माद्भूभृदस्मान्मृधेऽस्मिं,-स्तद्विद्यानां पारगान् वा नियुङ्क्ते ?' ॥४४॥

"अन्ते तु—'ज्ञात्वाप्युच्चैस्ताविमौ मल्लविद्या,-शास्त्रज्ञानामादिविज्ञानदिज्ञौ ।
हा धिङ्मौढ्यादेव कंसोऽयमस्मा,-नेतद्युद्धे भीरुकोऽपि न्ययुङ्क्त ॥'४५॥

"तथान्येषामपि नारीप्रचुराणामक्रूराणां कंसाय दोषशंसनं यथा,—
'क्व मल्ला वज्राद्रिप्रतिमवपुषः क्वातिमृदुला-
विमौ बालौ तस्मादिह यदनुमन्तॄन् धिगधिपान् ।
कथं वा ते निन्द्या न खलु वयमस्मिन् सदसि ये
सतां द्विष्टे दृष्टिं सकुतुकमिवामी वितनुमः ॥४६॥

उस समय वेग के कारण अनेक जनों का सा आचरण करते हुए वे दोनों मल्ल, श्रीकृष्ण बलदेव के ऊपर भी प्रहार करते थे, यह बात सत्य है। किन्तु उनको अपने प्रहारका लक्ष्य न बना सके, अर्थात् उनको विद्ध न कर पाये ॥४३॥

अतएव ऐसी स्थिति में कृष्ण-बलदेव के प्रभाव का अनुभव न करनेवाले, एवं अनुभव करनेवाले जनों का भी कंस के प्रति ही दोषों का कथन हुआ था। उन सबमें भी कृष्ण-बलदेव के प्रभाव का अनुभव करनेवाले पहले जनों में से मल्लों का भी कंस को ही दोष लगाना, यथा—उसमें भी पहले उन मल्लों की यह भावना उत्पन्न हुई कि, ये दोनों बालक भली प्रकार बलिष्ठ हो सकते हैं, किन्तु श्रेष्ठ मल्लविद्या को तो नहीं जानते हैं। इसलिए भूपति कंस इस युद्ध में मल्लविद्याओं के पारंगत हम सबको किस कारण नियुक्त कर रहा है। भावार्थ—हमको तो इन बालकों के साथ युद्ध में लज्जा हो रही है ॥४४॥

अन्त में तो कृष्ण-बलदेव के प्रभाव का अनुभव करनेवाले मल्लों की भावना, यथा—ये दोनों भाई मल्लविद्या के शास्त्रों को जाननेवाले जनों में सर्वप्रथम विज्ञान के ज्ञाता हैं, इस बात को भली प्रकार जान-कर भी, इस भीरु कंस ने अपनी मूढता से ही हम सबको इस युद्ध में नियुक्त कर दिया है। हाय! इसको धिक्कार है। तात्पर्य—इस युद्ध में हमारी जान बचना कठिन है ॥४५॥

तथा स्त्रियाँ हैं अधिक जिनमें, ऐसे सरल प्रकृतिवाले अन्य जनों का भी कंस के लिए दोषों का कथन, यथा—वज्र एवं पर्वत के समान शरीरवाले ये कठोर मल्ल कहाँ ? और नवनीत के समान अत्यन्त कोमल ये दोनों बालक कहाँ ? अतः यहाँपर युद्ध की अनुमति देनेवाले स्वामियों को धिक्कार है। अथवा वे हम सब भी किस प्रकार निन्दनीय नहीं है ? अपितु, हैं ही। कारण—जो हम सब सज्जनों की अप्रीति-जनक इस सभा में मानो कौतुकपूर्वक दृष्टि को फैला रहे हैं, अर्थात् ऐसी सभा का तो देखना भी उचित नहीं ॥४६॥

धिगस्मत्पुण्यं यत् कथमपि हरेर्वीक्षणलवे-
ऽप्यभूदुत्पातोऽयं प्रणयिजनताराक्षसनिभः ।
व्रजन् वन्यां प्रातर्व्रजमपि विशन् सायममुकः
सुखं यासां स्त्रीणां वहति वरपुण्याः परममूः ॥४७॥
धिगस्मान् याः कंसाद्भयमनुसृता नाम च हरेः
समर्था वक्तुं न व्रजवरदृशस्ताः कति नुमः ।
सदा या गायन्ति स्वगृहबहुकर्मण्यपि गुणां-
स्तदीयान् शश्वत्तद्धृदि च विहरन्ति प्रतिपदम् ॥४८॥
कस्यातुलं फलमिदं यदमुष्य रूपं, लावण्यसारमसमं स्वत एव सिद्धम् ।
एकान्तधाम विभुतायशसोः समन्ताद्,-दृग्भिः सदा नवनवाभममूः पिबन्ति ॥४९॥
तासां प्रेम्णः परममहिमा शक्यते केन वक्तुं, पश्यास्माकं तमनुगतवच्चित्तमेतद्विहाय ।
यद्गोविन्दः श्रममयरुचाप्येष सर्वस्य चेतः, कर्षत्यर्वागपि तदनुगः सुष्ठु सङ्कर्षणाख्यः ॥५०॥
क्रुद्धं शत्रुमभिद्रवन्नपि हरिः स्मेराननाब्जे रसो-
ल्लासाद् घर्मजलं दधद्विलसति स्वां सौम्यतामत्यजन् ।

और हमारे पुण्य को धिक्कार है, क्योंकि किसी प्रकार प्राप्त हुए श्रीहरि के दर्शन के लेश में भी, स्नेही जनता के ऊपर राक्षस के समान यह उत्पात उपस्थित हो गया। केवल वे व्रजाङ्गनाएँ ही श्रेष्ठ पुण्यवाली हैं कि, जिन व्रजाङ्गनाओं के सुख को ये श्रीकृष्ण, प्रातःकाल गोचारणार्थ वनसमूह में जाते हुए, एवं सायंकाल में व्रज में प्रवेश करते हुए धारण करते हैं ॥४७॥

मथुरा की स्त्रियाँ बोलीं—हम सबको धिक्कार है, क्योंकि जो हम कंस से भय का अनुसरण करके श्रीकृष्ण के नामतक को बोलने के लिए भी समर्थ नहीं हैं। अतः उन व्रजाङ्गनाओं को कितनी बार नमस्कार करें, अथवा उनकी कितनी स्तुति करें ? अर्थात् सभी स्तुति थोड़ी ही होगी। कारण—जो व्रजाङ्गनाएँ अपने घर के बहुत से कामों में भी श्रीकृष्ण के गुणों को सदा गाती रहती हैं, और पद पदपर श्रीकृष्ण के हृदय में निरन्तर विहार करती रहती हैं ॥४८॥

अहह ! यह कौन से अनिर्वचनीय पुण्य का फल है, जो कि वे गोपियाँ श्रीकृष्ण के रूप को अपने नेत्रों के द्वारा चारों ओर से पान करती रहती हैं, अर्थात् देखती रहती हैं ? श्रीकृष्ण का रूप सौन्दर्य का सार है, अतुलनीय है, स्वतः ही सिद्ध है, प्रभुता एवं यश का एकमात्र स्थानस्वरूप है, सदा नया नया जैसा ही प्रतीत होता रहता है ॥४९॥

अतः उन गोपियों के प्रेम की परममहिमा को यथार्थरूप से कौन कह सकता है ? अर्थात् कोई नहीं। देखो, हमारा चित्त भी आगे कही जानेवाली बातों को छोड़कर गोपियों के प्रेम की महिमा का अनुगामी बन गया है ! कारण—ये गोविन्द अपनी श्रममयी कान्ति के द्वारा भी सबके चित्त को इस समय भी आकर्षित कर रहे हैं, और उन के अनुगामी संकर्षण नामक श्रीबलरामजी तो और भी भली प्रकार आकर्षित कर रहे हैं ॥५०॥

श्रीकृष्ण, क्रोधी शत्रु के अभिमुख दौड़ते हुए भी मन्द मुसकान से युक्त, अपने मुखारविन्दपर युद्ध रस के उल्लास से पसीने के जल को धारण करते हुए, एवं अपनी स्वाभाविकी सुन्दरता को न त्यागते हुए

यद्रामः स्फुटशोणनेत्रवदनस्तत्कोपतः शोभते
तच्चास्य प्रकृतिर्यदेष स हरेः साक्षात् प्रतापानलः ॥५१॥

एते श्रीवसुदेवनन्दवलिताः श्रीदेवकीसंहताः
सर्वे साधुजनाश्च मादृशगिरा दीप्तान्तरज्वालया ।
यस्मात्तीव्रनिभालनं विदधतः क्षुभ्यन्ति कंसे मुहु-
स्तस्मादस्य विनाश एव चिरताभानं विना सेत्स्यति ॥'५२॥

"अथ तत्प्रभावमनुभवतां कंसे दोषशंसनं यथा—

'सोऽयं मूर्खः स्वान्तरे भीत एव, न्यास्थन्मल्लान् यः पुरस्तान्मुरारेः ।
यद्वद् व्याधः कोऽपि सङ्गोपितात्मा, सिंहस्याग्रे न्यस्यति ग्रामसिंहान् ॥५३॥

यः पूतनादिबलमस्य निनाय नाशं, यः शक्रगर्वमपि खर्वयति स्म सर्वम् ।
यः सर्वसर्जक्रमसूमुहदूहवर्जं, तं भोजराडभिभवन् किल बाढमीष्टे ॥५४॥

क्व कृष्णः स्वप्रकाशात्मा मल्लसङ्घः क्व तामसः । युद्धं पश्यानयोश्चित्रं तेजस्तिमिरयोरिव ॥५५

सङ्घर्षेऽपि मिथः स्पृष्टिर्नेक्ष्यते कृष्ण-मल्लयोः । आद्यस्य शक्तिवैशिष्ट्यात्तेजस्तिमिरयोरिव ॥५६॥

शोभा पारहे हैं । और बलरामजी मुष्टिक के ऊपर क्रोध के कारण जो स्पष्ट ही रक्तवर्ण के नेत्र एवं मुख से युक्त होकर शोभा पारहे हैं, यह इनका स्वभाव ही है । कारण—ये बलरामजी श्रीकृष्ण के साक्षात् प्रतापानल प्रतीत हो रहे हैं ॥५१॥

और श्रीवसुदेव एवं नन्दजी से युक्त, तथा श्रीदेवकी से सम्मिलित हुए ये सभी सज्जनजन, हम जैसों की वाणी से प्रदीप्त हुई अन्तरज्वाला के द्वारा, जिस कारण तीक्ष्णतापूर्वक दर्शन करते हुए, कंस के ऊपर बारंबार क्षुभित हो रहे हैं, उसी कारण से विलम्ब की प्रतीति के बिना, अर्थात् शीघ्र ही कंस का विनाश ही सिद्ध हो जायगा ॥५२॥

अब श्रीकृष्ण बलदेव के प्रभाव का अनुभव करनेवाले जनों का कंस के ऊपर दोषों का कथन, यथा—जिस प्रकार कोई व्याध अपने शरीर को छिपाकर सिंह के आगे ग्रामसिंहों को (कुत्तों को) स्थापित कर देता है, ठीक उसी प्रकार यह मूर्ख कंस अपने अन्तःकरण में भयभीत ही प्रतीत होता है कि, जिसने श्रीकृष्ण के आगे मल्लों को ही स्थापित कर दिया ॥५३॥

और देखो, जिस श्रीकृष्ण ने इस कंस की पूतना आदि सेना नष्ट कर दी, एवं जिसने इन्द्र के सारे गर्व को घटा दिया, तथा जिसने सबकी सृष्टि करनेवाले ब्रह्मा को भी निःशंक होकर मोहित कर दिया, उपहास की बात तो यह है कि—भोजराज कंस उसी कृष्ण का तिरस्कार करता हुआ मारने की प्रतिज्ञा कर रहा है ॥५४॥

स्वप्रकाशस्वरूप श्रीकृष्ण कहाँ, एवं तमोगुण से युक्त मल्लों का समूह कहाँ ? प्रकाश एवं अन्धकार के युद्ध की तरह श्रीकृष्ण एवं मल्लों के विचित्र युद्ध को देखो । तात्पर्य—तेज के सामने अन्धकार जैसे नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण के सामने मल्लों का नाश ही निश्चित है ॥५५॥

श्रीकृष्ण एवं मल्लों में परस्पर संघर्ष होनेपर भी स्पर्श नहीं दिखाई देता । क्योंकि श्रीकृष्ण की शक्ति की विशेषता के कारण, तेज और अन्धकार की तरह दोनों के स्पर्श का दर्शन असम्भव ही है ॥५६॥

उच्छूनत्वं क्षतजमपि न प्रेक्ष्यते द्वेषिगात्रे, दैत्यारातेर्न यदुदयते कश्चिदौद्धत्यलेशः ।
पश्यामुष्य द्विषदभिमुखं वीर्यवर्यं विषाभं, भेदं भेदं द्विषि निखिलकं मर्म चूर्णं चकार ॥५७॥

सूक्ष्माग्निस्तृणमण्डले पविरगे कुम्भाङ्गजः सागरे
चण्डांशुस्तिमिरे तथा मुररिपोर्नामापि सर्वांहसि ।
तद्वन्नन्दसुतः स एष विजयी रङ्गस्थलान्तर्महा-
सारस्फार-कदङ्गसङ्गवलिते मल्ले पुरः प्रेक्ष्यताम् ॥५८॥

अत्र कृष्णस्य संग्रामे दृश्यतां परमाद्भुतम् । चाणूरः पीड्यते तेन बुक्का कंसस्य भिद्यते ॥५९॥

मूढस्तथाप्यसौ वज्रमुष्टिभ्यां हरिमार्दयत् । स ताभ्यां हृदि लग्नाभ्यां सम्मदात् पुलकं दधे ॥'६०

"तदेवं सपरिदेवनं सदेवनं च लोके विलोकमाने,—

"अथाग्रहीद्धरिरपि तं सकृद्धस,-न्नबिभ्रमन्नभसि च यं निभालयन् ।
उवाच धिङ् मृत इति बाढरीढया,-प्यपोथयद्भुवि नृपतेः प्रपश्यतः ॥६१॥

मुष्टिकेनास्तया मुष्ट्या तुष्टिं लब्धवतः स च ।
बलस्य तलघातं यन् प्राणघातमपद्यत ॥६२॥

दैत्यारि श्रीकृष्ण के युद्धशील शरीर में भय से रोमाञ्चादि एवं रक्त भी नहीं दिखाई देता है, और किसी प्रकार की उद्धतता का लेश भी उत्पन्न नहीं हो रहा है । और देखो, चाणूर के सम्मुख श्रीकृष्ण का विष के समान जो वीर्यश्रेष्ठ है, उसने चाणूर को बारंबार विदीर्ण कर उसके सारे मर्मस्थान का चूर्ण कर दिया है ॥५७॥

अग्नि की चिनगारी तृण के समूहपर, वज्र पर्वतपर, अगस्त्यमुनि सागरपर, सूर्य अन्धकारपर, तथा श्रीकृष्ण का नाम समस्त पापोंपर, जिस प्रकार सदा विजयी रहता है, ठीक उसी प्रकार अनिर्वचनीय ये ही नन्दकुमार, रङ्गस्थल के मध्य में महान् सारभाग अथवा भारी कठिनता के कारण विकट, विशाल, एवं निन्दनीय अङ्गसमूह से युक्त, चाणूर नामक मल्ल के ऊपर विजयी हो रहे हैं, सामने ही देख लो ॥५८॥

श्रीकृष्ण के इस मल्लयुद्ध में महान् आश्चर्य तो देखो । श्रीकृष्ण चाणूर को तो पीडित कर रहे हैं, किन्तु कंस की बुक्क फटी जारही है ॥५९॥

तो भी यह मूढ चाणूर वज्र के समान मुक्काओं के द्वारा श्रीकृष्ण को पीडित करने लगा । किन्तु श्रीकृष्ण अपने हृदयपर लगे हुए मुक्काओं के द्वारा हर्ष से पुलकित हो गये ॥६०॥

अतएव इस प्रकार जनता जब विलापपूर्वक एवं क्रीडापूर्वक देख रही थी, तब श्रीकृष्ण ने भी एक-बार हँसते हँसते चाणूर को पकड़ लिया, और आकाश में घुमा दिया । तथा जिस चाणूर को निहारते हुए कहा कि तुझको धिक्कार है, तू मर गया । इस प्रकार कह कर राजा के देखते देखते उसको अत्यन्त अनादरपूर्वक धरतीपर पटक दिया ॥६१॥

और मुष्टिक नामक मल्ल के द्वारा फेंकी हुई मुष्टि, अर्थात् मुक्के के द्वारा सन्तोष को प्राप्त हुए, बलदेवजी के तमाचे के प्रहार को प्राप्त करता हुआ, वह मुष्टिक प्राणों के नाश को ही प्राप्त हो गया ॥६२॥

अग्रे व्यग्रतयाङ्गसङ्घमभितः सम्यग्रयात् कम्पय-
न्नुग्रम्पश्यतयाक्षियुग्ममसकृत् क्षिप्तीकृतं क्षोभयन् ।
रामश्यामलनाम-कालदलितः कंसस्य वर्त्मादिशन्
द्राङ् मल्लः स स लोकमन्यमगमद् विश्वत्र चित्रं दृशि ॥६३॥
क्रीडां कृत्वाथ ताभ्यां बकदलनबलौ तत्र विज्ञाय नाति-
प्रावीण्यं लाववज्ञावलितमकिरतां क्षोणिपृष्ठे यदा तु ।
तर्ह्यागात् कूटनामा य इह शलयुतस्तोशलो यश्च तं तं
सद्यो वामांघ्रिहस्तप्रहरणदलितीकृत्य नृत्यं व्यधत्ताम् ॥६४॥

"अथापरेषां मल्लानां समुदायेन समं सममपि समुदायं कर्तुं समुदायमेव मेनाते ॥६५॥

"ते तु,—"हतेषु तेषु मल्लेषु शृगालीमागताः परे ।
पश्यतो हासयामासुः कृष्णरामप्रधानकान् ॥६६॥

जेतुं प्रस्थापिताः प्राक् त्रिदिवमपि मया त्वत्कसेनाधिनाथा-
स्तद्वत् प्रस्थाप्य नागं नृप ! तव रचितास्तत्कृते चाद्य मल्लाः ।
एवं तद्वर्त्मसौख्यं तव विरचयताऽऽनन्दतः स्वीयमित्रैः
क्रीडा कार्येति कंसं सदसि किल दिशंस्तत्र चिक्रीड कृष्णः ॥६७॥

और चाणूर मुष्टिक नामक वह वह मल्ल पहले तो व्यग्रतापूर्वक अपने अपने अङ्गसमूह को चारों ओर वेग से अच्छी तरह कपाता हुआ, एवं उग्रतापूर्वक देखनेवाले की तरह फेंके हुए दोनों नेत्रों को बारंबार क्षुभित करता हुआ, तथा राम-कृष्ण नामक काल के द्वारा मरकर, कंस को मार्ग का निर्देश करता हुआ, और सभी के नेत्रों में आश्चर्य का आदेश करता हुआ, शीघ्र ही परलोक को चला गया ॥६३॥

अनन्तर कृष्ण बलदेव ने उन दोनों मल्लों के साथ क्रीडा करके, उस क्रीडा में उनकी अत्यन्त चतुराई न जानकर, उन दोनों को जब अवज्ञापूर्वक भूतलपर पटक दिया, तब यहाँपर शल नामक मल्ल के साथ कूट नामक जो मल्ल, और तोशल नामक जो मल्ल आया, उस उसको शीघ्र ही बायें चरण एवं बायें हाथ के प्रहार के द्वारा विदीर्ण करके कृष्ण बलदेव नाचने लग गये ॥६४॥

उसके बाद कृष्ण बलदेव ने अन्य मल्लसमुदाय के साथ, एकसमय समुदाय (युद्ध) करने को भी समुदाय ही, अर्थात् "मुदा सह वर्तमानो य आयो लाभस्तम्" हर्ष के सहित वर्तमान लाभ को ही माना था ॥६५॥

उन दूसरे मल्लों ने तो उन चाणूर आदि मल्लों के मर जानेपर, शृगाली (पलायन) को प्राप्त कर, अर्थात् रङ्गस्थल से भाग कर, देखनेवाले कृष्ण बलदेव आदि जनों को हँसा दिया ॥६६॥

हे राजन् ! कंस ! पूतना आदि तुम्हारे सेनापति मैंने पहले भी स्वर्ग को जीतने के लिए भेज दिये हैं, उसी प्रकार तुम्हारे कुवलयापीड़ हाथी को प्रेषित कर, आज मल्ल भी स्वर्ग को जीतने के लिए भेज दिये हैं । इस प्रकार तुम्हारे स्वर्गीय मार्ग के सुख की रचना करनेवाले मुझको आनन्दपूर्वक अपने मित्रों के साथ क्रीडा करनी चाहिये । इस प्रकार सभा में कंस को उपदेश देते हुए श्रीकृष्ण वहाँपर अपने मित्रों के साथ क्रीडा करने लग गये ॥६७॥

भ्रात्रोर्विक्रीडनोर्मित्रैर्मध्ये मध्ये पराजयः ।
तौ हित्वा पश्य कंसस्य स्वान्तं संक्रान्तवान्मुहुः ॥६८॥

"तदेवं मैत्रेयिकया चित्रीयमाणौ धन्येन चातुर्वर्ण्येन निर्वर्ण्यमानौ समानमानौ सवयसः सम्मानयमानौ रामरामानुजनामानौ द्यावापृथिव्यनवद्य-वाद्यविद्यामनुविद्य प्रमोदाद्विद्योतमानौ दिव्यनृत्यप्रतिमल्लतया लब्धमल्लतालमानौ तत्पर्वणः सर्वतः समाहूतविमानौ सुमनोभिः सुमनोभिः कृतमानौ घटिकामेकामखिलानेकायनान्निर्ममतुः ॥६९॥

"तदसहमानः सहमानः कंसस्तु द्रविणबलयोरेकपर्यायतयेवाभेदमालक्ष्य गोपद्रविण-हरणादिलक्षणवक्ष्यमाणनिजवचःप्रचारणलक्ष्यतः सव्यहस्तस्य द्वित्रवारसस्ततया स्ववादित्रं निषिषेध ॥७०॥

"तत्र च निषिद्धे सद्धेश्वरवादित्रे तु शुद्धतया सिद्धे तदिद्धेहिततया सहितं सखिवर्ग-सहिततया च वल्गु यदवल्गद् यच्च व्रजदेवं वसुदेवमुग्रसेनमप्युद्दिश्य तस्य तत्तदुग्रं वचन-मश्रृणोत्तद्द्वयमपि स्वच्छिद्रबाधाय लक्ष्यं विधाय सहसा सहसाननतया पर्यक् प्लवमानः स्वैरी कंसवैरी तस्मादकस्मात् कंसमञ्चोपर्येव पर्यैक्ष्यत ॥७१॥

और देखो, अपने मित्रों के साथ मल्लक्रीडा, अर्थात् कुस्ती करते हुए दोनों भाइयों की बीच बीच में जो पराजय (हार) हो जाती थी, वह पराजय उन दोनों भाइयों को छोड़कर, बारंबार कंस के चित्तपर ही आक्रमण कर लेती थी। भावार्थ—भयंकर मल्लों को अनायास मारनेवाले कृष्ण बलदेवपर भी विजय पानेवाले कृष्ण बलदेव के मित्र तो उनसे भी विशेष पराक्रमी प्रतीत होते हैं, अतः मेरा पराजय निश्चित है। इस प्रकार के विचार से कंस का चित्त पराजय से बारंबार आक्रान्त हो रहा था ॥६८॥

इस प्रकार मित्रयुद्ध के द्वारा आश्चर्यान्वित करते हुए श्रीराम-कृष्ण नामक दोनों भाइयों ने एक घड़ी तक तो सभी दर्शकों को एकाग्रचित्त कर दिया। उस समय दोनों भाई भाग्यशाली चारों वर्णों के द्वारा देखे जा रहे थे, समान मान से युक्त थे, स्वयं पराजित होकर मित्रों का सम्मान कर रहे थे, स्वर्ग एवं भूमि की विशुद्ध वाद्यविद्या को प्राप्त कर हर्ष से विशेष प्रकाशित थे, दिव्यनृत्य के प्रतिमल्ल होने के नाते मल्लों के ताल एवं मान को प्राप्त कर रहे थे, उस उत्सव के चारों ओर निजदर्शनार्थ देवविमानों को आकर्षित कर रहे थे, और देवताओं के द्वारा अनेक पुष्पों से उनका सम्मान किया जारहा था ॥६९॥

इन बातों को न सहते हुए अहंकारी कंस ने तो द्रविण (धन) एवं बल इन दोनों की मानो एक पर्यायवाचकता के कारण अभेद देखकर, श्रीनन्दादि गोपों के धनहरण आदि लक्षणवाले, एवं आगे कहे जानेवाले अपने वचन के प्रचार के लक्ष्य से, अर्थात् अपने वचन सुनाई देने के अभिप्राय से, बायें हाथ के दो तीन बार फेंकने के द्वारा अपने युद्ध के बाजे निषेध कर दिये ॥७०॥

कंस के वाद्यों के निषिद्ध हो जानेपर भी, विशुद्ध होने के नाते देवताओं के बाजे बजते रहनेपर, देवताओं की प्रदीप्त चेष्टा के भाव के सहित, और मित्रमण्डल के सहित होकर, श्रीकृष्ण ने जो मनोहर उछाल मारी, एवं व्रजराज, वसुदेव तथा उग्रसेन को भी उद्देश्य करके उस कंस के वे वे जो भयंकर वचन सुने, उन दोनों बातों को अपने दोष निवारणार्थ लक्ष्य बनाकर, वे ही कंस के बैरी स्वतन्त्र श्रीकृष्ण, सहसा (बिना विचारे) हास्य से युक्त मुखपूर्वक चारों ओर उछलते हुए, उस युद्धस्थल से अकस्मात्, कंस के मञ्च के ऊपर ही दिखाई दिये ॥७१॥

"यत्र कंसेन सह तेन दुःसहं श्रीहरेर्विग्रहतेज एव विग्रहकरमासीत् । अथ समुपागतध्वंसः कंसश्च स्वं पराजयमानात्तस्मात् पराजयमानमना धैर्यं हित्वा खड्गचर्मणी गृहीत्वा यद्विचचार, तेनापि दुर्धर्षः सहर्षगतिः स एष व्रजकुलगतिस्तत्केशग्राहितानिर्वाहितां कथमवाप, तत् खल्वसावपि बोद्धुं शशादवशतापन्नः शशवन्न शशाक ॥७२॥ "लोकस्तु तदिदं श्लोकयामास,—

'श्येनः कपोतमिव पञ्चमुखः करीन्द्रं, वज्रो गिरिं विकिरराट् कदुकाद्रवेयम् ।
कंसं निगृह्य सहसा वशयन् स एष, क्रीडां करोति परितः पृथुमञ्चमञ्चन् ॥'७३॥

"तदेवं लोके कृतश्लोके हरिणा गृहीतकेशः स भोजेशः प्राणानामर्धं पूर्वं मुमोच, निजाघ्राततया मञ्चादवाञ्चंस्त्वर्धमिति हरिरपि तच्छीघ्रतां बोद्धुं योद्धुमनस्तावशान्न शशाक ॥७४॥

"कंसस्य केशा हरिणा विकृष्टाः, प्राणाश्च तन्मुष्टिगता बभूवुः ।
चित्रं न चेदं स्मर तस्य बाल्ये, तत् पूतनास्तन्यविकर्षणं च ॥७५॥
पतत्खड्गचर्मा गलद्रत्नवर्मा, भ्रमत्सर्वकेशः स्खलन्मूर्धवेशः ।
स मञ्चादधस्ताज्जनानां पुरस्ता,-दनेनाधिरूढः पपातातिमूढः ॥७६॥

और जिस मञ्चपर कंस के साथ कंस के द्वारा असह्य श्रीकृष्ण के शरीर का तेज ही युद्ध करनेवाला हो गया था। अनन्तर पास में ही आगया है ध्वंस जिसका, वह कंस अपने को पराजित करनेवाले श्रीकृष्ण से परास्त मनवाला होकर, धैर्य को छोड़कर, ढाल तलवार को धारण कर जो विचरण करने लगा, उस विचरण के द्वारा भी अपने वश में न आनेवाले, हर्षपूर्वक चलनेवाले, एवं व्रजकुल के गति वे ही ये श्रीकृष्ण, कंस के केशों के पकड़ने के निर्वाहक भाव को किस प्रकार प्राप्त हुए, अर्थात् कंस के केश श्रीकृष्ण ने कैसे पकड़े, उस बात को तो वह कंस भी बाज के वश में पड़े हुए खरगोश की तरह नहीं समझ सका। अर्थात् खरगोश जैसे बाज की झपट को नहीं समझ पाता, उसी प्रकार कंस यह न जान सका कि, श्रीकृष्ण ने मेरे केश कब एवं किस प्रकार पकड़ लिये ॥७२॥

लोग तो उस समय श्लोक के द्वारा इस प्रकार स्तुति करने लगे कि—बाज पक्षी जैसे कबूतर को, सिंह गजेन्द्र को, वज्र पर्वत को, एवं गरुड दुष्ट सर्प को पकड़ कर क्रीडा करता है, ठीक उसी प्रकार वे ही ये श्रीकृष्ण, कंस को पकड़ कर सहसा वश में लाते हुए, और विशाल मञ्चपर चारों ओर घूमते हुए क्रीडा कर रहे हैं ॥७३॥

इस प्रकार लोग जब श्रीकृष्ण के यश से युक्त श्लोक की रचना कर चुके, तब श्रीकृष्ण के द्वारा जिसके केश पकड़े गये थे, वह भोजराज कंस आधे प्राणों को तो पहले ही छोड़ गया, पश्चात् अपने द्वारा आक्रान्त होकर, मञ्च से नीचे गिरता हुआ, बचे हुए आधे प्राणों को छोड़ गया। श्रीकृष्ण भी उसके प्राणों के छोड़ने की शीघ्रता को युद्ध में है मन जिसका, उसके भाव के वशीभूत होकर, अर्थात् युद्ध के आवेश के कारण समझने को समर्थ न हुए ॥७४॥

श्रीकृष्ण ने कंस के केश खींचे, उसके प्राण श्रीकृष्ण की मुट्ठी में आगये। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि तुम बाल्यावस्था में उन श्रीकृष्ण के उस पूतना के दुग्ध के खींचने का, एवं उसी के साथ उसके प्राणों के खींचने का स्मरण करो ॥७५॥

उस समय खड्ग एवं चर्म (ढाल) जिसके हाथ से गिर गये हैं, रत्नजटित कवच जिसका गिर गया

प्रागासीत् स्तब्धपक्ष्मा भयमनु स यथा तद्वदेव प्रमीतः
कंसोऽयं तेन मृत्युं गत इति निखिलैर्भीरुभिर्नाभ्यभाषि ।
श्रीकृष्णस्तत्प्रतीतं सपदि विरचयन् हस्तिवत् सिंहवर्यः
सावज्ञं तं विसंज्ञं सदसि तत इतः क्ष्मां च कर्षं श्चकर्ष ॥७७॥

ततो जयजयध्वनिप्रसितवाद्यकोलाहल-, प्रसूनघनवृष्टियुक्-स्तुतिदिवस्पृथिव्यास्पदैः ।
कृतप्रमदवर्धनः सपदि कंसचिद्वर्धन-, श्चिरं निजगणार्चितः स्थगितबुद्धिरासीदसौ ॥७८॥

कंसध्वंसनशंसनप्रथनभृद्गीर्वाणगीर्बान्धव-
द्योवाद्योत्तमगन्धसन्धकुसुमासारार्चिरभ्यर्चितः ।
भूमिस्थाप्यतिभूमितागतमहो-भूमा तदा भूयसाऽऽ-
नन्दस्यन्दभरेण भावितया हारी हरिर्भाव्यताम् ॥७९॥

"ततश्च, यदा कङ्कादयो भ्रातुर्निर्वेशायात्र संययुः ।
साहाय्याय तदा रामः परिघेणार्दति स्म तान् ॥८०॥

"अथ हरिवंशादिमिश्रीभूतश्रीभागवतमतप्रभूततया कथां प्रथयिष्यामः ॥८१॥

है, सभी केश जिसके घूम रहे हैं, एवं जिसके मस्तक का वेश खिसल गया है, तथा श्रीकृष्ण जिसके ऊपर चढ़े हुए हैं, ऐसा अत्यन्त मूढ वह कंस सभीजनों के सामने मञ्च से नीचे गिर पड़ा ॥७६॥

वह कंस पहले भय को लक्ष्य कर जिस प्रकार निश्चल पलकवाला था, उसी प्रकार मर गया। एवं यह कंस उसी कारण मर गया, इस बात को समस्त भीरुजन नहीं बोले। किन्तु श्रीकृष्ण इस बात को शीघ्र ही विख्यात करते हुए "सिंहश्रेष्ठ जैसे हाथी को घसीटता है" उसी प्रकार अवज्ञापूर्वक मरे हुए कंस को सभा में इधर उधर भूमि को भी खोदते हुए घसीटने लग गये ॥७७॥

उसके बाद जय जय ध्वनि से निबद्ध जो वाद्यों का कोलाहल, एवं पुष्पों की घनी वृष्टि से युक्त स्तुतिपूर्वक देवगण एवं मानववृन्द के द्वारा जिनका हर्ष बढ़ाया गया है, एवं जो शीघ्र ही कंस की चेतना का छेदन करनेवाले हैं, तथा बहुत देरतक आत्मीयगणों के द्वारा जिनका पूजन हुआ है, ऐसे ये श्रीकृष्ण उस समय स्थगित बुद्धिवाले हो गये थे ॥७८॥

कंस के विध्वंस के कथन के विस्तार को धारण करनेवाले देवताओं की वाणी के सहायक जो स्वर्गीय श्रेष्ठवाद्य एवं सुगन्धयुक्त पुष्पों की वृष्टि की कान्ति के द्वारा जो पूजित हुए हैं, तथा भूमि में स्थित भी अलौकिकभाव सम्पन्न तेज की अधिकता से जो युक्त हैं, और उस समय अधिकतर आनन्द के झरनों के अतिशय के कारण परिपूर्ण होने के नाते जो परम मनोहर हैं, अतः भक्तदुःखापहारी उन श्रीहरि का ध्यान करना चाहिये ॥७९॥

जब कंस के भाई कंक आदि अपने भाई का बदला लेने के लिए रंगस्थल में उपस्थित हुए, तब श्रीकृष्ण की सहायता के लिए श्रीबलराम ने परिघ (लोहा से मढ़ी लाठी) के द्वारा उन सबको मार डाला ॥८०॥

अब हरिवंशपुराण आदि से मिली हुई श्रीमद् भागवत के मत की अधिकतापूर्वक कथा को विस्तृत करेंगे— ॥८१॥

"यथा—तदेवं श्रीमान् गोविन्दः स्वयं नन्दित्वा श्रीमन्नन्दराजेन साकं विन्दमानं श्रीमदानकदुन्दुभिं वन्दित्वा तं मोचयित्वा सर्वानपि रोचयित्वा श्रीदेवकीमप्यनुसन्धाय तथा सन्धाय गृहाय बृहन्महिलाभिः सह संविधाय यथासन्धमन्यानपि लब्धसम्बन्धान् धृतानन्दान् विधाय कंसेन कृतबन्धनस्य हृतधनस्य तज्जनकस्य मोचनार्थमपि जनानभिधाय मतङ्गज-व्रजेनापि क्रष्टुं सुष्ठुदुष्करं कंसकलेवरमीषत्करतया वामकरेण कचनिकरे विकृष्य तद्वर्त्मपरिखां परि परिहृष्यल्लोकसार्थावृतपितृद्वयानुगन्तृकतया विश्रान्तितीर्थमनु विश्रान्तिमवाप ॥८२॥

"तदनु सङ्कर्षणादयश्च कङ्कमुखान् सङ्कर्षन्तः सर्वेषां हर्षं वर्षन्तः कृतकर्षप्राणानाम-मित्राणां पर्षदं चक्रुः ॥८३॥

"परस्परप्रधने निधनं गतान् भुवर्लोकात् पतितान् क्रव्याल्लोकानिव यान् सभ्याः पश्यन्ति स्म । तदेवं स्थिते साधूनां मनसि च सुस्थिते ॥८४॥

"श्रीमन्नन्दमहाशया द्रुततरं प्रास्थापयन् यं नरं
गोष्ठं कंसविनाशशंसनकृते प्रागादयं तद्यदा ।
तस्मात्तर्हि न केवलाः सुखमया वाद्यस्वनास्तां पुरी-
माप्ताः किन्तु जनाश्च केचिदिह ये तद्यौगपद्यं ययुः ॥८५॥

यथा—इस प्रकार श्रीमान् गोविन्द भगवान् स्वयं प्रसन्न होकर, श्रीमान् नन्दराय के साथ प्राप्त हुए श्रीवसुदेवजी को नमस्कार कर, उनको बन्धन से मुक्त कर, सभी को सन्तुष्ट कर, श्रीदेवकीमाता का अनुसन्धान कर, तथा वृद्ध महिलाओं के साथ मिलाकर, उनको घर पहुँचा कर, एवं जिनके साथ जैसा सम्बन्ध प्राप्त है, उन अन्य जनों को भी यथाविधि आनन्दित करके, पश्चात् कंस ने जिनका बन्धन किया है, एवं धन हर लिया है, कंस के पिता उन्हीं श्रीउग्रसेनजी को बन्धन से मुक्त करने के लिए, अन्य जनों से कहकर, हाथियों के समूह के द्वारा भी जिसका खींचना अत्यन्त कठिन था, कंस के उस विशाल शरीर को अनायास अपने बायें हाथ से केशसमूह में खींचकर, उस राजमार्ग की परिखा के निकट अत्यन्त हर्षित हुए जनसमुदाय से घिरे हुए 'श्रीनन्द-वसुदेवरूप' दोनों पिताओं के अनुगामी होकर, विश्रान्तघाटपर विश्राम को प्राप्त हो गये ॥८२॥

उसके बाद श्रीबलदेवजी आदि शक्तिशाली जनों ने 'कंक' आदि कंस के भ्राताओं को भली प्रकार खींचते हुए, सभी के हर्ष को बरसाते हुए, खींच लिए हैं प्राण जिनके,उन शत्रुओं की सभा, अर्थात् सम्मेलन की रचना कर दी ॥८३॥

उस समय सभ्यजन जिन शत्रुओं को परस्पर युद्ध में मरे हुए, एवं भुवर्लोक से गिरे हुए राक्षस लोगों की तरह देखने लगे । अतएव ऐसी स्थिति में सज्जनों का मन सुस्थिर हो जानेपर— ॥८४॥

बड़े अभिप्रायवाले श्रीमान् नन्दजी ने कंस के विनाश को कहने के लिए जिस मनुष्य को अत्यन्त शीघ्र व्रज को भेजा था, एवं भेजा हुआ यह मनुष्य जब व्रज में चला गया, तब उस व्रज से उस मधुपुरी में केवल सुखमय वाद्यों के शब्द ही नहीं प्राप्त हुए, किन्तु इस पुरी में जो कोई जन भी व्रज से प्राप्त हुए थे, वे सब वाद्यों के शब्द की एकता को प्राप्त हो गये थे, अर्थात् वाद्योंके शब्दोंके साथ शीघ्र ही चले आये थे ॥८५॥

"ततश्च मृतप्रियतयाननुसंहितसंहननक्रियतामापन्नाः कंसादिस्त्रियस्तत्रागत्य गत्यन्तर-रहिताः स्व-स्वपत्यङ्गमाश्लिष्य द्विष्यमाणनिजप्राणा रोदनं कुर्वाणा रोदनं विजहुस्तथा तन्मातरश्च कातरतामवापुः ॥८६॥

"तत्र च— चिह्नानि दयितघ्नानि निह्नुवानाः पुराभवन् ।
कंसस्त्रियः शुगार्त्या तद्‌व्यक्त्यामार्जन् ह्रियं हरेः ॥८७॥

"तथापि— रोदनं सपदि रोदनं तथा, तन्निशम्य च निशाम्य चाजितः ।
स्वं सतापमवमत्य सत्यकृ,-त्ताः ससान्त्वमभितोऽप्यसान्त्वयत् ॥८८॥

सान्त्वयन्नप्यमूः कृष्णो न विवेद स्वसान्त्वनम् ।
इति तत्र नियुज्यान्यान् निन्युस्तं यदवः पुरम् ॥८९॥

"यत्र च पुर्यन्तरुपप्लवं व्याजमाचरितवन्तः । यदा चाक्रूरं स्वगृहाय निनीषन्तं निषिध्यन्नीतिविध्यग्रणीर्निजावरजगृहमेव व्रजराजः साग्रजं तं निनाय, उपवेशयामास च; ॥९०

यथा— "मध्ये कृष्णं राममप्यत्र कृत्वा, पार्श्वद्वन्द्वे शौरिनन्दावभूताम् ।
अग्रे व्यग्रा यादवप्राग्र्यलोका,-स्ते सङ्गन्तुं सुष्ठु सम्मर्दमापुः ॥९१॥

उसके बाद अपने अपने पतियों के मर जाने के कारण, शारीरिक क्रियाओं का अनुसन्धान न करती हुईं, कंस आदिकों की स्त्रियाँ वहाँपर आकर, दूसरे उपाय से रहित होकर, अपने अपने पतियों के अङ्ग को आलिङ्गन करके, अपने अपने प्राणों के प्रति द्वेष करती हुईं, एवं रुदन करती हुईं आँसू बहाने लगीं, तथा उनकी माताएँ भी कातरता को प्राप्त हो गईं ॥८६॥

और वहाँपर कंस की स्त्रियाँ पहले तो पति के मारनेवाले चिह्नों को छिपाती हुईं विद्यमान थीं, किन्तु अब तो शोकजनित पीडा के कारण उन चिह्नों के प्रकाशित हो जानेपर, श्रीकृष्ण से लज्जा को प्राप्त हो गईं ॥८७॥

तथापि श्रीकृष्ण ने शीघ्र ही उनके रोने को सुनकर, तथा उनके अश्रुपात को देखकर, सन्तापपूर्वक अपने को धिक्कार देकर, पश्चात् शपथ करके सान्त्वनापूर्वक उनको सर्वतोभाव से सान्त्वना देदी ॥८८॥

श्रीकृष्ण उन स्त्रियों को सान्त्वना देते हुए भी अपनी सान्त्वना को न प्राप्त कर पाये, अर्थात् अपनी सान्त्वना का लाभ न उठा पाये, इस कारण उनकी सान्त्वना के विषय में अन्य जनों को नियुक्त करके, यादवगण श्रीकृष्ण को पुर के मध्य में लिवा लाये ॥८९॥

और उस मथुरापुर के बीच में भी यादवगण उत्पात का बहाना बनाने लगे। और जब अक्रूरजी श्रीकृष्ण को अपने घर को ले जाना चाहते थे, तब उनको निषेध करते हुए, नीति विधान के अग्रगण्य श्रीव्रजराज, बलदेव के साथ श्रीकृष्ण को, अपने छोटे भाई जो वसुदेवजी हैं, उनके घरपर ही लिवा लाये, और आसनपर बैठा दिया ॥९०॥

यथा—इस घर में भी कृष्ण बलदेव को बीच में करके, वसुदेव एवं नन्दजी दोनों बगल में विद्यमान हो गये। और सामने की ओर व्यग्र हुए जो यदुवंशियों में श्रेष्ठजन हैं, वे परस्पर मिलने के लिए भली प्रकार गात्रों के घर्षण को प्राप्त हो गये ॥९१॥

द्वयं तन्मेलनायासीदशेषाणां तदग्रतः । ज्यायसां गोपभूभर्ता गान्दिनेयः कनीयसाम् ॥९२॥

"अथ तं कंसदारादिरोदनसन्तानतः सन्तप्तमेव सन्तं श्रीमन्तं पुत्रापराधराहुकलित-मुखविधुश्रीराहुकः सङ्गत्य गत्यन्तररहितः स्वहितसहितः कनकदण्डलक्षितक्षितिपमण्डनमण्डल-मग्रतो निधाय मूर्धानमवाग्रं विधाय तस्थौ ॥९३॥

"तं पुनरवधाय श्रीमन्नन्दसहितानकदुन्दुभिरुत्तस्थौ । उत्थितयोश्च तयो रामरामानुजा-वपि तादृगवस्थौ बभूवतुरनुबभूवतुश्च सोऽयमिति । अनुभूय च विदूय भूयसादरेण सम्भूय दरेण धूयमानममुमुग्रसेननामानं प्रणामपुरःसरतया पुरत एव निवेशनया पुरश्चक्रतुः ॥९४॥

"स तु सुतसुततापराधसंबाधसङ्कोचतः शोचन्निदमवोचत,—

'यद्यपि मन्तुविधातुः, स्वजनः सुजनेऽभिधातुमर्हेन्न ।
तर्ह्यप्यनन्यगतिता, बलवत्येतं प्रलापयति ॥९५॥

"श्रीकृष्ण उवाच,—'काममादिश्यताम् ॥'९६॥

"उग्रसेन उवाच,—'स एवाधिपतिर्भूम्यां यस्तामसविनाशनः ।
विध्वस्तशार्वराद्भानोरन्यः कः स्यादहर्पतिः ? ॥९७॥

उस समय समस्तजनों को श्रीकृष्ण बलदेव से मिलाने के लिए उन दोनों के आगे केवल दो ही व्यक्ति थे । उन दोनों व्यक्तियों में से श्रीनन्दजी तो वृद्ध जनों को मिलाने के लिए, तथा अक्रूर छोटे जनों को मिलाने के लिए नियुक्त थे ॥९२॥

उसके बाद पुत्र के अपराधरूप राहु ने ग्रस ली है मुखरूप चन्द्रमा की शोभा जिनकी, वे श्रीउग्रसेन, कंस की स्त्री आदिकों के रोने के विस्तार से ही सन्तप्त हुए श्रीमान् कृष्णचन्द्र से मिलकर, दूसरे उपाय से रहित होकर, अपने हितैषी जनों के सहित, सुवर्णदण्ड से चिह्नित एवं राजाओं के भूषणरूप छत्र आदिकों के समूह को श्रीकृष्ण के आगे रखकर, मस्तक को नवाकर खड़े हो गये ॥९३॥

पुनः उग्रसेन को पहचानकर श्रीमान् नन्दजी के सहित वसुदेवजी खड़े हो गये । उन दोनों के खड़े हो जानेपर श्रीकृष्ण बलदेव भी उसी प्रकार खड़े हो गये एवं 'वे ही ये यदुराज उग्रसेन हैं' इस बात का अनुभव करने लगे । अनुभव करके भक्त के दुःख से सन्तप्त होकर, महान् आदरपूर्वक उनसे मिलकर, पश्चात् भय से काँपते हुए उग्रसेन नामक उन यदुराज को नमस्कारपूर्वक आगे ही बैठा करके, पुरस्कृत करने लगे ॥९४॥

उग्रसेन तो पुत्र के द्वारा भली प्रकार विस्तारित अपराधों के संकटमय सङ्कोच से शोक करते हुए यह बोले कि—यद्यपि अपराध करनेवाले व्यक्ति का स्वजन सुजन के निकट कुछ कहने को भी योग्य नहीं हो सकता, तथापि बलवती अनन्यगति का भाव ही इस स्वजन को अनर्थक वचन कहने के लिए प्रेरित करता है ॥९५॥

श्रीकृष्ण बोले—स्वेच्छानुसार आदेश दीजिये ॥९६॥

उग्रसेन बोले—भूमि में अधिपति तो वही योग्य हो सकता है कि, जो तमोगुणी जीवों का विनाश करनेवाला हो । देखो, रात्रि के अन्धकार को नष्ट करनेवाले सूर्य के सिवाय दूसरा दिनपति कौन हो सकता है ? और जो व्यक्ति वृद्ध अर्थात् बहुदर्शी है, वह तो वृद्धजनों के वनगमनादिरूप मार्ग का ही अनुसरण करे,

वृद्धो यः स तु वृद्धानामेव वर्त्मानुवर्तताम् ।
अकूलकालजवगः कः कुर्यात् प्रतिकूलताम् ? ॥६८॥

'तस्मादिदं छत्रादिकं स्वेन सत्रा क्रियताम्' इति ॥६६॥

"श्रीकृष्ण उवाच,—'राजंस्तव तनूजस्य मद्विहितविनाशनता सर्वैरेव निशामिता । कथमिव तामन्यथयानि ? किन्तु मम तन्नाशनतायामुपलक्षणता परं लक्ष्यते; यस्माद्भवद्विध-विषयकापराधमयकाल एव तत्र परं कारणम् । मया तु लब्धबुद्धिबलतया स्ववशायामपि दशायां ज्ञातमपि तद्वैरमवज्ञातम् । बाल्यदशायां तत् किल न ज्ञातमेव, तथापि तेन पूतनादि-यूथं क्रमशः प्रस्थापितम्, तादृशकालेनैव च संस्थापितम् ॥१००॥

'तथा हि— स्तन्यान्मां तुदती बकी खलमरुत् कर्षंश्छलात् संहरन्
वत्साख्यो निगिरन् बको मयजनिर्विच्छेदयन्मित्रकैः ।
भुञ्जानः सगणं फणी हृतबलं कुर्वन् प्रलम्बः स च
घ्नन्नुक्षा तुरगो गिलन् स्वयमनश्यद् दूषणं किं मम ? ॥१०१॥
योऽयं वा तनयस्तव स्वयमसावक्रूरकं प्रेषयन्
मामानाय्य निघातयन् कुवलयापीडेन मल्लैः पुनः ।

यही उचित है। क्योंकि असीमकाल के वेग में पड़ा हुआ कौन व्यक्ति प्रतिकूलता का आचरण कर सकेगा ? अर्थात् वृद्धजन पुनः तरुण नहीं हो सकता, अतः मुझ वृद्ध को अब राज्य नहीं ग्रहण करना चाहिये। इसलिए राजा के योग्य इस छत्रादिक सामग्री को स्वयं अपने साथ कर लीजिये ॥६७–६६॥

श्रीकृष्ण बोले—देखो, राजन् ! तुम्हारे पुत्र के मेरे द्वारा किये गये विनाश के स्वरूप को सभी ने देखा या सुना है, अवश्यंभावी उस विनाश को मैं किस प्रकार अन्यथा कर दूँ ? किन्तु उसके विनाश के विषय में केवल मेरी ही उपलक्षणता, अर्थात् अपना बोध कराकर दूसरे का बोध करानारूप भाव दिखाई देता है। क्योंकि आप जैसे व्यक्तियों का अपराधमय काल ही उसके विनाश में उत्कृष्ट कारण है। और मैंने तो प्राप्त किये हुए बुद्धि बल के भावपूर्वक अपनी स्वाधीन दशा में भी, जाने हुए भी तुम्हारे पुत्र के बैर को ठुकरा दिया था, अर्थात् उसके बैर की ओर ध्यान नहीं दिया था। बाल्यावस्था में तो मैंने उसके बैर को निश्चितरूप से जाना भी नहीं था, तो भी उस कंस ने पूतना आदि के समूह को क्रमशः भेज ही दिया था, और आप जैसे सज्जनों के अपराधमय उस प्रकार के काल ने ही पूतनादि के समूह को मार दिया ॥१००॥

देखो, राजन् ! वह बकासुर की बहिन पूतना दुग्ध के कारण, मुझको दुःख देती हुई स्वयं नष्ट हो गई। और वह दुष्ट तृणावर्त छल से मुझको हरता हुआ, वत्सासुर मेरा संहार करता हुआ, बकासुर मुझको निगलता हुआ, व्योमासुर मुझको अपने मित्रों से वियुक्त करता हुआ; अघासुर, वत्सगण एवं मित्रगण के सहित मुझको खाता हुआ, प्रलम्बासुर "जिनके बलदेव का हरण हो गया" ऐसे मुझको करता हुआ, और वह अरिष्टासुर मुझको मारता हुआ, तथा केशी मुझको निगलता हुआ, यदि स्वयं नष्ट हो गया तब उस विषय में मेरा क्या दोष है ? आप ही बताइये ॥१०१॥

और यह जो तुम्हारा पुत्र है, वह तो स्वयं अक्रूर को भेजकर, मुझको मथुरा में लिवालाकर, पहले कुवलयापीड़ के द्वारा, पुनः चाणूर आदि मल्लों के द्वारा, मुझको मरवाता हुआ विद्यमान था। और तुम्हारी

युष्मत्कुत्सनभर्त्सनश्रवणजान्मन्तोर्मया भीरुणा
प्रायश्चित्तकृता धृतः कचतटे तस्मादकस्मान्मृतः ॥१०२॥

'तस्मात्तस्य सजातीय-विजातीय-बालङ्गिलस्य मातुलाहेर्मारणमपि तदुद्यमकारणमेव जातम्, न तु मदीहास्पदीकृतम् । तथा च सति कथमिव राज्यं प्राज्यतया मह्यं रोचताम् ? 'स एष चाव्यभिचारिसङ्कल्पस्य मम सङ्कल्पः प्रतिकल्पं सत्यवचसामपि जल्पविषयीभविष्यति ॥१०३॥ यथा——

'अहं स एव गोमध्ये गोपैः सह वनेचरः ।
प्रीतिमान् विचरिष्यामि कामचारी यथा गजः ॥१०४॥

एतावच्छतशोऽप्येवं सत्येनैव ब्रवीमि ते ।
न मे कार्यं नृपत्वेन विज्ञाप्यं क्रियतामिदम् ।
भवान् मान्योऽस्तु राजा मे यदूनामग्रजः प्रभुः ॥' इति ॥१०५॥

"तदेवमस्य सर्वेऽपि सुशीलतामनुशीलयन्तस्तदेतन्मुखमाधुर्यपूर्यमाणसलिलकलिलविलोचनाः क्षणकतिपयं तदवस्थमेव तस्थुः । श्रीमदानकदुन्दुभ्यादयः कतिपये बिभ्यति स्म । श्रीमन्नन्दादयस्तु नन्दन्ति स्मेति स्थिते तं स्वतः परतश्च भीतमालोचयन् पुनः श्रीकृष्णः प्राह

निन्दा एवं फटकार के श्रवण से उत्पन्न हुए अपराध से भय करनेवाले, अतः अपना प्रायश्चित करनेवाले मैंने उसको चुटिया में पकड़ लिया था, इस कारण वह अकस्मात् मर गया। इसमें भी मेरा क्या दोष ? ॥१०२॥

अतएव अपनी जातिवाले एवं दूसरी जातिवाले समस्त बालकों को निगलनेवाले, उस मामारूप सर्प का (पक्षे—सर्प विशेषका) मारना भी, उन बालकों की हत्या करने के उद्यमरूप कारण से ही हुआ, किन्तु मेरी इच्छा के विषयीभूत होकर नहीं हुआ। अतः ऐसा हो जानेपर, अर्थात् इच्छा न होनेपर भी, मेरे द्वारा कंस के मर जानेपर, यह राज्य विशेषतापूर्वक मेरे लिए किस प्रकार रुचिकर हो सकता है ? और मैं ऐसा हूँ कि, मेरा सङ्कल्प कभी भी विपरीत नहीं होता है। अतः आगे कहा जानेवाला यह मेरा सङ्कल्प, प्रत्येक कल्प में, सत्य वचनवाले सज्जनों के भी वाक्य का विषय हो जायगा ॥१०३॥

मेरा सङ्कल्प, यथा—वही व्रजवासी, मैं तो गोपों के साथ श्रीवृन्दावन में विचरण करनेवाला होकर, एवं प्रीतियुक्त होकर, गोगण के मध्य में स्वेच्छाचारी हाथी की तरह, विचरण किया करूँगा ॥१०४॥

केवल इतना ही नहीं, किन्तु व्रजवासियों को प्रसन्न करने के लिए इस प्रकार के मेरे सैंकड़ों संकल्प हैं। मैं तुमसे सत्यरूप से ही कह रहा हूँ कि, मुझे राजा होने से कोई प्रयोजन नहीं है; अतः हे राजन् ! मेरे इस विज्ञापनको अङ्गीकार कर लीजिये कि, आप ही मेरे माननीय राजा हो जाइये। कारण—आप ही यदुवंशियों के अग्रज हो एवं समर्थ भी हो ॥१०५॥

अतएव इस प्रकार सभीजन श्रीकृष्ण की सुशीलता का अनुशीलन करते हुए, और इसीलिए श्रीकृष्ण के मुख के माधुर्य से परिपूर्ण अश्रुजल से मिश्रित नेत्रोंवाले होकर, कुछ क्षणोंतक उसी अवस्था से चुपचाप बैठे रहे, एवं श्रीमान् वसुदेव आदि कतिपय जन भयभीत हो रहे थे; किन्तु श्रीमान् नन्द आदि तो आनन्दित हो रहे थे। ऐसी स्थिति में उग्रसेनजी को आत्मीयजनों से, एवं शत्रुओं से भयभीत विचार कर

स्म,—'विराट्कुलमिदं सम्प्रति विराड्जातम् । ततो यदि भवान् पतितामिमामुर्वीमुर्वीपतितामुरीकुर्वीत, तदा दिनकतिपयं वयमपि साहायकमाहरिष्यामः, न चेत् सद्य एव गोकुलं प्रपद्य तदनवद्यसुखमभिमुखमानयिष्यामः' इति ॥१०६॥

"तदेवं केशवस्याभिनिवेशतः सर्वेषामप्यन्यथा क्लेशतस्तं भोजेशं तूष्णीकामेव पुष्णन्तं श्रीगोकुलप्रेमतृष्णः सोऽयं श्रीकृष्णः स्वयमेव सनिर्बन्धं मुकुटबन्धबन्धुरं करोति स्म ॥१०७॥

"तं प्रति सर्वेण सममगर्वेण मूर्धानमानम्य स्वयमसावावेदयामास,—'राजंस्तस्य वीरगतिं गतस्य सत्कारकारणं भवत्पुरःसराः सर्वेऽपि वयमनुसरामः । श्रीमत्पितरौ तु लब्धश्रमविसरौ निजनिजावासमेवासीदताम्' इति । श्रीदामादीन् प्रति च जगाद,—'आवां तावत् क्रूरकर्मणि प्रतिरुद्धाविति भवन्त एव श्रीमत्पितृचरणानुगतिमनुभवन्तः शकटावरोह एव रात्रिं क्षिपन्तु ।' इति ॥१०८॥

"ततस्तथा विधाय पुनर्विश्रान्तिं सन्निधाय तरणिभिस्तरणिदुहितुरुत्तरतीरे मृतकान्निधाय तेषां प्रेतकार्यं संविधाय श्रीमदानकदुन्दुभि-भवनमेव सहरामः समाजगाम । "आगम्य च सर्वेषामगम्यं तदवरोधमवरुन्धानः सावधानममू मातरपितरौ नमश्चकार ॥१०९॥

श्रीकृष्ण पुनः बोले—हे राजन् ! यह क्षत्रियकुल इस समय राजा से शून्य हो गया है । इसलिए राजा के अभाव में गिरी हुई, विशाल इस भूमि-पालकता को यदि आप अङ्गीकार करलें, तब तो हम भी कुछ दिन आपकी सहायता संगृहीत करेंगे, नहीं तो शीघ्र ही गोकुल में जाकर उसी विशुद्ध सुख को अपने सम्मुख लायेंगे ॥१०६॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण के अभिनिवेश से एवं राज्य के संरक्षक न होने के कारण, सभीजनों के क्लेश से मौन को ही पुष्ट करते हुए, भोजराज श्रीउग्रसेन को, श्रीगोकुल (व्रज) के प्रेम की तृष्णावाले इन्हीं श्रीकृष्ण ने, आग्रहपूर्वक स्वयं ही मुकुट के बन्धन के द्वारा मनोहर कर दिया, अर्थात् उग्रसेनजी को स्वयं मुकुट पहना दिया ॥१०७॥

पश्चात् सभीजनों के साथ अगर्वपूर्वक उग्रसेनजी के प्रति मस्तक नवाकर इन श्रीकृष्ण ने स्वयं निवेदन किया, हे राजन् ! वीरगति को प्राप्त हुए उस कंस के सत्कार के कारण, आपको अग्रसर बनाकर हम सभीजन अनुसरण कर रहे हैं । और श्रीमान् वसुदेव एवं नन्दरूप मेरे दोनों पिता तो श्रम के समूह को प्राप्त कर चुके हैं, अतः अपने अपने निवासस्थानपर ही पधारें । श्रीदामा आदि मित्रों से भी कहा कि—हम दोनों भाई तो शवदाहरूप क्रूर कर्म में अवरुद्ध हो गये हैं । इसलिए आप सब श्रीमान् पूज्यपाद पिताजी की सेवा का अनुभव करते हुए, गाड़ियों के पड़ावपर ही रात को बिता देना ॥१०८॥

उसके बाद उस प्रकार व्यवस्था करके पुनः विश्रान्तघाट के निकट आकर, नौकाओं के द्वारा मृतकों को यमुना के परलीपार स्थापित करके, एवं उनके दाहसम्बन्धी प्रेतकार्य को भली प्रकार करके, श्रीकृष्ण-चन्द्र बलरामजी के सहित श्रीवसुदेवजी के भवनपर ही चले गये । और आते ही सर्वसाधारण के अगम्य श्रीवसुदेवजी के अन्तःपुर को अर्गला के द्वारा रोक कर सावधानी से उन माता पिता को नमस्कार किया ॥१०९॥

किन्तु स्वप्रभावानुभवाल्लब्ध-पितृभावाभिभवावत एवासम्भवन्तौ तत्रभवन्तौ तावनुभूय दूयमान इव तथा निवेदयामास। यथास्मद्व्रजराजद्वन्द्ववदेव निर्द्वन्द्वसदयतामयहृदयतया तं बलवलितं तावालिङ्गन्तावनिङ्गवद् बहुसमयमासाते स्म; ॥११०॥ यतः,—

"रसयति न हि यावन्माधुरीमस्य ताव,-न्नयति मनसि भक्तस्तीव्रभावं प्रभावम्।
स कथमितरथा वा श्रीशुकः शश्वदेतत्, स्फुटमधुरिमभाजं श्रीव्रजं सुष्ठु नौति ॥१११॥

"अथ श्रीमदानकदुन्दुभिना समं बहिरागत्य स्वयमेवानुस्मृत्य भृत्यवत्सलः श्रीवत्सलक्ष्मा दिदृक्षया निर्निमिषपक्ष्मा सर्वशर्मदयशाः सङ्कोचवशात् पूर्वं दूरत एव लब्धनिजालोचन-पूरमुद्धवमारादनुगृहीतजनद्वारा सानुग्रहं गृहादाजुहाव ॥११२॥

"ततश्च, अन्योऽन्यं मिलति स्म यर्ह्यभिनवं तर्हि स्वयं नाविदत्
कोऽहं कुत्र कदा क एत इति स प्रेयान् स च श्रीप्रभुः।
किञ्चादूरगताश्च तन्न विविदुर्यत्तत्र सिद्धान्तितां
को गच्छेन्निजतत्त्वमेतदनयोः प्रेमा परं वेत्ति हि? ॥११३॥

किन्तु अपने लोकोत्तर प्रभाव का अनुभव करने के कारण पितृभाव के तिरस्कार को प्राप्त हुए, अर्थात् ऐश्वर्य ज्ञान के कारण वात्सल्यभाव से रहित हुए, अतएव अपने से भुजभर के न मिलते हुए, पूज्यपाद वसुदेव देवकी को अनुभव करके, श्रीकृष्ण ने दुःखित की भाँति उनसे उस प्रकार निवेदन किया कि—जिस प्रकार हमारे व्रजराज एवं व्रजरानी के जोड़े की तरह, निर्द्वन्द्व सदयतामय हृदय के भाव से, बलदेव के सहित श्रीकृष्ण को आलिङ्गन करते हुए, वे वसुदेव देवकी स्थावर पदार्थ की तरह बहुत समय-तक बैठे के बैठे ही रह गये ॥११०॥

कारण—भक्तजन जबतक श्रीकृष्ण की माधुरी का स्वाद नहीं ले पाता, तभीतक अपने मन में भय सम्भ्रमादिजनक तीव्रभाववाले भगवत्सम्बन्धी ऐश्वर्य को प्राप्त करता रहता है। यदि यह निर्णीत सिद्धान्त न होता तो, वे श्रीशुकदेवजी निरन्तर श्रीकृष्ण की स्पष्ट माधुरी से युक्त श्रीव्रज की भली प्रकार कैसे प्रशंसा करते? तात्पर्य—वसुदेव देवकी के वात्सल्यभाव में श्रीकृष्ण का ऐश्वर्य ज्ञान ही बाधक था। किन्तु श्रीनन्द यशोदा के विशुद्ध वात्सल्य में ऐश्वर्यज्ञान का गन्ध न होने के कारण पूर्ण रसास्वाद था ॥१११॥

उसके बाद श्रीवसुदेवजी के साथ अन्तःपुर से बाहर आकर, स्वयं ही स्मरण करके, भक्तवत्सल श्रीवत्सचिह्नवाले, एवं उद्धव को देखने की इच्छा से निमेषरहित पलकोंवाले, तथा सर्वजन सुखदायक यशवाले श्रीकृष्ण ने पहले संकोचवशात् दूर से ही अपने दर्शनानन्द के प्रवाह को प्राप्त करनेवाले उद्धव को निकट में ही अनुगृहीत जन के द्वारा अनुग्रहपूर्वक उनके घर से बुला लिया ॥११२॥

उसके बाद जब नवीन रूप से दोनों मित्र आपस में मिलने लगे, तब वह अतिशय प्यारा उद्धव एवं वे श्रीपति श्रीकृष्ण भी, स्वयं यह न जान पाये कि—"मैं कौन हूँ", "कहाँ हूँ", तथा "किस समय हूँ", एवं "ये सब कौन हैं?" किंच उन दोनों के निकटवर्ती जन भी जो रहस्य है उसको नहीं जान पाये, तब उस विषय में दूसरा कौन सिद्धान्ती के भाव को प्राप्त कर सकता है? अर्थात् इनकी अपूर्व मित्रता के स्वरूप को कौन जान सकता है? हाँ, केवल इन दोनों का प्रेम ही इस निजतत्त्व को जानता है ॥११३॥

"अथ रामेण समं रामानुजः सव्याजमानकदुन्दुभेः किञ्चिदन्तरितमञ्चन्नमुं च न मुञ्चन्नासीत्। अञ्चित्वा च शीतलितविरहमयस्वहृदयवाप्याकारया निजवाष्पधारया मुहुरपि तन्मुखनिरीक्षणपूर्वक-तदालिङ्गनपर्वणि तमन्तरङ्गतयाभिषिञ्चन्निवालोक्यत ॥११४॥

"अथ सहरामोद्धवः श्रीशूरोद्भवमनुज्ञाप्य भोजराज-गृहं प्राप्य कंसपत्नीनां वाष्पं निर्वाप्य राजसभायामुग्रसेनं सहयादवसेनमानाय्य तवैव राज्यं न्याय्यमिति प्रत्याय्य सिंहासनं स्वीकार्य पुनः श्रीशूरजनिकाय्यमागतवान् ॥११५॥

"ब्रह्माण्डकोटीश्वरतातितुच्छा, यस्येक्ष्यते विष्णुपदेशिता च ।
सा तस्य गोलोकमहेन्द्रसूनोः, काम्या कथं कंसकराज्यलक्ष्मीः ? ॥११६॥

"अथ सदुद्धवलसदुद्धवसहिताभ्यां ताभ्यां सह महारथमुह्यमानमनोरथमारुह्य स पुनरानकदुन्दुभिर्व्रजमहीपतिं प्रति मिलनाय विशङ्कटं तदीयशकटव्रजमाजगाम। आगम्य च गाढालिङ्गनतया सङ्गम्य रम्यस्वजनसंवलितेन तेन सह परस्परं लब्धध्वंसकंसकृतचरोपद्रववार्तां वर्तयामास; वर्तयित्वा च पुनः प्रार्थयामास,—'यावत् स्थितिस्तावदस्मद्गृह एव स्वगृह इव सर्वैः सह भोक्तव्यम्' इति ॥११७॥

"ततश्च प्रतिदिनमेवं निर्वर्तमाने महापर्वणि सरामः श्रीरामानुजः पलायितयादवचयसमाचयनमयनवराज्यप्राज्यस्थापनकर्मसमये राजसभायां श्रीवसुदेवस्य सभायां वा विराजते

अनन्तर श्रीकृष्ण बलदेवजी के साथ किसी बहाने से श्रीवसुदेवजी की किंचित् ओटक में जाकर, इन उद्धवजी को न त्यागते हुए विद्यमान रहे। और ओटक में जाकर, शीतलित विरहमय अपने हृदयरूप बावली के आकारवाली अपनी अश्रुधारा के द्वारा, बारंबार उनके मुख दर्शनपूर्वक उनके आलिङ्गनरूप उत्सव में, उन्हीं उद्धव को अन्तरङ्गरूप से अभिषिक्त करते हुए से दिखाई दिये ॥११४॥

उसके बाद श्रीकृष्ण बलराम एवं उद्धव के साथ श्रीवसुदेवजी की अनुमति लेकर, भोजराज कंस के घर पहुँच कर, कंस की स्त्रियों के आँसुओं को समझा बुझाकर दूरकर, यादवों की सेना के सहित उग्रसेन को राजसभा में लाकर, "राज्य तो तुम्हारा ही न्याययुक्त है" इस प्रकार विश्वास दिलाकर, एवं सिंहासन को स्वीकार कराकर, पुनः श्रीवसुदेवजी के घर चले आये ॥११५॥

श्रीकृष्ण ने मथुरा का राज्य स्वयं क्यों नहीं अङ्गीकार किया ? इसके उत्तर में कहते हैं कि— जिनके लिए करोड़ों ब्रह्माण्डों की ईश्वरता अत्यन्त तुच्छ दिखाई देती है, और वैकुण्ठ का ऐश्वर्य भी जिनके पक्ष में सामान्य प्रतीत होता है; अतः गोलोक के महेन्द्र श्रीनन्दजी के पुत्र उन्हीं श्रीकृष्ण के लिए वह कंस की राज्यलक्ष्मी किस प्रकार वांछनीय हो सकती है ? ॥११६॥

अनन्तर सुन्दर उत्सव से विराजमान जो उद्धव, उनके सहित जो कृष्ण बलदेव, उन दोनों के साथ वे ही श्रीवसुदेव, मनोरथ को प्राप्त करानेवाले महान् रथ में चढ़कर, श्रीव्रजराज से मिलने के लिए, उनके विशाल गाड़ियों के समूह के निकट आगये। और आते ही गाढ़े आलिङ्गनपूर्वक मिलकर, रमणीय स्वजनों से मिले हुए श्रीव्रजराज के साथ, मरे हुए कंस की पहले की हुई उपद्रव की बातें परस्पर उपस्थित करदीं। बातें करके पुनः व्रजराज से प्रार्थना की कि—आपकी स्थिति (ठहरना) जबतक मथुरा में हो, तबतक अपने घर की तरह हमारे घरपर ही कृपया सब के सहित भोजन कीजिये ॥११७॥

उसके बाद प्रतिदिन इसी प्रकार महोत्सव के निवृत्त हो जानेपर, श्रीबलराम के सहित श्रीकृष्ण,

स्म । अन्तरान्तरा च शकटावरोहमासाद्य श्रीदामाद्यनिजमित्रैः सह विचित्रं क्रीडति स्म ।" इति ॥११८॥

अथ दिनकथां समापयतः स्निग्धकण्ठस्य वचनं यथा,—

"कंसं निहतवान् यः प्राक् सोऽयं क्रोडगतस्तव ।
द्वीपात् प्रत्यागतं वित्तमिवैतं पश्य गोपते ! ॥"११९॥

"अथ तत्र गतायां कथायां समाप्तप्रथायां परमानन्दिनः श्रीमद्व्रजवन्दिनस्तदिदं पठन्ति स्म,—

'जय कृतमथुराप्रवेशभावुक ! । माथुरजनतासुभगम्भावुक ! ॥
नानाविलसितनन्दितनागर ! । नगरवधूजनमोहननागर ! ॥क॥
सरजककंसकवसनादायक ! । कृतरुचिवायिनि निजरुचिदायक ! ॥
भक्तगणे धृतकरुणापूरक ! । मालाकारमनोरथपूरक ॥ख॥
तनुततकुब्जाचन्दनचित्रक ! । कुब्जावक्रिमहृतिकृतचित्रक ! ॥
कंसमखस्थितधनुरनुयोजक ! । नगरजनानां सुखशतयोजक ! ॥ग॥
कंसधनुर्मखधनुरनुभञ्जद ! । तदसहनोद्धतयोद्‌धृषु भञ्जद ! ॥
हस्तिपमनु निजवर्त्मसमर्दक ! । तस्मिन् धृतरुषि हस्तिविमर्दक ! ॥घ॥

कंस के भय से भागे हुए यादववृन्द के एकत्रितकरणरूप, नवीन राज्य की विशेष स्थापनारूप कर्म के समय कभी राजसभा में, एवं कभी श्रीवसुदेव की सभा में विराजते थे। और बीच बीच में श्रीव्रजराज की गाड़ियों के पड़ावपर पहुँच कर, श्रीदामा आदि निजमित्रों के साथ विचित्र खेल करते थे ॥११८॥

अब दिन की कथा को समाप्त करते हुए स्निग्धकण्ठ का वचन, यथा—हे गोपते ! व्रजराज ! जिन श्रीकृष्ण ने पहले कंस को मारा था, वे ही ये आपकी गोद में विराजमान हैं। आप इनको द्वीप से, अर्थात् समुद्र के बीच की भूमि से आये हुए धन की तरह देखो ॥११९॥

अनन्तर समाप्त प्रथावाली उस गोलोकीय कथा में श्रीमान् व्रज के वन्दीजन (प्रस्ताव के सदृश बोलनेवाले जन) परमानन्द से युक्त होकर यह स्पष्ट बोले—हे मथुरा के प्रवेश में ही मङ्गल करनेवाले ! हे मथुरा की जनता के सुन्दर ऐश्वर्य का सम्पादन करनेवाले ! हे अनेक विलासों के द्वारा नागरिकजनों को आनन्दित करनेवाले ! एवं नागरिक वधूजनों को मोहित करने में चतुर ! श्याम ! तुम्हारी जय हो ॥क॥

एवं धोबी के सहित कंस के वस्त्रों को ग्रहण करनेवाले ! अपनी शोभा करनेवाले दर्जी में अपनी शोभा का दान करनेवाले ! भक्तगणोंपर करुणा के प्रवाह को धारण करनेवाले ! तथा सुदामा नामक माली के मनोरथ को पूरा करनेवाले ! प्रभो ! आपकी जय हो ॥ख॥

तथा कुब्जा के दिये हुए चन्दन के द्वारा अपने शरीर में चित्रकारी को विस्तृत करनेवाले ! कुब्जा के टेढ़ेपन को दूर करने से सभी को चकित करनेवाले ! कंस के यज्ञ में धरा हुआ धनुष् कहाँ है ? जनता से इस प्रकार का प्रश्न करनेवाले ! नागरिकजनों के सैंकड़ों सुखों की योजना करनेवाले ! भगवन् ! आपकी जय हो ॥ग॥

और कंस के धनुष्यज्ञ के धनुष् को अनायास तोड़नेवाले ! धनुष् के तोड़ने को न सहनेवाले योद्धाओं

भ्रात्रा सह करिदन्तविभूषण ! । रङ्गं प्रविशन् भोजविभूषण ! ॥
गजरक्तादिभिरङ्गं परिचित ! । बहुविधभावैर्विविधं परिचित ! ॥ङ॥
जगति समन्तादप्रतिमल्लक ! । कंसाग्रे हततत्प्रतिमल्लक ! ॥
सदसि समस्ते नास्तिसमोहन ! । मल्लनटनकृतविश्वविमोहन ! ॥च॥
कंसजगुरुनिन्दनकम्पाकुल ! । दृष्टिविकीर्णद्युतिशम्पाकुल ! ॥
प्लुतिलीलाकृतमञ्चक्षोभक ! । क्रीडाविक्रमकंसक्षोभक ! ॥छ॥
सहसा मञ्चात् कंसनिपातक ! । तेन ध्वस्तत्रिजगत्पातक ! ॥
अखिलजनानां दुःखविमोक्षद ! । कंसस्यापि च सहसा मोक्षद ! ॥ज॥
मोचितवसुदेवादिकबन्धक ! । साधुसुखं प्रति धृतनिर्बन्धक ! ॥
विश्रान्तिं प्रति कंसाकर्षक ! । व्यञ्जितनिजबलवलयोत्कर्षक ! ॥झ॥
कंसपितरि जितराज्यनिधायक ! । निजयशसाखिलशर्मविधायक ! ॥
व्रजतः पोष्याखिलनिस्तारक ! । पुनरपि च व्रजसुखविस्तारक ! ॥

जय जय जय जय जय जय जय जय । जय जय जय जय जय जय जय जय ॥' वीर ॥"१२०॥

के लिए पराजय देनेवाले ! हाथी के रखवाले से अपने मार्ग की याचना करनेवाले ! एवं हाथीवान के रुष्ट होनेपर हाथी का मर्दन करनेवाले ! स्वामिन् ! तुम्हारी जय हो ॥घ॥

और भैया बलरामजी के सहित हाथी के दाँतरूप भूषणवाले ! रङ्गस्थल में प्रवेश करते करते भोजवंश को विभूषित करनेवाले ! अथवा भोजविभु (भोजवंश के स्वामी कंस) को, उषण अर्थात् मन मन में जलानेवाले हाथी के रक्त आदि से अपने अङ्ग को व्याप्त करनेवाले एवं रङ्गस्थल में बैठे हुए अनेक प्रकार के भावुकों के द्वारा, अनेक प्रकार के भावों से (शत्रु मित्रादिरूप में) अनेक प्रकार से परिचित होनेवाले ! प्रभो ! आपकी जय जयकार हो ॥ङ॥

तथा जगत् में चारों ओर अपने प्रतिद्वन्द्वी मल्ल के अभाववाले ! कंस के आगे ही उसके प्रत्येक मल्ल को मारनेवाले सम्पूर्ण सभा में अपने समान जन की तर्कना से रहित रहनेवाले ! अर्थात् अनुपमेय कहानेवाले ! एवं मल्लों के से नृत्य के द्वारा विश्व को विमोहित करनेवाले ! श्याम ! तुम्हारी जय हो ॥च॥

और कंस के द्वारा की गई गुरुजनों की निन्दा के श्रवण से उत्पन्न कम्प से व्याकुल होनेवाले ! अपनी दृष्टि के द्वारा दूर करदी है कान्ति जिसकी, उस बिजली को परास्त करनेवाले ! कूदने की लीला के द्वारा कंस के मञ्च को क्षुभित करनेवाले ! एवं क्रीडारूप विक्रम से कंस को क्षुभित करनेवाले ! प्रभो ! आपकी जय हो ॥छ॥

और ऊँचे मञ्च से कंस को गिरानेवाले ! उस कंस के गिराने से ही तीनों लोकों के पातक को दूर करनेवाले ! सभीजनों के दुःख दूर करनेवाले ! एवं कंस को भी सहसा (हठात्) मोक्ष देनेवाले ! दयालो ! आपकी जय हो ॥ज॥

तथा वसुदेवादिकों के बन्धन को मुक्त करनेवाले ! साधुजनों के सुख के प्रति आग्रह धारण करनेवाले ! विश्रान्तघाट के प्रति कंस को खींचनेवाले ! एवं अपने बलमण्डल के उत्कर्ष को प्रकाशित करनेवाले ! प्रभो ! आपकी जय हो ॥झ॥

और कंस के पिता उग्रसेन के ऊपर कंस से जीते हुए राज्य को स्थापित करनेवाले ! अपने यश के

तदेवं कथकयोः कथया वन्दिनां वन्दनप्रथया च लब्धावधानपोषाः श्रीकृष्णलाभसन्तत-सन्तोषाः सर्वे यथास्वं तदानुकूल्यसुखमर्जयामासुः ॥१२१॥

अथ लब्धप्रथायां रात्रिकथायां श्रीराधामाधवयोरग्रतः स्निग्धकण्ठ उवाच,—"तदेतत्-प्रमदवृत्ते स्थिते प्रतिलवमपि गोकुलं प्रस्थिते च तत्प्रदेशतः सन्देशः श्रीमत्केशवसदेशमागतः, तत्रान्येषां प्रातःप्रस्तोतव्यः । सम्प्रति तु कंसपितरि राज्यार्पणस्य श्रवणतः किञ्चिदवाञ्चित-भयमयचिरविरहक्लमानां व्रजरमाणामतिनिभृतस्वस्तिमुखसंभृतः सोऽयमाकर्ण्यताम्,–॥१२२॥

'विरहस्तव गोपाली,-र्दयित ! मिथो याः सपत्नीश्च ।
रञ्जयति स्म समस्ताः, प्राणात् कथमहह ता विरञ्जयति ? ॥१२३॥
विपिनं सदनं यासां, सदनं विपिनं बभूव गोपीनाम् ।
तासां त्वद्वियुजां किं, मृतिजीवनयोर्विपर्ययो न स्यात् ? ॥१२४॥
यासां चन्दनचन्द्र,-प्रभृति च वस्तुप्रतापनं भवति ।
हरिरहितानां तासां, वह्निः किं बत न शीततामयिता ? ॥१२५॥

द्वारा सबके सुख का विधान करनेवाले ! एवं हे व्रज से पोषण करने योग्य ! हे अखिलजन निस्तारक ! और दुबारा भी अर्थात् मथुरा एवं द्वारका लीला के बाद भी व्रज के सुख का विस्तार करनेवाले ! व्रज के प्राणप्यारे वीर ! आपकी जय हो, जय हो, जय हो, बारम्बार जय जयकार हो ! बलिहारी है ॥१२०॥

इस प्रकार दोनों कथावाचकों की कथा के द्वारा, एवं वन्दीजनों की वन्दना की रीति के द्वारा, सावधानी की पुष्टि को प्राप्त हुए, तथा श्रीकृष्ण की प्राप्ति से निरन्तर सन्तुष्ट हुए, सभी व्रजवासी यथायोग्य उन कथावाचकों के एवं वन्दियों के अनुकूल सुख उपार्जन करने लगे, अर्थात् देने लगे ॥१२१॥

अनन्तर रात्रि कथा की परिपाटी के प्राप्त होनेपर, श्रीराधा-कृष्ण के आगे स्निग्धकण्ठ बोला— अतएव इस कंसवधरूप हर्षमय वृत्तान्त के स्थित हो जानेपर, एवं उसी वृत्तान्त के प्रतिक्षण व्रज में पहुँच जानेपर, उस व्रज के प्रदेश (स्थान) से सन्देश श्रीकृष्ण के निकट मथुरा में आगया। उस सन्देश में भी दास्य, सख्य, वात्सल्यरस के भक्तों का सन्देश तो प्रातःकाल प्रस्तुत किया जायगा। किन्तु अब तो कंस के पिता उग्रसेन के ऊपर राज्य के समर्पण के श्रवण से, किञ्चिद् दूर हो गया है भयमय चिरकालीन विरह का खेद जिनका, उन व्रजसुन्दरियों का अति गोपनीय स्वस्तिमुख (पत्र) में सम्भृत (भरा हुआ) वही यह सन्देश श्रवण कीजिये ॥१२२॥

यथा—हे प्रियतम ! जो गोपियाँ परस्पर सपत्नी भाववाली हैं, तुम्हारा विरह उन सबको बराबर अनुरक्त कर रहा है, यह बात ठीक है, क्योंकि आपके साक्षात्कार में ही सपत्नी व्यवहार होता था, किन्तु अब विरह में तो परस्पर ईर्षा आदि के अभाव से एकसी ही अवस्था है। किन्तु खेद तो इस बात का है कि, वह विरह उन सभी गोपियों को प्राणों से क्यों वियुक्त कर रहा है ? ॥१२३॥

और आपके विरह में जिन गोपियों के लिए वन ही घर हो गया है, एवं घर ही वनरूप हो गया है। अतः आपके वियोगवाली उन गोपियों के सम्बन्ध में मरने एवं जीने में विपरीतता क्यों न होगी ? अपितु, होगी ही ॥१२४॥

और श्रीकृष्णवियोगिनी जिन गोपियों के सम्बन्ध में चन्दन एवं चन्द्रमा आदि शीतलवस्तु भी जब सन्तापक हो रही हैं, हाय ! तब उनके सम्बन्ध में अग्नि क्या शीतलता को न प्राप्त होगा ? अपितु, होगा ही। अर्थात् शीतलता के कारण अग्नि में प्रवेश करना ही उचित हो जायगा ॥१२५॥

विश्लेषस्तव भद्रः, क्लेशं स हरेद्भवन्नेव ।
आशा सेयं धृष्टा, त्वत्सृष्टा तत्र विघ्नमातनुते ॥१२६॥
भवता मर्यादार्थं, यः खलु पर्यापितः कालः ।
कालः स भवन्नघहर !, लवशः कल्पाय कल्पतेऽस्माकम् ॥' इति ॥१२७॥

"अत्र चेदं श्रीराधासखीनां तदनुपद्यमानं पद्यम्,—
'अघहर ! विरहव्रणता, न हि नः कृच्छ्राय तादृशे श्रयति ।
राधालवणिमगलनं, यदि वलनं तत्र नापि कुर्वीत ॥'१२८॥

"तत्र कारणमन्यदन्यदस्तु, तदिदं तु महदेव दुःसहम्,—
'आनीतं घृतपायसान्नमनया कृष्णाय किञ्चित्त्वया
लभ्यं तस्य मया च शीघ्रमनयोर्नाम्ना शुक ! स्वन्यताम् ।
इत्थं प्रातरनूद्य नित्यमपि तां राधां मुहुः शारिका
वृन्दारण्यनिवासिनी मधुपुरक्ष्मानाथ ! तोतुद्यते ॥१२९॥
एवं प्रियसखीलेखं वाचकस्य बकीरिपोः ।
लुम्पत्कल्पस्तदा वाष्पः स्थैर्यकल्पमचीक्लृपत् ॥"१३०॥

किंच हे प्यारे ! तुम्हारा वियोग ही हमारे पक्ष में मङ्गलरूप प्रतीत होता है। क्योंकि वह उत्पन्न होते ही (हमको मार कर) हमारे क्लेश को हर सकता है। किन्तु "मैं शीघ्र ही व्रज में चला आऊँगा" इस प्रकार के वचनों से तुम्हारे द्वारा ही उत्पन्न की गई वह यह धृष्ट आशा ही, उस क्लेश के हरने में विघ्न फैला देती है ॥१२६॥

और हे अघारे ! आपने जिस काल (समय) को निश्चितरूप से मर्यादा के लिए ही समर्थ बनाया था; वह काल अब कालरूप होकर हमारे पक्ष में पल पल में कल्पभर के समय के समान हो रहा है ॥१२७॥

यहाँपर पूर्वोक्त सन्देश का अनुसरण करनेवाला श्रीराधिका की सखियों का यह पद्य है। उसका अर्थ, यथा—हे अघहर ! स्वामिन् ! आपके विरह में श्रीराधिका के सौन्दर्य का गलना यदि सम्मेलन को न प्राप्त कर पाता तो, आपके विरह का घाव हमारे सम्वन्ध में उस प्रकार के कष्ट के लिए नहीं हो सकता था, अर्थात् आपके विरह में राधिका के सौन्दर्य की क्षीणता, अपने कष्ट की अपेक्षा भी, अधिक कष्टप्रद प्रतीत हो रही है ॥१२८॥

राधिका के सौन्दर्य की क्षीणता में यदि दूसरे दूसरे कारण हैं तो होते रहो, किन्तु यह तो महान् ही असह्य प्रतीत हो रहा है, यथा—मैना, तोता से बोली कि—हे शुक ! देखो, ये श्रीमती राधिका श्रीकृष्ण को खिलाने के लिए घी से मिली हुई खीर लाई हैं, उसका किंचित् प्रसाद तुमको एवं मुझको भी मिलेगा। अतः शीघ्र ही इन दोनोंके नाम ले लेकर पुकारो, अर्थात् 'राधा-कृष्ण' नाम की ध्वनि लगाओ। हे मधुपुरी के भूपते ! देखो, वृन्दावनवासिनी वह शारिका प्रतिदिन प्रातःकाल इसी प्रकार अनुवाद करके उन श्रीमती राधिका को बारंबार अत्यन्त व्यथित करती रहती है ॥१२९॥

इस प्रकार प्रियसखी के पत्र को बाँचनेवाले पूतनारि श्रीकृष्ण का छुरी के समान जो शोकाश्रु था, उसने उस समय उनकी स्थिरता का प्रलय कर दिया था ॥१३०॥

तदेतत्कथारम्भ एव तासां श्वासानां बहिर्निष्क्रमणमिव वीक्ष्य स्निग्धकण्ठः सोत्कण्ठं समापयन्नाह स्म,—

"राधे ! योऽयं दयित,-स्त्वयि दयितः कथमनार्द्रतामयिता ? ।
तव तनुलतिकामस्रैः, सिञ्चति पश्याम्बुदश्यामः ॥"१३१॥

"तदेवं मधुरोपसंहारेण व्याहारेण सर्वमानन्दयन्तावमन्दप्रेमानन्दमन्दिरतया वन्दिनावमू तेन सह यथास्वमावासं विन्दतः स्म, श्रीराधागोविन्दौ च कन्दर्पमन्दिरमिति ॥१३२॥

इति श्रीश्रीमदुत्तरगोपालचम्पूमनु कंसविध्वंसनं नाम पञ्चमं पूरणम् ॥५॥

अथ षष्ठं पूरणम्

श्रीनन्दविसर्जनम्

अथ श्रीगोविन्दकृतमहसि व्रजेन्द्रसदसि प्रातःकथा प्रथामाप ॥१॥

यत्र मधुकण्ठ उवाच,—"तदेवं कंसमारणानन्तरमुच्चावच-वारणाय यत्र क्वचिद्गत-यादवकुलाकारणाय समुद्भूतकंसपक्षनिर्हारणाय च व्रजागमनायालब्धावसरे कंसहरे तत्पर्यन्तवृत्तं प्रतिलवमपि श्रवसि वृत्तं कुर्वतामुपनन्दादीनां सानन्दानामपि विलम्बाशङ्काशंकुसंकुलानां सन्देशः प्रविवेश; ॥२॥ यथा—

अतः इस कथा के आरम्भ में ही उन गोपियों के श्वासों का बाहर निकलना सा देखकर, स्निग्धकण्ठ उत्कण्ठापूर्वक प्रसङ्ग को समाप्त करता हुआ बोला—हे राधिके ! ये जो तुम्हारे प्राणप्यारे हैं, तुम्हारे ऊपर सदैव दया से युक्त हैं, अतः स्नेह से रहितता को कैसे प्राप्त हो सकते हैं ? देखो, अब तो ये घनश्याम तुम्हारी तनुरूप लता को अश्रु जल से सींच रहे हैं ॥१३१॥

इस प्रकार मधुर उपसंहारवाले वचन के द्वारा सभी श्रोताओं को आनन्दित करते हुए, स्वयं प्रबल प्रेमानन्द में भरकर, प्रस्ताव के सदृश कहनेवाले वे दोनों कथावाचक उन सभीजनों के साथ यथायोग्य अपने निवासस्थानपर पहुँच गये, और श्रीराधा-कृष्ण भी अपने कन्दर्पमन्दिर(रतिगृह) में पहुँच गये ॥१३२

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रिविरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीमदुत्तरगोपालचम्पूकाव्ये कंसवध-नामकं
पञ्चमं पूरणं सम्पूर्णम् ॥५॥

छठवाँ पूरण

श्रीनन्दजी का बिदा करना

इस छठवें पूरण में श्रीव्रजराज को व्रज में भेजकर, श्रीकृष्ण महान् दुःखित हुए, इस विषय का वर्णन होगा। अनन्तर श्रीकृष्ण के द्वारा प्रकाशित श्रीव्रजराज की सभा में प्रातःकाल की कथा विस्तार को प्राप्त हो गई ॥१॥

जिसमें मधुकण्ठ बोला—पूर्वोक्त प्रकार से कंसवध के अनन्तर अनेक प्रकार के उपद्रव दूर करने के निमित्त, एवं कंस के भय से जहाँ कहीं गये हुए यदुवंशियों को बुलाने के निमित्त, एवं व्रज को पीडित करने के लिए उत्पन्न हुए कंसपक्षीय जनों को नष्ट करने के निमित्त मथुरा में रुक जाने के कारण, श्रीकृष्ण को व्रज में आने के लिए अवसर न मिलनेपर, वहाँतक के वृत्तान्त को क्षण क्षण में अपने कान में पहुँचाते हुए,

'हरेर्माता भक्तं तदवधि न भुङ्क्ते तदनुगा-
स्तथा तस्मिन् गोपाः प्रतिमुहुरुपायातिविधुराः ।
किमन्यद्वक्तव्यं व्रजमनुगतं यत् पशुकुलं
वनस्थं यद्वा तन्निखिलमिह शीर्यद्विलपति ॥' इति ॥३॥

"अथ कुतश्चिन्मनःस्थसङ्कोचतः सम्प्रति प्रतिगमनाद्विरम्य भाविलीलासूचनदेवर्षि-वचनस्मरणात्तदेव च नियम्य सहमानतां वहन्नपि तदेवं निशम्य सम्यगुत्सुकतया गम्यमेवेति मनः पुनः सङ्गम्य सोऽयं व्रजप्राणव्रजः स्वाग्रजं रहो निर्व्याजं व्याजहार,—'आर्य ! तत्रभवतात्र साहाय्यं धार्यताम् । अहं पुनर्व्रजमेव व्रजानि' इति ॥४॥

"स पुनः सास्रमुवाच,—'भ्रातर्भवन्तं विना मम सर्वं विनाशमायातीति न मया किमपि स्यात् ।' "श्रीकृष्ण उवाच,—'तर्हि किं कार्यम् ?' "स उवाच,—'यदूनुग्रसेनानुगतान् विधाय द्रुतमुभाभ्यामेवावाभ्यां गोकुलं गन्तव्यम् । तदिदं मयापि भव्यं निवेदयितव्यमासीत्, दिष्ट्या स्वयमेव दिष्ट्या तदुट्टङ्कितम् ॥'५॥

"अथ श्रीकृष्णस्तेन साकं श्रीवसुदेवविनाकृतयदुकुलविराजमानयदुराजसभायां गत्वा क्षणादवसरं च मत्वा तदिदं निवेदनमुद्रया वेदयामास,—'मम किञ्चिद्विज्ञप्तिरस्ति' इति ॥६॥

अतः आनन्दित होनेपर भी, विलम्ब की आशंकारूप शंकु से व्याप्त हुए, उपनन्द आदिकों का सन्देश श्रीकृष्ण के निकट प्रविष्ट हो गया, यथा— ॥२॥

जब से श्रीकृष्ण व्रज से गये हैं तभी से, श्रीकृष्ण की माता अन्न नहीं खा रहीं हैं, एवं उनके अनुचर भी नहीं खा रहे हैं, तथा उस व्रज में जो गोपगण हैं वे भी भोजन न करने के कारण बारंबार प्राण धारण के उपाय में अति विकल हैं। और अधिक क्या कहें ? देखो, जो पशुओं का समूह व्रज में उपस्थित है एवं जो वन में स्थित है, वह सारा पशुसमूह यहाँपर प्रतिक्षण कृश होता हुआ विलाप कर रहा है ॥३॥

उसके बाद किसी कारण से उपस्थित हुए मानसिक सङ्कोच से, अभी व्रज में लौटने से विरत होकर, एवं आगे होनेवाली लीलाओं के सूचक श्रीनारदजी के वचनों के स्मरण से उसी को निश्चित कर, व्रज के विरह से उत्पन्न हुए दुःख की सहनशीलता को धारण करते हुए भी, उपनन्दादिकों के इस प्रकार के सन्देश को सुनकर, अच्छी उत्सुकता के कारण, "मुझे व्रज में ही जाना चाहिये" इस भाव को पुनः मन में लाकर, व्रजवासियों के प्राणों के गतिस्वरूप वे ही ये श्रीकृष्ण, अपने बड़े भाई से एकान्त में निष्कपटरूप से बोले—हे आर्य ! इस मथुरा में तो पूज्यपाद आप ही सहायता को धारण करें, मैं तो पुनः व्रज को ही चला जाऊँ ॥४

श्रीबलरामजी आँसू बहाते हुए बोले—भैया कृष्ण ! तुम्हारे बिना तो मेरा सारा काम नष्ट हो जाता है, अतः मुझ से कुछ भी न हो सकेगा। श्रीकृष्ण बोले—तो क्या करना चाहिये ? श्रीबलराम बोले—यदुवंशियों को उग्रसेनजी के अनुगत करके, हम तुम दोनों ही झटपट व्रज को चलें। और देखो, यह मङ्गलमय समाचार तो मुझको भी निवेदन करना उचित था, बड़े आनन्द की बात है कि उसको तुमने स्वयं ही दिष्टि (विज्ञप्ति) के द्वारा उत्थापित कर दिया ॥५॥

अनन्तर श्रीकृष्ण, बलरामजी के साथ श्रीवसुदेव से रहित यदुवंशियों से विराजमान उग्रसेन की सभा में जाकर, क्षणभर में बोलने का अवसर समझ कर (अंजलि बाँधना आदि), निवेदन की मुद्रा से यह निवेदन किया कि, "मेरा कुछ विज्ञापन है" ॥६॥

"सर्वे ससम्भ्रममूचुः,—काममाज्ञाप्यताम् ।' "श्रीकृष्ण उवाच,—'सम्प्रति भवन्तः सर्वे स्वभवनमेव समागतवन्तः राजमहाशयाश्च निजराजासनमेवासनं विधाय यथापूर्वं भवतां पर्व वितनितारः। मया पूर्वमपीदं निवेदनं चक्रे, यन्मह्यं राज्यं न रोचते, किन्तु मम वृन्दावनमेव सुखवृन्दाय कल्पते' इति ॥७॥

"तदेवमवधाय मुखावलोकनं व्यतिविधाय सत्सु सभासत्सु विकद्रुनामा यदुवृद्धः समृद्ध-क्षोभमाचचक्षे,—'पूर्वमस्माकमेकः कंसक एव ध्वंसक आसीत्। तद्बलादन्ये पुनरस्माभिर्न गण्येषु कृताः, भवता प्रमापिते तु तस्मिन् प्रचुरप्रमाणास्तद्विधा जाताः, यतो जरासन्धादयस्तत्सम्बन्धाहितनिर्बन्धाः कोटयः प्रसारितशस्त्रकोटयः सन्ति। तस्माद्भवन्मात्राश्रयप्रणयनीयप्राणत्राणयात्रा यदवः स्वयं यथावदवस्थाप्यन्तां संस्थाप्यन्तां वा ॥८॥

'किञ्च (भा० १०।१।३४) 'अस्यास्त्वामष्टमो गर्भः' इति गीर्वाणवाणीसन्दर्भसाक्षितया भवानस्माकमेव सत्यमपत्यम्, न तु गोपत्यधिपानामित्यस्मत्प्रत्यवस्थापनमेव भवता प्रत्यहमाचरणीयम्। तेषामपकारकारकश्च न कश्चन सम्प्रति भातीति यथाभव्यं स्यात्तथा व्यवहर्तव्यमिति किमधिकं मर्मव्यञ्जनया साधूनां शत्रुजित्सु परमधर्मवित्सु ॥'९॥

"अथ तदेतदनतिक्रम्यं निशम्य सम्यग्वाचं संयम्य दुर्मना इव तस्मादपगम्य श्रीवसुदेव-

---

यह सुनकर सभी सम्भ्रमपूर्वक बोले—स्वेच्छापूर्वक आज्ञा दीजिये। श्रीकृष्ण बोले—इस समय आप सब अपने अपने भवन में ही आगये हो, एवं राजा महाशय श्रीउग्रसेनजी भी अपने राजसिंहासनपर बैठकर पहले की भाँति आप सबके उत्सव का विस्तार करेंगे। और मैंने पहले भी यह निवेदन कर दिया था कि, "मुझे राज्य अच्छा नहीं लगता", किन्तु मेरे सुखवृन्द के लिए तो श्रीवृन्दावन ही समर्थ है ॥७॥

श्रीकृष्ण के इस प्रकार के वचन को सावधानीपूर्वक सुनकर परस्पर मुख देखकर सभासदों के चुपचाप बैठे रहनेपर, विकद्रु नामक एक वृद्ध यादव अत्यन्त क्षोभपूर्वक बोला—देखो, भगवन्! पहले तो अकेला कंस ही हमारा ध्वंसक था, उसके बल से हमने दूसरे कोई भी नहीं गिने। किन्तु आपके द्वारा उसके मारे जानेपर तो, उस कंस के समान अधिक प्रमाण में हो गये हैं। कारण कंस के सम्बन्ध में आग्रह स्थापित करनेवाले, एवं शास्त्रों के अग्रभाग को फैलानेवाले, जरासन्ध आदि करोड़ों बैरी विद्यमान हैं। इसलिए जिनकी प्राणरक्षा की यात्रा केवल आपके आश्रय से ही चलने योग्य है, उन यादवों को आप स्वयं यथावत् स्थापित कर दो, या अपने आप मार डालो ॥८॥

किंच "इस देवकी का आठवाँ गर्भ तुझको मारेगा" इस देववाणी के सन्दर्भ की साक्षी के नाते सत्यरूप से तो आप हमारे ही पुत्र हो। किन्तु गोपों के अधिपति श्रीनन्दजी के पुत्र नहीं हो। अतः आपको प्रतिदिन हमारा ही भली प्रकार संरक्षण करना चाहिये। और उन गोपों का अपकार करनेवाला अब कोई भी नहीं प्रतीत होता, अतः जिस प्रकार भलाई हो उसी प्रकार व्यवहार कीजिये। इसलिए साधुओं के शत्रुओं को जीतनेवाले, एवं परमधर्म के जाननेवाले आप जैसों के निकट अधिक मर्म (तात्पर्य) प्रकाशित करने से क्या प्रयोजन ? ॥९॥

अनन्तर श्रीकृष्ण ने न लाँघने योग्य इस वचन को सुनकर, वाणी को भली प्रकार रोककर, दुःखित मनवाले की तरह उस सभास्थल से निकल कर श्रीवसुदेव देवकी के धर्मयुक्त महलमें आकर, श्रीबलराम के

देवक्योर्धर्म्यं हर्म्यमागम्य श्रीरामेण सममेव तावनु निवेदयामास—'श्रीमत्पितरावाज्ञावितरायावधानमत्राधत्ताम् ॥'१०॥

"तावूचतुः,—'हन्त ! तत् किम् ?' "श्रीकृष्ण उवाच,—'यद्व्रजलोकं विलोकं विलोकमागच्छाव ॥'११॥

"अथ तदेतदवधार्य तौ तूष्णीकामेवापुष्णीताम् । तौ हि पूर्वमुग्रसेनमुकुटबन्धमनु तद्वचनप्रबन्धमाकर्ण्य वैवर्ण्यमेवासन्नौ स्तः । यः खल्वव्यभिचारितया वैशम्पायनादिभिरपि हरिवंशादिषु प्रचारित एवास्ति; यथा दर्शितम्—'अहं स एव गोमध्ये' इत्यादि । जानाते स्म च तावस्य मनोवृत्तम्, यद्व्रजगमने लब्धसङ्गमने सर्वमसौ विस्मरतीति ॥१२॥

"ततश्चिरादेवमूचतुः,—'ततः परिहृतावेव चिरलब्धश्वासरूपाभ्यां युवाभ्यामावाम्' इति तत्राक्रूरस्य जनन्या च विचारतः क्रूरमिदं प्रोक्तम्,—'यद्यत्र व्रजजनानां गमनागमनमस्ति, तर्हि व्रज एवायमस्तीति गमनं वास्य कथं निरोधविषयीक्रियते ?' इति ॥१३॥

"अथ सर्वे तस्या मुखं पश्यन्तश्चिरं विमृश्य तस्थुः ॥१४॥

"तदेवं सति पुनर्विविक्तमिताभ्यां रामाजिताभ्यामक्षीणमषडक्षीणमिदं निर्णिक्तं विविक्तम्,—'तदिदमावाभ्यां सरलतया परमनयोर्गुरुचरणयोर्निवेदितम् । तत् पुनरभूभ्यां

साथ उन दोनों को लक्ष्य करके निवेदन किया—श्रीमान् मातापिताजी ! आप दोनों ही आज्ञा देने के लिए यहाँ नेक सावधानी तो धारण करो ॥१०॥

वे दोनों बोले—हाय ! वह क्या ? श्रीकृष्ण बोले—हम दोनों भाई व्रजवासियों को देख देखकर चले आवें ॥११॥

अनन्तर श्रीकृष्ण के इस वचन को सुनकर निश्चय कर वसुदेव देवकी दोनों मौन को ही पुष्ट करते रहे, अर्थात् चुप ही बैठे रहे । क्योंकि वे दोनों पहले उग्रसेन के मुकुट बाँधने को लक्ष्य करके, श्रीकृष्ण की वाक्य रचना को सुनकर ही मलिनता को प्राप्त हो गये थे । जो वाक्य रचना निश्चय ही सार्थकरूप से श्रीवैशम्पायन आदि वक्ताओं ने श्रीहरिवंशादि पुराणों में प्रचारित ही कर रखी है । जिसको पश्चम पूरण में "मैं ग्वालबालों के सहित गोगण के बीच स्वेच्छाचारी गज की तरह प्रसन्न होकर विचरण किया करूँगा" इत्यादिरूप से दिखा ही दिया है । और वसुदेव देवकी श्रीकृष्ण के मानसिक वृत्तान्त को जानते ही थे कि, व्रज में चले जानेपर, व्रजवासियों का मिलन प्राप्त हो जानेपर, ये श्रीकृष्ण मथुरासम्बन्धी सब कुछ भूल जायेंगे ॥१२॥

अनन्तर बहुत देर में वसुदेव देवकी बोले—तब तो चिरकाल में प्राप्त हुए हमारे श्वासरूप, तुम दोनों भाइयों के द्वारा, हम दोनों प्रायः त्याग ही दिये समझो । वहाँपर बैठी हुई अक्रूर की माता गान्दिनी ने, विचार से क्रूर इस वचन को कहा—यदि यहाँपर व्रजवासियों का आनाजाना विद्यमान है, तब ये श्रीकृष्ण व्रज में ही तो विद्यमान हैं । अतः श्रीकृष्ण का व्रज में जाना ही क्यों रोका जारहा है ? ॥१३॥

अनन्तर वहाँपर बैठे हुए सभीजन अक्रूर की माँ के मुख को देखते हुए बहुत देरतक विचार कर चुप बैठे रहे ॥१४॥

ऐसी स्थिति में पुनः एकान्त स्थान में गये हुए श्रीकृष्ण बलदेव ने 'अषडक्षीण' (तृतीय व्यक्ति के कर्णगोचर न करते हुए), अक्षीण (पूर्णरूप से), निर्णिक्त (विशुद्ध) यह विचार किया कि—हम दोनों ने इन

स्वानिष्टं वितर्क्य प्रत्यादिष्टं गुर्वाज्ञालङ्घनं तु न मङ्गलाय कल्पेत । यदाज्ञापालनाय परममर्यादः स खलु रघुवर्यः प्राज्यं राज्यमपि परित्यज्य नवभार्यया सह राक्षसचर्याभीषणमपि वनं बाढमवगाढं चकार । तदाज्ञालङ्घनस्य परामृश्यते च फलम्—जरासन्धादयस्त्वस्मत्-सम्बन्धेन कृतानुसन्धे व्रजेऽप्युत्पातं पातयिष्यन्तीति प्रस्तुतमस्तु तावदप्रस्तुतमन्यदन्यदपि, तस्माच्छ्रीव्रजेशचरणसमाधानमेव साम्प्रतं साम्प्रतम्' इति ॥१५॥

"तदेवं मन्त्रं विधाय श्रीव्रजेशितुरनसां समूहं सन्निधाय ताभ्यां तस्य परिसरः समाजग्मे । समागम्य च प्रणम्य सम्यगासनमास्थितयोस्तयो राम एव तस्मिन् सदसि यद्वृत्तम्, तत् प्रवृत्तं चक्रे ॥१६॥

"तत्र स्वयं कृष्णस्तु पितृव्यादीनपि सविनयं पश्यन् किञ्चिद्विहसन्निव तस्य शेषमाह स्म,—'हन्त ! कादाचित्कीमाकाशवाणीं प्रमाणीकृत्य मयि निजदेवकीपुत्रतामपि ते सूचयन्ति, तदन्तर्गतं स्वमतं कारणं तु नावतारयन्ति' इति ॥"१७॥

अथैतावत् कथितवति मधुकण्ठे स्निग्धकण्ठश्चिन्तयति स्म,—"वस्तुतः खल्वयमनुगता-चिन्त्यशक्तितया श्रीदेवक्यां चतुर्भुजरूपेण श्रीयशोदायां तु द्विभुजरूपेण स्फुरति स्म 'फलेन फलकारणमनुमीयते' इति न्यायेन । यदा तु कंसभयाच्चतुर्भुजरूपाच्छादनाय देवकीच्छाऽजायत,

---

पूज्य माता पिता के सामने केवल सरलतापूर्वक यह विषय निवेदित किया था । किन्तु इन दोनों ने अपने अनिष्ट की आशंका करके उसको खण्डित कर दिया । और गुरुजनों की आज्ञा लंघन करना भी मङ्गल-कारक नहीं हो सकता । देखो, गुरुजनों की आज्ञा पालन करने के लिए मर्यादापुरुषोत्तम राघवेन्द्र श्रीराम ने विशाल राज्य को भी त्याग कर, नवविवाहिता श्रीसीता के साथ, राक्षसों की चर्या से भयंकर वन को भी दृढतापूर्वक विचरण का स्थान बना लिया था । अब गुरुजनों की आज्ञा लंघन के फल का भी विचार करते हैं कि—"जरासन्ध आदि तो हमारे सम्बन्ध से अनुसन्धान किये हुए व्रजमें भी उपद्रव पटकते रहेंगे", इस प्रस्तुत विषय को ही रहने दो, अन्यान्य अप्रस्तुत विषय भी उपस्थित हो सकते हैं । इसलिए अब तो श्रीव्रजराज के चरणों का अवलम्बन ही युक्तियुक्त है ॥१५॥

इस प्रकार विचार कर श्रीव्रजराज की गाड़ियों के समूह के निकट आकर, श्रीकृष्ण बलदेव ने श्रीव्रजराज की निकटस्थ भूमि को प्राप्त किया । और आते ही प्रणाम करके अच्छी प्रकार आसनपर बैठे हुए दोनों भाइयों में से श्रीबलराम ने ही "उस यादवसभा में जो वृत्तान्त हुआ था" उसको यहाँ भी प्रवृत्त कर दिया, अर्थात् सुना दिया ॥१६॥

वहाँपर स्वयं श्रीकृष्ण तो सुनन्द नन्दन आदि अपने चाचाओं को भी विनयपूर्वक देखते हुए कुछ हँसते हुए से, उस वृत्तान्त के अवशिष्ट विषय को बोले—हाय ! पिताजी ! वे यदुवंशी किसी समय की आकाशवाणी को प्रमाण बनाकर, मेरे में अपनी देवकी के पुत्र भाव की भी सूचना करते हैं । किन्तु आकाशवाणी के अन्तर्गत मेरे अभिमत "मैं मथुरा में भी चतुर्भुज रूप के बाद द्विभुज रूपसे प्रगट हुआ था" इस कारण को तो नहीं प्रकाशित करते हैं । अथवा देवकी के पुत्र होने में स्वाभिमत कारण को उपस्थापित नहीं करते हैं ॥१७॥

मधुकण्ठ के इतनी कथा कहनेपर स्निग्धकण्ठ अपने मन में विचारने लगा कि—"फल से ही फल के कारण का अनुमान किया जा सकता है" इस न्याय से वस्तुतः ये श्रीकृष्ण अचिन्त्य शक्ति सम्पन्न होने के

तदा तु श्रीयशोदायां स्फुरितं द्विभुजरूपमेव चतुर्भुजरूपमन्तर्भूतं विधाय तत्राविर्बभूवेति पूर्वचम्पूमनु (३।१००) श्रीभागवतानुगतयुक्तिभिरुक्तिभिः स्थापितम् । तत्तु न पूर्वमुभयत्रापि ज्ञातमासीत्" इति ॥१८॥

अथ स्पष्टं सस्मितमाचष्ट,—"कथं ते स्वयमपि कारणमवतारयेयुः ? अवतारिते तु तस्मिन् वसुदेवेनापहृतापत्यस्य गोपत्यधिपस्य न्यायः सत्यः स्यादिति । भवतु, व्रजपतिना तत्र किं प्रतिपन्नम् ?" ॥१९॥

मधुकण्ठ उवाच,—"तच्छ्रुत्वा तु व्रजनृपतिर्बहिरविहतं विहस्य तदन्यथा अध्यवस्यति स्म, (भा० १०।१।३४) 'अस्यास्त्वामष्टमो गर्भो हन्ता यां वहसेऽबुध' इति कंसं प्रत्याकाशवाणी; (भा० १०।४।१२)—'किं मया हतया मन्द जातः खलु तवान्तकृत् । यत्र क्व वा पूर्वशत्रुर्मा हिंसीः कृपणान् वृथा ॥' इति देवीवाण्या व्यभिचारिता । अव्यलीकतापर्यवसित-भाषिणानकदुन्दुभिना च मां प्रति निर्द्वन्द्वमित्थमेवोक्तम्, (भा० १०।५।२३)—'दिष्ट्या भ्रातः प्रवयस इदानीमप्रजस्य ते । प्रजाशाया निवृत्तस्य प्रजा यत् समपद्यत ॥' इति ॥

कारण, देवकी के ऐश्वर्य भावरूप फल से श्रीदेवकी में चतुर्भुज रूप से, एवं यशोदा के माधुर्य भावरूप फल से श्रीयशोदा में द्विभुज रूप से प्रगट हुए थे। जब कंस के भय से चतुर्भुज रूप को छिपाने के लिए देवकी की इच्छा हुई, तब श्रीयशोदा में प्रकाशित द्विभुज रूप ही चतुर्भुज रूप को अपने में अन्तर्हित करके, वहीं कारागार में प्रगट हो गये थे। यह विषय पूर्वगोपालचम्पू के तृतीय पूरण में श्रीमद्भागवत के अनुगत युक्ति-युक्त उक्तियों के द्वारा भली प्रकार स्थापित कर दिया है। किन्तु यह विषय पहले दोनों जगह, अर्थात् मथुरा एवं गोकुल में ज्ञात नहीं हुआ था ॥१८॥

इस मानसिक विचार के बाद स्निग्धकण्ठ मुसक्याकर स्पष्ट बोला—वे यदुवंशी कारण को स्वयं ही कैसे प्रकाशित कर सकते हैं ? क्योंकि कारण के प्रकाशित करनेपर तो, वसुदेवजी ने जिनकी योगमाया की अंश स्वरूप पुत्रीरूप सन्तान का अपहरण किया है, गोपों के स्वामी श्रीनन्दजी का यह न्याय सत्य हो जायगा कि, "जो वस्तु बदले में आती है उसपर पूर्ण अधिकार होता है" अर्थात् यदुवंशीजन वसुदेव के द्वारा की गई पुत्र-पुत्री की परिवर्तनरूप कथा को यदि स्पष्ट कहते हैं तो, नन्दजी का श्रीकृष्णपर पूर्ण अधिकार हो जायगा कि, हमारी पुत्री के बदले में यह पुत्र मिला है, इत्यादि। अच्छा, भैया मधुकण्ठ ! इस विषय को रहने दो। किन्तु श्रीव्रजराज ने वहाँपर उस विषय में क्या समझा अथवा अंगीकार किया ? ॥१९

मधुकण्ठ बोला—भैया ! श्रीकृष्ण की बात सुनकर श्रीव्रजराज ने तो बाहर से सावधानीपूर्वक हँसकर "श्रीकृष्ण देवकी के पुत्र हैं" इस बात को मिथ्या ही निश्चित कर दिया। यथा—"हे मूर्ख ! तू जिस देवकी को पहुँचाने जारहा है, इसका आठवाँ गर्भ तुझको मार देगा" यह आकाशवाणी कंस के प्रति देवकी के विवाह के समय हुई थी। वह तो "हे मूर्ख ! मुझको मारने से तेरा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? क्योंकि तेरा मारनेवाला पहला शत्रु जहाँ कहीं भी उत्पन्न हो गया है, अतः तू इन दीनजनों को वृथा ही मत मार" इस देवी की वाणी ने व्यभिचारिता अर्थात् विपरीत करदी। भावार्थ—आकाशवाणी तो कहती है कि, देवकी का आठवाँ बालक तुझको मारेगा, और कंस के हाथ से छूटकर आकाश में अष्टभुजा रूप में प्रगट हुई देवी कहती है कि, तेरा मारनेवाला पहला शत्रु जहाँ कहीं भी प्रगट हो गया। बस, देवी की वाणी से आकाशवाणी इस प्रकार विपरीत हो गई। इसका तात्पर्य यही निकला कि, श्रीकृष्ण श्रीनन्द के यहाँ भी

'तस्मान्नूनं (भा० १०।८।१४) 'प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातस्तवात्मजः' इति मां प्रति व्यञ्जिततत्त्ववर्गस्य गर्गस्य खल्विदं प्रपञ्चनमेवान्तः कारणमुदञ्चति ।।२०।।

'भवतु, पित्रोः पुनरिदं सुखसंविदमेव तनुते, यन्निजपुत्रं प्रति धन्याः पुत्रभावमाचरन्तीति । 'विशेषतश्चानकदुन्दुभिना मम तज्जन्या च भवज्जनन्या न द्वैतमस्तीति तैस्तद्भद्रमेवोच्यते ।।२१।।

'किन्तु, यात्र स्यादसुराद्भीतिः सा तत्र विरहज्वरात् ।
भारद्वयं भवत्येवेत्याकुलं सुत ! मन्मनः ।।२२।।

'भवतु, तथाप्येषामेव साहाय्यं कार्यम्, यतः सर्वज्ञानां मतमवधार्य कार्यमेतद्विचार्य खलु मया कंसवधाय तवागमनं न विलंबितम् । श्रूयते हि—पूर्वं मुनिहिताय दशरथेनाभिनवतनयस्य राक्षसक्षयाय प्रस्थापनम्; यः खल्वन्यदा तद्वनगमनक्षण एव क्षीणप्राणतामवाप' इति क्षणं रोदनं विष्टभ्य तमेतं बाहुभ्यामवष्टभ्य च तदेतन्मुखमीक्षामास ।।२३।।

"ततः स चैष तमेनं सचमानः सगद्गदं जगाद,—'तात ! दुष्टा नष्टा एव भविष्यन्तीति न तत्र सन्दिह्यताम् । तथैव हि दैवफलं मम तातचरणेषु वर्गश एव गर्गः प्रतिज्ञातवानस्ति ।

द्विभुज रूप से प्रगट हुए। श्रीनन्दजी ने इसी सिद्धान्त को पुष्ट करते हुए पुनः कहा कि—सत्यता की पराकाष्ठापूर्वक बोलनेवाले श्रीवसुदेव ने भी मेरे प्रति निर्विरोध इसी प्रकार कहा था कि—"हे भैया नन्दजी ! तुम वृद्ध एवं सन्तान से हीन थे, प्रायः सन्तान की आशा से निवृत्त भी हो चुके थे, किन्तु अब तो तुम्हारे सन्तान उत्पन्न हो गई है, यह बड़े आनन्द की बात है" इति। इसलिए निश्चय ही "हे नन्द ! यह तुम्हारा पुत्र श्रीकृष्ण पहले कहीं श्रीवसुदेव के भी प्रगट हुआ था" इस प्रकार मेरे प्रति तत्त्व को प्रकाशित करनेवाले श्रीगर्गाचार्य का यह वाक्य विस्तार ही "दोनों के यहाँ श्रीकृष्ण के प्राकट्य में" आन्तरिक कारण उदय हो रहा है ।।२०।।

अच्छा, जो हो। किन्तु माता पिता के लिए तो यह बात सुख को ही बढ़ाती है कि—अपने पुत्र के प्रति (श्रीवसुदेव जैसे) भाग्यशालीजन भी पुत्रभाव का आचरण करते हैं। और विशेष करके वसुदेवजी के साथ मेरा, एवं इनकी स्त्री देवकी के साथ तुम्हारी माता यशोदा से कोई भेद नहीं है। इसलिए लाला कृष्ण ! वे यदुवंशी तुमको देवकीपुत्र कहते हैं, तो भला ही है ।।२१।।

किन्तु हे पुत्र ! इस मथुरा में असुरों से जो भय है, वही भय व्रज में तुम्हारे विरहज्वर से प्रतीत हो रहा है। ये दोनों भार तुम्हारे ऊपर ही आ पड़े हैं, इसलिए मेरा मन व्याकुल हो रहा है ।।२२।।

अच्छा, तो भी इन यादवों की ही सहायता करनी चाहिये। कारण—श्रीगर्गमुनि आदि सर्वज्ञों के मत को निश्चय करके एवं इस कार्य को विचार कर ही, मैंने कंसवध के लिए तुम्हारे आने को नहीं रोका था। और सुना जाता है कि, पहले श्रीविश्वामित्रमुनि के हितार्थ श्रीदशरथ ने अपने अभिनव राजकुमार श्रीराम को राक्षसों के क्षय के लिए भेज दिया था। एवं जो दशरथ अन्य समय में अपनी अनिच्छा से, श्रीराम के वनगमन के क्षण ही, प्राणहीन भी हो गये थे। श्रीनन्दजी इस प्रकार कहते कहते क्षणभर अपने रुदन को रोककर, दोनों भुजाओं से इन्ही श्रीकृष्ण को आलिङ्गन कर श्रीकृष्ण के मुख को निहारने लग गये ।।२३।।

उसके बाद वे ही ये श्रीकृष्ण उन्ही इन श्रीनन्दजी से चिपटते हुए गद्गद होकर बोले —देखो,

कदाचिन्मयि चैकान्ते वनान्ते देवर्षिवर्य इति । तथा मम च वासस्तातमहाशयानामुपासनमय एव सम्पत्स्यते, तच्च गोपानामुपसमाजमेव, न तु यादवानामेवादवीयः । ते खल्वस्माकं ज्ञातयः, एते तु सुहृद इति ज्ञातिभिः सुहृदां खल्वेतादृश एव भेदः । सुहृत्सु तद्धिताय कदाचिद्वासः सदा तु ज्ञातिषु तदालोकसुखाय भवति' इति ॥२४॥

"एवमुक्तवति रामानुजे रामनामापि स्वं तत्सदृशमेव परामृशन्नाह स्म—'पितर्युवाभ्यां स्निग्धाभ्यां पोषितौ लालितौ भृशमावामिति किं वक्तव्यम्; यतः पित्रोरात्मनोऽप्यभ्यधिका प्रीतिरात्मजेषु भवति' इति ॥२५॥

"अथ कृष्णश्च तदेव स्थापयन् प्राह स्म,—'आस्तां तावन्मम तनूजस्य वार्ता, अस्य च श्रीमन्मदग्रजस्य भवानेव धर्मतः पिता ॥२६॥

यतः; (भा० १०।४५।२२)—'स पिता सा च जननी यौ पुष्णीतां स्वपुत्रवत् । शिशून् बन्धुभिरुत्सृष्टानकल्पैः पोषरक्षणे ॥"२७॥

'तस्माच्छ्रीमदार्यस्य चास्य भवच्चरणपरिचर्या परं वर्या; किन्तु सुहृदामेषां सुखमभिमुखं विधाय श्रीचरणमागमिष्यामः ॥२८॥

पिताजी ! दुष्ट अवश्य ही नष्ट हो जायँगे, उस विषय में आप किंचिद् भी सन्देह न करें । और उसी प्रकार दुष्टों के नाश के विषय में मेरे भाग्यफल को पूज्य पिताजी के निकट गर्गमुनि ने बारंबार प्रतिज्ञापूर्वक कहा ही है । एवं कभी देवर्षि नारदजी ने भी वनप्रान्त में एकान्त में मेरे निकट दुष्टों के नाश के विषय में ऐसी ही प्रतिज्ञा की थी । और मेरा निवास भी महान् अभिप्रायवाले पिताजी की उपासनामय ही सम्पन्न होगा । वह निवास भी गोप समाज के निकट ही होगा । किन्तु यादवों के निकट सदा न होगा । क्योंकि वे गोप तो निश्चय ही हमारे सजातीय हैं, ये यदुवंशी तो हमारे मित्र हैं । इसलिए जातिवालों से मित्रों का इस प्रकार का भेद है कि—मित्रों में तो उनके हित के लिए कभी कभी निवास होता है, एवं अपनी जातिवालों में तो उनके दर्शनरूप सुख के लिए सदैव निवास होता है ॥२४॥

श्रीकृष्ण के इस प्रकार कहनेपर श्रीबलराम भी अपने को श्रीकृष्ण की तरह श्रीनन्दपुत्ररूप से ही परामर्श करते हुए बोले—हे पिताजी ! श्रीनन्द-यशोदारूप तुम दोनों स्नेहीजनों ने, हम दोनों भाइयों का अतिशय लालन पालन किया है, इस विषय में कहना ही क्या है ? क्योंकि मातापिता की प्रीति अपनी आत्मा की अपेक्षा, अपने पुत्रोंपर ही अधिकतर होती है, यह सिद्धान्त है । अतः धर्मतः मेरे भी आप ही पिता हैं ॥२५॥

अनन्तर श्रीकृष्ण भी उसी बात को स्थापित करते हुए बोले—देखो, पिताजी ! मैं जो आपका पुत्र हूँ, यह बात तो दूर रहे । किन्तु इन श्रीमान् मेरे बड़े भाई श्रीबलराम के भी धर्म से आप ही पिता हैं ॥२६

कारण—लालन पालन करने में असमर्थ बन्धुओं के द्वारा त्यागे हुए बालकों को जो अपने पुत्रों की तरह लालन पालन से पुष्ट करते हैं, वस्तुतः वे ही पितामाता कहाने के अधिकारी हैं ॥२७॥

इसलिए इन मेरे बड़े भाई श्रीबलराम की आपके श्रीचरणों की सेवा परमश्रेष्ठ है । किन्तु हम दोनों इन यादवरूप मित्रों के सुख को सम्मुख रखकर श्रीचरणों में उपस्थित हो जायँगे ॥२८॥

"व्रजराज उवाच,—'वत्स ! तावद्वयमप्यत्र वत्स्यामः ।' "श्रीकृष्ण उवाच,—'तात ! तथा विधेयं यथा भवद्व्यतिरेकादेकाकितया माता मा तापं यासीत् ॥२९॥

"व्रजराज उवाच,—'तामपि भवतः समीपमेवापयिष्यामः ।' "श्रीकृष्ण उवाच— 'ततः सर्वमपि गोकुलमुत्सन्नतामापन्नं स्यात् ।' "व्रजराज उवाच,—'तर्हि सर्वमपि व्रजं निकटं घटयिष्यामः ॥'३०॥

"श्रीकृष्ण उवाच,—'सम्प्रत्यस्माकं बहुलाः प्रत्यहं सङ्ख्याधिक्यप्रत्ययतः सुष्ठु बहुला जाताः । तासामुपनगरवनं किमुपजीवनं स्यात् ? गावश्चास्माकं कुलदेव्य इति ता एव सेव्यतामर्हन्ति । यदि वा मदर्थं सर्वं भवताम्, मां विना तु व्यर्थमिति समर्थनीयम्, तर्हि च मत्प्राणा एव ता इति ता एव प्राणनीयाः ॥'३१॥

'किञ्च,यदवोऽपि नाहतं व्याहरन्ति; स्फुटमुपलब्धकंससम्बन्धजरासन्धनिर्बन्धादक्षौहिणीलक्षित-दुर्जनलक्षाणि मथुरामवरोत्स्यन्ति; तर्हि गर्हितमेव भवेत् । तत्रास्तामस्मत्सामीप्यमस्मदसामीप्यतश्च भवदवस्थानं यद्यस्मत्सम्बन्धं विना लब्धसन्धं भवेत्तर्ह्येव कृच्छ्रं नच्छेत् । गूढपुरुषद्वारेण ज्ञाते ह्यस्मत्सम्बन्धे जरासन्धादयस्त एते कंसवन्न भयानुबन्धा इति छलबलमेकमेकं न प्रस्थापयिष्यन्ति । किन्त्वक्षौहिणीभिर्द्रवन्तः सर्वं व्रजमप्युपद्रावयिष्यन्ति ॥३२॥

श्रीव्रजराज बोले—बेटा ! तबतक हम भी यहीं निवास करेंगे । श्रीकृष्ण बोले—पिताजी ! आपको तो उस प्रकार का विधान करना उचित है कि, जिस प्रकार आपके बिना अकेली होने के कारण मेरी माता सन्ताप को न प्राप्त हो ॥२९॥

श्रीव्रजराज बोले—उसको भी तुम्हारे निकट ही ले आवेंगे । श्रीकृष्ण बोले—ऐसा करनेपर तो समस्त व्रज ही विनाश को प्राप्त हो जायगा । श्रीव्रजराज बोले—तब सब व्रज को भी तुम्हारे निकट संघटित कर देंगे ॥३०॥

श्रीकृष्ण बोले—इस समय हमारी गैयाएँ प्रतिदिन संख्या की अधिकता के विश्वास से भली प्रकार बहुत हो गई हैं । अतः नगर के निकटवाले वन में उन सबका उपजीवन हो सकता है क्या ? और गैयाएँ ही हमारी कुलदेवियाँ हैं । वे ही सेवा करने योग्य हैं । और "आपकी सब वस्तुएँ मेरे लिए ही हैं, मेरे बिना तो व्यर्थ हैं" यदि आप इस बात का समर्थन उचित समझते हैं, तब तो वे गैयाएँ ही मेरे प्राणस्वरूप हैं; अतः उनको ही सेवा से तृप्त करना उचित है ॥३१॥

किंच यादवगण भी आहत (मिथ्या वचन) नहीं कह रहे हैं, यदि स्पष्ट ही कंस के सम्बन्ध को प्राप्त हुए जरासन्ध के आग्रह से, अक्षौहिणी सेनाओं से लक्षित लाखों दुर्जन मथुरा को घेर लेंगे, तब तो निन्दित कार्य ही बन सकता है । अतः व्रज में से हमारी समीपता को दूर रहने दो । क्योंकि हमारी समीपता के बिना आपकी स्थिति यदि हमारे सम्बन्ध के बिना स्थिति को प्राप्त हो सके, तब तो कष्ट को न प्राप्त कर सके । अन्यथा गूढचर के द्वारा हमारे सम्बन्ध को जान लेनेपर, वे ये जरासन्ध आदि भयभीत नहीं हैं, अतः कंस की तरह छलरूप बलवाले पूतना आदि की भाँति एक एक दुष्ट को नहीं भेजेंगे, किन्तु अक्षौहिणी के साथ धावा बोलते हुए सम्पूर्ण व्रज को भी भगा देंगे ॥३२॥

तस्मादस्माभिर्युष्माभिश्च गोपयितव्य एव गन्धश्च व्यतिसम्बन्धस्य; एते च मया यादवा दुर्गान्तिरे दवयितव्याः; भवन्तस्त्वसङ्ख्या न तथा कर्तुं शक्याः। सङ्ख्यामतिचरन्तीनां वनेचरन्तीनां गवामावरणं तु सुतरामेव दुष्करम्; तस्मात्तेषां दुर्गवदस्मदौदासीन्यमेव भवतां रक्षायां प्रावीण्यमर्हति ॥३३॥

'किन्तु तावदेव तद्विधेयम् यावत् सर्वविपक्षपक्षापक्षयं विधाय स्वयमेव श्रीमद्व्रजमाव्रजामः। आव्रजिते च तस्मिन्न पुनरन्यत्र व्रजनमपि स्यात्, यतो निरुपधिस्नेहव्यग्रभवदग्रिमस्वजनवर्गदर्शनसुखमात्रफलपात्रतया निरुपाधिरसौ पुरुषार्थः कथं बाधितः स्यात् ? तदेवं व्यस्य यन्निवेदितम्, तदेवेदं समस्य निवेदयामि ॥३४॥

(भा० १०।४५।२३)—'यात यूयं व्रजं तात ! वयं च स्नेहदुःखितान्। ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां सुखम् ॥'३५॥

तदेतत्पर्यन्तं मधुकण्ठः प्रोच्य भ्रातरमवलोच्य प्राह स्म,—"अत्र 'तात' इति निजान्तःस्थायि-तत्पुत्रताभावनाया योग्यमेव सम्बोधनम्; 'ज्ञातीन्' इति, तत्रापि 'स्नेहदुःखितान्' इति स्नेहस्य निरवधिकत्वात् प्रतिक्षणं दिदृक्षुषु तन्मुख्येषु तेष्वेवावस्थानं प्रतिक्षणमेव स्ववीक्षणदानं च विवक्षितम्। 'वयम्' इति 'अस्मदो द्वयोश्च' इति पाणिनीयस्मरणादस्तु तावन्मम वार्ता,

---

इसलिए हमको एवं आपको परस्पर सम्बन्ध के गन्ध (लेश) को भी गुप्त ही रखना चाहिये। और ये यादव भी मुझे किला के भीतर, अर्थात् यहाँ से द्वारका में दूर करने हैं। आप सब तो असंख्य हैं, अतः यादवों की तरह दूर नहीं किये जा सकते। और वन में चलनेवाली संख्यातीत धेनुओं का छिपाना तो और भी दुष्कर (कठिन) है। इसलिए उन यादवों के किले में छिपाने की तरह, हमारी उदासीनता ही आप सबकी रक्षा में निपुणता के योग्य है ॥३३॥

किन्तु वह उदासीनता भी तभीतक करनी योग्य है कि, जबतक सारे शत्रुओं का विनाश करके हम दोनों भाई श्रीमान् व्रज में आजावें। उस मनोहर व्रज में आजानेपर तो पुनः अन्यत्र, अर्थात् मथुरा आदि में जाना भी न हो सकेगा। कारण—निष्कपट स्नेह से व्याकुल आप ही हैं अग्रसर जिसके, ऐसे स्वजनवर्ग के दर्शनरूप सुखमात्र फलके पात्र होने के कारण, यह निश्छल प्रेमपुरुषार्थ किस प्रकार बाधित हो सकेगा ? अर्थात् किसी प्रकार नहीं। इस प्रकार मैंने विस्तार करके जो विषय निवेदन किया था, उसी को यह संक्षेप करके निवेदन करता हूँ—॥३४॥

हे पिताजी ! आप सब व्रज को पधारें, हम दोनों भी इन यादवरूप सुहृदों का सुख विधान करके, हमारे स्नेह से व्याकुल आप सब स्वजातिवालों को देखने के लिए आयेंगे ॥३५॥

मधुकण्ठ यहाँतक कहकर, भैया स्निग्धकण्ठ को निहार कर पुनः बोला—इस श्लोक में श्रीकृष्ण ने श्रीनन्द के प्रति 'हे तात !' यह सम्बोधन जो दिया है, वह अपने अन्तःकरण में स्थापित स्थायी पुत्रभावना के सम्बन्ध में योग्य ही है। और 'ज्ञातीन्' यह, उसमें भी 'स्नेहदुःखितान्' ये जो पद प्रयुक्त हैं, उनसे स्नेह की अवधि न होने के कारण, प्रतिक्षण श्रीकृष्ण को देखने की इच्छावाले श्रीनन्द उपनन्दादि व्रजवासियों में अपना रहना, एवं प्रतिक्षण ही अपना दर्शन देना विवक्षित है, अर्थात् कहना इष्ट है। और 'वयं' इस पद से 'अस्मदो द्वयोश्च' इस पाणिनीयसूत्र से एकत्व एवं द्वित्व की विवक्षा में भी, अस्मद् शब्द से बहुवचन होने के कारण, केवल मेरे आने की बात को तो रहने दो, किन्तु हम दोनों भाई ही व्रज में आवेंगे। यह भाव

किन्त्वावां द्वावप्येष्याव इति व्यञ्जितम् । 'द्रष्टुम्' इति तेषामिवात्मनोऽपि तद्दर्शनमात्रपुरुषार्थता समर्थिता । (भा० १०।१४।६) 'तथापि भूमन् महिमागुणस्य ते, विबोद्धुमर्हति' इत्यत्र बोधविषयीभवितुमितिवद्दर्शनविषयीभवितुमित्यर्थान्तरेऽपि तद्वदेव सिद्धान्तितम्; 'सुहृदाम्' इति यदूनामज्ञातित्वमुपकार्यत्वमात्रं च ध्वनिपात्रं कृतम् । तत्र च 'सुखं विधाय' इति क्त्वाप्रयोगेण सावधिकनिर्देशात्तद्भयादिनाशनानन्तरं पुनस्तदनपेक्षत्वमपि लक्षितम्" इति ॥३६

"तत्र स्निग्धकण्ठः सोत्कण्ठं पप्रच्छ,—"अथ तत्र किं व्यवसितं श्रीव्रजेशचरणानाम् ?"३७॥

मधुकण्ठः प्राह स्म,—"व्रजराजश्च तदीयवाचोयुक्तिरचनमनभिरुचितमपि बाढमुचितमिति मत्वा मनसि स्वललाटं हत्वा वाष्पस्पृष्टमस्पष्टमाचष्ट,—'भवन्माता तु वामा कथमियद् बुध्यताम् ?' ॥३८॥

"श्रीकृष्ण उवाच,—'तां प्रति च यथेष्टप्रणामपूर्वकं निजेष्टद्वारा मयेदं सन्देष्टव्यम्' इति प्रोच्य स्वहस्तलिपिभिस्तत्पत्रं विरोच्य श्रीदामहस्तविन्यस्तं कृतवान् ॥३९॥

"श्रीदामा च श्रीव्रजराज-शुश्रूषायां कृतानुसन्धस्तन्मुखबन्धमतीव तद्दीनम्मन्यतानुबन्धमनुसन्धाय तं विहाय निवेद्यमेव सगद्गदं गदति स्म,—'यथा सम्प्रति वयं दुष्टजनात्

प्रकाशित किया । और 'द्रष्टु' इस पद से उन व्रजवासियों की तरह, अपना भी उन व्रजवासियों का दर्शनमात्र ही पुरुषार्थ है, यह भाव समर्थित किया । और 'अथापि भूमन् !' इत्यादि श्लोक में 'विबोद्धुं' पद के "बोध का विषय होने के लिए" इस अर्थ की तरह 'द्रष्टु' इस पद के "दर्शन का विषय होने के लिए" अर्थात् व्रजवासियों को दर्शन देने के लिए, इस प्रकार के दूसरे अर्थ में भी, पूर्वोक्त अर्थ की तरह ही सिद्धान्त स्थापित कर दिया । अर्थात् व्रजवासियों का जिस प्रकार श्रीकृष्णदर्शन ही परमपुरुषार्थ है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण का भी व्रजवासियों का दर्शन ही परमपुरुषार्थ है । यह अटल सिद्धान्त स्थापित कर दिया । और 'सुहृदां' इस पद से यह भाव ध्वनित कर दिया कि, ये यादव हमारे जाति के नहीं हैं, एवं मित्र के समान उपकार करने के योग्यपात्र हैं । और उसमें भी "सुखं विधाय" यहाँपर आनन्तर्य अर्थ में क्त्वा प्रत्यय के प्रयोग से, मित्रों के सुखविधानपर्यन्त की अवधि के निर्देश के कारण, उन यादवरूप मित्रों के भयनाश के अनन्तर, पुनः उनकी अपेक्षा के अभाव को भी लक्षित कर दिया । अर्थात् यदुवंशियों के सुखविधान के अनन्तर मुझे उनके निकट नहीं रहना है, यह भाव दिखा दिया ॥३६॥

वहाँपर स्निग्धकण्ठ ने उत्कण्ठापूर्वक पूछा कि—श्रीकृष्ण के कहने के बाद वहाँपर, पूज्यपाद श्रीव्रजराज का क्या निश्चय रहा ? ॥३७॥

मधुकण्ठ बोला—श्रीव्रजराज तो श्रीकृष्ण की बातों की युक्ति रचना को अरुचिकर होनेपर भी, अत्यन्त उचित मान कर, मन मन में अपने मत्थे को ठोक कर सजलनयन होकर अस्पष्टरूप से बोले—तुम्हारी माता तो भोली भाली स्त्री है, अतः वह तुम्हारे इतने लम्बे विचार को कैसे समझ सकेगी ? ॥३८॥

श्रीकृष्ण बोले—उसके प्रति यथेष्ट प्रणामपूर्वक अपने प्रिय मित्र के द्वारा मुझे यह सन्देश देना चाहिये, इतना कहकर अपने हाथ के लेखों के द्वारा उस पत्र को सुशोभित करके, श्रीदामा के हाथ में समर्पित कर दिया ॥३९॥

श्रीदामा भी श्रीव्रजराज की "श्रीकृष्ण के पत्र की" सुनने की इच्छा में अनुसन्धान करके, एवं उस पत्र का मुखबन्ध श्रीकृष्ण की अत्यन्त दीनता से भरे हुए विषय से युक्त है, इस बात का अनुसन्धान करके,

कष्टमाशङ्क्य स्पष्टमेव नायास्यामः; किन्तु श्रीमत्पितृचरणपरिचरणप्रभावान्ममाषडक्षीण-मक्षोणमागमनं प्रत्यहमपि विद्यत एव ॥४०॥

'तथा हि— आद्येऽह्नि क्षीरभक्तं घनदधिवलिता रोटिका तस्य पश्चात्-
तत्पश्चाद् दुग्धपूपं तदनु बहुविधान्नाद्यमन्येषु चान्यत् ।
मातर्मह्यं निकाय्ये महति रसयते पर्यवेषि त्वया य-
न्न स्वप्नस्तन्न वा तत् स्फुरणमयमिति स्मर्यतां किन्तु सत्यम् ॥४१॥

'किञ्च, यावन्नाश्नासि मातस्त्वमिति निशमये हन्त नाश्नानि तावद्-
यद्यश्नामीव तर्ह्यप्यनुभवदसु मे स्वेऽसवः शोषमीयुः ।
गोष्ठं गच्छानि पश्यान्यपि निजजननीं तद्विधामेवमेव
ह्य ुद्यत्तेजःप्रकाशाद्रिपुगणमचिरादुत्सहिष्ये विजेतुम् ॥'इति ॥४२॥

"अथ तदेतन्निशम्य सम्यगस्राविलं सन्देशहरश्च व्याजहार,—'सत्यं श्रीव्रजेश्वरीचरणाश्च स्वप्नवदिदं साम्प्रतभवद्भोजनादिकं सरोदनं वदन्ति स्म । भवद्दुःखमाशङ्क्य स्वाभोजनमपि गोपयन्ति स्म' इति ॥४३॥

उस मुखबन्ध के विषय को, अर्थात् पत्र में पहले लिखे हुए "स्वस्ति श्रीपूजनीया माता" इत्यादि विषय को छोड़कर, निवेदन करने योग्य विषय को ही गद्गद स्वर से स्वयं बोला—यथा—हे माताजी ! इस समय हम दुष्टजनों से कष्ट की आशंका करके स्पष्ट ही व्रज में नहीं आयेंगे, किन्तु पूज्यपाद पिताजी की परिचर्या के प्रभाव से बड़े भाई के साथ किये विचार से युक्त मेरा व्रज में आना प्रतिदिन अक्षीण (पूर्ण)रूप से होता ही है ॥४०॥

देखो, पहले दिन दूधभात, उसके दूसरे दिन गाढ़ी दही से मिली हुई रोटी, उसके पीछे तीसरे दिन दूध से मिले हुए पुआ, उसके बाद अन्यान्य दिनों में बहुत प्रकार की अन्न आदि खाद्यवस्तु आस्वादपूर्वक खानेवाले मेरे लिए हे माताजी ! आपने अपने विशाल भवन में जो जो वस्तुएँ परोसी थीं, इस सब कार्य को आप स्वप्नरूप से न स्मरण करें, एवं मेरे आने को भी केवल स्फूर्तिमय ही स्मरण नहीं करना, किन्तु सत्य ही स्मरण करना ॥४१॥

किंच हे माताजी ! "जबतक तुम भोजन नहीं कर रही हो" मैं इस बात को सुनता हूँ, हाय ! तबतक मैं भी भोजन नहीं करता हूँ । यदि मैं भोजन सा करता हूँ, तब तो अनुभव करता हुआ मेरा चित्त सूख जाता है, एवं अपने प्राण भी सूख जाते हैं । अतः मैं व्रज में जाऊँ, उस प्रकार की अपनी माता को भी देख लूँ, इसी प्रकार माता के दर्शन से प्रगट हुए अपने तेज के प्रकाश से शत्रुसमूह को शीघ्र ही जीतने को उत्साहित हो जाऊँगा ॥४२॥

उसके बाद यह बात सुनते ही व्रज का सन्देश लानेवाले दूत ने अच्छी प्रकार आँसू बहाते हुए कहा कि—सत्य मानो, पूज्यपाद श्रीव्रजेश्वरी यशोदाजी इस समय किये हुए आपके इस भोजन आदि को रोती हुई स्वप्न की तरह कह रही थीं । और आपके दुःख की आशंका करके अपने अनशन को भी छिपा रही थीं । इस बात को कहने के लिए ही मैं शीघ्र आया हूँ ॥४३॥

"अथ तदेतदवधार्य साश्चर्यतया स्थितेषु तेषु व्रजमहीक्षिदार्द्रवीक्षितमाचचक्षे,—'भवतः प्रेमवश्यानां वयस्यानामेषां वर्तने का वार्ता ?' ॥४४॥

"श्रीकृष्ण उवाच,—'श्रीमन्मातृवदेव ते चामी ममेप्सितसखिजना वीप्सया मामुपलप्स्यन्ते; किन्तु मातुर्वत्सलतास्वभावतया कदाचिदन्यथाप्रथा भासिष्यते, न पुनरमीषां प्रणयभाजाम्' इति ॥४५॥

"व्रजेश्वर उवाच,—'प्रथमतस्तावदेत इव गावः कथमेतावतीं प्रक्रियां श्रावणीं कुर्वन्तु ?'४६॥

"श्रीकृष्ण उवाच,—'यद्यपि तास्वपि मम तथास्फूर्तिर्ज्वरमपनयेत्तथापि प्रकारान्तरमपि बहिर्वृत्तिसमाधानाय विधास्यामि । यथा—तासां गन्धानुसन्धानमेव प्रधानं रवगणश्रवणं च; रूपनिरूपणं तु तत्प्रधानकमेव । तस्मात् स्तोककृष्णोऽयं तदभ्यस्तमदस्तोकसौरभ्यपरिरभ्यमाणवस्त्रसंवस्त्रणया कृतमन्मुरलीखुरलीकतया च तथा सुबलश्चायं बलवसनावलम्बतया तदीयशृङ्गसङ्गितया च तासां मध्यमध्यासितं कुरुताम् । ततश्च ममाखिलगुणनिधय एते सर्वेऽप्यनयोः प्रतिनिधयः स्युर्यत्र वन्याश्च ते धन्याः सर्वाभिवाद्या मृगनगाद्या मत्स्फूर्तिपूर्तिमागच्छेयुरिति सर्वमेव समञ्जसं भविता' इति ॥४७॥

इस बात को सुनकर उन सभी के आश्चर्यपूर्वक निश्चल बैठे रहनेपर, श्रीव्रजराज सजलनयन होकर बोले—लाला कृष्ण ! तुम्हारे प्रेम के वशीभूत रहनेवाले इन श्रीदामा आदि सखाओं के जीवन के निमित्त कौन सी बात कहते हो ? ।।४४।।

श्रीकृष्ण बोले—श्रीमती माताजी की तरह ये सब मेरे प्राप्त करने योग्य मेरे सखागण भी मुझको बारम्बार प्राप्त करते रहेंगे, अर्थात् प्रतिक्षण मुझको देखते रहेंगे। किन्तु माताजी के तो वात्सल्यमय स्वभाव होने के कारण, कभी कभी मेरा दर्शन स्वप्न की सी रीति का स्फूर्ति पायेगा। किन्तु सख्यप्रेम से युक्त इन श्रीदामा आदिकों को उस प्रकार स्वप्न की सी स्फूर्ति न होगी, अपितु, साक्षात् ही प्रतीति होती रहेगी।।४५।।

श्रीव्रजेश्वर बोले—इन सखाओं ने तुम्हारे साक्षात्कार की प्रक्रिया जैसे पहले से तुम्हारे मुख से सुनी है, उसी प्रकार वे गैयाएँ इतनी लम्बी प्रक्रिया को कैसे श्रवणगोचर कर सकेंगी ? ।।४६।।

श्रीकृष्ण बोले—यद्यपि उन गौओं में भी मेरी उस प्रकार की स्फूर्ति उनके विरहज्वर को दूर कर सकेगी, तथापि बाहरीवृत्ति के समाधान के लिए मैं दूसरे प्रकार की भी रचना कर दूँगा। यथा—गौओं को तो गन्ध का अनुसन्धान एवं शब्दसमूह का श्रवण ही ज्ञान का प्रधान कारण है, रूप का निरूपण (दर्शन) तो गन्ध के अनुसन्धान आदि की प्रधानतावाला ही है। (गावो घ्राणेन पश्यन्ति वेदैः पश्यन्ति पण्डिताः। चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे नराः।।) इसलिए यह स्तोककृष्ण नामक सखा गऊओं द्वारा अभ्यस्त (परिचित) मेरी विशेष सुगन्धि से युक्त, मेरे पीताम्बर को ओढ़कर, तथा मेरी मुरली के बजाने के अभ्यास से युक्त होकर, और यह सुबल सखा श्रीबलदेव का नीलाम्बर अवलम्बन कर, एवं बलदेवजी के शृङ्ग का सङ्गी बनकर, अर्थात् उनके शृङ्ग को धारण कर उन गउओं के बीच में बैठना आदि करता रहे। उसके बाद मेरे सब गुणों के निधिस्वरूप ये सब सखा 'स्तोककृष्ण एवं सुबल' इन दोनों के प्रतिनिधि हो जायँ। जिसमें ब्रह्मादि स्थावरपर्यन्त सभी के प्रशंसनीय परमधन्य वे वृन्दावनवासी मृग, पशु, वृक्ष, पर्वत आदि भी मेरी स्फूर्ति की पूर्ति को प्राप्त हो जायँगे, इस प्रकार सभी सामञ्जस्य घटित हो जायगा।।४७।।

"अथ निजपरिचारकान् शूद्राभीरकुमारकान् हतविचारकान्निशाम्य वैवश्याद्वैश्याभीरराजि शाम्यद्वचनशक्तिभाजि स्वयमेव सोऽयमस्रतोयधरः प्राह स्म,—'मम सखीयमानानामेषामखिलानां तेषामिव यद्यपि गतिस्तथापि तातानुगतिस्तु विशेषतः स्तुतिमासीदति' इति ॥४८॥

"अथ मधुमङ्गलमपि तदिदं स्नेहसङ्गतमाह—'हन्त ! भवन्तश्च तत्र यान्तु । यद्भगवतीसेवां मन्मङ्गलाय मत्प्रतिनिधितया कुर्वाणाः पुनस्तदपूर्वजननात् पूर्ववत्तदखर्वपर्वणे सम्पत्स्यन्ते' इति ॥४९॥

"तदेवं विस्रम्भ्य तत्तदङ्गसौरभ्यपरिरभ्यमाणवसनादिना तौ स्तोककृष्ण-सुबलौ विशेषतस्तत्तद्गुणवासितौ विधायान्यानपि यथान्यायं निजालङ्करणादिनाऽलंकृत्य सेवादिकारिणश्च यथावदादृत्य कृत्यविशेषान् श्रीमत्पितृचरणेषु गोचरतां निनाय; नीत्वा च तदनुज्ञां गृहीत्वा स्वयं तत्रैव स्थित्वा मन्त्रसदनाद्बहिःस्थितान् माथुरविप्रजनानन्तर्नीत्वा तद्द्वारा सर्वानेव यदून् विज्ञापयामास,—'त एते व्रजाय व्रजिष्यन्ति' इति ॥५०॥

"ते च श्रीवसुदेवनरदेवप्रमुखास्तत्रैव सुखादागताः, आगम्य च रम्यपरिच्छदादिना तानभ्यर्च्य चानुव्रज्य च चर्च्यमानतद्भद्रतया पुरमयामासुः ॥५१॥

उसके बाद शूद्र जाति के गोपकुमाररूप अपने सेवकों को विचारशून्य देखकर, प्रेम की विवशता के कारण वैश्यगोपराज श्रीनन्दजी की वचनशक्ति के शान्त हो जानेपर, स्वयं श्रीकृष्ण ही नेत्रों में अश्रुजल धारण करके बोले—मेरे साथ सखाओं का सा व्यवहार करनेवाले इन सब शूद्रगोपकुमारों की यद्यपि सुबल श्रीदामा आदि सखाओं की सी गति है, तथापि हमारे पिता की सेवा करना तो इनके लिए विशेष प्रशंसा को प्राप्त कर रहा है ॥४८॥

अनन्तर मधुमङ्गल से भी स्नेहपूर्वक यह वचन कहा कि—प्रिय सखे ! मधुमङ्गल ! आप सब व्रज में चले जाओ। क्योंकि मेरे मङ्गल के लिए मेरे प्रतिनिधि रूप से भगवती पौर्णमासी की सेवा करते हुए, तुम सब पुनः अपूर्व पुण्य उत्पन्न होने से पहले की तरह, उसी विशाल महोत्सव के लिए सम्पन्न हो जाओगे ॥४९

इस प्रकार विश्वास दिलाकर, अपने अपने उन उन हस्त पादादि अङ्गों की सुगन्धि से युक्त वस्त्र आदि के द्वारा, उन स्तोककृष्ण एवं सुबल को विशेष करके प्रसिद्ध अपने वशीकरण आदि गुणों से सुवासित करके, और अन्य सखाओं को भी यथायोग्य अपने अलङ्कार आदि से अलंकृत करके, सेवक आदिकों का यथावत् आदर करके, पूज्यपाद पिताजी के निकट विशेष विशेष कार्यों को विज्ञापित कर दिया। विज्ञापित करके उनकी अनुमति लेकर, स्वयं वहींपर बैठकर, विचारस्थान से बाहर बैठे हुए मथुरा के ब्राह्मणों को भीतर ले जाकर, उन्ही के द्वारा सभी यादवों को विज्ञापित कर दिया कि, ये श्रीव्रजराज आदि व्रजवासी व्रज को जायँगे ॥५०॥

इस समाचार को सुनते ही श्रीवसुदेव एवं राजा उग्रसेन आदि वे यादव सुखपूर्वक वहींपर चले आये। और आते ही मनोहर सामग्री आदि से उन व्रजवासियों की पूजा करके, उनको बिदा करके, कुछ दूरतक उनके पीछे जाकर, उन व्रजवासियों की साधुता का विचार करते हुए मधुपुरी में चले गये ॥५१॥

"स तु यशस्वी स्वयमस्वीकृतराज्यतया किमपि तत्रत्यं तान् प्रत्यनपवर्ज्य किन्तु प्राग्बलिवलितबलिकंसहृतघृतकुप्यभाजनानि यानि तान्येव विसर्ज्य केशवः केवलतायां मिथः क्षुभितताभीतस्तैरेव सह श्रीव्रजमहनीयाननुज्ञाप्य मनसि कयाप्यवस्थया व्याप्यमानः पुरमाजगाम, रामस्तु तान् दूरमनुवव्राज ॥५२॥

"व्रजेश्वरस्तु प्रलीनमनस्तायामपि जीवन्मुक्तवदेव संस्कारवशादिदं जगाद,—'वत्स ! निजानुजवत्सल ! स केवलतया मनोबलं हास्यति; तस्मादनुजं तमेवानुयाहि' इति ॥५३॥

"अथ स्वसम्बन्धादधिकदुःखानुबन्धादाशङ्कमानः सङ्कर्षणः सधैर्यं सर्वाननुज्ञाप्य शीघ्रगत्या स्वभ्रातरं प्राप्य क्वचिदेकान्तमनुयाप्य निजनिजबाहुभ्यां परस्परं ग्रीवां परिधाप्य तेन सह रुरोद । तदलमतिविस्तरेण ॥"५४॥

यतः, कंसस्य ध्वंसनान्ते व्रजवसतिगणे गच्छति स्वीयगेहं
तं कृष्णं तं च रामं तमपि पशुपतिक्ष्मापतिं तांश्च गोपान् ।
श्रीदामाद्यांश्च तांस्तानपि च तदनुगान् नव्यविच्छेदभीते-
रन्तः स्मृत्वा मदन्तर्विरसवशतया सर्वमर्वाग्जहाति ॥५५॥

तदेवमुट्टङ्कयन्मधुकण्ठः श्रीव्रजाधिपादीनामाधिमवधाय पुनरभिदधे,—
"यः स्वां कृष्णः पुरा तृष्णां वर्धयामास धृष्णजम् ।
स साक्षाद्भवतामङ्के स्वं केलिं वहति प्रभो ! ॥५६॥

वे यशस्वी श्रीकृष्ण तो स्वयं राज्य स्वीकार न करने के कारण, राजकीय कोई भी वस्तु व्रजवासियों को न देकर, किन्तु बलवान् कंस के द्वारा पहले भेंट या करके रूप में अपहरण करके अपने अधीन किये गये घृत के कुप्य (सोना चाँदी से भिन्न जो पात्र) थे उन्ही को केवल देकर, अपने एवं व्रजवासियों के परस्पर अकेलेपन में क्षोभ के भाव से डरकर, श्रीवसुदेव आदि यादवों के साथ ही व्रज के पूजनीय श्रीव्रजराज से आज्ञा लेकर, मन में किसी अनिर्वचनीय दशा से व्याप्त होकर मधुपुरी में चले आये। किन्तु श्रीबलरामजी ने तो बहुत दूरतक उन व्रजवासियों का अनुगमन किया ॥५२॥

श्रीव्रजराज तो मानसिकभाव के स्तब्ध हो जानेपर भी जीवन्मुक्त व्यक्ति की तरह केवल संस्कार वशतः यह बोले कि—अपने छोटे भाईपर वात्सल्य करनेवाले ! बेटा ! बलराम ! देखो, वह कृष्ण अकेला होने के कारण, मानसिक बल को छोड़ देगा। अतः तुम उस छोटे भाई के पास ही चले जाओ ॥५३॥

उसके बाद अपने सम्बन्ध से अधिक दुःख के अनुबन्ध से आशंका करते हुए श्रीबलदेव धैर्यपूर्वक सब से अनुमति लेकर, शीघ्रगति से अपने भाई श्रीकृष्ण को पाकर, किसी एकान्तस्थान में लिवा जाकर, अपनी अपनी भुजाओं से परस्पर गले को धारण कर श्रीकृष्ण के साथ रोने लग गये। अतः अब अधिक करुणरस के विस्तार से प्रयोजन नहीं है ॥५४॥

कारण, कंस का ध्वंस हो जानेपर, व्रजवासीसमूह के अपने अपने घर चल देनेपर, उन श्रीकृष्ण को, उन श्रीबलराम को, उन्ही श्रीव्रजराज को, उन्ही वृद्धगोपों को, उन्ही श्रीदामा आदि सखाओं को, और उन व्रजवासियों के उन उन सेवकों को नये वियोग के भय के भीतर पड़े हुए याद करके मेरा अन्तःकरण व्याकुलता के कारण, इस समय सब वस्तुओं को त्याग रहा है ॥५५॥

अतएव इस प्रकार उल्लेख करता हुआ मधुकण्ठ श्रीव्रजराज आदिकों की मानसी व्यथा को स्मरण

"अथ श्रीकृष्णश्च तच्चरणारविन्दं शिरसा विन्दन् सनिर्वेदं निवेदितवान्,—
'अहह बहलमन्तुं जन्तुरेष प्रलापी, रचितमचित तात ! क्षन्तुमर्हस्त्वमेव ।
कथमपि निजमङ्गं व्याधिना दुःखदं स्या,-त्तदपि न हि तदङ्गी त्यक्तुमिच्छेत् कदापि ॥'५७॥
"ततश्च, आलिङ्ग्यत व्रजेशित्रा पित्रा सपुलकं सुतः ।
सर्वैश्चानन्दगर्वेण रोमपर्वेह सन्दधे ॥"५८॥

तदेवं प्रातःकथां समाप्य मधुकण्ठः श्रीमाधवपदसीम्नि राधिकासदसि कथयामास,— "ये खलु तस्य व्रजाऽऽव्रजनाय व्यञ्जिता विघ्नास्ते सर्वे प्रागुक्तलज्जानिघ्ना एव मन्तव्याः । तदेव पुरस्ताद्व्यञ्जयन् मथुरायाश्चलन्तं सुबलं बलानुजः स्ववल्लभारोचकवाचिकवलितं चकार ॥५९॥

"यथा— सत्यं संत्यज्य युष्मान् नियतमदनुगप्राणना निष्प्रमाणा
धर्म्यं मे नास्ति किञ्चित्तदपि सवयसः श्रूयतां मन्निवेद्यम् ।
युष्माकं यातिसेतुर्मयि रतिरतुला सा तु मां ह्रेपयन्ती
तत्तुल्याऽऽसक्तिरिक्तं ह्नुततनुमकरोन्नास्मि दूरः कदापि ॥६०॥

कर पुनः बोला—हे स्वामिन् ! व्रजराज ! जिन श्रीकृष्ण ने पहले अर्थात् प्रगटलीला के समय, अपनी प्रगल्भ तृष्णा को बढ़ाया था, वे ही साक्षात् आपकी गोद में अपनी क्रीडा कर रहे हैं ॥५६॥

अनन्तर श्रीकृष्ण ने अपने मस्तक से श्रीव्रजराज के चरणारविन्द को प्राप्तकर, अर्थात् छूकर खेद-पूर्वक निवेदन किया—अहह ! पिताजी ! मुझ जैसे इस प्रलापी जन्तु ने बहुत से अपराधों की रचना कर दी है, अतः उनको आप ही क्षमा करने के योग्य हैं । क्योंकि देखो, यदि किसी प्रकार व्याधी के द्वारा अपना कोई अङ्ग दुःखदायी हो जाय, तो भी उस व्याधीग्रस्त अङ्गवाला प्राणी उस अङ्ग को कभी भी त्यागने की इच्छा नहीं कर सकता । तात्पर्य—मैंने आपको छोड़कर मथुरा द्वारका आदि में जाकर, अपने विरह से आपको पीडित कर बहुत से अपराध किये हैं, तो भी दयालु पिता होने के नाते आप मुझे त्याग नहीं सकते ॥५७॥

उसके बाद पिता श्रीव्रजराज ने रोमाञ्चित होकर पुत्र का आलिङ्गन किया । और इसी समय सभी श्रोतारूप सभासदों ने आनन्दमय गर्व से रोमोत्सव धारण कर लिया, अर्थात् रोमाञ्च धारण कर लिए ॥५८

इस प्रकार प्रातःकाल की कथा को समाप्त करके मधुकण्ठ श्रीकृष्ण के चरणों के निकट श्रीराधिका की सभा में कहने लगा—श्रीकृष्ण के व्रज में आने के लिए जो विघ्न लीलाशक्ति के द्वारा प्रकाशित हुए हैं, वे सब पूर्वोक्त लज्जा के अधीन ही मानने योग्य हैं । पहले उस लज्जा के स्वाधीनभाव को प्रकाशित करते हुए श्रीकृष्ण ने मथुरा से चलते हुए सुबल को अपनी प्रियाओं के रुचिकर सन्देश वाक्यों से युक्त कर दिया, अर्थात् सुबल के द्वारा अपनी प्रियतमा गोपियों को सन्देश भेजा ॥५९॥

यथा—नियतरूप से जिनकी तृप्ति मेरे ही अनुगत है, एवं जो निष्प्रमाण (बहुत सी) हैं, इस प्रकार की तुम सब गोपियों को त्यागकर मेरा कोई भी कार्य धर्मयुक्त नहीं है । यह बात सत्य है । तो भी हे प्रिय सखियो ! मेरा किंचित् निवेदन सुन लीजिये । देखो, तुम्हारी मर्यादातीत एवं अतुलनीय जो प्रीति मुझ में है, वह तो तुम्हारे समान प्रीति से रहित मुझको लज्जित करती हुई मुझे गुप्त शरीरवाला बना रही है । अर्थात् तुम्हारे समान प्रीति न होने के कारण मैं लज्जा से छिपा हुआ हूँ । किन्तु तुम सबसे कदापि दूर नहीं हूँ ॥६०॥

पुर्यामस्यां यदस्मि प्रकटमपिहितं हन्त कुर्यां कथं तत्
किन्तु च्छायासदृक्षः स्फुटमिह विहरेत्तत्र तु स्वेन नित्यम् ।
आवेशो यत्र यस्य स्फुरति स नियतं तत्र भाति स्वयं यत्
स्फूर्तिं स्वां सोऽयमस्मीत्यनुभजति यथा तेन नान्येन तद्वत् ॥६१॥
सोमाभे ! दर्शरात्रावपि निजरुचिभिः पूर्णिमाभ्रान्तितस्त्वं
मद्विश्लेषज्वरार्तिप्रथिनवमदशा दुर्वशाङ्गी यदासीः ।
तर्हि त्वामङ्गकान्तिस्फुरदसितमणिश्रीचयव्याप्तसर्वः
सोऽहं शिश्लेष तत्तद्विनिमितदशया यत्र चित्रं जगन्थ ॥६२॥
सोमाभे ! मानमैच्छः प्रतिपदि ललिते ! मामयासीर्वनान्ते
पाल्यासीर्वाससज्जा परिचरसि पुरा राधया मां विशाखे ! ।
एतद्दिङ्मात्रमुक्तं भवदवगतये ज्ञेयमन्यत् कथं वा
स्वप्नं तत्तद्विदित्वा ग्लपयथ निजकं मानसं मामपीह ? ॥६३॥
पद्मे ! भद्रे ! सशैव्ये ! त्रितयमपि भवद्रूपमुद्भ्रान्तचित्तं
मद्विश्लेषात्तमालं परि विलुठितवद् यत्र तत्राहमासम् ।

किंच मैं इस मथुरापुरी में प्रगट रूप से विद्यमान हूँ, हाय ! मैं उस प्रगटता को किस प्रकार छिपा दूँ । किन्तु यदि सत्य पूछो तो, मैं इस मथुरा में तो स्पष्ट ही छाया के समान विहार करता हूँ, व्रज में तो अपने स्वरूप से ही नित्य विहार करता हूँ । व्रज के नित्य विहार में यह दृष्टान्त है कि, जिसका जहाँपर आवेश स्फूर्ति पाता है, वह निश्चय ही स्वयं वहाँपर प्रतीत होता है, कारण—जिस प्रकार अपनी स्फूर्ति को "मैं वही व्यक्ति हूँ" इस प्रकार अनुभव करता है, उस प्रकार छाया के समान देह के द्वारा आवेश के समान स्फूर्ति का अनुभव नहीं करता ॥६१॥

हे चन्द्रावलि ! तुम अमावस्या की रात्रि में भी जब अपनी कान्तियों के द्वारा, पूर्णिमा के भ्रम से मेरे विरहज्वर की पीडा के विस्तार से प्राप्त हुई नवमदशा (मूर्च्छा) के कारण, विकल अङ्गोंवाली हो गई थीं, तब अपनी अङ्गकान्ति के द्वारा स्फूर्ति पाती हुई इन्द्रनीलमणि की शोभा के समूह के द्वारा, सभी को व्याप्त करनेवाला मैं तुम से भुजभर के मिला था, जहाँपर मेरी उन उन विरहजनित पोडा आदि की परिवर्तित दशा के द्वारा तुम आश्चर्य को प्राप्त हो गई थीं । अर्थात् परस्पर आलिङ्गन करने से तुम्हारी विरहमयी दशा मुझ में, एवं मेरी विरहमयी दशा तुम में परिवर्तित हो जाने से तुम चकित हो गई थीं । याद है न ? ॥६२

किंच हे चन्द्रावलि ! प्रतिपदा के दिन तुमने मान करने का इच्छा की थी । हे ललिते ! तू उसी दिन वन के बीच में मेरे पास आई थी । हे पालि ! तू उस दिन वासकसज्जा बनी हुई थी । हे विशाखे ! तुमने पहले राधिका के साथ मेरी सेवा की थी । हे सखियो ! तुम सबके जानने के लिए यह समाचार तो मैंने थोड़ा सा इशारा मात्र कहा है, और तो मेरे मिलनेपर ही जानने योग्य है । इसलिए मेरे उस सच्चे मिलन को भी स्वप्न जानकर अपने मन को क्यों दुःखित कर रही हो ? एवं यहाँ मथुरा में पड़े हुए मुझको भी क्यों दुःखित कर रही हो ? ॥६३॥

हे शैव्या के सहित पद्मे ! एवं भद्रे ! सखि ! तुम तीनोंजनी मेरे वियोग से उद्भ्रान्त चित्तवाली होकर तमालवृक्ष के निकट जहाँ लोट पोट हो गई थीं, वहाँ मैं विद्यमान था । हाय ! मैं तुम्हारे अङ्गों को

आलिङ्गन् युष्मदङ्गान्युदनमयमहो यावदभ्यस्य तावत्
क्रुद्धा वृद्धाः कुतश्चिद् बत यदुपगतास्तन्न मे याति दुःखम् ॥६४॥

अन्येद्युः श्रीलराधे ! मम पुरगमनस्फूर्तिसञ्जातमूर्तिं
त्वामालिङ्ग्यानुचुम्बन् गिरिवनमनयं तत् कथं व्यस्मरस्त्वम् ? ।
तत्रागम्याथ सर्वाः कलकलविरुतं यर्हि चक्रुस्तदानीं
तत्रावां हा यथास्वं पृथकदपगतौ न स्मरस्येव तच्च ॥६५॥

स्वप्ने यद् राधिके त्वं मम शयनमिहाप्याश्रिता राजपुर्यां
स्वप्नस्तन्नास्ति नूनं परिमलितमभूद् यत्त्वया तस्य वासः ।
आस्तां तत् स्पष्टमद्याप्यनुमदवयवं पद्मिनीरत्नगन्धं
वन्दन्नन्धोऽपि लोकः स्मितशवलमुखः शीर्षमीषद्धुनीते ॥६६॥

आस्तां प्रागद्य सद्यस्तनशशिकलयालंकृतश्रीरसौ यद्-
वृत्तं तद् युष्मकाभिः सशपथमभितः पृच्छ्यतां श्यामलैव ।
यद्यप्येवं तथापि स्फुटगतिमचिरादागतिं चेन्मदीया-
मोहध्वे सर्वविघ्नप्रशमनरचना स्याद् यदा तर्हि कुर्याम् ॥"६७॥

बारम्बार आलिङ्गन करता हुआ जबतक ऊपर को उठा रहा था, तभीतक कुछ बुढ़ियाएँ कुपित होकर कहीं से उपस्थित हो गई थीं, हाय ! उस समय हमारे तुम्हारे अलग होने का जो दुःख है, वह आज भी दूर नहीं हो रहा है ॥६४॥

हे श्रीमति राधिके ! दूसरे दिन मेरी मधुपुरी जाने की स्फूर्ति से मूर्च्छित हुई तुमको आलिङ्गन करके, पश्चात् चुम्बन करता हुआ मैं पर्वतप्रधान वन में ले गया था,उस बात को तुम कैसे भूल गई ? उसके बाद सभी स्त्रियाँ वहाँपर आकर जब कलकल शब्द करने लगीं, तब हाय ! हम दोनों वहाँपर यथायोग्य अलग अलग हो गये थे, उस बात को बिलकुल याद नहीं करती हो क्या ? ॥६५॥

हे राधिके ! इस राजपुरी में भी स्वप्नावस्था में तुमने मेरी शय्या का जो आश्रय लिया था, वह निश्चितरूप से स्वप्न नहीं है, कारण उस शय्या का वस्त्र तुम्हारे द्वारा मनोहर गन्ध से युक्त हो गया था। अच्छा, इस बात को तो दूर रहने दो। आज भी स्पष्ट ही मेरे अङ्ग को लक्ष्य करके पद्मिनी-रमणीशिरोमणि तुम्हारे गन्ध को प्राप्त करता हुआ अन्धाजन भी मन्दहास्य से युक्त मुखवाला होकर "अहो ! यह गन्ध तो अपूर्व है, इस प्रकार कहकर" अपने मत्थे को नेक हिला देता है ॥६६॥

अच्छा, पहले की बात तो दूर रहने दो। किन्तु आज अभी तत्काल मेरे द्वारा किये गये नखक्षत से अलंकृत शोभावाली इस श्यामला सखी से ही जो वृत्तान्त हुआ है, उसको तुम सब शपथपूर्वक सर्वतोभाव से पूछ लो। यद्यपि ऐसी बात है, अर्थात् गुप्तरूप से मेरा व्रज में आना-जाना है, तथापि मेरे स्पष्ट ज्ञानवाले आगमन को यदि तुम शीघ्र ही चाहती हो तो, जब सब विघ्नों के नाश की रचना हो जायगी, तभी आगमन कर सकूँगा ॥६७॥

तदेवमेतावत्प्रथामेव कथां समाप्य पुनर्मधुकण्ठः प्रोवाच,—

"राधे ! सोऽयं सत्यवादी त्वामलंकृत्य शोभते ।
त्वद्‌गन्धबन्धनः पुष्पन्धयः स्वर्णाब्जिनीमिव ॥६८॥
ऊषानिरुद्धवद् राधे ! ययोः स्वाप्नश्च सङ्गमः ।
साक्षादासीत्तयोर्वा किं विश्लेषः स्थातुमर्हति ?" ॥६९॥

इति विसृमरसान्द्रानन्दशस्तं समस्तं, सपदि कथकवर्यौ तावनुज्ञाप्य यातौ ।
हरिरपि निजकान्तासङ्गसर्वाङ्गशोभः, सुभगशयनलक्ष्मीमञ्जसाऽलञ्चकार ॥७०॥

इति श्रीश्रीमदुत्तरगोपालचम्पूमनु व्रजपतिविसर्जनकष्टं नाम षष्ठं पूरणम् ॥६॥

अथ सप्तमं पूरणम्

श्रीव्रजे श्रीनन्दप्रवेशः

अथ पुनः प्रातः श्रीकृष्णकृतप्रभायां श्रीव्रजराजसभायां स्निग्धकण्ठ उवाच,—॥१॥

"या खलु पूर्वं व्रजयुवराजेन व्रजराजं प्रति रचितयन्त्रणा मन्त्रणा श्राविता, सा निज-व्रज्यायाः पूर्वमेव पूर्वसन्देशप्रवेशकद्वारा निजाग्रजादीन् प्रति व्रजराजेन विशिष्टतया सन्दिष्टा ।

इस प्रकार यहाँतक के विस्तारवाली कथा को समाप्त करके मधुकण्ठ पुनः बोला—हे राधिके ! तुम्हारी गन्धरूप बन्धनवाले सत्यवादी वे ही ये श्रीकृष्ण, तुमको अलंकृत करके उस प्रकार शोभा पा रहे हैं कि, जिस प्रकार कनककमलिनी को अलंकृत करके भ्रमर शोभा पाता है ॥६८॥

और हे राधे ! ऊषा एवं अनिरुद्ध की तरह जिन राधा-माधव का स्वप्न में होनेवाला मिलन भी जब साक्षात् संघटित हो गया, तब उन्ही तुम दोनों राधा-माधव का विरह स्थित रह सकता है क्या ? ॥६९॥

इस प्रकार दोनों ही श्रेष्ठ कथावाचक विस्तारयुक्त निविड (गाढ़े) आनन्द से प्रशंसनीय समस्त प्रसङ्ग को सुनाकर श्रीराधा-कृष्ण की आज्ञा लेकर, शीघ्र ही अपने घर चले गये । श्रीकृष्ण ने भी निज कान्ता श्रीराधिका के सङ्ग से सर्वाङ्ग शोभा से युक्त होकर, सुन्दर शय्या की शोभा अनायास अलंकृत कर दी ॥७०॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रिविरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीमदुत्तरगोपालचम्पूकाव्ये श्रीव्रजराजविसर्जनकष्टं नाम
षष्ठं पूरणं सम्पूर्णम् ॥६॥

सातवाँ पूरण

व्रज में श्रीनन्दजी का प्रवेश

अनन्तर पुनः प्रातःकाल श्रीकृष्ण के द्वारा की गई प्रभा से युक्त श्रीव्रजराज की सभा में स्निग्धकण्ठ बोला— ॥१॥

पहले व्रजयुवराज श्रीकृष्ण ने व्रजराज के प्रति मथुरा में यन्त्रणा (बन्धन या पीडा) देनेवाली जो मन्त्रणा (सलाह) सुनाई थी, वही सलाह श्रीव्रजराज नन्द ने अपने आने से पहले ही पहले सन्देश को प्रविष्ट करनेवाले दूत के द्वारा श्रीउपनन्द आदि अपने अग्रजों के प्रति विशेषतापूर्वक कहवा दी थी । और अपने एवं उन व्रजराज आदिकों के परस्पर मिलन में श्रीकृष्ण का मथुरा में रहनारूप असह्य प्रस्ताव के सहने के

स्वेषां तेषामपि व्यतिमिलने दुःसहतत्प्रस्तावसहनाय लब्धप्रवेशेऽपि तस्मिन् सन्देशे तदग्रजादयस्तदाशापाशानुबद्धतया कदाचिदन्यथा स्यादिति मनसि कथयित्वा प्रथिमलसदुच्चपदसदसि सर्व एव समुच्चयमयामासुः। किं बहुना ? धृततदनुसन्धा नीरन्ध्रसमुदयबन्धाः पुरन्ध्रीप्रभृतीस्त्यक्तलज्जादूतीर्वधूरादाय व्रजाधीश्वरी च किञ्चिदन्तरिततया तदेवानञ्च। ततश्च दूरादेव व्रजनरदेव-प्रभृतीनां ह्लसदखिलकृतीनामागमनमनुल्लासमालोच्य सर्व एव शोच्यमानजीवना बभूवुः ॥२॥

"अथ सर्वसहगतसङ्गततया तत्रायाते व्रजनाथे यथायथं निखिलेषु च तेषु मिलितेषु स धीरधीः स्वपरेषामन्तराधिमन्तरितं विधातुं स्वाङ्गजातस्य मङ्गलं वचसि सङ्गमय्य विजयवृत्तान्तमेव वर्तयामास ॥३॥

"तदनन्तरमेव च तां तन्मन्त्रणामिति स्थिते कृष्णसुखैकसुखधियः सर्वेऽपि ते सुधियः प्रोचुः,—'भवतु, स्वदुःखमपि सोढव्यम्, तदीहितं तु वोढव्यम्' इति ॥४॥

"अथ तत्र श्रीकृष्णस्य मातुरसहनमसहमानः स व्रजनरेशानस्तत्र विचित्रेषु कृष्णैकमित्रेषु तेषु तत्तत्प्रस्तोतृषु सतृष्णश्रोतृषु च सत्सु तां प्रति तां तत्पत्रिकां च केनचिद्वाचितामाचचार ॥५॥

लिए उस सन्देश के प्रवेश को प्राप्त हो जानेपर, श्रीनन्दजी के बड़े भाई उपनन्द आदिक श्रीकृष्ण के आने की आशारूप पाश में बँधकर "कदाचित् श्रीकृष्ण का यहाँ न आनारूप सन्देश अन्यथा भी हो सकता है" इस प्रकार मन मन में कहकर, स्थूलता से शोभायमान ऊँचे स्थानवाली सभा में सभीजन एकत्रित हो गये। अधिक क्या कहें ? देखो, श्रीकृष्ण के आगमन के अनुसन्धान को धारण करनेवालीं, घनी भोड़ के बन्धनवालीं पुरन्ध्री (पति-पुत्रवाली स्त्री) आदिकों को, एवं निर्लज्ज दूतियों को तथा बहू बेटियों को साथ लेकर, श्रीव्रजेश्वरी यशोदा भी थोड़े से परदे के व्यवधानपूर्वक स्थूलता से शोभित सभा के उसी ऊँचे स्थानपर आ गईं। उसके बाद जिनके सभी कार्य शिथिल हो गये हैं, उन श्रीव्रजराज आदि के आगमन को दूर से ही उल्लासरहित देखकर, सभी व्रजवासी शोचनीय जीवनवाले हो गये ॥२॥

अनन्तर सभी के एकसाथ सम्मिलित होकर व्रजनाथ के वहाँपर आजानेपर, उन सभी जनों के यथायोग्य मिल लेनेपर, स्थिर बुद्धिवाले श्रीव्रजराज ने अपने पराये सभी की मानसिक पीडा को दूर करने के लिए, अपने लाला श्रीकृष्ण की कुशलता को वचन में मिलाकर, शत्रुविनाशरूप उनकी विजय का वृत्तान्त कह सुनाया ॥३॥

और उसी के बाद छठवें पूरण में कही हुई श्रीकृष्ण की "अब हमारी गैयाएँ संख्यातीत हैं, उनका छिपाना कठिन है" इत्यादि सलाह को भी कह सुनाया। ऐसी स्थिति में श्रीकृष्ण के सुख से ही एकमात्र सुख बुद्धिवाले अतः सुन्दर बुद्धिवाले, वे सब व्रजवासी बोले—अच्छा, श्रीकृष्णप्रीत्यर्थ अपना दुःख भी सहना चाहिये, किन्तु श्रीकृष्ण की चेष्टा भी धारण करनी चाहिये ॥४॥

अनन्तर श्रीकृष्ण का मथुरा में रहना, श्रीकृष्ण की माता को असह्य हो गया, इस बात को न सहते हुए उन श्रीव्रजराज ने विचित्र श्रीकृष्ण के मुख्यमित्र उन श्रीदामा सुबलादिकों के निकट, उस उस बात का प्रस्ताव करनेवाले तृष्णायुक्त-श्रोताओं के विद्यमान हो जानेपर, श्रीकृष्ण की माता के प्रति, श्रीकृष्ण की वही पत्रिका किसी के द्वारा बँचवा दी, अर्थात् सुनवा दी ॥५॥

यथा—(६।४१) 'आद्येऽह्नि क्षीरभक्तम्' इत्यादिकं विस्मायनं सान्त्वनमिव च जातम्। वाचितायां हि तस्यां ते दण्डमेकं गण्डयुगलं विस्तृतलोचनगलदुष्णशीतधाराभ्यामास्तृतमाचेरु:; किमुत सा माता ॥६॥

"ततश्च श्रीमानुपनन्दस्तानमन्दमुवाच,—'यन्त्रणायामपि नास्माभि: स्वतन्त्रतया तन्मन्त्रणादन्यदाचरितव्यम्। स हि बाल्यकल्प एव सत्यसङ्कल्प: सर्वं पाल्यं चकार, यत एव चास्माभि: शक्रयज्ञश्च सावज्ञ: कृत:। किं पुनरधुना ? तस्मादुत्थाय तत्कथनमव्यर्थयितुं यथा-यथं सर्वैराचर्यताम्; यथा यथार्हवर्णादाकर्णयन् स सुखं प्राप्नोति' इति ॥७॥

"तदेवं युक्तं तदुक्तमाकर्ण्य सर्वैरप्यवर्ण्यत,—'व्रजस्य सम्यग्रीतिरियं तस्यागमनसामग्री भवति। तस्मात्तत्प्रीतिमद्भिस्तन्नीतिरेव सेवनीया। श्रूयते हि,—गोमूत्रयावकादिना स्वोदरम्भरीणां भरतादीनामज्ञातवनाय चिरं गतस्यापि रघुनाथस्य तथैवागमनप्रतीक्षा। अथ कथं वा त्रिलोकीविजयिदनुजव्रजविजयितयार्जितं राज्यमपि व्रजमुद्दिश्य व्यक्तं त्यक्तवतस्तस्य तु सा नास्माभिरादरणीया ? कथं वा त्यक्तराज्यस्यापि तस्य स्वयमेव वशीभूतसर्वाधिराज्यस्य गोपत्वधर्मलक्षणाय गवां रक्षणाय स्निग्धैरप्यस्माभिराकारणीयता रमणीयतां वहतु ? किन्तु झटिति गूढपत्रिकया तद्दु:खं विघटयितव्यम्' इति ॥८॥

यथा—"पहले दिन दूधभात परोसा" इत्यादिरूप से पूर्वोक्त छठवें पूरण में कहा हुआ श्रीकृष्ण की पत्रिका का समाचार विस्मयजनक होकर भी, मानो सान्त्वना देनेवाला हो गया था। उस पत्रिका के बाँच लेनेपर उन सभी श्रोताओं ने एक दण्डभर समयतक अपने अपने विशाल नेत्रों से निकलती हुई (श्रीकृष्ण के वियोग से) गरम, एवं (श्रीकृष्ण के आने की बात के हर्ष से) शीतल जलधाराओं के द्वारा अपने अपने दोनों कपोलों को आच्छादित कर लिया, फिर वह स्नेहमयी माता उस प्रकार करेगी उसमें तो कहना ही क्या है ? ॥६॥

तदनन्तर श्रीमान् उपनन्दजी उन सबके प्रति ऊँचेस्वर से बोले—देखो, भाइयो ! श्रीकृष्ण के विरह में पीडा होनेपर भी हम सबको स्वतन्त्रतापूर्वक, श्रीकृष्ण की सलाह से भिन्न कुछ भी आचरण करने योग्य नहीं है। क्योंकि बाल्यावस्था से ही सत्य संकल्पवाले श्रीकृष्ण ने सभी की रक्षा कर दी। और जिन्हीं के कारण हम सबने इन्द्रयज्ञ तिरस्कृत कर दिया, फिर अब तो कहना ही क्या है ? अत: सभास्थान से उठकर श्रीकृष्ण का कथन सत्य करने के लिए, सभी को यथायोग्य आचरण करना चाहिये। जिससे वह श्रीकृष्ण हमारे समाचार को यथार्हवर्ण (गुप्तचर) के द्वारा सुनकर सुख पावे ॥७॥

इस प्रकार उपनन्दजी के कहे हुए उचित वाक्य को सुनकर सभी बोले कि—व्रज की यह सुन्दर रीति श्रीकृष्ण के आगमन की सामग्री है। इसलिए श्रीकृष्ण में प्रीति रखनेवालों को उनकी आज्ञारूप नीति का ही सेवन करना चाहिये। और देखो, हमको जिस प्रकार श्रीकृष्ण के आगमन की प्रतीक्षा करनी चाहिये, उसी प्रकार गोमूत्र एवं जौ आदि के द्वारा, अपनी उदरपूर्ति करनेवाले श्रीभरत आदिकों की भी, अज्ञात वन को बहुत दिन के लिए गये हुए श्रीरघुनाथजी के आगमन की प्रतीक्षा सुनी जाती है। अत: तीनों लोकों को विजय करनेवाले दानवसमूहपर विजयी होकर उपार्जित किये हुए राज्य को भी, व्रज का उद्देश्य करके स्पष्ट ही त्यागनेवाले श्रीकृष्ण की वह सलाह हम सबको किस प्रकार आदरणीय नहीं है ? अपितु, सर्वथा आदरणीय है। एवं मथुरा के राज्य को त्यागनेवाले होकर भी, सभी के साम्राज्य को स्वयं ही

"अथ व्रजराजश्च व्याजहार,—'भद्रं तन्मातरमापृच्छ्य यच्छत प्रत्युत्तरम्' इति ॥६॥

"तदेवं स्थिते तदाप्रच्छनपूर्वकं व्रजस्य व्रजराज्ञ्याश्च पत्रं यथा—

'आज्ञा या ते तथासीद् व्रजजलधिविधो ! सैव सर्वव्रजेन
त्वन्मात्रापि प्रकर्षादरचि न च चिरं तत्र कोऽपि व्यधत्त ।
किन्तु प्राणाधिकोटिप्रतिममुखरुचे ! नेत्रवृन्देन भूय-
स्त्वत्कान्तीनां दिदृक्षाचपलितगतिना मन्यते जातु नैव ॥१०॥
सत्यं तत्तद्दिवसमनु ते भोजनं तत्तदासी-
दित्थं चित्ते स्फुरति मम हा तत्र चासीन्न तृप्तिः ।
यस्मान्मोहादहह मयका पुत्र ! तत्पूरणाय
प्राप्तो नासीदवसर इति स्वान्तमन्तर्दुनोति ॥' इति ॥'११॥

"अथ पूर्वं दुःखादेव साक्षात् किमप्यनिवेदितवता व्रजक्षितिभृता सम्प्रत्यानकदुन्दुभि प्रति तदिदं पत्रं दत्तम्,—॥१२॥

'सप्तमपुत्रार्पणमनु, नासीन्मयि भिन्नदृष्टिता यत्ते ।
तदयं चाष्टमपुत्रः, स्यात्तव तदिमौ समं पाल्यौ ॥'१३॥

वशीभूत करनेवाले श्रीकृष्ण का, गोपत्वधर्म का निर्देश करने के लिए गोपालन करने के लिए स्नेह रखनेवाले हम सबके द्वारा आकारणीयता, अर्थात् बुलाना किस प्रकार रमणीयता को धारण कर सकता है ? तात्पर्य—हमको स्वयं बुलाना उचित नहीं, उनकी इच्छानुसार ही प्रसन्न रहना उचित है। किन्तु गुप्त पत्रिका के द्वारा श्रीकृष्ण का दुःख शीघ्र ही दूर कर देना चाहिये ॥८॥

अनन्तर व्रजराज भी बोले कि—यह तो बहुत अच्छी बात है, श्रीकृष्ण की मा से पूछकर उसकी पत्रिका का प्रत्युत्तर दे दीजिये ॥६॥

ऐसी स्थिति में श्रीकृष्ण की माता से पूछकर व्रजमात्र का एवं श्रीव्रजरानी का पत्र, यथा—हे व्रजरूपसागर के चन्द्र ! तुम्हारी जो आज्ञा जिस प्रकार थी, वह उसी प्रकार समस्त व्रजवासियों ने, एवं तुम्हारी माता ने उत्तम रूप से पालन कर दी, उसमें किसी ने भी विलम्ब नहीं किया। किन्तु हे प्यारे श्याम ! तुम्हारे मुख की कान्ति कोटि संख्या से अधिक प्राणों के समान है। इसलिए तुम्हारी कान्तिसमूह के दुबारा देखने की इच्छा से चंचल गतिवाले हमारे नेत्रवृन्द तो उस आज्ञा को कदापि नहीं मानते हैं ॥१०॥

केवल व्रजेश्वरी का पत्र, यथा—हा ! प्राणप्यारे ! लाल ! उस उस दिन को लक्ष्य करके, वह वह तुम्हारा भोजन सत्य ही था, इसी प्रकार मेरे चित्त में स्फूर्ति हो रही है। किन्तु उस विषय में मेरी तृप्ति नहीं हुई थी, कारण—जिस मोह से मुझको उस तृप्ति की पूर्ति के लिए अवसर भी नहीं मिला था, इसीलिए मेरा अन्तःकरण भीतर भीतर उपतप्त हो रहा है ॥११॥

अनन्तर पहले तो श्रीकृष्णवियोगजन्य दुःख से साक्षात् कुछ भी निवेदन न करनेवाले श्रीव्रजराज ने इस समय श्रीवसुदेवजी के प्रति यह पत्र दिया— ॥१२॥

यथा—हे भैया वसुदेव ! जिस कारण सप्तमपुत्र बलदेव के समर्पण के अनन्तर, तुम्हारी मुझमें भेदभाव की दृष्टि नहीं थी, उसी कारण मेरे द्वारा समर्पण किया हुआ यह कृष्ण भी तुम्हारा अष्टमपुत्र हो

"तदेवं विधाय बुद्धिसमृद्धा वृद्धाः श्रीव्रजराजादीन् नित्यकृत्यादिभिर्योजयित्वा भोजयित्वा च तदुपदेशसदेशरूपमेव सर्वे व्यवहरन्ति स्म । तत्र तु यद्यप्यन्तर्वलिताधयस्तथापि तदेकस्फूर्तितया लब्धब्रह्मसमाधय इव संस्कारमात्रेण तत्तद्व्यवहारपात्रेहा व्यलोक्यन्तेति कृतं वर्णपदलोपि-तत्तद्विशेषवर्णनया, ॥१४॥ साम्प्रतं तु पुनराकर्ण्यताम्,—

'राजितयुष्मच्चक्षू, राजीवः सैष राजते व्रजप ! ।
कंसध्वान्तध्वंस,-त्वद्वंशप्राच्यभूधरोत्तंसः ॥' इति ॥१५॥

"अथ पशुपतिराज्ञी तं समानाय्य पुत्रं, नमितशिरसमङ्के धारयन्ती चिराय ।
निजनयनकुचाश्रिक्षीरधाराभिरेनं, सपुलकमभिषिञ्चत्यञ्चितानन्दमासीत् ॥"१६॥

तदेवं प्रातःकथायां कृतप्रथायां गतायां श्रीराधिकामाधव-सदसि स्निग्धकण्ठः कथयामास,—॥१७

"अथ बलानुजसन्देशं बलयन्नबलासु तासु त्वरिततदागमनरहिततासंहित-तद्विरहज्वालया सुतरामबलासु सुबलः समयं न संवलते स्म ॥१८॥

सकता है, क्योंकि मेरी भी तुममें भेददृष्टि नहीं है। इसलिए आप इन दोनों भाइयों का समानरूप से पालन करना ॥१३॥

अतएव इस प्रकार पत्रों को भेजकर, महाबुद्धिमान् वृद्धजन श्रीव्रजराज आदिकों को नित्यकृत्य, अर्थात् स्नानादिकों से संयुक्त करके, भोजन कराकर, सभीजन श्रीकृष्ण के उपदेशानुसार ही व्यवहार करने लग गये। उस व्रज में तो यद्यपि सब व्रजवासी अन्तःकरण में मिली हुई मानसीव्यथा से युक्त थे, तथापि केवल श्रीकृष्ण की स्फूर्ति होने से, ब्रह्म साक्षात्कार को प्राप्त हुए व्यक्तियों की तरह, संस्कारमात्र से उस उस व्यवहार के योग्य चेष्टावाले दिखाई देते थे। अतः रूप एवं व्यवसाय का लोप करनेवाले, उस उस विशेष वर्णन से कोई प्रयोजन नहीं, अर्थात् प्रतिक्षण श्रीकृष्णस्फूर्ति के कारण श्रीकृष्णवियोग में भी व्रजवासियों का रूप एवं व्यवसाय नहीं बिगड़ा, अतः उसका वर्णन व्यर्थ है ॥१४॥

किन्तु अब तो जिस बात को कह रहे हैं, उसका श्रवण कीजिये। हे व्रजपते ! देखो, तुम्हारे नेत्ररूप कमल को प्रकाशित करनेवाला वह यह श्याम विराजमान है। जो कंसरूप अन्धकार का ध्वंस करनेवाला है, एवं तुम्हारे वंशरूप उदयाचल का शिरोभूषणस्वरूप है ॥१५॥

अनन्तर गोपेश्वरी श्रीयशोदा अपने लाला श्रीकृष्ण को अपने निकट लाकर, नतमस्तक पुत्र को बहुत देरतक अपनी गोद में धारण करती हुई, अपने नेत्र एवं स्तनों से निकलती हुई जल एवं दुग्ध की धाराओं के द्वारा, पुत्र का रोमाञ्चपूर्वक अभिषेक करती हुई आनन्दित हो गईं ॥१६॥

अतएव इस प्रकार से विस्तारित प्रातःकाल की कथा के समाप्त हो जानेपर रात्रि में श्रीराधा-कृष्ण की सभा में, स्निग्धकण्ठ कहने लगा— ॥१७॥

अनन्तर श्रीकृष्ण के सन्देश को व्रजवासियों से संयुक्त करता हुआ सुबल, उन व्रज की अबलाओं के तो शीघ्र ही श्रीकृष्ण के आगमन की रहितता से युक्त, उनकी विरहज्वाला से अत्यन्त अबला (बलहीन या क्षीण) हो जानेपर, उनके सन्देश देने को समय न प्राप्त कर पाया ॥१८॥

उन सबमें श्रीराधिका की विरहज्वाला का वर्णन, यथा—उस समय राधिका वृक्षों से श्रीकृष्ण का मार्ग पूछती हैं, श्रीकृष्ण को देखती हैं, श्रीकृष्ण में आत्मरूप मानती हैं, अर्थात् तदाकार हो जाती हैं, उन

"तत्र श्रीराधिकाया विरहज्वाला यथा—

वृक्षान् पृच्छति वर्त्म पश्यति हरिं तत्रात्मतां मन्यते
तत् सर्वं मनुते मृषा वितनुते चीत्कारमुत्कम्पते ।
लालां मुञ्चति चेतनां विसृजति स्फाराट्टहासा नट-
त्येवं चेद् वृषभानुजाऽजनि तदा कुत्रास्ति सन्देश्यता ? ॥१९॥

"अथ— दृष्ट्वा कञ्चित् काकमायान्तमैन्द्रा,-दाशाभागात् पृच्छती तत्क्रमेण ।
राधाऽऽलीनां मध्यमासादयन्ती, लब्धा प्रान्तं कृष्णमित्रस्य तस्य ॥२०॥

वीक्ष्यामूः सुबलं बलानुजसखं मूर्च्छामवापुश्चिरं
जाग्रत्यश्च चिराय नैव विविदुः पृच्छाम तं किन्विति ।
दत्तं स्वस्तिमुखं च नादिषत ता वाष्पाक्षतान्धीकृता-
स्तेन स्वेन तु वाचितं किमपि तं श्रोत्रातिथिं चक्रिरे ॥२१॥

'सत्यं संत्यज्य युष्मान् (६।६०) इत्यादिकम् । "ततश्च स खलु श्रीकृष्णसखः सखीनामवधानमात्मनि चित्वा प्रतिपत्रं याचित्वा तच्च ग्रस्ततदुक्तिभिरभ्यस्तं स्वाक्षरविन्यस्ततया भृत्वा पुनर्निजपत्रिकान्तरितं कृत्वा सख्ये प्रस्थापयमास ॥२२॥

पूर्वोक्त सब बातों को मिथ्या मानती हैं, चीत्कार का विस्तार करती हैं, अर्थात् चिल्लाने लग जाती हैं, अधिक काँपने लग जाती हैं, मुख से लार बहाती हैं, चेतना छोड़ देती हैं, एवं बड़े अट्टहास से युक्त होकर नाचने लग जाती हैं। जब वृषभानुनन्दिनी ऐसी दशा से युक्त हो गईं, तब सन्देश का देना कहाँ बन सकता है ? ॥१९॥

उसके बाद श्रीराधिका पूर्वदिशा की ओर से आते हुए किसी कौआ को देखकर, उसी से क्रमशः श्रीकृष्ण के मथुरागमन आदि की बातें पूछती हुई, सखियों के मध्यभाग को प्राप्त करती हुई, श्रीकृष्ण के मित्र जो सुबल हैं, उनकी निकटता को प्राप्त हो गईं ॥२०॥

ये सब गोपियाँ श्रीकृष्ण के सखा सुबल को देखकर, बहुत देरतक मूर्च्छित हो गईं। बहुत देर बाद मूर्च्छा से जागकर भी "हम सब सुबल से क्या पूछें ?" इस बात को भी नही जान सकीं। और सुबल के द्वारा दिये हुए स्वस्तिमुख को, अर्थात् पत्र को भी उन्होंने ग्रहण नहीं किया, क्योंकि वे गोपियाँ आँसूभरे नेत्रों के कारण, उस समय अन्धी हो रही थीं। पश्चात् सुबल के द्वारा स्वयं बाँचे हुए किसी सन्देश को कर्णगोचर कर पाईं ॥२१॥

सखियों को दिया हुआ श्रीकृष्ण का सन्देश "सत्यं संत्यज्य युष्मान्" इत्यादि साठवें श्लोक से लेकर सड़सठवें श्लोकतक छठवें पूरण में है। उसके बाद श्रीकृष्ण के सखा उस सुबल ने सखियों की सावधानी अपनी ओर जानकर, उनसे प्रत्युत्तर पत्र माँगकर, उनकी अधूरी उक्तियों से भरे हुए उस पत्र को अपने अक्षरों के विन्यास से पूराकर, पुनः अपनी पत्रिका के भीतर छिपाकर, गुप्तचर के द्वारा श्रीकृष्ण के लिए भिजवा दिया ॥२२॥

"तत्तु प्रतिपत्रं यथा—

'यत् सन्दिशसि बलानुज !, सम्प्रत्यपि मिलनमस्ति नस्त इति ।
तत् सर्वं तव मथुरा,-स्थितिविश्रुतिरस्मदन्वितं गिलति ॥२३॥
इह निजमागमनं वा, यदसकृदस्तीति सन्दिशसि ।
सत्यं तत् प्रिय ! तदपि, भ्रमयति चित्तं मुहुस्त्वदन्तर्धिः ॥२४॥
एष्यसि सत्यं त्वमिह, व्रजजनतायाः सुखं दातुम् ।
अपि यः क्षणमयकालः, स तु नः प्रति कल्पतेऽत्र कल्पाय ॥'इति ॥२५॥

"अत्र श्रीराधासखीनां विशेषतयायं वाक्शेषः,—

'वैद्यास्तत्र वलन्ते, धन्वन्तरिवन्मधोः पुर्याम् ।
उन्मादापस्मारज,-मृतिहृतिकृतिकं महौषधं पृच्छयम् ॥"इति ॥२६॥

तदेवं तासां तत् कथनं दुःखप्रथनमिति मत्वा समापयन् स्निग्धकण्ठः सोत्कण्ठमुवाच,—॥२७॥

"हरि हरि हरि-विप्रलम्भलम्भं; कथितमिदं प्रथितं स्वजूर्तयेऽपि ।
मिलनमिह किल प्रपश्यतां न,-स्तव हरिणा हरिणाक्षि ! सौख्यकारि ॥"२८॥

तदेवं रात्रिकथासत्रं प्रथयित्वा सर्वमपि सुखेन ग्रथयित्वा कथकौ वासमासन्नौ ॥२९॥

वह प्रत्युत्तर पत्र तो इस प्रकार का है, यथा—हे प्रियकृष्ण ! तुम जो सन्देश देते हो कि, इस समय भी हमारा तुम्हारा मिलन है, यह ठीक है। किन्तु तुम्हारी मथुरा में रहने की जो प्रसिद्धि है, वह हमारे सहित अस्मत् सम्बन्धी सब वस्तुओं को निगल लेती है, अर्थात् भुला देती है ॥२३॥

और हे प्यारे श्यामसुन्दर ! तुम इस व्रज में गुप्तरूप से अपने आगमन को "बारम्बार होता है", ऐसा जो सन्देश देते हो, यह तो सत्य है, तो भी आपका जो अन्तर्धान (असाक्षात्कार) है, वह हमारे चित्त को बारम्बार डाँवाँडोल कर देता है ॥२४॥

और हे नाथ ! तुम व्रज की जनता को सुख देने के लिए इस व्रज में आवोगे, यह तो सत्य है। किन्तु आपके विरह में एक क्षणमय जो समय है, वह तो हमारे प्रति एक कल्प के बराबर हो रहा है (श्लेषपक्षे—प्रलय के समान हो रहा है) ॥२५॥

गोपियों के इस प्रत्युत्तर पत्र में श्रीराधिका की सखियों का विशेष करके यह वाणी का शेष भाग है कि—हे स्वामिन् ! आप जिसमें निवास करते हो, उस मधुपुरी में धन्वन्तरि के समान वैद्य भी विराजमान हैं। आप उनसे उन्माद एवं अपस्मार रोग से उत्पन्न होनेवाली मृत्यु को दूर करनेवाली महौषधि को कृपया पूछ लेना ॥२६॥

अतएव इस प्रकार उन गोपियों का जो वह कथन है, वह दुःख का विस्तारक ही है, ऐसे मानकर प्रसङ्ग को समाप्त करता हुआ, मधुकण्ठ उत्कण्ठापूर्वक बोला— ॥२७॥

हाय ! हाय ! हे हरिणाक्षि ! राधे ! श्रीहरि के वियोग की प्राप्ति से युक्त यह प्रसङ्ग हमने जो कहा है, वह यद्यपि अपने सन्ताप के लिए प्रसिद्ध है, तो भी इस व्रज में श्रीहरि के साथ तुम्हारे मिलन को देखनेवाले हमारे पक्ष में वह प्रसङ्ग सुखजनक हो गया ॥२८॥

इस प्रकार रात्रि के कथायज्ञ को विस्तारित करके, सब जनों को सुख से निबद्ध करके, दोनों कथावाचक अपने घर पहुँच गये ॥२९॥

ततश्च, तदुदितनववर्षं राधिकामाधवाख्या,-वभिनववरवीरुद्भूरुहाग्र्यावुपेत्य ।
वलयिभुजलताभ्यां बाढमन्योऽन्यसक्तौ, प्रमदवनविलासं बिभ्रतौ दीव्यतः स्म ॥३०॥
इति श्रीश्रीमदुत्तरगोपालचम्पूमनु श्रीव्रजेशव्रजप्रवेशो नाम सप्तमं पूरणम् ॥७॥

अथाष्टमं पूरणम्

चतुःषष्टिविद्याध्ययनम्

अथ प्रातःकथायां श्रीव्रजयुवराजविराजमानव्रजराजसदसि लब्धप्रथायां मधुकण्ठः कथयामास,—॥१॥

"ततश्च तत्र स्वस्तिमुखे लब्धाभिमुखे रामरामानुजावत्रत्यवृत्तान्तमश्चित्वा किञ्चिदत्रासमासामासतुः। तत्र जन्मारभ्य नासीदभ्यस्ततेति श्रीकृष्णरामयोर्देवक्यां मातरीव याचनादिचरितमनालोक्य श्रीवसुदेवस्तया सह मन्त्रयामास। रोहिण्यामेवानयोः पुत्रतया प्रणयो भवितेति। अथानकदुन्दुभेः सन्नन्दनन्दनावुद्दिश्य प्रेरितो दूतः संवलितवर्णदूततया व्रजं सम्भूतवान्। तत्र चास्तां नाम प्रशस्तिस्रक्षितं तत्तद्वचनं विवक्षितं पुनरिदमेव लक्षितम्,—'भवतां गमनसमये मयेदं नाऽऽधिनाऽधिगमितमासीत्। राममातुरागमनमत्र कामनीयम्' इति। तदेतन्निशम्य तु श्रीरोहिणी व्याकुलतारोहिणी बभूव ॥३॥ यथा—

उसके बाद श्रीराधिका-माधव नामक जो अभिनव श्रेष्ठ लता एवं श्रेष्ठ वृक्षरूप हैं, वे दोनों ही, दोनों कथावाचकों के वचनरूपी नई वृष्टि को पाकर, कङ्कण से युक्त भुजारूप लताओं के द्वारा परस्पर दृढ सम्मिलित होकर, अन्तःपुरोचित वन के विलास को धारण करते हुए क्रीडा करने लग गये। इस रूपक में श्रीराधिका ही श्रेष्ठ लतास्थानीय हैं, एवं श्रीमाधव ही श्रेष्ठ वृक्षस्थानीय हैं, दोनों कथावाचकों के वचन ही वृष्टिस्थानीय हैं, यह जानना चाहिये ॥३०॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रीविरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीमदुत्तरगोपालचम्पूकाव्ये श्रीव्रजेशव्रजप्रवेशो नाम
सप्तमं पूरणं सम्पूर्णम् ॥७॥

आठवाँ पूरण

चौंसठ विद्याओं का अध्ययन

अनन्तर श्रीव्रज के युवराज से विराजमान श्रीव्रजराज की सभा में, प्रातःकाल की कथा की प्रसिद्धि हो जानेपर, मधुकण्ठ वर्णन करने लगा— ॥१॥

उसके बाद मथुरा में व्रजवासियों के पत्र सम्मुख आजानेपर, श्रीराम-कृष्ण दोनों ही भाई व्रज के वृत्तान्त को जानकर, कुछ उद्वेग से रहित होकर बैठ गये। वहाँपर (मथुरा में) जन्म से लेकर अभ्यास तो था नहीं, इसलिए श्रीकृष्ण-बलराम का देवकी के निकट, माता यशोदा एवं रोहिणी की तरह, निःशङ्क वस्तु माँगने आदि चरित को न देखकर, श्रीवसुदेवजी देवकी के साथ विचार करने लगे—क्यों ? देवकी ! इन दोनों भाइयों का रोहिणी में ही पुत्रभाव से स्नेह हो जायगा (अतः रोहिणी को व्रज से बुलवा लें) ॥२॥

अनन्तर श्रीवसुदेवजी का दूत श्रीनन्दजी के छोटे भाई सन्नन्द एवं नन्दन को उद्देश्य करके गुप्त पत्र लेकर व्रज में सम्मिलित हो गया, अर्थात् पहुँच गया। उस पत्र में श्रीनन्दादिकों की प्रशंसा से युक्त जो

'आज्ञा पत्युर्दिदृक्षाप्यथ नवसुतयोर्जातु हातुं न शक्या
सेयं गोविन्दमाता बत कथमिव वा हेयतामाशु यातु ।
तस्मादेकैकनेत्राद्यवयवमपि चेद्भागमेकं तनोर्मे
पुर्यां जीवेन कुर्यादपरमिह विधिस्तर्ह्यहं निस्तरेयम् ॥'४॥

''तदेवं तस्या वैमनस्यं व्यवस्यन्ती श्रीहरिमाता व्याहरति स्म,—

'तुभ्यं मह्यं च मन्ये विधिरदित वपुः प्राणमप्येकमेव
प्रत्येकं पुत्रयुग्मं यदिह न भिदया किञ्चिदालोकयावः ।
तस्माद् दुष्पुण्यता मे यदि न सविधतां हा तयोः कर्तुमीष्टे
शिष्टे ! रामाम्ब ! तर्हि स्वयमभिगमनादेव मां जीवयाशु ॥५॥

''ततश्च सर्वाभिरनर्वाचीनाभिः कृष्णमातुर्मन्त्रणमेव युक्तिपरतन्त्रं क्रियते स्म, कृत्वा च मुहूर्तज्ञेभ्यः शुभमुहूर्तं धृत्वा प्रतिस्वं समग्रीकृतनानासामग्रीभिर्विशङ्कटशकटान् भृत्वा विसूरित-पूरितं भूरिदूरं तया सह सृत्वा सबाष्पकण्ठं कण्ठं गृहीत्वा कथञ्चिदेव परिदेवनया तां हित्वा निववृते । यत्र कृष्णप्रसूर्निजप्रसूत-तत्प्रसूतयोः कृते कृतेप्सिततया वीप्सितान् भोगानुपभोगांश्च

वचन थे, उनको तो रहने दो, किन्तु उस पत्र में कहने योग्य समाचार तो पुनः यही दिखाई दिया कि, आप सबके व्रज में जाते समय, मानसिक व्यथा के कारण मैं यह नहीं जान पाया था कि, यहाँपर बलराम की माता रोहिणी का आगमन भी अभिलषित है। इतना समाचार सुनकर श्रीरोहिणी तो व्याकुलतापर चढ़ने-वाली हो गईं, अर्थात् व्याकुल हो गईं ॥३॥

व्रज के विरह से व्याकुल हुई रोहिणी का मानसिक विचार, यथा—पति की आज्ञा भी त्यागी नहीं जा सकती, और नवराजकुमार कृष्ण-बलदेव के देखने की इच्छा तो कभी भी नहीं त्यागी जा सकती, हाय ! खेद तो इस बात का है कि, श्रीकृष्ण की माता ये श्रीयशोदा शीघ्र ही किस प्रकार त्याग दी जायँ। इसलिए विधाता यदि एक एक नेत्र आदि अवयव से युक्त मेरे शरीर के एकभाग को जीव से युक्त करके, मधुपुरी में स्थापित कर दे, एवं दूसरेभाग को व्रज में स्थापित कर दे, तब तो मैं (विरह सागर से) पार हो सकती हूँ ॥४॥

इस प्रकार श्रीरोहिणी के मन की विकलता को निश्चित करती हुई श्रीकृष्ण की माता यशोदा बोली—हे रोहिणीजी ! देखो, विधाता ने तेरे लिए एवं मेरे लिए शरीर एवं प्राण को भी एकसा ही दिया है, मैं तो यही बात मानती हूँ, कारण हम तुम दोनों 'राम-कृष्णरूप' प्रत्येक पुत्र की जोड़ी को यहाँपर किंचिद् भी भेद से नहीं देखती थीं। इसलिए हाय ! मेरा दुर्भाग्य यदि मुझको उन दोनों लालाओं की निकटता प्राप्त करने को समर्थ नहीं है, तब हे भद्रे ! रामजननि ! तुम स्वयं ही मथुरा के गमन से मुझको शीघ्र जीवित कर दो ॥५॥

उसके बाद सभी वृद्ध गोपियों ने श्रीकृष्ण की माता के विचार को ही युक्तियुक्त कर दिया। युक्ति-युक्त करने के बाद ज्योतिषियों से शुभमुहूर्त धरवा कर, प्रत्येक परिपूर्ण की हुई अनेक सामग्रियों से बड़ी बड़ी गाड़ी भरकर, अनुताप से परिपूर्ण होकर, बहुत दूरतक रोहिणी के साथ जाकर, वाष्पयुक्त कण्ठपूर्वक कण्ठ को ग्रहण कर, अर्थात् परस्पर गले से मिलकर, किसी प्रकार विलापपूर्वक उनको छोड़कर वे वृद्ध-गोपियाँ लौट आईं। जिनमें से कृष्ण की माता ने अपने पुत्र, एवं रोहिणी के पुत्र के लिए, प्राप्त करने की

तस्यां समर्पितवती गद्गदयुक्तमुक्तवती च,—'प्रतिलवमावकयोः शावकयोर्वृत्तं निजेष्टसन्देश-मुखमुखेन सन्देष्टव्यम् । देवकीं प्रति मम च तदिदं निवेदयितव्यम्; ॥६॥ यथा—

'आवकयोरभिदा या, लोके सम्भाविता जाता ।
सम्प्रति सा प्रकटाभू,-द्देवकि! पुत्रे न तत्र यद्भेदः ॥'७॥

"अथ व्रजमात्रमनुस्मरत्स्फुरदतनुव्यसनमिदं हृदयं क्षुभ्यति । ततः कृतं तन्निवृत्तिवृत्त-विस्तरेण" इति विरम्य मधुकण्ठः समापनमिव प्राह स्म,—॥८॥

"तदिदं कथनीयं स्यान्नैव वृत्तं व्रजेश्वर ! ।
यद्येष भवदुत्सङ्गसङ्गी दृश्येत नाधुना ॥"९॥

तदेवमानन्दितेषु व्रजवन्दितेषु स्निग्धकण्ठः पप्रच्छ,—"अथ तत्र किं वृत्तं तत् कथ्यताम् ॥"१०

मधुकण्ठ उवाच,—

"रोहिण्या व्रजतः कृतागमनया गोविन्दरामौ यदा
वन्दित्वाऽमिलतां तदास्फुरदसावुच्चैर्यशोदेत्यपि ।
स्फूर्तिः सा च परं तयोर्मनसि न स्वस्यापि तस्या बभौ
प्रेम्णो रीतिरियं न बुद्धिविषयः कस्यापि पश्याद्भुतम् ॥११॥

इच्छा से युक्त करके अनेक भोग (खाद्य वस्तु), उपभोग (वस्त्र आदि) रोहिणी के निकट समर्पित कर दिये । और गद्गद होकर बोली—देखो, रोहिणीजी ! हम तुम दोनों के पुत्रों का वृत्तान्त अपने इष्ट सन्देश की प्रधानतापूर्वक प्रतिक्षण दूत के द्वारा भेजते रहना । और देवकी के प्रति मेरा यह निवेदन कर देना— ॥६॥

यथा—हे देवकीजी ! हम तुम दोनों की जो अभिन्नता संसार में मानी जाती थी, इस समय वह अभिन्नता मेरे लाला गोपालपर प्रगट हो गई । कारण—उस गोपाल में हम तुम दोनों का "यह मेरा ही पुत्र है" इस प्रकार का कोई भेद नहीं दिखाई देता ॥७॥

उसके बाद (कथावाचक बोला) व्रजमात्र का स्मरण करता हुआ, विशाल दुःख की स्फूर्ति से भरा हुआ, यह मेरा हृदय क्षुभित हो रहा है । इसलिए रोहिणी को बिदा करके व्रजजनों के लौटने के वृत्तान्त के विस्तारपूर्वक कहने से कोई प्रयोजन नहीं है । अतः उस प्रसङ्ग से विरत होकर, मधुकण्ठ कुछ प्रसङ्ग समाप्त करता हुआ सा बोला— ॥८॥

हे व्रजराज ! इस समय यदि यह तुम्हारा लाला श्याम, तुम्हारी गोदी का सङ्गी नहीं दिखाई देता, तब तो यह महान् विरहमय चरित्र हमसे नहीं कहा जा सकता था । यह निश्चय जानो ॥९॥

इस प्रकार व्रज के पूज्यजनों के आनन्दित हो जानेपर स्निग्धकण्ठ ने पूछा—अच्छा, भैयाजी ! रोहिणी के पहुँनेपर मथुरा में क्या वृत्तान्त हुआ, सो कहिये ॥१०॥

मधुकण्ठ बोला—व्रज से आई हुई श्रीरोहिणी से श्रीकृष्ण-बलराम जब नमस्कार करके मिले, तब यह रोहिणी उन दोनों के मन में विशेष करके, यह यशोदा ही है, ऐसी स्फूर्ति पाने लगी । वह स्फूर्ति केवल कृष्ण-बलदेव के मन में ही नहीं थी, किन्तु श्रीरोहिणी के अपने मन में भी "मैं यशोदा हूँ" ऐसा प्रकाश पा रही थी । यह प्रेम की रीति किसी की भी बुद्धि का विषय नहीं है, यही आश्चर्य देखो ॥११॥

रोहिणीचरणयोर्निपत्य च, स्वप्रसूस्फुरणवान् यदा हरिः ।
हा रुरोद स भृशं तदा च सा, रोदिति स्म कुररीव तन्मनाः ॥१२॥

विश्लेषवासरपुरःसरजं चरित्रं, कृष्णे सबाष्पमनुशृण्वति तज्जनन्याः ।
पप्रच्छ तामनु बलस्तदुवाच सा च, स्वस्मिंस्तदेकमयतामनुभावयन्ती ॥१३॥

"दिनान्तरे तु वलितपत्नीषु सर्वासु सपत्नीषु तासां श्रीकृष्णस्य व्रजसम्बन्धमनभीप्सितमभीक्ष्य सा जगाद;—

'विश्वस्मिन् यः स्नेहनामा पदार्थः, श्रीमान् सोऽयं राजते गोष्ठ एव ।
तस्मिन्नुच्चैर्गोपराज्ञ्यामथासौ, पुत्रो वश्चेत्तत्प्रसङ्गे क्व दोषः ?' ॥१४॥

"तदेवमतृष्णं निशम्य तूष्णीकां सेवमानयोर्वसुदेवदेवक्योरपरा हास्यपराः प्रोचुः,—'गोपानां दधिदुग्धादिलुब्धमनसस्तव नायुक्तमिदमुक्तम् ॥'१५॥

"तदेवं निशम्य सापि तेषां स्वमतमधिगम्य व्रजनृपतिपत्न्यां सानुतापं मनः सङ्क्रम्य मौनमेवाऽऽललम्बे ॥१६॥

"अथानकदुन्दुभिप्रभृतिभिरनयोर्व्रतबन्धेऽपि कृतानुबन्धे व्रजबन्धूनामानयनं सापि न प्रस्तुतवती ॥१७॥

हाय ! रोहिणी के चरणों में गिरकर श्रीकृष्ण जब अपनी माता की स्फूर्ति से विशिष्ट हो गये, अर्थात् उनको जब अपनी माँ की याद आगई, तब वे भारी रुदन करने लग गये, और उस समय यशोदा में मनवाली रोहिणी भी कुररी की तरह रोने लग गईं ॥१२॥

और श्रीकृष्ण अपनी माँ यशोदा के वियोग के दिन से होनेवाले चरित्र को जब सजलनयन होकर सुन रहे थे, तब उनको लक्ष्य करके बलदेवजी ने रोहिणी से पूछा । अपनी आत्मा में यशोदाजी की एकता का अनुभव कराती हुई रोहिणी ने भी वह सब चरित्र कह दिया ॥१३॥

दूसरे दिन तो पति से सम्मिलित हुईं सभी सपत्नीयों के बीच में, उनके पक्ष में—श्रीकृष्ण के व्रज के सम्बन्ध को अनभिप्रेत (अनिच्छित) देखकर श्रीरोहिणी बोली—अरी ! देखो, संसारभर में स्नेह नामक जो पदार्थ है, वही यह शोभायमान स्नेह पदार्थ व्रज में ही विराजमान है। उस व्रज में भी वह स्नेह नन्दरानी श्रीयशोदा में ही अधिक मात्रा में विराजमान है। और यह कृष्ण यदि तुम्हारा पुत्र है, तब उस व्रज के प्रसङ्ग में दोष कहाँ है ? ॥१४॥

इस प्रकार रोहिणी के वाक्य को तृष्णारहित सुनकर वसुदेव एवं देवकी के मौनावलम्बन कर लेनेपर, हास्यपरायण अन्य स्त्रियाँ बोलीं—हे रोहिणी ! तुम्हारा मन गोपों के दही दूध आदि में लुब्ध हो गया है, इसलिए तुम्हारा यह कहना अनुचित नहीं है ॥१५॥

इस प्रकार सुनकर श्रीरोहिणी ने भी उन सब जनों के निजी मत को जानकर, व्रजराजपत्नी यशोदा में पश्चात्तापपूर्वक मन लगाकर, मौन अवलम्बन कर लिया ॥१६॥

उसके बाद श्रीवसुदेव आदि के द्वारा श्रीकृष्ण-बलदेव के उपनयन संस्कार के प्रस्तुत करनेपर भी, श्रीरोहिणी ने वहाँपर व्रज के बन्धुओं का लाना प्रस्तुत नहीं किया ॥१७॥

"रामकृष्णौ च तत्र सतृष्णावपि तेषां मनसि कर्मणि चान्यादृशतां संदृश्य व्रजदेशजानां तत्र क्लेशमपि परामृश्य प्रजामात्रनिमन्त्रणायामपि न तानामन्त्रयितुं मन्त्रितवन्तौ। तदलमस्माकं तद्व्रतबन्धवर्णननिर्बन्धेन। किन्तु ततः पूर्वं सुदाममालाकारद्वारतः श्रीव्रजेन्द्रं प्रति श्रीव्रजेन्द्रनन्दनस्य पत्रमिदं श्रोत्रामृतपात्रतयाऽवधीयताम्,—॥१८॥

'तात ! श्वः प्रातरेते यदुनृपकुलजा यज्ञसूत्रेण पुत्री-
कुर्युर्मां स्वार्थहेतोरहमपि तु बहिस्तद्विदध्यां हृदान्यत्।
ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्याम्यहमिति च यया प्रागवोचं भवत्सु
स्वामेतां हन्त जिह्वां कथमितरदशां त्वत्तनूजः स कुर्याम् ? ॥१९॥
मा कृढ्वं मम यज्ञसूत्रकुतुकाऽलाभेन निर्विण्णता-
मस्मिन्नस्मि तु युष्मदीयसुहृदामर्थाय बद्धप्रभः।
तस्मान्मत्तनुरूपमत्सवयसां गायत्रदीक्षामहः
संतत्य व्रजराज ! तेन मम तत् पूर्णं स्वयं तन्यताम् ॥'इति ॥२०॥

"तदेतच्छ्रीमदुपनन्दनन्दप्रभृतयश्च तदानीमनुसन्दधते स्म,—'पूर्वमन्त्रणापरतन्त्रतया सञ्चितं तदिदमस्मासु तेन स्वयमुदासीनत्वं प्रपञ्चितम्। तत्तद्विहितं पुनरस्मद्वंश्यजात्युचित-

और श्रीकृष्ण-बलदेव तो व्रज के बन्धुओं में तृष्णायुक्त थे, तो भी उन्होंने श्रीवसुदेव आदि के मन एवं कर्म में दूसरा प्रकार देखकर, अर्थात् व्रजवासियों की ओर से उदासी देखकर,एवं मथुरा में व्रजवासियों के सम्बन्ध में क्लेश को भी विचार कर, प्रजामात्र के निमन्त्रण में भी, उन व्रज के बन्धुओं को बुलाने के लिए कोई विचार उपस्थित नहीं किया। अतएव जब व्रज के बन्धुओं को निमन्त्रण नहीं दिया, तब हमको भी उनके उपनयन संस्कार के वर्णन के आग्रह से कोई प्रयोजन नहीं। किन्तु यज्ञोपवीत संस्कार से पहले, सुदामा नामक माली के द्वारा श्रीव्रजराज के प्रति भेजे हुए, श्रीव्रजराजकुमार के इस पत्र को कानों के लिए अमृतपात्ररूप से श्रवण कीजिये ॥१८॥

वह पत्र इस प्रकार था कि—हे पिताजी ! देखो, यदुराज के कुल में होनेवाले ये सब यादव, कल प्रातःकाल अपने स्वार्थ के कारण, अर्थात् मेरे क्षत्रियत्व को प्रकाशित करने के लिए यज्ञोपवीत के द्वारा मुझको अपने पुत्ररूप में स्वीकार कर लेंगे। किन्तु मैं भी बाहरी दृष्टि से क्षत्रियरूप में यज्ञोपवीत ग्रहण कर लूँगा, और हृदय से तो गोपभाव को ही ग्रहण कर लूँगा। और मथुरा से बिदा करते समय आप सबके निकट मैंने पहले जिस जिह्वा से "मैं, तुम सब जाति भाइयों को देखने को आऊँगा" इस प्रकार कहा था, अतः तुम्हारा पुत्र होकर, हाय ! मैं अपनी इस जिह्वा को दूसरी दशा को किस प्रकार प्राप्त कर सकूँगा ? अर्थात् कदापि नहीं ॥१९॥

और हे पिताजी ! मेरे यज्ञोपवीत महोत्सव के न मिलने से तुम सब खेद को मत प्रगट करो। क्योंकि मैं भी तो इस मधुपुरी में तुम्हारे मित्रों के प्रयोजन से अपनी प्रभा को छिपाकर ही विद्यमान हूँ। इसलिए हे व्रजराज ! मेरे शरीरस्वरूप जो मेरे सखा हैं, उन सबके गायत्रीदीक्षा महोत्सव का विस्तार करके, उसी कार्य के द्वारा मेरे यज्ञोपवीत संस्कार को स्वयं पूर्ण कर दो ॥२०॥

इस प्रकार के पत्र को सुनते ही, श्रीमान् उपनन्दादि गोपों ने यह अनुसन्धान किया कि, पहले विचार के अधीन होकर जो उदासीनता संचित की थी, वही उदासीनता श्रीकृष्ण ने हमारे निकट पत्र द्वारा

मेवान्तश्चिन्तितम्; तस्माद्वयमपि तत्प्रतिनिधीनामेषामन्तस्तदेकतया बहिस्त्वितरविवेकतया व्रतबन्धं सन्दधाम' इति ॥"२१॥

स्निग्धकण्ठ उवाच,—"तदनन्तरमन्तरं संतन्यताम् ।" मधुकण्ठ उवाच,—"तत्र चात्र च जाते च द्विजातेरितव्रतजाते वेदवेदाङ्गाध्ययनायानयोरिच्छा जाता। जातायां तस्यामेतावजनप्रचारमनुचरन्तौ तदिदं विचारितवन्तौ,—'अध्ययनं नाम गुरुकुलमध्यगमनपूर्वकमेव पूर्वसूरिभिर्विहितम्। तत्र यद्यपि गुरुयोग्याः पुरुमहिमानः कृष्णद्वैपायनादिनामानः सर्वतः प्रचरन्ति, तथापि त आवां स्वाभाविकज्ञानादिप्रभावाविति मत्वा सङ्कोचमेव रोचयिष्यन्ति। ते हि परमवैष्णवा वैष्णवं तत्त्वमनुभविष्यन्त्येव। अध्येतव्यं चावाभ्यामवश्यमेव वश्यम्। मर्यादालङ्घने खलु न लोकमङ्गलं मन्यामहे। तस्माद् यः शब्दे ब्रह्मणि निष्णातः शैवश्च भवति, स एव पुरुगुरूकर्तव्यः। तथाविधाश्च पूर्वं काश्यवंश्यतया शिवसेवका मध्ये मध्ये प्रभासं गच्छन्तः सम्प्रति शिवान्तिकताशन्तमायामवन्तिकायां सान्दीपनिमहानुभावाः सन्तीति तत्रैव गन्तव्यम्; किन्तु यथा नान्ये जानन्ति, तथा। अन्यथावयोरतिदूरगतिकथायां लब्धप्रथायां यादवकुले शात्रवभव उपद्रवः स्यात्। तथा श्रीमत्पितृप्रभृतिभृतिभुक्पर्यन्ता व्रजजनाश्च देहभृतिं न मंस्यन्ते; किमुत सम्प्रति प्रतिजनसन्तापसन्तानजननी साऽस्मज्जननी ॥'२२॥

स्वयं विस्तारित कर दी। और वह वह यज्ञोपवीतादि संस्कार भी, हमारी वैश्यजाति के उचित ही अन्तःकरण में स्मरण करके किया। तात्पर्य—जिसमें चित्त का अभिनिवेश होता है, वही उस कार्य का साधक होता है। इसलिए हम सब भी श्रीकृष्ण के प्रतिनिधिस्वरूप इन सखाओं का, अन्तःकरण में श्रीकृष्ण की एकरूपता से एवं बाहर "यह श्रीदामा है, यह सुबल है" इत्यादिरूप से भेद के विवेकपूर्वक, व्रतबन्ध (यज्ञोपवीत संस्कार) का आयोजन कर दें ॥२१॥

स्निग्धकण्ठ बोला—तदनन्तर होनेवाले अनुरूप कार्य का विस्तार करो। मधुकण्ठ बोला—मथुरा में एवं व्रज में द्विजाति के लिए विहित व्रतसमूह के हो जानेपर, अर्थात् यज्ञोपवीत हो जानेपर, वेद-वेदाङ्ग पढ़ने के लिए कृष्ण-बलदेव की इच्छा प्रगट हुई। उस इच्छा के प्रगट होनेपर ये दोनों भाई एकान्तस्थान का अनुसरण करते हुए, यह विचार करने लगे कि, प्राचीन विद्वानों ने अध्ययन को गुरुकुल के मध्य गमनपूर्वक ही विधान किया है। उन गुरुकुलों में यद्यपि गुरु करने योग्य महामहिमावाले श्रीवेदव्यास आदि नामवाले महापुरुष सर्वत्र विचरण करते रहते हैं, तथापि वे हम दोनों को स्वाभाविक ज्ञानादि प्रभाववाले मानकर (पढ़ाने में) सङ्कोच को ही प्रकाशित कर देंगे। वे श्रीवेदव्यासजी आदि परमवैष्णव हैं, अतः हमारे विष्णुसम्बन्धी तत्त्व को अवश्य अनुभव कर लेंगे, (इसीलिए पढ़ाने में संकोचित हो जायँगे, और शैव पंडित मेरे वास्तविक तत्त्व से अनभिज्ञ होने के कारण मुझको अध्ययन कराने में निःशंक प्रवृत्त हो जायँगे), और हम दोनों को कमनीय अध्ययन भी अवश्य करना है। मर्यादा के लंघन में, अर्थात् हम तो स्वयं भगवान हैं, हमारे मुख से सब शास्त्रों का प्रादुर्भाव होता है, अतः पढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं, इस प्रकार के विचार से गुरुपरम्परापूर्वक अध्ययन की मर्यादा के लंघन में लोक का मङ्गल भी नहीं समझ रहे हैं। इसलिए जो शब्दब्रह्म (वेद) में पारंगत हो, एवं शैव (शिव का उपासक) हो वह व्यक्ति ही महान् गुरु करने योग्य है। उस प्रकार के व्यक्ति पहले काशी में उत्पन्न ब्राह्मणों के वंशवाले होने के नाते शिवजी के उपासक, एवं बीच बीचमें प्रभासक्षेत्र में जाते हुए इस समय शिव की समीपता से मङ्गलमयी अवन्तिकापुरी

"तदेवं ताभ्यां विचार्य यथोचितं यदुषु च सञ्चार्य परान् प्रतार्य तदेव रचितम् । तत्र चैकान्तनिशान्तविश्रान्ततया व्रतधारिणौ तौ विराजेते, इति च प्रतारणकारणं विचारितम् ॥२३

"अथ दूरं गुप्तं च गमनं नान्यजनसङ्गमनमर्हतीति तत्र दुःखदशारोहिणीषु वसुदेवदेवकी-रोहिणीषु श्रीकृष्णः प्राह स्म,—

'सङ्गे चेन्मम रामोऽयं सङ्गिनां कोटिरागता ।
अहं चेदस्य सङ्गी स्यां सङ्गिनां न्यर्वुदं मतम् ॥२४॥
तावावां भवदाशीर्भिः प्रभावमतुलं गतौ ।
गम्येवहि परीभावं येनासौ भुवनेषु कः ?' ॥२५॥

"तदेतन्निशम्य प्रथमौ तौ प्रथमानतत्प्रभावभावतया किञ्चिदास्वस्तियुक्तावास्ताम्, श्रीव्रजेश्वरी-सखी तु सा खिन्नैवासीदिति स्थिते गुरुकुलं प्रस्थितयोरनयोर्वृत्तं वृत्तं करवाम ॥२६

"ब्राह्मणान् कतिचिदात्ममर्मगां,-स्तीर्थकारिजनवेशधारिणः ।
वर्त्मनि स्वमनु भैक्षदायका,-नाददे हरिरमीभिरर्थितः ॥२७॥

में सान्दीपनि नामक महानुभाव विद्यमान हैं। अतः वहीं चलना चाहिये। किन्तु भैयाजी ! चलना भी उसी प्रकार चाहिये कि, जिस प्रकार दूसरे व्यक्ति न जान सकें। अन्यथा हम दोनों की अत्यन्त दूर जाने की बात ख्याति को प्राप्त हो जानेपर, यादवकुलपर शत्रुओं से होनेवाला उपद्रव उपस्थित हो सकता है। तथा श्रीमान् पिता श्रीनन्दजी से लेकर, वेतनभोगी भृत्यपर्यन्त व्रज के जन अपने देह धारण करने को भी न मानेंगे। फिर इसी समय मेरे विरह में प्रत्येक जन के सन्ताप का विस्तार करनेवाली वह हमारी माँ यशोदा प्राणों को त्याग देगी, इस विषय में तो कहना ही क्या है ? ॥२२॥

अतएव उन दोनों भाइयों ने इस प्रकार विचार कर, एवं यथायोग्य यदुवंशियों में संचारित कर, दूसरों को धोखा देकर, उसी प्रकार की रचना करली। और शत्रुपक्षवाले अन्यजनों को धोखा देने का कारण यही विचारित किया कि—"व्रत धारण करनेवाले वे दोनों भाई मथुरा में एकान्तगृह में विश्राम करते हुए विराजमान हैं" इत्यादि ॥२३॥

उसके बाद दूर जाना एवं गुप्तरूप से जाना दूसरे जनों के जानने योग्य नहीं है, इस कारण वहाँपर (श्रीकृष्ण-बलदेव के विरह से) दुःखमयी दशापर चढ़नेवाले श्रीवसुदेव, देवकी, एवं रोहिणी के निकट श्रीकृष्ण बोले—देखो, भगवन् ! ये श्रीबलरामजी यदि मेरे सङ्ग में रहें तो, सङ्गीजनों की एक करोड़ संख्या मेरे पास आगई, यही समझलो। और मैं यदि बलरामजी का सङ्गी बन जाऊँ, तब तो सङ्गीजनों की दश करोड़ संख्या मानी गई है ॥२४॥

अतः इस प्रकार के हम दोनों भाई आप सबके आशीर्वाद से अतुल प्रभाव को प्राप्त हो गये हैं। इसलिए तीनों भुवनों में वह कौन व्यक्ति है जो कि, हम दोनों को तिरस्कृत कर सके ? ॥२५॥

श्रीकृष्ण के इन वचनों को सुनकर पहले जो वसुदेव देवकी हैं, वे दोनों तो विख्यात होते हुए श्रीकृष्ण बलदेव के प्रभाव की भावना के कारण कुछ आश्वासयुक्त हो गये, किन्तु श्रीव्रजेश्वरी की सखी श्रीरोहिणी तो माधुर्यज्ञान के कारण खिन्न ही रही। ऐसी स्थिति में गुरुकुल में प्रस्थान करनेवाले कृष्ण बलदेव के चरित्र को वृत्त (दृढ अर्थात् मजबूत) करें ॥२६॥

यथा—श्रीवसुदेवादिकों से प्रार्थित श्रीकृष्ण ने अपने मर्म को जाननेवाले, तीर्थयात्रा करनेवाले जनों

ब्रह्मचर्यमसमाप्तमित्यतो, नैव यानमुररीचकार यत् ।
भ्रातृयुग्ममिदमित्थमात्मनो; वीर्यमेव बहुयानमाददे ॥२८॥

पश्यन् पश्यन् ग्रामसङ्घान् विचित्रान्, कृष्णो रामेणोज्जयन्यै प्रतस्थे ।
यस्मिन् यस्मिन् गोष्ठमायाति दृष्टिं, तस्मिन् स्तम्भाद्वासमासज्य शश्वत् ॥२९॥

ब्रह्मचार्युचितवेशधारिणा,-वित्यमू परिचितौ न केन च ।
यद्यपि स्फुटमथापि तेजसा, लोचनानि विशतः स्म पश्यताम् ॥३०॥

"तत्र च— राममजानन् ज्योतिः, परमिह पान्थास्तदावन्त्याः ।
तिमिरं ज्योतिः किं वे,-त्यजिते दृष्टे तु सन्दिदिहुः ॥३१॥

यत्र यत्र पशुपेश्वरपत्नी,-स्नेहशर्म तदियाय घनाभम् ।
तत्र तत्र नगरं विपिनं च, स्वान्तरार्द्रमयतां समवाप ॥३२॥

कस्याः पुण्यवती-शिखाग्रिममणेरङ्के विवृद्धिंगतः
कस्याः कान्तरुचिः स एष भविता कान्तः कलाकोविदः ।
एवं तत्र च तत्र चासकृदसौ नानाङ्गनातर्कितात्
धिन्वन् कर्णयुगं दधेऽथ पिदधे तत्तत्स्पृहाभीतितः ॥३३॥

का सा वेष धारण करनेवाले, एवं मार्ग में अपने लिए भिक्षा देनेवाले कुछ ब्राह्मणों को साथ में ले लिया ॥२७॥

ब्रह्मचर्य समाप्त नहीं हुआ है इस कारण, अवन्तिकापुरी जाने के लिए दोनों भाइयों ने यान को जो अङ्गीकार नहीं किया सो ठीक है, तो भी दोनों ने अपने निर्मल पराक्रम को ही यान के तुल्य अङ्गीकार कर लिया ॥२८॥

पश्चात् विचित्र विचित्र ग्रामों के समूह को देखते देखते श्रीकृष्ण, बलरामजी के सहित उज्जयिनी नगरी को चल दिये। किन्तु जिस जिस ग्राम में गोष्ठ (गौओं के रहने का स्थान गोशाला आदि) दृष्टि में आता था, उस उस ग्राम में व्रज के स्मरण से स्तम्भभाव के उदय के कारण बारंबार निवास करके ही चलते थे ॥२९॥

ब्रह्मचारी के उचित वेषधारी होने के कारण, ये दोनों भाई यद्यपि किसी के द्वारा स्पष्ट पहचाने नहीं गये, तथापि देखनेवालों के नेत्रों में अपने लोकोत्तर तेज से स्पष्ट ही प्रविष्ट हो गये ॥३०॥

और उसमें भी अवन्तीनगरी के पथिक इन दोनों में से बलरामजी को केवल ज्योतिःस्वरूप ही जान पाये। किन्तु श्रीकृष्ण के देखनेपर तो यह अन्धकार है अथवा ज्योति है, इस प्रकार का सन्देह करने लग गये ॥३१॥

और गोपराजपत्नी श्रीयशोदा के स्नेह के सुखस्वरूप, एवं मेघ की सी कान्तिवाले वे श्रीकृष्ण जहाँ जहाँ जाते थे, वहाँ वहाँपर नगर एवं वन सभी अपने मन में पूर्ण आर्द्र भाव को प्राप्त हो जाते थे ॥३२॥

अरी! बहिन! यह श्यामकिशोर भाग्यशालिनी महिलाओं की शिरोमणिस्वरूप कौनसी महिला की गोद में वृद्धि को प्राप्त हुआ है? और मनोहर कान्तिवाला कलाकोविद वही श्याम कौनसी भाग्यशालिनी का कान्त बनेगा? इस प्रकार ये श्रीकृष्ण वहाँ वहाँपर, अर्थात् मार्ग के प्रत्येक गाँव में अनेक स्त्रियों की

"अथ स्वविशेषसङ्गोपनाय सङ्गिभ्यो विच्छिद्य विद्यमानयोः सर्वविद्यानन्दिसान्दीपनि-सभानिकटमटितयोरनयोरिदं तदीयसभ्यास्तर्कितवन्तः,—॥३४॥

'एकं प्रावृषिजं परं शरदिजं मेघं तदा मन्महे
यद्येतौ तिमिरापहौ न हरितां स्यातां कुमारप्रभौ।
सूर्याचन्द्रमसाविमाविति मनागुत्प्रेक्षितुं शक्नुमः
किन्त्वेकोऽसितकान्तिरेष तदपाकृत्यात्र विभ्राजते ॥३५॥

'ततश्च, क्षौमं वस्त्रयुगं पवित्रकमयं यज्ञोपवीतं तथा
मौर्वीं मेखलिकावलिं खदिरजं दण्डं रुरोश्चर्म च।
धृत्वा क्षत्रियताविभावकतया सद्ब्रह्मचर्यान्विता-
वाचार्यस्य सभां स्वभावसुभगौ शुभ्रासितौ जग्मतुः ॥३६॥

सान्दीपनेः सदसि विप्रसहस्रदीप्ते, तस्मिंस्तदा विविशतुर्दनुजारिरामौ।
ज्योतिर्गणाश्रिदिविषद्गुरुकान्तिकान्ते, यद्वद् विषज्य सुरवर्त्मनि सूर्यचन्द्रौ ॥३७॥

ब्रह्मवर्चसमदान्नृपचिह्नौ, वीक्ष्य तावपि न ते यदुदस्थुः।
तच्च युक्तमिव यन्महदग्रे, नोन्नतिः खलु भवेदितरेषाम् ॥३८॥

तर्कना से अपने दोनों कानों को बारंबार तृप्त करते हुए धारण कर रहे थे, किन्तु शृङ्गाररस के अभिनिवेश के भय से दोनों कानों को बीच बीच में मूँद भी लेते थे ॥३३॥

अनन्तर अपनी विशेषता को गुप्त रखने के लिए अपने सङ्गवालों से पृथक् होकर वर्तमान रहनेवाले, एवं सर्वविद्याओं के द्वारा आनन्ददायक श्रीसान्दीपनिमुनि की सभा के निकट जानेवाले, इन दोनों भाइयों के सम्बन्ध में मुनिजी के सभ्यजन यह तर्कना करने लगे ॥३४॥

शिवपुत्र कार्तिकेय के समान कान्तिवाले ये दोनों बालक यदि दिशाओं के अन्धकार के नाशक न होते तो, हम इन दोनों में से एक को वर्षाकालीन श्याममेघ, एवं दूसरे को शरत्कालीन श्वेतमेघ मान लेते। किंच ये दोनों सूर्य-चन्द्रमा ही हैं, हम इस प्रकार की थोड़ी सी उत्प्रेक्षा तो कर सकते हैं, किन्तु श्यामकान्तिवाला यह एक बालक उस उत्प्रेक्षा को दूर करके शोभा पारहा है। अतः वर्णभेद के कारण इनकी उत्प्रेक्षा करना भी कठिन है ॥३५॥

उसके बाद रेशमी वस्त्रयुगल को, शणसूत्र के बने हुए यज्ञोपवीत को, मूर्वातृण से बनी हुई मेखला-श्रेणी को, खैर के काष्ठ के दण्ड को, एवं रुरु नामक मृगविशेष की चर्म को धारण कर,क्षत्रियता के प्रकाशक होने के कारण, श्रेष्ठ ब्रह्मचर्य से युक्त होकर, स्वभाव से सुन्दर गौर-श्याम दोनों भाई आचार्य की सभा में पधारे ॥३६॥

और तारागण से सम्मानित एवं उन्ही में मिले हुए देवगुरु बृहस्पति की कान्ति से मनोहर आकाश में सूर्य-चन्द्रमा मिलकर जैसे प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार उस समय हजारों ब्राह्मणों से प्रदीप्त सान्दीपनि-मुनि की उस सभा में श्रीकृष्ण बलराम ने प्रवेश किया ॥३७॥

और राजचिह्न से युक्त उन दोनों भाइयों को देखकर भी, ब्रह्मतेज के मद से वे सभासद् उठकर जो नहीं खड़े हुए, यह बात उचित सी प्रतीत होती है, क्योंकि महान् व्यक्ति के आगे दूसरे छोटे व्यक्तियों की उन्नति या उच्चता नहीं हो सकती, यह निश्चित सिद्धान्त है ॥३८॥

एषां तनुर्यद्यपि नानयोर्नता, ब्राह्मण्यगर्वं श्रयतामभूदिह ।
तथापि बाढं हृदयं द्रवात्मना, वाष्पीभवन्त्याश्चिचदेतयोर्द्युतिः ॥३९॥

'ततश्च सन्दीपितभक्ती पाणिसन्दितसमिद्भिः कृतपुरःस्थलसक्ती सान्दीपनिं निज-विद्यार्थिताव्यञ्जनया वाचा रञ्जयन्तौ स्ववर्णगोत्रवर्णनपूर्वं सितासिताविति नामव्याहरणेन चात्यपूर्वं ववन्दाते ॥४०॥ 'तद्व्यञ्जनं च,—

'श्रीमन्महाकुलज ! विप्रवतंसरत्न !, विद्यानिधे ! विहितवैदिकमर्मधर्म ।
अज्ञानदुःखविनिवर्तक ! दीनबन्धो !, त्रायस्व नौ स्वचरणं शरणं प्रपन्नौ ॥'इति॥४१॥

''स्वगोपनकृतेऽदातां नोपायनमनुत्तमम् । किन्तु वन्यफलं चित्रं पवित्रं दूरसम्भवम् ॥४२॥
गुरोर्विशेषसंप्रश्नादाहतुस्तौ सनिह्नवम् । जातौ वसुतया ख्यातादावां यादववंशजात् ॥४३॥
चातुर्यपि तयोरेषा तटस्थघटनां गता । यन्मोहनतया सर्वधुरीणत्वमुरीकृतम् ॥४४॥
गुरुश्चाभिवदन् प्राह समयो नः सुदुर्लभः । ततः समयमन्वीक्ष्य स्थीयतां बत सुव्रतौ ! ॥४५॥

ब्राह्मणपन के गर्व का आश्रय लेनेवाले इन सभासदों का शरीर, कृष्ण बलदेव के निकट यद्यपि इस सभा में नम्र नहीं हुआ, तथापि इन दोनों की कान्ति ने द्रवस्वरूप से वाष्पभाव को, अर्थात् अश्रु रूप को प्राप्त होते हुए, उन सभासदों के हृदय को अत्यन्त नम्र कर दिया ॥३९॥

उसके बाद प्रदीप्त भक्तिवाले, एवं दोनों हाथों में धरी हुई समिधाओं के द्वारा, अग्रिम स्थलपर पदार्पण करनेवाले दोनों भाइयों ने अपने विद्यार्थीभाव को प्रकाशित करनेवाली वाणी के द्वारा, सान्दीपनि मुनि को अनुरक्त करते हुए, अपने वर्ण एवं गोत्र के वर्णनपूर्वक, तथा गौर-श्याम, अर्थात् राम-कृष्ण इस प्रकार से नाम कथनपूर्वक श्रद्धाभक्ति से दण्डवत् प्रणाम किया ॥४०॥

उन दोनों के विद्यार्थीभाव का प्रकाशन, यथा—हे श्रीमन् ! हे महाकुलोत्पन्न ! हे विप्रमुकुटमणे ! हे विद्यानिधे ! हे वेदों के मार्मिक धर्म का विधान करनेवाले ! हे अज्ञानरूप दुःख को दूर करनेवाले ! हे दीनबन्धो ! आपके चरणों की शरण में आये हुए हम दोनों की रक्षा करो, प्रभो ! ॥४१॥

अपने ऐश्वर्यमय स्वरूप को छिपाने के लिए दोनों भाइयों ने श्रीगुरुजी के लिए कोई अत्युत्तम भेंट नहीं प्रदान की। किन्तु दूर देश में उत्पन्न हुए विचित्र एवं पवित्र वन के फल ही समर्पित कर दिये ॥४२॥

उनके तेजविशेष को देखकर, गुरुजी ने जब उनके वंशविशेष का परिचय पूछा, तब गुरुजी के विशेष पूछने से उन दोनों ने छिपाते हुए से कहा कि—हम दोनों यदुवंश से उत्पन्न होनेवाले वसुरूप (रत्नरूप) से विख्यात किसी व्यक्तिविशेष से उत्पन्न हैं। वस्तुतः ''नामैकदेशे नाममात्रग्रहणं'' इस न्याय के अनुसार 'वसु' कहने से 'वसुदेव' का भी ग्रहण हो गया, यह जानना चाहिये ॥४३॥

और अपने स्वरूप को छिपानेवाली इनकी यह जो चातुरी है, वह भी तटस्थ की घटना को प्राप्त हो गई, अर्थात् इनके स्वरूप की बोधिका हो गई। क्योंकि सबको मोहित करने के कारण, इन्होंने सर्वश्रेष्ठता स्वतः स्वीकार करली ॥४४॥

श्रीगुरुजी भी उनका अभिनन्दन करते हुए बोले—विद्यादान करने के लिए हमारा समय अत्यन्त दुर्लभ है। अतः हे सुन्दर व्रत धारण करनेवाले राजकुमारो ! समय की प्रतीक्षा करके मेरे निकट हर्षपूर्वक स्थित रहो ॥४५॥

'किन्तु प्रथमं तावद् भिक्षाशिक्षां सुशिक्षतैरमीभिः क्षत्रियतामानक्षतिपूर्वां कुर्वाथाम्' इति ॥४६॥ "तदेवमनुज्ञातौ यातौ च विधाय तत्रस्थान् प्रति तु गुरुर्जगाद,—

'स्निह्यति स्म मम चित्तमेतयो,-र्दर्शनात्तदनुमीयते स्फुटम् ।
स्निग्धमध्यवसती स्वजन्मना, स्नेहमात्रबहिरन्तरावमू ॥४७॥
युगलं तदिदं सितासितं, यदपि स्नेहमयं विरोचते ।
तदपि स्फुटमेतदूहते, मम बुद्धिर्ननु मूलमन्तिमम् ॥४८॥
सामुद्रकेऽपि लिखितान्नरचिह्नसारा,-नेतावतीत्य महितावसितः सितश्च ।
तत्रापि चित्रमसिते स्फुरति प्रभा या, बुद्धिं विमोहयति सा बत मादृशां च ॥'इति ॥४९॥

"अथ दीदिविभिक्षागतेषु च तेषु जीविकारूपावमू एवास्ताम् ॥५०॥

"यत्र च— एताभ्यां समवेताभ्यां नालभ्यं किञ्चिदस्ति यत् ।
तस्मादन्ये तु तद्भैक्षे जाताः सर्वेऽपि वाहकाः ॥५१॥

किन्तु पहले इन सुशिक्षित छात्रों के साथ, क्षत्रियपन के मान के त्यागपूर्वक भिक्षा माँगने की शिक्षा का आचरण करो ॥४६॥

इस प्रकार आज्ञा देकर उन दोनों को भिक्षा के लिए भेजकर, श्रीगुरुजी वहाँपर बैठे हुए सभ्यजनों से बोले—देखो, भाइयो ! इन दोनों राजकुमारों के दर्शन से मेरा चित्त, स्नेह से युक्त हो गया है, अतः स्पष्ट ही अनुमान हो रहा है कि, ये दोनों अपने जन्म से लेकर स्नेहीजनों के मध्य में ही निवास करनेवाले हैं। और इसीलिए ये दोनों बाहर भीतर से स्नेहमात्र से भरे हुए हैं ॥४७॥

यद्यपि यह गौर-श्याम का जोड़ा स्नेहस्वरूप होकर ही विराजमान है, तथापि मेरी बुद्धि तो स्पष्ट यही तर्क करती है कि, इन दोनों में निश्चितरूप से अन्तिम, अर्थात् श्याम (श्रीकृष्ण) ही मूल (प्रधान) है ॥४८॥

और सामुद्रक शास्त्र में लिखे हुए मनुष्यों के श्रेष्ठ चिह्नों को भी अतिक्रमण करके ये दोनों गौर-श्याम पूजित हैं। उसमें भी आश्चर्य यह है कि—श्याम वर्णवाले राजकुमार में जो प्रभा स्फूर्ति पारही है हाय ! वह तो हम जैसे विद्वानों की बुद्धि को भी विमोहित कर रही है (पञ्चदीर्घः पञ्चसूक्ष्मः सप्तरक्तः षडुन्नतः। त्रिह्रस्व-पृथुगम्भीरो द्वात्रिंशल्लक्षणो महान् (सामुद्रके तृतीय श्लोक), अर्थात् जिस व्यक्ति के नासिका, भुजा, ठोड़ी, नेत्र, एवं घुटना—ये पाँचों अंग लम्बे हैं; एवं त्वचा, केश, अंगुलियों की गाँठ, दन्त, एवं रोम—ये पाँचों अंग सूक्ष्म हैं; एवं नेत्रप्रान्त, पदतल, करतल, तालु, ओष्ठाधर, जिह्वा, एवं नख—ये सातों अंग रक्तवर्ण के हैं; एवं वक्षःस्थल, स्कन्ध, नख, नासिका, कटिप्रदेश, एवं मुख—ये छः अंग उन्नत हैं; एवं ग्रीवा, जंघा, एवं लिंग—ये तीनों अंग छोटे हैं; तथा कटिप्रदेश, ललाट, एवं वक्षःस्थल—ये तीनों अंग जिसके विस्तीर्ण है; और नाभि, स्वर, एवं बुद्धि—ये तीनों जिसके गम्भीर हैं, ऐसे बत्तीस लक्षणोंवाला महापुरुष कहा जाता है) ॥४९॥

उसके बाद भात आदि अन्न की भिक्षा के लिए जानेवाले छात्रों में, ये दोनों ही सबकी जीविकारूप हो गये थे ॥५०॥

और भिक्षार्थी जिन छात्रों में इन दोनों के मिल जाने से कुछ भी वस्तु अलभ्य नहीं थी। इस कारण उन दोनों की भिक्षा में मिले हुए पदार्थसमूह में, अन्य सभी छात्र ढोनेवाले हो गये थे, अर्थात् अन्य छात्रों को माँगना ही नहीं पड़ता था ॥५१॥

"किन्तु, विपरीतमभूदेतदनयोर्भिक्षमाणयोः ।
भिक्षितव्यजनास्तेऽपि यातास्तद्दृष्टिभिक्षुताम् ॥५२॥

"तत्र तु— मातृदृष्टिमकरोन्न केवलं, युग्ममेतदिह दातृयौवते ।
किन्तु तच्च सुतदृष्टिमातनो,-त्तत्र दिव्यतरुणेऽपि साम्प्रतम् ॥५३॥

"किञ्च, तत्र तत्र सर्वत्र भिक्षामकुरुताम्, यत्र यत्र सहचारिणां सब्रह्मचारिणां परिचयः प्रचरेदन्यत्र पुनरपचाराय स्यादिति सदाचारं यदाऽऽचरितवन्तौ, तन्निजसङ्गागतचराणां द्विजवराणां तदपरिचिततां व्यज्य परित्यज्यमानानां सङ्गोपनाय च सङ्गमयामासतुः ॥५४॥

"तदेवमुपधया परम्परावधारितया लब्धनिजसम्मानाभ्यां दिनं दिनमाभ्यामुपचितं याचितं निजपुरतः समाचितमपि प्रसज्य स तु चतुरगुरुः श्रीकृष्णगुरुः पुरुकुतुकतया विभज्य तयोरेतयोरधिकमनुरज्यते स्म; अनुरज्य च सुकुमारौ ताविमौ कुमारौ न कर्म कारयति स्म । तथापि भक्तिसमवेतौ तावेतौ तद्दृष्टिविप्रकृष्टतयातिनिकृष्टमपि कर्माकुरुतामेव ॥५५॥

"अथ कदाचिद् गुरुपत्नी गुरुं पप्रच्छ,—'भगवन् ! भवदन्तेवासिनामन्तः कतमः सद्भक्ततमः ?' इति । "स उवाच,—'तावेतौ सितासितौ क्षत्रियसुतौ ।' "सा तु सस्मितमाह

किन्तु इन दोनों के भिक्षा करते समय एक यही बात विपरीत हुई कि, वे भिक्षा देनेवाले जन भी उनके दर्शन के भिक्षुकों के भाव को प्राप्त हो गये, अर्थात् वे भी दर्शन की भिक्षा माँगने लग गये कि, आप नित्य दर्शन देते रहना ॥५२॥

और उस अवन्तीपुरी में भिक्षा देनेवाली युवतियों के समूह के ऊपर केवल यह गौर-श्याम का जोड़ा ही मातृदृष्टि नहीं करता था, किन्तु वह युवतियों का समूह भी उस दिव्य यौवनवाले जोड़ेपर पुत्रदृष्टि का विस्तार करता था । यह भाव दाता ग्रहीता दोनों के पक्ष में ही उचित है ॥५३॥

किंच वे दोनों भाई भिक्षा भी सर्वत्र उन्ही उन्ही स्थानोंपर करते थे कि, जहाँपर एक गुरु से पढ़नेवाले सहचरों का परिचय प्रचारित हो, अन्यत्र भिक्षा करना तो अनिष्ट आचरण के लिए हो सकता है। इस प्रकार के सदाचार का जो आचरण किया, वह आचरण तो पहले मथुरा से ही अपने सङ्ग आनेवाले जो श्रेष्ठ ब्राह्मण थे, एवं जो भिक्षा के स्थल में कृष्ण-बलदेव के अपरिचित भाव को प्रगट करके भिक्षादाताओं के द्वारा त्यागे जाते थे, उनकी रक्षा करने के लिए विज्ञापित कर दिया ॥५४॥

इस प्रकार परस्पर निश्चित की गई उपधा (धर्म आदि के द्वारा की गई परीक्षा) के द्वारा अपने सम्मान को प्राप्त करनेवाले, इन दोनों भाइयों के द्वारा प्रतिदिन अधिक मात्रा में माँगे गये, एवं अपने सामने धरे हुए भी भिक्षा के अन्न को, चतुरश्रेष्ठ एवं श्रीकृष्ण के गुरु वे सान्दीपनि मुनि अधिक कौतुकपूर्वक मिलाकर, सबके लिए बाँटकर इन दोनों राजकुमारोंपर अधिक अनुराग करते थे। और अनुराग करके ही इन दोनों सुकुमार राजकुमारों से कोई भी काम नहीं कराते थे । तथापि गुरुभक्ति से युक्त ये दोनों भाई, गुरुजी की दृष्टि को दूर करके, अर्थात् उनकी आँखों के पीछे, स्थान में झाड़ू लगाना आदि अति निकृष्ट (तुच्छ) काम को भी प्रेम से करते थे ॥५५॥

तदनन्तर कभी गुरुपत्नी ने गुरुजी से पूछा—भगवन् ! आपके छात्रों के मध्य में कौनसा छात्र अतिशय श्रेष्ठ गुरुभक्त है ? गुरुजी बोले—वे दोनों गौर-श्याम राजकुमार ही हैं। गुरुपत्नी मुसक्याकर

स्म,—'अहं तु काञ्चिदप्यनयोर्भवद्वरिवस्यां न पश्यामि ।' "स उवाच,—'मया स्निग्धतया निषिद्धमानतामनुरुध्य न तौ प्रकटं किञ्चिद्घटयतः; किन्त्वप्रकटं घटयत एवेति लक्ष्यते ।।'५६

"तदेवं स्थिते कदाचिदकालवृष्टिदृष्टिमवष्टभ्य सा काष्ठघटनायामपराह्णदिष्टे कांश्चित्त-दितरांश्छात्रानादिष्टवती;—'पुत्रकाः ! काष्ठं कुत्र लभ्यताम् ?' इति ।।५७।।

"तेषु च समस्तेषु किञ्चन त्रस्तेषु तावेतौ तु तत्परम्परया निशमयामासतुः; निशम्य च पृथगेव परमकाष्ठभक्तितया परमकाष्ठकृते विदूरकाष्ठां चलितयोस्तयोरेतयोरवलोकनेन ते चान्ये चपलमेव चलितवन्तः । कृतप्रवेशे तु महागहनप्रदेशे लुप्तदृष्टिसृष्टिर्वृष्टिरायाता । आयातायां तु तस्यां नान्ये किञ्चिदप्यञ्चितुं चाशक्नुवन् । सितश्यामावमू तु चारूणि चारूणि दारूणि विचित्य कृतकृत्यतया तस्थतुः; किन्तु रात्रिरागतेति न गृहयात्रिकतामवापतुरिति । किं बहुना ? गोष्ठलोककर्णकष्टप्रदेनौष्ठस्पन्दनेन ।" इति ।।५८।।

एवं प्रोच्य शोच्यमानतदवसरं व्रजवासिप्रकरमधिगम्य क्षणं विरम्य कथकः प्रथयामास,—।।५९।।

"प्रातस्तु भ्रातः ! सन्दीपितमन्युः सान्दीपनिः पत्नीं निन्दित्वा प्रातःक्रियामपि हित्वा

बोली—मैं तो इन दोनों की की हुई आपकी कोई भी सेवा नहीं देखती हूँ । गुरुजी बोले—मेरे द्वारा स्नेह के कारण किये हुए निषेध भाव का अनुरोध करके वे दोनों प्रगटरूप से कुछ भी सेवा नहीं करते हैं, किन्तु अप्रगटरूप से तो दोनों ही सेवा करते हैं, यह देखा जाता है ।।५६।।

अतएव ऐसी स्थिति में कदाचित् अकालवृष्टि को देखकर, गुरुपत्नी ने सायंकाल के समय, लकड़ी लाने के लिए गौर-श्याम से भिन्न अन्य कुछ छात्रों को आज्ञा दी कि, हे बेटाओ ! अब लकड़ियाँ कहाँ मिल सकेंगी ? अर्थात् जहाँ मिलें वहीं से लेआओ ।।५७।।

सायंकाल के कारण उन सभी छात्रों के किंचित् उद्विग्न हो जानेपर, इन दोनों भाइयों ने तो परम्परा से उस समाचार को सुन लिया । और सुनते ही उन सबसे अलग होकर, गुरुभक्ति की पराकाष्ठा के कारण, उत्तमकाष्ठ लाने के लिए, बहुत दूर की दिशा को चल दिये । चलते हुए इन दोनों को देखकर, वे अन्य सब छात्र भी शीघ्र ही चल दिये । उन सबके विशाल वन के प्रदेश में प्रवेश करते ही, दर्शन के व्यापार का लोप करनेवाली, अर्थात् सबको अन्धा बनानेवाली वर्षा आगई । वर्षा के आते ही, अन्य छात्र तो कुछ चलने को भी समर्थ न हो सके । किन्तु ये गौर-श्याम तो मनोहर मनोहर लकड़ियों को इकट्ठीकर कृतार्थतापूर्वक बैठ गये । किन्तु उसी समय रात्रि आगई थी, अतः गुरुजी के घर चलने को मौका न पा सके । इसलिए व्रजवासियों के कानों को कष्टप्रद मेरे अधिक ओष्ठ चलाने से कोई प्रयोजन नहीं । तात्पर्य—वह भयंकर रात्रि खाने, पीने, सोने आदि की व्यवस्था न होने के कारण, श्रीकृष्ण बलदेव के लिए महान् कष्टप्रद ही थी । जिसके विस्तारपूर्वक वर्णन को सुनकर स्नेहमय व्रजवासी श्रोताओं के मन में कष्ट ही उपस्थित होगा । अतः उसके विस्तृत वर्णन के लिए ओष्ठ चलाने से कोई प्रयोजन नहीं । इसी भाव से ग्रन्थकार ने उसका वर्णन नहीं किया ।।५८।।

इस प्रकार कहकर, उस रात्रि के अवसर का शोक करते हुए व्रजवासियों के समूह को जानकर, क्षणभर विराम लेकर, कथावाचक पुनः विस्तारपूर्वक कहने लगा— ।।५९।।

भैया स्निग्धकण्ठ ! प्रातःकाल तो जिनका क्रोध प्रज्वलित हो उठा, वे सान्दीपनि मुनि अपनी पत्नी की निन्दा कर, प्रातःकालीन कृत्य को त्यागकर, दौड़कर उसी वन में चले आये कि, जिसमें लकड़ी इकट्ठी

धावित्वा तत्राजगाम; यत्र सञ्चितदारू गुरुभक्तिकारू सक्लेशेऽपि वेशे परमचारू सङ्गिनस्तान् सूचितनक्तमुदन्तौ परिहसन्तौ लसन्तौ च विद्येते। तत्र सज्जति तु लताद्यावरणेन कृतस्तरणे गुरुचरणे लज्जां सज्जतः स्म। निजं नर्मरचनं वचनं गुरुभिस्तदाकर्णितमिति; कार्यं सद्यो न पर्याप्तमिति च ॥६०॥

"ततश्चेमौ दत्तसुखचयाववाङ्मुखतया नमस्कुर्वन्तौ परिष्वज्य रज्यमानतया 'अनयोः सर्वविद्यास्फूर्तिर्भवतात्' इति मनसि विविच्य समतिरिच्यमानवाष्पामृतवितानधारयाऽभिषिच्य सकलकलापूर्णः स द्विजराजस्तूर्णं समावर्तनमिव वर्तयामास। तथापि तु मम प्राणाः पीड्यन्ते ॥६१॥ यतः,

"बिधिर्यः सर्वत्राप्यशुभशुभकारीति विदितः
स येषां यन्मैत्रीमभिलषितपात्रीं वितनुते।
शुको मुक्तोऽप्युच्चैः कवयति ययोर्यत्र पितृतां
तदीयप्राणोऽसावहह गुरवे दारु चितवान् ॥"६२॥

तदास्तां प्रकृतं पुनरनुसरामः,—॥६३॥

"अथाचार्यः समिधः परेषां शिरसि संधार्य ताविमौ गृहमनुसार्य भार्यया सह पुरस्कार्यतां प्रापयामास, प्रापय्य च सर्वमध्यापयामास ॥६४॥

करनेवाले एवं गुरुभक्ति करनेवाले, क्लेशयुक्त वेश में भी परमसुन्दर लगनेवाले गौर-श्याम, उन सङ्गवाले छात्रों के प्रति रात्रि के वृत्तान्त की सूचना करके, परिहास करते हुए, शोभा पाते हुए, विद्यमान थे। लता आदि के आवरण के द्वारा ढके हुए पूज्य गुरुदेव के वहाँ आजानेपर तो, वे दोनों लज्जित हो गये। उस समय लज्जित होने के दो ही कारण थे :—१–परिहास की रचना से युक्त अपने वचन गुरुदेव ने सुन लिए, २–कार्य तत्काल यथेष्ठ न हो सका ॥६०॥

उसके बाद सुखसमूह को देनेवाले एवं नीचा मुख करके नमस्कार करनेवाले, इन दोनों को अनुराग-पूर्वक आलिङ्गन करके, "इन दोनों में सब विद्याओं की स्फूर्ति हो जाय" इस प्रकार मन में विवेचन करके, एवं अच्छी प्रकार निकलती हुई नेत्रजल की विस्तृत धारा के द्वारा, इन दोनों का अभिषेक करके, सकल कलापरिपूर्ण द्विजराज सान्दीपनि मुनि ने, शीघ्र ही समावर्तन (वेदाध्ययन के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश का साधक) संस्कार सा कर दिया। कथावाचक बोला—तो भी मेरे प्राण तो पीडित हो रहे हैं ॥६१॥

कारण—जो ब्रह्मा सर्वत्र शुभाशुभ के कर्ता होकर विख्यात हैं, वे ही जिन व्रजवासियों की श्रीकृष्ण-सम्बन्धिनी मित्रता को अभिलाष का पात्र कहकर विस्तार करते हैं, एवं मुक्तमुनि श्रीशुकदेव भी, जिन श्रीकृष्ण में जिन नन्दयशोदा के पितृभाव का उच्चस्वर से वर्णन करते हैं, हाय ! पितामाता के प्राणस्वरूप इन श्रीकृष्ण ने गुरुजी को सन्तुष्ट करने के लिए लकड़ियाँ इकट्ठी करीं ॥६२॥

अच्छा, गुरुसेवा का प्रसङ्ग तो यहीं रहने दो। अब हम प्रकृत विषय का अनुसरण करते हैं ॥६३॥

अनन्तर आचार्यदेव ने लकड़ियों को दूसरे छात्रों के शिरपर धरवा कर, इन दोनों भ्राताओं को घर में लिवा लाकर, अपनी भार्या के सहित पुरस्कार को प्राप्त कर दिया। पुरस्कार दिला कर सब शास्त्रों का अध्ययन करा दिया ॥६४॥

"तत्र तु, मित्रयुस्वभावचित्रचरित्रस्य तस्य तदिदं सर्वमनः पवित्रं करोति ॥६५॥ यथा—

"तस्मिन् सतीर्थशतकेषु समेषु कृष्णः, श्रीदामशर्मणि यदेष सुरज्यति स्म ।
गोष्ठस्थतन्निजसखाह्वय एव हेतु,-स्तस्मिन् यथा किल सुदामनि चार्जुने च ॥६६॥

"अत्र चित्रतामत्रमन्यदपि मन्यताम् । सत्यं तत्र स चान्ये च केचन ताभ्यामेताभ्यां सहाध्ययनायाध्यवसायं कृतवन्तः; किन्त्वध्यवसायमात्रेण किं भवतु ? ॥६७॥

"तथा हि— सत्यं बहवश्छात्राः, कृतगुरुयात्रा मुरारिरामाभ्याम् ।
किन्त्वधिगतिसध्वंसाः, हंसाः किं स्युः सुपर्णसध्र्यञ्चः ? ॥६८॥

अनूचानान् समावृत्तानपि सब्रह्मचारिणौ । विजिग्याते रामकृष्णावपि प्राथमकल्पिकौ ॥६९॥
सकृन्निगदनादेतौ साङ्गान् वेदानधीयतुः । तुष्टुवाते सुष्ठु सर्वैरसकृन्निगदेन तु ॥७०॥
अहोरात्रैः षष्ट्या चतुरधिकया तत्परिमिताः, कलाश्चित्तस्यान्तर्निदधतुरमूश्चित्रवदमू ।
यतश्चित्तं विश्वस्य च वलितचित्रं समभव-, न्न यद्बोद्धुं शक्तः समजनि तदा तद्गुरुरपि ॥७१॥

और वहाँपर भी मित्रवत्सल स्वभाव से विचित्र चरित्रवाले श्रीकृष्ण का, यह आगे कहा जानेवाला कार्य तो सबके मन को पवित्र कर देता है ॥६५॥

यथा—उस गुरुगृह में सैंकड़ों सहपाठी समान होनेपर भी श्रीकृष्ण, श्रीदाम शर्मापर अर्थात् सुदामा नामक ब्राह्मणपर जो अधिक अनुराग करते थे, इस अनुराग के करने में तो व्रज में रहनेवाले अपने सखा श्रीदामा का नाम ही कारण है। और जिस प्रकार व्रज के सखाओं के नाम की समानता के कारण, मथुरावाले सुदामा मालीपर, एवं कुन्तीपुत्र अर्जुनपर अनुराग था, उसी प्रकार श्रीदाम शर्मापर भी था ॥६६॥

इस प्रसङ्ग में आश्चर्य का पात्र एक दूसरा विषय भी समझ लो। यह बात सत्य है कि, उस अवन्तिकापुरी में श्रीदामा ब्राह्मण एवं अन्य कितने ही छात्रों ने, इन कृष्ण बलदेव के साथ पढ़ने के लिए उत्साह किया था, किन्तु उत्साहमात्र से क्या हो सकता है ? ॥६७॥

कारण—देखो, यह बात सत्य है कि, श्रीकृष्ण बलराम के साथ बहुत से छात्रों ने गुरु के समीप यात्रा की थी, किन्तु खण्डित चालवाले या खण्डित ज्ञानवाले हंस, गरुड के सहचारी हो सकते हैं क्या ? कदापि नहीं। अर्थात् कृष्ण बलदेव के साथ पढ़ने के उत्साहमात्र से कोई छात्र उनके बराबर अध्ययन कर सकते हैं क्या ? कदापि नहीं ॥६८॥

अध्ययन को प्रथम आरम्भ करनेवाले, एवं आपस में एक समान वेद, व्रत, आचारवाले, कृष्ण बलदेव ने अनूचान (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द इन छः अङ्गों के सहित चारों वेदों को पढ़नेवाले) छात्रों को, और समावृत्त (गुरु की आज्ञा पाकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश के लिए गुरुकुल से लौटनेवाले) छात्रों को भी जीत लिया था ॥६९॥

इन श्रीकृष्ण बलदेव ने गुरुदेव के एकबार कहनेमात्र से पूर्वोक्त छः अङ्गों के सहित सारे वेदों को पढ़ लिया था। और पढ़े हुए वेदों के बारम्बार स्पष्ट व्याख्यान के कारण तो सभी छात्र इनकी प्रशंसा करते थे ॥७०॥

इन दोनों भाइयों ने चौंसठ दिनों में चौंसठ कलाओं को अपने चित्त के भीतर चित्र की तरह स्थापित कर लिया था। जिस कारण सभी का चित्त आश्चर्य से युक्त हो गया था। उस समय कृष्ण बलदेव

के गुरुदेव भी, जिस रहस्य को जानने में समर्थ न हुए। अहोरात्रैश्चतुःषष्ट्या संयत्तौ·······(भा० १०।४५।३६ की व्याख्या में श्रीजीवगोस्वामी ने चौंसठ कलाओं का व्याख्यान इस प्रकार किया है, यथा—१. गीत–गान-शिक्षा, गीत निर्माण, स्वरजाति रागभेद, तालमात्रादि रचना प्रकार, साधक बाधक स्वरादि मेल, और मान आदि का परिज्ञान, २. वाद्य—चार प्रकार का बाजा, अर्थात् तत (वीणा आदि), आनद्ध (मुरज आदि), सुषिर (वंशी आदि), घन (झाँझ आदि), उसकी शिक्षा आदि पहले की तरह जानना, ३. नृत्य–नाचना, ४. नाट्य—रूपकमय अभिनय, ५. आलेख्य—चित्रकर्म, ६. विशेषकच्छेद्य—तिलकों में अनेक प्रकार की रचना, ७. तण्डुलकुसुमबलिविकार—तण्डुल एवं कुसुमादि पूजा के उपकरणों की विविध रचना, ८. पुष्पास्तरण—पुष्पादि द्वारा शय्या निर्माण, ९. दशनवसनाङ्गराग—दन्त और वस्त्रों का अनेक प्रकार से रंगना, १०. मणिभूमिकाकर्म—मयदानव निर्मित पांडवों की सभा की तरह मणिबद्ध भूमि की क्रिया, ११. शयनरचन—पलंग आदि का निर्माण, १२. उदकवाद्य—सरोवर आदि में स्थापित भाण्ड में, अथवा जल से भरे हुए पात्र में मधुर मधुर अनेक तालों का उठाना, १३. उदकघात—जलस्तंभविद्या, १४. चित्र-योग—अनेक अद्भुत दर्शन में अच्छे उपाय, १५. माल्यग्रन्थनविकल्प, १६. केशशेखरापीडयोजन—केश एवं मुकुट की रचना, १७. नेपथ्ययोग—अलंकृत करना, १८. कर्णपत्रभङ्ग—कर्ण आदि में रचित तिलक, १९. सुगन्धयुक्ति—कस्तूरी आदि गन्ध का लेपन, २०. भूषणयोजन, २१. ऐन्द्रजाल—जादूगरी, २२. कौचु-मारयोग—कुचुमार नामक व्यक्ति द्वारा प्रकाशित अनेक रूपों को अपने में प्रगट करना, २३. हस्तलाघव—चमत्कार दिखाने के लिए गुप्त रूप से हस्तादि संचालन द्वारा उस उस वस्तु का प्रवर्तन, २४. चित्रशाका-पूपभक्ष्यविकारक्रिया—साग, पुआ, पूरी आदि खाद्य वस्तुओं की अनेक प्रकार की रचना, २५. पानकरस-रागासवयोजन—पेयरस की एवं उसके रङ्गों की अनेक प्रकार की योजना, २६. सूचीवायकर्म—दर्जी का कार्य, २७. सूत्रक्रीडा—सूत्रके संचालन में पुतली आदि का चलाना, २८. प्रहेलिका—गुप्त वाक्यों का अर्थ ज्ञान, २९. प्रतिमाला—सब वस्तुओं की प्रतिमा का निर्माण, ३०. दुर्वचोयोग—जो जो बोला नहीं जा सकता उस उस के बोलने के उपाय, ३१. पुस्तकवाचन—पुस्तक में अविद्यमान वर्णों को भी शीघ्रतापूर्वक जोड़कर पढ़ना, ३२. नाटकाख्यायिकादर्शन—नाटक आदि शास्त्रों का परिज्ञान एवं उनका निर्माण, ३३. काव्यसमस्यापूरण—काव्यों में संक्षेप से कहे हुए समस्या के गुप्त पद की सहसा नहीं करने योग्य पूर्ति को श्लोक के दूसरे अंश द्वारा पूर्ण कर देना, ३४. पट्टिकावेत्रबाणविकल्प—सूत में पिरोये हुए छोटे आकार के बन्धन आदि द्वारा चाबुक एवं बाण आदि की कल्पना, ३५. तर्कुकर्म—सूत बनाने की साधक लोहे की सलाई के द्वारा साध्य अनेक प्रकार की बुनाई, ३६. तक्षण—बढ़ई का काम, ३७. वास्तुविद्या—गृहोचित भूमि आदि का एवं गृह आदि निर्माण के भेदों का ज्ञान, ३८. रूप्यरत्नपरीक्षा – सोना, चाँदी, एवं रत्न आदिकों के झूठे सच्चेपन की पहिचान, ३९. धातुवाद—सोना आदि बनाना, ४०. मणिरागज्ञान—मणियों में अनेक प्रकार के वर्ण निर्माण का ज्ञान, ४१. आकरज्ञान—दर्शनमात्र से मणि आदि की उत्पत्तिभूमि का ज्ञान, ४२. वृक्षायुर्वेदयोग—वृक्षादिकों की चिकित्सा का ज्ञान, ४३. मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधि—मेढ़ा, मुर्गा, एवं लवा पक्षी आदि के युद्ध की विधि, ४४. शुकसारिकाप्रलापन—तोता-मैना आदि को बोलना सिखाना, ४५. उत्सादन—मंत्र आदि द्वारा परस्पर की निकटता छुड़वाना, ४६. केशमार्जनकौशल—केश संशोधन की चतुराई, ४७. अक्षरमुष्टिकाकथन—बिना देखे हुए अक्षर तथा मुट्ठी में छिपी हुई वस्तुओं के रूप एवं संख्या आदि बताना, ४८. म्लेच्छितविकल्प—म्लेच्छभाषा तथा भरतशास्त्र का ज्ञान, ४९. देशभाषाज्ञान—अनेक देशों की भाषा जानना, ५०. पुष्पशकटिकानिमित्तज्ञान—पुष्पशकट की औपाधिक विद्या के निमित्त का ज्ञान, ५१. यंत्रमातृका—पूजा के लिए मातृका के वर्णों द्वारा यंत्र का निर्माण, ५२. धारणमातृका—धारण करने के योग्य मातृका वर्णों द्वारा यंत्र का निर्माण, ५३. संपाट्य—अभेद्य हीरा आदिकों के टुकड़े कर देना, ५४. मानसीकाव्यक्रिया—दूसरे के मन में स्थित भाव का श्लोक बना देना, ५५. क्रियाविकल्प—

सान्दीपनेरधीतं, हरिरामाभ्यामिति ख्यातम् ।
सान्दीपनिस्तु ताभ्यां, भ्रममपहृतवान् बहुत्र विद्यासु ॥७२॥

"तदेवं तत्रापि सर्वविशिष्टतया प्रतिष्ठितयोरपि तयोरेतयोरन्तर्वृत्तिविशेषं वर्णयिष्यामः,–॥७३॥

'गुरोर्वासे तस्मिन्निशि निशि हरिः स्वाग्रजमनु
व्रजस्थानां वार्तां कथयति सबाष्पं शयनके ।
तथैव स्वप्ने यत् प्रतिपदमसौ जल्पतितरा-
मदः स्मारं स्मारं ज्वलति मम हा हृज्जलरुहम् ॥७४॥

'यथा— भ्रातर्माथुरलोकवृत्तकथनं यत्नान्मनस्यानये
विस्मर्तुं व्रजवृत्तमत्र बलते तत् प्रत्युत स्मारकम् ।
माता मातरमादधाति पितरं चित्ते पिता बन्धुता
बन्धून् मे करवाणि किं बत मया कालः कथं क्षिप्यताम् ? ॥७५॥
इदानीं माता मां स्मरति शयनाद्भ्रंशितवपुः
पिता तद्वत् किन्तु प्रसजति मिथस्तन्न मिथुनम् ।

एक ही क्रिया को अनेक उपायों से निष्पन्न करना, ५६. छलितकयोग—दूसरे को ठगने के उपाय, ५७. अभिधानकोश—छन्दोज्ञान, ५८. वस्त्रगोपन—सूती वस्त्रों को रेशमी वस्त्र आदि रूप से दिखाने की प्रक्रिया, ५९. द्यूतविशेष, ६०. आकर्षक्रीडा—दूर धरे हुए खिलौनों को खींचना, ६१. बालक्रीडनक—बालकों को खिलाना, ६२. वैनायिकी—गणेशसम्बन्धी या बौद्धसम्बन्धी विद्या, ६३ वैजयिकी—विजयसूचक विद्या, ६४. वैतानिकी—यज्ञसम्बन्धी विद्या ॥७१॥

श्रीकृष्ण बलराम ने सान्दीपनि मुनि से अध्ययन किया, यह बात तो विख्यात हो गई। किन्तु सान्दीपनि मुनि ने भी उन दोनों के द्वारा, बहुत सी विद्याओं में अनेक जगह भ्रम दूर कर लिया ॥७२॥

अतएव पूर्वोक्त प्रकार से गुरुगृह में भी सबसे विशिष्ट होने के कारण, प्रतिष्ठित होनेवाले इन दोनों की आन्तरिक वृत्तिविशेष का वर्णन करेंगे ॥७३॥

देखो, गुरुजी के उसी निवासस्थान में श्रीकृष्ण, अपने बड़े भाई को लक्ष्य करके, प्रत्येक रात्रि में शय्यापर सजलनयन होकर, व्रजवासियों की बातचीत कहते रहते थे। उसी प्रकार स्वप्न में भी ये श्रीकृष्ण, प्रतिक्षण उन्ही बातों को विशेष कहते रहते थे। हाय ! उसी चरित्र को बारंबार स्मरण करके मेरा हृदय-कमल जला जारहा है ॥७४॥

उस समय का वार्तालाप, यथा—हे भैया ! बलदेव ! मैं व्रज के वृत्तान्त को भुलाने के लिए, मथुरा-वासी लोगों के वृत्तान्त की बात को यत्नपूर्वक मन में लाता हूँ, किन्तु वह माथुर वृत्तान्त तो यहाँपर प्रत्युत व्रज के वृत्तान्त की याद दिलानेवाला हो गया। देखो, माता देवकी याद करते ही माँ यशोदा को मेरे चित्त में स्थापित कर देती है। पिता वसुदेव भी याद करते ही श्रीव्रजराज को चित्त में धर देते हैं। एवं मथुरा का बन्धुसमूह भी याद करते ही व्रज के श्रीदामा आदि बन्धुओं को बलात् मेरे चित्त में खड़े कर देता है। हाय ! ऐसी स्थिति में अब मैं क्या करूँ, एवं पढ़ने के समय को किस प्रकार बिताऊँ ? ॥७५॥

भैयाजी ! इस समय माँ यशोदा मुझको याद कर रही है, उसी प्रकार पिता नन्द भी शय्या से खड़े होकर मेरा स्मरण कर रहे हैं। किन्तु वे दोनों आपस में मिलते नहीं हैं। कारण—अपना शरीर जब

ज्वलत्युच्चैर्वह्नौ निजवपुषि को वा सखिजनं
परिष्वक्तुं हा धिक् पतनमिह तस्यापि लषति ॥७६॥
माताप्यस्तु पिताप्यस्तु सखायः सन्तु दूरतः ।
गोष्ठं वनं च तत् सर्वं दन्दग्धि हृदयं मम ॥'इति ॥७७॥

"तदेवं स्थिते तत्र सङ्कर्षणस्तु सवाष्पवर्षं सान्त्वयति,—'भ्रातर्मम सर्वं विहायार्वागेव तत्र प्रकटमटितुमिच्छा । भवानेव तु सङ्कोचं रोचयमानस्तत्र स्थगितायते । तदेवमप्यापाततः सान्त्वनाय किमपि तेषु स्वयं स्मर्यमाणमपि विस्मर्यमाणं करोषि; यत् खलु तेषु मात्रादिषु मुहुरतिमात्रं यात्रां विनापि प्रत्यक्षपात्रायसे ॥'७८॥

"श्रीकृष्ण उवाच,—'आम् आम् सत्यं सत्यम्; तथापि तेषां तत्तन्मुहुः स्वप्नायमानतामाप्नुवन्मम च तद्रूपतया भाति; किं कुर्याम् ?' इति ॥७९॥

"तदेवं भ्रातृद्वयं सवाष्पं व्यतिष्वज्य निद्रातीत्यलमतिविस्तरेण; ॥८०॥ यतः,

"प्रत्यक्षकल्पमासीद् यत् प्रत्यक्षं तदिहेक्ष्यताम् ।
कृष्णः सोऽयं भवान् सोऽयं सभायां हि व्रजाधिप ! ॥८१॥

विशाल अग्नि में जल रहा हो, तब ऐसा कौन कठोर है, जो कि अपने मित्रजन को मिलने के लिए उस मित्रजन की भी अग्नि में गिरने की इच्छा करेगा ? हाय ! ऐसे आलिङ्गन को धिक्कार है । तात्पर्य—श्रीकृष्ण की विरहरूप अग्नि में नन्द-यशोदा दोनों ही का शरीर जला सा जारहा है, अतः दोनों इसी विचार से आपस में नहीं मिलते कि, मैं तो कृष्णविरहाग्नि में जल ही रहा हूँ, अतः मिलकर यशोदा को भी क्यों जलाऊँ ? यही विचार यशोदा का भी समझ लीजिये ॥७६॥

और देखो, भैयाजी ! माता को भी रहने दो, पिता को भी रहने दो, एवं सखाओं को भी दूर रहने दो । किन्तु वह समस्त व्रज एवं वृन्दावन, याद आते ही मेरे हृदय को बारंबार दग्ध कर रहा है ॥७७॥

ऐसी स्थिति में वहाँपर श्रीबलदेवजी आँसू बहाते हुए, श्रीकृष्ण को सान्त्वना देते हैं कि—हे भैया श्याम ! मेरी इच्छा तो सब वस्तुओं को त्यागकर प्रगटरूप से अभी व्रज में जाने की है । किन्तु तुम ही सङ्कोच को प्रकाशित करते हुए, स्थगित से हो जाते हो । अतः इस प्रकार आपाततः सान्त्वना करने के लिए, उन व्रजवासियों के विषय में स्वयं स्मरण किये हुए भी किसी वृत्तान्त को भुला रहे हो । कारण उन माता आदिकों के निकट जाने के बिना भी, बारंबार अत्यन्त प्रत्यक्ष होने का सा आचरण करते हो ॥७८॥

श्रीकृष्ण बोले—हाँ हाँ, स्मरण आगया, स्मरण आगया । यह बात सत्य है, यह बात सत्य है । तथापि उन व्रजवासियों की वह वह वस्तु बारंबार स्वप्न की तरह प्राप्त होकर मेरे लिए भी, स्वप्न की तरह प्रतीत हो रही है । इस विषय में मैं क्या करूँ ? ॥७९ ॥

इस प्रकार कहते कहते दोनों भाई आँसू बहाते हुए परस्पर मिलकर सो जाते थे । अतः अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है ॥८०॥

कारण—हे व्रजराज ! पहले जो वस्तु स्फूर्तिरूप से प्रत्यक्ष्य के समान थी, किन्तु उसी वस्तु को अब प्रत्यक्ष देख लीजिये । क्योंकि इस गोलोक की सभा में वे ये ही श्रीकृष्ण हैं, एवं वे ही आप हैं । अतः अब वियोग की सम्भावना नहीं है । इसीलिए उसके वर्णन की भी आवश्यकता नहीं है ॥८१॥

"तदेवं तान् सन्तोष्य त्रियामा-कथया श्रीकान्तलाभेन सुखाधिका राधिकादिकाश्च पोष्यन्ते स्म ।।"८२।।

यथा मधुकण्ठः प्राह,—"अथ व्रजनागरीणामनुरागसागरः स एष जागरानन्तरमिदं परामम्मर्श ।।८३।।

'स्वप्नः सोऽयं समन्तात् किमथ बत मया रासतुल्योऽभिदृष्टः
स्वप्नो नायं मदङ्गं परिमलवलितं येन गोपाङ्गनानाम् ।
हा धिग्मे ब्रह्मचर्यं विगलितमथवा बुद्धिपूर्वं तदेत-
न्न स्यादस्मान्न दोषः स्वविरहदहनात् प्रत्युतामूस्तरन्ति ।।८४।।

'वस्तुतश्च मत्प्राणसपर्यायाभिस्ताभिः परिचर्यया ब्रह्मचर्यं न पर्ययमर्जयतीति तापनी-दर्शिना महर्षिणापि निरूपितमस्ति' इति ।।"८५।।

तदेतावन्मात्रपात्रं रात्रिकथाप्रापणं समापयन् मधुकण्ठः प्राह,—

"सोऽयं राधे ! भवत्प्राण इति सत्यं भवन्मतम् ।
तस्माद् गतागतं कुर्वन्नैष दोषेण दृश्यताम् ।।"८६।।

तदेवं तामपि कारितकृष्णप्रत्यक्षतासुखलक्षतया भासयित्वा कथकयुग्मं तद् यथायथं सर्वेण सह स्वावसथं जगाम; ।।८७।।

ग्रन्थकार स्वयं कहते हैं कि, इस प्रकार प्रातःकाल की कथा से उन गोपों को सन्तुष्ट करके, रात्रि की कथा के द्वारा, श्रीकृष्ण के लाभ से अधिक सुखवाली श्रीराधिका आदि भी परिपुष्ट की जाती हैं ।।८२।।

यथा—मधुकण्ठ बोला—अवन्तीपुरी में जागने के अनन्तर, व्रजनागरीगणों के अनुराग-सागरस्वरूप वे ही ये श्रीकृष्ण इस प्रकार विचार करने लगे— ।।८३।।

हाय ! मैंने चारों ओर से यह रासलीला के समान स्वप्न ही देखा है क्या ? अथवा यह स्वप्न नहीं है, किन्तु जागरण के तुल्य है । क्योंकि मेरा अङ्ग गोपाङ्गनाओं के मनोहर गन्ध से संयुक्त हो रहा है । ब्रह्मचर्य अवस्था में ऐसे प्रकार को अन्याय समझ कर पुनः बोले कि—हाय ! मेरा ब्रह्मचर्य विनष्ट हो गया, अतः मुझको धिक्कार है । अथवा यह कार्य मेरे ज्ञानपूर्वक नहीं हुआ है, इसलिए इससे कुछ दोष न हो सकेगा । प्रत्युत (बल्कि) ये सब गोपियाँ मेरे विरहानल से उत्तीर्ण हो रही हैं । कारण हमारे साक्षात्कार से उनका विरह निवृत्त हो रहा है ।।८४।।

वस्तुतस्तु, मेरे प्राणों के समान पर्यायवाली, अर्थात् मेरी प्राणस्वरूपा उन गोपियों के द्वारा की हुई सेवा से ब्रह्मचर्य व्यतिक्रम का उपार्जन नहीं करता । इसीलिए गोपालतापनी उपनिषद् के द्रष्टा महर्षि दुर्वासा ने भी "स वो हि स्वामी भवति" वह श्रीकृष्ण ही तुम्हारा स्वामी है, इस प्रकार निरूपण किया है ।।८५।।

अतः केवल इतने ही योग्य विषय से युक्त रात्रि की कथा की प्राप्ति को समाप्त करता हुआ मधुकण्ठ बोला—हे राधिके ! ये श्रीकृष्ण आपके प्राण हैं, यह आपका मत सत्य है । इसलिए किसी कार्यवश याता-यात (आनाजाना) करते हुए भी इनको आप दोषदृष्टि से नहीं देखना ।।८६।।

अतएव इस प्रकार कराई हुई श्रीकृष्ण की प्रत्यक्षता (साक्षात्कार) से सुखरूप लक्ष्य के द्वारा,

तया सह माधवस्तु महसा विलासनिलयं विराजयामास ॥८८॥

इति श्रीश्रीमदुत्तरगोपालचम्पूमन्वध्ययनस्पष्टप्रतिष्ठं नामाष्टमं पूरणम् ॥८॥

अथ नवमं पूरणम्

गुरुतनय-समानयनम्

अथ श्रीकृष्णप्रकाशलब्धवरिमणि व्रजराजपदसीमनि कथा; यथा स्निग्धकण्ठः प्राह,—॥१॥

"तदेवं कलाकलापवलिताङ्गेषु वेदवेदाङ्गेषु साङ्गेषु तयोरेतयोः समावर्तनं गुरुर्वर्तयामास; यत्र तत्पुरवासिनः सर्वेऽपि तत्पर्वेहमानाः समुदित्य प्रशस्तवस्त्रालङ्कारान् समुच्चित्य तैर्दित्यपत्यरिपुरामावद्योतयन्त ॥२॥

"अथानयोरक्षीणां दक्षिणां दातुं भाववतोर्महाप्रभाववतोः कृतकार्यः स वेदाचार्यस्तन्निर्धार्य पत्नीमन्त्रणया सयत्नीभूय जलधिलीनचरं निजकुमारवरं परं याचितवान् ॥३॥

"तच्च निशम्य स एष रम्यस्वभावः सम्यगेव शर्म सङ्गम्य सकलकलानिधिस्तव कुलकलानिधिर्निवेदितवान्,—॥४॥

श्रीराधिका को भी देदीप्यमान करके, वे दोनों कथावाचक सभी सभासदों के साथ यथायोग्य अपने घर को चले गये ॥८७॥

श्रीकृष्ण ने भी श्रीराधिका के सहित उत्सव या तेज के द्वारा अपने विलासभवन को विराजित कर दिया ॥८८॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रिविरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीमदुत्तरगोपालचम्पूकाव्ये अध्ययनस्पष्टप्रतिष्ठं नाम
अष्टमं पूरणं सम्पूर्णम् ॥८॥

नवाँ पूरण

गुरुपुत्र को लाना

अनन्तर श्रीकृष्ण के प्रकाश से महत्त्व को प्राप्त करनेवाली श्रीव्रजराज के स्थान की मर्यादा में, अर्थात् सभा में होनेवाली कथा का वर्णन, यथा—स्निग्धकण्ठ बोला— ॥१॥

इस प्रकार पूर्वोक्त रीति से चौंसठ कलाओं के समूह से युक्त अङ्गवाले समस्त वेद वेदाङ्गों के सम्पूर्ण हो जानेपर, श्रीगुरुजी ने इन दोनों भाइयों का समावर्तन (गृहस्थाश्रम में प्रवेश के लिए आज्ञारूप) संस्कार कर दिया। जिस समावर्तन संस्कार में उस महोत्सव की चेष्टा करते हुए, अवन्तिकापुरी के निवासी सभीजनों ने सम्मिलित होकर, श्रेष्ठ श्रेष्ठ वस्त्र एवं अलङ्कारों को एकत्रित कर, उन्ही वस्त्राभूषणों के द्वारा दैत्यारि श्रीकृष्ण एवं बलदेव को सुशोभित कर दिया ॥२॥

अनन्तर परिपूर्ण दक्षिणा देने के लिए भाववाले एवं महाप्रभाववाले इन दोनों भाइयों के सम्पूर्ण विद्यादानरूप कार्य करनेवाले वेदाचार्य श्रीसान्दीपनि मुनि ने "दोनों भाइयों के द्वारा दी जानेवाली दक्षिणा के विषय में" निश्चय करके अपनी पत्नी के विचारानुसार यत्नवान् होकर, पहले समुद्र में डूबे हुए अपने श्रेष्ठपुत्र को ही केवल दक्षिणा के रूप में माँग लिया ॥३॥

हे व्रजराज! गुरुदेव के वचन को सुनकर, अच्छी प्रकार सुख पाकर, रमणीय स्वभाववाले, सकल कलानिधि, तुम्हारे कुल के चन्द्रस्वरूप इन श्रीकृष्णचन्द्र ने, श्रीगुरुदेव से निवेदन किया— ॥४॥

'महतः किल शीलमीदृशं, कृतपूर्त्यप्युपकृत्य लज्जते ।
अपि भृत्यजनादलंभृता,-न्निजसेवामयमीषदिच्छति ॥५॥
वात्सल्यतः परं देव कीर्तिं नौ दातुमिच्छसि ।
परन्तु भवता दत्ता विद्या सर्वं करिष्यति ॥'६॥

"ततश्च, गुरुयुगमभिवाद्य तन्महत्त्वं, जननिचयेऽधिगमय्य विद्यया तौ ।
दिविजमिव शताङ्गमङ्ग साङ्गं, विदधतुरादधतुः स्वमत्र चाशु ॥७॥

"अथ तथा गुरोरादेशतः प्रभासदेशसदेशसमुद्रं सरथमनुद्रवन्तौ रामकृष्णाख्यावन्तौ सारथिरथिनौ सन्तौ लवत एव गतवन्तौ । गत्वा च तस्य प्रथमप्रथमानदर्शनतः सकुतुकं परामर्शमीयतुस्तराम्,—'अहो ! घनरसानां विस्ताराकारः सोऽयमकूपारः पश्यतां चक्षूंषि विस्तारयति । अस्मदवलोकनतः शर्मवानिव च कर्मवानवलोक्यते; यतस्तरङ्गसङ्गरिङ्गणया समालिङ्गनायाभिगच्छन्निव, पिण्डीभूतडिण्डीरमण्डलीमण्डिततया स्मयमान इव, कृतमकराकारनासिकावारप्रसारणतया शश्वदाजिघ्रन्निव, समुच्छलत्कच्छपाक्षिलक्षलक्षितया लक्षयन्निव, पर्जन्यकोटिर्गाजितचर्यतासम्यग्गर्जितनादयता वादयन्निव, तत्तदुच्चावचभावप्रचयप्रचितावयवतया नृत्यन्निव, जितसर्वसपत्नप्रत्ननृपप्रयत्नदुर्लभरत्नव्यञ्जिनिजावर्ताञ्जलितया बलिमुपहरन्निव च निरूप्यते' इति ॥८॥

भगवन् ! गुरुदेव ! देखो, महान् पुरुष का इस प्रकार का स्वभाव होता है कि, सम्पूर्णरूप से उपकार करके भी महापुरुष लज्जित हो जाता है । एवं भली प्रकार स्वयं भरण पोषण किये हुए सेवकजन से भी महान् पुरुष अपनी सेवा को बहुत कम चाहता है ॥५॥

हे गुरुदेव ! आप तो वात्सल्यगुण के कारण केवल हम दोनों को कीर्ति देना चाहते हो । परन्तु आपके द्वारा दी हुई विद्या ही सब कार्यों को कर देगी । तात्पर्य—आपकी विद्या के प्रभाव से हम दोनों आपके पुत्र को ले आवेंगे ॥६॥

उसके बाद उन दोनों भाइयों ने गुरुदेव एवं गुरुपत्नी को नमस्कार करके, एवं विद्या के द्वारा श्रीगुरुदेव के महत्त्व को जनसमुदाय में जनाकर, स्वर्गीय विमान की तरह अपने रथ को साङ्गोपाङ्ग तैयार कर लिया, पुनः रथ में अपने आपको शीघ्र ही बैठा लिया ॥७॥

अनन्तर गुरुजी के उस प्रकार के आदेश से रथके सहित दौड़ते हुए, राम-कृष्ण नामवाले दोनों भाई स्वयं सारथि एवं रथी होकर, प्रभासक्षेत्र के निकटवर्ती समुद्र तटपर लवभर में पहुँच गये । और जाते ही उस समुद्र के पहले विशाल दर्शन से कौतुकपूर्वक अत्यन्त परामर्श करने लग गये । अहो ! जलसमुदाय के विस्तृत आकारवाला यह समुद्र देखनेवालों के नेत्रों को विस्तारित कर रहा है । और हम दोनों के दर्शन से तो सुखीजन की तरह आदररूप कर्मवाला दिखाई देता है । कारण अपनी तरङ्गसमुदाय की चाल के द्वारा भली प्रकार आलिङ्गन करने के लिए, सम्मुख आता हुआ सा दिखाई देता है, एवं गोलाकार हुई फेनमण्डली से विभूषित होने के कारण मन्द हास्य करता हुआ सा दिखाई देता है, एवं मकर के से आकार में बनाई हुई अपनी नासिकासमूह के फैलाने के कारण बारंबार सूँघता हुआ सा दिखाई देता है, एवं उछलते हुए कच्छपरूप लाखों नेत्रों से युक्त होने के कारण हमको देखता हुआ सा दिखाई देता है, एवं

"तदेवमुत्प्रेक्ष्य प्रेक्षमाणयोरनयोरमूदृशतया साक्षादेव देवशरीरः सन् नीरधिरसौ प्रेक्ष्यते स्म। प्रेक्ष्यमाणश्चायं प्रणमन् सञ्चिताञ्जलितया सगद्गदं जगाद,—'वरुणः खलु करुणतया मामिदमुपदिदेश ।।९।।

'भवति भवाँल्लवणाब्धि,-र्भवन्ति चेक्षुद्रवाब्धिमुख्यास्ते ।
पारावारविहीनः, कृष्णः पुनरेक एव करुणाब्धिः ।।'इति ।।१०।।

'तल्लक्षणस्तु भवानेव लक्ष्यते। यस्यायमग्रजश्च सावयवयशःप्रचय इव विराजते; तस्मादाज्ञां कुरुध्वम्,—किङ्करस्य किङ्करोऽयं किंकुरुतात् ?' इति ।।११।।

"श्रीकृष्ण उवाच,—'अस्माकं गुरुपुत्रस्य कुत्र गात्रलवमात्रं वर्तते, तदुद्दिश्यताम् ।।'१२।।

"समुद्र उवाच,—'भवच्चरणनखरशिखरावलेरञ्चलं शिरसा निर्मञ्छयामि। स तु दरकलेवरपञ्चजनोदरमञ्चन्नासीत्। यदि कदाचिदद्य च विद्यते ।।'१३।।

"श्रीकृष्ण उवाच,—'यद्यनुज्ञाप्यते भवता, तदा तं तस्मान्निर्यापयामः ।।'१४।।

"समुद्र उवाच,—'इतस्तनं मम कथनं सहमहासाहसं धृष्टतापरामृष्टं स्यात्; किन्तु यथेच्छा महेच्छानाम् ।।'१५।।

करोड़ों मेघों की गर्जना के आचरण से भली प्रकार उपार्जित शब्दों के कारण बाजे बजाता हुआ सा दिखाई देता है, एवं उन उन ऊँचे नीचे भावसमुदाय से युक्त तरङ्गरूप अवयवों के कारण नाचता हुआ सा दिखाई देता है। और सब शत्रुओं को जीतनेवाले प्राचीन राजाओं के प्रयत्नों से दुर्लभ रत्नों को प्रकाशित करनेवाले अपने आवर्त (भँवर)रूप अञ्जलि से युक्त होने के कारण हमको भेंट करता हुआ सा दिखाई देता है ।।८।।

इस प्रकार उत्प्रेक्षा करके कृष्ण बलदेव जब देख रहे थे, तब पूर्वोक्तरूप से साक्षात् ही देव शरीर-धारी होकर वह समुद्र प्रत्यक्ष हो गया। उन दोनों भाइयों के द्वारा देखा हुआ वह समुद्र हाथ जोड़कर गद्‌गद वाणी से बोला—भगवन् ! वरुण ने करुणापूर्वक मुझको यह उपदेश दिया था कि— ।।९।।

हे समुद्र ! तू तो केवल लवण समुद्र ही है, एवं इक्षुरस समुद्र आदि और भी बहुत से समुद्र हैं। किन्तु पारावार से हीन श्रीकृष्ण ही एक करुणासागर हैं ।।१०।।

इसलिए वरुण के कहे हुए लक्षणों से युक्त तो आप ही दिखाई दे रहे हैं। जिन आपके ये अग्रज बलदेवजी मूर्तिमान् यशसमूह जैसे ही विराजमान हैं। अतः आज्ञा कीजिये। आपका यह दासानुदास कौन सा कार्य करे ? ।।११।।

श्रीकृष्ण बोले—हमारे गुरुदेव के पुत्र के शरीर का लवमात्र अंश कहाँ है उसका पता बता दो ? १२

समुद्र बोला—भगवन् ! आपके चरणों के नखशिखरों की पक्ति के प्रान्तभाग को अपने मस्तक से नीराजित करता हूँ, किन्तु वह गुरुपुत्र तो शख के से शरीरवाले पंचजन नामक दैत्य के पेट में चला गया है। यदि कदाचित् अब भी विद्यमान हो ।।१३।।

श्रीकृष्ण बोले—यदि आप अनुमति दें तो हम गुरुपुत्र को पंचजन के पेट से निकाललें ।।१४।।

समुद्र बोला—भगवन् ! इसके आगे मेरा जो कहना है, वह महासाहस के सहित धृष्टता से संयुक्त हो जायगा। अर्थात् आपके लिए आज्ञा देना धृष्टता का ही प्रकाशक हो जायगा। किन्तु महान् अभिप्राय-वाले आप महानुभावों की जैसी इच्छा हो वैसे ही कीजिये ।।१५।।

"अथ श्रीकृष्णः स्वाग्रजं व्याजहार,—'आर्यचरणाः ! स्वयं रथमनु स्थितिं प्रथयन्तु' इति । "तदेवं प्रोच्य किञ्चिदप्यननुशोच्य वार्धिना सार्धं वार्धिमवगाह्य तस्य कम्बुभूपतेर्वसतेरबाह्यदेशं विवेश । स तु पञ्चजनः प्राचीनगीर्णपञ्चजनबालकमिव तमालोकत । कृष्णश्चान्वाचयतस्तस्याङ्गसञ्चयनाय सतृष्ण आसीत् । तदेवं सति बकासुरवृत्तमेव तत्र वृत्तमिति; किं बहुना ? किन्त्वयमेव विशेषः,—तस्योदरचरचरं तं कुमारवरमदरं विचिन्वन् दरं च न तदङ्गमवाप, तं तु निजदरं चकार' इति ॥१६॥

"अवन्तीखण्डे त्वेवमाह—

'ततः पञ्चजनं हत्वा ग्राहरूपं महासुरम् ।
तन्मध्यस्थं स जग्राह शङ्खं ग्रस्तं हि यत् पुरा ॥' इति ॥१७॥

"अथ निजाग्रजसदेशं प्रविशन्नुवाच,—'आर्य ! न तत्कलेवरकलापि कलिता; तस्माद् यत्र तज्जीवस्तत्र गन्तव्यम् ।' "राम उवाच,—'यथादिशन्ति भवन्तः' इति ॥१८॥

"ततश्च समुद्रदर्शितेन पथा रुद्रकोटिर्यथा तथा वीर्यं प्रकीर्य यममपि संयन्तुं संयमनीमगमताम्; किन्तु दूरतः क्रूरक्रेङ्कारपूरमाकर्णितवन्तौ; अदूरतस्तु तत्कारणमपि निर्वाणं निर्वर्णितवन्तौ । शङ्खप्रध्वानानन्तरं ह्यवन्तीखण्डे तदिदं वर्ण्यते,—॥१९॥

अनन्तर श्रीकृष्ण अपने अग्रज से बोले—पूज्यपाद ! बड़े भैयाजी ! आप तो स्वयं रथ में ही बैठे रहें । इस प्रकार कहकर कुछ भी न शोचकर, मूर्तिमान् समुद्र के साथ समुद्र में गोता लगाकर, पंचजन नामक उस शंखराज के घर के निकटवर्ती स्थान में प्रविष्ट हो गये । वह पंचजन तो पहले निगले हुए मनुष्य के बालक की तरह श्रीकृष्ण को देखने लग गया । श्रीकृष्ण भी पर पर भाव से उसके अङ्गों का सञ्चय करने के लिए तृष्णायुक्त थे । ऐसी स्थिति में वहाँपर बकासुर का सा वृत्तान्त ही संघटित हो गया । अर्थात् बकासुर ने पहले श्रीकृष्ण को निगल लिया था, पीछे उगल दिया था, उगलने के बाद जैसे वह मर ही गया था, वही घटना यहाँ हुई । अधिक क्या कहें ? किन्तु यही एक विशेष बात थी कि, उस शङ्खासुर के उदर में पहले विचरण करनेवाले उस श्रेष्ठ गुरुपुत्र को निर्भय ढूँढ़ते हुए श्रीकृष्ण ने उसके अङ्ग को तो किंचिद् भी नहीं प्राप्त किया, किन्तु उस शङ्खासुर को अपना पाञ्चजन्य शङ्ख बना लिया ॥१६॥

किन्तु स्कन्दपुराण के अवन्तीखण्ड में तो इस प्रकार कहा है कि—तदनन्तर श्रीकृष्ण ने ग्राहरूपधारी पञ्चजन नामक महा असुर को मारकर, उसके मध्य में स्थित उस शंख को ग्रहण कर लिया कि, जिस शंख को उसने पहले निगल लिया था (यह कल्पभेद की कथा है, ऐसा जानना चाहिये) ॥१७॥

उसके बाद श्रीकृष्ण ने अपने अग्रज के निकट जाते ही कहा—हे आर्य ! मैंने तो उस असुर के भीतर गुरुपुत्र के देह का अंश भी नहीं देखा; इसलिए जहाँपर उसका जीव हो वहीं चलना चाहिये । श्रीबलराम बोले—आप जैसा आदेश दे रहे हैं, ठीक है, चलिये ॥१८॥

उसके बाद दोनों भाई समुद्र के द्वारा दिखाये गये मार्ग से करोड़ों रुद्रों की तरह अपना तेज फैलाकर, यमराज को भी वशीभूत करने के लिए, संयमनी नामक यमपुरी को चले गये । किन्तु दूर से तो दोनों ने भयंकर 'क्रेङ्कार' शब्द के प्रवाह को सुना, पास में जाकर तो उस क्रेङ्कार के कारण को भी शान्त देखा । पाञ्चजन्य शंख बजाने के बाद अवन्तीखण्ड में वह इस प्रकार वर्णित किया जाता है ॥१९॥

'तेन शब्देन वित्रस्ताः कृतान्तालयवासिनः। नरकान्तर्गता मर्त्याः पापाचारपरायणाः॥
सुखमापुः प्रशान्ताश्च वह्नयः कृष्णदर्शनात्। शस्त्राणि कुण्ठतां प्रापुर्यन्त्राणि विविधानि च॥
विदीर्णानि तदा व्यास ! वासुदेवस्य दर्शनात्। असिपत्रवनं नाम शान्तपत्रमजायत॥
रौरवं नाम नरकमरौरवमभूत्तदा। अभैरवं भैरवाख्यं कुम्भीपाकमपाचकम्॥
शृङ्गाटकमशृङ्गाटं लोहसूच्यप्यसूचिताम्। जगाम जगतामीशे प्राप्ते तत्र जनार्दने॥
दुस्तरा सुतरा जाता तदा वैतरणी नृणाम्। नरकान्ते तदा याते तत्र विश्वेश्वरे विभौ॥
पापक्षयात्ततः सर्वे विमुक्ता नारका नराः। पदमव्ययमासाद्य दृष्ट्वा विष्णुं तमोपहम्॥
विमानायुतसाहस्रैरारूढास्ते समन्ततः। समीक्ष्य पुण्डरीकाक्षं मुक्तास्ते सर्वपातकात्॥
ततः शून्यं मुने ! जातं सर्वं निरयमण्डलम्। दर्शनात्तस्य देवस्य विष्णोर्विश्वस्वरूपिणः॥
इति॥"२०॥

तदेवं कथयंस्तस्य स्वयंभगवत्त्वं शुद्धपितृत्वादिभावेषु श्रीव्रजेश्वरादिमहानुभावेषु 'वासुदेवस्य दर्शनात्' इत्यादिवचनेषु नामान्तराणि विन्यस्य गोपयन् कथकः प्रथयामास,—तदेवमेव श्रीगर्गेण दर्शितम्,—(भा० १०।८।१९) 'तस्मान्नन्दात्मजोऽयं ते नारायणसम गुणैः' इति॥२१॥

"प्रस्तुतमनुसरामः। अथ यदेतज्जातम्, धर्मराजस्तु तच्छर्मतया मतवान्, परमकरुणा-मयस्य व्रजधरणीश-तनयस्य पुरतः स्वदारुणतावारणतः॥२२॥

यथा—हे व्यास ! श्रीकृष्ण के शंख के उस मधुर शब्द के द्वारा, यमपुरी में रहनेवाले नरकों में पड़े हुए पापाचार-परायण मानव, जो कि यमदूतों से विशेष उद्विग्न थे, सुख को प्राप्त हो गये। नारकीय जीवों को जलानेवाली अग्नियाँ श्रीकृष्ण के दर्शन से शान्त हो गईं, शस्त्र कुण्ठित हो गये, और अनेक प्रकार के कुम्भीपाक आदि यन्त्र स्वयं छिन्न भिन्न हो गये। तथा उस समय श्रीकृष्ण के देखते ही असिपत्र नामक वन शान्त पत्रोंवाला हो गया, रौरव नामक नरक अरौरव हो गया, भैरव नामक अभैरव हो गया, एवं कुम्भीपाक भी किसी को पकानेवाला न रहा। एवं त्रिभुवनेश्वर जनार्दन के वहाँ जाते ही शृङ्गाटक नामक नरक भी अशृङ्गाटक हो गया, अर्थात् जिस नरक में पापियों को पर्वत के शृङ्ग से नीचे गिराया जाता है, वह नरक भी अपने भाव को त्याग गया। एवं लोहे की सूई भी सूई न रही, अर्थात् सूचीमुख नरक भी शान्त हो गया, एवं उस नरक में सर्वेश्वर प्रभु के पधारते ही मनुष्यों के लिए दुस्तर वैतरणी नदी भी सुख से उतरने योग्य हो गई, एवं अज्ञाननाशक श्रीकृष्ण को देखकर पापक्षय के कारण सभी नारकी जीव अव्ययपद को पाकर विमुक्त हो गये। तथा कमलनयन प्रभु को देखकर, सब पातकों से मुक्त होकर वे नारकी जीव चारों ओर से करोड़ों विमानों में चढ़कर वैकुण्ठ को चले गये। हे मुने ! विश्वरूपधारी उन श्रीकृष्णदेव के देव-दुर्लभ दर्शन से सारा नरकमण्डल खाली हो गया॥२०॥

इस प्रकार कहता हुआ कथावाचक विशुद्ध वात्सल्य आदि भाववाले श्रीव्रजेश्वर आदि महानुभावों के निकट "वासुदेव के दर्शन से" इत्यादि वचनों में दूसरे नामों को रखकर, श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता को गुप्त करता हुआ व्याख्या करने लगा—श्रीगर्गाचार्य ने भी इसी प्रकार के भाव को दिखाया है कि—हे नन्द ! अतएव तुम्हारा यह पुत्र सर्व प्रकार के गुणों से नारायण के समान है॥२१॥

अब प्रस्तुत विषय का अनुसरण करते हैं। श्रीकृष्ण के दर्शन से यमालय में जो घटना हुई, धर्मराज

"अथाजस्रस्रवदस्रकुलं विपुलपुलकसंकुलं कम्पस्तम्भगद्गद-वशंवदगदनं स्वेदसम्भेदसदनं कृतागमनं मुहुर्विहितनमनं शमनं विलोक्य श्लोक्यचरितः सोऽयमन्तश्चिन्तयामास,—॥२३॥

'अहो महाभागवतोऽयमीक्ष्यते, दुरात्मतामुष्य कथं निशम्यते ? ।
युक्ताऽथवा रीतिरियं मदग्रतः, पापाग्रतः सा च गुणा हि सङ्गजाः ॥२४॥

'अथवा— शरणान्मदमून् बहिर्मुखान्, विषयार्थं दुरितान्यपीप्सतः ।
मम सम्मुखितान् विभावयन्, कृपया भीषयते मुहुर्यमः ॥'२५॥

"तदेवं विचार्य कृतावलोचने कमललोचने यमः समभाषत,—
'कारुण्यं त्वयि किल पारशून्यमास्ते, क्रूरात्मन्यपि मयि ते कथं नु दृष्टिः ? ।
किंवाऽसावपि करुणाविलास एव, भ्रष्टानां यदसकृदुद्धृतिं स वष्टि ॥२६॥

भवति नरकशान्तिर्यस्य नाम्नापि तस्या,-गमनमिह न तु स्यान्नारकोत्तारणाय ।
किमपि किल निदेश्यं तत्तव स्यादितीत्थं; विमृशदतिसुखान्तर्मज्जति स्वं मदीयम् ॥'२७॥

ने तो उस घटना को परमकरुणामय श्रीव्रजराजकुमार के सामने अपनी दारुणता के निवारण हो जाने से सुखरूप ही मान लिया ॥२२॥

अनन्तर प्रशंसनीय चरितवाले श्रीकृष्ण ने यमराज को देखा कि, उसके नेत्रों से निरन्तर अश्रुधारा बह रही है, विशेष पुलकावली से व्याप्त है; कम्प, स्तम्भ, एवं गद्गद भाव से वशीभूत होकर बोल रहा है, पसीना के कारण तो वह सिन्धुसंगम का स्थान हो रहा है, अपने सामने आगमन कर रहा है, एवं बारंबार नमस्कार कर रहा है । उसको देखकर श्रीकृष्ण मन मन में विचारने लगे— ॥२३॥

अहो ! यह यमराज तो महाभागवत (परमवैष्णव) दिखाई दे रहा है । फिर इसका दुष्ट स्वभाव कैसे सुना जाता है ? अथवा मेरे आगे तो यह परमवैष्णव की सी रीति उचित है, एवं पापियों के आगे वह दुष्ट स्वभाववाली रीति ही उचित है । कारण—सब गुण तो सङ्ग से ही उत्पन्न होते हैं । तात्पर्य—सज्जनों के सङ्ग से सद्गुण उत्पन्न होते हैं, एवं दुर्जनों के सङ्ग से दुर्गुण उत्पन्न होते हैं ॥२४॥

अथवा सर्वरक्षक मुझ से बहिर्मुख एवं विषयों के लिए अनेक प्रकार के पापों की भी प्राप्ति की इच्छावाले इन जीवों को मेरे सम्मुख करता हुआ, यमराज तो कृपापूर्वक बारंबार भयभीत करता रहता है ॥२५॥

इस प्रकार विचार कर कमलनयन श्रीकृष्ण जब यमराज को प्रेम से निहार रहे थे, तब यमराज बोला—हे करुणानिधे ! आप में करुणा का भाव अपार है, यह बात प्रसिद्ध है । तो भी क्रूर स्वभाववाले मुझपर आपकी कृपादृष्टि कैसे हो गई ? अथवा यह कृपादृष्टि भी करुणा का विलास ही है । कारण—वह करुणाविलास पथभ्रष्ट जीवों के उद्धार को बारम्बार चाहता रहता है ॥२६॥

और जिनके नाम लेनेमात्र से नरक से शान्ति हो जाती है, उन अचिन्त्यशक्ति प्रभु का यहाँपर आना, नारकी जीवों के उद्धार के लिए नहीं है । इसलिए आपका मेरे लिए आज्ञा देने योग्य कोई कार्य अवश्य ही सकता है, इस प्रकार विचार करता हुआ मेरा आत्मा महान् सुख में निमग्न हो रहा है । भावार्थ—मेरे योग्य सेवा की आज्ञा दीजिये प्रभो ! ॥२७॥

"अथ श्रीकृष्णः प्राह,—

'मोचनं न खलु भोगमन्तरा,-रब्धकर्म-निचयादिति स्थितिः ।
कामये तदपि शासनाद् गुरो,-स्तत्तनूजतनुमोचनं ततः ॥२८॥
आचार्याणां पुत्रः, स तु मम भवता पुरानीतः ।
आनीयतां मदाज्ञा,-दरतस्तव नात्र कर्मलङ्घः स्यात् ॥'२९॥

"यम उवाच,—'प्रभुवर ! यत्र तस्य तत्पुत्रता तद्गात्रं नष्टमेव । गात्रान्तरेणैवास्माभिर्जीवानां यात्रा क्रियते । सम्प्रति च स्वर्गं गच्छतां नारकवर्गाणां मध्यादवशिष्टस्य क्लिष्टस्य तस्य भृशमनच्छं दिष्टं वितर्क्य रक्षितस्य यदाज्ञापयन्ति प्राज्ञानां शिरोमणयस्तदेव कर्तव्यम् ॥'३०॥

"श्रीकृष्ण उवाच,—'अव्याजमेव व्याजहार धर्मराजः । मयाप्येतद्विचार्य पञ्चजनदेहं विदार्य तत्कलेवरलेश-लब्धयेऽभिनिवेशः कृतः । तमेव लेशं पेशलशरीरं विधाय जीवयिष्यामीति । अथ तदलाभादेव परेत-नरदेवस्य तव भवनमागमम् । भवतु, भवता तावद् यथावदेव स समानीयताम् ॥'३१॥

"यम उवाच,—'साम्प्रतिकेन प्रतीकेन तस्य पित्रोः प्रतीतिः प्रीतिश्च न स्यादिति । यदि भवदादेशः सम्पद्यते, तर्हि प्राचीनवर्दाहितवपुषा तमानयानि । प्राग्वपुर्न पुनरस्माकं विषयतामाप्नोति' इति ॥३२॥

अनन्तर श्रीकृष्ण बोले—"भोग के बिना प्रारब्ध कर्मसमूह से मुक्ति नहीं हो सकती" यह शास्त्र की मर्यादा है । तो भी मैं तो श्रीगुरुदेव की आज्ञा से प्रारब्ध कर्म से गुरुपुत्र के शरीर की मुक्ति चाहता हूँ ॥२८
अतः मेरे श्रीगुरुदेव का जो पुत्र है, जिसको आप यहाँपर ले आये हो, उसको मेरी आज्ञा के आदर से मेरे पास ले आओ । क्योंकि मेरी आज्ञा ही तो वेदशास्त्र है । अतः ऐसा करने से तुमको यहाँपर पापियों को दण्ड देनारूप कर्म का लंघन नहीं होगा ॥२९॥

यमराज बोला—प्रभुवर ! तुम्हारे गुरुपुत्र का जिस शरीर में गुरुपुत्रभाव था, वह शरीर तो नष्ट ही हो गया है, हम तो दूसरे अर्थात् यातनाशरीर के द्वारा ही जीवों को यहाँपर लाते हैं । अब तो आपके श्रीदर्शन से स्वर्ग में जाते हुए नारकीय जीवों के समूह में से एक जो अवशिष्ट रह गया है, वही आपका गुरुपुत्र है, वह महान् क्लेश पारहा है, उसके मलिन भाग्य को विचार कर वह रख छोड़ा है । आप प्राज्ञजनों के शिरोमणि हो, अतः जो आज्ञा दें वही पालन करने योग्य है ॥३०॥

श्रीकृष्ण बोले—धर्मराज ने निष्कपट ही तो कहा है । मैंने भी यही विचार कर पञ्चजन दैत्य के देह को फाड़कर, गुरुपुत्र के देह के लेशमात्र की प्राप्ति के लिए अभिनिवेश किया था कि, उसी लेशमात्र अंश को सुन्दर शरीर बनाकर जीवित कर दूँगा । पश्चात् उसके लेशमात्र न मिलने से ही, मृतक जीवों के राजा जो तुम हो, तुम्हारे भवन में चला आया । अच्छा, आप तो वह जिस अवस्था में हो उसी प्रकार ले आओ ॥३१॥

यमराज बोले—भगवन् ! इस समय के गुरुपुत्र के एक अवयवमात्र शरीर से, उस मातापिता को विश्वास एवं प्रीति न हो सकेगी । अतः यदि आपकी आज्ञा हो जाय तब तो पहले की तरह पूजित, अर्थात्

"श्रीकृष्ण उवाच,—भद्रं भद्रम्, पञ्चतां गतानि तद्वपुरश्चितानि पञ्चभूतानि तत्रैव सञ्चितानि भविष्यन्ति ॥'३३॥

"यम उवाच,—यथादिशन्ति श्रीमदीशचरणाः' इति। "अथ तदेतन्निवेद्य सुखं संवेद्य च निजान्तर्वेद्यामनुगम्य पुनरागम्य च प्राचीनरम्यतनुमनुगतं तं दर्शयामास। दृष्टमात्रं तमानन्देन निजतनावमातृभ्यां मातृभ्यां भ्रातृभ्यामालिङ्ग्य पुनः पुनरभीक्ष्यमाणमुखं वीक्ष्य न तृप्तम्। स खलु धर्मराजः सभयमर्मतया स्तब्ध इवासीत्। क्षणतश्चानुज्ञामनुयाचमानं नरकशमननामानं प्रत्याह स्म,—॥३४॥

'न त्वं गुरोः सुतकृते भगवन्निहागाः, स्वेच्छैव ते रचयितुं निखिलानपोष्टे।
तस्मात् परं मयि दया रचितेति मन्ये, तच्चेन्ममापि नुद नारकसङ्गमीश ! ॥'३५॥

"इति काकुभिराहृत्य त्रयमप्यलंकृत्य बलिमुपहृत्य दूरमनुसृत्य तदनुज्ञामधिकृत्य प्रणामानुररीकृत्य कृतकृत्यम्मन्यः स्वभृत्यजनैः सह नृत्यन्निव परेतनृपतिर्गृहं गतवान् ॥३६॥

"स तु गुरुकुमारस्तमिममनयो रूपसारं स्नेहवारं मधुरवचःप्रचारं तत्कृपाधीननिज-प्राचीनतत्तदवस्थासंस्कारसञ्चारं चावकलय्य प्रमदमहसि पर्यवस्यन्नमू एव तथा शश्वत् पश्यति स्म, यथा गृहपथान्तःप्रथमानं रथद्रवमपि नावगच्छति स्म ॥३७॥

सुन्दर शरीर से उसको ले आऊँ। क्योंकि उसका पहला शरीर हमारे ज्ञान की गोचरता को नहीं प्राप्तकर रहा है ॥३२॥

श्रीकृष्ण बोले—बहुत अच्छा, बहुत अच्छा। पञ्चता को प्राप्त हुए उसके शरीर में स्थित, जो पञ्चभूत अपने अपने अंश में मिल गये हैं, वे सब पञ्चभूत उसी सूक्ष्मशरीर में सञ्चित होंगे ॥३३॥

यमराज बोले—श्रीमान् प्रभुचरण जैसा आदेश दे रहे हैं उसी प्रकार होगा। अनन्तर इतना निवेदन करके सुख जनाकर, अपनी भीतर की वेदी में जाकर, पुनः वहाँ से आकर, पहले जैसे रमणीय शरीर को धारण किये हुए गुरुपुत्र को दिखा दिया। उसके देखने मात्र से उत्पन्न हुए आनन्द से अपने शरीर में न समानेवाले, माता के समान प्यार करनेवाले, दोनों भाई उसका आलिङ्गन कर एवं पुनः पुनः सर्वतो-भाव से दर्शनीय मुखवाले उसको देखकर तृप्त न हुए। उस समय वह धर्मराज तो भययुक्त मर्मवाले के भाव से मानो स्तब्ध (निश्चल) सा खड़ा रह गया। और क्षणभर बाद जाने की अनुमति माँगनेवाले नरकशमन नामक श्रीकृष्ण के प्रति बोला— ॥३४॥

हे भगवन् ! आप यहाँपर गुरुपुत्र के निमित्त नहीं आये हो। क्योंकि आपकी स्वेच्छा ही स्वतन्त्र रूप से सब पदार्थों को बनाने के लिए समर्थ है। इस कारण मैं तो यही मानता हूँ कि, आपने केवल मेरे ऊपर दया की है। यदि मेरे द्वारा अनुमित यही कारण है, तब तो हे जगदीश ! मेरे भी नरकवासी जीवों के सङ्ग को दूर कर दो ॥३५॥

इस प्रकार कातर वाणियों के द्वारा आदर कर कृष्ण, बलराम, एवं गुरुपुत्र इन तीनों को अलंकृत कर, उपहार समर्पण कर, कुछ दूरतक उनका अनुसरण कर, उनकी अनुमति लेकर, नमस्कारों का विस्तार करके अपने को कृतकृत्य मानकर, अपने सेवकजनों के साथ नृत्य सा करता हुआ, प्रेतराज यम अपने घर को चला गया ॥३६॥

वह गुरुपुत्र तो इन दोनों भाइयों के इस अनिर्वचनीय रूपसार को, स्नेहसमूह को, मधुर वचनों के

"तदेवं यदा सोऽयं व्रजेन्द्रकुलचन्द्रमा भ्रातृभ्यां सह गुरुगृहमभ्यागतवान्, तदा गुरु-दम्पती इति मात्रं किं वचनस्य पात्रयितव्यम् ? सर्व एव तत्पुरवासिनः सवैयग्रच तद्वर्त्माग्र-मात्रासिनस्तच्छङ्खध्वनिना वितर्कप्रकाशिनः स्वमध्यवलिततद्बालकपालकबलगोपालावलोक-नेन परमानन्दभासिनः कोलाहलं कलयामासुः। बलगोपालौ तु रथादवप्लुत्य गुरुबालकं पुरस्कृत्य परमाहृत्य तेन समं लब्धसुखसम्पत्योराचार्यदम्पत्योः पदाग्रे निपत्य क्षणं विलम्बाते। गुरू तु पुरु रुदन्तौ त्रयमपि निजनिजभुजाभ्यां रुन्धन्तौ न हीदं विविदतुः,— 'तदन्यदपि धन्यमधन्यं वा किञ्चिदस्ति' इति ॥३८॥

"तदेवं परमावेशमये क्षणकतिपये गते सर्वेषां मतेन परममङ्गलशतेन तान् गृहमेव ग्राहयामासतुः; ग्राहयित्वा च भोजनादिना सुखं योजयामासतुः ॥३९॥

"श्रीकृष्णरामौ च तत्र तत्र लाभाद्वलितयत्नानि रत्नानि रथादानीय चानुनीय च तयोरङ्गीकारायोपयोजयामासतुः ॥४०॥

"तदेवं सति लब्धताहृगादराऽभ्रेषयोः सहागतचरा ये माथुरविप्रवरास्तद्द्वारा च कलितविशेषयोश्चरितकंसद्वेषयोरनयोर्दर्शनाय दिवसत्रयं तत्रकीयलोकाः सङ्घट्टं घटया-मासुः ॥४१॥ यथा—

प्रचार को, एवं उनकी कृपा के अधीन अपने प्राचीन तत् तत् अवस्थाओं के संस्कार सञ्चार को देखकर, एवं समझ कर, आनन्द महोत्सव में निमग्न होकर, इन दोनों को ही निरन्तर उस प्रकार देख रहा था कि, जिस प्रकार अपने घर के मार्ग में विस्तारित रथ के वेग को भी नहीं जान पाता था ॥३७॥

अतएव इस प्रकार व्रजराजकुलचन्द्र कृष्णचन्द्र "बलराम एवं गुरुपुत्ररूप" दोनों भाइयों के साथ जब गुरुदेव के घर की ओर आगये, तब "गुरु एवं गुरुपत्नी" क्या ये दोनों ही वचन के पात्र करने योग्य हैं ? नहीं, वस्तुतः उस अवन्तिकापुरी में रहनेवाले सभीजन व्यग्रतापूर्वक श्रीकृष्ण बलदेव के मार्ग के आगे ही बैठकर, श्रीकृष्ण के शंख की ध्वनि के द्वारा "अवश्य ही गुरुपुत्र मिल गये हैं" इस प्रकार के तर्क का प्रकाश करते हुए, एवं अपने बीच में मिलकर बैठे हुए गुरुपुत्र के रक्षक श्रीराम-कृष्ण के दर्शन से परमानन्द में प्रदीप्त होकर, आनन्दमय कोलाहल करने लग गये। उस समय श्रीकृष्ण बलदेव तो रथ से उतर कर गुरुपुत्र को आगे करके परम आदर प्रदर्शित कर, उस गुरुपुत्र के साथ ही सुखरूप सम्पत्ति को पानेवाले गुरुदेव एवं गुरुपत्नी के चरणों में गिरकर क्षणभर विलम्ब करते रहे। गुरु एवं गुरुपत्नी ये दोनों तो अधिक रोते हुए अपनी अपनी भुजाओं के द्वारा तीनों जनों को लपेटते हुए, यह भी न जान पाये कि, श्रीकृष्ण बलदेव से भिन्न दूसरी भी कोई वस्तु धन्य अथवा अधन्य है ॥३८॥

इस प्रकार परम आवेशपूर्ण कुछ क्षणों के बीत जानेपर, सभीजनों के मत से सैंकड़ों परम मङ्गलमय आचारों के द्वारा, उन तीनों को घर को ही लिवा लाये। और घर में लाकर भोजनादि के द्वारा उनको सुख से संयुक्त कर दिया ॥३९॥

श्रीकृष्ण बलदेव ने भी समुद्र में एवं यमपुर में मिलने से यत्न भरे अनेक रत्न रथ से लाकर, गुरु-दम्पती से ग्रहण करने के लिए अनुनय विनय करके, उन दोनों के अङ्गीकार के लिए उपयुक्त कर दिये ॥४०

इस प्रकार की घटना के बाद उस प्रकार के आदर से अभ्रेष (न्याय) को प्राप्त करनेवाले कृष्ण बलदेव के साथ पहले जो ब्राह्मण आये थे, उन्ही मथुरावासी श्रेष्ठ ब्राह्मणों के द्वारा जिनकी "गोवर्धनधारण

"नराणां तत्रौघे जलधितुलया संप्लवमिते
न पूर्वं नापूर्वं कलयितुमभूद् गुर्वनुजनः ।
परं तूल्लोलाभं भुजवलयमेषां झषनिभं
तथा नेत्रस्तोमं प्रतिविधु लसन्तं समसजत् ॥४२॥

"यत्रावन्त्यश्च नृपतिः सन्देहं संत्यज्य व्यज्यमानपितृष्वसृपतितास्नेहं द्वावपि स्वगेहं नीत्वाऽऽर्यचरितः सभार्यः सबहुमानं मानयामास ॥४३॥

"अथ माथुरपुरमनु गमनमनुज्ञापयितुं याचमानयोरनयोराचार्यः सगद्गदं जगाद,—
'आत्मा स्निह्यति मे स्वतो युवकयोर्बुद्धिः सुतप्रापणं
तत्रोपाधिविधिं विधाय तमपत्रप्रं करोत्युच्चकैः ।
तस्माद् यादवकौ युवामनुजनुः शिष्यौ च पुत्रौ च तौ
भूयास्तं किमु वा गुरू च पितरौ चैवं समभ्यर्थये ॥'४४॥

"तावूचतुः,—'भवता विद्यया बद्धौ कृतावावां यदि प्रभो ! ।
तदा भवत एवेच्छा कारणं दुर्निवारणम् ॥'४५॥

"तदेवं वाष्पार्द्रवदनतया स्वकृताभिवादनतत्कृताभिवदनाभ्यां लब्धचिरताविलविलम्बौ यदा कथञ्चिन्निजप्रस्थानपथावलम्बौ, तदापि ताभ्यां सहितनृपतिसर्वलोकसहिताभ्यामनुव्रजन-

---

एवं कंसमारण" आदि विशेष घटनाएँ जानली हैं, उन कंसद्वेषी कृष्ण बलदेव के दर्शनार्थ वहाँ के लोगों ने तीन दिनतक भीड़भाड़ संघटित कर दी ॥४१॥

यथा—वहाँपर मनुष्यों का समूह जब समुद्र की तरह सम्मेलन को प्राप्त हो गया, तब गुरुजनों से हीनजन पूर्वापर जानने को समर्थ न हुए। किन्तु इन मनुष्यों का उत्तालतरङ्ग के समान जो भुजमण्डल था, एवं मछलियों के समान निर्निमेष जो नेत्रसमूह था; बस, केवल वही चन्द्रमा के समान शोभायमान श्रीकृष्ण के प्रति सम्मिलित हो रहा था ॥४२॥

और जहाँपर अवन्तीपुरी के राजा ने "ये हमारे साले वसुदेव के पुत्र हैं अथवा नहीं" इस प्रकार के सन्देह को त्यागकर, इन दोनों की बूआ के पति के भाव से स्नेह को प्रकाशित करके, दोनों भ्राताओं को अपने घर ले जाकर, उदारचरित होकर अपनी भार्या के सहित बहुत से मानपूर्वक सम्मानित किया ॥४३॥

उसके बाद मथुरापुरी में जाने को आज्ञा माँगते हुए श्रीकृष्ण बलदेव के गुरुदेव ने गद्गद होकर कहा—हे पुत्रो ! तुम दोनों के ऊपर मेरा आत्मा स्वतः स्नेह कर रहा है, और मेरी बुद्धि तो उस स्नेह में तुम्हारे द्वारा मेरे पुत्र की प्राप्ति को विशेषणरूप बनाकर मेरी आत्मा को विशेष लज्जित कर रही है। इसलिए मैं तो इस प्रकार प्रार्थना करता हूँ कि—तुम दोनों यादवकुमार प्रत्येक जन्म में मेरे शिष्य या पुत्र होते रहो, और हम दोनों गुरु गुरुआनी तुम्हारे मातापिता होते रहें ॥४४॥

वे दोनों भाई बोले—हे प्रभो ! गुरुदेव ! आपने हम दोनों को विद्या के द्वारा जब बाँध ही लिया, तब आपकी इच्छा ही अनिवार्य कारण होगी, अर्थात् आपकी इच्छानुसार ही कार्य होता रहेगा ॥४५॥

इस प्रकार कहते कहते गुरुदेव के वियोग से जनित आँसुओं से गीले मुखपूर्वक अपने द्वारा किये गये प्रणाम एवं गुरुदेव के द्वारा किये गये आशीर्वाद वचन, इन दोनों कार्यों से दोनों भाइयों को बहुत देर प्राप्त

चर्यया मध्ये मध्ये कृतस्तम्भौ कथञ्चन कृतराजानुव्रजनविष्कम्भौ दूरानुव्राजिपुरुजनराजि-राजिगुरुगुरुपत्नीगुरुपुत्रछात्रादिभिः सह सहसा वियोक्तुमप्राप्तारम्भौ कृच्छ्रादेव तावन्तर्ग्रामा-दनन्तर्भागमागतौ ।।४६।।

"अथ जनराजिं निवर्तयन्तौ मधुरमेवं व्याहरताम्,—

'देहस्य नौ माथुरधाम जन्मभू,-र्गुणावलेः सेयमवन्तिकापुरी ।

तन्माथुरस्थानिव वः समन्ततः, संद्रष्टुमावन्त्यजनान्मनः स्थितम् ।।'इति।।४७।।

"तत्र च सर्व एवेदं सगद्गदं जगदुः,—

'भिक्षूणां मनसि यदस्ति लोभ्यवस्तु, स्वेनादस्तदनुमतं यदीश्वरेण ।

वैदुष्यं कियदनुवर्ण्यमीशितुस्त,-द्भिक्षाकेष्वपि सुकृतं कति प्रगेयम् ?' ।।४८।।

"तदेवं तेषां प्रतिपाद्यं सार्द्रमास्वाद्य गुरुदम्पती पुनः स्नेहात् कृतानुगती चरण-परामर्शादिभिः सद्मवर्त्मने निष्पाद्य दूरमनुगच्छतः । "स्वगुरुपुत्रछात्रादीनपि प्रेममात्रगम्यरम्य-संवादसङ्गिमुहुःपरिष्वङ्गितया निवर्तनाय सम्पाद्य राजप्रस्थापितानुव्राजिसेनाराजिमपसाद्य

होने से निरन्तर विलम्ब हो गया था । जब दोनों किसी प्रकार अपने प्रस्थान के मार्ग का अवलम्बन करते थे, तब भी हितैषी राजा एवं सब लोगों के सहित गुरु एवं गुरुपत्नी इन दोनों की अपनी अनुगमनचर्या से, अर्थात् उन दोनों के अपने पीछे चलने के कारण दोनों भाई बीच बीच में खड़े हो जाते थे । दोनों भाइयों ने राजा के अनुगमन को तो किसी प्रकार रोक दिया, तो भी बहुत दूरतक अनुगमन करनेवाली बहुत से जनों की श्रेणी से विराजमान गुरु, गुरुपत्नी, गुरुपुत्र, एवं बहुत से छात्र आदिकों के साथ सहसा (एकदम) अलग होने का उपक्रम न कर पाये । पश्चात् दोनों भाई बड़े कष्ट से ही गाँव के भीतर से गाँव के बाहरी भाग में आगये ।।४६।।

उसके बाद जनश्रेणी को लौटाते हुए मधुरतापूर्वक इस प्रकार बोले—हम दोनों के देह की जन्म-भूमि तो मथुरासम्बन्धी देश है, एवं यह अवन्तिकापुरी हम दोनों की गुणश्रेणी की उत्पत्ति स्थान है । इसलिए हम दोनों का मन मथुरा देशवासियों की तरह, तुम सब अवन्ती देशवासियों को सर्वतोभाव से देखने के लिए प्रतिज्ञा कर चुका है ।।४७।।

श्रीकृष्ण बलदेव के ऐसे मधुर वचन सुनकर, वहाँपर सभीजन गद्गद होकर यह बोले—भिक्षुकों के मन में जो लुभानेवाली वस्तु है, वह यदि अपने स्वामी ने स्वयं देने की अनुमति से युक्त कर दी, तब स्वामी की विद्वत्ता कितनी वर्णन करने योग्य है ? यह नहीं कहा जा सकता । एवं लुभानेवाली वस्तु के भिक्षुकों में जो पुण्य है, वह कितना गायन करने योग्य है ? यह भी कहना कठिन है । अर्थात् आप दोनों ने अपने देवदुर्लभ दर्शनों की अनुमति हम दोनों को देकर दयनीय बना दिया । अतः हमारे सुकृत का कितना गान किया जा सकता है ? यह नहीं कहा जा सकता ।।४८।।

इस प्रकार उन अवन्तीवासी जनों के निज दर्शनरूप प्रतिपाद्य विषय का स्नेहपूर्वक आस्वादन कर, एवं स्नेह के कारण पुनः पुनः अपना अनुगमन करनेवाले गुरु एवं गुरुपत्नीरूप दोनों व्यक्तियों को चरण-स्पर्श आदि के द्वारा घर के मार्ग के लिए भेजकर, तथा अपने पीछे पीछे बहुत दूरतक आते हुए, निज गुरुपुत्र एवं छात्र आदिकों को भी, केवल प्रेम के द्वारा जानने योग्य, रमणीय संवाद के सहित बारंबार आलिङ्गनपूर्वक लौटने के लिए योग्य बनाकर, और राजा के द्वारा भेजी हुई अपने पीछे पीछे आनेवाली

रथं पन्थानमुपसाद्य तमेव सहागतवरपुरोहितैः सहासाद्य तद्‌द्रवेण वायुमनुहरन्तौ दिव्यादिव्य-जनानां मनो हरन्तौ मधुपुरीमभि नातिदूरीबभूवतुः; ॥४९॥

तथा भूत्वा च रथमास्थाप्य तान् पुरोहितान् प्रस्थाप्य पित्रादीनामाज्ञामाज्ञातुं मुहूर्त्तं विशश्रमतुः ॥५०॥

"ततश्च यादवास्तेभ्यो विशेषं साश्चर्यतया विज्ञाय श्रीमदानकदुन्दुभिं मध्ये विधाय वैदिकलौकिक-मङ्गलकोलाहलैरिमौ पुरमापयामासुः ॥५१॥

लोकाश्च विविधास्तदालोकाय तत्र चेयुस्तत्र तत्र विद्यायां विदुरास्तयोस्तत्तद्विद्याचतुरता-चातुरक्ष्याय समागम्य रम्यं सुखमन्वहमवापुः" इति ॥५२॥

"तदेवं स्निग्धकण्ठः कथयित्वा समापनमाह स्म,—

"यत्र यत्र तव वंशचन्द्रमाः, सोऽयमेति बत गोपनायक ! ।
तत्र तत्र कुमुदं विकासयन्, द्यां निजद्युतिभिरश्नुते मुहुः ॥५३॥

"अथ श्रीगोपनायकः सगद्गदं जगाद,—

'क्क च यदि पुरु युध्वा राज्यमाप्नोति पुत्र,-स्तदपि यदि च मत्वा तुच्छमायाति गेहम् ।
सुखमुदयति पित्रोस्तत्र सत्यं तथापि, श्रवणमिह यदा यर्त्तहि तादृग्मनः स्यात् ॥'५४॥

सेनाश्रेणी को लौटाकर, रथ को मार्ग में उपस्थित कराकर, एवं उसी रथ को अपने साथ आये हुए श्रेष्ठ पुरोहितों के साथ प्राप्तकर, उस रथ के वेग से वायु को पराजित करते हुए, देवता एवं मानवजनों के मन को हरते हुए, दोनों भ्राता प्रायः मधुपुरी के निकट आकर उपस्थित हो गये ॥४९॥

निकट उपस्थित होते ही रथ को ठहरा कर, उन पुरोहितों को मथुरा में भेजकर, पिता आदिकों की आज्ञा जानने के लिए मुहूर्तभर विश्राम करने लग गये ॥५०॥

उसके बाद यादवगण उन पुरोहितों से आश्चर्यपूर्वक दोनों भाइयों के विशेष वृत्तान्त को जानकर, श्रीमान् वसुदेवजी को बीच में करके, वैदिक एवं लौकिक मङ्गलाचार के कोलाहलपूर्वक इन दोनों को पुर में लिवा लाये ॥५१॥

उस समय उन दोनों के दर्शन के लिए अनेक प्रकार के लोग वहाँपर उपस्थित होते थे। और उस उस विद्या में जानकार जो पण्डित थे, वे सब श्रीकृष्ण बलदेव की उस उस विद्या की चतुरता के साक्षात्कार के लिए सम्मिलित होकर, प्रतिदिन रमणीय सुख को प्राप्त करते थे ॥५२॥

इस प्रकार कहकर स्निग्धकण्ठ प्रसङ्ग की समाप्ति का द्योतक वचन बोला—हे गोपनायक ! हर्ष की बात तो यह है कि, तुम्हारे वंश के चन्द्रस्वरूप ये कृष्णचन्द्र जहाँ जहाँ जाते हैं, उसी उसी स्थानपर कुमुद नामक पुष्प को (पक्षे—पृथ्वी के आनन्द को) विकसित करते हुए (पक्षे—वर्धित करते हुए) अपनी कान्तियों के द्वारा स्वर्ग को बारंबार व्याप्त कर रहे हैं ॥५३॥

अनन्तर श्रीव्रजराज गद्‌गद होकर बोले—यदि किसी का पुत्र कहींपर बहुत युद्ध करके राज्य को प्राप्त कर लेता है, और यदि उस राज्य को भी तुच्छ मानकर अपने घर चला आता है, उस विषय में माँ-बाप को महान् सुख उत्पन्न होता है, यह बात सत्य है। तथापि यहाँपर जब जो विषय सुना जाता है, तब मन उसी प्रकार का हो जाता है ॥५४॥

"इति श्रीकृष्णं नवागमनमिव तृष्णग्भवन्नालिङ्गनसङ्गिनं विधाय तच्छिरसि चिबुकं निधाय रोचमानलोचनतया वाष्पं मुमोच। तं मुञ्चति तस्मिन् सर्वोऽपि तादृगेव दृगेकतानतामाततान ॥५५॥

"तत्र च व्रजवन्दिनस्तदिदं पठन्तः सर्वं नटयन्त इव बभूवुः ॥५६॥ यथा—

'सहभ्रातृवर्यं गुरोर्ग्रामगामी। धृतब्रह्मचर्यं निजाधीतिकामी ॥
तदावन्तिकायां जवाल्लब्धसङ्गः। गुरोरन्तिकायां सभायां सदङ्गः ॥
समस्तेषु सत्त्वेषु चासीदतीव। प्रियः सर्वतत्त्वेषु यद्वत्तु जीवः ॥
समस्माद् विविक्तं गुरोर्भक्तिकारी। सवर्गातिरिक्तं समित्पत्रहारी ॥
गुरोरित्थमाप्तप्रसादातिरेकः । स्वधीयन् समाप्तव्रतान्ताभिषेकः ॥
गुरोर्दक्षिणाशां द्रुतं भर्तुमीप्सुः। गतो दक्षिणाशां सुतं तस्य लिप्सुः ॥
दरग्रस्तमेतं विचिन्वन् दरान्तः। चिरान्नाशमेतं विजानन्नशान्तः ॥
प्रगृह्याथ तस्माद्दरं पाञ्चजन्यम्। अवादीदकस्मात्तदेत्याग्रजन्यम् ॥
स्थलं धर्मराजः प्रतस्थेऽतितूर्णम्। ततः शर्मभाजः सुखं प्राप पूर्णम् ॥
यदा तारकाणां पतिस्तत्र यातः। तदा नारकाणामभूत्तापघातः ॥
अगृह्लाद्गुरोः शावमन्तात् प्रमुक्तम्। यथावद्वयो-भाव-देहादि-युक्तम् ॥

श्रीव्रजराज इस प्रकार कहकर श्रीकृष्ण के मिलन की तृष्णावाले होकर, नवीन आये हुए से श्रीकृष्ण को आलिङ्गन कर,उनके शिरपर ठोड़ी रखकर, प्रसन्न हुए नेत्रोंवाले होकर, प्रेमाश्रु बहाने लगे। श्रीव्रजराज के आँसू बहानेपर तो सभीजनों ने उसी प्रकार से नेत्रों की एकाग्रता विस्तारित कर दी ॥५५॥

और वहाँपर प्रस्ताव के सदृश कहनेवाले व्रज के वन्दीजन निम्नलिखित विषय को पढ़ते हुए सबको नचाते हुए से विद्यमान हो गये ॥५६॥

यथा—श्रीकृष्ण ने अपने बड़े भाई के साथ गुरुजी के ग्राम में गमन किया था, ब्रह्मचर्य धारणपूर्वक अपने अध्ययन की कामना की थी। उस अवन्तिकापुरी में वेग से अपने सङ्ग का लाभ किया था, श्रीगुरुदेव के निकटवर्तिनी सभा में अपने सुन्दर अङ्ग को सन्निहित किया था। और सभी तत्त्वों में, अर्थात् महत् तत्त्वादि चौबीसतत्त्वों में जीवतत्त्व जैसे प्रिय होता है, उसी प्रकार समस्त प्राणियों में श्रीकृष्ण सभी के अत्यन्त प्रिय थे। सभी छात्रों से पृथक् एकान्त में श्रीगुरुदेव की विशुद्ध भक्ति करते थे, एवं अपने सहपाठियों से अधिक समिधा तथा पत्र पुष्पादि लाते थे। इस प्रकार गुरुदेव की अधिक प्रसन्नता प्राप्तकर ली थी, एवं सुन्दर अध्ययन करके ब्रह्मचर्यव्रत की समाप्ति में समावर्तन नामक संस्कार से अभिषिक्त हो गये थे। पश्चात् गुरुदेव की दक्षिणा की आशा को शीघ्र पूरी करने की इच्छावाले होकर, एवं गुरुपुत्र को लाने की इच्छावाले होकर, दक्षिण दिशा को गये थे। वहाँपर शंखासुर के द्वारा निगले हुए गुरुपुत्र को ढूँढ़ते हुए भी, उस शंखासुर के भीतर बहुत समय से नष्ट हुए जानकर, अशान्त होकर पश्चात् शंखासुर के पेट से पाञ्चजन्य नामक शङ्ख को लेकर, अकस्मात् बड़े भाई के निकट आकर सब वृत्तान्त कह दिया। पश्चात् अति शीघ्र ही धर्मराज के स्थानपर चल दिये, अनन्तर निजदर्शन से सुखी हुए धर्मराज से पूर्ण सुख प्राप्त किया। जब तारागणों के पति चन्द्रमा, पक्षे—संसार से निस्तारकगणों के स्वामी श्रीकृष्णचन्द्र उस यमपुरी में पहुँचे, तब समस्त नारकीय जीवों का सन्ताप नष्ट हो गया। चन्द्रपक्षे—मनुष्यों का सूर्यताप दूर हो

गुरुं तस्य भार्यामपि प्राप्य तस्मात् । अधिन्विष्ट कार्यात् परानप्यकस्मात् ॥
तमेतं समायातमीक्षस्व गोष्ठम् । तदानन्दसम्पातदोहस्मितोष्ठम् ॥' इति ॥५७॥

"ततश्च तत्तच्छ्रवणाल्लब्धनष्टवित्त इव सुखवलितचित्तः सर्व एव स्वस्वसदनमाससाद ॥"५८॥

अथ श्रीराधाकृष्णसदसि स एव कथकः पृथगिदं कथयामास,—

"देवि ! श्रीमति राधिके ! यदमुना सन्दिष्टमासीत् पुरा
वृत्तादूर्ध्वमभीष्टमुद्धवमनु प्रेम्णा प्रियेण त्वयि ।
कथ्यं तत्तु विचारयन्मम मनः संभ्राम्यति क्षुभ्यति
क्रुध्यत्यस्यति दीव्यति स्फुटसुखं व्यस्यत्यलं माद्यति ॥५९॥

"तस्मात् प्रणिधाय परं तत् प्रचारणीयम्; किन्तु—

"तद्वृत्तान्तस्य सिद्धान्तं कुर्वन्निव तवान्तिके ।
सोऽयं नितान्तं कान्तस्ते न सङ्गस्यान्तमिच्छति ॥"६०॥

इति स्वमनः परितोष्य तेन स्वसङ्गेन च सङ्गिनः परिपोष्य कथकयुग्मं स्ववासमाससाद । श्रीराधाकृष्णौ च पुरातनविरहाकर्णनाल्लब्धतृष्णौ लीलानिलयं शीलयामासतुः ॥६१

इति श्रीश्रीमदुत्तरगोपालचम्पूमनु गुरुतनयसमानयनं नाम नवमं पूरणम् ॥९॥

गया । पश्चात् श्रीकृष्ण ने यमराज के द्वारा छोड़े हुए एवं पहले की तरह अवस्था, भाव, देह आदि से युक्त गुरुदेव के पुत्र को ग्रहण कर लिया । और गुरु तथा गुरुपत्नी को भी प्राप्तकर, उन दोनों को गुरुपुत्र दानरूप उस कार्य से प्रसन्न कर दिया, एवं अकस्मात् दूसरे व्यक्तियों को भी सन्तुष्ट कर दिया । हे व्रजराज ! उन्हीं गुरुभक्त श्रीकृष्ण को व्रज में आये हुए देख लो । अहह ! व्रज में आने के आनन्दसमूह की परिपूर्णता से इनके ओष्ठ मन्दहास्य से युक्त हैं ॥५७॥

उसके बाद उस उस प्रसङ्ग के श्रवण से, नष्ट हुए धन को लाभ करनेवाले की तरह, सुख से मिश्रित चित्तवाले सभी श्रोताजन अपने अपने घरपर पहुँच गये ॥५८॥

अनन्तर श्रीराधा-कृष्ण की सभा में वही कथावाचक स्निग्धकण्ठ पृथक् करके यह कहने लगा—हे श्रीमति राधिके ! देवि ! देखो, पहले तुम्हारे प्यारे इन श्रीकृष्ण ने उद्धव को लक्ष्य करके, गुरुगृह जाने के वृत्तान्त के पीछे तुम्हारे निकट जो अभीष्ट सन्देश प्रेमपूर्वक दिया था, उस कथनीय सन्देश को विचारता हुआ मेरा मन संभ्रान्त हो रहा है, क्षुभित हो रहा है, क्रुद्ध हो रहा है, क्षिप्त हो रहा है, क्रीडा कर रहा है, स्पष्ट सुखपूर्वक विस्तृत हो रहा है, एवं अतिशय आनन्दित हो रहा है ॥५९॥

इसलिए मैं सावधान होकर उस उत्कृष्ट सन्देश का प्रचार करूँगा । किन्तु तुम्हारे निकट उस उद्धव सन्देशमय वृत्तान्त के सिद्धान्त को दृढ करते हुए से तुम्हारे अतिशय प्यारे ये श्याम तुम्हारे सङ्ग का अन्त नहीं चाहते हैं ॥६०॥

इस प्रकार अपने मन को सब ओर से सन्तुष्ट करके एवं सन्तुष्ट हुए उस मन से तथा अपने सङ्ग से सत्सङ्गी जनों को परिपुष्ट करके, दोनों कथावाचक अपने घरपर पहुँच गये । श्रीराधा-कृष्ण भी पुराने विरह के श्रवण से तृष्णा को प्राप्त होकर, अपने लीलाभवन का अनुशीलन करने लग गये ॥६१॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रिविरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते श्रीमदुत्तरगोपालचम्पूकाव्ये गुरुतनय-समानयनं नाम नवमं पूरणं सम्पूर्णम् ॥९॥

अथ दशमं पूरणम्

उद्धव-सन्देशः

अथ परेद्यवि साक्षाच्छ्रीकृष्णश्रोतृकतया जातव्रजेश्वरसुखप्रथायां प्रातःकथायां मधुकण्ठ उवाच,—॥१॥

"अथ पुरुवासराण्यतिक्रम्य गुरुपुरादाव्रजितस्य तस्मिन्नजितस्य सर्वसम्पन्महिम्नापि महितस्य सेयं मनःकथा जाता,—'हन्त ! निह्नुततया दूरतमकृतगमनस्य मम चिरं समाचारस्तत्र तातचरणादिभिर्नासादितः। सम्प्रति तु दूरगमनमपि निशामयिष्यते। या च तेषु मध्ये मध्ये मदीया स्फूर्तिः, सा पुनर्विरहशान्तये पूर्तिं नासादयति। ततश्च तेषां मद्विलोकनमेव शोकं दवयिता। तदेव कथं सम्भवेदिति श्रीमदग्रसम्भवेन सह रहश्चिन्तयानि' इति ॥२॥

"अथ तेन तथा कृतसम्भाषणः सङ्कर्षणः प्राह स्म,—'भवान् खल्वत्रकीयपित्रादीनामाज्ञामवज्ञातुं वित्रासं भजति। तेषां च प्राकाम्यं नावास्यं स्पृशति; तस्मात् पुरुकुलजन्मानं जननीं पृच्छावः। सा खलु तत्रकीयामत्रकीयामपि वार्तामनुवर्त्तते ॥३॥

"तदेवं संमन्त्र्य क्वचिदेकान्तगततया तामामन्त्र्य वाष्पपरामृष्टं पृष्टवन्तौ,—'मातः ! कच्चित् कश्चिद्व्रजादाव्रजन्नासीत् ?' ॥४॥

दसवाँ पूरण

उद्धव सन्देश

अनन्तर दूसरे दिन साक्षात् श्रीकृष्ण श्रोता हो जाने के कारण, श्रीव्रजराज के सुख का विस्तार करनेवाली प्रातःकाल की कथा में मधुकण्ठ बोला— ॥१॥

अनन्तर बहुत दिन बिताकर गुरुपुर से मधुपुर में आये हुए, एवं सब प्रकार की सम्पत्तियों की महिमा से पूजित हुए, श्रीकृष्ण की यह मानसिक कथा हुई—हाय ! मैं गुप्तरूप से अत्यन्त दूर चला गया था, अतः मेरा समाचार व्रज में पूज्यपाद पिताजी आदिकों ने बहुत दिन से नहीं प्राप्त किया है। किन्तु अब तो वे मेरे दूर जाने को भी सुनेंगे। और पिता माता आदि उन व्रजवासियों में बीच बीच में जो मेरी स्फूर्ति होती रहती है, वह विरहशान्ति के लिए पूर्ति नहीं कर पाती। अतः उनके शोक को तो मेरा दर्शन ही दूर करेगा। किन्तु वह दर्शन भी किस प्रकार सम्भव हो सकता है ? अतः श्रीमान् बड़े भाई के साथ एकान्त में विचार करूँ ॥२॥

उसके बाद श्रीकृष्ण के साथ उसी प्रकार सम्भाषण करनेवाले श्रीबलराम बोले—भैया ! तुम तो निश्चय ही मथुरा के रहनेवाले पितामाता आदि की आज्ञा की अवज्ञा करने को भयभीत हो रहे हो। और उनकी स्वेच्छापूर्वक अनुमति सरलता का स्पर्श भी नहीं करती, अर्थात् मथुरावासी मातापिता आदि व्रज में जाने को सरलता से अनुमति भी नहीं देंगे। इसलिए हम दोनों पुरुवंश में उत्पन्न होनेवाली माता रोहिणी से पूछें। क्योंकि वह व्रज की एवं मथुरा की भी बातों का अनुसरण करती रहती हैं, अर्थात् वे दोनों जगह की बातें जानती हैं ॥३॥

इस प्रकार विचार कर कहीं एकान्तस्थान में जाकर माँ रोहिणी को बुलाकर,दोनों भाई सजलनयन

"सोवाच,—'मध्ये मध्ये कोऽपि कोऽपि व्रजादाव्राजीदेव; किन्तु भवद्दर्शनं विना दुःखतः शुष्कतामेव गच्छन् गच्छति स्म ॥'५॥

"एतावूचतुः,—'आवयोरन्यत्र गतं तैरवगतं वा ?' "सोवाच—'स्फुटं तावन्नावगतम्; किन्तु सुहृदामन्तरं निमेषसमनन्तरदर्शनान्तरायतायामपि विकल्पकोटीः कूटीकरोति; किन्तरां चिरतरं तदन्तराये ?' ॥६॥

"एतावूचतुः,—'परममत्या भवत्या खलु किमिदं तर्क्यते ? आवयोरह्नाय निह्नुत्य व्रजमनुव्रजनाव्रजनं पित्रोर्न वर्जनविषयः स्यात्' इति ॥'७॥

"सोवाच,—'मयाप्यागृह्य तयोर्मनो गृह्यमाणमासीत्; न तु सरसतापरामृष्टं दृष्टम् । तत्र च तत्पार्श्ववर्तिनः सुतरां प्रतीपवर्तिन एव ॥'८॥

"अथ तदेतत् प्रस्तूय भूयः श्रीव्रजराज्ञीमुखानां दूयमानानि मुखानि ध्यानादनुभूय त्रयमपि भूयसा नयनपयसा व्याप्तमासीत् । पश्चात्तु निश्चिकाय,—'कश्चन मर्मगकर्मठजनः सन्देष्टुं झटिति घटनीयः' इति ॥६॥

"तदेवं मिलित्वा विचार्य देवार्यमित्रेण तु रहसि मनसीदं विचार्यते स्म,—'स एव सन्देशहरस्तत्र देशरूपः स्यात्, यः खलु विलक्षणविचक्षणः सर्वेषामत्रकीय-तत्रकीयानां सम्मत-

---

हो पूछने लगे—माताजी ! हम पूछते हैं कि, हमारे गुरुकुल में चले जानेपर, व्रज से कोई आया था क्या ? ॥४॥

रोहिणी बोली—बीच बीच में कोई न कोई व्रज से आता ही रहा । किन्तु तुम्हारे दर्शन के बिना, दुःख से शुष्कता को प्राप्त होता हुआ चला जाता था ॥५॥

ये दोनों भाई बोले—हम दोनों का अन्यत्र जाना व्रजवासियों ने जान लिया था क्या ? वह बोली—स्पष्ट तो नहीं जाना, किन्तु सुहृद्जनों का हृदय एक निमेष के बाद दर्शन के व्यवधान की भावना में भी "श्रीकृष्ण यहाँपर हैं कि नहीं" इस प्रकार के विकल्पों की कोटियों का ढेर कर देता है, फिर बहुत समय-तक दर्शन के व्यवधान में तो कहना ही क्या है ? ॥६॥

ये दोनों भाई बोले—विशाल बुद्धिवाली आप कभी यह अनुमान भी लगाती हैं कि—हम दोनों का शीघ्र ही गुप्त होकर व्रज में जाना आना, 'वसुदेव-देवकीरूप' पितामाता का निषेध का विषय तो नहीं हो सकेगा ? अर्थात् वे व्रज में जाने आने का निषेध तो न करेंगे ॥७॥

वह बोली—मैंने भी आग्रह करके उन दोनों (वसुदेव-देवकी) के मन को ग्रहण किया था। किन्तु उनका मन सरसता से युक्त नहीं देखा । और उसमें भी उनके पास में रहनेवाले जन तो विशेष विरोधी ही हैं ॥८॥

अनन्तर पूर्वोक्त प्रस्ताव करके पुनः श्रीव्रजेश्वरी यशोदा आदिकों के श्रीकृष्णविरह से सन्तप्त मुखों को ध्यानयोग से अनुभव करके 'श्रीकृष्ण-बलदेव-रोहिणीरूप' तीनों ही जन बहुत से आँसुओं से व्याप्त हो गये । पश्चात् तीनों ने यही निश्चय किया कि—मर्म को जाननेवाला कोई कर्मठ (काम को यत्नपूर्वक पूरा करनेवाला)जन सन्देश देने के लिए शीघ्र ही नियुक्त कर देना चाहिये ॥६॥

इस प्रकार मिलकर विचार कर, दैत्यारि श्रीकृष्ण ने तो एकान्त में अपने मन में यह विचार किया कि—व्रज में वही दूत उचित हो सकता है कि, जो विलक्षण विद्वान् हो, मथुरावासी एवं व्रजवासी, इन

तया लक्ष्येत, स्वल्पमात्रं च मम सङ्कोचपात्रं न स्यात्। तत्तद्विधता च तत्रैव सविधतां विधत्ते, यन्मनसि तत्तन्मम माधुर्यमैश्वर्यमपि सम्यक् पर्यवस्यति। केवलमाधुर्यज्ञानं चेत्तद्दुःख-दुःखितया न स तत्र धुर्यतां लभेत। ऐश्वर्यमात्रपर्यवसानं ज्ञानं चेत्तेषु केवलमन्माधुरीधुरीणेषु कुरीतितामेव मन्येत। उभयाज्ञानं चेदतितुच्छतामेव सङ्गच्छेत्। कुत्रचन मम प्रेमवशतायां चावगतायां दोषदृष्टिमपि परामृष्टिमानयेत ॥'१०॥

"अथ 'तादृगत्र कतमः शन्तमः स्यात्' इति विचिन्तयन्नयमकस्मादिव सस्मार,—'आम् आम् दुर्लभं लिप्सोर्विस्मृतनिजकण्ठस्थितचिन्तामणेरिव मम कुण्ठता जाता; यतस्तथा-विधः सोऽयमुद्धव एव मदुद्धवमासादयिता ॥११॥

'तथा हि—मदर्चनायाखिल-बाल्यकूर्दनं, बाल्येऽपि दभ्रं कलयाम्बभूव यः।
मत्प्रेमगोपाय समीरजां रुजं, कैशोरके चास्ति ममायमुद्धवः ॥१२॥

मत्प्रेमभ्रमभागपि प्रथयितुं मत्सेवनानां विधीन्
श्रीमत्भागवतादिनीत्यवधिसच्छास्त्राणि वाचस्पतेः।
अध्यैष्ट स्फुटमेष यः स तु परं सर्वत्र मत्पात्रता-
पात्रं स्यादिति मन्मनः प्रतिपदं तं सङ्गिनं वाञ्छति ॥१३॥

सभीजनों के सम्मतरूप से लक्षित हो, अर्थात् दोनों स्थान के निवासियों के सम्मान का पात्र दिखाई देता हो, और स्वल्पमात्र भी मेरे संकोच का पात्र न हो। पूर्वोक्त प्रकार का भाव भी उसी दूत में निकटता या समान प्रकारता का विधान करता है कि, जिसके मन में मेरा वह वह माधुर्य एवं ऐश्वर्य भी अच्छी प्रकार निर्धारित होता है। यदि केवल मेरे माधुर्य का ज्ञान है, तब तो केवल माधुर्य ज्ञानवाले व्रजवासियों के दुःख में दुःखी हो जाने के कारण, वह दूत वहाँपर श्रेष्ठता का लाभ नहीं कर सकता। और यदि ऐश्वर्यमात्र में समाप्त हो जानेवाला ज्ञान हुआ तो, केवल मेरी माधुरी को धारण करनेवाले व्रजवासियों के विषय में वह दूत कुरीति के भाव को ही समझ बैठेगा। और यदि मेरे "माधुर्य, ऐश्वर्य" इन दोनों का ज्ञान नहीं है, तो वह दूत अत्यन्त तुच्छता को ही प्राप्त हो सकता है, एवं कहींपर मेरी प्रेम की विवशता के जान लेनेपर दोषदृष्टि को भी अपने विचार में ला सकता है ॥१०॥

अच्छा, तो उस प्रकार का दूत यहाँपर कौन मङ्गलमय हो सकता है ? इस प्रकार विचारते हुए श्रीकृष्ण ने मानो अकस्मात् (एकदम) स्मरण किया। हाँ हाँ, स्मरण आगया। दुर्लभ वस्तु की प्राप्ति की इच्छावाले एवं अपने गले में स्थित चिन्तामणि को भूल जानेवाले व्यक्ति की तरह, मेरी स्मृति में रुकावट हो गई है। कारण—उस प्रकार के गुणोंवाला यह मेरा प्यारा सखा उद्धव ही, मेरे उत्सव को प्राप्त करायेगा ॥११॥

देखो, जो उद्धव मेरी पूजा करने के लिए बाल्यावस्था में भी, कूदना फाँदना आदि समस्त बाल्य-क्रीडा को बहुत कम प्रकाशित करता था, एवं जो किशोरावस्था में मेरे प्रेम को छिपाने के लिए वायुरोग को प्रकाशित करता रहता है, वही मेरा प्यारा यह उद्धव वर्तमान है ॥१२॥

और जो उद्धव मेरे प्रेम से घूम घुमेरवाला होकर भी, मेरी अनेक प्रकार की सेवाविधियों को विख्यात करने के लिए, श्रीमद्भागवत से लेकर नीतिग्रन्थ-पर्यन्त, समस्त सत् शास्त्रों को श्रीबृहस्पति के

अहो यदवधि श्रुतस्तदवधि स्फुटं दृष्टव-
न्मम स्फुरति साम्प्रतं किमुत दृष्टिमेवागतः ।
य एव च यदुव्रजात् किमपरं निजादग्रजात्
पृथग् निखिलकर्मणि प्रतिलवं मया पृच्छ्यते ॥१४॥

ममात्मा बहिराभाति सोऽयमुद्धवसंज्ञितः ।
यथा मम मनो भाति तथा तस्य न चान्यथा ॥१५॥

'तस्मादसङ्कोचसङ्कोचरोचमानरतिके मदेकगतिके सर्वविधप्रणयिजनव्रजे व्रजे सन्देश-हरतया स एष एव प्रेषणीयः ॥'१६॥

"तदेवं सति च विचारे निरन्तरप्रचारेण निरन्तरसम्बन्धबन्धुसञ्चारेणालब्धे रहसि कथमपि लब्धे माधवस्तमेनमुद्धवमिव मुद्धुरकरमुद्धवं लब्धवान्; लब्ध्वा च तस्मादप्येकान्तं कान्तं निशान्तमानीय पानीयवद्द्रवदन्तरात्मा सदेशमुपवेशयामास, उपवेशयंश्च लब्धावेशः केशवस्तत्पाणिं निजपाणिनाङ्कमानिनाय ।।१७।। ततश्च,

---

पास स्पष्ट ही अध्ययन कर चुका है। एवं केवल वह उद्धव ही सब विषयों में मेरे मन्त्रीपन के योग्य हो सकता है। अतः मेरा मन प्रतिक्षण उसको सङ्गी बनाना चाहता है ॥१३॥

अहो ! कैसे आश्चर्य की बात है कि—वह उद्धव जब से मैंने सुना है तभी से, मेरे लिए देखा हुआ सा स्फूर्ति पाता रहता था। फिर अब साक्षात् दृष्टिगोचर हुआ वह साक्षात् की तरह स्फूर्ति पाता है, इस विषय में तो कहना ही क्या है ? और जिस उद्धव को मैं समस्त यादवसमूह से, तथा अपने बड़े भाई बलदेव से भी अलग सब कार्यों में प्रतिक्षण पूछता रहता हूँ। अतः दूसरे का तो कहना ही क्या है ? ॥१४॥

अधिक क्या कहें ? देखो, मेरा वह आत्मा ही यह उद्धव नाम से युक्त होकर बाहर प्रकाशित हो रहा है। क्योंकि मेरा मन जिस प्रकार प्रकाश पारहा है, उसी प्रकार उसका मन भी प्रकाश पारहा है। इस विषय में अन्यथा कुछ भी नहीं है। यहाँपर श्रीकृष्ण ने अपनी "नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनो यद्गुणैर्नार्दितः प्रभुः। भा० ३।४।३१" यह भागवती उक्ति व्याख्यात करदी ॥१५॥

इसलिए असंकोच एवं संकोच के भाव से शोभायमान अनुरागवाले, केवल मुझको ही प्राप्य माननेवाले, तथा सब प्रकार के प्रेमीजनों के समूहवाले उस व्रज में, दूतरूप से वह यह उद्धव ही भेजने योग्य है ॥१६॥

श्रीकृष्ण के इस प्रकार मानसिक विचार के हो जानेपर, निरन्तर प्रचारवाले एवं निकटतम सम्बन्धवाले बान्धवों के सर्वदा आने जाने के कारण, एकान्तस्थान न मिलनेपर, पश्चात् किसी प्रकार एकान्त मिल जानेपर, श्रीकृष्ण ने अतिशय आनन्द करनेवाले इन उद्धव को उत्सव की तरह प्राप्त कर लिया। और प्राप्त करते ही उस स्थान से भी एकान्त एवं मनोहर घर में लाकर, श्रीकृष्ण ने जल की तरह द्रवीभूत अन्तरात्मा से युक्त होकर, उद्धव को अपने निकट बैठा लिया। और बैठाते बैठाते मित्रता के आवेश को प्राप्त हुए श्रीकृष्ण, उसके हाथ को अपने हाथ से अपनी गोद में ले आये ॥१७॥

"कम्प्रं कम्प्रेण सिक्तं च सिक्तेनान्योऽन्यमश्रुभिः ।
करं करेण संगृह्णंस्तस्य श्रीहरिरब्रवीत् ॥१८॥
'न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः ।
न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान् ॥'१९॥ भा० ११।१४।१५
'त्वमेव यदुषु व्यक्तं व्रजे रज्यसि यततः ।
आत्मनोऽप्यधिकं त्यक्तव्रजात्त्वां मनुवे हितम् ॥२०॥
यर्हि यर्हि च मया व्रजवार्ता, वर्त्यते कठिनचित्ततया सा ।
तर्हि तर्हि स भवान् द्रुतचेता, हा द्रवत्तनुरिव प्रतिभाति ॥२१॥
'तस्मात्त्वामेकान्ते निर्वर्ण्य हृदन्तःशूलमिव दुःखननमूलं दुःखं वर्ण्यते—
'जानासि त्वं मम हृदयमिदं बद्धतां याति भक्त्या-
काराद्वैरादपि जगति यतः साक्षिणी पूतनास्ति ।

उसके बाद परस्पर काँपते हुए एवं आँसुओं से भीजे हुए, अपने हाथ के द्वारा काँपते हुए एवं आँसुओं से भीजे हुए, उद्धव के हाथ को ग्रहण करते हुए श्रीकृष्ण बोले— ॥१८॥

हे प्रिय उद्धव ! तुम जिस प्रकार मेरे अतिशय प्यारे हो, उस प्रकार ब्रह्मा, महादेव, बलराम, एवं लक्ष्मी, तथा मेरा आत्मा (शरीर) ये सब भी मुझे प्रिय नहीं है। भावार्थ - ब्रह्मा पुत्र होने के नाते, शंकर मित्र होने के नाते, बलराम भ्राता होने के नाते, एवं लक्ष्मी भार्या होने के नाते, तथा मेरा शरीर अपना होने के नाते—प्रिय नहीं हैं, अर्थात् ये सब भक्त होने के नाते प्रिय हो सकते हैं, किन्तु पुत्रादिक नाते से प्रिय नहीं। अतः भक्तिकी अधिकता से जैसे तुम प्रियतम हो उस प्रकार वे नहीं हैं। यह भक्तों की प्रियतमता का दृष्टान्त है। तात्पर्य—इस श्लोक में ब्रह्मादिकों के भक्त होनेपर भी, उन सब में भक्ति के अंश की अपेक्षा, पुत्रत्वादि अंश ही अधिक हैं, अतः "प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति" इस न्याय के अनुसार वे ब्रह्मादिक भगवान् के पुत्रत्वादिरूप से ही कहे जाते हैं, किन्तु भक्तरूप से नहीं। श्रीनन्द यशोदा आदि व्रजवासियों में तो महाप्रेम होने के कारण, पितृत्वादि अंशों की अपेक्षा भक्तत्व लक्षणरूप अंश ही अधिक हैं, अतः उनमें भक्तत्व है। इसीलिए वे कृष्ण के अतिशय प्रियतम हैं। श्रीशुकदेवजी ने भी कहा है कि, "दर्शयंस्तद्विदां लोके आत्मनो भक्तवश्यताम्" इस उक्ति से श्रीनन्दादिक भक्तशब्द वाच्य हैं, एवं श्रीकृष्ण को अपनी भक्ति से वश में करनेवाले हैं। अतएव कहा है कि—"नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया। प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत् प्राप विमुक्तिदात् ॥ भा० १०।९।२०।" अथवा ऐसे भक्तों के बीच में भी हे उद्धव ! तुम जसे मेरे प्रियतम हो, यह मेरे मुख से ही सुन लो। अतः सब भक्तों के मध्य में उद्धव श्रेष्ठ है,—उद्धव से भी गोपियाँ श्रेष्ठ हैं। क्योंकि उद्धवजी ने गोपियों की चरणधूलि की प्रार्थना की है। यह वैष्णवसिद्धान्त है ॥१९

कारण—तुम्हीं यदुवंशियों में एवं व्रजवासियों में स्पष्टरूप से अनुराग करते हो, इसलिए मैं व्रज को त्यागनेवाले अपने स्वरूप से भी तुमको अधिक हितैषी मानता हूँ ॥२०॥

और मैं चित्त की कठिनतापूर्वक जब जब व्रज की उस बात को चलाता हूँ, हाय ! तुम तब तब द्रवीभूत चित्तवाले एवं शिथिल शरीरवाले से प्रतीत होने लगते हो ॥२१॥

अतएव तुमको एकान्त में देखकर, हृदय के मध्य में स्थित शूल की तरह, जिसका मूल उखाड़ना कठिन है, उस दुःख का वर्णन करता हूँ—देखो, इस बात को तो तुम जानते ही हो कि, भक्ति के से आकार-

सा यद्वेषादजनि च जननीरीतिरस्या जनन्याः
प्रेमव्याप्तं व्रजमनुभविता हृत् कथं मे न सक्तम् ? ॥२२॥

आस्तां सा सा सततमसुवल्लालना मय्यमुष्याः
शिक्षारूपं यदरचि तया बन्धनं तन्मदन्तः ।
स्मारं स्मारं दलति बलवद् येन तस्मिन्न किञ्चिद्
धर्तुं शक्यं भवति नितरामल्पकं वा महद्वा ॥२३॥

चापल्यं मा प्रयासीन्मम शिशुरसकौ बाल्यतः स्वैरभावा-
देवं बद्धस्तयाहं सकृदपि यदयं तेन बद्धोऽस्मि नित्यम् ।
आस्तामेतच्च तस्मादपि पितृचरणा मोचयामासुरेतं
सास्रं मां यच्च तेनाप्यहमहह सदा बन्धमेव प्रयामि ॥२४॥

यौ मय्येवोपसन्ने दृशमनुभजतो वृत्तिमेवं श्रुताद्ये
तत्तद्भावं समन्तादहह किमपरं भुक्तवत्येव तृप्तिम् ।
तौ मत्प्राणौ विना मां कथमिव पितरौ प्राणितस्तन्न जाने
किंवा दत्ता कदर्थन्यभवदपि तयोः सा मया शश्वदाशा ॥२५॥

वाले बैर से भी मेरा यह कोमल हृदय बन्धन को प्राप्त हो जाता है। कारण—जगत् में पूतना ही उसमें साक्षी है। वह पूतना जिस जननी के से वेष से जननी की सी गतिवाली हो गई, फिर तुम्हीं बताओ, उस जननी यशोदा के प्रेम से पूर्ण व्रज के प्रति मेरा हृदय कैसे आसक्त न होगा ? ॥२२॥

और देखो, उन माता यशोदा का मेरे निमित्त निरन्तर प्राण की तरह जो जो लालन पालनरूप कार्य था, उस उस को तो दूर रहने दो। किन्तु उसी माता ने मेरे लिए "यह घर का माल न बिगाड़े" इस प्रकार शिक्षारूप ऊखलबन्धन की जो रचना की थी, उस ऊखलबन्धन को बारंबार स्मरण करके मेरा अन्तःकरण विशेष विदीर्ण हो रहा है। जिसके कारण उस विदीर्ण अन्तःकरण में अत्यन्त छोटी अथवा महान्, कुछ भी वस्तु नहीं धरी जा सकती है ॥२३॥

और "यह मेरा बालक बालकपन से स्वतन्त्रता के कारण चंचलता को न प्राप्त हो जाय" इस प्रकार के हेतु से माता ने मुझको जो एकबार ही बाँधा था, उससे मैं नित्य ही बँधा हुआ हूँ। अच्छा, इस बात को तो रहने दो। देखो, पूज्यपाद पिताजी ने आँसू बहाते हुए मुझको उस बन्धन से भी जो मुक्त किया था, हाय ! आश्चर्य तो यह है कि, उस ऊखलबन्धन की मुक्ति से भी मैं सदा प्रेम के बन्धन को ही प्राप्त करता रहता हूँ ॥२४॥

और जो मातापिता मेरे दृष्टिगोचर होनेपर ही मेरे सुख की वृत्ति का सेवन करते थे, एवं मेरी वार्ता आदि सुननेपर ही सर्वतोभाव से जो सुखमय जीवन धारण करते थे, हाय ! अधिक क्या कहूँ ? मेरे भोजन कर लेनेपर ही, अपनी तृप्ति का अनुभव करते थे। अतः मुझको ही अपने प्राण माननेवाले वे माता-पिता मेरे बिना किस प्रकार जीवित हैं ? मैं तो यह भी नहीं जानता। अथवा जो आशा मैंने उन दोनों के लिए बारंबार दी थी, वह उनकी आशा निरर्थक हो गई क्या ? ॥२५॥

आसातां पितरौ च तौ सखिजनाः सम्बन्धिनः सेवका
गावः किञ्च मृगादिजीवनिवहाः सर्वे मदेकाश्रयाः ।
एतत् केन न मन्यतां स भगवान् ब्रह्मापि मामूचिवान्
यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते ॥२६॥
मन्ये गोकुलसम्भवं पितृमुखं प्रेमावलम्बं जनं
बिम्बं तत्प्रतिबिम्बमेव पुरजं यत्रानुभूतिः प्रमा ।
पूर्वस्मिन्ननुभूततामनुगते नान्त्यः क्व च स्मर्यते
पश्चाद्भाविनि यातवत्यनुभवं पूर्वः सरीस्मर्यते ॥२७॥
तस्मिन्नेवंविधेऽपि प्रकृतवशतया साम्प्रतं गन्तुमीशः
स्यां नेति त्वं ममायं प्रतिनिधिपदवीं गच्छ तत्रापि गच्छ ।
गत्वा चेत्थं मया यद्बत रहसि मतं शिक्ष्यते तद्विचार्य
प्रत्येकं सौख्यदाता भव मयि स पुनः सौख्यमेत्य प्रयच्छ ॥२८॥
सर्वे यद्यपि सन्ततं व्रजजना मां लिप्सवस्ते तथा-
प्यत्र क्वापि विशेषतास्ति यदमी भावेन भिन्नान्तराः ।

उन मातापिता को तो पृथक् रहने दो। देखो, व्रज के सखा, सम्बन्धी, सेवकजन, तथा गोगण एवं मृग आदि जीवों का समुदाय, ये सब मेरे ही आश्रयवाले हैं, अर्थात् इन सबका मैं ही एकमात्र आश्रय हूँ। इस बात को कौन व्यक्ति नहीं मानेगा ? क्योंकि जगत्पूज्य ब्रह्मा ने भी मुझ से स्तुति करते समय यही कहा था कि—"जिन व्रजवासियों के घर, धन, मित्र, प्रियजन, आत्मा, पुत्र, प्राण एवं अभिप्राय, ये सब वस्तुए तुम्हारे लिए ही हैं, उनके लिए प्रसन्न होकर क्या दोगे ?" ॥२६॥

मैं तो गोकुल में उत्पन्न होनेवाले पितामाता आदि प्रेमावलम्बी व्रज के जनमात्र को बिम्ब स्थानीय मानता हूँ, एवं मधुपुरवासी जनमात्र को उन व्रजवासियों का प्रतिबिम्ब स्वरूप ही मानता हूँ। इस विषय के निश्चय करने में अनुभव ही यथार्थ ज्ञान है। देखो, बिम्ब का अनुभव हो जानेपर, जिस प्रकार प्रतिबिम्ब कहीं भी स्मरण नहीं किया जाता, उसी प्रकार गोकुल-सम्भव व्रजवासियों का अनुभव हो जानेपर, मधुपुरी (मथुरा)निवासी जन कहीं भी स्मरण नहीं किया जाता। और प्रतिबिम्ब के अनुभव में आ जानेपर, जिस प्रकार बिम्ब बारंबार स्मरण किया जाता है, ठीक उसी प्रकार मधुपुरवासियों के अनुभव में आ जानेपर, गोकुल-सम्भव व्रजवासी जनमात्र बारंबार स्मरण किया जाता है ॥२७॥

उस व्रज के इस प्रकार प्रेमास्पद होनेपर भी, इस समय सुहृद्जनों की रक्षारूप कार्य के अधीन होने के कारण, मैं उस व्रज में जाने को समर्थ न हो सकूँगा। इसलिए तुम मेरी प्रतिनिधि पदवी को प्राप्त करो, एवं तत्काल व्रज में भी चले जाओ। और जाकर इस प्रकार एकान्त में मैं तुम्हें जिस मत की शिक्षा दे रहा हूँ, उसको स्वयं विचार कर, प्रत्येक व्रजवासी के प्रति सुखदाता हो जाओ, एवं पुनः वहाँ से आकर मेरे लिए भी सुख प्रदान करो ॥२८॥

यद्यपि वे सभी व्रजवासीजन मुझको सदैव प्राप्त करना चाहते हैं, तथापि इस प्राप्ति की इच्छा में भी व्रज में कहीं कहीं विशेषता है। कारण—ये व्रजवासी दास्य, सख्य, वात्सल्यादि भावभेद के कारण भिन्न भिन्न अन्तःकरणवाले हैं। देखो, भैया ! मेरे में अत्यन्त उत्पन्न हुई उत्कण्ठावाले कुछ व्रजवासी तो मेरे

केचिन्मय्यलमुद्यदुत्कलिकिकाः सामक्ष्यमप्यन्यथा
मन्यन्ते प्रणयाश्रया मम परे स्फूर्तिं च मां मन्वते ॥२९॥
तस्माद्विस्रम्भभाक्षु स्फुरणमपि समक्षात्मतां मन्यमाने-
ष्वन्तःसख्येषु मास्म स्फुटमथ भवतादायि सन्देश एषः ।
अत्युत्कण्ठावगुण्ठात्मसु मम पितरौ तावृजू स्वेन बोध्या-
वाविद्धप्रेमभाजः पुनरिह कतिचिन्मद्गिरा सान्त्वनीयाः ॥३०॥
ये वा तत्र परेऽपि सन्ति शतशस्तेषां सदृग्भावगा-
स्ते तैरेव निरूढतोषवलनैः प्राप्स्यन्ति शान्तिस्थितिम् ।
दाता गेहपतीन् परं द्विजवरानानीय पुष्णाति तां-
स्तद्भर्तव्यजना भजन्ति नितरां तेनैव पुष्टाङ्गताम् ॥३१॥
ते सन्देशहरा मया पुरुतराः प्रस्थापिताः किन्त्वमी
सन्देशं परमुद्गिरन्ति न धिया किञ्चिद्वदन्ति स्वयम् ।
किं वाच्यं त्वयि वाचिकं त्वमयसे वाचस्पतेः शिष्यतां
तत्रास्माभिरुदीक्ष्य च प्रतिनिधीकृत्य प्रतिष्ठाप्यसे ॥'३२॥

साक्षात्कार को भी अन्यथा, अर्थात् प्रेम में पागल होने के कारण, स्फूर्तिरूप मानते हैं । और मेरे प्रेम का आश्रय करनेवाले दूसरे कुछ व्रजवासी मेरी स्फूर्ति को भी, साक्षात् मुझे ही मानते हैं । व्रजवासियों के प्रेम की यही विलक्षणता है, यह भावार्थ है ॥२९॥

इसलिए मेरे वाक्यों में विश्वास करनेवाले, मेरी स्फूर्ति को भी प्रत्यक्ष (साक्षात्कार) माननेवाले, एवं अपने अन्तःकरण में मेरे प्रति मित्रभाव माननेवाले व्रजवासियों के निकट तुम स्पष्टरूप से मेरे इस सन्देश को नहीं देना । क्योंकि मेरी स्फूर्ति को साक्षात् मानने के कारण उनको मेरा विरह बाधित नहीं कर रहा है, और सन्देश देने से तो उनको विरह का ज्ञान हो जायगा । और अत्यन्त उत्कण्ठा से जिनका मन व्याप्त हो रहा है, उन व्रजवासियों में मेरे वे मातापिता सरल प्रकृति के हैं, उनको तुम स्वयं समझा देना । और इस व्रज में कुछ व्रजवासी मेरे आविद्ध (कुटिल, अर्थात् टेढ़े) प्रेम का भजन करनेवाले हैं, उनको मेरी वाणी से ही सान्त्वना देना । यहाँपर टेढ़े प्रेम का भजन करनेवाले शब्द से, श्रीकृष्णप्रेयसी गोपियों का ग्रहण है ॥३०॥

और वहाँपर उन टेढ़े प्रेमवाले गोपीजनों के समानभाव को प्राप्त करनेवाले सैंकड़ों अन्य भी जो दास दासी आदि जन हैं, वे सब सन्तोष के संसर्ग को प्राप्त करनेवाले गोपीजनों के द्वारा ही शान्ति की स्थिति को प्राप्त हो जायँगे । देखो, दाता केवल घर के स्वामी श्रेष्ठ ब्राह्मणों को अपने घर लाकर उनको दान आदि के द्वारा पुष्ट करता है, उन ब्राह्मणों के द्वारा भरणपोषण करने योग्य जन उन्हीं के पुष्ट होने से अपने अङ्गों की पुष्टि को भी यथेष्ट प्राप्त कर लेते हैं, अर्थात् दाता के द्वारा दान के पात्र ब्राह्मणों के पालित हो जाने से, उनके सेवक आदि जन भी जैसे पालित हो जाते हैं, उसी प्रकार श्रीराधिका आदि प्रधान प्रधान गोपियों के सन्तुष्ट हो जानेपर, उनके दास दासी आदि जन भी मेरे सन्देश से सन्तुष्ट हो जायँगे ॥३१॥

और देखो, मेरे सन्देश को ले जानेवाले वे बहुत से दूत मैंने व्रज में भेजे थे, किन्तु वे केवल मेरे सन्देश को ही कह देते हैं, अपनी बुद्धि से स्वयं कुछ भी नहीं कहते हैं, और तुम्हारे प्रति तो सन्देश ही क्या

"तदेवमक्षीणमषडक्षीणं निशम्य रम्यस्वभावता-समृद्धमुद्भवः श्रीमानुद्धवस्तादृगात्मयोग्यतालाभेन लब्धोद्धवः सगद्‌गदं जगाद,—

'ततवादित्रकयन्त्रं, यद्यपि न हि रागवर्णि दृश्येत ।
तदपि पुमुत्तमसङ्गा,-त्तत्तद्‌गुणभाग्महाजनं धिनुते ॥'३३॥

"अथ तेन सञ्चितमञ्जलिमेव कञ्जनेत्रः परामृश्य दृश्यकृपाविलासस्तमनु दत्तहर्षः सङ्कर्षणसमीपमापय्य तत्प्रस्थापनं निशमय्य तेन सममेव तं श्रीरोहिणीचरणपरिसरं संवलय्य लब्धतत्तत्-प्रसादं स्वयमपि विशेषतस्त्वलङ्कारवस्त्राभ्यां कृतकान्तिप्रसादं व्रजाय व्राजयामास । सर्वे मिलित्वा चेदं वेदयामासुः,—'यद्वृन्दावनतीर्थवृन्दार्थमेव स्वगमनमत्रावगमनीयम्' इति ॥३४॥

"अथ श्रीकृष्णः प्राह,—'आवयोर्गुरूपसत्त्यर्थं दूरातिदूरं गमनं यदि किंवदन्ती व्रजेऽपि वदन्तीव स्यात्तदावयोः किञ्चिदपि न दूरमस्तीतिस्वसिद्धान्तं मनसिकृत्य तदपलापवता भवता स्वयं तातप्रभृतयः सान्त्वयितव्याः' इति ॥३५॥

कहना है ? क्योंकि तुम तो बृहस्पति की शिष्यता को प्राप्त हो रहे हो, अर्थात् बृहस्पति के शिष्य होने के कारण, समयानुकूल सन्देश स्वयं दे सकते हो, इसलिए विशेष विचार कर एवं अपना प्रतिनिधि बनाकर ही, मैं तुम्हें व्रज को भेज रहा हूँ ॥३२॥

इस प्रकार सम्पूर्णरूप से दोनों के द्वारा किये गये विचार को सुनकर, रमणीय स्वभाव के भाव से बढ़े हुए हर्षवाले श्रीमान् उद्धव उस प्रकार की अपनी योग्यता के लाभ से उत्सव को प्राप्तकर गद्‌गद होकर बोले—देखो, भैया ! श्याम ! वीणा आदिक वाद्ययन्त्र यद्यपि स्वयं राग रागिनीवाले वर्णों से युक्त कभी भी नहीं देखा जाता, तो भी गानेवाले उत्तम पुरुष के सङ्ग से वह वीणा आदि यन्त्र उन उन स्वर ताल लय आदिकों को प्राप्त होकर, महापुरुषों को सन्तुष्ट कर देता है। तात्पर्य—मैं भी जड़यन्त्र के समान हूँ, किन्तु आपके संसर्ग से सब कुछ सुन्दर ही कह दूँगा ॥३३॥

अनन्तर कमलनयन श्रीकृष्ण ने उद्धवके द्वारा रची हुई अञ्जलि को ही पकड़ कर, साक्षात्कृपाविलास से युक्त होकर, उद्धव को हर्ष देकर, पश्चात् उद्धव को श्रीबलरामजी के निकट पहुँचा कर,उसके प्रस्थान को उन्हें सुनाकर, उन्ही के साथ उद्धव को श्रीरोहिणी के चरणों के पास पहुँचा कर, उन दोनों के अनुग्रह को प्राप्त करनेवाले उद्धव को स्वयं भी, विशेष करके अलङ्कार एवं वस्त्र के द्वारा शोभा के सहित कृपाविशिष्ट करके व्रज को भेज दिया। और श्रीकृष्ण, बलराम, रोहिणी इन सब ने मिलकर यह समझाया कि—हे उद्धव ! (यदि कोई मथुरावासी तुम से पूछे कि, तुम व्रज में क्यों जा रहे हो ? तब तुम) अपने व्रजगमन को यहाँपर वृन्दावनसम्बन्धी तीर्थसमूह के दर्शनार्थ ही समझा देना ॥३४॥

उसके बाद श्रीकृष्ण बोले—"हम दोनों भाइयों का गुरुदेव के निकट जाने के लिए दूर से भी अति-दूर जाना हुआ" यदि यह किंवदन्ती (जनश्रुति) ब्रज में भी बोलती हुई सी सुनाई दे, तब "हम दोनों के लिए कुछ भी दूर नहीं है" इस अपने सिद्धान्त को मन में रखकर, उस सत्य बात को छिपाते हुए आप मेरे पितामाता आदि को स्वयं सान्त्वना दे देना ॥३५॥

"ततश्च प्रतततृष्णतया श्रीकृष्णं पश्यन् स्तम्भवश्यसर्वेन्द्रियवृत्तिरपि निर्जगाम ॥३६॥

"पुरमनु शौरेः शोभा, व्रजमनु माधुर्यधाम तत्प्रेम्णः।
उद्धवमुभयमकर्षत्, किन्तु प्रसभं तदुत्तरं जितवत् ॥३७॥
श्रुता जनमुखात् पुरा रतिरतीव पूर्णा हरौ
व्रजस्थितजनस्य सा हरिमुखात् स्फुटं सम्प्रति।
ततः सरभसं रसप्रसरनिर्झराकर्षणा-
दलं तमवलोकितुं पुलकवानभूदुद्धवः ॥३८॥
निन्ये रथस्तं गोष्ठाय किंवा सुष्ठु मनोरथः।
एवं विवादे जितवान् प्रेरकः स परं परः ॥३९॥
अव्राजीदुद्धवः कृष्णाद् व्रजमेवं जनश्रुतिः।
प्रतिवृक्षं तु तं तस्य तत्र साक्षात् कृतं व्यधात् ॥४०॥
इदं भुक्तं फलादीनामासितं तद्वदीशितुः।
इत्थं वृन्दावनं पश्यन्नुद्धवः सूद्धवः स्थितः ॥४१॥
दृष्टिस्पृष्टिसुगन्धिताद्भिरनिशं सिक्ता हरेरंघ्रिपाः
पूर्वं ये किल ते तदापि तददःसंस्कारसारान्विताः।
तद्वत् पुष्पफलान्विताः किमपरं तत्स्फूर्तिभाजो द्विजा-
स्तत्केलीनधुनातनानिव बलाद् व्यज्ञापयन्नुद्धवम् ॥४२॥

उसके बाद विशाल तृष्णापूर्वक श्रीकृष्ण को देखते हुए, श्रीउद्धवजी स्तम्भभाव के वशीभूत हुई सब इन्द्रियों की वृत्तिवाले होकर भी, मथुरा से निकल पड़े ॥३६॥

उस समय श्रीकृष्ण की शोभा तो मधुपुर की ओर, एवं श्रीकृष्ण के प्रेम के माधुर्य का प्रभाव व्रज की ओर, इस प्रकार दोनों ही उद्धव को खींच रहे थे। किन्तु माधुर्य का प्रभाव ही हठपूर्वक विजयी हो गया ॥३७॥

और व्रजवासीजनों की श्रीकृष्ण में अत्यन्त परिपूर्ण जो प्रीति जनमात्र के मुख से सुनी थी, वही प्रीति अब श्रीकृष्ण के मुख से स्पष्ट सुनली। इसी कारण उद्धवजी वेगपूर्वक रसप्रवाह के झरनों से आकर्षित होकर, उस व्रज को विशेषरूप से देखने के लिए रोमाञ्चित हो गये ॥३८॥

उस समय उद्धव को रथ ही व्रज को ले गया, अथवा मनोरथ ही भली प्रकार ले गया, इस प्रकार के विवाद में केवल प्रेरक वह मनोरथ ही विजयी हुआ ॥३९॥

उस समय "उद्धव श्रीकृष्ण के निकट से व्रज में गये" इस प्रकार की जनश्रुति फैल गई थी। किन्तु वहाँपर प्रत्येक वृक्ष ने उद्धव के लिए श्रीकृष्ण का साक्षात्कार करा दिया ॥४०॥

श्रीकृष्ण का यह फल आदि भोजन का स्थान है, एवं उसी प्रकार यह उनके बैठने का स्थान है, इस प्रकार श्रीवृन्दावन को देखते हुए उद्धव सुन्दर उत्सव से युक्त होकर स्थित हो गये ॥४१॥

व्रज के जो वृक्ष पहले श्रीकृष्ण के दर्शन, स्पर्शनरूप सुगन्धयुक्त जल के द्वारा निरन्तर अभिषिक्त हुए थे, वे सब वृक्ष उस समय भी, उसी संस्कार के सार से युक्त होकर, पहले की तरह पत्र, पुष्प, फल

व्रजोपशल्यमागतं तमुद्धवं हरिः स्फुरन् ।
गवादिकस्य मुद्भूरं तदोचितं व्यजिज्ञपत् ॥४३॥

"तथैव वर्णितं श्रीबादरायणिना, (भा० १०।४६।९)—'वासितार्थेऽभियुध्यद्भिः' इत्यादिना ॥४४॥

"तथा हि, अथ प्रविशन्नुद्धवः पूर्वं तमपूर्वं व्रजमन्तः शश्वदयमानः सम्प्रति तु प्रकटमेव सुखस्य दयमानं ददर्श ॥४५॥

"यं खलु समुद्रमिव महाघोषतालब्धप्रचारम्, चन्द्रमिव लब्धगवादभ्रशुभ्रताविस्तारम्, अम्बरमिव दीधितिवलनाभीरविततशोभाकारम्, कर्मकाण्डमिव कृष्णतत्परतासार-वह्न्यर्काऽतिथि-गो-विप्र-पूजासंग्राहकागारम्, रामायणमिव शुभवल्लवकुश-लसितगानमयकरुणादिरस-कृतमानसहारम्, श्रीभागवतमिव कृतगोपिकागीतप्रचारम्, मुरारिमिव मुरलीयमानता-सुश्रवस्वर-सारं कृष्णजन्ममहवाडव्यमिव च बाढगोप्रदोहशब्दलब्धसुख-सम्भारं विचारयामास, ॥४६॥

आदि से युक्त थे । अधिक क्या कहें ? देखो, श्रीकृष्ण की स्फूर्ति का सेवन करनेवाले पक्षीगण भी, मानो उद्धव के प्रति श्रीकृष्ण की क्रीडाओं को बलपूर्वक आजकल की सी विज्ञापित कर रहे थे ॥४२॥

उस समय गो आदि पशुगणों में स्फूर्ति पाते हुए श्रीकृष्ण ने, व्रज के निकट की भूमि में आये हुए उद्धव के प्रति, गो आदिकों के हर्ष की अधिकता को यथोचितरूप से जना दिया ॥४३॥

श्रीशुकदेवजी ने भी इस विषय को उसी प्रकार वर्णित किया है, यथा—एक गोरूप स्त्री के लिए युद्ध करनेवाले मदमत्त वृषभों से युक्त व्रज को उद्धव ने देखा, इत्यादि ॥४४॥

और देखो, उसके बाद व्रज में प्रवेश करते हुए उद्धव ने, पहले उस व्रज को अपने अन्तःकरण में अपूर्व जानते हुए भी, इस समय तो प्रगटरूप से ही सुख को देते हुए देखा ॥४५॥

उस समय श्रीउद्धवजी व्रज को श्लेषालङ्कार के द्वारा वर्णन करते हुए, कवि के भाव से इस प्रकार विचारने लगे कि—यह जो व्रज है वह समुद्र की तरह, महान् व्रज के भाव से प्रचार को प्राप्त कर रहा है, समुद्रपक्षे—महान् शब्द के भाव से प्रचार को प्राप्त कर रहा है। और चन्द्रमा जिस प्रकार प्राप्त की हुई किरणों की विशेष शुक्लता के विस्तारवाला होता है, उसी प्रकार यह व्रज भी प्राप्त किये हुए गोगण के द्वारा बहुत सी शुक्लकान्ति के विस्तारवाला है । आकाश जिस प्रकार किरणों की रचनाओं से सूर्य के द्वारा की गई शोभा को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार यह व्रज भी किरणों से संयुक्त गोपों के द्वारा विस्तारित शोभा के आकारवाला है । कर्मकाण्ड जिस प्रकार श्रीकृष्ण की तत्परता के सारांशवाले अग्नि, सूर्य, अतिथि, गो, ब्राह्मण आदि की पूजा के संग्राहक (ग्रहण करनेवाले) आगार, अर्थात् शब्दोंवाला होता है, उसी प्रकार व्रज भी श्रीकृष्ण की तत्परता के सार के लिए अग्नि, सूर्य आदि की पूजा के करनेवाले घरों से युक्त है । वाल्मीकीय रामायण जिस प्रकार शुभयुक्त लव-कुश नामक दोनों भ्राताओं के द्वारा शोभायमान गानमय करुण आदि रसों से सबके मन को हरनेवाला है, उसी प्रकार यह व्रज भी मङ्गलमय गोपों के कुशल से ग्रथित जो गान, उससे परिपूर्ण करुण आदि रस के द्वारा सभी के चित्त का अपहरण कर चुका है । और श्रीमद्भागवत जिस प्रकार 'गोपीगीत' का प्रचार कर चुका है, उसी प्रकार यह व्रज भी गोपियों के गीतों का प्रचार करनेवाला है । एवं श्रीकृष्ण जिस प्रकार मुरली की इच्छा के भाव से सुन्दर सुने जाने-वाले स्वर के सार से युक्त हैं, उसी प्रकार यह व्रज भी मुरली का सा आचरण करनेवाले भाव के कारण,

'गोरेणुभिश्छन्नरथः स उद्धवो, व्रजं विवेशान्यजनैरलक्षितः ।
प्रत्यग्महीध्रं च रविस्तदाविशद्,-दृष्टान्ततां कर्तुमिवेच्छुरात्मनः ॥'४७॥

"अथ रथं राजपथकृतनिर्धार-व्रजेश्वरद्वारपर्यन्तं समीर्य तस्मादवतीर्य सारथिरूपैक-सेवकेन समं तदन्तःपुराग्रिम-वेदिकामध्यमध्यासामास ॥४८॥

"ततश्च तं गतिप्रतिगतौ कुर्वाणाः कतिचिदीक्षित्वा सन्दिहानतामविन्दन्त ॥४९॥ यथा—

'कृष्णोऽयं यदि न स्फुरेदिह कथं तद्दृष्टियोग्यं सुखं
किंवासौ बलते तटस्थपदवीं रूपं तु तद्दृश्यते ।
रूपं केवलमत्र नांशुकलसद्वेषश्च स भ्राजते
तस्माच्छ्रीव्रजराजदम्पतिपदाम्भोजेषु विज्ञाप्यताम् ॥'५०॥

"तदेवमधिगत्य सोऽयमुद्धव एवेत्यवगत्य स्वयं बहिरागत्य श्रीमान् व्रजाधिपतिस्तं सङ्गतवान् ! सङ्गत्य च निजचरणखरदण्डस्य पुरतो दण्डवत् प्रणमन्तमुत्थाप्य सालिङ्गन-मस्रेण संस्नाप्य तत्कृतमञ्जलिं गृहीत्वा श्रीकृष्णमातुरुपान्तं नीत्वा चाययामास, 'सोऽयमुद्धवः' इति परिचाययामास च ॥५१॥

सुन्दर सुने जानेवाले स्वर के उत्कर्ष से युक्त है। तथा श्रीकृष्ण के जन्मोत्सव में ब्राह्मणों का समूह जिस प्रकार निश्चितरूप से गोदान करनेवालों के वितर्कमय वचनों से सुख की अधिकता को प्राप्त कर चुका था, उसी प्रकार यह व्रज भी अतिशय गोदोहन के शब्द से सुख की अधिकता को प्राप्त कर रहा है ॥४६॥

उस समय उद्धव का रथ गोधूलि से ढक गया था, अतः अन्य जनों के द्वारा न देखे गये उद्धवजी व्रज में प्रविष्ट हो गये। उसी समय अपने दृष्टान्त के भाव की इच्छा करनेवाले सूर्यदेव भी अस्ताचल में प्रविष्ट हो गये ॥४७॥

उसके बाद उद्धवजी राजमार्ग के द्वारा किये गये निर्णयवाले श्रीव्रजराज के द्वारतक रथ को चलाकर, उससे उतर कर, सारथिरूप एक सेवक के साथ व्रजराज के अन्तःपुर के आगेवाली वेदी के मध्य में बैठ गये ॥४८॥

तदनन्तर यातायात करनेवाले कुछ जन उद्धव को देखकर सन्देह करनेवाले के भाव को प्राप्त हो गये, अर्थात् सन्देहयुक्त हो गये ॥४९॥

यथा—यदि यह व्यक्ति श्रीकृष्ण है, तब इसके दर्शन में श्रीकृष्ण के दर्शन के योग्य सुख क्यों स्फूर्ति नहीं पा रहा है ? अथवा यह व्यक्ति उदासीन मार्ग का अवलम्बन कर रहा है, अर्थात् श्रीकृष्ण से भिन्न ही प्रतीत हो रहा है। किन्तु इसका रूप तो श्रीकृष्ण का सा ही दीख रहा है। इस व्यक्ति में केवल रूप ही श्रीकृष्ण का सा नहीं है, अपितु पीताम्बर के द्वारा शोभायमान वेशवाला यह वही, अर्थात् श्रीकृष्ण ही शोभा पा रहा है। इसलिए हम सबको श्रीव्रजराज एवं व्रजरानी के श्रीचरणों में निवेदन कर देना चाहिये ॥५०॥

अतएव इस प्रकार उनके वचनों को सुनकर, एवं अंगीकार कर, "यह उद्धव ही है" इस प्रकार समझ कर, स्वयं बाहर आकर, श्रीमान् व्रजराज उद्धव से मिले। और मिलते ही अपने चरणकमल के आगे दण्डवत् प्रणाम करते हुए उद्धव को उठाकर, आलिङ्गनपूर्वक आँसुओं से स्नान कराकर, उनकी रची हुई

"स च तस्याश्चरणकाष्ठामनु साष्टाङ्गं प्रणम्य रम्यविनयः सञ्चिताञ्जलि तस्थौ ॥५२॥

"अथ तौ स्वयं च परिजनद्वारा च यथायथं तमाराधयामासतुः। 'अतिथिरयं नारायणस्यायनम्' इति, 'लब्धकृष्णस्नेहवीथिरयं तदीयदेहप्रतिनिधिः' इति चोभयथाप्यधोक्षजतारोपात्तत्र हि न भिदां विदाम्बभूवतुः ॥५३॥

"लब्धविश्रमं तु तं क्रमशः समुच्छलदुत्कलिकाजातः कंसशमनस्य तातः प्रश्नविषयीचकार। तन्माता तु केवलं शृण्वती वाष्पेण निजसदनमावृण्वती बभूव ॥५४॥

"प्रश्नश्च, (भा० १०।४६।१६)—'कच्चिदङ्ग ! महाभाग' इति प्रभृतिशुकमुखामृतप्रसृतिमय एवास्वादनीयः; वयं तु सविशेषं परिवेषयामः ॥५५॥

"यथा— पृच्छायां निजतनयस्य स स्वदुःखा,-द्भीतः सन्न तु तमपृच्छदत्र पूर्वम्।
किन्त्वन्यान्निजसुहृदस्तदावृतिस्था,-नप्राक्षीद् व्रजनृपतिस्तमेव पृच्छन् ॥५६॥
अथ तस्मिन् सुप्रीतः, श्रीव्रजनृपतिः सुतस्य साहाय्यात्।
प्रश्नादाशिषयत् प्राक्, स महाभागेति संबोध्य ॥५७॥

अञ्जली को पकड़ कर, श्रीकृष्ण की माता के निकट ले जाकर, श्रीव्रजराज ने उनको दिखा दिया। एवं "यह वही उद्धव है" इस प्रकार परिचय भी करा दिया ॥५१॥

और वह उद्धव श्रीकृष्ण की माता के चरणों की ओर लक्ष्य करके साष्टाङ्ग प्रणाम कर, एवं मनोहर विनय से युक्त होकर, हाथ जोड़कर खड़ा हो गया ॥५२॥

अनन्तर श्रीनन्द-यशोदा इन दोनों ने स्वयं एवं सेवकों के द्वारा उद्धव का यथायोग्य सत्कार किया। श्रीनन्द-यशोदा ने अपने से छोटी अवस्थावाले उद्धव का जो सत्कार किया, उसका कारण यह था कि, वे दोनों "यह अतिथि श्रीनारायण भगवान् का मार्गस्वरूप है", "और यह अतिथि श्रीकृष्ण में स्नेह की पदवी को प्राप्त कर चुका है" अतः यह श्रीकृष्ण के देह के तुल्य ही है। इन दोनों प्रकारों से उद्धव के ऊपर श्रीकृष्ण के भाव के आरोप के कारण उद्धव में भेदज्ञान नहीं कर पाये ॥५३॥

अनन्तर क्रमशः भली प्रकार उछलती हुई उत्कण्ठा जिनके उत्पन्न हो गई, अतः कंस का शमन करनेवाले श्रीकृष्ण के पिता ने, विश्राम को प्राप्त हुए उद्धव को अपने प्रश्न का विषय बना लिया, अर्थात् उद्धव के विश्राम कर लेने के बाद श्रीनन्दजी ने उद्धव से कुशल समाचार पूछा। किन्तु श्रीकृष्ण की माता तो केवल सुनती हुई आँसुओं के द्वारा अपने घर को आप्लावित करने लगीं ॥५४॥

और वह कुशल प्रश्न भी "हे महाभाग्यशालिन् ! प्रिय उद्धव ! कहिये, हमारे सखा वसुदेवजी अपने पुत्रादि से युक्त होकर, एवं कारागार से मुक्त होकर, तथा अपने सुहृदों से परिवृत होकर, कुशलपूर्वक तो हैं ?" इत्यादिरूप से श्रीशुकदेवजी के मुख से निकला हुआ अमृत का अञ्जलिस्वरूप या विस्ताररूप ही आस्वादन करने योग्य है। किन्तु हम तो उसी प्रश्न के विषय को विशेषरूप से परिवेषण कर रहे हैं, अर्थात् परोस रहे हैं ॥५५॥

यथा—श्रीव्रजराज ने अपने पुत्र का कुशल पूछने के विषय में अपने दुःख से भयभीत होकर, यहाँपर पहले अपने पुत्र के बारे में नहीं पूछा। किन्तु श्रीकृष्ण के विषय में पूछते हुए ही उनके आसपास रहनेवाले उनके पार्षदरूप अन्य अपने सुहृदों के विषय में ही पूछा ॥५६॥

अनन्तर उन श्रीव्रजराज ने अपने पुत्र की सहायता के कारण, उद्धवजीपर परम प्रसन्न होकर, प्रश्न करने से पहले 'हे महाभाग !' यह सम्बोधन करके उद्धव को आशीर्वाद से युक्त कर दिया ॥५७॥

"प्रश्नस्तु यथा— 'भ्रातृजबुद्धया बाल्ये, मत्पित्रा यः समं मयाऽलालि ।
स मम भ्राता न परं, किन्तु सखापि स्फुटं शौरिः ॥५८॥
स सखा किं मम सम्प्रति, युक्तः पुत्रेण तेन तेनापि ।
पुर्यां राजति कुशली, येनैवात्मनि सुखं मन्ये ॥५९॥
अथ सुहृदामपि तस्य, क्षेमं पृच्छामि सुष्ठु सौख्याय ।
तैर्वृतिमवृतिश्चान्यै,-र्यस्मादधुनापि शत्रुपक्षोऽस्ति ॥६०॥
अहह व्रतमतिबालौ, चक्राते ताविति स्म चाश्रृण्म ।
तत्पर्यन्तं यातौ, कच्चित् परिषदि पुरः पुरः स्फुरतः ॥६१॥
मम हृदि यश्चिरमासी,-दब्दश्यामः प्रविश्य यस्याथ ।
अजनि तथैव च पितरं, सम्प्रति तं मां स किं स्मरति ? ॥६२॥
आष्टममासप्रसवं, तं प्रति कष्टं विशङ्कमानायाः ।
मातुः स्मरति तवाग्रे, जातु स वृष्णिप्रवीर ! किं कृष्णः ? ॥६३॥
मातरपितरसगोत्रा,-स्तत्संबद्धाश्च ये केचित् ।
तेषां प्रतिजनसौहृद,-मपि किं तस्यान्तरे स्फुरति ? ॥६४॥

कुशल प्रश्न, यथा—मेरे पिता पर्जन्य ने बाल्यकाल में भ्राता के पुत्र की बुद्धि से जिसका मेरे साथ लालन पालन किया था, वह वसुदेव केवल मेरा भ्राता ही नहीं है, किन्तु एकसाथ खेलने के कारण स्पष्टरूप से मेरा सखा भी है ॥५८॥

वही मेरा सखा वसुदेव, इस समय कृष्ण बलदेवरूप उस उस पुत्र से युक्त होकर, मथुरापुरी में कुशलपूर्वक विराजमान है क्या ? मैं जिसकी कुशलता से ही अपने में सुख मानता हूँ ॥५९॥

और भली प्रकार सुख के लिए वसुदेवजी के सुहृदों का भी कुशल पूछता हूँ। तथा उन सुहृदों के द्वारा वसुदेव के विराव को एवं अन्य जनों के द्वारा अविराव को भी पूछता हूँ। कारण, अब भी शत्रुओं का पक्ष विद्यमान है ॥६०॥

हाय ! हमने सुना है कि, अत्यन्त बालक वे दोनों राम-कृष्ण उपनयनपूर्वक गुरुकुल-वासादिरूप व्रत पालन कर चुके हैं। और दोनों भाई गुरुगृहतक जाकर मधुपुर की सभा में कहीं आगे ही शोभा पा रहे हैं क्या ? ॥६१॥

और जो घनश्याम मेरे हृदय में प्रविष्ट होकर चिरकालतक विद्यमान रहा, एवं पश्चात् उसी प्रकार मेरे द्वारा ही प्रगट भी हुआ, वही घनश्याम अब उसी मुझ पिता को स्मरण करता है क्या ? ॥६२॥

हे यदुवीर ! उद्धव ! आठवें महीने में उत्पन्न होनेवाले कृष्ण के प्रति कष्ट की आशंका करनेवाली माँ यशोदा को वह कृष्ण तुम्हारे आगे कभी स्मरण करता है क्या ? ॥६३॥

और मातापिता के जातिवाले एवं उनके सम्बन्धी जो कोई जन हैं, उन प्रत्येक जन की मित्रता भी श्रीकृष्ण के अन्तःकरण में स्फूर्ति पा रही है क्या ? ॥६४॥

अतिबाल्यादनुमिलनं, हातुं येषां स कातरो भवति ।
तेषां वहति सखीनां, किं बत चित्ते निजं विना भावम् ? ॥६५॥

गोरक्षायां नियता, रचिता ये स्वयमिहात्मनः स्थाने ।
कृष्णस्तान्निजभोजन,-काले दूरं पुरेव किं स्मरति ? ॥६६॥

यस्यात्मादिकमखिलं, स्वकृते स्वस्यापि यत्कृते भाति ।
तस्य व्रजस्य किञ्चि,-च्चेतसि कच्चिद् बलान्नयति ? ॥६७॥

जानीमः प्रत्येकं, गा मनुते स स्वतोऽप्यधिकाः ।
निजकरकवलैः पुषिता,-स्ताः किं चित्ते समाहरति ? ॥६८॥

यस्मिन् वृन्दाविपिने, लोचनपदवीमुपायाते ।
भोजनमपि विस्मरति, स्मरति किमेतत् कदापि कुत्रापि ? ॥६९॥

अहह गिरिं यं छत्रं, कृतवान् यान् वांघ्रिमुद्राक्तान् ।
तानधुना स्वविरिक्तान्, व्यर्थीभूतान् स किं वेत्ति ? ॥७०॥

अहह तदपि दूरे वर्ततां यन्निजाना,-मपरिहरणमासीत् किन्तु भूयादिदं च ।
सकृदपि कृपया तान् वीक्षितुं चेदुपेया,-न्मधुरनयनमास्यं हन्त पश्येम तस्य ॥७१॥

हाय ! अत्यन्त बालकपन के कारण जिन सखाओं के परस्पर मिलन को त्यागने के लिए जो कृष्ण कातर होता था, वह कृष्ण अपने चित्त में उन सखाओं के भाव को अपने बिना धारण करता है क्या ? ६५

और जो सखा श्रीकृष्ण ने यहाँपर स्वयं अपने स्थानपर गोरक्षा के निमित्त नियतरूप से रचे थे, अर्थात् स्थापित किये थे, उन सखाओं को श्रीकृष्ण अपने भोजन के समय दूर देश में जाकर भी, पहले की भाँति स्मरण करता है क्या ? ॥६६॥

और जिस व्रज के आत्मा आदि सकल पदार्थ अपने लिए, एवं अपने भी सकल पदार्थ जिस व्रज के लिए प्रतीत होते थे, उस व्रज की किसी वस्तु को भी श्रीकृष्ण बलपूर्वक अपने चित्त में लाते हैं क्या ? ॥६७

हम यह जानते हैं कि वह कृष्ण प्रत्येक गौ को अपने से भी अधिक मानता था, अतः अपने हाथ द्वारा दिये हुए ग्रासों से पुष्ट की हुई उन गौओं को कभी अपने चित्त में लाता है क्या ? ॥६८॥

और जिस वृन्दावन के नेत्रगोचर होते ही, श्रीकृष्ण अपने भोजन को भी भूल जाता था, क्या इस वृन्दावन को भी किसी स्थानपर याद भी कर लेता है ? ॥६९॥

हाय ! जिस गोवर्धनपर्वत को श्रीकृष्ण ने व्रजरक्षार्थ अपना छत्र बनाया था, तथा बरसानु एवं नन्दीश्वर आदि जिन पर्वतों को अपने चरणचिह्नों से युक्त किया था, इस समय अपने बिना खाली पड़े हुए उन पर्वतों को श्रीकृष्ण व्यर्थ हुए जानता है क्या ? ॥७०॥

हाय ! पहले जिन आत्मीयजनों का परित्याग नहीं किया था, उस बात को भी दूर रहने दो, किन्तु यह मिलन पुनः हो जाय । वह कृष्ण यदि कृपा करके एकबार भी उनको देखने के लिए आजाय, हाय ! तब तो मधुर नेत्रोंवाले उसके मुख को हम भी देख लेंगे ॥७१॥

प्रखरपवनचक्राद्दावविह्नेः क्षयार्थ,-प्रकटितखरवर्षाद् रक्षिताः स्मः स्वयं चेत् ।
निजविरहजदावज्वालया दह्यमाना,-न्न कथमवति सम्प्रत्यस्मकान् पुत्रवर्यः ? ॥७२॥

हसितगदितलीलापाङ्गवीक्षाविलासाः, सुखदपदतयाऽऽसन् ये तु कृष्णस्य पूर्वम् ।
दलितसकलमर्मक्रीडया तेऽधुनाऽस्मान्, शिथिलिततनुधर्मान् स्थावरान् वा चरन्ति ॥७३॥

यदि गृहजनदुःखं वीक्ष्य गेहं त्यजाम,-स्तदपि महति सादे पातमासादयामः ।
यदिह वनमहीभृन्निम्नगा प्रान्तदेशाः, स्फुरितहरिपदाङ्कास्तं हरिं स्मारयन्ति ॥७४॥

अयमहह सुते स्वे रागवानेवमस्मि,-न्मयि विषयिधिया त्वं मास्म कार्षीः कुदृष्टिम् ।
हरिबलयुगलं तन्नान्यसाधारणं स्या,-दपि तु सुरमुनीनां ध्येयमित्याह गर्गः ॥७५॥

'तत्प्रभावश्च युष्माकमस्माकं चानुभवपदमेव ॥७६॥

'तथा हि— कंसं हस्त्ययुतप्रभं करिवरं तं मल्लवृन्दं च त-
ल्लीलालेशत एव यौ निरहतां युष्माकमेवाग्रतः ।
तन्माहेशधनुश्च यत्र नलवद्भग्नं तयोर्यत् परं
तत्तद्दानवघातमद्रिधरणं चाद्यं कृतं किं ब्रुवे ?' ॥७७॥

जिस श्रीकृष्ण ने तीक्ष्ण तृणावर्त से, दावानल से, एवं व्रज के क्षय के लिए इन्द्र के द्वारा प्रगट की हुई तीखी वर्षा से यदि स्वयं हमारी रक्षा की है, तब इस समय वही पुत्रश्रेष्ठ श्रीकृष्ण अपने विरह से जनित दावानल की ज्वाला से जलते हुए, हम सबकी रक्षा क्यों नहीं कर रहा है ? ॥७२॥

पहले श्रीकृष्ण का हँसना, बोलना, लीला, एवं कटाक्षपूर्वक देखना, तथा विलास इत्यादि जो कार्य सुख देने के स्थानरूप होकर विद्यमान थे, वे सभी कार्य अब सभी मर्मों को दलित करनेवाली क्रीडा के द्वारा, शिथिलता से युक्त शारीरिक धर्मवाले हम सबको स्थावरों जैसे बना रहे हैं ॥७३॥

यदि घर के जनों के दुःख को देखकर हम घर को त्याग भी दें, तो भी महान् दुःख में गिर पड़ेंगे ऐसा भान होता है। कारण—इस व्रज में श्रीवृन्दावन आदि वन, श्रीगोवर्धन आदि पर्वत, श्रीयमुना आदि नदियाँ, एवं व्रज के अन्य जो प्रान्त प्रदेश हैं, वे सब स्फूर्ति पाते हुए, कृष्ण-चरणचिह्नोंवाले होनेके कारण, उन्ही श्रीकृष्ण का स्मरण करा रहे हैं ॥७४॥

अहह ! हे उद्धव ! "यह नन्द अपने पुत्रपर अनुराग करनेवाला है" इस प्रकार के विचार से विशुद्ध स्नेहवाले मुझपर,तुम विषयीजनों की सी अज्ञबुद्धिसे कुदृष्टि नहीं करना। क्योंकि वह कृष्ण-बलराम की जोड़ी अन्य साधारणजनों के समान नहीं हो सकती; अपितु, देवर्षिगणों की भी ध्येय है यह सिद्धान्त श्रीगर्गाचार्य ने कहा है ॥७५॥

और उन दोनों भाइयों का प्रभाव भी तुम्हारे हमारे अनुभव का स्थान ही है ॥७६॥

देखो, दशहजार हाथी के समान बलवाले कंस को, उस कुवलयापीड़ नामक हाथी को, एवं चाणूर आदि उस मल्लसमुदाय को, जिन्होंने तुम सबके सामने ही, लीला के लेश से ही मार डाला। और वह शंकरजी का धनुष् जिन दोनों भाइयों के निकट ग्रन्थिरहित तृण की तरह, अथवा कमल की तरह टूट गया, अतः उन दोनों भाइयों का पहले व्रजलीला में किया हुआ, जो दूसरा उन उन पूतनअघासुर-बकासुर आदि दैत्यों का मारना, एवं गोवर्धन का धारना आदि कार्य है, उसके विषय में क्या कहूँ ? ॥७७॥

"तदेवमुक्त्वा च—वीर्यं यद्यपि तस्य तादृशमथाप्यन्तस्तु मे मार्दवं
गृह्णत् केवलमार्द्रभावमयते कुर्यां किमेवं वदन् ।
कण्ठे नेत्रयुगे च रोदनजलं बिभ्रद् व्रजाधीश्वरः
किं वक्तुं बत शक्यतां हरिहरि श्वासावरोधं दधे ॥७८॥

"उद्धवमभि तद्वर्णित,-सुतचरितार्द्रा यशोदापि ।
स्वेदस्तनदृक्क्षीरैः, स्यादियमत्रापगेति मेने सः ॥७९॥

"तदेवं बुध्वा उद्धवश्चिन्तयामास,—'अहो ! मम महाभाग्यम्, यदीदृशभृशकृष्णस्नेहावृतौ ताविमौ साक्षात्कृतौ । किन्तु तदिदं परामृश्यते, तयोरनयोस्तं विना कालविघट्टनं खलु दुर्घटमेव । तस्य मत्प्रभोरागमनमनयोश्च तत्र गमनमतीव दुःसङ्गमम् । तस्माद् यद्यप्यस्य नैसर्गिकेहस्य स्नेहस्य हानिर्म्लानिश्च न सम्भवत्येव, तथापि यदि स्थगितता कर्तुं शक्यते, तदा केवलमाभ्यां तर्तुं शक्यमशक्यमन्यदा । सा च तदीय-परमतत्त्वताज्ञानात्तत्प्रेम-माहात्म्य-कृतात्मीय-महत्त्वज्ञानाद्वा घटेत । तत्तज्ज्ञापनं चाधुना परं लब्धावसरं जातमस्ति; यतः स्वयमेव मां बोधयताऽनेन तत्प्रभावः सम्भावनविषयः सम्प्रति कृतः' इति ॥८०॥

"अथ स्पष्टं चाचष्ट,—'कृष्णो नारायणाख्यः स्वयमिह भगवान् प्रेम तस्मिन् विशुद्धं
सर्वेष्वर्थेषु वर्यं तदनु च परमं भाति वात्सल्यमेव ।

इस प्रकार कहकर श्रीकृष्ण का ऐश्वर्य प्रतिपादक पराक्रम यद्यपि पूर्वोक्त प्रकार का है, तथापि मेरा अन्तःकरण तो श्रीकृष्ण की कोमलता को ग्रहण करता हुआ, केवल स्निग्धता को प्राप्त हो रहा है। इस विषय में मैं क्या करूँ ? इस प्रकार कहते हुए श्रीव्रजराज कण्ठ एवं दोनों नेत्रों में रुदन के जल को धारण करते हुए, हाय ! क्या कह सकते हैं ? किन्तु खेद की बात है कि, श्रीव्रजराज तो श्वासों के अवरोध को ही धारण करने लग गये ॥७८॥

उद्धव को लक्ष्य करके श्रीव्रजराज के द्वारा वर्णित अपने पुत्र के चरित्र से आर्द्र हुई यशोदा भी स्वेदजल, स्तनदुग्ध, एवं नेत्रजल के प्रवाह के कारण, यहाँपर यह नदी ही होगी, उद्धव ने ऐसी मानली ॥७९

अतएव इस प्रकार जानकर उद्धव अपने मन में विचार करने लगा कि—अहह ! मेरा कितना महाभाग्य है, जो कि इस प्रकार कृष्ण के महान् स्नेह से परिपूर्ण इन दोनों का साक्षात्कार किया ? किन्तु अब तो यह विचार किया जाता है कि, इन दोनों का श्रीकृष्ण के बिना समय बिताना तो निश्चितरूप से कठिन ही है। उन मेरे प्रभु श्रीकृष्ण का यहाँ आना, एवं इन दोनों का इस समय मथुरा में जाना, अत्यन्त असङ्गत प्रतीत होता है। अतएव यद्यपि स्वाभाविक चेष्टावाले इस वात्सल्य स्नेह का नाश, एवं मलिनता भी नहीं हो सकती, तथापि यदि स्वाभाविक स्नेह की किंचित् स्थगितता (रुकावट) की जा सके, तब तो केवल ये दोनों विरहसागर से तर सकते हैं, अन्यदा अर्थात् स्नेह की रुकावट के अभाव के समय तो तरना कठिन है। और वह स्नेह को रुकावट भी, श्रीकृष्ण की परमतत्त्वता के ज्ञान से, अथवा उस लोकोत्तर प्रेम के माहात्म्य के द्वारा किये गये अपने महत्त्व के ज्ञान से ही संघटित हो सकती है । इस समय तत्तद् विषय को समझाना भी श्रेष्ठ अवसर को प्राप्त कर चुका है। कारण—मुझको समझाते हुए श्रीनन्दजी ने स्वयं ही इस समय श्रीकृष्ण का प्रभाव, सम्भावना का विषय बना दिया है ॥८०॥

यह विचार कर उद्धव स्पष्ट बोला—श्रीनारायण नामक श्रीकृष्ण ही यहाँपर स्वयं भगवान् हैं, उन

तस्मिन् पूर्तिं युवां यत् त्रिजगति च गतौ तेन तस्यैव मूर्तौ
यावञ्चन्तः परेऽपि प्रचुरतररतिं केचिदाप्स्यन्ति सन्तः ॥८१॥
प्रधानं पुरुषो ब्रह्म यदेतत् त्रयमुच्यते ।
अंशांशं तद्विजानीयात् कृष्णरामाह्वयप्रभोः ॥' इत्यादि ॥८२॥

"अथानयोः केवलतन्माधुर्यप्रवणतया तत्तदश्रवणमवधार्य पुनस्तद्दुःखशमनाय तदागमनमेवावगमयति स्म; तथापि तत्तात्पर्येण माधुर्येण सममैश्वर्यमप्यस्य तदनयोर्मनः प्रवेक्ष्यतीत्यवेक्ष्य तच्च समुच्चिनोति स्म ॥८३॥ यथा—

'सर्वेषां सात्वतानां पतिरपि भगवान् शुद्धवात्सल्यभावात्
पुत्रत्वं प्राप यद्वां तदतिलघु युवामाव्रजेदेव देव ! ।
आव्रज्यापि स्वयं तद्ध्रुवदभिरुचितं नित्यमुच्चैर्विधाता
लोके वेदे च सिद्धिं वलयति भवतोस्तत्र यल्लालनाख्यम् ॥८४॥
हत्वा कंसं रङ्गमध्ये प्रतीपं, सर्वेषां नः सात्वतानां स कृष्णः ।
आगम्याराद् वो यदूचे तदर्थं, पृष्टोऽस्माभिः सत्यमुच्चैः करोति ॥'८५॥

श्रीकृष्ण में ऐश्वर्य ज्ञानरहित विशुद्ध प्रेम ही, धर्मार्थ काम मोक्षरूप सब पुरुषार्थों में श्रेष्ठ माना गया है। और उस प्रेम को लक्ष्य करके वात्सल्यरस ही अधिक शोभा पाता है। और तुम दोनों तीनों लोकों में उस वात्सल्यरस में जिस कारण से पूर्ति को प्राप्त हुए हो, उसी कारण से उस वात्सल्यरस के मूर्तिस्वरूप जिन तुम दोनों को पूजते हुए वात्सल्यरस के उपासक दूसरे कुछ सन्त भी अत्यन्त अधिक प्रेम को प्राप्त कर लेंगे। इसलिए आप दोनों ही प्राणीमात्र में प्रशंसनीय हो ॥८१॥

और प्रकृति, पुरुष, एवं निराकार सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म—ये तीन पदार्थ जो शास्त्रों में कहे जाते हैं, इन तीनों को ही श्रीकृष्ण-बलराम नामक स्वयं भगवान् के अंशों के अंश जानने चाहिये ॥८२॥

अनन्तर श्रीनन्द-यशोदा के केवल श्रीकृष्ण के माधुर्य में तत्पर होने के कारण, श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य प्रतिपादक तत्तद् वचनों के न सुनने को निश्चय करके, उद्धव ने पुनः उनके दुःख को दूर करने के लिए श्रीकृष्ण का व्रज में आना ही जना दिया। तथापि ऐश्वर्य के तात्पर्यवाले, माधुर्य के साथ श्रीकृष्ण का वह ऐश्वर्य भी इन दोनों के मन में प्रविष्ट हो जायगा, यह विचार कर ऐश्वर्य के सहित उस माधुर्य का विस्तार कर दिया ॥८३॥

यथा—हे देव ! व्रजराज ! देखो, भगवान् श्रीकृष्ण समस्त यादवों के एवं भक्तों के पति होकर भी, तुम्हारे विशुद्ध वात्सल्यभाव से तुम दोनों के पुत्रभाव को प्राप्त हो गये। इसलिए वे, तुम दोनों के निकट अतिशीघ्र ही आजायँगे। और आकर के भी आप दोनों के अभिलषित कार्य को स्वयं नित्य ही विशेषरूप से सम्पादन करेंगे। क्योंकि आप दोनों का श्रीकृष्ण में जो लालन नामक वात्सल्यभाव है, वह लोक एवं वेद में भी सिद्धि को प्राप्त हो रहा है ॥८४॥

और हम सब यदुवंशियों के प्रतिकूल आचरण करनेवाले कंस को रङ्गस्थल के बीच में मारकर, पश्चात् आपके निकट आकर, आपके प्रति उन श्रीकृष्ण ने "यात यूयं व्रजं तात ! वयं च स्नेहदुःखितान् । ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां सुखम् ॥ भा० १०।४५।२३" इत्यादिरूप से जो कहा है, उसके विषय में हमने पूछा भी है, वे विशेषरूप से सत्य ही करते हैं ॥८५॥

"अथ तदापि तयोः खेदसंवेदनतः स पुनरुग्रवैयग्र्यमुवाच,—

'अहह महितभागौ खिद्यतं मा समीपं, सततमधिवसन्तं द्रक्ष्यथः कृष्णमाशु।

उपभवदयमस्तीत्येतदास्तां समस्मि,-न्नपि तदुपमितेः किं कृष्णवर्त्मत्वमग्नौ ? ॥८६॥

अधुना प्रकटं रूपं, घटयति न हरिर्व्रजे यत्तु।

तत्कारणमुद्दिष्टं, स्वयमसुरादेर्विमोहनप्रथनम् ॥'८७॥

"तदेवं तु तस्य सर्वत्र साधारण्यं गण्यं मन्यमानस्तयोस्तापातिशयः स्यादिति धृतमन्युः पुनरन्यथा सान्त्वयन्नुवाच,—

'न ह्यस्य प्रियमप्रियं च किमपि स्वं नास्वमप्यच्युत-

स्याम्बा नैव पितापि नैव घटते कुत्रापि सर्वेशितुः।

यद्यप्येवमथापि भक्तजनता-प्रेमार्ततानुत्तये

तत्तद्भावमयत्यसावथ कथं वां तादृशावुज्झतु ?' ॥८८॥

"अथ भक्तजनादन्यत्र तु तस्य तत्तत् कुर्वत्कल्पस्य नाल्पकोऽप्यावेशस्तज्जनादन्ये च तत्र सम्भ्रमा एव' इति वदन् पूर्वार्थमेव पुष्णन्नुवाच,—

अनन्तर इतना समझानेपर भी, श्रीनन्द-यशोदा के मानसिक खेद का अनुभव करके, श्रीउद्धव पुनः अत्यन्त व्यग्रतापूर्वक बोला—अहह ! आप दोनों का भाग्य सर्वप्रशंसित है, अतः आप दोनों खेद न करें। क्योंकि आप दोनों निरन्तर अपने पास निवास करते हुए श्रीकृष्ण को शीघ्र ही देखोगे। और यह कृष्ण अब भी आप दोनोंके पास(व्यापक रूप से) है,इस बात को तो रहने दो। अपितु समस्त अग्निमें श्रीकृष्णकी समानता के कारण ही मानो अग्नि में 'कृष्णवर्त्मत्व' (कृष्ण के व्यापक मार्ग का सा भाव) है क्या ? अर्थात् कृष्ण की तरह अग्नि का मार्ग भी व्यापक है, इसीलिए अग्नि को कोष में 'कृष्णवर्त्मा' इस नाम से कहा गया है, अतः व्यापकता के विषय में श्रीकृष्ण ही यदि उपमा है, तब तो श्रीकृष्ण व्रज में भी नित्यनिवास करते हैं। तात्पर्य—अग्नि तो केवल काष्ठ में ही व्याप्त है, किन्तु श्रीकृष्ण तो वस्तुमात्र में व्याप्त हैं, अतः व्रज में सदा विद्यमान हैं ॥८६॥

इस समय श्रीकृष्ण व्रज में अपने प्रगट रूप को जो संघटित नहीं करते,उसका कारण तो श्रीकृष्ण ने "असुर आदिकों के विशेष मोह का विस्तार",ही स्वयं निर्दिष्ट कर दिया है, अर्थात् मैं इसी समय यदि व्रज में प्रगट रूप से स्थित रहूँ, तो असुर आदि पहले की अपेक्षा और भी अधिक उत्पात करेंगे ॥८७॥

अतएव इस प्रकार श्रीकृष्ण का सब पदार्थों में व्यापक रूप साधारणभाव गणनीय मानकर, "श्रीनन्द-यशोदा को महान् सन्ताप होगा", इस कारण उद्धव शोक को धारण कर पुनः दूसरे प्रकार से सान्त्वना देता हुआ बोला—इन श्रीकृष्ण का प्रिय-अप्रिय कुछ भी नहीं, एवं अपना-पराया भी कुछ नहीं है। कारण—वे सर्वत्र समदर्शी हैं। अतः जगत् में कहीं भी उनकी माता एवं पिता भी संघटित नहीं हो सकता। कारण—वे सर्वेश्वर हैं, सर्वतः परिपूर्ण हैं। यद्यपि इस प्रकार की व्यवस्था है, तथापि भक्तरूप जनता की प्रेमजनित पीडा की भावना को दूर करने के लिए, वे श्रीकृष्ण माता-पिता आदि के भाव को प्राप्त होते हैं। अतः उस प्रकार की प्रेमजनित पीडा से आर्त हुए आप दोनों को किस प्रकार त्याग सकते हैं ? ॥८८॥

आपाततः प्रिय-अप्रिय आदि करते हुए से श्रीकृष्ण का भक्तजनों से अन्यत्र तो थोड़ा सा भी आवेश

'नुदतोश्वरसान्निध्यं गुणान्न स्वयमीश्वरः ।
तत्र तद्विमुखा जीवा मायया दधति भ्रमम् ॥८९॥

'यस्मादेवं तस्मात्—

सुतोऽयं युवयोरेव तादृग्भाववशात् प्रभुः ।
तदभावात्तु नान्येषां साधारण्याद्धि सर्वकम् ॥'९०॥

''इत्युद्धव-श्रीव्रजराजयोर्मुहुः, स्वस्वानुरूपं वदतोर्निशा गता ।
बुद्धिस्तु तस्मिँल्लघुरुद्धवस्य सा, व्रजेशितुः प्रेमजवेन चिक्षिपे ॥९१॥

''तदेवं सति—

सदा हरिस्फूर्तिसुखेन दीव्य,-द्वेषास्तदा काश्चन गोपनार्यः ।
शीघ्रं समुत्थाय निरूप्य दीपान्, वास्तुं समभ्यर्च्य दधीन्यमन्थन् ॥९२॥

कमलनयनगानं तत्र तासां समन्ता,-न्मथननिनदमिश्रं द्यामपि व्याप शश्वत् ।
श्रवसि यदथ कुर्वन्नुद्धवस्तत्र मेने, निखिलशिवमिदं चेद्भाति कृष्णः क्व दूरे ?९३॥

''अथ ब्राह्ममुहूर्तमागतमभीक्ष्य मूर्तभक्तिरूपः सर्वभक्तभूपः प्रातर्भगवदुपासनावासना-परित्यक्त-निजासनस्तावनुज्ञाप्य तीर्थमाप्यं गच्छन्निवेदयामास,—॥९४॥

नहीं होता है। अतः भक्तजनों से दूसरे जन श्रीकृष्ण में भ्रम से युक्त ही हैं, इस प्रकार कहते हुए उद्धव पहले अर्थ को ही पुष्ट करते हुए बोले—ईश्वर की समीपता को प्राप्त करानेवाले गुणों को ईश्वर स्वयं खण्डित या प्रेरित नहीं करता। किन्तु पूर्वजन्म के कर्मानुसार ईश्वर से विमुख जीव, ईश्वर के ऊपर माया के कारण भ्रम का आरोप करते रहते हैं ॥८९॥

जब देखा जाता है कि, भगवान् भक्तों के ही वशीभूत हैं, एवं अभक्तों के अधीन नहीं हैं, उसी कारण ये प्रभु श्रीकृष्ण उस प्रकार के लोकोत्तरभाव के वशीभूत होने से, तुम दोनों के ही पुत्र हैं। तुम्हारे जैसे भाव के अभाव से तो अन्यजनों के लिए साधारणभाव से सब सुख नहीं हो सकते ॥९०॥

इस प्रकार उद्धव एवं श्रीव्रजराज के बारंबार अपने अपने अनुरूप कहते कहते रात्रि व्यतीत हो गई। किन्तु उस समय उद्धव की वह तीक्ष्ण बुद्धि तो श्रीव्रजराज के प्रेम के वेग ने दूर फेंक दी ॥९१॥

उस समय सदैव श्रीकृष्ण की स्फूर्ति के सुख से मनोहर वेशवाली कुछ गोपाङ्गनाएँ शीघ्र ही उठकर, दीपक जलाकर, गोबर आदि के द्वारा वास्तुभूमि का पूजन करके दधिमन्थन करने लग गईं ॥९२

उस समय उन गोपियों के चारों ओर से दधिमन्थन के शब्द से मिले हुए कमलनयन श्रीकृष्ण के गायन ने स्वर्ग को भी निरन्तर व्याप्त कर लिया। अनन्तर जिस गायन को अपने कर्णगोचर करते हुए यदि उद्धव ने ही वहाँपर, इस गायन को सर्वमङ्गलकारक मान लिया, तब श्रीकृष्ण दूर कहाँ प्रतीत हो रहे हैं, अर्थात् निकट में ही विद्यमान हैं ॥९३॥

अनन्तर ब्राह्ममुहूर्त को आया हुआ देखकर, मूर्तिमती भक्ति के स्वरूप, एवं सभी भक्तों के भूप उन उद्धवजी ने, प्रातःकाल भगवान् की उपासना की वासना से अपने आसन को त्यागकर, श्रीनन्द-यशोदा की आज्ञा लेकर, जलसम्बन्धी तीर्थ अर्थात् यमुना के घाटपर जाते हुए, यह निवेदन किया कि— ॥९४॥

'अहमहह भवन्तौ सान्त्वितौ कर्तुमैच्छं, मदनुभजति वां तु स्नेहचर्या विदूरम् ।
अपि सकलमभीष्टं सैव चाह्नाय कुर्या,-न्मम परमतिधाष्टर्यं कष्टमुच्चैः करोति ॥९५॥

मा कुरुतं पुरुचिन्तां, व्रजकुलकुलपालकौ युवकाम् ।
यः खलु भवतोः पोतः, स भवति जगतां भवाम्बुधेः पोतः ॥'९६॥

इति निवेद्य तीर्थं गते तूद्धवे राजपथस्थितं तद्रथमवलोकयँल्लोकः 'कस्यायम्' इति सन्दिदेह । "तत्र तु—

उद्धवस्य रथं दृष्ट्वाऽक्रूरं रामाः शशङ्किरे ।
चूर्णेन दग्धजिह्वानां भवेत्तद्भ्रमदं दधि ॥"९७॥

अथ मधुकण्ठः समापनपद्येनानन्दयन्नुवाच,—
"तदिदमिदमपूर्वं वर्णितं पूर्ववृत्तं, व्रजनृप ! तनयस्ते सोऽयमङ्के विभाति ।
अहह तव मुखेन्दौ म्लानतां वीक्ष्य गण्ड,-द्वयमिह निजमस्त्रैः सिञ्चतेऽसौ चिराय ॥९८॥

तदेवं सर्वं सन्तोष्य सर्वेण सन्तोष्यमाणौ स्ववासमासन्नाविति सर्वोऽपि यथायथं स्वस्वपथमासन्नवान् ॥९९॥

हाय ! मैं आप दोनों को सान्त्वना से युक्त करने की इच्छा करता रहा । किन्तु आप दोनों की श्रीकृष्णविषयक स्नेह की चर्या तो मुझ से बहुत दूर जा रही है, अर्थात् ऐसा स्नेह मैंने कहीं भी नहीं देखा । अतः वह स्नेह की चर्या ही सम्पूर्ण अभीष्ट को भी शीघ्र ही पूरा कर देगी । केवल आप दोनों को समझाने के लिए मेरी जो अत्यन्त धृष्टता है, वह मुझे विशेष कष्ट पहुँचा रही है ॥९५॥

हे श्रीनन्दजी ! देखो, आप दोनों तो व्रजकुल की, अर्थात् व्रजदेश की एवं कुल की, अर्थात् अपने गोत्र की तथा सजातीयगण की रक्षा करनेवाले हो, अतः आप दोनों अधिक चिन्ता न करें । क्योंकि जो आप दोनों का बालक है, वह समस्त जीवों को संसार-सागर से पार करने को नौकास्वरूप है ॥९६॥

इस प्रकार निवेदन करके उद्धवजी जब यमुना के घाटपर चले गये, तब राजमार्ग में खड़े हुए उनके रथ को देखते हुए लोग "यह रथ किसका है ?" इस प्रकार सन्देह करने लग गये । वहाँपर गोपाङ्गनाएँ तो उद्धव के रथ को देखकर, पुनः अक्रूर की आशंका करने लग गईं । क्योंकि देखो, जिनकी जिह्वा चूने से जल जाती है, उनके लिए दही भी चूने का सा भ्रम देनेवाली हो सकती है ॥९७॥

अनन्तर मधुकण्ठ प्रसङ्ग की समाप्ति के द्योतक श्लोक के द्वारा, श्रोताओं को आनन्दित करता हुआ बोला—हे श्रीव्रजराज ! यह सब तो पहले बीता हुआ वृत्तान्त ही मैंने अपूर्वरूप से वर्णित किया है । आपका यह प्यारा पुत्र तो आपकी गोद में ही शोभा पा रहा है । हाय ! तुम्हारे मुखचन्द्र में विरहजनित मलिनता को देखकर, यह तुम्हारा लाल अपने दोनों कपोलों को आँसुओं के द्वारा बहुत देर से भिजा रहा है ॥९८॥

इस प्रकार दोनों कथावाचक सबको सन्तुष्ट करके, सबके द्वारा सन्तोष पाते हुए, अपने निवास-स्थानपर पहुँच गये । अतः अन्य सब जन भी यथायोग्य अपने अपने मार्ग में चल पड़े ॥९९॥

न तथा मे प्रियतम इत्याद्युक्तिभिरीडितः ।
स्वयं श्रीहरिणा सोऽयमुद्धवो व्रजदूतकः ॥१००॥

इति श्रीश्रीमदुत्तरगोपालचम्पूमनु श्रीमदुद्धवमुद्धवसन्देशसम्पदसमं नाम दशमं पूरणम् ॥१०॥

अथैकादशं पूरणम्

दूत-भ्रमकर-भ्रमरसम्भ्रमः

अथ पूर्ववदसितसुन्दर-राधयोः सदसि कथा यथा—अथ कथाबाहुल्यमवधाय विभागाय समुत्कण्ठः स्निग्धकण्ठ एवोवाच,—॥१॥

"अथ श्रीमानुद्धवस्तदेव तीर्थं जगाम, यत् खलु निजप्रभुणा तासां सर्वासामपि सम्प्रति समुच्चितीभवन्तीनामिष्टदेवताराधनादिलक्ष्यतया कालं क्षिपन्तीनां स्थानतया निर्दिष्टम्; किन्तु ताभ्यः सुबहु व्यवधाय तत्र प्रातःस्नानाह्निकमह्नाय निर्मितवान्, निर्माय च भक्त्या सावधानं किञ्चिदव्यवधानमानश्च ॥२॥ "अश्वता च तेन—

"क्षीणाङ्गाः स्रस्तकेशा मलशवलपटाः प्रज्वलत्सन्निकृष्टाः
दृष्टास्ता जातवेदस्ततय इव वृता धूमभस्मादिभिर्याः ।

ग्रन्थकार उद्धव की महिमा कहते हुए स्वयं बोले—"हे उद्धव ! तुम मुझको जैसे अतिशय प्रिय लगते हो उस प्रकार ब्रह्मा, शिव, बलराम आदि भी प्रिय नहीं लगते" इत्यादि वचनों के द्वारा श्रीहरि ने स्वयं जिसकी प्रशंसा की थी, वह अब गोलोक की सभा में विराजमान यह उद्धव ही व्रज का दूत बना था । अतः व्रज की महिमा सर्वोपरि है, यह तात्पर्य है ॥१००॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रिविरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीमदुत्तरगोपालचम्पूकाव्ये श्रीमदुद्धवमुद्धवसन्देशसम्पदसमं
दशमं पूरणं सम्पूर्णम् ॥१०॥

ग्यारहवाँ पूरण

दूत का भ्रम देनेवाले भ्रमर का संभ्रम

इस ग्यारहवें पूरण में श्रीराधिका का विस्मयजनक विचित्र भाव वर्णित होगा । अनन्तर पहले की भाँति श्यामसुन्दर एवं श्रीराधिका की सभा में कथा, यथा—इस प्रसङ्ग में कथा की अधिकता को जानकर उसका विभाग करने को विशेष उत्कण्ठित हुआ, स्निग्धकण्ठ ही बोला— ॥१॥

अनन्तर श्रीमान् उद्धव उसी तीर्थस्थानपर गये जो कि अपने स्वामी श्रीकृष्ण ने "इसी समय एकत्रित होनेवालीं, एवं इष्टदेवता की आराधना आदि के बहाने से कालक्षेप करनेवालीं" उन सभी गोपियों के लिए स्थानरूप से निर्दिष्ट किया था । किन्तु वहाँपर उद्धवजी ने उन गोपियों से विशेष दूर रहकर प्रातः-स्नान एवं सन्ध्यावन्दन आदि आह्निक (दैनिक)कार्य शीघ्र ही कर लिया । और भक्तिपूर्वक आह्निककृत्य करतेही सावधानीपूर्वक कुछ प्रगट हो गये, या निकट आ गये ॥२॥

और निकट आते हुए उद्धव ने उन गोपियों को देखा कि, श्रीकृष्ण के विरह में जिनके सब अङ्ग क्षीण हैं, केश बिखरे हुए हैं, वस्त्र मलिन हैं, एवं जिनके गूढ तेज से आसपास का स्थान प्रज्वलित हो रहा है, तथा इन्हीं स्थितियों के कारण जो धुआँ एवं भस्म आदि से ढकी हुई अग्नि की पंक्तियों के समान

किञ्च व्यग्राक्षियुग्मा दलदधरदलश्वासवर्गा मुखान्तः-
शोषा योषा मृगाणामिव दवदवनात् त्रस्तनेत्रा विमृष्टाः ॥३॥

"तदा च— श्यामं वर्तुलदीर्घपीवरभुजं चन्द्राभ-वक्त्रस्फुरत्-
कञ्जाक्षं नवयौवनं किमपरं सौन्दर्यपर्याचितम् ।
मीनक्षोणिपकर्णिकं कनकजिद्वस्त्रं तदास्तामपि
श्रीकृष्णभ्रमदं विलोक्य तममूश्चित्रं चिरादाययुः ॥४॥
तास्तु यद्यप्युद्धव,-मीक्षाञ्चक्रुः कृष्णोपमं गोप्यः ।
तदपि न तद्भ्रममगमन्, भावस्तासां हि सच्चक्षुः ॥५॥
दधति कदापि च साम्या,-दप्राणिष्वेव कृष्णदृष्टिं ताः ।
न पुनः प्राणिषु कुर्यु,-र्भावस्तासां हि धर्मपालः स्यात् ॥६॥

"ततश्च विस्मितय सर्वाश्च सविनयक्रमं तमर्वाग्भवन्तं कमलाधिपतिसंवासवासित-बहिरन्तरं कमलमात्रप्राणतापात्रमधुलिड्जातय इव कमलाकरजगत्प्राणं परिवव्रुः ॥७॥

"परिवृत्य च तं कृष्णादृत्यभृत्यतया मनसिकृत्य प्रश्रयेणादृत्य सूनृतासनादिभिः सत्कृत्य क्षणकतिपयं तूष्णीकामनुसृत्य कृत्रिमस्मितान्निज-तापमावृत्य चाऽऽचचक्षिरे,—॥८॥

प्रतीत हो रही थीं। किंच "श्रीकृष्ण के दर्शन के लिए" जिनके दोनों नेत्र व्यग्र थे, एवं जिनके स्वाससमूह अधरदल को, अर्थात् अधरोष्ठ को पीडित कर रहे थे, तथा जिनके मुख का भीतरी भाग प्रायः सूख रहा था। इसलिए उद्धवजी ने उन गोपियों को दावानल की पीडा से उद्विग्न नेत्रोंवाली मृगियों के समान विचारा ॥३॥

और उस समय श्यामवर्णवाले, गोलाकार लम्बी लम्बी स्थूल भुजाओंवाले, चन्द्रमा की सी कान्ति-वाले मुख में स्फूर्ति पानेवाले कमल के से नेत्रोंवाले, नवीन यौवनवाले, अधिक क्या कहें ? सौन्दर्य से परिव्याप्त शरीरवाले, मकराकृति कुण्डलोंवाले, सुवर्ण शोभाविजयी वस्त्रोंवाले; अच्छा, इन बातों को भी रहने दीजिये। देखो, श्रीकृष्णविषयक भ्रम को देनेवाले उद्धवजी को देखकर वे गोपियाँ बहुत देरतक आश्चर्य को प्राप्त हो गईं ॥४॥

यद्यपि गोपियों ने उद्धव को (वेशभूषा से) श्रीकृष्ण के समान ही देखा, तो भी वे श्रीकृष्णविषयक भ्रम को न प्राप्त हुईं। क्योंकि उनका भाव ही सच्चा नेत्र था। बाह्यनेत्र तो केवल आभास मात्र थे ॥५॥

और कभी कभी वे गोपियाँ वर्ण की समानता के कारण, प्राणवायु से शून्य तमालवृक्ष आदि पदार्थों में ही श्रीकृष्ण की सी दृष्टि करती थीं, किन्तु मनुष्य आदि प्राणियों के ऊपर श्रीकृष्ण की सी दृष्टि नहीं कर पाती थीं। कारण उनका विशुद्ध भाव ही उनके पातिव्रत्य धर्म का रक्षक हो जाता था ॥६॥

तदनन्तर कमलमात्र ही जिनके जीवन का आधार है, ऐसी भ्रमरजातियाँ जलाशय के जल को या कमलसमुदाय की सुगन्ध से युक्त वायु को जिस प्रकार चारों ओर से घेर लेती है, ठीक उसी प्रकार विस्मित होकर उन सभी गोपियों ने विनयपूर्वक चलकर आगे होनेवाले, एवं श्रीकृष्ण के सहवास से बाहर भीतर से भावित रहनेवाले उद्धव को चारों ओर से घेर लिया ॥७॥

और घेरते ही श्रीकृष्ण के आदरणीय सेवक के भाव से उद्धव को मन में धारण करके, एवं नम्रता-

'जानीमस्त्वां किल यदुपतेः पार्षदं सौरभादे-
र्विद्मस्तं चेत्यथ कथयितुं का वयं हन्त दीनाः ? ।
येनाज्ञप्तस्त्वमपि निखिलं वैभवं तत्र हित्वा
गोष्ठं प्राप्तः स्फुरसि सुगमः सोऽयमत्रास्मकाभिः ॥६॥

भर्त्रा तेन स्वयमहमिह प्रेषितश्चेदवश्यं
तर्हि व्यक्तं भवथ नितरां यूयमेवानुरुद्धाः ।
मैवं वादीरहह पितरौ मृश्यते ह्यत्र बीजं
गौणे मुख्येऽप्यनुगतिमिते मुख्य एव प्रतीतिः ॥१०॥

बन्धुस्नेहं मुनिततिरपि त्यक्तुमीष्टे न सुष्ठु
त्यक्तव्यौ स्तः किमिव पितरावप्यहो तेन सौम्य ।
कुम्भः पृथ्वीं न हि परिहरेद् दण्डचक्रादिकं तु
स्वार्थं यावद्भजति तदिदं पृच्छ्यतां न्यायविच्च ॥११॥
एतौ हा धिग् यदि च पितरौ तस्य नापेक्षणीयौ
किंवा गोष्ठे निवसति तदा तस्य यद् दृष्टियोग्यम् ।

पूर्वक उनका आदर करके, तथा सत्यप्रिय भाषण एवं आसन आदि से सत्कृत करके, कुछ क्षणोंतक मौनावलम्बन करके, बनावटी मुसक्यान से अपने आन्तरिक सन्ताप को ढक कर गोपियाँ बोलीं— ॥८॥

तुम्हारे अङ्ग में श्रीकृष्ण के अङ्ग की सी सुगन्ध के कारण हम तुमको यदुपति श्रीकृष्ण का पार्षद ही जानती हैं। और उन श्रीकृष्ण को हम जानती हैं, हाय ! इस बात को कहने के लिए हम दीनदुःखी कौन हो सकती हैं ? कारण जिन श्रीकृष्ण के द्वारा आज्ञा पाकर तुम भी मथुरा में सम्पूर्ण वैभव को छोड़कर, व्रज में आकर स्फूर्ति पा रहे हो। इसलिए यहाँपर वे ही तुम हमारे लिए भी सुगम हो गये हो ॥६॥

"तुम्हारे स्वामी श्रीकृष्ण ने मुझको यदि स्वयं ही यहाँपर भेजा है, तब तो तुम सब गोपियाँ ही स्पष्टरूप से, एवं विशेषरूप से श्रीकृष्ण के अपेक्षित हो" इस प्रकार भी मत कहो, क्योंकि इस व्रज में तुम्हारे आगमन के मुख्य कारण तो श्रीकृष्ण के माता-पिता ही हमारे विचार में आते हैं। देखो, गौण एवं मुख्य के अनुगत होनेपर मुख्य विषय में ही प्रतीति होती है। तात्पर्य—यहाँपर पिता-माता को सान्त्वना देना ही तुम्हारा मुख्य उद्देश्य है, एवं हमको सान्त्वना देना गौण है ॥१०॥

हे सौम्य ! देखो, बन्धुजनों के ऊपर जो स्नेह है, उसको मुनियों का समूह भी, अच्छी प्रकार त्यागने को समर्थ नहीं है। हाय ! तब वे माता-पिता भी किस प्रकार त्यागने योग्य हो सकते हैं ? इस बात को आप न्यायवेत्ता पंडित से भी पूछ सकते हैं कि, घट अपनी उपादान-कारणरूप पृथ्वी को नहीं त्याग सकता, किन्तु अपने निमित्त कारणरूप दण्ड, चक्र आदिक को तो जबतक स्वार्थ रहता है, तभीतक सेवन करता है, पश्चात् नहीं। इसी प्रकार यहाँपर भी माता-पिता उपादान कारण हैं, अन्य बन्धु सेवा के निमित्तकारण हैं ॥११॥

हाय ! निन्दा की बात तो यह है कि, यदि ये दोनों माता-पिता ही श्रीकृष्ण के अपेक्षणीय नहीं हैं, तब इस व्रज में ऐसी कौन सी वस्तु निवास करती है, जो कि श्रीकृष्ण के दर्शन के योग्य हो ? क्योंकि उस

पुर्यां तस्यां सुरनरशताङ्गाश्वमातङ्गलक्ष्मी-
रस्मिन् सर्वत्र च वरधनं हन्त गोपाशमात्रम् ॥१२॥
यः सम्बन्धः स्फुरति भुवने भोग्यभोगिप्रकारः
स स्यान्नैव स्फुटमविचलः पुष्पभृङ्गादिदृष्टः ।
स्याद्वा गच्छन् प्रतिनियततां जीवकाजीव्यभावात्
स्त्रीणां पुंभिः सुखलवकृते यः पुनश्चश्चलः सः ॥१३॥
स्त्रीपुंसानां भवतु मिलनं सन्ततं क्वापि यस्मिन्
दाम्पत्यं स्यादविचलतया धर्मशर्मप्रधानम् ।
जारान्यस्त्रीमिथुनमयते त्यागमन्योऽन्यमन्ते
वेश्या निःस्वं विसृजति वयस्त्यक्तवेश्यां बहुस्वः ॥'इति॥१४॥

'तद्देवं प्रथमत एव यासां गोविन्दमात्रं विन्दमानानि मानस-वाग्देहवृत्तिवृन्दानि तदेक-सन्दानितानि न हि बहिर्भद्राभद्रं विन्दन्ति स्म। हन्त ! हन्त ! ताः पुनस्तस्य विरहेण दूयमान-तया व्यग्रीभूय तादृशमसभ्यमप्यभ्यभाषन्त। यत्र साधारणतया व्रजं सम्भूते कृष्णस्य दूते तस्मिन्नुद्धवेऽप्युद्बुद्धवेदनतया त्यक्तलोकमर्यादतां गताः। भवतु नाम च तत्, किं बहुना ?

मथुरापुरी में तो श्रीकृष्ण के देखने योग्य देवता, मनुष्य, रथ, घोड़े एवं हाथियों की शोभा विद्यमान है, किन्तु इस व्रज में तो सब जगह श्रेष्ठधन साधारण गैयाएँ एवं गैयाओं के बाँधने की रज्जूमात्र है ॥१२॥

और इस संसार में भोक्ता एवं भोग्य के प्रकारवाला जो सम्बन्ध स्फूर्ति पा रहा है, वह भी स्पष्टरूप से स्थिर नहीं हो सकता है। क्योंकि यह सम्बन्ध तो पुष्प एवं भ्रमर आदि में निश्चय ही अस्थिर देखा गया है (यहाँपर पुष्प भोग्य है, एवं भ्रमर भोक्ता है, यह जानना चाहिये)। और जीवक एवं आजीव्यभाव से परस्पर वशीभूत होकर एकता पाकर, लवमात्र सुख के लिए पुरुषों के साथ स्त्रियों का जो सम्बन्ध होता है, वह भी अत्यन्त चंचल ही है ॥१३॥

यद्यपि स्त्री-पुरुषों का निरन्तर मिलन कहीं भी होता रहे, तथापि जिस मिलन में धर्म एवं सुख की प्रधानतावाला दाम्पत्य (पति-पत्नी का भाव) स्थिररूप से हो सकता है, वह सम्बन्ध ही स्थिर है, अर्थात् पति-पत्नी भाव में ही स्थिर सम्बन्ध है, अन्यत्र नहीं। और देखो, जारपुरुष एवं दूसरे की स्त्री इन दोनों का जोड़ा, अन्त में परस्पर त्याग को प्राप्त हो जाता है। इस विषय में दृष्टान्त, यथा—वेश्या निर्धनपुरुष को त्याग देती है, एवं अधिक धनीपुरुष वृद्ध वेश्या को त्याग देता है ॥१४॥

कथावाचक का मानसिक विचार, यथा—इस प्रकार पहले से ही जिन गोपियों के मन, वाणी, एवं शरीर की वृत्तियों के समूह केवल श्रीगोविन्द को ही प्राप्त करते हुए, तथा केवल श्रीगोविन्द में ही बँधे हुए थे, अतः बाहरी भला बुरा कुछ भी नहीं प्राप्त कर पाते थे। हाय ! हाय ! वे ही प्रेममयी गोपियाँ पुनः श्रीकृष्ण के विरह से उपतप्त होने के कारण, व्यग्र होकर पूर्वोक्त प्रकार के असभ्य वचन को अपरिचित व्यक्ति के प्रति भी बोल गईं। जिसमें साधारणरूप से व्रजवासीमात्र को सान्त्वना देने को व्रज में सम्मिलित होनेवाले, श्रीकृष्ण के दूत उन श्रीउद्धव के निकट भी, वे गोपियाँ आन्तरिक वेदना के जागृत हो जाने से, लोकमर्यादा के त्यागने के भाव को प्राप्त हो गईं, अर्थात् लोकमर्यादा को त्याग गईं। अच्छा, उस बात को भी रहने दो। अधिक क्या कहें ? उन्होंने तो अपने साथ श्रीकृष्ण के द्वारा धारण किये गये रहस्य को भी,

स्वेन सह तेन संहितं रहस्यमपि मञ्जुगानसञ्जनया व्यञ्जयन्ति स्मेति मम हृदयं दूयते। ततः कृतं सुदुस्तरेण तदुन्मादविस्तरेण' इति ॥१५॥

"तदेवं मौनेन मूर्धानमानम्य पुनराह,—'अहो ! मम वृश्चिकभिया पलायमानस्याशीविषमुखे प्रवेशः सदेशमागतः; यतस्तदतिविस्तरं त्यक्तवतोऽपि गत्यन्तरमन्तरा श्रीराधिकाया दिव्योन्मादबद्धमबद्धं तदिदं विलपितं लपितुमापतितम् ॥'१६॥

"तदेवं मर्मणि क्षणं विदूय भूयः सुखं सम्भूय सम्भाषते स्म,—'हन्त ! जागरणमागम्य च कथं स्वाप्नं दुःखं दुःखलं कुर्वन्नस्मि; यतस्तेन स्वकान्तेन समं साक्षात् स्फुरदुपवेशा सेयं ममेशा विद्यत एवावलम्बनम्, तस्मात् किञ्चित् प्रथयानि। तत्र स्फूर्त्यादिसमुज्जृम्भागम्भीरसम्भावनमयीयं भावना चास्यां जातु जातु सम्भवति स्म ॥१७॥

"सा यथा—'आयाति च मम निकटं, याति च निह्नुत्य माथुरं नगरम्।
तस्मात् काञ्चन रामा, रमयति रमणः स तत्रापि ॥'इति॥१८॥

"तदा तु सा भावना तदीयदूतदर्शनेनातीव सम्भूततां गता; तस्मान्मान एव बलान्मानमतिक्रामति स्म; यत्र च सति तद्दूतविलोकनसम्भूतसंस्कारवश्यायां तस्यां भ्रमरोऽपि दूरान्तरभ्रमं दधाति स्म ॥१९॥ "तथा हि तस्या वितर्कः,—

मनोहर संगीत के प्रसङ्ग से प्रकाशित कर दिया। इसीलिए मेरा हृदय उत्तप्त हो रहा है। इस कारण अत्यन्य दुस्तर उनके विरहोन्माद के विस्तार से कोई प्रयोजन नहीं है ॥१५॥

इस प्रकार मौनपूर्वक मस्तक को नवा कर कथावाचक पुनः बोला—अहो ! बिच्छू के भय से दौड़ते हुए मेरा, सर्प के मुख में प्रवेश निकट ही आ गया। कारण उन गोपियों के अत्यन्त विस्तृत विरहोन्माद के वर्णन को त्यागनेवाले, मेरे पक्ष में दूसरे उपाय के बिना, श्रीराधिका के दिव्य उन्माद से निबद्ध यह अनर्थक (असंगत) विलाप कहने को उपस्थित हो गया ॥१६॥

इस प्रकार क्षणभर अपने मर्मस्थान में सन्तप्त होकर, पुनः सुख पाकर बोला कि—हाय ! मैं जागरण को प्राप्त होकर, अर्थात् जाग कर भी स्वप्न के दुःख को दुःख देनेवाला क्यों बना रहा हूँ ? कारण उन अपने नित्यकान्त श्रीकृष्ण के साथ जिनका साक्षात् बैठना (गोलोक में) स्फूर्ति पा रहा है, वे ही ये मेरी स्वामिनी श्रीमती राधिका मेरी अवलम्बन होकर ही विद्यमान हैं, अतः किंचित् विस्तार करता हूँ। उसमें भी स्फूर्ति आदि के द्वारा जिसका अच्छी प्रकार से प्रकाश हुआ है, ऐसी गम्भीर सम्भावनापूर्ण यह भावना श्रीराधिका में है, जो कभी कभी प्रगट हो जाती थी ॥१७॥

वह भावना इस प्रकार थी, यथा—हमारे साथ क्रीडा करनेवाले हमारे प्यारे श्रीकृष्ण मेरे निकट आते रहते हैं, एवं छिपकर मथुरानगरी में भी जाते रहते हैं। अतः प्रतीत होता है कि, वे मथुरा में भी कतिपय रमणियों को आनन्दित करते रहते हैं ॥१८॥

उस समय तो वह भावना श्रीकृष्ण के दूत को देखने से और भी अत्यन्त अधिक हो गई थी। अतः उनका मान ही (चित्त की उन्नत दशा ही) बलपूर्वक परिमाण को लाँघ गया था। जिसके उपस्थित होते ही, श्रीकृष्ण के दूत के दर्शन से उत्पन्न हुए संस्कार के वशीभूत हुई श्रीराधिका में, एक भ्रमर ने भी दूसरे दूत के भ्रम को धारण या पुष्ट कर दिया था ॥१९॥

'मधुराहरितः संयन्, गुञ्जन् मूर्धानमाधुनुते ।
तदयं तदीयदूतः, स्फुटमलिरेति श्रिताऽऽकूतः ॥'इति॥२०॥

"तस्मादेनं प्रथमत एवाधिक्षिप्तं विरचयामि' इति विचारयन्ती स्पष्टमेवेयमाचष्ट,—'अरे ! रे ! कथमस्माकं पुरतः सञ्चच्छमानः पुरत एव धाष्टर्यमनुतिष्ठसि, विदूरामटवीमट' इति ॥२१॥

"तदेवं क्रूरदृष्ट्या तं दृष्ट्वा सोत्प्रासमाह स्म,—'तत् खलु रे ! खल ! तव नायुक्तम्, यस्मात् मद्यं पिबसीति स्फुटं मधुपतया निगद्यसे ।' "पुनः सहासमाह स्म,—'अहह ! तत्पानं च तव भजमानम्, यतः पतिः खलु तवाधुना मधूनां पतिः ।' पुनः सवितर्कं कर्कशमुवाच,—'युवयोः स्वस्वाम्यमिदं नासाम्यं वहति ॥२२॥ यतः,—

'मधुपतिरसकौ मधुप,-स्त्वमसीत्युच्चैः प्रसिद्धमेवेदम् ।
आजीव्याजीवकता,-सम्बन्धस्तेन वां सिद्धः ॥'२३॥

"पुनरपि दोषान्तरासङ्गं सभ्रूभङ्गमुवाच,—'अहो ! सख्यः ! समक्षं शृणुत, मद्यपः खलु विक्षिप्ततया सरलचित्त एवावलोक्यते । अयं पुनर्मूर्धधूननाव्यक्तध्वनिभ्यां कितव इव च लक्ष्यते । तदेतदतीवाश्चर्यम्' इति, 'अथवा नाश्चर्यम्' इति तं सम्बोधयन्नाह,—'अरे !

देखो, श्रीराधिका का वितर्क—मथुरा की दिशा से आता हुआ गुञ्जार करता हुआ यह भ्रमर अपने मस्तक को कँपा रहा है। इसलिए यह भ्रमर स्पष्ट ही श्रीकृष्ण का दूत बन कर उनका अभिप्राय लेकर इधर आ रहा है ॥२०॥

(यहाँ से "मधुप कितवबन्धो" भा० १०।४७।१२ इस श्लोक के अर्थ का विस्तार आरम्भ होता है) इसलिए इस भ्रमर को पहले से ही तिरस्कृत कर दूँ। इस प्रकार विचारती हुई श्रीराधिका स्पष्ट ही बोली—अरे रे ! भ्रमर ! मथुरापुर से आता हुआ तू हमारे सामने ही धृष्टता क्यों कर रहा है ? बहुत दूर-वाली वनी में चला जा ॥२१॥

इस प्रकार उसको क्रूर दृष्टि से देखकर, अपमान एवं हँसीपूर्वक बोलीं—अतएव रे ! खल ! निश्चय ही तेरा यह व्यवहार अनुचित नहीं है, कारण तू नित्य ही मद्यपान करता है, इसीलिए जनों के द्वारा स्पष्ट ही 'मधुप' नाम से कहा जाता है। पुनः हास्यपूर्वक बोलीं—अहह ! वह मद्यपान भी तेरा युक्तियुक्त ही है, कारण तेरा पति (रक्षक) इस समय निश्चय ही मधुपति है, अर्थात् मद्य का रक्षक है, श्लेषपक्षे—मधुदेशों का रक्षक है। पुनः वितर्कपूर्वक कर्कश वाक्य बोलीं—तुम दोनों का यह स्व स्वामीभाव, अर्थात् स्वामी सेवकभाव असमानता नहीं धारण कर रहा है ॥२२॥

कारण—वह तेरा स्वामी मधुपति है, एवं तू 'मधुप' है, यह बात अधिक प्रसिद्ध है। इसलिए तुम दोनों का आजीव्य आजीवकतारूप सम्बन्ध सिद्ध है। यहाँपर तू आजीव्य है, एवं श्रीकृष्ण आजीवक हैं, यह भावार्थ है ॥२३॥

फिर भी दूसरे दोष की प्रसक्तिपूर्वक भौं टेढ़ी करके बोलीं—अरी सखियो ! सामने ही सुनो। मद्य पीनेवाला यह भौंरा निश्चय ही विक्षिप्त होने के कारण, सरल चित्तवाला ही दिखाई दे रहा है। किन्तु यह मस्तक कम्पन एवं अस्पष्ट ध्वनि के कारण धूर्त सा दिखाई देता है। अतः यह आश्चर्य का विषय है। अथवा

कितवस्य तस्य बन्धो ! कथमिह स्वच्छ इव स्वच्छन्दमागच्छन्नसि ? दूरमपसर । न च कितवस्य बन्धुरेवास्मि, न तु स्वयं कितवता मम स्यादिति छलः समवलम्बनीयः ॥२४॥

यतः, 'यः कितवानां बन्धु,-र्द्विगुणं कितवत्वमस्य मृश्येत ।
छलयन्नपि तांस्तैर्यः, स्वं साचिव्यं विधापयति ॥'२५॥

"तदेवं समन्दहासं विचारयन्ती निजचरणं सरसिजधिया संपित्सन्तं तं प्रति विचिकित्सन्ती वक्ति स्म,—अरे ! तादृश ! ममांघ्रिमेकमपि मा स्पृश ।' "अथ पुनरुट्टङ्कयन्ती तं घट्टयन्तीवाह,—किमात्थ रे ! किमात्थ ?' ॥२६॥

"अथ किमेवं ब्रूषे,—'स्वामिनि ! स्वामिपरिसरादागतस्य मम तव चरणपरामर्शः खलु सुपरामर्श एव' इति । 'भवतु नाम रे ! वाम ! तदपि भजमानम् । यदि प्रागभिहित-भवद्दोषः शोषयति न मन्मनः । आस्तामपि स न प्रतीतिविषयः, सम्प्रत्यन्यदपि दुर्लक्षणं विलक्षणतया त्वयि लक्ष्यते—तत्सङ्गमाय सयत्नीभूतानां मदीयसपत्नीनामसंकुचत्-कुच-कुंकुम-रक्तीकृत-विलुलित-तद्वनमालारञ्जितकूर्चता' इति ॥२७॥

यतः, एकः खलु चपलानां, जुष्टं कुंकुममुरस्यहो वहति ।
तस्मादन्यः श्मश्रुभि,-रेष प्रेक्ष्येत दग्धकूर्चाभः ॥२८॥

यह कोई आश्चर्य नहीं है, यों कह कर भ्रमर को सम्बोधित करती हुई बोलीं—अरे ! उस धूर्त के मित्र ! भ्रमर ! तू यहाँ स्वच्छजन की तरह स्वतन्त्रतापूर्वक क्यों आ रहा है ? दूर हट जा और देख, इस प्रकार के छल का सहारा भी नहीं लेना कि, मैं तो केवल धूर्त का बन्धु तो अवश्य हूँ, किन्तु स्वयं मेरी धूर्तता नहीं हो सकती ॥२४॥

क्योंकि जो धूर्तों का बन्धु होता है, उसकी धूर्तता दुगुनी विचारनी चाहिये। क्योंकि जो उन धूर्तों को छलता हुआ उन बन्धुरूप धूर्तों के द्वारा अपनी सहायता कराता है ॥२५॥

इस प्रकार मन्दहासपूर्वक विचारती हुई श्रीराधिका कमल की सी बुद्धि से, अपने चरण में गिरने की इच्छा करते हुए भ्रमर के प्रति संशय करती हुई बोलीं—ओ ! उस प्रकार के धूर्त के मित्र ! मेरे एक चरण को भी मत छू। अनन्तर दुबारा फटकारती हुई भ्रमर को हाथ से हटाती हुई सी बोलीं—अरे ! भ्रमर ! तू क्या कहता है, क्या कहता है ? ॥२६॥

भ्रमर बोला—हे स्वामिनि ! आप इस प्रकार क्यों कह रही हो ? मैं अपने स्वामी श्रीकृष्ण के निकट से आया हूँ, अतः तुम्हारे चरणों का स्पर्श करना मेरा निश्चय ही सुविचार सङ्गत ही है। राधिका बोलीं—अरे ! कुटिल ! इन बातों को रहने दो। क्योंकि यदि पहले 'मद्य पीनेवाला, धूर्त' इत्यादिरूप से कहा हुआ तेरा दोष मेरे मन को न सुखाता, तब तो तेरे द्वारा मेरे चरणों का छूना भी युक्तियुक्त हो जाता। अच्छा, इस बात को भी रहने दो। कारण वह दोष ज्ञान का विषय नहीं है। और इस समय दूसरा दुर्लक्षण (दुष्टचिह्न) भी विलक्षणरूप से तुझ में दिखाई दे रहा है। यथा—श्रीकृष्ण से मिलने के लिए प्रबल प्रयत्न करनेवाली मेरी, सपत्नियों के संकुचित न होनेवाले कुचों के कुंकुम से रँगी हुई, एवं मिड़ी हुई वनमाला के द्वारा तेरी दाढ़ी मूँछ रँगी हुई हैं। बस, तेरा यही दुष्टचिह्न दीख रहा है ॥२७॥

कारण—एक (श्रीकृष्ण) तो हमारी सपत्नियों के स्तनों द्वारा सेवित कुंकुम को वक्षःस्थलपर धारण

"अहो ! ग्राम्यधर्महेतोः सम्बन्धः खलु ग्राम्यधर्म एव स्यादिति हसित्वा पुनराह स्म,— 'तस्मादरे ! सगर्व ! सर्वथा मां मा स्पृश । यदि वा स्पृशसि, तदा सर्वथा तैः कूर्चैस्तु मा स्प्राक्षीः' इति । "पुनारोषताम्रता-कम्रचिबुकं चालयन्ती चाललाप,—'किं ब्रवीषि रे ।।'२९।।

'ईश्वरि ! परमप्रेमवत्या भवत्या मानप्रसादनार्थमीश्वरेण प्रेषितोऽस्मि । वर्त्मनि तु बुभुक्षासुक्षामतया दुष्परिहरं पुष्पं पिबतः कूर्चे मम परागकृतरागः सम्भागमागतः' इति ।।३०

'सत्यं सत्यम्, यतः,

मिथ्याप्येकैकं यत्, तथ्यानां शतसमानमानाभम् ।
तस्मात् किल कितवानां, कर्तुं कः स्यादतथ्यतां वचसि ? ।।३१।।

'भवतु कितवकिङ्करेण समं किङ्करेण वदनेन वा विवदनेन नास्माकं पुनस्तस्य प्रसादनेन वचनेन तस्य चासादनेन त्वया प्रयोजनमस्ति । स तु मधूनां पतिर्मधुवधूनामेव मानान्तप्रसादमासादयतु, उभयेषां मध्वाश्रयताविख्यातेः । तत्रैव च त्वं दूततां सम्भूतवान् भव, तवापि तत्पदसम्पत्तेः ।।३२।।

करता है, और आश्चर्य की बात यह है कि, उससे दूसरा जो यह तू है, वह दाढ़ी मूँछों से धारण कर रहा है । अतः जली हुई दाढ़ी मूँछोंवाला सा दिखाई देता है ।।२८।।

अहह ! ग्रामीणधर्म के कारण जो सम्बन्ध है, निश्चय ही वह भी ग्राम्यधर्म ही हो सकता है । इस प्रकार हँसकर श्रीराधिका पुनः बोलीं—अतएव अरे ! अहंकारी भ्रमर ! मुझको बिलकुल मत छू, अथवा यदि छूता भी है तो सर्वथा उन दाढ़ी मूँछों के द्वारा तो मत छू । पुनः (फिर) क्रोध से तामे के से वर्ण के कारण मनोहर अपनी ठोड़ी को चलाती हुई बोलीं—अरे ! तू क्या कहता है ? ।।२९।।

भ्रमर बोला—हे स्वामिनि ! आप परम प्रेमवाली हो, अतः आपके मान को प्रसन्न करने के लिए, मेरे स्वामी श्रीकृष्ण ने मुझको भेजा है । किन्तु रास्ते में भूख से अधिक क्षीण होने के कारण, मैं न त्यागने योग्य पुष्परस को पीने लग गया, पुष्परस पीते समय मेरी दाढ़ी मूँछों में या भौं के बीच में पुष्प की पराग का किया हुआ रंग संसर्ग में आ गया ।।३०।।

श्रीराधिका बोली—तेरा कहना सत्य है, सत्य है । कारण एक एक जो मिथ्या है, वह भी सैंकड़ों सत्यों के समान परिमाण में प्रकाश पाता है । इसलिए यह बात प्रसिद्ध है कि—धूर्तों के वचन में असत्यता को प्रतिपादन करने के लिए कौन समर्थ हो सकता है ? ।।३१।।

अच्छा, जो हो । तू धूर्त का सेवक है, अतः तेरे साथ हमारा हाथ चलाने से, बोलने से, अथवा विवाद करने से क्या प्रयोजन है ? और उस श्रीकृष्ण को प्रसन्न करनेवाले वचन से, तथा उनके द्वारा भेजे हुए तुझ से भी, हमारा क्या प्रयोजन है ? क्योंकि वह तुम्हारा बन्धु तो मधुवंशियों का या मधुदेशों का पति है, पक्षे—मद्यों का भी पति है, अतः वह मधुवंश की स्त्रियों की ही उस प्रसन्नता को प्राप्त करते रहें, जिसमें उनके मान का अन्त हो जाता है । क्योंकि मधुपति एवं मधुवधू इन दोनों शब्दों की विख्याति 'मधु' शब्द के ही आश्रित है । और तू भी वहींपर दूत के भाव को ग्रहण करके विद्यमान रह । कारण तेरे नाम में भी वही मधुपद की सम्पत्ति है ।।३२।।

'यतः, समशीलानां मिलनं, भवति परस्परसुखाय सर्वेषाम् ।
मद्यपशौण्डिककितवा,-श्चे क्ष्यन्ते यत्तथा सुखदाः ॥'३३॥

"तदेवं विहस्य पुनः समत्सरं भर्त्सयन्ती बभाषे,—'तस्य तत्प्रसादनं पुनः प्रमादमयतया यदुसदसामुपहासास्पदमेव स्यात् । यस्य दूतभूतस्त्वं निर्लज्जतां सज्जंस्तादृशं भृशदुरपह्लवचिह्नमह्नाय गृह्णन् भ्रमरहित एव सर्वत्र भ्रमन्नसि' इति ॥३४॥

'यतः, यद्यपि स गन्धनकुलः, स्वं गोपयितुं जनाद्वष्टि ।
तदपि भजत्यनवरतं, गन्धादग्रेसराद् व्यक्तिम् ॥'३५॥

"अथ पुनः सरोषं दोषमुद्भावितवती,—'अरे ! द्विरेफ ! त्वमेवं वदसि । कथं सम्भावनमात्रेणादोषपात्रे तत्र मयि च मृषा दोषं जोषयसि ? भोः ! कष्टं विस्पष्टं तु किमपि न पश्यामः' इति । "तत्र श्रूयताम्,—'स व्याजराजः खल्वसावस्मांस्तथा सानुरागमिव पुरा समागतवान्, यथा तदानीमजानीम कदापि न हास्यतीति । स्फुटमहह ! सहसा तत्याज । तत इतः परमवद्यं किं विद्यते ? तत्र च शङ्के कालकलेवरतया कलङ्केन शङ्केह न विद्यते, यस्य स भवान् समानस्वभावं तमुपलभमानस्तथा सुमनसामनादरदर्शनया दर्शनमिदमध्यापितवान् । किन्तु शिष्ये विद्या गरीयसी दरीदृश्यते, भवान् हि स्वार्थमर्थयमानस्तदीयसारं

दूसरा कारण यह है कि—समान स्वभाववाले सभीजनों का मिलन आपस में सुख के लिए ही सम्पन्न होता है। उसका दृष्टान्त, यथा—देखो, मद्य पीनेवाले, मद्य बनानेवाले, एवं धूर्तजन ये सब आपस में सुख देनेवाले देखे जाते हैं ॥३३॥

इस प्रकार विशेष हँसी करके पुनः मात्सर्यपूर्वक फटकारती हुई राधिका बोलीं—देखो, श्रीकृष्ण का मधुवधुओं को जो प्रसन्न करना है, वह भी असावधानी से पूर्ण होने के कारण, यादवसभा में बैठनेवालों को उपहास का स्थान ही हो सकता है। क्योंकि जिसका दूत बना हुआ तू निर्लज्जता को धारण करता हुआ, एवं जिसका छिपाना अत्यन्त कठिन है, उस प्रकार के चिह्न को शीघ्र ही धारण करता हुआ, भ्रमरहित होकर सर्वत्र ही घूम रहा है ॥३४॥

कारण—यद्यपि वह गन्धनकुल (मुश्कबिलाव अथवा छछूँदर) अपने को जनमात्र से छिपाना चाहता है, तथापि आगे आगे चलनेवाली अपनी गन्ध से निरन्तर प्रगट हो जाता है ॥३५॥

(यहाँ से "सकृदधरसुधां स्वां" भा० १०।४७।१३ इसके अर्थ का विवेचन है) अनन्तर दुबारा रोषपूर्वक दोष प्रगट करने लगीं—अरे भ्रमर ! तू इस प्रकार कहता है कि—"सम्भावनामात्र से दोषरहित श्रीकृष्ण में एवं मुझ में क्यों वृथा दोष लगा रही है ? हाय ! कष्ट की बात है, स्पष्टरूप से तो हम कुछ भी दोष नहीं देख पा रहे हैं, इति" इस विषय में सुन । धूर्तशिरोमणि वह श्रीकृष्ण निश्चय ही मानो अनुरागभरे की तरह, हमारे पास पहले उस प्रकार से आये थे कि, जिस प्रकार उस समय हम यही जानती थीं कि, हम सबको कभी भी नहीं त्यागेंगे। हाय ! पश्चात् सहसा स्पष्ट ही त्याग दीं। इसलिए इससे परे और दूसरा कौन सा कार्य निन्दित होगा ? और श्रीकृष्ण के ऊपर मैं यह शंका करती हूँ कि, कालाशरीर होने के कारण, उन्हें यहाँपर कलङ्क से शंका नहीं है। श्लेषपक्षे—काल के समान संहारक शरीर होने से, दूसरे को दुःख देनेरूप कलङ्क से भी शंका नहीं है। और जिसके तुम दूत हो, तुमने ही अपने समान स्वभाववाले श्रीकृष्ण को पाकर, तथा सुन्दर मनवाले साधुओं का अनादर दिखाकर, पक्षे—पुष्पों का अनादर दिखाकर,

निपीय क्वचिदन्यत्र याति। तस्य तु स्वार्थमात्रं नात्र प्रतिपद्यते; किन्तु परदुःखदानमेव सुखमिति लक्ष्यते। यस्मादनुविधानस्मद्विधजनान्मुधा सुधाभ्रमकरं निजमधरं सकृदेव सेवयित्वा स खलु कालपुन्नागस्तत्याज' इति ॥३६॥

'तस्मात्— एके मधुकरतुल्या, भिन्दन्त्यपरं निजार्थाय।
केचिन्मधुपतिसदृशा,-स्तमृतेऽप्यन्यं विदुन्वन्ति ॥३७॥

'तदिदं तावत् परमाश्चर्यमहो! तस्मादपि वर्यमपरं गोचर्यते। सा सर्वपद्माधिदेव्यपि पद्मा कं गुणमनुगुणं विधाय तत्पादपद्मं परिचरति, यतः श्रूयतेऽनुभूयते च। यत्र यत्र स पद्यते, तत्र तत्र पद्मापि प्रतिपद्यते' इति ॥३८॥

"तदेतद्विभाव्य पुनः सम्भाव्य किञ्चिद्वदति स्म,—'सा खलु सरला खलानां खलतां न जानाति; यस्मादुत्तमश्लोकनामतामात्रतस्तत्कामतां गता, धिक् धिक् ॥३९॥

'अपि निरपेक्षं रूक्षं, पद्मिन्यर्कं जडा भजताम्।
पद्मालया सचेताः, कथमिव भजते तथाविधं कृष्णम् ?' ॥४०॥

इस कपट शास्त्र को पढ़ाया है। किन्तु तुम्हारे शिष्य श्रीकृष्ण में कपटविद्या अत्यन्त अधिक दिखाई देती है। क्योंकि तुम तो स्वार्थ की याचना करते हुए, पुष्प के रस को पीकर, कहीं दूसरी जगह चले जाते हो, किन्तु श्रीकृष्ण का तो हमारे त्यागने में स्वार्थमात्र सिद्ध नहीं होता है, किन्तु दूसरे को दुःख देना ही सुख दिखाई देता है। क्योंकि उस काले सर्प ने (पक्षे—श्यामपुरुषश्रेष्ठ ने) व्यर्थ ही अमृत का सा भ्रम करनेवाले अपने अधर को एकबार सेवन कराकर, हम जैसे अनुगामीजनों को त्याग दिया ॥३६॥

इसीलिए कुछ भ्रमर के समान स्वभाववाले जन अपने स्वार्थ के लिए दूसरे को विदीर्ण करते रहते हैं। और कुछ मधुपति सदृश, अर्थात् मद्य बनानेवाले के समान (पक्षे—श्रीकृष्ण के समान) जो जन हैं, वे स्वार्थ के बिना भी दूसरे को सताते रहते हैं ॥३७॥

इसलिए यह बड़ा भारी आश्चर्य है। अहो! उससे भी एक और आश्चर्यजनक एवं श्रेष्ठ दूसरा विषय ज्ञानगोचर कराया जा रहा है। यथा—सभी कमलों की अधिष्ठात्री देवी वह कमला भी, कौन से गुण को इष्ट बनाकर या अपने अनुकूल बनाकर श्रीकृष्ण के चरणकमल की सेवा करती है? क्योंकि यह बात सुनी जाती है, एवं अनुभव में भी लाई जाती है कि, वे श्रीकृष्ण जहाँ जहाँ जाते हैं, कमलादेवी भी वहाँ वहाँपर जाती है। तात्पर्य—लक्ष्मीदेवी प्रत्येक अवतार में भगवान् के साथ ही रहती है ॥३८॥

अतएव यह विचार कर एवं पुनः सम्भावना करके श्रीराधिका कुछ बोलीं—वह कमलादेवी निश्चय ही सरल है, अतः खलों की खलता को नहीं जानती है। कारण—उत्तम यशवाले नाम के भावमात्र से उनके प्रति अभिलाषिणी हो गई है। अतः उसकी सरलता को धिक्कार है ॥३९॥

ज्ञानहीन जड़ कमलिनी रूक्ष, अर्थात् तापदायक, एवं निरपेक्ष, अर्थात् अपने ऊपर स्नेह न करने से उदासीन सूर्य की यदि सेवा करती है तो भले ही करती रहे, किन्तु कमलादेवी ज्ञानवाली होकर भी उस प्रकार के तापप्रद एवं स्नेहविहीन उदासीन श्रीकृष्ण की सेवा किस प्रकार करती है? यह बात समझ में नहीं आती है ॥४०॥

"तदेवमनया तदनयान्मुहुरनूद्य बहु रुद्यते स्मेति, कृतमुन्मादकृत-विलापवर्णनया ॥४१॥

"अथ पुनरेषा स्वभावत एव मञ्जु गुञ्जन्तं तमन्यथा व्यञ्जयामास,—'भोः ! सख्यः ! कष्टम्, तथापि धाष्ट्र्यमनुतिष्ठत्यसौ। पश्यत पश्यत, तमविस्रब्धचरितं पुनर्गातुमारब्धः। गानेनाप्येतामार्द्रयामीति, तस्मात् क्षिप्रमेतमाक्षिपामि' इति ससंभ्रमं स्पष्टमाचष्ट,— 'चतुष्पात्तावन्मूढभावतया लक्ष्यत एव; त्वं तु षट्पदः, कथं तदधिकपदतां न प्राप्नुयाः ! अन्यथा पुनरिह लब्धदुःखव्रजे व्रजे कथं गायसि ?' ॥४२॥ 'तदिदं न श्रुतम्,—

'यः परपरिषद्धृदयं, जानन् व्यवहारमातनुते।
देवः स खलु निदिष्टः, पशुरेवान्यो द्विपाच्च निर्दिष्टः ॥४३॥

'अत्र च यदि गायसि, तदा बहु कथं गायसि ? यतः,—

'गानादिकमतिकुर्वन्, श्रोतुर्यः खलु न वेत्ति सारस्यम्।
कुक्कुरतुलया बुक्कन्, सोऽयं परितो निरस्येत ॥४४॥

'तथापि यदि गायसि, तदा यदूनामधिपं कथं गायसि ? कः केन सम्बन्धं संधत्ते, यतः सुखमुपलभ्येत ? ॥४५॥

इस प्रकार श्रीराधिकाजी श्रीकृष्ण की अनीतियों को बारंबार कह कर अधिक रोने लग गईं। अतः उन्माद के द्वारा किये गये विलाप के वर्णन से कोई प्रयोजन नहीं है ॥४१॥

(यहाँ से "किमिह बहु षडंघ्रे" भा० १०।४७।१४ इसके अर्थ का विवेचन है) उसके बाद श्रीराधिका पुनः स्वभाव से ही मनोहर गूँजते हुए भ्रमर को दूसरी तरह से व्यक्त करती हुई बोलीं—अरी ! सखियो ! बड़े कष्ट की बात है कि, इतना फटकारनेपर भी, यह भ्रमर धृष्टता कर रहा है। अरी देखो, देखो तो सही। "मैं इन सब गोपियों को अपने गाने से ही स्निग्ध कर लूँ" इस भाव से इस भ्रमर ने विश्वासरहित चरितवाले श्रीकृष्ण को पुनः गाना प्रारम्भ कर दिया है। इसलिए मैं इसको शीघ्र ही फटकारती हूँ। यह कह कर शीघ्रतापूर्वक स्पष्ट बोलीं—चार पाँववाला पशु तो मूढभाव से युक्त देखा ही जाता है, किन्तु हे भ्रमर ! तू तो छः पैरोंवाला है, अतः उस पशु से अधिक मूढभाव के स्वरूप को क्यों नहीं प्राप्त होगा ? अपितु, होगा ही। श्लेषपक्षे—अधिक व्यवसाय के भाव को क्यों न प्राप्त होगा ? अर्थात् होगा ही। यदि ऐसा न होता तो दुःखसमूह को प्राप्त करनेवाले इस व्रज में तू क्यों गायन कर रहा है ? ॥४२॥

तूने यह रहस्य नहीं सुना है क्या ? कि, जो व्यक्ति दूसरों की सभा के सभासदों के मन को या अभिप्राय को जानता हुआ व्यवहार करता है, वह व्यक्ति निश्चय ही देवता कहा गया है। किन्तु जो व्यक्ति इस परिपाटी के विरुद्ध व्यवहार करता है, वह तो दो पैरवाला पशु ही कहा जाता है ॥४३॥

और तू यहाँपर भी यदि गाता है तो अधिक क्यों गाता है ? कारण जो व्यक्ति अत्यन्त गानादिक करता हुआ श्रोताओं की सरसता या अभिप्राय नहीं जानता, वह तो कुत्ते की तरह भौंकता हुआ चारों ओर फटकार पाता रहेगा ॥४४॥

इतना समझानेपर भी तू यदि अपने स्वभाव के वशीभूत होकर गाता है, तो यदुओं के अधिपति को क्यों गाता है ? क्योंकि कौन किस के साथ सम्बन्ध धारण करता है, जिससे कि सुख प्राप्त हो ? ॥४५॥

'तथा हि— गायति स जडोऽप्युच्चैः, प्रेरकहृदयानुवर्तनो यः स्यात् ।
रागाविविक्तरचनं, दृष्टं यद्वत् पिनाकयन्त्राद्यम् ॥'४६॥

"पुनः सक्रोधमाह स्म,—'अरे ! यद्येवं ब्रवीषि, तस्य सम्बन्धः प्रागत्र च लब्धनिर्बन्धः संबभूवेति । तथापि त्वं मूर्ख एव, यतो जीर्णसम्बन्धं तमत्र गायसि ॥४७॥

'तथा हि— कविभिः प्रस्तोतव्यः, स्तव्यानां विद्यमानसम्बन्धः ।
वन्दिजना न हि राज्ञां, प्राग्भवपुत्रादिकं स्तुवते ॥४८॥

'यदि च त्वयि धनपिशाची लग्ना, तदा तद्ग्रहगृहीततया गृहिणां तेषामग्रतो गायतु भवान्, तेऽपि कदाचिदुपद्रवविद्रवार्थं किञ्चिदपि दद्युः ! कथमहह ! भोस्तस्मात् पापदिनादेव व्यक्ततया त्यक्तगृहाणां निस्पृहाणामस्माकं पुरतो गायसि । अरे किं ब्रवीषि ? सोऽहमपि निस्पृहोऽस्मीति । तर्हि तथा तथा विगीतमपि तमेव कथं गीतविषयीकरोषि ? पुराणं चेद्गायसि, पुराणमेव गाय, किं ब्रुवे, षडंघ्रितया सार्धपशुरेव त्वमसीति; ततः कथं वा त्वयि तृष्णा न स्यात् ? ततश्चार्थी निर्गुणश्चेति द्विगुणमेव धिक् त्वाम् ॥४९॥

और देखो, जो व्यक्ति प्रेरक के मन का या अभिप्राय का अनुसरण करनेवाला होगा, वह व्यक्ति जड होकर भी, अर्थात् ज्ञानशून्य होकर भी ऊँचे स्वर से गायन करता है ऐसा देखा जाता है। पिनाक आदि यन्त्र इसका दृष्टान्तस्थल है। वह इसीलिए अनेक राग-रागिनियों की रचना से परिपूर्ण रहता है ॥४६॥

पुनः क्रोधपूर्वक बोलीं—अरे ! यदि तू इस प्रकार कहता है कि, श्रीकृष्ण का सम्बन्ध यहाँपर पहले आग्रह को प्राप्त हो चुका है। तो भी तो तू मूर्ख ही है। क्योंकि पुराने सम्बन्धवाले श्रीकृष्ण का तू यहाँपर गायन कर रहा है ॥४७॥

देख, कविजनों को भी स्तुति करने योग्य व्यक्तियों में से वर्तमान सम्बन्ध ही स्तुति करने योग्य है। क्योंकि वन्दीजन भी राजाओं के पहले जन्म के पुत्र आदिकों की स्तुति नहीं करते हैं ॥४८॥

और यदि तेरे शरीर में धन की तृष्णारूप पिशाची लग बैठी है, तब तो उस ग्रह से गृहीत होने के कारण, तू उन गृहस्थी व्रजवासियों के आगे या मथुरावासियों के आगे गायन कर। क्योंकि वे भी कदाचित् उपद्रव को दूर करने के लिए, कुछ भी दे सकेंगे। हाय ! अरे भ्रमर ! श्रीकृष्ण जिस दिन मथुरा गये हैं, उस पापीदिन से लेकर ही हम सब गोपियों ने स्पष्टरूप से घरों को त्याग दिया है, और सभी पदार्थों की इच्छा से शून्य हो गई हैं, अतः ऐसे विरक्त एवं निस्पृह हम लोगों के सामने क्यों गायन करता है ? तात्पर्य—हम से कुछ मिलने की आशा नहीं है। अरे तू क्या कहता है कि, "मैं भी निस्पृह हूँ"। यदि तू निस्पृह है, तब उस उस प्रकार से निन्दास्पद श्रीकृष्ण को ही अपने गायन का विषय क्यों बना रहा है ? यदि तू कहे कि, मैं तो पुराना गाना ही गा रहा हूँ, नवीन नहीं। उसपर मैं कहती हूँ कि, यदि तू पुराना गाना गाता है, तो श्रीवेदव्यास प्रणीत पुराण का ही गायन कर, जिसमें श्रीमन्नारायण भगवान् के गुण वर्णित हों। मैं तुझ से और क्या कहूँ ? तू तो छः पाँववाला होने के कारण सार्धपशु, अर्थात् ड्योढ़ा पशु ही है। तात्पर्य—पशु तो चार पैरवाला ही होता है, तू तो छः पैरोंवाला होने के कारण महापशु ही है। अतः तुझ में तृष्णा किस प्रकार न होगी ? अपितु, अवश्य होगी। इसलिए तू भिखमंगा और निर्गुण भी है, अतः तुझको दुगुना धिक्कार है ॥४९॥

'यतः, अपि निजलाभालाभ,-स्थानं ज्ञातुं न चेच्चतुरः ।
कं गुणमथ जानीयाद्,-येनार्थयितुं जनं वष्टि ? ॥५०॥

'तस्मात् श्रूयतां रे ! बर्बर ! सदुपदेशः श्रूयताम् । मनसिजलीलायां विजयते यस्तव सखा, तस्य सखीष्वेव तद्विजयप्रसङ्गः सङ्गीयताम्, न तु यदुष्वपि तेषु लज्जेह प्रसज्जेत् । तासु तु तेन संकुचितकुचरुक्षु मनोरथः प्रथनमाप्स्यति' इति ॥५१॥

'अत्र च— शृणु वात्स्यायनतत्त्वं, लज्जां परिहृत्य वक्ष्यामि ।
यावान् प्रियकृतधर्ष,-स्तावान् हर्षः पृथुस्तनस्त्रीणाम् ॥५२॥
यावान्न भवति सुरते, साक्षाद्भूतेऽपि सौख्यसन्दोहः ।
तावांस्तच्छ्रवणे स्या,-दयमपि वात्स्यायनस्य सिद्धान्तः ॥'५३॥

इति हसित्वा पुनराह स्म—'अत्र मूर्धानं धुनानः किमूहसे ? विना याचनं ताभिः किञ्चन कथं दीयताम्' इति ॥५४॥ 'शृणु त्वामुपदिशामि—
यो वष्टि स्फुटमिष्टं, यस्मात्तस्येष्टमेव स ब्रूयात् ।
याञ्चा रचयति दातुः, सङ्कोचं तत्तु शश्वदुत्साहम् ॥'५५॥

"अथ क्षणं प्रणिधाय तमवज्ञाय स्वसखीराह स्म,—'अहो ! जीवितालयः ! परिकल्यतामयं कुसुमकृमिः कथमिव भवतीनां गम्यधर्ममर्म जानीयात् ?' "सोऽयमेवं वदति,—'देवि !

क्योंकि जो व्यक्ति अपने लाभालाभ के स्थान को भी जानने को यदि चतुर नहीं है, तब वह कौन से गुण को जान सकता है कि, जिस गुण के द्वारा जनमात्र से याचना करना चाहता है ? ॥५०॥

इसलिए अरे बर्बर ! (पामर) सुन । मेरे सदुपदेश को सुन । तेरा जो सखा (श्रीकृष्ण) कन्दर्पक्रीडा में विजय को प्राप्त कर रहा है, उसकी मथुरावासिनी सखियों के निकट ही उसकी विजय के प्रसङ्ग का गायन कर । किन्तु यदुवंशियों के निकट न गाना । क्योंकि उनके निकट गाने से तो इस कन्दर्प विजय के विषय में लज्जा आ जायगी । किन्तु मथुरावासिनी कृष्णसखियों के निकट तो, उस प्रसङ्ग से उन सखियों के स्तनों की पीडा संकुचित हो जायगी, और उनका मनोरथ भी बढ़ जायगा ॥५१॥

और इस विषय में तू वात्स्यायनमुनि के तत्त्व को सुन । मैं लज्जा छोड़कर कहती हूँ कि, अपने प्यारे के द्वारा जितना धर्षण किया जाता है, स्थूल स्तनोंवाली स्त्रियों को उतना ही हर्ष होता है ॥५२॥

और दूसरी बात यह है कि, सुरतक्रीडा के साक्षात् होनेपर भी जितना सुख का समूह नहीं होता, उतना उस सुरतक्रीडा के सुननेपर होता है । यह भी वात्स्यायनमुनि का सिद्धान्त है ॥५३॥

इस प्रकार हँसकर पुनः बोलीं—तू यहाँपर मस्तक कँपता हुआ क्या तर्क वितर्क कर रहा है ? बिना माँगे वे मथुरावासिनी कुछ भी क्यों दे सकती हैं ? ॥५४॥

अरे भ्रमर ! सुन । मैं तुझे उपदेश देती हूँ कि, जो व्यक्ति जिस व्यक्ति से स्पष्ट ही अपने इष्ट विषय की कामना करता है, वह व्यक्ति उसके इष्ट विषय को ही कह देगा । क्योंकि याचना, दाता को संकोच उत्पन्न कर देती है कि "बिना स्पष्ट कहे मैं इस याचक को क्या दूँ ?" और इष्ट वस्तु का स्पष्ट कहना, दाता का निरन्तर उत्साह बढ़ा देता है ॥५५॥

(यहाँ से "दिवि भुवि च रसायां" भा० १०।४७।१५ इस श्लोक की व्याख्या आरम्भ होती है) अनन्तर

रुषद्वचनं मा ब्रवीः। कथमथ ताः पतिजुषः परपुरुषं भजन्तु नाम, तस्मात्तूष्णीकामेव पुष्णीतात्' इति। 'अत्र च पुनरेतं प्रत्येवं रुच्यमुच्यताम्। सत्यमेव ताः पतिदेवताः; किन्तु दिवि भुवि रसायामपि का खलु स्त्रीजातिस्तद्वशा न भवेदपि तु सुतवस्करापि न तं त्यक्तुं सम्भवेत्, अत्र च तदिदमपि वादितया मा वादीः, तर्हि परमसद्गुण एवासौ कथं पुनर्निन्द्यत इति; यतः स खलु सर्ववशीभाववैभवेच्छुर्गुणान्तराभावान्मायामात्रमत्र कारणतयातिमात्रम-वलम्बते ॥५६॥

'तथा हि— बैडालव्रतिकाख्यः, कर्षति लोकं तथा न सल्लोकः।
आदेस्तदेकनिष्ठा, तन्नाहृत्यं द्वितीयस्य ॥५७॥

'ततश्च हास्यभ्रूयुगलास्यप्रभृतिमयमायामात्रेण तदीयगात्रे सद्गुणसारूप्यं निरूप्यते, मनसि तु केवलं मायाबलम्। किन्त्वस्माभिरिदं दयामयतया भण्यते, न मत्सरतया; यथा त्वयापि तथा ताः शिक्षणीयाः' इति ॥५८॥

'यतः, यस्मिन् कण्टकविद्ध,-स्तस्मादन्यं निवारयत्यपरः।
यः खलु तदुदासीनः, स हि न हि कथ्येत कण्टकादितरः ॥'५६॥

श्रीराधिका क्षणभर चुपचाप विचार कर, एवं उस भ्रमर को फटकार कर, अपनी सखियों से बोलीं— अरी ! प्राणप्यारी सखियो ! इस भौंरे को तो तुम पुष्प का एक कीड़ा ही समझो। अतः यह साधारण कीट तुम्हारे जानने योग्य धर्म के मर्म को किस प्रकार जान सकता है ? और यह मुझ से भी कहता है कि— "हे देवि ! आप ऐसे अशुभ वचन न बोलें, क्योंकि हमारे मित्र की मथुरावासिनी जो सखियाँ है, वे पति सेवापरायण है। अतः परपुरुष की सेवा कैसे कर सकती है ? अतः आप चुप हो जायँ" इति। इस विषय में इसके प्रति इस प्रकार रुचिकर वचन कहो कि, सत्य ही वे पति को देवता के समान पूजती हैं। किन्तु स्वर्ग, भूमि, पाताल में भी ऐसी कौन सी स्त्री जाति है कि, जो श्रीकृष्ण के वशीभूत न हो सके ? अपितु, सात सन्तान पैदा करनेवाली स्त्री भी उनको त्यागने को समर्थ नहीं हो सकती। और रे भ्रमर ! तू इस विषय में प्रतिवादीरूप से यह भी नहीं बोलना कि, "यदि मेरे सखा को सब चाहती हैं, तो ऐसे परम सद्गुणवाले मेरे सखा की निन्दा क्यों करती हो ?" कारण सबको वशीभूत करने के वैभव की इच्छावाला तेरा सखा, सरलता आदि दूसरे गुणों के न होने के कारण, इस विषय में केवल माया को ही कारणरूप से विशेषमात्रा में आश्रय कर रहा है ॥५६॥

देखो, हे भ्रमर ! बिल्ली की तरह दम्भमय व्रत करनेवाला कपटी व्यक्ति, जिस प्रकार लोगों को अपनी ओर खींचता है, उस प्रकार सज्जन व्यक्ति नहीं खींचता। क्योंकि बिल्ली के से दम्भतापसकी निष्ठा तो, केवल लोगों को अपनी ओर खींचने में ही लगी है। किन्तु सज्जनों को यह बात आदरणीय नहीं है ॥५७॥

उसके बाद बोलीं कि—श्रीकृष्ण के शरीर में मृदुहास्य, भ्रूयुगल, एवं मुख आदि विशेष मायामात्र से सद्गुणों की सरूपता निरूपण की जाती है, किन्तु उनके मन में तो केवल माया का ही बल है। किन्तु यह बात हम दयामय होने के कारण ही तुम से कह रही हैं, मात्सर्य (डाह) से नहीं। तथा तू भी उन मथुरावासिनी कृष्ण की सखियों को समझा देना ॥५८॥

कारण जो व्यक्ति जिस स्थानपर काँटे से बिंध जाता है, वह दूसरे व्यक्ति को उस स्थान से रोक देता है। किन्तु जो व्यक्ति उदासीन है, अर्थात् दूसरे की पीडा से पीडित नहीं होता है, वह दूसरे को रोकता

"तदेवं सखोद्वारा तदखिलं मधुपमुपदिश्य पुनस्तमालपन्तमाशङ्कमाना स्वयमेव सचापलमाललाप,—'अरे ! शिलीमुख ! कथमस्मासु छिद्रमर्पयसि, यस्मादेवं गुञ्जसि ? कथमेवं विविक्तमतीनामपि भवतीनामद्यापि तत्रातिरिक्तासक्तिरीक्ष्यते ?' इति ॥६०॥

"तत्रेदमुच्यते,—'लक्ष्मीरपि तस्य यत्र यत्र चरणरजस्तत्र तत्र निरपत्रपं सजतीति किंवदन्ती । ततः का वयमन्यथाप्रथनाय भवामः ?' "पुनः सविमर्शमाह,–'अरे ! अशुद्धबुद्धे ! त्वं न बुध्यसे; यल्लक्ष्मीमप्येवमेव प्रथममसौ वशयति ॥६१॥

'यथा— सर्वं वशयितुमिच्छति, यः सोऽयं चेद्भवेच्चतुरः ।
मुख्यं वशयति पूर्वं, तत्प्रामाण्याद्भजन्ति तं सर्वे ॥६२॥

'तस्मात् कथं गोपयामः ? यद्यपि न कश्चिल्लाभः स्यात्तथापि मनश्चिल्लातस्य तस्य मायया वयमपि तत्र लुब्धा जाताः स्मः । तया मोहिततया च परमोत्तमबुद्धितामेव तत्र भजामः, न तु मायाबुद्धिमिति । यत्तु शङ्कसे, तर्हि बुद्धे तत्त्वेऽप्यधुना कथं तस्मिन् श्रद्धां धद्ध्वे ?' इति । 'तत्र श्रूयताम्–यद्यप्येवम्, तथापि स्वस्वकामापूर्त्या कृपणानां पारदस्तस्योत्तमश्लोक इत्याख्यासार एवास्मान्निस्तारयिष्यतीदमपि श्रद्धां सम्बद्धां विधातुं सा माया बुद्धिपद्धतिमानयति ॥६३॥

नहीं है । अतः वह उदासीन व्यक्ति कण्टक से भिन्न नहीं कहा जाता है, अर्थात् वह भी एक प्रकार का काँटा ही है ॥५६॥

इस प्रकार उस भ्रमर को अपनी सखी के द्वारा पूर्वोक्त सम्पूर्ण उपदेश दिलाकर, उस भ्रमर को पुनः बोलते हुए आशंका करती हुईं श्रीराधिका चपलतापूर्वक स्वयं ही प्रेम से बोलीं—अरे ! भ्रमर ! हमारे ऊपर क्यों दोषारोपण कर रहा है ? इसी कारण तू इस प्रकार गुञ्जार कर रहा है कि, "विशुद्ध बुद्धिवाली आप सब सखियों की आज भी श्रीकृष्ण के ऊपर विशेष आसक्ति दिखाई दे रही है" इति ॥६०॥

इस विषय में मैं यह कहती हूँ कि, श्रीकृष्ण की चरणरज जहाँ जहाँपर विद्यमान है, लक्ष्मीदेवी भी वहाँ वहाँपर निर्लज्जतापूर्वक आसक्ति करती है, यह किंवदन्ती (जनश्रुति) प्रसिद्ध है । इसलिए अन्यथा भाव के विस्तार के लिए, अर्थात् श्रीकृष्णविषयक आसक्ति को त्यागने के लिए, हम कौन समर्थ हो सकती हैं ? पुनः विचारपूर्वक बोलीं—अरे अशुद्ध बुद्धिवाले ! भ्रमर ! तू नहीं जानता कि, श्रीकृष्ण सर्व शक्तिप्रधान लक्ष्मीदेवी को भी पहले इसी प्रकार वश में करते हैं ॥६१॥

यथा—जो व्यक्ति सबको वशीभूत करना चाहता है, वह यदि चतुर होता है, तो पहले मुख्य को ही अपने वश में करता है, उसकी प्रामाणिकता से सभीजन वश में करनेवाले व्यक्ति की सेवा करते हैं ॥६२॥

अतः हम किस प्रकार अपने भाव को छिपावें । यद्यपि श्रीकृष्ण में आसक्ति करने से कोई लाभ नहीं हो सकता, तथापि हठपूर्वक मन को चुरानेवाले श्रीकृष्ण की माया से हम सब गोपियाँ भी उनपर लुब्ध हो गई हैं । और उस माया के द्वारा मोहित होने के कारण, श्रीकृष्ण के ऊपर परम उत्तम बुद्धि के भाव को ही धारण करती हैं । किन्तु कपटबुद्धि को नहीं । और तू हमारे ऊपर यह जो शंका करता है कि, "तत्त्व जान लेनेपर भी, अब तुम सब श्रीकृष्णपर क्यों श्रद्धा कर रही हो ?" उस विषय में सिद्धान्त सुन । यद्यपि इसी प्रकार तेरा कहना ठीक है, तथापि अपनी अपनी अभिलाषा की पूर्ति न होने से, दीन-दरिद्रीजनों को उनके मनोरथ के पार लगानेवाला उनका "उत्तमश्लोक" यह सर्वोत्तम नाम ही, हमको भी विरहसागर से तार

'तथा हि— देवेऽप्यश्रद्धेये, तच्छब्देनैव वीक्ष्यते सिद्धिः ।
जैमिनिमुनिशिष्याणां, यज्ञे यद्वत् फलं वलते ॥'इति॥६४॥

"अथ परमगरिमपरिमल-कमन-कमलधिया स्वचरणमनुचरन्तं षट्चरणं क्षमापयन्तमिव मत्वा तमाक्षिपन्ती क्षिपन्ती च जजल्प,—'अरे ! दुष्टषट्पद ! चाटुं घटयन् कथं मच्चरणं शिरसा संसृष्टवानसि ? शीघ्रमेव विसृष्टं कुरु। तव गुरोरपि तस्य तुर्यकक्षामितं मायामयविनयचातुर्यं विद्मः, कः पुनस्त्वं तपस्वी ॥६५॥

'यतः, कपटी कुरुतां कपटं, तत्र न यत्राभवत् प्रकटः ।
सकृदपि कपटे प्रकटे, सर्वं नटवन्मृषास्य तर्क्येत ॥६६॥

'तथा हि— सर्वत्याजनपूर्वं, स्वकलागत्यास्मकानुरीकृत्य ।
सहसाऽत्यजदिह सर्वा, यः पुनरसकौ किमस्ति सन्धेयः ?'६७॥

"अथ विरम्य पुनरिदं सम्यग्गाढप्रणयमयविवर्तमविदुषामरम्यमाह,—'अहो ! यस्य मननं न क्रियते, तस्य तावन्मर्म न श्रियते। पश्य पश्य, श्यामजातिमात्रस्य दुरात्मता । तत्रास्तां तावत् पुष्पकीटपरपुष्टादीनां भवतां वल्लीबलिभुगादिषु कृतघ्नता; यः खलु दाशरथिः

देगा, इस बात को भी उनके ऊपर श्रद्धा संलग्न करने के लिए, वह माया हमारी बुद्धि के मार्ग में ला रही है ॥६३॥

देखो, यज्ञ में जिस प्रकार जैमिनिमुनि के शिष्यों को फल की सिद्धि होती है, उसी प्रकार देवता श्रद्धा के योग्य न होनेपर भी, उस देवता के नाम से ही फल की सिद्धि देखी जाती है। (जैमिनिमुनि के मत में मन्त्रात्मक देवता माना जाता है) ॥६४॥

(यहाँ से "विसृज शिरसि पादं" भा० १०।४७।१६ इस श्लोक की विशद व्याख्या आरम्भ होती है) तदनन्तर परमगौरव से युक्त मनोहर गन्ध से सुन्दर कमल की सी बुद्धि से अपने चरणपर विचरण करते हुए, एवं क्षमा सी माँगते हुए समझ कर, उस भ्रमर को फटकारती हुई एवं दूर भगाती हुई श्रीराधिका स्पष्ट बोलीं—अरे दुष्ट भ्रमर ! तू चापलूसी करता हुआ मेरे चरण को अपने शिर से क्यों छू रहा है ? शीघ्र ही छोड़ दे। क्योंकि जो तुम्हारे गुरु हैं, हम उनके भी नीतिशास्त्रोक्त चतुर्थ उपाय, अर्थात् भेद अथवा विरहदण्ड दानरूप स्पर्धा से परिमित मायामय विनय की चतुराई को जानती हैं, फिर तू बिचारा कहाँ रह जायगा ? अर्थात् तेरी चतुराई जानना तो अति सरल है ॥६५॥

कारण कपटी व्यक्ति अपने कपट को वहाँपर भले ही करता रहे कि, जहाँपर उसका कपट प्रगट न हुआ हो। किन्तु एकबार भी कपट के प्रगट हो जानेपर तो, उस कपटी का सारा कार्य नट की तरह मिथ्या ही तर्कित किया जायगा ॥६६॥

देखो, जो व्यक्ति अपनी कला की गति के द्वारा सकल परित्यागपूर्वक, अर्थात् पहले हमारे सारे सम्बन्धों को छुड़ाकर, हम सब गोपियों को अङ्गीकार करके, सबको यहींपर सहसा त्याग गया, क्या वह व्यक्ति फिर भी सन्धि करने के योग्य है ? कदापि नहीं ॥६७॥

(यहाँ से "मृगयुरिव कपीन्द्रं" भा० १०।४७।१७ इस श्लोक की विशद व्याख्या करते हैं) उसके बाद कुछ विराम लेकर, पुनः अच्छी प्रकार प्रगाढ प्रेममय विवर्त, अर्थात् समुदाय को अथवा प्रेममय नृत्य को न जाननेवालों को अच्छे न लगनेवाले यह वचन बोलीं—अहो ! जिस बात का मनन नहीं किया जाता, उसका

सर्वधर्मसारपारङ्गत इति परामृश्यते, तस्य च निरपराधशाखामृगदेव-भूभृति कृताराध-साक्षाद्विश्रवःप्रभवयोषिति च तथा तथा कृतिः श्रूयते। अरे! रे! किमुक्तम्? स खलु स्त्रीसम्बन्धहेतोर्भ्रातृविद्वेषं कृतवान्, सा च स्वैरिणीति तयोस्तन्नायुक्तमिति। धिक् त्वाम्, सोऽपि स्त्रीजित एवेति चामीकरमृगमारणे लब्धप्रचारमेव। तस्माद्वयमसिता वाचा कथं सिता भवेमेति मा गर्वं कृथाः। एषा च व्याहृतिरद्य सोदाहृतिर्दृष्टा ॥६८॥

'आवरितुं निजदोषं, यः खलु वाचालतां याति।
वाचालतैव तस्मि,-न्नपरान् दोषान् व्यनक्ति सर्वत्र ॥' इति ॥६९॥

'यतः स खलु मृगहन्ता परनिन्दाविमुखयापि मया सन्तापादेव निन्द्यते। तत्र तु स्वसम्बन्धं विनापि यत् प्रतिवादितयाऽवादीस्तत् खलु स्वीयमसितं प्रति स्त्रीजितता पर्यवसिता स्यादिति तव शङ्कार्थं पर्यवसीयते, तच्च प्रकटमेवेति कपटं मा कार्षीः। ततश्च माथुरपुरस्त्रीजिततया स्त्रीणामस्माकं हत्यापि तस्मिन् प्रत्यासीदेदिति। यत्र तव द्राढिकैव खलु बाढं साक्षिणी, तदलं तद्विवादेन, प्रस्तुतमनुसन्धीयताम्। दाशरथिस्तावत् क्षत्रियजन्मा,

---

मर्म हाथ नहीं लगता। अरे भ्रमर! देख, देख! श्याम-जातिमात्र के अन्तःकरण की दुष्टता। उन सब में भ्रमर एवं कोकिल आदि तुम सबकी क्रमशः लता एवं काक (कौआ) आदि के विषय में प्रसिद्ध कृतघ्नता को तो दूर रहने दो। जो दशरथनन्दन श्रीराम सभी धर्मों के सारांश के पारङ्गत विचारे जाते हैं, उनका भी निरपराध एवं वानरगणों के पूज्य राजा बाली के विषय में, तथा आराधना करनेवाली साक्षात् विश्रवा मुनि की बेटी शूर्पणखा के विषय में उस उस प्रकार का कठोर व्यवहार सुना जाता है। अर्थात् व्याध की तरह छिपकर बाली का बध, एवं शूर्पणखा की नाक-कान काटना सुना जाता है। अरे! रे भ्रमर! तूने यह क्या कहा कि, "वह बाली तो अपनी स्त्री तारा के साथ बुरे सम्बन्ध के कारण अपने भाई सुग्रीव से द्वेष करता था, और वह शूर्पणखा व्यभिचारिणी थी, अतः उन दोनों के सम्बन्ध में श्रीरामजी का कोई कार्य अनुचित नहीं है" ऐसा कहनेवाले तुझ को धिक्कार है। क्योंकि श्रीरामजी भी "अपनी स्त्री के द्वारा पराजित ही थे" यह बात सुवर्णमृग मारीच के मारने में ही प्रचारित हो चुकी है। इसलिए हम सब गोपियाँ असित, अर्थात् अबद्ध हैं (श्लेषपक्षे—श्यामवर्ण हैं) अतः तेरी वाणी से किस प्रकार सित हो सकती हैं, अर्थात् बँध सकती हैं, पक्षे—शुक्लवर्ण हो सकती हैं। अतः तू अहंकार मत कर। आज हमारी यह उक्ति उदाहरण के सहित देखी गई है ॥६८॥

देखो, जो व्यक्ति अपने दोष को ढकने के लिए वाचालता को प्राप्त होता है, अर्थात् वाचालता करता है, उसकी वह वाचालता ही, उस व्यक्ति में दूसरे दोषों को सर्वत्र प्रकाशित कर देती है ॥६९॥

कारण—मैं कभी भी पराई निन्दा नहीं करती हूँ, तो भी विरहजन्य सन्ताप से ही, सुवर्णमृग को मारनेवाले श्रीराम की निन्दा कर रही हूँ। और तू श्रीरामजी में अपने सम्बन्ध के बिना भी जो प्रतिवादी रूप से बोल रहा था, अर्थात् बाली एवं शूर्पणखा के दण्ड में कोई दोष नहीं यह कह रहा था, यह तेरा कहना तो निश्चय ही "अपने श्रीकृष्ण के प्रति स्त्री-जितता परिणत हो जायगी" इस प्रकार की तेरी शंकाके लिए परिणत हो रहा है। वह भी प्रगट ही है। अतः कपट मत कर। उसके बाद तो मथुरापुरी की स्त्रियों से पराजित होने के कारण, हम सब स्त्रियों की हत्या भी श्रीकृष्ण के ऊपर आ जायगी। जिसमें तुम्हारी दृढता ही विशेष साक्षिणी है। अतः उनके विवाद से कोई प्रयोजन नहीं है। अब तो प्रस्तुत बात का,

ततस्तस्य क्रूरतादि न दूरतामर्हति। पश्य पश्य, साक्षात् कश्यपजन्माऽग्रजन्मा जन्मावधि ब्रह्मचारी चैकचारी च; यः खल्वपरः श्यामः, स च बलिं प्रति किं कलितवान्? यस्य च बलिध्वंसिनः सम्यग्दृष्टान्ततयाऽकष्टं बलिभुग्जातिरेव स्पष्टायते। यत्र बलिं लभते, तत्र नवं नवमुपद्रवमातनोतीति। तस्माद्भवन्तः सर्वेऽपि साम्यवन्त एव भवद्भिर्वाचामिश्रणमपि कृच्छ्रप्रदं स्यात्। अरे! किमव्यक्तमुक्तम्? तर्हि कथं तेषां चरितं मुनिभिरपि सुनिरूपितं क्रियत इति। तत्र च तेषां दोष एव पोषं लभते। तादृशतायामप्यकृशतन्मोहनशक्तिर्मुनीनपि तदासक्तीकुर्वती भीषयत एव सर्वानिति ॥७०॥ अतः,

'हिंस्रादपि न हि तादृग्, भीतिर्भवतीह लोकानाम्।
यादृग्दर्शनमात्रा,-द्धर्मध्वजिनः प्रजायेत ॥७१॥

'तथा हि— हिंस्रः खलु किं कुर्याद्, यस्माद्भीत्या पलायते लोकः।
हिंस्रात्मापि चरित्रं, शुभमिव कलयन् भृशं शङ्क्यः ॥'७२॥

"अथ क्षणं विश्रम्य चाधिगम्य चाह,—'अये! तत्कथां प्रस्तुवतां तावदस्तु माया-वशता, तत्कथापि तन्मायामयमहसा सहसा दाम्पत्यसम्पत्त्यधिकृतधर्माणां मर्माणि निर्मूलयति;

अर्थात् श्यामजाति की निन्दा का जो प्रसङ्ग चल रहा था, उसका अनुसन्धान कर। दशरथनन्दन राम तो क्षत्रियवंश में प्रगट हुए हैं, अतः उनकी क्रूरता आदि दूर नहीं हो सकती। किन्तु देख, देख। साक्षात् कश्यपजी से प्रगट होनेवाला, जाति से भी ब्राह्मण, जन्म से ही ब्रह्मचारी, एवं अकेले ही विचरनेवाला जो दूसरा श्याम है, अर्थात् वामन है, उसने भी बलि राजा के प्रति क्या कार्य किया था? बलि का विध्वंस करनेवाले जिस वामन के सम्बन्ध में अच्छी प्रकार दृष्टान्तरूप से 'काक जाति' ही अनायास स्पष्ट हो रही है। क्योंकि यह 'काक जाति' जहाँ भेंट पूजा पाती है, वहाँ नया नया उपद्रव मचाती है। इसलिए वर्ण में तुम सब समानतावाले हो। अतः तुम सब से वाणी से मेल करना भी, अर्थात् वार्तालाप करना भी कष्टप्रद हो सकता है। अरे भ्रमर! अस्पष्ट रूप से यह क्या कहा कि—"यदि श्याम जातिवाले इतने दूषित हैं, तो श्रीवाल्मीकि आदि मुनिजन उनके चरित्र को क्यों भली प्रकार निरूपण करते हैं?" इति। उसपर मैं कहती हूँ कि—उस चरित्रनिरूपण में भी उन मुनियों का दोष ही पुष्टि को प्राप्त हो रहा है। क्योंकि उस प्रकार के दोष दायित्व होनेपर भी, उन श्यामवर्णवालों की परिपुष्ट जो मोहनशक्ति है, वह श्यामवर्णवालों में आसक्त करती हुई सभी मुनियों को भयभीत करती रहती है ॥७०॥

अतः लोगों को दम्भीजन के दर्शनमात्र से जैसा भय हो सकता है, वैसा भय यहाँपर हिंसक जन्तु से भी नहीं होता है ॥७१॥

और देख, जिसके भय से जनमात्र दूर भाग जाता है, ऐसा वह सिंह आदि हिंसक जन्तु भी क्या कर सकता है? किन्तु जिसकी आत्मा हिंसा से परिपूर्ण है, वह व्यक्ति अपने चरित्र को अच्छा सा दिखाता हुआ भी अधिक शंका के योग्य है ॥७२॥

(यहाँ से "यदनुचरितलीला" भा० १०।४७।१८ इसके अर्थ की व्याख्या करते हैं) अनन्तर क्षणभर विश्राम लेकर, एवं समझ कर श्रीराधिका पुनः बोलीं—हे भ्रमर! इस प्रकार के श्यामवर्णवालों की कथा को प्रस्तुत करनेवाले भी उनकी माया के वशीभूत हैं, इस बात को दूर रहने दो। उन श्यामवणवालों की कथा भी उनके मायापूर्ण तेज के द्वारा, दम्पति भावरूप सम्पत्ति से अधिकृत धर्मवालों के मर्मस्थानों को

निर्मूल्य च प्रातिकूल्यमत्यजन्ती कुट-कदम्ब-संवलितं कुटुम्बनिकुरम्बं गृहभाजस्त्याजयन्ती, तच्च तांश्च दीनतां भाजयन्ती पुनरुत्तरांस्तु विहङ्गमानिव भिक्षुचर्यां सङ्गमयति ॥७३॥

'अत्र चेदं वाग्युद्धमुद्बुद्धं मा कार्षीः, तर्हि तत् कथनममी कथमर्हिततमाः शृण्वन्तीति ? तत्र निरसूयतया श्रूयताम्—तत् खलु निष्कलुषवत् पुरतः श्रवणसंज्ञायां रसज्ञायामात्मनः पीयूषतां रूषयति; पश्चात्तु शर्करापूर्णधुस्तूरचूर्णपानकवद् बुद्धिं घूर्णयति ॥७४॥

'ततश्च, शङ्के विहगा नामी, किन्त्वेते स्युर्नरा गृहगाः ।
तद्गीतेन विमुग्धा, दुग्धात्मीयाश्च भिक्षवो जाताः ॥'७५॥

"अथ श्रुतिमभिनीय पुनः प्राह स्म,—'अरे ! तदित्थमात्थ; अयि ! कृष्णतृष्णापात्रि ! यथा सम्भावयसि, तथा सत्यं न सम्भवत्यसौ । किन्त्वन्तर्बहिरपि महित एवेति । तत्र श्रूयताम्—नास्माकं संभावनमात्रं तत्र प्रमापात्रं किन्तु प्रत्यक्षं प्रत्यक्षमपि; यतः पूर्वमस्माभिर-पूर्वतया तद्व्याहृतं भवद्वदेव समाहृतमासीत्; पश्चात्तु मृगं मृगयमाणस्य मृगयोर्गीत-तत्त्ववदेव ज्ञातम् । तत्र महादुःखे समुन्मुखे किं सलज्जतासज्जनेन ? श्रूयताम्—यतस्तेन लब्धाकर्षास्तस्य वन्यवेशेन धृतहर्षा जाततन्मिलनतर्षाः केवलं करकण्टकनामान्तर-खरनखरशरस्पर्शमात्रमुपलभ्य लब्धवेदना बभूविम ॥७६॥

सहसा निर्मूल कर देती है। और वह कथा निर्मूल करके भी अपनी प्रतिकूलता को न छोड़ती हुई, गृह-समूह से युक्त कुटुम्बसमूह को गृहस्थियों से छुड़ाती हुई, एवं उस कुटुम्बसमूह को तथा उन त्यागनेवाले गृहस्थियों को दीनता का सेवन कराती हुई, पुनः गृहस्थियों को तो पक्षियों की तरह भिक्षुवृत्ति का अवलम्बन करा देती है। अर्थात् श्यामवर्णवालों की कथा भी घर द्वार परिवार छुड़ाकर भिखमंगा बना देती है ॥७३॥

और इस विषय में तू यह वाग्युद्ध जागृत मत कर कि, "यदि ऐसी ही बात है तो उन श्यामवर्ण-वालों की कथा के गुण वर्णन को परमपूजनीय श्रीजनकादिक क्यों सुनते हैं ? उस विषय में तू गुणों में दोषारोपवाली बुद्धि के भाव को त्यागकर श्रवण कर। श्यामवर्णवालों का वह चरित्र पहले निर्दोष की तरह कर्ण (कान) नामक जिह्वा में अपने अमृतभाव को मिला देता है, पीछे तो शकर से पूर्ण धतूरे के चूर्ण से युक्त पान करने योग्य द्रव्य की तरह बुद्धि को घुमा देता है ॥७४॥

और उसके बाद मैं यह भी विचारती हूँ कि, वृक्षोंपर बैठे हुए ये पक्षी नहीं हैं, किन्तु ये पहले घर में रहनेवाले मनुष्य होंगे। उन श्यामसुन्दर के गीत से विमुग्ध होकर और आतमीयजनों को दुह कर भिक्षुक हो गये हैं ॥७५॥

(यहाँ से "वयमृतमिव" भा० १०।४७।१९ इसकी व्याख्या करते हैं) उसके बाद श्रीराधिका इस विषय में कान लगाकर (सुनकर) पुनः बोलीं—अरे भ्रमर ! इसीलिए तू यह कह रहा है कि—"हे श्रीकृष्ण की तृष्णापात्रि ! राधिके ! आप जिस प्रकार की सम्भावना करती हो, श्रीकृष्ण सत्य ही उस प्रकार के दोषपात्र नहीं हो सकते हैं, किन्तु भीतर बाहर दोनों प्रकार भी पूजित ही है"। उस विषय में श्रवण कर। देख, श्रीकृष्ण के विषय में हमारी सम्भावनामात्र ही यथार्थ ज्ञान का पात्र नहीं है, किन्तु साक्षात् प्रत्यक्ष प्रमाण भी है। क्योंकि पहले हम सब गोपियों ने "मैं तुम्हारा ऋणी हूँ" इत्यादि अपूर्वरूप से श्रीकृष्ण की उक्ति तुम्हारी तरह ही, भली प्रकार संगृहीत की थी। पीछे तो मृग को ढूँढ़नेवाले व्याध के गीत के तत्त्व

'तथा हि— शपथं करोमि मधुकर !, न मनसि तस्याङ्गसङ्गमः स्फुरति ।
नखरस्पर्शविषं पुन,-रन्तर्ज्वालाभिरनुमितं क्रियते ॥७७॥

'तस्मादस्य दम्भारम्भितया मौनमवलम्बमानस्य तन्मन्त्रिणः प्रतिनिधिवद्दर्शनादुपमन्त्रितया दृश्यमान ! तथा तत्पर्यायतया भण्डविद्यापण्डित ! तन्यतां कृपा, तदन्यवार्ता भण्यताम् ॥७८॥ यतः,

'नव्या नेयं विद्या, तच्छिक्षातस्त्वयात्र या योज्या ।
तस्मिन् सन्ति परा या,-स्ताभ्यो न भयं कदा स चागन्ता ॥''७९॥

अथ तदेवं कथयित्वा पुनः स्निग्धकण्ठः प्राह स्म,—

''एवं दिव्योन्मादप्रमादादस्मिन्महाविरहेऽपि सा तदङ्गसङ्गस्फूर्तिबलमानमानभङ्गीसङ्गिनी जाता । ततश्च भ्रमरस्वभावसद्भावभ्रमणरचनया तत्र वृक्षान्तरेणान्तरिते जाते सेयं कलहान्तरितापि जज्ञे ॥८०॥ यथा चाह स्म,—

'अघटि मया बत कठिनं, रटितं कुटिलं हरेर्दूते ।
वक्रोक्ति न हि यदयं, वेत्तुं शक्तस्ततश्चलितः ॥८१॥

की तरह जान ली । उस विषय में अब महान् दुःख के सम्मुख आनेपर लज्जा करने से क्या बनता है ? सुन मेरी बात । क्योंकि श्रीकृष्ण के वेणुगीत से आकर्षित होकर, उनके वन्यवेश से हर्ष को धारण कर, पश्चात् उत्पन्न हुई उनसे मिलने की तृष्णा से युक्त होकर, केवल दूसरे करकण्टक नामवाले तीक्ष्ण नखरूप वाणों के स्पर्शमात्र को प्राप्त कर, हम सब गोपियाँ वेदना को प्राप्त हो गई हैं ॥७६॥

देख, हे मधुकर ! मैं शपथ करती हूँ कि, श्रीकृष्ण का अङ्गसङ्ग मेरे मन में भी स्फूर्ति नहीं पा रहा है । किन्तु उनके नखों के स्पर्श का विष तो भीतर की ज्वालाओं के द्वारा अनुमान किया जा रहा है ॥७७॥

इसलिए श्रीकृष्ण के कपट का आरम्भ करनेवाले के भाव से, मौन का अवलम्बन करनेवाले उनके मन्त्री उद्धव के प्रतिनिधि की तरह दिखाई देने से, उपमन्त्री के रूप से दिखाई देनेवाले भ्रमर ! तथा भाँड़ों के पर्यायवाचक होने से हे भण्डविद्यापण्डित ! हमारे ऊपर कृपा कीजिये । और श्रीकृष्ण से भिन्न दूसरे जन की बात कहिये ॥७८॥

कारण—श्रीकृष्ण की शिक्षा से तू यहाँपर जिस विद्या को नियुक्त करना चाहता है, यह विद्या नवीन नहीं है । और श्रीकृष्ण में इस से भिन्न जो दूसरी बहुत सी विद्याएँ हैं, उनसे हमें भय नहीं है । क्योंकि वे प्रिय श्रीकृष्ण व्रज में कब आयेंगे ? ॥७९॥

(यहाँ से ''प्रियसख ! पुनरागाः'' भा० १०।४७।२० इसकी विशद व्याख्या करते हैं) उसके बाद इस प्रकार कहकर स्निग्धकण्ठ पुनः बोला—इस प्रकार दिव्य उन्माद से उत्पन्न हुई असावधानी के कारण, इस महान् विरह में भी श्रीमती राधिका श्रीकृष्ण के अङ्गसङ्ग की स्फूर्ति से बढ़ते हुए मान के इशारे के संयोगवाली हो गईं, अर्थात् प्रबल विरह में भी प्रबल मान कर बैठी । उसके बाद भ्रमर के स्वाभाविक सद्भाव एवं घूमने की परिपाटी के द्वारा, उस भ्रमर के दूसरे वृक्ष की ओटक में हो जानेपर, ये श्रीराधिका कलहान्तरिता नायिका भी हो गई थीं ॥८०॥

और बोलीं—यथा—हाय ! मैंने बड़ा कठोर व्यवहार कर डाला, जो कि श्रीकृष्ण के दूत के ऊपर

दयितेनान्याऽलाभाद्,-गोपनकामादपि भ्रमरः ।
प्रहितः क्षिप्तोः मयका, निजहृदि कञ्जे निचिक्षिपे चाग्निः ॥'८२॥

"इति सारोदत्, तस्या रोदनमवकलय्य च सर्वा रुरुदुः । सा तु रुदती तस्य वर्त्मनि नेत्रं नुदती च तं वा तद्विधमन्यं वाऽकस्मादायान्तमवलोच्य सम्भ्रमसम्पन्नकम्पसम्पद्वलमान-विकृतवर्णं वर्णयामास । तत्र च (भा० १०।४७।२०) 'प्रियसख ! पुनरागाः' इति वक्तव्ये 'पि पि पि पि प्रीयसख पु पु पु पु प्यूनरागाः' इति प्राह स्म । "अत्र यद्यपि त्वमितो ययिथ, तथापि यस्मात् पुनरागास्तस्मादस्माकं प्रियसख एव त्वम् ॥८३॥ "अस्यायमभिप्रायः,—

यः सह खेलति स सखा, यः समदुःखः प्रियः स पुनः ।
अपि दुःखे सहवासी, यः प्रियसखतां स तु व्रजति ॥८४॥

"तत्र चानुराग्यन्तस्तया निजभाग्यविशेषं तर्कयन्ती प्रेयसा प्रेषितः किमिति मनसि प्रोच्य पुनर्वचसि वक्तव्ये 'प्रे' इति वदन्त्येव मुमूर्च्छ । ततस्तद्धूतधैर्यविभवे तस्मिन्नुद्धवे सखीवलयेषु च लब्धबुद्धिविलयेषु सा तस्यामिद्धमूर्च्छायां मूर्च्छायामेव स्वप्न इव हन्त ! हन्त ! 'केनास्य तदेतद्दणविगणनं कुर्याम्' इति विचिन्त्य किञ्चित् प्रललाप,—'यथा वरय किमनुरुन्धे' इति । अत्र 'अवरुन्त्से' इति वक्तव्ये तिङ्व्यत्ययः प्रज्ञाव्यत्ययमेव व्यञ्जयति ॥८५

कुटिल वाक्यों का प्रयोग कर दिया । कारण—यह भ्रमर मेरी वक्रोक्ति को जानने के लिए समर्थ नहीं है । इसीलिए मेरे निकट से चला गया है ॥८१॥

हमारे प्यारे श्यामसुन्दर ने अन्य प्रिया की अप्राप्ति के कारण, एवं हमारी रक्षा की इच्छा से ही, इस भ्रमर को दूत बनाकर भेजा था । किन्तु मैंने उसको निन्दा करके फटकार दिया । और अपने हृदयरूप कमल के ऊपर (स्वयं) अग्नि फेंक ली है ॥८२॥

इस प्रकार कहकर श्रीराधिकाजी रोने लग गईं । उनके रोने को देखकर सभी सखियाँ रोने लग गईं । किन्तु श्रीराधिका तो रोती हुईं उस भ्रमर के मार्ग में अपने नेत्र को प्रेरित करती हुईं, उसी भ्रमर को अथवा उसी प्रकार के दूसरे भ्रमर को आते हुए देखकर, जल्दबाजी से उत्पन्न हुई कम्परूप सम्पत्ति से मिले हुए ह्रास, एवं वृद्धिरूप विकृत वर्णो को बोलने लगीं । और उसमें भी "हे प्रियसखे भ्रमर ! तुम दुबारा चले आये हो ।" इस प्रकार के कहने के स्थानपर श्रीराधिका—पि, पि, पि, पि, हे प्रीय सखे ! पु, पु, पु, पु, प्यूनः चले आये हो । इस प्रकार बोलीं । तुम यद्यपि यहाँ से चले गये थे, तथापि जिस कारण से पुनः यहाँपर आये हो, उसी कारण तुम हमारे प्यारे सखा ही हो ॥८३॥

इस "प्रियसख" शब्द का यह अभिप्राय है कि—जो एकसाथ खेलता है वह सखा कहलाता है, एवं जो मित्र के दुःख में समान दुःखवाला होता है वह पुनः प्रिय कहलाता है । और जो व्यक्ति दुःख में भी सहवास करता है, वह तो 'प्रियसखा' के भाव को प्राप्त होता है ॥८४॥

और वहाँपर अपने अन्तःकरण के अनुरागी होने के कारण, अपने भाग्यविशेष की तर्कना करती हुई श्रीराधिका—"मेरे प्यारे श्याम ने तुमको भेजा है क्या ?" यह वाक्य मन मन में कहकर, पुनः वचन में बोलते समय तो "प्रेयसा" इत्यादि के स्थान में 'प्रे' इतना मात्र कहती हुई मूर्च्छित हो गईं । उसके बाद श्रीराधिका की मूर्च्छा से उन उद्धव के धैर्यरूप वैभव के कम्पित हो जानेपर, तथा सखीमण्डलों के कर्तव्य-बुद्धि से रहित हो जानेपर, श्रीराधिका प्रदीप्त हुए मोह से युक्त उस मूर्च्छा दशा में ही, स्वप्न की तरह

"अस्यायमभिप्रायः,—

यत् प्रियसखताभाग् य,-स्तस्य धनं तस्य नान्यस्य ।
प्रियतमदूताय तु त,-न्नालं किन्त्वस्य वाञ्छितं पृच्छ्यम् ॥८६॥

"अत्र तत्रावेशत एवेदमाशशङ्के । सोऽयमेवमाशङ्केत,—'इयं खलु मुग्धा भवति, न तु विदग्धा; यस्मान्निरवधि निरुपधि-सुहृदं मामुपाधिबाधितहृदं मन्यते' इति । तस्मादिदं ब्रवीमीति ब्रवीति स्म,—'माननीयोऽसि मेऽङ्ग' इति ॥८७॥ "अत्रायमभिप्रायः,—

यद्यपि मित्रं निरुपधि, कश्चन कस्यापि सन्ततं भवति ।
तदपि सदा परितर्प्यः, स हि न हि भिन्नः स्वतः परिस्फुरति ॥८८॥

"अथ यदि तथा मन्यसे, तदा मह्यमेतदेव देहीति प्रोच्य किमप्यननुशोच्य तर्ह्येवात्मानं रथमारोहयितुं प्रयतमानतयाऽसावस्याः स्फुरति स्म । "तत्र तु सेयं काकुव्याकुलं प्रलपति स्म, (भा० १०।४७।२०)—'नयसि कथमिहास्मान् दुस्त्यजद्वन्द्वपार्श्वम्' इति ॥८९॥

"हाय ! हाय ! इस भ्रमर के इस प्रिय सखापन के कार्य के ऋण की शुद्धि किस उपाय से करूँ ?" इस प्रकार विचार कर कुछ प्रलाप करने लगीं, अर्थात् बड़बड़ाने लगीं । यथा—तुम वरदान माँगो । मैं क्या अनुरोध करूँ ? इस वाक्य में 'अवरुन्त्से' अर्थात् "तुम क्या अनुरोध करते हो ?" ऐसा कहने के स्थान में तिङ् प्रत्यय का जो व्यतिक्रम है, अर्थात् मध्यमपुरुष के स्थान में उत्तमपुरुष का जो प्रयोग है, वह बुद्धि के व्यतिक्रम को ही प्रकाशित कर रहा है ॥८५॥

"वरय किमनुरुन्धे" भा० १०।४७।२० इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि—जो व्यक्ति जिस व्यक्ति के प्रियमित्र भाव का भागी है, उसका धन उस प्रियमित्र भाव के भागी से दूसरे का नहीं है । अर्थात् प्रियमित्र के धन का अधिकारी प्रियमित्र ही हो सकता है, दूसरा नहीं । अतः प्रियतम श्रीकृष्ण के दूत के लिए तो वह धन पर्याप्त नहीं है । किन्तु इस भ्रमर का अभिलषित पदार्थ पूछने योग्य है ॥८६॥

इस विषय में भ्रमर के ऊपर आवेश होने से ही, श्रीराधिका यह आशंका करने लगीं कि—यह भ्रमर इस प्रकार आशंका करेगा कि, यह राधिका निश्चय ही मूढ है, रसिक या चतुर नहीं है । क्योंकि ये तो निरन्तर निष्कपट मित्रभाववाले मुझको "यह श्रीकृष्ण का पक्षपाती है" इस प्रकार की उपाधि से बाधित हृदयवाला मानती है । इसलिए यह कहूँ । इतना विचार कर श्रीराधिका बोलीं—हे प्रिय भ्रमर ! तुम मेरे माननीय हो ॥८७॥

"तुम मेरे माननीय हो" इस वाक्य में यह अभिप्राय है कि, यद्यपि कोई व्यक्ति किसी का निरन्तर निष्कपट मित्र होता है, तथापि वह सदैव परितृप्त करने योग्य है । क्योंकि वह निष्कपट मित्र अपने से भिन्न स्फूर्ति नहीं पाता है, अर्थात् अपने से अभिन्न ही माना गया है । तात्पर्य—निष्कपट मित्र को तृप्त करना अपने को ही तृप्त करना है ॥८८॥

उसके बाद "यदि तुम इस प्रकार का अभेद मानती हो, तब तो मेरे लिए, यही दान करो ।" यह कहकर, कुछ भी न शोचकर उसी समय यह भ्रमर श्रीराधिका को "अपने को रथ में चढ़ाने को प्रयत्न करता हुआ सा" प्रतीत होने लगा । उस समय तो ये श्रीराधिका कातरवाणी से व्याकुल होकर प्रलाप करने लगीं—हे भ्रमर ! श्रीकृष्ण बलदेवरूप जिस युगलजोड़ी का निकट भाव त्यागना कठिन है, अथवा जिन श्रीकृष्ण को युगलजोड़ी का भाव त्यागना कठिन है, अर्थात् लक्ष्मी के सदैव निकट रहने के कारण जो सदैव युगल रूप बने रहते हैं; हमको यहाँ से उनके निकट क्यों ले जा रहा है ? ॥८९॥

"अस्यायमभिप्रायः,—

मधुकर ! स भवान् जात्या, सर्वेषां च प्रमोदमाहर्ता ।
मत्प्रियसखतामञ्च,-न्नयसि कथं मां सपत्नीषु ? ॥६०॥
त्वं न हि यन्मम दुःखं, कृष्णश्चावैत्ततः सपत्नीषु !
अविभर्मामपि विरह,-व्याधिं नेतुं सयत्नतामभितः ॥६१॥

"तत्र चेदं पुनरुट्टङ्कयति स्म,—'किमयं ब्रूते ? साम्प्रतमेव स गायत्रव्रतमुत्तीर्णवानस्ति। कथं मिथुनीभावमापद्येत ?' इति। "तत्रेदं ब्रवाणीति ब्रवीति स्म, (भा० १०।४७।२०)—'सततमुरसि सौम्य श्रीर्वधूः साकमास्ते' इति ॥६२॥ "अत्र चायमभिप्रायः,–

तस्योरसि या रेखा, सा खलु लक्ष्मीरिति प्रथितम् ।
तं मिलती किल तरुणं, सा नवतरुणी रहो भवति ॥६३॥

"तस्मात्— इत्वरीणामियं रीतिरेति स्वैरमितस्ततः ।
नयन्मां नगरं तासां दशां मामिव मा नय ॥६४॥

"अथ पुनः कथमपि तद्वासनया कृतबहिर्वृत्तिप्रकाशनया चक्षुषी समुन्मील्य निभालयन्ती चिरं गतमपि तमेव द्विरेफं साक्षादिव वीक्षते स्म; वीक्ष्य च पुनर्विरहमेव सन्ततं निरीक्षते

"नयसि कथमित्यादि" भा० १०।४७।२० वाक्य का गूढ़ अभिप्राय यह है कि—हे मधुकर ! तुम तो स्वभाव से ही सब जनों के आनन्द दाता हो, फिर मेरे प्रियमित्र भाव को प्राप्त होकर भी, मुझको मेरी सपत्नियों (सौतों) के बीच में क्यों ले जा रहे हो ? ॥६०॥

कारण—तुम और श्रीकृष्ण मेरे दुःख को नहीं जानते हो। इसीलिए तुम और श्रीकृष्ण, मुझको भी सपत्नियों के बीच में विरहरूप व्याधि को प्राप्त करने के लिए चारों ओर से प्रयत्नों के भाव को धारण कर चुके हो ॥६१॥

पूर्वोक्त विषय में श्रीराधिका पुनः यह उल्लेख करती हैं कि—यह भ्रमर यह क्या कहता है कि—"वह श्रीकृष्ण तत्काल ही गायत्रीव्रत से उत्तीर्ण हुआ है, अर्थात् वेदाध्ययन से पार हुआ है। अतः अभी स्त्री के साथ वैवाहिक संयोग को कैसे प्राप्त हो सकता है ?" इस बात के ऊपर मैं यह कहती हूँ। यह विचार कर बोलीं—हे सौम्य ! भ्रमर ! श्रीकृष्ण के वक्षःस्थलपर सदा ही लक्ष्मीरूपा वधू सहवास करती है ॥६२॥

इस वाक्य का गूढाभिप्राय यह है कि, श्रीकृष्ण के वक्षःस्थलपर वामभाग में सुवर्णमयी जो रेखा है, वह लक्ष्मी कहकर प्रसिद्ध है। और यह बात भी है कि, नवतरुण श्रीकृष्ण से मिलती हुई, वह रेखारूप लक्ष्मी एकान्त में नवतरुणी हो जाती है ॥६३॥

अतः कुलटाओं की यह रीति है कि, कुलटानारी स्वतन्त्रतापूर्वक इधर उधर सभी के पास जाती रहती है। अतः मुझको मथुरापुरी में ले जाता हुआ तू मामिव, अर्थात् लक्ष्मी की तरह उन कुलटाओं की दशा को मत प्राप्त करा ॥६४॥

(यहाँ से "अपि बत मधुपुर्याम्" भा० १०।४७।२१ इस श्लोक की विशद व्याख्या करते हैं) उसके बाद दुवारा बाहरी वृत्ति को प्रकाश करनेवाली, उस भ्रमर के देखने की वासना के द्वारा, किसी प्रकार दोनों नेत्रों को खोलकर देखती हुई श्रीराधिका, बहुत देर से गये हुए उस भ्रमर को भी, साक्षात् की तरह देखने

स्म। "तत्र च पृच्छ्यमिदं पूर्वं नापृच्छमिति सविप्रतीसारं पृच्छति स्म, (भा० १०।४७।२१)–'अपि बत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनाऽऽस्ते' इति ॥६५॥ "अस्य चायमभिप्राय:,—

तत्त्वं ब्रवीमि न रहस्त्वयि किञ्चनास्ते, भृङ्गाधिप ! स्वहितकारिणि बन्धुबन्धौ ।
धर्मे विवेचनमिते स तु नः पतिः स्या,-दौत्पत्तिकी हि रतिरत्र मिथः प्रमाणम् ॥६६॥

कष्टं बत प्रियतमः स पुरि प्रयातः, स्तब्धश्च वृत्तमपि नात्र चिरादुपैति ।
तत्रानवस्थितिमथास्य वितर्क्य चित्तं, सन्दिह्य दाह्यदशया बत भस्मति स्म ॥६७॥

तत्र तन्मुखात्तस्य सुखावस्थितिसम्मतिं मतिमानीय पुनर्विशेषं पृच्छति स्म, (भा० १०।४७।२१)—'स्मरति स पितृगेहान् सौम्य ! बन्धूंश्च गोपान्' इति ॥६८॥

"अत्र चायमभिप्राय:,—

चित्ते चेद् व्रजमाव्रजत्यनुदिनं सोऽपि स्मरत्यन्वहं
तं तातं जननीं च तामहह तान्यात्मीयवृन्दान्यपि ।
तर्हि स्यादुभयत्र सन्ततमिथःस्फूर्तिः समक्षप्रभा
येन स्याम वयं च हन्त मृतकाः शुद्धामृतेनोक्षिताः ॥६९॥

लग गईं । और देखकर भी पुन: विरह को ही निरन्तर देखने लग गईं । और उस विरह में पूछने योग्य यह बात पहले मैंने नहीं पूछी । इस कारण पश्चात्तापपूर्वक पूछने लगीं कि—हाय ! हे भ्रमर ! आर्यपुत्र श्रीकृष्ण इस समय मथुरा में ही हैं क्या ? ॥६५॥

इस वाक्य का गूढ तात्पर्य यह है कि, हे भृङ्गाधिप ! मैं तुम से यथार्थ बात कहती हूँ कि, तुम हमारे निजी हितैषी हो, एवं हमारे बन्धु श्रीकृष्ण के भी बन्धु हो । अत: तुम्हारे निकट हमारा कोई भी गोपनीय विषय नहीं है । देखो, धर्म का विवेचन करनेपर तो वे श्रीकृष्ण ही हमारे पति हो सकते हैं (दूसरा नहीं), क्योंकि इस विषय में परस्पर स्वाभाविकी प्रीतिविशेष ही प्रमाण है ॥६६॥

हाय ! बड़े कष्ट की बात है कि, वे हमारे प्रियतम मथुरापुरी में चले गये, और वहाँपर इतने निश्चल हो गये हैं कि, उनका वृत्तान्त भी यहाँपर वहुत समय से नहीं आ रहा है । और गुरुगृह में वास करने के कारण, मथुरा में भी उनकी अनुपस्थिति को विचार कर, एवं सन्देह करके मेरा चित्त दाह्यदशा से हाय ! भस्म सा होता जा रहा है ॥६७॥

उस समय भ्रमर के मुख से मथुरा में श्रीकृष्ण की सुखपूर्वक उपस्थिति की सम्मति को अपनी बुद्धि में लाकर, पुन: विशेष बात पूछने लगीं कि—हे सौम्य ! भ्रमर ! वे श्रीकृष्ण पिता को, पिता के घरों को, अपने प्रियमित्रों को, एवं सब गोपों को भी कभी याद करते हैं क्या ? ॥६८॥

इस वाक्य में यह गूढ अभिप्राय है कि, वे श्रीकृष्ण भी यदि अपने मन मन में प्रतिदिन व्रज में आते हैं, एवं प्रतिदिन श्रीव्रजेश्वररूप पिता को,तथा श्रीव्रजेश्वरीरूप माता को, और सुबल श्रीदामादिरूप सखाओं को, एवं हम सब गोपीरूप उन आत्मीयवृन्दों को भी यदि याद करते हैं, अहह ! तब तो दोनों ओर निरन्तर की परस्पर स्फूर्ति प्रत्यक्षरूप हो जायगी । अत: परस्पर की जिस स्फूर्तिके कारण हाय ! मृतकतुल्य हम सब गोपियाँ शुद्ध अमृत से सिंचित हो जायँगी ॥६९॥

"तत्र च तस्य सम्मतमिव विविच्य पुनः सङ्कोचं व्यतिरिच्य पृच्छति स्म, (भा० १०।४७।२१)—'क्वचिदपि स कथा नः किङ्करीणां गृणीते' इति ॥१००॥

"अस्य चायमभिप्रायः,—

क्वचिदपि रहसि स्वां मूर्तिमस्मन्निषेवा,-विरचितचरवेषां वीक्ष्य चैतद् ब्रवीति ।
अपि बत परिचर्याकारिका हन्त नामूः,स्मरसि यदसि दूरे नात्मना सार्धमेषि ॥१०१॥

"तदेतद्विलपितं वलयित्वा (भा० १०।४७।२१)—'भुजमगुरुसुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत् कदा नु' इति वदन्मनाः शुण्डावद्भुजदण्डशुण्डामपि मदस्थानतयानुभवन्ती या बभूव, सेयं सम्प्रति तद्विरहदहनं वहन्ती भुजेतिमात्रं वचसि रचयन्ती मूर्च्छति स्म । अत्र धास्यतीति वाच्येऽधास्यदिति तस्या भ्रमविकार एव ॥१०२॥ "मूर्च्छा तु यथा—

वैस्वर्यात् क्रशिमान्वयादवयवस्थित्यन्यभावाश्रयाद्,वैवर्ण्यादपि या न सेति मुहुरप्यूहांबभूवे यदा ।
तर्ह्येषा बत लालयावृतिवशाच्चेष्टाविघट्टादुत,श्वासाद्यानुपलम्भनान्निजतनावस्तीति नार्तकि च।१०३

"तद्वचनस्य चायमभिप्रायः,—

गुरुमगुरुमतीत्य स्वीयपाणिं सुगन्धिं, निजपरिचरणायां स्वीकृतिं लिप्समानः ।
अहह शिरसि नः किं कर्ह्यपि स्पर्शयिष्य,-त्यनुदिनमपि येन स्फीतचित्ता भवामः ॥"इति॥१०४

उस विषय में उस भ्रमर की सम्मति सी विचार कर, पुनः संकोच को छोड़कर पूछने लगीं—"वे श्यामसुन्दर हम सब दासियों की कथा को भी किसी स्थानपर कहते हैं क्या ?" ॥१००॥

इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि,—हमारी विशेष सेवा के द्वारा, जिसका मनोहर वेष पहले विरचित हुआ था, उस अपनी मूर्ति को कभी एकान्त में (दर्पण में) देखकर, उस मूर्ति के प्रति भी यह कहते हैं कि—हे मेरी मूर्ति ! मैं तुझसे पूछता हूँ कि, हाय ! हाय ! तुम अपनी सेवा करनेवाली उन सब गोपियों का स्मरण भी नहीं करती हो । क्योंकि तुम गोपियों से दूर विद्यमान हो, मेरे मन के साथ व्रज में नहीं जाती हो । एकान्त में इस प्रकार कहते हैं क्या ? यह भाव है ॥१०१॥

अतः इस प्रकार के विलाप को प्रकाशित करके "वे श्यामसुन्दर अगर की सी सुगन्धिवाली अपनी भुजा को हमारे मस्तकपर कब धारण करेंगे ?" इस प्रकार पूरा वाक्य बोलने के मनवाली जो श्रीराधिका, श्रीकृष्ण की भुजदण्डरूप शुण्डा को भी शुण्डावत्, अर्थात् मदपान करने के स्थान की तरह, मद के स्थान-रूप से अनुभव करती हुई विद्यमान थीं, वे ही इस समय श्रीकृष्ण की विरहरूप अग्नि को धारण करती हुईं 'भुजा' इतनामात्र वचन में कहती हुईं मूर्च्छित हो गईं । इस "भुजमगुरु" इत्यादि श्लोक में 'धास्यति' यह कहने के स्थानपर 'अधास्यत्' यह प्रयोग करना श्रीराधिका का भ्रम का विकार ही है, यह प्रतीत हो रहा है ॥१०२॥

श्रीराधिका की मूर्च्छा का वर्णन, यथा—स्वर की विपरीतता, अत्यन्त कृशता, हस्त पादादि अवयवों की स्थिति का बदलना, एवं शरीर का रंग बदल जाना, इत्यादि कारणों से जो राधिका अपनी सखियों के द्वारा बारंबार "यह वे राधिका नहीं हैं" इस प्रकार जब वितर्क में आईं, तब तो ये श्रीराधिका अपने मुख की लार से ढक जाने से, शारीरिक चेष्टा की शून्यता से, और श्वास आदि की उपलब्धि न होने के कारण, अपने शरीर में हैं, या नहीं, इस प्रकार की तर्कना नहीं हो पाई ॥१०३॥

और "भुजमगुरुसुगन्धं" इत्यादि उस वचन का अभिप्राय यह है कि, अपनी सेवा में हमारी स्वीकृति

तदेवं वर्णयित्वा स्निग्धकण्ठः स्वं दुःखं राधाकृष्णयोः श्रृण्वतोः कृष्णं प्रति वर्णयामास,—

"सुरूपा वैरूप्यं मृदुलहृदया क्रूरतरतां, सुलज्जा वैयात्यं स्मितमधुरिता म्लानमुखताम् ।
तदागादेषा यत्तव विरहतः कृष्ण ! सुभगा, तदेतन्मच्चित्तं विमृशदभितस्तापमयते ॥१०५॥

असौ क्व विरहव्यथा वलितशून्यता सर्वतः
क्व वा कलिरितः कलेर्व्यवहितिश्च सार्धं त्वया ।
इतीह वृषभानुजा-हृदयदुर्दशामामृशन्
मनो मम मनोहराखिल-मुकुन्द ! विभ्राम्यति ॥"१०६॥

अथ कृष्णेन परमतृष्णेनाश्लिष्टतया म्लिष्टाधिकायां राधिकायां तस्यां सभायामपि महासुखाधिकायां जातायां मुहूर्तमेकं तत्प्रतिपदेव तस्मिन्नितिहासाध्ययने प्रतिपद् बभूव । यतस्तस्य च संमदान्तर्लीयमानं स्वान्तमपि चिराय स्वान्ताय कल्पते स्म ॥१०७॥

इति श्रीश्रीमदुत्तरगोपालचम्पूमनु दूतभ्रमकरभ्रमरसम्भ्रमं नामैकादशं पूरणम् ॥११॥

को प्राप्त करने की इच्छा करते हुए श्रीकृष्ण, गुरुतर अगुरु चन्दन की अपेक्षा भी सुन्दर गन्धवाले अपने करकमल को हाय ! हमारे शिरपर भी कभी स्पर्श करेंगे क्या ? जिससे हम प्रतिदिन प्रफुलित चित्तवाली हो जायँगी ॥१०४॥

अतएव इस प्रकार वर्णन करके स्निग्धकण्ठ श्रीराधा-कृष्ण के श्रवण करते समय अपने दुःख को श्रीकृष्ण के प्रति वर्णन करने लगा—हे भगवन् श्रीकृष्ण ! आपके विरह से उस समय सौभाग्यशालिनी ये श्रीमती राधिका सुरूपा होकर भी विरूपता को, कोमल हृदयवाली होकर भी अत्यन्त क्रूरता को, अच्छी लज्जावती होकर भी धृष्टता को, एवं मन्दहास्य के द्वारा मधुर प्रकृतिवाली होकर भी मुख की मलिनता को जो प्राप्त हो गई थीं, अतः उस समय के इस चरित्र को विचारता हुआ मेरा चित्त चारों ओर से ताप को प्राप्त हो रहा है ॥१०५॥

हे अखिल पदार्थों के मन हरनेवाले मुकुन्द ! देखो, चारों ओर से शून्यता का प्रकाश करनेवाली वह विरह व्यथा कहाँ, एवं वह कलह कहाँ ? और इस कलह से इस नित्यलीला में आपके साथ व्यवधान कहाँ अथवा कलहान्तरिता का भाव कहाँ ? इस प्रकार श्रीवृषभानुनन्दिनी के हृदय की दुर्दशा को विचारता हुआ मेरा मन विशेष भ्रान्त हो जाता है ॥१०६॥

अब ग्रन्थकार कहते हैं कि, उसके बाद भक्तों से मिलने की परमतृष्णावाले श्रीकृष्ण के द्वारा आलिङ्गित होने से, श्रीराधिका जब मानसिकव्यथा से रहित हो गईं, एवं वह रात्रि की सभा भी जब महान् सुख से अधिकता को प्राप्त हो गई, तब एक मुहूर्ततक उस स्निग्धकण्ठ की प्रतिपदेव, अर्थात् बुद्धि ही, उस इतिहास के अध्ययन के विषय में प्रतिपद् तिथि हो गई, अर्थात् प्रतिपदा को जैसे अनध्याय होता है, उसी प्रकार एक मुहूर्ततक कथा बन्द हो गई । जिस कारण स्निग्धकण्ठ एवं मधुकण्ठ का चित्त भी आनन्द में विभोर होकर बहुत देरतक गम्भीरता के लिए कल्पित हो गया ॥१०७॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रिविरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीमदुत्तरगोपालचम्पूकाव्ये दूतभ्रमकरभ्रमरसम्भ्रम-नामकं
एकादशं पूरणं सम्पूर्णम् ॥११॥

अथ द्वादशं पूरणम्

उद्धवस्य व्रजानन्द-सम्पादनम्

एतदनन्तरं मधुकण्ठ उवाच,—"अथ मुहूर्तं मूर्तभावमितायामस्यां तथा सर्वस्यामपि कृततद्वरिवस्यायां हा ! सखि ! राधिके ! हा ! कृष्णप्रेमाधिके ! हा ! सदास्मदानन्दसाधिके ! त्वामिमां शन्तमदृशं हन्त ! हन्त ! कीदृशं पश्याम इति विलापवश्यायां स श्यामसुन्दरस्य सेवकवरः स्वयमपि परिदेवनपरः कथमपि निजदेवविरचितस्फूर्तिवदेव तन्मूर्तिप्रतिकारकरः केवलेन तत्कलेवरसुरभितरसुरभिद्रव्येण निजसङ्गानीततया नव्येन चैतन्यमाचितवान् । तदाचित्य च तां तदानल्पसङ्कल्पात् कृष्णसङ्गतकल्पामध्यवस्य मध्यमध्यास्य सर्वाः परितः संवास्य चिरादाश्वास्य च प्रथमं ताः पूर्ववत् कृष्णस्य तासां च महिम्ना दुर्धरतज्जातीयभावतः शिथिलयितुं साम्ना ललाप ॥१॥

अहो यूयं पूर्णा निखिलमहिता याभिरभित-
स्तथा न्यस्तं चित्तं भगवति समस्तार्थभजने ।
विदूरे युष्माकं न स भवति मां किन्तु विरह-
च्छलः प्रेमा दूरं निजमहिमपूरं ज्ञपयति ॥२॥

बारहवाँ पूरण

उद्धवजी का व्रज को आनन्द देना

उसके बाद मधुकण्ठ बोला—अनन्तर दो घड़ीतक श्रीराधिका के मूर्च्छितभाव को प्राप्त हो जानेपर, एवं उनकी सेवा करनेवाली सभी सखियों के भी "हा ! सखि ! राधिके ! हा ! कृष्णप्रेमाधिके ! हा ! सदैव हमारे आनन्द को सिद्ध करनेवाली सखि ! हाय ! मङ्गलमय नेत्रोंवाली तुमको हम किस प्रकार की देख रही हैं ?" इस प्रकार कहकर विलाप के वशीभूत हो जानेपर, श्रीश्यामसुन्दर का सेवकश्रेष्ठ उद्धव स्वयं भी विलापपरायण होकर, पश्चात् किसी प्रकार निज इष्टदेव श्रीकृष्ण के द्वारा रची गई स्फूर्ति की तरह उनकी मूर्ति की समानता को धारण कर, केवल श्रीकृष्ण के शरीर के सम्बन्ध से अत्यन्त सुगन्धित, एवं नासिका को तृप्त करनेवाले नवीन वस्त्र आदि द्रव्य, जो अपने संग लाये थे, उनके द्वारा चेतना दिलाने लगे। और चेतना दिलाते ही उस समय श्रीराधिका को अपने विशाल सङ्कल्प के कारण, श्रीकृष्ण से मिली हुई सी निश्चय करके बीच में बैठाकर, सब सखियों को चारों ओर बैठाकर, बहुत देरतक आश्वासन देकर, पहले की भाँति श्रीकृष्ण एवं उन गोपियों की महिमा के द्वारा, सर्वसाधारण के द्वारा न धारण करने योग्य उनके से लोकोत्तरभाव से शिथिल करने के लिए, श्रीउद्धवजी पहले शान्तिपूर्वक उन सखियों से बोले—॥१॥

अहो आश्चर्य ! अरी गोपियो ! तुम सब ओर से परिपूर्ण हो, अर्थात् कृतकृत्य हो, एवं सभी के द्वारा पूजित हो, क्योंकि जिन तुम सब गोपियों ने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, एवं भक्तिपर्यन्त सब पुरुषार्थ को देनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण में अपने चित्त को उस प्रकार के लोकोत्तरभाव से समर्पित कर दिया है, वे श्रीकृष्ण तुमसे विशेष दूर नहीं हैं। किन्तु विरह के छलवाला जो तुम्हारा लोकोत्तरप्रेम है, वह मुझको अपनी महिमा के प्रवाह को बहुत दूर जना रहा है ॥२॥

"तदेवं स्तुत्वा सखेदमिव निवेदयामास,—

'सन्देशहर्तुः प्रथमं निशम्य, दुःखं सुखं वा तनुते विवेकी।
तस्मादनाकर्ण्य पुरा स्वयं यः, सम्भाव्य तत्तन्मनुते स बालः ॥३॥

'तथा हि, यदा हि मामत्र प्रस्थापयितुमभ्युत्थानमाचरितं तेन भवत्प्रियतमेन, तदा मय्येतन्निभृतमुक्तम्,—मम तादृगुद्धव ! श्रीमदुद्धव ! श्रूयताम् ॥४॥ (भा० १०।४६।३-६)—

'गच्छोद्धव ! व्रजं सौम्य ! पित्रोर्नः प्रीतिमावह।
गोपीनां मद्वियोगाधिं मत्सन्देशैर्विमोचय ॥
ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः।
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम् ॥
मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः।
स्मरन्त्योऽङ्ग ! विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः ॥
धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चन।
प्रत्यागमनसन्देशैर्बल्लव्यो मे मदात्मिकाः ॥' इति ॥५॥

'तदेवं 'गच्छोद्धव ! व्रजं सौम्य' ! इत्युभयत्र साधारणतया मां विनुद्य पितरावपि

इस प्रकार गोपियों की स्तुति करके उद्धवजी ने खेदपूर्वक निवेदन किया कि—विवेकीजन पहले सन्देश लानेवाले दूत से सन्देश सुनकर ही, दुःख अथवा सुख को प्रकाशित करता है। किन्तु जो व्यक्ति पहले दूत से कोई वृत्तान्त न सुनकर, स्वयं सम्भावना करके सुख-दुःख को मानने लग जाता है, वह बालक ही है। तात्पर्य—मैं क्यों आया हूँ ? क्या सन्देश लाया हूँ ? इत्यादि कुछ भी न पूछकर या सुनकर, तुम्हारा जो खेद प्रगट करना है, यह बालकपन ही तो है ॥३॥

देखो, तुम्हारे प्रियतम उन श्यामसुन्दर ने मुझको यहाँपर भेजने के लिए जब उद्योग किया था, तब मेरे निकट एकान्त में यह कहा था कि—मेरे उस प्रकार के उत्सव सम्पन्न करनेवाले हे श्रीमान् उद्धव ! मेरी बात सुनो ॥४॥

हे सौम्य ! उद्धव ! तुम व्रज में जाओ। और वहाँपर मेरे माता-पिता की प्रीति का सम्पादन करो, तथा मेरे सन्देशों के द्वारा गोपियों की मेरे वियोग से उत्पन्न हुई मानसीव्यथा को दूर करो। कारण—उनका मन मुझ में ही है, एवं उनके प्राण मुझ में ही धरे हैं, अथवा मैं ही उनका प्राण हूँ। और उन्होंने मेरे लिए देह के सभी सुख त्याग दिये हैं। तथा वे गोपियाँ अपने अपने मन के द्वारा आत्मास्वरूप मुझ प्रियतम पति को ही प्राप्त हो चुकी हैं। और जो मेरे लिए लोकधर्म को त्याग चुके हैं, मैं उनका पालन पोषण करता हूँ, यह मेरी प्रतिज्ञा है। और हे प्यारे उद्धव ! वे गोपियाँ प्रियतमों के भी प्रियतमरूप मेरे दूरस्थित होते ही, मेरा स्मरण करती हुई विरह की उत्कण्ठा से विह्वल होकर विमुग्ध हो रही हैं। अतः मेरे में जिनकी आत्मा लगी हुई है, ऐसी वे गोपियाँ मेरे पुनः लौटने के सन्देशों के कारण, प्रायः अत्यन्त कष्ट से किसी प्रकार अपने प्राणों को धारण कर रही हैं ॥५॥

इस प्रकार हे उद्धव ! हे सौम्य ! तुम व्रज को जाओ। इस प्रकार दोनों स्थलोंपर, अर्थात् माता-पिता के निकट एवं तुम सब गोपियों के निकट साधारणरूप से मुझको ही प्रेरित कर, एवं श्लोक के

श्लोकचतुर्थांशमात्रेण प्रस्तुत्य भवतीनामनुरागं चतुर्भिः श्लोकैः कथयित्वा पुनराविस्तरां विस्तरश्च कृतः ॥६॥

'तदेतावदुद्धवस्ताभिर्बुद्धमवधाय तत्र च तेन स्वप्रभुवरेण स्वस्मिन् पितरौ प्रति (१०।२२) 'जानासि त्वम्' इत्यादिपूर्वोक्तपद्यरीत्या य ईषद्विस्तरः कृतस्तमनूद्य पश्चान्नितान्त-तान्ताः कान्ताः प्रति प्रथिततया यस्तमप्यनूदितवान् ॥७॥ यथा—

'व्रजे नार्यः काश्चिद् दुरधिगमभावा बत मया-,प्यतस्ता नैव स्युर्विरहमपनेतुं तव गिरा ।
मदीयं सन्देशं विनिदिशसि चेत्तं च विविधं, तथा वारंवारं कथमपि भवेयुः किल तदा ॥८॥
मदर्थं संत्यज्याप्यनिशमशनाद्यं वरदृश-,श्चिरं जीवन्तीति स्फुरति न मृषा विश्रुतिरसौ ।
मयि प्राणास्तासां सदमृततनौ मय्यपि मनः, सदा सन्त्यस्तीति प्रबलमिह यत्कारणमिदम् ॥९॥
सदा मामेवामूर्दयितमतुलप्रेमवसतिं, तथात्मानं मत्वा किल निखिलमस्यन्ति समयम् ।
बहिर्दृष्ट्या ये वा बत पतितया भान्ति पशुपाः, सलोका वा धर्मास्तृणवदजहुस्तानपि पुरा ॥१०
सलोकं धर्मं प्राग् यदपि विजहुर्मद्रतिवशा-, दमू रे ! तर्ह्यन्यां तदपि दधते तत्र कुदशाम् ।
पुरा चित्ते तत्त्यजनकृतिपूर्वं रहसि मां, श्रिताः सम्प्रत्येतद्युगलमथ साक्षाद्विदधति ॥११॥

चतुर्थांशमात्र से, अर्थात् एकचरण से माता-पिता दोनों को ही प्रस्तुत करके, और आप सबके अनुराग को चार श्लोकों के द्वारा कहकर, पुनः श्रीकृष्ण ने प्रगटरूप से विस्तार भी कर दिया ॥६॥

अतएव उद्धवजी ने, गोपियों ने "गच्छोद्धव व्रज" भा० १०।४६।३ इत्यादि श्लोकों के मर्म को इतना जान लिया है यह विचार कर, और उसमें भी अपने स्वामिश्रेष्ठ श्रीकृष्ण ने अपने निकट अपने माता-पिता के प्रति "जानासि त्वं" इत्यादि दशम पूरण के पूर्वोक्त २२ श्लोक की रीति के द्वारा जो थोड़ा सा विस्तार किया था, उसका अनुवाद करके, पश्चात् अत्यन्त व्यथित हृदयवाली उन कान्ताओं के प्रति विस्ताररूप से जो विस्तार किया था, उसका भी अनुवाद कर दिया ॥७॥

यहाँ से "गोपीनां मद्वियोगाधि" भा० १०।४६।३ इत्यादि चार श्लोकों का विस्तृत अनुवाद आठ शिखरिणी श्लोकों में है, यथा—हे उद्धव ! व्रज में कुछ मेरी प्रेयसी स्त्रियाँ ऐसी हैं कि, जिनके भाव को मैं भी नहीं जान पाता हूँ । वे दुरधिगम भाववाली गोपियाँ केवल तुम्हारी वाणी से विरह को दूर करने को समर्थ न हो सकेंगी । यदि तुम मेरे उस विविध (अनेक प्रकार के) सन्देश को बारंबार प्रदान करोगे, तब कहीं किसी प्रकार विरह त्यागने को समर्थ होंगी ॥८॥

सुन्दर नेत्रोंवाली वे गोपियाँ मेरे निमित्त निरन्तर भोजन आदि को त्यागकर चिरकालतक जीवित हैं । यह प्रसिद्धि मिथ्या ही संचारित नहीं हो रहो है । क्योंकि उन गोपियों के प्राण एव मन सच्चिदानन्द-घन एवं अमृतमय शरीरवाले मुझ में ही सदा रहते हैं । अतः आहार के बिना चिरकालतक जीवित रहने में यही प्रबल कारण है ॥९॥

और वे गोपियाँ सदा मुझको ही प्रियतम, अतुल प्रेम के निवासस्थान तथा आत्मा मानकर सम्पूर्ण समय को बिताती हैं । हाय ! बाह्यदृष्टि से जो गोप उनके पतिरूप से शोभा पा रहे हैं, और स्वजन सम्बन्धियों के सहित जो धर्म प्रकाशित हो रहे हैं, उनको तो वे गोपियाँ पहले ही तृण की तरह त्याग चुकी हैं । अरे ! भैया ! उद्धव ! यद्यपि वे गोपियाँ मेरे अनुराग के कारण, पहले लोक के सहित लौकिकधर्म को त्याग चुकी हैं, तो भी वे वहाँपर दूसरी कुदशा को धारण कर रही हैं । पहले जो गोपियाँ अपने चित्त में

अहो ये येऽन्ये च प्रथमभजनाय प्रतिनिजं, स्वधर्मं तल्लोकानपि परिहरन्ति श्रवणतः ।
अमी त्यक्तुं शक्याः स्खलितभजनत्वेऽपि न मया, कथं तास्त्यज्यन्तां बत नवनवप्रेमतनवः ? १२
यदध्यन्तःस्फूर्तिर्भवति मम तासु प्रतिपदं, तदीयप्राणानां धृतिभृतिविधानक्षमतमा ।
तथाप्युद्योतन्ते क्वचन मम चेन्माथुरकथा-, स्तदा मद्दूरत्वस्मरणमनु मुह्यन्ति बत ताः ॥१३॥
क्षणः कल्पस्तासां भवति विरहे हा मम यतः, स्फुटं रासारम्भे कतिचिदगमंस्तामपि दशाम् ।
तथाप्येतासां यन्न बहिरसवो यान्ति तदिदं, मदीयप्रत्यावृत्त्युपधिशतयुग्वाचिकबलम् ॥१४॥

प्रतिश्रुत्य प्राग्यन्निजपितृतया बल्लवपती
दिशामि त्वां गन्तुं स्वमपि मनुवे बल्लवमितः ।
अतो मे बल्लव्यो म इति निजताव्यञ्जि वचनं
तथा ज्ञेयं तासां यदिह न मया कापि च भिदा ॥१५॥

'तदेवमाकर्ण्य मया निवेदितम्,—र्तार्हि कथं मध्ये मध्ये सर्वतः प्रकाशरम्यतया स्वयं न गम्यत इति ? तदेतदाकर्ण्य तेन च वैवर्ण्यपूर्वकं मयि मर्म समुद्‌दितम्—यद्यपि शात्रवविद्रवः समाधातुं शक्यते, तथापि तत्र चात्र च कश्चन सङ्कोचस्तत्र गन्तुं रचितारम्भमपि मां स्तम्भयति ॥१६॥

लोक के सहित धर्म त्यागपूर्वक एकान्त में मेरा आश्रय लेती थीं, इस समय वे ही गोपियाँ पूर्वोक्त दोनों वस्तुओं को, अर्थात् पतियों को एवं लोकसहित धर्मों को साक्षात् धारण कर रही हैं ॥१०-११॥

अहह ! और अन्य साधारण जो जो व्यक्ति पहले भजन करने के लिए मेरे रूप एवं गुणों के श्रवण-मात्र से प्रत्येक अपने अपने धर्म को, एवं माता-पिता आदि सब लोगों को भी त्याग देते हैं, वे व्यक्ति भजन खण्डित होनेपर भी, मेरे द्वारा जब नहीं त्यागे जा सकते, तब हाय ! नये नये प्रेममय शरीरवाली वे गोपियाँ किस प्रकार त्यागी जा सकती हैं ? ॥१२॥

यद्यपि उन गोपियों के प्राणों के धारण पोषण करने में अत्यन्त समर्थ मेरी स्फूर्ति उनके भीतर प्रतिक्षण होती रहती है। तथापि मेरी मथुरासम्बन्धी कथाएँ यदि उनके निकट प्रकाशित हो जाती हैं, तब तो वे गोपियाँ मेरे दूर रहने को स्मरण करके विमुग्ध हो जाती हैं; बस, यही खेद है ॥१३॥

हाय ! मेरे विरह में उन गोपियों का एकक्षण भी कल्प के समान हो जाता है। कारण रासलीला के आरम्भ में कुछ गोपियाँ मेरे विरह में मरण-दशातक को प्राप्त हो गई थीं, यह बात स्पष्ट है। तथापि इस समय महान् विरह की उपस्थिति में उनके प्राण जो शरीर से बाहर नहीं निकल रहे हैं, इसमें केवल मेरे पुनः लौटने के सैंकड़ों बहानेरूप सन्देशों का बल ही कारण है ॥१४॥

और हे उद्धव ! देखो, मैं पहले गोपेश्वर श्रीनन्दजी एवं गोपेश्वरी श्रीयशोदाजी को अपने पिता-माता के रूप में शपथपूर्वक मानकर, तुमको व्रज में जाने को प्रेरित कर रहा हूँ। अतः मैं अपने को भी गोप ही मानता हूँ। इसलिए "मेरी गोपियाँ" इस मेरे वचन को निजता का प्रकाशक जानना, तथा यहाँपर उन गोपियों का मुझ से कोई भेद भी न जानना। इस श्लोक में "बल्लव्यो मे मदात्मिकाः" भा० १०।४६।६ इसका भाव व्यक्त हुआ है ॥१५॥

श्रीकृष्ण के इन वचनों को सुन मैंने निवेदन किया कि, यदि ऐसी ही बात है, तो आप स्वयं सर्वतो-भाव से प्रकाश की रमणीयतापूर्वक बीच बीच में उस व्रज में क्यों नहीं जाते हो ? मेरे इन वाक्यों को

'तथा हि, ताः खलु न केवलं मन्मनस्काः, अपि तु ब्राह्मणस्य निजब्राह्मण्यां ममेयं ब्राह्मणीतिवचनवन्मम बल्लवपतिपुत्रस्य (भा० १०।४६।६) 'बल्लव्यो मे मदात्मिकाः' इति वचनव्यञ्जितसाम्प्रतानुभवान्मम नित्यप्रेयस्य एव, तथापि नूनं कयापि मायया परदारतया तत्र व्यवहारः सर्वमाससार। यः खलु पुरा व्रजप्रेमावेशवशतया लोकवल्लीलामनुशीलयता मयापि दुरपसार एवासीत् ॥१७॥

'ततश्च जागरूकतदनुरागबद्धतया तासां मयि तासु च ममासक्तिरतिरिक्ता जाता, यस्यां लोकवल्लीलावेशवशतया तत्तदर्थं दृष्टमदृष्टमप्यर्थं पूर्वमपूर्वतया कुर्वन्नहमपि यत् कृतवांस्तत् कथं प्रणयवत्सु भवत्सु गुप्तं कुर्याम्? यत् खलु सार्वज्ञ्यादमन्देन स्कन्देन च पुरा स्वपुराणे तुलसीस्तुतिमनु प्रस्तुतिमानिन्ये ॥१८॥ तथा हि—

'गवां हिताय तुलसी गोपीनां रतिहेतवे। वृन्दावने त्वं वपिता सेविता विष्णुना स्वयम्।
गोकुलस्य च वृद्ध्यर्थं कंसस्य निधनाय च ॥' इति ॥१९॥

'यस्याश्च मय्यासक्तेः प्रभावेण तासां तेषु पतिम्मन्येषु रहःसङ्गः शशश्रृङ्गतामवाप। पुत्राय-

---

सुनकर श्रीकृष्ण ने विवर्णतापूर्वक, अर्थात् उदास होकर मेरे सामने अपना मर्म खोल दिया कि, यद्यपि शत्रु-समूह के भागने का समाधान किया जा सकता है, तथापि व्रज में एवं इस मथुरा में जो कोई संकोच है, वह व्रज में जाने को उद्योग करनेवाले मुझको भी रोक देता है ॥१६॥

देख, भैया! उद्धव! वह संकोच यह है कि, वे गोपियाँ निश्चय ही केवल मेरे में मनवाली ही नहीं हैं; अपितु, ब्राह्मण के अपनी ब्राह्मणी के विषय में "यह ब्राह्मणी मेरी है" इस प्रकार के वचन की तरह, गोपों के पति श्रीनन्दजी के पुत्र होने के नाते मेरे भी "मेरी गोपियाँ मेरी आत्मास्वरूप हैं" इस वचन के द्वारा प्रकाशित तत्काल के अनुभव से, वे मेरी नित्यप्रियाएँ ही हैं, तथापि निश्चय ही किसी अपूर्वमाया के द्वारा "ये गोपियाँ दूसरे गोपों की स्त्रियाँ है" इस प्रकार का व्यवहार वहाँपर सबके निकट पहुँच गया है। जो व्यवहार पहले व्रज के प्रेमावेश के वशीभूत होने के कारण, लोकवत् लीला का अनुशीलन करनेवाले मेरे द्वारा भी, दुःखपूर्वक न हटाने के योग्य ही रहा, अर्थात् लोकवल्लीला का अनुकरण करने के कारण, उस मिथ्या व्यवहार को मैं भी न हटा सका ॥१७॥

और उसके बाद जागृत हुए अनुराग में निबद्ध होने के कारण, उनकी आसक्ति मुझ में, एवं मेरी आसक्ति उन में विशेष हो गई थी। जिस आसक्ति में लोकवल्लीला के आवेश के वशीभूत होकर, उस उस अनुरागादि के लिए दृष्ट रूपादि दर्शन, एवं अदृष्ट वेणुवादन आदिरूप कार्य, मिलने से पहले असाधारणरूप से करते हुए भी मैंने "दूत आदि भेजना" एवं "पीछे पीछे जाना" इत्यादिरूप जो कार्य किया है, उसको तुम्हारे जैसे प्रीतिपात्र के निकट कैसे गुप्त करूँ? क्योंकि जिसको विशिष्ट बुद्धिमान् श्रीस्कन्दस्वामी ने अपनी सर्वज्ञता से पहले ही अपने स्कन्दपुराण में तुलसी की स्तुति को लक्ष्य करके प्रस्तुत कर दिया है ॥१८

देखो, स्कन्दपुराण में इस प्रकार कहा है कि—हे तुलसि! गोगण के हित के लिए, गोपियों की प्रीति के लिए, गोकुल की वृद्धि के लिए, और कंस के मारने के लिए, श्रीकृष्ण ने वृन्दावन में तुमको स्वयं बोया है, एवं जल द्वारा तुम्हारा सेवन किया है, इति ॥१९॥

और जिस मेरी आसक्ति के प्रभाव से, अपने को उन गोपियों के पति माननेवाले गोपों के निकट, उन मेरी नित्यप्रेयसी गोपियों का ऐकान्तिक सङ्ग, खरगोश के सींग की तरह शून्यता को प्राप्त हो गया

माणेषु यातृपुत्रादिषु चासङ्गः शिथिलाङ्गतां गतवान् । अथ पुनरासक्तिः सा क्रमादमर्यादतया केन केनचित् पर्यालोचिता; यत एव सञ्जलज्जतया तस्माच्छलान्तरबलान्मया व्यवहितम् । ततश्च पुनर्मम तत्र प्रकटगमने सति तासामङ्गीकारे पूर्ववदेव लज्जा प्रसज्जेदनङ्गीकारे च तासां प्राणत्राणं न स्यात् । तथापि तत्र गत्वा तस्य सावधानं समाधानं कथमपि प्रथनीयमित्युत्कण्ठया धैर्यं कुण्ठयन्नत्रत्यपित्रोरुपकण्ठे गद्गदकण्ठतया तत्रत्यमित्रादीनां दुःखं वर्णयंस्तत्र मध्ये मध्ये गमनाय न्यवेदिषम् । तौ तु नाज्ञां दत्त इति तदवज्ञाय गमनं तदपि न मङ्गलसङ्गि स्यादिति विभाव्य निरुत्साहतां गच्छामि । किं बहुना ? मध्ये मध्ये तेषां पित्रादीनामत्रानयनाय च तयोरनुज्ञा जिघृक्षिता । सा पुनर्निज-यज्ञसूत्र-यज्ञमनु च तदनाह्वानान्न सम्भाविता । तस्माद् यावदहं समयगत्या मत्या समादधामि, तावल्लब्धदुरवस्थाविशेषतयात्मनिर्विशेषं त्वामेव तत्र प्रस्थापयितुमुद्यतोऽस्मि ॥२०॥

'तत्र यद्यपि भवता सर्वसमाधानमनुसन्धातव्यम्, तथाप्ययं मम सन्देशलेखचयस्तासां पुरः प्रवेशनीयः, वारंवारं स्वयमेव वाचनीयश्च; यतस्ताः स्वाश्रुभिरन्धायमानाः स्वयं नानुसन्धातुं शक्ष्यन्ति' इति ॥२१॥

था । और पुत्रों का सा व्यवहार करनेवाले देरानी जेठानी आदि के पुत्रों में गोपियों की जो आसक्ति थी, वह भी शिथिलता को प्राप्त हो गई थी । अनन्तर परस्पर की वह आसक्ति क्रमशः असीम होने के कारण, किसी किसी व्यक्ति ने पहचान ली । जिसके कारण ही लज्जित होकर मैंने, कंसवधरूप उस दूसरे छल के बल से उस आसक्ति में व्यवधान कर दिया । उसके बाद पुनः व्रज में मेरे प्रगटरूप से जानेपर, उन गोपियों के अङ्गीकार करनेपर, पहले की तरह ही लज्जा उपस्थित हो जायगी । और उनको अङ्गीकार न करनेपर, उनकी प्राणरक्षा न हो सकेगी । तथापि व्रज में जाकर पहले कहे हुए उस मिथ्या व्यवहार का समाधान सावधानीपूर्वक किसी प्रकार भी फैलाना चाहिये । इस उत्कण्ठा से धैर्य को रोककर, यहाँ के पिता-माता वसुदेव-देवकी के निकट गद्गद कण्ठ होकर, व्रजवासी मित्र आदिकों के दुःख को वर्णन करते हुए मैंने बीच बीच में व्रज में जाने के लिए निवेदन किया था । किन्तु श्रीवसुदेव-देवकीरूप दोनों पिता-माता तो व्रज में जाने की आज्ञा नहीं देते हैं । उन दोनों की अवज्ञा करके जो व्रज में जाना है, वह भी मङ्गल से युक्त न हो सकेगा । यह विचार कर निरुत्साहता को प्राप्त हो जाता हूँ । अधिक क्या कहूँ ? बीच बीच में उन व्रजवासी पिता-माता आदिकों के यहाँपर, अर्थात् मथुरा में लाने के लिए श्रीवसुदेव-देवकी की अनुमति लेने की इच्छा की थी, किन्तु वह भी अपने यज्ञोपवीतयज्ञ को लक्ष्य कर, उनको न बुलाने के कारण सम्भावित नहीं की । अर्थात् मेरे यज्ञोपवीत संस्कार में ही जब व्रजवासियों को नहीं बुलाया, तब अब उनको बुलाने की अनुमति की सम्भावना कैसे हो सकती है ? इसलिए मैं समयानुसार जबतक बुद्धि से समाधान करूँ, तब-तक दुरवस्थाविशेष प्राप्त होने के कारण, अपने समान तुमको ही व्रज में भेजने को उद्यत हूँ ॥२०॥

वहाँपर यद्यपि तुम सब प्रकार के समाधान का अनुसन्धान कर देना, तथापि मेरे इस सन्देश के लेशसमूह को गोपियों के आगे प्रवेश कर देना । और बारंबार स्वयं ही बाँच भी देना । कारण वे गोपियाँ तो अपने आँसुओं से अंधी सी होकर, स्वयं कुछ भी अनुसन्धान न कर सकेंगी ॥२१॥

"तत्र प्रथमलेखो यथा (भा० १०।४७।२९) 'भवतीनां वियोगो मे नहि सर्वात्मना क्वचित्' इति । "अथ तदेतावदाकर्ण्य ताभिर्मनसि विचारितम्,—'नन्विदं स्वस्य ब्रह्मताज्ञानमिवोद्दिष्टम्, सर्वात्मना मे मयेति सामानाधिकरण्यात् । तदलमनभीष्टश्रवणेन ।।'२२।।

"अथ सावज्ञं पुनः पृष्टम्,—'किमप्यन्यदस्ति ?' इति । स तु द्रुतवाञ्छित-तदन्तरन्तरर्थज्ञापनया तदाज्ञापनया पुनर्लिखितमिव तदेव वाचितवान् । "तस्मिन्नेव वाचिते ताभिः पुनः स्वगतं परामृष्टम्,—'नन्वनेन पुनरुक्तेन पूर्वपूर्वमुपदिष्टं स्फूर्तिलक्षणमिवादिष्टम् । सर्वेण प्रकाशेन वियोगो नास्ति, किन्तु मथुरास्थेन प्रकटेन वियोगः । भवतीषु स्फुरता तत्रस्थेन संयोग इति । तदलं पिष्टपेषणसर्गकरचक्रवर्गस्य घर्घरशब्दश्रवणेन' इति ।।२३।।

"अथ ताभिः पुनः पृष्टस्तमेवाचष्ट,—'ताभिश्च तत्र सचमत्कारं विचारितम् । पुनः-पुनर्लिखितं खल्विदमपरापरसन्दर्भगर्भं भवेत् । तृतीयश्चायं सन्दर्भः स्फूर्तिरूपतां निषिध्य साक्षाद्रूपतां विधत्त इति । ततश्च तन्निश्चयाय विचारमेवाचरिष्यामः ।।२४।। यतः,

'अलङ्कारमलंकृत्वा यत्र शोभा भवेन्न हि ।
यो न बुध्येत तत्रापि खलूक्त्वा खलु वाचिकम् ।।' इति ।।२५।।

उन सब लेखों में से पहला लेख, यथा—अरी ! गोपियो ! देखो, मेरे साथ तुम्हारा वियोग सर्वतोभाव से कहीं भी नहीं है। अनन्तर इतना सुनकर गोपियों ने अपने मन में विचारा कि, यह तो अपने ब्रह्मभाव के ज्ञान का सा निर्देश कर दिया। क्योंकि "सर्वस्वरूप जो मैं हूँ ऐसे मेरे साथ" इस वाक्य में सामानाधिकरण्य विद्यमान है। अतः अनभीष्ट विषय के श्रवण से क्या प्रयोजन ? इसका तात्पर्य यह है कि—हम तो ब्रह्म की उपासिका नहीं हैं। उसके विरह से उस ब्रह्म से मिलना चाहती हैं, अतः बेप्रयोजन की बात सुनने से क्या लाभ ? ।।२२।।

उसके बाद अवज्ञापूर्वक पुनः पूछा कि—और भी कुछ सन्देश हैं क्या ? किन्तु उद्धव ने तो शीघ्र ही वाञ्छित उस सन्देश के भीतरी गूढार्थ को समझा कर श्रीकृष्ण के आदेश की तरह दुबारा लिखे की तरह "भवतीनां वियोगो मे नहि सर्वात्मना क्वचित्" भा० १०।४७।२९ इसको ही बाँच दिया। उसी के बाँचनेपर गोपियों ने पुनः अपने मन मन में विचार किया कि—अच्छा ! दुबारा कहे गये इसी विषय के द्वारा पहले पहले उपदिष्ट अर्थ ही स्फूर्तिलक्षण जैसा आदिष्ट हो रहा है कि—मेरे सम्पूर्ण प्रकाश के साथ तुम्हारा वियोग नहीं है, किन्तु मथुरा में स्थित मेरे प्रगट प्रकाश के साथ तो वियोग है। तथा तुम सब गोपियों में स्फूर्तिपानेवाले व्रजवासी मेरे प्रकाश के साथ संयोग है। अतः पिष्टपेषण की सृष्टि करनेवाले चाकी के समूह के घर घर शब्द सुनने से कोई प्रयोजन नहीं है ।।२३।।

उसके बाद गोपियों के द्वारा पुनः पूछनेपर उद्धव ने उसी लेख को कह दिया। गोपियों ने उस विषय में आश्चर्यपूर्वक विचारा कि बारंबार लिखा हुआ "भवतीनां वियोगो मे" इत्यादि जो आधा श्लोक है, यह निश्चय ही दूसरे दूसरे तात्पर्य से युक्त हो सकता है। एवं तीसरा जो यह सूक्ष्म तात्पर्य है वह स्फूर्तिमयरूप के भाव को हटाकर साक्षात् रूप के भाव का विधान करता है। अर्थात् व्रज में मेरा साक्षात् रूप ही विद्यमान है, स्फूर्ति रूप नहीं। अतः उस साक्षात् रूप के निश्चय के लिए ही विचार करेंगे ।।२४।।

क्योंकि जिस अलंकार में शोभा न हो, उस अलंकार को धारण नहीं करना चाहिये, अर्थात् वह अलंकार धारण वृथा है। और जो व्यक्ति भाव को नहीं समझता है, उसके निकट सन्देश भी नहीं कहना

"अथ पुनः पृष्टः किञ्चिदन्यद्वाचयामास; यथा, (भा० १०।४७।२९)—

'यथा भूतानि भूतेषु खं वाय्वग्निर्जलं मही ।
तथाहं च मनः-प्राण-बुद्धीन्द्रिय-गुणाश्रयः ॥'इति ॥२६॥

"तत्र प्रथमत एवं ताभिरन्तर्विचारितम्,—'नूनमस्मत्क्लिष्टताखण्डनाय स्वस्य सर्वोपादानतया सर्वाश्रयतया च ब्रह्मज्ञानमेवोपदिष्टमस्ति, तच्चास्मासु न पर्याप्तम् ॥२७॥

यतः, 'यद्ब्रह्मशर्म हृदये सनकादयः स्वे, सर्वोर्ध्वमप्यनुभवन्ति सदेति सिद्धम् ।
तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द,-किञ्जल्कवायुरपि तद्विजितीकरोति ॥२८॥

'अथवा महाकरुणया परमोदारसारतां गतः कथममृतमोदकाच्छादनपूर्वकं गुडधाना-लड्डुकदानवत्तत् कुर्यात् । तस्मात् पुनश्च पृच्छाम' इति पृष्टे तस्मिन्नेव तेन च वाचिते तदिदं ताभिः स्व-हृदि विचारितम्,—'आम् आम् ! ब्रह्मतापदेशत आत्मन एव साक्षादेवात्र स्थितिरुपदिश्यते । मम स्फूर्तिः खलु मूर्तिरेव निर्णीयताम्; यतो यथा भूतानि स्वस्वकार्याणा-माश्रयरूपाणि तेषामन्तः पर्यालोच्यन्ते, तथाहं च भवतीनां मन आद्याश्रयरूपः सोऽयमसित-सुन्दराणां भूपस्तत्र पर्यालोच्येतराम्' इति ॥२९॥

चाहिये ; भावार्थ यह है कि—श्रीकृष्ण के साक्षात्कार के बिना हमारा विरह शान्त न होगा, अतः उनका सन्देश वृथा है ॥२५॥

अनन्तर पुनः पूछे हुए उद्धव ने कुछ दूसरा सन्देश बाँच दिया । यथा—पंचीकरण के द्वारा चराचर भूतों में जिस प्रकार पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश ये पंचमहाभूत विद्यमान हैं, उसी प्रकार मैं भी मन, प्राण, बुद्धि, इन्द्रियाँ, एवं गुणों का आश्रयस्वरूप हूँ ॥२६॥

उसमें गोपियों ने पहले से इस प्रकार अन्तःकरण में विचारा कि, निश्चय ही श्रीकृष्ण ने हमारे क्लेश का खण्डन करने के लिए, अपने आप सभी पदार्थों के उपादान कारण होने से, एवं सभी के आश्रयस्वरूप होने से, ब्रह्मज्ञान का ही उपदेश दिया है । किन्तु वह उपदेश भी हम विरहिणियों के विषय में पर्याप्त (काफी) नहीं है ॥२७॥

कारण—सनकादि ऋषि अपने हृदय में जिस ब्रह्मानन्द को सबसे ऊँचा मान कर भी अनुभव करते हैं, यह बात सदा सिद्ध है । किन्तु कमलनयन उन भगवान् के चरणकमलों के पराग के सम्बन्धवाला वायु भी उस ब्रह्मानन्द को पराजित कर देता है, फिर उनके श्रीविग्रह के विषय में तो कहना ही क्या है ? ॥२८

अथवा महती करुणा के कारण, परम उदारता के सारभाग को प्राप्त हुए श्रीकृष्ण, अमृत के लड्डुओं को छिपाकर गुड़धानी के लड्डुओं के देने की तरह, उस ब्रह्मानन्द का दान कैसे कर सकते हैं ? इसलिए दुबारा पूछती हैं, यह कह कर पूछनेपर, उद्धव के द्वारा "यथा भूतानि भूतेषु" इत्यादि उसी लेख के बाँच देनेपर गोपियों ने अपने मन में यह विचार किया कि—हाँ, हाँ । स्मरण आगया । ब्रह्मभाव के बहाने श्रीकृष्ण इस व्रज में अपनी साक्षात् स्थिति का ही उपदेश दे रहे हैं, अर्थात् ब्रह्म जैसे सर्वव्यापक है, उसी प्रकार मैं भी व्रज में साक्षात् रहता हूँ । और तुम मेरी स्फूर्ति को साक्षात् मूर्तिमान ही निर्णय कर लो । क्योंकि पृथ्वी आदि पञ्चमहाभूत जिस प्रकार अपने अपने घट पटादिरूप कार्यों के आश्रयरूप हैं, एवं उनके भीतर भी विचारे जाते हैं, उसी प्रकार श्यामसुन्दर-स्वरूपों का राजारूप वह यह मैं भी, आप सब गोपियों के मन, प्राण, बुद्धि आदि का आश्रयरूप ही वहाँपर विशेष करके विचारा जाता हूँ ॥२९॥

"अथ तृतीयं वारमपि तदेवाकर्ण्यातीव निर्णीतमिति स्थिते पुनः पृष्टस्तदिदं त्रिर्वाचयामास; यथा (भा० १०।४७।३०)—

'आत्मन्येवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं सृजे हन्म्यनुपालये ।

आत्म-मायानुभावेन भूतेन्द्रियगुणात्मना ।।' इति ।।३०।।

"तत्र प्रथमतस्ताभिरिदं चेतसि विचारितम्,—'तदिदं स्वस्य खल्वीश्वरताज्ञानमिव व्यञ्जितं लगति । यत्र स्वस्यैवेश्वरत्वमवगमितम्, तदिदं चास्मच्चेतोरूक्षणाय निक्षिप्तमिति गम्यते । भवतु, किं तेन ? ।।३१।। यतः,

'केषाञ्चन ब्रह्म-सुखानुभूतिः, केषाञ्चन स्यात् परदैवतं सः ।

महन्मते तत्र विचार्यमाणे, धन्यास्तु ते ये विहरन्ति तेन ।।'इति ।।३२।।

"द्वितीयवारतस्त्वेवं विविक्तम्,—'नेदमीश्वरताज्ञानम्, किन्त्वीश्वरवदात्मनः शक्तिर्व्यञ्जिता । तथा हि, आत्ममाया खल्वत्र तदिच्छाशक्तिवाचिका । यस्मात् 'आत्ममाया तदिच्छा स्यात्', 'आत्मेच्छानुगतावात्मा' इत्यादिकं पण्डिताः पठन्ति । भूतं चात्र नित्यसिद्धं वस्तु प्रस्तुतं करोति 'लोकनाथं महद्भूतम्' इतिवत् । ततश्च नित्यसिद्धेन्द्रियगुणविग्रहेणात्मना कारणेन तादृगात्मन्येवाधिकरणे यदृच्छया परमाश्चर्यकारिनिजेच्छाशक्तिप्रभावेण करणेनात्मानं सृजे

उसके बाद तीसरीबार भी उसी पूर्वोक्त लेख को सुनकर अत्यन्त निर्णीत हो गया, ऐसी स्थिति में गोपियों के द्वारा पुनः पूछे हुए उद्धव ने तीनबार यह लेख बाँच दिया । यथा—मैं अपनी माया के प्रभाव के द्वारा पंचभूत, इन्द्रिय, एवं गुणों के स्वरूप धारणपूर्वक, अपने आप अपने में अपनी सृष्टि करता हूँ, अपना पालन करता हूँ, अपना संहार करता हूँ ।।३०।।

उस लेख में गोपियों ने पहले से अपने चित्त में यह विचार किया कि, यह तो श्रीकृष्ण ने अपनी ईश्वरता का ज्ञान सा निश्चयरूप से प्रकाशित कर दिया है, ऐसा लगता है । जिस लेख में अपनी ईश्वरता जनाई है, वह लेख तो हमारे चित्त को रूखा करने के लिए ही भेजा है, ऐसा मालूम होता है । अच्छा, उस लेख से हमें क्या प्रयोजन ? ।।३१।।

क्योंकि वे श्रीकृष्ण किन्हीं के पक्ष में ब्रह्मसुख के अनुभव स्वरूप हैं, एवं किन्हीं के पक्ष में परदेवता रूप हैं । किन्तु उनमें भी "इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या" भा० १०।१२।११ इत्यादिरूप से महान् पुरुषों के मत का विचार करनेपर तो, वे ही व्यक्ति धन्य कहे गये हैं, जो कि उनके साथ विहार करते हैं ।।३२।।

उसी लेख को दुबारा पढ़ने से तो गोपियों ने यह विचारा कि, यह ईश्वरता का ज्ञान नहीं है, किन्तु ईश्वर की तरह अपनी शक्ति प्रकाशित की है । देखो, इस लेख में "आत्ममाया" उनकी इच्छाशक्ति की वाचिका है । इसीलिए पण्डितजन "आत्ममाया उनकी इच्छाशक्ति हो सकती है", एवं "आत्मा, आत्मा की इच्छा का अनुसरण कर सकता है" इत्यादिरूप से स्पष्ट कहते रहते हैं । और भूत शब्द भी यहाँपर "लोकनाथ भगवान् ही सबके आदिभूत अर्थात् मूलकारण हैं" इस वाक्य की तरह नित्यसिद्ध वस्तु को ही प्रस्तुत करता है । इसलिए नित्यसिद्ध इन्द्रिय गुणरूप शरीरवाले परमात्मारूप कारण के द्वारा, उसी प्रकार के नित्यसिद्ध इन्द्रिय इत्यादिवाले आत्मारूप अधिकरण में स्वतन्त्रतापूर्वक अत्यन्त आश्चर्यकारिणी अपनी इच्छाशक्ति के प्रभावरूप करण के द्वारा अपनी सृष्टि करता हूँ । यहाँपर 'सृजे' की जगह 'सृजामि' इस पद की योजना कर लेना । उसमें भी 'सृजामि' इस क्रिया से अपने भक्तों के प्रति अपने स्वरूप को प्रकाशित

सृजामीत्यादि योज्यम्। तत्र सृजामीति निजभक्तान् प्रति प्रकाशयन् नवमिव मन्य इत्यर्थः। हन्मीति ततः स्वयमेवान्तर्धापयन् हन्त! हन्मीवेत्यर्थः। 'अनुपालय इति तेषु पुनराविर्भावयन् पालितमेव करोमीत्यर्थः। तदेतच्च तत्र स्थितावप्यत्रात्मस्थितिज्ञापनाय व्यज्यते। 'अथ तृतीय-वारतस्तु तदेव निश्चितम् ॥'३३॥

"तदेवं स्थिते पुनः पद्यान्तरं त्रिर्वाचयामास; यथा (भा० १०।४७।३१)—

'आत्मा ज्ञानमयः शुद्धो व्यतिरिक्तोऽगुणान्वयः।
सुषुप्तिस्वप्नजाग्रद्भिर्मनोवृत्तिभिरीयते ॥' इति ॥३४॥

"तत्र च प्रथमतस्तासां मनसा विचारश्चायम्—'तदिदं स्वस्माद् बहिर्मुखतासहितत्वाय पुनरस्मासु शुद्धजीवताज्ञानमेवादिष्टम्, तदपि (भा० १०।१४।५५) 'कृष्णमेनं वयं विद्धः स्वात्मानमखिलात्मनाम्' इति जीवानां कोटिस्तन्निर्मञ्छनाय प्रयुञ्जानानामस्माकं नोचितम्' इति। "द्वितीये त्विदं चिन्तितं नहि नहि; यं खलु श्यामात्मानमात्मानमत्र प्रकाशयति, तमेव स्वयं स्तौति, यस्मात् सर्वविद्याप्रचुरत्वं दोषरहितत्वं सर्वातिरिक्तत्वं परमगुणशालित्वं सर्वदैवास्मासु समन्वितत्वं च बोध्यते ॥३५॥

करता हुआ, अपने को नवीन जैसा ही मानता हूँ, यह अर्थ लेना चाहिये। और 'हन्मि' इस क्रिया से उन भक्तों के निकट से अपने को स्वयं अन्तर्हित करता हुआ, अर्थात् छिपाता हुआ हाय! मानो अपने को ही मारता हूँ, यह अर्थ ग्रहण करना; और 'अनुपालये' इस क्रिया से उन अपने भक्तों के निकट अपने को पुनः प्रगट करता हुआ, अपने को रक्षित ही करता हूँ; यह अर्थ ग्रहण करना। अतः इस अर्थ की कल्पना भी मथुरा में श्रीकृष्ण की स्थिति होनेपर भी, इस व्रज में अपनी स्थिति को जताने के लिए व्यक्त की जा रही है। उसके बाद तिबारा बाँचनेपर भी पूर्वोक्तभाव ही निश्चित कर लिया ॥३३॥

अतएव ऐसी स्थिति में उद्धव ने दूसरे श्लोक को पुनः तीनबार बाँच दिया। यथा—आत्मा तो ज्ञान स्वरूप है, शुद्ध है, देह आदि से भिन्न है, एवं गुणों में नहीं जानेवाला है। एवं माया की कार्यरूपा सुषुप्ति, स्वप्न, जाग्रत्स्वरूप मन की वृत्तियों के द्वारा विश्व, तैजस, प्राज्ञरूप से प्रतीत होता है, स्वतः नहीं ॥३४॥

और उस श्लोक में गोपियों का प्रथमतः मानसिक विचार यह उपस्थित हुआ कि—यह जो हमारे प्रति शुद्ध जीवभाव के ज्ञान का सा उपदेश दिया है, वह तो अपने से बहिर्मुख भाव के सहित जो भाव है उसके लिए ही है, अर्थात् अपने से बहिर्मुख करने के लिए है। किन्तु वह उपदेश भी हमारे सम्बन्ध में उचित नहीं है, क्योंकि हम तो सभी प्राणियों की आत्मास्वरूप इन श्रीकृष्ण को अपनी आत्मा ही जानती हैं, इसीलिए उनके ऊपर न्योछावर करने को करोड़ों जीवों का प्रयोग करनेवाली हैं। पश्चात् दूसरे विचार में तो यह स्मरण किया कि—नहीं, नहीं। यह केवल शुद्ध जीवभाव के ज्ञान का उपदेश नहीं है; अपितु, श्यामवर्णवाले जिस अपने स्वरूप को श्रीकृष्ण यहाँपर प्रकाशित करते हैं, उसकी स्वयं ही स्तुति कर रहे हैं। और जिसके द्वारा सभी विद्याओं की अधिकता को, दोषरहितता को, सबकी अपेक्षा अपनी अधिकता को, परमगुणशालिता को, एवं सदैव हमारे में मिले हुए भाव को भी समझा रहे हैं ॥३५॥

"अथ तृतीयेऽपि तदेव निर्णीय स्थितासु पुनर्लेखान्तरं वारत्रयं वाचितवान्, (भा० १०।४७।३२-३३)—

'येनेन्द्रियार्थान् ध्यायेत मृषा स्वप्नवदुत्थितः ।
तन्निरुन्ध्यादिन्द्रियाणि विनिद्रः प्रत्यपद्यत ॥
एतदन्तः समाम्नायो योगः सांख्यं मनीषिणाम् ।
त्यागस्तपो दमः सत्यं समुद्रान्ता इवापगाः ॥' इति ॥३६॥

"अत्र च प्रथमं ताभिरन्तरे विचारयामासे,—'ननु योगाङ्गमिवेदमुपदिश्यते; तच्चात्र मनोनिरोधलक्षणम् । तथा हि—उत्थितः पुमान् यथा मिथ्याभूतमेव स्वप्नं ध्यायति एवं बाधितानपीन्द्रियार्थान् येन मनसा ध्यायेत्, ध्यायंश्च येनेन्द्रियाणि प्रत्यपद्यत प्राप, तन्मनो विनिद्रोऽनलसः सन् निरुन्ध्यादिति । तत् किं स्वस्मान्मनो निरोद्धुमुपदिष्टम् ?' इति क्षणं विभाव्य द्वितीये विचारितम्,—'नहि नहि ॥३७॥ यतः, (भा० १०।१४।५)—

'पुरापि ते ते बहवोऽपि योगिन,-स्तदर्पितेहा निजकर्मलब्धया ।
विबुध्य भक्त्यैव कथोपनीतया, प्रपेदिरे कृष्णगतिं परात्पराम् ॥'३८॥

उसके बाद तिबारा के विचार में भी गोपियाँ जब पूर्वोक्त विचार को, अर्थात् हम सब में सदैव मिले हुए भाव को समझा रहे हैं इत्यादि विचार को निर्णय करके चुप बैठ गई, तब उद्धव ने दूसरे लेख को तीनबार बाँच कर सुना दिया । यथा—जाग कर उठा हुआ व्यक्ति जैसे मिथ्याभूत स्वप्न का ध्यान करता है, उसी प्रकार बाधित किये हुए इन्द्रियों के शब्दादि विषयों का जिस मन के द्वारा ध्यान करता है, और ध्यान करते करते जिस मन के द्वारा इन्द्रियों को प्राप्त करता है, उस मन को आलस्यरहित होकर रोक ले । क्योंकि विद्वानों के मत में वेद, अष्टाङ्गयोग, आत्म-अनात्म का विवेकरूप सांख्य, त्याग, तप, इन्द्रियदमन, एव सत्यभाषण इत्यादि का अन्तिम फल मन का निरोध ही बताया है । मार्ग का भेद होनेपर भी एक ही जगह समाप्ति में दृष्टान्त यह है कि, नदियों का अन्त जैसे समुद्र में होता है, उसी प्रकार सब शास्त्रों का एवं सब साधनों का फल मन का वश में करना ही है ॥३६॥

इस लेख में गोपियों ने पहले अपने मन में यह विचार किया कि—क्योंजी ! यह तो योग के अङ्गों का सा उपदेश दिया जा रहा है, वह योगांग भी यहाँपर मनोनिरोधरूप लक्षणवाला है । देखो, जाग कर उठा हुआ पुरुष जैसे मिथ्याभूत स्वप्न का ही ध्यान करता है, उसी प्रकार बाधित किये हुए इन्द्रियों के शब्दादि विषयों का जिस मन के द्वारा ध्यान करता है, और ध्यान करता हुआ भी जिस मन के द्वारा इन्द्रियों को प्राप्त करता है, उस मन को आलस्यरहित होकर रोक ले । तो क्या श्रीकृष्ण अपने से मन को हटाने का उपदेश दे रहे हैं ? क्षणभर यह विचार कर गोपियों ने दुबारा के उच्चारण में यह विचार किया कि—नहीं, नहीं । अर्थात् अपने में से मन को हटाने का उपदेश नहीं दे रहे हैं ॥३७॥

कारण—पहले समय में भी उस उस प्रकार के बहुत से योगीजन अपनी सब चेष्टाओं को श्रीकृष्ण में अर्पित करके, अपने प्राचीन शुभकर्मों के द्वारा प्राप्त हुई, एवं भगवत्सम्बन्धी कथाओं के द्वारा प्राप्त कराई हुई भक्ति के द्वारा ही, श्रीकृष्ण के तत्त्व को जान कर, श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ श्रीकृष्णरूप गति को प्राप्त हो गये ॥३८॥

इति तस्यैव हेयत्वं दृश्यते । ततो विरहभावादेव मनो 'निरोद्धुम्' इति मननविषयीक्रियते ॥३९॥

तदेवं तृतीये च निश्चित्य स्थितासु तासु तत्संवादितया पुनरन्यच्च वारत्रयं वाचितवान्, (भा० १०।४७।३४-३५)—

'यत्त्वहं भवतीनां वै दूरे वर्ते प्रियो दृशाम् ।
मनसः संनिकर्षार्थं मदनुध्यानकाम्यया ॥
यथा दूरचरे प्रेष्ठे मन आविश्य वर्तते ।
स्त्रीणां च न तथा चेतः संनिकृष्टेऽक्षिगोचरे ॥' इति ॥४०॥

"अत्र च प्रथमतस्तावदिदं हृद्येव विचारितम्,—'यत् पुनरहं भवतीनां दृशां प्रियोऽपि दूरे वर्ते, तत् खलु मदनुध्यानकाम्यया दर्शनासम्भावनान्मम निरन्तरध्यानस्यैवेच्छया यो मनसः संनिकर्ष आवेशस्तदर्थमेव; यतो 'यथा दूरचरे' इत्यादि; अत्र स्त्रीणां चेति पुंसश्च प्रेष्ठास्वित्यर्थलाभान्ममापि भवतीषु तादृशत्वमिति व्यञ्जितम् । तस्मादस्माकं स्वस्मिन्मनस आवेश एव तस्याभीप्सितः, न तु स्वस्मान्निरोधः । तथापि हन्त ! हन्त ! किमिदमुपदिश्यते, (भा० १०।१९।१६)—'क्षणं युग-शतमिव यासां येन विनाभवत्' तासामस्माकं तस्मिन् किं मनो नासीत्' इति ॥४१॥

इस प्रबल प्रमाण से तो "अपने में से मन का निरोध ही त्याज्य दिखाई देता है", अर्थात् श्रीकृष्ण में मन लगाना ही सब शास्त्रों का तात्पर्य है । इसलिए विरह के भाव से ही मन को रोकने को कहा है, अर्थात् हमारा तुम्हारा नित्यसंयोग होने के कारण, वियोग से मन को हटा कर मुझ में लगाओ । यही भाव मनन का विषय बनाया जा रहा है ॥३९॥

अतएव तीसरीबार भी गोपियों के इसी प्रकार निश्चय करके स्थित हो जानेपर, उद्धव ने उसी मन के संयोग के मिलान को लेकर, पुनः दूसरा लेख तीनबार बाँच दिया । यथा—तुम सब गोपियों के नेत्रों का प्यारा, मैं तुम से जो दूर विद्यमान हूँ, वह तो तुम्हारे मन की समीपता के लिए, एवं निरन्तर मेरे ध्यान की कामना के लिए है । क्योंकि स्त्रियों का मन दूर रहनेवाले प्रियतम में जिस प्रकार आविष्ट रहता है, उस प्रकार पासवाले एवं आँखों के सामनेवाले प्रियतम में नहीं रहता ॥४०॥

इस लेख में गोपियों ने पहले से अपने मन में यही विचारा कि—आप सब गोपियों के नेत्रों का प्यारा होकर भी, मैं पुनः आप से जो दूरपर विद्यमान हूँ, वह तो केवल "मदनुध्यानकाम्यया", अर्थात् मेरे दर्शनों की असम्भावना से मेरे निरन्तर ध्यान की इच्छा से ही जो मन का संनिकर्ष, अर्थात् आवेश है उसके लिए ही है । क्योंकि "यथा दूरचरे" इत्यादि श्लोक में "स्त्रियों का मन जिस प्रकार दूर रहनेवाले प्रियतम में आविष्ट रहता है, उसी प्रकार पुरुष का मन भी दूर रहनेवाली प्रियतमा में आविष्ट रहता है" इस अर्थ के लाभ से मेरा भी आप सब में वैसा ही भाव है । यह अभिप्राय प्रगट कर दिया । इसलिए हमारे मन का आवेश अपने में ही लगा रहे, यही श्रीकृष्ण का अभिलषित भाव है । किन्तु अपने से मन के निरोध की इच्छा नहीं है । तथापि हाय ! हाय ! "अपने में ही मन लगाने के अभिप्रायवाला" यह क्या उपदेश दे रहे हैं ? क्योंकि जिन प्रियतम श्रीकृष्ण के बिना, जिन हम गोपियों का एकक्षण भी सौ युग के समान हो जाता था, ऐसे भाववाली उन हम गोपियों का मन उनमें नहीं था क्या ? ॥४१॥

"पुनर्द्वितीये त्विदं मननविषयीकृतम्—'आम् आम् मनसः संनिकर्षार्थमिति मनसो हेतोर्यः संनिकर्षश्चक्षुर्गोचरता, तदर्थमित्येव तात्पर्यार्थः।' "यतस्तस्यायमभिप्रायः,—'मम खलु द्विधा साक्षात्कारः स्यात्। एकश्चक्षुःप्रधानतया मनःप्रवेशः परामृश्यते—यथा जागरणे; परस्तु मनःप्रधानतया चक्षुर्गोचरता विमृश्यते—यथा स्वप्ने। तत्र तु तत्र स्थितस्य मम पूर्वं पूर्वमेवासीत्, सम्प्रति तु दूरस्थितस्य परः। मनःप्रधानतया स एष च स्वप्न इव भाति, वस्तुतस्तु न स्वप्नः, ममापि तत्र साक्षात्कृतिस्फूर्तेः। साम्प्रतं त्वेष एव साम्प्रतं स्फुरति; यस्माद् गुरुवर्गाल्लज्जां सज्जित्वा प्रकटं दूरमटितवतो ममायमेव युष्माकं सङ्गः सुष्ठु सङ्गोपन-विषयः स्यात्, तस्मान्मया विचार्य कृते भवतीभिरत्रैव सन्तोष्टव्यम्' इति। ततश्च विरह-भावादेव मनोनिरोधः पूर्वलेखेन सुबोधः ॥४२॥

"अथ तृतीये च तदेव निश्चित्य स्थितासु तासु पुनरन्यत् पद्यद्वयं तथा वाचितवान्, (भा० १०।४७।३६-३७)—

'मय्यावेश्य मनः कृष्णे विमुक्ताशेषवृत्ति यत्।
अनुस्मरन्त्यो मां नित्यमचिरान्मामुपैष्यथ ॥
या मया क्रीडता रात्र्यां वनेऽस्मिन् व्रज आस्थिताः।
अलब्धरासाः कल्याण्यो माऽऽपुर्मद्वीर्य-चिन्तया ॥' इति॥४३॥

पुनः दुबारा के विचार में तो गोपियों ने यह मनन का विषय बनाया कि—हाँ, हाँ ! "मनसः संनिकर्षार्थं" इसका तात्पर्यार्थ तो यही है कि, मन के कारण जो संनिकर्ष, अर्थात् नेत्रगोचर भाव है उसके लिए ही उपदेश है। कारण श्रीकृष्ण के कहने का अभिप्राय यह है कि—मेरा साक्षात्कार दो प्रकार से हो सकता है। एक तो नेत्र की प्रधानता से मन का प्रवेश ही विचारा जाता है, जैसे जागृत अवस्था में; और दूसरा साक्षात्कार तो मन की प्रधानता से नेत्रगोचरतारूप विचारा जाता है, जैसे स्वप्न की अवस्था में। इन दोनों प्रकार के साक्षात्कारों में से नेत्र की प्रधानता से मन का प्रवेशरूप पहला साक्षात्कार तो जब मैं व्रज में स्थित था, तब पहले से ही था। किन्तु इस समय मैं दूर स्थित हूँ अतः मेरा दूसरे प्रकारवाला साक्षात्कार है। और वह दूसरी प्रकारवाला साक्षात्कार भी मन की प्रधानता के कारण, स्वप्न जैसा ही प्रतीत होता है। वस्तुतस्तु, वह स्वप्न नहीं है, अर्थात् स्वप्न की तरह मिथ्या साक्षात्कार नहीं है। क्योंकि उस स्वप्न में भी मेरे साक्षात्कार की स्फूर्ति होती है। किन्तु इस समय तो मेरी स्फूर्तिरूप यह साक्षात्कार ही उचित मालूम पड़ता है। कारण, माता पिता आदि गुरुवर्ग से लज्जा को धारण करके प्रगटरूप से दूर जानेवाला जो मैं हूँ, ऐसा मेरा तुम्हारा जो यह सङ्ग है, वह अच्छी प्रकार छिपाने का विषय हो सकता है। भावार्थ यह है कि—"मेरी स्फूर्ति साक्षात्कार के तुल्य मानी जाती है, एवं साक्षात्कार की जनक भी है, अतः सब जनों में साक्षात्कार से क्या प्रयोजन ?" इसलिए मेरे द्वारा विचार कर कार्य करनेपर, तुम सब गोपियों को इस स्फूर्तिरूप साक्षात्कार में ही सन्तोष कर लेना चाहिये। अतः विरह के भाव से मन को रोकना ही इस लेख से पूर्वोक्त लेख से भली प्रकार समझा जा सकता है ॥४२॥

अनन्तर तीसरीबार के विचार में भी पूर्वोक्त अर्थ को निश्चय करके बैठी हुई गोपियों के निकट उद्धव ने पुनः दो श्लोक पहले की तरह तीनबार बाँच दिये। उनका मूलार्थ, यथा—हे गोपियो ! देखो, सम्पूर्ण बाह्यवृत्तियों से रहित जो मन है, उसको मुझ श्रीकृष्ण में लगाकर, नित्य मुझको ही स्मरण करती

"अत्र च ताभिरप्रकाशं विचारितम्,—'अस्माभिर्यत् पूर्वं पर्यायतः पर्यवसायितम्, तदत्र प्रथमत एव केवलं स्वाभिमतमुपलब्धम्। तथा हि—कृष्ण इत्युपक्रान्तं विशेषणमुपलक्षणतया परपरत्रापि संक्रान्तं कार्यम् ॥'४४॥

"ततश्चायमर्थः—यद् यस्मात् पूर्वहेतोः कृष्णे कृष्णनामाकारविशेषतया प्रसिद्धे न पुनरितरनामाकारतया विप्रतिषिद्धे मयि विमुक्तविरहाशेषभावनं मनः स्वयमावेश्य विनिवेश्य मां कृष्णनामाकारं नित्यं नित्यताशालियुष्मदनुसारिविहारमनुस्मरन्त्यः स्मरणादपरिहरन्त्यस्तं कृष्णनामाकारं मामचिरान्निजनिकटविराजमानतया प्राप्स्यथ। अथ तदिदमुदाहरणद्वारा स्फूर्तिधारामानयति—'या मया' इति। याः काश्चन, (भा० १०।२९।६) 'शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चित्' इत्यत्र पतिशुश्रूषणेन युष्मदन्यतया विपश्चिद्भिर्निश्चिताः, पतिभिर्निरुद्धतया व्रज एव स्थिता इति वनेऽस्मिन् सम्प्रत्यपि निगूढं तत्र स्थितस्य मम कृष्णनामाकारस्य प्रत्यक्षविषये वृन्दावनरूपतया लब्धातिशये वने पूर्वं क्रीडता मया कृष्णनामाकारेण सह प्रकाशं रासमलब्ध्वा मम कृष्णनामाकारस्य बलवत्तरलीलाचिन्तया मां कृष्णनामाकारमप्रकाशमपि धृतविहारपारावारमापुरिति ॥४५॥

हुई तुम सब शीघ्र ही मुझको प्राप्त हो जाओगी। इसमें प्रमाण यह है कि, इस वृन्दावन में रात्रि के समय मैं जब रासलीला कर रहा था, तब व्रज में रहनेवाली कुछ ऐसी कल्याणी गोपियाँ थीं, जो कि अपने प्राकृत पतियों के प्रतिबन्ध से रास को न पाकर, मेरे प्रभाव का स्मरण करके मुझको प्राप्त हो गई ॥४३॥

इस लेख में भी गोपियों ने अप्रगटरूप से मन में विचारा कि—हम सबने पहले लेखों में स्वाभिमत जिस अभिप्राय को क्रमशः (तीनबार विचार कर) निश्चित किया था, वह स्वाभिमत इस लेख में केवल पहले से ही प्राप्त कर लिया। देखो, इस लेख में 'कृष्ण' यह जो विशेषण आरम्भ किया है, वह उपलक्षणरूप होने के कारण, आगे आगे भी संयुक्त कर देना चाहिये(जो अपना बोध कराकर दूसरे का बोध कराता है, उसको उपलक्षण कहते हैं) ॥४४॥

अतः इस लेख का यह अर्थ हुआ कि—'यत्' जिस कारण से अर्थात् पहले कारण से 'कृष्णे' अर्थात् कृष्णनाम एवं कृष्णाकार विशेष से प्रसिद्ध हुए "किन्तु दूसरे नाम एवं आकार से निषिद्ध हुए में नहीं", ऐसे मुझ में सम्पूर्ण विरह की भावना को त्यागनेवाले अपने मन को स्वयं आविष्ट करके, अर्थात् विशेष लगाकर, कृष्णनाम एवं कृष्णाकृतिवाले मुझको, पुनः नित्यं, अर्थात् नित्यता से सुशोभित तुम्हारी इच्छानुसार विहार करनेवाले मुझको स्मरण करती हुई, अर्थात् स्मरण से न त्यागती हुई, उसी कृष्णनाम आकारवाले मुझको शीघ्र ही अपने निकट विराजमानरूप से प्राप्त कर लोगी। अब इसी शीघ्र प्राप्तिरूप विषय को "या मया क्रीडता रात्र्यां" इस उदाहरण के द्वारा स्फूर्ति की धारा में ला रहे हैं। यथा—जो कुछ गोपियाँ "शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चित्" यहाँपर पतियों की सेवा के कारण विद्वानों ने तुम सब नित्यसिद्धा गोपियों से भिन्नरूप से निश्चित की थीं, अतः पतियों के द्वारा निरुद्ध होने के कारण व्रज में ही स्थित थीं, इस कारण इस वन में अब भी मैं गूढरूप से स्थित हूँ, अतः कृष्णनामाकारवाले मेरे प्रत्यक्ष के विषय में वृन्दावनरूप से विशेषता को प्राप्त होनेवाले वन में, पहले रासलीला करनेवाले कृष्णनामाकारवाले मेरे साथ प्रगट रासलीला को न पाकर, पुनः कृष्णनामाकारवाले मेरी प्रबललीला के स्मरण से, अप्रगटरूप से विहार के पारावार (समुद्र) को धारण करनेवाले एवं कृष्णनामाकारवाले मुझको प्राप्त हो गई ॥४५॥

"अत्रास्मदः पदानां 'मयि' इत्यादिनिगदानां कृष्णपदविशेषणतास्पदानां प्रतिपद्यं त्रिस्त्रिरावृत्त्या प्रतिपद्यमानानां परिवृढीभवनं तमेवार्थं दृढीकरोतीति गम्यते । 'हे कल्याण्यः' इत्यनेन साधकचरताभासां तासामिव न शाश्वतप्रेयसीरूपतया श्वःश्रेयसवतीनां भवतीनां मायापत्यादिपरिहारपुरःसरमदेकपतिताप्रकाशे शरीरपरीहारविडम्बनं सम्भवतीति च ताभिस्तदुपदेशप्रभावादवगत्य निर्णीतम् ।।"४६।। तदेतावत् कथयित्वा कथकश्चिन्तयामास,—

"देहादीनां विगानेऽप्यधिगतिगमिते तेषु रागप्रकर्ष-
स्तत् प्रावृण्वन् जगत्यां समुदयति मुहुर्यद्वदुच्चैर्जनस्य ।
तद्वद् गोष्ठे बकारेरपि समधिगते वैभवे तत्र तस्मा-
न्नाभद्रं नापि भद्रं गणयति सहजः सोऽयमन्तर्विरोधि ।।"४७।।

अथ स्पष्टमाचष्ट,—"तदेवं निर्णीय नित्यमन्तः कृष्णसंयोगमुन्नीय तमुद्धवं प्रति सम्प्रीय च सुप्रलापमुपक्रममाणा मुहुर्तद्वयं मूर्तपरमानन्दरूपास्तेन सूपास्यतमा बभूवुः । हन्त ! हन्त ! तदनन्तरं तु क्रमशः पुनर्बहिर्दृष्टिं संक्रममाणा विलापमेव पर्यवसाययामासुः ।।४८।। "तथा हि–

इस लेख में 'मयि' इत्यादिरूप से कहे जानेवाले एवं कृष्णपद की विशेषणता के स्थानरूपवाले तथा प्रत्येक श्लोक में तीन तीनबार की आवृत्ति के द्वारा ज्ञान के गोचर होनेवाले 'अस्मद्' शब्द के पदों का जो प्रभुता करना है, वह पूर्वोक्त अर्थ को ही दृढ कर रहा है, यह जाना जाता है । और "हे कल्याण्यः" इस पद से पहले साधकभाव की प्रभावाली उन साधनसिद्धा गोपियों की तरह, नित्यप्रेयसीरूप से मङ्गलयुक्त रहनेवाली आप सब नित्यसिद्धा गोपियों के सम्बन्ध में मायिक पति पुत्रादि परित्यागपूर्वक एकमात्र मेरे ही पतिरूप से प्रकाशित हो जानेपर, शरीर परित्याग का अनुकरण सम्भव नहीं हो सकता । तात्पर्य—साधनसिद्धा गोपियों को श्रीकृष्ण की रासलीला में प्राप्ति, शरीर के त्यागनेपर हुई, एवं नित्यसिद्धा गोपियों को नित्यशरीर से ही हुई । यह अर्थ भी श्रीराधा आदि उन गोपियों ने श्रीकृष्ण के उपदेश के प्रभाव से जानकर ही निश्चय किया है ।।४६।।

इतना कहकर कथावाचक मधुकण्ठ अपने मन में विचारने लगा कि—देह आदिकों के निन्दनीय हेयांश के जान लेनेपर भी, इस संसार में उन देहादिकों में साधारणजन का जो अनुराग का उत्कर्ष है, वह हेयांशरूप निन्दा को ढककर जिस प्रकार बारंबार विशेषरूप से प्रगट होता रहता है, उसी प्रकार व्रज में श्रीकृष्ण के वैभव को जान लेनेपर भी, श्रीकृष्ण में व्रजवासियों का जो स्वाभाविक अनुराग का उत्कर्ष है, वह अन्दर के विरोधी अभद्र को, अर्थात् देह आदि के निन्दन को एवं भद्र को, अर्थात् श्रीकृष्ण के वैभव को भी नहीं गिनता है ।।४७।।

उसके बाद कथावाचक स्पष्ट बोला—वे गोपियाँ पूर्वोक्त प्रकार से निर्णय करके, अपने अन्तःकरण में नित्य ही श्रीकृष्ण के संयोग की भावना करके, और उन उद्धवजी के प्रति सुप्रसन्न होकर, सुन्दर वचनों का उपक्रम करती हुईं, दो मुहूर्ततक मूर्तिमान् परमानन्दरूप होकर, उद्धवजी के द्वारा अत्यन्त उपासना के योग्य हो गईं । हाय ! हाय ! प्रेममयी मूर्च्छा के बाद तो क्रमशः पुनः बाहरी दृष्टि को प्राप्त करती हुईं, अन्त में विलाप ही करने लग गईं ।।४८।।

सुखं वा दुःखं वा स्वमनु गणयामो न हि वयं, सदा तद्द्रुक्कंसस्य तु मरणमौष्माऽजनि च तत् ।
अथो पृच्छामस्त्वां निजयदुगणैरावृततया, विपक्षानाघ्रातः स निवसति किं माथुरपुरे ?॥४९॥
स्वसाम्यात्तृट्कष्टं परगमपि विद्मस्तत इदं, विपृच्छामस्तत् किं क्षपयति हरिः पौरसुदृशाम् ?
यदस्माकं स प्रागकृत हसितस्निग्धनयना-,म्बुजप्रान्तेनाद्याप्यहह नववद् यद्विलसति ॥५०॥
भवेन्नारी-जाते रुचिरुचितकान्ते सुमधुरा, हरौ चेदेषा स्यादमृतमपि निन्द्यं वितनुते ।
तदेवं ब्रूमस्त्वां शृणु रुचिविशेषज्ञहृदयः, कथं तासु स्नेहं स किल न विधत्तां प्रतिपदम् ?५१॥
लभन्तां नागर्यः सुखमघरिपोरेष च ततः, प्रमोदस्तस्मिन्नः समजनि हि योग्या मिथुनता !
परन्त्वेकः प्रश्नश्चपलयति चित्तं कथय नः, स किं ग्रामीणानां विरचयति वृत्तं क्वचन च ?५२॥
अमू रात्रीः किं स स्मरति कुमुदेन्द्वादिरुचिभिः, शुभा वृन्दारण्ये दयितचरनारीभिरभितः ।
सुगीतात्मश्लोकं क्वणितविलसन्नूपुरगणं, महारासं कुर्वन्नरमत मुहुर्यासु कुतुकी ॥५३॥
किमेष्यत्यस्मांस्तद्विरहशुचिघर्मांशुविदुताः, पुनः सेक्तुं शौरिः सदमृतवपुः स्वं प्रकटयन् ।
अहो तद्दूरे तत्तुलितकृतकाङ्क्षैरपि कदा, स नः सिंचेन्मेघैरिव मृदुलवन्याः सुरपतिः ?५४॥

देखो, उद्धवजी ! हम सब गोपियाँ अपने सुख अथवा दुःख को कुछ भी नहीं गिनती हैं, किन्तु श्रीकृष्ण से द्रोह करनेवाले कंस के मरण को सदैव चाहती रहती थीं, अतः वह कंस का मरण हो भी गया। उसके बाद तुम से हम पूछती हैं कि—हमारे प्यारे श्यामसुन्दर अपने यदुगणों से आवृत होकर, एवं शत्रुओं से आक्रान्त न होकर, मथुरापुरी में (सुखपूर्वक) निवास करते हैं न ? ॥४९॥

हम अपनी समानता के कारण दूसरे व्यक्ति में रहनेवाले इच्छा के कष्ट को भी जानती हैं, इसलिए यह पूछती हैं कि—श्रीकृष्ण पुरवासिनी वनिताओं के उस इच्छारूप कष्ट को नष्ट करते हैं क्या ? क्योंकि श्रीकृष्ण ने पहले अपने सुमधुर हास्य से, एवं स्नेहभरे नयनकमल के कटाक्ष से, जिस इच्छा कष्ट को हमारे लिए उत्पन्न किया था, हाय ! आज भी वह कष्ट नवीन की तरह हमारे हृदय में विराजमान है ॥५०॥

उचित कान्त के ऊपर स्त्रीजातिमात्र की सुमधुर रुचि हो सकती है, यदि वही रुचि श्रीहरि के ऊपर हो जाय तो अमृत को निन्दनीय कर देती है। इसलिए हम तुम से इस प्रकार कहती हैं, तुम सुनो। देखो, उद्धवजी ! जिनका हृदय रुचिविशेष को जाननेवाला है, वे श्रीकृष्ण उन पुरवनिताओं के ऊपर प्रतिक्षण स्नेह क्यों न करेंगे ? अपितु, करेंगे ही ॥५१॥

नगर की वनिताएँ श्रीकृष्ण से सुख पाती रहें, एवं श्रीकृष्ण उनसे सुख पाते रहें। उस सम्बन्ध में हम सबको महान् हर्ष उत्पन्न हुआ है। कारण—दोनों की जोड़ी योग्य ही है। किन्तु एक प्रश्न हमारे चित्त को चञ्चल कर रहा है। कहिये, वे श्रीकृष्ण हम सब ग्रामीण नारियों की चर्चा को कहीं किसी अवसरपर करते हैं क्या ? ॥५२॥

वे श्रीकृष्ण उन रात्रियों को भी कभी याद करते हैं क्या ? जो कि कुमुदपुष्प एवं चन्द्रमा आदि की कान्तिओं के द्वारा सुशोभित थीं, एवं वृन्दावन में पहली प्रियतमा गोपाङ्गनाओं के द्वारा चारों ओर जिसमें अपना यश सुन्दररूप से गाया जा रहा था, एवं जिसमें बाजे के सहित नूपुरगणों का विलास हो रहा था, ऐसे महारास को करते हुए कौतुकी श्रीकृष्ण ने जिन रात्रियों में बारंबार क्रीडा की थी ॥५३॥

उनके विरहरूप ग्रीष्मऋतु के सूर्य की किरणों से विशेष सन्तप्त हुई, हम सब गोपाङ्गनाओं को पुनः सींचने के लिए अपने सुन्दर पूर्णचन्द्ररूप शरीर को प्रगट करते हुए, श्रीकृष्ण आयेंगे क्या ? विरह की

इह स्वाम्यं ग्राम्यं नृपपदमलं तत्र पशुपा, जना अस्मिंस्तस्मिन्नरपति-सुताः प्राणसुहृदः ।
इतो गोपीपाशाः स्मरपरवशाः सम्प्रति ततः, क्षितिक्षित्कन्याः स्वं वरितुमनसश्चैतु स कथम् ?५५
अये मुग्धे ! यस्योरसि वसति सा वारिधि-सुता, भवेयुस्तस्मिन् का वननगरदिव्या वरदृशः ?
ब्रवीषि त्वं सत्यं तदभिलषिते संकुचत भो, यदाशा स्वैरिण्याप्यलमवमता पिङ्गलिकया ॥५६॥
चिरादाशां त्यक्तुं यदपि वयमैच्छाम तदपि, स्वयं सा वेवेष्टि प्रतिपदमुदग्रस्थितितया ।
हरिर्वारीशत्वं व्रजति बत पाशत्वमपि सा, यदस्मिंस्तत् कस्मादिति किमपि जानीम हि नहि॥५७
सुरूपं तारुण्यं विलसितमपि प्रेक्ष्य न परं, तदाशां कुर्मः किं त्वपरमपि हेतुं निशमय ।
रहो नर्माद्यं यत् कलयति स यद्वा सशपथं, महाप्रेमव्यक्तिं हृदि वसति तत्तन्मुहुरपि ॥५८॥
रमा यस्यानिच्छोरपि न हि जहाति प्रतिपदं, तनूमित्थं लोकादितिह भुवनेषु प्रसरति ।
स एवायं यासु स्वयमहह संविद्धिधिशतं, तनोति स्वैरं ता वयमिह जहीमः कथममुम् ?५९॥

अधिकता से उनकी स्फूर्ति की मूर्ति को भूलकर पूछती हैं कि—अहह ! उनका आना तो दूर रहे, किन्तु इन्द्र मेघों के द्वारा कोमल वन की श्रेणियों को जिस प्रकार सींचता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण चन्द्रमा के समान कल्पित अङ्गों के द्वारा भी हमको कब सींचेंगे ? ॥५४॥

इस व्रज में तो श्रीकृष्ण के उपभोग के लिए ग्रामीण ही स्वामीपन है, एवं उस मथुरा में शोभायमान राजपद है । और यहाँपर गोपालजन ही मित्र हैं, एवं मधुपुर में राजपुत्र प्राणप्यारे मित्र हैं । इस व्रज में तो कामपरतन्त्र साधारण गोपकन्याएँ हैं, एवं वहाँपर तो इस समय अपने को, अर्थात् श्रीकृष्ण को वरण करने के मनवाली राजकुमारियाँ विद्यमान हैं । अतः वे यहाँपर किस प्रकार आ सकते हैं ? ॥५५॥

एक सखी दूसरी सखी से बोली—अरी बावरी सखि ! देख, जिस श्रीकृष्ण के मनोहर वक्षःस्थलपर समुद्र की कन्या वह लक्ष्मी भी जब स्वयं निवास करती है, तब वन में रहनेवाली एवं नगर में रहनेवाली या स्वर्ग में रहनेवाली नारियाँ उनके विषय में क्या हो सकती हैं ? अर्थात् कुछ भी नहीं । उसके प्रति दूसरी सखी बोली—अरी सखि ! तू सत्य कहती है । अतः मैं सखियों से कहती हूँ कि—हे सखियो ! तुम सब श्रीकृष्ण की अभिलाषा में संकोच कर लो । क्योंकि पिङ्गला (भा० ११।८।२२-४४) नाम की वेश्या ने भी आशा का विशेष तिरस्कार किया है ॥५६॥

सखियाँ बोलीं—यद्यपि हम सब तो बहुत समय से आशा को त्यागना चाहती हैं, तो भी वह तो भयंकर स्थितिपूर्वक हमको प्रतिक्षण स्वयं घेर रही है । हाय ! इस प्रसंग में श्रीकृष्ण तो वरुण के भाव को प्राप्त करते जा रहे हैं, एवं श्रीकृष्ण की जो आशा है वह वरुणपाश बनी जा रही है । यह सब किस कारण हो रहा है ? हम कुछ भी नहीं जान पा रही हैं । भावार्थ यह है कि—वरुण जिस प्रकार अपने स्वाधीन पाश से जनों को बाँध लेता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण अपनी आशारूप पाशके द्वारा हमको बाँध रहे हैं ॥५७

और हे सखि ! देख,हम केवल श्रीकृष्ण के सुन्दर रूप को एवं यौवन को तथा विलास को ही देखकर उनकी आशा नहीं कर रही हैं, किन्तु दूसरे कारण को भी सुन । देख, वे श्रीकृष्ण एकान्त में हमारे साथ जो परिहास आदि करते हैं, अथवा शपथपूर्वक जो महान् प्रेम का प्रकाश करते हैं, वह सब बारंबार हमारे हृदय में निवास करता है । अतः हम उनकी आशा को कैसे त्याग दें ? ॥५८॥

दूसरी बात यह है कि—लक्ष्मीदेवी न चाहनेवाले जिन श्रीकृष्ण के शरीर को भी प्रतिक्षण नहीं छोड़ती हैं, इस प्रकार का इतिहास लोगों के द्वारा तीनों भुवनों में फैलता रहता है । अहह ! वे ही श्रीकृष्ण

अहो तन्माधुर्यं यदभिलषिताच्छ्रीरपि न तं, मनाक् त्यक्तुं शक्ता यदपि तदनिच्छावलयिता ।
अये तस्यानिच्छा परमसबलापि प्रयतना-,न्नतां दूरीकुर्यात्तदुभयमिदं दुर्गमतमम् ॥६०॥

रमायां यानिच्छा मुनिभिरुदिता सात्वतपते-,र्भवेद्दम्भादेषा नियतमिति बुद्धं बुधवरैः ।
अथेयं चेत्तथ्या सपदि न कथं वा व्रजमृगी-,दृगालीवत् क्षिप्ता भवति सखि ! सा तल्लवमनु ॥६१

सरिच्छैलारण्यस्थलसुरभि-वेणुध्वनिचयाः, समं रामेण प्राग्व्रजपतिसुतेनानुचरिताः ।
दिदृक्षामस्माकं विदधति बलात्तस्य सहसा, विशेषाच्छ्रीमत्तत्पदविततिरस्मान् दलयति ॥६२॥

उदारश्रीलीलागतिहसितवीक्षानिगदितै-, र्हृता धीरस्माकं दनुजरिपुणा या चिरतरम् ।
अभूत्तस्यास्तत्र स्थितिरपुनरावृत्तिवलिता, कया युक्त्या तस्य प्रथय भविता विस्मृतिलवः ?६३॥

अये नाथ ! श्रीमन् ! जलनिधिसुतानाथ ! दयित !, व्रजाधीश ! स्वानुव्रतपशुपवंशक्लमहर ! ।
वयं नार्ता जाताः स्वमनु परमेतद्व्रजकुलं, स्वगोविन्दख्यातिं त्वमवितुमव क्लेशजलधेः ।।'६४॥

जिन हम गोपियों के निकट स्वयं सैंकड़ों प्रकार की प्रतिज्ञाओं को स्वेच्छा से करते हैं, तब इस प्रकार की हम इस जन्म में उनको किस प्रकार त्याग दें ? ॥५६॥

अहो ! श्रीकृष्ण का माधुर्य कैसा आश्चर्यमय है कि, जिसकी अभिलाषा से श्रीकृष्ण की अनिच्छा से वेष्टित हुई लक्ष्मीदेवी भी उनको किंचित् भी नहीं त्याग सकती हैं । और हे सखि ! श्रीकृष्ण की अनिच्छा परम प्रबल होकर भी, उन लक्ष्मीदेवी को प्रयत्नपूर्वक दूर नहीं कर सकती है । अतः ये दोनों बातें अत्यन्त दुर्गम हैं । इसी प्रकार वे हमको दूर न करेंगे, एवं हम भी उनकी आशा को न त्याग सकेंगी ॥६०॥

हे सखि ! यदुपति श्रीकृष्ण की लक्ष्मी के विषय में जो अनिच्छा मुनियों ने कही है, यह अनिच्छा तो दम्भ से ही सम्भव है, यह बात निश्चित है, क्योंकि श्रेष्ठ विद्वानों ने इस बात को समझ लिया है । और यदि यह अनिच्छा सत्य ही होती तो, व्रजाङ्गनाओं की श्रेणी की तरह वह लक्ष्मी उस अनिच्छा के लवमात्र को लक्ष्य करके तत्काल क्यों नहीं दूर कर दी जाती है ? ॥६१॥

श्रीव्रजराजकुमार ने पहले श्रीबलरामजी के साथ नदी, पर्वत, एवं वन वन के स्थलों में गोचारण के निमित्त जो वेणुध्वनि के समूह सेवन किये थे, वे सब श्रीकृष्ण के देखने की इच्छा को हमारे हृदय में सहसा एवं बलपूर्वक पुष्ट करते रहते हैं । और विशेष करके तो शोभायमान उनके चरणों की चिह्नश्रेणि हमको विदीर्ण करती रहती है ॥६२॥

और दैत्यारि श्रीकृष्ण ने अपनी उदार शोभा, लीला, चलना, हँसना, देखना, एवं बोलना इत्यादि के द्वारा हमारी जिस बुद्धि का अपहरण किया था, उस बुद्धि की स्थिति तो अब मथुरा में अपुनरावृत्ति से युक्त हो गई है, अर्थात् श्रीकृष्ण के साथ मथुरा में गई हुई हमारी बुद्धि अब लौटना नहीं चाहती है । अतः हे सखि ! तू बता तो सही कि, श्रीकृष्ण की विस्मृति का लवमात्र भी कौन सी युक्ति से होगा ? तात्पर्य—श्रीकृष्ण की किंचिद् भी विस्मृति हो जाय, तो हमारी बुद्धि मथुरा से लौट सकती है ॥६३॥

व्याकुल होकर सभी गोपियाँ बोलीं—हे नाथ ! हे श्रीमन् कमलाकान्त ! हे प्रियतम ! हे व्रजेश्वर ! एवं हे अपने अनुगामी गोपवंश के खेद को हरनेवाले ! श्याम ! देखो, हम सब गोपियाँ केवल अपने लिए ही व्याकुल नहीं हो रही हैं, किन्तु अपने गोविन्द नाम की ख्याति की रक्षा के लिए तुम इस व्रजकुल को क्लेश-समुद्र से बचाओ ॥६४॥

"तदेवं पुनरपि ताः स्वभावजभावनामनुवर्तमाना निरीक्ष्य प्रभोरेव शिक्षया तानेव वाचितलेखान् स वाचयामास। वाचितेषु च तेषु महामन्त्रेष्विव प्रभावतः स्वतन्त्रेषु ताः पुनः सान्त्वनमासादितवत्यः। सान्त्विताश्च ताः कृष्णमात्मानं च यथा तदुपदेशमनुभूय दूयमानतारहितास्तमुद्धवं सभाजयामासुः ॥६५॥

"तदेवं तासामभ्यासयोगाय रोगापहर्तृवत्तदभ्यासमनुदिनं प्रातः प्रातरनुगच्छन् व्रजमनु मासकतिपयमुवास, नित्यनित्यमुदयन्महाभक्तिवितानः स्तुवन्ननमूर्ननाम च ॥६६॥ यथा—

"एता धर्मग-लोकसेतुवलितास्तत्त्यागपूर्वा हरिं
सर्वात्मानमुपेत्य काण्डयुगलश्रुत्यर्थपारं गताः।
सर्वांशेन ततश्च मद्विधनुतिस्तोमास्पदानीत्यत-
स्तत्रासु व्यभिचारदोषवलका ये हन्त ते नारकाः ॥६७॥

सत्यं वृष्णिपतेः प्रकाशसमये सर्वेऽत्र साम्यं गता-
स्ते मुक्तीच्छुविमुक्तभक्तनिचयास्तद्भक्तितृष्णान्विताः।
किन्त्वेताः परमस्मदद्भुतकरं प्रेम श्रिता गोपिका
वार्तां यस्य विना वृथा भवति तद् ब्रह्मात्मना जन्म च ॥६८॥

इस प्रकार उन गोपियों को फिर भी स्वभाव से जायमान भावना का अनुसरण करती हुई देखकर, उद्धवजी ने श्रीकृष्ण की शिक्षा से उन बाँचे हुए लेखों को ही पुनः बाँच दिया। महामन्त्रों की तरह अपने प्रभाव से स्वतन्त्र उन पूर्वोक्त लेखों के पुनः बाँचते ही, वे गोपियाँ पुनः सान्त्वना को प्राप्त हो गई। और सान्त्वित हुई वे गोपियाँ श्रीकृष्ण के उपदेश के अनुसार श्रीकृष्ण को एवं अपने को भी अनुभव करके, विरह के सन्ताप से रहित होकर, उन उद्धवजी का सम्मान करने लग गई ॥६५॥

पश्चात् उद्धवजी इसी प्रकार वियोग के दुःख को दूर करने को उन गोपियों के अभ्यासयोग के लिए वैद्य की तरह प्रतिदिन प्रातःकाल उनके निकट जाते हुए, कई महीनोंतक व्रज में रहे। और गोपियों के सहवास से नित्यप्रति उदय को प्राप्त होनेवाले महान् भक्ति के वितान से युक्त होकर, स्तुति करते करते उन गोपियों को प्रणाम करने लग गये ॥६६॥

यथा—ये गोपियाँ पहले लौकिक धर्मानुसार चलनेवाले लोगों की मर्यादा से युक्त थीं, तथापि अनुराग के मार्ग से श्रीकृष्ण की प्राप्ति सुलभ है, अतः अनुराग का प्रकाश करने के लिए, धर्मात्मा लोगों की मर्यादा के त्यागपूर्वक, सबके आत्मास्वरूप श्रीहरि को प्राप्त कर, कर्मकाण्ड एवं ज्ञानकाण्डपरक श्रुतियों के तात्पर्यार्थस्वरूप श्रीकृष्ण के पार पहुँच गई हैं, अर्थात् श्रीकृष्ण के वशीकरण की सीमा को सर्वांश से पा चुकी हैं। इसलिए ये गोपियाँ हम जैसे व्यक्तियों की स्तुति की स्थानस्वरूप हैं। अतः इस प्रकार की मङ्गलमयी गोपियों के ऊपर, जो व्यक्ति व्यभिचार के दोष को लगाते हैं, अर्थात् श्रीकृष्ण इनके उपपति हैं, ऐसा दोषारोपण करते हैं, हाय ! वे तो नरकों में जानेवाले हैं ॥६७॥

यदुपति श्रीकृष्ण के प्राकट्य के समय जो मुमुक्षु, जीवन्मुक्त, एवं भक्तों के समुदाय थे, वे सब श्रीकृष्णभक्ति की तृष्णा से युक्त होने के नाते, यहाँपर सभी समान हो गये थे, यह बात सत्य है। किन्तु ये सब गोपियाँ तो हमारे लिए आश्चर्यजनक केवल प्रेम का ही आश्रय ले चुकी थीं। क्योंकि श्रीकृष्णसम्बन्धी

वृन्दारण्यविहारहारिचरिताः क्व मा हरेः सत्प्रिया-
स्तत्रान्ये व्यभिचारचारिमनसः स्त्रीपुंसलोकाः क्व च ।
आसामीदृशभाव एव हि भिदा हेतुस्तदेवं स्थिते
पुष्णात्यज्ञजनानपि स्वभजनादेताः कथं स त्यजेत् ? ॥६९॥
आसां श्रीरपि सा बिभर्ति न तुलां यद्वाञ्छयासीत्तप-
श्चारिण्येव चिराय नाप किल यं सोऽयं व्रजेन्द्रात्मजः ।
याः स्वेनाग्रहपूर्वकं भुजयुगेनावेष्टिता नोज्झितुं
वाञ्छामाश्वदभीक्ष्णमत्र सति काः स्वर्गादिवर्ग्याः स्त्रियः ?॥७०॥
तस्माच्छ्रीमुखसर्वयौवतजयादेता महाश्रीतया
श्रीवृन्दावननाथ-नित्यदयिता भान्तीति लब्धे सति ।
एतद् यत् पुनरौपपत्यचरितं तन्मायया सम्भवे-
दासां प्रेमनिरर्गलत्वकलना-कौतूहलं यत् फलम् ॥७१॥
या धर्मान्वितलोकवृन्दचरिताः कृष्णं भजन्ते स्त्रिय-
स्तासां वर्त्म विभाति तत्र सुगमं कीर्तिश्च लब्धस्पृहा ।
तत्तत् सर्वमपि स्वजातिमहिता यास्तत्यजुस्तत्कृते
तासामंघ्रिरजःसु हन्त भवतादासां सदा मज्जनिः ॥७२॥

जिस प्रेमपदार्थ की वार्ता के बिना तो ब्राह्मण रूप से, या ब्रह्मा के रूप से जन्म लेना भी व्यर्थ ही हो जाता है। अतः गोपियाँ सर्वश्रेष्ठ हैं ॥६८॥

और श्रीवृन्दावन के विशुद्ध विहार से युक्त मनोहर चरित्रवालीं श्रीकृष्ण की साध्वी प्रियतमा ये गोपियाँ कहाँ ? एवं ऐसी गोपियों में व्यभिचार का आरोपण करनेवाले दुष्ट मनवाले दूसरे भक्तिहीन स्त्री-पुरुष लोग कहाँ ? अर्थात् इन दोनों में महती विषमता है। इन गोपियों का ऐसा विचित्र भाव ही भेद का कारण है। अतः ऐसी स्थिति में जो श्रीकृष्ण अपने भजन के कारण अज्ञजनों का भी पालन पोषण करते हैं, वे दयालु प्रभु इन गोपियों को किस प्रकार त्याग सकते हैं ? ॥६९॥

वे प्रसिद्ध लक्ष्मीदेवी भी इन गोपियों की तुलना को नहीं धारण करती हैं। जो कि श्रीकृष्णप्राप्ति की इच्छा से बहुत दिनोंतक तपस्या करनेवाली होकर भी, जिन श्रीकृष्ण को न पा सकीं, वे ही श्रीव्रजराज-कुमार अपनी दोनों भुजाओं से आग्रहपूर्वक बारंबार आवेष्टित की हुई, जिन गोपियों को त्यागने की इच्छा भी नहीं करते हैं। तब ऐसी स्थिति में स्वर्ग आदि स्थलों में रहनेवाली अनेक स्त्रियाँ, गोपियों के सामने कौन हो सकती हैं ? अर्थात् उनके सामने वे भी तुच्छ हैं ॥७०॥

इसलिए लक्ष्मी आदि समस्त युवतीसमूह के जीतने के कारण, वृन्दावननाथ श्रीकृष्ण की नित्य-प्रियाएँ ये गोपियाँ महालक्ष्मी के रूप से सुशोभित हो रही हैं। ऐसा भावार्थ उपलब्ध होनेपर, यह उपपति भाव का जो चरित संघटित हुआ है, वह तो माया से ही हो सकता है। जिसका फल उन गोपियों के प्रेम की व्यवधानरहित रचना का कौतूहल ही है ॥७१॥

जो स्त्रियाँ धार्मिक जनसमुदाय के से चरित्रवालीं होकर श्रीकृष्ण का भजन करती हैं, उन स्त्रियों का मार्ग उस भजन में सुगम प्रतीत होता है, एवं कीर्ति भी इच्छा को प्राप्त हो जाती है। किन्तु अपनी स्त्री-

चेतस्येव हि यत्पदाब्जयुगलं योगेश्वरैरब्जज-
श्रेयस्कै रमया च पूजितमनाद्येवानु तत्तत्स्पृहम् ।
यास्तत्पर्यटनश्रमापनयनं कर्तुं स्तनैर्लालितं
कुर्वत्यः सुकुमारमेतदिति भीगोर्णा मनाक् पस्पृशुः ॥७३॥

आसामस्तु कथा हरेर्मुदि मुदाशान्तिस्पृशां याः परा-
स्तत्सम्बन्धभृतस्तदंघ्रिरजसां वृन्दानि वन्दामहे ।
यासां कृष्ण-कथानुगानमपि तद्विश्वस्य गानं भव-
ल्लोकांस्त्रीनपि तान् सहाधिपतिकान् पूतान् विधत्ते सदा ॥"७४॥ युग्मकम् ॥

अथ मधुकण्ठः समापयन्नुवाच,—

"सोऽयं नित्यमभिष्टुवन्नपि तदा सामान्यतस्ता वच-
स्यानिन्ये हृदि राधिकामधिकतामित्येव मन्यामहे ।
या सा तं भ्रमरं भ्रमस्पृशमहाभावश्रिया चित्रगी-
र्दूतीकृत्य तदद्भुतस्मृतिचिते वाक्स्तम्भमत्रास्यति ॥७५॥

जातिमात्र में पूजित हुईं जिन गोपियों ने, श्रीकृष्ण के निमित्त दुस्त्यज स्वजनादि, एवं लोकधर्मपरायण जनों के मार्ग आदि सब कुछ त्याग दिये, अहह ! ऐसी उन गोपियों की चरणरज में मेरा जन्म सदैव होता रहे, यही प्रभु से प्रार्थना है ॥७२॥

और यह बात प्रसिद्ध है कि, ब्रह्मा शिव आदि देवताओं के द्वारा, श्रीसनकादि योगेश्वरों के द्वारा, एवं लक्ष्मीदेवी के द्वारा, श्रीकृष्ण के जो दोनों चरणकमल अनादिकाल से ही, उन चरणकमलों की प्राप्ति की इच्छा से, अपने अपने मन में ही पूजित हुए हैं। किन्तु मेरे विचार में तो जो गोपियाँ, श्रीकृष्ण के उन्हीं चरणकमलों के वनभ्रमण के परिश्रम को दूर करने के लिए, अपने स्तनों के द्वारा उनका लालन करती हुईं, "ये दोनों चरणकमल" अति सुकुमार हैं, हमारे कठोर स्तनों से स्पर्श करने योग्य नहीं हैं, इस प्रकार के भय से युक्त होकर नेक स्पर्श करती थीं, वे ही भाग्यशालिनी हैं ॥७३॥

और श्रीकृष्ण के आनन्द में ही हर्षपूर्वक शान्ति का स्पर्श करनेवाली उन गोपियों की बात तो दूर रहे, किन्तु उन गोपियों के साथ सम्बन्ध रखनेवाली जो अन्य गोपियाँ हैं, हम तो उनकी चरणधूलि के समूह की भी सहर्ष वन्दना करते हैं। क्योंकि जिनका वह श्रीकृष्णकथा का गुणगान भी, संसार भर का गायन होता हुआ, अधिपतियों के सहित उन तीनों लोकों को भी, सदा पवित्र करता रहता है ॥७४॥

अब प्रसङ्ग को समाप्त करता हुआ मधुकण्ठ बोला कि—उस समय नित्यप्रति गोपियों की स्तुति करते हुए भी, ये श्रीउद्धवजी सामान्यरूप से चन्द्रावली आदि गोपियों को तो अपनी वाणी में लाते रहे, किन्तु अपने हृदय में तो श्रीराधिका को ही अधिकरूप से लाते थे। हम तो यही मानते हैं। क्योंकि जो प्रसिद्ध श्रीराधिका, भ्रम का स्पर्श करनेवाले महाभाव की सम्पत्ति के द्वारा विचित्र वाणीवाली होकर, उस भ्रमर को दूत बनाकर, उस अद्भुत महाभाव की स्मृति से व्याप्त हुए उद्धव के ऊपर वाणी की रुकावट को छोड़ बैठीं, अर्थात् उद्धव के सामने निःसंकोच बोलने लग गईं ॥७५॥

श्रीरासां न तुलां बिभर्ति नितरामित्युल्लपन्नुद्धवो
यासामंघ्रिरजो नमाम हरिणा यः स्वेन तुल्यो मतः ।
तासां तत्प्रियतासुधाकरतनुर्या तां चकोरायित-
श्रीकृष्णेन युतां समस्तमहितां वन्दामहे राधिकाम् ॥"७६॥

"अथ निवेदयामास च,—

'प्रेमोन्मादजकृच्छ्रमेतदुदितं ते यत् प्रिये शृण्वति
क्षान्ति तत्र कुरुष्व देवि ! करुणाकल्लोलिनि ! श्रीतमे ! ।
प्रायः कक्खटधृष्टधीः कविजनः स्याद् येन नान्यस्य स
ह्रीदुःखाद्यमवैति किन्तु कवते व्यञ्जन्निजां चातुरीम् ॥७७॥
दृष्टं हन्त मदीयवर्णनमनु त्वं राधिके ! त्वत्प्रियः
सोऽयं च प्रतिवाचमुन्मददशां तामेव चित्तेऽपिपः ।
किन्तु प्रेक्ष्य परस्परं मुहुरमू दिव्यौषधीसेवन-
प्राशस्त्यादिव सान्त्वितावथ युवां धैर्यं धिया पप्रथुः ॥"७८॥

तदेवं पर्यवसाने तौ च तदीयसुहृदश्च सन्तोष्य तत्प्रसादपोष्यमाणस्वात्मतया कथकौ निजावासमासादयतः स्म; श्रीराधा-माधवौ च यथायोग्यं सर्वाननुज्ञाप्य मोहनमन्दिरं प्रविश्य सुखसन्दोहमाविविशतुः ॥७९॥

"लक्ष्मीदेवी इन गोपियों की तुलना को नहीं धारण करती हैं" इस बात को उच्चस्वर से कहते हुए उद्धवजी जिन गोपियों की चरणरज की वन्दना करते हैं; जो उद्धव, श्रीकृष्ण ने अपने समान माने हैं। अतः उन सब गोपियों के बीच में जो श्रीराधिका, श्रीकृष्णविषयक स्नेहरूप सुधा की आकर (खान)रूप शरीर-वाली हैं, इसलिए चकोर का सा आचरण करनेवाले श्रीकृष्ण से युक्त, एवं समस्तजन पूजित उन श्रीमती राधिका की हम वन्दना करते हैं ॥७६॥

अनन्तर मधुकण्ठ ने श्रीराधिका से निवेदन भी किया कि—हे करुणातरङ्गिणि ! (हे दया की नदी स्वरूपे !), हे अतिशय लक्ष्मीस्वरूपे ! देवि ! राधिके ! देखो, तुम्हारे प्यारे श्यामसुन्दर के सुनते सुनते, मैंने तुम्हारे प्रेममय उन्माद से जायमान कष्ट से युक्त यह जो वृत्तान्त कहा है, उसके विषय में मेरे ऊपर क्षमा करें। क्योंकि कविजन प्रायः अतिकठिन एवं धृष्ट बुद्धिवाला हो जाता है, जिस कारण वह कविजन दूसरे की लज्जा, एवं दुःख आदि को नहीं जानता है, किन्तु अपनी चतुराई को प्रकाशित करता हुआ वर्णन करता रहता है। अतः मैं भी वर्णन कर गया ॥७७॥

हे राधिके ! हाय ! यह बात मैंने प्रत्यक्ष देखी है कि, मेरे द्वारा किये गये वर्णन को लक्ष्य करके तुम, एवं तुम्हारे प्यारे वे ही ये श्रीकृष्ण, मेरे प्रत्येक वाक्य में उसी उन्माद दशा को, अपने अपने चित्त में पूरण करते रहे। किन्तु वे ही तुम दोनों बारंबार आपस में देखकर, मानो दिव्य औषधी के सेवन की अधिकता से ही सान्त्वना से युक्त होकर, अपनी बुद्धि से धैर्य का भी विस्तार करते रहे ॥७८॥

इस प्रकार प्रसङ्ग की समाप्ति हो जानेपर, श्रीराधा-कृष्ण को एवं उनके सुहृद् श्रीललिता, विशाखा, एवं मधुमङ्गल आदि को सन्तुष्ट करके, उन सबकी प्रसन्नता से पुष्ट हुई अपनी आत्मा के भाव से युक्त

अथ प्रातःकथायां श्रीव्रजयुवराजविराजमानव्रजराजसदसि लब्धप्रथायां स्निग्धकण्ठ उवाच,—॥८०॥

"तदेवं मासकतिपयमुद्धवे व्रजमावसति,—

"कृष्णस्योद्धवकेन माथुरकथा गीताथ या बल्लवैः
सार्धं तेन समं च तैर्व्रजकथा या तत्र तत्रापि च ।
साक्षात्कारमिवाश्रयन्मुहुरसौ तत्तद्विहारक्रमा-
त्तान् मासान् परितः सुखाय चक्लृपे तस्यापि तेषामपि ॥८१॥

या या स्फूर्तिरभूत्तदा व्रजजने कृष्णस्य तामुद्धवः
साक्षात्कारतया न्यबोधयदसौ तल्लक्षणं दर्शयन् ।
तेषां यर्हि तु तत्र निश्चितिरिवासीत्तर्हि स प्रस्थितौ
कुर्वंश्चित्तममून् मिलद्विनयमन्वज्ञापयद्भागशः ॥"८२॥

अथ यः कश्चिन्निशीथकथनीयः कथांशः श्रीराधासदसि कथकेन कथितः, सोऽप्यत्र दिनकथायामेव ग्रन्थक्रमाय ग्रथनीयः ॥८३॥

यथाह स्निग्धकण्ठः,—"तत्र च तत्तदनुज्ञापनक्रमं कृष्णप्रेमक्रमत एव सम्मतवान् । यथाह श्रीशुकः, (भा० १०।४७।६४)—

होकर, दोनों कथावाचक अपने निवासस्थानपर आ पहुँचे। और श्रीराधा-माधव भी यथायोग्य सबको अनुज्ञा देकर, अपने मोहन-मन्दिर में प्रविष्ट होकर, आनन्दसन्दोह में प्रविष्ट हो गये ॥७९॥

उसके बाद व्रजयुवराज श्रीकृष्ण से विराजमान श्रीव्रजराज की सभा में, प्रातःकाल की कथा की परिपाटी के प्राप्त होनेपर, स्निग्धकण्ठ बोला— ॥८०॥

इस प्रकार कई महीनोंतक उद्धवजी जब व्रज में रहे, तब गोपों के साथ उद्धवजी ने श्रीकृष्ण की जो मथुरासम्बन्धी कथा कही, और उद्धवजी के साथ उन गोपों ने जो व्रज की कथा कही थी, ये श्रीकृष्ण उसी उस कथाप्रसङ्गपर बारंबार साक्षात्कार का सा आश्रय लेते हुए, उद्धव के लिए एवं उन गोपों के लिए, उस उस विहार के क्रम से उन महीनों को चारों ओर से सुख के लिए सम्पन्न करते रहे ॥८१॥

उस समय व्रज के जनों में श्रीकृष्ण की जो जो स्फूर्ति होती थी, उस स्फूर्ति के "स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्चादि" लक्षणों को दिखाते हुए, ये उद्धव उन व्रजजनों के प्रति उस स्फूर्ति को साक्षात्काररूप से समझाते थे। किन्तु उन व्रजवासियों का उस स्फूर्ति में जब निश्चय सा हो गया, तब मथुराप्रस्थान के विषय में चित्त को करते हुए उद्धवजी, उन व्रजवासियों से ज्येष्ठ कनिष्ठ आदि के भेद से, विनयपूर्वक अनुज्ञा प्रार्थना करने लगे ॥८२॥

अब रात्रि में कहने योग्य जो कुछ कथांश, श्रीराधिका की सभा में कथावाचक ने कहा था, वह भी यहाँपर, अर्थात् श्रीव्रजराज की सभामें दिन की कथा में ही, ग्रन्थ के क्रमके लिए ग्रथित करने योग्य है ॥८३

यथा—स्निग्धकण्ठ बोला—और वहाँपर उद्धव ने उन उन व्रजवासियों से अनुज्ञा लेने के क्रम को श्रीकृष्ण के प्रेम के क्रम से ही माना था। इस विषय में श्रीशुकदेवजी ने भी कहा है, यथा—उसके बाद

'अथ गोपीरनुज्ञाप्य यशोदां नन्दमेव च ।
गोपानामन्त्र्य दाशार्हो यास्यन्नारुरुहे रथम् ॥' इति ॥८४॥

"सानुज्ञापनरीतिरुद्धवकृता तत्तद्विनीति-स्तृता
सानुज्ञा च हरिप्रियादिरचिता तत्तद्विकारावृता ।
हा हा नः स्मृतिमागता लवमपि प्राणान् विचूर्णीयितां-
स्तूर्णीभूय करोति तत्र कविता तस्मान्न पूर्णीकृता ॥८५॥

"तथापि श्रीराधायाः सविनयनिदेशं तु किञ्चिदुद्देशं नयामि,—

'यथा मां सहसावादीस्तथा त्वं मा तमुद्धव ! ।
अहं वज्रमयी शश्वन्नवनीतमयः स तु ॥८६॥
किन्तु स्नेहत्यागशिक्षां तं वद प्रान्तकक्षया ।
क्रमेण हि बहिः कार्या जीर्णवस्त्रार्द्रता बुध ! ॥' इति ॥८७॥

"तदेवं प्रोच्य किमप्यनुशोच्य मुद्रितपत्रिकामेतत्सन्देशवागमत्रिकामुद्धवहस्तविन्यस्तां विहस्तहस्तापि चकार,—

'व्रजशशधर ! ता व्रजगा,-स्त्याज्या न कलङ्कशङ्कया भवता ।
न शशी कलङ्कतनुम,-प्युज्झति शशकं स्वमाश्रितं जातु ॥' इति ॥८८॥

मथुरा जाते समय उद्धवजी (श्रीकृष्णप्रेम के तारतम्य के अनुसार) पहले गोपियों की, पीछे यशोदा की, एवं पश्चात् श्रीनन्द की अनुमति लेकर, सभी गोपों से पूछकर, रथ में चढ़ गये ॥८४॥

और उन उनकी विनय से भरी हुई, उद्धव के द्वारा की गई, वह अनुमति लेने की रीति, एवं श्रीकृष्णप्रिया गोपियों द्वारा रची गई, स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, अश्रु, गद्गद स्वर आदि उन उन प्रेमविकारों से ढकी हुई, वह अनुमति लवमात्र भी हमारी स्मृति में आते ही, हाय ! हाय ! हमारे प्राणों को अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक चूर्ण सा कर रही है । इसलिए उस अनुमति के लेने देने के विषयमें कविता पूरी नहीं की ॥८५

तथापि श्रीराधिका के बिनयभरे आदेश को तो कुछ उदाहरण में लाता हूँ । हे उद्धव ! तुमने श्रीकृष्ण की दशा जैसे मुझ से सहसा कह दी, उस प्रकार मेरी दशा को उनसे न कहना । क्योंकि मैं तो वज्रमयी हूँ, अर्थात् ऐसा सन्देश सुनकर भी मेरे प्राण न निकले, किन्तु मेरे प्राणनाथ श्रीकृष्ण तो निरन्तर नवनीतमय हैं, अर्थात् हमारी इस प्रकार की दुरवस्था सुनते ही, माखन की तरह पिघल जायँगे ॥८६॥

किन्तु हे विज्ञ उद्धव ! अन्त में तुम उन प्राणनाथ को स्नेह के त्याग की शिक्षा को कह देना, अर्थात् वे धीरे धीरे हम में से स्नेह को कम कर लें । क्योंकि पुराने वस्त्र का गीलापन, अर्थात् जल क्रमशः धीरे धीरे ही बाहर करना चाहिये, शीघ्रता करने से तो वस्त्र ही फट जायगा । इसी प्रकार वे धीरे धीरे क्रमशः स्नेह को त्याग दें ॥८७॥

इस प्रकार कहकर, कुछ शोक करके, श्रीराधिका ने व्याकुल हाथवाली होकर भी, इस सन्देशमयी वाणी की पात्रस्वरूप मुँदी हुई पत्रिका उद्धव के हाथपर धर दी । उस पत्रिका में यह सन्देश था कि, हे व्रजचन्द्र ! देखो, व्रज में रहनेवाली वे गोपियाँ कलङ्क की आशंका से भी आपके द्वारा त्यागने योग्य नहीं हैं । क्योंकि चन्द्रमा अपने शरीर को कलंकित करनेवाले, एवं अपने आश्रित खरगोश को कभी भी नहीं त्यागता है । इसी प्रकार हम कङ्कक की हेतु होनेपर भी, आपके द्वारा कभी भी त्यागने योग्य नहीं हैं ॥८८॥

"तदनेनालमतिविस्तरेण मतिदुस्तरेण ॥८९॥

"अथ दिवसकथा । रथारोहात् पूर्वं तु स्वस्वपाणिभिरेव नानोपायनमानीय श्रीमन्नन्दादयस्तु निवेदयितुं विचारयामासुः,—'अयं खल्वस्मान् बन्धुभावमय-तद्विरहक्लम-विरमणाय तमीश्वरतया समुपदिश्य तत्रोदासीनान् कुर्वन् बहुधा बोधितवान् । अथ तदङ्गी-कृत्यापि निजाभिमतमुत्तरयिष्यामः' इति ॥९०॥

"तदेवं विमृश्य दृश्यमानवाष्पं वदन्ति स्म,—

'अथ कृष्णः स्वयमीश,-स्तदपि च नस्तत्र वृत्तयः सर्वाः ।
भूयासुर्न तु तस्मि,-न्नौदासीन्यं भजन्तु कुत्रापि ॥९१॥
कर्मभिरुच्चैर्भ्रमता,-मीश्वरवाञ्छावशादिहामुत्र ।
ईशे कृष्णाकारे, रतिरथ नः सर्वदा भवतु ॥९२॥
अन्येषामुपदेष्टृषु, गुरुतारोप्येत कर्मणा तेन ।
उद्धव ! तव गुरुमनु सा, सिद्धा तत्त्वयि किमस्ति विज्ञाप्यम् ?'॥९३॥

इति वस्त्रेण मुखमास्तीर्य क्षणं रुरुदुः; रुदित्वा च मनसि धीरतामीरयमाणास्तं दूरादनुव्रज्य परिष्वज्य च परस्परमासज्जमाना लघु लघु निववृतिरे ॥९४॥

अतएव बुद्धि से दुस्तर एवं अत्यन्त विस्तारवाले विरह के प्रसङ्ग से अधिक प्रयोजन नहीं है ॥८९॥

उसके बाद दिन की कथा, यथा—उद्धव जबतक रथ में नहीं चढ़े थे उससे पहले ही, श्रीमान् नन्दजी आदि गोप तो दुग्ध, दधि, नवनीत आदि अनेक प्रकार की भेंट को अपने अपने हाथों से ही लाकर निवेदन करने के लिए, मन मन में विचारने लगे कि, ये उद्धव बन्धुभावमय श्रीकृष्ण के विरह से उत्पन्न हुए हमारे खेद को दूर करने के लिए, श्रीकृष्ण को ईश्वररूप से उपदेश देकर, उनमें से उदासीन करते हुए हम सबको अनेक प्रकार से समझा चुके हैं । अब उनके समझाने से श्रीकृष्ण को ईश्वरता को अङ्गीकार करके भी, अपने अभिमत विषय का ही उत्तर देंगे ॥९०॥

इस प्रकार विचार कर सजलनयन होकर बोले—देखो, उद्धवजी ! श्रीकृष्ण यदि स्वयं ईश्वर हैं तो भी हमारी सारी वृत्तियाँ उन में ही लग जायँ । किन्तु किसी अवस्था में भी उन में उदासीनता को न प्राप्त हों । (क्योंकि वे हमारे नित्यबन्धु हैं) ॥९१॥

और ईश्वर की इच्छा के वश से, उच्चकोटि के कर्मों के द्वारा, इस लोक एवं परलोक में भ्रमण करने-वाले, हम समस्त व्रजवासियों की प्रीति, श्रीकृष्ण के आकारवाले ईश्वर में ही सर्वदा बनी रहे ॥९२॥

और हे उद्धव ! तुम से भिन्न अन्यजनों को उपदेश देनेवाले उपदेशों में जो गुरुता है, वह तो उपदेश-रूप कर्म के द्वारा आरोपित की जाती है, स्वतःसिद्ध नहीं है । किन्तु तुम्हारे गुरुदेव बृहस्पति को लक्ष्य करके तुम्हारी गुरुता स्वतः सिद्ध है, अर्थात् गुरुकृपा से तुमको सर्वज्ञताशक्ति प्राप्त है । अतः तुम्हारे सामने और क्या विज्ञापन करने योग्य है ? अर्थात् तुम तो हमारे आन्तरिकभाव को सर्वज्ञतासे स्वयं जानते हो ९३

इस प्रकार कहकर वस्त्र से मुख ढककर, सभीजन क्षणभर रोने लग गये । रोने के बाद अपने अपने मन में धीरता को लाते हुए, दूरतक उद्धव के पीछे पीछे जाकर, उनसे मिलकर, आपस में मिलते हुए धीरे धीरे लौट आये ॥९४॥

"अथ मधुरायां श्रीकृष्णस्तद्वार्तायां धृततृष्णतया वासरपक्षमासान् क्रमगणनया गणयन् दिनं दिनं व्रजविलोकनया मनोरथपालिकामत्युन्नतचन्द्रशालिकां विन्दमानस्तद्वर्त्मनि दृष्टिमस्यन्नकस्मात्तमागतं पश्यन्नुच्चैरौत्सुक्यवश्यतामवाप । ततश्च तं दूरमनुवृत्य सर्वमेव गोकुलं साक्षादयमिति मनसिकृत्य मुहुरालिङ्गनादिभिराहृत्य निभृतस्थानमानिनाय । आनीय च प्रथमतस्तस्य मुखप्रसादं दृष्ट्वा । तदनन्तरमेव कुशलमात्रं पृष्ट्वा वर्त्मश्रमं मृष्ट्वा च पप्रच्छ ॥९५॥

यथा— 'गुरूंस्तातं मित्राण्यनुगतजनान् गोसमुदयां-
स्तदाऽपृच्छत् कृष्णः सदयमपृथक् तं पृथगपि ।
प्रसूप्रश्ने नासीत् पटुरिह यतः कण्ठविवरं
मुहुः कुण्ठं कुर्वन्नुदयति दृगम्भः-समुदयः ॥' इति ॥९६॥

"ततश्च सम्भ्रमादुद्धवस्तत्तत्कुशलकलापसंवलनया तस्याधीरतां संस्तभ्य प्रथमदिनवृत्तमारभ्य सर्वमेव यद्यद्वृत्तमहोभिर्बहुभिरेव व्याहरिष्यते, तदेव प्रथमं संक्षेपेण निचिक्षेप; अन्ते पुनरिदमुक्तवान्,—

'अर्धं भवत्प्रभावेण मया तत्र समाहितम् ।
भवत्प्रयाणपर्यन्तमर्धं पर्यवसीयते ॥९७॥

इधर मथुरा में श्रीकृष्णचन्द्र व्रज के सन्देश में तृष्णा को धारण कर, क्रम की गणना के अनुसार दिन, पक्ष, एवं महीनों को गिनते हुए, प्रतिदिन व्रज को देखने के निमित्त अपने मनोरथ की रक्षा करनेवाली अत्यन्त ऊँची चन्द्रशालिका (अटारी) को प्राप्त कर, अर्थात् उसपर चढ़कर, उद्धव के मार्ग में दृष्टि को फैंकते हुए, अकस्मात् उद्धव को आये हुए देखकर, अधिक उत्सुकता के वशीभूत हो गये। उसके बाद दूरतक उद्धव के अगवानी जाकर, यह उद्धव साक्षात् सम्पूर्ण व्रज ही है, इस प्रकार मन में करके, बारंबार आलिङ्गनादि के द्वारा सत्कार करके, उद्धव को एकान्तस्थान में ले आये। और लाते ही पहले उद्धव के मुख की प्रसन्नता को देखकर, तदनन्तर ही कुशलमात्र पूछकर, मार्ग के श्रम को दूर करके पूछने लगे–॥९५

यथा—उस समय श्रीकृष्ण ने दयापूर्वक पहले सामान्यरूप से, फिर अलग अलग रूप से भी, श्रीउपनन्द आदि गुरुओं के, पिता श्रीनन्दजी के, सुदामा श्रीदामा आदि मित्रों के, रक्तक पत्रक आदि सेवकों के, एवं गोसमुदाय के विषय में उद्धव से पूछा। किन्तु माता के प्रश्न (पूछने) के विषय में वे समर्थ नहीं हुए, क्योंकि नेत्रजल का समूह कण्ठ के छिद्र को बारंबार रोकता हुआ उदय हो रहा था ॥९६॥

उसके बाद उद्धवजी ने शीघ्रतापूर्वक उन उन व्रजवासियों के कुशलसमूह को निवेदन करके, श्रीकृष्ण की अधीरता को रोककर, पहले दिन के वृत्तान्त से लेकर, सम्पूर्ण ही जो जो वृत्तान्त बहुत दिनों में कहेंगे, उसको पहले संक्षेप से ही निवेदन कर दिया। और अन्त में पुनः यह कहा कि—हे प्रभो ! मैंने उस व्रज में आपके विरह से जनित व्रजवासियों के क्लेश के आधे भाग का समाधान तो आपके प्रभाव से कर दिया है। किन्तु आपके व्रज में जानेतक आधा क्लेश अवशिष्ट ही है। अतः आप शीघ्र ही व्रज में जाने की चेष्टा करें, यह तात्पर्य है ॥९७॥

'किन्तु, अस्माकं किल निर्णयः समभवत् पूर्वं यदेषा भव-
द्भक्तिः स्याद् व्यवहारवर्त्मरहिता यावत् परं तावती ।
दृष्टं गोष्ठनिवासिनामपि तु सा पुत्रादिभावात्त्वयि
प्रेमोत्कर्षविचित्रिताखिलभवद्भक्ता परिभ्राजते ॥"९८॥

तदेवं कथकः प्रथयित्वा रात्रौ कथनीयमिति तदनन्तरं तद्वाग्वारं मनसि कृतवान् ॥९९॥

यथा— "त्वयि सुतताद्यभिमान,-स्तेषां तस्मिन् समस्तजेतास्ति ।
तदपि न चित्रं तासा,-मुपपतिभानं तमप्यजैषीद्धि ॥१००॥

"यत्र च— यन्मद्दर्शनमात्रतः प्रलपितं त्वत्प्रेयसीनां किम-
प्येकस्या यदितस्तवाऽऽसु मयका यद्वाचिकं चार्पितम् ।
तस्मिन् प्रत्ययमत्ययं च परितस्तासां यदुद्घूर्णितं
तन्मां हन्त वदन्तमुग्रमनसं रुन्धे तव व्यग्रता ॥" इति ॥१०१॥

स्पष्टं चाचष्ट,—"तदेवं बहुविधसंवादमाचर्य स भक्तवर्यस्तेषां प्रेमायनान्युपायनानि दर्शयामास ॥१०२॥

"तत्र तु— मात्रा भोज्यादि पित्राऽऽभरणमथ सुहृद्भिस्तु सद्वस्तु वन्यं
काभिश्चित्तारहारादिकमपरजनैरप्यनन्तं विसृष्टम् ।

किन्तु पहले हमारा यह निर्णय हुआ था कि, यह आपकी भक्ति जितनी व्यावहारिक मार्ग से रहित होगी, उतनी ही श्रेष्ठ होगी । किन्तु व्रज में जाकर तो मैंने यह देखा कि, व्रजवासियों की वह आपकी भक्ति तो आप में पुत्र मित्रादि भाव के कारण, प्रेम के उत्कर्ष से आपके सभी भक्तों को चकित करनेवाली होकर सर्वोपरि विराजमान है, अर्थात् आप व्रजवासियों के प्रेममय व्यवहार मार्ग में बँधे हुए हैं। इससे यह तात्पर्य निकला कि, आप से प्रेम का नाता मानना ही श्रेष्ठ भक्ति है ॥९८॥

कथावाचक इस प्रकार कहकर "आगे रात्रि में कहने योग्य प्रसंग है" यह जनाकर, उसके बाद उस वाक्यसमूह को अपने मन में विलीन कर गया, अर्थात् मन मन में कहने लगा— ॥९९॥

यथा—आप व्रजवासियों के अधीन हो, अतः उस व्रज में उन व्रजवासियों का आप में जो पुत्रभाव आदि का अभिमान है, वह आपके अन्य सभी भक्तों को जीतनेवाला है। यह बात भी आश्चर्यजनक नहीं है, क्योंकि उन गोपियों का उपपति भानरूप जो भाव प्रसिद्ध है, उसने तो उस पुत्रभाव आदि के अभिमान को भी जीत लिया है, अर्थात् गोपियों का भाव ही विचित्र है ॥१००॥

और जहाँपर मेरे देखने मात्र से आपकी प्रियतमा गोपियों के बीच एकजनी, अर्थात् श्रीराधिका का जो प्रलाप हुआ, एवं इधर मैंने तुम्हारे सन्देश को गोपियों के निकट जो अर्पित किया, उस सन्देश में विश्वास एवं अविश्वास के पश्चात् उन गोपियों का सर्वतोभाव से निद्रालु की तरह जो झूमना हुआ, हाय ! उस विषय को कहते कहते उग्र मनवाले मुझको तुम्हारी व्यग्रता रोक देती है ॥१०१॥

कथावाचक पुनः स्पष्ट बोला—इस प्रकार अनेक प्रकार का संवाद करने के बाद, भक्तवर्य श्रीउद्धव ने उन व्रजवासियों की प्रेम की स्थानस्वरूप अनेक भेंट श्रीकृष्ण को दिखा दीं ॥१०२॥

उन भेंट की वस्तुओं में भी माँ यशोदा ने खाने योग्य माखन मिश्री लड्डू आदि, पिता नन्दजी ने आभूषण, श्रीदामा आदि मित्रों ने वन में उत्पन्न होनेवाली नारंगी, सन्तरा, अनार, एवं गुञ्जामाला आदि

तत्तच्चिह्नेन कृष्णः परिचितमकरोत् किन्तु वाष्पाम्बुपाताद्
भीतस्तत्तद्विदूरार्पितनयनतया वस्तु तत्तद्ददर्श ॥"१०३॥

अत्र काभिश्चिदित्यत्र कान्ताभिरिति रात्रौ पठितव्यमिति मनसि विभाव्य कथकः कथयामास,—

"यानि चानकदुन्दुभ्यादिभ्यो यानि च भूभृते ।
व्रजेशप्रहितान्यासंस्तानि तत्रार्पयत् प्रभुः ॥१०४॥

"रोहिणीसङ्कर्षणाभ्यां तस्य तेन मेलनं तु पूर्ववदुन्नेयम् ॥१०५॥

"यत्र सहितव्रजमहीपतितन्महिलाप्रहितमहितद्रव्याणि सव्यामोहं विलोक्य प्रवणचित्ततया तावमू द्रवदन्तरावास्तामास्तां तावत्तत्तद्विशेषवार्ता" इति ॥१०६॥

अथ स्निग्धकण्ठः कथां समापयन्नाह स्म,—

"जाग्रद्व्यग्रतया सदा व्रजकृते यः प्रापयन्नुद्धवं
युष्मान् स्वस्थनिभांश्चकार भवतां सङ्गाय चान्यां कृतिम् ।
सोऽयं सम्प्रति गोष्ठदेव ! भवतः क्रोडे विराजत्तनुः
सर्वं मातृमुखं जनं प्रमदयन्नस्मान्मुदा सिञ्चति ॥"१०७॥

सुन्दर वस्तु, और कुछ प्रियतमा गोपियों ने मुक्ताहार आदि तथा दूसरे व्रजवासियों ने भी जो जो असीम वस्तुएँ भेजी थीं, श्रीकृष्ण ने उन उन वस्तुओं को उनके चिह्न से पहचान लिया ; किन्तु आँसू गिरने से भयभीत होकर, उन उन वस्तुओं से अपने नेत्रों को दूर लगाकर, वे वे वस्तुएँ देख लीं ॥१०३॥

इस श्लोक में 'काभिश्चित्' इस पद के स्थानपर 'कान्ताभिः' यह पाठ रात्रि में पढ़ने योग्य है, इस प्रकार मन में विचार कर कथावाचक बोला—श्रीव्रजराज के द्वारा भेजी गईं जो वस्तुएँ श्रीवसुदेव आदि के लिए थीं, एवं जो श्रीउग्रसेनजी महाराज के लिए थीं, श्रीकृष्ण ने वे वे वस्तुएँ उन उनके पास भेज दीं ॥१०४॥

श्रीरोहिणी एवं बलरामजी के साथ उद्धव का सम्मेलन तो श्रीकृष्ण के द्वारा पहले की तरह हुआ, यह जान लेना चाहिये ॥१०५॥

जिस मिलन में हितैषी श्रीव्रजराज के द्वारा, एवं उनकी धर्मपत्नी यशोदा के द्वारा, भेजे हुए श्रेष्ठ-द्रव्यों को अस्थिरतापूर्वक देखकर, आसक्तचित्त होने के कारण वे दोनों, अर्थात् रोहिणी एवं बलराम दोनों ही, द्रवित चित्तवाले हो गये थे, अतः उनकी विशेष बातें रहने दीजिये ॥१०६॥

अब स्निग्धकण्ठ कथा को समाप्त करता हुआ बोला—हे व्रजराज ! देखो, जिन श्रीकृष्ण ने व्रज के लिए सदैव जागती हुई व्यग्रता से उद्धव को भेजकर, आप सब व्रजवासियों को स्वस्थ के तुल्य कर दिया था, और आप सबके सङ्ग के लिए दूसरा स्फूर्तिरूप कार्य भी किया था, वे ही श्रीकृष्ण अब आपकी गोद में विराजमान शरीरवाले होकर, माता आदि सभीजनों को हर्षित करते हुए, हमको भी आनन्द से सींच रहे हैं ॥१०७॥

तदेवं सर्वानानन्द्य वन्द्यर्चितौ तौ वासमासन्नौ। रात्रावपि श्रीराधामाधवसदसि पूर्व-सूचनामयं सर्वमन्यदन्यदपि कथयामासतुः ॥१०८॥ "समापनं तु यथा—

"उद्धवमनु तव नाम, स्थाने प्रास्तौन्न शङ्कया दयितः।
तद्वृत्तादधुना त,-द्धृदि मुग्धा किं दधासि तां त्वमिह ? ॥१०९॥

"तदनन्तरमनन्त-रस-रभस-भरवशतया शतयागमणिसुवर्णवर्णयोरनयोरनयोरिव विलसितं विलसितमेव जातम्" इति ॥११०॥

इति श्रीश्रीमदुत्तरगोपालचम्पूमनूद्धवस्फुरदुद्धवं नाम द्वादशं पूरणम् ॥१२॥

पूर्णोऽयमुद्धवपूर्णव्रजनामा प्रथमो विलासः

अथ त्रयोदशं पूरणम्

जरासन्धबन्धनम्

श्रीकृष्ण ! कृष्णचैतन्य ! ससनातनरूपक ! ।
गोपाल ! रघुनाथाप्त-व्रजवल्लभ ! पाहि माम् ॥१॥

तदेवमुद्धवेन व्रजमनोरथं पूरयित्वा श्रीबलदेवेन तं पूरयितुमारभामहे ॥२॥

इस प्रकार अपनी कथा के द्वारा सभी व्रजवासियों को आनन्दित करके, वन्दीजनों के द्वारा पूजित हुए, दोनों कथावाचक अपने निवासस्थानपर पहुँच गये। पश्चात् रात्रि में भी श्रीराधा-माधव की सभा में पूर्व सूचनात्मक अन्यान्य सम्पूर्ण विषय को भी कहने लग गये ॥१०८॥

कथा की समाप्ति तो इस प्रकार है, यथा—हे राधिके ! तुम्हारे प्यारे श्यामसुन्दर ने विमुग्ध होने की शंका से उद्धव के प्रति तुम्हारा नाम प्रस्तुत नहीं किया था, यह उचित ही किया। अतः बीते हुए उस चरित्र से तुम अब इस गोलोक में भी मुग्ध होकर, उसी शंका को श्रीकृष्ण के हृदय में क्यों धारण कर रही हो ? यह उचित नहीं है ॥१०९॥

तदनन्तर अपरिमित रस के द्वारा हर्ष की अधिकता के वशीभूत होने के कारण, इन्द्रनीलमणि एवं सुवर्ण के से वर्णवाले, इन श्रीराधा-कृष्ण का विलास इन दोनों की तरह सुशोभित ही हो गया ॥११०॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रिविरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीमदुत्तरगोपालचम्पूकाव्ये उद्धवस्फुरदुद्धवं नाम
द्वादशं पूरणं सम्पूर्णम् ॥१२॥

पूर्णोऽयमुद्धवहर्षपूर्णव्रजनामा प्रथमो विलासः

तेरहवाँ पूरण

जरासन्ध का बन्धन

हे श्रीकृष्ण ! हे श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभो ! हे सनातन गोस्वामि सहित श्रीरूप गोस्वामिन् ! हे गोपालभट्ट गोस्वामिन् ! हे रघुनाथदास गोस्वामिन् ! हे आप्त व्रजवल्लभ ! मेरे जनक ! तुम सब मेरी रक्षा करो ॥१॥

इस प्रकार प्रथम विलास में उद्धव के द्वारा व्रज के मनोरथ को पूरा करके, अब श्रीबलदेवजी के द्वारा व्रज का मनोरथ पूरा करने के लिए, द्वितीय विलास आरम्भ करते हैं ॥२॥

तत्र शास्त्रप्रमाणेन कथयिष्यमाणेन पुनर्जीवनाभेन दन्तवक्रवधानन्तरश्रीकृष्णलाभेन पूर्णमनोरथव्रजे व्रजे सन्मानस-समुन्मादि-श्रीकृष्णजन्मादिकथनमयी सेयं चम्पूद्वयी मधुकण्ठ-स्निग्धकण्ठाभ्यां कथितेति पूर्वपूर्वं सूचितमेव सूचितम् । तत्रैव चावशिष्टं कथान्तरमिदं विशिष्टं प्रस्तूयते ॥३॥

अथान्येद्युः प्रातःकथायां लब्धतृष्ण-कृष्ण-पित्राद्युपकण्ठः सन् मधुकण्ठश्चिन्तयामास,—"सैरिन्ध्री-गृहगमनमनन्तरमनन्तलीलस्य तस्य कथनाय लब्धम्, तच्च व्रजादाव्रजितेनोद्धवेन तत्-सान्त्वनकथनया स्वस्थितचित्तस्य तस्य पूतनादिष्वपि नित्यनूतनायमानकृपया वित्तस्य नानुचितम् । तदेतच्च तस्य व्रजगमनसम्पत्-सम्पादनाय सदा समुत्सुकबुद्धीनामुद्धवादीनामपि सान्त्वनाय प्रतिपन्नम् ॥४॥

"तथा हि श्रीबादरायणिना कामनिर्बन्धितया सैरिन्ध्रयाः प्रीतिर्नीरन्ध्रतया न श्लाघिता; श्रीव्रजदेवीनामतिमात्रतापात्रप्रीतिस्तुतिस्तु तदादिभिरुपर्युपर्युच्चैरेव द्राघिता । ततस्तस्या अपि सोऽयमङ्गीकारः खलु सर्वसङ्गीतमहाभावानां तासां तदभावं सुतरां व्यङ्गीकरोति । तदपि तत्कथनमत्र सदसि तत्र च न प्रथनीयम्, उभयत्र लज्जासज्जनात्" इति । "तदेतन्मनसि विभाव्य स्पष्टमाचष्ट,—"तदेवमुद्धवः श्रीमद्व्रजवर्तिनः पिपर्ति स्म ॥५॥

उसमें भी श्रीमद्भागवत, हरिवंश, पद्मपुराण आदि शास्त्रों के प्रमाण के द्वारा, आगे कहे जानेवाले पुनर्जीवन के तुल्य, दन्तवक्र के वध के अनन्तर, श्रीकृष्ण के लाभ से पूर्ण हो गये हैं मनोरथसमूह जिसके, ऐसे व्रज में सज्जनों के मन को भली प्रकार उन्मत्त करनेवाली श्रीकृष्ण की जन्मादि कथा से परिपूर्ण, ये दोनों चम्पूग्रन्थ मधुकण्ठ एवं स्निग्धकण्ठ, इन दोनों भाइयों के द्वारा कहे गये हैं । इसलिए पहले पहले सुन्दर उचित बात ही सूचित कर दी । उसी चम्पूग्रन्थ में बची हुई यह जो दूसरी कथा है, उसको विशेष करके प्रस्तुत करते हैं ॥३॥

अनन्तर दूसरे दिन प्रातःकाल की कथा में, श्रवण की तृष्णा को प्राप्त हुए, श्रीकृष्ण के पिता आदिकों का निकटवर्ती होकर, मधुकण्ठ अपने मन में विचारने लगा कि—वर्णन की हुई लीलाओं के अनन्तर अनन्त लीलावाले श्रीकृष्ण का कुब्जा के घर जाना भी कहने के लिए प्राप्त हो गया है । और वह कुब्जा के घर जाना भी व्रज से लौटे हुए उद्धव के द्वारा, उस व्रज की सान्त्वना के कहने से स्वस्थचित्तवाले, एवं पूतना आदि अयोग्य व्यक्तियों के ऊपर भी नित्य नवीनता का आचरण करनेवाली कृपा से विख्यात, श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में अनुचित नहीं है । अतएव यह कुब्जा के घर जानारूप कार्य भी, श्रीकृष्ण के व्रजगमनरूप सम्पत्ति के सम्पादन करने के लिए सदा उत्सुक बुद्धिवाले, उद्धव आदिकों के भी सान्त्वना के लिए हो गया था ॥४

देखो, श्रीशुकदेवजी ने कुब्जा की प्रीति काम के आग्रह से युक्त होने के कारण, घनी प्रसंशित नहीं की । और श्रीव्रजदेवियों की अधिकता की पात्ररूप प्रीति की स्तुति तो, श्रीशुकदेव आदि महानुभावों ने सर्वोपरि अधिक ही बढ़ा दी । अतः यह कुब्जा का जो अङ्गीकार करना है, वह सभी के द्वारा, जिनका महाभाव गाया गया है, ऐसी उन गोपियों के अङ्गीकार के अभाव को विशेष दूर कर रहा है, अर्थात् उनके अङ्गीकार को ही पुष्टि कर रहा है । तात्पर्य—अयोग्य प्रीतिवाली कुब्जा को स्वीकार करनेवाले प्रभु समुचित विशुद्ध, अर्थात् कामगन्धशून्य प्रीति करनेवाली गोपियों को तो सहर्ष स्वीकार करेंगे । तो भी इस व्रजराज की सभा में एवं रात्रि की सभा में कुब्जा के प्रसङ्ग का कहना विस्तार करने योग्य नहीं है ।

"अथ तत्र मथुरां गते निरन्तरकृष्णवृत्तान्तश्रवणे चाभिमते परमादृत्या परिवृत्त्या द्वन्द्वीभूतौ सूतमागधवन्दिभूतौ दूतौ युक्तौ युक्तौ विज्ञाय श्रीव्रजराजेन नियुक्तौ। "यदुद्धवद्वारा श्रीमतः कृष्णस्य मिलनं रहः कर्तव्यम्, तत एवाकलय्य वृत्तं चानेतव्यम्। स ह्यन्तःसर्वज्ञ इत्यस्माभिर्विज्ञातमस्ति, सर्वसर्वज्ञसङ्घसङ्गतिश्च तस्मिन् सम्प्रत्यस्तीति ॥६॥

"तत्र प्रथमदूताभ्यां तावद्गत्वाऽऽगत्य च तत्रत्यं सर्वमनु मङ्गलस्थापनमक्रूरस्य च पाण्डवेषु प्रस्थापनं प्रस्तुतम्। सोऽयं स्वस्तिमुखश्च व्रजक्षितिपतेरभिमुखमानीतः ॥७॥ यथा—

'त्वल्लाल्यत्वातिलौल्याच्छिशुवयसि मया यस्य गोवर्धनाद्रेः
पूजा विख्यापितासीदथ स च कृपया तत्र साहाय्यमाप।
एष श्रीमान् सदा नः सुखकुलवलनः सर्वकेषां च तस्मा-
त्तात! स्वेनैव पूज्यः प्रतिसममपि मे यावदप्यागतिः स्यात् ॥'इति ॥८॥

"यदा तु द्वितीयदूतौ तत्र गतौ, तदा गतमात्रयोस्तयोः सङ्कलितानेकराजकटकप्रबन्धेन जरासन्धेन मथुरा धाटीभिर्विघटिताटीकृतेति झटित्यागमनं न बभूव ॥९॥

क्योंकि दोनों सभाओं में ही लज्जाकारक है। अतएव इतनी बात मन में विचार कर स्पष्ट बोला—पूर्वोक्त प्रकार से उद्धव ने श्रीकृष्ण के सन्देश के द्वारा, श्रीमान् व्रजवासियों की रक्षा कर दी ॥५॥

उसके बाद उद्धव के मथुरा चले जानेपर, एवं व्रजवासियों को निरन्तर श्रीकृष्णवृत्तान्त का सुनना ही अभिमत हो जानेपर, व्रजराज श्रीनन्द ने अपने पास विशेष आदरपूर्वक लौटने के कारण जोड़ीदार बने हुए, एवं सूत, मागध, वन्दीजन बने हुए, दो दो दूतों को युक्ति में युक्त जानकर श्रीकृष्ण का वृत्तान्त लाने को नियुक्त कर दिया। और उन दूतों को यह समझा दिया कि, तुम सब उद्धव के द्वारा एकान्त में ही श्रीकृष्ण का मिलन करना, और उद्धव से ही उनके वृत्तान्त को जानकर ले आना। क्योंकि वह उद्धव अपने अन्तःकरण में सर्वज्ञ है, यह बात हमने जान ली है। और इस समय उस उद्धव में सभी सर्वज्ञों के संघ की सङ्गति भी विद्यमान है ॥६॥

उन दूतों की जोड़ी में से पहले दोनों दूतों ने मथुरा जाकर, पुनः व्रज में आकर, वहाँ का सम्पूर्ण वृत्तान्त प्रस्तुत कर दिया, एवं मङ्गल स्थापन के अनन्तर, पाण्डवों के निकट अक्रूर का प्रस्थापन (भेजना) भी प्रस्तुत कर दिया। और यह पत्र भी व्रजराज के सम्मुख उपस्थित कर दिया ॥७॥

पत्र का वृत्तान्त, यथा—हे पूज्य पिताजी! देखो, आपके लालन पालन से अति चंचलता के कारण, बाल्यावस्था में मैंने जिस गोवर्धन पर्वत की पूजा विख्यापित की थी, पश्चात् वह गोवर्धन अपनी कृपा से इन्द्र के किये हुए उत्पात में सहायता को भी प्राप्त हो गया था। और यह श्रीमान् अर्थात् शोभायमान गोवर्धन, हमारे एवं सर्वसाधारण के सुखसमूह को बढ़ानेवाला है। अतः हे पिताजी! आप से मेरा यही निवेदन है कि, जबतक व्रज में मेरा आगमन न हो सके, तबतक प्रतिवर्ष स्वयं ही श्रीगोवर्धन की पूजा करते रहना, इति शम् ॥८॥

और जब दूसरे दोनों दूत मथुरा में गये, तब उन दोनों के जाते ही, अनेक राजाओं की सेना को एकत्रित करनेवाले जरासन्ध ने, मथुरापुरी छलपूर्वक आक्रमणों के द्वारा छिन्नभिन्न कर दी थी, एवं चारों ओर से घेर ली थी, इसलिए झटपट लौटकर आना न हुआ ॥९॥

"ततश्च लब्धतद्भूयव्रजे व्रजे दूरं गत्वा स्थिते चिन्तया दुःस्थिते च चिरादेव तावागतौ। आगतौ च तौ भयेनापृच्छत्सु विचिकित्सया स्वमुखमात्रं पश्यत्सु व्रजसुहृत्सु 'कुशलं कुशलं कुशलम्' इति वारत्रयमूचतुः। ततश्च तौ पुरस्कृत्य परिवृत्य सभृत्यबान्धवः श्रीव्रजपृथिवीधरः पप्रच्छ,—'कथयतं प्रथमं समासतः, पश्चात्तु व्यासतः, शृणवाम ॥'१०॥

"दूतावूचतुः,—'भवत्पुत्राभ्यां निहतसर्वसैन्यः संहृतदैन्यः प्राप्तबन्धः स जरासन्धः सुष्ठु घृणया त्यक्तस्त्रपाभिरव्यक्तः स्वगृहमेव वव्राज ॥'११॥

"ततश्च व्रजवासिनां 'हरिं वद, हरिं वद' इति बहलकोलाहल-जाते जाते व्रजराजः सपुलकास्रमाललाप,—'अनवशेषतः कथ्यतां विशेषः ॥'१२॥

"दूतावूचतुः,—'अस्तिप्राप्तिनाम्नी जरासुत-सुताद्वयी किल कंसस्य भार्यावर्यासीत्; सा सम्प्रति पतिपातप्रतप्ता वप्तारमवाप्ता ॥'१३॥

"व्रजराज उवाच,—'कथं कथं ते गते, यत्र विश्वस्ते अपि न विश्वस्ते जाते ?'१४॥

"दूतौ विहस्य वर्णयामासतुः,—

'एकैकम्लानवस्त्रा स्खलितकचकुचा म्लानवक्त्रातिजीर्ण-
प्रावारास्तीर्णयाना निर्ऋतिरिव निरैत् पत्तनान्तान्मधूनाम्।
हासं हासं सकाशं प्रतिगतपथिकैः पृष्टदृष्टातिधृष्टैः
कंसस्याकीर्तितुल्या पितृसदनमगात् प्राप्तिरस्तिश्च तर्हि ॥'१५॥

उसके बाद उन दूतों के न आने से भय के समूह को प्राप्त हुआ समस्त व्रज, जब दूर जाकर स्थित हो गया, एवं चिन्ता से जब व्याकुल हो उठा, तब बहुत विलम्ब से वे दोनों दूत आये। और आये हुए उन दोनों दूतों ने भय से पूछनेवाले, सन्देह के कारण अपने, अर्थात् दूतों के मुखमात्र को देखनेवाले, व्रज के हितैषियों के निकट "कुशल है, कुशल है, कुशल है" इस प्रकार तीनबार कह दिया। पश्चात् व्रजभूपति श्रीनन्द ने अपने भृत्य बान्धवों के सहित उन दोनों दूतों का सत्कार करके, एवं उनको घेरकर उनसे पूछा कि, तुम दोनों पहले संक्षेप से कहो, पीछे विस्तार से कहना, हम सब सुन रहे हैं ॥१०॥

दोनों दूत बोले—आपके दोनों पुत्रों के द्वारा जिसकी सारी सेना मारी गई, पश्चात् जो दीनता को प्राप्त हुआ एवं बन्धन को प्राप्त हुआ, तथा अत्यन्त कृपा के द्वारा छोड़ा हुआ जो जरासन्ध है, वह विशेष लज्जा के कारण, छिपकर अपने घर को ही चला गया ॥११॥

उसके बाद व्रजवासियों के "हरि बोल! हरि बोल!" इस प्रकार अधिक कोलाहलसमूह के हो जानेपर, श्रीव्रजराज रोमाञ्चित हो आँसू बहाते हुए बोले—सम्पूर्णरूप से विशेष बात कह दो ॥१२॥

दोनों दूत बोले—अस्ति एवं प्राप्ति नामक जरासन्ध की दो पुत्री, कंस की श्रेष्ठ भार्या थीं। जरासन्ध की वे दोनों पुत्री पति के विनाश से सन्तप्त होकर, इस समय अपने पिता के पास चली गईं ॥१३॥

श्रीव्रजराज बोले—वे दोनों किस किस प्रकार चली गईं ? जिसमें विधवा होकर भी, वे दोनों यदुवंशियों की विश्वासपात्र न हुईं ॥१४॥

दूत हँसकर वर्णन करने लगे—एक एक मलिन वस्त्रवाली, बिखरे हुए केश एवं कुचोंवाली, मलिन मुखवाली, एवं अत्यन्त जीर्ण उत्तरीयवस्त्र से ढके हुए रथवाली, अस्ति और प्राप्ति, नरक की अशोभा की

"व्रजराज उवाच,—'भवतु नाम जालिके ते कालिके इव कुपिते पितरं गत्वा किं विलपतः स्म ?'१६।।

"दूतावूचतुः,—'स्वं छत्रभङ्गमेव प्रसङ्गसङ्गतं चक्रतुः। तच्च श्रीरामकञ्जलोचनयोरसमञ्जसताव्यञ्जनया ।।'१७।।

"व्रजराज उवाच,—'कथमिव' "दूतावूचतुः,—'तदित्थं हि ते निजगदतुः। कौतुकं निर्मात्रा भवज्जामात्रा तावानीतौ। तौ तु रङ्गकारमारणमसङ्गरधनुर्भङ्गं राजद्वारसनीडक्रीडत्कुवलयापीडपीडनमपि प्रथमं प्रथयामासतुः। 'तथापि मल्लप्रतिमल्लतया स्वमल्लपाल्या तयोर्मल्ललीलाकुतूहलं पश्यन् स भोजराजश्चिराद् विराजते स्म। 'तौ तु तत्राऽविहितं तद्वधं विहितवन्तौ। तदप्यास्तामसावधानं राजानमपि हतवन्तौ। अहो बत ! दग्धवक्त्रेण किं व्यक्तीकरवाम ? तदनन्तरमपि केशाकर्षणपूर्वं यत्तस्य कर्षणम्' इति ।।१८।।

"व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः ?' "तावूचतु,—'तत्पिता पुनरक्षमया क्षमां यादवसङ्गाक्षमां विधातुं यमवदुद्यमं विधाय स्वजयरक्षोहिनीभिरक्षौहिणीभिस्त्रयोविंशतिसंख्यालक्षिताभिः परितो रक्षिताभिर्मधुरिमधुरां मधुरामावृतवान्। किं बहुना ? यत्र भीष्मपाण्डवान्

तरह, मथुरापुरी से निकल पड़ी। उस समय अत्यन्त धृष्ट एवं चारों ओर से आने जानेवाले पथिकों के द्वारा निकट में ही हँस हँसकर पहले पूछी गई, पश्चात् देखी गई, अस्ति और प्राप्ति, कंस की अकीर्ति के तुल्य पिता के घर को चली गई ।।१५।।

श्रीव्रजराज बोले—अच्छा, जो हो। वे दोनों जालिके, अर्थात् विधवाएँ, कालिका की तरह कुपित होकर, पिता के पास जाकर, क्या विलाप करने लगीं ? ।।१६।।

दोनों दूत बोले—उन दोनों बहिनों ने अपने छत्रभङ्ग को ही, अर्थात् विधवापन को ही प्रसङ्ग से सङ्गत कर दिया। वह भी श्रीराम-कृष्ण की असमञ्जसता (अड़चन) को प्रकाशित करके ।।१७।।

श्रीव्रजराज बोले—किस प्रकार ? दोनों दूत बोले—उन दोनों बहिनों ने इस प्रकार कहा कि—देखो, पिताजी ! कौतुक का निर्माण करनेवाले तुम्हारे जमाई (कंस) ने कृष्ण-बलदेव को बुलवा लिया। उन दोनों भ्राताओं ने (मथुरा में आते ही) पहले धोबी का मारना, बिना युद्ध के धनुष् का तोड़ना, एवं राजद्वार के पास क्रीडा करते हुए कुवलयापीड़ नामक हाथी का मारना भी विस्तारित कर दिया। तथापि सभी मल्लों के प्रतिमल्ल होने के नाते, अपने मल्लों की श्रेणी के साथ कृष्ण-बलदेव की मल्ललीला के कौतुक को देखता हुआ, वह हमारा पति भोजराज कंस, बहुत देरतक शोभा पाता रहा। उन दोनों भ्राताओं ने उस रङ्गभूमि में "विधान न होनेपर भी" चाणूर आदि मल्लों का वध कर दिया। इस बात को भी रहने दीजिये। देखो, असावधान राजा को भी मार दिया। हाय ! हाय ! इस जले हुए मुख से और कौन सी बात व्यक्त करें ? देखो, मरने के बाद भी केशाकर्षणपूर्वक राजा (कंस) का रङ्गभूमि में घसीटना भी हो गया ।।१८।।

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—अस्ति प्राप्ति के पिता जरासन्ध ने, पुनः क्रोध से पृथ्वी को यदुवंशियों के सङ्ग से रहित करने के लिए यमराज का सा उद्योग करके, अपनी विजय की रक्षापर विचार करनेवालीं, तेईस की संख्या से युक्त, चारों ओर से सुरक्षित अक्षौहिणी सेनाओं के द्वारा, माधुर्य में श्रेष्ठ मथुरा को चारों ओर से घेर लिया। अधिक कहने से क्या ? देखो, जिस मथुरा

विना हिमवद्विन्ध्यसन्ध्यन्तविराजमानान्यन्यदेश्यानि च राजकानि राजन्यकानि च निज-लोहाभिहारकर्मण्याजहारः ॥१६॥

"व्रजराजः सभयमुवाच,—'ततस्ततः ?' "तावूचतुः—'ततश्च सर्वे यादवाः सभयतया दवाकुला इव तं भवत्कुलतपस्याफलावश्यायदीधितिमेव व्यग्रतयाऽग्रीयमाचरितवन्तः ॥'२०॥

"व्रजराज उवाच,—'हा ! धिग् दुष्ठु तैरनुष्ठितम् ।' "तावूचतुः,—'श्रूयतामनुवृत्तं वृत्तम् ।' 'ततश्च तावतीमपि परसेनां तृणाय मन्यमानः स भवद्वंशधरश्चेतसि शशंस,—हन्त ! मया यदभ्यर्थितम्, तदेव दैवसमर्थितं बभूव ! यतस्त एते सर्व एवाऽशिष्टा मया शिष्टाः कर्तुमिष्टाः सन्ति । कुत्र कुत्र वा त एते क्रव्यादा विचेतव्याः ? 'ततः समुदितीभूतानमूंस्तामस-स्तोमान् समुदितीभूय हरिरहं संहरिष्यामि, किन्तु जरासन्धं विना ॥२१॥ यतः,—

'मुहुरपि कुचरांश्चेता, नादौ घात्यो जरासन्धः ।
काकानन्यान् हन्तुं, रवणः काको हि पाल्येत ॥२२॥

'तदेतन्मतं रामेण च सम्मतमातत्य गत्यन्तरमभीप्सन्नकस्मादरि-दर-चाप-गदा-पद्म-सद्म-नीडं विक्रीडद्धय-चतुष्टयजुष्टं गुरुगरुत्मद्ध्वज-शोभापुष्टं सारथिप्रथितव्योमपथं रथमव-

---

में भीष्म एवं पाण्डवों के बिना, हिमालय एवं विन्ध्याचल की सन्धि के भीतर विराजमान, और अन्य देशों के राजसमूहों को तथा क्षत्रियसमूहों को, जरासन्ध ने अपने लोहाभिहार कर्म के निमित्त, अर्थात् लड़ाई के लिए तैयार शस्त्रधारियों या राजाओं की आरती, या आरती के बादवाले कृत्यविशेष, या युद्ध के पहले की जानेवाली हथियारों की पूजारूप कार्य में, एकत्रित कर लिया था ॥१६॥

श्रीव्रजराज भयपूर्वक बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उसके बाद सभी यादवों ने भयभीत होकर, दावानल से व्याकुल जनों की तरह व्यग्र होकर, आपके कुल की तपस्या के फलस्वरूप चन्द्रस्वरूप श्रीकृष्णचन्द्र को ही अग्रसर (अगाड़ी) कर दिया ॥२०॥

श्रीव्रजराज बोले—हाय ! धिक्कार है, उन यादवों ने बहुत बुरा किया । दूत बोले—अच्छा, आगे होनेवाले वृत्तान्त को सुनिये । उसके बाद उतनी भारी पराई सेना को भी तृण के समान मानते हुए, आपके वंशधर श्रीकृष्ण अपने मन में कहने लगे—बड़े हर्ष की बात है कि, मैंने जो चाहा था, वही दैव से अनुमोदित हो गया । क्योंकि बचे हुए ये सभी दुष्ट मेरे द्वारा दण्डित करने को इच्छित हैं । और ये सब राक्षस कहाँ कहाँ ढूँढ़े जायँ ? इसलिए एकत्रित हुए तमोगुण के समूहरूप इन राक्षसों को मैं हरिः, अर्थात् सूर्यरूप होकर नष्ट कर डालूँगा । किन्तु जरासन्ध को छोड़कर ॥२१॥

क्योंकि मैं बुरी चेष्टावालों को बारबार इकट्ठा करनेवाला हूँ । अतः पहले जरासन्ध मारने योग्य नहीं है । यह बात प्रसिद्ध है कि, दूसरे कौआओं को मारने के लिए, चिल्लानेवाला कौआ रखाया जाता है । तात्पर्य—चिल्लानेवाला कौआ जैसे सब कौआओं को इकट्ठा कर देता है, उनको मारनेवाला एकसाथ मार देता है, उसी प्रकार जरासन्ध भी अकेला ही सब दुष्टों को मथुरा में एकत्रित कर देगा, मैं अनायास मार डालूँगा । अतः जरासन्ध नहीं मारना है ॥२२॥

पश्चात् श्रीकृष्ण ने अपने इस विचार को श्रीबलरामजी से अनुमोदित कराकर, युद्ध के योग्य दूसरे उपाय की इच्छा करते करते चक्र, शङ्ख, धनुष्, गदा, एवं कमल आदि का गृहरूप, तथा खेलते हुए चार घोड़ाओं से युक्त, एवं विशाल गरुड की ध्वजा से पुष्ट, और सारथि के द्वारा जिसका आकाशमार्ग विस्तारित

तरन्तमद्राक्षीत् । रामश्च हलमुषलवलित-तालध्वजकलिततया तद्विलक्षणलक्षणमन्यं तमवलोकितवान् ।।'२३।।

"सर्वे साश्चर्यमूचुः,—'ततस्ततः ?' "व्रजराजस्त्विदमुवाच,—'तस्य बाल्यादेवेदमाकल्यते, यन्नारायणः साहायकमाचरतीति । भद्रं कथयतमग्रिमं वृत्तम् ।' "तावूचतुः,—'अथ युद्धमुद्बुद्धमिति विबुध्य युध्यमानतामनुरुध्य कवचेनाङ्गमारुध्य कतिपयसवयोभिः सह द्वावपि दुर्गादभ्यमित्रीयतया चित्रीयमाणौ निष्क्रान्तौ, उदयभूभृदन्तात् पुष्पवन्ताविव, शङ्खं धमन्तौ च तौ वर्षावर्षान्त-तडित्वन्ताविव ददृशाते । तच्छब्दस्तु सुहृदां स्तनितमिव दुर्हृदां स्फूर्जथुरिव स्फुरति स्म, पुनरन्यदप्याश्चर्यं श्रवसोराचर्यताम्—।।२४।।

'तावतिकोमल-बाला,-वरयस्ते स्फुटकरालभाः सत्यम् ।
भीतभयानक-भाव,-क्रमलब्धिरत्रत्र विनिमयं प्राप ।।२५।।
वीक्ष्याऽजितमथ स जरा,-सन्धः समधाद्भयं यत्तु ।
तदनादरतासञ्जन,-मनयद् व्याजान्निजाय गर्वाय ।।२६।।
तं परिहृत्य तु रामं, योद्धुं यदसावुरीचक्रे ।
वैष्णवमिह तत्त्यक्त्वा, रौद्रं ज्वरमिव समाददे कुमतिः ।।'२७।।

किया है, ऐसे रथ को अकस्मात् (अचानक) उतरते देखा। और श्रीबलरामजी ने हल मूसल के सहित, ताल (ताड़) की ध्वजा से युक्त होने के कारण, श्रीकृष्ण के रथ से विलक्षण लक्षणोंवाले दूसरे रथ को देखा ।।२३।।

सभी श्रोता आश्चर्यपूर्वक बोले—उसके बाद, उसके बाद ? श्रीव्रजराज तो यह बोले कि—श्रीकृष्ण के बालकपन से ही यह व्यवहार देखा जाता है कि, श्रीनारायण भगवान् ही उसकी सहायता करते रहते हैं। अच्छा, अगले वृत्तान्त को कहो। वे दोनों दूत बोले—उसके बाद युद्ध आरम्भ हो गया, यह जानकर, युद्ध करनेवालों के भाव की कामना करके, कवच से अङ्ग को ढककर, समान अवस्थावाले कुछ साथियों के साथ, दोनों भाई शत्रु के सम्मुख जानेवाले के भाव से "उदयपर्वत के प्रान्त से सूर्य चन्द्रमा की तरह" आश्चर्य करते हुए मथुरा के किले से निकल पड़े। उस समय शंख बजाते हुए दोनों भाई, वर्षा एवं वर्षान्त, अर्थात् शरदृऋतु के मेघों की तरह, क्रमशः श्याम एवं गौर दिखाई देते थे। उनके शंखों का शब्द तो मित्रों के लिए मेघ की गर्जना की तरह, एवं शत्रुओं को वज्र की ध्वनि की तरह प्रतीत होता था। और एक दूसरा आश्चर्य भी कर्णगोचर कीजिये ।।२४।।

वे कृष्ण-बलदेव अत्यन्त कोमल बालक हैं, एवं वे जरासन्ध आदि शत्रुगण स्पष्ट ही विकराल कान्तिवाले थे, यह बात सत्य है। किन्तु इस युद्ध में डरे हुए एवं डरानेवाले के भाव की रीति की प्राप्ति तो विपरीतता को प्राप्त हो गई थी। अर्थात् कृष्ण बलदेव अतिकोमल बालक होनेपर भी, बैरियों के लिए भयानक प्रतीत होते थे, एवं शत्रुगण भयानक होकर भी भयभीत दिखाई देते थे ।।२५।।

उसके बाद श्रीकृष्ण को देखकर उस जरासन्ध ने जो भय धारण किया था, वह तो कपट से अपने गर्व के लिए अनादर के रूप में प्रकाशित कर दिया ।।२६।।

और उस कुमति जरासन्ध ने श्रीकृष्ण को छोड़कर श्रीबलराम को जो युद्ध के लिए स्वीकार किया

"अथ दरमय-तदनादरवचनरचनतः कृष्णस्तु भासमानहासमाह स्म, (भा० १०।५०।२०)—

'न वै शूरा विकत्थन्ते दर्शयन्त्येव पौरुषम् ।
न गृह्णीमो वचो राजन्नातुरस्य मुमूर्षतः ॥' इति ॥२८॥

'अत्र युक्तमिदमुक्तं भवति,—शूराः खलु न विकत्थन्ते । विकत्थनरूपवचनबलं हि देहबलं पश्चाद्वृत्तं विधाय प्रवृत्तमभूदिति तस्मिन्न्यूनतां स्वयमेव नूनं व्यञ्जयतीति स्थिते तस्य दूरतया प्रवृत्तिः समरजुषः पुरुषस्य शूरतां न व्यनक्ति, किन्तु मुमूर्षुतामेव । ततो महाराजस्यापि तवातुरस्येव तादृशत्वं युक्तमेव; किन्तु सम्प्रति वयं तवाव्यवस्थितविचारतया मुमूर्षोर्वचनं न गृह्णीमः' इति ॥२९॥

"व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः ?' "तावूचतुः,—'ततो यादृशं भवत्कुलनन्दनेन निन्दितस्तादृशं स एव स्वमनु व्यक्तीचकार । यतो रामेण समं स्वयमेव समरे समयं कृतवान् । कृतवांस्तु त्रयोविंशत्यक्षौहिणीप्रयोजनया तयोर्द्वयोरप्यावरणम्' इति ॥३०॥

"व्रजराजः सभयमुवाच,—'ततस्ततः ?' "तावूचतुः,—'तत्तु सर्वमहिमगभस्तौ हिमकुज्झटिकास्तोमवत्तयोर्महिमन्यस्तशक्तितामवाप; न पुनरभ्यस्तताम् । यस्मादसौ हरिः

था, वह स्वीकार करना तो अपनी रक्षा के विषय में वैष्णवज्वर को त्यागकर, जल्दी मारनेवाले रौद्रज्वर (भा० १०।६३ अध्याय) की तरह स्वीकार कर लिया ॥२७॥

उसके बाद भयमय जरासन्ध के अनादरयुक्त वचनों की रचना से, श्रीकृष्ण तो चमकीले हास्यपूर्वक बोले—हे राजन् ! जरासन्ध ! देखो, शूरवीर अपनी प्रशंसा नहीं किया करते हैं, किन्तु पुरुषार्थ ही दिखाते हैं । अतः जमाई के शोक से आतुर एवं मरने की इच्छावाले तुम्हारे अनादर के वचनों को हम ग्रहण नहीं करते हैं ॥२८॥

इस श्लोक में नीतियुक्त तो यही कहा गया है कि, जो शूरवीर होते हैं, वे निश्चय ही आत्मश्लाघा नहीं करते हैं । क्योंकि आत्मश्लाघारूप वचनों का बल तो, देहबल को पीछे की ओर हटाकर प्रवृत्त हुआ है । इसलिए उस देहबल में न्यूनता को स्वयं ही निश्चितरूप से प्रकाशित करता है । ऐसी स्थिति में उस देहबल की दूररूप से जो प्रवृत्ति है, वह समरसेवी पुरुष की शूरता को प्रकाशित नहीं करती, किन्तु मरने की इच्छा को ही प्रगट करती है । अतः महाराज होकर भी रोगी की तरह तुम्हारा आत्मश्लाघारूप भाव उचित ही है । किन्तु अब हम अस्थिर विचार होने के कारण, मरने की इच्छावाले तुम्हारे वचन को ग्रहण नहीं करते हैं ॥२९॥

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद क्या हुआ ? दूत बोले—उसके बाद आपके कुलनन्दन श्रीकृष्ण ने, जरासन्ध की जैसी निन्दा की उसने अपने लक्ष्य करके वैसा ही प्रगटकर दिखाया । कारण उसने बलरामजी के साथ स्वयं ही युद्ध में प्रतिज्ञा कर ली । और तेईस अक्षौहिणी सेना की प्रेरणा से चारों ओर से उन दोनों भाइयों का घेरा भी लगा लिया ॥३०॥

श्रीव्रजराज भयपूर्वक बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उन शत्रुओं का वह सब उद्योग तो सूर्य के निकट कुहरे के समूह की तरह, श्रीकृष्ण-बलदेव की महिमा में शक्ति से रहित हो गया, किन्तु कृतकार्य के भाव को न प्राप्त हुआ, अर्थात् कुछ भी न कर सका । कारण इन श्रीकृष्णरूप सूर्य एवं

शस्त्रान्धकारबन्धाय छिदुरतां यच्छन्नरिकरीन्द्रवृन्दाय च भिदुरतामयच्छत् । परन्तु धूल्यादि-पुञ्जपिञ्जलताविलतया विदुरताविधुरा विदूरधामपुरवाम-नयनादय एव चिरं पक्षिराजतृण-राजचिह्नविराजमानमह्नाय रथयुगलमनवकलयन्तः समं मुहुः संमुमुहुः ॥३१॥

'पुनश्च— हरिः परानीकपयोमुचां मुहुः, पश्यन् शरासारमुपस्वसैनिकम् ।
रङ्गान्तराच्छार्ङ्गधनुर्विकर्षण,-क्रेङ्कारझञ्झापवनैरुदक्षिपत् ॥३२॥
संवर्मिताङ्गत्वमभूद् वृथा द्वयो,-श्चम्वोस्तथाप्यस्ति पृथग्निमित्तता ।
द्विट्सूच्छिदानामनिवार्यताभवत्, कार्ष्णेषु दूरादिषुभिर्निवार्यता ॥३३॥
विमर्दयन् कण्टकानामग्रकण्टकसंहतिम् ।
स्वस्य तत्कण्ठगां कुर्वन्नासीत् कण्टकवान् हरिः ॥३४॥
तूणादुत्कलयन् दधद्धनुरनु प्रास्यन् मुहुर्मार्गणान्
कोटिन्यर्वुदपद्मधाऽभवदसावेवं तदाऽतर्क्यत ।
एतद्युद्धमवाप्य तेऽपि रिपवो निर्भिन्ननानाङ्गतां
यातास्तन्मितिमापुरित्थमपि तत्स्पर्धेव तत्रैक्ष्यत ॥३५॥

सिंह ने क्रमशः शस्त्ररूपी अन्धकार के बन्धन को स्वयं छेदकता देते हुए, अर्थात् स्वयं काटते हुए, शत्रुरूप हाथियों के समूह को स्वयं छिन्नभिन्न कर दिया। परन्तु धूलि आदि पदार्थों के समूह के द्वारा अत्यन्त व्याकुलता से अप्रसन्न होकर जानकारी से रहित, एवं बहुत दूर है घर जिनके, ऐसी मथुरापुरवासिनी स्त्री आदि ही बहुत देरतक, गरुड एवं ताल के चिह्न से शोभायमान दोनों रथों को, जल्दी से न देखती हुई, एकसाथ बारंबार अचेत हो जाती थीं ॥३१॥

पुनः श्रीकृष्ण ने अपने सैनिकों के निकट शत्रुओं की सेनारूप मेघों के शस्त्ररूप धारा संपात को, बारंबार होते देखकर, युद्धरूप रङ्गभूमि में स्थित होकर, अपने शार्ङ्ग धनुष् के खींचने से उत्पन्न हुए क्रेङ्काररूप झञ्झाबातों के द्वारा, अर्थात् वर्षा के सहित होनेवाली पवनों के द्वारा दूर फेंक दिया ॥३२॥

उस समय दोनों पक्ष की सेनाओं के, अर्थात् सैनिकों के अङ्ग कवच से ढके हुए थे। किन्तु वह कवचों से ढकनापन व्यर्थ हो गया था। तो भी दोनों सेनाओं का अलग अलग निमित्त का भाव था। यथा—श्रीकृष्ण के शत्रुओं में बाणों के द्वारा छेदने का निवारण न हुआ, एवं कृष्ण के सैनिकों में बाणों के द्वारा दूर से ही बाणों का निवारण हो जाता था। तात्पर्य—जरासन्ध के सैनिकों का कवच धारण करना तो कृष्णपक्षीय सैनिकों के द्वारा कट जाने से व्यर्थ था, एवं श्रीकृष्ण के सैनिकों का कवच धारण करना अपने बाणों से दूर से ही शत्रुओं के बाण काट देने के कारण व्यर्थ था ॥३३॥

उस समय श्रीकृष्ण अपने क्षुद्र बैरियों के बाणसमूह को (अपने बाणों से) तोड़ते हुए अपने बाणों के समूह को बैरियों के कण्ठ की ओर जानेवाले करते हुए पुलकित हो गये ॥३४॥

और उस समय श्रीकृष्ण अपने तूणीर से बारंबार बाणों को निकाल कर धारण करते हुए, एवं धनुष् के ऊपर चढ़ाते हुए, "करोड़, दश करोड़, एवं पद्म संख्या के प्रकार से हो गये हैं" इस प्रकार तर्कित किये जाते थे। और इस युद्ध को पाकर वे सब शत्रु भी छिन्नभिन्न होने से अनेक अङ्गोंवाले होकर, श्रीकृष्ण के परिमाण को प्राप्त हो गये थे। अर्थात् श्रीकृष्ण के बाणों से कटे हुए शत्रु भी शरीर के अनेक टुकड़े हो जाने से श्रीकृष्ण की तरह करोड़, दश करोड़, पद्म की संख्यावाले हो गये थे। वहाँपर इस प्रकार का दृश्य

हरिर्मेघश्चापं त्रिदशपतिचापं शरतति-
र्महाविद्युद् यस्मिन् भवति न हि तत्राद्भुतमिदम् ।
द्विषां रक्तस्रावाः सरिदुपचया मानवहय-
द्विपाद्या मत्स्यानां विविधतनुरूपा यदभवन् ॥३६॥
दृष्ट्वा रामकरे हलं मुषलकं चाऽरातिसैन्यं पुरा
ग्राम्यः सोऽयमिति प्रहासवलितं व्यादात्तु यद्वन्मुखम् ।
आयत्यामपि तद्वदाकृतितया तस्थौ परं द्राग् यतः
स्वस्मिन्नर्दनमाससाद बलवत्ताभ्यामकस्मान्मुहुः ॥३७॥
त्रयोविंशत्यक्षौहिणि परि परं पङ्कजदृशा
युदारब्धेत्येव द्रुतमथ जितेत्येव च वचः ।
समन्ताद् व्याप्तं तर्ह्य परमिह किञ्चिन्न हि यतः
क्रियाशक्तिस्तस्य स्फुरति तदतिक्रम्य पुरतः ॥३८॥
कृष्णबाणमृता ये वा ये वा स्वमुषलाहताः ।
हलेनाऽऽकृष्य रामस्तानसृग्नद्यामवाहयत् ॥३९॥

'अथ तस्माज्जातबहुनृशंसवीरध्वंसनाद्वीराशंसनाद्वाहितेषु तेषु महारथमपि विरथमुपद्रवकारिणमप्यपद्रवाय कृतानुसन्धं जरासन्धमनुद्रवन् प्राणमात्रमवशिष्टकटकं गृहीत्वा शीघ्र-

---

भी मानो श्रीकृष्ण की स्पर्धा से ही दिखाई देता था। अर्थात् मानो श्रीकृष्ण से डाह करके बैरीगण कट कट कर भी उनकी सी संख्यावाले दिखाई देते थे ॥३५॥

जिस युद्ध में श्रीकृष्ण ही मेघ, उनका धनुष् ही इन्द्रधनुष्, एवं उनके बाणसमूह ही महाबिजली हो गये थे, उस युद्ध में यह आश्चर्य नहीं है, जो कि बैरियों के रुधिर के प्रवाह ही नदियों के समूह, एवं मनुष्य, घोड़ा, हाथी आदि ही मछलियों के अनेक प्रकार के शरीररूप हो गये थे ॥३६॥

शत्रुओं की सेना ने पहले पहल बलरामजी के हाथ में हल मूसल को देखकर "यह तो कोई ग्रामीण-जन है, शूरवीर नहीं है" इस प्रकार कहकर महान् हँसी से युक्त अपने मुख को जिस प्रकार फैलाया था, पीछे भी वह सेना केवल उसी तरह मुख फाड़ कर खड़ी रही। क्योंकि वह सेना उन दोनों हल मूसलों के द्वारा अपने में अचानक बारंबार महती पीडा को प्राप्त हो रही थी ॥३७॥

और उस समय "कमलनयन श्रीकृष्ण ने तेईस अक्षौहिणी सेना को लक्ष्य करके लड़ाई आरम्भ कर दी" इस प्रकार, एवं "उसके बाद लड़ाई शीघ्र ही जीत भी ली" केवल इस प्रकार के वचन ही चारों ओर फैल गये थे। क्योंकि इस विजय में और कुछ भी नहीं बचा था। कारण श्रीकृष्ण की शत्रुनाशिनी क्रिया-शक्ति पूर्वोक्त वचन को लाँघकर आगे आगे ही स्फूर्ति पाती रहती थी ॥३८॥

उस समय जो व्यक्ति श्रीकृष्ण के बाणों से मर गये थे, अथवा जो अपने मूसल से मर गये थे, श्रीबलरामजी ने उन सबको हल से खींचकर रुधिर की नदी में बहा दिया ॥३९॥

उसके बाद हो गया है बहुत से क्रूर वीरों का विनाश जिसमें, ऐसे उस वीराशंसन से, अर्थात् अत्यन्त भयप्रद युद्धभूमि से उन वीरों के बहा देनेपर महारथी होकर भी विरथ हुए, एवं उपद्रव करनेवाला

मंहमानं सिंह इव ग्रामसिंहं जग्राह; गृहीत्वा च तमाघातमेवानिनाय; आनीय च तं बलहानाय वरुणपाशेन तावद्बबन्ध ॥४०॥

'तदनन्तरमपमानाय मानुषपाशेन च वध्यमानं बालवृद्धावध्यखिललोकेषु दत्तावलोकेषु कृष्णः पुनस्तत्सम्बन्ध्यमानामानदुर्मानि-मानव-नाशनाशया विपाशयामास। 'विपाशितोऽपि पाशित इव शंकुचितग्रीवादिरपसरंस्तपसः कृते कृतेहः परिम्लानदेहः क्वचिन्निर्जनपथे निर्यन् निर्हेतिविरथः स बार्हद्रथः केनचित्तत्कटकखटहारिणा परिचितमूर्तिः सप्रणामं कृतस्नेहपूर्तिश्च जिह्रेति स्म ॥४१॥

ततः परं तत्परम्परया निशम्य सर्वैरपि सकृपैस्तदीयनृपैर्यत्रकुत्रापगमात् कृत-समागमस्तपःप्रतिगमनादपगमयामासे ॥४२॥ ऊचे च—

अल्पकैर्यदुभिरल्पमहोभि,-र्निर्जिता वयमहो यदनल्पाः।
दिष्टदिष्टमथ विद्धि बलिष्ठं, मन्महे यदनुजन्म महिष्ठम् ॥४३॥
त्वं नृपस्तरुणमूर्तिरितीत्थं, वन्यमस्ति न तपस्तव योग्यम्।
किन्तु तन्निखिलपालनरूपं, दुःखजं वन-तपस्त्वभितो धिक् ॥'४४॥

होकर भी भागने का अनुसन्धान करते हुए, तथा प्राणमात्र बची हुई सेना को लेकर शीघ्र ही जाते हुए जरासन्ध को श्रीबलरामजी ने उस प्रकार पकड़ लिया कि, सिंह जिस प्रकार कुत्ते को पकड़ लेता है। और पकड़ते ही उसको वधस्थानपर ही ले आये, तथा लाकर भी उसके बल को नष्ट करने के लिए उसको वरुणपाश से बाँध लिया ॥४०॥

तदनन्तर बलदेवजी के द्वारा अपमान करने के लिए मानुषपाश से बँधे हुए जरासन्ध को, श्रीकृष्ण ने आबालवृद्ध सभी लोगों के देखते देखते, जरासन्ध से सम्बन्ध रखनेवाले अपरिमित एवं दुष्ट अभिमानवाले मनुष्यों के नाश की आशा से, पाश से विमुक्त कर दिया। पश्चात् पाशरहित होकर भी पाशयुक्त व्यक्ति की भाँति संकुचित ग्रीवा आदि अंगोंवाला होकर, युद्धस्थल से चलता हुआ, तपस्या के लिए चेष्टा करता हुआ, मलिन देहवाला होकर, किसी निर्जन मार्ग में जाता हुआ, अस्त्ररहित एवं विरथ हुआ बृहद्रथ का बेटा वह जरासन्ध, अपनी सेना में तृण ढोनेवाले किसी व्यक्ति के द्वारा परिचित मूर्तिवाला होकर, अर्थात् अपने घसखुदा के द्वारा पहचान लेनेपर, और उसी घसखुदा के द्वारा प्रणामपूर्वक स्नेह की पूर्ति कर देनेपर लज्जित हो गया ॥४१॥

उसके बाद उस तृण ढोनेवाले की परम्परा से सुनकर उस जरासन्ध के अधीन सभी दयालु राजाओं ने, जहाँ कहीं चले जाने से समागम किया हुआ वह जरासन्ध, तपस्या के प्रति जाने से रोक दिया गया ॥४२॥

और उससे कहा कि—हे राजन्! देखो, थोड़ी संख्यावाले एवं थोड़े से तेजवाले यादवों ने अधिक संख्यावाले हम सबको जो जीत लिया, हाय! इसमें तो दैवकृत घटना को ही बलिष्ठ जान लो। क्योंकि हम तो दैवी घटना को प्रत्येक जन्म में अतिशय महान् मानते हैं ॥४३॥

और आप तरुण देहवाले राजा हो, अतः इस प्रकार वन का कठोर तप आपके योग्य नहीं है। किन्तु समस्त जनता का पालनरूप जो तप है वह भी दुःख से उत्पन्न होता है। अतः वन के तप को तो सब ओर से धिक्कार है ॥४४॥

"व्रजराज उवाच,—'आस्तां तत्, कृष्णरामयोर्निजा वार्ता तु कीर्त्यताम् ।'

"तावूचतुः,—'कण्टकघनगहनं तत्, कटकयुताभ्यां प्रविष्टमेताभ्याम् ।
न हि पुनरीषल्लवमपि, कुत्राप्यासीत् क्षतं नाम ॥४५॥

'तदेवं जये तु लब्धप्रचये केचिल्लज्जाधर्षात् केचिद्धर्षादपि समवेताः सर्व एव यदवः कृतमहोत्सवतया सस्पृहं गृहमेव तावानिन्युः ॥४६॥

'ततश्च दृष्टतद्विभवौ हृष्टतया लब्धबलवद्धर्षौ द्वारीकृतोद्धवौ सरामं रामानुजमनुज्ञाप्य तदेतत्कथनाय तदाज्ञाप्यमानौ व्रजमाव्रजन्तावेतावास्वहे" इति ॥४७॥

तदेतद्दूतवाचमन्वाचर्य मधुकण्ठः प्राह स्म,—"मुहुरेवमेव कृतनिर्बन्धेन जरासन्धेन सह युद्धं जातं दूतद्वारा च बुद्धमिति । कश्चित् कश्चित्तद्विशेषस्तु प्रस्तुतः करिष्यते ।" तदेवमुक्त्वा मधुकण्ठे सगद्गदतया कुण्ठे श्रीव्रजेश्वरे च स्वोपकण्ठे कृष्णमुपलभ्य धृततत्कण्ठे व्रजवन्दिनस्तदिदं पठितवन्तः,—॥४८॥

"दुहितृद्वैतादथ जामातुः, शमनं श्रुत्वा द्रुतमायातुः ।
मगधान् पातुः कटकं प्रेक्ष्य, हरिराहेदं बलमुत्प्रेक्ष्य ॥४९॥
भविकं जातं स जराजातः, स्वयमुद्यम्य स्फुटमायातः ।
अथ शस्त्राद्यं द्योरभियातं, शकुनं मेने हरिरितशातम् ॥५०॥

श्रीव्रजराज बोले—उस बात को रहने दो। कृष्ण-बलदेव की निजी बात तो कह दो। दोनों दूत बोले—अपनी सेना से युक्त ये श्रीकृष्ण-बलदेव क्षुद्र शत्रुरूप घने वन में प्रविष्ट हो गये थे, तो भी इन दोनों के शरीर में कहीं भी किंचित् लवमात्र भी चोट नहीं आई ॥४५॥

इस प्रकार विजय की वृद्धि प्राप्त होनेपर, कुछ लज्जा के विनाश से, एवं कुछ हर्ष से भी सम्मिलित होकर, सभी यादवगण महोत्सव सा मनाते हुए, स्वेच्छापूर्वक श्रीकृष्ण-बलदेव को घर ही लिवा लाये ॥४६

और उसके बाद श्रीकृष्ण-बलदेव के वैभव को देखनेवाले, हर्षित होकर प्रबलहर्ष को पानेवाले (वृत्तान्त जानने के लिए), उद्धव को द्वार बनानेवाले, ये हम दोनों दूत, श्रीबलराम के सहित श्रीकृष्ण की अनुमति लेकर, उन दोनों से आज्ञा पाकर, यह वृत्तान्त कहने के लिए व्रज में आ रहे हैं ॥४७॥

अतएव इन दोनों दूतों की वाणी का अनुकरण करके मधुकण्ठ बोला—इसी प्रकार बारंबार आग्रह करनेवाले जरासन्ध के साथ युद्ध हुआ, यह बात आप सबने दूतों के द्वारा जान ही ली है। तो भी उसकी कुछ कुछ विशेषता तो प्रस्तुत करेंगे ही। इस प्रकार कहकर गद्गद होने के कारण मधुकण्ठ के चुप हो जानेपर, और अपने निकट श्रीकृष्ण को प्राप्तकर श्रीव्रजराज ने जब श्रीकृष्ण का कण्ठ धारण कर लिया, तब व्रज के वन्दीजन यह स्पष्ट कहने लगे कि— ॥४८॥

कंस के मरने के बाद, अपनी दोनों पुत्रियों से अपने जमाई की मृत्यु को सुनकर, शीघ्र ही आनेवाले एवं मगधदेश की रक्षा करनेवाले जरासन्ध की सेना को देखकर, श्रीबलदेव से विचार कर श्रीकृष्ण यह बोले— ॥४९॥

भैया ! यह तो मङ्गल हुआ कि वह जरासन्ध उद्योग करके स्पष्टरूप से स्वयं ही आ गया है। और उसके बाद शस्त्रादिक भी स्वर्ग से आ गये हैं। उस समय श्रीकृष्ण ने इन बातों को सुख देनेवाला शकुन ही माना ॥५०॥

सहसा भ्रात्रा सहसा रुद्धं, अकरोच्छत्रुं कलयन् युद्धम् ।
तुहिनस्तोमं स यथा सूरः, कटकं तद्वद्धतवान् शूरः ॥५१॥
द्विषतां गात्रादभवन्नद्यः, विशिखैर्दलितात् परितः सद्यः ।
किमतः कथ्यं विभवद्बन्धं, तमितश्चक्रे स जरासन्धम् ॥५२॥
पुनरित्थं षोडशधा जित्वा, तमथान्यांश्च द्विषतश्छित्त्वा ।
अधुना सोऽयं स सुधावृष्टिं, रचयन् भाति व्रजभृद्दृष्टिम् ॥"इति॥५३॥

अथ राधामाधव-सदसि कथा यथा मधुकण्ठः प्राह,—

"मुहुरपि समरं हरेर्द्विषद्भि,-र्व्रजवनितास्तु निशम्य तस्य कान्ताः ।
सकलमपि विसस्मरुः स्वदुःखं, हरि-हरि दुर्वहबुक्ककम्पमापुः ॥५४॥
सम्प्रति जित्वा शत्रून्, साधूनां लघु निवृत्य निश्चिन्तः ।
सोऽयं क्रीडति राधे !, तव नवनवसङ्ग-रङ्गसंसङ्गी ॥"५५॥

तदेवं पूर्वपूर्ववदपूर्वं सुखं कुर्वन्तौ सर्ववन्तौ सूतकुमारसन्तौ वासमासन्नवन्तौ; श्रीराधा-माधवौ च परस्परमपरस्परमाचरितचरिताऽऽराधनतया कामधाम प्रविश्य निकामं निजकामं जग्मतुरिति ॥५६॥

इति श्रीश्रीमदुत्तरगोपालचम्पूमनु जरासन्धबन्धनं नाम त्रयोदशं पूरणम् ॥१३॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण ने अपने भैया बलदेव के द्वारा शत्रु जरासन्ध को बलपूर्वक सहसा रुका हुआ देखते हुये युद्ध आरम्भ कर दिया। और सूर्य जिस प्रकार तुहिन, अर्थात् ओस को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण ने जरासन्ध की सेना मार डाली ॥५१॥

और बाणों के द्वारा विदीर्ण हुए शत्रुओं के शरीर से तत्काल चारों ओर (रुधिर की) नदियाँ उत्पन्न हो गईं। इससे आगे और क्या कहने योग्य है ? देखो, श्रीकृष्ण ने उस जरासन्ध के निकट जाकर उसको विशेष बन्धन से युक्त कर दिया ॥५२॥

उसके बाद इसी प्रकार जरासन्ध को सोलहबार जीतकर, तथा दूसरे शत्रुओं को भी विदीर्ण कर, इस समय वे ही श्रीकृष्ण अपनी दृष्टि को सुधा की वृष्टि से युक्त करते हुए, व्रज के पोषक होकर शोभा पा रहे हैं ॥५३॥

अनन्तर रात्रि में श्रीराधा-माधव की सभा में कथा। यथा—मधुकण्ठ बोला—श्रीकृष्ण की दयिता-रूप व्रजाङ्गनाएँ तो शत्रुओं के साथ श्रीकृष्ण का बारंबार युद्ध सुनकर अपने सारे दुःख को भूल गईं। हाय ! हाय ! असह्य हृदय के कम्प को भी प्राप्त हो गईं, अर्थात् उनकी बुक्क फटने लगीं ॥५४॥

हे श्रीमति राधिके ! देखो, इस समय तो साधुओं के शत्रुओं को जीतकर, शीघ्र ही व्रज में लौटकर, निश्चिन्त होकर तुम्हारे नये नये सङ्गरूप रङ्ग के संसर्गवाले वे ही श्रीकृष्ण क्रीडा कर रहे हैं ॥५५॥

अतएव इस प्रकार पहले पहले की भाँति अपूर्व सुख उत्पन्न करते हुए, सभी से युक्त होकर दोनों सज्जन सूतपुत्र, अपने निवासस्थानपर पहुँच गये। श्रीराधा-माधव भी आपस में अभेदभाव से बारंबार आचरित लीला को करते हुए, कामगृह में प्रविष्ट होकर, स्वेच्छापूर्वक अपने मनोरथ को प्राप्त हो गये ॥५६

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रिविरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते श्रीमदुत्तरगोपालचम्पूकाव्ये जरासन्धबन्धनं नाम त्रयोदशं पूरणं सम्पूर्णम् ॥१३॥

अथ चतुर्दशं पूरणम्

कालयवन-जय-विवरणम्

अन्येद्युश्च श्रीमद्व्रजयुवराजदर्शनामृतवर्षहर्षव्रजभासिषु व्रजवासिषु स्निग्धकण्ठ उवाच,— "अथ साग्रजावरजव्रजः श्रीव्रजराजः परमपर्वपूर्वकं दानमाचर्य कंसशत्रोर्यावत्सर्वशत्रुक्षय-मक्षयस्वस्त्ययनसत्रमारब्धवान्; यत्र तेषां तन्मङ्गलाभिसन्धानं केवलं बलवदासीत्; तद्दर्शनानु-सन्धानं तु तदनुगतमेव; यतः सर्वदुर्गमदुर्गावासः शूरवर्गान्तर्वासश्च तयोरेभिरभिमत आसीत् ॥१॥

इति स्थिते पूर्ववद् दूतगमनागमनान्तरालेषु वार्तासमुत्सुकतया यापितकालेषु गोपालेषु स चमूनां विचेता विचेता जरासन्धस्तद्विध एव मुहुः कृतानुबन्धः श्रुतः। श्रीरामकृष्णौ पुनस्तत्र वितृष्णौ स्वपालितवृष्णिपालिभिरेव तथा तथा तं पराजिष्णुं चक्रतुर्न तु स्वयमिति चावकलितम् ॥२॥

"यदवोऽप्यथ यज्जिग्यु,-र्मागधमजितस्य तेजसा तद्धि।
तत्त्वानां किल वर्गाः, ससृजुर्विश्वं यथा तथा विद्धि ॥३॥

चौदहवाँ पूरण

कालयवनपर विजय

इस चौदहवें पूरण में श्रीकृष्ण के द्वारा कालयवन का नाश, एवं छलपूर्वक जरासन्ध का पराजय वर्णित होगा। दूसरे दिन श्रीमान् व्रजयुवराज श्रीकृष्ण के दर्शनामृतरूप वृष्टि से उत्पन्न हर्षसमूह से शोभाय-मान व्रजवासियों के निकट स्निग्धकण्ठ बोला—अनन्तर अपने बड़े भाई एवं छोटे भाइयों के समूह के साथ श्रीव्रजराज ने महामहोत्सवपूर्वक दान करके, कंसशत्रु श्रीकृष्ण के सभी शत्रुओं के विनाशपर्यन्त, अक्षय स्वस्त्ययनयज्ञ आरम्भ कर दिया। जिस यज्ञ में केवल श्रीकृष्ण का शुभचिन्तन ही प्रबल था, श्रीकृष्ण के दर्शनों का अनुसन्धान तो उस शुभचिन्तन के अनुगत ही है। कारण—श्रीकृष्ण-बलदेव का सर्वसाधारण के अगम्य द्वारकारूप किले में निवास करना, एवं यादववर्ग के भीतर निवास करना भी, इन व्रजवासियों को अभिमत था ॥१॥

ऐसी स्थिति में पहले की तरह दूतों के जाने आने के बीच में, श्रीकृष्ण-बलदेव के वृत्तान्त में विशेष उत्कण्ठित होकर, गोपगण जब अपना समय बिता रहे थे, तब सेनाओं को इकट्ठी करनेवाला एवं अचेत सा हुआ वह जरासन्ध पूर्वोक्त प्रकार से, अर्थात् तेईस अक्षौहिणी सेना को लेकर ही बारंबार युद्ध का अनुगमन करता हुआ सुना गया। किन्तु श्रीकृष्ण-बलदेव तो उस युद्ध में जरासन्धपर विजय पाने में निःस्पृह होकर, अपने द्वारा सुरक्षित यादवों की श्रेणी के द्वारा ही, उस उस प्रकार से जरासन्ध को पराजित करते रहे। किन्तु स्वयं नहीं, यह रहस्य भी सुना जाता है ॥२॥

क्योंकि यादवों ने भी (स्वयं ही) जरासन्ध को जो जीत लिया, वह जीतना तो भगवान् के तेज से तेजस्वी हुए महान् अहङ्कार आदि तत्त्वों के समूह, जिस प्रकार विश्व की सृष्टि कर लेते हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्ण के तेज से ही जान लीजिये ॥३॥

"अथ सर्वतः प्रसृतं पद्यमिदं च शुश्रुवे,—

'नैवाश्चर्यं हरेस्तद्बहुकटकघटाघातनं भाति किन्तु
स्पष्टं तत् संग्रहात्मव्यसनमिह मुहुर्मागधक्षौणिपातुः ।
अग्निः खल्विन्धनानां नियुतशतमपि प्लुष्टमेवाशु कुर्यात्
तावत्तत्द्विचेता पुनरिह सुचमत्कारकारित्वमेति ।।'इति ।।४।।

"किञ्च, आगात् प्राक् स यदा तत्र द्वित्रवारं जरासुतः ।
तदा सम्भ्रममाधत्त लोकानां हासमन्यदा ।।
सोऽयं दुहितुरुपगन्ता पुनः समागत इति ।।५।।

अत्र वैहासिकद्वयसम्पाद्यं प्रश्नोत्तरमयमिदं पद्यं च सर्वत्र प्रत्यपद्यत,—

'आनीय प्रस्मरणं, मुहुरपमानं स्वशत्रुणा रचितम् ।
उद्यममुच्चैस्तनुते, मूढः कोऽसौ जरासन्धः ।।' इति ।।६।।

"तदेवं स्वतनयविजयं व्रजपतिना श्रुत्वा श्रुत्वा स्ववस्त्यमनु स्वस्त्ययनसत्रमेव वर्धितम् । समनन्तरं च तावदनन्तमपि हविरादिहविर्द्रव्यं हुतभुजि हुतम् । अतीतसंख्या-बन्धनं तु सर्वं धनं शन्तुक्रमादेव देवभूदेवसात्कृतम् ।।७।।

"तदेवं तन्मध्ये मथुरापुरायाऽध्वानं गच्छत्सु प्रच्छन्नदूतेषु सत्सु कदाचिद् दूतविशेषा-वागत्य शेषाख्यानं विख्यापयामासतुः ।।८।।

और चारों ओर विस्तृत यह अग्रिम पद्य भी सुना जाता है कि—जरासन्ध की बहुत सी सेनाओं की घटा का मारना श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में कोई आश्चर्यजनक नहीं प्रतीत होता, किन्तु मगधभूमि की रक्षा करनेवाले जरासन्ध का बारंबार उतने भारी कटकदल के बटोरने का जो व्यसन है, वही यहाँपर स्पष्टरूप से आश्चर्यजनक है। क्योंकि अग्नि लाखों मन ईंधन को भी शीघ्र ही जला सकता है (यह आश्चर्य नहीं हैं), किन्तु उतने भारी ईंधन को इकट्ठा करनेवाला ही यहाँपर विशेष चमत्कारजनक होता है ।।४।।

किंच वह जरासन्ध पहले जब मथुरा में दो तीनबार (सेना लेकर) आया, तब तो वह लोगों को भयदायक हुआ था। किन्तु इससे पीछे आने में तो हास्यप्रद ही हुआ कि, अरे ! अपनी बेटी के पास जाने-वाला वही जरासन्ध फिर भी आ गया ।।५।।

इस विषय में हँसी करनेवाले दो विदूषकों के द्वारा सम्पादनीय प्रश्नोत्तरमय यह अग्रिम पद्य भी सर्वत्र प्रचारित हो गया था। यथा—प्रश्न—अपने शत्रु (श्रीकृष्ण) के द्वारा बारंबार किये गये अपमान को भुलाकर या अधिक स्मरण में लाकर जो विशेष उद्यम कर रहा है, वह मूढ कौन है ? उत्तर—जरासन्ध है ।।६।।

इस प्रकार श्रीव्रजराज ने अपने पुत्र की विजय को बारंबार सुनकर, अपने घर में स्वस्त्ययनयज्ञ ही बढ़ा दिया। और उसके बाद अपरिमित हविष्य आदि होम के योग्य द्रव्य भी अग्नि में हवन कर दिया। तथा असंख्य समस्त धन तो स्वस्त्ययन के क्रम से ही देवता एवं ब्राह्मणों के अधीन कर दिया, अर्थात् उनको दे दिया ।।७।।

इस प्रकार उसी के बीच में कुछ गुप्तदूतों के मथुरापुरी के निमित्त मार्ग में चल देनेपर, कदाचित् (कभी) दो दूतविशेषों ने आकर, बाकी उपाख्यान का व्याख्यान कर दिया ।।८।।

"यत्र सुखसम्भेदमिमं निवेदयन्तावुत्फुल्लमुखकमलतामवापतुः,—'राजन् ! साम्प्रतमिदं विराजमानं वृत्तमासीत्, यद्विदर्भनगर्यां भवदर्भकस्य गमनं मङ्गलसङ्गमनं वृत्तमासीत् ॥'९॥

व्रजराज उवाच,—'हन्त ! तस्यातिदूरे कथं कथं गन्तव्यता जाता ?' "दूतावूचतुः,—'जरासन्धादीनां तत्र गमनानुसन्धानेन ।' "व्रजराज उवाच,—'ते च किं विधातुं तत्र सन्निधानमवापुः, येन तस्मिन्नपि स्फुटमस्वस्थितमनाः सहसा रंहसा वत्सः प्रस्थितवान् ?'१०

"दूतावूचतुः,—'विदर्भपालस्य तस्य बालां शिशुपालाय दापयितुं सर्वेऽपि मिलित्वा गर्वेण कंसहन्तुस्तत्र खर्वेहतां विधापयितुं च ॥'११॥

"व्रजराजः सभयमुवाच,—'उत्तरवृत्तमुत्तरविषयीक्रियताम् ।' "दूतावूचतुः,—'मान्य ! माऽन्यथा मन्यस्व । तव तनूजनुषः कुतूहलमेव खल्विदम्; तथापि तस्य तत्र गतस्य विदर्भवृद्ध-महाराजतासमृद्धनिःस्पृहभक्तिप्रथ-क्रथकैशिकगृहसङ्गतस्य तेज एव दुर्हृद्दुद्वेजनं जातम् ॥१२॥

यथा—'ज्ञात्वा तं क्रथकैशिकालयगतं श्रीमन्तमन्तं निजं
मन्वानाः सह भीष्मकेण यमवद्भीष्मं नृपा मेनिरे ।
चण्डज्योतिरुपेत्य नित्यमुदयक्ष्माभृत्परस्तात्तटं
तेजःसङ्घटनां विनापि घटते रात्रिञ्चर-त्रस्तये ॥१३॥

जिस व्याख्यान में सुख के सम्मेलनपूर्वक यह निवेदन करते हुए दोनों दूत खिले हुए मुखकमलवाले हो गये, अर्थात् दोनों का मुख खिल उठा। वे बोले कि—हे राजन् ! अब तो शोभायमान यह वृत्तान्त हुआ कि, आपके पुत्र श्रीकृष्ण का विदर्भनगरी में जो जाना हुआ, वह मङ्गलदायक ही हुआ ॥९॥

श्रीव्रजराज बोले—हाय ! हमारे लाला का इतनी दूर जाना किस किस प्रकार हो गया ? दोनों दूत बोले—उस नगरीमें जरासन्ध आदिकों के जाने का अनुसन्धान करके (इतनी दूर जाना हुआ)। श्रीव्रजराज बोले—वे जरासन्ध आदि वहाँपर क्या करने के लिए सन्निधि को प्राप्त हुए थे ? जिससे कि उस स्थानपर भी हमारे लाला ने स्पष्ट ही अस्वस्थचित्त होकर सहसा वेगपूर्वक प्रस्थान कर दिया ? ॥१०॥

दोनों दूत बोले—विदर्भदेश के रक्षक भीष्मक की कन्या 'रुक्मिणी' को शिशुपाल को दिलाने के लिए, और वहींपर कंसनिहन्ता श्रीकृष्ण की चेष्टा को छोटी कराने के लिए, जरासन्ध आदि सभी मिलकर अहंकार से सन्निधि को प्राप्त हुए थे ॥११॥

श्रीव्रजराज भयपूर्वक बोले—आगे का वृत्तान्त उत्तर से युक्त करो, अर्थात् आगे का चरित कहो। दोनों दूत बोले—हे मान्यवर ! दूसरी प्रकार से न मानिये। यह तो आपके लाला का कौतूहल ही है। तथापि विदर्भनगरी में गये हुए, एवं विदर्भदेश में बढ़े चढ़े महाराजपद से समृद्ध, तथा निःस्पृह भक्ति के प्रचारक "क्रथ-कैशिक" नामक दोनों भक्तों के घर में उपस्थित हुए श्रीकृष्ण का तेज ही, जरासन्ध शिशु-पालादि शत्रुओं को भयदायक हो गया था ॥१२॥

यथा—उस समय श्रीमान् श्रीकृष्ण को क्रथ-क्रैशिक के गृह में उपस्थित जानकर, भीष्मक राजा के सहित अपना अन्त मानते हुए विपक्षीराजा, यमराज की तरह भयंकर मानने लग गये। क्योंकि सूर्यदेव नित्यप्रति उदयाचल के परवर्ती तटपर पहुँच कर, अपने तेज की योजनाके बिना भी, राक्षसों के या उल्लुओं के लिए भयप्रद हो जाते हैं ॥१३॥

'अथ सर्वनायकस्य तस्य साहायकं गरुडश्च परमातिशायकतासरूढतया व्यूढवान् ॥१४॥

'यथा— क्षाराब्धिक्षितिभृत्क्षितिक्षितिकर-क्षोभक्रियातिक्षम-
द्विट्पक्षक्षय-दक्षपक्षपवनव्याक्षिप्तवृक्षादिकः ।
दुष्टक्ष्मापतिलक्ष-लक्ष्यदनुजक्षिप्राक्षिविक्षोभण-
ज्योतिःक्षिप्तरघक्षिदीक्षण-पथं पक्षिक्षितीक्षिद् गतः ॥१५॥
अन्यत्र चण्डता तस्य चण्डतां प्रत्यपद्यत ।
हरेस्तु निकटे सौम्य ! सौम्यता नाप सौम्यताम् ?' ॥१६॥

''व्रजराजः सहर्षमुवाच,—'ततस्ततः ?' ''दूतावूचतुः,—'तदेवं वैरिखर्वेषु सर्वेषु सर्वथा खर्वगर्वेषु क्रथकैशिकावागत्य गत्यन्तरं कंसान्तकाय शशंसतुः,—सर्वविज्ञाधिराज ! तदिदमावयोर्विज्ञापनमङ्गीकृत्य साङ्गीकृत्यमस्मदङ्गीकरणम् ॥१७॥

''श्रीकृष्ण उवाच,—'काममाज्ञाप्यताम् ।' ''तावूचतुः,—

'कमपि मनोरथलाभं, लुभ्यत् क्षुभ्यद् विभाति नौ हृदयम् ।
तस्मादभिलष्यंस्तं, भगवन्नङ्गीकुरुष्व नौ कृपया ॥'१८॥

''तच्चैवं निवेदयावः,—'तेषां सर्वेषामेव कृतभवद्द्वेषाणां राजवेषाणामसुराणां भीष्मजास्वयंवरतृष्णातुराणां सभा प्रभात एव भवितेति सम्यङ् निशम्यते । तत्र तव च गन्तुं

उसके बाद श्रीगरुडजी ने भी परमप्रसिद्ध सभीपर विजय पानेवाली शक्ति के सहित, सर्वश्रेष्ठ श्रीकृष्ण की सहायता कर दी ॥१४॥

यथा—उस समय लवणसमुद्र की एवं पर्वतों की भूमि की हानि करनेवाले दुष्टों की क्षोभक्रिया में अति समर्थ, तथा शत्रुओं के पक्ष को नष्ट करने में चतुर, एवं अपने पक्षों (पंखों) की पवन से वृक्षादिकों को उखाड़नेवाले, और लाखों दुष्ट राजाओं के बहाने राक्षसों की आँखों को शीघ्र ही क्षुभित करने के लिए अपने तेज को फैंकनेवाले, पक्षिराज गरुड श्रीकृष्ण के नेत्रों के मार्ग में, अर्थात् सामने आ गये ॥१५॥

हे सौम्य ! नन्दजी ! गरुडजी का अत्यन्त क्रोधीपन श्रीकृष्ण से भिन्न स्थानपर तो अत्यन्त क्रोधी के भाव को प्राप्त हो जाता था, किन्तु श्रीकृष्ण के निकट उनकी सौम्यता (क्रोधरहितता) शिथिलता को नहीं प्राप्त होती थी, अर्थात् श्रीकृष्ण के आगे तो सौम्य ही बने रहते थे ॥१६।

श्रीव्रजराज हर्षपूर्वक बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—अतएव इस प्रकार (गरुडजी के आते ही) अरब खरब की संख्यावाले सभी वैरियों के सर्व प्रकार से छोटे गर्ववाले हो जानेपर, क्रथ-कैशिल नामक दोनों राजा आकर, कंसान्तक श्रीकृष्ण के लिए दूसरा उपाय बताने लगे कि—हे सर्व-विज्ञाधिराज ! आगे कहे जानेवाले हमारे इस विज्ञापन को अङ्गीकार करके, हमारे अङ्गीकार करने को भी साङ्गोपाङ्ग कर दीजिये ॥१७॥

श्रीकृष्ण बोले—स्वेच्छापूर्वक निवेदन कीजिये। वे दोनों राजा बोले—हे भगवन् ! हम दोनों का हृदय किसी अपूर्व मनोरथ लाभ के प्रति लुब्ध एवं क्षुब्ध होता हुआ प्रतीत हो रहा है। इसलिए उस मनोरथ की प्राप्ति के प्रति अभिलाषा करते हुए आप कृपया हम दोनों को अङ्गीकार कर लें ॥१८॥

अतः हम दोनों इस प्रकार निवेदन करते हैं कि—आपसे द्वेष करनेवाले राजाओं के से वेषवाले, एवं भीष्मकनन्दिनी रुक्मिणी के स्वयंवर की तृष्णा से आतुर रहनेवाले, उन सभी असुरों की सभा कल

शन्तुमनस्ता निशाम्यते । तत्र च हन्त ! राजतामनङ्गीकृतवतस्तव राजासनानङ्गीकृतिरपि सम्भाव्यते । ते चासन्तस्तत्र प्रहसन्त एव वर्तन्ते । स कथमत्रासमत्रागत्य नीचासन-सचमानतयापत्रपामपयापयिष्यतीति । सम्प्रति चात्रभवतः प्रतिलब्धस्य तत्र गत्यगती द्वे अप्यगती । यदस्माभिर्द्वयमपि न दृश्यतया परामृश्यते, तस्मादिदं तु निवेदयावः—यदावयोः प्राज्यमिदं राज्यमुरीकृत्य कृत्यमिदमुररीकृत्य च भृत्यजनानस्मानुररीकुर्वन्तु तत्रभवन्तः' इति ॥१९॥

"व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः?' "दूतावूचतुः,—

'यद्यपि जगदुन्नतपद,-मपदं मनुते व्रजेन्द्र ! पुत्रस्ते ।
तदपि च भक्ताग्रहतः, साग्रहवत्तन्मनागुरीकुरुते ॥'२०॥

"व्रजराज उवाच,—'मर्यादा का पर्यापिता ?' "दूतावूचतुः,—'ततः स तु तूष्णीकतां पुष्णाति स्मेति तदभ्यनुज्ञामनुमाय ताभ्यामुन्मनीभवद्भ्यामभ्यात्ताञ्जलितया पुनरिदमभ्यधायि । तदेतदद्य सद्य एवास्मद्राजासनं राजन्निजचरणराजीवाभ्यां राजयन्तः सन्तु भवन्तः' इति ॥२१॥

'अथ सङ्कोचवशादपि तदस्मै रोचमानमवलोचमानयोरनयोर्यदा तदासननिवेदनारम्भः सम्भवन्नासीत्तदाकाश-सकाशाद्वाणीयमिन्द्रदूतादुद्भूता सावकाशा बभूव,—॥२२॥

प्रातःकाल ही होगी । यह बात अच्छी तरह सुनी जाती है । और उस सभा में जाने को आपका मङ्गलयुक्त मन का भाव भी दिखाई दे रहा है । हाय ! वहाँपर राजा के पद को न अङ्गीकार करनेवाले आपके सम्बन्ध में राजसिंहासन की अस्वीकृति भी सम्भावना का विषय बन रही है, अर्थात् उग्रसेन को राजा बना देने से स्वयं राजा न होने के कारण, उस सभा में आपको राजसिंहासन मिलना भी कठिन प्रतीत होता है । क्योंकि वे जरासन्ध आदि दुष्ट तो वहाँपर अट्टहास करते हुए ही विद्यमान हैं, एवं कहते हैं कि, वह श्रीकृष्ण निर्भय होकर यहाँ आकर नीचे आसनपर बैठकर अपनी लज्जा को किस प्रकार दूर कर देगा ? इति । और इस समय यहाँपर उपस्थित हुए आपका उस सभा में जाना एवं न जाना, ये दोनों ही गति-रहित हो रहे हैं । क्योंकि हम तो इन दोनों बातों को ही देखने के योग्य नहीं विचार रहे हैं । अर्थात् हमारे विचार में तो वहाँपर जाना एवं न जाना, ये दोनों बात ही ठीक नहीं जच रही हैं । अतः हम दोनों यह निवेदन करते हैं कि—परमपूजनीय आप, हम दोनों के इस विशाल राज्य को स्वीकार करके, और इस तात्कालिक कार्य को स्वीकार करके, हम दोनों सेवकजनों को अङ्गीकार कर लीजिये ॥१९॥

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—हे व्रजराज ! यद्यपि आपके पुत्र जगत्‌भर के सबसे ऊँचे पद को कुछ भी नहीं समझते हैं,तथापि भक्तोंके आग्रहसे आग्रहीजन की तरह, उस पद को किंचित् अंगीकार कर लेते हैं ॥२०॥

श्रीव्रजराज बोले—अच्छा, तो कौन सी मर्यादा (स्थिति) यथेष्ट रही ? दोनों दूत बोले—उसके बाद श्रीकृष्ण तो मौन को ही पुष्ट कर रहे थे, अर्थात् चुप बैठे थे । "मौनं सम्मति लक्षणं" के अनुसार मौन से ही श्रीकृष्ण की अनुज्ञा का अनुमान लगाकर, उन दोनों ने उत्कण्ठित होकर, हाथ जोड़कर, पुनः यह कहा कि—हे भगवन् ! आज तो आप हमारे इस राजसिंहासन को अपने दोनों देदीप्यमान चरणकमलों के द्वारा शीघ्र ही सुशोभित कर दें ॥२१॥

उसके बाद संकोच के वश से भी, वह राजासन श्रीकृष्ण के लिए रुचिकर देखते हुए, इन दोनों

'भो ! भो ! मा राजयुग्म ! स्वककुलततिभिर्भुक्तमुक्तं महीक्षित्-
पीठं कृष्णाय दाः किन्त्वपरमथ वयं दिव्यनव्यं ददामः ।
इन्द्राद्याः के यदेष स्वजनि-शिवरमाणामपि प्रागभोज्यः
किन्तु क्ष्मापाधिपत्वे बत समयवशादेनमभ्यर्चयामः ॥'२३॥

'अथ सुखविराजमानौ लब्धनिखिलराजमानौ राजानौ तदेतद्वृत्तं प्रामाणिकवृन्दं वृत्तहरं विधाय जरासन्धादि-सदसि सन्धापयामासतुः । 'एतच्च शृण्वत्सु विचारं विवृण्वत्सु च तेषु द्विषत्सु तत्रैव त्रैविष्टपप्रधानमिन्द्रस्तदिदमन्तर्धानादभिधापयामास ॥२४॥
यथा चित्राङ्गदस्तद्वाक्यतयेदं वदति स्म,—

'इन्द्रोऽहं वः प्रवक्ष्ये शृणुत बत नृपाः ! सोऽयमस्माभिरिज्यः
श्रीकृष्णस्तत्र गोवर्धनमभिसिषिचे नाम गोविन्दनाम्ना ।
एतं राजेन्द्रतायामिह निधिकलशैः सिच्यमानं न यः स्याद्
द्रष्टा नात्रानुमन्ताप्यथ स तु भविता चक्रिणानेन वध्यः ॥' इति ॥२५॥

"अथ सर्वेऽपि व्रजस्थाः सोल्लासं पप्रच्छुः,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—'ततश्च तेषु केचित् पुनरतीव भीता विनीता इव तत्रागताः श्रीकृष्णेन तु सादरमनुमतास्तदनुगता इवासन्;

राजाओं का जब उस सिंहासन के निवेदन का आरम्भ हुआ, तब इन्द्र के दूत से उत्पन्न हुई यह वाणी आकाश की ओर से सावकाश हो गई कि— ॥२२॥

हे ! हे ! दोनों राजाओ ! देखो, अपने कुल की श्रेणीवाले राजाओं के द्वारा पहले भोगे हुए, एवं पश्चात् त्यागे हुए, इस उच्छिष्ट राजसिंहासन को श्रीकृष्ण के लिए मत समर्पण करो । किन्तु हम दूसरे दिव्य एवं नवीन सिंहासन को दे रहे हैं । यदि कहो कि, यह दिव्य सिंहासन तो इन्द्रादि देवताओं के योग्य है, सो बात नहीं, क्योंकि इन सर्वेश्वर श्रीकृष्ण के आगे इन्द्रादि देवता बिचारे कौन हैं ? कारण—ये श्रीकृष्ण तो ब्रह्मा, शिव, एवं लक्ष्मीदेवी के भी प्रथम पूजनीय हैं । किन्तु हर्ष तो इस बात का है कि, आज हम समय-वशात् इन श्रीकृष्ण को भूपति के आधिपत्यपर पूजित कर रहे हैं ॥२३॥

उसके बाद सुख से विराजमान एवं धार्मिक सभी राजाओं से सम्मान को प्राप्त करनेवाले दोनों राजाओं ने, प्रामाणिक जनवृन्द को दूत बनाकर, अपने राज्य देने के वृत्तान्त को जरासन्धादि की सभा में पहुँचवा दिया । यह समाचार सुनते ही उन शत्रुओं के विचार विमर्श प्रकट करनेपर, उसी सभा में देव-प्रधान इन्द्र ने अन्तर्हित होकर (अपने दूत के द्वारा) यह वचन कहवा दिया— ॥२४॥

यथा—चित्राङ्गद नामक दूतविशेष, इन्द्र के वाक्यरूप से यह बोला—हे राजाओ ! मैं इन्द्र हूँ, तुम सबसे जो कहूँगा उसको ध्यान से श्रवण करो । देखो, ये श्रीकृष्ण हम सब देवताओं के भी पूज्य हैं । इसीलिए हम सबने व्रज में गोवर्धनपर्वत को लक्ष्यकर 'श्रीगोविन्द' नाम से श्रीकृष्ण का अभिषेक कर दिया है । और यहाँपर भी नवनिधियों के कलशों के द्वारा 'राजेन्द्रता' में अभिषिक्त होते समय इन श्रीकृष्ण को जो व्यक्ति न देखेगा, एवं इस कार्य में जो अपनी अनुमति न देगा, वह व्यक्ति तो चक्रधारी इन श्रीकृष्ण के द्वारा वध्य होगा ॥२५॥

उसके बाद सभी व्रजवासी उल्लासपूर्वक पूछने लगे—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—इन्द्र का आदेश सुनने के बाद उन सब में से कुछ व्यक्ति तो अत्यन्त भयभीत होकर, विनम्र की भाँति

ये च जरासन्धादयो गर्वदुर्गन्धाः कतिचिन्नागतास्ते विजमानमनसः स्वागमने व्याजं व्यञ्जन्तस्तानेव निजप्रतिनिधितया ज्ञापयामासुः ॥२६॥

'लब्धेऽप्यानृततुस्तस्मिन् मागधे तं हतः स्म न ।
रामकृष्णौ तथाप्यत्र नानृताद् विरराम सः ॥२७॥

'तत्प्रतिनिधयस्तु तत्र चित्रतामवापुः; यतः,

'अष्टाभिः स्पष्टमूर्ध्वान्निधिमणिकलशैरात्मना सिच्यमानं
चूर्णैरामोदपूर्णैरपि कुसुमशतैर्दैवतैरर्च्यमानम् ।
वस्त्रालङ्कारसिंहासनधवलमहश्चामरच्छत्रमुख्यै-
र्दिव्यैर्दीव्यद्भिरर्थैर्वलितरुचिममुं शत्रवस्तेऽप्यपश्यन् ॥२८॥
तदा जय-नमः-शब्दमभ्रस्थास्त्रिदशा व्यधुः ।
प्रतिशब्दमिव त्रस्ताः शत्रवोऽप्यत्र तं दधुः ॥२९॥

'किं बहुना, तथा ते तत्प्रतापतप्ता यथा जरासन्धं सङ्गत्य गत्यन्तरमपश्यन्तस्तां भीष्मजाशामपि परित्यज्य यथास्वमाशां गताः ॥'३०॥

"व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः ?'

"दूतावूचतुः,—'ततो यथायथममुकान् समादध,-द्भवत्कुलप्रभवविधुर्यथागतम् ।
समाव्रजन्मधुपुरमोदमावहत्, परं तदा व्रजदिशमार्द्रमैक्षत ॥'३१॥

श्रीकृष्ण के अभिषेक में आ गये। और श्रीकृष्ण के द्वारा सादर अनुमोदित होनेपर तो वे मानो श्रीकृष्ण के अनुगत ही हो गये। और गर्व से दुर्गन्धवाले जरासन्ध आदि जो कुछ व्यक्ति नहीं आये, वे भी उद्विग्न चित्त होकर, अपने आने में बहाने प्रगट करते हुए, अभिषेक में आनेवाले पूर्वोक्त व्यक्तियों को ही अपने प्रतिनिधि रूप से विज्ञापित कर गये ॥२६॥

यद्यपि कृष्ण-बलदेव ने जरासन्ध को पाकर भी उसके ऊपर दया ही कर दी, किन्तु उसको मारा नहीं। तथापि वह जरासन्ध इन दोनों भाइयों के विषय में मिथ्या व्यवहार से शान्त न हुआ ॥२७॥

और उनके प्रतिनिधि तो श्रीकृष्ण के अभिषेक में आश्चर्य को प्राप्त हो गये। कारण—ऊपर की ओर से स्पष्ट ही आठ निधि मणिमय कलशों के द्वारा स्वयं अभिषिक हुए, एवं अबीर गुलाल आदि के चूर्ण से तथा अत्यन्त सुगन्धपूर्ण सैंकड़ों प्रकार के पुष्पों से देवताओं के द्वारा पूजित हुए, और वस्त्र, अलंकार, सिंहासन, एवं श्वेत कान्तिवाले चमर छत्र आदि देदीप्यमान दिव्य पदार्थों के द्वारा मिली हुई कान्तिवाले श्रीकृष्ण को उन शत्रुओं ने भी देखा ॥२८॥

उस समय आकाशस्थित देवताओं ने जय शब्द एवं नमः शब्द को उच्चारित किया। इस अभिषेक में उपस्थित शत्रुजन भी भयभीत होकर, उस जय नमः शब्द को प्रतिध्वनि की तरह करने लग गये ॥२९॥

अधिक कहने से क्या ? वे शत्रुगण उस प्रकार श्रीकृष्ण के प्रताप से सन्तप्त होकर, जैसे तैसे जरासन्ध से मिलकर, दूसरा उपाय न देखते हुए, उस रुक्मिणी की आशा को भी त्यागकर, यथायोग्य अपनी अपनी दिशा को चले गये ॥३०॥

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उसके बाद आपके कुल में उत्पन्न

"सर्वे सास्रं पप्रच्छुः,—'भवतोः प्रस्थापनं कुर्वता तेन किं स्थापनमाचरितम् ?'॥३२॥

"दूतावूचतुः,—'दृश्यते किमपि संविधानकं, मद्विमोचनविधायि सम्प्रति ।
किन्तु हन्त विधिना क्रियेत चेत्,-तद् ब्रुवे किमु युवां तु गच्छतम् ॥'"इति॥३३॥

तदेवं दूत-वाक्यं समाप्य स्निग्धकण्ठः स्वयमाह स्म,—"अथ तद्वद्भवत्प्रभवपरवशेऽष्टादशे जरासन्धबन्धे लब्धप्रबन्धे व्रजतः सन्देशहरयोर्मथुरायां प्रवेशकरयोश्च द्वयोर्द्वयोः प्रान्ते कयोश्चिद्गतयोरकस्मात्पश्चिमतः कटकघटितः कश्चिदुत्पातः संपपात ॥३४॥

"ततश्च तद्रात्रावेव स्व-स्थानं हित्वा गा गृहीत्वा सर्व एव व्रजः सङ्गत्य प्रत्यग्दिशि घनवन-समुद्दण्डपर्वतमण्डलान्तः प्रविष्टः । स तु समुत्पत्यवदागत्य मधुपुरीमेव परितः परीतवान् ॥३५॥

"ततश्च कृष्णस्य व्रजं प्रति व्रजस्य च कृष्णं प्रति वृत्तश्रवणतृष्णा वृत्ता । परस्परमपि न सन्देशस्य प्रवेशः सम्भवतीति ॥३६॥

"अथ प्रवेशसङ्कोचनादसंख्येषु गोगणेषु सन्देशसंशोचनाद् गोसंख्यगणेषु च लब्धभोजनवियोजनेषु दिनान्तरे लब्धान्तरे शिखरिशिखरशाखिवरशाखामारूढवद्भिः परमोत्कण्ठामारूढवद्भिर्गोपसद्भिः शीघ्रतया समुद्भूतौ तावेव दूतौ काभ्याश्चिदन्याभ्यां सह ददृशाते ।

होनेवाले श्रीकृष्णचन्द्र ने क्रथ-कैशिक आदि अपने प्रियभक्तों का यथोचित समाधान करते हुए, जिस प्रकार गये थे उसी प्रकार आते हुए, मधुपुरी के हर्ष को प्राप्त कर दिया। किन्तु उस समय केवल व्रज की दिशा को स्नेहपूर्वक देखा ॥३१॥

सभी व्रजवासी सजलनयन हो पूछने लगे—तुम दोनों को भेजते हुए श्रीकृष्ण ने क्या विचार स्थापित किया ? ॥३२॥

दोनों दूत बोले—श्रीकृष्ण ने हम से कहा कि, इस समय मुझको (मथुरा से) विमुक्त करनेवाला कुछ अच्छा सा विधान भी दीख रहा है, किन्तु हाय ! दैव यदि उस विधान को कर दे तो फिर मैं उसको स्पष्ट क्या कहूँ ? तुम दोनों तो व्रज को चले जाओ ॥३३॥

इस प्रकार दूतों के वाक्य को समाप्त करके स्निग्धकण्ठ स्वयं बोला—उसके बाद पहले की तरह अठारहवींबार जरासन्ध के बाँधने का प्रबन्ध जब आपके पुत्र की अधीनता को प्राप्त हो गया, तब मथुरा में प्रवेश करनेवाले दो दो दूतों के बीच में से किन्हीं दो दूतों के जाते ही, पश्चिम की ओर से सेना के सहित कोई उत्पात अकस्मात् उपस्थित हो गया ॥३४॥

उसके बाद उसी रात्रि में सम्पूर्ण व्रज, अर्थात् व्रज का जनमात्र अपने स्थान को छोड़कर, गोगण को लेकर, सम्मिलित होकर, पश्चिम दिशा में घने वन से युक्त अत्यन्त ऊँचे पर्वतमण्डल में प्रविष्ट हो गया। और उस उत्पात ने तो उछल कर चलनेवाले की तरह (शीघ्र) आकर, मथुरापुरी को ही चारों ओर से घेर लिया ॥३५॥

उसके बाद श्रीकृष्ण की व्रज के प्रति, एवं व्रजवासियों की श्रीकृष्ण के प्रति, वृत्तान्त सुनने की तृष्णा उत्पन्न हो गई थी कि, अब तो परस्पर सन्देश का प्रवेश भी सम्भव नहीं है ॥३६॥

अनन्तर (स्वेच्छापूर्वक सभी वनों में) प्रवेश के संकोच के कारण, असंख्य गोगण एवं श्रीकृष्ण के पूर्वोक्त सन्देश से विशेष शोक के कारण, असंख्य गोपगण जब भोजन के विच्छेद को प्राप्त हो गये, अर्थात्

पश्यन्तश्च ते कञ्चन किञ्चिदपृष्ट्वा गोपपत्यग्रतः किमागत्य वदिष्यत इति बुद्ध्यापि दूरदर्शिता-स्पर्शिनस्ते दूरदर्शिनः प्रथमानभिया प्रथमं तौ प्रत्यलं दुद्रुवुः ॥३७॥

"अथ हृष्टवदनाभ्यां पृष्टवदनाभ्यामपि ताभ्यां तत्सहिताभ्यामन्याभ्यामपि सह सहर्ष-धर्षतया श्रीव्रजराजसमाजमेवाजग्मुः । ततश्च दूरादेव दूताविमावपृष्टावेव हृष्टाननतया कुशल-मिति पूर्ववत् त्रिशस्तान्निशमयामासतुः ॥३८॥

"अथाग्रजावरजादिविराजमानः श्रीव्रजराजः सभाजयन् दूतावभाषत,—'कथ्यतां तावत्तथ्यं संक्षेपत एव' इति ॥३९॥

"दूतावूचतुः,—'ससैन्यः कालयवनः सदैन्य इव निहत एवेति न तत्र काप्यार्तता; किन्तु भवद्वार्ता-श्रवणं विना परमार्ताभ्यां कृष्ण-रामाभ्यां सन्देशहरावेतौ प्रस्थापितौ ॥४०॥

यतः, 'अस्माष्टं बत पितरौ, सुतयोर्यकयोर्भवन्तौ यौ ।
अस्मरिषातां तद्व,-त्ताभ्यां तौ च व्रजाधीश ! ॥'४१॥

"अथ सर्वे सहर्षतर्षमूचुः,—'अथ कथ्यतामाविस्तरांविस्तरतः ।' "दूतावूचतुः,—'यस्यां सन्ध्यायां सन्ध्यायमानकुशलयशस्तत्रभवत्कुलचन्द्रमसः सन्निधिं निधिमिव गतवन्तावावां तस्यां न काञ्चिदपि तत्र चिन्तामपश्याव, प्रत्युत समुद्धवेन तेन भवत्प्रभवेण रोहिणीसंभवेन

भूखे रहने लग गये, तब दूसरे दिन अवकाश पाकर, पर्वतों की शिखरोंपर विद्यमान श्रेष्ठ श्रेष्ठ वृक्षों की शाखाओंपर चढ़नेवाले, एवं महती उत्कण्ठा को धारण करनेवाले कुछ श्रेष्ठ गोपों ने, शीघ्रता से आते हुए उन्हीं दोनों दूतों को, दूसरे किन्हीं दो दूतों के साथ देख लिया । और वे गोपश्रेष्ठ उन दूतों को देखते ही, किसी से कुछ भी न पूछकर "ये दोनों दूत श्रीव्रजराज के आगे आकर क्या कहेंगे ?" इस प्रकार के विचार से दीर्घदर्शी विद्वान् के भाव का स्पर्श करनेवाले होकर भी, वे गोपश्रेष्ठ दूर से ही देखनेवाले होकर, विशाल भय से पहले उन दोनों दूतों के प्रति जोर से दौड़ पड़े ॥३७॥

उसके बाद जिनके मुख प्रसन्न हैं, एवं जिनसे वचन पूछ लिये हैं, ऐसे उन दोनों दूतों के साथ, तथा उनके साथवाले दूसरे दोनों दूतों के साथ, हर्ष के सहित प्रफुल्लित होकर, श्रीव्रजराज की सभा में ही चले आये । तदनन्तर इन दोनों दूतों ने बिना पूछे ही, प्रफुल्लित मुख होकर, पहले की तरह दूर से ही, उन सभासदों को 'कुशल है' यह बात तीनबार सुना दी ॥३८॥

उसके बाद बड़े भाई एवं छोटे भाई आदिकों के साथ विराजमान श्रीव्रजराज ने, सम्मान करते हुए दोनों दूतों से कहा कि, तुम दोनों सच्चे समाचार को संक्षेप से ही कह दो ॥३९॥

दोनों दूत बोले—वह कालयवन सेना के सहित दीनता से युक्त व्यक्ति की तरह मर ही गया है, अतः वहाँपर कोई व्याकुलता नहीं है । किन्तु आप सबका वृत्तान्त सुने बिना विशेष व्याकुल हुए श्रीकृष्ण-बलदेव ने ये दोनों दूत भेजे हैं ॥४०॥

कारण—हे व्रजाधीश ! आप दोनों जो पिता-माता, जिन दोनों पुत्रों का स्मरण किया करते हो, वे दोनों पुत्र भी उसी प्रकार तुम दोनों का स्मरण करते रहते हैं ॥४१॥

उसके बाद सभी सभासद् हर्ष की तृष्णा के सहित बोले—अच्छा, अब स्पष्टरूप से विस्तारपूर्वक कह दो । दोनों दूत बोले—आप सब गोप परमपूज्य हो, अतः जो श्रीकृष्ण आपके कुल के चन्द्रमा हैं, एवं जिनके कुशल तथा यश का आप सब अच्छी प्रकार ध्यान रखते हो, उन श्रीकृष्ण के निकट निधि की तरह, हम

च प्रत्यण्वपि शश्वदत्रकीयां वार्तां वार्तामिव पृच्छ्यावहे स्म। प्रातरेव तु सामुद्रपूरवद्दूरतः शूरसमूहाः शूरसेनपुरीं परित एवाऽऽवृण्वाना दृश्यन्ते स्म, दृष्टाश्च ते मुहुरवष्टभ्नन्तो जरासन्ध-सन्निकृष्टा इति पुरतः परामृष्टाः। पश्चात्तु लकारप्रकारं वर्णवारं म्लेच्छन्तस्ते म्लेच्छा एव विनिश्चिता अनुमिताश्च। जरासन्धप्रत्यभिसन्धानानुसन्धानाभ्यां कालयवनप्रधाना एते समेताः' इति ॥४२॥

"व्रजराज उवाच,—'कालयवन एवेति चेत्तर्हि गर्हितमेव भयमासीत्; यतः षण्डोऽय-मिति गर्गजश्यालरचितोद्दण्डोपहासभासमानयदुसंसदनर्गलहासलब्धक्रोधसंसर्गगर्गजतद्भय-सर्गसङ्कल्पसमाराधितभर्गवरतः सोऽयं गर्गजादेव यवनराजभार्यासम्भवः पुनर्यवनभूपाल-पालितस्तत एव यादवभयदप्रभवः कालयवन इति। ततः कथ्यतां तथ्यमनन्तरं वृत्तम् ॥'४३॥

दोनों जिस सायंकाल में गये थे, उस सायंकाल में हमने वहाँपर किसी प्रकार से कोई भी चिन्ता नहीं देखी। अपितु, उद्धव के सहित आपके पुत्र श्रीकृष्ण ने, एवं रोहिणी पुत्र श्रीबलदेव ने हम दोनों से यहाँ की प्रत्येक छोटी छोटी बातें भी, बारंबार जीविका की तरह पूछी हैं। दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही तो, शूर-वीरों के समूह मथुरापुरी को चारों ओर से ही घेरते हुए, समुद्र के प्रवाह की तरह, दूर से ही दिखाई दिये। और देखे हुए वे वीर, पहले तो बारंबार निकट आते हुए, जरासन्ध के अत्यन्त निकटवर्ती हैं, ऐसे समझे गये। पीछे तो अधिकतर 'ल'कार के प्रकारवाले वर्णसमूह को बोलते हुए, वे शूरवीर 'म्लेच्छ' ही निश्चित किये गये (तात्पर्य—म्लेच्छलोग अपनी बोली में प्रायः 'ल'कार का प्रयोग अधिक करते हैं)। और जरासन्ध की पहिचान एवं अनुसन्धान, इन दो बातों के द्वारा उनका यह अनुमान भी लगा लिया कि, इकट्ठे हुए ये वीर तो वे हैं कि, जिनमें 'कालयवन' ही प्रधान है ॥४२॥

श्रीव्रजराज बोले—यदि 'कालयवन' ही चढ़कर आ गया, तब तो निन्दनीय भय ही उपस्थित हो गया। कारण—यह 'कालयवन' किस प्रकार उत्पन्न हुआ है? उसका रहस्य इस प्रकार है कि, एकबार यादवों की सभा में, गार्ग्यमुनि से उनके खास साले ने यह कह दिया था कि, ये गार्ग्यमुनि तो नपुंसक हैं (इसीलिए नैष्ठिक ब्रह्मचारी बने बैठे हैं)। इस प्रकार गार्ग्यमुनि के साले के द्वारा किये गये उच्छृंखल उपहास से प्रकाशित हुई यादवसभा के द्वारा पुनः किये गए अनर्गल उपहास से क्रोध के संसर्ग को प्राप्त हुए गार्ग्यमुनि के द्वारा उन यादवों के भय की सृष्टि के संकल्प से, अर्थात् यदुवंशियों को भय देनेवाले पुत्र के संकल्प से आराधित शंकरजी के वरदान से, गार्ग्यमुनि के द्वारा किसी यवनराजा की भार्या से उत्पन्न होनेवाला, पुनः यवनराज से पालित होनेवाला, यह 'कालयवन' है। इसीलिए यह यादवों को भय देनेवाली उत्पत्तिवाला है। अतः आगे के सच्चे वृत्तान्त को कहो। (कालयवन की उत्पत्ति का वृत्तान्त श्रीहरिवंश पुराणान्तर्गत विष्णुपर्वके ५७ अध्याय में तो इस प्रकार है। गर्गगोत्री गार्ग्यमुनि पहले नियमपूर्वक ब्रह्मचारी रहकर, किसी साधन में लगे हुए थे। वे उन दिनों स्त्री संसर्ग से दूर रहते थे। एकदिन यादवों की सभा में उनके साले ने उनपर नपुंसक होने का कलंक लगा दिया। गार्ग्यमुनि ने स्त्री की इच्छा न होनेपर भी, शंकर की आराधना करते हुए, यादवों के पराभव की इच्छा से, कठोर तप आरम्भ कर दिया। बारह वर्षतक केवल लोहे का चूर्ण खाकर रहे। शिवजी ने प्रसन्न हो यादवों के द्वारा न मारे जाने-वाले पुत्र का वरदान दे दिया। उसी समय एक यवनराज ने इस वरदान के वृत्तान्त को सुनकर, गार्ग्यमुनि से ही पुत्र पाने की इच्छा से, उनको सत्कारपूर्वक अपने घर लाकर, गोष्ठ (खिड़क) के भीतर गोपनारियों के संसर्ग में रख दिया। उस गोष्ठ में गोपाली नामक अप्सरा गोपनारी का वेष बनाकर रहती थी। उसी ने

"दूतावूचतुः,—'अथ तं कालयवनमवमृश्य रामस्य करं संस्पृश्य रहस्याभाष्य घनश्यामः सम्मन्त्रयामास—अयं तावद्यादवकुलानां योद्धुमसह्यः सन्नह्य द्वारि वर्तते। यदि वा सह्यस्तर्ह्यपि समागतप्रायः स जरासंहितकायस्तेनास्मद्युद्धं समुद्बुद्धं बुद्ध्वा पुरीं प्रविश्य सर्वं परिकरं प्रहरिष्यति। तस्मात् प्रकारान्तरं चिन्त्यम्, तच्च परिकराणां भूरिदूर-दुर्गमदुर्गाश्रयणमेव योग्यम्, तच्च सद्य एव लक्षितमेव चानवद्यं भवति। स्फुटमनेनास्माकं दूरगमनेन व्रजस्य च हितं विहितं स्यात्, यतो यत्र वयमर्दनं कुर्मस्तत्रैव शत्रुसम्मर्दः स्यात् ॥४४

'तदेवं लब्धतृष्णेन कृष्णेन परस्यां रात्रावचिरादाचरितया निजविमानेन यात्रया लब्धमब्धिपात्रान्तः कयाचिद्विद्यया सान्तःपुरं पुरं सद्य एव निर्माय तत्र सर्वानेव माथुरपुर-जनानन्तरिक्षवर्त्मना वर्तयामास; यत्र सर्व एव माथुरा मथुरायां शयाना एव प्रातरन्यत्र लब्धजागराः संशयाना बभूवुः—केयं परितः समुद्रमुद्रिता दिव्या पुरी दीव्यति, कथं वा वयमत्रागता इति; यत्र च श्रीकृष्णस्तस्यां रात्रावेव कुत्राप्यगत इवात्रागत्य स्थितः। आवां पुनर्मथुरायामेव प्रत्यूषे तत्प्रत्यूहमानावत्यूनसंख्यजनलब्धसख्यतया रामरामानुजयोरवस्थानं निशामयामासिव ॥४५॥

गार्ग्यमुनि के दुर्धर एवं अच्युत वीर्य को धारण कर लिया। उस गोपाली अप्सरा से ही कालयवन का जन्म हुआ। फिर पुत्रहीन उस यवनराजा ने उसका लालन पालन किया। यवनराज की मृत्यु के बाद कालयवन ही उसके राज्य का अधिपति हुआ) ॥४३॥

दोनों दूत बोले—तदनन्तर घनश्याम ने उसको कालयवन समझ कर, श्रीबलरामजी के हाथ को पकड़ कर एकान्त में बुलाकर, अपना विचार उपस्थित किया कि—भैयाजी! यह कालयवन यदुवंशियों के युद्ध के लिए असह्य है, इसीलिए युद्ध के लिए सजधज कर मथुरा के मुख्य द्वारपर विद्यमान है। अथवा यदि सह्य हो तो भी, प्राय: आजकल में आनेवाला वह जरासन्ध "उस कालयवन के साथ हमारा युद्ध छिड़ गया है" यह बात जानकर मधुपुरी में धँसकर हमारे सारे परिकरपर प्रहार कर देगा। अत: कोई दूसरा उपाय विचारने योग्य है। और वह भी हमारे परिकरवालों को बहुत दूर, एवं दूसरे जनों के अगम्य किले का आश्रय लेना ही योग्य है। और वह किले का आश्रय लेना भी, तत्काल ही लक्षित करना अच्छा है। और हमारे इस दूर चले जाने के द्वारा व्रज का हित भी स्पष्ट ही सिद्ध हो जायगा। क्योंकि हम लोग जहाँपर गमन करेंगे, वहींपर शत्रुओं के द्वारा पीडा उपस्थित हो सकेगी। तात्पर्य—व्रजमण्डल की पीडा भी, युद्धभूमि न बनने के कारण, दूर हो जायगी ॥४४॥

अतएव इस प्रकार की लालसा को प्राप्त हुए श्रीकृष्ण ने दूसरी रात्रि में, अपने विमान के द्वारा शीघ्र ही की गई यात्रा के द्वारा, प्राप्त किये हुए समुद्र के दोनों तीरों के बीच में, अपनी किसी अचिन्त्य विद्या से, अन्त:पुर के सहित द्वारकापुर को बनाकर, मथुरापुरी के सभीजनों को आकाशमार्ग से वहाँपर पहुँचा दिया। जिस द्वारकापुरी में सभी मथुरावासी पहले मथुरा में सोये हुए ही प्रात.काल दूसरी जगह जागकर सन्देहयुक्त हो गये कि—चारों ओर समुद्र से घिरी हुई यह कौन सी दिव्यपुरी शोभा पा रही है? और हम सब यहाँपर किस प्रकार आ गये? इति। और जिस प्रसंग में श्रीकृष्ण उसी रात में कहीं भी न गये व्यक्ति की तरह, मथुरा में आकर उपस्थित हो गए। किन्तु उस यातायात के विषय में तर्क वितर्क

"ततो व्रजस्थाः सर्व एवोचु,—व्रजनृपतेस्तपःप्रभावोऽयमिति पूर्वमेव जानीमः, येन सा सा विद्या च तेन लब्धा। तदनन्तरमुदन्तस्तु समन्ततः कथ्यताम् ।।'४६।।

"दूतावूचतुः,—'ततश्च रामावरजः स्वाग्रजं व्याजहार,—भवानत्र स्वीयान् पालयन् कालं चालयतु; अहं तु यवनं युक्त्या प्राणमुक्त्या संवलयामि। तदेतदुक्त्वा दुर्गस्य सूक्ष्मद्वारं मुक्त्वा 'द्वैताद्भयम्' इति श्रुतिमुत्प्रेक्षमाण इवाद्वैततायामत्रस्तः सन् निर्जगाम ।।४७।।

'निर्गच्छन्तं च तं निरस्त्रं प्रशस्ताऽलंकृतिसंकृतिशोभापरीतपीतवस्त्रं सविद्युद्विद्युत्वन्तमिव तं श्यामताभिरामधामानं चालनलाघवतः किंवा प्रतिच्छविवैभवतश्चतुर्भुजमिव कालयवनीयाः सर्व एवाकलयाम्बभूवुः। आकलयन्तश्च ते तस्य सौन्दर्यवर्यपर्याकुलचित्ततया तं प्रष्टुमपि नाशकन्, किमुत स्प्रष्टुम्। ततश्च तान् वञ्चयन् यत्र कालयवनस्तत्रैवाश्वं स्तेनालोकयामासे ।।४८।।

'स पुनस्तं श्याममनोहरं श्रीदेवर्षिकथितप्रथितलक्षणतया विज्ञाय मत्सरतस्तद्विलक्षणसुखमप्यवज्ञाय निरस्त्रेण तेन निरस्त्र एव युयुत्सां चकार। कृतायां च तेन युयुत्सायां कृष्णस्तु तत्र वितृष्णस्तं विष्कम्भमाणं कुत्सयाञ्चकार—म्लेच्छानां स्पर्शं नेच्छाम इति। ततश्च तं स्प्रष्टुमिच्छुर्म्लेच्छराजस्तदाभिमुख्येन द्रुतमृच्छति स्म ।।४९।।

करनेवाले हम दोनों दूतों ने प्रातःकाल मथुरा में ही अत्यन्त कम संख्यावाले जनों के साथ मित्रभाव प्राप्त कर उन्हीं के द्वारा, श्रीकृष्ण-बलदेव की उपस्थिति श्रवण की ।।४५।।

उसके बाद सभी व्रजवासी बोले—"यह सब श्रीव्रजराज के तप का ही प्रभाव है" इस बात को हम पहले से ही जानते हैं। जिस तप के प्रभाव से श्रीकृष्ण ने वह वह अपूर्व विद्या प्राप्त कर ली। उससे आगे का वृत्तान्त तो सम्पूर्णरूप से फैलाकर कह दो ।।४६।।

दोनों दूत बोले—उसके बाद बलराम के छोटे भाई श्रीकृष्ण अपने बड़े भाई बलराम से बोले—भैयाजी! आप तो यहाँपर स्वजनों की रक्षा करते हुए समय बिताओ। मैं तो कालयवन को युक्ति से ही मृत्यु से युक्त करता हूँ। इस प्रकार यह कहकर, मथुरा के किले के छोटे से द्वार को छोड़कर "द्वितीयाद्वै भयं भवति" इस श्रुति की उत्प्रेक्षा सी करते हुए, अर्थात् "दूसरे से ही भय होता है" इत्यर्थ प्रतिपादक श्रुति को ऊँची करते हुए, अद्वैतभाव में अर्थात् अकेलेपन में निर्भय होकर निकल पड़े ।।४७।।

उस समय निरस्त्र निकलते हुए श्रीकृष्ण को कालयवन के सभी पक्षपातियों ने देखा कि, वे प्रशंसनीय अलंकारों के सम्मेलन की शोभा से युक्त पीताम्बर पहने हैं, अतः बिजली से युक्त मेघ की तरह, श्यामता से मनोहर तेजवाले श्रीकृष्ण, अपने हाथों के चलाने की शीघ्रता से, अथवा अपने हाथों के प्रतिबिम्ब के वैभव से, चार भुजावाले से प्रतीत हो रहे हैं। और वे विपक्षीजन देखते हुए भी, श्रीकृष्ण के श्रेष्ठसौन्दर्य से व्याकुल चित्तवाले होकर, श्रीकृष्ण से कुछ पूछ भी न सके, फिर छूने को समर्थ न हुए, इस विषय में तो कहना ही क्या है? उसके बाद उन सबको धोखा देते हुए श्रीकृष्ण, जिधर कालयवन था, उधर ही जाते हुए कालयवन ने देख लिये ।।४८।।

पश्चात् वह कालयवन श्रीदेवर्षि नारद के द्वारा कहे हुए प्रसिद्ध लक्षणों के भाव से श्याम मनोहर उन श्रीकृष्ण को जानकर, मात्सर्य के कारण, श्रीकृष्णदर्शन के उस विलक्षण सुख को भी ठुकरा कर, अस्त्रहीन श्रीकृष्ण के साथ, निरस्त्र ही युद्ध करने की इच्छा करने लग गया। कालयवन के द्वारा युद्ध की इच्छा

'स तु द्रुतं द्रुतवान् व्याहृतवांश्च—त्वया मम स्पर्शास्पर्शावेव जयाजयपरामर्शाय कल्पेयातामिति ॥५०॥

'ततश्च, पदे पदे स्पृश्यमिव द्रवन्तं, द्रवं दधानं सरसं हसन्तम् ।
अनुद्रवन् कृष्णमुपद्रवन् स, प्लुतं दधद्विप्लुतशक्तिरासीत् ॥५१॥
तिस्रः कोटय एता, यवनानां तत्र सान्द्रतामापुः ।
तद्राट्चानुद्रुतवां,-स्तदपि बकारिर्न केनचित् स्पृष्टः ॥'५२॥

"व्रजराज उवाच—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—'ततश्च दक्षिणाहि मथुराया लक्षितं पश्चिमेन धवलनगरं गिरिमनुषज्य तेन तर्ज्यमानोऽप्यदरी तद्दरीमवरीकृत्य कृत्यमनु वरीयान् केशवः स विवेश। तन्निरोधाय तदेवेच्छन् म्लेच्छराजश्च त्वमधुना कुत्र वच्छितेति भर्त्सयन्ननुविवेश। अनुविशंश्च स पुनरदीर्घदर्शी तत्र निद्राविष्टं कमपि द्राघिष्ठं पुरुषं रुषा तमेव मन्वानस्तदिदमवादीत्—स्थालीविलीयवद्विलीयमानतां गच्छन्नन्तःस्वच्छ इव स्वपिषीति। तदिदं वदन्नेव मदात् पदा बाढं तताड; ताडयंश्च तद्दृष्टिविषवृष्टितः सद्य एव भस्मसाद्भवति स्म। कृष्णस्तु तत्कौतुकसतृष्णस्तत्रैव लीनः पश्यति स्म ॥'५३॥

करते ही, श्रीकृष्ण तो उसके साथ युद्ध की इच्छा में निःस्पृह होकर, अपने को रोकते हुए कालयवन को फटकारने लगे, अर्थात् उसकी निन्दा करने लगे कि—"हम म्लेच्छों का स्पर्श भी नहीं चाहते हैं"। पश्चात् श्रीकृष्ण को छूने की इच्छावाला म्लेच्छराज श्रीकृष्ण के सम्मुख होकर शीघ्र ही चल दिया ॥४९॥

श्रीकृष्ण तो शीघ्र ही दौड़ पड़े और बोले कि—तेरे द्वारा मेरा छूना एवं न छूना ही, जय एवं पराजय के परामर्श के लिए समर्थ हो जाय, अर्थात् यदि तू मेरा स्पर्श कर लेगा तो तेरी विजय होगी, अन्यथा नहीं ॥५०॥

तदनन्तर मानो पद पदपर स्पर्श करने योग्य दौड़नेवाले, परिहास धारण करनेवाले, एवं सरस हँसनेवाले श्रीकृष्ण के पीछे पीछे दौड़ता हुआ, उपद्रव करता हुआ, एवं छलाँग मारता हुआ, वह कालयवन शक्तिहीन हो गया ॥५१॥

उस समय कालयवन की सेना के ये तीन करोड़ यवन श्रीकृष्ण के दौड़ने के मार्ग में निविडता को प्राप्त हो गये थे, अर्थात् खचाखच भर गये थे। और उनका राजा कालयवन श्रीकृष्ण के पीछे दौड़ पड़ा तो भी, बकारि श्रीकृष्ण किसी से भी न छूये गये ॥५२॥

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उसके बाद मथुरा से दक्षिणदिशा की ओर जो धवलपुर (धौलपुर) है उसके निकट ही, पश्चिमदिशा में दिखाई देनेवाले पर्वत के निकट जाकर, कालयवन के द्वारा फटकार खाकर भी निर्भय होकर, उस पर्वत की गुफा के निकट जाकर, अपने कार्य को लक्ष्य बनाकर, सर्वोत्तम श्रीकृष्ण उस गुफा में प्रविष्ट हो गये। उसी समय उनके रोकने के लिए इच्छा करता हुआ म्लेच्छराज "तू अब कहाँ जायगा ?" इस प्रकार फटकारता हुआ पीछे से प्रविष्ट हो गया। प्रवेश करता हुआ वह मूर्ख कालयवन, वहींपर सोते हुए अत्यन्त लम्बे चौड़े किसी पुरुष को, क्रोध से श्रीकृष्ण ही समझता हुआ, यह बोला कि—थाली के छिद्र में प्रवेश करने योग्य तैल आदि की तलछट की तरह विलीयमान होकर, तू भीतर से स्वच्छ व्यक्ति की तरह सो रहा है। यह कहते कहते ही कालयवन ने मद के कारण, अपने पैर से (सोते हुए पुरुष को) जोर से ठोकर मारी। ठोकर मारते ही, उस सोनेवाले

"अथ सर्वे सोच्छ्वासमपृच्छन्,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—'ततश्च भवतां जीवन-रूपः स च लघु लघु सचमानस्तामेव तस्य दृष्टिममृतवृष्टिमिव परामृष्टवान् ॥'५४॥

"उपनन्द उवाच,—'तदिदमहो ! अन्धकवर्त्मकीयं जातम् । यस्मान्मुचुकुन्दनामा भगवद्भक्तिधामा तत्र निद्रायते। तं च जागरयंस्तद्दृष्ट्या प्लुष्टीभविष्यतीति किंवदन्ती यासीदेषा तदैव दैवघटिता जातेति। किन्तु सेयं च येन ज्ञात्वा किल प्रत्यक्षीकृत्य सम्प्रत्यन्वक्षीकृता तस्य कथ्यतामन्यापि दामोदरस्य रहस्यचातुरी-सुरीतिता ॥'५५॥

"दूतावूचतुः,—'आस्तां तावदस्य चातुरी, एका माधुरी सर्वमसीमवशीकरोति ! तत्र माधुरी वर्णना तु भवत्सु न युक्ता, पुनरुक्ता हि सा भवेदिति ॥५६॥ 'तथा हि—

तदसितघनलक्ष्म्यां चातकास्ते भवन्त,-स्तदवयवविचित्रश्रीचये दिव्यनेत्राः ।
तदतिगुणसुधानां स्वादने देववर्या, व्रजकुलपतयः किं तस्य वः श्रावणीयम् ? ॥५७॥

'तत्र तस्य परमवृद्धस्य च तत्र समृद्धसार्द्रतामयं वचनं कर्णे विरचयत,—

स्फुटिततरखराग्रग्रावखण्डातितीक्ष्णे, पटुतरकटुजाग्रत्कण्टक-व्राततीव्रे ।
स्थपुटगिरितटान्तः स्निग्धनीलाङ्ग ! पद्भ्यां, नवकमलमृदुभ्यां हा कथं भ्राम्यसि त्वम् ?'५८

पुरुष की दृष्टिरूप विष की वृष्टि से, तत्काल भस्मीभूत हो गया। उस कौतुक को देखने की तृष्णावाले श्रीकृष्ण तो वहींपर छिपकर देखते रहे ॥५३॥

तदनन्तर सभी व्रजवासी लम्बे श्वास लेकर पूछने लगे—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उसके बाद आप सबके जीवनस्वरूप श्रीकृष्ण, धीरे धीरे निकट आते हुए, उस सोनेवाले पुरुष की विष की वृष्टि करनेवाली उसी दृष्टि को अमृत की वृष्टि की तरह विचारने लगे ॥५४॥

श्रीउपनन्दजी बोले—अहो ! यह तो अन्ध परम्परा सी ही हो गई। कारण—भगवद्भक्ति का स्थान-स्वरूप श्रीमुचुकुन्द नामक राजा वहाँपर सो रहा था। "उसको जगानेवाला व्यक्ति उसकी दृष्टि से दग्ध हो जायगा", ऐसी जो किंवदन्ती सुनी जाती थी, यह तो उसी समय दैवयोग से संघटित हो गई। किन्तु वही किंवदन्ती जिन श्रीकृष्ण ने जानकर, प्रत्यक्ष करके, अपने प्रति अनुगत कर ली। उसी दामोदर की दूसरी रहस्यमयी चातुरी की सुरीति के भाव को कह दो ॥५५॥

दोनों दूत बोले—इन दामोदर की चातुरी को तो दूर रहने दो। क्योंकि इनकी केवल माधुरी ही सबको अपरिमित वशीभूत कर लेती है। उसमें भी माधुरी का वर्णन करना तो आप सबके निकट उचित नहीं। क्योंकि आप सब व्रजवासियों के द्वारा प्रतिक्षण देखी हुई, श्रीकृष्ण की माधुरी पुनः वर्णन करनेपर, पुनरुक्त दोष से दूषित हो जायगी ॥५६॥

देखो, हे व्रजकुल रक्षको ! आप सबके आगे श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में क्या सुनाने योग्य है ? अर्थात् कुछ भी नहीं। क्योंकि उन घनश्याम की अपूर्व शोभा के निरीक्षण में वे आप सब चातकों के समान हो, और उनके अङ्ग प्रत्यङ्ग की विचित्र शोभारूप सम्पत्ति को एकत्रित करने में दिव्य नेत्रोंवाले हो, एवं उनकी अतिशय गुणरूप सुधाओं के आस्वादन करने में आप सब देवश्रेष्ठ हो ॥५७॥

अतः इस पर्वत की गुफा में परमवृद्ध श्रीमुचुकुन्द के श्रीकृष्ण के विषय में कहे गये, बढ़े हुए स्नेह से भरे हुए वचन को कर्णगोचर करो। यथा—हे स्निग्धनीलाङ्ग ! श्यामसुन्दर ! हाय ! विशेष फूटे हुए एवं तीखे अग्रभागवाले पत्थर के टुकड़ों से अत्यन्त तीक्ष्ण, तथा (दूसरे के पैरों में लगने में) विशेष चतुर कड़ुए

"अथ तदेतद् दूतवर्ण्यमाणमाकर्ण्य लब्धकरुणासज्जना व्रजसज्जनाः क्षणकतिपयं रोरुदामासुः; रुदित्वा च सगद्‌गदमूचुः—'ततस्ततः ?' ॥५९॥

"दूतावूचतुः—'अथ समुद्‌बुद्धभावः स महानुभावस्तस्य विशेषं प्रष्टुं निजविशेषं सुष्ठु कथयामास। 'कथिते च तस्मिन् कृतस्मितः कृष्णः स्वविशेषमपि यथायथं तस्य कर्णयोः श्लेषयामास। तदेवं मिथः स्निग्धताविद्धयोर्द्वयोः स तु मुचुकुन्दः सर्वत्र विरज्य मुकुन्द एवासंज्य तत्सङ्ग एव स्वमङ्गलमिति तमेव ययाचे। मुकुन्दस्तु तत्र तदिष्टं सहसा नाकल्पिष्ट, किन्तु कालविलम्बमालम्बिष्ट; यत्र च कारणं विचारयतामस्माकं 'तद्धि जानन्ति तद्विदः' इत्येव मनस्यावर्तते, 'दुर्लभः खलु भवत्कुलचन्द्रमःसङ्गः' इति च ॥६०॥

'यतः, शान्ततां यद्यपि प्राप्तः स तेनैकान्तितामपि।
अदर्शदेव तं तस्य स्पर्शमात्रं न चासदत् ॥६१॥

"व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः—'ततः स तु तदधिगम्य मुहुः प्रणम्य पुनस्तदुपासनायामेव वासनां विधाय तपसे समुपसेदिवान्, यत्र कृष्ण-सङ्गाय कृष्णसङ्गाय एव सततमासीत् ॥६२॥

एवं फैले हुए कण्टकसमूह से असह्य, ऐसे ऊँचे नीचे विषम गिरितट के भीतर, आप नवीनकमल के समान कोमल चरणारविन्दों से किस प्रकार भ्रमण कर रहे हो ? ॥५८॥

तदनन्तर इन दूतों के द्वारा वर्णित हुए वचन को सुनकर, करुणरस के सम्मेलन को प्राप्त हुए व्रज के सज्जन, कुछ क्षणोंतक विशेष रोते रहे। रोने के बाद गद्‌गद होकर बोले—उसके बाद, उसके बाद ? ॥५९॥

दोनों दूत बोले—उसके बाद जिनका भावविशेष जागृत हो गया था वे महानुभाव मुचुकुन्द, श्रीकृष्ण की विशेषता पूछने के लिए अपनी विशेषता को भली प्रकार कहने लग गये। मुचुकुन्द के अपने जन्मादि की विशेषता कह देनेपर, श्रीकृष्ण ने भी मुसक्याकर अपनी विशेषता यथायोग्य मुचुकुन्द के कर्णगोचर कर दी। अतएव इस प्रकार आपस में दोनों के ही स्नेह के भाव में बिंध जानेपर, उस मुचुकुन्द ने तो सभी विषयों से विरक्त होकर, श्रीमुकुन्द में ही आसक्त होकर, श्रीकृष्ण का सङ्ग ही निज मङ्गलप्रद है यह मानकर, श्रीकृष्ण से उसी की याचना की। श्रीकृष्ण ने तो वहाँपर मुचुकुन्द की इच्छापूर्त्ति की तत्काल कल्पना नहीं की, अर्थात् अपना सङ्ग सहसा नहीं दिया। किन्तु (एक जन्म के) समय के बिलम्ब का अवलम्बन कर लिया। जिस विलम्ब के विषय में विचार करते हुए हम लोगों के मन में तो "श्रीकृष्ण के तत्त्ववेत्ता जन ही विलम्ब के कारण को जानते हैं" बस, यही बात घूमती रहती है। क्योंकि आपके कुलचन्द्र श्रीकृष्णचन्द्र का सङ्ग परमदुर्लभ ही है ॥६०॥

कारण—यद्यपि वह मुचुकुन्द श्रीकृष्ण से शान्तभाव को एवं ऐकान्तिकभाव को भी प्राप्त कर, केवल श्रीकृष्ण का दर्शन ही कर पाया, तथापि उनके स्पर्शमात्र को भी प्राप्त न कर पाया, अतः सङ्ग तो दुर्लभ ही रहा ॥६१॥

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—तदनन्तर मुचुकुन्द तो श्रीकृष्ण के स्पर्श को पाकर, बारंबार प्रणाम कर, पुनः श्रीकृष्ण की उपासना में ही वासना लगाकर, तप के लिए चल दिये। एवं जिस तप में भी श्रीकृष्ण के सङ्ग के लिए, निरन्तर श्रीकृष्ण के गुण नामादि गायन करनेवाले ही हो गये ॥६२॥

'तदेवं यावच्छ्रीकृष्णेन कालयवनः स जिग्ये, तावत्तदग्रजेन मथुरा दिग्ये ॥६३॥

'अथ मथुरा-नाथस्तु रथादिसामग्रीं स्मरणमात्रादग्रीयां कुर्वन्नागत्य तु पाञ्चजन्यं दध्मौ—कालः काल-वशं यात इति ॥६४॥

'ध्माते च तत्र श्रीबलभद्रश्च किं कुर्मस्तद्विधेहि न इति स्व-शङ्ख-नादसङ्करतया निष्क्रान्तः। निष्क्रान्ते च तस्मिन्नसौ पुनः शङ्खं दध्मौ—हत तुच्छानिमान् म्लेच्छान् हलेन मुसलेन चेति ॥६५॥

'ततः श्रीरोहिणीनन्दनः स्वमुसलाघातानन्दमारब्धवान्। श्रीमन्नन्दनन्दनश्च नन्दकाघातसुखव्रातमिति स्थिते न तु वयं ज्ञातवन्तस्तदा कदा पुनरश्वादिमिश्रास्तिस्रोऽपि म्लेच्छानां कोटयः कृत्ता वृत्ता इति। तत्र तु हन्यमानानां तेषामगण्यमानानां यत् म्लेच्छितम् तत् केवलमुच्चारणत एव यदुवीरान् स्माययामास, न पुनरर्थतः, स हि दुर्बोध एवेति ॥६६॥

'ततश्च, छिन्नैर्भिन्नैस्तुरुष्काणां मूर्धभिर्द्राढिकावृतैः।
तस्तरे धरणिस्ताललक्षैरिव समक्षिकैः ॥'६७॥

"व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः?' "दूतावूचतुः,—'ततश्च तेषां यत्र कुत्र पतितानि शरीराणि क्षेप्तुं धनानि च संक्षेप्तुं यदा ताभ्यां युक्ता जना नियुक्तास्तदा तु मन्त्रि-वरमुद्धवं निजागमनानुज्ञापनप्रार्थनं श्रावयित्वा तस्मादिमां कथां श्रुत्वा श्रीकृष्णप्रस्थपिताभ्यां निज-

---

इस प्रकार श्रीकृष्ण ने जबतक वह कालयवन जीत लिया, तबतक श्रीबलदेवजी ने मथुरा की रक्षा की ॥६३॥

पश्चात् मथुरानाथ श्रीकृष्ण ने तो स्मरणमात्र से अपने रथ आदि की सामग्री को आगे करके, मथुरा में आकर "कालयवन काल के वशीभूत हो गया" यह कहकर, पाञ्चजन्यशंख बजा दिया ॥६४॥

शंख के बजाते ही, श्रीबलदेव भी अपने शंख में "हम क्या करें, हमारे लिये कहिये ?" यह कहकर अपने शंखनाद के सम्मेलनपूर्वक मथुरा से निकल पड़े। और उनके निकलते ही, श्रीकृष्ण ने पुनः अपने शंख में "इन तुच्छ म्लेच्छों को अपने हल एवं मूसल से मार डालो" यह कहते हुए अपना शंख बजा दिया ॥६५

तदनन्तर श्रीरोहिणीनन्दन ने अपने मूसल के आघात का आनन्द आरम्भ कर दिया। और श्रीमान् नन्दनन्दन ने अपने नन्दक नामक खड्ग के आघात का सुखसमूह आरम्भ कर दिया। ऐसी स्थिति में तो हम उस समय यह भी नहीं जान पाये कि, उन म्लेच्छों की घोड़े आदि से मिली हुई तीन करोड़ सेनाएँ कब कट गईं। किन्तु वहाँपर मारे जानेवाले अपरिमित उन म्लेच्छों का अपनी भाषा में जो म्लेच्छ व्यवहार था, वह केवल उच्चारण से ही यदुवीरों को चकित कर रहा था, किन्तु अर्थ से नहीं। क्योंकि म्लेच्छभाषा का अर्थ तो दुर्बोध ही था ॥६६॥

उसके बाद मक्खियों के सहित लाखों ताल फलों के द्वारा धरती जिस प्रकार ढक जाती है, उसी प्रकार दाढ़ी से घिरे हुए एवं छिन्नभिन्न हुए, उन तुरकों के मस्तकों से युद्ध की भूमि ढक गई ॥६७॥

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उसके बाद जहाँतहाँ पड़े हुए म्लेच्छों के शरीरों को फेंकने के लिए, एवं उनके धनों का संग्रह करने के लिए, श्रीकृष्ण-बलदेव के द्वारा इस कार्य में उचित जन जब नियुक्त कर दिये, तब तो मन्त्रिश्रेष्ठ उद्धव के द्वारा अपने आगमन के विज्ञापन की प्रार्थना को सुनवा कर, उद्धव के द्वारा ही इस कथा को सुनकर, श्रीकृष्ण के द्वारा भेजे हुए एवं अपने संग में रखे

सङ्केऽवस्थापिताभ्यामाभ्यां दूताभ्यां सह भवत्पद-सदनमासादयाव। किन्तु ज्ञातभवद्वृविक-वृत्ताविमौ शीघ्रमेवानुज्ञातव्यौ; यथाऽऽभ्यां राम-रामानुजौ सान्त्वयितव्यौ स्याताम् ॥६८॥

"तदेतच्छ्रवसि योजयित्वा तौ भोजयित्वा वस्त्रालङ्कारादिना रोचयित्वा निजदूताभ्या-मन्याभ्यां सह सन्यायं व्रजपतिना प्रस्थापिताविति ॥६९॥

"अथ सम्प्रति सम्प्रतिपन्नशुश्रूषावेशेन व्रजेशेन सन्देशेन यौ दूतौ योजितौ, यौ च यदुव्रजेशेन तौ च तौ च मधुरजनपुण्यं मधुपुरं शून्यमेवावलोच्य भृशमनुशोच्य व्रजमेवाव्रजित-वन्तौ, पथि तु श्रुतवन्तौ,—'जरासुतः श्रीकृष्णरामावनुद्रुतः सन् द्वारका-दिशं विशति स्म' इति ॥७०॥

"ततश्च श्रीकृष्ण-दूतौ तद्वार्तासतृष्णतया द्वारकापथमेव जग्मतुः। व्रजपति-दूतौ तु विशेषं श्रावयितुं श्रोतुं च व्रजमेवाजग्मतुर्व्रजमागत्य तदेव कथयामासतुश्च। कथिते तु तस्मिन् व्रजराजादयः समस्ता व्यग्रताग्रस्ता बभूवुः। तदलं तस्य वर्णनेनाकर्णनेन च ॥७१॥

'अथ द्वारकादिशमेव प्रस्थापितयोस्तयोरन्ययोरन्ययोरपि दूरगततया झटित्यनागतयो-र्दुर्गतिमये दिनकतिपये च लब्धव्यत्यये शतयोजनव्राजिनौ वाजिनौ समारुह्य प्रसन्नताजुषौ कौचित् पुरुषौ समागतौ। समागम्य च श्रीव्रजराजचरणराजीवं पुरतः प्रणम्य रम्यमिदं

हुए, इन दोनों दूतों के साथ हम दोनों दूत, आपके चरणरूप गृह को प्राप्त कर पाये हैं। किन्तु आप सबके कुशल वृत्तान्त को जाननेवाले इन दोनों दूतों को (मथुरा जाने के लिए) शीघ्र ही अनुमति दे दीजिये कि, जिस प्रकार इन दोनों के द्वारा श्रीकृष्ण-बलदेव सान्त्वना से युक्त कर दिये जा सकें ॥६८॥

श्रीव्रजराज ने पूर्वोक्त वचन कर्णगोचर करके, उन दोनों दूतों को भोजन कराकर, वस्त्र अलंकार आदि से सजाकर, अपने दूसरे दो दूतों के सहित, न्यायपूर्वक भिजवा दिया ॥६९॥

तदनन्तर इस समय कृष्णसन्देश सुनने की इच्छा के आवेश को प्राप्त होनेवाले, या दूतों के सम्मान के आवेश को प्राप्त होनेवाले श्रीव्रजराज ने, अपने सन्देश के सहित जो दो दूत नियुक्त किये थे, एवं यादव-समुदाय के अधिपति श्रीकृष्ण ने जो दो दूत नियुक्त किये थे, वे वे दोनों दूत, मधुरजनों के पुण्यप्रद मधुपुर (मथुरा) को सूना ही देखकर, अधिक शोक करके व्रज में ही लौट आये। उन्होंने मार्ग में तो यह समाचार सुना कि—जरासन्ध, श्रीकृष्ण-बलदेव के पीछे पीछे दौड़ता हुआ द्वारका की दिशा में प्रविष्ट हो गया ॥७०॥

पश्चात् श्रीकृष्ण के दोनों दूत, श्रीकृष्ण के द्वारका प्रवेश की बात से तृष्णायुक्त होकर, द्वारका के मार्ग में ही चल दिये। श्रीव्रजराज के दोनों दूत तो विशेष बात सुनाने को एवं सुनने को व्रज में ही चले आये। व्रज में आकर उन्होंने वही वृत्तान्त कह दिया। उस वृत्तान्त के कहते ही, श्रीव्रजराज आदि सभी व्रजवासी व्यग्रता से ग्रस्त हो गये, अर्थात् व्याकुल हो गये। इसलिए उस वृत्तान्त के कहने सुनने से कोई प्रयोजन नहीं है ॥७१॥

उसके बाद द्वारका की दिशा में भेजे हुए वे दोनों दूत, एवं दूसरे अन्य दो दूत, दूरदेश में जाने के कारण, जब शीघ्र नहीं आये, एवं दुर्दशामय कुछ दिन जब व्यतीत हो गये, तब सौ योजन जानेवाले दो घोड़ोंपर चढ़कर, प्रसन्नता से युक्त कोई दो पुरुष आये। और आते ही श्रीव्रजराज के चरणकमल के सामने प्रणाम करके, दोनों जनों ने यह रमणीय वृत्तान्त निवेदन किया कि, परममङ्गलयुक्त एवं मनोहर बलयुक्त,

निवेदयामासतुः,—'परम-मङ्गल-सङ्ग-लवणिमबलवद्बलबलानुजौ कृतशात्रवरुजौ तत्रभवत्सु चरणप्रणिपाताऽऽचरणपुरःसरं विज्ञापयतः स्म ॥'७२॥

"अथ तदेतन्मात्रं कर्णपात्रं विधाय सपुलकगात्रं सर्वेऽपि प्रोचुः,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—'तद्विज्ञापनं त्विदं विज्ञायताम्,—वयमत्र निःश्रेयसमिश्रतया शत्रुदुर्गमं द्वारकाख्यं दुर्गं सङ्गताः; यत्र दृष्टमदृष्टं च भयं न दृष्टं भविता; तथापि तत्रभवतां भविकमेवास्माकं भविकाय भवितेति तन्निःसन्दिग्धं सन्दिश्य वयमानन्दनीया इति ॥७३॥

'विशेषतस्त्विदमनुजः सगद्गदं निवेदयामास,—

'सम्बन्धेन ममात्मजस्य बहुशस्तान् पूतनाद्याचिता-
नुत्पातान् बत यूयमापुरसतः श्रीगोकुले तत्र च ।
पुर्यां तत्र च मागधादियवनप्रान्ताहृतानित्यतः
कालं क्षेप्तुमिहागमं द्रुतमितः प्राप्तं तु जानीथ माम् ॥'इति ॥७४॥

"तदेवं सम्यग् निशम्य स गोपाधिपतिरुवाच,—'दिष्ट्या तादृशं दुर्गमधिष्ठानमनुष्ठितम्, यद्गोकुलमिव माथुरं पुरमपि भयाकुलं भाति । भवतु, पश्चाद्विशेषं प्रक्ष्यामः, सम्प्रति तु भोजनाय ताविमौ योजयथ ॥'७५॥

राम-कृष्ण दोनों भ्राता शत्रुसमूह को पीडित करके, पूज्यपाद आप सब वृद्धजनों के श्रीचरणों में नमस्कार आचरणपूर्वक निवेदन करते हैं—॥७२॥

पश्चात् इतनी बात ही कर्णगोचर करके, सभी रोमांचित शरीर से बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—दोनों भाइयों के इस निवेदन को तो समझ लीजिये कि—हम सब यहाँपर मुक्ति से मिश्रित होने के कारण, शत्रुओं के दुर्गम द्वारका नामक किले को प्राप्त कर चुके हैं । जिसमें दृष्ट एवं अदृष्ट किसी प्रकार का भय दृष्टिगोचर न होगा । तथापि पूज्यपाद आप सबका मङ्गल ही हमारे मङ्गल के लिए हो जायगा । अतः निःसन्देह उस मङ्गल का सन्देश देकर हमको आनन्दित कीजिये ॥७३॥

विशेष करके श्रीकृष्ण ने तो गद्गद होकर यह निवेदन किया है कि—हे पिताजी ! मैं आपका पुत्र हूँ, आप सब मेरे सम्बन्ध से श्रीगोकुल में, एवं व्रज के वृन्दावनादि स्थलों में, क्रमशः पूतना आदि एवं वत्सासुर आदि के द्वारा, फैलाये हुए बुरे बुरे उन उत्पातों को, बहुतबार प्राप्त कर चुके हो । और उस मथुरा में भी जरासन्ध से लेकर कालयवनपर्यन्त, फैलाये हुए उपद्रवों को बार बार प्राप्त कर चुके हो । इसलिए मैं तो कालक्षेप, अर्थात् समय बिताने के लिए ही द्वारका में चला आया हूँ । आप तो मुझको द्वारका से व्रज में शीघ्र आया हुआ ही जान लो ॥७४॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण के सन्देश को अच्छी तरह सुनकर, गोपराज श्रीनन्दजी बोले—बड़े आनन्द की बात है, जो कि उन्होंने उस प्रकार का किला अपना निवासस्थान बना लिया । क्योंकि गोकुल की तरह मथुरापुरी भी भयाकुल प्रतीत हो रही है । अच्छा, विशेष बात तो पीछे पूछेंगे । अब तो इन दोनों दूतों को भोजन के लिए नियुक्त कर दो ॥७५॥

"अथ भोजनानन्तरं सर्वैः सहोपविश्य कृष्णवृत्तान्तश्रवणायाविश्य तौ स महेच्छः पप्रच्छ,—'कथ्यतां कथं कथं द्वारका-पथं तावाश्रितौ ?' इति ॥७६॥

"दूतावूचतुः,—'आवां खल्विमौ श्रीमदुद्धवदासतामध्यास्वहे; आश्रितयदुपत्यादेशात्तदुपदेशादेव च सन्देशं वः सदेशं प्रवेशयितास्वहे। यदा म्लेच्छानां धनानि न स्वेच्छाविषयीकृतानि, किन्तु राजद्रव्याणीति रक्षितानि, तदा पूर्ववदन्धताकल्पसन्धस्य जरासन्धस्यागमनं लक्ष्यं विधाय तानि त्यक्ष्यद्भ्यां सम्प्रति तु द्वाभ्यामपि ताभ्यां पलायनकुतूहलमारब्धम्। आरभ्यमाणे च तस्मिन्नसौ सदेशमेवाविवेश, आविष्टे च तस्मिन्ननिष्टे श्रीकृष्णस्त्विदमाबभाषे,—॥७७॥

अस्माभिर्बहुधासि हन्त विधृतस्त्यक्तश्च तस्मात् पुन-
स्तत् कर्तुं त्रपया न शक्तमिति चेद्धन्तुं विदूरे स्थितिः।
तस्मान्मागध ! विद्रवोऽद्य रचितः किं त्वत्र चास्ति स्फुटं
शक्तिस्ते यदि नौ जितौ कुरु न वा सम्प्रत्यपि त्वं जितः ॥७८॥

'तदेवमुक्त्वा द्रवकेलिपरिहासानामेकार्थतामित्थमपि प्रथयति स्म। यत्र स्वकटकं पृष्ठत एव मुक्त्वा तद्रक्षणाय परकटकमध्यमन्वात्मानं युक्त्वा तत्पृष्ठ-वर्त्मना विद्रुतं सराममाधवं स मागधराडनुदुद्राव। न केवलं स एव, किन्तु रथकड्यादित्रयोविंशत्यक्षौहिणि च ॥७६॥

भोजन करने के अनन्तर सभी के साथ सभा में बैठकर, एवं श्रीकृष्ण के वृत्तान्त सुनने को आवेश में भरकर, बड़े अभिप्रायवाले श्रीनन्द ने दोनों दूतों से पूछा कि—कहिये, उन दोनों भाइयों ने द्वारका के मार्ग का आश्रय कैसे कैसे लिया ? ॥७६॥

दोनों दूत बोले—भगवन् ! हम दोनों तो श्रीमान् उद्धवजी की दासता को प्राप्त हो गये। अतः हमारे द्वारा आश्रित श्रीकृष्ण के आदेश से एवं उद्धव के उपदेश से उनके सन्देश को आप सबके निकट प्रदान करेंगे। देखो, यदुवंशियों ने उन म्लेच्छों के धन जब अपने लिए स्वेच्छा के विषय नहीं बनाये, किन्तु "ये राजद्रव्य हैं" इस भाव से जब उनकी रक्षा की जा रही थी, उसी समय पहले की भाँति अन्धपरम्परा की सी प्रतिज्ञावाले, जरासन्ध के आगमन को देखकर, उन धनों को छोड़नेवाले, उन दोनों भाइयों ने इस समय तो भागने का कुतूहल आरम्भ कर दिया। उस कुतूहल के आरम्भ होते ही, वह जरासन्ध निकट ही आ गया। उस अनिष्टकारी जरासन्ध के निकट आते ही, श्रीकृष्ण तो यह बोले— ॥७७॥

हे जरासन्ध ! बड़े हर्ष की बात है कि, हमने पहले तुमको बहुतबार पकड़ लिया और छोड़ दिया। इसलिए पुनः लज्जा के कारण, हम उस पकड़ा पकड़ी के करने को यदि समर्थ नहीं हैं, तब तेरे मारने की स्थिति तो दूर रही। अर्थात् जिसको बारंबार पकड़ के छोड़ दिया, उसको मारना ठीक नहीं। अतः तुझको हराना ही हमारा लक्ष्य है। इसलिए आज तो दौड़ना ही जय पराजय के दावपर रच दिया है। किन्तु इसमें भी यह बात स्पष्ट है कि, यदि तेरी शक्ति है तो हमारे पीछे दौड़कर, हम दोनों को पकड़ कर भी पराजित कर ले। यदि ऐसा न कर सकेगा तो तू अब भी पराजित ही है ॥७८॥

श्रीकृष्ण ने इस प्रकार कहकर द्रव, केलि, परिहास इन तीन शब्दों की एकार्थता इस प्रकार भी, अर्थात् दौड़कर भी विख्यात कर दी। और जहाँपर अपनी सेना को पीछे ही छोड़कर उसकी रक्षा के लिए, शत्रु की सेना के बीच में अपने को नियुक्त कर, उसके पीछे के मार्ग से दौड़े हुए श्रीबलराम के सहित

'द्रुतमन्वगसातां वा, मागधराजेन वागधःस्थेन ।
समगंसातां न तरां, कंसारातिप्रलम्बारी ॥८०॥

'तथा हि—

यदा मागधसेनान्तस्तौ विदुद्रुवतुः स्फुटम् । विद्युत्प्रायौ तदा दृष्टौ न स्पृष्टौ तत्र केनचित् ॥८१॥
पदे पदे स्पृशत्प्रायः प्रदुद्राव स मागधः । कल्पकोटिभिरप्राप्यतया दुद्रुवतुस्तु तौ ॥८२॥
अक्षौहिण्यः परिश्रान्ता न तु शश्राम मागधः । पर्यश्राम्यन्मागधोऽसौ न परिश्राम्यतः स्म तौ ॥८३
हसन्तौ द्रुतवन्तौ तौ गर्जन् दुद्राव मागधः । हर्षस्तयोर्बलं चक्रे क्रुज्ज्वाला तस्य खिन्नताम् ॥८४
पलायमानावपि तावुल्लसन्मुखपङ्कजौ । जिघृक्षन्तमपि ग्लानं वीक्ष्य तं जहसुः सुराः ॥८५॥
मध्ये मध्ये केलिगत्या व्यतिजित्य द्रुतावमू । स तु तस्मिन्नशक्तः सन्नासीद्धिक्कृतजीवनः ॥८६॥
तौ तु पञ्चशतक्रोशीमतीत्यारोहतां गिरिम् । दशैकयोजनोत्तुङ्गं दुरारोहस्त्वनेन यः ॥८७॥
द्विष्पीतदववह्निं तं वह्निनाऽपचिकीर्षवः । दूरादेधांसि ते चित्वाऽदहन्नद्रिं प्रवर्षणम् ॥८८॥

श्रीकृष्ण के पीछे पीछे, वह जरासन्ध दौड़ पड़ा। केवल वह जरासन्ध ही नहीं, किन्तु रथों के समूह आदि तेईस अक्षौहिणी सेना भी पीछे पीछे दौड़ पड़ी ॥७९॥

वाणी के द्वारा पराजित या निन्दित हुए जरासन्ध ने शीघ्र ही दौड़कर, श्रीकृष्ण-बलदेव का अनुगमन तो किया, किन्तु कंसारिकृष्ण एवं प्रलम्बारिबलदेव दोनों किसी प्रकार हाथ न आये ॥८०॥

देखो, जिस समय कृष्ण-बलदेव जरासन्ध की सेना के भीतर स्पष्ट ही दौड़ पड़े, तब वे दोनों प्रायः बिजली की तरह दौड़ते दीखे, किन्तु वहाँपर किसी से छूए न गये ॥८१॥

वह जरासन्ध तो अपने मन में कृष्ण-बलदेव को प्रायः पद-पदपर छूता हुआ सा दौड़ रहा था। किन्तु वे दोनों भाई तो करोड़ों कल्पों से भी न प्राप्त होने के भाव से दौड़ रहे थे ॥८२॥

सारी अक्षौहिणी सेनाएँ तो थक गई थीं, किन्तु जरासन्ध दौड़ते दौड़ते नहीं थका था। और जब यह जरासन्ध भी थक गया था, तब भी श्रीकृष्ण-बलदेव नहीं थके थे ॥८३॥

हँसते हँसते दौड़ते हुए उन दोनों के पीछे, जरासन्ध गर्जना करता हुआ दौड़ रहा था। उस समय कृष्ण-बलदेव का हर्ष उनके बल को बढ़ा रहा था, एवं क्रोध की ज्वाला जरासन्ध की खिन्नता को उत्पन्न कर रही थी ॥८४॥

उस समय उन दोनों भाइयों को दौड़ते हुए भी खिले हुए मुखकमलवाले देखकर, एवं जरासन्ध को उनके पकड़ने की इच्छावाले होनेपर भी, हर्षरहित देखकर देवता हँसने लग गये ॥८५॥

वे दोनों भाई तो बीच बीच में क्रीडा की गति से आपस में जीतकर दौड़ रहे थे। किन्तु वह जरासन्ध तो उस विषय में असमर्थ होकर, धिक्कारयुक्त जीवनवाला हो गया ॥८६॥

वे दोनों भाई तो पाँचसौ कोस के मार्ग को लाँघकर, ग्यारह योजन ऊँचे उस (प्रवर्षण नामक) पर्वतपर चढ़ गये, जो कि जरासन्ध के चढ़ने योग्य न था ॥८७॥

पश्चात् जिन श्रीकृष्ण ने व्रज में दोबार दावानल का पान कर लिया था, उन्हीं श्रीकृष्ण का साधारण अग्नि के द्वारा अपकार करने की इच्छावाले, जरासन्ध के सेवकों ने दूर दूर से लकड़ियाँ इकट्ठी करके, प्रवर्षणपर्वत को जला दिया ॥८८॥

प्रतीयेत न वा वार्ताहर्ता सत्यन्तु भाषते। उत्प्लुत्य तस्मादद्रेस्तावुपद्वारकमारतुः ॥८९॥
विहङ्गमादिसत्त्वानामुत्प्लवः सम्भवत्यपि। परैरलक्षितत्वं तु लक्षितं केवलं तयोः ॥९०॥
न दूरात् पतितत्वेऽपि कोऽप्यभूद्विक्लवस्तयोः। हसन्तावेव तौ यस्माद्द्वारका-द्वारि वीक्षितौ ॥९१
बद्धकेशांशुकौ तर्हि स्वेदोद्यद्वदनांशुकौ। अव्यग्रौ सममेवास्तामभ्यग्रौ निखिलस्य तौ ॥'९२॥

"व्रजराज उवाच,—'जरासन्धादयः पापिनस्तदापि निवृत्ताः!' "दूतावूचतुः,—

'जरासन्धादयो दृष्ट्या तर्ह्यन्धा नाभवन् परम्।
किन्तु बुद्ध्यापि यत्तस्मिन्मेनिरे विपरीतताम् ॥९३॥

हरिमनु विपरीतभावनायां, सुखमगमन् यदमी जरा-सुताद्याः।
चरकृतनहिकारतस्तदासी,-दसुखमघादुदितं यदित्थमेव ॥९४॥

'तदा चान्धायमाना जरासन्धादयस्तु—

गत्यागतिभ्यां ते तत्र तृषार्ता मरुवर्त्मनि।
अल्पे कृच्छ्राद् गताः सद्म स्वस्यानल्पे मृतेशितुः ॥९५॥

'किं बहुना? म्लेच्छ-धनानि च तानि पुनर्नानुसन्दधुर्यानि खलु क्रमाद् द्वारकायामेव पर्युपशोभारचनाय पर्यवसितानीति पर्यकलयन्ति ॥'९६॥

सुननेवालों को विश्वास हो या न हो, किन्तु वहाँ का दूत तो सत्य ही कह रहा है कि, वे दोनों श्रीकृष्ण-बलदेव तो उस पर्वत से कूदकर द्वारका के निकट ही आ गये ॥८९॥

आकाश में उड़नेवाले पक्षी आदि जन्तुओं का उड़ना तो होता भी है, किन्तु दूसरों को न दिखाई देनेवाला उड़ना तो केवल कृष्ण-बलदेव का ही देखा गया ॥९०॥

उन दोनों भाइयों को दूर से कूदनेपर भी कोई ग्लानि उत्पन्न नहीं हुई। क्योंकि वे तो द्वारका के दरवाजेपर हँसते ही दिखाई दिये ॥९१॥

तथा वे दोनों भाई व्याकुलता से रहित होकर, एकसाथ सभी के निकट उपस्थित हो गये। उस समय उनके केश एवं वस्त्र बँधे हुए थे, तथा मुख की प्रभा स्वेद बिन्दुओं से शोभा पा रही थी ॥९२॥

श्रीव्रजराज बोले—जरासन्ध आदि पापीलोग तब भी वहाँ से लौटे कि नहीं? दोनों दूत बोले—उस समय जरासन्ध आदि पापीजन केवल दृष्टि से ही अन्धे नहीं हुए थे, किन्तु बुद्धि से भी अन्धे हो गये थे। कारण—वे श्रीकृष्ण में विपरीतभाव मान रहे थे ॥९३॥

वे जरासन्ध आदि दुष्टजन श्रीहरि के प्रति विपरीत भावना होनेपर जिस सुख को प्राप्त हुए, उनका वह सुख तो उनके दूतों के द्वारा किये गये निषेध के कारण, अर्थात् प्रवर्षणपर्वत में आग लगानेपर भी, श्रीकृष्ण-बलदेव का कुछ भी अनिष्ट नहीं हुआ, दूतों के ऐसे वचनों से दुःखरूप में परिणत हो गया। क्योंकि जो सुख, पाप से उत्पन्न होता है, वह इसी प्रकार दुःखरूप में परिणत हो जाता है ॥९४॥

उस समय अन्धों का सा आचरण करते हुए, जरासन्ध आदि तो मरे हुए कालयवन के बहुत से धन के पड़े रहनेपर भी प्रवर्षण पर्वततक जाने आने के कारण, उस मरुभूमि के मार्ग में प्यास से पीडित होकर, थोड़ी थोड़ी संख्यावाले होकर बड़े कष्ट से अपने घरपर चले गये ॥९५॥

विशेष क्या कहें? देखो, वे जरासन्ध आदि प्यास के मारे उन म्लेच्छों के धनों का अनुसन्धान भी

"तदेतच्छ्रुत्वा सर्वेषु सास्रं हसित्वा श्वसित्वा च विरमत्सु व्रजराज उवाच,—

'हा तयोश्चरणपल्लवाः कथं, तत्र कर्कशपथे गतिं व्यधुः ?'।

"दूतावूचतुः,— 'स्पर्शमात्रमिव तौ भुवस्तदा, बिभ्रतौ नभसि चक्रतुः प्लुतम् ॥'९७॥

"अथ तदेतन्निवेद्य दूतौ व्रज-सदसः समासादितप्रसादतया प्रभूतौ द्वारकां प्रतस्थाते। प्रस्थानसमये च श्रीमन्नन्दगोपतिनाम्ना समस्तानां च तदनुगतसाम्ना पत्रिका दत्ता ॥९८॥

यथा—"सहामहे त्वद्विरहस्य पीडां, मा तत्र चिन्तां कुरु गोकुलेन्दो !।

अभूम यद्दुर्जनदुर्गमायां, पुर्यां त्वदावाससुखाद् बलिष्ठाः ॥" इति ॥९९॥

अथ स्निग्धकण्ठः समापनमाह स्म,—

"यद्यपि समरे कुतुकी, तदपि त्वरितं हरिर्जघानारीन्।

भवदङ्के स्थितिरेषा, द्रुततरमस्यान्यथा न स्यात् ॥१००॥

क्व प्रवर्षण-गतिः क्व वा हरे,-र्द्वारका-निवसतिश्चिरन्तनी ?।

क्वायमस्मदुदयः स दृश्यतां, श्रीव्रजक्षितिभृदङ्कगस्थितिः ॥"१०१॥

तदेवं श्रीव्रजेन्द्रादीन् सन्तोष्य तत्प्रसादपोष्यतया स्व-सुखप्रथकौ तौ कथकौ कथां रचितवन्तौ ॥१०२॥ "अथ व्रज-वन्दिनश्च तत्र तं साक्षाद्वन्दितवन्तः,—

न कर पाये कि, जो म्लेच्छधन द्वारकापुरी में ही आसपास की शोभा रचना के लिए, अर्थात् बाहरी परकोटा की शोभा बनाने के लिए नियुक्त कर दिये गए। इस बात को शास्त्रतत्त्ववेत्ता कहते हैं ॥९६॥

यह सुनकर सभी श्रोता अश्रुप्रवाहपूर्वक हँसकर एवं श्वास लेकर जब शान्त हो गये, तब श्रीव्रजराज बोले—हाय ! कृष्ण-बलदेव के उन कोमल चरणपल्लवों ने उस कठोरमार्ग में कैसे गमन किया होगा ? दोनों दूत बोले—वे दोनों भाई उस समय मानो भूमि का तो स्पर्शमात्र धारण करते हुए, घोड़े की तरह छलाँग मारकर, आकाश में ही गमन करते रहे ॥९७॥

तदनन्तर दोनों दूत पूर्वोक्त वृत्तान्त निवेदन करके, व्रजराज की सभा से प्राप्त हुए अनुग्रह के भाव से अधिक विशिष्ट होकर, द्वारका को चल दिये। चलते समय सभी व्रजवासियों की श्रीकृष्ण के अनुगत शान्तिमय वचनों से युक्त एक पत्रिका, गोपराज श्रीमान् नन्दजी के नाम से दूतों को दे दी ॥९८॥

उस पत्रिका में श्रीकृष्ण के प्रति यह समाचार था, यथा—हे व्रजप्राणाधार ! गोकुलचन्द्र ! हम सब तुम्हारे विरह की पीडा को सहन कर रहे हैं, तुम उस विषय में किंचिद् भी चिन्ता न करना। कारण—दुर्जनों के दुर्गम उस द्वारकापुरी में तुम्हारे निवास करने के सुख से, हम सब अत्यन्त बलवान् हो गये हैं ॥९९॥

तदनन्तर स्निग्धकण्ठ प्रसङ्ग की समाप्ति का वचन बोला—हे व्रजराज ! देखो, श्रीकृष्ण यद्यपि युद्ध में कौतूहल रखते हैं, तो भी उन्होंने शीघ्र ही समस्त शत्रु मार दिये। अन्यथा, अर्थात् यदि शत्रुओं को शीघ्र न मारते तो, आपकी गोद में श्रीकृष्ण की यह स्थिति अत्यन्त शीघ्र न हो पाती ॥१००॥

और श्रीकृष्ण का प्रवर्षणपर्वत में जाना कहाँ ? एवं चिरकालतक द्वारका में रहना कहाँ ? और यह हमारी उन्नति कहाँ ? कि, जिसके कारण हम दोनों भाई, श्रीव्रजराज की गोद में बैठे हुए उन्हीं श्रीकृष्ण को (गोलोक में) देख पाये हैं ॥१०१॥

ग्रन्थकार कहते हैं कि—इस प्रकार श्रीव्रजराज आदि सभी व्रजवासियों को सन्तुष्ट कर, एवं उनके

'भीष्मक-पुरभागचलितराज-निवह-राज्यवलित ! ।
सर्वविबुधवृन्द-महित ! तत्र च निज-गर्वरहित ! ॥
माथुरपुर-तोषवलन ! ख्यातिकलितशत्रु-दलन ! ।
कालयवनलब्धवृतिक ! कालयवनकालकृतिक ! ॥
स्वापगमनलीलगमन ! केलि-महसि दुष्टशमन ! ।
अन्वयदरिदुर्गमगम ! नर्म-घटनपण्डिततम ! ॥
सङ्गतमुचुकुन्द-सदन ! क्लृप्तसभयकल्पवदन ! ।
विष्टगहनपर्वतदर ! दृष्टशयिततन्नरवर ! ॥
तत्र यवनराडनुगत ! गोपनकरधामनिरत ! ।
तद्‌द्रुतमुचुकुन्दकरुण ! तामसगणदीव्यदरुण ! ॥
शस्त्रितमुचुकुन्द-नयन- निर्मितयवनेशलयन ! ।
तर्षितमुचुकुन्द-हृदय ! भक्त-लषितदानसदय ! ॥
सृष्टयवन-कोटिनिधन ! तत्र च युधि संहतधन ! ।
अङ्ग-मगध-राडनुगत ! त्यक्तघृणिततद्धनशतत ! ॥

अनुग्रह से परिपुष्ट होकर, अपने मुख का विस्तार करनेवाले उन दोनों कथावाचकों ने इस कथा की रचना की ॥१०२॥

पश्चात् व्रज के वन्दीजन (प्रस्ताव के सदृश कहनेवाले) श्रीव्रजराज की सभा में साक्षात् श्रीकृष्ण की स्तुति (सुमधुर स्वर से) करने लग गये। हे व्रजराजपुत्र ! आपकी जय हो ! हे भीष्मकपुर की ओर चलनेवाले ! एवं वहींपर राजाओं के समूह में "क्रथ-कैशिक" के राज्य से युक्त होनेवाले ! तथा समस्त देववृन्द से पूजित होनेवाले ! और पूजित होनेपर भी अपने गर्व से रहित रहनेवाले ! आपकी जय हो ! विदर्भनगरी से लौटकर मथुरापुरवालों को सन्तोष देनेवाले ! एवं प्रसिद्धि को प्राप्त हुए शत्रुओं का दलन करनेवाले ! तथा कालयवन से घिराव को प्राप्त होनेवाले ! और कालयवन की मृत्यु करनेवाले ! प्रभो ! आपकी जय हो ! एवं मथुरापुरी से अपने अकेले ही निकलने की लीला से गमन करनेवाले ! लीलारूप उत्सव में दुष्टों का शमन करनेवाले ! पीछे दौड़नेवाले शत्रुओं के भी दुर्गम चालवाले ! तथा कालयवन एवं जरासन्ध के द्वारा पद पदपर पकड़े जाने के से परिहास करने में अतिशय पण्डित ! आपकी जय हो ! एवं मुचुकुन्द के गुफारूप घर में जानेवाले ! तथा अपने मुख को भयभीत जैसा बनानेवाले ! और पर्वत की गहनगुफा में प्रवेश करनेवाले ! एवं वहींपर सोते हुए नरश्रेष्ठ मुचुकुन्द को देखनेवाले ! प्रभो ! आपकी जय हो ! एवं वहींपर कालयवन के द्वारा अनुगत होनेवाले ! तथा अपने को गुप्त करनेवाले गुफा के गंभीरस्थान में निरत होनेवाले ! और उसी गुफा में विद्यमान मुचुकुन्दपर करुणा करनेवाले ! एवं गुफा के अंधकारसमूह के ऊपर सूर्य का सा प्रकाश करनेवाले ! प्रभो ! आपकी जय हो ! एवं मुचुकुन्द के नेत्रों को शस्त्र बनानेवाले ! तथा उन्हीं नेत्रों के द्वारा कालयवन को भस्म करनेवाले ! और मुचुकुन्द के हृदय को अपने मिलन की तृष्णा से युक्त करनेवाले ! एवं भक्तों की अभिलषित वस्तु के देने में दयालो ! प्रभो ! आपकी जय हो ! एवं वहाँ से लौटकर करोड़ों यवनों का निधन करनेवाले ! तथा उसी युद्ध में धन का संग्रह करनेवाले ! और अङ्ग तथा मगधदेश के राजा जरासन्ध के द्वारा दौड़कर अनुगत होनेवाले ! तथा कालयवन की सेना के बहुत से

पूर्ववदपयानकमन ! मागधनृपजैत्रगमन ! ।
वर्षणगिरि-मूर्धवलन ! उत्प्लुतिजितदावकलन ! ।।
सिन्धुगयदुपत्तनहित ! सर्वभुवनलोकमहित ! ।
साम्प्रतमितगोष्ठनिलय ! गोष्ठ-नृपति-पुत्रक ! जय ।।' इति ।।१०३।।

तदेवं कथावेशवशात् कण्ठनिबद्धं चिन्तामणिमिव तं विस्मृत्य चिन्तातुरानमून् प्रति वन्दिनः स्निग्धकण्ठवदेव तमायत्यां समक्षमनुभाव्य स्वाभाव्यतः श्रीमद्व्रजहिताः श्रीमद्-व्रजराजेन विहितविसर्जिताः सर्वैः सह यथायथं जग्मुः ।।१०४।।

अथ रात्रि-कथायां श्रीराधा-माधव-सदस्यारब्धप्रथायां स्निग्धकण्ठः कथयमास,— "यदवधि स उद्धवः समस्तान् व्रजस्थान् यथायथमाश्वास्य विश्वास्य च यदु-धाम जगाम, तदवधि जातु जातु स्वापे जागरे चैकाकितासमवापे कृष्णस्य साक्षात्कारकल्पस्तान् पुष्णाति स्म; बहुसंहिततायां बहिरनुसंहितिस्तु मथुरास्थितिमनुसंहितां करोति स्मेति । यद्यपि साधारणोऽयं व्यवहारस्तथाप्यस्ति विशेषः । श्रीकृष्णप्रेयसीनां यदा यादृशी वृत्तिर्जायते, तदा तादृशी चिरं गाढमारूढतामूढवती भवति स्मेति ।।१०५।।

घृणित धन को त्यागनेवाले ! प्रभो ! आपकी जय हो ! एवं पहले की तरह, अर्थात् कालयवन के आगे भागने की तरह, अबके भागने में शोभा पानेवाले ! अतएव जरासन्धपर विजय पानेवाली चाल चलनेवाले ! अतएव प्रवर्षणपर्वत के शिखरपर चढ़नेवाले ! तथा छलाँग मारने के द्वारा दावानल को जीतनेवाले ! प्रभो ! आपकी जय हो ! एवं समुद्र में स्थित यादवों की नगरी (द्वारका) का हित करनेवाले ! तथा समस्त भुवनों के लोगों से पूजित होनेवाले ! और इस समय गोष्ठस्थान व्रज को, अर्थात् दिव्यातिदिव्य गोलोक को प्राप्त करनेवाले ! व्रजराजकुमार ! भगवन् ! आपकी सदैव जय जयकार हो ! ।।१०३।।

अतएव इस प्रकार कथा के आवेश के कारण गले में बँधी हुई चिन्तामणि की तरह, निकटवर्ती श्रीकृष्ण को भूलकर, चिन्ता से व्याकुल हुए व्रजवासियों के प्रति, वे स्तुति करनेवाले वन्दीजन स्निग्धकण्ठ की तरह, पीछे श्रीकृष्ण का साक्षात् अनुभव कराकर, अपने स्वाभाविक गुण से शोभायमान व्रज के हितैषी बनकर, एवं श्रीमान् व्रजराज से बिदाई पाकर, सभी सभासदों के साथ यथायोग्य अपने स्थानपर चले गये ।।१०४।।

तदनन्तर श्रीराधा-माधव की सभा में अपनी ख्याति का आरम्भ करनेवाली रात्रि की कथा में स्निग्धकण्ठ बोला—वे उद्धवजी समस्त व्रजवासियों को यथायोग्य आश्वासन देकर, एवं विश्वास दिलाकर जब से मथुरापुरी चले गये थे, तब से तो कभी कभी स्वप्न में, कभी जागृत अवस्था में, एवं कभी एकान्त की प्राप्ति के समय श्रीकृष्ण के साक्षात्कार का कल्प, अर्थात् विधि ही उन व्रजवासियों का पोषण करता रहा ! किन्तु बहुत जनों के समागम में बाह्य अवस्था का अनुसन्धान तो, श्रीकृष्ण की मथुरास्थिति का अनुसन्धान कर देता था । यद्यपि व्रजवासीमात्र का यह साधारण व्यवहार था, तथापि यह विशेषता थी कि, श्रीकृष्ण की प्रियतमा गोपियों की जब जैसी वृत्ति होती थी, तब तैसी ही चित्तवृत्ति अधिक आरूढ़ता को धारण करती हुई मूढवती हो जाती थी ।।१०५।।

"तदा च यदा कमलाक्षः साक्षात्काराय कल्पते, तदा 'बाहुवल्लीवलयितं कलयन्ती निरोत्स्यामि' इति प्रतिस्वं कृतचरं मन्त्रमपि तदङ्ग-सङ्ग-सम्मदपरतन्त्रतया विस्मृतिविद्धं रचयन्तीनामकस्मात्तदन्तर्धाने तु न वाञ्छितविञ्छोली सिध्यति, किन्तु माथुरपुर-सन्देश एवावेशः स्यात्। ततश्च मुहुरपि व्रजराज्ञीचरणपरिसरानुसरणमेव शरणं भवतीत्युभयी गतिर्यावत् प्रिय-प्रत्यागमनमासीत्। उद्धवस्तु गुप्तस्वस्तिमुखमुखतः पूर्वपूर्ववदेव यदुदेव-सन्दिष्टमुप्तं कुर्वन्नस्ति स्म ॥१०६॥ "श्रीकृष्ण-स्फुरणास्फुरणयोस्तु—

"दधत्यः स्फीतं ताः क्वचन वपुराभां च महतीं
क्वचिच्च क्षीणं तत्क्षययुजममूं च प्रतिमुहुः।
प्रिय-स्नेहप्राप्तिस्फुरणतदयोगव्यतिकृतिं
गता या दीपाल्यस्तदुपमितिमुच्चैर्ववलिरे ॥१०७॥

राधा-प्रेम्णः सुखं दुःखं चान्वकुर्वंस्तदालयः।
यथा ऋतु-प्रथा भानोः सौम्यतामुग्रतामपि ॥१०८॥

"यदा च श्रीकृष्णेनातितृष्णेन तौ स्वहितौ दूतौ प्रहितौ, तदा प्राग्मिथः सङ्केतित-

---

और उस समय जब कमलनयन श्रीकृष्ण साक्षात्कार के लिए तत्पर होते थे, तब "मैं श्रीकृष्ण को अपनी बाहुलता से वेष्टित करती हुई रोक लूँगी" इस प्रकार प्रत्येक गोपी के द्वारा किये गये विचार को भी, श्रीकृष्ण के अङ्गसङ्ग के आनन्द में निमग्न होकर, विस्मृति से दूर करनेवाली गोपियों की "श्रीकृष्ण के अन्तर्धान होनेपर तो" अभीष्ट परम्परा भी नहीं सिद्ध होती थी, किन्तु मथुरापुरी के सन्देश में ही आवेश हो जाता था। उसके बाद बारंबार भी व्रजरानी श्रीयशोदा के श्रीचरणों की निकट भूमि का अनुसरण ही रक्षक है, इस प्रकार जबतक प्रियतम श्रीकृष्ण का लौटकर आना हो, तबतक कृष्णप्रेयसी गोपियों की "एक तो श्रीकृष्ण की स्फूर्ती, दूसरी श्रीयशोदा के चरणों का अनुसरण करना" बस, ये दो ही गति थीं। श्रीउद्धवजी तो गुप्तपत्र आदि के द्वारा पहले पहले की भाँति, श्रीकृष्ण के सन्देशरूप बीज को व्रजरूप खेत में बोते ही रहे, अर्थात् सन्देश पहुँचाते ही रहे ॥१०६॥

किन्तु श्रीकृष्ण की स्फूर्ति एवं अस्फूर्ति के समय तो वे व्रजाङ्गनाएँ क्रमशः कभी अपने शरीर को प्रफुल्लित धारण करती हुईं, एवं शरीर की महतीकान्ति को धारण करती हुईं, और कभी अपने शरीर को क्षीण धारण करती हुईं, एवं शरीर की भारी कान्ति को भी बारंबार क्षीण धारण करती हुईं, "जो दीपक की पंक्तियाँ अपने प्रिय तैल आदि की प्राप्ति में जैसे प्रकाश को, एवं उस तैल आदि के अभाव में प्रकाश के अभाव को प्राप्त हो जाती हैं" ठीक उसी प्रकार की अवस्था को प्राप्त हुईं, उन दीपक की पंक्तियों की उपमा को विशेष प्राप्त कर चुकी थीं ॥१०७॥

और ऋतुओं की रीतियाँ जिस प्रकार हेमन्त, शरद् आदि में सूर्यकी सौम्यता,एवं ग्रीष्म आदि में सूर्य की उग्रता का भी अनुकरण कर देती हैं, उसी प्रकार ललिता, विशाखा आदि श्रीराधिका की सखियाँ भी (श्रीकृष्ण की स्फूर्ति एवं अस्फूर्ति में) श्रीराधिका के प्रेम के सुख-दुःखरूप धर्मों का अनुकरण करती रहीं ॥१०८॥

और "गोपाङ्गनाओं से मिलने की" अतिशय तृष्णावाले श्रीकृष्ण ने जब अपने हितैषी वे दोनों दूत द्वारका से भेजे थे, तब पहले संकेत किये हुए वेषवाली, अर्थात् बनावटवाली लिखाईविशेष के द्वारा एक

वेषेण लिपिविशेषेण शस्तं स्वस्तिमुखं विधाय 'सोऽयं सुबलहस्ते वलनोयः' इति तदुक्तिकृत-नियुक्तिभ्यां ताभ्यां तथाकृतम्, यथा सुबलश्च तासु तमवकलयामास ॥१०६॥

"यथा— 'यद्विदूरमगमं तदिदं वः, स्याददूरगतिभागिति वित्त ।
आगतिप्रतिरुधोर्मम मित्रा,-मित्रयोः पुरमिदं प्रतिरोधि ॥'११०॥

"तादृशलिपिक्लृप्तलेखश्च ताभिरप्युद्धव-हस्ते देयः सोऽयमिति सुबलद्वारा निधीयते स्म ॥१११॥

"स यथा— 'अकण्टकमकर्करं चलसि र्यहि वृन्दावनं
तदापि चरण-व्यथां तव वितर्क्य यः खिद्यते ।
कथं द्विषदनुद्रवाद् विषमवर्त्मशैलाक्रमा-
च्छ्रुतादहह जीवनं वहतु स व्रजस्त्रीजनः ?' इति ।।"११२॥

अथ स्निग्धकण्ठः समापनमाह स्म,—

"आस्तां भवल्लेखनिशामनोत्थं, तदातनं दुःखममुष्य दूरे ।
आलिङ्ग्य सोऽयं भवतीमिहास्ते, तथापि शक्नोति न रोद्धुमस्रम् ॥११३॥
यदिदमुदितमासीच्छ्रव्यमेतन्न दृश्यं, तदपि विरहितास्या दृश्यवद्भाति पश्य ।
यदि च हरिसमक्षं सम्प्रतीदृश्यवस्था, कथमिव न तदा स्याद् र्यहि हा तद्वियोगः ?"॥११४

मङ्गलमय पत्र बनाकर "यह पत्र सुबल के हाथ में दे देना" इस प्रकार कहकर नियुक्त किये हुए उन दोनों दूतों ने उसी प्रकार कार्य कर दिया कि, जिस प्रकार सुबल ने भी श्रीकृष्ण के पत्र को श्रीराधिका आदि गोपियों के निकट निवेदित कर दिया ॥१०६॥

पत्र का समाचार, यथा—हे प्रिय गोपाङ्गनाओ ! मैं तुमसे जो दूर चला गया हूँ, इस दूर जाने को तो तुम "तुम्हारे सम्बन्ध में (प्रतिक्षण मेरी स्फूर्ति होने के कारण) दूर जाने से युक्त नहीं है" ऐसे ही जान लो। एवं यह द्वारकापुर मेरे मित्रों के आने एवं मरे शत्रुओं के रोकने के विषय में, रुकावट करनेवाला है। अतः अभी मेरा साक्षात् आना कठिन है, यह भावार्थ है ॥११०॥

और उसी प्रकार के संकेतवाली लिखाई से बनाया हुआ पत्र उन गोपियों ने भी "यह हमारा पत्र उद्धव के हाथ में दे देना" यह कहकर, सुबलसखा के द्वारा दूतों के हाथ में धरवा दिया ॥१११॥

गोपियों के पत्र का लेख, यथा—हे प्यारे श्यामसुन्दर ! देखो, जब आप कण्टक एवं कंकरों से रहित श्रीवृन्दावन में विचरण करते थे, तब आपके कोमल चरणों की व्यथा को विचार करके भी जो व्रजाङ्गना-जन खेद पाता था, वह अब "कालयवन एवं जरासन्ध आदि शत्रुओं का पीछे पीछे दौड़ना, एवं विषममार्ग से चलकर, प्रवर्षणपर्वतपर चढ़ना" इत्यादि समाचार को सुनकर हाय ! अपने जीवन को किस प्रकार धारण कर सकता है ? ॥११२॥

तदनन्तर स्निग्धकण्ठ प्रसङ्ग की समाप्ति का द्योतक वचन बोला—हे श्रीमति ! राधिके ! देखो, पहले अर्थात् प्रगट लीला में आपने जो पत्र लिखा था, उसको सुनकर श्रीकृष्ण को जो दुःख उत्पन्न हुआ था, उस समय के उस दुःख को अब दूर रहने दो। क्योंकि वे ही तुम्हारे प्यारे अब तुमको आलिङ्गन करके यहीं (गोलोक में) विद्यमान हैं, तो भी अपने आँसुओं को नहीं रोक पा रहे हैं ॥११३॥

रात्रि की कथा के सभासदों को लक्ष्यकर स्निग्धकण्ठ ने कहा कि—हे सभासदो ! देखो, मेरे द्वारा यह जो चरित्र कहा गया है, यह तो श्रवणगोचर हुआ है, दृष्टिगोचर नहीं, अर्थात् यह तो श्रव्यकाव्य कहा

तदेवंविधया विधया तस्यास्तत्रावधानं विधाय परमानन्दं सन्धाय वासाय चलितयोः सूतसुतयोः सर्वे यथायथं स्वपथमनुववृतिरे। श्रीराधा-माधवावपि वलितस्नेहं ललितगेहं कलित-लीलतया शीलयतः स्म ॥११५॥

इति श्रीश्रीमदुत्तरगोपालचम्पूमनु यवनजराभवनिर्जयजवं नाम चतुर्दशं पूरणम् ॥१४॥

अथ पञ्चदशं पूरणम्

श्रीबलदेव-विवाहः

अथ प्रातः कथान्तरम्, यत्र श्रीकृष्णकृतमहसि व्रजराजसदसि मधुकण्ठ उवाच,— "गतयोश्च तयोः श्रीकृष्णप्रेषितयोस्तद्वद्व्रजेशप्रहितयोरन्ययोरन्ययोरपि व्रज-सान्त्वनाय कुतः कुतश्चित्तत्पुरतश्च यत्किञ्चिद्वार्तामादाय शीघ्रमेव पृथक् पृथगागतयोः श्रीव्रजराजादयो मन्त्रयामासुः,–'सम्प्रति दूरं गच्छति स्म वत्सः; तर्ह्यव्याहतं कथं वृत्तमनुवर्तितास्महे ?'॥१॥

"उपनन्द उवाच,—'दूतानां प्रभूतयुग्मता कार्या, यथा नित्यनित्यमेकं युग्ममाजग्मिवद् भवति।' "व्रजराज उवाच,—'प्राग्मिश्राणां तिग्मजवानां युग्मानां शतं विधीयताम्' इति ॥२

गया है, दृश्यकाव्य नहीं, तो भी अर्थात् बीते हुए कृष्णचरित्र के श्रवणमात्र से भी देखो तो सही, श्रीराधिका का विरह प्रत्यक्ष की तरह प्रतीत हो रहा है। और अब यदि श्रीकृष्ण के सामने ही श्रीराधिका की ऐसी वियोगिनी की सी अवस्था हो रही है, तब हाय! जब श्रीकृष्ण का वियोग हुआ होगा, तब ऐसी अवस्था किस प्रकार से न हुई होगी ? अपितु, अवश्य हुई होगी ॥११४॥

ग्रन्थकार कहते हैं कि—इस प्रकार की विधि से श्रीराधिका का श्रीकृष्ण के ऊपर प्रत्यक्षरूप ज्ञान कराकर, परमानन्द देकर, उन दोनों सूत कुमारों के अपने निवासस्थान के लिए चल देनेपर, सभी श्रोता यथायोग्य अपने अपने मार्ग की ओर प्रवृत्त हो गये। श्रीराधा-माधव भी स्नेहयुक्त होकर क्रीडा करते हुए, अपने मनोहर गृह का अनुशीलन करने लग गये ॥११५॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रिविरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीमदुत्तरगोपालचम्पूकाव्ये कालयवन-जरासन्ध-पराजयवेगवर्णन-नामकं
चतुर्दशं पूरणं सम्पूर्णम् ॥१४॥

पन्द्रहवाँ पूरण

श्रीबलदेव का विवाह

अनन्तर प्रातःकाल दूसरी कथा हुई। जिसमें श्रीकृष्ण के द्वारा किये गये महोत्सव से युक्त श्रीव्रजराज की सभा में मधुकण्ठ बोला—श्रीकृष्ण के भेजे हुए उन दोनों दूतों के चले जानेपर, एवं श्रीव्रजराज के द्वारा भेजे हुए दूसरे दो दूतों के चले जानेपर, व्रजवासियों को सान्त्वना देने के लिए, किसी किसी स्थान से एवं द्वारकापुरी से जो कुछ वृत्तान्त लेकर, शीघ्र ही अलग अलग व्रज में चले आनेपर, श्रीव्रजराज आदि विचार करने लगे कि—इस समय हमारा लाला दूर देश में चला गया है, तब ऐसी स्थिति में निर्विघ्नतापूर्वक अपने वृत्तान्त को किस प्रकार पहुँचाते रहेंगे ? ॥१॥

श्रीउपनन्द बोले—भैयाजी! दूतों की बहुत सी जोड़ी बना दीजिये। जिससे नित्य नित्य ही एक

'अथ तत्राहोरात्रेण गव्यूतीनां षष्टिं सुष्ठु क्रामतामन्यतरौ लब्धतदाज्ञावितरौ पञ्चभि-र्वासरैर्द्वारकामासादितवन्तौ। आसाद्य च तत्र सर्वमत्रत्यं वृत्तमुद्धवमन्तरे विधाय श्रीकृष्णाय समर्पितवन्तौ; श्रीव्रजभूपतिना प्रभूतानां दूतानां विनियोगं च श्रावितवन्तौ ॥३॥

"अथ स्वयं श्रीकृष्णः प्राह स्म,—'नेत्थमपि वृत्ताव्याहृतिः प्रतिपत्तव्या भवति; किन्तु शतयोजनव्राजिनां वाजिनां शत-द्वयमेभ्यः समर्प्यताम्, यथा गमनागमनमनारतं भवति' इति ॥४॥

"अथ तौ तत्रत्यं वृत्तं संगृह्य वाजिनावारुह्य व्रजसमाजमाव्रज्य प्रथमं तेषु तत्कुशलं संसज्य वार्तां वर्तयामासतुः,—'यद्यपि मथुरा निकटे, तथापि तत्र मुहुरटितवतोरावयोर्नेदृशं सुभृशं सुखमुपजातम्, निरन्तरोत्पातसम्पातदर्शनात्। द्वारकायां तु सुखसारश्चक्षुर्विस्तारमनु-ससार, यस्मादुत्पातमात्राद् दूरीभवन्ती सा पुरी यादृगुरीकृतसुखसुरीतिरवलुलोके, लोके तु तादृशता भृशदुर्लभा' इति ॥५॥

'तथा हि— यत्राब्धिः सुष्ठु धत्ते परिगतपरिखारूपतां यत्र पर्यक्
प्राचीरं वीरनेत्रातिगशिखरवतां यत्र वीक्षा पृथक्ताम्।
द्वार्वत्यां तत्र बाढं भयमपि सभयं नावगाढं समन्ताद्
भावीति स्वान्तमुच्चैर्वहति सुख-शतं सन्ततं गोष्ठदेव ! ॥६॥

जोड़ी आनेवाली हो जायगी। श्रीव्रजराज बोले—पहले दूतों से मिले हुए एवं तीखे वेगवाले दूतों की सौ जोड़ियाँ बना दीजिये ॥२॥

उसके बाद उन दूतों में से एक दिनरात में १२० कोस अच्छी प्रकार चलनेवाले, एवं श्रीव्रजराज की आज्ञा पानेवाले दो दूत, पाँच दिन में द्वारका में पहुँच गये। और पहुँचते ही, उद्धव को बीच में रखकर, उन दूतों ने व्रज के समस्त वृत्तान्त को, श्रीकृष्ण के प्रति समर्पित कर दिया। और श्रीव्रजराज के द्वारा किये गये बहुत से दूतों के आयोजन को भी सुना दिया ॥३॥

अनन्तर श्रीकृष्ण स्वयं बोले—उद्धवजी ! देखो, इस प्रकार बहुत से दूत नियुक्त करनेपर भी, निर्विघ्नतापूर्वक वृत्तान्त की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। किन्तु सौ जोड़ीवाले इन सब दूतों के लिए, एक दिन में सौ योजन चलनेवाले दो सौ घोड़े दे दीजिये। जिससे यातायात (जाना आना) निरन्तर होता रहे ॥४॥

पश्चात् वे दोनों दूत वहाँ के वृत्तान्त को लेकर, दो घोड़ोंपर चढ़कर, व्रजवासियों की समाज में आकर, पहले उनके निकट श्रीकृष्ण-बलदेव का कुशल समाचार देकर, वृत्तान्त कहने लग गये कि—यद्यपि मथुरा पास में ही है, तो भी वहाँपर बारंबार जाते हुए, हम दोनों दूतों को ऐसा अत्यन्त सुख नहीं हुआ, क्योंकि मथुरा में निरन्तर उत्पात देखे जाते थे। और द्वारका में तो सुख का सार, नेत्रों के विस्तार का अनुसरण करने लग गया, अर्थात् वहाँ के सुख को देखकर तो, हमारे नेत्र फटे के फटे रह गये। कारण—उत्पातमात्र से दूर रहती हुई वह पुरी तो,जिस प्रकार के सुख की रीति को स्वीकार करनेवाली हमने देखी उस प्रकार की शोभा से युक्त होना इस लोक में तो अत्यन्त दुर्लभ है ॥५॥

देखो, हे व्रजराज ! जिस द्वारकापुरी में समुद्र ही चारों ओर विद्यमान परिखा के रूप को भली प्रकार धारण कर रहा है, एवं जिस पुरी में चारों ओर का परकोटा वीरजनों के नेत्रों को अतिक्रमणकारी

स्वर्णानां मौक्तिकानामसितमणिहरिद्रत्नवैदुर्यकाणां
हीराणां विद्रुमाणां रवि-शशिदृशदां पद्मरागादिकानाम् ।
कैवल्यान्मिश्रभावान्मधुररुचिधुरासद्मनां सद्मवृन्दैः
सा दिव्या पूरपूर्वं प्रमदमदिशत श्रोत्रदृक्चित्तदूरम् ।।७।।
यस्यां देवद्रुमास्ते परमसुरसभा सा निधीनां स वर्गः
स्वर्ग्यावस्थामतीत्याप्यतिरुचिमदधुर्विस्मिता यत्र देवाः ।
अस्माभिः पूर्वमासन् मुहुरपि यदवः सुष्ठु दृष्टाः परन्तु
प्रेक्ष्यन्ते साम्प्रतं चेद्दधति परिचयं हन्त नापूर्वलक्ष्म्या ।।८।।
सुधर्मानन्दने न प्राग् यथार्हफलतां गते ।
इतीव ते यथा नाम सफले कृतवान् हरिः ।।९।।

'किं बहुना ? यत्र भागधेयं दधत्यश्च प्रजाः प्रजातश्रीकृष्णवैभव-दर्शना भागधेयलाभमेव मन्यन्ते । तदेवं कृतकृत्यायामपि द्वार्वत्यामकृतकृत्यान्तःपुरता प्रतीयते ।।१०।। यतः,

'पताकायुक्चूडापटलवडभीस्तम्भवरणा,-ङ्गनाद्यङ्गा यस्यां बहिरबहिरंशा मणिरुचः ।
महान्तः पुर्येषा यदपि वलिता नीलनिधिना, तथाप्युच्चैरस्याप्युचितवृतिलक्ष्मीर्मृगयते ।।११।।

शिखरों के भाव को धारण कर रहा है, तथा जहाँपर देखना भी पृथक्ता को, अर्थात् यह भी देखने योग्य है, यह भी देखने योग्य है, इस प्रकार के पृथक्भाव को धारण कर रहा है, उस द्वारकापुरी में भय भी भयभीत होकर, चारों ओर संलग्न नहीं हो सकेगा, इसलिए हमारा मन सैंकड़ों सुखों को निरन्तर विशेष-रूप से धारण कर रहा है ।।६।।

और सुवर्ण, मुक्तामणि, इन्द्रनीलमणि, हरिद्रत्नमणि, वैदूर्यमणि, हीरा, प्रबाल, सूर्यकान्तमणि, चन्द्रकान्तमणि, एवं पद्मरागमणि इत्यादि केवल महर्घ वस्तुओं के मिश्रित होने से, मधुर कान्तिसमूह के आश्रयस्वरूप गृहसमूहों के द्वारा, वह दिव्य द्वारकापुरी श्रोत्र, नेत्र, एवं चित्त से दूर रहनेवाले अपूर्व हर्ष का दान करती रहती है ।।७।।

और जिस द्वारकापुरी में मन्दार, पारिजात, सन्तान, कल्पवृक्ष, एवं हरिचन्दन आदि वे देववृक्ष, वह श्रेष्ठ देवसभा (सुधर्मा), एवं पद्म, महापद्म, शंख, मकर, कच्छप, मुकुन्द, कुन्द, नील, एवं खर्व इस प्रकार नवनिधियों का वह समुदाय स्वर्गीय अवस्था का अतिक्रमण करके भी, एकरूप से स्थिति करने के कारण, अत्यन्त शोभा धारण कर रहे हैं । जिस विशिष्ट शोभा में देवता भी चकित हो गये हैं । हम सब दूतों ने पहले भी यदुवंशी बारंबार अच्छी प्रकार देखे थे, परन्तु हर्ष की बात तो यह है कि, यदि वे यदुवंशी इस समय देखे जायँ, तब तो अपनी अपूर्व शोभा से पहचान में भी नहीं आते हैं ।।८।।

एवं सुधर्मा नामक देवसभा तथा नन्दनवन ये दोनों पहले यथायोग्य सफलता को, अर्थात् अपने नाम की सार्थकता को नहीं प्राप्त हुए थे । इस कारण श्रीकृष्ण ने वे दोनों, नाम के अनुसार सफल कर दिये ।।९।।

अधिक कहने से क्या ? जिस द्वारका में राजकीय कर देनेवाली समस्त प्रजाएँ उत्पन्न हुए श्रीकृष्ण के वैभव दर्शन से विशिष्ट होकर, अपने सौभाग्यलाभ को ही मानती हैं । इस प्रकार कृतकृत्य हुई द्वारका में भी, अन्तःपुर का भाव अकृतकृत्य सा प्रतीत होता है ।।१०।।

कारण—जिस द्वारकापुरी में पताकाओं से युक्त ऊँचे ऊँचे स्थानसमूह, चन्द्रशाला (अटारी), स्तम्भ,

'अथ तां पुरशोभामावयोः सवैलक्ष्यमीक्षमाणयोर्भवत्-कुलचन्द्रमा विहस्य प्राह स्म,—किं पश्यथस्तत्र भवतामितोऽपि विलक्षणवैभवमस्ति, यद्वरुण-लोकादागम्य रम्यतया निशामितम्; यच्च साधुप्रमाथानामुत्क्राथनानन्तरं निशामयिष्यते' इति ॥१२॥

"व्रजराज उवाच,—'कथं किल विलम्बं भवन्ताववलम्बाते ?' "तावूचतुः,—'तत्र महामहः संवृत्तः' इति। "व्रजराज उवाच,—'कथ्यतां कीदृशः ?' "तावूचतुः,—'आश्चर्यमिदमिति प्रतीतिमाचर्य श्रूयताम् ॥'१३॥

'तदेवं श्रीहरेर्दर्शनामृतभृतचित्ततया तत्र लब्धभावयोरावयोरुपवनपालकः कश्चिदागत्य साश्चर्यतया तमुवाच,—देव ! तालप्रमाणः कश्चिन्मानवः कयापि तादृशा सुदृशा सममागत्य कत्यपि दण्डानत्यपूर्वतया सर्वविचारं खण्डयंस्तेजसा वनं मण्डयंश्च वर्तते, वदति च—सात्वतपतिमिलनाय किल सङ्गतवानस्मीति। लोकास्तु प्रथमं भीताः, पश्चात्तु मद्विधसविधतया भीतिमतीतास्तदवलोकाय निःसीमाः सीमानमतिक्रम्य निष्कुटं पुटभेदनमिव चक्रुरिति ॥१४॥

'अथ श्रीकृष्णे च तद्दर्शनसतृष्णे स्वयमेव नरयानतया चलत्यावामपि तदनुगत्या तत्र

परकोटा, एवं चबूतरा आदि सभी अंग विशाल हैं, तथा जिनके बाहर भीतर के अंश मणियों की कान्तिवाले हैं। इस प्रकार यह द्वारकापुरी यद्यपि श्यामनिधि श्रीकृष्ण से युक्त है, तथापि यह पुरी श्रीकृष्ण के विवाह के लिए वरण करनेवाली उचित लक्ष्मियों को ढूँढ़ रही है। तात्पर्य—अन्तःपुर की सार्थकता गृहलक्ष्मियों के द्वारा ही होती है, यह पहले गद्य का भाव है ॥११॥

तदनन्तर हम दोनों दूत उस द्वारकापुर की शोभा को जब आश्चर्यपूर्वक देख रहे थे, तब आपके कुल के चन्द्रमा श्रीकृष्ण हँसकर बोले कि—अरे भाइयो ! क्या देख रहे हो ? उस व्रज में तो तुम्हारा द्वारका से भी विलक्षण वैभव है, जिसको मैंने वरुणलोक से आकर रमणीयरूप से दिखाया था। और जिस विलक्षण वैभव को मैं, साधुओं को दुःख देनेवाले दुष्टों के वध के अनन्तर, अर्थात् दन्तवक्र वध के अनन्तर, व्रज में प्रवेश हो जानेपर, तुम सबको दिखाऊँगा ॥१२॥

श्रीव्रजराज बोले—तुम दोनों ने (व्रज में आने में) विलम्ब का अवलम्ब क्यों लिया, अर्थात् आने में देरी क्यों की ? दोनों दूत बोले—द्वारका में महोत्सव प्रारम्भ हो गया था। श्रीव्रजराज बोले—कहो, कैसा महोत्सव ? वे दोनों बोले—यह आश्चर्यमय बात है। ऐसा विश्वास करके श्रवण कीजिये ॥१३॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण के दर्शनामृत से परिपूर्ण चित्त हो जाने के कारण, श्रीकृष्ण में हम दोनों को भावविशेष प्राप्त हो जानेपर, कोई उपवन का रक्षक आकर आश्चर्यपूर्वक श्रीकृष्ण के प्रति बोला—हे देव ! तालवृक्ष के समान लम्बा कोई पुरुष, तालवृक्ष के समान लम्बी किसी सुलोचना नारी के साथ, वन में आकर कितने ही दण्ड परिमित समयतक, सभी के विचार को अपूर्वरूप से खण्डन करता हुआ, एवं तेज से वन को विभूषित करता हुआ विद्यमान है, और वह कहता है कि, यदुपति श्रीकृष्ण से मिलने के लिए यहाँपर उपस्थित हुआ हूँ। उसको देखकर सभी लोगों ने पहले तो भयभीत होकर, पीछे तो हम जैसों के निकटवर्ती होने के कारण भय छोड़कर, उस महापुरुष को देखने के लिए अपरिमित होकर, कुल धन आदि की मर्यादा को लाँघकर, घर के बगीचा को नगर जैसा बना दिया ॥१४॥

तदनन्तर उस महापुरुष के दर्शन की तृष्णा से युक्त हुए श्रीकृष्ण भी जब स्वयं ही डोलापर चढ़कर चल दिये, तब हम दोनों दूत भी उनके अनुगत होकर वहाँ चले गये। एवं तालवृक्ष के समान लम्बे स्त्री-

गतवन्तौ; तयोरग्रे सर्वाँल्लोकांस्तन्नवतोकानिव च विलोकितवन्तौ; विलोक्य च विचारितवन्तौ—कतिभिरहोभिरहो ! तावेतावेतावत्प्रमाणतां याताविति ॥'१५॥

"सर्वेऽपि व्रजस्थाः प्रोचुः,—ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—'स पुनः श्रीकृष्णं पश्यन्नेव सुखवश्यतया दण्डवत् पतन्ननेन बाहुभ्यामुन्नमय्य शिरसा प्रणम्य चाभिमुखं ससुखमुपवेशितः । सा काचित्तु सलज्जा स्वावरणपर्यापणाय दृष्टं तत्पृष्ठदेशमनुनिवेशं लब्धवती ॥'१६॥

"व्रजस्थाः प्रोचुः,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—'ततश्च द्वारकापतिना तद्विशेषमनुयुक्तः स तु तदिदं मेघगर्जितमिवार्जन्नुक्तवान्; यर्हि बर्हिणश्च बृहदुल्लासादर्हितमेव शकुनमुल्लपन्ति स्म ॥१७॥

'तद्वचनं यथा—अहं किल रेवतसपर्यायककुद्मिनामा प्राक्तनराजग्रामानाकर्णयता भवता कर्णगोचरतामानीत एवास्मि । स खल्वहमनया नवतनयया साकं नाकं व्यतीत्य ब्रह्मणः स्थानं प्रति प्रस्थानं कृतवान् । कारणं तु प्राचीना वयं नार्वाचीना इव भङ्गीभिः सप्रसङ्गीकरवाम; किन्तु प्राञ्जलमेवेदं वेदमिव कर्णासञ्जनं नीयताम् । तस्याः खल्वस्या विलक्षणं लक्षणमालक्ष्य सलक्षणं नरमनालक्ष्य वरतायोग्यमेव प्रष्टुं स्रष्टुः समीपमेतया तं विलोकयितुमभ्युपेतया सममगममिति । स्रष्टा तु तदा नाट्यद्रष्टाऽऽसीत् । पश्चात्तु तत्कौतुका-

पुरुषरूप उन दोनों व्यक्तियों के आगे, उपवन में आये हुए सब लोगों को हम दोनों ने, नये बालकों की तरह देखा । उन दोनों को देखते ही हम दोनों ने मन में विचारा कि—अहो ! ये दोनों व्यक्ति इतनी लम्बाई चौड़ाई को कितने दिनों में प्राप्त कर पाये होंगे ? ॥१५॥

सभी व्रजवासी बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—वह लम्बा पुरुष तो श्रीकृष्ण को देखते ही सुख के अधीन होकर दण्डवत् प्रणाम करता हुआ, श्रीकृष्ण ने अपनी भुजाओं से उठाकर एवं मस्तक से प्रणाम कर सुखपूर्वक अपने सम्मुख बैठा लिया । किन्तु वह कोई स्त्री तो लज्जित होकर अपने को छिपाने के लिए दीखे हुए उस लम्बे पुरुष की पीठ की ओर बैठ गई ॥१६॥

व्रजवासी बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—तदनन्तर द्वारकाधीश के द्वारा उसकी विशेषता पूछनेपर, वह लम्बा पुरुष तो मेघ की सी गर्जना का उपार्जन करता हुआ यह बोला—जिस समय मयूरगण भी बड़े उल्लास से योग्य शकुन को उच्चस्वर से ही कह रहे थे ॥१७॥

उस पुरुष का वचन, यथा—मैं तो रेवत राजा के पुत्र के क्रम के साथ ककुद्मी नामवाला हूँ, अर्थात् मैं रेवत का पुत्र रैवत हूँ । ककुद्मी मेरा नाम है । प्राचीन राजसमूहों के नामों को सुनते हुए आपने मेरे को भी अवश्य कर्णगोचर किया होगा । वही ककुद्मी नामवाला मैं इस (रेवती नामक) नवीनपुत्री के साथ स्वर्ग को लाँघकर ब्रह्मलोक के प्रति प्रस्थान कर चुका हूँ । ब्रह्मलोक मैं जाने के कारण को तो हम प्राचीन व्यक्ति हैं । अतः आजकल के नवीन व्यक्तियों की तरह छलों के द्वारा प्रसङ्ग से युक्त नहीं करेंगे । किन्तु मेरे इस सरल वाक्य को वेद की तरह (प्रामाणिक मानकर) कर्णगोचर करें । मैं तो इस कन्या के विलक्षण लक्षणों को देखकर, इसके समान लक्षणोंवाले पुरुष को भूतल में न देखकर, वर के योग्य पुरुष को पूछने के लिए ब्रह्माजी के समीप इस कन्या के साथ ही गया था । यह भी ब्रह्माजी को देखने के लिए मेरे संग ही गई थी । ब्रह्माजी तो उस समय नाटक देख रहे थे । पीछे तो उस नाटक के कौतुक में आविष्ट हुए मेरे प्रति

विष्टवरं स्मितमाचरन्मामादिष्टवान्,—अत्र खल्वल्पतया यः कल्पते कालः, स तु तत्र कल्पकल्पस्तस्माद्भवद्दृष्टः सर्वश्च कालस्पृष्टतामवाप, न च कश्चित्तदामुष्याः परमायुष्याया विचित्रलक्षणपवित्रतनोः सुतनोः पतियोग्यां गतिमवाप । सम्प्रति तु प्रतीमः—श्रीकृष्णाग्रजन्मा रामवर्मा खल्वस्याः शर्मार्थं भवेदिति ॥१८॥

'ततो मया पृष्टम्—सम्प्रति साम्प्रतिकजनानुरूपमेव तत्र तद्रूपं भवेत् । सेयं च द्राघिष्ठा कथं तस्य द्वितीयतायां विशिष्टा भवतु ? ॥१९॥ 'स तु प्राह स्म,—

त्रिवक्रा-वक्रताहारिज्येष्ठः स च तथाविधः ।
एतां श्रेष्ठतमां कर्ता भर्तास्याः सर्वदा हि यः ॥ इति ॥२०॥

'ये तु विरिञ्चि-मुखाद्भवतो विशेषाः श्रुतास्ते खलु शेषादपि दूरा इति न तान् वर्णयितुं शूराः स्म । तस्मादितः परं यथायथं प्रथयन्तु तत्रभवन्तः' इति ॥२१॥

"व्रजराज उवाच,—ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—"ततश्च भवद्वंशचन्द्रमा मन्दहासतया तूष्णीकामासद्य सद्यश्चिन्तितवान्,—यदुवंश-मस्तकाभरणानां श्रीमदग्रजचरणानां क्षत्रिय-कन्या परमुद्वाहाय भवति, न च मद्वद्विचारान्तरमन्तरायतया वर्तते । समुपनतपरित्यागदोषतस्तं स्वाग्रजमप्यङ्गीकारपोषमानेतारः स्मः । तस्मादुरीकृत्य पुरीं परिनिवृत्य मन्त्रं वलयिष्यामः' इति ॥२२॥

मुसक्याते हुए आदेश देने लगे कि—हे राजन् ! इस ब्रह्मलोक में जो समय थोड़े से रूप से विद्यमान है, वही समय मर्त्यलोक में कल्पभर के समान होता है । इसलिए तुम्हारे द्वारा देखा हुआ समस्त जनमात्र काल के अधीन हो गया है । उस समय परम आयुष्मती एवं विचित्र लक्षणों से पवित्र शरीरवाली, सुन्दर शरीरवाली इस कन्या के पतियोग्य स्वरूप को कोई भी प्राप्त न कर पाया । किन्तु अब तो हम विश्वास करते हैं कि, श्रीकृष्ण का बड़ा भाई श्रीबलराम वर्मा ही इस कन्या के सुख के लिए हो सकता है ॥१८॥

उसके बाद मैंने पूछा कि–अब इस द्वापर में होनेवाले जनों के अनुरूप ही मर्त्यलोक में श्रीबलरामजी का रूप होगा । और यह अत्यन्त लम्बी कन्या श्रीबलराम की पत्नी होने के योग्य कैसे हो सकती है ? ॥१९

ब्रह्माजी तो बोले कि—देखो, कुब्जा के टेढ़ेपन को हरनेवाले जो श्रीकृष्ण, उनके बड़े भाई श्रीबलराम भी उसी प्रकार विरूपा को सुरूपा, एवं लम्बी को छोटी करने में समर्थ हैं । अतः जो बलराम सर्वदा इस कन्या के भर्ता (पोषणकर्ता) होंगे, वे ही इस कन्या को अत्यन्त श्रेष्ठ बना लेंगे ॥२०॥

और हे भगवन् ! कृष्णचन्द्र ! देखो, ब्रह्माजी के मुख से आपकी जो विशेषताएँ मैंने सुनी हैं, वे तो निश्चितरूप से शेषजी से भी दूर हैं, अर्थात् आपके गुणों की विशेषताओं को शेष भी यथार्थरूप से नहीं कह सकते हैं, अतः हम भी उनके वर्णन करने को समर्थ नही हैं । इसलिए पूज्यपाद ! आप इससे आगे करने योग्य कार्य का यथायोग्य निर्देश करें ॥२१॥

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उसके बाद आपके कुलचन्द्र कृष्णचन्द्र मन्दहासपूर्वक चुप होकर तत्काल विचारने लगे कि—यदुवंश के मुकुटमणि पूज्यपाद बड़े भाई श्रीबलरामजी के सम्बन्ध में केवल क्षत्रिय कन्या ही विवाह के लिए उपयुक्त है । और मेरे सम्बन्ध में "ये क्षत्रिय हैं, या गोप हैं, अतः इनके लिए क्षत्रिय कन्या किंवा गोप कन्या उपयुक्त है" इस प्रकार का दूसरा विचार जैसे

"व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—'ततश्च तथा विधाय तत्रैव दैवतवत्तस्यातिथ्यं संविधाय श्रीमदानकदुन्दुभ्यादिभिः समं मन्त्रयित्वा श्रीराममपि तेन परतन्त्रयित्वा तदनुज्ञापनया हलप्रस्थापनया निशि शयनश्लिष्टां तां योग्यताविशिष्टाङ्गप्रापणया नन्दयित्वा श्रीहरिस्तयोर्विवाहमेव निर्वाहयामास' इति ॥२३॥

"किं बहुना, अथ सर्वेषु साश्चर्यतयाऽखर्वेहतां चिरं गतेषु पुनर्दूतावूचतुः,—'पूर्वं व्रजेन्द्रनन्दनानुसारिणा सीरिणापि विवाहविमुखता गतासीत्; किन्तु तादृगुपेक्षादोषभिया लोकापेक्षाधिया च सा स्वीकृता ॥'२४॥

"व्रजराज उवाच,—'दिष्टचा तस्य तज्जातम्; न जाने कनिष्ठस्य का निष्ठा भवेत् ।' "सर्वेऽप्यूचुः,—'सर्वगुणवरिष्ठस्य कनिष्ठस्य तथा कुतश्चन सङ्कोच एव तत्र प्ररोचकतां रचयिता ।' "व्रजराजः सोच्छ्वासं पप्रच्छ,—'प्रस्थापनसमये किमपि वत्सेन सन्दिष्टम् ?' "तावूचतुः,—'अथकिम्, तथा हि पत्रिकेयम्—॥२५॥

विघ्नरूप है, उस प्रकार बलरामजी के विषय में दूसरा विचार विघ्नरूप नहीं है। और स्वतः उपस्थित वस्तु के परित्याग के दोष को समझा कर अपने अग्रज को भी अङ्गीकार करने के पोषणपर ले आयेंगे। अतः रैवत राजा की बात को हम ही अङ्गीकार करके, द्वारकापुरी में लौटकर, अपने विचार को उपस्थित करेंगे ॥२२॥

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उसके बाद वैसे ही करके, अर्थात् द्वारका में आकर, वहींपर देवता की तरह रैवतराजा का आतिथ्य सत्कार करके, श्रीमान् वसुदेवजी आदि के साथ विचार करके, एवं श्रीबलरामजी को भी उस विचार के अधीन करके, एवं उनकी अनुमति के द्वारा उनके हल को भेजकर, रात्रि में सोती हुई 'रेवती' को योग्यता से विशिष्ट अङ्गों की प्राप्ति के द्वारा (बलराम के बराबर की बनवा कर) उसको आनन्दित कर श्रीकृष्ण ने श्रीबलराम-रेवती के विवाह का भी निर्वाह करा दिया ॥२३॥

अधिक क्या कहें ? इतना सुनते ही सभी व्रजवासी आश्चर्यपूर्वक जब (आगे का प्रसंग सुनने को) बहुत देरतक विशिष्ट चेष्टा को प्राप्त हो गये, तब दोनों दूत पुनः बोले—पहले व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण के अनुसार चलनेवाले, हलधारी बलदेव भी विवाह की विमुखता को प्राप्त हो गये थे, किन्तु उन्होंने ऐसे महापुरुष रैवत की या श्रीकृष्ण की उपेक्षा के दोष के भय से एवं लोकसंग्रह की बुद्धि से 'रेवती' अङ्गीकार कर लीं ॥२४॥

श्रीव्रजराज बोले—बड़े आनन्द की बात है कि, श्रीबलराम का विवाहकृत्य हो गया। किन्तु उसके छोटे भाई श्रीकृष्ण की न जाने (विवाह विषयक) कौन सी कार्यसिद्धि होगी ? सभी व्रजवासी बोले—सर्वगुणश्रेष्ठ श्रीकृष्ण के भी किसी के द्वारा उत्पन्न हुआ उस प्रकार का संकोच ही अपने विवाह के विषय में विशिष्ट रोचकता को रच देगा। तदनन्तर व्रजराज ने "श्रीकृष्ण का विवाह गोप कन्या अथवा क्षत्रिय कन्या के साथ होगा" इस विचार से लम्बे श्वास लेकर पूछा कि—तुम दोनों के भेजने के समय हमारे लाला ने कुछ सन्देश भी दिया है क्या ? वे दोनों बोले—और क्या ? देखो, यह पत्रिका—॥२५॥

'मां बन्धुं बन्धु-वृन्दैर्वनमिह रचितं वृन्दकारण्यनाम्ना
कालिन्दीसंज्ञयापि व्यरचि सरिदिह स्थापिता धेनवश्च ।
तेनाथ प्रत्युतास्मद्धृदयमनुदयं तत्र तत्र स्वसिद्धे
वस्तुन्युच्चैर्भवद्भिर्मधुरमधुरिते सन्ततं हन्त याति ॥२६॥
या हंसी या सुनन्दा सुरभिजयिगुणा याश्च गङ्गाप्रधाना
याश्चान्यास्तत्र मान्या मम हृदयगता धेनवः प्राणतुल्याः ।
ताः शश्वत् पालनीया मम पितृचरणैर्मय्यतिस्नेहवद्भिः
सोऽयं यावत् कृतघ्नः स्वयमथ वसतिं याति हन्त व्रजस्य ॥'२७॥

"अथ तदेतदाश्रुत्य क्षणकतिपयमश्रूणि वहन्तः श्रीमद्-व्रजसन्तस्तूष्णीमासन्, ऊचिरे च,—
'स्वेषां तद्विरहे दुःखं यन्न तद् गणयामहे ।
अस्मद्दुःखे दुःखितया तस्य पीड्यामहे वयम् ॥' इति ॥२८॥

"श्रीव्रजराजेन तु प्रतिपत्रिकेयं दातुमीहिता,—
'यत्सम्बन्धवशाद्भवान् यदुकुलं कृच्छ्रेण रक्षंश्चिरात्
काल-क्षेपमितस्ततः प्रथयति स्वं वाञ्छितं प्रत्यजन् ।
सोऽयं तु त्वदभीष्टधेनुवलयं नेत्रानभीष्टं मृशन्
श्रीमंस्तत्र न सज्जति स्वयमितः स त्वत्पिता लज्जते ॥"२९॥

यथा—हे पिताजी ! देखो, इस व्रज में मुझको प्रेमबन्धन में बाँधने के लिए श्रीपर्जन्य आदि बन्धु-वृन्दों ने वृन्दावन नामक वन की रचना की है, एवं यहाँपर कालिन्दी नाम से नदी की रचना की है, तथा बहुत सी धेनु भी स्थापित की हैं। अपितु, बन्धन की हेतुभूत पूर्वोक्त वस्तुओं के कारण हाय ! मेरा हृदय दया से पूर्ण होकर, आप सबके द्वारा मधुर से भी मधुर बनी हुई, स्वतःसिद्ध उन उन वस्तुओं में विशेष करके निरन्तर जाता रहता है ॥२६॥

और हे पिताजी ! उस व्रज में जो हंसी एवं जो सुनन्दा नामक धेनु है, तथा कामधेनुपर विजय पाने-वाले गुणोंवाली गङ्गा आदि जो धेनु हैं, और अन्य जो मेरी मान्य धेनु मेरे हृदय में विद्यमान प्राणों के समान प्यारी हैं, अतः मेरे में अत्यन्त स्नेह करनेवाले पूज्य पिताजी ! उन सब धेनुओं की तबतक निरन्तर रक्षा करते रहें, जबतक हाय ! यह कृतघ्न (प्रत्युपकारविहीन कृष्ण) स्वयं ही व्रज के वास को प्राप्त करता है, अर्थात् मैं जबतक व्रज में आऊँ, तबतक उन धेनुओं की रक्षा करते रहना ॥२७॥

उसके बाद इतनी कथा सुनकर, कुछ क्षणोंतक आँसू बहाते हुए, श्रीमान् सभी व्रजवासी चुप हो गये। और पीछे बोले कि—श्रीकृष्ण के विरह में अपने व्रजवासियों को जो दुःख हो रहा है, उसको हम गिनती में नहीं ला रहे हैं। किन्तु हमारे दुःखमें श्रीकृष्ण के दुःखित होने से हम स्वयं पीडित हो रहे हैं॥२८

श्रीमान् व्रजराज ने तो यह प्रत्युत्तर पत्रिका देने की चेष्टा की। यथा—हे श्रीमन् ! कृष्णचन्द्र ! देखो, आप जिन व्रजवासियों के सम्बन्ध से बहुत दिनतक कष्टपूर्वक यदुकुल की रक्षा करते हुए, अपने अभीष्ट विषय को त्यागकर, इधर उधर समय बिता रहे हो, किन्तु यह तुम्हारा पिता (नन्द) तो तुम्हारे अभीष्ट धेनुमण्डल को अपने नेत्रों के अनभीष्ट विचारता हुआ, अर्थात् तुम्हारे विरह में दुःखित धेनुसमूह को नेत्रों से

अथ मधुकण्ठः कथान्तरं विस्तीर्णमायास्यतीति तेन सङ्कीर्णताभिया तूर्णमेव समापनमाह स्म,—॥३०॥

"सा हंसी सा सुनन्दा कलय कुलपते ! ताश्च गङ्गाप्रधानाः
स्वेनानेनाव्यमाना दधति सुख-शतं साम्प्रतं नेत्रभाजाम् ।
आस्तां तत् पश्य गोपेश्वर ! तव तनयः सोऽयमङ्कं त्वदीयं
पुष्णन् कृष्णः समन्ताद् व्रज-सदनजनं सुष्ठु पुष्टं करोति ॥"३१॥

इति तानानन्द्य तन्नन्द्यमानः स मधुकण्ठस्तस्यां तस्यां श्रीराधा-माधव-पुरतः कथयामास,—"तदानीमनेन रमणेन भवतीः प्रति च पत्रिका वितीर्णासीत् ॥३२॥ यथा—

'वासन्तिकाः सन्ति मयाभिषिञ्चता, पुञ्जीकृताः कुञ्ज-कृते सहस्रशः ।
प्रियाभिरर्धाङ्गतया सधर्मभि,-र्मनोरथः सम्प्रति पूर्यतां मम ॥' इति ॥३३॥

"भवतीभिश्च प्रतिपत्रिका दत्ता; यथा—

'कुञ्जीकर्तुं यास्त्वया पुञ्जिताङ्गा, माधव्यस्ताः सेक्तुकामा वयं स्मः ।
हा धिक् किन्तु प्राप्य शीताम्बुसिक्ती,-रप्युष्णैर्नः शुष्कतां यान्ति बाष्पैः ॥"३४॥

देखकर दुःखित होता हुआ, उनकी रक्षा में संलग्न नहीं हो रहा है, अतः वह तुम्हारा पिता स्वयं लज्जित हो रहा है। तात्पर्य—तुम्हारे विरह में दुःखित धेनुओं की रक्षा तुम स्वयं आकर करो ॥२६॥

तदनन्तर मधुकण्ठ "दूसरी कथा, अर्थात् रुक्मिणी आदि के विवाह की विस्तारवाली कथा आयेगी" इसलिए "यह श्रीकृष्ण तो गोप है" अतः क्षत्रिय कन्या के साथ कैसे विवाह करेगा ? इस प्रकार की सङ्कीर्णता के भय से शीघ्र ही प्रसङ्ग की समाप्ति का द्योतक वचन बोला— ॥३०॥

हे कुलपते ! श्रीनन्दजी ! आप ध्यान देकर तो देखें कि, वह हंसी, वह सुनन्दा, एवं वे गङ्गा आदि सब धेनुएँ इन तुम्हारे श्रीकृष्ण के द्वारा सुरक्षित होकर, इस समय नेत्रधारियों के, अर्थात् देखनेवाले व्यक्तियों के सैंकड़ों प्रकार के सुखों को उत्पन्न कर रही हैं। हे गोपेश्वर ! इस बात को तो दूर रहने दीजिये। आप यह तो देखो कि, वे ही तुम्हारे लाला श्रीकृष्ण तुम्हारी गोद को पुष्ट करते हुए, व्रज के सभासद् जनमात्र को चारों ओर से भली प्रकार पुष्ट कर रहे हैं ॥३१॥

इस प्रकार दिन की कथावाले व्रज के सभासद् श्रोताओं को आनन्दित करके, एवं उन्हीं श्रोताओं के द्वारा समृद्धि को प्राप्त हुआ वह मधुकण्ठ उसी दिन की रात्रि में, श्रीराधा-माधव के आगे कहने लगा कि—हे गोपियो ! सुनो, उस समय, अर्थात् प्रगटलीला के समय तुम्हारे साथ क्रीडा करनेवाले इन घनश्याम ने (द्वारका से) तुम सबके प्रति भी पत्रिका भेजी थी ॥३२॥

यथा—हे प्रियतमा गोपियो ! देखो, मैंने कुञ्जों की रचना के लिए हजारों वासन्ती माधवी लताएँ सींच सींचकर एकत्रित की थीं। किन्तु अब मेरी अर्धाङ्गिनी होने के नाते समान धर्मवाली मेरी प्रियाओं के द्वारा उन लताओं को सींचनारूप मेरा मनोरथ पूरा कर देना चाहिये ॥३३॥

और आप सब गोपियों ने भी प्रत्युत्तर पत्रिका दी थी, यथा—हे प्यारे श्याम ! आपने निकुञ्ज बनाने के लिए जो माधवी लताएँ पल्लवित एवं पुञ्जित अङ्गोंवाली की थीं, हम उन लताओं को सींचना तो चाहती हैं, हाय ! किन्तु शीतलजल के द्वारा सेचन को पाकर भी, तुम्हारे विरह से गरम हुए हमारे नेत्रजलों के द्वारा सूखी जा रही हैं ॥३४॥

अथ मधुकण्ठः समापनमाह स्म,—

"कुञ्जपालनवचांसि सन्दिशन्, व्यानगागमनमात्मनो हरिः ।
व्यज्य चास्य रचयन्नुदाहृतिं, राधिके ! विहरति त्वया सह ॥" इति ॥३५॥

तदेवं तयोः सुखमाधाय तथानुज्ञामादाय कथकयोः सर्वकेण सह निष्क्रान्तयोः सतोरनयोस्तु कान्तयोर्लब्धलीलानिशान्तयोः सुखं मुखतः कति वर्णनीयम् ? ॥३६॥

इति श्रीश्रीमदुत्तरगोपालचम्पूमनु श्रीबलभद्रविवाहभद्रप्रपञ्चो नाम पञ्चदशं पूरणम् ॥१५॥

अथ षोडशं पूरणम्

श्रीरुक्मिणीपाणिपीडनम्

तदेवं रात्रिकथायां कृतप्रथायां श्रीकृष्णमुखसितांशुस्मितसिते श्रीव्रजराजभासिते सदसि कथान्तरं स्निग्धकण्ठः कथयामास,—"तदेवं दूतेषु गतागततया सम्भूतेषु कौचिद्दूतावागतौ; आगत्य च पूर्ववत् कुशलमावेदयन्तौ निवेदयामासतुः—'तस्यां नाम्ना वनमालिन्यां धाम्ना च सर्वशुभशालिन्यां पूर्यां किमप्यपूर्वं वृत्तं सम्प्रति वृत्तमस्ति ॥१॥

अनन्तर मधुकण्ठ समाप्तिवाचक वचन बोला—हे राधिके ! देखो, श्रीकृष्ण ने (द्वारका से) निकुञ्जों की रक्षा के वचनों का सन्देश देकर, व्रज में अपने आगमन को व्यक्त कर दिया था। एवं उस आगमन के उदाहरण को प्रगट करके उसको कार्यरूप में परिणत करते हुए, श्रीकृष्ण तुम्हारे साथ विहार कर रहे हैं ॥३५॥

अतएव इस प्रकार श्रीराधा-माधव के सुख को बढ़ाकर, तथा उनकी अनुमति लेकर, सभी के साथ उन दोनों कथावाचकों के चले जाने के बाद, इन प्रिया-प्रीतम के अपने क्रीडाभवन को प्राप्त हो जानेपर जो सुख हुआ होगा, कविजन उस सुख को अपने मुख से कितना वर्णन कर सकता है ? अर्थात् किंचिद् भी नहीं ॥३६॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रिविरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीमदुत्तरगोपालचम्पूकाव्ये श्रीबलभद्रविवाहभद्रविस्तारकं नाम
पञ्चदशं पूरणं सम्पूर्णम् ॥१५॥

सोलहवाँ पूरण

श्रीरुक्मिणी का पाणिग्रहण

इस सोलहवें पूरण में सर्वानन्ददायक श्रीमती रुक्मिणी का विवाह वर्णित होगा। अतएव पूर्वोक्त प्रकार से रात्रि की कथा की प्रसिद्धि हो जानेपर, श्रीकृष्ण के मुखचन्द्र की मन्दमुसक्यान से श्वेत वर्णवाली एवं श्रीव्रजराज के तेज से प्रदीप्त, प्रातःकाल की सभा में स्निग्धकण्ठ दूसरी कथा कहने लगा कि—इस प्रकार यातायात के कारण, दूतों के सम्मिलित हो जानेपर, कोई दो दूत व्रज में आये। और आते ही पहले की भाँति कुशल जनाते जनाते निवेदन करने लगे कि—नाम से वनमालिनी एवं प्रभाव से सर्व शुभशालिनी उस द्वारकापुरी में, कोई अपूर्व वृत्तान्त अभी संघटित हुआ है ॥१॥

"व्रजराज उवाच,—'सौम्यौ ! सम्यक् कथ्यताम् ।' "तावूचतुः,—'तत्र सर्वसुखमये दिनकतिपये गते क्वचिदेकान्ते कान्ते रत्ननिशान्ते काञ्चन काञ्चनपर्यङ्कीमनु कदाचिदुदासीनवदासीनं भवदुद्भवं दुर्जनविप्रलब्ध इव कश्चिद्विप्रः ससम्भ्रमं लब्धवान् । लब्धवन्तं च तं विप्रताविस्रब्धहृदयः सम्यग्धृतनयः स तु भवत्तनयः प्रणामेन संयुज्य पाद्यादिभिः संपूज्य मधुरं संभोज्य शय्यायां संयोज्य चरणौ परिचरणाय धारयन् वार्तान्तरमन्तरावतारयन्नागमनकारणं पप्रच्छ ॥२॥

'स तु सलज्जतां सज्जन् क्षणं तूष्णीकां पुष्णाति स्म; पश्चात्तु जगाद,—विदर्भदेशनरेशः कुण्डिनकृतनिवेशः खलु भीष्मकनामा विस्तृतकीर्तिधामा भवता ज्ञायत एव ! अमुष्य चामुष्यकुलिकाकलितस्य दनुजप्रकृतीनां रुक्मिप्रभृतीनामनुजा रुक्मिणी नाम तनुजा चावगम्यते । सा च ज्ञाततत्तातहृद्भिः सुहृद्भिर्भवते दातुं विभाविता । रुक्मिणा तु तान् विप्रलब्धान् विधाय शिशुपालाय दातुमारब्धास्ति । धन्या सा तु कन्या तव श्रुतिं श्रुतिमिव प्रमाणीकृत्य स्वानुभववर्त्मनि त्वामेव वरीयस्तया वरीकृत्य च वरीतुमिच्छति । वरीतुमिच्छतीति किं

श्रीव्रजराज बोले—हे सौम्यजनो ! अच्छी तरह से कह दो । वे दोनों दूत बोले—वहाँपर सर्वसुखमय कुछ दिन बीत जानेपर, किसी एकान्तस्थल में मनोहर रत्नगृह में, किसी कांचननिर्मित शय्यापर, कभी उदासीन की भाँति बैठे हुए तुम्हारे पुत्र को, दुर्जनों के द्वारा ठगे गये की तरह, सुनन्द नामक किसी ब्राह्मण ने शीघ्रतापूर्वक प्राप्त किया । उसके ब्राह्मणपन से विश्वासयुक्त हृदयवाले, भली प्रकार नीति धारण करनेवाले, आपके पुत्र ने तो प्राप्त हुए उस ब्राह्मण को प्रणाम से संयुक्त कर, अर्घ्य पाद्य आदि से उसका पूजन कर, मधुर भोजन कराकर, शय्यापर सुलाकर, सेवा करने के लिए उसके चरणों को धारण करते करते, इसी बीच में दूसरी बात चलाते चलाते आगमन के कारण को पूछा ॥२॥

वह ब्राह्मण तो लज्जित सा होकर, क्षणभर मौन को ही पुष्ट करता रहा । पीछे तो बोला कि—भगवन् ! कुण्डिनपुर में रहनेवाले, भीष्मक नामवाले, विस्तृत कीर्ति एवं तेजवाले, विदर्भदेश के राजा को तो आप जानते ही हैं । और प्रसिद्धकुल के भाव से युक्त उस राजा के, राक्षसों की सी प्रकृतिवाले रुक्मी आदि पाँच पुत्रों की छोटी बहिन, रुक्मिणी नामवाली पुत्री को भी आप जानते हैं । उसके पिता के मन को जाननेवाले मित्रों ने, उस कन्या को आपको देने के लिए विचार किया था । किन्तु उसके बड़े भाई रुक्मी ने तो उन सबको ठगकर शिशुपाल के लिए देना आरंभ कर दिया है (अतः रुक्मी ने अपनी बहिन रुक्मिणी के पास पत्र में एक श्लोक भी भेजा है, यथा—"प्रणयो दमघोषनन्दने, शिशुपाले तव यौवनाश्चिते । नरदेववरे श्रुतश्रवो,-हृदयानन्दिगुणे विजृम्भताम् ॥" अर्थात् हे रुक्मिणि ! देख, मेरा कहना तो यह है कि, जो शिशुपाल यौवन से युक्त है, एवं अपनी माता श्रुतश्रवा के हृदयानन्ददायी गुणों से युक्त नृपतिश्रेष्ठ है, तथा दमघोष का पुत्र है, ऐसे शिशुपाल में तुम्हारा प्रेम बढ़ता रहे । रुक्मिणी ने अपने भावानुसार पूर्वोक्त श्लोक के पाँच अक्षरों को परिवर्तन करके रुक्मी के निकट भेज दिया । यथा—"प्रणयो मम घोषनन्दने, पशुपाले नवयौवनाश्चिते । परदेववरे द्रुतश्रवो,-हृदयानन्दिगुणे विजृम्भताम् ॥" ल० मा० ना० ५।६ । अर्थात् मेरा प्रेम तो उन्हीं श्रीव्रजराजकुमार में बढ़ता रहे कि जो गोपालन तत्पर हैं, एवं नित्य नवीनयौवन से युक्त हैं, तथा परात्पर देवश्रेष्ठ हैं, और जिनका यश चारों ओर फैल रहा है, एवं जिनके लोकोत्तरगुण हृदय को आनन्ददायक हैं) । तथापि वह सौभाग्यवती कन्या तो, आपके रूप गुणादि के श्रवण को वेद की तरह प्रमाण मान-

वाच्यमपि तु मनसाऽवारीदेव। तदनु चान्येन पाणिपीडनं पीडनमव्यवहितं पर्यालोच्य लज्जामप्यसज्जन्ती मां तव स्थानं प्रस्थापितवती, उक्तवती च,—॥३॥

लज्जा कार्या नात्र यत्रास्ति धर्मः, का सा या स्यादेनसे मृत्यवे वा।
उद्यद्रागास्तं पुनर्लोकधर्म,-त्यागाद्धन्याः सर्वकान्तं भजन्ते॥ इति ॥४॥

'अथ कृष्णः स्वगतं विचारयति स्म,—सत्यं सत्यम्, सा खलु गत्यन्तरमनासक्ता मय्येवानुरक्तास्तीति कृतसर्वसुखाद् देवर्षिमुखादप्यवकलितम्; किन्त्वास्तां तावदनुरागवार्ता, सदाम्नायवती सा न कदाचिन्मदेकपातिव्रत्यमयमाम्नायं त्यजेत्, परं तु कायमेव विसृजेत्। तदेतच्च मदिङ्गितमपेक्ष्य गुरुषु न ज्ञापयतीति लक्ष्यते। मदिङ्गितं वेद चेदसावात्मनि मदङ्गीकृतिमनीषितं स्वाङ्गीकृतमेव मन्येत, तदन्यथा तु स्वमङ्गमपि नाङ्गीकृतमिति। मम तु स एष निसर्गः सदा निरर्गलः स्फुरति, यदनुरागमात्रपात्रता यत्र, न तत्र त्यागमयितुं शक्नोमीति। तथापि गोकुलप्रेमलक्ष्मीविलक्षणीकृतहृदयतया न तु तस्यानुद्यमं कुर्वन्नस्मि; सम्प्रति तु तस्यास्तावती तापवती प्रयत्नवरिवस्या। तत् किं कर्तव्यं निश्चिनोमीति नश्चित्तं न

कर, अपने अनुभवमार्ग में आपको ही श्रेष्ठरूप से वर मानकर वरण करना चाहती है। "वरण करना चाहती है" इस विषय में तो कहना ही क्या है? अपितु, अपने मन से आपको ही वरण कर चुकी है। उसके बाद आप से भिन्न व्यक्ति के साथ अपने विवाह को व्यवधानरहित पीडा ही समझकर लज्जा को भी न करती हुई, उस कन्या ने मुझको तुम्हारे स्थानपर भेजा है। और कहा भी है कि— ॥३॥

हे भगवन्! जिस कार्य में धर्म हो, उसमें लज्जा नहीं करनी चाहिये। और जो लज्जा, पाप एवं मृत्यु का निमित्त बन जाय, वह लज्जा कौन काम की? अतएव वे गोपियाँ धन्य हैं, जो कि उदय होते हुए अनुरागवाली होकर, लौकिकधर्म को त्यागकर सभी के कान्त श्रीकृष्ण का भजन करती हैं॥४॥

अनन्तर श्रीकृष्ण अपने मन में विचारने लगे कि, यह बात सत्य है, एवं ध्रुवसत्य है कि—"वह रुक्मिणी दूसरे पति के प्राप्तिरूप अन्य उपाय में आसक्त न होकर, मुझ में ही अनुरक्त है" यह बात मैंने सबको सुखी करनेवाले, श्रीनारदजी के मुख से भी सुनी थी। अतः अनुराग की बात को तो दूर रहने दो। किन्तु सत्कुलवाली या श्रीनारदादि सन्तों के उपदेश से परिपूर्ण वह कन्या, मुझको ही केवल पतिरूप से माननारूप पतिव्रत धर्ममय वेद को कदापि नहीं त्याग सकती है, परन्तु अपने शरीर को ही त्याग सकती है। और मन मन से मेरे वरणरूप पतिव्रतधर्म को मेरे इशारे की अपेक्षा करके ही, अपने माता-पिता आदि गुरुजनों के निकट प्रकाशित नहीं करती है। मुझे तो यही प्रतीत होता है। यह रुक्मिणी यदि मेरे संकेत को जान लेती तो, अपने मन में मेरे द्वारा अङ्गीकार के अभिलषित को अपना अङ्गीकार ही मान लेती। उससे अन्यथा तो, अर्थात् "मैं तुझको अङ्गीकार नहीं करूँगा" इस प्रकार जान लेनेपर तो, वह अपने शरीर को भी अङ्गीकार नहीं किया है, ऐसा मान लेगी, अर्थात् अपने शरीर को भी छोड़ देगी। किन्तु मेरा प्रतिबन्धरहित यह स्वभाव तो सदैव स्फूर्ति पा रहा है कि, जिस व्यक्ति में अनुरागमात्र की योग्यता है, उसके विषय में मैं त्याग को नहीं प्राप्त हो सकता हूँ, अर्थात् अनुराग के पात्र को मैं नहीं त्याग सकता हूँ, यह मेरा स्वतन्त्र स्वभाव है। तथापि व्रज में जो प्रेमरूप सम्पत्ति है,उसने मेरा हृदय विलक्षण (असाधारण) कर दिया है, उसी के कारण तो मैं रुक्मिणी के विषय में उद्यम नहीं कर रहा हूँ। किन्तु अब तो रुक्मिणी के प्रबल प्रयत्न की सेवा उतनी सन्तापयुक्त जागृत हो चुकी है। अतः उसके विषय में कौन सा कर्तव्य

विपश्चिद्भवति। तस्मान्नव्यं तु प्रष्टव्यमिति। 'अथ पप्रच्छ,—किमपि विशिष्टं तया स्वाभीष्टं निर्दिष्टम् ? ॥५॥

'विप्र उवाच,—न हि न हि, किन्तु पत्रमेवेदं सापत्रपं मां ग्राहितमस्ति। 'श्रीकृष्ण उवाच,—वाच्यताम् ॥६॥

'ब्राह्मणः सगद्गदमुवाच,—

'ते ते गुणा भुवनसुन्दर ! कर्णरन्ध्र,-द्वारा मदीयहृदयं विविशुर्निकामम् ।
तेऽप्यासतामहह यच्च दृगेकगम्यं, तद्रूपमप्यथ तया विशति स्म तत्र ॥७॥
आविश्य तत्र भवदेकगतित्वमात्म,-सम्बन्धि मन्मनसि तानि निदिह्य तस्थुः ।
येनेदमप्यहह ह्रीपरिवर्जनेन, त्वामेव शश्वदनुगच्छति कञ्जनेत्र ! ॥८॥
ये ये गुणा निखिलतापहरास्तथा य,-द्रूपं समस्तफलरूपममी च तच्च ।
मद्वाञ्छितं न ददतां न तु तेन गाता,-मन्यादृशप्रथितिमीश ! तदेतदीहे ॥९॥
कन्या भवेत् कुलवती गुणशालिनी या, सा चेत् सुधीरवसरे न भजेत का त्वाम् ? ।
यस्त्वं गुणादिभिरनन्यसमः समस्त,-त्रैलोक्य-लोक-हृदयान्तरहृद् विभासि ॥१०॥

निश्चय करूँ ? हमारा चित्त तो इसके विचार में समर्थ नहीं हो रहा है। इसलिए किसी नये समाचार को तो पूछना चाहिये। इतना विचारने के बाद पूछा कि—हे विप्र ! उस रुक्मिणी ने अपने किसी विशिष्ट अभीष्ट का भी निर्देश किया है क्या ? ॥५॥

ब्राह्मण बोला—ना, ना, किन्तु उसने लज्जापूर्वक यह पत्र ही मुझको दे दिया है। श्रीकृष्ण बोले—उस पत्र को बाँच दीजिये ॥६॥

ब्राह्मण गद्गद होकर (रुक्मिणी के पत्र को बाँचता हुआ) बोला—हे भुवनसुन्दर ! आपके निखिल भुवनप्रसिद्ध वे गुण मेरे कर्णछिद्रों के द्वारा, मेरे हृदय में स्वेच्छापूर्वक प्रविष्ट हो गये हैं। अच्छा, उन गुणों को तो रहने दीजिये। अहह ! जो आपका भुवनमोहन रूप केवल दृष्टि के ही गम्य है, वह प्रसिद्ध रूप भी कानों के द्वारा मेरे हृदय में प्रविष्ट हो गया है ॥७॥

और मेरे मन में प्रविष्ट होकर "केवल आपही जिसके प्राप्य हो, एवं मुझ से जो सम्बन्ध रखनेवाला है" ऐसे मेरे मन में आपके वे गुण रूपादि एकत्रित होकर बैठ गये हैं। जिस कारण से हे कमलनयन ! यह मेरा मन भी लज्जा को छोड़कर, निरन्तर आपका ही अनुगमन करता रहता है ॥८॥

हे नाथ ! आपके सभीजनों के तापों को हरनेवाले जो जो गुण हैं, तथा समस्त फलस्वरूप जो आपका रूप है, वे गुण यदि मेरी वाञ्छित वस्तु को नहीं देंगे, एवं वह रूप भी यदि मेरी वाञ्छित वस्तु को नहीं देगा, इसी कारण से तो वे गुण दूसरी प्रकार की प्रसिद्धि को नहीं प्राप्त होंगे, एवं वह रूप भी दूसरी प्रकार की प्रसिद्धि को न प्राप्त होगा। अतः मैं यह चेष्टा करती हूँ कि, "मेरी अभिलाषा को पूरी करके, अपने गुण रूपादिकों की दूसरी प्रकार की प्रसिद्धि कर दीजिये" (इस श्लोक में 'ददतां' यह रूप दा धातु के लोट् लकार के प्रथमपुरुष के बहुवचन का भी है, एवं दद धातु के एकवचन का भी रूप है। एवं 'गातां' इस रूप को भी गाङ् धातु के बहुवचन का तथा एकवचन का जानना चाहिये) ॥९॥

और जो कन्या कुलवती एवं गुणशालिनी होगी, तथा वही यदि सुन्दर बुद्धिवाली होगी तो, ऐसी कौन होगी जो कि विवाह के समयपर आपका भजन न करेगी ? अपितु, अवश्य करेगी। तात्पर्य—ऐसी

तस्मान्मया ह्रियमपोह्य निगद्यते द्रा,-गद्यैव दैवत ! मया स भवान् वृतोऽस्ति ।
त्वय्यर्पितं वपुरिदं स्पृशतान्न चैद्यः, सिंहीवपुः किमु नृसिंह ! शृगालयोग्यम् ? ॥११॥
पूर्तादिभिः स भगवान् यदि शैशवादा,-वाराधितस्तव मया चरणार्चनाय ।
तर्त्तर्हि सेत्स्यति न वा यदि तत्र पातः, पातस्तनोर्भवतु तां स्पृशतान्न चान्यः ॥१२॥
श्वोभाविनि त्वमजितोद्वहने विदर्भान्, गुप्तः समेत्य पृतनापतिभिः परीतः ।
देव्यर्चनानयकृते कृतनिष्क्रमां मां, निर्मथ्य चेदिपमुखान् सहसा हरस्व ॥१३॥
यस्यांघ्रिपङ्कजरजांस्यपि सर्वदुःखं, सर्वं हरन्ति स च चेन्न भवेत् प्रसन्नः ।
तर्हि व्रतायुतयुजां जनुषां सहस्रै,-र्जह्यां पुनः पुनरसून् वरमेतदस्तु ॥' इति ॥१४॥

"अत्र व्रजस्थाः केचित् प्रोचुः,—'अहो ! बालिकाया अपि शुभाभिनिवेशपरिपालिका बुद्धिः कलिता, यदेतावदन्तं स्वान्तम्' इति । "काश्चित् प्रोचुः,—'कथं सा बालिका ? किन्तु चालिका; यत्तावति भये प्रायुंक्त' इति । "अन्ये प्रोचुः,—'क्षत्रियजातितया तस्या मनसि भयं नायाति; किन्तु तस्या धर्मनिष्ठा खलु सर्वं प्रतिष्ठापयिष्यतीति पुनः पुरतः कथ्यताम् ॥' १५

कन्या तो आपका ही वरण करेगी । क्योंकि गुणादिकों के द्वारा दूसरा व्यक्ति आपके समान नहीं है । एवं आप तो अपने माधुर्य गुण से तीनोंलोकों के समस्तजनों के हृदयपर्यन्त को हरनेवाले प्रतीत हो रहे हो ॥१०

हे पूज्यवर ! आप सबके हृदयतक को हर लेते हो, इसीलिए मैं भी लज्जा को छोड़कर कहती हूँ कि—वे ही आप आज मैंने शीघ्र ही वर लिये हो । अतः आपके निमित्त अर्पण किये हुए इस मेरे शरीर को शिशुपाल स्पर्श न कर पाये । क्योंकि हे नृसिह ! आप ही बताओ कि, सिंहिनी का शरीर शृगाल के योग्य होता है क्या ? अपितु, नहीं ॥११॥

और यदि मैंने बालकपन से लेकर तुम्हारे चरणों के (निष्काम) पूजन के लिए वापी, कूप, तडाग, धर्मशाला आदि के निर्माण के द्वारा, उन आपरूप भगवान् का आराधन किया है, तब तो आपके चरणों का पूजनरूप मनोरथ अवश्य सिद्ध होगा । यदि इस प्रकार की आराधना करनेपर भी,आपके चरणपूजन में पतन हो जायगा, तब तो मेरे शरीर का ही पतन हो जाय तो भला हो, किन्तु मेरे उस शरीर को दूसरा व्यक्ति न छू पाये ॥१२॥

यदि कहो कि, तेरी इच्छा से मैं तुझको स्वीकार तो कर सकता हूँ, किन्तु तुम्हारे हठात् हरने से तुम्हारे बन्धुओं का विनाश अवश्य होगा, तब उसका उपाय मैं बताती हूँ कि—हे अजित ! भगवन् ! कल होनेवाले मेरे विवाह में आप अपने सेनापतियों से घिरकर, गुप्तरूप से विदर्भदेश में आकर, शिशुपाल आदिकों को हराकर, गिरिजादेवी के पूजनरूप नीति के लिए अन्तःपुर से निकली हुई मुझको सहसा हर ले जाओ । ऐसा करने से बन्धुओं का विनाश भी न होगा, यह भाव है ॥१३॥

और जिनके चरणकमलों की धूलियाँ भी समस्त दुःख को समूल नष्ट कर देती हैं, वे ही आप यदि मुझपर प्रसन्न न हुए, तब तो मैं दश हजार व्रतों से युक्त हजारों जन्मों के द्वारा बारंबार अपने प्राणों को त्यागती रहूँगी । आपके अङ्गीकार न करनेपर तो यही अच्छा हो ॥१४॥

इस विषय में कुछ व्रजवासी बोले—अहो ! उस छोटी सी लड़की (रुक्मिणी) की बुद्धि भी शुभ अभिनिवेश की संरक्षक देखी जाती है, जो कि उसका चित्त इतने विचारतक पहुँच गया । सभा में बैठी हुई कुछ स्त्रियाँ बोलीं—वह छोटी सी लड़की कैसे है ? किन्तु वह तो चालिका, अर्थात् चतुर चालाक है,

"दूतावूचतुः,—'तदेवमवधार्य हरिणा पुनरिदं मनसि विचार्यते स्म,—सम्प्रति किं कार्यम् ? यतस्तत्प्राणत्यजनमवश्यनिवार्यम् । गोकुलगति-प्रतिबन्धावहं तद्विवहनं तु कथं जातनिर्वहनं विधेयम् ?' इति ॥१६॥

"अथ पुनरपि विचार्यते स्म,—'आपाततः सा समाहार्या, पश्चात्तु विचार्याचरिष्यामि' इति । "तदेवं विविच्य प्रोच्यते स्म,—'भो ! भट्टारचरणाः ! समवधीयताम् । यदवधि तां देवर्षिमुखात्तथा मदुन्मुखामश्रौषम् तदवधि निरवधि मयापि मनस्तच्चिन्तायां श्रौषट्कृतम् ॥१७

'यतः, भजनीयानां भक्ता, गुणमनुयान्तीति सर्वतः ख्यातिः ।
भक्तगुणाननुयातु,-र्मम तु हरेः स्फाटिकाद्रिवद् वृत्तिः ॥१८॥

'तस्मात्तस्याः समुद्धारः सर्वथा कार्यः, पश्चात्तु कार्यगत्या यथावद्विचार्यम्' इति ॥१९॥

"तदेवं विविच्य निजमुत्कण्ठितमतिरिच्य द्विजेन सह रथमारुह्य तद्विवाहावसरं समुह्य स स्वयमेकरात्रमात्रेण विदर्भगर्भगं कुण्डिनपुटभेदनं प्राप । गमनसमये तु केषाञ्चिदत्र सम्मतिः स्यात्, केषाञ्चिन्न चेति भिया ह्रिया च सङ्कर्षणमपि न सङ्कलयति स्म; किन्तु तदवस्थेहः प्रदोष एव प्रतस्थे ॥२०॥

क्योंकि जिसने श्रीकृष्ण को उतने भारी भय में नियुक्त कर दिया। दूसरे व्रजवासी बोले—वह रुक्मिणी क्षत्रिय जाती की है, इसी कारण उसके मन में भय नहीं आता है। किन्तु उसकी धर्मनिष्ठा ही सब कुछ प्रतिष्ठित कर देगी। पुनः आगे का वृत्तान्त कहिये ॥१५॥

दोनों दूत बोले—पूर्वोक्त प्रकार से रुक्मिणी के अनुराग को जानकर श्रीकृष्ण अपने मन में पुनः यह विचारने लगे कि—अब क्या करना चाहिये ? कारण उसका प्राणत्याग अवश्य ही रोकने योग्य है। किन्तु व्रज में जाने के प्रतिबन्ध (रुकावट) को देनेवाले उसके विवाह का निर्वाह तो किस प्रकार करना चाहिये ? ॥१६॥

उसके बाद पुनः मन में विचारने लगे कि—आपाततः उस रुक्मिणी 'को हरके ले आना चाहिये, पीछे तो विचार करके कार्य करूँगा। इस प्रकार विचार कर स्पष्ट बोले—हे पूज्यपाद ! विप्रदेव ! आप सावधान हो जाइये। देखो, मैंने जब से श्रीनारद के मुख से रुक्मिणी को पूर्वोक्त प्रकार से मेरे उन्मुख सुना है, तब से मैंने भी अपने मन को उसकी चिन्ता में निरन्तर समर्पित कर दिया है ॥१७॥

कारण यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है कि—भक्तजन अपने उपास्यदेवों के गुण का ही अनुगमन करते हैं। किन्तु भक्तजनों के गुणों का अनुगमन करनेवाले मुझ श्रीहरि की वृत्ति तो स्फटिकमणि के पर्वत की सी है, अर्थात् स्फटिकमणि जैसे पासवाली वस्तु के रूप को ग्रहण कर लेती है, मैं भी उसी प्रकार भक्तों के भावानुसार उनके गुणों को ग्रहण कर लेता हूँ ॥१८॥

इसलिए उसका उद्धार तो सब प्रकार से करना चाहिये। पीछे तो कार्य की गति के अनुसार यथायोग्य विचार किया जायगा ॥१९॥

अतएव इस प्रकार विचार कर, अपनी उत्कण्ठा को बढ़ाकर, ब्राह्मण के साथ रथ में चढ़कर, रुक्मिणी के विवाह के अवसर को समझ कर, श्रीकृष्ण स्वयं एकरात के द्वारा ही, विदर्भदेश के मध्यस्थित कुण्डिनपुर में पहुँच गये। यदि आप सब कहें कि—रुक्मिणी ने तो सेनापतियों के साथ आने को लिखा था, तब अकेले ही क्यों गये ? इसके उत्तर में कहते हैं कि—चलते समय तो इस विषय में किन्हीं की सम्मति

"अथ कुण्डिनमासाद्य पुण्डरीकाक्षः पुत्रमतमाश्रित्य विदर्भक्षित्यधिपेनारब्धमुद्धतमुद्धर्षं ददर्श। क्रमात् कलितजामातृतागतिं चेदिपागतिं चावगतवान्। तदनन्तरं तस्मिन् वरसमागमावसरसमुचिततयाचितभरं भीष्मकादरं तदवधारणकृते मागधादिसमाहारं चावलोकितवान् ॥२१॥

"अथ व्रजराजः ससम्भ्रमं पप्रच्छ,—'तर्हि वत्सः कथं तत्समीपत एकाकितया तस्थौ ?'॥२२॥

"दूतावूचतुः,— 'अरिकोटीरवगणयद्, व्रजनृप ! तेजः सुतस्य जानीथ।
यद्यपि वारणचक्रे, हरिरेकाकी बिभेति किं तदपि ?' ॥२३॥

"व्रजराज उवाच,—'पश्चादपि कश्चित्तमनु न गतः ? अन्यो नानुगच्छतु नाम, श्रीमान् रामः कथं नानुगच्छेत् ? स खलु व्रजक्षीरनीरधिजन्मा स्निग्धतां कथं त्यजतु, यत्सम्बन्धात्तत्पत्तनजाताश्च केचन स्निग्धतां याताः ?' ॥२४॥ "दूतावूचतुः,—तथा हि—

एकं कन्याहरणविधिकृते कुण्डिनं प्राप्तवन्तं, श्रुत्वा रामः स्वमनुजमथ तं तत्र शत्रूद्यमं च।
स्नेहाम्भोधिव्रजजनुरुचितस्निग्धभावेन दिग्धः, शङ्कातङ्की कटकघटनया सज्जितस्तज्जगाम ॥'२५

होगी, किन्हीं की नहीं, इस भय से एवं लज्जा के कारण, श्रीबलदेवजी को भी साथ नहीं ले गये। किन्तु जैसे बैठे थे, वैसे ही उठकर, सायंकाल में ही चल दिये ॥२०॥

तदनन्तर कुण्डिनपुर में पहुँच कर कमलनयन श्रीकृष्ण ने रुक्मी नामक पुत्र के मतानुसार, विदर्भनरेश भीष्मक के द्वारा आरम्भ किये गये विवाहसम्बन्धी विशाल महोत्सव को देखा। पश्चात् क्रमशः दूलह का सा वेष धारण करनेवाले शिशुपाल के आगमन को भी जान लिया। तदनन्तर उस विवाह में वर के समागम के अवसरपर, समुचितरूप से विशेष करके एकत्रित किये गये, भीष्मक के द्वारा किये गये आदर को, एवं उस विवाह को स्थिर करने के लिए, जरासन्ध आदि के सम्मेलन को भी देख लिया ॥२१॥

अनन्तर श्रीव्रजराज वेगपूर्वक पूछने लगे कि—उस समय हमारा लाला उन जरासन्धादिकों के निकट अकेला ही कैसे स्थित रहा ? ॥२२॥

दोनों दूत बोले—हे व्रजराज ! आप इस बात को तो जानते ही हो कि, आपके पुत्र का तेज करोड़ों बैरियों को तिरस्कृत करनेवाला है। उसका दृष्टान्त यह है कि, सिंह यद्यपि हाथियों के समूह में अकेला ही हो, तो भी डरता है क्या ? ॥२३॥

श्रीव्रजराज बोले—तो क्या मेरे लाला के पीछे भी किसी ने अनुगमन नहीं किया ? और कोई भले ही अनुगमन न करे, किन्तु श्रीबलराम कैसे अनुगमन नहीं कर सकते ? क्योंकि वे भी तो व्रजरूप क्षीरसागर में जन्म लेनेवाले हैं, अतः स्नेह के भाव को कैसे त्याग सकते हैं ? एवं जिन बलरामजी के सम्बन्ध से मथुरापुरवासी या द्वारकापुरवासी कुछ व्यक्ति भी, श्रीकृष्ण के ऊपर स्नेहभाव को प्राप्त हो गये हैं ॥२४॥

दोनों दूत बोले—देखो, कन्या के हरने की विधि के लिए अकेले ही कुण्डिनपुर गये हुए, अपने छोटे भाई श्रीकृष्ण को सुनकर, एवं वहींपर शत्रुओं के उद्यम को सुनकर, स्नेह के समुद्ररूप व्रजमें जन्म लेनेवाले श्रीबलराम उचित स्नेह के भाव से भरकर, शंका से सन्तप्त होकर, सेना की रचना द्वारा सुसज्जित होकर कुण्डिनपुर चले गये ॥२५॥

"अथ सर्वेऽपि यादवग्रामरामयोस्तारतम्यं मनसिकृत्य प्रोचुः,—
'जन्मना सह यः प्रेमा स्यादेष निरुपाधिकः।
आगन्तुकस्तु सोपाधिः कथं तत्तुलनां व्रजेत् ?' ॥२६॥

"व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—'गते च तत्राग्रजे लज्जिते चावरजे श्रीमानग्रजस्तु रोषमनु ताम्रतनुरोषधीशवदुदितस्तेन स्तेनम्मन्येन समं किञ्चिदपि नोक्तवान्, सर्वैः सह तं परिवार्य तु स्थितवान् ॥'२७॥

"व्रजराजः सहर्षमुवाच,—'स तु ब्राह्मणः कुत्र गतवान् ? तस्या वा स्वधर्मनाशत्रासं मर्मणि स्पृशन्त्यास्तमेव गतिं परामृशन्त्या मतिः कां गतिं गतवती ?' ॥२८॥

"दूतावूचतुः,—'विप्रः स च बन्ध्यानुनीतिरजनीति विभाव्य निजभाव्यशुभं सम्भाव्य सर्वां रजनीं जजागार। सन्ध्यात एव सा सन्ध्यातविप्रागमना, आत्मचापलमेव च फल-निकारकारणतया विचारादनुससार। पुनश्च श्वोभाविनि त्वमजितेत्यादिना तं प्रति प्रथितः स च खल्ववसरः सम्प्रति च नाससार, कालयापश्च मया दुराप इति परामर्श। तथापि पन्थानं पश्यन्त्यी तत्राक्षमतया मनः संयमयन्ती मूर्धानं नमयन्ती परस्परं कृतसक्ती दन्तपंक्ती निष्पीड्य धैर्यं कलयन्ती सलिलधाराविलविलोचने निमील्य क्षणकतिपयं गमयामास;

उसके बाद सभी व्रजवासी, यादवसमूह एवं बलरामजी के तारतम्य को मन में लाकर बोले—जो प्रेम, जन्म के साथ होता है, वह स्वभावसिद्ध कहलाता है। किन्तु आगन्तुक जो प्रेम है, अर्थात् हितजनक कार्य करने से जो प्रेम होता है, वह अस्वाभाविक होता है, अतः बनावटी प्रेम स्वभावसिद्ध प्रेम की तुलना कैसे प्राप्त कर सकता है ? ॥२६॥

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—बड़े भाई बलराम के वहाँ जाते ही, छोटे भाई श्रीकृष्ण के लज्जित हो जानेपर, श्रीमान् बलराम ने तो क्रोध से ताँबे के समान लाल देहवाले होकर, उदयकालीन चन्द्रमा की तरह प्रगट होकर, अपने को चोर माननेवाले श्रीकृष्ण के साथ कुछ भी नहीं कहा। किन्तु सभी यादवों के सहित उनको घेरकर बैठ गये ॥२७॥

श्रीव्रजराज सहर्ष बोले—अच्छा, तो वह ब्राह्मण कहाँ चला गया ? एवं श्रीकृष्णसेवारूप अपने धर्म के नष्ट होने के भय को मर्मस्थान में स्पर्श करनेवाली, तथा श्रीकृष्ण को ही प्राप्य समझनेवाली या विचारनेवाली, उस रुक्मिणी की बुद्धि कौन सी दशापर पहुँच गई ? ॥२८॥

दोनों दूत बोले—वह ब्राह्मण तो यह रात्रि का समय है, इसमें अनुरोध करना निरर्थक है, यह विचार कर, अपनी भावना को योग्य शुभविषय की संभावना करके, सारीरात जागता ही रहा। और सायंकाल से ही ब्राह्मण के आगमन का भली प्रकार ध्यान करनेवाली रुक्मिणी तो, श्रीकृष्ण की प्राप्तिरूप फल के तिरस्काररूप कारण के भाव से विचार कर, अपनी चपलता का ही अनुसरण करती रही। पुनः "हे अजित ! कल की रात्रि में होनेवाले मेरे विवाह में" इत्यादिरूप से श्रीकृष्ण के प्रति कहा हुआ वह अवसर भी अभी नहीं आया है, और मेरे द्वारा समय बिताना भी कठिन है, यह विचारने लग गई। तो भी ब्राह्मण के मार्ग को देखती हुई, पीछे देखने में भी असमर्थ होकर मन को रोकती हुई, मस्तक को नमाती हुई, परस्पर सटी हुई दोनों दन्तपंक्तियों को भींचकर धैर्य धारण करती हुई, जलधारा से डब डबाते हुए दोनों नेत्रों को मूँद कर, कुछक्षणों को बिता गई। एवं उसी प्रकार कुछक्षणों को बिताती हुई रुक्मिणी,

तथागमयमानायामपि तदसहमानायामनुकूलेन शुभमूलेन विधिना वामनयनभुजोर्वङ्घ्रि स्पन्दयामासे; स्पन्दिते च तस्मिन्नसावुन्मीलितमना नेत्रयुगलमुन्मीलयामास, उन्मीलिते च नेत्रयुगले तमेव विप्रं क्षिप्रं पुरोभुवि प्रत्यक्षीचकार; प्रत्यक्षीकृते च तस्मिन् सन्दिग्ध-मनास्तन्मुखं सुखस्निग्धमीक्षमाणा हृच्चक्षुःकञ्जान्तःकमासद्य सद्य एव जलवदासीत् ॥२९॥

'किञ्च, क्ष्मादेवान्मुररिपुसङ्गवासिताङ्गा,-दामोदं सपदि विदर्भजा भजन्ती ।
सानन्तं सरभसमन्तरापहर्षं, यल्लोम्नां कुलमपि चातुलं जहर्ष ॥३०॥

'तथापि प्रच्छन्नतया तं पप्रच्छ; पृष्टश्चासौ हरेरङ्गीकारं तत्सङ्गितया पथागम्यरम्यं रथावतारं चात्मनः स्पष्टमाचष्ट । आख्याते च सर्वस्तुतमपि वस्तु प्रस्तुततद्दानोपयोगि न स्यादिति तमेव गुरूकर्तुं पुरु नमन्ती स्वमूर्धानमिव समर्पितवती ॥३१॥

'ततश्च, सप्तमराशिगराहो,-रिव शिशुपालस्य दूरगस्यापि ।
दधती स्फुरणं भैष्मी, विधुतनुरिव तेन मुक्तासीत् ॥'३२॥

"व्रजराज उवाच,—'रामकृष्णौ तत्र निजागमने कं व्याजमाजह्रतुः, तयोरपि राजा कथं व्यवजहार ?' ॥३३॥

जब भेजे हुए ब्राह्मण के लौटने के विरह को न सह सकी, तब मङ्गल के मूल अनुकूलदैव ने, उसके वाम-नयन, भुजा, एवं चरण फरका दिये । उन पूर्वोक्त बायें अङ्गों के फरकते ही, रुक्मिणी ने प्रफुल्लित मनवाली होकर, अपने दोनों नेत्र खोल दिये । दोनों नेत्रों के खोलनेपर शीघ्रतापूर्वक उस ब्राह्मण को ही, आगे की भूमिपर प्रत्यक्ष देख लिया । उस ब्राह्मण के प्रत्यक्ष करते ही वह रुक्मिणी "श्रीकृष्ण आये हैं या नहीं ?" इस प्रकार के सन्देह से युक्त मनवाली होकर, ब्राह्मण के मुख को सुख से स्निग्ध देखती हुई, अपने हृदय में एवं नेत्रकमल में क्रमशः सुख तथा जल को प्राप्त कर, अर्थात् ब्राह्मण को देखते ही मन में सुख पाकर, एवं नेत्रों में प्रेमाश्रु का जल प्राप्त कर, तत्काल जड़ की भाँति या जल की भाँति शीतल हो गई ॥२९॥

किंच श्रीकृष्ण के सङ्ग से सुगन्धित अङ्गोंवाले ब्राह्मण के निकट से तत्काल आकर्षक सुगन्ध का सेवन करती हुई, वह विदर्भराजनन्दिनी रुक्मिणी, अपने अन्तःकरण में वेगपूर्वक अनन्त हर्ष को प्राप्त हो गई । जिस कारण उसके रोंगटों का समूह भी अतुल हर्ष को प्राप्त हो गया था ॥३०॥

तथापि गुप्तरूप से ब्राह्मण से (श्रीकृष्ण के आने का वृत्तान्त) पूछा । रुक्मिणी के द्वारा पूछे हुए उस ब्राह्मण ने, श्रीकृष्ण के अङ्गीकार को एवं श्रीकृष्ण के सङ्गी होकर मार्ग से आकर, अपने रमणीय रथ से उतरने को भी स्पष्ट कह दिया । तात्पर्य—श्रीकृष्ण ने तुमको स्वीकार करने का वचन दे दिया है, एवं मैं उनके सङ्ग आकर रथ से उतर कर चला आ रहा हूँ, यह कह दिया । कहने के अनन्तर सबके द्वारा प्रशंसित वस्तुमात्र भी प्रस्तुत उस ब्राह्मण के देने के लिए उपयुक्त नहीं हो सकती, इस कारण उस ब्राह्मण को ही, बड़ा करने के लिए अधिक नमती हुई, रुक्मिणी ने मानो अपने मस्तक को ही समर्पण कर दिया ॥३१

उसके बाद सप्तमराशि में विद्यमान राहु की तरह, बहुत दूर विद्यमान शिशुपाल की स्फूर्ति को धारण करती हुई, रुक्मिणी श्रीकृष्णकृपारूप सुदर्शन चक्र के द्वारा, चन्द्रमा के शरीर की तरह, शिशुपाल से विमुक्त हो गई ॥३२॥

श्रीव्रजराज बोले—कृष्ण-बलदेव ने वहाँपर अपने आने के विषय में कौन सा बहाना बनाया ? एवं भीष्मक राजा ने भी उन दोनों के साथ कैसा व्यवहार किया ? ॥३३॥

"दूतावूचतुः,—'तद्विवहनबहलकुतूहलमेव ताभ्यां छलतयाऽवलम्बितम् । ततस्तयोरपि तत्रानुमोदाकर्णनादामोदादतिथिं प्रति कथितां पूजाप्रथितिं स च प्रथितवान् ॥'३४॥

"व्रजराज उवाच,—'अतिथिमात्रबुद्धिता चेदुदासीनता परमस्यावसीयते, तर्हि मन्ये, तत्पुरवासिनः सर्व एव सरामे तस्मिन्नुदासीना एवासन् ॥३५॥

"दूतावूचतुः,—'नहि नहि, स एव केवलस्तत्र दुष्पुत्रकुमन्त्रणमूलयन्त्रणया नानुकूल आसीत्; लोकस्तु तत्र शोकमेव समवाप । यतस्तु यतस्ततः सर्व एव समुदित्य नित्यसमुदित्य-निशसुखसञ्जनं तन्मुखनीलकञ्जमनु माधुरीधारा दृगञ्जलिभिः पिबन्निदं जगाद,—॥३६॥

एतस्य भार्या भवितुं रुक्मिण्यर्हति सर्वदा ।
असौ चास्याः पतिस्तत्राप्येवकारः पदे पदे ॥३७॥

'किञ्च, यद्भूतं यच्च भव्यं भवदपि यदलं पुण्यमस्माकमस्मा-
न्नैवोश्मः सौख्यमात्मन्यपि तु परमिदं प्रार्थनाशर्म कुर्मः ।
हे धातः ! प्राणभाजां सकलफलपते ! सोऽयमम्भोजनेत्रः
श्रीरुक्मिण्याः कराब्जं कलयतु बलवान्न्यायतोऽन्यायतो वा ॥'३८॥

दोनों दूत बोले—उन दोनों भाइयों ने रुक्मिणी के विवाहरूप भारी कौतूहल को ही छलरूप से अवलम्बन कर लिया, अर्थात् तुम्हारी पुत्री के विवाहरूप उत्सव को देखने के लिए ही हम दोनों यहाँ आये हैं। उसके बाद उस विवाह में श्रीकृष्ण-बलदेव का भी अनुमोदन सुनकर, हर्षपूर्वक अतिथि के प्रति, शास्त्रों में कही गई पूजा की प्रथा, राजा ने भी विस्तारित कर दी ॥३४॥

श्रीव्रजराज बोले—यदि भीष्मक राजा का श्रीकृष्ण-बलदेव के ऊपर केवल अतिथिमात्र ही बुद्धि का भाव था, तब तो उन दोनोंपर उसकी उदासीनता ही निश्चित हो रही है। एवं राजा की उदासीनता से तो मैं यह भी समझता हूँ कि, उसके पुर में रहनेवाले सब जन भी बलराम के सहित श्रीकृष्णके ऊपर उदासीन ही हो गये होंगे ॥३५॥

दोनों दूत बोले—नहीं, नहीं। केवल वह भीष्मक ही अपने कुपुत्र के कुविचाररूप मूलकारण के बन्धन से कृष्ण-बलदेवपर अनुकूल नहीं था। किन्तु वहाँ का जनमात्र तो इस विषय में शोक को ही प्राप्त हो गया था। जिस कारण से ही जहाँतहाँ से सम्मिलित होकर, समस्त जनमात्र ही नित्य प्रकाशमान एवं निरन्तर सुखप्रद, श्रीकृष्ण के मुखरूप नीलकमल को लक्ष्य बनाकर, अपनी अपनी नेत्ररूप अञ्जलियों के द्वारा, उसकी माधुरी धाराओं को पीते पीते यह बोला— ॥३६॥

केवल रुक्मिणी ही सदा सर्वदा श्रीकृष्ण की भार्या होने के योग्य है, एवं श्रीकृष्ण ही रुक्मिणी के पति होने योग्य हैं। इस प्रकार कुण्डिनपुर का जनमात्र श्रीकृष्ण-रुक्मिणी के विवाह की निश्चयता का सूचक 'एव' शब्द पद पदपर प्रयोग कर रहा था ॥३७॥

किंच वहाँ का जनमात्र यह भी कह रहा था कि, हमारा भूत, भविष्यत्, एवं वर्तमानकाल का जो जो महान् पुण्य है, उस पुण्य के द्वारा हम सब अपनी अपनी आत्मा में भी सुख नहीं चाहते हैं। किन्तु केवल इस प्रार्थनारूप सुख का ही निर्माण करते हैं कि, हे प्राणीमात्र के सकल फलों को देनेवाले ! विधाता ! यह बलवान् कमलनयन श्रीकृष्ण न्याय से अथवा अन्याय से भी, श्रीरुक्मिणीदेवी के करकमल को ग्रहण कर ले ॥३८॥

"व्रजराजः सव्रजः सानन्दमुवाच,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—'ततश्च प्रातर्विधेयं विधाय नन्दितमना द्वारकागमनानुज्ञापनार्थमिव वन्दितगुरुजना तदुपदेशात्तु सा कन्या हिमवत्कन्यार्चनाय कृताभिनिवेशा धृतवेशा सहचरीभिर्भ्रातृगृहचरीभिः पितृभार्याभिः स्वकुलाचार्याभिः किङ्करी-निकरैः कंचुकिप्रकरैर्धृतखड्गचर्मादिसम्पत्तिपत्तिसन्दोहैः प्रशस्तशस्त्राहततया कृतहयारोहैः सर्वगदृष्टिप्रशस्तिहस्तिगतमहामात्रैः शताङ्ग-कृत-यात्रैर्विचित्र-संभृतवादित्रैर्वर्तित-नर्तनचारित्रैः पूतवर्णनविभागसूतमागध-वन्दिभिः शश्वदुत्प्रेक्षासन्दितकुतुकेक्षानन्दिभिः परपरक्रमाद् बहिर्बहिः परिवारिता हृदि तु स्वकान्तधारणायां केनाप्यवारिता सावरोधादवरोधान्निष्क्रम्य निगमं निगममपि सङ्क्रम्य धर्म्यं तद्देवी-हर्म्यं जगाम। श्रीकृष्णः पुनरभ्यवस्कन्दनतृष्णस्तत्र मन्दं मन्दं बहिर्बहिर्विहरति स्म ॥३९॥

'अथ सापि तां यथार्चार्चितमर्चित्वा तत्प्रसादं वपुषि मनसि च चित्वा तस्या गृहं हित्वा रत्नमुद्राशोभाकरेण करेण सखीकरं गृहीत्वा बहिर्निर्जगाम। निर्गच्छन्तीं च तामथ कुन्द-कोरकदन्तीं देवमाया द्विधाकायां निचाययामास—कृष्णबहिर्मुखान् प्रति मायामयी,

---

श्रीव्रजराज व्रजवासियों के सहित आनन्दपूर्वक बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उसके बाद प्रातःकाल करने योग्य स्नानादि कृत्य करके, प्रसन्न मनवाली, एवं द्वारका जाने की अनुमति लेने के लिए ही मानो माता पिता आदि गुरुजनों की वन्दना करनेवाली, तथा गुरुजनों के उपदेश से हिमालय की कन्या (गौरी) का पूजन करने के लिए उत्सुक हो आग्रहपूर्वक मनोहर वेश धारण करनेवाली, वह कन्या (रुक्मिणी) अपनी सखियों के द्वारा, अपने भाइयों की स्त्रियों के द्वारा, अपनी माताओं के द्वारा, अपने कुलपुरोहितों की स्त्रियों के द्वारा, दासीसमूह के द्वारा, कंचुकी अर्थात् अन्तःपुर के रक्षक वृद्धजनसमूह के द्वारा, खड्ग (तलवार), चर्म (ढाल) आदि सम्पत्ति को धारण करनेवाले पैदल जनसमूह के द्वारा, प्रशंसनीय शस्त्रों के आदर करने के भाव से घोड़ोंपर चढ़नेवाले जनसमूह के द्वारा, सभी की दृष्टि में प्रशंसनीय हाथियोंपर बैठे हुए महामन्त्रियों के द्वारा, रथों से यात्रा करनेवाले जनों के द्वारा, विचित्र विचित्र बाजे धारण करनेवालों के द्वारा, नृत्य का आरम्भ करनेवाले नचवैयाओं के द्वारा, पवित्र वर्णन विभाग से युक्त सूत, मागध, वन्दिजनों के द्वारा, एवं निरन्तर उत्प्रेक्षा अर्थात् समानता से बँधे हुए कौतुक (तमाशा) के देखने से प्रसन्न होनेवाले व्यक्तियों के द्वारा, उत्तरोत्तर के क्रम से अर्थात् पहले सखियों के द्वारा, पीछे भ्रातृपत्नियों के द्वारा, इत्यादिरूप से पहले कहे जानेवाले क्रम से बाहर बाहर की ओर से घिरकर, किन्तु अपने हृदय में तो अपने प्रियतम श्रीकृष्ण की धारणा में किसी के द्वारा भी न घिरकर, अन्तःपुर की स्त्रियों के सहित अन्तःपुर से निकल कर, वेदविधि के अनुसार पुर में, एवं राजमार्ग में आकर, धर्म से युक्त उस गिरिजादेवी के मन्दिर में चली गई। और श्रीकृष्ण तो अभ्यवस्कन्दन में (छापा मारने में, अर्थात् कपट से शत्रुओंपर आक्रमण करने में, या छल से कन्या के हरने में) तृष्णावाले होकर, देवी के मन्दिर के निकट बाहर बाहर ही धीरे धीरे टहलने लग गये ॥३९॥

पश्चात् वह रुक्मिणी भी पूजन के योग्य सामग्रियों के द्वारा भवानीदेवी को यथाविधि पूज कर, देवी की प्रसन्नता को शरीर एवं मन में एकत्रित कर, देवी के मन्दिर को त्यागकर, रत्नजटित मुद्रिका से सुशोभित अपने हाथ से सखी के हाथ को पकड़ कर बाहर निकल आई। तदनन्तर मन्दिर से निकलती हुई कुन्द की कलिकाओं के समान दन्तपंक्तियोंवाली रुक्मिणी, उस समय देवमाया ने दो प्रकार के शरीर-

तदनन्तर्मुखान् प्रति तु तज्जायामयीति; यत्र पूर्वे तच्छक्त्या मूढा बभूवुरुत्तरे तु तद्भक्त्या मूढयाम्बभूवुरिति स्थिते श्रीकृष्णे च सर्वस्मादुन्नतं रथमधिष्ठिते तयोर्वरकन्ययोर्वरजनता-दृष्टिशून्ययोरन्योऽन्यमीक्षणमपि विलक्षणं जातम् ॥४०॥ 'जाते पुनरीक्षणे—

रथारोहे कार्ये मिषचितविलम्बां स्वमनु च, स्फुरन्नेत्रप्रान्तां नृपदुहितरं सद्रवरथः ।
तथाकार्षीत् कृष्णोऽप्यमनुत यथा दूरजनता, ध्वजद्रष्ट्री कृष्ट्वा नयति गरुडस्तां द्रुतमिति ॥४१॥

'तां ग्रहीतुमागच्छति गृहीत्वा गच्छति च तस्मिन्—

ते मुग्धबुद्धिकचरा मगधाधिपाद्याः, संख्यातिगा हरिरथ-ध्वनिचेतिताश्च ।
तन्नोहितुं समशकन् ननु सोऽयमस्मिन्, कर्ह्यागतः क नु कदा गतवानितीत्थम् ॥४२॥

'जातविधाने पुनरनुसन्धाने—

क्रूरक्रेङ्कारदुंदुंदुमिति परिनुदद्दुन्दुभिध्वानबृंहद्-
ह्रेषायुग्बृंहितातिप्रकटरथघटत्कारकोटिप्रकारः ।
सेनाऽऽसारः स मृग्यन्नृपदुहितृहृतेर्वर्त्म तद्धृच्छताङ्ग-
च्छिन्नद्विट्कूटलब्धच्छदनमनुसरंश्चाभितो द्रूयते स्म ॥४३॥

वाली दिखा दी, अर्थात् श्रीकृष्ण से बहिर्मुख जनों के प्रति तो वह रुक्मिणी (उनको मोहित करने के लिये) मायामयी दिखा दी, एवं कृष्णसम्मुख जनों के प्रति तो श्रीकृष्ण की भार्यामयी दिखा दी। जिसके देखने में पहले, अर्थात् श्रीकृष्ण से बहिर्मुख जन तो योगमाया के द्वारा विमुग्ध हो गये, एवं पीछेवाले अर्थात् श्रीकृष्ण के सम्मुख रहनेवाले व्यक्ति तो उनकी भक्ति के द्वारा मूढों का सा आचरण करने लग गये। ऐसी स्थिति में श्रीकृष्ण भी जब सब से ऊँचे रथ में चढ़ गये, तब श्रेष्ठ जनता की दृष्टि से रहित हुए, उन दोनों वर एवं कन्या का परस्पर देखना भी विलक्षण (विचित्र) ही हुआ ॥४०॥

दुबारा दर्शन हो जानेपर तो श्रीकृष्ण के रथ में चढ़नारूप कार्य के निमित्त किसी बहाने से विलम्ब करनेवाली, एवं अपने को (श्रीकृष्ण को) लक्ष्य करके चलते हुए कटाक्षवाली राजकन्या (रुक्मिणी) को वेगयुक्त रथवाले श्रीकृष्ण ने उस प्रकार से हर लिया कि, जिस प्रकार केवल रथ की ध्वजा को देखनेवाली दूर की जनता भी यही समझती रही कि, मानो गरुड ही रुक्मिणी को खींचकर शीघ्र लिये जा रहा है ॥४१

रुक्मिणी को ग्रहण करने के लिए श्रीकृष्ण के आनेपर, एवं उसको ग्रहण करके चले जानेपर तो, पहले (रुक्मिणी के देखते ही) मूढ बुद्धिवाले एवं अपरिमित जरासन्ध आदि जन श्रीकृष्ण के रथ की ध्वनि से सचेत होकर "अहो! यह श्रीकृष्ण इस स्थानपर कब आ गया, एवं (रुक्मिणी को हर कर) कब कहाँ-पर चला गया?" इस प्रकार श्रीकृष्ण के प्रति तर्क करने को समर्थ न हुए ॥४२॥

पुनः अनुसन्धान का विधान हो जानेपर भयंकर क्रेङ्कारपूर्वक दुं, दुं, दुं इस प्रकार चारों ओर बजती हुई दुन्दुभियों के शब्दों से बढ़ती हुई घोड़ों की हिनहिनाहट से युक्त जो हाथियों की गर्जना, एवं अत्यन्त प्रकट रथों की घड़ घड़ ध्वनि से करोड़ों प्रकारवाला, विपक्षी सेनाओं का वह आसार (धारा-सम्पात या चारों ओर का फैलाव) राजकुमारी के अपहरण के मार्ग को ढूँढ़ता हुआ, एवं राजकुमारी को हरनेवाले श्रीकृष्ण के रथ से छिन्नभिन्न हुए शत्रुसमूह के द्वारा ढके हुए मार्ग का अनुसरण करता हुआ चारों ओर दौड़ने लग गया ॥४३॥

यद्यपि तेऽप्यभियुयुजुः, प्राधनिकान् श्रीहरेस्तथापि तु न ।
वर्ण्या यत उन्मादा,-दर्भिसिहं फेरवोऽपि गच्छन्ति ॥४४॥
यद्यपि नवसंवलना, कुलजनिता ह्रीतचित्ता सा ।
तदपि प्रतिबलभीता, प्रियमुखमालिङ्गदिङ्गिनेत्रेण ॥४५॥
यद्यपि मम महिमज्ञा, तदपि च भीताऽबला-स्वभावेन ।
इति हरिरुपचितकरुणं, वचसा सहसाप्यसान्त्वयद् दयिताम् ॥४६॥
अभ्ययुररयो वृष्णीन्, मुमुचुर्वाणांश्च तेषु तत् सत्यम् ।
किन्तु प्रबलसमीरे,-ष्वम्भोमुग्व्राततुल्यतां याताः ॥४७॥
यदवो ददृशुः स्पष्टं, तेषां पृष्ठचानुपासङ्गान् ।
चित्रं ते पुनरेषां, स्थितिमपि नाज्ञासिषुः स्वाङ्गे ॥४८॥
कौक्षेयकसमुदाय,- स्तेषामासीत् परार्धमूल्यार्हः ।
किन्तु यथा कृपणाना,-मर्थः कोषादनिष्क्रान्तः ॥४९॥
अपि बहु पतितं युद्धे, नाशोचंस्ते चतुर्विधं कटकम् ।
निजवपुरुर्वरितं य,-त्तस्मादेवातुलं दधुः शर्म ॥५०॥

यद्यपि वे विपक्षीगण भी श्रीकृष्ण के सैनिकों के सम्मुख युद्ध करने लग गये, तथापि वे वर्णन करने योग्य तो नहीं हैं। क्योंकि उन्माद के कारण गीदड़ भी सिंह के सामने चले जाते हैं ॥४४॥

यद्यपि सत्कुलोत्पन्ना रुक्मिणी प्रिय से नवीन मिलनवाली होकर लज्जित चित्तवाली हो गई थी, तथापि वह शत्रुओं की सेना से डरकर चंचल नेत्र के द्वारा अपने प्रियतम को देखने लग गई ॥४५॥

यद्यपि नित्य प्रेयसी होने के नाते यह रुक्मिणी मेरी महिमा को जानती है, तो भी अबला जनोचित स्वभाव से भयभीत हो रही है, यह विचार कर श्रीकृष्ण ने करुणा का हाथ बढ़ाकर, सहसा वचन के द्वारा भी प्रियतमा को सान्त्वना दे दी ॥४६॥

यद्यपि शत्रुगण यादवों के सम्मुख गये, एवं उन्होंने यदुवंशियोंपर बाण भी छोड़े थे, वह बात तो सत्य है; किन्तु वे शत्रु यादवों के सामने प्रबल वायुसमूह के निकट मेघसमूह की समानता को प्राप्त हो गये, अर्थात् आँधी के आगे मेघों की तरह नष्ट हो गये ॥४७॥

यादवों ने तो उन शत्रुओं की पीठपर बँधे हुए उपासङ्ग, अर्थात् तरकसों को स्पष्टरूप से देख लिया था, किन्तु आश्चर्य की बात तो यही है कि, उन शत्रुओं ने इन यादवों के अपने अपने अङ्ग में अस्त्र शस्त्रादिकों की स्थिति भी नहीं जान पाई। अर्थात् वे शत्रु यादवों के शरीर में अस्त्र शस्त्र कहाँ रखे हैं, यह नहीं जान सके ॥४८॥

उन शत्रुओं की तलवारों का समुदाय परार्ध मूल्य के योग्य था, किन्तु लोभीजनों का धन जैसे खजाने से नहीं निकलता है, उसी प्रकार शत्रुओं की तलवारों का समुदाय, कोश (म्यान) से बाहर नहीं निकल पाया ॥४९॥

उस समय वे शत्रु हाथी, घोड़ा, रथ, एवं पैदल इत्यादि रूपवाली धरती में मरी पड़ी हुई, बहुत सी चतुरङ्गिणी सेना का भी शोक नहीं कर रहे थे। कारण—अपना अपना जो शरीर बच गया था, उसी से वे शत्रु अतुल सुख को धारण कर रहे थे ॥५०॥

द्विषतामतिभयभाजां, यदुराजानुद्रवाद् द्रवताम् ।
देहस्तोमविघट्टः, स्फुटमासीद् द्योगतेः कृते घट्टः ॥५१॥
केचिद् दृष्टकबन्धा, दूरं विद्रुत्य सम्भ्रान्ताः ।
मस्तकमस्तं किमिति, न्यस्तं हस्तं व्यधुस्तत्र ॥५२॥
हारितदारमिवामुं, चैद्यं संसान्त्व्य ते चेलुः ।
उत्साहं विसृजन्तः, सम्प्रति कर्मन्दिनां वादैः ॥५३॥
वारान् सप्तदशाहं, जिग्ये हरिणाऽथ तं सकृज्जितवान् ।
पश्यत तदपि समं मा,-मिति मागधवाग् न कं प्रहासयति ? ॥५४॥
सप्तदशाहं समरान्, जिग्येऽष्टादशममुं पराजिग्ये ।
इति मागधवाग् भ्रान्ता, सम्प्रति तस्मिन् पराजये स्वस्य ॥५५॥

'तदेवं स्थितेऽपि तेषां दुरवस्थिते रुक्मवांस्तु तैः सहापद्रुतवानपि स्फूर्जदूर्जस्वल-वज्रनिपातप्रज्वलिततालसङ्घवद् दृश्यमानानाममङ्गलानां तेषामेव पुरतः प्रतिश्रुतवान्,—रुक्मिणीहर्तारं रुक्मिणीमविजित्य न नित्यगृहमेष्यामीति ॥५६॥

और यदुराज श्रीकृष्ण के पीछे भागने के कारण, अत्यन्त भयभीत हुए, अतएव पीठ दिखाकर भागते हुए शत्रुओं के देहसमूह का गिरकर जो देह का वियोग हुआ, वह देह का वियोग उनको स्वर्ग में जाने के लिए घाट ही हो गया, अर्थात् घाट की सीढ़ियों के समान हो गया ॥५१॥

युद्ध में हारे हुए कुछ शत्रु अपने साथियों के मस्तकहीन शरीरों को देखकर, भय से दूरतक दौड़कर, संभ्रान्त होकर, "हमारा मस्तक भी गिर गया है क्या ?" यह विचार कर अपने अपने मस्तकपर हाथ धरने लग गये ॥५२॥

पश्चात् वे जरासन्धादिक मानो जिसकी स्त्री हरी गई है, ऐसे शिशुपाल को "कर्म ही जय पराजय का कारण है, ईश्वर एवं सेना आदि भी नहीं" इस प्रकार से संन्यासियों के वादबिवादों के द्वारा सान्त्वना देकर, तत्काल उत्साह छोड़कर चल दिये ॥५३॥

श्रीकृष्ण ने युद्ध में मुझको सत्रहबार हरा दिया है, एवं मैंने श्रीकृष्ण को एकबार ही हराया है, तो भी तुम सब मुझको सुखदुःख में समान ही देखो । इस प्रकार की जरासन्ध की वाणी किसको नहीं हँसाती, अपितु, सभी को हँसाती है । अर्थात् यदि तू सुखदुःख में समान ही था, तो सत्रहबार हार कर भी पुनः युद्ध करने क्यों गया ? ॥५४॥

श्रीकृष्ण ने मुझको सत्रहबार के युद्धों में जीत लिया, किन्तु अठारहवें युद्ध में मैंने श्रीकृष्ण को पराजित कर दिया । जरासन्ध की इस प्रकार की वाणी इस समय अपनी उस पराजय के विषय में भ्रम-युक्त हो गई । अर्थात् अनेकबार युद्ध में हारे हुए व्यक्ति की एकबार की विजय का डिंडिमघोष भ्रान्त सा ही प्रतीत होता है ॥५५॥

अतएव इस प्रकार की स्थिति में भी उन जरासन्धादिकों की दुर्दशा हो जानेपर, रुक्मी तो उन सबके साथ पराजित होकर भी, शब्द करते हुए तेजस्वी वज्र के गिरने से जले हुए तालवृक्षों के समूह की तरह दिखाई देनेवाले अमङ्गलरूप उन जरासन्धादिकों के सामने ही प्रतिज्ञा करने लगा कि—रुक्मिणी को हरनेवाले श्रीकृष्ण से रुक्मिणी को बिना जीते अपने घर में लौटकर नहीं आऊँगा ॥५६॥

'तेषां वचसि पुनरस्माकमकस्मादेकं सुखं जातम् । हलायुधपित्रा स्वपुत्रतया ख्यापितमपि तं तव पुत्रं ते गोपतया वदन्तस्तन्न प्रतियन्ति । कृष्णस्य च तेन सन्तोषपोष एवादृश्यत' इति ॥५७॥

"व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—'रुक्मिणस्तावदसमीक्ष्यकारिताऽऽस्ताम्, तेषामपि क्लीबतातीव दृश्यताम् । तथापि यदनुगतपलायनता परमासीन्न तु बलायनता, यतो हरिणहृदया एव ते बभूवुर्न तु हरिहृदयाः' इति ॥५८॥

"व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—'रुक्मी तु निर्विद्य निर्विद्यजनानिव तान् हित्वा निजमक्षौहिणीमात्रं गृहीत्वा कृतयात्रस्तस्याप्यननुवर्तमानतां वीक्ष्य सहायीकृतकेवलनिजगात्रः पुनर्गात्रमप्यनुवर्तितुमशक्तं समीक्ष्य प्रलापमात्रं तदनुषक्तं प्रतीक्ष्य तिष्ठ तिष्ठेति निजपृष्ठमांसादतया दूरादह्वास्त । कृष्णस्तु पूर्वं स्वरथनिर्घोषगिलितं तद्रथनिर्घोषमशृण्वन्नेव गच्छन्नासीत् । श्रुत्वा तु धृतस्तम्भारम्भमात्रे तस्मिन् गुणपात्रे रुक्मी मुखाद्दोषारोपान् कार्मुकात्तु रोपान् ससर्ज । कृष्णस्तु स्मितेन तावद्दोषारोपानपसार्य योगमायामयकवचमयत्वचा तु रोपानपसारयामास । अथ रुक्मिणीपतेः शराः पुङ्खमनु रुक्मिणः सन्तस्तस्य

हे व्रजराज ! उन जरासन्धादिकों के वचन में हम दोनों दूतों को अकस्मात् एक सुख उत्पन्न हुआ कि—हलायुध (श्रीबलदेवजी) के पिता श्रीवसुदेव के द्वारा अपने पुत्ररूप से प्रसिद्ध किये हुए तुम्हारे पुत्र श्रीकृष्ण को भी वे जरासन्धादि गोपरूप से कहते हुए "ये वसुदेव के पुत्र हैं" इस ख्यातिपर विश्वास नहीं करते हैं । अर्थात् वे कोप से श्रीकृष्ण को गोप कहते हुए भी सत्य ही कह रहे थे । उनके वचनों से श्रीकृष्ण के सन्तोष की पुष्टि ही दिखाई देती थी ।।५७।।

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—रुक्मी के बिना विचारे प्रतिज्ञारूप कार्य करने के भाव को तो दूर रहने दीजिये । किन्तु उन जरासन्धादिकों की अत्यन्त नपुंसकता तो देखिये कि, रुक्मीरूप सहायक मिल जानेपर भी केवल दौड़ना भागना ही हो रहा था, किन्तु बल का आश्रय नहीं था । कारण—उस समय वे हरिणों की तरह, डरपोक हृदयवाले ही हो गये थे, किन्तु सिंह के समान निर्भीक हृदयवाले नहीं हुए ।।५८।।

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—रुक्मी तो उन जरासन्धादिकों से विरक्त होकर, विद्याहीन मूर्खजनों की तरह उनको छोड़कर, अपनी अक्षौहिणी मात्र लेकर युद्ध की यात्रा कर, पश्चात् उस अक्षौहिणी का भी अपने पीछे आगमन न देखकर केवल अपने शरीर को ही सहायक बनाकर, पुनः अपने शरीर को भी अपने पीछे चलने को असमर्थ देखकर, केवल प्रलाप (अनर्थक वचन) ही अपना अनुगामी समझ कर, "ओ मेरी बहिन को ले जानेवाले ! ठहर जा, ठहर जा" इस प्रकार कह कर अपने प्रति पृष्ठमांसाद के रूप से, अर्थात् कठोर बोलनेवाले पुरुष के भाव से दूर से ही बुलाने लग गया । किन्तु श्रीकृष्ण पहले तो अपने रथ के शब्द से निगले हुए उसके रथ के शब्द को न सुनते हुए चलते ही रहे । किन्तु रुक्मी के रथ के शब्द को सुनकर तो अपने रथ के रोकने का आरम्भमात्र करनेवाले, निखिलगुणों के पात्र श्रीकृष्ण के ऊपर, वह रुक्मी मुख से तो दोषारोपण करने लग गया, एवं धनुष् से बाण छोड़ने लग गया । श्रीकृष्ण ने मन्दमुसक्यान के द्वारा तो दोषारोपों को दूर करके, योगमायामय कवचरूप त्वचा के द्वारा बाणों को दूर कर दिया । अर्थात् श्रीकृष्ण के अङ्ग में कवच न होनेपर भी, दिव्यदेह के दुर्भेद्य चर्म

रुक्मिणः स्पर्धया किल तेजसा वर्धमाना युगपदेव कोदण्डं ध्वजदण्डमपि खण्डितवन्तः। तद्वदेव सहसा सहसारथिमस्यावयवचयं हयचतुष्टयमपि स्पष्टं युगपदेव दष्टं सृष्टवन्तः। रुक्म्येव तु तत्तत्क्रमवलनया दृष्टवान्। यच्च कष्टादन्यद्धनुः परामृष्टवान्, बाणानपि विसृष्टवांस्तत्र तत्र कथा तथासीदिति सीदन् पुनश्च तद्वदेव विषीदन्नात्मना समवाय सङ्घट्टितानां परिघ-पट्टिश-शूल-वर्म-चर्मासितोमराणामपि गतिं प्रति तथा दुर्गतिमासीदन्, विदीर्णशताङ्गः शीर्ण-शताङ्गादवतीर्णवान् ॥५९॥

'तदेवम्— जवादरथिनं कृत्वा तं तदा रथिनः स्वयम्।
हित्वा रथिकतां शार्ङ्गी द्रुतं दुद्राव रुद्रवत् ॥६०॥

'अथ ये रुक्मी भर्मनिर्मितचित्रविचित्रखड्गचर्मणी गृहीतवांस्तेऽपि तदा गमनस्तम्भ-विप्रलम्भनार्थं चक्रपाणिना तिलश एव कृत्ते चक्राते, न पुनरखिलशः। कृत्तखड्गचर्मा चासौ हतशर्मा निजखड्गसम्भिन्न एव च चिकीर्षमासे, न पुनस्तस्माद्भिन्नः ॥'६१॥

"व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—'ततश्च योषिदाकृतिजां प्रकृतिमनु-कृतवती सा रुक्मिणी लज्जामप्यसज्जन्ती दैन्यचर्यया साहाय्यमाचर्य निजसोदर्यं रक्षितवती। किन्तु तस्य धृष्णजः प्राणघातनादपि बलवद्यातनाकरं कौतुकान्तरं कृष्णेन लब्धान्तर-मक्रियत ॥'६२॥

ने ही कवच का कार्य कर दिखाया। पश्चात् रुक्मिणीपति श्रीकृष्ण के बाणों ने पूँछ की ओर सुवर्णयुक्त होकर, उस रुक्मी की स्पर्धा से एवं श्रीकृष्ण के तेज से बढ़कर कोदण्ड (धनुष्) को एवं ध्वजदण्ड को एक-साथ ही खण्डित कर दिया। और उसी प्रकार सारथि के सहित रुक्मी के अङ्गसमूह को, एवं रथ के चारों घोड़ों को भी, सहसा एकसाथ स्पष्ट ही काट डाला। रुक्मी तो उस उस व्यापार को परिपाटीपूर्वक देखता रहा। और बड़े कष्ट से जो दूसरा धनुष् उठाया, एवं बाण भी छोड़े, किन्तु उस धनुष् एवं बाणों के विषय में उनके कटने के कारण, उस प्रकार की कथा सी हो गई, इस कारण दुःखित होता हुआ पुनः उसी प्रकार विषाद करता हुआ, एवं स्वयं युद्ध के लिए एकत्रित किये हुए परिघ, पट्टिश, त्रिशूल, कवच, ढाल, तलवार, तोमर आदि अस्त्रों की गति के प्रति भी उसी प्रकार, अर्थात् धनुष् बाणों के कटने की तरह दुर्दशा को प्राप्त होता हुआ, अपने अङ्ग में सैंकड़ों जगह विदीर्ण होकर, टूटे हुए रथ से उतर पड़ा ॥५९॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण उस समय रुक्मी को वेगपूर्वक रथरहित बनाकर, स्वयं रथ के स्वामी होकर भी रथिकता को छोड़कर, शीघ्र ही रुद्र की तरह रुक्मी की ओर दौड़ पड़े ॥६०॥

तदनन्तर रुक्मी ने सुवर्ण निर्मित चित्र विचित्र जो ढाल तलवार ग्रहण किये थे, वे दोनों भी उस समय गमन की रुकावट को ठगने के लिए श्रीकृष्ण ने तिल तिल करके काट दिये, किन्तु सम्पूर्णरूप से नहीं। और कट गये हैं ढाल तलवार जिसके, एवं नष्ट हो गया है सुख जिसका, ऐसे उस रुक्मी को श्रीकृष्ण अपने खड्ग से कटा हुआ ही करना चाहते थे, किन्तु उस खड्ग से काटा नहीं ॥६१॥

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उसके बाद स्त्रियों की आकृति से उत्पन्न भीरुत्वादि प्रकृति का अनुकरण करनेवाली उस रुक्मिणी ने लज्जा को भी छोड़कर, दीनता की चर्या से सहायता करके अपने सहोदर भाई की रक्षा कर ली। किन्तु श्रीकृष्ण ने उस धृष्ट रुक्मी के प्राणविनाश से भी अधिक पीडा देनेवाले दूसरे कौतुक को अवसर प्राप्त कर दिया ॥६२॥

''सर्वे प्रोचुः,—कथ्यतां तत् किम् ?' ''दूतावूचतुः,—'यत् खलु हतदर्पं सर्पमिव तमपसर्पणासमर्थं कर्पटीभूततत्पटीभिरेव वटीभिरिव कपटिनं पटीयानसौ तथा वधार्थमिव बन्धनेन घटितवान्, यथा बली चासौ न तद्विरलीकर्तुं शशाक ॥६३॥

'ततश्च रुक्मिणीप्रार्थनया लब्धकृपाभासः स खलु जितचन्द्रहासश्चन्द्रहासविक्षेपपक्षेपि-मशिक्षया तस्य मूर्धन्यद्राढिकाटव्यामधिमध्यमध्यं यूकानामध्वन इव नव्यान् सव्यापसव्यानु-सृतविच्छेदान् कृतवान् ॥६४॥

''तदेवं वर्ण्यमानमाकर्ण्य व्रजसभासत्सु हसत्सु पुनर्दूतावूचतुः,—'श्रूयतां तस्मिन्नासिकायां छिन्नायां दुकूलकृतार्जनमार्जनमिव बलभद्रानुकूलता । यावद् रुक्मिणा सह जितरुक्मिणीकस्य युद्धमुदबुद्धम्, तावद् बलभद्रादयस्ते जन्याश्चाजन्यं जन्यं च जनयन्तीस्तत्कटकघटा विद्रावयन्तः स्थितवन्तः । यदा चासौ बद्धस्तदा बलभद्रश्च तत्र सम्बद्धः; संबध्य च तत्र तं वध्यमिव बद्धं दृष्ट्वा करुणामिव स्पृष्ट्वा बन्धनं कृष्ट्वा कृष्णं किल मुहुरुपालब्धवान्; तद्विक्लवधूतां वधूमपि शिक्षया सन्धुक्षितां विधातुमारब्धवान् ॥६५॥ (भा० १०।५४।३७-४०)—

'असाध्विदं त्वया कृष्ण ! कृतमस्मज्जुगुप्सितम् । वपनं श्मश्रुकेशानां वैरूप्यं सुहृदो वधः ॥
मैवास्मान् साध्व्यसूयेथा भ्रातुर्वैरूप्यचिन्तया । सुखदुःखप्रदो नान्यो यतः स्वकृतभुक् पुमान् ॥

सभी व्रजवासी बोले—कहिये, वह कौन सा कौतुक है ? दोनों दूत बोले—अत्यन्त चतुर श्रीकृष्ण ने दर्परहित सर्प की तरह सरकने में असमर्थ, उस कपटी रुक्मी को, चीर चीर हुए उसके वस्त्रों के द्वारा ही, रस्सियों की तरह मानो वध करने के लिए, बन्धन से उस प्रकार युक्त कर दिया कि, जिस प्रकार वह बलवान् रुक्मी उस बन्धन को ढीला न कर सका ॥६३॥

उसके बाद रुक्मिणी की प्रार्थना से कृपा के आभास को प्राप्त होनेवाले, एवं अपने मन्दहास से चन्द्रमा के प्रकाश को जीतनेवाले श्रीकृष्ण ने, तलवार के फेंकने की शीघ्रता की शिक्षा के द्वारा, रुक्मी के मस्तक के केश एवं दाढ़ीरूप वन के बीच बीच में जूँओं के नये नये मार्गों की तरह, बायीं दाईं ओर अनु-सरण करनेवाली कटिंग कर दी ॥६४॥

इस प्रकार वर्णन किये गये प्रसङ्ग को सुनकर व्रज के सभासद जब हँसने लग गये, तब दोनों दूत पुनः बोले—नाक कट जानेपर दुपट्टा के द्वारा कस कर पौंछने की तरह, उस रुक्मी के ऊपर श्रीबलदेव की अनुकूलता का श्रवण कीजिये। जबतक रुक्मिणी को जीतनेवाले श्रीकृष्ण का युद्ध रुक्मी के साथ छिड़ गया था, तबतक श्रीबलदेव आदि वे बरातीजन चारों ओर उपद्रव, एवं युद्ध करती हुईं रुक्मी की सेना की घटाओं को भगाते हुए खड़े हो गये। और वह रुक्मी जब बाँधा गया, तब श्रीबलदेव भी वहाँपर सम्मिलित हो गये थे। एवं वहाँपर सम्मिलित होकर वध के योग्य व्यक्ति की तरह, रुक्मी को बँधा हुआ देखकर, मानो करुणा को स्पर्श कर, उसके बन्धन को खींचकर, श्रीकृष्ण को बारंबार उपालम्भ देने लग गये। एवं रुक्मी की विह्वलता से काँपती हुई वधू रुक्मिणी को भी शिक्षा के द्वारा प्रकृतिस्थ करने का उपक्रम करने लगे ॥६५॥

श्रीबलदेव बोले—हे कृष्ण ! तुम ने हमारे द्वारा निन्दित यह अच्छा कार्य नहीं किया। मित्र या सम्बन्धी के दाढ़ी मूँछ आदि के केशों का काटना, एवं उनको विरूप कर देना, वध के ही समान है। रुक्मिणी के प्रति बोले—हे साध्वि ! अपने भाई के विरूप कर देने की चिन्ता से हम सबके प्रति दोषारोप

बन्धुर्वधार्हदोषोऽपि न बन्धोर्वधमर्हति । त्याज्यः स्वेनैव दोषेण हतः किं हन्यते पुनः ? ॥
क्षत्रियाणामयं धर्मः प्रजापतिविनिर्मितः । भ्रातापि भ्रातरं हन्याद् येन घोरतरस्ततः ॥'

इत्यादिना ॥'६६॥

"व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः?' "दूतावूचतुः,—'तत्र रुक्मिणी सरला बलानुशिक्षितमेवानुसरति स्म । रुक्मी तु बन्धनादपि तद्वचनानुसन्धानात् प्रत्युत दुःखानुबन्धावृतमना बभूव ॥'६७॥

"व्रजराज उवाच,—'पश्चादसौ क्व गतः ?' दूतावूचतुः,—'पश्चात्तु रामेण निकामं मुक्तः सन्नसन्नसौ हतावशेषं स्वसैन्यमेव विषण्णतयासन्नवान् ॥'६८॥

"सर्वे प्रोचुः,—'स खलु खलतारूप्यः कथं सवैरूप्यः एव तत्र गतः ?' "दूतावूचतुः,—'रामस्तु द्विपाद्यं दण्डमेव प्रतिपाद्यं कुर्वन्नपि तस्य कीर्तिं रक्षन्निव दिवाकीर्तिना मुण्डमुखमखण्डं मुण्डयित्वा वस्त्रादिभिर्मण्डयित्वा तं तीर्थपथेनागतमिव रथेन प्रस्थापयामास । स तु स्वभावतः कृष्णशत्रुर्धृष्णक्तया दुराशया मध्यत एवालयं विधाय तमध्यासामासेति, 'कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे भवेत्' इत्यलं तत्प्रसङ्गेन ॥'६९॥

नहीं करना, क्योंकि जगत् में दूसरा कोई भी सुख दुःख देनेवाला नहीं है। कारण—जीवमात्र अपने द्वारा किये हुए कर्मफल का ही भोक्ता है। और अपना बन्धु वध के योग्य दोषी होनेपर भी, वह बन्धु अपने बन्धु के द्वारा वधके योग्य नहीं है। उसको छोड़ देना ही उचित है। क्योंकि जो व्यक्ति अपने दोषसे ही प्रायः मर चुका है, वह पुनः मारा जाता है क्या ? और देख, ब्रह्माजी का बनाया हुआ क्षत्रियों का यह धर्म है कि, (धर्मयुद्ध में) भाई भी भाई को मार सकता है। इसलिए यह धर्म बड़ा कठोर है। अतः बन्धु को बाँधना एवं कुरूप कर देना तो कुछ भी दोषप्रद नहीं है ॥६६॥

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—वहाँपर सरल स्वभाववाली रुक्मिणी ने श्रीबलदेव की शिक्षा का ही अनुसरण कर लिया। किन्तु रुक्मी तो श्रीबलदेव के वचनों का अनुसन्धान (चिन्तन) करके, बन्धन से भी अधिक दुःख के अनुबन्ध से आवृत मनवाला हो गया ॥६७॥

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद वह रुक्मी कहाँ चला गया ? दोनों दूत बोले—पश्चात् बलरामजी के द्वारा स्वेच्छापूर्वक छोड़ा हुआ वह दुष्ट रुक्मी दुःखित भाव के कारण, मरने से बची हुई अपनी सेना में ही पहुँच गया ॥६८॥

सभी व्रजवासी बोले—पहले से ही खलता करनेवाला वह रुक्मी अपने कुरूप के सहित ही अपनी सेना में कैसे चला गया ? दोनों दूत बोले—श्रीबलराम ने तो रुक्मी को दुगुना दण्ड देना ही सिद्ध करते हुये भी, मानो उसकी कीर्ति की रक्षा करते हुए, सम्पूर्णरूप से मुण्डित न हुए रुक्मी के मुख को, नापित के द्वारा सम्पूर्णरूप से मुड़वा कर, वस्त्रादिकों से सजाकर, तीर्थों के मार्ग से आये हुए व्यक्ति की तरह, उसको रथ के द्वारा भिजवा दिया। किन्तु स्वभाव से ही कृष्ण का बैरी, वह रुक्मी तो धृष्ट होने के कारण, दुराशा से बीच में ही निवासस्थान बनाकर उसी में रहने लग गया। इसलिए "पापियों की कथा भी निश्चय ही अमङ्गल के लिए हो सकती है" अतः उसके प्रसङ्ग से कोई प्रयोजन नहीं है ॥६९॥

"व्रजराजः पप्रच्छ,—'कृष्णः समङ्गलमालयमाययौ ?' "दूतावूचतुः,—'तदागमनानन्तर-मेव पूर्वपूर्ववत्तत्तदुद्धवद्वारा श्रवसि समवाप्य तं तमावाभ्यामनुज्ञाप्य च द्रुतमत्राप्यते स्म ।'

"व्रजराजः पप्रच्छ,—'विवाहनिर्वाहः किं सम्पन्नः ?' "दूतावूचतुः,—'नहि नहि, किन्तु शैथिल्यमेव दृश्यते । तत्कारणं तु पूर्वमेव कृतावधारणम् ॥७०॥

'तथा हि— उद्धवमुखसुखजातं, तादृशसन्देशजातमातत्य ।
कथमथ विवहेदघजि,-त्तस्मिन्न वहेत चेद्विधिं भवताम् ॥ ७१॥

"अथ तदेतद्विचारयत्सु व्रजसत्सु द्वारकादेशतः कौचिदानकदुन्दुभिकिङ्करौ परौ सन्देश-हरौ श्रीव्रजराजचरणराजीवं सङ्गम्य प्रणम्य तत्कुशलप्रश्नमनुगम्य निवेदयामासतुः,—'देव ! श्रीमदस्मद्देवनिवेदनपत्रमिदमादीयताम्' इति । "व्रजराजः सादरं तदादाय वाचयति स्म; यथा—'स्वस्ति सदा मदानन्दसन्धुक्षणसक्षणबन्धुवरं श्रीमन्नन्दनामशुभकन्दममन्दमालिङ्गन्ना-नकदुन्दुभिरयमहं सप्रणयं निवेदयामि—॥७२॥

'पुत्रे तावकता तु मामकतया भेदं न विन्देत् क्वचित्
तत् त्वं वेत्सि च वेद्मि च स्वयमहं कोऽप्यन्यथा मन्यताम् ।
तस्माद् यद्वदिमं करग्रहकृते याचामहे ते वयं
तद्वद् यूयमपि स्वहस्तलिपिभिर्याचध्वमद्धा मुहुः ॥' इति ॥७३॥

श्रीव्रजराज ने पूछा कि—श्रीकृष्ण मङ्गलपूर्वक अपने निवासस्थानपर आगये न ? दोनों दूत बोले—श्रीकृष्ण के द्वारका में आते ही पहले पहले की भाँति, उद्धवजी के द्वारा उस उस वृत्तान्त को कर्णगोचर करके, श्रीकृष्ण एवं उद्धव से अनुमति लेकर, हम दोनों दूत शीघ्र ही व्रज में पहुँच रहे हैं। श्रीव्रजराज ने पूछा—विवाह का निर्वाह हुआ कि नहीं ? दोनों दूत बोले—नहीं, नहीं। किन्तु शिथिलता ही दिखाई देती है। उसका कारण तो पहले ही निश्चित किया जा चुका है ॥७०॥

देखिये, उद्धव के मुख से सुख से उत्पन्न हुए उस प्रकार के सन्देश समूह को, अर्थात् अपने व्रज में आने के सन्देश को विस्तारित करके, श्रीकृष्ण यदि उस विवाह में आप सबका विधान न प्राप्त कर पायें तो किस प्रकार विवाह कर सकते हैं ? ॥७१॥

तदनन्तर व्रजवासी जब यह विचार कर रहे थे, तभी द्वारकादेश से श्रीवसुदेवजी के सन्देश को लानेवाले कोई दो श्रेष्ठ दूत श्रीव्रजराज के चरणकमल के निकट आकर, प्रणाम करके श्रीव्रजराज आदिकों के कुशलप्रश्न का अनुसरण कर, निवेदन करने लगे कि—हे राजन् ! हमारे राजाधिराज श्रीवसुदेव का यह निवेदन पत्र ग्रहण कीजिये। श्रीव्रजराज उस पत्र को आदरपूर्वक लेकर बाँचने लगे, यथा—स्वस्तिश्री मेरे आनन्द को बढ़ाने में सदैव सावसर बन्धुवर, शुभ के मूल श्रीमान्नन्दजी को गाढ़ा आलिङ्गन करता हुआ, यह मैं वसुदेव प्रेमपूर्वक निवेदन करता हूँ कि—॥७२॥

तुम्हारे पुत्र के ऊपर तुम्हारा पुत्रभाव, मेरे पुत्रभाव के सहित कहीं भी भेद को न प्राप्त हो, अर्थात् श्रीकृष्ण को आप जैसे अपना पुत्र मानते हो, उसी प्रकार मैं भी श्रीकृष्ण को अपना ही पुत्र मानता हूँ, यह भाव कहीं किसी स्थानपर भी भेद को न प्राप्त हो। इस बात को तुम जानते हो, एवं मैं भी स्वयं जानता हूँ। कोई दूसरा व्यक्ति यदि इस बात में भेद मानता है तो भले ही मानता रहे। अतः श्रीकृष्ण के

"तदेतद्वाचयित्वा व्रजराज उवाच,—'भद्रमनयोर्भोजनं योजयत, पश्चात्तु सदेशरूपं सन्देशं दास्यामः ।।'७४।।

"अथ पुनः सर्वे सङ्गम्य रम्यमिदं विचारयामासुः,—'यद्यपि सत्यसङ्कल्पस्य तस्य व्रजागमनसङ्कल्पः कदाचिद् व्यभिचाराय न कल्पः स्यात्तथापि यावद्विपक्षपक्षक्षपणं विलम्बमेवावलम्बेत। तच्च न प्रतिपद्यते, कदा समुत्पद्यते। तत्र सति रामस्यापि गृहारामतायां जातायां कुमारस्य तु तस्य तावत्कुमारता-स्थितिर्न सुकुमारा भवति ।।७५।।

स्वयं च तेन यदेतन्मिष्टमस्मान् प्रत्युपदिष्टम्, (भा० १०।४५।२३)—

'यात यूयं व्रजं तात ! वयं च स्नेहदुःखितान् ।
ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां सुखम् ।।' इति ।।७६।।

'तच्चेदमपि वेदयति—यावता सुहृदां सुखं, भवति तावदपि विधेयमिति।
तदन्तःपाति चेदं, स्वस्य यदुक्षत्रजताख्यापनादि ।।७७।।

तदन्यथा तु तेष्वेकतापत्त्यभावात्तत्तद्गत्यन्तरं न सिध्यति; तस्माद्वसुदेवादिवद् वयमपि तदर्थं प्रार्थयामहे' इति ।।७८।।

ऊपर हम तुम दोनों का पुत्रभाव एकसा ही है। इसलिए जिस प्रकार वे हम सब श्रीकृष्ण से विवाह करने के लिए प्रार्थना करते हैं, उसी प्रकार आप भी स्वहस्तलिखित पत्रिकाओं के द्वारा, इन श्रीकृष्ण से विवाह करने के लिए साक्षात् बारंबार प्रार्थना करो ।।७३।।

यह पत्र बाँचकर श्रीव्रजराज बोले—अच्छा, इन दोनों दूतों के भोजन का आयोजन कीजिये। पीछे न्याययुक्त सन्देश को देंगे ।।७४।।

पश्चात् पुनः सभी व्रजवासी मिलकर यह रमणीय विचार करने लगे कि—यद्यपि सत्यसंकल्पवाले श्रीकृष्ण का व्रज में आनारूप सङ्कल्प कभी भी मिथ्या होने को समर्थ नहीं हो सकता है, तथापि शत्रुपक्ष के नाशपर्यन्त श्रीकृष्ण विलम्ब का ही अवलम्बन कर सकते हैं। किन्तु वह शत्रुपक्ष का नाश कब सम्पन्न होगा ? यह नहीं जाना जाता है। ऐसी स्थिति में बलराम का भी पत्नी के ऊपर सुख का भाव उत्पन्न हो जानेपर, उन श्रीकृष्णकुमार की कुमारभाव से स्थिति सुन्दर या कोमल नहीं है। (यहाँपर कुमारभाव से अविवाहित अवस्था समझनी चाहिये) ।।७५।।

इसलिए श्रीकृष्ण ने स्वयं भी हमारे प्रति यह मीठा वचन कहा था कि—हे पिताजी ! अब तो आप सब व्रज में चले जाइये। हम दोनों भाई भी श्रीवसुदेव आदि सुहृदों का सुख संविधान करके, मेरे स्नेह से दुःखित अपनो जातीवाले तुम सबको देखने के लिए अवश्य आयेंगे ।।७६।।

श्रीकृष्ण का यह कथन इस बात को भी जनाता है कि—जितने कार्य से सुहृद्जनों को सुख हो, उतना भी करने योग्य है। उस सुखविधान के अन्तर्गत यह भी है कि, "श्रीकृष्ण को अपना यदुरूप क्षत्रियों में उत्पन्न होने का भाव प्रसिद्ध करना है, इत्यादि" ।।७७।।

उससे अन्यथा तो, अर्थात् अपने को यदुवंशीय क्षत्रिय ठहराये बिना तो, उन यदुवंशियों में अभिन्न भावना के न रहने के कारण, सुहृदों की रक्षा आदि एवं क्षत्रिय कन्याओं के साथ विवाह आदि भी सिद्ध नहीं होता है। इसलिए श्रीवसुदेव आदिकों की तरह हम भी, रुक्मिणी के साथ विवाह करने की श्रीकृष्ण से प्रार्थना करते हैं ।।७८।।

"अथ व्रजेशश्च सन्देशमिमं लिखितवान्,—'स्वस्ति समस्तसुखनिर्मञ्छनीयमुखसुषमाभर-श्रीमद्वत्सवरमालिङ्गन् सोऽयमिङ्गितं याचते—

'वत्स ! त्वं वेत्सि चित्तं मम तु यदभिदां शूरपुत्रेण मन्ये
तस्माल्लिप्सां तदीयां रचयसि खलु यां तां मदीयामवेहि ।
एवं चेदन्यथा स्याद् बत कथमभितस्त्वन्मुखाम्भोजलक्ष्मी-
शून्यं दारिद्र्यमेतच्चिरमिह विषहे हा सहे नैव नैव ॥' इति ॥७९॥

"तदेतं सन्देशमादाय सन्देशहरयोस्तत्र गतयोः कतिचिद्दिनानतिक्रम्य यथापूर्वं व्रज-दूतद्वयमाववाज; आव्रज्य च पूर्ववत् कुशलं श्रावयित्वा तत्र वृत्तं वृत्तं श्रावयामास ॥८०॥

तत्र व्रजराजः पप्रच्छ,—'कथयतं ततः परं किं जातम् ?' । दूतावूचतुः,—

'यदा भवल्लेखविशेषपत्रिका, विलोकिता गोपपते ! सुतेन ते ।
तदा निजास्रेण लिपिर्विलोपिता, तदर्थलक्ष्मीरधिरोपिता हृदि ॥'८१॥

"व्रजराजः सास्रमुवाच,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—'ततश्च तदुरीकृतमुरीकृतं च पाणिपीडनं यथा—

'यस्मिन् धामनि गेहगेहविसरद्वाद्यं द्युषद्वादनं
सिन्धूल्लोलविमर्दनर्दनमपि प्राभून्मिथःस्पर्धनम् ।

तदनन्तर श्रीव्रजराज ने यह सन्देश लिखा कि—स्वस्तिश्री समस्तसुख न्योछावर करने योग्य मुख की परम शोभा की अधिकतावाले श्रीमान् पुत्रश्रेष्ठ को आलिङ्गन करता हुआ, यह व्रजराज इशारे से प्रार्थना करता है कि—हे लाल ! तुम मेरे चित्त को जानते ही हो कि, "मैं वसुदेवजी के साथ अपना अभेद मानता हूँ" इसलिए तुम वसुदेवजी की जिस इच्छा की रचना करते हो, उसको तुम मेरी ही इच्छा जान लो । यदि इस प्रकार हम दोनों का भेद होता तो हाय ! चारों ओर तुम्हारे मुखकमल की शोभा से रहित इस विरहरूप दरिद्रता को यहाँपर चिरकालतक कैसे सहन कर रहा हूँ ? हाय ! नहीं सहता हूँ, नहीं सहता हूँ ॥७९॥

अतएव इस सन्देश को लेकर दोनों दूतों के द्वारका चले जानेपर, कुछ दिन के बाद पहले की भाँति, व्रज के दो दूत व्रज में आये । आते ही पहले की तरह श्रीकृष्ण का कुशल सुनाकर, द्वारका में हुए वृत्तान्त को उन्होंने सुना दिया ॥८०॥

उसमें व्रजराज ने पूछा कि—कहो, उसके बाद क्या हुआ ? दोनों दूत बोले—हे गोपराज ! आपके पुत्र (श्रीकृष्ण) ने जब आप के लेखविशेष से युक्त पत्रिका देखी, तब अपने आँसुओं के द्वारा उसका लेख मिटा दिया । किन्तु उस लेख की अर्थरूप सम्पत्ति तो अपने हृदय में स्थापित कर ली ॥८१॥

श्रीव्रजराज आँसू बहाते हुए बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उसके बाद श्रीकृष्ण के द्वारा अङ्गीकार किये हुए एवं विस्तारित किये हुए विवाह का वर्णन, यथा—देखो, जिस द्वारकाधाम में प्रत्येक घर में व्यापक होनेवाला वाद्य, एवं देवताओं का वाद्य, तथा समुद्र की महान् तरङ्गों के मर्दन की गर्जना भी हुई । किन्तु ये सब शब्द परस्पर की स्पर्धा करनेवाले हुए । अतः यदु, कुन्ति, केकय, एवं कुरु-

तस्मिंस्तद्‌यदु-कुन्ति-केकय-कुरु-क्रान्ते विदर्भान्विते
भैष्म्याः पाणिनिपीडनं भृशमगादुद्धर्षमुद्धर्षजम् ॥'८२॥

"व्रजराजः पप्रच्छ,—विदर्भा अपि कृतसन्दर्भा जाताः ?' दूतावूचतुः,—जाताः, किन्तु भीष्मपुत्रान् विना।' "व्रजराज उवाच,—'स खलु भीष्मः कथमागन्तुं लज्जां न सज्जति स्म ?' दूतावूचतुः,—'सज्जति स्म, यस्मादानकदुन्दुभ्यादीनां यत्नस्य कन्यारत्नस्य च व्यर्थीभावभये मज्जति स्म ॥'८३॥

"व्रजराज उवाच,—'ततः किल वरकन्या-पक्षयोः सपक्षयोरखिलयोर्मिलनमेव जातम्।' "दूतावूचतुः, 'बाढम्, येन बाढमेव तन्महो निर्व्यूढम्, किन्तु भवन्तं विना नास्मन्मनः शन्तमं समवाप। तदलं तद्वर्णनया ॥'८४॥

तदेवमाकर्ण्य वैवर्ण्यं पूर्ववत् कथासभायामपि भजति व्रजराजे स्निग्धकण्ठः समापनमाह स्म,—

"प्रसू-तात-प्रायस्वजनजनतापद्ममुत त,-न्महासम्पत्-सद्मप्रकरशतलक्षं हरिरसौ।
भजन्नाभूदीदृक्सुखदसुषमासंभृतमुखः, स्फुटं यादृक् श्रीमंस्तव दृगमृतं प्राप्य लसति ॥८५॥

"तदेवमाकर्ण्य तस्य लोचनयो रोचनं वर्णं निर्वर्ण्य सद्य एव त्यक्तवैवर्ण्यस्तं परिष्वक्तवान् व्रजराजः सर्वमेव रोमपर्वणा विराजयन्नत्रासीदिति ॥८६॥

देशवासीजनों से आक्रान्त तथा विदर्भदेशवासियों से युक्त उस द्वारकाधाम में श्रीरुक्मिणी का पाणिग्रहण संस्कार उत्सव से उत्पन्न हुए अत्यन्त ऊँचे हर्ष को प्राप्त हो गया ॥८२॥

श्रीव्रजराज ने पूछा कि—विदर्भदेशवासी भी सम्मेलन करनेवाले हो गये क्या ? दोनों दूत बोले—हुए तो सही, किन्तु भीष्मक के पुत्रों को छोड़कर। श्रीव्रजराज बोले—वह भीष्मक द्वारका में आने को कैसे लज्जा को नहीं प्राप्त हुआ ? दोनों दूत बोले—लज्जा को प्राप्त हो गया, कारण श्रीवसुदेव आदिकों के प्रयत्न के एवं अपनी कन्यारूप रत्न के व्यर्थ होनेरूप भय में निमग्न हो गया ॥८३॥

श्रीव्रजराज बोले—तब तो अपने अपने पक्षवाले जनों के सहित वरकन्या के पक्षवाले सभीजनों का मिलन ही हो गया। दोनों दूत बोले—हाँ, दोनोंपक्ष के जनों का सम्मेलन हो गया, जिसके कारण वह विवाहमहोत्सव विशेषरूप से सम्पन्न हो गया। किन्तु आपके बिना हमारा मन विशेष सुख को नहीं प्राप्त हुआ। अतः उसके वर्णन से कोई प्रयोजन नहीं है ॥८४॥

अतएव इस प्रकार पहले की भाँति कथा की सभा में भी श्रीव्रजराज जब विवर्णता को प्राप्त हो गये, तब स्निग्धकण्ठ प्रसङ्ग की समाप्ति का द्योतक वचन बोला—हे श्रीमन् ! नन्दजी ! देखो, ये श्रीकृष्ण आपकी दृष्टिरूप सुधा को पाकर जिस प्रकार स्पष्ट शोभा पा रहे हैं, उस प्रकार तो ये द्वारकावासी उन माता पिता आदि स्वजनों की पद्म संख्यावाली जनता को प्राप्त कर, एवं उस प्रकार की महासम्पत्ति से पूर्ण करोड़ों गृह-समुदाय को प्राप्त करके भी, अब जैसी सुखदायिनी परमशोभा से परिपूर्ण मुखमण्डलवाले होकर सुशोभित नहीं हुए। तात्पर्य—आप सब व्रजवासियों के वियोग से श्रीकृष्ण की उतनी शोभा नहीं हो पाती थी, जैसी कि, अब आप सबके संयोग में है ॥८५॥

अतएव इस प्रकार के वचन को सुनकर, दोनों नेत्रों के रुचिकर श्रीकृष्ण के रूप को देखकर, तत्काल मलिनता को त्यागकर, श्रीव्रजराज श्रीकृष्ण से आलिङ्गन करने लग गये, एवं सभा में स्थित सम्पूर्ण

"अथ व्रजवन्दिनस्तत्र श्रीकृष्णदर्शनानन्दिनस्तदिदं ववन्दिरे,—॥८७॥

'व्रजमधुरमाधुरीह्रसितपरकामनम् । मनसि नृपवैभवं दधतमतिवामनम् ॥
परिणयनवाञ्छता-रहितमनसाचितम् । अगमदथ कश्चन द्विजनिरसुराहितम् ॥८८॥
निजनृपतिदेहजा-वचनमुपसन्दिशन् । स तदुदितचातुरीममृतमिव निर्विशन् ॥
तमनु निजमाययौ नगरमितसम्मदः । अवददपि तां हरेरभिगमनसम्पदः ॥८९॥
अथ ससुखभीष्मजा मुहुरनमदत्रसा । द्विजममुकमिच्छती निजभविकमत्र सा ॥
इह महसि शैलजा-परिचरणदम्भिका । भवितुमथ भीष्मजा हरिचरणलम्भिका ॥९०॥
सरथहरिणा हृताऽरुचदमलरोचिषा । रिपुनिचयमाचिनोन्मलिनमुखशोचिषा ॥
मगधमुखशात्रवे रणविमुखभावके । युधमधित रुक्मवानसुरपरिभावके ॥९१॥
व्यधित खलु रुक्मिणं कृतवपनमुण्डकम् । न परमजितस्तथाऽकृत विकृततुण्डकम् ॥
मुरजिदथ निर्जयन् सनृपचयभीष्मजम् । अगमदथ तन्निजं नगरमितभीष्मजम् ॥
इति विविधशात्रवप्रजययशसाश्रितः । अधिवसति स व्रजं पुनरखिलवाञ्छितः ॥"

इति ॥९२॥

जनमात्र को रोमाञ्चरूप महोत्सव के द्वारा सुशोभित करते हुए गोलोक में विद्यमान थे। अर्थात् श्रीकृष्ण को आलिङ्गन करते हुए श्रीनन्द को देख, सभी सभासद् रोमाञ्चित हो गये ॥८६॥

उसके बाद उस गोलोक में श्रीकृष्ण के दर्शन से आनन्दित होनेवाले व्रज के बन्दीजन, आगे कही जानेवाली वन्दना करने लगे— ॥८७॥

यथा—व्रज की सुमधुर माधुरी के द्वारा अन्य कामनाओं को छोटी करनेवाले, एवं अपने मन में राजकीय वैभव को अत्यन्त छोटा धारण करनेवाले, तथा विवाह की इच्छा से रहित मन से व्याप्त रहनेवाले असुरद्वेषी श्रीकृष्ण के निकट सुनन्द नामक कोई ब्राह्मण (कुण्डिनपर से) आया ॥८८॥

पश्चात् वह ब्राह्मण अपने राजा भीष्मक की कन्या रुक्मिणी के पत्ररूप वचन को निवेदन करता हुआ, एवं श्रीकृष्ण की वचन चातुरी को अमृत की तरह भोगता हुआ, पश्चात् आनन्द को प्राप्त होकर, श्रीकृष्ण के साथ अपने नगर में चला आया। और आते ही उसने रुक्मिणी के प्रति श्रीकृष्ण की आगमनरूप सम्पत्तियाँ कह दीं ॥८९॥

अनन्तर सुखयुक्त भीष्मकनन्दिनी वह रुक्मिणी, इस अपने विवाह में अपना मङ्गल चाहती हुई निर्भय होकर, उस ब्राह्मण को बारंबार प्रणाम करने लग गई। पश्चात् रुक्मिणी श्रीहरिचरण-प्रापिका होने के लिए इस विवाहरूप उत्सव में गिरिजा की पूजा का छल (बहाना) बनानेवाली हो गई ॥९०॥

पश्चात् रथ से युक्त श्रीहरि के द्वारा हरी गई रुक्मिणी निर्मल कान्ति द्वारा शोभा पाने लगी, एवं शत्रुसमूह को मलिन मुख की कान्ति से युक्त कर दिया। पश्चात् जरासन्ध आदि शत्रुसमूह जब रण में विमुख भाववाला हो गया, अर्थात् रण से विमुख हो गया, तब रुक्मी ने असुरों का तिरस्कार करनेवाले श्रीकृष्ण के विषय में युद्ध धारण कर लिया ॥९१॥

उस समय श्रीकृष्ण ने रुक्मी को केवल मुण्डित किये हुए मस्तकवाला ही नहीं बनाया, किन्तु उसी प्रकार उसको दाढ़ी मूँछ काटकर विकृत मुखवाला भी बना दिया। पश्चात् श्रीकृष्ण राजसमूह के सहित रुक्मी को पराजित करके, भीष्मकपुत्री रुक्मिणी को प्राप्त करनेवाले अपने उस द्वारका नामक नगर में

अथ रजनी-कथापि प्रसजति स्म, यथा श्रीराधिकादिसुखमपि प्रथामवाप ॥९३॥

यथा स्निग्धकण्ठ उवाच,—"यदा यदा दूतागमनमासीत्तदा कृष्णप्रेयसीनामपि प्रायशस्तत्र समागमः समभवन्न तु सर्वदा; यतः काश्चित्तासामुत्तरसाधिकास्तत्रासामासुः। ताः खलु तासां सुखावसरमवसरमवधाय परं ताः समानयन्ति स्मेति ॥९४॥

"अतो रुक्मिणी-विवाहप्रस्तावं तु ताः सूक्ष्ममेव जनश्रुतिभिः श्रुतिविषयं चक्रुः। किञ्च, यथा श्रीमान् वसुदेवः श्रीव्रजराजं प्रति पत्रिकां प्रहितवांस्तथा श्रीमानुद्धवश्च ताः प्रति ॥९५॥

यथा— 'हरिणा निश्चितमेत,-न्न हि यादवके मया विवोढेति।
प्राणांस्त्यजति तु भैष्मी, जाने नतरां किमापतिता ॥'९६॥

"तदेवं ताः समवधाय स्त्रीवधाद्भीताः प्रति-पत्रिकां ददुः। यथा—
'वयमसदद्दष्टसृष्टं, वरमहह सहामहे कष्टम्।
न तु हरियशसि कलङ्क,-श्चन्द्रमसीव क्वचिद् भवतु ॥'९७॥

"अथ श्रीव्रजेशितुर्वर्णदूते तस्य कर्णयोः सम्भूते सेयं लिपिरुद्धवेन रहसि दर्शिता यदा, तदा तु मुदा विनापि सा स्वीकृतेति कृतं तद्वर्णनया; साम्प्रतं तु प्रतिपद्यताम्,—॥९८॥

चले गये। इस प्रकार विविध शत्रुसमूह की उत्कृष्ट विजय के यश से बढ़े हुए, एवं निखिल प्राणियों से वाञ्छित वे ही श्रीकृष्ण, अब व्रज में ही निवास कर रहे हैं ॥९२॥

अनन्तर दिन की कथा होते ही, रात्रि की कथा भी प्रारम्भ हो गई, जिससे श्रीराधिका आदिकों का सुख भी प्रसिद्ध हो गया ॥९३॥

यथा—स्निग्धकण्ठ बोला—व्रज में जब जब दूतों का आगमन होता था, तब तब श्रीकृष्णप्रेयसी गोपियों का समागम प्रायः श्रीव्रजराज की सभा में होता था, किन्तु सदैव नहीं। कारण—उनके पत्रोत्तर को सिद्ध करनेवाली कुछ गोपियाँ वहाँ उपस्थित हो जाती थीं। वे गोपियाँ ही उन श्रीराधिका आदिकों के सुख के अवकाशमय समय को जानकर, केवल उनको वहाँपर लिवालाती थीं ॥९४॥

इसीलिए श्रीराधिका आदि कृष्णप्रेयसी गोपियों ने, श्रीरुक्मिणी के विवाह के प्रस्ताव को तो जन-श्रुतियों के द्वारा सूक्ष्म ही कर्णगोचर किया था। किंच श्रीमान् वसुदेव जिस प्रकार श्रीव्रजराज के प्रति पत्रिका भेजते थे, उसी प्रकार गोपियों के प्रति श्रीउद्धवजी भेजा करते थे ॥९५॥

यथा—श्रीकृष्ण ने यह निश्चय किया था कि, मैं यदुवंशियों के समुदाय में कभी भी विवाह नहीं करूँगा। किन्तु अब मेरे साथ विवाह का निश्चय न होने से रुक्मिणी अपने प्राणों को त्याग रही है। ऐसा करने से तो न जाने कौन सा अनिष्ट आ पड़ेगा ? ॥९६॥

इस प्रकार रुक्मिणी की अवस्था का निश्चय कर, अतः स्त्री-वध से भयभीत होकर, उन कृष्णप्रेयसी गोपियों ने प्रत्युत्तर पत्रिका दे दी। यथा—अहह ! हम सब गोपियाँ अपने बुरे अदृष्ट के द्वारा रचे हुए कष्ट को सह रही हैं, तो भले ही सहती रहें। किन्तु श्रीकृष्ण के विशुद्ध यश में चन्द्रमा में विद्यमान कलङ्क की तरह कहीं भी, कलङ्क नहीं होना चाहिये। यही हमारी प्रार्थना है ॥९७॥

उसके बाद श्रीव्रजराज का पत्र जब श्रीकृष्ण के कर्णगोचर हो गया, तब एकान्त में श्रीउद्धव ने गोपियों की पूर्वोक्त यह पत्रिका श्रीकृष्ण को जब दिखाई, तब तो श्रीकृष्ण ने हर्ष न होनेपर भी, वह

'राधे ! य एवापरिहार्यकार्यत,-स्तत्याज वस्तर्षजधर्षधोरपि ।
स एव सर्वं हृदि खर्वमाचरं,-स्त्वामङ्कमानीय तमङ्कमुज्झति ॥' इति ॥"६६॥

तदेवं श्रीराधादीनपि विगतबाधान् विधाय सर्वसुखप्रथकौ कथकौ वासमासादितौ ॥१००

मिथस्तदा तौ प्रणिधानमागतौ, राधा-विधू साधु विधूतविक्लवौ ।
अन्योऽन्यमालिङ्गनसङ्गरङ्गिणा,-वातेनतुः सुश्रियमत्र कौमुदीम् ॥१०१॥

इति श्रीश्रीमदुत्तरगोपालचम्पूमनु श्रीरुक्मिणीपाणिपीडनक्रीडनं नाम षोडशं पूरणम् ॥१६॥

अथ सप्तदशं पूरणम्

श्रीसत्यभामादि-विवाह-सप्तकम्

अथ परेद्युः प्रातःकथायां श्रीकृष्ण-मुखसुषमासमास्वादसादरवीक्षितश्रीव्रजमहीक्षितः सभायां मधुकण्ठ उवाच,—॥१॥

"तदेवं सन्देशं हरत्सु गतागतमनुसरत्सु कौचिद् दूतौ सम्भूतौ । आगम्य च श्रीव्रजेश्वर-

---

रुक्मिणी स्वीकार कर ली । अतः अब उसके विवाह के वर्णन से कोई प्रयोजन नहीं है । किन्तु हे गोपियो ! इस समय तो यही समझलो कि— ॥६८॥

हे श्रीमति राधिके ! जिन श्रीकृष्ण ने सुहृदों की रक्षा आदि अपरिहार्य (न त्यागने योग्य) कार्य के कारण ही, तुम्हारी लालसा से जायमान धृष्ट बुद्धि होकर भी, तुम सबको त्याग दिया था, वे ही श्रीकृष्ण अपने मन में द्वारकापुरवाले सभीजनों को या सम्पूर्ण वैभव को, व्रज के वैभव एवं प्रेम के आगे छोटा करते हुए, तुमको गोद में लेकर, उस कलङ्क को त्याग रहे हैं ॥६६॥

अतएव इस प्रकार श्रीराधिका आदि गोपियों को बाधारहित बनाकर, सर्व सुखविस्तारक वे दोनों कथावाचक अपने घरपर पहुँच गये ॥१००॥

उस समय आपस में प्रणिधान (समाधान) को प्राप्त हुए वे दोनों राधा एवं कृष्णचन्द्र अच्छी तरह ग्लानि से रहित होकर, एवं परस्पर आलिङ्गन के सङ्ग के अनुरागी होकर, इस गोलोक में उत्तम शोभा-वाली चाँदनी का विस्तार करने लगे ॥१०१॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रिविरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीमदुत्तरगोपालचम्पूकाव्ये रुक्मिणी-पाणिपीडनक्रीडनं नाम
षोडशं पूरणं सम्पूर्णम् ॥१६॥

सत्तरहवाँ पूरण

सत्यभामा आदि सात पटरानियों का विवाह

इस सत्तरहवें पूरण में सत्यभामा आदि सात पटनारानियों के विवाह का वर्णन होगा । अनन्तर दूसरे दिन प्रातःकाल की कथा में श्रीकृष्ण के मुख की परमशोभा के समास्वादन करने में आदरयुक्त दिखाई देनेवाले श्रीव्रजराज की सभा में मधुकण्ठ बोला— ॥१॥

अतएव पूर्वोक्त प्रकार से सन्देश लानेवाले दूतजन जब यातायात कर रहे थे, तब कोई दो दूत उपस्थित हुए । आते ही उन्होंने श्रीव्रजराज के चरण छूये । श्रीव्रजराज के द्वारा द्वारका का वृत्तान्त पूछने-

चरणं स्पृष्टवन्तौ तेन पृष्टोदन्तौ तत्राऽष्टानामपि प्रकृतीनां कुशलकथनपूर्वकं श्रीकृष्णरामादीनां श्रीवसुदेवोद्धवादीनामपि यथायथं वाचिकं वचनरचितं विधाय तूष्णीकतामासेदतुः ॥२॥

"व्रजराज उवाच,—'कथमिव नान्यत् प्रथयतम् ?' "दूतावूचतुः,—'व्यथां कथं प्रथयावः ?' "सर्वे प्रोचुः,—'दूतानां सर्वमेव वक्तव्यमिति। कथं तत्र विरक्तता प्रसज्जेत् ?' "दूतावूचतुः,—'रुक्मिणीदेव्यास्तोकमेकं जातम्, सशरीरमेव च न प्राप्तम्, यथा सा खल्वशिश्वी शश्वदेव विश्वेषां दुःखमशिश्वियत्' इति ॥३॥

"सर्वे म्लानमुखतया प्रोचुः,—हन्त ! हन्त ! शन्तममनसः कंसान्तकस्य च तेन स्वास्तं क्लान्तमिव लक्ष्यते।' "दूतावूचतुः,—'नहि नहि; प्रत्युत रुक्मिण्यादिषु स एव चिन्ताशान्ति कुर्वन्नास्ते।' "सर्वे ससान्त्वमूचुः,—'तर्हि मङ्गलमपि सङ्गतं भविष्यति' इति ॥४॥

"तदेवं दिनकतिपयेषु लब्धदूतगतागतव्यत्ययेषु पुनरन्यौ कौचिदागम्य सम्यक् तदिदमूचतुः,—'सम्प्रति किञ्चिदपूर्वं दृष्टपूर्वमकरवाव।' "व्रजराज उवाच,—'कीदृशम् ?' "दूतावूचतुः,—'एकदा परमसुष्ठुधर्मायां सुधर्मायां श्रीगोविन्दः समकक्षैः स्वपक्षैः सममक्षैः क्रीडति स्म। क्रीडति तु तस्मिन् सर्वे सगर्वेहा नागराः कोलहलवहबहलभयकुतूहलवलिताः सीमातिगामिसागरायमाणाः ससम्भ्रममिदं निवेदयामासुः—सर्वभाग्यसाक्षात्फलतया

पर वे दोनों दूत उस द्वारका में "राजा, मन्त्री, सुहृद्, कोष, राष्ट्र, दुर्ग, सेना, एवं समस्त पुरवासी" इन आठ प्रकार की प्रकृतियों का कुशल समाचार कथनपूर्वक, श्रीकृष्ण बलदेवादि एवं श्रीवसुदेव उद्धवादिकों के सन्देश को, यथायोग्य अपने वचनों के द्वारा कहकर चुप हो गये ॥२॥

श्रीव्रजराज बोले—क्यों भाइयो ! दूसरा वृत्तान्त क्यों नहीं कहते हो ? दोनों दूत बोले—व्यथा को कैसे वर्णन करें ? सभी सभासद् बोले—दूतों को तो सब कुछ कह देना चाहिये। तब उस विषय के कहने में विरक्तता (उदासीनता) क्यों उपस्थित हो सकेगी ? दूत बोले कि—श्रीरुक्मिणीदेवी के एक बालक उत्पन्न हुआ था, किन्तु शरीर के सहित वह मिला नहीं। जिससे पुत्रविहीन उस रुक्मिणी ने सभीजनों के दुःख को निरन्तर ही बढ़ा दिया ॥३॥

सभी सभासद् मलिनमुख होकर बोले—हाय ! हाय ! अतिशय सुख से युक्त मनवाले एवं कंस को मारनेवाले श्रीकृष्ण का मन, उस पुत्र की अप्राप्ति से मानो ग्लानि से युक्त ही प्रतीत होता है। दोनों दूत बोले—नहीं, नहीं। प्रत्युत रुक्मिणी आदिकों के निकट श्रीकृष्ण ही उनकी चिन्ता को शान्त करते हुए विद्यमान हैं। सभीजन अत्यन्त मधुरतापूर्वक बोले—तब तो मङ्गल भी संघटित हो जायगा ॥४॥

अतएव इस प्रकार कुछ दिनतक दूतों के आने जाने की उलटा पलटी का लाभ होनेपर, पुनः दूसरे किन्हीं दो दूतों ने व्रज में आकर अच्छी प्रकार यह कहा कि—अब तो हम दोनों ने कुछ अपूर्व वृत्तान्त ही दृष्टिगोचर किया है। श्रीव्रजराज बोले—कैसा ? दोनों दूत बोले—एक समय श्रीकृष्ण परमउत्कृष्ट धर्म से युक्त सुधर्मा नामक सभा में, अपने समकक्ष स्वपक्षवाले व्यक्तियों के साथ, सारपासों से चौपड़ खेल रहे थे। श्रीकृष्ण के क्रीडा करते समय गर्वित चेष्टावाले सभी नागरिकजन, कोलाहलपूर्ण अधिक भय एवं कुतूहल से युक्त होकर, सीमा का उल्लंघन करनेवाले समुद्र का सा आचरण करते हुए, शीघ्रतापूर्वक यह निवेदन

साक्षाद्भवन्तं भवन्तं वीक्षितुं त्वष्टाऽयमायाति, किन्तु सर्वेषामस्माकं चक्षूंषि तक्षन्निव लक्ष्यते। तस्मादादिश यथा सोम इव कोमलतां भजेत ॥५॥

'अथ श्रीकृष्णः किञ्चिद्विहस्य प्रोवाच,—नेदृशीं चण्डतामाचरेदस्मासु चण्डरश्मिः; किन्तु मादृशा स्पर्धमानतया तं प्रसादयमानस्तत्प्रसादलब्धमणिमात्रमानस्तत्सत्रानुष्ठाता सत्राजिदेव ॥६॥ 'यतः प्रसिद्धमिदम्—

अन्यस्माल्लब्धोष्मा, प्रायः क्षुद्रः सुदुःसहो भवति।
रविरपि न तपति तादृक्, यादृक् तत्तप्तबालुकानिकरः ॥ इति ॥७॥

'किन्तु कालातिक्रान्तिवशात्तद्वत्तस्य च शान्तिर्भविष्यति ॥८॥

'अथ तेषु विहस्य तं द्रष्टुं गतेषु निजनिजगृहं सङ्गतेषु च साहम्मतेस्तस्य चरितमन्यदपि समाकर्ण्यताम्, यत् खलु श्रीमानुद्धवः सर्वस्मिन् विस्मितं सस्मितमपि शृण्वति समुद्भावयामास—अहो! पश्यत, पश्यत! तादृशमणिनिदानदिनमणिहृदयमणिं निखिलतमःशमनव्योममणिं त्रिलोकी-चूडामणिं निजकुलचिन्तामणिं कौस्तुभमणिपतिमवमन्य तन्मात्रलाभात् पूर्णम्मन्यतया स्पर्धाविषयीकृतं तमनिवेद्य गृहमेवासद्य सद्यः सत्राजिन्महामहमारभ्य

करने लगे कि—हे भगवन्! सभी सौभाग्यों के साक्षात् फलरूप से साक्षात् विद्यमान आपको देखने के लिए यह सूर्यदेव आ रहा है। किन्तु यह तो हम सबके नेत्रों को पीडित करता हुआ सा दीख रहा है। अतः आप इसको आज्ञा दीजिये कि, जिस प्रकार यह चन्द्रमा की तरह कोमलता को प्राप्त हो जाय ॥५॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण कुछ हँसकर बोले—सूर्यदेव हमारे ऊपर इस प्रकार की प्रचण्डता नहीं कर सकते, किन्तु मुझ जैसों से स्पर्धा करनेवाले के भाव से सूर्य को प्रसन्न करता हुआ, एवं सूर्य की कृपा से स्यमन्तक नामक मणिमात्र के मान को प्राप्त करनेवाला, तथा सूर्य के यज्ञ का अनुष्ठान करनेवाला यह सत्राजित् ही है ॥६॥

क्योंकि यह बात प्रसिद्ध है कि, दूसरे के द्वारा गर्मी को प्राप्त करनेवाला क्षुद्रव्यक्ति प्रायः अत्यन्त असह्य हो जाता है। उसका दृष्टान्त यह है कि, सूर्य भी उस प्रकार नहीं तपाता है कि, जिस प्रकार सूर्य के द्वारा तपाया हुआ बालुका का समूह तपाता है ॥७॥

किन्तु समय के अतिक्रमण होने के वश से, तपे हुए बालुका के समूह की तरह, सत्राजित् की भी शान्ति हो जायगी ॥८॥

अनन्तर हँसकर उन नागरिकों के उस सत्राजित् को देखने को चले जानेपर, एवं अपने अपने घर पहुँच जानेपर, अहंकारयुक्त उस सत्राजित् का दूसरा चरित्र भी श्रवण कीजिये। जिस चरित्र को सभीजनों के विस्मयपूर्वक एवं मन्दहासपूर्वक श्रवण करते करते श्रीमान् उद्धव ने प्रगट किया था। यथा—अहो! देखो, देखो तो सही। उस प्रकार की स्यमन्तक मणिकेआदिकारण सूर्यदेव के हृदयमणिस्वरूप, निखिलजनों के अज्ञानरूप अन्धकार को नष्ट करने के लिए सूर्यस्वरूप, एवं त्रिलोकी के मुकुटमणिस्वरूप, तथा निजकुल के चिन्तामणिस्वरूप, और कौस्तुभमणि के पतिस्वरूप श्रीकृष्ण का तिरस्कार करके, केवल स्यमन्तकमणि के लाभ से अपने को पूर्ण माननेवाले के भाव से, स्पर्धा का विषय बनाई हुई उस मणि को श्रीकृष्ण को न देकर, अपने घर में पहुँच कर, सत्राजित् ने तत्काल महोत्सव आरम्भ करके, अपने सभ्य ब्राह्मण के द्वारा उस मणि को अपने घर में स्थापित कर दिया। श्रीकृष्ण को मणि न देने का कारण तो यही था कि, वह

निजसभ्यद्विजद्वारा तं मणिं वेश्मनि निवेशयामास। प्रतिदिनमष्टभारानष्टापदानामसौ सृष्टान् करोति, सर्वारिष्टानि च नष्टानि विदधातीति ॥९॥

'किमपरं ब्रूमः ? श्रीमद्व्रजवासिनामवमेनापि नायमस्माकमादिमः समतां याति। ये खलु साधारण्येनैव हिरण्यगर्भेण श्लाघिताः, (भा० १०।१४।३५)—'यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते' इति। धिग्धिगास्तां तदपि, यस्मै बहिःसेवैःसर्वैरपि देवैः शेवधिपारिजातादयः प्रस्थापितास्तं तत्परीक्षार्थं महीक्षित्कृते भिक्षमाणमिव व्यवहरन्तं स प्रत्याचचक्षे। नहि कौलेयकानामास्वाद्ये कुल्ये कुल्यजनानामादित्साऽस्ति। ते तु तानपि जातु जातकुतुकतया पुरः स्फुरतः प्रतिघुरन्ति। भवतु, स्वयं शास्तिमवाप्स्यति ॥'१०॥

"व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः ?' दूतावूचतुः,—'तदनन्तरमावामागतावेव। तदुत्तरवृत्तं पुनरन्याभ्यां वृत्तं भविष्यतीति स्थिते पुनरपरौ सन्देशहरौ सङ्गतौ। सङ्गत्य च तन्मङ्गलवृत्तं सङ्गमय्य तत्प्रसङ्गशेषमेव कथयतः स्म ॥११॥

'श्रीकृष्णं तृष्णजमिव पश्यन् सत्राजित् सत्राजनये प्रसेनाय तं मणिं दत्तवान्। यत् खलु तदववादवञ्चनाय प्रयुक्तम्, तदपवादप्रपञ्चनाय जातम्। तथा हि—स तु प्रसेनः कदाचित्

मणि प्रतिदिन आठ भार सुवर्ण उत्पन्न करती है (अमरकोष में एवं शब्दकल्पद्रुम में एक भार का परिमाण ढाई मन कहा है, इस हिसाब से वह मणि प्रतिदिन २० मन सुवर्ण उत्पन्न करती है) और समस्त अरिष्टों (अशुभों) को नष्ट कर देती है ॥९॥

और क्या कहें ? हम सब यादवों के आदिपुरुष यदुजी महाराज, श्रीमान् व्रजवासियों में से एक छोटे से व्रजवासी की भी समता नहीं प्राप्त कर रहे हैं। क्योंकि जिन व्रजवासियों की प्रशंसा ब्रह्माजी ने साधारणभाव से ही निश्चितरूप से की है। यथा—जिन व्रजवासियों के घर, धन, सुहृद, पत्नी, आत्मा, पुत्र, प्राण, एवं अभिप्राय ये सब पदार्थ तुम्हारे लिए, अर्थात् श्रीकृष्ण के लिए ही विद्यमान हैं। अतः बारंबार धिक्कृत सत्राजित् के उस मणि प्राप्तिरूप कर्म को रहने दीजिये। देखो, जिन श्रीकृष्ण के लिए बाहरी सेवा करनेवाले सभी देवताओं ने नवनिधि, एवं कल्पवृक्ष, सुधर्मा सभा आदि भी श्रीकृष्णसेवार्थ स्वयं भेज दिये हैं। अतः सत्राजित् की परीक्षा के लिए श्रीउग्रसेनजी महाराज के निमित्त माँगनेवाले का सा व्यवहार करते हुए श्रीकृष्ण को, उस सत्राजित् ने (मणि देने से) निषेध कर दिया। श्रीकृष्ण को अपने लिए मणि की इच्छा नहीं थी, कारण—कुक्कुरों के स्वाद लेने योग्य हड्डी में कुलीनजनों की लेने की इच्छा नहीं होती है। किन्तु वे कुक्कुर तो कदाचित् कौतुक उत्पन्न हो जाने के कारण, आगे स्फूर्ति पाते हुए उन कुलीनजनों के प्रति घुर घुर करते हैं। अच्छा, जाने दो। वह सत्राजित् स्वयं शासन को प्राप्त हो जायगा ॥१०॥

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उसके बाद तो हम दोनों दूत चले ही आ रहे हैं। उसके पीछे का वृत्तान्त तो दूसरे दूतों के द्वारा प्रवृत्त होगा। ऐसी स्थिति में पुनः दूसरे दो दूत आ गये। और आते ही श्रीकृष्ण के कुशल समाचार को निवेदन करके, सत्राजित् के बचे हुये वृत्तान्त को कहने लगे— ॥११॥

देखो, सत्राजित् ने श्रीकृष्ण को उस मणि के लेने की आकांक्षावाले देखकर, अपने सहोदर भाई प्रसेन को वह मणि दे दी। जो मणि का देना उस मणि के अववाद, अर्थात् निर्देश की वञ्चना के लिए प्रयुक्त किया था, वह तो श्रीकृष्ण के अपवाद के विस्तार के लिए ही प्रयुक्त हो गया। देखो, वह प्रसेन तो

केवलस्तन्मणिगलः समारूढतुरगवरः पापर्द्धिकृते काननचरः प्रनष्ट इति तत्र स्पष्टं जना वदन्तः सन्ति। तत्राप्यन्यत् कष्टमापतितम्। स खलु सत्राजित्तत्सत्रावासिनश्च जना मणि-तृष्णया कृष्णस्तं निघातितवानिति कौलीनमुद्भाव्य सर्वं लज्जया कौ लीनमिव कुर्वन्तः सन्ति ॥'१२॥

"तदेतदाकर्ण्य सर्वेऽपि व्रजस्था वर्णयामासुः,—'वयमिह तद्यशःप्रिया इति तस्य तत्तत्क्रियाकर्णनसुखश्रिया तद्विरहमपि सहमानाः स्म। यदर्थं तस्य तत्तत्क्रिया तत्र पुनरियं तत्तत्खलतामयविश्रृङ्खलता जाता। तस्मादस्माकं जीवनमिदमतीव दुःखदं जातम्। भवतु, तदनन्तरमुदन्तः कथ्यताम् ॥'१३॥

"दूतावूचतुः,–'तदनन्तरमावामागतावेवेति सर्वेषु तदहरहर्वेदनाऽऽविलताविरचित-मनश्चर्चेषु चिरं सन्देशागतिविरतिरासीत्। तद्गतिः पुनरप्रतिहता बभूव। चिरादेव तु सह बहवस्ते जांघिकास्तरस्वितया संघशः समागताः, किन्तु लब्धनिदाघचराः स्थावरा इवावगताः, कुशलं कुशलमिति वदन्तश्च सगद्गदतयाधिगताः।' "ततश्च तेषां सन्तर्पणमप्यकृत्वा करेण तत्प्रधानस्य करं धृत्वा व्रजराजः सामान्यतया पप्रच्छ ॥१४॥

कदाचित् अकेला ही उस मणि को गले में पहन कर श्रेष्ठ घोड़ेपर चढ़कर, पापर्द्धिकृते (शिकार खेलने के लिए) वन में विचरण कर विनष्ट हो गया। इस बात को स्पष्ट कहते हुए जन वहाँपर विद्यमान हैं। उसमें भी एक दूसरा कष्ट आ पड़ा है कि, वह सत्राजित् एवं उसके साथ रहनेवाले जन "मणि की लालसा से श्रीकृष्ण ने प्रसेन को मरवा दिया है" इस प्रकार के लोकापवाद को प्रगट करके, समस्त जनमात्र को लज्जा के द्वारा मानो पृथ्वी में लीन करते हुए से विद्यमान हैं ॥१२॥

यह सुनकर सभी व्रजवासी वर्णन करने लगे कि—हम सबको श्रीकृष्ण का यश ही प्रिय है, इसलिए श्रीकृष्ण के कंसवध, एवं रुक्मिणीहरण आदि तत्तत् क्रियाकलाप के श्रवण से सुखरूप सम्पत्ति के द्वारा, श्रीकृष्ण के विरह को भी सहन कर रहे हैं। और जिस यश के लिए ही श्रीकृष्ण की कंसवधादिरूप वह वह क्रिया है, उसमें पुनः यह सत्राजित् की "श्रीकृष्ण के ऊपर दोषारोपणरूप" खलतामय विपरीतता खड़ी हो गई है। अतः हमारा यह जीवन अत्यन्त दुःखदायी हो गया है। अच्छा, जो हो। उसके आगे का वृत्तान्त कहिये ॥१३॥

दोनों दूत बोले—उसके बाद तो हम दोनों चले ही आये। यह सुनकर सभी व्रजवासी जब प्रतिदिन आन्तरिक वेदना से मलिनता के कारण, मानसिक चर्चा (विचार) करने लग गये, तब बहुत दिनोंतक सन्देश का आना रुक गया था। किन्तु व्रजवासियों के सन्देश का जाना तो प्रतिबन्धरहित होता रहा। बहुत दिन के बाद तो सन्देश लानेवाले वे बहुत से दूत भुण्ड के भुण्ड वेगपूर्वक एकसाथ ही चले आये। किन्तु पहले ग्रीष्मकाल को प्राप्त करनेवाले स्थावर पदार्थों की भाँति मलिन होकर चले आये। और गद्गद होकर कुशल है, कुशल है, यह कहते हुए जान लिये गये। तदनन्तर जलपान आदि के द्वारा उनको तृप्त न करके भी, श्रीव्रजराज ने उन दूतों के प्रधानदूत का हाथ अपने हाथ से पकड़ कर सामान्यरूप से पूछा— ॥१४॥

"स तूवाच,—'सिंहस्याधिपदं प्रसेनमधियन् दीर्णं तथा तं महा-
भल्लूकस्य तदीयवर्त्मगमनात्तद्गर्त-मध्यं विशन् ।
अष्टाविंशदिनान्तमत्र समरं कृष्णः प्रचित्याऽमुना
रत्नं तच्च सुतां च तस्य जगृहे गेहे च सत्राजितः ॥'१५॥

"अथ धीरतां धारयित्वा भोजनादिकं कारयित्वा पुनस्तं व्रजसमाज एव व्रजराजः पप्रच्छ,—'कथय विस्तरतया ॥'१६॥

"दूत उवाच,–यदा रहःकथनगतिभिरहरहः सत्राजिदादिजनस्तत्र मदादपवादमदात्तदा सुधीगणानां निधीयमानधीः स तु भवदीयसुतस्तदवगत्य चाऽनवगतवानिव नातिस्वानुगतानि तदीयसम्मतानि सतां शतानि समाहृत्य कृत्यमिदं विविक्तवान्—पश्यताऽकस्मादस्माकं महाहानिर्जाता, यद्यादवगणवरीयांसं कश्चन पाटच्चरश्चरीकर्ति स्म । तस्मादागच्छत, तस्य नष्टस्य पदमन्विष्टं करवामेति ॥१७॥

'तदेवं विविच्य तांस्तत्प्रामाणिकानग्रिमतयातिरिच्य निजानवरिच्य तदश्वपदान्यनुपद्यमानस्तत्र यानादिना चिह्नगतनिह्नवमाशङ्कमानश्चरणसरसिजाभ्यामेव सञ्चरन् गतवान्, यत्र हयसहितः स निहतः। तत्र सिंहमात्रपदपात्रं तत्पदमवलोच्य तदनु यात्रतया सिंहगात्रमपि

वह दूत बोला कि—सिंह के स्थानपर (सिंह के द्वारा) विदारित प्रसेन को जानकर, तथा (जाम्बवान् के द्वारा) विदारित सिंह को जाम्बवान् के स्थानपर जानकर, एवं जाम्बवान् के मार्ग से जाकर उसके बिल में प्रविष्ट होकर, उसी बिल में जाम्बवान् के साथ अट्ठाईस दिनतक युद्ध करके, श्रीकृष्ण ने वह स्यमन्तकमणि एवं जाम्बवान् की पुत्री जाम्बवती को भी ग्रहण कर लिया । एवं अपने घरपर आकर सत्राजित् की कन्या सत्यभामा को भी अङ्गीकार कर लिया ॥१५॥

तदनन्तर धीरता को धारण कर भोजनादिक कराकर, श्रीमान् व्रजराज ने व्रजवासियों के समाज में ही उस दूत से पूछा कि—हे दूत ! विस्तारपूर्वक कहो ॥१६॥

दूत बोला—जब एकान्त में कथनोपकथन की चालों के द्वारा प्रतिदिन सत्राजित् आदि जनों ने मद के कारण, श्रीकृष्ण के ऊपर अपवाद लगा दिया, तब सुधीगणों के निधि के समान बुद्धिवाले आपके पुत्र वे श्रीकृष्ण तो, उस मणि चोरी के झूठे अपवाद को जानकर भी, अनजान की भाँति, जो अपने विशेष अनुगत नहीं थे, एवं सत्राजित् के पक्षपाती थे, ऐसे सैंकड़ों सज्जनों को एकत्रित करके यह कार्य विचारने लगे कि—देखो, भाइयो ! अकस्मात् हमारी अत्यन्त हानि हो गई है, जो कि किसी चोर ने यादवगण में श्रेष्ठ किसी व्यक्ति को काट दिया है । अतः तुम सब मेरे पीछे आओ । नष्ट हुए उस यादवश्रेष्ठ के स्थान को या स्वरूप को ढूँढ़ लें ॥१७॥

इस प्रकार विचार कर सत्राजित् के प्रामाणिक मध्यस्थजनों को आगे नियुक्त कर, एवं अपने जनों को पीछे की ओर नियुक्त करके, श्रीकृष्ण उस प्रसेन के घोड़े के चरणचिह्नों के पीछे पीछे चलते हुए, एवं रथ आदि यान से घोड़े के चरणचिह्नों के गुप्त होने की आशंका करते हुए, अपने चरणकमलों से ही चलते चलते वहाँपर चले गये कि, जहाँपर घोड़े के सहित वह प्रसेन मर गया था । वहाँपर केवल सिंह के चरणचिह्नों के आधारस्वरूप उस स्थान को देखकर, उसके बाद चलकर, श्रीकृष्ण ने सिंह के शरीर को भी पर्वत के निकट बड़े भारी भालू के द्वारा छिन्नभिन्न देख लिया । जहाँपर की वह भूमि सिंह एवं भारी भालू,

गोत्रमनु महाभल्लूकलूनं विलोकयामास, यत्र सा हि धरित्री तद्द्वयमात्रपदचित्रीभवित्री कृष्ण-कीर्तिं पवित्रीचकार ।।'१८।।

"व्रजराज उवाच,—'सन्दिग्धदिग्धीकृतसपत्नस्य रत्नस्य का वार्ता ?' "स उवाच,—'रत्नं तु सयत्नतयापि न लब्धम् ।' "व्रजराज उवाच,—'हन्त ! कथमिव ?' "स उवाच,—'हर्यक्षमहर्क्षाविव तद्ग्रहीतारौ जातौ ।' "व्रजराज उवाच,—'तयोर्मणिना किमणीयश्च फलं जायेत ?' ।।१९।।

"स उवाच,—'हर्यक्षस्य तावत्तद्विलक्षणतायामाखोरिव कौतुकमेव । महर्क्षः पुनरसौ साक्षाज्जाम्बवानेव ।' "व्रजराज उवाच,—'तर्हि महत्सु पर्यवसितं कार्यमिदं न पर्ययं गच्छेत् ! अथवा न जाने, जातिक्रूरता तत्राऽसूरता स्यादिति । तदनन्तरमुदन्तस्तु कथ्यताम् ।।'२०।।

"दूत उवाच,—'ततश्च तस्मिन्नच्छभल्लपदान्यप्यनुगच्छन् गुहामेव तस्य प्रवेशदेश-मूहाञ्चक्रे ।' "व्रजराजादयः सावेगमूचुः,—'ततस्ततः ?' स उवाच,—"ततस्तस्य प्रत्येकं स्वस्य तु सुतरां तत्प्रवेशाय खर्वान्तरान् सर्वांस्तदर्वागेव गतिभङ्गिनः कृत्वा केवलमङ्गल-सङ्गितालब्धसुखजातः स भवदङ्गजातस्तां प्रविवेश ।' "तदेतावच्छ्रवणतः सर्वे 'ततस्ततः' इति वक्तव्ये वाक्स्तम्भमालम्बन्त ।।२१।।

केवल उन दोनों के चरणचिह्नों से चित्रित होकर, श्रीकृष्ण की कीर्ति को पवित्र कर रही थी । अर्थात् प्रसेन को श्रीकृष्ण ने नहीं मारा है, एवं न मणि ही चुराई है, इस बात को मरे हुए सिंह के, एवं भालू के चरण-चिह्नों को धारण करनेवाली धरती स्पष्ट कह कर, श्रीकृष्ण की कीर्ति के मिथ्या कलंकपंक को दूर कर रही थी ।।१८।।

श्रीव्रजराज बोले—सन्देह के द्वारा शत्रु को बढ़ानेवाले स्यमन्तकमणि का कौन सा वृत्तान्त रहा ? वह दूत बोला—मणि तो प्रयत्न करनेपर भी न मिली । श्रीव्रजराज बोले—हाय ! यह कैसे ? दूत बोला—सिंह एवं बड़ा भालू ये दोनों ही उस मणि के लेनेवाले हो गये थे । श्रीव्रजराज बोले—सिंह एवं भालू का मणि के द्वारा थोड़ा सा भी कौन सा फल हो सकता है ? ।।१९।।

दूत बोला—आखु (मूसा) को सुवर्ण की मुद्रा के ग्रहण करने में जिस प्रकार कौतुक होता है, उसी प्रकार सिंह का तो उस मणि की विलक्षणता में कौतुक ही फल था । और वह महाभालू तो साक्षात् जाम्ब-वान् ही था, अतः तात्पर्य यह है कि—मणि के गुणों से परिचित होने के कारण, उनको मणि के ग्रहण करने में महान् फल था । श्रीव्रजराज बोले—तब तो बड़े लोगों के निकट पर्यवसान को प्राप्त हुआ यह कार्य व्यतिक्रम को न प्राप्त होगा । अथवा न जाने जाम्बवान् की भालूजाति की क्रूरता उस मणि के देने के विषय में असूरता (दयारहित) हो जाय । अतः आगे का वृत्तान्त तो कहो ।।२०।।

दूत बोला—उसके बाद उस स्थान में भालू के पदचिह्नों का अनुगमन करते हुए श्रीकृष्ण ने, गुफा को ही उस भालू के अर्थात् जाम्बवान् के प्रवेश होने का देश विचार लिया । श्रीव्रजराज आदि आवेशपूर्वक बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दूत बोला—उसके बाद सत्राजित् के प्रत्येक व्यक्ति को, एवं अपने तो विशेष करके, उस गुफा में प्रवेश करने के लिए, छोटे मनवाले सभी व्यक्तियों को पहले से ही जाने से रोककर, केवल मङ्गल के सङ्गी होकर, सुखसमूह को प्राप्त करनेवाले आपके पुत्र (श्रीकृष्ण) ही, उस गुफा

"स तूवाच,—'प्रविश्य च तदन्धङ्करणमन्धकारं करेणेव करेण भित्त्वा पुरः पुरः सर्वमाश्चर्यं हित्वा गतवानेव पुरः पुरतस्तेन मणिना धात्रीमनु विहरन्तं सुकुमारं नाम तत्कुमारं विलोकितवान्। विलोक्य च स श्लोक्यचरितस्तं बालमनतिचरन्मणिमपि हरन्नवसरमनुचरंस्तद्विहरणवीक्षणकुतुकीव तस्थौ। धात्री तु तत्राकस्मान्नरं तत्र चापूर्वताधरं वीक्ष्य कम्पितगात्री बभूव, विभावयाम्बभूव च,—॥२२॥

अहो यद्यप्येष स्फुरति नवजीमूतरुचिरः
सुधांशूद्यद्वक्त्रः कमलकमलालोचनपटः।
मणौ बालेऽप्यस्मिन् कुतुकिनमथाप्येतमधियद्
भिया लोलं हृन्मे न वहति बहिर्धीरपदवीम् ॥२३॥

'तदेतद्विभाव्य चानुक्रोशवती चुक्रोश, क्रुष्टवत्यां च तस्यामतिरुष्टतया दष्टनेत्रः स जाम्बवांस्तल्लावण्यामृतास्वादमनालम्बमानः केवलं बलं बलमानस्तेन सह युयुधे ॥'२४॥

"व्रजस्था सर्वे ससम्भ्रममूचुः,—'ततस्ततः?' "दूतस्तु ततश्चाष्टाविंशतिमहोरात्रानविश्रामसंग्रामः समजनि' इति वदन् दुःखधूतः सम्भूतवाक्स्तम्भमासीत्। तदेतन्मात्रस्य

में प्रविष्ट हो गये। बस, इतना सुनते ही सभी व्रजवासी "उसके बाद, उसके बाद?" इस प्रकार कहने के विषय में वाणी के स्तम्भ को, अर्थात् मौन को अवलम्बन करने लग गये ॥२१॥

दूत तो बोला कि—श्रीकृष्ण ने गुफा में प्रविष्ट होकर अन्धा करनेवाले उस अन्धकार को किरण की तरह, अपने करके द्वारा दूर करके, आगे आगे के सम्पूर्ण आश्चर्य को छोड़कर, चलते चलते ही (जाम्बवान् की) पुरी के आगे उस मणि के द्वारा धाय के साथ खेलते हुए, सुकुमार नामक उसके बालक को देखा। देखते ही प्रशंसनीय चरित्रवाले श्रीकृष्ण, उस बालक का अतिक्रमण न करते हुए, मणि को भी हरते हुए, अवसर का अनुसरण करते हुए, उस बालक के खेल को देखने के लिए कौतुकी की तरह खड़े हो गये। उस बालक की धाय तो वहाँपर अकस्मात् मनुष्य को, एवं उसमें भी अपूर्वता धारण करनेवाले को देखकर कम्पित शरीरवाली हो गई, और विचारने लगी— ॥२२॥

अहो! यद्यपि यह मानव नूतन जलधर के समान मनोहर, एवं चन्द्रमा के समान उदित मुखवाला, तथा कमल "पद्माक्षः, लक्ष्मीवत् पीतपटः, यथासंख्य-कमलमिव कमलेव लोचनपटौ यस्य" के समान नेत्रोंवाला और सुवर्णरेखामयी लक्ष्मी के समान पीतपटवाला स्फूर्ति पा रहा है, तथापि मणि के ऊपर एवं इस बालक के ऊपर कौतुकयुक्त जानता हुआ, मेरा हृदय भय से चञ्चल होकर बाहर भी धैर्य को नहीं धारण कर रहा है ॥२३॥

यह विचार कर दयावती वह धाय चिल्लाने लग गई। उसके चिल्लानेपर तो अत्यन्त रुष्ट होकर अपने नेत्रों को मूँदनेवाला वह जाम्बवान्, श्रीकृष्ण के लावण्यरूप अमृत के आस्वाद का अवलम्बन न करता हुआ, अर्थात् श्रीकृष्णरूपामृत के स्वाद से वंचित होकर, केवल अपने बल का अवलम्बन करता हुआ, श्रीकृष्ण के साथ युद्ध करने लग गया ॥२४॥

सभी व्रजवासी शीघ्रतापूर्वक बोले—उसके बाद, उसके बाद? दूत तो "उसके बाद अट्ठाईस दिन-रात निरन्तर संग्राम होता रहा" यह कहता हुआ उत्पन्न हुए वाणी के स्तम्भ भावपूर्वक दुःख से कम्पित हो गया। केवल इतनी कथा को कर्णगोचर करके व्रजराज एवं व्रजेश्वरी यशोदा के मूर्च्छित हो जानेपर सभी

श्रवणपात्रश्रवणतया मूर्च्छामृच्छतोर्व्रजराजयोश्च सर्वेऽपि ससम्भ्रममूचुः,—'अस्तु तावत् प्रस्तुता तद्वार्ता, तस्य वार्त्ततां तु श्रावय ॥'२५॥

"स उवाच,—'ततश्च, कृष्णं तन्मुष्टिनिष्पातपिष्टाङ्गः कष्टमासजन् ।
आचष्ट नष्टदर्प-श्रीस्तुष्टूषन् स्पष्टमृक्षराट् ॥२६॥

'तच्च नास्मभ्यं रोचत इति शोचनीयस्य तस्य नानुवदनीयम् । स तु कृपणवत्सलः कृपया तस्य स्तुतिविसरमप्यसहमानः सर्वशङ्करेण करेण तं पस्पर्श । तेन स्पृष्टश्चायं कष्टं परिहरंस्तन्माधुर्यमपि दृष्टवान्; दृष्टे च तत्र श्रीरघुवर्यसौन्दर्येऽपि तदन्तःपातितया परामृष्टे क्षणकतिपयमष्टापि स्पष्टानेव सात्त्विकान् भावानुवाह । पुनश्च भवन्नन्दनेन स्वस्थितमनाः समनास्तदाज्ञाविज्ञानाय साञ्जलि तस्थौ; स तु स्वागमनकारणं संक्षेपतः सर्वमाचचक्षे । ततश्च स पुनरच्छमतिरच्छभल्लतल्लजः सलज्जं परामृश्य गृहं प्रविश्य सकन्यारत्नं तदेव रत्नमानीय तस्य पुरस्तादर्पितवान्, तर्पितवांश्च तं स्नपन-प्सापनादिना ॥२७॥

'सा तु— यद्रूपं जन्मनो ध्यातं तद्रूपवरलाभतः ।
मूर्च्छन्ती जाम्बवत्कन्या पितुराकुलयन्मनः ॥२८॥

व्रजवासी सम्भ्रमपूर्वक बोले—अब प्रस्तुत हुई श्रीकृष्ण की युद्धवार्ता को तो रहने दो । किन्तु श्रीकृष्ण की वार्त्तता (नीरोगता) को सुनाओ ॥२५॥

दूत बोला—उसके बाद श्रीकृष्ण के मुक्काओं के पड़ने से चूर्णित अङ्गवाला वह ऋक्षराज जाम्बवान् कष्ट को प्राप्त होकर, एवं अहंकार की सम्पत्ति से रहित होकर, श्रीकृष्ण की स्तुति की इच्छा करता हुआ, श्रीकृष्ण के प्रति स्पष्ट बोला— ॥२६॥

किन्तु उसका स्तुतिरूप वह कहना हमारे लिए रुचिकर नहीं है । अतः हमारे प्यारे श्यामसुन्दर के साथ युद्ध करने के कारण, शोचनीय उस जाम्बवान् का कथन अनुवाद करने योग्य नहीं है । किन्तु दीन-वत्सल श्रीकृष्ण तो कृपा करके जाम्बवान् के स्तुतिसमूह को भी न सहते हुए, सर्वमङ्गलप्रद अपने हाथ से उसका स्पर्श करने लगे । श्रीकृष्ण के द्वारा स्पर्श किया हुआ जाम्बवान् कष्ट को त्यागकर, श्रीकृष्ण के माधुर्य को भो देखने लग गया । और पहले युग में देखा हुआ श्रीरघुनाथजी का सौन्दर्य भी, जाम्बवान् ने जब श्रीकृष्ण के अन्तर्गतरूप से देख लिया, तब जाम्बवान् ने अपने शरीर में स्पष्ट हुए स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च आदि अष्ट सात्त्विक भाव भी कुछ क्षणोंतक धारण कर लिये । पुनः आपके पुत्र के द्वारा स्वस्थ मनवाला एवं प्रसन्न मनवाला वह जाम्बवान्, उनकी आज्ञा को जानने के लिए, हाथ जोड़कर खड़ा हो गया । श्रीकृष्ण ने भी अपने आने के समस्त कारण को संक्षेप से कह दिया । उसके बाद निर्मल मतिवाले भल्लूक-श्रेष्ठ जाम्बवान् ने लज्जापूर्वक विचार कर, पश्चात् घर में प्रविष्ट होकर, अपनी जाम्बवती कन्यारूप रत्न के सहित उसी स्यमन्तक नामक रत्न को लाकर, श्रीकृष्ण के आगे सर्मापित कर दिया । और श्रीकृष्ण को स्नान एवं भोजन आदि के द्वारा तृप्त कर दिया ॥२७॥

जाम्बवान् की उस जाम्बवती कन्या ने तो जन्म से लेकर जिस रूप का ध्यान किया था, उसी रूप-वाले वर के लाभ से मूर्च्छित होकर, पिता के मन को व्याकुल कर दिया ॥२८॥

'तच्च ध्यानमीदृशम्—

तातः प्राचीनभल्लः स्फुटमथ जननी तादृगन्ये तदाभा
वासः क्ष्माभृद्गुहान्तः कथमपरपदं दृष्टिवर्त्म प्रयातु ।
नीलेन्द्राणां कुलेन्द्रः स्मितकमलबलस्तोत्रगीस्तोत्रनेत्रः
स्वर्णांशुस्त्राविदिव्यांशुकरुचिरसकृन्मां विकर्षत्यसौ कः ?' इति ॥२९॥

"व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः ?' "दूत उवाच,—'ततश्च तत्करस्पर्शामृतं स्मृतवतस्तस्य जाम्बवतः प्रार्थनया श्रीकृष्णस्पर्शलेशाच्चेतितायां मुहूर्तान्मूर्तभावादुत्थितायां तस्यां सङ्गीतमङ्गलं विधाय स धन्यम्मन्यः सनिजकन्यं भवन्नन्दनं स्वस्कन्धमनु निर्बन्धधृतचतुर्दोलधामनि निधाय गर्तद्वार-पर्यन्तं स्वयमाससार । गर्तद्वारस्था द्वारकीयाःपुनस्त्रयोदशादह्नः पुरस्तादेव निर्विद्य खिद्यमाना गृहाय प्रस्थानमाचेरुर्न तु गुहायां सञ्चेरुः ॥'३०॥

"तदेतावदाकर्ण्य दूतमुखं निर्वर्ण्य सवैवर्ण्यं सर्वेऽपि प्रोचुः,—'हन्त ! किमर्थम् ?' "दूत उवाच,—'निजप्राणत्राणार्थं द्वारकागाराणां केषाञ्चिदुत्त्रासनार्थमपि' इति ॥"३१॥

तदेवं दूतवचनमनूद्य मधुकण्ठः स्वयं वदति स्म,—"यत्र खलु वक्ष्यमाण-श्रीकृष्णागमनान्ते

वह ध्यान भी इस प्रकार का है, यथा—पिता (जाम्बवान्) प्राचीन भालू, माता भी स्पष्ट ही उसी प्रकार प्राचीन, एवं दूसरे आत्मीयजन भी पिता की तरह प्राचीन ही थे। सबका निवास भी पर्वत की गुफा के भीतर था, अतः दूसरी वस्तु किस प्रकार दृष्टिगोचर हो सकती थी ? तथापि खिले हुए कमल का जो बल, अर्थात् सुकोमलतारूप सामर्थ्य, उसकी जो स्तुति की वाणी, उस स्तुतिवाणी को व्यथित करनेवाले हैं नेत्र जिसके, अर्थात् विकसित कमल की कोमलता से भी सुन्दर नेत्रोंवाला, एवं सुवर्ण की सी किरणों को फैलानेवाले दिव्य वस्त्र की शोभावाला, और इन्द्रनीलमणियों के कुल का राजा, यह कौन मुझको बारबार आकर्षित कर रहा है ? ॥२९॥

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दूत बोला—उसके बाद श्रीकृष्ण के करकमल के स्पर्शरूप अमृत का स्मरण करनेवाले जाम्बवान् की प्रार्थना से, अर्थात् हे भगवन् ! आपके करस्पर्शामृत को पाकर, जिस प्रकार युद्ध से उत्पन्न हुई मेरी मूर्च्छा दूर हो गई थी, उसी प्रकार आपके कररूप स्पर्शामृत से जाम्बवती की मूर्च्छा भी दूर हो जायगी। इस प्रकार की प्रार्थना से श्रीकृष्ण के स्पर्श के लेश से जाम्बवती के सचेत हो जानेपर, एवं एकघड़ी में मूर्च्छित भाव से खड़ी हो जानेपर, अपने को धन्य माननेवाला वह जाम्बवान्, माङ्गलिक गाना बजाना करके, अपनी कन्या के सहित आपके पुत्र को अपने ही कंधेपर आग्रह-पूर्वक धरी हुई शिविका (डोली) में पधरा कर गुफा के द्वारतक स्वयं चला आया। गुफा के द्वारपर बैठे हुए द्वारकावासीजन तो तेरहवें दिन से पहले ही, अर्थात् बारहवें दिन ही, श्रीकृष्ण की प्रतीक्षा से विरक्त होकर, दुःखित होते हुए, अपने अपने घर को चल दिये। किन्तु गुफा में प्रविष्ट न हुए ॥३०॥

इतना प्रसङ्ग सुनकर, दूत के मुख को देखकर, सभी व्रजवासी मलिनतापूर्वक बोले—हाय ! वे गुफा में क्यों नहीं गये ? दूत बोला – अपने प्राणों की रक्षा के लिए एवं कुछ द्वारकावासियों को विशेष त्रास देने के लिए भी गुफा में नहीं धँसे ॥३१॥

इस प्रकार दूत के वचन का अनुवाद करके मधुकण्ठ स्वयं बोला—जिस द्वारका में आगे कहे जाने-वाले श्रीकृष्ण के आगमन के बाद, कुछ दिन बीत जानेपर, जाम्बवान् की गुफा में श्रीकृष्ण के धँसने को

दिनकतिपयप्रान्ते तत्प्रस्तावमुपलभ्य सभ्यजनाननु तदिदं सोत्प्रासं श्रीमदुद्धवेनानुशय्यते स्म,—'कालियकलहव्याकुलगोकुलवासिनामिव कथमस्माकीनानां कश्चिदप्यविपश्चिद्भवेत् ?' इति ॥३२

"तदेतच्छ्रुत्वा व्रजेश्वरी प्रोवाच,—'व्रजराजचरणान् प्रति कथय कथं न्यायेन जित्वा नात्मनस्तनन्धयं करे गृहीत्वा समानयन्ति, कथं तं क्षीरकण्ठमनुपकण्ठवर्तिनामुदासीनवासनानामन्तर्वासिनं कुर्वन्ति' इति। 'हन्त ! हन्त ! किमहं ब्रुवे, जठरमिदं यन्नाद्यापि विदीर्यति, तन्नेदं जठरम्, किन्तु जरठमेव' इति ॥३३॥

"तदेवं श्रुत्वा सर्वेषु साश्रुतया स्वरतः खर्वेषु सगद्गदं व्रजराजः प्राह स्म,—'ततस्ततः ?' ॥३४॥

"दूत उवाच,—'ततश्च भूरिदूरतया विसूरितपूरिततया च चिरादेव द्वारकामागतेभ्यस्तेभ्यस्तदवकलय्य लब्धधर्ष-सङ्कर्षणादिषूद्धवसम्बन्धतया तत्र प्रस्थानाय मिथः संवादिषु केषुचिच्च सर्वमङ्गलाय सर्वमङ्गलाराधनकृत्सु सत्राजितं प्रति चातीतजीवनकारमाक्रोशत्सु सद्य एव जाम्बवत्प्रस्थापितानवद्यवाद्यादिमङ्गलसङ्गतं शार्ङ्गी पाञ्चजन्य-ध्वनिं प्रपञ्चयामास। श्रुतमात्रे च तत्र जातानन्दकोलाहलहलहलायमानतया हलिप्रभृतयः सुबहललोकास्तमभिगम्य रम्यविधानेन तद्भासा खद्योतायमानमणिकण्ठं नवरामाशोभितोपकण्ठं हर्म्यमानिन्युः' इति ॥३५

प्राप्त कर, सभ्यजनों को लक्ष्य कर श्रीमान् उद्धव ने हँसीपूर्वक यह अनुताप किया था कि—कालियनाग के साथ हुई श्रीकृष्ण की कलह से व्याकुल हुये गोकुलवासियों की तरह, हम सब द्वारकावासियों में कोई भी व्यक्ति अज्ञानी कैसे हो सकता है, जिससे कि भय की बात हो सके ? ॥३२॥

यह सुनकर व्रजेश्वरी श्रीयशोदा बोली—हे मधुकण्ठ ! भैया ! तुम पूज्य श्रीव्रजराज के प्रति कह दो कि, विचारयुक्त नीति से श्रीवसुदेव आदि को जीतकर, अपने पुत्र को हाथ में पकड़ कर अपने घर क्यों नहीं ले आते हैं। और दूधमुँहे उस अपने लाला को, दूर रहनेवाले एवं स्नेह के प्रति उदासीन वासनावाले यादवों के भीतर निवास करनेवाला क्यों बना रहे हैं ? हाय ! हाय ! मैं क्या कहूँ ? क्योंकि यह मेरा जठर (उदर) आज भी श्रीकृष्णविरह में विदीर्ण नहीं हो रहा है। अतः यह जठर नहीं है, किन्तु जरठ अर्थात् कठोर ही है ॥३३॥

इस प्रकार सुनकर, अश्रुप्रवाहपूर्वक सभी सभासद जब स्वर से छोटे हो गये, अर्थात् जब सबको स्वरभङ्गरूप भाव उपस्थित हो गया, तब श्रीव्रजराज गद्‌गद होकर बोले—उसके बाद, उसके बाद ? ३४

दूत बोला—उसके बाद अधिक दूर होने के कारण, एवं विसूरित (अनुताप) से परिपूर्ण होने के कारण, बहुत दिन में द्वारका में आये हुए (श्रीकृष्ण के साथ मणि को ढूँढ़ने जानेवाले) उन व्यक्तियों के द्वारा, जाम्बवान् की गुफा में श्रीकृष्ण के प्रवेश को जानकर, उद्धव से मिलकर उत्साह को प्राप्त हुए श्रीबलराम आदि, जाम्बवान् की गुफा में प्रस्थान करने के लिए जब आपस में संवाद करने लगे, एवं श्रीकृष्ण के कुछ स्नेहीजन जब समस्त मङ्गल होने के लिए सर्वमङ्गला (दुर्गादेवी) का आराधन करने लग गये, और सत्राजित् के प्रति "तू जीवनरहित हो जा" इस प्रकार कहकर जब रो रोकर चिल्लाने लग गये, तब श्रीकृष्ण ने जाम्बवान् के भेजे हुए विशुद्ध वाद्य आदि मङ्गल से युक्त पाञ्चजन्य शंख की ध्वनि तत्काल ही विस्तारित कर दी। उस शंखध्वनि के सुनते ही श्रीबलरामजी आदि बहुत से लोग, उत्पन्न हुए आनन्दमय कोलाहल से हल हल शब्द करते हुए, श्रीकृष्ण के अभिमुख जाकर, उनकी देहकान्ति के द्वारा, खद्योत

"तदेतदाकर्ण्य दूतगणं धृतसुवर्णमयमणिभूषणं विधाय ते पुनरुत्कतयाऽतीवार्ता वार्तान्तरानयनाय तदीयं द्वयं द्वयं संदधुः ॥३६॥

"आगतयोः पुनरपरयोः सन्देशहरयोः पूर्ववद् व्रजराजः पप्रच्छ। "तौ च कथयामासतुः,—'आगतमात्रः स खलु मङ्गलयात्रः सत्राजितं राजसभायां भूयसादरेणाहूय तन्मुखाय सर्वस्मै सर्वमाख्याय तस्मै मणिं स्मयमानतया समर्पितवान् ॥'३७॥

"व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—

'प्राक् पराङ्मुखतां कृष्णादथावाङ्मुखतां मणिः।
ददौ सत्राजिते किन्तु विमुखत्वं यथा तथा ॥३८॥

'ततश्चायं परामर्श,—नूनं मयि निगूढतया रोषप्रथनस्य कथं केशिमथनस्य सन्तोषः स्यात् ? कथं तदीयानां शापश्च नापतेत् ? आम् ! आम् ! जाम्बवानिव चातुरीमवलम्बेय, यः खल्विदं रत्नमस्मादप्यधिकेन कन्यारत्नेन द्विगुणीकृत्य प्रददानः सपत्नतायां कृतचरयत्नायामप्यमुमतोषयत्। तदेवं सत्राजिद् विचार्य स्वकार्यमात्रसाधकः सत्यभामां नाम स्वकन्यां मणिना सह सन्यायं दातुमारब्धवान्। जाम्बवति समुद्बुद्धा प्राचीना भक्तिरधिकासीदिति तु नोपलब्धवान् ॥३९॥

(जुगनू) का सा आचरण करनेवाली मणि है कण्ठ में जिनके, एवं नवीन जाम्बवतीरूप अङ्गना से सुशोभित है समीप का देश जिनका, उन श्रीकृष्ण को रमणीय विधानपूर्वक भवन में लिवा लाये ॥३५॥

यह समाचार सुनकर दूतसमूह को सुवर्णमय मणि भूषण धारण कराकर, पुनः उत्कण्ठित भाव से अत्यन्त आर्त हुए उन व्रजवासियों ने, दूसरा समाचार लाने के लिए, श्रीव्रजराज के दो दो दूत नियुक्त कर दिये ॥३६॥

पुनः दूसरे दो दूतों के आ जानेपर, पहले की तरह श्रीव्रजराज ने उनसे पूछा। उन दोनों दूतों ने कहा कि—मङ्गलमयी यात्रावाले श्रीकृष्ण ने आते ही सत्राजित् को अधिक आदरपूर्वक राजसभा में बुलाकर, सत्राजित् आदि सभीजनों के प्रति मणि प्राप्ति के सम्पूर्ण वृत्तान्त को कहकर, मन्दमन्द हँसते हुए उसको मणि समर्पित कर दी ॥३७॥

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उस स्यमन्तकमणि ने सत्राजित् के लिए पहले तो श्रीकृष्ण से पराङ्मुखता दे दी थी, एवं अब लज्जा के कारण अधोमुखता दे दी। किन्तु जैसे तैसे अर्थात् दोनों प्रकार से उसको श्रीकृष्ण से विमुखता ही दे दी ॥३८॥

उसके बाद यह सत्राजित् अपने मन में विचारने लगा कि—निश्चय ही गूढरूप से मेरे ऊपर क्रोध का विस्तार करनेवाले केशीमर्दन श्रीकृष्ण का सन्तोष किस प्रकार हो, एवं उनके सम्बन्धीजनों की गालियों की बौछार किस प्रकार मुझपर न पड़े ? हाँ, हाँ, जान लिया, जान लिया। अब मैं जाम्बवान् की सी चातुरी का अवलम्बन कर लूँ। क्योंकि जिस जाम्बवान् ने इस रत्न को, इस रत्न से भी अधिक कन्यारूप रत्न के साथ दुगुना करके देते हुए, पहले अट्ठाईस दिन युद्ध करके, यत्नपूर्वक की हुई शत्रुता के रहनेपर भी, श्रीकृष्ण को सन्तुष्ट कर लिया था। इस प्रकार विचार करके अपने कार्यमात्र सिद्ध करनेवाले सत्राजित् ने सत्यभामा नामवाली अपनी कन्या को मणि के साथ न्यायपूर्वक देने का आरम्भ तो किया, किन्तु श्रीजाम्बवान् में भली प्रकार जागृत हुई प्राचीन भक्ति अधिक थी, इस बात को तो नहीं जान सका ॥३९॥

'दीयमानयोस्तयोर्द्वयोः श्रीकृष्णस्तु स्वमात्रजीवनतया धन्यां कन्यामेवाङ्गीकृतवान्, न तु मणिमिति तस्या भक्तिमेव तस्याऽभक्तिमेव च व्यक्तीकृतवान् । तत्राऽभक्तिस्तस्य वर्णिता ॥४०

'भक्तिस्तु तस्याः स्वयमेव निरर्गला सती तत्र संसर्गं चकार । पित्रादीनां द्वित्रा मित्रादयस्तु तत्र चित्रायमाणतया निमित्तमात्रमेव ॥४१॥ यतः,

'जन्माद्येन निजेन सार्धमभवज्जन्मादि यस्या रतेः
कृष्णानन्यगतेरमूं पितृजनाद्धामाऽवृणोल्लज्जया ।
पूर्णत्वेन तु पूर्णताऽजनि यदाऽमुष्यास्तदा सा कथं
वाऽमूमावृणुयात् कथं स च जनस्तामाचरेदावृताम् ? ॥४२॥
बाल्यादेव यदेतदद्भुतमभूदस्यां हरिं सर्वदा
पश्यन्त्यां वडभीगवाक्ष-निचयादत्रावधानं कुरु ।
दृग्भ्यामञ्जनमञ्जुलं जलकुलं यन्निर्ययावञ्जसाऽ-
विन्दत्तेन कलिन्दपर्वततुलां तस्मिन्नलिन्दस्थलम् ॥'४३॥

''व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः ?' ''दूतावूचतुः,—'तत आवामागतावेवेति परौ प्रतीक्ष्येताम्' इति ॥४४॥

स्यमन्तकमणि एवं कन्या, इन दो वस्तुओं के दान के समय श्रीकृष्ण ने तो स्वमात्र जीवनरूप होने के कारण, धन्य भाग्यवाली कन्या ही अङ्गीकार कर ली, किन्तु मणि नहीं । इसी कारण कन्या की भक्ति को एवं सत्राजित् की अभक्ति को ही प्रगट कर दिया । श्रीकृष्ण में सत्राजित् की अभक्ति तो (माँगनेपर भी मणि को न देने के कारण) पहले ही कही जा चुकी है ॥४०॥

और कन्या की भक्ति ने तो स्वयं ही प्रतिबन्धरहित होकर, श्रीकृष्ण में सम्बन्ध स्थापित कर दिया । पिता आदिकों के दो तीन मित्र आदि जन तो, मणि के सहित उस कन्यादानरूप कार्य में चकित से होकर निमित्त मात्र ही थे, किन्तु प्रेरक न थे ॥४१॥

कारण—श्रीकृष्ण को छोड़कर सत्यभामा की और कोई गति नहीं थी । अतः अपने जन्मादि के साथ जिसकी रति (अनुराग) का भी जन्मादि हुआ था, उस सत्यभामा ने पिता आदि जनों से लज्जा के कारण वह रति छिपा ली थी । किन्तु जब अपनी पूर्ण युवावस्था हो जाने के कारण, उस रति की भी परिपूर्णता उत्पन्न हो गई, तब वह सत्यभामा उस रति को किस प्रकार छिपा सकती थी ? और वह पिता आदि जन भी सत्यभामा को किस प्रकार छिपा सकता था ? ॥४२॥

अटारी के झरोखाओं के समूह में बैठकर बालकपन से ही सदा सर्वदा श्रीकृष्ण को देखनेवाली इस सत्यभामा में यह जो आश्चर्य हुआ, हे व्रजराज ! आप उस आश्चर्य के सुनने में सावधानी को धारण कर लो । देखो, सत्यभामा के दोनों नेत्रों से कज्जल के सम्बन्ध से मनोहर जो जल का समूह अनायास निकल रहा था, उस जलसमूह के द्वारा उस घर में जो अलिन्दस्थल (घर की चौखट की बाहरी जगह) था, वह कलिन्दपर्वत की उपमा को प्राप्त हो गया था, अर्थात् कज्जल से मिले हुए अश्रुजल के प्रवाह से, वह स्थान कलिन्दपर्वत के समान काला हो गया था ॥४३॥

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उसके बाद तो हम दोनों चले ही आये । अतः आगे का वृत्तान्त जानने के लिए आप दूसरे दो दूतों की प्रतीक्षा करें ॥४४॥

अथ कथकस्य कथायामन्तरमुपलभ्य व्रजसभ्यवन्दिगणः श्रीकृष्णं पणते स्म, यत्र वर्णयिष्यमाणं च दूतवचनं सूचयामास; ।।४५।। यथा—

"अघारिरथ सभ्यैः सभान्तरुपवेशी । प्रजाभिरभियातः समेत्य शुभवेशी ।।४६।।
अवादि पुनरेतद् रविश्च तव पादौ । विलोकयितुमागादिहोद्यदुपसादौ ।।४७।।
हसंस्तु हरिरूचे न चायमहिमांशुः । परं तु बत सत्राजिदेष मणिजांशुः ।।४८।।
तदेतदवकर्ण्य प्रजास्तु गतवत्यः । स कृष्णमभि नाऽऽगाद् यथाशु कृतहत्यः।।४९।।
हरिस्तदतिगर्वप्रकाशकृतिकामः । नृपाय मणिमस्मिन्नथार्ददनु रामः ।।५०।।
अदत्त मणिमेष प्रसेनमनु यर्हि । प्रहासमनुचक्रे मुरारिरपि तर्हि ।।५१।।
यदा तु समणिं तं जघान वनसिंहः । गभीरमनसासीत्तदा च यदुसिंहः ।।५२।।
तदीयजनसङ्घस्तदाथ मुरशत्रुम् । अपावददवेत्य प्रति स्वमपि शत्रुम् ।।५३।।
हरिस्तु पुरुसद्भिर्विमृग्य परिनष्टम् । ददर्श हययुक्तं तमेव हरिदष्टम् ।।५४।।
मृगेन्द्र-पदचिह्नैः प्रपद्य गिरिदेशम् । ददर्श सह सर्वैर्हतं च स मृगेशम् ।।५५।।

तदनन्तर कथावाचक की कथा में अवकाश पाकर, व्रज के सभ्य वन्दीगण श्रीकृष्ण की स्तुति करने लगे। जिस स्तुति में आगे वर्णन किये जानेवाले दूतों के वचन को भी सूचित कर दिया ।।४५।।

यथा—शुभ वेशवाले अघारि श्रीकृष्ण को सभ्यजनों के साथ सभा में बैठे हुए द्वारका की प्रजा ने मिलकर प्राप्त कर लिया ।।४६।।

पुनः उनसे यह कहा कि हे भगवन् ! आपके निकटस्थित चरणयुगल को देखने के लिए सूर्यदेव यहाँ-पर आ रहे हैं ।।४७।।

श्रीकृष्ण ने हँसते हुए कहा कि—यह सूर्य नहीं है, किन्तु स्यमन्तकमणि से उत्पन्न किरणों से युक्त यह सत्राजित् है ।।४८।।

यह सुनकर समस्त प्रजाएँ तो चली गईं। किन्तु तत्काल हत्या करनेवाले व्यक्ति की तरह, वह सत्राजित् श्रीकृष्ण के सम्मुख नहीं आया ।।४९।।

सत्राजित् के अत्यन्त गर्व का प्रकाश करने की इच्छावाले श्रीकृष्ण ने श्रीबलरामजी के सहित सत्राजित् के निकट श्रीउग्रसेनजी महाराज के लिए मणि की याचना की ।।५०।।

और जब सत्राजित् ने वह मणि अपने भाई प्रसेन को भरी सभा में दे दी, तब श्रीकृष्ण ने भी विशेष हास्य प्रगट किया ।।५१।।

जब मणि के सहित प्रसेन को वन के सिंह ने मार दिया, तब यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्ण गंभीर मन से युक्त हो गये ।।५२।।

प्रसेन जब वन में मर गया तब सत्राजित् के पक्षवाले जनसंघ ने मुरारि को अपने प्रति शत्रु जानकर, उनके ऊपर मणि की चोरी का झूठा कलंक लगा दिया ।।५३।।

श्रीकृष्ण ने तो बहुत से सज्जनों के साथ "विनष्ट हुए प्रसेन को ढूँढ़कर" घोड़े के सहित सिंह के द्वारा मारे गये उसी प्रसेन को देख लिया ।।५४।।

"सिंह ने प्रसेन को मारा है, अतः मेरे ऊपर झूठा कलंक लग गया है, इसलिए सिंह को ढूँढ़कर मारना चाहिये" इस विचार से श्रीकृष्ण ने सिंह के चरणचिह्नों के द्वारा पर्वत के प्रदेश में पहुँच कर, सभीजनों के साथ मरे हुए सिंह को भी देख लिया ।।५५।।

अथात्र पदमृक्षप्रभोश्च स लुलोके । मणिं तु न हि तच्च प्रतीतवति लोके ॥५६॥
तदीयपदमृच्छन् जगाम गिरिरोकम् । विवेश तदमत्वाखिलस्य निजशोकम् ॥५७॥
प्रविश्य स महर्क्ष-प्रकृष्टपुरगामी । अपश्यदथ रत्नं तदीयहृतिकामी ॥५८॥
यदेव किल धात्रीमुपेत्य सुकुमारः । विहारपदमागात् तदृक्षकुलसारः ॥५९॥
सरत्नमजिहीर्षन्मुराररिरिति धात्री । अकूजदतिभीता सकम्पतरगात्री ॥६०॥
स भल्लकुलमुख्यस्तदाथ हतबुद्धिः । बभूव सह तेन प्रकृष्य कृतयुद्धिः ॥६१॥
सहाष्टदशयुग्मं स तेन दिवसानाम् । व्यधत्त युधमुच्चैरनुद्यदवसानाम् ॥६२॥
विहृत्य मुरवैरी स तेन चिरकालम् । चकार करुणाक्तं स्वकीयमिव बालम् ॥६३॥
स चाथ हृदि शुद्धस्तमेत्य गतिसारम् । निवेद्य निजमागः प्रसन्नमकृताऽरम् ॥६४॥
स्यमन्तमपि कन्यां ददे तु वरभक्त्या । स जाम्बवदभिख्यः परं च परशक्त्या ॥६५॥
सकन्यमणिरागान्मुरारिरथ गेहम् । समर्प्य मणिमीशे ननन्द वलितेहम् ॥६६॥
त्रपार्तमतिसत्राजिदत्र निजकन्याम् । मणिं च मुरशत्रावदित्सदतिधन्याम् ॥६७॥

पश्चात् इसी स्थानपर श्रीकृष्ण ने ऋक्षराज (जाम्बवान्) के चरणचिह्न को देखा। किन्तु जाम्बवान् के चरणचिह्न को लोगों के पहचान लेनेपर भी, मणि को नहीं देखा ॥५६॥

पश्चात् श्रीकृष्ण जाम्बवान् के चरणचिह्न का अनुगमन करते करते पर्वत की गुफापर चले गये। और साथ में आनेवाले जनों को मेरा शोक होगा, यह न मानकर उस गुफा में प्रविष्ट हो गये ॥५७॥

जाम्बवान् के उत्कृष्ट पुर में जाने की इच्छावाले श्रीकृष्ण ने गुफा में धँसकर, उस मणि के हरने की इच्छा से युक्त होकर, उस मणि को देख लिया ॥५८॥

एवं जिस मणि को भल्लूक कुलश्रेष्ठ सुकुमार नामक बालक धाय के निकट जाकर, क्रीडा की वस्तु-रूप से प्राप्त कर रहा था ॥५९॥

वे श्रीकृष्ण मणि को हरना चाहते थे। इसलिए वह धाय अत्यन्त डर कर अतिशय कम्प से युक्त शरीरवाली होकर, चिल्लाने लग गई ॥६०॥

तब भल्लूक कुलश्रेष्ठ वह जाम्बवान् नष्ट बुद्धिवाला होकर, जबरदस्ती से खींचकर श्रीकृष्ण के साथ युद्ध करनेवाला हो गया ॥६१॥

एवं उस जाम्बवान् ने श्रीकृष्ण के साथ अट्ठाईस दिनतक विश्रामरहित विशेष युद्ध किया ॥६२॥

श्रीकृष्ण ने चिरकालतक उसके साथ युद्ध विहार करके, पश्चात् उस जाम्बवान् को अपने बालक की तरह करुणा से व्याप्त कर दिया ॥६३॥

पश्चात् हृदय में शुद्ध हुए जाम्बवान् ने गति के सार श्रीकृष्ण को पाकर, अपना अपराध निवेदन कर, शीघ्र ही प्रसन्न कर लिया ॥६४॥

एवं जाम्बवान् नामक उस ऋक्षराज ने, श्रेष्ठ भक्तिपूर्वक वह स्यमन्तकमणि एवं अपनी कन्या भी दे दी। तथा उत्कृष्ट शक्ति से वैवाहिक अन्य वस्तु भी दे दीं ॥६५॥

उसके बाद श्रीकृष्ण कन्या एवं मणि के सहित अपने घरपर चले आये, एवं मणि को मणि के स्वामी के प्रति समर्पण कर, अपनी कृतार्थ चेष्टापूर्वक आनन्दित हो गये ॥६६॥

इस विषय में लज्जा से व्याकुल मतिवाले सत्राजित् ने अतिधन्या निजकन्या को एवं स्यमन्तकमणि को, श्रीकृष्ण के निमित्त देने की इच्छा की ॥६७॥

मुरारिरथ कन्यामियेष न तु रत्नम् । सभक्तिरिह सा यत् परं तु कृतयत्नम् ॥६८॥
द्रवन्तमथ सत्राजितस्तु कृतघातम् । स्यमन्तहरमक्रूरकादिमतयातम् ॥६९॥
उपेत्य शतचापं जघान वनमाली । स्यमन्तमणिमक्रूरकाच्च मतिशाली ॥७०॥
समेत्य यदुवृन्दं प्रतोष्य बहुकर्मा । स एष तव गोष्ठक्षितीश ! कृतशर्मा ॥७१॥
व्रजस्थ-नयनालिं बिभर्ति जिततन्द्रः । सदापि परिपूर्णस्त्वदीयकुलचन्द्रः ॥"इति ॥७२॥

अथ मधुकण्ठ उवाच,—"अथापरौ वार्ताहरौ सङ्गत्य पूर्ववद् व्रजराजं प्रत्यभाषेताम्,—'तत्र सर्वं सुखमेव, किन्त्वेकं दुःखं दुःखनमूलं जातमस्ति। न जानीवहे, किमायत्यां प्रत्यासीदेत् ॥'७३॥

"व्रजराज उवाच,—'हन्त ! किं तत् ?' "दूतावूचतुः,—'तत्कन्याद्वयं नाद्यापि परिणयमापन्नमिति विषण्णं सन्निरन्नमेवास्ते ॥'७४॥

"व्रजराज उवाच,—'अपरिणये किं कारणम् ?' "दूतावूचतुः, भवदाज्ञानवधारणमेव लक्ष्यते। श्रीवसुदेवादयश्च वारं वारं तद्भवन्तमवधारयितुं संकुचन्तः सन्तीति च तर्क्यते ॥'७५

"अथ व्रजराजः सर्वान् व्याजहार,—'साम्प्रतमन्याश्च कन्या धन्यास्तस्मै दास्यन्त्येवास्मत्तः सङ्कोचश्च रोचिष्यत एवेति युगपत्तदपत्रपाहर्त्रं परं पत्रं दातव्यम् ।' "सर्वेऽप्यूचुः,—'बाढम्, किन्तूद्धवाय प्रहातव्यम् ॥'७६॥

पश्चात् श्रीकृष्ण ने तो कन्या की ही इच्छा की, किन्तु मणि की नहीं। कारण—वह कन्या श्रीकृष्ण में भक्ति से युक्त थी, एवं मणि तो अपने स्वीकार के विषय में प्रयत्न कर रही थी ॥६८॥

उसके बाद अक्रूर आदि के मत को प्राप्त करनेवाले, अतः स्यमन्तकमणि को हरनेवाले, अतएव सत्राजित् को मारनेवाले, अतएव श्रीकृष्ण के भय से घोड़ेपर चढ़कर भागनेवाले शतधन्वा को पाकर मतिशाली वनमाली ने उसको मार दिया। और अक्रूरजी से स्यमन्तकमणि को प्राप्त कर, यादवसमूह को सन्तुष्ट कर, बहुत से कर्म करनेवाले वे ही ये श्रीकृष्ण, हे व्रजराज ! तुम्हारे सुख को उत्पन्न करनेवाले हैं। अतः हे व्रजेश्वर ! तुम्हारे कुलचन्द्र श्रीकृष्णचन्द्र सदैव परिपूर्ण रहकर, आलस्य को जीतकर, अब भी व्रजवासियों की नेत्रश्रेणी का पोषण कर रहे हैं ॥६९—७२॥

अनन्तर मधुकण्ठ बोला—उसके बाद वृत्तान्त लानेवाले दूसरे दो दूत आकर पहले की भाँति व्रजराज के प्रति बोले कि—वहाँपर सब सुख ही है, किन्तु एक दुःख ऐसा उत्पन्न हो गया है कि, जिसकी जड़ उखाड़ना कठिन है। हम दोनों तो नहीं जानते कि, भविष्य में क्या उपस्थित होगा ? ॥७३॥

श्रीव्रजराज बोले—हाय ! वह दुःख कौन सा है ? दोनों दूत बोले—वे जाम्बवती एवं सत्यभामा नामक दोनों कन्याएँ आज भी विवाह को नहीं प्राप्त हुई हैं। अतः दुःखित होकर निरन्न (भूखी) ही बैठी ॥७४॥

श्रीव्रजराज बोले—विवाह न होने में कौन सा कारण है ? दोनों दूत बोले—आपकी आज्ञा का निश्चय न होना ही कारण दिखाई देता है। और श्रीवसुदेव आदि बारंबार आपके मत को स्थिर करने के लिये संकुचित हो रहे हैं, यह भी अनुमान किया जा रहा है ॥७५॥

तदनन्तर श्रीव्रजराज सभी सभासदों से बोले कि—अब तो अनेक राजा भी भाग्यशालिनी अनेक कन्याएँ श्रीकृष्ण के लिए देंगे ही, और हम से संकोच भी रुचिकर होगा ही। इसलिए हम सबसे

"व्रजराज उवाच,—'सम्यक् तस्मादित्थं लिख्यताम्—

'इच्छा याऽऽसीत् पुरस्तान्मम तु बहुविधा सा विधात्राऽवकीर्णा
सम्प्रत्येतद् विधत्स्व त्वमतनुमदनुज्ञावशादुद्धवाख्य ! ।
तासां तद्भक्तिपात्रीकृतचरितयुजां येन साद्गुण्यलेशं
धत्रीभिर्वत्सवत्सः प्रतिगृहमभितः सेव्यते स स्नुषाभिः ॥' इति ॥७७॥

"अथ तत्पत्रिकायां तत्र गतायामुद्धवद्वारा च श्रीमाधवेनाऽवगतायां पुनर्दूतद्वारा प्रति-पत्रिकायां व्रजेन्द्रेण चास्वादिततदनुमतायां पुनरपरौ सन्देशहरौ व्रजेशपुरःसरान् प्रति लब्धावसरौ बभूवतुः। तदनुयुक्तौ च ताविदमुक्तवन्तौ,—'परममङ्गलसङ्गताः कालियभुजङ्ग-भङ्गदमहाशया निजाग्रजेन सह नागसाह्वयं नगरमागतवन्तः ॥'७८॥

"व्रजराज उवाच,—'कथमिव ?' "दूतावूचतुः,—'अहिभयं निशम्य; यतः धृतराष्ट्र-कूटकालकूटसृष्टनवकुटं प्रविष्टवन्तः पाण्डवा मात्रा सत्रा शश्वत्प्रश्वयदुष्मणाकस्मिकशुष्मणा भस्मसात्कृता इति निशम्यते स्म ॥'७९॥

होनेवाली श्रीकृष्ण एवं श्रीवसुदेव आदि की लज्जा को एकसाथ दूर करनेवाला दूसरा पत्र देना चाहिये। सभी सभासद् बोले—ठीक है, किन्तु पत्र उद्धवजी के लिए भेज देना चाहिये ॥७६॥

श्रीव्रजराज बोले—अच्छा, तब तो इस प्रकार लिख दीजिये कि—हे प्रिय ! वत्स ! उद्धव ! पहले मेरी जो अनेक प्रकार की इच्छा थी, वह तो विधाता ने खण्डित कर दी, अर्थात् मैं व्रज में ही लाला का यज्ञोपवीत, विवाह आदि कराना चाहता था। मेरी यह चाहना तो विधाता ने खण्डित ही कर दी। तो भी तुम अब मेरी महती अनुज्ञा के वशीभूत होकर यह कार्य करो कि, जिस प्रकार हमारे लाला की भक्ति के पात्र बनाये हुए चरित्र से युक्त, उन राजकन्याओं के मध्य में सद्गुणों के लेश को धारण करनेवाली पुत्र-वधुओं के द्वारा, वह हमारा लाला प्रत्येक घर में सर्वतोभाव से सेवित हो ॥७७॥

उसके बाद उस पत्रिका के द्वारका में पहुँच जानेपर, एवं उद्धव के द्वारा श्रीकृष्ण के भी उस पत्रिका को जान लेनेपर, पुनः दूत के द्वारा द्वारका से लाई हुई प्रति-पत्रिका में श्रीकृष्ण के अनुमत भाव को श्रीव्रजराज के आस्वादित कर लेनेपर, द्वारका से सन्देश को लानेवाले दो दूत श्रीव्रजराज आदिकों के प्रति अवसर को प्राप्त हो गये। श्रीव्रजराज के पूछनेपर उन दोनों दूतों ने यह कहा कि—परममङ्गल से युक्त एवं कालियनाग को पराजय देनेवाले महाशय श्रीकृष्ण, अपने बड़े भाई बलरामजी के साथ हस्तिनापुर-नगर में चले आये हैं ॥७८॥

श्रीव्रजराज बोले—किस प्रकार या क्यों चले आये हैं ? दोनों दूत बोले—शत्रुजनित भय सुनकर (श्लेषपक्षे—सर्प से भय सुनकर)। कारण—धृतराष्ट्र (पक्षे—सर्पविशेष) के कूट से (छल से अर्थात् इस हस्तिनापुर में रहने से दुर्योधन के साथ विरोध होता रहेगा, अतः तुम सब वारणावतनगर में जाकर सुख से रहोगे, इस प्रकार के छल से) (पक्षे—कुटिलता से) वारणावतनगर में विष से बनाये हुए नवीन लाक्षागृह में (पक्षे—वृक्ष में) प्रविष्ट हुए पाण्डव अपनी माता के सहित निरन्तर बढ़ती हुई गर्मीवाली आकस्मिक अग्नि के द्वारा भस्मसात् कर दिये गये हैं, यह सुना जाता है ॥७९॥

"व्रजराज उवाच,—कष्टमनभीष्टं जातम् । सम्प्रति तु हस्तिनापुर एव पुनरपरौ सन्देशहरौ गच्छताम् । इति तथागतयोस्तयोः पुनरागतयोश्च मुखात् पुनरुत्पातान्तरमाकर्णितं यद् द्वारकान्तःपुर एव सुप्तः सत्राजित् केनचित्तु सौप्तिकेन गुप्तं हतः स मणिश्चापहृतः' इति ॥८०॥

"व्रजराज उवाच,—'हन्त ! किं तदिदं तथ्यम् ?' "दूतावूचतुः,—'अथ किम् ? यत्र स्वयं तत्र वधूरवधूतसामा सत्यभामा नादृतधामा तैलद्रोण्यां तं मृतं प्रास्य सवाष्पास्यतया सप्रयासं या समागता, स्वयमेव तया सर्वं कथितम् ॥'८१॥

"व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—'ततो भ्रातरौ किल कातरौ भूत्वा क्षणमपि न तत्र स्थितवन्तौ, किन्तु तया सह द्वारकामेव प्रस्थितवन्तौ ॥'८२॥

"व्रजराज उवाच,—'हन्त ! वत्सस्य स्वकसङ्गभङ्गः खल्वयं मङ्गलाय कल्पताम्; सम्प्रति तु द्वारकासंभूतानां दूतानां मुखाद् विशेषं ज्ञास्यामः ॥'८३॥

"अथ तेषु कौचिदागतौ पृष्टस्वागतौ विज्ञापयामासतुः,—'श्रीकृष्ण-रामयोर्द्वारकाधाम-गमनं जातम् ॥'८४॥

"व्रजराज उवाच,—'गतयोस्तयोः किं जातम् ?' "दूतावूचतुः,—'गतौ च सत्रा-जिद्धन्तारं सर्वेण सत्रा तर्कितवन्तौ, तर्कयित्वा च निश्चितवन्तौ ॥'८५॥

श्रीव्रजराज बोले—बड़े कष्ट की बात है, यह तो हमारा अनभीष्ट ही हुआ । अतः अब तो (उनका वास्तविक समाचार जानने के लिए) हस्तिनापुर में ही पुनः दूसरे दो दूत चले जायें । इस प्रकार आज्ञा पाकर हस्तिनापुर गये हुए, एवं पुनः वहाँ से आये हुए उन दोनों दूतों के मुख से, पुनः दूसरा उत्पात भी सुन लिया कि—द्वारका के अन्तःपुर में सोये हुए सत्राजित् को रात में सोये हुए को मारनेवाले किसी व्यक्ति ने गुप्तरूप से मार डाला, और वह मणि हरली है ॥८०॥

श्रीव्रजराज बोले—हाय ! क्या यह घटना सत्य है ? दोनों दूत बोले— और क्या ? देखो, जिस हस्तिनापुर में श्रीकृष्ण बलदेव के निकट स्वयं जाकर, पहले द्वारका में अपनी सान्त्वना के प्रयोग को ठुकराने-वाली, अपने घर का अनादर करनेवाली जो सत्यभामा नामक कृष्णवधू मरे हुए पिता को तेल की कड़ाही में धरकर, आँसुओं से भरे मुख से प्रयासपूर्वक आई थी, उसने यह सारा समाचार स्वयं ही कहा था ॥८१॥

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उस के बाद श्रीकृष्ण बलदेव नामक दोनों भैया सत्य ही कातर होकर, वहाँपर एकक्षण भी नहीं ठहरे । किन्तु सत्यभामा के साथ द्वारका को ही चल दिये ॥८२॥

श्रीव्रजराज बोले—हाय ! हमारे लाला का (हस्तिनापुर में हुआ) यह निजीजनों के सङ्ग का भङ्ग मङ्गल के लिये कल्पित हो जाय । अब तो द्वारका में समुत्पन्न हुए या सम्मिलित हुए दूतों के मुख से विशेष विवरण जान लेंगे ॥८३॥

उसके बाद उन दूतों में से कोई दो दूत आये, उनका स्वागत पूछनेपर उन्होंने निवेदन किया कि—श्रीकृष्ण बलदेव का द्वारकाधाम में जाना हो गया ॥८४॥

श्रीव्रजराज बोले—उन दोनों के जानेपर क्या हुआ ? दोनों दत बोले—द्वारका जाते ही दोनों

"व्रजराज उवाच,—'कथमिव ?' "दूतावूचतुः,—'तत्पापमेव खलु तत्ख्यापकम् ।' "व्रजराज उवाच,—'कथयतम् ?' "दूतावूचतुः,—'गूढपुरुषः कोऽपि कृष्णाय निगूढमिदं वर्णितवान्—द्वारकाया भवद्रहिततया छिद्रं निर्वर्ण्य पाण्डवेषु धृतराष्ट्रकौटिल्यमाकर्ण्य तदेव गुरूकृत्य स्वकृत्यकृते त्यक्तधर्माऽक्रूरः कृतवर्मणा साकं निःशलाकं शतधन्वानमुवाच—मणिः कस्मान्न गृह्यत इति ॥८६॥

'शतधन्वोवाच—कस्य ? 'अक्रूर उवाच,—यः खलु खलः कृष्णाद् बिभ्यदस्माभिः स्वसाहाय्याय कन्यारत्नमस्मभ्यं पृथक्पृथगषडक्षीणमक्षीणं सम्प्रतिश्रुत्य श्रुत्यन्तर्मुखतारहितः पुनः कृष्णाय दत्तवान् ॥८७॥

शतधन्वोवाच,—परद्रव्यग्रहणे भव्यं नश्येत् । 'द्वावप्यूचतुः,—मूर्ख ! तद्वचञ्चितमेव, यत् खलु तद्दत्तकन्यारत्नपरीवर्तेनैवाऽश्मरत्नं हर्तव्यमिति । ततः कोऽयं दोषः ? ॥८८॥

'शतधन्योवाच,–सत्राजिदसौ स्वकण्ठ एवावगुण्ठितीकृत्य तन्निद्रातीति कथं गृह्णीयाम् ? 'उभौ विहस्योचतुः,–मूढ ! निद्रातीति स्वयमेव वदसि चेद्वयं तत्र कतरच्छिद्रान्तरं ब्रूमः ? 'शतधन्वोवाच,–तस्य ग्रहणमनु यदि जागरणमासीदेत्, तर्हि गर्हितं स्यात् । 'अक्रूर उवाच,– मातृमुख ! स कथं भ्रातरं नान्वियात् ?' इति ॥८९॥

भाइयों ने सभीजनों के साथ (मिलकर) सत्राजित् को मारनेवाले व्यक्ति का अनुमान लगा लिया । अनुमान लगाकर निश्चित भी कर लिया ॥८५॥

श्रीव्रजराज बोले—किस प्रकार निश्चिय कर लिया ? दोनों दूत बोले—उसका पाप ही उसको कहने वाला हो गया । श्रीव्रजराज बोले—तुम दोनों कहो तो सही ? दोनों दूत बोले—किसी गुप्तचर ने श्रीकृष्ण के प्रति गुप्तरूप से यह कहा कि—(आप पाण्डवों को देखने के लिये जब हस्तिनापुर चले गये थे, तब) द्वारकापुरी के आप से रहित हो जाने के कारण, छिद्र अवकाश अर्थात् मौका देखकर, एवं पाण्डवों के ऊपर धृतराष्ट्र की कुटिलता को सुनकर, उसी कुटिलता को गुरु बनाकर, मणि प्राप्तिरूप अपना काम बनाने के लिए अक्रूरजी धर्म को तिलाञ्जलि देकर, कृतवर्मा के सहित एकान्त में शतधन्वा के प्रति बोले कि— "मणि क्यों नहीं ग्रहण करते हो ?" ॥८६॥

शतधन्वा बोले—किसकी मणि ? अक्रूर बोले–जिस खल सत्राजित् ने निश्चय ही कृष्ण से डरते हुए हम तीनों के द्वारा अपनी सहायता के लिए, अपनी कन्यारूप रत्न को, हम सबसे अलग अलग सलाह करके, हम सबको देने के लिए सम्पूर्णरूप से प्रतिज्ञा करके, पुनः वेद से विमुख होकर, वही कन्यारत्न कृष्ण को दे दिया ॥८७॥

शतधन्वा बोला—दूसरे का द्रव्य ग्रहण करनेपर मङ्गल विनष्ट हो जायगा । अक्रूर कृतवर्मा दोनों ही बोले कि—अरे मूर्ख ! वह बात तो हमने पहले ही प्रकाशित करदी थी, जो कि सत्राजित् के द्वारा वाग्दानरूप से दिये हुए कन्यारत्न के बदले से पत्थररूप रत्न को अर्थात् मणि को हरले । तब यह कौनसा दोष है ? ॥८८॥

शतधन्वा बोला–वह सत्राजित् उस मणि को अपने गले में ही बाँधकर सोता है, अतः कैसे ग्रहण करूँ ? दोनों हँसकर बोले—अरे ! मूढ ! "वह सो रहा है" इस बातको तो तू यदि स्वयं ही कह रहा है, तब हम दोनों उस मणि के हरने में दूसरा कौन सा अवकाश, अर्थात् मौका बतावें ? शतधन्वा बोला–उस मणि

"तदेतदाकर्ण्य सर्वे व्रजस्था विहस्य प्रोचुः,—'अस्य कोऽभिप्रायः ? "उपनन्द उवाच,—सोऽपि तद्वदज्ञातव्यतया संज्ञपयितव्यः' इति ॥९०॥

"पुनरपि सर्वे ते प्रोचुः,—'अक्रूरः खलु धर्मात्मेति तु भूरिदूरगप्रसिद्धिः सिद्धिं लब्धवती ।' "व्रजराज उवाच,—'तथापि वैष्णवस्य दैवविद्रववशाज्जातं छिद्रं न द्रवविषयोकार्यम् । प्रस्तुतं तु प्रस्तूयताम् ॥'९१॥

"दूतावूचतुः,—'श्रीमानुद्धवस्तु तत्र कारणं कार्यमपि पर्यालोचितवान् । श्रीमद्व्रजवासिनां तत्र शाप आपतदिति तावदेव न फलमपि तु श्रीकृष्णविच्छेदस्तथा बहिर्जनसंभेदस्तथा कर्मखेदः संभविता ॥'९२॥

"व्रजराज उवाच,—'आस्तां तदपि, पश्चाद् गूढपुरुषः स खलु किं निगमितवांस्तत् कथ्यताम् ।' दूतावूचतुः,—'ततश्च शतधन्वा तदन्वाचरितवानेव; किन्तु मणिं ताभ्यां याच्यमानमपि न दत्तवान्' इति ॥९३॥ 'सत्राजितमुद्दिश्य तु श्रीमानुद्धवस्तदिदमुद्बुद्धं चकार—
धनार्थं सत्राजिन्मणिमधित गेहे मणिरपि, व्यनश्यन्नाशार्थं निखिलविपदां चेच्छृणुत भोः ।
वने भ्राता नष्टः स्वयमथ गृहे तत् स्फुटमिदं, विजानीध्वं कृष्णाद्विमुखमखिलं नश्यतितराम् ॥'९४

के ग्रहण करते समय यदि वह जाग गया, तब तो अनर्थ हो जायगा । अक्रूर बोले—हे मूर्ख ! वह सत्राजित् अपने भाई प्रसेन का अनुगमन क्यों न करे ? ॥८९॥

यह सुनकर सभी व्रजवासी हँसकर बोले—इस कथन का कौनसा अभिप्राय है ? श्रीउपनन्दबाबा बोले—वह सत्राजित् भी प्रसेन की तरह अज्ञातरूप से मार देना चाहिये, यही अभिप्राय है ॥९०॥

वे सब व्रजवासी फिर भी बोले कि—"अक्रूरजी तो निश्चय ही धर्मात्मा हैं" यह प्रसिद्ध तो बहुत दूर रहनेवाले जनों में सिद्धि को प्राप्त हो गई थी (तब अधर्म की प्रेरणा क्यों की) ? । श्रीव्रजराज बोले—तथापि वैष्णवश्रेष्ठ श्रीअक्रूरजी का दैवगति के वश से उत्पन्न हुआ दोष, परिहास का विषय बनाने योग्य नहीं है । किन्तु प्रस्तुत विषय का प्रस्ताव करो ॥९१॥

दोनों दूत बोले—श्रीमान् उद्धवजी तो अक्रूर के विषय में कारण एवं कार्य का भी विचार करने लगे कि, अक्रूर के ऊपर श्रीमन् व्रजवासियों का शाप आपड़ा था । इस लिए "दूसरे को अधर्म की शिक्षा देना" इतना ही फल नहीं है; अपितु, अक्रूर का श्रीकृष्ण से विच्छेद (अलग होना), तथा भक्तिहीन जनों से सम्मेलन, और उसी कर्म से खेद भी सम्भव होगा ॥९२॥

श्रीव्रजराज बोले—अच्छा, उस बात को भी रहने दो । पीछे उस गुप्तचर ने श्रीकृष्ण के पास कौनसा रहस्य निश्चित किया, उसको कहो । दोनों दूत बोले—उसके बाद शतधन्वा ने सत्राजित् को मार कर, मणि हरणरूप कार्य कर ही लिया । किन्तु मणि तो श्रीकृष्ण बलदेव के द्वारा माँगनेपर भी नहीं दी ॥९३॥

श्रीमान् उद्धवजी ने तो सत्राजित् को लक्ष्य बनाकर, यह भाव प्रकाशित किया था कि—देखो, सत्राजित् ने धन को बटोरने के लिए ही स्यमन्तकमणि अपने घर में रखी थी, यदि सारी विपत्तियों के विनाश के लिए घर में रखी हुई मणि भी जब नष्ट हो गई, तब हे भाइयो ! इसका रहस्य सुनो । देखो, भैया प्रसेन वन में मारा गया, एवं सत्राजित् स्वयं घर में ही विनष्ट हो गया । इस घटना से यह स्पष्ट भावार्थ जान लो कि, श्रीकृष्ण से विमुख समस्त वस्तु ही विशेष विनष्ट हो जाती है ॥९४॥

"व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—'ततश्च तत्त्वनधिजगन्वान् शार्ङ्गधन्वा शतधन्वानं हन्तुमारब्धवान्, न तु सहसा जघान। यद्ययमेकाकितां प्रतिपद्य विद्रवति, तच्छिद्रमुपसद्य च द्रुह्येत, तर्ह्येव न द्वारकायामुपद्रवः समुद्भवति' इति ॥६५॥

'राजघतया स्फुरदघः शतधन्वा तु भयं मन्वानः कृतवर्माऽक्रूरयोः क्रूरयोरपि कृष्णाल्लब्धभयपूरयोः शरणभावाद् दूरयोराश्रयमनासद्य सद्य एव शतयोजनव्राजिनं वाजिनमारुह्य द्रुतवान्, द्रुतवन्तं च तं राम-कृष्णौ रथेनाऽनुद्रुतवन्तौ ॥६६॥

'ततश्च कंसप्रमाथी तं मिथिलोद्यानं प्रपद्य विपद्यमानं हयं विहाय पलायमानमाततायिनं पद्भ्यां जवलीलयाऽधिवलय्य चंक्रमणतुलितचक्रवातेन चक्रपातेन तच्छिर उच्चकर्त; उत्कृत्य च कृतविचयं तस्य सिचयद्वयमनु मणिमनुपलभ्य भ्रातरमुपलभ्य वृथा हतः शतधनुर्न तु मणिर्लभ्यते स्मेति वचनेन विस्रम्भ्य च स कमललोचनः संकुचन् कुञ्चद्विलोचनेन कृतानुशोचनेन चानेन प्रोचे—सोऽयमचित् क्वचित् पुरुषे पुरमन्वेव स्वविश्वस्ते न्यस्तवान्मणिमिति तत्रैव भवान् व्रजतु, सत्वरमहं पुनर्मत्प्रेमशिथिलान्यगतिं मिथिलापतिं द्रष्टुमिच्छामि' इति ॥६७

"तदेतत्कथान्तरे स्वदूतौ प्रति सर्वे पप्रच्छुः,—'साम्प्रतं रामस्यापि प्रतीतिवितथं

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उसके बाद सत्राजित् के मारने के तत्त्व को जानते हुए, श्रीकृष्ण ने शतधन्वा को मारने के लिए उद्योग आरम्भ कर दिया, किन्तु सहसा (एकाएक अर्थात् बिना विचारे) उसको नहीं मारा। यदि यह शतधन्वा अकेला होकर भागता है, या "श्रीकृष्ण मुझको मार डालेंगे" इस प्रकार के उस छिद्र को पाकर मुझ से द्रोह करने लग जाय, तभी द्वारका में उपद्रव नहीं हो सकता है ॥६५॥

सत्राजित्‌राजा को मारनेवाला होने के कारण जिसका पाप प्रगट हो गया था, वह शतधन्वा तो भय मानता हुआ, क्रूर होनेपर भी, श्रीकृष्ण से भय के समूह को प्राप्त करनेवाले, अतएव (शतधन्वा के) रक्षकभाव से दूर रहनेवाले, कृतवर्मा एवं अक्रूर के आश्रय को न पाकर, सौ योजन (४०० कोस) जानेवाले घोड़ेपर चढ़कर तत्काल ही द्वारका से भाग गया। भागते हुए शतधन्वा के पीछे पीछे श्रीकृष्ण बलदेव भी रथ के द्वारा भाग चले॥६६॥

उसके बाद कंसका मथन करनेवाले श्रीकृष्ण ने, मिथिलापुरी के उपवन को पाकर, मरते हुए घोड़े को छोड़कर, भागते हुए उस आततायी शतधन्वा को, दोनों चरणों के द्वारा ही वेग की लीला से अपने निकट लाकर, कुटिलगति में चक्रवात (बवंडर) की तुलनावाले सुदर्शनचक्र के पात से उसका सिर काट दिया। और काटने के बाद अनुसन्धान किये हुए अर्थात् टटोल कर देखे हुए शतधन्वा के दोनों वस्त्रों में मणि को न पाकर, बलदेव भैया के पास आकर "भैयाजी ! शतधन्वा तो वृथा ही मार डाला, क्योंकि मणि तो उसके पास मिली ही नहीं" इस वचन के द्वारा विश्वास दिलाकर, संकुचित होते हुए कमलनयन श्रीकृष्ण के प्रति संकुचित नेत्रोंवाले एवं शतधन्वा की मृत्युपर शोक करनेवाले श्रीबलदेव ने कहा कि—इस अज्ञानी शतधन्वा ने द्वारकापुरी में ही अपने विश्वासपात्र किसी पुरुष के पास वह मणि धर दी है। अतः तुम तो वहीं चले जाओ। मैं तो पुनः मेरे प्रेम से अन्यगतियों को शिथिल करनेवाले मिथिलाधिपति श्रीजनकजी को शीघ्र ही देखना चाहता हूँ ॥६७॥

इस कथा के बीच में अपने दोनों दूतों के प्रति सभी व्रजवासियों ने पूछा कि—इस समय तो

कथनमुपलभ्यते। यत्तथा निरुच्य तमेकाकिनं विमुच्य गत इति। तदेतत् पुनरसम्भाव्यं सम्भाव्य भण्यताम् ॥९८॥

'दूतावूचतुः,—'अस्ति खल्वत्र स्वस्तिभावार्थमविश्वस्तिनिवारणं कारणम्, यतस्तस्यात्राऽयमभिप्रायः—शतधन्वनो विश्वस्तौ खलु कारिततत्कर्माणाविति तद्वदभिशस्तौ तावक्रूरकृतवर्माणावेव। तत्र च धर्मात्मतया दूरलब्धप्रसिद्धिरक्रूर एवेति स मणिस्तेन तस्मिन्नेव न्यस्तः; स चायमक्रूरः स्निग्धतादिग्धतया तदानीमासन्नविरहानलज्वालादग्धप्रायतां व्रजत्सु व्रजसत्सु क्रूरतापन्नदृष्टिरेव दृष्ट इति मह्यं न ह्यतिरोचते; तथाप्यनेन धनादिनातीतसामान्यतया मान्यत एवेति न स स्फुटमुट्टङ्कनीयः; पश्चात्तु विपश्चिद्भिर्निश्चेष्यत एव। अतश्च मम तत्र गमनमपि न रमणीयम्; किन्तु सर्वसहिष्णोरस्य विष्णोरेव तत्रैकाकिनोऽप्यस्य रथजवं व्यस्यतः कश्चिदात्मनि पश्चिमतां विधातुं शक्ष्यति, शस्त्राण्यस्यतः सम्मुखमुखतां वा वक्ष्यतीति न प्रतीमः। ततो मित्रमिलनमिषान्मया प्रणयमयरोष एव पोषणीयः' इति ॥९९॥

"व्रजराज उवाच—'सङ्गिमालिन्यात् स्फटिकमणिर्मलिनताघटित इव प्रेक्ष्यते; स पुनरन्तः शुभ्र एव; तस्मादास्तां तत्प्रस्तावः, वत्सः किं द्वारकामानचर्छेति तु पृच्छ्यते। "दूतावूचतुः,—'तस्मिन्नागत एव तु ततः प्रतस्थिवहे ॥'१००॥

बलरामजी का कथन भी विश्वास से विरुद्ध ज्ञात हो रहा है। क्योंकि उस प्रकार उदासीन की भाँति कहकर, श्रीकृष्ण को अकेले ही छोड़कर चले गये। अत: इस असंभावनीय विषय को सम्भावना के योग्य बनाकर कहो ॥९८॥

दोनों दूत बोले—इस विषय में माङ्गलिकभाव के लिए अविश्वास को दूर करनेवाला एक कारण भी है। क्योंकि श्रीबलदेवजी का इस विषय में यह अभिप्राय है कि—सत्राजित् को मरवा कर मणि हरण-रूप कर्म करानेवाले वे दोनों, अक्रूर एवं कृतवर्मा ही, निश्चितरूप से शतधन्वा के विश्वासपात्र हैं। अत: उसी की तरह कलङ्कित हैं। उन दोनों में भी धर्मात्मा होने के नाते, दूरतक प्रसिद्धि को पानेवाला अक्रूर ही है। अत: वह मणि शतधन्वा ने उसके निकट ही रख दी है। और वह अक्रूर श्रीकृष्ण के मथुरा जाने के समय, स्नेह में निमग्न होने के कारण, तत्काल उपस्थित हुई विरहानल की ज्वाला से प्राय: जले जा रहे व्रजवासियों के ऊपर मैंने क्रूरता से युक्त दृष्टिवाला ही देखा था। अत: वह मेरे लिए अत्यन्त रुचिकर नहीं है। तथापि श्रीकृष्ण धनादि के द्वारा अक्रूर का विशेषभाव से सम्मान करते हैं। इसलिए वह अक्रूर स्पष्ट ही कलंकादि के उल्लेख के योग्य नहीं है। किन्तु पीछे तो विज्ञजन निश्चय कर ही लेंगे। अत: अब मेरा द्वारका में जाना भी सुन्दर नहीं है। किन्तु सब कुछ सहनेवाले इन श्रीकृष्ण का ही वहाँ जाना उपयुक्त है। क्योंकि द्वारका के मार्ग में अकेले भी रथ के वेग का विस्तार करते हुए, इन श्रीकृष्ण का पीछा करने को, अपनी आत्मा में कोई भी समर्थ हो सकेगा, एवं शस्त्रों को चलाते हुए इनके सम्मुख मुख को धारण करेगा, ऐसा हम विश्वास नहीं करते हैं। अत: श्रीजनकरूप अपने मित्र से मिलने के बहाने, अब मेरे द्वारा प्रणयमय कोप ही पुष्ट करने योग्य है ॥९९॥

श्रीव्रजराज बोले—सङ्गी के मलिन होने के कारण, स्फटिकमणि भी मलिनता से युक्त जैसी दिखाई देती है। किन्तु वह भीतर से तो निर्मल ही होती है। अत: अब बलराम के प्रस्ताव को रहने दो। किन्तु

"व्रजराज उवाच,—'शतधन्वा खल्वधर्माद् वीरहा जातस्ततस्तस्यान्त्येष्टिरपि नष्टिमवाप। जाताऽशर्मणोरक्रूरकृतवर्मणोः का वार्ता?' "दूतौ विहस्योचतुः,—'तौ तु तिग्मवेगतया तस्मादपजग्मतुः' इति ॥१०१॥

"तदेवं सन्देशहरसमुदयेषु मुहुरानीतकेशवाग्रजाव्रजनादिसन्देशचयेषु कदाचित् कौचिदागत्य तत्रत्यवृत्तं किञ्चिदपूर्वं पूर्ववन्निवेदयामासतुः,—श्रीव्रजमहेन्द्र ! सम्प्रति बलगोविन्दाविन्द्रप्रस्थमागतौ स्तः ॥'१०२॥

"व्रजराज उवाच,—'किमर्थम् ?' "दूतावूचतुः,—'सकुन्तीमातृकभ्रातृपञ्चकस्य मिलनार्थम्।' "व्रजराज उवाच,—'हन्त ! किं ते सकुन्तीकाः कुन्तीसन्तानास्तनूनपातः शिष्टतनूकाः सन्ति ?' ॥१०३॥

"दूतावूचतुः,—'अथ किम् ?' "व्रजराजः सहर्षमाह,—'कथमिव ?' "दूतावूचतुः,—विदुरसूचितविदूरगामिविलवर्त्माऽनुवर्तनेन।' व्रजराज उवाच,—'तर्हि दिष्ट्या वत्सस्य दग्धप्रायाश्छायाभूमिरुहास्ते भूतिपर्युप्तागुप्ताङ्गतया पुनः सांकुरा जाताः ॥'१०४॥

"दूतावूचतुः,—'तावदेव देव ! किं वक्तव्यम् ? यतस्ते द्रुपदकन्यामपि पाणौ गृह्य गृह्यमाणनिजगृहा दत्तसमस्तस्पृहा गृह एव विराजन्ते ॥'१०५॥

मैं तो यह पूछता हूँ कि, हमारा लाला द्वारका में आ गया क्या ? दोनों दूत बोले—उनके आनेपर ही तो हम दोनों द्वारका से चले हैं ॥१००॥

श्रीव्रजराज बोले—शतधन्वा तो निश्चय ही अधर्म के कारण वीरहा (नष्टाग्निः अर्थात् अग्नि को न प्राप्त करनेवाला) हो गया है। अतः उसका दाहादि संस्कार भी नष्ट हो गया। शतधन्वा के मारे जाने से जिनको दुःख उत्पन्न हो गया था, उन अक्रूर एवं कृतवर्मा का कौन सा वृत्तान्त है, कहो ? दोनों दूत हँसकर बोले—वे दोनों तो प्रबल वेगपूर्वक उस द्वारकापुर से निकल भागे ॥१०१॥

अतएव इस प्रकार बारंबार कृष्ण बलदेव के द्वारका में आने के सन्देशसमूह को लानेवाले, दूतसमूह में से कदाचित् कोई दो दूत आकर वहाँ के कुछ अपूर्व वृत्तान्त को पहले की भाँति निवेदन करने लगे कि—हे श्रीव्रजमहेन्द्र ! इस समय श्रीकृष्ण बलदेव इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) में आ गये हैं ॥१०२॥

श्रीव्रजराज बोले—दिल्ली में क्यों चले आये हैं ? दोनों दूत बोले—कुन्तीमाता के सहित युधिष्ठिर आदि पाँचों भाइयों के मिलने के लिए आये हैं। श्रीव्रजराज बोले—तब तो बड़े हर्ष की बात है, तो क्या कुन्ती के सहित वे कुन्ती के पुत्र अग्नि से बचे हुए शरीरवाले विद्यमान हैं ? ॥१०३॥

दोनों दूत बोले—और क्या ? श्रीव्रजराज हर्षपूर्वक बोले—किस प्रकार बचे ? दोनों दूत बोले—विदुरजी के द्वारा बताई हुई बहुत दूरतक जानेवाली सुरङ्ग के मार्ग का अनुसरण करने से बच गये। श्रीव्रजराज बोले—तब तो बड़े आनन्द की बात है कि, हमारे लाला श्रीकृष्ण के छायावृक्षस्वरूप वे पाण्डव, प्रायः दग्ध होकर, भूमि में प्रवेश होने के भाव से, अङ्गों के छिप जाने के कारण, पुनः अंकुरों से युक्त हो गये हैं ॥१०४॥

दोनों दूत बोले—हे महाराज ! उतना ही कहने योग्य है क्या ? क्योंकि वे पाँचों पाण्डव तो द्रौपदी के भी पाणिग्रहण संस्कार को करके, अपने घर को प्राप्त कर, सभी की इच्छाओं का दान कर, अपने घर में ही विराजमान हैं ॥१०५॥

"सर्वे प्रोचुः,—'पाणौगृह्येति सामान्यतः कथं कथ्यते ?' "दूतावूचतुः,—'तत्तु तथैव कथैव तु द्रुतं न प्रतीयते।' "व्रजराज उवाच,—'भवेदत्र कश्चिद्विपश्चिन्मतगर्भः सन्दर्भः। भवतु, तयोः सदेश एव प्रवेशः सम्पन्न इति तदर्थं गुप्तं भोज्यभोग्यमर्थजातं पेटिकापर्युप्तं विधाय सन्देशहरेषु निधाय प्रहीयतामिति प्रोच्य स्वकशोच्यतां वर्णयति स्म,—॥१०६॥

'दूरस्थेऽपि सुते पितुर्गतिरथो मातुश्च दृष्टा द्वये
तस्मिंस्तस्य च किन्तु हन्त तदभूदस्माकमेवाऽन्यथा।
सोढुं तच्च समर्थयाम बत चेद् दुर्गे स्थले तत्-स्थिति-
स्तत्कान्त्या मुहुरीक्षणं चरगणा बिभ्रत्यमी नस्तु धिक् ॥'१०७॥

"सर्वेऽपि सवाष्परोमपर्वेह प्रोचुः,—

'एषां नेत्राणि वार्तां मुहुरुपहरतामस्मदीयानि नेत्रा-
ण्येव स्युश्चेत्तदा तन्मुखसरसिरुहाऽऽस्वादकर्तृण्यमूनि।
आगम्यागम्य सम्यग् गतिधरसरघा-केलिवल्गुनि दूर-
स्थित्याऽस्मान्नीरसाङ्गान् मधुपदसदृशान् पूरयेयुः सदापि॥' इति ॥१०८॥

सभी व्रजवासी बोले—"पाँचों पाण्डव अकेली द्रौपदी का पाणिग्रहण करके अपने घर चले आये" इस बात को साधारणरूप से क्यों कह रहे हो ? अर्थात् विशेष खोलकर कहो। दोनों दूत बोले—वह पाँचों के साथ पाणिग्रहण तो उसी प्रकार से कथाप्रसङ्ग ही है, किन्तु शीघ्र तो नहीं जाना जाता है। श्रीव्रजराज बोले—इस विषय में विद्वानों की सम्मति से पूर्ण कोई सन्दर्भ अवश्य होगा। (इस विषय को महाभारत पढ़कर समझ लेना चाहिये, विस्तार के भय से टिप्पणी में भी नहीं खोला है) अच्छा, तब तो श्रीकृष्ण बलदेव का प्रवेश हमारे व्रज के निकट ही सम्पन्न हो गया है। अतः उन दोनों के लिए भक्ष्य एवं भोग्य पदार्थसमूह को पेटियों में भर कर, दूतों के ऊपर धर कर, गुप्तरूप से भेज दीजिये। श्रीव्रजराज इस प्रकार कह कर, अपनी शोचनीय दशा को वर्णन करने लगे— ॥१०६॥

यथा—पुत्र के दूरवर्ती होनेपर भी, पुत्र के निकट पिता एवं माता का गमन देखा जाता है। और दूर में रहनेवाले उन दोनों माता-पिता के निकट पुत्र का गमन भी देखा गया है। किन्तु हाय ! हम सबके सम्बन्ध में वह बात (दैव के दुर्विपाक से) अन्यथा हो गई है, अर्थात् पुत्र भी हमारे पास आता नहीं, एवं हम भी उसके पास जा पाते नहीं। यदि हमारे पुत्र की स्थिति दुर्गमस्थल में हो, तब तो उस अन्यथा बात के सहने का समर्थन भी कर देंगे। अहह ! ये दूतगण ही धन्य हैं, जो कि श्रीकृष्ण बलदेव की कान्ति का बारंबार दर्शन करते हैं। उनके दर्शन से वंचित हमको तो धिक्कार है ॥१०७॥

इस समय सभी सभासद् अश्रु एवं रोमाञ्च से युक्त होकर बोले—श्रीकृष्ण बलदेव के वृत्तान्त को बारंबार लानेवाले इन दूतों के नेत्र यदि हमारे नेत्र हो जायँ, तब तो ये हमारे नेत्र श्रीकृष्ण बलदेव के मुखकमलों के आस्वादनकर्ता हो सकते हैं। एवं अच्छी गति (चाल) को धारण करनेवाली मधुमक्षिकाओं की सी क्रीडा से मनोहर ये नेत्र बारंबार हमारे निकट आकर, दूर रहने के कारण नीरस अङ्गोंवाले शहद के छत्ताओंके समान हम सबको सदैव परिपूर्ण कर सकते हैं,अर्थात् शहद की मक्खियाँ जिस प्रकार बारंबार आकर अनेक पुष्पों के रस को लाकर, नीरस शहद के छत्ता को सरस शहद से परिपूर्ण करती रहती हैं, उसी प्रकार हमारे नेत्ररूप मधुमक्षिकाएँ श्रीकृष्ण बलदेव के श्रीमुखकमलों के मकरन्दरस को द्वारकारूप

"दूतौ तत्तदुपायनसम्भूतौ विधाय सास्रनेत्रवत्सु व्रजसत्सु कृष्णप्रहितौ स्वहितौ कौचिदागम्य प्रणम्य पुनस्तत्प्रतिनिधितयाऽवनम्य रम्यमिमं स्वस्तिमुखकृतप्रवेशं कृष्ण-सन्देशं दृशि निवेशयामासतुः ॥१०९॥ यथा—

'यावद् वैरिनिवारणं स्फुटमहं नागन्तुमर्हस्ततः
साक्षान्नागतमाचरामि रचयाम्यन्यत्तु यन्नित्यशः ।
यूयं चेद् बहिरीक्षणाद् बहिरदः सत्यं मनुध्वे तदा
तेन प्रीतिमयानि तन्न यदि वा युष्मद्वदुच्चैः क्रमम् ॥'११०॥

"अथ रामसन्देशमपि तथावेशं निवेदयामासतुः,—

'पिता मे गोपेश ! त्वमसि जननी कृष्ण-जननी
न चाऽन्यं नैवाऽन्यं मनसि मनुवेऽहं कथमपि ।
विलम्बं कृष्णस्याऽऽगमनमनुगन्तुं परमहं
दधे किं वाऽऽगच्छान्यचिरमपि तस्मिंश्चिरयति ?' ॥१११॥

"तदेवं मनसि न्यस्य विश्वस्य निःश्वस्य च व्रजेशः पप्रच्छ,—'कुरुषु कः खलु रामकृष्णयोः स्निग्धतादिग्धः संलक्ष्यते ?' "दूतावूचतुः,—'कुन्त्युपपञ्चमाः पञ्चापि कुन्तीपुत्राः ॥११२

सरोवर से बारंबार लाकर, उनके विरह में नीरस अङ्गोंवाले, हम सब व्रजजनों को सरस बना सकती हैं, यह भाव है ॥१०८॥

इसी भाव में भर कर श्रीकृष्ण के निकट दिल्ली में जानेवाले दोनों दूतों को, उस उस प्रकार के भक्ष्य भोग्य आदि उपहारों से संयुक्त करके, व्रजवासी जब आँसुओं से युक्त नेत्रोंवाले हो गये, तब श्रीकृष्ण के भेजे हुए अपने हितैषी किन्हीं दो दूतों ने आकर, श्रीनन्दादिकों को प्रणाम कर, पुनः श्रीकृष्ण के प्रतिनिधिरूप से प्रणाम करके, पत्र में लेख के द्वारा प्रविष्ट किये हुए, अतः अभी आगे कहे जानेवाले परमरमणीय श्रीकृष्ण के सन्देश को उनके दृष्टिगोचर कर दिया ॥१०९॥

यथा—हे मेरे प्राणप्यारे व्रजवासियो ! देखो, जबतक मेरे बैरियों का निवारण होता है, तबतक तो मैं स्पष्टरूप से व्रज में आने के योग्य नहीं हूँ। इसीलिए साक्षात् आगमन नहीं कर रहा हूँ। और दूसरा जो स्फूर्तिरूप गुप्त आगमन नित्यप्रति करता हूँ, उसको यदि तुम सब बाहरी देखने से बाहर सत्य ही मानते हो, तब तो उस स्फूर्तिरूप आगमन के सत्य मानने से हर्ष को प्राप्त हो जाऊँगा। और यदि उसको सत्य नहीं मानोगे तो, मैं भी तुम सबकी तरह विशेष खेद को प्राप्त हो जाऊँगा। अतः मेरे स्फूर्तिरूप आगमन को सत्य ही मानकर, निश्चिन्त हो जाओ, यह भावार्थ है ॥११०॥

उसके बाद श्रीबलरामजी का सन्देश भी उनके प्रतिनिधिरूप से प्रणाम करके उसी प्रकार निवेदन कर दिया। यथा—हे गोपराज ! देखो, आप ही मेरे पिता हो, एवं श्रीकृष्ण की जननी यशोदा ही मेरी जननी है। और मैं तो अपने मन में आप दोनों को श्रीवसुदेव देवकी से किसी प्रकार भी भिन्न नहीं मानता हूँ। मैं तो केवल श्रीकृष्ण के आगमन का अनुगमन करने के लिए ही विलम्ब धारण कर रहा हूँ। अथवा (आपके मित्ररूप यादवों को सुख देने के लिए) श्रीकृष्ण के विलम्ब करनेपर तो मैं शीघ्र ही व्रज में (उनसे पहले ही) आ जाऊँगा ॥१११॥

अतएव पूर्वोक्त दोनों पत्रों के भाव को मन में धारण कर, विश्वास कर, एवं तत्कालीन श्रीकृष्ण

तत्र च— 'कुन्ती सा कुरुते व्रजेशसुदृशः प्रेमस्तुतिं सर्वदा
गोष्ठेशस्य युधिष्ठिरो हलभृतो भीमोऽर्जुनस्याऽर्जुनः ।
स्तोकाग्राह्वयकृष्णकस्य नकुलस्तस्यानुजश्चेत्यमून्
पश्यन्ती मुनिसंहतिर्व्रज-कथां निर्मात्यमीषां पुरः ॥११३॥

'यत्र विदूरश्च तत्तद्विदूरतां गतस्तासु तासु कथासु पुरःसरतामेवानुसरन्नस्ति ॥'११४॥

"व्रजराज उवाच,—'हन्त ! कथाशेषतामेव वयं गताः । भवतु, साम्प्रतं वत्सस्य किं विधित्सितं तत् तथ्यम्, कथ्यताम् ॥'११५॥

"तावूचतुः,—'तदेवं दिनकतिपये लब्धव्यत्यये श्रीरामादीन् द्वारकां प्रस्थाप्य सम्प्रति सकृष्णः स खलु कृष्णः काननक्रीडासतृष्णः कृष्णा-तीरपथेन रथेन सञ्चरमाणतामानश्च । प्रथमं तावद् भक्षणार्थं भिक्षमाणाय सर्वसुपर्वमुखलक्षणाय हुतभक्षणाय यक्षरक्षःस्पर्शनभक्ष-हर्यक्षपुण्डरीकादिभिरुच्चण्डं खाण्डववनं खण्डमण्डकायमानं चकार; दिनान्तरे तु भास्करकन्या-माजहार । यत्राऽऽवामपि तदीयसेवाऽऽसङ्गिनौ सङ्गिनौ बभूविव । तथा हि—तथा च धनञ्जयं सञ्जयमानः कञ्जनेत्रः कश्चन वनभागं जगाम; तत्र च छत्रशोभामत्रपत्रतरुदुष्परिहर-पुष्पफलसत्रताभृतपतत्रभृत्प्रभृतिनि सुखकृतिनि नीरादसमीपे घनवनद्वीपे प्रविशन् कलिताश्रमे

बलदेव के विरह से लम्बे श्वास लेकर, श्रीव्रजराज ने दूतों से पूछा कि—कुरुवंशियों में, श्रीकृष्ण बलदेव के स्नेह से भरा हुआ तुम्हें कौन सा व्यक्ति दिखाई देता है ? दोनों दूत बोले—कुन्ती है उपपश्चमी जिनमें, वे पाँचों कुन्ती के पुत्र स्नेहयुक्त दिखाई देते हैं ॥११२॥

और उनमें भी वह कुन्तीदेवी, व्रजेश्वरी श्रीयशोदा के प्रेम की प्रशंसा सदैव करती रहती हैं, एवं युधिष्ठिर श्रीव्रजराज के, भीमसेन श्रीबलराम के, अर्जुन अर्जुन नामक व्रज के सखा के, तथा नकुल एवं नकुल के छोटे भाई सहदेव स्तोककृष्ण के प्रेम की प्रशंसा सदैव करते हैं । और श्रीनारदादि मुनियों की श्रेणी उन सबको देखती हुई, उन सबके आगे व्रज की कथा को वर्णन करती रहती है ॥११३॥

और जहाँपर कुन्ती आदि उन उन के भाव की जानकारी को प्राप्त हुए, श्रीविदुरजी उन कथाओं में अग्रसर के भाव का ही अनुसरण कर रहे हैं ॥११४॥

श्रीव्रजराज बोले—हाय ! हम सब तो कथामात्र से अवशिष्ट हैं । अच्छा, अब हमारे लाला की कौन सा कार्य करने की इच्छा है ? उसको सत्यरूप से कह दो ॥११५॥

दोनों दूत बोले—इस प्रकार कुछ दिन (दिल्ली में) बीत जानेपर, श्रीबलराम आदिकों को द्वारका में भेजकर, इस समय वे श्रीकृष्ण अर्जुन के सहित, वनविहार करने में लालसा से युक्त होकर, श्रीयमुना के तीरवाले मार्ग से रथ के द्वारा विचरण करने लग गये । पहले तो श्रीकृष्ण ने (वन में जाते ही खाण्डव वन को) खाने के लिए माँगनेवाले, एवं समस्त देवताओं के मुखस्वरूप अग्निदेव के लिए यक्ष, राक्षस, सर्प, सिंह, व्याघ्र आदिकों के कारण भयङ्कर खाण्डववन को खाँड़ की रोटी के समान बना दिया । दूसरे दिन तो सूर्यकन्या (यमुना) को भी अङ्गीकार कर लिया । जिस दिन हम दोनों दूत भी श्रीकृष्ण की सेवा में आसक्ति रखनेवाले सङ्गी हो गये थे । देखो, उस समय अर्जुन को सङ्ग में लेते हुए, कमलनयन श्रीकृष्ण किसी वनविभाग में चले गये । और उस वनविभाग में भी छत्र की सी शोभा के पात्र ऐसे पत्र हैं जिनके, उन वृक्षों के द्वारा न त्यागने योग्य पुष्प, फलों के सदा दान से पोषित पक्षी आदिकों से युक्त, सुख देने में

क्वचिदाश्रमे मुहूर्तं निविविशे, दिशे दिशे च दृशं निदिदिशे। तत्र च शुकशारिकादिकानामपि काकलीर्निजानुरागभागबलाऽवलीनामिव विलापावलीर्विस्मयस्मयत्रपाकृपाशबलं कलयामास ॥११६॥ यथा—

'हा गोष्ठाधिपगोत्रजासितमणे! हा गोष्ठचिन्तामणे!

हा वृन्दावनचन्द्र! हा व्रजरमागोप्यातिगोप्य! प्रिय!।

हा तत्तीरविलासलास्यकलनात् त्रैलोक्यसौख्यप्रद!

क्लान्तं कान्त! कुमारिकाजनमिमं हा त्वं कदा वीक्षसे? इति ॥११७॥

'अत्र यद्यपि हा मत्तीरेति तैरवकलितम्, तथापि विकललपिततया तत्तीरतया कलितम् ॥'११८॥

अथ सर्वे पप्रच्छुः,—'तदा किं वृत्तं वृत्तम्?' ''दूतावूचतुः,—'तदा तदाज्ञया परितः परियन् परिजनः कश्चन श्यामां पतिविशेषकामां काञ्चिद्दिव्यलावण्यां कन्यां तपस्यन्तीं वरिवस्यन्तीं नमस्यन्तीमपि दूरात् पश्यति स्म ॥'११९॥

'दृष्ट्वा च विस्मयं स्पृष्ट्वा तेन निवेद्यमानः सतृष्णः श्रीकृष्णस्तदव्यवहितदेशाय प्रवेशाय स्वहितमर्जुनमसितमपि निजस्मितमहसा सितं विहितवान् प्रहितवांश्च। अर्जुनश्च तां मन्दं मन्दं विन्दन्नवनतकन्धरतामृच्छन् पप्रच्छ,—का त्वमसि, किमर्थं वा समर्थं तपस्तप्यस इति ॥१२०

कुशल, एवं जल से दूरस्थित इस प्रकार के घने वनरूप द्वीप में प्रवेश करते हुए, सर्वतोभाव से श्रमनिवारक किसी आश्रम में मुहूर्तभर के लिए प्रविष्ट हो गये, एवं प्रत्येक दिशा के लिए दृष्टि को फैंकने लग गये। और वहाँपर शुक शारिका (तोता मैना) आदि पक्षियों की सुमधुर ध्वनियों को अपने में अनुराग रखनेवाली अबलाश्रेणियों की विलापश्रेणियों की तरह विस्मय, मन्दहास, लज्जा, एवं कृपा से युक्त होकर सुनने लग गये ॥११६॥

यथा—हा! व्रजराजनन्दन! हा! श्याममणे! हा! व्रजप्रदेश चिन्तामणे! हा! वृन्दावनचन्द्र! हा! श्रीराधिका आदि व्रजरमाओं के गोप्यातिगोप्य! प्रिय प्रभो! हा! यमुना तीरपर रासविलासरूप नृत्य की रचना के द्वारा तीनों लोकों को सुख देनेवाले! कान्त! हाय! आपको पाने के लिए खिन्न इस यमुनारूप कुमारिकाजन को आप कब कृपापूर्वक देखोगे? ॥११७॥

इस श्लोक में यद्यपि 'मत्तीर' यह पाठ ही श्रीयमुनाजी के द्वारा अभिप्रेत था, तथापि विकल होकर कहने के कारण 'तत्तीर' इसरूप से उन्होंने उच्चारण कर दिया ॥११८॥

उसके बाद सभी सभासद् पूछने लगे कि—उस समय कौन सा वृत्तान्त हुआ? दोनों दूत बोले—उस समय श्रीकृष्ण की आज्ञा से चारों ओर घूमते हुए किसी सेवक ने पतिविशेष की कामनावाली, दिव्य सौन्दर्यवाली किसी श्यामवर्णवाली कन्या को दूर से ही देखा। वह कन्या तपस्या कर रही थी, पूजा कर रही थी, एवं अपने इष्टदेव को नमस्कार कर रही थी ॥११९॥

उसको देखकर चकित होकर, उस सेवक के द्वारा यह वृत्तान्त निवेदन किये गये लालसायुक्त श्रीकृष्ण ने उस कन्या के निकटवर्ती प्रदेश में प्रवेश के लिए, अपने हितैषी श्यामवर्णवाले अर्जुन को भी अपने मन्दहास्य के तेज से श्वेतवर्ण का कर दिया, एवं उसको कन्या की ओर भेज दिया। अर्जुन भी उस

'सा च निर्जनवनमनु स्वानभिरुचितताचितपुरुषान्तरावलोकनया चकिता लज्जामप्यसज्जन्ती सहसा निजतत्त्वं निजगाद,—॥१२१॥

अति भ्रातः ! पूष्णस्तनुजनिरहं नाम यमुना, तपस्यन्ती पित्रा रचितभवने प्राणिमि जले। स वृन्दारण्यान्तर्विलसितजगत्कामदगतिः, पतिः स्यादित्येतं समयमनुयामि प्रतिपदम् ॥'१२२॥

"सर्वे दूतौ पप्रच्छुः,—'स्थानान्तरमन्तरा कथं सा तत्र परं स्वमनोरथं पश्यन्ती तपस्यन्ती बभूव ?' "दूतावूचतुः,—'तत्र हि कुन्तीसन्ततिसम्बन्धेन निर्बन्धेन तस्य तद्वनविहारमवश्यमध्यवस्यन्ती बभूव ॥'१२३॥

"व्रजराजः स्ववृन्दावनं शोचन् निश्वस्य प्रोवाच,—'ततः किं जातम् ?' "दूतावूचतुः,—'तदेवं तस्या भाववश्यायाः सगद्गदनिगदं जिष्णुः सार्द्रनयनतया रभसादनुगत्य वितत्य दनुजजिष्णुमनुजगाद। स च मम ममतातिशयसम्मता रुचिसमतायता वृन्दावनवृत्तवाहिनी स्यादियं वाहिनीति नीतिसतृष्णस्तदीयसमीपमन्तरन्तरीपमाप ॥१२४॥

'सा च सहसा तद्भासा चक्षुषी चमत्कारयन्ती विचित्रभाववशान्मुहुरपसारयन्ती मुहुरुपसारयन्ती च तूर्णमेव घूर्णनमवाप। यत्र च द्वयमेव परस्परमसिततायां विततायां सिततां

कन्या को धीरे धीरे प्राप्त करते हुए, ग्रीवा को नीची करते हुए, पूछने लगे कि—हे कल्याणि ! तू कौन है, और इतने बड़े तप को क्यों कर रही है ? ॥१२०॥

वह कन्या भी निर्जन वन में अपनी रुचि से रहितभाव से व्याप्त, दूसरे पुरुष को देखने से चकित होकर, लज्जा को भी त्यागती हुई, सहसा अपने तत्त्व को कहने लग गई— ॥१२१॥

हे भैयाजी ! मैं तो यमुना नामवाली सूर्य की पुत्री हूँ, एवं जल में मेरे पिता के द्वारा बनाये हुए भवन में तप करती हुई जीवित हूँ। और "श्रीवृन्दावन में किये गये अपने दिव्यविलास के द्वारा जगत्‌भर को अभिलाषदायिनी गतिस्वरूप श्रीकृष्ण ही मेरे पति हो जायँ" बस, पद पदपर इसी प्रतिज्ञा का अनुसरण करती रहती हूँ ॥१२२॥

सभी सभासदों ने दोनों दूतों से पूछा कि—श्रीकृष्णप्राप्ति के हेतुभूत श्रीमथुरा आदि स्थानों के बिना वह सूर्यकन्या वहाँ भयंकर वन में अपने महान् मनोरथ को देखती हुई तप करती हुई क्यों विद्यमान रही ? दोनों दूत बोले—वहाँपर कुन्तीपुत्रों के सम्बन्ध से आग्रहपूर्वक श्रीकृष्ण के उस वन में विहार को अवश्यंभावी निश्चय करती हुई विद्यमान थी ॥१२३॥

श्रीव्रजराज अपने वृन्दावन का शोक करते हुए लम्बे श्वास लेकर बोले—उसके बाद क्या हुआ ? दोनों दूत बोले—तदनन्तर अर्जुन ने इस प्रकार भाव के विवश हुई सूर्यकन्या के गद्‌गदमय कथन को सजलनयन होकर वेगपूर्वक निकट जाकर, दैत्यों को जीतनेवाले श्रीकृष्ण के प्रति विस्तारपूर्वक कह दिया। श्रीकृष्ण भी (अर्जुन के वचन सुनते ही) यह यमुनानदी मेरी ममता की अतिशय सम्मत है, एवं मेरी श्याम-कान्ति की समता से विस्तीर्ण है। अतः वृन्दावन के वृत्तान्त को भी प्राप्त करानेवाली हो सकती है, इस नीति की लालसा से युक्त होकर, उसके पासवाले अन्तर्द्वीप में पहुँच गये ॥१२४॥

और श्रीयमुनानदी की अधिष्ठात्रीदेवी वह कालिन्दी तो श्रीकृष्ण की कान्ति से अपने दोनों नेत्रों को सहसा चमत्कृत करती हुई, एवं विचित्रभाव के वश से (श्रीकृष्ण की ओर से) बारंबार दूर करती हुई, तथा बारंबार श्रीकृष्ण के निकट भेजती हुई, शीघ्र ही मूर्च्छा को प्राप्त हो गई। और जिस मिलन में

विततान। 'अस्रवत्तायाः सतायां स्रवत्प्रस्वेदतां विवेद। स्तम्भवत्तायामनायत्तायामस्तम्भवद्विचारतामनुचचार ॥१२५॥

तत्र च सति सव्यसाची साचिव्यं विधाय विराय चित्रताया विराममात्ममित्रमानिनाय। 'ततश्चानुरागमात्रजागरूकतृष्णः स च कृष्णस्तां तदवस्थां रथमारोप्य चिरेण स्वस्थायमानां गोप्यतया फाल्गुनाऽऽनीतामन्तःपुरपुरन्ध्रिजनावरोप्यतया कुन्तीसमीपमापयामास ॥१२६॥

'कुन्ती च फाल्गुनात्तन्मर्म निशम्य निशाम्य च निर्निमेषादितया तदेव निर्णीय निर्निमेषायमाणा विस्मयादरस्नेहकिर्मीरितनानावर्णतया तां मुहुर्निर्वर्णयन्ती वरवर्णिनीमध्यमध्यासयामास' इति ॥१२७॥

मधुकण्ठ उवाच,—"अथ तौ दूतौ वस्त्रालङ्कारप्रभूतौ विरचय्य प्रस्थापितवान् व्रजराजः पुनरपराभ्यां निजसन्देशहराभ्यां श्रावयाञ्चक्रे ॥१२८॥ यथा—

"पार्थानां नगरं विधाय दिविषत्तक्ष्णा पुराऽऽखण्डलाऽ-
रण्यं खाण्डवमर्जुनप्रियसखः स्वाहा विधायार्चितात्।
उग्राग्नेरभिरक्षितेन च मयेनाऽन्वर्प्य तेभ्यः सभां
नीत्वा द्वारवतीमुवाह रविजां गोपेन्द्र! पुत्रस्तव ॥१२९॥

श्रीकृष्ण एवं यमुना, ये दोनों ही परस्पर की श्यामता के विस्तारित हो जानेपर, प्रेम में निबद्ध होने के भाव को बढ़ाने लग गये, एवं नेत्रजल विशिष्टता की विद्यमानता में बहते हुए पसीने के भाव को जान गये, तथा स्तम्भभाव की विशिष्टता जब अपने अधीन न रही, तब अस्त होते हुए विचार के भाव का अनुसरण करने लग गये ॥१२५॥

इस प्रकार दोनों के परस्पर भाव में विभोर हो जानेपर, अर्जुन ने सहायता करके बहुत देर में अपने मित्र श्रीकृष्ण को आश्चर्य से विरत कर दिया। उसके बाद अनुरागमात्र से जागृत होनेवाली लालसा से युक्त उन श्रीकृष्ण ने मूर्च्छित अवस्थावाली उस कालिन्दी को रथ में चढ़ाकर, बहुत देर में स्वस्थ होती हुई, एवं गुप्तरूप से अर्जुन के द्वारा लाई हुई को, अन्तःपुर की पति पुत्रवाली स्त्रियों के द्वारा रथ से उतरवा कर कुन्ती के पास पहुँचवा दिया ॥१२६॥

और कुन्ती ने अर्जुन से उस कालिन्दी के मर्म (रहस्य) को सुनकर, उसको देखकर निर्निमेष आदि भाव से उसी नित्यदाम्पत्य का निर्णय कर, स्वयं पलकरहित सी होकर विस्मय, आदर, एवं स्नेह आदि से मिश्रित अनेक वर्णों के भाव से उस कालिन्दी को बारंबार देखते देखते उत्तम स्त्रियों के बीच में बैठा दिया ॥१२७॥

मधुकण्ठ बोला—उसके बाद उन दोनों दूतों को वस्त्र अलंकार आदि से सम्पन्न करके, श्रीकृष्ण के निकट भेजनेवाले श्रीव्रजराज पुनः दूसरे अपने ही दो दूतों के द्वारा (श्रीकृष्ण का वृत्तान्त सभी व्रजवासियों को) सुनवाने लगे— ॥१२८॥

यथा—हे गोपराज! देखो, अर्जुन के प्रियसखा तुम्हारे पुत्र श्रीकृष्ण ने, पहले देवताओं के बढ़ई विश्वकर्मा के द्वारा पाण्डवों के इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) नामक नगर को बनाकर, इन्द्र के खाण्डव नामक वन को स्वाहा करके पूजित किये हुए, भयङ्कर अग्नि से बचाये हुए, मयदानव के द्वारा बनाई हुई सभा को उन

"तत्रेदं च तद्वनस्वामिनं प्रत्युपहसितमिव जातम्,—

'कोकिलादिमयं पूर्वमासीत् खाण्डवकाननम् ।
अधुनापि तथेत्थं मा शक्र वक्रं मनः कृथाः ॥' इति ॥१३०॥

"अथ व्रजराजः ससमाजः स्मितविराजमानं वदति स्म,—'तया परमधन्यया त्रयीतनुकन्यया पुनरन्यदीया कुलीनराजन्यकुलजन्यम्मन्यता लीनतामानिन्य एव; किन्तु पितरं विना तद्वितरं न मन्यामह इति तद्विशेषश्च वर्ण्यताम् ॥'१३१॥

"दूतावूचतुः,— 'सूर्यस्तन्निशमय्य भूर्यपि सुखं सज्जन् सुपर्वावलिं
सर्वां पर्वणि संवलय्य समगाद् गर्वादिवद्-द्वार्वतीम् ।
द्वार्वत्यप्यनुसद्मचार्वनुगतश्रीभिस्तमप्यात्मसात्-
कुर्वत्युद्यदपूर्वपूर्वरतया साऽऽकर्षदुर्वीमपि ॥१३२॥
ज्योतिर्विद् रविरेव वेदविहितं विद्वान् स एवाऽत्र यत्
कन्याया जनकश्च स क्व नु ततश्चित्रं भजेद् वर्ण्यताम् ।
यस्मिन् पाणिसमर्पणं स दुहितुश्चक्रे तमेतं तदा
पश्यंश्चित्रदशामसावपि ययावास्तामिदं दूरतः ॥"१३३॥

पाण्डवों के लिए समर्पण करके, एवं सूर्यकन्या कालिन्दी को द्वारका में ले जाकर, उसके साथ विवाह कर लिया ॥१२९॥

वहाँपर नगर सभा आदि का निर्माण, एवं खाण्डववन को भस्म करनारूप जो यह कार्य हुआ, वह तो खाण्डववन के स्वामी इन्द्र के प्रति उपहास सा ही हो गया। यथा—हे इन्द्र! पहले यह खाण्डववन जिस प्रकार कोकिल आदि से परिपूर्ण था, वह अब भी उसी प्रकार कोकिल आदि से परिपूर्ण है, उपहास पक्षे—कोकिलादिमय अर्थात् शान्त हुए अङ्गारों से परिपूर्ण है। अतः तुम अपने मन को पुनः इस प्रकार टेढ़ा नहीं करना ॥१३०॥

अनन्तर श्रीव्रजराज अपने समाज के सहित मन्दमुसक्यान से विराजमान होकर बोले—देखो, परमधन्या सूर्यकन्या उस कालिन्दी ने (गोपकुमार को अङ्गीकार करके) दूसरी राजकन्याओं की कुलीन क्षत्रियकुल में जन्म लेने की अहम्मन्यता तो लीनता को ही प्राप्त कर दी, किन्तु पिता के बिना उसके दान को हम नहीं समझ पा रहे हैं कि, किसने उसका दान किया ? अतः उसकी विशेष बात का भी वर्णन कर दो॥१३१

दोनों दूत बोले—सूर्यदेव तो "मेरी पुत्री श्रीकृष्ण ने अङ्गीकार कर ली है" यह सुनकर महान् सुख पाकर, अपनी कन्या के शुभविवाह महोत्सव में समस्त देवश्रेणी को एकत्रित करके (अहो बत स्वर्यशसस्तिरस्करी, भा० १।१०।२७ अर्थात् यह द्वारका स्वर्ग के यश का तिरस्कार करनेवाली है, इत्यादिरूप से वर्णित) गर्व आदिवाली द्वारकापुरी में चले आये। उस समय उस द्वारकापुरी ने प्रत्येक घर में अनुगत मनोहर शोभा सम्पत्तियों के द्वारा सूर्यदेव को भी अपने में लीन करते करते उदय होनेवाली अपूर्व पुरीश्रेष्ठ के भाव से पृथ्वी को भी आकर्षित कर लिया ॥१३२॥

और इस विवाह महोत्सव में ज्योतिषशास्त्रवेत्ता सूर्यदेव ही थे, एवं वे ही वेदविहित कार्य को ज़ाननेवाले थे, तथा वे ही कन्या के पिता भी थे। अतः ऐसा आश्चर्य और कहाँपर वर्णन करने योग्य हो सकता है ? अर्थात् कहीं नहीं। और जिस समय वे सूर्यदेव अपनी कन्या के हाथ को श्रीकृष्ण के प्रति

मधुकण्ठ उवाच,—"अथ पूर्ववत् पुनः पुनरागम्य वार्तावर्तिनः पञ्चमादींस्तदुद्वाहान् प्रपञ्चयामासुः ॥१३४॥

तत्र पञ्चमः

"राजाधिदेव्यास्तनयां पितृष्वसुः, स मित्रविन्दामहरद् वृतस्तया ।
विन्दानुविन्दाख्यतदग्रजद्वये, द्विषन्नृपाणां च चये निरुन्धति ॥१३५॥

"यत्र वन्दिभिरिदं वन्दितम्,—
'साऽजैषीन्मित्रविन्दा हरिवरणविधौ भ्रातृयुग्मं निरुन्धद्-
यद्वद् भ्रातृव्यवृन्दं हरिरिह हि तयोर्वीरभावः सदृक्षः ।
कस्याप्यात्मार्पणे वा प्रतिभटदलने कस्यचिद्वा भवेद् यः
सत्त्वोद्रेकस्तमेतं निगदति भरतः शश्वदुत्साहमेव ॥'१३६॥

"व्रजराजः सलज्जं व्याजहार,—'यादवक्षत्रियाणामयं किल कुलाचारः, यत् खल्वतिनिकटसम्बन्धिनामपि सम्बन्धितान्तरं घटते । वत्सस्य चास्माक गोत्रान्तरताचिन्तनया तत्र प्रवृत्तिर्जाता ॥'१३७॥

समर्पण करने लगे, तब उन्हीं दूल्हास्वरूप इन श्रीकृष्ण को देखते हुए वे सूर्यदेव भी चित्रलिखित सूर्य की सी दशा को प्राप्त हो गये । अतः इस आश्चर्य को दूर ही रहने दीजिये । क्योंकि ऐसा आश्चर्य और किसी विवाह में नहीं है ॥१३३॥

मधुकण्ठ बोला—उसके बाद पहले की भाँति बारंबार द्वारका से व्रज में आकर वृत्तान्त को प्रवृत्त करनेवाले दूत, श्रीकृष्ण के पाँचवें आदि विवाहों को विस्तारपूर्वक कहने लग गये ॥१३४॥

उनमें से पञ्चम विवाह का वर्णन, यथा—मित्रविन्दा के विन्द, अनुविन्द नामक दोनों बड़े भाई (अपने मामा के पुत्र श्रीकृष्ण को अपनी बहिन देना उचित नहीं, यह समझ कर, एवं दुर्योधन के वशीभूत होकर), स्वयंवर में श्रीकृष्ण को वरण करती हुई अपनी बहिन को जब रोक रहे थे, एवं श्रीकृष्ण के द्वेषी राजाओं के समूह भी जब प्रतिबन्ध डाल रहे थे, तब अपने पिता की बहिन राजाधिदेवी की पुत्री मित्रविन्दा श्रीकृष्ण ने स्वयंवर में ही हर ली । कारण—मित्रविन्दा ने श्रीकृष्ण को पहले ही पतिरूप में वर लिया था ॥१३५॥

जिस स्वयंवर में प्रस्ताव के सदृश कहनेवाले वन्दीजनों ने यह स्तुति की थी कि—इस स्वयंवर में श्रीकृष्ण ने जिस प्रकार शत्रुवृन्द को जीत लिया था, उसी प्रकार उस मित्रविन्दा ने श्रीकृष्ण के वरण करने की विधि में रुकावट डालनेवाले अपने दोनों भाइयों को जीत लिया । कारण—श्रीकृष्ण एवं मित्रविन्दा इन दोनों का वीरभाव समान ही था । क्योंकि किसी व्यक्ति का किसी के प्रति आत्मसमर्पण करने में जो चित्त का उद्रेक होता है, अथवा किसी व्यक्ति का प्रतिद्वन्द्वी योद्धा के दलन करने में जो बल का उद्रेक होता है, नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि उन दोनों प्रकार के सत्त्वोद्रेक को निरन्तर उत्साह ही कहते हैं ॥१३६॥

श्रीव्रजराज लज्जापूर्वक बोले कि—यदुवंशी क्षत्रियों का ही यह कुलाचार है, जो कि अत्यन्त निकट के सम्बन्धवाले व्यक्तियों का भी दूसरा सम्बन्ध संघटित हो जाता है (जैसे कि मामा के बेटा श्रीकृष्ण को फूफा की बेटी मित्रविन्दा विवाह दी, इत्यादि) । यदि कहो कि यदुवंशियों की सी प्रवृत्ति गोपजाति के तुम्हारे पुत्र श्रीकृष्ण की क्यों हुई ? इसके उत्तर में कहते हैं कि—हमारे लाला श्रीकृष्ण की मित्रविन्दा के

"दूतावूचतुः,—'तस्यां कन्यायामपि न्यायता नान्यथा न्याय्या; या खलु तं वीक्ष्य सहचरीभिरन्यथा शिक्ष्यमाणापि गाढमेव तदेकगतित्वमवगाढाऽऽसीत् ॥१३८॥

'यत्र च— कुलजे ! मातुलजन्मा, सोऽयं तव तोयदप्रख्यः ।

इति सुखमदिशन्महिलाः, सा शशिसुमुखी तु रविमुखी कलिता ॥'१३९॥

सर्वे पप्रच्छुः,—'तदवलोकनमवन्तीपुरावरोधवश्यायास्तस्याः कुत्र पर्यवस्यति स्म ?' ॥१४०॥

"दूतावूचतुः,—'तदिदमुद्धवेनाऽनुद्धतमावयोर्वर्णितम्, यत् पूर्वं नाम रामकृष्णावध्ययनसतृष्णावपह्नुत्य तत्र गतवन्तावास्ताम्, किन्तु भवच्छङ्काशङ्कासक्ततया न व्यक्तं कारयामासतुः । यत्र गुरुपुरुसेवाप्रचयाऽऽप्रणयानुभावाच्चतुर्दशापि विद्याश्चतुःषष्टिमपि कलास्तावद्भिरेव दिनैर्गच्छद्भिरधिजगाते । यत्र च ताभ्यामारब्धानि लब्धपञ्चत्वसत्त्वतत्तनयानयनमयपञ्चजनशमनशमन-विजयकर्माणि यदपि रचितशर्माणि, तदपि परजनकीयपरमदुष्करतया सदयानां मर्माणि भिन्दन्ति । यदनन्तरं तु राजमहादेव्या राजाधिदेव्या ज्ञाततत्त्वयोः स्नेहादनयोर्गेहाऽऽनयनपूर्वमपूर्वमातिथ्यं चक्रे ॥'१४१॥

वरण में प्रवृत्ति तो दूसरे गोत्र का विचार करके ही हुई थी । अर्थात् मैं गोपकुमार हूँ, ये यदुवंशी ठाकुर हैं, इस प्रकार गोत्र का भेद विचार कर हुई थी ॥१३७॥

दोनों दूत बोले—उस मित्रविन्दा नामक कन्या के विषय में भी अन्यथा न्याय करना, अर्थात् श्रीकृष्ण से भिन्न पति को वरण करने के लिए निश्चित करना उचित नहीं है । क्योंकि जो कन्या अपनी सखियों के द्वारा अन्यथा सिखाई जानेपर भी श्रीकृष्ण को देखकर, दृढतापूर्वक श्रीकृष्ण को ही एक प्राप्यस्वरूप मानकर उन्हीं में निमग्न हो गई थी ॥१३८॥

और जिस स्वयंवर में मित्रवृन्दा के प्रति महिलाओं ने सुखपूर्वक यह उपदेश दिया था कि—हे सत्कुल में उत्पन्न होनेवाली मित्रवृन्दे ! देख, तू जिसको वरण करना चाहती है, वह मेघ के समान वर्णवाला श्रीकृष्ण तो तुम्हारे मामा का पुत्र है (अतः उसको वरना उचित नहीं है) । इस प्रकार कहनेपर भी, चन्द्रमुखी वह मित्रविन्दा तो आन्तरिक क्रोध के कारण, सूर्य के समान लाल मुखवाली देखी गई थी ॥१३९॥

सभी सभासदों ने पूछा कि—अवन्तीपुरी के अन्तःपुर में पराधीन रहनेवाली उस मित्रविन्दा को श्रीकृष्ण का दर्शन कहाँपर परिणत हो गया ? ॥१४०॥

दोनों दूत बोले—यह श्रीकृष्ण का दर्शन आदि समाचार तो श्रीउद्धवजी ने हम दोनों के निकट सरलतापूर्वक वर्णन किया था कि, पहले श्रीकृष्ण बलदेव दोनों ही अध्ययन की लालसा से युक्त होकर, गुप्तरूप से अवन्तीपुरी में चले गये थे । किन्तु इतनी दूर अध्ययन करने जाने में आप से भय की आशंका में आसक्त होकर,दोनों भाइयों ने उस प्रसङ्ग को आपके निकट प्रगट नहीं करने दिया । और जिस अवन्तीपुरी में अपने गुरुदेव श्रीसान्दीपनिमुनि की विशेष सेवासमूह में चारों ओर स्नेह के प्रभाव से, दोनों भाइयों ने चौदह विद्याएँ एवं चौंसठ कलाएँ बीतते हुए उतने ही दिनों में अध्ययन कर ली थीं । और जहाँपर उन दोनों भाइयों के द्वारा आरम्भ किये गये "मृत्यु को प्राप्त हुए गुरुदेव के पुत्र को लाने में पञ्चजन नामक दैत्य का वध एवं यमराजपर विजय" इत्यादि कर्म यद्यपि गुरुदेव के सुखकारक हुए थे, तथापि अन्यजनों के सम्बन्ध में परमदुष्कर होने के कारण, दयालुजनों के मर्मों का तो भेदन ही करते हैं । जिसके बाद तो श्रीजयसेन महाराज की पटरानी श्रीराजाधिदेवी ने इन दोनों भाइयों के तत्त्व को जानकर, स्नेह के कारण

"व्रजराजः सास्रमुवाच,—'सदग्रगण्यश्रीमत्पितृचरणपर्जन्यपुण्यानुचरणधन्यतावशादेव साङ्गमङ्गलं सङ्गंस्यत इति, अत्र विशेषः कथ्यताम् ?' ॥१४२॥

दूतावूचतुः,—'स एष पुनरीदृगीदृक्' इति ॥१४३॥

मधुकण्ठ उवाच,—'तदेवं सर्वतत्पर्वश्रवणात् सर्व एव व्रजवासी चित्रमिवाऽऽसीदित्यलं कथितकथनेन ॥१४४॥

अथ षष्ठः

"तत्र व्रजराजं प्रति दूतौ व्याजह्रतुः,—'नग्नजिन्नाम्नः कोशलधाम्नः कन्या सन्यायमभिरुचितवनदाम्ना समानीता ॥'१४५॥

"व्रजराज उवाच,—'कथं कथमिति कथ्यताम् ।' "दूतावूचतुः,—'सा खलु तस्य दुहिता सत्यानाम्नी कृष्णतृष्णया सर्वत्यागपराऽऽसीत् ॥१४६॥ 'यत्र च—

उदयति नवमेघे लोलदृग् विद्युदालिः, स्वरविवलनगर्जा-विस्फुरद्वाष्पवृष्टिः ।
अभवदिति परं न प्राप तस्य स्वभावं, निखिलमपि यदार्द्रं निर्ममे तत्र सत्या ॥१४७॥

'पितापि तस्यास्तत् पश्यन् सुखवश्यमना बभूव, किन्तु भ्रातृव्यसदृशभ्रातृव्यबृहद्बलप्रबलबृहद्बलशवलमित्राणां भावविचित्राणामनुरोधान्न निजबोधार्हकार्याय पर्याप्नोति स्म ॥१४८

अपने महलमें लिवा जाकर अपूर्व अतिथि सत्कार किया था । अतः मित्रविन्दाको अपने घर बैठे ही श्रीकृष्ण का दर्शन हो गया था ।।१४१।।

श्रीव्रजराज सजलनयन होकर बोले कि—सज्जनों के अग्रगण्य श्रीमान् मेरे पितृदेव पर्जन्यजी महाराज के पुण्यमय अनुष्ठानों की धन्यता के कारण ही, सम्पूर्ण मङ्गल संघटित हो जायगा । अतः इस विवाह में कोई विशेष बात हो तो कहो ? ।।१४२।।

दोनों दूत बोले—इस विवाह की विशेष बात तो श्रीरुक्मिणी आदिकों के विवाह की तरह द्वारका में ही विवाह हुआ, यह समझ लेना चाहिये ।।१४३।।

मधुकण्ठ बोला—अतएव पूर्वोक्त प्रकार से श्रीमित्रविन्दा के साथ श्रीकृष्ण के सम्पूर्ण विवाह महोत्सव को सुनकर, समस्त व्रजवासीमात्र सभा में चित्रलिखा सा बैठा रह गया । अतः कहे हुए विषय के कहने से कोई प्रयोजन नहीं है ।।१४४।।

अब छठवें विवाह का प्रसङ्ग चलता है, यथा—उसमें श्रीव्रजराजके प्रति दोनों दूत बोले—अयोध्याधाम के नग्नजित् नाम के राजा की कन्या को, वनमाला में अभिरुचि रखनेवाले श्रीकृष्ण न्यायपूवक द्वारका में ले आये ।।१४५।।

श्रीव्रजराज बोले—किस किस प्रकार से ले आये सो कहो ? दोनों दूत बोले—सत्या नामवाली वह नग्नजित् की पुत्री श्रीकृष्ण की प्राप्ति की लालसा से सभी वस्तुओं के त्याग में तत्पर थी ।।१४६।।

और जिस समय श्रीकृष्ण के समान श्यामवर्णवाले नवीन मेघ के उदित होनेपर, वह सत्या चंचल दृष्टिरूप विद्युत् श्रेणीस्वरूप हो जाती थी, एवं स्वरभङ्गरूप गर्जनावाली होकर,स्फूर्ति पानेवाली अश्रुवृष्टिस्वरूप हो जाती थी । केवल श्रीकृष्ण के निजीभाव को नहीं प्राप्त कर पाती थी । क्योंकि उस समय वह सत्या अपनी अश्रुवृष्टि के द्वारा समस्त वस्तुमात्र को गीली कर देती थी ।।१४७।।

सत्या का पिता भी पुत्री के श्रीकृष्ण के ऊपर आसक्तिरूप व्यवहार को देखता हुआ, सुख के वशीभूत

"ततश्च बहु विचार्य तदिदं पर्यालोचयति स्म,—यत्र क्षत्रियमात्राणां न शक्तिपरिपक्त्रिमता, न चाऽभ्यासव्यासतः कृत्रिमता सज्जति, किन्तु सर्वशक्तिसमतिरिक्तस्य श्रीगोविन्दतया पुरमथनपुरःसरसुरसुरभिसमभिषिक्तस्य सज्जेत्। स एव समयः समयितव्यः, स च रभसपालितानां केनाप्यचालितानां दनुजताप्रबन्धावहानां वीरगन्धासहानां क्रोधतप्तानां सप्तानां सर्वदुर्धर्षशक्तावृषभाणां मम वृषभाणां युगपद्बन्धनमय एव युक्ततां संधत्त इति ॥१४९

'तदेवं पर्यालोच्य प्रथमतस्तावद् बृहद्बलादिसम्मतया तत्प्रत्यासन्नानां मुहुराहूतानां प्रभूतानां पृथिवीपुरुहूतानां क्षत्रिययूथानामप्यङ्गभङ्गकौतुकमवलोच्य स खलु साधूनामशोच्यः सभावतया श्रीकृष्णमाजुहाव ॥१५०॥

"व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः?' "दूतावूचतुः,—'ततः स तु पृथुकुतुकतया महापृतनावृतः सर्वसुखारामः सङ्गलसदर्जुनरामः समाजगाम; समागम्य च तस्य सौहार्दं हार्दभावमप्यधिगम्य जगददम्यं वृषसप्तकं यम्यं कर्तुमपि पराकर्तुमिव रहसि केन केनचित् प्रामाणिकेन

हुए मनवाला हो जाता था। किन्तु शत्रु के समान, एवं भाई का बेटा, तथा भारी सेना से प्रबल, इस प्रकार के बृहद्बल से मिले हुए मित्रों के भावों की विचित्रताओं के अनुरोध से, अपने ज्ञान के योग्य कार्य करने के लिये समर्थ नहीं हो पाता था ॥१४८॥

उसके बाद वह नग्नजित् बहुत कुछ विचार कर पुनः अपने मन में यह विचारविशेष करने लगा कि—"जिस प्रतिज्ञा में क्षत्रियमात्र की शक्ति की परिपक्वता उपयुक्त न हो सके, एवं अभ्यास के विस्तार से कृत्रिमता (बनावटीपन) भी उपयुक्त न हो सके, किन्तु सबकी शक्ति से बढ़े चढ़े हुए एवं 'श्रीगोविन्द' नाम से शिव इन्द्र आदि देव तथा कामधेनु के द्वारा अभिषिक्त हुए श्रीकृष्ण की शक्ति की ही परिपक्वता उपयुक्त हो सकती है, मुझको वही समय अर्थात् प्रतिज्ञा करनी चाहिये। और वह प्रतिज्ञा भी "हर्षपूर्वक पालित किये, किसी के द्वारा भी न चालित किये, एवं दैत्य प्रकृति के प्रबन्ध को धारण करनेवाले, वीरों के गन्ध को भी न सहनेवाले, क्रोध से सन्तप्त रहनेवाले, सभी के द्वारा दुर्धर्ष शक्ति में श्रेष्ठ कहानेवाले, इस प्रकार के मेरे सात बैलों का एकसाथ बाँधनारूप ही योग्यता को धारण कर रही है। अर्थात् जो व्यक्ति मेरे इन सात बैलों को एकसाथ बाँधकर नाथ डाल देगा, वही मेरी कन्या को ले लेगा। यही प्रतिज्ञा करनी उचित है। इसको केवल श्रीकृष्ण ही पूरी कर सकेंगे। अतः मैं बन्धुओं की विमति के बिना, अपनी कन्या को अनायास श्रीकृष्ण को दे सकूंगा ॥१४९॥

इस प्रकार विचारविशेष करके, पहले तो अपने भाई के पुत्र बृहद्बल आदि की सम्मति से, उन्हीं के निकटतम सम्बन्धवाले, एवं बारंबार बुलाये हुए, बहुत से राजेन्द्ररूप क्षत्रियसमूहों के (उन सात बैलों के सींगों के द्वारा) अङ्गभङ्ग के कौतुक (तमाशे) को देखकर, पश्चात् सज्जनों के अशोचनीय उस नग्नजित् राजा ने भावपूर्वक श्रीकृष्ण को बुलाया ॥१५०॥

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद? दोनों दूत बोले—उसके बाद सभी सुखों के उपवनस्वरूप श्रीकृष्ण तो अधिक कौतुकपूर्वक भारी सेना से घिरकर, सङ्ग में शोभायमान अर्जुन एवं बलराम को लेकर, अयोध्या में चले आये। और आते ही उसकी सुहृदता एवं हार्दिकभाव को जानकर, जगत्भर के अदमनीय सातों बैलों को दमन करने के लिए मानसिकभाव होनेपर भी, मानो निषेध सा करने को, अपना समाचार पहुँचाने के लिए द्वाररूप बनाये हुए किसी प्रामाणिक व्यक्ति के द्वारा, एकान्त

द्वारीकृतेन निवेदयामास,—नरेन्द्र ! तदिदं तवेन्द्रपर्यन्तं पर्यवसितमस्ति। यत् खलु स्वार्थनिबन्धनवृषबन्धनकन्याशुल्कसनिर्बन्धः स राजधुरन्धर इति। क्षत्रबन्धोरपि नायं सत्यसन्धो धर्मः, या खलु शौल्किकता; तस्मात् स्नेहवशाद् वरं देवाद् वरमिव भवतस्तां याचामहे, न तु शुल्कं दित्सामहे। राजा च सलज्जं तद्द्वारा तदिदं निवेदयामास—युक्तमेव तदिदं भवदुक्तम्; किन्तु मया नायं शुल्काचारः प्रचारितः। परं शुल्ककल्कतया भवत्येव वरतापर्यवसानाय तथाचर्यते स्म' इति ॥१५१॥

"व्रजराज उवाच—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—'अथ श्रीगोविन्दः स्मित्वा तदभीष्टमेवानुतिष्ठति स्म ॥१५२॥ यथा—

दुर्गे वज्रत्कवाटे व्यतिविघटनया पर्यटन्तः समन्तात्
तीव्रास्तीव्राग्रशृङ्गाः श्वसितविलसितस्फूर्जदूर्जस्विगर्जाः।
सप्तारिष्टातिदिष्टा दनुजतनुवृषाः कंसहन्त्राऽथ बद्धा
यद्धाहाकारमद्धा विदधदुत जगन्नद्धनेत्रं बभूव ॥१५३॥

उक्ष्णां निबन्धनकृते दनुजारिधाम, दामाऽभवत् परमभूदुपलक्षणाय।
यत् स्तम्भयत् स्फुटममूनपरांश्च शत्रू,-न्मध्याह्नसूर्यवददीप्यत तत्र तत्र ॥'१५४॥

में सुखपूर्वक निवेदन करवाया कि—हे राजन् ! तुम्हारा यह सङ्कल्प इन्द्रपर्यन्त पहुँच चुका है कि, भूपश्रेष्ठ वह नग्नजित् अपने स्वार्थ के कारण, बैलों के बन्धनरूप कन्या के शुल्क (टैक्स) में आग्रह से युक्त है। अधम क्षत्रिय का भी यह धर्म सच्ची प्रतिज्ञा से युक्त नहीं है, जो कि कर लेकर कन्या का दान करना। इसलिए हम तो स्नेह के वशीभूत होकर, आप से उस कन्या को देवता से वरदान की तरह माँगते हैं, यही अच्छा है; किन्तु शुल्क नहीं देना चाहते। राजा ने भी उसी प्रामाणिक के द्वारा लज्जापूर्वक यह निवेदन किया कि—हे भगवन् ! आपका यह कहना उचित ही है। किन्तु मैंने यह शुल्क का आचार प्रचारित नहीं किया है; अपितु, केवल शुल्क के दम्भ से आप में ही वर के भाव की समाप्ति करने के लिए उस प्रकार का आचारण किया है ॥१५१॥

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—तदनन्तर श्रीकृष्ण ने मुसक्याकर उसके अभीष्ट विषय का ही अनुष्ठान कर दिया ॥१५२॥

यथा—वज्र के से किवाड़ोंवाले किले में आपस में उलटा पलटी करके चारों ओर दौड़ते हुए, तीखे स्वभाववाले, तीखे हैं अग्रभाग जिनके ऐसे सींगोंवाले, श्वासों के विलासों के सहित स्फूर्ति पाती हुई तेजस्वी गर्जनावाले, सातों अरिष्टासुर की तुलनावाले, एवं असुर प्रकृतिवाले वे बैल कंसनिहन्ता श्रीकृष्ण ने बाँध दिये। जिस कारण साक्षात् हा हाकार करता हुआ जगत् मुंदे हुए नेत्रोंवाला हो गया ॥१५३॥

उस समय बैलों को बाँधने के लिए दैत्यारि श्रीकृष्ण का तेज ही रज्जूरूप हो गया था। दूसरी रज्जू तो दिखानेमात्र को थी। क्योंकि श्रीकृष्ण का तेज उन बैलों को, तथा दूसरे शत्रुओं को रोकता हुआ मध्याह्नकाल के सूर्य की तरह, उन सातों बैलों के बीच में और उन शत्रुओं के बीच में देदीप्यमान हो रहा था ॥१५४॥

"व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—
'तदा राजा राज्ञ्यः सकलनरनार्यश्च मुदिताः, स्फुरद्वाद्यप्रोद्यन्महसि हरये तामिह ददुः।
अथासौ तस्यानुव्रजनविधये यान् नियुयुजे, सदासीकान् दासान् बलसमुदयांस्तानपि ददे ॥१५५॥
वृषभैर्ये पुरा भग्नास्ते तु लग्ना हरेः पथि। विद्राविताः परं बीभत्सुना बाणैर्न दारिताः ॥'१५६

"व्रजराज उवाच,—'वत्सः किं मङ्गलसङ्गितया द्वारका-द्वारं सङ्गच्छति स्म ?' "दूतावूचतुः—'अथकिम्, यन्मात्रादत्रागमनायाऽऽवाभ्यां यात्रा कृता ॥१५७॥

अथ सप्तमः

"यदनु दूतावपरौ झटिति सम्भूतौ वदतः स्म,—श्रीवसुदेवस्वसृतया कीर्तितायाः श्रुतकीर्तेर्मूर्तिजाश्चामृतमूर्तिपूर्तिनिभकीर्तितया नग्नजिता तुलिता जाताः ॥'१५८॥

"सर्वे प्रोचुः—'कथमिव ?' "दूतावूचतुः,—'तेऽपि सर्वगुणभद्रां भद्रां नाम भगिनीं तया कृततृष्णाय कृष्णाय प्रददुरिति ॥१५९॥

'तथा हि— भ्रातृणां या हरौ भक्तिर्नूनं सैव स्वासाऽजनि।
तत्तादात्म्यादसौ तेषां तत्र हि व्यक्तिमागता ॥'१६०॥

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले - उस समय राजा, रानी ने, एवं अयोध्यावासी सकल नरनारियों ने हर्षित होकर, बजते हुए वाद्यों से देदीप्यमान इस महोत्सव में श्रीकृष्ण के लिए सत्यादेवी का दान कर दिया। उसके बाद अयोध्याधिपति नग्नजित् ने श्रीकृष्ण के अनुगमन करने के लिए दासियों के सहित जिन दासों को नियुक्त किया था, एवं जिस सेनासमूह को नियुक्त किया था, उन सबको भी श्रीकृष्णसेवार्थ दे दिया ॥१५५॥

उन सात बैलों ने पहले जिन राजाओं को भग्न (मर्दित) कर दिया था, वे सब तो श्रीकृष्ण से लड़ने के हेतु उनके मार्ग में संलग्न हो गये। किन्तु अर्जुन ने वे सब केवल भगा ही दिये, बाणों से विदीर्ण नहीं किये ॥१५६॥

श्रीव्रजराज बोले—बताओ, हमारा लाला मङ्गल के सहित द्वारकापुरी के द्वारपर पहुँच गया क्या ? दोनों दूत बोले—और क्या ? देखो, जिसके द्वारका के द्वारपर पहुँचते ही, हम दोनों ने यहाँ आने के लिए यात्रा कर दी थी ॥१५७॥

अब सप्तम विवाह वर्णित होता है। पहले दोनों दूतों के चले जानेपर, दूसरे दो दूत शीघ्र ही आकर सम्मिलित होकर बोले कि—श्रीवसुदेव की बहिनरूप से प्रसिद्ध श्रुतकीर्ति के पुत्र भी, चन्द्रमा की पूर्णता के समान कीर्ति होने के कारण, राजा नग्नजित् के समान हो गये ॥१५८॥

सभी व्रजवासी बोले—किस प्रकार हो गये ? दोनों दूत बोले—उन्होंने भी सभी गुणों से मङ्गलमयी अपनी बहिन भद्रा, भद्रा के द्वारा अपनी लालसा के विषय बनाये गये श्रीकृष्ण के लिए सहर्ष दे दी ॥१५९॥

देखो, भद्रा के सन्तर्दन आदि पाँचों भाइयों की श्रीकृष्ण में जो भक्ति थी, मानो निश्चितरूप से वह भक्ति ही भगिनी होकर प्रगट हो गई थी। क्योंकि यह उनकी भक्ति अपनी भगिनो से अभेद होने के कारण, उस भद्रा नामक भगिनी में ही प्रकाशित हो गई ॥१६०॥

"अथ दूताविव सूतावमू चेतसीदं विविचतुः,—'बाल्यतस्तद्भक्तिश्चाऽऽवाभ्यां तत्र तत्र सविविक्ति श्रुतापि नास्यां गुरुसभायां भासनीया ॥१६१॥ यथा—

श्यामाङ्गीं प्रतिमां विधाय मधुरां पीतांशुकामालिभि-
र्दीव्यन्ती विविधक्षितीशविभवेनाऽभ्यर्चयन्ती स्फुटम् ।
चित्ते यद् यदियं दधार कुलजा तत्तच्च चित्तादपि
त्रप्ता सा मुहुरावृतं विदधती प्रापाऽनवस्थां मुहुः ॥' इति ॥१६२॥

अथाष्टमः

"तत्र लब्धावसरयोरपरयोरपि सन्देशहरयोः कथितं प्रथितं क्रियते। यथा तावूचतुः,—'अस्ति मद्राधिपतिः पश्चिमायां दिशि कश्चिदच्छे सिन्धुनदकच्छे बृहत्सेननामा, तस्य कन्या च शुभलक्षणतया लक्ष्मणानामतां जगाम। सम्प्रति तु विलक्षणतया शुभक्षणा जाता ॥१६३॥

यतः,— 'यद्यपि कुलजा हरि-रति,-मन्तःस्थां सा न तु व्यनक्ति स्म ।
तदपि स्वाप्निकजल्पा,-स्तां व्यानञ्जुर्जने जनन्यादौ ॥१६४॥

'यथा— भास्वद्देव ! नमस्करोमि कृपया गृह्णीष्व हा मत्करा-
दर्घ्यं शश्वदनर्घ्यरत्नवलितं पूज्यां च पूजामिमाम् ।
किं वाच्यं बहुधा मयाऽत्रभवते पुत्रीतयाऽऽत्मार्पित-
स्तस्मात्तामिव मामपि प्रथय भोस्तेनेप्सितेनाऽन्विताम् ॥१६५॥

उसके बाद मधुकण्ठ एवं स्निग्धकण्ठ वे दोनों सूतपुत्र दो दूतों की तरह, अपने मन में यह विवेचना करने लगे कि—हम दोनों भाइयों ने बाल्यकाल से भद्रा की भक्ति उस उस सभा में विवेचना के सहित सुनी है, तो भी श्रीपर्जन्यादि गुरुजनों की इस सभा में प्रगट करने योग्य नहीं है ॥१६१॥

भद्रा की भक्ति, यथा—केकय (काश्मीर) देश के राजा धृष्टकेतु की पुत्री सत्कुलोत्पन्न यह भद्रा, श्याम अङ्गवाली पीतवस्त्रवाली श्रीकृष्ण की सुमधुर प्रतिमा बनाकर, अपनी सखियों के साथ खेलती हुई, अनेक प्रकार के राजकीय वैभव के द्वारा, स्पष्ट ही उस प्रतिमा की पूजा करती हुई, अपने मन में जो जो मनोरथ धारण करती थी, उस उस मनोरथ को वह अपने मन से भी लज्जित होकर, बारंबार छिपाती हुई बारंबार अस्थिरता को प्राप्त हो जाती थी ॥१६२॥

अब अष्टम विवाह वर्णित होता है। उसमें अवसर को प्राप्त करनेवाले दूसरे दो सन्देशवाहकों का कथन विस्तारित किया जाता है। यथा—पश्चिमदिशा में निर्मल सिन्धुनद के तीरपर मद्रदेश का अधिपति कोई बृहत्सेन नामक राजा विद्यमान है। उसकी कन्या भी शुभ लक्षणों के कारण, लक्ष्मणा नाम को प्राप्त हो गई है। किन्तु अब तो वह विलक्षण होने के नाते शुभ अवसरवाली हो गई है ॥१६३॥

कारण—यद्यपि ऊँचे कुल में उत्पन्न होनेवाली वह कन्या अपने अन्तःकरण में स्थित श्रीकृष्णप्रेम को कहीं भी प्रगट नहीं करती थी, तथापि उसके स्वप्न में होनेवाले कथन, उसकी माता आदि जन के निकट उस प्रेम को प्रगट कर देते थे ॥१६४॥

उसके स्वप्न के कथन, यथा—हे सूर्यदेव ! मैं आपको नमस्कार करती हूँ। अहह ! आप कृपा करके मेरे हाथ से निरन्तर अमूल्य रत्नों से युक्त इस अर्घ्य को एवं प्रशंसनीय इस पूजा को ग्रहण कर लीजिये। मैं पूज्यपाद आपके प्रति अनेक प्रकार से क्या कहूँ ? मैंने पुत्रीरूप से आपके प्रति आत्मसमर्पण कर दिया

हन्त व्योमनि नीरदभ्रमकरद्योतः किशोराकृति-
र्मां पश्यन् स्मितमातनोति तदहं विद्येय लीनाऽऽलिषु।
इत्थं किं बत लक्ष्मणा तव सुता निद्रायमाणा मुहु-
र्ग्रस्तं जल्पति मद्रभूप ! तदहं माताऽपि जानामि न ॥ इति ॥१६६॥

'ततश्च यस्तस्या देहजनकः, स एव स्नेहजनकः सन् मद्रपतिर्भद्रमुपायमिममुपेयाय; सर्वधानुष्कदुष्करकर्मणः फाल्गुनस्यापि यः फल्गुतामाधत्त ॥१६७॥

'तत्र तस्य विज्ञापिका तत्प्रतिज्ञा यथा—

विस्तीर्णप्राङ्गणान्तर्जलभृतपरिखादुर्गमाधःप्रदेश-
स्तम्भोपर्यावृतिस्थं वृतिरहिततलं भ्राम्यदुच्चैर्झषाङ्गम्।
यो दृष्ट्वा नीरमध्यप्रतिफलनवशादेकवारं शरेण
छिन्द्यान्मच्चापकर्षन्निम परमसुता लक्ष्मणाऽस्मै प्रदेया ॥१६८॥

'तदेवमेव निर्णीय च वितीर्णीकृत-तादृशपत्रिकः क्षत्रियानयमाजुहाव ॥१६९॥ किन्तु,

'मद्रेशेनाऽऽश्रितास्ते निजनिजविजयं व्यञ्जयन्तः क्षितीशाः
पूर्वात् पूर्वान्निजेषु स्फुटविजयविधिं प्रापुरासु क्रियासु।

है। अतः प्रभो ! आपकी पुत्री कालिन्दी की तरह आप मुझको भी, मनभावते श्रीकृष्णरूप वर से युक्त करके प्रसिद्ध कर दीजिये ॥१६५॥

लक्ष्मणा की माता उसके पिता के प्रति, उसके स्वाप्निक कथनों को निवेदित करती हुई बोली—हे मद्रदेश के राजन् ! देखो, तुम्हारी बेटी लक्ष्मणा सोती हुई "हाय ! आकाश में मेघ के भ्रम को उत्पन्न करनेवाले प्रकाशवाला कोई नवयुवक मुझको देखता हुआ मन्दहास्य करता रहता है, अतः मैं लज्जित होकर अपनी सखियों में छिप जाती हूँ" इस प्रकार बारंबार ग्रस्तं (अधूरे वचन) क्यों कहती रहती है ? मैं उसकी माता होकर भी उस वचन को नहीं समझ पाती हूँ ॥१६६॥

उसके बाद जो मद्रपति उस लक्ष्मणा के देह का जनक था, उसी ने उसके स्नेहजनक होकर, आगे की प्रतिज्ञा में कहा जानेवाला मङ्गलजनक यह उपाय प्राप्त किया कि, जिस उपाय ने सभी धनुर्धारियों के द्वारा न करने योग्य कर्म को करनेवाले अर्जुन की भी निःसारता पुष्ट कर दी ॥१६७॥

वहाँपर उस उपाय की विज्ञापिका मद्रपति की प्रतिज्ञा, यथा—विशाल प्राङ्गण के बीच में जल से भरी हुई परिखा (खाई) में, दुर्गम नीचे के प्रदेश में स्तम्भ के ऊपर आवरण में स्थित, एवं जिसका तल-भाग आवरण से रहित है, तथा जो अतिशय घूम रहा है, ऐसे उस मत्स्य (मछली) के शरीर को जल में प्रतिबिम्बित होने के कारण, एकबार देखकर जो व्यक्ति मेरे धनुष् को खींचकर, चढ़ाकर, बाण के द्वारा काट देगा; उसी व्यक्ति के लिए मेरी श्रेष्ठपुत्री लक्ष्मणा दे दी जायगी ॥१६८॥

अतएव इसी प्रकार निर्णय करके, उस प्रकार की प्रतिज्ञा-पत्रिका को वितरण करके, मद्रपति ने वीरक्षत्रिय बुला लिये ॥१६९॥

किन्तु मद्रदेश के द्वारा पूजित हुए वे भूपति, अपनी अपनी विजय को व्यक्त (प्रगट) करते हुए "धनुष् को ग्रहण करना, धनुष्पर डोरी चढ़ाने में न गिरना, धनुष्पर डोरी चढ़ा देना, वेधन करने योग्य मछली के प्रान्त का स्पर्श कर लेना" इत्यादिरूप से धनुष् को लक्ष्य करके, प्रयोजन का निर्वाह करनेवाली

आदानं ज्यानिधानेऽस्खलनमधिकृतज्यात्वमामृष्टवेध्य-
प्रान्तत्वं चेति जाता धनुरनु बत या या च निर्वाहितार्था ॥१७०॥

'तथा हि— वन्दे तं मद्रेन्द्रं, यः कृष्णस्य द्विषच्चक्रम् ।
कन्यालम्भनदम्भात्, न्यक् चक्रे तत्क्रमेण तेनैव ॥१७१॥

यस्मिन्मागध-चेदिप,-दुर्योधन-भीम-कर्णाद्याः ।
मौर्वीरोपणमात्रं, चक्रुस्तत्राऽपरे वराकाः के ? ॥१७२॥

'यत्र तु— येन झषाङ्गमदृष्टं, स्पृष्टं बाणेन पश्यतां जगताम् ।
अपि जिष्णुं तं जिष्णुं, तच्छिदमजितं नृपो वरं मेने ॥१७३॥

परमर्जुननामा प्राक्, वपुषि च पुनरर्जुनत्वमायातः ।
कृष्णेनैव स्वजया,-दिह हि स्मितरोचिषा निचितः ॥१७४॥

मीनं बृहत्सेनकृतं बकीरिपु,-श्चिच्छेद यत्तन्मिषमेव केवलम् ।
किन्तु द्विषां मानमिति प्रतीयता,-माकारभेदान्न च तत्र भिन्नता ॥१७५॥

जो जो क्रिया हुई, उन क्रियाओं में अपने वर्गवाले भूपतियों में पहले पहले की अपेक्षा दूसरे दूसरे भूपति स्पष्ट ही विजय की विधि को प्राप्त हो गये ॥१७०॥

देखो, मैं तो उसी मद्रदेश के अधिपति का अभिवादन करता हूँ कि, जिसने श्रीकृष्ण के शत्रुसमूह को अपनी कन्या के दान के बहाने धनुष् का चढ़ाना आदि पूर्वोक्त क्रम से नीचा कर दिया ॥१७१॥

एवं मत्स्य के भेदनरूप जिस कार्य में जरासन्ध, शिशुपाल, दुर्योधन, भीष्म, एवं कर्ण आदि वीरवरों ने धनुष् की प्रत्यञ्चा का आरोपणमात्र किया था, उस मत्स्यभेदन के विषय में और दूसरे बिचारे कौन समर्थ हो सकते थे ? ॥१७२॥

और जिस विषय में जयशील जिस अर्जुन ने न दीखते हुए मत्स्य के शरीर को सभीजनों के देखते हुए अपने बाण से स्पर्श कर लिया, उस अर्जुन को भी जीतनेवाले, एवं उस मत्स्य का छेदन करनेवाले श्रीकृष्ण को ही, राजा ने अपनी कन्या का वर मान लिया ॥१७३॥

और देखो, अर्जुन पहले केवल अर्जुन नामवाला ही था, किन्तु इस मत्स्यभेदन के प्रसंग में श्रीकृष्ण ने ही अपनी विजय दिखाकर, अपने मन्दहास्य की कान्ति से व्याप्त हुआ अर्जुन, पुनः शरीर में भी अर्जुन-भाव को, अर्थात् शुक्लवर्ण को तथा शुद्धभाव को प्राप्त हो गया ॥१७४॥

श्रीकृष्ण ने बृहत्सेन राजा के बनाये हुए मत्स्य का जो छेदन किया था, वह तो केवल छलमात्र अर्थात् बहानामात्र था। किन्तु शत्रुओं के मान का ही छेदन कर दिया, यही समझ लीजिये। क्योंकि उसमें आकार के भेद से भिन्नता नहीं है। तात्पर्य—श्रीकृष्ण ने जिस बाण के द्वारा मीन का छेदन किया था, उसी बाण के द्वारा वहाँपर उपस्थित सभी शत्रुओं के मान का भी छेदन हो गया था। एक कार्य के द्वारा दूसरा कार्य भी सिद्ध हो जाना, यही आकार का भेद है। वस्तुतस्तु, मीन शब्द के दीर्घ ईकार के स्थान में आकार कर देने से, मान शब्द बन जाता है, अतः मीन शब्द के साथ मान शब्द के आकारमात्र का भेद है ॥१७५॥

'छेदनं च तदेवं वर्णयन्ति—

धृत्वा धनुर्गुणयुतं विदधद् विबृंह,-ट्टङ्कारघोषमभिकृष्य कपोलमूले ।
बाणं जहद् वृतिविभेदनपूर्वमारा,-दन्तर्झषस्य च खलस्य च निर्विभेद ॥१७६॥

भिन्दन् दीव्यदभेद्यदिव्यकवचद्वित्रस्थितिं प्रावृतिं
छिन्दन् वज्रविनिर्मितं प्रतिलवं भ्राम्यन्तमन्तर्झषम् ।
तत्तद्घर्षणधर्षजातहुतभुग्विस्फारगर्जश्रिया
तर्जन् सर्वगशत्रुखर्वमसुरच्छेत्तुर्विजिग्ये शरः ॥१७७॥

यदाभिजित्-ख्यातिरभून्मुहूर्तक,-स्तदा बकारेः समयोऽप्यजायत ।
यदा स जज्ञे स झषं तदाऽच्छिनद्, यदाऽच्छिनद् द्योः कुसुमं तदाऽपतत् ॥१७८॥

ततः पपाताऽसकृदेव तद् यदा, तदा हरिं मद्रपतेः सुताऽवृणोत् ।
वव्रे यदा सा भुवि दिव्यपि स्फुटं, वाद्यानि वन्द्यानि तदा च जज्ञिरे ॥'१७९॥

"व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—'ततश्च माधवस्तान् मागधादीन् प्रकोप्य तां वदननयनकरचरणरुचिभिः कञ्जवनीमिव रथमारोप्य शरपञ्जरेण सङ्गोप्य च द्वारकामटन्नग्रतो घटमानांस्तान् राजहंसान् घनागम इव घनबाणप्रक्षेपवर्षधाराभिर्विद्रावयामास; कांश्चन प्राणैर्विच्यावयामास च ॥१८०॥

मीन का जो छेदन हुआ उसको विज्ञजन इस प्रकार वर्णन करते हैं कि—श्रीकृष्ण ने पहले धनुष् को धारण करके, उसको डोरी से युक्त करते हुए, एवं बढ़ते हुए टङ्कार शब्द के सहित कानतक खींचकर बाण छोड़ते हुए, मीन के ढकने को तोड़कर, दूर से ही मीन के मध्यस्थल को और दुष्टों के अन्तःकरण को विदीर्ण कर दिया ॥१७६॥

और असुरों का छेदन करनेवाले श्रीकृष्ण के बाण ने, प्रकाशमान एवं अभेद्य दिव्य कवच के द्वारा, दो तीन परत की स्थितिवाले आवरण को, अर्थात् मीन के ऊपर के ढकने को भेदन करते हुए, एवं वज्र से बने हुए, प्रतिक्षण घूमते हुए मीन के मध्यभाग का छेदन करते हुए, तथा आवरण और मीन के घिसने की प्रगल्भता से उत्पन्न हुई अग्नि की विशाल गर्जना की शोभा से तर्जन (फटकार) लगाते हुए, सर्वत्र विद्यमान अरबों खरबों शत्रुओं को जीत लिया ॥१७७॥

और देखो, जब अभिजित् नाम से प्रसिद्ध मुहूर्त उपस्थित हो गया, तब श्रीकृष्ण का मत्स्यभेदन का समय भी हो गया था। और जब वह समय हो गया, तब मत्स्य का भी छेदन कर दिया। एवं जब मत्स्य-छेदन हो गया, तब आकाश से पुष्पों की वृष्टि हो गई ॥१७८॥

जब आकाश से बारंबार पुष्प गिरने लगे, तब मद्रपति बृहत्सेन की कन्या ने श्रीकृष्ण का वरण कर लिया। और उसने जब श्रीकृष्ण का वरण किया, तब भूमि में एवं स्वर्ग में प्रशंसनीय बाजे बजने लगे ॥१७९

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उसके बाद श्रीकृष्ण ने उन जरासन्धादिकों को प्रकुपित कर, एवं मुख, नेत्र, कर, चरण आदि की कान्तियों के द्वारा कमलों की वनी की तरह उस लक्ष्मणा को रथ में चढ़ाकर, बाणों के द्वारा बनाये हुए पिंजरे के द्वारा गुप्त करके, द्वारका को जाते हुए, मार्ग में आगे की ओर युद्ध की चेष्टा करनेवाले उन जरासन्ध आदि शत्रुओं को "वर्षाकाल जिस

'अथागतः स्वपुरमसावशोभयद्, व्रजेशितस्तव तनुजः स्वया रुचा ।
यथा भजन्नवसरमात्मतेजसा, स्वमण्डलं वलयति विष्णुभास्करः ॥१८१॥

'ततश्च बृहत्सेनया बृहत्सेनस्तत्र सङ्क्रम्य महोत्सववलित-विवाहोत्सवमुच्छलयामास' इति ॥"१८२॥ अथ मधुकण्ठः समापनमाह स्म,—

"आज्ञयैव भवतां व्रजेश्वर !, प्राज्ञ एष खलु ताः करेऽग्रहीत् ।
साम्प्रतं तव मनोरथस्थितिं, तां प्रतत्य बलते त्वदन्तिकम् ॥१८३॥
तदेवमाकर्ण्य बलाद् व्रजेशिता, तमङ्कमाकृष्य मुदाङ्कपालयन् ।
अस्राणि सुस्राव तदीयमस्तके, व्रजेश्वरी चात्र ययौ यदात्मताम् ॥१८४॥

"अथ व्रजवन्दिनस्तं वन्दमानाः सर्वमानन्दयन्ति स्म—

'इत्थमत्र भीष्मजादि-तिस्र एष सद्द्विजादि,-लोकवर्गपर्वगाहशर्मकेलिभागुवाह ।
तां तपस्यदर्कजां च तत्र तर्षभाजमाश्व,-दङ्ग मित्रविन्दया स विन्दकानुविन्दयास,-
नाशनेन वव्र एव शृण्विदं च गोष्ठदेव !, कोशलेशजां च तत्र तां बभाज सुष्ठु यत्र,
मत्तभद्रसप्तकं च तन्निवध्य शं ववश्च, किञ्च भद्रिकां च नाम सोदराः प्रदानधाम,-
योग्यतामवेत्य कृष्णमन्वदुः स्वभक्ततृष्ण,-मष्टमे विवाह एवमुन्नयस्व गोपदेव !,

---

प्रकार राजहंसों को भगा देता है", उसी प्रकार घने बाणों के प्रक्षेपरूप वर्षा की धाराओं के द्वारा भगा दिया, और कितने ही शत्रुओं को प्राणों से वियुक्त कर दिया ॥१८०॥

हे व्रजराज ! देखो, विष्णु नामक सूर्य अवसर को पाकर अपने तेज के द्वारा, अपने मण्डल को जिस प्रकार सुशोभित कर लेता है, उसी प्रकार आपके लाला श्रीकृष्ण ने अपने द्वारकापुर में आकर, अपनी लोकोत्तर कान्ति के द्वारा अपने पुर को सुशोभित कर दिया ॥१८१॥

उसके बाद बृहत्सेन राजा ने भारी सेना के सहित द्वारका में जाकर, गाने बजाने आदि महोत्सव के सहित, अपनी पुत्री के विवाहोत्सव को भली प्रकार झलका दिया ॥१८२॥

अनन्तर मधुकण्ठ प्रसङ्ग की समाप्ति का द्योतक वचन बोला—हे व्रजेश्वर ! इन बुद्धिमान् श्रीकृष्ण ने आपकी आज्ञा से ही उन रुक्मिणी आदिकों का पाणिग्रहण किया है। किन्तु अब तो आपके पूर्वोक्त मनोरथ की स्थिति को विस्तारित कर आपके निकट ही विराजमान हैं ॥१८३॥

मधुकण्ठ के इस प्रकार के वाक्य सुनकर, श्रीव्रजराज बलपूर्वक श्रीकृष्ण को अपनी गोद में खींचकर हर्षपूर्वक आलिङ्गन करते हुए, श्रीकृष्ण के मस्तकपर आँसू बहाने लग गये। और व्रजेश्वरी माँ श्रीयशोदा भी इस अवसर में श्रीकृष्ण में तदाकार हो गईं ॥१८४॥

अनन्तर व्रज के वन्दीजन श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए सभी को आनन्दित करने लगे—हे सत्समाज में विराजमान ! गोपराज ! आप नेक इन श्रीकृष्ण की ओर तो देखो, देखो। इन ने इस प्रकार ब्राह्मण आदि जनसमूह के सहित महोत्सव में निमग्न हो, सुख एवं क्रीडा को सेवन करके, भीष्मकनन्दिनी रुक्मिणी आदि तीन कन्याओं का पाणिग्रहण किया, अर्थात् पहले रुक्मिणी, सत्यभामा, जाम्बवती इन तीनों के साथ विवाह किया। एवं पश्चात् अपने ऊपर तृष्णावाली, यमुना के अन्तर्द्वीप में तपस्या करनेवाली सूर्यपुत्री कालिन्दी को प्राप्त कर लिया। पुनः विन्द, अनुविन्द के प्रयास को नष्ट कर उनकी बहिन मित्रविन्दा ने

लक्ष्मणाख्यमद्रराज-कन्यकां च कृष्णभाज,-मुद्रितकर्य तं तु पात्रमैच्छदेव तत्पितात्र । किन्तु तत्र लक्ष्यमेष निर्ममेऽल्पमत्स्यवेष,-मेतमत्र दृष्टयतीतमुद्बिभेद यः प्रतीत,-कीर्तिरेनमानिनाय घोष एव शं विधाय, पश्य पश्य गोपराज ! राजमानसत्समाज ! ।।'इति।।" ।।१८५।।

तदेवं व्रजेश्वरसभान्तः कथायां समाप्तप्रथायां श्रीराधिकामाधवसभान्तः प्रथितं कथितम् ।।१८६।।

यथा मधुकण्ठ उवाच,—"य एते विवाहाः प्रस्तुतास्तान् खलु तदानीं दूतमुखादमूर्व्रज-चमूरुनयनाः पूर्णतया नानुभूतवत्यः, किन्तु परम्परया यत् किञ्चिदेवेति पूर्वमेव व्यञ्जितमस्ति; सम्प्रति श्रीकृष्णस्य तात्पर्यं पर्यालोच्यते ।।१८७।।

"विवाहा यत् कृताः कृष्णेनाऽऽसीत्तत्कालयापनम् ।
गोपजाः क्षत्रजाताश्च तदमूरेकधर्मिकाः ।।१८८।।

"कुरुक्षेत्रयात्रायां हि श्रीरुक्मिण्यादीनां श्रीकृष्णप्रवणताश्रवणकरीगणनायां (भा० १०।८४।१) 'श्रुत्वा पृथा सुबलपुत्र्यथ' इत्यादौ 'उत स्वगोप्यः' इत्यनेन तासामासु स्वैकरूप्यमनुमोदनं च दर्शितम् ।।१८९।।

श्रीकृष्ण को वर लिया । हे व्रजराज ! आप यह भी सुनिये कि, कोशलपति नग्नजित् की पुत्री सत्या को अयोध्या में अङ्गीकार किया कि, जहाँपर मदमत्त उन सात बैलों को बाँधकर श्रीकृष्ण ने मङ्गल को भी प्राप्त कर लिया । किंच सन्तर्दन आदि पाँचों भाइयों ने भद्रा नाम की अपनी बहिन दान के स्थान की योग्यता को जानकर, अपने भक्तोंपर तृष्णा रखनेवाले श्रीकृष्ण को समर्पण कर दी । हे गोपराज ! श्रीकृष्ण के अष्टम विवाह के विषय में आप इस प्रकार समझ लीजिये कि, लक्ष्मणा नामक मद्रराज की कन्या को श्रीकृष्ण का भजन करनेवाली समझ कर, उसका पिता बृहत्सेन श्रीकृष्ण को ही अपनी कन्या के योग्य चाहता ही था; किन्तु उसने श्रीकृष्णरूप वर की प्राप्ति के विषय में छोटे से मीन के वेषवाला लक्ष्य (बहाना) बनाया । अतः प्रसिद्ध कीर्तिवाले जिन श्रीकृष्ण ने दृष्टि के अगोचर उस मीन का भेदन कर दिया था, उन्हीं इन श्रीकृष्ण को इस व्रज ने अपने गुणों के द्वारा मङ्गलविधानपूर्वक बुला लिया है ।।१८५।।

इस प्रकार श्रीव्रजराज की सभा के मध्य की कथा की परिपाटी समाप्त हो जानेपर, श्रीराधा-माधव की सभा में विस्तारित कथा, यथा— ।।१८६।।

मधुकण्ठ बोला—श्रीरुक्मिणी आदि के ये पूर्वोक्त विवाह श्रीव्रजराज की सभा में जब प्रस्तुत हुए थे, तब उनका, मृगलोचना उन व्रजाङ्गनाओं ने दूतों के मुख से पूर्णरूप से अनुभव नहीं किया था, किन्तु परम्परा से यत् किञ्चित् (थोड़ा सा ही) अनुभव किया था । यह बात पहले ही व्यक्त कर दी गई है । अब तो उन विवाहों के विषय में श्रीकृष्ण के तात्पर्यपर विचार किया जाता है ।।१८७।।

देखो, श्रीकृष्ण ने द्वारका में जो विवाह किये थे, वह तो केवल समय बिताने का उपाय था । कारण चन्द्रावली आदि गोपियाँ एवं श्रीरुक्मिणी आदि क्षत्रिय कन्याएँ वे सब एकसे धर्मवाली थीं, अर्थात् उन सबका श्रीकृष्ण-सेवारूप एक ही धर्म था ।।१८८।।

क्योंकि कुरुक्षेत्र की यात्रा में श्रीरुक्मिणी आदि पटरानियों की श्रीकृष्ण में जो तत्परता थी, उसके श्रवण करनेवाली अङ्गनाओं की गणना में "कुन्ती, गान्धारी, द्रौपदी, सुभद्रा, और राजमहिलाएँ तथा निजी गोपियाँ, ये सब सर्वान्तर्यामी श्रीकृष्ण में रुक्मिणी आदि आठ पटरानियों के निर्मल प्रेमानुबन्ध को

"तथा हि— चन्द्रालया भीष्मकन्या वृषरविसुतया सत्यभामा विशाखा-
नाम्न्या द्योरत्नकन्या स्फुरति ललितया जाम्बवद्वर्ष्मजाता ।
श्यामाङ्गया लक्ष्मणाख्या शिवितनुजनुषा मित्रविन्दाऽभिधाना
भद्रावल्याऽथ भद्रा प्रकृतिदरसमा पद्मया सा च सत्या ॥१९०॥

"न केवलमेकधर्मत्वमिति कृष्णस्यैव शर्मकारणताऽऽसीत्, किन्तु चरणाभ्यङ्गेन दृष्टीनामिव तत्तद्भोगेनैतासामपि कथमप्यैक्यांशवशाद् यत्किञ्चित् सन्तर्पणमेव जातम् । कालक्षेप एव तेन जज्ञे, न चातिविक्षेपः ॥१९१॥

"आस्तामैक्यांशभाजां नृपपदसुदृशां कृष्णसङ्गस्य गोपी-
ष्वन्तःस्फूर्तिः परामप्यनुभव दशमे युग्मकाऽध्यायदृष्ट्या ।
वंशीवल्लीनदीनां यदि च स कुरुते दूरगश्चुम्बनाद्यं
तर्ह्यप्येताः स्फुरत्तत्प्रमदजपुलकस्तम्भतां सम्भवन्ति ॥१९२॥

सुनकर, आँसुओं से व्याकुल नेत्रोंवाली होकर अत्यन्त विस्मित हो गई थीं" इस भागवतीय प्रमाण के द्वारा उन गोपियों की उन रुक्मिणी आदि में अपनी एकरूपता ही अनुमोदन करके दिखाई है ॥१८९॥

देखो, चन्द्रावली सखी के साथ श्रीरुक्मिणी, वृषभानुनन्दिनी श्रीराधिका के साथ सत्यभामा, विशाखा के साथ सूर्यकन्या कालिन्दी, ललिता के साथ जाम्बवती, श्यामासखी के साथ लक्ष्मणा, शैव्यासखी के साथ मित्रविन्दा, भद्रावलीसखी के साथ भद्रा, एवं पद्मासखी के साथ सत्या, स्वभाव से या देह से किंचित् समान स्फूर्ति पा रही है ॥१९०॥

इन सबकी परस्पर केवल एकधर्मता थी, इसीलिए श्रीकृष्ण के सुख की कारणता थी, सो बात नहीं है। किन्तु चरणों में तैलमर्दन करने से जैसे नेत्रों की तृप्ति होती है, उसी प्रकार श्रीरुक्मिणी आदि उन उन पटरानियों के उपभोग से इन गोपियों की भी किसी प्रकार एकता (समानता) के अंश के कारण किंचित् तृप्ति ही हुई थी। उस से कालक्षेप (समय बिताना) ही हुआ था, किन्तु विक्षेप नहीं हुआ। अर्थात् रुक्मिणी आदि पटरानियाँ श्रीकृष्ण के चरणस्थानीय हैं, एवं श्रीराधिका आदि गोपियाँ उनके नेत्रस्थानीय हैं। अतः श्रीकृष्ण के द्वारा पटरानियों के उपभोग से गोपियों को किंचित् तृप्ति ही हुई, किन्तु उनके चित्त में किसी प्रकार का विक्षेप नहीं हुआ ॥१९१॥

गोपियों के साथ एकता के अंश का सेवन करनेवाली श्रीरुक्मिणी आदि पटरानियों के श्रीकृष्ण के सम्बन्ध की स्फूर्ति गोपियों में भी होती थी, इस बात को तो रहने दीजिये। किन्तु अब श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध के युग्मकश्लोक प्रतिपादक युगलगीतवाले पैंतीसवें अध्याय की दृष्टि से दूसरी प्रकार की स्फूर्ति का भी अनुभव कीजिये। देखो, वे श्रीकृष्ण व्रज में यदि दूर से ही वंशी, लता, एवं नदियों का चुम्बन करते हैं, अर्थात् वंशी का निज मुख से, एवं लताओं का करद्वारा स्पर्श से, तथा नदियों का चरणस्पर्श से यदि चुम्बन करते हैं, तब भी ये गोपियाँ श्रीकृष्ण के स्फुरित हर्ष से रोमाञ्च, एवं स्तम्भभाव को प्राप्त हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में रुक्मिणी आदिकों के श्रीकृष्णसम्बन्धी संग की स्फूर्ति गोपियों में होनी असम्भव नहीं है, यह तात्पर्य है ॥१९२॥

"तत्रैव चोक्तम्, (भा० १०।३५।२६)—

'एवं व्रजस्त्रियो राजन् ! कृष्णलीलानुगायतीः ।
रेमिरेऽहःसु तच्चित्तास्तन्मनस्का महोदयाः ॥' इति ॥१९३॥

"तदेवं वक्ष्यमाणषोडशसहस्रसंख्येन परिणयनेनान्यासामपि गम्यमिति । गच्छतु तावद् गतम् ॥१९४॥ साम्प्रतं तु,—

"राधे ! त्वदालिङ्गनसङ्गिनो हरे,-र्दूरात् पुरस्था विरमन्तु ताः प्रियाः ।
श्रीमद्व्रजे सम्प्रति सङ्गताश्च या, नाप्नुरपि त्वत्तुलनां हि बिभ्रति ॥" इति ॥१९५॥

तदेवं प्रथयित्वा कथकौ सर्वैः सह वासमासन्नौ श्रीराधामाधवौ च तदेतदतिरम्यं निशम्य सम्यक् सुखमधिगम्य तम्यन्तःक्रम्यलीलागृहमेव शीलयामासतुः ॥१९६॥

इति श्रीश्रीमदुत्तरगोपालचम्पूमनु समाप्तपरविवाह-सप्तकं नाम सप्तदशं पूरणम् ॥१७॥

उसी युगलगीत के अन्त में कहा भी है कि—हे राजन् ! परीक्षित् ! व्रजाङ्गनाएँ इस प्रकार श्रीकृष्ण लीलाओं का गायन करती हुईं, श्रीकृष्ण में ही अपने चित्त मन को लगा कर, महानुभावों के अभ्युदय के सहित, दिनों में विहार करती थीं ॥१९३॥

अतः इसी प्रकार आगे के प्रसङ्ग में कहे जानेवाले, सोलह हजार की संख्यावाले, श्रीकृष्ण के विवाहों के द्वारा अन्य सोलह हजार श्रीकृष्णपत्नियों के श्रीकृष्ण के सङ्ग की स्फूर्ति गोपियों में होती थी, इस रहस्य को भी जान लेना चाहिये । अच्छा, बीते हुए प्रसङ्ग को जाने दीजिये ॥१९४॥

किन्तु अब तो हे श्रीमति राधिके ! तुम्हारे आलिङ्गन के सङ्गी श्रीकृष्ण की द्वारकापुरवासिनी प्रियाएँ दूर से ही विराम करें । क्योंकि इस समय शोभायमान व्रज में भी जो अनेक प्रकार की गोपियाँ श्रीकृष्ण से सम्मिलित हुई हैं, वे भी तुम्हारी तुलना को नहीं धारण कर रही हैं, अर्थात् अब तो आप ही सर्वोपरि विराजमान हो । आपकी जय जयकार हो ॥१९५॥

इस प्रकार विवाहों की कथा को कहकर, दोनों कथावाचक सभी श्रोताओं के सहित अपने निवास-स्थानपर पहुँच गये । श्रीराधा-माधव भी अत्यन्त रमणीय इस वाक्य को सुनकर, अच्छी प्रकार सुख पाकर, रात्रि में विहार करने योग्य, लीलाभवन का अनुशीलन करने लगे ॥१९६॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रिविरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीमदुत्तरगोपालचम्पूकाव्ये समाप्त–पर (अन्य)विवाहसप्तकं नाम
सप्तदशं पूरणं सम्पूर्णम् ॥१७॥

अथाष्टादशं पूरणम्

षोडशसहस्र-कन्याविवाहः

अथ श्रीकृष्णमुखसुषमापानलब्धसुखमहसि श्रीव्रजेशप्रमुखसदसि स्निग्धकण्ठः कथयामास,—"कदाचिद् दूतान्तरयोः पूर्ववल्लब्धान्तरयोः श्रीव्रजेशप्रश्नः—'कथ्यतां तथ्यमिदानीन्तनं श्रीहरिचरितम् ॥'१॥

"दूतावूचतुः,—'इदानीमतीतनृलोकः खलु तस्य देवर्षभदेवर्षि-प्रश्नोत्तरमयश्लोक-युगलात्मकः श्लोकः सोऽयमुदभूत्—

'को नाम नरकच्छेत्ता घटते सुरभूसुर ! ?। यो नाम्ना नरकच्छेत्ता सुरलोकभुवां सुर ! ॥२॥

कुर्यादपारिजातं कः स्वर्गं स्वर्गतपोधन ! ? ।
कुर्यादपारिजातं यः स्वर्गं स्वर्गाधिनायक ! ॥' इति ॥३॥

"व्रजराज उवाच,—'विशेषः शेषश्चेत् कथ्यताम् ।' "दूतावूचतुः,—'एकदा सदा शुभधर्मायां सुधर्मायां त्रिलोकीपालनकर्मा नर्मादिना सर्वेषां शर्माऽनुरचयन् विरुरुचे; विरोचमाने च तस्मिन्नकस्मादभ्रमभि शुभ्राभ्रमिव किमपि विभ्राजते स्म । न चात्र विभ्राजितामात्रम्, किं तर्हि घनाघनगात्रतामपि जगाम; न केवलं तन्मात्रतामपि तु मन्दगर्जितामप्यर्जितां चकार ।'४

अठारहवाँ पूरण

नरकासुर संहार, पारिजात हरण, एवं सोलह हजार कन्याओं का पाणिग्रहण

इस अठारहवें पूरण में सत्यभामा के सहित श्रीकृष्ण का प्राग्ज्योतिषपुर में जाना, परिवारसहित नरकासुर को मारना, स्वर्ग से कल्पवृक्ष का हरना, सोलह हजार कन्याओं के साथ विवाह करना, इत्यादि विषय वर्णित होगा। अनन्तर श्रीकृष्ण के श्रीमुख की परमशोभा के पान से सुखमय महोत्सव को प्राप्त करनेवाली, श्रीव्रजराज आदि महानुभावों की सभा में स्निग्धकण्ठ कहने लगा। किसी समय पहले की भाँति अवकाश को प्राप्त करनेवाले दूसरे दो दूतों के निकट श्रीव्रजराज का पूछना, यथा—हे दूतो ! इस समय का यथार्थ श्रीहरिचरित्र वर्णन कर दो ॥१॥

दोनों दूत बोले—इस समय तो श्रीकृष्ण का मनुष्यलोक को अतिक्रमण करनेवाला एवं इन्द्र तथा देवर्षि श्रीनारद इन दोनों के प्रश्नोत्तर से परिपूर्ण दो श्लोकोंवाला यह श्लोक, अर्थात् यश उत्पन्न हुआ। यथा—इन्द्र बोला—हे देवर्षे ! नारद ! बताइये, इस समय प्रगटरूप में नरकासुर का छेदन करनेवाला कौन है ? श्रीनारद बोले—हे देवेन्द्र ! जो अपने नामसंकीर्तनमात्र से नरकों का छेदन करनेवाला है, वह नरकासुर का भी छेदन करनेवाला है ॥२॥

इन्द्र ने प्रश्न किया—हे स्वर्गीय तपोधन ! स्वर्ग को 'अपारिजात' अर्थात् शत्रुओं से रहित कौन व्यक्ति कर सकता है ? श्रीनारदजी ने उत्तर दिया—हे स्वर्ग के अधिनायक ! देखो, जो व्यक्ति स्वर्ग को पारिजातवृक्ष से रहित कर सकता है, वही शत्रुओं से रहित कर सकता है ॥३॥

श्रीव्रजराज बोले—यदि कथा की अवशिष्ट कोई विशेष बात हो तो कहो। दोनों दूत बोले—एक समय द्वारका में सदैव शुभधर्मों से युक्त सुधर्मा नामक सभा में, त्रिलोकी पालनकर्ता श्रीकृष्ण परिहास आदि के द्वारा, सभी सभासदों के सुख को उत्पन्न करते हुए विराजमान थे। उनके शोभायमान होनेपर आकाश

'तदेतन्निर्वर्ण्य सर्वैर्वर्ण्यते स्म,—नेदमभ्रमाभ्रति, यस्मादूर्ध्वत एवास्यागमनमवगम्यते, न तु तिरश्चीनादाकाशादिति। तदेवं विचारणया सत्सु सभासत्सु तस्माद्ध्वनिरपि कर्णाऽध्वनि वर्णाङ्कितामवाप ।।५।।

'यथा— अस्मद्रक्षाकृते यः पुरुजनुरुररीकृत्य विभ्राजमानः
सर्वांस्तान् पूर्वदेवानलमुपशमयन् क्रीडति स्वैरलीलः ।
सोऽयं सूक्ष्माऽवधानं विरचयति यदि स्वैस्तदा लोकपालैः
सार्धं जिष्णुः सहार्दं यदुसदसि विशन् पश्यतात् पादपद्मम् ।।६।।

'तदेतदाकर्ण्य सर्वैर्वर्ण्यते स्म,—

ऐरावतोऽयं न तु शुभ्रमेघः, शर्माश्रुधारा न तु वृष्टिवारि ।
शब्दः स्तुतीनां न तु मन्द्रगर्जः, शक्रस्तदत्राऽश्चति चक्रपाणिम् ।।'७।।

''व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः ?' ''दूतावूचतुः,—'ततश्च भवत्कुलरत्नाऽऽज्ञया परिषदं परिचरद्भिर्यत्नादाहूयमानः पुरुहूतस्तु भूयसाऽऽदरेण सुरविसरेण सम्भूयमानः सुधर्मामागच्छन् दण्डवन्नमनमेवागमनसाधनं चकार। आगताश्च ते यथावदादृत्य कृत्यजिज्ञासया

में अकस्मात् शुक्लमेघ की तरह कोई वस्तु चमक उठी। उस वस्तु में केवल चमकनामात्र ही नहीं था, किन्तु वर्षा करनेवाले मेघ के शरीर का भाव भी प्राप्त हो रहा था, अर्थात् वह वस्तु वर्षालु मेघ भी बन रही थी। केवल उतना ही नहीं, किन्तु वह वस्तु गर्जना भी उपार्जन कर रही थी ।।४।।

यह देखकर सभी सभासद् वर्णन करने लगे कि—यह मेघ नहीं आ रहा है, क्योंकि इसका आना तो ऊपर से (नीचे की ओर) ही जाना जा रहा है, किन्तु टेढ़े आकाश से नहीं। अर्थात् मेघ तो टेढ़ी चाल से आकाश में ही चलता है, सीधा नीचे की ओर नहीं आता है। अतः मेघ के समान वर्णवाली यह कौन सी वस्तु है ? इस प्रकार के विचार से सभासद् जब चुप बैठे थे, तब उस वर्षालु मेघ की सी वस्तु से ध्वनि भी कर्णमार्ग में अक्षरों के स्वरूप को प्राप्त हो गई। अर्थात् उस मेघ का शब्द स्पष्ट अक्षरोंवाला हो गया ।।५।।

यथा—जो पुराणपुरुषोत्तमप्रभु हम सब देवताओं की रक्षा के निमित्त अनेक अवतार धारण कर शोभा पाता हुआ, उन सब असुरों का विनाश करता हुआ, स्वतन्त्रतापूर्वक लीला करता हुआ क्रीडा करता है; वही प्रभु मेरी प्रार्थना सुनने के लिए यदि थोड़ी सी भी सावधानी कर लेते हैं; तब तो अपने लोकपालों के सहित इन्द्र, यादवों की सभा में प्रेमपूर्वक प्रवेश करता हुआ, उन प्रभु के पादपद्मों को देख सकता है ।।६

यह सुनकर सभी वर्णन करने लगे कि—अरे भाइयो ! यह तो ऐरावत हाथी है, किन्तु शुक्ल वर्णवाला मेघ नहीं है। यह तो आनन्दाश्रुओं की धारा है, किन्तु वर्षाती जल नहीं है। यह तो स्तुतियों का शब्द है, किन्तु मेघ की गंभीर गर्जना नहीं है। अतः हमें तो यही मालूम होता है कि, इन्द्र ही श्रीकृष्ण के निकट इस सभा में आ रहा है ।।७।।

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उसके बाद आपके कुलरत्न श्रीकृष्ण की आज्ञा से सभा की सेवा करनेवाले सेवकों के द्वारा प्रयत्नपूर्वक बुलाये हुए इन्द्र ने तो, अधिक आदर के साथ देवसमूह से सम्मिलित होकर, सुधर्मा सभा में आते आते दण्डवत् प्रणाम को ही आगमन का साधन बना लिया। आये हुए वे इन्द्रादि देव ''किस कार्य के लिए आये हैं'' इस बात को जानने की इच्छा से,

तस्यां निवेशयामासिरे। कृतनिवेशाश्च ते त्रिदिवेशा नम्रग्रीवतयाऽतीव भक्त्यावेशादशक्त्या क्षणकतिपयं तूष्णीकामेव पुष्णन्ति स्म ॥८॥

तदेतस्मिन्नवसरे मुनिततिर्मनसीदं मन्यते स्म,—

सुधर्मायामस्यामयमपि विडौजाः पतिरभू,-दहो सम्प्रत्येष स्वयमसुरवैरी विभवति।
यथा मुक्तावल्यां तरलपदवीं काचशकलः, पुरा यातः सम्प्रत्यसितमणिसम्राड् विजयते ॥९॥

'अथ श्रीवृष्णीन्द्रमहाशयः सविनयमाललाप,—

त्रिलोकीपालका यूयं मर्त्यलोकं यदागताः। तन्मन्महे पालनार्थं शतमन्यो ! वयं नराः ॥१०॥

'अथेदमाकर्ण्य सवैवर्ण्यं स वर्णयति स्म,—

सर्वेषां सर्वकर्ता स्यात् परमात्मा स केवलः। स्वाङ्गादिकर्तृताद्यर्थासमर्थस्तत्परस्तु कः ? ॥११॥

'श्रीकृष्ण उवाच,—काममाज्ञाप्यताम्। 'इन्द्र उवाच,—

तस्मिँल्लज्जा कार्या, द्रुतमृच्छति सा यमन्तरा शान्तिम्।
नाऽस्मिँल्लज्जा कार्या, द्रुतमृच्छति सा यमन्तरा कान्तिम् ॥१२॥

'तस्मादेवेदं निवेदयामि,—

यः प्राग्ज्योतिषपत्तनेऽस्ति मलिनीभूतक्षमागर्भजः
किंवान्यन्नरकाख्ययैव निखिला यस्मिन् गुणा व्यञ्जिताः।

श्रीकृष्ण ने विधिपूर्वक आदर करके उस सभा में बैठा दिये। और वे बैठे हुए देवता गर्दन को नीची करके, अतिशय भक्ति के आवेश से, बोलने की शक्ति के अभाव से, कुछ क्षणोंतक मौन को ही पुष्ट करते रहे, अर्थात् चुप बैठे रहे ॥८॥

उस समय मुनिश्रेणी अपने मन में यह मानने लग गई कि—मोतियों की पंक्ति में पहले जिस प्रकार कोई काच का टुकड़ा हार के सुमेरु (बीच का दाना) की पदवी को प्राप्त कर चुका हो, किन्तु अब इन्द्रनील-मणियों का सम्राट् जिस प्रकार उत्कर्ष को प्राप्त हो रहा है, उसी प्रकार पहले इन्द्र भी इस सुधर्मा सभा में अधिपति हुआ था, अहो ! अब तो ये श्यामसुन्दर असुरारि श्रीकृष्ण ही स्वयं प्रभु हो रहे हैं ॥९॥

उसके बाद यादवेन्द्र महाशय श्रीकृष्ण विनयपूर्वक प्रेम से वार्तालाप करने लगे—हे देवराज ! आप सब त्रिलोकी के पालनकर्ता होकर भी, मर्त्यलोक में जिस कारण आये हो, उस कारण से तो हम यही मानते हैं कि, मर्त्यलोक का पालन करने के लिए ही आये हो, कारण हम सब भी तो मानव हैं ॥१०॥

यह सुनते ही इन्द्र विवर्णता (मलिनता)पूर्वक वर्णन करने लगा कि—जो सभी के सभी कार्यों का कर्ता है, केवल वह परमात्मा ही स्वतन्त्र हो सकता है। अतः प्रभो ! अपने करपादादि अङ्गों के कर्तापन आदि के प्रयोजन में भी असमर्थ कौन सा व्यक्ति उस परमात्मा से श्रेष्ठ हो सकता है ? अतः सर्वसमर्थ सर्व-तन्त्र-स्वतन्त्रकर्ता प्रभु आप ही साक्षात् परमेश्वर विराजमान हो ॥११॥

श्रीकृष्ण बोले—यथेष्ट आज्ञा दीजिये। इन्द्र बोला—हे भगवन् ! लज्जा तो उसके निकट करनी चाहिये कि, जिसके निकट वह लज्जा शीघ्र ही शान्ति को प्राप्त हो जाती है। एवं उसके निकट लज्जा नहीं करनी चाहिये कि, जिसके निकट वह लज्जा शीघ्र ही शोभा को प्राप्त हो जाती है ॥१२॥

अतः मैं आपके निकट लज्जा को त्यागकर यह निवेदन करता हूँ कि—प्राग्ज्योतिषपुर में पापियों के संसर्ग से मलिन हुई, पक्षे—ऋतुमती भूमि से जन्म लेनेवाला जो नरकासुर है, उसके विषय में अधिक क्या

स च्छत्रं वरुणस्य रत्नगिरिमप्यस्माकमाकृष्य य-
च्चक्रे चक्रगदाधरान्यदपि किं ब्रूमस्त्रपा तेऽपि हि ॥१३॥

'श्रीकृष्ण उवाच,—तेन यत्तादृशं भृशं कर्म निर्मितम्, तज्जगदेवाधिजगन्वद् वर्तते। त्रपा च तदैव स्याद् यदि नैव तत् प्रतिकर्तुं शक्नुमः। यदि च भवतामभ्युपगमः स्यात्तदाकाशेऽपि गन्धगुणतां कर्तुं क्षौण्यामपि तद्गुणतामपाकर्तुं पारयामः; तस्मान्मातुस्तदमृतस्राावि कुण्डलं तस्य मृतस्राावि रचयिष्यामः ॥१४॥

'इन्द्र उवाच— मातुर्यत् कुण्डलं तेन हृतं तेन हृतं श्रवः।
यस्य श्रवणमात्रेण वयं च बधिरीकृताः ॥१५॥

'श्रीकृष्ण उवाच,—नानेन तदपहारः कृतः, किन्तु स्वप्राणापहार एवेति स्वैरं वैरं जितमिति मत्वा त्रिपिष्टपाय प्रतिष्ठन्तां तत्रभवन्त इति ॥१६॥

'अथ ते तत्पदपद्मपदपर्यन्तभूमिं स्पृष्ट्वा शिरः स्पृशन्तः प्रसादस्पृशं तद्दृशं दृष्ट्वा भृशं सुखमामृशन्तश्चेदं निवेदयामासुः,—सोऽयमस्मद्भ्राताऽऽपन्नत्राता पन्नगाशनः स्वयमत्र भवद्-गमनासनं भविता ॥१७॥

कहें ? जिसमें 'नरक' इस नाम से ही नरक में जितने क्लेश आदि गुण हैं, वे सब प्रकाशित कर दिये हैं। उस नरकासुर ने वरुण के छत्र को एवं हमारे रत्नपर्वत को छीन कर जो कुछ किया है, अथवा माता अदिति के कुण्डल छीन कर और भी जो नीचा दिखाया है, हे सुदर्शनचक्र एवं गदा को धारण करनेवाले प्रभो ! उसको क्या कहें ? उस से तो आपको भी लज्जा होगी ॥१३॥

श्रीकृष्ण बोले—उस नरकासुर ने उस प्रकार का जो भारी (भयंकर) काम किया है, उसको तो संसारभर ही जानता है। और हमको लज्जा भी जभी हो सकती है कि, यदि हम उसका प्रतीकार न कर सकें, अर्थात् बदला न ले सकें। और यदि आप सबको यह बात अङ्गीकार हो तो, हम आकाश में भी (शब्दगुण को हटा कर) गन्धगुण के भाव को एवं पृथ्वी में भी गन्धगुण के भाव को दूर करने को समर्थ हैं। इसलिए अदितिमाता के अमृत को बहानेवाले उस कुण्डल को नरकासुर की मृत्यु को बहानेवाला कर देंगे ॥१४॥

इन्द्र बोला—भगवन् ! उस नरकासुर ने माता के जिस कुण्डल का अपहरण किया है, उस अपहरण से तो माता के कान का भी अपहरण हो गया। कारण—जिसके श्रवणमात्र ने हम भी बहरे कर दिये हैं। अतः मानो हमारे कान भी हर लिए हैं ॥१५॥

श्रीकृष्ण बोले—इस नरकासुर ने केवल कुण्डलों का ही अपहरण नहीं किया है, किन्तु अपने प्राणों का भी अपहरण कर लिया है। अतः स्वतन्त्रतापूर्वक शत्रुसमूह को जीत लिया है, यह मान कर पूज्यपाद आप सब स्वर्ग के लिए प्रस्थान कीजिये ॥१६॥

उसके बाद वे इन्द्रादि देव श्रीकृष्ण के पादपद्मों के स्थानपर्यन्त की भूमि का स्पर्श करके, अपने मस्तक का स्पर्श करते हुए, श्रीकृष्ण की अनुग्रहपूर्ण दृष्टि को देखकर, अत्यन्त सुख का अनुभव करते हुए यह निवेदन करने लगे कि—हे भगवन् ! देखो, आपत्ति में पड़े हुए जनों की रक्षा करनेवाला हमारा भाई यह गरुड, इस नरकासुर के विजय में आपके जाने का आसन, अर्थात् यान हो जायगा ॥१७॥

'श्रीकृष्ण उवाच,—नारायणाऽऽसनं नराणामस्माकं कथमासनाय कल्पताम् ? 'ते सस्मितमूचुः,–अस्मदाशंसया नारायणताऽपि भवत्यधुना सुष्ठु प्रत्यक्षतामाप्स्यति। 'श्रीकृष्ण उवाच,—'किन्तु सङ्कोचाय रोचते। 'पुनस्त ऊचुः,—अस्मदर्थं भवद्भिरनर्थनीयमपि समर्थनीयम्। 'श्रीकृष्ण उवाच,—यथाऽऽज्ञापयन्ति यज्ञाऽधिपतयः। "तदेवं सर्वे पर्वेह लभमाना यथागतं प्रणमन्तस्तत्प्रसन्नतां स्मरन्तः प्रतस्थिरे ॥'१८॥

"व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—'ततश्च यत् पूर्वं सत्यभामां प्रति पारिजाततरुं दातुं जातु प्रतिज्ञातमासीत्तस्याऽयमवसर इति सतीनामप्यन्यासां प्रेमवतीनां तस्या एव तद्दानस्य लक्ष्याय सर्वशस्त्रनिवारणताभासिवरासिसंवृतया तया सह सहसा हरिर्विहङ्गमराजवाहितेन विहायसा प्राग्ज्योतिषपुरं जगाम; किन्तु भार्यायुतगमनं वैरिणं प्रति स्वैरितानुसार्यात्मकेलिं गमयति स्म। तत्रान्यदप्याश्चर्यं पर्यवलोकितमासीत् ॥'१९॥

"व्रजराज उवाच,—'तदपि कथ्यताम्।' "दूतावूचतुः,—'यदा तमारुह्य चक्रादिचतुष्टयं तुष्टतया समुह्य प्रस्थितवांस्तदा भुजद्वयप्रतिबिम्बवदपरं तद्द्वयमप्यालोकितम्' इति ॥२०॥

"व्रजराज उवाच—'पूर्वत एवेदं ज्ञायत इति नाऽपूर्वं यन्नारायणप्रसादस्तत्र तत्साम्यमासादयति। गर्गस्य च सोऽयं वाक्सर्गः, (भा० १०।८।१९)—'तस्मान्नन्दात्मजोऽयं ते नारायणसमो गुणैः' इति ॥'२१॥

श्रीकृष्ण बोले—यह गरुड तो श्रीनारायण का आसन है, अतः हम मानवों के आसनरूप से कैसे कल्पित होगा ? देवता मुसक्याकर बोले—हमारी इच्छा से इस समय आप में श्रीनारायण का भाव भी भली प्रकार प्रत्यक्ष हो जायगा। श्रीकृष्ण बोले—किन्तु वह नारायणभाव मानवलीला में संकोच को ही प्रकाशित करता है। पुनः देवगण बोले—भगवन्! हमारे लिए तो आपको अनभिलषित कार्य का भी समर्थन कर देना चाहिये। श्रीकृष्ण बोले—यज्ञ के अधिपति आप सब देवगण जैसी आज्ञा करें, ठीक है। अतएव इस समय सभी देवगण महोत्सव को प्राप्त करते हुए, प्रणाम करते हुए, श्रीकृष्ण की प्रसन्नता का स्मरण करते हुए, जिस प्रकार आये थे उसी प्रकार चल दिये ॥१८॥

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उसके बाद पहले कभी सत्यभामा के प्रति पारिजातवृक्ष को देने की जो प्रतिज्ञा की थी, उसका यह उचित अवसर है, इस कारण श्रीरुक्मिणी आदि अन्य प्रेमवती पटरानियों के रहते हुए भी, सत्यभामा के लिए ही पारिजात को देने के छल के लिए, सभी शस्त्रों के निवारण को प्रकाशित करनेवाली वरासिः, अर्थात् मोटी साड़ी से ढकी हुई सत्यभामा के साथ श्रीकृष्ण पक्षिराज श्रीगरुड के द्वारा प्राप्त कराये हुए आकाश से सहसा प्राग्ज्योतिषपुर को चल दिये। किन्तु भार्या के सहित श्रीकृष्ण का जाना बैरी के प्रति अपनी क्रीडा को स्वतन्त्रता से युक्त जना रहा है। और वहाँपर चलते समय दूसरा आश्चर्य भी देखा था ॥१९॥

श्रीव्रजराज बोले—उसको भी कह दो। दोनों दूत बोले—श्रीकृष्ण गरुडपर चढ़कर शंख, चक्र, गदा, पद्म इन चारों को प्रसन्नतापूर्वक धारण कर जब चल दिये, तब दोनों भुजाओं के प्रतिबिम्ब की तरह दूसरी दो भुजाएँ भी देखी थीं ॥२०॥

श्रीव्रजराज बोले कि—इस बात को तो मैं पहले से ही जानता हूँ, अतः अपूर्व बात नहीं है। क्योंकि श्रीनारायण का अनुग्रह, श्रीकृष्ण के ऊपर नारायण की समानता को प्राप्त करा देता है। एवं श्रीगर्गमुनि

"दूतावूचतुः,—'सत्यं सत्यम्, सत्यभामाऽपि तदनुजं भुजयुगलं दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा च संवस्त्रित-मुखतया कृतरहा जहास।' "व्रजराज उवाच,—'तदस्तु तस्मादन्यमप्यस्मात् सन्तोषं जोषयतम्।' "दूतावूचतुः—'ततश्च हिरण्मयगरुत्मदुपरि गारुत्मतहिरण्यप्रतिमूर्त्तौ इव भवत्पुत्रस्नुषामूर्त्तौ विलोक्य खेचरा विचारयन्ति स्म,—॥२२॥

पक्षिसमे कनकान्द्रौ, नभसा गच्छत्यमू कलय।
दम्पतितुल्यौ विद्यु,-ल्लेखाविद्युत्वतां सारौ ॥'२३॥

"सर्वे प्रोचुः,—'हन्त ! सा वधूटी कृष्णसवर्णतया कर्णपुटीविषयीक्रियते। कथमन्यथा वर्ण्यते ?' "दूतावूचतुः,—'तदपि सदवगतम्, किन्तु नावगन्तुं शक्यते तन्नाटीपरिपाटी।' "व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः ?' दूतावूचतुः,—'तदेवं देवैरपि दुर्गमान्तरं दुर्गापुरमेव स प्राप्नोति स्म ॥२४॥ यत् खलु—

शैलैः शस्त्रैः सरोभिः सहजहुतवहैर्वायुभिर्दुर्गरूपै-
स्तद्वत्पाशैश्च मौरैः परिवृतमभितः कामरूपं निवातैः।
तद्दूरान्नागशत्रूपरि परिविहरन् श्रीहरिः प्रेक्ष्य चित्रं
गच्छन् श्रीसत्यभामामपि स तु कुतुकी चित्रगात्रां चकार ॥२५॥

की वाणीसृष्टि अर्थात् उच्चारण भी यही है कि—"हे नन्दजी ! अतएव तुम्हारा यह पुत्र गुणों के द्वारा श्रीनारायण के समान है" ॥२१॥

दोनों दूत बोले—सत्य है, सत्य है। सत्यभामा भी उसके बाद उत्पन्न हुई दो भुजाओं को देखकर, एवं उनको छूकर, वस्त्र से अपना मुख ढक कर रहस्य करके हँसने लग गई। श्रीव्रजराज बोले—उस बात का रहने दीजिये। अतः हम सबको दूसरे सन्तोष का भी सेवन कराओ। दोनों दूत बोले—उसके बाद सुवर्णमय गरुड के ऊपर इन्द्रनीलमणि, एवं सुवर्ण की प्रतिमूर्तिस्वरूप आपके पुत्र, एवं पुत्रवधू की मूर्ति को देखकर, आकाशचारी देवगण विचारने लगे— ॥२२॥

यथा—पक्षि के समान सुवर्णपर्वत के आकाश से गमन करनेपर, दम्पति के तुल्य विद्युत्श्रेणी एवं मेघों के सारस्वरूप इन दोनों का दर्शन करो ॥२३॥

सभी सभासद् बोले—अहह ! वधूटी (नवयौवना) वह सत्यभामा तो श्रीकृष्ण के समान वर्ण रूप से कर्णगोचर की जाती है, तब सुवर्ण के से वर्णवाली किस प्रकार कह रहे हो ? दोनों दूत बोले—उसका सुवर्ण का सा वर्ण भी सत्य ही जाना गया है, किन्तु श्रीकृष्ण के नाटक की परिपाटी जानो नहीं जा सकती है। श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—अतएव इस प्रकार जिसका मध्यभाग देवों के द्वारा भी दुर्गम है, उस दुर्गापुर में अर्थात् प्राग्ज्योतिषपुर में श्रीकृष्ण पहुँच गये ॥२४॥

एवं जो दुर्गापुर पर्वत, शस्त्र, सरोवर, स्वाभाविक अग्नि, एवं दुर्ग (किला)स्वरूप वायुओं के द्वारा चारों ओर से घिरा हुआ, तथा उसी प्रकार निवात, अर्थात् शस्त्रों के द्वारा अभेद्य मुरनामक लोहे से बने हुए पाशसमूह के द्वारा चारों ओर से घिरा हुआ था, और स्वेच्छारूप था, उस दुर्गापुर को सर्पों के बैरी गरुड के ऊपर विराजमान श्रीकृष्ण ने दूर से देखकर, आश्चर्य को प्राप्त होकर, एवं कौतूहल के वशीभूत होकर, श्रीसत्यभामा को भी आश्चर्यान्वित शरीरवाली बना दिया ॥२५॥

'अथ विविवेच च—नन्वमी देवा दुर्गाणीमानि दुर्लंघ्यानि वीक्ष्य मां गरुडारूढतामङ्गीकारयाश्चक्रुः । 'तदित्थमाक्रमणं तु छलादेव, न तु बलात्; बलमेव तु शूराणां व्यवहर्तव्यमतस्तदेव मम कर्तव्यम्' इति ॥२६॥

"व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—'ततश्च,

ऊर्ध्वात् प्रवेष्टुं यदपीदमीष्टे, पत्रीशपत्रः कुतुकात्तथापि ।
दुर्गाणि दुर्गानगरस्य विष्वग्,-विक्रम्य भेत्तुं स मनश्चकार ॥'२७॥

"व्रजराज उवाच,—'हन्त ! कथं कथम् ?' "दूतावूचतुः,—'प्रथमं तावद् भूतानां संहारक्रममारब्धवान्; तत्र गदयाद्रीन् बाणेन च शस्त्राणि विद्राव्य पृथिव्यंशं जलदुर्गं प्रवेशयामास । ततश्च चक्रेण जलमग्नावग्निं वायौ, वायुमाकाशे विलापयामास ॥'२८॥

"सर्वे व्रजस्थाः साश्चर्यमूचुः,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—'ततश्च ये पृथिव्यंशाः क्षुरप्रान्ततार्हिस्त्रषट्सहस्रपाशतया पृथक्स्थितांस्तानप्यसिनैव तूलवद् वितूस्तयामास ॥२६॥

तदनन्तरं तदनन्तरमभि च—

न केवलान्यस्य दरध्वनिस्तदा, यन्त्राणि तस्मिन् वितथानि निर्ममे ।
मनस्विनां मंक्षु मनांसि चाऽसकृ,-द्दरोऽप्यसौ यद्दरहेतुतां गतः ॥३०॥

उस दुर्गापुर को देखने के बाद श्रीकृष्ण ने अपने मन में विचार किया कि, इन इन्द्रादि देवों ने इन पर्वत आदिके परकोटाओं को अलङ्घनीय देखकर मुझको गरुडके ऊपर चढ़ना अङ्गीकार करवाया है । अतः गरुड के ऊपर चढ़कर आक्रमण करना तो छल से ही माना जायगा, किन्तु बल से नहीं । और शूरवीरों के व्यवहार के योग्य तो बल ही है, अतः बल का प्रयोग करना ही मेरा कर्तव्य है ॥२६॥

श्रीव्रजराज बोले— उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उसके बाद गरुडवाहन श्रीकृष्ण इस दुर्गापुर में यद्यपि ऊपर से ही प्रवेश करने को समर्थ हैं, तथापि उन्होंने कौतुक के कारण दुर्गापुर के चारों ओर आक्रमण करके, उसके पर्वत आदि के परकोटाओं को तोड़ने का मन किया ॥२७॥

श्रीव्रजराज बोले—हाय ! किस किस प्रकार ? दोनों दूत बोले—श्रीकृष्ण ने पहले तो उस दुर्गापुर के चारों ओर लगे हुए पृथिवी आदि पंचमहाभूतों के संहार का क्रम आरम्भ कर दिया । उन पंचमहाभूतों में से गदा के द्वारा पर्वतों को, एवं बाणों के द्वारा शस्त्रों को पिघला कर, पृथिवी के अंश को जल के दुर्ग में प्रवेश करा दिया । उसके बाद चक्र के द्वारा जल को अग्नि में, अग्नि को वायु में, वायु को आकाश में विलीन कर दिया ॥२८॥

सभी व्रजवासी आश्चर्यपूर्वक बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उसके बाद जो पृथिवी के अंश छुरे की सी धार से काटनेवाले छः हजार पाशरूप अस्त्रों के रूप से पृथक् स्थित थे, उनको भी तलवार के द्वारा ही रूई की तरह धुन दिया ॥२६॥

उसके बाद चारों ओर व्यवधानरहित यह कार्य हुआ कि उस समय उस दुर्गापुर में श्रीकृष्ण की शंखध्वनि ने केवल यन्त्रों को ही व्यर्थ नहीं बनाया, किन्तु युद्ध में प्रशस्त मनवाले योद्धाओं के मन भी शीघ्र ही व्यर्थ बना दिये । क्योंकि वह शंख भी बारंबार भय का उत्पादक बन गया था ॥३०॥

यत्प्राकारं निर्बिभेदाऽघवैरी, कौमोदक्या तत्परं चाऽऽचचार ।
येनोत्सृष्टान्यश्मलोष्ठानि तेषां, पृष्ठाद्यङ्गं भ्रष्टनष्टं वितेनुः ॥३१॥

'किन्तु जलदुर्गातिक्रमणे युद्धमप्युद्बुद्धम्; यथा तस्मिन् जलावरणवारिधाववधीरितकालः कश्चित् करालः स मुरनामासुरः पुरः शयानतयाऽऽसीत् । यदा तु प्राञ्चन् काञ्चनाम्बरः पाञ्चजन्यध्वन्यतिजवमुज्जगार, तदा स च जजागार ॥३२॥

'तत्र तु— द्वयमिह मम मोहनं मुरारे,-र्दरनिनदः शयनं तथा मुरस्य ।
प्रलयपविनिनादतुल्यवीर्यः, स खलु तदेकक-नाश्यधाम तच्च ॥३३॥

'तत्र च यदा जलादुद्गम्य त्रिशूलमुद्यम्य स खलु पञ्चमुखः समुत्थितवांस्तदा सर्वं संहरन् हर इवाऽदृश्यत । यदा च क्रोधलब्धोद्बोधतेजसा सर्वं रोधविषयीचकार, तदा च कल्पान्तकलपनाय मिथः संघृष्टघृष्टभानुबृहद्भानुभानुवद् भाति स्म । यदा च पञ्चापि मुखानि प्रपञ्चयामास, तदा सर्वग्रसनाय सम्यग्रसनाप्रसारणकृत्कालाग्निरुद्रवदुपद्रवाय बभूव । यदा च तार्क्ष्यं दिधक्षन्निवाभ्यद्रवत्तदा तद्रूपरुद्रवक्षःप्रभ्रष्टदीर्घपृष्ठ इवालक्ष्यत । यदा च परितः परीततया गरुत्क्षेपं कुर्वते गरुत्मते शूलमस्यन् पञ्चभिरास्यैर्निर्घोषं व्यस्यति स्म, तदा भवन्तश्च स्फुटं तमनुभवन्तस्तस्थुः; यतो घोषस्थानां भवतां का वार्ता, स खलु सर्वानिवाण्डकटाहस्थानार्तांश्चकार ॥'३४॥

अघारि श्रीकृष्ण ने कौमोदकी नामक गदा के द्वारा परकोटा को जो तोड़ दिया, उसके बाद भी वही कार्य किया। क्योंकि जिस परकोटा के द्वारा फेंके हुए पत्थर के ढेलाओं ने उन विपक्षियों के पीठ आदि अंग को नष्ट भ्रष्ट कर दिया ॥३१॥

किन्तु जल के परकोटा के लाँघन में तो युद्ध भी खड़ा हो गया। यथा—जल के आवरणरूप उस समुद्र में काल का भी तिरस्कार करनेवाला कोई भयंकर मुर नामक दैत्य पहल से ही सो रहा था। किन्तु सुवर्ण के से पीताम्बरवाले श्रीकृष्ण ने आते आते जब पाञ्चजन्य शंख की ध्वनि का अत्यन्त वेग उत्पन्न किया, तब वह मुर दैत्य भी जाग उठा ॥३२॥

वहाँपर तो नरकासुर के विजय प्रसङ्ग में दो विषय ही मुझको मोहित करनेवाले थे। एक तो श्रीकृष्ण के शंख का शब्द, तथा दूसरा मुर दैत्य का शयन करना। कारण शंख का वह शब्द प्रलयकालीन वज्र के शब्द के समान पराक्रमवाला था, और मुर दैत्य का शयन (सोना) भी असहायरूप से विनाश का आश्रय हो रहा था ॥३३॥

और वहाँपर पाँच मुखवाला वह मुर दैत्य जब जल से उठकर, त्रिशूल उठाकर खड़ा हो गया, तब तो वह सबका संहार करता हुआ शंकर के समान दिखाई दिया। और क्रोध से जागृत हुए तेज के द्वारा जब सबको रोकने लगा, तब प्रलय करने के लिए परस्पर के संघर्ष से उत्पन्न भयंकर किरणोंवाले अग्नि एवं सूर्य के समान प्रतीत होता था। और जब पाँचों मुखों को फैलाने लगा, तब समस्त संसार को ग्रसने के लिए अच्छी तरह जिह्वा को फैलानेवाले कालाग्निरूप रुद्र की तरह उपद्रव के लिए (खड़ा) हो गया था। और मानो जब गरुड को जलाने की इच्छावाला होकर सम्मुख दौड़ा, तब कालाग्निरूप रुद्र के वक्षःस्थल से गिरे हुए सर्प की तरह दिखाई दिया। और जब चारों ओर से घेरकर अपने पंखों को फेंकनेवाले गरुड के प्रति त्रिशूल को फेंकता हुआ वह दैत्य अपने पाँचों मुखों से शब्द फैलाने लगा, तब तो आप सब भी

"सर्वे व्रजसभासदः सप्रत्यभिज्ञं जिज्ञासामासुः,—'ततस्ततः ?' दूतावूचतुः,—'ततः समिच्छर्मसम्पदात्मम्भरिः श्रीहरिस्तु युगपदपि तत्तदुपद्रवं विद्रावयंस्तत्र कौतुकं बभार। तीक्ष्णीकृतमुखाभ्यां शिलीमुखाभ्यां तस्य त्रिशूलं त्रिधा विधाय निर्मूलं चकार। लब्धदेहव्यूह-प्रपञ्चकेन शिलीमुखपञ्चकेन मुखपञ्चकं तूणमिव पूरयामास' इति ॥३५॥

"सर्वे साश्चर्यमूचुः,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—'ततश्च निजमुत्कर्षं चिकीर्षुरपि वस्तुतः स खलु मुमूर्षुर्यां गदां ससर्ज, तामूर्जस्वतीमपि निजगदया सहस्रधाऽवस्रस्तां कुर्वन्नेव तत्पूर्वाङ्गसङ्घमपि चक्रवीर्येण चेकीर्यमाणः सर्वत्राप्यपूर्वं पूरयति स्म ॥'३६॥

"व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—'ततश्च दिग्मतङ्गजानिव तदङ्ग-जांस्तद्दार्ष्टान्तिकतया कृतधाष्टर्यान् सप्तापि पीठसाहित्येनाष्टसंख्यतया तस्मादप्यखर्वगर्वस्पृष्टान् लब्धकष्टान् विधाय कालदष्टांश्चकार। तदेवं नरकः स्रस्तनिजगर्वं तत्तत् सर्वं लोकमतीतं कर्म क्रमशश्चित्रवदवलोकयन्मर्मणि चुक्षोभ। गत्यन्तराऽभावतः स्वयमेव निर्गत्य द्रुतगत्यभि-षेणयन्नत्रस्तमतिहस्तयन्नप्युद्धतं युद्धमुदबुद्धं चकार; यत्र च हरिः परितः सर्वानपसव्यान् शरव्यान् व्यतानीत् ॥३७॥

स्पष्टरूप से उस शब्द का अनुभव करते हुए स्थित थे। कारण आप सब व्रजवासियों की तो क्या बात है ? किन्तु उस शब्द ने ब्रह्माण्डरूप कटाह में स्थित सभीजनों को पीडित कर दिया था, यह बात निश्चित है ॥३४॥

उसके बाद व्रज के सभी सभासद् पहले अनुभव किये हुए उस शब्द के स्मरणपूर्वक जिज्ञासा करने लगे कि—उसके बाद क्या हुआ ? दोनों दूत बोले—उसके बाद युद्ध के द्वारा सुखरूप सम्पत्ति से आत्मा का पोषण करनेवाले श्रीहरिने तो उन उन पूर्वोक्त उपद्रवोंको एकसाथ ही दूर भगाते हुए वहाँपर कौतुक धारण कर लिया। और तीक्ष्ण मुखवाले दो बाणों के द्वारा उसके त्रिशूल को तीन भागों में विभक्त करके निर्मूल कर दिया। तथा देह के व्यूह के विस्तार को प्राप्त करनेवाले पाँच बाणों के द्वारा उसके पाँचों मुख तरकस की तरह भर दिये ॥३५॥

सभी सभासद् आश्चर्यपूर्वक बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उसके बाद अपना उत्कर्ष करने की इच्छावाले, वस्तुतः मरने की इच्छावाले उस दैत्य ने जो गदा छोड़ी थी, उस बलवती गदा को भी अपनी गदा के द्वारा हजारों भागों में तोड़ते हुए, एवं उसके मुख वक्षःस्थल आदि अङ्गसमूह को भी सुदर्शनचक्र के प्रभाव से टूक टूक करके फेंकते हुए श्रीकृष्ण ने सभी जगह आश्चर्य भर दिया ॥३६॥

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उसके बाद दिग्गजों की तरह मद-मत्त मुर दैत्य के पुत्रों को जो कि दिग्गजों की तरह धृष्टता करनेवाले सात संख्यावाले होकर भी, पीठ नामक सेनापति के सहित आठ संख्यावाले होकर, एवं सेनापति के संग से भारी गर्व से युक्त थे, उनको कष्ट प्राप्त करा कर श्रीकृष्ण ने काल कवलित कर दिया। इस प्रकार अपने गर्व को नष्ट करनेवाले, एवं लोकातीत (श्रीकृष्ण के) उन उन सब कर्मों को क्रमशः चित्र की तरह देखता हुआ, वह नरकासुर अपने मर्मस्थान में क्षुभित हो गया। दूसरे उपाय के अभाव से स्वयं ही निकल कर, शीघ्रगति से सेना के द्वारा अभिमुख जाकर, निर्भय होकर उसने हाथियों के सहित आक्रमण करके भी, भयंकर युद्ध जागृत कर दिया। जिस युद्ध में श्रीकृष्ण ने अपने प्रतिकूल सभी योद्धाओं को चारों ओर से लक्ष्य बना लिया ॥३७॥

'तथा हि— भौमः सिन्धूत्थदन्तिप्रयुतयुततया निर्गतः सैनिकानां
पद्मैः सत्रा शतघ्नीसखविशिखशिखानस्त्रपूगान् व्यमुञ्चत् ।
कृष्णस्तांस्तान् समन्त्रित्रिभिरिषुभिरनु स्वं समन्ताद् विभिन्दन्
योधांस्तान् दृष्टमात्रान् विघटितनिटिलाद्यङ्गसङ्घांश्चकार ॥३८॥

जिह्मगेष्वरिसैन्येषु निजाऽजिह्मगशङ्कया ।
जिह्मगारिं हरिर्युञ्जन् प्रसक्तकृतिमक्तवान् ॥३९॥

क्षिप्तस्वपक्षे तार्क्ष्येऽथ शक्तिं चिक्षेप भूमिजः ।
स च तत्राऽपरां ये द्वे संयोगसमवायगे ॥४०॥

'ततश्च,— अव्यर्थं शूलिशूलं द्रुतमिह विकिराण्येवमन्तर्विचारात्
स्रक्ष्यन्तं तद्विदूरात् क्षितितनयममुं श्रीमुरारिर्वितर्क्य ।
ध्वस्तं चक्रे पुरस्तान्निटिलमकुटिलं तस्य चक्रेण तादृग्
येनाऽयं नाऽविदद् यत् क्व कथमथ कदा केन किं कश्चकार ॥४१॥

भौमे तु निहते सर्वोऽप्याह स्म भुवि दिव्यपि ।
अहहेत्यद्भुताद्धर्षात् खेदादपि यथायथम् ॥४२॥

देखो, भूमि का बेटा नरकासुर समुद्र से उत्पन्न लाखों हाथियों से युक्त होकर, अपने किले से बाहर निकल कर, पद्म संख्यावाले सैनिकों के सहित शतघ्नी (तोप) से युक्त बाणों की ज्वालावाले अस्त्रसमूहों को छोड़ने लग गया। श्रीकृष्ण भी एकसाथ अपने निकट तीन तीन बाणों के द्वारा उन उन अस्त्रसमूहों को चारों ओर से काटते हुए, एवं उन योद्धाओं के देखनेमात्र से उनको मस्तक आदि अङ्गसमूहों से रहित करने लग गये ॥३८॥

श्रीकृष्ण अपने अजिह्मग अर्थात् बाणों की शंका से शत्रुओं की सेनाओं के कुटिलगामी हो जानेपर, सर्पों के बैरी गरुड को नियुक्त करते हुए युद्ध के उद्योग को करने लग गये ॥३९॥

अनन्तर नरकासुर ने अपने पक्ष को फेंकनेवाले गरुड के ऊपर शक्ति फेंक दी, और उसी भौमासुर ने गरुड के ऊपर पुनः दूसरी शक्ति भी चला दी। जो दोनों शक्तियाँ आपस में चिपट गईं। अतः कुछ भी न कर सकीं ॥४०॥

उसके बाद "मैं कृष्ण के ऊपर शिवजी के अमोघ त्रिशूल को शीघ्र छोड़ दूँ" इस प्रकार के आन्तरिक विचार से दूर से ही उस त्रिशूल को छोड़ते हुए भूमिपुत्र उस नरकासुर को विचार कर श्रीकृष्ण ने त्रिशूल छोड़ने से पहले ही ध्वस्त कर दिया। और उसके सीधे मस्तक को चक्र के द्वारा त्रिशूल की तरह काट दिया। जिसके द्वारा यह नरकासुर यह भी नहीं जान पाया कि कौन जगह, किस प्रकार, किस समय, किस कारण से, कौन सा कार्य, किस व्यक्ति ने कर दिया ? ॥४१॥

भूमिपुत्र नरकासुर के मारे जानेपर तो समस्त जनमात्र भूमि में एवं स्वर्ग में अद्भुत हर्ष से एवं खेद से भी यथायोग्य अहह ! इस प्रकार कहने लग गया, अर्थात् श्रीकृष्ण के पक्षवाले हर्ष से, एवं विपक्षवाले खेद से अहह ! बोलने लग गये ॥४२॥

'ततश्च निजप्रेष्ठां तार्क्ष्यपृष्ठाग्र संरक्ष्य स्वयं क्षौण्यामवतीर्य वीर्यवत्तराणां विजय-कुञ्जराणां पुञ्जताकृते जनान् नियुञ्जानः कञ्जलोचनः स तु क्षणं कुतुकमनुभूतवान् ॥४३॥

'अथ स्वभाराऽवतारात्तुष्यन्ती पुत्रशोकाच्छुष्यन्ती च पुत्रहृत-तददितिकर्णालंकृति-प्रभृतिदिव्यवस्तुव्रजेन निजपुरः पुष्यन्ती धरित्री वृष्यमाणनानावर्णविचित्रीकृतस्रग्भिर्विश्वसृग्भिः स्तूयमानं हरिं सम्भूय परिष्टूय च निवेदयामास—नाम च ग्रहीतुमयुक्तस्य सानुग्रहीभवता भवता देहबन्धान्मुक्तस्य तस्य तनयः सोऽयं बालतया लब्धभयः सर्वस्याऽप्यनुकूलं भवत्पद-पङ्कजमूलं समया मया सङ्गमयामासे । तस्मादस्य शिरसि करसरसीरुहं यद्यर्पयति सर्पदर्प-दलनवाहनस्तदास्तां तावत् प्राचीनानां कल्मषाणामपहननं प्रतीचीनानामपि स्यादिति ॥४४॥

'श्रीकृष्णस्त्वभयमात्रं तस्यास्तात्पर्यमवधार्य वाङ्मात्रेण तद्दानं वितीर्य सुरपुरजकीर्य-माणदिव्यकुसुमः सुकुमारचरितः क्षितिजक्षितिपालवेश्म प्रविवेश । प्रविश्य च वृषण्वसु जयसम्भवं दिव्यविभवं पश्यन् क्वचन कल्पवल्लीनामग्रतश्चन्द्रबिम्बानीवाऽपश्यत्; किन्तु ताश्च तानि च धूलिभीष्मग्रीष्मवात्याभिरिव म्लानतया पश्यतस्तस्य सुखमनश्यत् । यदा तु मन्द-

---

उसके बाद कमलनयन श्रीकृष्ण तो अपनी प्रियतमा सत्यभामा को गरुड की पीठपर रखकर, स्वयं भूमि में उतर कर, अतिशय बलवाले एवं राजाओं के प्राप्त करने योग्य विजय के हाथियों को इकट्ठा करने के लिए जनों को नियुक्त करते हुए, क्षणभर कौतुक (तमाशा) का अनुभव करने लगे ॥४३॥

उसके बाद अपने भार के उतारने से सन्तुष्ट होती हुई, पुत्रशोक से सूखती हुई, एवं अपने पुत्र नरकासुर के द्वारा हरी गई अदिति के कुण्डल आदि उस दिव्य वस्तुश्रेणी के द्वारा अपने अग्रभाग को पूर्ण करती हुई भूदेवी अनेक वर्णों से विचित्र बनाई हुई मालाओं की वर्षा करनेवाले ब्रह्मा आदि प्रजापतियों के द्वारा प्रशंसित श्रीकृष्ण से मिलकर, सर्वतोभाव से उनकी स्तुति करके निवेदन करने लगी कि—हे भगवन् ! महापापी होने के कारण जिसका नाम लेना भी उचित नहीं, एवं अनुग्रहयुक्त हुए आपके द्वारा जो देह के बन्धन से विमुक्त हो गया, उसी मेरे पुत्र नरकासुर का यह पुत्र है । यह बालक होने के कारण भय को प्राप्त हो रहा है, अतः मैंने इसको सभीजनों के अनुकूल आपके पदपङ्कज के मूल के निकट पहुँचा दिया है। इसलिए सर्पदर्पदलनकारी गरुडरूप वाहनवाले आप यदि इस शरणागत बालक के सिरपर अपना करकमल समर्पण करते हैं, तब तो इसके प्राचीन पापों के विनाश होने की बात तो दूर रहे, किन्तु आगे होनेवाले पापों का भी विनाश हो जायगा ॥४४॥

श्रीकृष्ण तो भूमिदेवी के अभयमात्र तात्पर्य को निश्चय करके, वाणीमात्र से अभय दान देकर, एवं स्वर्गीय दिव्यपुष्प जिनपर बरसाये जा रहे हैं, तथा जिनका चरित्र सुकुमार है, ऐसे होकर भूमिपुत्र राजा नरकासुर के घर में प्रविष्ट हो गये । और प्रवेश करते ही इन्द्र के धन की विजय से उत्पन्न दिव्यवैभव को देखते हुए, उन्होंने किसी स्थानपर कल्पलताओं के अग्रभाग में चन्द्रमा के से बिम्ब देखे । किन्तु उन कल्प-लताओं को एवं उन चन्द्रबिम्बों को मानो धूलि से एवं ग्रीष्मकाल की भयंकर आँधियों के द्वारा मलिनरूप से देखते हुए, श्रीकृष्ण का सुख विनष्ट हो गया । किन्तु वे श्रीकृष्ण मन्दमन्द सौन्दर्यामृत के झरनों से धूलि की मलिनता को दूर करनेवाले (पक्षे—रजोगुण तमोगुण को दूर करनेवाले), आकस्मिक (अचानक) मेघ के खण्ड के रूप से जब उन कल्पलताओं के आगे स्फूर्ति पाने लगे, तब उन कल्पलताओं में एवं श्रीकृष्ण में विलक्षण (असाधारण) लक्षण संघटित हो गया । तात्पर्य—इस गद्य में कल्पलताओं से नरकासुर के कारा-गार में पड़ी हुई सोलह हजार कन्याओं को समझना, एवं उनके अग्रभाग में चन्द्रबिम्ब के समान दिखाई

मन्दलावण्यामृतनिस्यन्द-निर्धूतरजस्तमस्काऽऽकस्मिकबलाहकशकलतया तासां पुरतः स स्फुरति स्म, तदा तत्र तत्र लक्षणं विलक्षणमासीत् ॥४५॥

'तदेवं स्थिते पुनरुभयेषां क्षणात् प्रत्यभिज्ञा च जाता। ता इमास्ता एवेति, सोऽयं स एवेति ॥४६॥

'ततश्च, वाष्पं दूरमवर्ष,-न्मुररिपुरमुका दधुस्तु कम्पादि।
ताद्दशतापेऽप्यासां, पश्यत हिमताकरत्वमाद्यस्य ॥'४७॥

"सर्वे प्रोचुः,—'अहो! बत! ता इमाः काः?' "दूतौ सास्रमूचतुः,—'हन्त! ता इमा बाल्यत एव सन्ततकृष्णभर्तृकतासंविदनन्या युगपदन्यायपरिणयाय नरकसंगृहीततया लब्ध-नरकम्मन्या रक्षितनिजव्रततया धन्याः सदुपदेव-देव-नरदेव-कन्याः। याः खलु हारिवंशाः केचिद्विप्रवंशास्तत्र प्रशंसन्तः सन्ति—॥४८॥

'निवसन्त्यो यथा देव्यः सुखिन्यः कामवर्जिताः।
परिवव्रुर्महाबाहुमेकवेणीधराः स्त्रियः ॥४९॥
सर्वाः काषायवासिन्यः सर्वाश्च नियतेन्द्रियाः।
व्रतोपवासतत्त्वज्ञाः कांक्षन्त्यः कृष्णदर्शनम् ॥' इति ॥५०॥

देनेवाले मुखों को ही चन्द्रबिम्ब पद से समझना। अपने सौन्दर्यरूप अमृत के प्रवाह से उनकी मनोमलिनता को दूर करनेवाले मेघखण्ड के स्थानपर श्रीकृष्ण को ही समझना ॥४५॥

अतएव इस प्रकार की स्थिति में पुनः कल्पवल्लीरूप कन्याएँ एवं श्रीकृष्ण इन दोनों के बीच में क्षणभर में यह प्रत्यभिज्ञा (पहला अनुभव) उत्पन्न हो गई थी कि "वे ये कन्याएँ वे ही मेरी नित्य प्रियाएँ हैं, एवं यह श्रीकृष्ण वे ही नित्यपति हैं" ॥४६॥

उसके बाद श्रीकृष्ण दूर से ही अश्रुजल की वर्षा करने लगे, किन्तु वे कन्याएँ कम्प आदि धारण करने लग गईं। किन्तु उन कन्याओं के उस प्रकार के चिरकालीन विरहताप में भी श्रीकृष्ण के शीतलता करने के भाव को देखो या विचार लो ॥४७॥

सभी व्रजवासी बोले—हाय! हाय! वे ये कन्याएँ कौन थीं? दोनों दूत सजलनयन होकर बोले—अहह! नरकासुर के घर में रहनेवाली वे ये कन्याएँ बालकपन से ही, श्रीकृष्ण ही हमारे पति हैं, इस प्रकार के भाव के ज्ञान में निरन्तर अनन्य थीं, एवं एकसाथ अन्यायरूप विवाह के लिए नरकासुर के द्वारा एकत्रित की जाने के कारण, अपने को नरक प्राप्त हुआ ही मानती थीं, तथा अपने व्रत की रक्षा करने से धन्य थीं, और श्रेष्ठ उपदेव (यक्ष असुर आदि), एवं देवता तथा राजाओं की कन्याएँ थीं। जिनकी हरिवंश पुराण में कहे गये कुछ विप्रवंश, हरिवंशपुराण में प्रशंसा करते हुए विद्यमान हैं ॥४८॥

यथा—कामनाओं से रहित होकर, निर्वाह सुख से युक्त होकर, देवियों की तरह निवास करनेवालीं, एवं एक वेणी धारण करनेवाली उन सब महिलाओं ने महाबाहु श्रीकृष्ण को चारों ओर से घेर लिया ॥४९

वे सब काषायवस्त्र धारण किये हुए थीं, सभी जितेन्द्रिय थीं, व्रत उपवास के तत्त्व को जाननेवाली थीं, एवं श्रीकृष्ण के दर्शन को चाहती थीं ॥५०॥

"सर्वे प्रोचुः,—'तस्य विशृङ्खलस्य खलस्य समीपे कथमासां व्रतमपि प्रततं जातम् ?' ॥५१॥

"दूतावूचतुः,—'कालिकापुराणपारायणपरायणास्तत्रेदं श्रावयन्तः सन्ति । तासु कृष्णाऽनुरागजागरविशारदस्य श्रीनारदस्याऽऽगमनमेव ताभिस्तेन शिक्षिताभिर्नारायणनाभिजन्मना च विज्ञाततन्मरणमर्मणा तदुपयमनमर्यादा पर्यापिता । श्रीनारदस्तु तदा तत्राऽऽगतवान्, यदा तन्मरणं लब्धानुशरणं जातम्, तदा चाह स्म—तेन निवेदितात्मरागः स महाभागः । अद्य खलु पञ्चमी वर्तते । यदि नवम्यां तव वर्तनमनुवर्तेत, तदा त्रयोदश्यामेताः पाणौ कर्तव्याः' इति ॥५२॥

"सर्वे क्षणं विहस्य प्रोचुः,—'कञ्जलोचनस्याऽवलोचनतः पश्चात् किं जातम् ?' "दूतावूचतुः,—'ताभिर्मनसा वरणमेव ।' "सर्वे प्रोचुः,—'मनसा वरणं न खलु करणतामापद्यते, यदि तत्र श्रीमान् कृष्णः तृष्णङ् न स्यात् ॥'५३॥

"दूतावूचतुः,—'श्रीकृष्णस्तु कारुण्यवशतया तासु सतृष्ण एवाऽऽसीत्; यदर्थमेव सत्यभामामपि तां गरुडान्नाऽवतारयामास । सम्प्रति तु तासां दृगीहया समानं भावसमूहमूहमानः सर्वा एव ताः स्नानाऽलंकृतिभ्यां सेविता देवता इव नरयानमारोहयमाणाः सर्वसम्पत्कोशैः कौशैर्जितवाजिभिर्वाजिभिस्तिरस्कृतदिग्मतङ्गजैर्गजैर्लब्धमनोरथैः रथैः सह विवाह-

---

सभी सभासद् बोले—उच्छृङ्खल एवं खल वृत्तिवाले उस नरकासुर के निकट उन कन्याओं का व्रत भी किस प्रकार विस्तारित था ? ॥५१॥

दोनों दूत बोले—कालिकापुराण के पारायण में लगे हुए विज्ञजन उनके व्रत के विस्तार के विषय में यह सुनाते रहते हैं कि, उन कन्याओं में श्रीकृष्णसम्बन्धी अनुराग के जगाने में विशारद श्रीनारदजी के आगमन से उन्हीं के द्वारा शिक्षित उन कन्याओं के साथ श्रीकृष्ण के विवाह की मर्यादा तो नरकासुर के मरने के मर्म को जाननेवाले, एवं श्रीनारायण की नाभि से जन्मनेवाले ब्रह्मा के द्वारा समाप्त कर दी गई । श्रीनारदजी तो वहाँपर उस समय आये कि, जब उस नरकासुर का मरना निकटता को प्राप्त हो गया था । तब नरकासुर ने अपने अनुराग को जिनके प्रति निवेदन किया था, वे महाभाग नारदजी उसके प्रति बोले कि—हे नरकासुर ! देखो, आज पञ्चमी तिथि है, यदि नवमी के दिन तुम्हारा जीवन अनुसरण करता रहे, अर्थात् नवमीतक यदि तुम जीते रहो, तब तुम त्रयोदशी तिथि में इन कन्याओं का पाणिग्रहण कर लेना ॥५२॥

सभी सभासद् क्षणभर हँसकर बोले—कमलनयन श्रीकृष्ण के देखने के बाद क्या हुआ ? दोनों दूत बोले—उन कन्याओं ने मन के द्वारा श्रीकृष्ण को वर ही लिया । सभी बोले—मन के द्वारा वरण करना कार्य की साधकता को नहीं प्राप्त कर पाता है । क्योंकि श्रीमान् कृष्ण यदि उनके वरण करने में लालसायुक्त न हुए तो ? ॥५३॥

दोनों दूत बोले—श्रीकृष्ण तो करुणा के वशीभूत होकर उनके ऊपर लालसा से युक्त ही थे । क्योंकि जिनके लिए उस सत्यभामा को भी उन्होंने गरुड से नहीं उतरवाया । किन्तु अब तो उन कन्याओं के नेत्रों की चेष्टा से अपने समान भावसमूह की तर्कना करते हुए, श्रीकृष्ण ने वे सब कन्याएँ स्नान एवं अलंकारादि के द्वारा सेवित देवताओं की तरह नरयान, अर्थात् डोलियों में चढ़वा कर, सर्वप्रकार की सम्पत्तियों के पात्रस्वरूप खजानों के सहित, अपनी चाल के द्वारा पक्षियों को जीतनेवाले घोड़ों के सहित, दिग्गजों को

सम्पदर्हैः पारिवर्हैरिव द्वारवतीं प्रति सवेषं प्रेषयामास। प्रेष्य च तया निजव्यूढया सह गरुडाऽऽरूढतया गूढाऽभिप्रायः समूढदेववर्गं स्वर्गं जगाम। गत्वा च लब्धदेवकीभावमितिमर्दितिं नमस्कृत्य सत्यभामाकरेण कुण्डल-द्वयं तां प्रत्युपहृत्य कुण्डलमण्डनया तां परिष्कृत्य तस्याः शुभाशिषः संधृत्य महेन्द्रयोर्बहुपूजामादृत्य ततश्चचाल। चलनसमये च हरिचन्दनादि-मिश्र-मिश्रकावणात् पारिजातं निनाय ॥'५४॥

"सर्वे प्रोचुः,—'हन्त ! कथमिव ?' "दूतावूचतुः—'तत्र ह्येवं प्रसिद्धिः,—

याचित्वा पारिजातं तरुवरमृषिणा नाऽऽप्नुवन्नप्यघारिः
शक्रे यत्र क्षमावानभवदयमनेनार्थितः शत्रुनाशम्।
कृत्वा तं भार्यया तत्परिवननकृतौ हेतुना सार्धमागात्
तद्गेहं तं तथापि स्वयमयमददान्नेति गच्छन्नगृह्णात् ॥५५॥
यः सर्वां यस्य लक्ष्मीमवितुमवतरन् यस्य शत्रून् विमृद्नन्नध्यास्ते विप्रनीत्या तरुमवृणुत चाऽनेन तस्मान्निरस्तः।
स स्वीयं क्षत्रधर्मं पुनरथ विदधद् योधितस्तेन देवैः
सार्धं सर्वान् विजित्य स्वयमहरत तं पश्य कः कस्य धर्मः ॥'इति॥५६॥

जीतनेवाले हाथियों के सहित, एवं मनोरथ को प्राप्त करनेवाले रथों के सहित, मानो विवाह की सम्पत्ति के योग्य कन्या के दहेजों की तरह, सुन्दर वेषपूर्वक द्वारका के प्रति भिजवा दीं। भिजवाने के बाद श्रीकृष्ण निज विवाहिता उस सत्यभामा के सहित गरुडपर चढ़कर, गूढ अभिप्राय से युक्त होकर, देववर्ग को भली प्रकार धारण करनेवाले स्वर्ग में चले गये। और जाते ही देवकी के भाव के परिमाण को प्राप्त करनेवाली अदिति को नमस्कार करके, सत्यभामा के हाथ से दोनों कुण्डलों को उसके प्रति समर्पण कर, कुण्डलरूप आभरण के द्वारा उसको सजाकर, उसके शुभ आशीर्वादों को धारण कर, इन्द्र एवं इन्द्राणी की बहुत सी पूजा का आदर कर वहाँ से चल दिये। और चलते समय हरिचन्दन आदि कल्पवृक्षों से युक्त मिश्रकावण (नन्दन वन) से पारिजातवृक्ष को ले आये ॥५४॥

सभीजन बोले—हाय ! किस प्रकार ले आये ? दोनों दूत बोले—उसके विषय में ऐसी प्रसिद्धि है कि, श्रीकृष्ण नारदजी के द्वारा इन्द्र से वृक्षश्रेष्ठ पारिजात को माँगकर एवं न प्राप्त करके भी, जिस इन्द्र के ऊपर क्षमावान् हो गये थे, उसी इन्द्र के द्वारा पुनः शत्रु के विनाश के प्रति प्रार्थित ये श्रीकृष्ण शत्रु को विनष्ट कर, अपनी भार्या सत्यभामा के द्वारा उस पारिजात की याचना करनेपर,हेतुरूप उसी सत्यभामा के साथ इन्द्रालय में चले आये। तो भी इन्द्र ने पारिजात को स्वयं नहीं दिया, इसलिए द्वारका चलते चलते उसको स्वयं ग्रहण कर लिया ॥५५॥

जो श्रीकृष्ण जिस इन्द्र की सम्पूर्ण सम्पत्ति की रक्षा के लिए अवतार लेकर, जिसके शत्रुओं का मर्दन करते हुए विराजमान हैं, एवं विप्रवर्य नारद की नीति से पारिजातवृक्ष की याचना भी की, तो भी इन्द्र के द्वारा पारिजात के कारण तिरस्कृत हुए श्रीकृष्ण, अपने क्षत्रियधर्म का विधान करते हुए, इन्द्र के साथ युद्ध करके देवताओं के सहित सभी को जीतकर, उस पारिजात को स्वयं हर लाये। इस विषय में किसका कौन सा धर्म है ? इसको आप देख लीजिये, या विचार लीजिये ॥५६॥

'अत्राऽऽवाभ्यां तु तदिदं विचार्य निर्धार्यते—भवतां मातामहस्य वैश्याऽऽभीरवंश्यतायामपि पितामहस्य वसुदेवपितामहता महतां सदसि विख्याता। यथा च—'यादवानां हितार्थाय धृतो गिरिवरो मया' इत्यादिषु यादवता, (भा० १०।५।२०) 'वसुदेव उपश्रुत्य भ्रातरं नन्दमागतम्' इत्यादिषु तत्पितृव्यप्रभवता च पुराणविद्भिर्गीयते। तस्मादध्यात्मशास्त्राऽनुमत्या पुत्रेषु पित्रंशाऽऽधिक्यात् क्षत्रियबीज्यतायामपि लब्धवीर्यतायां 'मातृवद्वर्णसङ्करः' इति धर्मशास्त्रमतानुरोधादाभीरवैश्यताधर्मस्तत्रभवद्भिरात्मनि समुद्भावितः। तदेवं सति सम्प्रति यादवानन्दनस्य भवन्नन्दनस्य स्फुटमलौकिकप्रभावाद्विश्वकृतवन्दनस्य यदपूर्ववदात्मनि क्षात्राऽऽविष्कृतिः कृतिविषयीभवति, तत्तु पूर्वपक्षे न प्रक्षेपमाप्नोति' इति ॥५७॥

"तदिदं सर्वेऽपि सानुमोदं निशम्य सप्रमोदमूचुः,—'प्रस्तुतं प्रस्तूयताम् ॥'५८॥

"दूतावूचतुः,—'केचिदेवं च देवेन्द्रवञ्चनं प्रपञ्चयन्ति—यदा सात्राजिती पारिजाततरवे सयत्नीभवन्ती सुत्रामपत्नीसदनमाससाद, तदा वनदेव्यानीतं वाञ्छाभिनीतं सुजातपारिजातकुसुमं तस्याः पश्यन्त्याः सा शचीनाम्नी सुत्राम्नी निजशिरसा युक्तवती, तदिदमुक्तवती च—मनुजादुद्भववत्या भवत्या नाधिकृतिरत्रेति, किन्तु छन्दोमयशब्दगतेः खग-सन्दोहपतेरारोहणं मोहविषयीचकारेति ॥५६॥

किन्तु इस विषय में हम दोनों दूत तो विचार करके यह निश्चित करते हैं कि—हे नन्दजी ! आपके मातामह (नानाजी) के वैश्यजातीय आभीर (अहीर) वंश में जन्म लेनेपर भी, आपके पितामह (दादा) का श्रीवसुदेव का दादापन, अर्थात् 'श्रीदेवमीढ' नामक आपके जो पितामह लगते हैं, वे ही श्रीवसुदेव के भी पितामह हैं, यह बात महात्माओं की सभा में विख्यात है। यथा—"मैंने यादवों के हित के लिए गिरिराज धारण किया था" इत्यादि वाक्यों में श्रीकृष्ण का यदुवंशी होना, एवं "श्रीवसुदेवजी अपने भाई श्रीनन्द को मथुरा में आया हुआ सुनकर" इत्यादि वाक्यों में श्रीकृष्ण का वसुदेव के भाई नन्दजी के द्वारा उत्पन्न होना, पुराणों के ज्ञाता विद्वानों के द्वारा कहा जाता है। इसलिए अध्यात्मशास्त्रों की अनुमति से पुत्रों में पिता का अंश अधिक होने के कारण क्षत्रिय का बीज होनेपर भी, प्रबलता की प्राप्ति में "वर्णसंकर माता के वंश के समान होता है" इत्यादि धर्मशास्त्र के मत के अनुरोध से आभीर वैश्यों का धर्म आप सब पूज्यपादों ने अपने मन में समुत्पन्न किया है। अतएव ऐसी स्थिति में इस समय यादवों को आनन्द देनेवाले आपके पुत्र श्रीकृष्ण का स्पष्ट ही अलौकिक प्रभाव के कारण विश्ववन्दनीय होकर, अपने में अपूर्व की भाँति क्षत्रियभाव का जो आविष्कार कुशलजनों का विषय बन रहा है, वह तो पूर्वपक्ष में अर्थात् क्षत्रियधर्म में प्रक्षेप को नहीं प्राप्त कर रहा है ॥५७॥

इस बात को सभी सभासद् अनुमोदनपूर्वक सुनकर आनन्दपूर्वक बोले—अब तो प्रस्तुत विषय का प्रस्ताव कीजिये ॥५८॥

दोनों दूत बोले—कुछ विज्ञजन तो इन्द्र की वञ्चना का इस प्रकार विस्तार करते हैं कि, सत्राजित् की पुत्री सत्यभामा पारिजातवृक्ष के लिए यत्नवती होकर, जब इन्द्राणी के घरपर पहुँच गई, तब वनदेवी के द्वारा लाये गये इच्छा से युक्त सुन्दर पारिजात के पुष्प को, सत्यभामा के देखते देखते शची नामक उस इन्द्रपत्नी ने, अपने सिरपर धारण कर लिया, और सत्यभामा के प्रति कहा कि—तुम मनुष्य से उत्पन्न होनेवाली हो, अतः इस पारिजातपुष्प में तुम्हारा अधिकार नहीं है। किन्तु छन्दोमय शब्दस्वरूप गरुड के

'तदेवम्— तेषां कृतघ्नतां वीक्ष्य कृततद्वाञ्छितो हरिः ।
पारिजातेन सहितं रत्नाद्रिं चाऽऽनयद् गृहम् ॥'६०॥

"सर्वेऽप्यूचुः,–'आत्मानं पङ्कसङ्करमशङ्कमावरन्नसावमुना कं कं वारं वा क्षालयितव्यः ? ततः स्वकथ्यं तु प्रथ्यमानतामानयतम् ॥'६१॥

दूतावूचतुः—'ततश्च तासां कन्यानां विवाहे विहितनिर्वाहे श्रीनारद-वचनमिदम्, (भा० १०।६९।२)—

'चित्रं बतैतदेकेन वपुषा युगपत् पृथक् ।
गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहत् ॥' इति ॥६२॥

"व्रजराज उवाच,—'तदिदमपि गर्गवचनजातनिसर्गम्, किन्तु परं कथ्यताम् ।' "दूतावूचतुः,—'ततश्चाऽऽवां सन्देशमादेशमादेशं केशवेनाऽत्र प्रहितौ ।' "सर्वेऽप्यूचुः,—'कोऽयं सन्देशः ?' ॥६३॥ "दूतावूचतुः,—

'यद् व्याकारं वर्धयन्नत्र वर्ते, तत्तृप्त्यर्थं शूरपुत्रस्य वित्त ।
दत्त्वा स्वीयव्यूहमस्मै विचित्रं, लब्धानुज्ञाभव्यमस्याऽऽव्रजामि ॥६४॥
अङ्गस्य वह्निना तापस्तस्य तापेन शाम्यति ।
एवं व्यसनशान्त्यर्थं व्यसनं क्रियते मया ॥' इति ॥"६५॥

ऊपर सत्यभामा के चढ़ने को इन्द्राणी ने मोह का विषय बना लिया। अर्थात् वह यह न जान सकी कि वेदमय गरुडपर चढ़ने के कारण सत्यभामा मानवी नहीं है ॥५९॥

अतएव इस प्रकार उन इन्द्रादिकों की कृतघ्नता को देखकर, सत्यभामा की इच्छा को पूर्ण करनेवाले श्रीकृष्ण पारिजातवृक्ष के सहित रत्नपर्वत को भी अपने घर ले आये ॥६०॥

सभी व्रजवासी बोले—निःशंक होकर अपने को अपराधरूप कीचड़ में मिलाते हुए इस इन्द्र को श्रीकृष्ण कितनी बार धोते रहेंगे ? अतः तुम दोनों तो अपने कहने योग्य विषय का विस्तारपूर्वक वर्णन करो ॥६१॥

दोनों दूत बोले—उसके बाद, उन सोलह हजार कन्याओं के विवाह में विधि का निर्वाह हो जाने-पर, श्रीनारदजी का वचन यह था कि—अहह ! आश्चर्य की बात तो यही है कि, अकेले श्रीकृष्ण ने अपने एक ही शरीर के द्वारा, एकसाथ अलग अलग घरों में सोलह हजार स्त्रियों को विवाह लिया ॥६२॥

श्रीव्रजराज बोले—यह रहस्य भी श्रीगर्गाचार्य के वचनों द्वारा स्वतः ज्ञात हो गया है। किन्तु दूसरे प्रसङ्ग को कहो। दोनों दूत बोले—उसके बाद तो श्रीकृष्ण ने बारंबार सन्देश देकर हम दोनों को व्रज में भेज दिया। सभीजन बोले कि यह सन्देश कौन सा है ? ॥६३॥

दोनों दूत बोले—मैं विविध आकारों को बढ़ाता हुआ द्वारका में जो विद्यमान हूँ, उसको तो आप सब श्रीवसुदेव की तृप्ति के लिए जान लीजिये। अतः मैं वसुदेवजी के लिए 'पुत्र पौत्रादिरूप' अपने विचित्र व्यूह को देकर, इनकी मङ्गलमय आज्ञा लेकर व्रज में आ रहा हूँ ॥६४॥

और देखो, अग्नि के द्वारा शरीर के जलने का सन्ताप, पुनः अग्नि के ताप के द्वारा जिस प्रकार शान्त होता है, इसी प्रकार तुम्हारे विरहरूप व्यसन (विपत्ति) की शान्ति के लिए मैं विरहरूप व्यसन का निर्माण कर रहा हूँ ॥६५॥

अथ स्निग्धकण्ठः समापनमाह स्म,—

"व्रजनृप ! धर कर्णयुग्ममस्मिन्, बत सुतरूप्यविवासवृत्तवृन्दे ।
नयनमधुकर-द्वयं सुतस्याऽऽ,-ननसरसीरुहमाधुरीषु धेहि ॥ इति ॥६६॥

"तदेतदवधाय तदुत्तमाङ्गमङ्के निधाय स्वाऽश्रुभिरभिषिक्तं विधाय क्षण-कतिपयं व्रजराजः स्तम्भं सम्भवति स्म ॥६७॥ "अथ व्रजवन्दिनस्तत्र वन्दन्ते स्म,—

'शक्रश्रावितभौमातिक्रम ! । वक्रक्ष्मापतिमाथिप्रक्रम ! ॥
भामालक्षिततार्क्ष्यारोहण ! । नामाभासकपापद्रोहण ! ॥
कामाद्भूमिजदुर्गप्रेक्षक ! । रामाकौतुकदानापेक्षक ! ॥
वीरोत्कम्पकदुर्गामर्दक ! । नीरोद्यन्मुरतत्सून्वर्दक ! ॥
सृष्टक्ष्मामुखभूतप्रक्षय ! । दृष्टक्ष्मासुतसर्वान्तःक्षय ! ॥
क्षैतेयं प्रति निर्जिष्णुक्रम ! । दैतेयं लघु तं घ्नन्निष्क्लम ! ॥
तत्पुत्राय च राष्ट्राद्यर्पक ! । यत्कुत्राप्यनुभक्तं तर्पक ! ॥
कन्यानामपि तासां पारक ! । धन्यानां निजभाजां तारक ! ॥
देवक्ष्मापतिसच्छलपूजित ! । देवक्ष्मारुहहृतिवाञ्छाचित ! ॥

उसके बाद स्निग्धकण्ठ प्रसङ्ग की समाप्ति का द्योतक वचन बोला—हे व्रजराज ! आप अपने पुत्र के बीते हुए विरहरूप इस वृत्तान्तसमूह में तो अपने दोनों कानों को लगा लो। किन्तु अपने नेत्ररूप दोनों भ्रमरों को तो अपने पुत्र के मुखकमल की माधुरी में लगा लो ॥६६॥

अतएव श्रीव्रजराज स्निग्धकण्ठ के वचन में ध्यान देकर श्रीकृष्ण के मस्तक को अपनी गोद में धर-कर, अपने आँसुओं से उसको भिजाकर, कुछ क्षणोंतक स्तम्भित हो गये ॥६७॥

उसके बाद व्रज के वन्दीजन उसी विषय में स्तुति करने लग गये—हे वीरवर ! श्याम ! आपकी जय हो ! इन्द्र के द्वारा नरकासुर का अन्याय आपके निकट ही सुनाया गया है ! आप कुटिल भूपतियों के मन्थन का आरम्भ करनेवाले हो ! आप सत्यभामा के द्वारा चिह्नित गरुडपर चढ़नेवाले हो ! एवं अपने नाम के आभासमात्र से पापों से द्रोह करनेवाले हो ! आप इच्छामात्र से ही नरकासुर के किले को देखनेवाले हो ! उसके कारागार में पड़ी हुई सोलह हजार महिलाओं के कौतुकदान की अपेक्षा करनेवाले हो ! आप ही वीरों को कम्पित करनेवाले किले का मर्दन करनेवाले हो ! अतः जल से उठते हुए मुर दैत्य का एवं उसके पुत्रों का अर्दन करनेवाले ! वीर ! आपकी जय हो ! और आप नरकासुर के किले की रक्षा में चारों ओर लगे हुए पृथ्वी आदि महाभूतों का विनाश करनेवाले हो ! नरकासुर के सम्पूर्ण अन्तःपुर को देखनेवाले हो ! नरकासुर के प्रति विजयशील क्रमवाले हो ! एवं उस नरकासुर को मारते हुए भी खेदरहित हो ! और उसके पुत्र को राष्ट्र आदि अर्पण करनेवाले हो ! क्योंकि आप किसी स्थानपर भी हीन दीनभक्त को तृप्त करनेवाले हो ! एवं आप अपना भजन करनेवालीं सौभाग्यशालिनी उन सोलह हजार कन्याओं के व्रत को पूरा करनेवाले हो ! तथा उनको संकट से तारनेवाले हो ! अतः हे वीर ! आपकी जय हो ! एवं देवराज इन्द्र के द्वारा छलपूर्वक पूजित होनेवाले ! तथा देववृक्ष पारिजात के हरने की वाञ्छा से व्याप्त ! उस पारिजात को खींचते हुए आप इन्द्र के द्वारा घिरनेवाले हो ! उस समय आपकी गोद में सत्यभामारूप

तं कर्षस्तरुमिन्द्रप्रावृत ! । अङ्कस्थाङ्गनयुद्धे चादृत ! ॥
जित्वा तं तरुमूर्जद्विक्रम ! । हित्वा वासवमुद्यद्विभ्रम ! ॥
यत्नप्रापिततच्छत्रादिक ! । रत्नक्ष्माधरहृल्लीलाधिक ! ॥
भक्तप्रीतिद ! तत्तद्द्विड्जय ! । सक्तस्वव्रजमाप्तस्त्वं जय ॥वीर॥'इति॥"६८॥

अथ पूर्ववच्छ्रीराधामाधव-सदसि कथेयम्, यथा स्निग्धकण्ठ उवाच,—"यदा नाना-संवदनसुखवशंवदतत्तद्युद्धसमुद्बुद्धकामया सत्यभामया सह नरकवधं विधाय मणिगिरि-पारिजाततरू गरुत्मति निधाय सर्वशर्मनिधानरूपः स खलु दयालूनां भूपः स्वपुरं समागत-वांस्तदा व्रजसाधारण्येन राधादिषु च दिव्यालङ्काररत्नानि यत्नाद् विहापितानि । यत्र सर्वत्र द्वित्रवर्णक्रमवलनया समस्तकलनया तदिदं चित्रितमिव लिखितं विलक्ष्यते स्म—॥६९॥

"व्याकारा निचिता मया बहुविधा युष्मच्छविच्छायया
कालं क्षेप्तुमथाऽजनि प्रतिपदं निर्वेदखेदः परम् ।
यावद् बन्धनमात्मना विरचितं तत्तद् विचित्रं बला-
च्छित्वा तत्र समेमि तावदसकृत् प्राणान् प्रिया ! रक्षत ॥७०॥

अंगना स्थित थी, एवं युद्ध में आपका विशेष आदर था, अतः हे वीर ! आपकी जय हो ! और पारिजात-वृक्ष को जीत कर प्रबल पराक्रमवाले ! एवं इन्द्र को त्यागकर उदित शोभावाले ! प्रयत्नपूर्वक वरुण आदि के छत्र आदि को उनके पास पहुँचानेवाले ! तथा रत्नगिरि के हरनेवाले ! अतः लीला की अधिकतावाले ! वीर ! आपकी जय हो ! एवं भक्तों की प्रीति को देनेवाले ! तथा उन उन शत्रुओंपर जय पानेवाले ! प्रभो ! अब तो आप अपने में आसक्तिवाले अपने व्रज को प्राप्त हो गये हो, अतः हे वीरवर ! आपकी सदा जय जयकार हो ! इस स्तुति में सभीपद सम्बोधनान्त हैं, यह जानना चाहिये ॥६८॥

अनन्तर पहले की भाँति श्रीराधा-माधव की सभा में यह कथा हुई, यथा—स्निग्धकण्ठ बोला—अनेक प्रकार के संवादों से उत्पन्न हुए सुख के वशीभूत एवं उन उन शत्रुओं के युद्ध में जागृत हुई कामना-वाली सत्यभामा के साथ जाकर, नरकासुर का वध करके, मणिपर्वत एवं पारिजातवृक्ष को गरुड के ऊपर धरके, सभी सुखों के निधानरूप तथा दयालुओं के भूप, वे श्रीकृष्ण जब अपने द्वारकापुर में चले आये, तब व्रजवासीमात्र के साधारणभाव से श्रीराधिका आदिकों के निकट दिव्य अलङ्कार एवं बहुत से रत्न यत्न-पूर्वक भिजवा दिये । जिन दिव्य अलङ्कारों में एवं रत्नों में सभी जगह दो तीन वर्णों के क्रममय सम्मेलन-पूर्वक समस्त रचना के द्वारा चित्रित की भाँति यह लिखा हुआ दिखाई देता था कि— ॥६९॥

हे प्रियतमा गोपियो ! देखो, मैंने अपना समय बिताने के लिए तुम्हारी छवि की छाया से उपलक्षित श्रीरुक्मिणी आदि रमणियों के अनेक प्रकार के विशिष्ट आकार एकत्रित किये थे, किन्तु उसके बाद प्रतिक्षण केवल वैराग्य से खेद ही उत्पन्न हो गया है । अतः तुम सब से मेरा यही कहना है कि—"मेरे द्वारा स्वयं रचे गये पुत्र, पौत्र, कलत्रादिरूप तत्तद् विचित्र बन्धन को बलपूर्वक काट कर, मैं जबतक व्रज में आऊँ, तबतक अपने प्राणों की निरन्तर रक्षा करती रहो" ॥७०॥

"तदेतदपि बहिर्दृष्ट्यपेक्षया लिख्यते, वस्तुतस्तु—

यद् यदत्र किल रच्यते बहि,-स्तत्तदङ्ग बहिरेव मन्यताम् ।
अन्तरेऽहमपि यूयमप्यहो, केलिमेव कलयामहे मिथः ।।" इति ।।७१।।

"अथ समापनं च स्निग्धकण्ठः सोत्कण्ठमाह स्म,—

"इन्द्रजालमिव विद्धि राधिके !, तत्तदाधिवलनं पुनः पुनः ।
पश्य कृष्ण इह तृष्णगन्तर,-स्त्वन्मुखं सुखवशान्निरीक्षते ।।"७२।।

तदेवं सर्वसुखप्रथकयोः कथकयोः सर्वेण सह स्वस्य पथं गतयोः श्रीराधामाधवावपि माधवी-मण्डपमेव सकेलिसम्पदा मण्डयामासतुः ।।७३।।

इति श्रीश्रीमदुत्तरगोपालचम्पूमनु नरकसंहरण-पारिजातहरण-युगपदष्ट-सहस्रयुग-कन्या-प्राण्यादानं नामाष्टादशं पूरणम् ।।१८।।

यह भी बाहरीदृष्टि से, अर्थात् लौकिकदृष्टि की अपेक्षा करके ही लिख रहा हूँ । वस्तुतस्तु, हे श्रीमति राधिके ! देखो, इस प्रवास के समय मैं जिस जिस बाहरी विषय की रचना कर रहा हूँ, उस उसको तुम बाहर ही मान लो । किन्तु अहह ! अन्तःकरण में तो मैं भी एवं तुम भी परस्पर क्रीडा ही कर रहे हैं, यही भाव मान लो ।।७१।।

अनन्तर स्निग्धकण्ठ समाप्तिद्योतक वचन को उत्कण्ठापूर्वक बोला कि—हे राधिके ! देखो, विरह के कारण बारंबार वह वह जो मानसिक व्यथा की रचना हुई है, उसको तुम इन्द्रजाल की तरह जान लो । क्योंकि यहाँपर श्रीकृष्ण तो तृष्णा से युक्त अन्तःकरणवाले होकर, एवं सुख के वशीभूत होकर, तुम्हारे मुख का निरीक्षण कर रहे हैं ।।७२।।

अतएव इस प्रकार सभी के सुख का विस्तार करनेवाले दोनों कथावाचकों के, सभी श्रोताओं के सहित अपने मार्ग में चले जानेपर, श्रीराधा-माधव ने भी अपनी क्रीडासम्पत्ति के द्वारा माधवीलता के मण्डप को ही विभूषित कर दिया ।।७३।।

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रिविरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते श्रीमदुत्तरगोपालचम्पूकाव्ये नरकसंहरण-पारिजातहरण-युगपदष्टसहस्रयुग-कन्यापाण्यादानमष्टादशं पूरणं सम्पूर्णम् ।।१८।।

अथैकोनविंशं पूरणम्

बाणयुद्ध-कथा

अथ प्रभाते श्रीकृष्ण-प्रभाजातसुखलम्भायां व्रजराजसभायां मधुकण्ठ उवाच,—"बहूनां दिनानामनन्तरे दिनान्तरे चाऽपरौ सन्देशहरौ प्रथमगतौ बहुभिरनन्तरगतैः समं समागतौ, समागत्य च तत्प्रश्नपूर्वकं पूर्ववत् कथयामासतुः,—'भवद्भिर्यत्तत्रकीयं कुशलं पृष्टम्, तत् सुमृष्टमेव; परं च किमपि पूर्वं यदपरामृष्टम्, तदेव दृष्टम् ॥'१॥

"श्रीव्रजराज उवाच,—कथ्यताम् ?' "दूतावूचतुः,—'श्रीरुक्मिण्या जातकः खलु जात एव यः प्रनष्टतया सर्वं सकष्टं चचार। स तु सम्प्रत्यात्मना प्रत्यागत्य दृष्टतया हृष्टमाचचार। न केवलमात्मना, किन्तु कयाचिदन्यया च धन्यया नरदेव-कन्यायमानया ॥'२॥

"सर्वेऽपि साश्चर्यमूचुः,—'कथं कथमिति कथ्यताम् ?' "दूतावूचतुः,—'तदिदं श्रीनारदवदनाद् विदितम्; यथा—

मारमारादुपानीय पानीयनिधिमाचर्छयत् ।
शम्बरः शम्बरात्तं तु समारन्निजमारकम् ॥३॥

'तथा हि, यदा परिणामतस्तादृशदनुजप्राणकर्षिसुजनसुखवर्षिदेवर्षिनियोगादात्मघातकतया निश्चित्य विचिन्त्य च शम्बरनामा दानवः शाम्बरीसंवलनयात्मसंवरणमालम्बमानस्तं वरुणालयशम्बरमनुलम्बयामास, तदा स बालः सहसा मिलितः, केनचिदपूर्वशकलिना गिलितः;

उन्नीसवाँ पूरण

बाणासुर के युद्ध की कथा

अनन्तर प्रातःकाल श्रीकृष्ण की कान्ति से उत्पन्न सुख को प्राप्त करनेवाली श्रीव्रजराज की सभा में मधुकण्ठ बोला—बहुत दिनों के बाद अन्य किसी दिन, द्वारका में पहले जानेवाले दूसरे दो दूत, पीछे जानेवाले बहुत से दूतों के सहित व्रज में आ गये। और आते ही श्रीव्रजराज आदि के प्रश्नपूर्वक पहले की तरह कहने लगे कि—आप सबने द्वारकासम्बन्धी जो कुशल पूछा था वह सुन्दर ही है। किन्तु पहले जो कुछ भी विचारा नहीं था, वही विषय देखा गया ॥१॥

श्रीव्रजराज बोले—कहिये, क्या देखा ? दोनों दूत बोले—श्रीरुक्मिणी का पुत्र, जिसने कि उत्पन्न होते ही, प्रनष्ट होकर सभी को कष्ट से युक्त कर दिया था, उसने तो अब स्वयं आकर दृष्टिगोचर होकर, सभी को हर्षित कर दिया। केवल अपने द्वारा ही हर्षित नहीं किया, किन्तु राजकन्या का सा आचरण करनेवाली अन्य धन्य किसी रमणी के साथ आकर हर्षित कर दिया ॥२॥

सभी आश्चर्यपूर्वक बोले—किस किस प्रकार आकर हर्षित किया सो कहिये ? दोनों दूत बोले—यह सब श्रीनारद के मुख से विदित हुआ। यथा—शम्बरासुर ने शीघ्र ही कामदेव को लेकर समुद्र में पहुँचा दिया। पुनः अपने मारनेवाले उसी कामदेव को, अर्थात् प्रद्युम्न को शम्बर (जल) से प्राप्त कर लिया ॥३॥

देखो, परिणाम में तो शम्बर जैसे दैत्यों के प्राणों को खींचनेवाले, एवं सुजनों के लिए सुख की वर्षा करनेवाले देवर्षि नारदजी के आदेश से, शम्बर नामक दैत्य ने प्रद्युम्न को अपना मारनेवाला निश्चित करके और विचार करके, माया के अवलम्बन से अपने छिपाने का आश्रय लेकर,प्रद्युम्न को जब समुद्र के जल में

स यदा गिलितस्तदा स च शकली केनचन जालिकेन कलितः; स यदा च कलितस्तदा शम्बरबलिकृते वलितः; स यदा च बलितस्तदा तदीयमहानसाधिकारिण्या रतिनामिन्या दलितः; स यदा च दलितस्तदा स बालकस्तत्र पर्याकलितः; पर्याकलितवती च सा तं शम्बरस्य दुर्मर्यादतां विचिन्त्य गुप्तं पालितवती। एषा हि पूर्वं स्मरभार्याऽऽसीत्, स्मरे तु हरेण दग्धे पुनस्तत्प्राप्तये तमाराधयामास। ततः शम्बरेण स्मरहरं प्रसाद्य निजगृहाऽऽनीतापि प्राग्लब्धतद्वरबलादभीता मायामयकायया कयाचिदात्मभ्रान्तिकारिकया तं वञ्चयन्ती बभूव। तस्मिन्नतिबाले बलात् पतिभावे मुहुर्लब्धभावे तु धिग्धिगित्यात्मानं गर्हितवती ॥४॥

'अथ कदाचिदेतां श्रीमान् देवर्षिः सर्वहर्षि तदिदमषट्कर्णं वर्णितवान्,—अयि रतिदेवि! मन्मथतया लब्धप्रथितिस्तव यः पतिः, स खलु दुर्गापतिना प्रापिताऽन्यथागतिः सम्प्रति सर्वमन्मथगतिताश्रेयसि निजांशि-यदुपतितेजसि लब्धसात्म्यापत्तिः सन्नयं वर्तत इति ॥५

'सा तु तदेतत् कर्णयोरासज्य तस्मिन्नारोपितं भावान्तरं परित्यज्य पतिभावमेव प्रसज्य स्थितवती; स तु शावकः प्रतिश्वः शश्वदेव शुक्लपक्षशशीव शुशाव। प्रौढस्तु स कुमारपरिवृढस्तं तद्भावं दृढं बुद्ध्वा तस्यै गाढं चुक्रोध; सा तु कथितरहस्यतया तं वश्यं चकार। स्वीयामनवद्यां विद्याततिमपि तस्मिन्नाविश्चकार ॥६॥

फैंक दिया, तब सहसा मिला हुआ वह बालक (प्रद्युम्न) किसी अपूर्व मछली ने निगल लिया। वह जब निगल लिया, तब वह शकली (मछली) किसी धीवर ने पकड़ ली। और वह मछली जब पकड़ी तभी शम्बरासुर की भेंट के लिए अर्पित कर दी। और वह मछली जब अर्पित कर दी, तब शम्बरासुर की पाकशाला की अधिकारिणी रति नामवाली स्त्री ने वह मछली फाड़ दी। एवं वह मछली जब फाड़ दी, तब वह बालक उसके पेट में दिखाई दिया। उस बालक को देखनेवाली वह रति, शम्बरासुर की उच्छृङ्खलता को विचार कर उस बालक को गुप्तरूप से पालने लग गई। यह 'रति' पहले कामदेव की पत्नी थी, किन्तु शंकर के द्वारा कामदेव के भस्म हो जानेपर, पुनः उसकी प्राप्ति के लिए शंकर की आराधना करने लग गई। उसके बाद शम्बरासुर के द्वारा शंकर को प्रसन्न करके, अपने घर में लाई हुई भी वह रतिदेवी, पहले प्राप्त हुए शंकरजी के वरदान के बल से निर्भीक होकर, अपनी भ्रान्ति (भ्रम) करानेवाली किसी मायामय काया के द्वारा उसको धोखा देती रही। उस अत्यन्त छोटे बालकपर रति का पतिभाव जब बलपूर्वक पुनः भाव को प्राप्त हो गया, तब तो वह रति 'मुझको धिक्कार है, धिक्कार है' इस प्रकार अपनी निन्दा करने लग गई ॥४॥

उसके बाद देवर्षि श्रीमान् नारदजी कदाचित् इस रति के प्रति अषट्कर्ण (एकान्त में) सबको हर्षित करनेवाले इस रहस्य का वर्णन करने लगे कि—हे रतिदेवि! देखो, तुम्हारा जो पति कामदेवरूप से विख्यात था, वह शंकरजी ने जला कर भस्मरूप अन्यथा गति को प्राप्त कर दिया था। किन्तु अब तो यह कामदेव सभी के मनोरथों की प्राप्ति से श्रेष्ठतम, एवं अपने अंशी यदुपति श्रीकृष्ण के तेज में अभेद सम्बन्ध को प्राप्त होकर विद्यमान है ॥५॥

वह रतिदेवी तो श्रीनारद के इन वचनों को कर्णगोचर करके, उस बालक के ऊपर आरोपित पुत्रभाव को त्यागकर, पतिभाव को ही दृढ कर स्थिर हो गई। वह प्रद्युम्न नामक बालक तो प्रत्येक दूसरे दिन शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की तरह निरन्तर ही बढ़ने लगा। वह कुमारश्रेष्ठ प्रौढ (युवा) होकर तो उस

'किं बहुना, युद्धं समुद्बुद्धं विधाप्य तं दारकं तस्य दानवस्य दारकमेव चकार । अनन्तरं च सुरवर्त्मवर्त्मना तन्मारतया तत्र तत्र सुरविसरलब्धप्रसारमारनामसारं कृष्णकुमारं द्वारकामनुसारयाञ्चकार । यः खल्विन्द्रसञ्चारं सञ्चरंस्तत्रत्यैश्चन्द्रदर्शं दृश्यते स्म; सान्द्रानन्द-कन्दकन्दर्पतया परामृश्यते स्म च ।।'७।।

"व्रजराज उवाच,—'कथ्यतां तथ्यम्; कीदृगाकारः स कुमारः ?' ।।८।।

"दूतावूचतुः,—'तदेव निवेदयन्तौ स्वः —

'आत्मा वै जायते पुत्र' इति या श्रुतिरादृता ।
रौक्मिणेये हरेः पुत्रे तदुदाहृतिरीक्ष्यते ।।९।।
मनोजवस इत्याख्या यत् ख्याता पितृसन्निभे ।
तस्येदमेव बीजं किं स तद्वद् वसतीति यत् ।।'१०।।

"सर्वे पप्रच्छुः,—'कीदृग्वया स आगतः ?' "दूतावूचतुः,—'यादृग्वयाः श्रीदामादि-सवयास्तादृग्वया एव प्रतीयते । साम्प्रतिकसंख्यया तु षड्वर्ष एव ख्यायते; यतः सर्वेऽपि तं विलोकमाना लोकाः स्वयं श्रीकृष्ण एवायमिति समम्भ्रमं बंभ्रमन्ति, किं बहुना, तन्मातरोऽपि ।।'११।।

रति के पतिभाव को दृढ जानकर उसके ऊपर अत्यन्त कुपित हो गया । किन्तु उस रति ने तो पुराने रहस्य को कहकर उसको अपने वश में कर लिया, एवं अपनी विशुद्ध विद्याश्रेणी भी उसमें प्रकाशित कर दी ।।६।।

अधिक कहने से क्या ? देखो, युद्ध को भली प्रकार छिड़वा कर, उस प्रद्युम्नरूप बालक को उस शम्बरदानव का विदीर्ण करनेवाला ही बना दिया । और उसके बाद "यह बालक शम्बरासुर को मारनेवाला है" इस प्रकार के भाव से वहाँ वहाँ देवसमूह में प्रचार को प्राप्त करनेवाले, 'मार' नाम से ही दृढ अंशवाले कृष्णपुत्र प्रद्युम्न को आकाशमार्ग से द्वारका में पहुँचवा दिया । एवं जो प्रद्युम्न उस समय इन्द्र की तरह विचरण करता हुआ, द्वारकावासियों के द्वारा चन्द्रमा की तरह दिखाई देता था । और वह गाढे आनन्द का मूल 'कन्दर्प' रूप से ही विचार में लाया गया था ।।७।।

श्रीव्रजराज बोले—सत्य कहो, वह कुमार कैसे आकारवाला था ? ।।८।।

दोनों दूत बोले—हम उसी को तो निवेदन कर रहे हैं कि—"आत्मा ही पुत्ररूप से उत्पन्न होता है" यह जो श्रुति प्रशंसित की है, उसका उदाहरण स्थल तो रुक्मिणी के द्वारा उत्पन्न श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न में ही दिखाई देता है ।।९।।

और पिता के समान पुत्र में 'मनोजवस' यह जो नाम प्रसिद्ध है, उसका यही मूलकारण है कि, वह पुत्र पिता की तरह उसके मनोज (कामदेव) में निवास करता है ।।१०।।

सभी श्रोता पूछने लगे कि—वह प्रद्युम्न द्वारका में कैसी अवस्थावाला होकर आया था ? दोनों दूत बोले—श्रीदामादिकों के मित्र श्रीकृष्ण जैसी अवस्थावाले हैं, वह प्रद्युम्न उसी प्रकार की अवस्थावाला ही प्रतीत होता है । किन्तु आजकल की संख्या के हिसाब से तो वह छः वर्ष का ही कहा जाता है । कारण—उसको देखनेवाले सभी लोग "यह प्रद्युम्न तो स्वयं श्रीकृष्ण ही है" यह कहकर चंचलतापूर्वक बारंबार भ्रम में पड़ जाते हैं । अधिक कहने से क्या ? देखो, प्रद्युम्न की रुक्मिणी आदि माताएँ भी भ्रम में पड़ जाती हैं ।।११।।

"पुनः सर्वेऽपि पप्रच्छुः,—'स च खल्वस्माकं जीवननामा श्यामधामा सम्प्रति कीदृग्मानः स्फुरति ?' ॥१२॥

"दूतावूचतुः,—'स यथा गोकुले ज्ञायते स्म, सम्प्रत्यपि तथा प्रत्यभिज्ञायते।' "तदेतदाकर्ण्य सर्वे दूतमुखं निर्वर्ण्य क्षणकतिपयं फुल्लदृग्वर्णमासन् ॥१३॥

"ततश्च दूतावूचतुः,—'अत्र किमाश्चर्यम् ? (भा० १०।४५।१६)—

'तत्र प्रवयसोऽप्यासन् युवानोऽतिबलौजसः।
पिबन्तोऽक्षैर्मुकुन्दस्य मुखाम्बुजसुधां मुहुः ॥' इति कैमुत्यप्रत्ययात् ॥१४॥

यस्य चानुभूतचरस्य मनसि सञ्चरणाद् भवन्तश्च तथाभवन्त समन्ताद् विराजन्त इति ॥१५॥

"अथ व्रजराजस्तत्पत्नी च मनसि चिन्तयति स्म,—'हन्त ! किं तस्य जगत्प्रशस्यं मुखारविन्दं तमनुविन्दमानं तं दारकमपि वारमेकं पश्याम ?' इति ॥१६॥

"स्पष्टं च श्रीव्रजराज उवाच,—'तदागमनानन्तरं किंतरां जातम् ?' ॥१७॥

"दूतावूचतुः,—'सर्वत एवाऽखर्वं पर्व जातम्; यत्र दिनसप्तकं यावद् बालकालोककानां लोकानां यात्रा छिद्रमात्राय न जाता; यत एवाऽऽवयोर्विलम्बसंवलनं बभूव। तदनन्तरमेवाऽनुज्ञापनायामावामन्तरमवापाव ॥'१८॥

पुनः सभी ने पूछा कि—हमारे जीवनस्वरूप नामवाला, श्याम शरीरवाला वह श्रीकृष्ण आजकल कैसे लम्बे चौड़े परिमाण का होकर स्फूर्ति पा रहा है ? ॥१२॥

दोनों दूत बोले—वह गोकुल में जिस प्रकार के परिमाण का जाना जाता था, इस समय भी वह उसी प्रकार का जाना जाता है। यह सुनकर सभी व्रजवासी, दूतों के मुख को देखकर कुछ क्षणोंतक प्रफुल्ल-नेत्र एवं उज्ज्वलवर्ण होकर विद्यमान रहे ॥१३॥

उसके बाद दोनों दूत बोले—इस विषय में क्या आश्चर्य है ? क्योंकि उस मथुरा में जाते ही श्रीकृष्ण के मुखारविन्द की सुधा का नेत्रों द्वारा बारंबार पान करते हुए, अत्यन्त वृद्धपुरुष भी, अत्यन्त बल एवं तेज से युक्त होकर, युवक बन गये थे। इस कैमुत्यन्याय के विश्वास से आप यह समझिये कि "श्रीकृष्ण के मुखचन्द्र की सुधा के पान से अत्यन्त बूढ़े भी जब जवान हो गये, तब उनके विषय में एक सी अवस्था रहने में फिर कहना ही क्या है ? ॥१४॥

और आप सबके द्वारा पहले अनुभव में लाये गये जिन श्रीकृष्ण के तुम्हारे मन में संचार करते ही, आप सब भी उसी प्रकार बलवीर्य से युक्त युवक से होकर सर्वतोभाव से विराजमान हो ॥१५॥

उसके बाद व्रजराज एवं उनकी पत्नी यशोदा, ये दोनों ही मन में विचार करने लगे कि—हाय ! जगत् में प्रशंसनीय श्रीकृष्ण के मुखारविन्द को एवं श्रीकृष्ण के से रूप को प्राप्त करनेवाले उस बालक प्रद्युम्न को हम एकबार भी देख सकेंगे क्या ? ॥१६॥

श्रीव्रजराज पुनः स्पष्ट बोले कि—उस प्रद्युम्न के आने के बाद क्या कार्य हुआ ? ॥१७॥

दोनों दूत बोले—चारों ओर महान् महोत्सव हो गया। जिस महोत्सव में सात दिनपर्यन्त प्रद्युम्न-रूप बालक को देखनेवाले लोगों की यात्रा (आना जाना) अवकाशमात्र के लिए न हुई, अर्थात् सात दिन-तक लोगों का आना जाना बराबर बना रहा। इसीलिए हम दोनों को विलम्ब संघटित हो गया। उस महोत्सव के बाद ही हम दोनों ने श्रीकृष्ण की अनुमति में अवकाश पाया ॥१८॥

"व्रजराज उवाच,—'बालकस्य नाम किं नाम कृतम् ?' "दूतावूचतुः,—'प्रद्युम्नः' इति ॥१६॥

"सर्वेऽप्यूचुः,—'निरुक्तसंयुक्तताऽवगतया युक्तमेव च तन्नाम; यतः प्रकृष्टधनलाभमेव तस्मात्ते मेनिरे।' "दूतावूचतुः—'लोकास्तु कामं कामनामानि समस्तानि चामनन्ति' इति ॥२०॥

"तदेवमुत्सुकतया सत्सु व्रजसत्सु पुनरन्यौ दूतौ तत्र सम्भूतौ; सम्भूय च तत्प्रणामादि-पूर्वकं सुखसंयूयमानतया वदतः स्म,—'तत्राऽन्यदपि किमपि वर्यमाश्चर्यं जातम् ॥'२१॥

"व्रजराज उवाच,—'कथयतम्, तत् किं तावत् ?' "दूतावूचतुः,—'यदर्थं श्रीमति कृष्णे सम्यगतृष्णेऽपि दुर्वादमाचर्य बहुभिः कदर्थनमाचर्यमाणमास्ते। तस्य खलु स्यमन्तकस्य केनचित् कृतं चौर्यमात्मचर्यया कमपि निजाचार्यं व्यञ्जयति स्म ॥'२२॥

"सर्वे प्रोचुः,—'कस्तावदेवं महान् ?' "दूतावूचतुः,—'यस्तावद् भवतामनाशीर्वाद-पात्रतया कृष्णमादाय गोकुलतः कृतयात्र आसीत् ॥'२३॥

"सर्वे सोत्प्रासं प्रोचुः,—'कथं कथमिति कथ्यताम्।' "दूतावूचतुः,—'स यदा मणि-मादाय शिवसम्प्रदायमनु स्वं विधाय कृष्णादात्मानं पिधाय काशीमृच्छन्नासीत्, तदा तच्चिन्तक-

---

श्रीव्रजराज बोले—अच्छा, तो उस बालक का कौन सा नाम कर दिया ? दोनों दूत बोले—प्रद्युम्न ॥१६॥

सभी व्रजवासी बोले—"प्रकृष्टं द्युम्नं धनं बलं च यस्य स प्रद्युम्नः" इस प्रकार की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध को जानने से तो उस बालक का नाम उचित ही है। कारण—उन यादवों ने उस प्रद्युम्न की प्राप्ति से प्रकृष्ट धन की प्राप्ति ही मानी थी। दोनों दूत बोले—किन्तु साधारण लोग तो कामदेव के "मदन, मन्मथ, मार, प्रद्युम्न, मीनकेतन, कन्दर्प, दर्पक, अनङ्ग, काम, पञ्चशर, स्मर, शम्बरारि, मनसिज, कुसुमेषु, अनन्यज, पुष्पधन्वा, रतिपति, मकरध्वज, आत्मभू" इत्यादि समस्त नामों को श्रीकृष्ण के प्रथम पुत्र के प्रति प्रयुक्त करते हैं ॥२०॥

अतएव इस प्रकार सभी व्रजवासियों के उत्सुकतापूर्वक स्थित रहनेपर, पुनः दूसरे दो दूत व्रज में सम्मिलित, अर्थात् उपस्थित हुए। और मिलते ही श्रीव्रजराज आदिकों को प्रणाम आदि करके सुख में सम्मिश्रित (निमग्न) होकर बोले—उस द्वारका में दूसरा भी कोई श्रेष्ठ आश्चर्य संघटित हो गया ॥२१॥

श्रीव्रजराज बोले—कहिये, वह कौन सा आश्चर्य है ? दोनों दूत बोले—जिस मणि के लिए श्रीमान् कृष्ण के अच्छी तरह तृष्णारहित होनेपर भी, दुर्वाद करके बहुत से कृष्णविरोधी जनों के द्वारा उन्हीं श्रीकृष्ण के ऊपर निन्दा का आचरण किया जा रहा है, उसी स्यमन्तकमणि की किसी व्यक्ति के द्वारा की हुई चोरी ही अपने आचरण के द्वारा किसी व्यक्ति को अपना आचार्य, अर्थात् चुरवानेवाला प्रकाशित कर रही है ॥२२॥

सभीजन बोले—इस प्रकार की चोरी की शिक्षा देनेवाला कौन सा महात्मा है ? दोनों दूत बोले—जो व्यक्ति आप सबके आशीर्वाद का पात्र न होने के कारण, श्रीकृष्ण को लेकर व्रज से मथुरा की यात्रा कर गया था, वही अक्रूर है ॥२३॥

सभी व्रजवासी हँसी की बात करते हुए बोले—वह कैसे कैसे हुआ ? कहो तो सही। दोनों दूत बोले—वह अक्रूर जब मणि को लेकर अपने को शिवसम्प्रदाय का अनुगामी बनाकर, श्रीकृष्ण से आत्मा को

कृताऽवज्ञान् काम्ययज्ञानेव निजसमज्ञाहेतुंश्चकार; यत्र दानपत्याख्ययाऽप्यात्मानं प्रत्याययामास ॥'२४॥

"सर्वे प्रोचुः,—'युक्तमस्मन्नीलनिधिहरणं न तस्य भरणाय जातम्, तस्मात्तु तन्निधिहरणं निस्तरणाय भातम्; युक्ततरं तु तेन पण्यं पुण्यमात्मनि नैपुण्यमावहति' इति। "तत्राऽपर आह,—पूर्वं खल्वसौ तत्र पार्श्वग आसीत्, अधुना तु पार्श्वक इति वर्गप्रथमतां प्रथितवानतस्तस्य प्रथिमा परं प्रथते ॥'२५॥

"अथ सभासत्सु हसत्सु व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः?' "दूतावूचतुः,—'पूर्वमेवाऽपूर्वविद्यानुसारी दनुजारी रम्यातिशौर्यगत्या मत्या तदीयचौर्यं गोचरयमाणं चकार; किन्तु स खलु सकामभक्त इति तत्कामपूरणाऽऽसक्तस्तत्रोदासीन एवाऽऽसीत्। सम्प्रति तु पूतनादीनामपि पूततविधायी सोऽयं सुखदायी कयाऽपि विद्यया द्वारकायामुत्पातमुत्पाद्य तं चाऽक्रूर-प्रवसन-हेतुकं वृद्धमुखेन प्रतिपाद्य तस्य चाऽक्रूरतां व्यञ्जयितुं किल तं सकृतवर्माणं यदुसदः समानाय्य वाग्भिः सुसभाज्य पूर्यमाणचातुर्यतया तन्मुखमेव तस्य तदपहारं व्याहारयामास। त एते मणिप्रसङ्गसङ्गज-मत्कलङ्कसङ्करदुःखतः क्लेशं गता मदग्रजचरणाश्च मय्यकस्मान्महासम्पन्मय-

---

छिपाकर काशी चला गया था, तब कृष्णभक्तों के द्वारा अनादृत सकाम यज्ञ ही, अक्रूर ने अपनी समज्ञा (कीर्ति) के हेतु बना लिए, एवं जिन यज्ञों में अपने को 'दानपति' नाम से विख्यात कर दिया ॥२४॥

सभी व्रजवासी बोले—यह उचित है कि हमारे श्यामनिधि (कृष्णरूप रत्न) का हरना तो उस अक्रूर के भरणपोषण के लिए उपयुक्त नहीं हुआ, इसीलिए तो अक्रूर को स्यमन्तकमणिरूप निधि का हरना अपने निस्तार के लिए प्रतीत हुआ। अधिक उचित तो यही है कि, उस मणिरूप निधि के हरने से प्रशंसनीय पुण्य अपने (अक्रूर) में निपुणता ला रहा है। उन व्रजवासियों में से एक दूसरा व्रजवासी बोला कि—वह अक्रूर पहले तो वहाँपर निकटवर्ती था। किन्तु अब तो उसने पार्श्वक (शठ) होकर कवर्ग के पहले अक्षर के भाव को प्रसिद्ध कर दिया। यहाँपर पार्श्वग के स्थान में पार्श्वक कहने का अभिप्राय यह है कि, उस अक्रूर ने श्रीकृष्ण के निकटवर्ती होकर, पीछे मणि के कारण श्रीकृष्ण को छोड़कर, अपनी शठता प्रसिद्ध कर ली। इससे उस अक्रूर का केवल मोटापन ही प्रसिद्ध हो रहा है ॥२५॥

अनन्तर सभासदों के हँसनेपर श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद? दोनों दूत बोले—अपूर्व विद्या का अनुसरण करनेवाले दैत्यारि श्रीकृष्ण ने, अत्यन्त शौर्यसम्पन्न अपनी मनोहर बुद्धि के द्वारा, अक्रूर की चोरी पहले ही जान ली थी, किन्तु वह अक्रूर सकाम भक्त है, अतः उसकी कामना की पूर्ति में लगे हुए श्रीकृष्ण स्यमन्तकमणि के ऊपर उदासीन ही रहे। किन्तु अब तो पूतना आदि पापियों को भी पावन बनानेवाले,सर्वसुखदायक श्रीकृष्ण ने किसी अनिर्वचनीय विद्या के द्वारा, द्वारका में उत्पात को उत्पन्न करके, और उस उत्पात को "अक्रूर का द्वारका से दूर चला जाना ही इसमें कारण है" इस प्रकार वृद्धजनों के मुख से प्रतिपादन करके, एवं अक्रूर की अक्रूरता (सरलता) को प्रकाशित करने को कृतवर्मा के सहित अक्रूर को यदुओं की सभा में लिवा लाकर, वचनों से भली प्रकार सम्मानित कर, परिपूर्ण चातुरी के द्वारा अक्रूर के मुख से ही, स्यमन्तकमणि की चोरी कहलवा दी। ये सब यदुवंशी एवं मणि के प्रसङ्ग के सङ्ग से उत्पन्न मेरे कलङ्क के सम्मेलन से जो दुःख हुआ, उस दुःख से क्लेशपानेवाले पूज्यपाद मेरे बड़े भ्राता बलदेव भी मेरे ऊपर कुपित हैं। कारण—हे अक्रूर! देखो, आपको अचानक भारी सम्पत्तियों की अधिकता

तया प्रभवन्तं भवन्तं श्रुतवत्यपि मणिमन्वेष्टुं सन्दिष्टमकुर्वति कोपवन्तः सन्ति। स्वयमहं तु तादृशसत्कर्मणि भवत्येव मणिः शर्मणे चक्लृप इति विभावयन्नातियत्नमाचरन्नस्मीति वचः प्रचारयामास च ॥२६॥

'अथाऽक्रूरस्तदानीमपि तद्गोपनाऽनुचिततया संकुचितचित्तस्तदिदं चिन्तयामास,—सोऽयं सम्प्रति मयि शर्मवानालोच्यते; सङ्कर्षणस्य न शङ्करता पर्यालोच्यते; तथा मम मर्म तु नर्मणाऽमीभिः सभासद्भिरुद्धृतवर्मनिर्मितमस्ति, सम्प्रति चाऽमीषामन्तःपटपुटितमपि रत्नसम्पुटं प्रतिदृक् पातयन्तं प्रतीमः। तस्मान्मणिव्यञ्जना परमञ्जसा समञ्जसा जञ्जनीतीति। स्पष्टं चाऽऽचष्ट,—सत्राजित् खलु भवदपराधीति कथमबाधी भवितुमर्हति? ततः शतधन्वानं वा कथमन्यथा मन्वाना भवामः? अक्रूरकृतवर्माणावावां तु भवन्माययाऽऽरब्धविरुद्ध-कर्माणावपि लब्धधर्माणावधुना जनिष्वहि; यतः कृपावता भवता तामपसार्याऽऽरादाकार्यावहे स्म। तत्र सोऽयं कृतवर्मा मत्पश्चाद्वर्तीति न पृथग्वरिवर्ति। सोऽहमपि भवन्निदेशमुद्देशमुद्देशं तं देशमनु निवेशं कृतवान्; अधुना तु भवन्निदेशं भवदभिनिवेशं च विदन्निदं करकलितं करवाणि' इति ॥२७॥

"सर्वे व्रजसभासद ऊचुः,—'तदिदं वचनमपि दुरूहरचनं भाति। ततस्तनुतम्।'

से समृद्ध होते हुए मैंने सुन लिया, तो भी मणि को ढूँढ़ने के लिए बलदेवजी का आदेश मैंने पालन नहीं किया, अतः मुझपर कुपित हैं। तथा मैं स्वयं तो "उस प्रकार के यज्ञ यागादि सत्कर्म करनेवाले आपके निकट ही वह मणि सुख के लिए सम्पन्न हो गई है" यह विचारता हुआ अत्यन्त प्रयत्न नहीं कर रहा हूँ, इस प्रकार का वचन प्रचारित कर दिया ॥२६॥

उसके बाद अक्रूरजी उस समय भी "उस मणि का छिपाना अनुचित है" इस कारण चित्त में संकुचित होकर विचारने लगे कि—ये श्रीकृष्ण तो इस समय मेरे ऊपर सुखयुक्त दिखाई देते हैं। किन्तु श्रीबलदेव का सुखदायी भाव बिचार में नहीं आता है। तथा मेरे मर्म को तो इन सभासदों ने परिहास के द्वारा खोल ही दिया है, और अब हम इन सभासदों के अन्तःकरण को वस्त्र से ढके हुए स्यमन्तकमणि के डिब्बे के प्रति भी दृष्टिपात में प्रयत्नवाला समझ रहे हैं। इसलिए सभा में मणि का प्रकाशित करना केवल अनायास अत्यन्त उचित हो गया है। मन में यह विचार कर अक्रूरजी स्पष्ट बोले कि—भगवन्! सत्राजित् जब निश्चय ही आपका अपराधी है, तब बाधाओं से रहित कैसे हो सकता है? अतः हम शतधन्वा को भी किस प्रकार अपराधरहित मान लें? किन्तु अक्रूर एवं कृतवर्मा हम दोनों तो आपकी माया से मोहित होकर विरुद्ध कर्म का आरम्भ करनेवाले होकर भी, अब धर्म को प्राप्त करनेवाले बन गये हैं। क्योंकि दयालु आपने उस माया को हटाकर, हम दोनों अपने निकट बुला लिए हैं। हम दोनों में से यह कृतवर्मा मेरे पीछे रहनेवाला है, अतः मुझ से अत्यन्त पृथक् वर्तमान नहीं है। और मैं भी बारंबार आपके आदेश का उद्देश्य लेकर उस काशीदेश में प्रवेश कर गया था। किन्तु अब तो आपके आदेश को एवं आपके अभि-निवेश को जानता हुआ, मैं इस रत्नसम्पुट को आपके हाथों में समर्पित करने की प्रार्थना करता हूँ ॥२७॥

व्रज के सभी सभासद् बोले—अक्रूर का यह वचन भी दुर्वितर्क्य रचना से युक्त प्रतीत होता है। अतः विस्तारपूर्वक खोलकर कहो। दोनो दूत बोले—अतएब इस प्रकार अन्तःकरण में छिपी हुई लज्जा की

''दूतावूचतुः,—'तदेवं लज्जामिव सम्पुटकृतसज्जां मणिं व्यञ्जितवति तस्मिन् श्रीकृष्णमभि विश्वस्तिप्रशस्ता 'जय जय'-शब्दमविश्वस्तिविगतशस्तास्तु निःशब्दमाचेरुः ॥'२८॥

''व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः ?' ''दूतावूचतुः—'ततश्च धृतमणियोग्यतागर्वेषु सर्वेषु सत्यभामाजाम्बवत्यपत्येषु तु तत्प्रत्यासन्नतया धृतप्रत्याशासातत्येषु श्रीकृष्णस्तु परमशुभ-वतस्तत्रभवत एव मणेरस्य धारणं साधारणमिति प्रोच्य सर्वानालोच्य निष्कलङ्कः श्वफल्कसूनव एव तं सस्मितमर्पयामास ॥'२९॥

''व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः ?' दूतावूचतुः,—'ततश्च,

गले वहन्मणिमथ गान्दिनी-सुत,-स्तदर्चिषा दधदपि शुभ्रकान्तिताम् ।
मनोमिलन्मलिनदशातमश्छटा,-घटाऽऽवृतः स्फुरति न स स्म सम्प्रति ॥'३०॥

''तदेवं बहुषु रहोवार्ताहर्तृषु गतागतं कर्तृषु कदाचित् कौचिदागत्य कथयतः स्म,— 'पूर्वं रुक्मिणीदाक्षिण्याल्लब्धायां रुक्मिकन्यायां रुक्मवत्यां रौक्मिणेयाज्जातकः सञ्जातः । सा च न केवलं तमसविष्ट, किन्तु सर्वेषां विशिष्टं सुखमपि ॥'३१॥

''व्रजराजः समुत्सुकमुवाच—'नाम किं नाम धृतम् ?' ''दूतावूचतु,—'अनिरुद्धः' इति । ''व्रजराजः स्वगतमुवाच,—'नूनं वैदुष्यं पुष्यन्मतमिदं वसुदेवस्य पर्यवस्यति, येन कृष्णस्य

तरह सम्पुट (डिब्बा) में छिपाकर धरी हुई मणि, अक्रूरजी ने जब श्रीकृष्ण के आगे प्रकाशित कर दी, तब श्रीकृष्ण की ओर विश्वास के कारण प्रशंसनीय जन जय जयकार करने लग गये, एवं अविश्वास के कारण प्रशंसारहित जन चुपचाप बैठे रहे ॥२८॥

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उसके बाद सत्यभामा एवं जाम्बवती के सभी पुत्र उस मणि के निकटतम सम्बन्धी होने के नाते, जब मणि की योग्यता के गर्व को धारण करने-वाले हो गये, एवं निरन्तर प्राप्ति की प्रत्याशा धारण करने लग गये, तब श्रीकृष्ण ने तो ''इस मणि का धारण करना तो परमशुभवान् पूजनीय व्यक्ति का ही योग्य है'' यह कहकर, सभी सभासदों को निहार कर, स्वय निर्मल होकर, वह मणि श्वफल्कपुत्र अक्रूर के लिए ही मन्दहासपूर्वक समर्पण कर दी ॥२९॥

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उसके बाद गान्दिनीपुत्र अक्रूर अपने गले में स्यमन्तकमणि को धारण करके, उसकी कान्ति के द्वारा शुक्लकान्ति धारण करते हुए भी, अपने मन में मिलती हुई जो मलिनदशा, उसके द्वारा उत्पन्न कामना या अज्ञानरूप अन्धकार की छटारूप घटाओं से आवृत होकर, इस समय स्फूर्ति नहीं पा रहे थे ॥३०॥

अतएव इस प्रकार गुप्त बातों को पहुँचानेवाले बहुत से दूतों के यातायात करनेपर, किसी दिन कोई दो दूत आकर कहने लगे कि—श्रीरुक्मिणी की चतुराई से प्राप्त हुई रुक्मी की पुत्री, रुक्मवती में प्रद्युम्न से एक बालक उत्पन्न हुआ । उस रुक्मवती ने केवल उस बालक को ही उत्पन्न नहीं किया, किन्तु सभी के विशिष्ट सुख को भी उत्पन्न कर दिया ॥३१॥

श्रीव्रजराज समुत्सुक होकर बोले—अच्छा, उस बालक का नाम कौन सा धर दिया ? दोनों दूत बोले—अनिरुद्ध । श्रीव्रजराज अपने मन में बोले कि—निश्चय ही पाण्डित्य को पुष्ट करता हुआ यह मत श्रीवसुदेव का ही निश्चित हो रहा है । क्योंकि जिन्होंने श्रीकृष्ण की वासुदेवता एवं बलराम की संकर्षणता

वासुदेवतां रामस्य च सङ्कर्षणतां ख्यापयित्वा प्रद्युम्नाऽनिरुद्धाविति तौ विख्यापितौ । तथा-प्रभावा एव त एत इति ॥३२॥

"स्पष्टमुवाच,—'रूपं कीदृशम् ?' "दूतावूचतुः,—'पितृवदेव ।' "व्रजराजः सहासमुवाच,—'तत्तत् सर्वं घटमानमपि जातम् ।' "पुनः स्वगतमुवाच,—'हन्त ! मनः ! कथमुन्मनस्तामाप्नोषि ? पुत्रस्य दर्शनमेव तावत् कुत्र, किमुत पौत्रप्रपौत्राणाम्' इति ॥३३॥

मधुकण्ठ उवाच,—"अथ समयान्तरदूत्यमनुभूत्यन्तरमानयध्वम् । "यथा दूतावूचतुः,—'प्रद्युम्नपुत्राय रुक्मिणी-भ्रात्रा पुत्र-पुत्री दत्ता' इति । "व्रजराज उवाच,—'भद्रं जातम्, यद्रुक्मिणा कृष्णे भद्रं मनः कृतम् ।' "दूतावूचतुः,—'नेयमपि तस्य भद्रता, किन्तु रुक्मिण्या एव भद्रङ्करणी युक्तिः ॥'३४॥

"व्रजराज उवाच,—'भवतु, यथाकथञ्चिद् भद्रमेव मृग्यते ।' "दूतावूचतुः,—'स्वपक्षस्य तु भद्रमेव जातम् ।' "व्रजराज उवाच,—'सम्प्रति रुक्मी च स्वपक्ष एव ।' "दूतावूचतुः,—'स्वपक्षो भवतु वा, मा वा, तस्य तु भद्रमेव जातम्, किन्त्वमुत्र ॥'३५॥

"व्रजराजः सविचिकित्समुवाच,—'अमुत्रेत्यमङ्गलमिव कथं सङ्गमयथः ?' दूतावूचतुः,—'सङ्गतमेव, तत् कथं भङ्गमापयितास्वः ?' "व्रजराज उवाच,—'यद्येवमपरस्परं परस्पर-सम्बन्धः सिद्धस्तथा बलभद्रश्च तत्र भद्रतया प्रतीतस्तर्हि तस्याऽमुत्र गतिः कुत्र जाता ?' ॥३६

को प्रसिद्ध कराकर, श्रीकृष्ण के वे दोनों पुत्र एवं पौत्र क्रमशः प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध नाम से विख्यात कर दिये । क्योंकि ये चारों जन श्रीनारायण के चतुर्व्यूह की तरह प्रभाववाले हैं ॥३२॥

पश्चात् स्पष्ट बोले कि—उस अनिरुद्ध का रूप कैसा है ? दोनों दूत बोले—पिता के समान ही है । श्रीव्रजराज हास्यपूर्वक बोले—वह वह समस्त विषय "नित्यसिद्ध होकर" संघटित भी हो गया । पुनः अपने मन मन में बोले कि—हाय ! रे मेरे मन ! तू उत्कण्ठित भाव को क्यों प्राप्त हो रहा है ? पुत्र का दर्शन ही यहाँपर कहाँ है ? फिर प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध आदि पुत्र पौत्रों की क्या चलाई ? ॥३३॥

मधुकण्ठ बोला—अब तो दूसरे समय के दूतों के भाव को अनुभव मार्ग में लाओ । यथा—दोनों दूत बोले—रुक्मिणी के भैया रुक्मी ने अपने पुत्र की पुत्री प्रद्युम्न के पुत्र अनिरुद्ध को दान कर दी । श्रीव्रजराज बोले—यह तो अच्छा हुआ जो कि रुक्मी ने अपने मन को श्रीकृष्ण के ऊपर अच्छा कर लिया । दोनों दूत बोले—यह भी रुक्मी की भलाई नहीं है, किन्तु रुक्मिणी की ही मङ्गलजनक युक्ति है ॥३४॥

श्रीव्रजराज बोले—अच्छा, जो हो । हम तो जैसे तैसे मङ्गल ही ढूँढ़ रहे हैं । दोनों दूत बोले—अपने पक्ष का तो मङ्गल ही हो गया । श्रीव्रजराज बोले—अब तो रुक्मी भी अपने पक्षवाला ही है । दोनों दूत बोले—अपने पक्षवाला हो या न हो, किन्तु उसका मङ्गल तो हो ही गया, किन्तु हुआ परलोक में ही ॥३५॥

श्रीव्रजराज संशयपूर्वक बोले—"परलोक में मङ्गल हुआ" यह कहकर अमङ्गल सा क्यों संघटित कर रहे हो ? दोनों दूत बोले—वह भी सङ्गत ही है, अतः हम भङ्ग (बाधा) को किस प्रकार प्राप्त करा दें ? श्रीव्रजराज बोले—यदि इस प्रकार अभेदरूप से आपस का सम्बन्ध जब सिद्ध हो गया, और श्रीबलदेव भी वहाँपर जब मङ्गलरूप से प्रतीत हो रहे हैं, तब उस रुक्मी की परलोक में गति (गमन) कहाँ हो गई ? ॥३६॥

"दूतौ विहस्योचतुः,—'बलभद्रबलज्वलन एव ।' "व्रजराज उवाच,—'कथमिव ?' "दूतावूचतुः,—'गोपितकोपस्यापि तस्य तेनैव प्रकोपिततया ॥'३७॥

"व्रजराज उवाच,—'कथ्यताम् ।' "दूतावूचतुः,—'रुक्मि-नप्त्री-पाणिपीडनं नाम रुक्मिप्राणानां कालिङ्गदन्तानां च पीडनाय जातम्; यतस्तत्र लिप्सितकलिरुक्मिकालिङ्गादिभिः कलितदम्भे द्यूतारम्भे बहूपहसितदूषितबलभद्रः स श्रीबलभद्रः प्रमाणीकृतस्वर्वाणीकतालब्ध-बलस्तथा बलयाम्बभूव ॥'३८॥

"अथ स्व-सभासत्सु हसत्सु व्रजराज उवाच,—'अत्र वत्सः किं विधित्सितवान् ?' "दूतावूचतुः,—'रुक्मि-हन्तृ रुक्मि-स्वसुश्च स्नेहो न दुःखं कुर्णोतादिति तूष्णीकामेव पुष्णाति स्मेति ॥३९॥

तदेवं समयान्तराणि गमयाञ्चक्राणेषु गोपगीर्वाणेषु पुनरप्यन्यावन्यावागत्य रुक्मिण्या-दीनामपत्यमन्यदन्यद् गण्यं चक्रतुः । पूर्वपूर्वं तु पूर्वं पूर्वमपि तन्निवेदयामासतुः, किन्तु कथान्तरावेशेनैवाऽऽवाभ्यां न कथितम् । श्रीव्रजभूभर्तृप्रभृतयस्तु लब्धसुखसम्भृतयस्तत्तच्छ्रवण-मारभ्य विहितयत्नानि तेभ्यस्तदा तदा रत्नानि दत्तवन्तः, किन्तु तत्तद्बालं प्रति तत्तद् द्वारापि न प्रत्तवन्तः; स्वेन सम्बन्धं गोपयितुं कलितयुक्तिजालेन श्रीगोपालेन लब्धसन्धं निर्बन्धं स्मरन्तः' इति ॥४०॥

दोनों दूत हँसकर बोले—श्रीबलदेवजी की बलरूप अग्नि में ही गति हो गई। श्रीव्रजराज बोले—किस प्रकार ? दोनों दूत बोले—श्रीकृष्ण से द्वेष करने के कारण रुक्मी के ऊपर श्रीबलदेव का कोप गुप्त था, एवं रुक्मी ने ही श्रीबलदेव को प्रकुपित कर दिया था। अतः उनकी क्रोधाग्नि में ही रुक्मी की गति हो गई॥३७॥

श्रीव्रजराज बोले—उसको कहो। दोनों दूत बोले—देखो, रुक्मी की नप्त्री (पौत्री, नातिन) का जो पाणिपीडन (विवाह) हुआ, वह तो रुक्मी के प्राणों का एवं कलिङ्गराज के दाँतों का पीडन करने के लिए ही हुआ। क्योंकि वहाँपर कलह को प्राप्त करने की इच्छावाले रुक्मी एवं कलिङ्ग आदिकों के द्वारा दम्भ-युक्त जुआ के आरम्भ में बहुत से उपहास के द्वारा जिनके बल की भलाई दूषित कर दी, उन्हीं श्रीबलभद्रजी ने प्रमाणीकृत देववाणी के भाव से बल को प्राप्त कर उस प्रकार की रचना कर दी, अर्थात् रुक्मी को मार दिया एवं कलिङ्गराज के दाँत तोड़ दिये॥३८॥

अनन्तर अपने सभासदों के हँसनेपर श्रीव्रजराज बोले—इस विषय में हमारे लाला ने क्या करने की इच्छा की थी ? दोनों दूत बोले—रुक्मी को मारनेवाले बलदेव का एवं रुक्मी की बहिन रुक्मिणी का स्नेह दुःख न प्रगट कर दे, इस कारण तुम्हारे लाला मौन को ही पुष्ट करते रहे, अर्थात् चुप बैठे रहे॥३९॥

अतएव इस प्रकार श्रीव्रजराज आदि गोपदेव जब दूसरे समय को बिता रहे थे, तब दूसरे दूसरे दो दो दूत आकर श्रीरुक्मिणी आदि पटरानियों के बालकों को भिन्न-भिन्नरूप से नाम लेकर गिनते रहे। एवं इनके बड़े छोटेपन को पहले पहले भी निवेदन करते रहे, किन्तु दूसरी कथा में आवेश से ही इन दोनों दूतों ने नहीं कहा। श्रीव्रजराज आदि गोप तो परिपूर्ण सुख को पाकर तत्तद् विषय के श्रवण से लेकर, प्रयत्न-युक्त रत्नों को, तब तब अर्थात् शुभ समाचार सुनाते समय उन दूतों के लिए पुरस्कारस्वरूप में दे देते थे।

"अथाऽनिरुद्धस्याऽन्तःपुरादेवाऽन्तर्धानमवधार्य निदानमनवधार्य श्रीगोपराजादिषु मिथो दुःखसंवादिषु कौचिद् दूतौ चिराय सम्भूतौ दृष्टौ पृष्टौ च तावनिरुद्धस्यापि निरुद्धतां प्रोच्य च शोच्यतां विना तत्रोचतुः,—॥४१॥

'बाणस्योषाह्वकन्या स्वपनमनु ययौ रौक्मिणेयाऽङ्गजातं
नाऽजानाज्जाग्रती तं पुनरविददसौ चित्रितादात्मसख्या।
योगिन्या चाऽनयाजीहरत वरमनु द्वारकायाः ससङ्गाऽ-
प्येतज्ज्ञात्वा स दैत्यः प्रधनमनु चिरादेनमुच्चैर्बबन्ध ॥४२॥
श्रुत्वा देवर्षिवर्यात्तदसुरविजयी तत्पुरं शोणिताख्यं
गत्वाऽसौ द्वादशाक्षौहिणिबलवलितस्तं सरुद्रं विजित्य।
छित्त्वा तद्‌बाहु-सङ्घं परिवलितचतुःशेषमूषाऽनिरुद्धा-
वानीयाऽथ स्वपुर्यां परिणयमनयोर्निर्ममे शर्मशालि ॥'४३॥

"सर्वे व्रजसभासद ऊचुः,—'चित्रं चित्रं रुद्रमपि कथमुपद्रुतवान्, तत् कथयतम् ॥'४४

"दूतावूचतुः,—'यत्र चादौ—

विद्युत्वानद्य विद्युत्परिधिरुपसरत्यत्र विश्वक्षयार्थं
किंवा किंवाऽभिचारज्वलनमधिवसन् कज्जलस्तोम एषः।

किन्तु श्रीकृष्ण के प्रद्युम्नादि उस उस बालक के प्रति तो उन उन दूतों के द्वारा भी नहीं देते थे। कारण—अपने साथ सम्बन्ध को गुप्त रखने के लिए युक्तिसमूह का अवलम्बन करनेवाले श्रीकृष्ण के द्वारा प्रतिज्ञा को प्राप्त हुए आग्रह का स्मरण करते हुए नहीं देते थे ॥४०॥

अनन्तर अनिरुद्ध का अन्तःपुर से ही अन्तर्धान जानकर, किन्तु अन्तर्धान होने के मूल कारण को न जानकर, गोपराज श्रीनन्द आदि जब आपस में दुःखमय वार्तालाप करने लगे, तब बहुत दिनों में कोई दो दूत आकर, व्रज में सम्मिलित होते दिखाई दिये। और पूछते ही वे दोनों बाणासुर के घर में अनिरुद्ध की भी रुकावट को, अर्थात् बन्धन को कहकर, शोचनीय भाव के बिना वहाँपर बोले— ॥४१॥

अथ बाणयुद्ध कथा—बाणासुर की ऊषा नामक कन्या स्वप्न में अनिरुद्ध को पा गई। किन्तु जागती हुई वह उसको नहीं जान पाई, पश्चात् अपनी सखी चित्रलेखा के द्वारा चित्र में लिखित अनिरुद्ध से उसको जान गई। उसके बाद आसक्त हुई ऊषा ने, योगिनी चित्रलेखा के द्वारा अनिरुद्धरूप वर को द्वारकापुरी से अपहरण करवा लिया। उस बाणासुर ने यह वृत्तान्त जानकर, बहुत देरतक युद्ध करने के बाद अनिरुद्ध को वरुणपाश से विशेष निबद्ध कर लिया ॥४२॥

उसके बाद असुरविजयी श्रीकृष्ण ने यह वृत्तान्त देवर्षिवर्य श्रीनारद के द्वारा सुनकर, बाणासुर के शोणित नामक नगर में जाकर, बारह अक्षौहिणी सेना से युक्त होकर, रुद्र के सहित बाणासुर को जीतकर, भूषणोंसहित चार भुजाएँ छोड़कर बाणासुर के बाहुसमूह को काटकर, ऊषा एवं अनिरुद्ध को द्वारका में लाकर, इन दोनों का सुखसम्पन्न विवाह कर दिया ॥४३॥

व्रज के सभी सभासद् बोले—आश्चर्य ! आश्चर्य ! श्रीकृष्ण ने रुद्र को भी कैसे पराजित कर दिया, उस वृत्तान्त को कहो ? ॥४४॥

दोनों दूत बोले—जिस युद्धस्थल में पहले स्वर्गीय मणिमय रथ में श्रीकृष्ण के देखनेपर, बाणासुर के

किंवा कालाग्निरुद्रः प्रतिलवविसरज्ज्वालमध्यस्थदेहः
पश्येत्याचष्ट कृष्णे दिविजमणिरथे लोकिते बाणलोकः ॥४५॥

'यदाऽक्षौहिणीभिर्विक्षोभयन्नधोक्षजः सुदर्शनेन सुदर्शनेन नन्दकेन च नन्दकेन क्षतजपुरं क्षतजपुरं चकार, तदा बाण इव बाणः सर्वस्यापि भीमं भीमं पुरस्कृत्य तद्गणैः पशुभिः स्वगणैश्च पशुभिरिव संवृतः कृतरभसं निर्जगाम ॥'४६॥

व्रजराज उवाच,—'शङ्करस्य कथमत्राऽशङ्करता जाता ?' "दूतावूचतुः,—'पुत्राय-माणस्य बाणस्याऽऽपत्त्राणाय, स्मरसम्बन्धस्मरणतः पुनरात्मनः स्मरहरता-ग्रहणाय चेति प्रेक्षावतामुत्प्रेक्षामात्रम्; तत्त्वं तु स्वयमेव वक्ष्यति ॥'४७॥

"सर्वे ससम्भ्रमं पप्रच्छुः,—'ततः किं जातम् ?' "दूतावूचतुः—'ततश्च कृष्णमनु कृष्णलोहितः संयुगं युगलतया प्रयोज । स्मरमनु च स्मरहरपुत्रवर इत्यादिनि स्थिते जगति तु दुःस्थिते ब्रह्मादयः सदयतया शान्तिब्रह्माऽधीयानाः समधिगतसम्भ्रमतया सायासम्भ्रम-मभ्रमभितस्थुः ॥'४८॥

पक्षवाले जन यह कहने लगे कि, अरे भाइयो ! देखो, आज बिजली की परिधिवाला मेघ विश्व का विनाश करने के लिए यहाँपर आ रहा है क्या ? अथवा शत्रु विनाशकारी आभिचारिक अग्नि में निवास करता हुआ, यह कज्जल का समूह ही है क्या ? अथवा प्रतिक्षण फैलती हुई ज्वाला के मध्य में स्थित देहवाला कालाग्निरूप रुद्र ही आ रहा है क्या ? ॥४५॥

श्रीकृष्ण ने अक्षौहिणी सेनाओं के द्वारा क्षुभित करते हुए, सुन्दर दर्शनवाले सुदर्शनचक्र के द्वारा एवं आनन्ददायक नन्दक नामक खड्ग के द्वारा, बाणासुर के शोणितपुर को जब शोणितपुर बना दिया, अर्थात् रुधिर से परिपूर्ण कर दिया, तब वह बाणासुर बाण की तरह सभी के लिए भयंकर शंकर को आगे करके, उनके गणरूप पशुओं (प्राणियों) के द्वारा, एवं अपने पक्षवाले व्यक्तियों से पशुओं की तरह घिरकर, वेग-पूर्वक शोणितपुर से निकल पड़ा ॥४६॥

श्रीव्रजराज बोले—इस विषय में शंकर का अमङ्गल करने का भाव कैसे उत्पन्न हो गया ? अर्थात् सभी के मङ्गलजनक शिवजी श्रीकृष्ण के विषय में अमङ्गलजनक कैसे हो गये ? दोनों दूत बोले—पुत्र का सा आचरण करनेवाले बाणासुर की आपत्ति से रक्षा करने के लिए, एवं प्रद्युम्नरूप कामदेव के सम्बन्ध के स्मरण से पुनः अपना कामदेव को नष्ट करने का भाव ग्रहण करने के लिए, श्रीकृष्ण के विषय में अमङ्गलजनकता हो गई। यह कहना तो बुद्धिमानों की उत्प्रेक्षामात्र है। किन्तु इसके यथार्थ रहस्य को तो आगे शंकरजी स्वयं कहेंगे ॥४७॥

सभी सभासद सम्भ्रम (शीघ्रता या आदर)पूर्वक पूछने लगे कि—उसके बाद क्या हुआ ? दोनों दूत बोले—उसके बाद कृष्णलोहित (शंकरजी) श्रीकृष्ण के साथ एवं प्रद्युम्न कार्तिकेय के साथ जोड़ी बनाकर युद्ध करने लग गये, इत्यादिरूप से जोड़ीदारों की युद्ध की स्थिति हो जानेपर, एवं जगत् के दुर्दशा से युक्त हो जानेपर, ब्रह्मा आदि देव तो दयालुतापूर्वक स्वस्तिवाचन एवं द्यौः शान्तिः इत्यादिरूप वेद का पाठ करते करते, हड़बड़ाहट को प्राप्त होकर प्रयत्नपूर्वक आकाश में स्थित हो गये ॥४८॥

'अथ सर्वभूतप्रमथनभूतभूतप्रमथादितद्दुर्गणे दुर्गणे रचिताऽऽवरणतया सर्वेषां लोमहर्षणे जाते युधि जातेच्छः स महेच्छः शार्ङ्गसङ्गतशरैः कृतया धृतप्रत्यङ्गच्छिन्नताभिन्नतया तत्र सुष्ठु दुर्गणतामासादयामास । ततश्च जटाघटासङ्घट्टनभरललाटवाटदृग्विभावसुज्वालवात्या-पांशुचक्रवालद्रवादुपद्रावणया श्यामतारामस्निग्धधामधामलसित-वामस्मिताऽमृतवर्षादन्तर्बहिरपि द्रावणया च यथास्वं निदाघमेघाऽऽगमयोरिव तयोर्युद्धमुद्बुद्धम्; यत्र च हरः सर्वं संहरन्निव स्वयमस्त्राणि मुमोच, सर्वं पालयन्निव तु तत्प्रत्यस्त्राणि हरिः ॥४९॥ यथा—

'वायव्ये पार्वतं स व्यकिरदघरिपुर्भर्गमुक्तेऽस्त्रमस्त्रे
वाह्ने पार्जन्यमन्यत्र च बहुनि बहु ब्राह्म उच्चैस्तदेव ।
सर्वध्वंसाय रौद्रे तदमितशमनं स्वीयमित्येवमुच्चै-
स्तं शश्वल्लज्जयित्वाऽमुचदचिरतदुज्जृम्भणं जृम्भणाख्यम् ॥५०॥

"व्रजराजः साश्चर्यमुवाच,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—
'निर्जिते तु तदा रुद्रे तद्भूटानार्दयद्धरिः । हस्तियूथपतौ यद्वदर्दयेत् कलभादिकान् ॥५१॥

उसके बाद सभी प्राणियों का मन्थन करनेवाले असंख्य भूत प्रमथ आदि (शंकर के) दुष्टगणों में घिर जाने के कारण, सभी के रोमाञ्च हो जानेपर, युद्ध में जिनकी इच्छा उत्पन्न हो गई है, उन महाशय श्रीकृष्ण ने शार्ङ्ग धनुष्पर चढ़ाये हुए बाणों के द्वारा, प्रत्येक अङ्ग को पकड़ कर की गई छिन्नभिन्नता के कारण, वहाँपर उनके सभी सङ्गियों को दुःखान्वित कर दिया । और उसके बाद शंकर एवं श्रीकृष्ण का युद्ध ग्रीष्मऋतु एवं वर्षाऋतु के युद्ध की तरह जागृत हो गया । यहाँपर दोनों ही यथायोग्य क्रमशः ग्रीष्म-ऋतु एवं वर्षाऋतु स्वरूप हो रहे थे । यथा—शंकरजी तो जटाओं की घटाओं की रचना की अधिकता से युक्त अपने ललाटरूप मार्ग में तृतीय नेत्ररूप अग्नि की ज्वालारूप आँधी से उठे हुए पांशुचक्रवाल के, अर्थात् बवंडर के चलने से (अपने सामने से) सभी को भगा देने के कारण ग्रीष्मऋतुस्वरूप हो रहे थे । और श्रीकृष्ण श्यामता के उपवनरूप एवं स्निग्धतेज के स्थानस्वरूप अपने श्रीविग्रह में देदीप्यमान सुन्दर मन्द-मुसक्यानरूप अमृत की वर्षा के द्वारा, बाहर भीतर सभी जगह गीला कर देने के कारण वर्षाऋतुरूप बन रहे थे । और जिस युद्ध में महादेवजी मानो सभी का संहार सा करते हुए, स्वयं अस्त्रों को छोड़ने लगे । एवं श्रीकृष्ण भी मानो समस्त जगत् की रक्षा सी करते हुए, शिवजी के अस्त्रों को रोकनेवाले अस्त्रों को छोड़ने लग गये ॥४९॥

यथा—शिवजी के द्वारा छोड़े हुए वायव्य अस्त्र के ऊपर श्रीकृष्ण ने पार्वत अस्त्र छोड़ दिया, एवं आग्नेय अस्त्र के ऊपर वर्षा करनेवाले पार्जन्य अस्त्र को छोड़ दिया । और शिवजी के द्वारा बहुत से अस्त्र छोड़नेपर श्रीकृष्ण ने भी बहुत से अस्त्र छोड़ दिये, एवं बहुत से ब्रह्मास्त्रों के ऊपर बहुत से प्रबल ब्रह्मास्त्र छोड़ दिये । तथा शिवजी के द्वारा सभी का ध्वंस करने के लिए छोड़े हुए रौद्र अस्त्र के ऊपर श्रीकृष्ण ने असंख्य रौद्र अस्त्रों को शान्त करनेवाला अपना नारायण नामक अस्त्र छोड़ दिया । इस प्रकार शिवजी को निरन्तर अधिक लज्जित करके शिवजी को तत्काल जम्हाई देनेवाला जृम्भण नामक अस्त्र भी छोड़ दिया ॥५०॥

श्रीव्रजराज आश्चर्यपूर्वक बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—हाथियों के भुण्ड के

आमुक्ता वारबाणेनाप्यमुक्ता बाणवृष्टिभिः । शिरस्त्रेण समेताश्च प्राप्नुवन्न शिरस्त्रताम् ॥५२॥
सन्नद्धास्तत्र नद्धास्ते दंशिता दंशिताः शरैः । अधिकाङ्गयुजस्त्वन्ये छिन्नाङ्गत्वमुपागताः ॥५३॥
अत्र कावचिकान्यासन्नन्येभ्यः प्राग्मृतिं प्रति । कृष्णादीनां यतः पूर्वत्रैव ग्रहिलता मता ॥५४॥

'तेषां च कृष्णादीनाम्;—

अपराद्धपृषत्का ये ये चासन् कृतहस्तकाः । ते सर्वे तुलनां याता यतः शत्रुषु सान्द्रता ॥५५॥
प्रद्युम्नमागतः पूर्वं शिखी सशिखिवाहनः । मेघं मत्वेव तद्बाणं त्विरन्मदमपद्रुतः ॥५६॥
कुम्भाण्डः कूपकर्णश्च यथार्थाख्याविमौ मतौ । मुसलेन बलस्तत्तदङ्गं तत्रान्यथा व्यधात् ॥५७॥

इति द्रुते निखिलचमूपतिव्रजे, बलेः सुतः स सपदि सात्यकिं जहत् ।
हरिं द्रवन् भुजशतपञ्चके धनूं,-ष्यधात्तथा द्विगुणतयाऽमितानिषून् ॥५८॥
चापं विना चेदिषवो द्रवन्त्यमी, तदा सहस्रं घटनाय शक्यते ।
तन्नेति किंवार्धसहस्रपाणिभि,-र्दध्रे परैर्बाणक एष तान् द्विशः ॥५९॥

स्वामी के हार जानेपर, सिंह जिस प्रकार हाथी के बच्चे आदिकों को पीडित कर देता है, उसी प्रकार उस समय शंकर के पराजित हो जानेपर, श्रीकृष्ण ने शंकर के योद्धाओं को पीडित कर दिया ॥५१॥

शंकर के सैनिक कवच के द्वारा सजे हुए होकर भी, श्रीकृष्ण के बाणों की वृष्टियों से नहीं बचे, एवं सिर की रक्षा करनेवाली लोहे की टोपियों से युक्त होकर भी, सिर की रक्षा नहीं कर पाये ॥५२॥

उस युद्ध में वे योद्धा कवच से युक्त होकर भी बाणों से बँध गये, एवं कवच पहने हुए होकर भी बाणों के द्वारा विदीर्ण हो गये । और दूसरे तीन पैर तीन हाथ आदि के कारण अधिक अङ्गों से युक्त जो शंकर के गण थे, वे भी छिन्नभिन्न अङ्गोंवाले हो गये ॥५३॥

इस युद्ध में कवच धारण करनेवाले योद्धाओं के समूह कवच से रहित योद्धाओं से पहले ही मृत्यु के प्रति उद्यत थे, अर्थात् पहले ही मर गये थे । कारण श्रीकृष्ण आदि यादवों का कवच धारण करनेवालों के समूह को ही ग्रहण करना सम्मत था ॥५४॥

उन श्रीकृष्ण आदि वीरों में से जो अपराद्धपृषत्काः, अर्थात् लक्ष्य से बाण को चुकानेवाले थे, और जो कृतहस्त अर्थात् बाण चलाने में निपुण थे, वे सभी समानता को प्राप्त हो गये थे । कारण—शत्रुओं में सान्द्रता (घनापन) अधिक था, अतः बाणों के चलाने में कुशल एवं अकुशल सभी बराबर थे ॥५५॥

और कार्तिकेय के सहित कार्तिकेय का मयूर मानो मेघ समझ कर पहले प्रद्युम्न के निकट आ गया था, किन्तु प्रद्युम्न के बाण को तड़कती हुई बिजली समझ कर भाग गया ॥५६॥

और कुम्भाण्ड एवं कूपकर्ण ये दोनों भाई बाणासुर के मन्त्री थे । दोनों ही क्रमशः कुम्भ अर्थात् घड़े के समान अण्डकोष होने के कारण, एवं कूप के समान कान होने के कारण सार्थक नामवाले माने जाते थे । किन्तु उस युद्ध में श्रीबलदेव ने उन दोनों के उन दोनों अङ्गों को मूसल के द्वारा तोड़कर अन्यथा कर दिया था ॥५७॥

इस प्रकार सभी सेनापतियों के समूह के भाग जानेपर, बलि के पुत्र बाणासुर ने सात्यकि को तत्काल छोड़कर, श्रीकृष्ण की ओर दौड़कर, अपनी पाँच सौ भुजाओं में पाँच सौ धनुष् धारण कर लिये, तथा धनुषों से दुगुने अर्थात् एक हजार बाण भी धनुषोंपर धारण कर लिये ॥५८॥

यदि ये बाण धनुष् के बिना ही लक्ष्य की ओर चले जाते हैं, तब तो हजार संघटित हो सकते हैं ।

प्रत्येकं करमनु चेद् द्विशः पृषत्कान्, बाण ! त्वं दधिथ तथा भवन्तु चापाः ।
इत्येवं किल मुरजिच्छरैः प्रतिस्वं, तावत्कान् व्यधित स तान् द्विधा विभिद्य ॥६०॥
यदा चापांश्छिन्नान् मुररिपुशरैः पश्यति पुरा, तदा सूतं साश्वं रथमपि तथाऽपश्यदभितः ।
यदाद्राक्षीत्तत्तद् बलितनुजनुर्तर्हि मुरजिद्,-दर-ध्वानाद् ध्वस्तः सपदि न ददर्श स्वमपि सः ॥'६१

"व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—'ततश्च यदा कोट्टवीत्वं गता तद्गृहकोटरान्निर्गता कोटरा नाम देवी स्वपुत्रायमाणं बाणं व्यवधाय पुरःसरतामवाप, तदा हरिः स्वां दृष्टिं पिधाय परां हरितं पश्यति स्म ।।'६२॥

"अथ सर्वे व्रजस्थाः सहासमूचुः,—'तदित्थमपि शिवस्य लज्जापरं सज्जायते स्म । भवतु, तदुत्तरं किं जातम् ?' ॥६३॥

"दूतावूचतुः,—'तदेतदन्तरमवाप्य बलिजन्माऽप्यन्तःपुरमन्वन्तरधात् । तस्मिन्नन्तर्हिते पिहिते च सर्वस्मिन् भूतपतिहिते विहितसर्वज्वरः स्मरहरज्वरस्तु प्रादुरभूत् । प्रादुर्भूतं च तं त्रिशिरस्त्रिपाद्भूतं विलोक्य श्लोक्यचरितः प्रहसन् स हरिर्वैष्णवं ज्वरं ससर्ज ससर्ज च तं प्रति । सृष्टश्चायं परमधृष्टं तं प्रति संससर्ज । यदा तु तेन संसृष्टकलेवरः स खलु माहेश्वरज्वर-

---

यह बात तो है नहीं । अथवा यह बाणासुर अपने दूसरे पाँच सौ हाथों के द्वारा उन बाणों को दुबारा धारण कर लेता है, तब तो हजार बाण संघटित हो सकते हैं ।।५९।।

उस समय मानो "हे बाणासुर ! तूने अपने प्रत्येक हाथ में यदि दो दो बाण धारण कर लिये हैं, तब धनुष् भी उतने ही अर्थात् एक हजार ही होने चाहिये" इस प्रकार विचार कर श्रीकृष्ण ने अपने बाणों के द्वारा उन प्रत्येक धनुषों के दो दो टुकड़े करके उतने ही, अर्थात् एक हजार ही कर दिये ।।६०।।

उस बाणासुर ने श्रीकृष्ण के बाणों से कटे हुए अपने धनुषों को जब देखा, तब उसने अपने सारथि को एवं घोड़ों के सहित रथ को भी चारों ओर से उसी प्रकार छिन्नभिन्न देखा । एवं बलिपुत्र बाणासुर जब पूर्वोक्त वस्तुओं को कटी हुई देख रहा था, तब वह श्रीकृष्ण के शंख की ध्वनि से पछाड़ खाकर तत्काल अपने को भी नहीं देख पाया ।।६१।।

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उसके बाद कोटरा नामवाली चण्डिकादेवी कोट्टवीत्वं गता (नंगी होकर),एवं बाणासुर के गृहरूप खोंतर से निकल कर, अपने पुत्र का सा आचरण करनेवाले बाणासुर को अपनी पीठ से छिपाकर जब आगे खड़ी हो गई, तब श्रीकृष्ण अपनी आँखों को ढककर दूसरी दिशा को देखने लग गये ।।६२।।

अनन्तर सभी व्रजवासी हास्यपूर्वक बोले कि—इस प्रकार का दृश्य तो, अर्थात् अपनी पत्नी चण्डिका को नंगी होकर युद्ध में आना तो शिवजी को भी लज्जापरक होकर ही हुआ । अच्छा, जो हो । उससे आगे क्या हुआ ? ।।६३।।

दोनों दूत बोले—अतएव यह अवकाश (मौका) पाते ही बाणासुर भी अन्तःपुर में छिप गया । बाणासुर के छिपते ही शिवजी के सभी हितैपियों के छिप जानेपर, सभी को सन्ताप देनेवाला शैवज्वर प्रगट हो गया । प्रगट हुए उस ज्वर को तीन सिर एवं तीन पैरोंवाला देखकर, प्रशंसनीय चरित्रवाले श्रीकृष्ण ने हँसते हँसते वैष्णवज्वर की सृष्टि कर दी । और इसको शैवज्वर के ऊपर छोड़ दिया, एवं छोड़ा हुआ यह वैष्णवज्वर परमधृष्ट उस शैवज्वर के प्रति दौड़ पड़ा । और यह शैवज्वर जब वैष्णवज्वर के द्वारा

स्तदा भुवि दिवि च हासकोलाहलः संवलते स्म। ज्वरोऽपि ज्वरितदशया चेष्टमानः कस्य नेष्टकुतुकाय स्यात् ?' ॥६४॥

"सर्वे सकौतुकमूचुः,—'ततस्ततः ? "दूतावूचतुः,—'ततश्च स खलु ज्वरः सज्वरः सन् श्रीव्रजेश्वरकुलप्रवरमेव शरणमागतवान्। शरणागतिमात्रतस्तत्प्रसादमासद्य मुनिवद् गुणितामापद्य स्तुतवांश्च। स तु शुकोक्तिव्यक्तसुकोमलस्वभावः स्वभावकजन इव तत्र भृशं प्रससाद; प्रसद्य च सद्यस्तं मुमोच। स च प्रसादस्तस्य विधोरिव सर्वमाससाद ॥६५॥

यत इदं चोवाच (भा० १०।६३।२९)—

'त्रिशिरस्ते प्रसन्नोऽस्मि व्येतु ते मज्ज्वराद्भयम्।
योनौ स्मरति संवादं तस्य त्वन्न भवेद् भयम् ॥' इति ॥६६॥

"व्रजराज उवाच,—'बाणस्ततः किमकरोद् हरो वा कथमासीत् ?' "दूतावूचतुः,—'चिराल्लब्धजागरः स हरस्तत्तत्सर्वज्ञानधर इति शान्तिपर एवासीद्, बाणस्तु गर्वमात्रं पात्रं बिभ्राणश्चक्रपाणिं प्रति रथेनाऽभिचारयज्ञदानव इव कृतप्रयाणस्तं बाणप्रधानशस्त्रविस्तृतिभिरास्तृतं कुर्वाणस्तच्चक्रेण निर्वाणबाहुहुतवहचक्रश्चक्रे ॥६७॥

आक्रान्त शरीरवाला हो गया, तब तो भूमि और आकाश में हास्य का कोलाहल प्रचारित हो गया। क्योंकि ज्वर भी ज्वरयुक्त की सी दशा से चेष्टा करता हुआ, कौन से व्यक्ति को अभीष्ट कौतुक के लिए न होगा ? अर्थात् होगा ही। तात्पर्य—ज्वर से आक्रान्त ज्वर कौन को कौतुकप्रद न होगा ? ॥६४॥

सभी सभासद् कौतुकपूर्वक बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उसके बाद वह शैवज्वर वैष्णवज्वर से आक्रान्त होकर, श्रीव्रजराज के वंशधर श्रीकृष्ण के ही शरण में आ गया। और शरणागतिमात्र से श्रीकृष्ण का अनुग्रह पाकर मुनियों की तरह गुणी होकर, श्रीकृष्ण की स्तुति करने लगा। किन्तु श्रीशुकदेवजी की उक्तियों से व्यक्त है सुकोमल स्वभाव जिनका, वे श्रीकृष्ण तो अपने भावुकजन की तरह उस शैवज्वरपर अत्यन्त प्रसन्न हो गये, एवं प्रसन्न होते ही उसको अपने ज्वर से मुक्त कर दिया। और श्रीकृष्ण की वह प्रसन्नता चन्द्रमा की प्रसन्नता (निर्मलता) की तरह सभी के निकट पहुँच गई ॥६५॥

इसीलिए श्रीकृष्ण, ज्वर के प्रति यह बोले कि—हे तीन सिरवाले ज्वर ! मैं तेरे ऊपर प्रसन्न हूँ। अब मेरे ज्वर से तेरा भय दूर हो जाय। और जो व्यक्ति हम तुम दोनों के संवाद को स्मरण करेगा, उसको भी तुझ से भय नहीं होगा ॥६६॥

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद बाणासुर ने क्या किया एवं शङ्करजी किस प्रकार खड़े रहे ? दोनों दूत बोले—वे शिवजी तो बहुत देर में जागकर, श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता के एवं युद्ध के उस उस वृत्तान्त के ज्ञान को धारण करनेवाले होने के नाते, शान्तिपरायण ही हो गये। किन्तु बाणासुर तो गर्वरूप मन्त्री को धारण कर, अभिचार के यज्ञ से उठे हुए दानव की तरह, रथ के द्वारा श्रीकृष्ण के प्रति यात्रा करके, बाण आदि शस्त्रों के विस्तार से, श्रीकृष्ण को आच्छादित करता हुआ, श्रीकृष्ण के चक्र के द्वारा भुजारूप अग्निचक्र से रहित कर दिया गया ॥६७॥

'यदा च तस्य चत्वार एव बाहवः शिष्टास्तदा शिष्टानां वर्गनीः सर्वज्ञः स तु भर्गः स्फुटमीश्वरोऽप्यनीश्वरः सन्नुग्रोऽप्यनुग्रतया निजशिवतां पुरस्कुर्वन्नेव च स्वयं सङ्गम्य कपर्दमात्रं यन्निजधनं तद्विसर्गमपि तस्मिन् कुर्वन्निव प्रणम्य निरर्गलभक्त्या तुष्टाव। तुष्टावस्य पुष्टायां तु विज्ञापयामास,—॥६८॥

सोऽयं मद्वरगर्ववान् मम विभुं त्वामप्यमंस्ताऽन्यथे-
त्यात्मानं विजितं त्वयाऽवगमयन्नेतं तथाऽबोधयम्।
तस्मादस्म्यपराधबीजमहमित्यस्मिन् मयि क्षम्यतां
मूर्खोऽप्येष उपेक्ष्यतां यदियमप्यज्ञाद्भिदा धीमति ॥६९॥

नृत्यं मे कुर्वतः सोऽयं त्वय्याविष्टस्य तुष्टये। विधत्ते दोःसहस्रेण वाद्यानां शत-पञ्चकम् ॥७०॥

मयाऽयं न परं स्वीयभक्तबुद्ध्याऽनुगृह्यते। प्रह्लादान्वयदृष्ट्या च प्रह्लादो हि तव प्रियः ॥७१॥

'श्रीकृष्ण उवाच,—

आत्थ त्वं भगवान् यद्वत्तथा व्यवसितं मम। तदेवमावयोरैक्ये ज्ञापकज्ञाप्यता कुतः ॥७२॥

और उस बाणासुर की जब चार भुजाएँ अवशिष्ट रह गईं, तब शिष्टवर्ग के नेता एवं सर्वज्ञ वे शङ्करजी तो स्पष्ट ईश्वर होकर भी अनीश्वर (असमर्थ) होकर, तथा उत्कट होकर भी सरलतापूर्वक अपने मङ्गलमयभाव को अग्रसर करते हुए, स्वयं श्रीकृष्ण के निकट जाकर, कपर्दमात्र (जटाजूटमात्र, पक्षे—कौड़ीमात्र) जो अपना धन था, उसके दान को भी श्रीकृष्ण के निमित्त करते हुए से उनको प्रणाम करके, प्रतिबन्धरहित भक्तिपूर्वक श्रीकृष्ण की स्तुति करने लगे। श्रीकृष्ण का सन्तोष पुष्ट हो जानेपर तो निवेदन करने लगे— ॥६८॥

देखो, प्रभो ! मेरे वर से गर्ववाला यह बाणासुर मेरे प्रभु आपको भी, सामान्य व्यक्तिविशेष ही मानता था। अतः अब मैंने अपने को आपके द्वारा पराजित समझाते हुए, इस बाणासुर को आपके द्वारा स्वयं भी पराजित करवा कर, आपकी सर्वेश्वरता उसी प्रकार समझा दी है। इसलिए बाणासुर को वर देने के कारण अपराध का बीज (मूल कारण) तो मैं ही हूँ। अतः इस प्रकार के मुझपर क्षमा कीजिये प्रभो ! और इस मूर्ख की भी उपेक्षा कर दीजिये। क्योंकि बुद्धिमान् आपके विषय में हमारा तुम्हारा यह जो भेद इस बाणासुर को प्रतीत होता था, वह भी इसके अज्ञान से ही था ॥६९॥

और इसको वर देने का कारण तो प्रभो ! यही है कि, आप में आविष्ट होकर मैं जब नृत्य करता था, तब यह बाणासुर मेरी प्रसन्नता के लिए अपनी हजार भुजाओं के द्वारा पाँच सौ बाजाओं को सहायक बना देता था ॥७०॥

और मैं भी केवल अपने भक्त की बुद्धि से इस बाणासुर को अपने अनुग्रह से युक्त नहीं करता हूँ। किन्तु प्रह्लाद के वंशवाला होने की दृष्टि से इसको अनुग्रहयुक्त करता हूँ। क्योंकि प्रह्लाद आपका परमप्रिय है ॥७१॥

श्रीकृष्ण बोले—हे भगवन् ! आप जिस प्रकार कहते हैं, मेरा भी उसी प्रकार का अभिप्राय निश्चित है। अतएव इस प्रकार हम तुम दोनों की एकता सिद्ध हो जानेपर, ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव किस कारण बन सकता है ? ॥७२॥

गर्वस्य खर्वतार्थं तु पूर्वं कुर्वे स्म दोश्छिदाम् ।
चत्वारोऽस्य भुजाः शिष्टाः शिष्टाः स्युः सेवया तव ॥ इति ॥७३॥

'तदेवं शङ्करस्यापि भद्रङ्करः स तव नन्दनः स्वेषामानन्दनतां विन्दति स्म—॥७४॥

अथोषया सममनिरुद्धमानयन्, निजं पुरं विवहनमावहत्तयोः ।
तदा तु नौ हरिरवधाय सान्त्वयन्, भवत्पदाम्बुजयुगमन्वयापयत् ॥७५॥

'सान्त्वनं यथा—

पुत्राः पौत्राश्च मे स्युः स्फुटमिह मम नैवान्तरीणोऽभिमानः
किन्तु प्राग् येन गोष्ठान्निरगममधुनाऽप्यस्मि तत्राऽभिमाने ।
तत्स्थानां भावबद्धः स कथमितरकं शक्नुयां भावमेतुं
ताट्टङ्मूर्त्यादिकं मे बहिरपि सुतरां दृश्यतामत्र साक्षि ॥७६॥

तातं प्रत्येवमुक्तं मम यदिदमहं बन्धुतां नन्दयित्वा
ज्ञातीनां वः समीक्षां परमफलतया तत्र नित्यं करिष्ये ।
तत्सम्पत्त्यर्थमेव व्यवहृतिममुकां तत्र विघ्नायमान-
स्वर्वासिद्विड्विघातप्रभृतिमथ जवात् सुष्ठु कुर्वन्निहाऽस्मि ॥" इति ॥७७॥

इस बाणासुर के गर्व को छोटा करने के लिए मैंने पहले इसकी भुजाओं का ही छेदन किया है। अब इसकी चार भुजाएँ जो अवशिष्ट हैं, वे आपकी सेवा के प्रताप से गर्वरहित हो जायँगी ॥७३॥

अतएव हे व्रजराज ! शङ्कर का भी कल्याण करनेवाला वह तुम्हारा लाला श्याम, आत्मीयजनों के आनन्द देने के भाव को प्राप्त हो गया था ॥७४॥

उसके बाद श्रीकृष्ण ने ऊषा के सहित अनिरुद्ध को अपनी द्वारकापुरी में लाकर, उन दोनों का विवाह कर दिया। तब उन्होंने हम दोनों को (व्रज में जाने के लिए) निश्चित कर एवं सान्त्वना देकर, आपके दोनों चरणारविन्दों के निकट भेज दिया ॥७५॥

हम दोनों दूतों को व्रज में भेजते समय श्रीकृष्ण ने जो सान्त्वना दी थी उसका प्रकार, यथा—हे व्रज के दूतो ! देखो, इस द्वारका में मेरे पुत्र एवं पौत्र हैं अथवा और हो जायँ, इस विषय में मेरा आन्तरिक अभिमान किंचिद् भी नहीं है, यह बात स्पष्ट है। किन्तु पहले मथुरा जाते समय मैं जिस गोपत्व के अभिमान से व्रज से बाहर निकला था, अब भी मैं तो उसी गोपपने के अभिमान में विद्यमान हूँ। और अपने को नित्य गोप समझनेवाला, वही मैं नन्दनन्दन उन व्रजवासियों के विशुद्ध भाव में बँधकर, अब दूसरे भाव को अर्थात् क्षत्रियपन के अभिमान को प्राप्त करने के लिए किस प्रकार समर्थ हो सकता हूँ ? इस विषय में साक्षी देनेवाले उसी प्रकार के मेरे मूर्ति आदि को तुम दोनों बाहर से भी अच्छी प्रकार देख लो। अर्थात् मैं भीतर से ही गोपपने के अभिमानवाला हूँ सो बात नहीं है, किन्तु बाहर से भी देख लो। मेरी वही गोप-मूर्ति गोपभाव की साक्षी दे रही है ॥७६॥

और मथुरा से व्रज में लौटाते समय पिता श्रीनन्दजी के प्रति मेरा इस प्रकार का यह जो कहना है कि—देखो, पिताजी ! मैं यादवरूप बन्धुसमूह को आनन्दित करके, तुम सब अपनी जातिवालों के परम-फलरूप से व्रज में ही नित्यदर्शन किया करूँगा। तथा तुम सब जातिवालों के दर्शनों की प्राप्ति के लिए ही,

तदेवमनवद्यदूतवद्यमनूद्य मधुकण्ठः समापनमाह स्म,—
आयास्यामीति यत् प्रोक्तं हरिणा तत् कथागतम् ।
सभागतं तु गोपेश ! पश्य तं सुतमात्मनः ॥" इति ॥७८॥

"अत्र व्रजवन्दिनोऽप्यवन्दन्त,—
"अनिरुद्धबन्धविषयानुसन्ध ! गतबाणधाम ! विततात्मधाम !
हरबद्धयुद्धयशसातिशुद्ध ! ततशस्त्रजालभववृन्दकाल !
भवजृम्भकास्त्रजितलोकशास्त्र ! मुहुरुप्तबाणजितजैत्रबाण !
युधि मध्ययातृबलिपुत्रमातृ-निभकोटराङ्ग-कलनातिसाङ्ग-
परिजातलज्ज ! विमुखत्वसज्ज ! रचितज्वरान्तरपरज्वरान्त-
कृततत्प्रसाद ! पृथुकीर्तिवाद ! पुनरागतस्य बलिदुःसुतस्य
भुजवृन्दलावबलितप्रभाव ! शिवसूक्ततुष्ट ! कृपयाभिजुष्ट !
भवपार्षदत्वमनु दत्तसत्त्व ! बलिसूनुपालकृपया विशाल !
शरपाशरुद्धसुतजानिरुद्ध-परिमोक्षदक्ष ! सुखितस्वपक्ष !
सवधूकमेवमनिरुद्धदेवमुपनीय गेहमतिमानुषेह !

मैं बन्धुसमूह को सुखदानरूप उस व्यवहार को इस द्वारका में भली प्रकार निर्वाहित कर रहा हूँ। किन्तु उस व्यवहार में विघ्न करनेवाले देवताओं के द्वेषी दैत्यों के विनाश आदि को वेगपूर्वक समाप्त कर रहा हूँ ॥७७॥

अतएव इस प्रकार प्रशंसनीय दोनों दूतों के वक्तव्य का अनुवाद करके, मधुकण्ठ प्रसङ्ग की समाप्ति का द्योतक वचन बोला—हे गोपराज ! देखो, श्रीकृष्ण ने तुम्हारे प्रति मथुरा में बिदाई करते समय "मैं व्रज में अवश्य आऊँगा" यह जो कहा था, वह कहना तो कथाप्रसङ्ग में है। किन्तु अब तो आप अपने उसी पुत्र को सभा में उपस्थित देख लो ॥७८॥

इस प्रसङ्ग के विषय में व्रज के वन्दीजन भी वन्दना करने लगे—हे गोपराजकुलोत्पन्न ! अधिराज ! वीर ! आपकी जय हो ! हे अनिरुद्ध के बन्धन के विषय में अनुसन्धान करनेवाले ! अतएव बाणासुर के स्थानपर जानेवाले ! एवं वहाँपर अपने प्रभाव को फैलानेवाले ! तथा शङ्करजी के साथ छिड़े हुए युद्ध में यश के द्वारा अत्यन्त शुद्ध रहनेवाले ! एवं फैलाये हुए शस्त्रजाल के द्वारा शङ्कर के गणों को पराजित करनेवाले प्रभो ! आपकी जय हो ! और शङ्कर को जम्हाई से युक्त करनेवाले अस्त्र के द्वारा लोक एवं शास्त्र को जीतनेवाले ! बारंबार बाण चलानेवाले विजयशील बाणासुर को जीतनेवाले ! एवं युद्ध के बीच में जानेवाली बाणासुर की माता के समान जो कोटरा नामवाली देवी थी उसके नग्न अङ्गों के देखने से परिपूर्ण लज्जा को पानेवाले ! अतएव उसकी ओर से मुख मोड़नेवाले ! तथा शैवज्वर के अन्तःकरण में दूसरे वैष्णव-ज्वर की रचना करनेवाले ! एवं अन्त में शरणागत हुए शैवज्वरपर कृपा करनेवाले ! उससे विशाल साधुवाद पानेवाले ! प्रभो ! आपकी जय हो ! उसके बाद पुनः सजकर युद्ध में आये हुए बलि के दुष्पुत्र बाणासुर के भुजवृन्द के काटने से प्रगट प्रभाववाले ! पश्चात् शिवजी की स्तुतिरूप सूक्तियों से सन्तुष्ट होनेवाले ! अतः कृपा से युक्त होनेवाले ! तथा बाणासुर के ऊपर शिवजी के पार्षदभाव को देखकर उसके प्राणों

पुनरात्मगोष्ठमित ! वेणुकोष्ठ ! परिपूर्य सर्वमकृथाः सपर्व
जय गोपराजकुलजाधिराज ! ॥ वीर ! ॥" इति ॥७९॥

अथ रजन्यामपि मधुकण्ठः पूर्ववच्छ्रीराधिकादिकाऽऽराधनप्रथने कथने सुबलपत्रान्तःकान्तकृतसान्त्वनाऽमत्रं पत्रं यथा—॥८०॥

"आरब्धं यत् पुरा कर्म बन्धुरक्षादिलक्षणम् ।
तत्कृतं व्यसनं छिन्दन्नेष्याम्येवात्र वः शपे ॥ इति ॥८१॥

"विशेषतः श्रीराधायामपि स्वस्तिमुखः सोऽयमस्ति स्म—
रामः क्लेशमरण्यजं सहितया निस्तीर्णवान् सीतया
शून्ये तत्र च रोदनं गतिमितस्तस्यां हृतायामपि ।
तामाप्तामसदुक्तिह्रीविजहदप्यर्चां श्रितस्तन्निभां
हा राधावियुगप्यनिष्टसुखयुक् कृष्णस्त्वहं दुःस्थितिः ॥" इति ॥८२॥

अथ कथकेन समापनम्—

"यं पूर्वं शपथं कुर्वन् सान्त्वयामास वः प्रियः ।
तत्प्रतीत्थं नवाऽपूर्वं शङ्कध्वे कथमद्य च ?" ॥८३॥

को या उसके लिए सत्त्वगुण देनेवाले ! अतः बाणासुर की रक्षा करनेवाली कृपा से विशाल प्रभो ! आपकी जय हो ! एवं वरुणपाश में बँधे हुए प्रद्युम्नपुत्र अनिरुद्ध के छुड़ाने में चतुर ! तथा अपने पक्ष को सुखित करनेवाले ! पश्चात् ऊषारूप वधू के सहित अनिरुद्धदेव को अपने घर में पहुँचा कर अमानवीय चेष्टा करनेवाले ! तथा पुनः अपने व्रज को प्राप्त करनेवाले ! एवं बगल में वेणु रखनेवाले ! अतः सभी को यथायोग्य परिपूर्ण करके आपने महोत्सव से युक्त कर दिया। हे वीरवर ! आपकी सदैव जय जयकार हो ! ॥७९॥

उसके बाद रात्रि में भी पहले की भाँति श्रीराधिका आदिकों की आराधना के विस्तारक कथन में मधुकण्ठ बोला—सुबल के पत्र के भीतर गोपीकान्त श्रीकृष्ण के द्वारा की गई सान्त्वना का पात्र-पत्र, यथा—हे प्रिय गोपियो ! देखो, मैंने पहले बन्धुरक्षादिरूप जो कर्म आरम्भ किया था, उस रक्षारूप कर्म में बैरियों के द्वारा किये गये उपद्रव का छेदन करते करते इस व्रज में ही आऊँगा। इस विषय में मैं तुम्हारो शपथ करता हूँ ॥८०-८१॥

विशेष करके श्रीराधिका के निकट यह स्वस्तिमुख (पत्र) उपस्थित हुआ—दशरथनन्दन श्रीराम सीता के सहित वनवासजनित क्लेश को पार कर गये। और उस सूने वन में रावण के द्वारा उनका अपहरण हो जानेपर भी, रोने की दशा को प्राप्त हो गये। पश्चात् रावण को मारकर पुनः प्राप्त की हुई सीता को रजक आदि असज्जनों की उक्ति से लज्जित होकर श्रीरामजी ने सीता को त्यागकर भी, सीता के समान सुवर्णमयी सीता की मूर्ति का सहारा ले लिया था। यह मानो स्नेह की एक मर्यादा दिखाई। किन्तु हाय ! मैं श्रीकृष्ण तो श्रीराधिका से वियुक्त होकर भी, द्वारका में (षोडश सहस्र महिषी सेवनरूप) अनिष्ट सुख से युक्त होकर मर्यादारहित हो गया हूँ। तात्पर्य—व्रज में आकर ही स्नेह की मर्यादा को पाऊँगा ॥८२॥

अनन्तर कथावाचक के द्वारा प्रसङ्ग समाप्तिद्योतक वचन, यथा—हे स्नेहमयी व्रजाङ्गनाओ ! देखो, तुम्हारे प्रियतम श्याम ने पहले जिस शपथ को करते हुए तुम सबको सान्त्वना दी थी, आज उन्हीं प्रियतम

तदेवं कथां समाप्य गतयोस्तयोः सूत-सुतयोः श्रीराधाकृष्णौ परस्परसतृष्णौ मदनकुञ्ज-सदनमेव रञ्जयामासतुः ॥८४॥

इति श्रीश्रीमदुत्तरगोपालचम्पूमनु सबाणेश-विजयनिर्देशनं नामैकोनविंशं पूरणम् ॥१९॥

अथ विंशं पूरणम्

श्रीबलदेवस्य व्रजागमनम्

अथ प्रातःकथायां स्निग्धकण्ठः सम्यगुत्कण्ठतया श्रीमद्बलभद्रव्रजागमनप्रसङ्गमङ्गलं सङ्गमयितुं चेतसि चिन्तयामास,—"श्रीमद्बलस्य व्रजं प्रति चलनाय निदानं खलु सादरं बादरायणिर्वदति स्म, (भा० १०।६५।१)—

'बलभद्रः कुरुश्रेष्ठ ! भगवान् रथमास्थितः ।
सुहृद्दिदृक्षुरुत्कण्ठः प्रययौ नन्दगोकुलम् ॥' इति ॥१॥

"तदेवमपि तत्र चात्र च यत् किञ्चन तेन विहितम्, तत् खलु निजाऽनुजमन्त्रगत्या, न तु स्वतन्त्रमत्या; यथा हरिवंशपारायणमनु वैशम्पायनः,—

'कस्यचित्त्वथ कालस्य स्मृत्वा गोपेषु सौहृदम् ।
जगामैको व्रजे रामः कृष्णस्याऽनुमते स्थितः ॥' इति ॥२॥

के प्रति (नित्य संयोग में भी) इस प्रकार नवीन अपूर्व (वियोग की) आशंका क्यों कर रही हो ? तात्पर्य—अपने निकट में विराजमान प्यारे की झाँकी करो ॥८३॥

इस प्रकार कथा को समाप्त करके उन दोनों सूतपुत्रों के चले जानेपर, श्रीराधा-माधव की युगल-जोड़ी ने परस्पर लालसायुक्त होकर, मदनकुञ्जरूप सदन को ही अनुरञ्जित कर दिया ॥८४॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रिविरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीमदुत्तरगोपालचम्पूकाव्ये सबाण-शंकरविजय-निर्देशमेकोनविंश
पूरणं सम्पूर्णम् ॥१९॥

बीसवाँ पूरण

श्रीबलदेव का व्रज में आना

अनन्तर प्रातःकाल की कथा में स्निग्धकण्ठ भली प्रकार उत्कण्ठित होकर, श्रीमान् बलदेवजी के व्रज में आने के प्रसङ्गरूप मङ्गल को युक्तिसङ्गत करने के लिए, अपने चित्त में विचारने लगा कि—श्रीमान् बलदेवजी के व्रज के प्रति चलने के लिए निश्चित मूलकारण को तो श्रीशुकदेवजी ने आदरपूर्वक कहा है कि—हे कुरुश्रेष्ठ ! परीक्षित् ! भगवान् श्रीबलभद्र अपने सुहृदों के देखने की इच्छा से युक्त एवं उत्कण्ठित होकर, रथ में बैठकर श्रीनन्दगोकुल (श्रीनन्दग्राम) के प्रति चल दिये ॥१॥

इस प्रकार की स्थिति में भी श्रीबलदेवजी ने व्रज में एवं द्वारका में जो कुछ भी कार्य किया, वह अपने अनुज श्रीकृष्ण के विचारानुसार ही किया, किन्तु स्वतन्त्र बुद्धि से नहीं । यथा—श्रीहरिवंशपुराण के पारायण में श्रीवैशम्पायन ने कहा है कि—अनन्तर श्रीकृष्ण की अनुमति में स्थित श्रीबलरामजी गोपों में अपनी मित्रता को याद करके, कुछ समय के लिए अकेले ही व्रज में चल दिये ॥२॥

"तदेवमेव कथयिष्यामि" इति। अथ स्पष्टमेव श्रीव्रजराजयुवराजादीनुत्कण्ठयन्नुवाच,– "यथा व्रज-कृष्णयोः परस्परसन्देशमयी सतृष्णता वर्णिता, तथा व्रज-रामयोरपि तदा तदा निर्वर्ण्या। तदा तदा च रामः कृष्णं प्रति सनिह्नवमह्नाय व्रजगमनाय सम्यगागृह्णन्नासीत्। कृष्णश्चाद्य श्वः प्रस्थास्यावहे, इति तं स्वस्थयामास ॥३॥

"अथ कदाचिदुत्कण्ठावाष्पकुण्ठकण्ठतया बलस्तं प्रति गुप्तमाललाप,––

'इच्छामनयोः पित्रो, रक्षन् सकृदपि न यासि तद्गोष्ठम्।
दहसि तयोः पुनरन्त,-र्जाने न तवेदमीहितं किमपि ॥४॥

'किंवा प्रस्मृतमेव तत्रत्यं सर्वम्' इति। "श्रीकृष्ण उवाच,–'हन्त! हन्त! निरन्तरमन्तरितं कथमन्तरितं करवाणि? किन्तु पित्रोरनयोरिच्छाभङ्गः खलु न मङ्गलाय स्यादिति तयोः पित्रोरिच्छा। अनयोस्तु मम तत्र गमने सर्वथा नेच्छा। तस्मादहमप्युभयेषामिच्छाभङ्गभयान्न तत्र गच्छामि, दुःखं चाऽऽयच्छामीति समयं प्रतीच्छन्नस्मि। तद् यदि भवाननयोः समञ्जसता-मञ्चति, तदाऽञ्जसा व्रजव्रजनमेव रञ्जयिष्यामि' इति ॥५॥

अतः मैं भी इसी प्रकार कहूँगा। यह विचार कर स्निग्धकण्ठ श्रीव्रजराज-युवराज आदिकों को श्रवण के प्रति उत्कण्ठित करता हुआ स्पष्ट ही बोला कि—जिस प्रकार व्रज एवं श्रीकृष्ण की परस्पर सन्देशमयी सतृष्णता वर्णित हो चुकी है, उसी प्रकार व्रज एवं श्रीबलराम की भी परस्पर सन्देशमयी सतृष्णता का वर्णन तब तब समझ लेना चाहिये। और श्रीबलरामजी उस उस समय गुप्त होकर शीघ्र ही व्रज में चलने के लिए श्रीकृष्ण के प्रति अच्छी तरह आग्रह करते रहते थे। किन्तु श्रीकृष्ण ही "भैया! हम तुम दोनों आज या कल व्रज में चलेंगे" इस प्रकार कहकर श्रीबलराम को सुस्त अर्थात् शिथिल कर देते थे ॥३॥

उसके बाद किसी दिन श्रीबलरामजी व्रज में जाने की उत्कण्ठा से उत्पन्न वाष्प के द्वारा रुके हुए कण्ठस्वर से श्रीकृष्ण के प्रति गुप्त भाषण करने लगे कि—भैया! कृष्ण! तुम तो श्रीवसुदेव-देवकीरूप इन दोनों पितामाताओं की इच्छा को रखते हुए एकबार भी उस व्रज में नहीं जा रहे हो, एवं श्रीनन्द-यशोदा-रूप उन नित्यसिद्ध पितामाताओं के अन्तःकरण को अपनी वियोगाग्नि से जला रहे हो, अतः मैं तो तुम्हारी चेष्टा को कुछ भी नहीं जानता हूँ ॥४॥

अथवा तुम व्रज की सारी वस्तुएँ भूल ही गये क्या? श्रीकृष्ण बोले—हाय! हाय! निरन्तर अन्तःकरण में आई हुई व्रज की वस्तुमात्र को मैं किस प्रकार भुला सकता हूँ? किन्तु श्रीनन्द-यशोदारूप उन व्रजवासी पितामाताओं की तो यही इच्छा है कि, श्रीवसुदेव-देवकीरूप इन पितामाताओं की इच्छा का भङ्ग करना मङ्गलजनक न होगा। और द्वारकावासी इन पितामाताओं की इच्छा तो मेरे व्रज में जाने के विषय में सर्वथा (बिलकुल) नहीं है। अतः मैं भी दोनों स्थानों के दोनों पितामाताओं की इच्छा के भङ्ग होने के भय से व्रज में नहीं जा रहा हूँ, एवं दुःख भी पा रहा हूँ, अतः समय की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। अतएव आप यदि इन वसुदेव-देवकी का सामञ्जस्य स्थापित कर दोगे तो, मैं भी व्रज में जाने को ही अनायास अलंकृत कर दूँगा ॥५॥

"अथ रामस्तौ पितरौ स्वस्य कृष्णस्य च व्रजागमनाय दत्ताज्ञावितरौ चिकीर्षन्ननुजं प्रति न तदनुज्ञां प्रापदिति परमापदं भावयित्वा स्वं प्रत्येव व्रजगमनाऽनुज्ञां कथमपि यापयित्वा तौ प्रति सरोषं दोषमुद्भावयन् विज्ञापयामास,—

'पितरावावयोर्भेदः कोऽयं वा कृष्णरामयोः ? ।
अहं चात्मज एव स्यां श्रीमन्नन्दयशोदयोः ॥' इति ॥६॥

"अथ भ्रातरमपि विज्ञापयामास,—'भवदनुरोधेनाऽहं पदयोः प्रतिरोधेनेव चिरं व्रजगमनान्निरुद्ध एवाऽऽसम् । पितरौ च भवन्तं प्रति नानुज्ञापरौ दृश्येते; तस्मान्मामेव केवलं भवान् व्रजभवान् द्रष्टुमनुमनुताम्' इति ॥७॥

"श्रीकृष्णस्तु श्रीरोहिण्यनुज्ञापनयापि तद्विशिष्य तमाश्लिष्य द्विष्यमाणनिजचरित्रः पित्राद्यनुस्मृतिमुखविचित्रदुःखतया निवेदयामास,—॥८॥

'तत्र च प्रथमं साहचर्यमयचर्याशीलायां गोचारणलीलायाम् (भा० १०।१५।५) 'अहो अमी देववरामरार्चितम्' इत्येतत्प्रकरणगतां (भा० १०।१५।८) 'गोप्योऽन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहा श्रीः' इति स्वनिर्मितनर्मवचनरीतिं तथा लोकशास्त्रावलोकतः स्खलितव्रीडायां शङ्खचूडवधावधिकहोलिकाक्रीडायाम्, (भा० १०।३४।२०)—'कदाचिदथ गोविन्दो रामश्चाद्भुत-

अनन्तर श्रीबलरामजी ने वसुदेव देवकीरूप उन दोनों पितामाता को अपने एवं श्रीकृष्ण के व्रज में जाने के लिए आज्ञा देने की इच्छावाले करते हुए भी, व्रज में जाने को श्रीकृष्ण के लिए उनकी अनुमति नहीं मिली, अतः भारी आपत्ति को विचार कर, अपने लिए ही व्रज में जाने की अनुमति को उनसे किसी प्रकार प्राप्त करवा कर, उन दोनों पितामाताओं के प्रति क्रोधपूर्वक दोष प्रगट करके समझाया कि, हे पिता वसुदेवजी ! हे माता देवकी ! देखो, कृष्ण बलरामरूप हम दोनों भाइयों में यह कौन सा भेद है ? अर्थात् कुछ भेद नहीं है । इसलिए मैं भी श्रीनन्द यशोदा का पुत्र ही हो सकता हूँ ॥६॥

उसके बाद भैया कृष्ण को भी समझाया कि—देखो, भैया कृष्ण ! मैं तुम्हारे अनुरोध से मानो अपने चरणों की रुकावट से बहुत दिनतक व्रज में जाने से रुका ही रहा । और पितामाता भी तुम्हारे प्रति व्रज में जाने की अनुमति में तत्पर नहीं दिखाई देते हैं । इसलिए आप केवल मुझको ही व्रजवासियों को देखने के लिए अनुमति दे दीजिये ॥७।

श्रीकृष्ण ने तो श्रीरोहिणीमाता की अनुमति के द्वारा भी श्रीबलदेव के व्रज में जाने को विशिष्ट पुष्ट करके उनको आलिङ्गन कर, "स्वयं व्रज में न जाने के कारण" मानो अपने चरित्र से द्वेष कर, पिता श्रीनन्दजी आदिकों की स्मृति से विचित्र दुःख के भावपूर्वक निवेदन किया— ॥८॥

उस निवेदन में पहले सख्यभावमयी परिपाटी से पवित्र चरित्रवाली गोचारण लीला में "हे देववर ! श्रीबलदेव ! देखो, वृन्दावन के ये वृक्ष देवपूजित आपके चरणारविन्द को प्रणाम करते हैं" इस प्रकरण में विद्यमान "लक्ष्मीदेवी भी जिस वक्षःस्थल के आलिङ्गन की इच्छा करती रहती हैं, आपके उसी वक्षःस्थल के आलिङ्गन से गोपियाँ धन्य हैं" इस प्रकार स्वयं निर्मित परिहासमय वचन की रीति स्मरण कराई । तथा लौकिक व्यवहार एवं शास्त्रों के देखने से लज्जा से रहित "शंखचूड़ वधपर्यन्त होनेवाली होली लीला में "अनन्तर कदाचित् श्रीकृष्ण एवं अद्भुत विक्रमवाले श्रीबलराम दोनों भाई श्रीवृन्दावन में रात्रि में

विक्रमः । विजह्रतुर्वने रात्र्यां मध्यगौ व्रजयोषिताम् ॥' इति गाननर्मविलोकनशर्ममात्रतत्पर्वस्थितिमप्युपलक्ष्य निरन्तराय कार्यान्तराय सार्धममुना सख्यमयहार्दं स्मारयामास, तदनन्तरमेव विवक्षितं प्रकाशयामास ॥९॥ यथा—

'मयि विधेरधुना प्रतिकूलता, व्रजमनु व्रज तत्पुरतः स्वयम् ।
अनयदग्रजता तव मां व्रजं, त्वरितमग्रगताप्युपनेष्यति ॥१०॥

यदपि शान्त्विवतवानहमुद्धव,-प्रमुखदूत-मुखात्तदपि स्वयम् ।
मधुरमादिशतां स भवान् व्रजं, मदपि तत्र सदापि हि रज्यति ॥११॥

तदपि चेन्न भवेत् परिसान्त्वनं, मम समागमनं शपथैर्वद ।
विकलताऽथ तथापि यदीक्ष्यते, निजबलेन मम स्फुरणं कुरु ॥१२॥

यदि च सिद्धिमितं तदिदं तदा, मम निवेदनयाऽपरमाचर ।
स्वयमुरीकुरु ताः स्वकृते तु या, निजकुमारदशावशतां गताः ॥१३॥

अथ मयाऽपि तदीयसमाह्वया,-दभिहिताः कुतुकात्तव शारिवाः ।
उरसि गोप्य इति स्फुटहोलिका,-महसि ताश्च भवद्दृशि शर्मदाः ॥१४॥

व्रजाङ्गनाओं के बीच में होकर विहार करते रहे" इस प्रकार संगीत, परिहासवाक्य,एवं परस्पर के दर्शन से जिसमें केवल विशुद्ध सुख होता है, उस होलिकापर्व की स्थिति का भी उपलक्ष्य करके, विघ्नरहित दूसरे कार्य के लिए श्रीबलरामजी के सहित, सख्यभावमय प्रेम स्मरण करा दिया। उसके बाद ही कहने के अभिप्रेत विषय को प्रकाशित कर दिया ॥९॥

यथा—भैया बलदेव ! देखो, मेरे ऊपर तो अभी विधाता की प्रतिकूलता है, अतः पहले आप ही द्वारका से स्वयं व्रज में चले जाइये। क्योंकि आपके अग्रजभाव ने अर्थात् बड़े भाईपन के भाव ने मुझको व्रज में पहुँचा दिया था, अतः आपका आगे व्रज में जाना भी मुझको शीघ्र ही व्रज में पहुँचा देगा ॥१०॥

यद्यपि मैंने उद्धव आदि दूतों के मुख से उस समस्त व्रज को सान्त्वना दे दी है, तो भी आप स्वयं व्रज के प्रति सुमधुर आदेश दीजिये। क्योंकि आप तो उस व्रज में मुझ से भी अधिक अनुराग रखते हैं ॥११

और आपके सुमधुर आदेश से भी यदि व्रजवासियों को सान्त्वना न प्राप्त हो सके, तब उनके प्रति अनेक शपथों के द्वारा मेरे व्रज में आने को कह देना। और यदि इतना समझानेपर भी, उनकी विकलता दिखाई दे तो, अपने बल के प्रभाव से उनको मेरी स्फूर्ति करा देना ॥१२॥

और यदि व्रजवासियों की सान्त्वनारूप यह कार्य सिद्ध हो जाय, तब तो मेरी प्रार्थना से एक दूसरा कार्य भी करना कि, जो गोपियाँ तुम्हारे लिए अपनी कुमार अवस्था से ही तुम्हारे वशीभूत हो गई हैं, उनको आप स्वयं अङ्गीकार कर लेना ॥१३॥

यदि कहो कि, वे गोपियाँ कौन सी हैं कि जिनको मैं अङ्गीकार करूँ ? मैं उनके सम्बन्ध में याद दिलाता हूँ कि, उन गोपियों के नाम से मैंने भी जो गोपियाँ कौतुक से तुम्हारे सम्बन्ध में "गोपी श्यामा शारिवा स्यात्" इस कोषके अनुसार लताविशेष की पर्यायवाचक होनेपर भी,शारिवा अर्थात् श्यामा गोपीरूप से कही थीं। एवं वे ही गोपियाँ आपके वक्षःस्थलपर श्यामा नामक लताओं की तरह स्पष्ट होलिका

अपि नवं प्रणयं मुहुराश्रिता, निजमभीष्टमयुर्न तु कर्ह्यपि ।
सततमद्व्रजकेलिसुखाचिता, न हृदि जन्म यतः परमण्वपि ॥१५॥ युग्मकम् ॥

कथमहो व्रजवासिनि सज्जने, तव वियोगदुते परिपश्यति ।
इदमहं तनुयामिति मा वद, स्वयमसावपि तत् स्फुटमीहिता ॥१६॥

'किन्तु तावत्तत्र तास्तत्रभवत्कृपणीयासु कासुचिदपि तासु स्वयं स्थापनीया, यावन्मया सह सन्ततव्रजवासाय गन्तव्यं स्यात् । सर्वमप्येतत् खलु खलानां वञ्चनाय गुप्ततया पर्युप्तं विधेयम् । तच्च परालक्षितताकृते स्वयमेकरथितया पथि परमद्रुतगमनात्तत्र च गत्वा गोपतया सदेशरूपवन्यवेशनियमनात् परं सेत्स्यति' इति ॥१७॥

"तदेवं प्रोच्य स्वीयं गमनमनुशोच्य दूराऽनुव्रजनेन तमभिरोच्य स्वयं सास्रं केशवः स्वाऽऽश्रयं विवेश । "अथ बलदेवः पुनरतिरथगतितूर्णतया नीयमानः पथिकैः पूर्णमपरिचीयमानः श्रीमदुपव्रजसदनमाससाद । आसद्य च सद्यस्तद्भावाऽऽवेशसदेशरूपतया गोपनाऽनुरूपतया च गोपरूपमेव सेवते स्म ॥१८॥ यथोक्तं हरिवंशे—

महोत्सव में आपकी दृष्टि में सुखदायी थीं। एवं वे गोपियाँ बारंबार नवीन प्रेम के आश्रित होकर भी (आपकी सेवारूप) अपने अभीष्ट को कभी भी प्राप्त नहीं कर पाई हैं। एवं निरन्तर मेरी व्रज की क्रीडाओं के सुख से व्याप्त वे गोपियाँ जब से जन्मी हैं, तब से अपने हृदय में दूसरा किञ्चित् सुख भी नहीं प्राप्त कर पाई हैं ॥१४–१५॥

"हाय ! आपके वियोग से सन्तप्त उन व्रजवासी सज्जनों के देखते हुए, मैं गोपियों के अङ्गीकाररूप कार्य को किस प्रकार कर सकूँगा ?" भैयाजी ! इस बात को न कहिये। क्योंकि वे व्रजवासी लोग स्वयं भी उस कार्य की स्पष्ट चेष्टा करेंगे ॥१६॥

किन्तु जबतक आपका मेरे साथ निरन्तर व्रजवास के लिए पुनः जाना हो, तबतक उस व्रज में पूज्यपाद आप (ताः) अपनी प्रेयसी गोपियों को, आपकी कृपा की पात्रस्वरूप (तासु) उन मेरी प्रेयसी किन्हीं गोपियों के मध्य में स्वयं स्थापित कर देना। किन्तु यह समस्त कार्य निश्चय ही खलों की वंचना के लिए गुप्तरूप से स्थापित करना। और वह कार्य दूसरों को न दिखाने के लिए स्वयं अकेले ही रथ में बैठकर मार्ग में अत्यन्त शीघ्र गमनपूर्वक व्रज में जाकर गोपभाव से, योग्य वन्यवेष बनाकर, अर्थात् गुञ्जामाला आदि पहन कर जाने से उत्कृष्टरूप से सिद्ध होगा ॥१७॥

इस प्रकार कहकर, अपने गमन के प्रति शोक प्रगट कर, बहुत दूरतक श्रीबलदेवजी के पीछे पीछे जाकर उनको सन्तुष्ट कर, श्रीकृष्ण स्वयं प्रेमाश्रु बहाते हुए अपने भवन में प्रविष्ट हो गये। उसके बाद अत्यन्त शीघ्रतावाली रथ की चाल के द्वारा ले जाये गये श्रीबलदेवजी, पथिकों के द्वारा पूर्णरूप से परिचित न होकर, शोभायमान व्रज के निकटवर्ती किसी घर में पहुँच गये। और पहुँचते ही गोपभाव में आवेश के हेतु उसी के योग्यरूप होने के कारण, एवं अपने क्षत्रियरूप को छिपाने के अनुरूप होने के कारण, तत्काल गोपरूप को ही धारण कर लिया ॥१८॥

'स प्रविष्टस्तु वेगेन तं व्रजं कृष्णपूर्वजः।
वन्येन रमणीयेन वेशेनाऽलंकृतः प्रभुः ॥' इति ॥१९॥

"अथ तथा तस्मिन्नागच्छति चाच्छसङ्गता ये व्रजगतास्तेषां तदङ्कपाल्या हर्षस्तदनुजस्य पश्चाद्भाविताऽऽशङ्कया तर्षस्तदलाभेन धर्षश्च जात इति तदुट्टङ्कयतः 'स्फुटति मम बुक्का' इति तदर्थतत्प्रश्नादिविस्तारणया कृतम् ॥२०॥

"अथ तदवबुध्य सुध्यग्रणीर्दूरत एव सूरततया व्रजराजाऽऽदीनधिकृत्य केवलं निजागमनमधिगमयामास। तदधिगतवन्तश्च ते सन्तस्तन्मात्रेणापि सन्ततसुखमनसस्तं सन्ततिदारादिभिरारादभिव्रज्य प्रसज्य च हृदि सरसतासमुत्कर्षेण बहिर्वाष्पवर्षेण च जलधरवदेव हलधरदेवधरणोधरमार्द्रयामासुः। स च स्नेहातिशयी तथा कथाविषयी बभूव, यथा सर्वमद्यापि तत्कीर्तिनद्याः पद्यायमानं वर्वर्ति। तदेवं क्षणकतिपये लब्धव्यत्यये पुरोहितादिकृतसान्त्वनामये तस्मिन् समये सुतानां समयं समयन्नुत्थाय सर्वाऽऽशीरुत्थाय तेभ्यो निजनाम्नाऽनुजनाम्ना चाऽऽम्नातं समनस्कारं नमस्कारं चरीकरीति स्म। ते चाऽभिवदन्तस्तस्य पथि प्रथितं श्रमं चरीकृतति स्म ॥२१॥ "तत्र पितरौ तु—

इस विषय को हरिवंशपुराण में भी कहा है, यथा—निग्रह एवं अनुग्रह में समर्थ तथा श्रीकृष्ण के बड़े भाई श्रीबलदेवजी मनोहर वन्यवेष से अलंकृत होकर, उस व्रज में वेगपूर्वक प्रविष्ट हो गये ॥१९॥

अनन्तर उस प्रकार के वन्यवेष से श्रीबलदेवजी के आते समय, जो व्रजवासी उनके सम्मुख आकर सम्मिलित हुए थे, उनको श्रीबलदेव के आलिङ्गन से हर्ष हुआ, एवं उनके छोटे भाई श्रीकृष्ण पीछे होकर अवश्य आ रहे होंगे, इस आशंका से उनके दर्शन की तृष्णा हो गई, तथा श्रीकृष्ण के न मिलने से उनको ह्रास या व्याकुलता उत्पन्न हो गई थी। अतः श्रीकृष्ण की अप्राप्ति से व्रजवासियों की व्याकुलता का उल्लेख करते हुए मेरी बुक्क फटी जा रही है। इसलिए श्रीकृष्ण के आने के विषय में उनके प्रश्न आदि के विस्तार से कोई प्रयोजन नहीं है ॥२०॥

उसके बाद बुद्धिमानों में अग्रगण्य श्रीबलदेवजी ने श्रीकृष्ण के न आने से व्रजवासियों की तृष्णा एवं व्याकुलता को समझ कर, दयालुतापूर्वक दूर से ही श्रीव्रजराज आदिकों को अधिकार करके उनके प्रति केवल अपने आगमन को ही जना दिया। श्रीबलदेव के आगमन को जाननेवाले उन सज्जन व्रजवासियों ने केवल उनके आनेमात्र से भी, निरन्तर सुखयुक्त मनवाले होकर, बेटा बेटी, एवं स्त्री आदिकों के सहित, श्रीबलदेव के निकट अगवानी जाकर, उनसे मिलकर, हृदय में सरसता की अधिकता से, एवं बाहर आँसुओं की वर्षा से, मेघ की तरह हलधर देवरूपधारी शेषजी को आर्द्र कर दिया, अर्थात् गीला कर दिया। और अत्यन्त स्नेहविशिष्ट बलदेवजी उस प्रकार कथा के विषय बन गये कि, जिस प्रकार आज भी समस्त जनमात्र उनकी कीर्तिरूप नदी का मार्ग का सा आचरण करता हुआ पुनः पुनः वर्तमान है। इस प्रकार कुछक्षण बीत जानेपर पुरोहित आदिकों के द्वारा की गई सान्त्वना से पूर्ण उस समय में श्रीबलदेव ने पुत्रों के आचार को प्राप्त कर, स्वयं उठकर सभी के आशीर्वाद को उत्थापित करने के लिए उन व्रजवासियों के प्रति अपने नाम से एवं अपने अनुज श्रीकृष्ण के नाम से सुख निमग्न मन से अभ्यस्त नमस्कार बारंबार किया। अभिवादन करते हुए उन व्रजवासियों ने भी श्रीबलदेव के मार्ग में होनेवाले परिश्रम को भली प्रकार दूर कर दिया ॥२१॥

अनुजमनु सदाऽस्मान् पाहि दाशार्ह ! विष्वग्,-जगदपि विभवेन प्रापयन् शर्मजातम् ।
इति सरुदितवाचा वाष्पभाजा तमेतं, स्नपितमिव सुधानां धारया चक्रतुस्तौ ॥२२॥

व्यवाहरद् गुरुषु यथा बलस्तथा, बले मुदा लघुवयसः समाचरन् ।
समाश्च ये किल वयसा तदा च ते, मिथोऽमुना व्यवहृतिसाम्यमाहरन् ॥२३॥

"तत्र च,—यदा स्वनाम्ना नमनाद्यमाचरद्, बलस्तदा ते विविदुस्तमेव तम् ।
कृष्णाऽऽख्यया यर्हि तदाऽमुमप्यमू,-दृशं विदन्तः सुखसम्भ्रमं ययुः ॥२४॥

"अथ गृहमानीय सुरभिपानीयमुखनीयमानं सुखं प्रणीय क्रमशः क्लमशमनाय स्नपनप्सापनादिकमापयामासुः । "ततः एकान्ते निशान्ते क्षणं विश्रम्य समुन्नते तु तस्मिन्नन्तःपुर्यां गते श्रीव्रजेश्वर्यादयः पुनः सभायां सङ्गते व्रजेश्वरादयस्तत्तत्कुशलप्रश्नमुदस्रं विश्रावयामासुः ॥२५॥ "तत्र व्रजेश्वरी यथा,—

'किं ते माता बल ! कुशलतां धारयन्ती समन्तात्
त्वां त्वत्प्राणानुजमपि सदा लालयन्ती विभाति ।
हन्त त्वं चेन्मम सविधतां यासि तस्याः पुनः स
स्वैरं तर्ह्यप्यनुभवसुखं वां समक्षं लभेय ॥' इत्यादि ॥२६॥

उस समय श्रीनन्द यशोदारूप उन पितामाताओं ने तो हे दाशार्ह बलदेव ! तुम अपने वैभव के द्वारा जगत्भर को चारों ओर से सुखसन्दोह को प्राप्त कराते हुए, श्रीकृष्ण के सहित सदैव हमारी रक्षा करो। इस प्रकार अश्रुजलपूर्ण रुदन के सहित वाणी द्वारा मानो अमृत की धारा से श्रीबलदेव का स्नान करा दिया ॥२२॥

उस समय श्रीबलदेव ने श्रीउपनन्द आदि गुरुजनों के निकट प्रणाम आदि द्वारा जिस प्रकार व्यवहार किया, उसी प्रकार छोटी अवस्थावाले रक्तक, पत्रक आदि दासों ने श्रीबलदेव के ऊपर नमस्कारादि व्यवहार हर्षपूर्वक किया। और उस समय जो श्रीबलदेव की समान अवस्थावाले थे उन्होंने उनके साथ परस्पर आलिङ्गन आदिरूप व्यवहार की समानता का आचरण किया ॥२३॥

और वहाँपर श्रीबलदेव ने अपना नाम लेकर जब उन उपनन्दादिकों के प्रति नमस्कारादि किया, तब वे उनको श्रीबलदेव ही जान गये। और जब कृष्ण का नाम लेकर नमस्कार किया तब वे उपनन्दादि श्रीबलदेवजी को भी श्रीकृष्ण के समान जानते हुए सुखमय सम्भ्रम को प्राप्त हो गये ॥२४॥

उसके बाद उन्होंने श्रीबलदेव को घर लाकर, सुगन्धित जल आदि द्वारा प्राप्त होनेवाले सुख को प्राप्त कराकर, क्रमशः मार्ग की थकान को दूर करने के लिए स्नान भोजन आदि प्राप्त करा दिये। उसके बाद एकान्त गृह में क्षणभर विश्राम करके श्रीबलदेवजी के उठ जानेपर एवं अन्तःपुर में चले जानेपर, श्रीव्रजेश्वरी यशोदा आदि ने एवं पुनः सभा में चले जानेपर, श्रीव्रजेश्वर आदि ने आँसू बहाते हुए, तत्तत् कुशल प्रश्न को सुनवा दिया ॥२५॥

वहाँपर श्रीव्रजेश्वरी का पूछना, यथा—हे प्रिय बलदेव ! तुम्हारी माता श्रीरोहिणी सर्वतोभाव से कुशलता को धारण करती हुई तुम्हारा एवं तुम्हारे प्राणप्यारे श्रीकृष्ण का लालन पालन करती हुई द्वारका में विराजमान है क्या ? हाय ! लाला ! तुम यदि सदा मेरे पास ही बने रहो, एवं श्रीकृष्ण यदि तुम्हारी

"अत्र तस्योत्तरम्,—

'मातस्त्वं चेन्मम सविधतामेषि किं मे जनन्या,
मातस्त्वं चेन्मम सविधतां नैषि किं मे जनन्या ? ।
त्वामानेतुं सततमनुजं कालयापं वितन्व,-
न्नस्मि च्छिद्रं लवमपि भजन्नाययावेव तेन ॥'२७॥

"अथ श्रीव्रजेश्वरो यथा,—

'अद्यापि वत्स ! रिपवः कति सन्ति घात्या, यद्घातनाद् यदुगणाः सुखमाव्रजन्ति ? ।
तेऽमी वयं च युगपन्मिलितौ व्रजे वां, प्राग्वन्निरीक्ष्य नितरां मृतिमुत्तरामः ॥'२८॥

"अथ तस्योत्तरम्,—

'कंसादिभूमितनयावधिवीरवर्यान्, हन्ति स्म यस्तमनु के विभवन्ति शिष्टाः ? ।
कारूष-चेदिपति-पुण्ड्रक-काशिराज,-शाल्वा जरासुतमुख-द्विविदान्तदुष्टाः ॥' इत्यादि ॥२९॥

"तदेवं सुखदुःखप्रथाभिर्बह्वीभिः कथाभिरहोरात्रेऽतिवाहिते व्रजहितेप्सुरसावतिस्पृहया गृहं गृहं पृथगपि तत्तन्मिलनाय परेद्यवि बभ्राम ॥३०॥ "तत्र तु,—

'गुरून् गुरुस्त्रीश्च लघून् सखींश्च, मिलन् पुरावत् कुशलाद्यपृच्छत् ।
बलस्तथा तं प्रति तेऽप्यपृच्छन्, सतां मतिः स्यान्निजमेकरूपा ॥३१॥

माता के पास बना रहे, तो भी मैं तुम दोनों के अनुभवमय सुख को स्वेच्छापूर्वक साक्षात् प्राप्त कर सकती हूँ, इत्यादि ॥२६॥

इस विषय में श्रीबलदेव का उत्तर—अरी मैया यशोदा ! तू यदि सदैव मेरे निकट बनी रहे, तब मुझे मेरी माता रोहिणी से क्या प्रयोजन है ? और माँ ! तू यदि मेरे निकट नहीं बनी रहेगी तो भी मुझे अपनी माँ से क्या प्रयोजन ? यदि कहो कि, तू इतने दिनतक व्रज में क्यों नहीं आया ? तहाँ मैं कहता हूँ कि, मैं अपने छोटे भाई श्रीकृष्ण को तुम्हारे निकट लाने के लिए निरन्तर कालक्षेप करता हुआ, उसी कारण थोड़ा सा अवकाश पाकर भी व्रज में नहीं आ पाया ॥२७॥

अनन्तर श्रीव्रजराज का प्रश्न, यथा—हे लाला बलराम ! आजतक भी मारने योग्य कितने शत्रु विद्यमान हैं कि, जिनके मारने से यादवगण सुख को प्राप्त हो जायँ ? और तुम दोनों के विरह से व्याकुल वे हम सभी व्रजवासी तुम दोनों को पहले की भाँति व्रज में एकसाथ मिले हुए देखकर निश्चय ही मृत्यु को पार कर जायँगे ॥२८॥

अनन्तर श्रीबलराम का उत्तर, यथा—देखो, पिताजी ! जिन श्रीकृष्ण ने कंस से लेकर नरकासुर-पर्यन्त बड़े बड़े वीरश्रेष्ठों को मार दिया, उन श्रीकृष्ण के निकट बचे हुए कौन से शत्रु समर्थ हो सकते हैं ? एवं कारूष (दन्तवक्र), चेदिपति शिशुपाल, पौण्ड्रक वासुदेव, काशीराज, शाल्व, जरासन्ध आदि एवं द्विविद नामक वानरपर्यन्त दुष्ट अवशिष्ट हैं ॥२९॥

अतएव इस प्रकार सुख एवं दुःख को प्रसिद्ध करनेवालीं बहुत सी कथाओं के द्वारा एक दिनरात व्यतीत हो जानेपर, व्रज के हितैषी श्रीबलरामजी ने दूसरे दिन अत्यन्त इच्छा के सहित प्रत्येक घर में अलग अलग उन उन बन्धुओं से मिलने के लिए परिभ्रमण किया ॥३०॥

उस परिभ्रमण में भी श्रीबलराम ने पहले की भाँति गुरुजनों से, गुरुपत्नियों से, छोटेजनों से, एवं

बलस्तदाऽमून् कलयन् व्रजस्थान्, कृष्णार्थमन्तःक्षपिताऽऽत्मभोगान् ।
बहिः परं तत्परितोषहेतो,-र्गवादिपालानवहद् घनाश्रु ॥३२॥

"यथा च स्वयमाह महामुनिः, (भा० १०।६५।५-६)—
'विश्रान्तं सुखमासीनं पप्रच्छुः पर्युपागताः ॥
पृष्टाश्चाऽनामयं स्वेषु प्रेमगद्गदया गिरा ।
कृष्णे कमलपत्राक्षे संन्यस्ताखिलराधसः ॥' इति ॥३३॥

"तत्र तस्मिन् पृच्छति गुरूणामुत्तरम्, यथा—
'यत् कंसो निहतस्ततश्च सुहृदस्ते यद्विमुक्तास्तथा
सर्वेऽमी कुशलं दधत्यथ युवां दुर्गं यदेतैः श्रितौ ।
तस्मिन् यच्च सुतादिवैभवयुता यूयं रमध्वे वयं
तन्मात्रेण शुभं गताः किमुत वस्तत्र स्मृतिं सङ्गताः ॥'३४॥

"लघूनां यथा—
'अद्य श्वः समियाद् भवद्युगलमित्येवं कृताऽऽशा वयं
हन्ताऽद्यावधि कालयापकृतिनः प्राणान् वहामश्चिरम् ।
एवं तेऽङ्घ्रियुगं विधृत्य वृणुमः सङ्कर्षण ! त्वं ततः
कृष्णं चाऽऽनय न स्वयं च नितरां याहि क्वचित् कर्हिचित् ॥३५॥

अपने मित्रों से मिलकर कुशल आदि पूछा। उन्होंने भी पहले की तरह श्रीबलराम के प्रति कुशल आदि पूछा। क्योंकि सज्जनों की बुद्धि आत्मीयजनों के प्रति नित्य एकसी ही होती है ॥३१॥

उस समय श्रीबलदेवजी, श्रीकृष्णप्रीत्यर्थ या उनकी प्राप्ति के लिए अपने अपने अन्तःकरण में अपने भोग्यपदार्थों को दूर करनेवाले, एवं केवल श्रीकृष्ण के सन्तोष के लिए बाहर से गोपालन आदि करनेवाले उन व्रजवासियों को देखते हुए घने आँसू बहाने लग गये ॥३२॥

इस प्रसङ्ग में श्रीशुकदेवजी ने भी स्वयं कहा है, यथा—जिन्होंने अपने सम्बन्धी यादवों में आरोग्य पूछा है, एवं बलदेवजी के द्वारा जिनका आरोग्य पूछा गया है, तथा जो कमलनयन श्रीकृष्ण के निमित्त समस्त भोगों को त्यागनेवाले हैं, वे सभी व्रजवासी विश्राम करके सुखपूर्वक बैठे हुए श्रीबलदेवजीको चारों ओर से आकर प्रेमभरी गद्गद वाणी से पूछने लगे ॥३३॥

वहाँपर बलदेवजी के पूछनेपर श्रीउपनन्द आदि गुरुजनों का उत्तर, यथा—हे बलदेव ! देखो, कंस जो मारा गया, उसी कारण श्रीवसुदेव आदि सुहृद्जन अनेक प्रकार के क्लेशमय बन्धनों से विमुक्त हो गये। तथा वे सब यादव कुशल तो धारण कर रहे हैं कि, जिनके साथ तुम दोनों भाई द्वारकारूप दुर्ग का सेवन कर रहे हो। और उस दुर्ग में तुम दोनों भाई पुत्र पौत्रादि वैभव से युक्त होकर जो क्रीडा कर रहे हो, हम सब व्रजवासी तो उसके श्रवणमात्र से ही शुभ को प्राप्त हो गये हैं, फिर वहाँपर तुम्हारी स्मृति में आनेवाले हम शुभ को प्राप्त करेंगे, इस विषय में तो कहना ही क्या है ? ॥३४॥

वहाँपर छोटी अवस्थावाले व्रजवासियों का उत्तर वाक्य, यथा—हे बलदेवजी ! देखो, "आप दोनों भाइयों की युगलजोड़ी आज अथवा कल व्रज में आ जायगी" इस प्रकार की आशा करनेवाले हम आजतक

"अथ सखीनाम्—

त्वं कृष्णश्च बल ! क्व चापि मिलथः प्रत्येकमस्मासु किं
त्वेकान्ते न ततः सुखं प्रथमवत् क्रीडासु सज्जामहे ।
प्राणान् गाश्च परं गतागतदशामासादयामः स्वयं
श्रीमंस्तत् कुरु येन पूर्ववदमी जीवन्ति दीव्यन्ति च ॥३६॥

"अत्र च श्रीहरिवंशाद् विशेषो ज्ञेयः,—'तमूचुः स्थविरा गोपाः प्रियं मधुरभाषिणम् । रामं रमयतां श्रेष्ठं प्रवासात् पुनरागतम् ॥' इत्यादौ; 'स्वागतं ते महाभाग !' इत्यारभ्य 'दिष्ट्या ते निहता मल्लाः कंसश्च विनिपातितः । उग्रसेनोऽभिषिक्तश्च माहात्म्योनाऽनुजेन वै ॥ समुद्रे च श्रुतोऽस्माभिस्तिमिना सह विग्रहः । गोमन्ते च श्रुतोऽस्माभिः क्षत्रियैः सह विग्रहः ॥' इत्यादिकं मध्ये प्रोच्य प्रोक्तम्; 'प्रत्युवाच ततो रामः सर्वांस्तानभितः स्थितान् । यादवेष्वपि सर्वेषु भवन्तो मम बान्धवाः ॥' इत्यादि ॥"३७॥

अथ कथकः स्वान्तश्चिन्तयामास,—"अत्र प्रवासात् पुनरागतमित्यनेन श्रीरामस्य गोपग्रामस्य च तथा भानं सूचयित्वा श्रीकृष्णं प्रति तु कैमुत्यमेवाऽऽनीतम्; 'यादवेष्वपि सर्वेषु'

समय बिताते हुए बहुत दिनोंतक प्राणों को धारण किये हुए हैं। किन्तु अब तो हम आपके दोनों चरणों को पकड़ कर इस प्रकार का वर माँगते हैं कि, आप द्वारका से श्रीकृष्ण को लिवा लाइये। और स्वयं भी व्रज से बाहर कहींपर कभी भी न जाइये ॥३५॥

उसके बाद सखाओं का उत्तर वाक्य, यथा—हे भैया बलदेवजी ! देखो, तुम एवं श्रीकृष्ण हम सब सखाओं में से प्रत्येक के साथ कहींपर भी मिल जाते हो, किन्तु एकान्त में पहले की भाँति अर्थात् मथुरा जाने से पहले की तरह ग्वालबालों के खेलों में सुख नहीं पा रहे हैं। और अब तो हम सब मित्र अपने अपने प्राणों को एवं गौओं को केवल यातायात दशा को प्राप्त कर रहे हैं। हे श्रीमान् बड़े भैयाजी ! अब तो आप स्वयं वह कार्य कीजिये कि जिससे ये हमारे प्राण एवं गोगण पहले की तरह जीवित रहें, एवं आनन्द से क्रीडा करते रहें ॥३६॥

इस प्रसङ्ग में श्रीहरिवंशपुराण से विशेषता जान लेना, यथा—आनन्ददाताओं में श्रेष्ठ, प्रिय, एवं मधुरभाषी वे श्रीबलदेव जब विदेश से पुनः व्रज में आ गये, तब वृद्धगोपजन उनके प्रति बोले, इत्यादि स्थल में "हे महाभाग्यशालिन् बलदेव ! तुम्हारा स्वागत हो" यहाँ से आरम्भ करके "यह आनन्द की बात है कि, वे चाणूर आदि मल्ल मारे गये, तथा कंस पछाड़ दिया गया, और तुम्हारे छोटे भाई श्रीकृष्ण ने अपने प्रभाव से उग्रसेन को राजसिंहासनपर अभिषिक्त कर दिया। और हम सब ने यह भी सुना था कि, समुद्र में सौ योजन लम्बे मत्स्य के साथ, तात्पर्य—शंखासुर के साथ श्रीकृष्ण का युद्ध हुआ, एवं गोमन्त पर्वतपर क्षत्रियों के साथ युद्ध हुआ" इत्यादि बातों को बीच में कहकर कहा कि, "उसके बाद अपने चारों ओर बैठे हुए उन गोपों के प्रति श्रीबलराम ने प्रत्युत्तर दिया कि, हे व्रजवासियो ! देखो, सभी यादवों के बीच में आप सब मेरे प्रिय बान्धव हो।" इत्यादि ॥३७॥

उसके बाद कथावाचक अपने मन में विचारने लगा कि—हरिवंशोक्त इन वचनों में "विदेश से पुनः आये हुए श्रीबलराम के प्रति" इस पद से श्रीबलराम की एवं गोपसमूह की पहले की तरह प्रतीति की सूचना करके, श्रीकृष्ण के प्रति तो कैमुत्यन्याय ही प्राप्त कर दिया। अर्थात् बलराम के गोपत्व सिद्ध हो

इत्यादौ सप्तमीनिर्देशेन 'पुरुषेषु क्षत्रियः शूरः' इत्यत्र क्षत्रियेऽपि पुरुषत्ववत्तेष्वपि यादवता मता। भेदे तु 'माथुराः स्रौघ्नेभ्य आढ्यतराः' इतिवत् पञ्चम्येव निर्दिश्येत। तदेवमुपनन्दादय इव परे च केचन यदुवंशजा गम्यन्ते" इति ॥३८॥

अथ स्पष्टं चाचष्ट,—"तदेवं तद्दिनार्धं गुरुलघुषु तादृशलघुसम्भाषणया सखिषु तु हास्यहस्तग्रहणशस्ततया समाप्य श्रीव्रजेश्वरसदनं प्राप्य भोजनादिपूर्वकं सभामवाप्य स्वानुज-विजयकथाभिः सभासत्सु मुदं निधाप्य तान् बहिरबहिः श्रीव्रजेश्वरीमप्यनुज्ञाप्य शयनलीलां शीलयामास ॥३९॥

"किन्तु, यद्यपि गोपालानां, वासे रामः पुनर्विचिक्रीड।
तदपि स नान्तर्मुमुदे, कृष्णश्चक्षुर्हि तस्य तेषां च ॥४०॥
प्रातः सायं परमिह, धेनुसमीक्षां समाचरद् रामः।
न पुनरमूषां चारण,-मनुजविनाभावनिर्विण्णः ॥४१॥

कथान्तरं तु प्रातः कथयिष्यामः" इति स्निग्धकण्ठः समापनमाह स्म,—

"नात्मानं यो बलं मेने सर्वप्राणमिमं विना।
सोऽयं तमेनमासज्य धिनुते त्वां व्रजेश्वर! ॥" इति ॥४२॥

जानेपर श्रीकृष्ण का गोपत्व स्वतः सिद्ध कर दिया। और "यादवेष्वपि सर्वेषु" इत्यादि में सप्तमी विभक्ति के निर्देश से "पुरुषेषु क्षत्रियः शूरः" अर्थात् पुरुषों में क्षत्रिय ही शूरवीर होता है, इस जगह क्षत्रिय में भी पुरुषत्व है, उसी प्रकार उन गोपों में भी यादवभाव माना गया है। यादवों से भेद होनेपर तो "माथुराः स्रौघ्नेभ्य आढ्यतराः" अर्थात् मथुरादेशवासी जन स्रुघ्नदेशवासियों की अपेक्षा अधिक धनी हैं, इस प्रकार पंचमी विभक्ति का ही निर्दश किया जाता। अतएव इस सिद्धान्त के अनुसार श्रीउपनन्द आदिकों की तरह कुछ दूसरे गोप भी यदुवंशोत्पन्न जाने जाते हैं ॥३८॥

उसके बाद स्पष्ट बोला—इस प्रकार उस आधे दिन को बड़े छोटे गोपों के बीच में उस प्रकार के लघु (इष्ट) संभाषण के द्वारा, एवं सखाओं में हास्यपूर्वक हाथ पकड़ना इत्यादि मङ्गलपूर्वक समाप्त करके, श्रीव्रजराज के भवन में जाकर, भोजन आदि करके सभा में पहुँच कर, अपने छोटे भाई श्रीकृष्ण की विजयमयी कथाओं के द्वारा, सभासदों में हर्ष को स्थापित कर, बाहर सभावालों की एवं अन्तःपुर में श्रीयशोदा की अनुमति लेकर, श्रीबलदेव ने शयनलीला का अनुशीलन किया ॥३९॥

किन्तु श्रीबलरामजी गोपालों के निवासस्थान-स्वरूप व्रज में यद्यपि पुनः क्रीडा करते थे, तथापि वे अपने अन्तःकरण में प्रसन्न नहीं होते थे। कारण—श्रीबलराम के एवं उन गोपों के नेत्रस्वरूप तो श्रीकृष्ण ही थे। अर्थात् अन्धा व्यक्ति जिस प्रकार अनेक पदार्थों का उपभोग करके भी हृदय में प्रसन्न नहीं होता, उसी प्रकार श्रीकृष्ण के बिना वे भी प्रसन्न नहीं होते थे ॥४०॥

उस समय श्रीबलरामजी इस व्रज में प्रातःकाल एवं सायंकाल केवल धेनुओं की देखभाल ही करते थे, किन्तु उनका चरानारूप कार्य नहीं करते थे। क्योंकि वे उस समय श्रीकृष्ण के विरह से दुःखित थे ॥४१

"दूसरी कथा तो प्रातःकाल कहेंगे" यह कहकर स्निग्धकण्ठ प्रसंग की समाप्ति का द्योतक वचन बोला—हे व्रजराज! देखो, जो बलदेव सभी के प्राणस्वरूप इन श्रीकृष्ण के बिना अपने को बलयुक्त नहीं मानते थे, वे ही श्रीबलदेव इन श्रीकृष्ण से मिलकर आपको परितृप्त कर रहे हैं ॥४२॥

अथ श्रीराधामाधव-सदसि कथा, यथा स्निग्धकण्ठ उवाच,—"यदा यादवेन्द्रः स्व-व्रजं व्रजन्तं स्वाग्रजं रामं प्रति स्व-प्रेयसीर्विना सर्वेषामेव व्रजजन्मनामिष्टं सान्त्वनमुपदिष्टवांस्तदा स खल्विदं सास्रमश्रावयत्,—'हन्त ! सन्ततं याः सन्तप्ततया लुप्तप्राणा इव श्रूयन्ते, ताः प्रति कथमव्यथवन्न किञ्चित् प्रथयसि ?' इति ॥४३॥

"अथ कञ्जाक्षः समन्दाक्षमुद्धवमुखमीक्षते स्म, स तु चतुरः प्रोवाच,—'मयेदं निवेदयितव्यम्' इति ॥४४॥

"अथ निजगृहे यान्तं रोहिण्यङ्गजातमनुगत्य स्वगोकुलगत्यवसरलब्धयदुपत्यभिहितप्रतिपत्त्यनुसारादमूषां तन्निजप्रेयसीरूपतादिकं निरूपयामास, तस्मान्निवृत्त्य च स्वप्रभुं निवेदयामास,—'श्रीमान् सङ्कर्षणः खलु गत्वा तासामुन्मादधर्षं द्रक्ष्यत्येवेति मया तत्र तत्त्वं सूचितमस्ति । यथा चायममूषां सान्त्वनाय सम्पत्स्यते, तथा नान्य इति सन्देशहरतायां सदेशरूपः स एष एव' इति ॥४५॥

"अथ तच्छ्रीमुखगिरा स्वस्तिमुखं विलिख्य तस्मिन् समर्पितवता तेन मन्त्रिवरेण यथा समुपदिष्टम्, तद्वदन्विष्टं विधाय तृतीयेऽह्नि स तत्प्रेयसीनामेकीभावदेशमेव विवेश ॥४६॥

अनन्तर श्रीराधा-माधव की सभा में कथा, यथा—स्निग्धकण्ठ बोला—यादवेन्द्र श्रीकृष्ण ने, अपने व्रज में जाते हुए अपने अग्रज श्रीबलराम के प्रति अपनी प्रेयसी गोपियों के बिना जब सभी व्रजवासियों के लिए अभिलषित सान्त्वना का उपदेश दिया था, तब श्रीबलरामजी ने आँसू बहाते हुए यह सुनाया कि—हाय ! भैयाजी ! जो गोपियाँ तुम्हारे विरह में निरन्तर सन्तप्त होने के कारण, प्राय: नष्ट प्राणोंवाली सी सुनी जाती हैं, तुम निज प्रेयसी उन गोपियों के प्रति व्यथारहित की तरह कुछ भी सन्देश क्यों नहीं कह रहे हो ? ॥४३॥

उसके बाद कमलनयन श्रीकृष्ण लज्जापूर्वक उद्धवजी के मुख को देखने लग गये। वह चतुर उद्धव तो बोला कि—यह रहस्यमय वृत्तान्त तो मेरे द्वारा ही निवेदन करने योग्य है, अत: मैं ही निवेदन करूँगा ॥४४॥

अनन्तर उद्धवजी ने अपने घर में जाते हुए रोहिणीनन्दन श्रीबलदेवजी के पीछे पीछे जाकर, अपने (अर्थात् उद्धव के) व्रज में जाने के समय में प्राप्त श्रीकृष्ण के कहे हुए ज्ञान के अनुसार, उन गोपियों के श्रीकृष्ण की निज प्रेयसीरूपता आदि का भली प्रकार निरूपण कर दिया। और श्रीबलदेवजी के पास से लौटकर अपने प्रभु श्रीकृष्ण के प्रति निवेदन किया कि—भगवन् ! श्रीमान् बलदेवजी व्रज में जाकर आपकी प्रेयसीरूपा उन गोपियों की उन्मादमयी प्रगल्भता को देखेंगे ही, यह जानकर मैंने उस विषय में प्रोषित-भर्तृका आदि लक्षणरूप तत्त्व की सूचना कर दी है। और देखो, प्रभो ! ये श्रीबलदेवजी जिस प्रकार आपकी प्रियतमा गोपियों को सान्त्वना देने के लिए सम्पन्न होंगे, उस प्रकार दूसरा व्यक्ति नहीं हो सकेगा। अत: दूतसम्बन्धी कर्म में वे ये श्रीबलदेव ही योग्य हैं ॥४५॥

अनन्तर श्रीकृष्ण के श्रीमुख की वाणी से पत्र लिखकर श्रीबलदेव के प्रति समर्पित करते हुए, श्रीकृष्ण के मन्त्रिश्रेष्ठ श्रीउद्धव ने जिस प्रकार कहा था, उसी प्रकार अनुसन्धान करके, श्रीबलदेवजी तीसरे दिन कृष्णप्रेयसी गोपियों के एकत्रित होने के स्थान में ही प्रविष्ट हो गये ॥४६॥

ततश्च, बलमपि बत दृष्ट्वा मूर्ध्नि शाटीमकृष्ट्वा, हसितमयमिहाख्यन् यत्तु गोपालरामाः ।
अहह तमिममासां भावमुन्मादभाजां, मनसि विदधदुच्चैः प्राणघातं प्रयामि ॥४७॥

"तत्र हासमेवमप्युत्प्रेक्षामहे,—
सङ्कल्पं कृतवान् हरिर्व्रजमुपागन्तुं ततस्ता धृति-
प्रायां सोऽयमुपाव्रजेद् बलसखः स्रागित्थमूहां गताः ।
प्रत्याजग्मुषि केवले बत बले तत्राऽऽदृतावप्यमू-
र्दुःखेऽप्युद्धसितादसुव्यसनितां स्वेषां तदाऽसूसुचन् ॥ इति ॥४८॥

"तथापि तासां तल्लालसा नाऽलसा जातेति तेन समं संवादश्च सम्पन्नः ॥४९॥

"तत्र लालसानिदानं यथा—
उद्धवः खलु विदूरसम्भव,-स्तस्य तत्त्वमपि नः स वेत्ति न ।
जन्मनाऽघजयिना सह स्थितिः, श्रीबलः पुनरवैति सर्वशः ॥ इति ॥५०॥

"संवोदे क्रमस्तु यथा—यत्र व्रजं परित्यज्य गोकुलकुलचन्द्रमसं रज्यमानमनसं सम्भाव्य सोत्प्रासस्मितं तादवाचख्युः,—
'कच्चित् कृष्णः समन्तान्मुदमनुभवति द्वारकायां स्वपुर्याम्' इति
पुनः सहासमाचचक्षिरे—
'चित्रं किं तत्र यस्मान्निखिलपुरजनीवल्लभः सैष एकः ।' इति

और उसके बाद अहह ! श्रीबलदेवजी को देखकर भी अपने अपने मस्तकपर साड़ी को न खींचकर, अर्थात् घूँघट को न मारकर, यहाँपर गोपाङ्गनाओं ने अधिक हास्ययुक्त जो कुछ कहा था, हाय ! उन्माद-युक्त उन गोपियों के उस लोकोत्तरभाव को अपने मन में धारण करता हुआ, मैं तो विशेष करके अपने प्राणों की हत्यापर पहुँच जाता हूँ ॥४७॥

वहाँपर हास्य की भी हम इस प्रकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि—श्रीकृष्ण ने व्रज में आने के लिए संकल्प किया था, अतः कृष्णप्रिया वे गोपियाँ "बलदेवजी के सखा वे श्रीकृष्ण शीघ्र ही व्रज में आ जायँगे" इस प्रकार से धैर्यपूर्ण वितर्क को प्राप्त हो गई थीं । हाय ! केवल बलदेवजी के लौटकर आनेपर वे आदर के विषय होनेपर भी, उस समय उन गोपियों ने दुःख में भी उच्च हास्य के द्वारा अपने प्राणों की पीडा सूचित कर दी ॥४८॥

तो भी उन गोपियों की श्रीकृष्णविषयक लालसा आलस्य से युक्त नहीं हुई । इसीलिए श्रीबलदेवजी के साथ उनका संवाद भी सम्पन्न हो गया ॥४९॥

श्रीबलराम के प्रति लालसा का मूलकारण यह था कि—उद्धवजी तो निश्चय ही दूर देश में उत्पन्न होनेवाले हैं, अतः वे श्रीकृष्ण के एवं हमारे तत्त्व को भी यथार्थरूप से नहीं जानते हैं । किन्तु अघासुरविजयी श्रीकृष्ण के साथ जन्म से ही रहनेवाले श्रीबलरामजी तो सर्वतोभाव से जानते हैं ॥५०॥

गोपियों के संवाद में क्रम तो इस प्रकार है, यथा—जिस क्रम में व्रज को त्यागकर भी गोकुलकुल-चन्द्रमा श्रीकृष्ण गोपियोंपर अनुरक्त मनवाले हैं, यह सम्भावना करके गोपियाँ इशारे के सहित मन्दहास्य-पूर्वक स्पष्ट बोलीं—कहिये, भगवन् ! श्रीकृष्ण अपनी द्वारकापुरी में सर्वतोभाव से हर्ष का अनुभव तो कर

पुनः सपरामर्शमिव प्रोचुः—

'पृच्छ्य' तावत् पुरस्तात्तदिदमहह नः किन्तु बन्धूंस्तथा किं
तातं किं वा कदाचित् क्वचिदपि जननीं किञ्चिदध्येति राम ! ॥' इति ॥५१॥

पुनः सनिर्वेदमूचुः—

बन्धूंस्तातं कदाचिद् यदि किल जननीं स स्मरेद् वा न वेति
प्रत्याशायां विकल्पः स्फुरति ननु तदा का वराकी स्मृतिर्नः ? ।
हा धिक् चित्तं पुरस्तात्तदपि च तदिदं प्रष्टुमिच्छत्यबाधं
किं नः सेवानुचर्याततिमहह महाबाहुरध्येति पूर्वाम् ॥' इति ॥५२॥

"तद्बाहुमाधुर्यस्मरणेन क्षणकतिपयं विमुह्य पुनरुह्यमानचेतनाः शनैरूचिरे,—
'प्रसू-तातौ भ्रातृनहह भगिनीर्यातृजमुखान्, गृहाध्यक्षान् हित्वा स्वमनुभजमाना न इह यः ।
जहौ छिन्नप्रेमा तदपि हृदयं नस्तदनुगं, कथं तां तद्वाणीं प्रभुवर ! वराङ्गी न मनुताम् ?' ॥५३

"तत्र काश्चिदाचक्षत,—

'अस्माकं चेदृशां स व्यरचयदमुकां धिक् कथं तर्हि तस्य
श्रद्धत्ते वाचमुच्चैरनियतमनसस्तां पुरस्त्रीजनश्च ।

रहे हैं ? पुनः हास्यपूर्वक बोलीं—उस द्वारका में आश्चर्य ही कौन सा है ? क्योंकि वहाँपर वह एक श्रीकृष्ण ही समस्त पुरवासिनियों का प्रियतम है। पुनः मानो विचारपूर्वक बोलीं—हे श्रीबलरामजी ! हमारा तो आप से प्रथम यही पूछना है कि—वे श्रीकृष्ण कभी हमको, किंवा बन्धुओं को, तथा पिताजी को, अथवा माता को भी कहींपर किंचिद् भी स्मरण करते हैं क्या ? ॥५१॥

पुनः वैराग्यपूर्वक बोलीं—वे श्रीकृष्ण अपने प्रिय बन्धुओं को, एवं पिता को तथा अपनी माता को यदि कभी स्मरण कर सकते हैं अथवा नहीं, इस प्रकार की प्रत्याशा का विकल्प जब स्फूर्ति पा रहा है, तब बिचारी हमारी स्मृति का कौन सा मूल्य है ? तात्पर्य—जहाँ मातापिता एवं मित्रों की स्मृति में भी सन्देह है, वहाँ हमको कैसे याद करते होंगे ? हाय ! तो भी हमारा चित्त पहले बाधारहित यही पूछना चाहता है कि—वे महाबाहु श्रीकृष्ण अहह ! पहले की हुई हमारी अनेक प्रकार की सेवापरिपाटी को भी कभी याद करते हैं क्या ? ॥५२॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण की भुजाओं के माधुर्य के स्मरण से कुछ क्षणोंतक विमुग्ध होकर, पुनः चेतना को धारण कर धीरे धीरे बोलीं—अहह ! जो श्रीकृष्ण "माता पिता, भाई बहिन, देरानी जेठानियों के पुत्र एवं घर के स्वामियों को त्यागकर, निरन्तर अपना भजन करनेवालीं हम सब गोपियों को यहाँपर ही छोड़ गये" क्योंकि वे प्रेम को तत्काल तोड़ देते हैं। तो भी हमारा हृदय उन्हीं का अनुगामी है। क्योंकि हे प्रभुवर ! बलदेवजी ! आप ही बताइये कि "न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः" भा० १०।३२।२२ इस प्रकार की श्रीकृष्ण की उस वाणी को उत्तम स्त्री किस प्रकार न मानेगी ? ॥५३॥

उस समय कुछ गोपियाँ बोलीं कि—उन श्रीकृष्ण ने हम सब गोपियों की ही जब इस प्रकार की विरहमयी दशा कर दी, हाय ! धिक्कार है, नवपुरवासिनी स्त्रियाँ चंचल चित्तवाले उन श्रीकृष्ण की उस बहलानेवाली वाणीपर किस प्रकार श्रद्धा करती हैं ? इस प्रकार उनकी बात पूरी न होनेपर भी दूसरी

इति वागसमाप्तावन्या भणन्ति स्म—
यश्चित्रां वेत्ति वाणीं कथयितुमतुलां माधुरीं संदधान-
स्तस्मिन्नम्भोजनेत्रे स्मरवशगतया का वशा वाऽस्ति न स्त्री ?' इति ॥५४॥

"तदेवं सति—

'या पश्चादाह सर्वाः स्वयमुपदिशती हन्त साऽऽक्षेपमस्या
वाणीं बाणायमानां हरिहरितमिमां प्रापयन्नस्मि मां धिक् ।
अस्माकं तत्कथाभिः किमिह सुकथनं रच्यतामन्तरा नः
कालश्चेत्तस्य यायात् कथमथ बत नस्तं विना यातु नेति ॥'५५॥

"इति यदपि निजान्तर्दारुणीकृत्य तस्थु,-र्व्रजकुलमहिलास्ता हन्त बाढं तथापि ।
हसित-गमन-जल्प-प्रेक्षितालिङ्गितानां, स्मरणमनु मुरारे रोरुदामासुराशु ॥५६॥

"अथ सङ्कर्षणः परमकरुणया लम्भितवेत्र इव वाष्पधाराभिररुणनेत्रः क्षणकतिपयं कर्तव्यमूढतामूढवान् । "पुनश्च स वात्सल्यसम्बोधनमुद्रया तासां तत्तन्निवेदनश्लाघया सानुताप-तदागमनविलम्बकारणनानोपद्रवसूचनया युष्माकमीदृशार्तिश्रवणेन स तु महान्तं मोहं प्राप्स्यतीति विभीषिकया च नानानुनयकोविदस्तदिदमुवाच,—॥५७॥

गोपियाँ बोलीं कि—अरी बहिनो ! देखो, जो श्रीकृष्ण अनुपम माधुरी को धारण करते हुए, विचित्र वाणी को कहना जानते हैं, उन कमलनयन के ऊपर काम के वशीभूत होकर, कौन सी स्त्री उनके वशीभूत नहीं है ? ॥५४॥

अतएव ऐसी स्थिति में सभी गोपियों को उपदेश देती हुई जो गोपी सब से पीछे स्वयं बोली थी, हाय ! पीछे बोलनेवाली उस गोपी की बाणों के समान वाणी को आक्षेपपूर्वक श्रीकृष्ण की दिशा की ओर भेज रहा हूँ, अतः मुझको धिक्कार है । उस गोपी की वाणी यह थी कि—अरी ! गोपियो ! देखो, यहाँपर उन श्रीकृष्ण की कथावार्ताओं से हमारा क्या बनेगा ? अतः किसी दूसरे सुकथन की रचना करो । क्योंकि यदि हमारे बिना श्रीकृष्ण का समय व्यतीत हो सकता है, हाय ! तब उनके बिना हमारा समय किस प्रकार नहीं बीत सकता है ? ॥५५॥

इस प्रकार कहती हुईं वे व्रजाङ्गनाएँ यद्यपि अपने अन्तःकरण को कठोर बनाकर चुप बैठ गईं, हाय ! यह बात ठीक है, तो भी वे गोपियाँ श्रीकृष्ण का हँसना, चलना, बोलना, देखना, आलिङ्गन करना इत्यादिकों को स्मरण करके शीघ्र ही बारंबार रोने लग गईं ॥५६॥

उसके बाद श्रीबलदेवजी ने तो विशेष करुणापूर्वक बेंत को धारण करनेवाले की तरह अश्रुधाराओं से रक्त नेत्रवाले होकर कुछ क्षणोंतक कर्तव्य की मूढता धारण कर ली । पुनः वात्सल्यमय सम्बोधन की मुद्रा द्वारा उन गोपियों के सम्बन्ध में उन उन निवेदनों की प्रशंसा के द्वारा, पश्चात्तापपूर्वक श्रीकृष्ण के आने में विलम्ब के कारणरूप अनेक उपद्रवों की सूचना के द्वारा, और तुम्हारी इस प्रकार की पीडा के श्रवण से तो श्रीकृष्ण भारी मोह को प्राप्त हो जायँगे, इस प्रकार की विभीषिका (भय) के द्वारा अनेक प्रकार के अनुनय विनय में चतुर वे श्रीबलदेव यह बोले— ॥५७॥

युष्मासु वत्सलतयाऽहमिहाऽस्मि बाल्यात्, कृष्णे यथा किल तथाऽत्र करोमि सत्यम् ।
हन्त स्नुषा ! हृदयमस्य मम स्वहृद्गै,-र्रचिर्भिरुद्धततमैर्बत मास्म दाग्ध ॥५८॥

जानन्नेव निजानुजस्य हृदयं प्रत्याव्रजं श्रीव्रजं
विद्वानेव च तत् प्रगाढमभितः सान्त्वेन युष्मान् ब्रुवे ।
औदासीन्यमवेत्स्यमस्य यदि वा तत्तन्न कर्तुं तदा
क्षन्ता स्यामथ नाऽऽलपेयमपि हृत् प्रीणीत तस्मिन्न मे ॥५९॥

भ्राताऽसौ मम वैरिणामपि गतिं शुभ्रां ददाति स्वयं
सोऽयं हन्त परित्यजेदहह वः प्रत्येमि नैतद्वचः ।
या यूयं बत लोकधर्मपरतां तत्कामनादौज्झत
स्वैरं गेहमनूज्झ्य देहमपि हा द्रागुज्झितुं वाञ्छथ ॥६०॥

युष्माकं गुणतस्तथा परवशः कंसारिरास्ते यथा
मां ज्यायांसमपि प्रसत्तिविधये प्रास्थापयद्वः प्रति ।
सन्देशास्त इमे विभान्ति रचितास्तेन स्वयं यत्र वः
सौख्यं भावि तदस्तु तस्य भविता सन्देष्टुरप्यागतिः ॥६१॥

हाय ! हे मेरे छोटे भाई की वधूस्वरूपा गोपियो ! देखो, मैं यहाँपर बाल्यकाल से श्रीकृष्ण के ऊपर जिस प्रकार वात्सल्य से विशिष्ट रहा हूँ, उसी प्रकार तुम्हारे ऊपर भी वात्सल्य से विशिष्ट ही रहा हूँ । मैं इस विषय में शपथ करता हूँ । अतः मैं खेदपूर्वक कहता हूँ कि, तुम सब अपने अपने हृदय में विद्यमान अतिशय ऊँची विरहज्वालाओं से इस मेरे हृदय को मत जलाओ ॥५८॥

मैं अपने छोटे भाई के हृदय (अभिप्राय) को जानकर ही श्रीमान् व्रज में लौटकर आया हूँ । और मैं उसके हृदय को सुदृढरूप से सब प्रकार से जानता हुआ ही, तुम सबके प्रति सान्त्वनापूर्वक कहता हूँ कि—यदि मैं अपने छोटे भाई की तुम सबके ऊपर उदासीनता को जान लेता तो, द्वारका में विवाह आदि तत्तत् कार्य करने के लिए क्षमा नहीं करता, एव उस से बोलता भी नहीं, तथा उसके ऊपर मेरा हृदय भी सन्तुष्ट नहीं होता ॥५९॥

और वह मेरा भैया श्याम तो अपने बैरियों को भी शुभगति देता रहता है, हाय ! हाय ! वही भक्त-वत्सल घनश्याम तुम सब स्नेहमयी गोपियों को स्वयं त्याग देगा, मैं इस वचनपर विश्वास नहीं करता हूँ । क्योंकि जो तुम सब, अहह ! श्रीकृष्ण की प्राप्ति की इच्छा से लोक एवं लौकिकधर्म की तत्परता को पहले ही त्याग चुकी हो, एवं अब स्वेच्छा से घर को त्यागकर, हाय ! शीघ्रता से देह को भी त्यागने के लिए इच्छा कर रही हो ॥६०॥

अधिक क्या कहूँ ? देखो, कंसारि श्रीकृष्ण तुम्हारे लोकोत्तर गुणों से तुम्हारे उस प्रकार वशीभूत हैं कि, जिस प्रकार उसने तुम्हारी प्रसन्नता करने के लिए मुझ बड़े भाई को भी तुम्हारे प्रति भेज दिया है । और उसके द्वारा स्वयं रचे हुए आगे कहे जानेवाले ये सब सन्देश शोभा पा रहे हैं । जिन सन्देशों में तुम सबको सुख होगा । अच्छा, उसको रहने दीजिये । देखो, सन्देश देनेवाले श्रीकृष्ण का आगमन भी हो जायगा ॥६१॥

"अथाऽत्र स्वस्तिमुखश्चायं सुखदो भविता; यथा—

प्रस्थानावसरे यदेव बहुलं प्रस्थापितं वाचिकं
प्रत्यायातिमयं ततश्च्यववशात् प्राहैषमप्युद्धवम् ।
हा धिक् तत्र च विघ्ननिघ्नदशया शङ्की तु सङ्कर्षणं
सन्दिश्य प्रहिणोमि किन्तु मम धीर्युष्मद्धिया लज्जते ॥६२॥

आत्मानं यदि वा मृषा रचितवान् धिक् किन्तरामुद्धवं
साधूनां परमं तथा विरचयाम्यास्तां च तत्तद् बत ।
स्वज्यायांसमहो महामहिमयुग्विख्यातिमेतं कथं
तादृक्षं रचयानि तेन दयिता मद्वाचिकं नान्यथा ॥६३॥

युष्मत्सन्निधिमावसामि यदहं तत्र प्रमाणं मिथः
स्फूर्तिः स्यादुभयत्र तर्ह्यपि न चेत् पूर्तिर्द्वयानामपि ।
शैघ्र्यादुत्कमना निहत्य सुहृदां शत्रून् सतामप्यसौ
सप्ताष्टानवशिष्टतामिव गतानस्म्याव्रजन् गोव्रजम् ॥ इति ॥६४॥

"एवमेवोक्तं श्रीविष्णुपुराणे (५।२०)—'सन्देशैः साममधुरैः प्रेमगर्भैरगर्वितैः । रामेणाश्वासिता गोप्यः कृष्णस्यातिमनोहरैः ॥' इति ॥६५॥

और इस विषय में यह पत्र भी तुम्हारे लिए सुखदायक होगा । यथा—हे प्रिय गोपियो ! देखो, मैंने मथुरा प्रस्थान के समय जो बहुत सा सन्देश तुम्हारे पास भेजा था, वह मेरे पुनः व्रज में लौटने के वाक्यों से परिपूर्ण था । उसके बाद उस सन्देश से च्युत हो जाने के कारण, मैंने उद्धव को भी भेजा था । हाय ! धिक्कार है, उस विषय में विघ्नों के अधीनता की दशा से शंकावाला मैं तो अब सन्देश देकर तुम्हारे पास श्रीबलदेवजी को भेज रहा हूँ । किन्तु मेरी बुद्धि तुम्हारी बुद्धि से लज्जित हो रही है । अर्थात् अनेक विघ्न आनेपर भी लोकोत्तर प्रेम की पोषिका तुम्हारी बुद्धि के सामने मेरी बुद्धि संकुचित हो रही है ॥६२॥

और मैं यदि अपने को झूठा बना चुका तो मुझको धिक्कार है, किन्तु सज्जनों में श्रेष्ठ उद्धव को किस प्रकार वैसा झूठा कर दूँ ? हाय ! उस बात को भी रहने दो । किन्तु महामहिमावाली ख्याति को प्राप्त हुए अपने बड़े भाई श्रीबलदेवजी को उस प्रकार का झूठा कैसे बना दूँ ? अतएव हे प्रियतमा गोपियो ! मेरे सन्देश की वाणी अन्यथा, अर्थात् मिथ्या नहीं है ॥६३॥

कारण—मैं तुम्हारे निकट ही निवास करता हूँ, उसमें प्रमाण यही है कि—व्रज एवं द्वारका इन दोनों स्थानोंपर परस्पर स्फूर्ति हो रही है । तो भी यदि दोनों की पूर्ति न होती हो तो, मैं शीघ्रता से उत्कण्ठित मनवाला होकर, अपने मित्रों के एवं सन्तो के भी सात आठ बचे हुए से शत्रुओं को मारकर, गोकुल में आ ही रहा हूँ ॥६४॥

श्रीविष्णुपुराण में भी इसी प्रकार कहा है कि—श्रीकृष्ण के अत्यन्त मनोहर, सान्त्वना से मधुर, प्रेमभरे एवं गर्व से रहित सन्देशों के द्वारा, श्रीबलरामजी ने गोपियों को आश्वासन दिया था ॥६५॥

श्रीभागवतेऽप्येतदेव संक्षिप्याह, (भा० १०।६५।१६)—'सन्देशैर्हृदयङ्गमैः' इति ।।६६

"तास्तु तदेवमाकर्ण्य तत्प्रभावेण मध्ये मध्ये लब्धमिव कृष्णं निर्वर्ण्य दिनान्तरे लज्जा-सज्जन्मानसाः सज्जनीद्वारा तदिदं निवेदयामासुः। तदा भवद्वचनं निजाऽनुजाऽऽनयनरचनं प्रतीमः। "यदि भवन्निमित्तमद्यावधि रक्षितकौमारयोगाः सम्यगवधीरितभोगा रोगाऽऽक्तदेहा इव गेहान्तरेव वर्तमानाः काश्चिदस्मत्सङ्गिनीस्तन्वङ्गीरङ्गीकुरुथ; ताश्चास्माकं सन्निधावेव निधाय स्वानुजमानेतुं गच्छथेति ।।६७।।

"अथ रामः साभ्युपगममाह स्म,—'सम्प्रत्यकृत्यमपि तदिदं भवतीनां सान्त्वनं विदन्तः कथञ्चिद् यद्यपि करवाम, तथापि गुर्वनुज्ञामनुज्ञातुं कामयामहे ।।'६८।।

'तासु काश्चित् पुनश्च तथा निवेदयन्ति स्म,—'गुरवश्च ते जातमस्माकमन्यत्र परिणय-कलङ्कमपि शङ्कमानाः सम्प्रति नः कायवचोमनःसु कृष्णमात्रतृष्णानिर्बन्धमस्मदीहया सम्भाव्य सीदन्मनसः सन्ति। तदर्थं तु सुतरामेव भवन्तमर्थयिष्यन्ते ।।'६९।।

"अथ तथानुमत्य मत्यतिशयवति तस्मिन् व्रजेशवासमासन्ने राधिकादिकास्तु काश्चि-दुत्तरसाधिका विधाय तद्विधानाय श्रीव्रजपुरपुरन्ध्रीश्वरीमुरूकृत्य गुरूनपि तदर्थमर्थयितुमनु-वर्तयामासुः। ते च कश्चिद् द्वारीकृत्य तत्कृत्यं ययाचिरे ।।७०।।

श्रीमद्भागवत में भी संक्षेप करके यही कहा है कि—श्रीबलरामजी ने श्रीकृष्ण के हृदयङ्गम(संगति-युक्त), अर्थात् मनोहर सन्देशों से गोपियों को सान्त्वना दी थी ।।६६।।

श्रीकृष्णप्रेयसी उन गोपियों ने तो इस प्रकार के सन्देश सुनकर श्रीबलदेवजी के प्रभाव से बीच बीच में मानो प्राप्त हुए से श्रीकृष्ण को देखकर, दूसरे दिन लज्जा से युक्त मनवाली होकर, किसी सज्जन स्त्री के द्वारा श्रीबलदेवजी के प्रति यह निवेदन किया कि—हे बलदेवजी! देखो, अपने छोटे भाई को व्रज में लाने की रचनावाले आपके वचन में तो हम तभी विश्वास करेंगी कि, आपके निमित्त ही आजतक कुमारावस्था की स्थिरता की रक्षा करनेवालीं, भली प्रकार भोगों को ठुकरानेवालीं, रोगयुक्त देहवालों की तरह घर के भीतर ही रहनेवालीं, एवं हमारे सङ्गवालीं किन्हीं कृशाङ्गी गोपियों को, यदि आप अङ्गीकार कर लेते हैं, और उनको हमारे पास ही रखकर, अपने छोटे भाई को द्वारका से लाने को यदि चले जाओ, तो विश्वास कर सकती हैं ।।६७।।

उसके बाद श्रीबलरामजी उनके अङ्गीकारपूर्वक बोले—इस समय यद्यपि हम आप सबकी सान्त्वना को जानते हुए (इन गोपियों के अङ्गीकाररूप), न करने योग्य भी इस कार्य को किसी प्रकार कर सकते हैं, तथापि गुरुजनों की अनुमति को जानने की इच्छा कर रहे हैं ।।६८।।

उन गोपियों में से कुछ गोपियाँ पुनः उस प्रकार निवेदन करने लगीं कि—वे हमारे गुरुजन तो दूसरी जगह दूसरे गोपों के साथ हुए हमारे विवाहरूप कलङ्क की भी आशंका करते हुए, इस समय हमारे शरीर, वाणी, एवं मनों में हमारी चेष्टाओं के द्वारा, केवल श्रीकृष्ण की तृष्णा के आग्रह की सम्भावना करके दुःखित मनवाले हो रहे हैं। अतः श्रीकृष्ण को द्वारका से लाने के लिए तो आप से ही विशेष प्रार्थना करेंगे ।।६९।।

उसके बाद उस प्रकार की अनुमति देकर, विशाल बुद्धिवाले श्रीबलदेवजी जब श्रीव्रजराज के भवन में आ गये, तब श्रीराधिका आदि गोपियों ने तो कुछ गोपियों को उत्तरकार्य की साधक बनाकर,

"अथ तत्र चाम्रेडितवशादसाविदं निवेदयामास,—'यद्यपि सम्प्रति न साम्प्रतम्, तथापि यथाज्ञा परममङ्गलाचरणानाम् श्रीचरणानां, किन्तु भ्रातुरागमनपर्व यावन्न पर्व-पूर्वकमङ्गीकुर्मः।' अथ तेऽपि परममानन्दं विन्दमानास्तदेवाऽनुमुमुदिरे ॥७१॥

"अथ रामश्च ताः सर्वा गान्धर्वविधिना संदधानः श्रीमद्भाण्डीरवनखण्डमुत्तरेण वामे क्वचिदेकान्ताऽऽरामे स्वीचकार। यत्र च यमुनाख्या सा स्रवन्ती विदूरे स्रवन्ती सहस्रधा सिस्राविषता तेन जातधर्षा तस्य सन्निकर्षायाऽऽकर्षमुवाह। ततो व्रजतट-निकटं सङ्गतया तया व्रजजनश्च हर्षं वव्राज। कृष्यमाणा तु यमुना तं तुष्टाव" इति ॥७२॥

अथ स्निग्धकण्ठं प्रति कथायां सख्यः पप्रच्छुः,—"यमुना खलु द्वारकापतिं पतिमासाद्य द्वारकां गता। सेयं का?" ॥७३॥

स्निग्धकण्ठ उवाच,—"संज्ञाया इव तस्याश्छाया पयोनिधिजाया तत्प्रतिनिधितया तत्प्रवाहमधितिष्ठति। तथा चाऽऽकृष्टां यमुनां प्रति रामवचनं हरिवंशे—'एष ते सुभ्रु! सन्देशः कथितः सागराङ्गने!' इति ॥७४॥

श्रीबलराम के निमित्त कुमारी बन के बैठी हुई गोपियों के अङ्गीकार कराने के लिए,व्रज की पुरन्ध्रियों की स्वामिनी श्रीयशोदा को ही बड़ी बनाकर, गुरुजनों को भी उस कार्य के लिए श्रीबलदेवजी से प्रार्थना करने को अनुकूल बना लिया। उन गुरुजनों ने भी किसी व्यक्तिविशेष को दूत बनाकर, उन गोपियों के अङ्गीकाररूप कृत्य की श्रीबलदेव से प्रार्थना की ॥७०॥

उसके बाद वहाँपर दो तीनबार प्रार्थना करने से श्रीबलदेव ने यह निवेदन किया कि—यद्यपि इस समय उनको अङ्गीकार करना उचित नहीं है, तथापि परममङ्गलमय आचरणवाले आप सब पूज्यजनों की जैसी आज्ञा। किन्तु जबतक भैया श्रीकृष्ण का आगमन उत्सव होगा, तबतक तो हम महोत्सवपूर्वक अङ्गीकार नहीं करते हैं। अनन्तर उन गोपियों के मातापितारूप गुरुजनों ने भी परमानन्द पाकर,उसी वचन का अनुमोदन कर दिया ॥७१॥

अनन्तर श्रीबलरामजी ने उन सब गोपियों को गान्धर्वविधि के अनुसार पोषण करते हुए, शोभायमान भाण्डीरवन के विभाग के उत्तर की ओर रमणीय किसी एकान्त उपवन में अङ्गीकार कर लिया। जहाँपर श्रीयमुना नामक वह नदी बहुत दूर बहती हुई, हजार प्रकार से प्रवाहित करने की इच्छावाले श्रीबलदेव के द्वारा धर्षण को पाकर, श्रीबलदेव की निकटता के लिए आकर्षण (खिंचाव) को प्राप्त हो गई। अतः व्रज के तट के निकट में आई हुई उस यमुना के द्वारा व्रजवासीजन भी हर्ष को प्राप्त हो गये। श्रीबलराम के द्वारा खींची हुई यमुना उनकी स्तुति करने लग गई ॥७२॥

अनन्तर कथा में ललिता आदि सखियाँ स्निग्धकण्ठ के प्रति पूछने लगीं कि—क्योंजी! श्रीयमुनाजी तो श्रीद्वारकाधीश को पतिरूप में पाकर द्वारका में चली गई थी, तब यह यमुना कौन सी रही? ॥७३॥

स्निग्धकण्ठ बोला—जिस प्रकार सूर्य की प्रधानपत्नी संज्ञा थी, उसी की प्रतिनिधि छाया थी, उसी प्रकार श्रीकृष्ण की पटरानी श्रीयमुना की प्रतिनिधिरूप से समुद्रपत्नी यमुना उसके प्रवाह में स्थित है। देखो, हरिवंशपुराण में हल के द्वारा खींची हुई यमुना के प्रति श्रीबलराम का वचन, यथा—हे सुन्दर भौंवाली सागरपत्नि! मैंने तुम्हारे प्रति यह सन्देश कह दिया ॥७४॥

अथ कथकः स्वमनस्येवं विविवेच,—"तदिदं तावदस्तु; तदेवमेव श्रीभागवतप्रस्तुतं वस्तुतत्त्वमजानन्नेकस्तु निर्विवेकगणः समनन्तरप्रस्तूयमानसमानशब्दमात्रतस्तयोर्भ्रात्रोर्गोष्ठगतकलत्राण्यभिन्नान्येव प्रलपिष्यति, याः खलु श्रीकृष्णप्रेयस्यस्तादृगुन्मादवश्यतया भ्रश्यन्मतयोऽपि (भा० १०।६५।६) 'कच्चिदास्ते' इत्यनेन लब्धप्रामाण्यावस्थेन श्रीभागवतस्थेन स्वीयवद्येन पद्येन श्रीकृष्णस्य सुखादेव तदीयहितवर्गसुखादेव च निजसुखं श्रावितवत्यः ।।क।।

"याश्च (भा० १०।६५।१०) 'अपि वा स्मरते' इत्यर्धपद्येन स्वकर्तृकप्राक्तनतदीयसेवायास्तत्कर्तृकस्मरणमात्रेण कृतकृत्यतां विभावितवत्यः ।।ख।।

"याश्च (भा० १०।६५।११) 'मातरं पितरं भ्रातॄन्' इति पद्येन सम्प्रति तदर्थं मात्रादिकमपि त्यक्ततया विख्यापितवत्यः ।।ग।।

तच्च स्वयं सर्वज्यायसे तस्मा एव तज्ज्यायसे निवेद्य स्वेषां तदेकनिष्ठतां प्रतिष्ठापितवत्यः ।।घ।।

"याश्च (भा० १०।६५।११) 'ता नः सद्यः परित्यज्य' इति पद्यार्धेन स्वेषां तस्मिन् सौहृद्यमनुच्छिद्यमानं विज्ञापितवत्यः ।।ङ।।

उसके बाद कथावाचक अपने मन में इस प्रकार विचार करने लगा कि—"समुद्रपत्नी एवं प्रवाहरूप यमुनानदी की अधिष्ठात्रीदेवी श्रीकृष्ण की पटरानी श्रीयमुना हैं" इत्यादि सिद्धान्त के प्रसंग को तो अब रहने दो। अतएव इसी प्रकार श्रीमद्भागवत के द्वारा प्रस्तुत की हुई वस्तु के तत्त्व को यथार्थरूप से न जानता हुआ, एक अज्ञानियों का समूह तो अभी आगे प्रस्तुत किये गये 'गोपी' 'गोपी' इस प्रकार के समान शब्द मात्र के प्रयोग से,श्रीकृष्ण बलदेवरूप उन दोनों भाइयों की व्रज में रहनेवाली स्त्रियाँ अभिन्न ही होंगी, इस प्रकार के अनर्थक वचन कह देगा। क्योंकि श्रीकृष्णप्रेयसी जो गोपियाँ उस प्रकार के प्रेमोन्माद के वशीभूत होने के कारण, भ्रान्त मतिवाली होकर भी, प्रामाणिक अवस्था को प्राप्त करनेवाले एवं श्रीमद्भागवत में स्थित "कच्चिदास्ते सुखं कृष्णः पुरस्त्रीजनवल्लभः" अर्थात् हे बलरामजी ! कहिये, पुरस्त्रीजनों के प्यारे श्रीकृष्ण द्वारका में सुख से तो हैं ? इस प्रकार के अपने वाद के विषयरूप श्लोक से श्रीकृष्ण के सुख से ही, एवं उनके हितैषीजनवर्ग के सुख से ही, अपने सुख को श्रीबलराम के प्रति सुना चुकी हैं ।।क।।

और जो गोपियाँ "अपि वा स्मरतेऽस्माकमनुसेवां महाभुजः" अर्थात् वे महाबाहु श्रीकृष्ण हमारी आनुगत्य की सेवा को भी स्मरण करते हैं क्या ? इस आधे श्लोक के द्वारा अपने द्वारा की गई पहली उनकी सेवा से श्रीकृष्ण के स्मरणमात्र से अपनी कृतकृत्यता को विचार चुकी हैं ।।ख।।

और जो गोपियाँ "मातरं पितरं भ्रातॄन्" अर्थात् हे बलदेवजी ! हमने जिन श्रीकृष्ण के निमित्त अपनी माता एवं पिता भ्राता आदि भी त्याग दिये, इत्यादि श्लोक के द्वारा इस समय श्रीकृष्ण के लिए माता आदि को भी त्यागे हुएरूप से प्रसिद्ध कर चुकी हैं ।।ग।।

उस बात को भी सर्वश्रेष्ठ एवं श्रीकृष्ण के बड़े भैया उन श्रीबलराम के प्रति ही स्वयं निवेदन करके "हम सब केवल श्रीकृष्ण में ही निष्ठावाली हैं" इस प्रकार अपनी निष्ठा को प्रतिष्ठापित कर चुकी हैं ।।घ।।

और जो गोपियाँ "ता नः सद्यः परित्यज्य" अर्थात् "वे निठुर श्रीकृष्ण हम सबको तत्काल छोड़कर चले गये" इस आधे श्लोक के द्वारा अपनी पक्षवाली सब गोपियों की मित्रता को श्रीकृष्ण में सर्वदा न टूटनेवाली विज्ञापित कर चुकी हैं ।।ङ।।

"तत्र च (भा० १०।६५।१२) 'कथं नु तादृशम्' इति पद्यार्धेन स्वीयभावातिरेकस्य तदेकपरताकैमुत्याय स्त्र्यन्तरभावमपि प्रमापितवत्यः ॥च॥

"याश्च (भा० १०।६५।१३) 'कथं नु गृह्णन्ति' इति पद्यार्धान्तरेण तस्यानवस्थित-मनस्तां कृतघातितावस्थामपि स्थापितां विधाय स्वेषां तदव्यभिचारिचरित्रतां निश्चितवत्यः ॥छ॥

"तत्र च या (भा० १०।६५।१३) 'गृह्णन्ति वै' इति पद्यार्धान्तरेण स्वेषां तदेकहृत-चित्ततां सूचितवत्यः ॥ज॥

"याश्च (भा० १०।६५।१४) 'किं नस्तत्कथया गोप्यः' इत्युक्त्या महातद्विरहा-सहिष्णुतायुक्त्या स्वमनःकठिनीकरणाय प्रवृत्तप्रायतया व्यवसितवत्यः ॥झ॥

"ताः खलु (भा० १०।६५।१५) 'इति प्रहसितम्' इति मुनीन्द्रवचनेन सर्वसुखरचनेन प्रत्युत तदीयस्नेहवारिधिनिमग्नतया जवाद् द्रवाङ्गतां गता इत्यवगतास्तस्मादन्यथासम्भावनं यथाजातानामेव सम्भाव्यते ॥ञ॥

और उस में भी "कथं नु तादृशं" अर्थात् श्रीकृष्ण के रासलीला के समय कहे गये वचनोंपर कौन स्त्री किस प्रकार विश्वास न करेंगी ? अपितु, करेंगी ही। इस आधे श्लोक के द्वारा गोपियों ने यह भी प्रमाणित कर दिया कि, श्रीकृष्ण के ऊपर अपने भाव की अधिकता के सम्बन्ध में केवल श्रीकृष्णतत्परता है, इसमें कहना ही क्या है ? इस कैमुत्यन्याय के लिए श्रीकृष्ण का अन्य स्त्रियों में भाव हो सकता है, किन्तु हमारा भाव दूसरे में नहीं हो सकता ॥च॥

एवं जो गोपियाँ "कथं नु गृह्णन्त्यनवस्थितात्मनो वचः कृतघ्नस्य बुधाः पुरस्त्रियः" अर्थात् अस्थिर चित्तवाले एवं कृतघ्न श्रीकृष्ण के वचन को विदुषी वे पुर की स्त्रियाँ किस प्रकार ग्रहण कर लेती हैं ? इस दूसरे आधे श्लोक के द्वारा श्रीकृष्ण के चित्त के अस्थिर भाव को एवं कृतघ्नता की अवस्था को भी स्थापित करके, श्रीकृष्ण के ऊपर अपने अटल चरित्र के भाव को निश्चित कर चुकी हैं ॥छ॥

और उसमें भी जो गोपियाँ "गृह्णन्ति वै चित्रकथस्य सुन्दरस्मितावलोकोच्छ्वसितस्मरातुराः" अर्थात् विचित्र बातें बनानेवाले श्रीकृष्ण के सुन्दर मन्दहास्य के दर्शन से, बढ़ी हुई कामना से आतुर हुई पुर की स्त्रियाँ निश्चय ही उनके वचन को ग्रहण कर लेती हैं। इस श्लोक के आधे भाग के द्वारा केवल श्रीकृष्ण के द्वारा ही अपने चित्त के हरण के भाव को सूचित कर चुकी हैं ॥ज॥

और जो गोपियाँ "किं नस्तत्कथया गोप्यः कथाः कथयतापराः । यात्यस्माभिर्विना कालो यदि तस्य तथैव नः" अर्थात् अरी गोपियो ! देखो, श्रीकृष्ण की कथा से हमें क्या प्रयोजन है ? अतः दूसरी कथाएँ कहो। यदि हम सबके बिना श्रीकृष्ण का समय बीत रहा है, तो उसी प्रकार उनके बिना हमारा भी समय बीत सकता है। हाँ, इतना भेद तो अवश्य है कि, उनका समय सुख से कटेगा, एवं हमारा दुःख से कटेगा। इस उक्ति के द्वारा तो श्रीकृष्ण के महान् विरह की असहनशीलता की युक्ति से अपने मन को कठिन करने के लिए प्रायः प्रवृत्त होकर, निश्चित कर चुकी हैं ॥झ॥

निश्चय ही वे गोपियाँ "इति प्रहसितं शौरेर्जल्पितं चारु वीक्षितम् । गतिं प्रेमपरिष्वङ्गं स्मरन्त्यो रुरुदुः स्त्रियः" अर्थात् श्रीकृष्ण का हँसना, बोलना, मनोहर देखना, चलना, प्रेमपूर्वक मिलना इत्यादि को स्मरण करती हुई रोने लग गईं। इस प्रकार श्रीशुकदेवजी के सर्वसुखजनक वचन के द्वारा तो बल्कि यह जाना जाता है कि, वे गोपियाँ श्रीकृष्ण के स्नेहरूप समुद्र में गोता लगाकर, शीघ्र ही गीले शरीरवाली हो

"तदेवं तासां तदेकपरता कुरुक्षेत्रयात्रायामपि संवदिष्यते। (भा० १०।८२।४०) 'गोप्यश्च कृष्णमुपलभ्य चिरादभीष्टम्' इत्यारभ्य (भा० १०।८२।४६) 'आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दम्' इत्यन्तेन श्रीभगवदुद्धवसंवादे च (भा० ११।१२।१०) 'रामेण सार्धं मथुरां प्रणीते, श्वाफल्किना मय्यनुरक्तचित्ताः' इत्यारभ्य (भा० ११।१२।१३) 'मत्कामा रमणं जारम्' इत्याद्यन्तेन किञ्च, (भा० १०।६५।१६) 'सङ्कर्षणस्ताः कृष्णस्य सन्देशैर्हृदयङ्गमैः। सान्त्वयामास भगवान्नानानुनयकोविदः ॥' इत्यत्र तासां सान्त्वने कृष्णसन्देशानामेव साधकतमता मता, यतस्तेषामेव हृदयङ्गमता सम्मता। 'नानानुनयकोविदः' इत्यस्य तदधिकारिविशेषणस्य तु गौणताऽभिमता। यत्र भगवानपि नानानुनयकोविदः सन्निति ततोऽपि भगवत्ताया गौणताधिगता, तस्मादन्यथाकथा मूर्खतामात्रमित्यभियुक्ता एवात्र प्रामाण्यपात्रम् ॥७५॥

गई हैं। इसलिए श्रीबलदेव के साथ वार्तालाप करनेवाली, श्रीकृष्णप्रेयसी गोपियों के विषय में अन्यथा सम्भावना, अर्थात् श्रीबलदेवजी के साथ क्रीडा की सम्भावना यथाजात जनों को, अर्थात् मूर्खों को ही सम्भावित हो सकती है। (श्रीमद्भागवत १०।६५।६ में "गोप्यो हसन्त्यः पप्रच्छुः" गोपियों ने हँसते हुए ही श्रीबलदेवजी से श्रीकृष्ण के विषय में पूछा। और "रामः क्षपासु भगवान् गोपीनां रतिमावहन्" भा० १०।६५।१७ भगवान् श्रीबलरामजी रात्रियों में गोपियों की रति को उत्पन्न करते हुए विहार करते थे। इन दोनों स्थलों में एक ही प्रकार के गोपीशब्द को देखकर श्रीमद्भागवत तत्त्वानभिज्ञ मूर्ख लोगों को यह भ्रम हो जाता है कि, श्रीकृष्णप्रिया गोपियों के साथ ही बलरामजी ने विहार किया। किन्तु श्रीमद्भागवत में तो राधा, एवं यशोदा इत्यादि सभी के लिए गोपीशब्द का ही प्रयोग हुआ है। अतः उनमें से कोई पत्नी है, कोई माता है; कोई कृष्णप्रिया है, तो कोई बलदेवप्रिया है, प्रसङ्ग के अनुसार उन उनको समझ लेना चाहिये) ॥७४॥

अतएव इस प्रकार श्रीकृष्णप्रेयसी गोपियों की केवल श्रीकृष्णविषयक तत्परता को "गोपियाँ बहुत दिनों के बाद अपने अभीष्ट श्रीकृष्ण को पाकर" इस स्थान से लेकर "गोपियाँ श्रीकृष्ण से बोलीं कि—हे पद्मनाभ! भगवन्! आपका जो पदारविन्द अगाध बोधवाले योगेश्वरों के द्वारा हृदय में चिन्तन करने योग्य है, एवं संसाररूप कूप में पड़े हुए जीवों के उद्धार का अवलम्बरूप है, वही आपका पदारविन्द हमारे हृदय में सदैव प्रगट होता रहे, यही प्रार्थना है" यहाँतक के वाक्य से एवं श्रीकृष्ण-उद्धव के संवाद में भी "अक्रूर के द्वारा श्रीबलरामजी के साथ मैं जब मथुरा में पहुँचा दिया था, तब उन गोपियों का चित्त मुझपर अनुरक्त था" यहाँ से लेकर "मेरी प्राप्ति की कामनावाली गोपियाँ मुझको उपपति समझ कर" मेरे स्वरूप को न पहचान कर, सत्सङ्ग के प्रभाव से मुझ परब्रह्म को प्राप्त हो गई" इस वाक्यपर्यन्त भली प्रकार कहेंगे। किंच "अनेक प्रकार की अनुनय विनय में चतुर श्रीबलदेवजी ने श्रीकृष्ण के हृदयङ्गम सन्देशों के द्वारा उन गोपियों को सान्त्वना दे दी" इस स्थानपर श्रीकृष्णप्रिया उन गोपियों के सान्त्वना के विषय में श्रीकृष्ण के सन्देशों की ही साधकतमता, अर्थात् सान्त्वनारूप कार्य की सिद्धि में प्रकृष्ट उपकारकता मानी गई है। कारण—श्रीकृष्ण के सन्देशों की ही हृदयङ्गमता विज्ञजन सम्मत है। और उस सन्देश को देने के अधिकारी श्रीबलदेवजी के "नानानुनयकोविदः" इस विशेषण की तो गौणता ही अभिमत है। तात्पर्य—श्रीकृष्ण ही प्रधान सान्त्वना देनेवाले हैं, श्रीबलदेव तो उनके सन्देश को लाने के कारण अप्रधान हैं। और जिस सान्त्वनाकार्य में श्रीबलरामजी भगवान् होकर भी, अनेक प्रकार के अनुनय में चतुर होकर, इस कारण से भी श्रीकृष्ण की अपेक्षा श्रीबलराम की भगवत्ता की गौणता जानी गई है। इसलिए अन्यथा

"न च गोपीशब्दसाधारण्यादमूरन्यासु न गण्याः; (भा० १०।५।९) 'गोप्यश्चाकर्ण्य मुदिता यशोदायाः सुतोद्भवम्' इति; (भा० १०।६।२१) 'गोप्यः संस्पृष्टसलिलाः' इति; तथात्र च (भा० १०।६५।२) 'परिष्वक्तश्चिरोत्कण्ठैर्गोपैर्गोपीभिरेव च' इत्यादिषु, (भा १०।९।२०) 'नेमं विरिञ्चो न भवः' इत्यादिषु च तन्मातृप्रभृतिष्वपि तच्छब्दः सर्वत्राप्यतिप्रसिद्धः; न चाऽव्यवहितपाठतया तावत् ता एवाऽवगताः । यतः (भा० ५।११।१२) 'क्षेत्रज्ञ एता मनसो विभूतीः' इति, (भा० ५।११।१३) 'क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः पुराणः' इत्यादिषु लब्धानन्तर्यनिबन्धशालिषु पञ्चमस्कन्धप्रमुखवचनालिषु क्षेत्रज्ञादिशब्दानां क्रमतः पृथगात्मपरमात्मता व्याकृता । तथापि यदि द्वयोरपि भगवत्त्वान्न भेद इत्यस्मान्न दोष इतीदमन्ये मन्येरन्, तर्हि द्वारकागततद्दारा अपि तद्दोषारोपास्पदानि जायेरन् । सोऽयं श्रीबलदेवस्तु नतरामुद्धववन्नतमां श्रीकृष्णवच्च तेषां सान्त्वनार्थमपि ब्रह्मत्वेनेश्वरत्वेन चाभेदवादः, स्वस्य न तत्र समञ्जस इति मत्वा क्वचिदपि न तं प्रत्याकृतवान् अतः स प्रत्याहृतः । तदप्यस्तु, मासद्वयमजस्रमपराणामपि परदाराणां सहस्रसंख्यया सह विहारः स खलु घस्रपतिजातस्रवन्ती-

---

कहना, अर्थात् श्रीकृष्णप्रिया एवं श्रीबलदेवप्रिया गोपियों के भेद को न जानकर, सभी गोपियों को दोनों की प्रिया कहना, मूर्खता मात्र है। इस विषय में सर्वशास्त्र तत्त्ववेत्ता श्रीधरस्वामी एवं श्रीरूप-सनातन आदि मेरे गुरुजन ही प्रामाणिकता के पात्र हैं ।।७५।।

किंच गोपीशब्द के सामान्य प्रयोग से श्रीकृष्णप्रिया वे गोपियाँ अन्य गोपियों में गिनने योग्य नहीं हैं। कारण—"गोपियाँ श्रीयशोदा के पुत्र का जन्म सुनकर आनन्दित हो गई" एवं श्रीकृष्ण के अंग की रक्षा के समय "गोपियाँ जल का स्पर्श कर एवं आचमन करके रक्षा करने लगीं" इत्यादि। उसी प्रकार इस प्रकरण में भी "बहुत दिन से उत्कण्ठित हुए गोपों ने एवं गोपियों ने श्रीबलदेव का आलिङ्गन किया" इत्यादि वाक्यों में एवं "गोपी (यशोदा) ने जो श्रीकृष्ण की प्रसन्नता प्राप्त की थी, वह प्रसन्नता ब्रह्मा, शिव, एवं लक्ष्मी को भी न मिली" इत्यादि वाक्यों में श्रीकृष्ण की माता आदियों में भी गोपीशब्द सर्वत्र अत्यन्त प्रसिद्ध है। और व्यवधानरहित पाठ होने के कारण, केवल श्रीकृष्णप्रिया गोपियाँ ही नहीं समझी गई हैं। कारण—"क्षेत्रज्ञ एता मनसो विभूतीः" एवं "क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः पुराणः" इत्यादि व्यवधानरहित निबन्ध में सुशोभित श्रीमद्भागवत के पंचमस्कन्ध की प्रमुख वचनश्रेणी में क्षेत्रज्ञ आदि शब्दों की क्रमशः पृथक् पृथक् आत्मा एवं परमात्मापन की व्याख्या की गई है। अर्थात् पहले श्लोक में क्षेत्रज्ञशब्द का जीवात्मा, एवं दूसरे श्लोक में क्षेत्रज्ञशब्द का परमात्मा अर्थ किया गया है। तथापि यदि "श्रीकृष्ण बलदेव" इन दोनों के ही भगवद्भाव से, अर्थात् दोनों ही भगवान् हैं इस कारण दोनों में कुछ भेद नहीं है, अतः कोई दोष नहीं है। इस बात को यदि दूसरे व्याख्याताजन मानेंगे तो द्वारकापुरी में विद्यमान श्रीकृष्ण की पत्नियाँ भी बलदेव की पत्नीरूप दोष की स्थान हो जायँगी। और इन श्रीबलदेवजी ने तो न तो उद्धव की तरह अधिकतर होकर, एवं न श्रीकृष्ण की तरह अधिकतम होकर, उन कृष्णप्रिया गोपियों की सान्त्वना के लिए भी ब्रह्मभाव से अथवा ईश्वरभाव से अपना अभेदवाद, अर्थात् ऐक्यवाद उन विरहातुर गोपियों के समझाने विषय में युक्तियुक्त नहीं है। तात्पर्य—तत्त्वनिरूपण में श्रीकृष्ण बलदेव एकतत्त्व होकर भी, लीलातत्त्व में उनको एक मानना युक्तियुक्त नहीं है। इस प्रकार मानकर किसी स्थानपर भी उस अभेदवाद का खण्डन नहीं किया है। अर्थात् लीलाप्रसङ्ग में श्रीकृष्ण बलदेव का अभेदवाद स्वीकार न करके भी

कृष्टिपर्यन्तधृष्टिव्यवहारतः प्रसृतप्रचारः श्रीमन्नन्दाद्यानामानन्दनायाऽऽगतस्य मन्दतां विन्दमानः कथमानन्दं दधीत ? तस्मात् कृतममर्यादावारनार्या मर्यादास्त्तरेण विवादीकृततद्दुर्वादाऽनुवादचर्या-विस्तरेण ॥"७६॥

अथ कथकः सभासुखप्रथकं समापनमाह,—

"आस्तां पूर्वकथा सेयमपूर्वा बत मृग्यताम् ।
संयोगेऽपि वियोगाऽऽभप्रतीतिः पूतनारिपोः ॥"७७॥

तदेवमवधाने जाते, जाते च सर्वसुखजाते सर्वस्मिन्नपि यथास्वमावासं याते, श्रीकृष्णराधे च लब्धशाते मोहनमन्दिराय प्रयाते इति ॥७८॥

इति श्रीश्रीमदुत्तरगोपालचम्पूमनु श्रीरामव्रजागमकामनापूर्णं नाम विंशं पूरणम् ॥२०॥

तत्त्वरूप में स्वीकृत है। यह सिद्धान्त भी ठीक है, तथापि चैत्र वैशाख इन दो महीनोंतक निरन्तर श्रीकृष्णप्रेयसी गोपियों से भिन्न दूसरी गोपाङ्गनाओं की सहस्र संख्या के साथ श्रीबलदेव का जो विहार हुआ, वह विहार सूर्यपुत्री यमुना के आकर्षणपर्यन्त धृष्टता के व्यवहार से विस्तृत प्रचारवाला होकर भी, श्रीमान् नन्द आदिकों को आनन्दित करने के लिए व्रज में आनेवाले बलदेवजी के निकट मन्दता को प्राप्त करता हुआ, किस प्रकार आनन्द को पुष्ट कर सकता है ? इसलिए अमर्यादारूप वाराङ्गना (वेश्या) की मर्यादा के आस्तरणरूप एवं विवादियों के द्वारा किये गये (श्रीकृष्णप्रिया गोपियों के साथ श्रीबलदेव के विहाररूप) उस दुर्वाद के अनुवाद की चर्या के विस्तार से कोई प्रयोजन नहीं है ॥७६॥

अनन्तर कथावाचक सभा के सुख का विस्तारक प्रसङ्ग की समाप्ति का द्योतक वचन बोला—हे सभासदो ! देखो, पहले बीती हुई इस कथा को तो दूर रहने दो। किन्तु हर्ष की बात तो यह है कि, आप सब अद्भुत कथा का अन्वेषण करें। क्योंकि इस गोलोक में तो श्रीकृष्ण के संयोग में भी वियोग के समान प्रतीति हो रही है ॥७७॥

अतएव इस प्रकार सभी के सावधान हो जानेपर, समस्त सुखसमूह के हो जानेपर, एवं सभी श्रोताओं के यथायोग्य अपने अपने निवासस्थानपर चले जानेपर, श्रीराधा-कृष्ण भी सुख को पाकर, अपने मोहनमन्दिर के लिए चल दिये ॥७८॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रिविरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीमदुत्तरगोपालचम्पूकाव्ये श्रीबलराम–व्रजागमनकामनापूरणं
विंशं पूरणं सम्पूर्णम् ॥२०॥

अथैकविंशं पूरणम्

पौण्ड्रकाद्यर्थं श्रीबलदेव-द्वारकागमनम्

अन्येद्युस्तु व्रजराजसदसि व्रजयुवराजवदनशशिमहसि मधुकण्ठ उवाच,—"तदेवं मधुमाधवमपि व्रजवासमध्यवस्यतः पश्यतां शृण्वतां सुखं व्यस्यतस्तत्र व्रजेऽपि कामपालतया सर्वपर्वाऽऽरामस्य रामस्य द्वारकागमनायाऽनुज्ञापनायामनुज्ञायामपि प्रसङ्गमसङ्गतायां पूर्वपूर्ववद् गतागतमाचरतसु सन्देशं हरत्सु कौचिदाजग्मतुरूचतुश्च,—'तत्र पौण्ड्रकः खलु खलतामारभ्य द्रुतमसभ्यः काशी-मण्डलाधिपेन सार्धं खण्डिततामवाप' इति ॥१॥

"अथ व्रजेश्वरादिषु लब्धसम्भ्रमादिषु राम उवाच,—'कथ्यतां कथं कथम्' इति ॥२॥

"दूतावूचतुः,—'भवत्यत्रागते कुमतेस्तस्य करूषाधिपतेः पुरुष एकः स्रस्तधर्मा सुधर्मा-सदसि सर्वयादवकृतोपसदन-श्रीकृष्णपदसीमनि निराकृतिरपि न निराकृतिं लभेतेति विप्रतया दौवारिकाऽनिवारितः समासददवदच्च,—अयमहमस्मि सर्ववेदविदादिभिः कृतसेवेन प्रत्यगात्मना वासुदेवेन प्रस्थापित इति ॥३॥

इक्कीसवाँ पूरण

पौण्ड्रक आदि के निमित्त बलदेवजी का द्वारका में आना

इस इक्कीसवें पूरण में पौण्ड्रकवासुदेव आदि के साथ श्रीकृष्ण के युद्ध को दूतों के मुख से सुनकर श्रीबलरामजी का पुनः द्वारका में जाना वर्णित होगा। दूसरे दिन तो श्रीकृष्ण के मुखचन्द्र के तेज से युक्त श्रीव्रजराज की सभा में मधुकण्ठ बोला—अतएव पूर्वोक्त प्रकार से चैत्र एवं वैशाख में भी व्रज में निवास करते हुए, तथा देखने व सुननेवाले जनों के सुख का विस्तार करते हुए, और उस व्रज में भी सभी की अभिलाषा पूर्ण करने के कारण, सभी उत्सवों के उपवन, अर्थात् आधारस्वरूप श्रीबलरामजी की द्वारका जाने के लिए अनुज्ञा प्रार्थना के विषय में, एवं व्रजवासियों की अनुमति देने के विषय में, प्रसङ्ग के असङ्गत होनेपर भी, पहले पहले की भाँति, यातायात करनेवाले दूतों में से कोई दो दूत व्रज में आये और बोले कि—वहाँपर वह असभ्य पौण्ड्रकवासुदेव अपनी खलता को आरम्भ करके काशीराज के सहित, श्रीकृष्ण के द्वारा शीघ्र ही खण्डितभाव को प्राप्त हो गया, अर्थात् मारा गया ॥१॥

अनन्तर श्रीव्रजराज आदि व्रजवासी जब सम्भ्रम आदि को प्राप्त हो गये, तब श्रीबलराम बोले—कहिये, किस किस प्रकार खण्डित हो गया ? ॥२॥

दोनों दूत बोले—आपके यहाँ चले आनेपर करूषदेश के राजा कुमति उस पौण्ड्रक का कोई एक पुरुष धर्म को त्यागकर, सुधर्मा नामक सभा में सभी यादव जिनके निकट गमन कर चुके हैं, उन श्रीकृष्ण के चरणों के निकट निराकृतिः (स्वाध्यायरहित) होकर भी, निराकृति (निवारण) को नहीं प्राप्त कर सकता। इस कारण वह पुरुष ब्राह्मण होने के नाते, द्वारपालों के द्वारा निवारित न होकर वहाँ पहुँच गया एवं बोला कि—देखो, भाइयो ! यह मैं सर्ववेदवेत्ता आदिकों से सेवित अन्तर्यामीस्वरूप वासुदेव के द्वारा भेजा गया हूँ ॥३॥

'अथ सर्वे तमन्यादृशं परामृशन्तः सहासविस्मयमूचुः,—प्रतिकूलस्वभावतया तस्य प्रत्यगात्मता चेज्ज्ञातुं शक्यते, परमात्मतया चेर्त्तहि कथं ज्ञातुं शक्यताम् ? तस्माद् विशद्यताम् ॥४॥

'विप्रस्त्वन्तः सरोषमुवाच,—अहो ! तमपि न जानीथ:, यः सम्प्रति पौण्ड्रकतयाऽवतीर्ण इति पण्डितैरुद्दण्डतया निर्णीतः ॥'५॥

"रामः सारुणाक्षहासमाह स्म,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—'ततश्च सभासद्विप्रा ऊचुः,—वाडव ! ते बाढं साक्षादेव सुराचार्याः कथमन्यथा कथयेयुः ? तत्र च ये दोषाद्यन्ताभिनिर्मुक्ताभ्युदितास्ते पुनः किमुत ? यतः सर्वथा परिवेत्तार एव' इति ॥६॥

'श्रीकृष्णस्तु तं धृष्णजं विवदमानं विप्रं वचसा प्रणमन्नुवाच,—भवतु सन्दिष्टं विनिविष्टं क्रियताम् ॥७॥

'विप्र उवाच,—सन्दिष्टमिति किमुच्यते, श्रीभगवद्भिस्तैरिदमादिष्टम्, (भा० १०।६६।५-६)—

'वासुदेवोऽवतीर्णोऽहमेक एव न चापरः ।
भूतानामनुकम्पार्थं त्वं तु मिथ्याऽभिधां त्यज ॥

उसके बाद सभी सभासद् उस पौण्ड्रकवासुदेव को कल्पित रूपधारी विचारते हुए हास्य एवं विस्मय के सहित बोले—प्रतिकूल स्वभाव होकर भी जब उस पौण्ड्रक का अन्तर्यामीभाव जाना जा सकता है, तब परमात्मा के भाव से किस प्रकार जाना जा सकेगा ? अतः इस बात को स्पष्ट प्रकाशित कर दीजिये ॥४॥

वह ब्राह्मण तो अन्तःकरण में कुपित होकर क्रोधपूर्वक बोला—अहो ! आश्चर्य ! तुम सब उसको भी नहीं जानते हो,जो कि पौण्ड्रक के रूप से अवतीर्ण हुआ है,अतः पण्डितों ने जिसको उद्दण्डरूपसे निर्णीत कर दिया है ॥५॥

श्रीबलराम लाल लाल नेत्र करके हास्यपूर्वक बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उसके बाद सुधर्मासभा में बैठे हुए ब्राह्मण बोले—हे वाडव ! (हे ब्राह्मण ! पक्षे—हे अग्ने !) देखो, पौण्ड्रक को सबसे ऊँचा निर्णय करनेवाले वे पण्डित सत्य ही साक्षात् देवगुरु बृहस्पतिस्वरूप हैं, अतः अन्यथा कैसे कह सकते हैं ? और उन पण्डितों में भी जो पण्डित निर्दोष सूर्य के समान प्रकाशित हैं, वे तो फिर दूसरी प्रकार कैसे कह सकते हैं ? क्योंकि वे सर्वथा सर्वतोभाव से ज्ञाता ही हैं। निन्दापक्षे—"सुप्ते यस्मिन्नस्तमेति सुप्ते यस्मिन्नुदेति च। अंशुमानभिनिर्मुक्ताभ्युदितौ तौ यथाक्रमम् ।" अर्थात् जिस व्यक्ति के सोते रहनेपर सूर्य अस्त हो जाता है, एवं जिसके सोते हुए सूर्य उदय हो जाता है, वे दोनों व्यक्ति क्रमशः अभिनिर्मुक्त एवं अभ्युदित कहे जाते हैं। तात्पर्य—ऐसे व्यक्ति तत्त्व का क्या निर्णय करेंगे ? कारण—वे तुम्हारे यहाँ के पण्डित परिवेत्ता ही हैं, अर्थात् बड़े भाई के अविवाहित रहते हुए स्वयं विवाहित होने के कारण परिवेत्तादोष से दूषित ही हैं "परिवेत्ताऽनुजोऽनूढे ज्येष्ठे दारपरिग्रहात्" ॥६॥

श्रीकृष्ण तो उस धृष्ट (ढीठ) एवं विवाद करते हुए ब्राह्मण के प्रति,वचन से प्रणाम करते हुए बोले-अच्छा, जो हो। अपने सन्देश को प्रस्तुत कीजिये ॥७॥

ब्राह्मण बोला—"सन्देश दीजिये" ऐसा क्यों कहते हैं ? क्योंकि उन श्रीमान् पौण्ड्रक भगवान् ने यह आदेश दिया है कि—मैं अकेला ही वासुदेव अवतीर्ण हुआ हूँ, दूसरा कोई वासुदेव नहीं है। मैं प्राणियोंपर अनुकम्पा करने को प्रगट हुआ हूँ, अतः तुम अपने मिथ्या वासुदेव नाम को त्याग दो। और हे श्रीकृष्ण !

यानि त्वमस्मच्चिह्नानि मौढ्याद्धरसि सात्वत ! ।
त्यक्त्वैहि मां त्वं शरणं नो चेद् देहि ममाऽऽहवम् ।।' इति ।।८।।

''रामः सहस्तपेषं ग्रस्तमुवाच,—'ततस्ततः ?' ''दूतावूचतुः,—'ततश्च सर्व एवाऽखर्वमुग्रसेनाऽग्रगण्यस्ते तमुग्रम्पश्यतया पश्यन्तः साट्टहासभङ्गमङ्गं घट्टयामासुः ।।९।।

'श्रीकृष्णः पुनरिदमुवाच,—प्रागौत्पत्तिकीं वासुदेवतामापन्नः, कथमहमपि तामभिधां दूरे विधातुं शक्नोमि ? ।।१०।।

'अत्र तु केचिदिदं सोत्प्रासमूचुः,—क इदं विदन्तु ? भवेदपि साम्प्रतं तस्यापि तथात्वमिति ।।११।।

'श्रीकृष्णस्तु तान् सप्रणयरोषं स्तम्भयन् सलज्जस्मितमासज्जतीं स्ववाचं पूरयामास—अये ! हासरसिकाः ! परिहासस्त्यज्यताम् । विप्रवर ! श्रूयताम् । तस्य चिह्नानि तु तत्राऽनपह्नवतया वर्तन्त एव । यदि च तदीयानि सहजानि कथञ्चिन्मयापहृतानि तानि तु तस्य कृत्रिमाणि, तदा पूर्वेषामपि कृत्रिमता प्रसज्येत । भवत्वन्यथा वा, तथापि तस्मिन् सत्यं प्रस्थापयानि तानि, किन्तु स्वहस्तादेवार्पणेन । स तु साक्षाद्भूय स्वयमेव तानीमानि

तू मूढता के कारण हमारे श्रीवत्स, शंख, चक्र आदि जिन चिह्नों को धारण किये हुए है, उन सबको छोड़कर तू मेरी शरण में आजा। यदि ऐसा नहीं करता है तो, मेरे लिए युद्ध का दान कर, अर्थात् मेरे साथ युद्ध कर ।।८।।

श्रीबलराम दोनों हाथों को पीसकर ग्रस्तं (अधूरे वचन) बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उसके बाद श्रीउग्रसेन आदि वे सब सभासद् उग्रदृष्टि के सहित उस ब्राह्मण को विस्तारपूर्वक देखते हुए, कुटिल अट्टहास के सहित अङ्ग चलाने लगे ।।९।।

श्रीकृष्ण पुनः यह बोले कि—पहले स्वभावसिद्ध वासुदेव नाम को प्राप्त करनेवाला मैं भी, अब उस वासुदेव नाम को किस प्रकार दूर कर सकता हूँ ? ।।१०।।

इस विषय में कुछ सभासद् तो हँसी की बात करते हुए यह बोले—इस समय उस पौण्ड्रक का भी वसुदेवजी से उत्पन्न होना, या आपके समान शंख चक्रादि चिह्न धारण करना हो भी सकता है, इस रहस्य को कौन जान सकता है ? ।।११।।

श्रीकृष्ण ने तो प्रणयकोपपूर्वक उनको रोककर लज्जा के सहित मृदुहास्य को प्राप्त अपनी वाणी को पूरण कर दिया कि—हे हास्यरसिक सभासदो ! परिहास को त्याग दो। हे विप्रवर ! आप मेरे वचन श्रवण करें। उस पौण्ड्रक के वे शंख चक्रादि चिह्न तो उसके अंग में प्रगटरूप से विद्यमान हैं ही। और यदि उसके स्वभावसिद्ध चिह्न किसी प्रकार मैंने चुरा लिए हैं, एवं उसके पास अब जो चिह्न हैं वे कृत्रिम (बनावटी) हैं, तब तो मेरे द्वारा चुराये हुए पहले चिह्नों की भी कृत्रिमता उपस्थित हो जायगी। अथवा दूसरी प्रकार से भी हो, अर्थात् वे चिह्न अकृत्रिम भी हों, तो भी मैं सत्य ही उन चिह्नों को उस पौण्ड्रक के निकट भेज देता हूँ, किन्तु अपने हाथों से अर्पण करने से ही अच्छा होगा। वह पौण्ड्रक भी साक्षात् प्रगट होकर, उन शंख चक्रादि इन चिह्नों को सावधान होकर स्वयं ही ग्रहण करे, एवं मेरे सम्मुख गमन करने के लिए आग्रह भी प्रगट करे तो भला हो। और जिस आग्रह में वह पौण्ड्रक भूमि लाभ के कारण, अर्थात् हमको मारकर हमारी भूमि की प्राप्ति के कारण, श्लेषपक्ष में—भूमि लाभ से, अर्थात् स्वयं भूमि में गिर

सावधानतया गृह्णीयादभिमुखगमनाय चाऽगृह्णीयात्; यत्र भूमिलाभेन क्षितिवर्धनभावेन चाश्वासवह महानिद्रामप्यवाप्स्यति' इति ॥१२॥

"रामः सस्मितमुवाच,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—'ततश्च दूतस्तद्वचनतेजसाऽवगुण्ठिततया कुण्ठितः सन्निजोद्यममन्यथा मत्वा गत्वा च तत्तत्कथया पुण्ड्रकाधिपतिमपि म्लानतुण्डं चकार ॥१३॥

'श्रीमान् कृष्णश्च कौतुकसतृष्णः काशीकरूषान्तरालं जगाम। गते च तस्मिन् पुण्ड्रककाशीमण्डलपती पञ्चभिरक्षौहिणीभिः कृताऽऽगती बभूवतुः ॥'१४॥

"राम उवाच,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—'ततश्च,

नटमिव निजतुल्यवेशलेशं, परिकलयन्नजितः स पुण्ड्रकं तम्।
हसितवशतयाऽवधानशून्यः, सममरिभिः समवारि शस्त्रवर्षैः ॥'१५॥

"अथ श्रीव्रजेश्वरे ततस्तत इति वक्तुं प्रवृत्तेऽप्यसमर्थे स्वयमेव दूतावूचतुः,—
'अथार्धदेशमागतां स शस्त्रवृष्टिसंहतिम्। निजायुधैः किरन्नरीनशेषकान् विकीर्णवान् ॥१६॥
खगा इव गतावासन्नागतौ तु खगा इव। खगाधिपतिपत्रस्य खगाश्चिक्रीडुरत्र ते ॥१७॥

जाने से, और भूमि के बढ़ाने के भाव से, श्लेषपक्ष में—क्षितिवर्धन भाव से, अर्थात् मुर्दे के भाव से (भूमिलाभो निपातः स्यात् शवस्तु क्षितिवर्धनः इति त्रिकाण्डशेषः) आश्वास धारण करनेवाली महानिद्रा को प्राप्त हो जायगा, श्लेषपक्ष में—श्वासरहित महानिद्रा को, अर्थात् मृत्यु को भी प्राप्त कर लेगा ॥१२॥

श्रीबलराम मुसक्याकर बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उसके बाद पौण्ड्रक के दूतरूप उस ब्राह्मण ने श्रीकृष्ण के वचन के तेज से ढककर प्रत्युत्तर देने में असमर्थ होकर, अपने उद्यम को व्यर्थ मानकर, वहाँ जाकर उस उस कथा के द्वारा पुण्ड्रकदेश के राजा को भी मलिन मुखवाला बना दिया ॥१३॥

और श्रीमान् कृष्ण भी कौतूहल की तृष्णा से युक्त हो, काशी एवं करूषदेश के बीच में चले गये। उनके जाते ही पुण्ड्रक एवं काशीमण्डल के राजा पाँच अक्षौहिणी सेनाओं के साथ आगमन करनेवाले हो गये, अर्थात् आ गये ॥१४॥

श्रीबलराम बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उसके बाद नट की तरह अपने समान वेष के लेशवाले उस पुण्ड्रक को देखते हुए, वे श्रीकृष्ण तो हास्य के अधीन होने से सावधानी से रहित होकर, बैरियों ने शस्त्रों की वृष्टि के द्वारा एकसाथ घेर लिये ॥१५॥

यह समाचार सुनते ही श्रीव्रजराज बोले-उसके बाद,उसके बाद? यह कहनेको प्रवृत्त होकर भी जब कहने को असमर्थ हो गये, तब दोनों दूत स्वयं ही बोले—उसके बाद आधे मार्ग में आये हुए शस्त्रवृष्टि के समूह को श्रीकृष्ण ने अपने आयुधों के द्वारा दूर फेंकते हुए समस्त शत्रुओं को दूर फेंक दिया, अर्थात् मार दिया ॥१६॥

इस युद्ध में खगपति (गरुड)वाहन श्रीकृष्ण के वे खग,अर्थात् बाण क्रीडा करने लगे। वे बाण शत्रुओं की ओर जाते समय तो सूर्य की तरह तेजस्वी हो जाते थे, एवं श्रीकृष्ण के पास आते समय पक्षियों की तरह हो जाते थे ॥१७॥

'ततश्च, सैन्यस्थलं शात्रवमश्वकुञ्जर,-द्विपाद्वराणां प्रथमं गणैर्वृतम् ।
अनन्तरं फेरव-गृध्र-वायस,-प्रेतादिकानां निकरैः पराचितम् ॥१८॥

'तदेवं तान्निहत्य व्रजपतिवंशपुण्ड्रं पुण्ड्रकराजाय सोल्लुण्ठतया शशंस—अहं खलु त्रिलोक्या राज्ञस्तवाऽऽज्ञया शस्त्राणि समर्पयितुमागतवान् । तत्र मुधा व्यवधाकारिणस्तानिमांस्तिरोधापितवांस्तदधुना तानि सावधानतया गृहाणेति । तदेवमुक्तवता पुनर्बाणान् प्रयुक्तवता तेन तैस्तस्य शताङ्गं सहस्राङ्गं चक्रे; यान् प्रयुज्य च चक्रं विचकरे, येन तस्य मस्तकमपि निरस्तमिति समस्तानां कौतुकं न्यस्तमासीत् ॥१९॥

'तर्हि लब्धविनाशीभवन् काशीपतिश्च कदाऽऽत्मनः शिर उत्करितुं तेन पत्रिणो विकीर्णा इति न दृष्टिमपि वितीर्णां विधातुं साऽवसरतां ससार ॥२०॥

'तत्सदनजनगणस्तु विकीर्णतया समागच्छदवतीर्णतां गच्छत्तच्छिरः प्रति नेत्रं विस्तीर्णवान् ॥२१

तद्यथा— पुत्रैः पौत्रैः प्रपौत्रैर्दुहितृभिरनुजैः स्त्रीभिरन्यैश्च यस्य
स्वर्गादेतीदमब्जं मम मम मम मेत्युक्तमायाति यस्मिन् ।
काशीराजस्य तस्य प्रकटमसुरजित्पत्रिविक्षिप्तमस्तं
स्रस्तं निर्वर्ण्य तत्ते पुनरखिलजना मेनिरे वज्रमेव ॥'२२॥

उसके बाद शत्रुओं का जो सैन्यस्थल पहले घोड़ा, हाथी एवं नरश्रेष्ठों के गणों से घिरा हुआ था, पीछे वही सैन्यस्थल शृगाल, गीध, कौआ, एवं प्रेत आदिकों के समूहों से घिर गया ॥१८॥

इस प्रकार उन सारे शत्रुओं को मारकर, व्रजराजवंश के तिलक श्रीकृष्ण, पुण्ड्रकराज के प्रति इशारे से हँसी करके बोले कि—मैं तो, त्रिलोकी के राजा जो आप हैं, निश्चय ही आपकी आज्ञा से शस्त्रों को समर्पित करने के लिये आया था। उस विषय में व्यर्थ ही व्यवधान करनेवाले इन सैनिकों को मैंने तिरोहित कर दिया है, अर्थात् मारकर दूर कर दिया है। अतः उन शस्त्रों को अब सावधान होकर ग्रहण कर लीजिये। इस प्रकार कहते हुए एवं पुनः बाणों का प्रयोग करते हुए, श्रीकृष्ण ने उन बाणों के द्वारा पौण्ड्रक का रथ तोड़कर हजार अङ्गवाला कर दिया। और जिन बाणों को छोड़कर श्रीकृष्ण ने सुदर्शनचक्र फेंक चलाया। जिस चक्र के द्वारा उसका मस्तक भी दूर निक्षिप्त हो गया था, अतः समस्तजनों का कौतुक (तमाशा) भी उपस्थित हो गया था ॥१९॥

उस समय विनाश को प्राप्त करता हुआ काशीपति भी, अपने शिर को काटने के लिए श्रीकृष्ण ने कब बाण छोड़ दिये, इसके लिए दृष्टि को फैलाने के लिए भी, अवकाश को न प्राप्त कर पाया ॥२०॥

उस समय काशीपति के भवन का जनसमुदाय तो चारों ओर फैलकर आता हुआ, आकाश से उतरते हुए उसके शिर के प्रति नेत्र फैलाने लग गया ॥२१॥

उसका वर्णन, यथा—जिस मस्तक के आकाश से आते समय जिस काशीपति के पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, कन्या, छोटे भाई, स्त्री एवं दूसरे जनों ने यह कहा था कि—"यह कमल स्वर्ग से आ रहा है" यह मेरा है, यह मेरा है, यह मेरा है। किन्तु पश्चात् उन्हीं सब जनों ने श्रीकृष्ण के बाण से फेंके हुए, अतः अस्तव्यस्त होकर नीचे गिरते हुए, उस काशीराज के उस मस्तक को स्पष्ट देखकर (पीडादायक होने के कारण) वज्र ही मान लिया ॥२२॥

"रामः सहासमुवाच,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—'ततश्च श्रीमान् द्वारकाभर्ता द्वारकामेवाऽससार ।।'२३।।

'अथ दूतान्तरागमने दिनान्तरेऽपि तदेव प्रस्तुतवान् ।' "राम उवाच,—'साधिष्ठमेव साधितम्, यद् द्वावपि तावबधिषाताम्, किन्तु—'अग्नेः शेषं व्याधिशेषं शत्रुशेषं न शेषयेत्' इति नीत्या कथं तत्तदपत्यादयोऽपि प्राणैर्न त्याजिताः ?' ।।२४।।

"अथ दूतावूचतुः,—'देव ! तदेव श्रूयताम् । घृणया तत्तद्वधार्थमतृष्णेऽपि श्रीकृष्णे काशीक्षितीश्वरस्य विश्वेश्वरस्य च नश्वरधामता जाता ।।'२५।।

'तथा हि अथ सुदक्षिणाख्यः काशीराट्पुत्रश्च पितृवधमधःकृतमुखतया वीक्ष्य पुनस्तया शिवमप्याराधयामास । प्रत्यक्षे तु तस्मिंस्त्र्यक्षे कञ्जाक्षं विपक्षं न ज्ञापयामास । किन्तु कश्चिद्विपक्षमात्रम्, शिवस्तु तत्प्रस्तुतमवस्तु विज्ञाय तदवज्ञाय तस्मा इदं सर्वं तव भस्मायितमिति सस्मितं व्यञ्जयन्नाह स्म,—ब्राह्मणपाशैरपि सह परिचरितः स दक्षिणाग्निस्तव कांक्षितमाचरिष्यति, यद्यब्रह्मण्य एव हन्यमानतया गण्यः स्यादिति । अथ व्यञ्जनां च तदीदृगासञ्जयामास–ब्रह्मण्यदेवश्चेदसौ तदाग्निरेव ब्राह्मणपाशानपि तन्नाशाय सम्पादयिष्यति' इति ।।२६।।

श्रीबलराम हास्यपूर्वक बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उसके बाद द्वारकापति श्रीकृष्ण द्वारका में ही चले आये ।।२३।।

उसके बाद दूसरे दूतों के आनेपर दूसरे दिन भी पूर्वोक्त वृत्तान्त ही प्रस्तुत कर दिया गया। श्रीबलराम बोले कि—यह तो अतिशय उत्तम कार्य ही सम्पन्न कर दिया गया जो कि पौण्ड्रक एवं काशीपति वे दोनों ही मार दिये गये, किन्तु "अग्नि का शेष, व्याधि का शेष, एवं शत्रु का शेष नहीं रहने देना चाहिये" इस नीति के अनुसार उस उसके पुत्र आदि भी प्राणों से रहित क्यों नहीं किये ? ।।२४।।

उसके बाद दोनों दूत बोले—हे देवाधिदेव ! श्रीबलदेव ! उसी बात को सुनिये। करुणा के कारण पौण्ड्रक एवं काशीराज के पुत्र पौत्रादिकों के वध के लिए, श्रीकृष्ण के तृष्णारहित हो जानेपर भी, काशीराज का एवं शिवजी का घर तो नष्ट ही हो गया ।।२५।।

देखो, सुदक्षिण नामक काशीराज के पुत्र ने अपने पिता के वध को नीचा मुख करके देखकर, पुनः नीचा मुख करके ही शिवजी की आराधना भी प्रारम्भ कर दी। त्रिनेत्रधारी उन शिवजी के प्रत्यक्ष होनेपर तो, उसने शिव के प्रति कमलनयन श्रीकृष्ण को अपना बैरी विज्ञापित नहीं किया, किन्तु किसी बैरीमात्र को जना दिया। शिवजी तो उसके प्रस्तुत विषय को तुच्छ समझ कर, उसकी आराधना का तिरस्कार कर, "तेरा यह सब करा धरा भस्म के समान है" इस प्रकार मुसक्याकर सूचना करते हुए उसके प्रति बोले—यदि ब्राह्मण का द्वेषी ही मारने के रूप से गणनीय होगा, तब तो निन्दित ब्राह्मणों के साथ भी आराधित वह दक्षिणाग्नि तुम्हारे अभिलषित का आचरण करेगा। उसके बाद इस प्रकार की सूचना भी प्रकाशित कर दी कि—तुम्हारे मारने योग्य वह व्यक्ति यदि ब्राह्मण भक्त हुआ, तब तो यह दक्षिणाग्नि ही उन अधम ब्राह्मणों को भी नष्ट कर देगी ।।२६।।

"राम उवाच,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—'ततः स तु मूढः स्फुटमूढहर्षस्तं ब्रह्मण्यदेवमप्यभिचरितुं दक्षिणाग्निं परिचरति स्म। परिचरितश्चायं शुष्मा शुष्मातिशयवद्गुष्मा प्रकटजटादिमुद्ररुद्रमूर्तितया शश्वदश्वयीत्। तदनु च द्वारकादिशमनुद्रवन्नुपद्रवंश्च तत्तद्रुद्रगणैरग्रपश्चाद्भावेन सव्यग्रमनुद्रूयते स्म ॥२७॥ यथा—

विद्युद्वत्केशकूर्चज्वलननिचयमुक्चक्षुरुद्दण्डदंष्ट्रा-
भ्रूकुट्युद्यत्कठोराऽऽननकटुरसनालीढसृक्कद्वयान्तः।
नग्नः शूलांशुभग्नप्रतिदिशविषयस्तालतुल्यांघ्रिनालः
सर्वामुर्वीं धुनानः प्रमथपथपथः सोऽयमग्निः ससार ॥२८॥
अद्राक्षीदक्षिभिर्यस्मिन्नक्षीणद्युतिलक्षिभिः।
अभ्राक्षीत्तत्र वृक्षांश्च स कृत्याशुष्मपुरुषः॥' इति ॥२९॥

"व्रजराजः सभयमुवाच,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—
'तस्मात् कृत्याऽग्निदाहाद्भयनिचयधरं द्वारकालोकमाराद्
वीक्ष्याऽक्षेष्वात्मपक्षग्रहणपरतया तत्र हेलाविधात्रा।
कृष्णेनादेशमात्रो दहनममुमरिर्द्रावयल्लब्धनाशी-
भावां काशीं विधाय म्रदिमविभृदमुष्यांघ्रिदेशं विवेश ॥'३०॥

श्रीबलराम बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उसके बाद वह मूढ सुदक्षिण तो स्पष्ट ही हर्ष को प्राप्त होकर, ब्रह्मण्यदेव उन श्रीकृष्ण के प्रति भी अभिचार करने को दक्षिणाग्नि की आराधना करने लग गया। एवं आराधित हुआ वह दक्षिणाग्नि अतिशय बलवाली उष्णता से युक्त होकर, प्रगट जटा आदि मुद्रावाले रुद्र के रूप से निरन्तर बढ़ने लग गया। और उसके बाद द्वारका की ओर दौड़ते हुए एवं उपद्रव करते हुए, उस अग्नि का वे वे रुद्रगण आगे पीछे के भाव से व्यग्रतापूर्वक अनुगमन करने लग गये ॥२७॥

यथा—बिजली की तरह चमकीले केश एवं भौं के मध्य भागवाला, अग्निसमूह को छोड़नेवाले नेत्रोंवाला, ऊँची दाढ़ एवं भ्रुकुटी के द्वारा प्रकाशित कठोर मुखवाला, कडवी जिह्वा के द्वारा दोनों ओष्ठ-प्रान्तों को चाटनेवाला, नग्न एवं अपने हाथ में स्थित त्रिशूल की किरणों के द्वारा प्रत्येक दिशा के देश को तोड़नेवाला, तथा तालवृक्ष के समान लम्बे चरण-नालवाला, और रुद्रपार्षदों के मार्ग में चलनेवाला वह दक्षिणाग्नि सम्पूर्ण पृथ्वी को कम्पित करता हुआ चलने लगा ॥२८॥

और वह कृत्यानलरूप पुरुष, अर्थात् अभिचारात्मक अग्नि, अक्षीणकान्ति से देखनेवाले अपने नेत्रों के द्वारा जिधर देखता था, उधर ही वृक्षों को जला देता था ॥२९॥

श्रीव्रजराज भयपूर्वक बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उस कृत्यारूप अग्नि के दाह से भयसमूह को धारण करनेवाले द्वारका के लोगों को दूर से ही देखकर, सारपासों में अपना पक्ष ग्रहण करने में तत्पर होने के कारण, उस कृत्यारूप अग्नि के विषय में अवज्ञा करनेवाले श्रीकृष्ण के द्वारा आदेशमात्र पानेवाला सुदर्शनचक्र उस कृत्याग्नि को भगाता हुआ, काशी को विनाशभाव को प्राप्त करनेवाली करके कोमलता धारण करता हुआ, श्रीकृष्ण के चरणों के निकट बैठ गया ॥३०॥

"राम उवाच,—'किञ्चिद् विव्रियताम् ।' "दूतावूचतुः,—
'चक्रस्याग्रे तदा कृत्यावह्निरेवं व्यदृश्यत । प्रलयार्कगणाद्भीतः परैति ज्योतिरिङ्गणः ॥३१॥
ये तु रुद्रगणास्तस्मिन्नासन् कृत्याग्निसैनिकाः । केचित्तेनैव विप्लुष्टाः कतिचिच्चक्रवह्निना ॥३२॥
स काश्यां दहनोऽप्याशु विशन् सर्त्विक्सुदक्षिणम् । दहन्नदाहि चक्रेण यत्र पूरपि सा स्वयम् ॥३३
काशी चक्राग्निनाप्लौषीत्यन्यथा मन्यतां न हि । तस्याग्निकुक्कुटैर्देशोऽप्यसौ प्लुष्टः सनिष्कुटः ॥'३४

"अथ सर्वे सहासं प्रोचुः,—'कल्याणं जातम्, यदक्रूरस्य तत्र तावत् स्थितिर्न जाता' इति ॥३५॥

"रामश्च सहासमाह स्म,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—
'गतौ चक्रस्य यस्यासीत् कल्पार्कत्वं तदप्यदः । आगतौ हरिपार्श्वाय शीतांशुसमतां गतम् ॥'३६

"राम उवाच,—'यस्तु दुर्वाक्यं ब्रवीति स्म ब्राह्मणब्रुवः, स क्व नु गतः ?' "दूतौ सहासमूचतुः,—'कृत्याग्निनृत्याऽऽलय एव ॥'३७॥

"सर्वे सहासमूचुः,—'स पापाग्निना स्वयमेव प्लुष्टश्चेत्, कस्य वा दुष्टता भवेत् ? यत्र कृत्याग्नेरपि तस्य स्वस्य दुरासदस्थानप्रस्थापनया प्रस्थापकेषु क्रोध एव बोधविषयीभवति' इति ॥'३८॥

श्रीबलराम बोले—कुछ विशेष खोल कर कह दो ? दोनों दूत बोले—उस समय वह कृत्यारूप अग्नि सुदर्शनचक्र के आगे भागता हुआ इस प्रकार दिखाई देता था कि, मानो प्रलयकालीन सूर्यसमूह से डरकर खद्योत भाग रहा है ॥३१॥

द्वारका को दग्ध करने के समय उस कृत्याग्नि के सैनिकरूप जो रुद्र के गण थे, वे कुछ तो कृत्यारूप अग्नि ने ही जला दिये, एवं कुछ गण सुदर्शनचक्ररूप अग्नि के द्वारा जल गये ॥३२॥

और वह कृत्यानल भी शीघ्र ही काशी में प्रवेश करके याज्ञिकों के सहित सुदक्षिण को जलाता हुआ, सुदर्शनचक्र से स्वयं भी जल गया। पश्चात् जिस चक्ररूप अग्नि में वह काशीपुरी भी स्वयं जल गई ॥३३॥

चक्ररूप अग्नि के द्वारा काशी दग्ध हो गई, इस बात को अन्यथा मत मानो। क्योंकि उस चक्ररूप अग्नि की अग्निकुक्कुट, अर्थात् चिनगारियों के द्वारा काशी के आसपास का वह देश भी, उपवनों के सहित दग्ध हो गया ॥३४॥

अनन्तर सभी व्रजवासी हँसकर बोले—यह तो भला हुआ जो कि उस समय काशी में अक्रूर की स्थिति नहीं हुई ॥३५॥

श्रीबलराम हास्यपूर्वक बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—काशी में जाते समय जिस सुदर्शनचक्र का प्रलयकालीन सूर्य की तरह जलाने का भाव था, वह भी यह श्रीकृष्ण के निकट आते समय चन्द्रमा की समानता को प्राप्त हो गया था, अर्थात् शीतल हो गया था ॥३६॥

श्रीबलराम बोले—जो सुधर्मासभा में दुर्वचन बोल रहा था, वह निन्दित ब्राह्मण कहाँ चला गया ? दोनों दूत हँसकर बोले—उस अभिचारात्मक कृत्याग्नि के नृत्य करने के स्थान में ही चला गया, अर्थात् उसी में भस्म हो गया ॥३७॥

सभी हँसकर बोले—अपने पापरूप अग्नि से वह स्वयं ही यदि जल गया, तब किसकी दुष्टता हो

"तदेवमाकर्ण्य श्रीकृष्णपाष्णिग्रहणार्थं राममुखमुन्मुखं निर्वर्ण्य व्रजेश्वरः स्वयमेव वर्णयामास,—

'प्रागहं त्वा मुहुः पश्यन्मेने कृष्णस्य चेक्षणम् । अधुना व्यग्रमनसं मनुवे तस्य पालकम् ।।'३९।।

"रामः सास्रमुवाच,—

'यदि त्वां पितरं तं च भ्रातरं सममीक्षते । सोऽयं कायस्तदैकध्यं जायतामन्यदा द्विधा ।।४०।।

इति प्रतिज्ञाय विचलिषति बलदेवे सर्व एवेह व्रजस्थास्तत्प्रस्थापनाय सङ्गम्य रम्यं तत्प्रेमनिरीक्षणमधिगम्य मुहूर्तद्वयमस्रमेवाऽजस्रमूहुः । व्रजेश्वरी तु मुहुस्तमाश्लिष्य तस्य मातरं भ्रातरमपि विशिष्य सन्दिदिक्षमाणापि किञ्चिदपि यद्वक्तुं न शशाक, तदेव परमसन्देश-वेशतामाविवेश ।।४१।। 'किं बहुना ?

पितुर्यन्मातुर्यद् यदथ सुहृदां यद् व्रजसदां, चरित्रं विश्लेषज्वरवलितमुच्चैस्तदखिलम् ।
हरौ सन्देशाय स्वयमजनि यस्मिन् स तु परः, स्फुटं व्यर्थीभूय ह्रियमनु तदालीयततराम् ।।४२

रामस्य चलने दुःखं सुखं चाऽजनि गोदुहाम् ।
स्वयं विश्लिष्यतः कृष्णाऽऽगतिं च प्रतिजानतः ।।४३।।

सकती है ? क्योंकि जिस विषय में उस कृत्याग्नि का भी अपने दुष्प्राप्य स्थानपर भेजने के कारण भेजने-वालों के ऊपर क्रोध ही जाना जाता है ।।३८।।

इस प्रकार के वचन सुनकर श्रीबलराम के मुख को श्रीकृष्ण की सहायता के लिए उन्मुख (उद्यत) देखकर, श्रीव्रजराज स्वयं ही वर्णन करने लगे—हे प्रिय बलदेव ! देखो, पहले मैं तुमको बारंबार देखता हुआ, श्रीकृष्ण का देखना ही मानता था । किन्तु अब तुमको व्यग्र मनवाले देखकर, श्रीकृष्ण का रक्षक ही मानता हूँ ।।३९।।

श्रीबलराम आँसुओं के सहित बोले—यह मेरा शरीर आपरूप पिता को एवं श्रीकृष्णरूप उस भैया को यदि एकसाथ देखता है, तब तो इस शरीर का ऐक्य हो जाय, अर्थात् यह एक बना रहे, यदि एकसाथ न देख सकें तो यह मेरा शरीर दो प्रकार से विदीर्ण हो जाय ।।४०।।

इस प्रकार की प्रतिज्ञा करके श्रीबलदेव के द्वारका जाने की इच्छा करनेपर, सभी व्रजवासी उनको द्वारका भेजने के लिए यहींपर सम्मिलित होकर,उनके मनोहर प्रेमपूर्वक निहारने को प्राप्त कर, दो घड़ीतक निरन्तर आँसू ही बहाते रहे । किन्तु व्रजेश्वरी श्रीयशोदा तो बलराम को बारंबार आलिङ्गन करके, उनकी माता रोहिणी के प्रति एवं भैया श्रीकृष्ण के प्रति, विशेष करके सन्देश देने की इच्छावाली होकर भी, कुछ भी नहीं बोल सकीं । उनका वह न बोलना ही परमसन्देश के वेश के भाव में आविष्ट हो गया, अर्थात् कुछ न बोलना ही सन्देश का रूप बन गया ।।४१।।

अधिक कहने से क्या ? देखो, पिता, माता, मित्र एवं अन्य समस्त व्रजवासियों का श्रीकृष्ण के अत्यन्त विरहरूप ज्वर से सयुक्त जो चरित्र था, वह सम्पूर्ण चरित्र ही, श्रीकृष्ण के निमित्त स्वयं सन्देश के लिए हो गया था । जिस चरित्र में वह दूसरा सन्देश तो उस समय स्पष्ट ही व्यर्थ होकर लज्जा करके मानो अतिशय लीन हो गया था ।।४२।।

उस समय स्वयं बिछुड़नेवाले, एवं श्रीकृष्ण के आने की प्रतिज्ञा करनेवाले श्रीबलराम के चलने में,

पश्चात्त्यक्तं गोकुलं गम्यमग्रे, कृष्णस्थानं दूरमित्येष रामः ।
मध्यं शून्यं संविदानः समन्ता,-देकेनाह्ना द्वारकायां विवेश ॥४४॥

'इह हरिवंशकृतशंसनमित्थमनुमोदामहे,—

अथाऽऽगतं बलमुपदृश्य माधवः, श्रितोद्धवः श्रमजलसंवृतं मिलन् ।
रहो नयन्नयनजलाऽऽकुलं पुराऽ,-खिले व्रजे भविकमपृच्छदेकदा ॥४५॥

किं वाच्यं जनकावपृच्छदयमित्येवं जनानां जनं
गा वन्यस्थिरजङ्गमांश्च निखिलान् पप्रच्छ यद् भ्रातरम् ।
तेनाऽऽश्वस्तमतिर्व्रजं प्रति गतिं तत्राप्यसौ निर्णयन्
यच्च प्रत्यवदत् प्रतिस्वमधिकं तत्तन्मुहुः पातु नः ॥४६॥

'यथा च तत्-पद्यानि—

'तथैवाऽध्वन्यवेषेण सोपश्लिष्टो जनार्दनम् । प्रत्यग्रवनमालेन वक्षसाऽभिविराजता ॥
स दृष्ट्वा तूर्णमायान्तं रामं लाङ्गलधारिणम् । सहसोत्थाय गोविन्दो ददावासनमुत्तमम् ॥
उपविष्टं तदा रामं पप्रच्छ कुशलं व्रजे । बान्धवेषु च सर्वेषु गोषु चैव जनार्दनः ॥
प्रत्युवाच ततो रामो भ्रातरं साधुभाषिणम् । सर्वेषां कुशलं कृष्ण ! येषां कुशलमिच्छसि ॥'
इति ॥४७॥

गोपगणों को दुःख एवं सुख भी हुआ । तात्पर्य—श्रीबलराम के बिछुड़ने से दुःख हुआ, एवं श्रीकृष्ण के आने की प्रतिज्ञा करके जाने से सुख हुआ ॥४३॥

गोकुल अर्थात् व्रज तो पीछे की ओर छोड़ दिया था, एवं आगे जाने योग्य द्वारकारूप श्रीकृष्ण का स्थान भी दूर ही था, इस कारण ये श्रीबलराम बीच के स्थान को चारों ओर से शून्य जानकर, एकदिन के द्वारा ही द्वारका में प्रविष्ट हो गये ॥४४॥

इस विषय में श्रीहरिवंशपुराण के कथन का हम इस प्रकार अनुमोदन करते हैं कि—अनन्तर श्रीकृष्ण ने आये हुए बलदेवजी को देखकर, उद्धव का सहारा लेकर, पसीने से लथपथ हुए बलदेव से मिलकर, पश्चात् एकान्त में ले जाकर,आँसुओं से व्याकुल होकर, पहले समस्त व्रज में एकसाथ कुशल पूछा ॥४५

इन श्रीकृष्ण ने मातापिता का ही कुशल पूछा । इस बात का तो कहना ही क्या है ? इसी प्रकार जनों के मध्य में जनमात्र का कुशल पूछा, एवं भैया बलदेव के प्रति गोगण को एवं वृन्दावन के समस्त स्थावर जङ्गमों को पूछा । उसी के द्वारा स्वस्थ बुद्धिवाले श्रीकृष्ण ने वहींपर व्रज के प्रति जाने का निर्णय कर, प्रत्येक जन के प्रति जो अधिक कहा था, वह वह कहना ही हमारी बारंबार रक्षा करे ॥४६॥

इस प्रसङ्ग के हरिवंशपुराण के श्लोकों का भाव, यथा—उसी प्रकार के पथिक के वेष से श्रीबलराम ने नूतन वनमाला से विभूषित सुन्दर वक्षःस्थल द्वारा श्रीकृष्ण का आलिङ्गन किया । हलधर बलराम को शीघ्र आते देख, उन श्रीकृष्ण ने सहसा उठकर उनके लिए उत्तम आसन दिया । जब बलरामजी बैठ गये, तब श्रीकृष्ण ने उनसे व्रज की कुशल पूछी । समस्त बान्धव एवं गौओं के विषय में भी कुशल पूछी । तब बलरामजी ने उत्तमभाषण करनेवाले भाई श्रीकृष्ण को यह उत्तर दिया कि—भैया श्रीकृष्ण ! तुम जिनकी कुशल चाहते हो, उनकी सर्वत्र कुशल है ॥४७॥

"तदेवं श्रीमद्व्रजस्थाः सदापि स्वस्था एव स्थास्यन्तीति च सूचितम्। अथ तत्र श्रीकृष्णस्याऽऽवेशान्तरं व्यज्यते ॥४८॥ यथा—

अथासीद् रामनीतानि दुग्धानि मधुमर्दनः। फलान्यजक्षदाख्यच्च तत्तद्धेनुनगाभिधाम् ॥'४९॥

अथ मधुकण्ठः समापनमाह स्म,—

"व्रजेश ! तददः कथं व्यभिचरिष्णु कार्ष्णं वच,-स्तथा बलमुखोदितं बत भवेदहो दृश्यताम्।
स एष वरवेषवान् बलयुतः सुतस्ते पुरः, पुरस्कृतनिजव्रजः स्फुरति शीतयन् द्रागुरः ॥"५०॥

अथ व्रजवन्दिनश्च तत्र तं ववन्दिरे,—

"त्वं पुण्ड्रकक्लिष्टसन्दिष्टविस्मेर ! । वाचाटताध्वंसिवाक्पाटवस्मेर ! ॥
नाट्याऽऽभतद्वेषमुद्द्रष्टुमुत्कण्ठ ! । शङ्खध्वनिग्रामविस्फोरिसत्कण्ठ ! ॥
सानन्दमागत्य संदृष्टतद्देश ! । तं द्रष्टुमत्यर्थमुद्यम्य सावेश ! ॥
अन्तर्धिमत्राऽथ तत्सैन्यमुद्धूय । तन्मुख्यसाम्मुख्यकार्याय सम्भूय ॥
संवेषमुत्प्रेक्ष्य तत्रालमुत्प्रास ! । प्रत्यर्पणायेव तद्धाम्नि चक्रास ! ॥
तस्याशुविध्वस्तमस्तस्य तत्राथ । मित्रच्छिदाकारिनाराचसन्नाथ ! ॥

इस प्रकार के कथन से यह भी सूचित कर दिया कि—श्रीमान् व्रजवासीजन सदैव स्वस्थ ही रहेंगे। अनन्तर उस व्रज में श्रीकृष्ण का एक दूसरा आवेश भी प्रकाशित करते हैं ॥४८॥

यथा—श्रीकृष्ण ने बलरामजी के द्वारा लाये हुए दूध पी लिये, फल खा लिये, एवं गंगा, यमुना आदि उन उन गौओं के नाम तथा पर्वत, वृक्ष आदिकों के नाम भी कह सुनाये। इस श्लोक में व्रज से द्वारका में दूध ले जाना असम्भव नहीं है, कारण श्रीबलदेवजी एकदिन में ही व्रज से द्वारका पहुँच गये थे, यह बात पहले ही कह दी है ॥४९॥

उसके बाद मधुकण्ठ प्रसङ्ग की समाप्ति का द्योतक वचन बोला—हे श्रीव्रजराज ! देखो, श्रीकृष्ण का "यात यूयं व्रजं तात ! भा० १०।४५।२३ इत्यादि, अर्थात् हे पिताजी ! आप व्रज को जाइये। मैं सुहृदों को सुख देकर व्रज में आऊँगा, इत्यादिरूपवाला वह वचन किस प्रकार विरुद्ध हो सकता है ? तथा श्रीबलराम के मुख से कहा हुआ वचन भी किस प्रकार विरुद्ध हो सकता है ? आहा ! कैसा हर्ष का विषय है, नेक देखो तो सही। सुन्दर वेषवाला एवं बलदेवजी से युक्त वही यह तुम्हारा लाला श्रीकृष्ण, अपने व्रजवासियों का सम्मान करके, आपके हृदय को शीघ्र ही शीतल करता हुआ, आपके आगे ही तो विराजमान है ॥५०॥

उसके बाद उस गोलोक में व्रज के वन्दीजन श्रीकृष्ण की वन्दना करने लग गये—हे भगवन् ! कृष्ण ! आप तो उस पौण्ड्रक के क्लिष्ट (दुःखदायी) सन्देश में भी विशेष मुसकाते ही रहे, एव उसके दूत की वाचालता को दूर करनेवाले वाक् चातुर्य में भी मुसकाते ही रहे, एवं नाटक के समान उस पौण्ड्रक के वेष को देखने के लिए उत्कण्ठित हो गये थे, तथा उस समय शंख की सी ध्वनिसमूहों की स्फूर्ति करानेवाले सुन्दर कण्ठवाले हो गये थे। आपने आनन्दपूर्वक आकर पौण्ड्रक के देश को भली प्रकार देखा था, उस पौण्ड्रक के देखने को विशेष उद्योग करके आप आवेश युक्त थे। अनन्तर इस करूषदेश में शत्रुओं के अन्त के लिए बढ़ी हुई उसकी सेना को मारकर, उस सेना के अध्यक्ष पौण्ड्रक की सम्मुखतारूप कार्य के लिए सम्मिलित होकर, उस पौण्ड्रक में अपना चतुर्भुजादि वेष देखकर आपने विशेष आक्षेप किया था। और

काशीनराधीशमूर्धानमुत्कृत्य । काश्यां निरस्यापि सम्पूर्णतत्कृत्य ! ।।
स्वावासमासद्य खेलाप्रसंसङ्ग ! । तत्पुत्रकृत्याग्निमाकर्ण्य सद्रङ्ग ! ।।
पार्श्वस्थमादिश्य चक्रं च सक्रीड ! । मित्रात् पराजित्य खेलासु सव्रीड ! ।।
काशीशपुत्राभिचारं परावर्त्य । चक्रेण काश्यादि दग्धं च निर्वर्त्य ।।
यां द्वारकामाशु पासि स्म तामेव । हित्वा व्रजे भाति वृन्दाटवीदेव ! ।।" इति ।।५१

अथ बहिःसभायां कथनं कथकः सम्प्रथय्यान्तःसभायामपि श्रीराधामाधवादीनां चित्तं किञ्चिदञ्चितं चकार ।।५२।।

"व्रजतश्चलन्नपि बलदेवः स्वानुजदयिता न साक्षादाश्वासनमयिताः कृता इति मनस्यवगम्य तां रजनीं सव्याजं विरम्य प्रातः सर्वमप्यनुव्रजन्तं व्रजं यत्नादतिक्रम्य ताश्च वन्यवर्त्मन्यनुशोचन्तीरनुगम्य सम्यगाश्वासनाय स्वप्रेयसीरपि तदाज्ञावशात्तदनुगततया व्रज एव वासाय नियम्य जातु जातु पितृनिशान्तगमनपर्यवसानं समाधानं सन्तन्वानया सान्त्वनयाऽङ्गीकृतया सुज्ञानां तदनुज्ञामधिगम्य चलितवान् । चलनसमये तु शुकशारिकयोर्द्वयं ताभिः शिक्षयित्वा कृष्णायोपायनतया प्रहापितं निनाय ।।५३।। "क्रमेण तयोः शिक्षा यथा—

मानो प्रत्यर्पण करने के लिए आपने उसके देहपर चक्र फेंका था। अनन्तर उस युद्ध में शीघ्र ही जिसका मस्तक कट गया था, उस पौण्ड्रक के मित्र काशीराज को काटनेवाला जो वाणविशेष था, उसके द्वारा आपने शत्रु को सन्तप्त कर दिया था। पश्चात् काशीराज के मस्तक को काटकर, काशी में फेंक कर भी शत्रुओं का नाशरूप कार्य सम्पूर्ण कर दिया था। पुनः अपने निवासस्थान (द्वारका) में पहुँच कर, आप चौपड़ के खेल में मित्रों से सम्मिलित हो गये थे। एवं काशीराज के पुत्र सुदक्षिण की कृत्यारूप अग्नि को सुनकर आपकी परिहासक्रीडा उपस्थित हो गई थी। उस कृत्याग्नि को नष्ट करने को अपने पास में रखे हुए सुदर्शन को आदेश देकर भी, आप चौपड़ के खेल से युक्त हो गये थे। एवं उसी खेल में मित्र से हार कर आप लज्जित हो गये थे। और काशीराज के पुत्र के अभिचार (मारण के प्रयोग) को लौटाकर, सुदर्शनचक्र के द्वारा काशी आदि के दाहकार्य को सम्पादन करके, आपने जिस द्वारका की शीघ्र ही रक्षा की थी, उसी को त्यागकर हे वृन्दावन के देव ! आप अब व्रज में विराजमान हो, आपकी जय हो ! (व्रज के वन्दीजनों की इस वन्दना में, इक्कीसवें पूरण की कथा का सारांश आ गया। इस से ग्रन्थकार की काव्यनिर्माण की महती प्रतिभा कुशलता जानी जाती है। इस प्रकार की रचना पहले भी कईबार आ चुकी है, एवं आगे भी आयेगी। जो कथा अत्यन्त जटिल घटना से परिपूर्ण है या भारी है, वहींपर ग्रन्थकार की यह रीति देखी गई है) ।।५१।।

अनन्तर कथावाचक मधुकण्ठ ने बाहरीसभा में कथा को विस्तारित करके, अन्तःपुर की सभा में भी श्रीराधिका-माधव आदि श्रोताओं के चित्त को किंचित् सम्मानित, अर्थात् सुखी कर दिया ।।५२।।

यथा—श्रीबलदेवजी तो व्रज से द्वारका को चलते हुए भी अपने अनुज श्रीकृष्ण की प्रियतमा गोपियाँ साक्षात् आश्वासन को प्राप्त नहीं की हैं, अपने मन में यह जानकर, उस रात में किसी बहाने के साथ वहीं निवास करके, प्रातःकाल अपने पीछे पीछे आनेवाले सभी व्रजवासियों का प्रयत्नपूर्वक अतिक्रमण करके, श्रीकृष्ण के विरह में वन के मार्ग में शोक करनेवाली उन कृष्णप्रेयसी गोपियों का अनुगमन करके, अच्छी प्रकार आश्वासन देने के लिए, अपनी प्रेयसी गोपियों को भी, कृष्णप्रेयसी गोपियों की आज्ञा के वश से,

'आयास्याम्यथ यावत्, तावत् प्राणान् प्रिया ! वहत ।
जीवन्ति हि सारङ्ग्यो, यावन्मेघागमो भवति ॥५४॥

सत्यं सारङ्गीणां, घनसमयापेक्षि सन्त्यपि प्राणाः ।
घनसमयेऽपि समन्ता,-दघने कथमहह सन्तु ते दीनाः ?' इति ॥५५॥

"तदेवम्— नीतं रामेण गोष्ठादुपहृतिवलयं सुष्ठु कृष्णाय रुच्यं
तत्रागाद् बाढमह्नां निकरमनु परिच्छेदमेव क्रमेण ।
किन्त्वन्तः कीरशारीयुगलमुपदिशत् पाठितं तत्प्रियाभि-
स्तर्षं कर्षं च तस्मिन् विदधदपि परिच्छेदमाप्तं न जातु ॥"५६॥

अथ मधुकण्ठः समापनमाह स्म,—

"सेयं भवती राधे !, सोऽयं कृष्णः समं लसति ।
यत्राऽऽश्लेषं पश्यन्, जितविश्लेषं मदं यामि ॥"५७॥

उनके अनुगतरूप से व्रज में निवास करने के लिए ही रोककर, कभी कभी पिता के घर जाने के पर्यवसान-वाले (परिणामवाले) समाधान का विस्तार करनेवाली, अतः अङ्गीकार की गई सान्त्वना के द्वारा विज्ञजनों की वहाँ जाने की अनुमति लेकर चल दिये। चलते समय तो कृष्णप्रिया गोपियों के द्वारा सिखा कर, श्रीकृष्ण की भेंट के रूप से दी हुई शुक-शारिका (तोता मैना) की जोड़ी ले गये ॥५३॥

शुक एवं शारिका की क्रमशः शिक्षा का वर्णन, यथा—उनमें भी पहले शुक की शिक्षा, यथा—हे प्रिय गोपियो ! मैं जबतक व्रज में आऊँगा, तबतक प्राणों को धारण करती रहो। क्योंकि यह बात प्रसिद्ध है कि, जबतक वर्षा का आगमन होता है, तबतक चातकियाँ जीती रहती हैं, किन्तु प्राणों को नहीं छोड़ती हैं ॥५४॥

शारिका की शिक्षा, यथा—चातकियों के प्राण वर्षाकाल की अपेक्षा करके विद्यमान भी रहते हैं, यह बात सत्य है। हाय ! किन्तु वर्षाकाल में भी चारों ओर से मेघों से शून्य होनेपर वे दीनप्राण किस प्रकार विद्यमान रह सकते हैं ? ॥५५॥

अतएव इस प्रकार श्रीबलरामजी श्रीकृष्ण को अच्छी प्रकार रुचिकर जो जो उपहारसमूह व्रज से ले गये थे, वहाँपर वे उपहारसमूह "आज यह वस्तु भोग्य है, कल ये भोग्य है, एवं परसों यह वस्तु भोग्य है" इस प्रकार दिनों के समूह को लक्ष्य करके निश्चय ही क्रमशः समाप्त हो गये थे। किन्तु श्रीकृष्णप्रियाओं के द्वारा पढ़ाई हुई शुक-शारिका की जोड़ी श्रीकृष्ण के अन्तःकरण में मिलन की तृष्णा का उपदेश देती हुई, और उस व्रज की ओर आकर्षण करती हुई कभी भी समाप्त न हुई ॥५६॥

अनन्तर मधुकण्ठ समाप्तिद्योतक वचन बोला—हे राधिके ! आप वही ये हैं, एवं वे ही ये श्रीकृष्ण हैं, आप दोनों एकसाथ ही तो विराजमान हैं। जिस गोलोक में दोनों का मिलन देखता हुआ मैं वियोग को जीतनेवाले हर्ष को प्राप्त कर रहा हूँ ॥५७॥

तदेवमानन्द्य तत्तद्वृन्दमनु मन्दिरं विन्दमानयोरनयोः श्रीराधामाधवावानन्दसंबाधालयमधिशयाते स्म ॥५८॥

इति श्रीश्रीमदुत्तरगोपालचम्पूमनु पौण्ड्काद्युद्दण्डसंग्राम-श्रवणजधाम-
राम-द्वारकाधामप्रतिगमनं नामैकविंशं पूरणम् ॥२१॥
पूर्णश्चायं रामपूर्णव्रजनामा द्वितीयो विलासः ।

अथ द्वाविंशं पूरणम्

द्विविदवानर-वधकथा

श्रीकृष्ण ! कृष्णचैतन्य ! ससनातनरूपक ! ।
गोपाल ! रघुनाथाप्त-व्रजवल्लभ ! पाहि माम् ॥१॥

तदेवमुद्धवः श्रीरेवतीधवश्च व्रजपरमानन्दं पपरतुः । अथ श्रीरमणस्य दन्तवक्रशमनानन्तरव्रजाऽऽगमनरमणाय यस्मै पूर्वोत्तरचम्पूद्वयनिर्माणमारब्धम् । तदेव सप्रमाणं निरूपयितुमुत्तरचम्पूमनु 'कृष्णपूर्णव्रजनामा' विलासः परिवेष्यते । यत्र तस्य व्रजाऽऽगमनानन्तरं पूर्वपूर्ववदेव सूतसुतौ तां कथां प्रथयामासतुः ॥२॥

इस प्रकार सभी श्रोताओं को आनन्दित करके, उन उन श्रोतावृन्दों के बाद, उन दोनों कथावाचकों के अपने घर पहुँच जानेपर, श्रीराधा माधव भी आनन्द से परिपूर्ण निजभवन में शयन कर गये ॥५८॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रिविरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीमदुत्तरगोपालचम्पूकाव्ये पौण्ड्काद्युद्दण्डसंग्राम-श्रवणजधाम-
राम-द्वारकाधामप्रतिगमनमेकविंशंपूरणं सम्पूर्णम् ॥२१॥
पूर्णश्चायं रामपूर्णव्रजनामा द्वितीयो विलासः ।

बाईसवाँ पूरण

द्विविद वानर के वध की कथा

इस बाईसवें पूरण में बलदेवजी के द्वारा किया गया द्विविद का वध एवं हस्तिनापुर का विध्वंस वर्णित होगा । हे श्रीकृष्ण ! हे श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभो ! हे सनातनसहित श्रीरूप गोस्वामिन् ! हे गोपालभट्ट गोस्वामिन् ! हे रघुनाथदास गोस्वामिन् ! हे आप्त व्रजजनवल्लभ ! वल्लभ नामक मेरे पिताजी ! आप सब मेरी रक्षा करो ! (इसकी विस्तृत व्याख्या तो पूर्वचम्पू के प्रथम पूरण के प्रथम श्लोक में की जा चुकी है) ॥१॥

अतएव पूर्वोक्त प्रकार से श्रीउद्धव ने एवं रेवतीपति श्रीबलदेव ने व्रज के परमानन्द को परिपूर्ण कर दिया । अब दन्तवक्र वध के अनन्तर श्रीकृष्ण की व्रज में आगमनरूप जिस क्रीडा के लिए, पूर्व एवं उत्तररूप दो चम्पूग्रन्थों का निर्माण आरम्भ किया था, उसी को प्रमाणों के सहित निरूपण करने के लिए, इस उत्तरचम्पू में कृष्णपूर्णव्रज नामक विलास भक्तों के आस्वाद के लिए परोसा जा रहा है । जिस विलास में श्रीकृष्ण के व्रज में आ जाने के बाद, पहले पहले की भाँति ही मधुकण्ठ एवं स्निग्धकण्ठ नामक वे दोनों सूतपुत्र, उसी कथा का, अर्थात् दन्तवक्र वध के अनन्तर श्रीकृष्ण की व्रजागमनरूप कथा का विस्तार करने लगे ॥२॥

तत्र श्रीव्रजयुवराजविराजमानव्रजराज-सदसि स्निग्धकण्ठ उवाच,—"तदेवं विलासद्वयं कथितम् । यत्र तूद्धवरामौ व्रजस्य कृष्ण-विरहव्याधि प्रत्यौषधनिभसान्त्वनविधौ नासत्यौ जातौ, किन्तु नाऽसत्यौ ॥३॥ तथापि—

"यदा रामः कृष्णाऽऽनयनमनु संविद्रचनया, व्रजं सान्त्वं सान्त्वं व्रजति स पुरा यादवपुरम् ।
तदा तृष्णा तस्याभ्यधिकमभवत् प्रावृषि यथा, समीपायां धैर्यं वहति न हि वापीहनिवहः ॥४

"किञ्च, ते कृष्णाऽऽह्वयमालिहन् घनरसं साक्षात्कृतं सीरिणा
स्फूर्तिव्याजि तथापि तत्र विदधुस्तृष्णां त्रिदोषार्तिवत् ।
तस्मादत्र सुखं दधुर्यदनिशं तन्नाऽनृतं यन्मुहु-
स्तत्प्राप्तिं प्रति लालसामपि ययुर्व्याहन्यते तच्च न ॥५॥

"तदेवं रामदत्तप्रत्याशायां व्याप्तप्रत्याशायां दिनान्तरे पूर्वपूर्ववत् द्वारकापुरात् दूता॰वागम्य सम्यगिदं जगदतुः,—'सम्प्रति झटिति व्रजाऽऽगमनं घटयितुकामः श्रीरामस्तद्विघ्न-निवारणाय स्वयमेव दुर्दुरूढविजयारम्भं संभवन्नास्ते । तदिदं श्रूयताम्—यद् द्विविदघातनम्' इति ॥६॥

उसमें भी व्रजयुवराज श्रीकृष्ण के द्वारा विराजमान श्रीव्रजराज की सभा में स्निग्धकण्ठ बोला—इस प्रकार "उद्धवपूर्णव्रज" नामक, एवं "बलरामपूर्णव्रज" नामक दो विलास कहे गये । जिन दोनों विलासों में क्रमशः उद्धव एवं बलराम व्रज की श्रीकृष्ण-विरहरूप व्याधिके प्रति औषध के समान सान्त्वना-रूप विधि में नासत्यौ, अर्थात् स्वर्गीयवैद्य अश्विनीकुमार ही हो गये थे, किन्तु वे दोनों असत्य नहीं हुए, अर्थात् सच्चे ही रहे ॥३॥

तथापि जब वे बलरामजी पहले श्रीकृष्ण को व्रज में लाने के विषय में प्रतिज्ञा करके, व्रजवासियों को बारंबार सान्त्वना देकर द्वारका में गये थे, तब व्रजवासियों की श्रीकृष्ण से मिलने की तृष्णा उस प्रकार अत्यधिक हो गई थी कि, जिस प्रकार वर्षाऋतु के निकट आ जानेपर चातकसमूह धैर्य नहीं धारण करता है ॥४॥

किंच त्रिदोष का रोगी, अर्थात् हैजे के रोगवाला प्राणी बारंबार जल पीकर भी,जैसे जल की तृष्णा धारण किये रहता है, उसी प्रकार वे व्रजवासी लोग बलरामजी के द्वारा साक्षात् किये गये स्फूर्ति के बहानावाले श्रीकृष्णनामक जल का आस्वादन कर चुके थे, तो भी श्रीकृष्णरूप जलपर तृष्णा ही धारण करते रहे । इसलिए स्फूर्तिरूप श्रीकृष्ण के साक्षात्कार के कारण वे व्रजजन इस कृष्ण आस्वाद में बारंबार जिस सुख को धारण करते थे, वह सुख मिथ्या नहीं था । कारण—वे श्रीकृष्ण की प्राप्ति के प्रति लालसा को भी प्राप्त हो गये थे । अतः उनका सुख नष्ट नहीं हो पाता था ॥५॥

अतएव "मैं श्रीकृष्ण को अवश्य ही व्रज में ले आऊँगा" इस प्रकार श्रीबलराम की दी हुई प्रत्याशा जब प्रत्येक दिशा में व्याप्त हो गई, तब दूसरे दिन पहले पहले की भाँति द्वारकापुरी से दो दूत आकर भली प्रकार यह कहने लगे कि—अब तो शीघ्र ही श्रीकृष्ण का व्रज में आना संघटित करने की कामनावाले, श्रीबलराम उसमें आनेवाले विघ्न को दूर करने के लिए स्वयं ही दुष्टों के विजय का आरम्भ कर रहे हैं । अतः द्विविद नामक वानर का जो विनाश है, इसको श्रवण कीजिये ॥६॥

"व्रजराज उवाच,—'को वायं विद्विड् द्विविदतया मतः ?' "दूतावूचतुः,—'यः खलु राघवेन्द्रकटकेऽपि वानरेन्द्रः प्रकटतया घटनां गतः ।' "व्रजराज उवाच,—'हन्त स कथमकूटः स्फुटं दुर्दुरूढवद् घातितः ?' "दूतावूचतुः,—'तस्य सम्प्रति नरकासुरसङ्गत्या वैमत्यातिशयः प्रत्यासन्नः' इति ॥७॥

"व्रजराज उवाच,—'तादृशस्य तादृशसङ्गतिमपि न भृशं परामृशामः ।' "दूतावूचतुः,—'तस्य कारणमपि तत्रावधारणमवाप, यत् पुरा लक्ष्मणं प्रति तस्याऽविनयलक्ष्म लक्ष्यते स्म ।' "व्रजराज उवाच,—'दुर्गमः खलु सतामनुगमः । भवतु, साम्प्रतं हतव्रतस्य तस्य दुर्नयं वर्णयतम् ॥'८॥ "दूतावूचतुः,—

'परलोकगतस्यापि साचिव्यं नरकस्य सः । कुर्वन् नरकसंहर्तुर्देशादिकमुपाद्रवत् ॥९॥

'यथा— क्षिप्तैर्वह्न्यब्धिशैलैर्दिशि विदिशि पुरग्रामघोषान् विनिघ्नन्
स्त्रीपुंसानद्रिगर्तान्तिरमनुवलयन् प्रस्तरैरास्तरंश्च ।
साध्वीधर्मं विधुन्वन्मुनिनिलयमपि ध्वंसयन् कुत्सयंश्च
स्वैरं कृष्णस्य देशान् द्विविदकपिरसावर्दयन्नुन्ममर्द ॥'१०॥

"व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—'ततश्च यत्रैव रैवतमनु रेवती-रमणस्य रममाणस्य सङ्गीतं कर्णसङ्गीचकार, तत्रैवाऽऽगत्य तरुततयवधूननया पत्र-पुष्प-फल-

---

श्रीव्रजराज बोले—द्विविदरूप से माना गया यह शत्रु कौन सा था ? दोनों दूत बोले—जो द्विविद श्रीरामचन्द्र की सेना में भी वानरों का सेनापति होकर प्रगटरूप से घटना को प्राप्त हुआ था। श्रीव्रजराज बोले—हाय ! वह निष्कपटी द्विविद स्पष्ट ही दुष्ट की तरह कैसे मरवा दिया ? दोनों दूत बोले—इस समय नरकासुर की संगति के कारण उस द्विविद का अत्यन्त विरुद्धभाव उपस्थित हो गया था ॥७॥

श्रीव्रजराज बोले—श्रीराघवेन्द्र के सेवकरूप उस द्विविद को उस नरकासुर जैसों की सङ्गति कैसे हो गई ? इस बात को भी हम अतिशय नहीं विचार पा रहे हैं। दोनों दूत बोले—उस दुर्जन की सङ्गति का कारण भी "बलदेव के ऊपर द्वेष करने के विषय में" निश्चित हो चुका है। जो कि पहले, अर्थात् रामावतार के समय लक्ष्मण के प्रति भी उस द्विविद की उद्धतता का चिह्न दिखाई देता था। श्रीव्रजराज बोले—सज्जनों का अनुगमन करना निश्चय ही बहुत कठिन है। अच्छा, जो हो। अब तो तुम दोनों जिसका श्रीराम-लक्ष्मण की सेवारूप व्रत खण्डित हो गया है, उस द्विविद की दुर्नीति का वर्णन करो ॥८॥

दोनों दूत बोले—वह द्विविद परलोक में गये हुए नरकासुर की भी सहायता करता हुआ, नरकासुर को मारनेवाले श्रीकृष्ण के देश आदि को नष्ट करने लग गया ॥९॥

यथा—वह द्विविद नाम का वानर दिशा विदिशाओं में फेंके हुए अग्नि, समुद्र, एवं पर्वतों के द्वारा नगर, ग्राम, एवं गोपों के स्थानों को नष्ट करता हुआ, स्त्री-पुरुषों को पर्वत की गुफा में रखकर, पत्थरों से गुफाओं को ढकता हुआ, सतीनारियों के धर्म को नष्ट करता हुआ, मुनियों के स्थान को भी भ्रष्ट एवं मल मूत्रादि से निन्दित करता हुआ, श्रीकृष्ण के आनर्त आदि देशों को स्वेच्छापूर्वक पीडित करता हुआ, विनष्ट करने लग गया ॥१०॥

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उसके बाद वह द्विविद रैवतक पर्वतपर क्रीडा करते हुए रेवतीपति श्रीबलराम के संगीत को जहाँपर भी कर्णगोचर कर पाता था, वहींपर

शाखाः शीयमानस्तद्गीयमानविडंबकः स किल किलकिलाशब्दमाततान। तेन हसन्तीश्च तस्य वसतीर्विलोकयन् निजजातिजविलोलतया बहूपजहास ॥११॥ किं बहुना,—

स मत्वा रामसम्बन्धं रामः सहनतां गतः।
तथापि कोटिधा धृष्टं कृष्टप्राणं चकार तम् ॥१२॥

यद्यपि कृष्टप्राणं, चकार रामस्तदा द्विविदम्।
सदयं तदपि तमूहे, स विविधदोषादमूमुचद् यदमुम् ॥१३॥

'तत्र युद्धं यथा—

ग्रावभिराहतिरिह वञ्चनगतिरपहृतमधुता क्षणमिव मृदुता।
वस्त्रास्फालनमथ सम्भालनमविनयवलना समुसलहलना ॥१४॥

सालहतिर्लसदङ्गसमिद्रसमुसलक्षिप्तिः स्वासृग्लिप्तिः।
कुतुकालोकः सालविमोकस्तस्य च्छेदः स स च सभेदः ॥१५॥

प्रस्तरवृष्टिर्मुसलविसृष्टि-स्फुटचूर्णीकृतिरधिदूरावृति।
मुष्टिभ्यां हतिरथ तद्वद्गतिरनुगतमृतिता संभृतकृतिता ॥१६॥

आ कर, वृक्षों की पंक्ति को हलाकर पत्र, पुष्प, फल, एवं शाखाओं को तोड़ता हुआ, बलरामजी के गायन की विडम्बना करके, किलकिला शब्द का विस्तार करने लग गया। उस शब्द से हँसती हुई बलदेव की प्रियाओं को देखता हुआ, अपनी वानरजाति से उत्पन्न स्वाभाविकी चंचलता से अधिक हँसने लग गया ॥११

अधिक कहने से क्या ? देखो, वे बलरामजी श्रीरामचन्द्रजी के सम्बन्ध को मानकर, सहनशीलता को प्राप्त हो गये थे। तो भी करोड़ों प्रकार से धृष्टता करनेवाले उस द्विविद को उन्होंने प्राणरहित कर दिया ॥१२॥

बलरामजी ने उस समय द्विविद को यद्यपि प्राणों से रहित कर दिया था, तो भी मैं तो उन बलरामजी को दया से युक्त ही विचारता हूँ, क्योंकि उन्होंने उस द्विविद को अनेक प्रकार के दोषों से विमुक्त कर दिया ॥१३॥

वहाँ के युद्ध का वर्णन, यथा—इस युद्ध में बलरामजी के द्वारा पत्थरों से द्विविद का ताड़ना, एवं द्विविद का पत्थरों को बचाने का उपाय ग्रहण करना, केवल यही नहीं; उस मदिरा के कलश को हर कर भी मानो क्षणभर कोमलता धारण करना, पश्चात् बलदेव की प्रियाओं के वस्त्रों का आकर्षण करना, उसके बाद दुर्व्यवहार करना, एवं धृष्टता की योजना करना, अनन्तर बलरामजी द्वारा मूसल के सहित हल को धारण करना ॥१४॥

पश्चात् द्विविद के द्वारा शाल वृक्षों से बलदेव की ओर आघात करना, अङ्ग में शोभायमान युद्ध के रस से बलदेवजी द्वारा मूसल का फेंकना, उसके प्रहार से अपने रुधिर से द्विविद का लिप्त हो जाना, बलरामजी का उसको कौतुकपूर्वक देखना, द्विविद का शाल के वृक्ष को फेंकना, बलदेव का उस वृक्ष को छेदन करना, पुनः द्विविद के द्वारा शाल वृक्ष फेंकना, एवं बलदेव द्वारा उसका भेदन करना ॥१५॥

पश्चात् द्विविद का पत्थरों की वृष्टि करना, बलदेवजी का मूसल फेंक कर उन पत्थरों को स्पष्ट ही चूर्ण कर देना, उन पत्थरों के द्वारा बहुत दूरतक घिर जाना, द्विविद का अपने मुक्काओं से बलदेव को

तदिदमनुक्रमलब्धनिजक्रम-कपिबलयुद्धं पृथगुद्बुद्धम् ।
अकरोदचलामसकृत् प्रचलामिति सङ्कुलिता तत्कृतकलिता ॥'१७॥

"तदेवं कथितवतोरनयोरपरावपि द्वारकापथिकौ तत्राऽऽगति प्रथितवन्तावाहतुश्च,—'द्विविदहन्तुरितोऽप्यन्यदाश्चर्यमवधार्यताम्, यद् हस्तिनापुरं प्रस्थितवता तेन तदुदस्तीकृत-कल्पमस्ति ॥१८॥

"सर्वे साश्चर्यमूचुः,—'किमिदं वृत्तं कथ्यताम् ।' "दूतावूचतुः,—'जाम्बवतीसुतः साम्बः खलु स्वयंवरं संबलमानः सुयोधनसुतामेकक एवाचकर्ष; यत्र शल-भूरि-भूरिश्रवः-सुयोधन-कर्णाः शोणवर्णाः सन्तः किमपरं भीष्मश्च भीष्म इव सन् तमव्यग्रीभवन्तं वीरप्रवेक-मेकमनेकतालब्धातिरेकतया घनीभूता यदुपद्मबन्धुं बबन्धुः । 'बद्धं च तं नारदमुखात् कर्णयोः संबन्धं कृत्वा धीरतामधृत्वा यदुसमूहेषु घटितकटकव्यूहेषु बलभद्रः कुरूणां भद्रमिच्छन् शिक्षणाकृते तेषां धाम जगाम ॥१९॥

'तदनुजन्मभावी तु भावि कौतुकं भावितं कुर्वन्न किञ्चित् पूर्वं जगाद ॥२०॥

'अथ स तु विप्रप्रायेण सम्प्रदायेन सार्धं कुरुपुरीतः क्रोशार्धस्थितक्रीडावनमनु स्थितवान्, प्रस्थापितवांश्च तेभ्यः शुद्धं सन्देशमुद्धवद्वारेति स्थिते ते च साम्बमोचनार्थमेव

पीटना, पश्चात् बलदेव का भी उसी तरह मुक्काओं से द्विविद को पीटना, उस पीटने के द्वारा द्विविद की मृत्यु हो जाना, उस से बलदेव का शत्रुमारणरूप कार्य का परिपूर्ण हो जाना ॥१६॥

अतएव इस प्रकार क्रमशः अपनी अपनी परिपाटी को प्राप्त द्विविद एवं बलरामजी के युद्ध ने अलग अलग जागृत होकर, पृथ्वी को बारंबार कम्पित कर दिया। इस प्रकार उन दोनों के द्वारा किये गये युद्ध का भाव संक्षेप से कह दिया ॥१७॥

इन दोनों दूतों के इस प्रकार कहनेपर द्वारका के पथिक दूसरे दो दूत वहाँपर आगमन कर गये और बोले—द्विविद को मारनेवाले बलदेवजी का द्विविद वध की अपेक्षा भी दूसरा आश्चर्य श्रवण कीजिये। जो कि हस्तिनापुर जाकर बलदेवजी ने वह पुर मानो उखाड़े जैसा कर दिया है ॥१८॥

सभी आश्चर्यपूर्वक बोले—कहिये, यह क्या वृत्तान्त हुआ ? दोनों दूत बोले—जाम्बवती के पुत्र साम्ब ने स्वयंवर में जाकर अकेले ने ही, दुर्योधन की पुत्री लक्ष्मणा को हर लिया। जिस कन्याहरण में शल, भूरि, भूरिश्रवा, दुर्योधन, कर्ण इन सबों ने क्रोध में रक्तवर्ण होकर, अधिक क्या कहें, भीष्म ने भयंकर से होकर, एवं अनेक होने के कारण अधिकता के लाभपूर्वक एक जगह मिलकर, व्यग्र न होनेवाले अकेले ही वीरश्रेष्ठ यदुकुल के सूर्यरूप उस साम्ब को बाँध लिया। बँधे हुए साम्ब को श्रीनारद के मुख से कर्ण-गोचर करके, धैर्य छोड़कर, यादवगणों के सैन्यव्यूह की रचना करनेपर, श्रीबलदेवजी कौरवों का मङ्गल चाहते हुए, उनको समझाने के लिए, उनके स्थान हस्तिनापुर को चले गये ॥१६॥

बलराम के छोटे भाई श्रीकृष्ण ने तो आगे होनेवाले कौतुक को विचार कर पहले कुछ भी नहीं कहा ॥२०॥

अनन्तर श्रीबलरामजी तो अधिकतर ब्राह्मण सभ्यसमाज के साथ कौरवों की पुरी से आधी कोस की दूरीपर स्थित क्रीडावन में ठहर गये। और उन्होंने उद्धव के द्वारा कौरवों के लिए शुद्ध सन्देश भिजवा

सोऽयमागत इति मत्वा तत्प्रार्थनया स्वीयमहत्त्वाय ससम्भ्रममेव तमनुचक्रमुः; अनुक्रम्य च परमादरतत्परतां ज्ञापयितुमाज्ञावितरः क्रियतामिति विज्ञापयामासुः ॥२१॥

'स तु मनसीदं विदाञ्चकार,—'मत्सम्बन्धेन सम्बन्धबन्धेन कदाचिदेतेऽपि क्रमादद्धा कृष्णसंबद्धा भवेयुरिति सम्भावनासमुपलम्भादहमेषु विषमेषु च पक्षपातं रक्षन्नस्मि। एते तु पक्षतामात्रं लक्षयन्तस्तं मां परमादरतयाऽनुसरन्ति। मदीयहृदयमणिं तं पुनररिसरणिमनुगणितं कुर्वन्ति। तत्र चाऽलं बहुना, जहुमपि तमस्मदीयं न जहुः, किन्त्वबन्धुवद् बबन्धुः। तस्मात् कृष्णेन कथ्यमानं तथ्यमेव तदेषां वैतथ्यमिति नाऽमी साममयीं मुद्रामर्हन्ति, किन्तु भेदमयीमेव। तत्र च क्षुद्रेष्वमीषु शूद्रेषु वेदमिव कृष्णस्य नाम नाम्नातुं युक्तं परं तूग्रसेनस्य वरमिति ॥२२॥

'अथ स्पष्टमाचष्ट,—दूतव्रताऽऽगतानामस्माकं न काचिदाज्ञा, किन्तु राज्ञामुग्रसेनचरणानामेवेति ॥'२३॥

"व्रजराज उवाच—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—'ततश्च परस्परमीक्षमाणतया कृतान्तस्य पुरत इव तस्याग्रतः कृतान्तःक्रोधसर्गेषु कुरुवर्गेषु स पुनरनर्गलमुवाच,—सा च श्रवसोराचर्यताम्। अस्माकमजिह्मेन डिम्भेन तेन क्षत्रियाणामुचित एव धर्मः प्रचितः, भवद्भिः पुनः क्रुद्धतां संभवद्भिरशास्त्रबुद्धं युद्धमुद्बुद्धं चक्रे; यदेककृतेऽनेकता शिश्रिये, स तु

दिया। ऐसी स्थिति में वे कौरव भी "ये बलदेवजी साम्ब को छुड़ाने के लिए ही आये हैं" यह समझ कर, बलदेव की प्रार्थना से अपने महत्त्व के लिए वेगपूर्वक ही बलदेव के निकट चले आये। और आते ही विशेष आदर तत्परता को जताने के लिए "भगवन्! आज्ञा प्रदान कीजिये" यह निवेदन करने लगे ॥२१॥

बलदेवजी तो अपने मन में यह विचारने लगे कि—मेरे सम्बन्ध से कृष्णपुत्र के विवाहरूप सम्बन्ध के बन्धन से कदाचित् ये दुर्योधनादि कौरव भी क्रमशः साक्षात् श्रीकृष्ण से संबद्ध हो सकते हैं, इस प्रकार की सम्भावना को पाकर ही, मैं इन कुटिलोंपर भी पक्षपात रख रहा हूँ। किन्तु ये दुष्ट तो केवल मित्रता को देखते हुए परम आदरपूर्वक मेरा अनुसरण कर रहे हैं। और मेरे हृदय के मणिस्वरूप श्रीकृष्ण को पुनः शत्रुओं के मार्ग में गिन रहे हैं। अतः इनके ऊपर अधिक पक्षपात से कोई प्रयोजन नहीं है। क्योंकि इन्होंने हमारे बालक साम्ब को भी नहीं छोड़ा है, किन्तु शत्रु की तरह बाँध लिया है। अतः श्रीकृष्ण का कहना सत्य ही है,किन्तु वह कहना इनके सम्बन्धमें व्यर्थ ही होगा। इसलिए ये कौरव शान्तिमयी मुद्राके योग्य नहीं हैं, किन्तु भेदमयी मुद्रा के ही योग्य हैं। और उसमें भी शूद्रों के निकट वेदोच्चारण की तरह, इन क्षुद्रों के निकट श्रीकृष्ण का नाम लेना भी उचित नहीं है। परन्तु उग्रसेन का नाम लेना ही उचित है ॥२२॥

इस प्रकार विचार कर स्पष्ट बोले कि—हम तो दूतों का व्रत अवलम्बन करके यहाँ आये हैं, अतः हमारी तो निजी कोई आज्ञा नहीं है, किन्तु पूज्यपाद श्रीउग्रसेनजी महाराज की ही आज्ञा है ॥२३॥

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उसके बाद आपस में देखने के भाव से, यमराज के आगे की तरह श्रीबलदेव के आगे, अपने अपने अन्तःकरण में क्रोध उत्पन्न करनेवाले कौरवों के बीच में, श्रीबलदेवजी पुनः संकोचरहित बोले—उस राज आज्ञा को कर्णगोचर कीजिये। देखो, हमारे उस सरल बालक ने क्षत्रियों के उचित (राक्षस विवाहरूप) धर्म का ही अवलम्बन किया है। किन्तु आप सबने क्रोधी के भाव को धारण करके शास्त्र में न जाने हुए युद्ध को जागृत कर दिया, जो कि अकेले साम्ब

भवत्कन्याहारी वीरपारीन्द्रः स्फुटमन्यायेनापि न वारीगतः कर्तुं शक्येत, यद्यस्माकं शिक्षां न वीक्षेत। भवतु, भवद्भिरद्याप्यनवद्या रीतिरापद्यताम्' इति ॥२४॥

"व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—'ते तु तदाकर्ण्य वैवर्ण्यपूर्णवदनतया तूर्णमेव विविधमवर्णं वर्णयन्ति स्म; यत् खलु भीष्ममुखाः केचन कृष्णातिक्रमग्रीष्मवशाद्विवर्ण-मुखा अपि स्वधर्मकर्मठतास्पृष्टप्रायमर्मतया न निवारयन्ति स्म। तत्राऽऽस्तां तावद्दूरे यदूननु तेषामूनताऽभिधानम्, तस्मादप्यप्रत्यासन्ने वर्तताम्, तमुग्रसेनं प्रत्यप्युग्रताविधानं तस्मादपि विप्रकृष्टे तिष्ठतु, स्वमप्यनादृत्य परिवृत्य गृहान्तर्गमनानुसन्धानम्। अहो ! कृष्णं प्रत्यपि कथं सोऽग्रमनन्तः धृष्णग्वचः सहताम् ? यत्र स्वयं तन्मुख्यमुद्दिश्य दूरतो दिशति स्म—रे दुर्बोधन ! दुर्योधन ! हरिमभजसि चेदनेधि चिररात्राय त्वम्' इति ॥२५॥

"व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—'ततश्च,

सर्वोत्तमानां तैरुक्ता यदूनां विपरीतता। इतीव विपरीतत्वं तत्पुर्याः स व्यधित्सत ॥'२६॥

"व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—'ततश्च शाक्यदुर्वादमिव तत्तद्-दुर्वाक्यं सोत्प्रासमनूद्य तदनूद्यमलवं वलयन् विविधसदङ्गां पुरं च तां गङ्गां कर्षंस्तदिद-मकार्षीत् ॥२७॥ यथा—

के लिए आप सबने अनेकता आश्रित कर ली। अतः उसको अन्याय से बाँधना उचित नहीं था। और आपकी कन्या को हरनेवाला वह वीरश्रेष्ठ साम्ब यदि हमारी शिक्षा का निरीक्षण नहीं कर पाता तो, स्पष्ट ही अन्याय से भी आप सबके द्वारा बन्धनगत नहीं किया जा सकता था। अच्छा, जो हुआ सो हुआ। किन्तु आप सबको आज भी अनिन्दित रीति अङ्गीकार कर लेनी चाहिये ॥२४॥

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—वे दुर्योधन आदि कौरव तो उस बात को सुन कर, मलिनता से पूर्ण मुखवाले होकर, शीघ्र ही अनेक प्रकार के आक्षेप वचन कहने लग गये। कारण—श्रीभीष्म आदि कुछ व्यक्ति तो श्रीकृष्ण की अवहेलनारूप उष्णता से मलिन मुखवाले होकर भी, अपने क्षत्रियधर्म की कर्मवीरता से प्रायः स्पर्शयुक्त मर्मवाले होने के कारण, दुर्योधन आदि का निवारण नहीं कर रहे थे। किन्तु यह सब दुर्योधनादि के दर्प को चूर्ण करने को ही जानना चाहिये। उसमें यदुवंशियों को लक्ष्य करके उनके छोटेपन का कथन दूर रहे। उन राजाधिराज श्रीउग्रसेनजी के प्रति जो उग्रता का विधान है, वह उसकी अपेक्षा भी दूर रहे। और अपने को अर्थात् बलदेव को भी तिरस्कृत करके लौट कर अपने घर में जाने का जो अनुसन्धान है, वह उसकी अपेक्षा भी बहुत दूर रहे। हाय ! श्रीकृष्ण के प्रति भी दुर्योधनादि के कहे हुए धृष्टता के वचन वे बलदेवजी किस प्रकार सह सकते हैं ? क्योंकि जिस न सहने में वे कौरवों के मुख्य दुर्योधन का उद्देश्य करके स्वयं दूर से ही आदेश देने लगे कि—अरे ! दुर्मते ! दुर्योधन ! यदि तू हरि का भजन नहीं करता है तो, बहुत दिनतक स्थायी मत रह, अर्थात् शीघ्र ही मर जा ॥२५॥

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उसके बाद उन कौरवों ने सर्वश्रेष्ठ यादवों की विपरीतता, अर्थात् अत्यन्त निकृष्टता कह दी थी, मानो बलदेवजी ने इसी कारण से उनके हस्तिनापुर की विपरीतता, अर्थात् उल्टा पल्टी करने की इच्छा की थी ॥२६॥

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उसके बाद तो वेदनिन्दापरक शाक्यमुनि (बुद्धदेव) के पाषण्डमय दुर्वाद की तरह, उन उन कौरवों के श्रीकृष्णनिन्दारूप दुर्वाक्यों का

उत्कुर्वन्नट्टहासं कटुकटकघटाकृष्टकोटिप्रकृष्टं
कृष्टं कर्तुं पुरं तत् प्रकटहलहलारावमस्यन् हलाग्रम् ।
आकर्षंस्तत्र धर्षं विदधदपि जगद्धर्षमुच्चैर्वितन्वन्
श्रीमान् सङ्कर्षणः स स्फुटमरिगणमुद्बाष्पवर्षं चकार ॥२८॥

यर्हि न्यग्भावमग्रं गतमपरमभूदुन्नतं तर्हि तस्याः
पुर्यास्तैस्तैः समस्तैः कुरुनृपतनयादीन् पुरस्ताच्छपद्भिः ।
आक्षिप्तास्ते सलज्जाः शरणमुपगताः कन्यया साम्बमग्रे
कृत्वा नम्रा बलेन स्फुरदुरुकरुणं वीक्षिताः शिक्षिताश्च ॥२९॥

'भोः ! कुरुवराः ! भूयस्तु यूयमेवं कुपूयं मास्म कुरुतेति । ततश्च, लब्धसाध्वसरोधनः स दुर्योधनः साश्रितपूर्जनः कृततत्पूजनः सुबहु यौतकमानीय पुरतः प्रणीय तं जामाता-दुहितृभ्यां सह प्रस्थानाय प्रार्थयामास । साम्बस्तु प्रस्तुतलज्जतां सज्जंस्तैः समस्तैः सह प्रत्येकन्याययुद्धमेव स्वबृहत्तातपुरस्तादात्मनाऽनुरुद्धं चकार, न तु यत्नवशादपि कन्यारत्नमिति स्थिते पुनरपि ते व्यग्रास्तिरीटकिरीटस्पृष्टतत्पदपदव्यग्रास्तं सानुग्रहतां ग्राहयामासुः ।।'३०॥

"व्रजराज उवाच,—'कृष्णाऽनुगतिस्पृहो भीष्मः कथमसत्पक्षं गृहीतवान् ? कथं वा साम्बपितृव्यः साम्बसंवलितं तत्पुटभेदनं भेदनं नेतुं तत्क्षणं तत्क्षणमक्राक्षीत् ॥'३१॥

तिरस्कारपूर्वक अनुवाद करके, पश्चात् किंचित् उद्यम करते करते बलदेवजी ने अनेक प्रकार के अट्टालिका आदि सुन्दर अङ्गोंवाली उस हस्तिनापुरी को, गंगा में खींचते हुए यह कर दिखाया ।।२७।।

यथा—श्रीमान् बलराम ने ऊँचा अट्टहास करते हुए, तीक्ष्ण सेनाश्रेणी की चिल्लाहट से जिसका अग्रभाग उत्कृष्ट है, उस हस्तिनापुर को खींचने के लिए, प्रगट हलहला शब्दपूर्वक हल के अग्रभाग को फेंकते हुए, उस पुर को खींचकर गंगा में तिरस्कृत करते हुए भी, जगत् के हर्ष को ऊँचा करते हुए, दुर्योधन आदि शत्रुसमूह को स्पष्ट ही उमड़ती हुई अश्रुवृष्टि से युक्त कर दिया ।।२८।।

उस हस्तिनापुर का अग्रभाग जब नीचा हो गया, एवं पीछे का भाग जब ऊँचा हो गया, तब धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनादिकों को सामने ही गाली देनेवाले उन उन समस्तजनों के द्वारा आक्षिप्त हुए,वे दुर्योधन आदि लज्जित होकर एवं नम्र होकर, कन्या के साथ साम्ब को आगे करके, बलदेवजी की शरण में आ गये । श्रीबलदेवजी ने उनको उमड़ती हुई भारी करुणापूर्वक देखा एवं शिक्षा भी दी ।।२९।।

यथा—हे कौरवश्रेष्ठ पुरुषो ! देखो, तुम सब पुनः ऐसा कुत्सित (निन्दित) कार्य कभी न करना । उसके बाद भय से रुकावट को प्राप्त करनेवाला वह दुर्योधन, अपने आश्रित पुरजनों के सहित श्रीबलदेव का पूजन करके, सुन्दर सुन्दर बहुत से दहेज लाकर, उनके आगे धर कर, जमाई एवं अपनी पुत्री के सहित प्रस्थान के लिए, उनसे प्रार्थना करने लग गया । साम्ब ने तो प्रस्तुत हुई लज्जा के भाव को धारण कर, उन सभी कौरववीरों के साथ प्रत्येक के न्यायसंगत युद्ध का ही, अपने बड़े पिता, अर्थात् ताऊ श्रीबलदेवजी के आगे अनुरोध प्रगट किया, किन्तु प्रयत्न करनेपर भी कन्यारत्न को अंगीकार करने का अनुरोध नहीं किया । ऐसी स्थिति में उन कौरवों ने फिर भी व्यग्र होकर पगड़ी से युक्त मुकुट के द्वारा, उनके चरणों के मार्ग को छूकर, साम्ब को अनुग्रह से युक्तभाव को ग्रहण कराया ।।३०।।

श्रीव्रजराज बोले—श्रीकृष्ण की अनुगति की इच्छा रखनेवाले भीष्म ने असज्जनों के पक्ष को क्यों

"दूतावूचतुः,—'भीष्मस्तावद्भाविमर्मज्ञान्तरतया केवलं क्षात्रं धर्ममनुसृतवान्; रामश्च कुरुदायादान् दायंस्तत्पत्तनस्योत्पातमेवारब्धवान्न तु पातम्' इति ॥३२॥

"व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः—'ततश्च सहर्षं सङ्कर्षणः स्नुषापुत्रावादाय द्वारकायामाधाय यां सर्वां वार्तां वर्तयामास, तया कृष्णः पुनः स्मितमेवानुवर्तयामास। मया तेषामन्तरमनुभूयत एव भवता पुनः सरलेन भूयत इति व्यञ्जयितुम्' इति ॥"३३॥

अथ स्निग्धकण्ठः समापनमाह स्म,—

"कथनमिदमनूक्तमाज्ञाया ते, न च चरितं भवतीत्थमेव सद्यः।
व्रजनृप ! कलयाऽत्र पार्श्वतस्त्वं, स्वनयनयोः सुखमात्रकृष्णधाम ॥" इति ॥३४॥

तदेवं सन्तोष्य क्षणकतिपयं तूष्णीकामवलम्बमाने तस्मिन् व्रजवन्दिनः श्रीरामं ववन्दिरे—
"द्विविददुरन्तचरित्र-कोपिन् ! सज्जनमित्र !। रैवतलीलालक्ष्य ! प्राकृतधीभिरलक्ष्य ! ॥
निजरामागणजुष्ट ! तत्कपिधाष्टर्याद् रुष्ट !। तेन समं कृतयुद्ध ! तद्युधि कौतुकरुद्ध ! ॥
चिरहतकपिकुलदुष्ट ! सुरमुनिगणनुतितुष्ट !। कुरुभिः साम्बे बद्धे यदुनिवहे सन्नद्धे ॥
स्वयमथ सन्धि कलियन् शान्तान् सङ्गे वलयन्। कुरुनगरं लघु गतवन् ! तद्दुर्वचनं श्रुतवन् ! ॥

ग्रहण किया ? और साम्ब के ताऊ श्रीबलदेव ने साम्ब के सहित उस हस्तिनापुर को तोड़ने के लिए अवसर दिखा कर, तत्काल क्यों खींच लिया ? ॥३१॥

दोनों दूत बोले—भीष्मजी ने तो भावी मर्म के जाननेवाले अन्तःकरण से युक्त होने के कारण, केवल क्षत्रियधर्म का अनुसरण किया था। और बलरामजी ने भी कौरवरूप बान्धवों को शुद्ध करते हुए, उस हस्तिनापुर का उखाड़नारूप उपद्रव ही आरम्भ किया था, किन्तु उसका गिराना नहीं ॥३२॥

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उसके बाद बलरामजी ने हर्षपूर्वक पुत्रवधू एवं पुत्रस्थानीय भ्रातृपुत्र साम्ब को लेकर, द्वारका में रखकर, जिस समस्त वृत्तान्त को वहाँपर प्रवृत्त किया था, उस से श्रीकृष्ण ने "मैं उन कौरवों के अन्तःकरण का अनुभव ही किये बैठा हूँ, किन्तु आप तो सरल हैं" इस भाव को प्रकाशित करने के लिए पुनः मन्दहास्य ही प्रकाशित कर दिया ॥३३॥

अनन्तर स्निग्धकण्ठ प्रसङ्ग की समाप्ति का द्योतक वचन बोला—हे व्रजराज ! देखो, मैंने आपकी आज्ञा से इस कथन का अनुकथन किया है। किन्तु इस प्रकार का चरित्र तत्काल नहीं किया जाता है। अतः यहाँपर तो अपने नेत्रों की सुखमात्र श्रीकृष्ण की मूर्ति को अपने निकट ही देख लीजिये ॥३४॥

इस प्रकार सभी को सन्तुष्ट करके स्निग्धकण्ठ के कुछ क्षणोंतक मौनावलम्बी हो जानेपर, व्रज के वन्दीजन श्रीबलराम की वन्दना करने लग गये—हे द्विविद के दुष्टचरित्र से कुपित होनेवाले ! एवं सज्जनों के मित्र ! बलराम ! आपकी जय हो ! हे रैवतपर्वत की लीलाओं से दर्शनीय ! हे प्राकृत बुद्धिवालों से अलक्ष्य ! एवं निज रमणीगण से सेवित ! तथा उस द्विविद वानर की धृष्टता से रुष्ट ! अतः उसके साथ युद्ध करनेवाले ! और उसके युद्ध में कौतुक से आवृत होनेवाले ! एवं बहुत देर में कपिकुल के दुष्ट द्विविद को मारनेवाले ! तथा देवता एवं मुनिगणों की स्तुति से सन्तुष्ट होनेवाले ! प्रभो ! आपकी जय हो ! उसके बाद कौरवों के द्वारा साम्ब के बँध जानेपर, यादवगणों के युद्ध के लिए सन्नद्ध (तत्पर) हो जानेपर, तदनन्तर स्वयं सन्धि करते हुए, शान्तजनों को सङ्ग में लेते हुए, कौरवों के नगर हस्तिनापुर में शीघ्र ही जानेवाले ! एवं उन कौरवों के दुर्वचन सुननेवाले ! प्रभो ! आपकी जय हो ! उनके पुर को ऊर्ध्वदृष्टि से देखते हुए क्रोध

तेषां पुरमुत्कलयन् वलितक्रोध हलयन् । गजसाह्वयमाकर्षन् परितश्चित्रं वर्षन् ॥
भीतकुरुश्रितपाद कृपया त्यक्तविवाद ! । वधुसुतयौतुकसङ्गि गृहमागा बहुरङ्गि ॥
सम्प्रति सह सहजन्म गोकुलमैर्निजजन्म । जय जय जय बलराम ! केवलमनुजाराम ! ॥"
इति ॥३५॥

अथ श्रीराधा-माधवयोः सदस्यपि कथकः स तयोः सुखाय पर्यवस्यति स्म; यथा चाह स्म,—॥३६॥

"यदवधि गोकुलदेशाद्, गतवान् सङ्कर्षणः कृष्णम् ।
तदवधि सङ्कर्षणतां, तं प्रति स गतः स्वघोषाय ॥३७॥
व्रजमनु कृष्णाऽऽकृष्टिः, याऽन्येनासावसूक्ष्मदृग्दृष्टिः ।
सूक्ष्मदृशां मतिरेवं, राधे त्वयि मूलमत्र सद्गुणता ॥"३८॥

समापनं चाह स्म,—

"एतावताऽलमतिविस्तरवर्णनेन, प्रत्यक्षमेव तदिदं वृषभानुपुत्रि ! ।
सोऽयं प्रियस्तव मुखं सुखवाष्पकीर्णं, निर्वर्ण्य शश्वदिह पश्य भृशं विभाति ॥"३९॥

धारणपूर्वक हल को धारण करते हुए, हस्तिनापुर को खींचते हुए, चारों ओर आश्चर्य की वर्षा करते हुए, आपकी जय हो ! हे भयभीत कौरवों के द्वारा आश्रित चरणोंवाले ! पुनः कृपापूर्वक विवाद को त्यागनेवाले ! आपकी जय हो ! पश्चात् आप लक्ष्मणा नामक वधू एवं साम्ब नामक पुत्र तथा दहेज के सङ्ग अनेक राग-रङ्गपूर्वक अपने घर में चले आये । अब तो आप अपने साथ जन्म लेनेवाले श्रीकृष्ण के सहित अपनी जन्म-भूमि गोकुल (व्रज) में आ गये हो, अतः आपके तो केवल छोटे भाई श्रीकृष्ण ही आराम (उपवन)स्वरूप हैं, अथवा आप भी केवल मनुष्य मात्र के लिए सुखदायक उपवनस्वरूप हो ! आपकी सदा जय जयकार हो प्रभो ! ॥३५॥

अनन्तर वही कथावाचक श्रीराधा-माधव की सभा में भी उन दोनों के सुख के लिए परिणत हो गया, अर्थात् समर्थ हो गया ॥३६॥

और बोला, यथा—श्रीबलरामजी गोकुल के प्रदेश से जब से श्रीकृष्ण के निकट गये थे, वे तभी से श्रीकृष्ण के प्रति अपने व्रज में लाने के लिए, विशेष आकर्षण करने के भाव को प्राप्त हो गये थे ॥३७॥

व्रज के प्रति श्रीकृष्ण का जो आकर्षण है, वह किसी दूसरे कारण से है, यह तो स्थूल दृष्टिवालों का विचार है । किन्तु हे श्रीमति राधिके ! सूक्ष्म दृष्टिवालों का ज्ञान तो इस प्रकार का है कि—इस आकर्षण में तो तुम्हारे में विद्यमान सद्गुणों का भाव ही मूलकारण है ॥३८॥

कथावाचक समाप्ति द्योतक वचन बोला—हे वृषभानुनन्दिनी ! इतने भारी विस्तृत वर्णन करने से कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि मैं श्रीकृष्ण के व्रज में आने का जो वर्णन कर रहा था, वह तो यह प्रत्यक्ष ही है । देखो, वे ही ये तुम्हारे प्यारे श्रीकृष्ण आनन्द के आँसुओं से व्याप्त तुम्हारे श्रीमुख को निहार कर, यहीं तो निरन्तर विशेष शोभा पा रहे हैं ॥३९॥

तदेवं कथां समाप्य सर्वेण सह गतयोः कथकयोः श्रीराधा-कृष्णावात्मतृष्णानुरूपमेव सदनमासदताम् ॥४०॥

इति श्रीश्रीमदुत्तरगोपालचम्पूमनु द्विविद-हस्तिनापुर-ध्वस्तिर्नाम
द्वाविंशं पूरणम् ॥२२॥

अथ त्रयोविंशं पूरणम्

श्रीनन्दादिसम्मिलनी कुरुक्षेत्रयात्रा

अथ दिनान्तरे लब्धस्वनन्दनश्रीमन्नन्दराजविराजमानसभान्तरे मधुकण्ठश्चेतसि चिन्तयामास,—"अथ कुरुक्षेत्रयात्रा कथनपात्राय सम्पद्यते स्म। "श्रीशुकदेवस्तु, युगपत्तल्लीलास्फुरणपुरस्कृतप्रेममयप्रमादादेव तां दूरे प्रतिपद्यते स्म; येन हि सा भीष्मद्रोण-दुर्योधनागमनमयी घटिता। दुर्योधनवधकालपर्यन्ता श्रीरामस्य तीर्थपर्यटना तु तत्पूर्वं पठिता। तथा कंसवधान्नातिविलम्बसंवलनया कुरुक्षेत्रयात्रायामेवार्जुनमात्रा सह वसुदेवसंवदनमिदं संवदते, (भा० १०।८२।२२)—

'कंसप्रतापिताः सर्वे वयं याता दिशं दिशम्।
एतर्ह्येव पुनः स्थानं दैवेनासादिताः स्वसः ! ॥' इति ॥१-२॥

इस प्रकार कथा को समाप्त करके सभी श्रोताओं के साथ दोनों कथावाचकों के चले जानेपर, श्रीराधा-कृष्ण भी अपनी इच्छा के अनुरूप भवन में ही पहुँच गये ॥४०॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रिविरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीमदुत्तरगोपालचम्पूकाव्ये द्विविद-हस्तिनापुर ध्वस्तिर्नाम
द्वाविंशं पूरणं सम्पूर्णम् ॥२२॥

तेईसवाँ पूरण

नन्दादिकों को श्रीकृष्ण से मिलानेवाली कुरुक्षेत्र यात्रा

इस तेईसवें पूरण में व्रजवासियों से द्वारकावासियों का सम्मेलन करानेवाली महान् सुखमयी कुरुक्षेत्र यात्रा का वर्णन होगा। अनन्तर दूसरे दिन अपने लाला श्रीकृष्ण को प्राप्त करनेवाले श्रीमान् नन्दरायजी से विराजमान सभा के मध्य में मधुकण्ठ अपने मन में विचारने लगा कि—अब तो मेरे कथाप्रसङ्ग में कुरुक्षेत्र की यात्रा ही कथन की योग्यता के लिए सम्पन्न हो रही है, अर्थात् वही कहनी उचित हो रही है। यदि कोई कहे कि—श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध में तो वह यात्रा श्रीबलदेव की तीर्थयात्रा एवं श्रीदामा के चरित्र से भी पीछे कही गई है,अतः उस कुरुक्षेत्र यात्रा को तुम यहाँ पहले कैसे वर्णन करते हो ? इस शंका के उत्तर में हम कहते हैं कि—श्रीशुकदेवजी ने तो एकसाथ उन उन लीलाओं की स्फूर्ति से पूजित प्रेममयी असावधानी के कारण ही, कुरुक्षेत्र यात्रा को दूर प्रतिपादन किया है। क्योंकि जिस प्रेममयी असावधानी से ही वह कुरुक्षेत्र यात्रा भीष्म, द्रोण, दुर्योधन आदिकों के आगमन से पूर्ण संघटित की है,एवं दुर्योधन के वध-कालतक होनेवाली श्रीबलरामजी की तीर्थयात्रा तो उस कुरुक्षेत्र की यात्रा से भी पहले कह दी। तथा कंस के वध के अनन्तर अत्यन्त विलम्ब की योजना न करके, कुरुक्षेत्र की यात्रा में ही अर्जुन की माता कुन्ती के साथ श्रीवसुदेव का संवाद (वार्तालाप) यह स्पष्ट कह रहा है कि—हे बहिन ! कुन्ती ! देख, हम सब

अथ व्यक्तमुक्तवान्,—"तदेवं स्थिते पुनर्दूतावाजग्मतुरूचतुश्च,—'तस्मिन्नरिष्टघाती सर्वेषां रिष्टतातिर्विराजते, सम्प्रति त्रिलोकीजनानामपि युगपत्कृतनेत्रसुखभातिर्भवितेति लक्ष्यते। यस्माज्ज्योतिर्विद्भिर्द्योतितं महदहर्पतिग्रहणं निशम्य सम्यक् कृततन्महिमवन्दनः श्रीमान् भवन्नन्दनः प्रचितविश्वानन्दनः सुपर्वनिर्मितसेवः स्वयमेव सर्वयदुदेवः प्रथितसुखपोषणां समन्ताद् घोषणां प्रदाय ससंप्रदायः कुरुक्षेत्रमागन्तुं शन्तुरस्ति' इति ॥३॥

"यदेतद्दूत-वचनान्ते निशान्ते स्वपत्न्या संमन्त्र्य सभायां सभावजनतया च व्रजेशिता मन्त्रयामास,—'अस्माकं तदेकतृष्णजामपि तत्सन्निधिनिधिं गन्तुमुद्यतानां विधिर्विरोधी वर्तते। तस्य पुनरागमनं मनसापि दुर्गममिति भवद्भिरनुभवद्भिरेव स्थीयते। सम्प्रति श्रूयते—सूर्यग्रहणमनु पूर्यमाणकुतुकतया कुरुक्षेत्राऽऽगमनाय कृताऽऽग्रहचयः स संभृतभवत्प्रणयस्तत्र विराजत इति। तत्र च तीर्थयात्रायां जगन्मात्रागमनपात्रतां गतायां नास्माकं गमनं विस्मायकं भवतीति तदुक्तः स खल्वस्मासु तदीयसुहृद्बुद्ध्या दुष्टद्वेषदोषस्तु न पोषं लभते' इति ॥४॥

कंस के द्वारा सन्तापित होकर प्रत्येक दिशा में चले गये थे, किन्तु दैवयोग से अभी पुनः द्वारकारूप सुरक्षित स्थान को प्राप्त कर पाये हैं। अतः कुरुक्षेत्र यात्रा यहीं वर्णन करनी उचित है ॥१-२॥

अनन्तर मधुकण्ठ स्पष्ट बोला—ऐसी स्थिति में पुनः दो दूत द्वारका से आये और बोले—अरिष्टासुर को मारनेवाले श्रीकृष्ण उस यदुपुर (द्वारका) में सभीजनों के रिष्टतातिः (कल्याण कर्ता) होकर विराजमान हैं। किन्तु अब तो यह दिखाई देता है कि, वे तीनों लोकों के जनों के भी एकसाथ नेत्रों के सुख को प्रदीप्त करनेवाले हो जायँगे। कारण—ज्योतिषियों के द्वारा प्रकाशित महान् सूर्यग्रहण को सुनकर, भली प्रकार सूर्यग्रहण की महिमा की स्तुति करनेवाले, आपके लाला श्रीमान् कृष्ण; जो कि विश्व के आनन्द को बढ़ानेवाले हैं, देवताओं के द्वारा जिनकी सेवा की जाती है, स्वयं ही जो सभी यादवों के देवस्वरूप हैं, वे सुख की पुष्टि का विस्तार करनेवाली घोषणा को चारों ओर देकर, अपने समाज के सहित कुरुक्षेत्र में आने को शन्तुः (कल्याणवान्) हो रहे हैं ॥३॥

इन दोनों दूतों के कहने के बाद, निशान्त (गृह) में अपनी पत्नी यशोदा के साथ विचार कर, श्रीव्रजराज ने सभा में भी समान भाववाली जनता के साथ विचार किया कि—देखो, भाइयो! हम सब केवल श्रीकृष्ण में ही तृष्णा रखनेवाले हैं, अतः उनकी निकटतारूप निधि को प्राप्त करने को उद्यत भी हैं, तो भी दैव हमारा विरोधी हो रहा है। और श्रीकृष्ण का पुनः यहाँ आना मन से भी दुर्गम है, इस बात का आप सब अनुभव करते हुए ही स्थित हैं। किन्तु अब तो यह सुना जाता है कि, सूर्यग्रहण में अपना कौतूहल पूर्ण करने के कारण, कुरुक्षेत्र में आने के लिए अधिक आग्रह करके, तुम्हारे स्नेह को धारण पोषण करनेवाला, वह लाला द्वारका में विराजमान है। और वह कुरुक्षेत्र की तीर्थयात्रा जगत्भर के आने की पात्रता (योग्यता) को प्राप्त हो गई है, अतः उसमें हमारा जाना कोई आश्चर्यजनक नहीं है। अतएव "अभी मेरे व्रज में आने से एवं तुम सब व्रजजनों को मथुरा या द्वारका में बुलाने से तुमको हमारे मित्र मानकर, मेरे शत्रु तुम से भी द्वेष करने लगेंगे" इस प्रकार श्रीकृष्ण का कहा हुआ "ये व्रजवासी श्रीकृष्ण के सुहृद हैं" इस बुद्धि से वह दुष्टों का द्वेषरूप दोष भी हमारे ऊपर पुष्टि को नहीं प्राप्त हो रहा है ॥४॥

''अथ सर्वे सहर्षाश्रुवर्षमूचुः,—'सम्यगिदं रम्यमुक्तम्, किन्तु व्रजरक्षणाय के रक्षणीयास्ते लक्षणीयाः ॥५॥ यतः,

येषां धाम धनाऽऽत्मजाऽऽत्मवलितं सर्वं परं यत्कृते
तेषां तद्विरहे चिरेऽपि झटिति प्राप्तावसम्भाविनाम् ।
गोपानां कुरुभूमियात्रिकगतिव्याजेन तल्लम्भन-
प्रत्यासत्तियुजां भवेत् कतमया युक्त्या ततो वारणम् ? ॥६॥

''तदिदं चिराय विचारयत्सु व्रजसभासत्सु द्वारकाधिपतेः पत्रिकाऽऽयाता ॥७॥ यथा—

यावच्छत्रुक्षयं न व्यतिमिलनकृतेऽस्माभिरुद्युक्तिरिष्टा
तस्मात् क्लिष्टा वयं तत्प्रतिविधिमधुना तात ! लब्धाश्चिरेण ।
अस्मिन् सूर्यग्रहे यन्निखिलजनतया पूर्यमाणं कुरूणां
क्षेत्रं व्याजाय कुर्यामहमथ भवतामञ्जसा सञ्जनाय ॥८॥

'किन्तु, 'यद्यप्यहं गोकुललोकमाशु, प्रतिस्वमभ्यस्य रहो भजामि ।
तथापि ये न प्रतियन्ति तेऽमी, मिलन्तु मां तत्र परे वसन्तु ॥९॥

अनन्तर सभी व्रजवासी हर्ष के आँसुओं को बरसाते हुए बोले—अच्छा, यह तो आपने बहुत ही रमणीय बात कही, किन्तु व्रज की रक्षा के लिए कौन कौन व्यक्ति यहाँ रखने योग्य हैं ? पहले वे लक्ष्य में लाने योग्य हैं ॥५॥

कारण—जिन व्रजवासी गोपों का घर, धन, पुत्र, पौत्रादि, एवं शरीर आदि से सम्बन्ध रखनेवाली अन्य सभी वस्तुएँ जिन श्रीकृष्ण के लिए ही हैं, एवं जो गोप उनके चिरकालीन विरह में भी शीघ्र श्रीकृष्ण-प्राप्ति की सम्भावना से रहित हैं, तथा वे ही गोप अब सूर्यग्रहण को सुनकर कुरुक्षेत्र में यात्रियों की तरह जाने के बहाने से, श्रीकृष्णप्राप्ति की निकटता से युक्त हैं, अतः उन गोपों का कुरुक्षेत्र की यात्रा से निवारण करना कौन सी युक्ति के द्वारा हो सकता है ? अर्थात् किसी से भी नहीं । तात्पर्य—हमको तो सभी जानेवाले प्रतीत होते हैं, किसको व्रज में रखा जाय ? ॥६॥

अतः व्रज के सभासद् इस प्रकार जब बहुत देरतक विचार कर रहे थे, तब द्वारकाधीश श्रीकृष्ण की एक पत्रिका आ गई ॥७॥

यथा—हे पिताजी ! प्रणतिपुरःसर विदित हो कि, जबतक शत्रुओं का विनाश हो, तबतक हमको परस्पर मिलने के लिए उद्योग करना इष्ट (अभिलषित) नहीं है । अतः परस्पर के विरह से क्लेश पानेवाले हम सब, अब बहुत दिनों में उसके प्रतीकार की विधि को प्राप्त कर पाये हैं । उस विरहव्याधि का प्रतीकार यह है कि, इस सूर्यग्रहण में समस्त भारतीय जनता परिपूर्ण होनेवाले कुरुक्षेत्र को ही, मैं आप सबके अनायास मिलने के लिए बहानारूप बना रहा ॥८॥

किन्तु ''आप सबके मिलने के लिए'' ऐसा लिखने से तो सभी का कुरुक्षेत्र में आना निश्चित होता है, इसके उत्तर में श्रीकृष्ण लिखते हैं कि—यद्यपि मैं प्रत्येक व्रजजन के निकट जाकर, एकान्त में उस उसका सेवन करता हूँ, तथापि जो व्रजजन मेरे स्फूर्तिरूप सेवन में विश्वास नहीं करते हैं, वे मुझ से कुरुक्षेत्र में मिलें । दूसरे जो मेरी स्फूर्ति को ही साक्षात्‌रूप अनुभव करते हैं, वे व्रज में ही निवास करें ॥९॥

'किञ्च, गावो मम चित्कल्पाः, सखि-निचयास्तत्र च प्राणाः ।
तस्माद्वलयितनिष्ठं, तासु सदामी तु तिष्ठन्तु ॥ इति ॥१०॥

"तदेतदाकर्ण्य सर्वे स्वस्वाऽभिमतं वर्णयन्ति स्म,—'तत्र साक्षात्कारनिभतदुपलम्भ-विस्रम्भपराणां परायणतया सखायस्तु तदस्तुङ्कारताप्रथनाय यथाप्रस्तुतमेव वस्तु तत्र स्तुतवन्तः—अस्मत्प्राणकोटिनिर्मञ्छनीयवाञ्छितलेशस्य निदेश एवास्माभिरञ्चनीयः' इति ॥"११॥

अथ कथाशेषं परिवेषयन्नेव स्थगितकण्ठतया मधुकण्ठस्तूष्णीकामेव पुष्णाति स्म । स्निग्धकण्ठ एव समापनमाह स्म,—

"अकुण्ठामुत्कण्ठां कुरु-भुवि गतिं वः कलयतां
स्मरन्ती मद्बुद्धिर्विकलतरतां या वलयते ।
इमं सा पश्यन्ती व्रजनृप ! तवात्र व्रजभुवि
स्थितस्याऽङ्के कृष्णं प्रमदमधुना माद्यति चिरम् ॥"१२॥

तदेवं दिनकथा समाप्ता । अथागामिन्यां यामिन्यां श्रीराधामाधव-सदसि च स्निग्धकण्ठ-कृतयथावत्कथा; यथा—"तत्र पतत्रिपतिपत्रः प्रगुप्ताक्षरपात्रं पत्रमेकं प्रेयसीः प्रति प्रस्थापयामास ॥१३॥

किंच गऊएँ तो मेरी चेतना के समान हैं, एवं मित्रसमूह उस चेतना में मेरे प्राणों के समान हैं। अतः वे मेरे प्राणप्यारे सखा निष्ठा से युक्त होकर, सदा उन गऊओं के निकट ही निवास करें ॥१०॥

यह वचन सुनते ही सभी व्रजवासी अपने अपने अभिप्राय को वर्णन करने लगे। उनमें भी साक्षात्कार के समान श्रीकृष्ण की स्फूर्तिरूप प्राप्ति में विश्वास करनेवाले व्रजजनों में श्रेष्ठ होने के नाते सखागण तो, श्रीकृष्ण के वाक्य में अङ्गीकार के भाव को प्रसिद्ध करने के लिए वहाँपर प्रस्ताव के योग्य वस्तु की ही प्रशंसा करने लगे कि, जिन श्रीकृष्ण की इच्छा का लेश भी हमारे करोड़ों प्राणों के द्वारा न्योछावर करने योग्य है, अर्थात् पूजनीय है, अतः उनका आदेश ही हमारा पूजनीय है ॥११॥

अनन्तर कथा के शेषभाग का परिवेषण करता हुआ, अर्थात् कहते कहते ही कण्ठ रुक जाने के कारण, मधुकण्ठ मौन को ही पुष्ट करने लग गया। अतः स्निग्धकण्ठ ही प्रसङ्ग की समाप्ति का द्योतक वचन बोला—कुरुक्षेत्र में गमन करनेवाले आप सबकी अतिशय प्रबल उत्कण्ठा को स्मरण करती हुई जो मेरी बुद्धि अत्यन्त विकलता को धारण कर रही है, हे व्रजराज ! देखो, वही मेरी बुद्धि अब इस व्रजभूमि में बैठे हुए आपकी गोद में इन श्रीकृष्ण को देखती हुई आनन्दपूर्वक बहुत देरतक हर्षित हो रही है ॥१२॥

इस प्रकार दिन की कथा समाप्त हुई। अनन्तर आनेवाली रात्रि में श्रीराधा-माधव की सभा में स्निग्धकण्ठ के द्वारा की हुई कथा का यथावद् वर्णन, यथा—वहाँपर पतत्रिपतिपत्रः, अर्थात् पक्षिराज गरुडरूप वाहनवाले श्रीकृष्ण ने अत्यन्त गुप्त अक्षरों का आधार एक पत्र राधिका आदि निजप्रेयसियों के प्रति भिजवा दिया ॥१३॥

'यथा— यद्यप्यात्मैकवेद्या मम लसति मुहुः सङ्गतिर्युष्मकाभिः
स्फूर्तिभ्रान्त्या प्रतीतिस्तदपि किल न वस्तत्र हा धिङ्ममापि।
यद् द्विष्टद्वेष्टृतर्कग्रहणमिषतयाऽस्माकमन्योऽन्यसङ्गः
सम्भाव्यस्तत्प्रियाल्यः! कुरु-भुवि सकृदप्यस्तु स प्राणनाय ॥'१४॥

"अथ यदा व्रजेश्वरीप्रभृतयश्च सर्वाश्चलितुमुद्यतास्तदा वृन्दावनेश्वरी-प्रधानाश्च तथावधारयन्ति स्म ॥१५॥

"तत्राथ ये तत्तद्भर्त्राभासादयः प्रतिबन्धं प्रागनुबबन्धुस्ते च कृष्णाय तृष्णाभाजां तासामसुनिरसनव्यसनमालोच्य सर्वेषामपि तदेकभावतां विलोच्य स्वेषामपि तदवेक्षणायामक्षमतामवलोच्य तस्मिन्नुदासते स्म। स्वयं तु पृथक्प्रस्थानमिच्छवोऽपि श्रीकृष्णरहःसन्देशसदेशरूपतयान्तरङ्गतन्मित्रजनैर्व्रजनिर्जनतादोषवर्जनमिषाद् व्रजराजाज्ञामुपार्जयद्भिस्ते कतिचिच्चान्ये स्वसङ्गतिं प्रति सौहृद्यहृद्यताव्यञ्जनया सञ्जयामासिरे ॥१६॥

"अथ स्वभावत एव तासु निगूढस्नेहातिशयाऽऽचरणा, विशेषतस्तु स्वसुतं प्रति सम्प्रति निरुपाधिमहाप्रीतिकृतविरहव्याधि वितर्क्य विधूततदावरणाः श्रीव्रजेश्वरीचरणास्तु स्वसङ्गत्या गमनाय श्रीराधाप्रधानाः प्रत्यासन्नाश्चक्रुः ॥१७॥

यथा—हे प्रिय गोपियो! तुम सबके साथ केवल आत्मा के द्वारा जानने योग्य मेरा मिलन यद्यपि बारंबार प्रदीप्त होता रहता है, तथापि तुम सबको उस मिलन में स्फूर्ति की भ्रान्ति के कारण विश्वास नहीं है, हाय! धिक्! उस तुम्हारे मिलन में मुझको भी प्रतीति नहीं होती है। और जिस कारण से हमारे तुम्हारे मिलन से द्वेष करनेवालों के तर्क वितर्क से द्वेष करनेवाला जो सूर्यग्रहण है, अर्थात् सभी के मिलन में शंका को दूर करनेवाला जो सूर्यग्रहण आ रहा है, उसी बहाने हमारा तुम्हारा आपस का मिलन सम्भावना के योग्य हो रहा है, उसी कारण से हे प्रिय सखियो! कुरुक्षेत्र में वह परस्पर मिलन एकबार भी जीवन के लिए हो जाय ॥१४॥

उसके बाद व्रजेश्वरी श्रीयशोदा आदि सब गोपियाँ जब कुरुक्षेत्र चलने को उद्यत हुईं, तब वृन्दावनेश्वरी श्रीराधिका आदि गोपियाँ भी उसी प्रकार चलने का विचार करने लग गईं, या चलने को तत्पर हो गईं ॥१५॥

उसके बाद वहाँपर उन गोपियों के आभासरूप जो पति आदि पहले गोपियों के कुरुक्षेत्र जाने में प्रतिबन्ध (रुकावट) लगा रहे थे, वे भी श्रीकृष्ण के लिए तृष्णा रखनेवालीं उन गोपियों के प्राणत्यागरूप दुःख को विचार कर, एवं सभी व्रजवासियों की केवल श्रीकृष्णमयी भावना को विचार कर, तथा उन गोपियों के देखने के विषय में अपनी भी अयोग्यता देखकर, उस प्रतिबन्ध के विषय में उदासीन हो गये। किन्तु स्वयं तो अलग प्रस्थान करने की इच्छावाले होकर भी, श्रीकृष्ण के ऐकान्तिक सन्देश की योग्यता के कारण श्रीकृष्ण के अन्तरङ्ग मित्रजनों के साथ, व्रज की निर्जनता (सूनापन)रूप दोष को हटाने के बहाने, श्रीव्रजराज की आज्ञा माँगनेवालों के साथ, वे पति के अभिमानवाले गोप एवं कुछ दूसरे गोप, अपने अपने संयोग के प्रति सुहृदता की मनोहरता को प्रकाशित करके आसक्ति दिखाने लग गये ॥१६॥

अनन्तर कृष्णप्रिया गोपियों के ऊपर स्वभाव से ही गुप्तस्नेह की अधिकता का आचरण करनेवाली, पूज्यपाद व्रजेश्वरी श्रीयशोदा ने तो, उन गोपियों के हृदय में, विशेष करके अपने पुत्र के प्रति इस समय

"तदेवं स्थिते कुरुक्षेत्रयात्रानुक्रमस्तु प्रातः प्रस्तोष्यते ॥" १८॥

अथ कथकः समापनमाह स्म,—

"यदर्थं प्राणानां सततमभितः शोषणमधु,-र्यदर्थं क्षीणाङ्ग्योऽप्यहह कुरु-भूमीमभिययुः ।
भवत्यस्तं कान्तं वृषरविसुते ! स्वालयमनु, प्रसज्य स्वं शश्वत् प्रमदमधुमत्तं विदधति ॥" १९॥

तदेवं कथितकथयोः कथकयोः सर्वेण सह प्राप्तनिजपथयोः श्रीराधा-माधवौ तु निर्बाध-सुखस्फुरणस्फुरदुद्धवौ मण्डपं मण्डयामासतुः ॥२०॥

अथ विगतसर्वशल्ये कल्ये पुनः श्रीव्रजराजसदसि श्रीकृष्णकृतमहसि गद्गदकण्ठतया मधुकण्ठ उवाच,—

"अथ हरिमवलोकितुं चिराय, स्फुरदुरसां व्रजवासिनां जनानाम् ।
नयनसलिलसिक्तरोमसस्यां,-कुरमहसा निखिलाक्षितोषदानाम् ॥२१॥
मुहुरपि रदशब्दकारिकम्प,-स्थपुटितवर्णविभाग-संस्कृतीनाम् ।
विविधविधविचिन्तनाभिघात,-स्फुरदुरुधाऽऽकृतिवर्णभावितानाम् ॥२२॥
प्रतिपदरचिताऽऽत्मतत्त्वसाक्षात्,-कृतिजनवद् बहिरात्तचेष्टितानाम् ।
मनसि तु सततस्फुरत्तदेक,-प्रमदमृषामतसर्ववैभवानाम् ॥२३॥
अशनशयनविस्मृतिप्रपत्त्या,-कृशवपुषामकृशस्वभावभाजाम् ।
अलमपरिचितैर्जनैरपि स्वं, परिहृतवद्भिरुरीकृतान्वितीनाम् ॥२४॥

स्वाभाविक महाप्रीति से की हुई विरहरूप व्याधि को विचार कर, उनके भाव की छिपावट को दूर कर, श्रीराधिका आदि गोपियाँ अपने साथ कुरुक्षेत्र जाने को अपने निकटस्थ कर लीं ॥१७॥

ऐसी स्थिति में कुरुक्षेत्र यात्रा की परिपाटी तो प्रात काल प्रस्तुत करेंगे ॥१८॥

अनन्तर कथावाचक समाप्तिद्योतक वचन बोला—हे वृषभानुनन्दिनि ! देखो, आप सबने जिन श्रीकृष्ण के लिए अपने प्राणों को, अर्थात् इन्द्रियों को निरन्तर सर्वतोभाव से सुखा दिया था, एवं जिन श्रीकृष्ण के निमित्त, हाय ! कृशाङ्गी होकर भी आप सब कुरुक्षेत्र में गई थीं, उन्हीं अपने कान्त श्रीकृष्ण को अपने अपने भवन में उनसे मिलकर, निरन्तर प्रीतिरूप मधु से मत्त बना रही हो ॥१९॥

इस प्रकार कथा कहनेवाले दोनों कथावाचकों के सभी श्रोताओं के साथ अपने मार्ग को प्राप्त कर लेनेपर, श्रीराधा-माधव की जोड़ी ने भी बाधारहित सुख के स्फुरण से उत्सव की स्फूर्ति से युक्त होकर, अपने लतामण्डप को विभूषित कर दिया ॥२०॥

अनन्तर सर्वकण्टकरहित प्रातःकाल में श्रीकृष्ण के द्वारा किये हुए तेज एवं उत्सव से युक्त श्रीव्रजराज की सभा में, मधुकण्ठ पुनः गद्गद कण्ठपूर्वक बोला—अनन्तर बहुत दिनों के बाद श्रीकृष्ण को देखने के लिए स्फूर्तियुक्त वक्षःस्थलवाले, एवं नेत्रजल से सींचे हुए रोमरूप घास के अंकुरों के महोत्सव द्वारा, सभी के नेत्रों को सन्तोष देनेवाले, बारंबार दन्त शब्दकारक कम्प से आच्छादित अक्षरों के विभाग के संस्कार-वाले, अर्थात् प्रेममय कम्प के कारण अस्तव्यस्त शब्द उच्चारण करनेवाले, अनेक प्रकार की चिन्ता के विनाश से स्फुरित अनेक प्रकार की आकृति एवं वर्ण से युक्त रहनेवाले, तथा पद पदपर आत्मतत्त्व का साक्षात्कारकर्ता जन की तरह; बाहरी चेष्टाओं को अङ्गीकार करनेवाले, मन में तो निरन्तर स्फुरित हुए केवल श्रीकृष्ण विषयक आनन्द से सभी वैभवों को मिथ्या माननेवाले, एवं भोजन तथा शयन की विस्मृति

कथमपि कुरुभूमिमागतानां, सपदि निशम्य सदेशतां मुरारिः ।
सुखशतभरभारपारवश्या,-न्न चलितुमाशु शशाक साकमङ्गैः ॥२५॥ पञ्चभिः कुलकम् ॥

कृष्णस्य सौरभ्यभरेण पुष्टिं, तथा विकृष्टिं गमिता व्रजेशाः ।
नेदिष्ठदेशे विविशुर्यदन्त,-र्विराजते राजगणैः स कृष्णः ॥२६॥

"तदा च हरि-हलिनौ कर्णाभ्यर्णतया तस्य वर्णितस्य कलनाद् भावान्तरवलिनौ भक्तिप्रसज्यमानमनस्तया सद्रवमुपविव्रजिषन्तावपि सहसा न चेलतुः; किन्तु राजव्रजं निज-निज-शिविराय विहितव्याजं विससृजतुः । शात्रवा ममात्र तैः सत्रा मा मैत्रीं ज्ञासिषुरिति तान् व्रजराजादीनुद्धवद्वारा सम्भवन्निभृतसम्भवनदेशे स्तम्भयामासतुः ॥२७॥

"जाते बहिर्जनवर्जने तु स्वजनेन सह स्वयमुपव्रजन्तौ दूरादेव व्रजराजपदराजीव-समर्यादमर्यादमखण्डदण्डवत्प्रणिपातमाततवन्तौ, यथायथमुपनन्दादीनपि प्रणतवन्तौ । व्रजराजश्च कम्पसम्पत्सम्पतदश्रुपुलकाऽऽकुलतया स्वान्तर्व्याकुलतया च युगपदेव युगलं तदालिङ्गंश्चापलयुगलं सगद्गदमन्दं चक्रन्द ॥२८॥

की प्राप्ति से कृशशरीरवाले, किन्तु निरन्तर कृष्णानुशीलनरूप विशाल स्वभाववाले, तथा अपने को त्यागनेवाले, अत्यन्त अपरिचित जनों के द्वारा भी जिनका अनुगमन स्वीकार किया है इस प्रकारवाले, एवं किसी प्रकार कुरुक्षेत्र में आनेवाले व्रजवासी जनों की निकटता को तत्काल सुनकर, श्रीकृष्ण सैंकड़ों प्रकार के सुखों की अधिकता के भार की परवशता के कारण, अपने अङ्गों के सहित उन व्रजवासियों के निकट शीघ्र ही चलने को समर्थ न हो सके। (दो श्लोक में अन्वय होने से युग्मक, एवं तीन श्लोकों में अन्वय होने से विशेषक, तथा चार श्लोकों में अन्वय होने से कलापक, और उससे आगे जितने भी श्लोकों में अन्वय हो वह कुलक कहलाता है। यहाँ पाँच श्लोकों में अन्वय होने से कुलक है) ॥२१-२५॥

श्रीनन्दादि व्रजवासीजन श्रीकृष्ण की शारीरिक सुगन्ध की अधिकता से पुष्टि को प्राप्त होकर, तथा सुगन्ध के वियोग को पाकर, अर्थात् श्रीकृष्ण को न पाकर उनके निकटवर्ती स्थान में प्रविष्ट हो गये, जिसके बीच में वे श्रीकृष्ण राजसमुदाय के सहित विराजमान थे ॥२६॥

और उस समय श्रीकृष्ण बलदेव दोनों भाई कानों के निकट होने के कारण, किसी के द्वारा वर्णित किये गये उन श्रीनन्दादिकों के आगमन के श्रवण से दूसरे भाव से, अर्थात् गोपभाव से युक्त होकर, उन व्रजवासियों की सेवा में लगे हुए अपने मन के कारण, वेगपूर्वक उनके निकट जाने की इच्छावाले होकर भी (प्रेममयी जडता के कारण) सहसा नहीं चल पाये। किन्तु अपने पास बैठे हुए राजसमूह को अपने अपने तम्बू में जाने के लिए कोई बहाना बनाकर बिदा कर दिया। तथा "मेरे शत्रुसमूह यहाँपर उन व्रजवासियों से मेरी मित्रता को न जान सकें" इस भाव से उन श्रीनन्दादिकों को उद्धव के द्वारा सम्भव होनेवाले एकान्त में मिलने के स्थान में रुकवा दिया ॥२७॥

उस मिलन के स्थानपर बाहरीजनों का आना निषिद्ध हो जानेपर, निजीजनों के साथ उनके निकट स्वयं जाते हुए श्रीकृष्ण बलदेव ने दूर से ही श्रीव्रजराज के चरणकमलों के निकट मर्यादापूर्वक साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम किया, एवं उपनन्दादिकों को भी यथायोग्य प्रणाम किया। श्रीव्रजराज तो कम्परूप सम्पत्ति एवं गिरते हुए प्रेमाश्रु तथा रोमाञ्चों की व्याकुलता और अपने अन्त:करण की व्याकुलता के कारण, कृष्ण बलदेव की जोड़ी को एकसाथ आलिङ्गन करते हुए, अतिशय चंचलता से युक्त होकर, गद्गदतापूर्वक धीरे धीरे रोने लग गये ॥२८॥

"राम-कृष्णौ च यद्यपि तदालिङ्गनाय सतृष्णौ, तथापि सर्वैः सङ्गमनाय तस्य साङ्गतामङ्गीकुर्वन्तौ पुनश्चरणपातमेवाततवन्तौ ॥२९॥

"अथ व्रजराजस्तयोर्नमस्कारश्रमप्रशमनाय यद्यपि निवारणकामस्तथापि भाववैवश्य-वशस्तत्र स्वकरयोरवश्यतामध्यवस्यन्नितस्ततः पश्यति स्म; पश्यंश्च तदिदं वदतः श्रीवसुदेवा-दीनपश्यत्—'आयुष्मन्तौ !'; त एते सङ्कोचं रोचयन्ते। "ततः स्वयमवधाय विश्रमसुख-मुपधाय कुशलप्रश्नः प्रस्तूयतामिति ॥३०॥

ततश्च रामकृष्णयोः साञ्जलिबन्धस्थितिसन्धयोरालिङ्गनादिना व्रजेन्द्रमनुविन्दमानः स्वयमानकदुन्दुभिस्तेन तं तं सन्ततवाञ्छिततदीयसङ्गं मुनिसङ्घवर्यं प्रद्युम्नादिपर्यन्तं सर्वं जनं सङ्गमयामास। स एव च तं देवमिव निजनिवेशवेश्माऽऽनीय कृष्णरामादिकृताऽनुसारः सपरिवारमाराधयामास ॥३१॥

"तदेवं स्थिते पट्टपटसंवृतं सङ्गाऽऽयातृ-कतिपययातृमुखमहिलावलितव्रजेश्वरी-शकट-मन्तःपटगृहं प्रविष्टमाकर्ण्य तद्दिष्टत एव तत्र तौ प्रविष्टवन्तौ। प्रविश्य चात्मानौ पश्यन्ती-मेनां पश्यतः स्म ॥३२॥ "तत्र सा यथा—

यस्य प्राग्विरहोष्णरश्मिखरताशीर्णाङ्गपर्णावलिः
पश्चादुत्कलिकामरुद्दलनया क्षिप्ता विदूरे पथि।

और कृष्ण बलदेव यद्यपि श्रीव्रजराज से आलिङ्गन करने की तृष्णा से युक्त थे, तथापि सभीजनों के साथ मिलने के लिए उस मिलन की, अर्थात् आलिङ्गन की कृतार्थता को स्वीकार करते हुए पुनः चरणों में प्रणाम ही करने लग गये ॥२९॥

उसके बाद व्रजराज कृष्ण बलदेव के नमस्कार करने के श्रम को दूर करने के लिए यद्यपि उनका बारबार नमस्कार करने से निवारण करना चाहते थे, तथापि भाव की विवशता के वशीभूत होकर, उनके निवारण करने में अपने हाथों की शिथिलता को निश्चय करते हुए इधर उधर देखने लग गये। देखते देखते उन्होंने श्रीवसुदेव आदिकों को यह कहते हुए देखा कि – हे आयुष्मान् कृष्ण बलदेव ! देखो, ये श्रीनन्द आदि व्रजवासी संकोच कर रहे हैं, अतः तुम दोनों स्वयं सावधान होकर उनके विश्रामसुख को उपस्थापित कर कुशल प्रश्न प्रस्तुत करो ॥३०॥

उसके बाद कृष्ण बलदेव के हाथ जोड़कर खड़े हो जानेपर, वसुदेवजी स्वयं आलिङ्गन आदि द्वारा, श्रीनन्दजी को प्राप्त करते हुए, श्रीनन्दजी के साथ निरन्तर नन्दजी के सङ्ग को चाहनेवाले कृष्ण को एवं बलदेव को, एवं मुनिगणों में श्रेष्ठ श्रीवेदव्यासजी आदि को, तथा प्रद्युम्न आदि पर्यन्त समस्त जनमात्र को मिलन करा दिया। पश्चात् उन्हीं वसुदेवजी ने देवता की तरह नन्दजी को अपने निवासस्थानपर लाकर, कृष्ण बलदेव आदि को अपना अनुगामी बनाकर, परिवार के सहित श्रीनन्दजी का सत्कार किया ॥३१॥

अतएव इस प्रकार की स्थिति में संग में आनेवाली कुछ जेठानी देरानी आदि स्त्रियों से युक्त व्रजेश्वरी श्रीयशोदा की गाड़ी, जो कि रेशमी वस्त्रों से ढकी हुई थी, उसको अन्तःपटगृह में अर्थात् तम्बू में प्रविष्ट हुई सुनकर, श्रीकृष्ण बलदेव उसी समय से उस तम्बू में प्रविष्ट हो गये। और प्रवेश करते ही अपने को देखती हुई श्रीयशोदा को देखने लग गये ॥३२॥

वहाँपर स्नेहमयी यशोदा का वर्णन, यथा—पहले जिन श्रीकृष्ण के विरहरूप सूर्य की तीक्ष्णता से

तं पुत्राऽऽकृतिवारिवाहसमयं सम्भूय गोपेश्वरी
वल्लीवाऽऽशु पुनः स्वमूलविसृतेर्लाभादगादार्द्रताम् ॥३३॥

तां शुष्कदेहामथ वीक्ष्य देवकी, सन्तर्पणायामभजद् विहस्तताम् ।
कृष्णेक्षणादेव तु पुष्टमूर्तिकां, दृष्ट्वाऽन्वविन्दत् पुनरुक्तयत्नताम् ॥३४॥

माता द्रागथ सह सीरिणा समीक्ष्य, स्वं पुत्रं कुरुभुवि तद्वियोगदूना ।
उत्थानं रचयति यावदेष तावद्, विद्रुत्य न्यपतदुपांघ्रि तेन तस्याः ॥३५॥

सा कृत्वा भुवि जानुनी स्वतनयावुन्नम्य नम्रौ तयो-
र्मूर्धानावुरसोपगुह्य नयनाऽऽसारं तथाऽमुञ्चत ।
देवक्यादिभिरेवमौह्यत यथा सेयं कृशाङ्गी कुतः
प्रादुर्भूतवती नदी जगदिव व्याप्तुं मुहुर्वर्धते ? ॥३६॥

कृष्णस्तत्पदपद्मयोरथ पतन् रामेण सार्धं रुदन्
बाढं रोदयति स्म सर्वजनतां वर्षन्निव स्वां दशाम् ।
एवं सत्यपि गोपराज-महिला तत्रातिशङ्काकुला
तद्दुःखान्तरतावितर्कवशगा सा शुष्कवाष्पाऽभवत् ॥३७॥

जिन (यशोदा) की अङ्गरूप पत्रश्रेणी शुष्कप्राय हो गई थी, एवं पश्चात् श्रीकृष्ण के दर्शन की उत्कण्ठारूप वायु की गति के द्वारा जो (यशोदा) दूरमार्ग में प्रेरित कर दी थीं, वे ही गोपेश्वरी श्रीयशोदा पुत्र की सी आकृतिवाले उन श्रीकृष्णरूप वर्षाऋतु से मिलकर, पुनः अपने मूल के विस्तार के लाभ से, लता की तरह शीघ्र ही स्निग्धता को प्राप्त हो गईं ॥३३॥

अनन्तर देवकी शुष्क शरीरवाली यशोदा को देखकर, उसको सन्तुष्ट करने के निमित्त व्याकुलता को प्राप्त हो गई। पश्चात् श्रीकृष्ण के दर्शन से पुष्ट शरीरवाली यशोदा को देखकर, पिष्टपेषण की तरह असार्थकता को प्राप्त हो गई, अर्थात् कृष्णदर्शन से पुष्ट हुई यशोदा को पुष्ट करने में निष्फलता को प्राप्त हो गई ॥३४॥

उसके बाद श्रीकृष्ण के वियोग से सन्तप्त माता यशोदा, कुरुक्षेत्र में बलदेवजी के सहित अपने पुत्र श्रीकृष्ण को देखकर, जबतक (पुत्र से मिलने को) उठने की चेष्टा कर रही थीं, तबतक तो श्रीकृष्ण दौड़कर बलदेवजी के सहित, माता के चरणों के निकट लकुट की तरह गिर पड़े ॥३५॥

उस समय यशोदा अपने दोनों घुटनों को भूमि में टेक कर, परमनम्र अपने दोनों पुत्रों को भूमि से उठाकर, उन दोनों के मस्तकों को अपने वक्षःस्थल से लगाकर, उस प्रकार अश्रुधारा बहाने लगी कि, जिस से देवकी आदि इस प्रकार तर्क वितर्क करने लगीं कि—अरी बहिनो! देखो, यह यशोदा कृशाङ्गी कहाँ से है ? क्योंकि यह तो स्वयं प्रगट होनेवाली नदी की तरह, जगत् को व्याप्त करने के लिए बारंबार बढ़ रही है ॥३६॥

अनन्तर श्रीकृष्ण ने माँ यशोदा के चरणकमलों में गिर कर, बलरामजी के साथ रोते रोते, मानो अपनी प्रेममयी दशा की वर्षा करते हुए, सारी जनता को रुला दिया। इस प्रकार की घटना होनेपर भी, गोपेश्वरी यशोदा कृष्ण बलराम के एवं सारी जनता के उस प्रकार के रोने में भारी शंका से आकुल होकर,

ततश्च शुष्यद्वदनां विलोक्य तां, विलोकयन्तावभितः सहोदरौ ।
मातृर्मिलन्तावपरास्तया सहाऽऽ,-गताश्च तावार्द्रयतामम् पुनः ॥३८॥

अथ कथमपि धैर्यं रोहिणीवर्यरामा,-स्तनुजनिजननीनामर्जयित्वा क्रमेण ।
अभिनवरुचिशुभ्रे राङ्कवे सन्निवेशं, सपदि विदधुरासामातननोपाविशंश्च ॥३९॥

या आसन् मातृमानिन्यः कंसारेर्देवकीमुखाः ।
यशोदाग्रे तु ताः सर्वास्तटस्थन्ति स्म सांप्रतम् ॥४०॥

देवकीप्रभृतिमातृता हरौ, गोष्ठमातृपुरतो वृथाऽजनि ।
वार्षिकी यदि भवेद् घनावली, सेकपालिभिरलं कृषिव्रजे ॥४१॥

जिघ्रन्ती शिरसी तयोः सुरभिणी बाष्पेण चाऽऽसिञ्चत
मार्जन्ती वदने दृगम्बुवलिते यत्नेन पश्यन्त्यपि ।

उन दोनों भाइयों के दूसरे दुःख के भाव से होनेवाले वितर्क के वशीभूत होकर, सूखे आँसुओंवाली हो गई, अर्थात् उसके आँसू सूख गये ॥३७॥

उसके बाद सूखे मुखवाली माँ यशोदा को देखकर, चारों ओर देखते हुए उन दोनों भाइयों ने, श्रीयशोदा के साथ आई हुई अन्य माताओं से मिलते हुए, यशोदाजी को पुनः स्नेहरस से अभिषिक्त कर दिया ॥३८॥

उसके बाद श्रीरोहिणी आदि श्रेष्ठ स्त्रियों ने, कृष्ण बलदेवरूप पुत्र, एवं यशोदा आदि माता, इन सबके धैर्य को किसी प्रकार क्रमशः धारण कराकर, अभिनव कान्ति से शुक्ल वर्णवाले मृगचर्म के आसन-पर, उन सबका शीघ्र ही बैठने का विधान कर दिया, अर्थात् उन सबको आसनोंपर बैठा दिया, पश्चात् स्वयं भी आसनोंपर बैठ गईं ॥३९॥

उस समय अपने को श्रीकृष्ण की माता माननेवालीं श्रीदेवकी आदि जो वसुदेवपत्नी वहाँपर विद्य-मान थीं, अब श्रीयशोदा के आगे तो वे सब तटस्थ (उदासीन) का सा व्यवहार कर रही थीं ॥४०॥

क्योंकि श्रीकृष्ण के ऊपर श्रीदेवकी आदि का जो मातृभाव था, वह उस समय श्रीयशोदाजी के सामने वृथा हो गया था। कारण—यदि वर्षाकालीन मेघश्रेणी उपस्थित हो जाय, तब कृषिसमूह में, अर्थात् खेती की कार्यश्रेणी में, कूप आदि से सींचने की श्रेणियों से कोई प्रयोजन नहीं रहता। तात्पर्य—देखो, पुत्रभाव के प्रति स्नेह की अधिकता ही मूलकारण है। केवल देह से जन्म होने से ही पुत्र नहीं कहलाता। क्योंकि नृसिंह का जन्म स्तम्भ से होनेपर भी स्तम्भपुत्र नहीं कहलाये, एवं ब्रह्मा की नासिका से जन्म लेने-पर भी वराह भगवान् ब्रह्मपुत्र नहीं कहलाये। यहाँपर वसुदेव-देवकी स्तम्भ एवं नासिका के समान नहीं है, क्योंकि उनमें स्नेह की मात्रा यथेष्ठ है, किन्तु वह नन्द-यशोदा की अपेक्षा बहुत थोड़ी है। क्योंकि श्रीनन्द-यशोदा का पुत्रभाव माधुर्यप्रधान है, एवं वसुदेव-देवकी का पुत्रभाव ऐश्वर्यप्रधान है। यह बात पूर्व-चम्पू के तृतीयपूरण में आ चुकी है, एवं उत्तरचम्पू के चौबीसवें पूरण में भी आयेगी। अतः यहाँपर श्रीयशोदाजी के विशुद्ध मातृभाव के आगे श्रीदेवकी आदि का मातृभाव अकिंचित्कर हो गया ॥४१॥

उस समय कृष्ण बलदेवरूप दोनों भाइयों के सुगन्धयुक्त दोनों मस्तकों को प्रेमपूर्वक सूँघती हुई, एवं प्रेमाश्रुओं से सींचती हुई, तथा नेत्रजल से युक्त दोनों के दोनों मुखों का मार्जन करती हुई, एवं प्रयत्न-पूर्वक देखती हुई, ये श्रीयशोदा कल्पभर के समय को भी थोड़ा ही मान लेगी, यह बात जानकर,

कल्पं चाल्पमियं तु मंस्यत इति ज्ञात्वा तदा रोहिणी
देवक्या सह निर्भरादरतया वष्टि स्म तामर्चितुम् ॥४२॥
रुक्मिण्यादिवधूभिरर्चितुममूं पर्यागताभिर्यदा
सार्धं देवकदेहजाप्रभृतयस्तद्विष्वगारिप्सत ।
तह्यं तौ बहिरागतौ हरि-बलौ गोपानशेषांस्तथाऽऽ-
तिथ्येनार्ऽचितुमत्र तत्र बहुधा तौ बंभ्रमाञ्चक्रतुः ॥४३॥
स नासीद् गोष्ठजो लोकस्तदातिथ्यं न विद्यते ।
यं यदप्यजितस्तत्र नाऽन्वगच्छद् व्यधत्त न ॥४४॥
आस्तां तावद् व्रजपरिषदां सज्जनानां प्रसङ्गः-
स्तत्रत्यानां जरदनडुहामप्यसौ केन वर्ण्यः ? ।
लम्भं लम्भं कुरुभुवि तदा यानशेषान् समन्तात्
कृष्णः श्लिष्यन्नयनसलिलैः सक्तमूर्तीश्चकार ॥४५॥

"तदेवं स्थिते स्वस्थिते च सर्वव्रजजने पुनर्व्रजेश्वरीं परिष्वज्य रज्यमानमनस्तया श्रीरोहिणी-देवक्यावूचतुः; तत्र श्रीरोहिणीवचनं यथा,—'अयि व्रजेश्वर्यावयोरेकापि काऽनुज्झित-प्रेमसम्पत्त्योर्दम्पत्योर्वां मैत्रीमैन्द्रसम्पदनुगमे संप्रत्यपि नानुसन्दधीत ? यस्याः प्रत्युपकार-कोटयोऽपि न समकोटयो भवन्ति' इति ॥४६॥

श्रीरोहिणी माता ने श्रीदेवकी के साथ अत्यन्त आदरपूर्वक श्रीयशोदा की पूजा करने की इच्छा प्रगट की ॥४२॥

और श्रीदेवकी आदि माताओं ने चारों ओर से आई हुईं, श्रीरुक्मिणी आदि बहू बेटियों के साथ मिलकर, श्रीयशोदाजी की पूजा करने को सर्वतोभाव से जब आरम्भ करने की इच्छा प्रगट की, तब ये दोनों श्रीकृष्ण बलदेव उस तम्बू से बाहर आकर, सभी गोपों को अतिथि सत्कारपूर्वक सम्मानित करने के लिए, इधर उधर अनेक प्रकार से विशेष घूमने लग गये ॥४३॥

वहाँपर वह एक भी ऐसा व्रजवासी नहीं था कि, जिसका वह आतिथ्य (अतिथि सत्कार) न हुआ हो। कारण उस कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण ने जिसका अनुगमन नहीं किया, एवं आतिथ्य नहीं किया, ऐसा वह कोई भी व्रजवासी नहीं बचा था ॥४४॥

और देखो, व्रजवासी सज्जनों के आतिथ्य सत्कार के प्रसङ्ग को तो दूर रहने दो, क्योंकि वहाँ के बूढ़े बैलों का भी वह सत्कार का प्रसङ्ग कौन वर्णन कर सकता है ? अर्थात् कोई नहीं। कारण उस समय कुरुक्षेत्र में व्रज के जिन सब बैलों को श्रीकृष्ण चारों ओर से प्राप्त कर करके उनको गले लगाते हुए, अपने नेत्रजल से उनके शरीरों को अभिषिक्त कर रहे थे ॥४५॥

अतएव ऐसी स्थिति में सभी व्रजजनों के स्वस्थ हो जानेपर पुनः श्रीयशोदा का आलिङ्गन करके, अनुराग भरे मन के भाव से, श्रीरोहिणी एवं देवकी उनसे बोलीं। उन दोनों में से श्रीरोहिणी का वचन, यथा—हे व्रजेश्वरी ! देखो, हम दोनों जनियों में से ऐसी एक जनी भी कौन सी है, जो कि प्रेमरूप सम्पत्ति को न त्यागनेवाले 'श्रीनन्द-यशोदारूप' आप दोनों दम्पत्तियों की हम सबपर की हुई मित्रता का अब इन्द्र

"अथ सरलाया देवक्या वचनं यथा,—'यतः स्वजन्मत एव चिरमपरिचितपितृकाविमौ धर्मान्मातरपितरतां प्रपद्य पक्ष्मवलयाभ्यामक्षिगोलकाविव युवाभ्यां पालितौ नाद्यापि तादृशान्मनसश्चालितौ। तत्र च परपुत्रतया निश्चितेऽपि रामे न वाममाचरितम्; न हि सतां परस्वव्यवहारपरता सम्भवति' इति ॥"४७॥

अथ स्निग्धकण्ठ उवाच,—"अत्र किं विचारितम् ? व्रजेश्वर्या किं वा बाढमुत्तरितम् ?" मधुकण्ठ उवाच,—"न किमपि।" स्निग्धकण्ठ उवाच,—"कस्मादिव ?" मधुकण्ठ उवाच,—"सा खलु चिरतृष्णया कृष्णमुपलभ्य सुखस्तभ्यमानसर्ववृत्तिस्तत् कथमन्यदनुसंदधीत, येन विचारादिकं संदधीत ?" स्निग्धकण्ठ उवाच,—"पुनरप्येतादृशप्रसङ्गः सङ्गतिमवाप्नोति स्म, न वा ?" मधुकण्ठ उवाच,—"नहि, नहि; यतो रोहिणी हि तत्प्रतिरोधिनी बभूव ॥४८

तत्तदप्यास्ताम् ।

"यतः, यस्य स्वानुभवः सदा न वलते यस्मिन् स तत्र स्फुटं
श्रृण्वन्नन्यवचःप्रचारमपरं सन्दिह्य विक्षुभ्यति ।
श्रीगोपाधिपदम्पती कथममू स्वत्रापि कृष्णेऽपि तान्
भावानां वलयानधीत्य बलवद्भावान्तरं गच्छताम् ॥४९॥

के समान सम्पत्ति के अनुभव में भी अनुसन्धान न कर सकेगी। क्योंकि जिस मित्रता के सम्बन्ध में हमारे द्वारा किये गये करोड़ों प्रत्युपकार भी समानकोटिवाले नहीं हो सकते हैं ॥४६॥

अनन्तर सरल प्रकृतिवाली देवकी का वचन, यथा—क्योंकि ये दोनों राम-कृष्ण अपने जन्म से ही बहुत दिन से अपने मातापिता से परिचित नहीं हैं, अतः तुम दोनों दम्पतियों ने धर्म से मातापिता के भाव को अङ्गीकार करके, निमेष (पलक)मण्डल जैसे अक्षिगोलकों की रक्षा करता है, उसी प्रकार इन दोनों भाइयों का लालन पालन किया है, और आज भी उस प्रकार के विशुद्ध स्नेहयुक्त मन से इनको दूर नहीं किया है। इन दोनों भाइयों में से बलराम के पराये पुत्ररूप से निश्चित होनेपर भी, उसके ऊपर प्रतिकूल व्यवहार नहीं किया है। क्योंकि सज्जनों के यहाँ "यह पराया है, यह अपना है" इस प्रकार के व्यवहार की सम्भावना नहीं है ॥४७॥

अनन्तर स्निग्धकण्ठ बोला—उन दोनों के वचनों में श्रीव्रजेश्वरी ने क्या भाव विचार किया, अथवा क्या निश्चित उत्तर दिया ? मधुकण्ठ बोला—न कुछ विचार किया, एवं न कुछ उत्तर ही दिया। स्निग्धकण्ठ बोला—किस कारण ? मधुकण्ठ बोला—वह व्रजेश्वरी बहुत दिन की लालसा से श्रीकृष्ण को पाकर, सुख से निश्चल हुई सब वृत्तियोंवाली होकर, अन्य बातों का अनुसन्धान किस प्रकार कर सकती है ? जिससे विचार आदि कर सके। स्निग्धकण्ठ बोला—इस प्रकार की वार्तालाप आदि का प्रसङ्ग दुबारा भी सङ्गति को प्राप्त हुआ था या नहीं ? मधुकण्ठ बोला—नहीं नहीं। कारण श्रीरोहिणी ही उस प्रसङ्ग के रोकनेवाली हो गई थी ॥४८॥

अतः उन वचनों को भी रहने दो। कारण जिस व्यक्ति का जिस वस्तु में स्वकीय अनुभव सदैव जागृत नहीं है, वह व्यक्ति उस वस्तु में स्पष्ट ही विरुद्ध वाक्यों के प्रचार को सुनते ही, दूसरा सन्देह करके विशेष क्षुभित हो जाता है। अतः श्रीव्रजराज एवं व्रजेश्वरीरूप वे दोनों दम्पती, अपने में एवं श्रीकृष्ण में भी, वात्सल्यरस के उन विशुद्ध भावसमूहों का अनुभव करके, दूसरे प्रबल भाव को, अर्थात् श्रीकृष्ण हमारे

"सम्प्रति तु पश्य पश्य,

हरिमनु पितृताभिमानः, शूरजदेवकतनूजयोर्यः प्राक् ।
अमुमुत्क्रमयन् स पुन,-र्व्रजनरपत्योर्मुदं दुग्धे ॥"५०॥

इति व्रजराज-सभायां कथयित्वा रहसि राधामाधव-सदसि मधुकण्ठ उवाच,—"तदेवं परस्परप्रेमसम्मर्दशतेन तस्मिन् दिवसे गते श्रीव्रजेश्वरादिव्रजजने कृतनिजनिजवाससज्जने, निद्रया सर्वत्र निर्जने च जन्यमाने स खलु जनार्दनः स्वप्रेयसीजनानां लब्धसुखसदुद्धवहलभृ-दुद्धवरचितमुचितमेकान्तावासमाससाद ॥५१॥ "तत्र तासां तत्रावस्थितिर्यथा,—

तीव्रं मिमीलुरभितः पुनरुन्मिमीलु,-रुच्चैर्मुमूर्च्छुरतिचेलुरथास्रमूहुः ।
याताः कुरोर्भुवि हरिं दृशि लब्धुमुत्का, हा मेनिरे व्रजरमाः क्षणमत्र कल्पम् ॥५२॥

"तस्य तु समासत्तिर्यथा,—

उद्धवं विनिदधन्निजाग्रतो, मन्दमन्दमुदयन् घनागमः ।
गोपिकानिचितिचातकावली,-मन्वजीवयदसौ मुरान्तकः ॥५३॥ "तत्र च—

कृशा मलिनिमस्तृताः प्रतनजीर्णवस्त्रावृता, विकीर्णकचकाऽऽचिताऽऽकृतिमुखीः स पश्यन्नमूः ।
विघूर्ण्य दधदुद्धवं क्षणशतं धृताऽस्त्रस्तदा, कदाहमिह कः कथं किमिदमित्यजानन्न हि ॥५४॥

पुत्र नहीं हैं, किन्तु वसुदेव के हैं, इस प्रकार के विपरीतभाव को किस प्रकार प्राप्त हो सकते हैं ? तात्पर्य—श्रीनन्द-यशोदा के हृदय में "श्रीकृष्ण हम दोनों के ही पुत्र हैं" इस प्रकार का अनुभव सदैव जागरूक रहता है, अतः दूसरे भाव की उत्पत्ति ही नहीं हो पाती ॥४९॥

भैया ! अब तो देखो, देखो। पहले वसुदेव-देवकी का श्रीकृष्ण के ऊपर जो पिता-मातापन का अभिमान था, वही व्रजराज एवं व्रजेश्वरी का पिता-मातापन का अभिमान वसुदेव-देवकी के पिता-मातापन के अभिमान को लाँघता हुआ, अर्थात् संकुचित करता हुआ हर्ष को परिपूर्ण कर रहा है ॥५०॥

मधुकण्ठ व्रजराज की सभा में इस प्रकार कह कर, एकान्त में श्रीराधा-माधव की सभा में बोला—इस प्रकार परस्पर के सैंकड़ों प्रकार के प्रेममय सम्मेलन के द्वारा उस दिन के बीत जानेपर, श्रीव्रजेश्वर आदि व्रजवासियों के अपने अपने वासस्थान में प्रवेश कर जानेपर, एवं निद्रा के द्वारा सभी जगह जनशून्य हो जानेपर, वे श्रीकृष्ण श्रीराधिका आदि निज प्रेयसीजनों के उचित एवं एकान्त के निवासस्थानपर पहुँच गये। वह स्थान प्राप्त हुए सुख से अच्छे उत्सववाले श्रीबलदेव एवं उद्धव के द्वारा बनाया गया था ॥५१॥

कुरुक्षेत्र में उस स्थान में कृष्णप्रेयसी गोपियों की स्थिति का वर्णन, यथा—श्रीकृष्ण को अपने नेत्रों में प्राप्त करने की उत्कण्ठावाली व्रजाङ्गनाएँ कुरुक्षेत्र में जाकर, अत्यन्त संकुचित हो गईं (मिमीलुः इति मील निमेषणे धातो रूपं निमेषणं संकोचः), पुनः सर्वतोभाव से और भी संकुचित हो गईं, अतः तत्काल कृष्णदर्शन के अभाव में विशेष मूर्च्छित हो गईं, देहानुसन्धान का अतिक्रमण कर गईं, उसके बाद आँसू बहाने लग गईं। हाय ! यहाँपर तो वे क्षणभर को भी कल्प के समान मानने लग गईं ॥५२॥

श्रीकृष्ण का गोपियों के पास जाने का वर्णन, यथा—उद्धव को अपने आगे करते हुए, एवं धीरे धीरे उदय होते हुए उन श्रीकृष्णरूप वर्षाऋतु ने, गोपीसमूहरूप चातकश्रेणी को जीवित कर दिया ॥५३॥

और वहाँपर कृश शरीरवालीं, मलिनता से ढकी हुईं, पुराने जीर्ण वस्त्रों से आवृत, एवं बिखरे हुए केशों से व्याप्त आकृति एवं मुखवालीं, उन गोपियों को देखते हुए, वे श्रीकृष्ण व्याकुलता से झूमकर, उद्धव

"अथ दीर्घरात्रेण तस्य गात्रे तासां नेत्रपात्रे सति किमिव विवरणीयम् ? ॥५५॥ यतः,

चातुरक्ष्यमभवद् यदा हरे,-र्गोपिकाभिरभितस्तदा द्रुतम् ।
चित्तमक्षियुगमप्यमूदृशां, हन्त हन्त जडवद् व्यजायत ॥५६॥

यस्यालोके निमिमपि निमेषाधिकारीति शेपु-
स्तावन्मात्रं विरहमनु या वीथयो गोपिकानाम् ।
तास्तं वीक्ष्य प्रचुरविरह-ज्वालया लब्धतृष्णा
यामासेदुः प्रमदविकृतिं वक्तुमीशीत कस्ताम् ? ॥५७॥

उत्कण्ठाभिः सपदि शकटारोहणे प्राप मोहं
राधा यद्वत् कुरुभुवि तथावस्थमेषा विवेश ।
किन्तु श्रीमान् जयति सुरभिः श्रीहरेर्यः पराभि-
र्गोपस्त्रीभिः सममरचयत्तामम् वीक्ष्यमाणाम् ॥५८॥

स्तम्भः स्वेदः पुलकवलना गद्गदं कम्पसम्पद्
वैवर्ण्यश्रीर्नयन-सलिलं सर्वबुद्धिप्रमोषः ।
एते भावा व्यतिमिलनजा राधिका-कृष्णयोर्ये
ते सर्वासामपि सवयसां व्यापकाः संबभूवुः ॥५९॥

को पकड़ कर, सौ क्षणतक आँसू धारण कर, उस समय यह भी नहीं जान पाये कि, मैं यहाँपर कब आया हूँ, मैं कौन हूँ, या किस प्रकार का हूँ, एवं यह क्या हो रहा है ? ॥५४॥

अनन्तर दीर्घरात्र अर्थात् चिरकाल के बाद श्रीकृष्ण के श्रीविग्रह के उन गोपियों के नेत्रगोचर होनेपर तो क्या वर्णन किया जाय ? ॥५५॥

क्योंकि जब श्रीकृष्ण का गोपियों के साथ साक्षात्कार हुआ, तब अहह ! उन गोपियों का चित्त एवं दोनों नेत्र शीघ्र ही जड़ की भाँति हो गये । श्लेषपक्षे—जड़वत् अर्थात् जलवत् हो गये । तात्पर्य—चित्त पिघल गया, नेत्र सजल हो गये ॥५६॥

और जो गोपियों की पंक्तियाँ एक पलकमात्र के विरह में जिन श्रीकृष्ण के दर्शन में निमेषों के अधिकारी होने के नाते, निमिराजा को भी अभिशाप देती थीं, वे ही गोपियों की पंक्तियाँ अधिक विरह की ज्वाला से तृष्णा को प्राप्त कर, श्रीकृष्ण को देखकर जिस हर्ष की विकृति (विकार) को प्राप्त हुई थीं, उस अनिर्वचनीय विकृति को कौन वर्णन कर सकता है ? ॥५७॥

और देखो, श्रीराधिका, श्रीहरि के दर्शन की उत्कण्ठाओं के साथ बैलगाड़ी में चढ़ते समय तत्काल जिस प्रकार की मूर्च्छा को प्राप्त हुई थीं, ये श्रीराधिका उसी मूर्च्छामयी अवस्था से ही कुरुक्षेत्र में प्रविष्ट हुई थीं । किन्तु नासिका को तृप्त करनेवाली श्रीहरि के देह की वह सुन्दर सुगन्धि विजय से युक्त है कि, जिस सुगन्धि ने श्रीराधिका भी अन्य गोपियों के साथ श्रीकृष्ण को देखनेवाली बना दी । तात्पर्य—श्रीकृष्ण-दर्शन की उत्कण्ठाओं ने तो राधिका को मूर्च्छित कर दिया था, एवं श्रीकृष्ण के अङ्ग की सुगन्धि ने उनको सचेत करके दर्शन समर्थ कर दिया, अतः उस सुगन्धि की जय हो ! ॥५८॥

उस समय श्रीराधा-कृष्ण के परस्पर में मिलने से उत्पन्न हुए स्तम्भ (शरीर की निश्चलता), स्वेद (पसीना), पुलकावली, स्वरभङ्ग, कम्पसम्पत्ति, विवर्णता की शोभा, अश्रुजल, सर्वबुद्धिप्रमोषः (प्रलयः

"अथ लब्धदुःखसम्पदुद्भवः कथमप्युद्धवश्चिरादुभयत्र च तत्र सान्त्वनया प्रणयाद् विनयादपि परस्परमभिमुखतया समुपवेशमानिनाय। "ततश्च तासु कृष्णस्य चरणमात्रं तृष्णया क्षोभाविलगात्रं पश्यन्तीषु बहिर्निर्गच्छदन्तर्वाष्पतया कान्तिवलनाद् भ्रश्यन्तीषु च स तु करुणामयः, कथञ्चिन्मार्जितवाष्पतार्जित-समयः शनैः सनैपुण्यममूः प्रसादयामास ॥६०॥

यथा— हरिरालिङ्गंश्चुम्ब,-न्नश्रु विलुम्पन् शिवं पृच्छन्।
व्रजसरसीरुहनेत्राः, कुरुभुवि विजने ससान्त्वमस्तौषीत् ॥६१॥

'तच्च यथा— कान्ताः कान्तप्रथमविरहादेव तान्ता नितान्तं
देहस्यान्तं बत वितनुते तत्तु नात्यन्तचित्रम्।
नैरन्तर्यान्मदतिवियुतेः क्लान्तवन्तं पतन्तं
तं रक्षन्तीर्मदनुगतये सन्ततं हन्त नौमि ॥' इति ॥६२॥

"अथ 'कथं केवलमात्मदृष्ट्या कष्टं लभमानाः स्थ, मां कथं न पश्यथ' इति वदन् पुनर्वदति स्म,—

'सर्वे वदन्तु मम रूपमिदं पुरावत्, तत्तद्गुणैर्विलसतीति तु मन्ददृष्ट्या।
दिष्ट्या विलोकयथ मां व्रजचारुनेत्रा, रासादिकेलिकलिता रुचिरत्र कुत्र ?' ॥६३॥

अर्थात् मूर्च्छा) ये जो अष्ट सात्त्विक भाव थे; वे सब सभी सखियों के भी व्यापक हो गये थे, अर्थात् ललिता आदि सखियों में भी ये भाव व्यापक हो गये थे ॥५९॥

उसके बाद दुःखरूप सम्पत्ति की उत्पत्ति को प्राप्त करनेवाले उद्धवजी ने गोपियों में एवं श्रीकृष्ण में किसी प्रकार बहुत देर से सान्त्वना करके, स्नेह एवं विनयपूर्वक परस्पर सम्मुख के भाव से बैठा दिया। उसके बाद वे गोपियाँ क्षोभ से मलिन शरीरवाली होकर, तृष्णापूर्वक श्रीकृष्ण के चरण मात्र को जब देख रही थीं, एवं बाहर निकलते हुए भीतर के आँसुओं के कारण, कान्ति की रचना से जब रहित हो रही थीं, तब करुणामय वे श्रीकृष्ण किसी प्रकार आँसू पोंछने के समय को पाकर, उन गोपियों को निपुणतापूर्वक धीरे से प्रसन्न करने लग गये ॥६०॥

यथा—श्रीकृष्ण कुरुक्षेत्र में एकान्त में कमललोचना व्रजाङ्गनाओं को आलिङ्गन एवं चुम्बन करते हुए, उनके आँसू पोंछते हुए, कुशल पूछते हुए, सान्त्वनापूर्वक उनकी स्तुति करने लग गये ॥६१॥

वह स्तुति करना, यथा—हे प्रिय गोपियो ! देखो, कोई स्त्री तो अपने पति के प्रथम विरह से ही अत्यन्त ग्लानियुक्त होकर, हाय ! अपने शरीर का अन्त कर देती है, वह अत्यन्त आश्चर्यजनक नहीं है। किन्तु अत्यन्त आश्चर्य की बात तो यह है कि, मेरे अतिशय वियोग की निरन्तरता से दुःखित हुए अतः स्वयं गिरते हुए अपने अपने देह को मेरी प्राप्ति या मेरी सेवा के लिए रखनेवाली जो तुम हो, मैं तुम्हारी निरन्तर स्तुति करता हूँ ॥६२॥

अच्छा, हे गोपियो ! केवल अपनी आत्मा में ही मेरे दर्शन से क्यों कष्ट पाती हुई बैठी हो, मुझको क्यों नहीं देखती हो ? इस प्रकार कहते हुए पुनः बोले – हे व्रजाङ्गनाओ ! देखो, मेरे इस रूप को सभी लोग अपनी मन्द दृष्टि से "उन उन गुणों के द्वारा पहले की भाँति शोभा पा रहा है" इस प्रकार यदि कहते हैं तो कहने दो। किन्तु तुम सब यदि मुझको आनन्दपूर्वक देखती हो तो देखो। किन्तु रासलीला आदि क्रीडाओं में देखी गई शोभा यहाँ (कुरुक्षेत्र में) कहाँ है ? अर्थात् नहीं है ॥६३॥

"अथ युगपन्नेत्रयुगलशतं किञ्चिदुन्नतं विधाय यथावदेव तथा तमवलोकमाना विस्मृताऽऽत्मदुःखिताऽभिमानाः परमदूयमाना बभूवुः । ततः स च भृशमेवान्यादृशतां सचमानस्तल्लघूकरणाय लघु हसित्वा किञ्चिदुवाच—॥६४॥

यथा, तदेवानूक्तं श्रीशुकेन (भा० १०।८२।४२-४७)—

'अपि स्मरथ नः सख्यः ! स्वानामर्थचिकीर्षया । गतांश्चिरायितान् शत्रुपक्षक्षपणचेतसः ॥
अप्यवध्यायथास्मान् स्विदकृतज्ञाविशङ्कया । नूनं भूतानि भगवान् युनक्ति वियुनक्ति च ॥
वायुर्यथा घनानीकं तृणं तूलं रजांसि च । संयोज्याऽऽक्षिपते भूयस्तथा भूतानि भूतकृत् ॥
मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते । दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः ॥
अहं हि सर्वभूतानामादिरन्तोऽन्तरं बहिः । भौतिकानां यथा खं वार्भूर्वायुर्ज्योतिरङ्गनाः ॥
एवं ह्येतानि भूतानि भूतेष्वात्माऽऽत्मना ततः । उभयं मय्यथ परे पश्यताऽऽभातमक्षरे ॥'

इति ॥६५॥

"तदेवं स्वस्मिन्ननीश्वरत्वाद् व्यवहारपरवशताकरमीश्वरान्तरवशत्वमीश्वरत्वाद्भक्तमात्रं प्रति ब्रह्मभावभावकत्वं तद्विधस्निग्धं प्रति तु तदतिक्रमिस्वसमर्पकत्वं पुनर्ब्रह्मत्वान्नित्यप्राप्तत्वं सुखैकरूपत्वमपि सचमानं रचयतां स्ववचसामसंबद्धतां समग्रव्यग्रतया नाधिजगाम ॥६६॥

उसके बाद सैंकड़ों नेत्रयुगलों को एकसाथ कुछ ऊँचे करके, विधिपूर्वक उसी प्रकार श्रीकृष्ण को निहारती हुई व्रजाङ्गनाएँ अपने में दुःखीपन के अभिमान को भूलकर परम सन्तप्त हो गईं । उसके बाद श्रीकृष्ण तो अत्यन्त ही दूसरे प्रकार को, अर्थात् ईश्वरभाव को, संयुक्त करते हुए, उनके विरहसन्ताप को थोड़ा करने के लिए, ईषद् हास्य करके कुछ बोले— ॥६४॥

उसी का अनुकथन श्रीशुकदेवजी ने किया है, यथा—हे प्रिय सखियो ! हम लोग श्रीवसुदेव आदि स्वजनों के प्रयोजन सिद्ध करने की इच्छा से व्रज से बाहर चले गये थे, वहाँपर शत्रुओं को नष्ट करने में हमारा चित्त लग गया, अतः विलम्ब हो गया । क्या तुम सब कभी हमारा भी स्मरण कर लेती हो ? कहीं तुम सबके मन में यह आशंका तो नहीं हो गई है कि, मैं अकृतज्ञ हूँ, और यही समझ कर तुम हम से बुरा तो नहीं मानने लगी हो ? निःसन्देह भगवान् ही प्राणियों के संयोग वियोग करते रहते हैं । देखो, वायु जैसे मेघसमूह को, तिनकों को, रूई, एवं धूल के कणों को, एक दूसरे से मिलाकर पुनः अलग अलग कर देती है, उसी प्रकार समस्त पदार्थों के निर्माता प्रभु स्वेच्छापूर्वक सभी का संयोग वियोग करते रहते हैं । हे सखियो ! यह बड़े सौभाग्य की बात है कि आप सबका मुझ में स्नेह हो गया है, जो कि मेरी प्राप्ति करानेवाला है । क्योंकि प्राणियों की मेरे में जो प्रेमभक्ति है, वह परमानन्दमय धाम देने में समर्थ है । हे प्रिय ! व्रजाङ्गनाओ ! जैसे घट पट आदि भौतिकपदार्थों के आदि, अन्त, और मध्य में, तथा बाहर में उनके मूलकारण पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, तथा आकाश ये ही ओतप्रोत हो रहे हैं, उसी प्रकार सभी पदार्थों के आदि, अन्त, एवं बाहर भीतर में भी मैं ही हूँ । इसी प्रकार सभी प्राणियों के शरीर में यही पाँचोभूत कारणरूप से स्थित हैं; और जीवात्मा भोक्तारूप से स्थित है । परन्तु मैं इन दोनों से परे अविनाशी सत्य हूँ । ये दोनों मेरे ही अन्दर प्रतीत हो रहे हैं, तुम सब ऐसा अनुभव करो ॥६५॥

अतएव इस प्रकार पहले तीन श्लोकों में अपने में, अर्थात् श्रीकृष्ण में ईश्वरता के न रहने से स्वजनों की विपत्ति दूर करनारूप कार्य करने की इच्छा आदि व्यवहार की परवशताजनक, एवं सृष्टि, स्थिति, लय

"तत्र दुःसहविरहविधुरभावादविपश्चितामिव तासां काश्चित्तु पप्रच्छुः,—'हन्त ! सर्वकृच्छ्रविमुक्त ! किमुक्तमिदम्, यत् खलु व्यतियुक्तमिव न लक्ष्यते ।।'६७।।

"अथ तदधिगम्य नम्रमूर्धन्युद्धवे श्रीकृष्णस्तु तज्जया लज्जया तदेव सज्जयति स्म; तथा हि—'अहो ! सख्यः ! कथमिव मामपि वीक्ष्य म्लानमुख्यः स्थ ? अथ ब्रूथ,—धिगस्मान् परित्यज्य त्वया दूरमव्रज्यतेति । तत्र किं करवाम ? दुर्हृदां ततिभिर्या सुहृदां दुर्गतिर्जाता, तस्यां सुहृदां गतितां याताः कथमिव वयमुपेक्षां प्रथयामः' इति ।।६८।।

"अथ विलम्बमानतामस्माकं विडम्बयथ चेत्तस्यामपि तदेव दुर्निवारं कारणम्, यत एकस्मिन् कंसे लब्धध्वंसेऽपि बहवस्तत्संबन्धिनस्तत्कर्मानुबन्धिनः सम्पन्नाः; तत्तद्ध्वंस-साहाय्याय च मया नानाव्यवहाराणामेषां समाहारः कृतः । तथापि भवद्वदनन्यवृत्तिता-रहिततया ममाऽकृतज्ञता परं प्रतीयत इति चेदिदं सत्यम्; परन्तु सहजप्रेम्णा मिथःसङ्गतानां

करनेवाले किसी दूसरे ईश्वर की अधीनता, तथा चौथे श्लोक में अपने में ईश्वरता होने के कारण, भक्तमात्र के प्रति ब्रह्मभाव की भावना का होना, और भक्तों की तरह अति प्रेमीभक्तों के प्रति तो उस प्रकार के मोक्ष का अतिक्रमण करनेवाला आत्मसमर्पणरूप भाव; पुनः पाँचवें एवं छठे श्लोक में अपने में ब्रह्मभाव या सर्वव्यापकभाव होने के कारण नित्य प्राप्त होना; और छठवें श्लोक में "परे, अक्षरे" इसके निर्देश से अपनी केवल सुखरूपता के सम्बन्ध की भी रचना करनेवाले अपने वचनों की परस्पर असंबद्धता (अनर्थकता, अर्थात् परस्पर के सम्बन्ध की रहितता को भी श्रीकृष्ण सम्पूर्ण व्यग्रता के कारण नहीं समझ सके ।।६६।।

वहाँपर उन गोपियों में से कुछ गोपियों ने असह्यविरह से व्याकुल होने के कारण अज्ञानियों की तरह पूछा कि—हाय ! हे सब कष्टों से छुड़ानेवाले ! प्रभो ! आपने यह क्या कहा ? जो कि आपका कहना परस्पर सम्बन्धवाला सा नहीं दीखता है, अर्थात् कभी तो मनुष्य की सी चेष्टा करके अपने को ईश्वर के अधीन कहते हो, अतः अपने से दूसरे ईश्वर की स्थापना करते हो, एवं कभी अपने में ही सर्वेश्वरभाव कह कर अपने को भक्तों का अभीष्ट दाता कहते हो, कभी प्रियभक्तों के प्रति आत्मसमर्पणतक की व्यवस्था करते हो, तथा कभी अपने में ब्रह्मभाव कह कर नित्य प्राप्त का उल्लेख करते हो, अतः आपके वचन परस्पर सम्बन्धवाले नहीं दीखते हैं, यह तात्पर्य है ।।६७।।

अनन्तर गोपियों के कथन के भाव को जानकर उद्धवजी के नत मस्तक हो जानेपर, श्रीकृष्ण ने तो उनके कथन से उत्पन्न हुई लज्जा से "अपि स्मरथ नः सख्यः !" इस अपने कहे हुए पूर्वोक्त प्रसङ्ग को ही सजा दिया, अर्थात् अपने कथन का भाव समझा दिया । यथा—अरी सखियो ! तुम मुझको देखकर भी मलिन मुखवाली क्यों हो रही हो ? और यदि कहती हो कि हम सबको धिक्कार है, क्योंकि हमको छोड़-कर आप दूर चले गये, उस विषय में हम क्या करें ? कारण शत्रुओं की श्रेणी के द्वारा श्रीवसुदेव आदि सुहृदों की जो दुर्गति हुई, उस दुर्गति में सुहृदों की गति, अर्थात् उनके कष्ट निवारण के भाव को प्राप्त हुए हम उपेक्षा किस प्रकार कर सकते हैं ? ।।६८।।

और यदि हमारे व्रज में आने के विलम्ब करने के भाव की विडम्बना करती हो तो उस विलम्ब में भी सुहृदों का दुःख ही अनिवार्य कारण है । क्योंकि एक कंस के ध्वंस को प्राप्त हो जानेपर भी, कंस के सम्बन्धी बहुत से दुष्ट, कंस के से बुरे कर्म करनेपर उतारू हो गये । उन उन दुष्टों के ध्वंस की सहायता के लिए मैंने, मेरे साथ विवाह आदि अनेक व्यवहार करनेवाले इन राजाओं का एकत्रीकरण किया था ।

योगवियोगौ पुनरीश्वरकृतयोगावेव; स्ववशतायां खलु वियोग एव न स्यात्, कुतस्तत्पूर्वको योगः ? ॥६९॥

"अथ यदि (भा० १०।८।१९) 'नारायणसमो गुणैः' इति गर्गवचनानुसारेण नारायणमेव मां मन्यध्वे, तथापि भवतीभिर्योगः प्रेम्ण एव स्वाधीन इति तं भवतीनां परमः प्रेमोद्रेकप्रवेकः स एक एव झटिति घटयिष्यति; यतः (भा० १०।८२।४५)—'मयि भक्तिर्हि' इति। तदित्थमपि भवतीनां बहिर्दृष्टिमेवावष्टभ्य समाधीयते, अन्तर्दृष्ट्या तु भवतीभिः सह नित्यसंयुक्त एवेत्येतदपि 'मयि भक्तिर्हि' इत्यादि स्वप्रतिज्ञामनुल्लङ्घ्य द्वयेनापरेण विव्रियते। यस्मादहमित्यहङ्काराख्यं तत्त्वं सर्वभूतानामाकाशादीनां यथाऽऽद्यन्तादिस्थं भौतिकानां च षड्जादिनामवेणुरन्ध्रादीनां यथाऽऽकाशादीन्याद्यन्तस्थादिरूपाणि, एवं ह्येतानि भूतानि प्राणिनो जीवा भूतेषु स्वस्वदेहेषु तादृशानि। एवमेव चात्मना परमात्मना आत्मा जीवस्ततो व्याप्तः। एवमिति परेणाऽन्वयः। परत्र च पश्यतेत्यनेन तासामवधानविषयभाग एव पर्यवसीयत इति स्वीयपदमध्याहार्यम्। ततश्च यथापूर्वमुक्तमेवमेव। तदुभयविधं व्यापक-व्याप्यरूपं सर्वं

तथापि तुम सबकी तरह अनन्यवृत्ति के भाव से रहित होने के कारण, यदि मेरी केवल अकृतज्ञता ही प्रतीत हो रही है, वह सत्य है; परन्तु स्वाभाविक प्रेम से परस्पर में सम्मिलित हुए हमारे तुम्हारे संयोग वियोग दोनों ही, ईश्वर के द्वारा ही प्रयुक्त किये गये हैं। क्योंकि स्वतन्त्रता में तो (अकृतज्ञता के भय से) वियोग ही नहीं हो सकता, फिर वियोगपूर्वक संयोग क्यों होता ? तात्पर्य—सदा संयोग ही रहता ॥६९॥

श्रीकृष्ण के द्वारा कहा हुआ "मयि भक्तिर्हि भूतानाम्" इस श्लोक का तात्पर्य, यथा—और हे गोपियो ! तुम सब "यह श्रीकृष्ण गुणों के द्वारा नारायण के समान है" इस प्रकार नन्दजी के प्रति कहे हुए श्रीगर्गाचार्य के वचनानुसार मुझको यदि नारायण ही मानती हो, तो भी तुम्हारे साथ जो मेरा संयोग है, वह प्रेम के ही अधीन है। अतः तुम्हारे परमविशुद्ध प्रेम का जो श्रेष्ठ उद्रेक है, वह अकेला ही तत्काल संयोग को संघटित कर देगा। कारण मेरे में जो भक्ति है, वह परमानन्दमय धाम को देने के लिए समर्थ है। अतः इस प्रकार भी आप सबकी बाहरीदृष्टि को अङ्गीकार करके ही समाधान किया जा रहा है। किन्तु अन्तर्दृष्टि से तो आप सबके साथ मैं नित्य संयोगवाला ही हूँ। अतः मेरे नित्यसंयोग को भी मैं "मयि भक्तिर्हि, अर्थात् मेरे में जो भक्ति है" इत्यादि अपनी प्रतिज्ञा को न लाँघकर दूसरे "अहं हि सर्वभूतानाम्" इत्यादि दो श्लोकों के द्वारा स्पष्ट करता हूँ। यथा—कारण 'अहं' यह अहंकार नामक जो तत्त्व है, वह जैसे आकाश आदि समस्त भूतों के आदि, मध्य, अन्त में स्थित है, और निषाद, ऋषभ, गान्धार आदि सात स्वरों के प्रकाशक वेणुछिद्र आदि सभी भौतिकपदार्थों के जिस प्रकार आकाशादि पंचमहाभूत आदि, मध्य, अन्त में स्थित हैं, अर्थात् निकटवर्ती हैं, इसी प्रकार ये सब भूत अर्थात् प्राणविशिष्ट जीवगण भूतों में, अर्थात् अपने अपने देह में आदि, मध्य, अन्त में स्थित हैं। इसी प्रकार आत्मना अर्थात् परमात्मा के द्वारा आत्मा अर्थात् जीवात्मा व्याप्त है। 'एवं' इसका दूसरे श्लोक से अन्वय है। दूसरे श्लोक में भी 'पश्यत' इस पद से उन गोपियों के सावधानी के विषय का भाग ही निश्चित होता है। अतः यहाँपर 'स्वीय' पद का अध्याहार करना चाहिये। इसलिए जैसे पहले कहा था "अहं हि" इत्यादि वह उसी प्रकार से है। अतः दोनों प्रकार का व्यापक-व्याप्य रूप, अर्थात् जैसे अहंकार तत्त्व व्यापक है, एवं पंचभूत व्याप्य हैं, इसी प्रकार परमात्मा जैसे व्यापक, एवं जीवगण व्याप्य हैं, उसी प्रकार समस्त स्वीय विषय हमारा व्याप्य

स्वीयं मयि परे परत्र स्थितेऽपि अक्षरे परस्परस्फूर्तिप्रामाण्येन नित्ययुष्मत्सङ्गिनि आभातम्, मदाश्रयतया विराजमानम्, न तु प्राकृतानां तत्तद्वल्लीनं पश्यत, सर्वदाऽनुभूतं स्मरतेति ॥७०॥

"तदेवमात्मानमधिकृत्य या शिक्षा तया तेन शिक्षिता गोपसीमन्तिन्यः पूर्वतद्विरहजाऽनुस्मरणविकलितजीवनाऽऽधाराः संप्रति पुनरन्तर्बहिस्तर्पकं तं मयीति स्वयं निर्दिष्टं श्रीकृष्णलक्षणं नित्यसंयोगिनमेवाऽधिगतवत्यः । हन्त ! हन्त ! तदन्तरा तासां तदपि सान्तरायं बभूव । यत्र तदिदमपि ता ग्लपिता 'मयि भक्तिर्हि' इत्यादिना स्वप्रभावमयेन पुनरस्तेन तर्पिता वाष्पस्नपिताश्चिरेण ययाचिरे—॥७१॥

'वृणीमहि पदाम्बुजं तव सरोजनाभ ! प्रभो !, मनस्यपि कथञ्चन स्फुरतु नः समन्तादिति । इदं हि बत योगिनां स्मृततया तमश्च्यावनं, वियोगिसुदृशां तया तमसि मज्जनं प्रत्युत ॥'७२॥

'एतदेव भवताप्युद्धवं प्रति स्वयमुक्तम्, (भा० १०।४६।५)—

'मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः ।
स्मरन्त्योऽङ्ग ! विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः ॥' इति ॥७३॥

'यस्मात् (भा० १०।४७।३६) 'मय्यावेश्य मनः कृष्णे' इत्यादिकया तव शिक्षयापि तदस्माकं न सिध्यति, गृहजनाऽधीनतया स्वच्छन्दमागमनं च न संभवति, तस्मादस्य

होकर मुझ पर में, अर्थात् द्वारका आदि दूसरे स्थान में मेरे स्थित होनेपर भी, एवं मेरे अक्षय होनेपर भी, परस्पर की स्फूर्ति के प्रामाण्य के कारण, नित्य तुम्हारे संग रहनेवाले मुझ में आभात, अर्थात् मेरे आश्रयरूप से विराजमान देखो; किन्तु प्राकृतजीवों के लिए लीन हुए की तरह मत देखो। अपितु, सदैव अनुभूत विषय (मुझको) ही स्मरण करती रहो ॥७०॥

अतएव अपना अधिकार करके जो शिक्षा दी उस अध्यात्मशिक्षा द्वारा श्रीकृष्ण से शिक्षित वे गोपाङ्गनाएँ पहले श्रीकृष्ण के विरह में हुए अनुस्मरण से व्याकुल शरीरवाली होकर, अब तो पुनः बाहर भीतर से तृप्ति करनेवाले 'मयि' इस प्रकार से स्वयं निर्देश किये हुए, नित्य संयोगवाले श्रीकृष्ण को ही प्राप्त हो गईं। हाय ! हाय ! उसके बीच में उन गोपियों को वह नित्य संयोगी का भाव भी विघ्न के सहित हो गया। जिस विघ्न से युक्त संयोग में यह भी हुआ कि वे गोपियाँ हर्षरहित होकर, पुनः "मयि भक्तिर्हि" इत्यादि निज प्रभावमय वाक्य के द्वारा श्रीकृष्ण से तृप्त हुईं आँसुओं से स्नान करके बहुत देर में प्रार्थना करने लगीं— ॥७१॥

यथा—हे पद्मनाभ ! प्रभो ! हम सब यह वर माँगती हैं कि, तुम्हारा चरणकमल हमारे मन में भी किसी प्रकार सर्वतोभाव से स्फूर्ति पाता रहे। क्योंकि तुम्हारा यह चरणकमल स्मरण करने से योगियों के तो अज्ञानरूप अन्धकार को दूर कर देता है, किन्तु हाय ! वियोगिनी स्त्रियों को तो वह स्मरण करनेपर बल्कि विरह दुःख में डुबानेवाला है। तात्पर्य यह है कि—विरह की अधिकता में अतिकष्ट से स्मरण होनेपर भी, विरह दुःख की शान्ति नहीं होती है ॥७२॥

इसी बात को आपने उद्धव के प्रति स्वयं कहा है कि—हे प्यारे उद्धव ! देखो, वे व्रजाङ्गनाएँ देहादि प्रियतम वस्तुओं से भी अतिशय प्यारे मुझ श्रीकृष्ण के दूरस्थ हो जानेपर, मुझको स्मरण करती हुईं विरह से जायमान उत्कण्ठा से विह्वल होकर विमोहित, अर्थात् मूर्च्छित सी हो जाती हैं ॥७३॥

कारण—"मुझ श्रीकृष्ण में मन लगाकर शीघ्र ही मुझको पा जाओगी" इत्यादिरूपवाली आपकी

त्वत्पदाम्बुजयुगलस्य नित्यं व्रजमध्यासीनस्य दर्शनमेवास्मभ्यं सुखस्पर्शनमिति ध्वनितम्। तदेतदभिप्रायकं श्रीबादरायणि-वचनम्, (भा० १०।८२।४९)—'आहुश्च ते नलिननाभ!' इति ॥७४॥

"अथ विरहविवशतावशात् पुनर्मूर्च्छामृच्छन्ति स्म; यत्र मुहूर्तद्वयमेव पूर्तये बभूव। तदनु श्रीकृष्णश्च धृतकष्टस्तदिदमाचष्ट,—'अहो! सर्वत्र सञ्चरितचरितशुद्धयस्तृष्णया विचारव्यभिचारचरिष्णुबुद्धयः किं संप्रत्येव युष्मान् प्रत्येवमुक्तं विस्मृतम्?' ॥७५॥

"ताः सगद्गदमूचु,:—'एवमिति किम्?' "स उवाच, (भा० १०।४२।४५)—'मयि भक्तिर्हि इत्यादि। "ता ऊचुः,—'सत्यमुक्तम्; किन्तु विरहशस्त्रिकया छिद्रिते हृदि न किञ्चिदाधेयतामधियाति। तस्माद् वृणीमहीत्यादिना यदस्माभिर्व्यञ्जितम्, तदेवाऽस्मभ्यं देहि' इति।।"७६॥

अथ स्निग्धकण्ठ उवाच,—"ततस्तासां प्राणनाथः स तु किं व्यवसितवान्?" मधुकण्ठ उवाच,—"यदाह श्रीबादरायणिः (भा० १०।८३।१)—

'तथाऽनुगृह्य भगवान् गोपीनां स गुरुर्गतिः।
युधिष्ठिरमथापृच्छत् सर्वांश्च सुहृदोऽव्ययम् ॥' इति ॥७७॥

शिक्षा से भी, आपका वह नित्यस्मरण हमारे सम्बन्ध में सिद्ध नहीं होता है। घर के जनों के अधीन होने के कारण स्वतन्त्रतापूर्वक आपके निकट आना भी सम्भव नहीं है। इसलिए नित्य ही व्रज के मध्य में विराजमान रहनेवाले तुम्हारे इन दोनों चरणारविन्दों का दर्शन ही हमारे लिए सुखजनक है, यह भाव ध्वनित किया। इसी अभिप्रायवाला श्रीशुकदेवजी का वचन, यथा—गोपियाँ श्रीकृष्ण से बोलीं कि—हे पद्मनाभ! आपका जो चरणकमल अगाध बोधसम्पन्न योगेश्वरों के द्वारा हृदय में स्मरण करने योग्य है, एवं संसाररूप कूप में पड़े हुए जनों के उद्धार का अवलम्बनस्वरूप है, वही चरणारविन्द घर गृहस्थी के काम में लग जानेपर भी हमारे मन में सदैव प्रगट होता रहे ॥७४॥

अनन्तर विरह की विवशता के अधीन होकर, गोपियाँ पुनः मूर्च्छा को प्राप्त हो गईं। जिस मूर्च्छा में दो घड़ी पूर्ति के लिए हो गईं। उसके बाद श्रीकृष्ण भी कष्ट को धारण कर यह स्पष्ट बोले—अहो! हे गोपियो! तुम्हारे चरित्र की विशुद्धि सभी जगह संचरित है, एवं मेरे मिलन की लालसा से तुम्हारी बुद्धि यथार्थ निर्णय के निश्चय का अवलम्बन नहीं कर रही है, अतः तुम्हारे प्रति अभी कहे हुए इस प्रकार के वचन को भी तुम भूल गईं क्या? ॥७५॥

गोपियाँ गद्गद होकर बोलीं—'इस प्रकार' का वह वचन कौन सा? श्रीकृष्ण बोले—"मेरे में प्राणियों की जो भक्ति है, वह अमर पद की हेतु है" इत्यादि। गोपियाँ बोलीं—आपने सत्य कहा, किन्तु विरहरूप छुरी के द्वारा छिद्रयुक्त हमारे हृदय में, कुछ भी स्थायी नहीं रह पाता है। इसलिए 'वृणीमहि' इत्यादि श्लोक के द्वारा जो भाव सूचित किया था, वही हमारे लिए दे दीजिये! ॥७६॥

पश्चात् स्निग्धकण्ठ बोला—तदनन्तर गोपियों के प्राणनाथ श्रीकृष्ण ने क्या कार्य निश्चित किया? मधुकण्ठ बोला—जिस कार्य को निश्चित किया उसको श्रीशुकदेवजी ने भी कहा है—गोपियों के स्वामी एवं प्राप्य श्रीकृष्ण ने गोपियों ने जैसी प्रार्थना की थी, उसी प्रकार उनपर अनुग्रह करके, श्रीयुधिष्ठिर के प्रति एवं सभी सुहृदों के प्रति, अव्यय (कुशल) प्रश्न किया ॥७७॥

"तस्य रजनीविशेषस्य शेषमारभ्य तु रजनीवृत्तं दिग्दर्शनया परामृश्यते। तदेवं तादृश-प्रार्थनाऽनुसारि समनुगृह्य मुहुराग्रह्य श्रीराधिकादिकाः प्रत्येकं रिङ्गदस्रमालिङ्गन् सङ्गिन-मुद्धवमाज्ञापयन्माधवः स्नानालङ्करणानि समानाय्य ताः सम्मानयामास, प्रच्छन्नमुवास च तां रजनीं तत्र ॥७८॥

"तासु लोकधर्मविलङ्घिचरितासु निरोधनिर्बन्धकृतां सम्बन्धविशेषभृतामनागमनाद-गोचरतया स्वस्य च रहस्यगमनात् परेषामतर्कितया तदासीदिति। तथापि ताः प्रथम-रजन्यां तु विरहस्मरणानन्यामेव वृत्तिमासेदुर्न तु सुखविलासधन्याम्। क्रमादेव तु दुःखाति-क्रमादपरस्यामपरस्यां रात्रावेव चिररात्राय रतिपात्रायमाणा बभूवुः ॥७९॥ यथा—

"प्रतिगोपि प्रतिरजनि, प्रतिमुहुरुद्यन्मनोरथप्रथनम्।
कुरुभुवि निशीथवीथिषु, रहसि विहारं हरिर्विदधे ॥८०॥

"किन्तु, यद्यपि वृन्दाविपिना,-दन्यत्राऽसावमूभिरक्रीडत्।
तदपि विना तन्मेने, ताभिस्तेन च तदप्यदः स्वप्नः ॥८१॥

उस रात्रिविशेष के शेषभाग का आरम्भ करके, रात्रि के वृत्तान्त को थोड़ा सा विचारपूर्वक निर्दिष्ट करते हैं। इस प्रकार गोपियों की उस प्रकार की प्रार्थना के अनुसार ही, उनपर अनुग्रह करके, तथा बारबार आग्रह करके, श्रीराधिका आदि प्रत्येक गोपी को अश्रुप्रवाहपूर्वक आलिङ्गन करते करते श्रीकृष्ण ने अपने संगी उद्धव को आज्ञा देकर, स्नानार्थ जल, एवं अनेक अलंकार मँगवा कर उनको सम्मानित कर दिया। और वहाँपर उस रात्रि में गुप्तरूप से निवास भी किया ॥७८॥

लोक एवं धर्ममर्यादा के अतिक्रमणकारी चरित्रवालीं, अर्थात् लोकातीत चरित्रवाली उन गोपियों के निकट, श्रीकृष्ण का वह गुप्तवास आदि भी कुरुक्षेत्र की यात्रा में रुकावट का आग्रह करनेवाले सास-ससुर, पति आदि काल्पनिक सम्बन्धविशेष को धारण करनेवाले जनों के कुरुक्षेत्र में न आने के कारण, उन जनों के अप्रत्यक्षरूप से एवं अपने गुप्तरूप से जाने से, अतः दूसरे जनों के तर्क वितर्क के रहितरूप से ही हुआ। तथापि वे गोपियाँ पहली रात्रि में तो विरह के स्मरण से विरहमयी वृत्ति को ही प्राप्त कर पाईं, किन्तु सुख के विलास से धन्यवृत्ति को नहीं प्राप्त कर पाईं। किन्तु क्रम क्रम से दुःख का अतिक्रमण करके, दूसरी दूसरी रात्रि में ही, बहुत देर के लिए रतिक्रीडा के पात्रों का सा आचरण करनेवाली हो गईं ॥७९॥

यथा—श्रीकृष्ण ने कुरुक्षेत्र में प्रत्येक रात्रि में, आधी रात की पंक्तियों में, प्रत्येक गोपी के साथ बारंबार उदय होते हुए मनोरथ के विस्तारपूर्वक एकान्त में विहार किया ॥८०॥

किन्तु यद्यपि श्रीकृष्ण ने वृन्दावन से अन्यत्र, अर्थात् कुरुक्षेत्र में उन गोपियों के साथ क्रीडा की थी, तथापि श्रीवृन्दावन के बिना उन गोपियों ने एवं श्रीकृष्ण ने, उस क्रीडा को भी स्वप्न के समान ही माना था। (इस विषय को श्रीरूप गोस्वामी ने 'श्रीपद्यावली' ग्रन्थ में ३८३ श्लोक में स्पष्ट कर दिया है, यथा—

प्रियः सोऽयं कृष्णः सहचरि! कुरुक्षेत्रमिलित,-स्तथाऽहं सा राधा तदिदमुभयोः सङ्गमसुखम्।
तथाप्यन्तःखेलन्मधुरमुरली-पंचमजुषे, मनो मे कालिन्दीपुलिनविपिनाय स्पृहयति ॥

हे सहचरि ललिते! इस कुरुक्षेत्र में मिलनेवाले हमारे प्राणप्यारे वही श्रीकृष्णचन्द्र हैं, मैं भी वही राधा हूँ। हम दोनों का परस्पर मिलनसुख भी वही है, तथापि अपने मध्य में खेलती हुई मधुर मुरली के पंचम स्वर-

यदपि व्रजकुलमहिला, हरिरपि शश्वत् परस्परं भेजुः ।
तदपि न तृप्तिर्जज्ञे, हृदि यद्विरहौ गताऽऽगमिनौ ॥८२॥

"तत्र च— यद्यपि हरिणा गुप्ता, गुप्ताः स्वेनापि कौरवे क्षेत्रे ।
तदपि च कुलपति-महिला,-महिता जाता गुणेन गोपाल्यः ॥८३॥

"तत्र श्रीमन्महिषीणां श्रीराधामुद्दिश्य (भा० १०।८३।४३) 'व्रजस्त्रियो यद्वाञ्छन्ति' इत्यत्र कृतशंसनं प्रशंसनं यथा—

'इच्छामो न वयं तु विष्णुपदमप्यन्यस्य का वा कथा
किन्त्वेतस्य गदाग्रजस्य पदयोर्धर्तुं रजो मूर्धनि ।
राधाहृद्घुसृणं यतस्तृणमितं पश्चात् पुलिन्दीधृतं
गोपीभिः स्पृहितं ययोः स सुरभिश्चेतो हरत्यद्य च ॥' इति ॥८४॥

"इयमेव श्रीव्रजदेवीभिः सर्वोर्ध्वं श्लाघिता, (भा० १०।२१।१७)—'पूर्णाः पुलिन्द्यः' इत्यादिना; (भा० १०।३०।२८) 'अनयाराधितो नूनम्' इत्यादिना च । मुनिभिस्तु नाम्नापि व्यक्तीकृता,—'राधा वृन्दावने वने' इत्यादिना ॥"८५॥

विशिष्ट राग का जो सेवन कर चुका है, कालिन्दी के तीरपर विराजमान उसी परमरमणीय श्रीवृन्दावन के लिये मेरा मन चाहता है। इस श्लोक की प्रशंसा श्रीचैतन्य महाप्रभु ने भी की है) ॥८१॥

और वे व्रज की कुलाङ्गनाएँ एवं श्रीकृष्ण भी यद्यपि परस्पर का परस्पर निरन्तर सेवन करते रहे, तथापि तृप्ति नहीं उत्पन्न हुई। कारण उन सबके हृदय में बीता हुआ, एवं आनेवाला ये दोनों प्रकार के विरह विद्यमान थे ॥८२॥

यद्यपि कुरुक्षेत्र में वे गोपियाँ श्रीकृष्ण के द्वारा स्वयं छिपाकर सुरक्षित थीं, तथापि अपने लोकोत्तर गुण के द्वारा कुलपति जनों की महिलाओं के द्वारा पूजित हो गई थीं ॥८३॥

पूर्व श्लोक में कुलपति महिलाओं के द्वारा पूजित होने से गोपियों का महिषीत्व सिद्ध हो गया, उनमें भी श्रीराधा का वैशिष्ट्य वर्णन करते हुए कहते हैं कि—उन गोपियों में श्रीराधा का उद्देश्य करके "व्रजस्त्रियो यद् वाञ्छन्तीत्यादि" श्लोकों में श्रीकृष्ण की पटरानियों के द्वारा कही हुई प्रशंसा, यथा—हम तो वैकुण्ठ को भी नहीं चाहती हैं, दूसरे ब्रह्मलोक आदि नहीं चाहतीं, इसमें तो कहना ही क्या है? किन्तु इन श्रीकृष्ण के दोनों चरणों की रज को मस्तकपर धारण करना चाहती हैं। यदि कहो कि, वह पदरज तो तुम को प्राप्त ही है, तब क्यों प्रार्थना करती हो? तहाँ कहती हैं कि, श्रीराधा के हृदय में लगा हुआ जो कुंकुम है, वह जिन चरणों से वृन्दावन के तृणों को प्राप्त हुआ, पश्चात् तृणों से उठाकर पुलिन्दी अर्थात् भीलनियों ने धारण किया, एवं गोपियाँ भी जिसकी चाहना करती हैं। जिन दोनों चरणों में राधिका हृदयस्थित कुंकुम लगा है, उनकी कुंकुम की सुगन्धि आज भी चित्त को हर रही है ॥८४॥

श्रीव्रज की देवियों ने भी "पूर्णाः पुलिन्द्यः" इत्यादि श्लोक से एवं "अनयाराधितो नूनं" इत्यादि श्लोक से इन श्रीमती राधिका की ही सर्वोपरि प्रशंसा की है। श्रीवेदव्यासादि मुनियों ने तो "राधा वृन्दावने वने" इत्यादि के द्वारा नाम से भी स्पष्ट कर दी है ॥८५॥

स्निग्धकण्ठ उवाच, (भा० १०।८३।१)–'तथाऽनुगृह्य भगवान्' इत्यस्मिन् सर्वसुखरचने बादरायणिवचने 'युधिष्ठिरमथापृच्छत्' इति न सम्यगवगम्यते स्म। ततो देशकालनिमित्तानां समावेशः प्रतत्य कथ्यताम् ॥८६॥

मधुकण्ठ उवाच,–"तासां वासः खलु श्रीरामाऽवरजस्य स्नानादिकर्मशर्मदं यदेकान्तहर्म्यं तदनुषङ्गं भजन्नुद्धवधाम्नः संसक्ततया बहिरव्यक्त आसीत्। तत्र सति परमादृतानामपि युधिष्ठिरादीनां तस्यामेव रात्रौ कुरुक्षेत्रमागतानामपि तदावेशवशेन श्रीकेशवेन मिलनाऽयोगात् प्रातरागत्य सभासद्मन्युपविश्य स्थितानां प्रातरपि विलम्बत एव स्नानाद्याचर्य तेन मिलता कुशलप्रश्नो जातः" इति ॥८७॥

तदेवं संक्षेपेणानुवर्ण्य श्रीराधिका-मुखविधुं निर्वर्ण्य मधुकण्ठः समापनं वर्णयति स्म,—॥८८॥

"कुरु-भुवि तव राधे ! वर्णयन् शर्म-जातं, व्यवहितमपि दिष्टेनाऽस्मि शर्माऽऽवृतात्मा।
किमुत भृशमिदानीमामृशन् वां मिथः श्री,-परिमल-कुलभोगं चक्षुषोर्युग्मकेन॥"८९॥

स्निग्धकण्ठ बोला—भैया मधुकण्टजी ! सभी सुखों की रचनावाले "तथाऽनुगृह्य भगवान्" इस प्रकार के श्रीशुकदेवजी के वचन में "युधिष्ठिरमथापृच्छत्" इसका भाव भली प्रकार समझ में नहीं आता है। अर्थात् रात में ही तो श्रीकृष्ण से गोपियों का मिलन वर्णन किया, एवं उसी श्लोक में युधिष्ठिरादिकों का कुशल पूछना भी कहा, तो वह युधिष्ठिरादि से जो मिलना हैं, वह भी रात में हुआ या दिन में ? यह बात समझ में नहीं आई। अतः श्रीकृष्ण से मिलन के देश काल निमित्त आदि का समावेश विस्तारपूर्वक कह दीजिये ॥८६॥

मधुकण्ठ बोला—कुरुक्षेत्र में उन गोपियों का ठहरने का जो स्थान था, वह श्रीकृष्ण के स्नानादि कार्य में सुखप्रद एकान्त भवन से संयुक्त होकर, एवं उद्धवजी के ठहरने के स्थान से सम्मिलित होने के कारण बाहर प्रकाशित नहीं था। ऐसी स्थिति में परमादरणीय श्रीयुधिष्ठिर आदि भी उसी रात्रि में कुरुक्षेत्र में आ गये थे, तो भी गोपियों के साथ मिलने के आवेशवाले श्रीकृष्ण से मिलन का संयोग न होने के कारण, प्रातःकाल सभाभवन में आकर बैठकर उपस्थित हुए युधिष्ठिरादिकों का कुशलप्रश्न प्रातःकाल भी विलम्ब से ही स्नानादि क्रिया करके मिलते हुए श्रीकृष्ण के द्वारा हुआ ॥८७॥

इस प्रकार संक्षेप से वर्णन करके श्रीराधिका के मुखचन्द्र को निहार कर, मधुकण्ठ प्रसङ्ग की समाप्ति का द्योतक वचन वर्णन करने लगा— ॥८८॥

हे श्रीमति राधिके ! कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण के मिलन से तुमको जो सुखसमूह हुआ था, वह बहुत से समय के व्यवधान से युक्त हो चुका है, तो भी उसका वर्णन करता हुआ, मैं सुख से आवृत मनवाला हो रहा हूँ। फिर इस समय (गोलोक में) तुम दोनों के परस्पर के मिलन की शोभा के मनोहर सुगन्धसमूह के भोग को अपने दोनों नेत्रों के द्वारा अत्यन्त आस्वादन करता हुआ, सुख से आवृत मनवाला हो रहा हूँ, इस विषय में तो कहना ही क्या है ? ॥८९॥

तदेवमानन्दपर्यन्तमुदन्तं कुर्वन् पूर्वपूर्ववत् कथकः स्वानुजसहितः सर्वसंहितः स्वधाम जगाम। श्रीराधा-माधवावपि विहारधाम कामयामासतुरिति ॥६०॥

इति श्रीश्रीमदुत्तरगोपालचम्पूमनु पुरुसुखक्षेत्रकुरुक्षेत्रयात्रा नाम त्रयोविंशं पूरणम् ॥२३॥

अथ चतुर्विंशं पूरणम्

श्रीव्रजवासिनां व्रजं प्रत्यागमनम्

अथ व्रजयुवराजविराजमानसदसि प्रातःकथायां स्निग्धकण्ठस्तदिदं प्रथयाञ्चकार,—"लोकानां कुरुक्षेत्रयात्रासमृद्धिस्तु न वर्णनपात्राय कल्पते ॥१॥ ततश्च,

कुरुक्षेत्रान्तस्तैर्ग्रहणभवयात्रामनुगतै,-र्गता या या चेष्टा बहुनिजनिजेष्टाः कति च ताः।
मया वर्ण्याः किन्तु स्मृतिविषयमेकां कुरुत या, हरेर्वक्त्रद्योतामृतरसिकता सर्वविततता ॥२॥

"तथापि सर्वतः समुपचितं यदस्मभ्यं रुचितम्, तदेव किञ्चिद् वर्ण्यते,—

"कुरुक्षेत्रे सूर्यप्रशमतमसि व्यक्ततमसि, व्रजाल्लब्धः कृष्णं व्रजनरपतिः सव्रजजनः।
वितर्तुं तं रत्नप्रचयमचकर्षन्निजपदाद्, यदालोकादन्योऽप्यखिलनिजकर्म व्यतनुत ॥३॥

अतएव इस प्रकार आनन्द ही है अन्त में जिसके, ऐसे वृत्तान्त का वर्णन करता हुआ कथावाचक (मधुकण्ठ) पहले पहले की भाँति, अपने छोटे भाई स्निग्धकण्ठ के सहित, सभी श्रोताओं में मिलकर अपने घर चला गया। श्रीराधा-माधव की युगलजोड़ी भी अपने विहारभवन में जाने की कामना करने लग गई ॥६०॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रिविरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीमदुत्तरगोपालचम्पूकाव्ये पुरुसुखक्षेत्र-कुरुक्षेत्रयात्रा नाम
त्रयोविंशं पूरणं सम्पूर्णम् ॥२३॥

चौबीसवाँ पूरण

व्रजवासियों का व्रज के लिए लौटकर आना

इस चौबीसवें पूरण में मुनियों के साथ श्रीकृष्ण का मिलन, एवं श्रीवसुदेवजी का यज्ञ, तथा श्रीव्रजराज आदि गोपों का पुनः व्रज में आना वर्णित होगा। अनन्तर व्रजयुवराज श्रीकृष्ण के द्वारा विराजमान प्रातःकाल की कथा में, स्निग्धकण्ठ यह प्रसङ्ग विस्तारित करने लगा कि—भारतीय लोगों की कुरुक्षेत्र की यात्रा में जो समृद्धि (बढ़ावट) थी, वह तो वर्णन की आधार नहीं हो सकती है, अर्थात् सम्पूर्ण जनसमुदाय का वर्णन करना कठिन है ॥१॥

उसके बाद कुरुक्षेत्र में सूर्यग्रहण में होनेवाली यात्रा में आये हुए उन समस्त लोगों के द्वारा अनेक प्रकार की निज निज अभीष्ट जो जो चेष्टाएँ प्राप्त की थीं, उन सब चेष्टाओं में से मैं कितनी चेष्टाओं को वर्णन कर सकता हूँ? अर्थात् सब नहीं। किन्तु एक चेष्टा को अपनी स्मृति के मार्ग में उपस्थित कर लीजिये, जो कि श्रीकृष्ण के श्रीमुख का प्रकाशरूप जो अमृत है, उसकी रसिकता सभी में विस्तृत है ॥२॥

तथापि सर्वतोभाव से अच्छी प्रकार से उपयुक्त जो विषय हमारे लिए रुचिकर है, उसी का किञ्चिद् वर्णन करते हैं, यथा—कुरुक्षेत्र में सूर्यग्रहण में सूर्य का उपशम करनेवाले राहु के निमित्त अन्धकार प्रकट हो जानेपर, श्रीव्रजराज व्रज से व्रजवासीजनों के सहित, श्रीकृष्ण को प्राप्त हो गये। आते समय अपने

धर्मं केचित् केचिदर्थं निकामं, कामं केचिन्मोक्षमप्यत्र केचित् ।
केचित् कृष्णे भक्तिमेते तु गोपा,-स्तस्मिन् भव्यं हव्यकव्येषु दध्युः ॥४॥

"अथ लब्धशर्मणि ग्रहणपर्वण्यपि पूर्णे दिवि भुवि च विराजमानाऽऽकृतीन् प्रजापति-प्रभृतीन् निजगुणस्थेम्ना पूरयन्नात्मना तु व्रजजनप्रेम्णा पूर्यमाणः स यदा हरिर्विराजते स्म, तदा तदानन्दानुभवाय ब्रह्मनन्दनादयः सर्व एव मुनयः समागताः ॥५॥ "समागत्य च,—

न केवलं तस्य तथा समुन्नतिं, निरीक्ष्य चित्रं मुनयस्तदा ययुः ।
विनम्रतां स्वेषु च ये परस्परं, विरुद्धभावे अपि जग्मतू रुचिम् ॥६॥

"ते तदिदमूचुश्च; तत्र श्रीभागवतीयं पद्यं यथा (भा० १०।८४।२१)—
'अद्य नो जन्मसाफल्यं विद्यायास्तपसो दृशः ।
त्वया संगम्य सद्‌गत्या यदन्तः श्रेयसां परः ॥' इति ॥७॥

स्थान से श्रीकृष्ण के मङ्गल के निमित्त वितरण (दान) करने के लिए उन लोकोत्तर रत्नसमूहों को साथ में लाये थे कि, जिन रत्नों के प्रकाश से सूर्यग्रहण के अन्धकार में अन्य जन भी अपने अपने श्राद्ध, तर्पण, दानादि सब कार्य करने लग गये ॥३॥

इस अपने अपने दानादि कार्य में कुछ व्यक्ति दानादि करते समय "हमको इस कर्म से धर्म की प्राप्ति हो" ऐसा ध्यान करते थे, कोई अर्थ (धन) का ध्यान करते थे, कोई स्वेच्छापूर्वक कामनाओं का ध्यान करते थे, एवं कुछ व्यक्ति मोक्ष का भी ध्यान करके दान कर रहे थे। कुछ भक्तजन श्रीकृष्ण में भक्ति होनेका ध्यान दान में कर रहे थे। किन्तु ये सब व्रजवासीगोप तो अपने हव्य कव्य आदि समस्त कार्यों में श्रीकृष्ण के मङ्गल की कामना का ही ध्यान करते थे, अर्थात् हमारे दान धर्मादि से सदैव श्रीकृष्ण का मङ्गल हो यही विचार करते जाते थे। देवताओं के उद्देश्य से दिये हुए द्रव्य को हव्य कहते हैं, एवं पितरों की तृप्ति के लिए दिये गये द्रव्य को कव्य कहते हैं ॥४॥

अनन्तर सर्वसुखप्रद ग्रहण के पर्व के समाप्त हो जानेपर, स्वर्ग एवं भूतल में विराजमान आकृतिवाले प्रजापति आदिकों को पूरण करते हुए, एवं व्रजजनों के विशुद्ध प्रेम से स्वयं परिपूर्ण होते हुए, वे श्रीकृष्ण जब विराजमान हो गये, तब श्रीकृष्णविषयक आनन्द का अनुभव करने को ब्रह्मनन्दन (श्रीनारद) एवं सनकादि सभी मुनिजन श्रीकृष्ण के निकट आ गये ॥५॥

और आते ही वे मुनिगण उस समय श्रीकृष्ण की उस प्रकार की लोकोत्तर उन्नति (परमवैभव) को ही देखकर केवल आश्चर्यान्वित नहीं हुए थे, किन्तु अपने श्रीनन्दादि व्रजवासियों के प्रति श्रीकृष्ण की नम्रता को देखकर तो आश्चर्य को प्राप्त हो गये। क्योंकि जो समुन्नति एवं नम्रता परस्पर विरुद्ध स्वभाव-वाली वस्तुएँ हैं, वे दोनों भी श्रीकृष्ण में एकसाथ शोभा पा रही थीं, अर्थात् जिसके पास उन्नतिमय वैभव है उसके पास नम्रता नहीं टिकती है, किन्तु श्रीकृष्ण में दोनों को देखकर चकित हो गये ॥६॥

और वे मुनिजन बोले—उस विषय में श्रीमद्भागवत का श्लोक,यथा—आप से मिलकर आज हमारे जन्म की सफलता हो गई; विद्या, तप, ज्ञान, एवं नेत्रों की भी सार्थकता हो गई। क्योंकि आप सर्वविध कल्याण-साधनों की चरमसीमा हैं, और सन्त पुरुषों की एकमात्र गति हैं। वास्तव में सबके परमफल आप ही हैं ॥७॥

"एतदनुसृतमन्यदीयमपि यथा—

यदपि वयं प्रतिकल्पं, नानारूपं तवाऽद्राक्ष्म ।
नवनवमिव तदपीदं, घटयति पुरुषार्थसारं नः ॥८॥

"किञ्च, अपरो द्वापरान्तः स्याद् द्वापरान्ताय न क्वचित् ।
सोऽयं तु चक्लृपे तस्मै यत्र त्वं नेत्रगोचरः ॥ इति ॥९॥

"मनसि चेदं विचारितवन्तः,—

'यद्यपि यदवः सन्तत,-सङ्गाः केचिच्च मर्मगा विष्णोः ।
विधिवाञ्छितपदरजस,-स्त्वेते गोपा गिरां दूरे ॥'१०॥

"तदेवं विधिवद् गोपानुगमि तदनुगमितमेव मनसिकृत्य गमनयाचनामनुसृत्य चलितवत्सु मुनिसत्सु श्रीमान् वसुदेवः स्ववसुसाफल्यकामनया तानिदं निवेदयाञ्चकार । कर्मणा कर्मनिर्हारो यथा स्यात्तथा यथावदुपदिशतेति ॥११॥

अत्र व्रजभक्तितर्षी श्रीदेवर्षिस्तु चेतसि विविवेच,—'नाऽयं नन्दवच्छुद्धपितृभावमयस्नेहतया बुद्धः, येन नन्द एव (भा० १०।८।४६) 'नन्दः किमकरोद् ब्रह्मन्' इत्यादिना सर्वतः स्तूयते, सोऽयं तु न तथा प्रस्तूयते, किन्तु भगवत्त्वज्ञानेन सहित इत्येवं महितः । तेनाऽनेनाऽस्य

श्रीभागवत के इस श्लोक का अनुसरण करनेवाला दूसरे का श्लोक भी, यथा—यद्यपि हम सबने प्रत्येक कल्प में आपके अनेक रूपों का दर्शन किया है, तथापि प्रतिक्षण नवीन यह श्यामसुन्दर रूप तो हमारे लिए पुरुषार्थों का सार जो प्रेम है, उसको संघटित कर रहा है ।८॥

किंच दूसरे द्वापरयुगों का अन्त (शेषभाग) कहीं भी सन्देह को मिटाने के लिए समर्थ नहीं हो सकता । किन्तु द्वितीय परार्ध के अट्ठाईसवें द्वापर का वह अन्तभाग तो संशय को दूर करने के लिए समर्थ हो गया कि, जिस द्वापर के अन्त में आप हमारे दृष्टिगोचर हो गये ॥९॥

वे नारदादि मुनिजन अपने मन में यह विचारने लगे कि—यद्यपि यदुवंशीजन श्रीकृष्ण के निरन्तर सङ्ग रहनेवाले हैं, एवं श्रीउद्धव आदि कुछ यदुवंशी उनके मर्म को भी जानते हैं, किन्तु ब्रह्माजी भी जिनकी चरणरज चाहते रहते हैं, वे ही ये समस्त गोप तो सबकी वाणियों के दूर हैं, अर्थात् इनकी महिमा तो सबकी वाणी के अगोचर है ॥१०॥

अतएव इस प्रकार ब्रह्माजी की तरह, गोपों का अनुगमन करनेवाली ब्रह्मा की अनुगति को ही मन में धारण कर जाने की प्रार्थना का अनुसरण कर, उन श्रेष्ठ मुनियों के चलते समय श्रीमान् वसुदेवजी ने अपने धन की सफलता की कामना से, उनके प्रति यह निवेदन किया कि—हे मुनियो ! कर्मों के अनुष्ठान से कर्मों एवं कर्मवासनाओं का आत्यन्तिक नाश जिस प्रकार हो सके, विधिपूर्वक उसी प्रकार का उपदेश दीजिये ॥११॥

इस विषय में व्रज की भक्ति की तृष्णावाले श्रीदेवर्षि नारद तो अपने चित्त में विचारने लगे कि—ये वसुदेवजी ऋषियों के द्वारा श्रीनन्दजी की तरह ऐश्वर्य ज्ञानरहित विशुद्ध पितृभाव से परिपूर्ण स्नेह से उपलक्षित नहीं जाने गये हैं । जिस विशुद्ध पितृभावमय स्नेह के द्वारा श्रीनन्दजी ही "हे ब्रह्मन् ! नन्दबाबा ने ऐसा कौन सा बहुत बड़ा मङ्गलमय साधन किया था ?" इत्यादि वचनों के द्वारा सर्वतोभाव से प्रशंसित किये जाते हैं । किन्तु ये भगवत् तत्त्वज्ञान के सहित विद्यमान हैं, इसी कारण से पूजित (सम्मानित) हैं ।

जन्मत एव हि (भा० १०।३।१३) 'विदितोऽसि भवान्' इत्यादिना तत्त्वबोध एव संहितः; पितृभावस्तु तेन पिहितः। तस्माद् विद्यमानेऽपि कृष्णे तमिममर्भकान्तरवदज्ञं मत्वा कर्म-निर्हारमात्रतृष्णेन, न तु नन्दवत्तदभ्युदयमात्रतृष्णेनानेन। यदस्मासु प्रश्नविधानम्, तन्न शोभानिधानं भवति' इति ॥१२॥

"स्पष्टं चाऽऽचष्ट, (भा० १०।८४।३०)—

'नातिचित्रमिदं विप्रा ! वसुदेवो बुभुत्सया।
कृष्णं मत्वार्भकं यन्नः पृच्छति श्रेय आत्मनः ॥' इत्यादि ॥१३॥

"अथ मुनयस्तस्य सङ्कोचं विलोचमाना रोचनाय तदिदमूचुः, (भा० १०।८४।३५)—

'कर्मणा कर्मनिर्हार एष साधु निरूपितः।
यच्छ्रद्धया यजेद् विष्णुं सर्वयज्ञेश्वरं मखैः ॥' इत्यादि ॥१४॥

"अथ ते च मुनयस्तेन वृता ऋत्विजः कृतास्तमयाजयन्।

"यस्मिन् वर्हिषि याजका विधिसुता याज्यः स शूरात्मजः
सोऽयं शक्रजयी बलेन सहितः पुत्रीभवन् पार्षदः।
श्रीमन्नन्दमहाशयः स्वयमसौ लब्धानुमोदः स्थित-
स्तस्मिन् वैदिकलौकिकाः सुविधयः स्युः केन वर्ण्या भुवि ? ॥१५॥

किन्तु माधुर्यभाव से नहीं। अतः इन वसुदेवजी ने श्रीकृष्ण के जन्मकाल से ही "आप प्रकृति से परे रहनेवाले साक्षात् परमपुरुष हो, मैंने जान लिया है" इत्यादि वचन से श्रीकृष्णविषयक तत्त्वज्ञान ही धारण किया है, उसी तत्त्वज्ञान के द्वारा पितृभाव तो ढक गया है। इसलिए श्रीकृष्ण के विद्यमान रहनेपर भी, इन श्रीकृष्ण को दूसरे बालक की तरह अज्ञ मानकर, श्रीवसुदेव ने केवल कर्मक्षय की तृष्णा करके, किन्तु नन्दजी की तरह श्रीकृष्ण के अभ्युदयमात्र की तृष्णा न करके, हमारे निकट जो प्रश्न का विधान करना है, वह शोभा का निधान नहीं है ॥१२॥

यह विचार कर स्पष्ट बोले—हे ऋषियो ! यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि, वसुदेवजी श्रीकृष्ण को अपना बालक समझ कर, शुद्ध जिज्ञासा के भाव से, अपने कल्याण का साधन हम लोगों से पूछ रहे हैं ॥१३॥

उसके बाद वसुदेवजी के सङ्कोच को देखते हुए उनकी रुचि को बढ़ाने के हेतु यह बोले—हे वसुदेवजी ! देखो, कर्मों के द्वारा कर्मवासना और कर्मफलों का आत्यन्तिक नाश करने का सबसे अच्छा उपाय यह है कि, यज्ञों के द्वारा सभी यज्ञों के अधिपति भगवान् विष्णु की श्रद्धापूर्वक आराधना करे ॥१४॥

पश्चात् वसुदेवजी ने उन मुनियों का ऋत्विजरूप में वरण कर लिया, अतः उन मुनियों ने वसुदेव के द्वारा यज्ञ कराया। देखो, जिस यज्ञ में मरीचि, अत्रि, पुलस्त्य आदि ब्रह्मा के पुत्र याजक (पुरोहित) थे, एवं शूरपुत्र वे वसुदेवजी याज्य (यजमान) थे, तथा इन्द्रपर विजय पानेवाले वे श्रीकृष्ण, बलदेवजी के सहित पुत्रभाव को अङ्गीकार कर पार्षद (सभासद्) थे, ये श्रीमान् नन्द महाशय स्वयं अनुमोदन को पाकर स्थित थे, उस यज्ञ में हुईं वैदिक एवं लौकिक सुन्दर विधियों को भूतल में कौन वर्णन कर सकता है ? ॥१५॥

"किन्तु तस्मिन्नपूर्वान्तरभावना न पूर्वसूरिभिर्मता; यतः,
द्विपरार्धस्थिराः सर्वं दृष्टवन्तो विधेः सुताः । यदपूर्वममन्यन्त तदेवापूर्वमिष्यते ॥१६॥

"ततश्च, कृष्णस्यापि विशिष्य विस्मितिकरं कृष्णाख्यरूपं तथा
वृष्णीनां वलयं तदेकशरणं गोपांश्च तज्जीवनान् ।
दर्शं दर्शममी यदप्यपगमं नैच्छंस्तथापि स्वकां
जानन्तोऽनधिकारितां बत तदा वाञ्छन्ननुज्ञां ततः ॥१७॥
कृष्णात् प्रियजनसहिताद्, यद्यपि मुनयो व्रजन्त आसंस्ते ।
तदपि च तत्तच्छोभा,-स्फुरणात्तत्रैव वासमासन्नाः ॥ इति ॥१८॥

"अथ स्नेहानुबन्धिनः सर्वान् संबन्धिनः स्वस्वमन्दिराय विहाय यदर्थमेतत्तीर्थयात्रां मिषपात्राय कल्पितवानयं गोकुलकुलपालकस्तान् गोकुलपतिप्रभृतींस्तत्रैव कृतावस्थानः स्थापयामास । दुग्धं विना तेषामवस्थानं मुग्धं न स्यादिति गाश्च काश्चन तत्र प्रस्थापयामास । यस्यामवस्थितौ परपक्षवञ्चनार्थं तत्रस्थ-नानातीर्थक्रमणचिरता परस्परदूरशिविरता च तदुभयेन प्रचारिता । यत्र श्रीमद्व्रजवासिनस्तन्मात्रार्थविवेचनतया तत्राऽऽगताः सुधासत्रायमाणं तमुपलभ्य नापरत्रान्तःकरणं चक्रुः, यत्र व्रजराण्मिथुनं पुनः पुनरपि विकसितसुतशात-

---

किन्तु उस यज्ञ में प्राचीन विद्वानों ने दूसरे प्रकार के अदृष्ट की भावना नहीं मानी थी। क्योंकि मीमांसाकार का मत है कि—यज्ञ करनेपर उसमें एक अपूर्व (अदृष्ट) फल की कल्पना करनी चाहिये, उस अदृष्ट के द्वारा ही यागजन्य स्वर्गादि फल संघटित हो सकता है, अतः इस यज्ञ में तो महाप्रलयतक स्थिर रहनेवाले, अतः सर्वदा सर्वत्र सब कुछ देखनेवाले ब्रह्मपुत्र सनकादिकों ने श्रीकृष्ण का दर्शनरूप जो अपूर्व (आश्चर्य) माना; बस, वही अपूर्व अर्थात् यज्ञ से उत्पन्न हुआ अदृष्ट ही इष्ट है। तात्पर्य—और यज्ञों का स्वर्गादि प्राप्तिरूप फल तो बहुत दिनों में प्राप्त होता देखा था, किन्तु श्रीवसुदेवजी के यज्ञ का अदृष्ट फल तो श्रीकृष्ण के रूप में साक्षात् तत्काल सबके दृष्टिगोचर हो रहा था, अतः इस यज्ञ में यही आश्चर्य था ॥१६॥

उसके बाद उस यज्ञमें श्रीकृष्ण को भी विशेष विस्मित(चकित)करनेवाले श्रीकृष्ण के श्रीकृष्णनामक निजी रूप को, तथा वह श्रीकृष्णनामक रूप ही जिनका अवलम्बन है, उस यादवमण्डल को, एवं वह श्रीकृष्णनामक रूपही जिनका जीवन है, ऐसे उन गोपों को बारंबार देखकर, वे यज्ञ करानेवाले मुनिजन यद्यपि उस कुरुक्षेत्र से बाहर नहीं निकलना चाहते थे, तथापि हाय! अपने अपने अनधिकारीपन को जानते हुए वे मुनिजन वहाँ से जाने को श्रीकृष्ण से अनुमति चाहने लग गये ॥१७॥

यद्यपि वे मुनिजन प्रियजनों के सहित जो श्रीकृष्ण हैं उनसे अनुज्ञा लेकर, अपने अपने आश्रम को चल दिये थे, तथापि अपने अपने आश्रमपर पहुँच कर भी, वे मुनिजन अपने हृदय में श्रीकृष्ण की, एवं यादवों की, तथा व्रजवासियों की शोभाओं की स्फूर्ति होने के कारण, मानो उसी स्थानपर विद्यमान थे ॥१८

अनन्तर गोकुलकुलपालक इन श्रीकृष्ण ने अपने में स्नेह रखनेवाले श्रीयुधिष्ठिर आदि सभी सम्बन्धियों को अपने अपने घर के लिए बिदा करके, जिन व्रजवासियों से मिलने के लिए इस कुरुक्षेत्र की यात्रा को छल का आधार बनाया था, अतः स्वयं वहीं रह कर, श्रीव्रजराज आदि व्रजवासियों को वहीं ठहरा लिया। और दूध के बिना उन व्रजवासियों का रहना मुग्ध (सुन्दर) न हो सकेगा, इसलिए वहाँपर कुछ गउएँ भी मँगवा कर स्थापित करवा दीं। और जिस ठहरने में "कृष्ण एवं गोपगण" उन दोनों ने शत्रुपक्ष

तरङ्गजातमपि सुतप्रसूतसुकुमारकुमारवारः स्फारघनरसप्रसार-सारमासादयामास, सुधाकिरणकारणककिरणगण इवाऽकूपारम् ॥१६॥

"तत्र च— कुरुभुवि गता यशोदा, सुततनयानन्वलालयद् बहुधा ।
किन्तु श्यामलबाले, क्वचिदपि लेभे चमत्कृतिं प्राग्वत् ॥२०॥

"किन्तु तदेवं परस्परं पूरणमपि परालक्ष्यतापरतया परं तैर्विरचितम् ॥२१॥ यत्र तु,—
कुरुक्षेत्रे गोधुग्गृहगणमनोभिर्व्रजसमं, समं रामेणाऽगान्मुहुरथ मुहुः केवलतया ।
जनन्यां यत्तेने शिशुरिव हरिस्तत्र चरितं, सुखं वा दुःखं वा तदिति विमृशन्मुह्यति मनः ॥२२

"अथ लब्धाऽवसरः कदापि शूरतनयवरः सहाऽऽनीतसर्वपरिकरः करस्पृष्टतत्करस्तं श्रीमद्व्रजराज्यधरमुवाच,—
'भ्रातरीशेन रचितं वैचित्र्यं चित्रमीक्षते । आत्मारामाश्च योज्यन्ते स्नेहेन गृहिणश्च न ॥२३॥
पश्यापि धीरधीरस्मत्स्नेहेन त्वं नियन्त्रितः । अहं स्वार्थपरोऽपीदं विदंश्चानेन वर्जितः ॥२४॥

को धोखा देने के लिए, कुरुक्षेत्र में स्थित अनेक तीर्थों में भ्रमण करने के निमित्त विलम्ब करने का भाव, एवं परस्पर दूर तम्बू रचना का भाव प्रचारित कर दिया। और जिस कुरुक्षेत्र में केवल श्रीकृष्ण के लिए ही विवेचना का भाव करके, वहाँ आये हुए श्रीमान् व्रजवासियों ने अमृत के यज्ञ का सा आचरण करनेवाले श्रीकृष्ण को पाकर, अपने अन्तःकरण को दूसरी जगह नहीं किया। और जहाँपर व्रजराज एवं व्रजरानी ये दोनों बारंबार विकसित श्रीकृष्णसम्बन्धी सुखरूप तरङ्गसमूह से युक्त थे, तो भी इन दोनों को अपने पुत्र श्रीकृष्ण से उत्पन्न सुकुमार कुमारों के समूह ने, बढ़े हुए घने रस के विस्तार के सार को उस प्रकार प्राप्त करा दिया कि, जिस प्रकार चन्द्रमा से उत्पन्न किरणसमूह समुद्र को विस्तीर्ण जल के विस्तृत स्थिरांश को प्राप्त करा देता है ॥१६॥

और उसमें भी कुरुक्षेत्र में गई हुई श्रीयशोदा ने अपने पुत्र के पुत्रों का अनेक प्रकार से लालन (लाड़ प्यार आदि) किया था, किन्तु अपने साँवले बालकपर पहले की भाँति कभी चमत्कार भी प्राप्त कर लिया था ॥२०॥

किन्तु श्रीकृष्ण एवं उन व्रजवासियों ने इस प्रकार परस्पर में मिलन की पूर्ति भी केवल शत्रुओं के अलक्ष्य भाव की तत्परतापूर्वक ही की थी, अर्थात् विपक्षियों से छिपकर ही मिलन की पूर्ति की थी ॥२१॥

और जिस कुरुक्षेत्र में भी बैलगाड़ियों के द्वारा व्रज के समान बने हुए गोपों के गृहसमूह में श्रीकृष्ण, बलरामजी के साथ प्रतिदिन बारंबार जाते थे, तथा अकेले होकर भी बारबार जाते थे। किन्तु वहाँपर श्रीकृष्ण ने माँ यशोदा के निकट अन्य बालक की तरह जिस चरित्र का विस्तार किया था, वह चरित्र सुखरूप था या दुःखरूप था, इस बातपर विचार करता हुआ मेरा मन विमुग्ध हो जाता है ॥२२॥

अनन्तर श्रीशूरसेन के पुत्रों में श्रेष्ठ श्रीवसुदेवजी कदाचित् अवसर पाकर, अपने समस्त परिकर को अपने साथ लाकर, श्रीव्रजराज के हाथ को अपने हाथ से पकड़ कर बोले—भैयाजी ! देखो, ईश्वर ने विश्व को ही विचित्रता से युक्त रचा है, उसमें भी यह आश्चर्य देखा जाता है कि, केवल गृहस्थी जन ही स्नेहरूप बन्धन से बाँधे जाते हो, सो बात नहीं है। किन्तु बड़े बड़े आत्माराम मुनिजन भी स्नेह के द्वारा निबद्ध किये जाते हैं ॥२३॥

और देखो, तुम धीर बुद्धिवाले होकर भी हमारे स्नेह से बँधे हुए हो, एवं मैं ऐसा स्वार्थपरायण हूँ कि, स्नेह के स्वरूप को जानते हुए भी स्नेह से रहित हूँ ॥२४॥

तथापि त्वं तु नास्मत्तः क्वचिद् भ्रातर्विरज्यसे। तथापि सोऽहं युष्मासु रज्येय न मनागपि ॥२५
दारिद्रयं पंगुता लक्ष्मीरान्ध्यं दृश्येत मादृशाम्। येन पूर्वं यया पश्चान्न त्वादृश्युन्मुखी गतिः ॥२६
एवं सौहृदशैथिल्यचित्त आनकदुन्दुभिः। रुरोद तत्कृतां मैत्रीं स्मरन्नश्रुविलोचनः॥"२७

अथ मधुकण्ठः पप्रच्छ,—"अत्र व्रजराजः किं व्याजहार ?" स्निग्धकण्ठ उवाच,—"न किमपि।" मधुकण्ठ उवाच,—"हन्त ! कथमिव ?" ॥२८॥

स्निग्धकण्ठ उवाच,—
जहार यस्य पुत्रं तत्स्निग्धतां यः स्मरत्यथ। स्निह्यतस्तत्र पुत्रेच्छोस्तस्य मौनं हि शस्यते॥"२९

मधुकण्ठ उवाच,—"कथ्यतां तावदग्रिमं वृत्तम् ?" स्निग्धकण्ठ उवाच,—"अथ व्रजराजमहाशयः सख्युर्वसुदेवस्य प्रियकरतयाऽनभिव्यञ्जितनिजाऽऽशयः श्रीगोविन्द-रामयोः प्रेम्णा तस्मिन्नद्य श्व इव शीघ्रं लब्धव्यत्यये मासत्रये शात्रवनिवारणादि-कार्येषु च हरेरपरिहार्येषु स्वयमेव चिरगोव्रजत्यजनवर्जन-व्याजमासज्य स्वव्रजगमनार्थम्, न तु कृष्णनयनार्थं श्रीवसुदेवमर्थयामास। तच्च नाद्धानुवर्तितया किन्तूद्धवमध्यवर्तितया। साक्षादर्थनायां शालीनता लीनतामापद्यत इति। श्रीकृष्णस्तु न तादृशतयापि गन्तुं ययाचे ॥३०॥

तथापि हे भैया ! तुम तो मुझ से कभी भी स्नेह का नाता नहीं तोड़ते हो। इतनेपर भी मैं ऐसा निःस्नेही हूँ कि, तुमपर किंचिद् भी अनुराग नहीं करता हूँ ॥२५॥

उसका कारण यह है कि, मुझ जैसे व्यक्तियों की दरिद्रता ही पंगुता (लँगड़ापन) दिखाई देता है, और लक्ष्मी (धनसम्पत्ति) ही अन्धापन दिखाई देता है। क्योंकि पहले तो दरिद्रता के कारण तुम जैसे सज्जनों के ऊपर हमारी ऊर्ध्व दृष्टि नहीं थी, और पश्चात् अब जिस लक्ष्मी (सम्पत्ति) के द्वारा हुए अन्धेपन के कारण सामने होनेपर भी नहीं देख रहे हैं ॥२६॥

इस प्रकार कहते कहते वसुदेवजी का हृदय प्रेम से गद्गद हो गया, एवं श्रीव्रजराज के द्वारा की हुई मित्रता को याद करते करते वे सजलनयन होकर रोने लग गये ॥२७॥

तदनन्तर मधुकण्ठ ने पूछा—इस विषय में श्रीव्रजराज ने क्या उत्तर दिया ? स्निग्धकण्ठ बोला—उन्होंने कुछ भी नहीं कहा। मधुकण्ठ बोला—हाय ! क्यों, कुछ नहीं कहा ? ॥२८॥

स्निग्धकण्ठ बोला—जिन वसुदेवजी ने व्रजराज के पुत्र को हर लिया, एवं जो वसुदेव श्रीव्रजराज की मित्रता को आज भी याद करते हैं, अतः उन वसुदेव के ऊपर स्नेह करनेवाले, एवं अपने पुत्र की प्राप्ति की इच्छा करनेवाले श्रीव्रजराज का मौन ही प्रशंसनीय है ॥२९॥

मधुकण्ठ बोला—अच्छा, तो आगे का वृत्तान्त कहिये। स्निग्धकण्ठ बोला—अनन्तर श्रीव्रजराज महाशय ने अपने सखा वसुदेवजी का प्रिय कार्य करने के कारण अपना अभिप्राय, अर्थात् श्रीकृष्ण को व्रज में लाने का अभिप्राय प्रगट नहीं किया। पश्चात् श्रीकृष्ण-बलदेव के प्रेम से आज जाना, कल जाना, इसी तरह कहते हुए उस कुरुक्षेत्र में शीघ्र ही तीन मास व्यतीत हो जानेपर, एवं श्रीकृष्ण के शत्रुसमूह निवारण आदि कार्यों के अवर्जनीय हो जानेपर, श्रीव्रजराज ने स्वयं ही "हमको गोसमूह को त्यागे हुए बहुत दिन हो गये, अतः अब व्रज में जाना उचित है" यह बहाना बनाकर, अपने व्रज में जाने के लिए श्रीवसुदेवजी से प्रार्थना की, किन्तु पूर्वोक्त कारणों से श्रीकृष्ण को साथ ले जाने के लिए प्रार्थना नहीं की। और वह प्रार्थना भी अधीनभावसे अनुगामी होकर साक्षात् स्वयं नहीं की थी,किंतु उद्धव को मध्यवर्ती करके की थी। कारण

"तथा हि— यस्य प्राग्विरहात् क्षणं युगतया वेत्ति स्म यं वीक्षितुं
ज्ञात्वाऽनन्यमुपायमव्रजदयं क्षेत्रं कुरूणां द्रुतम् ।
तेन प्राणसुतेन हन्त चिरतः संसज्य गन्तुं गृहं
तत्राऽनुज्ञपनाय जल्पतु कथं साक्षादसाक्षादपि ? ॥३१॥
शूरजः स्वसुतमेव यं विद,-स्त्राश्रितः श्रयति दिव्यसंपदम् ।
तं ततः प्रियसुहृद्वरात् कथं, याचतां स सुतमुत्कधीरपि ? ॥३२॥

"अतस्तादृशतद्व्यवहारतः श्रीवसुदेव एव केवलं स्नेहमवलम्बमानः सवाष्पगद्गदनिगदः श्रीरामकृष्णौ तत्संवासाय साऽऽयततृष्णौ तदर्थितं ज्ञापयामास । श्रीकृष्णस्तु तदाकर्ण्य सवैवर्ण्यमुखं राममुखमीक्षामास । श्रीरामश्च साञ्जलितावाममवामं निवेदयामास,—'तात ! वयं विचार्य निर्धार्य च तदिदं निवेदयिष्यामः' इति ॥३३॥

"अथ तदनुकूलतावितर्कमूलतया संभजदुद्धवाभ्यां प्रलम्बजिदुद्धवाभ्यां सुखसम्पदारोहिण्या रोहिण्या च सार्धं विचार्य निर्धार्य च श्रीरामावरजः स्वाग्रजमेव गृहं याताय ताताय निवेदयितुं योजयामास । स च तत्र गतः सपरामर्शमाह,—'पितरौ यदि दत्ताभयवितरौ भवेतम्, तदा तदिदमनन्वितभेदं निवेदयाम ॥'३४॥

साक्षात् प्रार्थना करनेपर तो अधृष्टता (नम्रता) नष्ट हो जाती है । किन्तु श्रीकृष्ण से तो उद्धव को बीच में डालकर भी व्रज में जाने के लिए प्रार्थना नहीं की ॥३०॥

क्योंकि देखो, ये श्रीव्रजराज पहले जिन श्रीकृष्ण के विरह से एक क्षण को भी एक युगरूप से जानते थे, एवं जिन श्रीकृष्ण को देखने के लिए, दूसरा उपाय न जानकर कुरुक्षेत्र में गये थे, हाय ! उन्हीं प्राण-प्यारे पुत्र से बहुत दिनोंपर मिलकर, घर में जाने को उन्हीं प्राणप्यारे पुत्र के निकट अनुमति लेने के लिए साक्षात् (स्वयं), अथवा असाक्षात् (उद्धव के द्वारा) भी स्पष्ट किस प्रकार कह सकते थे ? ॥३१॥

निरपेक्ष (निष्काम) मित्र अपने दुःख को सह कर भी मित्र के सुख की ही इच्छा करता है, अतः श्रीव्रजराज के उसी प्रकार के व्यवहार को कहते हैं—देखो, वसुदेवजी जिन श्रीकृष्ण को अपना पुत्र जान-कर ही, उनका आश्रय लेकर, दिव्य सम्पत्तियों का सेवन कर रहे हैं। उन्हीं श्रेष्ठ प्रियमित्र श्रीवसुदेवजी से वे व्रजराज उत्कण्ठित बुद्धिवाले होकर भी, उस अपने पुत्र को किस प्रकार माँग सकते हैं ? ॥३२॥

अतः श्रीव्रजराज के उस प्रकार के निष्काम प्रेमव्यवहार से स्नेह का अवलम्बन करते हुए, श्रीवसु-देवजी ने ही सजलनेत्र एवं गद्गद स्वरवाले होकर, श्रीव्रजराज के कुरुक्षेत्र में ठहराने के लिए लम्बी तृष्णा से युक्त श्रीकृष्ण-बलराम के प्रति, श्रीनन्दजी का व्रज में जानारूप प्रार्थित विषय विज्ञापित कर दिया। श्रीकृष्ण तो इस बात को सुनकर, उदासीन मुखसे श्रीबलरामजी के मुख को देखने लग गये । श्रीबलरामजी ने भी मनोहर अञ्जलि बाँधकर सरलतापूर्वक निवेदन किया कि—हे पिताजी ! हम इस विषय को विचार कर निश्चय करके आपके प्रति निवेदन करेंगे ॥३३॥

उसके बाद श्रीव्रजराज की अनुकूलतारूप वितर्क ही मूलकारण होने से, एक प्रकार के महोत्सव को प्राप्त करनेवाले श्रीबलराम एवं उद्धव के साथ, तथा भक्तिरूप सुख सम्पत्तिपर चढ़नेवाली एवं चढ़ानेवाली रोहिणी माता के साथ विचार कर, एवं कर्तव्य को निश्चय करके, श्रीकृष्ण ने अपने बड़े भाई श्रीबलरामजी को ही अपने तम्बूरूप घर में गये हुए पिता श्रीवसुदेवजी के प्रति निवेदन करने को नियुक्त

"तावूचतुः,—'कामम् !' "श्रीराम उवाच,—
'स्नेहं व्यञ्जयथस्तात ! मातर्व्रजमहेशयोः । तयोः कथमभीष्टं तन्नयथः स्वेष्टतां न वा ?' ॥३५॥

"श्रीवसुदेव उवाच,—'किं तत्तदीयमिष्टम् ?' "श्रीराम उवाच,—'तत् किं भवन्तोऽनुभवन्तो न भवन्ति ?' "श्रीवसुदेव उवाच,—'अनुभवन्त एव स्मः; किन्तु भवदनुजे तयोः पुत्रतया गाढ एवाभिमान इति बाढं शङ्कामहे । कदाचिदयं सन्ततभाववशस्वभावशुद्धबुद्धस्तत्र निरुद्धः स्यात्' इति ॥३६॥

"श्रीरामः सहासमुवाच,—'अहमपि तावद् गर्भत एव भवद्भिरर्भकरक्षणार्थमक्षमतया स्वभवनाच्चालितस्तैरेव पालित इति तदीयतामेव सम्यगर्हामि । किमुत, स तु जातमात्रः स्वयमेव भवता तथा व्यवहृतः । ततस्तेषामेवाऽस्मिन्नस्य च तेषु स्वीयतयाऽङ्गीकृतिः साङ्गीभवितुमर्हति; न तु भवतां तत्र, तस्य वा भवत्सु । तद्वैपरीत्येऽपि तेषां भवत्सुखेनैव सुखं प्रतीयते, भवतां तु न तत्सुखेनेति; किं बहुना धाष्टर्येन । न च स खलु ममानुजवरः कस्यचित् कष्टं द्रष्टुं शक्नोतीति कृतं कृतकचिन्तया ॥'३७॥

कर दिया । श्रीबलरामजी ने वहाँ जाकर विचारपूर्वक कहा कि—हे पिताजी ! हे माताजी ! आप दोनों यदि अभय दान कर दें तो, हम भेदरहित यह बात निवेदन कर दें ॥३४॥

श्रीवसुदेव देवकी बोले—तुम स्वेच्छापूर्वक निवेदन करो । श्रीबलरामजी बोले—हे पिताजी ! हे माताजी ! आप दोनों श्रीव्रजराज एवं व्रजरानी श्रीयशोदा के ऊपर स्नेह तो प्रकाशित कर रहे हो, तो भी उन दोनों के अभीष्ट को परिपूर्ण क्यों नहीं कर रहे हो ? ॥३५॥

श्रीवसुदेव बोले—उन दोनों का अभीष्ट विषय कौन सा है ? श्रीबलराम बोले—तो क्या आप उनके अभीष्ट का अनुभव नहीं कर रहे हैं ? श्रीवसुदेव बोले—हम अनुभव तो कर रहे हैं, किन्तु तुम्हारे छोटे भाई श्रीकृष्ण में श्रीनन्द यशोदा का पुत्रभाव से दृढ अभिमान है, एवं श्रीकृष्ण का स्वभाव भी निरन्तर भाव के ही अधीन है, एवं श्रीकृष्ण विशुद्ध ज्ञानस्वरूप है । अतः यह उस भावभरे व्रज में कदाचित् रुक न जाय; बस, हम तो यही विशेष आशंका करते हैं ॥३६॥

श्रीबलराम हँसकर बोले—आपने बालक की रक्षा करने को असमर्थ होकर, मुझको भी गर्भ से ही (योगमाया के द्वारा) अपने घर से श्रीनन्दबाबा के घर पहुँचा दिया था, उन्हीं ने मेरा भी पालन किया है, अतः मैं भी उनके पुत्रभाव को भली प्रकार धारण करने योग्य हूँ । फिर श्रीकृष्ण के विषय में तो कहना ही क्या है ? क्योंकि श्रीकृष्ण तो आपने उत्पन्न होते ही उनके घर पहुँचा दिया था । इसलिए श्रीव्रजराज आदि का ही श्रीकृष्ण के ऊपर पुत्रभाव से अङ्गीकार करना, एवं श्रीकृष्ण का उनके ऊपर पितृभाव से उनको अङ्गीकार करना ही, साङ्गोपाङ्ग (परिपूर्ण) होने के योग्य है । किन्तु आप सबका श्रीकृष्ण के ऊपर एवं श्रीकृष्ण का आपके ऊपर उस प्रकार का भाव परिपूर्ण नहीं हो सकता है । और उसकी विपरीत दशा में भी, अर्थात् श्रीकृष्ण हमारा ही पुत्र है, इस प्रकार का भाव स्वीकार करनेपर भी उन श्रीनन्दादिकों का तो आपके सुख से ही सुख प्रतीत हो रहा है, किन्तु उनके सुख से आपका सुख तो प्रतीत नहीं हो रहा है । आपके सामने अधिक धृष्टता करने से क्या प्रयोजन है ? और वह सर्वश्रेष्ठ मेरा छोटा भाई श्रीकृष्ण किसी प्रेमी के कष्ट को नहीं देख सकता है, अतः बनावटी चिन्ता से कोई प्रयोजन नहीं है ॥३७॥

"श्रीवसुदेव उवाच,—'भवतु, किमथ विधेयं तद्विधीयताम्। "श्रीराम उवाच,—'इदानीमपि विधत्त यन्मध्ये मध्ये कुरुपुरवद् व्रजसदनमपि तेनाऽनेनाऽऽसाद्यताम्' इति ॥३८॥

"अथ श्रीवसुदेवः स्वान्तश्चिन्तयामास,—'सत्यं वदत्यसौ; तथा पुत्रपौत्रादिगार्हस्थ्य-प्राशस्त्यस्वस्त्ययनः सोऽयं कथमत्रत्य-त्यागनापद्येत ?' इति ॥३९॥

"स्पष्टं चाऽऽचष्ट,—'भ्रात्रा नन्देन मम देहमात्रान्तरता; तस्माद् यथेच्छमेव तत्र गच्छतु चात्रागच्छतु च, सोऽयमुभयेषां प्राणमूलम् ॥'४०॥

"अथ तत आगतातदेतदग्रजादाकर्णयन् श्रीकृष्णः प्रणमन्नश्रुभिर्वचनाद् विरमंश्च नतफुल्लवदनश्चिरमासीत् ॥४१॥

"अथ कृष्णरामोद्धवरोहिणीभिः सह स्वयमेवानकदुन्दुभिः श्रीमन्नन्दस्य शकटमन्दिर-मनुगम्य तमपि यथायथं सङ्गम्य रम्यमिदं जगाद,—

'भ्रातर्नन्द ! सुतस्तवाऽथ मम वेत्यस्मिन्न भेदः क्वचिद्
यत् कृष्णस्तु जगाम नैतदवधि त्वन्मन्दिरं तच्छृणु ।
अस्माकं किल शात्रवक्षयकृते सोऽयं त्वया रक्षितः
कृत्यं शेषमपेक्षते प्रतिलवं तस्मिन् यियासन्नपि ॥'४२॥

श्रीवसुदेव बोले—अच्छा, तो अब क्या कार्य करने योग्य है, जो कि वह किया जाय ? श्रीबलराम बोले—आप अब भी इस बात का निर्देश कर दीजिये कि, ये श्रीकृष्ण हस्तिनापुर में जाने की तरह बीच बीच में व्रजरूप घर में भी जाते रहें ॥३८॥

अनन्तर श्रीवसुदेवजी अपने अन्तःकरण में विचारने लगे कि—यह बलराम सत्य ही तो कह रहा है। और अब तो यह श्रीकृष्ण, प्रद्युम्न आदि पुत्र, एवं अनिरुद्ध आदि पौत्रमय गृहस्थाश्रम के सर्वोत्कृष्ट शुभों का आश्रय हो गया है; अर्थात् गृहस्थ के पूरे बन्धन में पड़ गया है, अतः द्वारका के इस प्रकार के वैभव को कैसे त्याग सकता है ? ॥३९॥

यह विचार कर वे स्पष्ट बोले कि—भैया नन्दजी के साथ मेरा केवल देह से ही भेद है, स्वरूपतः भेद नहीं है। इसलिए श्रीकृष्ण स्वेच्छापूर्वक व्रज में चले जायँ, पुनः यहाँ भी चले आवें, इस बात में कोई रुकावट नहीं है। क्योंकि श्रीकृष्ण तो व्रजवासी एवं द्वारकावासी इन दोनों के ही प्राणों के मूल हैं ॥४०॥

उसके बाद श्रीवसुदेवजी के पास से आये हुए श्रीबलरामजी से यह समाचार सुनते ही, उनको प्रणाम करते हुए श्रीकृष्ण आँसुओं के कारण बोलने से विरत होकर, बहुत देरतक नतमस्तक एवं खिले हुए मुख से युक्त हो गये ॥४१॥

तदनन्तर श्रीवसुदेवजी कृष्ण, बलदेव, उद्धव, एवं रोहिणी के सहित स्वयं ही, श्रीव्रजराज के गाड़ियों के घर के निकट जाकर, उनसे यथायोग्य मिलकर, यह मनोहर वाक्य बोले—हे भैया ! नन्दजी ! देखो, यह श्रीकृष्ण तुम्हारा पुत्र है अथवा मेरा पुत्र है, इस बात में कहीं भी भेद नहीं है। तो भी यह श्रीकृष्ण तुम्हारे घरपर आजतक जो नहीं गया, उसका कारण सुनो। आपने हमारे शत्रुगणों को नष्ट करने के लिए ही तो यह श्रीकृष्ण हमारे पास रख छोड़ा था, अतः यह श्रीकृष्ण प्रतिक्षण तुम्हारे घर जाने की इच्छा करते हुए भी, बचे हुए शत्रु विनाशरूप कार्य की अपेक्षा करता रहता है, अतः इसको व्रज में जाने में विलम्ब हो गया है ॥४२॥

"तदेवं लब्धसुखानामपि श्रीमन्नन्दप्रमुखानां श्रीशुकमुखादुदितविरचनेन (भा० १०।६५।६)—'कृष्णे कमलपत्राक्षे संन्यस्ताखिलराधसः' इति-वचनेन पुरा श्रीकृष्णाऽयोग-दुःखादपरतृष्णाविमुखानां तन्मङ्गलाय सत्सु समर्पितविश्वगर्थानां चिराय वाञ्छितं व्रजाय तदागमनमञ्चितुमसमर्थानां संप्रति च किञ्चिदप्रतीतिकिञ्चित्प्रतीतिक्षुभिततत्तदर्थानां भावनेयं जाता—'हन्त ! हन्त ! सन्ततमस्माभिः प्रार्थितव्रजाऽऽगतिरयं तदस्माकं जानात्येव, संप्रत्यपि मनोरथपथस्वजनधनसंपदस्त्याजयितुं योग्यतां न यात्येवेति च व्रजनयनाय न साक्षाद् विज्ञापयितव्यः, सोऽयं किमुतात्र क्षात्रनीत्या कर्तुमारब्धत्रिलोकीभव्यः। तथापि शश्वदभ्यु-दययाऽस्मासु दयालुतया मुहुः कृतप्रतिज्ञतया चावश्यमागमिष्यति। किन्त्वीदृशमीदृशमस्य समर्यादस्थितममर्यादमेतदीयसदुपचर्यापर्यापणं दिव्यं दिव्यं द्रव्यं प्रति यथास्वमस्माकं मनोरथाः प्रथिमानमात्मानमानयन्तीति तदिदमिदमेव कामनीयम्' इति ॥४३॥

"अथ कंसमथनश्चेदं भावयामास,—'पूर्वपूर्वमुदयदपूर्वयोगेन सान्त्वनाप्रयोगेण मयाऽमीषु कदर्थना परं फलाय कल्पिता, न तु सदर्थना। ततश्च नाधुनापि तादृगुक्तानां विषयी-कर्तुममी युक्ताः; किन्तु सर्वान्तःपातितया प्रीतिदानव्याजान्मदुपभोग्यतायां योग्यानां वस्तूनां

वसुदेवजी के इस प्रकार के वचनों से सुख प्राप्त करनेवाले होकर भी, श्रीशुकदेवजी के मुख से उच्चारित "कमलनयन श्रीकृष्ण के निमित्त समस्त भोग एवं स्वर्ग तथा मोक्ष को भी त्यागनेवाले" इस प्रकार के वचन से श्रीकृष्ण के वियोगजनित दुःख से पहले भी दूसरी तृष्णा से विमुख रहनेवाले, अतः श्रीकृष्ण के मङ्गल के लिए समस्त धनसम्पत्ति को सज्जनों के प्रति समर्पित (दान) करनेवाले, एवं बहुत दिन से अभिलषित श्रीकृष्ण के व्रज में आगमन को प्राप्त करने के लिए असमर्थ रहनेवाले, और अब वसुदेवजी के वचन से कुछ विश्वास एवं अविश्वास से क्षुभित हुए, उन उन प्रयोजनोंवाले, श्रीमान् नन्द आदि व्रजवासियों की यह आन्तरिक भावना उत्पन्न हुई कि—हाय ! हाय ! हमने श्रीकृष्ण से व्रज में आने की निरन्तर प्रार्थना की थी, श्रीकृष्ण हमारी उस प्रार्थना को जानते ही हैं। और अब साधारण जनों के मनोरथ के पथ का अतिक्रमण करनेवाले वसुदेव आदि स्वजन एवं जो लोकोत्तर धनसम्पत्ति द्वारका में हैं, अभी उनका छुड़ाना भी योग्यता को नहीं प्राप्त हो रहा है, अतः श्रीकृष्ण को व्रज में ले जाने के लिए साक्षात् विज्ञापन करना उचित नहीं है। फिर क्षत्रियों की नीति से तीनों लोकों का मङ्गल आरम्भ करने-वाले श्रीकृष्ण से स्वयं व्रज में चलने को नहीं कहना चाहिये। इस विषय में तो कहना ही क्या है ? तो भी हमारे ऊपर निरन्तर अभ्युदयवाली अपनी दयालुता से एवं व्रज में आने की स्वयं की हुई प्रतिज्ञा के भाव से, वे श्रीकृष्ण अवश्य ही व्रज में आवेंगे। किन्तु श्रीकृष्ण के निकटस्थित असीम जो ऐसे ऐसे दिव्यातिदिव्य द्रव्य हैं, जो कि श्रीकृष्णसम्बन्धी सत् सेवा को प्राप्त करनेवाले हैं, उन दिव्य द्रव्यों के प्रति हमारे मनोरथ अपने स्वरूप को यथायोग्य विशालतापर पहुँचा रहे हैं। इसलिए यह यह दिव्य दिव्य द्रव्य ही हमारे चाहने योग्य हैं ॥४३॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण अपने मन में यह विचारने लगे कि—मैंने पहले पहले उदय होनेवाले अपूर्व उपाय से युक्त सान्त्वना के प्रयोग के द्वारा, इन व्रजवासियों के ऊपर फल के लिए केवल असद् व्यवहार ही कल्पित किया था, किन्तु सदाचार नहीं। उसके बाद अब भी श्रीव्रजराज आदि वे व्रजवासी उस प्रकार के सान्त्वना के प्रयोगों के आधार करने उचित नहीं हैं। किन्तु साम, दान, भेद, दण्ड इन चार प्रकार के उपायों के

प्रस्थापनया निजं साम्प्रतं व्रजप्रस्थानं सूचितं कर्तुमुचितम् । यस्मादेव खल्वेषां मन्मात्र-कामनाशेषाणां तथा तत्र स्थितानां मत्प्रीतिमात्रजीवनतापात्रतत्तद्विशेषाणां कामना पूरिता स्यात्' इति ॥४४॥

"तदेवमेव मुनीन्द्रः प्राह, (भा० १०।८४।६७-६८)—

'ततः कामैः पूर्यमाणः सव्रजः सहबान्धवः ।
परार्ध्याभरणक्षौमनानाऽनर्घ्यपरिच्छदैः ॥४५॥
वसुदेवोग्रसेनाभ्यां कृष्णोद्धवबलादिभिः ।
दत्तमादाय पारिबर्हं यापितो यदुभिर्ययौ ॥' इति ॥४६॥

"किन्तु, "चलनसमये या याऽवस्था व्रजेशपुरःसर-
व्रजपरिषदामासीदेषा कथं बत वर्ण्यताम् ।
मनसि च गता यस्मादस्मादृशामपि सा सदा
वपुषि गिरि च स्फूर्तिं वर्णश्रियामथ लुम्पति ॥४७॥

ज्ञात्वा तेषां हृदयवपुषोः शक्तिहानिं प्रयाणे, शत्रुश्रेण्याः प्रतिहतिमपि प्रान्तरान्तर्वितर्क्य ।
भृत्यैः सूतैः कटकपटलैरप्यमीषां समन्ताद्, दत्तैर्व्याजादनुगतिमितैर्यापनं प्राप कृष्णः ॥४८॥

अन्तर्गत होने से, प्रीतिदान के बहाने से, मेरे उपभोग्य के योग्य वस्तुओं के व्रज में भिजवाने के द्वारा, अब तो अपने व्रज में प्रस्थान को सूचित करना उचित है। जिस सूचना के कारण ही केवल मेरी प्राप्ति की कामना ही जिनकी अवशिष्ट है, तथा जो व्रज में रहते हैं, और केवल मेरी प्रीति के जीवनाधारस्वरूप उन उन विशिष्ट पदार्थों से जो युक्त हैं, एवंगुणविशिष्ट इन व्रजवासियों की कामना परिपूर्ण हो सकती है ॥४४॥

श्रीशुकदेवजी ने भी इसी प्रकार के अभिप्राय से कहा है, यथा—उसके बाद बहुमूल्य आभरण, रेशमीवस्त्र, अनेक प्रकार की उत्तमोतम सामग्री एवं भोगों से व्रजवासियों के सहित, एवं बन्धुबान्धवों के सहित परितृप्त हुए नन्दबाबा वसुदेव, उग्रसेन, श्रीकृष्ण बलराम, उद्धव आदि के द्वारा अलग अलग दी हुई अनेक प्रकार की भेंटों को ग्रहण करके, यदुवंशियों के द्वारा बिदा होकर व्रज के लिए चल दिये। तात्पर्य—यहाँपर श्रीकृष्णप्रीत्यर्थ सर्वस्व त्यागनेवाले श्रीनन्दादि व्रजवासियों की परिपूर्णता या तृप्ति, इन दी हुई सामग्रियों से नहीं है; अपितु, ये सामग्रियाँ श्रीकृष्ण के व्रज में आनेपर उन्हीं की सेवा में लगेंगी, अतः उनसे तृप्ति है। और इन अपूर्व वस्तुओं को देकर श्रीकृष्ण ने अपने आने की सूचना भी दे दी। अतः व्रजवासी प्रसन्न होकर चले गये ॥४५-४६॥

किन्तु कुरुक्षेत्र से चलते समय श्रीव्रजराज आदि व्रजवासियों की जो जो विरहमयी दशा हुई होगी, हाय! वह किस प्रकार वर्णन की जा सकती है? कारण हम जैसों के मन में समाई हुई भी वह दशा, शरीर में एवं वाणी में, वर्ण की अर्थात् कान्ति की तथा अक्षरों की शोभा की स्फूति को लुप्त कर रही है। तात्पर्य—शरीर में गौर, पीत आदि वर्ण की शोभा की एवं वाणी में अकारादि वर्णों की सुस्पष्ट उच्चारण की शोभा की स्फूर्ति को नष्ट कर रही है ॥४७॥

और श्रीकृष्ण ने उन व्रजवासियों के चलते समय उनके हृदय एवं शरीर की शक्ति की क्षीणता जानकर, तथा प्रान्तरान्तः (बहुत दूरतक के सूने मार्ग में) शत्रुश्रेणी के द्वारा दी हुई पीड़ा को विचार कर,

कथञ्चिदपि माथुरानगताः कुरूणां स्थलाद्, व्रजेन्द्रमुखगोदुहः पुनरुपेतुमात्माऽऽलयम् ।
विरक्तमनसस्तदा तपनजां समुत्तीर्य गो,-रयीतिविदितस्थले व्रजमवासयन् दूरतः ॥४९॥

गोकुलपतिरिति गोउ,-रवइति तद्गोर इत्यपि च ।
संस्कृतजं प्राकृतजं, ग्राम्यजमाख्यानमञ्चति स्थानम् ॥५०॥
गोकुलपतिरिति नाम्ना, ख्यातं गोकुलपतेः स्थानम् ।
पुरुषोत्तम इति यद्वत्, पुरुषोत्तमधाम विख्यातम् ॥"५१॥

अथ कथकेन तदेतत् प्रोच्य क्षणं परिशोच्य समापयितुं तदिदं रुच्यमुच्यते स्म,—

"तदयनमभिनौमि तच्च लग्नं, व्रजपतिवासशुभंयुमंजुरूपम् ।
यदुदितशुभवैभवान्मुरारि,-र्व्रजसुहृदां विरहं निजं लुलोप ॥"५२॥

तदेवं व्रजराज-सभाकथायां पूर्णायां श्रीराधिका-सदसि कथायां स्निग्धकण्ठ-स्तदिदमुवाच,—"अमूस्तु श्रीमदानकदुन्दुभिसंविन्मयं तत्तद्वर्ण्यमानमाकर्ण्य तानि भावितदुप-सेवार्थताभावितानि स्वस्मिन्नपि प्रीतिदानानि निर्वर्ण्य वैवर्ण्यवशादिदं व्यानञ्जुः । विलम्ब-मानेनानेन किमस्माकममूनि विलम्बनानि रच्यन्त इति ॥५३॥

किसी बहाने से स्वयं दिये हुए एवं उन व्रजवासियों के चारों ओर अनुगमन करते हुए सेवक, सारथि, एवं सेनासमूहों के द्वारा उनका व्रज में भेजना प्राप्त कर लिया ॥४८॥

तदनन्तर श्रीव्रजराज आदि गोपों ने कुरुक्षेत्र से किसी प्रकार भी विरहकष्ट से मथुरासम्बन्धी देशों में पहुँच कर, पुनः अपने अपने घरपर पहुँचने की ओर से विरक्त मनवाले होकर, उस समय यमुनाजी को पार करके 'गोरई' इस नाम से प्रसिद्ध स्थलपर दूर से ही व्रजवासियों को बसा दिया ॥४९॥

वह 'गोरई' नामक स्थान तीन नामोंवाला है, यथा—वह स्थान संस्कृत भाषा से बने हुए 'गोकुल-पति' इस नाम को प्राप्त होता है, एवं प्राकृत भाषा से बने हुए 'गोउरव' इस नाम को प्राप्त होता है, तथा ग्रामीणभाषा से बने हुए 'गोरई' इस नाम को धारण करता है ॥५०॥

गोकुलपति श्रीनन्दजी का वह 'गोरई' नामक स्थान 'गोकुलपति' इस नाम से उस प्रकार प्रसिद्ध हो गया कि, जिस प्रकार श्रीजगन्नाथजी का स्थान 'पुरुषोत्तम' इस नाम से विख्यात है ॥५१॥

तदनन्तर कथावाचक महोदय ने यह प्रसङ्ग कह कर क्षणभर "व्रजवासियों की विरहदशा का" शोक करके प्रसङ्ग को समाप्त करने के लिए यह रुचिकर वचन कहा कि—मैं (कुरुक्षेत्र से लेकर व्रज-पर्यन्तवाले) उस मार्ग को एवं जिस लग्न में व्रजराज व्रज में चले थे उस लग्न को भी नमस्कार करता हूँ कि, जो मार्ग एवं लग्न श्रीव्रजराज के निवास करने से शुभयुक्त एवं मनोहर रूपवाला हो गया था। क्योंकि जिस मार्ग में एवं लग्न में उत्पन्न हुए वैभव से श्रीकृष्ण ने व्रजवासी सुहृदों के सम्बन्ध से हुए अपने विरह को लुप्त कर दिया था, अर्थात् श्रीव्रजराज के व्रज में जानेवाले मार्ग को याद करके, श्रीकृष्ण भी व्रज-वासियों के विरह से रहित हो गये थे ॥५२॥

अतएव इस प्रकार श्रीव्रजराज की सभा में कथा के परिपूर्ण हो जानेपर, श्रीराधिका की सभा में होनेवाली कथा में स्निग्धकण्ठ यह बोला—ये श्रीराधिका आदि गोपियाँ तो श्रीवसुदेवजी की "भ्रातर्नन्द! सुतस्तवाऽथ मम वेत्यस्मिन् न भेदः क्वचिद्" अर्थात् भैया! नन्दजी! देखो, यह श्रीकृष्ण तुम्हारा बेटा है कि मेरा बेटा है, इस विषय में कोई भी भेद नहीं है। अतः यह व्रज में भी जा सकता है। इसकी प्रतिज्ञा

"कृष्णस्तु तदुद्धवद्वारा शृण्वन् सलज्जं सन्दिदेश । पूर्वमुपक्रमत एवेदं मया निवेदितम्, (भा० १०।८२।४२)—'अपि स्मरथ नः सख्यः ! स्वानामर्थचिकीर्षया । गतांश्चिरायितान् शत्रुपक्षक्षपणचेतसः ॥' इत्यनेन स्वल्पाऽवशिष्टानामशिष्टानां विनष्टीकरणकारणमेव मम किञ्चिद्विलम्बसंवलनमस्तीति । तस्मादुभयेषामस्माकं यावदिष्टदिष्टं कियन्ति दिनानि पूर्ववद् वियन्ति प्रतीक्ष्यन्ताम् ॥५४॥

"अथ श्रीगोप्यस्तु तदेतन्नासत्यमिति मनसि वितत्य समयान्तरे समक्तं तं प्रति व्यक्तमुक्तवत्यः,—'तव सत्यगिरः कृष्ण ! स्यात् किं सङ्गीर्णिरन्यथा ।
किन्तु तां मादृशामाशां यदि कालः सहेत सः ॥'५५॥

"अथ श्रीकृष्णस्तु ताः प्रत्येकमालिङ्गन्निदमङ्गीचकार,—
'यो भवतीभिः कृष्णः स्वीचक्रे कालपर्यायः ।
तेनैव स्थ व्याप्ताऽ,-वस्था नान्यः प्रभुस्तत्र ॥'५६॥

से परिपूर्ण उस उस वचन को सुनकर, भविष्य में (व्रज में आनेपर) श्रीकृष्ण की सेवारूप प्रयोजन के भाव से भावित, अपने निकट भी (कुरुक्षेत्र में दिये हुए) उन प्रीतिदानों को देखकर, विवर्णता के वशीभूत होकर, अर्थात् विरह में अस्तव्यस्त वर्ण उच्चारण करके, यह भाव प्रकाशित करने लगीं कि—स्वयं व्रज में आने का विलम्ब करनेवाले ये श्रीकृष्ण इन प्रीतिदानरूप वस्तुओं को हमारी विडम्बना करनेवाली क्यों बना रहे हैं, अर्थात् हमको क्यों बहका रहे हैं ? (इस गद्य में 'ड'कार, 'ल'कार की एकता होने के कारण विलम्बनानि के स्थान में विडम्बनानि समझना) ॥५३॥

श्रीकृष्ण ने तो उद्धवजी के द्वारा गोपियों की बात को सुनकर, लज्जापूर्वक यह सन्देश दिया कि—मैंने पहले उपक्रम से ही, अर्थात् कुरुक्षेत्र में तुमको सान्त्वना देने के आरम्भ से ही, मैंने यह निवेदन किया था कि—हे प्रिय सखियो ! देखो, हम श्रीवसुदेव आदि स्वजनों के प्रयोजन को सिद्ध करने की इच्छा से द्वारका चले गये थे, वहाँपर हमारा मन शत्रुओं के पक्ष को नष्ट करने में लग गया, अतः व्रज में आने में विलम्ब हो गया । अतः तुम सब हमको भी कभी याद कर लेती हो क्या ? इस कारण थोड़े से बचे हुए दुष्टों को नष्ट करना ही मेरा कुछ विलम्ब का सम्मेलन करनेवाला हो गया है । इसलिए हम तुम दोनों के लिए जबतक भला समय आवे, तबतक पहले की भाँति कुछ दिन व्यतीत होते से प्रतीक्षा करो ॥५४॥

पश्चात् श्रीमती गोपियों ने तो "श्रीकृष्ण का यह वाक्य असत्य नहीं है" यह मन में धारण कर समयान्तर में, अर्थात् दूसरे समय में मिले हुए श्रीकृष्ण से स्पष्ट कहा कि—हे प्यारे ! कृष्ण ! आपकी वाणियाँ तो सत्य हैं, अतः आपकी सङ्गीर्णि (प्रतिज्ञा) कहीं अन्यथा होती है क्या ? किन्तु हम जैसियों की (आपके व्रज में आनारूप) उस आशा को यदि वह काल, अर्थात् समय सहन कर ले तब तो, आपके आने की प्रतीक्षा कर सकती हैं । अर्थात् यदि आपके आगमनतक वह समय, हमें जीवित रहने दे तब तो आपकी प्रतीक्षा भी कर सकेंगी ॥५५॥

अनन्तर श्रीकृष्ण ने भी उन प्रत्येक गोपी को आलिङ्गन करते करते यह अङ्गीकार किया कि—हे प्रिय गोपियो ! देखो, "कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्" इस गीता प्रमाण से काल का पर्याय जो श्रीकृष्ण, आप सबके साथ जो बात अङ्गीकार कर चुका है, तुम सब उसी कालरूप श्रीकृष्ण से व्याप्त अवस्थावाली हो, अतः हमारे व्रज में आने की अवस्था में दूसरा सामान्यकाल समर्थ नहीं है, यह विश्वास रखो ॥५६॥

"तदेवं सति— यस्याः प्रातरथाऽचलद् व्रजजनः स्वान् माथुरान् सा तमी
शीघ्रं पूर्तिमवाप यद्यपि कुरुक्षेत्रस्थगोपीगणे ।
मय्यद्यापि तमांसि हन्त तदपि स्फूर्तिं नयन्ती न सा
वाञ्छत्यात्मसमापनामुभयथा भीतिर्हि तत्कारणम् ॥"५७॥

अथ कथकः समापनमाह,—

"चित्रं कुरुक्षेत्रमिहापरत्र वा, प्रतिश्रुतं बीजमुवाप यत् प्रभुः ।
तत्तत्र लब्धांकुरतामुपागतम्, वृन्दावनेऽविन्दत राधिके ! फलम् ॥५८॥

यदर्थं यूयं तद्विनशनमगात व्रतपरा, यदर्थं स्वाऽऽवासं विससृज वनान्तर्जगृह च ।
स एष श्रीराधे ! तव हृदयनाथः पुनरमू,-स्त्वदादीरालिङ्गन्निह वसति ही ही सुखसुखम् ॥"५६

अथ तदेवं सुखयित्वा सखीनात्मसङ्गे गृहीत्वा कृतचलने कथकयुगले श्रीराधा-कृष्ण-मिथुनं तु निजमनोरथमेव प्रथयामास ॥६०॥

इति श्रीश्रीमदुत्तरगोपालचम्पूमनु पुनर्व्रजवासिव्रजव्रजनं नाम चतुर्विंशं पूरणम् ॥२४॥

अतएव इस प्रकार की व्यवस्था हो जानेपर, व्रजवासीजन जिस रात्रि के प्रातःकाल अपने मथुरा-सम्बन्धी देशों को चल पड़े थे, वह रात्रि कुरुक्षेत्र में विद्यमान गोपियों के लिए यद्यपि शीघ्र ही समाप्त हो गई थी, तथापि हाय ! मेरे ऊपर तो विरह-शोकरूप अन्धकार की स्फूर्ति लाती हुई वह रात्रि, आज भी अपनी समाप्ति को नहीं चाहती है। इस समाप्ति एवं असमाप्ति में भय ही कारण है। अर्थात् गोपियों के लिए तो उस रात्रि की शीघ्र समाप्ति में श्रीकृष्ण की ओर से रात्रि को यह भय का कारण था कि, एक स्थानपर रहनेपर भी गोपियों से आज मिलन नहीं होगा, अतः मेरी वृद्धि में श्रीकृष्ण एवं गोपियों के परस्पर विरह की वृद्धि होती रहेगी, अतः मेरे प्रभु मुझपर कुपित हो जायँगे। और मेरे लिए रात्रि की वृद्धि में यही भय का कारण है कि, मेरा विरहदुःख समाप्त होगा या नहीं ? ॥५७॥

अनन्तर कथावाचक प्रसङ्ग की समाप्ति का द्योतक वचन बोला—हे राधिके ! देखो, यह कुरुक्षेत्र बड़ा आश्चर्यमय है, क्योंकि इस कुरुक्षेत्र में एवं व्रज में श्रीकृष्ण ने अपने आने की प्रतिज्ञारूप बीज को बोया था। वह बीज कुरुक्षेत्र में अंकुरभाव को प्राप्त होकर, वृन्दावन में फल को प्राप्त हो गया। अर्थात् कुरुक्षेत्र में सामान्य मिलन के बाद श्रीवृन्दावन में श्रीकृष्ण के पुनः आने से सदैव के लिए विरह की निवृत्तिरूप फल मिल गया ॥५८॥

हे श्रीमति राधिके ! तुम सब गोपियाँ अनन्य निष्ठारूप व्रत में तत्पर होकर, जिन श्रीकृष्ण के लिए उस कुरुक्षेत्र में गई थीं, एवं जिन श्रीकृष्ण के लिए तुमने अपने अपने निवासस्थान त्याग दिये थे, तथा वन का मध्यभाग ग्रहण किया था; देखो, वही तुम्हारे हृदयेश्वर श्रीकृष्ण पुनः तुम प्रभृति इन सभी गोपियों का आलिङ्गन करते हुए यहीं अपने व्रज में निवास कर रहे हैं। आहा ! अब तो सुख से भी अधिक सुख मिल रहा है ॥५६॥

अतएव इस प्रकार सभी श्रोताओं को सुखी करके, अपने मित्रों को अपने सङ्ग लेकर, दोनों कथा-वाचकों के चले जानेपर, श्रीराधा-कृष्ण की युगलजोड़ी ने तो अपने मनोरथ को ही विस्तृत कर दिया ॥६०

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रिविरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीमदुत्तरगोपालचम्पूकाव्ये व्रजवासिनां पुनर्व्रजागमनं नाम
चतुर्विंशं पूरणं सम्पूर्णम् ॥२४॥

अथ पञ्चविंशं पूरणम्

श्रीमदुद्धव-मन्त्रणा

अथापरेद्यवि रविविद्योतमानायां द्यवि व्रजयुवराजविराजमानव्रजराजसमाजमधिकृत्य मधुकण्ठ उवाच,—॥१॥

"अथ द्वारकापतेः पुनर्द्वारकागारताऽनारता जाता; यत्र यथापूर्वं तत्तदपूर्ववृत्तज्ञानाय श्रीव्रजक्षितिपतिना वैवधिकाः पुनरपि तदब्धिनगर्यवधि प्रस्थापिताः। ये खलु पूर्वस्मादपूर्वतया सुकुमाराणाममीषां कुमाराणामपि नमस्कारादिकमासादितं चक्रुः, तेषु कयोश्चिद् वैवधिकयो रागतयोः कथनम्; यथा—'व्रजराज ! तदिदमपूर्वं श्रूयताम्। श्रीराम-रामानुजौ यदा गायत्रं व्रतमनुगतवन्तौ, तदाचरणाय स्वयं निह्नुतवन्तौ च, तदाऽध्ययनार्थमवन्तीमध्यस्थितगुरुकुलं गतवन्तौ। तत्र च यदा समावर्तनमनुवर्तमानावभूताम्, तदा च आचार्याण्या याचितं मृतं तत्पुत्रं यमादाचितवन्तौ। तच्च पूर्वं देवकीदेवी श्रवसि पर्युप्तं विधाय तदिदं मनसि निधाय च चिराय गुप्तं चकार। कंसकृतहत्यानि मम षडपत्यानि च आयत्यां साग्रजः कदाचिदयं याचितव्य इति। संप्रति पुनस्तदनुजं प्रति द्विधाभावविधामस्मद्व्रजविश्वधात्री रक्षाविधात्री-सम्बन्धादनुसन्धाय तत्तदपत्यसंपत्त्यर्थमपि, संप्रतिपत्तिमवाप, तत्फलाचयनाय तस्मिन्नुवाप च याचना-बीजम् ॥'२॥

पचीसवाँ पूरण

उद्धवजी का विचार

इस पचीसवें पूरण में विशुद्ध ज्ञानयुक्त श्रीउद्धवजी का विचार वर्णित होगा। अनन्तर दूसरे दिन आकाश जब सूर्य के द्वारा प्रकाशित हो गया, तब व्रजयुवराज श्रीकृष्ण के द्वारा विराजमान श्रीव्रजराज के समाज का अधिकार करके मधुकण्ठ बोला— ॥१॥

कुरुक्षेत्र की यात्रा के बाद द्वारकाधीश श्रीकृष्ण का पुनः द्वारका के महलों में निरन्तर रहना हो गया। जहाँपर श्रीव्रजराज ने पहले की भाँति उस उस अपूर्व वृत्तान्त को जानने के लिए, उस द्वारकापर्यन्त फिर भी दूतों को भेज दिया कि, जो दूत पहले की अपेक्षा अपूर्वभाव से प्रद्युम्न आदि उन सुकुमार कुमारों के नमस्कार आदि भी व्रजराज के निकट पहुँचाने लग गये। उन दूतों में से व्रज में आये हुए किन्हीं दो दूतों का कथन, यथा—हे श्रीव्रजराज ! यह अपूर्व बात सुनिये कि—श्रीकृष्ण बलदेव दोनों भाइयों ने जब गायत्रीव्रत (उपनयन संस्कार) स्वीकार कर लिया, एवं उस व्रत का अनुष्ठान करने के लिए जब अपने को छिपा लिया, तब वे दोनों भाई पढ़ने के लिए अवन्तीपुरी में स्थित गुरुकुल में चले गये थे। और वहाँ-पर जब उनका अध्ययन समाप्त हो गया, तब दोनों भाई गुरुपत्नी के द्वारा माँगे हुए मरे हुए उसके पुत्र को यमराज से ले आये। इस समाचार को देवकीदेवी ने पहले अपने कान में धरकर एवं "आगे कभी बलदेव के सहित इस श्रीकृष्ण से, कंस के द्वारा मारे हुए छः पुत्रों को माँग लूंगी" इस विचार को मन में रखकर, वह समाचार बहुत दिनतक छिपा लिया था। किन्तु अब हमारी व्रजभूमि की रक्षा करनेवाली श्रीमती यशोदा के सम्बन्ध से बलदेव के छोटे भाई श्रीकृष्ण के प्रति "श्रीकृष्ण मेरा ही पुत्र है, तुम्हारा नहीं" ऐसे दो प्रकार के भाव का अनुसन्धान करके, वह देवकीदेवी कंस के द्वारा मारे हुए उन छः पुत्ररूप

"तदेतद्दूतवचनं श्रवसि रचयन्तः सर्वेऽप्यूचुः,—'तदेतत् पूर्वस्मादप्यपूर्वं जातम्, यत्तयोरपि सुततयाऽवगतयोः सुतान्तरस्पृहा' इति ॥३॥

"दूतावूचतुः,—'सुतत्तावगतिरेव तावदनयोर्विचार्या। प्रभावावलोकात् पारमैश्वर्याऽवगतिः परं पर्यालोच्यते' इति ॥४॥ "पुनः सर्वे प्रोचुः,—

'प्रभुता व्रजपति-सूनो,-र्मैत्रीसुखमेव वर्धयति ।
मरिचं खण्डजलड्डुनि, मधुररसं चारु पुष्णाति ॥५॥

"दूतावूचतुः,—'लवणाकरन्यायेन भवतामिव कस्य वा सर्वमेवैकरसतामाप्नोतु ? ॥६॥

"व्रजराज उवाच,—'यथा तथा भवतु, लब्धकृष्णलब्धतत्तृष्णयोर्महदेवान्तरम्; तस्मादग्रिममनुक्रम्यताम् ॥'७॥

"दूतावूचतुः,—'अपूर्वान्तरं श्रूयताम्; ततश्च सुतलमवलम्बमानौ बल-बलानुजनामानौ बलिना वलितकंसहतबालावलिना पूर्वपूर्वसंगृहीतपरमदिव्यसामग्रीभिः सम्यग्प्रीति पूजयामासाते। पूजितौ च तौ तान् षड्गर्भनाम्ना समाम्नातान् कंसलब्धकालान् बालानादाय

सम्पत्तियों के लिए भी श्रीकृष्ण के प्रति गौरव को प्राप्त हो गई है। और सब पुत्रों की प्राप्तिरूप फल को इकट्ठा करने के लिए, उसने श्रीकृष्ण में याचना (माँगना)रूप बीज बो दिया है ॥२॥

दूतों के इस वचन को कर्णगोचर करते हुए सभी सभासद् बोले—यह तो पहले से भी अपूर्व बात हुई, अर्थात् श्रीकृष्ण को परमेश्वर मानकर भी उनके ऊपर जो पुत्रभाव था, यह बात तो उससे भी आश्चर्यजनक है। क्योंकि श्रीकृष्ण बलदेव को पुत्ररूप से जान लेनेपर भी, उसके मन में दूसरे पुत्रों को देखने की इच्छा प्रगट हो गई ॥३॥

दोनों दूत बोले—श्रीकृष्ण बलदेव के ऊपर देवकी का जो पुत्ररूप से ज्ञान है, वही तो यहाँ विचारने योग्य है, क्योंकि देवकी का तो दोनों भाइयों के लोकोत्तर प्रभाव को देखकर केवल परमेश्वरपन का ज्ञान ही विचार में आता है ॥४॥

पुनः सभी व्रजवासी बोले—खाँड के बने हुए लड्डुओं में काली मिर्च जैसे मधुर रस को अच्छी प्रकार पुष्ट करती है, उसी प्रकार हम लोगों के पक्ष में तो श्रीव्रजराजकुमार की प्रभुता (परमेश्वरता) मित्रता के सुख को ही बढ़ाती है ॥५॥

दोनों दूत बोले—"लवण (नमक) की खान में पड़ने से सभी द्रव्य लवणरूप हो जाते हैं" इस न्याय के अनुसार आप सब व्रजजनों की तरह, श्रीवसुदेव आदि किस व्यक्ति का सब ऐश्वर्य एवं माधुर्यभाव एकरसता को, अर्थात् माधुर्यभाव को प्राप्त कर सकता है ? अर्थात् किसी का नहीं ॥६॥

श्रीव्रजराज बोले—अच्छा, जैसे हो तैसे होने दो। किन्तु वसुदेवजी अब श्रीकृष्ण को प्राप्त किये हुए हैं, एवं मैं श्रीकृष्ण को पाने की तृष्णावाला हूँ अतः हम दोनों में महान् अन्तर है। इसलिए आगे के वृत्तान्त को क्रमशः कहो ॥७॥

दोनों दूत बोले—एक दूसरा आश्चर्य और सुनिये। उसके बाद कंस के द्वारा मारे हुए (देवकी के) बालकों को एकत्रित करनेवाले बलिराजा ने सुतल में आये हुए कृष्ण बलदेव की पहले पहले इकट्ठी की हुई परमदिव्य सामग्रियों के द्वारा अच्छी प्रकार पूजा की। वे दोनों भाई पूजित होकर, षड्गर्भ नाम से प्रसिद्ध

दर्भस्थलीमाजग्मतुः; यत्र बहुविधं बलिं लभमानौ तद्बलिसद्म बलिसद्मतया कलितवन्तौ । किन्तु तत्राप्येवमपूर्वं श्रूयताम्,—॥८॥

यद्यपि तत्र च भगवान्, साक्षादास्ते बलेः सदने ।
तदपि सरामं कृष्णं, पश्यन् स तमपि विसस्मार ॥९॥
विस्मृत्यात्मार्पणपद,-भगवद्रूपं बलिस्तत्र ।
आत्मानं सहनिखिलं, ताभ्यां पुनरर्पयामास ॥१०॥
विस्मृत्येति किमेतद्, द्वारस्थितमपि ददर्श तं न बलिः ।
कृतमपि तत्प्रणिधानं, दर्शनसंस्कारसादभूदनयोः ॥११॥
दुर्लभमननं केवल,-मिह न बलेः कृष्णराम-वीक्षायाम् ।
गद्गदपुलकस्तम्भ,-स्वेदाद्यावेशिताऽप्यासीत् ॥' इति ॥१२॥

"अथ सर्वेऽपि पप्रच्छुः,—'कुशस्थल्यागमनसमनन्तरवृत्तमुच्यताम् ॥'१३॥

"दूतावूचतुः,—'तत्राप्यपूर्वं जातम् । यतस्तयोर्विद्यमानयोरपि देवक-सुतायास्तेषामवलोकनादस्तोकस्तनक्षरणं जातम् । तथापि तु तस्य तेषामपि फलकलनाय कृष्णः सतृष्ण इव तत् प्राक् पीतवान् । पश्चादेव निजावशेषपानपुण्यविशेषं परिवेषयन् स्वस्मिन्नेव पुत्रभावं विशेषयंस्तान् दिविषदां ध्येयं धाम गमयामास ॥१४॥

एवं कंस के द्वारा मारे हुए, देवकी के उन छः बालकों को लेकर दर्भस्थली (द्वारका) में चले आये। और उन दोनों भाइयों ने जिस पाताल में अनेक प्रकार की भेंट पूजाएँ प्राप्त की थीं, उस पाताल को उन्होंने भेंट पूजाओं के भवन के रूप से देखा। किन्तु वहाँपर भी एक अपूर्व बात इस प्रकार हुई, उसका श्रवण कीजिये ॥८॥

यद्यपि उस सुतल में बलिराजा के भवन में भगवान् वामन रूप से साक्षात् विराजमान हैं, तथापि वह बलिराजा बलदेवजी के सहित श्रीकृष्ण को देखता हुआ श्रीवामन भगवान् को भी भूल गया ॥९॥

वहाँपर बलिराजा ने अपनी आत्मा के अर्पण करने के स्थानस्वरूप श्रीवामन भगवान् के रूप को भूलकर, श्रीकृष्ण बलदेव के लिए समस्त परिकर के सहित पुनः अपने को समर्पण कर दिया ॥१०॥

बलिराजा ने यह सब कार्य भूलकर किया, यह तो कुछ भी बात नहीं, क्योंकि उसने तो उस समय अपने द्वारपर रहनेवाले वामन भगवान् को भी नहीं देखा। क्योंकि बलि के द्वारा उस समय वामन भगवान् के दर्शनार्थ किया हुआ प्रणिधान (प्रयत्न या समाधि) भी श्रीकृष्ण बलदेव के दर्शन के संस्कार में निमग्न हो गया था। अर्थात् उस समय बलि ने सब वस्तुओं को श्रीकृष्ण बलदेव के रूप से ही देखा था ॥११॥

और इन श्रीकृष्ण बलदेव के दर्शन में बलि के लिए केवल दुर्लभता का ही मनन नहीं था, किन्तु गद्गद कण्ठ, पुलक, स्तम्भ, स्वेद आदि सात्त्विक भावों का आवेश भी उपस्थित हो गया था ॥१२॥

अनन्तर सभी व्रजवासी बोले कि—द्वारका में आने के बाद का वृत्तान्त कहिये ॥१३॥

दोनों दूत बोले—द्वारका में भी एक आश्चर्य हुआ। क्योंकि श्रीकृष्ण बलदेव के रहते हुए भी उन छः बालकों के दर्शन से श्रीदेवकी के स्तनों से बहुत सा दूध झरने लग गया। तो भी उस दूध की एवं उन छः बालकों की सफलता के लिए, श्रीकृष्ण ने तृष्णावाले जन की तरह, उस दूध को उन बालकों से पहले ही

'तदेतदप्युपलक्षणमेव। यमितः पूर्वं देवभागपूर्वजस्तत्त्वग्रामनिरूपणपूर्वकेण तदीश्वरताप्रतिपत्तिभिरपूर्वेण पूर्वपक्षेण स्वस्य तस्मिन् पुत्रभावं प्रक्षिप्तवांस्तमेव स खलु गोकुलस्नेहमयदेहः स्वयमुत्तरपक्षं कृतवान् ॥१५॥

'यथा च सस्मितमाह स्म, (भा० १०।८५।२२)—

'वचो वः समवेतार्थं तातैतदुपमन्महे। यन्नः पुत्रान् समुद्दिश्य तत्त्वग्राम उदाहृतः ॥' इति ॥१६॥

'देवकी-वृत्तं पश्यद्भिस्तु मुनिभिस्तदिदं गीतम्,—

पुत्रान् कामयते स्म देवकसुता सा यान् मृतांस्तानसा-
वानीय प्रददौ तदर्थविसृतं स्तन्यं च तस्याः पपौ।
एवं हन्त मनोरथान्तरमपि प्रापय्य तस्यां पुनः
स्वीयं शर्म परं ररक्ष विसृजेत् किं तां यशोदामपि ?' ॥ इति ॥१७॥

"तदेवं दूत-वचनं लब्धवर्णकृतनिर्णयरचनं कर्णेषु सचमानास्ते सुख-प्रचयमवापुः ॥" १८॥

पी लिया। पश्चात् अपने पीने से बचे हुए दुग्ध में वैकुण्ठ प्राप्तिरूप पुण्यविशेष को प्रविष्ट करते हुए, या अपने पीने से बचे हुए दुग्धपान के द्वारा उन छः बालकों को वैकुण्ठ प्राप्तिरूप पुण्यविशेष को परोसते हुए, अर्थात् देते हुए और देवकी के पुत्रभाव को अपने में ही विशिष्ट करते हुए, श्रीकृष्ण ने उन बालकों को देवताओं के ध्यान करने योग्य वैकुण्ठधाम में पहुँचा दिया ॥१४॥

देवकी के इस पुत्रभाव का बढ़ाना भी दिग्दर्शन मात्र ही है, अर्थात् इसी प्रकार वसुदेवजी के भी पुत्रभाव को अपने में दृढ कर दिया। यथा—देवकी के छः पुत्रों को सुतल से लानारूप इस प्रसङ्ग से पहले देवभाग के बड़े भाई श्रीवसुदेवजी ने तत्त्वसमूह निरूपणपूर्वक श्रीकृष्ण की ईश्वरता सम्बन्धी ज्ञान के गौरवों के से आश्चर्यपूर्ण पूर्वपक्ष के द्वारा श्रीकृष्ण में स्थापित अपने जिस पुत्रभाव को प्रक्षिप्त कर दिया था, अर्थात् गौण कर दिया था, उसी पुत्रभाव को व्रज के स्नेह से परिपूर्ण देहवाले श्रीकृष्ण ने स्वयं उत्तरपक्ष (सिद्धान्तपक्ष) बना दिया, अर्थात् ईश्वरता के ज्ञान से श्रीकृष्ण में वसुदेवजी का जो पुत्रभाव संशयात्मक था, वह निश्चित कर दिया ॥१५॥

यथा—श्रीकृष्ण मुसक्याकर बोले—पिताजी ! हम तो आपके पुत्र ही हैं। हमें लक्ष्य करके आपने यह तत्त्वसमूह का उपदेश दिया है। हम आपकी एक एक बात युक्तियुक्त मानते हैं ॥१६॥

श्रीदेवकी के वृत्तान्त को देखते हुए मुनियों ने तो यह कहा है कि—देवकी ने मरे हुए जिन पुत्रों के पाने की कामना की थी, श्रीकृष्ण ने उनको लाकर दे दिया, एवं उन्हीं पुत्रों के निमित्त निकले हुए देवकी के दुग्ध को भी प्रेम से पी लिया। एवं हर्ष की बात तो यह है कि, उस देवकी के मन में दूसरे मनोरथ को भी प्राप्त करा कर, जिन श्रीकृष्ण ने पुनः केवल स्वसम्बन्धी सुख की रक्षा कर दी, वे निरपेक्ष स्नेही श्याम, विशुद्ध वात्सल्यमयी उन माँ यशोदा को भी त्याग सकते हैं क्या ? अर्थात् कदापि नहीं ॥१७॥

अतएव इस प्रकार विद्वानों के द्वारा निर्णीत रचनावाले दूतों के वचनों को कर्णगोचर करते हुए, वे सभासद् सुखसमूह को प्राप्त हो गये ॥१८॥

अथ कथकः समापनमाह स्म,—
"यदागमनवार्तया व्रजपते ! सुखं यद्भूवान्, मुहुः समुपलब्धवांस्तदधुना द्वयं त्वत्पुरः ।
नवीनघनसुन्दरं तडिदभीषुवस्त्राञ्चितं, शिखण्डरुचिमण्डितं स्फुरदभेदमुद्भ्राजते ।।"१९।।

अथ तद्दिन एव श्रीमन्नन्दतन्नन्दन-सदसि कथान्तरम्; यथा मधुकण्ठ उवाच,—"अथ श्रीदेवक्या मनोरथं पूरयित्वा श्रीयशोदायाः पूरयितुं मुरमथनस्तदिदं चिन्ततवान्,—'हन्त ! हन्त ! कुरुक्षेत्रे व्रजराजादीन् प्रति पुरु व्यञ्जितं नाद्यापि सञ्जितम्, यन्मगधपालशिशुपाल-शाल्वदन्तवक्राह्वयशक्रारिचक्रमतिक्रामदेव वर्तते' इति ।।२०।।

"तदेतद्विचिन्त्य ब्राह्ममुहूर्तमारभ्य नित्यं यद् यदभ्यस्तम्, स तदानीमपि तच्चकार; यदादिकं तु तदा दूत-मुखाद् व्रजराजः श्रुतमाचचार ।।२१।। यथा—

उत्थानाचमनात्मचिन्तनसरःस्नानोदकस्थक्रिया-
वासोयुक्परिधानसान्ध्यविधियुग्गायत्रजप्त्याहुतीः ।
रव्यर्घामरतर्पणर्षिसुरपित्रात्मीयविप्रार्चना
बद्धाख्यान्वितसंख्यधेनुवितरानप्यत्र चक्रे हरिः ।।२२।।
गोविप्रादिकवन्दनं शुभपदस्पर्शं निजालंकृतिं
सर्पिर्दर्पणगोसुरद्विजसमालोकं जनाऽऽनन्दनम् ।

अनन्तर कथावाचक प्रसङ्ग की समाप्ति का द्योतक वचन बोला—हे व्रजराज ! आपने जिन श्रीकृष्ण के व्रज में आने की बात को सुनकर, बारंबार जो सुख प्राप्त किया था, अब तो वे दोनों ही वस्तु, अर्थात् वह सुख एवं श्रीकृष्ण आपके सामने नवीनमेघ से भी सुन्दर एवं बिजली की सी किरणोंवाले पीताम्बर से युक्त, तथा मोरपंख की प्रभा से विभूषित होकर, भेदरहित स्फूर्ति पाता हुआ विराजमान है ।।१९।।

उसके बाद उसी दिन श्रीमान् नन्दजो के सहित श्रीनन्दनन्दन की सभा में दूसरी कथा, यथा—मधुकण्ठ बोला—श्रीदेवकी के मनोरथ को पूरा करके श्रीयशोदा के मनोरथ को पूरा करने के लिए श्रीकृष्ण ने यह विचार किया कि—हाय ! मैंने कुरुक्षेत्र में श्रीव्रजराज आदिकों के प्रति व्रज में आने का बहुत सा भाव प्रकाशित किया था, किन्तु आजतक भी वह पूरा नहीं किया है, क्योंकि जरासन्ध, शिशुपाल, शाल्व, दन्तवक्र नामक यह इन्द्र के शत्रुओं का मण्डल आजतक हमारा अतिक्रमण करता हुआ ही विद्यमान है ।।२०

श्रीकृष्ण ने अपने मन में यह विचार कर, ब्राह्ममुहूर्त से लेकर नित्य ही जिस जिस कार्य का अभ्यास किया था, उस नित्य नियम को उस समय भी पूरा कर दिया । श्रीकृष्ण के प्रातःकाल उठने आदि कार्य-कलाप को श्रीव्रजराज ने उस समय दूतों के मुख से श्रवण किया ।।२१।।

यथा—श्रीकृष्ण द्वारका में प्रतिदिन प्रातःकाल उठना, पश्चात् आचमन करना, अपने स्वरूप का चिन्तन करना, सरोवर में स्नान करना, गात्रमार्जनादि करके धोती दुपट्टा इन दो वस्त्रों को धारण करना, पश्चात् सन्ध्याविधि से युक्त गायत्री का जाप एवं अग्नि में आहुती देना, तथा सूर्य को अर्घ, देवतर्पण, नारदादि ऋषि, ब्रह्मादि देवता, पितृगण, कुलवृद्ध, एवं ब्राह्मणों की पूजा करना, और तेरह हजार चौरासी धेनुओं का दान करना, इत्यादि कार्य करते थे ।।२२।।

पश्चात् श्रीकृष्ण गो, ब्राह्मण, वृद्ध, गुरुजन आदि की वन्दना करके, मङ्गलजनक कपिला आदि के चरण छूकर, अपने कौस्तुभमणि आदि अलङ्कारों को पहन कर, घृत, दर्पण, गो, देवता, ब्राह्मण आदि के

स्रक्ताम्बूलविलेपदानमनु तद्भोगं विधायाऽजितः
सूताऽऽनीतमथाऽऽरुरोह स रथं तत्पाणिधृतपाणिकः ॥२३॥

सात्यक्युद्धवसंबद्धः स रथं तमशोभयत् । विष्वक्सेनसुपर्णाढ्यो विष्णुर्वा रविमण्डलम् ॥२४॥
अन्तःपुराणां हृद्रत्नान्यपनीय बहिर्भवन् । तैर्नेत्रेणापि निर्बद्धः स्मेरदृग् निरगात् प्रभुः ॥२५॥

"ततश्च, क्वचिज्जय-जयप्रथा क्व च नमोनमःसन्ततिः
क्व च श्रुति-ततिः क्व च स्तुतिकथा हरिं पश्यताम् ।
इदं तुमुलचर्ययया न हि विविक्तमासीद् यद-
प्यथापि सुखमादधे स्वनकुलं विविक्तादपि ॥२६॥

अथ सुधर्मसभां स्वपथेक्षकै,-र्यदुगणैर्विशति स्म जनार्दनः ।
हृतषडूर्मिरियं स्वत एव या, किमुत शर्म-ततिः प्रभुणाऽमुना ॥२७॥

श्यामैर्गौरैरपि रुचिगणैर्देहरत्नाम्बराणा,-माशा व्याप्ता यदि मुररिपोरस्तु वार्ता सभायाः ।
यत्रामी तद्रुचिचयचिताः पार्षदा यादवाद्याः, सारूप्यश्रीचितिमिव गता राजिबद्धा विरेजुः ॥२८

दर्शन कर, अभीष्ट वस्तुओं को देकर, सभी जनों को आनन्द देकर, माला, ताम्बूल, चन्दन आदि ब्राह्मणों को देकर, पश्चात् अपने उपभोग में लाकर, पश्चात् सारथि के द्वारा लाये हुए रथ में चढ़ गये । रथ में चढ़ते समय श्रीकृष्ण का हाथ सारथि के हाथ से धारण किया गया था ॥२३॥

विश्वक्सेन एवं गरुड से युक्त विष्णु भगवान् जैसे सूर्यमण्डल को सुशोभित कर देते हैं, उसी प्रकार सात्यकि एवं उद्धव के सहित श्रीकृष्ण ने उस रथ को सुशोभित कर दिया ॥२४॥

पश्चात् अपने अन्तःपुर की पटरानियों के हृदयरूप रत्नों को चुरा करके, अन्तःपुर से बाहर निकलते हुए श्रीकृष्ण, पटरानियों के नेत्रों से निबद्ध होकर भी, खिले हुए नेत्रोंवाले होकर, वहाँ से निकल पड़े। क्योंकि वे स्वतन्त्र प्रभु ही जो ठहरे ॥२५॥

उसके बाद अन्तःपुर से निकलते हुए श्रीकृष्ण का दर्शन करनेवाले जनों का कहींपर जय जयकार का विस्तार हो रहा था, तो कहींपर नमो नमः का विस्तार हो रहा था, एवं कहींपर श्रीकृष्ण-महिमापरक श्रुतियों के उच्चारण का विस्तार हो रहा था, तो कहींपर उनकी स्तुति की बातचीत हो रही थीं । यद्यपि अधिक धूमधाम के कारण यह सब कार्य पृथक् पृथक् प्रतीत नहीं हो रहा था, तो भी अलग अलग हुए एक एक विषय की अपेक्षा भी, यह सबका शब्दसमूह सभी के सुख को पुष्ट कर रहा था ॥२६॥

उसके बाद श्रीकृष्ण ने अपने आने के मार्ग को देखनेवाले यदुवंशियों के साथ सुधर्मा नामक सभा में प्रवेश किया । जो सभा (अपने में प्रवेश करनेवाले जनमात्र की) भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा, मृत्यु इन छः प्रकार की ऊर्मियों को (अपने गुण से) स्वतः ही दूर करनेवाली थी, फिर सर्वसमर्थ प्रभु इन श्रीकृष्ण के साथ होने से यह सभा सब प्रकार के सुखसमूह की विस्तारक होगी, इस विषय में तो कहना ही क्या है ? ॥२७॥

श्रीकृष्ण के देह, कौस्तुभमणि, एवं पीताम्बर इन सब वस्तुओं की श्यामवर्ण एवं गौरवर्णवाली प्रभा-श्रेणियों द्वारा जब समस्त दिशाएँ ही व्याप्त हो जाती थीं, तब (अल्प देश में स्थित) उस सभा की बात तो दूर रहने दो । क्योंकि जिस सुधर्मा सभा में श्रीकृष्ण के प्रभासमूह द्वारा व्याप्त हुए, वे यादव आदि सभी

विप्रैर्मागधसूत-वन्दि-भरतैर्वैहासिकैश्च प्रति-
स्वं विद्याचयचायकैर्वलयिते राजादिभिर्भ्राजिते ।
तस्मिन् विस्मितिकारिहारिसदसि प्रत्येकमीक्षां नयन्
स प्रत्याय्यखिलेन पश्यति हरिर्मामेव नान्यानिति ॥२९॥

"तदेवं स्थिते मणिघटितलकुटधारी प्रतिहारी हारि तदिदं व्याजहार,—'देव ! कश्चिदपरुषताजुषः पुरुषः सुषमारहितमुखतया द्वारि वर्तते ।' "श्रीकृष्ण उवाच,—'आनीयताम्' इति । "ततस्तेनाऽऽनीतः स चातिविनीतः साश्चर्यतयालोचयामास; यथा—

तापत्रयविनाशाय सोऽयं तोयधिसप्रभः । यदुद्यत्कीर्तिचन्द्रश्रीशीतलं पृथिवीतलम् ॥३०॥

"अथ प्रणतसर्वाङ्गतया साङ्गं नमस्कृत्य कृतकृत्यम्मन्यः स धन्यः पुरतः समागच्छ स्वच्छन्दमिति पुरःसरतया दत्तयदृच्छां तत्पृच्छामनुगच्छंस्तदिदमञ्जलिवलितं निवेदयन् पर्यालोचयामास,—

'एते लोकास्त्रिभुवनजुषोऽप्यत्र कृष्णेऽनुरक्ता
दृश्यन्ते यत् पुलककुलयुग्नेत्रनीराः स्फुरन्ति ।
तस्माद् गोप्यं यदपि तदिदं मागधानद्धभूभृत्-
सन्दिष्टं स्यात्तदपि सदसि प्रस्फुटं जल्पितव्यम् ॥'३१॥

सभासद् मानो श्रीकृष्ण की समान रूपता की शोभा से परिव्याप्त से होकर, श्रेणीबद्ध होकर शोभा पाने लगे ॥२८॥

वह सभा ब्राह्मण एवं वंश की प्रशंसा करनेवाले मागध, पुराणों के जाननेवाले सूत, प्रस्ताव के सदृश कहनेवाले वन्दीजन, नटसमूह, एवं विदूषक आदि जनों से युक्त थी, जो कि प्रत्येक जन अपनी अपनी विद्यासमूह का परिचय देनेवाले थे। एवं जो सभा भूपति आदि से सुशोभित तथा आश्चर्यजनक एवं मनोहर थी। उस सुधर्मासभा में प्रत्येक जन की ओर देखते हुए वे श्रीकृष्ण, सभी जनों के द्वारा इस प्रकार प्रतीत होते थे कि, "श्रीकृष्ण तो केवल मुझको ही देख रहे हैं, दूसरों को नहीं" ॥२९॥

ऐसी स्थिति में मणिनिर्मित लकुट को धारण करनेवाला एक द्वारपाल श्रीकृष्ण के प्रति यह मनोहर वचन बोला—हे भगवन् ! कठोरता से रहित एवं शोभारहित मुख के भाव से युक्त होकर, एक पुरुष सभा के द्वारपर विद्यमान है। श्रीकृष्ण बोले—उसको लिवा लाओ। उसके बाद उस द्वारपाल के द्वारा लाया गया अत्यन्त विनम्र वह पुरुष आश्चर्यपूर्वक देखने लगा, यथा—समुद्र की सी प्रभावाला यह महापुरुष आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक इन तीनों तापों को विनष्ट करने के लिए ही विराजमान प्रतीत हो रहा है, क्योंकि इस महापुरुष की उदित होती हुई कीर्तिरूप चन्द्रमा की कान्ति से समस्त भूतल शीतल प्रतीत हो रहा है ॥३०॥

उसके बाद सभी अङ्गों को नवा कर, श्रीकृष्ण को साष्टाङ्ग प्रणाम करके, अपने को कृतकृत्य मानने-वाला वह पुण्यात्मा पुरुष "स्वेच्छापूर्वक आगे चले आइये" इस प्रकार के कथन से कुछ आगे की ओर होकर दी हुई स्वतन्त्रतावाले श्रीकृष्ण के प्रश्न का अनुगमन करता हुआ, हाथ जोड़कर निवेदन करता हुआ, अपने मन में यह विचार करने लगा कि—तीनों भुवनों में निवास करनेवाले ये सब लोग यहाँपर

"अथ निवेदयामास च,—'पूर्वं मथुरारोधनार्थमलब्धानां ततश्च कृतदिग्विजयनिर्बन्ध-जरासन्धविहितबन्धानां लब्धमरणानुबन्धानां भवदेकशरणतानुसन्धानां राज्ञामयुते द्वे युते सती निवेदयतः,—

अगणितगुणरूप ! कृष्ण ! कृष्ण !, स्वकशरणागतपालकस्वभाव ! ।
वयमिह भवतः पृथक् पुमर्था, इति भवमुक्तिकृते तवाऽऽस्म भक्ताः ॥३२॥
वयमिह शरणागताः परे तु, त्वयि विमुखा इति गर्वितं दधानाः ।
तमपि च निजभावमाश्रयाख्यं, मलिनमकृष्महि हन्त कंसहन्तः ! ॥३३॥
वयमघमपरं परं वहाम,-स्त्वयि परमे यदधाम दोषदृष्टिम् ।
स्वयमवति भुवं हरौ कथं न,-स्तपति विकर्मगतिः परेण नाथ ! ॥३४॥
वयमिह न भवद्विशुद्धभक्ता, न च शरणागतिमागता भवत्सु ।
परमिह नृपकर्मशर्मलोभा,-दनिशमिता बत तत्तदात्मदम्भम् ॥३५॥
वयमिह बत मायया विमूढा,-स्त्वमसि निजाश्रितपालकांघ्रिपद्मः ।
इति मगधनृपाह्वकर्मपाशा,-दपि परिमोचय नः स्वयं परेशः ॥' इति ॥३६॥

श्रीकृष्ण में अनुरक्त दिखाई देते हैं। कारण ये सब पुलकावली एवं प्रेमाश्रुओं से युक्त होकर विराजमान हैं। इसलिए जरासन्ध के द्वारा बँधे हुए राजाओं का यह सन्देश यद्यपि छिपाने योग्य है, तथापि प्रेमियों की इस सभा में स्पष्ट ही कहने योग्य है ॥३१॥

यह विचार कर निवेदन करने लगा कि—हे भगवन् ! देखो, पहले मथुरा को रोकने के लिए जरासन्ध के पक्ष में न मिलनेवाले,एवं उसके पश्चात् दिग्विजय का आग्रह करनेवाले जरासन्ध के द्वारा किये गये कारागाररूप बन्धन में पड़नेवाले, अतः लज्जा के कारण मरण के आग्रह का अनुवर्तन करनेवाले, अत-एव केवल आपकी शरणागति का अनुसन्धान करनेवाले, बीस हजार राजा मिलकर आप से निवेदन करते हैं कि—हे अगणित गुणरूपवाले ! कृष्ण ! एवं अपने शरणागत जनों का पालन करनेवाले स्वभावविशिष्ट श्याम ! देखो, इस संसार में धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप चारों पुरुषार्थ आप से पृथक् हैं। अतः हम सब तो इस दुःखमय संसार से विमुक्त होने के लिए आपके भक्त बन रहे हैं ॥३२॥

और हे कंस को मारनेवाले ! प्रभो ! इस संसार में हम तो आपके शरणागत हैं, एवं दूसरे जरासन्ध आदि आप से विमुख हैं, इसी कारण गर्व को धारण करते हुए हम सब आपकी शरणागति नामक उस अपने भाव को भी हाय ! मलिन कर चुके हैं ॥३३॥

और हम एक दूसरे भारी पाप को भी धारण कर रहे हैं, जो कि साक्षात् परमेश्वर आप में भी दोषदृष्टि धारण कर रहे हैं। हे नाथ ! आपरूप हरि के स्वयं भूमि की रक्षा करनेपर भी, हमारे कुकर्मों की गति हमको जरासन्धरूप शत्रु के द्वारा क्यों सन्तप्त कर रही है ? ॥३४॥

और हे प्रभो ! इस जन्म में हम आपके विशुद्ध भक्त, अर्थात् निष्काम सेवक नहीं हैं, एवं आपके शरणागत भी नहीं हुए हैं। केवल इस संसार में राज्यसुख के लोभ से, हाय ! हम तो निरन्तर उस उस प्रकार के अपने दम्भ को ही प्राप्त हो गये हैं ॥३५॥

हा प्रभो ! हम तो इस संसार में आपकी अतिशय प्रबलमाया से विमुग्ध हो रहे हैं, एवं आप अपने चरणकमलों द्वारा निजाश्रित जनों का पालन करनेवाले हो। इसलिए आप जरासन्ध नामक कर्मपाश से

"तदेवं तेषां वाचिकवचनानन्तरं दूतः स्वयमुवाच,—

'दुष्टक्षारसमुद्र-कुम्भजमुनिः शिष्टान्धताकृत्तमः-
सूर्यः पापचरित्रता-कृतयुगं दीनार्ति-धन्वन्तरिः ।
सोऽयं चेत् पृथिवी-तले बत भवान् कृष्णात्मना राजते
तृष्णा कस्य कथं कथा-विषयतां सिद्धिं विना यास्यति ? ॥३७॥

'तृष्णा तु तेषां केवलकृष्णाकारमाधुरीसारविषया लज्जातिशयादेव हि नात्मना व्यक्तीकृता ॥३८॥ 'यस्मादेव तस्मात्—

तेषां मागधरुद्धानां भवद्वीक्षणकांक्षिणाम् ।
त्वत्पादपद्मभक्तानां दीनानां शं विधीयताम् ॥३९॥

'यतस्त एवेदं मध्ये मध्ये परस्परं सास्र-कंपसंपन्निवेदयन्ति,—

यस्मात् पूतनिकापि दिव्यसुरभिस्तद्दुग्धदावानला-
द्यर्थं शुद्धसुधासदृग् नगततिर्वंश्यादिनादार्द्रिता ।
कुब्जा श्रीमृदुला तथा यदुजरद्वृन्दं वयः सुन्दरं
जज्ञे तस्य सुगन्धितादिसुगुणाः कर्षन्ति चित्तं मुहुः ॥'४०॥

एवं माया के बन्धन से भी हमको स्वयं विमुक्त कर दीजिये । क्योंकि आप तो सर्वतन्त्र स्वतन्त्र परमेश्वर हो ॥३६॥

इस प्रकार उन राजाओं के सन्देश कहने के अनन्तर, दूत स्वयं बोला—देखो, भगवन् ! जो दुष्ट-जनरूप खारे समुद्र को सुखाने के लिए अगस्त्य मुनिरूप, एवं सज्जनों को अन्धा करनेवाले अज्ञानरूप अन्धकार को दूर करने के लिए सूर्यस्वरूप हैं,तथा जो पापमय चरित्रवाले व्यक्तियों को शुद्ध बनाने के लिए सत्ययुगस्वरूप हैं, और दीनदुःखी जनों की पीडा को दूर करने के लिए साक्षात् धन्वन्तरि ही हैं, अहह ! वे ही आप यदि भूतलपर श्रीकृष्ण के स्वरूप से विराजमान हो, तब कौन से व्यक्ति की लालसा सिद्धि के बिना किस प्रकार कथा की विषयता को, अर्थात् निरर्थकता को प्राप्त होगी ? तात्पर्य—सभी की अभिलाषा पूर्ण होगी ॥३७॥

जरासन्ध के कारागार में पड़े हुए उन राजाओं की लालसा तो केवल श्रीकृष्ण के आकार की माधुरी के सारमय विषयवाली है, अर्थात् वे श्रीकृष्ण का माधुर्य ही देखना चाहते हैं । किन्तु अत्यन्त लज्जा के कारण वह लालसा स्वयं प्रगट नहीं की है ॥३८॥

जब ऐसी स्थिति है, तब तो हे प्रभो ! जरासन्ध के द्वारा अवरुद्ध एवं आपके दर्शन की इच्छावाले तथा आपके चरणकमलों के भक्त उन दीनदुःखी राजाओं का कल्याण कर दीजिये । बस, मेरी तो आप से यही करबद्ध प्रार्थना है ॥३९॥

केवल मैं ही ऐसा कहता हूँ सो बात नहीं है, क्योंकि वे सब राजा ही बीच बीच में आपस में प्रेमाश्रु, एवं कम्परूप सम्पत्ति को धारण कर, यह निवेदन करते रहते हैं कि—देखो, भाइयो ! जिन श्रीकृष्ण के द्वारा पापिनी पूतना भी दिव्य सुगन्धिवाली हो गई, एवं उसका दूध, एवं दावानल, तथा कालियह्रद आदि वस्तु भी शुद्ध अमृत के समान हो गईं । और जिनके द्वारा किये गये वंशी आदि के शब्द से वृक्ष एवं पर्वतों की श्रेणी भी आर्द्र, अर्थात् स्निग्ध हो जाती थी, तथा कुब्जा भी लक्ष्मी के समान

"श्रीव्रजसदस ऊचुः,—'ततस्ततः ?' "दूतौ सानुतापाभासहासमूचतुः,—'अथ तत्र प्रतिविधिमभिधित्सति माधवे सुरमुनिवरः शरद्वारिधर इव शुभ्रस्तडिन्निभकेशान् बिभ्रन्महती ध्वनिमन्द्रगर्जमर्जन् दृष्टितः सुखमयवारिधारावृष्टिं कुर्वन्नेवागच्छन् सर्वं रसान्तरमासादयामास; यत्र स्वयं कृष्णश्च तदीयभक्तितृष्णः सन्नभ्युत्थाय तं वन्दते स्म ।।४१।।

अथ सभाजयित्वा भ्राजयित्वा च तदिदमपि वन्दमानः पृच्छति स्म—

पर्यक् पर्यटतस्तवानुमिलनाद् विश्वं भवेद् भव्ययुक्
तत् पृच्छामि तु किं तदद्य वलते मत्स्नेहमोहात्मनः ।
तच्चेदस्ति विशेषतः पुनरिदं कुर्वेऽनुयोगास्पदं
ते कुन्ती-तनया मदेकगतयः किंवृत्तयः साम्प्रतम् ? ।।४२।।

'अथ देवर्षिरुवाच,—

तव यशसाऽजनि शान्ति,-र्जगति विनापि श्रमेण वृष्णीश ! ।
तस्मात् किल मम गीतात्, पलितवतीति प्रियां जना जहति ।।४३।।
सर्वं त्वद्वैभवं मन्ये यल्लोकस्याथ यन्मम ।
तस्मात्त्वद्गोचरः सर्वं तथाप्याज्ञां करोमि ते ।।४४।।

कोमल हो गई, एवं यदुवंशियों का वृद्धसमूह भी जिनके दर्शन से युवावस्था से सुन्दर हो गया, उन श्रीकृष्ण के सुगन्धिता आदि सुन्दर सुन्दर गुण हमारे चित्त को बारंबार आकर्षित करते रहते हैं ।।४०।।

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत किंचित् अनुताप के सहित हँसकर बोले—उसके बाद उस सुधर्मासभा में श्रीकृष्ण जब उन राजाओं के दुःख का कुछ प्रतीकार कहने की इच्छा कर रहे थे, तब शरत्कालीन मेघ की तरह शुक्लवर्णवाले, एवं बिजली के समान चमकीले केशों को धारण करनेवाले देवर्षिवर्य श्रीनारदजी ने, महती नामक अपनी वीणा की ध्वनि की मन्दमन्द गर्जना करते हुए, एवं अपनी दृष्टि से सुखमय जलधारा की वर्षा करते हुए ही आकर, सभी सभासदों को करुणरस से दूसरा भक्तिरस प्राप्त करा दिया, अर्थात् दास्यरस में सराबोर कर दिया । अतः जिस दास्यरस में स्वयं श्रीकृष्ण भी उनकी सेवा में लालसावाले होकर, सिंहासन से उठकर उनकी वन्दना करने लगे ।।४१।।

उसके बाद उनका सम्मान करके, उनको सुशोभित करके, उनकी स्तुति करते हुए श्रीकृष्ण ने उनसे यह पूछा कि—हे देवर्षिवर्य ! चारों ओर परिभ्रमण करते हुए तुम्हारे संसर्ग से सारा विश्व मङ्गल से युक्त हो सकता है, इसीलिए तो मैं आप से पूछता हूँ कि—आजकल वह परिभ्रमण होता है क्या ? क्योंकि आपकी आत्मा में तो मेरा स्नेह एवं मोह है, और किसी का नहीं । अतः आपका वह परिभ्रमण यदि विशेष करके होता है, तो मैं पुनः यह प्रश्न, अर्थात् पूछने का आधार बनाता हूँ कि, केवल मैं ही जिनकी गति हूँ, वे श्रीयुधिष्ठिर आदि कुन्तीपुत्र किस प्रकार रह रहे हैं, एवं क्या कार्य कर रहे हैं ? ।।४२।।

यह सुनकर श्रीनारदजी बोले—हे यादवेश ! देखो, आपके यश से परिश्रम के बिना भी जगत् में शान्ति प्रगट हो गई है । इसलिए मेरे गायन से अर्थात् मेरे द्वारा गाये गये आपके यश के श्रवण से, कामुकजन भी अपनी अपनी युवतीप्रिया को भी "यह वृद्धावस्था से श्वेत केशोंवाली हो गई है" इस भाव से त्याग रहे हैं । तात्पर्य—यह आपके यश की ही अपूर्व महिमा है (कारण कविजन यश को श्वेत कहते हैं) ।।४३।।

और हे प्रभो ! अन्य लोगों का जो ऐश्वर्य आदि वैभव है, एवं मेरा भी जो सर्वज्ञता आदि वैभव है,

'इन्द्रप्रस्थमहेन्द्रः स त्वामेव मखपुरुषं मत्वा राजसूयनाम्ना मखेन्द्रेण यष्टुमिच्छति ।।४५।।

'श्रीकृष्णः सहासमुवाच,—मामन्तरीणप्रेम्णा परमसुखस्थेम्ना यजत एवासौ किं राजसूयेन ? 'देवर्षिरुवाच,—तेनासौ पारमेष्ठ्यश्रियं कामयते । 'श्रीकृष्णः पुनः सहासमाह,—तर्हि सकामकर्मा किमसौ ब्रह्मणः सालोक्यमभीप्सति ? 'देवर्षिरुवाच,—नहि नहि, किन्तु तव ।।४६।।

'श्रीकृष्ण उवाच,—परमेष्ठित्वं मम कया वाचा प्रतिष्ठितम् ? देवर्षिरुवाच, (भा० १०।८१।१०) 'तावच्छ्रीर्जगृहे हस्तं तत्परा परमेष्ठिनः' इति पृथुकतण्डुलाख्याने पण्डितवचनप्रसिद्ध्या ।।४७।।

'श्रीकृष्ण उवाच,—तर्हि च सकाम एवासौ ? 'देवर्षिरुवाच,—नहि नहि, किन्तु समवलोकितताहृशभवद्विभवः स्वगृहमागमनेनाऽनुगृहीतवति भवति लज्जते कृच्छ्रमपि सज्जते । न भवादृग्योग्यं भोग्यमस्तीति ।।४८।।

'श्रीकृष्ण उवाच,—तेन विभवेन कथं राजसूयाद् भूयेत ? राजसूयमपि महाराजसमाजयाजकतासाधनमिति दुःसाधमेव द्वयम् ।' 'देवर्षिरुवाच,—भवांस्तावदनुमोदताम्, तदा सर्वमेव प्रमोदपदतां प्रयास्यति ।।४९।। यतः,

---

मैं तो उस समस्त वैभव को तुम्हारा ही मानता हूँ। अतः सभी विषय आपके ज्ञान के गोचर है, तो भी मुझसे पूछते हो। अच्छा, तो भी मैं आपकी आज्ञा का पालन करता हूँ ।।४४।।

इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) के सम्राट वे श्रीयुधिष्ठिर आपको ही यज्ञपुरुष मानकर, राजसूय नामक श्रेष्ठयज्ञ के द्वारा आपका पूजन करना चाहते हैं ।।४५।।

श्रीकृष्ण हँसकर बोले—वे युधिष्ठिरजी आन्तरिक प्रेम से परमसुख की स्थिरतापूर्वक प्रतिदिन मेरा पूजन करते ही हैं, फिर राजसूय से क्या प्रयोजन ? श्रीनारदजी बोले—वे युधिष्ठिर राजसूय के द्वारा ब्रह्मा की सी सम्पत्ति चाहते हैं। श्रीकृष्ण पुनः हास्यपूर्वक बोले—तब तो सकामकर्म करनेवाले युधिष्ठिर, ब्रह्मा का सालोक्य (समानलोक) प्राप्त करना चाहते हैं क्या ? श्रीनारदजी बोले—ना, ना। किन्तु तुम्हारी सालोक्य प्राप्त करना चाहते हैं ।।४६।।

श्रीकृष्ण बोले—"मैं ही ब्रह्मा हूँ" यह भाव कौनसी प्रमाणयुक्त वाणी से प्रतिष्ठित है ? श्रीनारदजी बोले—'देखो, भगवन् ! जब आपने सुदामा के एक मुट्ठी तण्डुल खा लिये एवं दूसरी मुट्ठी लेने को जब आप तैयार हुए, तब "आपरूप ब्रह्मा के तत्पर श्रीरुक्मिणी ने आपके हाथ को पकड़ लिया था" इस प्रकार के पृथुकतण्डुल (चिड़वा) रूप उपाख्यान में पण्डितवर्य श्रीशुकदेवादिकों की वाणी को प्रसिद्धि के द्वारा, आपका ब्रह्मापन प्रतिष्ठित (सिद्ध) है ।।४७।।

श्रीकृष्ण बोले—तो भी तो वे युधिष्ठिर सकाम ही प्रतीत होते हैं। श्रीनारदजी बोले—ना, यह बात नहीं है। किन्तु आपके उस प्रकार के लोकोत्तर वैभव को देखनेवाले युधिष्ठिर को आप जब उनके घर में जाकर उनके ऊपर अनुग्रह करते हैं, तब वे "आपके योग्य कोई भी भोग्यसामग्री नहीं है" इस बात को सोचकर लज्जित हो जाते हैं, एवं मन में महान् कष्ट भी पाते हैं ।।४८।।

श्रीकृष्ण बोले—जिस प्रकार के वैभव को वे चाहते हैं, वह वैभव राजसूय यज्ञ के द्वारा कैसे हो सकता है ? और राजसूय भी महाराजाओं के समूह की यजमानी में सिद्ध हो सकता है। अतः उस प्रकार

यत्रानुमोदस्तव कृष्ण ! तत्र, समागमः स्यादिति विज्ञ-गीतिः ।
समागमो यत्र च तत्र सर्वे, सिद्धिप्रदाः स्युस्तव वीक्षणाय ॥५०॥

'तदेवं देवर्षिवर्णितमाकर्णयति सर्वान्निर्वर्णयति च दामोदरे तदनुमोदरहितान् जरासन्ध-वधनिर्बन्धसहितान् स्वसम्बन्धसहितान् स्वहितान् प्राश्निकान् वीक्ष्य श्रीनारदं च द्वारकागतं निजविभवसारं द्रष्टुं प्रतिष्ठमानं निरीक्ष्य सहसा स्वयमासनादुत्थितः सुधीः स धीसचिवान् विना प्रायशः परेषां स्वस्य गृहगमनं प्रतीक्ष्य पुनरुद्धवं षट्प्रज्ञमपि तत्पुरस्तादज्ञमिव स्थितं सुखनिर्माणेङ्गितभङ्गिवीक्ष्यमाणे तस्मिन् सोऽयमञ्जलिं बबन्ध । बद्धाञ्जलिमपि तमेनं कञ्जाक्षः सञ्जिताऽऽदरतया सर्वसमञ्जसं जगाद,—॥५१॥

सर्वेषां द्विद्विचक्षुर्विलसितवपुषां नस्त्वमेकं सुचक्षु-
स्तस्मात्त्वामेव नित्यं वयमिह निखिलाः श्रद्दधाना भजामः ।
संप्रत्येतच्च वर्त्मद्वयमथ स भवान् गम्यमस्मिन् न गम्यं
स्यादीदृक्तारतम्यात् प्रथयतु सुमते ! मा तु सङ्कोचमत्र ॥५२॥

का वैभव एवं राजसूय यज्ञ, ये दोनों ही दुःसाध्य हैं । श्रीनारदजी बोले—यदि आप सहर्ष अनुमोदन कर दें तो सभी कार्य हर्ष का स्थानस्वरूप हो जायगा ॥४९॥

कारण—हे कृष्ण ! जिस कार्य में आपका अनुमोदन हो जायगा, उस कार्य में आपकी उपस्थिति अवश्य हो जायगी । और जहाँपर आपकी उपस्थिति हो जायगी, वहाँपर आपके दर्शन के लिए उपस्थित होकर देव, मनुष्य, पितर आदि सभी जन सिद्धिप्रद हो जायँगे, यह विज्ञजनों का कहना है ॥५०॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण जब नारदजी के कथन को सुन रहे थे, एवं सभी सभासदों को निहार रहे थे, तब अपने सम्बन्धवाले सभी निजहितैषी सभासदों को नारदजी के कथन के अनुमोदन से रहित, एवं जरासन्ध के मारने के आग्रह के सहित देखकर, और श्रीनारदजी को द्वारका में विद्यमान अपने वैभव के सार को देखने के लिए चलते हुए देखकर, वे ही सुन्दर बुद्धिवाले श्रीकृष्ण अपने मन्त्रियों के बिना, प्रायः अन्य सभी सभासदों के अपने अपने घर जाने की प्रतीक्षा करके, सहसा स्वयं ही सिंहासन से खड़े हो गये । एवं "धर्मार्थकाममोक्षेषु लोकशास्त्रार्थयोरपि । षट्सु प्रज्ञा भवेद् यस्य स षट्प्रज्ञ इति स्मृतः" अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, लोक, एवं शास्त्रार्थ इन छः विषयों में जिसकी प्रज्ञा निपुण हो उसको षट्प्रज्ञ कहते हैं । इन गुणों से विशिष्ट षट्प्रज्ञावाले उद्धवजी भी श्रीकृष्ण के सामने, अज्ञानी की भाँति चुप बैठे थे । उनको श्रीकृष्ण जब सुखजनक इशारे की परिपाटी से निहार रहे थे, तब उद्धव ने श्रीकृष्ण की ओर हाथ जोड़ लिये । हाथ जोड़े हुए उद्धव के प्रति भी कमलनयन श्रीकृष्ण विशेष आदरपूर्वक सभी के अनुकूल वचन बोले— ॥५१॥

हे सुमते ! उद्धव ! देखो, सुन्दर शरीरवाले सभीजनों के दो दो नेत्र होते हैं, किन्तु हम सब यदुवंशियों के तो अकेले तुम ही सुन्दरनेत्र हो । इसलिए इस विचार के कार्य में हम सब श्रद्धा करते हुए, नित्य तुम्हारा ही सेवन करते रहते हैं । और अब "जरासन्ध के कारागार में पड़े हुए राजाओं को मुक्त करने जाना, एवं युधिष्ठिर के यज्ञ में जाना" ये दो मार्ग उपस्थित हैं । अतः इस प्रस्ताव में यह मार्ग जाने योग्य है, एवं यह मार्ग अभी जाने योग्य नहीं है, इस प्रकार के तारतम्य से स्पष्ट कह दीजिये । किन्तु इस विषय में सङ्कोच न कीजिये ॥५२॥

'तदेवम्—

निखिलविदपि कृष्णः स्वीयभक्तं महिम्ना, कलयितुमुभयेच्छां जातपृच्छां चकार ।

ततश्च,

तदखिलमहिमज्ञोऽप्युद्धवस्तन्निदेशं, शिरसि दधदिवासौ निर्ममे तद्विनम्रम् ॥५३॥

'विचारयाञ्चकार चान्तस्तदिदम्—

तत्तन्मतं तत्तदभीप्सितप्रदं, हरेर्मतं सर्वसुखाय कल्पते ।
ततो यथासर्वसुखं सुखं भवे,-देवं विचारं रचयामि वच्मि च ॥५४॥

'वक्ति स्म च व्यक्तमिदम्—

भूम्यादिप्रकृतिस्रष्ट्री यस्य प्रकृतिरुच्यते । तस्य प्रकृतिसिद्ध्यर्थं प्रकृतिर्न प्रतीक्ष्यते ॥५५॥
सामादिज्ञैर्नृपः कैश्चित् सेव्यः कैश्चिद्भवानपि । परमर्थविदः पूर्वे परमार्थविदः परे ॥५६॥
तवाधीनश्चतुर्वर्गः किं त्रिवर्गस्य नीतिभिः ? । वृद्धिक्षयस्थानरूपः स भूपानां परा गतिः ॥५७॥
अनन्ताः शक्तयस्ताश्चेत्तिस्रः काः शक्तयस्त्वयि ? । तथापि कुतुकान्नाथ ! नाथसे मन्त्रिणामपि॥५८

इस प्रकार श्रीकृष्ण ने सर्वज्ञ होकर भी, अपने भक्तराज उद्धव को महिमा से युक्त करने के लिए दोनों मार्गों की इच्छा को प्रश्न का विषय बना दिया । उसके बाद श्रीकृष्ण की समस्त महिमा को जाननेवाले उद्धव ने भी, उनके आदेश को मानो सिरपर धारण करते हुए से अपने सिर को विशेष नीचा कर लिया ॥५३॥

और अपने अन्तःकरण में यह विचार किया कि, उन उन व्यक्तियों का मत उन उनके, अर्थात् जरासन्ध के कारागारस्थ राजाओं के एवं श्रीयुधिष्ठिर आदि के अभिलषित को देनेवाला है, किन्तु श्रीकृष्ण का मत सभी को सुख देने के लिए समर्थ है । इसलिए जिस प्रकार सभी को सुख हो सके उसी प्रकार का विचार करूँगा एवं कहूँगा ॥५४॥

विचारने के बाद उद्धव ने यह स्पष्ट कहा कि—देखो, भगवन् ! जिनकी प्रकृति, अर्थात् मायाशक्ति "पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार" इन आठ प्रकार की प्रकृतियों की रचना करनेवाली कही जाती है, उन्हीं आपके सम्बन्ध में प्रकृति की सिद्धि के लिए, अर्थात् राजा, मन्त्री, मित्र, खजाना, राज्य, किला, सेना, एवं नगरवासियों की श्रेणी इस आठ प्रकार की प्रकृति की सिद्धि के लिए प्रकृति की, अर्थात् मन्त्री की प्रतीक्षा नहीं की जाती है । तात्पर्य—आपको हम जैसे मन्त्रियों की अपेक्षा नहीं है ॥५५॥

और साम, दान, दण्ड, भेद इन चार उपायों को जाननेवाले कुछ व्यक्तियों के द्वारा राजा सेवन करने योग्य है, एवं सामवेद आदि चारों वेदों के ज्ञाता कुछ व्यक्तिविशेषों के द्वारा आप भी सेवनीय हैं । किन्तु प्रभो ! उन व्यक्तियों में से केवल राजा की सेवा करनेवाले पहले व्यक्ति केवल स्वार्थ के ही ज्ञाता हैं, और आपकी सेवा करनेवाले दूसरे व्यक्ति परमार्थ के ज्ञाता कहे जाते हैं ॥५६॥

और प्रभो ! धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप चतुर्वर्ग आपके अधीन है, अतः आपको वृद्धि, क्षय, स्थानरूप तीन वर्गवाली नीतियों से क्या प्रयोजन है ? क्योंकि राजाओं के लिए तो वृद्धि, क्षय, एवं स्थानस्वरूप वह त्रिवर्ग ही श्रेष्ठ उपाय है ॥५७॥

हे प्रभो ! आपमें जब शास्त्रोक्त अनन्त शक्तियाँ विद्यमान हैं, तब प्रभाव, उत्साह, एवं मन्त्र से होने-

नित्यं यत्रास्ति षाड्गुण्यं षाड्गुण्यं तत्र किं परम् ? ।
अथापीच्छँल्लोकरीतिं नीतिं गोविन्द ! विन्दसि ॥५६॥

नृपाणां तापनिर्वाणं निर्माणं तस्य च क्रतोः । द्वयमेतत् पुरा कार्यं कार्यं नाना विहाय च ॥६०
जरासन्धवधादेव देव ! स्याद् द्वयमेव नः । राज्ञां मुक्तिस्तथा युक्तिर्दिग्जयाद् यज्ञनिर्मितौ ॥६१
यथा दोषाकरस्येन्दोश्छिन्दन् पक्षद्वयं मुहुः । छिनत्त्यतिक्रमं भास्वान्मागधस्य भवांस्तथा ॥६२॥
व्यक्तं स्वेन मुहुस्त्यक्तं नह्यमानं प्रसह्य तम् । हन्त हन्तव्यतां नेतुं भवान् यायान्न योग्यताम् ॥
स यज्ञो जितदिक्चक्र ! दिक्चक्रजयिनां क्रिया । यियक्षून् पाण्डवानेव देव ! तत्तत्र वर्तय ॥६४॥
तेषां भीमः सदेहास्ति हास्तिनायुतशक्तिकः । जिगीषेद् द्वैरथेनैव नैव सैन्येन यश्च तम् ॥६५॥
अक्षौहिणीशतयुजा तेन युद्धे तु तद्युजाम् । राजसूयं राजनाशान्नाशाबद्धं च सिध्यति ॥६६॥

वाली वे तीन शक्तियाँ आपके लिए कौन है ? तो भी हे नाथ ! आप अपने कौतुक से ही मन्त्रियों को चाहते हो ॥५८॥

और जिन आप में समग्र ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान, एवं वैराग्यरूप छः गुण नित्य विद्यमान हैं, उन आपके निकट सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव, एवं आश्रयरूप छः गुणों का भाव क्या उत्कर्ष बढ़ायेगा ? तो भी हे गोविन्द ! लोकरीति को चाहते हुए आप नीति का अवलम्बन करते हो ॥५६॥

अतः अनेक कार्यों को त्यागकर पहले तो आपको ये दो ही कार्य करने योग्य हैं । पहला कार्य जरासन्ध के कारागारस्थ राजाओं का सन्ताप दूर करना, एवं दूसरा कार्य है राजसूय यज्ञ का निर्माण करना ॥६०॥

और हे देव ! उन राजाओं की बन्धन से मुक्ति एवं दिग्विजय के कारण राजसूय यज्ञ के निर्माण में युक्ति; बस, हमारे ये दोनों कार्य जरासन्ध के वध से ही सम्पन्न हो सकेंगे ॥६१॥

और सूर्य भगवान् जिस प्रकार दोषाकर, अर्थात् रात्रिजनक चन्द्रमा के शुक्ल एवं कृष्णरूप दोनों पक्षों का बारंबार छेदन करता हुआ चन्द्रमा के प्रभाव को नष्ट करता रहता है, उसी प्रकार आप भी दोषाकर, अर्थात् दोषों का खजानारूप जरासन्ध के शत्रु-मित्ररूप दोनों पक्षों का बारंबार छेदन करते हुए, उसके प्रभाव को काटते रहते हो ॥६२॥

और जिस जरासन्ध को आपने मथुरा में बारंबार बलपूर्वक बाँध बाँधकर स्वयं छोड़ दिया, हाय ! उसको मारने के लिए आप योग्यता को नहीं प्राप्त कर पा रहे हैं, अर्थात् जिसको सत्रहबार बाँध बाँधकर छोड़ दिया, उसको स्वयं मारना उचित नहीं है ॥६३॥

हे दिग्मण्डल को जीतनेवाले प्रभो ! वह राजसूय यज्ञ करना भी दिशामण्डल, अर्थात् सभी दिशाओं को जीतनेवाले व्यक्तियों का कार्य है । अतः यज्ञ करने की इच्छावाले पाण्डुपुत्रों को ही पहले दिग्विजय में प्रवृत्त कीजिये ॥६४॥

और इस दिग्विजय के विषय में उन पाण्डवों के बीच में जो भीमसेन है, वह सदैव दशहजार हाथियों के बलवाला है । किन्तु वह भी (आपकी प्रेरणा से) जरासन्ध को द्वन्द्वयुद्ध के द्वारा ही जीतने की इच्छा करे, सेना के द्वारा जीतने की इच्छा न करे, तभी कार्य सिद्ध होगा ॥६५॥

क्योंकि सौ अक्षौहिणी सेना से युक्त जरासन्ध के साथ सौ अक्षौहिणी सेना से युक्त पाण्डवों के युद्ध करनेपर तो, सभी राजाओं के नष्ट हो जाने से आशा में निबद्ध राजसूय यज्ञ सिद्ध न होगा ॥६६॥

जरासन्धवधो धीमन् ! भीमसेनेन सिध्यति । किन्तु त्वत्प्रेरणातन्त्रो मन्त्रोऽयं मयका यथा ।।६७
बलवान् भीमसेनः स्यान्मन्त्रवान् पुनरुद्धवः । इतिप्रसिद्धतादम्भात् तत्तदारम्भता तव ।।६८।।
त्वां विना कोटिकटकान्मन्त्रतन्त्रायुधादपि । स नान्यतन्त्रः स्याद् यद्वदात्मा यन्तारमन्तरा ।।६९
सदम्भमपि हन्तव्या हन्तव्या इति नीतिमत् । तस्मादन्योऽपि दम्भः स्यात्तदारम्भकृते कृते ।।७०
यस्माद् ब्रह्मण्यदेवध्रुग्धत्ते ब्रह्मण्यतामिषम् । तस्मादस्माकमपि स ब्रह्मतामिषमर्हति ।।७१।।
रामात्मनोरेव युद्धं मत्वा स त्वापि सेनया । अरुन्धद् द्वन्द्वयुद्धं तन्न बुद्धं तस्य दुर्मतेः ।।७२।।
यद्यसौ सत्यतातत्या द्वन्द्वयुद्धं प्रपद्यते । सत्यतां विप्रतामत्या विप्रलब्धिं तदार्हति ।।७३।।

तस्मादमुं विप्रलब्धं कुरुताद् विप्रतामिषात् ।
भीमं भीमं विधायाग्रे जिष्णुस्त्वं जिष्णुना सह ।। इति ।।७४।।

'किं बहुना ? सर्व एव योद्धारो बोद्धारो वा त्वामन्वेवेति लीलामात्रं तत्तत्' इति ।।७५।।

हे धीमन् ! जरासन्ध का वध भी भीमसेन के द्वारा ही सिद्ध होगा, किन्तु आपकी प्रेरणा के अनुसार जैसे मैंने यह विचार आपके सामने उपस्थित किया है, उसी प्रकार भीमसेन के द्वारा जरासन्ध का जो वध होगा, वह भी आपकी प्रेरणा के अधीन ही होगा ।।६७।।

और भीमसेन बलवान् होकर प्रसिद्ध हो जाय, तथा उद्धव विचारवान् होकर प्रसिद्ध हो जाय, इस प्रकार की प्रसिद्धि के बहाने से ही, आपका वह वह विचार आदि करने का उपक्रम है ।।६८।।

जीवात्मा जिस प्रकार अन्तर्यामी परमात्मा के बिना दूसरे किसी के अधीन नहीं हो सकता, उसी प्रकार वह जरासन्ध भी करोड़ों सेनाओं से एवं मन्त्र-तन्त्र-आयुध से भी दूसरे के अधीन नहीं हो सकता है ।।६९।।

"मारने योग्य शत्रुजन छलपूर्वक भी मार देने चाहियें" यह वाक्य नीतियुक्त है । इसलिए जरासन्ध के वध के लिये विहित कार्य में एक दूसरा छल भी हो सकता है ।।७०।।

उसके साथ छल करने का कारण भी यह है कि, वह ब्रह्मण्यदेव अर्थात् ब्राह्मणों के भक्त जो आप हैं, आप से द्रोह करता है; और ब्राह्मणों के भक्त के से भाव का छल धारण कर रहा है । इसलिए वह जरासन्ध हमारे लिए भी ब्राह्मण के भाव के छल के योग्य है, अर्थात् ब्राह्मण के वेष से छलने योग्य है ।।७१

वह जरासन्ध आप से पहले मथुरा में छल कर चुका है, यथा—देखो, उस जरासन्ध ने (आप से युद्ध करना मना करके) बलराम एवं अपने युद्ध को मान कर भी, सेना के द्वारा आपको भी घेर लिया था । अतः उस दुर्मति ने स्वयं निश्चित किये हुए द्वन्द्वयुद्ध को भी नहीं जाना । अतः "शठे शाठ्यं समाचरेत्" वाली नीति से उसके साथ छल करना उचित है ।।७२।।

और यदि वह जरासन्ध सत्यता के प्रकाश से द्वन्द्वयुद्ध को अङ्गीकार कर लेता है, तब तो भीमसेन आदि को ब्राह्मण के भाव से मान कर, सत्यभावपूर्ण वंचना को प्राप्त करने योग्य हो जायगा ।।७३।।

इसलिए आप ब्राह्मण के वेष के छल से इस जरासन्ध को वञ्चित कर दो, अर्थात् ठग लो । और आप भयंकर भीमसेन को आगे करके अर्जुन के सहित सर्वदा विजयी हो जाओ ।।७४।।

अधिक कहने से क्या प्रयोजन है ? देखो, सभी योद्धागण एवं सभी विज्ञजन आप से हीन ही हैं । अतः भीमसेन के द्वारा जरासन्ध वध आदि वह वह कार्य तो आपका लीलामात्र है ।।७५।।

"श्रीव्रजराज उवाच,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—

'ते सर्वे सर्वतोभद्रमुद्धवस्य मतं तदा ।
आनर्चुर्वेदभणितं यथा धर्मादितत्पराः ॥' इति ॥७६॥

"अथ व्रजस्थेषु भिन्नमर्मणा कृष्णकरणीयतादृशदुष्करकर्मणा लब्धचिन्ताऽवस्थेषु सान्त्वनार्थमागन्तुकः कश्चिद्विपश्चिदुवाच,—'सेयं स्वप्रभोर्भावं प्रभावमपि विज्ञातुस्तस्य मन्त्रज्ञतातद्विज्ञानां श्लाघामेव द्राघीयसीं करोति ॥'७७॥

"व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,–'तदेतत्पर्यन्तं पर्यालोच्य भाविनमर्थं सव्यामोहमनुशोच्य तावेतावाजग्मिव । अन्यौ तु शेषं विशेषवृत्तमादायागच्छन्तावेव स्तः ॥"७८॥ तदेवं समाप्य मधुकण्ठ उवाच,—

"पूर्वं यद्विरहेण गोपनृपते ! पुत्रस्य यूयं गता
दूनत्वं स्मृतिसङ्गतेऽप्यनुपदं तत्राऽनुतप्यामहे ।
तद्दूरेऽस्त्वधुना नवाम्बुदरुचिः पीतांशुकश्चन्द्रको
वंशीपाणिरुदेति हन्त तदपि त्वं तेन संतप्यसे ॥" इति ॥॥७६॥

तदेवं व्रजदेवं प्रति सुखमाधाय श्रीराधामाधव-सभायामपि तदिदं भासयामास,—

"भक्ता वः पूर्वमासन् वृषरविदुहितस्ते भविष्यन्ति चान्ये
सन्त्येके च स्फुटं तु स्फुरति परमसावुद्धवः सर्वबुद्धः ।

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—धर्मादिपरायण सज्जन जन जिस प्रकार वेदों के कथन का सम्मान करते हैं, उसी प्रकार उस समय उन सभी सभासदों ने सर्वतोभाव से मङ्गलजनक उद्धव के मत का सम्मान किया ॥७६॥

उसके बाद श्रीकृष्ण के द्वारा करने योग्य जरासन्ध-वध आदिरूप उस प्रकार के दुष्कर कर्म से, क्योंकि जो कर्म माधुर्य के उपासक भक्तों के मर्म को भेदन करनेवाला था, उसके द्वारा व्रजवासीजन जब चिन्ता की अवस्था को प्राप्त हो गये, तब किसी आगन्तुक विद्वान् ने उनकी सान्त्वना के लिए कहा कि— देखो, अपने प्रभु श्रीकृष्ण के भाव एवं प्रभाव को भी जाननेवाले उन उद्धव की यह जो मन्त्रज्ञता (गुप्तरहस्य जानने का भाव) है, वह श्रीकृष्ण के मनोभाव एवं प्रभाव को जाननेवाले जनों की प्रशंसा को ही अत्यन्त दीर्घतर कर देती है, अर्थात् बढ़ा देती है ॥७७॥

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—हम दोनों दूत तो यहींतक के प्रसङ्ग को विचार कर, एवं आगे होनेवाले जरासन्ध के वध आदि विषय को व्याकुलतापूर्वक शोचकर चले आये। और दूसरे दोनों दूत तो बचे हुए विशेष वृत्तान्त को लेकर आ ही रहे हैं ॥७८॥

इस प्रकार प्रसङ्ग को समाप्त करके मधुकण्ठ बोला—हे गोपराज ! देखो, आप सब अपने लाला श्रीकृष्ण के विरह से जिस सन्ताप को प्राप्त हुए थे, हम तो उस सन्ताप के स्मृति में आते ही प्रतिक्षण सन्तप्त हो जाते हैं। उस सन्ताप को दूर रहने दो। क्योंकि अब तो नवीनमेघ की सी कान्तिवाला, पीताम्बर वाला, मोरपंखवाला तुम्हारा लाला हाथ में वंशी लेकर प्रगट हो रहा है, हाय ! तो भी आप विरह से सतप्त हो रहे हो ॥७६॥

इस प्रकार श्रीव्रजराज के प्रति सुख को धारण करा कर, मधुकण्ठ ने श्रीराधा-माधव की सभा में भी यह भाव प्रकाशित किया कि—हे वृषभानुनन्दिनि ! राधिके ! देखो, पहले भी (श्रीध्रुव प्रह्लाद आदि)

योऽयं तत्रापि युष्मान् यदुवर-सदसि स्मारयन् यादवेन्द्रं
गायन्तीत्यादिपद्यं किल भवदभिधायुक्तमुक्तं चकार ॥८०॥

"तथा हि (भा० १०।७१।९)—
"गायन्ति ते विशदकर्म गृहेषु देव्यो, राज्ञां स्वशत्रुवधमात्मविमोक्षणं च ।
गोप्यश्च कुञ्जरपतेर्जनकात्मजायाः, पित्रोश्च लब्धशरणा मुनयो वयं च ॥'८१॥

अस्यार्थः—सर्वे भक्तास्तावत्तव सर्वक्षणं दुष्टहनन-भक्तरक्षालक्षणं विशदकर्म गायन्ति। तत्र प्रस्तुतमवधीयतामित्याह—गृहेष्वेव स्थित्वापि त्वामुद्दिश्य दैन्यमाविश्य चार्थयमाना देव्यः स्वपतीनां नृपतीनां स्वशत्रुजीवनमोक्षमात्ममोक्षं च गायन्ति, तत्र दृष्टान्तमिव कुर्वंस्तत्र च सामान्यतामारोप्य गोप्यन्तराणि सङ्गोप्य विशिष्टमपि निजाभीष्टं विज्ञापयति। गोप्यश्च स्वशत्रोः शङ्खचूडस्य वधं तद्धस्तादात्मविमोक्षणं च गतक्षणगतमपि संप्रति भवदुद्भव-भवद्विरहशत्रुवधाद्याशावधानबाधया गायन्ति। अथ तद्द्वयरक्षामेव द्रढयति—'कुञ्जरपतेः'

आपके बहुत से भक्त थे, और आगे भी (श्रीजयदेव आदि) भक्तगण प्रगट होंगे। एवं अब भी श्रीयुधिष्ठिर भीष्म आदि बहुत से आपके भक्त विद्यमान हैं। किन्तु यह श्रीउद्धव तो सब कुछ जाननेवाला होकर स्पष्ट-रूप से अधिक स्फूर्ति पा रहा है। क्योंकि इस श्रीउद्धव ने द्वारका में यादवश्रेष्ठों की सुधर्मा सभा में भी, श्रीकृष्ण के प्रति तुम्हारा स्मरण कराते हुए, आप सबके परमप्रसिद्ध 'गोपी' नाम से युक्त 'गायन्ति' इत्यादि श्लोक को कह दिया था ॥८०॥

देखो, उस श्लोक का मूलार्थ—उद्धवजी श्रीकृष्ण से बोले—भगवन्! देखो, जरासन्ध की कैद में पड़े हुए राजाओं की पटरानियाँ अपने अपने महलों में "अपने शत्रु जरासन्ध का वध, एवं अपनी आत्मा-स्वरूप राजाओं का कद से छुटकारा" इस प्रकार के आपके विशुद्धकर्म को पहले से ही गाती रहती हैं। और गोपियाँ भी ग्राह से गजराज के मोक्ष को, एवं रावण से सीताजी के छुटकारे को गायन करती हैं। और आपके शरणागत मुनिजन एवं हम (उद्धव आदि) भी, कंस के वध को एवं उससे वसुदेव-देवकी के छुटकारे को गाते रहते हैं ॥८१॥

अब इस श्लोक की विशेष व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार भावार्थ प्रदर्शनपूर्वक 'अस्यार्थः' इत्यादि से स्वयं बोले—यथा—हे भगवन्! आपके सभी भक्त "दुष्टों का मारना एवं सज्जनों की रक्षा करना" आपके इस विशुद्धकर्म का सभी अवसरोंपर गायन करते रहते हैं। उसमें प्रस्तुत विषयपर ध्यान दीजिये। जरासन्ध की कैद में पड़े हुए राजाओं की रानियाँ अपने अपने महलों में ही बैठकर भी, आपको लक्ष्य करके दीनता में भर के, आप से प्रार्थना करती हुईं, अपने शत्रु जरासन्ध से अपने पतियों के जीवन का उद्धार एवं पतियों के विरहरूप शत्रु से अपना छुटकारा गायन करती रहती हैं। उसमें भी दृष्टान्त सा उपस्थित करते हुए उद्धवजी उस विषय में सामान्यभाव, अर्थात् रक्षा करनारूप सामान्यभाव का आरोपण करके, श्रीराधिका आदि अन्यान्य गोपियों को छिपाकर, अर्थात् उनका स्पष्ट नाम न लेकर, अपने विशिष्ट अभीष्ट को भी निवेदित करते हैं कि—गोपियाँ भी इस समय आपके द्वारा उत्पन्न हुए आपके विरहरूप शत्रु के वध आदि की आशा की सावधानी को छोड़कर, बीते हुए अवसर में होनेवाले अपने शत्रु शंखचूड़ के वध का, एवं उसके हाथ से अपने छुटकारे का गायन करती हैं। अब श्लोक में स्थित 'कुञ्जरपतेः' इत्यादि पद के द्वारा उन दोनों की रक्षा को, अर्थात् उन राजाओं की रानियों की, एवं गोपियों की रक्षा को ही दृढ करते

इत्यादिना। तव जन्मान्तरजन्मापि तेषां तयोर्द्वयं वयं गायामः, तासां तासां पुनर्लब्धफल-प्रकाशायामेव तत्तदाशायां गास्याम इत्यतः पूर्वासामिव परासामपि सा तद्विधा विधातव्येति। यथा च गजेन्द्रस्य लब्धशरणा जना जनकात्मजायाश्च मुनयः स्वशत्रुवधादिकं गायन्ति, पित्रोः श्रीदेवकीवसुदेवयोस्तत्तच्च वयं यदवो गायामस्तथेति ॥८२॥

अथ मधुकण्ठः समापनमाह स्म,—

"तदेतत् प्राचीनं कथितमिह वृत्तं मुररिपो,-रभूद् दुःखं यस्मिन् विरहमयमाभीरसुदृशाम्।
इदं पश्याद्य श्वः प्रकटमिव भाति स्फुटमथा,-प्यमुं संभोगाख्यप्रमदमथ पुष्णद्विलसति॥"८३॥

तदेवं वृत्ते वृत्ते सर्वेण सह कथकद्वये च गृहवर्त्मानुवृत्ते श्रीराधा-गोविन्दावानन्दमन्दिरं विन्दमानावात्मलीलामेवानुविन्दतः स्म ॥८४॥

इति श्रीश्रीमदुत्तरगोपालचम्पूमनु शुद्धसंविदुद्धवमन्त्रणातन्त्रं नाम पञ्चविंशं पूरणम् ॥२५॥

हैं कि—तुम्हारे दूसरे अवतार के जन्म को एवं उन राजाओं के 'शत्रुवध एवं आत्ममोक्ष' इन दोनों का भी हम गायन करते हैं। किन्तु उन पटरानियों के एवं उन गोपियों के शत्रुवध एवं आत्ममोक्ष को तो हम तभी गायन करेंगे, जब कि उनकी वह वह आशा फल के प्रकाश को प्राप्त हो जायगी। इसलिए जरासन्ध की कैद में पड़े हुए राजाओं की रानियों की तरह, गोपियों के भी विरहरूप शत्रु को मार कर उनकी आत्म-रक्षा उसी प्रकार से कर दीजिये। और आपके शरणापन्न जन जिस प्रकार गजेन्द्र के शत्रुवधादिक का, एवं मुनिजन जिस प्रकार जनकनन्दिनी श्रीसीताजी के शत्रुवधादि का गायन करते हैं, उसी प्रकार हम सब यादव आपके मातापिता श्रीदेवकी-वसुदेव के कंसरूप शत्रु के वध को, एवं आत्मविमोक्षण को गाते रहते हैं। तात्पर्य—अब तो जरासन्ध को मार कर रानियों की आत्मरक्षा कीजिये, पश्चात् आपके विरहरूप शत्रु को मार कर गोपियों की रक्षा कीजिये ॥८२॥

अनन्तर मधुकण्ठ प्रसङ्ग की समाप्ति का द्योतक वचन बोला—हे श्रीमति! राधिके! देखो, मैंने इस गोलोक में श्रीकृष्ण का यह प्राचीन चरित्र कहा है, जिसमें गोपियों को विरहमय दुःख हुआ था। यद्यपि यह विरहमय दुःख स्पष्ट ही आजकल का सा प्रगट प्रतीत हो रहा है, तथापि "न विना विप्रलम्भेन संभोगः पुष्टिमश्नुते", अर्थात् वियोग के बिना, संभोग पुष्टि को नहीं प्राप्त होता है। इस नीति के अनुसार यह विरहमय दुःख इस संभोग नामक सुख को पुष्ट करता हुआ विराजमान है ॥८३॥

इस प्रकार के चरित्र के हो जानेपर सभी जनों के साथ दोनों कथावाचकों के अपने घर के मार्ग का अनुसरण कर लेनेपर, श्रीराधा-गोविन्द ने अपने आनन्दमय मन्दिर (गृह) को प्राप्त करते करते आत्म-लीला को, अर्थात् सम्भोग शृङ्गार को प्राप्त कर लिया ॥८४॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रिविरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीमदुत्तरगोपालचम्पूकाव्ये शुद्धसंविदुद्धवमन्त्रणातन्त्रं नाम
पञ्चविंशं पूरणं सम्पूर्णम् ॥२५॥

अथ षड्विंशं पूरणम्

जरासन्धवधो राजन्यमोचनं च

अथ प्रातर्व्रजराजयुवराजविराजमानपरिषदि स्निग्धकण्ठः प्राह स्म,—"अपरौ सन्देशहरौ समागम्य तदेतदवादिष्टाम्,—'श्रीव्रजराज ! श्रूयतामुद्धवमन्त्रणापरतन्त्रतया नियन्त्रितायामन्येषां स्वतन्त्रतायां तत्राऽनुमोदमानः श्रीदामोदरः सपरिकर-स्वयात्राकृते मात्रा निष्क्रमयितुमनुक्रमयामास ॥'१॥

"यस्य प्रथमतः पुरूनपि गुरून् प्रति स्वमनुज्ञापयामास । यत्र च नृपतिमुग्रसेनं काम-पालकामसहायतया पुरमनु स्थापयन्नुग्रसेनतया स्थापयामास ॥२॥

"ब्रह्मसूनुर्मुनिं सुनिहितपूजासमुदायं विहायसा गच्छन्तं विहाय गृहाय निवृत्य प्रस्थानकृत्यं चातस्थे ॥३॥

"ततश्च, परिच्छदपरिकरपरिषत्सु निर्गमकृत्सु तदीयसमृद्धिकलकलवृद्धिभ्यां वार्धिरपि निहतर्द्धितां मूकतां च प्राणश्च । यत्र वैजयन्तिकाभिचरपुरःसराः सर्व एव जङ्घाला दृष्टा, न तु मन्थराः । यत्र वन्दिजनसन्दिता भोगावलयः पथि भोगावलय इव सर्वेषां मुदं ददिरे ॥४॥

छब्बीसवाँ पूरण

जरासन्ध का वध एवं राजाओं की मुक्ति

इस छब्बीसवें पूरण में राजसूय यज्ञ के लिए की गई इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) की यात्रा, एवं वहाँ पहुँचने-पर यज्ञ की सूचना, तथा जरासन्ध का वध, और उसके कारागार में पड़े हुए राजाओं की मुक्ति का वर्णन होगा। अनन्तर प्रातःकाल श्रीव्रजराज एवं युवराज श्रीकृष्ण द्वारा विराजमान सभा में स्निग्धकण्ठ बोला—दूसरे दो दूत आकर यह बोले कि—हे श्रीव्रजराज ! सुनिये, उद्धव के विचार की पराधीनता के कारण अन्य जनों की स्वतन्त्रता के संकुचित हो जानेपर, उद्धव के विचारपर अनुमोदन करते हुए, श्रीकृष्ण ने अपने परिकर के सहित, अपनी इन्द्रप्रस्थ की यात्रा के लिए मात्रा, अर्थात् यात्रा की सामग्री को बाहर करने के लिए परिपाटी की रचना की ॥१॥

जिस परिपाटी के पहले से बहुत से गुरुजनों के प्रति भी अपनी अनुज्ञा प्रार्थना की। और जिस अनुज्ञापन में श्रीबलदेव एवं प्रद्युम्न की सहायतापूर्वक राजाधिराज श्रीउग्रसेन को द्वारकापुरी में स्थापित करते हुए भयंकर सेना के भाव के सहित स्थापित कर दिया ॥२॥

और भली प्रकार पूजा समुदाय से युक्त तथा आकाश से जाते हुए श्रीनारदमुनि को बिदा करके, अपने घर के प्रति लौटकर, प्रस्थान के उपयुक्त कार्य का अवलम्बन लिया ॥३॥

और उसके बाद हाथी, घोड़ा, पताका आदि उपकरण एवं सेना आदि परिकर, तथा सात्यकि आदि पार्षदों के द्वारका से बाहर निकलते समय, उपकरणों की समृद्धि एवं कलकल शब्द की वृद्धि के द्वारा, समुद्र भी समृद्धि से रहित हो गया, एवं मौनी बन गया। और जिस समृद्धिमय प्रस्थान में जो लोग ध्वजा को लेकर आगे चलनेवाले सेवक थे, वे सब ही बहुत वेग से चलनेवाले दिखाई देते थे, किन्तु धीरे धीरे चलने-वाले नहीं दिखाई दिये और जिस प्रस्थान में वन्दीजनों के द्वारा निबद्ध भोगावलयः (विरुदावलियों के भेदस्वरूप) जो गायन थे, वे मार्ग में भोगों की श्रेणी की तरह सभी के हर्ष को दे रहे थे ॥४॥

"यत्र काण्डीरशाक्तीकयाष्टीकमुखशस्त्रिणः । नैस्त्रिंशकैस्तथा पारश्वधिकैरन्विता ययुः ॥५॥

वादित्र-ध्वज-पत्ति-कुञ्जर-रथ-स्त्रीरत्न-यानान्यनः-
क्षुद्रानःशिविकास्तथार्थभरभागुष्ट्रादयश्चक्रमुः ।
येभ्यो दूरगता न भिन्नमविदुः पूरं महावारिधे-
र्येष्वन्तःपतितास्तथा न विविदुर्निर्णीतिरुच्चैः कुतः ? ॥६॥

"ततश्च, यस्मिन् पैतृष्वसेयाः कुरुकुलजवराः प्रीतियाञ्चानिदानं
यस्मिन् देवर्षिवर्या दिवि भुवि विदिता वाचिकानां निधानम् ।
प्रस्थातुं सम्भ्रमेऽस्मिन् यदुकुलकलिते कोऽहमित्थं विदूरे
वृत्तं तं राजदूतं निकटमुपनयंस्तुष्टुवे यस्तमीडे ॥७॥

"यथा हि, (भा० १०।७१।१९)—
'राजदूतमुवाचेदं भगवान् प्रीणयन् गिरा ।
मा भैष्ट दूत ! भद्रं वो घातयिष्यामि मागधम् ॥' इति ॥८॥

"विविधजनपदं ततः समन्ता,-न्निजमहसा परिषिच्य कृष्णचन्द्रः ।
द्रुतमभजत तातभागिनेय,-क्षितिप-सवाय कुरुक्षितीश-देशम् ॥९॥

जिस प्रस्थान में धनुष् बाण को धारण करनेवाले, शक्तिनामक शस्त्र को धारण करनेवाले, एवं लाठी को धारण करनेवाले इत्यादि जो शस्त्रधारी जन थे, वे तलवार धारण करनेवाले तथा फरसा धारण करनेवाले वीरों से युक्त होकर चल दिये ॥५॥

उस समय अनेक प्रकार के बाजे, ध्वजा, पताकाएँ, पैदल व्यक्ति, हाथी, रथ, श्रेष्ठस्त्रियों के यान, एवं बैलगाड़ियाँ तथा छोटी छोटी गाड़ियाँ, पालकियाँ तथा अनेक प्रकार की वस्तुओं से लदे हुए ऊँट आदि द्वारका से चल दिये । और पूर्वोक्त बाजे एवं ध्वजा आदि से जो व्यक्ति बहुत दूर थे, वे महासमुद्र के प्रवाह को उन बाजे आदिकों से भिन्न नहीं जान पाये । तथा जिन बाजे आदिकों के मध्यस्थित जन भी, महासमुद्र के प्रवाह को भिन्न नहीं समझ पाये । अतः अधिकरूप से इन सब विषयों का निर्णय किस प्रकार हो सकता है ? ॥६॥

और उसके बाद जिस इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) के प्रस्थान में कौरवों में श्रेष्ठ एवं श्रीकृष्ण की बूआ के पुत्र श्रीयुधिष्ठिर आदि प्रीतिमयी प्रार्थना के मूलकारण थे, एवं जिस इन्द्रप्रस्थ के प्रस्थान में स्वर्ग एवं भूमि में विख्यात देवर्षिवर्य श्रीनारद ही सन्देशों के निधान थे । अतः इन्द्रप्रस्थ को चलने के लिए यदुवंशियों के द्वारा की गई इस शीघ्रता में, "मैं कौन हूँ" इस प्रकार की बात तो बहुत दूर हो गई । किन्तु इतने कोलाहल में भी जरासन्ध के कारागारस्थ राजाओं के उस दूत को अपने निकट लाते हुए, जिन श्रीकृष्ण ने उसकी प्रशंसा की मैं उनकी स्तुति करता हूँ ॥७॥

यथा—भगवान् श्रीकृष्ण अपनी सुमधुर वाणी से राजदूत को तृप्त करते हुए यह बोले कि—हे दूत ! भय मत करो । तुम्हारा मङ्गल हो, मैं जरासन्ध को मरवा दूँगा ॥८॥

उसके बाद श्रीकृष्णचन्द्र अपने तेज से अनेक देशों को चारों ओर से अभिषिक्त करके, अपने पिता (वसुदेव) की बहिन (कुन्ती) के पुत्र राजा युधिष्ठिर के यज्ञ के लिए, कौरवराज (युधिष्ठिर) के देश इन्द्रप्रस्थ में शीघ्र ही पहुँच गये ॥९॥

"व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—'ततस्तमनुज्ञाप्य भवत्पदपद्म-पदमावाभ्यामाप्यते स्म । अन्यत्तु दूतद्वयं तदीयसरण्यनुगतमागतप्रायं वर्तते' इति ।।१०।।

"अथ तत्कथनानन्तरमेव तावपि प्रथमान-तदनुबन्धावूचतुः,—

'इन्द्रप्रस्थमुपागाद्, विधुरथ विकिरन् यदा किरणम् ।
तं वारिधिवत् फुल्लं, तद्व्युपवव्राज तन्नगरम् ।।११।।
नगरं तमुपाव्राजी,-दिति किं वाच्यं स तस्य राजापि ।
राजा तमुपाव्राजी,-दिति किं वाच्यं जगच्च तत् कुतुकम् ।।१२।।
पाण्डुज-वृष्णिज-कटकं, निकटं निकटं मिथो गच्छत् ।
सुबहलजलपूराभं, तद् द्वयमासीद् व्यतिस्फीतम् ।।१३।।
पाण्डुषु धर्मसुताद्या, वृष्णिषु कृष्णः स्वयं तत्र ।
अभजन्निमेषलोपं, तत्तद्रूपं तदाऽन्वेष्टुम् ।।१४।।
प्रेमा जनयति सङ्गं, सहृदयजनयोर्मिथः परितः ।
हरिपार्थ-व्यतिमिलनं, स्तम्भाश्रुभ्यामतस्तम्भत् ।।१५।।
प्रेमा हरिसङ्गनकृद्, विघ्नदशायामपि ध्रुवं पश्य ।
हर्षं स्तम्भकमतियत्, कर्षकमौत्सुक्यमार्पिपत् तेषु ।।१६।।

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उसके बाद श्रीकृष्ण की अनुमति लेकर हम दोनों आपके चरणकमलों के स्थान को प्राप्त हो गये हैं, अर्थात् आपके निकट आ गये हैं। किन्तु श्रीकृष्ण के मार्ग का अनुसरण करनेवाले दूसरे दो दूत तो प्रायः आ ही रहे हैं ।।१०।।

पश्चात् उन दूतों के कहने के अनन्तर ही तत्काल आये हुए वे दोनों दूत भी, श्रीकृष्ण के इस प्रकरण के विषय का विस्तार करते हुए बोले—देखो, हे व्रजराज ! श्रीकृष्णरूप चन्द्रमा अपनी किरणों को फैलाते हुए जब इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) पहुँच गये, तब समुद्र की तरह हर्ष से प्रफुल्लित हुआ वह दिल्लीनगर अगवानी लेने श्रीकृष्ण के निकट आ गया ।।११।।

वह दिल्लीनगर श्रीकृष्ण के निकट आ गया, इस विषय में तो कहना ही क्या है ? किन्तु उस नगर के राजा श्रीयुधिष्ठिर भी उनके निकट आ गये। राजा युधिष्ठिर श्रीकृष्ण के निकट (अगवानी लेने) आ गये, इसमें तो कहना ही क्या है ? किन्तु जगत् भी उस कौतूहल को प्राप्त हो गया ।।१२।।

उस समय पाण्डव एवं यादवों की सेना परस्पर एक दूसरी के निकट जाती हुई वे दोनों ही सेनाएँ, अत्यन्त अधिक बढ़े हुए जल के प्रवाह की तरह, परस्पर वृद्धि को प्राप्त हो गईं ।।१३।।

उस समय वहाँपर पाण्डवों में से श्रीयुधिष्ठिर आदि एवं वृष्णिवंशियों में से स्वयं श्रीकृष्ण, उन उनके रूप का अन्वेषण करने के लिए निमेषरहित हो गये ।।१४।।

परस्पर में समान हृदयवाले दोनों जनों का जो प्रेम है, वह सर्वतोभाव से सम्मिलन करा देता है, किन्तु उसी प्रेम ने श्रीकृष्ण एवं पाण्डवों के परस्पर मिलन को स्तम्भभाव एवं आँसुओं के द्वारा अवरुद्ध कर दिया ।।१५।।

श्रीकृष्ण से मिलानेवाला प्रेम विघ्न की दशा में भी विराजमान रहता है, इस बात को निश्चितरूप

उभयं प्रेमणि सास्रं, तादृक् पश्यन् जनः स्निग्धः ।
उभयं प्रणयजयुक्त्या, वीक्षितुमुक्त्या प्रभुं मिथश्चक्रे ॥१७॥
द्रवतां समभजदजितः, प्रणतावस्थामजातशत्रुस्तु ।
स कथमिमं प्रति न मिले,-दकलि तथा यज्जलस्थलयोः ॥१८॥
प्रतिपाण्डव-मिलनं तद्, यद्यपि जातं हरेस्तदपि ।
जयतादर्जुनसङ्गः, पुलकयति स्माऽखिलं यस्तु ॥१९॥
हरिणा पाण्डुषु मिलनं, मनसि न नः स्यादिहातिचित्राय ।
तेषामनुषङ्गिष्वपि, तद् यद् विविधं तदा दृष्टम् ॥२०॥
विनयाद् विप्रादिभ्यः, सूतादिभ्यस्तदा नयात् कृष्णः ।
अचिनोदाशीर्वादा,-नाशीर्दाताऽप्यसौ समस्तेभ्यः ॥२१॥
प्रविशति नगरं हरौ स राजा, तदकृत मङ्गलि तस्य मङ्गलाय ।
यदभवदुत तत्प्रवेशलक्ष्म्या, निजमनु माङ्गलिकं तथा जगच्च ॥२२॥

से देख लो। क्योंकि उस उस प्रेम ने हर्ष एवं स्तम्भभाव का अतिक्रमण करते हुए पाण्डवों में चित्ताकर्षक उत्सुकता अर्पण कर दी थी ॥१६॥

उस समय उस प्रकार के स्नेहीजनों ने श्रीकृष्ण एवं पाण्डव इन दोनों को ही प्रेम में आँसू बहाते हुए देखकर, प्रेमजनित युक्तिपूर्ण उक्ति के द्वारा दोनों को ही परस्पर देखने को समर्थ कर दिया ॥१७॥

श्रीकृष्ण युधिष्ठिर के प्रेम में द्रवीभाव को प्राप्त हो गये थे, अर्थात् पिघल गये थे, और युधिष्ठिर श्रीकृष्ण के प्रेम में विशेष नम्रता की अवस्था को प्राप्त हो गये थे। अतः द्रवीभूत हुए वे श्रीकृष्ण विनम्र श्रीयुधिष्ठिर के प्रति किस प्रकार नहीं मिलेंगे ? अपितु, मिलेंगे ही। कारण जल एवं स्थल इन दोनों में उस प्रकार का मिलन लोगों के द्वारा देखा जाता है। तात्पर्य—द्रवरूप जल का प्रवाह जैसे नीचे स्थल की ओर स्वतः ही होता है, उसी प्रकार द्रवीभूत श्रीकृष्ण का झुकाव नम्रीभूत युधिष्ठिर के प्रति मिलने को स्वयं हो गया ॥१८॥

उस समय यद्यपि प्रत्येक पाण्डव के साथ श्रीकृष्ण का मिलना हुआ, तथापि श्रीकृष्ण का अर्जुन के साथ जो मिलना है वह उत्कर्ष को प्राप्त हो जाय, क्योंकि अर्जुन के जिस मिलन ने तो सभी जनों को पुलकित कर दिया ॥१९॥

इस प्रसङ्ग में श्रीकृष्ण का पाण्डवों के साथ जो मिलना हुआ वह हमारे मन में अतिशय आश्चर्य-जनक नहीं हो सकता, क्योंकि उस समय पाण्डवों के अनुसङ्गी श्रीविदुर आदि में भी वह मिलना अनेक प्रकार से देखा गया था। इससे यह भाव व्यक्त होता है कि, पाण्डवों के ऊपर श्रीकृष्ण की अनिर्वचनीय कृपा थी ॥२०॥

उस समय श्रीकृष्ण विनय के कारण ब्राह्मण आदि उच्चकोटि के व्यक्तियों से तथा नीति के अनुसार सूत मागध आदि से 'जय जय' इत्यादि अनेक प्रकार के आशीर्वादों का संग्रह कर रहे थे। सबके लिए आशीर्वाददाता होकर भी इन श्रीकृष्ण ने आशीर्वादों का जो संग्रह किया, इससे अधिक उनकी और क्या सद्गुणता हो सकती है ? ॥२१॥

श्रीकृष्ण के इन्द्रप्रस्थ नगर में प्रवेश करते समय उन राजा युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण के मङ्गल के लिए

यदेन्द्रप्रस्थाख्यं नगरमविशत् कंसविजयी
तदाऽन्येषां वृत्तं निखिलमपि दूरे विजयताम् ।
असूर्यंपश्यास्ता यदि सपदि लोकादपि ह्रियं
न जग्मुः सङ्कोचं क्व किल कतमं कः कलयतु ? ॥२३॥

यदावरोधं प्रविवेश केशवः, क्षितीशपत्नीभिरितं तदा वयम् ।
बहिश्च वृत्ताः शृणुमः स्म तद्वचः, प्रत्येकमल्पं च बहूक्तमित्यतः ॥२४॥

पश्य पश्येति पश्य त्वमहमश्रुपराहता ।
वर्ष वर्षेति वर्षाणि पुष्पलाजादिमङ्गलैः ॥ इति ॥२५॥

प्रेम्णा विमुग्धेषु सुतेषु शूरजा, भ्रातुस्तनूजस्य चकार लालनम् ।
तस्यास्तदाज्ञामुपलभ्य तद्वधू,-र्वधूरुपासेवत देवता इव ॥२६॥

"तदेतदन्तर्वंशिकानां शंसितं कर्णावतंसितं विधाय तद्द्वारा तदनुज्ञामादाय च शीघ्रमागच्छावः" इति तयोर्दूतयोः कथा ॥२७॥

उस नगर को मङ्गलयुक्त बना दिया, अर्थात् ध्वजा पताका आदि से सजा दिया । किन्तु हे व्रजराज ! देखो, श्रीकृष्ण की प्रवेशरूप सम्पत्ति के द्वारा अपना लक्ष्य करके नगर ही माङ्गलिक हो गया तथा उससे जगत् भी मङ्गलयुक्त हो गया ॥२२॥

कंसविजयी श्रीकृष्ण ने जिस समय इन्द्रप्रस्थ नामक नगर में प्रवेश किया था, उस समय अन्य व्यक्तियों का सारा ही वृत्तान्त दूर विजय पाता रहे । देखो, सूर्य को भी न देखनेवाली वे राजकुमारियाँ या पटरानियाँ भी यदि उस समय साधारण लोगों से भी लज्जा को नहीं प्राप्त हो रही हैं, तब कौन सा व्यक्ति कहाँपर किस प्रकार के सङ्कोच को ग्रहण कर सकता है ? ॥२३॥

जिस समय श्रीकृष्ण द्रौपदी आदि पटरानियों से युक्त अन्तःपुर में प्रविष्ट हो गये, तब हम सब दूत अन्तःपुर के बाहर खड़े होकर उन रानियों के प्रत्येक वचन को थोड़े होनेपर भी बहुत से कहे हुए की तरह सुनते रहे ॥२४॥

उनके वचन इस प्रकार के थे कि—अरी ! सखि ! देख, देख । तू ही श्रीकृष्ण को जी भरके देख ले । क्योंकि मैं तो आँसुओं से परास्त हो रही हूँ, अतः मैं नहीं देख सकती हूँ । दूसरी कहती है कि—अरी ! तू पुष्प खील आदि माङ्गलिक द्रव्यों द्वारा श्रीकृष्ण के ऊपर वर्षा कर, वर्षा कर । यह सुनते ही वह कहती है कि— मैं वर्षा करती हूँ, इत्यादि ॥२५॥

अपने पुत्र युधिष्ठिर आदि जब श्रीकृष्ण के प्रेम से विमुग्ध हो गये, तब शूरसेन की पुत्री कुन्ती ने अपने भाई वसुदेवजी के पुत्र श्रीकृष्ण का लालन (लाड़ प्यार) किया । और उस समय कुन्ती की आज्ञा को पाकर द्रौपदीदेवी श्रीरुक्मिणी आदि श्रीकृष्णकान्ताओं की देवता की तरह सेवा करने लग पड़ी ॥२६॥

अन्तःपुर के अधिकारियों के द्वारा कहे हुए इस वृत्तान्त को अपने कानों का भूषण बनाकर (अर्थात् सुनकर), और अन्तःपुर के अधिकारियों के द्वारा ही श्रीकृष्ण की अनुमति लेकर, हम दोनों शीघ्र चले आ रहे हैं । यह उन पूर्वोक्त दो दूतों की कथा हुई ॥२७॥

"अथ दूतान्तरयोः; तदेवं नित्यमेव श्रद्धाबद्धार्चिततया नूतनागतिकृतीव सति दिनानि कतिचिद्वसति च तत्र विष्टरश्रवसि कदाचिदुपविष्टतया तेषां शिष्टसमुदयविशिष्टां सभां भासयन् भ्रातृभिर्वेष्टितः सुभगचेष्टितः स्थिरः स तु युधिष्ठिरस्तदिदं निवेदयामास। "पूर्वाभिप्राय-वेष्टयमानपारमेष्ठ्यकामनां तु न वचसि रचयामास ।।२८।।

"निवेदनं यथा—'सर्वताप-प्रालेय ! श्रीमन्मातुलेय ! किमपि चापलमवलम्बितुमाज्ञा-बलं वलयितुमिच्छामि ।।'२९।। "श्रीकृष्ण उवाच,—'काममाज्ञाप्यताम् ।' "युधिष्ठिर उवाच,—'विभूतिस्तव देवाद्या मम कुर्वर्धमात्रजा। तथापि तां यियक्षामि तत् संपादय मे प्रभो ! ।।'३०

"श्रीकृष्ण उवाच,—'धर्मसुतस्य तव सर्वमिच्छामर्म शर्मणा संपत्स्यत एव, किन्तु कतमेन साधकतमेन, तन्निरूप्यताम् ।।'३१।। "युधिष्ठिर उवाच,—
'प्रीणाति राजसूयेन त्रिलोकीति सतां मतम्। यदस्य क्रतुराजत्वमपि वेदेन गीयते ।।'३२।।

"श्रीकृष्णः सस्मितमुवाच,—'राजन् ! वेदविनाशकान् विना विश्वेऽपि मत्प्रीतिमन्तः परामृश्यन्ते। मत्तर्पणादेव देवतादयस्ते लब्धविसृप्त्या तृप्त्या स्पृश्यन्ते च। तस्मान्नित्यं मत्तृप्तिं कुर्वतां भवतां तत्तृप्तिर्नापूर्वतामर्हति; तथापि यदि राजसूयेन च सा तत्रभवद्भिरिष्यते,

---

अब दूसरे दो दूतों की कथा वर्णित होती है। अतएव इस प्रकार नित्य ही श्रद्धा से निबद्ध पूजापूर्वक नवीन आगमन करनेवाले व्यक्ति की तरह श्रीकृष्ण जब कुछ दिनतक इन्द्रप्रस्थ में निवास करते रहे, तब किसी दिन उपविष्ट होकर उन शिष्ट (सभ्य) समुदाय से विशिष्ट सभा को प्रकाशित करते हुए, एवं अपने भाइयों से परिवेष्टित, सुन्दर चेष्टावाले, स्थिर प्रकृतिवाले उन श्रीयुधिष्ठिरजी ने यह निवेदन किया, किन्तु निवेदन करते समय (श्रीनारदजी के द्वारा कहे गये) पहले अभिप्राय से युक्त परमेष्ठीपद की कामना अपने वचन में प्रकाशित नहीं की ।।२८।।

उनका निवेदन, यथा—हे सर्वताप-शीतलताकारक ! हे मेरे मामा के पुत्र श्रीमन् ! श्रीकृष्णचन्द्र ! देखो, मैं कुछ चंचलता का अवलम्बन करने के लिए आपकी आज्ञा का बल लेना चाहता हूँ ।।२९।।

श्रीकृष्ण बोले—स्वेच्छापूर्वक आज्ञा दीजिये। युधिष्ठिर बोले—हे भगवन् ! देवता आदि तो आपकी विभूतिस्वरूप हैं। और मेरी विभूति (ऐश्वर्य) तो कुरुदेश की आधी मात्र ही है। तथापि हे प्रभो ! मैं तुम्हारी देवादिरूप विभूति की पूजा करना चाहता हूँ, आप मेरी उस इच्छा को सम्पन्न कर दीजिये ।।३०।।

श्रीकृष्ण बोले—हे युधिष्ठिर ! तुम धर्म के पुत्र हो, अतः तुम्हारी समस्त इच्छाओं का तात्पर्य सुख-पूर्वक सिद्ध हो जायगा। किन्तु वह तात्पर्य कौन से विशिष्ट उपकरणों से सिद्ध होगा, यह निरूपण कीजिये ? ।।३१।।

श्रीयुधिष्ठिर बोले—"राजसूय यज्ञ से तीनों लोक तृप्त हो जाते हैं" यह सज्जनों का मत है। क्योंकि राजसूय यज्ञ के क्रतुराजत्व को अर्थात् 'राजसूय' यज्ञों का राजा है, इस भाव को वेद भी गायन करता है ।।३२।।

श्रीकृष्ण मन्द हास्यपूर्वक बोले—हे राजन् ! मेरे विचार में तो अपने कुतर्कों से वेदों का विनाश करनेवाले नास्तिक प्राणियों के सिवाय सभी प्राणी मेरी प्रीति से युक्त हैं। और मेरी तृप्ति से ही वे देवता आदि प्राणी भी विस्तार को प्राप्त होनेवाली तृप्ति से युक्त हो जाते हैं। इसलिए नित्य ही मेरी तृप्ति करने-वाले आप सबके सम्बन्ध में उन देवता आदिकों की तृप्ति अपूर्वता को नहीं प्राप्त हो सकती है। तथापि

तदा तेनापि संभूयते । तदपि सुसिद्धङ्कुरं भविता, नान्येनेव दुःसिद्धङ्कुरम्; किन्तु सुखान्तरमपि तत्र मां सुखाकुर्वीत; यस्मादेव च त्रिलोकीमपि तव कीर्तिचन्द्रिका त्यक्ततन्द्रिका नन्दयिष्यति ।' 'तदुपकरणं च भवदन्तःकरणानुरूपमेव स्तूपतामाप्स्यति; यत्र प्रौढिमपि व्यूढीकरोमि ॥३३॥

'द्विषः क्षय्या नृपा जय्याः सर्वे क्रय्यास्तवाऽभवन् ।
अलं भावय सम्भारानारम्भान् कुरु तत् क्रतोः ॥' इति ॥३४॥

"तदेवं राजानं निजतेजसा प्राज्यं विराज्य पुनरेते ते भ्रातरो लोका लोकाधिपतिमूर्तय इति वागर्थमयेन च तेन तद्भ्रातॄन् समर्धयामास ॥३५॥

"अथ राजापि हरेस्तेन तेजसा फुल्लमुखकमलस्तल्लक्षणेन सहजवर्गेण सह सहसा समुल्लसन् जगत्कमलालयामेवात्मनि वासयँल्लक्ष्यते स्म । तथा लक्ष्यमाणेन च तेन ते निज-सहजा दिग्विजयाय नियुज्यन्ते स्म । नियुज्यमानाश्च ते तदानुकूल्याग्रहैः स्वयं शान्तविग्रहैस्त-त्तद्दिगधिपग्रहैरपि प्राक् पूज्यन्ते स्म; किमुत तत्तदधिपनरैः । तदेवं स्थिते द्रुतमावयोः प्रस्थितेन जातमिति ॥३६॥ "अथान्यावागत्य कथावशेषमूचतुः,—

आप सब सम्माननीय जन यदि उस तृप्ति को राजसूय के द्वारा करना चाहते हैं तो उस से भी हो सकती है । यद्यपि यह यज्ञ अनेक प्रकार की सम्पत्ति द्वारा सम्पन्न होता है, तथापि तुम्हारे पक्ष में अनायास सिद्ध हो जायगा, अन्य राजा के द्वारा जैसे यह यज्ञ दुःखपूर्वक सिद्ध किया जाता है, उस प्रकार तुम्हारे द्वारा दुःखपूर्वक सिद्ध नहीं किया जायगा । किन्तु इस राजसूय यज्ञ में एक दूसरा सुख भी मेरे अनुकूल होगा । जिसके कारण से ही तुम्हारी कीर्तिरूप चन्द्रिका (चाँदनी) आलस्यरहित होकर तीनों लोकों को भी आनन्दित कर देगी । और उस यज्ञ के उपकरण भी आपके अन्तःकरण के अनुरूप ही ढेर के ढेर एकत्रित हो जायँगे । जिन उपकरणों के विषय में मैं उत्साह को भी विशिष्ट करता हूँ ॥३३॥

देखो, तुम्हारे सभी शत्रु क्षीण किये जा सकते हैं, एवं सभी राजा जीते जा सकते हैं, तथा सभी जन या उपकरण तुम्हारे खरीदने के लिये हैं । अतः यज्ञ की सामग्रियों को विशेष करके उपस्थित करो, एवं आरम्भों को सम्पन्न करो ॥३४॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण ने राजा युधिष्ठिर को अपने तेज से विशेष विराजमान करके पुनः "ये भीम अर्जुन आदि तुम्हारे भाई लोग भी वायु, इन्द्र आदि लोकपालों की मूर्ति ही हैं" इस प्रकार की वाणीमय उस अपने तेज के द्वारा युधिष्ठिर के भाइयों को भी समृद्धियुक्त कर दिया ॥३५॥

उसके बाद राजा युधिष्ठिर भी श्रीकृष्ण के उस अपूर्व तेज से खिले हुए मुखारविन्दवाले होकर, एवं उसी प्रकार के भ्रातृवर्ग के साथ सहसा उल्लसित होकर, जगत्‌भर की लक्ष्मी को ही अपने में निवास कराते हुए दिखाई देते थे । उस प्रकार से दिखाई देनेवाले युधिष्ठिर ने अपने भाई दिग्विजय के लिए नियुक्त कर दिये । दिग्विजय के लिए नियुक्त किये गये उन भीम आदिकों की पहले इन्द्र आदि उन दिग्पालों ने पूजा की जिनका कि राजा युधिष्ठिर की अनुकूलता में आग्रह था, एवं जो स्वयं शान्तमूर्ति थे । इन्द्रादि दिग्पालों ने जब उनकी पूजा की, तब उस उस दिशा के अधिपति राजाओं ने उनकी पूजा की, इस विषय में तो कहना ही क्या है ? अतएव ऐसी स्थिति में हम दोनों दूतों का शीघ्र ही प्रस्थान हो गया । अर्थात् भीमादिकों के दिग्विजय के लिए चलते ही हम दोनों भी वहाँ से शीघ्र ही चल दिये ॥३६॥

'दिग्जयाय गता ये तु युधिष्ठिरजघन्यजाः । आगम्य ज्यायसे तस्मै ते तं तत्कथयार्पयन् ॥३७॥
तत्रात्मशिक्षया दूरात्त्यक्ते कृष्णस्तु मागधे । तेनोद्धवस्य मन्त्रेण नृपस्योद्धवमाचरत् ॥३८॥

'नृपतिरप्यसावुद्धववद् बुद्धतत्प्रभावः' इति ॥३९॥

"व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—'ततः कथयितुं लज्जावहे शङ्कावहे च ॥४०

यतः, (भा० १०।७२।१६)—

'भीमसेनोऽर्जुनः कृष्णो ब्रह्मवेषधरास्त्रयः । जग्मुर्गिरिव्रजं तात ! बृहद्रथसुतो यतः ॥'४१॥

"व्रजराजः सभयमुवाच,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—'तत आवामागतावेव ।'

"तदेवं लब्धप्रथया तत्कथया कतिपयेषु समयचयेषु विसरद्भयेषु पुनरन्यावागत्य कथयामासतुः,—'श्रीमद्व्रजराज ! मा स्म यूययुद्विजध्वम्; जरासन्धः खलु ध्वंसमाययौ' इति ॥४२

"सर्वे प्रोचुः,—'कथ्यताम्, तथ्यं कथ्यताम् ।' "दूतावूचतुः,—

'यदा ययुर्ब्राह्मणानां वेषेणाऽमी तदा जनैः । पर्वतव्रजदेशस्थैः शीलेनापि तथा मताः ॥४३॥

'यथा— धृत्वाऽग्र्यं यज्ञसूत्रं पृथुशुचिरुचिभागूर्ध्वपुण्ड्रं सुधौत-
श्वेताऽऽभं वस्त्रयुग्मं लघुलिपिवलितं पुस्तमर्भं च दर्भम् ।

उसके बाद दूसरे दो दूत आकर कथा के अवशिष्ट अंश को कहने लगे कि—श्रीयुधिष्ठिर के जो छोटे भाई दिग्विजय के लिए गये थे, उन सबों ने आकर युद्ध आदि की कथा के सहित दिग्विजय में प्राप्त हुए धन को उन बड़े भाई के प्रति समर्पण कर दिया ॥३७॥

उस दिग्विजय में अपनी शिक्षा के कारण भीम आदिकों ने जरासन्ध को जब दूर से छोड़ दिया, तब श्रीकृष्ण ने उद्धवजी के पूर्वोक्त विचार के द्वारा युधिष्ठिरजी के हर्ष की रचना कर दी ॥३८॥

क्योंकि उद्धवजी जिस प्रकार श्रीकृष्ण के प्रभाव को जानते थे, उसी प्रकार वे राजा युधिष्ठिर भी श्रीकृष्ण के प्रभाव को जानते थे, अतः उद्धवजी के विचार से उनको महान् हर्ष हुआ यह भाव है ॥३९॥

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उसके बाद की बात को कहने के लिये तो हम दोनों लज्जा एवं शंका कर रहे हैं ॥४०॥

क्योंकि हे भगवन् ! बृहद्रथ का पुत्र जरासन्ध जिस स्थानपर रहता था भीमसेन, अर्जुन, एवं श्रीकृष्ण ये तीनों ही ब्राह्मण का वेष धारण करके जरासन्ध के गिरिव्रज नामक उसी स्थानपर चले गये ॥४१॥

श्रीव्रजराज भयपूर्वक बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उसके बाद तो हम दोनों चले ही आये । इस प्रकार ख्याति को प्राप्त हुई श्रीकृष्ण की कथा के द्वारा भय के सहित कुछ समयसमूह के बीत जानेपर, पुनः दूसरे दो दूत आकर कहने लगे कि—हे श्रीमान् व्रजराज ! आप सब उद्विग्न न हों । क्योंकि जरासन्ध तो निश्चय ही ध्वंस को प्राप्त हो गया है ॥४२॥

सभी व्रजवासी बोले—कहिये, सत्य कहिये । दोनों दूत बोले—भीम, अर्जुन, एवं श्रीकृष्ण जब ब्राह्मणों के वेष से चल दिये, तब गिरिव्रज नामक प्रदेश में रहनेवाले जनों ने उनको शीलस्वभाव से भी ब्राह्मणों के समान ही मान लिया ॥४३॥

यथा—श्रीकृष्ण ही जिनमें गुरु हैं, एवं भीम तथा अर्जुन ये दोनों जिनमें छात्र हैं, ऐसे वे तीनों पुरुषश्रेष्ठ श्रेष्ठयज्ञोपवीत धारण कर, विशाल एवं पवित्र कान्ति से युक्त सुन्दर ऊर्ध्वपुण्ड्र (तिलक) धारण

गच्छन्तस्तत्र तत्र प्रसरदुपनिषन्मुख्यवेदाग्रजिह्वाः
कृष्णच्छात्रद्विकास्ते त्रितयनरवरा लोकपूजामवापुः ॥'४४॥

"व्रजसदसः सहासं पप्रच्छुः,—'भीमस्य भक्ष्यं तु बह्वेव लक्ष्यते, तत् कथं सम्पन्नं तावदन्नम् ?' ॥४५॥

"दूतौ च हसन्तौ शशंसतुः,—'तस्य देहमेव तदर्थं दातृषु तदेहमानमिवासीत् । तद्विवरणकौतुकमास्ताम् । 'ते तु क्रमगत्या मागधान् गत्वा तु गिरिव्रजनागरजनलब्धपूजासत्त्राः स्रक्चन्दनादिमत्त्वादत्यपूर्ववेशधरा विद्याधरा इव तत्र विहरन्ति स्म ॥४६॥

'अथाऽऽतिथ्यकाले धृतब्रह्मवेषाः प्रभावेण विध्वस्तपौराद्यशेषाः ।
नृपान्तःपुरान्तस्तदारादपूर्वा, नृपस्याग्रतस्तेऽभवन् कृष्णपूर्वाः ॥४७॥

"व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः ?'—"दूतावूचतुः,—'ततश्च मगधाधिपस्तानवधाय ब्रह्मण्यतागर्ववानगर्वम्मन्यः प्रणनाम । ते चाऽन्तर्द्विषा बहिराशिषा तं वर्धयन्त इव वर्धयामासुः ॥४८॥ यथा—

श्वेतपत्रगसंसक्त-गदाभृद्भीमतेजसा । सर्वेषु बन्धुवर्गेषु त्वं सुखायस्व मागध ! ॥४९॥

कर, सुन्दर एवं धुले हुए श्वेत कान्तिवाले 'धोती दुपट्टा' दो वस्त्र पहन कर, तथा छोटे छोटे अक्षरों से युक्त पुस्तक को और छोटी छोटी कुशाओं की पवित्री को धारण करके, उस उस स्थानपर जाते हुए, उपनिषद्-प्रधान वेदों को जिह्वा के अग्रभाग से उच्चारण करके, सभी लोगों से पूजा प्राप्त करते थे ॥४४॥

श्रीव्रजराज के सभासद् हँसते हुए पूछने लगे कि—भीमसेन का भोजन तो बहुत ही दिखाई देता है, अतः उतना अन्न किस प्रकार सम्पन्न (प्राप्त) होता था ? ॥४५॥

दोनों दूत हँसते हुए बोले—उस समय भीमसेन का विशाल शरीर ही मानो भीमसेन के लिए देनेवालों के निकट चेष्टा करता था । अर्थात् भीमसेन का शरीर अपने योग्य भोजन के लिए दाताओं को स्वयं प्रेरित कर देता था, तात्पर्य—उसके लम्बे चौड़े शरीर को देखकर देनेवाले स्वयं उसके योग्य दे देते थे । अतः उसके खाने पीने के विवरण के कौतुक (तमाशे) को रहने दीजिये । वे तीनों तो परिपाटी की चाल से मगधदेश में जाकर, गिरिव्रज के नागरिकजनों द्वारा पूजा प्राप्तकर, माला एवं चन्दन आदि से युक्त होने के कारण, अत्यन्त अपूर्व वेष धारण करनेवाले विद्याधरों की तरह वहाँपर विचरण करने लगे ॥४६॥

उसके बाद अतिथिसेवा के समय ब्राह्मण का वेष धारण करनेवाले, एवं अपने लोकोत्तर प्रभाव से ही पुरवासी आदि सभी (अवरोधक) जनों को दूर भगानेवाले, एवं उस समय राजा जरासन्ध के अन्तःपुर में अपूर्व दिखाई देनेवाले वे तीनों ही जरासन्ध के आगे उपस्थित हो गये, श्रीकृष्ण उनके अग्रसर थे ॥४७॥

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उसके बाद मगधदेश के राजा जरासन्ध ने उनको ब्राह्मण जानकर, "मेरे समान कोई ब्राह्मणों का भक्त नहीं" इस प्रकार की ब्रह्मण्यता के गर्व से युक्त होकर भी अपने को गर्वरहित मानकर प्रमाण किया । उनको श्रीकृष्ण आदि ने भी आन्तरिक द्वेष से एवं बाहरी आशीर्वाद से उसको बढ़ाते हुए से बढ़ा दिया ॥४८॥

आशीर्वादपक्ष में अर्थ, यथा—हे जरासन्ध ! देखो, तुम श्वेतपत्रग (ब्रह्मा), एवं उनसे युक्त गदाभृत् (विष्णु), तथा भीम (महादेव) इन तीनों देवताओं के तेज से सभी बन्धुवर्गों में सुखका अनुभव करो । आन्तरिक द्वेषपक्ष में अर्थ, यथा—हे जरासन्ध ! तुम श्वेतपत्रग (अर्जुन), गदाभृत् (श्रीकृष्ण), एव भीमसेन

"सर्वे सहासमूचुः,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—'तदेवमाकर्ण्य निर्वर्ण्य च मागधस्तेषां देहं सन्देहमनैषीत् । एषु क्षात्रगात्रमात्रता तदुचितगम्भीरवीरस्वरपात्रता च दृश्यते, विप्रता तु विप्रलपिता मृश्यते । विप्रतिपत्तावस्यां न केवलं तत्तत्तामवलम्बामहे; किन्तु कलितावलोक-लोकतामपीति ॥५०॥ 'अथ विचारान्तरमप्यन्तश्चरमाचचार—

ब्राह्मणाश्चेत् क्षत्रिया वा मायिनः स्युरमी मया ।
अवश्याभ्युपगन्तव्या धर्मं शौर्यं च वाञ्छता ॥ इति ॥५१॥

'अथ दित्सन्मित्संश्च स्पष्टमाचष्ट,—के भवन्तः, कथं विप्रलिङ्गानुसारितायामपि बहिर्माल्यादिधारितेति ? ॥५२॥

'तत्र तु— रूपादिना विबुध्यापि यत् पृष्टं तत्कथा वृथा ।
इति व्यञ्जन् हरिः प्रोचे वयमभ्यागता इति ॥५३॥

किञ्च, दूषणं नापि विन्देत बहिर्माल्यादिभूषणम् ।
पुंसां लक्ष्मीनिवासानां तद्धि लक्ष्मीरितीष्यते ॥५४॥

'स तु प्राह,—भवतु, भो जनाः ! भोजनादिसामग्री-समग्रमेभ्यो दीयताम् ॥५५॥

इन तीनों के तेज से समस्त बन्धुसमूहों में सुखायस्व—सुष्ठु आकाशायस्व—शून्योभव, अर्थात् भली प्रकार आकाश की तरह शून्य हो जाओ, तात्पर्य—प्राणरहित हो जाओ ॥४९॥

सभी व्रजवासी हास्यपूर्वक बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—जरासन्ध इस प्रकार के वचन सुनकर एवं उन तीनों के शरीर को देखकर सन्देह को प्राप्त हो गया कि, इन तीनों ब्राह्मणों में केवल क्षत्रियों के से शरीर का भाव एवं क्षत्रियोचित गम्भीर वीर स्वरों के आधार का भाव दिखाई देता है, और ब्राह्मणपन का भाव तो विरोधोक्ति या निरर्थक बातों का सा विचार में आता है। हम केवल इस विरोधजनक प्रतीति में उस क्षत्रियजनोचित भाव का अवलम्बन नहीं कर रहे हैं, किन्तु पहले देखे हुए क्षत्रियजनों के भाव का भी इनमें अवलम्बन कर रहे हैं ॥५०॥

इस विचार के बाद जरासन्ध अपने मन में दूसरे विचार को भी करने लगा कि—ये तीनों व्यक्ति चाहे ब्राह्मण हों, या क्षत्रिय हों, अथवा कपटी हों तो भी धर्म एवं शूरवीरता को चाहनेवाले मेरे द्वारा आदर की दृष्टि से अवश्य ही अङ्गीकार करने योग्य हैं ॥५१॥

उसके बाद दान देने की इच्छा करता हुआ, एवं उनके स्वरूप के निर्णय की इच्छा करता हुआ जरासन्ध स्पष्ट बोला—आप सब कौन हैं ? एवं ब्राह्मणों के चिह्नों का अनुसरण करनेपर भी बाहर माला चन्दन आदि धारण करनेवाले का भाव क्यों अङ्गीकार किया है ? ॥५२॥

उन तीनों में से तो "हमारे रूप आदि से (हमको) समझ कर भी तुमने जो पूछा है, उसका कहना व्यर्थ है" इस भाव की सूचना करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा कि—हम तो अभ्यागत हैं ॥५३॥

किञ्च बाहरी माला चन्दन आदि भूषण दूषण को नहीं प्राप्त होता है। क्योंकि जो पुरुष लक्ष्मी (सम्पत्ति) के निवासस्थानस्वरूप हैं, उनका माला चन्दन आदि बाहरी जो भूषण है, वह उनकी लक्ष्मी (शोभा) ही कहा जाता है ॥५४॥

यह सुनकर जरासन्ध बोला—अच्छा, तो हे मेरे सेवको ! देखो, इन तीनों अभ्यागतों के लिये भोजन एवं आच्छादन आदि समस्त सामग्री समर्पण कर दो ॥५५॥

'श्रीकृष्ण उवाच,—
वयमभ्यागताः किन्तु नान्नमात्राभिकांक्षिणः। कस्त्वां तत्र च दूरस्थं तन्मात्रार्थमभिव्रजेत् ? ॥५६
हरिश्चन्द्रादयोऽप्यासंस्तादृशं सत्त्वमाश्रिताः। किं पुनस्त्वं जरासन्धस्तन्निर्बन्धः स्वयं भवान् ॥५७
भवतः समितिं द्रष्टुमेव तस्मादिहागताः। पित्रादिक्रमतः सा हि वित्रासा परिकीर्त्यते ॥५८

'तदेवमाकर्ण्य याचमानतायामपि सस्मितं भाषमाणस्य कृष्णस्य स्वप्राणपर्यन्तपर्येषणां पर्यालोच्य चाननुशोच्य तेषां विप्रेतरतामभिप्रेत्य च तामभ्युपेत्य ब्रह्मण्यदेवद्विषदग्रगण्यः स खलु ब्रह्मण्यम्मन्यस्तदिदं जगाद, (भा० १०।७२।२७)—'हे विप्रा व्रियतां कामो ददाम्यात्मशिरोऽपि वः' इति ॥५६॥

'श्रीकृष्णस्तु तद्वधतृष्णस्तद्वचनमेव निजशुभरचनशकुनमवधार्य निजकार्यमुवाच,—'एकेनैकेन युध्यस्व स्वयं त्वं यदि मन्यसे' इति ॥६०॥

"व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,–'ततश्च जरासन्धे सस्मितं सविस्मितं च कृतलोचनसन्धे स पुनरुवाच,—किं सवैलक्ष्यं लक्षयसि ? अस्मासु विप्रतां माऽभिप्रगाः।

श्रीकृष्ण बोले—हम अभ्यागत तो अवश्य हैं, किन्तु अन्नमात्र की चाहना करनेवाले नहीं हैं। क्योंकि अन्नमात्र पाने की इच्छावाला ऐसा कौन व्यक्ति होगा कि, जो अन्नमात्र के लिये इतनी दूर रहनेवाले तुम्हारे पास आयेगा ? ॥५६॥

और सत्यव्रतपरायण श्रीहरिश्चन्द्र आदि राजा भी उस प्रकार की दानवीरता के विशिष्ट पराक्रम का आश्रय लेनेवाले हो गये हैं। तुम जरासन्ध हो, अतः तुम्हारे विषय में तो फिर कहना ही क्या है ? क्योंकि तुम तो दानादि के विषय में स्वयं ही आग्रह प्रकाशित कर रहे हो ॥५७॥

इसलिए हम तीनों को आपकी समिति, अर्थात् सभा एवं युद्ध को देखने के लिए ही यहाँपर आये हैं। क्योंकि वह तुम्हारी समिति (सभा या युद्ध) तुम्हारे पिता एवं पितामह आदि के क्रम से वित्रासा, अर्थात् भयरहित या विशिष्ट भय से युक्त पुकारी जाती है ॥५८॥

इस प्रकार सुनकर माँगनेवाले के भाव में भी मन्दहासपूर्वक बोलते हुए श्रीकृष्ण के लिए अपने प्राणोंतक की भेंट या सेवा को विचार कर, एवं किसी विषय में भी न शोचकर, तथा इन तीनों के क्षत्रिय-भाव को जानकर, और अपने प्राण देनेतक की सेवा को अङ्गीकार करके ब्रह्मण्यदेव, अर्थात् ब्राह्मणों के भक्त श्रीकृष्ण के द्वेषियों में अग्रगण्य होकर भी, अपने को ब्राह्मणों का भक्त माननेवाला वह जरासन्ध यह बोला कि—हे ब्राह्मणो ! आप अपनी अभिलाषा को माँग लो। मैं आप सबके लिए अपने सिर को भी समर्पण करने को प्रस्तुत हूँ ॥५६॥

श्रीकृष्ण तो जरासन्ध के वध की तृष्णा से युक्त होकर, उसके वचन को ही अपने मङ्गल की रचना के सगुन को निश्चय करके अपने कार्यपर बोले—हे जरासन्ध ! तुम यदि मानते हो तो हम तीनों में से एक एक के साथ स्वयं युद्ध करो ॥६०॥

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उसके बाद जरासन्ध के मन्दहास्य-पूर्वक एवं विस्मयपूर्वक दृष्टिपात करनेपर श्रीकृष्ण पुनः बोले—हे जरासन्ध ! तुम हम सबको आश्चर्य-पूर्वक क्यों देख रहे हो ? हम सब में ब्राह्मणता के अभिप्राय को मत प्राप्त हो, अर्थात् ये ब्राह्मण हैं, इस

यस्मादन्नमात्रकांक्षिण एत इत्यवलम्बमानः शिरसोऽपि दानमुद्दिशसि ? वयं तु क्षत्रिया युद्धकांक्षिण इति तदपि त्वत्तो गृह्णीमस्तच्च युद्धशिक्षया, न तु भिक्षया कदाचिदपीति ॥६१॥

'पुनश्च सचित्रं द्वित्रवारं वीक्षमाणे मागधमहीक्षिति श्रीकृष्ण उवाच,—किं सन्दिग्धमीक्षसे ? परिचितिनिदिग्धमीक्षस्व । अयं खलु भीम इवाहङ्कारधामा परागव्यत्यस्तप्रत्यक्पुरुषः श्रीभीमः । असौ चाऽर्जुन इव कृतवीर्यप्रसवस्तत्सहोदरः श्रीमानर्जुनः । अहं तु हरिरिव सर्वदानवनागहारिकर्माऽनयोर्मातुलजन्मा स्वयं हरिरिति ॥६२॥

'जरासन्धस्तु कृतहासप्रबन्धः स्वस्मिन्नभीतिं तेषु चाऽनीतिं व्यञ्जयामास कथयामास च,—न त्वया मया कृतचयाद् भयान्मकरालयान्तर्वलितालयात्मना युद्धमुद्बुद्धमिष्यते, न च निर्बलतया वलितधनुरवलम्बनेन फल्गुगुणेन फाल्गुनेन । सर्वत्र लम्भितदरे तदीयसहोदरे वृकोदरे तु दरेवाऽऽदरेण मम मनः समरीयति ॥६३॥ 'श्रीकृष्णः सहर्षमुवाच,—

योऽयमस्मदुरीकारस्तमुरीकृतवान् भवान् । दृष्ट्वापि भीमतेजो यत् पुरस्तादन्धकायते ॥६४॥

भाव को मत समझो । क्योंकि जिस कारण से "ये अन्नमात्र की चाहनावाले हैं" इस भाव को अवलम्बन कर अपने मस्तक के देने को भी उद्देश्य बना रहे हो । हम तो युद्ध की इच्छावाले क्षत्रिय हैं, उस युद्ध को भी तुमसे ग्रहण करते हैं, वह भी युद्ध की शिक्षा के कारण ही ग्रहण करते हैं, किन्तु भिक्षा के कारण कदापि नहीं ॥६१॥

पुनः मगधनरेश जरासन्ध जब आश्चर्यपूर्वक दो तीनबार देखने लगा, तब श्रीकृष्ण बोले—तुम सन्देहपूर्वक क्यों देख रहे हो ? परिचय से युक्तभाव से देखो । यह मोटे शरीरवाला श्रीभीम है, भीम इव अर्थात् रुद्र की तरह जिसका स्थान या प्रभाव अहंकार ही है, तथा यह अपने प्रतिकूल पुरुषों को पीछे फेंक देता है । और यह भीमसेन का छोटा भाई श्रीमान् अर्जुन है, यह कृतवीर्य नामक राजा के पुत्र सहस्रबाहु अर्जुन की तरह पराक्रम को उत्पन्न करनेवाला है । और मैं तो सर्वदा नवीन हाथियों के अपहरणकारी कर्म करनेवाले सिंह की तरह सर्वदैत्यश्रेष्ठों के अपहरणकारी कर्म करनेवाला स्वयं हरिः, अर्थात् श्रीकृष्ण हूँ, एवं इन दोनों भाइयों के मामा श्रीवसुदेवजी से मेरा जन्म हुआ है ॥६२॥

यह सुनते ही जरासन्ध तो हास्य की रचना करके अपने में निर्भीकता, और उन तीनों में अनीति प्रगट करने लग गया, एवं कहने लगा कि—हे कृष्ण ! मैं तुम्हारे साथ युद्ध को जागृत करना नहीं चाहता हूँ, क्योंकि तुम्हारा स्वरूप तो यह है कि, तुमने मुझसे एकत्रित किये हुए भय के कारण समुद्र के भीतर अपना निवासस्थान बनाया है, अर्थात् ऐसे डरपोक से युद्ध करने में कोई प्रशंसा नहीं है । और निर्बलता के कारण धनुष् का अवलम्बन (आश्रय) लेनेवाले, अतः तुच्छ गुणवाले अर्जुन के साथ भी मैं युद्ध नहीं जागृत करना चाहता । हाँ, सर्वत्र भय को प्राप्त करानेवाले, एवं अर्जुन के सहोदर वृकोदर (भीम) के ऊपर तो मानो किञ्चित् आदर के कारण मेरा मन युद्ध करना चाहता है ॥६३॥

यह सुनकर श्रीकृष्ण हर्षपूर्वक बोले—हे जरासन्ध ! यह जो हमारा अंगीकार करना है, वह तो तुमने अङ्गीकार कर ही लिया, क्योंकि तुम तो भीमसेन के तेज को देखकर भी सामने ही अन्धे का सा आचरण कर रहे हो । श्लेषपक्षे—आगे ही शंकरजी का तेज देखकर भी अन्धक नामवाले असुर का सा आचरण कर रहे हो । तात्पर्य—शंकरजी के तेज को प्रत्यक्ष देखकर भी अन्धकासुर ने हठवश शंकरजी के साथ युद्ध करके जो फल पाया, वही फल भीमसेन के साथ युद्ध करने से तुम को दुर्लभ नहीं है ॥६४॥

'तदेवं स्थिते स तु शूरम्मन्यः स्व-मुखोद्यममृषोद्यं कर्तुमनन्यः संमदाद् गदाद्वयमानाय्य तत्र यथा तदिच्छामेकां भीमहस्ते प्रणाय्य रङ्गमङ्गनमङ्गति स्म ॥६५॥

'ततश्च गदादण्डाभ्यां परस्परं खण्डयन्तौ तौ वीराखण्डलतया वज्राभ्यामिव दृष्टौ, चटचटायमानाभ्यामच्यवमानाभ्यां ताभ्यां प्रहरन्तौ पुरुषकुञ्जरतया दन्ताभ्यामिव । 'तथा गदायुद्धोचितमण्डलैश्च भ्रमन्तौ रङ्गशोभितया ताण्डवैरिवेति तत्प्रकारे पराक्स्थिते मुष्टिप्रहारे च वैयर्थ्याय संस्थिते परस्परजयाय चिराय द्वयेऽप्यनवस्थिते दिवसविसरे च प्रस्थिते कृष्णदृशा भृशाप्तबलसीमापि भीमाभिधस्तद्विधमनाय तद्विधं नोपायमह्नाय ज्ञातवानिति कृष्णघटित-विटपविपाटनसंज्ञालब्धाऽवधारणः स परबलप्रबलशैवलवारदुर्वारवारणस्तं तथा विचकार, स्वजनानां सुजनानामपि सुखं चकार ॥६६॥ यथा—

पूर्वं पूर्वमिवात्र पातनवशादुर्वे तमुर्वीगतं
कुर्वन्नर्जुनपूर्वजः स सहसा धूर्वं स्तदुर्वोस्तटम् ।
कट्यन्तादथ पाट्यमाशु घटयन् पुष्णन्नटाचार्यतां
घाटाग्रं निटिलं तथा व्यघटयद् यद्वत् पटं वायकः ॥६७॥

अतएव ऐसी स्थिति में अपने को शूरवीर माननेवाला वह जरासन्ध तो अपने मुख की वाणी को सत्य करने के लिए अनन्य होकर, हर्षपूर्वक दो गदा लाकर, उन दोनों में से एक गदा को भीमसेन की इच्छा के अनुसार भीमसेन के हाथ में देकर रणाङ्गण में उतर पड़ा ॥६५॥

उसके बाद वे दोनों वीर गदारूप दण्डों के द्वारा परस्पर में खण्डित करते हुए वीरों के बीच में इन्द्र के भाव से दो वज्रों के द्वारा ही मानो पीडित करते हुए, लोगों को दिखाई दिये । और चटचट शब्द करती हुईं तथा हाथों से न गिरती हुईं उन दोनों गदाओं के द्वारा प्रहार करते हुए वे दोनों पुरुषरूप हाथी होने के नाते मानो दाँतों से ही प्रहार करते दिखाई दिये । तथा गदायुद्ध के उचित मण्डलाकारों से घूमते हुए वे दोनों रङ्गस्थल में शोभित होने के भाव से मानो ताण्डवनृत्य के भेदों से घूमते हुए दिखाई दिये । इस प्रकार की घूमाघूमी जब पीछे पड़ गयी एवं मुक्काओं का प्रहार जब व्यर्थ हो चला, तथा आपस की विजय के लिए बहुत समयतक दोनों ही जब चंचल हो चले, और दिनों का समूह जब बीत चला, अर्थात् भीम एवं जरासन्ध को युद्ध करते हुए २७ दिन जब बीत गये, तब भीम नामक वीर ने श्रीकृष्ण के दृष्टिपात से बल की विशेष पराकाष्ठा को प्राप्त करके भी, जरासन्ध के वध के लिए उस प्रकार के उपाय को झटपट नहीं जाना । अतः श्रीकृष्ण के द्वारा वृक्ष की शाखा के बीच से विदारण करने के इशारे से उसके वध के निश्चय को पाकर, शत्रु के बलरूप प्रबल शैवाल (काई) के समूह को फाड़ने के लिए अनिवार्य हाथी के समान हुए उस भीमसेन ने उस जरासन्ध को शाखा की तरह बीच से विदीर्ण कर दिया, एवं श्रीकृष्ण आदि स्वजन तथा साधुजनों के सुख को भी उत्पन्न कर दिया ॥६६॥

यथा-अर्जुन के बड़े भाई भीम ने इस युद्धस्थल में पहले पहले की भाँति गिराने के कारण, मारने के निमित्त उस जरासन्ध को भूमिशायी करते करते, उसकी दोनों जंघाओं के तट को तोड़ते हुए, पश्चात् कटि-प्रदेश से लेकर उसको शीघ्र ही फाड़ने योग्य घटित करते करते, एवं नटों के आचार्य के भाव को पुष्ट करते करते, उसकी घाटा (गरदन) के अग्रभाग एवं मस्तक के उस प्रकार से दो टूक कर दिये कि, जिस प्रकार दर्जी वस्त्र को फाड़ देता है ॥६७॥

'विघटयंस्तदिदमुद्घाटयामास च—

नाऽहं कृष्णाऽग्रजः कृष्णश्चाऽस्मि कृष्णाऽग्रजः परम् ।
कथं क्षमायां रक्षेयं त्वां क्षमायां च मागध ! ॥ इति ॥६८॥

'अथाऽसुरा हा जरासन्धेति, तथा सुरा हा जरासन्धमिति वदन्तः सर्वं हाहाकारस्याधारतां धारयामासुः ॥६९॥

'यत्र विजयाऽच्युतौ चात्मानौ विजयाच्युतौ मन्वानौ तं पूजयामासतुः ॥७०॥

'ततश्च विपक्षजनाऽतिक्रान्तिभ्रान्तिमिव संभृत्य तदन्तःपुरपथस्थितमश्वशस्त्रादिशस्तं कञ्चन मणिकाञ्चनरथं बलादात्मसात्कृत्य भीमार्जुनाभ्यां सममधिकरणीकृत्य च श्रीमाधवः सावधानतयाऽवतस्थे; यत्र तु रथे गरुडश्च तदा ध्वजतयाऽऽरूढः। 'यः खल्वसौ रथः शक्रादुपरिचरवसुना लब्धः क्रमाज्जरासन्धपित्रा यस्माल्लब्धाद् बृहद्रथतया प्रथना लब्धा' इति ॥७१

''व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः ?' ''दूतावूचतुः,—'ततश्च समवलोकितशोकानां तदीयलोकानां विशोककृते तत्पुत्रं सहदेवं स श्रीयदुदेवः सहभीमार्जुनः समभिषिषेच ॥७२॥

जरासन्ध की सन्धियों के जोड़ को खोलते हुए भीमसेन ने यह भाव भी प्रकाशित किया कि—हे जरासन्ध ! मैं श्रीकृष्ण का बड़ा भाई बलराम नहीं हूँ एवं कृष्ण भी नहीं हूँ, किन्तु अर्जुन का बड़ा भाई भीम हूँ। कृष्ण बलदेव ने तो तुझको क्षमा करके छोड़ दिया था, किन्तु मैं वैसा दयालु नहीं हूँ। अतः मैं क्षमारूप गुण में तुझको क्षमा में, अर्थात् पृथ्वी में कैसे रख सकता हूँ ? अर्थात् श्रीकृष्ण का शत्रु होने के कारण तुझको मार ही डालूँगा ॥६८॥

उसके बाद असुरों ने 'हा जरासन्ध !' इस प्रकार कहते कहते तथा देवताओं ने "हा जरासन्ध को धिक्कार है" इस प्रकार कहते कहते सबको हाहाकार का आधार बना दिया। यहाँपर 'हा' शब्द के दो अर्थ हैं, पहले का विषाद अर्थ है, दूसरे का निन्दा अर्थ है। अतः विषादार्थक 'हा' शब्द के योग्य में द्वितीया नहीं हुई, किन्तु दूसरे निन्दार्थक 'हा' शब्द के योग में द्वितीया हो गई ॥६९॥

जिस भीम की विजय में अर्जुन एवं श्रीकृष्ण अपने को विजय और अच्युत मानते हुए, अर्थात् हम दोनों ही विशिष्ट जय के आधार हैं, एवं हम दोनों संकल्प से कभी भी च्युत नहीं होते, यह मानकर भीमसेन की पूजा करने लगे ॥७०॥

उसके बाद शत्रुजनों के आक्रमण से मानो अस्थिरता सी धारण करके श्रीकृष्णचन्द्र, जरासन्ध के अन्तःपुर के मार्ग में खड़े हुए, एवं घोड़ा तथा शस्त्रादि से सजे हुए, मणि और कांचन से बने हुए, किसी रथ को बलपूर्वक अपने अधीन करके, भीम एवं अर्जुन के सहित उसपर चढ़कर सावधानीपूर्वक खड़े हो गये। उस समय जिस रथपर गरुडजी भी ध्वजा के आकार से चढ़ बैठे। यह जो रथ था वह रथ चन्द्रवंशीय उपरिचरवसु नामक राजा ने प्रसन्न हुए इन्द्र से प्राप्त किया था। अतः क्रम से प्राप्त हुए जिस रथ के कारण जरासन्ध के पिता ने 'बृहद्रथ' नाम से ख्याति पाई थी ॥७१॥

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ! दोनों दूत बोले—उसके बाद यदुदेव श्रीकृष्ण ने भीम एवं अर्जुन सहित जिनका शोक भली प्रकार देखा था, अतः जरासन्ध के सम्बन्धीलोगों के सुख विधानार्थ उसके पुत्र सहदेव को राजपदपर अभिषिक्त कर दिया ॥७२॥

'अथ जरासन्धकृतबन्धानां राज्ञां कृतानुसन्धः सत्यसन्धः स दयासिन्धुर्दीनबन्धुर्गिरिदरीसन्दिततद्बन्धगृहमेव विन्दमानस्तान् निष्कालयामास। निष्काल्य च निभाल्य चिरं सास्रगद्गदतया न किञ्चिद् गदति स्म ॥७३॥ यथा—

म्लानान् म्लानपटान् क्षुधातिविकटान् शुष्काननान् यन्त्रितां-
स्तान् पश्यन् हरिरस्रमस्रवदसौ पुत्रान् पितेवौरसान्।
एषा तस्य शुभक्रिया न तु परं तेषु स्फुटं साऽऽर्द्रतां
दध्रे किं त्वपरेषु च प्रतियुगं सर्वत्र च स्थायिषु ॥७४॥

'तदेवं तेषां तत्कृच्छ्रमेव तस्य करुणामृच्छत् कृच्छ्रकोटिमपि जिगाय ॥७५॥ ततश्च,

दृग्भ्यां रूपं त्वचांशुप्रथनमथ नसोर्युग्मकेनेष्टगन्धं
कर्णाभ्यां वाग्विलासं तमपि रसनया लेह्यवन्मिष्टमिष्टम्।
कंसारातेः स्पृशन्तः क्लमथमपजहुस्ते जरासन्धबद्धाः
श्रद्धानद्धास्तथाऽऽसन्नपि सपदि यथा सस्मरुर्नाऽऽत्मबन्धम् ॥'७६॥

"व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः?' "दूतावूचतुः,—'ततश्च करुणावरुणालयः स खलु

तदनन्तर सत्यप्रतिज्ञ-दयासिन्धु-दीनबन्धु उन श्रीकृष्ण ने, जरासन्ध ने जिनका बन्धन किया था, उन राजाओं का अनुसन्धान करके, पर्वत की गुफा में निबद्ध उन राजाओं के बन्धनागार को ही प्राप्त कर, उनको कारागार से बाहर निकाल लिया। बाहर निकाल कर उनको निहार कर भी बहुत देरतक सजलनयन एवं गद्गद होने के कारण स्पष्ट कुछ भी नहीं कहा ॥७३॥

यथा—पिता जिस प्रकार औरस पुत्रों को दीनदुःखी देखकर आँसू बहाता है, उसी प्रकार वे श्रीकृष्ण भी, हर्षरहित एवं मलिन वस्त्रोंवाले, भूख से अत्यन्त विकट अवस्थावाले, सूखे मुखवाले तथा यन्त्रणा को पानेवाले, उन राजाओं को देखते ही प्रेमाश्रु बहाने लगे। भक्तों के ऊपर स्नेहप्रदर्शन करनेवाली श्रीकृष्ण की यह मङ्गलमयी क्रिया केवल उन राजाओं के ऊपर ही स्पष्टरूप से आर्द्रता को, अर्थात् स्नेह के भाव को नहीं धारण कर रही थी, किन्तु प्रत्येक युग में सर्वत्र विद्यमान रहनेवाले श्रीध्रुव-प्रह्लाद-कर्दम, एवं गुहराज आदि अन्य भक्तोंपर भी यह मङ्गलमयी क्रिया स्नेह का भाव दिखाती रहती है ॥७४॥

इस प्रकार उन राजाओं के कारागारजनित उस कष्ट ने ही श्रीकृष्ण की करुणा को पाकर करोड़ों कष्टों को भी जीत लिया। श्लेषपक्षे—कृच्छ्र चान्द्रायण आदि व्रतजनित करोड़ों कष्टोंपर भी विजय पा ली यह भाव है ॥७५॥

उसके बाद जरासन्ध के द्वारा बँधे हुए उन राजाओं ने अपने अपने नेत्रों के द्वारा श्रीकृष्ण के रूप का स्पर्श कर, अर्थात् देखकर, अपनी त्वचा से श्रीकृष्ण की किरणों के विस्तार का स्पर्शकर, अपनी अपनी दोनों नासिकाओं के द्वारा उनकी इष्ट गन्ध को सूँघकर, एवं कानों के द्वारा उनके वाणी के विलास का अनुभव कर, और जिह्वा के द्वारा अत्यन्त मीठे आस्वादनीय पदार्थ की तरह उनका भी अनुभव करते करते कारागारजनित खेद को त्याग दिया। उसके बाद वे उस प्रकार की लोकोत्तर श्रद्धा से निबद्ध हो गये कि, जिस प्रकार अपने बन्धन को भी तत्काल भूल गये ॥७६॥

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उसके बाद करुणावरुणालय एवं

कमलालयस्तान् समलान् सपरिमलस्नपनादिना लालयितुं परिजनान् निजतरङ्गानिव प्रेरयामास ॥७७॥ 'ते तु—

नयनसलिलधारास्नानभाजः प्रमोद,-च्छविविलसितवस्त्रा रोमहर्षाङ्गभूषाः ।
मगधनृपतिबद्धाः पार्थिवा लब्धकृष्णा, गतपरिकृतितृष्णास्तुष्टुवुः सुष्ठु कृष्णम् ॥७८॥

'तदा च तदाज्ञावशंवदा लब्धसंमदा ज्ञाताऽधिकतदीयदया राज्ञां समुदयाः स्नपनादिसमासादितरोचनया भोजनयोजनया राजदुदयास्तदङ्गीकारसाङ्गीकृताभ्युदयास्तेन विहापितचतुरङ्गसेनादिसङ्गितया गृहाय विहापयामासिरे ॥७९॥

'यथापूर्ववैभवादपूर्वतया पश्यद्भिस्तेषां परिषदि निवसद्भिरन्यैरपि सद्भिश्चिरादेव परिचिचियिरे । श्रीगोविन्दाल्लब्धकृपाणां नृपाणां तेषां मुखादेव तदीयसुखास्वादमासादयद्भिस्तैस्तैर्मैत्रीमद्भिः समुद्भवदद्भुतभाग्यतया मेनिरे च ॥'८०॥

"व्रजराज उवाच,—'इतः परं परं तेषां कृतब्राह्मणवेषाणां कुरुषु पुरुप्रवेशभव्यं कथ्यताम् ॥'८१

"दूतावूचतुः,—'अथ ते पथि विसृष्टान् निजान् परिच्छदान् सहदेवेन भक्त्युत्सृष्टानप्यन्यान् संसृष्टान् विधाय शक्रप्रस्थाय प्रस्थानमासेदुः ॥८२॥

लक्ष्मी के निवासस्वरूप श्रीकृष्ण ने, उन मलिन राजाओं को सुगन्धित स्नानीय जल आदि से स्नानादि के द्वारा सेवित करने के लिए, सेवकों को अपनी तरङ्गों की तरह प्रेरित कर दिया ॥७७॥

जरासन्ध के द्वारा कारागार में बँधे हुए वे राजा तो आनन्दजनित अश्रुधारा में स्नान कर, एवं हर्ष की प्रतिछवि से ही उज्ज्वल वस्त्रोंवाले होकर, तथा रोमाञ्चों के द्वारा ही अङ्गों में विभूषित होकर, श्रीकृष्ण को प्राप्त कर, अपने परिकर की तृष्णा से रहित होकर, सुन्दररूप से श्रीकृष्ण की स्तुति करने लग गये ॥७८॥

और उस समय श्रीकृष्ण की आज्ञा के अधीन रहनेवाले, अतएव हर्ष को प्राप्त करनेवाले, एवं अपने ऊपर अधिकरूप से श्रीकृष्ण की दया को समझनेवाले वे राजाओं के समुदाय, स्नानादि के द्वारा प्राप्त हुई शोभा के द्वारा, एवं भोजन की योजना के द्वारा कान्ति से प्रदीप्त होकर, तथा श्रीकृष्ण के अङ्गीकार करने के कारण सम्पूर्ण अभ्युदय से युक्त होकर, श्रीकृष्ण के द्वारा भेजी हुई चतुरङ्गिणी सेना आदि के सङ्गी होकर, अपने अपने घर को भिजवा दिये ॥७९॥

घर में पहुँचनेपर उन राजाओं की सभा में निवास करनेवाले जनों ने तथा अन्य सज्जनों ने भी, पहले की तरह वैभव होने के कारण आश्चर्यपूर्वक देखते हुए, बहुत देर के बाद ही उन राजाओं को पहिचाना । और श्रीगोविन्द से कृपा को प्राप्त करनेवाले उन राजाओं के मुख से ही, श्रीकृष्णसम्बन्धी सुख का आस्वाद प्राप्त करनेवाले, अतएव उन राजाओं के साथ सच्ची मित्रता करनेवाले, समस्त बन्धुओं ने भली प्रकार उत्पन्न हुए अद्भुत भाग्य से युक्त भी मान लिया ॥८०॥

श्रीव्रजराज बोले—इस प्रसङ्ग के आगे तो ब्राह्मणों का वेष बनानेवाले उन तीनों जनों का कुरुप्रदेश में विशेष प्रवेशरूप मङ्गल ही वर्णन करो ॥८१॥

दोनों दूत बोले—उसके बाद उन तीनों ने मार्ग में छोड़े हुए हाथी, घोड़ा, रथ आदि अपने सैनिक उपकरणों को और जरासन्ध के पुत्र सहदेव के द्वारा भक्तिपूर्वक दिये हुए अन्य उपकरणों को सम्मिलित करके इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) के लिए यात्रा कर दी ॥८२॥

'आसद्य प्रियसदनं त एवमिन्द्र,-प्रस्थाख्यं स्फुटमधमन् प्रति स्वशंखान् ।
येषु द्वौ निजनिजमाश्रयं तमेकं, बिभ्राणौ जगति निबभ्रतुः श्रवांसि ॥८३॥

अथाऽऽगतैर्मुररिपु-भीम-जिष्णुभिः, स्फुटं जरातनयनृपाऽसुजिष्णुभिः ।
निजाऽऽगतिश्रवणजशर्मपूरिता, नृपत्युपाव्रजनमवाप्य पूरिता ॥८४॥

गांभीर्यं धर्मसूनोरघरिपुरचितां शृण्वतस्तत्र मैत्रीं
तस्याः श्लाघामथावृण्वति वरबलवानावृणोद् वाष्पपूरः ।
पूर्वं साधारणानां गुणगणगणनामाविशेदुत्तरस्तत्-
प्रेमप्राबल्यभाजामथ कथमनयोः साम्यमृच्छेदवाम्यम् ?' ॥८५॥

"व्रजराज उवाच,—'केन पथा मगधान् पथन्ति स्म ते ?' "दूतावूचतुः,—'अन्तर्वेदि-मध्यमध्यासीनेन दूरसम्बन्धेन, यस्मान्नित्यस्थितय एव भवतां स्थानायाऽऽप्रस्थातव्यं तेन ॥'८६

इस प्रकार उन्होंने इन्द्रप्रस्थ नामक अपने प्रिय भवन को प्राप्त करके प्रत्येक ने स्पष्ट ही अपने अपने शंख बजा दिये। श्रीकृष्ण भीम आदि जिन तीनों व्यक्तियों में से या उनके पाञ्चजन्य, पौण्ड्र, देवदत्त नामक तीनों शंखों में से, दोनों ने अर्थात् भीम अर्जुन ने या पौण्ड्र, देवदत्त नामक शंखों ने एकमात्र श्रीकृष्ण को या उनके पाञ्चजन्य नामक शंख को अपना अपना आश्रय धारण कर, जगत्‌भर में अपने यश को या जगत्-भर के कानों को परिपूर्ण कर किया। अर्थात् भीम अर्जुन दोनों ने तो श्रीकृष्ण का सहारा लेकर, अपने यश को जगत् में भर दिया, एवं भीम तथा अर्जुन इन दोनों के पौण्ड्र एवं देवदत्त नामक दोनों शंखों ने भी श्रीकृष्ण के पाञ्चजन्य नामक शंख का सहारा लेकर, संसार में सबके कान अपने शब्द से भर दिये ॥८३॥

उसके बाद आनेवाले एवं जरासन्ध के प्राणोंपर स्पष्ट ही विजय पानेवाले श्रीकृष्ण, भीम, अर्जुन इन तीनों ने राजा युधिष्ठिर के निकट आगमन को प्राप्त करके, अपने आगमन के श्रवण से उत्पन्न हुए सुख से परिपूर्ण पुरी को प्राप्त कर लिया ॥८४॥

उस जरासन्ध की विजय के प्रसङ्ग में श्रीकृष्ण के द्वारा रची गई मित्रता, अर्थात् सहायता को सुननेवाले युधिष्ठिरजी का गंभीरतारूप गुण जब उस मित्रता की प्रशंसा को ढकने लग गया, तब उससे महान् बलवान् अश्रुप्रवाह ने उस गंभीरता को भी ढक लिया। यहाँपर सिद्धान्त यह है कि, पहला जो गम्भीरतारूप गुण है, वह तो साधारण जनों के गुणगणों की गणना में प्रवेश कर सकता है, अतः चंचल नहीं हो पाता। उससे ऊपर का अश्रुप्रवाहरूप जो गुण है, वह श्रीकृष्णसम्बन्धी प्रेम की प्रबलता का सेवन करनेवाले सर्वोत्तम जनों के गुणगणों की गणना में प्रवेश कर सकता है, अतः प्रकाशित हो जाता है। अतएव गम्भीरता एवं अश्रुप्रवाह इन दोनों की समानता सरलता को कैसे प्राप्त कर सकती है ? कदापि नहीं। अर्थात् इन दोनों की समानता किसी प्रकार नहीं हो सकती है ॥८५॥

श्रीव्रजराज बोले—(यदि दिल्ली से मगधदेश में जाना था तो वृन्दावन उसके बीच में ही पड़ता, तब) वे श्रीकृष्ण आदि मगधदेश में कौन से मार्ग से गये थे ? (वर्तमान दिल्ली को इन्द्रप्रस्थ कहते हैं, वह वृन्दावन से वायु कोण में है। वर्तमान पटना, मुंगेर आदि प्रदेश को मगधदेश कहते हैं। यह वृन्दावन से पूर्व की ओर है, अतः दिल्ली से मगधदेश में जाते समय वृन्दावन में होकर जाना सम्भव था। यहाँ होकर क्यों नहीं गये ? इसी भाव से व्रजराज का प्रश्न है) दोनों दूत बोले—गंगा यमुना की बीच की भूमि को

"सर्वेऽप्यूचुः,—'हन्त ! हन्त ! सन्ततमेतदाकर्ण्यते परं परन्तु न निर्वर्ण्यते ।' "दूतावूचतुः,—'श्रीमदुद्धवमतेनेदं गम्यते । अत्र नातिविलम्बः स्यादिति । तदेतावद्वृत्तान्तं वृत्तान्तमासद्य सद्य एव ततश्चलितवन्तावत्राऽऽगच्छाव' इति ॥"८७॥

दूत-कथानुकथनानन्तरं स्निग्धकण्ठ उवाच,—

"मा त्वरां कुरु गोपेश ! कृष्णाऽऽगतिकथां प्रति ।
भ्राजते सोऽयमागम्य तत्कथाप्यागमिष्यति ॥ इति ॥८८॥

"अथ श्रीराधामाधव-सदसि सोऽयं शंसति स्म, भवतीषु च श्रीमत उद्धवस्य सन्दिष्ट-मुद्बुद्धमासीत् ॥८९॥

"प्रतिश्रुत् कंसारेः कुरुषु किल यासीदधिभव-
त्यसौ तस्याप्यन्तर्वसति तदिदं निर्णयपदम् ।
यदाऽहं मन्त्रान्तर्भवदभिधया किञ्चिदवदं
तदा तस्यान्तःस्थं किमपि नयनादाकलि मया ॥ इति ॥९०॥

अन्तर्वेदी कहते हैं, अतः उस अन्तर्वेदी के बीच में वर्तमान एवं वृन्दावन से दूर सम्बन्ध रखनेवाले मार्ग से श्रीकृष्णादि मगध में गये थे (अतः वृन्दावन नहीं आ सके), क्योंकि आपके स्थान व्रज के लिए श्रीकृष्ण का सर्वतोभाव से प्रस्थान तो व्रज में नित्य रहने के लिए ही होगा ॥८६॥

सभी व्रजवासी बोले—हाय ! बड़े खेद की बात है कि, "श्रीकृष्ण व्रज में आयेंगे" इस समाचार को तो हम निरन्तर सुनते आ रहे हैं, परन्तु केवल उनके आगमन को नहीं देख रहे हैं। दोनों दूत बोले—श्रीमान् उद्धवजी के मत से यह जाना जाता है कि, श्रीकृष्ण के आगमन में अब अतिशय विलम्ब नहीं होगा। अतएव हम दोनों दूत तो यहाँतक के समस्त वृत्तान्त को लेकर वहाँ से शीघ्र ही चल दिये, और यहाँ चले आये हैं ॥८७॥

दूतों की कथा के अनुकथन के पीछे स्निग्धकण्ठ स्वयं बोला कि—हे गोपराज ! आप श्रीकृष्ण के आगमन की कथा के (श्रवण के) प्रति इतनी शीघ्रता न करें। क्योंकि वे ही ये श्रीकृष्ण सदा के लिये व्रज में आकर आपके निकट ही तो विराजमान हैं। और हमारे कथाप्रसङ्ग में उनके व्रज में आगमन की कथा भी क्रमशः आ जायगी ॥८८॥

अनन्तर रात्रि में होनेवाली श्रीराधा-माधव की सभा में स्निग्धकण्ठ ने कहा कि—हे श्रीमति राधिके ! देखो, आप सब गोपियों के निकट तो श्रीमान् उद्धवजी का सन्देश ही उस समय जागृत था ॥८९

यथा—हे व्रजाङ्गनाओ ! देखो, कुरुक्षेत्र में आप सबके निकट श्रीकृष्ण की (व्रज में आने की) जो प्रतिज्ञा थी, वह उनके हृदय में भी विद्यमान है। अतः यह बात निर्णय का स्थान है। और जिस समय राजसूय यज्ञ एवं जरासन्ध-वध इन दोनों कार्यों के विचार विमर्श में श्रीकृष्ण ने मुझे नियुक्त किया था, तब मैंने उस विचार के बीच में आप सबके नाम के द्वारा (निश्चय करने के ध्येय से) कुछ कहा था। उस समय श्रीकृष्ण के अन्तःकरण में विद्यमान आप सबके ऊपर जो कोई अनिर्वचनीय प्रेम था, उसको मैंने उनके नेत्रों से ही देख लिया। अतः आप सब किसी प्रकार की चिन्ता न करें ॥९०॥

"तदेवं लब्धभवभीतिभिर्जनताभिर्ज्ञानमिव श्रवसा तदेतदनुभवन्तीभिर्भवतीभिः कृष्ण-लाभाऽसंभावना-दुःखमभिभवन्तीभिः स्थितम् । संप्रति तु तस्य फलमिवेदं फलति स्म ॥६१॥

तथा हि— आसीत् पुरा विरहतापरविर्मुरारे,-र्यस्त्वत्कमङ्गमतिशोषयतीति वित्तः ।
सोऽयं तदीक्षणघनैरुलपाभमार्द्री,-कुर्वन् प्रफुल्लयति तद् वृषभानुपुत्रि ! ॥"६२॥

तदेवं सुखप्रथकयोः कथकयोः सङ्गतसद्मपथयोरनङ्गनिशान्तस्यान्तः श्रीराधिकाकान्तः कान्तया सह विश्रान्तवान् ॥६३॥

इति श्रीश्रीमदुत्तरगोपालचम्पूमनु जरासन्धवधो राजन्यमोचनं च
नाम षड्विंशं पूरणम् ॥२६॥

अथ सप्तविंशं पूरणम्

राजसूययज्ञकथनम्

अथ प्रातरनन्तरकथां मधुकण्ठः सुष्ठु मधुवत् परिवेषयामास । दिनान्तरसंभूतौ तु दूतौ व्रजराजेनाऽनुयुक्तौ युक्तौ कथान्तरमनु रसान्तरं प्रथयामासतुः,—॥१॥

अतएव संसार के जन्ममरणरूप भय से डरी हुई जनता, जैसे ज्ञान का अनुभव करके संसार के भय से छूट जाती है, उसी प्रकार अपने कानों के द्वारा सुनकर, श्रीकृष्ण के प्रेम का अनुभव करते करते, आप सब गोपियाँ पहले श्रीकृष्ण के लाभ की असम्भावनामय दुःख को दूर करते हुए स्थित रहीं, किन्तु अब तो उस अनुभव का यह फल ही मानो फलित हो गया है ॥६१॥

देखो, हे वृषभानुनन्दिनि ! "पहले श्रीकृष्ण का जो विरहतापरूप सूर्य आपके कोमल अङ्ग को विशेष सुखा रहा है" इस प्रकार विख्यात था । किन्तु अब वही विरहतापरूप सूर्य श्रीकृष्ण की दृष्टिरूप मेघों के द्वारा उलपाभं (बहुत सी डालियोंवाली लता के समान) आपके उसी अङ्ग को स्निग्ध करता हुआ प्रफुल्लित कर रहा है ॥६२॥

इस प्रकार सुख का विस्तार करनेवाले दोनों कथावाचक जब अपने घर के मार्ग में सम्मिलित हो गये, तब श्रीराधाकान्त ने अपनी कान्ता श्रीराधिका के साथ मदनगृह के मध्य में विश्राम किया ॥६३॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रिविरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीमदुत्तरगोपालचम्पूकाव्ये जरासन्धवधो राजन्यमोचनं च नाम
षड्विंशं पूरणं सम्पूर्णम् ॥२६॥

सत्ताईसवाँ पूरण

राजसूय यज्ञ की कथा

इस सत्ताईसवें पूरण में राजसूय यज्ञ एवं तदन्तर्गत श्रीकृष्णकर्तृक शिशुपाल-वध वर्णित होगा । अनन्तर मधुकण्ठ प्रातःकाल जरासन्ध के वध के आगे की कथा को मधु की तरह भली प्रकार परोसने लग गया, अर्थात् कहने लगा कि, दूसरे दिन दो दूत व्रज में आकर सम्मिलित हो गये । श्रीव्रजराज के पूछनेपर उन निपुण दूतों ने दूसरी कथा को लक्ष्य करके दूसरे रस का विस्तार आरम्भ कर दिया ॥१॥

'अथ मयनिर्मितसभायां सभायां भासमानाः समानाशयाः परस्परं परं परं परिपरंपरागतपरिहासभासनमुखेन सुखेन वृष्णिपाण्डुवंशधरास्तथा द्विजवराश्चिराद् विराजन्ते स्म । तत्र विनयेन नयेन चाधिष्ठितः श्रीयुधिष्ठिरः श्रीकृष्णं तुष्टात्मा तुष्टाव,—॥२॥

यत्र क्वचन निजाज्ञां, प्रथयितुमीशश्चिनोति सद्भक्तान् ।
त्वं पुनरधीश ! तेषां, याञ्चामाज्ञां विदन् मुदं यासि ॥३॥
भक्तेष्वनुगतिहेतो,-स्तव न हि तेजोविपत्तिः स्यात् ।
भजतां द्रवतां नान्यद्, विधुतन्मणिवृत्तमप्येवम् ॥४॥
तस्माद्भवदनुगमना,-देवाऽस्मासु प्रकृष्टता दृष्टा ।
कमलेष्विव रवियोगा,-दाज्ञापय तद् यदस्ति कृत्यं नः ॥५॥

'अथ श्रीकृष्णश्च तदेतदात्मकृतप्रतिज्ञाय यज्ञाय विज्ञाय स्वयमनुमोदनाद् विनुनोद ॥६॥ यथा—

मामिह भजनीयं वा, भक्तं वा त्वं विचारयसि ।
वैदिकमथवा लौकिक,-मखिलं तव कर्म मच्छर्म ॥७॥

'अथ राजा राजदञ्जलितया तदिदं व्यानञ्ज,—

एकैकस्यापि येषां गतिरतिविरला दिव्यपि स्वेन तेऽमी
लब्धास्त्वल्लाभलुब्धा मम सदसि विभो ! भूसुराः के नृपाद्याः ? ।

उसके बाद मयदानव के द्वारा बनाई हुई प्रभा से युक्त जो सभा थी, उसमें यदुवंशधर श्रीकृष्णादि एवं पाण्डुवंशधर श्रीयुधिष्ठिर आदि तथा विप्रवर श्रीधौम्य आदि बहुत देर से प्रकाशमान होकर विराजमान थे । उन सभी का अभिप्राय एक समान था, वे सभी परस्पर में एक एक के प्रति परम्परा से आये हुए हास्य परिहास के प्रकाश आदि सुख से शोभा पारहे थे । उन सबमें से विनय एवं नीति से युक्त श्रीयुधिष्ठिरजी हृष्टचित्त होकर श्रीकृष्ण की स्तुति करने लग गये—॥२॥

यथा—ईश्वर जिस किसी के ऊपर अपनी आज्ञा को विख्यात करने के लिये सच्चे भक्तों को चुनता रहता है, किन्तु हे सर्वेश्वर ! आप तो इसके विपरीत उन सच्चे भक्तों की प्रार्थना को भी आज्ञारूप से जानते हुए हर्ष को प्राप्त हो जाते हो, आप में यही विचित्रता है ॥३॥

भक्तों का अनुगमन करने के कारण, अर्थात् उनकी अधीनता को अङ्गीकार करनेपर भी, आपके तेज की हानि नहीं हो सकती है । क्योंकि चन्द्र एवं चन्द्रकान्तमणि का चरित्र भी इसी प्रकार का है कि, चन्द्रमा को देखकर चन्द्रकान्तमणि के द्रवीभूत हो जानेपर भी चन्द्रमा के तेज की हानि नहीं होती है ॥४॥

इसलिए सूर्य के सम्बन्ध से कमलों में जिस प्रकार श्रेष्ठता देखी जाती है, उसी प्रकार आपके अनुगमन से ही हम लोगों में श्रेष्ठता देखी जा रही है । अतः हमारा जो कर्तव्य है आप उसकी आज्ञा दीजिये ॥५॥

उसके बाद श्रीकृष्ण भी जिस यज्ञ के सम्बन्ध में स्वयं प्रतिज्ञा कर चुके थे, उसी यज्ञ के निमित्त युधिष्ठिरजी के स्वयं अनुमोदन से विनोद करने लग गये, या विशेष प्रेरित करने लग गये ॥६॥

हे युधिष्ठिर ! तुम इस यज्ञ में मुझको भजनीय ईश्वर के रूप से विचारते हो, अथवा भक्तरूप से विचारते हो, सो ठीक है । अतः तुम्हारा वैदिक अथवा लौकिक समस्त कर्म ही मेरे लिये सुखकर है ॥७॥

पश्चात् राजा युधिष्ठिर ने मनोहर अंजलि बाँध कर यह भाव व्यक्त किया—हे प्रभो ! देखो,

तस्मादेवैष यज्ञस्तव रुचिविषयश्चेदमीषामपि स्या-
दस्माकं सूत्रयन्त्रप्रतिकृतिनिभता युष्मदेवात्र सिद्धिः ॥८॥

'अथ श्रीकृष्ण उवाच,—मयि निरुपधि निरवधि च स्निग्धा एते तत्रभवन्तस्तथा भवन्तश्च तद्भावदिग्धा इति परस्परं निदिग्धा भवितुमर्हन्तीति यथायुक्तं प्रयुक्तमातन्वन्तु ॥९॥

'अथ समाजान्वित एव राजा राजाऽऽसनादुत्थाय बद्धाञ्जलितानद्धां वाचमव्याजं व्याजहार,—

यथा सभाऽस्माकमियं भवद्विधै,-रङ्गीकृताङ्गीकरणाद् बकीरिपोः ।
तथा वयं चाङ्ग तदङ्गतां गता, भावत्कमङ्गीकरणं भजेमहि ॥१०॥

'मुनयश्च पूर्वोपेन्द्रसहितां सुधर्मामपि विजयमानां पूर्वोपेन्द्रसहितां सुधर्मामिमां धर्मसुतविराजमानराजानां सभां सभावं युगपदुत्थितामालोच्य संकोच्यमानमनस्तया समुत्थितवन्तः ॥'११॥

"अथ व्रजराज उवाच,—'के ते ?' "दूतावूचतुः,—'कति वा ते गणनयाऽऽततीकर्तव्याः ? यत्र वसिष्ठ-वामदेव-त्रिताऽसित-कश्यप-भरद्वाज-गौतम-पराशर-मैत्रेयाः, यत्र च साक्षान्नारायणः स्वयमेव बादरायणस्तत्परायणतामेव दधते स्म ॥'१२॥

श्रीवसिष्ठ आदि जिन ब्राह्मणों में से किसी एक एक ब्राह्मण का भी पुनः स्वर्ग में भी गमन बहुत कम हो पाता है, वे ही ये श्रीवसिष्ठ आदि अनेक ब्रह्मर्षि मेरी सभा में आपके लाभ से लुब्ध हुए मैंने अनायास प्राप्त कर लिये हैं, फिर अनेक देशों के भूपति आदि बिचारे कौन गिनती में हैं ? अर्थात् यह सौभाग्य आपकी अहैतुकी कृपा का ही फल है। इसलिए यह राजसूय यज्ञ यदि आपकी रुचि का विषय बन जायगा तो, ब्रह्मर्षि प्रभृति इन सब जनों की भी रुचि का विषय बन जायगा। तब तो इस यज्ञ में सूत्रयन्त्र की मूर्ति के समान भाववाली हमारी सिद्धि आपके द्वारा ही होगी। तात्पर्य—हमारी स्वतन्त्रता कुछ भी न होगी। क्योंकि हम तो कठपुतली की तरह सदैव परतन्त्र हैं, एवं आप सूत्रधार की तरह सर्वदा स्वतन्त्र हो ॥८॥

श्रीकृष्ण बोले—ये पूज्यपाद श्रीवसिष्ठ आदि सभी ब्रह्मर्षिगण मेरे ऊपर निष्कपटभाव से असीम स्नेह करते हैं, तथा आप सब भी इन ब्रह्मर्षियों के भाव से भरपूर हो। अतः परस्पर वृद्धि को प्राप्त होने योग्य हो। इसलिए यथोचित प्रयोग का विस्तार कीजिये ॥९॥

उसके बाद राजा युधिष्ठिर अपने समाज के सहित राजसिंहासन से उठकर, जुड़े हुए हाथों के भाव से बँधी हुई वाणी को निश्छलतापूर्वक बोले—हे सभासदो ! श्रीकृष्ण के अङ्गीकार करने के कारण आप जैसे महानुभावों ने हमारी यह सभा जिस प्रकार अङ्गीकार की है, उसी प्रकार हम भी इस सभा के अङ्गभाव को प्राप्त होकर आप सबके अङ्गीकार का सत्कार करते हैं ॥१०॥

यह सुनकर मुनिजन भी पहले उपेन्द्र (वामन भगवान्) के सहित सुधर्मा नामक इन्द्र की सभा को पराजित करनेवाली, एवं अब अपूर्व उपेन्द्र (श्रीकृष्ण) से युक्त, अतः सुन्दर धर्म से युक्त, तथा श्रीयुधिष्ठिरजी से विराजमान राजाओं की इस सभा को भावपूर्वक एकसाथ खड़ी देखकर, संकुचित हुए मन के भावपूर्वक खड़े हो गये ॥११॥

उसके बाद श्रीव्रजराज बोले—वे मुनि कौन कौन से थे ? दोनों दूत बोले—वे मुनिजन गिनती के द्वारा कितने विस्तारित किये जा सकते हैं ? अर्थात् नहीं। क्योंकि जिस सभा में वसिष्ठ, वामदेव, त्रित,

"अथ सर्वेऽप्यूचुः—'नाश्चर्यमिदं तस्य धर्मचर्यस्य राजवर्यस्य, यः खलु तदपि नीलकमल-कमला-कमनीयमुखमयूखं जुषमाणः स्वकमुखसुषमाभिः सर्वमेव सुखयति ।।'१३।।

"इति निगदमाकर्ण्य व्रजराजस्तु गद्गदगदवशंवदतया क्षणमगदन् कथमपि जगाद,—'ततः किं व्यवजहार व्याजहार वा धर्मजहुराजः ?' ।।१४।।

"दूतावूचतुः,—दण्डवदखण्डं प्रणिपत्य निज-मुकुटरत्नमण्डलेन तेषां चरणखरदण्ड-मण्डलं मण्डयामास; प्रार्थयामास च पार्थस्तान् ब्रह्मभूयंगतान् राजसूयविधिसिद्धिसमर्थनम् ।।'१५

'ते तु युगपज्जगदुः,—

'नित्यं यस्यायमर्थो द्रुहिण-शिवमुख-प्रार्थनार्हः स्वमुच्चै-
र्जानन् कुर्वंश्च चित्रं सुखमुपलभते तस्य किं तेऽनवाप्यम् ।
तत्रापि प्रार्थनीयास्तव वयमिति नाऽपूर्वमस्य त्वपूर्वं
यत् कर्मोपज्ञमस्ति द्विजकुलविषया सत्कृतिः सत्कृतीनाम् ।।१६।।

सांदृष्टिकं यथा दृष्टिविषयीक्रियते फलम् । उदर्कश्च तथा तर्कगोचरीभवति स्फुटम् ।।१७।।

असित, कश्यप, भरद्वाज, गौतम, पराशर, एवं मैत्रेयजी तथा जिस सभा में साक्षात् नारायणस्वरूप श्रीवेदव्यासजी स्वयं ही युधिष्ठिर की तत्परता को ही धारण कर रहे थे, अथवा युधिष्ठिर के अभीष्टभाव को पुष्ट कर रहे थे ।।१२।।

अनन्तर सभी व्रजवासी बोले—धर्म के अनुष्ठाता राजश्रेष्ठ श्रीयुधिष्ठिरजी के विषय में यह आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि जो युधिष्ठिर नीलकमल एवं कमला (लक्ष्मी) से भी मनोहर मुखवाले श्रीकृष्ण की उस किरण को भी सेवन करते हुए अपने मुख की परमशोभाओं के द्वारा सभी को सुखी कर रहे हैं ।।१३।।

श्रीव्रजराज तो इस प्रकार के स्पष्ट कहने को सुनकर गद्गदतारूपी रोग के वशीभूत होने के कारण क्षणभर कुछ न कहते हुए, पुनः किसी प्रकार स्पष्ट बोले कि—उसके बाद धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर ने क्या व्यवहार किया एवं क्या कहा ? ।।१४।।

दोनों दूत बोले—श्रीयुधिष्ठिरजी ने साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करके, अपने मुकुट में स्थित मणिमण्डल के द्वारा, श्रीवसिष्ठ आदि उन महर्षिजनों के चरणकमलसमूह को सुशोभित कर दिया, और ब्रह्मभाव को प्राप्त हुए उन मुनियों के प्रति राजसूय यज्ञ की विधि की सिद्धि के समर्थन की प्रार्थना की ।।१५।।

श्रीवसिष्ठ आदि वे महर्षिजन तो एकसाथ बोले कि—हे राजन् ! देखो, तुम्हारा यह उद्देश्य ब्रह्मा शिव प्रभृति देवताओं के भी नित्य प्रार्थना के योग्य है। और जो तुम अपने को उत्तमरूप से जानते हुए भी आश्चर्य करते हुए सुख को प्राप्त कर रहे हो। अतः ऐसे गुणोंवाले तुम्हारे लिए कौन सी वस्तु अप्राप्य है ? अर्थात् सब कुछ सुलभ है। इतनेपर भी हम तुम्हारे प्रार्थना करने योग्य हैं, यह कोई आश्चर्य नहीं है। आश्चर्य तो यही है कि, जिसके कर्म से पहले ज्ञान है, क्योंकि सत्कार्य करनेवाले व्यक्तियों का द्विजकुल-विषयक सत्कार स्वाभाविक धर्म होता है ।।१६।।

और सांदृष्टिकफल अर्थात् व्यापार के बाद तत्काल होनेवाला फल जिस प्रकार दृष्टिगोचर किया जाता है, उसी प्रकार उदर्कफल अर्थात् उत्तरकाल में होनेवाला फल भी विचार के द्वारा स्पष्ट ही प्रत्यक्ष हो जाता है ।।१७।।

'तस्माद्भवन्तः स्वस्थीभवन्तः प्रतिस्वमासनमध्यमध्यासताम्, पश्चाद्विचारमाचराम ॥'१८॥

"व्रजराज उवाच,—'देवर्षिः कथमिवर्षिगणनायां न प्रस्तुतः?' "दूतावूचतुः,—'स खलु श्रीकृष्णलीलाकुतूहलमात्रशीलात्मतया विलसति, न तु कर्माङ्गतया वसति' इति ॥१९॥

"व्रजराजः सनिश्वासमुवाच,—'ततस्ततः?' "दूतावूचतुः,—'तदेवं समुपविष्टे सुखाऽऽविष्टे सर्वस्मिन्नेव शिष्टे जने जनेश्वराऽनुमत्या सममत्यादरणीयान् दैवज्ञान् सर्वत्र सर्वज्ञा अपि ते मुनयस्तदनवज्ञाप्रज्ञाना यज्ञाय दिनं जिज्ञासामासुः ॥'२०॥

'ज्ञाते च जिज्ञासिते राज्ञा श्रीकृष्णाऽनुज्ञां सुज्ञातवता विज्ञा द्विजास्ते वेदानां भेदादृत्विग्भेदाख्यया वेदयामासिरे; निवेदयामासिरे च, दूतैः सवर्णदूतैरागमनाय सकृप-द्रोणभीष्मादयस्तथैवाऽकृपधृतराष्ट्रादयश्च; किं बहुना, राष्ट्रगताः सर्व एव भूदेवप्रभृतयस्तत्कृत-भृतयश्च। यत्र तत्सभापर्वाऽऽततसर्वागमनपर्यायमर्यादया वृष्णिप्रवीराऽऽर्यमिश्ररेवतीभार्यमिश्र-महाजनसङ्गमनमपि रङ्गदं जातम्। तदप्यास्तामास्था पुनरत्र क्रियताम्। विनाऽपि समाहूतिं स्वनयनां त्वत्प्रसूतिविभूतिशश्वदनुभूतिकृतिलोभाद् भवकमलभवादयस्त्रिलोकीलोका एव तत्रागता

अतः आप सब स्वस्थ होकर प्रत्येक जन अपने अपने आसन के मध्य में बैठ जायँ। हम सब पीछे विचार करेंगे ॥१८॥

श्रीव्रजराज बोले—महर्षिगणों की गणना में देवर्षि नारदजी क्यों नहीं प्रस्तुत किये? दोनों दूत बोले—वे तो श्रीकृष्ण की लीला के कौतूहलमात्र में स्वभावतः अनुरक्त होने के कारण, स्वतन्त्र ही विराजमान रहते हैं, किन्तु यज्ञादि कर्म के पुरोहित आदि अङ्गरूप से निवास नहीं करते हैं। अतः यज्ञ करानेवाले ऋषियों में उनकी गिनती नहीं की ॥१९॥

श्रीव्रजराज लम्बे श्वास लेकर बोले—उसके बाद, उसके बाद? दोनों दूत बोले—इस प्रकार ऋषियों की आज्ञा से सुख में आविष्ट हुए सभी शिष्ट (सभ्य) जन जब अपने अपने आसनपर भली प्रकार उपविष्ट हो गये, तब सब विषयों में सर्वज्ञ होनेपर भी श्रीवसिष्ठ आदि उन मुनियों ने राजा युधिष्ठिर की अनुमति के साथ, अतिशय आदरणीय ज्योतिषियों के प्रति, युधिष्ठिर के सत्कार को जानकर यज्ञ के लिए शुभ दिन जानने की इच्छा प्रगट की ॥२०॥

राजसूय यज्ञ करने के लिए जिस शुभ दिन जानने की इच्छा की थी, उस शुभ दिन के जान लेनेपर, श्रीकृष्ण की अनुमति को भली प्रकार जाननेवाले, राजा युधिष्ठिर ने उन विज्ञ ब्राह्मणों के प्रति ऋग्, यजुः, साम आदि वेदों के भेद से याज्ञिकों के भेद नाम से विज्ञापित कर दिये। और कृपाचार्य के सहित द्रोणाचार्य, एवं भीष्मपितामह आदि के प्रति तथा कृपारहित धृतराष्ट्र आदि के प्रति यज्ञ में आने के लिए सवर्णदूत, अर्थात् पत्रों के सहित दूतों के द्वारा निवेदन कर दिया। अधिक कहने से क्या? देखो, देशभर में रहनेवाले ब्राह्मण आदि सभीजनों के प्रति, एवं उन सबके वेतनभोगी कर्मचारियों के प्रति भी पत्रों के सहित दूतों द्वारा निवेदन कर दिया। जहाँपर उस सभापर्व में विस्तृत सभीजनों के आगमन के क्रम की मर्यादा के साथ, वृष्णिवंशी वीरों में श्रेष्ठ पूज्यपाद श्रीबलदेवजी के सहित, श्रीअक्रूर आदि महापुरुषों का आगमन भी कौतुकप्रद हो गया। इस बात को भी रहने दीजिये। किन्तु विश्वास इस बातपर कीजिये कि, स्वनयनां (अपने को यज्ञ में पहुँचानेवाली) समाहूति (बुलाहट) के बिना भी, अर्थात् बुलाने के बिना भी,

विलोकिताः। किन्तु भवन्त एव स्वपुत्रमन्त्रणापरतन्त्रतया तत्र न गताः। भवत्पुत्रप्रधानेऽस्मिन् विताने भवतामनागमनं चेत्तदुदासीनतामेव भवत्सु परे वितर्केयुरिति ॥२१॥

'अथ यदा भूदेवा इव नरदेवाश्च तत्र तत्र युक्ता नियुक्तास्तदा सर्वपदावनेजनप्रयोजनाधिष्ठानं तु कश्चिदपि नानुतिष्ठेदनुतिष्ठतु वा, तथापि प्रायो गर्ववतः सर्वत एव तन्न सुष्ठुतामापद्येतेति निश्चितम्। तदा तद्विचार्य स्वयमेवाऽऽर्याणामग्रणीर्भवत्कुलग्रामणीर्भक्तार्थमकार्यमपि कुर्वाणस्तदप्यङ्गीकृतवान् ॥'२२॥

"अथ तदेतद्वर्ण्यमानमाकर्ण्य सर्वेऽपि व्रजस्थाः स्वस्थाऽऽत्मना चिन्तितवन्तः,—'व्यक्तं न त्यक्तव्या एव तेन मद्विधाः' इति। "स्पष्टं च पृष्टवन्तः,—ततस्ततः ?' ॥२३॥

"दूतावूचतुः,—'अथ यदा तु विप्राः सुवर्णकलिलाङ्गलेपसुवर्णलाङ्गलेन देवयजनं कर्षन्तः सर्वेषां मुहुरपि हर्षमूहुस्तदा भूमिस्पृशस्तत्र स्मितस्पृशदृश एवाऽऽसन्। ते हि न तत्र शिक्षावन्तः, किन्तु दीक्षादिकर्मण्येवेति ॥२४॥

आपके पुत्र श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य का निरन्तर अनुभव करने के लोभ से शिव, ब्रह्मा आदि तीनों लोकों के लोग ही उस यज्ञ में आये हुए देखे गये। किन्तु केवल आप सब ही अपने पुत्र के विचार के पराधीन होने के कारण वहाँपर नहीं गये थे। आपके पुत्र का ऐसा विचार था कि, आपके पुत्र ही जिसमें प्रधान हैं, ऐसे इस यज्ञ में यदि आप सबका आगमन नहीं होगा तो, मेरे शत्रु शिशुपाल आदि आपके ऊपर मेरी उदासीनता को ही विचार लेंगे। अतः आप सबको पीडित नहीं करेंगे, आने से तो मेरे सम्बन्धी समझ कर आप सबको भी पीडित करेंगे, यह भाव है ॥२१॥

उसके बाद ब्राह्मणों की तरह अनेक योग्य राजा भी जब उस उस कार्य में नियुक्त हो गये, तब सब जनों के पाद प्रक्षालन (चरण धोना)रूप प्रयोजन के आश्रय का तो कोई भी अनुष्ठान नहीं कर सकेगा, अर्थात् यज्ञ में सबके चरण धोने के कार्य का कोई भी अनुष्ठान नहीं कर पायेगा। अथवा यदि कर भी पायेगा तो भी, प्रायः गर्व से युक्त सभीजनों के द्वारा वह पाद प्रक्षालनरूप कार्य सुन्दरता को नहीं प्राप्त हो सकता, यह बात निश्चित है। उस समय (यदि सबके चरण नहीं धोये गये तो, हमारे भक्त का यज्ञ सिद्ध न होगा) उस भाव को विचार कर श्रेष्ठजनों के अग्रगण्य, एवं आपके कुल के नेता श्रीकृष्ण ने, अपने भक्त के लिए न करने योग्य कार्य को भी करते हुए, वह पाद प्रक्षालनरूप तुच्छ कार्य भी स्वयं ही सहर्ष अङ्गीकार कर लिया ॥२२॥

दूतों के द्वारा कहे गये इस प्रकार के प्रसङ्ग को सुनकर सभी व्रजवासी स्वस्थ चित्त से विचारने लगे कि-(श्रीकृष्ण अपने भक्तों के मनोरथ की सिद्धि के लिए सबके चरण प्रक्षालनरूप छोटा सा कार्य भी जब सहर्ष स्वीकार करते हैं, तब) हम जैसे स्नेहीजनों को वे स्पष्ट ही कदापि नहीं त्याग सकते। मन में यह विचार कर पुनः स्पष्ट पूछने लगे कि—उसके बाद क्या हुआ ? ॥२३॥

दोनों दूत बोले—उसके बाद ब्राह्मणगण सुन्दर वर्णद्वारा जिसका अङ्गलेप हुआ है, ऐसे सुवर्ण के हल के द्वारा यज्ञ की भूमि को जोतते हुए, जब सभी के हर्ष को बारंबार प्राप्त कराने लगे, तब भूमिस्पृशः अर्थात् वैश्यजन उस कार्य में मन्दहास्य के सहित दृष्टिपात ही करते रहे। क्योंकि वे ब्राह्मण उस हल जोतने के कार्य में शिक्षित नहीं थे, किन्तु दीक्षा आदि वैदिककार्य में ही निपुण थे। अतः कृषिकार्य की प्रधानतावाले वैश्य उनके अस्तव्यस्त हल चलाने से मुसक्याते हुए देख रहे थे, यह भावार्थ है ॥२४॥

'यदा तु राजानं दीक्षां व्राजयामासुस्तदा सर्वे वीक्षामात्रं चक्रुर्न तु परीक्षाम्; यतस्तदुपक्रममेव सर्वा विधिचर्या ॥२५॥ 'यज्ञारम्भे तु,—

केचिद् हाटकमात्रपात्रघटनां वीक्ष्याऽऽगता विस्मितिं
केचिद् भूप-सुरर्षि-शक्र-विधिजान् केचिद् विधीशावपि ।
केचित् तत्तदशेषकर्षबलवत्तीव्रप्रभावं हरेः
सर्वेऽप्यद्भुतरूपमस्य यदिदं मुक्तेऽप्यलं सत् फलम् ॥२६॥

'तदेवं स्थिते सर्वेणापि सिद्धतया स्थिते तत्र यज्ञे हवनक्रिया संजज्ञे; ॥२७॥ किन्तु,

स्नेहं तत्र हुताशसादकृषत श्रौतैर्विधानैर्द्विजाः
सर्वे तु व्रजराज ! तावकसुत-श्रीसात्कृतं निर्ममुः ।
एवं यद्यपि पश्यति स्म जनता तस्मिंस्तदप्यग्रिम-
स्याऽप्यस्त्यन्तिम एव पर्यवसितिस्तात्पर्यमत्रैव हि ॥२८॥

'अथ सोमाऽभिषवे सदस्यानामर्चायामभिनवे विचारे कृतप्रचारे कोऽयमेषामशेषाणामादिमः स्यादिति विविधसङ्गहेतोर्मतभङ्गभिया सर्वेषु स्वस्वमतप्रभविष्णुषु च तूष्णींभविष्णुषु

और वे ब्राह्मण जब राजा युधिष्ठिर को यज्ञ की दीक्षा देने लगे, तब सब जन केवल देखते ही रहे, किन्तु परीक्षा नहीं कर रहे थे, क्योंकि वैदिकविधि की समस्त पद्धति तो उन ब्राह्मणों ने ही प्रथम प्रारम्भ की है। अतः उनकी परीक्षा लेने में असमर्थ सभी देखते ही रहे, यह तात्पर्य है ॥२५॥

यज्ञ के आरम्भ में कुछ लोग तो केवल सुवर्णमात्र के पात्रों की घटना को देखकर विस्मय को प्राप्त हो रहे थे, एवं कुछ व्यक्ति अनेक देश के राजाओं को, देवर्षि नारद को, इन्द्र को, एवं ब्रह्मा के पुत्र श्रीसनकादिकों को देखकर विस्मित हो रहे थे, तब कुछजन ब्रह्मा एवं शिवजी को देखकर चकित हो रहे थे, और कुछ व्यक्ति श्रीकृष्ण के उन सभीजनों को आकर्षण करनेवाले प्रबल प्रभाव को देखकर आश्चर्यान्वित हो रहे थे, तथा श्रीकृष्ण के अद्भुत रूप को निहार कर तो सभीजन चकित हो रहे थे। उसका कारण यह है कि, श्रीकृष्ण का यह रूप तो श्रीशुकदेव आदि मुक्तमुनि के पक्ष में भी अत्यन्त सत्फलस्वरूप माना गया है ॥२६॥

ऐसी स्थिति में सभीजनों के सुसिद्धभाव से स्थित हो जानेपर उस यज्ञ में हवन का कार्य प्रारम्भ हो गया ॥२७॥

किन्तु हे व्रजराज ! उस यज्ञ में ब्राह्मणगण तो वेदोक्त विधियों के द्वारा स्नेह को, अर्थात् घृत को अग्नि के अधीन कर रहे थे, और यज्ञ में उपस्थित सब जन अपने अपने स्नेह को, अर्थात् प्रेम को तुम्हारे पुत्र श्रीकृष्ण की शोभारूप सम्पत्ति के अधीन कर रहे थे। उस यज्ञ में जनता यद्यपि इस प्रकार के दृश्य को देख रही थी, तो भी पहला जो घृत का होम है उसकी समाप्ति भी अन्तिमवाले होम में ही है, अर्थात् प्रेम को तुम्हारे पुत्र के अधीन कर देनेरूप कार्य में ही है, क्योंकि सब शास्त्रों का तात्पर्य इसा में है। कहने का सारांश यह है कि, तुम्हारे लाला श्रीकृष्ण में सच्चा प्रेम करना ही यज्ञ यागादिकों का सत्फल है। अनेक प्रकार के यज्ञ करनेपर भी यदि श्रीकृष्ण में स्नेह न हुआ तो, वे सारे यज्ञ निष्फल हैं ॥२८॥

उसके बाद सोमाऽभिषव नामक यज्ञ की क्रियाविशेष में, सदस्यों की अग्रपूजा के विषय में, एक नवीन विचार के प्रचारित हो जानेपर, इन सब सभासदों में से कौनसा व्यक्ति आदिमः, अर्थात् प्रधान हो

केषुचित्तु कर्णे कर्णे वर्णावर्णीव वर्णयत्सु तत एव तदर्चापात्रहस्ते राज्ञि च चिराय विहस्ते सर्वमुपर्युपरि हरिमेव पर्यवस्यन् सहदेवः सहदेवमुनिषु सर्वसभासत्सु चाऽभ्यर्णतः समाकर्णयत्सु वर्णयामास,—॥२९॥

एते यस्य तु दृष्टिलेशवशतः पद्मासनस्यात्मजाः
के देवाः स्वयमागमन्ननु शिवोऽप्यब्जासनेनाऽन्वितः।
तं हित्वा परगां परामपचितिं यां निर्मिमीते जनः
सेयं तत्र च तत्र चाऽपचितितां यात्येव किं त्वन्यथा ॥३०॥

आत्मायं जगतां विधेः पशुपतेरप्यस्ति वृष्णीशिता
बाढं पश्यत चक्षुषेदमसकृन्मज्जल्पिताऽनन्तरम्।
सर्वेऽमी लसितस्मितं सपुलकं मां लोकयन्तः स्थिता-
स्तस्मादस्य समर्चनं तु भविता सर्वेषु सन्तोषणम् ॥३१॥

'अथाऽसुराणामत्र दुराशयतां व्यवसाय पुनर्जगाद,—
सर्वात्मनस्तु ये वा स्युरस्मादतिबहिर्मुखाः। न तेषां मतमाचेयमात्मद्विट्त्वं गता हि ते ॥३२

सकता है, इस विषय में अनेक प्रकार के सङ्ग होने के कारण, अपने अपने मत के भङ्ग हो जाने के भय से, अपने अपने मत को स्थापित करने में समर्थ सभीजनों के चुप हो जानेपर, उनमें भी कुछजनों के कान कान में, अक्षरों अक्षरों के प्रहार के द्वारा प्रवृत्त हुए युद्ध की तरह, वर्णन करने में प्रवृत्त हो जानेपर, और उसी के कारण अर्थात् कुछ निश्चय न होने के कारण, सर्वप्रधान की पूजा का पात्र हाथ में धारण करनेवाले राजा युधिष्ठिर जब बहुत देरतक विहस्त (व्याकुल) हो चले, तब सर्वोपरि श्रीकृष्ण को ही निश्चित करता हुआ सहदेव, देवता एवं मुनियों के सहित सभी सभासद् जब निकट से ही श्रवण कर रहे थे, तब वर्णन करने लगा—॥२९॥

देखो, भाइयो ! जिन श्रीकृष्ण की किञ्चित् दृष्टिपात के वशीभूत होकर, ब्रह्मा के पुत्र ये सनकादि भी इस यज्ञ में स्वयं चले आये हैं, अन्य साधारण देवता तो कौन गिनती में हैं ? देखो, ब्रह्माजी के सहित शिवजी भी स्वयं आ गये हैं। अतः सर्वपूज्य उन श्रीकृष्ण को छोड़कर, अन्य देवता के निकट जानेवाली जिस उत्कृष्ट पूजा को जनमात्र निर्माण करता है, अर्थात् दूसरे देवता की अग्रपूजा करता है, तो अन्यथाभाव को प्राप्त हुई वह पूजा, पूजा करनेवाले उस उस जन के विषय में हानि के भाव को ही प्राप्त हो जाती है ॥३०

और ये श्रीकृष्ण तीनों लोकों के तथा ब्रह्मा एवं शिवजी के भी आत्मा (अन्तर्यामी) हैं, एवं यदुवंश के नियन्ता हैं। एवं तुम सब अपने नेत्रों से इस बात को दृढतापूर्वक बारंबार देख लो कि, मेरे कथन के अनन्तर परमपूज्य शिव, ब्रह्मा, ऋषि, मुनि आदि ये सभीजन सुन्दर मन्दमुसक्यानपूर्वक रोमाञ्चित होकर, मुझको स्नेहपूर्वक देखते हुए, सभा में बैठे हैं। अतः श्रीकृष्ण का अग्रपूजन तो सभी के विषय में सन्तोषप्रद होगा ॥३१॥

अनन्तर श्रीकृष्ण की अग्रपूजा के विषय में, शिशुपाल आदि असुरों का बुरा अभिप्राय निश्चित करके, सहदेव पुनः बोला—सब की आत्मास्वरूप इन श्रीकृष्ण से जो व्यक्ति अत्यन्त बहिर्मुख हैं, उनका मत ग्रहण करने योग्य नहीं है। कारण—वे आत्मा से द्रोह करने के भाव को प्राप्त हैं, अर्थात् वे आत्मद्रोही हैं ॥३२॥

'पुनः प्रतीचां कालमुखतां निभालयन्नाललाप,—

कनिष्ठोऽप्यात्मनो धाष्टर्च्यं सभायां वर्णयामि किम्।
वामांघ्रिर्मम वामानां कामं कामयते शिरः ॥३३॥

'अथ मेघनादानुलासिनामिव सर्वेषां पर्वाऽऽगतानां सुपर्वादीनामुल्लासकोलाहलवहं सहदेवमेघस्य नदितप्रभं गदितमनुकर्शितदुष्टकृकलासचयः सन् मेघसमयसमनयः स धर्मतनयः समस्तमूलं पीतदुकूलं सन्तर्पयन्नानाऽऽम्नायशाखाभृतां तदनुगतिकृतामपि सन्तर्पणमर्पयामास ॥३४

'तदा मदात् पाण्डुनृपः प्रतीति,-सारात् तमानर्च तथा च हार्दात्।
पादांबु तत्तस्य यदाऽऽददानः, स बाष्परोमाञ्चिततां ततान ॥३५॥

इत्थं सभाजितमवेक्ष्य मुकुन्दमेतं, सर्वे जयेति नम इत्यपि शश्वदूचुः।
किञ्च द्रुतं सुमनसां कुसुमानि हस्तात्, कंप्रान्निपेतुरिह मोचनतः पुरापि ॥३६॥

ये साधुकारमवदन् सुरसोमपाद्या, येऽस्मिन्नसाध्विति च दानवमद्यपाद्याः।
तेषां तदेव च तदेव च युक्तमुक्तं, वक्तृस्वरूपगतरूपमुदेति वक्त्रे ॥३७॥

फिर भी प्रतिकूल व्यक्तियों के मुख को काल के समान भयंकर देखता हुआ उच्च स्वर से बोला— मैं सबसे छोटा होकर भी, सभा के बीच में अपनी धृष्टता का क्या वर्णन करूँ? देखो, मेरा बायाँ चरण श्रीकृष्ण से प्रतिकूल व्यक्तियों के मस्तक को स्वेच्छापूर्वक चाहता है, अर्थात् उनके मत्थेपर चढ़ना चाहता है। तात्पर्य—जो श्रीकृष्ण की अग्रपूजा में विरोध करते हैं, उनके मस्तकपर मेरा बायाँ चरण प्रहार करना चाहता है ॥३३॥

तदनन्तर मेघ की गर्जना से नृत्य करनेवाले मयूरों की तरह, राजसूय यज्ञ महोत्सव में आये हुए देवता आदि सभी व्यक्तियों के हर्षमय कोलाहल को प्राप्त करानेवाले सहदेवरूप मेघ की गर्जना के तुल्य भाषण के पश्चात्, दुष्टरूप कृकलासों (गिरगिटों) के समूह को कृश बनाते हुए वर्षाऋतु के समान व्यवहार करनेवाले धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने, सबके मूल पीतदुकूलवाले श्रीकृष्ण को सन्तुष्ट करते करते, वेदों की अनेक शाखाओं को धारण करनेवाले एवं श्रीकृष्ण की अनुगति स्वीकार करनेवाले जनों को भी सन्तोष प्रदान कर दिया ॥३४॥

उस समय पाण्डवराज युधिष्ठिर ने विश्वास के बल से हर्षपूर्वक श्रीकृष्ण की पूजा की। तथा जब प्रेमपूर्वक श्रीकृष्ण के चरणामृत को ग्रहण करने लगे, तब तो प्रेमाश्रुओं के सहित रोमाञ्चों का विस्तार कर दिया, अर्थात् चरणामृत पान करते ही प्रेमाश्रु बहाने लगे एवं रोमाञ्चित हो गये ॥३५॥

इस प्रकार युधिष्ठिर के द्वारा पूजित हुए इन श्रीकृष्ण को देखकर सभी सभासद् बारंबार जय जयकार एवं नमस्कार के नारे लगाने लग गये। किञ्च देवताओं के काँपते हुए हाथों से स्वयं छोड़ने से पहले ही, सारे पुष्प शीघ्र ही श्रीकृष्ण के ऊपर गिर पड़े ॥३६॥

श्रीकृष्ण के इस अग्रपूजन के विषय में सोमवल्ली (नीमगिलो) का रस पीनेवाले जो देवता आदि "यह बहुत अच्छा हुआ" इस प्रकार पुकार रहे थे, एवं मदिरा पीनेवाले जो दैत्य आदि बुरी प्रकृतिवाले "यह बहुत बुरा हुआ" इस प्रकार चिल्ला रहे थे, उन देवता आदिकों का कहा हुआ 'साधुवाद' एवं असुर आदिकों का कहा हुआ 'असाधुवाद' (निन्दावाद) उन उनके पक्ष में क्रमशः उचित ही था, क्योंकि वक्ता का स्वरूपगत रूप मुख में प्रगट हो जाता है, अर्थात् वक्ता का स्वभाव वाणी में प्रगट हो जाता है ॥३७॥

'तदेवमुपलंभ्यतायामुपालभ्यतायामपि तत्रोपलभ्यमानायां विशेषतस्तदुत्कर्षमसहमानः सहमानः स भासमानायां सभायामेव चेदिपतिर्धर्मतः पतितः कर्मतस्तु बाहू विक्षिप्य समुत्थानादुत्पतित इव धृष्णगात्मा शृण्वत एव कृष्णस्य तदिदं गदितवान्,—३८॥

ब्रह्माद्यास्त्रिदशा वशिष्ठवलिताः शिष्टा मदाद्या नृपा
यस्मिंस्तत्र समर्हणं प्रथमतः सोऽयं व्रजेत् कृष्णकः।
गोपः खल्वयमस्ति मातुलजनिर्नैवास्ति नः पाण्डवां-
स्तस्माद्धिग्धिगिमां सभामपि तथा धिग्यज्ञमज्ञश्रितम् ॥'३९॥

"व्रजराज उवाच,—'ततस्ततः ?' "दूतावूचतुः,—'ततश्च,

श्रुत्वा तेन पृथासुता मुररिपोर्निन्दां क्रुधावेशत-
स्तां स्वेषामपि शुश्रुवुर्न हि यदा विस्मृत्य दीक्षां तदा।
चञ्चत्प्रायतरक्तनेत्रमहसा सोसूच्यमाना इव
स्वाऽस्त्राणां द्रुतभाविनीं गतिममून्युत्तस्थुरादित्सवः ॥४०॥

'अथ हरिपरिभाषण-श्रवणान्निर्गच्छत्सु शास्त्रविद्वत्सु स्वानुजमन्त्रणायन्त्रणानुसारिणि च सीरिणि दीक्षावत्तायामपि शस्त्रवतस्तान् गृहीतखड्गचर्मणस्तस्माच्छिशुपालवर्मणः स्वयं हरिरेव निवारितवान् ॥४१॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण की अग्रपूजा के विषय में प्रशंसा के भाव एवं उपालम्भ के भाव उपलब्ध हो जानेपर, विशेष करके श्रीकृष्ण के उत्कर्ष को न सहता हुआ, अभिमानी वह शिशुपाल प्रकाशमान हुई सभा में ही, धर्म से पतित होकर भी कर्म से, अर्थात् व्यवहार से तो अपने दोनों हाथों को उठाकर, उठने की चेष्टा से उछलता हुआ सा धृष्टस्वभाववाला होकर, श्रीकृष्ण के सुनते सुनते ही यह बोला—॥३८॥

देखो, जिस यज्ञ में ब्रह्मा आदि देवतागण एवं वसिष्ठ से सम्मिलित होकर, वामदेव कश्यप आदि शिष्टजन, तथा मुभ आदि से लेकर कितने ही श्रेष्ठ भूपगण विराजमान हैं, उस यज्ञ में निन्दनीय यह कृष्ण अग्रपूजा को प्राप्त कर सकता है क्या ? अपितु, नहीं। क्योंकि यह निश्चय ही गोपकुमार है। इसका जन्म हमारे मामा वसुदेवजी से नहीं हुआ है। अतः केवल गोप की अग्रपूजा करनेवाले पाण्डवों को धिक्कार है, इस सभा को भी धिक्कार है, तथा भीष्म आदि अज्ञजनों के आश्रित इस यज्ञ को भी धिक्कार है ॥३९॥

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? दोनों दूत बोले—उसके बाद कुन्ती के पुत्र युधिष्ठिर आदि पाण्डव, शिशुपाल के द्वारा श्रीकृष्ण की निन्दा को सुनकर क्रोध के आवेश से जब अपने सम्बन्धियों की भी निन्दा को नहीं सुनते थे, तब यज्ञ की दीक्षा को भूलकर, अर्थात् "यज्ञ में विहित से भिन्न का वध नहीं किया जाता" इस प्रकार के व्रत को भी भूलकर, चंचल एवं विशाल लाल लाल नेत्रों के तेज से, शीघ्र होनेवाली अपने अस्त्रों की गति को बारंबार सूचित करते हुए से, उन अस्त्रों को ग्रहण करने की इच्छावाले होकर सिंहासन से उठकर खड़े हो गये ॥४०॥

उसके बाद शिशुपाल के द्वारा किये गये श्रीकृष्ण के परिभाषण (निन्दापूर्वक किये गये उपालम्भ) के श्रवण करते ही शास्त्रवेत्ता भीष्मादिकों के सभा से निकल जानेपर, बलदेवजी जब अपने छोटे भाई

'किन्तु, रीढां चैद्यकृतामसोढ शतधा यन्नास्ति गर्वस्तथा
गोपाख्यां स्वदते स्म यद्विधिवृतं गोपांघ्रिजुष्टं रजः ।
यर्ह्येवाघटि पाण्डवाऽवगणना तेनाथ चण्डात्मना
मुण्डं तस्य विखण्डितं तव सुतश्चक्रेण चक्रे तदा ॥४२॥

'ततश्च, यत्तेजः समगाद्विभुं सुमनसां स्मेराननं श्रीमयं
धारापातमयं च तर्हि युगपल्लोके मुदा पश्यति ।
तत्तत्र परं न साद्भुतमभूद् यत् स्पर्धयेवापरं
चैद्यान्तर्हृदयादपि स्फुटममुं तत्सङ्गतः सङ्गतम् ॥४३॥

'अथ तत्पक्षपातवत्सु भयात् पक्षिवदुड्डामरमुड्डीनवत्सु लोकास्तु कृततद्विलोकास्तारतम्यरम्यमिदमूचुः,— यः कंसादिहरः समर्हति स एवेन्द्रादिसंपत्पदं
तर्ह्यप्येष ददे स्वदेशमपि यत् कंसस्य तातं प्रति ।
तस्मादस्य न गर्विता न नितरां क्रोधश्च यत्तामसान्
जङ्घन्ति स्फुटमेव तत्तु घटते तेषां तमःशान्तये ॥४४॥

श्रीकृष्ण के विचार की पराधीनता का अनुसरण कर रहे थे, तब यज्ञ में दीक्षित होनेपर भी, शस्त्रों को धारण करनेवाले उन पाण्डवों को श्रीकृष्ण ने ही, ढाल तलवार को धारण करनेवाले शिशुपाल वर्मा से स्वयं निवारित कर दिया ॥४१॥

किन्तु श्रीकृष्ण ने शिशुपाल के द्वारा की गई रीढा (अवज्ञा) सौ बार सह ली, कारण उनको अहंकार नहीं है। तथा शिशुपाल के द्वारा कहे गये अपने गोप नाम का भी आस्वादन करते रहे, कारण गोपों के चरणों की रज तो ब्रह्माजी ने भी वर में माँग ली है (अतः गोपकुमार नाम से प्रभु प्रसन्न होते हैं) किन्तु शिशुपाल के द्वारा जब पाण्डवों का अपमान संघटित हो गया, तब तो तुम्हारे पुत्र श्रीकृष्ण ने अत्यन्त कुपित होकर, सुदर्शनचक्र के द्वारा शिशुपाल का मस्तक विदीर्ण कर दिया ॥४२॥

और उसके बाद सुमनसां अर्थात् देवताओं का मन्दमुसक्यानवाले मुख की शोभामय जो तेज था, एवं सुमनसां अर्थात् पुष्पों का धारापातमय जो तेज था, वह जब श्रीकृष्ण के निकट चला गया, तब सभीजन हर्षपूर्वक एकसाथ देख रहे थे। परन्तु वहाँपर वह वह तेज आश्चर्य से युक्त नहीं हुआ। क्योंकि मानो पूर्वोक्त जिन दोनों प्रकार के तेजों की स्पर्धा से शिशुपाल के अन्तःकरण से भी एक दूसरा तेज निकल कर पूर्वोक्त तेज के सङ्ग से स्पष्ट ही श्रीकृष्ण में सम्मिलित हो गया ॥४३॥

उसके बाद शिशुपाल के पक्षपातीगण भय के कारण पक्षियों की तरह उड़ान भरकर जब (इधर उधर) उड़ गये, तब दूसरे लोग तो इस बात को देखकर तारतम्य से रमणीय यह वचन बोले कि—जो श्रीकृष्ण कंसादि दैत्यों का संहार करनेवाले हैं, वे ही इन्द्रादिकों की सम्पत्ति के स्थान को प्राप्त करने योग्य हैं, तो भी इन श्रीकृष्ण ने अपने देश को भी कंस के पिता उग्रसेन के प्रति सहर्ष समर्पित कर दिया। अतः श्रीकृष्ण के अहंकार नहीं है एवं अत्यन्त क्रोध भी नहीं है। इतनेपर भी तामसी दैत्यों को जो बारबार मारते हैं, वह मारना तो उन दैत्यों के तमोगुण की शान्ति के लिए स्पष्ट ही संघटित हो जाता है ॥४४॥

उग्रसेनमनु राजतार्पणं, तस्य चाऽनुसृतिरस्तु दूरतः।
पश्य पाण्डवमखे पदार्चन,-स्याधिकारमधृत स्वयं हरिः ॥४५॥

'तदेवं सत्रे शत्रावपि समाप्ते राजा राजदवदानानि दानानि विधायाऽवभृथं कर्माऽवभृतं चकार; न केवलं तदेव, किन्तु सदेवभूदेवं जगदेव च। मनसीप्सितदुर्योधनं दुर्योधनं तु विना स हि तस्य हितसहितं सर्वमहितं मन्यते; यः खलु मयमायामयतन्निलयमहिम्ना मोहिततया नोहितं किमपि कर्तुं समाहितमना बभूव। जलस्थलद्वारा द्वारादिविपरीतबुद्धि-परीततया न मनःशुद्धिमवापेति स्थिते श्रीमदुद्धवनाथानुमत्या द्रुतगत्या प्रस्थितयोरावयोः किमनन्तरमन्तरं बभूवेति दूतान्तरयुगलं कलयिष्यति ॥'४६॥

"व्रजराज उवाच,—'किं यावदत्र सत्रं समाप्य च स सर्वसुखसत्रवदनः स्थास्यतीत्यपि किमवकलितम् ?' ॥४७॥

"दूतावूचतुः,—'अथ किम्, यदा हि सर्वान् परिकरान् द्वारकां प्रस्थाप्य स्वयमग्रजेन सह शक्रप्रस्थाऽऽवासं श्रीनिवासः स्ववासतया भासयामास; यदा चाऽकूलाऽऽशाप्रसारे गोकुल-सारेऽस्मिन्नागन्तुकामौ नौ प्रति नौरिव समुद्रे समुद्रेयं पत्रिका दत्ता, तदा स्वयमेव तेन कथयामासे—मासकतिपयमत्राऽस्माकं स्थितिः' इति ॥"४८॥

और उग्रसेन के प्रति राज्य समर्पण करना तथा सेवक की तरह उग्रसेन का अनुसरण करना, इस बात को तो दूर रहने दो। देखो, पाण्डवों के राजसूय यज्ञ में श्रीकृष्ण ने सबके चरण धोने का एवं सबके पादपूजन का अधिकार स्वयं धारण किया है ॥४५॥

इस प्रकार यज्ञ तथा शिशुपाल नामक शत्रु इन दोनों के समाप्त हो जानेपर, राजा युधिष्ठिर ने शोभायमान विशुद्ध कर्मोंवाले अनेक प्रकार के दान करके, यज्ञ के अन्त में होनेवाले अवभृथ-स्नानरूप कर्म को चारों ओर से परिपूर्ण कर दिया। केवल अवभृथ-स्नान को ही पूर्ण नहीं किया। किन्तु देवता एवं ब्राह्मणों के सहित सारे संसार को ही (सुख से) परिपूर्ण कर दिया। किन्तु अपने मन में दुष्ट युद्ध की प्राप्ति की इच्छावाले दुर्योधन को छोड़कर, क्योंकि वह दुर्योधन तो युधिष्ठिरजी के हितैषियों के सहित उनके समस्त कार्य को अहित ही मानता है। एवं जो दुर्योधन मयदानव की मायामय श्रीयुधिष्ठिर की सभा की महिमा से मोहित होने के कारण, किसी विषय को भी तर्क से युक्त करने को स्थिर चित्तवाला नहीं हो पाया। और जल में स्थल का भ्रम, एवं स्थल में जल का भ्रम, तथा दरवाजे में यह दरवाजा नहीं है ऐसा भ्रम, एवं जहाँ दरवाजा नहीं है वहाँ खुले दरवाजे का भ्रम, इत्यादि विपरीत बुद्धि से व्याप्त होने के कारण, अपने मन की शुद्धि को भी नहीं प्राप्त कर पाया, ऐसी स्थिति में श्रीमान् उद्धवजी के स्वामी श्रीकृष्ण की अनुमति से हम दोनों दूतों के शीघ्रगति से वहाँ से चल देनेपर, उसके बाद दूसरा कौन सा चरित्र हुआ, उसको तो दूसरे दूतों की जोड़ी कहेगी ॥४६॥

श्रीव्रजराज बोले—तुम दोनों ने यह बात भी जान ली है कि—"जिसका मुखारविन्द सर्वसुखों का दान करनेवाला है, वह हमारा लाला श्रीकृष्ण यज्ञ को समाप्त करके इन्द्रप्रस्थ में कबतक ठहरेगा ?" ॥४७॥

दोनों दूत बोले—और क्या ? अर्थात् जान ली है। देखो, जिस समय समस्त परिकरों को द्वारका में भिजवा कर श्रीकृष्ण ने बलदेवजी के सहित इन्द्रप्रस्थरूप निवासस्थान को अपने निवासरूप से स्वयं प्रकाशित कर दिया था, और हम दोनों दूत जब (श्रीकृष्ण के आने की) अपार आशा के विस्तारवाले

एवं दूतकथनं प्रथयित्वा मधुकण्ठः सगद्गदकण्ठः प्राह स्म,—"अथ तदेवं प्रोच्य पत्रिकां विमोच्य कंपसंपद्विहस्ते व्रजराजहस्ते तावदाताम् ॥४९॥

"व्रजराजस्तु व्यग्रतया समग्राऽवलोकनाऽसमर्थः पुरोहितहस्ते विन्यस्तवान्। पुरोहितश्च लिपिनिहितं तदभिहितं प्रणिहितं विधाय श्रावयामास ॥५०॥ यथा—

'नेन्द्रप्रस्थं द्वारकां नापि किन्तु, श्रीमन्नेतत् पत्रमेवाऽऽवसामि।
एतत्तस्मादञ्चले रक्षणीयं, मत्प्रत्याशाव्यत्यये लक्षणीयम् ॥' इति ॥५१॥

"अथ ते तदेतदाश्रुत्य श्रुत्यनुगृहीतपुमर्थमिव समर्थ्य तदवैयर्थ्यं मन्यमानास्तमपि कालं कालमिव चालयामासुरितीदं सर्वं पुरावृत्तं पुरावृत्तमेव। संप्रति तु नेत्राभ्यामेव संप्रतीतं क्रियताम् ॥५२॥

"दूरस्थिरप्रवसनात्मकमात्मवृत्तं, ताताऽन्तिकेऽस्मदवकर्ण्य स एष कृष्णः।
तातस्य पश्यति मुखं किमयं ममाऽऽस्यं, पश्येन्निजाश्रु परिमृज्य कदाचनेति ॥५३॥

गोकुलरूप सारवाले इस व्रज में आने की कामना करने लगे, तब हम दोनों के प्रति समुद्र में नौका की तरह मुद्रा (मुहर) के सहित यह पत्रिका दी थी, तब श्रीकृष्ण ने हम से स्वयं कहा था कि,—"इस इन्द्रप्रस्थ में हमारा ठहरना कई मासतक होगा ॥"४८॥

इस प्रकार दूतों के कथन को विस्तारित करके मधुकण्ठ गद्गद कण्ठ के सहित बोला—उसके बाद उन दूतों ने इस प्रकार कहकर पत्रिका को खोलकर, कम्परूप सम्पत्ति से व्याकुल हुए श्रीव्रजराज के हाथ में वह पत्रिका दे दी ॥४९॥

श्रीव्रजराज ने भी व्यग्र होने के कारण सम्पूर्ण पत्रिका को देखने में असमर्थ होकर, वह पत्रिका पुरोहितजी के हाथ में दे दी। पुरोहितजी भी पत्रिका में लिखे हुऐ श्रीकृष्ण के कथन को भली प्रकार समझ कर सुनाने लगे ॥५०॥

यथा—हे श्रीमन् पिताजी! देखो, मैं न तो दिल्ली में रहता हूँ न द्वारका में ही, किन्तु इस पत्र में ही निवास करता हूँ। इसलिए आप इस पत्र को अपने अंचल में, अर्थात् अपने दुपट्टे की छोर में बाँधकर सुरक्षित रख लेना। और मेरे आने की प्रत्याशा की विपरीतता में इसको देख लेना। इसका तात्पर्य यह है कि—इस पत्र को देखने से मेरा दर्शन सिद्ध हो जायगा ॥५१॥

उसके बाद वे सब व्रजवासी श्रीकृष्ण के पत्र को सुनकर, वेदों के द्वारा अनुगृहीत पुरुषार्थ की तरह उसका समर्थन कर, उसकी सत्यता को मानते हुए श्रीकृष्ण के वियोगमय काल को भी, काल (मृत्यु) की तरह भगाने लगे, अर्थात् बिताने लगे। यह तो समस्त प्राचीन इतिहास पहले ही हो चुका है, किन्तु हे व्रजवासियो! अपने नेत्रों के द्वारा प्रत्यक्ष कर लो ॥५२॥

देखो, वे ही ये श्रीकृष्ण अपने पिता के निकट बहुत दूर एवं स्थायी विदेश में रहनास्वरूप अपने वृतान्त को हम दोनों से सुनकर पिता (श्रीनन्द)जी के मुख को इस भाव से देख रहे हैं कि—ये पिताजी अपने आँसू पोंछकर मेरे मुख को भी कभी देखेंगे क्या? ॥५३॥

"अथ ते तदेतदाकर्ण्य वर्ण्यमानं तमेव निर्वर्ण्य चक्रुरिति श्रीव्रजराजस्तं चरणयोः सङ्गतमालिङ्गन्निजनयनकीलालाऽऽकुलपुलककुलं कलाबलत इव सर्वमेव स्वजनं संक्रमयामासेति ॥५४॥

"अथ व्रजवन्दिनश्च वन्दमाना नन्दति स्म,—

'जरासुताऽनुबन्धन-क्षितीशवृन्दबन्धन,-श्रुतेरतीव सूरतः सुरर्षिणापि दूरतः ।
समेत्य पार्थयाचितः क्रतुक्रियाऽऽशयाऽऽचितः, सदुन्नयार्थमुद्धव-प्रयुक्तमन्त्रसूद्धवः ।
क्षयाय मागधेशितुः पुरागतः परं पितुः, स्वसुः सुतस्य मन्दिरं स्वयोग्यसंसदिन्दिरम् ।
तदुद्धवोक्तमन्त्रणात् तदीयभक्तियन्त्रणात्, किरीटि-भीमसङ्गतश्छलेन विप्रतां गतः ।
तदा जरासुतं सजन्नियोद्धुमर्थितां भजन्, युधीह भीममुन्नयन्मुखेन तस्य निर्णयन् ।
अनेन तं च योधयन् स्वमेनमत्र बोधयन्, निजेङ्गितादनेकशस्ततान चास्य सद् यशः ।
स मागधेशघातनः क्षितीशबन्धशातनः, समस्तयत्नसार्थकः प्रनन्दिताऽऽत्मपार्थकः ।
स्वक्लृप्तराजसूयकस्तदाप्तपूज्यभूयकः, ततश्च चेदिपे रुषा क्षिपत्यपि क्षमाजुषाम् ।
उपेत्य वर्त्म सुस्थिरः स्वभक्तनिन्दनाऽचिर,-प्ररूढकोपपद्धतिः स्वचक्रसृष्टतद्धतिः ।
समाप्तपार्थयज्ञकः प्रसिद्धिभाक्समज्ञकः, तदेवमप्यसौ पुनः स्वघोषवासिनस्तु नः ।
समर्धयन् समागतः सुखाकरोति रागतः ॥' इति ॥५५॥

पश्चात् वे व्रजवासी यह सुनकर जिनके विषय में वर्णन हो रहा था, उन्हीं श्रीकृष्ण को प्रत्यक्ष करने लग गये। पश्चात् श्रीव्रजराज ने अपने चरणोंपर गिरे हुए श्रीकृष्ण को आलिङ्गन करते हुए, अपने नेत्रजल से व्याकुल रोमाञ्चसमूह को मानो किसी कला के बल से सभी स्वजनों के निकट पहुँचा दिया। अर्थात् श्रीकृष्ण का आलिङ्गन करते समय अपनी प्रेममयी दशा को दिखाकर सभी स्वजनों को प्रेमाश्रु बहानेवाले एवं रोमाञ्चित कर दिया ॥५४॥

उसके बाद व्रज के वन्दीजन श्रीकृष्ण की वन्दना करते करते आनन्दित हो गये। यथा—हे श्रीकृष्ण ! देखो, जरासन्ध के द्वारा एकसाथ जिसको बन्धन प्राप्त हुआ था, उस भूपवृन्द के बन्धन के श्रवण से आप अत्यन्त सूरत (दयालु) हो गये थे। पश्चात् देवर्षि नारद के द्वारा भी बहुत दूर से आकर आप युधिष्ठिर के यज्ञ के लिए प्रार्थित हुए थे। पश्चात् राजसूय यज्ञ करने के अभिप्राय से व्याप्त होकर आप उत्कृष्ट विचार के लिए उद्धव के द्वारा प्रयुक्त विचार से परमहर्षित हुए थे। पश्चात् मगधराज जरासन्ध के विनाश के लिए पहले आप अपनी बूआ के पुत्र युधिष्ठिर के भवन में पधारे थे, जो भवन अपने योग्य सभारूप लक्ष्मी से युक्त था। पश्चात् उद्धव के कहे हुए विचार के अनुसार एवं युधिष्ठिरजी की भक्ति की पराधीनता से, जब आपने अर्जुन एवं भीमसेन से मिलकर छलपूर्वक ब्राह्मणवेष धारण किया था, तब आपने जरासन्ध से मिलकर, युद्ध के लिए याचकभाव सेवन कर, इस युद्ध में भीमसेन को उन्नत करते हुए, जरासन्ध के मुख से ही भीम के साथ युद्ध का निर्णय करते हुए, भीमसेन के साथ जरासन्ध का युद्ध कराते हुए, और इस युद्ध में विजय पाने के लिए वृक्ष की शाखा विदारणरूप अपने इशारे से अपने भीम को अनेक बार समझाते हुए (भीमसेन के द्वारा जरासन्ध को मरवा कर), उसके सुन्दर यश को बढ़ा दिया था। अतः आप जरासन्ध के मरवानेवाले हो, एवं राजाओं के बन्धन को काटनेवाले हो। आपके सभी प्रयत्न

अथ श्रीराधामाधव-सभारञ्जनी रजनीजनिरपि कथा मिष्टमजनिष्ट। यत्र च मधुकण्ठ उवाच,—"तदा भवतीः प्रति च पत्रिका पतत्रिराज-पत्रेण सापत्रपमेव रहसि प्रहिता ॥५६॥

यथा— स्वशात्रवाणां निहतिर्निजाऽऽगतौ, सीमा कृता या तु मया कुरोर्भुवि।
सा मे तदर्थं प्रतिभूरिवाऽनिशं, पुरः स्फुरन्ती द्रुतमेव सेत्स्यति ॥" इति ॥५७॥

तदेवं प्रोच्य पुनः श्रीकृष्णं विलोच्य तां विलोचयन् मधुकण्ठस्तदिदं रोचयति स्म,—

"तस्मात् पुनश्चाऽऽगमनं हरेर्व्रजे, त्वं प्राङ्न संभावितमित्यमन्यथाः।
युक्तं तदास्तां किमयुक्तमेव वा, कथं तदावेशवशाऽसि संप्रति ॥"५८॥

अथ प्रणयसाराधिका सा च राधिका तदेतदवधारणाच्चमत्कारं तत्कारकारणं

सार्थक हैं। आप अपने युधिष्ठिर को विशेष आनन्दित करनेवाले हो। राजसूय यज्ञ की कल्पना स्वयं आपने ही की थी, उस राजसूय में आप को पूज्यभाव प्राप्त हुआ था। आपके अग्रपूजन के बाद शिशुपाल के क्रोधपूर्वक आपकी निन्दा करनेपर भी, आप सहिष्णु व्यक्तियों के मार्ग को प्राप्तकर सुस्थिर ही बने रहे। किन्तु अपने भक्तों की निन्दा से शीघ्र ही क्रोध के मार्गपर चढ़कर, आपने अपने चक्र से शिशुपाल को मार डाला। अतः युधिष्ठिर की यज्ञपूर्ति करानेवाले आप ही हो, अतः आपकी कीर्ति प्रसिद्धि का लाभ कर रही है। अतएव इसी प्रकार वही आप पुनः व्रज में आकर, अपने व्रज में बसनेवाले हम सब व्रजवासियों को भली प्रकार समृद्ध करते हुए स्नेहपूर्वक अपनी अनुकूलता से सुखी कर रहे हो ॥५५॥

उसके बाद श्रीराधा-माधव की सभा को अनुरञ्जित करनेवाली एवं रात्रि में होनेवाली कथा भी मधुरतापूर्वक प्रवृत्त हो गई। जिसमें मधुकण्ठ बोला—हे श्रीमति राधिके! देखो, उस प्रगटलीला के समय पक्षिराज (गरुड) ही हैं पत्र, अर्थात् वाहन जिनके, उन श्रीकृष्ण ने आप सब गोपियों के प्रति भी एक पत्रिका लज्जापूर्वक एकान्त में ही भेजी थी ॥५६॥

यथा—हे गोपियो! मैंने कुरुक्षेत्र में (तुम्हारे सामने) अपने व्रज में आने के विषय में अपने शत्रु-समूह का विनाशरूप जो सीमा रची थी, अर्थात् "मैं अपने शत्रुसमूह के विनाशपर्यन्त द्वारका में रहूँगा, उसके बाद सदा के लिए व्रज में आजाऊँगा" इस प्रकार की जो अवधि मैंने की थी, वह अवधि तो मेरे व्रज में आने के लिए मेरे सामने प्रतिभू (मध्यस्था, या जामिनदार) की तरह निरन्तर स्फूर्ति पाती हुई शीघ्र ही सिद्ध हो जायगी ॥५७॥

इस प्रकार कहकर पुनः श्रीकृष्ण को देखकर, श्रीराधिका की ओर निहारता हुआ, मधुकण्ठ यह भाव प्रकाशित करने लगा कि—हे राधिके! देखो, पहले आप "उस द्वारकानगर से श्रीकृष्ण का पुनः व्रज में आना सम्भावित नहीं है" ऐसे मानती रहीं। यह आपका मानना उचित हो अथवा अनुचित ही हो, उस बात को तो अब दूर रहने दीजिये। किन्तु अब उसी प्राचीन आवेश के अधीन क्यों हो रही हो? तात्पर्य—अब तो तुम्हारे प्यारे श्याम सदैव के लिए गोलोक में तुम्हारे निकट ही विराजमान हैं, नेक झाँकी तो कर लो ॥५८॥

उसके बाद स्नेह के सार की अधिकतावाली श्रीमती राधिका ने मधुकण्ठ के कथन को निश्चय करके, चमत्कार को पाकर, चमत्कार के कारणस्वरूप श्रीकृष्ण के आकार के साक्षात्कार को भी प्राप्त करके,

कृष्णाऽऽकारसाक्षात्कारमपि समधिगम्य रम्यतावितानयोः कथाकारयोर्बहु सत्कारं चकार; विवेश च वशवशंवदतया केशवेन सह लीलावेश्मेति ॥५९॥

इति श्रीश्रीमदुत्तरगोपालचम्पूमनु राजसूयपूरणं नाम सप्तविंशं पूरणम् ॥२७॥

अथाष्टाविंशं पूरणम्

शाल्ववध-कथा

अथ प्रतिप्रातरिव तत्प्रातरपि स्निग्धकण्ठः कथया सर्वमुत्कण्ठयामास,—॥१॥

"तदेवं प्रस्थापिता दूताः पुरुहूतप्रस्थात् तत्प्रस्थानं यावदेव प्रात्यहिककथां व्रजपतिं प्रत्यापयामासुः। तदनन्तरं नु शक्रप्रस्थात् कृतप्रस्थाने लब्धकुशस्थलीसमीपस्थाने यादवेशाने तत्प्रवेशमलभमानौ शलभसमानौ कौचिद् व्रज एव सङ्गच्छमानौ व्रजपतिं प्रति निवेदयामासतुः,– 'आवां तावद् वर्धमानभूमधूमवृतामिव द्वारकां द्वारकापतिना प्राग्द्रुतलब्धप्रवेशामनुविशन्तावपि न द्वारमलभावहि, परन्तु तस्याममन्दमाक्रन्दमेव स्रवसोरभजावहि; द्वारकाखण्डलस्तु मार्तण्डमण्डलवन्निजतेजसा तत्तेजः खण्डयन्नेव सरथ एव च पथन् प्रविवेशेति तु बहिर्जनगणान्निरधारयावहि ॥२॥

मनोहरता का विस्तार करनेवाले दोनों कथावाचकों का बहुत सत्कार किया। और वशः (कान्तिः) अर्थात् इच्छा के अधीन होने के कारण श्रीकृष्ण के साथ क्रीडाभवन में प्रवेश किया ॥५९॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रिविरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीमदुत्तरगोपालचम्पूकाव्ये राजसूययज्ञपूरणं नाम
सप्तविंशं पूरणं सम्पूर्णम् ॥२७॥

अट्ठाईसवाँ पूरण

शाल्ववध कथा

राजसूय यज्ञ की कथा के बाद प्रत्येक प्रातःकाल की तरह, उस दिन के प्रातःकाल भी, स्निग्धकण्ठ ने अपनी कथा के द्वारा सभी श्रोताओं को उत्कण्ठित कर दिया ॥१॥

पहले की तरह व्रज से भेजे हुए दूत पुरुहूतप्रस्थ (इन्द्रप्रस्थ, अर्थात् दिल्ली) से श्रीकृष्ण के द्वारका के प्रति प्रस्थान करनेतक प्रतिदिन की कथा को श्रीव्रजराज के प्रति पहुँचाते रहे। उसके बाद तो यदुपति श्रीकृष्ण इन्द्रप्रस्थ से प्रस्थान करके द्वारका के निकटवर्ती स्थानपर जब पहुँच गये, तब द्वारकापुरी में प्रवेश को न प्राप्त करनेवाले, पतङ्ग की तरह शीघ्र चलनेवाले कोई दो दूत व्रज में ही आकर, श्रीव्रजराज के प्रति निवेदन करने लगे कि— हे व्रजराज! हम दोनों द्वारका में प्रवेश करते हुए भी दरवाजे को नहीं प्राप्त कर पाये। कारण उस समय वह द्वारका मानो बढ़ते हुए अधिक धुआँ से घिरी हुई थी, एवं श्रीकृष्ण उसमें पहले से ही शीघ्रतापूर्वक प्रविष्ट हो चुके थे। परन्तु उस द्वारका में हम दोनों ऊँचेस्वर से रोने की ध्वनि को ही कानों में सुनते रहे। द्वारका के इन्द्र श्रीकृष्ण तो सूर्यमण्डल की तरह, अपने तेज के द्वारा उस तेज को खंडित करते हुए, रथ के साथ ही चलते चलते, द्वारका में प्रविष्ट हो गये। यह बात तो हम दोनों ने द्वारका के बाहर रहनेवाले जनसमुदाय से निश्चय की थी ॥२॥

"अथ तदेवमाकर्ण्य वैवर्ण्यपूर्णा मर्मणि चूर्णा इव च तूर्णं तूर्णमेव ते व्रजेशमुखा दीनमुखा गतिशक्तिपरीतानन्यानभिनीतान् प्रेषयामासुः। सर्वेऽपि ते बहिर्बहिरेवाऽवहितं विधाय चलिता, न हि मध्यमनुसन्धाय चलिताश्च तेऽमी, न तु व्रजपर्यन्तं लब्धाः, किन्तु दुःखस्तब्धाः पथि पथि बद्धा इव स्थिताः। वस्तुतस्तु तत्र वृत्तमेवं वृत्तम्। खलाऽग्रणीः शाल्वः खल्वग्रे श्रीकृष्णेन रुक्मिण्या हरणे वृष्णिभिश्च तस्य तत्पक्षमागधादिलक्षस्य च निर्हरणे संपन्ने पन्नेहितेषु हितेषु वरम्मन्यशिशुपालमन्युं शमयत्सु निशमयत्सु च जरासन्धादिषु सन्धामाचचार ॥३॥

"यादवदवं प्रति दवप्रतिनिधिं शस्त्रमस्तं कुर्वन् वस्त्रं विना जातामिव वस्त्रपामपाकरिष्यामीति; किन्तु सन्धां सन्धाय च क्षात्रसन्धायामन्धायमानस्तपस्या-निर्बन्धाय प्रस्थितवान्। प्रस्थाय च पाशुपतप्रस्थानमास्थाय पशुपतितुष्टिं पुष्टीकर्तुमिच्छन्मुष्टिमितं यत् पांशुं नक्तं नक्तं भुक्तवांस्तत्पांशुमेव मुहुरुपयुक्तवान् ॥४॥

"भाविशोके लोकेहिते हि तादृगेव विहिताऽवहिताऽऽचाराणां वाचामाचारः। पशुपतिस्तु सात्वतपतिमवजानतस्तस्य पुनरपयानं जानन्नपि सात्वतपतेरेव वीर्यप्रचारणाय शरणाऽऽगताऽननुसरणात् कीर्तिदोषमोषाय च जाताऽऽशुतोषायमाणस्तं मत्सरान्तरं वत्सरा-

---

इस प्रकार की बात सुनकर मलिनता से पूर्ण होकर, मर्मस्थान में चूर्णित से होकर, दीन मुखवाले श्रीव्रजराज आदि व्रजजनों ने चलने की शक्ति से युक्त दूसरे योग्य एवं सहनशील दूतों को शीघ्रातिशीघ्र भेज दिया। वे सब योग्य दूत भी बाहर बाहर से ही अनुसन्धान करके चल दिये, किन्तु मार्ग के बीच का अनुसन्धान करके नहीं चले, इतनेपर भी वे व्रजतक नहीं पहुँच पाये, किन्तु चलने के दुःख से निश्चल होकर, बँधे हुए व्यक्तियों की तरह, प्रत्येक मार्ग में ही ठहर गये। वस्तुतः द्वारका में तो यह वृत्तान्त संघटित हुआ कि, पहले श्रीकृष्ण के द्वारा रुक्मिणी का हरण हो जानेपर, एवं श्रीबलदेव आदि यदुवंशियों के द्वारा शिशुपाल के या शाल्व के पक्षपाती जरासन्ध आदि के दर्शन का भी विनाश हो जानेपर, और हितैषीजनों के चेष्टारहित हो जानेपर, अपने को रुक्मिणी का वर माननेवाले शिशुपाल के शोक को शान्त करनेवाले जरासन्ध आदि के सुनते सुनते, दुष्टों में अग्रगण्य शाल्व ने यह प्रतिज्ञा की—॥३॥

यथा—यादवरूप वन के ऊपर दावानल के समान अस्त्र को फेंककर, तुम्हारी लज्जा को वस्त्र के बिना उत्पन्न हुई की तरह दूर कर दूँगा। किन्तु सन्धा (प्रतिज्ञा) करके भी क्षत्रियों की सन्धा (मर्यादा) में अन्धा होकर, तपस्या करने के आग्रह के लिए वहाँ से चल दिया। और चलते ही 'पाशुपत-प्रस्थानमास्थाय' अर्थात् शैवशास्त्र में श्रद्धा करके शिव की प्रसन्नता को पुष्ट करने की इच्छा करता हुआ वह शाल्व एक मुट्ठीभर जिस धूली को प्रत्येक रात्रि में खाता था, उस धूली का ही बारंबार उपयोग करता था ॥४॥

भविष्य में शोक से युक्त लोगों की चेष्टा में, वेदविहित विषय में सावधान आचरणवाले, सज्जनों की वाणियों का आचार उसी प्रकार का होता है। तात्पर्य—यह शाल्व प्रतिदिन एक मुट्ठी धूल खानारूप जैसा कर्म कर रहा है, वैसा ही फल पायेगा, अर्थात् अन्त में भी मरकर धूल ही खायगा। शिवजी तो श्रीकृष्ण का अपमान करनेवाले शाल्व के अपयान को, अर्थात् लड़ाई में पीठ दिखाकर भागने को या परलोक में जाने को जानते हुए भी, श्रीकृष्ण के पराक्रम का प्रचार करने के लिए, एवं शरणागत का

नन्तरं वरं वितरितुमाससार। स तु दुष्टादिमः सन्तुष्टादिव तस्मान्मयमायामयमयोमयं सुरादीनामभेद्यमवेद्यं च यदूनां दूनान्तरतारचनाय गगनयानयानं याचित्वा लब्धवान्; तथापि जितबाणपक्षस्पृगुमापतेस्तु भीत एवाऽऽसीत् ॥५॥

"तावता कालेन शिशुपाले तु लब्धकाले तन्मैत्रीपालेन तेन द्वारकायां द्वारकापति-रहिततामवहितां विधायाऽभियुयुजे। अभियुज्य चाऽलातचक्रवत् तत्पुर्यां वक्रगत्या सर्वतः प्रत्यासन्नतया दिवि भूमावपि कृच्छ्रभूमानमृच्छयामास ॥६॥ "यत्र च—

पेतुर्वक्रगचक्रवातजरजःस्पृक्कर्करासारयुग्,-वृक्षग्रावसवज्रसर्पनिवहा द्योचारिणस्तत्पुरात्।
भूमावुद्भ्रमता तु तेन ससुरप्रासादलीलावन,-प्राकाराजिरगोपुरादिकमभूच्चूर्णीभवद्घूर्णितम् ॥७

"ततश्च, यर्ह्यन्तर्नगरान्तमागमददस्तर्ह्येव लोकद्रवाद्
मारः कृष्णकुमारकः स्वयमगात् तस्याभिमुख्यस्थितिम्।
मा भैष्टेत्यभिजल्पता रथवता येनाऽथ सर्वो जनः
कृष्ण-भ्रान्तिकरेण सान्त्वितदशामासद्य सद्यः स्थितः॥"८॥

"व्रजराज उवाच,—"तस्य बालकस्य किंवाऽऽलम्बनतामन्ये नाऽऽलम्बन्त ?" स्निग्धकण्ठ उवाच,—"कथं नाऽऽलम्बेरन् ?" ॥९॥ "यतः,

---

अनुसरण न करने से कीर्ति में जो दोष लग जाता है, उसको दूर करने के लिए, शीघ्र सन्तुष्ट होनेवाले का व्यवहार करते हुए, डाह से भरे हुए शाल्व के निकट एक वर्ष के बाद, वर देने के लिए उपस्थित हो गये। किन्तु दुष्टों के अग्रसर उस शाल्व ने तो मानो सन्तुष्ट हुए शिवजी से यदुवंशियों के अन्तःकरण को सन्तप्त करने के लिए आकाशचारी रथ माँगकर प्राप्त कर लिया। वह रथ मयदानव की माया से परिपूर्ण था, एवं लोहे का बना हुआ था, तथा देवताओं के भी अभेद्य एवं अज्ञेय था। तथापि वह शाल्व बाणासुर के पक्ष का अवलम्बन करनेवाले शंकर को भी जीतनेवाले श्रीकृष्ण से तो डरता ही रहता था ॥५॥

उतने समय से शिशुपाल के मर जानेपर उसकी मित्रता निभानेवाले शाल्व ने द्वारका में 'श्रीकृष्ण नहीं है, इस बात को समझ कर' द्वारकापर चढ़ाई कर दी। और चढ़ाई करते ही द्वारकापुरी में अलातचक्र (दोनों ओर अग्नि लगी हुई लकड़ी) की तरह टेढ़ीचाल से चारों ओर निकटवर्ती होकर, आकाश में एवं भूमिपर भी महान् कष्ट पहुँचा दिया ॥६॥

और जिस कष्ट के समय शाल्व के आकाशचारी उस विमानरूप पुर से टेढ़ीचाल से चलनेवाले चक्रवात (बवंडर) से उत्पन्न हुई धूलि को स्पर्श करनेवाली कंकड़ों की वृष्टि से युक्त वृक्ष, पत्थर, एवं वज्र के सहित सर्पों के समूह (द्वारका के ऊपर) गिरने लग गये। और भूमीपर घूमते हुए उस विमान के द्वारा देवमन्दिरों के सहित क्रीडावन, परकोटा, आँगन एवं नगर के दरवाजे आदि चूर्ण होकर घूमने लग गये ॥७

उसके बाद शाल्व का वह विमान जब द्वारका के भीतर आगया, तब तो सब लोगों के भाग जाने के कारण, कृष्णपुत्र प्रद्युम्न स्वयं ही शाल्व के सामने डटकर खड़े हो गये। अतः श्रीकृष्ण की भ्रान्ति को उत्पन्न करनेवाले एवं रथ में चढ़नेवाले तथा "भय मत करो" इस प्रकार स्पष्ट कहनेवाले जिन प्रद्युम्न के द्वारा सान्त्वनायुक्त जन की सी दशा को प्राप्त कर समस्त जनमात्र तत्काल स्थिर हो गया ॥८॥

श्रीव्रजराज बोले—अन्य जनों ने उस प्रद्युम्नरूप बालक की सहायता का अवलम्बन नहीं किया क्या ? स्निग्धकण्ठ बोला—क्यों अवलम्बन नहीं करेंगे ? अर्थात् करेंगे ही ॥९॥

योग्यत्वादनपेक्षो यः स सर्वापेक्ष्यतां व्रजेत् । विश्वेषामीश्वरो यद्वद् वेदेषु परिगीयते ॥१०॥

"भद्रबलश्रीर्बलभद्रस्तु पूर्वं श्रीगोविन्देन सत्रा सत्रायाऽप्रयातोऽपि राजगणाऽऽमन्त्रणाऽमत्रायमाणपत्राऽऽगमनानन्तरं तत्राऽयाञ्चक्र इति वर्णितमेव । "यदि च तन्नाभविष्यत्तदा तेन हलिना जितकलिना हलिनाऽऽकृष्टं सर्वत्र कुशलेन मुसलेन च घृष्टं सद् तदयःपुरं तूर्णमेव चूर्णमभविष्यत् । तदविद्यमानत्वादेव च प्रद्युम्न एवाऽत्र प्रधने प्रधानतां दधार ॥"११॥

"व्रजराज उवाच,—"कस्कः स्वकयशस्करतां सहायतया जिघाय ?" ॥१२॥

स्निग्धकण्ठ उवाच,—"गद-साम्ब-सात्यकि-चारुदेष्ण-सानुजाऽक्रूर-हार्दिक्य-भानुविन्द-शुक-सारणादिरखर्वः खर्वसंख्यः सर्व एव यदुगणः ॥"१३॥

"व्रजराज उवाच,—"ततस्ततः ?" स्निग्धकण्ठ उवाच,—"ततश्च,

माया-निर्मितशस्त्रजालमभिनत् तस्याथ सौभं च तत्
तं शाल्वं च यथा यथा मनसिजस्तद्वत् परे चाऽपरान् ।
एवं यर्हि परत्र चित्तमभवत् तेषां तदा तु द्युमां-
स्तत्तस्य द्विषतः सखा स्व-गदया हन्ति स्म वक्षः प्रति ॥१४॥

कारण जो व्यक्ति विशेष योग्य होने के नाते स्वयं दूसरे की (सहायता की) अपेक्षा नहीं करता है, वह सभी का अपेक्षणीय हो सकता है। तात्पर्य—सभीजन उसका सहारा चाहते हैं। देखो, जैसे सर्वेश्वर भगवान् स्वयं निरपेक्ष होकर भी, सबके आश्रयरूप से वेदों में गाये जाते हैं ॥१०॥

यदि कहो कि उस प्रकार के भयंकर युद्ध में श्रीबलदेव ने स्वयं न जाकर प्रद्युम्न को ही क्यों भेज दिया ? इसके उत्तर में कहते हैं कि—श्रेष्ठ बलवाले श्रीबलदेवजी पहले तो श्रीकृष्ण के साथ राजसूय यज्ञ के लिए दिल्ली नहीं गये थे, तो भी राजाओं के समूह को बुलाने के पात्रस्वरूप पत्र के आनेपर वहाँपर चले गये थे, यह पहले ही वर्णन कर दिया है। यदि उनका यज्ञ में जाना न होता तो, युद्धपर विजय पानेवाले हलधर के द्वारा, हलिनाकृष्ट (अपने बड़े विशाल हल से खींचा हुआ) एवं सर्वत्र कुशल (सब जगह निपुण) मूसल के द्वारा चन्दन की तरह रगड़ा हुआ, वह लोहे का पुर शीघ्र ही चूर्ण हो जाता। अतः श्रीबलदेवजी की अनुपस्थिति से ही इस युद्ध में प्रद्युम्न ने ही प्रधानता धारण कर ली ॥११॥

श्रीव्रजराज बोले—उस समय प्रद्युम्न की सहायता के रूप से कौन कौन व्यक्ति अपने यश करने के भाव को प्राप्त हुआ ? ॥१२॥

स्निग्धकण्ठ बोला—गद, साम्ब, सात्यकि, चारुदेष्ण, अपने छोटे भाइयों के सहित अक्रूर, हार्दिक्य, भानुविन्द, शुक, एवं सारण आदि महाबलशाली खर्व संख्यावाले सभी यादवगण प्रद्युम्न की सहायता के निमित्त अपना यश बनाने के भाव को प्राप्त हो गये थे ॥१३॥

श्रीव्रजराज बोले—उसके बाद, उसके बाद ? स्निग्धकण्ठ बोला—उसके बाद प्रद्युम्न ने उस शाल्व की माया से बने हुए शस्त्रसमूह को, एवं उसके सौभ नामक लोहे के पुर को, तथा उस शाल्व को जिस जिस प्रकार भेदन किया, उसी प्रकार दूसरे यादवगण दूसरे शत्रुओं का भेदन करने लगे। इस प्रकार उन यदुवीरों का चित्त जब शत्रुओं के विनाश में लग गया, तब प्रद्युम्न के बैरी शाल्व के सखा द्युमान् ने, अपनी गदा के द्वारा प्रद्युम्न के वक्षःस्थलपर प्रहार कर दिया ॥१४॥

"ततश्च, तस्मादजातव्यथमप्यकस्माद्, गदाहतेर्विस्मयमूढचित्तम् ।
अपोढमात्मानमवेक्ष्य सूते,-नाऽभर्त्सयत् तं मुरशत्रु-पुत्रः ॥१५॥

"ततश्च, मन्मथः सपदि सूतयार्पित,-स्तं द्युमन्तमगमत् पुनश्च सः ।
तस्य साङ्गकशताङ्गमच्छिनत्, कं शताङ्गमकरोद् विभिद्य च ॥१६॥

येऽन्ये वा पातिता देहाः शाल्वीयानां तदा मृधे ।
सिन्धावेवाऽपतंस्ते च वृष्णीनां बाण-शिक्षया ॥१७॥

"तदेवं शाल्ववाहिनीपतिं प्रति कुंभसंभवस्य मनोभवस्य सप्तविंशतावहोरात्रेषु युद्धेन कृतयात्रेषु दुर्निमित्तविलोकं लोकं प्रति निमित्तं विधाय कुरुवृद्धाद्यनुज्ञामात्मनि निधाय त्वरया द्वारकां सन्निधाय सममेव प्रविष्टयुधं हलायुधं पुररक्षणाय प्रणिधाय सोऽयं दैत्यानामवदायकः सर्वनायकः कलहायमानं वैरायमाणमभ्रायमाणप्रायतया शब्दायमानं दुर्दिनायमानं शाल्वमेवाभियुयुजे; यत्र लीलायमानतया स्वयं सुदिनायमानः सञ्जातः ॥१८॥

"तदाविशन्नुरगरिपुध्वजः स्वकैः, परैरपि त्वरितमलोकि सर्वतः ।
रविर्यदा विशति सुरेन्द्र-दिक्तटं, न वीक्ष्यते स्फुटमथ केन वा तदा ? ॥१९॥

उसके बाद उस गदा प्रहार से व्यथित न होनेपर भी अकस्मात् (अचानक) गदा के प्रहार से विस्मय के कारण, मोहित चित्तवाले अपने को सारथि के द्वारा रण से दूर भगाये हुए देखकर, प्रद्युम्न ने सारथि को भारी फटकार लगाई ॥१५॥

उसके बाद सारथि के द्वारा पहुँचाया गया प्रद्युम्न शीघ्र ही उस द्युमान् के पास पहुँच गया। पहुँचते ही प्रद्युम्न ने उसके साङ्गोपाङ्ग रथ को तोड़ दिया, और उसके मस्तक को फोड़ कर सैकड़ों टूक कर दिये ॥१६॥

उस समय युद्ध में शाल्व के पक्षपातियों के जो दूसरे देह गिराये थे, वे उनके देह यदुवंशियों के बाणों की शिक्षा (चतुराई) से समुद्र में ही गिर पड़े ॥१७॥

इस प्रकार शाल्व के सेनापतिरूप समुद्र को सोखने के लिए अगस्त्यस्वरूप प्रद्युम्न के युद्ध के द्वारा सत्ताईस दिन बीत जानेपर, उल्कापात आदि बुरे सगुनों को देखनेवाले लोगों के प्रति कोई बहाना बनाकर, श्रीभीष्म आदि वृद्ध कौरवों की अनुमति को अपने में स्थापित कर, शीघ्रता से द्वारका के निकट आकर, अपने साथ ही युद्ध में प्रविष्ट होनेवाले हलधर को द्वारकापुर की रक्षा के लिए स्थापित करके, दैत्यों के विदारक, सबके नायक, इन श्रीकृष्ण ने प्रद्युम्न आदि के साथ कलह करनेवाले, बैर करनेवाले, अपनी माया से प्रायः बादल करनेवाले, एवं बादल का सा शब्द करनेवाले, और बादलों से ढके हुए दिन की रचना करनेवाले शाल्व के ऊपर ही चढ़ाई कर दी। जिस युद्ध में लीला करते हुए श्रीकृष्ण स्वयं सुन्दर दिन करनेवाले हो गये ॥१८॥

उस समय रणस्थल में प्रवेश करते हुए गरुडध्वज श्रीकृष्ण अपने एवं पराये सभीजनों ने शीघ्र ही चारों ओर से देख लिये। क्योंकि सूर्यदेव जब पूर्वदिशा के तट में प्रवेश करते हैं, तब उनको कौन व्यक्ति स्पष्ट नहीं देखता ? अपितु, सभी देखते हैं ॥१९॥

"तदेवं स्थिते, यदा कार्ष्णिः पार्ष्णिग्राहितां जग्राह, तदा—

"शीर्णसैन्य-निकरेण शार्ङ्गिणे, शक्तिमाशु किरता विकुर्वता ।
दारुकः स्ववपुषास्तृतप्रभु,-र्लक्ष्यतामगमि सौभपालिना ॥२०॥

अथापतन्ती शक्तिः सा महोल्कावदलक्ष्यत । या कृष्णबाणरक्षोभिर्व्योमान्तर्गैरभक्ष्यत ॥२१॥

"अथ वरैः षोडशभिः शरैराविध्य विध्यर्चितचरणैः परितः परीतैस्तैः शाल्वं गलितपल्लव-शाखा-कुलैरावृतं शाखिनमिव चकार । तदैवाऽपरिमाणैर्बाणैः शाल्वपुरमपि सम्मुखविमुख-निर्गततत्तुण्डमण्डलाऽवगुण्ठिततया सीहुण्डवनमिवाऽऽचचार ॥२२॥

"तदेवमाचर्य विचारयति स्म,—'नाऽनेन निरवसानज्ञानबलयोर्वितानेन मम युद्धकौतुक-मुद्बुद्धं स्यात् । तस्माद् भक्तिविनाकृतजनकृतज्ञानबलनिकृतितारहित-प्रकृतिरेवाऽहमज्ञदुर्बल-संभवां तत्तद्विकृतिं प्रत्याययिष्यामि' इति । तत्र तस्याऽन्यमायावशादज्ञानादौ वास्तवताया वादिनस्तु बादरायणिस्ताडनविषयतामनैषीत्, (भा० १०।७७।३०) 'एवं वदन्ति राजर्षे' इत्यादिना ॥'२३॥

"अथ तटस्थतामटन् कृष्णस्तस्य घृष्णजः शरविसरस्पर्शमिषमवलम्बमानः स्वचापं लम्बमानमाचचार । ततश्च कृतहाहाकारे लोकवारे सौभेशाने च विकत्थमाने मुरमथन-

---

ऐसी स्थिति में, जब प्रद्युम्न ने श्रीकृष्ण के पृष्ठरक्षक का भाव ग्रहण कर लिया, तब जिसका सैन्यसमूह छिन्नभिन्न हो गया है, उस शाल्व ने विरोध करते करते, श्रीकृष्ण के प्रति शीघ्र ही शक्ति नामक अस्त्र को फेंकते हुए, स्नेह के कारण अपने शरीर से अपने स्वामी श्रीकृष्ण को ढकनेवाले, दारुक नामक सारथि को ही लक्ष्य बना लिया ॥२०॥

उसके बाद दारुक की ओर आती हुई वह शक्ति बड़ी भारी उल्का (लुक) की तरह दिखाई दी, जो कि आकाश में विचरण करनेवाले श्रीकृष्ण के बाणरूपी राक्षसों ने खा ली, अर्थात् समाप्त कर दी ॥२१॥

उसके बाद विधाता ने जिनके चरणों का पूजन किया था, एवं जो चारों ओर व्याप्त हो रहे थे, उन श्रेष्ठ सोलह बाणों के द्वारा श्रीकृष्ण ने शाल्व को वेधकर, पत्ररहित शाखासमूह से घिरे हुए वृक्ष की तरह बना दिया । और उसी समय अपरिमित बाणों के द्वारा शाल्व के पुर को भी, आगे पीछे निकले हुए उसके मुखमण्डल से ढके हुए होने के कारण सेंहड़ के वन की तरह बना दिया ॥२२॥

इस प्रकार करके श्रीकृष्ण अपने मन में विचारने लगे कि—अनन्तज्ञान एवं बल के इस विस्तार के द्वारा तो मेरा युद्धरूप कौतूहल जागरित नहीं हो सकेगा, इसलिए भक्तिरहितजनों के द्वारा किये गये ज्ञान एवं बल के तिरस्कार से रहित स्वभाववाला होकर ही, मैं अज्ञानी एवं दुर्बल लोगों में होनेवाले उस उस विकार को जना दूँगा । अतः श्रीकृष्ण में उनकी दूसरी माया के वश से अज्ञानादि के विषय में यथार्थता को कहनेवाले मूर्खों को तो श्रीशुकदेवजी ने अपनी ताड़ना का विषय बना लिया है । अर्थात् हे राजन् ! परीक्षित् कोई कोई ऋषि भगवान् में भी अज्ञान एवं मोह का सम्बन्ध वर्णन करते हैं, वह ठीक नहीं हैं, इत्यादि भागवत के कतिपय श्लोकों के द्वारा उनको फटकार लगाई है ॥२३॥

उसके बाद श्रीकृष्ण ने उदासीनता का भाव लेकर, उस धृष्ट शाल्व के बाणसमूह के स्पर्श के बहाने का अवलम्बन करके, अपने धनुष् को अपने हाथ से लम्बा कर दिया, अर्थात् नीचे गिरा दिया । पश्चात् लोकसमूह के हाहाकार करनेपर, एवं शाल्व के अपनी प्रशंसा करने लग जानेपर, श्रीकृष्ण ने उसके कथन

स्तत्कथनमन्यथयन् गदापातेन तमतीव सव्यथं चकार, न पुनः कुतुकसंयोजनाय प्राणै-र्वियोजयाञ्चकार ॥२४॥

"अथ पुनरुपेक्षितः सौभमहीक्षित् तस्मादन्तर्दधे, दधे च मायावितानम् । यत्र खलु देवकीसन्देशहरवेषः पुरुषविशेषः परुषमिदं गोविन्दं विन्दमानं चकार,—'पिता तेऽपयापितः शाल्वेन' इति । गोविन्दश्च तत्र शोकमिव विन्दमानः सन्दिहान इव च पुनरिदं ददर्श । यथा शाल्व एव पुरतः स्व-पुरतः श्रीवसुदेवमिव किमपि दूरतः समानीय क्रूरकर्म विनिर्ममे ॥२५॥

"तदेवं दृष्ट्वा तदाभासेऽपि क्षमामस्पृष्ट्वा लंभिततद्विरोधं बोधमेव प्रबोधयंस्तं सौभस्थ-मेव बुबुधे रुरुधे युयुधे च । यत्र चेदं पूर्वमवादीत्,—'अरे ! भूरिमाय ! रे वञ्चक ! कति कति वञ्चना सञ्चेतव्या ?' इति ॥२६॥ "युद्धं तु यथा—

सर्वैरोजोभिरस्त्रैरपि युधमभितः सन्दधद् बन्ध्ययत्नः
शाल्वः खल्वत्र जज्ञे हरि-विशिखफलं त्वन्वगाल्लक्ष्यमेव ।
तस्मिंस्तिष्ठन् सवर्मा सधनुरपि दलन्मूर्धतां स प्रयास्यं-
स्तत्पूर्वं तद्वदासीद् यदमनुत दशां भाविनीं भूतरूपाम् ॥२७॥

गदा हरेः परमिह सौभमातनो,-न्न चूर्णितं जनमपि चैतदाश्रितम् ।
उडुम्बरं यदि मुषलेन कुट्यते, कथं हठात् कृमिपटलः पलायताम् ? ॥२८॥

को अन्यथा करते हुए, अपनी गदा के प्रहार से शाल्व को अत्यन्त व्यथित कर दिया । किन्तु पुनः कौतुक की योजना करने के लिए उसको प्राणों से रहित नहीं किया ॥२४॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण के द्वारा छोड़ा हुआ शाल्व उस रणभूमि से छिप गया, और माया का विस्तार करने लगा । जिस मायाविस्तार में देवकी के दूत जैसे वेषवाला कोई पुरुष श्रीकृष्ण के प्रति यह कठोर-वाणी पहुँचाने लगा कि "शाल्व तुम्हारे पिता को हर के ले गया ।" श्रीकृष्ण ने भी उस विषय में मानो कुछ शोक एवं सन्देह को प्राप्त कर यह दृश्य देखा, यथा—शाल्व ने सामने ही अपने सौभ नामक पुर से श्रीवसुदेवजी की तरह, कोई वस्तु दूर से लाकर उसका मस्तक छेदनरूप क्रूरकर्म कर डाला ॥२५॥

इस प्रकार के दृश्य को देखकर श्रीवसुदेवजी के आभास के अपमान में भी क्षमा को न छूकर, शोक मोह से विरोध को प्राप्त होनेवाले ज्ञान को ही जगाते हुए, श्रीकृष्ण ने लोहे के बने हुए सौभ नामक पुर में बैठे हुए शाल्व को ही पहचान लिया, भागने से रोक लिया, और उसके साथ युद्ध ठान लिया । जिस युद्ध में पहले यह कहा कि—अरे रे ! अनेक मायावाले वञ्चक ! शाल्व ! तुमको कितनी कितनी धोखेबाजियों का संग्रह करना है बताओ ? ॥२६॥

युद्ध तो इस प्रकार हुआ था, यथा—शाल्व तो इस युद्ध में सब प्रकार के तेजों के द्वारा, एवं सब प्रकार के अस्त्रों के द्वारा, चारों ओर से युद्ध करता हुआ भी, विफल प्रयत्न हो गया । और श्रीकृष्ण के बाणों का अग्रभाग तो शाल्वरूप लक्ष्य को ही प्राप्त हो जाता था । उस लक्ष्य में कवच एवं धनुष् के सहित बैठा हुआ भी शाल्व फटे हुए मस्तक के भाव को प्राप्त होता हुआ, उससे पहले आगे होनेवाली भस्मरूप दशा को बीती हुई जो मान रहा था, उसी की तरह हो गया, अर्थात् श्रीकृष्ण के बाणों से भस्म हो गया ॥२७

इस युद्ध में श्रीकृष्ण की गदा ने शाल्व के सौभपुर को ही केवल चूर्णित नहीं किया; अपितु, उस सौभपुर में बैठे हुए जनमात्र को भी चूर्णित कर दिया । देखो, यदि गूलर का फल मूसल से कूटा जाता है, तो उसमें रहनेवाला कीटों का समूह हठपूर्वक कैसे भाग सकता है ? ॥२८॥

तथा चूर्णीकृतं जज्ञे तदयोमयपत्तनम् । यथाम्बुधिजनिस्त्रीणां नेत्राञ्जनदशां ययौ ॥२९॥
यदाऽब्धावपतत् पूर्णं सौभ-चूर्णं तु सर्वतः । तदा जलाणवस्तस्मादुत्तस्थुर्धूमिका इव ॥३०॥

शाल्वस्तु पूर्वमजहादतिधूर्तचेता,-स्तच्चूर्णनान्न तु कमप्युपदेष्टुमैष्ट ।
यावन्निजोष्ठ-पुटमुद्घटयेत् स तावत्, काष्र्णी गदा न सहते सहसा विलम्बम् ॥३१॥

गदाबलं वीक्ष्य हरेः स मूढधी,-रुद्यम्य यां रौद्र-गदां दधावथ ।
तस्या विदूरेऽस्तु कथा तदास्पदं, भुजं शरेणाऽयममुष्य चाऽच्छिनत् ॥३२॥

"तथापि वितथाभिनिवेशभरेण सव्यकरेण युद्धव्यवसायिनस्तस्य—

"अरुणच्छविचक्रसङ्गमा;-दुदयाद्रिप्रभमूर्तिरच्युतः ।
तमसातिसमस्य विग्रह,-प्रथमांशं विचकार वैरिणः ॥३३॥

यदा सौभं तथा शाल्वः पपाताऽम्भसि वारिधेः ।
तदा स्वर्दुन्दुभिध्वानः कल्लोलध्वनिनाऽऽक्रमि ॥३४॥

अथ स्निग्धकण्ठः समापनमाह स्म,—

"यदर्थं शाल्वान्तप्रधनभवचिन्ताचयमगाद्
व्रजस्वामिन् ! प्राणप्रणशनकरं गोकुलजनः ।

वह लोहमय सौभपुर उस प्रकार से चूर्ण बन गया कि, जिस प्रकार समुद्र से उत्पन्न होनेवाली अप्सराओं के नेत्रों के अंजन की दशा को प्राप्त हो गया, अर्थात् अंजन की तरह सूक्ष्म हो गया ॥२९॥

और सौभपुर का वह चूर्ण सर्वतोभाव से परिपूर्ण होकर जब समुद्र में गिर पड़ा, तब उस समुद्र से जल के परमाणु धुएँ की तरह खड़े हो गये ॥३०॥

अत्यन्त धूर्त चित्तवाले शाल्व ने तो उस सौभपुर को चूर्ण होने से पहले ही त्याग दिया था, किन्तु वह किसी को उसमें से निकलने के उपदेश की इच्छा नहीं कर पाया; क्योंकि वह जबतक अपने ओष्ठपुट का उद्घाटन करे, तबतक श्रीकृष्ण की गदा सहसा विलम्ब नहीं सह पाई, अर्थात् गदा ने उसके ओष्ठ खुलने से पहले ही उसको समाप्त कर दिया ॥३१॥

श्रीकृष्ण की गदा के बल को देखकर उस मूढबुद्धि शाल्व ने उद्योग करके जो भयंकर गदा धारण की थी, उस गदा की बात तो दूर रहने दो। देखो, श्रीकृष्ण ने उस गदा की आधाररूप शाल्व की भुजा भी बाण के द्वारा काट दी ॥३२॥

तो भी व्यर्थ अभिनिवेश की अधिकतावाले अपने बायें हाथ से युद्ध की चेष्टा करनेवाले, एवं अन्धकार के साथ अतिशय तुलनावाले उस बैरी शाल्व के शरीर के प्रथम अंश को, अर्थात् मस्तक को, अरुण की सी छविवाले सुदर्शनचक्र के संयोग से, उदयाचल की सी मूर्तिवाले श्रीकृष्ण ने काट दिया ॥३३॥

जिस समय सौभपुर तथा वह शाल्व ये दोनों ही समुद्र के जल में गिर पड़े, उस समय स्वर्ग के नगाड़ों के शब्द तरङ्गों की ध्वनि से छिप गये ॥३४॥

तदनन्तर स्निग्धकण्ठ प्रसङ्ग की समाप्ति का द्योतक वचन बोला—हे श्रीव्रजराज ! देखो, यह व्रज का जनमात्र जिन श्रीकृष्ण के लिए प्राणों को नष्ट करनेवाले, एवं शाल्वयुक्त युद्ध से होनेवाली चिन्ताओं के

स एवाऽयं पूर्णं सपदि भवदङ्कं विरचयन्
रुचोभिः स्वामिस्तं विरचयति फुल्लं तव सुतः ॥" इति ॥३५॥

अत्र व्रजवन्दिनश्च तद्वन्दितामाप्नवन्तः; यथा—

पार्थ-क्रतुराजप्रथ ! दिव्यद्रवसंपद्रथ,-शब्दप्लुतदिग्दन्तिक ! आप्तस्वकपुर्यन्तिक ! । दृष्टोद्भटसौभक्रम-स्पृष्टोन्नतिभाग्विक्रम ! । बाणच्छितशाल्वादिक-शस्त्रप्रतिशस्त्राधिक ! ॥ काण्डस्तृतसौभस्थल ! शाल्वच्छललङ्घिच्छल ! । अज्ञं प्रति दत्तभ्रम ! विज्ञं प्रति सद्विभ्रम ! । छिन्नप्रतिहन्त्रस्त्रक ! तत्ताडनजिच्छत्रक ! । सौभक्षयकृत्सद्गद ! धूतप्रतिकृत्तन्मद ! ॥ तद्दक्षिणदोर्हृच्छर ! चक्रक्षिततत्कन्धर ! । एवं कृततत्तत्क्रिय ! त्वं राजसि गोष्ठप्रिय ! ॥ वीर ! इति ॥३६॥

तदेवं सर्वे कथामापूर्य सुखपूर्यमाणतया तूर्यं वादयन्त इव यथास्वं पथा चलितवन्तः ॥३७॥

अथ रात्रावपि तदेतन्मात्रा वार्ता श्रीराधा-माधवसदसि पदतामादधे; या खल्वेकपद्यमयी प्रतिपद्यते ॥३८॥ यथा—

भाति यद्वत् प्रियो लब्धः पुष्णन्नेष त्वदक्षिणी ।
राधे ! वार्ताप्यथो तस्य श्रवसी तव पोक्ष्यति ॥ इति ॥३९॥

समूह को प्राप्त हो गया था, वे ही तुम्हारे पुत्र ये श्रीकृष्ण, अपनी कान्तियों के द्वारा आपकी गोद को परिपूर्ण करते हुए, व्रज के जनमात्र को प्रफुल्लित कर रहे हैं ॥३५॥

इस प्रसङ्ग के विषय में व्रज के वन्दीजन श्रीकृष्ण के वन्दीभाव को प्राप्त हो गये, अर्थात् उनकी स्तुति करने लग गये। यथा—हे व्रज के प्यारे वीरवर ! श्याम ! आज आप अपने व्रज में विराजमान हो ! श्रीयुधिष्ठिरजी के राजसूय यज्ञ की ख्याति आपके द्वारा ही हुई है ! दिव्य वेगरूप सम्पत्तिवाले आपके रथ के शब्द से दिग्गज भी भाग जाते हैं ! आप उस रथ के द्वारा अपनी द्वारकापुरी के निकट पहुँचे थे ! शाल्व की उद्भट परिपाटी को देखकर एवं उसके स्पर्श से आपका पराक्रम उन्नति से युक्त हो गया था ! और शाल्व आदिकों के शस्त्र प्रतिशस्त्रों को अपने बाणों के द्वारा नष्ट कर देने से आप सबसे अधिक हैं ! आपने बाणों के द्वारा सौभ के स्थल को ढक लिया था ! शाल्व के छल को लंघन करनेवाले छल से युक्त आप ही हैं ! इस लीला में अज्ञानियों को भ्रम देनेवाले भी आप हैं ! एवं विज्ञजनों के प्रति भ्रम के निवारक भी आप ही हैं ! विपक्षी शाल्व के अस्त्रों को भी आपने काटा है ! तथा शाल्व के द्वारा की गई ताडना को जीतनेवाले शस्त्र भी आपके हैं ! सौभपुर को नष्ट करनेवाली सुन्दर गदा आपकी ही है ! अतः शाल्व के मद को आपने ही उड़ाया है ! उसकी दाहिनी भुजा को हरनेवाले बाण आपके ही हैं ! चक्र के द्वारा उसके गले को काटनेवाले आप ही हैं ! इस प्रकार युद्ध में उन उन क्रियाओं को करनेवाले आप ही हैं ! ॥३६॥

इस प्रकार कथा को परिपूर्ण करके सभी वन्दीजन सुख से परिपूर्ण होकर तुर्री बजाते हुए से यथा-योग्य मार्ग से अपने घर को चल दिये ॥३७॥

पश्चात् रात्रि में भी श्रीराधा-माधव की सभा में यहाँतक की वार्ता स्थान को अङ्गीकार कर गई, जो कि एक श्लोकमयी जानी जाती है ॥३८॥

यथा—हे श्रीमति राधिके ! देखो, ये तुम्हारे प्यारे श्यामसुन्दर जो कि तुमको पुनः प्राप्त हो गये हैं,

तदेवं सुखवशान्तस्तया सर्वे निशान्तमासन्ना रहसि तु श्रीराधा स्वकान्तमिति ॥४०॥

इति श्रीश्रीमदुत्तरगोपालचम्पूमनु नष्टशाल्वतास्पष्टानन्दं नामाष्टाविंशं पूरणम् ॥२८॥

अथैकोनत्रिंशं पूरणम्

भाविकथा-प्रथनम्

अथ भाविकथान्तरावतारणाय क्रमात् प्रमाणं निरूप्यते। तदेवं तत्र मङ्गलभजने स्थिते व्रजजने पुनरत्र दुःस्थिते पूर्णिमा-वृन्दे अपूर्णमनस्तया विविक्तमनु विविक्तवत्यौ। तथा हि,—यदा केशिमथनस्य व्रजान्मथुरागमनसमनन्तरमेव तज्जनदुःखमीक्षितुमक्षमतया तदतिदूरक्षितिस्थितितां गतयोर्मधुमङ्गलसङ्गतवृन्दापूर्णिमयोश्चिरमेकान्तवननिशान्तताऽऽसीत्। तदा च नानासंवदमानयोरनयोः संप्रति संवदनमेवं बभूव ॥१॥ यथा—

"यदा शाल्वयुद्धमुद्बुद्धं तद्दुःखेन च गोष्ठं रुद्धम्, तदा तत्तद्वृत्तं विन्दमाना वृन्दा सरुदितमुदितवती,—'भगवति! किमनन्तरमन्तरं भवितेति न प्रविशति मे हृदयम्।' "अथ पूर्णिमा गद्गदपूर्णं गदति स्म,—'मम च विगमितसर्वालोकेन शोकेन वपुरपि न स्फुरति, किमुत पुरःस्थितमास्तां तावदपुरःस्थितम्?' ॥२॥

(अपने मनोहर दर्शन से) तुम्हारे दोनों नेत्रों को पुष्ट करते हुए जिस प्रकार शोभा पा रहे हैं, उसी प्रकार उनका वृत्तान्त भी तुम्हारे कर्णयुगल को परिपुष्ट कर देगा ॥३९॥

इस प्रकार सभी श्रोता सुख में निमग्न चित्तवाले होकर अपने अपने घर में पहुँच गये, एवं श्रीराधिकाजी एकान्त में अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के पास पहुँच गईं ॥४०॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रिविरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीमदुत्तरगोपालचम्पूकाव्ये नष्टशाल्वता-स्पष्टानन्दं नाम
अष्टाविंशं पूरणं सम्पूर्णम् ॥२८॥

उनतीसवाँ पूरण

भावी कथा का विस्तार

इस उनतीसवें पूरण में आगे होनेवाली कथा के प्रमाण विस्तारपूर्वक वर्णित होंगे।

अब आगे होनेवाली दूसरी कथा के अवतरण के लिए क्रमशः प्रमाण निरूपित करते हैं। अतएव इस प्रकार मङ्गल से युक्त व्रजवासीजन जब गोलोक में स्थित हो गये, तब इस प्रापञ्चिक व्रज में धैर्य से रहित हुईं पूर्णिमा एवं वृन्दादेवी दोनों ही, अपूर्ण मनवाली होकर एकान्त में विचारने लगीं। देखो, श्रीकृष्ण के व्रज से मथुरा चले जाने के बाद ही, व्रजवासियों के दुःख को देखने में असमर्थ होने के कारण, व्रज से बहुत दूरवाली भूमि में ठहरनेवाली, एवं मधुमङ्गल से सम्मिलित हुईं वृन्दा एवं पूर्णिमा दोनों का ही बहुत दिनतक जब एकान्त वन में ही निशान्त (घर) में रहने का सा भाव हो गया था, अर्थात् जब एकान्त में ही घर की तरह रहने लगी थीं, तब अनेक प्रकार के संवाद करनेवालीं इन दोनों देवियों का संवाद इस समय इस प्रकार हुआ था—॥१॥

यथा—जब शाल्व का युद्ध जागृत हो गया था एवं उसके दुःख से व्रज अवरुद्ध हो गया था, तब उस उस वृत्तान्त को प्राप्त करती हुई वृन्दादेवी रोती हुई बोली—हा! भगवति! इसके बाद अन्तर, अर्थात्

"वृन्दाऽऽह,—'योगमायाया भवत्याः स्वगोपनार्थमेव तपस्विवेषेण भवन्त्याः कथं मध्ये मध्ये ज्ञानं पराहन्यते ?' "पूर्णिमाऽऽह,—'लीलाशक्तिरूपवत्या भवत्या यथा ।' "वृन्दाह—'तच्च कथम् ?' "पूर्णिमाह,—'या काचिदेका रति-प्रेम-प्रणय-रागाऽनुराग-महाभावपर्यन्तवृत्तिमयी प्रीतिनाम्नी हरेः शक्तिर्विराजते, सा सर्वतः प्रबला याऽस्मदादीनां परमाश्रयरूपं श्रीकृष्णमपि शश्वन्मोहयति; यथा (भा० १०।१३।१६)—

'ततो वत्सानदृष्ट्वैत्य पुलिनेऽपि च वत्सपान् ।
उभावपि वने कृष्णो विचिकाय समन्ततः ॥' इति ॥३॥

"वृन्दाह,—'तदेतदपि सार्वत्रिकं न दृश्यते; कारणं तु न परामृश्यते ।' "पूर्णिमाह,—'सप्रेमभक्तानां निकटीभावत एव सा शक्तिः श्रीकृष्णेऽपि रुचिं प्रकटय्य प्रकटीभवति ।' "वृन्दाह,—'प्रस्तुते किमायातम् ?' "पूर्णिमाह,—परमप्रेमवतां श्रीमति व्रजे वसतां सङ्गाद्-वयमपि, किं बहुना ? श्रीकृष्णः स्वयमपि प्रेमगङ्गा-प्रवाहमनु मग्ना उन्मग्नाश्च भवन्तः संविदमसंविदं च प्रतिपद्यामहे' इति । "वृन्दाह,—तर्हि काऽस्मदाशाया गतिः ?' ॥४॥

दूसरा कौन सा चरित्र उपस्थित होगा, वह मेरे हृदय में प्रविष्ट नहीं हो रहा है ? अनन्तर पूर्णिमा गद्गदपूर्ण स्वर से बोली—जिसके द्वारा सभी वस्तुओं का देखना या अनुसन्धान ये सभी दूर हो जाते हैं, उस शोक के द्वारा मुझे तो अपना शरीर भी प्रतीत नहीं हो रहा है, फिर सामने रखी हुई वस्तु कैसे प्रतीत हो सकती है ? अतः दूर में रहनेवाली वस्तु की बात तो बहुत दूर रहने दो ॥२॥

वृन्दा बोली—आप तो योगमाया हैं और अपने स्वरूप को छिपाने के लिए ही तपस्विनी का सा वेष धारण कर रही हो, फिर आपका भी ज्ञान बीच बीच में किस प्रकार विलुप्त हो जाता है ? पूर्णिमा बोली—तुम भी तो लीलाशक्ति स्वरूप हो, जैसे तुम्हारा ज्ञान बीच बीच में विलुप्त (दूर) हो जाता है, उसी प्रकार मेरा भी हो जाता है । वृन्दा बोली—वह किस प्रकार ? पूर्णिमा बोली—रति, प्रेम, प्रणय, राग, अनुराग आदि महाभावपर्यन्त वृत्तिवाली श्रीकृष्ण की प्रीति नामक जो कोई एक (अनिर्वचनीय)शक्ति विराजमान है, वह शक्ति सब शक्तियों से प्रबल है, क्योंकि जो प्रीति नामक शक्ति हमारे तुम्हारे इत्यादि सभी के आश्रय-स्वरूप श्रीकृष्ण को भी निरन्तर मोहित करती रहती है (प्रभु अपनी चिन्मयी प्रीति से अपने आप विमुग्ध हो जाते हैं । यदि ऐसा न होता तो, ब्रह्मा के द्वारा चुराये हुए बछड़ा आदि के लिए व्यस्त होकर इधर उधर ढूँढ़ते हुए क्यों घूमते ? सर्वज्ञ होकर भी अज्ञ बन जाना, यह स्वतःसिद्ध स्वकीय लीलाशक्ति का कार्य है । विरुद्धधर्मों का आश्रय ईश्वर में ही सम्भव है । क्योंकि वह अचिन्त्य एवं ज्ञानातीत है) यथा—श्रीकृष्णचन्द्र ब्रह्मा के द्वारा चुराये हुए बछड़ाओं को न देखकर, वहाँ से लौटकर, यमुना पुलिन में ग्वाल-बालों को भी न देखकर, दोनों को ही वन में चारों ओर ढूँढ़ने लग गये । तात्पर्य—सर्वज्ञ होकर भी अज्ञ की भाँति विमुग्ध होकर वन वन में बछड़ा ढूँढ़ना, यह सब कार्य 'प्रीति' नामक उनकी अचिन्त्य शक्ति का ही है ॥३॥

वृन्दा बोली—"प्रीति के द्वारा श्रीकृष्ण का विमुग्ध हो जाना" यह भाव भी सर्वत्र नहीं देखा जाता है । और इसका कारण भी विचार में नहीं आता है । पूर्णिमा बोली—निर्मल प्रेम से भरे हुए भक्तों की निकटता से ही वह प्रीतिशक्ति श्रीकृष्ण में भी रुचि को प्रगट करके स्वयं प्रगट हो जाती है । वृन्दाबोली—कहिये, तो इस प्रस्तुत विषय में क्या तात्पर्य हाथ लगा ? पूर्णिमा बोली—परमशोभासम्पन्न श्रीव्रज में

"पूर्णिमाह,—'भवत्या इव स्वप्नेऽपि परिदेवनामेव सेवमानायाः कृतक्षपणायामनन्तर-क्षपायां कोऽपि गोपितात्मा पुरुषः पुस्तकमिदं मम हस्तविन्यस्तं चकार। विचारय तदिदमिति वदन् पुनरवदन्नेव कुत्रापि चचार च। ततस्त्वमत्र काचकामलामलकारदुष्पारवाष्पानुमोचन-परलोचनायां मयि लोचनायमाना भव ॥'५॥ "वृन्दा तु तद्वन्दमाना प्रोवाच,—

'पर्णेषु स्वर्णवर्णेष्वमरपतिमणिप्रख्यताबर्ण्यवर्णै-
र्निर्वर्ण्यैर्गाढतम्यामपि चितमभितो रत्नसङ्कीर्णगात्रम्।
आमुक्तस्वच्छमुक्ता-गुणमिदमनु यत् पुस्तक कृष्णशोभं
तद्वस्त्रादिप्रयुक्तं स्वयमिह स इव प्रादुरस्तीति विद्मः ॥'६॥

"पूर्णिमा सानन्दमाह,—'तर्हि परममर्हितमेव तदिदमस्मन्मनः संविदं विदितां करिष्यतीति त्वरितमेव वाचय ॥'७॥

"वृन्दा सप्रमदवृन्दं तद्वाचनास्पदमाऽऽचचार। प्रथमं तावद् बहिर्विहितान्नामवर्णान् निर्वर्णयन्ती वर्णयामास,—'अत्र कलितत्वद्भागधेयं श्रीमद्भागवतभागसंभागजागरूकं पाद्मोत्तर-खण्डस्य खण्डं निध्येयम्, मध्ये मध्ये तत्तत्पोषणाय सञ्चितं किञ्चिदन्यदन्यदपि' इति ॥८॥

निवास करनेवाले परमप्रेमी व्रजवासियों के सङ्ग से हम भी "और अधिक क्या कहे ?" स्वयं श्रीकृष्ण भी प्रेमरूप गङ्गा के प्रवाह में निमग्न एवं उन्मग्न होते हुए, ज्ञान एवं अज्ञान को प्राप्त होते रहते हैं। वृन्दा बोली—तब श्रीकृष्ण का पुनः व्रज में आनारूप हमारी आशा की कौन सी गति होगी ? ॥४॥

पूर्णिमा बोली—मैं तुम्हारी तरह स्वप्न में भी जब विलाप का ही सेवन कर रही थी, तब बीती हुई रात्रि के अन्तिमभाग में किसी पुरुष ने अपने स्वरूप को छिपाकर, यह पुस्तक मेरे हाथपर धर दी। और वह पुरुष "तुम इस पुस्तक को विचार लो" इस प्रकार कहते कहते, पुनः कुछ भी न कहता हुआ, कहींपर चला गया। काच एवं कामला नाम के ये दोनों नेत्र के रोग कहलाते हैं। इन दोनों रोगों को उत्पन्न करनेवाले अपार आँसू मेरे नेत्रों से गिर रहे हैं, अर्थात् मैं श्रीकृष्णविरह में रोते रोते प्रायः अन्धी हो गई हूँ, अतः तू ही मेरे विषय में नेत्रों का सा व्यवहार करनेवाली बन जा, अर्थात् इस पुस्तक को तू ही पढ़कर सुना दे ॥५॥

वृन्दा तो उस पुस्तक की वन्दना (स्तुति) करती हुई बोली—यह पुस्तक जिस कारण से श्रीकृष्ण की सी शोभावाली है, एवं उनके पीताम्बर आदि से संयुक्त है, उसी कारण से हमें तो ऐसा समझ में आता है कि, यहाँपर वे श्रीकृष्ण ही इस पुस्तक के रूप में स्वय प्रगट हो गये हैं। क्योंकि यह पुस्तक सुवर्ण के से वर्णवाले पत्रोंपर इन्द्रनीलमणि की सी शोभावाले, एवं घने अन्धकारवाली रात्रि में भी स्पष्ट दिखाई देनेवाले अक्षरों से चारों ओर से भरी पड़ी है, एवं इस पुस्तक की जिल्द रत्नों से जड़ी हुई है, तथा इसके धागे स्वच्छ मोतियों से बँधे हुए हैं ॥६॥

पूर्णिमा आनन्दपूर्वक बोली—तब तो यह पुस्तक परमपूजित है, एवं हमारे मन के संविद् को अर्थात् विचार, संकेत या सन्तोष को विदित कर देगी, अतः तुम इसको शीघ्र ही बाँच दो ॥७॥

यह सुनते ही वृन्दादेवी आनन्दवृन्द के सहित उस पुस्तक को बाँचने लग गई। पहले वह पुस्तक के बाहरी पृष्ठपर लिखे हुए नाम के अक्षरों को देखती हुई वर्णन करने लगी कि—इस पुस्तक में आपके सौभाग्य का प्रदर्शन करनेवाला, एवं श्रीमद्भागवत के किसी अंश के सेवन करने में, अर्थात् अनुगमन करने

"अथ प्रथमं पठ्यतामिति पूर्णिमा-कथनानन्तरं वृन्दा पपाठ,—"अथ श्रीभागवतपद्यानि, (भा० १०।७७।३७, १०।७८।१-३)—

'तस्मिन् निपतिते पापे सौभे च गदया हते। नेदुर्दुन्दुभयो राजन्! दिवि देवगणेरिताः।
सखीनामपचितिं कुर्वन् दन्तवक्रो रुषाऽभ्यगात्॥
शिशुपालस्य शाल्वस्य पौण्ड्रकस्यापि दुर्मतिः। परलोकगतानां च कुर्वन् पारोक्ष्यसौहृदम्॥
एकः पदातिः संक्रुद्धो गदापाणिः प्रकंपयन्। पद्भ्यामिमां महाराज! महासत्त्वो व्यदृश्यत॥
तं तथाऽऽयान्तमालोक्य गदामादाय सत्वरः। अवप्लुत्य रथात् कृष्णः सिन्धुं वेलेव प्रत्यधात्॥'
इत्यादि॥९॥

"तदन्ते च (भा० १०।७८।८-१३,१५),—

'कृष्णोऽपि तमहन् गुर्व्या कौमोदक्या स्तनान्तरे॥
गदानिर्भिन्नहृदय उद्वमन् रुधिरं मुखात्। प्रसार्य केशान् बाह्वंघ्री धरण्यां न्यपतद् व्यसुः॥
ततः सूक्ष्मतरं ज्योतिः कृष्णमाविशदद्भुतम्। पश्यतां सर्वभूतानां यथा चैद्यवधे नृप!॥
विदूरथस्तु तद्भ्राता भ्रातृस्नेहपरिप्लुतः। आगच्छदसि-चर्मभ्यामुच्छ्वसंस्तज्जिघांसया॥
तस्य चापततः कृष्णश्चक्रेण क्षुरनेमिना। शिरो जहार राजेन्द्र! सकिरीटं सकुण्डलम्॥
एवं सौभं च शाल्वं च दन्तवक्रं सहानुजम्। हत्वा दुर्विषहानन्यैरीडितः सुरमानवैः॥
वृतश्च वृष्णिप्रवरैर्विवेशालंकृतां पुरीम्॥' इति॥१०॥

में तत्पर, पद्मपुराण के उत्तरखण्ड का जो अंश है वह देखने योग्य है। और बीच बीच में भागवत के अंश की पुष्टि करने के लिए संचित कुछ दूसरा दूसरा विषय भी निरीक्षण करने योग्य है॥८॥

अच्छा, तो पहले श्रीमद्भागवत के अंश को ही पढ़िये। इस प्रकार पूर्णिमा के कहने के बाद वृन्दा पढ़ने लगी—अब श्रीमद्भागवत के श्लोक प्रदर्शित होते हैं। हे राजन्! परीक्षित्! देखो, उस पापी शाल्व के मर जानेपर एवं उस लोहमयपुर के गदा के द्वारा चूर्णित हो जानेपर, देवगणों के द्वारा बजाये गये नगाड़े आकाश में बजने लग गये। उसके बाद परलोक में गये हुए शिशुपाल, शाल्व, एवं पौण्ड्रकवासुदेव आदि अपने मित्रों का बदला लेता हुआ, एवं उनकी आँखों के पीछे भी मित्रता का निर्वाह करता हुआ, दुर्मति दन्तवक्र क्रोधपूर्वक श्रीकृष्ण के सम्मुख चल दिया। हे महाराज! वह दन्तवक्र अकेला ही पैदल एवं क्रुद्ध होकर, हाथ में गदा लेकर, अपने पैरों से इस पृथ्वी को कम्पित करता हुआ, बड़ा बलशाली दिखाई दिया। श्रीकृष्ण ने उसको उस प्रकार आते हुए देखकर, शीघ्रतापूर्वक अपनी गदा लेकर, रथ से कूदकर, किनारा जैसे समुद्र को रोक लेता है, उसी प्रकार उसको रोक लिया॥९॥

और उसके बाद श्रीकृष्ण ने भी कौमोदकी नामक बड़ी भारी गदा से उसके वक्षःस्थलपर प्रहार किया। जिसका वक्षःस्थल गदा से फट गया था, वह दन्तवक्र मुख से रुधिर को उगलता हुआ, अपने केश, भुजा एवं चरणों को फैलाकर प्राणरहित होकर, धरतीपर गिर पड़ा। हे राजन्! उसके बाद शिशुपाल के मरनेपर जैसे उसके शरीर से निकल कर सूक्ष्मतेज श्रीकृष्ण में मिल गया था, उसी प्रकार दन्तवक्र के देह से भी निकला हुआ अत्यन्त सूक्ष्म एवं अद्भुत तेज, सभी प्राणियों के देखते देखते श्रीकृष्ण में प्रविष्ट हो गया। पश्चात् दन्तवक्र का भाई विदूरथ भ्रातृस्नेह में भरकर, श्रीकृष्ण के मारने की इच्छा

"पूर्णिमा प्राह स्म,—'अत्रेदमधिगतम्, यदा शाल्ववधः संबद्धस्तदा गदामादाय दन्तवक्रःसन्नद्धस्तत्र चंक्रम्यते स्म; श्रीकृष्णगदयाऽप्युत्क्रम्यते स्म।' इति ॥११॥

"अथ तदन्ते तदन्तेवासिनी वृन्दा सन्दिदेह,—'भगवति ! तदिदं मम मतिमतीतम्। कदा नामाऽवधारितवान् विदूरधामा दन्तवक्रनामा तत्क्षणारब्धशाल्ववधाऽभिधानम्। अवधारयतु वा कथं तदैव दैवतमिव दूरनिजदेशात् तद्देशं प्रविवेश। तत्रापि गदापाणिः सन् पदातिरेव केवल एव चेति कथमिव ?' ॥१२॥

"पूर्णिमा प्राह स्म,— 'उत्कृष्टं पृष्टम्; किन्तु तदनन्तरवाचनयापि रोचय निजवाचम्।'

"वृन्दा तदपि वाचयति स्म,—'अथ पाद्मोत्तरखण्डगद्यानि—'अथ शिशुपालं निहतं श्रुत्वा दन्तवक्रः कृष्णेन योद्धुं मथुरामाजगाम। कृष्णस्तु तच्छ्रुत्वा रथमारुह्य तेन योद्धुं मथुरामाययौ, तयोर्दन्तवक्रवासुदेवयोरहोरात्रं मथुरा-द्वारे संग्रामः समवर्तत। कृष्णस्तु गदया तं जघान। स तु चूर्णितसर्वाङ्गो वज्रनिर्भिन्नमहीधर इव गतासुरवनीतले पपात' इति ॥१३॥

से, ढाल तलवार लेकर, लम्बे लम्बे श्वास लेता हुआ आगया। हे राजन् ! आते हुए उस विदूरथ के मुकुट एवं कुण्डलों से युक्त सिर को, श्रीकृष्ण ने छुरे की सी पैनो धारवाले चक्र से काट डाला। इस प्रकार दूसरेजनों के असह्य शाल्व के लोहमयपुर को, शाल्व को, एवं छोटे भाई विदूरथ के सहित दन्तवक्र को मारकर, श्रीकृष्ण देवता एवं मनुष्यों द्वारा प्रशंसित होकर, तथा श्रेष्ठ यदुवंशियों से घिरकर, सजी हुई द्वारकापुरी में प्रविष्ट हो गये ॥१०॥

पूर्णिमा बोली—यहाँपर यह जाना गया कि, जब शाल्व का वध हो गया, तब दन्तवक्र गदा लेकर, कवच पहन कर, लड़ाई के लिये तैयार होकर, कुटिल गति से चला आया, और श्रीकृष्ण की गदा से मारा गया ॥११॥

उसके बाद पूर्णिमा की शिष्या वृन्दा सन्देह करने लगी—भगवति ! यह विषय मेरी बुद्धि से परे है, क्योंकि दन्तवक्र का वासस्थान (करूषदेश) बहुत दूर था, अतः तत्काल आरम्भ हुए शाल्व के वध के कथन को दन्तवक्र ने कब निश्चित कर लिया। अथवा (श्रीनारदजी के द्वारा) वह निश्चित भी कर ले तो भी, उसी समय दूरवर्ती अपने देश से देवता की तरह उस मथुराप्रदेश में कैसे प्रविष्ट हो गया ? और उसमें भी हाथ में गदा लेकर पैदल ही पुनः अकेला ही कैसे आ गया ? ॥१२॥

पूर्णिमा बोली—बहुत ऊँची बात पूछी है। किन्तु उसके बाद लिखे हुये लेख को बाँचकर भी अपनी वाणी को सुशोभित करो। वृन्दा उसको भी बाँचने लग गई। अब पद्मपुराण के उत्तरखण्ड के गद्य प्रदर्शित होते हैं—"अनन्तर शिशुपाल को मरा हुआ सुनकर, दन्तवक्र श्रीकृष्ण के साथ युद्ध करने को मथुरा में चला आया। श्रीकृष्ण भी उस समाचार को सुनकर रथ में चढ़कर उसके साथ युद्ध करने को मथुरा में चले आये। दन्तवक्र एवं श्रीकृष्ण, उन दोनों का संग्राम मथुरापुरी के द्वारपर (जहाँपर दन्तवक्र मारा गया था वह स्थान आजकल 'दतिहा' नाम से व्रज में प्रसिद्ध है। यह एक छोटा सा गाँव है, एवं वज्रनाभ के द्वारा स्थापित है) एक दिनराततक प्रवृत्त हुआ था। श्रीकृष्ण ने अपनी गदा से उसको मार दिया। वह तो सर्वाङ्ग चूर्ण होकर वज्र के द्वारा विदीर्ण हुए पर्वत की तरह, प्राणहीन होकर भूतलपर गिर पड़ा" ॥१३

"तदेवं वाचयित्वा वृन्दा पप्रच्छ,—'तदिदं पुराणद्वयं प्रत्युत परस्परं विरुद्धमिव बुद्धम्' इति ॥१४॥

"एतदुत्तरं पूर्णिमायाः पुनस्तत्तद्वचनलब्धविज्ञानपूर्णितताया उत्तरम्—'नहि नहि, किन्तु श्रीमद्भागवतस्य तावदसंबद्धभाषिता न संभवति। तथा पुराणान्तरेण संभवति चैकवाक्यत्वे वाक्यभेदो न न्याय्य इति वाक्यैकवाक्यताऽन्यथाऽनुपपत्त्या तदिदं गम्यते। यत्र प्रथमं शाल्वस्येव शिशुपालेन सह राजसूयमनागतस्य तस्य पृथ्वीप्रकंपनगतिसंपत्तया महासत्त्वतया सिन्धुतया वज्रनिर्भिन्नमहीधरतया च पठिततया सहसा प्रबलतमतां प्राप्तः सोऽयमित्यवगतस्य स्मरहराराधनं तर्क्यते; यत एव वराभासेन निर्वास्यतः प्रदीपस्येव प्रज्वलतस्तस्य निजपूर्वदेहहिरण्याक्षवदाविर्भूतमहादेहादितयाऽवगतस्यातिदूरादपि पादघात-प्रतीकसङ्घातयोरनुसन्धानमदुःसन्धानमवधीयते। तत्र च सति मनोरथपथगति-प्रथकस्य मुरमथनरथस्य च वैभवं सुसंभवमवगम्यते। तथा हरिलिप्सितसंप्रहारलीलां वलयितुर्मनोजवतां कलयितुस्तत्तद्वृत्तसञ्चारणाविशारदस्य श्रीनारदस्य च साहायकमुदीक्ष्यते। तदेवमेव श्रीभागवते (१०।७७।३७, १०।७८।१)—'सखीनामपचितिंकुर्वन् दन्तवक्रो रुषाऽभ्यगात्';

इस प्रकार बाँचकर वृन्दा ने पूछा कि—श्रीमद्भागवत एवं पद्मपुराण, ये दोनों पुराण बल्कि परस्पर विरुद्ध जैसे समझ में आ रहे हैं। कारण श्रीकृष्ण एवं दन्तवक्र के मथुरा में आने के सम्बन्ध में कुछ आगे पीछे का सा भाव वर्णित है, इस बात को खोलकर समझा दें ॥१४॥

इस प्रश्न के बाद उन उन पूर्वोक्त वचनों से प्राप्त हुए विज्ञान से परिपूर्ण हुई पूर्णिमा का उत्तर, यथा—नहीं नहीं अर्थात् तुम, जैसे विरोध समझती हो वैसे नहीं है। किन्तु श्रीमद्भागवत पुराणों का राजा है, अतः उसका कथन कदापि असंबद्ध नहीं हो सकता है। तथा पद्मपुराण आदिरूप दूसरे पुराणों से एकवाक्यता सम्भव हो जानेपर वाक्य भेद मानना उचित नहीं है। इसलिए एकवाक्य के साथ दूसरे वाक्य की एकवाक्यता की अन्यथा सिद्धि से यह जाना जाता है कि, जहाँपर पहले शाल्व, जैसे राजसूय में नहीं गया था, उसी प्रकार वह दन्तवक्र भी शिशुपाल के साथ राजसूय में नहीं आया था। और जिसके विषय में भागवत में यह पढ़ा गया है कि, वह दन्तवक्र पृथ्वी को कम्पित करनेवाली गतिरूप सम्पत्ति से युक्त था, महापराक्रमी था, समुद्र के समान दुस्तर था, एवं वज्र की तरह अपनी गदा से पर्वतों को फोड़ देता था, इसीलिए वह सहसा अतिशय प्रबलता को प्राप्त होगया था, अतः इस प्रकार से जाने गये दन्तवक्र के सम्बन्ध में यही तर्कना की जाती है कि—राजसूय यज्ञ के समय वह शिवजी की आराधना में लगा होगा (अतः यज्ञ में नहीं आ पाया)। और जिस कारण से ही शिवजी के आभासमात्र वर से, बुझनेवाले दीपक की ज्वाला जैसे ऊँची हो जाती है, उसी तरह उस दन्तवक्र का शरीर पहले जन्म में उत्पन्न हुए अपने हिरण्याक्ष के से शरीर की तरह, इस जन्म में भी प्रगट हुए विशाल शरीर आदि के रूप में जाना गया है। अतः उस दन्तवक्र के चरणों का प्रहार एवं प्रतीक (प्रतिकूलता) का समूह, इन दोनों का अनुसन्धान बहुत दूर से भी सुस्पष्ट जाना जाता है। उसके इस प्रकार के आचरण होनेपर, श्रीकृष्ण का रथ मनोरथ के मार्ग में अपनी गति का विस्तारक है, अर्थात् श्रीकृष्ण का मनोरथ जहाँ जहाँ जाता है, वहीं हजारों कोस की दूरीपर उनका रथ भी शीघ्र ही जाने में समर्थ है, अतः उस रथ का प्रभाव सुसम्भव जाना जाता है। तात्पर्य-लोकोत्तर शक्तिशाली होने से दन्तवक्र का भी दूरदेश से अकेले ही मथुरा-

'शिशुपालस्य शाल्वस्य पौण्ड्रकस्यापि दुर्मतिः' इत्यत्र शाल्वोऽपि गणितः। पाद्मे च—'कृष्णस्तु तच्छ्रुत्वा इति गदितम्, किन्तु (भा० १०।७८।२) 'महासत्त्वो व्यदृश्यत' इति यच्छ्रीभागवत-वचनम्, तत्तु दृष्टोऽप्यसौ श्रीनारदवचनेन विज्ञाततत्त्व इति गम्यते। तथा च सति निहत-शिशुपालं श्रीगोपालमिन्द्रप्रस्थादकृतप्रस्थानं निशम्य मथुरामागम्य पथि निर्द्वन्द्वं तं प्रति द्वन्द्वयुद्धेन परिपन्थिताऽऽचरणाय स्थितः, प्रागेव तं द्वारकां प्रस्थितमाकलय्य संशय्य कृत-विचारचक्रः स खलु दन्तवक्रस्तत्तच्चक्रपाणिः स्वयं लीलासुखसारदेन श्रीनारदेन शाल्व-वधादिकमवधारयामासे। द्वारकानाथश्च तथा तत्कथनया तदागमनसाक्षात्कारप्रथनया च मनोवदतीतपथेन तेन रथेन तत्राऽऽपयामासे। नूनमिति मत-द्वयमनूनमेकमतं स्यात्। तदिद-मपि व्यक्तमद्य श्व एव विशेषाद् व्यक्तं भविष्यति। पुनरुत्तरमुत्तरविषयीक्रियताम् ॥१५॥

"अथ वृन्दा पठति स्म,—'पठन्ती च नटन्तीवाऽऽसीत्। तत्र पूर्ववत् तद्गद्यं यथा,—'कृष्णोऽपि तं हत्वा यमुनामुत्तीर्य नन्दव्रजं गत्वा सोत्कण्ठौ पितरावभिवाद्याऽऽश्वास्य ताभ्यां

तक शीघ्र ही पैदल चले आना, और श्रीकृष्ण के रथ की गति मन के समान होने के कारण, श्रीकृष्ण का भी तत्काल मथुरा में उपस्थित हो जाना परमसम्भव है। तथा श्रीकृष्ण दैत्यों की संहारकारिणी जिस लीला को प्राप्त करना चाहते हैं, उसी लीला की योजना करनेवाले एवं मन के से वेग को धारण करनेवाले, तथा "शिशुपाल का वध एवं श्रीकृष्ण का मथुरा में आना" इत्यादि उस उस समाचार के संचार करने में सुनिपुण श्रीनारदजी की सहायता भी (इस विषय में) देखी जाती है। अतः श्रीमद्भागवत में इसी प्रकार कहा है कि—"दुर्मति दन्तवक्र श्रीकृष्ण से अपने मित्रों का बदला लेने का व्यवहार करता हुआ तथा परलोक में गये हुए शिशुपाल, शाल्व एवं पौण्ड्रक (मिथ्या वासुदेव) इन सबकी मित्रता को निभाता हुआ, क्रोध से श्रीकृष्ण के सम्मुख चल दिया।" इस श्लोक में शाल्व की भी गणना हो गई। और पद्मपुराण में "श्रीकृष्ण भी शाल्व के आने को सुनकर मथुरा चल दिये" ऐसा कहा है। किन्तु "महाबलिष्ठ वह दन्तवक्र दिखाई दिया" यह जो श्रीमद्भागवत का वचन है, वह तो ऐसा जाना जाता है कि, देखे हुए उस दन्तवक्र ने भी श्रीनारदजी के वचन से ही "शिशुपालवध एवं श्रीकृष्ण का मथुरा में आना" इत्यादि तत्त्व जान लिया था। "और दन्तवक्र मथुरा में पहुँच गया" इस बात को श्रीकृष्ण भी श्रीनारदजी के मुख से जान गये थे। उस प्रकार की स्थिति में "शिशुपाल को मारनेवाले श्रीकृष्ण अभी इन्द्रप्रस्थ से प्रस्थान (यात्रा) नहीं कर पाये हैं" इस बात को सुनकर, मथुरा में आकर, निर्द्वन्द्व (अकेले) श्रीकृष्ण के साथ द्वन्द्वयुद्ध के द्वारा शत्रुता का आचरण करने के लिए मार्ग में ठहर गया था। इससे पहले ही "श्रीकृष्ण द्वारका को चल दिये" यह सुनकर "श्रीकृष्ण मथुरा में आयेंगे या नहीं" इस प्रकार का सन्देह कर, अनेक विचारों को करनेवाला वह दन्तवक्र, श्रीकृष्ण की युद्धलीला द्वारा भक्तों को सुख का सार देनेवाले श्रीनारदजी के द्वारा शाल्ववध आदि उस उस वृत्तान्त को सुनकर निश्चित कर पाया था। और द्वारकाधीश श्रीकृष्ण भी उसी प्रकार श्रीनारदजी के कहने से एवं "दन्तवक्र मथुरा में आगया है, मैंने उसका साक्षात्कार कर लिया है" इस प्रकार के वाक्य विस्तार से, मन की तरह (शीघ्रता से) मार्ग को लाँघनेवाले रथ के द्वारा मथुरा में पहुँचा दिये गये। इस प्रकार पूर्वोक्त सम्पूर्ण दोनों मत निश्चय ही एक मत हो सकते हैं। अतः श्रीकृष्ण का यह मथुरा में आना भी निश्चय हो आज अथवा कल ही विशेषरूप से स्पष्ट हो जायगा। इसके बाद तुम प्रश्न के शेष विषय का उत्तर करो ॥१५॥

अनन्तर वृन्दा उस पुस्तक को पढ़ने लगी—और पढ़ती हुई हर्ष से नृत्य सा करने लग गई। उसमें

साश्रुकण्ठमालिङ्गितः सकलगोपवृद्धान् प्रणम्याऽऽश्वास्य बहुवस्त्राभरणादिभिस्तत्रस्थान् सर्वान् सन्तर्पयामास' इति ॥१६॥

"तदेतत् पठित्वा च वृन्दा पुनरुच्छलद्वाष्पं पप्रच्छ,—तदिदमपि किं श्रीमद्भागवत-सम्मतम् ?' ॥१७॥

"पूर्णिमा पूर्णमनाः प्राह स्म,—'दृश्यतामुत्तरविभागः ।' "वृन्दा पुनः श्रीभागवत इति पठित्वा पपाठ, (भा० १०।३९।३५)—

'तास्तथा तप्यतीर्वीक्ष्य स्वप्रस्थाने यदूत्तमः ।
सान्त्वयामास सप्रेमैरायास्य इति दौत्यकैः ॥' इति ॥१८॥

"पूर्णिमोवाच,—मथुराप्रस्थानस्थानमिदं वचनम् ।' वृन्दा पुनः पपाठ, (भा० १०।४५।२३)—

'यात यूयं व्रजं तत ! वयं च स्नेहदुःखितान् ।
ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां सुखम् ॥' इति ॥१९॥

"पूर्णिमा जगाद,—'कंसवधाद् दिनकतिपयानन्तरं श्रीव्रजेशादिव्रजव्राजे तदिदं श्रीकृष्णवाक्यम् ॥'२०॥ "वृन्दा पुनः पपाठ, (भा० १०।४६।३५)—

'हत्वा कंसं रङ्गमध्ये प्रतीपं सर्वसात्वताम् ।
यदाह वः समागत्य कृष्णः सत्यं करोति तत् ॥' इति ;

पहले की भाँति पद्मपुराण का गद्य, यथा—श्रीकृष्ण ने भी उस दन्तवक्र को मारकर, यमुना को पारकर, श्रीनन्दव्रज में जाकर, उत्कण्ठित मातापिता को नमस्कार कर, उनको आश्वासन देकर, आँसू बहाते हुए मातापिता के द्वारा आलिङ्गित होकर, समस्त गोपवृद्धों को प्रणाम कर, उनको भी आश्वासन देकर, वहाँ रहनेवाले सभी व्रजवासियों को बहुत से वस्त्र एवं आभरण आदि से परितृप्त कर दिया ॥१६॥

इसको पढ़ते ही वृन्दादेवी प्रेमाश्रु बहाती हुई पुनः पूछने लगी—क्या यह पद्मपुराणोक्त गद्य भी श्रीमद्भागवत के सम्मत है ? ॥१७॥

पूर्णिमा पूर्णमनवाली होकर बोली—तुम इस पुस्तक का आगे का भाग देख लो (सब मालूम हो जायगा)। वृन्दा पुनः "श्रीमद्भागवत में" ऐसा शीर्षक पढ़कर पढ़ने लगी—यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्ण ने अपने मथुरा जाने के समय, उन व्रजाङ्गनाओं को अपने विरह में उस प्रकार से सन्तप्त देखकर "मैं शीघ्र ही आऊँगा" इस प्रकार प्रेमभरे वाक्यों से दूतों द्वारा सान्त्वना प्रदान की ॥१८॥

पूर्णिमा बोली—यह वचन तो श्रीकृष्ण के मथुराप्रस्थान करने के स्थानपर कहा था। वृन्दा पुनः पढ़ने लगी—"हे पिताजी ! आप सब व्रज में पधारें, हम दोनों भाई श्रीवसुदेव आदि सुहृदों का सुख विधान करके, मेरे स्नेह में दुःखित हुए हमारी जातिवाले आप सब को देखने के लिये आयेंगे" ॥१९॥

पूर्णिमा बोली—पूर्वोक्त श्रीकृष्ण का वाक्य तो कंसबध से कुछ दिन के बाद श्रीव्रजराज आदि के व्रज में जाने के समय उच्चारित हुआ था ॥२०॥

वृन्दा पुनः पढ़ने लगी—सभी यादवों के या वैष्णवों के विरोधी कंस को रङ्गस्थल के बीच में मारकर, पुनः बिदाई के समय तुम सबसे मिलकर श्रीकृष्ण ने नन्दजी के प्रति "मैं आप सबके दर्शनार्थ व्रज में आऊँगा" यह जो कहा था, उस वाक्य को वे सत्य कर देंगे। और अपनी सत्य प्रतिज्ञा से च्युत न

(भा० १०।४६।३४)—

'आगमिष्यत्यदीर्घेण कालेन व्रजमच्युतः ।

प्रियं विधास्यते पित्रोर्भगवान् सात्वतां पतिः ॥' इति च ॥२१॥

"पूर्णिमोवाच,—'तदिदमुद्धवसन्देशतया बुद्धम् । अत्र च द्रष्टुमिति दर्शनमेव पुरुषार्थ इत्यर्थः । 'पित्रोः प्रियं विधास्यते' इति तदेकपुरुषार्थत्वेऽपि तयोरभीष्टं नित्यनिजलालना-रूपमित्यर्थः ॥'२२॥

"पूर्णिमाह,—'पुनर्वाच्यताम् ।' "वृन्दा वाचयमि स्म, (भा० १०।४७।३६)—

'मय्यावेश्य मनः कृष्णे विमुक्ताशेषवृत्ति यत् । अनुस्मरन्त्यो मां नित्यमचिरान्मामुपैष्यथ ॥'२३

"पूर्णिमाह,—'सोऽप्येष श्रीमदुद्धवसन्देश एव । अत्राऽस्मच्छब्दपदानां ,मयि' इत्यादिना त्रिरावृत्तिस्तत्र च प्रथमतः 'कृष्णे' इति विशिष्य शिष्यमाणयोरपि 'मां माम्' इत्यनयोर्विभक्ति-विपरिणामेनानुवृत्तिमभिप्रेत्य कृष्णाऽऽकारेणैव स्वप्राप्तिः प्रकरणनिगमनायामभिप्रेता । किन्त्वन्यद् वाच्यताम् ॥'२४॥

"वृन्दा प्राह,—'अस्ति चात्र किञ्चन हारिवंशवचनम्—

'अहं स एव गोमध्ये गोपैः सह वनेचरः ।

प्रीतिमान् विचरिष्यामि कामचारी यथा गजः ॥' इति ॥२५॥

होनेवाले यदुपति भगवान् श्रीकृष्ण थोड़े से समय के बाद व्रज में आयेंगे । और हे नन्दजी ! मातापितारूप आप दोनों के प्रिय कार्य करेंगे ॥२१॥

पूर्णिमा बोली—श्रीमद्भागवत का यह वचन तो उद्धवजी के सन्देशरूप से जाना जा रहा है, अर्थात् उद्धवजी के सन्देश का है । और "ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्यामो" इस पद में 'द्रष्टुं' पद का 'व्रजवासियों का दर्शन ही श्रीकृष्ण का पुरुषार्थ है, यह भावार्थ है । और "प्रियं विधास्यते पित्रोः" यहाँपर मातापिता का प्रिय विधानरूप पुरुषार्थ होनेपर भी, उन दोनों का अभीष्ट तो "नित्य अपना लालनपालनरूप है", यही भावार्थ है ॥२२॥

पूर्णिमा बोली—पुस्तक को फिर आगे से बाँचो । वृन्दा बाँचने लगी—हे प्रिय गोपाङ्गनाओं ! देखो, जो मन सांसारिक समस्त वृत्तियों से रहित है, उस मन को मुझ श्रीकृष्ण में लगाकर, तुम सब नित्यप्रति मेरा स्मरण करते करते शीघ्र ही मुझको प्राप्त कर लोगी ॥२३॥

पूर्णिमा बोली—यह श्लोक भी श्रीमान् उद्धवजी के सन्देश में ही है । इस श्लोक में "मयि आवेश्य, मां नित्य, मां उपैष्यथ" इत्यादि के द्वारा अस्मद् शब्द के पदों की तीनबार जो आवृत्ति है, उन तीनों में पहले से 'मयि' को 'कृष्णे' इसमें विशेष्य बनाकर, बाकी बचे 'मां मां' इन दोनों की विभक्ति का परिवर्तन करके, अनुवृत्ति को अङ्गीकार करके (व्रजवासियों के लिये) श्रीकृष्ण के आकार से ही अपनी प्राप्ति प्रकरण का तात्पर्य समझने के विषय में अभिप्रेत है । अर्थात् श्रीकृष्ण की प्राप्ति ही व्रजजनों को अभिप्रेत है । किन्तु दूसरा विषय बाँचो ॥२४॥

वृन्दा बोली—इस विषय में कुछ हरिवंशपुराण का भी वचन है । यथा—स्वेच्छाचारी हाथी जैसे निरन्तर वन में ही विचरण करता रहता है, उसी प्रकार मैं वही गोपाल होकर, गैयाओं के बीच में, ग्वालबालों के साथ प्रसन्न होकर, स्वेच्छाविहारपूर्वक श्रीवृन्दावनादि वनों में विचरण करता रहूँगा ॥२५॥

"पूर्णिमा चाह,—'तदिदं कंसवधादुत्तरमुग्रसेनं प्रति श्रीकंसजित्प्रत्युत्तरं मद्व्याख्यान-साक्षितया लक्षितम् ॥'२६॥

"अथ वृन्दा तदेतदुक्तिविषयीकृत्य नृत्यन्तीव तदिदमुक्तवती,—'सत्यं सत्यसङ्कल्पस्य तस्य वचनं नाऽसत्यतामृच्छेत्, यदि च श्रीभागवतादेव पुनर्व्रजागमनवचनं साक्षात् कर्णसुख-रचनमालोचयामि, तदा तत्परममेव रोचनं स्यात् ॥'२७॥

"पूर्णिमाप्युत्सुकतापूर्णमुवाच,—'उल्लेखय तदुत्तरलेखम् । कदाचित्तदपि सम्मदाय कल्पेत ॥'२८॥

"वृन्दा सानन्दमूचे,—'अस्ति किञ्चित्; यथा श्रीभागवत एव, (१।११।९)—

'यर्ह्यम्बुजाक्षापससार भो भवान्, कुरून् मधून् वाऽथ सुहृद्दिदृक्षया ।
तत्राऽब्दकोटिप्रतिमः क्षणो भवेद्, रविं विनाक्ष्णोरिव नस्तवाऽच्युत ! ॥'२९॥

"पूर्णिमोवाच,—'तदिदं भाविभारतयुद्धानन्तरं श्रीद्वारकापतेर्द्वारकाप्रवेशे द्वारका-प्रजावचनम् ।' "अत्र वृन्दा निवेदयामास,—'पद्यमिदं विशद्यताम् ॥'३०॥

"पूर्णिमाथ वर्णयामास यथा—'कुरून्' इति कुरुदेशस्य, तथा 'मधून्' इति मथुरादेशस्य समुद्देशः, सुहृदोऽप्यत्र द्वारकाप्रस्थानात् परस्ताद्व्रजस्था एवेति व्यवस्थापनम् ॥३१॥

पूर्णिमा बोली—यह वचन भी कंसवध के बाद श्रीउग्रसेन के प्रति श्रीकृष्ण का प्रत्युत्तररूप है, एवं "श्रीकृष्ण अवश्य ही पुनः व्रज में आयेंगे" इस प्रकार के मेरे व्याख्यान की साक्षीरूप से ही दिखाई दे रहा है ॥२६॥

उसके बाद वृन्दा इस विषय को उक्ति का विषय बनाकर नृत्य-सा करती हुई यह बोली—तुम्हारा कहना सत्य है, क्योंकि सत्यकङ्कल्पवाले श्रीकृष्ण का वचन कभी भी असत्यता को नहीं प्राप्त हो सकता। तो भी मैं श्रीमद्भागवत से ही यदि श्रीकृष्ण के पुनः व्रज में आने के वचन को, जो कि कानों के सुख की रचना करनेवाला है, यदि साक्षात् देखलूँ तो वह परम रुचिकर होगा ॥२७॥

पूर्णिमा भी उत्सुकता से पूर्ण होकर बोली—उससे आगे के लेख को पढ़ले। कदाचित् वह भी आनन्द के लिये सम्पन्न हो जाय ॥२८॥

वृन्दा आनन्दपूर्वक बोली—इस सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत में भी कुछ लिखा है। यथा—द्वारका की प्रजा श्रीकृष्ण से बोली कि—हे कमलनयन ! आप अपने मित्रों के दर्शन की इच्छा से जब कुरुप्रदेश या मथुरा-प्रदेश में यात्रा करते हैं, तब आपके बिना हमारा एकक्षण भी करोड़ों वर्षों के समान प्रतीत हो जाता है। कारण हे अच्युत ! सूर्य के बिना नेत्र जैसे अन्धे हो जाते हैं, उसी प्रकार तुम्हारे बिना हमारी भी वही अवस्था हो जाती है ॥२९॥

पूर्णिमा बोली—यह वाक्य तो आगे होनेवाले महाभारत युद्ध के अनन्तर श्रीकृष्ण के द्वारकापुरी में प्रवेश करते समय द्वारका की प्रजा का वचन है। इस विषय में वृन्दा ने निवेदन किया कि, इस श्लोक को खोलकर समझा दीजिये ॥३०॥

पूर्णिमा वर्णन करने लगी—इस श्लोक में जैसे 'कुरून्' इस पद से कुरुदेश का ग्रहण है, वैसे ही 'मधून्' इस पद से मथुरादेश का ग्रहण है। और इस मथुराप्रदेश में सुहृद भी द्वारका चले जाने के बाद

यथा (भा० १०।६५।१)—

'बलभद्रः कुरुश्रेष्ठ ! भगवान् रथमास्थितः । सुहृद्दिदृक्षुरुत्कण्ठः प्रययौ नन्दगोकुलम् ॥' इति ॥३२

"वृन्दोवाच,—'तदिदं कालान्तरभावीति च संभावितं स्यात्; न तु परं दन्तवक्र-संयदनन्तरभावि' इति । पूर्णिमा विमृश्य 'पुनर्दृश्यताम्' इत्युपदिदेश । वृन्दा पुनरुवाच,—, आम् आम् पुनः श्रीभागवतीयं पद्यमेकं प्रतिपद्यते, (भा० १०।८२।४२)—

'अपि स्मरथ नः सख्यः स्वानामर्थचिकीर्षया । गतांश्चिरायिताञ्छत्रुपक्षक्षपणचेतसः ॥'इति॥३३

"तदेतद्वाचयित्वा वृन्दा पुनरुवाच,—'किमनेन समुन्नेयम् ?' पूर्णिमा प्राह स्म,—'तदिदं कुरुक्षेत्रयात्रायां श्रीरामभ्रात्रा निजस्नेहपात्राणां व्रजतनुगात्राणां दुःखात्त्राणाय भंग्या शत्रुपक्षक्षपणमेवाऽवधितया प्रतिज्ञातम् । शत्रुपक्षक्षपणं च सविदूरथदन्तवक्र-संयदन्तमेव । तदनन्तरं हि स्वयं शस्त्रहस्तता संन्यस्ता स्यात् । तस्मादिदमपि सर्वसुखसद्म-पद्मपुराणमतं श्रीमद्भागवतभागवगतम्' ॥३४॥

व्रजवासी ही माने जाते हैं, यही व्यवस्था जाननी चाहिये । क्योंकि द्वारका चले जानेपर मथुरा तो खाली ही हो गई थी, अतः मथुराप्रदेश में विद्यमान श्रीनन्दादि व्रजवासीरूप सुहृदों को ही श्रीकृष्ण बीच बीच में देखने आते थे, यही भावार्थ है ॥३१॥

श्रीकृष्ण बलदेव के बीच बीच में व्रज में आने में प्रमाण, यथा हे कुरुश्रेष्ठ ! परीक्षित् ! देखो, भगवान् श्रीबलदेवजी सुहृदों के देखने की इच्छा से उत्कण्ठित होकर, रथ में बैठकर, श्रीनन्दगोकुल में चल दिये ॥३२॥

वृन्दा बोली—यह वचन तो दूसरे समय में होनेवाला सम्भावित हो सकता है, किन्तु दन्तवक्र के युद्ध के बाद होनेवाला नहीं सम्भावित हो सकता । पूर्णिमा ने विचार करके यह उपदेश दिया कि—पुस्तक को पुनः देखो । वृन्दा पुनः बोली—हाँ, हाँ ! श्रीमद्भागवत का एक श्लोक पुनः मिल रहा है, यथा—अरी सखियो ! तुम कभी हमारा भी स्मरण कर लेती हो न ? यदि कहो कि हमको भुलानेवाले का स्मरण हम क्यों करें ? तहाँ कहते हैं कि—हम तो अपने सम्बन्धियों का प्रयोजन सिद्ध करने की इच्छा से द्वारका चले गये थे, वहाँपर हमारा चित्त शत्रुओं के पक्ष के विनाश में लग गया । अतः व्रज में आने में विलम्ब हो गया ॥३३॥

इस श्लोक को बाँच कर वृन्दा पुनः बोली—इस श्लोक से क्या अभिप्राय निकालना चाहिये ? पूर्णिमा बोली—यह तो कुरुक्षेत्र की यात्रा में श्रीबलरामजी के भैया, श्रीकृष्ण ने अपने स्नेह की पात्र एवं व्रज में अपने विरह से क्षीण गात्रवाली गोपियों की दुःख से रक्षा करने के लिये, इशारे से शत्रुओं के पक्ष का विनाश ही अवधि के रूप से प्रतिज्ञात किया है । तात्पर्य—शत्रुपक्ष का क्षय होते ही व्रज में आने की प्रतिज्ञा की है । शत्रुपक्ष का विनाश भी विदूरथ के सहित दन्तवक्र के युद्धतक ही है । उसके बाद तो श्रीकृष्ण स्वयं ही हाथ में शस्त्र लेना त्याग देंगे । इसलिए सब सुखों का आश्रयस्वरूप पद्मपुराण का यह मत भी, श्रीमद्भागवत के मत का अनुसरण करनेवाला है, ऐसा जाना जाता है ॥३४॥

"ततः कश्चिद्दन्तवक्रवधं कुत्रचिन्मन्यतां नाम । तदनन्तरं तु श्रीकृष्णस्य व्रजागमनम-वश्यमेव मन्तव्यम् । इतीदं प्रोच्य भगवती पुनः प्रोवाच,—'किञ्चिदन्यदस्ति ?' ॥३५॥

"वृन्दा तु (२१।४७ अनु०) 'तथैवाऽध्वन्यवेषेण' इत्यादिना पूर्वं दर्शितं श्रीरामस्य व्रजादागतस्य श्रीकृष्णेन संवादरूपं हरिवंश-वचनमेव पपाठ ॥३६॥

"अथ तदभिप्रायं पूर्णिमा प्राह,—'अत्र यद्व्रजादागतं राममग्रजं रहसि रामानुजः प्रत्येकव्रजजीव-कुशलं पृष्टवान्; यच्च—'सर्वेषां कुशलं कृष्ण ! येषां कुशलमिच्छसि' इति, तस्मादुत्तरं लब्धवांस्तस्माद्भाविनिजसङ्गम-मङ्गलमपि तत्र द्वयोरपि भावितं बभूव । तत्रोदासीनतायां तत्राप्युदासीनता स्यात्' इति ॥३७॥

"अथ तेन निदिग्धधीरपि वृन्दा सन्दिग्धमाचचार, पद्मपुराणमिव कथमच्छद्म न तद्व्रजप्रत्यागमनं वचनसद्म चकार स च पुराणसारः ? ॥३८॥

"पूर्णिमा बभाषे,—'श्रीमद्भागवतं खल्विदं श्रीकृष्णभागवतंस इति शंसन्ति । तच्च निजरहस्यमिदं न व्यक्तं वक्तुं व्यवस्यति । तच्च गर्वस्थेम्ना स्वतन्त्रम्मन्यतया नानान्य-संपत्कामनाधीनानां तदुदासीनानां मत्यवगुण्ठनार्थं प्रेम्णा गोकुललोकम्मन्यतया तमुपासीनानां विशिष्टतन्निजाभीष्टस्पष्टश्रवणविहीनानां बाढमुत्कण्ठनार्थं च' इति ॥३९॥

इसलिए कोई भी व्यक्ति दन्तवक्र के वध को किसी भी स्थानपर मानता रहे, किन्तु दन्तवक्र के वध के बाद तो श्रीकृष्ण का व्रज में आना अवश्य ही मानना होगा । यह कहकर भगवती पूर्णिमा पुनः बोली—कुछ और भी लिखा है क्या ? ॥३५॥

वृन्दा तो "उसी प्रकार के पथिकवेष से" इत्यादिरूप से इक्कीसवें पूरण में पहले दिखाये गये, एवं व्रज से लौटकर आये हुए श्रीबलरामजी के श्रीकृष्ण के साथ संवादरूप से कहे गये श्रीहरिवंशपुराण के वचन को ही पढ़ने लगी ॥३६॥

पश्चात् पूर्णिमा हरिवंशपुराण के वचनों का अभिप्राय कहने लगी—इन हरिवंश के वचनों में श्रीकृष्ण ने व्रज से आये हुए बड़े भाई बलरामजी से एकान्त में व्रज के प्रत्येक प्राणी का जो कुशल पूछा था, एवं "हे श्रीकृष्ण ! तुम जिनका कुशल चाहते हो, उन सभी व्रजवासियों का कुशल है" इस प्रकार का जो उत्तर श्रीबलरामजी से प्राप्त किया था, उससे तो वहाँपर भावी निजमिलनरूप मङ्गल भी दोनों भाइयों को ही प्राप्त हुआ था । और व्रज में या व्रज के आने में उदासीनता होनेपर तो, भावी निजमिलनरूप मङ्गल में भी उदासीनता हो जाती ॥३७॥

पूर्णिमा के उस वाक्य से बढ़ी हुई बुद्धिवाली होकर भी वृन्दा सन्देह करने लगी कि—पुराणों के सारस्वरूप श्रीमद्भागवत ने श्रीकृष्ण के पुनः व्रज में आने को पद्मपुराण की तरह निष्कपट, अर्थात् स्पष्टरूप से क्यों वचन का आश्रय नहीं किया, अर्थात् अपने वचनों में स्पष्ट क्यों नहीं कहा ? ॥३८॥

पूर्णिमा बोली—यह जो श्रीमद्भागवत है, इसको विज्ञजन श्रीकृष्ण के भक्तों का शिरोभूषण (मुकुट) स्वरूप कहते हैं । वही श्रीमद्भागवत अपने गूढ़रहस्य को स्पष्ट कहने को प्रवृत्त नहीं होता है । और स्पष्ट कहने को प्रवृत्त न होना भी जो व्यक्ति गर्व की स्थिरता से अपने को स्वतन्त्र मानने के कारण दूसरी अनेक प्रकार की सम्पत्तियों की कामना के अधीन हैं, अतएव श्रीकृष्ण से उदासीन हैं, उन व्यक्तियों की बुद्धि

"वृन्दोवाच,—'पूर्वेषां मत्यवगुण्ठना समुचिता; परेषामुत्कण्ठना तु किमर्थं समुदिता ?' ॥४०॥ पूर्णिमा वदति स्म,—

'उत्कण्ठया सह प्रेमा धत्ते मिथुनतां यदा ।
अङ्गजं हरिसङ्गाख्यं तदा भजति नान्यदा ॥'४१॥

"वृन्दा चिरमानन्दान्निरीहतया स्थित्वा प्राह,–'जन्मारभ्य कियद्वर्षानन्तरं कंसान्तकस्य यदुपत्तनाद् व्रजागमनशन्तममिदं जनिता ॥'४२॥

"पूर्णिमा सप्रणिधानमाह,—'भारतरीत्या भारतयुद्धानन्तरं युधिष्ठिरस्य प्राज्यं राज्यं तस्य षष्टिवर्षत एव जनिता । श्रीविष्टरश्रवाश्चार्जुनसवयस्कताविशिष्टतया युधिष्ठिरस्य वर्षत्रय-कनिष्ठस्तदानीं सप्तपञ्चाशद्वर्षतामाप्स्यतीति लक्ष्यते । तत्र तु तद्युद्धतः पूर्वाद्वनाज्ञातवाससमय-वर्षत्रयोदशकात् पूर्वं शाल्वदन्तवक्रधूर्वणमिति तस्य व्रजाऽऽगमनसमयविचारणायां वर्षाणां चतुश्चत्वारिंशदेवाऽवशिष्यते । तदुत्तरकालतः प्रकाशान्तरेण पुर्यां स्थितस्य पृथिवीपालने तु

को ढकने के लिए एवं जो व्यक्ति विशुद्ध प्रेम से अपने को व्रजवासीजन मानकर श्रीकृष्ण की उपासना करते रहते हैं, और जो श्रीकृष्ण के विशिष्ट निज अभीष्ट के श्रवण से रहित हैं, उन प्रेमीभक्तों को विशेष उत्कण्ठित करने के लिए ही है, ऐसा जानना चाहिये (वर्तमान समय में कुछ विज्ञजन ऐसा भी कहते हैं कि, द्वारकालीला के बाद व्रज में आकर श्रीकृष्ण जो जो लीला करेंगे, उनका दिग्दर्शन तो श्रीमद्भागवत १।११।६ में द्वारका की प्रजा के द्वारा कर ही दिया है, अत: वेदव्यासजी ने पुनरुक्ति के भय से पुन: दशम-स्कन्ध में उसका विशेष उल्लेख नहीं किया है) ॥३६॥

वृन्दा बोली—भक्तिविहीन पहले व्यक्तियों की बुद्धिपर परदा डालना तो उचित है, परन्तु पीछे कहे गये श्रीकृष्ण के उपासकों की उत्कण्ठा क्यों उत्पन्न की गई ?॥४०॥

पूर्णिमा बोली—पति के स्थानापन्न हुआ प्रेम जब उत्कण्ठारूप पत्नी के साथ मिथुनभाव को धारण करता है, तभी श्रीहरि का सङ्ग नामक अङ्गज (पुत्र) को प्राप्त करता है, दूसरे समय में नहीं। तात्पर्य—उत्कण्ठारहित प्रेम से श्रीहरि का मिलना नहीं होता है, अत: श्रीमद्भागवत भक्तों की उत्कण्ठा को बढ़ाता रहता है ॥४१॥

वृन्दा आनन्द के कारण बहुत देरतक निश्चेष्ट भाव से स्थिर होकर बोली—कंस को मारनेवाले श्रीकृष्ण का द्वारकापुरी से व्रज में आगमनरूप यह अतिशयमङ्गल श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर कितने वर्षों के बाद होगा ?॥४२॥

पूर्णिमा समाधानपूर्वक बोली—महाभारतग्रन्थ की रीति से, महाभारत के युद्ध के अनन्तर, श्रीयुधिष्ठिरजी का प्रचुर राज्य उनकी साठ वर्ष की अवस्था से ही संघटित होगा। और श्रीकृष्ण, अर्जुन की समान अवस्था से विशिष्ट होने के कारण, युधिष्ठिरजी से तीन वर्ष छोटे हैं। उस समय अर्थात् युधिष्ठिर की राज्यप्राप्ति के समय श्रीकृष्ण सत्तावन वर्ष की अवस्थाको प्राप्त हो जायँगे, ऐसा लक्षित होता है। और महाभारत में तो उस महाभारत युद्ध से पहले वनवास एवं अज्ञातवास के तेरह वर्षों से पहले शाल्व एवं दन्तवक्र का वध हो चुका था। अत: श्रीकृष्ण के पुन: व्रज में आने के समय के विचार में चौवालीस वर्ष ही बाकी रहते हैं। अर्थात् ४४ वर्ष की अवस्था में श्रीकृष्ण का व्रज में आना हो जायगा। तात्पर्य–६० वर्ष की

भारताच्छ्रीभागवतं मतं विलक्षणमिति तदेकवाक्यतायामशक्यतया कल्पभेदकल्पनमेव कल्पते, न तु तदत्र प्रयोजकम् । ततस्तदस्तु, प्रस्तुतं तु प्रस्तूयताम् ॥'४३॥

"वृन्दोवाच,—'कृष्णोऽपि तं हत्वा' इति गद्यानन्तरं पाद्म-पद्यद्वयमिति लिखित्वा लिखितम्—

'कालिन्द्याः पुलिने रम्ये पुण्यवृक्षसमाचिते । गोपनारीभिरनिशं क्रीडयामास केशवः ॥
रम्यकेलिसुखेनैव गोपवेषधरः प्रभुः । बहुप्रेमरसेनाऽत्र मासद्वयमुवास ह ॥' इति ॥४४॥

"अथास्य वृन्दा तात्पर्यं पर्यनुयुक्तवती । पूर्णिमा चोवाच,—'गोपनारीभिः' इत्यत्र नृ-नरयोर्वृद्धिश्चेति जातावेव स्त्रीप्रत्ययविधानाद् गोपजातिभिर्नारीभिरितिगम्यम् । तृतीयस्कन्धे देवहूतिमुद्दिश्य कर्दमं प्रति श्रीशुक्लवचने (भा० ३।२१।२८)—'सा त्वां ब्रह्मन् नृपवधूः काममाशु भजिष्यति' इतिवत्; दृश्यते च तदनुवादिमृत्युञ्जयसंहिता-वचनम्,—'स्मरेद्वृन्दावने रम्ये मोहयन्तमनारतम् । गोविन्दं पुण्डरीकाक्षं गोपकन्याः सहस्रशः ।

अवस्था में युधिष्ठिर को राज्य की प्राप्ति हुई, उस समय श्रीकृष्ण की अवस्था ५७ वर्ष की थी। इससे पहले १३ वर्ष के लिए वनवास एवं अज्ञातवास के लिए जाते समय युधिष्ठिर ४७ वर्ष के थे, तब श्रीकृष्ण ४४ वर्ष के थे। उसी समय दन्तवक्र के वध के बाद व्रज में आना हुआ। श्रीमद्भागवत के मत से ११ वर्ष व्रजलीला, उसके ३३ वर्ष बाद श्रीकृष्ण पुन: व्रज में आगये)। उसके बाद के समय से तो दूसरे 'प्रकाश' से, अर्थात् श्रीकृष्ण अपनी दूसरी मूर्ति से द्वारकापुरी में स्थित रहे ('प्रकाश' मूर्तिविशेष को कहते हैं। यह स्वरूप से भिन्न नहीं होता। यह बात लघुभागवतामृत में स्पष्ट कही है, "प्रकाशस्तु न भेदेषु गण्यते स हि न पृथक्")। उस समय पृथ्वी पालन करने में प्रवृत्त होनेपर तो, महाभारत की अपेक्षा श्रीमद्भागवत का मत विलक्षण ही है। अत: उन दोनों की एकवाक्यता होने में असम्भवता के कारण, कल्पभेद की कल्पना ही कल्पित करनी पड़ती है। किन्तु कल्पभेद की कल्पना या महाभारत की रीति यहाँपर प्रयोजक नहीं है। अत: उसको रहने दो। तुम तो प्रस्तुत विषय का प्रस्ताव करो ॥४३॥

वृन्दा बोली—"कृष्णोऽपि तं हत्वा" अर्थात् श्रीकृष्ण उस दन्तवक्र को मारकर, इस गद्य के अनन्तर 'पद्मपुराण के दो श्लोक' ऐसा शीर्षक लिखकर लिखा है कि, पुण्यमय वृक्षों से परिपूर्ण कालिन्दी के कमनीय कूल में श्रीकृष्ण गोपाङ्गनाओं के साथ निरन्तर क्रीडा करते रहे। और श्रीकृष्ण ने गोपवेष धारण करके इस व्रज में रमणीय क्रीडासुख से ही विशेष प्रेमरसपूर्वक दो महीना निवास किया ॥४४॥

अनन्तर वृन्दा ने इन दोनों श्लोकों का तात्पर्य पूछा। पूर्णिमा बोली—देखो, 'गोपनारीभिः' इस पदमें 'नृ' शब्द से एवं 'नर' शब्द से "नृ-नरयोर्वृद्धिश्च" इस वार्तिक से जाति अर्थ में ही 'स्त्री' प्रत्यय का विधान होने के कारण, श्रीकृष्ण ने गोपजाति की स्त्रियों के साथ क्रीडा की, यही अर्थ जानना चाहिये। किन्तु गोपों की विवाहिता स्त्रियों के साथ क्रीडा की, यह अर्थ कदापि नहीं समझना चाहिये। इस अर्थ में प्रमाण, जैसे श्रीमद्भागवत ३।२१।२८ में देवहूति को उद्देश्य बनाकर श्रीकर्दमजी के प्रति श्रीभगवान् के वाक्य में ऐसा देखा जाता है कि, हे ब्रह्मन्! कर्दम! वह नृपवधू, अर्थात् 'वधू' शब्द स्त्रीजाति-मात्र का वाचक होने से, वह राजकन्या (स्वायंभुव मनु की पुत्री) स्वेच्छापूर्वक शीघ्र ही तुम्हारी सेवा करेगी। यहाँपर जैसे 'नृपवधू' शब्द से राजकन्या अर्थ ग्रहण किया जाता है, उसी प्रकार गोपनारी शब्द

मुक्ताहारलसत्पीनतुङ्गस्तन-भरानताः ॥' इति; गौतमीये च—'गोपकन्यासहस्रैस्तु पद्मपत्राय-तेक्षणैः। अर्चितं भावकुसुमैस्त्रैलोक्यैकगुरुं परम् ॥' इति (भा० १०।३३।३९) 'ब्रह्मरात्र उपावृत्ते' इत्याद्युक्ताद्विलक्षणेन 'अनिशम्' इत्यनेन च तत्पतिम्मन्यादिषु वास्तवाभीरीणां विवाहादिवञ्चनार्थं (भा० १०।३३।३८) 'नासूयन् खलु कृष्णाय' इत्याद्युक्तदिशा या मया योगमायया सृष्टास्तासु पुनर्व्यक्तीक्रियमाणासु पूर्वासां परदारत्वभ्रमापक्रमानन्तरं सङ्कोचमोचनं गम्यते। तच्चाऽवश्यं तत्राऽवगन्तव्यम्, तत्र हि सर्वे गुणा लज्जानुगुणा एव कीर्त्यन्ते। तथा हि हरिवंशे श्रीनारदेन तस्य प्रशंसेयं यादवसंसदां कर्णावतंसवदाचरति स्म—

'यत्र ह्रीः श्रीः स्थिता तत्र यत्र श्रीस्तत्र सन्नतिः।
सन्नतिर्ह्रीस्तथा श्रीश्च नित्यं कृष्णे महात्मनि ॥' इति ॥४५॥

"तदेवमेव 'रम्यकेलिसुखेनैव' इत्यनेन, 'बहुप्रेमरसेन' इत्यनेन चात्र व्रजे तत्केलिसुखस्य सर्वमनोरमत्वं नानाप्रेमरसदत्वं च दर्शितं स्यात्। तदेवमेव च पूर्वं यदसूयाराहित्यं तेषु मायया संपादितम्, तच्च महाविरहेण व्यक्तरहस्यास्वप्येतासु निर्व्यूढं स्यात्। किञ्च, या

से भी गोपजाति की नारी, यही अर्थ ग्रहण करना चाहिये। इसी अर्थ का अनुकथन करनेवाला मृत्युञ्जय-संहिता का वचन भी देखा जाता है, यथा—मोतियों के हारों से शोभायमान, स्थूल, एवं ऊँचे स्तनों के भार से विनम्रशरीरवाली हजारों गोपकन्याओं को जो निरन्तर मोहित करते रहते हैं, उन कमलनयन श्रीकृष्ण का रमणीय वृन्दावन में स्मरण करना चाहिये। गौतमीयतन्त्र में भी लिखा है कि—कमलपत्र के समान विशाल नेत्रोंवाली हजारों गोपकन्याओं के द्वारा भावरूप पुष्पों से पूजित एवं तीनों लोकों के एक-मात्र परमगुरु श्रीकृष्ण का ध्यान करना चाहिये। और ब्रह्मा की परिमित रात्रि के बीत जानेपर या ब्राह्ममुहूर्त के हो जानेपर, श्रीकृष्ण से अनुमोदित हुईं गोपियाँ इच्छा न होनेपर भी (रास के अंत में), अपने-अपने घर को चली गईं, (भा० १०।३३।३९) श्रीमद्भागवत के इस वाक्य से विलक्षण "अनिशं क्रीडयामास" इस वाक्य के द्वारा अपने को गोपियों के पति माननेवाले गोपों में वास्तविक गोपियों का, अर्थात् स्वरूपशक्ति क प्रकाशस्वरूपा श्रीराधा आदि गोपियों का विवाह आदि कार्य की वंचना के लिये, एवं "श्रीकृष्ण की योगमाया से मोहित होकर गोपों ने श्रीकृष्ण में दोषों का आविष्कार नहीं किया" इत्यादि उक्त रीति से जो गोपियाँ मुझ योगमाया के द्वारा निर्मित हुईं थी, उन्हीं के पुनः मेरे द्वारा श्रीकृष्ण की प्रियारूप से प्रगट कर देनेपर, श्रीराधिका आदि नित्यसिद्ध पहली गोपियों का परदारारूप भ्रम दूर करने के बाद संकोच का छुड़ाना ही जाना जाता है। वह संकोच का छुड़ाना भी श्रीकृष्ण में अवश्य ही जान लेना चाहिये, क्योंकि श्रीकृष्ण में जो सब गुण हैं, वे लज्जा के अनुगत ही कहे जाते हैं। देखो, हरिवंशपुराण में श्रीनारदजी के द्वारा की गई यह श्रीकृष्ण की प्रशंसा यदुवंशी सभासदों के कर्णभूषण की तरह शोभा पाने लगी। यथा—जिस व्यक्ति में लज्जा है, उसमें शोभा-संपत्ति स्थित ही है। और जिस के निकट सम्पत्तिरूपलक्ष्मी है, उसमें नम्रता भी रहती है। किन्तु महात्मा श्रीकृष्ण में लज्जा, लक्ष्मी एवं विशेष नम्रता, ये तीनों नित्य ही रहते हैं ॥४५॥

अतएव इसी प्रकार "रम्यकेलिसुखेनैव" इस पद से एवं "बहुप्रेमरसेन" इस पद के द्वारा इस व्रज में श्रीकृष्ण के क्रीडासुख की सर्वमनोहरता एवं अनेक प्रकार के प्रेमरस देने का भाव प्रदर्शित हो सकता है, अन्यत्र नहीं। और इसी प्रकार जो गोप अपने को श्रीराधिका आदि के पति मानते थे, उनमें (श्रीकृष्ण के मथुरा जाने से) पहले श्रीकृष्ण में दोषदर्शन का जो अभाव योगमाया के द्वारा सम्पादित किया था वह,

श्रीभगवतः प्रतिकल्पमवश्यंभाविताद्दशता-स्वभावाऽवतारलीलातत्प्रेयसीप्रेमप्रभावव्यञ्जनाय तत्प्रियजनरञ्जनाय च खेलन्ती जनककन्यायामिव गोपकन्याश्रेण्यां तस्य नित्यकान्तास्मीति ज्ञानं यद्यप्यावृतवती, तथापि प्रेमाणमावरीतुं न शक्तवती ॥४६॥

"यः खलु प्रेमा ताद्दशतल्लीलापरवशतया तस्या इव तस्याः परहस्तपतनाऽवस्थायामपि तत्पातिव्रत्यं प्रतिपालयिता, स एवाऽऽयत्यामपि तां दुखःरूपां शमयित्वा मेलयिता स्यादेवेति मास्मान्यथा मन्यथाः ॥४७॥

"तथा हि (गी० ४।११)—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' इति तत्तद्वचनं प्रसिद्धम्, तत् खलु परदारतापक्रमरचनापूर्वकतन्मिलनार्थमेव तासां सचते । भक्तानां याद्दग्मनोरथप्रकारता, ताद्दगेव मदाकारताऽऽविष्कार इति हि तत्र विवक्षितम् । तत्प्रकारता च तच्छ्रेणीनामित्थमेव–अहो ! कदाचिदेवं भाग्यमस्माकं भविता, यदन्यपत्नीत्वप्रतीति-रयत्नीभूय दुःस्वप्नतया मिथ्या स्यात्तत्पत्नीत्वमेव जागरतया त्वरया सत्यं स्यादिति ॥४८॥

"आस्तामिह परपुरुषे, रागिस्त्रीणां तथा रीतिः ।
अन्यत्र च तत्सद्दशां, गृहिणीभावः सदाऽपीष्टः ॥४९॥

श्रीकृष्ण के महान् विरह के द्वारा जिनका रहस्य प्रगट हो गया, उन गोपियों के ऊपर भी समाप्त हो सकता है। किंच, भगवान् श्रीकृष्ण की प्रत्येक कल्प में अवश्य होनेवाले उसी प्रकार के स्वभाववाले अवतार की जो लीला है, उसने श्रीकृष्ण की प्रियतमाओं के प्रेमभाव को प्रकाशित करने के लिये, एवं श्रीकृष्ण के प्रियजनों को अनुरक्त करने के लिये, खेलते खेलते जनकनन्दिनी श्रीसीता की तरह गोपकन्याओं की श्रेणी में "मैं श्रीकृष्ण की नित्यकान्ता हूँ" इस प्रकार के ज्ञान को यद्यपि ढक दिया था, तथापि वह लीला उन गोपियों के लोकोत्तर प्रेम को छिपाने के लिये समर्थ न हुई ॥४६॥

क्योंकि जो प्रेम श्रीकृष्ण की उस प्रकार की लीला के वशीभूत होने के कारण, जानकी की तरह उस गोपकन्याश्रेणी के दूसरे के हाथ में गिरने की अवस्था में भी, अर्थात् अपने को उन गोपियों के पति माननेवाले गोपों के हस्तगत होने की दशा में भी, उन गोपियों के पातिव्रत्य की रक्षा करेगा, वही प्रेम उत्तरकाल में भी, अर्थात् श्रीकृष्ण के पुनः व्रज में आनेपर भी, उस दुःखरूप अवस्था को शान्त करके अपने नित्यपति श्रीकृष्ण से मिलानेवाला ही हो जायगा। अतः तुम दूसरी तरह से मत मानो ॥४७॥

देखो, "जो व्यक्ति जिस प्रकार अर्थात् जिस भाव से मेरी शरण में आते हैं, मैं उनको उसी भाव से अङ्गीकार करता हूँ" इस प्रकार गीता में श्रीकृष्ण का जो वचन प्रसिद्ध है, वह वचन गोपियों के सम्बन्ध में तो "ये गोपियाँ श्रीकृष्ण से भिन्न दूसरे की पत्नी हैं" इस प्रकार के भाव को दूर करने की रचनापूर्वक श्रीकृष्ण से मिलने के लिए ही सङ्गत होता है। और "ये यथा मां प्रपद्यन्ते" इस वाक्य में श्रीकृष्ण को यही कहना अभिप्रेत है कि—"भक्तों का मनोरथ जिस प्रकार का होता है, मेरा आकार उसी प्रकार का प्रगट हो जाता है।" और गोपियों की श्रेणियों के भाव का प्रकार भी इस प्रकार का है कि—अहह ! हमारा भाग्य भी कभी इस प्रकार का होगा जो कि, "हम दूसरे गोपों की पत्नी हैं" इस प्रकार की जो प्रतीति है, वह तो अनायास बुरे स्वप्न को तरह मिथ्या हो जाय ! एवं "हम श्रीकृष्ण की ही पत्नी हैं" इस प्रकार का भाव ही जागृत अवस्था की तरह शीघ्र ही सत्य हो जाय ! ॥४८॥

क्योंकि इन श्रीकृष्णरूप परमपुरुष में अनुराग करनेवाली स्त्रियों की उस प्रकार की रीति, अर्थात्

"तथा च ताभिरेवाभिप्रेतम् (भा० १०।२१।९)—'गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणु,–र्दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम् । भुंक्ते स्वयं' इति; (भा० १०।४७।२१) 'अपि बत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनाऽऽस्ते, स्मरति स पितृगेहान् सौम्य बन्धूंश्च गोपान् । क्वचिदपि स कथा नः किङ्करीणां गृणीते, भुजमगुरुसुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत् कदा नु ॥' इत्यत्र 'आर्यपुत्रः' इत्यनेन तत्र पतित्वं व्यज्य 'नः किङ्करीणाम्' इत्यादिना तथा तदीयस्वीकारः प्रकटमेव स्यादिति व्यञ्जितम् ॥५०॥

"तदेतदात्मनः श्रीमद्व्रजाऽऽगमनम्, व्रजाऽऽगमनमनु च तासु स्वीयताप्रकटीकरणमेव शुभङ्करणमिति श्रीमद्व्रजेन्द्रनन्दनेन स्वयमेव व्यञ्जितम्, (भा० १०।४६।६) ॥५१॥

'धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चन । प्रत्यागमनसन्देशैर्बल्लव्यो मे मदात्मिकाः ॥' इति तद्वचनं हि तासु स्वीयताम्, स्वीयतायामपि तदेकस्वरूपतां तथापि विदूरस्थिततया विसूरितपूरिततां तत्प्रत्यागमनमपि प्रत्याययति । तथा च सति यथा तासु विरहस्य दुःसहता,

---

श्रीकृष्ण को ही अपना पति माननारूप भाव को दूर रहने दो, किन्तु श्रीकृष्ण से भिन्न अन्य जारपुरुष में अनुराग करनेवाली स्त्रियों का भी पत्नीभाव सदैव अभीष्ट है ॥४९॥

और देखो, उन्हीं गोपियों के द्वारा अभिप्रेत वस्तु, यथा—अरी गोपियो ! इस वंशी ने कौनसा अपूर्व पुण्य किया है, जो कि श्रीकृष्ण के अधरामृत को भी, जो कि गोपियों की निजी वस्तु है, उसका स्वयं उपभोग कर रही है ? इस श्लोक में वंशी की प्रशंसा के बहाने महाअनुरागिणी गोपियों ने अधरामृत पान की लालसा से वंशी होने की प्रार्थना व्यञ्जित की है । और हे सौम्यमधुप ! बताओ, आर्यपुत्र (हमारे नित्य-पति श्रीकृष्ण) इस समय मधुपुरी में ही हैं न ? वे अपने पिता के घरों को, बन्धुओं को, एवं गोपों को भी याद करते हैं क्या ? और किसी प्रसङ्ग में हम सब दासियों की भी चर्चा चलाते हैं क्या ? और गुग्गुल की सी सुगन्धीवाली अपनी भुजा को हमारे मस्तकपर कब धारण करेंगे ? इस श्लोक में 'आर्यपुत्र' शब्द के द्वारा श्रीकृष्ण में पतिभाव को व्यक्त करके, अर्थात् पाणिग्रहण करनेवाले पति से अन्यत्र 'आर्यपुत्र' शब्द का प्रयोग शास्त्रनिषिद्ध है, और गोपियों ने इसका प्रयोग करके श्रीकृष्ण में अपने नित्यपति भाव को प्रगट करके "हम सब दासियों की चर्चा करते हैं" इत्यादि के द्वारा श्रीकृष्ण के द्वारा हमारा अङ्गीकार करना प्रगट ही हो जाय, यही भाव व्यञ्जित कर दिया ॥५०॥

अतः शोभायमान व्रज में अपना आना, और व्रज में आने के बाद गोपियों में "ये मेरी निजपत्नी हैं" इस भाव का प्रगट करना ही मङ्गलजनक है, यह बात श्रीमान् व्रजराजकुमार श्रीकृष्ण ने उद्धव के प्रति स्वयं ही सूचित की थी ॥५१॥

यथा—देखो, हे प्रिय उद्धव ! वे गोपियाँ मेरी ही नित्यपत्नी हैं, क्योंकि उनकी आत्मा मुझ में लगी हुई है, या वे मत्स्वरूप हैं । अतः वे गोपियाँ, मेरे पुनः व्रज में आने के सन्देशों के कारण, अपने प्राणों को प्रायः अत्यन्त कष्ट से किसी प्रकार धारण कर रही हैं । श्रीकृष्ण का यह वचन उन गोपियों में निजपत्नी भाव को एवं निजपत्नी भाव में भी, तदेक स्वरूपता को, अर्थात् श्रीकृष्ण के साथ तादात्म्यभाव को, और इतनेपर भी बहुत दूरस्थित होने के कारण, विसूरित (अनुताप) की परिपूर्णता को, तथा श्रीकृष्ण के पुनः व्रज में लौटकर आने को भी विश्वासयुक्त कर रहा है । और ऐसी स्थिति में उन गोपियों में जैसे विरह की असह्यता है, उसी प्रकार "ये गोपियाँ परकीया हैं" इस प्रकार के भाव की प्रसिद्धि की असह्यता को

तथा परकीयताख्यातेश्चेति ख्यापयति, अथवा तामिमां ततोऽप्यधिकामधिगमयति । ततस्तामवश्यमेव नश्यन्तीं करिष्यामीति पर्यवसाययति ।।५२।।

"वृन्दा प्राह,—'युष्मद्भावितमेवायुष्मद्भविता ।।'५३।।

"पूर्णिमाप्याह,—'श्रीकृष्णाऽऽस्वदिताऽधरासु विजितश्रीषु व्रजस्त्रीषु सा
मायामात्रमयी भवेद् विवहनाद्युत्था परोच्छिष्टता ।
मन्यन्तामुभयत्र भक्तिरहिताः सत्येति तां दुर्दशां
हा धिक् तां किमु तत्पराः स्थिरतया वाञ्छन्ति शृण्वन्ति च ।।'५४।।

"वृन्दा पप्रच्छ,—'मासद्वयमिह वासश्चेत् कथं (भा० १०।७८।१३) 'एवं सौभं च शाल्वं च' इत्यादिवीक्षया तस्य प्रतीक्षया रणरङ्गसङ्गतैर्यदुसंघैः सहैव द्वारकान्तःप्रवेशः सदेशरूपः स्यात् ।।'५५।।

"पूर्णिमा सहासमिवाह स्म,—'न जानासि, ता इमास्तस्य योगमायायाः प्रक्रियाः यथा ब्रह्ममोहनानन्तरं तदिदं दर्शितम्", (भा० १०।१४।४३)—

'एकस्मिन्नपि यातेऽब्दे प्राणेशं चान्तराऽऽत्मनः ।
कृष्णमायाहता राजन् ! क्षणार्धं मेनिरेऽर्भकाः ।।' इति ।।५६।।

भी विख्यात कर रही है। अथवा उस परकीयाभाव की ख्याति को उस विरह से भी अधिक दुःखदायिनी जना रहा है। अतः मैं (श्रीकृष्ण) "ये गोपियाँ दूसरे गोपों की पत्नी हैं" इस प्रकार की परकीयाभावरूप उस प्रसिद्धि को अवश्य ही नष्ट कर दूँगा, यह अन्तिम निर्णय दे रहा है ।।५२।।

वृन्दा बोली—आपने जिस विषयपर विचार किया है, वही सब गोपियों का संरक्षक होगा ।।५३।।

पूर्णिमा भी बोली—श्रीकृष्ण ने जिनके अधरों का आस्वाद लिया है, एवं जो महालक्ष्मी को भी पराजित करनेवाली हैं, उन व्रजाङ्गनाओं में विवाहादि कार्य से उत्पन्न श्रीकृष्ण से भिन्न पुरुष के उपभोग का जो भाव है, वह तो केवल मायामय हो सकता है। किन्तु श्रीकृष्ण एवं गोपीगण इन दोनों में भक्ति से रहित व्यक्ति यदि उस परोच्छिष्टतारूप दुर्दशा को सत्य मानते हैं तो भले ही मानते रहें। हाय ! खेद ! देखो, श्रीकृष्ण एवं गोपियों के भक्त उस दुर्दशा को स्थिररूप से चाहते हैं एवं सुनते हैं क्या ? अपितु, नहीं ।।५४।।

वृन्दा ने पूछा—यदि (दन्तवक्र को मारकर) श्रीकृष्ण का दो महीनातक व्रज में वास हुआ तो "इस प्रकार सौभ, शाल्व एवं दन्तवक्र को मारकर श्रीकृष्ण द्वारका में प्रविष्ट हुए" इत्यादि श्रीमद्भागवत के वाक्यों के देखने से श्रीकृष्ण की प्रतीक्षा से रणरङ्ग में सम्मिलित हुए यदुगणों के साथ ही द्वारका में प्रवेश किस प्रकार न्याययुक्त हो सकता है ? ।।५५।।

पूर्णिमा हँसती हुई सी बोली—श्रीकृष्ण की योगमाया की इन प्रक्रियाओं को तू नहीं जानती है क्या ? अर्थात् दो मास व्रज में वास, गोलोकप्रवेश, पश्चात् प्रकाशान्तर से द्वारका में प्रवेश, इत्यादि श्रीकृष्ण के उत्कृष्ट कार्यों को नहीं जानती है क्या ? देख, ब्रह्ममोहन के अनन्तर वह प्रक्रिया दिखाई है—हे राजन् ! परीक्षित् ! अपने प्राणेश्वर श्रीकृष्ण के बिना एक वर्ष बीत जानेपर भी, श्रीकृष्ण की माया से मोहित हुए ग्वालबालों ने "एक वर्षभर के समय को" आधेक्षण के समान माना था। इसी प्रकार यदुवंशियों को दो महीना का समय आधेक्षण के समान प्रतीत हुआ था, यही तात्पर्य है ।।५६।।

"वृन्दाह,—'तर्हि व्रजमागत्य हरिणा चिराय यद्यत् कृतम्, तत् किं द्वारकावासिभिर्न ज्ञातम् ?' पूर्णिमाह,—'पूर्वमज्ञातमपि दारुकमुखादवधार्य ज्ञातमनुभूतं च, येन तत्प्रजाभिः (भा० १।११।९) 'यर्ह्यम्बुजाक्षापससार' इति प्रोक्तम् ॥'५७॥

"अथ वृन्दा सानन्दापि समुत्कण्ठया ततः कण्टकमुद्धर्तुमिच्छति स्म; यथाह—'यर्ह्यम्बुजाक्षापससार' इत्यादिरीत्या 'मासद्वयमुवास ह' इति नीत्या च पुनर्व्रजाद् व्रजनं व्रजराजसूनोरुपलभ्यते। पूर्णिमोवाच,—'वाचि श्लेषय, यदि पाद्मवाचां शेषः स्यात्।' वृन्दा च वाचयति स्म,—'अथ तत्रस्था नन्दादयः सर्वे पुत्र-दार-सहिताः पशुपक्षिमृगादयश्च वासुदेवप्रसादेन दिव्यरूपधरा विमानमारूढाः परमं वैकुण्ठमवापुः,' इति; 'कृष्णस्तु नन्दगोप-व्रजौकसां सर्वेषां निरामयं स्वपदं दत्त्वा दिवि देवगणैः संस्तूयमानो द्वारवतीं विवेश' इति॥५८॥

"पुनर्निभाल्य वृन्दा तदेतदाह,—'तदेतत्पदमेव महागोलोकाख्यं तच्च सर्वोर्ध्वमेव वर्तत इति ब्रह्मसंहितावचनं चात्र दृश्यते; ॥५६॥ यथा—

वृन्दा बोली—तब व्रज में आकर श्रीकृष्ण ने बहुत दिनतक जो जो कार्य किया उसको द्वारका-वासियों ने नहीं जाना क्या ? पूर्णिमा बोली—पहले तो नहीं जाना था, तो भी पीछे तो श्रीकृष्ण के सारथि दारुक के मुख से सुनकर जान लिया, एवं अनुभव भी कर लिया। "श्रीकृष्ण दो मास व्रजवास करके ही द्वारका में आरहे हैं" इस प्रकार के ज्ञान से ही द्वारका की प्रजा ने श्रीकृष्ण के प्रति "हे कमल-नयन ! प्रभो ! आप अपने प्रिय सुहृदों को देखने की इच्छा से जब कुरुदेश एवं मथुराप्रदेश में जाते हो, तब आपके विरह में एकक्षण भी करोड़ों वर्ष के समान प्रतीत होता है" इत्यादि कहा था ॥५७॥

अनन्तर वृन्दा ने आनन्दयुक्त होकर भी उत्कण्ठा के कारण पूर्णिमा के द्वारा कण्टक को निकालने की, अर्थात् सन्देह दूर करने की इच्छा प्रगट की। यथा—"हे कमलनयन ! आप जब कुरुदेश एवं मथुरा-प्रदेश में जाते हैं" इत्यादि वचनों की रीति से, एवं "श्रीकृष्ण दन्तवक्र को मारकर दो मास व्रज में रहे" इस नीति के अनुसार श्रीव्रजराजकुमार का व्रज से दुबारा द्वारका जाना उपलब्ध होता है। पूर्णिमा बोली—यदि पद्मपुराण की वाणियाँ अवशिष्ट हों तो अपनी वाणी में उच्चारण करो। वृन्दा बाँचने लगी—उसके बाद व्रज में रहनेवाले श्रीनन्द आदि सभी व्रजवासी, पुत्र कलत्र सहित, और पशु, पक्षि, मृग आदि भी श्रीकृष्ण की कृपा से दिव्य रूप धरकर विमानों में चढ़कर परमवैकुण्ठ में पहुँच गये, अर्थात् गोलोक में चले गये। श्रीकृष्ण तो श्रीनन्दजी के व्रज में रहनेवाले सभी प्राणियों को अपना नीरोग गोलोक नामक स्थान देकर, आकाश में स्थित देवगणों के द्वारा प्रशंसित होकर, द्वारका में प्रविष्ट होगये (भा० १०।७८।१५ श्लोक के "विवेशालंकृतां पुरीम्" इस पद से पहले "दन्तवक्र को मारकर, यमुनाजी को पारकर, व्रज में जाकर, श्रीनन्दादि से मिलकर, गोपियों के साथ विवाह कर, प्रापंचिक व्रज से सबको चिन्मय व्रज में, अर्थात् गोलोक में प्रविष्ट कराकर, श्रीकृष्ण अपने स्वरूपविशेष से द्वारका में प्रविष्ट हुए" इतनी बात और समझ लेनी चाहिये) ॥५८॥

वृन्दा पुस्तक को पुनः देखकर यह बोली कि—श्रीकृष्ण का यह निजी स्थान ही 'महागोलोक' नामक है, और वह सभी लोकों के ऊपर विद्यमान है। इस विषय में ब्रह्मसंहिता का वचन भी दिखाई दे रहा है ॥५६॥

'गोलोकनाम्नि निजधाम्नि तले च तस्य, देवी-महेश-हरि-धामसु तेषु तेषु ।
ते ते प्रभावनिचया विहिताश्च येन, गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥'इति; ॥६०॥

"तथा मोक्षधर्मस्य नारायणीयोपाख्यानवचनं च—
'एवं बहुविधै रूपैश्चरामीह वसुन्धराम् । ब्रह्मलोकं च कौन्तेय ! गोलोकं च सनातनम्॥इति॥ ६१॥

"अथ पुनश्च निरूप्य वृन्दा सविस्मयमाह,—'अहो ! हरिवंशे गोविन्दाभिषेकं रचयितुमागतस्य शचीपतेर्वचनमिदमिति लिखितम्, तस्य सर्वगततामपि शंसद् दृश्यते ॥६२॥ यथा—

'तस्योपरि गवां लोकः साध्यास्तं पालयन्ति हि ।
स हि सर्वगतः कृष्ण ! महाकाशगतो महान् ॥
उपर्युपरि तत्रापि गतिस्तव तपोमयी ।
यां न विद्मो वयं सर्वे पृच्छन्तोऽपि पितामहम् ॥' इति; ॥६३॥

किन्तु तदिदं विशद्यताम् ।' "पूर्णिमा प्राह,—'साध्याः' इति सर्वेषामस्माकं प्रसादनीया इत्यर्थः । 'सर्वगतः' इति श्रीकृष्णविग्रहवदचिन्त्यशक्तितया विभुरित्यर्थः । तथापि सर्वोर्ध्वता तादृगुपासकानां तथैव स्फुरणादिति गम्यते । महाकाशो ब्रह्म, (ब्र० सू० १।१।२२)

यथा—ब्रह्माजी कहते हैं कि, मैं तो आदिपुरुष उन गोविन्द भगवान् का भजन करता हूँ, कि जिन्होंने गोलोक नामक निजधाम में एवं उस गोलोक के नीचे विद्यमान 'वैकुण्ठ', 'शिवलोक', 'देवीलोक' आदि उन स्थानों में वे लोकोत्तर प्रभावसमूह निर्मित किये हैं ॥६०॥

तथा मोक्षधर्मप्रतिपादक नारायणीय उपाख्यान का वचन भी दिखाई दे रहा है। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि—हे कुन्तीनन्दन ! देखो, मैं इस प्रकार द्विभुज, चतुर्भुज आदि अनेक प्रकार के रूपों से इस भूतलपर या ब्रह्मलोक में एवं सनातनगोलोक में विचरण करता रहता हूँ ॥६१॥

अनन्तर वृन्दा उस पुस्तक को पुनः देखकर आश्चर्यपूर्वक बोली—अहो ! श्रीहरिवंशपुराण में "श्रीगोविन्द का अभिषेक करने को आये हुए इन्द्र का यह वचन" इस प्रकार का शीर्षक देकर जो लिखा है वह अग्रिम वचन तो उस गोलोक की सर्वव्यापकता को भी कहता हुआ दिखाई देता है ॥६२॥

यथा—इन्द्र श्रीकृष्ण से बोला—हे प्रभो ! श्रीकृष्ण ! उस ब्रह्मलोक एवं वैकुण्ठलोक के भी ऊपर गोलोक विराजमान है, सिद्ध साध्यगण उसकी रक्षा करते हैं। वह गोलोक सर्वव्यापक है, और वह महा-आकाश में विद्यमान होने के नाते सबसे बड़ा है। किन्तु आपकी तपोमयी गति तो उस लोक में भी सर्वोपरि विद्यमान है। जिस गति को हम सब देवता ब्रह्माजी से बारंबार पूछते हुए भी नहीं समझ पाते हैं ॥६३॥

किन्तु हे भगवति ! पूर्णिमे ! आप इस पूर्वोक्त वचन को स्पष्ट कर दीजिये। पूर्णिमा बोली—'साध्याः' इस पद का अर्थ 'साधयितुं योग्याः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार, हम सबके प्रसन्न करने योग्य जनों को साध्य कहते हैं। 'सर्वगतः' पद का अर्थ यह है कि, वह गोलोक श्रीकृष्ण के विग्रह की तरह अचिन्त्य शक्तिवाला होने के नाते विभु (व्यापक) है। और सर्वव्यापक होनेपर भी उस गोलोक की सर्वोच्चता उस प्रकार के उपासकों को उसी प्रकार की स्फूर्ति होने के कारण जानी जाती है। और "आकाशस्तल्लिङ्गात्"

'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इति-न्यायात् । 'तद्गतः' इति तदनुभवोपर्य्यनुभवनीय इत्यर्थः; 'तपोमयी' इति पारमैश्वर्यमयीत्यर्थः; 'यां न विद्मः' इति ब्रह्मापि दुर्ज्ञेयतया न सम्यक् प्रकाशयतीति भावः ॥६४॥

"अथ वृन्दा पुनर्वाचितवती श्रीभागवते, (१०।२८।१०-१७)—

'नन्दस्त्वतीन्द्रियं दृष्ट्वा लोकपालमहोदयम् ।
कृष्णे च सन्नतिं तेषां ज्ञातिभ्यो विस्मितोऽब्रवीत् ॥
ते चौत्सुक्यधियो राजन् ! मत्वा गोपास्तमीश्वरम् ।
अपि नः स्वगतिं सूक्ष्मामुपाधास्यदधीश्वरः ॥
इति स्वानां स भगवान् विज्ञायाखिलदृक् स्वयम् ।
सङ्कल्प-सिद्धये तेषां कृपयैतदचिन्तयत् ॥
जनो वै लोक एतस्मिन्नविद्याकामकर्मभिः ।
उच्चावचासु गतिषु न वेद स्वां गतिं भ्रमन् ॥
इति सञ्चिन्त्य भगवान् महाकारुणिको हरिः ।
दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम् ॥
सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्म ज्योतिः सनातनम् ।
यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः ॥

इस ब्रह्मसूत्र के न्याय से महाकाश निर्गुण ब्रह्म को कहते हैं। और वह गोलोक महाकाशगत है इसका तात्पर्य यह है कि—वह गोलोक उस निर्गुण ब्रह्म के अनुभव के ऊपर भी अनुभव करने योग्य है। अर्थात् ब्रह्मसुख की अपेक्षा भी गोलोक का सुख बहुत ऊँचा है। और तपोमयी गति का अर्थ है–परम ईश्वरतामयी और 'यां न विद्मः' से यह भाव निकलता है कि—दुर्ज्ञेय होने के कारण श्रीकृष्ण की उस गति को, अर्थात् स्वरूप को ब्रह्मा भी अच्छी प्रकार प्रकाशित नहीं करते हैं ।।६४।।

वृन्दा पुनः बाँचने लगी—श्रीमद्भागवत में लिखा है कि, श्रीनन्दजी तो लोकपाल वरुण के अतीन्द्रिय अभ्युदय को देखकर, एवं उन लोकपालों की श्रीकृष्ण के प्रति भली प्रकार नम्रता को देखकर, स्वयं चकित होकर, अपने जातिवाले गोपों से कहने लग गये। यह समाचार सुनते ही वे गोप तो उत्कण्ठित बुद्धि से युक्त होकर, श्रीकृष्ण को परमेश्वर मानकर मन मन में यह विचारने लगे कि—ये सर्वेश्वर श्रीकृष्ण अपने सूक्ष्म स्वरूप को हमारे लिये भी दिखायेंगे क्या ? (क्योंकि हम श्रीकृष्ण के मित्र हैं, अतः हमारे लिये प्रपञ्च की अवस्था उपयुक्त नहीं है) इसलिए नित्य सुहृद् वे ही भगवान् श्रीकृष्ण सर्वसाक्षी होने के नाते, अपने जातिवाले गोपों के संकल्प को स्वयं जानकर, उनके संकल्प की सिद्धि के लिये कृपापूर्वक अपने मन में यह विचार करने लगे—"देखो, जनमात्र अविद्या, काम एवं कर्मों के द्वारा इस लोक में ऊँची नीची योनियों में भ्रमण करता हुआ अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं जान पाता है"। और मेरे प्राणप्यारे व्रजवासीजन तो साधारण नहीं हैं। यह विचार कर अतिशय दयालु भगवान् श्रीकृष्ण ने गोपों के लिये, तमोगुण से परे अपने गोलोक का दर्शन करा दिया। जो गोलोक सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, अनन्तस्वरूप, ब्रह्मस्वरूप, ज्योतिस्वरूप, एवं सनातन स्वरूप है। एवं जिस गोलोक को माया से सावधान मुनिजन तीनों

ते तु ब्रह्मह्रदं नीता मग्नाः कृष्णेन चोद्धृताः ।
ददृशुर्ब्रह्मणो लोकं यत्राक्रूरोऽध्यगात् पुरा ॥
नन्दादयस्तु तं दृष्ट्वा परमानन्दनिर्वृताः ।
कृष्णं च तत्र छन्दोभिः स्तूयमानं सुविस्मिताः ॥' इति ॥६५॥

"अथ वृन्दा वदति स्म,—'किमत्र सुखसत्रमायातम् ?' पूर्णिमोवाच,—'तदेवं यन्निजपदं तेषामेवास्पदतया तेषामेव दृष्टिपदमकार्षीत्तदेव पश्चाद् व्यतारीदिति तत्र परामृश्यते । तत्र 'ते तु ब्रह्मह्रदं नीताः' इत्यत्र यत्राक्रूरः स्तुतवांस्तं ब्रह्मह्रदं कृष्णेन तत्तीर्थमहिमानं लक्ष्यं विधातुं नीता मग्नाश्च पुनः कृष्णेनैवोद्धृत्य वृन्दावनमानीतास्तस्मिन्नेव नराकृतिपरब्रह्मणस्तस्य लोकं ददृशुर्न त्वक्रूरवज्जलमध्य इति न चान्यथेति च गम्यते । 'पुरा' इत्येतत्प्रसङ्गाद्भाविकाल इत्यर्थः; 'पुरा पुराणे निकटे प्रबन्धातीतभाविषु' इति हि कोषकाराः । लोकः स च सूक्ष्मामिति, 'तमसः परम्' इति, 'सत्यं ज्ञानम्' इत्यादिस्वरूप इति च प्रकृतिगुणास्पृष्टतया चिच्छक्तिविलास एवेति लभ्यते । तथा 'अपि नः स्वगतिम्' इति, 'न वेद स्वां गतिम्' इति, 'गोपानां तमसः परम्' इति, 'कृष्णं च तत्र' इति च न परमव्योमादिरूपः, किन्तु

गुणों के नष्ट हो जानेपर देख पाते हैं। किन्तु ब्रह्मह्रदपर ले जाये गये वे व्रजवासी तो, उसमें गोता लगाकर, गोलोक का दर्शन करने लग गये, जहाँपर अक्रूरजी भी पहले दर्शन कर चुके थे। श्रीकृष्ण के द्वारा उस ब्रह्मह्रद से निकाले गये श्रीनन्दादि गोप तो उस गोलोक को देखकर, परमानन्द से सुखित होकर, एवं वहाँ पर वेदों के द्वारा प्रशंसित श्रीकृष्ण को देखकर विशेष चकित हो गये ॥६५॥

पश्चात् वृन्दा बोली—इन पूर्वोक्त श्लोकों में कौन से सुख का दान प्राप्त हुआ, अर्थात् इनका तात्पर्य समझने से कौनसा सुख मिला कहिये? पूर्णिमा बोली—इस प्रकार गोलोक नामक जो अपना स्थान है, उस को उन व्रजवासियों का स्थान होने के नाते उन्हीं के दृष्टिगोचर कर दिया, वही लोक उनको दे भी दिया, यही भाव इन श्लोकों में विचारा जाता है। उनमें भी "वे व्रजवासी ब्रह्मह्रद में ले जाये गये" इस स्थान पर जहाँपर अक्रूरजी ने स्तुति की थी, उस ब्रह्मह्रद में श्रीकृष्ण ने उस तीर्थ की महिमा को लक्ष्य करने के लिये उनको पहुँचाया था, उसी में गोता लगवाया था, पुनः श्रीकृष्ण ने ही उस ब्रह्मह्रद से निकालकर, वृन्दावन में पहुँचाया था। क्योंकि उस वृन्दावन में ही नर की सी आकृतिवाले परब्रह्म उन श्रीकृष्ण के गोलोक को देखा था। किन्तु अक्रूर की तरह जल में उस लोक को नहीं देखा था, इससे अन्यथा नहीं। इस प्रकार का भाव ही जाना जाता है। और 'पुरा' यह अव्यय भी इस प्रसङ्ग के अनुसार भविष्यत् अर्थ में प्रयुक्त है, यह जानना चाहिये। क्योंकि अमर एवं मेदिनी आदि कोषों के निर्माता 'पुरा' शब्द को प्राचीन, निकट, प्रबन्ध, अतीत (भूत), और निकट आनेवाले भविष्यत् इतने अर्थों में प्रयुक्त मानते हैं। और वह गोलोक भी "सूक्ष्मां" इति और "तमसः परं" इति तथा सत्यं, ज्ञानं, अनन्तं, ब्रह्म, ज्योतिः, सनातनं इत्यादि विशेषणों के कारण, प्रकृति के गुणों से अस्पृष्ट होने के नाते, चित्शक्ति का विलास स्वरूप ही है, यह भावार्थ उपलब्ध होता है। तथा "अपि नः स्वगतिं" इति "न वेद स्वां गतिं" इति "गोपानां स्वं लोकं" इति "कृष्णं च तत्र" इत्यादि विशेष उक्तियों के कारण, श्रीमान् व्रजराज का यह व्रज एवं वृन्दावनरूप जो लोक है, वह परव्योम (वैकुण्ठ) आदि रूपवाला नहीं है, किन्तु ब्रह्मसंहिता आदि सद्ग्रन्थों ने जिसका यश

ब्रह्मसंहितादिकृतश्लोकः स्फुटमप्राकृतगोलोकस्वरूप एवायं श्रीमद्व्रजेशलोक इति पर्यवसीयते। 'तत्र छन्दोभिः स्तूयमानम्' इति तज्जन्मादिलीलावर्णिनीनां श्रुतिवरवर्णिनीनां साक्षिता तु तत्रापि पुरः स्फुरति कृष्णे तेषां निजसुततादिमात्रताज्ञानाय पार्षदान्तरदर्शनानुक्तिस्तेषां गोपानामेव तत्रत्यतत्परिकरताव्यञ्जनायेति ज्ञेयम्; यत एव तदेकरुचीनां श्रीनन्दादीनां परमानन्दनिर्वृतिर्विस्मितिश्च घटते। स्वलोकतायामप्यवताराऽवसरे तेषां तस्याऽदर्शने कारणं 'जनो वै' इति, (भा० ३।२९।१३) 'सालोक्यसार्ष्टि' इत्यादिपद्ये 'जनाः' इतिवज्जनशब्दोऽयं तदीयस्वजनपरः; (भा० १०।२५।१८)—

'तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहम्। गोपाये स्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत आहितः॥' इति। श्रीकृष्णस्यैव तत्र च मनसैव स्वनिष्ठाप्रतिष्ठारचनाद् वचनादत्र स तु व्रजजनः परमस्वजन एव स्पष्टः। साधारणजनवाचित्वे तत्कृपा सर्वस्यापि जनस्य व्यापिन्यभविष्यत्। 'स्वां गतिम्' इत्यपि न समगंस्यत। ततश्च परमस्वजनोऽयं मम व्रजवासिजनः प्रापञ्चिके लोके याः स्वाविद्यादिभिर्देवतिर्यगादिरूपा गतयस्तासु भ्रमंस्तन्निर्विशेषतयात्मानं मन्वानः स्वां गतिं गोलोकलक्षणां न जानातीत्यर्थः। अत्र कारणं तु (भा० १०।११।५८)—'इति नन्दादयो

प्रचारित किया है, उस अप्राकृत (प्रकृति के गुणों से रहित) गोलोक के से स्वरूपवाला ही है, यह भाव स्पष्ट ही निश्चित फलित होता है। और वहाँपर "वेदों के द्वारा श्रीकृष्ण की स्तुति हो रही है" इस कथन का भाव तो यह है कि—श्रीकृष्ण की जन्मादि लीलाओं का वर्णन करनेवाली श्रुतिरूपा उत्तमस्त्रियों की साक्षी तो उस गोलोक में भी अपने आगे स्फूर्ति पानेवाले श्रीकृष्ण में श्रीनन्दादिकों के केवल पुत्रभाव आदि को जताने के लिये है। किन्तु श्रुतिरूपा नारियाँ श्रीवसुदेवजी के पुत्ररूप से श्रीकृष्ण को स्तुति नहीं कर रही हैं, यही तात्पर्य है। और उन गोपों ने उस गोलोक में अपने से भिन्न श्रीकृष्ण के और कोई भी पार्षद नहीं देखे, यह जो कथन है वह "गोलोक में रहनेवाले श्रीकृष्ण के परिकर केवल गोपगण ही हैं" इस भाव को व्यक्त करने के लिये है, यह जानना चाहिये। जिस कारण से ही केवल श्रीकृष्ण में अभिरुचि रखनेवाले श्रीनन्द आदि गोपों का परमानन्दमय सुख एवं आश्चर्य संघटित होता है। और वह व्रजरूप गोलोक अपना निजीलोक होनेपर भी,श्रीकृष्ण की तरह उनके परिकरों के अवतार के समय उन गोपों को उस गोलोक के दर्शन न होने में कारण तो "जनो वै लोक" इत्यादि है। इसका भावार्थ तो यह है कि—"सालोक्यसार्ष्टि" इत्यादि तृतीयस्कन्ध के श्लोक में विद्यमान "जन" शब्द जैसे भक्तों का वाचक है, उसी प्रकार यह जन शब्द भी श्रीकृष्ण के आत्मीय श्रीनन्दादि गोपपरक है। "इसलिए मैं ही जिसका रक्षक हूँ, मैं ही जिसका स्वामी हूँ, एवं मैं ही जिसका अवलम्बन हूँ, उस व्रज की मैं अपने योग से रक्षा करूँगा। क्योंकि मैंने यही व्रत (नियम या संकल्प) सदैव से धारण कर रखा है" इस प्रकार श्रीकृष्ण के ही उसमें भी मन के द्वारा ही, व्रज में अपनी निष्ठा की प्रतिष्ठा की रचना करनेवाले वचन के द्वारा यहाँपर व्रजवासीजन तो परम-स्वजन ही स्पष्ट है। यदि "जनो वै" श्लोकवाला जन शब्द साधारणजन वाची होता तो, श्रीकृष्ण की कृपा सर्वजनव्यापिनी, अर्थात् जनमात्र का स्पर्श करनेवाली हो जाती। और "अनेक योनियों में भ्रमण करता हुआ जन अपने स्वरूप को नहीं जान पाता" यह बात भी संगत न होती।

इसलिए यह मेरा परमस्वजन व्रजवासीजन इस प्रापञ्चिकलोक में अपनी अविद्या, अर्थात् श्रीकृष्ण के माधुर्य में विशेष अभिनिवेश होने से, अपने स्वरूप के अनुसन्धान का अभावरूप अविद्या आदि के कारण

गोपाः कृष्ण-रामकथां मुदा। कुर्वन्तो रममाणाश्च नाविन्दन् भववेदनाम् ॥' इत्यनुसारेण मदीयलौकिकलीलाशक्तिरेवेति भावः। तदज्ञानादेव च (भा० १०।२८।१०) 'नन्दस्त्वतीन्द्रियम्' इत्यादिकं घटत इति। तस्माद् यदेव खल्विदं दर्शितम्, तदेव तेभ्यः पश्चाद्दत्तमिति गम्यते ॥६६॥

"वृन्दा प्राह,—'हन्त! कथं त एते मद्वनादन्तर्हिततामाप्स्यन्ति, श्रीकृष्णेन पुनर्वियोगं च लप्स्यन्ते?' पूर्णिमाप्राह,—'किञ्चिदन्यदस्ति चेद्वाच्यताम्।' वृन्दा प्राह स्म,—'अथ वाराह-वचनमिति किञ्चिदन्यदपि सञ्चितमस्ति; ॥६७॥ तद्यथा—

'तत्रापि महदाश्चर्यं पश्यन्ते पण्डिता नराः। कालियह्रदपूर्वेण कदम्बो महितो द्रुमः ॥
शतशाखो विशालाक्षि! पुण्यः सुरभिगन्धि च। स च द्वादशमासानि मनोज्ञः शुभशीतलः ॥
पुष्पायति विशालाक्षि! प्रकाशन्ते दिशो दश: ॥' इति ॥६८॥ तथा—

'तत्राश्चर्यं प्रवक्ष्यामि तच्छृणु त्वं वसुन्धरे!। लभन्ते मनुजाः सिद्धिं मम कर्मपरायणाः ॥
तस्य तत्रोत्तरे पार्श्वेऽशोकवृक्षः सितप्रभः। वैशाखस्य तु मासस्य शुक्लपक्षस्य द्वादशी ॥
स पुष्प्यति च मध्याह्ने मम भक्तसुखाऽऽवहः ॥
न कश्चिदपि जानाति विना भागवतं शुचिम् ॥' इत्यादि ॥६६॥

देवता, पशु, मनुष्य आदि जो गतियाँ हैं, उनमें घूमता हुआ, अपने को साधारणजनों की तरह मानता हुआ, गोलोकस्वरूप अपनी गति को नहीं जानता है, यही भावार्थ है। इस न जानने में कारण तो "इस प्रकार श्रीनन्दादि गोप श्रीकृष्ण बलदेव की कथा को हर्षपूर्वक करते हुए, एवं क्रीडा करते हुए, सांसारिक वेदना को प्राप्त नहीं कर पाये"। इस कथन के अनुसार मेरी लौकिक लीलाशक्ति ही है, अर्थात् सांसारिकजनों की तरह जो मेरा लीलाकार्य है, वही इस अज्ञान में कारण है। उस अपनी गति को न जानने के कारण ही "श्रीनन्दजी वरुण के अतीन्द्रिय ऐश्वर्य को देखकर चकित हो गये" इस प्रकार का वचन संघटित होता है। इसलिए जो उनका स्वकीय स्थान उन गोपों को दिखाया था, वह पीछे उनके लिये समर्पित कर दिया, यही भावार्थ समझ में आता है ॥६६॥

वृन्दा बोली—हाय! तो क्या ये व्रजवासी वृन्दावन से अन्तर्धान को प्राप्त हो जायँगे, एवं श्रीकृष्ण से पुनः वियोग को प्राप्त हो जायँगे? पूर्णिमा बोली—यदि इस पुस्तक में और कुछ हो तो बाँच दो। वृन्दा बोली—अब इस पुस्तक में "वराहपुराण के वचन" ऐसा लिखकर कुछ और भी सिद्धान्त संगृहीत है ॥६७॥

यथा—उस वृन्दावन में पण्डितजन भी एक महान् आश्चर्य देखते हैं कि, कालियह्रद के पूर्व की ओर एक परमपूजित कदम्बवृक्ष है। हे विशाललोचने! वह सौ शाखावाला एवं पुण्यमय है, तथा उसकी सुगन्धी नासिका को तृप्त करनेवाली है। वह वृक्ष बारहों महीने मनोहर, शुभप्रद, एवं शीतल बना रहता है। और हे विशालाक्षि! वह कदम्ब बारहों महीना पुष्पित रहता है, जिसके पुष्पों की प्रभा से दशों दिशाएँ प्रकाशित होती रहती हैं ॥६८॥

तथा वराह भगवान् पृथ्वी से कहते हैं कि—हे वसुन्धरे! मैं तुम्हारे प्रति उस वृन्दावन में एक आश्चर्य की बात कहूँगा, तुम उसको ध्यान से सुनो। वृन्दावन में मेरी नवधाभक्तिरूप सत्कार्य में लगे हुए मानव सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं। वृन्दावन में उस ब्रह्मह्रद के उत्तर की ओर श्वेत कान्तिवाला एक

"अत्र 'तस्य' इति ब्रह्मकुण्डस्येत्यर्थ इत्युक्त्वा पुनः पूर्णिमोवाच,—'किञ्चदन्यदप्यस्ति ?' वृन्दा सानन्दमुवाच,—'अस्ति चान्यत् स्कान्दमथुरामाहात्म्ये,—
'ततो वृन्दावनं पुण्यं वृन्दादेवीसमाश्रितम् । हरिणाऽधिष्ठितं तच्च ब्रह्मरुद्रादिसेवितम् ।।' इति;
वत्सैर्वत्सतरीभिश्च सरामो बालकैर्वृतः । वृन्दावनान्तरगतः सदा क्रीडति माधवः ।।'इति च ७०

"अथाऽऽदिवाराहवचनं च—
'कृष्णक्रीडासेतुबन्धं महापातकनाशनम् । वलभीं तत्र क्रीडार्थं कृत्वा देवो गदाधरः ।।
गोपकैः सहितस्तत्र क्षणमेकं दिने दिने । तत्रैव रमणार्थं हि नित्यकालं स गच्छति ।।' इति ।
'अतएव विशिष्टमिदमुपदिष्टं गौतमीये,—'वृन्दावने वसेद्धीमान् यावत् कृष्णस्य दर्शनम्' इति ।।७१।।

"अथात्र वृन्दा पप्रच्छ,—'संप्रति चिराय प्रोषितत्वेन परामृश्यमानस्य तस्य सदा क्रीडनमत्र कथं घटते ?' पूर्णिमा प्राह,—'वैकुण्ठाद् गजेन्द्रध्रुवादिकृपार्थं मध्ये मध्ये पृथिवीमागतस्य च यथा तन्नाथस्य तत्र नित्याऽवस्थानं प्रोच्यते, तद्वदत्रापि सचते, अनाद्यनन्तकालं तत्र विहरतस्तस्य निमेषमात्रमेव तत्तत्काल इति । अतः परं किञ्चिदस्ति, तत्तु वद ।।'७२

अशोकवृक्ष है। वह वृक्ष वैशाख मास के शुक्लपक्ष की द्वादशी के दिन मध्याह्न में पुष्पित होता है, और मेरे भक्तों को सुख देता है। किन्तु पवित्र भक्त के बिना उसको कोई भी नहीं जानता है, इत्यादि ।।६९।।

इन श्लोकों में 'तस्य' पद का अर्थ 'उस ब्रह्मह्लद के', यह कहकर पूर्णिमा पुनः बोली—इस पुस्तक में और भी कुछ है क्या ? । वृन्दा आनन्दपूर्वक बोली—स्कन्दपुराणोक्त मथुरामाहात्म्य में और कुछ लिखा है, यथा—अनन्तर वृन्दावन परमपवित्र है, उस वन की अधिष्ठात्री वृन्दादेवी के द्वारा वह सेवित है; श्रीकृष्ण वहाँपर सदैव रहते हैं, और वह ब्रह्मा, रुद्र आदि देवों से सेवित है। और श्रीकृष्णचन्द्र बलरामजी के सहित बछड़ा, बछड़ी एवं ग्वालबालों से घिरकर, उस वृन्दावन में सदा क्रीडा करते रहते हैं ।।७०।।

अब आदिवराह के वचन भी सुन लीजिये। श्रीकृष्ण की क्रीडा के द्वारा यमुनातीरपर जो सेतुबन्ध हुआ था, वह महापातकों को नष्ट कर देता है। एवं वे ही गदाधरदेव श्रीकृष्ण उस सेतुबन्ध के निकट खेलने के लिये, एक चन्द्रशाला (चौपाड) बनाकर वहाँपर ग्वालबालों के सहित प्रतिदिन क्षणभर क्रीडा करने के लिये नित्य ही जाते हैं। अतएव गौतमीयतन्त्र में यह विशिष्ट उपदेश दिया है कि—"बुद्धिमान् का कर्तव्य है कि जबतक श्रीकृष्ण का दर्शन प्राप्त हो, तबतक श्रीवृन्दावन में वास करता रहे" ।।७१।।

पश्चात् वृन्दा ने इस विषय में पूछा कि—इस समय बहुत दिन से दूरदेश द्वारकावासीरूप से विचारे जानेवाले श्रीकृष्ण की वृन्दावन में सदा क्रीडा किस प्रकार संघटित होती है ? पूर्णिमा बोली—देखो, गजेन्द्र एवं ध्रुव आदि भक्तोंपर कृपा करने के लिये वैकुण्ठ से बीच बीच में पृथ्वीपर आनेवाले वैकुण्ठनाथ की वैकुण्ठ में भी नित्यस्थिति जिस प्रकार कही जाती है, उसी प्रकार वृन्दावन में भी श्रीकृष्ण की नित्य-स्थिति संघटित है। क्योंकि अनादि एवं अनन्तकालतक उस वृन्दावन में नित्यविहार करते हुए श्रीकृष्ण का जो काल हमारे लिये महान् मालूम पड़ता है, वह वह काल श्रीकृष्ण का निमेषमात्र है। इसके आगे और कुछ लिखा हो तो कहो ? ।।७२।।

"वृन्दा प्राह,—'एतदनन्तरं बृहद्गौतमीयपद्यानि प्रतिपद्यन्ते।' पूर्णिमाह,—'वाच्यन्ताम्।' वृन्दा च वाचितवती; यथा नारद उवाच,—

'किमिदं द्वात्रिंशद्वनं वृन्दारण्यं विशांपते!।
श्रोतुमिच्छामि भगवन्! यदि योग्योऽस्मि मे वद॥'

श्रीकृष्ण उवाच,—

'इदं वृन्दावनं रम्यं मम धामैव केवलम्। अत्र मे पशवः पक्षि-मृगाः कीटा नरामराः॥
ये वसन्ति ममाधिष्ण्ये मृता यान्ति ममालयम्। पञ्चयोजनमेवास्ति वनं मे देहरूपकम्॥
कालिन्दीयं सुषुम्नाख्या परमामृतवाहिनी। अत्र देवाश्च भूतानि वर्तन्ते सूक्ष्मरूपतः॥
सर्वदेवमयश्चाहं न त्यजामि वनं क्वचित्। आविर्भावस्तिरोभावो भवेन्मेऽत्र युगे युगे॥
तेजोमयमिदं रम्यमदृश्यं चर्मचक्षुषा॥' इति॥७३॥

"पूर्णिमा प्राह,—'आयातमत्र च प्रकटाऽप्रकटलीलाऽवकाशतामयं प्रकाशद्वैविध्यम्। अत्र 'मे पशवः' इति, 'तेजोमयम्' इति चोक्तत्वात्॥'७४॥

"तदेवं जातसुखवृन्दा वृन्दा पुनः पप्रच्छ,—'तदिदं च सर्वं पर्यक् तात्पर्याय पर्यालोच्यताम्।' पूर्णिमोवाच,—'अनेनेदं गम्यते। गोलोकाख्यं तद्वैभवं सदैव वृन्दावनभवम्;

वृन्दा बोली—इसके बाद बृहद्गौतमीयतन्त्र के श्लोक प्राप्त हो रहे हैं। पूर्णिमा बोली—तो बाँच दो। वृन्दा बाँचने लग गई, यथा—नारद कृष्ण के प्रति बोले—हे महाराज! यह वृन्दावन बत्तीस अवान्तर वनों से युक्त है क्या? हे भगवन्! मैं इस बात को सुनना चाहता हूँ, यदि मैं योग्य अधिकारी हूँ तो मेरे प्रति कह दीजिये।

श्रीकृष्ण बोले—देखो, नारदजी! यह रमणीय वृन्दावन केवल मेरा ही धाम है। मेरे स्थानस्वरूप इस वृन्दावन में जो पशु, पक्षी, मृग, कीट, पतंग, मनुष्य एवं देवता निवास करते हैं, वे मरकर मेरे गोलोकधाम में जाते हैं। यह वृन्दावन पाँच योजन, अर्थात् बीस कोस के विस्तारवाला है, एवं मेरा देहस्वरूप है। और यह यमुनानदी (जिस नाड़ी के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति होती है वही) सुषुम्णा नामवाली नाड़ी है, एवं यह यमुना परम अमृत को, अर्थात् मेरे प्रेमरस को प्रवाहित करती रहती है। और इस वृन्दावन में देवता एवं जीवगण सूक्ष्मरूप से रहते हैं, अर्थात् वृक्ष आदि के आकार में छिपे रहने के कारण उनका पहचानना कठिन है। मैं सर्वदेवस्वरूप हूँ, अतः मैं भी इस वृन्दावन को कभी भी नहीं त्यागता हूँ। इस वन में मेरा आविर्भाव एवं तिरोभाव प्रत्येक युग में होता रहता है। यह वृन्दावन तेजोमय एवं परमरमणीय है, किन्तु प्राकृत नेत्रों से दिखाई देने योग्य नहीं है॥७३॥

पूर्णिमा बोली—बृहद्गौतमीयतन्त्र के इन श्लोकों में श्रीकृष्ण की प्रगट एवं अप्रगट लीलाओं का अवकाशस्वरूप दो प्रकार का प्रकाश उपलब्ध हो गया। क्योंकि इन श्लोकों में "इस मेरे वृन्दावन में जो पशु आदि हैं" एवं यह "तेजोमय है" ऐसा कहा गया है॥७४॥

इस प्रकार सुनकर जिसको सुखवृन्द उत्पन्न हो गया है, वह वृन्दा पुनः पूछने लगी—हे भगवति! इस पूर्वोक्त सारे विषय को सर्वतोभाव से तात्पर्य प्राप्त करने के लिये विचारयुक्त कर दीजिये। पूर्णिमा बोली—इस पूर्वोक्त प्रसङ्ग से यह जाना जाता है कि, गोलोक नामक जो श्रीकृष्ण का

किन्तु त्वं व्रजवासिजनवदेव संप्रति न तदवगच्छसि। यथा पृथ्व्या अपि तदज्ञानं वाराह-वचनाल्लभ्यते। तदेतदेव च नित्यधाम तेभ्यस्तेन दर्शितम्, तदेव च तेषां नित्यप्राप्यतया वर्णितम्, 'अक्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्' इति-न्यायेन दूरे तेषां गमनं च व्यर्थम्' इति ॥७५॥

"वृन्दाह,—'सत्यं सत्यम्; द्वयोरभेदेनैव व्यवस्थारचनं हरिवंशस्थ-तत्प्रसङ्गसङ्गतशक्र-वचनं चात्र दृश्यते,—'स तु लोकस्त्वया कृष्ण! सीदमानः कृतात्मना। धृतो धृतिमता वीर! निघ्नतोपद्रवान् गवाम् ॥' इति ॥७६॥

'किन्तु—अथ 'तत्रस्था नन्दादयः' इत्यादिपाद्म-गद्य-द्वयं विशद्यताम्!' "पूर्णिमा व्याचचक्षे,—'श्रीमन्नन्दाद्या व्रजस्थिताः स्व-स्व-पुत्रैः स्वयं श्रीकृष्णादिभिः स्व-स्व-दारैः श्रीयशोदादिभिः सहिता वसुदेवादागतस्य तस्य कृतनिजागमनसङ्कल्पसंवादेन प्रसादेन पूर्वतोऽपि परमापूर्वरूपधराः परस्परदृक्सुखकराः सर्वत्र मनोरथपथप्रापकतदीयरथमारूढा-स्तत्त्वमात्राऽनभिज्ञेषु तत्त्वाऽन्तरविज्ञेषु च तत्तेजसा गूढाः। महसाधःकृताऽशेषं श्रीवृन्दावनस्य पूर्वोक्तप्रकाशविशेषं पराभिर्माभिरकुण्ठं गोलोकाख्यवैकुण्ठं तत्र च गोकुलकमलं यमुनाया उत्तरपाराद्दक्षिणपारमवाप्य प्रापुः' इति ॥७७॥

वैभव है, वह सदैव वृन्दावन में विद्यमान है। किन्तु हे वृन्दा! तू भी प्रेममयी विस्मृति के कारण व्रजवासिजनों की तरह इस समय उस अपने धाम के वैभव को नहीं जान पा रही है। जिस प्रकार पृथ्वीदेवी को भी उसके वैभव का अज्ञान वराहपुराण के वचन से उपलब्ध हो रहा है। अतः इस नित्यधाम वृन्दावन को ही श्रीकृष्ण ने उन गोपों के लिये दिखाया था। और वही धाम उन गोपों के लिये नित्यप्राप्यरूप से वर्णित हुआ है। और "यदि अपने घर के ताखे में ही शहद मिल जाय, तो पर्वत में शहद के लिये क्यों जाय?" इस नीति के अनुसार उन व्रजवासियों का दूरवर्ती 'गोलोक' में जाना व्यर्थ है। तात्पर्य—वृन्दावन ही दिव्यातिदिव्य गोलोक है ॥७५॥

वृन्दा बोली—आपका कथन सत्य एवं परमसत्य है। क्योंकि "गोलोक एवं वृन्दावन" इन दोनों की अभेदरूप से व्यवस्था की रचना करनेवाला हरिवंशपुराणस्थ एवं उसी प्रसङ्ग के सङ्गत इन्द्र का वचन भी इस पुस्तक में दीख रहा है। यथा— हे वीरवर! कृष्ण! वह वृन्दावनरूप गोलोक मेरे द्वारा मूर्खता से की गई वृष्टि से जब पीडित हो रहा था, तब श्रीगोवर्धनधारणरूप यत्न करनेवाले आपने धैर्य धारणपूर्वक गोगण के उपद्रवों को दूर करते करते सुरक्षित करके पुष्ट कर लिया था ॥७६॥

किन्तु इसी प्रसङ्ग में कहे गये "तत्रस्था नन्दादयः" इत्यादि पद्मपुराणोक्त जो दो गद्य हैं, उनकी भी विशद व्याख्या कर दीजिये। क्योंकि उन गद्यों के पढ़ने से तो गोलोक श्रीवृन्दावन से भिन्न ही प्रतीत होता है। पूर्णिमा व्याख्या करने लगी—श्रीमान् नन्द आदि व्रजवासिजन स्वयं श्रीकृष्ण आदि अपने अपने पुत्रों के सहित, एवं श्रीयशोदा आदि अपनी अपनी स्त्रियों के सहित श्रीवसुदेव के निकट से, अर्थात् द्वारका से आये हुए श्रीकृष्ण की अपने आगमन के संकल्प से संवादरूप अनुग्रह के द्वारा, पहले से भी परम अपूर्व रूप धारण करके, परस्पर नेत्रों के सुखकारी होकर, सब जगह मनोरथ के पथ को प्राप्त करानेवाले श्रीकृष्ण के रथ में बैठकर, एवं रथ में चढ़ने के तत्त्वमात्र को न जाननेवालों के निकट, तथा गोलोकप्रवेश-

'तच्च निरामयं कृतपुनर्विरहव्याधिविलयं स्वपदं निजनित्यास्पदं 'पुत्र-दार-सहिताः' इति पूर्वसूचिततत्पुत्रतोचितरूपेणात्र स्थितिरेव यदुपुरसमुचितस्वरूपेण तु द्वारवतीप्रवेश इति सर्वमेव सदेशरूपम्। किन्तु गोपनार्थं लोकेषु चमत्क्रियाऽऽरोपणार्थमेव च सेयं विमानप्रक्रिया। पारेऽवारे वा वसतु स तु घोषस्तां विनापि ब्रह्मह्रदमज्जनानन्तरवत्तत्र सज्जनं लभेत ॥७८॥

'नाध्यातिष्ठेद् यदि यदुपुरात् प्राप्य गोष्ठं स भूयः
सर्वं तर्हि प्रतिहतरसं सर्वथा स्याद् वृथा च।
जन्मानन्दः प्रतिलववयःश्रीचितिः स्नेहवृद्धि-
र्लीलापूर्तिर्विरहमभितः सान्त्वनं चात्र तस्य ॥'७९॥

"अथ वृन्दा पप्रच्छ,—'यद्येवं पश्चादपि सर्वव्रजप्राणस्तत्त्राणमाचरितवांस्तदा पुरा मथुराप्रस्थान एव न कथं वाऽऽचरितवान् ?' ॥८०॥

"पूर्णिमा प्राह,—'रसपोषाय प्रतिकल्पमीदृशमेव लब्धसातत्येन लीलानैयत्येन स्थापित-

---

रूप तत्व को जाननेवाले व्यक्तियों के निकट, श्रीकृष्ण के तेज से छिपकर, और अपने लोकोत्तर तेज से सब लोकों को जो नीचे करनेवाला है, एवं श्रीवृन्दावन का जो पूर्वोक्त प्रकाशविशेष है, तथा परमशोभाओं के द्वारा जो परिपूर्ण है, उस गोलोक नामक वैकुण्ठ को प्राप्त हो गये। और उस गोलोक नामक वैकुण्ठ में भी यमुना के उत्तरपार से दक्षिणपार पर पहुँच कर, गोकुलरूप कमल को प्राप्त हो गये ॥७७॥

वह गोकुलरूप कमल रोगरहित है, पुनः होनेवाली विरहरूप व्याधि को विनष्ट करनेवाला है, अर्थात् वहाँपर पुनः श्रीकृष्ण का विरह नहीं सताता है, 'स्वपद' का अर्थ नित्य निजीस्थानस्वरूप है। और 'पुत्र-दार-सहिताः' का तात्पर्य पूर्वसूचित श्रीव्रजराज के पुत्रभाव के उचित श्रीकृष्ण के बालरूप से इस व्रज में नित्यस्थिति ही है। और द्वारकापुरी के योग्य क्षत्रिय के से वीररूप से तो द्वारका में प्रवेश हुआ है; इस प्रकार सम्पूर्ण विषय ही सामञ्जस्य पूर्ण है, अर्थात् योग्य है। किन्तु यह विमान में चढ़कर गोलोक में जाने की प्रक्रिया तो गूढरहस्य को साधारणजनों की दृष्टि से छिपाने के लिये, एवं "विमान में बैठकर ये व्रजवासी कहाँ गये ?" इस प्रकार के चमत्कार को लोगों में आरोपित करने के लिये ही है। वह व्रजवासियों का समुदाय चाहे यमुना के उस पार, चाहे इस पार निवास करे, किन्तु वह विमान में चढ़ने की प्रक्रिया के बिना भी ब्रह्मह्रद में निमग्न होने के बाद, जैसे वृन्दावन में ही उन्होंने गोलोक देख लिया था, उसी प्रकार गोलोक में प्रवेश प्राप्त कर सकता है ॥७८॥

वे श्रीकृष्ण द्वारका से आकर इस व्रज को यदि पुनः अपना अधिष्ठान (स्थान) नहीं बनाते, तो इस व्रज में जन्म लेने का आनन्द, प्रतिक्षण अवस्था की शोभा का संग्रह, परस्पर स्नेह की वृद्धि, सब लीलाओं की पूर्ति, सर्वतोभाव से विरह का होना, एवं उस विरह की सान्त्वना, ये सब बातें विरस हो जातीं तथा सर्वथा वृथा ही हो जातीं ॥७९॥

अनन्तर वृन्दा ने पूछा—सब व्रजवासियों के प्राणस्वरूप श्रीकृष्ण ने यदि पीछे भी, अर्थात् द्वारका से आकर भी इस प्रकार उन व्रजवासियों की रक्षा की, तब पहले मथुरा जाते समय ही उनकी विरह से रक्षा क्यों नहीं की ? ॥८०॥

पूर्णिमा बोली—रस की पुष्टि के लिये प्रत्येक कल्प में इसी प्रकार निरन्तरता को प्राप्त होनेवाले

मपि तदिदं पृच्छत्या भवत्या निजमुत्कण्ठितमेव मच्छ्रोत्रयोरुपकण्ठीकृतं बादरायणादिभिरपि कृतलालसासंक्रमस्य श्रीभगवल्लीलाक्रमस्य वैयर्थ्यं तु न समर्थनीयम्; ॥८१॥ यतः,

'पुनरुदयजशर्मपोषिधर्मं, स्वयमुपशर्म हरेः प्रवासमात्रम्।
व्रजमपि तद्दते रसस्य पूर्ति,-र्यदि वलयेत तदा तदेव न स्यात् ॥८२॥

'तस्माद्व्रजरससंपदर्थं तदप्यर्थनीयमिति। तदेवमेव स्वयमुक्तम् (भा० १०।३२।२०)- 'नाहं तु सख्यो ! भजतोऽपि जन्तून्' इत्यादि ॥८३॥

"तदेतद् व्याख्याय पूर्णिमा पप्रच्छ,—'किञ्चिदस्ति वान्यत् ?' वृन्दा सानन्दमुवाच,— 'भगवति ! श्रीभागवतीयमन्ते किञ्चिदञ्चितं दृश्यते।' पूर्णिमा प्राह,—'कामं वाच्यताम्।' वृन्दा तच्च वाचयामास; ॥८४॥ यथा, (भा० १०।९०।४८)—

'जयति जननिवासो देवकी-जन्मवादो, यदुवर-परिषत्-स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्मम्।
स्थिरचरवृजिनघ्नः सुस्मितश्रीमुखेन, व्रज-पुरवनितानां वर्धयन् कामदेवम् ॥'इति॥८५

श्रीकृष्णलीला के निश्चय के द्वारा स्थापित किये हुए इस विषय को भी पूछते हुए आपने अपनी उत्कण्ठा ही मेरे कानों के निकट स्थापित करदी। किन्तु श्रीशुकदेव आदि मुनियों के द्वारा जिसमें लालसा का संचार स्थापित कर दिया है, श्रीकृष्ण भगवान् की जन्मादि उन लीलाओं के क्रम की व्यर्थता भी तो समर्थन करने योग्य नहीं है। क्योंकि श्रीशुकदेवजी ने भी मथुरा आदि में गमन वर्णित किया है, अर्थात् श्रीकृष्ण की सभी लीलाएँ समर्थन करने योग्य हैं ॥८१॥

कारण—श्रीकृष्ण का जो प्रवासमात्र (द्वारका आदि दूरदेश जानामात्र) है, वह पुनः श्रीकृष्ण के व्रज में आने से उत्पन्न हुए सुख को पुष्ट करने के धर्म से युक्त है, एवं स्वयं श्रीकृष्ण के निकटवर्ती सुख को देनेवाला है। उस प्रवासमात्र के बिना रस की पूर्ति यदि व्रज में भी प्राप्त हो जाती, तब तो वह प्रवासमात्र ही संघटित न होता। क्योंकि वियोग के बिना समृद्धिमान् संभोग का अभाव ही रहता है ॥८२॥

इसलिए व्रजरस की सम्पत्ति के लिये प्रवासमात्र की भी चाहना करनी चाहिये। अतः श्रीकृष्ण ने स्वयं भी इस प्रकार कहा है कि—हे सखियो ! देखो, मैं तो अतिशय अनुराग बढ़ाने के लिये, मेरा भजन करनेवाले प्राणियों का भी सेवन नहीं करता हूँ। तात्पर्य—उनका अनुराग बढ़ाने के लिये उनसे दूर ही रहता हूँ ॥८३॥

पूर्वोक्त विषय की विशद व्याख्या करके पूर्णिमा ने पूछा कि—और भी कुछ लिखा है क्या ? वृन्दा आनन्दपूर्वक बोली—भगवति ! इस पुस्तक के अन्त में श्रीमद्भागवत का परमपूजित कुछ अंश दिखाई दे रहा है। पूर्णिमा बोली—स्वेच्छापूर्वक बाँच दीजिये। वृन्दा उसको बाँचने लग गई ॥८४॥ यथा—जिनमें जीवमात्र का निवास है, अथवा जो अन्तर्यामीरूप से जीवमात्र में निवास करते हैं, अथवा इसी प्रकरण में की गई 'जन' शब्द की व्याख्या के अनुसार (जनेषु परमभक्तेषु निवासो यस्य) परमभक्तों में अपने साक्षात् श्रीविग्रह से जिनका निवास है, एवं अजन्मा होकर भी श्रीदेवकी में जिनके जन्म की प्रसिद्धि है, एवं यदुकुल में श्रेष्ठ (श्रीनन्दबाबा तथा श्रीवसुदेवादिक) जिनके सभ्य स्वरूप हैं, और जो इच्छामात्र से सबका विनाश करने में समर्थ होकर भी अपनी भुजातुल्य अर्जुन एवं यादव आदि के द्वारा किये गये दुष्ट वध से अधर्म का नाश करनेवाले हैं, और जो अधिकारी की अपेक्षा न करके श्रीवृन्दावन के वृक्ष, पशु,

"पूर्णिमोवाच,—'तदित्थमाख्याता मम व्याख्या। यत् खल्वयं दशमस्कन्धान्तर्वर्ती श्रीशुकसिद्धान्तस्तत्र चात्र च तस्य विच्छेदं निरस्य नित्यविहारमेव व्याहरति। 'यतः स्वदोस्तुल्यैर्यदुकुल्यैरधर्मबहुलराजकुल-व्याकुलतार्थं देवकीजन्मप्रसिद्धिमुरीकृत्य कृतकृत्यः सुस्मितश्रीमुखेन व्रजस्य पुरस्य च वनितानां कामप्रायप्रेमवर्धनसुखेन सर्वतोऽपि शश्वदुत्कर्षेण हर्षेण सदा विराजत इति लभ्यते। तत्र हेतुः—तत्र तत्र स्थावरजङ्गममात्राणां विरहदुःखहन्ता तत्तदुपासकस्वजनहृदये तथा स्फुरंश्चेति। तदेतदुक्तिकौशलाद् भाविमौसलादिलीलानामपि मायिकत्वमेव प्रत्यायितम्। क्षीरनीरनिधिशायिन एव तदेतद्रूपावतार इत्यादिव्यवहारश्च तादृशनित्यविहारगोपनार्थं एवेति च ॥'८६॥

"अथ श्रीभागवतीयं पद्यद्वयं सा पठति स्म, (भा० ११।३१।२३-२४)—

'द्वारकां हरिणा त्यक्तां समुद्रोऽप्लावयत् क्षणात्। वर्जयित्वा महाराज! श्रीमद्भगवदालयम् ॥
नित्यं संनिहितस्तत्र भगवान् मधुसूदनः। स्मृत्याऽशेषाऽशुभहरं सर्वमङ्गल-मङ्गलम्॥'इति॥८७

पक्षी आदिकों के दुःख दूर करनेवाले हैं, और जो मनोहर मन्दमुस्क्यानभरे श्रीमुख से व्रजवनिता एवं द्वारकापुर की वनिताओं के हृदय में अप्राकृत सेवाभिलाष की वृद्धि करनेवाले हैं, वे श्रीकृष्णचन्द्र जययुक्त हैं, अर्थात् सर्वोत्कर्ष से विराजमान हैं ।।८५।।

पूर्णिमा बोली—इस श्लोकपर मेरी व्याख्या इस प्रकार प्रसिद्ध है कि—श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध के अन्त में विद्यमान श्रीशुकदेवजी का 'जयति' इत्यादि वर्तमानकाल के प्रयोगों से भरा हुआ जो सिद्धान्त है, वह द्वारका में एवं श्रीवृन्दावन में श्रीकृष्ण के विरह को दूर करके नित्यविहार को ही कह रहा है। कारण—अपनी भुजातुल्य यदुकुलवाले जनों के द्वारा विशेष अधार्मिक राजसमूह को व्याकुल करने के लिये श्रीदेवकी में अपने जन्म की प्रसिद्धि को अङ्गीकार करके कृतकृत्य होकर मनोहर मन्दमुस्क्यानभरे श्रीमुख से व्रज की एवं द्वारकापुर की वनिताओं के प्रायः अप्राकृत सेवाभिलाषरूप प्रेम की वृद्धिरूप सुख के द्वारा, सबकी अपेक्षा निरन्तर उत्कर्षवाले हर्ष से सदा दोनों जगह विराजमान रहते हैं, यह भावार्थ उपलब्ध होता है। उसमें कारण यह है कि व्रज में एवं द्वारका में स्थावर जङ्गममात्र के विरहदुःख के दूर करनेवाले श्रीकृष्ण, उस उस धाम के उपासक अपने भक्तों के हृदय में उसी रूप से स्फूर्ति पाते रहते हैं। अतः "श्रीकृष्ण दोनों धामों में सदा विराजमान रहते हैं" इस उक्ति की कुशलता से तो आगे होनेवाली "मूसल के द्वारा यदुवंश विनाशरूप" मौसल आदि लीलाओं का भी माया के द्वारा होना ही विश्वासयुक्त करा दिया, (वस्तुतः विनाश नहीं हुआ) और श्रीकृष्ण के रूप का जो अवतार है वह क्षीरसमुद्रशायी श्रीनारायण का ही है, इत्यादि व्यवहार जो है वह भी, उस प्रकार के नित्यविहार को गुप्त करने के लिये ही है। तात्पर्य—क्षीरोदशायी श्रीनारायण ने श्रीदेवकी से चतुर्भुज रूप से अवतार लेकर, भूभार उतार कर, चतुर्भुज रूप से ही मौसलान्तलीला करदी। किन्तु व्रजवासियों के उपास्य दो भुजाओंवाले नित्यविहारी तो श्रीव्रज में ही नित्यविहार करते हैं ।।८६।।

उसके बाद वृन्दा भागवत के दो श्लोक पढ़ने लगी—श्रीशुकदेवजी ने कहा कि, हे राजन् परीक्षित्! देखो, श्रीकृष्ण के द्वारा त्यागी हुई द्वारका समुद्र ने तत्काल डुबा दी, किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण के भवन को छोड़ कर। कारण भगवान् मधुसूदन उस भवन में नित्य ही सन्निहित रहते हैं। और वह भवन स्मरण करने मात्र से समस्त अशुभों को हरनेवाला है, एवं सर्वप्रकार के मङ्गलों का भी मङ्गलस्वरूप है ।।८७।।

"अत्र विष्णुपुराणीयं तु किञ्चिद्विशिष्टमपि,—'यदुदेव-गृहं त्वेकं नाप्लावयत्' इति, 'विष्णु-क्रीडान्वितं स्थानम्' इति च।' पूर्णिमा प्राह,—'तदिदं वृन्दावननित्यविहारस्य दृष्टान्ततयापि घटितम् ।।'८८।। अथ वृन्दा श्रीभागवतीयं पद्यं पुनः पपाठ; यथा (भा० १०।१४।३५)—

'एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव ! रातेति न-
श्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन्मुह्यति ।
सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता
यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते ।।' इति ।।८९।।

"पूर्णिमा पूर्णमिदमुवाच,—'तदेतत् कैमुत्यविधिना प्रस्तुत्य व्रजवासिनां तेन संवासं सत्यलोकपरिवृढः परमदृढं चकारेति सर्वं शान्तम् ।' पुनः पूर्णिमा प्राह,—'किमप्यन्यद् धन्यवचनमस्ति ?' ।।९०।।

"वृन्दाह,—'तदपि श्रूयताम्, (भा० १०।१४।३४)—

'तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां, यद् गोकुलेऽपि कतमांघ्रिरजोऽभिषेकम् ।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान्मुकुन्द,-स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव ।।'९१।।

इस विषय में विष्णुपुराण का तो कुछ विशिष्ट वाक्य भी है, यथा—"समुद्र ने केवल यदुनाथ श्रीकृष्ण के भवन को नहीं डुबाया" क्योंकि "वह भवन श्रीकृष्ण की लीला से युक्त स्थान है" इति। पूर्णिमा बोली—ये पूर्वोक्त दोनों प्रमाण तो श्रीवृन्दावन के नित्यविहार के दृष्टान्तरूप से भी संघटित हो गये, अर्थात् द्वारका में जैसे नित्यविहार होता है, उसी प्रकार श्रीवृन्दावन में भी श्रीकृष्ण का नित्यविहार होता रहता है ।।८८।।

पश्चात् वृन्दा श्रीमद्भागवत के एक श्लोक को पुनः पढ़ने लगी, यथा—श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए ब्रह्मा बोले—हे देवाधिदेव ! आप इन व्रजवासियों के लिये प्रसन्न होकर क्या वस्तु प्रदान करोगे ? इस बातपर विचार करता हुआ मेरा मन विश्वमात्र के फलरूप आपसे दूसरे फल को कहीं भी न प्राप्त करता हुआ विमुग्ध हो जाता है। यदि कहो कि, मैं उनके लिये अपने को ही दे दूँगा, तो इसपर मैं यह कहता हूँ कि, आपको तो सज्जनों का सा वेष बनाकर वह पूतना भी अपने कुल के सहित प्राप्त हो गई। तात्पर्य—विषपान करानेवाले एवं दुग्धपान करानेवाले को एक सी वस्तु देने में क्या वैशिष्ट्य रहेगा ? क्योंकि इन व्रजवासियों के घर, धन, सुहृत्, कलत्र, देह, पुत्र, प्राण एवं सारे अभिप्राय आपके लिये ही तो हैं, अर्थात् उनके तो आप सदा ऋणी ही रहे ।।८९।।

पूर्णिमा पूर्णरूप से यह बोली—सत्यलोक के प्रभु ब्रह्मा ने पूर्वोक्त बात को कैमुत्यविधि से प्रस्तुत करके, अर्थात् पापिनी पूतना विषपान करा करके भी जब धाय की गति को पागई, तब श्रीनन्दादि व्रज-वासियों की सर्वोच्च गति के विषय में कहना ही क्या है ? इस प्रकार के कैमुत्यन्याय से उन व्रजवासियों का श्रीकृष्ण के साथ सदा सहवास परम दृढ कर दिया। अतः अब कोई शंका न रहने के कारण सब विषय शान्त हो गया। यह कहकर पूर्णिमा पुनः बोली—क्या और भी कुछ धन्य वचन है ? ।।९०।।

वृन्दा बोली—हाँ ! उसको भी सुन लीजिये। ब्रह्मा श्रीकृष्ण से बोले—हे प्रभो ! मेरा तो भूरि-भाग्य वही है जो कि इस व्रजमण्डल में, उसमें भी श्रीवृन्दावन में, एवं उसमें भी श्रीनन्दगोकुल में मेरा लता, तृण आदि कोई भी जन्म मुझे प्राप्त हो जाय। यदि कहो कि, सत्यलोक को छोड़कर यहाँ जन्म लेने

"पूर्णिमा सहर्षमाह,—'पूर्वनिर्णयादेव तदिदं ब्रह्मा स्वपुरुषार्थतया वर्णयामास। पुनर्दृश्यताम्, (भा० १०।१४।३२)—
'अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्। यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥'९२॥

"वृन्दा सानन्दमाह, (भा० १०।२६।२५)—

'देवे वर्षति यज्ञविप्लवरुषा वज्राश्मपर्षानिलैः
सीदत्पालपशुस्त्रि आत्मशरणं दृष्ट्वानुकम्प्युत्स्मयन्।
उत्पाट्यैककरेण शैलमबलो लीलोच्छिलीन्ध्रं यथा
बिभ्रद् गोष्ठमपान्महेन्द्रमदभित् प्रीयान्न इन्द्रो गवाम् ॥' इति ॥९३॥

"अथ पूर्णिमा वर्णयामास,—'तदेवं श्रीबादरायणिरपि तस्य गवेन्द्रतां निजाश्रयतया श्रावयामास। सोऽयं यत्र गोपालादीनां तेनाऽपरित्याज्यतां व्यञ्जयामास। तथैव हि तत्र श्रीगवेन्द्रस्यान्तःप्रतिज्ञा (भा० १०।२५।१८)—'तस्मान्मच्छरणं गोष्ठम्' इत्यादि ॥९४॥

"अथ पुनर्वाच्यताम्।' वृन्दा तां वन्दमाना प्राह,—'ग्रन्थना-पूर्णतयाऽनया पूर्णीकृता-

---

में कौनसा लाभ है? तहाँ कहता हूँ कि, यहाँपर जन्म लेने से मुझे किसी व्रजवासी की चरणरज का अभिषेक तो भी मिल जायगा। यदि कहो कि, व्रजवासियों की चरणरज को ही क्यों चाहते हो? तहाँ कहते हैं कि, व्रजवासियों का समस्त जीवनस्वरूप तो भगवान् मुकुन्द ही हैं, जिनकी चरणरज आज भी वेदों के द्वारा ढूँढ़ने योग्य है, किन्तु उनको भी प्राप्त नहीं है ॥९१॥

पूर्णिमा हर्षपूर्वक बोली—"श्रीकृष्ण भी व्रजवासियों के ऋणी हैं" इस पूर्वोक्त निर्णय से ही ब्रह्मा ने व्रज में लता, पता, तृण आदिरूप जन्म को अपने प्राप्य पुरुषार्थरूप से वर्णन किया है। उसको पुनः देखो। अहो! अहो! श्रीनन्दगोप एवं व्रजवासियों का महान् भाग्य है, उसे कौन वर्णन कर सकता है? क्योंकि परमानन्दस्वरूप सनातन पूर्णब्रह्म श्रीकृष्ण जिनके मित्र हैं ॥९२॥

वृन्दा आनन्दपूर्वक बोली—श्रीशुकदेवजी प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि, अपने यज्ञ के विनिष्ट होने से उत्पन्न हुए क्रोध से इन्द्रदेव जब वर्षा करने लगे, तब वज्र, पत्थर, ओले, एवं प्रचंड वायु के द्वारा जिसमें गोपाल, गोगण, एवं स्त्रियाँ दुःखित हैं, एवं स्वयं ही जिसके रक्षक हैं, उस व्रज को देखकर कृपालु श्रीकृष्ण ने हँसते हँसते, बालक जैसे खेलने के लिये उच्छिलीन्ध्र को, अर्थात् वर्षा में काठ फूलकर उत्पन्न होनेवाले छत्र को एक हाथ से अनायास उखाड़ लेता है, उसी प्रकार श्रीगोवर्धन पर्वत को एक हाथ से उखाड़ कर बाँये हाथपर धारण कर व्रज की रक्षा कर दी। एवं जो महेन्द्र के मद का भेदन करनेवाले हैं, तथा गोगण के इन्द्र हैं, वे ही श्रीकृष्ण हमारे ऊपर प्रसन्न हो जायँ! ॥९३॥

अनन्तर पूर्णिमा वर्णन करने लगी—इस प्रकार श्रीशुकदेवजी ने भी श्रीकृष्ण की गवेन्द्रता अपने आश्रय के स्वरूप से सुना दी। और उन्हीं शुकदेवजी ने जिस गवेन्द्रता में यह भाव भी व्यंजित कर दिया कि, श्रीकृष्ण उन गोपाल आदिकों को कभी भी नहीं त्याग सकते। और उसी प्रसङ्ग में श्रीगवेन्द्र (श्रीकृष्ण) की आन्तरिक प्रतिज्ञा भी उसी प्रकार की है, यथा—"इसलिए व्रज की रक्षा करनेवाला एकमात्र मैं ही हूँ" ॥९४॥

पूर्णिमा पुनः बोली—यदि और कुछ लिखा हो तो बाँच दो। वृन्दा पूर्णिमा की वन्दना करती हुई

स्मीति किंवाऽन्यद्वाच्यता याच्यतामासीदतु, किन्तु समाज्ञापयन्तु तत्रभवत्यस्तदिदं पुस्तकं नायकमिव हारविन्यस्तं करोमि' इति ॥९५॥

"पूर्णिमाह,—'सांप्रतम् ।' "अथ वृन्दा च तथा कृतवती ॥"९६॥

इति श्रीश्रीमदुत्तरगोपालचम्पूमनु भाविकथाप्रमाणप्रथाऽनूनमूनत्रिंशं पूरणम् ॥२९॥

अथ त्रिंशं पूरणम्

दन्तवक्रवधः श्रीकृष्णस्य पुनर्व्रजागमनं च

अथ सर्वसुखसारेण तत्तत्पुराणाऽनुसारेण तत्कथा प्रथनीया । यथा पुनः प्रातः सपुत्र-व्रजराज-सदसि कृतमनोरथायां कथायामुत्कण्ठया मधुकण्ठः समधुरकण्ठमिदमवादीत्,—॥१॥

"दन्तवक्रः खलु पूर्वं चक्रधरं विजेतुं देवता-चक्राऽऽराधनं चेक्रीयमाणस्तं राजसूयमपि नागतवान् । यदा तु शिशुपालस्तत्र चक्रलब्धकालः संवृत्तस्तदा सोऽयं भ्रष्टद्वितीयचक्र-शकट-चक्रवद् गत्या विघटमानतामासादयामास । आसाद्य चाऽचिराय चित्तं विषाद्य चिरादेव

बोली—मैं तो आपकी इस रचना के परिपूर्ण होने से पूर्ण मनोरथ हो गई हूँ, अतः और कुछ बाँचने का भाव आपकी प्रार्थना के योग्य हो सकता है क्या ? किन्तु आप पूजनीय हैं, अतः आज्ञा दीजिये स्वप्न में प्राप्त हुई इस प्रामाणिक पुस्तक को नायक (प्रधान मणि) की तरह अपने कण्ठहार में विन्यस्त (स्थापित) कर लूँ ॥९५॥

पूर्णिमा बोली—तुम्हारा कथन उचित है । यह सुनते ही वृन्दा ने वैसा ही कर लिया ॥९६॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रिविरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीमदुत्तरगोपालचम्पूकाव्ये भाविकथा-प्रमाणविस्तार-परिपूर्णं
एकोनत्रिंशं पूरणं सम्पूर्णम् ॥२९॥

तीसवाँ पूरण

दन्तवक्र का वध एवं श्रीकृष्ण का पुनः व्रज में आना

इस तीसवें पूरण में श्रीकृष्ण का पुनः व्रज में आगमन वर्णित होगा ।

अब सब सुखों के सारस्वरूप तत्तत् पुराणों के अनुसार श्रीकृष्ण के पुनः व्रज में आने की कथा विस्तारित करनी है । यथा—प्रातःकाल पुनः श्रीकृष्णयुक्त श्रीव्रजराज की सभा में, मनोरथ से की गई कथा में, उत्कण्ठा के कारण मधुकण्ठ, मधुर कण्ठपूर्वक यह बोला—॥१॥

दन्तवक्र पहले श्रीकृष्ण को जीतने के लिये बारंबार देवगण की आराधना करता हुआ, उस राजसूय यज्ञ में भी नहीं आया था, यह बात निश्चित है । और शिशुपाल उस राजसूय में जब सुदर्शनचक्र के द्वारा मृत्यु को प्राप्त हो गया, तब वह दन्तवक्र जिसका दूसरा पहिया टूट गया हो, ऐसे गाड़ी के समूह की तरह चलने से विपरीतता को प्राप्त हो गया, इस प्रकार गति की विकलता को प्राप्तकर, बहुत समयतक अपने चित्त को दुःखित कर, बहुत देर बाद विचार करके दुश्चर तपस्या के द्वारा शीघ्र ही शङ्करजी को प्रसन्न

विचारमुपसाद्य दुश्चरतपसा नातिचिरेण चण्डीपतिं किल प्रसाद्य तस्माद्धिरण्याक्षसदृक्षतालाभाद् धृष्णगसौ कृष्णं जेतुं तृष्णगपि तच्चक्रप्रभाववक्रमनास्तदसम्भावनया भावनया सङ्कीर्णीभूय तदिदं निर्णीतवान् । शक्रप्रस्थाद् द्वारकां प्रति कृतप्रस्थानं तं कुत्रचिन्निर्द्वन्द्वमुपलभ्य निर्द्वन्द्व एव समभ्यस्य द्वन्द्वयुद्धमुद्बुद्धं करिष्यामि । तच्च सर्वजयप्रदयाऽनया रुद्रप्रसादलब्धपदया गदया परं चरिष्यामीति ॥२॥

"तदेवं सोऽयमुन्मादादधिगत्य गदामात्रं सङ्गृत्य संपत्त्यन्तरमन्तरा पत्त्यन्तरवन्मधुपुरमागत्य गत्यन्तरापेक्षया तत्प्रस्थानमवेक्षाञ्चक्रे, स्वयं मृगयमाणस्य मृगयोरागमनमिव मृगः॥३॥

"अथ सर्वक्लमपारदः श्रीमन्नारदः स्वच्छया यदृच्छया गत्या तं देशमृच्छंश्चैद्यमित्रं निर्वैद्यव्याधितमिव साधिं ददर्श परामर्श च—'सोऽयमकस्माद्विलक्षणाऽऽकारतया हिरण्याक्ष इव गदामात्रमहामात्रतया वित्रासितलोकाक्षः समीक्षते । तदेनं तेन लक्ष्मीलक्षितक्रोडेन घातयिष्यामि' इति ॥४॥

"तदेवं देवस्पृश्यचरणरजाः स विरजा विमृश्य स्वेन दृश्यमानेनाऽनेन दृश्यमानः पुरःसरतामनुससार; अनुसृत्य च सव्याजं व्याजहार,—'करूषराज ! चेदिह चेदिराजप्राणपराजयविरज्यमानतया शिवमिव संभज्य तदिदं रूपमासज्य वर्तसे, तर्हि संप्रति द्वारकां प्रतिगत्य

कर एवं प्रसन्न हुए शंकरजी से हिरण्याक्ष की समानता के मिल जाने से धृष्टता को प्राप्त हुआ वह दन्तवक्र, श्रीकृष्ण को जीतने की तृष्णावाला होकर भी, श्रीकृष्ण के चक्र के प्रभाव से विमुख मनवाला होकर, श्रीकृष्ण के जीतने की असम्भावना की भावना से व्याप्त होकर अपने मन में यह निर्णय करने लगा कि—इन्द्रप्रस्थ से द्वारका के प्रति प्रस्थान करनेवाले श्रीकृष्ण को किसी स्थानपर अकेला पाकर मैं भी अकेला ही, बारंबार द्वन्द्वयुद्ध को जागृत कर दूँगा । और उस युद्ध में भी सब के ऊपर विजय देनेवाली एवं शिवजी की कृपा से व्यवसाय को प्राप्त करनेवाली, केवल इस गदा से ही विचरण करूँगा ॥२॥

वह दन्तवक्र उन्माद से ही पूर्वोक्त निर्णय को प्राप्तकर, केवल गदा को लेकर, रथ आदि दूसरी सेना सम्पत्ति के बिना दूसरे पैदल व्यक्ति की तरह मधुपुरी में आकर, दूसरे उपाय की अपेक्षा करके, श्रीकृष्ण के प्रस्थान की उस प्रकार प्रतीक्षा करने लग गया कि, जिस प्रकार अपने को ढूँढ़नेवाले व्याधके आगमन की प्रतीक्षा मृग स्वयं करता हो ॥३॥

उसके बाद सब प्रकार के खेदों से पार लगानेवाले श्रीनारदजी ने स्वतन्त्रतावाली निर्मल गति से उस मथुराप्रदेश में आते ही, असाध्य रोगी की तरह मानसिक पीडा से युक्त, शिशुपाल के मित्र उस दन्तवक्र को देखा, एवं उसके विषय में विचार किया कि—यह दन्तवक्र अकस्मात् विलक्षण आकार से युक्त होने के कारण, हिरण्याक्ष की तरह केवल गदा की महामात्रता (प्रधानता या सहायता) से लोगों के नेत्रों को डराता हुआ देख रहा है । अतः लक्ष्मी की रेखा से चिह्नित वक्षःस्थलवाले श्रीकृष्ण के द्वारा इस दन्तवक्र को मरवा दूँगा ॥४॥

जिनकी चरणरज देवताओं के भी स्पर्श करने योग्य है, एवं जो स्वयं रजोगुण रहित हैं, वे नारदजी इस प्रकार विचार करके, अपने द्वारा देखे गये दन्तवक्र के दृष्टिगोचर होकर उसके सामने चल दिये । और उसके सामने जाते ही कपटपूर्वक बोले—हे करूषराज दन्तवक्र ! तू यदि शिशुपाल के प्राणों की पराजय से विरक्त होकर, मानो शिवजी की सेवा करके इस भयंकर रूप को प्राप्त करके विद्यमान है,

प्रत्यनीकतया कृतसौभपति-परलोकगतिः स द्वारकापतिः श्रमपतितयुयुत्सामतितया तव जयास्पदं भवेदिति तत्र कथं न गच्छसि ?' ॥५॥

"अथ दन्तवक्रः ससंभ्रमक्रममुवाच,—'हन्त ! हन्त ! बाल इव किं वा लपसि ? शाल्वश्च खल्वसौ दिव्यसंस्थामाजगाम ।' "देवर्षिरुवाच,—'तुभ्यं शपे, न खल्वभ्याख्यानमिदम्। सौभमपि सुभूतितामवाप; यतो गदास्पदाग्निसात्कृततया लोहामृतचूर्णस्वरूपतापूर्णं तज्जातम्' इति ॥६॥

"दन्तवक्रस्त्वभाषत,—'सोऽयमुदन्तश्चेदलं दन्तवक्रस्य जीवनेन ।' तदेवं वदन्नेव सपदि वातूलवदेव स्वप्रतिकूलाऽनुकूलमजानन् द्वारकां प्रति प्रस्थितवान् ॥७॥

"देवर्षिस्तु तस्य तदुन्मादभित्तचित्ततामध्यवस्यन् रहस्यपि बहु विहस्य मनोवन्मनोरथपथं गच्छन्नच्छमनास्तत्क्षणनिहतसौभपतिं सदेकगतिं कृष्णं पुना रणरङ्गतृष्णमिव रणाङ्गणमेव सङ्गतं सङ्गतवान् सङ्गमितवांश्च दन्तवक्रप्रसङ्गम्; दर्शयामास च तं हिरण्याक्षमिव कृतवियत्परामर्शम्; यः खलु पूर्वं दृष्टश्च न परामृष्टतामवाप । श्रीकृष्णश्चान्तर्व्रजाऽऽगमनतृष्णगेव सदासीदिति तन्मिषमासाद्य तदन्तशात्रवगात्रवेधपर्यन्तं निजव्रजाऽऽगमनाय प्रतिज्ञातमानन्तर्यमासद्य सद्य एवागच्छन्नस्मीति सर्वमनुज्ञाप्य मनोजवव्रजनाय सारथिमाज्ञाप्य तदवस्थ एव प्रतस्थे ॥८॥

तो इस समय द्वारका में जाकर, शत्रु के भाव से शाल्व की परलोक में गति (गमन) करनेवाले वे द्वारकापति श्रीकृष्ण परिश्रम से युद्ध करने की इच्छावाली बुद्धि से रहित होने के कारण, तेरे विजय के स्थान हो सकते हैं, अतः तू वहाँपर क्यों नहीं जाता है ? ॥५॥

पश्चात् दन्तवक्र शीघ्रता के क्रम से बोला—हाय ! हाय ! तुम बालक की तरह क्या कह रहे हो कि, वह शाल्व निश्चय ही दिव्यमृत्यु को प्राप्त होगया ? देवर्षि नारदजी बोले—मैं तुम्हारे प्रति शपथ करता हूँ कि, मेरा यह कथन अभ्याख्यान (मिथ्या आरोप) नहीं है । और वह शाल्व का लोहमय सौभपुर भी भली प्रकार भस्मीभूत होगया । क्योंकि श्रीकृष्ण की गदा से उत्पन्न हुई अग्नि के अधीन होने के कारण वह सौभपुर लोहे के चूर्ण की स्वरूपता से पूर्ण हो गया ॥६॥

दन्तवक्र बोला कि--यदि यही वृत्तान्त है तो दन्तवक्र के जीवन से क्या प्रयोजन ? इस प्रकार कहता हुआ ही तत्काल उन्मत्त व्यक्ति की तरह अपने प्रतिकूल एवं अनुकूल विषय को भी न जानता हुआ द्वारका के प्रति चल दिया ॥७॥

श्रीनारदजी तो दन्तवक्र के उस उन्माद से खण्डित चित्त के से भाव को निश्चय करते हुए एकान्त में बहुत हँसकर, मन की तरह अपने अभिलषित मार्ग में जाकर, निर्मल मनवाले होकर, तत्क्षण शाल्व को मारनेवाले एवं सज्जनों के एकमात्र प्राप्य स्वरूप श्रीकृष्ण से जा मिले । उस समय श्रीकृष्ण फिर भी रणरङ्ग की तृष्णा से युक्त थे, एवं रणाङ्गण में ही उपस्थित थे । उनके प्रति नारदजी ने दन्तवक्र के प्रसङ्ग को भी समझा दिया । और हिरण्याक्ष दैत्य की तरह आकाश का स्पर्श करनेवाले उस दन्तवक्र को भी

"तत्र च—एवं शौरेः स रथमवहद् दारुकश्चारुकर्मा
नास्यालक्षि द्रुतिरपि यथा किन्तु गम्याभिलब्धिः ।
एका रेखा त्वरितमुदभूत्तैजसी द्वारवत्याः
पुर्या यावन्मधुपुरमिति प्रोचिरे यत्र देवाः ॥९॥

"तदनु च—पश्चात् पश्चाददतूर्णं क्रमजवलनया तैजसी पंक्तिरेषा
लुप्ताऽऽसीदग्रचमस्या वलयमिह पुनः सुस्थिरं वर्तते स्म ।
यस्मात् कृष्णः समञ्चत्तिमिरमिव तदा दन्तवक्रं न्यचायीत्
कृष्णं यस्मिन् विवस्वत्यधिपुरुषमिवालोकयद् दन्तवक्रः ॥१०॥

अथ हरिरमुकं गदापदातिं, स्वरथमभिप्लुवमानमीक्षमाणः ।
स विनयवदवातरत् पुरस्ता,-न्निजगदयाऽपचितिं विधातुमस्य ॥११॥

यत्तर्जति स्म तरसा स हरिं लघिष्ठ,-स्तन्निष्ठमेव विदधुस्तदमर्त्यलोकाः ।
तस्मिन्मुहुर्यदकरोद् गदया प्रहारं, कौमोदकी च विषयं तममुष्य चक्रे ॥१२॥

दिखा दिया । पहले देखा हुआ भी जो दन्तवक्र नारदजी के विचार में नहीं आया कि यह वही है, क्योंकि वह शिवजी के वरदान से बड़े देहवाला होगया था । श्रीकृष्ण भी सदैव अपने अन्तःकरण में व्रज में आने की तृष्णा से युक्त ही रहते थे । अतः दन्तवक्र के मारने के बहाने को पाकर, दन्तवक्र का वध ही है अन्त में जिसके, ऐसे शत्रुसमूह के देह के वेधपर्यन्त, व्रज में आने के लिये जो प्रतिज्ञा की थी, उसकी निकटता को प्राप्तकर, एवं "मैं अभी आरहा हूँ" इस प्रकार कहकर सभी यादव सैनिकों को समझा कर, मन के से वेग से चलने के लिये अपने सारथि को आज्ञा देकर, उस अवस्था से ही (मथुरा की ओर) चल दिये ॥८॥

और उस चलने में भी सुन्दर कर्मोवाला वह दारुक सारथि, श्रीकृष्ण के रथ को इस प्रकार चलाने लगा कि, जिस प्रकार इस रथ की चाल भी किसी ने नहीं देखी । किन्तु इसके प्राप्यस्थान की उपलब्धि सबने देखली । रथ की जिस चाल के विषय में आकाशस्थ देवता भी यही कह रहे थे कि, द्वारकापुरी से लेकर मथुरापुरी-पर्यन्त तेज की बनी हुई एक रेखा ही शीघ्र उत्पन्न हुई थी ॥९॥

और उसके बाद तेज की बनी हुई यह पंक्ति पीछे पीछे क्रम की परिपाटी से धीरे धीरे लुप्त होगई । किन्तु इस पंक्ति का आगे का मण्डल इसी मार्ग में सुस्थिर भाव से विद्यमान ही रहा । जिसके कारण श्रीकृष्ण ने उस समय दन्तवक्र को चलते हुए अन्धकार की तरह देखा, एवं दन्तवक्र ने जिस तेजोमण्डलमय रथ में श्रीकृष्ण को सूर्यमण्डल में विद्यमान श्रीनारायण की तरह देखा ॥१०॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण गदा के सहित पैदल चलनेवाले दन्तवक्र को अपने रथ की ओर दौड़ते हुए देखकर, पहले अपनी गदा के द्वारा दन्तवक्र का विनाश करने के लिये विनीत पुरुष की तरह रथ से नीचे उतर पड़े ॥११॥

उस समय वह क्षुद्र दन्तवक्र श्रीकृष्ण को जो फटकार लगा रहा था, देवगण उस फटकार को उलटी उसी को लगा रहे थे । और श्रीकृष्ण के ऊपर बारंबार जो गदा प्रहार करने लगा, तब श्रीकृष्ण की कौमोदकी गदा ने दन्तवक्र को अपने प्रहार का लक्ष्य बना लिया ॥१२॥

अहोरात्रमात्रं तदैवं विजह्रे, हरिर्नातिमात्रं व्रजं यद्दिदृक्षुः ।
अतस्तस्य विघ्नं तमेवाऽऽशु निघ्न,-न्नुरोमर्दमस्थाद् गदापातनेन ॥१३॥

शिशुपालस्य रक्तानि चक्रमेव पपाविति । गदां रुष्टामिवापुष्णाद् दन्तवक्त्रासृजा हरिः ॥१४॥

"तत्र यदा तु दन्तवक्रः स्वस्थानात् प्रतस्थे, तदा तद्भिया विदूरथस्तद्भ्राता विदूरत एव तदनुचारितामाचचार ॥१५॥ यथा—

भ्रातुरुद्धुरतयातिचिन्तित,-स्तस्य दन्तकुटिलस्य वर्त्मना ।
कर्मणा च समताङ्गतस्तदा, माथुरं पुरमयाद् विदूरथः ॥१६॥
यदा गदाघातमहन् हरिस्तं, विदूरथस्तर्हि समाजगाम ।
एकत्र कीटे ज्वलितेऽपि चान्यः, कथं ज्वलन्तं ज्वलनं विशेन्न ? ॥१७॥
युक्तमेव गदया किल पश्यन्, भ्रातरं निहतमत्र स मूर्खः ।
चर्ममात्रवृतिरुद्यतखड्गः, कालचक्रधरमेनमियाय ॥१८॥
खड्गचर्मधरपाणि ते वपु,-स्तद्वदेव युधि सुष्ठु तिष्ठतु ।
मस्तकेन किमिति ब्रुवन् स्फुटं, चक्रकीर्णमकरोत् तदच्युतः ॥१९॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण उस समय दन्तवक्र के साथ रणाङ्गण में केवल एक दिनरात ही विहार करते रहे, उससे अधिक समयतक नहीं, क्योंकि वे उस समय व्रज के देखने की इच्छा से युक्त थे। अतः उस व्रजदर्शन के विघ्नस्वरूप उस दन्तवक्र को ही शीघ्र मारते हुए, गदाप्रहार के द्वारा उसकी छाती को तोड़कर खड़े हो गये ॥१३॥

उस समय देवता उत्प्रेक्षा करते हुए बोले कि—शिशुपाल का रुधिर तो सुदर्शनचक्र ने ही पी लिया, मानो इसी कारण रुष्ट हुई गदा को श्रीकृष्ण ने दन्तवक्र के रुधिर से पुष्ट कर दिया ॥१४॥

उसी प्रसङ्ग में दन्तवक्र जब अपने निवासस्थान से मथुरा को चला था, उस समय उसका छोटाभाई विदूरथ तो उसके भय से, अर्थात् "मैं अकेला ही कृष्ण को जीत लूंगा, तू मेरी सहायता करके क्या करेगा ?" इस प्रकार के कथन के भय से बहुत दूर से ही उसका अनुगामी बन गया ॥१५॥

यथा—उस समय विदूरथ अपने भ्राता उस दन्तवक्र की उच्छृङ्खलता से चिन्तित होकर, उसके मार्ग एवं कर्म से भी समता को प्राप्त होकर, मथुरापुरी को चल दिया ॥१६॥

श्रीकृष्ण ने गदाप्रहार के द्वारा दन्तवक्र को जब मार दिया तभी विदूरथ आगया। क्योंकि यह कहावत प्रसिद्ध है कि—एक कीड़े के अग्नि में जल जानेपर दूसरा कीड़ा जलती हुई अग्नि में कैसे प्रवेश नहीं करेगा ? अपितु, करेगा ही ॥१७॥

श्रीकृष्ण की गदा के द्वारा मरे हुए अपने भाई को देखता हुआ वह मूर्ख विदूरथ, अपने देह को केवल चमड़े से ढककर या केवल ढाल से घिरकर, तलवार उठाकर, कालरूप चक्र को धारण करनेवाले श्रीकृष्ण के पास आ गया, यह उचित ही है ॥१८॥

रे मूर्ख ! विदूरथ ! तेरा शरीर दोनों हाथों में तलवार एवं ढाल को ही धारण करनेवाला है, अतः युद्ध में उसी प्रकार सजा हुआ खड़ा रहे तो ठीक है, तब तेरे मस्तक से क्या प्रयोजन है ? श्रीकृष्ण ने इस प्रकार स्पष्ट कहते कहते उसका मस्तक चक्र से काटकर दूर फेंक दिया ॥१९॥

अन्ये युद्धविशारदा निजरिपोर्लीनं वपुः कुर्वते
नात्मानं तदिदं तु गोपनृपते ! पुत्रस्य तेजस्तत्र ।
पूर्वं यद्वदघासुरस्य शिशुपालस्यापि तं लीनतां
स्वस्मिन्नानयदाशु पश्यति जने तद्वद् द्वयोरेतयोः ॥२०॥

"तदेवं सर्वानरीन् हत्वापि तेषां तरणियाने सोऽयमरित्रतामवाप ॥२१॥

"अथ द्वारकापुरदिक्पुरःस्थं दन्तवक्रहतिस्थलं तन्मधुपुर-पुरद्वारं लोके 'दतिहा' नाम्ना लब्धप्रसिद्धिसारं हित्वा व्रजगमनलालसां गृहीत्वा मुहुरपि लब्धविश्रान्ति विश्रान्तिमागम्य स्नानविधानानि सङ्क्रम्य कृतकृत्यतां गच्छन्नितः परं स्वीयास्त्रं न प्रयुञ्जीय क्वचिदपीति सञ्चक्लृपे ॥२२॥

"ततश्च निजचिन्तामात्रविधानान्निधानदेवताचितसन्निधानतया नानादानसमुचित-धनप्रधानानि विप्रादिसाच्चक्रे ॥२३॥ कृत्वा च यदा शीघ्रं व्रजं वीक्षकस्तं व्राजकः संभ्रमति स्म तदा—

स्नानादुत्थितमेतदेतदिति सन्दिग्धप्रदं कंपितं
रोम्णां जृम्भणमश्रुगद्गदमपि द्राग् यन्नपृच्छत् प्रभुः ।

हे गोपराज ! देखो, दूसरे युद्धविशारद वीरजन तो केवल अपने शत्रु के शरीर को ही विलीन कर देते हैं, किन्तु जीवात्मा को नहीं । परन्तु तुम्हारे पुत्र का तो यह ऐसा विचित्र प्रभाव है कि, उन्होंने पहले जैसे अघासुर एवं शिशुपाल के जीवात्मा को अपने में लीन कर लिया था, उसी प्रकार दन्तवक्र एवं विदूरथ इन दोनों के जीवात्मा को सब जनों के देखते देखते शीघ्र ही अपने में विलीन कर लिया ॥२०॥

इस प्रकार सब शत्रुओं को मारकर भी ये श्रीकृष्ण उन शत्रुओं के सूर्यमण्डल को भेद कर, ब्रह्मलोक में जाने के विषय में उस प्रकार शत्रुओं की रक्षा के भाव को प्राप्त हो गये कि, जिस प्रकार नौका के चलने में पतवार सहायक होती है ॥२१॥

उसके बाद श्रीकृष्ण ने द्वारकापुरी की दिशा की ओर विद्यमान दन्तवक्र के मारने का स्थल मथुरापुरी का जो पश्चिम द्वार था, वह लोक में 'दतिहा' नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त था । उसको छोड़कर व्रज में जाने की लालसा को ग्रहण कर, बारंबार विश्राम को प्राप्त करानेवाले विश्रामघाटपर जाकर, स्नान ध्यानादि करके कृतार्थता को प्राप्त होकर, इसके बाद अपने अस्त्र को कहीं भी प्रयोग नहीं करूँगा, ऐसा संकल्प कर लिया ॥२२॥

उसके बाद अपने स्मरण करनेमात्र से नवनिधियों की अधिष्ठात्री देवी के द्वारा संगृहीत श्रेष्ठ निधानों की उपस्थिति के कारण, अनेक प्रकार के दानों के योग्य धनों में प्रधान मणि मुक्ता आदि ब्राह्मणों को दे दिये ॥२३॥

ब्राह्मणों को दान करके शीघ्र ही व्रज को देखनेवाले एवं शीघ्र ही व्रज में जानेवाले श्रीकृष्ण जब संभ्रम में पड़ गये, तब श्रीकृष्ण ने "यह स्नान करने से उत्पन्न हुआ है क्या ?" इस प्रकार के सन्देह को देनेवाले कम्प को, रोमाञ्च को, एवं शीघ्र ही आँसू तथा गद्गद स्वर को भी प्राप्त होते हुए "मेरा प्यारा

मद्गोष्ठं क्व नु संप्रतीति यदिह स्वां हेतुतां स्पष्टयत्
प्रष्टव्यानपि तां दशां नयदतस्तंभत् क्षणान् कत्यपि ॥२४॥

"अथ मधुमथनः कथञ्चित् कथयन्तं कञ्चिदालिङ्गनसङ्गमनया रभसाद् दृगंभसाभिसिञ्चन् कृतदिव्यविमानाऽवमानेन निजविमानेन यमुना-पारमञ्चंस्तत्तत्कौतुकाऽऽलोकाय तमनुसञ्चरतां सुरलोक-लोकानां मनः प्रमनस्तया चञ्चलं चकार। तदेवं स्थिते निरन्तरतत्परताभासिनां व्रजवासिनां वृत्तं वृत्तं करिष्यामः ॥२५॥

"यदा खलः खल्वसौ शाल्वः कृष्णाऽवगाढद्वारां द्वारकां सौभद्वारावगीर्णवानिति दूताद्-वर्णनमाकर्णनमानीतवन्तस्तत्प्रभृति निरन्नतामापन्नास्ते पन्नजीवना इव बभूवुः। तत्र च दिनयामिनीयामेषु यमवत् कृतवियामेषु तदन्तिमदिनं पुनरन्तकनिभममन्यन्त। दूतानां दुःखस्यूतानां तत्र तत्र स्तंभात् पथिकानामपि दन्तवक्रसमिदुदन्तपर्यालोचनार्थमसञ्चरणाद-पारकृच्छ्राकूपारमनु ममज्जुरिति; ॥२६॥ यत्र खलु—

केचिद्वह्निं शरणमविदुः केऽपि गंभीरनीरं, शस्त्रीमन्ये गरलमपरे केचनापात्यमेव।
इत्थं हा धिग्मतिविषमतामेकचित्तेऽपि गोष्ठे, सुष्ठु प्राप्ते प्रतिजनमगादाशु निर्णायकत्वम्॥२७

"अथ तमिममाधिव्याधिमीत्सन्तं चिकित्सन् सर्वेषां पुरोहितः स खलु पुरोहितस्तु व्रज-

---

व्रज इस समय कहाँ है ?" इस प्रकार जो प्रश्न किया था, उस प्रश्न के वाक्य ने अपने कारण के भाव को स्पष्ट करते हुए, एवं जिनसे प्रश्न किया था उनको भी, कम्पादि दशा को प्राप्त करते हुए, कुछ क्षणोंतक स्तंभित कर दिया ॥२४॥

अनन्तर श्रीकृष्ण ने किसी प्रकार कहते हुए, किसी व्यक्ति को आलिङ्गन देकर, हर्षपूर्वक नेत्रजल से उसका अभिषेक करते हुए, स्वर्गीय विमानों को तिरस्कृत करनेवाले अपने विमान के द्वारा, अर्थात् गरुड की ध्वजावाले रथ के द्वारा यमुना पार जाकर, उस उस कौतुक को देखने के लिये श्रीकृष्ण के पीछे पीछे चलनेवाले देवताओं के मन को हर्ष से चञ्चल कर दिया। अब ऐसी स्थिति में निरन्तर श्रीकृष्ण की तत्परता से शोभापानेवाले व्रजवासियों के चरित्र को वृत्त (दृढ, मजबूत अर्थात् पुष्ट) करेंगे ॥२५॥

"वह दुष्ट शाल्व श्रीकृष्ण के द्वारा सुरक्षित द्वारवाली द्वारका को जब अपने लोहमय विमान से चूर्ण कर रहा था" इस वर्णन को उन व्रजवासियों ने दूत से जब सुना था, तभी से आहार से रहित हुए वे मानो जीवन से शून्य हो गये थे। उसमें भी दिनरात के पहर जब मृत्यु की तरह व्यतीत होने लगे, तब उनके अन्तिम दिन को तो वे व्रजवासी, यमराज की तरह कष्टप्रद मानने लग गये। और दुःख से भरे हुए दूतों के उस उस स्थानपर रुक जाने से, एवं दन्तवक्र के युद्ध के वृत्तान्त को देखने के लिये, पथिकों के भी संचार के न होने के कारण तो, वे अपार कष्टरूप समुद्र में निमग्न हो गये ॥२६॥

जिसमें कुछ व्रजवासी तो अग्नि को ही अपना रक्षक समझने लगे, एवं कुछ गहरे जल को, दूसरे छुरी को, कोई विष को, तथा कोई पर्वत से गिरने को ही समझने लगे। हाय ! हाय ! एक चित्तवाला व्रज भी जब इस प्रकार उत्तमरूप से मति की विषमता को प्राप्त हो गया, तब निर्णायक अथवा नायक से रहितता का भाव प्रत्येक जन के निकट शीघ्र ही पहुँच गया, अर्थात् सभी नायकरहित हो गये ॥२७॥

उसके बाद बढ़ने की इच्छावाली उस मानसिक पीडा का प्रतीकार करनेवाले, एवं पहले से ही

महीक्षितमभिहितवान् । भवानपि कथं विस्मृतिपथं प्रस्थितवानस्ति ? सर्वानेकत्राधाय सर्वत्राणाय पूर्वत्रागतभवत्त्राकृतसुखसत्रायमाणलिपिकृष्ण-पत्रालोकनया लोकय तदीयाऽऽगमनमयं समयम् ॥२८॥

"व्रजराज उवाच,—'समयेन शमये कथं स्यात्, यद्यसौ शात्रवरोधपात्रतां गतः ॥'२९

"पुरोहित उवाच,—'तस्य वचनं खलु विधिनापि नान्यथा रचनं कर्तुं शक्यते । तस्मान्मम वचनात्तां पत्रीं सकृदपि कर्णयोः सचमानां कुरु ॥'३०॥

"अथ व्रजराजेन तत्रानुमते मिथः सङ्गते च सदसि पुरोधसि च वाचित-तल्लिपिवचसि सर्वेषां नेत्रनीरदा वरुण-सूक्तादिव तदुक्तान्मिलदुत्कर्षं वर्षन्तः कं वा न धर्षयामासुः ? पत्रं च तत् कर्णपात्रं कृतमस्ति ॥३१॥ यथा—

'नेन्द्रप्रस्थं द्वारकां नापि किन्तु, श्रीमन्नेतत् पत्रमेवाऽऽवसामि ।

एतत्तस्मादञ्चले रक्षणीयं, मत्प्रत्याशाव्यत्यये लक्षणीयम् ॥'इति॥३२॥

"तदेवमत्र पत्रे वाच्यमानेऽवाच्यां दिशि पाञ्चजन्यजन्यमानो ध्वनिरध्वनि मथुरायाः पृथुराविर्बभूव। आविर्भूते च तस्मिन् कर्णानाममृतभूते परस्परं वीप्सया झीप्समानाः सचमत्कारं

सब के हितैषी वे पुरोहितजी श्रीव्रजराज के प्रति बोले कि—आप भी विस्मृति के मार्ग में क्यों यात्रा कर रहे हो ? अर्थात् आप भी क्यों भूल में पड़ रहे हो ? देखो, पहले सब व्रजवासियों को एकत्रित करके, पश्चात् सभी को रक्षा के लिये, पहले ही आया हुआ एवं आपके अधीन किया हुआ, तथा सुख का दान करनेवाले लेख से युक्त जो श्रीकृष्ण का पत्र है, उसको दिखाकर, श्रीकृष्ण के आगमनमय समय को देख लीजिये ॥२८॥

श्रीव्रजराज बोले—अजी पुरोहितजी ! देखो, यदि वह हमारा लाला शत्रुसमूह से ही घिर गया है, तब उसके आने के समय के देखने मात्र से कैसे कल्याण हो सकता है ? ॥२९॥

पुरोहितजी बोले—श्रीकृष्ण के वचन को विधाता भी अन्यथा नहीं कर सकते हैं । इसलिए मेरे कहने से उस पत्रिका को एकबार पुनः कर्णगोचर कर लीजिये ॥३०॥

उसके बाद व्रजराज के द्वारा उस विषय में अनुमति दे देनेपर, एवं सभा में सभी के सम्मिलित हो जानेपर, और पुरोहितजी के भी श्रीकृष्ण की पत्रिका को बाँच देनेपर सभी व्रजवासियों के नेत्ररूपमेघों ने वरुणसूक्त (वरुणमन्त्र) की तरह, पुरोहित के वचन से मिलते हुए उत्कर्षपूर्वक वर्षा करते करते किस व्यक्ति को पीडित नहीं किया ? अपितु, सभी को कर दिया । पश्चात् वह पत्र भी सभी के कर्णगोचर कर दिया, अर्थात् सभी को सुना दिया ॥३१॥

यथा—हे श्रीमन् पिताजी ! देखो, मैं न तो दिल्ली में रहता हूँ, न द्वारका में ही; किन्तु इस पत्र में ही निवास करता हूँ । इसलिए आप इस पत्र को अपने अंचल में, अर्थात् अपनी ठोक में बाँधकर सुरक्षित रख लेना । और मेरे आने की प्रत्याशा की बिपरीतता में इसका देख लेना । तात्पर्य—इस पत्र को देखने से मेरा दर्शन सिद्ध हो जायगा ॥३२॥

इस प्रकार उस पत्र के बाँचते ही दक्षिणदिशा में पांचजन्यशंख से उत्पन्न हुई भारी ध्वनि मथुरा के मार्ग में प्रगट हो गई । कानों के लिये अमृतस्वरूप उस शंख की ध्वनि के प्रगट होते ही, उसको बारंबार

जयजयकारबहलं कोलाहलं कुर्वन्तः सर्वेऽप्यानन्दगर्वेण तदभिमुखं मुखरीकृतचरणपातसुखं धावन्ति स्म ॥३३॥ यथा—

स्त्री-बाल-वृद्ध-वलिता व्रजवासिनस्ते, कृष्णाऽऽगतिं यदुपुरादनुमाय शंखात् ।
एवं द्रवन्ति चपलं स्म यथा विदुर्न, स्वात्मानमप्यहह किं पुनरग्रपश्चात् ? ॥३४॥

"अथ पुनः पर्यगिङ्गच्छङ्ख-ध्वनिनिरर्गल-रथघर्घरस्वनस्वर्ग-जनकृतसर्गजयजयकारवर्गं शृण्वन्तः सर्व एवात्मानं प्रमदेनावृण्वन्तः स्तंभाऽऽरंभमलभन्त । तथापि चलन्त एव यदा गदाधररथध्वजारूढगरुडमद्राक्षुस्तदा तु पदमपि पदं दातुमसंपद्यमानाः सद्य एव स्थगित-गतयस्तरव इवाऽवतस्थिरे । यदा चैवं तदा नेत्रमात्रं प्रस्थापयन्तः सर्वात्मना तदवस्थता-मेवाजग्मुः ॥३५॥

"शङ्खध्वानबुधा मुदा व्रजजना यस्मात्तदुद्दिश्य तं, गच्छन्तः पथि दूरदूरतरतः संलक्ष्य वैलक्ष्यतः ।
यस्मिन्नायरवप्लुतं मुहुरधुः सांराविणं तद्वशा,-दद्याप्यायर इत्यदः पदममी चाचक्षते माथुराः ॥

"तत्र च–सुरेशानां वाद्यैर्जयजयरवाद्यैः सुरतरु,-स्फुटत्पुष्पासारैर्मधुपनुतसारैर्मुहुरपि ।
रथाध्वन्यध्वानैर्जनरवनिधानैः शवलितः, सुहृद्भिः श्रीकृष्णः परिमिलनतृष्णः समसजत् ॥३७॥

परस्पर जानने की इच्छा करते हुए, चमत्कारपूर्वक जय जयकार के विशेष कोलाहल को करते हुए, सभी व्रजवासी आनन्द के गर्व से शब्द करनेवाले चरणपात के सुखपूर्वक उस ध्वनि के सम्मुख दौड़ने लग गये ॥३३॥

यथा—स्त्री, बालक, एवं वृद्धजनों से युक्त वे व्रजवासी शंख के शब्द से द्वारका से श्रीकृष्ण के आगमन का अनुमान लगाकर, शीघ्रतापूर्वक इस प्रकार दौड़ रहे थे कि जिस प्रकार वे अपने को भी नहीं जान पा रहे थे, अहह ! फिर वे अपने आगे पीछेवालों को कैसे जान सकते दे ? ॥३४॥

उसके बाद पुनः चारों ओर फैलती हुई शंखध्वनि को, प्रतिबन्ध रहित रथ के घर्घर शब्द को, एवं स्वर्गीय देवताओं के द्वारा किये गये जय जयकार के समूह को सुनते हुए, सभीजन अपने को आनन्द से ढाँकते हुए स्तम्भभाव के आरम्भ को प्राप्त हो गये । तथापि चलते हुए जब श्रीकृष्ण के रथ की ध्वजापर बैठे हुए गरुड़ को देखने लगे, तब तो एक चरण भी आगे चरण धरने को समर्थ न होते हुए, तत्काल ही स्थगित गति (चाल) वाले होकर, वृक्षों की तरह अचल हो गये । जब ऐसी स्थिति हो गई तब अपने नेत्रमात्र को चलाते हुए सर्वतोभाव से जडता को ही प्राप्त हो गये ॥३५॥

शंख के शब्द से श्रीकृष्ण के आने को जाननेवाले व्रजजन, हर्षपूर्वक जिस स्थान से उस मार्ग का उद्देश्य करके, श्रीकृष्ण के निकट जाते हुए मार्ग में दूर से भी बहुत दूर से आश्चर्य से देखकर, जिस स्थान में खड़े होकर "श्रीकृष्ण आयो रे !" इस प्रकार के शब्द से व्याप्त शब्दसमूह को बारंबार कह रहे थे, उसी "आयो रे" शब्द के कारण मधुरामण्डल के ये जन आज भी उस स्थान को "आयरा-खेड़ा" के नाम से कहते हैं ॥३६॥

और उस समय इन्द्रादि देवताओं के जय जयकारपूर्वक बजाये गये वाद्यों से, एवं भ्रमरगण जिनके सारांश की स्तुति कर रहे हैं, उन कल्पवृक्षों के खिले हुए पुष्पों की वृष्टियों से, एवं मनुष्यों के शब्द से मिले हुए रथ के मार्ग में होनेवाले शब्दों से सम्मिलित हुए श्रीकृष्ण, अपने मित्रों से मिलने की तृष्णा से युक्तहोकर उनसे मिलने लग गये ॥३७॥

ये ते कंपमिता व्रजेशवलितास्तानात्मनाऽस्तंभयत्
क्षौणीपातविशङ्कया सममपि प्रेम्णाऽथ येन प्रभुः ।
शक्तिं तस्य परां च पश्य यदमुं कंप्रीभवन्तं चिरात्
स्तब्धीकृत्य तदङ्गसङ्गनिविडं कुर्वन् स पर्वण्यधात् ॥३८॥

"ततश्च घनमिव घनरसवर्षहर्षप्रदघनम्, तडित्वन्तमिव तडिदंबरमागतवन्तम्, अभ्रमिवात्मानं विभर्तुमभिमुखलसदभ्रम्, जलधरमिव जलवदङ्गधरम्, स्तनयित्नुमिव गद्गदगर्जितस्तनयित्नुम्, धाराधरमिव विलोचनांबुधाराधरं तमुपलभ्य परिरभ्य च निदाघदग्धवनभाग इव जागरूकरोमांकुरतां व्रजजनव्रजः स वव्राज ॥३९॥

"तत्र च—दिविजभविकगर्जासङ्गिपीयूषवर्षं, पशुपसुखजगर्जस्पर्शिदृग्वारिवृष्टिः ।
द्वयमिदमिह भूयः सङ्करीभूय शुष्क,-द्रुमसमुदयशंकून् सांकुरान् मंक्षु चक्रे ॥४०॥

दुर्भिक्षक्रमपीडितानिव चिरं जीर्णज्वरार्तानिव
द्रुह्यद्बन्धनसद्मगानिव कृतानेकातिकृच्छ्रानिव ।
पश्यन्मीलितदृष्टितां समभजत् पित्रादिकान् श्रीहरिः
स्वस्पर्शादथ दिव्यरूपवलितानुत्फुल्लदृष्टिर्बभौ ॥४१॥

श्रीव्रजराज से युक्त जो प्रसिद्धजन कम्प को प्राप्त हो रहे थे, उनको पृथ्वी में गिरने की आशंका से सर्वसमर्थ श्रीकृष्ण ने जिस अपूर्व प्रेम के द्वारा स्वयं एकसाथ ही स्तम्भित (स्थिर) किया था, उस प्रेम की उत्कृष्ट शक्ति को देखो कि, व्रजवासियों के प्रेम में काँपते हुए श्रीकृष्ण को बहुत देरतक स्थिर करके, उस प्रेम ने श्रीव्रजराज आदिकों के अङ्ग सङ्ग में, सराबोर करके मानो महोत्सव में स्थापित कर दिया ॥३८॥

उसके बाद मेघ जिस प्रकार जल की वर्षा के द्वारा हर्षप्रद शरीर धारण करता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण ने भी उस समय अपने शरीर को घने रस की वर्षा से हर्षप्रद बना रखा था। बिजली जैसे बादल का वस्त्र हो सकती है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण का पीताम्बर भी बिजली की तरह चमक रहा था। अपना पोषण करने के लिये मेघ की गति जैसे सम्मुख शोभा पाती है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण की गति भी अपने को पुष्ट करने के लिये सम्मुख ही शोभा पा रही थी। मेघ जैसे जलविशिष्ट देह को धारण करता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी स्वेदजल से युक्त देह को धारण कर रहे थे। मेघ जैसे गम्भीर शब्द करता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी गद्गदस्वर से गंभीर गर्जना कर रहे थे। मेघ जैसे जल की धाराओं को धारण करता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी व्रजजनों के प्रेम से नेत्रजल की धारा धारण कर रहे थे। इस प्रकार से आये हुए श्रीकृष्ण को प्राप्तकर एवं उनसे मिलकर, वह व्रज का जनसमुदाय ग्रीष्मऋतु से जला हुआ वनविभाग उक्त प्रकार के मेघजल से सिक्त होकर जैसे अंकुरित हो जाता है, उसी प्रकार स्पष्ट ही रोमाञ्चित हो गया ॥३९॥

और उस समय स्वर्ग से उत्पन्न हुई मङ्गल की गर्जना से युक्त अमृत की वृष्टि, एवं गोपों के सुख से उत्पन्न हुई गर्जना से युक्त आँसुओं की वृष्टि, ये दोनों प्रकार की वर्षाएँ श्रीकृष्ण के मिलन के समय पुनः सम्मिलित होकर, श्रीकृष्ण के विरह में सूखे हुए वृक्षसमूह के शंकुओं (ठुंठों) को शीघ्र ही अंकुरित करने लगीं ॥४०॥

उसके बाद दुर्भिक्ष के खेद से पीडित जनों की तरह, चिरकालतक जीर्णज्वर के रोगियों की तरह,

"ततश्च, माता तातस्तदेतद्द्वितयसवयसः क्ष्मासुराः सर्ववृद्धा
ज्यायांसश्चानताः प्राग् दनुकुलरिपुणा सास्रमाशीशिषंस्तम् ।
श्लिष्टाः प्राक् स्वेन तुल्या व्यवहृतिसमतामागमन् जन्मना ये
प्राग्नासंस्ते तदा तु प्रणतिविरचना-कर्मणा प्राग् बभूवुः ॥४२॥

"तदेवं स्थिते—गावोऽप्यत्र तदीयसौरभमरुद्विस्तारमाविस्तरा-
माघ्रायागतशीघ्रताः समभजंस्तं तत्र ता यूथशः ।
यस्मिन् रंभणशब्दयुक्खुरघटासङ्घट्टघण्टारवैः
सार्धं गोपशताततं झरिझरीत्युर्न्नादितं व्यानशे ॥४३॥
कृत्वा दण्डवदानतिं मुररिपुर्यर्हि क्षितिं सङ्गत-
स्तर्ह्याघ्राय गवां ततिर्मुहुरमुं लीढे स्म बाष्पाऽऽकुला ।
यर्ह्युत्थाय तदीयकण्ठघटनाकृद्बाहुरेष स्थित-
स्तर्ह्येषा च तदङ्गसङ्गतगला दुग्धं स्म दुग्धे स्वयम् ॥४४॥
दूराद् दूरान्मुरारेः प्रसृतपरिमलेनाहृता ये मृगाद्या
भूमिष्ठा व्योमनिष्ठाः पुनरिह विहगाश्चात्र ये चित्रदङ्गाः ।

शत्रु के बन्धनागार में पड़े हुए व्यक्तियों की तरह, एवं अनेक प्रकार के कृच्छ्रचान्द्रायण आदि व्रत करनेवाले जनों की तरह, अपने मातापिता आदि व्रजवासियों को देखकर, उनकी दुर्दशा से दुःखित होकर, श्रीकृष्ण ने अपने नेत्र बन्द कर लिये। पश्चात् अपने स्पर्श से दिव्य रूप से युक्त देखकर, खिले हुए नेत्रोंवाले होगये ॥४१॥

और उसके बाद दैत्यारि श्रीकृष्ण ने पहले मातापिता को, एवं इन दोनों के समान अवस्थावाले ब्राह्मणों को, तथा सर्वप्रकार से वृद्ध एवं वयोवृद्ध गोपों को साष्टाङ्ग प्रणाम किया, उन्होंने भी श्रीकृष्ण को प्रेमाश्रु बहाते हुए आशीर्वाद दिया, तथा अपनी समान अवस्थावाले मित्रों से श्रीकृष्ण ने आलिङ्गन किया। मित्र भी श्रीकृष्ण को आलिङ्गन करके व्यवहार की समता को प्राप्त हो गये। एवं जो अपने जन्म से पहले नहीं थे, अर्थात् जो श्रीकृष्ण से छोटे ग्वालबाल थे उन्होंने श्रीकृष्ण को प्रणाम किया ॥४२॥

ऐसी स्थिति में इस व्रज में गऊएँ भी श्रीकृष्ण के अंग की सुगन्धीवाली वायु को स्पष्ट ही सूँघकर, शीघ्रता को प्राप्त होकर, वे झुण्ड की झुण्ड वहाँपर श्रीकृष्ण से जा मिलीं। जिस सम्मिलन में गोगण के रँभाने के शब्दों से युक्त खुरों की श्रेणी की टक्कर, एवं गले के घण्टाओं के शब्दों के सहित, सैंकड़ों गोपों के द्वारा विस्तारित "झरि झरि" यह ऊँचा शब्द व्याप्त हो गया ॥४३॥

श्रीकृष्ण गऊओं को दण्डवत् प्रणाम करके जब भूमिपर गिर पड़े, तब प्रेमाश्रुओं से व्याकुल हुई गोश्रेणी, श्रीकृष्ण को सूँघकर बारंबार चाटने लग गई। और श्रीकृष्ण उठकर जब अपनी भुजाओं से उनके गले से मिलने लग गये, तब तो यह गोश्रेणी श्रीकृष्ण के अङ्ग में अपने गले को लगाकर स्वयं दुग्ध दोहन करने लग गई, अर्थात् वात्सल्यरस से स्वयं दूध बहाने लग गई ॥४४॥

और श्रीकृष्ण के अङ्ग की फैली हुई सुगन्धी से दूर दूर से आकृष्ट हुए भूमि में रहनेवाले जो मृग आदि हैं, एवं आकाशचारी जो पक्षी हैं, तथा इस व्रज में चित्र के से अङ्गोंवाले जो मयूर हैं, इन सब में पहले उन मृग आदिकों ने भली प्रकार (श्रीकृष्ण के चारों ओर गोलाकार से खड़े होकर) परकोटा के समूह

ते पूर्वे सम्यगाप्ता वरणगणदशां ते परे छत्रचर्या-
मासन्ना गोष्ठगोष्ठीमपि सकृदजयन्नाद्यया सेवयाऽद्य ॥४५॥
जात्या परं परिचिता न जवात् परन्तु, व्यक्त्यापि तर्हि हरिणा हरिणादयस्ते ।
आसन् परं परिचिता इति नास्ति किन्तु, प्रेमाऽवलोकसुधया पुरु शीकिताश्च ॥४६॥

"तदेवं स्थिते वृन्दा-मधुमङ्गलाभ्यां कृतसङ्गमङ्गलापूर्णमनाः पूर्णिमा तूर्णमेव चिरविरहार्तिदिग्धस्निग्धजनसम्मर्दमर्दितविवेकनिर्वर्णनं तदभ्यर्णमाजगाम । आगम्य च रम्यमिदं तमुवाच,—'आधिसमाधिं सावधिं विधाय समवधीयताम् । सेयं भवद्विरहचूर्णीकृताऽवयवजालापि तदेतदाशया पूर्णीयितजीवितकाला पूर्णिमाहमस्मि । ताविमौ च तदेतद्विधभाविलङ्गिममङ्गलौ वृन्दामधुमङ्गलौ स्तः' इति ॥४७॥

"तदेतन्निशम्य सेयं पौर्णमासीति समधिगम्य व्रजराजराज्ञीयुवराजमुखाः सुखादभिमुखा भवन्तस्तत्परिसरं परि नमःपुरःसरतया पुरःसरन्तः सकंपसंपदञ्जलिरञ्जिनयननिष्पतन्मेघपुष्पतया तन्निष्ठनयनतया च तिष्ठन्ति स्म ॥४८॥

"सा च शीतलविलोचनजलसंपतनलब्धकंपसंपत्संकुलपुलककुलकलिला पित्रोः पुत्रस्य च कलेवरं सुखकरेण करेण वरेण च वरेण्यमाचरन्ती तदिदं व्याजहार,—

की दशा को प्राप्त होकर, तथा उनसे दूसरे उन पक्षियों ने आकाश में पंख फैलाकर, छत्र की सी परिपाटी को प्राप्त होकर, आज एकबार अपनी पहली सेवा के द्वारा व्रज की सभा को भी, अर्थात् व्रजवासियों के समूह को भी जीत लिया ॥४५॥

उस समय श्रीकृष्ण ने वे हरिण आदि केवल जाति से ही नहीं पहचाने थे, किन्तु वेग के कारण व्यक्ति से भी पहचान लिये थे । केवल "पहचाने ही थे" यह बात नहीं है, किन्तु प्रेमपूर्वक दर्शनरूप अमृत से उनको विशेष सिंचित भी कर दिया था ॥४६॥

अतएव ऐसी स्थिति में वृन्दा एवं मधुमङ्गल के साथ दूर्वा आदि माङ्गलिक वस्तु सङ्ग में लेकर, परिपूर्ण मनवाली पूर्णिमादेवी चिरकालीन विरह की पीडा से परिपूर्ण स्नेहीजनों के सम्मेलन से विवेकदृष्टि की रहिततापूर्वक शीघ्र ही श्रीकृष्ण के निकट आगई । आते ही श्रीकृष्ण के प्रति यह मनोहर वचन बोली—हे भगवन् ! आप मानसिक व्यथा की समाधि को समाप्त करके सावधान हो जाइये । देखो, आपके विरह से प्रायः चूर्णित अङ्गसमूहवाली होकर भी, आपके पुनः व्रज में आने की आशा से अपने जीवनकाल को पूरा करनेवाली यह मैं वही पूर्णिमा हूँ । और ये दोनों वृन्दा एवं मधुमङ्गल हैं । ये दोनों भी आपके पुनः व्रज में आगमनरूप भावी मनोहर मङ्गल में निमग्न हैं ॥४७॥

यह बात सुनकर "यह वही पौर्णमासी हैं" यह जानकर, व्रजराज श्रीनन्द, व्रजरानी श्रीयशोदा, एवं युवराज श्रीकृष्ण आदि सभीजन सुख से पूर्णिमा के सम्मुख होते हुए, एवं उनके निकटवर्ती स्थान में नमस्कारपूर्वक अग्रसर होते हुए, तथा कम्परूप सम्पत्ति के साथ अञ्जलि को सुशोभित करनेवाले, नेत्रों से गिरते हुए प्रेमाश्रुपूर्वक अपने नेत्रों को पूर्णिमा के ऊपर स्थापित करके उनके आगे बैठ गये ॥४८॥

उस समय श्रीकृष्णमिलन के सुख से उत्पन्न हुए शीतल नयनजल के गिरने से, प्राप्त हुई कम्परूप सम्पत्ति से मिले हुए रोमांचसमूह से व्याप्त हुई वह पूर्णिमा, श्रीनन्दयशोदा के एवं उनके लाला श्रीकृष्ण के शरीर को, सुखकारक अपने करकमल से तथा वरदान के द्वारा सर्वोत्तम करती हुई यह बोली—हे व्रजराज

'भो व्रजपतिदंपती ! वियोगसंयोगसन्धिसमयं प्रति संप्रति धीरतामात्मनि धारयेयाथाम् । यदायुष्मतः खल्वस्य चागतमात्रस्य विश्रमाय कल्पते । ततश्च 'स्वस्थे हि चित्ते प्रसरन्ति बुद्धयः' इति न्यायादायतिसुखमपि सदायतोभावमापद्येत ॥४९॥ 'तथा चोपदिशन्ति—

घर्मान्तवर्षादिमसन्धिसङ्गतिः, सुदुःसहाय ज्वलनाय कल्पते ।
एषा जगत्प्राणमपि प्रतापय,-त्यतः प्रतीक्षेत तदीयशीतताम् ॥५०॥

'तस्मादत्र घनच्छाये घनच्छाये तरुनिकाये धीरतामाविशन्तः समन्तादस्य समुपविशत ।।'५१

"अथ तथा विधाय कृष्णं मध्ये निधाय तया सह जगत्सु व्रजसत्सूपविशत्सु श्रीमदुपनन्दादिषु च लब्धानन्दादिषु श्रीदाममुखेषु च प्रपञ्चितसुखेषु वृन्दा-मधुमङ्गलयोश्च लब्धतत्तत्-सङ्गमङ्गलयोर्द्यावाभूम्योश्च लब्धसुखातिभूम्योः श्रीव्रजपतिदंपत्योश्च मुहुरपि तमुपगुह्य विमुह्य च संदृश्य विमृश्य च लब्धवाष्पसंपत्योः सा पुनरुवाच,—॥५२॥

'इन्द्रप्रस्थं यावदत्याजि शाल्वः, पर्यक्राथि द्रागथो दन्तवक्रः ।
गोष्ठे चायाय्यत्र तावन्न पीतं, न प्सातं वानेन वां देहजेन ॥५३॥

'किं बहुना ? बहु नमस्कृत्य भवतः पुरस्कृत्य बद्धाञ्जलिधामा दारुकनामा पुष्कल-

---

एवं हे व्रजेश्वरि ! तुम दोनों से मेरा यही कहना है कि—वियोग एवं संयोग की सन्धि के समय में इस समय अपने मन में धैर्य को धारण करो क्योंकि ऐसा करना ही तत्काल आये हुए आयुष्मान् श्रीकृष्ण के विश्राम के लिये हो सकता है । और विश्राम के बाद "स्वस्थ चित्त में ही बुद्धियाँ अपने अपने कार्य में चलती हैं" इस न्याय के अनुसार आगे होनेवाला सुख भी सदा वृद्धि के भाव को प्राप्त हो सकता है ॥४९॥

देखो, विज्ञजन यह उपदेश भी देते हैं कि—ग्रीष्मऋतु के अन्त की एवं वर्षाऋतु के आदि की सन्धि का जो सम्मेलन है, वह असह्य सन्ताप के लिये समर्थ हो जाता है । यह दोनों ऋतुओं का जो सम्मेलन है वह जगत् के प्राणस्वरूप वायु को या जल को भी सन्तप्त कर देता है, अतः उन दोनों के सम्मेलन की शीतलता की प्रतीक्षा करनी चाहिये ॥५०॥

इसलिए मेघ की सी कान्तिवाले एवं घनी छाया या शोभावाले इस वृक्षसमूह के नीचे, धीरता को धारण करते हुए, तुम सब इन श्रीकृष्ण के चारों ओर बैठ जाओ ॥५१॥

उसके बाद वृक्षों के नीचे आकर श्रीकृष्ण को बीच में बैठाकर, सभी व्रजवासी पौर्णमासी के सहित जब बैठ गये, एवं श्रीमान् उपनन्दजी आदिकों ने जब आनन्द आदि को प्राप्त कर लिया, एवं श्रीदामा आदि मित्रों ने जब अपने सुख का विस्तार कर दिया, तथा वृन्दा व मधुमङ्गल ने श्रीकृष्ण के मिलन से जब मङ्गल को प्राप्त कर लिया, एवं भूमि और आकाश को जब अतिशय सुख मिल गया, और श्रीव्रजराज तथा श्रीव्रजरानी इन दोनों ने बारंबार श्रीकृष्ण को आलिङ्गन कर, विमुग्ध होकर, देखकर, विचार कर अश्रुप्रवाहरूप सम्पत्ति जब प्राप्त कर ली तब पूर्णिमा बोली—॥५२॥

तुम दोनों के पुत्र इन श्रीकृष्ण ने जब से इन्द्रप्रस्थ को त्यागा है, अर्थात् युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ करा कर ये जब से दिल्ली को छोड़कर चले हैं, एवं जबतक शाल्व तथा दन्तवक्र को मारा है, और जबतक इस व्रज में आये हैं, तबतक इन्होंने न तो एक बूंद जल पिया है, न कुछ खाया ही है ॥५३॥

अधिक कहने से क्या प्रयोजन ? देखो, श्रीकृष्ण का दारुक नामवाला यह श्रेष्ठ सारथि भी आप सब

सारथिरप्ययं शुष्कदारुवदेव दृश्यते, तस्मादस्य सुखसंपदुत्थाय समुत्थाय व्रजमेव व्रजन्तस्तत आनीय स्नानीयमुखसुखकरसन्तर्पणव्रजं समर्पयथ। यावदशेषमङ्गलमूलं गोधूलं श्रीव्रजप्रवेश-देशरूपमुपलभ्यते' इति ॥५४॥

"अथ श्रीकृष्णः सर्वान् सगद्गदं जगाद,—'कथमधुनापि स्वमनो धुनानास्तदवस्था एव यूयमस्थात ? मम व्रजवासाय कृतविघ्नाः पापनिघ्नाः शाल्वदन्तवक्रान्ताः सर्व एवाश्रान्ताः शत्रवस्तत्रभवतां भवतां शापादपकृताः कृतान्तमुखनिशान्ता जाताः। तत्र च दन्तवक्रः सविदूरथः संरुद्धमथुराद्वारपथः समाप्ततामवाप्तवान्। ततः सर्वमेव मङ्गलं सङ्गतम्। व्रजप्रवेशे तु सांप्रतमिदमभिनिविविशे मदीयपुनर्व्रजसमागमभागधेयाचरणाः श्रीमदार्यचरणा मामादायागचछन्तस्ते शाल्वाऽऽपाततस्तत्राऽऽपाततः समुपद्रवान्तः क्लान्तजनमनःशान्ततार्थं मया रक्षिताः। तस्मात्तानानीय संप्रीय व्रजप्रवेशमङ्गलं कुर्यामिति मह्यं नितरां रोचते ॥५५

"पूर्णिमोवाच,—'तदपि स्यादद्य तु सर्वेषां सुखमनवद्यं कर्तुमुचितम्' इति ॥५६॥

"तदेवं सानन्दं शृण्वन् पूर्णिमा-निदेशमेव सदेशरूपतया वृण्वन् कश्चन गृहगृहबृहल्लोकः सस्पृहं निजनिजमोकः संहाय प्रतिहायनं तन्नाम्ना समुच्चितानि समुचितानि वस्त्रादीनि

को बारंबार नमस्कार करके आपके सामने हाथ जोड़कर खड़ा हुआ (भूख प्यास के मारे) सूखे काष्ठ की तरह दिखाई दे रहा है। इसलिए इस दारुक की एवं श्रीकृष्ण की सुखसम्पत्ति के उत्थान के लिये उठकर व्रज में ही जाकर, वहाँ से स्नान करने की सामग्री आदि, सुखकर एवं तृप्तिकारक वस्तुसमूह को लाकर, इसको समर्पण कर दीजिये, क्योंकि जबतक सब प्रकार के मङ्गलों का मूलस्वरूप एवं श्रीव्रज में प्रवेश करने में सामञ्जस्यवाला गोधूलि मुहूर्त उपस्थित हो रहा है, अर्थात् गोधूलिवेला में ही श्रीकृष्ण का व्रज में प्रवेश करना समुचित है ॥५४॥

अनन्तर श्रीकृष्ण सभी के प्रति गद्गद होकर बोले—अहह ! आप सब अब भी अपने मन को कम्पित करते हुए उसी विरहमयी अवस्था से ही क्यों बैठे हो ? देखो, मेरे व्रजवास के लिये विघ्न करने-वाले एवं पाप के अधीन रहनेवाले, शाल्व दन्तवक्र-पर्यन्त सभी निरन्तर आनेवाले शत्रु, आप सब पूजनीय जनों के अभिशाप से दूर किये हुए, यमराज के मुखरूप घर में चले गये हैं, अर्थात् मृत्यु के ग्रास हो गये हैं। और उनमें भी विदूरथ के सहित मथुरा के द्वार के मार्ग को रोकनेवाला दन्तवक्र भी समाप्त हो गया है। अतः अब तो कोई शत्रु न रहने के कारण समस्त मङ्गल ही हो गया है। किन्तु व्रज में प्रवेश करने में इस समय मेरे मन में यह बात अभिनिविष्ट हो रही है कि, मेरे पुनः व्रज में आने के सौभाग्य का आचरण करनेवाले मेरे पूजनीय श्रीबलरामजी मुझ को लेकर आरहे थे, किन्तु वे शाल्व के आजाने से द्वारका में आपाततः उपद्रव में दुःखी हुए जनों के मन की सान्त्वना के लिये मैंने रख दिये थे। इसलिए उनको लिवा लाकर प्रसन्न होकर व्रज के प्रवेशरूप मङ्गल को सम्पन्न करूँ, यही मेरे लिये विशेष रुचिकर है ॥५५॥

पूर्णिमा बोली—वह कार्य भी हो जायगा, किन्तु आज तो सबका विशुद्ध सुख उपस्थित करना ही उचित है ॥५६॥

इस प्रकार आनन्दपूर्वक सुनता हुआ पूर्णिमा के आदेश को ही नीतिसङ्गत होने से ग्रहण करता हुआ, प्रत्येक घर का कोई एक एक बड़ा व्यक्ति इच्छापूर्वक अपने अपने घरपर जाकर, प्रत्येक वर्ष श्रीकृष्ण के

तत्राऽऽनीय वितानि चकार । श्रीकृष्णस्तु तानि सर्वाणि सुपर्वणामपि खर्वितगर्वाणि वीक्ष्य व्रजवासिनां पुनरङ्गसङ्गतरसनावसनादीनि शरदन्तनलिनानीव मलिनानि समीक्ष्य पौर्णमासी-मुखमसुखमीक्षामास ॥५७॥

"सा पुनरिदमवादीत्,—'सर्वेणापि व्रजवासिना सेयं पूर्वपूर्ववद्भवदेकसंप्रदानताध्यवसेयतयाऽऽरब्धा कुरुभुवि भवल्लब्धा च सामग्री भवदेकाग्रीयताकृते धृतव्यग्रीभावा गावश्च नान्यथा प्रथयितुं शेकिरे ; सर्वस्वानि पुनरसुरसङ्गरकारिणस्तव मङ्गलाय यज्ञपुरःसरतया सुरभूसुरसादेव चक्रिरे ; विशिष्टानि वा यानि कानिचिदवशिष्टानि तानि च सौभयुद्धमुद्बुद्धमवधार्य वार्यविप्रवर्यद्वारा हुतभुजि जुहवामासिरे, निजनिजगात्राणि परं कर्तव्यताशेषपात्राय पूर्णाहुतिमात्राय त्राणानि विदधिरे ॥५८॥

'तस्मात् केवलभवद्दुःखविद्रावणाय विद्रावितसंपद्राशितयाऽदरिद्रायि ॥'५९॥

"अथ दानवारिर्निजनयनवारिकरवारितमाचरन्नधिदारुकमिदं चारुवर्णं कर्णसमभ्यर्णतया वर्णयति स्म,—'आनय शस्तानि वस्त्रालङ्करणानीति । तदनु व्रजाऽङ्गभूतानि च निजाङ्गसेवकयूथानि तत्संभूतानि चकार । ततस्तानि च तेन सारथिना सह मनोरथस्थानीयरथस्थानि वस्त्रादीनि समानयन्ति, पुनस्तदवस्थानि पश्यन्ति, पर्यन्तं नाप्नुवन्ति स्म । मुररिपुपुरःपर्यन्तभूरियं तु तैर्दूरतः पूरिता बभूव ॥६०॥ ततश्च,

---

नाम से एकत्रित किये हुए योग्य योग्य वस्त्र आदि वहाँ लाकर एकत्रित करने लगा । श्रीकृष्ण तो देवताओं के भी गर्व को छोटा करनेवाले उन सब वस्त्रादिकों को देखकर, और व्रजवासियों के अङ्ग में पहने हुए मेखला वस्त्र आदि को शरद् ऋतु के अन्त में मलिन हुए कमलों क तरह मलिन देखकर, पौर्णमासी के मुख को खेदपूर्वक देखने लगे ॥५७॥

पूर्णिमा पुनः यह बोली—देखो, भगवन् ! सभी व्रजवासियों ने पहले पहले की भाँति केवल आपको समर्पित करने के उत्साहपूर्वक आरम्भ की गई यह सामग्री, एवं कुरुक्षेत्र में आपके द्वारा प्राप्त हुई सामग्री, केवल आपके आगे रखने के लिये अन्यथा करने की, अर्थात् देने आदि की सामर्थ्य नहीं की, एवं व्यग्रता को धारण करनेवाली गऊओं की भी देने की सामर्थ्य नहीं की । और जो सब धन थे वे तो दत्यों के साथ युद्ध करनेवाले आपके मङ्गल के लिये यज्ञानुष्ठानपूर्वक देवता एवं ब्राह्मणों को दे दिये । और विशिष्ट विशिष्ट जो कोई अवशिष्ट (बची हुई) वस्तुएँ थीं, वे सब "शाल्व का युद्ध छिड़ गया है" यह सुनकर वरण करने योग्य श्रेष्ठ ब्राह्मणों के द्वारा अग्नि में समर्पित कर दीं । केवल कर्तव्यता की अवशिष्ट पात्रस्वरूप पूर्णाहुति मात्र के लिये अपने अपने शरीर सुरक्षित रख लिये ॥५८॥

इसलिए केवल आपके विरहदुःख को दूर भगाने के लिये, व्रजवासियों ने सम्पत्तिसमूह को दूर करके दरिद्रता धारण कर ली है ॥५९॥

उसके बाद दैत्यारि श्रीकृष्ण अपने आँसुओं को अपने हाथ से दूर करते हुए, दारुक के प्रति उसके कानों के निकट होकर, सुन्दर वर्णोवाले यह वचन बोले—हे दारुक ! (मेरे रथ में से) प्रशंसनीय वस्त्र एवं भूषणों को ले आओ । उसके बाद श्रीकृष्ण ने व्रज में उत्पन्न हुए अपने सेवकवृन्द को दारुक से सम्मिलित कर दिया । तदनन्तर वे सेवकवृन्द उस दारुक सारथि के साथ मनोरथ के समान, उस रथ में धरे हुए

स्नानीयवस्त्राभरणानि चिन्ता,-मणीनपि प्रादिशदेष तेभ्यः ।
स्वयं च दामोदरकेलिरीति,-र्दधार खर्वाणि तदर्पितानाम् ॥६१॥

"अत्र च विशेषः,—

हत्वा तं दन्तवक्रं दनुजकुलरिपुर्गोष्ठमात्मार्थसर्व-
त्यागि प्राति स्म चिन्तामणिभिरथ निधि-श्रीभिरात्मीयतातम् ।
किञ्चामीषामसंख्याभरणगणशतं बिभ्रदप्येष कृष्ण-
स्तैरेतैः स्वस्वदत्तं पदमथ कलयन्नैक्षि नान्यैर्वितीर्णम् ॥६२॥

चक्राद्यं स्यन्दने स्वं परिकरमदधात् क्षत्रियाऽऽवासयोग्यं
वेणुं यष्टिं शिखण्डादिकमपि जननीं याचमानः स्ववेशम् ।
आदायाऽऽधाय चाङ्गे कमपि रुचिभरं व्यञ्जयन् कञ्जनेत्र-
श्चित्रं चित्रं च बाष्पादिभिरघविजयी दारुकं चारु चक्रे ॥६३॥

ये तत्तत्संविधानैः परिचरणकृतः संभ्रमात् पूर्णकार्या-
स्तत्राप्यन्ये समन्ताद् भ्रमणगतिधरा ये भ्रमध्वस्तकृत्याः ।

वस्त्र आदि को लाते हुए, पुनः उन वस्त्रादिकों को वैसे ही रथ में देखते हुए, समाप्ति को नहीं प्राप्त कर पाये। किन्तु श्रीकृष्ण के आगे की यह निकट की भूमि तो उन वस्त्रादि के द्वारा दूरतक परिपूर्ण हो गई ॥६०॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण ने उन व्रजवासियों के लिये स्नान के योग्य तेल, साबुन आदि एवं वस्त्र भूषण तथा चिन्तामणि भी समर्पित कर दीं। और स्वयं दामोदरलीला की रीतिवाले होकर, अर्थात् दामबन्धन के समय जैसे समस्त व्रज की रस्सियाँ उनके बन्धन को पूरा नहीं कर सकीं, उसी रीति को आज भी धारण करके, व्रजवासियों के दिये हुए अरबों खरबों वस्त्राभरणादि धारण कर लिये ॥६१॥

और यहाँपर विशेष बात यह हुई कि दैत्यारि श्रीकृष्ण ने उस दन्तवक्र को मारकर, अपने लिये सर्वस्व का त्याग करनेवाले व्रज को चिन्तामणियों से परिपूर्ण कर दिया, और अपने पिता को पद्म शंख आदि नवनिधियों की सम्पत्तियों से पूर्ण कर दिया। किंच ये श्रीकृष्ण इन व्रजवासियों के असंख्य आभरणों को धारण करते हुए भी, इन व्रजवासियों ने अपने अपने द्वारा दी हुई वस्तु को धारण करते हुए देखे, किन्तु दूसरों के द्वारा दी गई वस्तु को धारण करते नहीं देखे। तात्पर्य— श्रीकृष्ण में भक्तमात्र की भावना की पूर्ति की यही विशेषता है "महैश्वर्यस्य द्योतने वाऽद्योतने च नरलीलत्वाऽनतिक्रमो माधुर्यम्।" ॥६२॥

पश्चात् अघासुरपर विजय पानेवाले कमलनयन श्रीकृष्ण ने क्षत्रियों के निवासस्थान के योग्य अपने सुदर्शनचक्र आदि परिकर को रथ में धर दिया। और अपनी माता से वंशी, लकुट एवं मोरपंख आदि अपने व्रज के वेष को माँगकर, ग्रहण कर पश्चात् अङ्ग में धारण कर, किसी विशेष शोभा को व्यक्त करते हुए, अपने सारथि दारुक को प्रेमाश्रु आदि सात्त्विक भावों के द्वारा आश्चर्यपूर्वक मनोहर चित्र लिखित सा कर दिया ॥६३॥

उस समय जो लोग वस्त्र आदि विविध उपचारों द्वारा सेवा करनेवाले थे, जिनके कार्य शीघ्रता से पूर्ण हो गये थे, और दूसरे जो चारों ओर घूमने की गति को धारण करनेवाले थे, जिनके कार्य भ्रम से नष्ट हो गये थे, तथा जो अतिशय प्रीतियुक्त हृदय के भाव से श्रीकृष्ण के अत्यन्त निकट थे, वे पूर्वोक्त सभीजन

ते सर्वे तुल्यभावं ययुरतिरतिभाक्-चित्तभावेन यद्वा
प्रान्त्या एवाग्रिमत्वं यदभवदजितस्तेषु पूर्णांबुनेत्रः ॥६४॥
किं ज्यायान् किं कनीयान् किमु तुलितवयाः किं वशः किं वशी वा
सोऽयं स्यादित्थमागात् परिचितिपदवीं कोऽपि कस्यापि नात्र ।
द्वार्वत्याः सङ्गतस्य व्रजमरिजयिनः श्रीव्रजेन्द्राऽङ्गजस्य
श्रान्तिं तस्याऽपनेतुं व्रजमहितजना यर्हि जोघूर्णति स्म ॥६५॥
आस्तां सा स्नेहचर्या मुरजिति विदधुर्याममी दारुके यां
स्वस्मिन् सा चास्तु दूरे हयचयमनु यां सापि न क्वापि दृष्टा ।
एतस्य स्यन्दने यां किमपरमनया दारुकाख्यः स तत्राऽ-
वश्यं वश्यत्वमाप्तः समयकतिपयं चित्रमित्रं बभूव ॥६६॥
कृष्णः कंसं निहन्तुं प्रवसनसमये यादृशान् यत्प्रमाणान्
गोष्ठस्थान् दृष्टपूर्वानकृत चिरतयाऽऽगत्य तद्वद् ददर्श ।
तस्यान्तर्ध्यानलग्नं भवति यदनिशं तत् कथं वा वराकः
कालः कल्पेत कल्पस्थितिरपि स बलान्नेतुमन्यामवस्थाम् ॥६७॥

तुल्यभाव को प्राप्त थे। कारण प्रेमाश्रुपरिपूर्ण नेत्रोंवाले श्रीकृष्ण उक्त तीनों प्रकार के लोगों में प्रधानता को प्राप्त हो रहे थे, किन्तु किसी के प्रति न्यूनता या अधिकता को नहीं प्राप्त कर रहे थे ॥६४॥

शत्रुओंपर विजयपानेवाले श्रीव्रजराजकुमार जब द्वारका से व्रज में आगये थे, एवं उनका परिश्रम दूर करने के लिये व्रज के पूजनीय जन जब अत्यन्त उद्योग कर रहे थे, तब इस व्रज में संभ्रम के कारण यह बड़ा हो सकता है क्या? अथवा छोटा हो सकता है क्या? अथवा समान अवस्थावाला हो सकता है क्या? एवं यह वशीभूत हो सकता है क्या? अथवा वश में करनेवाला हो सकता है क्या? इस प्रकार कोई भी किसी के परिचय के स्थान को नहीं प्राप्त हो रहा था ॥६५॥

और स्नेहभरे इन व्रजवासियों ने श्रीकृष्ण के ऊपर जो स्नेह की चर्या प्रगट की थी, अथवा आत्मीय दारुक के ऊपर जो स्नेहचर्या प्रगट की थी उसको तो दूर रहने दीजिये। क्योंकि श्रीकृष्ण के अश्वसमूह के प्रति इन्होंने जो स्नेहचर्या प्रगट की थी वह तो हमने कहीं भी नहीं देखी। और श्रीकृष्ण के रथ के ऊपर जो स्नेहचर्या प्रदर्शित की थी, इस स्नेहचर्या से अधिक और क्या कहें कि जिससे वह दारुक नाम का सारथि भी इस व्रज में व्रजवासियों के स्नेह के अवश्य ही वशीभूत होकर कुछ समयतक मानो चित्र के समान हो गया था ॥६६॥

श्रीकृष्ण ने कंस को मारने के लिये जाते समय व्रजवासियों को जिस प्रकार का और जितने आकार का या अवस्था का देखा था, बहुत दिनों के बाद आकर भी उनको उसी प्रकार का देखा। इस विषय में आप सब विस्मय नहीं करना, क्योंकि जो वस्तु श्रीकृष्ण के अन्तःकरण में निरन्तर ध्यान में संलग्न है, उस वस्तु को दूसरी अवस्था में पहुँचाने को कल्पभर की स्थितिवाला वह बिचारा काल भी कैसे समर्थ हो सकता है? तात्पर्य—मनुष्य की अवस्था आदि का परिवर्तन काल के द्वारा ही होता है, किन्तु भगवान् के पार्षदों के निकट काल का प्रभाव नहीं चलता है, इसलिए उनके आकार में या अवस्था में परिवर्तन नहीं होता है ॥६७॥

सिद्धे स्वे स्नानवस्त्राभरणविधिमुखे साधिते चात्मपित्रा-
दिस्थे श्रीमान्मुकुन्दः सममशनसुखं तर्हि तैः संबभार।
निर्वृत्ते तत्र चायं शकटघनघटामध्यलब्धं शताङ्गं
शार्ङ्गी सङ्गम्य रम्यं सखिवलयशतासङ्गवानङ्गति स्म ॥६८॥
वाद्यैर्गीतैः सनृत्यैर्जय-जयनिनदैः पुष्पकीर्णिप्रकारै-
र्वेदाशीःस्वस्तिघोषैः प्रमदकलकलैः स्यन्दनाऽनःस्वनाद्यैः।
उत्सर्पन् गोपवर्गस्त्रिदशसमुदयश्चावसर्पन् समन्ता-
देकीभूतस्तदासीद् व्रजगृहमविशद् यर्हि कंसादिशत्रुः ॥६९॥
कुर्वन्नारात्रिकं स व्रजजन-निचयस्तस्य रत्नात्मदीपां-
श्चिन्तारत्नप्रसूतान् करमनु विदधन्नावकाशं जगाम।
तर्ह्यागत्य क्रमं यं प्रथममलभत द्रागनेनैव तत्र
श्रेणीभूतः समन्तादुभयविधतया तत्पथिस्थश्चकार ॥७०॥
तावच्छ्रीगोपराज्ञीमनु शतशतशः स्त्रीषु रत्नानि रत्ना-
न्यादायातिप्रमोदादथ पुरपुरतस्तस्य नीराजनानि।
नृत्यैः सङ्गीतवाद्यैः सजय-जय-रवैस्तत्र कुर्वन्ति शश्वद्
देवीनामप्युडूनामपि नभसि गतान्यत्र वृन्दानि जिग्युः ॥७१॥

पश्चात् अपने स्नान, वस्त्र एवं अलङ्कार धारण आदि कार्य के सिद्ध हो जानेपर, तथा अपने माता पिता आदि के स्नानादि कार्य सम्पन्न हो जानेपर, उस समय श्रीमान् कृष्णचन्द्र ने उन पिता माता आदि सभीजनों के साथ भोजन का सुख भली प्रकार धारण किया। और उस भोजनादि सुख के सम्पन्न हो जानेपर, ये श्रीकृष्ण बैलगाड़ियों की घनीघटा के बीच में प्राप्त रमणीय रथ के निकट जाकर उसपर चढ़कर सैकड़ों मित्रमण्डलों के साथ मिलकर चल दिये ॥६८॥

कंस आदि दैत्यों के शत्रु श्रीकृष्ण जिस समय व्रजरूप गृह में प्रविष्ट हुए, उस समय नृत्य के सहित गाना, बजाना, जय जयकार की ध्वनि, पुष्पवृष्टि के प्रकार, वेदोक्त आशीर्वादों के सहित मङ्गलध्वनि, हर्ष का कोलाहल, तथा रथ एवं गाड़ियों के शब्दों के सहित उछलता कूदता हुआ गोपसमुदाय, और चारों ओर चलता हुआ देवसमुदाय मानो एकाकार हो रहा था ॥६९॥

वह व्रजवासियों का समूह श्रीकृष्ण को आरति करता हुआ, चिन्तामणि के बने हुए रत्नमय दीपकों को अपने अपने हाथ में धारण करता हुआ, जब आरति करने के अवकाश को नहीं प्राप्त कर पाया, तब वहाँपर आकर पहले जिस क्रम को प्राप्त हुआ था, शीघ्र उसी क्रम से वहाँपर चारों ओर से श्रेणी (पंक्ति)-बद्ध होकर, तथा मार्ग में खड़ा होकर दोनों प्रकार से आरति करने लग गया; अर्थात् कुछ लोग तो मार्ग में पंक्ति बाँधकर दोनों ओर से आरति करने लगे, एवं कुछ व्यक्ति पहले आरति करनेवालों के पीछे आरति कर रहे थे। तात्पर्य—जिसको जैसी सुविधा मिली वह उसी प्रकार आरति कर लेता था ॥७०॥

तबतक श्रीगोपेश्वरी यशोदा के साथ असंख्य स्त्रीरूप रत्नों ने अपनी अपनी थालियों में रत्नों को लेकर, पश्चात् महान् हर्ष के साथ प्रत्येक नगर से नृत्य, सङ्गीत, वाद्य एवं जय जयकार की ध्वनियों के

हरिमथ जननी पिता च लब्ध,-स्वजनसहस्रवृतिः स्ववृत्तिमूलम् ।
धनमिव विगतं समेत्य दुर्गात्, परसदनादुदितं गृहं निनाय ॥७२॥

"ततश्च नववासतया सप्रसवकुठवाटिकाभव्यनिष्कवाट-सगव्यघटशकटवाट-मङ्गल-सङ्गतगृहव्रजावासं व्रजावासमभीक्ष्य तत्र च भद्रकुंभादिभिर्भद्रवेशं बहिरुपवेशं निरीक्ष्य तस्मिन्विस्तीर्णे मृदुलतूलिकादिभिरास्तीर्णे मुरशमनः समं ज्ञातिभिर्वलितगोपवेशमुपविवेश । क्षणकतिपयमपि तेषां स्वरसमयं समयमयन्नयमयमयामास ॥७३॥

"आत्मंभरितां नेत्रे, कुक्षिंभरितां पुरा श्रवसो ।
उदरंभरितां नासे, मधुरिपु-मधुरिम्णि जङ्गतः पशुपाम् ॥७४॥

"तदेवं प्रमदं चित्वा क्रममनु सर्वमनुज्ञां सुज्ञानतया याचित्वा स्नेहकातरमनसं मातरं संभालयितुमखिलसखिभिः सममन्तःपुरं विवेश । ततश्च तत्रापि सत्रा तया स्वागमनेन त्रातया पितृव्यपत्नीप्रभृतीः स्निग्धप्रकृतीः सयत्नीभूय भूयः सान्त्वयन्नत्वरयाऽनुज्ञां वरयामास । तदनु च किंचित् किञ्चिदन्यदपि दुष्पारवाष्पधाराजनन्या जनन्या सञ्चितं सखिभिः सममदन्नञ्चितं चकार । तदनु च जननीनीतमभिनीतं रमणीयतया प्रणीतं शयनीयं सखिभिः सममखिलसुखधामनामा रामानुजः समाजगाम । माता तु सुष्वापयिषां याता तदीयसङ्कोचमरोचयन्ती श्वस्तनतल्लालन-मालोचयन्ती तदुपचाराय चचाल ॥७५॥

सहित वहाँपर निरन्तर श्रीकृष्ण की आरति करते करते, आकाश में विद्यमान देवाङ्गना एवं ताराओं के समूह को भी पराजित कर दिया ॥७१॥

उसके बाद माता पिता दोनों ही उपस्थित हजारों आत्मीयजनों से घिरकर, अपनी जीविका के मूलधन की तरह, दूर चले गये एवं दुर्गम दूसरे के घररूप वसुदेवजी के घर से आकर, पुनः प्रगट हुए श्रीकृष्ण को घर में लिवा ले गये ॥७२॥

तदनन्तर नवीन निवास होने के कारण सप्रसव (पत्र, पुष्प, फल आदि से युक्त) जो कुठवाटिका (वृक्षवाटिका) उससे भव्य एवं किवाड़ों से रहित, दधि, दुग्ध, घृतादि के कलशों से युक्त गाड़ियों के मार्ग तथा मङ्गलपूर्ण गृहसमूह के आवासस्वरूप व्रज के निवासस्थान को देखकर, और वहाँपर मङ्गलघट आदि से सुसज्जित सभास्थान को देखकर, कोमल गद्दा तकिया बिछौना आदि से ढके हुए उस विशाल सभास्थान में, श्रीकृष्ण अपनी जातिवाले गोपों के साथ गोपवेष धारणपूर्वक बैठ गये । और कुछ क्षणोंतक अपनी जातिवाले उन गोपों के अपने रसमय समय को प्राप्त करके इन श्रीकृष्ण ने अय को, अर्थात् शुभदायक विधि को प्राप्त कर लिया ॥७३॥

उस समय गोपों के नेत्रों ने पहले श्रीकृष्ण के रूपमाधुर्य में अपनी स्वार्थपरता को बारंबार प्राप्त कर लिया, एवं उनके कानों ने श्रीकृष्ण के वचनरूप माधुर्य में बारंबार अपनी स्वार्थपरता प्राप्त कर ली, तथा उनकी नासिकाओं ने श्रीकृष्ण के दिव्यगन्धरूप माधुर्य में अत्यन्त परिपूर्णता प्राप्त कर ली ॥७४॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण सभी के हर्ष को बढ़ा कर क्रमशः सुबोधपूर्वक सब की अनुमति माँगकर, अपने स्नेह से कातर माता को सँभालने के लिए, सभी सखाओं के साथ अन्तःपुर में प्रविष्ट हो गये । उसके बाद वहाँपर भी अपने आने से ही सुरक्षित हुई माता यशोदा के साथ स्नेहमयी प्रकृतिवाली चाची आदिकों को प्रयत्नपूर्वक बारबार सान्त्वना देकर, धीरे से अनुमति भी माँग ली । उसके बाद अपार अश्रुधारा को

"अथ निजपरिचारकप्रवेका,-श्चिरविरहाऽचिरयोग-कंप्रदेहाः ।
परिचरणमकार्षुरस्य यद् यत्,-तदखिलमभ्यसनात् परं सिषेध ॥७६॥

"अथ कृतशयनावलंबने घनश्यामघने सखीनां सखिता सेयमखिलान् सुखयति स्म ॥७७॥

यथा–क्षौणीभारं विधूय स्वरधिपतिमपि स्थापयित्वाधिपत्ये
स्वं गोष्ठं हृष्टमत्या व्रजितवति हरौ तेन सार्धं सखायः ।
अङ्गान्यालिंग्य तस्य श्रितशयनतया वृत्तमापृच्छ्य साम्ना
वक्त्रेणाऽऽस्पृश्य वक्त्रं हृदयमपि हृदा सक्थि सक्थ्ना निदद्रुः ॥"७८॥

अथ कथकः समापनमाह स्म,—

"आवाभ्यां प्रथमं यदुक्तमसकृन्नास्ते वियोगस्तव
श्रीगोपेन्द्र ! सुतेन बाढमिति तन्नाहृत्य शुश्रोथ यत् ।
जाड्यं तत्परमावयोर्मुहुरदः प्रस्तावमातन्वतो-
र्यच्छुद्धं मिलनं स्फुटं कथयतोः संप्रत्यसौ नन्दसि ॥"७९॥

तदेवमानन्देन सन्नकण्ठे मधुकण्ठे सर्व एव सश्लाघमूचुः,—

उत्पन्न करनेवाली माता के द्वारा एकत्रित की हुई कुछ कुछ और भी खाद्यसामग्री को सखाओं के साथ खाते खाते उसकी प्रशंसा करने लग गये। पश्चात् समस्त सुखों के स्थानस्वरूप नामवाले श्रीकृष्ण अपनी माता के द्वारा प्रापित एवं योग्य तथा सुन्दरता से बनाये हुए शयनागार में सखाओं के साथ चले आये। श्रीकृष्ण को सुलाने की अभिलाषा को प्राप्त हुई माता तो श्रीकृष्ण के संकोच को रुचिकर न करती हुई, अर्थात् संकोच को न बढ़ाती हुई, तथा आगामी दिन के लालन पालन की सामग्रीपर विचार करती हुई, उसकी रचना के लिए वहाँ से चल दी ॥७५॥

उसके बाद चिरकालीन विरह के अनन्तर सहसा मिलन होने से जिनका देह काँप रहा था, इस प्रकार के अपने सेवकश्रेष्ठों ने श्रीकृष्ण की जो जो सेवा की वह समस्त सेवा केवल अभ्यास के कारण सम्पन्न हुई ॥७६॥

तदनन्तर घनश्यामरूप घन के शयनलीला के अवलम्बन कर लेनेपर मित्रों की इस मित्रता ने सभी को सुखी कर दिया ॥७७॥

यथा—भूमि के भार को उतार कर, स्वर्गाधिप इन्द्र को अपने अधिकारपर स्थापित करके, श्रीकृष्ण प्रसन्न बुद्धि से जब अपने व्रज में चले आये, तब सभी मित्र श्रीकृष्ण के अङ्गों का आलिङ्गन करके उन्हीं के साथ एक ही पलंगपर सो कर, विदेश में रहने के वृत्तान्त को शान्तिपूर्वक पूछ कर, श्रीकृष्ण के मुख से अपने मुख को, एवं हृदय से हृदय को, जंघाओं से जंघाओं को मिलाकर सो गये ॥७८॥

अनन्तर कथावाचक प्रसङ्ग की समाप्ति का द्योतक वचन बोला—हे गोपराज ! देखो, हम दोनों कथावाचकों ने पहले बारंबार आपसे यह जो कहा था कि, तुम्हारे पुत्र से तुम्हारा वियोग यथार्थ नहीं है। किन्तु आपने उस बात को आदर करके नहीं सुना। अतः इसी प्रस्ताव का बारंबार विस्तार करनेवाले हम दोनों की महान् जड़ता है। क्योंकि अब स्पष्ट ही श्रीकृष्ण के शुद्ध मिलन को हम दोनों कह रहे हैं, तब तुम प्रसन्न हो रहे हो ॥७९॥

"सुखं वा दुःखं वा तदुभयविनाभूतमथवा, तदेतद्युग्मं वा युगपदिति वेद्यं न हि यया।
तयाप्यस्मद्दूरस्थितचरहरेरस्य कथया, स्फुरद्दूतानूक्त्या विजितसुधयास्मानसिचतम्"॥८०॥

इति तेषु च शिष्टेषु सुखाविष्टेषु व्रजवन्दिनः प्रस्तुतवस्तुतः सर्वनन्दितां विन्दमाना ववन्दिरे,—॥८१॥

"खलशाल्वकहृद्दलनाच्छुभकृत् प्रवर्षिमुखादवकर्ण्य सुखा-
दथ हृज्जवजिद्रथभागभिजिद्-गमनः सहसा रमयन्महसा
मधुरानिकटं मधुजित्प्रकटं रदवक्रकहृग्गदयाम्बुजदृग्
निहतं कृतवानिह तं भृतवा-नखिलं जगतः सखितां प्रगतः
सविदूरथहृत् प्रविदूरसुहृत्तमगोकुलजान्नमयन् कुलजान्
रविजापरतः प्रविशन्निरतः परमध्वनिभृद्दरतः सुखधृद्-
व्रजभूवपुषां स्वजयप्रजुषां परितः स्वमिमान् परियन् रतिमान्
जननीसुखपृग् जनकाननदृग् जनमुद्वलयं जनयन्नलयं
व्रजभूवसतिव्रजमावसति स्वजनेरयनं स्वजने नयनं
जय नन्दज ! हे जयद ! स्वमहे ॥८२॥

इस प्रकार कहते कहते आनन्द के कारण मधुकण्ठ का कण्ठ जब कुण्ठित हो गया, अर्थात् गला रुक गया तब सभी सभासद् प्रशंसा करते हुए बोले—जिस कथा के द्वारा "यह सुख है या दुःख" अथवा उन सुख दुःख दोनों से रहित है, अथवा यह सुख दुःख का जोड़ा एकसाथ ही है, इस बात को हम नहीं जान सकते। तो भी पहले हमसे दूरदेश में रहनेवाले इन श्रीकृष्ण को उसी कथा के द्वारा तुम दोनों ने हम सब को अभिषिक्त किया है। क्योंकि वह कथा दूतों की स्फूर्ति पाती हुई उक्तियों से युक्त थी, एवं अमृत को भी जीतनेवाली थी ॥८०॥

इस प्रकार उन व्रजवासी सभ्यजनों के सुख में निमग्न हो जानेपर, व्रज के वन्दीजन प्रस्तुत वस्तु से, अर्थात् दैत्यों के संहार के बाद श्रीकृष्ण के व्रज में आगमनरूप प्रकृत वस्तु के द्वारा सब के हर्ष को प्राप्त कराते हुए, श्रीकृष्ण की वन्दना करने लग गये ॥८१॥

यथा—हे व्रजराजकुमार ! एवं हे अपने ऐश्वर्य में या महोत्सव में विजय देनेवाले प्रभो आपकी जय हो। क्योंकि आप दुष्ट शाल्व के हृदय को भेद कर यदुवंशियों का शुभ करनेवाले हो, मुनिवर नारद के सुखदायक मुख से दन्तवक्र के वृत्तान्त को सुन कर मन के वेग को जीतनेवाले अपने रथ में बैठकर चारों ओर विजय से युक्त गमन करनेवाले हो। आप अपने तेज से सहसा मथुरा के निकट विहार करते हुए स्पष्ट ही मधुदैत्य को जीतनेवाले हो। पश्चात् दन्तवक्र को देखनेवाले हो, तथा कमलनयन होकर भी उस दन्तवक्र को गदा के द्वारा मारनेवाले हो। अतः इस स्थानपर आपने सभी जनों का पोषण कर दिया। इस कार्य से आप जगत्भर की मित्रता को प्राप्त हो गये हो। आपने विदूरथ का भी संहार कर दिया। पश्चात् बहुत दूर रहनेवाले अन्यन्त हितैषी व्रजवासियों को, जो कि अपने कुल में उत्पन्न थे, उनको सन्तुष्ट करके यमुना के पार प्रविष्ट होकर, आप वहाँपर आसक्त हो गये थे। और आप परमध्वनि को धारण करनेवाले शंख से व्रजभूमि में जन्मनेवाले एवं अपनी विजय का सेवन करनेवाले व्रजजनों के सुख को धारण करनेवाले हो। अतः आपके चारों ओर विद्यमान इन व्रजजनों के निकट जाते हुए आप प्रीतिमान

अथ रजन्यामपि जनितप्रभायां श्रीराधिकासभायां जात-श्रीकृष्ण-प्रभायां मधुकण्ठ उवाच,—

"तदा शाल्वस्योपद्रवमनु समस्तव्रजजनः, समन्ताद् वह्न्याद्यं शरणमवगच्छन् स्थितिमधात् ।
विना कृष्णप्राणाः पशुपरमणी-मस्तक-मणी,-रमूषामस्त्यन्तर्यदि विरहवह्निः किमपरैः ?
यदा तादृग् जाता परमकुदशा तर्हि निखिलाः, समं स्वप्नेऽपश्यन् व्रजमनु हरेरागतिशुभम् ।
मिथस्तच्चावोचन्निति कलितविश्वासमथ तत्,-पथं पश्यन्त्यस्ता विगलितनिमेषाः समभवन् ॥
यदा शङ्खध्वानं श्रवसि कृतवान् स व्रजजनः, प्लुतप्रायं गच्छन्नघहरमुपेयाय रभसात् ।
अपि स्तब्धास्तर्हि प्रथममयुरेतस्य दयिता, मनस्त्वं या याता न वपुरभिमानं लवमपि ॥८५॥
यदा तन्वस्तासां न हि तमनुगन्तुं समशकन्, सुहृद्वृन्दं तर्हि द्रुततरमनोभिर्नयदमूः ।
तदालोकास्तोकस्फुरदमृतधाराभिरभितः, पुनः शक्तीकुर्वत् परपदमगात् प्रत्युपकृतेः ॥८६॥

हुए हो। जननी के सुख का सम्पादन करनेवाले हो, पश्चात् पिताजी के मुख को देखनेवाले हो। और व्रज के जनमात्र के हर्षमण्डल को लयरहित उत्पन्न करके अपनी जन्मभूमि के मार्ग को स्वजनों के प्रति नेत्ररूप से प्रगट करते हुए आप अब व्रजभूमि के गृहसमूह में निवास कर रहे हो, अतः आपकी सदा जय जयकार हो प्रभो ! ॥८२॥

उसके बाद रात्रि में भी प्रभा से युक्त एवं श्रीकृष्ण की कान्ति से युक्त श्रीराधिका की सभा में मधुकण्ठ बोला—जब शाल्व का उपद्रव जागृत हुआ तब व्रज का समस्त जनमात्र चारों ओर से अग्नि एवं जल आदि को ही अपना रक्षक समझ कर स्थिति को धारण कर पाया था, अर्थात् अग्नि आदि में प्रवेश करके अपनी रक्षा को समझ कर स्थिरता को धारण कर रहा था। किन्तु श्रीकृष्ण ही जिनके प्राण हैं, एवं गोपाङ्गनाओं की जो शिरोमणि हैं, ऐसी उन राधिका आदि गोपियों को छोड़ कर। क्योंकि उनके हृदय में यदि विरहरूप अग्नि ही जब विद्यमान है, तब मृत्युकारक अन्य अग्नि आदि द्रव्यों से क्या प्रयोजन है ? ॥८३॥

जब सभी व्रजाङ्गनाओं की उस प्रकार की परमकुदशा, अर्थात् महाविरह की अवस्था संघटित हो गई, तब उन सभी व्रजाङ्गनाओं ने स्वप्न में व्रज में श्रीकृष्ण के शुभागमन को एकसाथ देख लिया। केवल देखा ही नहीं, किन्तु स्वप्न का वृत्तान्त आपस में कह भी दिया। इसी कारण वे व्रजाङ्गनाएँ विश्वास-पूर्वक श्रीकृष्ण के मार्ग को देखती हुई निमेषरहित हो गईं ॥८४॥

व्रज के उस जनमात्र ने श्रीकृष्ण के शंख की ध्वनि जब कर्णगोचर की, तब प्रायः कूद फाँदकर चलता हुआ व्रज का जनमात्र वेगपूर्वक श्रीकृष्ण के निकट आगया था। किन्तु श्रीकृष्ण की प्रिय गोपियाँ स्तब्ध होकर भी अपने अपने मनमन्दिर में स्थित श्रीकृष्ण को पहले ही पा गईं। क्योंकि जो गोपियाँ मानसिक भाव को ही प्राप्त हो गई थीं, किन्तु लवमात्र भी देहाभिमान को नहीं प्राप्त हुई थीं ॥८५॥

कृष्णप्रेयसी उन गोपियों के शरीर जब श्रीकृष्ण के निकट जाने में समर्थ नहीं हुए, तब उनका सुहृद्वर्ग उनको गाड़ियों के द्वारा शीघ्र ही श्रीकृष्ण के निकट ले जाता हुआ, पुनः श्रीकृष्ण के दर्शनरूप महान् स्फूर्ति पाती हुई अमृतधाराओं के द्वारा उनको सर्वतोभाव से समर्थ बनाता हुआ, प्रत्युपकार की पराकाष्ठा को प्राप्त हो गया ॥८६॥

तदा कृष्णे सर्वान् स्पृशति तदनुस्पर्शमविदु,-र्मुदा मूर्च्छाभाजोऽप्यनुलवममूस्तं न तु परे ।
समूर्च्छाऽमूर्च्छानां न खलु घटते तत्तदिति चेत्, प्रभावस्तत्स्पृष्टेर्भवति विपरीतत्वकृदपि ॥८७॥

अमूषां तेषां वा भवतु कविताहं कियदपि, स्फुटं यस्माद्भावः कलयति चिरं निश्रितिदशाम् ।
न तु श्रीराधाया भवति खलु यस्यां प्रतिपदं, मनःक्षिप्तिर्मूर्च्छा चलनमचलत्वं परमपि ॥८८॥

यदा चक्रे वेषादिकमघरिपुस्तर्हि तदनु,-ज्ञया सर्वे चक्रुस्तदनुकृतिमेता बत विना ।
अमूर्यत्प्रेम्णा तं स्वमिव कलयित्वा समनस,-स्तदा तेनैव स्वं परिकृतमितीमां मतिमयुः ॥८९॥

प्रवेष्टुं गोष्ठं यर्ह्यभिरुचितमासीन्मुररिपो,-स्तदा यानं तासां गतिरभवदस्यापि च परम् ।
न चेदन्योऽन्यं दृग्विसृतिगुणवल्लीवलयिताः, कथं विश्लेषार्ताः पदमपि नयेरन् पदममी ?९०॥

यदा गोधुग्वृन्दे मदकलकलान्दोलवलिते, प्रसूमुख्यस्त्रीभिः स खलु निरराजि प्रतिगतः ।
तदा कंपं स्तंभं नयन-सलिलं वर्णविकृतिं, स्वरच्छेदं स्वेदं पुलकमपि मूर्च्छां ययुरमूः ॥९१॥

श्रीकृष्ण जब सब जनों का स्पर्श कर रहे थे तब प्रतिक्षण मूर्च्छित होनेवालीं वे गोपियाँ श्रीकृष्ण के प्रतिस्पर्श (पश्चात् स्पर्श) को हर्षपूर्वक जान गईं, किन्तु जो मूर्च्छित नहीं थे वे श्रीकृष्ण के प्रतिस्पर्श को नहीं जान पाये। क्योंकि मूर्च्छित एवं मूर्च्छारहित व्यक्तियों के सम्बन्ध में यदि वह स्पर्श एवं उस स्पर्श का अभाव निश्चय ही संघटित न हो, तब तो श्रीकृष्ण के स्पर्श का प्रभाव विपरीतता करनेवाला भी होता है, अर्थात् श्रीकृष्ण के स्पर्श की विशिष्टता से वह वह भाव संघटित होता है ॥८७॥

कृष्णप्रिया उन गोपियों का अथवा उन साधारणजनों का स्पष्टरूप से कुछ विषय यदि वर्णन करने योग्य हो तो भले ही वर्णनीय हो जाय। क्योंकि भाव चिरकाल से निश्रित दशा को दिखा देता है या बता देता है। किन्तु भाव के द्वारा भी श्रीराधिका की अवस्था वर्णित नहीं हो सकती। कारण जिन श्रीराधिका में निश्चय ही प्रतिक्षण मन का विक्षेप, मूर्च्छा, सहसा चलना, स्थिर हो जाना, एवं उत्कृष्ट कम्प आदि भी होते रहते हैं ॥८८॥

श्रीकृष्ण ने जब अपने वेष भूषा आदि की रचना कर ली, तब उनकी अनुमति से सभीजनों ने उनका अनुकरण कर लिया, अर्थात् अपने वेष भूषा की रचना कर ली। किन्तु हाय ! इन गोपियों के बिना, अर्थात् गोपियों ने वेष भूषा आदि की रचना नहीं की। क्योंकि श्रीकृष्ण के समान मनवाली वे गोपियाँ तो प्रेम के कारण श्रीकृष्ण को अपनी तरह देख कर, उस समय श्रीकृष्ण ने ही अपने को, अर्थात् गोपियों को अलंकृत कर दिया था, इस प्रकार की बुद्धि को प्राप्त हो गई थीं। तात्पर्य—श्रीकृष्ण के अलंकृत होने से अपने को भी अलंकृत समझ लिया था ॥८९॥

व्रज में प्रवेश करने के लिये श्रीकृष्ण की जब अभिलाषा हुई, तब उन गोपियों के लिये एवं श्रीकृष्ण के लिये रथ आदिक वाहन ही चलने का परम उपायस्वरूप हुआ था। यदि ऐसा न होता तो परस्पर के नेत्रों से बाहर निकली हुई गुणरूप लता के द्वारा बँधी हुईं, एवं विरह से पीडित हुईं ये गोपियाँ एवं श्रीकृष्ण एक पैर भी कैसे पैर धर सकते थे ? ॥९०॥

और गोपालवृन्द जब हर्षभरे कोलाहल से युक्त हो गये थे, एवं माता यशोदा आदि स्त्रियों ने सम्मुखवर्ती श्रीकृष्ण की जब आरति की, तब प्रेम की प्रतिमा ये गोपियाँ कम्प, स्तम्भ, अश्रु, वर्णविकार, स्वरभंग, स्वेद, पुलक एवं मूर्च्छा इन अष्ट सात्त्विक भावों को प्राप्त हो गई थीं ॥९१॥

सुहृद्भिः सार्धं यर्ह्युपशयनमागान्मुरहर,-स्तदा ताभिर्मेने तदिदमधिचित्तं सममपि ।
वयं भस्मीभूतास्तदमिलनतः स्याम किमतः, सुखं श्यामः सोऽयं व्रजमपि पुनः प्राप्य लसति ।।

यर्ह्यायासीद् व्रजपदमसावुद्धृतक्ष्मातिभारः, सर्वैस्तर्हि स्वनयनपदं राधयाऽप्याशु नीतः ।
विच्छिद्यापि प्रतिहतनिमेषाक्षि सास्रं सकंपं, पश्यन्तीयं पुनरमुमविश्रान्ति रात्रीमनैषीत् ।।"६३।।

अथ मधुकण्ठः समापनमाह स्म,—

"तदा हरेरसङ्गं च त्वं सङ्गमममन्यथाः ।
सांप्रतं विपरीतं तं मौनं नस्तत्र सांप्रतम् ।।"६४।।

एवं सा कथकाद् वृत्तश्रुति-स्मृतिविकासिनी ।
भजमानाऽऽत्मरमणं रहोधामाऽन्वसेवत ।।६५।।

इति श्रीश्रीमदुत्तरगोपालचम्पूमनु पुनर्व्रजदेशकेशवप्रवेशशंसनं नाम
त्रिंशं पूरणम् ।।३०।।

श्रीकृष्ण अपने मित्रों के सहित जब शयनागार के निकट आगये या मित्रों के साथ सो गये, तब उन गोपियों ने अपने चित्त में एकसाथ यही मान लिया कि श्रीकृष्ण के न मिलने से हम सब गोपियाँ भले ही विरहाग्नि में भस्म हो जायँ, इससे कोई हानि नहीं। क्योंकि यह हमारे प्यारे श्याम पुनः व्रज को प्राप्त होकर भी तो देदीप्यमान हैं, प्रसन्न हैं। तात्पर्य—गोपियाँ श्रीकृष्ण के सुख में ही सुखी हैं, उन्हें अपने सुख की परवाह नहीं है ।।६२।।

भूतल के भारी भार को उतार कर श्रीकृष्ण जब व्रजस्थान में आगये, तब उनको सभी व्रजवासियों ने तथा श्रीमतीराधिका ने भी अपने नेत्रगोचर कर लिया। श्रीराधिका को पृथक् करके भी वर्णन करने का तात्पर्य यह है कि, इन श्रीराधिका ने तो अपने महल में आये हुए श्रीकृष्ण को निमेषरहित नेत्रों से आँसू बहाते हुए कम्पपूर्वक पुनः पुनः देखत देखते विश्रामरहित रात्रि बिता दी थी ।।६३।।

पश्चात् मधुकण्ठ प्रसङ्ग की समाप्ति का द्योतक वचन बोला—हे श्रीमति राधिके ! देखो, श्रीकृष्ण जब मथुरा या द्वारका चले गये थे, तब तो तुम श्रीकृष्ण के वियोग को भी सयोग मानती रहीं, और अब उस बात को विपरीत मान रही हो, अर्थात् अब संयोग में भी वियोग मान रही हो। अतः उस विषय में हमारा तो चुप रहना ही युक्त है ।।६४।।

इस प्रकार कथावाचक के द्वारा पहले वृत्तान्त के श्रवण से स्मृति के विकाशवाली श्रीराधिका अपने प्रियतम का सेवन करती हुईं, उन्हीं के साथ एकान्त स्थान का सेवन करने लग गईं, अर्थात् अपने ऐकान्तिक मोहनमन्दिर में अपने श्याम के साथ चली गईं ।।६५।।

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रिविरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीमदुत्तरगोपालचम्पूकाव्ये पुनर्व्रजदेशकेशवप्रवेशकथनं नाम
त्रिंशं पूरणं सम्पूर्णम् ।।३०।।

अथैकत्रिंशं पूरणम्

श्रीराधादि-बाधासमाधानम्

अथ प्रातः श्रीव्रजराज-सभायां श्रीव्रजयुवराजविराजमानायां स्निग्धकण्ठ उवाच,—॥१॥

"तदेवं व्रजमङ्गलस्य व्रजान्तःपुरमनु सायं मङ्गलसङ्गमे सर्वेषां हृदयङ्गमे जाते, प्रातः श्रीव्रजवासिव्रातः श्रीमद्व्रजत्रातरि सङ्गम्य पुनः स्वजीवनं रम्यं विधातुं बहिस्तस्य सङ्गम-समयं पश्यन्नेव तस्थौ। यथा बहिस्तथान्तःपुरमनु पुरन्ध्रीसमुदयश्च व्रजपालयित्रीमनुगम्य पर्यगवतस्थे। तदेवं स्थिते, श्रीव्रजराजतनयश्च कलितप्रातरुचितनयः सहजविनयः सखिभिरखिलैः सह मातुः सदनमाससाद ॥२॥

"आसन्नस्तु हरिः पुनश्च नववन्मात्रादिभिः पात्रतां
नेत्राणां वलितः स शात्रवजयी शैघ्र्यातिमात्राऽऽकुलः।
तत्तत्प्राथमकल्पिकक्रमवशात् कुर्वन्नमः सर्वतः
पूर्णाशीर्वचनः सवाष्पमचिरादध्यास्त मध्यासनम् ॥३॥

इकतीसवाँ पूरण

श्रीराधिका आदि गोपियों की बाधा का समाधान

इस इकतीसवें पूरण में श्रीपौर्णमासी आदि की अनेक प्रकार की युक्तियों के द्वारा श्रीराधा आदि गोपियों की बाधा का समाधान वर्णित होगा।

अनन्तर प्रातःकाल व्रजयुवराज श्रीकृष्णचन्द्र से विराजमान श्रीव्रजराज की सभा में स्निग्धकण्ठ बोला—॥१॥

इस प्रकार व्रज के मङ्गलस्वरूप श्रीकृष्ण का व्रज के अन्तःपुर में सायंकाल में सभी के हृदयङ्गम मङ्गलमय सङ्गम (मिलन) हो जानेपर, प्रातःकाल श्रीव्रजवासियों का समुदाय श्रीमान् व्रजराज के निकट जाकर, पुनः अपने जीवन को मनोहर बनाने के लिये, बाहर श्रीकृष्ण के मिलनमय समय की प्रतीक्षा करता हुआ खड़ा हो गया। जिस प्रकार बाहर, उसी प्रकार अन्तःपुर में महिलाओं का समुदाय भी श्रीव्रजेश्वरी यशोदा का अनुगमन करके उनके चारों ओर बैठ गया। अतएव ऐसी स्थिति में व्रजराजकुमार श्रीकृष्ण भी प्रातःकालीन उचित नीति को अंगीकार करके, स्वाभाविक विनय से युक्त होकर, सभी सखाओं के सहित अपनी माता के भवन में पहुँच गये ॥२॥

एवं माताजी के निकट पहुँचे हुए तथा माता आदि महिलाओं द्वारा नवीन की भाँति अपने अपने नेत्रगोचर किये हुए, शत्रुसमूहपर विजयपानेवाले वे श्रीकृष्ण, प्रणाम करने की शीघ्रता की अधिकता से व्याकुल होकर, प्रथम जिस माता को नमस्कार करना चाहिये, तथा पीछे जिस माता को नमस्कार करना चाहिये, उसी प्रकार नियम के वशीभूत होकर, नमस्कार करते हुए, सभी माताओं की ओर से पूर्ण आशीर्वाद प्राप्तकर सजलनयन होकर, शीघ्र ही आसन के बीच में बैठ गये ॥३॥

क्षणं मातुः स्तन्यं सदमृतमथाक्षिद्वयभवं, भजन् सर्वाङ्गेषु स्नपनमिव कृष्णः पुलकवान् ।
उरःकंपं बिभ्रच्चरणयुगमस्या निजदृशोः, सुधातुल्यैर्नीरैः शिशुरिव सिषेच प्रतिमुहुः ॥४॥

आयातस्य यदुस्थलादतिचिराद् दैत्यान् विजित्याऽजित-
स्याऽन्येद्युर्निजबाहुयुग्मवलितस्याङ्गानि सर्वाण्यपि ।
पश्यन्ती परिचित्य पूर्वतुलया क्रन्दन्त्यनुक्रोशभाक्
उद्गीतप्रभमात्मनीनजनतां सारूरुदत् तत्प्रसूः ॥५॥

"अथ कातरतां गतयोर्मातृसुतयोः सर्वाभिरखर्वाश्रुधाराभिरनर्वाचीनाभिः सकातर्यं मातर्यलमुपालंभपर्यवसायिनीभिः कृतानुतापनिवारणयोर्विश्वसुखकारणयोः क्षणकतिपयं व्यतिवीक्षणसुखमुदभूत् । ततश्च पोगण्ड इवाऽऽसनाय मात्राऽऽकृष्य क्लृप्तनिजाऽर्धास्तरणस्तथा माणवक इव स्वहृदि विधाय तया विहिताऽऽभरणः कृतमङ्गलाचरणः क्षणानां गणमीक्षणानां पर्वणा सर्वमखर्वं चकार ॥६॥

"अथ कथमपि प्रणीततदनुज्ञानुसरणसखिकुलाऽऽवरणः सकलसुखनिधानं पितुः सन्निधानमपि संबभाज ॥७॥

उसके बाद अपनी माँ के स्तनों के दुग्ध को क्षणभर सेवन करते हुए, एवं माता के दोनों नेत्रों से उत्पन्न हुए जल को सभी अङ्गों में स्नान की तरह सेवन करते हुए, श्रीकृष्ण ने रोमांचित होकर, वक्षःस्थल में कम्प को धारण कर, अमृत के समान अपने नेत्रों के जल के द्वारा अपनी माता के दोनों चरणों को बालक की तरह बारंबार अभिषिक्त कर दिया ॥४॥

दूसरे दिन की बात है कि दैत्यों को जीतकर, बहुत दिनों के बाद द्वारका से आये हुए, एवं अपनी दोनों भुजाओं के बीच में, अर्थात् गोदी में बैठे हुए श्रीकृष्ण के सभी अङ्गों को देखती हुई, एवं पहले की तरह पहचान कर उच्चस्वर के गाने की तरह रोती हुई माता यशोदा ने दया से युक्त होकर, अपनी हितैषी जनता को भी रुला दिया ॥५॥

उसके बाद कायरता को प्राप्त हुए, एवं महती अश्रुधारा को बहानेवालीं तथा माता यशोदा के प्रति कातरतापूर्वक "तुम बीते हुए विरह के द्वारा श्रीकृष्ण को क्यों दुःखी कर रही हो?" इस प्रकार के उपालम्भ को समाप्त करनेवालीं, सभी वृद्ध गोपियों के द्वारा जिनका पश्चात्ताप निवारण कर दिया गया, एवं जो सभीजनों के सुख के कारणस्वरूप हैं, मातापुत्ररूप उन्हीं श्रीयशोदा एवं श्रीकृष्ण के परस्पर दर्शन का सुख कुछ क्षणों के लिये प्रगट होगया । उसके बाद पौगण्ड अवस्थावाले की तरह अथवा विकल अंगवाले की तरह, बैठने के लिये खींचकर, माता के द्वारा जिनको अपना आधा आसन दे दिया गया, तथा बालक की भाँति या माणवक नामक हारविशेष की भाँति, अपने वक्षःस्थलपर धारण करके माता के द्वारा ही जिनके आभरण धारण किये गये, एवं जिनका मङ्गलाचरण रचा गया, उन्हीं श्रीकृष्ण ने दर्शकों के नेत्रोत्सव के द्वारा सभी अवसरों के समुदाय को विशाल कर दिया ॥६॥

अनन्तर किसी प्रकार भी माता की आज्ञा को पाकर, मित्रमण्डल से परिवेष्टित होकर, श्रीकृष्ण ने सकल सुखों को निधान, पिताजी की सन्निधि को भी प्राप्त कर लिया ॥७॥

"तस्यां संसदि सङ्गमृच्छति विधौ कल्लोलकोलाहलः
श्रीमान् वार्धिरिव स्फुरन् जनगणः प्रोत्सर्पदङ्गः स्थितः ।
क्षुद्व्यालोलचकोरका इव तमावृत्य व्रजेशादय-
श्चक्षुस्त्रोटिभिरंशुपानकृतिनोऽप्युच्चैर्न तृप्तिं ययुः ॥८॥

"ततश्च, कैशोरं मुरलीशिखण्डकलनं ज्ञातेयमप्यात्मनः
प्राक् साम्यादनुभावयन् पुरगतिक्लेशं स विस्मारयन् ।
स्वस्वप्रेमविधाविधानपटुतां तानानयत् तर्हि यत्
पश्यंस्तस्य पुनः पुराय गमनं न श्रद्दधे दारुकः ॥९॥

सर्वे तातपितृव्यतत्समजना विप्राऽऽचिता मस्तकं
क्लिन्नं नेत्रजलैरलं विदधिरे कृष्णस्य साऽऽशीःस्थिति ।
स्वेदैस्तद्धुरः सुहृद्वितयः पाल्यास्तथांघ्रिद्वयं
वाष्पैः सुष्ठु यथाभिषेकजमहस्तस्मिन् जना मेनिरे ॥१०॥

तस्मिन् मागध-सूत-वन्दि-निवहाः सङ्गीतविद्याबुधा
भेरीदुन्दुभिकाहलादिविदुरास्तत्तत्कला भेजिरे ।

श्रीकृष्णचन्द के उस सभा में पधारते ही, वहाँ का शोभायमान जनसमुदाय आनन्दमयी महातरङ्गों के द्वारा कोलाहल करता हुआ, समुद्र की तरह स्फूर्ति पाता हुआ, अपने अङ्ग प्रत्यङ्गों को उछालता हुआ स्थित हो गया। उस समय श्रीव्रजराज आदि गोपगण क्षुधा से चंचल हुए चकोरों की भाँति, उन श्रीकृष्ण-चन्द्र को चारों ओर से घेरकर, अपने अपने नेत्ररूप चोंच के द्वारा श्रीकृष्णरूप चन्द्रमा की किरणों के पान करने में निपुण होकर भी, विशेष तृप्ति को नहीं प्राप्त कर पाये ॥८॥

उसके बाद उस समय श्रीकृष्ण ने चपनी किशोरावस्था को, वंशी एवं मोरपंख के धारण करने को, तथा अपनी गोपजाति के व्यवहार को, उन व्रजवासियों के प्रति पहले की तरह अनुभव कराते हुए, और मथुरा एवं द्वारका जाने के क्लेश को भुलाते हुए, उन व्रजवासियों के अपने अपने प्रेम के प्रकार के विधान की चतुरता को जो प्राप्त करा दिया, श्रीकृष्ण के उस व्यवहार को देखते हुए, उनके दारुक नामक सारथि ने श्रीकृष्ण के पुनः द्वारका जाने के विषय में विश्वास नहीं किया ॥९॥

उस समय श्रीकृष्ण के पिता एवं चाचा, तथा पिता एवं चाचाओं की समान अवस्थावाले सभी व्रजवासियों ने ब्राह्मणों के साथ सम्मिलित होकर, तथा श्रीकृष्ण को आशीर्वाद प्रदानपूर्वक स्थित होकर, अपने अपने नेत्रजल द्वारा श्रीकृष्ण के मस्तक को अत्यन्त गीला कर दिया। उसी प्रकार श्रीदामा आदि मित्रमण्डली ने भुजभर के मिलते समय श्रीकृष्ण के वक्षःस्थल को अपने पसीने के जल से भिजा दिया, तथा रक्तक पत्रक आदि सेवकों ने श्रीकृष्ण के दोनों चरणों को नमस्कार करते समय अपने प्रेमाश्रुओं से भली प्रकार गीला कर दिया। उस सभा में स्थित साधारण जनों ने तो व्रजवासियों के प्रेमजनित उस कृत्य को अभिषेकजनित महोत्सव जिस प्रकार होता है उसी प्रकार मान लिया ॥१०॥

उस महोत्सव में मागध, सूत, एवं वन्दीजनों के समुदाय ने, संगीत विद्या के विशारद व्यक्तियों ने, तथा भेरी, दुन्दुभि, काहल आदि वाद्यों के जानकार लोगों ने, अपनी अपनी उन उन कलाओं का सेवन

कृष्णप्राप्तिसुखासवातुलमदाद् बाला युवानस्तथा
वृद्धाः किं बहुना स्त्रियश्च ननृतुः स्वैरं गृहान्निर्गताः ॥११॥
पूर्वं जन्म-महामहे मुररिपोर्यद्गोकुलस्था जनाः
स्त्रीपुंसा निखिलाश्च नृत्यवलिताः क्रीडाकुलं भेजिरे ।
तस्मादप्यलमत्र शर्मवलिताश्चिक्रीडुरत्युत्सुकाः
स्थाने तन्निधिलब्धिदस्युहृततल्लब्ध्योर्भिदा तादृशी ॥१२॥
तस्मिन् दुग्ध-हविर्दधीनि रजनीतैलानि चात्युन्नतात्
देशात् केचन तेषु बाढमकिरन् वर्षांबुवाहा इव ।
येषूच्चैर्निपतत्सु ते पुनरलं नृत्यन्त एव स्थिता
देवाद्यैर्जयकारमन्त्रसचितैः पुष्पैः स्तवैश्चार्ऽचिताः ॥१३॥
कृष्णं मित्राणि गोपाधिपमुखसहजांश्चित्रसंबन्धिवृन्दा-
न्यन्यानन्ये तथा श्रीव्रजपतिदयितां यातृमुख्याः पुरन्ध्र्यः ।
राधाद्यास्तद्वयस्या विहरणवलनामानयन् ये तु सर्वे-
ऽप्युच्चैरानन्दवृन्दग्रहवलिततया नाविदुः किञ्चनापि ॥१४॥

आरम्भ कर दिया । अर्थात् मागधजन वंशावली का बखान करने लगे, सूतजन पौराणिक गाथाओं को कहने लगे, एवं वन्दीजन प्रस्ताव के सदृश कविता करने लगे, संगीतविद्या-विशारदजन गायन करने लगे, तथा भेरी आदि बाजा बजाने में निपुणजन भेरी आदि बाजे बजाने लग गये । उस समय श्रीकृष्ण की प्राप्ति के सुखरूप आसव (मद्य) के अतुलनीय मद से मत्त होकर बालक, जवान, तथा बुड्ढे सभी नाचने लग गये । अधिक कहने से क्या ? देखो, व्रज की स्त्रियाँ भी स्वेच्छापूर्वक घर से बाहर निकल कर नाचने लग गईं ॥११॥

पहले श्रीकृष्ण के जन्मकालीन महोत्सव में स्त्री पुरुष आदि सभी गोकुलवासी जन नृत्यपरायण होकर, अनेक प्रकार की क्रीडाओं को करने लग गये थे । किन्तु श्रीकृष्ण के आगमनरूप इस महोत्सव में तो उस जन्मोत्सव की अपेक्षा भी अधिक सुख से संयुक्त होकर, एवं विशेष उत्सुक होकर, वे सब अनेक प्रकार की क्रीडा करने लग पड़े, यह बात उचित ही है । कारण खजाने की पहले प्राप्ति, एवं पीछे चोरों के द्वारा अपहरण किये हुए उसी खजाने की पुनः प्राप्ति में जैसे महान् भेद है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण के जन्मोत्सव में, एवं उन्हीं के द्वारका से पुनः आगमनोत्सव में महान् सुखमय भेद है ॥१२॥

उस महोत्सव में कुछ लोग दूध, दही, घृत, हलदी, तैल आदि वस्तुओं को महोत्सव में निमग्न उन लोगों के ऊपर वर्षाती बादलों की तरह बहुत ऊँचे स्थान से विशेष करके फेंकने लग गये । दूध दही आदि जिन वस्तुओं के ऊँचे स्थान से गिरते समय देवता आदिकों के द्वारा जय जयकार के मन्त्रों से युक्त पुष्प एवं स्तुतियों से पूजित हुए वे महोत्सव-निमग्न जन फिर भी विशेष नाचते हुए ही विद्यमान रहे ॥१३॥

द्वारका से श्रीकृष्ण के आगमनमय उस महोत्सव में निमग्न हुए मित्रगण श्रीकृष्ण को नहीं जान पाये, एवं विचित्र सम्बन्धियों के वृन्द गोपराज श्रीनन्द आदि सहोदरों को नहीं पहचान पाये, तथा अन्य जनों को अन्यजन नहीं जान पाये । और श्रीयशोदा की देरानी आदि पुरवनिताएँ नन्दरानी श्रीयशोदाजी

"किं बहुना,

हरिं वद हरिं वदेत्यलमनल्पजल्पं नटन्, पठन् हरिपराक्रमं क्रमजशत्रुजत्रुच्छिदम् ।
हसन् वसनदोःकरप्रकरकर्षहर्षप्रदः, चुकूर्द मधुमङ्गलः सममशेषमङ्गन्निव ॥१५॥

क्रीडन्तः किल यान् मुदा द्विजवरान् सूतान्नटान् वन्दिन-
स्तत्तद्दिव्यधनस्य दानमहसा तृप्तान् व्यधुर्गोदुहः ।
अन्योऽन्यत्र च तर्हि तस्य रुचिकृच्चित्रप्रभस्याऽर्पणं
चक्रुस्ते मिथ इत्यवापुरखिला एव स्फुटं दातृताम् ॥१६॥

"तदेवमव्रीडित्वा सुचिरं क्रीडित्वा जलमवगाह्य तदतिवाह्य च शस्तवस्त्रालङ्कारादीनि सर्वजनांस्तृप्तिभिर्नेपथ्यकारिजनानपि व्रजक्षितिपालनकारी धारयामास, पुनराहारयामास च मधुरान्नानि । दारुकस्तु सर्वेण स्वस्मिन् कृतवरिवस्याखर्वेण पर्वेह लभमानः सात्वतकुलमधुरं पुरमपि विसस्मार ॥१७॥

"तदेवं स्थिते श्रीकृष्णस्तु व्रजेश्वरादीन् कतिपयानग्रियतया विधाय सखिभिरखिलैः सह गवामवलोकनाय वनाय जगाम ॥१८॥

को नहीं जान पाईं, एवं श्रीराधिका की सखियाँ श्रीराधा आदि को नहीं पहचान पाईं और जो व्यक्ति विहार की सामग्री या रचना को उपस्थित कर रहे थे, वे सब तो अधिक आनन्दवृन्दरूप ग्रह से ग्रस्त होने के कारण कुछ भी नहीं जान सके ॥१४॥

अधिक कहने से क्या ? देखो, उस समय मधुमङ्गल तो "हरि बोल ! हरि बोल !" इस प्रकार के अधिक वाक्यों के प्रयोगपूर्वक नाचता हुआ, क्रमशः होनेवाले शत्रुओं के कंधे की सन्धियों के विच्छेदवाले श्रीकृष्ण के पराक्रम को स्पष्ट बोलता हुआ, एवं हँसते हँसते दूसरेजनों के वस्त्र, हाथ, तथा हाथों के समूह को खींचकर हर्ष देनेवाला होकर, सभीजनों में एकसाथ व्याप्त होता हुआ सा कूदने लग गया ॥१५॥

उस समय क्रीडा करते हुए गोपगण उस उस प्रकार के अलौकिक धन के दानरूप महोत्सव से हर्षपूर्वक जिन जिन श्रेष्ठ ब्राह्मणों को, सूतों को, नटों को, तथा वन्दियों को तृप्त कर चुके थे, वे ब्राह्मण आदि जन भी, उस समय रुचिकारी विचित्र कान्तिवाले उस धन के दान को आपस में ही करने लग गये । इस प्रकार सभीजन आपस में स्पष्टरूप से दाता के भाव को प्राप्त हो गये थे, अर्थात् सभी दानी बन गये थे ॥१६॥

इस प्रकार व्रजभूमि के रक्षक श्रीनन्दजी ने लज्जा को त्याग कर, बहुत देरतक क्रीडा करके, पश्चात् जल में गोता लगा कर, जलावगाहन को समाप्त कर, सभीजनों को तथा वेष की रचना करनेवाले जनों को तृप्ति के साथ प्रशंसनीय वस्त्र एवं भूषण आदि धारण करा दिये, एवं उनके लिए सुमधुर अन्न भी भोजन करा दिये । दारुक तो सभी के द्वारा अपने प्रति की हुई पूजा की अधिकता के कारण इस व्रज में महोत्सव को प्राप्त करता हुआ, यदुवंश से मनोहर द्वारकापुरी को भी भूल गया ॥१७॥

ऐसी स्थिति में श्रीकृष्ण तो श्रीव्रजराज आदि कतिपय जनों को अग्रसर बनाकर, सभी सखाओं के साथ गऊओं को देखने के लिए वन को चल दिये ॥१८॥

"गवान्वेषं कर्तुं वनमनुययौ नन्दतनयः, समन्ताद् गावस्तद्विनिमितमकार्षुः प्रथमतः ।
यतस्तस्यामोदं विसृमरमवघ्राय परित,-स्तमेवावृण्वाना द्रुतगति विदूरादभिययुः ॥१६॥

हुङ्कारघोषपरिपोषसतोषमेन,-मावृत्य नृत्यवलिता इव चाऽनुसृत्य ।
नन्दादिभिर्झरिझरीत्यपि रुध्यमानाः, कृष्णं निरुध्य लिलिहुर्व्यतियुध्य चात्र ॥२०॥

गास्तर्हि च स्वरविशेषविशिष्यमाण,-वेणुस्वनेन विनिरुध्य स तत्र तत्र ।
प्रत्येकमीक्षणकरः स्मृतनाम पृच्छ,-न्नूचे विविच्य पितृभिः सखिभिश्च तद्वत् ॥२१॥

प्रतिस्वं पश्यन् गा नयनसलिलान्यस्रवदसौ, तदीक्षासार्द्रान्तर्व्रजनृपमुखश्च व्रजजनः ।
यथा देशः सोऽयं बत सुरनदीमातृकदशा,-मतीत्यापि स्निग्धः समजनि चिराय प्रतिदिशम् ॥२२

"तदेवं गाः पुनः पुनरनुलोमयन् स सोमवदनः प्रणिधाय नियुक्तगोपालपाल्या सह पाल्या विधाय श्रीव्रजराजादीनग्रे निधाय गो-गृहनिकायं सन्निधाय गो-दोहनादिकसुखमनुसन्धाय पूर्ववदेव देवसमुचिताऽऽरात्रिकादिभिर्रचितस्तामपि रात्रिं जननीजनितभोजनादिदना लब्धशस्तः कृतसमस्तसखिसुखातिशयतया शयनलीलया पूर्वजरामः पूर्ववदतिवाहयामास ॥२३

नन्दकुमार गोगण का अन्वेषण करने को वन में चल दिये, इधर गोगण भी पहले से ही श्रीकृष्ण को चारों ओर ढूँढ़ने लग गया। कारण सभी गैयाएँ चारों ओर फैली हुई श्रीकृष्ण के अङ्ग की सुगन्धि को सूँघकर, चारों ओर से श्रीकृष्ण को ही घेरती हुईं, शीघ्रगति से बहुत दूर से चली आईं ॥१६॥

हुङ्कार शब्द की परिपुष्टि से सन्तुष्ट श्रीकृष्ण को घेरकर, नाचती हुईं सी वे गयाएँ श्रीकृष्ण के निकट आकर, श्रीनन्द आदि गोपों द्वारा "झरि ! झरि !" इस प्रकार के अव्यक्त शब्दों से रोकी जानेपर भी, श्रीकृष्ण को अपने बीच में रोककर, अपने निरोध के विषय में आपस में युद्ध करके श्रीकृष्ण को चाटने लग गईं ॥२०॥

उस समय श्रीकृष्ण स्वरविशेष द्वारा उत्कर्ष को प्राप्त हुई अपनी वंशी की ध्वनि के द्वारा गोगण को उस उस स्थानपर रोककर, प्रत्येक गैया को देखकर, एवं स्मरण किये हुए उनके नाम को पूछते पूछते पिता चाचा आदि, एवं मित्रों के साथ विवेचना करके उसी प्रकार बोलने लग गये ॥२१॥

और प्रत्येक गैया को देखते हुए श्रीकृष्ण अपने नेत्रों से जलधारा बहाने लग गये, उनको देखकर स्निग्ध अन्तःकरणवाले श्रीव्रजराज आदि व्रजजन भी प्रेमाश्रुधारा बहाने लग गये। जिससे कि वही यह व्रजदेश, अहह ! गंगानदी के द्वारा पालित देश की अवस्था को भी अतिक्रमण करके, प्रत्येक दिशा में बहुत दिनोंतक स्निग्ध हो गया था ॥२२॥

इस प्रकार चन्द्रवदन रामानुज श्रीकृष्ण ने बारंबार गोगण के रोमों का मार्जन करते हुए, अर्थात् गैयाओं की पीठपर हाथ फिराते हुए, विचार करके गोगण की रक्षा के लिये नियुक्त गोपालश्रेणी के साथ गोगण की रक्षा करके, श्रीव्रजराज आदि वृद्धगोपों को आगे करके, गोशाला (खिड़क) समूह के निकट आकर गोदोहन आदि के सुख का अनुसन्धान करके, पहले की भाँति देवोचित आरति आदि सामग्री से पूजित होकर, माता के द्वारा बनाये हुए भोजन आदि के द्वारा कल्याण को पाकर, सभी सखाओं को अत्यन्त सुखी करनेवाली शयनलीला के द्वारा उस रात्रि को भी पहले की तरह बिता दिया ॥२३॥

"तदनन्तरमहर्मुखे च सचितसर्वसुखे श्रीमानुपनन्दः श्रीमन्नन्दनन्दनमानन्दान्निमन्त्रयन् सकललोकानां निर्यन्त्रणं निमंत्रणं कृतवान्। तदेवमहरहः परममहवहतया श्रीमदभिनन्दादयश्च लब्धसंबन्धतदनुसंबन्ध्यादयश्च तदनुबन्धमविन्दन्त ॥२४॥

"तत्र च—तं तस्यागममङ्गलक्षणमथारभ्य व्रजे सर्वतः
कंसाद्याहतिगोकुलाऽऽगतिकथागीताङ्गवाद्यादिकम्।
नित्यं नित्यमगाद् वरामुपचितिं तत्रापि यस्यालयं
गच्छत्येष यदा तदा पुनरियं लक्षात्मनाऽलक्ष्यत ॥२५॥
यदवधि यादवनगरात्, पुनरपि हरिरेष गोष्ठमायातः।
गोत्राणां गोत्राणां, गोत्राणामपि समागतं शर्म ॥२६॥

"अत्रेदं दारुकश्चारु चिन्तयामास,—
'दैतेयान् घातुकस्तत्र पुर्यद्धा स्थितवान् हरिः।
किन्तु व्रजस्य वश्यः स्यात् परार्धमिव दायकः॥"२७॥

अथ कथकः समापनमाह स्म,—"तदेवं दर्शं दर्शं सपरामर्शं लेखास्तदिदमुल्लेखयामासुः—
'यः प्रागासीद् व्रजान्तर्विहरणकुतुकाद् वंशिकावेत्रपाणिः
स श्रीगोपेन्द्रजन्मा यदुसदनमगात् कंसमुख्यान्निहन्तुम्।

तदनन्तर सर्वसुखदायक प्रातःकाल में श्रीमान् उपनन्दजी ने श्रीमान् नन्दनन्दन को आनन्दपूर्वक निमन्त्रित करते हुए, सभी लोगों का बाधारहित निमन्त्रण कर दिया। अतएव इसी प्रकार प्रतिदिन परममहोत्सव उपस्थित हो सके इसी भाव से, श्रीमान् अभिनन्द आदि भी निमन्त्रण देने लग गये, तथा श्रीअभिनन्द आदि के सम्बन्धी एवं उन सम्बन्धियों के सम्बन्धी भी, श्रीकृष्ण के सहित सभी को निमन्त्रित करने लग गये ॥२४॥

और उसमें श्रीकृष्ण के आगमनरूप उस मङ्गलमय क्षण से लेकर, व्रज में चारों ओर कंस आदि असुरों के मारने की, एवं पुनः श्रीकृष्ण के व्रज में आने की कथा, एवं गीत, तथा गीत के अङ्गस्वरूप वाद्य आदि यन्त्र, नित्य निरन्तर परमवृद्धि को प्राप्त हो गये थे। उसमें भी यह विशेषता थी कि ये श्रीकृष्ण निमन्त्रित होकर जब जिस व्रजवासी के घर जाते थे, तब तो पूर्वोक्त बातों की वृद्धि लाखों प्रकार से दिखाई देती थी ॥२५॥

ये श्रीकृष्ण द्वारकापुरी से फिर भी जब से व्रज में पधारे थे, तभी से लेकर गोसमुदाय का, जाति के जनों का, गोपवृन्दों का, तथा श्रीगोवर्धन आदि पर्वतों का सुख भी व्रज में आगया था ॥२६॥

इस समय दारुक अपने मन में सुचारुरूप से यह विचार करने लगा कि—श्रीकृष्ण उस द्वारकापुरी में तो दैत्यों को मारने के लिये साक्षात् स्थित रहे; यह बात ठीक है, किन्तु वे ही श्रीकृष्ण परार्ध संख्याक, अर्थात् अपरिमित ऋण चुकानेवाले व्यक्ति की तरह व्रज के वशीभूत हो गये हैं ॥२७॥

अनन्तर कथावाचक प्रसङ्ग की समाप्ति का द्योतक वचन बोला—श्रीकृष्ण की इस प्रकार की लीलाओं को देख देखकर देवगण विचारपूर्वक यह उल्लेख करने लगे कि—जो श्रीकृष्ण पहले व्रज में

तस्मिंश्चक्रादिहस्तः खगपतिगगतिस्तान्निहत्याऽत्र संप्र-
त्यागत्यास्ते पुरावल्लसितचितकलानाट्यमेतस्य पश्य ॥' इति ॥२८॥

तदेवं परमहिते सुखसहिते दिनकतिपयेऽतिवाहिते प्रस्तावान्तरं तु प्रातः प्रस्तोष्याम इति श्रीव्रजेशसभायां कथां संप्रथय्य निशि श्रीराधासदसि कथान्तरं स्निग्धकण्ठः समुद्भावयामास ॥२९॥

"यथा, तदेवं शरच्चण्डचण्डद्युतिमण्डलमिव विरहं विरहय्य विधुरुत्पलवलयानिव व्रजनिलयानुत्फुल्लयामास। तथापि तस्य तत्प्रेयसीनां च परस्परमन्तस्तृष्णा धृष्णगासीत्। समयमनागम्य नव्यं न व्यतिगम्यं स्यादिति, तस्माद् विरम्य च स्थितिरासीत्। तत्र तस्यान्तर्विचारं तावत् प्रचारयामः,—॥३०॥

'तासां मम च परस्पर,-तृष्णाऽन्तर्दाहिनी यदपि।
तदपि न रुच्या शमयितु,-मधुनापि ह्रीपरा बुद्धिः ॥३१॥

'तथाहि—लोकाल्लज्जां सुष्ठु सज्जन् पुराऽहं, कंसध्वंसं व्याजमाचर्य यातः।
आयातश्च प्राणमासां विभर्तुं, नाद्याप्यन्तः सा तु मां हा जहाति ॥३२॥

विहार करने के कौतुक के कारण अपने हाथों में वंशी एवं लकुट धारण करते थे, वे ही श्रीव्रजराजकुमार कंस आदि दैत्यों को मारने के लिये यादवों के घरस्वरूप मथुरा आदि नगरों में चले गये थे। और उन मथुरा आदि नगरों में सुदर्शनचक्र आदि हाथ में लेकर, गरुड के ऊपर चलकर उन सब दैत्यों को मारकर, अब इस व्रज में आकर पहले की तरह वंशी एवं लकुट आदि धारण कर विद्यमान हैं। अतः इन श्रीकृष्ण के विलसित एवं व्याप्त चौसठ प्रकार की कलाओं के नाटक को तो देख लो ॥२८॥

इस प्रकार परमहितमय सुख से युक्त कुछ दिन बिताकर, दूसरे प्रस्ताव को प्रातःकाल प्रस्तुत करेंगे। इस प्रकार श्रीव्रजराज की सभा में कथा को विस्तारित करके रात्रि में श्रीराधिका की सभा में स्निग्धकण्ठ ने दूसरी कथा प्रकाशित कर दी ॥२९॥

यथा—पूर्ण चन्द्रमा जैसे रात्रि के कमलों को खिला देता है, उसी प्रकार श्रीकृष्णचन्द्र ने शरत्कालीन प्रचण्ड मार्तण्डमण्डल की तरह भीषण विरह को हटाकर, व्रजवासियों को प्रफुल्लित कर दिया। तो भी श्रीकृष्ण की एवं श्रीकृष्णप्रेयसी गोपियों की परस्पर की आन्तरिक तृष्णा तो अत्यन्त प्रबल हो गई थी। और उचित समय को न पाकर नवीन परस्पर मिलन नहीं हो सकता, इसलिए परस्पर के मिलन से विरत होकर ही दोनों की स्थिति रही। अब हम उनमें भी श्रीकृष्ण के आन्तरिक विचार का प्रचार करते हैं ॥३०॥

यथा—श्रीकृष्ण मन मन में कहने लगे कि उन गोपियों की एवं मेरी परस्पर मिलन की तृष्णा यद्यपि अन्तःकरण को जलानेवाली है, तथापि वह तृष्णा शान्त करने के लिये रुचि के योग्य नहीं है, क्योंकि हमारी बुद्धि तो अब भी लज्जा के आधीन ही है ॥३१॥

देखो, मथुरा जाने से पहले तो मैं लोगों से भली प्रकार लज्जा करके कंस के मारने को बहाना बनाकर मथुरा चला गया था; किन्तु इन गोपियों के प्राणों को धारण करने के लिये मैं द्वारका से पुनः आ भी गया हूँ, तो भी हाय वह लोकलज्जा अन्तःकरण में मुझ को आज भी नहीं छोड़ रही है ॥३२॥

वृत्तं कुरुक्षेत्रगतं पुरा यत्, तप्ते कटाहे जलबिन्दुतुल्यम् ।
आसीत् तदन्वेषिजनेन शून्यं, व्रजे तु तत्तद् विपरीतमेव ॥३३॥

"ततः कतिचित् कालगतीः प्रतिपालयन्नुदासीनवदासीनः स्याम् । तदेतत् क्षणं विचारयन् भाव्यन्यद् विचारयामास,—॥३४॥

'हन्त ! हन्त ! किमुदासीनतया वा प्रत्यासीदतु ; यस्मादाजन्मविहारसारनिजाऽऽगार-परिहारमाचर्य चिरविरचितायामपि तस्यां तासामुन्मादमासादयन्तीनां मद्भावः प्रत्युत सर्वप्रत्यक्षतामापन्नः । यथा च तदिदमिदं जगदेव विददस्ति । तत्र मम यदुस्थाने प्रस्थाने (भा० १०।३६।२८)—'निवारयामः समुपेत्य माधवं, किं नोऽकरिष्यन् कुलवृद्धबान्धवाः' इति ताः प्रोच्य, (भा० १०।३६।३१)—'विसृज्य लज्जां रुरुदुः स्म सुस्वरं गोविन्द ! दामोदर ! माधवेति' इति तथा (भा० १०।४६।४)—'ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः' इति प्रोच्य मया परमसाधोरुद्धवस्य प्रस्थापने (भा० १०।४७।६)—'कृष्णदूते व्रजं याते उद्धवे त्यक्तलौकिकाः' इति ; (भा० १०।४७।१०)—'गायन्त्यः प्रियकर्माणि रुदत्यश्च गतह्रियः' इति, (भा० १०।४७।११)—'काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा' इति च ॥३५॥

पहले सूर्यग्रहण के समय कुरुक्षेत्र में गोपियों के साथ मिलनरूप जो चरित्र हुआ था, वह तो तपी हुई कढ़ाई में गिरी हुई जल की एक बूंद की तरह अकिंचित्कर ही रहा। किन्तु व्रज में तो उस मिलन के अन्वेषण करनेवाले गोपीजन से रहित वह सब मिलन भाषण आदि विपरीत ही हो गया है. अर्थात् गोपियों से मिलने की तो कौन कहे ? यहाँ तो विरह ही दुगुना हो गया है ॥३३॥

इसलिए मैं कुछ काल की गतियों की प्रतीक्षा करता हुआ उदासीन की तरह बैठ जाऊँ। क्षणभर यह विचार कर आगे होनेवाले दूसरे विषयपर विचारने लग गये—॥३४॥

हाय ! हाय ! उदासीन भाव से बैठे रहने से भी क्या प्राप्त हो सकता है ? क्योंकि जन्म से ही लेकर विहार के सारभाग से युक्त अपने अपने घरों को त्यागकर, बहुत दिनतक की गई उस उदासीनता में भी, उन्मादभाव को प्राप्त करनेवाली उन प्रेममयी गोपियों का मेरे में जो भाव है, वह तो प्रत्युत सभी के प्रत्यक्ष हो गया है। अतः केवल मेरे लज्जा करने से ही क्या बनता है ? और मेरे प्रति गोपियों का जो लोकोत्तर अनुराग है उसको समस्त विश्व ही जानता है। उसमें भी मेरे मथुराप्रस्थान करते समय वे गोपियाँ "हम श्रीकृष्ण के पास जाकर उनको मथुरा जाने से रोक लेंगी, हमारे कुल के वृद्ध बान्धव इसमें हमारा क्या कर लेंगे ?" इस प्रकार कहकर "लज्जा छोड़कर हे गोविन्द ! हे दामोदर ! हे माधव ! इस प्रकार पुकार कर सुस्वरपूर्वक रोने लग पड़ी थीं" इति। तथा "हे उद्धव ! उन गोपियों का मन मुझ में ही है, उनके प्राण भी मुझ में ही हैं, उन्होंने मेरे लिये दैहिक कार्य त्याग दिये हैं" इस प्रकार कहकर मैंने परमसाधु उद्धवजी के व्रज में भेज देनेपर "श्रीकृष्ण के दूत उद्धवजी के व्रज में चले जानेपर, लौकिक व्यवहारों को छोड़कर, अपने प्रियतम की लीलाओं को गाती हुई, वे गोपियाँ लज्जारहित होकर रोती हुई विद्यमान थीं" शुकदेवजी की इन उक्तियों से तथा "कोई गोपी मथुरा की ओर से आते हुए भ्रमर को देखकर श्रीकृष्ण के मिलन का ध्यान करती हुई, भ्रमर को कृष्ण के द्वारा भेजा हुआ दूत कल्पित करके उससे यह बोली" इत्यादि से उन गोपियों का लज्जा त्याग करना स्पष्ट ही वर्णित है ॥३५॥

'यत्रोद्धवस्यापि वचनमिदम्, (भा० १०।४७।६१)—'या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा' इति ; तथा श्रीरामस्य व्रजाऽऽगमने तासामपि वचनमिदम्, (भा० १०।६५।११)—'मातरं पितरं भ्रातॄन् पतीन् पुत्रान् स्वसॄरपि। यदर्थे जहिम दाशार्ह ! दुस्त्यजान् स्वजनान् प्रभो!' इति ॥३६॥ 'अतएव (भा० १०।४७।१४)—'किमिह बहु षडंघ्रे ! गायसि त्वम्' इत्यादौ 'अगृहाणां नः' इति व्यक्तमेव श्रीराधया प्रोक्तम्। तस्माल्लज्जा तु मयि सर्वतः सज्जतामगादेवेति तासां परदारता यदि परिहारमापद्येत, तर्ह्येव पूर्वमपरमपि सर्वं समञ्जसमञ्जसा भवति। किन्तु प्रायः कृताऽभिप्रायमदीयाऽन्तर्यामित्वादिसंपदि मुन्यादिसंसदि कथारीत्या प्रतीतम्, तासु मत्परपत्नीत्वं तादृगलौकिकमामकरीत्या निरस्य वैरस्यं प्रत्याख्यायते। अत्र तु मुन्यादिदुर्लभमद्बन्धुभावाऽऽकुले गोकुले लौकिकरीत्या परं प्रत्याख्यातव्यम्। तत्र कालप्रतीक्षा तु न तितिक्षां लक्षयति। स एव हि कालस्तासु कालतां कलयेत्। सांप्रतमपि न किमपि सांप्रतं लक्ष्यते ॥३७॥ 'यत्र खलु—

हा हन्त हन्त वदनान्यतितप्तपद्म,-प्रख्यानि मां विकलयन्ति सदापि तासाम्।
तत्रापि कोमलतमं बत राधिकाया, वक्त्रं विचिन्त्य मनुवे क्वचनापि नास्मि ॥'३८॥

जिस विषय में उद्धवजी का भी यह वचन है कि—"जो गोपियाँ दुस्त्यज स्वजनों को एवं लौकिक वैदिक आचार को छोड़कर श्रीकृष्ण की शरण में आईं" इत्यादि। तथा श्रीबलरामजी के व्रज में आने के समय उन गोपियों का भी यह वाक्य है कि "हे प्रभो ! बलदेवजी ! देखो, हम सब गोपियों ने जिन श्रीकृष्ण के लिये अपने माता, पिता, भाई, पति, पुत्र, बहिन आदि त्याग दीं" यहाँपर भी लज्जा का त्याग स्पष्ट है ॥३६॥

अतएव श्रीराधिका ने भी स्पष्ट यही कहा है कि—"हे भ्रमर ! घर द्वार को त्यागनेवाली हम गोपियों के आगे क्यों अधिक गायन करता है ?" इसमें भी लज्जा परित्याग स्पष्ट है। इसलिए लज्जा मेरे में तो सर्वतोभाव से आसक्त हो ही रही है। अतः उन गोपियों की परदारता (ये दूसरे गोपों की स्त्री हैं, यह भाव) यदि परिहार को प्राप्त हो जाय, तभी पूर्वापर सभी विषय का अनायास सामञ्जस्य हो जाय। किन्तु मैं अन्तर्यामी हूँ, प्रायः इसी अभिप्राय से की गई मेरी अन्तर्यामी भावरूप सम्पत्ति से युक्त श्रीशुकदेवमुनि आदि की सभा में "श्रीकृष्ण के सर्वान्तिर्यामी होने के नाते गोपियाँ परपत्नी नहीं हैं" इस प्रकार की कथा की रीति से उन गोपियों में प्रतीत होनेवाला मेरे से पराई पत्नियों का जो भाव है, वह उस प्रकार की मेरी अलौकिक रीति से दूर करके विरसता का निराकरण किया जाता है। यह ठीक है। तो भी मुनिजनादि दुर्लभ मेरे सख्यभाव से व्याप्त इस व्रज में तो केवल "गोपियों के साथ मेरा विवाह होना" इस प्रकार की लौकिकरीति द्वारा ही परपत्नीभाव निराकरण करने योग्य है। उस लौकिकरीति में समय की प्रतीक्षा तो सहनशीलता को नहीं देख रही है। कारण—विवाह में विलम्ब करनारूप काल तो उन गोपियों के ऊपर अपने कालभाव को, अर्थात् अपने यमभाव को प्रकाशित कर देगा। तात्पर्य—विलम्ब करने में तो गोपियाँ मेरे विरह में प्रायः मर ही जायँगी। किन्तु अब भी कुछ भी उचित कर्तव्य नहीं दिखाई दे रहा है ॥३७॥

हाय ! हाय ! विशेष खेद तो इस बात का है कि, अतिशय सन्तप्त कमल के समान मेरे विरह में मुरझाये हुए उन गोपियों के मुख, मुझको सदैव व्याकुल करते रहते हैं। हाय ! उन गोपियों में भी श्रीमती राधिका के अत्यन्त कोमल मुखारविन्द का स्मरण करके तो "मैं कहीं भी नहीं हूँ" ऐसा मानता हूँ ॥३८॥

"तदेवं विचारवारांनिधेः पारं गन्तुमपारयति गोविन्दे, वृन्दा-मधुमङ्गलाभ्यां सङ्गता पौर्णमासी समयामास। समय्य च तस्य रहसि रचितामवस्थां मनसि तु निचितामनवस्थां हृदि विरचय्य तदभिवादन-निजाऽभिवदनयोरनन्तरमन्तरमनुषज्य तदिदं सस्मितमुवाच,—'अहो! चिन्तामणेरपि निजार्थिभरणे चिन्ता दृश्यते॥'३९॥

"श्रीकृष्ण उवाच,—'कस्मादिदमकस्माद्वदसि?' पौर्णमासी उवाच,—'यस्मादुपलब्धार्थतायामपि तवाऽलब्धस्वार्थता दृश्यते।' श्रीकृष्ण उवाच,—'रुच्यं चेद् व्यक्तमुच्यताम्।' पौर्णमासी उवाच,—'रुक्मिणी द्वारवत्यां तु राधा वृन्दावने वने' इति समानप्रसिद्धतायामपि कीदृगस्मिन्नसिद्धता, येन रुक्मिण्यादीरिव न राधादीरङ्गीकरोषि?' ॥४०॥

"श्रीकृष्णस्तु सलज्जस्मितमुवाच,—'गोकुललोककुलं तु नेदृशमालोकयति।' पौर्णमासी सानुतापमुवाच,—'गोकुल-लोकानां नैष दोषः, किन्तु दैवहताया ममैव; यतो राधादिपितृ-वर्गाणां कन्यापात्रीकरणाय भवदेकसर्गाणां वसुदेवानुगतगर्गमन्त्रणया किल ततश्च्यावितानां भवत्येव तत्पर्यवसायनातात्पर्यया मया तु मायया कालयापनाय सर्वत्र च व्रजे जागरकल्प-

स्निग्धकण्ठ बोला कि—श्रीकृष्ण इस प्रकार कहते कहते जब विचाररूपी समुद्र के पार जाने को समर्थ न हुए, तब वृन्दा एवं मधुमङ्गल से मिली हुई पौर्णमासीदेवी श्रीकृष्ण के निकट आगई। और आते ही श्रीकृष्ण की एकान्त में विरचित अवस्था को, एवं उनके मन में व्याप्त हुई अनवस्था (व्याकुलता) को, अपने मन में स्थापित करके, श्रीकृष्ण के द्वारा किये हुए नमस्कार एवं अपने द्वारा दिये हुए आशीर्वाद के अनन्तर, अवकाश पाकर, मन्दमुस्कानपूर्वक यह बोली—अहो! कैसे आश्चर्य की बात है कि देखो, चिन्तामणि को भी अपने याचकों के भरणपोषण की चिन्ता दिखाई देती है। तात्पर्य—चिन्तामणिस्वरूप श्रीकृष्ण को भी अपने को माँगनेवाले गोपीजनों के निज पत्नीभाव के पोषण की चिन्ता दिखाई दे रही है, यही आश्चर्य है॥३९॥

श्रीकृष्ण बोले—आप अकस्मात् इस प्रकार क्यों कह रही हैं? पौर्णमासी बोली—कारण तुम्हारे प्रयोजन के भाव की प्राप्ति हो जानेपर भी, स्वार्थ उपलब्ध नहीं हुआ ऐसा दिखाई देता है। श्रीकृष्ण बोले—यदि रुचिकर हो तो स्पष्ट कह दीजिये। पौर्णमासी बोली—"द्वारका में तो श्रीरुक्मिणी श्रीकृष्ण की प्रधानपत्नी हैं, एवं वृन्दावन में श्रीराधा हैं।" इस प्रकार की समान प्रसिद्धि में भी इस वृन्दावन में असिद्धि का भाव कैसा? जिससे कि श्रीरुक्मिणी आदिकों की तरह श्रीराधिका आदि गोपियों को पत्नीरूप से अङ्गीकार नहीं कर रहे हो?॥४०॥

श्रीकृष्ण तो लज्जापूर्वक मुस्क्या कर बोले—व्रजवासियों का समुदाय तो श्रीरुक्मिणी आदि जैसे मेरी नित्यप्रिया हैं, उसी भाव से श्रीराधा आदि गोपियों को मेरी नित्यप्रियाओं के रूप में नहीं देख रहा है। पौर्णमासी पश्चात्तापपूर्वक बोली—यह दोष व्रजवासियों का नहीं है, किन्तु भाग्यहीन जो मैं हूँ, यह मेरा ही दोष है। कारण—श्रीराधिका आदि गोपियों के पितृवर्ग का योग्यपात्र के लिये अपनी अपनी कन्याओं का दान देने के लिये केवल आपके लिये ही निश्चय था। उसके बाद श्रीवसुदेवजी के भाव के अनुगत श्रीगर्गाचार्य की "हे व्रजवासियो! देखो, श्रीकृष्ण बलदेव के उपनयन एवं विवाह आदि संस्कार मैं ही करूँगा, तुम स्वेच्छा से नहीं करना" इस प्रकार की विचारधारा से वे व्रजवासी उस निश्चय से निवृत्त कर दिये थे; किन्तु मेरा अभिप्राय यही था कि—व्रजवासियों की कन्याओं का दान केवल आप में ही समाप्त

स्वप्नकल्पनयाऽन्यत्र विवाहभ्रमं संक्रमय्य तेषां तत्र तत्र निजनिजजामातृभावः संभवन्नप्यनुशयविषयतया जनितः ॥'४१॥

"श्रीकृष्ण उवाच,—'जनित इति चेर्त्तर्हि दोष एवाऽऽयातः।' पौर्णमासी सहासमुवाच,—'स्वयं तु न ते त्वदन्यत्र भीष्मकवत् तं भावं साक्षाद् व्यवसायविषयं कृतवन्तस्तर्ह्यत्र वा स्वप्नदोषादुत्पन्ने को दोषः?' श्रीकृष्ण उवाच,—'तथापि यथा तथा तासु निर्दूषणमेव दूषणमायातम्, तासामन्यत्र पतिताप्रतिभानात् तेषां शय्यासङ्गतिसन्धानाच्च ॥'४२॥

"पौर्णमासी उवाच,—'द्वयमपि न वयं मन्यामहे; (भा० १०।२९।३२)—

'यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग!, स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे, प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा॥' इति॥

'भवति तासामेव वचनं भवत्येव पतित्वस्थापनमाचरति। तनुभृन्मात्राणां चेत् प्रेष्ठादिरूपस्तर्ह्यनन्यस्पृशमीदृशं भावविशेषं स्वभावतः परामृशन्तीनामस्मादृशां प्रेष्ठविशेषतया कान्त एव भवानिति भवदनुवृत्तिरेव वृत्तिरिति हि तत्रार्थः ॥४३॥

हो तो अच्छा हो। इसलिए मैंने ही अपनी मोहिनीमाया के द्वारा, समय बिताने के लिये, व्रज के सभी स्थानों में जागरण के तुल्य स्वप्न की कल्पना करके, अभिमन्यु आदि गोपों के निकट श्रीराधा आदि के विवाह के भ्रम को संघटित करके, श्रीराधिका आदि के पितृवर्ग का अपने अपने जमाईपने का भाव, तुम से भिन्न अन्यान्य गोपबालकों के ऊपर सम्भावित होकर भी, द्वेष या पश्चात्ताप के रूप से उत्पन्न किया था ॥४१॥

श्रीकृष्ण बोले—यदि आपने ही ऐसा भाव उत्पन्न किया है, तो भी दोष तो आ ही गया। पौर्णमासी हास्यपूर्वक बोली—देखो, रुक्मिणी के पिता भीष्मक ने जैसे तुम्हारे बिना दूसरे के ऊपर अपना जमाईभाव स्वयं नहीं किया था, ठीक उसी प्रकार श्रीराधा आदि के पिताओं ने अपने जामातृभाव को तुम से भिन्न गोप के ऊपर स्वयं ही साक्षात् निश्चित नहीं किया था, किन्तु मेरी प्रेरणा से तात्कालिक भाव जमाया था। तब स्वप्न के दोष से उत्पन्न हुई वस्तु की तरह, इस काल्पनिक जामातृभाव में कौन सा दोष है? श्रीकृष्ण बोले—तथापि श्रीराधिका आदि के ऊपर जैसे तैसे दोष के बिना भी दोष आगया, कारण उनका पतिभाव मुझ से दूसरे व्यक्तियोंपर प्रकाशित होगया, एवं उनकी शय्या की सङ्गति का अनुसन्धान भी होगया ॥४२॥

पौर्णमासी बोली—हम तो इन दोनों बातों को ही सत्य नहीं मानते हैं। कारण—"हे प्यारे श्याम! आप वैदिकधर्म को जानते हो, इसीलिए आपने कहा है कि—पति, पुत्र, एवं स्वजनों का अनुसरण करना ही स्त्रियों का निजी धर्म है। इस धर्म के उपदेष्टा तो आप ही हो, अतः यह पतिभाव आपके ऊपर होना ही उचित है, क्योंकि वेदवेत्ता ईश्वर आप ही हैं। और आपही प्राणीमात्र के अतिशय प्यारे हो, एवं बान्धव तथा आत्मा हो। तात्पर्य—ईश्वर के भजन में कोई विधि निषेध की सम्भावना नहीं है।" इस प्रकार का गोपियों का जो वचन है, वह आप में ही पतिभाव की स्थापना का आचरण कर रहा है। और यदि आप ही प्राणीमात्र के प्रियतम आदि रूपवाले हो, तब तो हम जैसी स्त्रियों के विशेषप्रियतम होने के नाते, आप ही हमारे पति हो। कारण—हमारे जैसी विशुद्ध स्त्रियों के विशुद्धभाव को अन्य साधारण स्त्रियाँ स्पर्श भी नहीं कर पाती हैं, अतः हम स्वभाव से ही ऐसे भावविशेष का परामर्श करती रहती हैं। इसलिए 'यत्पत्य-

'तदेवमेव याः (भा० १०।२९।६) 'शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चित्' त्वां प्रति प्रतस्थिरे, तास्त्वन्याः काश्चित् (भा० १०।२९।९) 'अन्तर्गृहगताः काश्चित्' इत्याद्युक्त्या त्वल्लाभानर्हदेहा जातत्वत्स्नेहाः साधकचर्यः संप्रति तदर्हदेहलाभेन त्वत्परिचर्याकर्य एव गम्यन्ते ॥४४॥

(भा० १०।२९।३२) 'यत्पत्यपत्यसुहृदाम्' इत्याद्युक्तवतीरुद्दिश्य प्रयुक्तं तु (भा० १०।३३।३८)—'नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया। मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः ॥' इति श्रीशुकस्य वचनं रासप्रसङ्गजमपि साङ्गं समयसङ्गमङ्गीकरोति। मायायाः सर्वदा सर्वशक्तित्वेन त्वदेकभक्तित्वेन च तदपरिच्छेदातिरिक्तिं दार-शब्देन च तेषां तदविविक्तिं प्रसक्तीकरोति ॥४५॥

'ये विवाहसमये त्वदवराणां वराणां वञ्चनाय मायया कल्पिताः श्रीराधादिभ्यः परतया विवेक्तुमशक्याः स्वे स्वे दारास्तानेव स्वपार्श्वस्थान् मन्यमानाः शय्यायामपि तदविविक्ततया जानन्त इति ह्यत्रार्थः। अतस्तासां न तत्र तत्र विवाहसम्मतिर्न च तदीयशय्यासङ्गतिरिति ॥४६

'तदेवमेव भवताप्युद्भावितमुद्धवसन्देशे (भा० १०।४६।४)—'मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं

पत्य' इत्यादि श्लोक में "आप का अनुसरण करना ही गोपियों की वृत्ति (जीविका या स्वभाव) है।" यही अर्थ है ॥४३॥

अतएव इसी प्रकार (रास के प्रसङ्ग में) जो गोपियाँ अपने पतियों की सेवा को त्यागकर आप के निकट आई थीं, वे तो नित्यसिद्ध गोपियों से भिन्न थीं। अतः "प्राकृतपतियों के द्वारा घर में ही रोक दी गई कुछ गोपियाँ" इत्यादि कथन से तुम्हारी प्राप्ति के योग्य देहवाली नहीं थीं, आप में उनका स्नेह हो गया था, इसलिए वे साधना करनेवाली कही जाती थीं। किन्तु अब अपने प्राकृतदेह को छोड़कर, आपकी सेवा के योग्य दिव्यदेह प्राप्तकर आपकी सेवा करनेवाली ही जानी जाती हैं ॥४४॥

और 'यत्पत्यपत्यसुहृदां' इत्यादि कहनेवाली नित्यसिद्ध गोपियों का उद्देश्य करके प्रयुक्त किया हुआ "श्रीकृष्ण की माया से मोहित हुए व्रजवासियों ने अपनी अपनी स्त्रियों को अपने अपने निकट मानकर श्रीकृष्ण के लिए किंचिद् भी दोष नहीं लगाया" इस प्रकार का श्रीशुकदेवजी का वचन रासलीला के प्रसङ्ग का होकर भी साङ्ग (उपाय के सहित) समय के सङ्ग को स्वीकार कर रहा है। आपकी माया के सदैव सर्व शक्तियों से युक्त होने के कारण, एवं केवल आप में ही भक्ति होने के कारण, श्रीशुकदेवजी का पूर्वोक्त वचन नित्यसिद्ध गोपियों के समान गोपों की दूसरी स्त्रियों की कल्पना की अधिकता को और दार शब्द से उन गोपों के अविवेक को संघटित कर रहा है ॥४५॥

और गोपों के विवाह के समय आप से निकृष्टवरों को वंचित करने के लिए जो जो अपनी अपनी स्त्रियाँ माया से कल्पित हुई थीं, वे सब श्रीराधा आदि गोपियों से भिन्नरूप से नहीं जानी जा सकती थीं। गोपगण मायाकल्पित उन्हीं गोपियों को अपने निकटवर्तिनी मानते हुए, एवं अपनी अपनी शय्यापर भी उनसे अभिन्न रूप से ही जानते हुए, श्रीकृष्णपर दोषारोप नहीं कर पाये, यहाँपर यही अर्थ है। अतः श्रीराधा आदि उन गोपियों की अभिमन्यु आदि उन उन गोपों के निकट विवाह की सम्मति नहीं है, एवं उनकी शय्या की संगति भी नहीं है ॥४६॥

अतएव आपने भी उद्धवसन्देश में इसी प्रकार का भाव प्रगट किया है कि—हे उद्धव! वे गोपियाँ

मनसा गताः' इति, (भा० १०।४६।६)—'बल्लव्यो मे मदात्मिकाः' इति। ताभिरपि (भा० १०।४७।२१)—'अपि बत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनाऽऽस्ते' इति, श्रीशुकेनापि रासे (भा० १०।३३।८) 'कृष्णवध्वः' इति ; दुर्वाससापि तापन्यां ताभिः कृते प्रश्ने (गो० ता०, उ० २३)—'स वो हि स्वामी भवति' इति, ब्रह्मणापि ब्रह्मसंहितायाम् (५।६७)—'श्रियः कान्ताः कान्तः परमपुरुषः' इति ॥४७॥

'मन्त्रराजयोस्तत्तन्मन्त्रद्रष्ट्रापि गोपीपदानन्तरं जनेत्यस्यान्ते वल्लभायेति। यत्र खलु गौतमीये तन्मन्त्रव्याख्यायां'गोपीति प्रकृतिं विद्यात्'इत्यादिपद्यद्वयेन पूर्वपूर्वत्र ब्रह्मत्वेनेश्वरत्वेन च विकल्पकल्पतया निरुक्तस्य तन्नाम्नः पुनः 'अनेकजन्मसिद्धानाम्' इत्यादिपद्येन सर्वोत्तरपक्षे 'गोपीनां पतिरेव' इति भ्रमान्तरनिवारणकृते सावधारणं व्याख्यापर्यवसानं पर्याकल्यते। तस्मादमूषामन्येषां वान्यत्र पत्यादिशब्दप्रयोगश्चाऽन्यथाख्यातिमनुसृत्य केवलप्रकृतिप्रत्यय-योगमवलंबमानं वृत्त्यन्तरमवलंबते। पातीति पतिरिति ; अतो रासार्थं तासां हर्षेण समाकर्षे (भा० १०।२९।२०) 'मातरः पितरः पुत्रा भ्रातरः पतयश्च वः' इति भवज्जल्पविलासश्च

अपने अपने मन से केवल मुझ प्रियतम आत्मा को ही पतिरूप से प्राप्त कर चुकी हैं। अतः वे गोपियाँ मेरी नित्यप्रिया हैं, एवं उनकी आत्मा मुझ में ही है। श्रीराधिका आदि गोपियों ने भी भ्रमरगीत में कहा है कि अहह ! आर्यपुत्र (हमारे प्राणनाथ) इस समय मथुरा में ही हैं न ? रासलीला के प्रसङ्ग में श्रीशुकदेवजी ने भी गोपियों को 'कृष्णवधू' कहकर निर्देश किया है। और गोपालतापनी उपनिषद् में गोपियों के द्वारा "हमारा पति कौन है ?" ऐसा प्रश्न करनेपर श्रीदुर्वासा ने भी यही उत्तर दिया है कि "वे श्रीकृष्ण ही तुम सब गोपियों के स्वामी हैं" ब्रह्माजी ने भी ब्रह्मसंहिता में कहा है कि "व्रज की गोपकान्ताएँ लक्ष्मीस्वरूप हैं, एवं परमपुरुष श्रीकृष्ण ही उनके पति हैं"॥४७॥

दशाक्षर एवं अष्टादशाक्षररूप दोनों मन्त्रराजों के तत् तत् मन्त्रद्रष्टा ऋषि ने भी "गोपीजनवल्लभाय स्वाहा"। यहाँपर 'गोपी' पद के अनन्तर 'जन' इस पद के अन्त में 'वल्लभ' पद का निर्देश किया है, अर्थात् स्त्रियों के निकट प्रयुक्त वल्लभ शब्द पति अर्थ में ही रूढ है। और जहाँपर गौतमीयतन्त्र में अष्टादशाक्षर मन्त्र की व्याख्या में "गोपीति प्रकृतिं विद्याज्जनस्तत्त्वसमूहकः। अनयोराश्रयो व्याप्त्या कारणत्वेन चेश्वरः॥ सान्द्रानन्दं परं ज्योतिर्वल्लभत्वेन कथ्यते। अथवा गोपी प्रकृतिर्जनस्तदंश मण्डलम्॥ अनयोर्वल्लभः प्रोक्तः स्वामी कृष्णाख्य ईश्वरः। कार्य-कारणयोरीशः श्रुतिभिस्तेन गीयते॥ पूर्वचम्पूः १५।५६" इन दोनों श्लोकों के द्वारा पहले डेढ़श्लोक में ब्रह्मरूप से एवं पीछे के श्लोक में ईश्वररूप से विकल्प के समान कहे गये "गोपीजनवल्लभ" इस नाम की निश्चयपूर्वक व्याख्या समाप्ति पुनः "अनेकजन्मसिद्धानां गोपीनां पतिरेव वा। नन्दनन्दन इत्युक्तस्त्रैलोक्यानन्दवर्धनः॥" इस श्लोक के द्वारा सबसे अन्तिमपक्ष में "श्रीकृष्ण गोपियों के नित्यपति ही हैं" इस प्रकार कहकर "गोपियाँ दूसरे गोपों की भी पत्नी हैं" इस प्रकार के भ्रम को दूर करने के लिये भली प्रकार देखी जाती है। इसलिए उपास्य मन्त्रों में इस प्रकार की व्याख्या के कारण, उन गोपियों का अथवा अपने को उनके पति माननेवाले गोपों का पति आदि शब्द से जो प्रयोग है वह तो "जनश्रुति का अनुसरण करके" केवल प्रकृतिप्रत्यय के सम्बन्ध को अवलम्बन करता हुआ "पाति रक्षति इति पतिः" इस वृत्ति का अवलम्बन करता है, किन्तु यह उचित नहीं है। कारण ऐसा मानने से तो "अनेकजन्मसिद्धानां अर्थात् नित्यसिद्धानां" गोपियों का यह विशेषण व्यर्थ हो जायगा।

परिहासाय कल्पमानः परोच्छिष्टताश्लिष्टजुगुप्सावशविरसतां नावहति । पुत्राश्च ते यातृम्मन्यानामेव पुत्राः पुत्रतयाऽतिदिश्यन्ते । यानुद्दिश्य मुनयस्तु 'पाययन्त्यः शिशून् पयः' इत्येवाहुर्न तु सूतान् स्तनमिति ॥४८॥

'तस्माद् गर्गरचनावञ्चनायात्मना प्रपञ्चितमिदमसञ्चितं वयमेव करिष्यामः, यथा गोकुले लोका अपि यथावदालोकेरन्' इति ॥''४९॥ अथ मधुमङ्गलः सकष्टमाचष्ट,—

'व्रजस्य लोके तव सङ्गतेर्मुदं, गते तथाऽमूर्मलिनत्वमागताः ।
यथा सिते तण्डुलमण्डले ययु,-र्निष्कास्यदुर्बीजकणाऽवलेस्तुलाम् ॥'५०॥

''वृन्दोवाच,—

'अकस्मात्त्वल्लाभाद् व्रजजनवदुत्फुल्लतनुतां, गतास्ते प्रेयस्यः स्फुटमिति कथा सा न वितथा ।
तवौदास्ये किन्तु प्रययुरधुना म्लानिमतुला-, ममूः श्रीराधा तु प्रबलयति धूमं निजतनोः ॥'५१

''पौर्णमासी उवाच,—

'शृणु संक्षेपतः संप्रत्यौदास्ये तव केशव ! । यदा वाष्पायते राधा धूमायन्ते तदा दिशः ॥५२

अतः इस पूर्वव्याख्या के अनुसार रासलीला के लिये उन सब गोपियों के हर्षपूर्वक आकर्षण करने के समय गोपियों के साथ ''हे गोपियो ! तुम्हारे माता, पिता, पुत्र, भ्राता, एवं पति ये सब तुमको ढूँढ रहे हैं'' इत्यादि रूपवाला जो आपका वाक्यविलास है, वह तो परिहास के लिए कल्पित होता हुआ दूसरों की उच्छिष्टता से युक्त निन्दा के वश नीरसता को संघटित नहीं करता है। कारण—गोपियों के पुत्रों का जो निर्देश किया है, वे तो गोपियों के देवरों की पत्नियों के ही पुत्र हैं। वे ही पुत्ररूप से निर्दिष्ट किये हैं। जिन पुत्रों का उद्देश्य करके श्रीशुकदेव आदि मुनियों ने ''गोपियाँ बालकों को दूध पिलातीं हुई छोड़कर चली आई'' ऐसा ही कहा है। किन्तु ''पुत्रों को स्तनपान कराती हुई'' ऐसा नहीं कहा। तात्पर्य—उन गोपियों के पुत्र होते तो मुनिजन ''सुतान् स्तनं'' ऐसा निर्देश करते ॥४८॥

इसलिए गर्गाचार्य की रचना को वंचित करने के लिये मैंने जो यह उपपतिभाव गोपियों के विषय में विस्तारित किया था, उसको हम ही विघटित कर देंगी। जिससे व्रज में व्रजवासीलोग भी सत्य की तरह देख सकेंगे ॥४९॥

पौर्णमासी के कहने के बाद मधुमङ्गल कष्टपूर्वक स्पष्ट बोला—हे भैया श्याम ! तुम्हारे सम्मिलन से व्रज के सभी लोगों के हर्षित हो जानेपर भी, तुम्हारी नित्यप्रिया वे गोपियाँ तो उस प्रकार मलिनता को प्राप्त हो गई हैं कि, जिस प्रकार श्वेतरंग के तण्डुलमण्डल में निकालने योग्य, एवं अखाद्य बीजों की श्रेणी, उसी तुलना को वे भी प्राप्त हो गई हैं ॥५०॥

वृन्दा बोली—हे श्यामसुन्दर ! देखो, द्वारका से आपके अकस्मात् (अचानक) प्राप्त हो जाने से तुम्हारी अतिशय प्यारी गोपियाँ व्रज के अन्यजनों की तरह स्पष्ट ही प्रफुल्लित शरीरवाली हो गई थीं, यह बात मिथ्या नहीं है। किन्तु आपके उदासीन भावपर तो वे गोपियाँ अब अतुलनीय ग्लानि को प्राप्त हो गई हैं। उनमें भी श्रीराधिका तो अपने शरीर से महाविरहानल के धुआँ को प्रबल कर रही हैं। तात्पर्य—विरहानल के प्रज्वलित हो जानेपर तो शरीर का बचना ही कठिन है ॥५१॥

पौर्णमासी बोली—हे केशव संक्षेप से सुनिये। देखो, अब आपकी उदासीनतापर श्रीराधिका जब वाष्प उद्गमन करती हैं, अर्थात् आँसू बहाती हैं, तब सभी दिशाएँ धुआँ से धुँधली हो जाती हैं ॥५२॥

आश्रयाशत्वविख्यातिर्वह्नेः सर्वत्र लभ्यते। प्रेम्णश्च तव गोविन्द ! सा चेन्निन्दामवाप्स्यति ॥

'अथ स च गोकुलकुलज-रमाजनभागः पतत्परागसमागतरागनिजभालादिभागमार्जन-व्याजाद् दुकूलाञ्चलसंवलनया निजाक्षिजलमपसारयन् व्याजहार ; यथा—भद्रं भवति, तथा तद्रञ्जितं क्रियतामिति ॥५४॥

'तदनु च वृन्दा-मधुमङ्गलाभ्यां पूर्णपरिसरा पूर्णिमा तदभिप्रायं सुज्ञाय सुखविहाराय च तमनुज्ञाय समानवासनया क्वचन च निर्जने कृतसंवासानां तासां सकाशमयामास। ततश्च, गोकुले तासां मण्डलीं ज्योतिर्मण्डले लब्धोपरागचन्द्रमण्डलीमिव सुस्निग्धतादिग्धगहने वात्या व्यत्यासितलतापंक्तिमिव काव्यमीमांसाशास्त्राऽविज्ञ-विज्ञ-सदसि सत्कवितामिव विलसदन्य-पुनर्थसाधनसाधुवर्गे भगवदन्यकामनामयभक्तिमिव म्लानिं गच्छन्तीं वीक्ष्याऽनच्छहृदयतां गच्छति स्म ; ॥५५॥ गत्वा च शुभाशिषा विषादमपनयन्ती तदिदं तावद् वदति स्म।

सरसीभवन्तु ते ते, घनरसपूर्णे महागुणे सरसि।
मलनीभवतितरां चे,-न्नलिनीजातिस्तदालिनीनां किम् ?' ॥५६॥

अग्नि का एक नाम है "आश्रयाश", अर्थात् अग्नि अपने आश्रयस्वरूप काष्ठ आदि का भक्षण कर जाता है। अतः अग्नि की यह ख्याति सर्वत्र उपलब्ध होती है। किन्तु हे गोविन्द ! तुम्हारे प्रेम की भी यदि अपने आश्रयस्वरूप भक्त को ही खानेवाली ख्याति हो जायगी तो, निन्दा को प्राप्त हो जायगी। तात्पर्य—अपने अनन्य प्रेमियों की शीघ्र रक्षा करो ॥५३॥

उसके बाद व्रजवासियों के कुल में उत्पन्न लक्ष्मीस्वरूप उन गोपीजनों के भाग्यस्वरूप वे श्रीकृष्ण गिरते हुए पुष्पों की पराग (धूलि) के समागम से सुरंजित अपने ललाट आदि प्रदेश के पोंछने के बहाने अपने दुपट्टा के ठोक को पकड़ कर अपने नेत्रजल को दूर करते हुए बोले—भगवति ! पूर्णिमे ! जिस प्रकार गोपियों का कल्याण हो उसी प्रकार अनुराग से रंजित कर दीजिये ॥५४॥

उसके बाद वृन्दा एवं मधुमङ्गल से जिसकी निकट की भूमि परिपूर्ण हो गई है ऐसी पूर्णिमा, अर्थात् वृन्दा एवं मधुमङ्गल को साथ लेकर पूर्णिमादेवी श्रीकृष्ण के अभिप्राय को भली प्रकार जानकर, सुखपूर्वक विहार के लिये श्रीकृष्ण की अनुमति लेकर, समान वासना के कारण किसी निर्जन स्थानपर एकसाथ निवास करनेवाली श्रीराधा आदि उन गोपियों के निकट चली आई। और आते ही तारामण्डल में राहु के द्वारा ग्रस्त हुई चन्द्रमण्डली की तरह, एवं अत्यन्त स्निग्धता से परिपूर्ण वन में आँधी के द्वारा अस्तव्यस्त की हुई लतापंक्ति की तरह, एवं काव्य-मीमांसाशास्त्र के अनभिज्ञ विद्वानों की सभा में सुन्दर कविता की तरह; तथा धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप पुरुषार्थों के साधन से सुशोभित साधुवर्ग में भगवान् की अनन्य कामनामय भक्ति की तरह, उस गोकुल में म्लानि को प्राप्त होती हुई, उन गोपियों की मण्डली को देखकर हृदय की मलिनता को प्राप्त हो गई ॥५५॥

हृदय की मलिनता को प्राप्त करके भी पूर्णिमा शुभाशीर्वाद के द्वारा गोपियों के विषाद को दूर करती हुई बोली—घनरस (जल) से परिपूर्ण एवं निर्मलता आदि महान् गुणों से युक्त सरोवर में यदि वे वे पदार्थ सरस होते हैं तो होते रहो ; किन्तु कमलिनियों की जाति यदि अति मलिन हो जाती है, तब भ्रमरीगणों को उन सरस पदार्थों में क्या लाभ ? पक्षे—घन अर्थात् निविड श्रृङ्गार आदि रस द्वारा परिपूर्ण एवं सत्यत्व आदि तथा दयालुता आदि महान् गुणों से युक्त श्रीकृष्ण के ऊपर यदि अन्य व्रजवासीजन सरस

"तदेवमाकर्ण्य च भूमिं निर्वर्ण्य वैवर्ण्यमत्यजन्तीषु वैवर्ण्यमेव च भजन्तीषु तासु कापि तासां सखी सगद्गदं गदति स्म,—

'नलिनीजातिः कथमिव, मलिनीभविता न सा सरःस्थापि ।
वृश्चिकराशिगतश्चे,-न्न रविश्छविमादिवत्तनुते ।।'५७।।

"पौर्णमासी उवाच,—'रवेर्नायमनयः, किन्तु समयगतेरेव ।' सोवाच,—'योगचर्यावर्याया भवत्या न भवत्याश्चर्याय किमपि । तस्मादस्माकमिव तासां समयस्य गतिरस्मान् विस्मापयते ।।'५८।।

"पौर्णमासी सास्रमुवाच,—'न भवेदद्यादितः काचिदवद्या तस्य गतिः, यदयं सकलसुखदायकः श्रीलगोकुलकुलनायकः पुनरपि गोकुलमवलंबते स्म । संप्रति चानन्दघनसमयं लभमानः सहस्रगुणममृतमपि वर्षिष्यति, न तु स्नेहाशवदात्माश्रयवर्तिगणं धर्षितं करिष्यति ; परन्तु परमाभीलनिलीनानां भवदालीनां समीहितं कर्णनिहितं कर्तुमिच्छामः ।।'५९।।

"अथ सा सखी पुनरुत्कण्ठायुक्ताप्यश्रुकण्ठतया क्षणकतिपयं कुण्ठायते स्म ; तदनन्तरं तु सर्वासां समयलेखपत्रं तस्या दृगमत्रं करोति स्म ।।६०।। यथा—

होते हैं, अर्थात् प्रीतियुक्त होते हैं, तो भले ही होते रहो । किन्तु यदि पद्मिनीजाति, अर्थात् उत्तम गोपाङ्गनाजाति अत्यन्त मलिन हो जाती है, तो उनकी सखियों को उनसे क्या लाभ ?।।५६।।

इस प्रकार सुनकर भूमि को देखकर जब वे गोपियाँ मलिनता को नहीं छोड़ रही थीं, एवं वैवर्ण्य (विवर्णस्य भावो वैवर्ण्य), अर्थात् मौन का ही अवलम्बन कर रही थीं, तब उनकी कोई सखी गद्गद होकर बोली—हे पौर्णमासीजी ! देखो, वृश्चिक-राशिपर विद्यमान सूर्य, अर्थात् मार्गशीर्ष का सूर्य यदि आदिवत्, अर्थात् मेषराशि के सूर्य की तरह, तात्पर्य—वैशाखमास के सूर्य की तरह अपनी कान्ति का विस्तार नहीं करता है, तब सरोवर में रहनेवाली भी वह कमलिनीजाति किस प्रकार मलिन न होगी ? अपितु, होगी ही । तात्पर्य—इस समय के प्रस्ताव में श्रीकृष्णरूप सूर्य वृश्चिकराशि गत होकर गोपीरूप कमलिनियों को मलिन ही बना रहे हैं ।।५७।।

पौर्णमासी बोली—यह सूर्य का दोष नहीं है, किन्तु समय की गति का ही दोष है । वह सखी बोली—आप योगानुष्ठान के द्वारा सर्वश्रेष्ठ हैं, अतः आप के लिये कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं है । इसलिए हमारी तरह उन गोपियों के समय की गति हमको विस्मित कर रही है ।।५८।।

पौर्णमासी सजलनयन होकर बोली—आज से लेकर उस समय की कोई भी बुरी गति नहीं होगी । कारण सकल सुखदायक श्रीयुत गोकुलकुल के नायक ये श्रीकृष्णचन्द्र फिर भी गोकुल में, अर्थात् व्रज में आगये हैं । और अब आनन्दमय घन (मेघ) के समय (आचार) को प्राप्त होकर, हजारों गुणे अमृत (जल या प्रेमरस) की वर्षा भी करेंगे । किन्तु स्नेहाशवत्, अर्थात् तेल को खानेवाले दीपक की तरह, अपने आश्रय में रहनेवाले जनसमुदाय को (पक्षे—अपने आश्रयस्वरूप बत्तीयों के समूह को) विनष्ट नहीं करेंगे । परन्तु महान् कष्ट में पड़ी हुई तुम्हारी सखियों की चेष्टा को मैं कर्णगोचर करना चाहती हूँ, अर्थात् सुनना चाहती हूँ ।।५९।।

उसके बाद वह सखी कहने की उत्कण्ठा से युक्त होकर भी, आँसुओं से गद्गद कण्ठ होने के कारण

'व्रजे वयं द्विधा वृन्दा वृन्दावनगता मताः। एकाः कन्यागणे गण्या गण्या नास्मिश्च काश्चन ॥६१
द्वितीयानामियं संवित् संवित्सद्मनि धीयताम्। जगत्यस्मिन्नसर्वज्ञैः सर्वज्ञैरपि सर्वशः ॥६२
यथा ख्यातिर्गवां पत्युः पत्युस्तद्वद्गृहस्य नः। वाङ्मात्रेण धवत्वं स्याद् धवत्वं स्याद् द्रुमेष्वपि ॥
यदि कृष्णात् परं कान्तं कान्तं वेच्छाम गोचरम्।
स्वसात्कुर्यात् कृष्णवर्मा कृष्णवर्माऽन्यथाऽस्मकान् ॥६४॥
एवं विशाम सङ्कल्पं सङ्कल्पं ज्वलने वयम्। येन लज्जामतिक्रम्य मतिक्रम्यं लभेमहि ॥६५
इतः किमन्यत् कान्तस्य कान्तस्य च मुदं वहेत्। यस्य सा ह्रीरभूदस्मदस्मदन्तर्विमर्दिनी ॥६६
यदि तस्य गता लज्जा तातस्य च कुलस्य च। प्रवेक्ष्यामः पुनर्वह्नावह्नायाकांक्षिताप्तये ॥६७
अथ संवित् कुमारीणामारीणाश्रुभृतामियम्।
तं विना न नवाऽऽश्वासान् नवाश्वासान् भजेमहि ॥' इति ॥६८॥

कुछ क्षणोंतक चुप बैठी रही। तदनन्तर सभी सखियों के प्रतिज्ञापत्र पौर्णमासी के दृष्टिगोचर कर दिये ॥६०॥

यथा—व्रज में एवं वृन्दावन में रहनेवाली हम सब गोपियों के दो प्रकार के समुदाय माने जाते हैं, उनमें कुछ एक गोपियाँ तो कन्याओं के गण में गिनी जाती हैं, और कुछ गोपियाँ इस कन्याओं के गण में गिनने योग्य नहीं हैं, किन्तु प्रौढा गोपियों में गिनने योग्य हैं ॥६१॥

इस संसार में जो असर्वज्ञ एवं सर्वज्ञ हैं, उन सभी प्रकार के व्यक्तियों को प्रौढा गोपियों की आगे कही जानेवाली जो प्रतिज्ञा या ज्ञान है, उसको अपनी बुद्धिरूप गृह में सर्वतोभाव से धारण कर लेना चाहिये ॥६२॥

उन गोपियों का कहना है कि—दूसरे व्यक्ति की गैयाएँ होनेपर भी, गैयाओं के रखावारे ग्वारिया की प्रसिद्धि जिस प्रकार गोपति, अर्थात् गोरक्षक कहकर है, उसी प्रकार हमारे घर के प्राकृत पतियों का पतिभाव भी कहने मात्र के लिये है। जैसा कि वृक्षों में 'धव' नाम का एक वृक्ष है, किन्तु वृक्षों का स्वामी नहीं है। किन्तु हमारी प्रतिज्ञा तो यही है कि—हम सब गोपियाँ श्रीकृष्ण से भिन्न किसी दूसरे गोप को यदि पतिरूप से दृष्टिगोचर करना चाहती हों तो, अग्निदेव हमको भस्म करदे, और यदि ऐसी बात नहीं है तो, श्रीकृष्ण के मार्ग को हमारे अधीन करदे ॥६३-६४॥

हम सब इस प्रकार का संकल्प कर करके अग्नि में प्रविष्ट हो जायँगी। जिससे कि लज्जा को लाँघकर बुद्धिगम्य श्रीकृष्ण को पतिस्वरूप से प्राप्त कर लेंगी ॥६५॥

हमारे अन्तःकरण को चूर्ण करनेवाली वह लज्जा हमारी ओर से जिन को हो रही है, उन्हीं हमारे नित्यपति श्रीकृष्ण को वह लज्जा इससे दूसरे कौन से हर्ष को प्राप्त करा सकती है ?॥६६॥

और यदि उनके पिता की तथा कुल की लज्जा चली गई तो, हम सब अपने अभीष्ट की प्राप्ति के लिये शीघ्र ही पुनः अग्नि में प्रविष्ट हो जायँगी। दुबारा अग्नि में प्रविष्ट होने को कहने का तात्पर्य यह है कि, विरहरूप अग्नि में तो हम बहुत दिन से प्रविष्ट हैं ही, किन्तु अब साक्षात् अग्नि में प्रविष्ट हो जायँगी ॥६७॥

अतः चारों ओर फैलनेवाले आँसुओं को धारण करनेवाली कुमारियों की भी यही प्रतिज्ञा है कि—हम श्रीकृष्ण के बिना नये नये आश्वासनों को नहीं धारण करेंगी, और नवीन श्वासों को भी धारण नहीं करेंगी ॥६८॥

"तदेवं सुवचनाऽमत्रिकायां पत्रिकायां वाच्यमानायां सभायामपि वाष्पेण पाच्यमानायां पौर्णमासी सानुशयं स्वाऽऽशयमौर्णवीत् ; प्रत्युत तासां साक्षाद् वचसः स्वकर्णयो रचनाय भावपरीक्षा-सचनाय च विरुद्धरचनमिव वचनमिदं प्रचारयामास,—'अयि विपश्चितः ! काश्चिदेवं निश्चिन्वन्ति । ताः खलु रमणे रामाऽवरजे प्रेममात्रं क्षेममात्रं क्षेमपात्रतया मन्यन्ते । रमणे प्रेमा च रामाणां निरोधमयाभ्यां लज्जाभयाभ्यां सज्जांगतां सज्जति । तर्हि ता अपि यन्निरोधनाम्नाऽभिहितान्निजहितादुद्विजमानाः परदारतां निवारयितुं लिप्सन्ते तन्न युक्तम्' इति ॥६६॥

"तदेतन्निशम्य क्षणं विरम्य च सवैवर्ण्यमितस्ततो निर्वर्ण्य तास्तदिदं स्वयं वर्ण्यमाचरन्ति स्म । तासामेव तन्निरोधः समुद्बोधमाप्नोतु, न पुनरन्यासाम् । अन्यास्तु तदिदं बोद्धुमप्य-धन्या भवन्ति । तत्प्रेमनामा भावस्तल्लाभनिरोधस्याऽनुरोधमयः स्यादिति ; किन्तु (भा० १।११।३३) 'यद्यप्यसौ पार्श्वगतो रहोगत,-स्तथापि तस्यांघ्रियुगं नवं नवम्' इत्येव बोद्धुमुद्बुद्धा भवन्ति ॥७०॥

"तदेवं वर्णयित्वा लुप्तवर्णपदं रुदतीषु सुदतीषु वाष्पपूर्णा पौर्णमासी तदिदं चिन्तयामास,—

इस प्रकार सुन्दर वचनों की आधारस्वरूप वह पत्रिका जब बाँची जा रही थी, एवं उसको सुनकर गरम गरम आँसुओं के द्वारा वह सभा भी जब जली जा रही थी, तब पौर्णमासी देवी ने अपने अभिप्राय को पश्चात्तापपूर्वक छिपा लिया । और उन गोपियों के वचन को साक्षात् अपने कर्णगोचर करने के लिये, एवं उनके भाव की परीक्षा की संगति के लिये विरुद्ध रचना की तरह यह वचन प्रचारित कर दिया कि—अरी समझदार गोपियो ! देखो, कुछ महिलाएँ ही इस प्रकार निश्चित करती हैं, वे तो बलरामजी के छोटे भाई श्रीकृष्णरूप पतिमें मङ्गलमय केवल प्रेम को ही कल्याण के आधाररूप से मानती हैं । स्त्रियों का पति के ऊपर जो प्रेम है, वह निरोध (रुकावट) से परिपूर्ण जो लज्जा एवं भय है, इन दोनों के द्वारा विभूषित अङ्गोंवाला हो जाता है । इतनेपर भी वे स्त्रियाँ निरोध नाम से कहे गये अपने हितकर विषय से उद्विग्न होकर, उपपतिभाव को निवारण करना चाहती हैं; वह उचित नहीं है ॥६६॥

पौर्णमासी के पूर्वोक्त वाक्य सुनकर, क्षणभर चुप होकर, मलिनतापूर्वक इधर उधर देखकर, वे गोपियाँ अग्रिम विषय को स्वयं कहने लग गईं कि—पूर्वोक्त प्रकार की स्त्रियों का लज्जा एवं भय से युक्त जो निरोध कार्य है, वह जागृतभाव को भले ही प्राप्त हो जाय, किन्तु इनसे दूसरे प्रकार की स्त्रियों का वह निरोध कार्य जागृतभाव को न प्राप्त हो । क्योंकि दूसरी प्रकार की स्त्रियाँ तो इस विषय को जानने के लिये भी अधन्य (भाग्यहीन) हो जाती हैं । अतः उनका प्रेम नामक जो भाव है, वह पति के लाभ के निरोध का अनुरोधमय, अर्थात् अनुकूलतामय ही हो सकेगा, अर्थात् रुकावट के बिना प्रेम की वृद्धि नहीं होती है । किन्तु "वे श्रीकृष्ण द्वारका की पटरानियों के यद्यपि निकट ही रहते थे, एवं एकान्त में भी साथ रहते थे, तो भी उनके चरणयुगल उनके लिये प्रतिक्षण नवीन ही प्रतीत होते थे" इस भाव को जानने को ही सजग रहती हैं ॥७०॥

इस प्रकार वर्णन करके, सुन्दर दाँतोंवाली वे गोपियाँ जब वर्ण एवं पदों को लुप्त करके, अर्थात् अधूरे वचन बोलकर रोने लग गईं, तब पौर्णमासी आँखों में आँसू भरकर अपने मन में यह विचारने लगी

'हरेर्नित्याः कान्ता इति न हि विदुर्ये व्रजरमा, मतं तेषां तासां तदुपपतिताप्युत्तमफलम् ।
विदुर्ये ता नित्याः परमहह तेषां पुनरसा,-वमूषु स्याद्गालिः कथमनुगलोकं सुखयतु ?'७१।।

"तस्मान्नाहमासामवरपत्नीत्व-दुष्कीर्तिरक्षणार्थमेतन्मतमाक्रुक्षम् ; किन्तु कुक्षिगतं भावमेवाऽमूषां निरकुक्षम् । वस्तुतस्तु, पतित्वस्याऽसंभव एव किल संभवति भाववतीनां तस्यौपपत्येनापि भजनम् । संभवेऽपि तदनङ्गीकृत्य कथं तदभ्युपगन्तव्यम् ? स्वयमेव चाभि-रुद्धवे शृण्वति जारता तिरस्कृता, (भा० १०।४७।७-८) 'निःस्वं त्यजन्ति गणिकाः', 'जारा भुक्त्वा रतां स्त्रियम्' इत्यनेन ।।७२।। अथ पुनः साशीर्वचनमुवाच,—

'हे राधे ! हन्त चन्द्रावलि ! बत ललिते ! हे विशाखेऽङ्ग ! भद्रे !
भोः श्यामे ! पश्य पद्मे ! कलय शिविसुते ! किञ्च शृण्वन्तु सर्वाः ।
युष्मच्चिन्तामणीन्द्रः स खलु हरिमणिः कामितं वः सुपूर्णं
तूर्णं कर्ताऽस्मदाद्यास्त्विह परिचरणब्राह्मणादिप्रकाराः ।।'७३।।

"अथ वृन्दाप्युवाच,—

'वृन्दावनं भवद्वृन्दावनमेतद्द्वयं हरिः ।
न हास्यतीति जीवामि यन्न हास्यति गौरसौ ।।'७४।।

कि—जो व्यक्ति इस बात को नहीं जानते हैं कि श्रीराधिका आदि व्रजाङ्गनाऐं श्रीकृष्ण की नित्यसिद्ध प्रियतमा हैं, उन सबका यह मत है कि उन व्रजाङ्गनाओं का श्रीकृष्ण के ऊपर उपपतिभाव भी उत्तम फल ही है। किन्तु जो व्यक्ति "ये व्रजाङ्गनाएँ श्रीकृष्ण की नित्यप्रेयसी हैं" केवल ऐसा जानते हैं, उनके सम्बन्ध में वह उपपतिभाव तो उन व्रजाङ्गनाओं के ऊपर गाली देना ही हो जायगा। अतः यह गाली देनारूप व्यवहार व्रजाङ्गनाओं के अनुगत भक्तजनों को किस प्रकार सुखी कर सकता है ?।।७१।।

इसलिए मैंने "ये गोपियाँ तुच्छजनों की पत्नी हैं" उनकी इस प्रकार की दुष्कीर्ति की रक्षा के लिये पूर्वोक्त मत को दोष नहीं लगाया है, किन्तु श्रीकृष्ण की नित्यकान्ता उन गोपियों का हार्दिकभाव ही बाहर निकाला है। वस्तुतस्तु, श्रीकृष्ण में पतिभाव का होना भी असम्भव है, यह सत्य है, तथापि भाववाली महिलाओं का उपपतिभाव से भी श्रीकृष्ण का भजन हो सकता है, एवं सम्भव होने पर भी पतिभाव को न स्वीकार करके, वह उपपतिभाव किस प्रकार अंगीकार करना चाहिये ? अर्थात् किसी प्रकार नहीं। क्योंकि उद्धवजी जब सुन रहे थे तब गोपियों ने उपपतिभाव का स्वयं ही तिरस्कार किया है। यथा—"वेश्याएँ दरिद्रीजन को त्याग देती हैं, एवं जारपुरुष अर्थात् उपपतिलोग अपने ऊपर अनुराग करनेवाली स्त्री को भोग कर छोड़ देते हैं" इत्यादि ।।७२।।

यह विचार कर पूर्णिमा आशीर्वादपूर्वक पुनः बोली—हे श्रीमति राधिके ! हे चन्द्रावलि ! हे ललिते ! हे विशाखे ! हे प्रिय भद्रे ! हे श्यामे ! देख; हे पद्मे ! हे शैव्ये ! तुम सुनो। किंच सभी गोपियाँ श्रवण करो। देखो, तुम्हारी चिन्तामणियों में श्रेष्ठ श्रीकृष्णरूप वह इन्द्रनीलमणि तुम्हारी अभिलाषा को शीघ्र ही भली प्रकार पूर्ण कर देगा। हम जैसे व्यक्ति तो चिन्तामणिस्वरूप इन श्रीकृष्ण की प्राप्ति के विषय में इधर उधर दौड़धूप करनेवाले ब्राह्मण आदि जनों जैसे ही हैं ।।७३।।

उसके बाद वृन्दादेवी भी बोली कि—अरी सखियो ! देखो, श्रीकृष्ण इस वृन्दावन को, एवं आप सब गोपियों के वृन्द की रक्षा करना, इन दोनों को कभी नहीं त्यागेंगे। मैं इसी कारण से जीवित हूँ। क्योंकि

"अथ मधुमङ्गलश्चाऽऽललाप,—

'अस्मि च मधुमङ्गलकः, पुनरपि मधुमङ्गलत्वमापत्स्ये ।
अधिमधुऋतु वः पाणौ,-कृत्य स पाणौ करिष्यते कृष्णः ॥'७५॥

"तदेवं तासामबाधाय समाधाय तां गच्छन्तीमनु व्रजन्ती नित्यं सखितामात्रसुखिनी काचन सखीश्रेणी तया रहस्यन्वयोजि । सभायां खलु विषमभावानां प्रसादलाभहेतोरपि नावभासयन्ति गंभीरस्वभावाः स्वमतम्, तस्मान्निःशलाकताबलादिदमालपामि, नाऽपलपत स्वमतमिति,। तास्तु सगद्गदं जगदुः,—॥७६॥

'यथा सीतादेव्या दशमुखकृतार्तिविपदभूद्-
यथा वा रुक्मिण्या विवहनविधिश्चेदिपकृते ।
तथा राधादीनां परगृहगतिर्या बत विपत्
कथं तस्या नित्या स्थितिरभिमता हन्त सुहृदाम् ?'॥७७॥

"पूर्णिमा स्वगतमाह,— 'सत्यं सत्यम्, यतः,

शशभृति राहोश्छाया, चिराय नेति व्यनक्ति कुतुकं च ।
नित्याऽवस्थितिलांछन,-मखिलस्वान्तं विरञ्जयति ॥७८॥

वे श्रीकृष्ण "मैं वृन्दावन को नहीं त्यागूँगा" इस प्रकार की वाणी को "न हास्यति" (हास्यवन्नाचरति) अर्थात् परिहास की तरह व्यवहार में नहीं लाते हैं। अपितु, सत्य ही कहते हैं ॥७४॥

तदनन्तर मधुमङ्गल प्रेम से बोला—हे सखियो ! देखो, मैं मधुमङ्गल नामवाला हूँ, अर्थात् मेरा नाम मधुमङ्गल है, इसीलिए मैं फिर भी मधु, अर्थात् चैत्र में मङ्गलभाव को प्राप्त हो जाऊँगा। कारण वे श्रीकृष्ण वसन्तऋतु में तुम्हारा पाणिग्रहण करके तुम्हारे साथ विवाह कर लेंगे ॥७५॥

इस प्रकार उन गोपियों की निर्बाधा के लिये समाधान करके जाती हुई पौर्णमासी के पीछे पीछे जानेवाली, एवं नित्य उन गोपियों की केवल मित्रता से ही सुख पानेवाली किसी सखीश्रेणी से पौर्णमासी ने एकान्त में पूछा कि—देखो, गम्भीर स्वभाववाले व्यक्ति विषम भाववाले व्यक्तियों की प्रसन्नता के लिये भी सभा में अपने मत को प्रकाशित नहीं करते हैं। इसलिए एकान्त होने के कारण, मैं तुम से यह कहती हूँ कि, मेरे सामने अपने मत को मत छिपाओ। वे सखियाँ तो गद्गद होकर बोलीं— ॥७६॥

जिस प्रकार सीतादेवी को रावण के द्वारा की गई पीडारूप विपत्ति हुई थी, एवं जिस प्रकार रुक्मिणीदेवी को शिशुपाल के निमित्त विवाह-विधिरूप विपति उपस्थित हुई थी, हाय ! उसी प्रकार श्रीराधा आदि गोपियों को दूसरे के घर में जानारूप जो विपत्ति है, हाय ! उस विपत्ति की नित्यस्थिति उनके सुहृदों को कैसे अभिमत हो सकती है ? ॥७७॥

यह सुनकर पूर्णिमा अपने मन में बोली—यह सत्य है, यह सत्य है। कारण चन्द्रमा के ऊपर (ग्रहण के समय) राहु की छाया बहुत देरतक नहीं रहती है, इसीलिए लोगों का कौतुक प्रगट करती है। किन्तु चन्द्रमा में नित्यस्थित रहनेवाला जो लाञ्छन है, वह तो सभी के अन्तःकरण को "विरञ्जयति विरक्तं करोति" विरक्त कर देता है ॥७८॥

"स्पष्टं तु तदिदमाह,—'परगृहिणीतया तासां परनिगृहीतत्वे सत्येव भवतीनां साहाय्यसुखमतिशाय्यस्तीति तत् कथं परित्यज्यते ?' ॥७६॥

"तास्तु मलिनलपननलिनमालपन्ति स्म,—'भगवत्यवधीयताम्, ताः खलु दैवतस्तावन्निजप्राणवल्लभस्य वल्लभत्वेनाऽलाभाल्लब्धमहादुःखास्तत्र च स्वस्याऽन्यहस्तपतिततया जुगुप्सितम्मन्यताशुष्कास्तत्र च प्रियाऽप्रियविप्रकर्ष-सन्निकर्षाभ्यां लब्धमनोधर्षास्तत्र च निरन्तरशङ्कमानैः पतिम्मन्यादिभिर्मंक्षु मंक्षुकृतनिवारणभर्त्सनादिनिकर्षास्ततस्तत एव (भा० १०।२६।१०) 'दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रताप-' इति प्रसिद्धतादृगवस्थाभ्योऽपि महानुरागतः पीडनाद् बहलदहनाऽऽकारकारागारवसतिम्मन्यतया निगीर्णसर्वक्षणं क्षणमपि कल्पं मन्वानाः संप्रति तदीयमहाविरहसमयं विरहय्य चात्मनस्तदुपेक्षतामुत्प्रेक्ष्य लज्जामात्र-पर्यवसानतामासज्य च धिक्-कृतम्मन्या दशमीमपि दशां तन्वानाः ; किं बहुना ? बहिरन्तःसुकुमारतायामपि कौमारत एव व्याधानुविद्धस्निग्धकाननप्रत्यासत्त्यपरित्यागिमृगीवत् प्रखरदराऽपारपरपारवश्यलब्धविचित्रदुर्गतिसंवृततया पश्यतां शृण्वतामपि हृदयं धुन्वाना रसोऽयमिति मन्यमानेन निष्करुणकौतुकेन केनचिदेवोपेक्षितुं शक्यन्ते, न पुनरन्येनेति, काऽऽली कालीव कल्पान्ताय कल्पताम् ॥८०॥

मन में यह कहकर पूर्णिमा स्पष्ट तो यह बोली—अरी राधा आदि गोपियों की सहचरी सखियो ! देखो, उन राधा आदिकों के परपत्नी होने के कारण, परपतियों द्वारा नियन्त्रित होनेपर ही, आप सब की सहायता का सुख अधिकता को प्राप्त हो सकता है, अतः उस सुख को क्यों त्याग रही हो ? ॥७६॥

वे सहचरियाँ तो अपने मुखकमल को मलिन करके बोलीं—हे भगवति ! सुनने के लिये सावधान हो जाइये। देखो, श्रीराधिका आदि वे गोपियाँ दैवयोग से अपने प्राणप्यारे श्रीकृष्ण को पतिरूप में न पाने से महान् दुःख पा रही हैं। उसमें भी अपने को दूसरे गोपों के हस्तगत हो जाने से निन्दनीय मानकर सूखी जा रही हैं। और उसमें भी अपने प्रिय के वियोग एवं अप्रिय के संयोग से वे मानसिक पराजय को प्राप्त हो गई हैं। उसमें भी निरन्तर शंका करनेवाले एवं अपने को पति माननेवाले गोप आदिकों के द्वारा शीघ्रातिशीघ्र रोकना फटकारना आदि का वे स्थान बनी हुई हैं, इसीलिए "अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के असह्य विरह के तीव्र सन्ताप से जिनके अमङ्गल नष्ट हो गये हैं" उस प्रकार की प्रसिद्ध अवस्थावाली गोपियों से भी महान् अनुराग से पीडित होने के कारण, विशेष अग्नि के से आकारवाले कारागाररूप गृह में निवास को मानने के कारण, सर्वप्रकार के उत्सवों को विनष्ट करनेवाले, क्षणभर के समय को भी कल्पभर का समय मानती हुई वे गोपियाँ, इस समय श्रीकृष्ण के महान् विरहप्रद समय को दूर करके भी, अपने सम्बन्ध में श्रीकृष्ण की उपेक्षा को देखकर, परिणाम में केवल लज्जा को पाकर, अपने को धिक्कृत मानकर, दशमीदशा का अर्थात् मृत्युदशा का भी विस्तार करती हुई विद्यमान हैं। और अधिक कहने से क्या ? देखो, बाहर भीतर की सुकुमारता में भी कुमारावस्था से ही स्निग्ध वन की निकटता को न त्यागनेवाली, अतएव व्याध से ताडित होनेवाली मृगी की तरह, भीषण भययुक्त अपार परतन्त्रता से प्राप्त विचित्र दुर्गति में व्याप्त हो जाने के कारण, देखनेवाले एवं सुननेवालों के हृदय को भी कम्पित करती हुई वे गोपियाँ, "निवारण एवं तिरस्कार से रस की पुष्टि होती है" यह भी एक प्रकार का रस है, ऐसा माननेवाले करुणाशून्य कौतुक करनेवाले किसी निर्दयी व्यक्तिविशेष के द्वारा ही उपेक्षित की जा सकती हैं;

"अथ भगवती रोदनसंपत्कंपसंपातपातजातमूर्तीरासां मूर्तीरालिङ्गनाऽमृतसङ्गाद् विगतजूर्तीर्विधाय शुभाशिषा वांछितमहसि निधाय तदीयस्वसखीसन्निधानगमनाय संविधाय निजपर्णशालामागतवती, वृन्दा च निजवनम्। मधुमङ्गलस्तु सर्वमिदं मङ्गलवृत्तं श्रीमति व्रजमङ्गले प्रसङ्गसङ्गि चकार ॥८१॥

"पुनश्च पूर्णिमा सखीद्वारा स्वहृदयं परीक्षमाणाया राधाया बाधातिशयं निशम्य रम्यमिदं सन्देशपत्रं तस्याः सदेशं प्रेषयामास ॥८२॥ यथा—

'नाम श्रीमति ! राधिका तव पिता भानुः प्रसूः कीर्तिदा
श्वश्रूर्नन्दवधूः सखी च ललिता सार्धं विशाखादिभिः।
आरामः किल कृष्णकाननततिः कान्तः स कृष्णः सदा
नाहं किञ्चिदवेदिषं तदपरं नो वेद्मि वेत्स्यामि न ॥'८३॥

'तदेवमेकान्तभक्तानामेकेषां तव कान्तं प्रति प्रार्थना च नितान्तं विश्रान्ततामाप्स्यति,
यथा—गोपेशौ पितरौ तवाचलधर ! श्रीराधिका प्रेयसी
श्रीदामा सुबलादयश्च सुहृदो नीलाम्बरः पूर्वजः।

किन्तु गोपीभक्तिनिष्ठ अन्य जन के द्वारा नहीं। अतः कौनसी सखी दुर्गा की तरह प्रलय करने को समर्थ हो सकेगी ? अर्थात् कोई भी नहीं। यहाँपर असूया के कारण श्रीकृष्ण का नाम स्पष्ट नहीं लिया, अतः 'केनचित्' ऐसा कह दिया यह जानना चाहिये ॥८०॥

उसके बाद भगवती पूर्णिमा रोदनरूप सम्पत्ति एवं कम्पसमूह, इन दोनों के द्वारा मूर्च्छित होनेवाले उन सहचरियों के शरीरों को अपने आलिङ्गनरूप अमृत के सम्पर्क से पीडारहित बनाकर, एवं शुभाशीर्वाद द्वारा अभिलषित महोत्सव में स्थापित कर, तथा उनकी अपनी अपनी सखियों के निकट जाने को नियुक्त करके, अपनी पर्णकुटी में चली आई। वृन्दादेवी अपने वृन्दावन में चली आई। मधुमङ्गल ने तो इस समस्त मङ्गलमय वृत्तान्त को व्रज के मङ्गलस्वरूप श्रीकृष्ण के निकट प्रसङ्ग से संयुक्त कर दिया, अर्थात् प्रसङ्गानुसार कह दिया ॥८१॥

उसके बाद पूर्णिमा ने सखी के द्वारा अपने हृदय (अभिप्राय) की परीक्षा करनेवाली श्रीराधिका की विरहपीडा की अधिकता को सुनकर, उनके निकट यह रमणीय सन्देशपत्र भेज दिया ॥८२॥

यथा—हे श्रीमति ! तुम्हारा नाम श्रीराधिका है, तुम्हारे पिता श्रीवृषभानुजी हैं, एवं माता श्रीमती कीर्तिदा हैं; तथा नन्दरानी श्रीयशोदाजी ही तुम्हारी सास हैं, एवं विशाखा आदि सखियों के सहित श्रीललिता ही तुम्हारी प्रधान सखी हैं, एवं श्रीकृष्ण के वनों की पंक्ति ही तुम्हारा उपवन है, और लोकवेद प्रसिद्ध वे श्रीकृष्ण ही तुम्हारे नित्यकान्त हैं। उनसे भिन्न दूसरी वस्तुओं को मैंने कुछ भी नहीं जाना है, एवं न अब जानती हूँ, तथा आगे जानूँगी भी नहीं ॥८३॥

इसी प्रकार श्रीकृष्ण के कुछ अनन्य एकान्त भक्तों की यह अग्रिम प्रार्थना तुम्हारे प्राणपति श्रीकृष्ण के प्रति विशेष विश्रान्ति के भाव को प्राप्त हो जायगी, यथा—हे गोवर्धनधारिन् ! गोपेश्वरी श्रीयशोदा एवं गोपेश्वर श्रीनन्द, ये दोनों ही तुम्हारे नित्यसिद्ध मातापिता हैं, श्रीमती राधिका ही तुम्हारी नित्यप्रेयसी हैं, श्रीदामा एवं सुबल आदि ही तुम्हारे अनन्त सखा हैं, श्रीबलराम ही तुम्हारे बड़े भ्राता हैं, वेणु ही तुम्हारा

वेणुर्वाद्यमलंकृतिः शिखिदलं नन्दीश्वरो मन्दिरं
वृन्दाटव्यपि निष्कुटः परमितो जानामि नान्यत् प्रभो ! ॥' इति ॥"८४॥

अथ कथकः समापनमाह,—"प्रस्ताव्यान्तरं तु प्रातः प्रस्तोष्यामः—
यस्मादेव भवन्तौ तौ संभवन्तौ मिथोऽप्ययम् ।
सर्वानस्मानखर्वेण गर्वेण धिनुतः सदा ॥" इति ॥८५॥

स्निग्धकण्ठसमापनकण्ठसूक्तनिदिग्धतास्निग्धाः सर्व एव यथायथं वासमासन्नाः । श्रीराधा-माधवौ च सस्पृहं विलासगृहं जगृहतुः ॥८६॥

इति श्रीश्रीमदुत्तरगोपालचम्पूमनु श्रीराधादि-बाधासमाधानं
नामैकत्रिंशं पूरणम् ॥३१॥

अथ द्वात्रिंशं पूरणम्

सर्वसमाधानाऽऽधानपर्वपर्वणम्

अथ व्रजयुवराजविराजमानव्रजराज-सभायामन्येद्युश्च सर्वसुखधन्ये मधुकण्ठ उवाच,—

"तदेवं व्रजस्य व्रजमङ्गलस्य च शर्माभिमानेषु शश्वदुल्लासभासमानतासमानेषु निरन्तर-

---

वाद्य है, मोरपंख ही तुम्हारा मुख्य अलंकार है, नन्दीश्वर पर्वत अर्थात् नन्दग्राम ही तुम्हारा भवन है, और श्रीवृन्दावन हो तुम्हारे घर का उपवन है । हे प्रभो ! इन पूर्वोक्त वस्तुओं से भिन्न तुम्हारे संबंध में मैं और कुछ भी नहीं जानता हूँ ॥८४॥

अनन्तर कथावाचक कथा की समाप्ति का द्योतक वचन बोला—दूसरे प्रस्तावित करने योग्य विषय को तो हम प्रातःकाल प्रस्तुत करेंगे । कारण वे ही नित्यप्रिया प्रियतम राधा-कृष्णरूप आप दोनों परस्पर सम्मिलित होकर "मेरा भक्त नष्ट नहीं होता, एवं जो व्यक्ति मेरा जिस भाव से भजन करते हैं, मैं भी उनका उसी प्रकार भजन करता हूँ," इस प्रकार के विशाल गर्वमय अपने प्रतिज्ञा वाक्यों के द्वारा हम सब को सदैव तृप्त करते रहते हो ॥८५॥

इस प्रकार स्निग्धकण्ठ की प्रसङ्ग की समाप्ति की द्योतक कण्ठ की सूक्तियों से व्याप्त होने के कारण स्निग्ध होकर सभी सभासद् यथायोग्य अपने अपने निवासस्थानपर पहुँच गये । और श्रीराधा-माधव की युगलजोड़ी ने भी आकांक्षापूर्वक अपने विलासभवन को प्राप्त कर लिया ॥८६॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रिविरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीमदुत्तरगोपालचम्पूकाव्ये श्रीराधादि-बाधासमाधानं नाम
एकत्रिंशं पूरणं सम्पूर्णम् ॥३१॥

बत्तीसवाँ पूरण

सब के समाधानरूप महोत्सव की पूर्ति

इस बत्तीसवें पूरण में सभी व्रजवासियों की शंकाओं का समाधान, एवं सन्तोषजनक महोत्सव का वर्णन होगा । श्रीराधा आदि गोपियों की बाधा के समाधान के अनन्तर व्रज के युवराज श्रीकृष्णचन्द्र से विराजमान श्रीव्रजराज की सभा में, सभी सुखों से पुण्यवान् दूसरे दिन मधुकण्ठ बोला—इस प्रकार व्रज

तरतमतारहितहरिहितसंज्ञानेषु चित्रवादित्रनर्तनगानप्रधानेषु विचित्रसमित्रकंसाऽमित्रकेलिवितानेषु च तत्र तत्र सममत्र सुखसत्रनिदानेषु प्रतिरात्रिन्दिवमभिन्नवत् तत्त्रयं विन्दमानमासीत् ॥१॥

"तत्र च सति सरथः सारथिर्यथावदेवाऽवस्थित इति व्रजपतिप्रभृतीनां मनः सन्दिग्धतादिग्धं बभूव। अत्र तु सति परमतिमतिमान् श्रीमान्नन्दकुलनन्दनः क्वचिदानन्दकथायां सविनयेन नयेन कारिताऽऽभिमुख्यान् पितृमुख्यान् पप्रच्छ,—'हन्त ! कथमद्यापि वः परितोषस्य केनचिन्मोष इव दृश्यते ?' ॥२॥

अथ सर्वे रूक्षस्निग्धताम्रक्षितं हसन्तः शंसन्ति स्म,—'अस्मत्परितोषस्य मूलं परमानुकूलः स भवानेव ; ततः किं तस्य पर्यनुयोगचर्यया ?' ॥३॥

"अथ श्रीमान् व्रजचिन्तामणिस्तामिमां चेतसि चिन्तामाचचार,—'नाऽमी तावन्मम काश्चिदन्यचित्ततां चित्तीकुर्वीरन् ; किन्तु रथस्थितिमेव मत्प्रस्थितिकारणमवधारयेरन्' इति। स्पष्टमाचष्ट,—'भवन्मनोरथविशेषश्लेषार्थमेव सोऽयं रथः स्वीकृतपथतां न प्रथयति। तत्र कथमिव निजचित्तमन्यथयथ ; ॥४॥ यतः,

---

के एवं व्रज के मङ्गलस्वरूप श्रीकृष्ण के सुख का अभिमान उपस्थित हो जानेपर, निरन्तर उल्लास की प्रकाशमानता में सभी के एकरूप हो जानेपर, एवं निरन्तर तारतम्यरहित श्रीकृष्ण के हितकर कार्य की सूचना सभी को हो जानेपर, एवं विचित्र वाद्य, नृत्य, गायन की प्रधानता उपस्थित हो जानेपर, एवं अनेक प्रकार के मित्रों के सहित श्रीकृष्ण की केलि (क्रीडा) विस्तृत हो जानेपर, और तत् तत् स्थल में या तत्तद् विषय में सभीजन जब एकसाथ सुखमय यज्ञ के आदिकारण बन गये, तब "अभिमान-गान-केलिवितान" ये तीनों बातें प्रत्येक रात्रि में एवं प्रत्येक दिन में समानरूप से प्राप्त होने लग गईं ॥१॥

ऐसी स्थिति में भी दारुक नामक सारथि रथ के सहित पहले की भाँति उपस्थित है, इसी कारण श्रीव्रजराज आदि व्रजवासियों का मन "श्रीकृष्ण फिर भी द्वारका चले जायँगे क्या ?" इस प्रकार के सन्देह से परिपूर्ण हो गया। ऐसी स्थिति में अन्यजनों की बुद्धि को जाननेवाले, एवं नन्द के कुल का अभिनन्दन करनेवाले श्रीकृष्ण ने, किसी आनन्दमयी कथा में विनयपूर्ण नीति के साथ, अपने पिता आदि प्रधान व्यक्तियों को सम्मुख करके पूछा कि हाय ! आज मेरे आ जाने पर भी,आप सब के सन्तोष की किसी के द्वारा चोरी सी कैसे दिखाई पड़ रही है ? ॥२॥

तदनन्तर सभीजन रूखे स्नेह के भाव से मिश्रित होकर हँसते हुए बोले—हमारे सन्तोष के मूलकारण तो वे आप ही हैं, जो सदैव हमारे परम अनुकूल हैं, अतः उस सन्तोष के सम्बन्ध में पूछने से ही क्या होगा ?॥३॥

उसके बाद व्रज के चिन्तामणिस्वरूप श्रीकृष्ण अपने मन में इस प्रकार की चिन्ता करने लगे कि—ये मेरे पिता आदि व्रजवासी "मेरा चित्त किसी अन्य राजवैभव आदि में हो" इस प्रकार के भाव को चित्त में नहीं ला सकते हैं, किन्तु मेरे रथ की स्थिति को ही मेरे प्रस्थान का कारण निश्चित कर सकते हैं। यह विचार कर स्पष्ट बोले कि—आप सबके मनोरथविशेष के संयोग के लिए ही यह रथ स्वीकृतमार्ग के भाव का विस्तार नहीं कर रहा है, अर्थात् द्वारका की ओर नहीं जा रहा है। इसलिए उस विषय में अपने चित्त को दूसरे प्रकार का क्यों बना रहे हो ? ॥४॥

हित्वा वः परिदेवनापरिवृतान् कंसं निहन्तुं गत-
स्तत्राऽनेक-तदेकचर्यदनुजध्वंसाय लब्धग्रहः ।
तस्मिन्नात्मबलोद्धवादिवचनान्निर्बद्धयुष्मद्गलत्-
प्राणः सोऽहमिहागतोऽपि भवतस्तप्ताऽस्मि हा किं पुनः ?' ॥५॥

"अथ तदेवमाकर्ण्य व्रजराज-मुखं निर्वर्ण्य सर्वेऽपि तं निवेदयामासुः,—'तर्हि द्वारकावदागारमत्र यदि स्यात्तदा तदस्माकं सुखसत्रं भवति । तस्मादन्यथा स्थितिस्तु भवतः स्फुटमस्माकं व्यथां जनयिष्यति' इति ॥६॥

"तदेवमाकर्ण्य भूमिं निर्वर्ण्य स तु मनसि विचारमाचचार,—'आगारपदमेते दारपर्यवसानतां गमयन्ति । नास्मन्मनः सारं तु जानन्ति । तस्मादात्मसहायपौर्णमास्यादिसहायकं सञ्चारयितुमाचरितमच्चित्तानुसारं कृतयमुनाविदारं भ्रातृसारमत्राकारयितास्मि । मदीयमातुः प्रिययातरं तन्मातरमपि, यस्मादेव चात्मनि पूर्ववदपूर्वव्रजवाससुखानि साधयिष्य' इति । "स्पष्टं च व्याचष्ट,—'तर्हि भ्रातरं तन्मातरमपि व्रजमेवाऽऽव्राजयिष्यामि' इति ॥७॥

"सर्वेऽप्यूचुः,—'तर्हि सर्वदा राकाशर्वरीपर्वशर्वरीनाथाद् वरयतश्चकोरवारस्य तस्मादपारशारदसम्भारसारस्यापि लाभः समजनि ॥'८॥

कारण—मेरे विरह में विलाप से घिरे हुए तुम सब व्रजवासियों को छोड़कर, मैं कंस को मारने के लिए मथुरा चला गया था । वहाँपर भी कंस के से व्यवहारवाले अनेक दैत्यों का ध्वंस करने के लिए आग्रह को प्राप्त हो गया था । पश्चात् द्वारका में जाकर उस समय अपने तथा बलदेव उद्धव आदि के वचन से मेरे विरह में निकलते हुए तुम सब के प्राणों को रोकनेवाला मैं वही गोपाल इस व्रज में पुनः आकर के भी हाय ! आप सब को फिर भी विरहाग्नि से सन्तप्त करूँगा क्या ? अर्थात् कदापि नहीं ॥५॥

अनन्तर इस प्रकार से सुनकर श्रीव्रजराज के मुख को देखकर सभीजनों ने श्रीकृष्ण के प्रति निवेदन किया—यदि आप हमको सन्तुष्ट करना चाहते हो तो, द्वारका की तरह इस व्रज में भी यदि आपका आगार (घर) हो जाय, तब तो वह हमारा सुखदायक होगा । उससे अन्यथा आपका रहना तो हमारे लिए आपके पुनः द्वारका जाने की व्यथा को स्पष्ट ही उत्पन्न करता रहेगा । यह बात निश्चित है ॥६॥

इस प्रकार के वचनों को सुनकर भूमि को देखकर, अर्थात् नीचामुख करके श्रीकृष्ण तो अपने मन में विचार करने लगे कि—ये व्रजवासी आगार पद से "न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते" इस उक्ति के अनुसार परिणाम में स्त्रीग्रहण करने के भाव को ही जना रहे हैं । किन्तु हमारे मन के सारांश को नहीं जान रहे हैं । इसलिए अपनी लीला की सहायक पौर्णमासी आदि की सहायता करने के लिए, मेरे चित्त के अनुसार आचरण करनेवाले, एवं यमुना को विदीर्ण करनेवाले बड़े भैया बलदेवजी को भी यहाँपर बुला लूँगा । और मेरी माता की प्यारी देरानी बलदेव की माता श्रीरोहिणी को भी बुला लूँगा । जिस कारण से पहले की भाँति अपूर्व व्रज के निवास के सुखों को अपने में सिद्ध कर लूँगा । यह विचार कर स्पष्ट बोले—यदि ऐसी बात है तो भैया बलदेव को एवं उनकी माता को भी व्रज में ही लिवा लावेंगे ॥७॥

सभी व्रजवासी बोले—तब तो चन्द्रमा से सर्वदा पौर्णमासी की रात्रि के पर्व की याचना करनेवाले चकोरसमुदाय के लिए उस चन्द्रमा के द्वारा शरत्कालीन अपार पुष्टि के सारांश का भी लाभ उत्पन्न हो

"अथ कंसारिर्दारुकं प्रति रहसि चारु निदिदेश,–'भोः ! सूत ! मदीयस्नानीयदानीय-द्रव्यविशेषानयनाय प्रभूतजवप्रथेन रथेन द्वारकां प्रस्थाय दन्तवक्रादिवधमभिधाय ममात्र तु भूतभविष्यत्कालप्रसूततामात्रं तत्र व्यक्तमविधाय मातृमिश्राः श्रीमदार्यमिश्राः समानीयन्ता-मुद्धवश्च तेषामनुषङ्गितया विधीयताम्। किन्तु तेषु रहस्येवं निवेदयितव्यम्, यथात्र व्रजासक्त-तया प्रतीतस्य मम शीघ्रविनिवर्तनमेव लक्ष्यमनुवर्तते' इति। "पुनश्चादिदेश,–'श्रीमदग्रजेन व्रजान्नीते ते शुक-शारिके चाऽऽनेतव्ये' इति ॥६॥

अथ व्रजात्प्रचलितवान् स दारुकः, समागतः सपदि कुशस्थलादपि।
बलादिकत्रयमिह यत्र साक्षितां, नयंस्तदाऽऽनयदिति चित्रमादधे ॥१०॥

हरेर्वाचा ज्ञात्वा पथि कृतगतिर्धेनुकरिपो,-रुपव्रज्यां चक्रे व्रजजनिजनः प्रागिव हरेः।
तथाप्यस्मिन्नेकं समधिकमभूत्प्रस्फुटतरं, यदन्तर्बभ्राजे स्वयमपि हरिस्तद्गणगतः ॥११॥
व्रजाधीशं रामः ससुतममिलद् यर्हि सगणं, व्रजाधीशां रोहिण्यपि पशुपरामावलयिताम्।
तदा सर्वं गोष्ठं प्रमदभरपुष्टं तदभवद्, यथा दिव्यैर्लोकैर्द्विगुणमिदमित्येव ददृशे ॥१२॥

जायगा। तात्पर्य—पूर्णचन्द्रमा को पाकर जैसे चकोरों की अभिलाषा पूर्ण हो जाती है, उसी प्रकार आपको पाकर हमारी सारी अभिलाषाएँ पूर्ण हो जायँगी ॥८॥

अनन्तर श्रीकृष्ण ने दारुक के प्रति एकान्त में यह मनोहर आदेश दिया कि—हे सारथे ! देखो, तुम मेरे स्नान एवं दान के योग्य द्रव्यविशेषों को लाने के लिए, विशेष वेग का विस्तार करनेवाले अपने रथ के द्वारा द्वारका में जाकर, दन्तवक्र आदि दैत्यों के वध को कहकर, इस व्रज में मेरे भूत भविष्यत् काल में केवल प्रगट होने के भाव को वहाँपर स्पष्ट न करके, माताजी के सहित पूज्यपाद बड़े भाई श्रीबलदेवजी को यहाँ लिवा लाओ, और उद्धवजी को भी उनका अनुगामी बना देना, अर्थात् साथ ही लिवा लाना। किन्तु एकान्त में उनके निकट इस प्रकार निवेदन करना कि जिस प्रकार यहाँपर व्रज में आसक्त होने के भाव से प्रसिद्ध जो मैं हूँ, मेरा शीघ्र लौटना ही लक्ष्य है। फिर भी आदेश दिया कि—हे दारुक ! श्रीमान् बलदेवजी व्रज से जिन शुक शारिकाओं को ले गये थे, उन दोनों को भी तुम लेते आना ॥६॥

उसके बाद वह दारुक व्रज से चल दिया, एवं द्वारका से भी तत्काल ही लौट आया। उसने शीघ्र जाने आने के विषय में जहाँपर श्रीबलदेव आदि तीनों को साक्षी बनाकर उपस्थित कर दिया, अर्थात् श्रीकृष्ण ने जब आदेश दिया था, उसी समय उन तीनों को लिवा लाया। इसीलिए उसने आश्चर्य प्रगट कर दिया ॥१०॥

पश्चात् श्रीकृष्ण की वाणी से धेनुकासुर को मारनेवाले बलदेवजी के आगमन को जानकर, उनके मार्ग में चलनेवाले व्रजवासीजन पहले जैसे ही श्रीकृष्ण के निकट गये थे, उसी प्रकार श्रीबलदेवजी के निकट चले गये। तथापि अब के इस निकट जाने में स्पष्टरूपेण एक ही बात अधिक हुई थी कि, उस समय व्रजवासीगणों के अन्तर्गत होकर स्वयं श्रीकृष्ण भी विराजमान थे ॥११॥

उस समय पुत्र एवं परिकर के सहित श्रीव्रजराज से श्रीबलरामजी जब मिले, एवं गोपाङ्गनाओं से युक्त व्रजेश्वरी श्रीयशोदा से श्रीरोहिणीजी जब भुजभर के मिलीं, तब वह समस्त व्रजमण्डल हर्ष की अधिकता से उस प्रकार परिपुष्ट हो गया था कि, जिस प्रकार देवतालोगों को यह व्रज उस समय दुगुना ही दिखाई दिया ॥१२॥

नीराजनादिकं तर्हि रामस्याऽकारि पूर्ववत् । कृष्णद्वैततयाऽलोकि तथापि यदपूर्ववत् ॥१३॥

अथात्र स्निग्धकण्ठः सहासमाह स्म,—

"पुत्रीं पुत्रं चाऽपजह्ने व्रजेश,-स्याऽऽत्मार्थं यः शूरपुत्रश्छलेन ।
तत्पुत्रेण द्वीभवन् पुत्र एष, स्वीयं तातं पश्य शश्वत् पिपर्ति ॥" इति ॥१४॥

अथ मधुकण्ठ उवाच,—"तदारभ्य च;

आस्तां रामस्य सा वार्ता तां पश्यन्नुद्धवस्य च । गोपालसमताचित्रां दारुकश्चित्रतां ययौ ॥१५॥

"उवाच च दारुकः स्वबुद्धमिदं रहस्तमुद्धवम्,—'मयाऽयं मायामयवद् व्रजजन्मनां कृत-प्रचारपदव्यवहार-व्यवहारः पथि भवत्सु भवत्सु प्रतीतमतीत इति न प्रथितश्चक्रे । त एत एव तमेतं गोचरयितार इति चिन्तयाञ्चक्रे च । तत्र तु भवन्तोऽपि तन्मायया तद्रूपीभवन्तो दृश्यन्ते । तस्मादतीव चित्रायमाणं मां कथञ्चित् त्रायमाणः स भवान् भवतात्' इति ॥१६॥

"उद्धव उवाच,—"मुग्धधीरपि भवान्मुग्धतामदुग्ध । यः स्वप्रभोः सव्येष्ठदक्षिणस्थरथ-कुटुम्बीति संज्ञात्रयमयः स भवान्नाद्यापि तदिदं विदन्नस्ति । व्रजवास्तव्या वा स्तव्याः कस्य न स्युः ? येषां पादरजः सज्जनाय विधिरप्यात्मनः सुविधिमभ्यर्थयते' इति ॥१७॥

उस समय श्रीबलरामजी की आरति आदि यद्यपि पहले की भाँति ही की थी, तथापि दूसरे श्रीकृष्ण निकट होने के कारण आरति आदि अपूर्व की तरह दिखाई दी ॥१३॥

अनन्तर स्निग्धकण्ठ इस विषय में हँसकर बोला—देखो, आश्चर्य की बात। जो वसुदेवजी अपने प्रयोजन के लिए श्रीव्रजराज की पुत्री एवं पुत्र को भी छलपूर्वक हर के ले गये थे, उन्हीं वसुदेवजी के पुत्र (बलरामजी) के साथ दो होकर, यह व्रजराजकुमार अपने पिता श्रीनन्दजी को निरन्तर परिपूर्ण कर रहे हैं ॥१४॥

तदनन्तर मधुकण्ठ बोला—उस समय से लेकर बलरामजी की उस बात को तो दूर रहने दो। देखो, गोपालजी की समता को प्राप्त हुए उद्धवजी की उस आश्चर्यजनक बात को देखता हुआ दारुक भी आश्चर्यान्वित हो गया ॥१५॥

पश्चात् दारुक ने भी स्वयं जाने हुए अग्रिम विषय को उद्धव के प्रति एकान्त में कहा कि—ऐन्द्र-जालिक व्यवहार की तरह लोकवेद के प्रसिद्धमार्ग का लोप करनेवाला व्रजवासियों का यह व्यवहार आप सब जब द्वारका से व्रज के मार्ग में प्रवृत्त हो रहे थे, तब मैंने इसीलिए आप सब के प्रति विस्तृत नहीं किया था कि, आप सब को तो यह व्यवहार विदित ही है, एवं यह व्यवहार बीत भी चुका है। और ये श्रीबलदेव आदि ही व्रजवासियों के उस लोकोत्तर व्यवहार को हमें समझा देंगे, यह विचार भी करता रहा। किन्तु उस व्यवहार में तो आप सब भी उनकी माया से व्रजवासी गोपों के से रूपवाले होते हुए दीख रहे हो। इसलिए विशेष विस्मित होते हुए मुझ को आप ही किसी प्रकार बचानेवाले हो जाओ, यही मेरी प्रार्थना है ॥१६॥

उद्धव बोले—हे दारुक ! आपने सुन्दर बुद्धिवाले होकर भी मूढता परिपूर्ण कर दी। क्योंकि जो अपने प्रभु के बाईं ओर बैठने से 'सव्येष्ठ', एवं दाहिनी ओर बैठने से 'दक्षिणस्थ', तथा उनके रथ के हाँकनेवाले होने से 'रथकुटुम्बी' इन तीन प्रकार के नामों को धारण करनेवाले (वस्तुतः 'सव्येष्ठ' आदि तीनों नाम सारथि में रूढ हैं) वे ही आप आज भी व्रजवासियों के उस लोकोत्तर व्यवहार को नहीं जान

"अथ प्रकृतमनुसरामः। ततः सर्वसुखजनन्यां तस्यां रजन्यां मुहुर्मुहुरपि;
अन्तर्बहिर्द्रववशाद् वपुषी मिथस्त,—द्दार्श्लेषशर्मणि विशन्निभयोर्जनन्योः।
रामाऽजितावनुशयादिव हार्दवाचा, स्वत्राऽवधानरचनौ वियुतिं व्यधत्ताम् ॥१८॥

"तदेवं तस्यां रात्रावतिमात्रानन्दगात्रायां तत्प्रभृति च प्रातः प्रातरनुसृत्य श्रीराममादृत्य तेन सह सहतातं श्रीरामसहजातं परावृत्य पितृव्यमुखाऽऽदृत्यगोपाः क्रमान्निमन्त्रयामासुः, रोहिणीमपि व्रजमहीपतिपत्नीसहिताम्; यत्र सर्व एव व्रजः परस्परनिमन्त्रिततयाऽऽसीदित्यतिशयितुमसमर्थतया लज्जायन्त्रित एवाऽजनिष्ट ॥१९॥

"अथ निमन्त्रणायामतूर्णं पूर्णायां पुनः सर्वान् महापर्वणा स्वयं श्रीव्रजयुवराजः सभाजयामास; यत्र कंसवधादधस्ताद् व्रजेश्वरादीनां व्रजप्रस्थापने यद्वेणुशृङ्गादिकं स्वप्रतिनिधिभावाय सह रामेण स्वयं स्तोककृष्णसुबलयोरर्पितवान्, तेन तावन्यैश्च धन्यैरगण्यैर्निजालङ्कारैरलंकृतवान् परैरपरानपि सखीनिति। किं बहुना? सन्देशहरानपि तानाचरितगतागतिचरानानाय्य तत्तन्न्याय्यवस्तुभिः स्तुतिभिश्च पुरश्चकारेति सर्वसुखं वर्वर्ति स्म। "स्वयं तु प्राचीन, बहुविधतत्तन्निजस्पृहितं वेण्वादिकं जनन्या गृहसंगृहीतं गृहीत्वा सखिभिः सह सहरामं विहरति स्म ॥२०॥

पाये हो। अतः व्रजवासीजन किस के स्तुति करने योग्य नहीं हैं? अपितु, सभी के स्तुति करने योग्य हैं। क्योंकि जिनकी चरणधूलि के संसर्ग के लिए विधाता भी श्रीकृष्ण से अपने सौभाग्य की प्रार्थना करते रहते हैं ॥१७॥

अब हम प्रकृत विषय का अनुसरण करते हैं। उसके बाद सभी सुखों को उत्पन्न करनेवाली उस रात्रि में बारंबार ही उस समय भीतर एवं बाहर द्रवीभूत हो जाने के कारण, परस्पर आलिङ्गन के सुख में मानो निमग्न सी होनेवाली दोनों माताओं के दोनों शरीरों को, कृष्ण बलदेव ने पश्चात्ताप सा करते हुए प्रेमभरी वाणी से अपने में सावधानी की रचना करके पृथक् पृथक् कर दिया ॥१८॥

इस प्रकार उस रात्रि के अतिशय आनन्द से परिपूर्ण हो जानेपर, उस समय से लेकर प्रत्येक दिन के प्रातःकाल श्रीबलरामजी के निकट जाकर, उनका आदर करके उन्हीं के साथ श्रीनन्दजी के सहित श्रीकृष्ण को लौटाकर, श्रीकृष्ण के चाचा ताऊ आदि आदरणीय गोप क्रमशः निमन्त्रित करने लग गये। और नन्दरानी श्रीयशोदाजी के सहित श्रीरोहिणी को भी निमन्त्रित करने लग गये। जिस निमन्त्रणरूप कार्य में समस्तव्रज ही परस्पर निमन्त्रित हो गया। इसलिए परस्पर अधिक होने को असमर्थ होने के नाते लज्जा से नियन्त्रित ही हो गया ॥१९॥

पश्चात् निमन्त्रणों का कार्य बहुत दिनों में पूरा हो जानेपर, श्रीकृष्ण ने पुनः महोत्सव के द्वारा सभी को स्वयं सम्मानित किया। जिस महोत्सव में कंसवध के पीछे, श्रीव्रजराज आदि के व्रज में भेजते समय, बलरामजी के सहित स्वयं श्रीकृष्ण ने जो वेणु एवं शृङ्ग आदि अपने प्रतिनिधिभाव के लिए स्तोककृष्ण एवं सुबल को दिये थे, उन वेणु शृङ्गादि के द्वारा तथा दूसरे प्रशंसनीय अगणित अलंकारों के द्वारा उन दोनों को अलंकृत कर दिया। और दूसरे अलंकारों से दूसरे सखाओं को भी अलंकृत कर दिया। अधिक कहने से क्या? देखो, मथुरा एवं द्वारका में पहले श्रीकृष्ण के निकट यातायात करनेवाले उन दूतों को बुलवा कर, उन उन उचित वस्तुओं के द्वारा एवं प्रशंसाओं के द्वारा सम्मानित कर दिया। इस प्रकार

"अथ प्रकृतमेव सेवध्वम् । "श्रीरामः समागत्य द्वितीयं दिनं सङ्गत्य श्रीहरेः प्रेम्णाऽवगुण्ठिताः काश्चन विस्फुटद्धृदयताकृदुत्कण्ठाः स्फुटमुद्धवद्वारा शुभाशीर्भिः सान्त्वनगीर्भिश्च मंक्षु सन्धुक्षयामास । तदेतच्च शुकशारिकायुग्मं मद्द्वारा प्रहितं श्रीमन्मदनुजेन च परमहिततया-निजनिकटे निहितं संप्रति च मादृगिव व्रज एवाऽऽनीतं तदीयसत्यसङ्कल्पता-जल्पनजल्पमयं पद्यं स्वयं भवतीभिरध्यापनीयमिति वाचिकं च प्रस्थापयामास ॥२१॥

"तत्र च द्वित्राऽहोरात्रानन्तरमुद्धवेन सत्रा रहसि रोहिणीरामाभ्यां पूर्णिमाऽभ्यासः सादरमभ्यासेदे; यत्र वृन्दा-मधुमङ्गलसङ्गलग्ना पूर्णिमा तान् सङ्गमितमङ्गलतया पूर्णितमनसः सन्धाय प्रस्तावपरंपरयाऽत्रकीयाय श्रीकृष्णविवाहाय श्रीव्रजराजसमीहितं तत्कर्णाऽभ्यर्णमाचचार यत् खलु मधुमङ्गलात् कर्णयोः सङ्गतवती ॥२२॥

"तत्र कन्याश्चाङ्गीकृतस्वनिर्णयाभ्यां लब्धवर्णाभ्यां रामोद्धवाभ्यां रोहिणीकर्णपथमारोहयामास । तदिदमव्याजं व्याजहार च,–'जाते तु व्रजप्रजापतेः पुरस्तादेतत्प्रस्तावजाते, मन्मतमेव स्वेन सम्मतमिति वक्तव्यम्, न तु स्वयं किमपि वक्तव्यम्' इति ॥२३॥

सभी का सुख निरतिशय विद्यमान हो गया । और श्रीकृष्ण स्वयं तो माता के द्वारा घर में संग्रह किये हुए प्राचीन एवं अनेक प्रकार के अपनी इच्छा के अनुकूल उन उन वेणु आदि को ग्रहण कर, सखाओं के साथ श्रीबलरामजी के सहित विहार करते रहे ॥२०॥

अब "रोहिणीमाता के सहित श्रीबलरामजी का जिस लिए पुनः व्रज में आगमन हुआ है" उसी प्रसङ्ग का अनुशीलन करो । देखो, श्रीबलरामजी ने व्रज में आकर दूसरे दिन को प्राप्तकर, श्रीकृष्ण के प्रेम से ढकी हुई एवं हृदय को विदीर्ण करनेवाली उत्कण्ठा से युक्त कुछ गोपाङ्गनाओं को, उद्धवजी के द्वारा अपने शुभाशीर्वाद एवं सान्त्वनामयी वाणियों से शीघ्र स्पष्ट ही सन्तुष्ट कर दिया । और तुम सबने मेरे द्वारा यह शुक शारिका का जोड़ा जो द्वारका भेजा था, एवं मेरे छोटे भाई श्रीकृष्ण ने जिसको परमहितपूर्वक अपने निकट रखा था, उसको अब श्रीकृष्ण ने मेरी तरह व्रज में ही मँगवा लिया है (मैं तुम्हारे पास भेज रहा हूँ), इस जोड़े को तुम सब श्रीकृष्ण की सत्यसंकल्पता के कहनेवाले वाक्यों से युक्त श्लोक को स्वयं पढ़ा देना । इस प्रकार का सन्देश भी उनके पास भिजवा दिया ॥२१॥

और उस व्रज में दो तीन दिन के बाद रोहिणी एवं बलराम उद्धव के साथ पूर्णिमा के निकट एकान्त में आदरपूर्वक पहुँच गये । जहाँपर वृन्दा एवं मधुमङ्गल के संग में लगी हुई पूर्णिमा ने मङ्गल की प्राप्ति होने के कारण, उनको परिपूर्ण मनवाले जानकर, प्रस्ताव की परम्परा से व्रजसम्बन्धी श्रीकृष्ण के विवाह के लिए, श्रीव्रजराज की अभिलषित चेष्टा उनके कानों के निकट पहुँचा दी, जो चेष्टा पूर्णिमा ने मधुमङ्गल से अपने कर्णगोचर की थी ॥२२॥

वहाँपर अपने निर्णय को स्वीकार करनेवाले चतुरशिरोमणि बलराम एवं उद्धव के द्वारा पूर्णिमा ने श्रीकृष्ण के योग्य कन्याओं को रोहिणी के कर्णपथ में पहुँचा दिया । और निष्कपटभाव से यह कहा कि—श्रीव्रजराज के सामने इस प्रस्तावसमूह के उपस्थित होते ही "मेरा मत ही तुम्हारा निजी सम्मत है" यह कह देना, किन्तु स्वयं कुछ भी नहीं कहना ॥२३॥

"तदेवं पौर्णमास्या सहैकमत्येन सातत्येनाऽऽनन्दाऽऽरामा व्रजधामाऽऽगता रामादयः श्रीव्रजपतितत्पत्नीभ्यां तदर्थमनुयुक्तास्तदुक्तामेव रीतिं प्रयुक्तां निर्ममिरे ॥२४॥

"ततश्च व्रजपतिजंपती तदभ्यासमेवाऽभ्याजग्मतुः। तदनु च तदनुनयादिकं विधाय तदनुज्ञया सन्निधाय च तदिदं निवेदयामासतुः,–'तपःप्रभाववत्या भवत्याः प्रसादादपत्यस्य प्रत्यागमनं प्रत्यासन्नम्। अनन्तरं तु निजान्तरस्य दुरन्तलषितान्तरमाख्यातुं लज्जां सज्जावः; यदधुना तस्य वधूसम्पत्तये च प्रयतते चेतोवृत्तिः ॥'२५॥ "पौर्णमासी साऽऽनन्दमुवाच,—

'श्रोतृवक्त्रोरैकमत्यं यदि स्याद् दैवयोगतः।
तदालिप्सितभावानां सिद्धिः शकुनविन्मतम् ॥' इति ॥२६॥

'शकुनशास्त्रानुसारेण लब्धमनोरथपारेण मनसा पृच्छामः। भवतोरत्र कुत्र गोपगोत्र-जायां मनोरथः प्रथते, तत् कथ्यताम् ॥'२७॥

"अथ व्रजराज्ञी विज्ञापयामास,–'काश्चिद् धन्याप्रभृतयः कात्यायन्याराधनधन्याः कन्यास्तस्मिन्नेव स्वन्यासात् कन्यात्वं रक्षितवत्यः सन्तीति ताः प्रत्यधिकम्' इति ॥२८॥

"पौर्णमासी उवाच,–'कथमसाधारणा राधादयस्तासां साधारणा अपि न क्रियन्ते ?' "तावूचतुः,–'हन्त ! ता भवदन्तरमागताश्चेत् परमशन्तमा एव भवेयुरिति कथंतरां नोररीक्रियन्ताम् ? किन्त्वमूः कतमाः ?' "पौर्णमासी उवाच,–'धन्यानां वृषभान्वादीनां कन्या

इस प्रकार पौर्णमासी के साथ एकमत हो जाने के कारण, व्रजधाम में आये हुए श्रीबलराम आदि ने निरन्तर आनन्द में रमण करके श्रीव्रजराज एवं व्रजरानी के द्वारा श्रीकृष्ण के विवाह के लिए पूछनेपर, पौर्णमासी की कही हुई रीति ही प्रयुक्त कर दी ॥२४॥

उसके बाद व्रजराज श्रीनन्द एवं व्रजेश्वरी श्रीयशोदा पौर्णमासी के निकट ही चले आये। पश्चात् उनकी अनुनय विनय आदि करके, उन्हीं की आज्ञा से उनके निकट जाकर, यह निवेदन किया कि—आप तप के प्रभाववाली हैं, अतः आपके कृपाप्रसाद से हमारे लाला श्रीकृष्ण का व्रज में पुनः लौटना हो गया है। उसके बाद तो अपने मन की अपार दूसरी अभिलषित वस्तु कहने को हम दोनों लज्जा कर रहे हैं। कारण इस समय हम दोनों की चित्तवृत्ति श्रीकृष्ण की वधूरूप सम्पत्ति के लिए प्रयत्न कर रही है ॥२५॥

पौर्णमासी आनन्दपूर्वक बोली—दैवयोग से यदि श्रोता वक्ता इन दोनों की मति का भाव एक सा हो जाय तो अभीष्ट पदार्थों की सिद्धि हो सकती है। यह शकुन को जाननेवाले पण्डितों का मत है ॥२६॥

शकुनशास्त्र के अनुसार मनोरथ को पार पानेवाले मन से मैं तुम्हें पूछती हूँ कि, इस व्रज में आप दोनों का मनोरथ कौनसी गोपकन्या में निविष्ट है, उसे कह दीजिये ॥२७॥

अनन्तर श्रीव्रजेश्वरी ने निवेदन किया कि—कुछ धन्या आदि ऐसी कन्याएँ हैं, जो कात्यायनी की आराधना से धन्य (पुण्यात्मा) हैं। वे श्रीकृष्ण के ऊपर ही आत्मसमर्पण करके अपने कन्याभाव की रक्षा करती हुई विद्यमान हैं। मेरा मनोरथ उन्हीं के प्रति अधिक है ॥२८॥

पौर्णमासी बोली—सब से विशिष्ट श्रीराधा आदि गोपकन्याओं को आप उन धन्या आदि कन्याओं के समान भी क्यों नहीं बना रही हैं? श्रीव्रजराज एवं व्रजरानी दोनों ही बोले कि—यह तो महान् हर्ष

एव ।' "तावूचतुः,—'सुध्यादिगुरो ! तदिदं न बुध्यामहे ।' "पौर्णमासी सहासमुवाच,—'ताश्च कन्या एव, न पुनरन्यादृशाः ।' "व्रजराज उवाच,—'कथमिव ?' ॥२९॥

"पौर्णमासी उवाच,—'यदा किल वसुदेवमन्त्रणैकसर्गतया गर्गस्तासां वर्गमन्यत्र प्रादेशयितुं तत्पितॄनुपदिदेश, तदा भवदादिमनोरथविज्ञया मया प्रेरितया सर्वत्र व्याप्नुवतः स्वप्नस्य संपादनव्यवसायया मायया तासामन्यत्र विवाहभानं निर्वाहितम् । तत्पतिम्मन्यानामन्यायादिप्रवृत्तिमनु च मायावृत्तिरूपास्तासां स्वरूपाश्च मध्ये मध्ये पराऽनिध्येयतया निर्वाहिताः' इति ॥३०॥ "तस्मात्—

कौमारः सन्नजितः, कौमारीभिः समं गोष्ठे । द्वन्द्वीभावं गच्छन्,—निर्द्वन्द्वीभावमागन्ता ॥३१॥

"अथ तौ तदेतन्निशम्य तम्यन्ते नलिनवदमलिनमुखसुषमसुखसमाधिसाधीयांसौ तूष्णीकतयाऽपि तां पुष्णीतः स्म ॥३२॥ यतः,

हेमन्तामरदीर्घिकाविसरवत् कल्पद्रुवन्यस्थली,-च्छायावदहरिचन्दनस्वरसवच्छुभ्रांशुनिर्यासवत् । राधादीयकुमारताऽनपगमं व्यञ्जद्वचस्तन्मुनेः, सद्यः स्पृश्यतयाऽभिमृश्य जहतुस्तापं व्रजाऽधीश्वरौ

की बात है कि, यदि वे राधा आदि कन्याएँ आपके अन्तःकरण में आगईं, तब तो वे परममङ्गलमयी ही हो सकती हैं । अतः किस प्रकार अङ्गीकार नहीं की जायँगी ? अपितु, की जायँगी । किन्तु बताओ, वे कौनसी हैं ? पौर्णमासी बोली—वे तो पुण्यात्मा श्रीवृषभानु आदि गोपों की ही कन्या हैं । वे दोनों बोले—हे विद्वानों को आदिगुरु पौर्णमासि ! हम यह नहीं समझ पा रहे हैं कि, वे कन्याएँ कैसे हैं ? पौर्णमासी हँसकर बोली—वे कन्याएँ ही हैं, किन्तु दूसरी कन्याओं के समान नहीं हैं । श्रीव्रजराज बोले—यह कैसे ? ॥२९॥

पौर्णमासी बोली—श्रीवसुदेवजी के विचार में एकाग्र हो जाने के कारण श्रीगर्गाचार्य ने उन राधा आदि गोपियों के समूह को अन्यत्र देने के लिए उनके पिताओं के प्रति जब उपदेश दिया था, तब मैंने आप सब के मनोरथ को जान लिया था, अतः मेरे द्वारा प्रेरित हुई एवं सब जगह व्यापक होनेवाले स्वप्न को बनाने के व्यापारवाली माया के द्वारा, अभिमन्यु आदि अन्य गोपों के निकट उनके विवाह की प्रतीति निर्वाहित कर दी थी । और अपने को उन गोपियों के पति माननेवाले अभिमन्यु आदि गोपों की उनके साथ सहवास आदि अन्याय की प्रवृत्ति को लक्ष्य करके उसी माया के द्वारा "जिनको दूसरे जन न देख सकें" इस प्रकार के भाव से माया की वृत्तिरूप एवं राधा आदि गोपियों के समान रूपवाली गोपियाँ बीच बीच में बनाकर निर्वाहित कर दी थीं ॥३०॥

इसलिए श्रीकृष्ण कुमार अवस्थावाले होकर, कुमार अवस्थावाली श्रीराधा आदि कन्याओं के साथ दाम्पत्यभाव को प्राप्त होकर, इस व्रज में निर्द्वन्द्वता (स्वतन्त्रता) को प्राप्त हो जायँगे ॥३१॥

उसके बाद व्रजराज एवं व्रजरानी ने यह वचन सुनकर, रात्रि के अन्त में कमल की तरह निर्मल मुख की परमशोभा से सुखमयी समाधि में दृढतर होकर, मौन भाव से भी पौर्णमासी को हर्ष से पुष्ट कर दिया ॥३२॥

कारण—श्रीराधा आदि गोपियों की कुमारता के प्रकाशक पौर्णमासी के वचन को, तत्काल अनुशीलन करने योग्य विचार कर, व्रजराज एवं व्रजेश्वरी ने संताप को त्याग दिया । पौर्णमासी का वह वचन हेमन्तऋतु की गङ्गा के प्रवाह की तरह निर्मल, कल्पवृक्षों की वनस्थली की छाया की तरह शीतल, एक

"अथ क्षणं विरम्य सगद्गदं जगदतुः—'वत्सः किं तदिदं तद्वत् समधिगच्छति ?'॥३४॥

"पौर्णमासी उवाच,—'अथ किम् ? किन्तु मदाद्युपदेशाज्ज्ञात्वापि लज्जां सज्जंस्तत्र न सज्जते। "व्रजराज्ञी प्राह स्म,—'राधिकादिकानामपि का वार्ता ?' "पौर्णमासी उवाच,—'ताश्च तथा स्वयमेव मां प्रति संप्रति चाऽऽविश्चक्रुः; ॥३५॥यथा—

'लब्धेऽप्यनूपवासे, बत चातकजातयश्चिरं परितः।
केवलवारिधराऽमृत,-तृष्णाज्वालासु जुह्वति प्राणान् ॥' इति ॥३६॥

'तदेवं सति यावत्तदलाभमेव तासां तदाशया घूर्णमानानामप्युपायमजानानां तत्प्रतिकूलवासपाशयन्त्रणासहनं संभवति, न तु तल्लाभेऽपि तदङ्गीकरणम् ॥३७॥ 'तथा हि—

तमस्यन्धे भ्रान्ता भयदघनघूके चिरतरं, चकोर्यः स्वं देशं सितरुचिसनाथं यदि ययुः।
तदा तद्वाञ्छेयुर्न पुनरथ नाथं निजमिताः, कथं मायाभर्तुर्गृहमभिलषन्तु व्रजरमाः ॥३८॥

"व्रजराज उवाच,—'तत्पितृणां का वार्ता ?'"पौर्णमासी उवाच,—'ते च मदुपदेशादवगतरहस्याः परमावेशादिदमूचुः,—

अंग में लगाने से सभी अंगों को शीतल करनेवाले हरिचन्दन के रस की तरह स्निग्धताकारी, एवं चन्द्रमा के अमृत की तरह चिन्तारूप रोग का निवर्तक था ॥३३॥

पश्चात् क्षणभर चुप होकर दोनों ही गद्गद स्वर से बोले—हमारा लाला श्रीकृष्ण, आप जिस प्रकार कह रही हो, उसी प्रकार इस प्रसङ्ग को जानता है क्या ? ॥३४॥

पौर्णमासी बोली—हाँ, जानता तो है। किन्तु अस्मदादि के उपदेश से जान करके भी, लज्जा करता हुआ उनमें आसक्त नहीं होता है। व्रजेश्वरी नन्दरानी बोली—राधिका आदि गोपियों का कौनसा वृत्तान्त है, कहिये ? पौर्णमासी बोली—उन राधिका आदि गोपियों ने इस समय स्वयं ही मेरे प्रति उस प्रकार अपना भाव प्रगट कर दिया है ॥३५॥

यथा—चातकजाति का यह स्वभाव है कि अनूप, अर्थात् जलप्राय स्थान में निवास प्राप्त होनेपर भी चातकजातियाँ चिरकालतक चारों ओर केवल मेघ के जल की तृष्णारूप ज्वालाओं में अपने प्राणों को झोंक देती हैं। तात्पर्य—उसी प्रकार हम सब गोपियाँ भी घनश्याम के चरणामृत की पिपासारूप ज्वालाओं में अपने प्राणों को भले ही झोंक देंगी, परन्तु श्रीकृष्ण से भिन्न गोप को पतिरूपेण अङ्गीकार नहीं करेंगी ॥३६॥

अतएव ऐसी स्थिति में जबतक श्रीकृष्ण की प्राप्ति नहीं होती है, तभीतक उनकी प्राप्ति की आशा से घूमघुमेर खानेवाली होकर भी, श्रीकृष्ण की प्राप्ति का उपाय न जाननेवाली उन राधा आदि गोपियों का, उनके प्रतिकूलवासरूप पाश की यन्त्रणा का सहन करना सम्भव हो सकता है; किन्तु श्रीकृष्ण की प्राप्ति हो जानेपर प्रतिकूलवासरूप पाश की यन्त्रणा का सहन अङ्गीकार करना कदापि नहीं हो सकता है ॥३७॥

देखो, भयप्रद मेघ एवं उल्लुओं से युक्त गाढे अन्धकार में चिरकालतक भ्रान्त हुई चकोरियाँ चन्द्रमा से सनाथ यदि अपने देश को प्राप्त कर लेती हैं, तो अपने स्वामी चन्द्रमा को प्राप्त होकर फिर उस गाढे अन्धकार को कदापि नहीं चाहती हैं। उसी प्रकार व्रज की लक्ष्मीस्वरूपा श्रीराधिका आदि गोपियाँ अपने निजी स्वामी श्रीकृष्ण को पाकर मायिकपतियों के घर की चाहना किस प्रकार कर सकती हैं ? ॥३८॥

श्रीव्रजराज बोले—अच्छा, तो गोपियों के पिताओं की कौनसी बातचीत है ? पौर्णमासी बोली—वे

'कृष्णसारतनया यदि तीर्णा, व्याघ्रचक्र-गहनाद् भवितारः ।
कृष्णसारतनयं परमेताः, संभवेयुरखिलाः स्वसमानम् ॥'३९॥

"व्रजराज उवाच,—'गर्गस्तावदस्मत्संविदर्गलं वचनसर्गमातनोत् । यदेतादृशां कञ्जदृशां कञ्जदृशा संबन्धे सति, तद्विरहादन्धे तमसि सर्व एव व्रजः पतिष्यतीति । तस्य तु समाधानं दुर्धानम् ॥'४०॥

"पौर्णमासी सहासमाह स्म,—'स खलु भाविनीं तादृशीं गतिं प्रतीत्य मतिमेतामुत्थापितवान् । नहि भवदङ्गजे परममङ्गला तासामङ्गसङ्गतिस्तस्य व्रजे सङ्गभङ्गाय सङ्गच्छेत ।'

"अथ व्रजराजौ सोच्छ्वासमिदं व्याजह्रतुः,—'तदिदमन्ये लोकाः कथं मन्येरंस्तासां श्वशुरम्मन्यादयो वा ?' ॥४२॥

"पौर्णमासी उवाच,—'तत्र वयमेव समाधानमाधास्यामः, भवद्भिस्तु श्वः सर्वोऽपि व्रजः पर्वोदयमाचर्य निमन्त्रणचर्ययाऽऽकार्यताम्' इति ॥४३॥

"अथ तौ च तदेतत् कर्णपीयूषमास्वाद्य तत्पदमभिवाद्य गृहमासाद्य वाद्यप्रभृतिभिर्विप्रादीनाहूय भूयश्च श्रीकृष्णाऽऽगमनवन्महोत्सवमुच्छलयामासतुः ; तादृशमन्त्रणया निमन्त्रणयामासतुश्च सर्वं व्रजमिति स्थिते, निरन्तरदिनान्तरवृत्तान्तः कर्णान्तरमानीयताम् ॥४४॥

तो मेरे उपदेश से सम्पूर्ण रहस्य को जानकर, परम आवेश से यह कह रहे हैं कि—कृष्णसारतनयाः (कृष्णः सारो येषां तेषां वृषभान्वादीनां पुत्र्यः) अर्थात् श्रीकृष्ण ही हैं सार जिनके, उन वृषभानु आदि गोपों की पुत्रियाँ मायिकपतिरूप व्याघ्रगणों से युक्त जंगल से यदि पार हो गईं, तब तो ये सभी गोप कन्याएँ अपने समान केवल श्रीकृष्ण ही हैं सार जिनके, उन श्रीनन्दजी के पुत्र श्रीकृष्ण को भली प्रकार प्राप्त कर लेंगी ॥३९॥

श्रीव्रजराज बोले—श्रीगर्गाचार्यजी ने तो हमारी प्रतिज्ञा के निवारकरूप वचन की सृष्टि कर दी थी कि, इस प्रकार की कमललोचना राधा आदिकों का सम्बन्ध कमलनयन श्रीकृष्ण के साथ हो जानेपर, उनके विरह से सारा व्रज ही गाढे अन्धकार में गिर पड़ेगा। अतः गर्गमुनि के उस वचन का समाधान तो दुष्कर है ॥४०॥

पौर्णमासी हास्यपूर्वक बोली—गर्गाचार्यजी ने तो मथुरा जाने के अनन्तर श्रीकृष्ण के विरह में होनेवाली उस प्रकार की दुर्दशा को जानकर यह प्रतिबन्धरूप बुद्धि उठाई थी। किन्तु अब आपके पुत्र के निकट उन गोपियों के अंग का संसर्ग परममङ्गलरूप होने के नाते, व्रज में पुनः श्रीकृष्ण के विरह के लिए संगत नहीं हो सकता है ॥४१॥

अनन्तर श्रीव्रजराज एवं व्रजेश्वरी ने लंबे स्वास लेकर यह कहा—दूसरे लोग अथवा अपने को उन गोपियों के ससुर आदि माननेवाले लोग पूर्वोक्त विवाह को मायाकल्पित किस प्रकार मानेंगे ? ॥४२॥

पौर्णमासी बोली—उस विषय में मैं ही समाधान कर दूँगी। किन्तु आप सब तो केवल पर्व का उदय बनाकर, निमन्त्रण की चर्या के द्वारा सभी व्रजवासियों को बुला लो ॥४३॥

पश्चात् व्रजराज एवं व्रजेश्वरी ने पौर्णमासी के वचनरूप इस कर्णामृत का स्वाद लेकर, उनकी चरण वन्दना करके, अपने घर आकर गाजे बाजे आदि के साथ ब्राह्मण आदि वर्णों को बुलाकर, श्रीकृष्ण के

"अतः प्रातः प्राततमहामहा व्रजमहीपतिमहाशयः सर्वंसहामपि मुदाऽऽन्दोलयामास, यत्र सर्व एव खर्वसंख्यास्तदीयसमीपमीयन्ते स्म । तत्पत्नीमहाशया च पूर्णमहाऽऽशया पौर्णमासीं समीपमध्यासीनां विधाय सर्वाः समानाययामास, यत्र श्रीराधाप्रभृतयश्च यद्यपि लब्धबाधाभृतयस्तथापि व्रजराज्याः समाज्ञाऽवज्ञात्रस्तास्तत्राऽऽजग्मुः, याः खलु प्राणवल्लभस्य निजबल्लवपल्लीसमागमनेन हर्षाऽतुलवर्षाभिर्लब्धसंपदोऽप्यवग्रहव्यग्रा वल्ल्यंकुरपाल्य इव जातशरत्तापविसरतप्तजीवनाः पल्लय इव घनाऽशक्यस्थितिमयसमयवितर्क्यमाणनिजलयाश्चातक्य इवालोक्यन्त । तद्दृश्वरी व्रजेश्वरी तु सास्रतया पूर्णिमामुखं निर्वर्णयामास ; यत्र विलोक्यमानाश्च ताः श्लोक्यचरितादिगणिता व्रजेशवनिता वाष्पसलिलकलिलनिजविलोचनान्तर्विरोचमानतत्प्रतिबिंबसंवलनलक्ष्यतया भगवतीमालक्षयन्ती तस्यां समर्पयन्तीवाऽलक्ष्यत ॥४५॥

"भगवती च दृशा तादृशतामनुकुर्वती ताः स्फुटमङ्गीकुर्वती बभूव, अभिहितवती च,— 'सर्वनिमन्त्रणमयं खल्विदं पर्व ; तस्मात् सर्वतः सर्वाः समाहूयन्ताम्' इति ॥४६॥

"तदेवमाकर्ण्य प्रतिगृहं निर्वर्ण्य च काश्चिदागताः कर्णलग्नतया भगवतीं प्रति वर्णया-

---

आगमन महोत्सव की तरह, फिर भी महोत्सव आरम्भ कर दिया। उसी प्रकार के निमन्त्रण से सभी व्रजवासियों को निमन्त्रित भी कर दिया। ऐसी स्थिति में व्यवधानरहित दूसरे दिन के वृत्तान्त को कर्णगोचर कीजिये ॥४४॥

अनन्तर प्रातःकाल महामहोत्सव का विस्तार करनेवाले उदारचेता श्रीव्रजराज ने अपने हर्ष से पृथ्वी को भी चंचलित कर दिया। जिस महोत्सव में श्रीव्रजराज के निकट खरब की संख्यावाले सभी जन आ गये। महोत्सव से परिपूर्ण चित्तवाली एवं उदार चित्तवाली श्रीनन्दरानी ने श्रीपौर्णमासी को अपने निकट बैठाकर सभी व्रजाङ्गनाओं को बुलवा लिया। जिस बुलवाने में श्रीराधा आदि गोपियाँ बाधाओं की प्राप्ति से परिपूर्ण थीं, तथापि श्रीव्रजेश्वरी की आज्ञा की अवज्ञा से भयभीत होकर, उस महोत्सव में चली आईं। एवं जो राधा आदि गोपियाँ अपने प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण के निज गोपों के ग्राम में आजाने से हर्षमयी अतुल वर्षाओं के द्वारा सम्पत्ति को पाकर भी, उस समय वृष्टि के प्रतिबन्ध से व्यग्र हुईं लताओं की अंकुरश्रेणियों की तरह, एवं शरत्कालीन ताप के प्रवाह से सन्तप्त हुए थोड़े से जलवाली मछलियों की तरह, तथा मेघों की स्थिति के अभावमय समय में अपनी मृत्यु की सम्भावना करनेवाली चातकियों की तरह दिखाई दे रही थीं। उनको देखनेवाली व्रजेश्वरी तो सजलनयन होकर, पूर्णिमा के मुख को देखने लग गईं। अतएव जहाँपर प्रशंसनीय चरित आदि से यशस्विनी व्रजेश्वरी, दिखाई देनेवाली राधा आदि गोपियों को, आँसुओं से भरे हुए अपने नेत्रों में शोमायमान, उन (राधा आदि) गोपियों के प्रतिबिम्ब के सम्पर्क के बहाने, भगवती पौर्णमासी को दिखाती हुई, मानो पौर्णमासी में समर्पण करती हुई सी दिखाई दी ॥४५॥

भगवती पूर्णिमा भी नेत्र द्वारा श्रीव्रजेश्वरी का सा अनुकरण करती हुई, श्रीराधा आदि उन गोपियों को स्पष्ट ही अंगीकार करनेवाली बन गई, और बोली कि—यह पर्व सभी का निमन्त्रणमय है, अतः सब जगह से सभी स्त्रियों को बुलवा लीजिये ॥४६॥

इस प्रकार सुनकर कुछ स्त्रियाँ (वहाँ से जाकर) प्रत्येक घर को देखकर, वहाँ आकर, कानों में

मासुः,—'आश्चर्यमाश्चर्यम्, यत् खलु राधाप्रभृतीरेता निजनिजगृहे च लब्धधृतीरपश्याम' इति ॥४७॥

"पौर्णमासी उवाच,—'यान्तु पुनरन्याश्च सन्यायवचनाः।' अथ तथा कुर्वत्यः पूर्ववदन्याश्च विज्ञप्तिं कुर्वते स्म ॥४८॥

"ततश्च सर्वेषामाश्चर्यपर्यायतया व्रजेश्वरसभापर्यन्तं वृत्तमिदं वृत्तं बभूव। व्रजेश्वरश्च भगवत्युपदेशपात्रतया व्रजवासिस्त्रीपुंसमात्रमेकत्र चकार। भगवती च तत्र ध्यानमाचचार; ध्यानमाचरन्ती च विष्णुमायां निध्यानपदवीमानिनाय ॥४९॥ ततश्च सा—

श्यामाष्टपाणिपरिवेष्टित-पार्श्वयुग्मा, चक्रादिशस्त्रवलिता खगसिंहवाहा।
देवादिभिः परिणुतप्रसरत्प्रभावा, सर्वैः समुन्नतमुखैः परितो व्यलोकि ॥५०॥

"तदनु च विहङ्गमसिंहपृष्ठमेवाऽधितिष्ठन्ती यथायथं सर्वानुपतिष्ठन्ती तदिदं वदति स्म,—

'सन्देहं मा कथञ्चित् कुरु पितरिह हे मातरन्यस्ववर्ग !
स्वैरं प्रागेव गर्गप्रतिहतिविहतिं कुर्वती काश्चिदासाम्।
कुर्वे स्माहं सरूपा यदनु च पशुपा मत्कृतास्ता द्वितीया
दारान् स्वान्मन्यमानाः परिणयशयनं नाऽऽपुरादिस्थितानाम् ॥५१॥

लगकर, पूर्णिमा के प्रति कहने लगीं कि—आश्चर्य, महान् आश्चर्य यह है कि, इन राधा आदि गोपियों को हम यहाँ भी पहले देख रही थीं, और अपने अपने घर में भी बैठी हुई अभी देखकर आई हैं ॥४७॥

पौर्णमासी बोली—अच्छा, न्यायपूर्वक कहनेवाली दूसरी स्त्रियाँ फिर से देखने को चली जायँ। अनन्तर दूसरी स्त्रियों ने भी उसी प्रकार जाकर, पुनः आकर पहले की भाँति निवेदन किया ॥४८॥

उसके बाद सभी जनों की आश्चर्य परम्परा के द्वारा, श्रीराधा आदि गोपियों के दो दो रूप होनेवाला यह वृत्तान्त, श्रीव्रजराज की सभातक पहुँच गया। श्रीव्रजराज ने भी भगवती पूर्णिमा के उपदेश के पात्र होने के नाते, व्रज के सभी स्त्री-पुरुषों को एकत्रित (इकट्ठे) कर दिया। भगवती पूर्णिमा वहींपर ध्यान करने लग गईं। ध्यान करते करते विष्णुमाया को सभी के दर्शनगोचर कर दिया ॥४९॥

उसके बाद सभीजनों ने ऊँचा मुख करके, चारों ओर से उस विष्णुमाया का दर्शन किया। वह विष्णुमाया श्यामवर्णवाली थी, एवं उसके दोनों बगल आठभुजाओं से परिवेष्टित थे, तथा वह चक्र त्रिशूल आदि शस्त्रों से युक्त थी, आकाशचारी सिंह ही उसका वाहन था, देवादि सभीजन उसके विस्तीर्ण प्रभाव की स्तुति कर रहे थे ॥५०॥

उसके बाद आकाशचारी सिंह की पीठपर ही बैठी हुई, यथायोग्य सभी के निकट होती हुई यह बोली—हे पिता नन्दजी ! हे मातः यशोदे ! एवं हे अन्य निजवर्ग के गोप ! देखो, आप सब इस विषय में किसी प्रकार भी सन्देह मत करो। क्योंकि मैंने गर्गाचार्य के प्रतिबन्ध को दूर करते हुए पहले ही श्रीराधिका आदि इन गोपियों के समान रूपवाली कुछ गोपियाँ बना दी थीं। जिसके बाद मेरी बनाई हुई उन दूसरी गोपियों को ही अपनी अपनी पत्नी मानते हुए अभिमन्यु आदि गोपगण, पहले की यथार्थ स्थितिवाली सच्ची गोपियों के विवाह एवं शय्या को नहीं प्राप्त कर पाये ॥५१॥

जानामि या निजभ्रातुरङ्गीकार्या इति स्वयम् । ताः कथं रक्षितुं दोषादुपेक्षे सर्वतः क्षमा ॥५२

"पूर्वमपि मया तदीदृगपूर्वं जनकात्मजाया हितं हव्यवाहनसहायतया विहितम् । यदा खलु रावणस्तस्याः कलुषाय तापसतादंभमर्जन् निर्जनवनमागतस्तदातङ्कसश्ररतयाऽऽत्मानं स्तुवानाममूमावसथ्याग्निर्दृशोः पथ्याविर्बभूव, सर्वत्र विभूय बोभूयमानया मया मायया गोपयन्नन्यां तादृशीम्मन्यां तत्राऽऽरोपयन् पूर्वां मय्यर्पयामास । अपनीतवति तु परां रावणे कालाल्लक्ष्मणाग्रजबाणदलिततया कलिते परामेव परीक्षादहनदाहपरिक्षीणामीक्षयित्वा पूर्वां तु पूर्ववदनाकुलपातिव्रत्यां सत्यां सीतां दर्शयामास यत् खल्विदं सर्वलोकदुर्मनस्ताप्रशमनाय कूर्मपुराणमनु स्वयं वेदव्यासः सव्यासतया निजगीतायां गीतं चकार ॥५३॥ किन्तु,

अन्याः सन्तु सहस्रशः पतिपरा नामूः स्तुवे या निजं
लोकं धर्ममपि श्रिता न हि पुनः स्वं स्वं पतिं केवलम् ।
गोपीः स्तौमि जनप्रसिद्धमपि यास्तं तं विहाय स्फुटं
निर्णीय स्वरतिप्रतीतिविभवात् कृष्णं पतिं मेनिरे ॥५४॥

और मैं श्रीराधा आदि जिन गोपियों को, अपने भाई श्रीकृष्ण के ही अंगीकार करने योग्य हैं, इस बात को स्वय जानती हूँ । अतः परपुरुष के सम्बन्धरूप दोष से बचाने के लिए, मैं उन गोपियों की उपेक्षा कैसे कर सकती हूँ ? क्योंकि मैं सर्वतोभाव से सब कुछ करने में समर्थ हूँ ॥५२॥

मैंने पहले रामावतार में भी अग्नि को सहायक बनाकर जनकनन्दिनी श्रीसीता का अपूर्व हित किया था । देखो, रावण जब सीता के पतिव्रतधर्म को नष्ट करने के लिए तपस्वीरूप से कपट का उपार्जन करता हुआ निर्जन वन में आया था, तब रावण के भय से संमिश्रित होकर अपनी, अर्थात् अग्नि की स्तुति करती हुई सीताजी को लक्ष्य करके, गृहस्थित होम की अग्नि नेत्रों के सामने प्रगट हो गई । और सर्वत्र प्रगट होकर, विशेष उत्कर्ष को प्राप्त होनेवाली मुझ दुर्गारूप विष्णुमाया के द्वारा, सीता की रक्षा करते हुए, अग्नि ने उसी प्रकार की मायामयी दूसरी सीता को उस कुटी में रखकर, पहली यथार्थ सीता मेरे प्रति अर्पित कर दी थी । पश्चात् रावण जब मायामयी सीता को हरके ले गया, एवं समयानुसार श्रीरामजी के बाणों से चूर्ण हो गया, अर्थात् मर गया, तब अग्निदेव ने मायामयी सीता को ही परीक्षारूप अग्नि के दाह से परिक्षीण दिखाकर, पहले की तरह जिनका पतिव्रतधर्म सुस्थिर है, उन पहली सच्ची सीता को दिखा दिया । यह प्रसंग सभी भावुक लोगों के दुःखितमन के भाव को शान्त करने के लिए, श्रीवेदव्यासजी ने कूर्मपुराण में अपनी गीता (व्यासगीता) में विस्तारपूर्वक कहा है । यथा—"सीतयाऽऽराधितो वह्निश्छाया-सीतामजीजनत् । तां जहार दशग्रीवः सीता वह्निपुरं गता ॥ परीक्षासमये वह्निं छायासीता विवेश सा । वह्निः सीतां समानीय तत्पुरस्तादनीनयत्"॥५३॥

किन्तु दूसरी हजारों पतिव्रता, यदि संसार में हैं तो भले ही रहने दो, मैं उन पतिव्रताओं की प्रशंसा नहीं करती हूँ । क्योंकि उन्होंने केवल अपने अपने पतियों का ही आश्रय नहीं लिया; अपितु, लोक एवं धर्म का भी आश्रय लिया था । किन्तु मैं तो प्रेम की ध्वजास्वरूप उन गोपियों की स्तुति करती हूँ कि, जिन्होंने लोकप्रसिद्ध उस उस लोक एवं वैदिक धर्म को छोड़कर स्पष्ट ही निर्णय करके, श्रीकृष्णविषयक अपनी प्रीति प्रतीति के वैभव से श्रीकृष्ण को ही पति जान लिया एवं मान लिया था ॥५४॥

'आयत्यां फलप्रत्यासत्त्यां तु 'मेनिरे' इत्यत्र 'भेजिरे' इत्येव पठनीयम् ॥५५॥

'ततश्च, यत एतासु शुद्धत्वं ध्रुवं तस्मात् कृपा हरेः ।
सा चेत् कः क्षमते धर्मलोपायाऽऽसां मनागपि ॥५६॥

'शुद्धत्वादिकं चोक्तमनेन स्वयमेव, (भा० १०।३२।२२)—न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां, स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः' इति । अन्येषां तद्धर्मलोपाऽक्षमत्वं गर्गवाक्येन भवद्भिरेवोपलब्धम्, (भा० १०।८।१८)—

'य एतस्मिन् महाभागे प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः ।
नारयोऽभिभवन्त्येतान् विष्णुपक्षानिवासुराः ॥' इति ॥५७॥

"अथ सर्वस्मिन्नुत्फुल्लारविन्दवदुल्लासशवलिते बहलकोलाहलसंवलिते पुनरपि शुश्रूषाकलिते हसन्तीव साह स्म,—'किं पुनः पुनरुक्तेन ? युक्तेन सता सर्वेणाऽपि सतां खर्वेण साक्षादेव लक्ष्यतामिति तदेतत् प्रोच्य तत्तद्दिशमवलोच्य काञ्चिदप्यपरिमोच्य द्रुतमन्तर्ध्यानमात्रादन्तर्धानवर्त्मना स्वकल्पितास्ताः सर्वा एव तत् पर्वान्तरमानिनाय; याः खलु प्रतिबिंबावल्य इव बिंबावलीनां राधादीनां साधारणतयाऽऽत्मानमवधारयन्ति स्म ।' ॥५८॥

भविष्यत् काल में विवाह हो जानेपर तो 'मेनिरे' इस पद के स्थान में 'भेजिरे' यह पद पढ़ना चाहिये। अर्थात् विवाह से पहले पतिरूप में माने हुए श्रीकृष्ण की उन गोपियों ने, उनके साथ विवाह हो जानेपर यथेष्ट सेवा भी की ॥५५॥

जिस कारण इन गोपियों में निश्चित पवित्रता है, उसी कारण इनके ऊपर श्रीकृष्ण की निश्चित कृपा है। यदि गोपियों के ऊपर श्रीकृष्ण की कृपा है, तो उनके धर्म को किंचित् नष्ट करने के लिए कौन व्यक्ति समर्थ हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥५६॥

गोपियों की पवित्रता आदि श्रीकृष्ण ने स्वयं ही उनके प्रति रास में कही है कि—हे गोपियो ! तुम्हारा सम्बन्ध परमपवित्र है, अतः तुम्हारा प्रत्युपकार मैं स्वयं देवताओं की अवस्था के समान काल से भी नहीं कर सकता हूँ, इत्यादि। एव दूसरे जन भी श्रीराधा आदि गोपियों के धर्म का लोप करने में असमर्थ हैं; यह बात आप सब ने श्रीगर्गमुनि के वचन से जान ही ली है। यथा—हे नन्दजी ! जो मनुष्य महानुभाव इन श्रीकृष्ण में प्रीति करते हैं या करेंगे, उन भाग्यशाली मनुष्यों को उनके शत्रु इस प्रकार नहीं दबा सकते हैं कि, जिस प्रकार विष्णुभक्तों को दैत्य नहीं दबा सकते ॥५७॥

पश्चात् खिले हुए कमलों की तरह सभीजन जब उल्लसित एवं भारी कोलाहल से संयुक्त, तथा फिर भी सुनने की इच्छा से संयुक्त हो गये, तब वह दुर्गादेवी हँसती हुई सी बोली—देखो, बारंबार कहने से क्या ? यहाँपर खरबों की संख्या में सम्मिलित हुए सभी सज्जन साक्षात् ही देख लें। यह कहकर, जिस जिस दिशा में श्रीराधा अदि गोपियों के घर थे, उस उस दिशा को देखकर, किसी को भी न छोड़कर, वह देवी शीघ्र ही आन्तरिक ध्यानमात्र से गुप्तमार्ग द्वारा, अपने द्वारा कल्पित की हुई उन सब गोपियों को उस पर्व के भीतर लिवा लाई। अतः मायाकल्पित जो गोपियाँ थीं, वे उस समय अपने को बिम्ब-श्रेणीस्थानीय श्रीराधा आदिकों की प्रतिबिम्बश्रेणियों की तरह समानरूप से निश्चित करने लग गईं ॥५८॥

"इति स्थिते पुनः कात्यायन्युवाच,—

'यथावसरमेतासामुभयासां कृता मया। प्रकाशना गोपना च व्यक्तं तेन न तद्ग्रहः ॥५९॥

संप्रति तु तादृशसुदृशां कतिपयाभिरुभयासां भेदः संवेदनविषयान्तर्नीयताम् ॥'६०॥

"अथ तदेतदवधार्य व्रजेश्वर्यादयः स्वयमेवोभयाः पर्यालोचयामासुः। पर्यालोच्य चापवार्य चान्योऽन्यं निवेदयामासुः,—

'मणीनां काचानामपि बहिरुदीक्षाधुतभिदां, परीक्षां पृच्छद्भिर्दृगपि च परीक्ष्येत वणिजाम्।

तथा राधादीनां तदनुकृतिभाजामपि भिदा, कृते देव्यादिष्टा वयमिह परीक्ष्या विरचिताः ॥'६१

"देव्युवाच,—'सरूपकं द्वयं द्वयमेकत्र कृत्वा पर्यवलोच्यताम्।' अथ तथा कृत्वा तास्तथा पुनरूचुः,—

'दूरे भास्वन्मूर्तेः, शशलांछनमूर्तिराभाति।

निकटे निकटे तस्याः, सा पुनराभाव्ययाय जाघट्टि ॥६२॥

"अथ व्रजराज उवाच,—'सर्वमङ्गले! किमतः परं मङ्गले प्रतिपत्स्यते?' देव्युवाच,—'तात! प्राचीनाः स्व-स्व-पितृभवनं गच्छेयुरर्वाचीनास्तु स्व-स्वपतिभवनम्' इति। तदेवं

ऐसी स्थिति में कात्यायनी महामाया पुनः बोली—मैंने 'मायाकल्पित एवं यथार्थ" इन दोनों प्रकार की गोपियों का प्रगट करना एवं छिपाना, समय के अनुसार ही किया था। इसलिए वह रहस्य प्रगट नहीं हो पाया ॥५९॥

किन्तु अब तो कुछ पुरनारियाँ मायाकल्पित एवं सत्यस्वरूपवाली, उन दोनों प्रकार की गोपाङ्गनाओं के भेद को, अपने ज्ञान के गोचर कर लें, अर्थात् दोनों के भेद को देखकर समझ लें ॥६०॥

अनन्तर इस बात को सुनकर श्रीव्रजेश्वरी आदि वृद्धगोपियाँ, दोनों प्रकार की गोपियों को स्वयं ही निहारने लग गईं। निहारने के बाद उनको पृथक् करके आपस में निवेदन करने लगीं कि—देखो, बहिनो! बाहरीदृष्टि से भेदरहित दीखनेवाली मणि एवं काचों की परीक्षा को पूछनेवाले जन, जिस प्रकार व्यापारियों की दृष्टि की भी परीक्षा कर सकते हैं, उसी प्रकार श्रीराधा आदि एवं उन्हीं की सी आकृतिवाली मायिकगोपियों के भेद को स्थिर करने के लिए, दुर्गादेवी के द्वारा आदिष्ट हुई, हम ही यहाँपर परीक्षा के योग्य बन गई हैं। तात्पर्य—दोनों प्रकार की गोपियों के भेद को स्थिर कर देने से, हमारे भी सारासार के विवेक की परीक्षा हो जायगी ॥६१॥

देवी बोली—समानरूपवाली दो दो गोपियों को एक जगह करके निर्णय करो। यह सुनकर श्रीव्रजेश्वरी आदि ने उसी प्रकार एक जगह करके, भली प्रकार देखकर, जिसप्रकार निर्णय किया था, उसी प्रकार पुनः बोलीं—सूर्य की मूर्ति से बहुत दूर रहनेवाली चन्द्रमाकी मूर्ति चमकती रहती है, किन्तु सूर्य की मूर्ति के अत्यन्त निकट रहनेवाली वही चन्द्रमा की मूर्ति अपनी कान्ति के विनाश के लिए ही संघटित हो जाती है। ठीक उसी प्रकार सच्ची राधिका आदि गोपियों के निकट मायाकल्पित राधा आदि गोपियों की कान्ति फीकी पड़ गई है, यह स्पष्ट देख लो ॥६२॥

अनन्तर श्रीव्रजराज बोले—हे देवि! मङ्गल के विषय में इससे आगे क्या होगा? देवी बोली—हे पिताजी! देखो, पहली यथार्थ राधिका आदि तो अपने अपने पिता के घर चली जायँ, एवं पिछली

सुखसचितकर्णाः सर्व एव वर्णा जयजय-कारमङ्गलं रचयामासुः। सर्वशोकापनुदतया मुदं सङ्गता सर्वमङ्गला चाऽनुज्ञापनपूर्वकं निजालयमिङ्गति स्म ॥६३॥ ततश्च,

हरेस्तत्कान्तानामपि तदभितः सात्त्विकगुणे, समुद्भूते हर्षाद् व्यतिकरवशादप्यपिहिते।
स चामूश्च क्लान्तिक्षयमनु निजां कान्तिमभजन्, यथा वर्षालोपादुडुपतिरुडूनां च ततयः ॥६४॥

जनास्तदा महसि विधाय भोजनं, नृपालयान्निजनिजमन्दिरं ययुः।
निजां निजामपि पितरः सुतां गृहं, महीयसा सपदि महेन निन्यिरे ॥"६५॥

अथ स्निग्धकण्ठः पप्रच्छ,—"भोजनात् पूर्वं दुर्वाससः समासन्नताऽप्यासीदिति निशम्यते।" ॥६६॥

मधुकण्ठ उवाच,—"सत्यं सत्यमानन्दात्तदपि स्मरणाय मन्दायते स्म। संप्रति तु प्रतिपद्यताम्। यदा तु वृषभान्वादयः कृतसुकृतम्मन्या निजनिजकन्या गृहं निनीषन्ति स्म। तदानीं तास्तु तत्र सर्वजनतास्तुताश्च न सहसा तदङ्गीकुर्वन्ति स्म; तदिदं च सप्रसङ्गी-कुर्वन्ति स्म; यद्यपि हैमवती तथा दर्शितवती, तथापि परवासकृतवासानामासामस्माकं

मायाकल्पित राधा आदि गोपियाँ अपने अपने पतियों के घर चली जायँ। इस प्रकार के समाचार से सुख से परिपूर्ण कानोंवाले सभी वर्णों के जन, जय जयकार की मङ्गलध्वनि करने लग गये। सभी के शोक को दूर कर देने के कारण हर्ष को प्राप्त हुई सर्वमङ्गला (देवी) भी, सब को अपने अपने घर जाने की अनुमति देकर, अपने स्थानपर चली गई ॥६३॥

उसके बाद श्रीकृष्ण के एवं उनकी नित्यकान्ता श्रीराधा आदिकों के सर्वतोभाव से स्तम्भ, स्वेद, रोमांच आदि अष्टसात्त्विक गुण प्रगट हो जानेपर, एवं हर्ष तथा परस्पर के मिलन के कारण स्पष्ट प्रकाशित हो जानेपर, श्रीकृष्ण एवं श्रीकृष्ण की कान्ताएँ मानसिक ग्लानि के विनाश के पश्चात्, वे सब अपनी कान्ति को उस प्रकार प्राप्त हो गये कि, जिस प्रकार वर्षा के बीत जाने से, चन्द्रमा एवं ताराओं की श्रेणियाँ अपनी कान्ति को प्राप्त कर लेते हैं ॥६४॥

उस समय सभीजन उस महोत्सव में भोजन करके, श्रीव्रजराज के भवन से अपने अपने घर चले गये। उन कन्याओं के पिता भी अपनी अपनी कन्याओं को महामहोत्सवपूर्वक तत्काल अपने अपने घर लिवा ले गये ॥६५॥

पश्चात् स्निग्धकण्ठ ने पूछा—भैयाजी! भोजन से पहले श्रीदुर्वासामुनि का आगमन भी हुआ था, ऐसा सुना जाता है; आपने क्यों नहीं कहा? ॥६६॥

मधुकण्ठ बोला—सत्य है; सत्य है किन्तु आनन्द के कारण वह भी भूल में पड़ गया था। अच्छा, वह प्रसङ्ग अब पुनः प्रवृत्त हो जाय। देखो, श्रीवृषभानु आदि गोप अपने को कृतकृत्य मानकर, अपनी अपनी कन्याओं को जब अपने अपने घर ले जाना चाहते थे, तब उस सभा में समस्त जनता के द्वारा प्रशंसित हुई उन कन्याओं ने सहसा अपने अपने घर ले जाना अंगीकार नहीं किया। और यह बात प्रसङ्ग से युक्त कर दी कि, यद्यपि दुर्गादेवी ने हमारी मायाकल्पित मूर्तियाँ उस प्रकार से सभा में दिखा दी हैं, तथापि दूसरों के घर में निवास करनेवाली, उन हम सब गोपियों के कलङ्क का शोधक, अग्नि के बिना

पावकं विना नाऽन्यत् कलङ्कपावकं स्यादिति, संप्रति तु न तात-वेश्मप्रवेशः सदेशरूपः स्यात् ; किन्तु शुद्धतानिर्वहणवहदहनसात्कृतदेहीभवनं युक्तम् । यथा च संक्लृप्तं तथाऽस्माकमपि शिरसि क्लृप्तं प्रतिस्वं प्रतिज्ञापत्रं वर्तते । तदलमतिविस्तरेण ॥६७॥

"अथ तदेतन्निशम्य तन्मातरस्तु कातरतया ताभ्यस्तत्तदधृष्यतयाऽऽकृष्य निजनिजपतिं प्रति दर्शयामासुस्ते चान्यांस्ते चान्यास्ते च व्रजपतिप्रभृतीनिति सर्वेषां चमत्कारमयः समयः समवर्तत ॥६८॥ तत्र तन्नेत्राऽमत्रीकृतं पत्रमपि यथा—

वचसि मनसि काये जागरे स्वप्नभावे, स्खलितमिह यदि स्याद् गोपराजात्मजान्नः ।
सपदि खलु तदास्मन्मूर्तिरायातु जूर्तिं, सदसि पशुपपातुः सत्परीक्षाहुताशे ॥६९॥

"तदेतद्वर्णनाकर्णनया दुःखदूयमानगात्रेषु व्रजवासिमात्रेषु पूर्णिमाऽनुस्मृतिवशाद् विचलद्वल्कलवासा दुर्वासाः समाससाद । स खलु तदा तपःप्रभाकरः शिवपत्नीपितरं गोभृतां प्रवरं सङ्गत्य निर्वापितप्रायतीव्रभावः सर्वमुदमुदयात् कुर्वन्नदृश्यत ; सर्वजनतया युगपन्नमस्कारादिना तत्कृपादृष्टिरामृश्यत च ; यदनु स्वयमाह स्म,—॥७०॥

'सोऽहं सर्वभयदधामा दुर्वासोनामास्मि । भयदता च मम निरुपधिसर्वहितेऽस्मिन्

दूसरा पदार्थ नहीं हो सकता है । अतः अब अपने अपने पिता के घर में प्रवेश करना सदेशरूप (न्यायसगत) न होगा । किन्तु शुद्धता को पूरी करनेवाले अग्नि में देह को समर्पण करना ही उचित है । और देवी ने जिस प्रकार हमारी शुद्धता का समर्थन किया है, उसी प्रकार हमारे सिरपर धरा हुआ प्रत्येक प्रतिज्ञापत्र भी हमारे पास है । अतः विशेष विस्तारपूर्वक कहने से कोई प्रयोजन नहीं है ।।६७।।

अनन्तर यह सुनकर, उनकी माताओं ने कातरतापूर्वक उन कन्याओं से उस उस प्रतिज्ञापत्र को अनायास खींचकर, अपने अपने पतियों को दिखा दिया, उन्होंने दूसरे जनों को दिखा दिया, एवं दूसरे जनों ने दूसरे जनों को दिखा दिया, एवं उन्होंने श्रीव्रजराज आदि को दिखा दिया । इस प्रकार वह समय सभी के लिए आश्चर्यजनक हो गया था ।।६८।।

वहाँपर उन सब के दृष्टिगोचर होनेवाला पत्र भी इस प्रकार था । यथा—वाणी में, मन में, शरीर में, जागने में, एवं सोने में भी, गोपराजकुमार श्रीकृष्ण से इस जन्म में यदि किंचिद् भी हमारा पतन हो गया हो तो, श्रीव्रजराज की सभा में, हमारा शरीर सज्जनों की परीक्षारूप अग्नि में, तत्काल जीर्णता को प्राप्त हो जाय; अर्थात् भस्म हो जाय ।।६९।।

यह वर्णन सुनकर व्रजवासीमात्र का देह जब दुःख से सन्तप्त होने लगा, तब पौर्णमासी की स्मृति के वशीभूत होकर, दुर्वासाऋषि चले आये; उस समय उनके वल्कलवस्त्र विशेष हिल रहे थे । वे दुर्वासा उस समय तप के द्वारा सूर्यरूप होकर भी, अर्थात् सूर्य के समान तीव्र तापवाले होकर भी, पार्वती के पिता पर्वतश्रेष्ठ हिमालय से मिलकर, श्लेषपक्षे—गोपश्रेष्ठ श्रीनन्दजी से मिलकर, प्रायः शान्त तीव्र भाववाले होकर, अपने उदय से सभी के हर्ष को उत्पन्न करते हुए दिखाई दिये । और सारी जनता ने एकसाथ नमस्कार आदि के द्वारा उनकी कृपादृष्टि प्राप्तकर ली । जिसके बाद वे स्वयं बोले—।।७०।।

मैं वही दुर्वासा नामवाला महात्मा हूँ कि, जिसका प्रभाव सभी को भय देनेवाला है । और मेरा भय देने का जो भाव है, वह सकाम भजन करनेवालोंपर ही तत्पर है, अर्थात् शुद्धभक्ति को न देखकर ही, मैं

कृष्णतयाभिहिते न कस्यचिदैश्वर्यमर्मानुभवमयधर्मादिकमुपाधिं विना भजनं दृश्यत इति परायणतया परामृश्यताम् । तं विना तत्तु भवतामेवेति तत्र च राधादीनामसाधारणमिति नात्र मम तादृशता, प्रत्युत वशीभावभृशता च । ततः संप्रत्यपि राधादीनां बाधामवधार्याऽऽगतस्य मम निवेदनं श्रवसि धार्यताम् । न खल्वेतास्वन्यथा प्रथा कार्या । पूर्वं हि मयाप्येतासु 'कोऽयमस्माकं कृष्णः' इति प्रश्नसमेतासु स्वयमेवापूर्वमिवेदं निवेदितमस्ति । (गो० ता०, उ० २३) 'स वो हि स्वामी भवति' इति । यदेव तापन्यामपि जप्यतां प्राप्तमस्ति । एतासां विरह-व्याधिमवधाय महिषीषु लब्धप्रावीण्यायां रुक्मिण्यामपि तद्धवेऽस्मिन्माधवेऽपि मयाऽपराधः कृतः । यदेव स्कन्दपुराणद्वारकामहिमादिषु मम दुर्यशःकृतशंसनमस्ति' इति ॥७१

"अथ सर्वेऽपि ससंभ्रममिदं निवेदयन्ति स्म,—'भगवन्नमूर्न संप्रत्यस्माभिरन्यथा-प्रत्ययविषयीक्रियन्ते ; किन्त्वेता एव समवेताः सङ्कोचं रोचयमानाः शोचन्मनस्तया वर्तन्ते ॥'७२

"अथ पुनर्मुनिः सुनिरूपितहासं ताः प्रति प्राह स्म,—'भोः ! मातरस्तथापि यद्येवङ्कारतया मातरिश्वमित्रपरीक्षां प्रतीक्षध्वे तदा किं तावता प्रयासेन ? प्रयासे च कृते

भयदाता बन जाता हूँ, यह तात्पर्य विचार लो। क्योंकि संसार में अकारण सबका हित करनेवाले, एवं श्रीकृष्ण नाम से कहे जानेवाले इन श्रीहरि के ऊपर, अपने स्वार्थमय ऐश्वर्य के अभिप्राय के अनुभवमय धर्म आदि की उपाधि के बिना, किसी व्यक्ति का भजन नहीं देखा जाता है। उस उपाधि (कारण) के बिना वह निष्काम विशुद्ध भजन तो केवल आप सब व्रजवासियों का ही देखा जाता है। और उन व्रजवासियों में भी श्रीराधा आदि गोपियों का भजन तो असाधारण है, अर्थात् सर्वोपरि है। इसलिए इस व्रज में मेरा उस प्रकार का भय देने का भाव किसी के भी ऊपर नहीं है, अपितु वशीभाव की अधिकता है; अर्थात् मैं व्रजवासियों के तो अधिक वशीभूत हूँ। अतः मैं अब भी श्रीराधा आदि गोपियों की मानसिक बाधा को निश्चित करके आया हूँ। इसलिए मेरे निवेदन को कर्णगोचर कीजिये। देखो, इन राधा आदि गोपियों के ऊपर "ये परपत्नी हैं" इस प्रकार की अन्यथा ख्याति नहीं करना। क्योंकि इन गोपियों ने कभी पहले मुझ से यह प्रश्न किया था कि—"हे भगवन् ! ये श्रीकृष्ण हमारे क्या लगते हैं ?" इनके इस प्रकार का प्रश्न करनेपर, मैंने स्वयं ही यह विषय अपूर्व की तरह निवेदन किया था कि—"वे श्रीकृष्ण तुम सब गोपियों के स्वामी हैं।" जो मेरा निवेदन गोपालतापनी ग्रन्थ में भी जपने की योग्यता को प्राप्त हो गया है। और इन गोपियों की विरहरूप व्याधि को ध्यान में लाकर, मैंने सब पटरानियों में चतुरता को प्राप्त करनेवाली श्रीरुक्मिणी के प्रति, एवं उनके पति इन श्रीकृष्ण के प्रति भी, अपराध कर डाला है। जो कि स्कन्दपुराणोक्त द्वारका आदि की महिमा के प्रसङ्ग में मेरी अकीर्ति को कहनेवाला है ॥७१॥

पश्चात् सभी व्रजवासी शीघ्रतापूर्वक यह निवेदन करने लगे कि भगवन् ! हम तो अब इन गोपियों को परकीयारूप अन्यथा विश्वास के गोचर नहीं कर रहे हैं, अर्थात् श्रीकृष्ण की नित्यकान्ता ही मान रहे हैं, किन्तु एकत्रित हुई ये गोपकन्याएँ ही संकुचित होकर शोकाकुल मन के भाव से विद्यमान हैं ॥७२॥

अनन्तर दुर्वासामुनि उन गोपियों के प्रति स्पष्ट हास्यपूर्वक पुनः बोले—हे माताओ ! इतना समझानेपर भी यदि आप सब इस प्रकार 'मातरिश्वमित्र' (वायु के सखा अग्नि) की परीक्षा की प्रतीक्षा कर रही हो तो, उतना परिश्रम करने से क्या प्रयोजन ? क्योंकि परिश्रम करनेपर भी, आप सब के

भवत्पातिव्रत्यप्रतापेन वह्निरपि भस्मसाद् भविष्यति । तस्मान्मम तपसां ज्वाला न क्वचित् प्रतिहन्यन्त इति ताः प्रविश्य सपथं निर्दिश्य महाज्वलनरूपं मामुद्दिश्य हस्तमस्तकं कुरुध्वम्' इति । तदेतदभिधाय सर्वानप्यादाय श्रीव्रजेन्द्रकुलरत्नमपि यत्नतस्तेषु सन्धाय ताः प्रान्तरदेश-लब्धान्तराश्चकार ॥७३॥

"अथ लब्धप्रान्तरप्रदेशमाकस्मिकरश्मिभस्मितीकृतसदेशदेशमग्निवेशमात्मानं विधाय यदासामास, तदा तदर्चिःप्रवेशं प्रवेशं तमुद्देशमुद्देशं हस्तं प्रसारयन्ती सानन्दानां तासामलक-नन्दानां ततिः स्वयमलकनन्दावदेव शीतला सकलानपि शीतलांश्चकार ॥७४॥ तत्र च—

परीक्षायां तस्यां मुनिदहनमह्नाय विशती,-रमूः साध्वीः पश्यन् स्वकृतनयनान्तःस्रवजलाः ।
निजाश्रूण्यावृण्वन्नपि मुररिपुर्व्यग्रितमनाः, पुराऽऽसीन्नश्चित्तं विकलयति संप्रत्यपि यतः ॥७५॥

"विचारतस्त्विदं प्रतिपद्यामहे,—

न चेदेताः शुद्धा भवति न हरेरासु करुणा, तयाऽऽसन् दीप्राश्चेत् किमनलवराकः कलयतु ? ।
स चास्तां कः स्याद्वा वडवदहनः कः खररुचि,-र्भवेद्वा कः कालानलकिरणरुद्रः स्वयमपि ? ॥७६

पातिव्रत्य के प्रताप से, अग्नि भी भस्मीभूत हो जायगा । अतः मेरे तप की ज्वालाएँ कहीं भी विनष्ट नहीं होती हैं। इसलिए उन ज्वालाओं में प्रविष्ट होकर, शपथ का निर्देश करके, महाअग्निस्वरूप मेरा उद्देश्य करके, अपने अपने हाथों में मस्तक को कर लो, अर्थात् मस्तकपर हाथ जोड़कर नमस्कार कर लो । यह कहकर दुर्वासाऋषि सभीजनों को लेकर, श्रीव्रजेन्द्रकुल के रत्नस्वरूप श्रीकृष्ण को भी उन सब में सम्मिलित कर, उन राधा आदि गोपियों को प्रान्तरदेश में, अर्थात् बहुत दूरतक छाया एवं पानी से रहित वन के मार्ग में लिवा ले गये ॥७३॥

पश्चात् दुर्वासाऋषि प्रान्तरदेश (बहुत दूरतक सूने मार्ग) में पहुँचनेवाले, एवं अपने तेज की आकस्मिक किरणों के द्वारा निकट के प्रदेश को भस्मीभूत करनेवाले, अपने शरीर को जब अग्नि के समान बनाकर बैठ गये, तब दुर्वासारूप अग्नि की शिखाओं में बारंबार प्रविष्ट होकर, एवं बारंबार उन्हीं मुनि का अनुसंधान करके, उन अलकनन्दा अर्थात् उन कन्याओं की श्रेणी ने आनन्दपूर्वक हाथ फैलाते हुए, स्वयं अलकनन्दा गङ्गा की तरह शीतल होकर, सभीजनों को शीतल कर दिया ॥७४॥

उस प्रकार की परीक्षा को देखकर, उनके प्रति श्रीकृष्ण का जो भाव हुआ, उसका वर्णन करते हैं कि—वहाँपर उस परीक्षा में दुर्वासामुनिरूप अग्नि में शीघ्र प्रविष्ट होती हुई, एवं अपनी प्राप्ति के लिए नेत्रों से अश्रुधारा बहाती हुईं, उन परमपतिव्रता गोपियों को देखते हुए, श्रीकृष्ण अपने प्रेमाश्रुओं को छिपाते हुए भी, पहले व्याकुल मनवाले हो गये थे, उसी कारण हम कथावाचकों के चित्त को अब भी विकल कर रहे हैं ॥७५॥

किन्तु विचार के द्वारा तो हम यह जान रहे हैं कि, यदि ये गोपियाँ विशुद्ध चरित्रवाली नहीं होतीं तो, श्रीकृष्ण की कृपा इनके ऊपर कदापि न होती । यदि ये, श्रीकृष्ण की उस कृपा से ही देदीप्यमान हैं, तब बिचारा साधारण अग्नि कौनसी प्रभुता प्रकाशित कर सकेगा ? वह बिचारा अग्नि तो दूर रहे, क्योंकि उन गोपियों के पातिव्रत्य के सामने वडवानल (समुद्र की अग्नि), एवं तीक्ष्ण प्रभावाले सूर्य ही कौन हैं ? और प्रलयकालीन अग्निरूप किरणोंवाले स्वयं रुद्र भी कौन हो सकते हैं ? अर्थात् कोई नहीं । तात्पर्य—परमपावन गोपकुमारियों को जलाने की सामर्थ्य किसी में भी नहीं है ॥७६॥

यदाऽनन्यां वृत्तिं हरिमनु निजां व्यक्तुममुका, दधत्यः सत्यं तं मुनिदहनमाविश्य निरयुः ।
तदा पक्ष्माप्येकं न वसनदशानां मलिनता,-मयासीदेताः प्रत्युत नवकुमारीश्रियमधुः ॥७७॥

"अनन्तरं तु मुनिः सुनिरूपितसर्वानुज्ञापनः श्रीकृष्णरामसुखापनस्तर्ह्येवाऽन्तरधादिति स्थिते भोजनादिनि चानुष्ठिते किमधिकमधिगमयितव्यं तासु सर्वस्तव्यत्वम् ॥७८॥ यतः,
प्राचीनश्वशुरम्मन्यादिभिश्चामूः सुपूजिताः । तेभ्यश्चाभ्यस्तविनयास्त्रिलोकीस्तव्यतामयुः ॥७९॥

"ततश्च, भौमैर्दिव्यैश्च पुष्पैर्जयजयनिनदैर्गीतवादित्रनृत्यै-
र्दानैर्यानैः प्रयाणैर्द्विजपठितशिवैस्तत्प्रसूतालवर्गाः ।
ताः कन्या गोपराज्ञीप्रभृतिवरदृशः किञ्च गोपक्षितीक्षि-
न्मुख्यान्नत्वा मुनीशामपि चलितवतीर्निन्यिरे स्व-स्वगेहम् ॥८०॥

"नीताश्च ताः परमविनीताः श्रीकृष्णमात्रानुयात्राव्रताः परमापन्निर्गताः परलोकादिवाऽऽगताः पितृभ्यां मेनिरे ; परमसौकुमार्येण कौमारवर्येण सङ्गता एव चाऽनुबभूविरे ॥८१
तथा हि—

अधिक क्या कहें ? देखो, वे गोपियाँ श्रीकृष्ण में अपनी अनन्यवृत्ति को प्रकाशित करने के लिए पूर्वोक्त शपथ धारण करके, दुर्वासामुनिरूप अग्नि में प्रविष्ट होकर जब बाहर निकल पड़ीं, तब उनके वस्त्रों के ठोक का एक सूत भी मलिन नहीं हुआ था (तब उनके भस्म होने की बात तो बहुत दूर रही); अपितु, (बल्कि) इन गोपियों ने नवीनकुमारियों की शोभा धारण करली थी ॥७७॥

तदनन्तर दुर्वासामुनि तो सुन्दर निरूपणपूर्वक सब की अनुमति लेकर, श्रीकृष्ण बलदेव को सुख देकर, तत्काल अन्तर्हित हो गये । ऐसी स्थिति में भोजन आदि हो जानेपर, श्रीराधिका आदि गोपियों के विषय में "ये सर्वजन प्रशंसनीय हैं" इस भाव को और अधिक क्या समझावें ? ॥७८॥

कारण—मायाकल्पित विवाह के बाद जो गोप अपने को इन गोपियों के ससुर मानते थे, उन प्राचीन गोपों के द्वारा भी वे गोपियाँ भली प्रकार पूजित हैं । अतः उन ससुरों के लिए विनय का अभ्यास करनेवाली वे गोपियाँ तीनों लोकों के स्तुति करने योग्य हो गई हैं ॥७९॥

उसके बाद उन गोपियों के मातापिताओं के समुदाय गोपेश्वरी श्रीयशोदा आदि श्रेष्ठ स्त्रियों को, एवं गोपेश्वर श्रीनन्द आदि गोपों को और पौर्णमासीदेवी को नमस्कार करके चलनेवाली उन गोपकन्याओं को अपने अपने घर लिवा ले गये । उस समय आकाश एवं पृथिवी में होनेवाले पुष्पों की वृष्टि हो रही थी, चारों ओर जय जयकार ध्वनि के साथ गाना, बजाना, नाचना आदि हो रहा था, दीनदुःखियों को दान दिये जा रहे थे, सभीजन रथ, गाड़ी, आदि यानों से चल रहे थे; ब्राह्मणगण स्वस्तिवाचन आदि वैदिकमन्त्रों का पाठ कर रहे थे ॥८०॥

मातापिताओं के द्वारा अपने अपने घर लाई हुईं वे गोपकन्याएँ परमविनम्र एवं केवल श्रीकृष्ण का अनुगमनरूप व्रत का पालन करनेवाली थीं । अतः उस समय उनके मातापिता ने उनको महान् आपत्ति से निकली हुईं, एवं परलोक से आई हुईं सी मान लिया । और यह भी अनुभव किया कि, ये कन्याएँ परमकोमलता से युक्त श्रेष्ठ कुमारावस्था से भी संयुक्त हो गई हैं ॥८१॥

तदामूर्निर्मायापतिनिलयकारावसतयो, विशुद्धाः शुद्धान्तेष्वखिलसुहृदां सम्मदकृतः ।
क्षणं मातुः क्रोडे क्षणमथ पितुर्दृष्टिविषये, क्षणं तद्बन्धूनां प्रणयवलये लालनमयुः ॥८२॥

एताः कृष्णस्य कान्ताः परमिति निखिलैर्ज्ञाततत्त्वाः समं तै-
रिष्टास्तस्यैव हेतोः पितृमुखजनताभिश्च संलाल्यमानाः ।
नाऽशृण्वन्नाप्यपश्यन्न च किमपि परं द्रागबुध्यन्त किन्तु
स्वान्ते तस्यैव रूपं गुणमपि शतधा नाम चाऽऽवृत्तमार्च्छन् ॥"८३॥

अथ स्निग्धकण्ठः सोत्कण्ठं पप्रच्छ,—"धन्यादीनामपि कन्यानामार्तानां का वार्ता ?" मधुकण्ठः प्राह,—"धन्यादयश्च ता धन्यास्तासां प्रतीक्षामीक्षमाणाः परीक्षापर्यन्तं स्थितास्ताभिः सममेव यथास्वं पितृधाम जग्मुः ॥"८४॥

स्निग्धकण्ठ उवाच,—"ततः कीदृगन्तरं वृत्तम् ?" मधुकण्ठ उवाच,—"अथ त्रिचतुरेषु वासरेषु परमानन्देन गमिताऽवसरेषु पूर्णिमा तत्तत्कन्यापितॄणां मनस्तन्मनस्कारेण पूर्णीकृत्य स्वमपि तेन तूर्णीकृत्य श्रीव्रजराजविराजमानं समाजमाजगाम । आगम्य च तं रम्यहासमाह स्म,—'आभीरवृषभ ! वृषभान्वादयस्तत्रभवतः कुलं परिहसन्तः सन्ति । न खलु तत्राऽऽभीर-

और देखो, उस समय मायाकल्पित पतियों के गृहरूप कारागार के वास से निकली हुईं, एवं परीक्षा के द्वारा विशुद्ध हुईं वे गोपकुमारियाँ अन्तःपुरों में सभी बन्धुओं का हर्ष उत्पन्न करनेवाली होकर, क्षणभर माँ की गोद में, एवं क्षणभर पिता की दृष्टि के सामने, तथा क्षणभर उनके बन्धुओं के प्रेममण्डल में लाड़-प्यार को प्राप्त करने लग गईं ॥८२॥

"ये गोपकन्याएँ केवल श्रीकृष्ण की ही पत्नी हैं" इस प्रकार सभीजनों के द्वारा जिनका तत्त्व जाना गया है, एवं तत्त्व जाननेवाले उन सभीजनों के द्वारा एकसाथ ही ये मानी गई हैं, इस कारण पितामाता आदि समस्त जनता के द्वारा भली प्रकार लालित होनेवाली वे गोपकन्याएँ न कुछ सुनती थीं, एवं न कुछ देखती थीं, और तत्काल दूसरे किसी उत्कृष्ट विषय को कुछ भी नहीं समझती थीं । किन्तु अपने अपने अन्तःकरण में श्रीकृष्ण के रूप, गुण, एवं नामों की ही सैकड़ों प्रकार से आवृत्ति करती रहती थीं ॥८३॥

अनन्तर स्निग्धकण्ठ ने उत्कण्ठापूर्वक पूछा कि—श्रीकृष्णविरह से पीडित उन धन्या आदि कन्याओं का कौनसा वृत्तान्त है, कहिये ? मधुकण्ठ बोला—धन्या आदि प्रशंसनीय वे कन्याएँ श्रीराधा आदि गोपियों की प्रतीक्षा करती हुईं, उनकी परोक्षातक वहीं रहीं, फिर उनके साथ ही यथायोग्य अपने अपने पिता के घर चली गईं । तात्पर्य—उनका मायिकविवाह नहीं हुआ था, अतः अग्निपरीक्षा का भी प्रयोजन नहीं रहा ॥८४॥

स्निग्धकण्ठ बोला—अच्छा, तो उससे आगे का वृत्तान्त कैसा रहा ? मधुकण्ठ बोला—उसके बाद परमानन्दपूर्वक तीन चार दिन बीत जानेपर, पूर्णिमादेवी उन कन्याओं के पिताओं के मन को, श्रीकृष्ण के साथ अपनी अपनी कन्याओं का विवाह होनारूप मानसिकभाव से परिपूर्ण करके, एवं उसी मनोवासना से अपने को भी शीघ्रगामी बनाकर, श्रीव्रजराज से विराजमान समाज में आ गई । और आते ही श्रीव्रजराज के प्रति मनोहर हँसीपूर्वक बोली—हे गोपश्रेष्ठ ! नन्दजी ! देखो, वे वृषभानु आदि गोप परमपूजनीय आपके

वैश्यत्वं शुद्धम्, किन्तु यादवक्षत्रियजन्मतासम्मततयाऽन्यथा बुद्धम्' इति। तदेवं तेषां नर्म-रचनं वचः संबन्धानुबन्धं सचमानमाकर्ण्य सहासं भ्रातॄन्निर्वर्ण्य स्थितवति व्रजमहीक्षिति तदीयसभ्यमपि कञ्चन तस्मिन्नुपलभ्य मधुमङ्गलः स्मितसङ्गतमुवाच,—'तेऽप्यंबष्ठायामस्मद् ब्राह्मणप्रष्ठादुद्भूता वैश्याभीराभिधाः, न तु शुद्धवैश्यतया परामृश्यन्ते, प्रत्युतास्मद्व्रजमहीपति-पितामहाय यदुपरिवृढाय देवमीढाय परमकुलेन तत्पितामहभगिनीपतिकुलेन कन्या दत्तेति तदन्यारीतिर्न गण्या। तस्मान्मा कर्कशगर्वमोदकचर्वणं कुर्वन्तु, किन्तु पूर्वजानेव पश्यन्तु' इति ॥८५॥

"तदेवं ज्ञाततदीयहार्दतामधुरेषु त्रिचतुरेषु वासरेषु लब्धाऽऽनन्दविसरेषु तन्नर्मणा लब्धशर्मतां गतानां श्रीमतो बलस्य बलानुजस्य च पृथग्गणतया चरणानुरागिकन्यापितॄणां दूता मङ्गलबलिवलयसंभृताः क्रमतः श्रीमन्नन्दमहाराजसमाजमाजग्मुः। आगम्याऽऽगम्य च श्रीरामरामानुजयोर्जामातृतां तत्तन्मातरपितरादिषु च तत्तत्संबन्धपातृतां सूचितवन्ति महावसूचितमूल्यानि रचितमङ्गलानुकूल्यानि वस्तूनि महाराज-पुरतः स्तूपयाञ्चक्रुः। ततश्च तदवगम्य रम्यस्मितवशंवदवदनतया किं किमिदमिति वदन् व्रजराजस्तान् किञ्चिल्लज्जया सज्जयामास। अथ च सम्मान्य भोजनादिकं विश्राण्य च विश्रमयाञ्चकार। न केवलं व्रजराजः, किन्तु क्रमशस्तस्य भ्रातृसमाजश्च तथा व्यवजहार ॥८६॥

कुल का परिहास करते हुए विद्यमान हैं। और कहते हैं कि, श्रीमान् नन्दजी के कुल में गोपजातीय आभीर-वैश्यत्व शुद्ध नहीं है, किन्तु यदुवंशीय क्षत्रिय से जन्म होने की सम्मति के कारण वर्णसंकररूप से समझा गया है। इस प्रकार वैवाहिक सम्बन्ध को गाँठनेवाले उनके परिहासमय वचन को सुनकर, हास्यपूर्वक अपने उपनन्द आदि भाइयों को निहार कर, श्रीव्रजराज जब चुप बैठ गये, तब व्रजराज के उस समाज में श्रीवृषभानु की सभा के किसी व्यक्ति को उपस्थित जानकर, मधुमङ्गल मृदु हास्य के सङ्गत वचन बोला— देखो, वे वृषभानु आदि गोप भी वैश्यजाति की स्त्री में हमारे गोत्र के श्रेष्ठ ब्राह्मण से उत्पन्न हुए हैं, अतः आभीर-वैश्य नाम से पुकारे जाते हैं, किन्तु शुद्ध वैश्यरूप से विचार में नहीं लाये जाते हैं। बल्कि हमारे व्रजराज श्रीनन्दजी के पितामह यादवश्रेष्ठ श्रीदेवमीढजी महाराज के लिए श्रीवृषभानुजी के पितामह के मामा के कुलवाले परमकुलीन किसी व्यक्ति ने अपनी कन्या दे दी थी। इसलिए दूसरी रीति को मत गिनो। अतः आप सब कठोर गर्वरूपी लड्डुओं को मत चबाओ, किन्तु अपने पूर्वपुरुषों की ओर देखो ॥८५॥

अतएव दोनों पक्ष के जनों के हृद्गतभाव के जान लेने से मधुर, एवं आनन्दसमूह से युक्त तीन चार दिन बीत जानेपर, सम्बन्ध के अनुरूप पूर्वोक्त परिहास से परम सुखपानेवाले, एवं श्रीमान् बलराम तथा श्रीकृष्ण के चरणों में पृथक् पृथक्गणरूप से अनुराग करनेवाली गोपकन्याओं के पिताओं के दूत माङ्गलिक भेंटसमूह से संयुक्त होकर, क्रमशः श्रीमान् नन्द महाराज की सभा में चले आये। और उन दूतों ने बारंबार आकर, महान् धन के योग्य मूल्यवाली, एवं माङ्गलिक रचना की अनुकूलतावाली अनेक वस्तुए श्रीनन्दरायजी के आगे ढेर के आकार में रख दीं। वे वस्तुएँ श्रीकृष्ण बलदेव के जामातृभाव (जमाईपन) की, एवं उन उन के मातापिता आदि में वैवाहिक उस उस सम्बन्ध की रक्षा के भाव की सूचना करनेवाली थीं। तदनन्तर उन वस्तुओं को जानकर, मनोहर मन्दमुसक्यान के वशीभूत हुए मुखारविन्द के भाव से "यह क्या है, यह क्या है ?" इस प्रकार कहते हुए व्रजराज ने उन दूतों को कुछ लज्जित कर दिया। उसके

"तेषु वस्तुषु यथायथं श्रीरामकृष्णार्थं प्रस्तूयमानेषु पूर्वः पूर्वमपि विवहनमह विनापि कृतसर्वमनस्कारेण स्वयमङ्गीकारेण मार्जिततदनुरागर्णः कर्णप्रवेशितवर्णतया निर्वर्णयामास। अपूर्वस्तु गुप्ततारचिततत्तदपूर्वस्तत्र सत्रपतया पूर्वमश्रुतवानिवाऽऽसीत्, पुनस्तु मातरपितरादीनामपरितोषं भ्रातुश्च तत्परित्यागदोषं विचारयन्निव तदजानन्निव च तानि स्वीचकार ॥८७

"यत्र च—

वरार्हं कन्यानां पितृभिरुपढौकाय घटितं, सवस्त्रालङ्कारं हरिरधृत हृद्यावृतसुखः।
अथाप्येतर्ह्येव द्यवि भुवि च पर्वाण्युदभवं,-स्तरोरन्तर्मूले रसमनुसृते भान्ति विटपाः ॥८८॥

यदा हरिः स्वयमुररीचकार स, प्रहापितां श्वशुरकुलैरलंक्रियाम्।
तदा भुवि द्यवि च सवाद्यगीतिका, समं मदादधिनुत राधिकादिकाः ॥८९॥

"यत्र च—श्रीदामन्नेज मा त्वं सुबल ! पुलकितां मुञ्च हंहो सुभद्र !
प्रस्वेदं मास्म धेहीत्युपधिविधितया कृष्णमन्वेव जल्पन्।

बाद सम्मानित करके, भोजन आदिक देकर, उन दूतों को विश्राम करा दिया। केवल श्रीव्रजराज ने ही ऐसा किया हो, सो बात नहीं है; किन्तु उनके भ्रातृसमाज ने भी उन दूतों के साथ क्रमशः वैसा ही व्यवहार किया ॥८६॥

वे सब वस्तुएँ श्रीकृष्ण बलदेव के निमित्त यथायोग्य उपस्थित की जा रही थीं, तब पूर्वः अर्थात् पहले श्रीबलरामजी पहले ही विवाहोत्सव के हुए बिना भी सबके मन की परिपूर्णता करनेवाले अपने स्वयं अङ्गीकार के द्वारा, उनके अनुरागरूप ऋण को दूर करके, उन वस्तुओं को इस भाव से देखने लग गये कि, उस समय उनके कानों में मानो "ये वस्तुएँ तुम्हारी भेंट में आई हैं" इस प्रकार के अक्षर प्रवेश ही कर रहे हों। अपूर्वः अर्थात् पीछे उत्पन्न होनेवाले श्रीकृष्ण तो गूढभाव से उन उन वस्तुओं को देखकर, एवं अङ्गीकार करके भी वहाँपर लज्जित व्यक्ति की तरह, पहले नहीं सुनते हुए से चुप बैठे रहे। पीछे तो उन्होंने अपने मातापिता आदि के असन्तोष को विचार कर, एवं इन वस्तुओं के त्यागने से भैया बलदेवजी दोषारोप करेंगे यह विचार कर, मानो अनजान की भाँति वे वस्तुएँ स्वीकार कर लीं ॥८७॥

और जिन वस्तुओं में कन्याओं के पिताओं ने वस्त्र एवं अलङ्कारों के सहित जो जो वस्तु वर के योग्य भेंट करने के लिए उपस्थित की थीं, वे श्रीकृष्ण ने धारण कर लीं, किन्तु उनके धारण करते समय जो सुख हुआ उसको अपने मन में ही छिपा लिया। यद्यपि श्रीकृष्ण ने अपने आन्तरिक सुख को छिपा लिया, तो भी उसी समय स्वर्ग में एवं भूमि में सभी जगह महोत्सव प्रगट हो गये। कारण वृक्ष के भीतर की जड़ में जल लग जानेपर सभी शाखाएँ सुशोभित हो जाती हैं। तात्पर्य—श्रीकृष्ण के सुखी होने से समस्त जगत् ही सुखी हो गया ॥८८॥

उन श्रीकृष्ण ने अपनी ससुरालवालों के द्वारा भेजी हुई शृङ्गार की सामग्री जब स्वयं स्वीकार कर ली, तब भूमि एवं स्वर्ग में एकसाथ होनेवाले वाद्य से युक्त गीतों ने, श्रीराधिका आदि गोपियों को हर्ष से परितृप्त कर दिया ॥८९॥

और जहाँपर श्रीकृष्ण के विवाहार्थ रची गई सभा में मधुमङ्गल नामक ब्राह्मण जो कि श्रीकृष्ण का प्रियनर्म सखा था, वह श्रीकृष्ण को ही लक्ष्य बनाकर "हे सखे ! श्रीदामन् ! तुम कम्पित मत होओ। हे

तस्योद्वाहार्थचर्यासदसि मधुसमाह्वानविप्रः स नर्म-
प्रेयान् कुञ्चद्दृशं तं मुहुरवकलयन् मन्दमन्दं जहास ॥९०॥

"अथ व्रजराजश्च तान् दूतान् बहुसंप्रदानसंभूतान् विधाय प्रतिसंबन्धिगृहनिबन्धनं बहूपकरणप्रबन्धं निधाय विसर्जयामास ; यत्र श्रीराधादीनामपि वधूभावमनवधूतमेव तत्तदुपदानभङ्गीभिः सप्रसङ्गीचकार ॥९१॥ तत्र च—

व्रजेश्वरीप्रहितपरिष्क्रियां यदा,ऽवहन्नमूः सह निजघर्मवारिणा ।
तदुत्थया परिमलधारया हरि,-विदूरगोऽप्यजनि तदाऽधिवासितः ॥९२॥

"तदेवमपि त्रिचतुरेषु वासरेषु परमानन्देन गमिताऽवसरेषु दिनान्तरे तु पौर्णमासी स्व-स्व-गृहमध्यमध्यासीनानुदासीनानिव वीक्ष्य कन्यातात-पशुपजातप्रवीणान् सर्वान् सहासमाह स्म,—'यद्वदाकारत एव परस्परविवाहयाचनप्रकारं निर्वाहयामास, मन्ये तद्वद् विवाहमपि निर्वाहयितुमिच्छथ' इति ॥९३॥

"अथ तेऽपि हसित्वा तदिदमाहुः स्म,—'वयं किं जानीमः ? किन्तु तदानीमिदानीमपि तत्रभवत्य एव सर्वमनुभवन्त्यः सन्ति ।' पौर्णमासी उवाच,—'आस्तां तावद् वामतारामता ; संभूय ज्योतिर्विदः समाहूयन्ताम् ॥९४॥

सुबल ! तुम रोमाञ्च त्याग दो । अहह ! हे सुभद्र ! तुम पसीने को मत धारण करो ।" इस प्रकार कपट की विधि के भाव से कहता हुआ, एवं संकोच से संकुचित दृष्टिवाले श्रीकृष्ण को बारबार निहारता हुआ, धीरे धीरे हँसने लग गया ॥९०॥

पश्चात् श्रीव्रजराज ने उन दूतों को बहुत से द्रव्य के दानपात्र बनाकर, अपने प्रत्येक सम्बन्धी के घर के लिए बहुतसी सामग्रियों के प्रबन्ध का संचय करके बिदा कर दिया । और जिस बिदाई में उन उन भेंट की सामग्रियों के देने के बहाने श्रीराधा आदि गोपियों के पुत्रवधूभाव को भी अखण्ड ही समर्थन कर दिया ॥९१॥

और उस समय व्रजेश्वरी यशोदा के द्वारा भेजी हुई वस्त्र, भूषण, इतर, फुलेल आदि सौगात को श्रीराधा आदि गोपियों ने अपने सात्त्विकभाव से उत्पन्न हुए स्वेदजल के साथ जब धारण किया था, तब उनसे उत्पन्न हुई विशिष्ट सुगन्धि की धारा से अतिशय दूरवर्ती श्रीकृष्ण भी सुगन्धित हो गये थे ॥९२॥

अतएव इसी प्रकार परमानन्दपूर्वक तीन चार दिन बीत जानेपर किसी दूसरे दिन पौर्णमासीदेवी कन्याओं के पिता आदि प्रवीण सभी गोपों को, अपने अपने घर में उदासीन की भाँति बैठे देखकर हास्यपूर्वक बोली—तुम लोगों ने जिस प्रकार अभिप्राय के अनुसार परस्पर के विवाह की याचना के प्रकार का निर्वाह किया था, मालूम पड़ता है उसी प्रकार विवाह का भी निर्वाह करना चाहते हो ॥९३॥

अनन्तर वे भी हँसकर यह बोले कि—हम क्या जानें ? किन्तु उस मायिकविवाह के समय एवं अब यथार्थविवाह के समय में भी पूज्यपाद आप ही सब अनुभव करती हुई विद्यमान हैं । पौर्णमासी बोली—अब कुटिलता की रमणीयता को दूर रहने दो । किन्तु आप सब मिलकर ज्योतिषी पण्डितों को बुलवा लो ॥९४॥

"ततश्च हसद्भिर्गोपसद्भिर्निजनिजकुलाऽभिमानवद्भिरपि हृदि तत्संबन्धानुरागवद्भिर्बहिः पूर्णिमाज्ञां प्रतिपालयद्भिः समाहूते च प्रभूते विप्रादिगणे तूर्णितमनाः पूर्णिमा व्रजनृपद्वारवरानुसारदैवज्ञांस्तत्तत्कन्यापितृणामनुचारकानपि तानेकानुज्ञान् विधाय परममङ्गललग्नं लग्नं निर्णीय तद्वर्णदूतं प्रभूतं प्रणीय च तिलकाग्रिमबहुल-सामग्रीभिस्तत्तदग्रीयजनानग्रीयान् विधाय श्रीव्रजनृपतेरग्रमानिनाय । तत्र चाऽग्रजवैवाहिकलग्नं निर्णीयाऽवरजस्य च निर्णीतवन्तः ॥'६५॥ तत्रावरजस्य यथा—

ललितमाधवपूर्णमनोरथं, समयमैक्षत दैवविदां गणः ।
इह गवागमनक्षणसङ्गतं, विधिभमेव शुभं समबुध्यत ॥६६॥

"अथ व्रजराज उवाच,—'भगवति ! तदेकमेव गोधूललग्नं सर्वासामेव शुभसंलग्नमिति तदेकमग्नता युक्ता ; किन्तु कन्यानामगण्यानां यौगपद्यं कथं संपद्यताम् ॥६७॥

"मधुमङ्गलः समन्दहासमुवाच,—'राजन् ! किन्तावदत्र चिन्तास्पदम् ? मत्प्रियमित्रस्य विचित्रं वैभवमस्ति । ततस्तत्प्रतिनिधिताविधिं विधातुं कुत्रापि शस्त्रं कुत्रापि वस्त्रं कुत्रापि मुकुटं कुत्रापि लकुटं कुत्रापि चाऽर्चा कुत्रापि चर्चा कुत्रापि माल्यं कुत्रापि यत्किञ्चिन्निर्माल्यं कुत्रापि वेणुं कुत्रापि चरणरेणुं प्रस्थापयिष्यामः ॥'६८॥

उसके बाद अपने अपने कुल के अभिमानवाले होकर भी, हृदय में श्रीकृष्ण के वैवाहिक सम्बन्ध में अनुराग रखनेवाले, एवं बाहर से पूर्णिमा की आज्ञा पालन करनेवाले, श्रेष्ठ श्रेष्ठ गोपों ने हँसते हँसते जब बहुत से ब्राह्मण आदिगण बुलवा लिए, तब शीघ्रता से युक्त मनवाली पूर्णिमा श्रीव्रजराज के सिंहद्वार का अनुसरण करनेवाले ज्योतिषियों को, एवं उन उन कन्याओं के पिताओं के उन प्रत्येक सेवकों को एक अनुमतिवाले बनाकर, परम मङ्गल से युक्त लग्न का निर्णय कर, कन्याओं की अधिकता के कारण बहुतसी लग्नपत्रिका बनाकर, तिलक के लिए गोरोचना आदि बहुतसी सामग्री के सहित, उन उन श्रेष्ठजनों को अग्रसर करके, श्रीव्रजराज के आगे लिवा लाई। और वहाँपर ज्योतिषियों ने बड़े भाई बलदेवजी के विवाह के लग्न का निर्णय करके, छोटे भाई श्रीकृष्ण के विवाह के लग्न का भी निर्णय कर दिया ॥६५॥

उन दोनों में श्रीकृष्ण का विवाह-लग्न, यथा—दैवज्ञ पण्डितों के समुदाय ने परमसुन्दर श्रीकृष्ण के मनोरथ को पूर्ण करनेवाले समय का निरीक्षण किया। श्लेषपक्षे—श्रीरूपगोस्वामि प्रणीत 'ललितमाधव' नामक नाटक में पूर्णमनोरथ नामक अंकगत सिद्धान्त का विचार किया। पक्षे—वैशाखमास का विचार किया। उसमें भी गोगण के वन से लौटने के क्षण से युक्त, अर्थात् गोधूलिलग्न से मिले हुए, 'विधिभ' (विधेर्ब्रह्मणो भं नक्षत्रं रोहिणीमित्यर्थः) ब्रह्मा के रोहिणीनक्षत्र को ही शुभ समझ लिया ॥६६॥

यह सुनकर श्रीव्रजराज बोले–हे भगवति पूर्णिमे ! वह एक ही गोधूलिलग्न समस्त कन्याओं के लिए मङ्गलमय है, अतः केवल गोधूलिलग्न में ही सब कन्याओं के विवाह की निष्ठा करना उचित है। किन्तु अगणित कन्याओं का एकसाथ एक ही लग्न में विवाह किसप्रकार हो सकता है, बताइये ? तात्पर्य—हमारा लाला श्रीकृष्ण तो अकेला ही है ॥६७॥

मधुमङ्गल धीरे से हँसकर बोला—हे राजन् ! इस विषय में चिन्ता का स्थान कौनसा है ? क्योंकि हमारे प्रियमित्र श्रीकृष्ण का वैभव विचित्र है। अतः उनके प्रतिनिधि भाव का विधान करने के लिए कहीं शस्त्र, कहीं वस्त्र, कहीं मुकुट, कहीं लकुट, कहीं उनकी मूर्ति (फोटो) एवं कहीं उनके अङ्गराग, कहीं उनकी

"अथ पौर्णमासी कन्याजनकजनानां मुखं समीक्ष्य व्रजेन्द्रं प्रति विहस्योवाच,—'हसतु नामाऽयं कटुभाषी वटुर्मया तु योगमायया तथा योजनीयम्, यथा भवदुद्भवं संभवतां भवतां तत्र तत्र सर्वत्र च सममेव देववद् दुर्भावः प्रादुर्भावः स्यात् ।।'९९।।

"व्रजराजः सानन्दमुवाच,—'या काचिदकस्मादस्माकं सिद्धिः, सा सर्वा सर्वदापि सर्वत्रापि चार्वाग्भवन्त्या भवत्या एवेति प्रसिद्धिस्तस्माद् भवदनुगतानेवास्मान् विद्धि ।।'१००।।

"पौर्णमासी उवाच,—'व्रजजनानामपि स्वामिन्ननुगम्यानुगामित्वं पश्चाद् विचार्यम्, संप्रति तु श्रीकृष्णरामावाकार्य तिलककार्यं पार्यताम् ।।'१०१।।

"अथ व्रजपुरुहूतः स्वजातिप्रसूतं द्विजातिसंभूतं वन्दिमागधसहितसूतं श्रेणोप्रभूतमपि जनं निजसमाजमन्वाधाय तद्वदन्तःपुरमपि तत्तत्पुरन्ध्रीधुरन्धरं विधाय स्वस्तिवाचनादि स्वस्ति सन्धाय स्तववाद्यगीतकृतसंस्तवं हृष्टदेवगणवृष्टनवपारिजातप्रसवं तत्तत्कन्यापितृ-सौवस्तिकप्रशस्त-हस्तलब्धश्लेषविशेषकविशेषं श्रीकृष्णराममस्तकन्यस्तं कारयन् सुखविकारात् निजगांभीर्यं प्रत्यस्तमपि न विदाञ्चकार ।।१०२।। तथा हि—

माला, कहीं उनका यत्किंचित् प्रसाद, तथा कहीं उनकी वेणु, तो कहीं उनकी चरणरेणु भिजवा देंगे। अर्थात् उन्हीं के साथ असंख्य गोपकन्याओं का विवाह एक ही लग्न में अनायास हो जायगा ।।९८।।

अनन्तर पौर्णमासी कन्याओं के पितृसम्बन्धीजनों के मुख को निहार कर, श्रीव्रजराज के प्रति हँसकर बोली—यह कटुभाषी वटु यदि हँसता है तो हँसने दो। किन्तु मैं तो योगमाया के द्वारा उस प्रकार की योजना करूँगी कि, जिस प्रकार आपके पुत्र के साथ विवाह में सम्मिलित होनेवाले आप सब गोपों का देवताओं की तरह दुर्गम्य प्रादुर्भाव उन उन सभी स्थानोंपर एकसाथ ही हो जायगा। तात्पर्य—अनेक स्थानों में एकसाथ अनुष्ठित यज्ञों में, इन्द्र आदि सभी देवताओं का प्राकट्य, जैसे सभी यज्ञों में हविर्ग्रहण के लिए एकसाथ हो जाता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण के साथ अनेक स्थलों में आप सब का भी एकसाथ प्राकट्य संभव हो जायगा ।।९९।।

श्रीव्रजराज आनन्दपूर्वक बोले—हमारी जो कोई अकस्मात् (अचानक) होनेवाली सिद्धि है, वह सब सर्वदा सर्वत्र निकट रहनेवाली आपकी ही सिद्धि है, यह बात प्रसिद्ध है। अतः आप हम सब व्रजजनों को अपना अनुगत ही समझ लें ।।१००।।

पौर्णमासी बोली—हे व्रजजनों के स्वामिन्! कौन अनुगमन करने योग्य है, एवं कौन अनुगामी हो सकता है, इस भावपर तो पीछे विचार करेंगे। किन्तु अब तो श्रीकृष्ण बलदेव को बुलाकर, तिलक के कार्य को पूरा कर लीजिये ।।१०१।।

अनन्तर व्रजेन्द्र श्रीनन्दजी अपनी गोपजाति में उत्पन्न, एवं ब्राह्मण आदि जाति में उत्पन्न जनों को, तथा वन्दी, मागधों के सहित सूतजनों को, और एकजाति के कारीगरों के समूह को अपनी समाज में एकत्रित करके, उसी प्रकार अन्तःपुर को भी ब्राह्मण आदि वर्णों की स्त्रियों के द्वारा कार्यवाहक बनाकर, स्वस्तिवाचनादि माङ्गलिककृत्य करके, स्तुति, वाद्य, गीतों के द्वारा किये हुए परिचय के सहित, एवं हर्षित देवगणों द्वारा बरसाये गये कल्पवृक्ष के पुष्पों के सहित, उन उन कन्याओं के पिताओं के सौवस्तिक, अर्थात् पुरोहितों के मङ्गलमय हाथों से विशेष गुणयुक्त तिलक को श्रीकृष्ण बलदेव के मस्तकोंपर लगवा कर, सात्त्विक, स्तम्भ, स्वेदादि सुख के विकार से उस समय समाप्त हुए अपने गाम्भीर्य को भी भूल गये ।।१०२।।

श्रीमान्नन्दः प्रसिद्धः स च चिरविरहात् पुत्रमाप्तः स पुत्रः
स्वभ्रान्त्या हारिताभिर्निजनिधितनुभिः सद्वधूभिश्च वव्रे ।
यह्येवं तर्हि देयं प्रचुरतरमदादित्यदः किं नु वर्ण्यं
यन्नात्मानं ददे तद्वियुतिभयवशादेव तस्येति मन्ये ॥१०३॥

"अथ विप्रकुलाय यथेच्छं प्रतीच्छते प्रयच्छता महेच्छेन व्रजपतिनाऽपाङ्गसङ्गीकृतः स मधुमङ्गलः सङ्गतमिदमाह स्म,—'अस्माकं विस्मायकं किं भवतां वेश्मनि विद्यते ? यच्च विश्वविस्मयनिधानं किमपि निधानं विद्यमानम्, तदपि चास्मासु हस्तन्यस्तमेवेति किं याचितमाचितं वा कर्तव्यम् ?' ॥१०४॥ तदेवं हसितविलसिते पर्यवसिते—

अथ भविकजुषां स्नुषावलीनां, निज-निज-रोचिषि योग्यमम्बरादि ।
निजमहितहितद्विजप्रधानै,-र्व्रजनृपतिः प्रजिघाय सप्रधानैः ॥"१०५॥

अथ कथकः समापनमाह स्म,—
"यः पूर्वं यदुपत्तने मुररिपोरासीद् विवाहक्रमः
स्फीताः स्मः किल तेन गोपसदने यश्चात्र तेनाप्यथ ।

देखो, अपने गुणों से विश्व को आनन्दित करनेवाले श्रीमान् नन्दजी प्रसिद्ध ही हैं। वे चिरकालीन विरह के बाद अपने पुत्र श्रीकृष्ण को पुनः प्राप्त कर चुके हैं। वे नन्दपुत्र भी अपनी भ्रान्ति से अपहृत हुई अपने निधिरूप शरीरवाली श्रेष्ठ गोपवधुओं के द्वारा वर लिए गये। जब तिलक के द्वारा पुत्र का वरण हुआ, अर्थात् सगाई हुई तब श्रीनन्दजी ने हर्षित होकर देने योग्य बहुत से द्रव्य दान दिये। यह विषय क्या विशेष वर्णनीय है ? क्योंकि उस समय उन्होंने अपनी आत्मा का दान नहीं किया, यही बात वर्णन करने योग्य है। किन्तु मैं तो "उन्होंने श्रीकृष्ण के वियोग के भयवश होकर, अपनी आत्मा का दान नहीं किया" ऐसा मानता हूँ ॥१०३॥

पश्चात् स्वेच्छापूर्वक माँगनेवाले विप्रकुल को दान देते समय, विशाल अभिप्रायवाले उदारचेता श्रीव्रजराज ने अपने कृपाकटाक्ष से जिसको देखा था, वह मधुमङ्गल संगतियुक्त यह वचन बोला—हे व्रजराज ! आपके घर में हमको विस्मित करनेवाला कौनसा द्रव्य है ? और सभी विस्मयों का स्थानस्वरूप जो कोई अपूर्व निधि, अर्थात् श्रीकृष्ण विद्यमान है, वह भी हमारे हस्तगत ही है। अतः आपसे क्या माँगे एवं क्या संग्रह करें ? ॥१०४॥

इस प्रकार हास्यविलास समाप्त हो जानेपर, श्रीव्रजराज ने मङ्गलयुक्त अपनी पुत्रवधुओं की अपनी अपनी शारीरिक कान्ति के विषय में योग्य, अर्थात् गोरी के लिए श्याम या पीले वर्ण के, एवं साँवली के लिए लाल या पीले रङ्ग के वस्त्र आभूषण आदि अपने प्रधानजनों से युक्त, एवं अपने द्वारा पूजित हितैषी श्रेष्ठ ब्राह्मणों के द्वारा प्रत्येक पुत्रवधू के घर भिजवा दिये ॥१०५॥

अनन्तर कथावाचक प्रसङ्ग की समाप्ति का द्योतक वचन बोला—अहो ! देखो, पहले द्वारकापुरी में श्रीकृष्ण का जो विवाह का क्रम हुआ था, उस विवाह के क्रम से तो हम प्रफुल्लित हुए थे। और अब इस व्रज में जो श्रीकृष्ण का विवाहक्रम चल रहा है, उससे भी हम फूले नहीं समाते हैं। किन्तु भेद इतना ही

किन्त्वाद्ये हृदि वाचि च प्रतिगते शम्यात्मना स्मः स्थिता
हंहो पश्यत सांप्रते वयमिता भद्रश्रिया नान्यताम् ॥'१०६॥

"तदेवं कथां यथावत् प्रातर्विधाय निशीथिन्यां हरिप्रेयसीकथायामतिप्रथां सन्धाय मधुकण्ठः श्रोतृभिः समं स्वधाम जगाम। श्रीगोविन्दमनुविन्दमाना श्रीराधा च कन्दर्पाऽऽराममिति ॥१०७॥

इति श्रीश्रीमदुत्तरगोपालचम्पूमनु सर्वसमाधानाऽऽधानपर्वपर्वणं नाम द्वात्रिंशं पूरणम् ॥३२॥

अथ त्रयस्त्रिंशं पूरणम्

श्रीराधा-माधवाऽधिवास-प्रसाधनम्

अथ वासरान्तरप्रातरवसरे श्रीव्रजराज-सभाभास्वरे रजन्यां च श्रीराधामाधव-रहःसभाकृतसुखजन्यां यत्र यथायुक्तं तत्र तथा मुक्तकण्ठः स्निग्धकण्ठः कथयामास,—॥१॥

"अत्र तु क्रमोपलंभाय तत्तदेकत्र संभावयिष्यामः ॥२॥

"अथ रामविवाहक्षणमनूपलक्षणं कृष्णविवाहमङ्गलं प्रसङ्गसङ्गतं क्रियते। यस्मिन्निह

है कि, पहला द्वारका का विवाहक्रम हमारे मन एवं वाणी में आते ही हम शान्तियुक्त चित्त से, श्लेषपक्षे— शमी नामक वृक्ष के रूप से जड़ की भाँति स्थित हो जाते थे। और इस समय के व्रज के विवाहक्रम में उत्तम शोभा से संयुक्त हुए हम दूसरे भाव को नहीं प्राप्त हुए हैं, अर्थात् अभेद को प्राप्त हो गये हैं ॥१०६॥

इस प्रकार प्रातःकाल यथाविधि कथा करके रात्रि में होनेवाली श्रीहरिप्रियाओं की कथा अत्यन्त विस्तार करके, मधुकण्ठ श्रोताजनों के साथ अपने घर चला गया। श्रीराधिका भी श्रीकृष्ण को पाकर कामदेव के उपवन में चली गई ॥१०७॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रिविरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीमदुत्तरगोपालचम्पूकाव्ये सर्वविषयसमाधान-संपादक-महोत्सव-पूरणं
द्वात्रिंशं पूरणं सम्पूर्णम् ॥३२॥

तैंतीसवाँ पूरण

श्रीराधा-कृष्ण के अधिवास की सजावट

इस तैंतीसवे पूरण में व्रज में होनेवाले विवाह के प्रसङ्ग में श्रीराधा-कृष्ण के शुभ अधिवास (स्नान, वस्त्रधारण, अलंकारादि संस्कार) का वर्णन होगा।

अनन्तर व्रजराज की सभा से देदीप्यमान दूसरे दिन के प्रातःकाल के समय, एवं श्रीराधा-माधव की एकान्त की सभा के द्वारा सुख उत्पन्न करनेवाली रात्रि में, जहाँ जैसा कथन उचित है, वहाँपर मुक्तकण्ठ होकर स्निग्धकण्ठ ने उसी प्रकार कहा—॥१॥

किन्तु यहाँपर तो क्रम की प्राप्ति के लिए उस उस कथन को एक जगह सुसज्जित करेंगे ॥२॥

अनन्तर श्रीबलरामजी के विवाहोत्सव के पीछे उपलक्षित होनेवाले, श्रीकृष्ण के विवाहसम्बन्धी

वसुदेववंशतया लब्धस्वपुत्रभगिनीभावश्रीरेकानंशापि व्रजराजाभ्यामाकृष्टिमन्त्रवद् वृन्दाद्वारा रचितप्रणयमययन्त्रणया निमन्त्रणया सन्निकृष्टिमानीताऽऽसीत् । तत्र प्रथमतः समङ्गलगीत-वाद्यारम्भः शर्मसंभवं संबभार ॥३॥ यथा —

"हरिपरिणयनेऽस्मिन्नेकदा कोटिसंख्ये, समजनिषत पद्मं वाद्यगीतप्रकाराः ।
भुवि दिवि बत चित्रं ये तु सञ्जायमाना, जनितमकृषत द्राग् भव्यमन्योऽन्यगामि ॥४॥

सर्वं समारम्भि सवाद्यगीतं, न वाद्यगीतं बत तद्वदस्ति ।
इतीव देवाश्च तदुद्यमान्तः, स्वयं तदूरीकृतिमुद्वितेनुः ॥५॥

तत्र प्रवचनीयत्वं गेयत्वं चाथ ये ययुः । अपि प्रवचनीयास्ते गेयाश्चासन् प्रशंसताम् ॥६॥

"ततश्च, सामग्रीणां मण्डपानां फलाना,-मुल्लोचानां तोरणानां तरूणाम् ।
निर्माणेन द्योस्थितानां विमान,-श्रीवृन्दानां गोकुलं जैत्रमासीत् ॥७॥

"तदेवं सति च—उद्धर्षे वृद्धिमृच्छत्यनुजनमभितश्चेतसः फुल्लताऽऽसी-
दित्येवं तर्कयामः स्फुटमुभयमिदं चन्द्रमःकैरवाख्यम् ।

मङ्गल को प्रसङ्ग से सङ्गत करते हैं। यहाँपर जिस विवाह में वसुदेववंशीय होने के नाते, अपने पुत्र के भगिनीभाव की शोभा को प्राप्त करनेवाली 'एकानंशा' नामक शक्ति भी श्रीव्रजराज एवं व्रजेश्वरी ने आकर्षणमन्त्र की तरह, वृन्दा द्वारा रचे गये प्रेमबन्धनयुक्त निमन्त्रण से अपने निकट ही बुलवा ली। उस विवाह में पहले से ही मङ्गल के साथ गाने बजाने के आरम्भ ने सुख की उत्पत्ति को परिपुष्ट कर दिया ॥३॥

यथा—एकसाथ करोड़ों की संख्या में होनेवाले श्रीकृष्ण के इस विवाह में गाने बजाने के प्रकार पद्मों की संख्या में हुए। अहह ! आश्चर्य की बात तो यह थी कि, भूमि एवं स्वर्ग में होनेवाले जिन गाने बजाने के प्रकारों ने, परस्पर को प्राप्त होनेवाले मङ्गल को शीघ्र ही उत्पन्न कर दिया ॥४॥

अहह ! श्रीकृष्णविवाह में यद्यपि सभी कार्य वाद्य गीत के सहित ही आरम्भ किये थे, तथापि श्रीकृष्ण के विवाह में जैसा होना चाहिये उस प्रकार का वाद्य गीत नहीं है, इस कारण देवताओं ने उस विवाहरूप उद्यम के भीतर स्वयं वाद्य गीत आदि के अंगीकार का विस्तार कर दिया, अर्थात् श्रीकृष्ण के विवाह में देवगण भी स्वयं गाने बजाने लग गये ॥५॥

उस विवाह में जो व्यक्ति वक्ता के भाव को एवं गायक के भाव को प्राप्त हुए थे, अर्थात् जो वक्ता एवं गायक थे, वे ही व्यक्ति प्रशंसा करनेवाले जनों के लिए कहने योग्य एवं गायन करने योग्य हो गये थे ॥६॥

उसके बाद विवाह के योग्य अनेक सामग्री, मण्डप, फल, उल्लोच (वितान, चँदोवा), तोरण (बाहरी दरवाजे), एवं अनेक प्रकार के वृक्षनिर्माण के द्वारा यह व्रज स्वर्गस्थित विमानों की शोभाश्रेणियों को जीतनेवाला हो गया था ॥७॥

ऐसी स्थिति में उद्धर्ष (उत्सव) जब वृद्धि को प्राप्त होने लगा, तब प्रत्येक जन के मन की प्रफुल्लता सर्वतोभाव से हो गई थी। इस कारण हम तो इस प्रकार की विवेचना करते हैं कि, उत्सव की वृद्धि एवं मन की प्रफुल्लता ये दोनों स्पष्ट ही चन्द्रमा एवं कुमुदस्वरूप हैं, कारण—"चन्द्रमा की वृद्धि में कुमुदों की

किंवा चन्द्राब्धिनाम द्वयमिदमभवद् विश्रुता यत् परस्मात्
प्राचः संभूतिरेवं परमनु च मता फुल्लता प्राच एव ॥८॥
द्वार्वत्यां ते विवाहा युगपदपि हरेः षोडशानां सहस्रं
प्रागासन् यत्र पित्रादिकमखिलकुलं तावदासीदितीदम् ।
आश्चर्यं कोटिसंख्ये परिणयनविधावत्र तु स्मर्यमाणे
स्रोतस्वत्योघवृन्दं जलनिधिवलये यद्वदाभाति तद्वत् ॥९॥
गोष्ठं तावन्निरस्तप्रमितिनरमिदं चित्रमत्राप्यनन्तान्
प्रत्येकं तद्विवाहान् सममखिलजना व्यापुरेतद्विचित्रम् ।
तत्राप्यन्यद् विवेकातिगमिह यदहो धाम तत्तु नाऽऽसी-
दत्यास्तीर्णं तथा ते क्वचिदपि च निजं नाऽविदुर्व्यूहभेदम् ॥१०॥

"तदेवं पूर्णिमा-पूर्णितयोगमाया-प्रभावे तु तत्र लब्धभावे श्रीरामाऽवरजस्य सद्य एव संपद्यमानमनवद्यमुद्वाहभव्यं निखिलमेव वर्णयितव्यमिति स्थिते—
जगच्चेत् कवितामृच्छेद् युगपत् क्रमशोऽथवा । तथापि तद्वर्णयितुं लब्धवर्णं भवेन्नहि ॥ इति ॥
"तत्र च श्रीराधापाणिग्रहणमसाधारणमिति तदेव यथामति गिराऽऽराधयिष्यामः ॥११॥

प्रफुल्लता होती है" यह बात प्रसिद्ध है। अथवा ये दोनों चन्द्रमा एवं समुद्र नामवाले हो गये हैं। कारण—समुद्र से ही चन्द्रमा की उत्पत्ति प्रसिद्ध है, एवं समुद्र को लक्ष्य करके होनेवाली प्रफुल्लता भी चन्द्रमा से ही मानी गई है। तात्पर्य—उत्सव की वृद्धि से ही मन की प्रफुल्लता उत्पन्न होती है, एवं मन की प्रफुल्लता से ही उत्सव की वृद्धि होती है ॥८॥

पहले द्वारकापुरी में श्रीकृष्ण के सोलह हजार वे विवाह एकदिन एकसाथ ही हुए थे। जिन विवाहों में श्रीकृष्ण के पिता (वसुदेव) आदि सभीजनों की सख्या भी सोलह हजार ही थी। बस, यही आश्चर्य था। किन्तु इस व्रज में करोड़ों की सख्या में होनेवाले विवाहों की विधि के स्मरण करनेपर तो वह आश्चर्य उस प्रकार से प्रतीत होता है कि,जिस प्रकार समुद्रमण्डल में नदियों के वेग का समुदाय शोभा पाता है। अर्थात् व्रज में श्रीकृष्ण के करोड़ों विवाहों में श्रीकृष्ण के पिता श्रीनन्द आदि का प्रादुर्भाव करोड़ों की संख्या में होने से महान् आश्चर्यजनक था ॥९॥

पहला आश्चर्य तो यह था कि, उस समय यह व्रज अपरिमित जनों से युक्त था, इसमें भी दूसरा महान् आश्चर्य यह था कि, उन अनन्त विवाहों के प्रत्येक विवाह को मातापिता आदि सभीजनों ने एकसाथ व्याप्त कर लिया था। उसमें भी विचारातीत दूसरा एक यह आश्चर्य था कि, विवाह होने का वह वह घर भी विशेष विस्तीर्ण नहीं था, तो भी उसमें सभीजन फैलफूलकर बैठ सकते थे, तथा अनेक रूप धारण करनेवाले मातापिता बराती आदि वे सबजन किसी स्थानपर भी, अपनी अपनी मूर्ति के भेद को नहीं जान पाये। इस श्लोक में "व्रजनं व्याप्तिरित्युक्त्या व्यापनाद् व्रज उच्यते" इस उक्ति के अनुसार व्रज की महती व्यापकता का निर्देश किया गया है ॥१०॥

इस प्रकार पूर्णिमादेवी के द्वारा पूर्ण किया हुआ योगमाया का प्रभाव जब वहाँपर यथेष्ट प्रगट हो गया, तब श्रीकृष्ण का तत्काल होनेवाला विशुद्ध विवाहरूप मङ्गल सम्पूर्ण ही वर्णन करने योग्य है। किन्तु ऐसी स्थिति में यदि समस्त जगत् एकसाथ अथवा क्रमशः कविता करने लग जाय तो भी, श्रीकृष्ण के

"यथा—मण्डपाद्यथ यदा व्रजेशितु,-र्द्वार्यलक्षि वृषभास्करस्य च ।
केवलं न हि नटास्तदाऽनटन्, वाद्यकौतुकितया जनाश्च ते ॥१२॥
उत्साहस्तेष्वस्ति सर्वत्र नित्यः, कृष्णस्यार्थे किं पुनस्तद्विवाहे ।
तालप्रोद्यद्वाद्यसङ्घस्तु तेषा,-मुद्बुद्धं तं युद्धवत् पुष्यति स्म ॥१३॥
हंहो सत्वरमेहि देहि नय रे यातादयन्ते परे
कुर्वन्त्येतदपूर्वपर्वरचनं हे याचनं मे शृणु ।
एवं केवलसेवकप्रभतया मान्याश्च ते मान्यता-
मुज्झन्तो महसीह शर्मवलिताः कर्म द्रुतं निर्ममुः ॥१४॥

"अथाधिवासवासरमासद्य सद्यः संपद्यमानसुखविकासभासमानमुखसुधाकर-करसुधा-निकराऽर्पणया प्रणयाद् वरवधूमातरावन्यानपि निजनिजगण्यातिधन्यान् पुरन्ध्रिजनानात्मवदेव सक्षणानाचरन्त्यौ तैर्नीरन्ध्रमङ्गलकृतिभिर्मिथः सङ्गलसदाकृतिभिः प्रतिस्वमालयान्तस्तत इतश्चरन्त्यौ बभूवतुः । तत्र लब्धपर्वाणः प्रायशः सर्वा एव तावन्मङ्गलगानं वितानमानयन्त ॥१५

"यत्र च—गायन्त्यस्ताः कृष्णराधा-विवाहं, तत्तन्मात्रोरालये स्नेहभाजः ।
प्रागन्योऽन्यं प्रेर्य शश्वद् विकासं, हासं हासं गापयामासुराशु ॥१६॥

शुभविवाह के यथार्थ वर्णन करने को विचक्षण नहीं हो सकता । अतः उन अनन्त विवाहों में भी श्रीराधिका का विवाह अद्वितीय है; इसलिए वाणी के द्वारा निज मति के अनुसार उसी का वर्णन करेंगे ॥११॥

यथा—श्रीव्रजराज के द्वारपर एवं श्रीवृषभानु के द्वारपर जब विवाहसम्बन्धी मण्डप आदि की रचना दिखाई दी, तब केवल नट ही नहीं नाच रहे थे, किन्तु बाजे के कौतूहल के कारण वे साधारणजन भी नाच रहे थे ॥१२॥

उन व्रजवासिजनों में श्रीकृष्ण के निमित्त सभी कार्यों में स्थायी उत्साह विद्यमान है, फिर उनके विवाह में तो कहना ही क्या है ? ताल के सहित बजते हुए वाद्यसमुदाय ने तो उनके जागृत हुए उत्साह को युद्ध की तरह पुष्ट कर दिया, अर्थात् युद्ध के बाजे जैसे सैनिकों के उत्साह को बढ़ा देते हैं, उसी प्रकार विवाह के बाजाओं ने उनके वैवाहिक उत्साह को विशेष बढ़ा दिया ॥१३॥

अरे भाई ! तुम शीघ्र चले आओ । तुम दान कर दो । तुम ले लो । हे भाई ! तुम यहाँ से चले जाओ । देखो, दूसरे जन भी चले जा रहे हैं । दूसरे जन ऐसे अपूर्व महोत्सव की रचना कर रहे हैं । हे भैया ! तुम मेरी प्रार्थना को सुनो । इस प्रकार कहनेवाले जो मान्य जन थे, वे सब केवल सेवकों की तरह से मान्यता को छोड़ते हुए, इस विवाहोत्सव में सुख से संयुक्त होकर, सभी कार्यों को शीघ्रतापूर्वक कर रहे थे ॥१४

अनन्तर अधिवास के अवसर को, अर्थात् विवाह से पहले दिन को पाकर, तत्काल होनेवाले सुख के विकास से प्रकाशमान अपने अपने मुखचन्द्र के किरणरूप अमृतसमूह को अर्पण करके, वर एवं वधूजनों की माताएँ अपने अपने गण में प्रशंसनीय, एवं पतिपुत्रवाली दूसरी स्त्रियों को भी प्रेम से अपनी तरह उत्सव से युक्त करती हुईं, तथा निरन्तर माङ्गलिक कार्य करनेवाली एवं आपस के सङ्ग से शोभायमान आकृतिवाली पतिपुत्रवाली उन्हीं स्त्रियों के साथ प्रत्येक घर में इधर उधर भ्रमण करने लग गईं और उस विवाहोत्सव को प्राप्त करनेवाली प्रायः सभी स्त्रियों ने माङ्गलिक गान का विस्तार कर दिया ॥१५॥

स्नेहभरी वे व्रजाङ्गनाएँ वरवधू की माताओं के प्रत्येक घर में श्रीराधा-कृष्ण के विवाह का गायन करती हुईं, पहले आपस में प्रेरणा देकर, निरन्तर स्पष्ट हँस हँसकर, शीघ्र ही गाने गवाने लग गईं ॥१६॥

"गानं च तत्र तत्र पौर्णमासीशिक्षितं यथा—

'राधा राकाशशधर ! मुरलीकर ! गोकुलपतिकुलपाल ! जय जय कृष्ण ! हरे ! ।

राधाबाधामोचन-सुखरोचन ! विदलितगोकुलकाल ! जय जय कृष्ण ! हरे ! ॥

राधासुकृतवशीकृत-मङ्गलभृत ! तिलकितगोकुलभाल ! जय जय कृष्ण ! हरे ! ।

राधापरिकरपुण्यद ! नैपुण्यद ! गोकुलरुचिषु विशाल ! जय जय कृष्ण ! हरे ! ॥

राधानिजगतिधर्मद ! पुरुशर्मद ! हृतगोकुलरिपुजाल ! जय जय कृष्ण ! हरे ! ।

राधाजीवनजीवन ! गोव्रजधन ! गोकुलसरसि मराल ! जय जय कृष्ण ! हरे ! ॥

राधामोदरसाकर - सरसिजवर - गोकुलमण्डलनाल ! जय जय कृष्ण ! हरे ! ।

राधाभूषणभूषण ! गतदूषण ! गोकुलहृदिभूपाल ! जय जय कृष्ण ! हरे ! ॥'इति॥ १७

"तदेवं मङ्गलमाचर्य परस्परं सुखमपवर्य वरं वधूमपि यथाऽवसथं यथायथं स्नपयामासुः ॥१८॥ तत्र वरस्नपनं यथा—

परिधृतमृदुलाऽन्तरीयमात्रं, परिहृतवेषगणं च मज्जनाय ।

वृतिरहितहरिन्मणीन्द्रशोभा,-विजयिनमैक्षत कृष्णमत्र लोकः ॥१९॥

पौर्णमासी के द्वारा सिखाया हुआ प्रत्येक घर में होनेवाला गायन, यथा—हे राधिकारूप पूर्णिमा के निष्कलङ्कपूर्णचन्द्रस्वरूप ! हे कर में मुरली धारण करनेवाले ! हे व्रजराज के कुल की रक्षा करनेवाले ! हरे ! कृष्ण ! आपकी सदा जय हो ! हे राधा की बाधा को छुड़ाकर सुख को प्रकाशित करनेवाले ! एवं व्रज के क्षण निमेष आदि काल को दूर करनेवाले ! हरे ! कृष्ण ! आपकी जय जयकार हो, अर्थात् व्रज में प्राकृतिक काल की गणना या गम नहीं है। श्रीराधिका के अनादि पातिव्रत्य आदि पुण्य से वश में किये हुए मङ्गल से परिपूर्ण ! एवं व्रजवासियों के भाल को तिलक से युक्त करनेवाले ! हरे ! कृष्ण ! आपकी जय जयकार हो ! एवं राधिका के परिकर को पुण्य देनेवाले ! चातुर्य देनेवाले ! तथा व्रज की अभिलाषाओं में या कान्तियों में विशाल रहनेवाले ! हरे ! कृष्ण ! आपकी जय जयकार हो ! एवं राधिका को अपनी प्राप्तिरूप धर्म को देनेवाले ! बहुत सुख देनेवाले ! तथा व्रज के शत्रुसमूह को हरनेवाले ! हरे ! कृष्ण ! आपकी जय जयकार हो ! एवं हे राधिका के जीवनाधार ! हे गोगणरूप धनवाले ! हे व्रजरूप सरोवर में रहनेवाले राजहंस ! हरे ! कृष्ण ! आपकी जय जयकार हो ! एवं राधिका के प्रीतिरस की उत्पत्ति के स्थानस्वरूप श्रेष्ठ कमलरूप जो व्रजमण्डल है उसके नाल, अर्थात् आधारस्वरूप ! हरे ! कृष्ण ! आपकी जय जयकार हो ! तथा अपनी कान्ति से राधिका के भूषणों को भूषित करनेवाले ! पहले व्रज के त्यागने से जो दोष लगा था, अब उस दोष से रहित होनेवाले ! एवं व्रजवासियों के हृदय में सदैव रहनेवाले राजाधिराज ! हरे ! कृष्ण ! आपकी सदा जय जयकार हो ॥१७॥

इस प्रकार मङ्गलाचार करके परस्पर सुख देकर, यथायोग्य घर में वरवधू का भी यथायोग्य स्नान करा दिया ॥१८॥

वहाँपर श्रीकृष्णरूप वर के स्नान का वर्णन, यथा—उस समय स्नान के लिए उद्यत होकर कमर के नीचे केवल एक कोमल वस्त्र को धारण किये हुए ; अतएव वेषभूषा को दूर किये हुए श्रीकृष्ण को लोगों ने आवरणरहित इन्द्रनीलमणि की शोभा को पराजित करते हुए देखा ॥१९॥

सतैलमुद्वर्तनमाददानाः, स्निग्धाङ्गलावण्यममुष्य वीक्ष्य ।
उद्वर्तिताऽभ्यक्तजलप्लुताऽऽभं, मत्वाऽमुमस्थुः स्थगिताश्चिराय ॥२०॥

अभ्यक्तस्नातवद् दृष्टमपि तत्तत्क्रियाचितम् ।
तमकुर्वन्नमी स्निग्धा माङ्गल्यमितिबुद्धयः ॥२१॥

स्नानाऽनन्तरमुच्चकै रुचिधरं तं शक्रनीलप्रभं
वीक्ष्याऽमन्वत तत्कृतिप्रणयिनस्ते स्वं सुपूर्णक्रियम् ।
या राजन्ति रुचः प्रतिक्षणनवास्तस्मिन्नमूः सर्वतो
भद्रास्तेषु कथं प्रसादपदतां कुर्युर्न तल्लिप्सुषु ? ॥२२॥

परं न तस्मिन् स्नपकावलीनां, यशो बभूवाऽजितकान्तिवृद्ध्या ।
तत्स्नातकानामपि तत्र वृत्त,-स्वतिश्रुतीनामुदभूदतीव ॥२३॥

"तदेवममी तस्य कनककलसलसदमलसपरिमल-जलस्नपने कृतसमापने सयत्ननिर्मित-रत्नपीठान्तरमधितिष्ठतः सपरिनिष्ठमङ्गमार्जनादिजमपि सुखमार्जन् स्म ॥२४॥ यत्र—

सुमार्जयन्नस्य सुकोमलेन, वस्त्रेण कश्चित्तु निरीक्ष्य गात्रम् ।
अन्यादृगाभं भयलोलनेत्र,-स्तन्नेत्रभावं परिपश्यति स्म ॥२५॥

एवं तैल के सहित उबटना को लेकर खड़े हुए सेवकजन श्रीकृष्ण के सुस्निग्ध अङ्ग के लावण्य को देखकर, श्रीकृष्ण को उबटना किये हुए एवं तैलमर्दन किये हुए तथा जल में गोता लगाए हुए के समान मानकर बहुत देरतक स्थिर होकर खड़े रहे ॥२०॥

पश्चात् तैलमर्दन किये हुए एवं उबटना करके स्नान किये हुए व्यक्ति की तरह देखे हुए श्रीकृष्ण को भी "हलदी चढ़ाना, तेल लगाना, उबटना करना, यह सब कार्य विवाह में मङ्गलदायक है" इस प्रकार की बुद्धिवाले उन स्नेहीजनों ने उन उन कार्यों से युक्त कर दिया ॥२१॥

स्नान के अनन्तर विशेष कान्ति धारण करनेवाले श्रीकृष्ण को इन्द्रनीलमणि के समान देदीप्यमान देखकर, उस स्नानादि कार्य में स्नेह रखनेवाले उन सेवकों ने अपने को "हमारा सेवाकार्य भली प्रकार पूर्ण हो गया" ऐसा मान लिया। और चारों ओर से मङ्गलमयी जो कान्तियाँ श्रीकृष्ण में प्रतिक्षण नवीनरूप से विराजमान हैं, वे कान्तियाँ श्रीकृष्ण की कृपा प्राप्त करने की इच्छावाले उन सेवकोंपर किस प्रकार कृपा पात्रता नहीं करेंगीं ? अपितु, करेंगी ही ॥२२॥

उस विवाहोत्सव में श्रीकृष्ण की कान्ति की वृद्धि के द्वारा केवल श्रीकृष्ण को स्नान करानेवाली जनश्रेणी का ही यश नहीं हुआ; अपितु, वह यश वेदाध्ययन को समाप्त करनेवालों का, तदनन्तर गृहस्थ में प्रवेश करनेवालों का, तथा उस विवाह में बीति हुई स्वस्तिवाचनपरक श्रुतियों का अथवा मङ्गलमयी श्रुतियों को अध्ययन करनेवालों का भी विशेष ही उत्पन्न हो गया था ॥२३॥

इस प्रकार उन स्नेहीसेवकों ने सुवर्ण के कलसों में शोभायमान निर्मल सुगन्धित जल से श्रीकृष्ण के स्नान को समाप्त कर देनेपर, यत्नपूर्वक बनाई हुई रत्नमयी चौकीपर बैठे हुए श्रीकृष्ण के निष्ठापूर्वक अङ्गमार्जन (अङ्ग पोंछना) आदि से उत्पन्न हुए सुख का भी उपार्जन कर लिया ॥२४॥

और जहाँपर कोई स्नेहीसेवक परमकोमल वस्त्र से श्रीकृष्ण के शरीर को पोंछता हुआ, उनके शरीर को दूसरी प्रकार की कान्तिवाला देखकर, अर्थात् श्रीराधिका की विशेष भावना से पीतवर्णवाला देखकर, भय से चंचल नेत्रोंवाला होकर, श्रीकृष्ण के नेत्रों के भाव को देखने लग गया ॥२५॥

प्रत्युद्गमनीयं तत्, कमनीयं श्रीहरौ दधति ।
केचित् परिधापनमिह, कुर्वन्ति स्मापिधापनं केऽपि ॥२६॥

"अथ तूलिकाऽनुकूलिताऽऽसनमध्यमध्यासीनस्य तस्य वेशविनिवेशश्चित्तं सावेशं रचयन् झटितीष्टविवाहनिर्वाहकथाविलंबाय संपत्स्यत इति विवहनयात्रायां किञ्चिदतिमात्रात्मतया वर्णयिष्यते ; किन्तु संक्षेपत एवाऽद्य तस्य वचसि निक्षेपः क्रियते ॥२७॥ तथा हि—

उष्णीषः शकलीन्द्रकुण्डलयुगं ग्रैवेयकं कौस्तुभः, केयूरादिममुद्रिकाऽन्तिमततिर्मुक्तावलीसन्ततिः ।
काञ्चीनूपुरहंसकांशुकचितिर्मध्ये घनश्यामता, तत्रत्यानधिनोत्तदस्तु धिनुते सर्वांश्च संप्रत्यपि ॥

"तदेवं स्थिते शुभसमयमयमङ्गलपालनाय मातृद्वयमुखेन पतिवत्नीप्रमुखेन सुखेन निज-द्विजबालकनायकमुखेन समाकारितः श्रीमद्व्रजराजकुलदेवस्तदेव सर्वमङ्गलसङ्गलसन्मण्डल-रचनामण्डनं मण्डपमाजगाम ॥२९॥

"अथ वधूस्नपनमङ्गलं सपर्वरङ्गमुच्यते । यदवधि श्रीराधिकादीनां पितृसदनाऽऽ-सदनमासीत्तदवधि परमोत्कण्ठाऽवगुण्ठितस्यापि कौस्तुभकण्ठस्याऽधिकमधिकं लज्जा सज्जा बभूव । मम तासु ममताभागनुराग-सागरस्य तरङ्गलेशश्चान्यमनःसदेशसङ्गं माऽगमदिति ॥३०

श्रीकृष्ण जब विवाह के योग्य परम मनोहर धुले हुए वस्त्र को धारण कर रहे थे, तब कुछ सेवक स्वयं पहनाने लग गये, एवं कुछ सेवक "श्रीकृष्ण को किसी की नजर न लग जाय" इस भाव से दूसरों के वस्त्र पहनाते समय श्रीकृष्ण की ओटक कर लेते थे ॥२६॥

उसके बाद तोषक तकिया आदि से अनुकूल सिंहासनपर बैठे हुए श्रीकृष्ण के वेष की जो रचना है, वह चित्त को आवेशयुक्त करती हुई, तत्काल अभीष्ट विवाह के निर्वाह की कथा के लिए बिलम्बकारक हो जायगी । अतः वेषविशेष का वर्णन तो विवाह की यात्रा में कुछ अधिक मात्रा से करेंगे । किन्तु आज तो संक्षेप से ही वेषरचना का विन्यास वचन में करते हैं ॥२७॥

देखो, उष्णीष (पगड़ी एवं मुकुट), दोनों मकराकृति कुण्डल, कण्ठभूषण, कौस्तुभमणि, बाजूबन्द आदि अँगूठीपर्यन्त भूषणसमूह, अनेक प्रकार के हारों का समुदाय, कौधनी, नूपुर, हंसक (पाजेब), एवं वस्त्रों का पहनाव, तथा मध्यभाग में घन के समान श्यामता, इस प्रकार के मनोहर वेष ने वहाँ के लोगों को प्रसन्न या तृप्त किया होगा । इस बात को तो रहने दो । किन्तु वह वेष सब भक्तों को आज भी प्रसन्न कर रहा है ॥२८॥

ऐसी स्थिति में शुभ समयात्मक माङ्गलिक रक्षा करने के लिए वर एवं कन्या की दोनों माताओं के द्वारा सधवा स्त्रियों को अग्रसर करके अपने अपने श्रेष्ठ ब्राह्मण बालक के मुख से सुखपूर्वक बुलवाये हुए श्रीनन्दजी के कुलपुरोहित, सभी प्रकार के मङ्गलों के साथ शोभायमान मण्डल की रचना से मण्डित उसी मण्डप में चले आये ॥२९॥

अब श्रीराधिकारूप वधू के स्नानरूप मङ्गल को उत्सव की शोभापूर्वक कहते हैं । श्रीराधिका आदि गोपकन्याओं का जब से अपने अपने पिता के घर आगमन हुआ था, तभी से लेकर परम उत्कण्ठा से आवृत होनेपर भी,श्रीकृष्ण को लज्जा अधिक सुसज्जित हो गई थी कि उन गोपियों में ममता रखनेवाला मेरा गूढ अनुरागरूप जो सागर है, उसके एक तरङ्ग का लेश भी दूसरे व्यक्ति के मन के निकट सम्पर्क को न प्राप्त कर पाये, अर्थात् मेरे गुप्त अनुराग का अंश दूसरों को मन से भी न ज्ञात हो पाये तो अच्छा हो ॥३०॥

"तदेतन्मर्माविद्भिः काभिश्चिन्मर्माविद्भिरिव तदुदासीनताव्यञ्जनाभाग्भिर्निभृतवाग्भिर्मिथः संवदनं कुतश्चनाऽवधारयन्तीं श्रीराधां बाधावशमानिनाय ॥३१॥

"सा तु जातु च नात्मनि तदङ्गीकारनिलयतां विचारविषयतामानयति ; यतः परमोत्कतासोत्कंपमनस्तया विश्वमविश्वस्तिविषयमेव करोति। यतः सुमनायमानताऽवसरमप्युन्मनायमानतया विमनायमानतापरिसरं नयन्ती, तदा तदाचरितवर्णनात् कृताकर्णनाद् गदामर्दनपदाद् गदादिव निजशोच्यतां सोसूच्यमाना छेकवचसा सखीरुवाच,—॥३२॥

'पूर्वं यदासौ विदूरभूरास्ते स्म, तदा खलु यथा तदुदासीनता मयि दीनतामानिनाय, न तु संप्रति तथा तस्य तदनुव्रतस्य च व्रजस्य सौख्यमेव मम सौख्यम्' इति ॥३३॥

"सख्य आचख्युः,—'अयि! कृशाङ्गि! तदिदं नामृशामः ; यतः स्फुटमपीदं मुखपुटसंभिन्नं करोषि।' सोवाच,—'अयि! सवयसस्तदिदं वदामि। यदा तस्य विदूरस्थितितास्माकं मनसि स्थिता, तदा तद्भावनया तथागतिरभविष्यदधुना गोकुल-स्थितिभावनया पुनरित्थमेव स्यात्' इति ॥३४॥

"सर्वाः सास्रमूचुः,—'हन्त! भवत्या सातत्यादेव वयं ज्वालिताः संप्रति च मास्माधिकमस्माकं जातं सुखजातमन्यथा मन्यथाः ॥'३५॥

"श्रीराधा आदि गोपियों में श्रीकृष्ण का गूढ अनुराग है" इस बात के मर्म को न जाननेवाली अतः श्रीकृष्ण की उदासीनता को प्रकाशित करनेवाली, गुप्तवाणीवाली कुछ स्त्रियों ने मर्म न जाननेवाली स्त्रियों की तरह आपस में जो वार्तालाप किया, उस को श्रीराधिका ने किसी गूढचरी के द्वारा निश्चित कर लिया। इस प्रकार उनके आपस के वार्तालाप ने श्रीराधिका को बाधा के वशीभूत कर दिया ॥३१॥

श्रीराधिका तो "श्रीकृष्ण मुझे अंगीकार करेंगे" इस प्रकार के आश्रयमय भाव को अपने मन में कभी भी विचार में नहीं लाती थीं। कारण वे तो परम उत्कण्ठा से कम्पित मनवाली होने के कारण, विश्व को ही अविश्वास का पात्र बना रही थीं। कारण वह राधिका सुखितमन के अवसर को भी उत्कण्ठित मन के भाव से—उदासीनभाव के निकट ले जाती हुई, उस समय श्रीकृष्ण के उदासीनतामय चरित्रवर्णन को सुनकर मानो गदा को भी चूर्ण करनेवाले रोग से अपनी शोचनीय दशा को विशेष सूचित करती हुई, टेढ़े वचन से, अर्थात् वक्रोक्ति से सखियों से बोली— ॥३२॥

अरी सखियो! देखो, पहले जब वे श्रीकृष्ण अत्यन्त दूर की भूमिपर रहते थे, उस समय उनकी उदासीनता ने मेरे में जैसी दीनता ला दी थी, किन्तु अब उस प्रकार की दीनता नहीं ला दी है। कारण श्रीकृष्ण का एवं उनके अनुगामी व्रजमण्डल का सुख ही मेरा सुख है ॥३३॥

सखियाँ स्पष्ट बोलीं—हे कृशाङ्गि राधिके! हम तुम्हारे इस टेढ़े वचन को नहीं समझ पा रही हैं। कारण इस स्पष्ट वचन को भी तुम अपने मुखपुट से भग्न कर रही हो। श्रीराधिका बोली—अरी सखियो! मैं तो यह कह रही हूँ कि, श्रीकृष्ण की दूरस्थिति का भाव जब हमारे मन में स्थित था, तब उस दूरस्थिति की भावना से उस प्रकार की दीनतामयी गति हुई थी। किन्तु अब तो श्रीकृष्ण की व्रज में रहने की भावना से पुनः उसी प्रकार सुख हो सकता है ॥३४॥

सभी सखियाँ सजलनयन होकर बोलीं—हाय! आपने तो हमें निरन्तर ही जला डाला। किन्तु अब तो अधिक मात्रा में उत्पन्न हुए हमारे सुखसमूह को अन्यथा (दूसरी तरह से) मत मानो ॥३५॥

"सोवाच,—'तस्य गोकुलाऽऽगमनादप्यधिकं सुखं किमवधीयते ?' सर्वा ऊचुः,—'तस्य भवदङ्गीकरणं भवदिव यत् प्रसङ्गसङ्गि क्रियते।' सोवाच,—'मा वह्निना दग्धे वपुषि शीतलजलदिग्धतामाचरत। पुनस्तस्य ताप एव तदापन्नाशायापन्नः स्यात्।' सर्वा ऊचुः,—'न खलु जलसेकेनेव वचनविवेकेन त्वां सान्त्वयामः, किन्त्वमृतातिरेकेणेति मन्यताम् ॥'३६॥

"सोवाच,—'कथमिव ?' सर्वा ऊचुः,—'अस्माकं चरास्तत्र प्रस्थापितचराः समागततराः सन्ति। ते च तस्य रहस्यभावमिमं कथयन्ति,—॥३७॥

यदा ते तातेन प्रहितमपि जामातुरुचितं, दुकूलालङ्कारादिकमवहदात्माङ्गमजितः।
तदा भिन्दंस्तस्मिंस्तनुरुहगणः कंचुकवरं, तथा कंपः काञ्चीमपि मुखरयंश्चित्रमजनि ॥३८॥

'तथा च—

'यदा ते तातेन प्रहितमतुलं रत्नतिलकं, वरार्हं तद्व्यंष स्वमुखसुखवर्णं दधदपि।
मिषात्तत्कान्तीनां पिहितमिव कुर्वन् सदसि च, स्वगांभीर्यं रक्षन् निखिलजनसौख्यं व्यतनुत ॥

'तस्मादमूश्चमूरुनेत्रे ! वयं सवयसस्तव चरणपातमाचरामः ; समाचरास्माकं स्मायकं सुखम्' इति ॥४०॥

श्रीराधिका बोली—श्रीकृष्ण के व्रज में आगमन से भी अधिक और कौन सा सुख समझा जाता है? सभी सखियाँ बोलीं—श्रीकृष्ण का आपको पत्नीरूप में जो अंगीकार करना है, वह वर्तमान में होता हुआ सा प्रसंग से संगत कर रही हैं। श्रीराधिका बोली—अग्नि से जले हुए शरीरपर शीतल जल का अभिषेक मत करो। क्योंकि अग्नि का ताप ही अग्नि से जलने की आपत्ति को नष्ट करने के लिए उपयुक्त हो सकता है। सभी सखियाँ बोलीं—हम तुमको जल से सींचने की तरह केवल वचनों के विवेक से ही सान्त्वना नहीं दे रही हैं, किन्तु अमृत की अधिकता से ही सान्त्वना दे रही हैं, ऐसा मानो ॥३६॥

श्रीराधिका बोली—यह कैसे मान लूँ ? सभी सखियाँ बोलीं—हमारे जो गुप्तचर श्रीकृष्ण के निकट पहले भाव-परीक्षार्थ भेजे थे, वे अब आ ही गये हैं। वे श्रीकृष्ण के इस गूढभाव को कहते हैं—॥३७॥

यथा—जब तुम्हारे पिता श्रीवृषभानुजी के द्वारा जमाई के पहनने योग्य भेजे हुए दुपट्टा अलङ्कार आदि श्रीकृष्ण ने अपने शरीर में धारण किये, तब रोमाञ्चसमूह ने श्रीकृष्ण के श्रेष्ठ कुरता का या जामा का भेदन करते हुए, एवं उनके कम्प ने उनकी कौधनी को बजाते हुए उन में आश्चर्य उत्पन्न कर दिया ॥३८॥

तथा तुम्हारे पिता ने वर के योग्य जो अनुपम रत्न का तिलक भेजा था, उसको श्रीकृष्ण ने जब धारण किया, तब उन्होंने अपने मुख के सुखमय वर्ण को धारण करके भी उस रत्नतिलक की कान्तियों के बहाने उसको मानो ढकते हुए, एवं सभा में अपने गाम्भीर्य की रक्षा करते हुए, सभीजनों के सुख का विस्तार कर दिया ॥३६॥

अतः तुम्हारे ऊपर श्रीकृष्ण का अनुराग यथेष्ट है। इसलिए हे मृगलोचने राधिके ! वे हम सब तुम्हारी सखियाँ तुम्हारे चरणों में पड़ी हैं, हमारे मन्दहास्यकारक सुख को उत्पन्न कर दो ॥४०॥

"तदेवं प्रसङ्गे कृताऽऽसङ्गे तस्याः कापि धात्रेयी समागत्य सप्रणयकोपं वितत्य बभाषे, —'अयि ! सुतनु ! किमत्र वितनुषे ? तवाऽधिवाससमयः समयामास । त्वां सनामव्याहार-माकारयति सा बृहदीश्वरी' इति ॥४१॥

"अथ तदेतद्वर्ण्यमानमाकर्ण्य सर्वा एव सानन्दं स्पन्दमानबाहुतया तद् बाहुमान्दोल्य तामुत्तोल्य मातृसदनमासादयितुमुद्यमयामासुः । उद्यमसमय एव च श्रीव्रजराजद्वारि श्रीवृषभानुद्वारि च हारि दुन्दुभ्यादिकमुन्ननाद ॥४२॥

"यदा मुहुर्दमदमदुन्दुदुन्द्विति, स्वनाऽन्वितं शुभतमवाद्यमानशे ।
तदा सखीततिरपि साऽपि चेतसा, समं स्खलत्पदमगमत् प्रसूसदः ॥४३॥

"गत्वा च ताः प्रागुन्नीतगीतमङ्गलकलसादि-सङ्गिनीनां तासां सभां भासयामासुः ॥४४

"अथ विलज्जमानामेनां सजन्ती सा शुभ्रदन्तीततिर्मातृणामाज्ञयाऽनया सह स्नानधाम समाजगाम ॥४५॥

"ततश्च, वस्त्रालङ्करणवती सती लसन्ती, स्यादेषा भृशमिति भावना तु यासाम् ।
स्नानार्थं लघुवसनं परं दधाना, ताश्च स्वाऽतुलरुचिचित्रतां निनाय ॥४६॥

इस प्रकार आसक्तियुक्त उस प्रसंग में श्रीराधिका की कोई धाई वहाँ आकर प्रणयकोप को बढ़ा कर बोली—हे सुन्दरि ! तू यहाँ क्या कर रही है ? तुम्हारे अधिवास का समय उपस्थित हो गया है। वह बड़ी अम्मा तुम को नाम ले लेकर बुला रही है ॥४१॥

धाई के मुख से इस वर्णन को सुनकर सभी सखियाँ आनन्दपूर्वक काँपती हुई भुजाओंवाली होकर श्रीराधिका की भुजा को हलाकर, उसको उठाकर, माता के घरपर पहुँचाने के लिए उद्योग करने लग गईं । उद्योग के समय ही श्रीव्रजराज के द्वारपर एवं श्रीवृषभानु के द्वारपर मनोहर दुन्दुभि आदि बाजे बजने लग गये ॥४२॥

जिस समय बारंबार दम दम, दुन्दु, दुन्दु इस प्रकार की ध्वनि से युक्त मंगलमय बाजे व्याप्त हो गये, उस समय सखियों की श्रेणी एवं राधिका भी चित्त के सहित डगमगाते हुए चरणों से माता की सभा में चली आई ॥४३॥

और उन सखियों ने जाते ही पहले से ही गीत गानेवाली एवं मंगलकलस आदि धारण करनेवाली उन स्त्रियों की सभा को देदीप्यमान कर दिया ॥४४॥

पश्चात् लज्जा करती हुई उस राधिका से मिली हुई, श्वेत दाँतोंवाली वह सखियों की श्रेणी कीर्तिदा आदि माताओं की आज्ञा से श्रीराधिका के साथ स्नानगृह में चली आई ॥४५॥

उसके बाद जिन सखियों की यह भावना थी कि "यह राधिका वस्त्र एवं अलङ्कारों से युक्त होकर ही सुशोभित होगी" उसी राधिका ने स्नान करने के लिए केवल सूक्ष्मवस्त्र धारण करके वे सखियाँ अपनी अतुलकान्ति से चितकबरी बना दीं ॥४६॥

"ततश्च, उद्वर्तनं परिमलाऽन्वयि पक्वतैलं, चान्यत्र योक्तुमुचितं न तु राधिकायाम् ।
स्निग्धं सुगन्धि रुचिरं हरिचन्दनान्तः,-सारद्रवादपि वपुस्तदिदं हि तस्याः ॥४७॥
स्निग्धं सुगन्धिरुचिरं स्वत एव गात्रं, नोद्वर्तनादिवलितं ललना वितेनुः ।
किन्त्वत्र मङ्गलविधौ समयोऽयमेवं, तस्यां तदा युयुजुरीषदिव स्पृशन्त्यः ॥४८॥

"अथ वीध्रव्यवसायेन लोध्रकषायेण तां हृताङ्गतैलामाचर्य लब्धपरभागेण कालेयकाङ्गरागेण च परिचर्य शश्वददोषतत्तदोषधिसन्धीयमान-मानसहरबल-परिमलजलपूरकृतपूरण-रत्नकुंभरत्नं शुभवस्तूपसंपन्नधूपस्तूपघृतवासनयत्नं त्रिलोकीलक्ष्मीसिंहासनगर्व-निर्वासनकर-कनकासनासन-संभृतप्रयत्नं सदप्रत्नस्नानवासस्थानमासादयामासुः । आसाद्य च समङ्गलगीतं परस्परसङ्गलवणिमपरीतं स्नपयामासुः ॥४९॥ किन्तु,

स्वस्मिन् हरिवरतायाः, स्मरणाद् घर्माभसा स्नाता ।
अन्यत् स्नानं राधा, व्यवहृतिसाधारणं दध्रे ॥५०॥

"मङ्गलगीतं यथा—

जय माधवविधुसङ्गिनि ! राधे ! । माधवलाभविधुतविधुराधे ! ॥ध्रु॥
माधवपरिणयलसदधिवासे !, माधवहृदयस्फुरदधिवासे ! ॥

और उसके बाद उबटना अथवा सुगन्धी से युक्त पका हुआ तेल दूसरी साधारण स्त्री के ऊपर ही लगाना उचित है, किन्तु राधिका के ऊपर लगाना उचित नहीं । क्योंकि श्रीराधिका का वह शरीर तो हरिचन्दन के भीतर के सारमय द्रव से भी स्निग्ध एवं स्वाभाविकी सुगन्धी से मनोहर है ॥४७॥

उस समय स्वतःस्निग्ध एवं सुगन्धी से मनोहर राधिका के शरीर को स्त्रियों ने उबटना आदि से संयुक्त नहीं किया । किन्तु इस विवाहमयी मंगलविधि में यह इसी प्रकार का समय (आचार) है, इस कारण उस समय उन स्त्रियों ने स्पर्श करते हुए श्रीराधिका के ऊपर थोड़ा सा उबटना आदि लगा दिया ॥४८॥

उसके बाद वीध्र (स्वतः निर्मल) व्यापारवाले लोधवृक्ष के कषैले चूर्ण के द्वारा श्रीराधिका के अङ्ग से तैल को हटा कर, अपने गुण से उत्कृष्ट कालेयक (पीला चन्दन) के अङ्गराग के द्वारा श्रीराधिका की सेवा करके, उनको वे स्त्रियाँ सुन्दर एवं नवीन स्नानागार के स्थानपर ले आईं । वह स्नानागार निरन्तर निर्दोष उन उन औषधियों से युक्त मनोहर प्रबल सुगन्धी से युक्त जलप्रवाह से भरे हुए रत्ननिर्मित श्रेष्ठ कलशों से युक्त था, एवं माङ्गलिक वस्तुओं से बनी हुई धूपसमूह के एवं घृत की सुगन्धी के प्रयत्न से युक्त था, तथा तीनों लोकों की शोभारूप सम्पत्ति से बने सिंहासन के गर्व को दूर करनेवाले सुवर्णमय सिंहासन की स्थिति से उसका प्रयत्न पूर्णरूपेण सफल था । ऐसे स्नानागार को प्राप्त कर उन स्त्रियों ने माङ्गलिक गायन के सहित आपस के सङ्ग की सुन्दरता से व्याप्त होकर श्रीराधिका का स्नान करा दिया ॥४९॥

किन्तु श्रीराधिका ने तो अपने में श्रीकृष्णरूप वर की प्राप्तिरूप भावना के स्मरण से उत्पन्न हुए स्वेदजल से ही स्नान कर लिया था; तथापि सखियों के द्वारा कराये गये स्नान को तो व्यवहार की सामान्यता से ग्रहण कर लिया ॥५०॥

स्नान के समय गाया गया माङ्गलिक गीत, यथा—हे कृष्णरूप चन्द्रमा की सङ्गिनि ! राधे ! एवं श्रीकृष्ण की प्राप्ति से उनके वियोगरूपी मानसीव्यथा से रहित होनेवाली राधे ! तुम्हारी जय हो । एवं

माधवनेत्रमधुप-मधुमाधवि !, माधवदयिताजनगण-माधवि ! ॥
माधवमधुकरसुखमुखकमले !, माधवहृदि रेखाकृतिकमले ! ॥
माधव-वक्षसि मदसंबाधे !, माधवभाविनि ! रसजितबाधे ! ॥
माधवमनसि रुचा रसदाऽपि, माधववनमनु विहर सदाऽपि ॥"५१॥

अथ मधुकण्ठः पप्रच्छ,—"ललिता-विशाखे खल्वष्टसु नायिकास्वपि स्पष्टं गणिते । ततस्तयोरत्र वा तत्र वा स्थितिरिति व्यवस्थितिः क्रियताम् ।" स्निग्धकण्ठ उवाच,—"तदुक्तमेव पूर्णिमया, 'यन्मया विभुतामयानेकता सर्वत्र निर्बाधं साधयिष्यते' इति । प्रस्तुतमनुसन्धीयताम् ॥५२॥

"अथ संकोचकारणसाधारणसखीलोचनविस्तारणमावार्य तिरस्करिणीं प्रसार्य प्रणयिनीमुदुपार्जनमङ्गमार्जनम् ; यथा—

तस्या मार्जनमङ्गराजिरभजत् स्नाता न दृक्कैरव-
द्वन्द्वं यद्विधुवैभवस्फुरणतः पूर्णार्द्रभावं मुहुः ।
तैलं तत्र तु कारणं मिषतया विख्याप्य वस्त्रद्वयं
प्राणाल्यः परिधाप्य कृष्णनयनां वेषस्थलं निन्यिरे ॥५३॥

श्रीकृष्ण के साथ होनेवाले विवाह में शोभायमान अधिवास (शृङ्गार)वाली राधे ! तथा श्रीकृष्ण के हृदय में निवासरूप से अधिक स्फूर्ति पानेवाली, अथवा अधिक सुगन्ध बसानेवाली राधे ! तुम्हारी जय हो। एवं श्रीकृष्ण के नेत्ररूप भ्रमरों के लिए वासन्तीलता स्वरूपे ! तथा श्रीकृष्ण की प्रियाजनों के समुदाय में अपने स्वामी को स्वाधीन रखनेवाली राधे ! तुम्हारी जय हो। तथा श्रीकृष्णरूप भ्रमर को सुखदायक मुखरूप कमलवाली राधे ! एवं श्रीकृष्ण के वक्षःस्थलपर रहनेवाली रेखाकार लक्ष्मीस्वरूपे ! राधे ! तुम्हारी जय हो। एवं श्रीकृष्ण के वक्षःस्थलपर गर्वपूर्वक प्रभुता करनेवाली, तथा श्रीकृष्ण में भाव रखनेवाली ! और शृङ्गारादि नवरसों के द्वारा बाधा को जीतनेवाली राधे ! तुम्हारी जय हो। और अपनी लोकोत्तर कान्ति-द्वारा श्रीकृष्ण के मन में रसदायिनी होकर भी, अब सदैव श्रीवृन्दावन में स्वच्छन्द विहार करो ॥५१॥

अनन्तर मधुकण्ठ ने पूछा—आठ प्रकार की नायिकाओं में ललिता एवं विशाखा स्पष्ट ही गिनी गई हैं। उन उन दोनों सखियों की स्थिति (रहना) राधिका के निकट हुई अथवा अपने अपने पिता के घर, इसकी व्यवस्था कर दीजिये। स्निग्धकण्ठ बोला—वह विषय तो पौर्णमासी ने ही कह दिया है कि, मैं व्रज के जनमात्र की व्यापकतामयी अनेकता सभी जगह बाधारहित सिद्ध कर दूँगी। अतः उन दोनों सखियों का श्रीराधिका के निकट रहना, एवं पिता के घर में रहना भी एकसाथ सिद्ध हो गया। अब तो प्रस्तुत विषयपर ध्यान दीजिये ॥५२॥

अनन्तर संकोच का कारणरूप साधारण सखियों के नेत्रों का जो विस्तार है, उसको हटाकर, अर्थात् राधिका की ओर साधारण सखियों के आँख फाड़ फाड़कर देखने को रोककर, परदा लगाकर, स्नेहवाली सखियों के हर्ष को बढ़ानेवाले श्रीराधिका के अङ्गों के मार्जन (पोंछना) का वर्णन, यथा—श्रीराधिका की स्नान की हुई अङ्गों की श्रेणी तो अँगोछा के द्वारा मार्जित हो गई, किन्तु उनके नेत्ररूप कुमुदयुगल मार्जित नहीं हो पाये। कारण श्रीकृष्णरूप चन्द्रमा के वैभव की स्फूर्ति से दोनों नेत्ररूप कुमुद प्रेमाश्रुओं के द्वारा

"ततश्च तस्यां वेशे लब्धविनिवेशे सति—

सीमन्तालकनासिकाश्रुतिभुजावक्षोनितम्बांघ्रियुक्
स्वर्णद्योतितरत्नमौक्तिकमयालङ्कारशोभाकरी ।
कृष्णस्फूर्तिजकंपघर्मपुलकस्तंभाश्रुभिर्लज्जया
गुप्तैरप्युदितैः सुशोभितवपुः श्रीराधिका दिद्युते ॥५४॥

"तदनु दर्पणसमर्पणमनु सख्यास्तया सह वचनप्रतिवचने,—

'इन्दुर्निर्मञ्छपात्री प्रकटमुपरि यद् भ्रम्यते तस्य धात्रा
पद्मं निर्माल्यमप्सु प्रतिदिशमपि यत् क्षिप्तमेवास्ति तस्य ।
आदर्शश्चायमर्चापदमधिकरणं तस्य संपाद्यते यत्
किं तत् प्राणालि ! तत्ते मुखमिह सुचिरं पश्य राधे ! विभाति ॥'५५॥

"अथ ललितगतिकलकमलमुखकलहंसीततिरिव सखीततिरमूममूदृशराजहंसीमिव विराजमानां मध्ये निधाय प्राग्वर्णितलसदखण्डशुभ्रमण्डपतलकृतोपवेश-पेशलपुरन्ध्रीणां

बारंबार पूर्ण आर्द्रभाव (गीलेपन) को प्राप्त होते रहते थे। नेत्रों के बारंबार गीले होने के विषय में किसी बहाने से तेल को ही कारण बताकर, अर्थात् तेल लग जाने के कारण ही राधिका के नेत्रों में बारंबार आँसू आरहे हैं, ऐसा बहाना बताकर ललिता विशाखा आदि प्राणप्यारी सखियाँ कृष्णासक्तलोचना, असिताक्षी श्रीराधिका को साड़ी एवं चुनरी ये दोनों वस्त्र पहना कर वेषरचना के स्थानपर ले आईं ॥५३॥

पश्चात् श्रीराधिका के वेषविशेष का सन्निवेश (पहनाना) हो जानेपर सीमन्त (केशवेष, माँग), अलकावली, नासिका, कान, भुजा, वक्षःस्थल, कटिप्रदेश, एवं दोनों चरण इत्यादि समस्त अङ्गों में पहने हुए सुवर्ण से प्रकाशित रत्न एवं मोतियों से जड़े हुए अलङ्कारों को अपने अङ्गों की शोभा से शुशोभित करनेवाली राधिका तथा श्रीकृष्ण की स्फूर्ति से उत्पन्न हुए कम्प, स्वेद, रोमाञ्च, स्तंभ, अश्रु आदि सात्त्विक विकार, जो कि लज्जा से छिपाये जानेपर भी प्रगट हो गये थे, अतः उन्हीं सात्त्विक भावों से सुशोभित शरीरवाली श्रीराधिका उस समय देदीप्यमान हो गई ॥५४॥

शृङ्गार करने के बाद हाथ में दर्पण देकर श्रीराधिका के साथ किसी सखी का उत्तर प्रत्युत्तर, यथा—दर्पण में अपने मुख के प्रतिबिम्ब को देखकर राधिका बोली—अरी सखि ! यह क्या है ? सखी बोली—यह निष्कलंक चन्द्रमा है, एवं न्यौछावर का पात्र है, इसीलिए विधाता इसके ऊपर स्पष्ट ही कमल घुमाते रहते हैं, तथा इस के ऊपर न्योछावर किया हुआ इसका प्रसादरूप जो कमल है, उस को विधाता ने प्रत्येक दिशा में जल में फेंक दिया है। और यह दर्पण भी उस चन्द्रमा का आधारस्वरूप पूजा का स्थान बनाया जाता है। इसी कारण चकित होकर राधिका बोली—हे प्राणप्यारी सखि ! जिसका तुम वर्णन कर रही हो वह वस्तुतः कौन है ? सखी बोली—हे राधिके ! इस दर्पण में वस्तुतः तुम्हारा श्रीमुख ही शोभायमान है, इसको तुम बहुत देरतक देखती रहो ॥५५॥

अनन्तर सुन्दर चाल एवं मनोहर है ध्वनि जिसकी, तथा कमल है मुख में जिसके, ऐसी कलहंसी-श्रेणी की तरह सुन्दर चाल एवं मनोहर बोलीवाली, तथा कमल के से मुखवाली सखियों की श्रेणी, उसी प्रकार की चाल एवं मनोहर ध्वनिवाली, कमलमुखी राजहंसी की तरह विराजमान श्रीराधिका को अपने

नीरन्ध्रमानन्दं सन्धाय सभामासां भाजयामास, सभाजयामास च कनकाऽऽसनाऽऽसनचामर-चालनादिभिः ॥५६॥

"तदेवं धन्ययोरनयोर्वरकन्ययोर्युगपदेव तत्र तत्र प्राङ्मुखतया कृतोपवेशयोर्लब्ध-मातृतद्यातृमुखपुरन्ध्रिसदेशयोरधिवासमङ्गलमासन्नं जातम् ॥५७॥

"तत्र च—मान्याभिर्वरकन्ययोस्तनुरुचिव्यत्यस्तरोचिश्रितं
भालान्तस्तिलकद्वयं निजनिजस्थाने सगीतादिकम् ।
यद् यद् वर्णमभीक्ष्य ते अपि मिथः स्फूर्त्येकतामागते
शश्वद्भ्रान्तिवशाद्विलज्जिततया कंपं दरानश्वतुः ॥५८॥

"ततश्च, दर्भाग्रै रभिषिच्य तद्वरवधूयुग्मं पृथक् स्नातका-
स्तत्तद्वैदविधा-विधानमदधुः पश्चादिदं प्रोचिरे ।
दांपत्यं युवयो रमा-मधुजितोः साम्येन संपद्यता-
मित्याशीर्जनरीतिरेव लषितं नस्तूर्ध्वमस्मादपि ॥५९॥

"तदनु च पुरन्ध्रयः,—
वासयोगमधिवासनाय ता,-श्चिक्षिपुर्वरवधूतनू अनु ।
यस्तु तत्र मिथुने भवन्मिथो, वासयोग इति सङ्गति गतः ॥६०॥

बीच में करके, पहले वर्णन किये हुए शोभायमान अखण्ड श्वेतमण्डप के नीचे बैठी हुई, चतुर पुरवनिताओं के निरन्तर आनन्द को देकर उनकी सभा में ले आई । पश्चात् उसी सखीश्रेणी ने स्वर्णमय सिंहासनपर बैठाकर चँवर डुलाना आदि के द्वारा श्रीराधिका का यथेष्ट सम्मान भी कर दिया ॥५६॥

इस प्रकार सौभाग्यशाली "कृष्ण एवं राधा" ये दोनों वरवधू जब अपने अपने पिता के घर पूर्वाभिमुख होकर सिंहासनपर बैठ गये, एवं उन उन की माता, चाची, ताई आदि कुटुम्बवाली महिलाएँ जब उनके निकट उपस्थित हो गईं, तब उनका शुभ अधिवास निकटवर्ती हो गया ॥५७॥

और वहाँपर माननीय महिलाओं ने अपने अपने स्थानपर गाने बजाने के साथ दोनों तिलक क्रमशः वर एवं कन्या के मस्तक के बीच में लगा दिये । वे दोनों तिलक वर एवं कन्या के शरीर की कान्ति से विपरीत थे, अर्थात् श्रीकृष्ण का गौरवर्ण का एवं राधा का श्यामवर्ण का तिलक था । जिस जिस गौर-श्यामवर्ण को देखकर वे दोनों वर एवं कन्या भी परस्पर की स्फूर्ति की एकाग्रता को प्राप्तकर, निरन्तर भ्रान्ति के वशीभूत होकर, विशेष लज्जा के कारण किंचित् कम्पित हो गये ॥५८॥

उसके बाद उस वरवधू के जोड़े को पृथक् पृथक् स्नान करानेवाली स्त्रियों ने कुशा के अग्रभाग से अभिषिक्त करके, उस उस वैदिक विधि का विधान भी कर दिया । पश्चात् वे इस प्रकार बोलीं कि–तुम दोनों का दम्पतिभाव लक्ष्मीनारायण की समानता से सम्पन्न हो जाय । इस प्रकार का आशीर्वाद तो केवल जनों की रीति है । किन्तु हमारी अभिलाषा तो लक्ष्मीनारायण की समानता से भी बहुत ऊँची है ॥५९॥

उसके बाद पतिपुत्रवाली उन स्त्रियों ने वस्त्रों को सुगन्धित करने के लिए वरवधू के शरीरों को लक्ष्य करके, अर्थात् उन के ऊपर जो वासयोग (सुगन्धित द्रव्य का चूर्ण) फेंका था, वह वरवधू के जोड़ेपर संलग्न होकर 'परस्पर वासयोग' इस प्रकार की संगति को प्राप्त हो गया ॥६०॥

श्रुतिद्वयं तत्र न केवलं तयो,-र्यवांकुरेणांकुरितं तदा व्यधुः ।
मनोरथं चाथ कृतानि सर्वतो, भद्राणि यद् भान्ति सदैव तादृशाम् ॥६१॥

ऊर्णाकङ्कणबन्धा,-न्मणिकङ्कणशुभ्रमप्यनयोः ।
मणिबन्धद्वयमरुचत्, कान्तिर्मङ्गलमपीह सद्धेतुः ॥६२॥

मृत्स्नागन्धशिलादि-वन्दनविधिं तत्राऽधिवासे बहि-
र्दध्रे माधवराधिकाख्यमिथुनं मङ्गल्यचर्याकृते ।
मन्येऽन्तः स्फुरितं यदत्र च निजप्रार्थ्यं ववन्दे तु तत्
किं तन्न श्रुतमन्तरङ्गबहिरङ्गेत्यादिशब्दस्मृतेः ॥६३॥

"तदेवंविधां विधाय तैलकृतप्लवहारिद्रविद्रवमपि तयोर्वस्त्रकृताऽऽस्तरे मस्तके न्यस्तं कुर्वत्यः पूर्वजवरवर्णिनीपूर्वकं पतिवत्न्यः पूर्वादिदिक्षु स्थिता दूर्वाग्रेण स्रावयांबभूवुः ॥६४॥

"तत्र परस्परं गापयांबभूवुरपीदम्,—

'राधामाधवयुगलम् ।
स्नेहरागमय-तैल-हरिद्रा-परिवलितं मुहुरचलम् ॥ध्रु॥
नवमिदमवतान्मिथुनं गोकुल-गोकुलवसतीन् सर्वान् ।
कुरुतादपि पुरुगुरुसुख-सन्तति-सन्ततसन्ततगर्वान् ॥

उस समय उन स्त्रियों ने वहाँपर वरवधू के केवल दोनों कानों को ही जौ के अंकुरों से अंकुरित नहीं किया; अपितु, दोनों के मनोरथ को भी अंकुरित कर दिया था। कारण उस प्रकार की सतीसाध्वी स्त्रियों के कार्य सदैव सर्वतोभाव से मङ्गलमय ही शोभा पाते रहते हैं ॥६१॥

इन दोनों वरवधुओं के दोनों मणिबन्ध (पहुँची या कलाई) मणि के कङ्कणों से शुक्लवर्ण के होकर भी उनके कङ्कणों के बाँधने से सुशोभित हो गये। कारण इस प्रकार के अवसरपर कान्ति एवं मङ्गलाचार भी सुन्दर हेतु माना गया है ॥६२॥

उस शुभ अधिवास में राधा-कृष्ण नामक युगलजोड़ी ने माङ्गलिकचर्या के लिए मृत्तिका एवं गन्धशिला आदि की वन्दनारूप विधि बाहर से ही धारण की थी। किन्तु मैं तो यहाँपर यह भाव मानता हूँ कि "इस वन्दनाविधि में अपना प्रार्थनीय जो विषय अपने अपने अन्तःकरण में स्फुरित हुआ था, उस वर-वधू की जोड़ी ने उसी विषय को वन्दना की थी" क्योंकि "अन्तरङ्गबहिरङ्गयोर्मध्ये अन्तरङ्गं बलवत्" अर्थात् अन्तरङ्ग एवं बहिरङ्ग कार्यों में अन्तरङ्ग कार्य ही बलवान् होता है। इस प्रकार की शाब्दिकस्मृति से वह भाव नहीं सुना है क्या? ॥६३॥

इस प्रकार की विधि को करके तेल से मिले हुए जल को भी वस्त्र से ढके हुए वरवधू के मस्तकपर धारण करती हुई सधवास्त्रियाँवयो वृद्ध उत्तम स्त्रियों को अग्रसर करके पूर्व आदि सभी दिशाओं में खड़ी होकर दूब के अग्रभाग से फैलाने लग गईं ॥६४॥

वहाँपर आपस में यह गाना गवाने लग गईं। उस गाने का भावार्थ, यथा—यह राधा-माधव की जोड़ी स्नेह एवं अनुरागमय तेल एवं हलदी से युक्त होकर बारंबार स्थिर बनी रहे, यही हमारी अभिलाषा है। और यह नवीन युगलजोड़ी व्रज एवं व्रज में रहनेवाले सभी प्राणियों की रक्षा करती रहे, एवं उनको

भृशमपि विहरतु हरतु च चित्तं हरतु च दुःखं नित्यम् ।
ग्रथयतु कान्ति कान्तिमपीह प्रथयतु महिमादित्यम् ॥
सकलसकलगुणमिह गुणयतु पुनरनुनयतान्निजलोकम् ।
नयननयनपदसंपदमयतां दयतां शश्वदशोकम् ॥
जीव-सुजीवन-निजरूपामृतभृतमपि कुर्वदशेषम् ।
राजतु राजतुलाजयि विभवं विभवतु विस्मितशेषम् ॥' इति ॥६५॥

"अथ रक्षामन्त्रलक्षाभिमन्त्रणया तत्तदक्षामप्रभावसमधिकसंपदोषधियन्त्रपरतन्त्रतया च प्रत्यूहस्य यन्त्रणया कृतशुभतन्त्राभ्यां ताभ्यां तत्र तत्र गुरूणामाज्ञया मात्रोर्मात्रोराज्ञया च गुरूणामभिवादनमनु पुरून्नतसुखसदनं तेषामभिवदनमासीत् ॥६६॥ यथा—

"कृष्णोऽसौ परमरमापतिस्तथासौ, राधा स्यात् परमरमास्मदीयगोष्ठे ।
यस्मात्ते वयमिह नित्यमेव शर्म, स्वं तत्तद्रुचिभवमुच्चकैर्भजामः ॥६७॥

"अथ तौर्यत्रिकशौर्यबहलकोलाहलतया निजनिजपल्लीमतल्लीचयमध्यस्थ-देवालयमय-मध्यस्थलं सकलवेदसारायणं लक्ष्मीनारायणं सभाजयितुं पृथक् पृथक् क्रमतया वरः सहव्रजनरवरः कन्या च सा सहव्रजजनीका धन्या जगाम ॥६८॥

अधिक तथा विशेषसुख की श्रेणी द्वारा निरन्तर विस्तृत गर्ववाले बनाती रहे। और यह युगलजोड़ी व्रज में अतिशय विहार करती रहे, उस विमल विहार के द्वारा हमारा चित्त हरती रहे, एवं दुःख को भी नित्य हरती रहे। और परस्पर की मनोहर कान्ति को गुम्फित करती रहे, तथा यहाँपर निज महिमारूप सूर्य को प्रकाशित करती रहे। और यहाँपर चौंसठ कलाओं के सहित अपने समस्त गुणों को बढ़ाती रहे, इतनेपर भी यह जोड़ी अपने व्रजजनों की अनुनय करती रहे। एवं भक्तों के नेत्रों के द्वारा अपनी प्राप्तिरूप सम्पत्ति को प्राप्त कराती रहे, अर्थात् उनको दर्शन देती रहे। तथा निरन्तर शोक के अभाव को देती रहे। तथा राजा की तुलना को पराजित करनेवाले वैभव से युक्त यह जोड़ी, समस्त जगत् को जीवमात्र के सुन्दर जीवनरूप अपने दर्शनरूप अमृतसे परिपुष्ट करती हुई विराजमान रहे; एवं शेषजी को विस्मित करनेवाली यह युगलजोड़ी सर्वोपरि वैभव को प्राप्त करती रहे ॥६५॥

उस गाने के बाद लाखों रक्षामन्त्रों की अभिमन्त्रणा के द्वारा उस उस अक्षीण प्रभाव से विशेष ऐश्वर्यसम्पन्न औषधि, एवं यन्त्रों की परतन्त्रता से विघ्न को दूर करके, शुभ की प्रधानता करनेवाले वर-वधू के जोड़े के द्वारा, अपने अपने स्थानपर गुरुजनों की आज्ञा से, एवं लालनपालन करनेवाली दोनों माताओं की आज्ञा से, गुरुजनों के अभिवादन (नमस्कार) करने के पश्चात्, गुरुजनों ने भी वरवधू को विशेष उन्नतिमय सुख का स्थानस्वरूप आशीर्वाद दिया था ॥६६॥

यथा—हमारे व्रज में ये श्रीकृष्ण ही महानारायण हो जायँ तथा यह राधिका ही महालक्ष्मीस्वरूप हो जायँ। जिसके कारण वे हम सब व्रजवासी इस व्रज में राधा-कृष्ण की रुचि से उत्पन्न हुए अपने सर्वोच्च सुख को नित्य ही प्राप्त करते रहें ॥६७॥

उसके बाद नाचना, गाना, बजाना आदि के समारोह से विशेष कोलाहलपूर्वक अपने अपने ग्राम की श्रेष्ठभूमि के समूह के बीच में विराजमान देवालय के मध्यस्थल में स्थित, चारों वेदों के सारस्वरूप भक्ति

"तत्राश्चर्यमिदमासीत् । यदा वरः स सुवेशः प्रविवेश, तदा तत्कान्तावन्तर्हिते लक्ष्मीहिते केवला लक्ष्मीरेव व्यलक्ष्यत । तदेवं कन्यया कृतप्रवेशे सदेशे केवलो लक्ष्मीहितः । उभयोर्निजनिजक्रमेण बहिरपक्रमे पुनरवहिते तत्र तत्र यथावदेव देवताद्वयमिति । लोकास्तु तस्य तस्याश्चावरणं ज्योत्स्नान्धकारगताभिसारवेशस्येव मतवन्तः ॥६९॥

"तदेतदवधार्य मधुमङ्गलः साश्चर्यमाह,—'ही ही पश्यत पश्यत, मन्मित्रदंपत्योः स्वनियतदांपत्यादविरलता, यदियं नारायणमपि सोऽयं लक्ष्मीमपि नात्मकान्तिसात् करोति' इति ॥७०॥

"अथ समापनाय प्रकृतमनुसरामः,—
ततः कृतसुरार्चनौ विविधवाद्यगीतान्वितौ, निजं निजममू गृहं वधुवरौ पृथग्जग्मतुः ।
तदा बहिरिदं बभौ हृदि पुनस्तयोरन्यथा, वरं सपदि कन्यकाऽन्वगमदेष चामूमिति ॥"७१॥

के आश्रयरूप श्रीलक्ष्मीनारायण की पूजा करने के लिए, पृथक् पृथक् क्रम से श्रेष्ठ व्रजजनों के साथ वर चले आये, एवं व्रजवासियों की पुत्रवधुओं के साथ वह सौभाग्यवती कन्या भी चली आई ॥६८॥

वहाँपर यह आश्चर्य हुआ कि जिस समय सुन्दर वेषवाले श्रीकृष्णरूप वर ने उस मन्दिर में प्रवेश हो किया, उसी समय श्रीकृष्ण की कान्ति में नारायण के अन्तर्हित हो जानेपर केवल लक्ष्मी ही दिखाई देती रही । उसीप्रकार राधारूप कन्या के लक्ष्मी के निकट प्रवेश करते ही राधिकाकी कान्तिमें लक्ष्मीके अन्तर्हित जानेपर केवल नारायण ही दीखते रहे । पश्चात् वर एवं कन्या ये दोनों ही अपने अपने क्रम से जब मन्दिर से बाहर निकल गये, तब पुनः ध्यान से देखनेपर उस उस स्थानपर पहले की तरह, लक्ष्मी-नारायणरूप दोनों देवता दिखाई देने लग गये । किन्तु लोगों ने तो कृष्ण एवं राधा की कान्ति में नारायण एवं लक्ष्मी के ढक जाने को चाँदनी एवं अन्धकार में अभिसार करनेवाले के वेष की तरह मान लिया । तात्पर्य—श्रीकृष्ण की कान्ति में नारायण अभिसारक बन गये, एवं राधिका की कान्ति में लक्ष्मी अभिसारिका बन गई, यह मान लिया ॥६९॥

इस बात को निश्चय करके मधुमङ्गल आश्चर्यपूर्वक बोला—अहह ! देखो, देखो ! मेरे मित्र श्रीकृष्ण एवं राधारूप दम्पतियों के अपने अपने नियत दम्पतिभाव के कारण कैसी प्रगाढता है ? क्योंकि यह राधिका नारायण को भी एवं यह श्रीकृष्ण लक्ष्मी को भी अपनी कान्ति के अधीन नहीं कर रहे हैं । इसी-लिए दोनों ने लक्ष्मी एवं नारायण को पृथक् पृथक् देखा था ॥७०॥

अब हम प्रसङ्ग को समाप्त करने के लिए प्रकृत विषय का अनुसरण करते हैं । उसके बाद वे वर-वधू दोनों ही देवपूजा करके, अनेक प्रकार के बाजे गाजे से युक्त होकर, पृथक् पृथक् अपने अपने घर चले गये । उस समय केवल बाहरी दृष्टि से तो यह पृथक् पृथक् अपने अपने घर जाना सुशोभित हुआ था, किन्तु उन दोनों के हृदय में तो दूसरी प्रकार से ही जाना संघटित हुआ । कारण राधिका तो अपने मन में तत्काल श्रीकृष्ण के पीछे पीछे चल दी, एवं श्रीकृष्ण मन मन में राधिका के पीछे पीछे चल दिये ॥७१॥

तदेवं क्रमतः सभाद्वयं यथास्वं कथनमाकर्ण्य कथकादीनां स्वस्वावासप्रस्थानं निर्वर्ण्य वर्ण्यमानपरस्पराभिगमनमेव मिथस्तन्मिथुनं रहसि साक्षादधिगमयामास ।।७२।।

इति श्रीश्रीमदुत्तरगोपालचम्पूमतु श्रीराधा-माधवाऽधिवास-प्रसाधनं नाम त्रयस्त्रिंशं पूरणम् ।।३३।।

अथ चतुस्त्रिंशं पूरणम्

श्रीराधा-कृष्णाऽलङ्कारसंपद्वर्णनम्

अथ पूर्ववदेव सभाद्वयकथायुगलमेकीकृत्य कथयिष्यामः । यत्र मधुकण्ठ उवाच,—।।१।।

"तदेवं नक्तमपि सर्वं गीतनृत्यादिपर्वणाऽनुरक्तं विधाय वरकन्ययोः संप्रदायः क्षणादिव प्रभातमायातवान् । ते धन्ये वरकन्ये पुनः कांश्चित् क्षणान्निमेषवेशतया निन्याते, कांश्चित्तु युगसहस्रसमुदायतया ।।२।। यतः,

"कदाचिद्ध्यानान्तर्वलयितसमाधी वर-वधू,-जनौ साक्षात्तुल्यं स्वपरिणयभव्यं ददृशतुः ।
कदाचिच्चिन्ताभिर्विकलितमती कर्हि भविता, प्रभातं तद्यस्मिन् परिणयनमित्याममृशतुः ।।३।।

इस प्रकार क्रम से "श्रीव्रजराज की सभा एवं श्रीराधिका की सभा" इन दोनों सभाओं ने यथायोग्य कथा को सुनकर, कथावाचक आदि जनों का अपने अपने वासस्थान की ओर प्रस्थान देखकर, आपस में परस्पर का अभिगमन जिनका वर्णित हुआ, वह राधा-कृष्ण की जोड़ी स्वयं एकान्त में पहुँचा दी ।।७२।।

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रिविरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते श्रीमदुत्तरगोपालचम्पूकाव्ये श्रीराधा-माधवाऽधिवास-प्रसाधनं नाम त्रयस्त्रिंशं पूरणं सम्पूर्णम् ।।३३।।

चौंतीसवाँ पूरण

श्रीराधा-कृष्ण के अलंकारों की शोभा का वर्णन

इस चौंतीसवें पूरण में श्रीराधा-कृष्ण के अनेक प्रकार के अलंकारों की शोभा का वर्णन साहित्य-शास्त्र के अनेक अलंकारों के प्रदर्शनपूर्वक होगा । अब पहले पूरण की कथा की तरह दोनों सभाओं को दोनों प्रकार की कथाओं को इकट्ठी करके कहेंगे । जिन दोनों प्रकार की कथाओं में मधुकण्ठ बोला ।।१।।

इस प्रकार वरवधू के पक्षवाले जनों ने रात्रि में भी सभी जनों को गाना, बजाना, नाचना आदि के महोत्सव से अनुरक्त करके मानो क्षणभर में ही प्रातःकाल को प्राप्त कर लिया, अर्थात् लम्बीचौड़ी रात्रि भी गाने बजाने के आनन्द से मानो एकक्षण में बीत गई । किन्तु सौभाग्यशाली वे दोनों वर एवं कन्या तो कुछक्षणों को एक निमेष की तरह बिताते थे, एवं कुछक्षणों को हजारों युगों के समूह की तरह बिताते थे ।।२।।

कारण वर एवं वधू ये दोनों जन कभी कभी परस्पर के ध्यान में समाधिस्थ (एकाग्र) होकर अपने अपने शुभ विवाह को साक्षात् की तरह देख लेते थे । और कभी कभी तो अनेक चिन्ताओं से विकल बुद्धिवाले होकर, मन मन में यह विचारते थे कि "वह प्रातःकाल कब होगा कि जिसमें हमारा विवाह होगा ?" ।।३।।

अथाचरितजागरे बहलवाद्यकोलाहले, समुद्यदरुणप्रभाविवृतरागसाम्ये व्रजे।
हरिं तमपि राधिकामपि च तां यथास्वं गतः, शुभाय सवयोजनः स्नपनमङ्गलं निर्ममे ॥४॥

"तत्र च प्रथमं सर्वसुखसाधिकाया राधिकायाः स्नानाऽनन्तररचनां प्रचारयिष्यामः,–॥५॥

गौरकान्तिररुणांवरा पुनः, स्वप्रकाशनवतासुखप्रदा।
राधिकेयमुदिता विदिद्युते, यद्वदादिशशभृत्कलाद्वयी ॥६॥

"यस्यामङ्गानि विद्युत इव, केशा विद्युत्वन्त इव, ग्रीवाद्यधरावयवाः स्वर्णवर्णसुरलताया विभागा इव, भ्रमरकशोभि मुखं कमलायमानतत्कुसुममिव, भालं बालकलाधर इव, नेत्रे तारके इव, भ्रूलता त्रिनतेव, नासिका विशिखविशेष इव, कर्णयुगलं सुवर्णवर्णलताग्रयुग्ममिव, कपोलद्वयं निस्तलतत्फलद्वन्द्वमिव, मुखं पद्मरागद्वारधरवृत्तकनकपात्रमिव, दन्तपंक्तिस्तदन्तःस्थापितमेघमुक्तमुक्तावलिरिव, मृदुस्मितवाक् कुसुमितवल्लीसुरभिरिव, वाग्दलं नव्यदलमिव, वक्षः सुदुर्लक्ष्यलक्ष्मीस्थलमिव, तत्र चालक्ष्यं किमपि द्वयं निधिकलसद्वयमिव, उदरं चलदलकिसलयदलमिव, तनुतनूरुहलेखा तन्मध्यसंबध्यमानरेखेव, मध्यप्रदेशमनु मध्यमं

पश्चात् प्रातःकाल होते ही बहुत से बाजाओं के कोलाहल में समस्त व्रज के जागृत हो जानेपर, उदित होते हुए अरुण की प्रभा से प्रकाशित लालिमा एवं अनुराग से समान हो जानेपर, समान अवस्थावाले सखा एवं सखीजनों ने यथायोग्य उन श्रीकृष्ण एवं उन श्रीराधिका को प्राप्त कर मङ्गल के लिए उन का स्नानरूप मङ्गल कर दिया, अर्थात् स्नान करा दिया ॥४॥

अब उन दोनों के बीच में पहले सर्वसुखसाधिका श्रीराधिका के स्नान के अनन्तर होनेवाली अलंकार रचना का प्रचार करेंगे ॥५॥

गौरवर्ण की कान्तिवाली, अरुणवर्ण के वस्त्रोंवाली, पक्षे—आकाश को लाल रङ्ग का बनानेवाली एवं अपने प्रकाश की नवीनता से सब को सुख देनेवाली प्रकट हुई ये राधिका उस समय शुक्लपक्ष की द्वितीया के चन्द्रमा की दो कलाओं की तरह विशेष शोभा पाने लगी। यहाँ श्लेषानुप्राणित उपमा है ॥६॥

एवं जिन श्रीराधिका में (अधिक चमकीले होने से) उनके सब अङ्गप्रत्यङ्ग ही बिजली के समान शोभा पा रहे थे, तथा केश नवीन मेघों की तरह, ग्रीवा आदि नीचे के अवयव सुवर्ण के से वर्णवाली कल्पलता के विभागों की तरह, अलकावली से सुशोभित श्रीमुख कमल के समान भ्रमरों से युक्त कल्पलता के पुष्प की तरह, ललाट द्वितीया के चन्द्रमा की तरह, दोनों नेत्र दो ताराओं की तरह, भ्रूलता धनुष की तरह, नासिका तिलपुष्प के से बाणविशेष की तरह, दोनों कान सुवर्णवर्णवाली लता के अग्रभागस्थ दो पत्रों की तरह, दोनों कपोल सुवर्णलता के गोल गोल दो फलों की तरह, मुख पद्मरागमणि के द्वार को धारण करनेवाले गोल सुवर्ण के पात्र की तरह, दन्तपंक्ति पद्मरागमणिजटित सुवर्ण के गोल पात्र में धरी हुई एवं मेघों द्वारा वर्षाई हुई मोतियों की पंक्ति की तरह, मृदुमुस्कयान से युक्त बाणी पुष्पितलता की सुगन्धि की तरह, वाग्दल अर्थात् अधरोष्ठ रक्तवर्णवाले नवीनपत्र की तरह, वक्षःस्थल अनिर्वचनीय शोभाके स्थल की तरह, और उस वक्षःस्थल में अलक्ष्यरूप से विद्यमान कुछ दो वस्तु, अर्थात् दोनों स्तन दो निधि के कलशों की तरह, उदर पीपल के पत्ते की तरह, सूक्ष्म रोमावली पीपल के पत्र में स्थित रेखाओं की तरह, मध्यप्रदेश को लक्ष्य करके विद्यमान शरीर का मध्यभाग विश्वकर्मा के द्वारा रची गई वेदी के मध्यभाग की तरह, नाभि उस मध्यभाग के निकट रहनेवाले गम्भीर सरोवर की तरह, चरणपर्यन्तता से

देवशिल्पिकल्पितवेदिमध्यमिव, नाभिस्तदतिसनीडगभीरतीर्थमिव, चरणपर्यन्तताधन्यमन्यद्-विचित्रपरिधानमङ्गयुगं विविधरङ्गमण्डितं करिशुण्डाप्रधानयुग्ममिव, नखरकान्तिधरचरण-युगलं तद्धृतसशीकरनवपल्लवतल्लज इव, भुजाद्वन्द्वमखरनालहेमारविन्दिनीनालद्वन्द्वमिव, करद्वन्द्वमपि कमलद्वन्द्वमिवेति योग्ययुग्मतया सर्वं शुशुभे ॥७॥

"अपि च, कौटिल्यमेव केशानां वेशः; चिल्लीचूर्णकुन्तलावल्येव पत्ररचना; अविच्छेदतिलककृतवर्णभेद एव तिलकम्; विलोचननीलोत्पलप्रतिभासावेव कर्णावतंसौ; स्मितप्रतिच्छविरेव गन्धवहामुक्तमुक्ताफलम्; सैव च वक्षसि कृतविहारा हाराः, मृदुलमर्मर-सिचयादुच्छलत्कान्तिविलास एव काञ्चीकलापः; तिलकवत्तत्तदलङ्कारकारणकरेखा एव ग्रीवाभुजादिभूषणसंभाराः। किं बहुना? स्वयमुत्तमाङ्गमेव सर्वेषामङ्गानामुत्तमालङ्कार इति ॥८॥

"तदेवं विस्मयप्रयुक्ताः पुनरुक्ता इव ताः श्रीराधिकायाः प्रसाधिका यदारंभत एव स्तंभमागतवत्यः, तदा चिरादेव तदीयवेशरचनाय चातुरीमाचरितवत्यः ॥९॥

धन्य एवं विचित्र वस्त्रों से युक्त दूसरे दोनों अङ्ग, अर्थात् कटिपर्यन्त दोनों चरण अनेक प्रकार के रंगों से विभूषित हाथी के श्रेष्ठ दो सूँडों की तरह, नखों की कान्ति को धारण करनेवाले दोनों चरण दो सूँडों के द्वारा धारण किये हुए एवं जलबिन्दुओं से युक्त श्रेष्ठ एवं नवीन दो पत्रों की तरह, दोनों भुजाएँ कोमल-नाल से युक्त सुवर्ण की कमलिनी के दो नालदण्डों की तरह, एवं दोनों हाथ भी दो दिव्य कमलों की तरह शोभा पा रहे थे। इस प्रकार श्रीराधिका के शरीर में हाथ, पाँव, नेत्र आदि के सभी जोड़े बराबर होने के कारण सभी बराबर शोभा पा रहे थे। अर्थात् एक हाथ जितना लम्बा या सुन्दर था, उसी प्रकार दूसरा हाथ भी उतना ही लम्बा एवं सुन्दर था। इसी प्रकार सभी युगल अङ्गों की व्यवस्था जाननी चाहिये। तात्पर्य—कोई भी अङ्ग छोटा बड़ा नहीं था। यहाँ सर्वत्र उपमा अलङ्कार है ॥७॥

और कुटिलता ही केशों का वेश था, चिल्ली (भ्रूलता) के कुटिल केशों की पंक्ति ही मुख का शृङ्गारविशेष था, प्रतिदिन निरन्तर तिलक लगाने से हुआ जो वर्णभेद अर्थात् निशानी ही तिलक था, नेत्ररूप नीलकमलों के दो प्रतिबिम्ब ही दोनों कर्णभूषण थे, मन्दमुसकान का प्रतिबिम्ब ही नासिका में बँधा हुआ मुक्ताफल था, और वह मन्दमुस्क्यान ही वक्षःस्थलपर विहार करनेवाले मोतियों के हार थे, कोमल ध्वनिवाले वस्त्र से बाहर निकलती हुई कान्ति का विलास ही कटि में पहनी हुई कौधनी थी। तिलक की तरह अर्थात् प्रतिदिन तिलक लगाने से हुआ चिह्न ही जैसे तिलक स्थानीय था, उसी प्रकार उन उन अलंकारों के धारण के कारण बनी हुई चिह्नमयी रेखाएँ ही ग्रीवा (गला), भुजा आदि अङ्गों के भूषणों की सामग्रियाँ थीं। अधिक कहने से क्या? देखो, श्रीराधिका का मस्तक ही स्वयं श्रेष्ठ होने के नाते सभी अङ्गों का श्रेष्ठ अलंकार था। इस गद्य में 'विलोचननीलोत्पल' इस पद में समस्त रूपक है, एवं और सब पदों में व्यस्तरूपक अलंकार है ॥८॥

इस प्रकार स्वतःसिद्ध अलंकारों से विस्मित हुई एवं श्रीराधिका को अलंकृत करनेवाली वे सखियाँ पुनरुक्त सी, अर्थात् व्यर्थ सी होकर जब पहले से ही स्तम्भित हो गईं, तब बहुत देर बाद श्रीराधिका का वेष बनाने के लिए चतुराई करने लग गईं ॥९॥

"तथा हि—यस्याः कान्तिभिरुच्चै,-र्भर्त्सितकान्तिः समत्सरः सोमः ।
तत्तापज्वलदंके, स्वहृदि कलंकेन सङ्गतः शंके ॥१०॥
अपि दूर्वर्णं यस्या, रुचिमनु रुचिरां सुवर्णतां याति ।
तस्मादपरसुवर्णं, स्थाने दुर्वर्णतामयते ॥११॥
यस्याः साङ्गान्यङ्गा,-न्यङ्गीकुर्वन्ति दर्पणच्छविताम् ।
द्विगुणविभूषणशोभां, गुणयन्तीव च विमृश्य दृश्यन्ते ॥१२॥
यस्या भाल-कपोल,-द्वयरदनाद् विदलिताः सुधाद्युतयः ।
यन्मुखमनु सुखभाज,-स्तत्सुषमां किं स लाञ्छनी जुषताम्?॥१३॥
तस्या वेशविधाने, नेत्रनिधाने समागताः सख्यः ।
चित्रन्ति स्म प्रत्युत, तच्चित्रद्युतिविभूषिताः परितः ॥१४॥
पञ्चभिः कुलकम् ॥
अथ मातृभिराम्रेडित,-मर्थे तस्मिन् कुमारीभिः ।
प्रणयजकोपविमिश्रं, विश्राव्यामूः प्रवर्तितास्तत्र ॥१५॥

देखो, जिन श्रीराधिका की लोकोत्तर कान्तियों के द्वारा जिसकी कान्तिविशेष तिरस्कृत हो गई है, वह चन्द्रमा मात्सर्य से युक्त होकर, उस मात्सर्य (डाह) के ताप से प्रज्वलित चिह्न से युक्त अपने हृदय में मानो कलङ्क से संयुक्त हो गया है, मैं ऐसा मानता हूँ। अर्थात् चन्द्रमा में जो कलक है वह मात्सर्यरूप अग्नि के दाह का चिह्न है, मैं ऐसी उत्प्रेक्षा करता हूँ। यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार है ॥१०॥

और देखो, वह दुर्वर्ण (चाँदी) भी राधिका की कान्ति को लक्ष्य करके मनोहर सुवर्ण के भाव को प्राप्त हो जाती है, अर्थात् राधिका के अङ्ग में चाँदी के भूषण भी उनकी अङ्ग की सुवर्णमयी कान्ति से सुवर्ण जैसे ही मालूम पड़ते हैं। और उस चाँदी से दूसरा जो वास्तविक सुवर्ण है वही श्रीराधिका की कान्ति में दुर्वर्णता (मलिनता) को प्राप्त हो जाता है, यह बात उचित ही है। यहाँ तद्गुण अलंकार, एवं उत्प्रेक्षा अलंकार है ॥११॥

श्रीराधिका के अवयवों के सहित हस्तपादादि सभी अङ्ग दर्पण की सी शोभा को अङ्गीकार करते हुए विचार करनेपर भूषणों की दुगुनी शोभा को बढ़ाते हुए से दिखाई देते हैं। यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार एवं उत्प्रेक्षा अलंकार है ॥१२॥

और जिस राधिका के ललाट, दोनों कपोल, एवं दन्तपंक्ति इन सब से खण्डित हुई अमृत की शोभाएँ जिन राधिका के मुख को लक्ष्य करके सुखी हुई थीं; अतः श्रीराधिका के मुख की परमशोभा को वह कलङ्कीचन्द्रमा धारण कर सकता है क्या ? अर्थात् कदापि नहीं। यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार है ॥१३॥

सखियाँ राधिका का वेष बनाने के निमित्त उनके नेत्रों के सामने आई थीं, किन्तु राधिका की विचित्र कान्ति द्वारा स्वयं विभूषित होकर चारों ओर चित्रलिखी सी खड़ी रह गई। यहाँ भी अतिशयोक्ति अलंकार है ॥१४॥

पश्चात् उस वेषविन्यास के विषय में श्रीकीर्तिदा आदि माताओं ने प्रणय से उत्पन्न कोप से मिले हुए जो वचन दो तीनबार कहे थे, उनको कुँआरी कन्याओं के द्वारा सुनवा कर राधिका का शृङ्गार करनेवाली वे सखियाँ शृङ्गार करने में लगा दीं। यहाँ स्वभावोक्ति अलंकार है ॥१५॥

यत्र च तस्याः केशा, वेशार्थं वस्त्रमार्जनं याताः ।
जातास्ते तु सुजाताः, सर्वासामभिनिवेशाय ॥१६॥
अपि घनरुचिजयगण्याः, शीर्षण्यास्ते परस्परं मिलिताः ।
भङ्गं सुबहु वहन्तः, कृष्णामपि भङ्गमानयन्महसा ॥१७॥
अपि घनजयिरुचिधन्या, शीर्षण्यानां समाचितिस्तस्याः ।
अचलाप्यूर्मिमदङ्गी, प्रचलजलाङ्गीं जिगाय कालिन्दीम् ॥१८॥
यद्यपि धूपं गमिताः, शमितार्द्रत्वं गताश्चिकुराः ।
तदपि च सार्द्रामजयं,-स्ततिमतिनवधूमयोनीनाम् ॥१९॥
तत् कैशिकमालीभिः, प्रसृतं चक्रे परिष्कर्तुम् ।
अपि तस्यै पुरु रुरुचे, स्निग्धश्यामा हि तद्भासः ॥२०॥
कङ्कतिकासङ्कलिताः, केशास्तेऽमी परस्परं वलिताः ।
स्तुतिभिस्त्रपया नूनं, व्यतिपिहितं स्वं यथास्वमाचेरुः ॥२१॥
अथ कुसुमादिश्रेणी,-मिश्रा वेणी व्यरोचताऽमुष्याः ।
गङ्गादिकसंसङ्गाद्, वेणीभावं गता यथा कृष्णा ॥२२॥

जिस श्रृङ्गार में राधिका के केश श्रृङ्गार के लिए जब वस्त्र से मार्जित हो गये, तब वे केश सभी सखियों के अभिनिवेश (आसक्ति) के लिए सुन्दर हो गये । यहाँ स्वभावोक्ति अलंकार है ॥१६॥

सजलमेघों की कान्ति को जीतने में गिनने योग्य वे केश परस्पर सम्मिलित होकर भी बहुत सी कुटिलता को, पक्षे—तरङ्गों को धारण करते हुए अपने तेज से यमुना को भी पराजित करने लग गये । यहाँ व्यतिरेक अलंकार है ॥१७॥

और राधिका के केशों की वेणी ने मेघों को जीतनेवाली कान्ति से प्रशंसनीय होकर भी एवं अचल होकर भी तरङ्गयुक्त अङ्गोंवाली होकर चंचल जलवाली यमुना को जीत लिया । यहाँ विरोधाभास अलंकार एवं ललित अलंकार है ॥१८॥

यद्यपि राधिका के केश धूप देकर एवं धूप लगाकर गीलेपन से रहित हो गये, अर्थात् सूख गये थे, तो भी उन्होंने अन्यन्त नवीन मेघों की गीली, अर्थात् सरसश्रेणी को जीत लिया । यहाँपर विरोधाभास अलंकार एवं व्यतिरेक अलंकार है ॥१९॥

सखियों ने राधिका का वह केशकलाप सजाने के लिए फैला दिया था, तो भी वह राधिका के लिए विशेष रुचिकर हुआ । कारण उस केशकलाप की कान्तियाँ (श्यामसुन्दर की तरह) स्निग्ध श्याम वर्णवाली थीं । यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥२०॥

कंघी के द्वारा संशोधित वे राधिका के केश परस्पर सम्मिलित होकर ऐसे प्रतीत होते थे, मानो प्रसंशा से जनित लज्जा के कारण यथायोग्य अपने स्वरूप को परस्पर छिपा रहे हों । यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥२१॥

अनन्तर गंगा एवं सरस्वती के संयोग से वेणीभाव को प्राप्त हुई यमुना जिस प्रकार शोभा पाती हैं, उसी प्रकार पत्र पुष्प आदि से मिली हुई राधिका की वेणी शोभा पाने लग गई । यहाँ उपमा अलङ्कार है ॥२२॥

सा पुष्पितया वेण्या, रुरुचे पुष्पेषुतूण्येव ।
अजितं विजितं रचयत्, तस्या दृष्टं हि काण्डपृष्ठत्वम् ॥२३॥
शिरसि ग्रथितकचानां, वलये रत्नावली वलिता ।
सन्तमसाऽऽचितनभसि, प्रथते ताराततिर्यद्वत् ॥२४॥
अथ सिन्दूरजरेखा, शुशुभे तस्याः शुभे शिरसि ।
कृष्णघने रुचिसुघने, रोहितलेखेव या कलिता ॥२५॥
अथ मुक्तावलिवलिता, भाले ललिता ललाटिका कलिता ।
अभिनवशशधरमूर्ति,-स्पृगुपरि पूर्तिर्यथा भानाम् ॥२६॥
चिल्लीमृगमदवल्ली,-मध्ये लसति स्म भालमेतस्याः ।
अलिपालिद्वयपलितं, पर्णं वा स्वर्णवर्णकञ्जस्य ॥२७॥
अगुरुद्रवकस्तूरी,-तिलकं रेजे सरोजाक्ष्याः ।
यत् किल तिलकं जज्ञे, सर्वेषामेव वेषाणाम् ॥२८॥
नेत्रे तस्याः क्षेत्रे, कृष्णरुचीनामितीव तत्रैव ।
उप्तं कृष्णफलार्थं, कज्जलबीजं तदालीभिः ॥२९॥

वह राधिका पुष्पों से युक्त वेणी के द्वारा कामदेव की तूणी (तरकश) की तरह शोभा पाने लग गई । कारण उस समय श्रीकृष्ण को पराजित करता हुआ राधिका का भाव काण्डपृष्ठ (शस्त्र से जीविका चलानेवाले व्यक्ति) का सा भाव दिखाई देता था । यहाँ उपमा से युक्त काव्यलिङ्ग अलंकार है ॥२३॥

श्रीराधिका के मस्तकपर गुँथे हुए केशों के मण्डलमें लगी हुई रत्नों की पंक्ति उस प्रकार चमक रही थी कि जिस प्रकार गाढ़े अन्धकार से युक्त आकाश में ताराओं की पंक्ति चमकती है । यहाँ उपमा अलंकार है ॥२४॥

श्रीराधिका के शुभ मस्तकपर सिन्दूर से बनी हुई रेखा शोभा पा रही थी । जो रेखा उस समय घनीकान्ति से युक्त काले मेघ में लगी हुई सीधे इन्द्रधनुष् की रेखा की तरह दिखाई देती थी । यहाँ भी उपमा अलंकार है ॥२५॥

श्रीराधिका के ललाटपर मोतियों की श्रेणी से युक्त मनोहर जो ललाट का वन्दनी आदि भूषण था, वह उस प्रकार दीख रहा था कि जिस प्रकार नवीन चन्द्रमा की मूर्ति का स्पर्श करनेवाली एवं ऊपर के भाग में लगी हुई तारागणों की पूर्ति दीख रही हो । यहाँ भी उपमा अलंकार है ॥२६॥

श्रीराधिका का ललाट भ्रूलता एवं कस्तूरी की लता के बीच में उस प्रकार शोभा पा रहा था कि, जिस प्रकार सुवर्णवर्ण के कमल का पत्र दो भ्रमरश्रेणियों से युक्त होकर शोभा पाता है । यहाँ भी उपमा अलङ्कार है ॥२७॥

कमललोचना श्रीराधिका का अगर, चन्दनरस, कस्तूरी द्वारा रचा गया तिलक शोभा पाने लगा । मानो जो तिलक सब प्रकार के वेषों का तिलक, अर्थात् प्रधान हो गया था । यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार है ॥२८॥

श्रीराधिका के दोनों नेत्र श्रीकृष्ण की अभिलाषाओं के क्षेत्र (खेत)स्वरूप थे, मानो इसी कारण

अञ्जनरेखाव्याजा,-दस्या नेत्रत्रिभागान्तम् ।
निजबाणं किल जानन्, जाग्रत्फलमाचरत् कामः ॥३०॥
कर्णौ स्वर्णलताग्रे, यत्र च मणिकर्णिके पुष्पे ।
नासाकीरत्रोटिः, शुशुभे मुक्ताफलेन यत्कोटिः ॥३१॥
या नासा तिलपुष्पं, युक्ता मुक्ताफलेन राधायाः ।
अस्त्राग्रं फलमिति तां, कृष्णः पुष्पायुधास्त्रमूहेत ॥३२॥
अवतंसद्वयफुल्लं, कर्णद्वन्द्वं रराज राधायाः ।
नेत्रालिद्वयमसकृत्, वल्गति वल्गु स्फुटं स्म यत्स्पृहया ॥३३॥
विलसति कस्तूरिकया, चित्रं यत्र स्म गण्डान्तः ।
तत् कलयन् स्वकलंकं, विधुरपि सुतरां कलङ्कमोहिष्ट ॥३४॥
रुरुचे चिबुकममुष्या,-मगुरुजगन्धस्य बिन्दुना शितिना ।
यद्वत् पक्वरसाल,-स्याधः सुप्तेन भृङ्गेण ॥३५॥

उन दोनों नेत्रों में राधिका की सखियों ने कृष्ण की इष्टसिद्धि के लिए अथवा श्रीकृष्णरूप फल के लिए कज्जलरूप बीज बो दिया है। यहाँ हेतूत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥२९॥

कामदेव ने राधिका के कटाक्ष को अपना बाण जानकर अंजन की रेखा लगाने के बहाने से मानो अपना बाण जागती हुई नोक से युक्त कर लिया, अर्थात् मानो अपना बाण पैना लिया । यहाँ फलोत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥३०॥

श्रीराधिका के दोनों कान सुवर्णलता के अग्रभाग स्थानीय हैं। जिस लता में मणिके कर्णफूल नामक दो पुष्प लगे हुए हैं, वे ही मानो कर्णफूल हैं । राधिका की नासिका मानों तोता की चोंच है, जिस का अग्रभाग मुक्ताफल से सुशोभित है। यहाँ रूपकातिशयोक्ति अलङ्कार है ॥३१॥

श्रीराधिका की जो नासिका मुक्ताफल से युक्त है, वह तिलपुष्प स्थानीय है। मानो कामदेव के अस्त्र का अग्रभाग (नोक) है। श्रीकृष्ण उस नासिका को "यह कामदेव का अस्त्र है" ऐसी तर्कना कर सकते हैं। यहाँ भी रूपकातिशयोक्ति अलङ्कार है ॥३२॥

श्रीराधिका के दोनों कान दो कर्णफूलों से प्रफुल्लित होकर सुशोभित हो गये। जिन कर्णफूलों के देखने की इच्छा से राधिकाके नेत्ररूप दोनों भ्रमर निरन्तर मनोहरतापूर्वक स्पष्ट गूँजते रहते हैं। तात्पर्य– राधिका के दोनों नेत्र कर्णपर्यन्त विशाल हैं । यहाँ रूपक अलङ्कार है ॥३३॥

श्रीराधिका के जिस कपोलस्थल के बीच में कस्तूरी से बना हुआ चित्र शोभा पा रहा था, उस कपोलस्थल को देखते हुए चन्द्रमा ने भी अपने कलंक को विशेष कलंकरूप से धारण कर लिया । यहाँ अर्थापत्ति अलङ्कार है ॥३४॥

श्रीराधिका की ठोड़ी अगुरु चन्दन के काले बिन्दु से उस प्रकार सुशोभित हो गई कि जिस प्रकार पके हुए आम्रफल के नीचे का भाग (वहाँपर) सोते हुए भ्रमर के द्वारा शोभा पाता है। यहाँ उपमा अलङ्कार है ॥३५॥

रेजे कपोलमकरी, सा सा कस्तूरिकालिखिता ।
या प्रियकुण्डलमकर,-द्वयसुभगप्रेयसीप्रतिमा ।।३६।।
कटका भुजयोरस्याः, कटकाः सन्तु प्रियं जेतुम् ।
अथ कथमङ्गदयुगलं, प्रसभं तस्मिन्ननङ्गदं भविता ।।३७।।
श्यामस्तवकौ मुक्ता,-वदनौ तत्पारिहार्ययोः कलितौ ।
किंवा पाणि - सरोज,-च्युतमधुपानान्वितौ मधुपौ ।।३८।।
जितनवकल्पद्रुदले, वृषरविपुत्र्या भुजादले विमले ।
मुद्रालिद्युतिसुकले, रेजतुरुद्यत्कले परितः ।।३९।।
तस्या नखमणिलक्ष्मी,-मनुराजन्ती सदूर्मिकाश्रेणी ।
तामनु सवयस्ततिरिव, शोभां लोभाऽन्विता लेभे ।।४०।।
मणिबन्धौ मणिबन्धा,-दपि जज्ञाते मनो-बन्धौ ।
अपि करशाखामुद्राः, क्वचन विशाखावयस्यमुद्राः स्युः ।।४१।।

श्रीराधिका के दोनों कपोलोंपर कस्तूरी के द्वारा लिखी हुई वह वह कपोलमकरी (मकरी की सो चित्रकारी) सुशोभित हो गई । जो कपोलमकरी प्रियतम श्रीकृष्ण के कुण्डलरूप दो मकरों की सुन्दर प्रियतमाओं की प्रतिमारूप प्रतीत होती थी । यहाँ गूढोत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।।३६।।

श्रीराधिका के दोनों भुजाओं के कटक (कडुला या कङ्कण)श्रीकृष्ण को जीतने के लिए यदि कटक, अर्थात् सेनारूप हो रहे हैं तो भले ही हो जायँ, किन्तु दोनों बाजूबन्द श्रीकृष्ण के विषय में हठात् काम-दायक कैसे होंगे ? यहाँ श्लेषानुप्राणित उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।।३७।।

श्रीराधिका के दोनों पारिहार्य, अर्थात् कडुला या कङ्कणों में श्यामवर्ण के वस्त्र के गुच्छे दिखाई दे रहे थे, उन गुच्छाओं के मुख में मोती लगे हुए थे । उन गुच्छों को देखकर यह प्रतीत होता था कि दो करकमलों से गिरे हुए मधु के पीने में लगे हुए दो भ्रमर ही हैं क्या ? यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।।३८।।

वृषभानुनन्दिनी श्रीराधिका के निर्मल दोनों भुजदण्ड शोभा पा रहे थे, वे दोनों नवीन कल्पवृक्ष के पत्रों को जीतनेवाले थे, मुद्रिका (अँगूठी)श्रेणी की कान्तियों के दाता भोक्ता थे, एवं उन दोनों के चारों ओर कलाएँ प्रगट हो रही थीं । यहाँ श्रुत्यनुप्रास अलङ्कार एवं व्यतिरेक अलङ्कार है ।।३९।।

श्रीराधिका की नखरूप मणियों की शोभा को लक्ष्य करके चमकती हुई श्रेष्ठ ऊर्मिका (मुद्रिका, अँगूठी) श्रेणी उस प्रकार शोभा पाने लगी कि,जिस प्रकार शोभा प्राप्तिके लोभ से युक्त सखियों की श्रेणी राधिका को लक्ष्य करके शोभा पाती है । यहाँ उपमा अलङ्कार एवं रूपक अलङ्कार है ।।४०।।

उस समय राधिका के दोनों मणिबन्ध (पहुँची या कलाई) मणि बाँधने के कारण मन को बाँधनेवाले हो गये थे । और अंगुलियों की मुद्रिकाएँ कहींपर भी विशाखावयस्यमुद्राः "विशाखायाः वयस्यः सखा श्रीकृष्णस्तस्य मुदं रान्ति—ददतीति", अर्थात् विशाखा के मित्र श्रीकृष्ण को हर्ष देनेवाली, अथवा विशाखारूप सखी को हर्ष देनेवालीं हो सकती हैं । यहाँ छेकानुप्रास अलङ्कार एवं रूपक अलङ्कार है ।।४१।।

ग्रैवेयकसखहारा, हारास्ते स्युः कदाचिदप्यत्र ।
हरिरत्नं बत तर्ह्यपि, यस्मात्तत्राथ नायको व्यजनि ॥४२॥
घनरुचिकंचुकरुचिरा, विविधमणीनां विराजिता राजिः ।
इन्द्रधनुः प्रतिमा या, मुक्ताश्रेणीबलाकया रुरुचे ॥४३॥
मृगमदकृष्णा चोली, कुंकुमचित्रा विचित्रतामूहे ।
पीतांबरपरभागात्, पीतांबरतां गता तत्र ॥४४॥
सुभग-कटीरक-घटना,-महसा घटिता पटी तस्याः ।
प्रकटीचक्रे सुदृशां, स्वविषयदृष्टेर्नटीभावम् ॥४५॥
यद्वैवाहिकवस्त्रे, शास्त्रेष्वानन्दपटपदं ख्यातम् ।
कर्मण्यण्णिति सिद्धं, विस्तारार्थात् पटेस्तत् किम् ? ॥४६॥
मणिरसना बत मध्ये, बद्धा सत्येव सा तस्याः ।
कथमथ हरिचित्तं वा, बद्धं कुर्यान्न तद्विद्मः ॥४७॥

श्रीराधिका के अङ्ग में गले के आभूषणों के मित्र जो हार हैं, वे कभी हाराः (हरि के सम्बन्धी) हो सकते हैं। तो भी हर्ष की बात यह है कि यह हरिरत्न (इन्द्रनीलमणि) उन हारों में नायक (मध्यमणि) बन गया है। तात्पर्य—नायक शब्द से हार के बीच की मणि एवं श्रीकृष्ण भी लिए जाते हैं। अतः गले में पहने हुए हार ही जब श्रीकृष्णप्रीत्यर्थ हैं, तब दूसरे नायक (मध्यमणि) की आवश्यकता नहीं थी तो भी नायक धारण कर लिया है। यहाँ हरि के सम्बन्ध की सूचनामयी मुद्रा है ॥४२॥

मेघ की सी कान्तिवाली कंचुकी से मनोहर अनेक प्रकार की मणियों की पंक्ति विराजमान होकर शोभा पाने लगी। जो अनेक प्रकार की मणि पंक्ति मुक्तापंक्तिरूप बगुलाओं की पंक्ति के द्वारा इन्द्रधनुष् के समान प्रतीत होती थी। यहाँ रूपक संवलित उपमा अलङ्कार है ॥४३॥

श्रीराधिका के अङ्ग में कस्तूरी के समान श्यामवर्ण की चोली कुंकुम से चित्रित होकर विचित्रता को प्राप्त हो गई। और नीलाम्बर की अपेक्षा पीले वस्त्र के उत्कृष्ट गुण से पीताम्बर के भाव को, अर्थात् श्रीकृष्ण के भाव को प्राप्त हो गई। यहाँ तद्गुण अलङ्कार है ॥४४॥

श्रीराधिका के कटिप्रदेश में जो सुन्दर साड़ी पहनाई थी, उसने उनके तेजसे युक्त होकर देखनेवाली स्त्रियों की अपनी अपनी दृष्टि की चञ्चलता का भाव प्रगट कर दिया। यहाँ समासोक्ति अलङ्कार हैं ॥४५॥

विवाहसम्बन्धी वस्त्रों के विषय में शास्त्रोंमें 'आनन्दपट' इस नाम से प्रसिद्ध जो पद है,वह 'कर्मण्यण्' इस पाणिनिसूत्रके द्वारा चुरादिगणके विस्तारार्थक पट धातुसे अण् प्रत्यय होकर एवं घटादिगणपठित होने से 'मितां ह्रस्वः' से ह्रस्व होकर सिद्ध हुआ है क्या ? अर्थात् "आनन्दं पटयति विस्तारयति" इस व्युत्पत्ति से जो आनन्द का विस्तार करता है, उसी को 'आनन्दपट' कहते हैं। मानो विवाह के वस्त्रों को इसीलिए 'आनन्दपट' नाम से कहते हैं। यहाँ शास्त्रीय उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥४६॥

आश्चर्य की बात तो यह है कि श्रीराधिका के कटिप्रदेश में स्वयं बँधी हुई वह मणिरचित करधनी श्रीकृष्ण के चित्त को किस प्रकार बाँध लेगी ? उस बात को हम नहीं जानते हैं। अर्थात् जो स्वयं बँधा हुआ है वह दूसरे को कैसे बांध सकेगा ? यह विरोधाभास अलङ्कार है, "श्रीमती राधिका के आभूषणों की अलौकिक सामर्थ्य है" यही उसका परिहार है ॥४७॥

तस्या गजगामिन्या, मणिहंसकनूपुरध्वनयः ।
घण्टाटण्टनतुल्या, दध्युः कंपं सपत्नीषु ॥४८॥
कृतचरणांबुजचरणा,-विह मञ्जीरौ तु खञ्जनौ मंजू ।
हरिरपि यत्कलकलने, हरितां जयवन्मुदाऽमनुत ॥४९॥
अनुनखचन्द्रावलि सा, शुशुभे पादांगुलीयकश्रेणी ।
नक्षत्रालिसदृक्षा, यस्मिन्नक्षीणि कैरवन्ति स्म ॥५०॥
स्पर्शात् पदतलमस्याः, कोकनदाभं तदा जज्ञे ।
लाक्षारसस्तु मिथ्या, कीर्तिं तस्मिन्निर्यति स्म ॥५१॥
अकुरुत रक्तकयुगलं, प्रच्छदयुगलं स्ववसादलङ्करणम् ।
तदपि च निर्जल-जलधर,-वृतशशधरवद् व्यलोकि तत् सर्वम् ॥५२॥
याः पूर्वं निजनिजया दृशा वयस्या,-स्तस्याः श्रीरसरसिका बभूवुरेताः ।
पश्यन्त्यामथ मुकुरं तदीययास,-न्नावेशः स यदभिदानिदानमासीत् ॥५३॥

मत्तगजेन्द्र की सी गतिवाली राधिका के मणियुक्त पाजेब एवं नूपुरों की ध्वनियों ने घण्टा की टन् टन् ध्वनि के समान होकर, सपत्नियों के हृदय में कम्प उत्पन्न कर दिया था । यहाँ सामान्य अलङ्कार है ॥४८॥

श्रीराधिका के चरणकमलों में रहनेवाले जो नूपुर हैं, वे दोनों मानो दो मनोहर खञ्जनपक्षी ही हैं। क्योंकि जिनकी अस्फुट मधुरध्वनि के सुनने में श्रीकृष्ण भी हर्षपूर्वक दिशाओं की विजय की तरह आनन्द मानते हैं । तात्पर्य—दिग्विजय के लिए प्रस्थित राजा को कमल के ऊपर बैठे हुए खञ्जन की ध्वनि का सुनना दिग्विजयसूचक है। यहाँ रूपक अलङ्कार है ॥४९॥

नखरूप चन्द्रश्रेणी के सहित श्रीराधा के चरणों के बिछियों की वह श्रेणी ताराओं की श्रेणी की तरह शोभा पाने लग गयी । जिस शोभा में दर्शकों के नेत्र कुमुदपुष्पों का सा व्यवहार करने लग गये। अर्थात् रात्रि में चन्द्रमा को देखकर कुमुदपुष्प जिस प्रकार खिल उठते हैं, उसी प्रकार बिछियों के सहित श्रीराधिका के नखरूप चन्द्रों को देखकर दर्शकों के नेत्ररूप कुमुद खिल उठे। यहाँ उपमा संवलित रूपक अलङ्कार है ॥५०॥

उस समय श्रीराधिका का चरणतल केवल स्पर्शमात्र से ही लाल कमल के समान हो गया था, तो भी उसमें लगा हुआ लाक्षारस (महावर) मिथ्या कीर्ति को प्राप्त कर रहा था। तात्पर्य—चरणतल की स्वाभाविकी शोभा से ही लाक्षारस शोभा पा रहा था, किन्तु लाक्षारस से चरणतल की शोभा नहीं बढ़ रही थी ॥५१॥

श्रीराधिका के विशेष रक्तवर्ण के दो वस्त्रों ने यद्यपि समस्त अलङ्कार अपने अधीन कर लिए, अर्थात् ढक लिए थे, तथापि वे सबअलङ्कार जलरहित मेघसे ढके हुए चन्द्रमाकी तरह स्पष्ट दिखाई देते थे। यहाँ अप्रस्तुत-प्रशंसा अलङ्कार है ॥५२॥

पहले जो सखियाँ अपनी अपनी दृष्टि से श्रीराधिका की शोभा के रस की रसिक हुई थीं, वे ही सखियाँ "राधिका जब दर्पण देखने लग गयी" तब राधिका की दृष्टि के द्वारा उनकी शोभा के रस की रसिक हो गईं । क्योंकि वह आवेश दोनों के अभेद का आदिकारण था ॥५३॥

"तदेवमेतां प्रसाधितां कम्रामपि नम्रां मङ्गलसङ्गतप्रदेशं मातॄणां पेशलसदेशमावेशयन्त ज्योतिष्मदोषधीनामोषधीशकलामिव ॥५४॥

"ततश्च तां पटुवटुभिः कृतस्वस्तिवाचनस्वस्तिकां धृतवैष्णवमन्त्रन्यासप्रशस्तिकां मङ्गलवलयनिलयं निलयं सहचर्यया सहचर्यः सञ्चारयामासुः ॥५५॥

"ततः सखीभिः सह नर्मशर्मा, कृष्णाऽतितृष्णाऽऽकुलमर्मधर्मा ।
कथञ्चनेयं बत कल्पकल्पं, दिनं विचिक्षेप विकल्पकल्पम् ॥५६॥

"अथ वरयात्रा वर्णनपात्राय कल्पते स्म । तत्र तस्य वेशरचनावचनानामादितः शोभां श्रोतृलोभाय वर्णयिष्यामः,—॥५७॥

इन्द्रनीलमुखनीलगणाना,-मिन्द्र एष वररूपवरेशः ।
तद्विवाहविधये स्नपिताऽङ्गः, कान्तिभिः स्वमपि सुष्ठु जिगाय ॥५८॥

"यत्र चाखिलं कान्तिरेवेति सकलं लावण्यमेवेति समस्तं सौरभ्यमेवेति, कृत्स्नं कौमल्यमेवेति न विवेक्तुं शक्यते । तथा निखिलं भूषितमेवेति भूषणमेवेति वा तद्वदुपमेय-

---

प्रकाशमान औषधियों के निकटवर्ती सुन्दर प्रदेश में चन्द्रमा की कलाको जिस प्रकार प्रविष्ट कराया जाता है, ठीक उसी प्रकार उन सखियों ने विभूषित एवं प्रसन्न की हुई राधिका को "जो कि रमणीय होकर भी लज्जाभार से विनम्र थी" माङ्गलिक वस्तुओं से युक्त एवं माताओं के निकट जो सुन्दर स्थान था वहाँपर प्रविष्ट करा दिया । यहाँ उपमा अलङ्कार है ॥५४॥

उसके बाद निपुण ब्रह्मचारी बालकों के द्वारा किये गये स्वस्तिवाचन से जिनका माङ्गलिक कृत्य किया गया था, एवं वैष्णवमन्त्रों के प्रयोग से जिनकी प्रशंसा धारण की गई थी, उन्हीं श्रीराधिका को उन की सखियाँ परिचर्या के सहित सभी प्रकार के मङ्गलों के आश्रयस्वरूप भवन में लिवा लाईं ॥५५॥

पश्चात् सखियों के साथ परिहास से सुख पानेवाली, एवं कृष्णविषयक अतिशय तृष्णा से मार्मिक धर्मों की व्याकुलतावाली राधिका ने "हाय ! यह सूर्य अस्त होगा या नहीं" इत्यादि विकल्पों की कल्पना से युक्त, अतएव कल्प के समान प्रतीत होनेवाले उस दिन को किसी प्रकार बड़ी कठिनाई से बिता दिया । यहाँ अन्त्यानुप्रास अलङ्कार है ॥५६॥

अब वर की यात्रा, अर्थात् श्रीकृष्ण की बरात वर्णन करने के योग्य उपस्थित हो गई है । उस बरात में भी श्रीकृष्ण की वेषरचनापरक वचनों के पहले श्रोताओं के लोभ के लिए श्रीकृष्ण की स्वाभाविकी शोभा वर्णन करेंगे— ॥५७॥

ये श्रीकृष्ण इन्द्रनीलमणि आदि नीलवस्तुओं के समुदाय में श्रेष्ठ हैं, एवं श्रेष्ठ रूपवाले जितने वर हैं उनके भी स्वामी हैं । अतः उन्होंने श्रीराधिका के साथ विवाह करने के लिए सेवकों द्वारा अपने अङ्गों का स्नान करवा कर, अपनी लोकोत्तर स्वाभाविकी कान्तियोंके द्वारा, अपनेको भी भली प्रकार जीत लिया अर्थात् अपने समान दूसरा कोई भी न होनेके कारण अपनी शोभा से आप ही पराजित हो गये । तात्पर्य— अपने समान आप ही होने के कारण यहाँपर अनन्वय अलङ्कार है ॥५८॥

कारण श्रीकृष्ण के अङ्ग में समस्त शोभा ही है, या समस्त सौन्दर्य ही है, एवं समस्त सुगन्धी ही है,

मेवेत्युपमानमेवेति वा नयनादीनां प्रकाशनीयमेवेति प्रकाशकमेवेति वा विचारपदवीं नाऽऽरोहति। यत्र च मुखमिव मुखमित्यादिरनन्वयनामाप्युपमासुखकृदन्वयमापद्यते। यत्र च मुखमिव नेत्रं नेत्रमिव मुखं कमलं जयति, दन्तकान्तिवन्मृदुस्मितं मृदुस्मितवद्दन्तकान्तिः सितकान्तिं तिरस्करोतीत्यादिकमुपमेयोपमानामापि सुतरामनुपमानत्वं प्रपद्यते। यत्र च मुखं निजद्वितीयतया राधाया मुखमेव स्मारयति, नेत्रमपि तस्या नेत्रमेव पुरः स्फुरद्रूपं करोतीत्यादिस्मरणनामालङ्कारः सर्वमलङ्कारं विस्मारयति। यत्र सौन्दर्यसम्राजः स्वेनैव वैभवं विभवदेव राजते ॥५९॥

"तथा हि विश्वदृष्टिप्रसारवृष्टिसमाकृष्टिरेवाभिषेकः; श्रीमद्भालमेवार्धचन्द्राधराकार-तिलकम्; निस्तलाकृतिशस्तमस्तकमेव मेघाडंबरच्छत्रम्; चलदपाङ्गस्मितच्छवी एव चामरे; सर्ववशीकरणकारणमुखमेव पूर्णपूर्णराजचयपराजयसामग्री; सर्वान्तरक्षोभिनव-यौवनमेव शौर्यम्; त्रिनतभ्रूयुगमेव त्रिनता; खगपतिचंचुसमताचुंचुघ्राणमेव बाणविशेषः; भङ्गीविन्याससङ्गिकर्णाविव पाशौ; पुष्टदीर्घताजुष्ट-भुजावेव परिघौ; कामाऽङ्कुशा एवाऽङ्कुशाः; त्रिरेखीकृतसर्वोत्कण्ठकण्ठ एव कंबुराजः; करचरणस्थितचक्रमुखलक्षण-

---

अथवा समस्त कोमलता ही है, यह विचार निश्चय नहीं किया जा सकता। तथा श्रीकृष्ण का सारा अङ्ग भूषणों से विभूषित ही हो गया, अथवा सभी भूषणों को भूषित करनेवाला होने के कारण स्वयं भूषण ही है क्या? यह भी निश्चय करना कठिन है। अथवा उसी प्रकार श्रीकृष्ण का अङ्ग, मुख आदि की तरह उपमेय है, या चन्द्र आदि की तरह उपमान है, अथवा नेत्र आदि के द्वारा प्रकाशनीय है, या उन्हीं का स्वयं प्रकाशक है, यह बात भी हमारे विचाररूप मार्गमें नहीं चढ पारही है। और जिसविचार मार्ग में 'श्रीकृष्ण का मुख अपने मुख की तरह है" इत्यादि रूपवाला 'अनन्वय' नामक अलंकार भी उपमा के लिए सुखदायक अन्वय को प्राप्त हो रहा है और जिस में मुख की तरह नेत्र एवं नेत्र की तरह मुख कमल को पराजित कर रहा है। एवं दाँतों की कान्ति की तरह मन्दमुसकान तथा मन्दमुसकान, की तरह दाँतों की कान्ति शुक्ल-वर्ण की कान्ति को तिरस्कृत कर रही है, इत्यादिक 'उपमेयोपमा' नामक अलंकार भी विशेषतः उपमान के भाव को नहीं प्राप्त कर रहा है। और श्रीकृष्ण के अङ्ग में जो मुख है, वह अपने से दूसरे रूप से राधा के मुख का ही स्मरण कराता है, एवं श्रीकृष्ण का नेत्र भी राधिका के नेत्र को ही सामने विराज-मान कर देता है, इत्यादि रूपवाला 'स्मरण' नामक अलंकार सभी अलंकारों को भुला देता है। एवं श्रीकृष्ण के अङ्ग में सौन्दर्यरूप जो सम्राट है, वह अपने आप ही वैभव को फैलाता हुआ विराजमान है। अर्थात् श्रीकृष्ण का सौन्दर्यरूप महाराज स्वयं अलंकृत है, उसे सजाने के लिए दूसरे अलङ्कारों की आवश्यकता नहीं है ॥५९॥

देखो, सब की दृष्टि के फैलावरूप वृष्टि का आकर्षणही उनका अभिषेक (स्नान) है। शोभायमान ललाट ही अर्धचन्द्र के आकारवाला राजतिलक है, गोल आकार से प्रशंसित मस्तक ही मेघों के से आडम्बरवाला छत्र है। चंचल कटाक्ष एवं मन्दहास्य की शोभा ही दो चामर हैं। सब को वशीभूत करने का कारणस्वरूप मुख ही सर्वशक्तिपूर्ण सम्पूर्ण राजसमूह (पक्षे—सर्वथा परिपूर्ण चन्द्रमण्डल) के पराजय करने की सामग्री है। सभी के अन्तःकरण को क्षुभित करनेवाला नवीनयौवन ही शूरवीरता है। तीन जगह नमी हुई दोनों भौं ही धनुष है। गरुड की चंचु की समानता से प्रसिद्ध नासिका ही बाणविशेष

चक्रवालमेव चक्रम् ; स्थूलताविलसदूर्वादिभागावेव जयस्तंभौ ; विस्तीर्णताकीर्णश्रोणिफलकमेव देशवलयः ; गम्भीरताभिराजिनाभिरेव कमलाकरः ; अतिसुन्दरतुन्दमेव वलिवलयावासः ; विचित्रपद्माकारनेत्रे एव चिन्तामणी ; लक्ष्मीनिधानवक्षःस्थलमेवाऽवरोधः ; श्रीमत्पदद्वन्द्वमेव सर्वेषां सुखास्पदं पदमिति ॥६०॥

"अथ परमहितनिहिता वरलक्ष्मीघनाः सापघनास्तत्परिष्कारगणा वर्णयिष्यन्ते—॥६१॥

"मुकुटं रत्नप्रभवं, मूर्धनि कृष्णस्य सर्वदिग्द्योतम् ।
उदयगिरेर्वरशिखरे,-ऽद्योतत चण्डांशुमण्डलं यद्वत् ॥६२॥
श्यामस्निग्धसभङ्गः, सद्भावस्वच्छरत्नसंवीतः ।
शुशुभे केशवकेशः, किंवा राधामनःसारः ॥६३॥
कुंकुम-तिलकं भाले, तह्य्ुपमेयं मुराराते: ।
श्यामलशशधर-शकले, यदि गुरुरीक्ष्येत कुत्रापि ॥६४॥

है । तरङ्गों के विन्यास से संयुक्त दोनों कान ही दो पाशास्त्र हैं । परिपुष्ट एवं लम्बाई से युक्त दोनों भुजा ही दो परिघ हैं । काम के अंकुशस्वरूप नख ही अंकुश हैं । तीन रेखाओं के कारण सभी को उत्कण्ठित करनेवाला कण्ठ ही श्रेष्ठ शंख है । कर एवं चरणों में स्थित चक्र आदि चिह्नों का मण्डल ही चक्र (सेना) है । स्थूलता से शोभायमान जंघा आदि के दोनों भाग ही विजय के स्तम्भ हैं । विस्तीर्णता से व्याप्त कटि-प्रदेश ही देशमण्डल है । गम्भीरता से विराजमान नाभि ही सरोवर है । अत्यन्त सुन्दर उदर ही त्रिवली का निवासस्थान है । विचित्र कमल के से आकारवाले दोनों नेत्र ही अभीष्टप्रद दो चिन्तामणि हैं । लक्ष्मीदेवी या शोभासम्पत्ति का आधारस्वरूप वक्षःस्थल ही अन्तःपुर है । शोभाविशिष्ट चरणयुगल ही प्राणीमात्र के सुख का आधारस्थानस्वरूप है । इस गद्य में व्यस्तरूपक, उपमा, स्वभावोक्ति, अनुप्रास के भेद, इन सब की निरपेक्ष स्थिति से 'संसृष्टि' अलंकार भी है ॥६०॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण के स्वाभाविक सौन्दर्यरूप सम्राट् का साङ्गोपाङ्ग वर्णन करके, अब उनके बाहरी अलङ्कारगणों का वर्णन करेंगे । वे सब अलंकार परमहितैषीजनों के द्वारा पहनाये गये हैं, एवं श्रेष्ठ तथा घनी शोभा के स्थान हैं, और प्रत्येक अङ्गों के सहित हैं ॥६१॥

उदयाचल के श्रेष्ठ शिखरपर जिस प्रकार सूर्यमण्डल शोभा पाता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण के मस्तकपर सब दिशाओं का प्रकाशक एवं रत्नों से बना हुआ मुकुट शोभा पाने लगा । यहाँ उपमा अलंकार है ॥६२॥

श्याम, स्निग्ध, एवं कुंचित तथा श्रेष्ठभाव एवं निर्मल रत्नों से बँधा हुआ श्रीकृष्ण का केशकलाप शोभा पाने लग गया । अथवा यह केशकलाप नहीं है, किन्तु राधिका के मन का सार ही है । तात्पर्य—राधिका का मन सदा श्रीकृष्ण की भावना से श्यामवर्ण का हो गया है । यहाँ अपह्नुति किंवा सन्देह अलङ्कार है ॥६३॥

श्रीकृष्ण के ललाटपर लगा हुआ कुंकुम का तिलक तभी उपमा के योग्य हो सकता है, जब कि श्यामवर्ण के चन्द्रमा के खण्ड में यदि कहीं बृहस्पति दिखाई दे जाय । यहाँ अभूत-पूर्वोपमा है एवं असम्बन्धे सम्बन्धकथनरूपातिशयोक्ति अलंकार है ॥६४॥

राधावदनं चन्द्रः, स तदनुकर्ता परश्चन्द्रः ।
इति हरिरितरतिपूर्ति,-स्तत्प्रतिमूर्तिं बिभर्ति किं तिलकम् ?६५॥
कृष्ण-भ्रू युगलं तद्, धनुरनुकृदपि स्फुरच्चित्रम् ।
यत् खलु विनापि बाणं, तामपि राधां स्वयं जयति ॥६६॥
राधामुखेन्दुलोभात्, तदक्षियुग्मं चकोरतां किमगात् ? ।
संप्रति यत्तदलाभा,-च्चञ्चलमूर्ति स्म चंचूर्ति ॥६७॥
एकं मण्डनमङ्गं, मण्डयदेकं यथास्वमाभाति ।
जयतात् कुण्डलयुगलं, युगपच्छ्रुतिगण्डमण्डनं यत्तु ॥६८॥
श्रवसोर्न परं भूषण,-मासीत् कृष्णस्य कुण्डलद्वन्द्वम् ।
अपि गण्डद्वितयस्य, प्रतिबिबं यद् व्यलोकि तस्याऽत्र ॥६९॥
कर्णलतायुगमनिशं, भूषणदंभात् प्रफुल्लमेतस्य ।
युक्तं तदिदमिदं य,-न्मुहुरपि राधा-वचःसुधासिक्तम् ॥७०॥
नित्यं केशिनिहन्तुः, पूर्णं कैशोरमुद्भाति ।
मात्रा नसि विन्यस्ता, मुक्ता पुनरेतदाचरन्नव्यम् ॥७१॥

श्रीराधिका का मुखही चन्द्रमा है,वह लोकप्रसिद्ध चन्द्रमा तो राधामुखरूप चन्द्रमा का अनुकरण करने वाला है। इसी कारण श्रीकृष्ण अनुराग की पूर्ति को प्राप्त होकर मानो राधिका के मुखचन्द्र का प्रतिबिम्ब-स्वरूप ही तिलक धारण कर रहे हैं क्या ? यहाँ प्रतीप अलङ्कार, एवं उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥६५॥

श्रीकृष्ण की भौं का जोड़ा कामदेव के धनुष् का अनुकरण करनेवाला होकर भी आश्चर्यमयी स्फूर्ति से युक्त है। क्योंकि जो बाण के बिना भी किसी के द्वारा न जीती गई उस राधा को भी स्वयं जीत लेता है। यहाँपर विभावना अलङ्कार है ॥६६॥

श्रीकृष्ण के दोनों नेत्र राधिका के मुखरूप चन्द्रमा के लोभ से ही मानो चकोरभाव को प्राप्त हो गये हैं क्या ? कारण अब राधिका के मुखरूप चन्द्र की अप्राप्ति से वह नेत्ररूप चकोरपक्षी चञ्चल शरीर-वाला होकर बारंबार दौड़ लगा रहा है। यहाँ हेतूत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥६७॥

एक भूषण एक ही अङ्ग को विभूषित करता हुआ यथायोग्य शोभा पा रहा है। किन्तु उन दोनों कुण्डलों की जय हो। जो कि एकसाथ कानों को एवं कपोलों को भूषित करनेवाले हैं। यहाँ व्यतिरेक अलङ्कार है ॥६८॥

श्रीकृष्ण के दोनों कुण्डल केवल दोनों कानों के ही भूषण नहीं थे; अपितु, दोनों कपोलों को भी विभूषित करनेवाले थे। कारण उन दोनों कुण्डलोंका प्रतिबिम्ब इनदोनों कपोलोंमें स्पष्ट दिखाई देता था। यहाँ अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥६९॥

श्रीकृष्ण के कर्णरूप दोनों लताएँ भूषणों के बहाने निरन्तर फूली नहीं समाती हैं, यह उचित ही है, कारण ये कर्णरूप दोनों लताएँ राधिका के वचनरूपी अमृत से बारंबार सींची भी गई हैं, यह प्रफुल्लता का दूसरा हेतु है। यहाँ अत्यन्तातिशयोक्ति अलङ्कार है ॥७०॥

श्रीकृष्णकी पूर्ण किशोरावस्था नित्यही शोभा पाती रहती है, यह बात ठीक है,तो भी माताके द्वारा

श्रीहरिनासा सक्रम,-मुन्नतशिखरा कुतूहलं तनिता ।
भ्रूभुजगी यदि तस्याः, खगपति-चंचुभ्रमेण घूर्णेत ॥७२॥

रञ्जितमजनि तदोष्ठं, नहि बहिरङ्गात् परं रागात् ।
राधाधरसंस्पर्शं, प्रति हृदिजादन्तरङ्गाच्च ॥७३॥

अधरस्तस्याऽमृतखनि,-रिति राधाया विनिश्चितं सत्यम् ।
अन्तर्दन्तावलिमिष,-मिह लसतश्चन्द्रलेखे द्वे ॥७४॥

चिबुकं तमसः खण्डन,-मथ मण्डनमस्य वक्त्रस्य ।
इति किल मण्डनमन्य,-न्मण्डनलोकश्चकार नैवात्र ॥७५॥

मुखमघशत्रोस्तन्मह,-हर्षव्यक्तेर्मुखं जातम् ।
प्रेक्षाकारिणि तां यद्, दर्पणतुलया समर्पयति ॥७६॥

दर्पणमपि किं मनुषे, निजमुखतुल्यं मुराराते ! ।
इति किल सम्मुखवलितं, तस्य व्यदधादमुं कोऽपि ॥७७॥

नासिका में पहनाये हुए मोती ने तो उस किशोरावस्था को पुनः नवीन कर दिया । यहाँ प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार है ॥७१॥

यदि भ्रूरूपा सर्पिणी गरुड की चोंच के भ्रम से श्रीकृष्ण की नासिका की ओर से भय पाकर घूमने लग जाय, तब तो श्रीकृष्ण की नासिका क्रमशः अग्रभाग को ऊँचा करके कौतूहल को बढ़ा देगी । यहाँ रूपकयुक्त भ्रान्तिमान् अलङ्कार है ॥७२॥

श्रीकृष्ण का अधरोष्ठ केवल बाहरी रङ्ग से ही अनुरंजित नहीं किया था, किन्तु राधिका के अधर का स्पर्श करने के लिए हृदय से उत्पन्न हुए आन्तरिक अनुराग से भी रँगा हुआ था । यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥७३॥

"श्रीकृष्ण का अधरोष्ठ अमृत की खान है" इसप्रकार का श्रीराधिका का निश्चित सिद्धान्त सत्य है । कारण जिस अधरोष्ठ के भीतर दन्तपंक्ति के बहाने दो चन्द्रपंक्तियाँ शोभा पा रही हैं । यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ॥७४॥

श्रीकृष्ण की ठोड़ी अन्धकार या शोक को दूर करनेवाली है, एवं श्रीकृष्ण के मुख का भूषणस्वरूप है । इसीलिए भूषण पहनानेवाले लोगों ने इस ठोड़ी में दूसरा भूषण नहीं पहनाया है । यहाँ विभावना अलङ्कार, एवं स्वभावोक्ति अलंकार है ॥७५॥

उस समय श्रीकृष्ण का मुख उस विवाहोत्सव के हर्ष को प्रगट करने का मुख, अर्थात् द्वार ही बन गया था । कारण जो मुख दर्शकजनोंके प्रति विवाहोत्सवके प्राकट्य को दर्पण की तरह समर्पणकर रहा है यहाँ हेतु अलंकार है ॥७६॥

हे श्रीकृष्ण ! आप दर्पण को भी अपने मुख के समान क्यों मानते हो ? "क्योंकि आप का श्रीमुख तो इन्द्रनीलमणि के दर्पण के दर्प को दलित करनेवाला है" मानो यह विचार कर ही किसी सेवक ने दर्पण को श्रीकृष्ण के सम्मुख स्थापित कर दिया । यहाँ 'आधक' नामक अलंकार है ॥७७॥

कंसद्विषि यः कण्ठः, स तु जगदुत्कण्ठमाचचारेति ।
युक्तं स इव द्रष्टुः, स्वत उत्कर्षं स यद् वष्टि ॥७८॥
नन्दति नन्दजहृदयं, रेखारूपश्रियेति विख्यातम् ।
तस्मिन् विभवति या सा, तां राधाख्यां तदेव जानाति ॥७९॥
वक्षसि दक्षिणभागात्, प्रभवति तनुरोमदक्षिणावर्तः ।
श्रीवत्साख्यः किंवा, कान्तास्मृतिजान्तरावर्तः ॥८०॥
ग्रैवेयकहाराणा,-मुपमा कृष्णस्य तर्हि स्यात् ।
विद्युद्बकपंक्तीना,-माश्रयतां चेद्व्रजेत नव्याऽब्दः ॥८१॥
पृथुतरहीरकचन्द्रे, कौस्तुभसूर्ये लसत्तारे ।
उरसि हरेः शुभशोभा, या स्यात् किं व्योम्नि सापि वीक्ष्येत ॥८२॥
नवरत्नोचितमङ्गद,-युगमिह दोष्णोर्व्यराजिष्ट ।
यद्वज्ज्योतिश्चक्रं, ग्रहनवकान्वयि विभाति तत्तुल्यम् ॥८३॥

श्रीकृष्ण का जो कण्ठ है उसने तो जगत् भर को उत्कण्ठ (उत्कण्ठा से युक्त अथवा ऊपर को कण्ठ-वाला) बना दिया है, यह उचित ही है। कारण वह कण्ठ श्रीकृष्ण की तरह दर्शकजन का उत्कर्ष स्वतः ही चाहता रहता है। यहाँ उपमेयोपमा अलङ्कार है ॥७८॥

नन्दलाल श्रीकृष्ण का वक्षःस्थल रेखारूप लक्ष्मी के द्वारा समृद्धि को प्राप्त हो रहा है, यह विख्यात है। किन्तु उसी वक्षःस्थल में जो रेखा अपना वैभव दिखा रही है, उस रेखा को श्रीकृष्ण का वह वक्षःस्थल (हृदय) राधिका नामवाली ही जानता है। यहाँ ताद्रूप्य रूपक अलंकार है ॥७९॥

श्रीकृष्ण के वक्षःस्थल में दाहिनी ओर से सूक्ष्म रोमावली का जो दक्षिणावर्त प्रकाशित हो रहा है, उस चिह्न का नाम भी वत्स है क्या ? अथवा प्रियतमा राधिका की स्मृति से उत्पन्न अन्तःकरण का आवर्त (भँवर) ही है। यहाँ शुद्ध अपह्नुति अलङ्कार, एवं उत्प्रेक्षा अलंकार है ॥८०॥

नवीनमेघ यदि बिजली एव बकपंक्ति का आश्रय बन जाय, तब तो श्रीकृष्ण के गले में धारण किये हुए कौस्तुभमणि एवं अनेक प्रकार के मोतियों के हारों की उपमा बन सकती है, अन्यथा नहीं। अर्थात् श्रीकृष्ण के गले के हार अनुपमेय हैं। यहाँपर नव्यमेघ में विद्युत् एवं बकपंक्ति का सम्बन्ध न होनेपर भी कवि ने सम्भावित किया है, अतः असम्बन्धे सम्बन्धकथनरूपा अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥८१॥

श्रीकृष्ण के वक्षःस्थल में जो मङ्गलमयी शोभा हो सकती है, वह शोभा क्या आकाश में भी दिखाई दे सकती है ? अर्थात् कदापि नहीं। कारण श्रीकृष्ण के वक्षःस्थल में बहुत मोटे मोटे अनेक हीरे ही अनेक चन्द्रमा हैं, कौस्तुभमणि ही सूर्य है, उज्ज्वल एवं शुद्ध मोती ही तारे हैं, तात्पर्य—आकाश में एक साथ चन्द्र, सूर्य, तारा आदि का उदय नहीं होता है, अतः श्रीकृष्ण के वक्षःस्थल की शोभा अनुपमेय है। यहाँ श्रीकृष्ण नव्यमेघ हैं, कौस्तुभमणि विद्युत् है, मुक्ताहार ही बकपंक्ति है, यह जानना चाहिये। यहाँ रूपकातिशयोक्ति अलंकार है ॥८२॥

श्रीकृष्ण की दोनों भुजाओं में नौ प्रकार के रत्नों से जड़े हुए दोनों बाजूबन्द उसप्रकार से शोभा पा रहे थे कि, जिस प्रकार ज्योतिश्चक्र सूर्य आदि नवग्रहों से युक्त होकर शोभा पाता है। यहाँ उपमा अलङ्कार है ॥८३॥

मणिवलयोर्मीवलया, हरिसेवायां रुचिं जग्मुः ।
त इमे गुरुशिष्याभा, गुरुलाघवतो वितर्क्यन्ते ॥८४॥
अङ्गदवृत्तावलया,-स्तद्वद्वृत्ताश्च मुद्रिकासङ्घाः ।
क्रमतः श्रितलघवो ये, लघवोऽप्येषां तथा युक्तम् ॥८५॥
साङ्गदवलयप्रतिसर, -मुद्रिकदोर्युग्ममंशुमासन्नम् ।
मूलाद् विकचहरिन्मणि,-रुचि-तरुशाखायुगं यद्वत् ॥८६॥
भवति च हरिदोःशोभा,-हरिमणितरुशाखया काम्या ।
अतिकनकश्रीराधा,-मिलनं तस्या मनोदूरे ॥८७॥
तद् बाहोर्गिरिधरणं, न स्तौम्यायासरिक्तं तत् ।
यत्स्मरणादपि कम्प,-स्तावपि धर्तुं तमुद्यमं वन्दे ॥८८॥
राधाया हृदि मुकुरे, प्रतिबिंबाभां सदा व्रजतः ।
इति किल कृष्णनितंबौ, बिंबतया तौ निरूपितौ कविभिः ॥८९॥

मणियों के कङ्कण एवं उनके किरणों का तरङ्गमण्डल, ये सभी श्रीकृष्ण की सेवा में रुचि करने लग गये। अतः ये मणि के कंकण एवं उनके तरङ्गसमुदाय गौरव लाघव के कारण गुरु शिष्य के समान मालूम पड़ते थे। अर्थात् मणिकंकण गुरुस्थानीय थे, एवं तरङ्गमण्डल उनके शिष्यस्थानीय थे। यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥८४॥

बाजूबन्दों की तरह गोलाकार के कंकण एवं उन्हीं की तरह गोलाकार मुद्रिकाश्रेणी थीं, इन सब में जो क्रमशः छोटे थे, उनका वह छोटापन उचित ही था। यहाँ सम अलङ्कार है ॥८५॥

उस समय बाजूबन्द, कडुला. प्रतिसर (विवाहकाल में हाथ में बँधा हुआ कङ्कण), एवं अनेक प्रकार की मुद्रिकाओं से युक्त श्रीकृष्ण की दोनों भुजाएँ उस प्रकार किरणों से युक्त हो गईं कि, जिस प्रकार मूल से ही विकसित इन्द्रनीलमणि कीसी कान्तिवाले वृक्ष की दो शाखाएँ किरणों से युक्त हो जाती हैं। यहाँ उपमा अलङ्कार है ॥८६॥

श्रीकृष्ण की भुजाओं की शोभा इन्द्रनीलमणि के वृक्ष की शाखा के द्वारा भी चाहने योग्य है, किन्तु वह शोभा उसको मिल नहीं पाती। कारण सुवर्ण के वर्ण को तिरस्कृत करनेवाली शोभा से युक्त राधिका का मिलना, उस इन्द्रनीलमणिवृक्ष की शाखा के मन से बहुत दूर है, अर्थात् अलभ्य है। यहाँ भुजाओं का उत्तरोत्तर उत्कर्ष होने के कारण 'सार' अलंकार है ॥८७॥

श्रीकृष्ण की भुजा से गोवर्धन पर्वत का जो धारण करना है, मैं उसको इतनी स्तुति नहीं करता हूँ, कारण वह तो परिश्रमरहित है, अर्थात् अनायास साध्य है। मैं तो श्रीकृष्ण के विवाहरूपी उस उद्यम की प्रशंसा करता हूँ, क्योंकि जो उद्यम श्रीकृष्ण को श्रीराधिका के जिन पयोधरों के स्मरणमात्र से कम्प हो जाता है, उन दोनों पयोधरों को भी धारण करने के लिए किया जा रहा है। अर्थात् गिरिराज धारण की अपेक्षा पयोधर युगलरूप गिरि धारण का उद्यम विशाल है। यहाँ व्यतिरेक अलङ्कार है ॥८८॥

श्रीराधिका के हृदयरूप दर्पण में श्रीकृष्ण के दोनों नितम्ब (चूतड़) सदैव प्रतिबिम्ब की शोभा को प्राप्त होते रहते हैं। मानो यह विचार करके ही कवियों ने उन दोनों नितम्बों का बिम्बरूप से निरूपण किया है। यहाँ रूपक अलङ्कार, एवं उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥८९॥

शृङ्खलहंसकनूपुर,-सङ्घः शोभां तथा वाद्यम् ।
अतनोत्तत् किं पाणि,-ग्रहणं स्वगतेः स तस्य वेत्ति स्म ॥९०॥
जङ्घासक्थिश्रोण्य,-प्यूर्ध्वक्रमपुष्टमच्युते दृष्टम् ।
तत्क्रममहता तत्तद्,-विषयकरागेण राधयाऽपोषि ॥९१॥
अन्तर्वसनं वस्त्रे, यदपि श्रोण्यूरुजानुजङ्घादि ।
तदपि च शोभां तस्य, स्फुटमनुकुर्वद् विभाति स्म ॥९२॥
अथ कंचुकमपिधानं, दध्रे वीध्रं स गोपालः ।
मृदुहरिचन्दनचर्चा, तुल्यं यदलक्षि तद्गात्रे ॥९३॥
पुरटपटस्फुटधटिका, मणिगणकिर्मीरिता तस्य ।
मध्यमबन्धं कृत्वा, स्वामुत्तमतां निरीक्षयाञ्चक्रे ॥९४॥
श्यामलरक्तौ चरणौ, नखशशिचित्रौ हरेः कलितौ ।
राधाया रसरागौ, किल तौ लसतः प्रसादसंवलितौ ॥९५॥

श्रीकृष्ण की करधनी, पाजेब, नूपुर इन सब के संघ ने शोभा तथा वाद्य का विस्तार कर दिया। इससे यह प्रतीत होता है कि मानो उन भूषणों के संघ ने अपने आश्रयस्वरूप श्रीकृष्ण के विवाह को जान लिया है क्या ? अर्थात् विवाह की खुशी में ही शोभा बढ़ा रहे हैं, एवं बाजे बजा रहे हैं। यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥९०॥

जंघा (घुटनों से नीचे का भाग, पिंडरी),ऊरु (घुटनों के ऊपर का भाग), एवं कटिप्रदेश ये तीनों अङ्ग श्रीकृष्ण में ऊपर के क्रम से पुष्ट देखे गये। अर्थात् जंघा की अपेक्षा ऊरु एवं ऊरु की अपेक्षा कटिप्रदेश (चूतड़) पुष्ट देखे गये। इन तीनों अङ्गों को मानो राधिका ने उनके क्रम की महत्तावाले तत्तद् विषयक अनुराग के द्वारा ही पुष्ट किया है। यहाँ अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥९१॥

कटिप्रदेश में धारण किये हुए वस्त्र ने नितम्ब, ऊरु (साँथर), जानु (घुटना), जंघा (पिंडरी) आदि अङ्गों को यद्यपि ढक लिया था, तथापि वह वस्त्र नितम्ब आदि अङ्गों की शोभा का स्पष्ट अनुकरण करता हुआ देदीप्यमान हो गया। यहाँ तुल्ययोगिता अलङ्कार है ॥९२॥

श्रीकृष्ण ने देह के मध्यदेश को ढकनेवाले वीध्र (निर्मल) जिस कंचुक (कुरता या जामा) को धारण किया था, वह तो उनके शरीर में कोमल हरिचन्दन के अनुलेपन के समान दिखाई देता था। यहाँ समासोक्ति अलङ्कार है ॥९३॥

सुवर्ण वर्ण के वस्त्र की स्पष्ट जो धटिका (चीर) है, जो कि मणिगणों के द्वारा चितकबरी है, उसने श्रीकृष्ण के मध्यभाग को बाँधकर अपनी उत्तमता दिखा दी। यहाँ प्रेय अलङ्कार है ॥९४॥

श्रीकृष्ण के दोनों चरण श्याम एवं रक्तवर्ण के दिखाई दे रहे थे, अर्थात् उनका ऊपरी भाग श्याम था एवं नीचे तले का भाग लाल था, तथा वे नखरूप चन्द्रमाओं के द्वारा आश्चर्यजनक थे। उन दोनों को देखकर बोध होता था कि मानो श्रीराधिका के मधुररस एवं अनुराग ये दोनों प्रसाद, अर्थात् प्रसन्नतारूप गुण से युक्त होकर शोभा पा रहे हैं। मधुररस का देवता कृष्ण है, अतः वह श्यामवर्ण का है, अनुराग का रक्तवर्ण है, प्रसादगुण का श्वेतवर्ण है, यह भावार्थ है। यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥९५॥

कृमिजनिवसनस्यूते, दध्रे स्वच्छे उपानहौ यत्र ।
सुभगां पदयोः स्वस्या,-प्यथ रुचिमघजिद् व्यनक्ति स्म ॥९६॥

दध्रे स वैजयन्तीं, जगति जयन्तीमशेषरोचींषि ।
या खलु भूषणचक्रे, शोभां चक्रेऽत्र वैजयन्तीव ॥९७॥

रेजुर्वनमालायाः, पञ्च च वर्णा हरेर्वपुषि ।
मुनि-दयनीय-दयाकर,-मित्र-वधूनां यथा भावाः ॥९८॥

प्रच्छदवस्त्रं चित्रं, लक्ष्मीभागपि जहार परभागम् ।
सा साप्यन्तःशोभा, तस्मिन्नुदिता विलक्षणा दृष्टा ॥९९॥

पीतांबरता चित्र,-प्रच्छदवलिता मुरारातेः ।
राधारुचिरिव नाना,-भावच्छन्ना विराजते तत्र ॥१००॥

लीलाकमलं सन्तत,-विमलं कलयंस्तदा कृष्णः ।
सौरभभजनव्याजा,-दास्यं तेनाऽऽवृणोत् त्रपया ॥१०१॥

रेशमीवस्त्र से बने हुए निर्मल जूते श्रीकृष्ण ने जिन चरणों में धारण किये थे, उन चरणों की सुन्दर शोभा प्रकाशित कर दी एवं अपनी रुचि भी प्रगट कर दी। यहाँ हेतु अलङ्कार है ॥९६॥

श्रीकृष्ण ने संसार में समस्त कान्तियों को जीतनेवाली वैजयन्ती नामक माला धारण कर ली। जिस वैजयन्ती माला ने श्रीकृष्ण के समस्त भूषणसमुदाय में विजय की पताका की तरह शोभा कर दी। यहाँ उपमा अलंकार है ॥९७॥

सनकादि मुनि, रक्तक आदि दास, श्रीनन्द यशोदा आदि वात्सल्य रसोपासक, श्रीदामा आदि सखा, एवं श्रीराधा आदि गोपवधू, इन सब के शान्त, दास्य, वात्सल्य, सख्य, एवं शृङ्गार ये पाँचों भाव क्रमशः श्वेत, चित्र, अरुण, रक्त, एवं श्याम इन पाँचों वर्णों से जिस प्रकार शोभा पाते हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्ण के विग्रह में विराजमान वनमाला के पाँचों वर्ण सुशोभित हो गये। यहाँ पूर्णोपमा अलङ्कार है ॥९८॥

श्रीकृष्ण के विचित्र उत्तरीयवस्त्र (दुपट्टा) ने शोभा से युक्त होकर भी (पक्षे—सम्पत्ति से सम्पन्न होकर भी) अन्य वस्तुओं के गुणोत्कर्ष को (पक्षे—दूसरे जनों के भागको) हर लिया था। उस उत्तरीय-वस्त्र में श्रीकृष्ण के अङ्ग की वह वह भीतरी शोभा प्रगट होकर विलक्षण ही दिखाई देती थी। यहाँ तद्गुण अलङ्कार, एवं परिकर अलङ्कार है ॥९९॥

उस समय श्रीकृष्ण के पीताम्बर का भाव विचित्र उत्तरीयवस्त्र से सम्मिलित होकर उस प्रकार शोभा पाने लगा कि, जिस प्रकार अनेक प्रकारों के भाव से छिपी हुई श्रीराधिका की अभिलाषा शोभा पाती है। यहाँ पूर्णोपमा अलङ्कार है ॥१००॥

उस समय श्रीकृष्ण निर्मल लीलाकमल को निरन्तर धारण करते हुए, उस की सुगन्धी के सेवन करने के बहाने, निकट में होनेवाले विवाह से उत्पन्न हुई लज्जा के कारण, उस लीलाकमल से अपना मुख ढक लेते थे। यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार है ॥१०१॥

मस्तकघाटापृष्ठ, -श्रोणीजंघांघ्रिशोभायाम् ।
पश्चाद्देशगतायां, पतिता दृष्टिर्निवर्तते न पुरः ॥१०२॥
राजतु बहुनेपथ्यं, व्रजनृप-तनयस्य दिव्यभूदिव्यम् ।
तादृशमुरलीलकुटी,-पिञ्छान्यस्माकमुच्चकैः प्राणाः ॥१०३॥
मृगमदकर्पूरागुरु, -गुरुपरिमलवासवासयोगेन ।
वासनयोगादासन,-सुस्थोऽप्यजयद् दिशः कृष्णः ॥१०४॥
राधायाः सौरभ्यं, तस्मादस्माच्च कृष्णस्य ।
अभिगमनाद् व्यतिमर्दं, कुर्वज्जगदेव मुग्धमुद्विदधे ॥१०५॥
ध्वनिभृदलंकृतिदीव्यद्,-वर्णं सरसं हरेरङ्गम् ।
श्रव्यं काव्यमधीत्य, श्रीराधा यद्विनिर्ममे दृश्यम् ॥"इति॥१०६॥

अथ कथकः समापनमाह स्म,—

"न हि राधाकृष्णाङ्गे, परमिह निहितास्तथा भान्ति ।
अपि जनताहृद्वचसो,-स्ते तद्वेषा धृता रुचिं दधति ॥"१०७॥

श्रीकृष्ण के मस्तक, घाटा (गले का पिछला भाग), पीठ, कटिप्रदेश, जंघा, एवं चरण इन सब अङ्गों की पीछेकी ओर गई हुई शोभामें गिरि हुई दर्शकजनोंकी दृष्टि आगेकी ओर नहीं लौटती है। अर्थात् श्रीकृष्ण के समस्त अङ्गों के पिछले भाग की शोभा भी लोकोत्तर है। यहाँ उदात्त अलङ्कार है ॥१०२॥

श्रीव्रजराजकुमार के दिव्यता की उत्पत्ति से दिव्य, दिव्यातिदिव्य अर्थात् दोनों लोकों में परम मनोहर अनेक प्रकार के नेपथ्य (वेष) यदि विराजमान हैं तो भले ही विराजते रहो। किन्तु उस प्रकार की विचित्र वंशी, लकुट, एवं मोरपंख ये सब तो हमारे प्राणों से भी विशेष प्रिय वेष हैं। यहाँ प्रौढोक्ति अलङ्कार है॥१०३॥

कस्तूरी, कपूर, अगुरु, चन्दन की विशेष सुगन्धी से युक्त जो सुगन्धित द्रव्यविशेष है, इन सब की सुगन्धी के सम्बन्ध से अपने आसनपर सुखपूर्वक बैठे हुए भी श्रीकृष्ण ने दशों दिशाओं को जीत लिया, अर्थात् एक आसनपर स्थित श्रीकृष्ण को उनके अङ्ग में स्थित कस्तूरी आदि की सुगन्धी ने उनको दशों दिशाओं में स्थित कर दिया। श्रीकृष्ण के सम्बन्ध से ही कस्तूरी आदि को सुगन्धी के प्रसार की विशेषता है,यह तात्पर्य है। यहाँ अत्यन्तातिशयोक्ति अलङ्कार है ॥१०४॥

उस प्रकार की कृष्ण की सुगन्धी के सम्बन्धसे एवं श्रीकृष्ण के अभिमुख जाने से राधिका की सुगन्धी ने आपस में मर्दन करते हुए जगत्भर को हो विमुग्ध कर दिया। यहाँ सहोक्ति अलङ्कार है ॥१०५॥

श्रव्यकाव्य जिस प्रकार व्यंग्यार्थमयी ध्वनियों से युक्त, एवं श्रृङ्गार आदि रसों से युक्त, तथा उपमा उत्प्रेक्षा आदि अलङ्कारों से देदीप्यमान वर्णों से युक्त होता है, उसी प्रकार ध्वनियों से युक्त किंकिणी एवं मुकुट आदि अलङ्कारों से सुन्दर वर्णवाले एवं सरस श्रीकृष्ण के अङ्ग को श्रीराधिका ने श्रव्यकाव्य की तरह अध्ययन करके दृश्यकाव्य (नाटकादि) बना दिया। अर्थात् श्रीकृष्ण का जो अंग सुनने योग्य था उसको राधिका ने देखने योग्य बना दिया। (यहाँपर सर्वाङ्गपरिपूर्ण होने से इस काव्य का परमोत्कर्ष भी प्रतिध्वनित हो गया) यहाँ स्वभावोक्ति अलङ्कार है ॥१०६॥

अब कथावाचक प्रसंग की समाप्ति का द्योतक वचन बोला—देखो, पूर्वोक्त वे राधा-कृष्ण के वेष

तदेवम्,— कथामाश्रुत्य तामेतां न रहःशयनं च तौ ।
प्राप्तमप्यन्वमन्वातां पुनस्तत्रैव लालसौ ॥१०८॥

इति श्रीश्रीमदुत्तरगोपालचम्पूमनु विविधालङ्कारमय-श्रीराधा-कृष्णाऽलङ्कारसमयमयं नाम चतुस्त्रिंशं पूरणम् ॥३४॥

अथ पञ्चत्रिंशं पूरणम्

श्रीराधामाधव-विवाह-निर्वाहः

अथ पूर्ववदेव कथाद्वयमेकीकृत्य कथयिष्यामः । यत्र स्निग्धकण्ठः प्राह स्म,—

"तदेवं तस्य वरस्य वेषे शेषेणापि वर्णयितुं शेषे लब्धविशेषे जाते, प्राते च नान्दीमुखादिशाते द्विजातेन तातेन तद्बन्धुजातेन मातृसङ्घातेन देव्यादिभगिनीसंपातेन च यथायथं मङ्गलसङ्गमितस्य तस्य विवाहनिर्वाहणयात्रा वर्णनपात्राय कल्पयिष्यते ॥१॥ तथा हि—

यदा ज्योतिर्विद्भिः सदसि कथितं यात्रिकतया, पलं तर्हि क्ष्मापि स्वरपि भृतवाद्यं समजनि ।
यदा जातं वाद्यं हरिरपि तदा सर्वमनसा, समं हर्षं बिभ्रद् भविकगतिशर्मं व्यतनुत ॥२॥

यहाँपर केवल राधा-कृष्ण के अंग में धारण कराये हुए ही उस प्रकार से सुशोभित नहीं हो रहे हैं । किन्तु भक्तजनों के हृदय एवं वाक्यों में भी धारण किये हुए वे वेष, रुचि को पुष्ट करते रहते हैं ॥१०७॥

इस प्रकार विवाहसम्बन्धी अलङ्कार वर्णनमयी उस कथा को सुनकर राधा-कृष्ण ने निकट प्राप्त हुए एकान्त के शयन का अनुमान भी नहीं किया । कारण उन दोनों की लालसा पुनः उसी वैवाहिक कथा के श्रवण में लगी हुई थी ॥१०८॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रिविरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते श्रीमदुत्तरगोपालचम्पूकाव्ये विविधालङ्कारमय-श्रीराधा-कृष्णाऽलङ्कारसिद्धान्तवर्णनमयं चतुस्त्रिंशं पूरणं सम्पूर्णम् ॥३४॥

पैंतीसवाँ पूरण

श्रीराधा-माधव विवाह वर्णन

इस पैंतीसवें पूरण में होनेवाले श्रीराधा-कृष्ण के विवाह का तथा अन्य गोपियों के साथ श्रीकृष्ण के विवाह का वर्णन होगा । हम अब भी पहले की तरह दोनों सभाओं की कथाओं को इकट्ठी करके ही कहेंगे । जिसमें स्निग्धकण्ठ बोला—इस प्रकार श्रीकृष्णरूप वर का वेष जब शेषजी द्वारा वर्णन करने के लिए भी विशेषतापूर्वक अवशिष्ट रह गया, अर्थात् सम्पूर्णरूपेण शेषजी भी जब वर्णन नहीं कर पाये, तथा नान्दीमुख-श्राद्ध आदि का सुख जब प्रात (पूर्ण) हो गया, तब ब्राह्मणगण, पिता श्रीनन्दजी, एवं उनके बन्धु बान्धवसमुदाय, श्रीयशोदा आदि मातृमण्डल, कात्यायनीदेवी आदि बहिनों का संघ, इन सब के द्वारा यथायोग्य जिनका माङ्गलिक कृत्य किया गया था, उन श्रीकृष्ण के विवाह के निर्वाहकारिणी यात्रा, अर्थात् 'बरात' का भली प्रकार वर्णन करेंगे ॥१॥

देखो, ज्योतिषियों ने श्रीनन्द की सभा में श्रीकृष्ण की बरात की यात्रा का उपयोगी पलभर समय का जब निर्देश किया था, उसी समय पृथ्वी एवं स्वर्ग भी बाजाओं से भर गया था, अर्थात् दोनों जगह बाजे

उद्यद्दुन्दुभिवृन्दशब्दबलवद्वाद्यान्तरान्तर्गतैः
सङ्घट्टाकुलरत्नधोरणघटा-घण्टारवैराहृते ।
कृष्णस्याऽनुदिशं निजस्फुरणकृत् कान्तेः प्रयाणेऽदधाद्
दीव्यन्ती त्रिदिवे च तद्विधगतिस्तद्व्यूहभेदभ्रमम् ॥३॥

वाद्यानां कोटियुक्तैस्तवरवनियुतैर्दिव्यभौमैः समन्ता-
न्मिश्रीभूतं मिथस्तैर्न परमिह तथा चान्यदप्यत्र विद्धि ।
उत्क्षिप्ता ये व्रजस्थैः कुसुमसमुदयास्ते तु दिव्यैः पतद्भि-
स्तैरन्यैः पृक्तिमाप्ताः परिचयरचने नापुरुच्चैर्विविक्तिम् ॥४॥

"यत्र च यथान्तरन्तःपुरस्तान्माला वैजयन्तीनां वैजयन्तीनाम्, स्वर्गवाद्यविद्यैरपि समभिवाद्यानि वाद्यानि ; तौर्यत्रिक-शुभरता भरताः ; पुरोधः-पुरोगमाः पुरोगमा गुरूणां ; शकटाकाराणि विमानानि विमानानि ; यत्र चोभयतः सुहृदामात्मसमयानानि यानानि ; धृतचामरादिपरिकराः परिकराः ; रामदामादीनां सुखलसदुद्धवाः सदुद्धवाः ; शैव्य-सुग्रीव-मेघपुष्प-बलाहका बलाहकाः ; विसरत्कृष्णकान्तिघनरसा घनरसाः ; दारुकस्तथा कृष्णः क्रमतः

बजने लग गये । और जब बाजे बजने लगे तब श्रीकृष्ण ने भी सभी के मन के साथ हर्ष धारण कर शुभ-यात्रा का सुख विस्तारित कर दिया ॥२॥

श्रीकृष्ण की बरात की यात्रा के समय श्रीकृष्ण ने प्रत्येक दिशा में अपनी स्फूर्ति करानेवाली कान्ति विस्तारित कर दी । उसी समय अनेक दुन्दुभी बजने लग गईं, उन्हीं के शब्द में और भी प्रबल बाजे बजने लगे । इन बाजाओं के बीच में रत्नयुक्त हाथी, घोड़ा, रथ, एवं पालकी आदि असवारी परस्पर के संघट्ट से व्याकुल हो उठीं, अतः हाथी, घोड़ा आदि असवारियों की घटा के घण्टाओं के शब्द से वह यात्रा सत्कार युक्त हो रही थी । उस समय स्वर्ग में भी उसी प्रकार की बाजेगाजे की यात्रा प्रकाशित होती हुई उन बाजे आदिकों के व्यूह के भ्रम को धारण करने लगी ॥३॥

श्रीकृष्ण की बरात की यात्रा में स्वर्ग एवं भूमि में होनेवाले करोड़ों बाजाओं से युक्त वे अपरिमित स्तुतियों के शब्द ही केवल परस्पर सम्मिलित नहीं हुए; अपितु, इस यात्रा में कुछ और भी समझ लीजिये । देखो, व्रजवासियों ने जो पुष्पों के समूह ऊपर की ओर फेंके थे, वे तो स्वर्ग से गिरनेवाले उन दूसरे पुष्पों से सम्मिलित होकर पहचानने के लिए विशेष विवेचना को नहीं प्राप्त हो पाये, अर्थात् स्वर्ग के पुष्पों में मिल जाने से पृथक् पहचान में नहीं आये ॥४॥

और जिस यात्रा में बीच बीच में अग्रभाग में निश्चय ही विजयशील पताकाओं की माला शोभा पा रही थी । स्वर्ग के बाजाओं को बजानेवालों के साथ बजाये जानेवाले अनेक प्रकार के बाजे थे । नटलोग नाचने, गाने, बजाने के शुभकृत्य में लगे हुए थे । पिता एवं पितामह आदि गुरुजनों में जो अग्रगण्य थे, वे पुरोहितों को आगे करके चल रहे थे । बैलगाड़ियों के से आकारवाले असंख्य विमान थे । और बरात की जिस यात्रा में श्रीकृष्ण के दोनों ओर मन के समान शीघ्र चलनेवाले मित्रों के रथ आदि यान थे । चामर आदि सामग्री को धारण करनेवाले सेवक थे । बलराम एवं श्रीदामा आदि मित्रों के सुख से शोभायमान उद्धवजी से युक्त सुन्दर उत्सव, अर्थात् उत्साह थे । शैव्य, सुग्रीव, मेघपुष्प, एवं बलाहक नामवाले चारों

सारथी रथी परस्तान्नानासामग्रीसङ्गिनः सङ्गिनः ; नानाश्रेणिजनाः श्रेणिजनाः ; सर्वतः कौतुकविभावका विभावकाः वरकीर्तिवन्दिमुखा वन्दिमुखाः ; उपरि भवकमलभवमुखाः सुपर्वाणः सुपर्वाणः ; विष्णुपदस्था विष्णुपदस्थाः, वृष्टिश्च सुमनसां सुमनसामिति ॥५॥

"दारुकसारथियुक्तं, युक्तं शैब्यादिवाजिसंघेन ।
हरिरिह रथमारूढः, स्वरुचा तस्तार देवयानानि ॥६॥

सुरवर्त्मेति नामासीत् प्रसिद्धं यस्य तन्नभः । सुरवर्त्मतया साक्षाद् व्रजवासिभिरैक्ष्यत ॥७॥
पुष्करस्थानि तत्रास्यपुष्कराणि द्युयोषिताम् । हरेरंशुसहस्रेण घस्रेऽस्मिन् फुल्लतामयुः ॥८॥

"तत्र च— काश्चित् पुष्पाणि वर्षन्त्यः स्तब्धाः श्रीविधुकान्तितः ।
तथापि केशविस्रस्तैरगच्छंस्तैः कृतार्थताम् ॥९॥

काश्चिन्मङ्गलगायन्त्यः स्वरभङ्गं गता मुदा । तत्रापि स्निग्धकण्ठत्वाल्लोकं निन्युर्दशां निजाम् ॥
अन्या वरस्य माधुर्यात् कन्याभावमुपागताः । यासामेव निजस्त्रीणामावेशादमरा अपि ॥११॥

घोड़ा श्रीकृष्ण के रथ में जुड़े हुए थे । फैलती हुई श्रीकृष्ण की कान्तिरूप घनरस (कपूर) ही घनरस (जल, अथवा हासपरिहास के घने रस) थे । दारुक तथा श्रीकृष्ण ये दोनों क्रमशः सारथी एवं रथी थे । उनके पीछे पीछे अनेक सामग्रियों को लेनेवाले सहचर थे । अनेक प्रकार की पंक्ति बनानेवाले बहुत से कारीगर थे । चारों ओर कौतुक (तमाशा) उत्पन्न करनेवाले विभावक (विदूषक) थे । श्रीकृष्णरूप वर की कीर्ति की प्रशंसा जिनके मुख में थी, वे ही बन्दीजन आदि थे । ऊपर आकाश में शिव, ब्रह्मा आदि देवता सुन्दर उत्सव मना रहे थे, एवं विष्णुपदस्थाः, अर्थात् वैकुण्ठवासीजन विष्णुपदस्थाः, अर्थात् आकाश में स्थित थे । देवताओं के द्वारा पुष्पों की वर्षा की जा रही थी ॥५॥

इस बरात में दारुक नामक सारथि से युक्त एवं शैब्य आदि घोड़ों के समूह से युक्त रथपर चढकर, श्रीकृष्ण ने अपनी कान्ति के द्वारा देवताओं के विमान ढक लिये ॥६॥

जिस आकाश का 'सुरवर्त्म' यह नाम प्रसिद्ध था, उसी आकाश को व्रजवासियों ने उस समय साक्षात् देवताओं के मार्गरूप से देख लिया । अर्थात् श्रीकृष्ण का विवाहोत्सव देखने के लिए सभी देवता आकाश मार्ग से आ जा रहे थे, अतः आकाश का 'सुरवर्त्म' नाम उस दिन विशेष सार्थक हुआ ॥७॥

उस दिन वहाँ आकाश में स्थित देवाङ्गनाओं के मुखरूप कमल श्रीकृष्णरूप सूर्य की हजारों किरणों के द्वारा प्रफुल्लित हो गये, अर्थात् खिल पड़े ॥८॥

और वहाँपर उस समय कुछ देवाङ्गनाएँ पुष्पों को बरसाती हुई यद्यपि श्रीकृष्ण की शोभा से स्तब्ध हो गई थीं, तथापि वे अपने केशों से गिरे हुए पुष्पों के द्वारा कृतार्थ हो गई थीं । तात्पर्य—केशों से पुष्प गिर जाने के कारण उनकी पुष्पवृष्टिरूप सेवा में कोई बाधा नहीं आई, अतः वे कृतार्थ थीं ॥९॥

विवाह के मङ्गलमय गीत गानेवाली कुछ देवाङ्गनाएँ हर्ष से स्वर के भङ्ग को प्राप्त हो गई थीं । किन्तु उस स्वरभङ्ग होने की दशा में भी उन्होंने स्निग्धकण्ठ होने के कारण सभी लोगों को अपनी दशा प्राप्त करा दी थी, अर्थात् हर्षित कर दिया था ॥१०॥

दूसरी देववधू तो वर के माधुर्य से कन्याभाव को प्राप्त हो गई थीं, अर्थात् श्रीकृष्ण के साथ विवाह कराने की इच्छावाली हो गई थीं । जिन अपनी स्त्रियों के आवेश से देवता भी कन्याभाव को प्राप्त हो गये थे ॥११॥

पतन्त्य इव याः काश्चिद्विमानादभवन्नमूः । तत्कान्ताश्चकृषुः कृष्णकान्तयश्चात्मनो दिशम् ॥१२

पश्यन्त्यः कृष्णमपराः कण्टकोद्भेददन्तुरैः । आश्लिष्य रक्षतः कान्तान् स्वप्रतीकैरविव्यथन् ॥१३

काञ्चीं गलन्तीमेकास्तु प्रेक्षमाणा रुचिं हरेः । मुहुर्मुहुः स्वकान्तेन स्तभ्यमानां च नाविदुः ॥१४

कृष्णस्य नेत्रान्तशरः सुरस्त्रिया, नेत्रान्तमाविश्य तदाविशन्मनः ।
तदीयभर्तुस्तदगाद् विलोक्यता,-मितीव लज्जालुतया न निर्ययौ ॥१५॥

एकाः श्रीमुखचन्द्रमस्य नयनेनाऽऽवृत्य तेनेभ्यतां
मन्यन्ते स्म परा दृगंबुजयुगं वक्षःस्थलं काश्चन ।
काश्चिद्दोर्नवनीलरत्नजनियुग्यूपद्वयं तत्परा-
श्चैवं किन्तु न जानते स्म निखिलं राधार्पितं तस्य यत् ॥१६॥

"तदेवमनन्तेऽपि तत्तद्विभवेनाऽनन्ते मधुमङ्गलस्तु यष्टिं मुहुरूर्ध्वं क्षिपन्नूर्ध्वगत्या कूर्दन्नासीत् । सर्वे सहासं पप्रच्छुः,—'भो वटो ! किं कर्तुं प्रकटोऽसि ?' मधुमङ्गल उवाच,–

उस समय जो कुछ देवाङ्गनाएँ श्रीकृष्ण के माधुर्य से विमुग्ध होकर मानो विमानों से गिरने लगीं, तब उनके पति तो उनको अपनी ओर खींचने लगे, एवं श्रीकृष्ण की कान्तियाँ अपनी ओर खींचने लग गईं ॥१२॥

दूसरी देवांगनाएँ श्रीकृष्ण को देखती हुईं जब गिरने लगीं, तब उन्हीं देवांगनाओंने आलिगन करके रक्षा करनेवाले अपने पतियों को रोमाञ्चों की उत्पत्ति से ऊँचे नीचे अपने अवयवों से व्यथित कर दिया ॥१३॥

श्रीकृष्ण की शोभा को देखती हुईं कुछ देववधू तो गिरती हुई अपनी करधनी को भी नहीं जान पाईं । उस समय वह करधनी अपने पति के द्वारा बारंबार गिरने से रोकी जा रही थी ॥१४॥

उस समय श्रीकृष्ण का कटाक्षरूपी बाण देवांगना के कटाक्ष में प्रविष्ट होकर हृदय में प्रविष्ट हो गया । कटाक्ष का वह हृदय में प्रवेश करना उस देवांगना के पति के दृष्टिगोचर हो गया था, मानो इसी भाव से वह कृष्ण का कटाक्ष लज्जाशील होने के कारण हृदय से बाहर नहीं निकला । तात्पर्य—श्रीकृष्ण-विषयक भाव देवांगनामात्र के हृदय में ही लगा रह गया ॥१५॥

कुछ एक देवांगनाओं ने श्रीकृष्ण के शोभायमान मुखचन्द्र को अपने नेत्र के द्वारा वरण करके, उसी के द्वारा अपने को धनी मान लिया, इसी प्रकार दूसरी देवांगनाओं ने श्रीकृष्ण के दोनों नेत्रकमलों को, एवं कुछ देवांगनाओं ने वक्षःस्थल को, और किन्हीं ने नवीन नीलरत्नों की उत्पत्ति से युक्त भुजारूपी दो स्तम्भों का वरण करके अपने को धनी मान लिया, तथा श्रीकृष्ण-परायण भी हो गईं । किन्तु वे सब देवांगनाएँ यह बात नहीं जानती थीं कि, श्रीकृष्ण के जो अंग हैं वे सब तो श्रीराधिका के लिए ही अर्पित हो चुके हैं । तात्पर्य—दूसरे की वस्तु को अपनी मान कर धनिक बनना व्यर्थ है ॥१६॥

इस प्रकार अनन्त (आकाश) भी श्रीकृष्ण के तत्तद् वैभव से जब अनन्त (अपार) हो गया, तब मधुमङ्गल लठिया को बारंबार ऊपर की ओर फेंकता हुआ ऊर्ध्वगति से कूदने लग गया, अर्थात् फलाँग मारने लग गया । सभी हास्यपूर्वक पूछने लगे—हे ब्राह्मण बालक ! तुम क्या करने को प्रगट हो रहे हो ?

'भोस्तुन्दपरिमृजाः ! बाढमृजवो यूयम् । न पश्यथ, किं न पश्यथ ? यदेता मम वयस्यं वश्यं विधातुमवतरन्त्यः प्रतीयन्ते । तदेता निवारयाणि' इति ॥१७॥ ततश्च,

किञ्चिज्जयाद् भयात् किञ्चिदुद्गले मधुमङ्गले ।
सांराविणं व्यावहासी चात्राऽऽसीद् वरयात्रिणाम् ॥१८॥

"तदेवं हासादिकोलाहलबहलवाद्यव्याजमानन्दमेव श्वशुरपुरान्तःपुरसमाजं वेशयन् स्वयमपि सर्वेषां लोचननीरजविरोचनतया श्रीकेशवस्तदीयसदेशं विवेश ॥१९॥

"विधुरन्यो भानु-धाम प्रविशन् क्षीणतां व्रजेत् । सोऽयं पुनः प्रतिपदं पूर्णतामेव सङ्गतः ॥२०

"यत्र च— श्रुतवती सहसा स्ववराऽऽगति,-प्रथितवाद्यगतीर्वृषभानुजा ।
अधृत कंपभरं मुहुरेव साऽ,-कृत सखीकुलमाकुलमत्र च ॥२१॥
हन्त कृष्णमुदिरश्च तर्ह्यगा,-दुत्तरोत्तरतया समीपताम् ।
शश्वदुत्कलिकिकां च भूयसीं, चातकीव बत राधिका ययौ ॥२२॥

मधुमङ्गल बोला—ओ ! पेटपर हाथ फिरानेवाले ! आलसियो ! तुम सब बहुत सीधे हो, नहीं देख रहे हो क्या, नहीं देख रहे हो ? जोकि ये देवाङ्गनाएँ मेरे मित्र को अपने वशीभूत करने के लिए आकाश से उतरती हुईं प्रतीत हो रही हैं । इसलिए मैं इनको निवारण कर रहा हूँ ॥१७॥

उसके बाद कुछ जय से एवं कुछ भय से मधुमंगल ने जब ऊँचा गला कर लिया, तब इस बरात में बरातियों का सांराविण (चारों ओर से हल्ला) हो गया, एवं व्यावहासी (परस्पर की हँसी) प्रगट हो गई ॥१८॥

इस प्रकार हास्यपरिहास का कोलाहल एवं बहुत से बाजाओं के बहाने से युक्त आनन्द को ही श्वशुरपुर के अन्तःपुर के समाज में प्रविष्ट कराते हुए श्रीकृष्ण स्वयं भी सभी के नेत्ररूप कमलों को प्रकाशित करते हुए श्वशुरपुर के निकट प्रविष्ट हो गये ॥१९॥

दूसरा लोकप्रसिद्ध चन्द्रमा सूर्यमण्डल में प्रवेश करता हुआ क्षीणता को प्राप्त कर लेता है, किन्तु यह श्रीकृष्णरूप चन्द्रमा तो भानुधाम, अर्थात् श्रीवृषभानुजी के घर में प्रवेश करता हुआ प्रतिक्षण पूर्णता को ही प्राप्त हो गया । (यदि कोई कहे कि श्रीकृष्ण तो स्वतः पूर्ण हैं, फिर पूर्ण की पूर्णता किस प्रकार ? इस विषय में दो प्रकार का सिद्धान्त है—पहला लीलांश, दूसरा तत्त्वांश । लीलांश में नरलीला की पूर्ति अर्धाङ्गिनी होने के नाते श्रीराधिका के द्वारा पूर्णता मानी जाती है । एवं तत्त्वांश में दो प्रकार की लीला करने के लिए ही शक्ति एवं शक्तिमान् पृथक् पृथक् हुए हैं । अतः अन्तरंग आह्लादिनी शक्तिस्वरूपा श्रीराधिका के मिलने से ही शक्तिमान् श्रीकृष्ण की पूर्णता मानी जाती है ।) ॥२०॥

वृषभानुनन्दिनी श्रीराधिका ने अपने वर के आने के समय प्रसिद्ध वाद्यों की गति सुन ली, एवं उन्होंने बारंबार विशेष कम्प धारण कर लिया, तथा इस कम्पविशेष में सखियों के समुदाय को व्याकुल कर दिया ॥२१॥

हर्ष की बात तो यह है कि उस समय श्रीकृष्णरूप मेघ क्रम क्रम से समीपता को प्राप्त हो गया । अहह ! राधिका उस समय चातकी की तरह निरन्तर विशेष उत्कण्ठा को प्राप्त हो गई ॥२२॥

"अथ विविधमानाय्यमानाय्य होमस्तोमं विधाय स्वधाद्रव्यं सन्धाय नान्दीमुखश्राद्धं राद्धं कुर्वति श्रीवृषभास्वति सर्वाणि तत्पक्षलक्षाणि चित्रवादित्रादिभिरतीतनिजकक्ष्याणि वरमुपव्रजन्ति स्म ॥२३॥

"यत्र चोभयमपि तद्वरकन्याकुलं व्यतिमिलमानं किल सागरसमुद्रसमाहारसारतामेवात्मनि जागरयामास, यत्र च सर्वत ऊर्ध्वमुदयन् विधुर्विधूतमर्यादतामासादयामास ॥२४॥

"ततश्च, स्त्रीपुंसास्ते लक्षमक्षामरत्नै,-र्नीराज्याऽमुं तत्र निर्मञ्छ्य तद्वत् ।
स्वेनाऽप्येनं चालिताभ्यां कराभ्यां, सास्राश्चक्रुः साधु निर्मञ्छिताङ्गम् ॥२५॥
दर्शं दर्शं वरमघरिपुं ते तु भानोः स्वलोका-
स्तत्कन्यायाः सुकृतविभवं फुल्लदङ्गाः शशंसुः ।
किञ्चाऽऽचख्युर्गुणततिरसावस्य संख्यामतीता
शोभां नाऽश्नेद् यदि तु दयिता राधिका हन्त न स्यात् ॥२६॥

"पुनर्विमानचारिणीनां वचनं तत्रापरिचितवतीनां यथा—
मुखं यत्रांभोजं प्रतिलव-नवश्रीवलयितं, दृशावुद्यत्तारे विलसितविहारेण चलने ।
वपुश्चांभोदानां वलयमध ऊर्ध्वं प्रतिदिशं, सदानन्दस्पन्दं कलय किमिदं हन्त किमिदम् ॥२७॥

उसके बाद आनाय्य (गार्हपत्य नामक अग्नि से लाकर मन्त्र से संस्कार करके बनाई हुई दक्षिणाग्नि) को मँगवा कर अनेक प्रकार के होमसमूह को करके, स्वधाद्रव्य (पितरों को दिये जानेवाले द्रव्य) को संग्रह करके, श्रीवृषभानुजी जब नान्दीमुख-श्राद्ध सिद्ध कर रहे थे, तब श्रीवृषभानुजी के पक्ष के सभी लाखों लोग विचित्र बाजे आदि के द्वारा अपने राजमहलों की ड्योढियों को पार करके वर के निकट चले आये ॥२३॥

और जहाँपर परस्पर मिलते हुए वर एवं कन्याके कुल ने,अपनेमें समुद्रके साथ समुद्रके मिलनेके उत्कर्षको ही जागृत कर दिया । और जिसमें सब से ऊँचे उदय होते हुए, अर्थात् सब से ऊँचे रथ में बैठे हुए श्रीकृष्ण-रूप चन्द्रमा ने तो दोनों कुलरूप सागरों को (छोटे बड़े की) मर्यादा से रहित बना दिया ॥२४॥

उसके बाद उन लाखों स्त्री पुरुषों ने वहाँपर विशिष्टरत्नों के द्वारा श्रीकृष्ण की आरती करके, उसी प्रकार रत्नों की न्योछावर (बखेर) करके सजलनयन होकर, ऊपर की ओर चलाये हुए अपने अपने हाथों से अपनी आत्मा के द्वारा भी श्रीकृष्ण के सब अंग निर्मञ्छित कर दिये, अर्थात् श्रीकृष्ण के प्रत्येक अंगपर अपनी आत्मा भी न्योछावर कर दी ॥२५॥

श्रीवृषभानुजी के वे निजीजन तो बारंबार श्रीकृष्णरूप वर को देखकर, प्रफुल्लित अंगोंवाले होकर वृषभानुनन्दिनी श्रीराधिका के सुकृतों के वैभव की प्रशंसा करने लग गये । और कहने लगे कि विशेष हर्ष की बात तो यह है कि, यह राधिका यदि श्रीकृष्ण की भार्या नहीं होती तो, इन श्रीकृष्ण की असंख्य गुणों की यह श्रेणी शोभा को नहीं प्राप्त होती । तात्पर्य—राधिका के पाणिग्रहण-सम्बन्ध ने श्रीकृष्ण के असंख्य गुणों को सुशोभित कर दिया ॥२६॥

उस समय श्रीकृष्ण को न पहचाननेवाली देवांगनाओं के वचन, यथा—जिस वर में मुख तो प्रतिक्षण नवीन शोभा से युक्त कमल ही है, एवं दोनों नेत्र उदित होते हुए ताराओं से युक्त हैं, तथा

"परिचितवतीनां तु,—

सावित्री ब्रह्मणः स्त्री हिमगिरि-तनया चन्द्रमौलेस्तथा मा
श्रीविष्णोरस्य रुक्मिण्यपि सुमुखि ! भवेद् बाढमक्ष्णां सुखाय ।
रूपं स्वस्याऽपि विस्मायकमयमभितः शोभयन् स्वीयमासीद्
रासे यासां रुचा ता यदि न हि विवहेदस्तु राधा तु मूर्ध्नि ॥२८॥

"अथ विविधवस्त्रसंस्तरणया रत्नभुवीव विरचितायां निजान्तःपुरवर्त्मभुवि चावतारिते सर्वसुहृत्परिवारिते वृन्दावनपुरन्दरे श्रीमति वरे श्रीमान् भानुरपि सहर्षनिजपर्षत्पालवलयेन सह पद्भ्यामेव स्वयमुपवव्राज ॥२९॥

"तत्र च— पूर्वं ददर्श शतधा, पस्पर्श च तं चिराय वात्सल्यात् ।
तदपि तदानीं पश्यन्, नवमिव चक्लृपे स चित्रकल्पाय ॥३०॥

"ततश्च क्षणं तद्वीक्षणमाचर्य निर्मञ्छनाऽऽरात्रिकाभ्यां परिचर्य पुष्पावलिं विकीर्य तं नम्रं प्रति कम्रमाशीर्वचनं वितीर्य व्रजराजादिभिः सास्रं व्यतिपरिष्वज्य तमेव चाग्रतः प्रसज्य सर्वसुखसंपदखण्डतण्डकं मण्डपमेवानिनाय । चन्द्रमण्डलमिव तारामण्डलं नीलनिधिकलसमिव वा तन्मङ्गलसदनं साक्षान्मङ्गलाधिदेवमिव वा तन्मङ्गलवलयम् ॥३१॥

विलासयुक्त विहार से चंचल हैं । और जिस वर का शरीर मेघमण्डल ही है, तथा नीचे एवं ऊपर की ओर प्रत्येक दिशा में सदैव आनन्दपूर्वक किंचित् चल रहा है, ऐसा प्रतीत होता है । अहह ! देखो तो सही, यह क्या है ? यह क्या है ? ॥२७॥

श्रीकृष्ण को पहचाननेवाली देवांगनाओं का कथन तो यह था कि—हे सुमुखि ! देखो, ब्रह्मा की स्त्री सावित्री, शिव की पत्नी पार्वती, विष्णुपत्नी लक्ष्मी, एवं श्रीकृष्ण की पत्नी रुक्मिणि भी सब के नेत्रों को तभी विशेष सुखदायक हो सकती थीं कि, जब ये श्रीकृष्ण उन गोपियों के साथ विवाह नहीं करते, कि जिनकी लोकोत्तर कान्ति के द्वारा (ये श्रीकृष्ण) अपने को भी विस्मित करनेवाले अपने रूप को रास-मण्डल में सुशोभित करते हुए विद्यमान रहे । अर्थात् गोपियों के सामने सावित्री आदि की कान्ति फीकी पड़ जाती है, अतः नेत्रों को उतनी सुखदायक नहीं हो पाती । अस्तु,गोपियों की बात तो दूर रहने दीजिये, किन्तु श्रीराधिका तो उनमें भी सर्वोपरि हैं ॥२८॥

पश्चात् अनेक प्रकार के वस्त्र बिछा देने के कारण, अपने अन्तःपुर के मार्ग की भूमि जब रत्नजटित भूमि की तरह बना दी गई, एवं उसी वस्त्राच्छादित भूमि में सभी सुहृदों से घिरे हुए वृन्दावनाधीश्वर श्रीमान् वर जब रथ से उतार लिए गये, तब श्रीमान् वृषभानुजी भी हर्षयुक्त अपनी सभा के रक्षकमंडल के साथ स्वयं पैदल ही वर के निकट चले आये ॥२९॥

और वहाँपर यह आश्चर्य हुआ कि, श्रीवृषभानुजी ने यद्यपि मथुरा जाने से पहले श्रीकृष्ण को सैंकड़ों बार देखा था, एवं वात्सल्य से बहुत दिनोंतक उनका स्पर्श भी किया था, तथापि उस समय वे श्रीकृष्ण को नवीन की तरह देखते हुए चित्र की तरह निश्चल बन गये ॥३०॥

उसके बाद श्रीवृषभानुजी क्षणभर श्रीकृष्ण को निहार कर, न्योछावर एवं आरती करके, पुष्पावलि बखेर कर, विनम्र श्रीकृष्ण के लिए मनोहर आशीर्वाद देकर, श्रीव्रजराज आदि सम्बन्धियों से सजलनेत्र होकर, परस्परमिलकर, श्रीकृष्ण को ही अगवानी करके सब प्रकार की सुख सम्पत्तियों से

"यत्र च— रंभास्तंभचतुष्टयेन फलसंजुष्टेन कोणेषु या
मुक्तादामवितानतोरणचयेनोर्ध्वं वृता द्योतिना ।
कुंभभ्राजितदीपराजिवलिता रत्नाङ्कचित्राऽऽचिता
वेदिः सा विशता तु कृष्णशशिना कृष्णांशुना चर्चिता ॥३२॥

पुरस्ताद् गोपेन्द्र-प्रभृतिगुरवः पार्श्वयुगले, वयस्या रामाद्याः क्रमवलनयाऽप्युद्धवमुखाः ।
परस्तादध्यासन् सुररिपुरिपोर्दारुकपुरः,-सराः सेवाकारा इति परिषदेषां विरुरुचे ॥३३॥

"तदेवं सति तूदग्रीविकाकृते प्रग्रीवाऽवलिवलितचन्द्रशालिका-सञ्चारिकासु कासुचित्तूष्णीकामेव पुष्णानासु कासुचित्तु जपकल्पं जल्पन्तीषु कासाञ्चिन्नर्मगालिशर्मगीतिर्यथा— ॥३४॥

'पश्य सखीजन ! सोऽयं कस्य ।
सुविचारयदपि चित्तं क्वचिदपि नान्तं लभते यस्य ॥ ध्रु ॥
सुचिरोपार्जित - सुकृतशतायुत - निर्जिततरुणसमाजौ ।
वर्षीयांसावपि यं तनयं लेभाते व्रजराजौ ॥
यस्य च पितरावतिसरलाविति जगति समन्ताद् वित्तम् ।
चतुरशिरोमणिवरता यस्य च वशयति जगतां चित्तम् ॥

युक्त, एवं अखण्डतण्डक (सजावट) से युक्त मंडप में ही लिवा लाये । उस समय श्रीकृष्ण की उस प्रकार शोभा हुई थी कि चन्द्रमंडल जिस प्रकार तारामंडल में लाये गये हों, एवं नीलनिधि का कलश जिस प्रकार उनके मंगलमय भवनमें लाया गया हो,अथवा मंगलका अधिष्ठातृ देवता जिस प्रकार उस मंगलमय विवाह-मंडल में लाया गया हो ॥३१॥

और जिस मण्डप में प्रवेश करते हुए श्रीकृष्णरूप चन्द्रमा ने अपनी कृष्णवर्ण की किरणों के द्वारा उस वेदी को सुशोभित कर दिया कि, जो वेदी चारों कोनोंपर फलों से युक्त केला के चार स्तम्भों से घिरी हुई थी, एवं ऊपर की ओर प्रकाशमान मोतियों की माला से युक्त वितान (चँदोवा) तथा तोरण बन्दनवार के समूह से घिरी हुई थी, और कलशोंपर सुशोभित दीपावली से युक्त थी, एवं रत्नमय चित्रकारी से व्याप्त थी ॥३२॥

उस मण्डप में आगे की ओर गोपराज श्रीनन्दजी आदि गुरुजन विराजमान थे, एवं दोनों ओर क्रम की परिपाटी से श्रीबलराम आदि एवं उद्धव आदि मित्रजन विराजमान थे, तथा श्रीकृष्ण के पीछे की ओर दारुक आदि सेवकगण विद्यमान थे । इस प्रकार इन सब की यह सभा शोभा पाने लगी ॥३३॥

अतएव इस प्रकार की स्थिति में गला ऊँचा करने के लिए प्रग्रीवावलि (खिड़की-समुदाय) से युक्त अटारियों में विचरण करनेवाली कुछ महिलाएँ जब चुप हो गईं, एवं कुछ जब जप की तरह धीरे धीरे बोल रहीं थीं, तब कुछ महिलाओं का परिहासमयी गालियों से युक्त सुखमय गायन, यथा— ॥३४॥

अरी सखियो ! देखो, ये कृष्ण किसके पुत्र हैं? व्रजराज के पुत्र हैं अथवा वसुदेव के, व्रजवासी हैं अथवा पुरवासी हैं ? क्योंकि ये जिस समय जहाँ रहते हैं,उस समय उनके ही अनुगामी प्रतीत होते हैं । अतः मेरा मन तो भलीप्रकार विचार करता हुआ कहीं भी जिनका अन्तिमस्वरूप नहीं प्राप्त कररहा है,श्रीव्रजराज एवं व्रजेश्वरी यशोदा ने अत्यन्त वृद्ध होकर भी जिनको पुत्ररूप में प्राप्त किया है, और उन दोनों ने चिरकाल से

सर्वः स्निह्यति ममतां सचयति घोषो यत्र सदैव ।
मातरपितरादिकमभिमनुते यश्च न सर्व नैव ॥
व्रजपतिवंशे यादृङ् न भवति नाभूदत्र कदापि ।
सोऽयं गुणरूपादिकमीदृग् भजते चारु सदापि ॥
यस्य च लब्धावपि धनिमानी स्वयमपि सर्वं दाता ।
वृषभान्वन्वयलक्ष्मीं येन च याचयते व्रजपाता ॥'इति॥३५॥

"अथ मधुमङ्गलः प्रजजल्प,–'ही ही दासीतनूजाभिराभिरस्मदीययुवराजाय गालिरेव दीयते । तस्मादासां शासनार्थमेता एव तेनानेनादौ दासीतया ग्राहयितव्याः, बाढं पश्चादेव तु भार्यातया कन्या' इति ॥३६॥

"अथ वटुरयं कटुभाषी 'गृह्यतां गृह्यताम्' इति तासां वचनं कर्णे रचयन् श्रीव्रजराज-समीपं जवादाजगाम ; आगम्य च जगाद,–'कथमधुना पलायध्वे ? यदि चाहं मित्रेण सह गत्वा तत्र तत्र सहकृत्वा राजयुद्ध्वा चाऽभविष्यम्, तदा व्रजसंवलनाय कथमेतावान् विलंबः संभवमवाप्स्यत्, संप्रति च सहकृत्वर्यः ! संत्वर्य पश्यथाऽस्माकं विस्मापकताम्' इति ॥३७॥

उपार्जित अपरिमित सुकृत के द्वारा तरुण एवं तरुणियों के समाज को भी जीत लिया है। और जिस वर के माता पिता अत्यन्त सरल हैं, यह बात जगत् में चारों ओर विख्यात है, एवं जिस वर का श्रेष्ठ चतुर शिरोमणि भाव जगत्भर के चित्त को अपने वश में कर रहा है। और जिसके ऊपर सारा व्रज ही स्नेह करता है, एवं पुत्र मित्र आदि भावमयी ममता का सम्बन्ध भी सदैव रखता है। और ये श्रीकृष्ण भी माता पिता आदि समस्त व्रज को उन उन के भाव के अनुसार ही मानते हैं । और व्रजराज के वंश में श्रीकृष्ण जैसा न तो वर्तमान है, एवं कदापि हुआ भी नहीं है। वे ही श्रीकृष्ण इस प्रकार के मनोहर रूप गुण आदि को सदैव धारण किये रहते हैं। और जिन श्रीकृष्ण की प्राप्ति में भी अपने को धनी माननेवाले, एवं स्वयं सर्वस्व के दाता होकर भी, व्रज के रक्षक श्रीनन्दजी जिस अपने पुत्र के द्वारा श्रीवृषभानुजी के वंश की लक्ष्मीस्वरूपा श्रीराधिका को माँग रहे हैं ॥३५॥

इस गाने के बाद मधुमङ्गल स्पष्ट बोला—ही ही ! ये सब दासियों की कन्याएँ हमारे युवराज श्रीकृष्ण को गालियाँ ही दे रही हैं, अतः इनके शासन करने के लिए पहले मैं श्रीकृष्ण के द्वारा इनको ही दासीरूप से ग्रहण करवाऊँगा, एवं इनके कुल की कन्या राधिका को भार्यारूप से तो पीछे ही निश्चितरूप से ग्रहण करवाऊँगा ॥३६॥

उसके बाद "यह ब्राह्मण-बालक कटुभाषी है,अतः इसको पकड़ लो, पकड़ लो" इस प्रकार के उनके वचनों को कर्णगोचर करता हुआ मधुमंगल वेगपूर्वक श्रीव्रजराज के पास चला आया। और आते ही बरसानेवाली गोपियों से बोला कि—अब क्यों भाग रही हो ? यदि मैं अपने मित्र श्रीकृष्ण के साथ जाकर, मथुरा एवं द्वारका आदि में सहकारी बन कर राजाओं को लड़वानेवाला बन जाता तो, श्रीकृष्ण को व्रज में लौटने के लिए इतना विलम्ब कैसे संभावना को प्राप्त होता ? और हे एकसाथ कार्य करनेवालियो ! अब भली प्रकार शीघ्रता करके हमारी आश्चर्यकारिता को देख लो ॥३७॥

"तदेवं हासकोलाहले बहले प्रबले क्षणकतिपयं सर्वमन्यद् विस्मृतिमयमासीत् ॥३८॥

"ततश्च, पीठं सवस्त्रद्वययज्ञसूत्रकं, पाद्यादि दत्तं श्वशुरेण सूत्तमम् ।
जग्राह कृष्णः पृथुशर्मणा स तु, त्रपामवापाऽत्र विदन्नयोग्यताम् ॥३९॥
यदा च पीठं श्वशुरेण दत्तं, तदेप्सितं प्राप्तममंस्त कृष्णः ।
सम्मानमात्रादतिथिः स्वभोज्य,-प्राप्तिं विनिश्चित्य मुदं प्रयाति ॥४०॥
यदा च मन्त्रेण स गां समर्पया,-श्चकार जामातरि तर्हि सोऽप्यदः ।
तेनैव वक्ति स्म मुदा सदाप्यसौ, तृणं सवार्यत्तु न चान्यदर्हति ॥४१॥

"ततश्च, स्वाभीष्टं वरमुपलभ्य हृष्टचित्तः, कर्तव्यं प्रति वृषभानुरस्मृतात्मा ।
स्वैरेव स्फुटमिह दारुयन्त्रतुल्य,-श्चाल्यत्वं दधदथ कार्यमर्जति स्म ॥४२॥
आनर्च व्रजपतिमुख्यमुख्यवर्गं, दिव्यैस्तैरथ वृषभानुरर्थजातैः ।
किं तस्मिन् यदिह मुहुश्च नर्मजातं, तच्छर्माऽवहत यथा तथा परं न ॥४३॥

"अथ मस्तकमवधुनानः स मधुमङ्गलस्तत्र चाह,—'तदिदं कञ्जनयनपरिणयनं मम पुनरतीव मङ्गलमङ्गयति स्म । यदेतावन्तं समयमयमहमेव वैहासिक इति सर्वे बभाषिरे । संप्रति तु मद्वदेव ते संप्रतीतिं गताः' इति ॥४४॥

इस प्रकार बहुत प्रबल हास्यमय कोलाहल जब उपस्थित हो गया, तब कुछ क्षणोंतक दूसरा सारा कार्य विस्मृतिमय हो गया ॥३८॥

उसके बाद श्रीकृष्ण ने अपने ससुर श्रीवृषभानुजी के द्वारा दिये गये उत्तमोत्तम आसन, दो वस्त्रों के सहित यज्ञोपवीत एवं अर्घ्य पाद्य आदि भारी सुखपूर्वक ग्रहण किये । किन्तु वे वृषभानुजी तो श्रीकृष्ण के लिए इन वस्तुओं के देने में अपनी अयोग्यता जानते हुए लज्जित हो गये ॥३९॥

जिस समय ससुर वृषभानुजी ने अपने लिए आसन दिया, श्रीकृष्ण ने उसी समय श्रीराधिका की प्राप्तिरूप अपना अभिलषित प्राप्त ही मान लिया । क्योंकि अतिथि-व्यक्ति आसन, अर्घ्य, पाद्य आदि के सम्मानमात्र से अपने भोजन की प्राप्ति को निश्चित करके हर्षित हो जाता है ॥४०॥

और वृषभानुजी ने श्रीकृष्णरूप जमाई के लिए मन्त्र के द्वारा जब गैया समर्पित की, तब श्रीकृष्ण ने भी मन्त्र के द्वारा हर्षपूर्वक यही कहा कि—यह गौ जल के सहित तृण को सदैव खाती रहे, यह और कोई कार्य करने के योग्य नहीं है ॥४१॥

उसके बाद वृषभानुजी अपने अभीष्ट वर को पाकर, प्रसन्न चित्त होकर, तत्काल करने योग्य कार्य के प्रति अपने को भी भूल गये । पश्चात् इस विवाह में स्पष्टरूप से अपने जनों के द्वारा कठपुतली की तरह संचालकता को धारण करते हुए वृषभानुजी ने विवाहसम्बन्धी कार्य किया ॥४२॥

पश्चात् वृषभानुजी ने उन मनोहर दिव्य वस्तुओं के द्वारा श्रीव्रजराज आदि प्रधान प्रधान व्यक्तियों की पूजा की । किन्तु इस विवाह में इस पूजा के समय जो परिहास की अधिकता हुई उसने जैसा सुख प्राप्त कराया, वैसा दूसरे कार्य ने नहीं प्राप्त कराया ॥४३॥

अनन्तर मस्तक को विशेष हिलाता हुआ वह मधुमंगल वहाँपर बोला—कमलनयन श्रीकृष्ण का यह विवाह मुझे तो बहुत ही मङ्गल प्राप्त करा रहा है । क्योंकि आजतक के इतने समय तक तो "केवल यह

"तदेवं स्थिते मङ्गलाष्टकपाठे चानुष्ठिते, परमानुकूलं गोधूलमुपलभ्य समुपलभ्यमान-सुखतया सकलशुभरूपं वरमन्तःपुरमन्तरङ्गसहितं पुरोहितसहितः सहितं वृषभानुर्निनाय ।।४५

"नीते च तस्मिन् परमाऽभिनीते वरे सर्वा एवान्तःपुरवनिता ध्वनिताभरणाः सर्वतः समुदिता मुदिता बभूवुः ।।४६।। ततश्च,

चित्राज्जामातृभावाद् द्रवमयकुतुकादादरादप्यमूषां
वृन्दं तत्तद्विचित्रं सपदि तमगमद् द्रष्टुमुत्कण्ठिदृष्टि ।
माता श्रीराधिकायाः स्वयमथ सवयःसङ्गता दूरदेशाद्
रत्नैर्नीराज्यनिर्मञ्छितमकृत निजेनोत्तमाङ्गेन चाङ्गम् ।।४७।।

"अथ वरं वरमासनमुपवेश्य गोधूलमूलदेश्यमनु सर्वशिरोमणि-कन्यासुधन्यां पुरन्ध्रयस्तस्य परिक्रमक्रमशस्तां तत्पुरस्तान्मिथः सम्मुखतया निवेशयामासुः ।।४८।।

"आनीयमानामवलोक्य कन्या,-मुच्चासनस्थां तु वरानुयाताः ।
तदूर्ध्वमुन्नम्य वरं सपीठं, सहासखेलं मुहुरुन्ननन्दुः ।।४९।।

"मिथः सम्मुखतया जाते तु निवेशशाते समयविलंबमिवासहमाने सहमाने वरकन्ययो-

---

मैं ही विदूषक (हँसी करनेवाला मसखरा) हूँ" ऐसे सब कहते थे, किन्तु अब तो वे सब कहनेवाले भी मेरी तरह विदूषक (मसखरे) बनकर ख्याति को प्राप्त हो गये हैं ।।४४।।

इस प्रकार परिहासपूर्ण सुख की स्थिति में,विवाहपद्धति में प्रसिद्ध मङ्गलाष्टक का पाठ हो जानेपर, परम अनुकूल गोधूलि लग्न को प्राप्तकर, श्रीवृषभानुजी अपने पुरोहित के सहित भलीप्रकारसुख पाकर, सकलशुभ रूपवाले वर को;अन्तरङ्ग जनों के सहित हितपूर्वक अन्तःपुर में लिवा लाये ।।४५।।

परम अभिनीत (न्याययुक्त एवं सहनशील) श्रीकृष्णरूप वे वर जब अन्तःपुर में पहुँचा दिये, तब अन्तःपुर की सभी महिलाएँ अपने आभूषणों को बजाती हुई चारों ओर से सम्मिलित होकर हर्षित हो गईं ।।४६।।

उसके बाद विचित्र जमाई के भाव से, परिहासमय कौतुक से एवं आदर से उत्कण्ठा से युक्त दृष्टि वाला वह महिलाओंका समूह उन उन विचित्रताओंसे युक्त श्रीकृष्ण को देखने के लिए तत्काल चला आया, और श्रीराधिका की माता कीर्तिदा ने अपनी समान अवस्थावाली महिलाओं के साथ स्वयं सम्मिलित होकर, दूर से ही रत्नों के द्वारा श्रीकृष्ण को आरती उतार कर, पीछे अपने मस्तक के द्वारा श्रीकृष्णा का अङ्ग निर्मञ्छित (रत्नों के द्वारा स्पर्श न्योछावर) कर दिया ।।४७।।

पश्चात् वर को श्रेष्ठ आसनपर बिठाकर, गोधूलि लग्न के किञ्चित् समाप्त हो जानेपर, पति पुत्र वाली महिलाओं ने रमणीशिरोमणिस्वरूप कन्याओं में परमधन्या उन श्रीराधिका को परिक्रमा के क्रम से, अर्थात् वर की सात परिक्रमा करवा कर, श्रीकृष्ण के आगे परस्पर सम्मुखरूप से बिठा दिया ।।४८।।

लाई हुई कन्या (राधा) को ऊँचे आसनपर बैठी देखकर, श्रीकृष्ण के बरातियों ने कृष्णरूप वर को सिंहासन के सहित कन्या से ऊँचा करके हास्यपूर्वक खेल कर, बारंबार आनन्द प्राप्त कर लिया ।।४९।।

पश्चात् परस्पर सम्मुखरूप से बैठने का सुख सम्पन्न हो जानेपर, मानो समय के विलम्ब को न सहनेवाली, वर एवं कन्या को क्रमशः इन्द्रनीलमणि एवं सुवर्ण के समान गाढ़ेवर्णवाली दोनों की कान्तियों

रिन्द्रनीलसुवर्णसवर्णसान्द्रवर्णज्योत्स्नाद्वये तथा स्फुरदुत्पलकमलपरिमलसमपरिमलद्वितये च व्यतिमिलिते सुखशिथिलिते च तयोरङ्गे स्तब्धतत्प्रसङ्गे च तत्रकीयसंघे तदिदमासीत्,—॥५०॥

"द्रष्टुं समर्थे गुरुसंसदि स्फुटं, नैवेति नेत्रे वर-कन्ययोर्मिथः ।
शक्तिं समादाय मनःस्थितां तदा, निमीलनेऽपि स्फुटवत् प्रतीयतुः ॥५१॥
यदपि मीलितमक्षियुगं तयो,-र्मिलितचित्तमभून्मिथ ईक्षितुम् ।
तदपि मीनवदुच्छलदेव तद्, बहिरपि व्यतिवीक्षितुमैहत ॥५२॥

"अथ मुहूर्तविदः कांस्यवाद्येन वैवाहिकमुहूर्तं शशंसुः । ततश्च, सेयं पितृप्रसू-र्निखिलसुखानां पितृप्रसूर्जाता क्षणदा च क्षणदेति विविच्य हितमनसि समस्तसदसि कृतविहितः पुरोहितः समधीतसर्वतन्त्रः स्फुटपठिततन्मन्त्रः कन्याविश्राणनं प्रति निजयजमानं नियोजयामास ॥५३॥ ततश्च,

कम्प्रेणार्द्रकरेण साश्रु जनकस्तस्या करं कंपितं
कंपभ्राजिकरे हरेर्विनिदधे यर्ह्युल्लसल्लोचनः ।
तर्ह्येवान्वहनव्यभव्यविभवव्यञ्जिप्रथासञ्जकं
वाद्यं प्रादुरभूद् भुवि द्यवि च यद् विश्वाभिवाद्यं बभौ ॥५४॥

के मान से युक्त हो जानेपर, तथा खिले हुए उत्पल एवं कमल इन दोनों की मनोहर सुगन्धी के समान दोनों प्रकार की सुगन्धियों के परस्पर सम्मिलित हो जानेपर, और वर एवं कन्या इन दोनों के अङ्ग सुख से शिथिल हो जानेपर, एवं श्रीकृष्ण की ससुरालवाले जनों के विवाहसम्बन्धी प्रसंग स्थिर हो जानेपर, यह निम्नांकित कार्य हुआ— ॥५०॥

गुरुजनों के समाज में वर एवं कन्या के नेत्र परस्पर स्पष्ट देखने को समर्थ नहीं हैं, मानो इसीलिए उस समय अपनी अपनी मानसिक शक्ति को लेकर मुँद जानेपर भी प्रत्यक्षकी तरह प्रतीत होने लगे ॥५१॥
उन दोनों वर कन्याओं के दोनों नेत्र यद्यपि मुँद गये थे, एवं आपस में देखने के लिए एकचित्त हो गये थे, तथापि मछली की तरह उछलते हुए वे दोनों नेत्र बाहर भी परस्पर देखने के लिए चेष्टा करने लग गये ॥५२॥

अनन्तर मुहूर्त के ज्ञाता ज्योतिषियों ने काँसे के बाजे से, अर्थात् घण्टा के द्वारा विवाह के मुहूर्त की सूचना दे दी। उसके बाद अहह ! यह पितृप्रसू (सायंकालीन सन्ध्या) सभी सुखों का जनक जो विवाह है, उसको भी उत्पन्न करनेवाली हो गई है, और यह क्षणदा (रात्रि) भी क्षणदा (उत्सवदायिनी) हो गई है, यह विचार कर समस्त समाज का मन जब हितमय हो गया, तब पुरोहितजी ने विधिविहित कार्य करके, सभी तन्त्रों का अध्ययन करके, एवं विवाहसम्बन्धी मन्त्रों को स्पष्ट पढ़कर, अपने यजमान (वृषभानुजी) को कन्या दान करने के लिए नियुक्त कर दिया ॥५३॥

उसके बाद राधिका के पिता वृषभानुजी ने हर्षित नेत्रोंवाले होकर, काँपते हुए अपने गीले हाथ से, काँपते हुए राधिकाके हाथ को, कम्प से शोभायमान श्रीकृष्ण के हाथपर प्रेमाश्रु बहाते हुए जब धर दिया, तब प्रतिदिन नवीन मंगलमय वैभव का प्रकाश करनेवाली प्रणाली का संयोजक बाजा, भूमि, एवं स्वर्ग में एकसाथ प्रगट हो गया। जो बाजा विश्वभर का वन्दनीय होकर शोभा पाने लगा ॥५४॥

"तदनु च गवादीनां दाने परमावदाने सति—

अथात्र कोऽदादिति मन्त्रवाच्यं, पाणिग्रहे तस्य न कोऽप्यजानात् ।
दातृग्रहीतृत्वमनूक्तमस्मिन्, कामस्य यत्तद् वर एव वेद ॥५५॥

"अथ शुभसमयोऽयमीक्ष्यतां त,-न्मिथ इति गौरवयन्त्रणान्यतन्त्रौ ।
दृशमपि नवदंपती किरन्तौ, सुखमिव रक्षितुमत्र मीलतः स्म ॥५६॥

"अन्यत्रापाङ्गतामागादपाङ्गस्तद्दिनावधि । स राधाकृष्णयोर्यस्मिन्मिथःसङ्गेन साङ्गितः ॥५७
आदिष्टौ देवतां ध्यातुमाचार्येण वधू-वरौ । तयोर्मिथस्त्वेकसर्गमनस्त्वं विविदे न हि ॥५८

"अथ तदुल्लासेन मङ्गलगानं कुर्वति सममङ्गनासंघे तेनान्तरङ्गजनेन सा कन्या वरस्य सन्निहितन्यासेन धन्या विदधे ॥५९॥

"यद्यपि संप्रति नव्या, हरिरमयोः सा किशोरताभ्युदिता ।
तदपि विवाहे तस्मि,-न्नतिसङ्कोचात् कुमारतेवाऽऽसीत् ॥६०॥

और उसके बाद गोदान आदि कार्य जब प्रशंसापूर्वक समाप्त हो गया, तब श्रीकृष्ण के इस विवाह में 'कोऽदात्' अर्थात् किसने कन्यादान किया है ? इस मन्त्र के वाच्य को कोई भी नहीं जानता है । किन्तु इस मन्त्र में कामदेव का ही जो दातापन एवं ग्रहीतापन पीछे कहा गया है, उसको तो वररूप ये श्रीकृष्ण ही जानते हैं, अर्थात् दोनों के विवाह में अपना अप्राकृत कामदेव ही कारण है ॥५५॥

उसके बाद "यह विवाह का शुभ समय है, अतः वरवधू दोनों ही परस्पर निरीक्षण कर लें" इस प्रकार के गुरुजनों के वचनों की गौरवतामयी यन्त्रणा के पराधीन हुए राधा-कृष्णरूप नवदम्पतियों ने अपने अपने नेत्रों को फेंककर भी मानो परस्पर दर्शनजनित सुख को इन नेत्रों में रखने के लिए उनको मूँद लिया है ॥५६॥

जिस दिन राधा-कृष्ण का वह कटाक्ष परस्पर के सङ्ग से साङ्गोपाङ्ग हो गया था, उसीदिन से वह कटाक्ष दूसरी जगह अंगहीनता को प्राप्त हो गया था, अर्थात् विवाह होनेवाले दिन से लेकर दोनों दम्पतियों ने अन्यत्र कटाक्षपात नहीं किया ॥५७॥

उस समय पुरोहितजी ने वधूवर को देवता का ध्यान करने को आदेश दिया था, किन्तु पुरोहितजी उन दोनों के परस्पर के एकसर्ग (एकाग्र) मन के भाव को नहीं जान पाये । तात्पर्य—राधिका के ध्येय श्रीकृष्ण हैं, एवं श्रीकृष्ण की ध्येय राधिका है। दोनों एक ही सर्वेश्वरदेव हैं, लीलार्थ पृथक् हुए हैं, अतः अपने से बड़ा कोई देवान्तर न होने के कारण किस देवता क्या ध्यान करें ? इस बात को पुरोहितजी विवाह के भावावेश में नहीं जान पाये ॥५८॥

पश्चात् उस विवाहोत्सव के उल्लास से महिलासंघ जब एकसाथ मङ्गलगान करने लग गया, तब वृषभानुजी के उन अन्तरङ्ग जनों ने वह राधिका नामक कन्या, वर के निकट बिठा कर धन्या (सौभाग्यवती एवं पुण्यात्मा) बना दी ॥५९॥

श्रीराधा-कृष्ण की वह किशोरावस्था यद्यपि इस समय नवीन ही प्रगट हुई थी, तथापि उस विवाह में अतिसंकोच के कारण वह किशोरावस्था कुमारावस्था जैसी प्रतीत होती थी ॥६०॥

"तत्र गानं यथा—अद्य समस्तं सफलं जातम् ।
श्रीराधाया विवहनमिह यच्छ्रीकृष्णेन विभातम् ॥ ध्रु ॥
तस्या जननीजनकमहाकुलमपि लोकानां स्वकुलम् ।
अपि संपत्कुलमपि लीलाकुलमपि सवयःकुलमतुलम् ॥
तत्र भावकुलमपि सङ्गतिकुलमपि कुलमपि विरहाणाम् ।
पुनरपि सङ्गतिशुभकुलमपि कुलमविरतसुखनिवहानाम् ॥
श्वश्रूश्वशुरसुखान्वयमस्या गास्यामः सखि ! किल कम् ।
एनामपि परि परिणयि जातं तदिदं तत्कुलतिलकम् ॥ इति ॥६१॥

"तदेवं जातमिलनं तन्मिथुनमन्येनान्यदिव मन्यते स्म ॥६२॥ यतः,

"यदपि च कनकविलासा, राधा कृष्णश्च जिष्णुनीलाभः ।
तदपि च वैदूर्याभं, तद्‌युगमैक्षि व्यतिद्युतिभिः ॥ इति ॥६३॥
एवं तयोः सा परभागलक्ष्मी,-र्विष्कंभितान् सर्वजनानकार्षीत् ।
वैवाहिकं कार्यमनन्तरार्हं, यथा न ते कर्तुमथाऽक्षमन्त ॥६४॥
गुरोरथाज्ञामनुगम्य दंपती, मान्यानुबद्धाञ्चलतामिथःस्थितौ ।
प्रदक्षिणीकर्तुममू हुताशनं, समुत्थितौ सर्वतनूरुहैः सह ॥६५॥

विवाह में होनेवाला मङ्गलमयगाना, यथा—इस व्रजमें श्रीकृष्णके साथ श्रीराधिका का विवाह प्रकाशित होने के कारण आज समस्त विषय सफल हो गये। यथा—श्रीराधिका के माता पिता का महान् कुल, अन्य सम्बन्धीजनों का अपना कुल, एवं उनकी सम्पत्ति का समूह तथा चेष्टाओं का समूह और समान अवस्था-वाले मित्रों का कुल भी सफल हो गया। और उस विवाह में होनेवाली भावनाओं का कुल, परस्पर मिलने वालों का कुल, "विरह के बाद मिलने में महान् सुख होता है" अतः परस्पर के विरह-समुदाय का कुल भी सफल हो गया। पुनः महाविरह के बाद मिलनरूप मंगल का कुल, एवं निरन्तर सुखसमुदाय का कुल भी सफल हो गया। हे सखि ! इस राधिका के सास ससुर के सुखरूप वंश का हम और कौनसा गायन करेंगी? देखो, इस राधिका को लक्ष्य करके विवाहसम्बन्धी जो कुछ कार्य हुआ है, वह सब उसके कुल का तिलक, अर्थात् मुख का भूषणस्वरूप हो गया है ॥६१॥

इस प्रकार परस्पर मिली हुई राधा-कृष्ण की जोड़ी को दूसरे जन दूसरी प्रकार से ही मानते हैं ॥६२॥

कारण—यद्यपि श्रीराधिका की कान्ति सुवर्ण के समान थी, एवं श्रीकृष्ण की कान्ति इन्द्रनीलमणि के समान थी, तथापि उन दोनों की जोड़ी परस्पर की मिली हुई कान्तियों के द्वारा वैदूर्यमणि की तरह दिखाई देती थी ॥६३॥

इस प्रकार उन दोनों की उस परम उत्कृष्ट शोभा ने सभी जनों को उस प्रकार स्तम्भित (निश्चल) कर दिया कि, जिस प्रकार वे जन पीछे किये जानेवाले विवाहसम्बन्धी कार्य को करने के लिए समर्थ नहीं हो पाये, अर्थात् युगलजोड़ी के दर्शन करके विशेष शिथिल हो गये ॥६४॥

पश्चात् माननीय जन के द्वारा जिनके अंचल की ठोक बाँध दी गई, उस प्रकार परस्पर बैठे हुए

प्रदक्षिणावर्तमम् हुताशनं, प्रदक्षिणं चक्रतुरत्र दंपती ।
ततस्तदावेशवशेन निर्ममुः, सर्वस्य नेत्राण्यपि तं प्रदक्षिणम् ॥६६॥
जनेन सङ्कीर्णतया न शेकतु,-र्मिथो विदूरे गतये वधूवरौ ।
स्पृष्टिश्च धृष्टिं तनुतेतरामतः, परिक्रमे तौ ययतुर्विमूढताम् ॥६७॥
गुर्वाज्ञया यर्हि सगर्भदत्तान्, लाजान् जुहावाथ वरायताक्षी ।
तदा सलज्जं करपद्ममस्या, गतागतेनाप तडिद्विलासम् ॥६८॥
लाजैर्होमेषु पृष्ठात् करयुगलधृतिः सुभ्रुवः स्कन्धदेशा-
लंबः स्पर्शश्च वक्षःस्थलमभिदयितेनेति यद्यत् प्रदिष्टम् !
तद्वक्तुं नेश्महे किं कृतमिति सहसा यत्र वक्तुश्च लज्जा
सज्जेत्तद्वा कथं स स्वयमथ कुरुतामन्तरा पारवश्यम् ? ॥६९॥
कन्याया दक्षिणांघ्रिं दृषदमथ वरः स्पर्शयेद् दक्षिणेन
स्वेनाल्पां पाणिनेति श्रुतिभिरभिहितं निर्मिमाणः स एषः ।
पूर्वं गोवर्धनाद्रिं यदपि च धृतवानश्रमेणेति वित्त-
श्चित्रं चित्रं तथापि प्रचलकरतया नात्र शक्तिं जगाम ॥७०॥

राधा-कृष्णरूप वे दोनों दम्पति, आचार्य की आज्ञा के अनुसार, अग्नि की प्रदक्षिणा करने के लिए समस्त-रोमांचों के सहित खड़े हो गये ॥६५॥

इस विवाहमण्डप में वे दोनों वरवधू दाहिनी ओर चलकर, अग्नि की प्रदक्षिणा करने लग गये । उसके बाद वरवधू में आविष्ट हो जाने के कारण, अर्थात् उन दोनों की प्रदक्षिणा देखते देखते सब जनों के नेत्र भी अग्नि की परिक्रमा देने लग गये ॥६६॥

उस समय आसपास जनों के द्वारा भीड़ होने के कारण, वरवधू परस्पर दूर चलने को समर्थ न हो पाये । एवं परस्पर का स्पर्श भी विशेष प्रगलभता का विस्तार कर रहा था, इसलिए वे दोनों परिक्रमा देने में विमूढ़भाव को प्राप्त हो गये ॥६७॥

पश्चात् पुरोहित की आज्ञा से सुन्दर विशाल नेत्रोंवाली राधिका अपने भाई के द्वारा दी हुई खीलों की आहुति जब देने लगी, तब उसका करकमल लज्जा के सहित यातायात करके बिजली के विलास को प्राप्त हो गया ॥६८॥

खीलों के द्वारा होम के होते समय, वर को अपनी वधू के पीछे की ओर से वधू के दोनों हाथों को धारण करना, एवं दोनों कन्धों को ग्रहण करना, तथा वक्षःस्थल में स्पर्श करना, इस प्रकार शास्त्र में जो जो निर्देश किया है, उसके अनुसार श्रीकृष्णरूप वर ने "क्या क्या किया ?" इस बात को हम सहसा कहने को समर्थ नहीं हैं । कारण—जिस विषय में वक्ता को भी कहने में लज्जा उपस्थित हो जाती है, उसको विधि की परतन्त्रता के बिना उस कार्य को परम लज्जाशील वे श्रीकृष्ण ही स्वयं किस प्रकार कर सकते थे ? (स्वयं वेदवक्ता होने के नाते उस उस विधि का स्वयं पालन किया, यही तात्पर्य है) ॥६९॥

"वर अपने दाहिने हाथ से कन्या के दाहिने चरण में छोटा सा पत्थर का टुकड़ा छुआ दे" इस प्रकार वैदिकीश्रुतियों ने कहा है । अतः उस विधि का आचरण करनेवाले ये श्रीकृष्ण पहले गोवर्धन पर्वत

'स एष वां राजति दंपतित्वे, हुताशनः साक्षिपदं दधानः ।'
एवं गुरुः सोऽयमुवाच तत्तु, स्वभावसिद्धं न तयोर्विवेद ॥७१॥

ततः साप्तपदीनस्य सिद्धये सप्त यान् क्रमात् ।
अतिक्रान्तावमू कान्तावमूंल्लोकान् वितर्कय ॥७२॥

"अथ सप्तपदीक्रमे परिक्रमे च लब्धक्रमे ध्रुवविलोकनशातं जातमिति पत्न्या तत्प्रच्छकाय पत्ये सत्येनाऽसत्येन वा वक्तव्यमिति स्थितिं सेयमपूर्वव्यवस्थितिमाचचार ॥७३॥

"तथा हि—यदाऽपृच्छन्नीचैर्ध्रुवमिह किमालोकितवती
त्वमित्थं कान्तस्तर्ह्यनवदधती ह्रीभिरपि खम् ।
तथा सेयं मिथ्याप्यनभिदधती तर्हि परमं
ध्रुवं मन्वाना तं लवमलपदालोकयमिति ॥७४॥

तदनु वरवधूभ्यामग्रपश्चात् स्थिताभ्या,-मनमि पशुपराजः प्रच्छदेनाऽऽवृताभ्याम् ।
यदनु नतिमवाप्तास्तेऽपि सर्वे सभाज्याः, सदसि नमनमेकं कोविदैर्यद् व्यधायि ॥७५॥

को यद्यपि अनायास धारण कर चुके हैं, यह प्रसिद्ध है, तथापि राधिका के दाहिने चरण में छोटा सा पत्थर का टुकड़ा छुआने में हाथ चञ्चल हो जाने के कारण, शक्ति को नहीं प्राप्त हुए, अर्थात् समर्थ न हो पाये। यही महान् आश्चर्य है ॥७०॥

उस समय पुरोहितरूप गुरुजी ने राधा-कृष्ण से इस प्रकार कहा कि—यह अग्निदेव तुम दोनों के दम्पतिभाव में साक्षी के पद को धारण करता हुआ प्रदीप्त हो रहा है, देख लो । किन्तु उन दोनों के स्वभावसिद्ध दम्पतिभाव को पुरोहितजी नहीं जान पाये ॥७१॥

उसके बाद उन दोनों दम्पतियों ने साप्तपदीन (सख्यभाव) की सिद्धि के लिए जा सात पदक्षेप अतिक्रमण किये थे, अर्थात् परस्पर की मित्रता के निर्वाहार्थ जो सात पैंड़ भरी थीं, उनके द्वारा हे मधुकण्ठ भैया! उन दोनों ने "भू भुंवः, स्वः, महः, जन, तप, सत्य" इन सातों लोकों को लाँघ दिया था, ऐसा अनुसन्धान कर लो ॥७२॥

उसके बाद सप्तपदी के क्रम के सहित परिक्रमण अनुष्ठित हो जानेपर "ध्रुव तारे के दर्शव का सुख हो गया क्या ?" इस प्रकार पूछनेवाले पति के प्रति पत्नी को "सत्य अथवा असत्यतापूर्वक भी 'हो गया' ऐसे कह देना चाहिये" ऐसी मर्यादा को इन श्रीराधिका ने तो अपूर्वरूप से व्यवस्थित कर दिया ॥७३॥

देखो, श्रीकृष्णरूप पति ने जब धीरे से यह पूछा कि—तुम ने इस आकाश में ध्रुव का दर्शन कर लिया है क्या ? तब राधिकारूप वधू ने लज्जा के कारण आकाश की ओर ध्यान न देकर भी तथा मिथ्या भी न कहकर, उस समय श्रीकृष्ण को ही परम ध्रुव (परमनित्य) मानते हुए "मैंने ध्रुव का दर्शन कर लिया" यह बात लेशमात्र कह दी । तात्पर्य—मैंने अनन्तकालतक एकरस रहनेवाले श्रीकृष्णरूप ध्रव का दर्शन कर लिया, यह आन्तरिकभाव जना दिया ॥७४॥

विवाहसम्बन्धी कार्य हो जानेपर, सिर से लेकर चरणोंतक उत्तरीय वस्त्र से ढके हुए, एवं आगे पीछे खड़े हुए वरवधू के जोड़े ने, व्रजराज को नमस्कार कर दिया । जिनके पीछे वे सभी सम्माननीय जन भी नमस्कार को प्राप्त हो गये, अर्थात् श्रीनन्दजी को प्रणाम कर देने से, उन सभी का प्रणाम सिद्ध हो

तनयमथ शुभाशीरश्विनिर्मञ्छितं द्रा,-गरचयदथ गोपाधीश्वरस्तां स्नुषां च।
यदनु मुखममुष्याः सत्प्रचारेण पश्यन्, वृषरविकुलविप्रान् दानवृन्दैः पुपोष ॥७६॥

"ततश्च परममधुर-वर-वधूभ्यामभ्यास एव चतुरस्रवेद्यां कनकासने कृतासने स्त्रीकुलाचारप्रचारसमयः सोऽयमिति सर्वस्मिन् पुरुषवृन्दे च बहिर्विन्दमाने श्वश्रूप्रधाने गणे चार्द्राक्षतरोपणाय कृताभियाने वरवशीकरणाय काभिश्चित् कार्मणं कर्म सनर्म सशर्म च समारब्धम्, मर्म तु नोपलब्धम् ॥७७॥ तथा हि—

राधा दृशोः श्रवणयोरपि यस्य राधा, राधा नसोर्मनसि च प्रतिभाति राधा।
तं कार्मणेन तु तदीयवशं विधित्सु,-र्नारीगणः स जहसे बत मर्मविद्भिः ॥७८॥

आचारादथ दयिताकचान्तराले, सिन्दूरं निदधदसौ वरो ललज्जे।
श्वश्रूणां परिषदि तत्र धाष्टर्ययोगात्, कंपेन प्रतिपदतत्क्रियाहतेश्च ॥७९॥

गया। कारण विद्वानों ने सभा में एक ही प्रणाम करने का विधान किया है (उसी से सब का प्रणाम मान लिया जाता है। यथा—"सभायां यज्ञशालायां देवतायतनेष्वपि। प्रत्येकं तु नमस्कारो हन्ति पुण्यं पुराकृतम् पुण्यक्षेत्रे पुण्यतीर्थे स्वाध्यायसमये तथा। प्रत्येकं तु नमस्कारो हन्ति पुण्यं पुराकृतम् ॥" बृहन्नारदीये; ह०भ० वि० १०।३२१-३२२) ॥७५॥

तदनन्तर गोपराज श्रीनन्दजी ने अपने पुत्र को एवं अपनी उस पुत्रवधू को शुभाशीर्वादमय न्योछावर से शीघ्र ही युक्त कर दिया। अर्थात् दोनों के ऊपर रत्नों की बखेर करते हुए उन्हें शुभाशीर्वाद दिया, एवं रत्नों के द्वारा उनका स्पर्श किया। जिस के बाद उन्होंने सदाचारपूर्वक पुत्रवधू का मुख देखते हुए श्रीवृषभानुजी के कुलपुरोहित आदि ब्राह्मणों को अनेक प्रकार के दानसमुदाय से पुष्ट कर दिया ॥७६॥

उसके बाद निकट ही चार कोनेवाली वेदीपर बिछे हुए सुवर्ण के आसनपर परममधुर वरवधू का जोड़ा जब बैठ गया, एवं यह समय स्त्रीजनों के कुलाचार के प्रचार का है, इस कारण समस्त पुरुषसमूह जब बाहर चला गया, तथा सास आदि मुख्य मुख्य महिलागण गीले अक्षत चढ़ाने के लिए जब वरवधू के सम्मुख चला आया, तब कुछ महिलाओं ने जड़ी बूटियों के द्वारा कार्मणकर्म (वशीकरणरूप कार्य), परिहास, एवं सुखपूर्वक आरम्भ कर दिया, किन्तु उस वशीकरणरूप कर्म का मर्म तो उन्होंने जाना ही नहीं ॥७७॥

क्योंकि देखो, जिन श्रीकृष्ण के नेत्रों में राधा, कानों में राधा, एवं नासिका में राधा, तथा मन में भी राधा ही प्रतीयमान हो रही है, उन श्रीकृष्ण को जड़ीबूटी आदि से वशीकरणरूप कार्य के द्वारा श्रीराधा के वश में करने की इच्छावाले उस महिलागण की, श्रीकृष्ण के मर्म को जाननेवाले जन, हर्षपूर्वक हँसी करने लग गये। अर्थात् जो राधिका के स्वतः वशीभूत हैं, उनको वश में करने की चेष्टा उपहास के ही योग्य है ॥७८॥

पश्चात् विवाहसम्बन्धी आचार के कारण प्रियतमा राधिका के केशों के बीच में, अर्थात् माँग में सिन्दूर धारण करते हुए वे श्रीकृष्णरूप वर लज्जित हो गये। लज्जित होने में दो ही कारण थे, एक तो सासुओं की उस सभा में धृष्टता का सम्बन्ध, एवं दूसरा प्रिया के स्पर्शजनित आनन्द से उत्पन्न कम्प से प्रतिक्षण सिन्दूर दानरूप कार्य का व्याघात होना ॥७९॥

"अथ तत्तत्कर्मणि भोजननर्मणि च लब्धशर्मणि शय्यापर्यापणाय याचितः श्रीपतिरपत्रपया भोजनादिमहित बहिर्विहितसभ-स्वहित-पितृपितृव्यादिहलभृदुद्धवादिसहित-स्वजनजनमध्यमेवाऽऽसीदति स्म। यत्र गणचक्रके नर्मचक्रं मधुमङ्गलः सङ्क्रमयन्नास्ते ॥८०॥

"अन्तःपुरे तु—

रविसखतनया गुरूपदेशाद्, विजनगृहं गमिता निजप्रियाभिः।
हसितमनु रुषेव तत्र निन्ये, वरहृतधी रजनीममूममूभिः ॥८१॥

"मधुमङ्गलस्य तु नर्म यथा—

रूक्षास्यतामपि यदा मधुमङ्गलोऽसौ, तद्भोजनादिमहसि छलवानुवाह।
सर्वस्य हासविभवाय तदापि जज्ञे, र्याहि प्रहासमुखतां किमुताङ्ग र्ताहि ॥८२॥

"तथा हि—यद् व्यञ्जनं व्यञ्जितवेसवारवाः,-सुभागमस्मिन् किल रूक्षतां दधत्।
प्रसन्नतामन्यतरत्र चाऽसकौ, वैहासिकः सग्धिजनानजीहसत् ॥८३॥

"कृते च भोजने कञ्जनेत्रः स्वजनेन सह नानानृत्यादि-कौतुकेन स्वयं जाग्रदेव रात्रिमपि जाग्रतीमिव चकार ; यत्र चान्तःपुरमपि तद्वदानन्दधुरं बभूव ॥८४॥

उसके बाद विवाहसम्बन्धी तत्तत्कर्म एवं भोजन के समय का परिहास जब सुख से सम्पन्न हो गया, तब शयनार्थ शय्या प्राप्त करने के लिए प्रार्थित हुए श्रीकृष्ण, लज्जा के कारण (अन्तःपुर में न सोकर) भोजनादि से सम्मानित होकर, जिन्होंने बाहरी प्रदेश में (अपने ठहरने के लिए) सभा रची है, एवं जो अपने हितैषी हैं, उन पिता चाचा आदि तथा बलदेव, उद्धव आदि के सहित जो स्वजन थे, उन के बीच में ही आ पहुँचे, अर्थात् अपने जनवासे में चले आये। जहाँपर गणचक्रक में, अर्थात् बरातियों की सम्मिलित जेवनार में मधुमङ्गल अनेक प्रकार के परिहास की योजना करता हुआ बैठा था ॥८०॥

अन्तःपुर में तो वृषभानुपुत्री श्रीराधिका को अपनी प्रिय सखियाँ गुरुजनों के उपदेश से निर्जन भवन में लिवा ले गईं। वहाँपर भी वर के द्वारा जिस की बुद्धि हर ली गई है, उस राधा ने उन सखियों के द्वारा किये गये हास्य में मानो क्रोध सा प्रकट करते हुए वह रात्रि बिता दी ॥८१॥

जेवनार में किया हुआ मधुमङ्गल का परिहास, यथा— हे भैयाजी ! देखो, वह छली मधुमङ्गल उस भोजन आदि के महोत्सव में जब अपने मुख के रूखेपन को धारण कर रहा था, तब भी सब बरातियों के हास्यरूप वैभव के लिए समर्थ हो गया, अर्थात् अपने मुख की रूखी चेष्टा से ही जब सब को हँसाने लग गया, तब हास्ययुक्त मुख के भाव से सब को हँसायेगा, इस विषय में तो फिर कहना ही क्या है ? ॥८२॥

उसी चेष्टा को देखो। जो व्यञ्जन अर्थात् साग "व्यंजितवेसवारवा:सुभागं" हलदी, सरसों, पिसी हुई अदरक, कालीमिर्च, जीरा, तेजपात, धनिया आदि के चूर्ण से युक्त जल के सुन्दर भाग को प्रकाशित करनेवाला है, उस सुन्दर साग में भी यह विदूषक मधुमङ्गल रूखेपन को धारण करता हुआ, एवं दूसरे पदार्थ में प्रसन्नता धारण करता हुआ, अपने साथ भोजन करनेवाले सभीजनों को हँसाने लग गया ॥८३॥

भोजन कर लेनेपर कमलनयन श्रीकृष्ण ने स्वजनों के साथ अनेक प्रकार के नृत्य आदि तमाशे के द्वारा स्वयं जागते हुए वह रात्रि भी जागती हुई सी बना दी। जिस में वृषभानुजी का अन्तःपुर भी उसी तरह विशेष आनन्द से युक्त हो गया था ॥८४॥

"तदेवमतिविचित्रायां रात्रावतिवाहितायां शुभप्रभातेन चातिहितायां सनिजसमाजः श्रीमान् व्रजराजः स्नेहबन्धिनं स्वसंबन्धिनं प्रति स्वस्य गृहप्रस्थानायाऽऽगृहीतवान् । यत्र ज्योतिर्ज्ञानपि स्वसाहाय्यमानाय्य तदनुज्ञामपि गृहीतवान् । श्रीमान् स च वृषभानुर्वृषभानुरिव भुवनद्रव्याणि संगृहीतवान् । पर्जन्यसन्ततये च पर्यर्पितवानिति कृतं वर्षासाराणामिव हर्षाधाराणां तेषां गणनया यानि नेत्रयोरिव श्रोत्रयोरपि शर्म निर्मान्ति स्म ॥८५॥

"यत्र च—द्वैतेनास्मिन् विवाहे व्रजधरणिपतिर्जन्ययात्राविभूते-
लब्धेन श्रीविराजद्वृषरविनिलयात्तोषमुच्चैर्जगाम ।
किन्त्वासाद्य द्वितोयां निजतनुजतनोस्तत्तनूजातलक्ष्मीं
तच्चाऽशेषं तथा तन्निजगृहवलितं व्यस्मरत् किञ्च विश्वम् ॥८६॥

"तत्र तु—दुहितुरुपरि माता तत्र तातश्च वाष्प,-प्रसरकृदलपद् यत्जुम्नगोस्तत्तु लोकः ।
वितरणमनु तस्या जातमित्यध्यगच्छत्, पुरुकदनमभूद्यत् प्राक् तदुत्थं न वेद ॥८७

"ततश्चान्तःपुरं जामातरमानाय्य स खलु न्याय्यचरितः पुनरपि परितस्तं परिष्कृत्य

इस प्रकार अत्यन्त विचित्र एवं अतीव हितकारिणी वह रात्रि मङ्गलमय प्रातःकाल के द्वारा जब बिता दी, तब अपने समाजवाले बरातियों के सहित श्रीमान् व्रजराज ने स्नेह के बन्धनवाले अपने सम्बन्धी श्रीवृषभानुजी से अपने घर की बिदाई के लिए आग्रह किया । और जिस बिदाई में ज्योतिषियों को भी अपने सहायक बनाकर वृषभानुजी की अनुमति भी प्राप्त कर ली । और उन श्रीमान् वृषभानुजी ने (श्रीकृष्ण की बरात की बिदाई के लिए) वृषराशि का सूर्य जिस प्रकार जलरूप द्रव्यों का संग्रह करताहै, एवं मेघों की सन्तति के लिए वर्षाकाल में उन जलरूप द्रव्यों को अर्पण भी कर देता है, ठीक उसी प्रकार संसारभर के अनेक द्रव्य इकट्ठे किये थे,एवं पर्जन्यबाबा की सन्तान के लिए वे सब समर्पण भी कर दिये, अतः वर्षा के धारासम्पातों की तरह हर्ष के आधारस्वरूप उन द्रव्यों की गिनती से कोई प्रयोजन नहीं है, अर्थात् जैसे वर्षा की धाराओं की गिनती करना कठिन है, उसी प्रकार उन द्रव्यों की गिनती होना भी कठिन है । जो बिदाई के द्रव्य नेत्रों की तरह कानों के भी सुख का निर्माण करनेवाले थे ॥८५॥

श्रीवृषभानुजी ने बरात की बिदाई में एवं इस विवाह में श्रीनन्दजी की जो निजी सम्पत्ति थी उस से दुगुनी सम्पत्ति दे दी थी । एवं सम्पत्ति से भरे हुए श्रीवृषभानुजी के घर से प्राप्त दुगुने द्रव्य से श्रीनन्दजी विशेष सन्तोष को प्राप्त हो गये । किन्तु अपने पुत्र श्रीकृष्ण के लिए उन की कन्यारूप लक्ष्मी को प्राप्त करके तो, वृषभानुजी से प्राप्त हुई दुगुनी सम्पत्ति को, एवं अपने घर में स्थित वैभव को, तथा प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले इस विश्वको भी वे भूल गये ॥८६॥

और वहाँपर अपनी पुत्री की बिदाई में पुत्री के ऊपर प्रेमाश्रु प्रवाह को बहानेवाली माता कीर्तिदा ने, एवं उसी प्रकार प्रेमाश्रु बहानेवाले पिता श्रीवृषभानु ने, वाणी से रहित होकर जो कुछ कहा था, उस को तो साधारण जनों ने "राधिका के दान के अनन्तर प्रेमाश्रु बहाना एवं गद्गद होकर बोलना इत्यादि हुआ है " ऐसा समझ लिया । किन्तु "पहले अभिमन्यु गोप के लिए मायामयी राधिका को दान करके जो महान् कष्ट हुआ था", उस से उत्पन्न हुए अश्रुप्रवाह आदि को नहीं जाना ॥८७॥

उसके बाद नीतियुक्त चरितवाले श्रीवृषभानुजी अपने जामाता (जमाई) को अन्तःपुर में लाकर,उन को फिर भी सब ओर से सजाकर, सुमधुर भोजन आदि के द्वारा तृप्त करके, अपनी पत्नी कीर्तिदा के

मधुरभोजनादिना संभृत्य स्वपत्न्या संमन्त्र्य स्वकरगृहीततत्करतया तातेति तमामन्त्र्य तदिदं सास्रमुवाच,—'सेयं मम बालिका बाल्यादेव जलतामवलंबमानाऽवलोक्यते ; तस्मादस्मिन् दोषे तु न स्वयं सरोषेण भवितव्यम्' इति ॥८८॥ श्लोकयन्ति चात्र—

'जामातर्बत कृष्ण ! सा स्वतनुजा त्वय्यर्पिता त्वत्परा
किन्त्वस्यां सहतां भवान् करुणया दोषं तमेतं मुहुः ।
धीमत्यामपि तात ! जाड्यमिव यद् बाल्याद् दरीदृश्यते
यत्राऽऽवां पितरावपि स्फुटममू विद्वः स्म हेतुं न हि ॥'८९॥

'तदेवं स धन्यात्मा बहुसद्व्यवहारेण मुहुरपि तं संतर्प्य पुनश्च तस्मिन् कन्यां समर्प्य पुत्रानपि समर्पितवान् । कथमपि दुहिताजामातरावतिकातरात्मा पुनस्तादृशविसर्जनवितराय संप्रदानीकृतवांश्च ॥९०॥

"अथ जामातरि तत्तत्प्रणामादिपुरःसरं बहिरायाते दुहितुः संवस्त्रणशस्तं मस्तकं यौगपद्येन पितरावाश्लिष्य चक्षुःपयसा स्नपयन्तौ प्रशंसन्तौ च साशंसं शशंसतुः,—॥९१॥

'भर्तारं धिनु चेतसाऽन्वयितया श्वश्रूं वधूकर्मणा
तन्नाथं सुचरित्रता-चितह्रिया सर्वांश्च कीर्तिश्रिया ।

साथ सलाह कर, अपने हाथ में जमाईका हाथ पकड़ कर,एवं उनके प्रति "हे तात !" ऐसा सम्बोधन करके प्रेमाश्रु बहाते हुए यह कहा कि—यह हमारी बालिका राधा बाल्यावस्था से ही जड़ता का अवलम्बन करती हुई दिखाई देती है । अतः इसके जड़तारूपी इस दोष में आप रोषयुक्त नहीं होना, यही हमारी प्रार्थना है ॥८८॥

कविजन इस विषय का श्लोक भी बना देते हैं, यथा—वृषभानुजी हर्षपूर्वक बोले—हे जामातः श्रीकृष्ण ! देखो, हमारी भोरीभारी वह पुत्री राधिका तुम्हारे ही परायण है, अतः तुम्हारे लिए ही समर्पण कर दी है । किन्तु इसमें जड़ता (भावावेश की स्तब्धता)रूप जो दोष है, उस को आप कृपया बारंबार सहन करते रहें । क्योंकि हे तात ! इस बुद्धिमती कन्या में भी बाल्यावस्था से कुछ जड़ता सी विशेष दिखाई देती है । जिस विषय में ये हम दोनों माता पिता होकर भी स्पष्ट कारण को नहीं जानते हैं ॥८९॥

इस प्रकार सौभाग्यशाली वृषभानुजी ने श्रीकृष्ण को बहुत से सद् व्यवहार से सन्तुष्ट करके, पुनः उनके लिए अपनी कन्या समर्पण करके, श्रीदामा आदि अपने पुत्र भी समर्पित कर दिये । पुनः विरह से कातर चित्तवाले वृषभानुजी ने, पुत्री एवं जमाई को उस प्रकार की बिदाई को देने के लिए किसी प्रकार सम्प्रदानयुक्त कर दिया, अर्थात् श्रीनन्दजी के घर जाने को बड़ी कठिनाई से अनुमति दी ॥९०॥

पश्चात् जामाता श्रीकृष्ण, सास ससुर आदि को प्रणाम करके जब अन्तःपुर से बाहर चले आये, तब—राधिका के माता पिता दोनों ही अपनी पुत्री राधिका के वस्त्र से ढके हुए शुभ मस्तक को एकसाथ आलिङ्गन करके, अपने नेत्रों के जल से स्नान कराते हुए, प्रशंसा करते करते अभिलाषापूर्वक राधिका से बोले—॥९१॥

हे पुत्रि ! देख, तू मन लगाकर अपने पति को प्रसन्न करते रहना, एवं पति के सम्बन्ध के नाते बहूबेटी के से कार्यों से अपनी सास को प्रसन्न रखना, एवं सुन्दर चरित्र से भरी हुई लज्जा से ससुरजी

किं शिष्मस्त्वयि पुत्रि ! या स्वयममूंस्तत्तत्तया जानती
कृष्णाद्यानपरेषु थूत्कृतिमधास्तत्तद्भ्रमं धर्तृषु ॥६२॥

'ततश्च, आर्या मातृपितृष्वसृ-स्वसृमुखा नेत्रांबुभिः संप्लुताः
पर्याश्लिष्य पृथक् प्रतिस्वमपृथग्मङ्गलयसङ्गीतयः ।
उद्यद्गद्गदमित्रचित्रगदिताः पूर्णास्रमस्या मुखं
पश्यन्त्यः कथमप्यमूमनुवरं प्रस्थापयाञ्चक्रिरे ॥६३॥

"अथानुकान्तगन्तृदुकूलपरिवृतसुखगमनानुकूलगन्त्रीमनु तां कुलजां वधूं गन्त्रीं विधाय श्वशुरकुलेन प्रहीयमाणामादाय कुलद्वयसंकुलतया पूर्वादप्यपूर्वं वाद्यादिपर्व संविधाय गृहाय कलितव्राजे व्रजयुवराजे तदुपरि तथा पर्व विदधाने च सुपर्वराजे द्यावापृथिव्यावात्मनोरभेदमेव वेदयांबभूवतुः ॥६४॥

"विप्रस्तावक-सूत-मागध-नटादीनां गणं दुर्गणं
तद्वासस्य बहिर्निरूप्य सहसा मृश्यापि गोपाधिपः ।
वृष्टिं तत्र धनस्य तावदकरोत्ते यावता वारश-
स्तद् वोढुं न हि शेकिरे किमपरं रात्रिं तथा भेजिरे ॥६५॥

को, तथा अपनी कीर्तिरूप सम्पत्ति के द्वारा सर्वसाधारण को प्रसन्न रखना। तेरे निमित्त विशेष क्या अनुशासन करें ? क्योंकि तू तो इन श्रीकृष्ण आदि को स्वयं ही पति आदि के भाव से जानती हुई, अर्थात् श्रीकृष्ण को पतिरूप से, एवं यशोदा तथा नन्दजी को सास ससुर के रूप से जानती हुई, पति आदि के भ्रम को धारण करनेवाले अभिमन्यु आदि दूसरे जनों के ऊपर तो पहले से ही थू थू धारण कर चुकी है ॥६२॥

उसके बाद राधिका की पूजनीया दादी, नानी मौसी, बूआ, एवं बहिन आदि महिलाओं ने नेत्रजल से व्याप्त होकर, प्रत्येकजनो ने पृथक् पृथक् राधिका से मिलकर, एकसाथ माङ्गलिक गायन करके, तथा उदय होते हुए गद्गदभाव के साथ विचित्र वचन बोलकर, आँसुओं से भरे हुए राधिका के मुख को देखते देखते, इस राधिका को वर के पीछे पीछे किसी प्रकार बड़े कष्ट से बिदा कर दिया ॥६३॥

उसके बाद श्रीकृष्ण के पीछे पीछे जो छोटी सी बैलगाड़ी चल रही थी, वह परदा से ढकी हुई थी, एवं सुख से गमन करने के अनुकूल थी, उसी गाड़ी में महाकुलीन वधू राधिका को जानेवाली बनाकर, ससुर श्रीवृषभानुजी के कुलवालों के द्वारा भेजी हुई अनेक सामग्रियों को लेकर, पिता का कुल एवं ससुर का कुल इन दोनों के मिल जाने से पहले से भी अपूर्व, अर्थात् बरात के आते समय जैसे बाजे बजे थे, उस की अपेक्षा अधिक बाजे आदि का महोत्सव करके,व्रजके युवराज श्रीकृष्ण,जब अपने घर के लिए चल दिये, तथा देवराज इन्द्र भी श्रीकृष्ण के ऊपर महोत्सव मनाने लग गया, तब स्वर्ग एवं पृथ्वी इन दोनों ने अपना अभेद जना दिया ॥६४॥

उस समय गोपराज श्रीनन्द ने जनवासे के बाहर ब्राह्मण, स्तुतिपाठक, सूत, मागध, एवं नटी आदि के अगणनीयगण को देखकर, सहसाविचार कर, वहाँपर उतने धन की वर्षा कर दी कि, जितने को वे जन बारंबार ढोने को समर्थ न हुए। और क्या कहें ? उनको ढोते ढोते रात हो गई ॥६५॥

श्रुतेऽभिलषित-स्नुषावलितपुत्रसङ्गस्फुरद्, विचित्रवरवादने व्रजपतेर्गृहाधीश्वरी ।
जडीकृतशरीरताविधुतशक्तिरप्युन्नमद्,-दयावलिबलात् परं भविककार्यमाचीचरत् ॥९६॥
यशोदा पूर्णिमातुल्या रोहिणी प्रतिपत्तुला । तदाजनि ययोः सङ्गस्तत्र पर्वतयाऽजनि ॥९७॥

"यत्र शस्तवस्त्रसमास्तृतानां पथामुभयतः श्रेणीकृतानां नवप्रसवसमावृतानां तरुजातिषु समादृतानामधिमध्यमध्यमध्यस्तां पल्लवग्रस्तमुखीं पूर्णां गर्गरीं गर्गरीमभितः प्रदीपान् परिजना दीपयामासुः । यत्र च मधुकरनिकरझङ्कारव्याजेन तादृशतरु-गर्गरीवर्गश्च मङ्गलगानमङ्गीकरोति स्म । यल्लोभात् किल क्षोभाविलतया सुरभीकृतसमीपाः सर्पिर्दीपाः कज्जलधारामोचनव्याजादपरमधुकरव्रजं सञ्जगृहुः । दीपवृक्षास्तु ध्वजभृद्व्रजा इव सकज्जलध्वजा भान्ति स्म । यच्छोभालोभावृतमनसः सुमनसस्तत्र सुमनसः ससृजुः ॥९८॥

"तत्तत्स्थानस्य नाम्ना कलयति तु जने जन्यवाद्यं क्रमेण
प्रोद्यत्कोलाहले तद्द्रवति सुखवशाद् द्वारमाप्ते वरेऽपि ।
यद्वच्छ्रीराधिकाऽऽगान्निजदयितवती तद्वदन्याः सजन्यं
संसज्य स्वं तमेकं पतिमनु सदनस्याऽऽसदन्नग्रदेशम् ॥९९॥

उसके बाद बरात जब नन्दग्राम के निकट आ गई, तब नन्दरानी ने पुत्रवधू से युक्त अभिलषित पुत्र के सङ्ग स्फूर्ति पानेवाले विचित्र विचित्र एवं बढ़िया बढ़िया बाजे सुनते ही, जड़ीभूत शरीर के भाव से शक्तिरहित होकर भी, केवल सर्वोच्च दयाश्रेणी के बल से ही अर्घ देना आदि माङ्गलिक कार्य किया ॥९६॥

उस समय यशोदा तो पूर्णिमाके समान,एवं रोहिणी माता प्रतिपदा के समान हो रही थी । वहाँपर जिन दोनों का सङ्ग पर्वरूप हो रहा था ॥९७॥

जहाँ के राजमार्ग माङ्गलिक वस्त्रों से ढके हुए थे, उन मार्गों के दोनों ओर पंक्तिरूप से लगाये हुए एवं वृक्षों की जाति में सम्मानित जो केला सुपारी आदि के वृक्ष थे, वे नये नये पत्र, पुष्प, फल आदि से युक्त थे । उन सब वृक्षों के बीच बीच में जल से भरी हुई, पंचपल्लवों से ढकी हुई एक एक कलशी रखी थी, उस प्रत्येक कलशो के चारों ओर सेवकों ने अनेक दीपक जोड़ दिये । और जिस राजमार्ग में श्रेणी-बद्ध उस प्रकार के वृक्षों ने एवं उन कलशियों के समुदाय ने मधुकरसमुदाय के झंकार के बहाने मानो माङ्गलिक गाना ही अंगीकार कर लिया था, अर्थात् भ्रमरों की झंकार ही वृक्षों का एवं उन कलशियों का मङ्गलमय गाना प्रतीत होता था । जिस गाने के लोभ से अपने निकट के स्थान को सुगन्धित करनेवाले घृत के दीपकों ने क्षोभ से मलिन होकर, काजल की धार छोड़ने के बहाने मानो दूसरे भ्रमरसमुदाय का संग्रह कर लिया । और दीपकों के सहित विराजमान दोपवृक्ष तो उस समय ध्वजा पताका धारण करने-वाले जनों की तरह शोभा पा रहे थे । जिनकी शोभा के लोभ से आवृत मनवाले इन्द्रादि देवता वहाँपर पुष्पों की वृष्टि की सृष्टि करने लग गये ॥९८॥

और उस उस स्थान के नाम के क्रम से, अर्थात् अब श्रीकृष्ण की बरात वहाँ आ गई, एवं अब श्रीकृष्ण वहाँ आ गये हैं, इत्यादि क्रम से जनमात्र जब बरातियों के बाजे सुन रहे थे, तथा बढ़ते हुए कोलाहल में वे जनसाधारण जब सुख के वशीभूत होकर दौड़ रहे थे, एवं श्रीकृष्ण भी जब अपने दरवाजेपर आ पहुँचे,तब श्रीराधिका जिस प्रकार अपने पति से युक्त होकर नन्दभवन के दरवाजेपर आई,

मुररिपुरिह वाद्यपुष्पवर्ष,-प्रथितसुखेन सुखेचराभिगीतः ।
मुहुरपि मिषलोकित-स्वकान्ता,-स्थितिलसदन्तरयान आजगाम ॥१००॥
स्पर्शं स्मरन्ती हुतभुक्परिक्रमे, लब्धं हरेर्मुद्रितयानमध्यगा ।
तस्य स्फुरन्तं च करं नुदन्ती, श्रीगोपपातुर्जगृहे गृहं वधूः ॥१०१॥
निजजनिसदनाद् व्रजेश-गेहं, वृषरविजा प्रविवेश दिव्यवेशम् ।
उदयगिरिवरस्य पूर्वदेशाद्, विधुवरमूर्तिरिवाऽन्तरिक्षमध्यम् ॥१०२॥

"तदेवमेवाऽपरासु श्रीकृष्णपतिव्रतासु सर्वासु चाऽर्वागागतासु लोकेषु च सपुलककुलं दत्तावलोकेषु,—

ता नन्दनन्दनव्यूढास्तदाऽऽनन्दपटावृताः । आनन्दघटया मूढाश्चाऽऽनन्दं पर्यनन्दयन् ॥१०३॥

"मधुमङ्गलस्तु जातसुखमङ्गलं सर्वानर्वागादाय दुंदुंदमदिति दुन्दुभिवाद्यमास्वाद्यमाधाय नर्तनं वर्तयामास ॥१०४॥

"ततश्च श्रीकान्तमग्रे विधायाऽन्तःपुरपुरस्थलेऽतिविस्तीर्णगणतायामपि सङ्कीर्णतां विना यानयानादवतीर्णवतीषु स्नुषाततिषु जिष्णुचापपुरस्ताद्वर्तिष्णुसवारिवारिदशोभालोभनाऽऽस्पदं बभूव ॥१०५॥

उसी प्रकार ललिता, विशाखा, धन्या, आदि दूसरी गोपियाँ भी, बरातियों के सहित उन अकेले अपने पति श्रीकृष्ण से मिलकर. उन्हीं के साथ घर के दरवाजेपर आ पहुँचीं ॥९९॥

इस समय श्रीकृष्ण सुन्दर सुन्दर देवताओं के द्वारा प्रशंसित होकर, बारंबार किसी बहाने से अपनी प्रियतमाओं की स्थिति देखकर, उनके बीच में ही शोभा से चलकर, वाद्य एवं पुष्पों की वर्षा से प्रसिद्ध सुखपूर्वक चले आये ॥१००॥

अग्नि की प्रदक्षिणा करते समय प्राप्त हुए श्रीकृष्ण के स्पर्श का स्मरण करती हुई, एवं परदा से ढकी हुई, असवारी के बीच में बैठी हुई, तथा अपने मन में स्फूर्ति पाते हुए श्रीकृष्ण के हाथ को अपने हाथ से हटाती हुई वधू राधिका ने, गोपराज श्रीनन्दजी का भवन प्राप्त कर लिया ॥१०१॥

उस समय वृषभानुनन्दिनी ने अपने पिता के घर से चलकर दिव्य आकारवाले नन्दभवन में उस प्रकार प्रवेश किया कि, जिस प्रकार चन्द्रमा की श्रेष्ठमूर्ति उदयाचल के पूर्व देश से चलकर आकाश के बीच में प्रवेश करती है ॥१०२॥

इसी प्रकार चन्द्रावली आदि दूसरी सभी श्रीकृष्ण की पतिव्रता गोपियाँ भी, जब पीछे पीछे चली आईं, एवं सब लोगों ने रोमांचित होकर जब उन सब का दर्शन कर लिया, तब श्रीनन्दनन्दन के साथ विवाही गईं उन सब गोपियों ने आनन्दरूप वस्त्रों से आच्छादित होकर, आनन्द की घटा से जड़ीभूत होकर, श्रीनन्द पर्यन्त जनमात्र को एवं आनन्द को भी आनन्दित कर दिया ॥१०३॥

मधुमङ्गल ने तो उत्पन्न हुए सुख एवं मङ्गलपूर्वक सभी को अपने पीछे लेकर दुम्, दुम्, दम्, दम् इस प्रकार नगाड़े के बाजे को सुनकर नाचना आरम्भ कर दिया ॥१०४॥

उसके बाद श्रीकृष्ण को आगे करके, अन्तःपुर के अग्रिम स्थल में जनता की भारी भीड़ होनेपर भी, संकोच के बिना प्रत्येक असवारी से पुत्रवधुओं की श्रेणी जब उतर पड़ी, तब इन्द्रधनुष् के आगे

"यत्र च शोभितसर्वावल्यो राधाचन्द्रावल्योः श्रीकान्तस्य तस्य सव्यापसव्यसंवलितयो-स्तत्कान्तिसंक्रान्तिशवलितयोः प्रतिच्छविपरंपरया परपरासु च दर्शितनिजव्यूहावलिकयो-स्तयोर्विभुतामिवान्तःपुरलोका विलोकयन्ति स्म। तास्तु सर्वास्तदेकपत्न्यश्चैकपत्न्यश्च निज-निजप्रान्तमनु तं कान्तमेवेति स्थिते,—॥१०६॥

आगच्छद् व्रजवरराजगेहलक्ष्मी,-र्नीराजक्रमविधये सुतस्नुषाणाम्।
मुग्धात्माऽभवदिह रूपदिग्धचित्ता, दुग्धानि स्तनयुगलांबरादवोढ ॥१०७॥
आरात्रिकं न खलु साङ्गमसौ विदध्या,-दारात्रिकं विरचयेद् बत यद्यपीति।
तस्याः सकंपकरपल्लवधारिणीभिः, पर्यापितं पुनरदः सहचारिणीभिः ॥१०८॥

"रोहिणी तु तद्वदेव स्नेहमोहिततया सहचारिणी बभूव, न तु साहायकतयेति स्थिते तस्मिन्नारात्रिके च सुस्थिते,—

उदनमदनमच्च स्वैरनीराजनाया, मणिततिरिह कृष्ण-प्रेयसीनां मुखाग्रे।
अपि किल शशिवृन्दान्यत्यपूर्वाणि वीक्ष्य, व्यतनुत ननु तारामंडलं ताण्डवानि ॥१०९॥

वर्तमान सजल मेघ की सो शोभा लोभ की आधार बन गई, अर्थात् इन्द्रधनुष् के समान अनेक वर्णवाली गोपांगनाओं के आगे सजल मेघ के समान श्रीकृष्ण की अपूर्व शोभा सब को लुभानेवाली हो गई ॥१०५॥

और जिन श्रीकृष्णपत्नियों में श्रीराधिका एवं चन्द्रावली की शोभा अपूर्व थी, क्योंकि वे दोनों सभी श्रीकृष्ण की पत्नियों की पंक्ति को सुशोभित करनेवाली थीं, दोनों ही क्रमशः उन श्रीकृष्ण के वाम एवं दक्षिणभाग में सम्मिलित थीं, एवं श्रीकृष्ण की कान्ति के सम्मेलन से दोनों ही विचित्र वर्णवाली हो रही थीं, तथा अपने प्रतिबिम्ब की परम्परा से दूसरी दूसरी कृष्णपत्नियों में अपने व्यूह की पंक्ति को दिखा रही थीं। अतः अन्तःपुर के लोग मानो उन दोनों की विभुता (व्यापकता) ही देख रहे थे। और एक वे श्रीकृष्ण ही जिनके पति हैं, वे राधा एवं चन्द्रावली आदि सब एकपत्नी (पतिव्रताएँ) तो अपने अपने निकट केवल निजपति उन श्रीकृष्ण को ही देख रही थीं। ऐसी स्थिति में —॥१०६॥

व्रज के श्रेष्ठ राजा श्रीनन्दजी के घर की लक्ष्मीस्वरूपा श्रीयशोदा अपनी पुत्रवधुओं की क्रमशः आरती करने को चली आईं। आते ही उनकी आरती करते समय उन सब के रूप में व्याप्त चित्तवाली होकर विमुग्ध-स्वरूप बन गईं, एवं अपने दोनों स्तनों के वस्त्र से दुग्धधारा बहाने लग गईं ॥१०७॥

हर्ष की बात यह है कि, वे यशोदाजी यदि रातभर भी अपनी पुत्रवधुओं की आरती करती रहतीं तो भी, वे साङ्गोपाङ्ग आरती नहीं कर सकती थीं। कारण वे प्रेमावेश में जड़ीभूत हो रही थीं। अतः उन के काँपते हुए करपल्लव को धारण करनेवाली उनकी सखियों ने वह आरती पूरी कर दी ॥१०८॥

श्रीरोहिणी तो श्रीयशोदा की तरह स्नेह से विमुग्ध चित्तवाली हो जाने के नाते यशोदा की सह-चारिणी हो गई थी, किन्तु आरती में सहायकरूप से सहचारिणी नहीं हो पाई थीं, अर्थात् वे भी प्रेमावेश में स्तब्ध थीं। ऐसी स्थिति में आरती का कार्य सुव्यवस्थित हो जानेपर, यहाँ स्वेच्छापूर्वक करी जाने-वाली आरती के रत्नों की श्रेणी, श्रीकृष्णप्रियतमाओं के मुख के आगे, ऊपर, एवं नीचे की ओर आ जा रही थी। उसको देखकर यह बोध होता था कि, मानों अतिशय अपूर्व चन्द्रसमूहों को देखकर तारामण्डल अनेक प्रकारके नृत्यविस्तारित कररहाहै। (यहाँपर श्रीकृष्णकी प्रियाओंके अनेक मुखही अनेक अपूर्वचन्द्रमा हैं एवं आरती के रत्नों की श्रेणी ही तारामण्डल है। तारे तो अनेक होते हैं, यह बात प्रसिद्ध है, किन्तु यहाँ चन्द्रमा भी अनेक हैं, यही बात अपूर्व है ॥१०९॥

"अत्र च महिला गायन्ति स्म,—
'अहो ! पश्यथ चित्रं गोपकुलराजि महिमानम् ।
य इह सुतकर्मणे परिणयनशर्मणेऽचिनुत कमलागणममानम् ॥ध्रु॥
यदनु किल राधिकां निखिलसुखसाधिकामचित सकलसमुदयसारम् ।
अधियदपि भव्यता मुहुरपि च नव्यतां वहति बहलफलमपारम् ॥
उचितमपि तादृशं स हि तनयमीदृशं लब्धमरचयदमलरूपम् ।
अपरहृतमप्यलं प्रणयकृतसद्बलं सबलमहृत निजकुलभूपम् ॥
त्रिजगदतिचारकं हृदयमतिभारकं धर्तुमभितोऽपि न शक्यते ।
तदिह परमं सुखं विवहनाद्यमुन्मुखं हृदि वसतीति च वितर्क्यते ॥'इति॥ ११०

"यदा च ता हरिपरिणीतिसंभृता, रमादृता व्रजपतिवासमागताः ।
पुरा यथा न्यधित हरेर्न जन्म तत्, तदा तथा न्यधिषत वैभवश्रियम् ॥१११॥

"अथ मातृतद्यातृप्रभृतयः सुतस्नुषामुखतुषारकरं मुहुर्विलोकितीकृत्य मुहुरलंकृतीकृत्य मुहुर्निर्मञ्छितीकृत्य च दृग्भिरमृतधारां वर्षन्ति स्म । ततः कमललोचनः संकोचान्निज-

---

आरती के समय महिलाएँ यह गाना गाने लग गईं, यथा—अरी बहिनो ! गोपकुल के राजा श्रीनन्दजी में विद्यमान आश्चर्यमयी महिमा को तो देख लो । देखो, जिन्होंने यहाँपर अपने पुत्र के कार्यरूप विवाह के सुख के लिए अपरिमित लक्ष्मीसमूह एकत्रित कर लिया है । और जिस लक्ष्मीसमूह में, अर्थात् जिन गोपीरूप लक्ष्मियों के समुदाय में, समस्तसुखसाधिका राधिका को तो, मानो सम्पूर्ण उन्नति का साररूप समझ कर ही चुन लिया है । एवं जिस राधिका में जो दिव्य भव्यता है,वह बारंबार नवीनता को प्राप्त होती रहती है, तथा बहुत से अपार फल को प्राप्त कराती रहती है । और नन्दजी के विषय में उस प्रकार की बात भी उचित ही है कि, जिन्होंने इस प्रकार के प्राप्त हुए पुत्र को निर्मल रूपवाला बना दिया, और यह भी उचित ही है कि, अपने कुल के भूपरूप श्रीकृष्ण को जिन्होंने श्रीबलदेवजीके सहित प्रेमके द्वारा किये गये सुन्दर बल के प्रकाशपूर्वक (द्वारका से) अपहरण कर लिया । जिन श्रीकृष्ण को वसुदेवजी अक्रूर के द्वारा यथेष्ट हर के ले गये थे । और जो तीनों लोकों का अतिक्रमण करनेवाले अपने हृदय को अत्यन्त भारयुक्त होने के कारण, सर्वतोभाव से धारण भी नहीं कर सकते हैं । इसलिए यह उत्प्रेक्षा की जाती है कि—श्रीनन्दजी के इस हृदय में श्रीकृष्ण का विवाह आदि अत्यन्त ऊँचा परमसुख निवास करता है, अतः वह सुख ही हृदय का अत्यन्त भार है, इसीलिए वह हृदय धारण नहीं किया जा सकता है । यह तात्पर्य है ॥११०॥

और लक्ष्मी के द्वारा आदर पानेवाली वे श्रीराधिका आदि गोपियाँ, श्रीकृष्ण के विवाह से परिपुष्ट होकर, जब श्रीव्रजराज के घर आईं, तब उन्होंने नन्दभवन की उस प्रकार के वैभव की शोभा स्थापित कर दी थी कि, जिस प्रकार के वैभव की शोभा पहले श्रीकृष्ण के उस जन्म ने भी नहीं स्थापित की थी ॥१११॥

उसके बाद माता यशोदा एवं उनकी देवरानी जेठानी आदि महिलाएँ, अपनी पुत्रवधुओं के मुख-चन्द्र को बारंबार निहार कर, एवं उसको बारंबार सजाकर, तथा उसके ऊपर बारंबार रत्नों की

मोचनाय मातृः प्रणम्य रम्यवरवेश एव व्रजेशविभ्राजितदेशमाससाद। श्रीव्रजेश्वरी तु नन्दितसर्वबन्धूनां नववधूनां तत्र च सर्वाधिकायाः श्रीराधिकाया बहुधा लालनं विदधती नावधिमवाप ॥११२॥ तत्र श्रीराधिकाया यथा,—

वक्त्रं पश्यति मस्तकं नसि दधात्यङ्गं समालिङ्गती-
त्यादिस्नेहविसारितावलनया श्रीमद्‌व्रजाधीश्वरी।
तामेकां मुहुरार्द्रयन्त्यपि वधूमार्द्रीचकारान्तिकान्
सान्निध्याद् द्रवताविधायिगुणया नद्येव सर्वानपि ॥११३॥

"श्रीमान् विधुस्तु पूर्णवरशोभालोभायनशितिरूपतया जातगौरांबरच्छविजितजातरूपतया नक्षत्रमालासंवलकज्योतिस्तूपतया च यदा स्फुटमुद्‌गच्छति स्म, तदा पारावाररहितलोकवारवारांनिधिरुल्लोलकोलाहलं कलयति स्म ॥११४॥

"आशीर्वाद-नति-स्तुति-श्रुति-गिरां संगीतविद्याश्रियां
वाद्यानां च दिवस्पृथिव्यनुगतप्राबल्यभाजां तदा।
यः शब्दस्तुमुलः स तु स्वयमपि प्रत्यङ्गमप्येकतां
कृष्णार्थं विदधद् दधार भगवच्छास्त्रस्य तुल्यस्थितिम् ॥११५॥

न्योछावर करके, अपने अपने नेत्रों से अमृत (जल) की धारा बरसाने लग गईं। पश्चात् कमलनयन श्रीकृष्ण संकोच से अपने को छुड़ाने के लिए, माताओं को प्रणाम करके, रमणीय वर के वेष से ही, श्रीव्रजराज से विराजमान स्थान में चले आये। श्रीव्रजेश्वरी तो समस्त बन्धुओं को आनन्दित करनेवाली नववधुओं का बहुत प्रकार से लालन (प्यार) करती हुई, एवं उन सब में भी सर्वश्रेष्ठ श्रीराधिका का लालनपालन करती हुई, सीमा को नहीं प्राप्त हुई ॥११२॥

उन सब में श्रीयशोदा के द्वारा श्रीराधिका के ऊपर किये हुए प्यार का वर्णन, यथा—श्रीमती व्रजाधीश्वरी यशोदा उस समय राधिका के मुख को देखती हैं, मस्तक को नासिका के निकट धारण करती हैं, अर्थात् राधिका के मस्तक को सूँघती हैं, अङ्ग का आलिङ्गन करती हैं, इत्यादि स्नेह की विशिष्टता को प्रकाशित करके, केवल एक उन राधारूप वधू को बारंबार स्नेह से आर्द्र (गीली) करती हुई, यशोदा ने पासवाले सभीजनों को उस प्रकार आर्द्र (स्नेह से गीला) कर दिया कि, जिस प्रकार निकटता के कारण गीलापन करनेवाले गुण से युक्त नदी, अपने पासवाले वृक्ष तृण आदि सभी को सरस कर देती है ॥११३॥

जिस प्रकार चन्द्रमा अपने शुक्लरूप के कारण, उदयकाल में सुवर्ण को पराजित करके, नक्षत्रसमूह के मिलन से अपार ज्योति से युक्त होकर स्पष्ट उदित होता है, उसी प्रकार परिपूर्ण एवं उत्कृष्ट शोभा के लोभ के आधारस्वरूप, श्यामरूप होकर पीताम्बर की प्रभा के द्वारा, सुवर्ण के रूप को जीतकर, नक्षत्रमाला (हारविशेष) को धारण करने से ज्योतिसमूहरूप होकर, श्रीमान् कृष्णरूप चन्द्रमा जब स्पष्ट प्रगट हो गये, तब चन्द्रमा के उदयपर समुद्र जिस प्रकार बड़ी बड़ी तरङ्गों से कोलाहल करता है, उसी प्रकार पारावाररहित लोगों का समुदायरूप समुद्र, विशेष कोलाहल करने लग गया ॥११४॥

और उस समय आकाश एवं पृथ्वीमें अनुगत प्रबलता का सेवन करनेवाले आशीर्वाद, प्रणाम, स्तुतिपरक वेदों की वाणियों का संगीतविद्या की शोभावाले बाजाओं का जो तुमुल शब्द हो रहा था, वह भारी शब्द तो स्वयं श्रीकृष्णप्रीत्यर्थ प्रत्येक अङ्गमें भी एकता करता हुआ, भगवत्सम्बन्धी शास्त्रकी समता धारण

"अथ तत्र व्रजराजस्तेन विराजमानतया निविश्य दिश्यदिश्यगुणिजनानां गुणगणमाविश्य तेभ्यश्चालम्भ्यधनानि प्रादेश्य बन्धुजनान्निजवेश्म प्रवेश्य नानारसं नानारसमपि निर्वेशयामास ॥११६॥ तत्र च—

भोग्यानामुत भोग्यानां संख्या संख्यावतामपि ।
संख्यानाय न कल्पेत कल्पे तत्रापयात्यपि ॥११७॥

"तदेवं दिव्यपक्षिण्यामिव चमत्कारं लक्षयित्या गतायां तस्यां पक्षिण्याम्, सुखदे वृत्ते च वृत्ते सद्वृत्तेन श्रीव्रजराजेन सह सर्व एव विवाहपर्वसङ्गताः परार्धमतीत्य वर्धमानाः सार्धदिवसत्रयमधिकृत्य समर्ध्यमाना बभूवुः । तदनु च तास्तु हरिणनयना हरिपरिणयनाल्लब्धगर्वाः सर्वाश्चतुर्थदिनकर्मणा लब्धशर्मतामवापुः ॥११८॥

"तत्र च—राधामाधवयोः समासनयुजोस्तुर्येऽह्नि पाणिग्रहात्
तत्स्नानं वसनं विलेपरचनं माल्यं मणीनां कुलम् ।
निर्मञ्छावलिमन्वनेकमसकृन्नीराजनं ध्यायतः
स्वान्तं मे सुखतां प्रयाति न सुखं भिन्नं क्वचित् पश्यति ॥११६॥

कर रहा था। तात्पर्य—भगवत्शास्त्र जिस प्रकार भगवान् का प्रतिपादन करने के लिए प्रत्येक अङ्ग में स्वयं एकता धारण कर लेता है, उसी प्रकार यहाँ भी आशीर्वाद आदि का महान् शब्द एकता धारण रहा था ॥११५॥

उसके बाद उस सभा में श्रीनन्दजी ने श्रीकृष्ण के साथ विराजमान होकर, प्रत्येक दिशा के गुणिजनों के गुणगणों में आविष्ट होकर, उन सब को अलभ्य धन देकर, वधुजनों को अपने घर में प्रविष्ट करा कर, हासपरिहास के अनेक रसपूर्वक षड्रस का भोजन करा दिया ॥११६॥

और वहाँपर भोगने के योग्य पदार्थों की एवं भोगनेवाले व्यक्तियों की गिनती करने के लिए विद्वानों की संख्या (बुद्धि) भी "गिनने में कल्पभर का समय बीत जानेपर भी" समर्थ नहीं हो सकती ॥११७।

इस प्रकार दिव्यपक्षि की स्त्री की तरह चमत्कार दिखाकर, उस पक्षिणी (रात्रि) के बीत जानेपर, एवं सुखदायक व्यवहार के बीत जानेपर, अपने अपने समाज के सहित, श्रीकृष्ण के विवाहोत्सव में सम्मिलित हुए सभीजन, परार्ध की संख्या को अतिक्रमण करके जो बढ़ रहे थे, वे सब साढ़ेतीन दिनतक सद्व्यवहारवाले श्रीव्रजराज के द्वारा समृद्धि को प्राप्त होते हुए विद्यमान रहे। और उसके बाद वे मृगनयनी समस्त गोपियाँ तो श्रीकृष्ण के साथ विवाह हो जाने से गर्व को पाकर, चौथे दिन के कर्म से सुख के भाव को प्राप्त हो गई ॥११८॥

कथावाचक स्निग्धकण्ठ अपने भाव को व्यक्त करता हुआ बोला—और वहाँपर विवाह से चौथे दिन एक आसनपर बैठे हुए, श्रीराधा-कृष्ण की जोड़ी के उस स्नान को, वस्त्रों को, केसर, कस्तूरी, कर्पूर आदि से मिश्रित चन्दन की रचना को, मालती आदि पुष्पों की मालाओं को, रत्नों के समूह को, एवं न्योछावर की श्रेणी के बाद, बारंबार अनेक आरतियों को, ध्यान में लाता हुआ मेरा अन्तःकरण सुख के भाव को प्राप्त हो जाता है, एवं श्रीकृष्णसम्बन्धी कार्यों से भिन्न सुख को कहीं भी नहीं देखता है ॥११६॥

समशनमदधाद् यत् तत्क्रियाऽऽचारलब्धं, मिथुनमिदमजैषीद् द्यूतके यन्मिथश्च ।
तदिदमुभयमासीन्नाद्भुतं यद् व्यतिस्ते, सततबलितसर्गे भोगवर्गे जये च ॥१२०॥

यः स्यात् कङ्कणमोचनाख्यकुतुके प्रेयान् प्रिया वा जन-
स्तद् ग्रन्थिव्यतिमोचने द्रुततरः श्रेयान् स इत्थं प्रथा ।
तत्र श्रीयुतराधिका तु दधती लज्जां विलंबाऽन्विता
चक्रे स्वप्रभकंप्रतां गतमपि स्वं कान्तमग्रयक्रियम् ॥१२१॥

वीक्ष्य ब्रह्मशिवादयः परिणयं कृष्णस्य नानाविधं
यद्यद् वस्तु निचिक्यिरे बहुतरं तत्प्रीतिदानं प्रति ।
तत्तु श्रीव्रजजन्मनामतिमतिप्रीतिं तथात्मावधि
श्रीमद्दानमवेक्ष्य ह्रीभिरखिलं निर्मञ्छनं निन्यिरे ॥१२२॥

"अथ पञ्चमेऽहनि निमन्त्रणप्रपञ्चमञ्चन् पूर्ववदेव सवधूकः सह बन्धुभिः प्रतिश्वशुर-गृहमसुरमर्दनः ससुखमर्दति स्म । तत्र च संभोजनपर्वाऽनन्तरमंभोजलोचनः सर्वासामपि तासामर्वाचीनवधूनां केलिकुञ्चिकादिकुञ्चितनयनाभिः सञ्चितसर्वानन्दनर्मद्वितीयानयनपर्वाऽ-नुभूय भूयश्च गृहमाजगाम ॥१२३॥

और इस राधा-कृष्ण की युगलजोड़ी ने, विवाह की उस क्रिया के आचार से प्राप्त जो सुन्दर भोजन किया एवं सारपासेके द्वारा चौसर (चौपड़) के खेलमें आपसमें जो विजय पा ली थी, ये दोनों कार्य आश्चर्य-जनक नहीं थे । कारण वह युगलजोड़ी निरन्तर बलयुक्त कार्य में, भोगवर्ग में, एवं विजय में एक दूसरे के कार्य को एक दूसरी करती है, अर्थात् सभी कार्यों में दोनों ही समान हो जाते हैं ॥१२०॥

प्रत्येक विवाह में इस प्रकार की प्रथा है कि, कङ्कणमोचन नामक तमाशे में जो प्रियतम अथवा प्रियतमा जन, उस कङ्कण की गाँठ को आपस में खोलने में अतिशय शीघ्रतावाला होगा, वही बड़ा माना जायगा । किन्तु उस कङ्कण खोलने के कार्य में श्रीमती राधिका ने तो, लज्जा को धारण करते हुए, स्वयं विलम्ब करके अपनी कान्ति से कम्पित हुए, अपने पतिदेव श्रीकृष्ण को ही अग्रसर बना दिया ॥१२१॥

और ब्रह्मा एवं शिव आदि देवताओं ने श्रीकृष्ण के अनेक प्रकार के विवाह को देखकर उनके प्रीतिमय दान के लिए जो जो बहुत सी वस्तुएँ निश्चित की थीं, वे सब तो लोकोत्तर सम्पतिशाली व्रजवासियों के महादान को देखकर, लज्जा से (बखेर में) श्रीकृष्ण के ऊपर न्योछावर कर दीं । क्योंकि व्रजवासियों ने जो प्रीतिदान दिया था, वह देवताओं की बुद्धि का अतिक्रमण करनेवाली प्रीति से युक्त था, तथा आत्मापर्यन्त दान था । तात्पर्य—व्रजवासियों ने अपनी आत्मा भी श्रीकृष्ण को भेंट कर दी थी, देवता उसको देने में असमर्थ थे, अतः लज्जित हो गये । क्योंकि व्रजवासियों का सा प्रेम किसी में नहीं है ॥१२२॥

उसके बाद पाँचवें दिन निमन्त्रण के प्रचार को प्राप्त होकर, श्रीकृष्ण पहले की तरह अपनी वधुओं के साथ एवं बन्धुओं के साथ, प्रत्येक ससुरके घर सुखपूर्वक चले गये । और ससुराल में भलीप्रकार भोजन-रूप उत्सव के पीछे, कमलनयन श्रीकृष्ण उन सब नवीन वधुओं की केलिकुञ्चिका (साली) आदि कुटिल नेत्रोंवाली नारियों के द्वारा संचित सब प्रकार के आनन्दमय परिहास से युक्त, द्विरागमन के महोत्सव का अनुभव करके, पुनः अपने घर चले आये ॥१२३॥

"यत् पर्व चारभ्य साङ्गसभ्याङ्गनानिमन्त्रणया प्रेमपरतन्त्रतया च मुहुरभ्यर्णतया मायारचितसमाधानमयराधादिसाधारणकायाश्च ताः श्रीवल्लभसंवलितराधादिबल्लवीनां तन्मातरपितरादीनामपि प्रीतिदानपात्रीबभूवुः, यतः पूर्वमेता एवाऽस्मन्मर्यादां पर्यापयामासुरिति । ततः सख्यादिप्रख्यां प्रीतिं प्रख्यापयामासुः ॥१२४॥

"स्वपाणिग्रहणानन्तरं यथावसरमन्यदपि कौतुकमनुभूतवाननुभावितवांश्च, यत् खलु स्वापेक्षया कौमार एव स्थितानां श्रीदामादीनां विवाहनम्" इति ॥१२५॥ अथ स्निग्धकण्ठः समापनमाह स्म,—

"तत् पर्व व्रजदुग्धसिन्धुज-रमापाणिग्रहाख्यं हरे-
रालोक्याऽपि सरस्वती स्वयमपि श्लोकेत न ह्यण्वपि ।
तर्ह्यन्ये कवयः क्व वा स्थितिपदं गच्छेयुरेवं स्थिते
तत्राऽनन्वयि वर्णनं रचितवानात्मा मम ह्रीच्छति ॥१२६॥

"तत्र च—यद्यप्यभूत्तत्र विचित्रसुभ्रुवां, कृष्णेन पाणिग्रहणे सहायकः ।
तथापि मासः स विभाति दृश्यतां, राधाख्यया माधवसंज्ञयाऽपि च ॥१२७॥

जिस महोत्सव से लेकर दासी आदि के सहित सज्जनस्त्रियों के निमन्त्रण से, एवं प्रेम की पराधीनता से बारंबार की निकटता के कारण, जिनके शरीर राधा आदि गोपियों के समान थे, एवं जिनका योगमाया के द्वारा विशेष समाधान हो चुका था, वे मायाकल्पित सब गोपियाँ भी, श्रीकृष्ण से युक्त श्रीराधिका आदि गोपियों की, एवं राधिका आदि गोपियों के माता पिता आदि के प्रीतिदान की पात्र भी हो गईं, अर्थात् उनको भी दहेज दिया गया । उसका कारण यह था कि, पहले इन मायाकल्पित गोपियों ने ही हमारे पतिव्रतधर्म की मर्यादा पूर्ण की है, इसलिए राधिका आदि गोपियों ने उनके ऊपर सखी आदि के समान प्रीति को प्रसिद्ध कर दिया ॥१२४॥

अपने विवाह के बाद श्रीकृष्ण ने समयानुसार एक दूसरा कौतुक भी स्वयं अनुभव किया, एवं दूसरों को कराया, जोकि अपनी अपेक्षा करके कुमारावस्था में ही स्थित रहनेवाले श्रीदामा आदि का विवाह भी करा दिया । तात्पर्य—हमारे प्यारे सखा श्रीकृष्ण जबतक द्वारका से लौटकर नहीं आयेंगे, तबतक हम सब सखा विवाह नहीं करायेंगे, कुँआरे ही बने रहेंगे । अतः पहले श्रीदामा आदि सखाओं का विवाह नहीं हुआ था, श्रीकृष्ण ने ही आ कर करवा दिया ॥१२५॥

अब स्निग्धकण्ठ प्रसङ्ग की समाप्ति का द्योतक वचन बोला—व्रजरूप क्षीरसमुद्र में उत्पन्न होनेवाली श्रीराधा आदि गोपीरूप लक्ष्मियों का पाणिग्रहण नामक श्रीकृष्ण का जो महोत्सव था, उसको देखकर सरस्वतीदेवी भी जब स्वयं किंचिद् भी ग्रन्थरूप से वर्णन नहीं कर सकती हैं, तब दूसरे कविजन कहाँपर स्थिति के स्थान को प्राप्त कर सकते हैं ? अर्थात् क्या वर्णन कर सकते हैं ? अतः उस विषय में असंगत वर्णन करनेवाला मेरा आत्मा लज्जा कर रहा है । अर्थात् वर्णनातीत विषय का वर्णन करके लज्जित हो रहा है ॥१२६॥

और उसमें भी उस व्रज में श्रीराधिका आदि विचित्र महिलाओं के श्रीकृष्ण के साथ पाणिग्रहण संस्कार में, यद्यपि वह वैशाख का महीना सहायक हुआ था, तथापि वह महीना राधा एवं माधव के नाम

माधवस्वच्छपक्षश्रीः सा जीयाद् वरशर्मदा। विधुराधायुग्मभावे निर्बाधान्तरदूतिका ॥"१२८

अत्र मधुकण्ठः सानुशयमाह स्म,—"हन्त! यद्यपि सर्वशन्तमं सन्ततमेव सन्ततं तथाप्यस्मन्मनः कमपि मनस्कारं विना विकारमासीदति। यद्वृन्दावनीयरासादिविलासानन्दिन्याः कालिन्द्या द्वारकावरोध एव रोधाय कल्पते स्म॥"१२९॥

स्निग्धकण्ठ उवाच,—"भ्रातर्माऽत्र तिलमात्रं तृप्तेरपात्रं मनः कृथाः। तस्याः खलु विशाखारूपेणात्र वर्तमानायाः शाखान्तरमेव तत्र वर्तते, या च गोपकन्यारूपेणाऽतीवात्र धन्या विभाति" इति ॥१३०॥

मधुकण्ठ उवाच,—"विशाखा कथमत्र गौरी दृश्यते, यमुना खल्वन्यत्र श्यामा परामृश्यते" इति ॥१३१॥

स्निग्धकण्ठः सस्मितमुवाच,—"श्रीराधिका-वेशसाधिका तदावेशाधिका सा पेशस्कारी संगृहीतशलभी-भावं लभते स्म, यथा प्रतिकल्पं जन्मतारासाधारणतापि तन्नामाभेद-कारणतामानयति" इति ॥१३२॥ अथ पुनः समापनमाह,—

से शोभा पा रहा है, देख लीजिये। (अतः अमरकोषकार ने भी "वैशाखे माधवो राधः" इस प्रकार कहा है) तात्पर्य—भगवत्सम्बन्धी कार्य में सहयोगी बनने की यही विशेषता है ॥१२७॥

श्रीकृष्णरूप वर को सुख देनेवाली माधव (वैशाख) मास के शुक्लपक्ष की वह शोभा विजय को प्राप्त होती रहे। क्योंकि वैशाख शुक्लपक्ष की जो शोभा श्रीकृष्ण एवं राधा के दम्पतिभाव में बाधारहित अन्तरङ्ग दूतिका बन गई। श्लेषपक्ष में यह अर्थ है कि—उस पूर्णिमा- देवी की जय हो, कि जो श्रीकृष्णरूप वर को सुखदायिनी है, एवं श्रीकृष्ण के (वृन्दा मधुमङ्गल आदि) निर्मल पक्षवाले जनों से जिस की शोभा है; तथा राधा-कृष्ण की जोड़ी मिलाने के भाव में जो रहस्य दूतिका है ॥१२८॥

अनन्तर मधुकण्ठ पश्चात्तापपूर्वक बोला—हाय भैया स्निग्धकण्ठ! देखो, यद्यपि सभी सुखों में अतिशय सुख निरन्तर ही विस्तीर्ण हो गया है, तथापि हमारा मन किसी मानसिक सुख में निमग्नता के बिना, विकार को प्राप्त हो रहा है। क्योंकि जो कालिन्दी (यमुना), वृन्दावनसम्बन्धी रासविलास आदि से ही आनन्दित रहती थी, उस कालिन्दी के लिए तो द्वारकापुरी का अन्तःपुर ही रुकावट के लिए समर्थ हो गया; अतः उस का व्रज में आना कैसे सम्भव होगा? ॥१२९॥

स्निग्धकण्ठ बोला—भैयाजी! आप इस विषय में अपने मन को तिलमात्र भी तृप्ति का अपात्र न कीजिये; क्योंकि वह कालिन्दी इस व्रज में तो विशाखा सखी के रूप में विद्यमान है, उसकी दूसरी शाखा हो द्वारका में है, और जो इस व्रज में गोपकन्या के रूप से अत्यन्त सौभाग्यशालिनी प्रतीत हो रही है (द्वारका में तो सूर्यकन्यारूप से प्रकाशित हो रही है)॥१३०॥

मधुकण्ठ बोला—विशाखा यहाँपर गोरी क्यों दिखाई देती है? यमुना तो निश्चय ही दूसरी जगह, अर्थात् द्वारका में श्यामवर्णवाली विचार में आती है ॥१३१॥

स्निग्धकण्ठ मुसकाकर बोला—श्रीराधिका का शृङ्गार करनेवाली, एवं अधिकतर राधिका के आवेशवाली वह विशाखा, पेशस्कारी कीटविशेष के द्वारा संग्रह किये हुए पतङ्ग के भाव को प्राप्त हो गई है। अर्थात् कीट जैसे भृङ्गी के आवेश से भृङ्गीरूप हो जाता है, उसी प्रकार राधिका के निरन्तर ध्यान करने से विशाखा गोरी हो गई है। जैसे प्रत्येक कल्प का समय विशाखा के जन्म का नक्षत्र, जो विशाखा

"राधामाधवयोर्विवाह इह यः काव्यस्य निर्वाहण-
स्वस्त्यर्थं निहितस्तयोश्च स भवेद् रागस्य निर्वाहकः ।
रागः सोऽप्यनुपद्रवस्थितिमिथःसङ्गास्पदस्तत्त्यज-
न्नात्मीयास्पदमन्तरा विवहनं शोच्यं जनुः प्राप्नुयात् ॥१३३॥

"तदेतदुपलक्षणतयाऽन्यासामपि तदुपलक्ष्यम् ; तत्र च पूर्वार्धमेवं परिवर्तनीयम्,—
दांपत्यं व्रजसुभ्रुवामघजिता यज्जातमेतत् परं
काव्यस्य प्रथते न निर्वहणकृत् किन्त्वेषु रागस्य च ॥" इति ॥१३४॥

तदेतदाकर्ण्य तु वर्ण्यमानं, विवाहवृत्तं चिरकालवृत्तम् ।
तामेव साक्षादिव वीक्ष्य रात्रिं, रहस्यभू धामनि दीव्यतः स्म ॥१३५॥

इति श्रीश्रीमदुत्तरगोपालचम्पूमनु श्रीराधामाधव-विवाह-निर्वाहो
नाम पञ्चत्रिंशं पूरणम् ॥३५॥

नामक है, उसी की साधारणता भी, उसके नाम के अभेद की कारणता को ला देती है, अर्थात् विशाखा गोपी का जन्म प्रत्येक कल्प में विशाखानक्षत्र में होने से विशाखा नाम पड़ जाता है ॥१३२॥

अत्र स्निग्धकण्ठ पुनः प्रसङ्ग की समाप्ति का द्योतक वचन बोला—इस प्रसंग में काव्य के निर्वाह में मंगल के लिए श्रीराधा–कृष्ण का जो विवाह स्थापित किया है, वह उन दोनों के अनुराग का भी निर्वाहक हो सकेगा। एवं उपपति आदि उपद्रव की स्थिति से रहित, परस्पर के संग का आधारस्वरूप वह अनुराग भी, अपने निकट अपने आधारस्वरूप उस विवाह को छोड़कर, शोचनीय जन्म को प्राप्त कर लेगा। तात्पर्य यह है कि–यदि वह विवाह,दाम्पत्यसुख नहीं देगा तो,जन्म की निरर्थकताको धारण कर लेगा ॥१३३॥

यह राधा-कृष्ण का विवाह "अपना बोध करा कर,दूसरे का बोध कराना" इस प्रकारके उपलक्षण-वाला होने के कारण चन्द्रावली, ललिता, विशाखा आदि गोपियों के विवाह एवं अनुराग का निर्वाहक समझ लेना चाहिये। इसी अभिप्राय से "राधामाधवयोः" इस श्लोक का पूर्वार्ध इस प्रकार परिवर्तन कर देना कि—व्रजांगनाओं का श्रीकृष्ण के साथ विवाहपूर्वक जो दम्पतिभाव संघटित हुआ है, यह केवल गोपालचम्पू काव्य का ही निर्वाह करनेवाला कह कर विख्यात नहीं हैं, किन्तु इन में अनुराग का भी निर्वाहक है ॥१३४॥

अब कवि स्वयं प्रसंग को समाप्त करता हुआ कहता है कि—बहुतदिन पहले सम्पन्न हुए, एवं वर्तमान में वर्णन किये गये, इस विवाह के वृतान्त को सुनकर, वे दोनों राधा-कृष्ण तो विवाह करानेवाली उस रात्रि को मानो प्रत्यक्ष ही देखकर, एकान्तभवन में क्रीड़ा करने लग गये ॥१३५॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रिविरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते
श्रीमदुत्तरगोपालचम्पूकाव्ये श्रीराधामाधव-विवाह-निर्वाहकं नाम
पञ्चत्रिंशं पूरणं सम्पूर्णम् ॥३५॥

अथ षट्त्रिंशं पूरणम्

श्रीराधा-माधव-व्यतिषङ्गः

अथ तस्या एव रजन्याः श्रीराधा-माधवसभाकथा पृथक् प्रथ्यते। यत्र मधुकण्ठ-स्निग्धकण्ठावनुक्रमेणाहतुः स्म,—"तदेवं स्थितेऽपि, हरिणा सह हरिणीनेत्राणाममूषां मिलनयुक्तिर्न मीलिताऽऽसीत् ॥१॥

"यतः, संकोचकारणशते विगतेऽपि कुल्य,-स्त्रीपुंसयो रुचिभृतोर्व्यतिसङ्गमाय।
लज्जा तु तत्र कलयाऽपि कृतानुषङ्गा, सर्वं व्यतीत्य सहसा जडतां तनोति ॥२॥

"यथा हि—बाढं प्रागौपपत्यभ्रममनु तदिदं तर्कयेत् कोऽपि नेति
श्रीगोपीगोपराजात्मजमिथुनकुलं जानदाक्रीडदेव।
संप्रत्युद्वाहतः स्याद् विदितमिति विदत् तन्मुहुर्लज्जमानं
क्रीडायां सुष्ठु सज्जत्यपि मनसि मिथः शश्वदौदास्यमाप ॥३॥

"श्रीव्रजेश्वरी तु तत्तन्नाम्ना शय्यामात्राणि तासामाशापात्राणि सज्जयति स्म। तथापि

छत्तीसवाँ पूरण

श्रीराधा-माधव का परस्पर मिलन

इस छत्तीसवें पूरण में श्रीकृष्ण, राधिका, ललिता विशाखा, एवं चन्द्रावली आदि का परस्पर मिलन वर्णित होगा। पूर्वोक्त पूरण के अनुसार श्रीकृष्ण के साथ सब गोपियों का शुभविवाह सम्पन्न हो जानेपर, श्रीराधिका आदि गोपियों का निश्चिन्तरूप से, श्रीकृष्ण के साथ मिलन वर्णन करने के लिए उपक्रम करते हैं। यथा—अब विवाह को सम्पन्न करनेवाली उसी रात्रि की, श्रीराधा-माधव की सभा की कथा पृथक् कहते हैं, जिस कथा में मधुकण्ठ एवं स्निग्धकण्ठ, ये दोनों कथावाचक क्रमानुसार बोले—ऐसी स्थिति में भी, अर्थात् विवाह हो जानेपर भी, श्रीकृष्ण के साथ हरिणलोचना उन गोपियों के मिलन की युक्ति संगत नहीं हो पाई ॥१॥

कारण—संकोच के सैंकड़ों कारण दूर हो जानेपर भी, सत्कुल में उत्पन्न होनेवाले स्त्री पुरुषों के लिए, परस्पर मिलने की रुचि से युक्त होनेपर भी, उस परस्पर के मिलन में किंचिद् भी सम्बन्ध रखनेवाली लज्जा तो सब प्रयत्नों को लाँघकर सहसा (बलपूर्वक) जड़ता को ही बढ़ा देती है ॥२॥

देखो, श्रीकृष्ण के मथुरागमन से पहले, उपपतिभाव के भ्रम को लक्ष्य बनाकर, कोई व्यक्ति इस परस्पर के मिलन का अनुसन्धान न कर ले, यह निश्चय करके श्रीराधिका आदि गोपी एवं गोपराजकुमार श्रीकृष्ण, इन सब की युगलजोड़ियों का समुदाय जानता हुआ ही क्रीडा करता रहा। किन्तु अब विवाह हो जाने के कारण वह परस्पर का मिलन विदित हो जायगा, यह जानकर बारंबार लज्जा करता हुआ, परस्पर निरन्तर की क्रीडा में मन के भली प्रकार लग जानेपर भी, परस्पर निरन्तर उदासीनता को प्राप्त हो गया ॥३॥

किन्तु व्रजेश्वरी श्रीयशोदा तो "यह राधिका की शय्या है, यह चन्द्रावली की शय्या है," इस प्रकार

तत्र तत्र सुतस्याऽनासज्जनं श्रवसि सज्जयन्ती त्रपाकृपाभ्यां कृपणमना बभूव। तदेवं स्थिते सप्रेयस्यास्तस्य मनः पुनरविकलविकलतामप्यतलस्पर्शितया कलयति स्म ॥४॥

"तत्र प्रत्येकं प्रेयसीनां यथा—

मिथ्याऽभूत् तस्य मादृश्युपपतिरिरिति गीर्नैव संकोचचर्या
सङ्गस्तस्मिन् कथं स्यादिति पशुप-रमावृन्दमागाज्जडत्वम्।
लज्जां मार्ष्टुं सहायानपि विदधदमूमेव पर्येति पर्यग्
यस्मिन् किं तत्र कुर्याद् यदपि हृदि जनस्तृष्णया धृष्णगस्ति ॥५॥

"पुनश्च तासामेव—अपयाते भयजाते, स्वयमथ साम्राज्यमागता लज्जा।
स्त्रीत्वादिव नः स्त्रीणां, मर्म ज्ञात्वा विमर्दयत्यभितः ॥६॥

"श्रीमत्प्रेयसश्च यथा—हा मद्विश्लेषदूनाः कृतपरिणयना एव सङ्गं मयाऽमू-
र्नायाता ह्रीर्वराकी भवति जगति का हन्त विघ्नुर्जनन्यः।
त्यक्ष्यन्ति प्राणकांस्ताः किमहह करवै स्रोतसोः सङ्गमान्त-
र्घूर्णायां घूर्णमानः किमपि न हि मनाग् धीरतां धारयामि ॥७॥

उन उन के नाम से, उन गोपियों की आशा की आधारस्वरूप शय्यामात्र को सजवा देती थी। तथापि उस उस शय्यापर अपने पुत्र की अनासक्ति को कान में लाकर, लज्जा एवं कृपा के द्वारा दीन मनवाली हो गई। अतएव ऐसी स्थिति में प्रियतमा गोपियों के सहित श्रीकृष्ण का मन सम्पूर्ण विकलता को भी अथाह-रूप से प्राप्त हो गया ॥४॥

वहाँपर प्रत्येक प्रियतमा की विकलता का वर्णन, यथा—मुझ जैसे जनपर श्रीकृष्ण का "उपपति भाव है" इस प्रकार की वाणी तो विवाह के द्वारा मिथ्या हो गई, किन्तु संकोच करना कभी भी मिथ्या नहीं हुआ। अतः "श्रीकृष्णमें मेरा संयोग किस प्रकार होसकेगा?" यह विचार कर गोपांगनारूप लक्ष्मियों का समूह जड़ता को प्राप्त हो गया। और लज्जा को दूर करने के लिए अनेक सहायक बनाता हुआ भी, गोपीसमुदाय सर्वतोभाव से लज्जा को ही प्राप्त हो जाता था। एवं श्रीकृष्ण के जिस संयोग में गोपीजन-मात्र अपने अपने मन में तृष्णा से यद्यपि धृष्णग् (ढीठ) है, तथापि वैरिणी लज्जा के कारण उस संयोग के विषय में क्या उपाय करे? ॥५॥

फिर भी श्रीकृष्णप्रियागोपियों की विकलता का वर्णन, यथा—भयसमूह के दूर चले जानेपर, अब स्वयं साम्राज्य को प्राप्त हुई लज्जा, मानो स्त्री होने के नाते, हम सब स्त्रियों के मर्म को जानकर, चारों ओर से हमारा मर्दन कर रही है ॥६॥

श्रीमान् अतिशय प्यारे श्रीकृष्ण की विकलता का वर्णन, यथा—हाय! मैंने जिन के साथ विवाह किया है, वे गोपियाँ मेरे वियोग से सन्तप्त होकर भी, मेरे सङ्ग को नहीं प्राप्त कर पाई हैं। क्योंकि तुच्छ लज्जा ही बीच में कारण बन जाती है। हाय! संसार में कौन सी माताएँ यह बात जानती हैं कि "हमारी कन्या लज्जा के कारण अपने पति का संग नहीं पा रही है?" अर्थात् कोई नहीं जानती है। यदि जानती होती तो उसका उपाय भी करतीं। अतः वे गोपियाँ मेरे विरह में प्राणों का त्याग देंगी। हाय! इस विषय में मैं क्या करूँ? मैं तो जल के दो प्रवाहोंके संगम के बीच में होनेवाली भँवरों में चक्कर काटता हुआ, कुछ किंचिद् भी धीरता को नहीं धारण कर रहा हूँ ॥७॥

ताथं मां नाथमानास्ता विजह्यु र्नान्यथा व्यथाम् ।
राधा मद्बाधसंबाधा प्राणबाधां तु यास्यति ॥८॥

"तदेवं स्थिते वृन्दा तु पौर्णमास्या मन्त्रं विन्दमाना स्ववचसा यन्त्रयितुं तदिदं श्रीगोविन्दं रहसि निवेदयामास,—'हन्त ! पूर्वं लोकधर्मयोर्मर्मबाधा भवतीति भवता तथा तथा व्यवसितम् ; संप्रति तु तदुभयं किमिव न संप्रतीक्षते ?' ॥९॥

"श्रीकृष्णः सावहित्थमाह,—'कथमिव ?' वृन्दोवाच,—'स्वयं जानतापि भवता कथमजानता विद्यते ? तासां दुःसहजीवननिर्वहणता पुनरस्मत्प्राणविरहमावहति ।' श्रीकृष्ण उवाच,—'नाद्याऽपि ताभिः किं सुखमभाजि ?' वृन्दाह,—'अभाजि' इति सत्यमेव, किन्तु भञ्जेः रूपमिदम्, न तु भजेः ।' श्रीकृष्ण उवाच,—'दुःखसदनादाकृष्टा एव तास्तर्ह्यद्यापि कथं हृष्टा न विद्यन्ते ?' ॥१०॥ वृन्दा सप्रणयरोषमुवाच,—

'वाडवाग्निः सुधाब्धिर्वा न तासां स स उच्यते ।
किन्तु तौ ते क्रमात् कृष्ण ! विश्लेषः श्लेष एव च ॥'११॥

अतः मुझ प्राणनाथ की याचना करती हुई वे गोपियाँ, मेरे मिलन के बिना मानसी व्यथा को नहीं त्यागेंगी । और राधिका तो मेरे वियोग की पीड़ा से युक्त होकर, प्राणों की बाधा को प्राप्त हो जायगी ॥८॥

ऐसी स्थिति में पौर्णमासी के गुप्तविचार को प्राप्त करके, वृन्दादेवी ने तो अपने वचन के द्वारा, श्रीकृष्ण को वश में करने के लिए एकान्त में यह निवेदन किया कि—हाय ! भगवन् ! विरह से पहले तो "लोक एवं धर्म के मर्म की बाधा हो रही है" इसलिए आपने लोक, एवं धर्म के अनुसार उस उस प्रकार का व्यवहार किया सो ठीक है, किन्तु अब गोपियों के साथ विवाह हो जानेपर तो, आप उन दोनों की प्रतीक्षा किस प्रकार नहीं कर रहे हो ? ॥९॥

श्रीकृष्ण अपने आकार को छिपाकर बोले—लोक एवं धर्म की किस प्रकार प्रतीक्षा नहीं कर रहा हूँ ? वृन्दा बोली—आप स्वयं जानकर भी अनजान क्यों बन रहे हो ? देखो, उन गोपियों के दुःसह जीवन के निर्वाह का भाव पुनः हमारे प्राणवियोग को उपस्थित कर रहा है । श्रीकृष्ण बोले—उन गोपियों ने (मेरे साथ विवाह होनेपर) आज भी सुख नहीं पाया है क्या ? । वृन्दा बोली—'अभाजि' अर्थात् प्राप्त किया है, यह बात तो सत्य है, किन्तु यह 'अभाजि' रूप तो 'भञ्जो आमर्दने' धातु से बना है, किन्तु 'भज सेवायां' धातु से नहीं बना है । तात्पर्य—उन का सुख तो चूरचूर हो गया है । श्रीकृष्ण बोले–अपने को उन गोपियों के पति माननेवाले गोपों के दुःखमय घर से मैंने विवाह के द्वारा उन गोपियों को अपनी ओर खींच लिया है, तब आज भी वे हर्षित क्यों नहीं हैं ? ॥१०॥

वृन्दा प्रणयकोपपूर्वक बोली—उन गोपियों के पक्ष में—दाहकारी होने के नाते वह वडवानल, वडवानल नहीं है, एवं सुखजनक कहकर अमृत का समुद्र, अमृतसमुद्र नहीं है । किन्तु हे कृष्ण ! वे दोनों क्रम से इस प्रकार हैं कि, तुम्हारा वियोग ही उनके पक्ष में वडवाग्नि है, एवं तुम्हारा संयोग ही अमृत-समुद्र है ॥११॥

"ततः संप्रति विश्लेषं प्रति तु—

स्तंभे भद्रा निमग्ना वपुरनु चलने श्यामला लोमहर्षे
शैव्याऽक्ष्णोर्वारि पद्मा वचनविकलने स्थेम्नि चन्द्रावली सा।
घर्मस्यन्दे विशाखा सितिमनि ललिता लीनतायां च राधे-
त्यष्टाभिर्बाढमष्टावुदरमभिकृताः प्राणनाथेन रक्ष्याः ॥१२॥

"तदेवं रहसि निविशमानेन तेनाऽनेनाऽभिनिविशमानया देव्या सह संवादे व्याकृते कर्तव्यताबाधेन मनसि प्रत्याहृते मधुमङ्गलेन सह सहसा पौर्णमासी समाससाद। आसद्य च तमाशीर्वादेन विशद्य बृन्दां प्रत्याह स्म,—'भवतीमेवान्विच्छन्ती तदेतन्मङ्गलसङ्गितां सङ्गतास्मि ॥'१३॥

"वृन्दा सानन्दमुवाच,—'आज्ञाप्यताम्।' पौर्णमासी उवाच,—'तदेतन्मम व्रजमङ्गलं प्रति निवेदनाय च संपत्स्यत इति पुरत एवास्य प्रथयामि। तथा हि—तदिदं मया व्रजराज्ञीं प्रति विज्ञापयितुं गतमासीत्। यत् खलु पूर्वं तदिदमपूर्वं संक्लृप्तम्; माधवेन राधादीनां दांपत्यसंपत्त्यनन्तरं मया लक्ष्मीनारायणाऽऽराधनं साधयितव्यम्; तच्च तन्निर्विशेषदंपत्या-राधनतः' इति ॥१४॥

"वृन्दाह,—'ततस्ततः?' पौर्णमासी उवाच,—'ततश्च तया सन्तुष्य मम वचनमपुष्यत;

अतः अब आप के वियोग में भद्रासखी तो स्तम्भभाव में निमग्न है, एवं श्यामला शरीर में चलने-वाले रोमांश्च में, शैव्या नेत्रों के जल में, पद्मा स्वरभङ्ग में, वह प्रसिद्ध चन्द्रावली अतिशय स्थिरता में, विशाखा स्वेदजल में, ललिता शुक्लभाव में, एवं राधिका मूर्च्छा में निमग्न है। इस प्रकार आपकी आठों प्रियतमाएँ आठ प्रकार केभात्रों के द्वारा उदरमें डाली हुई हैं। आप उनके प्राणनाथ हो,आपके द्वारा वे रक्षा करने योग्य हैं, अतः आप उनकी रक्षा कीजिये ॥१२॥

ऐसी स्थिति में एकान्त में बैठे हुए इन श्रीकृष्ण के द्वारा, एकाग्र चित्तवाली वृन्दादेवी के साथ संवाद प्रकाशित हो जानेपर, एवं कर्तव्यता की बाधा से मन निश्चल हो जानेपर, पौर्णमासीदेवी मधुमङ्गल के साथ सहसा आ गई। और आते ही आशीर्वाद के द्वारा स्वच्छ बनाकर या बढ़ाकर, वृन्दा के प्रति बोली—तुम इन श्रीकृष्णरूप मङ्गल का सङ्ग पाकर विद्यमान हो, मैं तुम को ही चाहती हुई तुम से आ मिली हूँ ॥१३॥

वृन्दा आनन्दपूर्वक बोली—आज्ञा दीजिये। पौर्णमासी बोली—यह मेरा जो कुछ कहना है, वह व्रज के मङ्गलस्वरूप श्रीकृष्णके प्रति निवेदन के लिए भी सम्पन्न (सिद्ध) हो जायगा। इसलिए इन श्रीकृष्ण के आगे ही कहती हूँ। देखो, मैं व्रजरानी यशोदा के निकट यह बात निवेदन करने को गई थी कि, मैंने पहले ही यह अपूर्व बात संकल्पित कर दी थी कि, श्रीकृष्ण के साथ श्रीराधिका आदि गोपियों की दम्पति भाव (विवाह)रूप सम्पत्ति के अनन्तर, मैं लक्ष्मी-नारायण का आराधन सिद्ध कराऊँगी, वह आराधन भी निर्विशेष (सर्वोत्कृष्ट)दम्पति के द्वारा आराधन से ही सिद्ध कराना होगा ॥१४॥

वृन्दा बोली—उसके बाद,उसके बाद? पौर्णमासी बोली—उसके बाद यशोदा ने सन्तुष्ट होकर, मेरे

तदिदमच्छमपृच्छ्यत च,–तादृशदंपती च कावत्र परामृश्येते ?' ततो विहस्य मया रहस्यमुक्तम्, यद् दांपत्यसंपत्यर्थं तत्रैव तन्निर्विशेषता प्रतिपद्यते, नान्यत्र' इति ॥१५॥

"वृन्दाह,–'ततस्ततः ?' पौर्णमासी उवाच,–'ततश्च व्रजपति-पत्नी तदेतन्निशम्य रम्यमिदमाह स्म,–कुत्र किं यावत्तदाराधनमिति । अथाऽहमवोचम् निर्जनवनमनु मासमेकं यावत्' इति । वृन्दाह,—'तत् किमाज्ञापितं व्रजराज्ञ्या ?' पौर्णमासी सस्मितमुवाच,—'किं राधादिश्वश्रूम्मन्यचरवृद्धावदियमपि दुःसाधा ? परन्तु यथा मदिच्छा, तथैव हि तदिच्छा स्यात् ।' वृन्दाह,–'विस्तीर्य तदाराधनमुदीर्यताम् ॥'१६॥ पौर्णमासी उवाच—

'प्रातः श्रीव्रजराजदम्पतिसमाज्ञप्त्या हरिं राधिका-
द्याभिः सङ्गतमानयन्त्यनुदिनं पूज्यं विधास्ये दिनम् ।
सन्ध्यायां च तथा निशामिति यथा पक्षद्वयं पूरितं
स्यादेवं सुरहःस्थलं प्रति तदभ्यर्चा विधेया मया ॥'१७॥

"वृन्दा पुनरतिसानन्दमाह,—'अधुना किमाज्ञाप्यते ?' पौर्णमासी उवाच,–आज्ञाप्यत इति कथमुच्यते ? किन्तु भवदीशिताऽयं विज्ञाप्यते । यथा नाऽनन्याश्रितजनस्य मनस्ययं सिद्धकल्पः सङ्कल्पः प्रणश्यति ॥'१८॥

वचन की पुष्टी कर दी, एवं यह निर्मल बात पूछी कि "आप इस व्रज में लक्ष्मी-नारायण के आराधन के योग्य उस प्रकार के कौन से दम्पति (पति-पत्नी) विचार में ला रही हैं ? उसके बाद मैंने हँसकर रहस्य (गोपनीय विषय) कह दिया कि—दम्पतिभाव को सम्पत्ति के लिए श्रीराधा कृष्ण में ही वह निर्विशेषता (सर्वोत्कृष्टता) ज्ञात होती है,अन्यत्र नहीं अर्थात् श्रीराधा-कृष्णरूप दम्पति ही विचार में आ रहे हैं ॥१५॥

वृन्दा बोली—उसके बाद, उसके बाद ? पौर्णमासी बोली—उसके बाद व्रजराज की पटरानी यशोदा ने यह बात सुनकर यह रमणीय वचन कहा कि—वह आराधन कौन से स्थानपर होगा, एवं कितने दिनतक होगा, तथा किस प्रकार का है ? पश्चात् मैं बोली कि—वह आराधन निर्जन वन में एक महीना-तक होगा। वृन्दा बोली—तो व्रजेश्वरी ने क्या आज्ञा दी ? पौर्णमासी मन्दहास्यपूर्वक बोली—श्रीकृष्ण के साथ विवाह होने से पहले, जो अपने को राधिका आदि की सास मानती थीं, उन जटिला आदि बुढियाओं की तरह यह यशोदा भी दुःसाध्य है क्या ? अपितु, नहीं। किन्तु जैसी मेरी इच्छा होती है, उसी प्रकार यशोदा को भी इच्छा हो जाती है, यह निश्चित बात है । वृन्दा बोली—लक्ष्मी-नारायण का वह आराधन विस्तारपूर्वक कहिये ॥१६॥

पौर्णमासी बोली—प्रात:काल श्रीव्रजराज एवं व्रजेश्वरी की अनुमति से, श्रीराधिका आदि गोपियों से सम्मिलित श्रीकृष्ण को वन में लाती हुई, मैं दिनभर निरन्तर श्रीलक्ष्मी-नारायण की पूजा करवाऊँगी। उसके बाद सन्ध्या के समय एवं रातभर पूजा करवाऊँगी। जिस प्रकार दोनों पक्ष पूरे हो जायँ,उसी प्रकार सुन्दर एकान्त स्थल में, मैं श्रीलक्ष्मी-नारायण की पूजा का विधान करवाऊँगी ॥१७॥

वृन्दा पुन: विशेष आनन्दपूर्वक बोली—आप अब क्या आज्ञा दे रही हैं ? पौर्णमासी बोली—आज्ञा दे रही हो, ऐसा क्यों कहती है ? किन्तु तुम्हारे स्वामी इन श्रीकृष्ण को जना रही हूँ कि—आप उस प्रकार

"श्रीकृष्णः सस्मितमाह,—'यथा न मम सङ्कोचः स्यात्तथा रोचनीयम् ।' पूर्णिमाह,—'अरविन्दाक्ष ! मन्दाक्षं खलु नाम्ना मन्दाक्षमेव, तदादरः कथमानन्दाय कल्पताम्, मया च तदेतद् भवदसंकोचरोचनार्थमेव पर्यालोचनं कृतमस्ति, तस्मादन्यथा न शोचनीयम् ।।'१६।।

"श्रीकृष्णः प्राह,—'सर्वान् हित्वा कुत्रचिदेकत्र स्थाने स्थाने स्थाने संकोचः स्यादेव ।' पूर्णिमाह,—'तदेतदपि प्राज्यपूजायां तदनुज्ञासाम्राज्यमसंकोचार्थमेव तत्र प्रार्थितम् । भवता तु दिवा गोचारणं संभवता नक्तं चाऽव्यक्तं कुत्र कुत्रचिद् भवता पुरा यथा वर्गकोटिसंसर्गः समाधीयते स्म, संप्रति च तथा समाधातव्य एव ।।'२०।।

"अथ तदेतन्निशम्य रम्यस्मिततया मौनमालंबमाने वनमालिनि वृन्दा तदिङ्गितमपाङ्गसङ्गि विधाय सानन्दमुवाच,—
'जीयाद् गोकुलजीवातुस्तारकाशोभनोदयः । श्यामानन्दिस्वच्छपक्षः श्रीराधाराधचन्द्रमाः ।।'२१

प्रयत्न कीजिये कि, जिस प्रकार आप के अनन्य शरणागत जन के मन में, यह प्रायः सिद्ध हुआ संकल्प नष्ट न हो ।।१८।।

श्रीकृष्ण मुसकाकर बोले—जैसे मुझे संकोच न हो उसी प्रकार प्रकाशित कर दीजिये । पूर्णिमा बोली—हे कमलनयन ! मन्दाक्ष अर्थात् लज्जा तो निश्चय ही नाम से भी मन्दाक्ष, अर्थात् बुरी आँखोंवाली ही है । अतः उस लज्जा का आदर करना, किस प्रकार आनन्द के लिए समर्थ हो सकता है ? मैंने भी आप के इस असंकोच को प्रकाशित करने को ही विशेष विचार कर लिया है । अतः वृथा शोच न कीजिये ।।१६।।

श्रीकृष्ण बोले—सब जनों को छोड़कर, किसी एक स्थानपर रहने में, उचित संकोच अवश्य ही होगा । पूर्णिमा बोली—यह बात भी श्रीलक्ष्मी-नारायण की अधिक पूजा के विषय में, श्रीयशोदा आदि की अनुमतिरूप साम्राज्य, तुम्हारे संकोच के अभाव के लिए ही यशोदा के निकट माँग लिया है । और आपने भी मथुरा जाने से पहले, दिन में गोचारण में संलग्न होकर, एवं रात में गुप्तरूप से किसी किसी स्थानपर रहकर, जिस प्रकार करोड़ों गोपीवर्ग के संसर्ग का समाधान किया था, उसी प्रकार अब भी अपरिमित गोपियों के संसर्ग का समाधान करना ही होगा ।।२०।।

यह बात सुनकर श्रीकृष्ण मनोहर मुसकानपूर्वक जब चुप हो गये, तब वृन्दादेवी ने श्रीकृष्ण के इशारे को अपने नेत्रप्रान्त में मिलाकर आनन्दपूर्वक कहा कि—श्रीराधिका के द्वारा आराधित श्रीकृष्णरूप उस चन्द्रमा की जय हो कि, जो कृष्णरूप चन्द्रमा गोकुल के,अर्थात् व्रजवासियों के जीवनकी औषधिस्वरूप है, एवं तारका नामक गोपी के निकट जिसका सुन्दर उदय होता है, तथा जिसका अपना निर्मलपक्ष श्यामा नामक गोपी को आनन्दित करनेवाला है, श्लेष के द्वारा चन्द्रपक्ष में यह अर्थ है कि—श्री अर्थात् शोभा की, राधा अर्थात् सम्यक् सिद्धि से युक्त जो राध, अर्थात् वैशाख का जो चन्द्रमा है, उसकी जय हो । यह चन्द्रमा गो कुल का, अर्थात् किरणसमूह का आश्रय अथवा ओषधीश कहाने के नाते, घासफूस को पुष्टि करने के कारण, गोगण की जीवनौषधिस्वरूप है । तारागणों के सहित उसका सुन्दर उदय होता है, एवं श्यामा अर्थात् रात्रि को आनन्दित करनेवाला जिसका शुक्लपक्ष है ।।२१।।

"पुनरपि सगद्गदमाह,—'भगवति ! कदा तदिदमुपक्रमणीयम् ?' पूर्णिमाह,—'अद्य सन्ध्या यथा न बन्ध्या स्यात्तथा क्रमणीयम् ।' वृन्दाह,—'मय्याज्ञाप्यताम्, यथा पुष्पसमयेऽस्मिन् समये प्रतिपुष्पकुंजं तदाराधनधनानि समाचीयन्ते ।' पूर्णिमाह,—'मम निष्किञ्चनायास्त्वमेव काञ्चनमिति किमधिकमाज्ञाप्यताम् ।।'२२।।

"वृन्दा सस्मितमाह,—'पूर्ववदेव सच्छलाभिसारादिरीतिरायाताऽस्तीति तद्विशेषश्चाज्ञाप्यताम् ।' पौर्णमासी उवाच,—'यथा मन्त्रः कृतस्तथा निर्यन्त्रणं मया सोऽयमभिसारयितव्यस्त्वया तु सर्वसामञ्जस्याय साधारणतया सर्व एव श्रीराधादिगणः' इति ।।२३।।

"अथ वृन्दा स्वमनः प्रत्याह,—'अत्र चेयं दांपत्यनीतिरित्थमप्यदांपत्यरीतिं तिरस्करोति ।।२४।। यतः,

पत्न्याः सङ्गे विविक्ताङ्गे शुचितां गच्छति त्रपा । परस्या भयनिन्दाभ्यां क्लिष्टे तद्रूपतां न तु ।।
अनाचारात्तथा गोप्याचाराल्लज्जा भवेन्नृणाम् । पूर्वा भयादभिन्नात्मा परा लज्जा परं मता ।।

वृन्दा फिर भी गद्गद होकर बोली—भगवति ! पूर्णिमे ! कहिये, वह श्रीलक्ष्मी-नारायण का आराधन कब आरम्भ करना चाहिये ? पूर्णिमा बोली—आज की सन्ध्या जिस प्रकार निष्फल न हो, उसी प्रकार आरम्भ कर दीजिये । वृन्दा बोली—मेरे निमित्त आज्ञा दीजिये कि जिस प्रकार इस वसन्तऋतु के समय में प्रत्येक पुष्पकुञ्ज में, श्रीलक्ष्मी-नारायण की पूजा के उपयोगी सभी द्रव्य एकत्रित कर दिये जायँ । पूर्णिमा बोली—मैं तो निष्किञ्चन (दरिद्र) हूँ, अतः मेरा तो तुम्हीं काञ्चन (सोना) हो । अतः अधिक क्या आज्ञा दूँ ? ।।२२।।

वृन्दा मुसकाकर बोली—श्रीकृष्ण के मथुरा जाने से पहले जिस प्रकार छल के सहित अभिसार की रीति थी उसी प्रकार छल से युक्त अभिसारकीरीति उपस्थित हो गई है । अतः उसकी विशेषता की आज्ञा दीजिये । पौर्णमासी बोली—मैंने तो जैसाविचार किया है, उसीप्रकार इन श्रीकृष्णको अभिसार कार्यमें प्रवृत्त करूँगी । तुमभी सब प्रकार सामञ्जस्य के लिए साधारणतापूर्वक श्रीराधिका आदि सम्पूर्ण गोपीगण का अभिसार करवा देना ।।२३।।

अनन्तर वृन्दा अपने मन के प्रति बोली—यहाँपर यह जो दम्पतिभाव की नीति है, वह अदम्पतिभाव की रीति (गुप्तरूप से दूसरे की स्त्री से मिलने की प्रथा) का तिरस्कार कर रही है ।।२४।।

कारण विविक्त (एकान्त एवं विशुद्ध) है अङ्ग जिस के, ऐसे अपनी पत्नी के सङ्ग में तो लज्जा शुचिता को (पवित्रता एवं शृङ्गारके भावको) प्राप्त हो जाती है । और एकान्तमें दूसरेकी स्त्री का जो सङ्ग है वह तो भय एवं निन्दा के द्वारा क्लेशयुक्त है, उस प्रकार के संग में तो वह लज्जा तद्रूपता को, अर्थात् पवित्रता को एवं विशुद्ध शृङ्गार के भाव को नहीं प्राप्त होती है ।।२५।।

मनुष्यों को परपत्नी गमनादिरूप अनाचारसे, तथा निजपत्नी गमनादिरूप गुप्त आचार के प्रकाशित होने से लज्जा हो सकती है, किन्तु पहली अर्थात् अनाचार से उत्पन्न हुई जो लज्जा है, उस का स्वरूप भय से अभिन्न है, अर्थात् भयस्वरूपा है । तात्पर्य—अनाचारमयी लज्जा में सदा भय ही बना रहता है । और अपनी पत्नी के साथ किये गुप्त आचार के प्रगट होनेपर होनेवाली दूसरी जो लज्जा है, वही वास्तविक लज्जा है । तात्पर्य—उस लज्जा से किसी प्रकार के भय की एवं निन्दा की सम्भावना नहीं है ।।२६।।

"ततश्च, शृङ्गारस्य भयानकेन मिलने हानिर्ह्रिया माधुरी
तस्य स्यादुदितेति सर्वकविभिर्बाढं कृते निर्णये ।
प्राचा सत्यमधर्मजा मिथुनता धत्ते वृता व्यग्रतां
धर्म्या चाऽपरया परन्तु कतरा रस्येति निर्णीयताम् ॥२७॥

'किञ्च, एके ह्रेपणमात्रा,-दितरे साध्या विभीषिकारचनात् ।
ज्ञाते तेषां तत्त्वे, विपरीतोपायमिच्छवः पृच्छ्याः ॥'२८॥

"तदेवं सति कादाचित्की भीस्तु भवतु नाम पूर्वं सप्रयोजनप्राया, पुनस्तु कदर्थना-मात्राऽभिप्राया स्यात् ॥२९॥

"यतः, नामूषां सहजानुरागविभुता भीनिर्मिता किन्तु भी-
र्लंघ्या स्यान्न तु वेति कौतुकमयज्ञानार्थमन्तःकृता ।
तज्ज्ञातं यदि धर्मसेतुदलनात्तस्याः पुनर्विस्तृतिः
शुद्धोऽप्यग्निपरीक्षयाऽग्निषु यथा स्थाप्येत तद्वन्मता ॥ इति ॥३०॥

उसके बाद भयानक रस के सम्मेलन में शृङ्गार रस की हानि हो सकती है, किन्तु लज्जा के सम्मेलन में शृङ्गार रस की माधुरी प्रगट हो जायगी । सभी कवियों ने जब यह निर्णय दृढ कर दिया, तब प्राचा वृता अर्थात् पहले भयानक रस से घिरो हुई,अधर्म से उत्पन्न हुई मिथुनता (मैथुन) व्यग्रता को धारण कर लेती है. यह बात सत्य है । और अपरया अर्थात् लज्जा के द्वारा घिरी हुई धर्म से युक्त जो मिथुनता है, वह अव्यग्रता को धारण करती है । परन्तु इन दोनों प्रकार की मिथुनताओं में से कौन सी रस लेने योग्य है, इस का निर्णय कर लीजिये ?॥२७॥

किंच कुछ उपाय तो केवल लज्जा के प्राप्त करानेमात्र से साध्य होते हैं, एवं दूसरे उपाय विभीषिका (भय) की रचना से, अर्थात् भय दिखाकर साध्य होते हैं । इस प्रकार उन सब उपायों के तत्व जान लेनेपर जो व्यक्ति इन उपायों के विपरीत छल आदि उपायों का प्रयोग करना चाहते हैं, उन्हीं पूछना चाहिये । क्योंकि वे छल आदि उपाय हमारे असाध्य हैं ॥२८॥

ऐसी स्थिति में कदाचित् होनेवाला भय यदि होता है तो भले ही होता रहे, क्योंकि विवाह से पहले वह भय प्राय: एकान्त में, नायक से नायिका के मिलानेरूप प्रयोजन से युक्त हो सकता है । किन्तु फिर भी अर्थात् विवाह के पीछे जो भय होता है, वह तो प्राय: कदर्थना (विडम्बना)मात्र के लिए हो सकता है, अर्थात् वह भय निरर्थक है ॥२९॥

कारण श्रीराधिका एवं चन्द्रावली आदि उन गोपियों के स्वाभाविक अनुराग का जो वैभव है, वह भय के द्वारा नही बनाया गया है, किन्तु "भय लाँघा जा सकता है अथवा नहीं" इस प्रकार के कौतुकमय ज्ञान के लिए वह स्वाभाविक अनुराग का वैभव, भय के बीच में कर दिया है । अत: उन गोपियों के स्वाभाविक अनुराग का वैभव यदि धर्म की मर्यादा के लाँघने से ही जब जान लिया गया, तब पुन: उन के लिए जो भय का विस्तार दिखाया जा रहा है, वह तो अग्निपरीक्षा के द्वारा शुद्ध सुवर्ण भी जिस प्रकार पुन: अग्नि में स्थापित किया जाता है, उसी प्रकार माना गया है ॥३०॥

"तदेवं सर्वेऽप्यानन्दनतामानन्दिततामपि विन्दमाना यथायथं पथन्ति स्म ॥'३१॥

अत्र स्निग्धकण्ठः प्रच्छन्नं पप्रच्छ,—"भ्रातः ! कथमस्या वर्षीयस्याः स श्यामलः सर्वलोकादिव लज्जां न सज्जति स्म ? न वा देवताभूदेवताभ्यां वृन्दामधुमङ्गलाभ्यामिति कश्चिदनुयोक्ष्यति, तत्र किमुत्तरं दातव्यम् ?" ॥३२॥

मधुकण्ठश्च तथा प्राह,—"भवान् खल्वेतन्नानुभवन्निव दृश्यते । पूर्णिमाऽसौ रासारंभे (भा० १०।२९।१) 'योगमायामुपाश्रितः' इति श्रीशुकनिर्दिष्टा सर्वत्र लीलापर्वणि तस्य विशिष्टा शक्तिरेव । वृन्दा तु वृन्दावनलीला, मधुमङ्गलश्चात्र श्रीनारदप्रकृतिर्नर्मप्रकृतिरेव" इति ॥३३॥

अथ स्पष्टमाचष्ट,—"श्रीव्रजराज्ञी तु तदशेषं श्रीव्रजराजं विज्ञाप्य सुतस्नुषाश्चाज्ञापयामास । व्रजवासिमात्राणां तत्र यात्रां च वर्जयामास । पौर्णमास्याः प्रभावभावनया न च तत्र भयादिकं भावयामास । पौर्णमासी च श्रीकृष्णमेवमनुज्ञाप्य तद् वधूरप्यनुज्ञापयामास । यत्र तासामभीप्सितसिद्धिमपि सूचयामास ॥३४॥ यथा—

इस प्रकार सुनकर सभी सभ्यजन आनन्दप्रद भाव एवं आनन्दयुक्त भाव को प्राप्त करते हुए यथा-योग्य अपने अपने मार्ग में चले गये ॥३१॥

इस विषय में स्निग्धकण्ठ ने गुप्तरूप से पूछा कि—भैयाजी ! वे श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण सर्वसाधारण जनों से जिस प्रकार लज्जा करते है, उसी प्रकार अतिशय वृद्धा इन पौर्णमासी से लज्जा क्यों नहीं करते हैं, एवं देवस्वरूप वृन्दा से तथा भूदेव (ब्राह्मण)स्वरूप मधुमङ्गल से भी लज्जा क्यों नहीं करते ? यदि कोई व्यक्ति इस प्रकार का प्रश्न करेगा, तो उस विषय में मुझे क्या उत्तर देना चाहिये ? ॥३२॥

मधुकण्ठ भी उसी प्रकार गुप्तरूप से बोला—भैया ! तुम तो मानो इस विषय का अनुभव न करते हुए से दिखाई देते हो । देखो, वह पूर्णिमादेवी तो रासलीला के आरम्भ में "श्रीकृष्ण ने योगमाया का आश्रय लेकर रासलीला की" इस प्रकार श्रीशुकदेवजी के द्वारा निर्दिष्ट सब प्रकार के लीलारूप उत्सव में श्रीकृष्ण की विशिष्टशक्ति ही है,अर्थात् शक्ति, शक्तिमान् से भिन्न नहीं होती, अतः उन से लज्जा करने की कोई बात ही नहीं, एवं वृन्दादेवी तो वृन्दावन की लीलामयी शक्ति है, तथा मधुमङ्गल यहाँपर श्रीनारद-स्वरूप है, अथवा श्रीनारद की सी प्रकृतिवाला होने के कारण, परिहास के स्वभाववाला है, इसलिए उन दोनों से लज्जा नहीं होती है । तात्पर्य—नारदमुनि जिस प्रकार 'गोपालमन्त्र' आदि के ऋषि हैं, उसी प्रकार मधुमङ्गल भी श्रीकृष्ण की लीला के ऋषि हैं; अतः उन से लज्जा की सम्भावना नहीं है ॥३३॥

इतना कहने के बाद स्पष्ट अक्षरों में बोला—श्रीव्रजेश्वरी यशोदा ने तो उस समस्त समाचार को श्रीव्रजराज के प्रति निवेदन करके, अपनी पुत्रवधुओं से भी यह आज्ञा कर दी कि, तुम सब वन में जाकर पूर्णिमा की आज्ञानुसार देवता की पूजा करो । और उस वन में व्रजवासीमात्र का आना जाना भी वर्जित कर दिया । तथा पौर्णमासी के प्रभाव की भावना से उस वन में किसी प्रकार के भय आदि की सम्भावना भी नहीं की । पौर्णमासी ने भी श्रीकृष्णको इस प्रकार समझाकर, श्रीकृष्ण की बहुओं को भी समझा दिया और जिस समझाने में उनकी अभीप्सित (अभिलषित) सिद्धि भी सूचित कर दी ॥३४॥

पूजायामन्यस्यां, पूजाकर्तुः परं फलं कलितम् ।
पूज्यानामपि वस्तत्, परमं सद्यो भवेदत्र ॥३५॥

"अथ सा श्रीराधावर्गनिमन्त्रणं सद्य एव संपद्यमानमाचचार । चन्द्रावल्यादिकाः प्रति तु यथायथं ताराचन्द्रादिबल-प्रतीक्षां लक्ष्यं चकार । कृत्वा च मधुमङ्गलसङ्गता सन्ध्याताऽऽगमनायां तस्यां सन्ध्यायामेवाऽऽगत्य व्रजपत्यनुज्ञाऽनुसारतः कञ्जलोचनं निजकुञ्जमेवाऽऽपयामास । यत्र च मधुमङ्गलः श्रीमधुसूदनं रहसीदं सहासमुदितवान्,—'अद्य च यद्यब्जलोचन ! तमेव सङ्कोचं रोचयसि, तर्हि विवाहः कं निर्वाहं वहति स्म ?' श्रीकृष्णः सप्रणयरोषं तस्मिन् पाणिघातलेशं जोषयन्नाह,—'रे धृष्णक् ! तूष्णीमास्स्व' इति ॥३६॥

"अथ वृन्दा स्वकरेण पूर्वं कुञ्ज-वृन्दानां संचस्करे । तथा राधिकादिवृन्दं स्ववृन्द-सहिता सहिता सुमनःसंवृतिधीरयमुनानीरसमीर-सर्वलोभास्पदशोभापुंजं कुञ्जविशेषं सञ्जयामास ॥३७॥ तत्र श्रीकृष्णस्य गमनं यथा—

पीतांबराऽऽवृततनुस्तनुयष्टिपाणि,-र्वेणुप्रवेशरुचिसङ्करशृङ्खलश्रीः ।
कृष्णः करेण कलयन् मधुमङ्गलांसं, प्रेम्णाऽनुपूर्णिममगादथ तन्निकुञ्जम् ॥३८॥

यथा—दूसरी पूजा में, पूजा कर्ता को केवल फल ही देखा जाता है, किन्तु तुम सब तो स्वयं पूज्य हो, अतः तुम्हारे द्वारा की गई देवपूजा में तो वह परमफल तत्काल उपलब्ध हो सकता है ॥३५॥

पश्चात् पौर्णमासी ने श्रीराधिका के वर्ग का निमन्त्रण तत्काल ही सम्पन्न कर दिया। और चन्द्रावली आदि गोपियों के प्रति तो नक्षत्र एवं चन्द्रमा आदि के बल की प्रतीक्षा लक्षित कर दी। अर्थात् आज तुम्हारे लिए नक्षत्र एवं चन्द्रबल ठीक नहीं घट रहा है, जब संघटित होगा, तब तुम्हारा भी देवपूजा के लिए निमन्त्रण करूँगी, तबतक प्रतीक्षा करो, यह बात दिखा दी । इस प्रकार प्रतीक्षा को लक्षित करा कर, मधुमङ्गल से सम्मिलित होकर, जिस संध्या के आने का ध्यान किया था,उसी सन्ध्या के समय आकर, श्रीव्रजराज की आज्ञा के अनुसार कमलनयन श्रीकृष्ण अपनी कुञ्ज में ही पहुँचा दिये । जिस कुञ्ज में मधुमङ्गल, श्रीकृष्ण के प्रति एकान्तमें हास्यपूर्वक यह बोला कि—हे कमलनयन ! तुम यदि आज भी उसी संकोच को प्रकाशित कर रहे हो तो, उस विवाह ने कौन सा निर्वाह धारण कर लिया ? यह सुनकर श्रीकृष्ण प्रणयकोपपूर्वक मधुमङ्गल के ऊपर किञ्चित् हाथ का थप्पड़ लगाते हुए बोले—ओ ढीठ! तू चुप बैठा रह ॥३६॥

तदनन्तर वृन्दाने पहले अपनेहाथसे निकुञ्जवृन्दों का संस्कार कर दिया,अर्थात् सब निकुञ्ज सजा दीं, तथा अपने सेवकवृन्द के सहित हित से युक्त, वृन्दा ने श्रीराधिका आदि गोपीवृन्द को, एक विशेष कुञ्ज में पहुँचा दिया । वह कुञ्ज अनेक प्रकार के पुष्पों से घिरी हुई थी, एवं यमुनाजल के सम्बन्धवाली वायु धीरे धीरे उसके पास बह रही थी, अतः वह सब के लोभ की आधारस्वरूप शोभा के पुञ्ज से युक्त थी ॥३७॥

उस कुञ्ज में श्रीकृष्ण के जाने का वर्णन, यथा—अनन्तर श्रीकृष्ण, पूर्णिमा के पीछे पीछे प्रेम से उस निकुञ्ज में चले गये। उस समय उनका शरीर पीताम्बर से ढका हुआ था, हाथ में छोटा सा लकुट था, कटि तट में वेणु के प्रवेश से जो शोभा हो रही थी, उस शोभा से मिली हुई करधनी की शोभा प्रकाशित हो रही थी, एवं वे अपने हाथ से मधुमङ्गल के कन्धे को पकड़ कर चल रहे थे ॥३८॥

"तासां यथा—वसितनववनवांशुकप्रधाना, मणिकनकाभरणानुशिञ्जभाजः ।
मिषचितगुरुदिष्टिकृष्णमिष्टं, वरवनिताः सह वृन्दयाऽभिसस्त्रुः ॥३९॥

"अथाऽश्रमेण पूर्णिमाऽऽश्रमे गतमात्रे सर्वसुखपात्रे मधुरमुखारविन्दे गोविन्दे समूढरुचि-गूढकुञ्जपुञ्जस्थापितराधादिवृन्दा वृन्दा तत्र समयामास निशमयामास च तदिदम्,–'भगवति ! कथं विलंबमालंबध्वे ? कुञ्जसञ्जिता राधादयः खलु निदाघान्तक्रान्तचातक्य इव क्षणमपि चाऽशक्यप्राणधैर्यास्तवर्यन्ते' इति ॥४०॥

"अथ तदेतन्निशम्य वाष्पपूरितगलौ पूर्णिमा-मधुमङ्गलौ वचनविकलौ सविकारेण विलोचनाद्याकारेण कमललोचनमनुचलनाय याञ्चां कलयांबभूवतुः ॥४१॥ ततश्च,

राधां प्रति प्रतिपदं व्रजति स्म यर्हि, श्रीमान् विधुः क्रमवशात् क्रमते स्म तर्हि ।
तन्मासि माधवतया विदितेऽभिनीतं, स्यादित्थमेव किमु तद्वलितं चकार ॥४२॥

"गत्वा च कुञ्जानामुपरि सुमनोभिः सुमनोहरं मणिमयमित्रं चित्रं ददर्श । तले च तल्पादिभिराकल्पम्, न तु राधिकां तदाराधिकां वा । तदा च विस्मिततया विस्मिततया च तस्य परिस्पन्दं पश्यति, परिस्पन्दमपि विन्दमाने श्रीगोविन्दे वृन्दा जगाद—॥४३॥

उसी कुञ्ज में श्रीराधिका आदि के जाने का वर्णन, यथा—श्रीराधिका आदि श्रेष्ठ वनिताएँ श्रेष्ठ, सूक्ष्म, एवं नवीन नवीन वस्त्रों को धारण कर, तथा मणिजटित सुवर्ण के आभरणों का शब्द करके, किसी बहाने से प्राप्त हुई माता पिता आदि गुरुजनों की आज्ञा से युक्त, प्रियतम श्रीकृष्ण के प्रति वृन्दादेवी के साथ चारों ओर से चली आई ॥३९॥

पश्चात् सभी सुखोंके आधारस्वरूप पूर्णिमा के आश्रम में मधुर मुखारविन्दवाले श्रीकृष्ण के अनायास आते ही, विशेष शोभा से युक्त निकुञ्जपुञ्ज में श्रीराधिका आदि के वृन्द को स्थापित करनेवाली वृन्दादेवी वहाँ चली आई । और आते ही यह वचन सुना दिया कि—हे भगवति ! आप विलम्ब का अवलम्बन क्यों कर रही हैं ? देखो, कुञ्ज में पहुँचाई हुई राधिका आदि गोपियाँ निश्चय ही ग्रीष्म के अन्त में ग्लानि से युक्त चातकियों की तरह, क्षणभर भी प्राणों को नहीं धारण कर सकती हैं, ऐसी बात विचार में आ रही हैं ॥४०॥

यह सुनते ही वाष्प से पूरित कण्ठवाले पूर्णिमा मधुमङ्गल ने कहने में असमर्थ होकर, विकारयुक्त अपने नेत्र आदि के आकार से कमलनयन श्रीकृष्ण के प्रति उसी कुञ्ज में चलने के लिए प्रार्थना की ॥४१॥

और उसके बाद श्रीमान् कृष्णचन्द्र,राधिका के प्रति जब पद पदपर चल दिये, तब चन्द्रमा भी शोभा से युक्त होकर वृद्धि को प्राप्त हो गया । "वैशाख नाम से प्रसिद्ध महीने में इसी प्रकार वृद्धि को प्राप्त होना अभिनीत (उचित) है" मानो यह जानकर ही चन्द्रमा ने उस वन को वेष्टित कर लिया था क्या ? ॥४२॥

और वहाँ जाकर उन कुञ्जों के ऊपर पुष्पों के द्वारा सुमनोहर अनेक मणियों से संयुक्त आश्चर्यमय एकचित्र देखा, एवं कुञ्जों के नीचे के भाग में शय्याओं की सजावट को अधिकता देखी, किन्तु वहाँपर

'नूनं राधिकादिकास्ताहशतया संस्कृतादस्मादकस्माच्छ्रीगोकुलराजकुलचन्द्राऽऽगमन-संभावनया संभृतान्निभृतात् कुञ्जाल्लज्जायां लब्धमज्जा मद्गमनाऽनन्तरं कृतनिःसज्जनाश्च संप्रति सम्यगेतस्मादस्मदुपलभ्यमान-तदीयसौरभ्यपूरे किञ्चिद्दूरे विश्रम्य वर्तन्ते ॥'४४॥

"पौर्णमासी उवाच,—'भवत्या तावन्मन्नाम्ना समाहूय ताः समागम्यन्ताम्, किंवा निशाम्य समागम्यन्ताम् ॥'४५॥

"अथ वृन्दा तथा विधाय पुनः पूर्णिमां सन्निधाय च सस्मितमाह स्म,—'किं ब्रुवे ? ताः खलु तथा लज्जां सज्जन्ति स्म, यथा गृह एव सज्जेयुः। परन्तु भवदाज्ञावज्ञाभयात् परमत्र भवतीं प्रतीक्षन्ते ; कथं मद्वचनादागचछन्तु ? ॥४६॥

'किन्तु, यदा विदूरे मुरशत्रुरासीत्, तदा तथा रीतिरदर्शि तासाम्।
अस्याऽधुना सौरभतर्पितानाम्,-मन्येति दूते किल धूर्तता स्यात् ॥'इति॥४७॥

"अथ तदेतन्निशम्य पूर्णमनाः पूर्णिमा तत्र सङ्क्रम्य रम्यमुखीरमूर्व्रीडितवतीरपि निजाऽऽम्रेडितबलादागमयामास ॥४८॥ अमूषामागमनं यथा—

श्रीराधिका नहीं देखी, तथा उनकी आराधना करनेवाली सखियाँ भी नहीं देखीं। उस समय श्रीकृष्ण मन्दमुसकान से रहित होकर, और चकित होकर, उस चित्र के परिस्पन्द (रचनाविशेष) को जब देख रहे थे, एवं परिस्पन्द (कम्प) को भी जब प्राप्त हो रहे थे,तब वृन्दा बोली—॥४३॥

श्रीराधिका आदि व्रजाङ्गनाएँ निश्चय ही उस प्रकार से सजाये हुए, एवं अचानक व्रजराज के कुल-चन्द्रमा श्रीकृष्ण के आगमन की सम्भावना से परिपूर्ण, तथा एकान्त प्रायः इस निकुञ्ज से थोड़ी सी दूरीपर विश्राम करके वर्तमान हैं, वे लज्जा में निमग्न हैं, और मेरे जाने के अनन्तर लज्जा में अधिक आसक्त हैं। अब तो इस निकुञ्ज से उन सब के शरीर की सुगन्धि हम को भलीप्रकार उपलब्ध हो रही है,अतः वे निकट ही हैं ॥४४॥

पौर्णमासी बोली—तुम मेरे नाम से बुलाकर उन राधिका आदिकों को लिवा लाओ, अथवा उनको देखकर लिवा लाओ ॥४५॥

अनन्तर वृन्दा ने उसी प्रकार करके पूर्णिमा के निकट आकर मुसकाते हुए यह कहा कि—मैं क्या कहूँ ?वे तो उस प्रकार लज्जा कर रही हैं कि, जिस प्रकार मानो घर में ही लौटकर चली जायँगी। परन्तु केवल आपकी आज्ञा के लंघन के भय से, इस विषय में आपकी प्रतीक्षा कर रही हैं, अतः मेरे वचन से कैसे आ सकती हैं ? ॥४६॥

किन्तु जब श्रीकृष्ण बहुत दूर थे, तब तो उन गोपियों की उस प्रकार की (श्रीकृष्ण के संग की लालसामयी) रीति देखी जाती थी। किन्तु अब श्रीकृष्ण के अङ्ग की सुगन्धि से तृप्त हुई, उन गोपियों की दूसरे प्रकार की रीति, अर्थात् लज्जा की प्रथा देखी जा रही हैं। इससे प्रतीत होता है कि, उनके निकट जानेवाले दूत के प्रति उनकी प्रतारणा हो सकती है। अतः वे मेरे कहने से नहीं आ सकती हैं, यह तात्पर्य है ॥४७॥

यह बात सुनकर पूर्णमनवाली पूर्णिमा वहाँ जाकर, मनोहर मुखवाली उन राधिका आदिकों को लज्जा से युक्त होनेपर भी, अपने दो तीन बार कहने के बल से लिवा लाई ॥४८॥

कृत्वा पुरस्तादथ पौर्णमासी,-मानम्रमूर्धा मृदुचञ्चदंघ्रिः ।
राधाप्रधानाऽऽगमदालि-पालिः, स यत्र कान्तस्त्विषमातनोति ॥४९॥

"तत्र च तरङ्गिणीपतिना तरङ्गिण्य इव त्रियामारमणेन त्रियामा इव सुमनःसमयेन सुमनस इव षड्जादिस्वरजातेन तदीयजातय इव विद्युत्वता विद्युत इव तेन मिलन्त्यस्ताः परस्परं परंपरमपि रुचिवैभवं बिभ्रति स्म ॥५०॥ मिलित्वा च—

अन्यत्र नेत्रे यदपि व्यसारयत्, प्रियाऽवलिः सा च हरिश्च तत्प्रियः ।
तथापि दृष्टिर्विततान धृष्टतां, ग्रीवां च कृष्टां व्यतनिष्ट याऽण्वपि ॥५१॥

"तदेवं सति तूर्णितमनाः पूर्णिमा तु जायाधवौ तावथ राधामाधवौ सनीतिभिर्याचनाचणरीतिभिरेकाऽऽसनगतौ विततान ॥५२॥ यत्र च—

एकस्मिन्नासने तन्मिथुनमुपविशन्नीलपीतद्युतीना-
मिन्द्राभं संक्रमेण च्छविविनिमिततां धारयद् धूतभेदम् ।
पश्यन्ती पौर्णमासी परिचयबुधतामाशु सा न व्रजन्ती
दण्डार्धं खण्डबुद्धिः पृथगुपचरितुं तत्र चित्रायते स्म ॥५३॥

उन के आगमन का वर्णन,यथा—पौर्णमासी के कहने के बाद विनम्र मस्तकवाली एवं कोमल चरणों से चलनेवाली श्रीराधिका आदि सखियों की श्रेणी,पौर्णमासी को आगे करके वहाँपर चली आई कि, जहाँ–पर वे प्रियतम श्रीकृष्ण अपनी कान्ति का विस्तार कर रहे थे ॥४९॥

और वहाँपर समुद्र के साथ मिलनेवाली नदियों की तरह, रात्रिपति चन्द्रमा के साथ मिलनेवाली रात्रियों की तरह, वसन्त के समय के साथ मिलनेवाली मालती पुष्पों की तरह, एवं षड्ज आदि स्वर–समुदाय के साथ मिलनेवाली उनकी जातियों की तरह,तथा मेघ के साथ मिलनेवाली बिजलियों की तरह, श्रीकृष्ण से मिलती हुईं,उन गोपियों ने परस्पर उत्तरोत्तर कान्ति के वैभव को भी धारण कर लिया ॥५०॥

और श्रीकृष्ण से मिलकर श्रीराधिका आदि प्रियाओं की श्रेणी ने तथा उनके प्रिय श्रीकृष्ण ने यद्यपि अपने अपने नेत्र अन्यत्र विस्तारित किये थे, अर्थात् कुञ्ज आदि की शोभा के देखने में फैलाये थे, तथापि उन दोनों की दृष्टि ने धृष्टता (ढीठता) फैला दी; एवं जिस दृष्टि ने परस्पर के देखने के लिए कुछ ग्रीवा को भी खींच लिया, अर्थात् परस्पर की ओर गरदन भी झुका दी ॥५१॥

ऐसी स्थिति में शीघ्रता से युक्त मनवाली पौर्णमासी ने तो, पत्नी एवं पतिरूप उस राधा-माधव की जोड़ी को, नीति से युक्त प्रार्थना की प्रसिद्ध रीतियों के द्वारा, एक ही आसनपर विराजमान करा दिया ॥५२॥

और जिस एक सिंहासनपर बैठी हुई, एवं परस्पर की नील पीतवर्ण की कान्तियों के संसर्ग से, इन्द्रनीलमणि के समान होकर भेदरहित छवि (कान्ति) के परिवर्तन को धारण करती हुई "राधा-कृष्ण" की उस युगलजोड़ी को देखती हुई पौर्णमासी शीघ्रता से "ये श्रीकृष्ण हैं, ये श्रीराधिका हैं", इस प्रकार के परिचय के ज्ञान को न प्राप्त करती हुई, आधी घड़ीतक खण्डबुद्धि, अर्थात् विकल बुद्धिवाली होकर, वहाँपर अलग अलग सेवापूजा करने के लिए चित्रलिखी सी खड़ी रह गई ॥५३॥

"अथ कथमपि परिचयं वितत्य वृन्दायामुत्तरसाधकतामनुमत्य बृहद्गौतमीयविधि-विस्रब्धतया स्वाऽसाधारणभजनीयराधामाधवपूजामेवारब्धवती । पूर्वं हि लक्ष्मीनारायणपदं तद्व्यञ्जकताभाजनमेव व्याजहार ॥५४॥

"तत्र च नायिकाष्टकमनु स्पष्टगणनयोरपि ललिताविशाखयोस्तदावरणतामेव रुचिता-माचितवती । तथा हि, तयोस्तदेकहितयोरात्मनि निर्णयः—॥५५॥

'काश्चित्तं तु भजन्तु गोपनृपजं तेनाऽऽत्मनः शर्मणे
काश्चित्तस्य तथात्मना न तु वयं तत्तच्च बुध्यामहे ।
किन्तु श्रीगणलोभनीयमधुरश्रीभाजि तस्मिन् परां
राधा यत् परमौचितीं भजति तद्दृष्ट्या सुखं मन्महे ॥५६॥

"अथ सभाजनकर्णसुखदं सभाजनं वर्णयिष्यामः,—
विविधकुसुमक्लृप्तं तत्र संक्लृप्तमेषा, व्यतनुत हरिराधाऽऽराधनायाऽऽसनं तत् ।
कनकमणिजनीति प्राक् प्रतीतं दृशा यत्, तदनु परिचितं यन्नासया च त्वचा च ॥५७॥

उसके बाद किसी प्रकार अलग अलग पहचान कर,वृन्दा को पीछे को सहायता की अनुमति देकर,बृहद् गौतमीयतन्त्र की विधि में विश्वास होने के कारण, अपने असाधारण भजन करने योग्य श्रीराधा-माधव की पूजा ही प्रारम्भ कर दी । यदि कोई कहे कि पहले तो पौर्णमासी ने श्रीयशोदा के निकट श्रीलक्ष्मी-नारायण की पूजा करने को कहा था, अब अन्यथा अर्थात् उनके बदले में श्रीराधा-कृष्ण की पूजा क्यों आरम्भ कर रही हैं ? इसका उत्तर यह है कि—पहले श्रीलक्ष्मी-नारायण जो पद कहा था, वह तो श्रीराधा-कृष्ण की पूजा की प्रकाशकता का आधार समझ कर ही कहा था, अर्थात् पौर्णमासी के द्वारा कहा गया श्रीलक्ष्मी-नारायण पद "श्रीकृष्ण ही महानारायण हैं, एवं श्रीराधिका ही महालक्ष्मी हैं", इस बात की सूचना करनेवाला था ॥५४॥

और उस पूजा में भी "आठ प्रकार की नायिकाओंमें जो स्पष्ट गिनी जाती हैं"उन ललिता विशाखा को पूर्णिमा ने श्रीराधा-कृष्ण के प्रिय आवरणरूप से ही संचित कर दिया । कारण केवल श्रीकृष्ण ही जिनके हितैषी हैं, अथवा श्रीकृष्ण का हित करना ही जिनका लक्ष्य है, उन ललिता विशाखारूप दोनों सखियों के मानसिक निर्णय को देख लीजिये ॥५५॥

उन दोनों ने अपने मन में यही निर्णय किया था कि, कुछ गोपियाँ गोपराजकुमार (श्रीकृष्ण) के द्वारा अपने सुख के लिए,यदि गोपराजकुमार का भजन (सेवन) करती हैं, तो भले ही करती रहें, एवं कुछ गोपियाँ अपने द्वारा श्रीकृष्ण को सुख देने के लिए यदि उनका भजन करती हैं, तो करती रहो, उन से हमारा कुछ कहना नहीं है । किन्तु श्रीराधिका, लक्ष्मीसमूह को लुभानेवाली शोभा से युक्त श्रीकृष्ण के ऊपर जिस परम उचित व्यवहार का सेवन करती हैं, हम तो उस प्रकार के सेवन के दर्शन से ही सुख मानती हैं ॥५६॥

अब हम सभा में स्थित जनों के कानों को सुख देनेवाले सभाजन (पूजन) का वर्णन करेंगे । देखो, इन पौर्णमासीदेवी ने वहाँपर श्रीराधा-कृष्ण की आराधना के लिए, अनेक प्रकार के पुष्पों से बना हुआ वह आसन दिया था कि, जो पहले दृष्टि से सुवर्ण एवं मणियों द्वारा बना हुआ प्रतीत होकर, पश्चात् नासिका एवं त्वचा के द्वारा वस्तुतः पुष्पमय परिचित हो गया ॥५७॥

अरचयदथ यत्तु स्वागतं वागमुष्या,-स्तदतिमधुरभावेनाऽमृतं द्रागजैषीत् ।
इति किल नयनं च स्वाश्रु तज्जिद् व्यतानीद्, यदिह विषयिवृन्दं स्यान्मिथः स्पर्धितर्द्धि ॥५८॥

महयितुमिह लक्ष्मीयुक्तनारायणाख्यं, भवदुपहितमस्मिन् कुश्वतः किं भवन्तौ ? ।
इति दरहसितश्रीपूरकर्पूरयुक्तं, व्यतरदमलपाद्यं पूर्णधीः पौर्णमासी ॥५९॥

अकृत च यमनर्घं पूर्णिमा शुभ्रमर्घं, स्वयमनुमतवन्तौ स्वीयमर्घं तमेतौ ।
वशयति किल पूजाऽऽभासलेशश्च तौ चेद्, वलितरतिविलासस्तद्विधस्तूर्ध्वमस्तु ॥६०॥

इयमथ यददाद् वा रम्यमाचम्यमंभ,-स्तदनु मधुरता या कस्तु तां प्रस्तुवीत ।
प्रतिफलितमभूद् यत्तत्र कान्ताऽऽस्यमस्मा,-दरचयदधिकान्तं शर्म शीत्कारकारि ॥६१॥

अदिशत मधुपर्कं पूर्णिमा यं च ताभ्यां, स पुनरतिमधुश्रीर्मादनार्थं बभूव ।
मिथुनवदनपद्म-व्यस्तसौरभ्ययोगा, -दधररसमिवाऽन्योऽन्यस्य यर्त्तहि दध्रे ॥६२॥

स्वागत का वर्णन—देखो, पौर्णमासी की वाणी ने जिस स्वागत की रचना की थी, उसने अत्यन्त मधुरभावके द्वारा अमृतको भी शीघ्र ही जीत लिया। यह विचार कर पौर्णमासीके नेत्रोंने अमृतको जीतने-वाले अपने प्रेमाश्रु विस्तारित कर दिये। जिनके कारण इस स्वागत के विषय में पौर्णमासी का इन्द्रिय-वृन्द आपस में स्पर्धा से युक्त समृद्धिवाला हो गया। अर्थात् "वाणी कहती है कि मैं पहले श्रीराधा-कृष्ण का स्वागत करूँगी, एवं नेत्र कहते हैं कि हम तुमसे भी पहले प्रेमाश्रुओं द्वारा स्वागत करेंगे" इस प्रकार की प्रेममयी स्पर्धा को बढ़ाने लग गया ॥५८॥

पाद्य का वर्णन, यथा—यहाँपर आप दोनों में उपस्थित श्रीलक्ष्मी-नारायण नामक देव की पूजा करने के लिए, मैं निर्मल पाद्य समर्पित कर रही हूँ। आप दोनों इस में संकोच क्यों करते हो? इस प्रकार कहते हुए पूर्ण बुद्धिवाली पूर्णिमा ने ईषद्हास्य की शोभाश्रेणीरूप कर्पूर से युक्त निर्मल पाद्य अर्पण कर दिया ॥५९॥

अर्घ का वर्णन—पूर्णिमा ने अमूल्य एवं शुभ्रवर्णवाला जो अर्घ्य समर्पित किया था, उसको प्रेममय श्रीराधा-कृष्ण ने स्वयं अपने मूल्यको ही मान लिया था। (तात्पर्य-प्रेममय प्रभुका प्रेममय अर्घ्यही मूल्य है, इस बात की अनुमति दे दी थी) पूजा के आभास (अनुकरण) का लेशभी जब श्रीराधा-कृष्ण को वशमें कर लेता हैं, तब लोकोत्तर प्रीति के विलास से युक्त उस प्रकार का अर्घ्य तो सब से ऊँचा हो सकता है, अर्थात् उस के द्वारा तो उन को सरलता से वश में किया जा सकता है ॥६०॥

आचमन का वर्णन—पूर्णिमा ने परमरमणीय एवं आचमन के योग्य जो जल समर्पित किया था, उसमें जो मधुरता थी, उस की प्रशंसा कौन कर सकता है? अर्थात् कोई नहीं, कारण उस आचमनीय जल में प्रिया-प्रीतम का जो मुख प्रतिबिम्बित हुआ, उस प्रतिबिम्बित मुख ने प्रिया-प्रीतम के शीत्कारकारी सुख को अधिक मनोहर बना दिया ॥६१॥

मधुपर्क का वर्णन—पूर्णिमा ने उन दोनों के लिए जो मधुपर्क दिया था, वह मधुपर्क मधु की विशेष शोभा से युक्त होने के कारण, उन दोनों के हर्ष के लिए हो गया था। कारण उस मधुपर्क ने उस समय युगलजोड़ी के मुखरूप कमल की अलग अलग सुगन्धि के सम्बन्ध से मानो परस्पर के अधरामृत को धारण कर लिया था ॥६२॥

तदधररसपर्कं तं रसं माधुपर्कं, मिथ इह मिथुनं तत्त्यक्तुमीशीत नैव।
इति किल सहसा साऽऽचम्य नीरं व्यतारीत्, तदपि हृदि स लग्नः क्षालनं केन यातु ? ॥६३॥

स्नपनमथ मुनीशा प्रस्तुतं वीक्ष्यमाणा, निशि तदुचितमासीन्नेति तन्नाचचार।
विधिमथ च समाप्तं कर्तुकामाऽनुकल्पं, मुकुरकलितमेतन्मोदमाना चकार ॥६४॥

वितरितुमथ वस्त्रं सा क्षणं प्राप किन्तु, ह्रियमभिमृशती न स्वैरसंवस्त्रणाय।
इति विधिभृतिहेतोर्दर्शितं यत्तु दूरा,-न्मिथुनमनु तथापि छाययाऽऽसीत् कृतार्थम् ॥६५॥

स्फुटमधि दशवर्णं गौतमीये यदिष्टं, व्रजवरपतिसूनोरर्चने यज्ञसूत्रम्।
अवसरमिह तस्य प्राप्य तद्वैश्यवेश्यं, रुचिमनु वितरन्ती तां तरन्तीयमासीत् ॥६६॥

अधित मिथुनतन्वोरप्यलङ्कारसंघं, कुसुममयमपूर्वं तर्हि सा पौर्णमासी।
मणिमयमपरं यः स्वर्गवर्गस्थमुच्चै,-रजयदतुललक्ष्म्याऽऽमोदलक्ष्म्या तु बाढम् ॥६७॥

पुन. आचमनीय का वर्णन—उन दोनों के अधरामृत से संयुक्त उस मधुपर्कसम्बन्धी रस को यहाँ-पर श्रीराधा-कृष्ण की वह युगलजोड़ी त्यागने को समर्थ नहीं हो सकती, मानो इसीलिए पूर्णिमा ने सहसा आचमनीय जल दे दिया, तो भी हृदय में लगा हुआ वह मधुपर्क कौन सी वस्तु से धुल सकता है ? अर्थात् किसी से नहीं ॥६३॥

क्रमप्राप्त स्नान के सम्बन्ध का वर्णन—मधुपर्क देने के बाद स्नान कराने के लिए प्रस्तुत (उपस्थित) किये गये, पञ्चामृत आदि द्रव्य को देखती हुई पूर्णिमा ने "रात में स्नान कराना उचित नहीं" इसीलिए स्नान नहीं कराया। किन्तु विधि को परिपूर्ण करने की इच्छावाली पूर्णिमा ने, इस स्नान के विधान को हर्षित होकर, दर्पण में प्रतिबिम्बितरूप से पूरा कर दिया, अर्थात् दर्पण में प्रतिबिम्बित हुई श्रीराधा-कृष्ण की मूर्ति का ही स्नान करा दिया ॥६४॥

वस्त्र का वर्णन—अब यद्यपि वस्त्र को देने के लिए अवसर प्राप्त किया था, किन्तु स्वेच्छापूर्वक वस्त्र पहनाने के लिए, उन दोनों की लज्जा को विचारती हुई पूर्णिमा ने अवसर नहीं प्राप्त किया था, तथापि विधि कीपरिपूर्णता के लिए उस युगलजोड़ी की ओर दूर से ही जो वस्त्र दिखाया था, वह वस्त्र तो युगलजोड़ी के अङ्ग में प्रतिबिम्बित होकर कृतार्थ हो गया ॥६५॥

यज्ञोपवीत का वर्णन—गौतमीयतन्त्र में दशाक्षरमन्त्र के प्रसंग में, व्रजराजनन्दन श्रीकृष्ण की पूजाके विषय में, जो यज्ञसूत्र स्पष्ट निर्दिष्ट किया है, यहाँपर उस के अवसर को पाकर, श्रीकृष्ण की रुचि के अनुसार उनकी वैश्यजाति के वेषवाले उस यज्ञसूत्र को देती हुई पूर्णिमा, श्रीकृष्ण की उस रुचि (अभिलाषा) को पार कर गई ॥६६॥

अलङ्कार पहनाने का वर्णन—उस समय पूर्णिमा ने श्रीराधा-कृष्ण की युगलजोड़ी के शरीरों में पुष्परचित अपूर्व अलङ्कारसमूह धारण करा दिया। जिस पुष्पमय अलंकारसमूह ने अपनी अनुपम शोभा से, एवं आकर्षक सुगन्धिरूप सम्पत्ति से ऊपर, के सातों लोकों में स्थित मणिमय दूसरे अलंकारसमूह को विशेष पराजित कर दिया ॥६७॥

शुभसुरभिमथाऽदादङ्गरागं तमेषा, तदतनुतनुगन्धं प्राप्य यः सुष्ठु वल्गन् ।
विदधदनुगलोकं वासितं तं च कुञ्जं, निखिलमकृत तद्वत् काननं तच्च सर्वम् ॥६८॥

स्रजमतनुत गौरीकृष्णयोरत्र युग्मे, बहुरुचिमथ यां यामन्यथाऽतर्कि सा सा ।
हरिधनुरिह विद्युद् विद्युदभ्रादुपेत्य, स्वलषितमुपसीदत् तद्भिया लीयते स्म ॥६९॥

दिशि दिशि कृतपूर्तिर्धूमयोनीयमानः, सदगुरुगुरुधूमस्तत्र संतन्यते स्म ।
वरपरिमलवृष्टिं यस्तु कुर्वन् समन्तात्, तनुरुहकुलहृष्टिं शस्यसृष्टिं चकार ॥७०॥

अरचि य इह दीपः स स्फुरन् दंपती तत्,-तनुरुचिमनु भान्त्या स्वीयकान्त्या पुपोष ।
इयमिह गुणपूर्तिर्नातिचित्राऽधिमूर्ति, प्रतिसखि यदमूर्तं भावमप्याततान ॥७१॥

अरचि च फलमूलं यत्तु वृन्दावनीयं, मिथुनमनु निवेद्यं तत्र वीक्षस्व चित्रम् ।
यदलमशनतः प्रागेव सौरभ्यपूरं, प्रवहदतिविदूरं तृप्तिक्लृप्तिं चकार ॥७२॥

पश्चात् पूर्णिमा ने मङ्गलमय सुगन्धि से युक्त हरिचन्दन आदि वह अङ्गराग दिया कि, जिस अङ्गराग ने उस युगलजोड़ी के शरीर की लोकोत्तर सुगन्धि को पाकर, भली प्रकार ताल ठोकते हुए, युगलजोड़ी के सेवकवर्ग को सुवासित करते हुए, एवं उस सम्पूर्ण कुञ्ज को सुवासित करते करते, उस समस्त वृन्दावन को भी उसी प्रकार सुवासित कर दिया ॥६८॥

पुष्पमाला का वर्णन—उसके बाद पौर्णमासी ने गौर-श्यामवर्णवाली इस युगलजोड़ी के शरीर में अधिक शोभावाली जो जो माला पहनाई थी, वह वह माला उत्प्रेक्षा के द्वारा दूसरी प्रकार से ही विचार में आती थी। देखो, इस युगलजोड़ी की पचरंगी मालाओं के सामने इन्द्रधनुष् शोभारहित होकर, एवं बिजली भी मेघ के निकट से इनके निकट आकर, अपनी अभिलाषा को पाकर, मालाओं के भय से वहीं लीन हो जाती है ॥६९॥

धूप का वर्णन—प्रत्येक दिशा में पूर्ति करनेवाला एवं मेघ का सा आचरण करनेवाला अगरबत्ती का महान् धुआँ पौर्णमासी ने वहाँपर विस्तारित कर दिया। जिस धुएँ ने चारों ओर सर्वश्रेष्ठ एवं मनोहर सुगन्धि की वृष्टि करते करते, रोमांचसमूह को हर्षित करनेवाली फलों की सृष्टि कर दी। "सुन्दर धूप के धुएँ से विशेष फल लगते हैं" यह लोक में प्रसिद्ध है ॥७०॥

दीपदान का वर्णन—इस पूजा में पूर्णिमा ने जो दीपक बनाया था, वह स्फुरित होकर श्रीराधा-कृष्ण के शरीर की कान्ति में प्रकाशित होनेवाली अपनी कान्ति के द्वारा पुष्ट हो गया। यहाँपर श्रीराधा-कृष्णरूप युगलमूर्ति में यह गुणों की पूर्ति अत्यन्त आश्चर्यमय नहीं है, कारण जिस गुण पूर्ति ने प्रत्येक सखी में अमूर्तभाव, अर्थात् युगलमूर्ति के तेज में सभी सखियों के तेजोमय हो जाने से, निराकार-भाव अथवा छायारहित कर देने से देवभाव विस्तारित कर दिया ॥७१॥

नैवेद्य का वर्णन—पौर्णमासी ने युगलजोड़ी को निवेदन करने योग्य एव वृन्दावन में उत्पन्न होनेवाला जो जो फल मूल समर्पित किया था, उसमें आश्चर्य को देखो कि, जिस फल मूल ने, खाने से पहले ही बहुत दूरतक सुगन्धि के प्रवाह को धारण कर विशेष तृप्ति की कल्पना कर दी ॥७२॥

तदनु मदनबीजेनाऽनुजप्तं मुनीशा, मिथुनमनु ददे तन्नव्यतांबूलवर्यम् ।
यदनु च दुरवापप्रार्थनायां निजाया,-मनुमतिमनु तस्मान्निःससञ्जाथ लज्जा ॥७३॥

रचयितुमथ तां सा हृद्यविज्ञप्तिवर्या,-मरचयदतुलाभैर्वैभवैः सेवनानि ।
रुचिररुचिविराजच्चामरच्छत्रनीरा, -जनमुख -सुखसारैर्लास्यहास्यादिभिश्च ॥७४॥

"सा च विज्ञप्तिर्यथा—

यत् प्राप्तुं स्पृहितं मया विरचिता याऽर्चा च ताभ्यां मम
स्वान्तं पूर्णमपि स्पृहान्तरमथ श्रथ्नाति तच्छ्रूयताम् ।
तद्बीजांघ्रिपतुल्यतां द्वयमगादेतत्तु तस्मिन् फलं
यज्जायेत विविक्तविश्रमसुखं वामत्र कुञ्जान्तरे ॥७५॥

"अथ तदेतन्निशम्य सलज्जायमानरम्यनयनयोरनयोर्मुनिवर्या कार्यपर्यायं व्याजमाचर्य वृन्दामधुमङ्गलाभ्यां सह स्वयं व्यवधानमभ्याददे । आल्यश्च तं समयं प्रतिपाल्य कुञ्जस्य बहिरितस्ततः स्वयमुपविश्य कर्णेन तं पुनरन्तः प्रविश्य स्थिताः ॥७६॥ तदनन्तरं तु—

ताम्बूल का वर्णन—उसके बाद मुनीश्वरी पूर्णिमा ने कामबीज के द्वारा अभिमन्त्रित नवीन एवं श्रेष्ठ वह ताम्बूल, युगलजोड़ी के लिए समर्पित कर दिया। जिसके बाद दुर्लभ अपनी प्रार्थना के विषय में अनुमति लेकर, उस युगलजोड़ी के पास से लज्जा निकल गई ॥७३॥

पूजा की समाप्तिपर प्रार्थना का वर्णन—षोडश उपचारमयी पूजा करने के बाद,मनोहर प्रार्थना का अनुष्ठान करने के लिए,पूर्णिमा ने रमणीय शोभा से विराजमान चँवर,छत्र, एवं आरती आदि सुख के सार से युक्त अनुपम प्रभासम्पन्न वैभवों के द्वारा तथा नाचना, गाना, बजाना हासपरिहास आदि के द्वारा अनेक सेवाएँ कीं ॥७४॥

वह मनोहर प्रार्थना, यथा—हे युगलस्वरूप भगवन् ! देखो, मैंने जो वस्तु पाने के लिए कामना की थी, एवं अब जो पूजा की है, उन दोनों के द्वारा परिपूर्ण हुआ भी मेरा अन्तःकरण दूसरी इच्छा को श्रथ्नाति, अर्थात् प्रतिहर्षित कर रहा है, उसको आप सुन लीजिये। मेरी शुभकामना एवं पूजा, ये दोनों ही बीज एवं वृक्ष की समानता को प्राप्त हो गई हैं, अर्थात् कामना ही बीज है, एवं आपकी पूजा ही वृक्ष बन गया है। उस वृक्ष में यह फल लगा है कि, इस निकुञ्ज के भीतर आप दोनों को जो विशुद्ध विश्राम-सुख उत्पन्न हो जाय, यही मेरी प्रार्थना है । तात्पर्य—आप दोनों का एकान्त में विशुद्ध विश्राम-सुख ही मेरी कामनारूप बीज का तथा पूजारूप वृक्ष का सुन्दर फल है ॥७५॥

यह वचन सुनकर श्रीराधा-कृष्ण जब लज्जित एवं रमणीय नेत्रोंवाले हो गये, तब पूर्णिमा ने कार्य-पर्याय (कार्यक्रम) या काम करने का बहाना बनाकर,वृन्दा एवं मधुमङ्गल के साथ स्वयं व्यवधान स्वीकार कर लिया, अर्थात् युगलजोड़ी से कुछ दूर हट गई । सखियाँ भी श्रीराधा-कृष्ण के उस ऐकान्तिक विश्राम-सुखमय समय की प्रतीक्षा करके, निकुञ्ज के बाहर स्वयं इधर उधर बैठकर, कानों के द्वारा उस सुख को पुनः अपने अपने अन्तःकरण में प्रविष्ट करके स्थित हो गई ॥७६॥

राधा तद्विरहं महाऽनलतयाऽनुस्मृत्य तस्मिन्नलं
रासक्ष्मादि-कुरुस्थलान्तमिलनं सर्पिष्टयाध्याय च ।
तं च प्राग्वदनुस्फुरत्तनुतया मत्वा प्रियं तत्पुरः
सम्मोहं मुहुरागता तमसकृद् व्यग्रान्तरं निर्ममे ॥७७॥

"अथ तेन संभ्रमात् क्रमादेव बहिरुपलंभं लंभिता तु—

सा तत्तद्विरहं पुरा गततया स्मृत्वा मुहुस्तत्पदो-
र्भालं सन्दधती समन्दरुदितं तौ रोदनेनाऽऽर्द्रयत् ।
कृष्णस्तां परिरभ्य पृष्ठमनु सोऽप्यश्रूणि सुस्राव तद्
रात्रौ तत्र तयोर्विलासकणिकाऽप्याप्नोतु कुत्रोदयम् ? ॥७८॥

तावत्तत् परिकल्य तुल्यवयसः सान्त्वार्थमन्तर्गता
दंपत्योः प्रतिपद्य विक्लवदशां तां भेजिरे प्रत्युत ।
आलिङ्ग्याथ मिथः सबाष्पविविधक्षोभेण पर्याकुलाः
प्रत्यूषं प्रतिपेदिरे कथमपि प्रेयान् स ताश्च प्रियाः ॥७९॥

"ततश्च प्रातः कथञ्चिद् बहिरागतेषु तेषु—

अस्राक्तानि च लोचनानि दशनाऽस्पृष्टानि चोष्ठाऽधरा-
ण्यस्रस्तानि च कैशिकानि वलितग्रन्थीनि वस्त्राण्यपि ।

उसके बाद तो श्रीमती राधिका ने, श्रीकृष्ण के विरह को महान् अग्नि के रूप से स्मरण करके,एवं उसी महाविरहरूप अग्नि में पहले रासस्थली के, एवं पीछे कुरुक्षेत्र के सम्मिलन को घृत की तरह स्मरण कर, तथा उन्हीं प्रियतम श्रीकृष्ण को पहले की तरह द्वारका में चले गये स्वरूप से मानकर, उन्हीं के आगे बारंबार संमोह को प्राप्त होकर, अर्थात् मूर्च्छित होकर, श्रीकृष्ण को भी बारंबार व्यग्रचित्तवाला बना दिया ॥७७॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण के द्वारा शीघ्रतापूर्वक क्रमशः बाहरी उपलम्भ (अनुभव) को प्राप्त कराई हुई राधिका ने तो, पहले उस उस विरह को बीते की तरह याद करके, श्रीकृष्ण के दोनों चरणों में बारंबार अपने मस्तक को धरकर, धीरे धीरे रोते रोते उन दोनों चरणों को गीलाकर दिया। श्रीकृष्ण भी राधिका को आलिङ्गन करके उनकी पीठपर आँसू बहाने लग गये। इसलिए उस रात्रि में उन दोनों के विलास की कणिका (लेश) भी कहाँपर उदय को प्राप्त हो सकती है ? अर्थात् कहीं भी नहीं ॥७८॥

उस समय ललिता विशाखा आदि सखियों ने उन दोनों की विकलता को देखकर, सान्त्वना देने के लिए निकुञ्ज के भीतर आकर,युगलजोड़ी की व्याकुल दशा को समझ कर, उन्होंने भी व्याकुलता की दशा प्राप्त कर ली। पश्चाद् सभी सखियों ने आपसमें आलिङ्गन करके अश्रु प्रवाहपूर्वक अनेक प्रकार के क्षोभ से परिव्याप्त होकर, किसी प्रकार बड़े कष्ट से प्रातःकाल प्राप्त किया। उन प्रियतम श्रीकृष्ण ने तथा श्रीराधिका आदि प्रियतमाओं ने भी किसी प्रकार प्रातःकाल प्राप्त कर लिया ॥७९॥

उसके बाद प्रातःकाल उन सब के किसी प्रकार निकुञ्ज से बाहर निकल आनेपर, उस समय रात्रि के अन्त में पूर्णिमा एवं वृन्दा आदि अन्तरङ्ग जनों ने, राधिका आदि उन प्रियतमा गोपियों के एवं प्रियतम

तासु प्रेयसि चावलोक्य रजनीप्रान्ते तदा पूर्णिमा-
वृन्दाद्या न रहःकलामनुममुः किन्त्वादिदुःखस्मृतिम् ॥८०॥

"ततश्च दंपती प्रति पूर्णिमा पूर्णास्रमिदं बभाषे,—
'यद्यपि वियोगदुःखं, मनसस्त्यक्तुं न हीशाथे ।
पातुं तदपि सदास्मा,-नभ्यस्यतमाशु विस्मर्तुम् ॥'८१॥

"अथ लज्जां सज्जन्तावमू किञ्चिदप्यप्रोच्य नम्रतयैव तदभिरोच्य पृथक् पृथग्व्रजाय वव्रजतुः। तत्र प्रेयसी स्वप्रेयसीभिर्निर्जनवर्त्मना वव्राज, व्रजित्वा च प्रातःकृत्यपूर्वकमात्मानं परिष्कृत्य व्रजेश्वरीचरणाऽनुचर्यामाचचार ॥८२॥

"प्रेयांस्तु क्रमशः सनर्मवटुना तत्तद्रहःसेवकै-
र्मित्रैश्चित्रजनैः पथि श्रितगतिः प्राप्य व्रजं तेषु च ।
कैश्चित्तैरुचितैर्गतान्तरगृहः स्नानादिभिः शोभितः
पित्रोस्तत्तदशेषलोकवलयस्याप्यक्षिसौख्यं दधे ॥८३॥

"तदेवं मुहूर्तपूर्त्या तौ पुनः पूर्णिमादिभिर्वनाऽऽनयनमनुभूय पुनस्तत्पूजां संभूय मध्यन्दिने कृतदिनेशकिरणविस्तरणे निर्जने घनच्छायामंजुकुञ्जमनु कुसुमपुञ्जतल्पमेवाऽनल्प-सुखाय तन्निवेदनवशंवदतया भजतः स्म ॥८४॥

श्रीकृष्ण के नेत्रों को आँसुओं से भरे हुए, एवं उन सब के अधरोष्ठों को दाँतो के स्पर्श से रहित देखकर, तथा केशसमूहों को बँधे हुए एवं उनके वस्त्रोंको भी ग्रन्थियों से युक्त देखकर,ऐकान्तिक क्रीडा की कला का अनुमान नहीं किया, किन्तु उनके पहले विरहरूप दुःख के स्मरण का अनुमान कर लिया ॥८०॥

उसके बाद पूर्णिमा, श्रीराधा-कृष्णरूप दम्पति के प्रति पूर्णाश्रु प्रवाहपूर्वक यह बोली—यद्यपि आप दोनों वियोग के दुःख को अपने मन से त्यागने को समर्थ नहीं हो, तथापि हम सब की सदैव रक्षा करने के लिए, उस वियोगमय दुःख को भूलने के लिए शीघ्र ही अभ्यास कीजिये ॥८१॥

यह सुनकर वे दोनों श्रीराधा-कृष्ण लज्जित होकर, कुछ भी न कहकर, नम्रता से ही उस भाव को प्रकाशित कर, अलग अलग व्रज को चल दिये। उन दोनों में से प्रियतमा राधिका तो अपनी अत्यन्त प्रिय ललिता आदि सखियों के साथ निर्जनमार्ग से चल दी । और जाते ही प्रातःकालीन स्नानादि कार्य करके अपने को सजाकर, व्रजेश्वरी श्रीयशोदा की चरणसेवा करने लग गई ॥८२॥

प्रियतम श्रीकृष्ण ने भी क्रम से परिहासयुक्त मधुमङ्गल के साथ, एवं एकान्त की सेवा करनेवाले उन उन सेवकरूप मित्रों के साथ, तथा अनेक प्रकार के लोगों के साथ मार्ग में आकर, व्रज को पाकर, उन सब जनों में से, समुचित कुछ प्रियजनों के साथ घर में आकर, स्नानादि से सुशोभित होकर, माता पिता के एवं उस उस समस्त जनमण्डल के नेत्रों के सुख को पुष्ट कर दिया ॥८३॥

इस प्रकार एक मुहूर्त, अर्थात् दो घड़ी के समय की पूर्ति से वे दोनों श्रीराधा-कृष्ण, पूर्णिमा आदि के द्वारा दुबारा वन में लिवा जाने का अनुभव करके पुनः पूर्णिमा की पूजा में सम्मिलित होकर, मध्याह्न-काल में सूर्य की किरण फैल जानेपर, एकान्त में घनी छाया में बनी हुई मनोहर निकुञ्ज में बिछी हुई पुष्प-

"तत्र च कृष्णस्तद्विलाससतृष्णस्तां मुहुरनुनिनाय। तथापि तस्या दुःखवश्यतामेव व्यस्यन्त्यामतएव तस्मिन् मलिनां दृष्टिमेव न्यस्यन्त्यामत एव संहितमानायामिव तस्य मुहुरपि हस्तयमानायां सख्यस्तु तन्मनः प्रख्यापयामासुः। विरहरव्याकुलतया बहुलप्रकार-विकारमस्या मनः कियद् वर्णयिष्यामः। संप्रति प्रतीतं तु प्रथयिष्यामः,—॥८५॥

हा यादृग् विरहक्लमः समभवत् तादृग् न यद्याशया
स्तब्धः स्याद् बत तर्हि जीवनमिदं क्वाऽऽसीत धिङ्‌मादृशाम्।
तन्नासीत यदा च माधव! तदा चेदागतिस्ते भवेद्
गोष्ठे सा तव दुष्टुकष्टनिचितिर्वा कुत्र मायात् प्रभो!॥ इति ॥८६॥

"ततश्च, तस्य तासामपि दुष्पारे वाष्पे वाष्पेण समं समन्ताद् बहिर्लब्धनिष्पाते श्रीकृष्णस्तस्या मुखमार्जवेन मार्जयन् कथमपि तांबूलं संवलयति स्म ॥८७॥ यथा—

वियोगार्तिं तीर्त्वा प्रियहृदि गतापि स्मृतिवशा,-दुदस्रासीदेवेत्यनुनयगिरा शश्वदमुना।
वितीर्णं ताम्बूलं मुखमनु चिरस्यापि सुमुखी, न गीर्णं न त्यक्तं व्यतनुत न दष्टं तिलमपि ॥८८

पुञ्जमयी शय्या का अनुशीलन करने लग गये। यह ऐकान्तिक शय्या-सेवनरूप कार्य पौर्णमासी की प्रार्थना के वशीभूत होकर, उन के विशाल सुख के लिए ही सम्पन्न हुआ ॥८४॥

और शय्यापर श्रीराधिका के साथ विलास करने की तृष्णा से युक्त श्रीकृष्ण, बारंबार राधिका की अनुनय विनय करने लग गये। तो भी श्रीराधिका जब दुःख की अधीनता को ही धारण कर रही थीं, अतएव श्रीकृष्ण के ऊपर मलिनदृष्टि को ही जब फेंक रही थीं, अतएव निकटवर्ती मानवाली महिला की तरह, बारंबार श्रीकृष्ण के हाथ को जब अपनी ओर से दूर फेंक रही थीं, तब सखियों ने उनके मन का विवरण कर दिया। अतः विरह की व्याकुलता से बहुत प्रकार के विकारवाले राधिका के मन का हम कितना वर्णन करेंगे? किन्तु इस समय प्रतीत (ज्ञात) विषय का वर्णन करेंगे ॥८५॥

हाय! राधिका को जिस प्रकार का विरह का खेद हुआ था, उस प्रकार का खेद दुबारा श्रीकृष्ण के मिलन की आशा के द्वारा यदि स्तब्ध (निश्चेष्ट) नहीं किया जाता तो, हाय! राधिका का यह जीवन कहाँ ठहरता? हाय धिक्कार है, राधिका के जीवन के बिना हम जैसे तुच्छ व्यक्तियों का जीवन भी नहीं रहता। और हे माधव! जब यह जीवन ही नहीं रहता, तब यदि व्रज में आपका आगमन होता तो, वह तुम्हारे महान् कष्टों का समुदाय, प्रभो! कहाँपर समाता? अथवा उसका परिमाण कहाँ लगता?॥८६॥

उसके बाद श्रीकृष्ण का तथा राधिका आदि उन गोपियों का हृदय का अपार सन्ताप नेत्रजल के साथ, चारों ओर से जब बाहर निकल गया, तब श्रीकृष्ण ने सरलता से राधिका के मुख को पोंछते हुए, उनके मुख में किसी प्रकार ताम्बूल दे दिया ॥८७॥

उसका वर्णन, यथा— वियोगरूप पीडा को पार करके, अपने प्यारे के वक्षःस्थलपर विद्यमान हुई भी यह राधिका उस समय प्राचीन वियोग की स्मृति के कारण, आँसू बहाने लग गई। इसलिए श्रीकृष्ण ने बारंबार अनुनय विनयभरी वाणी से, श्रीराधिका के मुख में ताम्बूल दे दिया। किन्तु सुमुखी राधिका ने बहुत देरतक वह ताम्बूल न तो निगला, न त्यागा, एवं दाँतों से तिलभर चबाया भी नहीं ॥८८॥

नाऽचर्वयत तांबूलं सेयमित्यघमर्दनः। तत्र स्वचर्वितं प्रादान्मुखमुन्नमयन्मुहुः ॥८९॥

"तदेवं तामेतावत् प्रसाद्य पुनस्तद्वद् व्रजगमनादिकं विनिष्पाद्य रजनीशयनमासाद्य कान्तेन भिक्षिता सखीभिश्च शिक्षिता कान्तमनु शान्तं विलोचनान्तमाचचार ॥९०॥ यत्र च—

यद् यद् वृन्दावनभुवि, कुरुभुवि चाभूद् द्वयोर्मिलनम्।
तद्विस्मृतिरप्यासी,-दनुरागस्तन्नवं नवं कुरुते ॥९१॥

"ततश्च, हस्ताब्जं बाहुवल्लीमपरमवयवं चामृशन् पञ्चशाखे-
नालिङ्गन् साङ्गमुच्चैरनुनयचतुरस्तां प्रसन्नां चकार।
कृत्वा चामुं निजेनाप्यधरजमधुना मोहयन्नागराणां
सोऽयं चूडामणीन्द्रः क्रममनु रमणं रोचयामास कृष्णः ॥९२॥

"तत्र च—नहिकारं चाटुकारं द्वयोरत्र सखीजनः।
आकर्णयन्नमूं रात्रिं शर्मपात्रीं विनिर्ममे ॥९३॥

"अत्र रात्रेरवशेषेऽपि तयोरनवधानश्लेषे सखीभिरेवं प्राभातिकरागमयमुपजगे,—
'सखि ! दंपत्योरनयोर्युगलम्। कुरुते किमपि च न स्मृतियुगलम् ॥ ध्रु ॥

इन श्रीमती राधिका ने (श्रीकृष्ण का प्रसादी न होने के कारण) उस ताम्बूल को चबाया नहीं, इसीलिए श्रीकृष्ण ने राधिका का मुख ऊँचा करके, उस में अपना चबाया हुआ प्रसादी-ताम्बूल बारंबार समर्पित कर दिया ॥८९॥

इस प्रकार उन राधिका को इतनो प्रसन्न करके, पहले दिन की तरह पुनः व्रज में गमन आदि निष्पन्न करके, रात्रि के शयन को प्राप्त करके, श्रीकृष्ण के द्वारा प्रार्थित एवं सखियों के द्वारा शिक्षित (सिखाई हुई) राधिका ने, श्रीकृष्ण की ओर अपना शान्त कटाक्षपात किया ॥९०॥

और जहाँपर इस मिलन से पहले श्रीवृन्दावन की भूमि में एवं कुरुक्षेत्र की भूमि में, दोनों का जो जो मिलन हुआ था, उसकी तो विस्मृति भी हो गई। अर्थात् इस मिलन से पहले मानो हम दोनों कभी मिले ही नहीं, ऐसी प्रतीति होने लग गई। उसका कारण यह है कि, विशुद्ध अनुराग उस मिलन को नित्य नवीन बना देता है ॥९१॥

उसके बाद अनुनय विनय करने में चतुर श्रीकृष्ण ने, अपने हस्तकमल के द्वारा राधिका के करकमल, बाहुलता, एवं दूसरे अङ्गों का स्पश करते करते, साङ्गोपाङ्ग विशेष आलिङ्गन करके, उनको प्रसन्न कर लिया। प्रसन्न करते ही चतुरशिरोमणिजनों में श्रेष्ठ इन श्रीकृष्ण ने, अपने अधरामृत के द्वारा, राधिका को विमुग्ध करते करते, क्रमशः रमण को अभिलाषा प्रगट की ॥९२॥

और उस रमण में यहाँपर राधिका की सखियों ने, राधिका के ना, ना, शब्द को, एवं श्रीकृष्ण की चाटुकारिता (चापलूसी) को सुनते सुनते, वह रात्रि सुख की पात्र बना दी ॥९३॥

इस प्रसंग में रात बीत जानेपर भी, उन दोनों प्रिया-प्रीतम को जब सावधानी का सम्पर्क उपस्थित नहीं हुआ, तब सखियाँ प्रभाती के रागमय गाने को इस प्रकार गाने लगों। उसका भावार्थ, यथा—अरी सखि ! देख, श्रीराधा-कृष्णरूप दम्पति का यह जोड़ा, विशेष स्मृति से युक्त होकर भी, कुछ

कैरविणी-कुलमलिरिह विसृजति । तदपि विहारं कं वा न सृजति ? ॥
बिसिनीकुलमथ दिशि दिशि विलसति । तदपि च नतरां बहिरनु विकसति ॥
दिनकरसारथिरुदयं गच्छति । तत्र च नयनं नाण्वपि यच्छति ॥
तारावलिरथ रुचिमुत्कलयति । एतत् पुनरिह तामुच्छलयति ॥
वीनां ततिरपि कलमाकलयति । तदपि च मौनं नितरां वलयति ॥
दधिमथनं व्रजनिलये निनदति । आकारितमपि तदिदं न वदति ॥
उद्‌गानादपि तदिदं कविरपि । बहिरुपलंभं न नयति रविरपि ॥ इति ॥६४॥

"तदेवमपि तयोरावेशमत्यजतोर्विशाखा तु शाखाव्यवहिततया विलोकं विलोकं स्वल्पस्मितमल्पमल्पमिदं जजल्प,—'सखि ! ललिते ! पश्य पश्य, तव वयस्ययो रीतिर्भ्रमपरीतीभवित्री विभाति ।।'६५।।

"ललितापि तथाह स्म,—'सखि ! सत्यमित्थमात्थ, यत् खलु प्रेयस्यामस्यामेष प्रेयसः स्फुरति वेषः, प्रेयसि तु प्रेयस्याः' इति । विशाखा प्राह,—'तन्मन्ये द्वयमन्योऽन्यमभिमानविनिमयमवाप, यत् परस्परनेपथ्यपरायणतायामपि वैपरीत्यमुवाह ।।'६६।।

भी अनुसन्धान नहीं कर रहा है । इस रात्रि की समाप्ति में भ्रमरगण कुमुदिनी के समुदाय को यद्यपि त्याग रहा है, तो भी कौन से विहार की सृष्टि नहीं करता ? अपितु,करता ही है । कमलिनीसमुदाय यद्यपि प्रत्येक दिशा में प्रकाशित हो रहा है, तथापि बाहर की ओर विकसित नहीं हो रहा है । सूर्य का सारथि अरुणदेव उदित हो रहा है, तो भी यह दम्पति का जोड़ा उस अरुणोदय की ओर किञ्चिद् भी नेत्रपात नहीं कर रहा है । और देख, ताराओं की पंक्ति तो प्रातःकाल में अपनी शोभा को त्याग देती है, किन्तु यह युगलजोड़ी तो उस शोभा को विशेष प्रकाशित कर रही है । इस समय पक्षियों की श्रेणी यद्यपि सुमधुर ध्वनि कर रही है, तो भी यह युगलजोडी परस्पर विशेष मौनधारण कर रही है । व्रज के घर घर में दधि के मथने की ध्वनि हो रही है, वह ध्वनि मानो इस युगलजोड़ी को बुला रही है, तो भी यह जोड़ी कुछ नहीं बोल रही है । कविजन भी ऊँचे स्वर के गायन से भी, इस युगलजोड़ी को बाह्यज्ञान नहीं प्राप्त करा रहा है, एवं अपने उदय के द्वारा सूर्य भी चेतना को नहीं ला रहा है ।।६४।।

ऐसी स्थिति में भी जब वे दोनों आवेश को नहीं त्याग रहे थे, तब विशाखा तो वृक्ष की शाखा की ओटक में खड़ी होकर, बारंबार निहार कर, मन्दहास्यपूर्वक धीरे धीरे यह बोली—हे सखि ! ललिते ! देख, देख । तुम्हारे सखा (कृष्ण) एवं तुम्हारी सखी (राधिका), इन दोनों की रीति तो भ्रम से युक्त होनेवाली प्रतीत हो रही है ।।६५।।

ललिता भी उसी प्रकार मुसकाकर धीरे धीरे बोली—सखि ! विशाखे ! तू इस प्रकार सत्य ही कह रही है । क्योंकि इन प्रियतमा राधिका में प्रियतम श्रीकृष्ण का यह वेष स्फूर्ति पा रहा है, एवं प्रियतम श्रीकृष्ण में प्रियतमा राधिका का वेष स्फूर्ति पा रहा है । विशाखा बोली—इसलिए मैं तो यह मानती हूँ कि, यह युगलजोड़ी आपस में अभिमान के परिवर्तन को प्राप्त हो गई है । कारण दोनों ही आपस की वेषभूषा की आसक्ति में भी विपरीत भाव को, अर्थात् वस्त्रों के परिवर्तन को धारण कर रहे हैं ।।६६।।

"ललिताऽऽललाप,–'अत एतदनुरूपं विलासमपि लब्धरूपं निरूपयामि । भवतु, संप्रति शृणुवः, किमाह प्रेयसी ।।'९७।।

"विशाखा वक्ति स्म,—'तदिदमियं सास्रमाश्रावयति—

पुराऽभीक्ष्णं स्वप्ने मिलनकृदसावद्य च तथा, मिलित्वा तां मां त्वं छलयितुमलं मा किल शकः ।
महामोहं गत्वा तव विलसितेनाऽहममुना, पुनर्जाग्रद्भावं बत कथमयिष्ये शुभमते ! ।।'९८।।

"ललिताह,–'हन्त ! पूर्वमियं चिरन्तनविप्रयोगनिदाघतर्षचारमरुदन्तर्वर्तमानाऽऽसीदद्य तु सद्यस्तनसंभोगहर्षवर्षाविलासझञ्झानिलशीतलदेहलतापि प्राचीनतापसंस्कारं न मुञ्चते । द्वयोरपि तयोः प्रगल्भतया क्षुभिततां च संचिनुते ।।'९९।।

"विशाखा प्राह,–'किमद्यापि विलंबसे ? रविबिंबमुद्यद् वर्तते । ललिताह,–'लघु लघु त्वमभ्यन्तरं शंतमगमनतया गच्छ ।।'१००।।

"अथ विशाखा तथा विधाय सन्निधाय स्मितमपिधाय च प्रेयसीवेषं प्रेयांसमवादीत्,– 'सखि ! प्रातर्विभातं सर्वं पश्य, तस्मादेनं वयस्यमादाय बहिर्विराजस्व । अथ तदा मिथुनमपि मिथः पश्यत् किञ्चिल्लज्जामानञ्च ।।'१०१।।

ललिता बोली—अतएव इन दोनों के अनुरूप विलास को भी प्रकाशित देख रही हूँ । अच्छा,जो हो-किन्तु अब प्रियतमा राधिका क्या कहती हैं ? उसको हम तुम दोनों सुनते हैं ।।९७।।

विशाखा बोली—ये राधिका आँसू बहाती हुई श्रीकृष्ण को यह सुना रही हैं कि—देखो, भगवन् ! पहले तुम स्वप्न में मिलकर जिस प्रकार बारंबार मुझ को छलते थे, उसी प्रकार आज मुझ से साक्षात् मिलकर मुझ को विशेष छलने को समर्थ न बनो । क्योंकि मैं तुम्हारे इस विलास के द्वारा महामोह को प्राप्त होकर, हाय ! पुनः जागृतभाव को किस प्रकार प्राप्त कर पाऊँगी ? अतः हे शुभमते ! अब मुझ से छल न कीजिये । यही मेरी प्रार्थना है ।।९८।।

ललिता बोली—हाय ! पहले तो यह राधिका चिरकालीन वियोगरूप ग्रीष्मऋतु की पिपासा से युक्त चारमरुत् (ग्रीष्मकालीन वायु) के मध्य में वर्तमान थी, किन्तु आज तो तत्काल प्राप्त हुए सम्भोग से हर्षरूप वर्षा के विलास से उत्पन्न हुए झञ्झानिल (वर्षाकालीन वायु) द्वारा शीतल हुई देहरूप लतावाली होकर भी, प्राचीनता के संस्कार को नहीं छोड़ रही है "झञ्झानिलः प्रावृषिजश्चारवायुर्निदाघजः" इति त्रिकाण्ड-शेषः) अतः उन दोनों प्रकार की वायुओं की प्रगल्भता के कारण क्षुभित भाव को एकत्रित कर रही है ।।९९।।

विशाखा बोली—तू आज भी विलम्ब क्यों कर रही है ? देख, सूर्यमण्डल उदित हो रहा है। ललिता बोली—सखि ! तू धीरे धीरे चुपचाप की चाल से कुञ्ज के भीतर चली जा ।।१००।।

उसके बाद विशाखा उसी प्रकार करके, अर्थात् धीरे धीरे जाकर, निकट उपस्थित होकर, मन्द-मुसकान को छिपाकर, वस्त्रों को परिवर्तन करके, प्रियतमा राधिका के वेषवाले प्रियतम श्रीकृष्ण से बोली— हे सखि ! देख, प्रातःकाल में सभी वस्तुएँ प्रकाशित हो रही हैं, इसलिए तुम अपने सखा श्रीकृष्ण को साथ लेकर, निकुंज से बाहर विराजमान हो जाओ । यह सुनकर उस समय आपस में देखती हुई युगलजोड़ी भी कुछ लज्जा को प्राप्त हो गई ।।१०१।।

"प्रेयसी तु प्राह स्म,—'प्रियसखि ! तव सखासौ मयि खलु कामपि मोहनीं विद्या-मारोहयामास, येन भ्रमः समजायत। तस्मादहो ! बत ! हहा ! तदिदं यथा ललिता न पश्यति, तथा वश्यमाचर ।।'१०२।।

"अथ विशाखा स्मित्वा कंपिपक्ष्मशाखतया सयाथातथ्यं तयोर्नेपथ्यं प्रथयामास। प्रथयित्वा च मिथः प्राणप्रतिमं तन्मिथुनं कुञ्जशयनादानिनाय। आनीतं च तदभिनीतसखीभिः सविधादसविधात् पुनः पूर्णिमादिभिरवलोकयामासे ।।१०३।।

"ततश्च, संभ्रमात् प्रतिगतं विचप्रचां, वेशमस्य मिथुनस्य पश्यत ।
इत्थमुन्मदगिरः सखी-तते,-र्देवतेव विशति स्म सा हृदि ।।१०४।।

"अथ पूर्णिमापि समीपमागताऽस्तीति निशम्य रम्यस्वभावा लब्धलज्जाबाधा राधा सखीनामधिमध्यं लीनतया स्थिता। श्रीकृष्णस्तु नम्रतयातिकम्रवदनं स्वव्रजमेव वव्राज, पश्चादसौ च ।।१०५।।

"अथ पूर्ववत् पुनर्वनाऽऽगमने दिवससमापने च जाते नक्तमिदं निज-प्रेयसि राधा निवेदयति स्म,—'मम सुखविधये सदा समस्तं, निजसुखमाचरतः स्म नाऽऽदृतं ये।
प्रियतम ! ललिता-विशाखिके ते, धिनु लसितेन पराश्च मत्परा याः ।।'१०६

प्रियतमा राधिका तो बोली—हे प्रिय सखि ! देखो, इन तुम्हारे प्यारे सखा ने मेरे ऊपर कोई मोहिनीविद्या चढ़ा दी है, जिससे मुझ को भ्रम उत्पन्न हो गया है। इसलिए अहो ! हाय ! हाय ! ललिता जिस प्रकार इस व्यवहार को न देखे उसी प्रकार तुम इनको वश में कर लो ।।१०२।।

पश्चात् विशाखा ने मन्दहास्य करके काँपते हुए अपने हाथ से, उन दोनों प्रिया-प्रीतम के वेष को यथायोग्य विस्तारित कर दिया। वेष को सजाकर, आपस में प्राण के समान प्यारी उस युगलजोड़ी को निकुंज की शय्या से बाहर ले आई। अतः बाहर लाई हुई वह युगलजोड़ी योग्य सखियों को निकट से, एवं पूर्णिमा आदि को दूर से दिखा दी ।।१०३।।

उसके बाद "अरी सखियो ! शीघ्रता के कारण या हडबडाहट के कारण विचप्रचा (अनेक प्रकार की उलटापलटी) को प्राप्त हुए इस युगलजोड़ी के वेष को देख लो" इस प्रकार उन्मत्त वाणीवाली सखी-श्रेणी के हृदय में युगलजोड़ी का वह उलटापलटा वेष, देवता की तरह प्रविष्ट हो गया। तात्पर्य—भूतप्रेत आदि देवविशेष के प्रवेश से चित्त जैसे उन्मत्त हो जाता है, उसी प्रकार राधा-कृष्ण के परिवर्तित वेष को देखते ही, अन्य सखियाँ उन्मत्त सी हो गईं ।।१०४।।

अनन्तर पूर्णिमादेवी भी निकट आ गई है, यह बात सुनकर, श्रीकृष्ण के वेषवाली एवं मनोहर स्वभाववाली राधा, लज्जा की बाधा को प्राप्त होकर, सखियों के बीच में लीन होकर खड़ी हो गई। श्रीकृष्ण तो नम्रता से अत्यन्त मनोहर मुखारविन्दपूर्वक अपने व्रज में ही चले गये, उनके पीछे राधिका भी तथा सखियाँ भी चली गईं ।।१०५।।

उसके बाद पहले की तरह पुनः वन में आ जानेपर, एवं दिन के समाप्त हो जानेपर, रात में राधिका ने अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के निकट यह निवेदन किया कि—हे प्रियतम ! देखो, ललिता एवं विशाखा नामक जो दोनों सखियाँ, सदैव मेरे सुख के विधान के लिए, अपने समस्त सुखों का आदर नहीं

"श्रीकृष्णः प्राह,—'प्रिये ! ते ताश्च व्याजे व्यज्यमान एव तन्मंस्यन्ते । स खल्वत्र कतमः स्यात् ?' सा तु स्मित्वाह,—'मम वेशं विधाय प्रथमं प्रवेशमाचर ।' श्रीकृष्णः प्राह,—'प्रियतमे ! तथा क्रियताम् ॥१०७॥

"अथ कृतबहुविलासेन परिहासेन तया तथा रचितः श्रीमानजितस्तेनाऽतिगोपिना तद्वेषेण ते सङ्गम्य विकस्वरेण श्रीराधिका-स्वरेण रम्यमिदं सूचितप्रणयमूचिवान्,—'भो वयस्ये ! युवयोर्वयस्यं परिहस्य रहस्यमत्रागतास्मि, तस्माद् युवयोरुपगात्रं मम गात्रं क्षणमात्रं शयनपात्रं क्रियताम्' इति ॥१०८॥

"तथा विधाय शयितः संहितराधावेषः स राधा-दयितः स्वैरमेव राधेति मत्वा ताभ्यां बहु परिहसितः पुनरुवाच,—'सखि ! विशाखे ! किं कुरुते स पुरुषोत्तमस्तदवमृश्यताम् ॥१०९

"अथ विशाखा तत्र गत्वापि ततः शङ्कां मत्वा तदीहामूहितुं चिरं निलीय तस्थौ । अत्र तु स नागरेन्द्रः स्वविलसितमेव लसितं चकार ॥११०॥

"अथाऽऽगतायामनिर्धारितवृत्तशाखायां विशाखायां ललिता स्वलज्जानिःसज्जनाय तस्यामनादरमिव विधाय मिषात्तद्वृत्तान्तविशेषाऽऽनयनं प्रतिज्ञाय तां तदन्तिके रक्षित्वा

करती हैं, उन दोनों को तथा मेरे-परायण जो दूसरी सखी हैं, उन सब को अपने रतिविलास के द्वारा तृप्त कर दीजिये ॥१०६॥

श्रीकृष्ण बोले—प्रिये ! वे दोनों सखियाँ एवं दूसरी सखियाँ किसी छल के प्रकाशित होनेपर ही, उस रतिविलास को मान सकती हैं, अन्यथा नहीं । अतः इस विषय में कौन सा छल उपयुक्त हो सकता है ? राधिका तो नेक मुसकाकर बोली—पहले मेरा वेष बनाकर उनके निकट प्रवेश कीजिये (यही छल उपयुक्त है) । श्रीकृष्ण बोले—प्रियतमे ! उस प्रकार तुम्हारा सा वेष तो बना दीजिये ॥१०७॥

तदनन्तर अनेक प्रकार का विलास करके परिहासपूर्वक राधिका के द्वारा उसी प्रकार अपने वेष से सजाये हुए श्रीकृष्ण, अपने को विशेष छिपानेवाले राधिका के वेष से, उन दोनों सखियों के पास जाकर, विकसित हुए राधिका के स्वर से स्नेह की सूचनापूर्वक, यह मनोहर वचन बोले—अरी सखि ! ललिते ! हे सखि विशाखे ! देखो, मैं तुम्हारे सखा श्रीकृष्ण से हँसी करके गुप्तरूप से यहाँपर आई हूँ । इसलिए मेरे शरीर को तुम दोनों के शरीर के निकट क्षणभर शयन का पात्र कर लीजिये, अर्थात् तुम दोनों मुझे क्षणभर अपने पास सुआ लीजिये ॥१०८॥

यह कहकर उसी प्रकार शरीर से शरीर चिपटा कर सोये हुए, राधिका के वेष को धारण करनेवाले, एवं जिनको स्वेच्छापूर्वक राधिका मानकर, उन दोनों सखियों ने जिनके साथ बहुत सी हँसी की है, वे ही राधाकान्त श्रीकृष्ण पुनः बोले—हे सखि ! विशाखे ! वे पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण अब क्या कर रहे हैं ? इस बात को तो जान लो, अर्थात् यह जानने के लिए तुम उनके पास चली जाओ ॥१०९॥

तदनन्तर विशाखा वहाँ जाकर भी उस स्थान से शंका मानकर, श्रीकृष्णवेषधारिणी राधिका की चेष्टा निर्णय करने के लिए, वहाँ छिपकर खड़ी हो गई । और इधर चतुरशिरोमणि श्रीकृष्ण ने ललिता के साथ अपना विलास ही प्रकाशित कर दिया ॥११०॥

उसके बाद उनके चरित्र के एकदेश का भी निर्णय न करनेवाली विशाखा जब वहाँ से चली आई, तब ललिता अपनी लज्जा को दूर करने के लिए, मानो विशाखा के ऊपर अनादर सा प्रकाशित करके,

स्वयमलक्षितं तत्र स्थित्वा कुतुकाऽनन्तरं च मनसि बहु जहास । हसित्वा च तत्रैव स्थानान्तरे निलीय स्थितां श्रीराधिकामपि लब्धवती । पुनरेवं तेन प्रेयसा प्रेयसीभ्यामपि ताभ्यां मिलित्वा सा तद्वदखिलाः सखीर्व्रीडयामास ॥१११॥

"तदेवं रात्रावत्रानेककुतुकसत्राणि विस्तार्याऽपरस्यामपि तस्यां स विदग्धशेखरस्तया परमवल्लभया सह विहरति स्म ॥११२॥

"तदा तु सा पुनरन्यत् प्रार्थयामास,—'अयि ! नाथ ! तदिदमपि मम नाथितं प्रथितमाचर । चन्द्रावलीवलिताः सर्वा एव वयं निदाघलता इव विरहदहनजातदहनाङ्गतां गताः । ततः सर्वासामपि तदुपशमपूर्वकाण पर्वाणि चक्षुषोः समक्षाणि कर्तुमिच्छामः ॥११३

"श्रीकृष्णः प्राह,—'भवती यदि लब्धाभूल्लब्धा एवाखिलाः प्रियाः ।
न लब्धा यदि लब्धा स्यान्न काचिदपि सुन्दरि ! ॥'११४॥

"तथापि यदि तव सुखमुन्मुखं स्यात्तदामूरपि तव समूहमानयिष्यामि ; किन्तु पूर्णिमायां याचस्व, यथा सा तासामपि साम समासादयति ॥११५॥

"अथ सर्वसुखपरीतायामतीतायामपि तस्यां तमस्विन्यां विशाखापर्यायनाम्नी विशाखया

अर्थात् तू चतुर नहीं है, अतः तू श्रीकृष्ण के व्यवहार को भी नहीं जान पाई, इस प्रकार अनादर सा करके किसी बहाने से उनके वृत्तान्तविशेष के लाने की प्रतिज्ञा करके, उस विशाखा को राधिका-वेषधारी श्रीकृष्ण के पास रखकर, स्वयं छिपकर कुञ्ज की ओटक में बैठकर, विशाखा के साथ किये हुए कौतुक के अनन्तर अपने मन में बहुत हँसने लग गई । और हँसने के बाद ललिता ने उसी निकुञ्ज के निकट किसी दूसरे स्थानपर छिपकर बैठी हुई श्रीराधिका भी प्राप्त कर ली । पुनः इसी प्रकार उन्हीं प्रियतम श्रीकृष्ण से मिलकर, एवं अपनी अतिशय प्यारी उन दोनों सखियों से मिलकर,उन श्रीमती राधिका ने ललिता एवं विशाखा की तरह सारी सखियों को लज्जित कर दिया ॥१११॥

इस प्रकार रात्रि में इस स्थानपर अनेक प्रकार के कौतुकमय सत्र, अर्थात् छलों का विस्तार करके, दूसरी रात्रि में भी चतुरशिरोमणि वे श्रीकृष्ण,परमप्रिया उन श्रीराधिका के साथ विहार करते रहे॥११२॥

उस समय श्रीराधिका ने पुनः दूसरी प्रार्थना की–हे नाथ ! आप मेरी इस प्रार्थना को भी विख्यात कर दीजिये कि, चन्द्रावली आदि हम सभी गोपियाँ ग्रीष्मकाल की लताओं की तरह,विरहरूप दावानल से प्रायः दग्ध अङ्गोंवाली हो गई हैं । इसलिए हम तो उन सभी गोपियों के देह-दाह के उपशमनपूर्वक होनेवाले महोत्सवों को नेत्रों के प्रत्यक्ष करना चाहती हैं ॥११३॥

श्रीकृष्ण बोले—हे प्रिये ! यदि तुम मिल गई तो सभी प्रियाएँ मिल गईं । किन्तु हे सुन्दरि ! यदि तुम नहीं मिल सकीं तो मानो कोई भी प्रिया नहीं मिल सकीं । तात्पर्य–तुम्हारी प्राप्तिके बिना मुझे उनकी प्राप्ति, अप्राप्ति सी प्रतीत होती है ॥११४॥

तथापि यदि तुम्हारा सुख उन्मुख होता है तो, उन चन्द्रावली आदियों को भी तुम्हारे मण्डल में प्राप्त कर दूँगा । किन्तु तुम पूर्णिमाके निकट उस प्रकार की प्रार्थना करो कि,जिस प्रकार वह पूर्णिमा उन सब को भी शान्ति प्राप्त करा दे ॥११५॥

उसके बाद सब सुखों से भरी हुई उस रात्रि के बीत जानेपर, विशाखा का पर्यायवाचक राधा नाम

भगवतीं निवेदयामास। सा पुनरेवमाह स्म,—'मया पूर्वं चन्द्रतारादि-बल-प्रतीक्षा लक्ष्यीकृता ; तत्र किमसाधारणं समाधानम् ?' ॥११६॥

"विशाखा वक्ति स्म,—'अत्र वांछितसर्ववरिवस्यया प्रियवयस्यया तदिदमुक्तम्—

व्रजेऽपि तं विना जातः स कालः काल एव नः।
तत्राऽऽभिमुख्यं यत्र स्यात्तं मुख्यं मन्महे सखि ! ॥११७॥

"पूर्णिमा सस्मितमाह,—'तस्याः सम्मतिरेव सर्वमङ्गलसङ्गतिं धास्यति' इति ॥११८

"अथ वृन्दां प्रत्यप्याचचक्षे,—'त्वं तावदधिगततत्तन्निशान्ता विज्ञापिताऽर्वाचीनवृत्तान्ता सर्वा मन्नाम्ना साम्ना निमन्त्रय। अहं पुनरस्यां सर्वसुखसंपदबन्ध्यायां सन्ध्यायामागम्य वनमालिनं रम्यवनमिदमानयिष्यामि ॥'११९॥

"अथ वृन्दा च तथाचचार। तासु श्रीराधायाः प्रणयलब्धोदयां दयां चाऽधिगमयामास। ततश्च वल्लीनामिव तासामुत्कलिकां विकाश्य वनपालिका तदामोदं दामोदरमासादयितुं पौर्णमासीमासीदति स्म ॥१२०॥

धारण करनेवाली राधिका ने, विशाखा सखी के द्वारा भगवती पूर्णिमा के प्रति अपना भाव निवेदन कर दिया। पूर्णिमा ने भी पुनः इस प्रकार कहा कि—मैंने (श्रीकृष्ण से मिलने के विषय में चन्द्रावली आदि के प्रति) पहले ही चन्द्रमा एवं नक्षत्र आदि के बल की प्रतीक्षा लक्ष्य बना दी है। उस में अतुलनीय समाधान कौन सा है ? ॥११६॥

विशाखा बोली—इस विषय में सभी सखियों के द्वारा श्रीकृष्ण की सेवापूजा चाहनेवाली, हमारी प्रियसखी राधिका ने तो यह अतुलनीय समाधान कहा है कि—हे सखि ! विशाखे ! देख,इस व्रज में भी उन प्रिय श्रीकृष्ण के बिना जो विरहमय काल उत्पन्न हो गया था, वह काल हमारे लिए काल, अर्थात् मृत्यु ही हो गया था। इसलिए जिस काल (समय) में श्रीकृष्ण की सम्मुखता संघटित हो जाय, हम तो उसी काल को मुख्य मानती हैं। तात्पर्य—श्रीकृष्ण की सम्मुखतारूप काल में चन्द्रमा एवं ताराबल आदि की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। अतः यह उक्ति प्रसिद्ध है कि "तदेव लग्नं सुदिनं तदेव, ताराबलं चन्द्रबलं तदेव" इत्यादि ॥११७॥

पूर्णिमा मुसकाकर बोली—श्रीराधिका की सम्मति ही सब प्रकार के मङ्गलों की सङ्गति को पुष्ट कर देगी ॥११८॥

पश्चात् पूर्णिमा ने वृन्दा के प्रति भी कहा कि—तुम चन्द्रावली आदि उन उन गोपियों के निशान्त (घर) को जानती हो, अतः नवीन वृत्तान्त को जनाकर उन सभी गोपियों को मेरे नाम से शान्तिपूर्वक निमन्त्रित कर दो। फिर मैं भी सब प्रकार की सुखरूप सम्पत्तियों से सफल, इस सन्ध्याकाल में आकर, श्रीकृष्ण को इस मनोहर वन में लिवा लाऊँगी ॥११९॥

उसके बाद वृन्दा ने उसी प्रकार कार्य कर दिया, एवं श्रीराधिका के निर्हेतुक स्नेह से प्रकाशित हुई दया भी चन्द्रावली आदि के निकट जना दी। तदनन्तर लताओं की कलियों की तरह, उन चन्द्रावली आदियों की उत्कण्ठा को विकसित करके, उनके आनन्द को (लतापक्षे—उनके मनोहर गन्ध को) श्रीकृष्ण के पास पहुँचाने के लिए वृन्दादेवी, पौर्णमासी के निकट चली आई ॥१२०॥

"पूर्णिमा तु पूर्णितमनास्तामाह,—'अथाऽस्यां रात्रौ रात्रौ चेन्मन्मथाक्रान्तमित्यादि तत्रानुक्रान्तकृष्णार्चामनु मम स्वान्तं संक्रान्तमस्ति । ततस्तद्विहितमुपहारं हारं हारं रास-विहारं कारयस्व ॥'१२१॥

"अथ सायं सा वृन्दया श्रीराधा-चन्द्रावल्याद्याः सर्वा एव प्रणयविनयनयप्राबल्याद् वनमानाययामास । आत्मना तु तासामात्मायुतवल्लभं वल्लभमानिनाय, राधा तु तासु तारासु चन्द्रमूर्तिरिव, बलक्षपक्षतिथिषु पूर्णिमापूर्तिरिव, सर्वर्तु-संपत्तिषु वसन्त-सुषमेव, अलंक्रिया-प्रक्रियासूपमेव, काव्यश्रेणिषु रसध्वनिप्रतिपत्तिरिव, हरिरतिजातिषु महाभावसंपत्तिरिव चमत्काराऽऽधायिनी बभूव ॥१२२॥

"अथ पूर्णिमा तस्मिन् घने यामुन-कुसुम-वने सुखप्रभविष्णुजापदे तारा-वारसंभविष्णु-विष्णुपदे चन्द्रेण कला इव कृष्णेन ता योजयामास ॥१२३॥

"तदा तु—पूर्वं या न हि सङ्गताः प्रियतमं तासां स तत्सङ्गमाऽऽ-
रंभः स्तंभमुखं विकारमदधाद् यत्तत्तु युक्तं ब्रुवे ।
तेनाऽलंकृतसङ्गमा मुहुरमूः सङ्गम्य राधादिकाः
सूद्दीप्तं निखिलं च तं यदभजंस्तत्तत्र कस्माद् वद ॥१२४॥

पूर्णिमा तो परिपूर्ण मनवाली होकर वृन्दा के प्रति बोली—अब इस समय रात्रि में "रात्रि में यदि कामदेव का आक्रमण हो तो" इत्यादिरूप से पूर्वचम्पू में अनुक्रमण की हुई श्रीकृष्ण की पूजा में मेरा मन लगा हुआ है । अतः तुम उसमें विहित उपहार (भेंट) को बारंबार ला कर रासविलास करवा दो ॥१२१॥

उसके बाद सायंकाल में पूर्णिमा ने, वृन्दा के द्वारा श्रीराधिका एवं चन्द्रावली आदि सभी गोपियाँ स्नेह, विनय, एवं नीति की प्रबलता से वृन्दावन में पहुँचवा दीं । और स्वय तो उन गोपियों के करोड़ों आत्माओं से भी प्यारे प्राणपति श्रीकृष्ण को लिवा लाई । उस समय राधिका तो उन सब सखियों में ताराओं में चन्द्रमा की मूर्ति की तरह,एवं शुक्लपक्ष को तिथियों में पूर्णिमा की पूर्ति की तरह,सब ऋतुओं की सम्पत्तियोंमें वसन्तऋतु की परमशोभाकी तरह,अलङ्कार की प्रक्रियाओंमें उपमा अलंकारकी तरह,तथा काव्योंकी श्रेणियों में रस एवं ध्वनि के ज्ञान गौरव की तरह, और प्रेम,स्नेह,प्रणय,राग इत्यादि रूपवाली श्रीहरि की प्रीतिरूप जातियोंमें महाभावरूप सम्पत्ति की तरह चमत्कारकारिणी हो गई थी ॥१२२॥

तदनन्तर पूर्णिमादेवी ने सुखों की उत्पति के स्थानस्वरूप यमुनासम्बन्धी उस घने पुष्पों के वन में श्रीराधिका आदि उन गोपियों को श्रीकृष्ण के साथ उस प्रकार संयुक्त कर दिया कि, जिस प्रकार पूर्णिमा तिथि अश्विनी भरणी आदि तारासमुदाय से संयुक्त आकाश में, सोलह कलाओं को चन्द्रमा के साथ संयुक्त कर देती है ॥१२३॥

उस समय तो,जो गोपियाँ श्रीकृष्ण के मथुरा जाने से पहले, प्रियतम श्रीकृष्ण से नहीं मिली थीं,उन सब के सम्बन्ध में श्रीकृष्ण के साथ उस मिलन के आरंभ ने उन गोपियों के देह में स्तम्भ, स्वेद आदि जो सात्त्विक विकार धारण कर दिये, उस धारण करने को तो मैं उचित ही कहता हूँ। कारण श्रीकृष्ण के साथ जिनका सम्मिलन बारंबार अलंकृत हुआ है, उन राधा आदि गोपियों ने मिलकर उस समस्त अष्ट सात्त्विक विकार को जो अत्यन्त उद्दीप्तरूप से धारण कर लिया, अतः उस मिलन में वह उद्दीप्त भाव किस कारण धारण कर लिया, वह कारण मुझे बताइये ? ॥१२४॥

"अथ तूर्णतयाऽमूराश्वास्य परिष्वज्य च पूर्णिमा निजकलाविर्भावितरत्नस्थल्यां वृन्दासङ्गमितनानाशोभावल्यां रङ्गस्थलाऽऽखण्डले कर्णिकाकारशंकुसारसदलंकृतिकमलाकृतिमण्डले मध्यमधिकृत्य माधवमध्यस्तं विधाय परितस्तद्वधूरुपवेशयामास। तासु तु श्रीराधां पुनरपेक्षिताऽसाधरणनिवेशतया तां सर्वोपरि वितितांसन्ती निजसदेश एव रक्षितवती ।।१२५

"ततश्च वाग्देवताऽऽकाशतः सपरिहासमाह स्म,—

'मध्ये तमालमधिरोप्य समं समन्ता,-ज्जांबूनदद्युतिलताः समयोजयस्त्वम् ।

तर्ह्योषधीशकलसेन सुधाभिषेकं, पूर्णेन चात्र कुरु यत् खलु पूर्णिमाऽसि ।।'१२६।।

"तदेवं सस्मितमाकर्णयन्ती पूर्णिमा पूर्णीकारिनिरीक्षणेन निर्वर्णयन्ती सहसा चन्द्रमसमपूर्णमपि पूर्णं चकार ।।१२७।।

"तस्या मुनेराज्ञया राज्ञस्तस्य तथाभ्युदयात्तत्क्षणमेव तामसकुलं नाशमासन्नम्। यत्र तदनुमतिपूर्वाका सा काचित्तिथिरपि राका बभूव। यत्रोडुप एवासौ तत्र महारासरसविहारे स्वयमुडुपतां व्यञ्जयामास। पूर्णिमा पुनस्तत्रान्यदपि श्रीकृष्णमभि तदिदमाश्चर्यमाचचार ।।१२८

उसके बाद पूर्णिमा ने उन राधा आदि गोपियों को शीघ्रतापूर्वक आश्वासन देकर, एवं उनको आलिङ्गन करके, अपनी कलाओं के द्वारा एक रत्नस्थली प्रगट कर दी। वृन्दा ने उस में अनेक प्रकार की शोभाश्रेणी संयोजित कर दी। उस रत्नस्थली में एक प्रधान रङ्गस्थल (नाट्यशाला) है, जो कि कर्णिका के आकारवाले शंकु (कील या खूंटा) के सार से सुन्दर अलंकृत कमल की सी आकृतिवाले मण्डल से युक्त है। पूर्णिमा ने उस प्रकार के रङ्गस्थल के बीच में श्रीकृष्ण को विराजमान करके, उन के चारों ओर उनकी प्रियाएँ विराजमान कर दीं। एवं पुनः अपेक्षित असाधारणरूप से विराजमान करने के भाव से, श्रीमती राधिका को तो उन सब गोपियोंमें सर्वोपरि विस्तृत,अर्थात् विख्यात करने की इच्छावाली पूर्णिमा ने अपने निकट ही रख लिया ।।१२५।।

उसके बाद वाग्देवता (सरस्वती) आकाश से परिहासपूर्वक बोली—हे पूर्णिमे! देखो, तुमने इस रङ्गस्थल के मध्य में तमालवृक्ष को लगाकर, उसके चारों ओर सुवर्ण की सी कान्तिवाली लताएँ यदि एक सङ्ग संयुक्त कर दी हैं, तब तो इस तमालवृक्ष के ऊपर परिपूर्ण चन्द्ररूप कलश के द्वारा अमृत का अभिषेक कर दीजिये; क्योंकि तुम इसीलिए पूर्णिमा हो। यहाँपर श्रीकृष्ण ही दिव्यतमाल हैं, श्रीकृष्ण के चारों ओर उपस्थित गोपियाँ ही सुवर्ण की सी कान्तिवाली दिव्यलताएँ हैं, एवं राधिका ही पूर्णचन्द्र कलशरूप हैं, अतः श्रीकृष्ण से राधिका का सम्मेलन कर दीजिये, यही तात्पर्य है ।।१२६।।

इस प्रकार वाग्देवी के वचन को मन्दहासपूर्वक सुनती हुई पूर्णिमा ने अपूर्ण को पूर्ण करनेवाले निरीक्षण (नेत्र) के द्वारा देखकर, अपूर्ण चन्द्रमा को भी सहसा परिपूर्ण कर दिया ।।१२७।।

पश्चात् मुनीश्वरी उन पूर्णिमा की आज्ञा से, उस चन्द्रमा के उस प्रकार के परिपूर्ण अभ्युदय के द्वारा, सारा अन्धकारसमुदाय विनष्ट हो गया। जहाँपर पूर्णिमा को अनुमतिपूर्वक;अनुमतिपूर्वाका, अर्थात् कलाहीन चन्द्रमावाली वहकोई तिथि,अर्थात् शुक्लचतुर्दशी भी राका,अर्थात् परिपूर्ण चन्द्रमावाली पूर्णिमा बन गई। और जहाँपर उस महारासरूप रस के विहार में,अर्थात् जल के विहारमें स्वयं उस चन्द्रमा ने ही नौका के भाव को प्रगट कर दिया, अर्थात् चन्द्रमा नौकारूप बन गया था। और पूर्णिमा देवी ने वहाँपर श्रीकृष्ण को लक्ष्य बनाकर दूसरा यह आश्चर्य भी आचरण कर दिया ।।१२८।।

"तस्यास्तस्या दक्षिणांशे तमावाहनमुद्रया । साचकर्ष स यत्राशु प्रतिदीपवदागतः ॥१२९॥

"ततश्च, मण्डलेषु स्थलाऽभावादिव राधां तदा तु सा ।
मध्यस्थकृष्णरूपस्य वामभागे न्यवीविशत् ॥१३०॥

"तत्र च सति—दिक्ष्वष्टासु प्रसूनप्रकरवरवनं मध्यतः प्रस्फुटश्री-
रत्नाङ्गस्फारपद्मं हरि हरि रमणीमण्डलं तस्य चाऽन्ते ।
श्रीराधा-माधवाख्यं मिथुनमथ बभावन्तरे तत्र चैकं
यत्र च्छत्रं प्रजातं निखिलगुणकलासान्द्रताचारुचन्द्रः ॥१३१॥

"अथ यथाविधानं रासवलयसभाजनं सनीराजनं विधाय पूर्णिमयेदं ययाचे,—'चिराय तदिदं जातमस्माकमभिलषितमचिराय फलमिच्छति ; यत् पुनरपि रासविलासविलोकनम्' इति । तदिदमुपलभमानः श्रीबल्लवी-वल्लभश्च यथोपवेशं सदेशवल्लभतया समुत्थाय सर्वसुख-संपदुत्थाय रासरागं नानाविभागरूपप्रतिरूपतया वंशीभिः शशंस ॥१३२॥ यत्र च—

"स्रोतांसि स्तब्धभावं कठिनतरशिलाः सार्द्रतामुन्नतस्था
नीचीनत्वं नतस्थास्तदितरपदवीं तद्वदन्ये तदन्यत् ।
वंशी-गानेन यर्हि द्रुतमघदलिनः प्रापुरेताश्च तर्हि
श्रीगोप्यः स्वीयलज्जाग्लपनमदतयाऽऽरेभिरे रासलीलाम् ॥१३३॥

यथा—उस पूर्णिमा ने अपनी आवाहन-मुद्रा के द्वारा श्रीकृष्ण को उस उस प्रियतमा गोपी के दक्षिणभाग में आकर्षित कर लिया । जहाँपर वे श्रीकृष्ण प्रत्येक दीपक की तरह शीघ्र ही आ गये । अर्थात् पूर्णिमा के बुलाने से श्रीकृष्ण उस महारास में प्रत्येक गोपी की दाहिनी ओर उपस्थित हो गये ॥१२९॥

उसके बाद पूर्णिमा ने तो उस समय गोपियों के मण्डलों में मानो स्थान के अभाव से राधिका को रासमण्डल के मध्य में स्थित श्रीकृष्ण रूप के बायें भाग में उपस्थित कर दिया ॥१३०॥

वहाँपर ऐसी स्थिति में आठों दिशाओं में पुष्पसमूह से श्रेष्ठ वृन्दावन विराजमान था, उसके बीच में विकसित शोभासे युक्त रत्नमय अङ्गोंवाला विशाल कमल विराजमान था। अहह ! उस कमल के निकट गोपाङ्गनाओं का मण्डल विराजमान था, उस मण्डल के बोच में श्रीराधा-कृष्ण नामक युगलजोड़ी शोभा पा रही थी । और उसमें भी जहाँपर समस्त गुण एवं कलाओं की प्रगाढता से मनोहर चन्द्रमा ही अद्वितीय छत्र बन गया था, अर्थात् यह महारास आश्चर्यमय था ॥१३१॥

तदनन्तर आरती के सहित विधिपूर्वक रासमण्डल की पूजा करके पूर्णिमा ने यह प्रार्थना की—बहुत दिन में पूरी हुई यह हमारी अभिलाषा शीघ्र ही फल चाहती है, इसीलिए फिर भी रासविलास का दर्शन सम्भव हो गया । अतः रासविलास के प्रसङ्ग को प्राप्त करनेवाले श्रीगोपीवल्लभ ने जिस प्रकार बैठे थे उसी प्रकार निकटवर्तिनी प्रिया के भावपूर्वक खड़े होकर, समस्तसुखरूप सम्पत्तियों के उत्थान के लिए राससम्बन्धी छः राग एवं छत्तीस रागिनियों को वंशियों के द्वारा भैरव, कौशिक, दीपक, मेघराग आदि अनेक राग विभागों के रूप प्रतिरूप के भाव से प्रकाशित कर दिया ॥१३२॥

और जिस महारास में अघासुर का दलन करनेवाले श्रीकृष्ण की वंशी के गाने से जब नदियों के प्रवाह निश्चलता को, एवं अत्यन्त कठिन शिलाएँ स्निग्धता को प्राप्त हो गईं, एवं ऊँचे स्थान में स्थित पदार्थ

शिञ्जितानि मुरलीरुतान्युत, स्फारलास्यमुदयाय यन्मिथः।
वाद्य-गीत-वलनाय सङ्गता, यत्र मोहमभजन् सुरस्त्रियः ॥१३४॥

उद्यत्यावेशपुष्टे नटनपटिमनि स्फारतां भूषणानां
वंशीनां चाधिजग्मुः स्वनितविलसितान्येवमत्रान्यदीयम् ।
वाद्यं गीतं च गच्छद् विफलतमदशामुच्चकैः स्तब्धमासी-
दग्रीयाऽग्रे जघन्यः स्वयमनुभजते मौनमच्यावितोऽपि ॥१३५॥

गांगेयद्युति-नीलरत्नमहसः सौन्दर्य-साराकरा-
स्ते गोपीचय-कृष्णमूर्ति-निचयाः स्वेनैव चेतोहराः।
किं वक्तव्यमहो यदि स्वयममी सङ्गीतलीलामिता
येषां तत्र विसृत्वराङ्गरुचयोऽप्युच्चैरनृत्यन्निव ॥१३६॥

परस्परालिङ्गनचुंबनाद्यधु,-स्तत्राङ्गहारच्छलतः प्रिय-प्रियाः।
तल्लाघवाद् व्यक्तिमनागतं मना,-गप्यागमँल्लाघवमत्र नाऽण्वपि ॥१३७॥

नीचेपन को, तथा नीचे स्थान में स्थित पदार्थ उच्चता को प्राप्त हो गये, और उसी प्रकार स्थावर पदार्थ जङ्गम भाव को, एवं जङ्गम पदार्थ जब स्थिरता को प्राप्त हो गये, तब इन श्रीमती गोपियों ने तत्काल अपनी लज्जा की समाप्ति से हर्षका भाव धारण करके रासलीला आरम्भ कर दी ॥१३३॥

उस रासलीला में गोपी–कृष्ण के समुदाय ने आपस में भूषणों की ध्वनि, एवं वंशियों की ध्वनि प्रकट कर दीं, तथा विशाल नृत्य प्रगट कर दिया । और जिस रासलीला में गाने बजाने का सम्मेलन करने के लिए सम्मिलित हुईं देवाङ्गनाएँ भी मोह को प्राप्त हो गईं ॥१३४॥

तथा आवेश से परिपुष्ट नृत्य की चतुराई प्रगट हो जानेपर, देवाङ्गनाओं ने भूषणों की विशालता, एवं वंशियों की ध्वनियों के विलास जान लिए। एवं इस रासलीला में दूसरे जनों के गाने बजाने अत्यन्त निष्फल दशा को प्राप्त होकर अधिक स्तब्ध हो गये । क्योंकि प्रधान व्यक्ति के आगे तिरस्कार को न प्राप्त हुआ नीच व्यक्ति भी स्वयं मौन धारण कर लेता है, यह प्रसिद्ध है ॥१३५॥

उस रासमण्डल में वे गोपियों के समूह, एवं श्रीकृष्ण की मूर्तियों के समूह, क्रमशः सुवर्ण की सी कान्तिवाले एवं इन्द्रनीलमणि के से तेजवाले थे । अर्थात् गोपियों की कान्ति सुवर्ण के समान थी, एवं श्रीकृष्णमूर्तियों की कान्ति इन्द्रनीलमणि के समान थी। वे सभी सुन्दरता के सार के उत्पत्ति स्थान थे, एवं अलङ्कारों के बिना स्वयं ही सब के चित्त को हरनेवाले थे, फिर यदि वे गोपी-कृष्ण के समूह स्वयं संगीत की लीला को प्राप्त होकर चित्त को हरनेवाले होंगे, अहह! इस विषय में तो कहना ही क्या है ? क्योंकि जिनकी फैलनेवाली अङ्गों की कान्तियाँ भी उस रासलीला में मानो अधिक नृत्य सा कर रही थीं। १३६।

उस रासलीला में प्रिया एवं प्रियतम की जोड़ियाँ अङ्गहारच्छलतः (अङ्ग विक्षेपरूप नृत्यविशेष के छल से, अर्थात् हस्त पादादि अङ्गों के इधर उधर फेंकने के बहाने) आपस में आलिङ्गन एवं चुम्बन आदि धारण कर रही थीं। शीघ्रता के कारण वह आपस का आलिङ्गन चुम्बन आदि किंचिद् भी प्रगट नहीं हो पाया। अतः इस विषय में वे युगलजोड़ियाँ नेक भी अल्पता को प्राप्त नहीं हुईं ॥१३७॥

चिरमतिविरहार्ता लब्धसङ्गाः पुनस्ते, सुखवलितमनृत्यन् दंपतिव्यूह-सङ्घाः ।
इति भवति रहस्यं यद् विदित्वा तदेव, स्वयमभिलषति स्म प्रेमतः पूर्णिमापि ॥१३८॥

वीक्ष्य प्राग्वदशेषसत्परिकरैः स्वैरुच्चकैराचिते
रासे कृष्णममूर्विदूरभवनाल्लब्धं चिराद् भाग्यतः ।
स्तंभस्वेदविवर्णतास्वरभिदा-रोमाञ्चबाष्पाश्रुभिः
पूर्णैर्ज्ञानलयेऽपि कान्तिमदधुर्ज्ञानेऽपि या दुर्लभा ॥१३९॥

"तदेतद्वीक्ष्य खेचरीभिर्विचारितम्—
'यः पुरासामभून्मारः सांप्रतं मदनः स तु । आसीत् कृष्णस्य दूरत्वाऽदूरत्वं कारणं यतः ॥
असाक्षयन्ती कञ्जाक्षं या क्षयन्ती पुरा स्थिता । सा राधा पश्य साराधा साराधा तेन दीव्यति ॥

"अथ परस्परस्नेहमयस्वेदातिमात्रानत एव शिथिलितगात्रानपि तान् दंपतीनवलोक्य श्लोक्यचरिता संप्रतीदं विश्राम्यतु, काम्यमानमन्यदनुमन्यतामिति पौर्णमासी निवेदयामास ॥

"अथ तथा मण्डलीमण्डिततया निविशमानं दंपतिमण्डलं श्रीखण्डादिभिर्दुग्धखण्डादिभिरपि सपर्यामापयन्ती पृथक् पृथक् कुञ्जकृतशय्यासु सुखमय्या लीलया पर्यापयामास ॥१४३॥

और गोपी-कृष्णरूप वे युगलजोड़ियों के समूह, पहले बहुत दिनतक अधिक विरह से पीडित होकर, अब पुनः परस्पर के संग को पाकर, सुख से घुलमिलकर नाचने लग गये । इस प्रकार का जो रहस्य है उसको जानकर, पूर्णिमा ने भी प्रेम से रासलीलारूप उसी रहस्य को स्वयं अभिलाषा की थी ॥१३८॥

पहले की तरह निजी सत्सेवकों के द्वारा विशेष संचित रासमण्डल में, उन गोपियों ने अत्यन्त दूरवर्ती द्वारकारूप भवन से बहुत दिनों के बाद, दैवयोगसे प्राप्त हुए श्रीकृष्ण को निहार कर परिपूर्ण स्तम्भ, स्वेद, विवर्णता, स्वरभंग, रोमाञ्च, वाष्प, अश्रु आदि सात्त्विक विकारों के द्वारा ज्ञान का लय होनेपर भी, वह शोभाधारण की थी कि, जो शोभा ज्ञान में भी अर्थात् चेतनावस्था में भी दुर्लभ है ॥१३९॥

यह विचित्रता देखकर आकाशचारिणी देवांगनाओं ने अपने मन में विचार किया कि, जो श्रीकृष्ण पहले मथुरा जाते समय उन गोपियों के लिए मारः, अर्थात् मृत्यु के समान मारनेवाले हो गये थे, वे ही अब मदनः हर्षदायक हो गये हैं । यहाँपर श्रीकृष्ण के मार होने में दूर जाने का भाव, एवं हर्षदायक होने में समीपता ही कारण है ॥१४०॥

पहले जो राधिका, कमलनयन श्रीकृष्ण को न देखती हुई, क्षीणता को प्राप्त होती हुई स्थित रही; देखो, वही राधिका अब सारांश को धारण कर, श्रीकृष्ण की आराधना के सहित, श्रीकृष्ण के साथ खेल रही है ॥१४१॥

उसके बाद परस्पर स्नेहमय पसीने कीअधिकता से युक्त, अतएव शिथिल शरीरवाले गोपी-कृष्णरूप उन अनेक दम्पतियों को देखकर, प्रशंसनीय चरित्रवाली पौर्णमासी ने यह निवेदन किया कि—अब यह रासविलास तो विश्राम को प्राप्त हो जाय, एवं दूसरा वांछनीय विषय अनुमोदित हो जाय तो अच्छा है ॥१४२॥

तदनन्तर उस प्रकार गोलाकार के सुशोभित भावसे बैठते हुए, दम्पतिमण्डल को चन्दन आदि एवं दुग्धखण्ड आदि के द्वारा पूजित करती हुई पूर्णिमा ने, अलग अलग निकुञ्ज में बनाई हुई शय्याओंपर सुखमयी लीला के द्वारा पहुँचा दिया ॥१४३॥

"ततश्च, चिरात् कृच्छ्राल्लब्धः प्रणयिहरिरेकः प्रणयिनो
महापद्मेनोद्यत्तदनुगुणितव्यूहसुभगः ।
विदग्धानां चूडामणिरखिलवैदग्ध्यगुरुणा
रहश्चेत् कस्तर्हि प्रथयतु कविस्तत्र कविताम् ? ॥१४४॥

"यत्र तु—तस्मिन्नस्रमजस्रमेजनमनेजद्रोमहर्षः स्फुर-
द्धर्षः स्वेदजवारिहारिनिगदस्पृग्गद्गदः सत्पदः ।
वैवर्ण्यं जितवर्ण्यमन्तरबहिः स्तंभश्च दृक्स्तंभकः
कान्ताऽनङ्ग-रणे स्व-संहतिरणं बिभ्रद् विजिग्ये मिथः ॥१४५॥

सर्वाभिसारस्तं जेतुमजितं जज्ञिवानसौ । तथापि विजयस्तस्य विषमेषु-रणेऽजनि ॥१४६॥

तदेवं कुञ्जेषु क्वचन पुलिनेषु क्वचिदनु,-स्थलं क्वापि क्रीडामरचयदसौ ताभिरनिशम् ।
यदि क्वाप्यावेशाद् व्यभिचरति कुत्राऽपि मिलनं, तदाजग्मुर्मानादिकमपि पुरावद् वरदृशः ॥१४७

"यतः, निवारणा दुर्लभता च योषितां, मता सपत्नीरचिता रसप्रदा ।
ययातिरत्नावलिवर्णनं यथा, सा सा परस्त्रीषु पराचितार्तिदा ॥१४८॥

उसके बाद समस्त चतुराईयों की गुरुरूपा स्नेहमयी गोपियों के महापद्म की संख्यावाले मण्डल के साथ प्रगट हुई महापद्म की संख्या के समूह से सुन्दर, एवं रसिकशिरोमाण तथा स्नेहविशिष्ट वे अकेले श्रीकृष्ण, बहुत दिन के बाद बड़े कष्ट से जब गोपियोंने एकान्तमें प्राप्त कर लिए, तब उस एकान्त की लीला के विषय में कौन सा कवि अपनी कविता को विस्तृत कर सकेगा ? अर्थात् कोई भी नहीं ॥१४४॥

और जिस एकान्त में प्रेमाश्रु निरन्तर कम्प को प्राप्त हो गया, एवं स्थिररोमाञ्च क्षोभ की स्फूर्ति से युक्त हो गया, तथा पसीने से उत्पन्न जल के द्वारा स्वरभंग से युक्त गद्गदस्वर सुन्दर व्यवसायवाला हो गया, और वैवर्ण्य दूसरी वर्णनीय वस्तु को जीतनेवाला, एवं बाहर भीतर होनेवाला स्तम्भभाव नेत्रों को रोकनेवाला, अर्थात् मूंदनेवाला हो गया, इस प्रकार अपने सम्मेलन रूप रण को धारण करता हुआ सात्त्विक भावों का समूह, गोपी-कृष्ण की जोड़ियों के उस सुरतरूप युद्ध में परस्पर विजयको प्राप्त हो गया ॥१४५॥

वह सभी गोपियों का श्रीकृष्ण के निकट जानारूप अभिसार, यद्यपि उन अजित श्रीकृष्ण को जीतने के लिए ही हुआ था, तथापि उस कामयुद्ध में श्रीकृष्ण की ही विजय हुई ॥१४६॥

इस प्रकार उन श्रीकृष्ण ने उन गोपियों के साथ कभी कुञ्जों में, कभी पुलिनों में, कहीं प्रत्येक स्थान में निरन्तर क्रीडा की थी। श्रीकृष्ण जब आवेश के कारण किसी प्रिया के निकट नहीं मिल पाते, अथवा किसी के निकट मिलन कर जाते हैं, तब वे राधिका आदि गोपांगनाएँ पहले की भाँति मान आदि को भी प्राप्त हो जाती थीं ॥१४७॥

कारण—स्त्रियों के सम्बन्ध में सपत्नी (सौत) के द्वारा रची हुई निवारणा, एवं पति की दुर्लभता रसप्रद मानी गई है। देखो, देवयानी के द्वारा शर्मिष्ठा के प्रति जिस प्रकार ययाति का निवारण एवं दुर्लभता, एवं वासवदत्ता के द्वारा रत्नावलि के प्रति जिसप्रकार वत्सराज का निवारण एवं दुर्लभता का बर्णन रसप्रद है। किन्तु पराई स्त्रियों के विषय में दूसरे जनों के द्वारा रची गई वह निवारणा एवं वह दुर्लभता पीडा देने वाली मानी गई है ॥१४८॥

"यदष्टानां नायिकानां गणनया स्पष्टतार्थं प्रोषितभर्तृका स्वाधीनभर्तृका प्रोषितपतिका स्वाधीनपतिकेत्येवमेव निगद्यते, न तु प्रोषितजारेत्याद्यप्यनूद्यते । गच्छतु तावद् गतम्, प्रस्तुतं तु संस्तूयताम् ॥१४९॥

"भवेदसौ यर्हि हरि-प्रियावली, परस्परं सेर्ष्यतया विशृङ्खला ।
हरिर्मिथस्तर्हि युनक्ति चातुरी,-सुरीतिभिस्तामखिलामपि स्वयम् ॥१५०॥

"तदेवं लब्धविकासे बहुकेलि-विलासे, कदाचिन्मिलित्वा च तास्तदधीता विद्या विलोकयामासुः ॥१५१॥ यत्र च—

वेदास्तदङ्गकुलमङ्गकलाश्च साङ्गाः, सान्दीपनेरधिजगे स भवांस्तदस्मान् ।
तानीक्षयत्विति पृथक् सकृदेव तस्मा,-दन्वीक्ष्य विद्म इति ताः स्मितयुक्तमूचुः ॥१५२॥

"यदा तु स्वयं पूर्णिमातिथिरतिथिवदागता, तदा स तु कृतपक्षद्वयोक्षणः शशलक्षणः श्रीराधासपक्षविलक्षणरासकेलिसंलक्ष्यसुखलक्षवान् पक्षतिं प्रति चिराय गतिस्तंभमवाप ॥१५३

क्योंकि आठ प्रकार की नायिकाओं की गणना के द्वारा स्पष्टता के लिए प्रोषितभर्तृका, स्वाधीन-भर्तृका, अर्थात् प्रोषितपतिका एवं स्वाधीनपतिका, इस प्रकार ही कहा जाता है। तात्पर्य—जिसका पति परदेश चला गया एवं जिसका पति स्वाधीन है, वह स्त्री ही प्रोषितभर्तृका स्वाधीनभर्तृका आदि शब्दों की वाच्य कहलाती है, किन्तु प्रोषितजारा एवं स्वाधीनजारा इत्यादिरूप से अनुवाद नहीं किया जाता है । अच्छा, जो विषय चला गया, उसे जाने दो। किन्तु अब तो प्रस्तुत विषय का परिचय करो ॥१४९॥

श्रीकृष्णप्रियाओं की वह पंक्ति परस्पर ईर्ष्या के भाव से जब अस्तव्यस्त हो जाती थी, तब श्रीकृष्ण चतुराई की सुन्दर रीतियों के द्वारा, सम्पूर्ण प्रियाओं की उस पंक्ति को स्वयं परस्पर संयुक्त कर देते थे ॥१५०॥

इस प्रकार अनेक क्रीडाओं के विलास, प्रकाश को प्राप्त हो जानेपर, कभी उन सभी कृष्णप्रियाओं ने सम्मिलित होकर, श्रीकृष्ण के द्वारा पढ़ी हुई सभी विद्याएँ देख लीं ॥१५१॥

और आपने जहाँपर ऋग, यजु, साम, अथर्व नामक चारों वेद; शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द ये छः वेद के अङ्ग, एवं साङ्गोपाङ्ग चौंसठ कलाएँ श्रीसान्दीपनि मुनि से अध्ययन की हैं, इसीलिए उन सब कलाओं को आप हम सब गोपियों को दिखा दीजिये। कारण हम सब एकबार ही अलग अलग देखकर उनको जान लगीं । इस प्रकार उन सब गोपियों ने श्रीकृष्ण के प्रति मन्दमुसकान-पूर्वक कहा ॥१५२॥

जब पूर्णिमा तिथि अतिथिकी तरह स्वयं आ गई, तब शुक्लकृष्णरूप दोनों पक्षों के उत्सव को रचने वाला वह चन्द्रमा,श्रीराधिका के पक्षवाली विशाखा आदि के सहित,विलक्षण रासलीला को देखकर लाखों सुखों से युक्त होकर, पक्षति (प्रतिपदा) के प्रति बहुत देरतक गति की स्थिरता को प्राप्त हो गया। अर्थात् पूर्णिमा तिथि बहुत लम्बी हो गई, प्रतिपदा नहीं आ पाई, अतः यथेष्ट रास होता रहा । श्लेषपक्ष में—अनुकूला एवं प्रतिकुला इन दोनों पक्षोंवाली गोपियों के अवसर की रचना करनेवाले, एवं श्रेष्ठपुरुषों के से चिह्नोंवाले वे श्रीकृष्ण, श्रीराधिका के पक्षवाली ललिता विशाखा आदि के साथ, विलक्षण रासलीला को लक्ष्य बनाकर लाखों प्रकार के सुखोंवाले होकर, दक्षिणा नाम आदि चन्द्रावली के प्रति जाने के लिए बहुत देरतक गति की निश्चलता को प्राप्त हो गये ॥१५३॥

"तदा तु—अरराधद् वृथा कृष्णः सतृष्णः स प्रतिक्षणम् ।
अचकृष्णन्मुहुः सापि मनसा वचसा तु न ॥१५४॥

"अथ दिनकतिपये पूर्णिमया पूर्णितपूजाचये परमानन्देन विन्दमानसमये तत्र चाऽर्वागाविर्भूतं नव्यमिव कैशोरमारभ्य पूर्ववत् प्रतिदिनपूर्यमाणकैशोरमये कदापि राधा-विशाखयोः रहसि संवादमिमं हरिरपह्नुत्य श्रुत्यधिगतं व्यतानीत् ॥१५५॥

"यथा विशाखोवाच,—'सखि ! परमानन्दकन्दलमयेऽप्यस्मिन् समये तव कलिकायमाना काचिदुत्कलिकावकल्पते, तां कथं न विकासयसि ?' श्रीराधाह,–'सखि ! सत्यं ब्रवीषि ; किन्तु भवतीनामपि सा भवेदेव ।' विशाखाह,–'का सा, विकास्यताम् ।' श्रीराधाह,–'यथा सर्वातिशायिकायाः कस्याश्चिन्नायिकायाः लब्धनिजाऽभीप्सिततायामपि कापि लिप्सा कविभिः कवितामानीयते, तथैव दैववशादस्माकं जाता ।' विशाखाह,–'सा च का ?' ॥१५६॥

"श्रीराधाह,—'यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालती-सुरभयः प्रौढाः कदंबानिलाः ।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरु-तले चेतः समुत्कण्ठते ॥' इति ॥१५७॥

उस समय वे श्रीकृष्ण तो लालसा से युक्त होकर वृथा, अर्थात् प्रस्ताव के बिना भी प्रतिक्षण अरराधत्—राधामाख्यत्, अर्थात् राधा राधा कहते रहते थे । वह राधिका भी बारंबार अपने मन से अचकृष्णत्—कृष्णमाख्यत्, अर्थात् कृष्ण कृष्ण कहती रहती थी । किन्तु वाणी से नहीं ॥१५४॥

उसके बाद पूर्णिमादेवी के द्वारा कुछ दिनतक पूजा का समूह परिपूर्ण कर लेनेपर, एवं परमानन्द-पूर्वक प्राप्त हुए समय में वहाँपर तत्काल प्रगट हुई नवीन सी किशोर अवस्था को आरम्भ करके, पहले की भाँति प्रतिदिन पूर्ण होनेवाली किशोरावस्था में, किसी समय एकान्त में होनेवाले, राधा एवं विशाखा के अग्रिम इस संवाद को,श्रीकृष्ण ने छिपकर कर्णगोचर कर लिया ॥१५५॥

यथा—विशाखा बोली—हे सखि ! राधिके ! परमानन्दरूप नवीन अंकुरमय इस समय में भी कलिका (कली) की तरह आचरण करनेवाली,तुम्हारी कोई अनिर्वचनीय उत्कण्ठा समर्थ हो रही है, अतः उस को विकसित क्यों नहीं कर रही हो ? श्रीराधिका बोली—सखि ! तू सत्य कह रही है, किन्तु वह उत्कण्ठा तो तुम सब को भी हो ही सकती है । विशाखा बोली—वह उत्कण्ठा कौन सी है प्रगट कर दीजिये ? श्रीराधिका बोली—देखो, जिस प्रकार गुणों के द्वारा सभी नायिकाओं का अतिक्रमण करने-वाली किसी नायिका की, अपने अभीष्ट की प्राप्ति हो जानेपर भी, किसी अनिर्वचनीय वस्तु की प्राप्ति की इच्छा को कविजन अपनी कविता में लाते हैं, उसी प्रकार दैववशात् हमारी भी वह लिप्सा उत्पन्न हो गई है । विशाखा बोली—वह कौन सी लिप्सा (प्राप्ति की इच्छा) है ? ॥१५६॥

श्रीराधिका बोली—अपने विहार के द्वारा जिसने हमारे कुँआरेपन का अपहरण किया था, वही वर उपस्थित है, वे ही चैत्रमास की रात्रियाँ भी उपस्थित हैं, खिले हुए मालती के पुष्पों की सुगन्धिवाले एवं वृद्धि को प्राप्त वे ही कदम्बसम्बन्धी वायु भी प्रवाहित हो रहे हैं, मैं भी वही हूँ । तथापि उस प्रकार की सुरतव्यापार की लीलारूप विधि में, रेवा (नर्मदा) नदी के तीरपर विद्यमान, बेंत के वृक्ष के नीचे (जाने को) मेरा मन विशेष उत्कण्ठित हो रहा है ॥१५७॥

"तदेवं सहसा रहसः शृण्वन्नेव तां भुजाभ्यामावृण्वानः स व्रजसुभ्रूकुसुमधन्वा तन्मुखबिंबं चुंबन्नुवाच,—'साधूक्तं प्रेयसि ! साधूक्तम्; किन्तु 'कृष्णा-रोधसि तत्र कुञ्जसदने' इति पठनीयम्, यस्मादद्य सद्य एव श्रीमत्पितृचरणाननुचरन्निज-चारुकौमारप्रचारमयविहार-सारसंदीपितवरकालिन्दी-दक्षिणपारसंदितं वृन्दावनमेव सञ्चरितुं गोचरयिष्यामि' इति ॥१५८

"तदेतद् विचारयति चक्राङ्कितचरणे पूर्णिमा वृन्दया सह विन्दति स्म । विन्दमाना च वृन्दामुखमीक्षते । सा पुनराह,—'वृन्दावनचन्द्र ! सेयं वृन्दा निवेदयति, ॥१५९॥ (भा० १०।११।३६)—'वृन्दावनं गोवर्धनं यमुनापुलिनानि च । वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीती राममाधवयोर्नृप ॥' इति श्रीमद्भागवतगाथा ॥१६०॥ ततश्च,

विना भवन्तं त्रितयाङ्गमर्कजा,-पारीणमत्काननधाम ताम्यति ।
तस्मान्नखाकारसुधाकराकर,-स्वांघ्रिक्रमालंकृतमाशु तत् कुरु ॥१६१॥

"अथ श्रीकृष्णः सतृष्णं तदनुजानन् भगवतीमनुज्ञापयंश्च श्रीपितुरनुज्ञापनाय व्रजमाव्रजितवान् । श्रीराधादयः पूर्णिमादयश्च यथायथम्" इति ॥१६२॥

इस प्रकार एकान्त में बैठकर सुनते सुनते ही तत्काल अपनी भुजाओं द्वारा राधिका का आलिङ्गन करते हुए, व्रजाङ्गनाओं के कामदेवरूप श्रीकृष्ण ने, श्रीराधिका के मुखबिम्ब को चूमते हुए कहा कि—हे प्रियतमे ! तुमने ठीक कहा, ठीक कहा । किन्तु "रेवारोधसि वेतसीतरु-तले" के स्थानपर "कृष्णारोधसि तत्र कुञ्जसदने" ऐसा पाठ कर दीजिये । अर्थात् यमुना के तीरपर उस निकुञ्जरूप भवन में मेरा मन विशेष उत्कण्ठित है, ऐसे पढ़ दीजिये । जिससे कि आज तत्काल ही पूज्यपाद श्रीमान् पिताजी का अनुसरण करके अपनी मनोहर कुमारावस्था के प्रचार से युक्त विहार के सारभाग द्वारा, समुज्ज्वल एवं श्रेष्ठ यमुना के दक्षिण तीरपर निबद्ध, श्रीवृन्दावन में ही चलने को निवेदित कर दूँगा ॥१५८॥

चक्र से चिह्नित चरणवाले श्रीकृष्ण जब यह विचार कर रहे थे, तब पूर्णिमादेवी वृन्दा के सहित उपलब्ध हो गई । और उपलब्ध होते ही वृन्दा के मुख को देखने लग गई,पूर्णिमा पुनः बोली—हे वृन्दावन-चन्द्र ! यह वृन्दा आप से निवेदन करती है कि— ॥१५९॥

"हे राजन् ! परीक्षित् ! देखो श्रीवृन्दावन, गोवर्धन, एवं यमुना के पुलिनों को निहार कर,श्रीकृष्ण-बलदेव को उत्तम प्रसन्नता हुई थी" यह श्रीमद्भागवत की गाथा है ॥१६०॥

उसके बाद वृन्दा यह प्रार्थना करती है कि—वृन्दावन, गोवर्धन, एवं यमुनापुलिनरूप तीन अङ्गों-वाला, एवं यमुना के दक्षिणपारपर विराजमान मेरा वनरूप जो निवासस्थान है, वह आप के बिना ग्लानि को प्राप्त हो रहा है । इसलिए नख के से आकारवाले चन्द्रमा के आश्रयस्वरूप, अपने श्रीचरणों के संचार से उस स्थान को शीघ्र ही अलंकृत कर दीजिये ॥१६१॥

पश्चात् श्रीकृष्ण लालसापूर्वक उस प्रार्थना का अनुमोदन करते हुए, भगवती पूर्णिमा की अनुमति लेते हुए, श्रीमान् पिताजी की अनुज्ञा लेने के लिए व्रज में, अर्थात् खिड़क में चले आये । श्रीराधिका आदि गोपियाँ एवं पूर्णिमा आदि भी यथायोग्य व्रज में चले आये ॥१६२॥

अथ कथासमापनाय स्निग्धकण्ठः श्लोकयामास,—

"यथा भवदभीप्सितं सुमुखि ! सम्यगुद्यत्फलं, प्रजातमथ तादृशं तदिह मादृशः संप्रति ।
अनेकवृजिनात्ययादहह मादृशा गोकुलं, समेत्य निरवर्णि यत् प्रमदसंपदावर्णि च ॥१६३॥

सर्वासां हरिलंभनार्थमभवच्छ्रीराधिके ! केवलं
रागस्ते प्रबलस्तथैव विरहात् तत्प्राप्तये स प्रभुः ।
श्रीवृन्दावनगुप्तनित्यवसतिं यः साधयन् सर्वदा
स्वेषां स्वाश्रयिणामपि व्रजभुवां त्राणाय संपद्यते ॥"१६४॥

अथ यथाऽकथयत् कथकस्तथा, स्वमनुभूय हरिः सह राधया ।
निजविहारभरं कथया समं, न हि विवेद विभेदसमन्वितम् ॥१६५॥

इति श्रीश्रीमदुत्तरगोपालचम्पूमनु श्रीमाधवराधादि-व्यतिषङ्ग-दिव्यमङ्गलं नाम षट्त्रिंशं पूरणम् ॥३६॥

अनन्तर कथा को समाप्त करने के लिए स्निग्धकण्ठ प्रशंसा करने लगा—हे सुमुखि ! राधिके ! देखो, जिस प्रकार आपका अभीष्ट विषय भलीप्रकार उदित फलवाला हो गया, वैसे ही अब यहाँपर मुझ जैसे व्यक्ति का भी,वह अभीष्ट उसीप्रकार सफल प्रगट हो गया है,अहह ! अनेक दुःखों का अतिक्रमण करके व्रज में आ कर, मुझ जैसे व्यक्ति ने भी जिस अभीष्ट को देख लिया, एवं हर्षमयी सम्पत्तिपूर्वक उस का वर्णन भी कर दिया ॥१६३॥

हे श्रीमति राधिके ! सभी गोपियों का अनुराग केवल श्रीकृष्ण की प्राप्ति के लिए ही हुआ था, उसी प्रकार तुम्हारा अनुराग भी प्रबल था । वह अनिर्वचनीय अनुराग, विरह को लाँघकर, श्रीकृष्ण की प्राप्ति के लिए प्रभु, अर्थात् समर्थ है । क्योंकि जो अनुराग श्रीवृन्दावन में गुप्तरूप से होनेवाले नित्यनिवास को सिद्ध करता हुआ, अपने नित्यव्रजवासियों की एवं अपना आश्रय लेनेवाले नवीन भक्तों की भी, सदैव रक्षा करने के लिए तत्पर रहता है ॥१६४॥

अनन्तर कथावाचक स्निग्धकण्ठ ने जिस प्रकार कहा था, श्रीकृष्ण ने राधिका के सहित अपने को उसी प्रकार अनुभव करके, अपने विहार की अधिकता को कथा के साथ, विशेष भेद से युक्त नहीं जाना; किन्तु अभिन्नरूप से ही जाना ॥१६५॥

इति श्रीवनमालिदासशास्त्रिविरचित-श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकासहिते श्रीमदुत्तरगोपालचम्पूकाव्ये श्रीमाधवराधादि-परस्परमिलनरूप-दिव्यमङ्गल-वर्णनं नाम षट्त्रिंशं पूरणं सम्पूर्णम् ॥३६॥

अथ सप्तत्रिंशं पूरणम्

सर्वसुखपूर्ण-श्रीगोलोकप्रवेशः

अथ श्रीव्रजराज-सभाकथायां मधुकण्ठ उवाच,—

"अथ लब्धसर्वमनोरथसंपदन्तरे समनन्तरे दिनान्तरे व्रजराजविराजमानपरिषदभ्यन्तरे समुदन्तानामन्तरमासाद्य श्रीगोविन्दस्तदिदमवादीत्,—'यदि राज्ञां समाज्ञा भवति, तदा रथः सोऽयं द्वारकापथमनुसरतु, तथा मामनुविन्दमानं गो-गोपवृन्दं कालिन्दी-दक्षिणपारगत-वृन्दावनमेव विन्दताम् ॥'१॥

"व्रजराजः सानन्दमाह,—'तात ! सर्वेषामपि तदिदमेवाऽवशिष्टमिष्टम् ; किन्त्वत्राप्यस्ति किमपि विशिष्टम् ।' श्रीकृष्णः प्राह,—'काममाज्ञाप्यताम् ॥'२॥ व्रजराजः सास्रमुवाच,—

'नाना-त्वद्विरहानलान्तरदशामासाद्य माद्यद्भया
नाद्यापि प्रतियन्ति पुत्रक ! बहिर्लोकाद् यथाऽक्रूरकात् ।
एते तद् व्रजवासिनः स्वमपरे जानन्तु नेत्युच्चकै-
र्वाञ्छन्तीति तथा स्वयं रचयितुं श्रीमान् भवान् बुद्धिमान्" इति ॥३॥

सैंतीसवाँ पूरण

सर्वसुखपूर्ण श्रीगोलोक में प्रवेश

इस सैंतीसवें पूरण में सर्वसुखपूर्ण श्रीगोलोक में, श्रीकृष्ण का परिकर सहित प्रवेश वर्णित होगा।

अनन्तर श्रीव्रजराज की सभावाली कथा में मधुकण्ठ बोला—उसके बाद सब मनोरथरूप सम्पत्ति की प्राप्ति से युक्त, व्यवधानरहित दूसरे दिन श्रीव्रजराज से विराजमान सभा के बीच में, वृत्तान्तों का अवकाश पाकर श्रीकृष्ण यह बोले कि—यदि महाराज श्रीव्रजराज की आज्ञा हो जाय तो, यह रथ, द्वारका के मार्ग का अनुसरण करे, तथा मेरा अनुगमन करता हुआ गोवृन्द एवं गोपवृन्द, यमुना के दक्षिण-पारस्थित श्रीवृन्दावन को ही प्राप्त कर ले तो अच्छा हो ॥१॥

श्रीव्रजराज आनन्दपूर्वक बोले—हे लाल ! सभी व्रजवासियों का केवल यही इष्ट विषय, अवशिष्ट (बाकी) रहा है। किन्तु इसमें भी कुछ विशिष्ट बात है। श्रीकृष्ण बोले—पिताजी ! स्वेच्छापूर्वक आज्ञा दीजिये ॥२॥

श्रीव्रजराज सजलनयन होकर बोले—हे पुत्र ! देखो, ये व्रजवासीजन तुम्हारे अनेक प्रकार के विरह रूप अनल के मध्य की अवस्था को पा कर,मत्तव्यक्ति की तरह भयभीत होकर, तुम्हारे व्रज में नित्य रहने के विषय में, जिस प्रकार अक्रूर से विश्वास नहीं करते थे, उसी प्रकार के बाहरी लोगों से आज भी, अर्थात् अब भी विश्वास नहीं कर रहे हैं। अतएव ये व्रजवासी विशेष करके यह बात चाहते हैं कि, व्रजवासियों से भिन्न दूसरे जन, आपको यहाँ नित्य रहते हुए न जान सकें। अतः तुम भी स्वयं उस प्रकार करने की इच्छा करो। इसीलिए तुम श्रीमान् एवं बुद्धिमान् कहलाते हो ॥३॥

अथ मधुकण्ठस्य मनःकथा,—"श्रीकृष्णस्तु तूष्णीकामवलंब्य विविवेच—'एते खलु, मम माधुर्यपूर्यमाणस्नेहमयदेहा न तु मदीशताज्ञानवलितेहास्तथापि यदित्थं प्रार्थयन्ते, तन्मम सान्दीपनिसंदीपितविद्यताज्ञानेन संभवतु नाम, किन्त्वमी न कदाचिदपि निजमहिमसमीहाः। तथापि चाहं पुनरेषु समुत्कर्षमेव वर्षन् हर्षमाप्नोमि, तथा संपदमेव संपादयन् स्वं पदं संप्रतिपद्ये । तस्मादशेषसंपदुपरिचरं सर्वविष्णुपदवरं सर्वानप्येतान् परिकारितालोकचरं गोलोकमेव लब्धम्, तत्र च सर्वनयनचमत्कारवाहं रथविहारं निर्वाहयिष्यामि' इति ॥४॥

अथ मधुकण्ठस्य स्पष्टकथा,—"अथ कृष्णस्तेषां तदिष्टं सुश्लिष्टं वेदयन् निवेदयामास,—'तात ! तत्र वृन्दावन एव तादृगवकाशतां ब्रह्मह्लदमज्जनादुन्मज्जन्तः स्वस्थानं सज्जन्तश्च भवन्तः सर्व एवाऽनुभवन्तः सन्ति स्म । तादृशदुर्निर्देशदेशप्रवेशनादिविद्या च मया विद्यातीर्थादावन्त्यादधीतास्ति । तस्मान्न पूर्ववत्तीर्थान्तरावगाहनाद्यपेक्षा वीक्ष्यते, किन्तु सोऽयं मम रथ एव सर्वमेव मनोरथं प्रथयिष्यति ॥'५॥

"अथ सर्वेऽपि प्रोचुः,—'यद्येवं सर्वे जानीयुरत्रैव वृन्दावने निजजनवृन्दाऽनुगततया गुप्तः स वृन्दावन-पुरन्दरः सर्वदा वर्वर्तीति, तदा कश्चित् कश्चित् त्वं दीनदयाधीन इति

अब मधुकण्ठ के मन की कथा वर्णित होती है, यथा—श्रीकृष्ण तो व्रजराज की बातें सुनकर चुप होकर विचार करने लगे कि—ये व्रजवासी निश्चय ही मेरे माधुर्य से परिपूरित स्नेहमय शरीरवाले हैं, किन्तु मेरी ईश्वरता के ज्ञान से युक्त चेष्टावाले नहीं हैं, तो भी ये इस प्रकार की जो प्रार्थना कर रहे हैं, वह प्रार्थना तो मेरे गुरुदेव सान्दीपनि मुनि के द्वारा प्रकाशित विद्याजनित ज्ञान के द्वारा सम्भव हो सकती है, किन्तु ये व्रजवासी अपनी महिमा की चेष्टावाले कभी भी नहीं हो सकते हैं, तो भी मैं तो इन व्रजवासियों के ऊपर महान् उत्कर्ष की वर्षा करता हुआ ही हर्ष को प्राप्त होता हूँ। तथा इनकी सम्पत्ति को ही सम्पन्न करता हुआ, अपने स्थानस्वरूप गोलोक को प्राप्त कर रहा हूँ। इसलिए जो गोलोक, समस्त सम्पत्तियों के ऊपर विद्यमान है, एवं महावैकुण्ठ आदि सभी विष्णुस्थानों में श्रेष्ठ है, तथा ब्रह्मह्लद में स्नान करते समय जो पहले इन सभी व्रजवासियों को दिखा दिया है, वह गोलोक प्राप्त ही हो गया है। अतः उसमें सभी के नेत्रों को चमत्कार प्राप्त करानेवाले रथ के विहार का निर्वाह करा दूँगा ॥४॥

अब मधुकण्ठ की स्पष्ट कथा कही जाती है, यथा—उसके बाद उन व्रजवासियों के उस अभीष्ट को भली प्रकार से युक्त जनाते हुए, श्रीकृष्ण ने निवेदन किया कि—हे पिताजी ! पहले आप सब व्रजवासी ब्रह्मह्लद्र के स्थान से निकलते हुए, एवं अपने अपने स्थान में पहुँचते हुए, उस वृन्दावन में ही उस प्रकार के विशाल स्थान की अवस्था का अनुभव कर ही चुके हो । अतः प्राकृत मन एवं वाणी के द्वारा, जिसका निर्देश करना भी कठिन है, उस प्रकार के गोलोकरूप देश में प्रवेश कराने की विद्या भी, मैंने अवन्तीपुरी में रहनेवाले विद्यागुरु श्रीसान्दीपनि मुनि से पढ़ ली है । इसलिए उस विद्या के बल से अनायास गोलोक-प्रवेश सिद्ध हो जायगा। पहले की तरह अब दूसरे तीर्थ में गोता लगाने आदि की अपेक्षा नहीं दीखती है। किन्तु यह हमारा रथ ही सम्पूर्ण मनोरथ को सिद्ध करा देगा ॥५॥

यह सुनकर सभी व्रजवासी बोले—"इसी वृन्दावन में अपने व्रजवासीवृन्द के अनुगत होकर, वृन्दावन के अधीश्वर श्रीकृष्ण गुप्तरूप से सदैव विशेष विद्यमान रहते हैं" इस प्रकार यदि सर्व साधारणजन जान लेंगे, तब तो "तुम दीनों की दया के अधीन हो" इस प्रकार जाननेवाला कोई कोई व्यक्ति, यहाँ आकर

विपश्चिदत्रागत्य त्वामुद्दिश्य विक्रुश्य स्वार्थसाधनाय यत्र कुत्रापि नेष्यति । ततश्च पूर्ववदस्माकं कदर्थना स्यात् ।।'६।।

"अथ श्रीकृष्णः सास्रस्मितमाह,—'तथा रथस्य गतिप्रथा भविता, यथा न कश्चिदपि निश्चितमनुभविता ।।'७।।

"अथ सर्वे प्रोचुः,—'तत्र च यमुना-गोवर्धनादिकं वृन्दावनान्तर्गततया पूर्वदृष्टमेव द्रष्टुमिच्छामः । तत्कथं संभवति ?' ।।८।।

"श्रीकृष्णः सस्मितमाह,—'तत्तदेवमेकमेव वस्तु प्रपञ्चाभिव्यक्ततदनभिव्यक्ततया द्विधा प्रकाशमानं वर्तते । भवद्भिः पूर्वं दृष्टमपि शीघ्राऽऽकृष्टतया न संभालितम् । तस्मात् किञ्चित् किञ्चिदपूर्वत्वेऽपि नान्यथा मन्तव्यम् ।।'९।।

"अथ सर्वे त एतदाकर्ण्य ससुखं तन्मुखं निर्वर्ण्य वर्णयामासुः,—।।१०।।

'वक्तुं योग्यमिदं न यद्यपि तथाप्यद्य स्फुटं ब्रूमहे
सर्वेषां बहिरन्तरं च करणं नस्त्वत्प्रयोज्यं परम् ।
तस्मात् त्वं कुरु तद् यथा यदभितो यद् येन यस्मै यतो
यस्य द्रागपि यत्र सुष्ठु भविता नित्यं तवालोकनम् ।।'११।।

तुम्हारा उद्देश्य लेकर, रो रोकर तुम को बुलाकर, स्वार्थ सिद्ध कराने के लिए, तुमको जहाँ कहीं भी, (अक्रूर की तरह) ले जायगा। उसके बाद हम सबों की विरहपीडा तो पहले की तरह पुनः उपस्थित हो जायगी ।।६।।

यह सुनकर श्रीकृष्ण सजलनयन होकर मुसकाकर बोले —मेरे रथ की गति (चाल) की रीति उस प्रकार से होगी कि, जिस प्रकार कोई भी निश्चितरूप से यह अनुभव नहीं कर पायेगा कि,"परिकरसहित श्रीकृष्ण वृन्दावन में ही विद्यमान हैं" ।।७।।

उसके बाद सभी बोले—उसमें भी हम सब वृन्दावन के अन्तर्गतरूप से, पहले देखे हुए यमुना गोवर्धन आदि को ही पुनः देखना चाहते हैं । "गुप्तरूप से वृन्दावन में रहनेपर" उन सब का वह देखना कैसे सम्भव होगा ? ।।८।।

श्रीकृष्ण मन्दमुसकानपूर्वक बोले—वह वृन्दावन एवं गोवर्धन आदि एक एक वस्तु प्रपञ्च (संसार) में प्रगट एवं अप्रगट भाव से दो प्रकार से प्रकाशमान है । आप सब ने वह गोलोक का अप्रगट भाव पहले ब्रह्मह्रद में गोता लगाते समय देख लिया था, तो भी मेरे द्वारा ब्रह्मह्रद से आप को शीघ्र खींच लेने के कारण, आप सब ने उसको सँभाला नहीं । इसलिए कुछ कुछ अपूर्वता (नवीनता) होनेपर भी, आप सब दूसरी तरह से मत मानो,अर्थात् गोलोक एवं व्रजवृन्दावन में भेद मत मानो ।।९।।

उसके बाद वे सभी सभासद् यह सुनकर, सुखपूर्वक श्रीकृष्ण के मुखारविन्द को निहार कर, वर्णन करने लगे —।।१०।।

यद्यपि यह कहना योग्य नहीं हैं,तो भी आज तो हम सब स्पष्ट कह रहे हैं कि—हम सब व्रजवासियों के बाहरी भीतरी जो भी करण, अर्थात् कर्म, देह, इन्द्रिय आदि है, वह सब केवल तुम्हारे द्वारा ही प्रयोग में लाने योग्य है,तात्पर्य—हमारे देह इन्द्रिय आदिके तुम ही संचालक हो। अतः तुम्हारी स्वतन्त्रता होने के

"अथ व्रजराज उवाच,—'एवमपि यथा तत्रापि मद्भ्रात्रादीनामानकदुन्दुभ्यादीनां दीनान्तरता न स्यात्तथा प्रथनीयम् ॥'१२॥

"श्रीकृष्ण उवाच,—'भवतां शुभानुध्यानेन तदपि सिद्धं बुध्यामहे' इति। एतदुक्त्वा च श्रीलाङ्गलभृदुद्धवयोर्मुखं लसदुद्धवं ससुखमीक्षित्वा दारुकमाह स्म,–'सारथे! रथेनाऽनेन यथेह सर्वसमाधानं स्यात् तथेहस्व। तच्च सर्वव्रजसमावेशित्वं त्रिलोकीलोकालोकाऽतीततया गोलोकधामप्रवेशित्वं च' इति ॥१३॥

"अथ वन्दारुकतया दारुकः प्राह स्म,—'यद्यपि नाहं विशेषं वेद्मि, तथापि यथाऽऽदिशन्ति शरणागताऽनुगताऽऽचरणाः श्रीमदीशचरणास्तथैव सेत्स्यति' इति ॥१४॥

"अथ क्षणादेव तथा लक्षणं रथस्य प्रथितमाचरंस्तं प्रति तं गोचरयाञ्चकार ॥१५॥

"ततश्च, तज्ज्योतिर्मयमेव यानमिति तर्ह्यह्नाय वह्नेरिव
स्फारत्वं प्रतिपद्य तत्र च गवावासादिचित्रांगताम्।
स्वं तेजो भुवनेषु तन्वदुरुधा लोकेन नाऽलोकि यत्
क्वेदं तिष्ठति चाऽजनिष्ट च कुतः संगंस्यते कुत्र च ॥१६॥

नाते तुम उसी कार्य को करो कि, जिसके कर्तापन से, जिसके कर्म से एवं जिसके द्वारा, जिसके लिए जिस से,जिसके सम्बन्ध में, तथा जिस कार्य में,चारों ओर से शीघ्र ही, भलीप्रकार जैसे भी नित्य तुम्हारा दर्शन होता रहे ॥११॥

तदनन्तर व्रजराज बोले—देखो,लाला! इस प्रकार करनेपर भी उस द्वारका में विद्यमान,मेरे भाई श्रीवसुदेव आदिकों के अन्तःकरण की दशा भी, जिस प्रकार दीनदु:खी न हो, उसी प्रकार व्यवस्था कर दीजिये ॥१२॥

श्रीकृष्ण बोले—पिताजी! आप के शुभचिन्तन से हम तो उस कार्य को भी सिद्ध ही समझ रहे हैं। यह कहते ही हलधर एवं उद्धव, इन दोनों के शोभायमान उत्सवयुक्त मुख को सुखपूर्वक देखकर, दारुक के प्रति बोले—हे सारथे! देखो, इस रथ से यहाँपर जिस प्रकार सब का समाधान हो जाय, उसी प्रकार चेष्टा करो। और वह सब का समाधान भी सम्पूर्ण व्रज का समावेश करना,एवं तीनों लोक तथा लोकालोक पर्वत के अतिक्रमणपूर्वक अथवा भूर्भुवः स्वः-रूप तीन लोक,वैकुण्ठ आदि लोक, एवं ब्रह्मतेज का ब्रह्मधाम, इन सब को अतिक्रमण करके गोलोकधाम में प्रवेश करना,इत्यादिरूप ही है ॥१३॥

पश्चात् दारुक वन्दना करनेवाले के भाव से बोला—यद्यपि मैं विशेष नहीं जानता हूँ,तथापि शरणागतों की इच्छानुसार आचरण करनेवाले श्रीमान् पूज्यपाद प्रभुजी, अर्थात् आप जैसे आदेश दे रहे हैं, वैसे ही सिद्ध होगा ॥१४॥

उसके बाद क्षणभर में रथ का उसी प्रकार का विस्तार बनाकर अर्थात् समस्त व्रजवासी जिस प्रकार अनायास उसमें आ सकें, उसी प्रकार विशाल बनाकर, दारुक ने वह रथ, श्रीकृष्ण के दृष्टिगोचर कर दिया ॥१५॥

उसके बाद वह यान (रथ) ज्योतिर्मय था,इसलिए उससमय तत्काल अग्नि की तरह विशालता को प्राप्त होकर, और उसमें भी गोगण के आवास (खिड़क) आदि के द्वारा विचित्र अङ्गोंवाला होकर, अपने तेज को तीनों लोको में अनेक प्रकार से फैलाता हुआ, लोगों ने नहीं देखा। और यह तेज है अथवा यान है, कहाँपर स्थित है, कहाँ से उत्पन्न हुआ है,और कहाँ जायेगा ? यह भाव भी लोगों ने नहीं देखा ॥१६॥

अपरैस्तद् दुरालोकं स्वालोकं व्रजवासिभिः ।
तत्र दृष्टान्त एकः स्याच्छ्रीकान्तः स तु नाऽवरः ॥१७॥

"तदेवं सति सर्व एव व्रजवसतिर्गोवर्धन-तलनिलयमिव तदुपरिवलयं तेन सह विवेश ॥१८॥ ततश्च,

उत्सर्पज्ज्योतिरालीविभव-वशतया तं रथं तूर्ध्वभाजं
चर्माऽक्षा मेनिरे तद्यु परिगततया तत्पदोपासकाश्च ।
कृष्ट्वा ब्रह्महृदात् प्रागपि मुरजयिना लंभिता गोमिनो यां
तां वृन्दारण्यमध्ये गतिमिह सुगतं तद्विदश्चार्वपश्यन् ॥१९॥

"तत्र यमुना-दक्षिणपारीणादयस्तु,—

नारूढा ये रथं ते च कृष्णं रूढानुरागकाः । पूर्णिमा-वृन्दयोर्योगादनुजग्मुश्चरस्थिराः ॥२०॥
तत्रान्यच्चित्रमालोकि सर्वैश्च व्रजवासिभिः । ये प्रागदृश्यतां प्राप्तास्तेऽप्यदृश्यन्त तत्र हि ॥२१॥

रथं विभुर्गतमथ सिद्धकार्यतां, व्रजेश्वरस्पृहितवशात् कुशस्थलम् ।
वपुर्बहूकृतिकृतिविद्ययाऽनयद्, बलादिभिस्त्रिभिरितमात्मना च तम् ॥" इति ॥२२॥

वह तेज अथवा रथरूप यान दूसरे अभक्त-जनों के द्वारा दिखाई देनेवाला नहीं था, एवं व्रजवासियों के द्वारा भली प्रकार दिखाई देनेवाला था। उस में एक वे श्रीकृष्ण ही दृष्टान्त हो सकते हैं, किन्तु तुच्छजन नहीं। अर्थात् जिस प्रकार श्रीकृष्ण अभक्तों के अदृश्य होकर भी, भक्तों के अनायास दृष्टिगोचर हो जाते हैं, उसी प्रकार का यह तेजोमय रथ था ॥१७॥

अतएव ऐसी स्थिति में समस्त व्रजवासीजन पहले गोवर्धन के तलरूप स्थान में जैसे फैलकर प्रविष्ट हुए थे, उसी प्रकार वे सब अब श्रीकृष्ण के साथ उस रथ के ऊपर के मण्डल में अनायास प्रविष्ट हो गये ॥१८॥

उसके बाद चर्म-चक्षुओंवाले साधारणजनों ने ऊपर को फैलती हुई ज्योतिश्रेणी के वैभव के वशीभूत होने के कारण, उस ज्योतिर्मय रथ को (आकाश में) ऊपर की ओर स्थित मान लिया। एवं उसी समय वैकुण्ठ में रहनेवाले श्रीकृष्ण के चरणसेवकों ने वैकुण्ठ से भी ऊपर पहुँचा हुआ मान लिया। तथा श्रीकृष्ण की लीलाके तत्त्व को जाननेवाले अन्तरङ्गजन तो उसी समय भलीप्रकार यह देख रहे थे कि, पहले प्रगट लीला में भी श्रीकृष्ण ने यमुनासम्बन्धी ब्रह्महृद से खींचकर सभी गोपजन जिस गति को प्राप्त किये थे, उसी गति को वह रथ इस वृन्दावन के बीच में भली प्रकार से प्राप्त हो गया है, अर्थात् "व्रजवासियों से भरा हुआ वह ज्योतिर्मय रथ इस वृन्दावन में प्रविष्ट हो रहा है" ऐसे देख रहे थे ॥१९॥

और वहाँपर यमुनाके दक्षिण तीरपर रहनेवाले स्थावर जङ्गम पदार्थ तो जो उस रथमें नहींचढ़े थे, वे सब प्रगट अनुरागवाले होकर, पौर्णमासी एवं वृन्दा के उपाय से श्रीकृष्ण के अनुगामी बन गये, अर्थात् उन्हीं के साथ अप्रगट वृन्दावन में प्रविष्ट हो गये ॥२०॥

उस वृन्दावन में समस्त व्रजवासियों ने दूसरा एक यह आश्चर्य भी देखा था कि, जो पर्जन्य आदि पहले भजन करने के निमित्त अपनी पत्नी वरीयसी के सहित अदृश्य हो गये थे, वे भी वहाँपर दिखाई देने लग गये ॥२१॥

उसके बाद कार्य की सिद्धि को प्राप्त हुए उस रथ को श्रीकृष्ण ने, श्रीव्रजराज की इच्छा के वशीभूत

"देवास्तु पूर्वमन्तर्धानदृष्ट्या दुःखस्पृष्टाः संप्रति यान् दृष्ट्वा स्फुटमुल्लसन्तः स्तव-जयकार-वाद्यप्रकारवारं भासयन्तः सङ्गमेव सङ्गता बभूवुः ॥२३॥

तदेवं कथकः कथयित्वा मनसि तु तदिदं कथयामास,—"किन्तु व्रजजनास्तथागच्छत-स्तान्नाध्यक्षमध्यगच्छन् केवलं गोकुल एव स्थितानपश्यन्। दारुकश्च न तान् गोकुलस्थान-पश्यत्, किन्तु रथ एव स्थितान् ॥२४॥

"तदेवं व्यूहभेदेन लब्धे श्रीकृष्णादीनां व्रजेऽवस्थाने श्रीमदुद्धवस्याप्यत्र च तथा स्थितिर्युक्ता ॥२५॥ यतः,

'आसामहो' इति यदर्थितमुद्धवेन, प्राप्तं तदेव खलु यत् त्रितयाङ्गमित्थम्।
स्वस्याग्रिमा गतिरमूर्नितरामसूषां, वृन्दावनं सदनमात्मपतिर्मुकुन्दः ॥२६॥

"किञ्च, तत्र तत्र च लीलायां देहव्यूहं प्रपन्नास्ते चित्तव्यूहमपि प्रपद्यन्ते। तं च तं च प्रपद्य तत्तल्लीलारसाभिनिवेशवशतया न सर्वत्र सर्वं प्रतिपद्यन्ते; किन्तु यथास्वमेव। न हि लक्ष्मीस्तद्भेदाः सीतादिस्वभेदानां खेदादिकं स्पृशन्ति ॥२७॥

होकर, कुशस्थली (द्वारका) में पहुँचा दिया। उस समय वह रथ बहुत से शरीर बनानेमें कुशल (श्रीकृष्ण) की विद्या के द्वारा बलदेव, उद्धव, एवं रोहिणी इन तीनों से युक्त था, एवं स्वयं श्रीकृष्ण से भी युक्त था, अर्थात् श्रीकृष्ण, बलदेव, उद्धव, एवं रोहिणी ये चारों जन अचिन्त्यशक्ति के द्वारा एक रूप से द्वारका में चले गये, एवं एक रूप से वृन्दावन में भी विद्यमान रहे, यह भावार्थ है ॥२२॥

उस गोलोक में लीला के परिकररूप इन्द्रादि देवता तो जो पहले से विद्यमान थे, वे सब पहले अर्थात् प्रगटलीला के समय उन व्रजवासियों के अन्तर्धान को देखकर, वियोगदुःख से युक्त हो गये थे, किन्तु अब जिन व्रजवासियों को देखकर स्पष्ट ही उल्लसित होकर स्तुति, जय जयकार, एवं अनेक प्रकार के बाजाओं को प्रकाशित करते हुए, उनके सङ्ग हो सम्मिलित हो गये ॥२३॥

कथावाचक मधुकण्ठ इस प्रकार कहकर, अपने मन मन में यह कहने लगा कि—किन्तु वे व्रजवासी तो उस प्रकार मूर्ति के भेद से रथ में बैठकर जाते हुए श्रीबलदेव आदि को प्रत्यक्ष नहीं जान पाये, केवल गोकुल में अर्थात् व्रज या गोलोक में ही स्थित देखते रहे। और दारुक उस समय उनको गोकुल में स्थित नहीं देख रहा था, किन्तु अपने रथ में ही स्थित देख रहा था ॥२४॥

इस प्रकार देह के व्यूहभेद से श्रीकृष्ण बलदेव आदिकों की स्थिति जब व्रज में उपलब्ध हो गई, तब यहाँपर एवं द्वारका में श्रीमान् उद्धव की स्थिति भी उचित ही है ॥२५॥

कारण उद्धव ने "अहह! इस वृन्दावन में गोपियों की चरणरज का सेवन करनेवाले गुल्म, लता, औषधी आदि में से किसी का भी जन्म प्राप्त कर सकूंगा" इस प्रकार की जो प्रार्थना पहले की थी, वही तीन अङ्गवाली प्रार्थित वस्तु निश्चितरूप से प्राप्त कर ली। उद्धव के द्वारा प्रार्थित तीन अङ्गवाली तीनों वस्तु इस प्रकार हैं—"वे गोपियाँ अपनी अग्रिम गतिस्वरूप हैं," यह प्रथम प्रार्थित है, "वृन्दावन ही गोपियों का नितान्त निवासस्थान है, वह भी मुझे प्राप्त हो जाय" यह अद्वितीय प्रार्थित है, "अपने रक्षक श्रीकृष्ण ही हैं" यह तृतीय प्रार्थित वस्तु है ॥२६॥

किंच व्रजलीला एवं द्वारका की लीला में देहव्यूह (देह के स्वरूप भेद) को प्राप्त हुए वे श्रीबलदेव आदि अपने अपने चित्त के स्वरूप भेद को भी प्राप्त हो जाते हैं। और देहव्यूह एवं चित्तव्यूह को प्राप्त

"अथ यदवश्च तेषां तावन्तं विलंबं नाऽजानन्, किन्तु स्वल्पमात्रम्। यः खलु मासद्वयमयोऽपि व्रजे बहुलसमयव्रजतयाऽऽसीत्। तच्च सर्वमस्यं पूर्वपूर्वलब्धयोगमाया-बलत्वान्नापूर्वं मन्तव्यम्" इति ॥२८॥

'तदेवं विभाव्य पुनर्गोलोकप्रवेशकथामाविर्भाव्य स्पष्टमाचष्ट,—

"ईक्षामात्रात् प्राप्तचित्रा विशेषान्, कृष्णाज्ज्ञात्वा कौतुकं चाप्तवन्तः।
लब्धाशास्ते गोपकाः प्रेमवृद्ध्या, तत्रामान्तोऽप्यन्तरुच्चैर्विजह्रुः ॥२९॥

श्रीकृष्णश्च द्राक् स्वयं सर्ववन्यां, पश्यन् धन्यां रामचित्रः समित्रः।
क्रीडन् धेनूश्चारयन् वेणुगानम्, कुर्वन् सर्वं शर्मपूर्णं चकार ॥३०॥

"अथ लब्धतत्प्रवेशस्य गोलोकप्रदेशस्य परिपाटी पुनरन्यत्र ब्रह्मसंहिताद्यनुसंहिताप्यत्र तु नेत्राभ्यामुद्घटितीक्रियते। किन्त्विदमप्यनुसन्धेयम्,—

यद्यपि भवदङ्गजता, साक्षादस्येति नेशता योज्या।
तदपि महागुणदृष्ट्या, हृष्ट्या कविभिः परेशता कविता ॥ इति ॥३१॥

करके भी वे सब उस उस लीला में अभिनिवेश के वशीभूत होने के कारण, सब जगह सब रहस्य को नही जानतेहैं;किन्तु यथायोग्य ही जान पाते हैं। उसमें यही युक्ति है कि लक्ष्मीदेवी एवं उनके भेदस्वरूप श्रीबलदेव आदि की पत्नियाँ, अपने भेदस्वरूप सीता आदिकों के खेद आदि का जिस प्रकार स्पर्श नहीं करती हैं, उसी प्रकार बलदेव आदि के स्वरूप भेदों के विषय में भी जान लेना चाहिये ॥२७॥

यदि कोई पूछे कि—द्वारकावासी वे यदुवंशी, श्रीकृष्ण आदिकों के उतने विलम्ब को देखकर निश्चिन्त कैसे बैठे रहे? इसके उत्तर में कहते हैं कि—वे यदुवंशी तो श्रीकृष्ण आदिकों के उतने विलम्ब को नहीं जान पाये, किन्तु थोड़ा सा ही विलम्ब जान पाये। एवं दो महीने का बिलम्बमय भी जो समय था, वह व्रज में बहुत से समय समूहवाला हो गया था। वह सब अर्थात् द्वारका में "विलम्ब होनेपर भी" समय की अल्पता एवं व्रज में दो मास के समय की भी जो विशालता की प्रतीति है, वह सब कार्य इन श्रीकृष्ण के पहले पहले प्राप्त हुए योगमाया के बल के भाव से ही हुआ समझ कर, आश्चर्यरूप नहीं मानना चाहिये। तात्पर्य—श्रीकृष्ण की योगमाया अघटित-घटना-पटीयसी है, उस से सब कुछ संभव है ॥२८॥

इस प्रकार मन में विचार कर, पुनः गोलोकप्रवेश की कथा को प्रगट करके मधुकण्ठ स्पष्ट बोला—वे गोपजन गोलोक के दर्शनमात्र से आश्चर्य को प्राप्त होकर, विशेष बातों को श्रीकृष्ण से समझ कर, कौतुक को प्राप्त हो गये। और अपनी आशाओं को प्राप्त करनेवाले वे गोप, उस गोलोक में प्रेम की वृद्धि के कारण अपने अन्तःकरण में नहीं समाते हुए भी अधिक विहार करने लग गये ॥२९॥

मित्रों के सहित बलरामजी को आश्चर्ययुक्त करनेवाले श्रीकृष्ण ने, गोलोक के परमधन्य समस्त वन के समूह को स्वयं तत्काल देखते हुए, क्रीडा करते हुए, गउओं को चराते हुए, वंशी बजाते हुए, सम्पूर्ण गोलोक को सुख से पूर्ण कर दिया ॥३०॥

पश्चात् उन व्रजवासियों का प्रवेश जिसमें उपलब्ध हो गया है, उस गोलोक के प्रदेश की परिपाटी पुनः, अर्थात् पक्षान्तर से निश्चय ही अन्यत्र, अर्थात् पूर्व चम्पू के प्रथम पूरण में ब्रह्मसंहिता आदि के द्वारा अनुसन्धान के विषय में ला दी है, किन्तु इस उतर चम्पू में तो नेत्रों के द्वारा उद्घाटित (प्रकाशित) की

"तथा हि, स खल्वयं लोकः प्राकृतदृष्टीनां प्रकटे वृन्दावन एवाऽप्रकटं वर्तत इति पूर्वमत्र च प्रकटितमस्ति ॥३२॥ तथा च सति—

चिच्छक्तिव्यक्तवैचित्र्यं ब्रह्मज्योतिरदः पदम् । गोकुलाख्यं योग्यलीलं श्रुतिस्मृतिविलोकितम् ॥

अस्मिन् यद् यद् भासकं भासितं वा, तत्तत् सर्वं भाति कृष्णस्य योग्यम् ।
यस्मादिष्टं न ह्यनिष्टं तु किञ्चि,-च्चिच्छक्तिः सा सौति तस्याऽर्चनाय ॥३४॥

लक्ष्म्यैकयैव वलितं प्रतिविष्णुलोकं, गोलोक एष जयतीति यदाह शास्त्रम् ।
लक्ष्मीसहस्रशतसंभ्रमसेव्यमानः, कृष्ण स एष वलते खलु तत्र साक्षी ॥३५॥

अतीत्य ब्रह्माण्ड-प्रचयमथ वैकुण्ठवलयं, समूहं भक्तानामपि मधुरिपोर्मूर्ति-निचयम् ।
अयं लोको धत्ते विधिकलितपूर्वाण्डपटलं, रमाकोटीः सर्वस्तुतगणमघारेर्वपुरपि ॥३६॥

चिन्तारत्नानि सन्ति स्फुटमपि तु न तद्भूमिताऽन्यत्र सिद्धा
सिद्धा वा स्यात्तथापि स्फुरति धनमितः कामनान्नाऽपरार्थः ।

जा रही है । किन्तु यहभी अनुसन्धान कर लेना चाहिये कि— हे व्रजराज ! देखो, ये श्रीकृष्ण आपके साक्षात् पुत्र हैं, इसलिए इन में ईश्वरभाव यद्यपि नहीं प्रयोग करना चाहिये, तो भी कविजनों ने श्रीकृष्ण में महान् गुणों को देखकर, हर्ष के कारण परमेश्वर भाव का वर्णन कर दिया है ॥३१॥

देखो, वही यह गोलोक प्राकृत दृष्टिवालों के लिए तो, इस प्रगट वृन्दावन में ही अप्रगटरूप से वर्तमान है (एवं हरिकृपा प्राप्त दिव्य दृष्टिवालों के लिए सदैव प्रगट दिखाई देता है), यह बात पूर्वचम्पू के प्रथम पूरण में एवं इस उत्तमचम्पू में भी प्रकाशित कर दी है ॥३२॥

उस प्रकार की स्थिति में यह गोकुल (गोलोक) नामक स्थान, चित्शक्ति के द्वारा प्रकाशित विचित्रताओं से युक्त है, ब्रह्मज्योतिस्वरूप है, अर्थात् स्वतः प्रकाशस्वरूप है, एवं भक्त भावानुसारिणी योग्य लीलाओं से युक्त है, तथा श्रुति स्मृति द्वारा सप्रमाण देखा गया हैं॥३३॥

इस गोलोक में जो जो वस्तु प्रकाशक अथवा प्रकाशित है, वह वह सब वस्तु श्रीकृष्ण के लिए योग्य प्रतीत होती है, कारण श्रीकृष्ण की वह चित्शक्ति उनकी सेवापूजा के लिए, इष्टवस्तु को ही उत्पन्न करती है, किन्तु अनिष्ट तो कुछ भी नहीं उत्पन्न करती है ॥३४॥

सभी वैकुण्ठों से गोलोक का यह उत्कर्ष है कि, प्रत्येक विष्णुलोक तो केवल एक लक्ष्मी से ही संयुक्त है, तो भी यह गोलोक प्रत्येक विष्णुलोक को जीत लेता है । इस बात को शास्त्र जो कहता है, उसमें करोड़ों लक्ष्मीस्वरूपा गोपियों के द्वारा हर्ष की शीघ्रता से प्रतिक्षण सेवित ये श्रीकृष्ण ही साक्षीरूप से विराजमान हैं ॥३५॥

यह गोलोक ब्रह्माण्डसमूह का अतिक्रमण करके, पश्चात् वैकुण्ठमण्डल को, भक्तों के समूह को, एवं श्रीकृष्ण के वासुदेव आदि मूर्तिव्यूह को भी धारण करता है । तथा पहले अघासुर के वध के अनन्तर ब्रह्मा के द्वारा देखे हुए ब्रह्माण्डसमूह को, श्रीराधिका आदि करोड़ों लक्ष्मियों को, और जिस के गुण सभी के द्वारा प्रशंसित हैं, श्रीकृष्ण के उस शरीर को भी यह लोक धारण करता है । अतः सर्वलोकोत्कृष्ट है ॥३६॥

स्वर्ग या वैकुण्ठ आदि अन्य लोकों में चिन्तामणि हैं, यह बात स्पष्ट है, किन्तु वहाँपर चिन्तामणि-गणमयी भूमि (यहाँ की तरह) सिद्ध नहीं है । यदि किसी प्रकार सिद्ध भी हो जाय तो भी, उस चिन्तामणि-

मुक्तिर्नैवेति लब्धे तदुपरि च विभुर्या तु गोविन्द-भक्ति-
स्तस्याश्चूडामणिर्या तदुदयवलिता भूरियं केन तुल्या ? ॥३७॥

अन्यत्र कल्पतरुता निजजातिमात्रे, व्यक्ता भवेदिह तु साऽर्कतरौ च चित्रा ।
एष त्रिवर्गमपि यत् परमं विमोक्षं, रुच्यं हरेर्भजनमप्यतुलं ददाति ॥३८॥

अमृतमपि च पीत्वा देववर्गः कदर्थं, भजति सलिलमात्रं चात्र किं वर्णयामः ।
अमृतपदुरवापध्यानकृष्णांघ्रिपद्म,-स्फुटमधुरिम-धारावाहि यल्लालसीति ॥३९॥

गावो यत्र मुकुन्द-वेणुरणितास्वादेन पुष्टाङ्गता-
जुष्टाः स्वस्तनपर्वताज्झरमुचश्चिन्वन्ति दुग्धांबुधिम् ।
गोलोकः स यथा परीत्य विलसन् खातेन तेनानिशं
श्वेतद्वीपतया प्रसिद्धिमयते मन्त्रेषु यन्त्रेषु च ॥४०॥

श्वेतद्वीपप्रथिति तददः किञ्च गोलोकनाम, श्रीकृष्णस्य स्फुरति भुवनं तत्कृपामात्रगम्यम् ।
जानन्तश्चेदिदमपि मता दुर्लभाः क्षौणिपृष्ठे, तिष्ठत्वेषां तदधिवसतां चारु वार्ता तु दूरे ॥४१॥

मयी भूमि से कामना करने से धन ही स्फूर्ति हो पाता है, किन्तु मुक्तिरूप दूसरा पदार्थ नहीं मिल पाता है। ऐसे भाव की उपलब्धि में उस मुक्ति के ऊपर भी समर्थ जो श्रीकृष्ण की भक्ति है, वह अन्य लोकों में नहीं मिल पाती। यदि कहीं मिल भी जाय तो, उस कृष्णभक्ति की भी चूड़ामणि जो प्रेमलक्षणा भक्ति है, वह नहीं मिल पाती है। यह गोलोक की भूमि तो उस प्रेमलक्षणा भक्ति के प्रादुर्भाव से युक्त है । अतः यह गोलोक की भूमि कौन से लोक के समान है ? अर्थात् किसी के नहीं। तात्पर्य—इसकी समानतावाली भूमि किसी भी लोक में नहीं है, अतः यह अनुपमेय है ॥३७॥

स्वर्ग आदि दूसरे स्थानों में कल्पवृक्ष की अपनी जाति के वृक्षमात्र में, कल्पवृक्ष का भाव प्रकाशित हो सकता है, दूसरे वृक्ष में नहीं। किन्तु इस गोलोक में तो वह कल्पवृक्ष का भाव प्रभाव, आक के वृक्ष में भी आश्चर्यमय प्रकाशित हो जाता है । यह गोलोक धर्म, अर्थ, कामरूप त्रिवर्ग को एवं परमविमुक्ति को, तथा श्रीहरि के रुचिकर अनुपम भजन को भी अनायास देता है ॥३८॥

देवताओं का समूह स्वर्गीय अमृत को पीकर भी, असुरों के उपद्रव एवं जन्ममृत्यु की परम्परा को भोगता रहता है। इस गोलोक में विद्यमान जलमात्र का हम क्या वर्णन करें ? क्योंकि जो जल, अमृत पीनेवाले देवताओं को जिनका ध्यान भी दुर्लभ है, श्रीकृष्ण के उन चरणकमलों के माधुर्य की धारा को स्पष्ट धारण करनेवाला होकर विशेष शोभायमान है। अतः गोलोकीय अमृत तो अनिर्वचनीय है ॥३९॥

और जिस गोलोक में श्रीकृष्ण की वंशी की सुमधुर ध्वनि के आस्वाद से हृष्ट पुष्ट अङ्गोंवाली गैयाएँ, अपने स्तनरूप पर्वत से दुग्ध के झरनों को बहाती हुई क्षीरसमुद्र को संचित करती रहती हैं, वह गोलोक क्षीरसमुद्ररूप उस खाइ के द्वारा यथावत् घिरकर निरन्तर शोभा पाता हुआ, मन्त्रों में एवं यन्त्रों में (देवताओं के अधिष्ठानस्वरूप पीठों में), श्वेतद्वीपरूप से प्रसिद्धि को प्राप्त करता रहता है ॥४०॥

श्वेतद्वीपरूप से जिसकी ख्याति है, किञ्च गोलोक नामवाला श्रीकृष्ण का यह जो भुवन स्फूर्ति पा रहा है, वह केवल श्रीकृष्ण की कृपा से ही प्राप्य है। इस बात को जाननेवाले जन भी जब भूतल में दुर्लभ माने गये हैं, तब उस गोलोक में निवास करनेवाले इन व्रजवासियों की मनोहर बात तो, अर्थात् सुन्दर

उपरि विमानावलिभि,-र्लोकपमुख्या ग्रहाश्च भान्तीह ।
गोकुलशब्दाल्लब्धा, लौकिकलीला हि तत्र विस्रब्धा ॥४२॥

यत्र वासुदेवमुख्य,-वृन्दमावृत्तित्वमेति । अस्तु तत्र चान्यदन्य,-दन्यलोकवन्द्यवस्तु ॥४३॥

"तदेवमुपरि परीवारपरीतमपि परितः सुदुस्तरपारावारतीरक्षीरपारावारसीमतया प्रतीतमपि भगवद्वपुर्वत्तमिममसीमप्रदेशं देशं कथयन्ति । यत्र चाष्टासु काष्ठासु धारित्रनिभ-विचित्रलोकाः सलोकतां गता विलसन्ति । तस्य चान्तर्वाचामभूमिर्वृन्दावननाम्नी गोचारण-भूमिः । तथापि किञ्चिद् वचसा तदञ्चितं करिष्यामः,—॥४४॥

"स्वर्णक्षौण्यां तमाला गरुडमणिभुवि स्वर्णपुष्पाः सुवर्ण-
प्रख्ये वृक्षे पलाशान्यसितमणिसमान्येवमन्यत्र किञ्च ।
तेषां यद्येकपत्रं प्रतिकृतिकलया कर्तुमिच्छेद् विधाता
श्लोकेताऽहर्निशं वा तदपि नहि यशः किञ्चिदप्यश्नुतीव ॥४५॥

वृत्तान्त तो दूर धरा रहे । तात्पर्य—गोलोक के वास्तविक स्वरूप को समझनेवाले विज्ञजन ही, जब इस भूमि में दुर्लभ हैं, तब गोलोकवासियों की गूढकथा को जाननेवाले या कहनेवाले तो अतीव दुर्लभ हैं, अतः वह वार्ता दूर ही धरी विराजेगी ॥४१॥

और इस गोलोक में ऊपर की ओर लीला-परिकरस्वरूप लोकपालों में मुख्य ब्रह्मा आदि देवगण, एवं सूर्यचन्द्रादि ग्रहगण विमानों की पंक्तियों के द्वारा प्रकाशित होते रहते हैं । गोलोक का गोकुल से, अर्थात् व्रज से कोई भेद नहीं है, इसलिए गोलोक को गोकुल शब्द से भी कहते हैं । अतः गोकुल शब्द से प्राप्त हुई लौकिकलीला भी वहाँपर विश्रब्धा (विश्वासयुक्त या गाढी) होकर विराजमान रहती है ॥४२॥

और जिस गोलोक में वासुदेव आदि चतुर्व्यूह, अर्थात् वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्धरूप चतुर्व्यूह आवरणदेवता के भाव को प्राप्त होता रहता है । अतः उस गोलोक में दूसरे लोकों की वन्दनीय वस्तु भिन्न भिन्नरूप से यदि विद्यमान है, तो भले ही रहे, इसमें कोई हानि नहीं है ॥४३॥

इस प्रकार ऊपर की ओर ब्रह्मा, इन्द्र, चन्द्र, सूर्य आदि के परिवार से व्याप्त होनेवाले, एवं जिस के दोनों तीर सुदुस्तर हैं, उस क्षीरसमुद्र की सीमारूप से प्रतीत होनेवाले भी, इस गोलोक नामक देश को विज्ञजन भगवान् के शरीर की तरह असीम प्रदेशवाला कहते हैं । एवं जिस गोलोक में आठों दिशाओं में, धरती में होनेवाले लोकों के समान विचित्र लोक, सलोकता (समान लोकता) को प्राप्त होकर विराजमान हैं । और उस गोलोक की वृन्दावन नामक जो गोचारण भूमि है, वह अन्तर्वाचामभूमिः (शास्त्रवेत्ताओं के भी अगोचर) है, तो भी हम उस को वचन के द्वारा कुछ पूजित करेंगे ॥४४॥

देखो, श्रीवृन्दावन में सुवर्णमयी भूमि में तमाल के वृक्ष हैं, एवं गरुडमणि अर्थात् श्यामवर्णवाली मरकतमणि की भूमि में सुवर्ण के से पुष्पोंवाले वृक्ष हैं । एवं सुवर्ण के से वृक्ष में जो पत्र हैं वे सब इन्द्रनील-मणि के समान हैं । इसी प्रकार अन्यत्र, अर्थात् इन्द्रनीलमणि के वृक्ष में सुवर्णवर्ण के पत्र शोभा पा रहे हैं । किंच विधाता यदि उन वृक्षों के एक पत्र का भी अनुकरण करना चाहे, अथवा रात दिन उनकी स्तुति करता रहे तो भी, किंचिद् भी यश नहीं प्राप्त कर पाता ॥४५॥

कुञ्जाः क्वचिद् रत्नगृहाङ्गतां गता, वृक्षाः क्वचिद् राजगृहाधिकस्पृहाः ।
वल्ल्यः क्वचिल्लास्यकलाकलापिकाः, स्थल्य, क्वचिद् रत्नतुलाऽतुलार्चिताः ॥४६॥

एकस्यां दिशि पङ्कजादिविलसन्नद्यः परस्यां प्रसू-
नादिक्ष्मा हिमबालुकाऽऽभ-सिकता मध्ये तु यासामिह ।
एता रासभुवः क्वचित् क्वचन ताः पुष्पाटवीरन्तरा
क्वाप्यद्रिस्थितरत्नभूतलगता राजन्ति सर्वोपरि ॥४७॥

चित्रभ्रमं दधति ते तरवो न यावद्, वाता वहन्ति कुसुमादि विलोलयन्तः ।
चित्रन्ति तेऽपि च खगा न यदाऽऽह्रियन्ते, कंसारिवंशरणितादिकमाधुरीभिः ॥४८॥

शिलीवक्त्रा भेरी-ध्वनिमवरवाद्यं चलदलाः, कुहूकण्ठा गानं दधति शितिकण्ठा नट-गतिम् ।
तदेवं भ्राजन्ते बहुविधकला यत्र विपिने, विना यत्नं रङ्गक्षितिकुलमयं तद् विलसति ॥४९॥

गीतं केचन केऽपि वाद्यमनिशं केचिन्न नृत्यं खगाः
सम्मोदादनुकृत्य बिभ्रति रुचिं वृन्दावने सर्वतः ।
किन्तु श्यामल-गौरकान्ति-वलिता ये तत्र ये चाप्यमी
तत्तन्नामविहारसूचकरुतास्तेऽस्माकमन्तर्गताः ॥५०॥

किसी स्थान में अनेक निकुञ्ज, रत्नमय भवनों के अवयवों को प्राप्त हैं, कहींपर वृक्ष, राजा के महलों से भी अधिक वाञ्छनीय हैं, कहींपर लताएँ, नृत्य की कला के कलाप से युक्त हैं, कहीं कहीं अनेक स्थली (अकृत्रिम भूमियाँ) रत्नों की समानता में भी अनुपमेय भाव से सम्मानित हैं ॥४६॥

एक दिशा में कमल आदि से शोभायमान नदियाँ हैं, तो दूसरी दिशा में पुष्प आदिकों की भूमि विराजमान हैं। उन भूमियों की बालुका कपूर के समान शुक्लवर्ण की है । पुष्पादिमयी जिन भूमियों के बीच में कहीं कहीं इस वृन्दावन में ये रास की भूमियाँ विराजमान हैं। कहीं कहीं वे रास की भूमियाँ पुष्पवनों के बीच में विराजमान हैं, तो कहीं श्रीगोवर्धन आदि पर्वत में स्थित रत्नमयी भूमि में विद्यमान वे रास की भूमियाँ सर्वोपरि विराजमान हैं ॥४७॥

पत्र पुष्प आदिकों को हिलाते हुए वायु जबतक प्रवाहित नहीं होते हैं, वे वृक्ष तबतक "ये वृक्ष सुवर्ण एवं मणि आदि की चित्रकारी से बने हुए हैं" ऐसा चित्रमय भ्रम धारण कराते रहते हैं। उन वृक्षोंपर बैठे हुए वे शुक, पिक, मयूर आदि पक्षी भी तबतक चित्रलिखे से चुपचाप बैठे रहते हैं कि, जबतक श्रीकृष्ण की वंशीध्वनि आदि के माधुर्य के द्वारा आकर्षित नहीं किये जाते ॥४८॥

उस वृन्दावन में शिलीवक्त्राः (भ्रमरगण) भेरी ध्वनि को, एवं चलदलाः (पीपल के वृक्ष) छोटे मोटे वाद्यों को, तथा कुहूकण्ठाः (कोकिलगण) गायन को, और शितिकण्ठाः (मयूरगण) नृत्य को करते रहते हैं। इस प्रकार जिस वन में अनेक प्रकार की कलाएँ विराजमान हैं, अतः वह वन यत्न के बिना ही रङ्गभूमि के समुदायमय होकर देदीप्यमान है ॥४९॥

वृन्दावन में कुछ पक्षी हर्ष की अधिकता से गीत का अनुकरण करके, एवं कोई कोई पक्षी निरन्तर बाजे का अनुकरण करके, तथा कुछ पक्षी नृत्य का अनुकरण करके, चारों ओर से शोभा को पुष्ट करते रहते हैं; किन्तु उन पक्षियों में जो पक्षी, श्याम एवं गौरवर्ण की कान्ति से युक्त हैं, एवं जो पक्षी श्रीराधा-

परस्परं तत्र मृगाः ससौहृदा, भान्तीति चित्रं नतरां विमृश्यताम् ।
प्राणा हि तेषां स्फुटमेकतां गताः, कृष्णाऽऽत्मना यद् विलसन्ति सर्वतः ॥५१॥

प्रान्तरगोष्पदभूमिषु, हरिमणितुलितानि भान्ति तार्णानि ।
गावो मृगाश्च यासु, श्रीहरिपरिपाल्यतातुल्याः ॥५२॥

गाश्चारयन्ति विहरन्ति मिथो हसन्ति, श्लिष्यन्ति बिभ्रति कलां रतिमावहन्ति ।
अत्र व्रजान्तिमवने हरि-राम-मुख्याः, सार्द्रात्मना निखिलचेतनमार्द्रयन्ति ॥५३॥

कृष्णस्तत्र च पूर्वपूर्वरिपुजित् केलीन्द्र-जालं कदा-
प्युच्चैर्मित्रजनस्य संसदि मुहुः कुर्वन्नपूर्वायते ।
आसीद् भीषणता पुरा रिपुततेः सत्या न सा सांप्रतं
तादृग् या कुतुकं परं प्रसवति प्रत्यक्षता-कारिणाम् ॥५४॥

गावः शुभ्राः सश्रृङ्गद्वयशफचयभू-जातरूपांशुरागाः
स्थूलांभःकुंभदूधःस्रवदमृततया सार्द्रितान्तःप्रदेशाः ।

कृष्ण के तथा राम-कृष्ण के नाम एवं विहार के सूचक शब्दों को करनेवाले हैं, वे सब पक्षी तो हमारे अन्तःकरण में विद्यमान हैं ॥५०॥

उस वृन्दावन में मृगाः, अर्थात् सिंह, व्याघ्र, मृग आदि पशुगण,आपस में मित्रता के सहित शोभा पाते रहते हैं। इस विषय में विशेष आश्चर्य न विचारिये। क्योंकि उन सब के प्राण स्पष्ट ही एकता को प्राप्त हो गये हैं। अतः वे कृष्णगतप्राण होकर सब ओर विलास करते रहते हैं ॥५१॥

किंच प्रान्तर (बहुत दूरतक सूना मार्ग) एवं गोष्पद (गोगण के द्वारा सेवित स्थान), इस प्रकार की भूमियों में तृणों के समूह, इन्द्रनीलमणि के समान शोभा पाते रहते हैं। पूर्वोक्त प्रकार की जिन भूमियों में गोगण एवं मृग आदि सब पशु, श्रीकृष्ण के द्वारा की गई रक्षा में समान माने जाते हैं, अर्थात् सभी की रक्षा समानरूप से होती है ॥५२॥

व्रज के इस अन्तिम वन में श्रीकृष्ण बलदेव आदि सभी मित्र गैया चराते हैं, विहार करते हैं, परस्पर हँसते हैं, आलिङ्गन करते हैं, अनेक प्रकार की कला को धारण करते हैं, एवं आपस में अलौकिक प्रीति को प्राप्त होते रहते हैं, और अपने स्नेहयुक्त चित्त से चेतनमात्र को स्निग्ध करते रहते हैं ॥५३॥

पूतना, बकासुर, अघासुर, कंस आदि पहले पहले शत्रुओं को जीतनेवाले श्रीकृष्ण, उस वृन्दावन में मित्रों की सभा में,कभी कभी क्रीडारूप इन्द्रजाल को बारंबार अधिकरूप से करते हुए,अपूर्व सा आचरण करते हैं। पहले प्रगटलीला में अघासुर आदि शत्रुओं की श्रेणी से जो भयंकरता थी, वह अब यद्यपि सत्य नहीं है, तथापि उस प्रकार की जो भयंकरता थी, वह दर्शन करनेवालों को परमकौतूहल उत्पन्न करती रहती है ॥५४॥

वृन्दावन में उस प्रकार की गैयाएँ स्फूर्ति पाती रहती हैं कि, जो शुक्लवर्णवाली हैं, एवं उनके दोनों सींगों के सहित खुरसमूह में लगे हुए सुवर्ण की किरणों से जो अनुरंजित हैं, स्थूल जल के घट के समान आचरण करनेवाले ऐन या स्तनों से भरते हुए दुग्ध के कारण, जिनके भीतर के प्रदेश (स्थान) गीलेपन से

आयत्या बालधीज्या नवतनयमतीत्याऽपि कृष्णप्रसङ्गा-
सङ्गादुद्यद्द्रवाङ्गाः सुखमुखरमुखाः स्नेहदेहाः स्फुरन्ति ॥५५॥

दध्यंबुधेस्तरलभाङ्नवनीतपिण्ड,-प्रख्यानि शावकनिभान्यमृतद्युतेश्च ।
कृष्णस्य च स्मितसुधापरिणामरूपा,-ण्यस्मिश्चरन्ति विहरन्ति च वात्सकानि ॥५६॥

नित्यं नित्यमुदश्चिकान्तिविशदास्तारुण्यबाल्यांशभू-
चापल्यातिमनोहरा निजगणाऽऽसङ्गातिरङ्गाकुलाः ।
प्रत्यग्रामलशृङ्गभावितरणा नानागतिद्योतिता-
स्ते ते वत्सतरा हरेर्विलसितप्राया रुचिं बिभ्रति ॥५७॥

शुभ्रा भस्मप्रमुखरजसः शृङ्खला-घण्टिकाभ्यां, सर्पस्रक्का द्विगुणितजटाबन्धतुल्याङ्गशृङ्गाः ।
अग्निपत्ताक्षाः सदुदयलसच्चन्द्रमःखण्डपुण्ड्रा, यस्मिन्नुग्रा इव विदधति क्रीडितं तस्य भद्राः ॥५८

गाः पालयतां तेषा,-मास्तामाह्वानगाननृत्यादि ।
अपि सहजं गदिताऽऽद्यं, तत्तन्मधुरिमधुरां धरति ॥५९॥

"तथा हि, गोलोकमात्रमेवं वर्णनापात्रमाचरन्ति—

युक्त हैं, लम्बाई के कारण पूँछ के बालोंवाले अग्रभाग से जो पूज्य हैं, एवं जो अपने नए बछड़े को अतिक्रमण करके भी, श्रीकृष्ण के संसर्ग में आसक्ति होने के कारण,उत्पन्न हुए पसीने से युक्त अङ्गोंवाली हैं, सुखों को प्रकाशित करनेवाले मुखोंवाली हैं, तथा श्रीकृष्ण के स्नेहमय शरीरवाली हैं ॥५५॥

इस वृन्दावन में बछड़ों के समूह चरते रहते हैं, एवं खेलकूद करते रहते हैं, वे सब दधिसमुद्र के चञ्चलता से युक्त माखन के गोलाओं के समान हैं, चन्द्रमा के बालकों के समान हैं, एवं श्रीकृष्ण के मन्दहासरूप सुधा के परिणाम-स्वरूप हैं ॥५६॥

प्रायः श्रीकृष्ण के विलासस्वरूप वे वे बछड़े रुचि, अर्थात् कान्ति को धारण करते हैं, एवं दर्शकों की रुचि को पुष्ट करते हैं । जो बछड़े प्रतिदिन उत्पन्न होनेवाली कान्ति से शुक्लवर्णवाले हैं, युवावस्था एवं बालपन के अंश से उत्पन्न हुई चञ्चलता से अतिमनोहर हैं, अपने गण में जो आसक्ति है उसके द्वारा क्रीडा में अति व्याकुल हैं, नवीन एवं निर्मल सींगों के द्वारा युद्ध करते रहते हैं, एवं अनेक प्रकार की कूदफाँद से प्रदीप्त हैं ॥५७॥

जिस वृन्दावन में श्रीकृष्ण के साँड़ अनेक शंकरों की तरह क्रीडा करते रहते हैं। वे भी शंकरों की तरह शुक्लवर्ण के हैं, भस्म आदि रज (धूलि) से युक्त हैं, गले में बँधी हुई साँकल एवं घण्टाओं के द्वारा सर्परूप मालाओं से युक्त हैं, दुगुनी जटाओं के बन्धन के समान अङ्गोंवाले सींगों से युक्त हैं, अग्नि के समान नेत्रवाले हैं, एवं सुन्दर उदय से विराजमान चन्द्रमा के खण्ड के समान तिलकोंवाले हैं ॥५८॥

गो-पालन करते समय श्रीकृष्ण बलदेव आदि उन सखाओं का जो गैयाओं को बुलाना, गाना, एवं नाचना आदि है उसको तो दूर रहने दीजिए। क्योंकि उनका स्वाभाविक जो बुलाना आदि है, वह विशिष्ट बुलाने, गाने,एवं नाचने के माधुर्य की अधिकता को धारण करता रहता है ॥५९॥

देखो, भक्तिरसरसिक विज्ञजन गोलोक के जनमात्र का इस प्रकार वर्णन करते हैं—इस गोलोक

माध्वीकजैत्रमधुरस्वरमक्षराणा,-मुच्चारणाद् विजितवेदविदादिगर्वम् ।
कृष्णाऽर्थतृष्णरसभावकुलाऽकलङ्का,-लङ्कारमीरितमपि स्फुटमत्र गानम् ॥६०॥

अकाले हंसालीर्वलयति विदूराद् विकलय,-त्यलं दिग्दन्तीन्द्रान् दिविजभरतानुन्मदयति ।
गतिः कृष्णादीनां यदिह तदहो किं कविजन,-स्तदीयं नृत्यं वा कवयतु वयःकोटिभिरपि ॥६१

"तत्र कंसारिवंशी तु सर्वाऽवतंसायते । यतः,
सर्वेषां स्फुटमत्र भृङ्गमवधिं कृत्वा तदावासिनां
सर्वाण्येव सदा हरेरनुभवे साहाय्यमातन्वते ।
किन्त्वेतेषु च वेणुरेव परमं सौहृद्यमापद्यते
यस्माद् दूरतरादपि द्रुतममुं कंसद्विषं शंसति ॥ इति ॥६२॥

नद्यश्च यत्र विविधद्युतिनीरवत्यः, सद्रत्नजद्रवनिभाः परितः स्रवन्ति ।
या वंशिका-कलवशात् कठिनाः कदाचिद्, रत्नाङ्गताप्रकटिना महसा स्फुरन्ति ॥६३॥

में साधारण वचन (बोलचाल) भी स्पष्ट ही गायन है । क्योंकि वह वचन मधु से या द्राक्षा से बने हुए आसव को जीतनेवाले मधुरस्वर से युक्त है । अक्षरों के उच्चारणमात्र से वेदवेत्ता आदिकों के गर्व को जीतनेवाला है। श्रीकृष्णप्रीत्यर्थ जिनकी लालसा है उन रस, एवं भावसमूह तथा निर्दोष अलङ्कारों से युक्त है। तात्पर्य—जहाँ की साधारण बोलचाल भी जब सर्वगुणसम्पन्न गायन के समान है, तब वहाँ के गायन का कौन वर्णन कर सकता है ? ॥६०॥

और इस गोलोकमें श्रीकृष्ण बलदेव आदिकों का गमन (चलना फिरना) भी जिस कारण से असमय में हंसों की श्रेणी को आकर्षित कर लेता है, एवं दिग्गजेन्द्रों को दूर से ही अधिक व्याकुल कर देता है। तथा स्वर्गीयनटों को भी उन्मत्त कर देता है। अर्थात्—श्रीकृष्ण बलदेव आदि गोलोकस्थजनों की साधारण चाल को देखने के लिए हंस भी असमय में उपस्थित हो जाते हैं, इन की चाल से लज्जित हुए दिग्गज भी दूर से ही विकल हो जाते हैं, इन की चाल के सामने अपना नृत्य फीका मानते हुए स्वर्गीयनट बेहोश हो जाते हैं । अहह ! उसी कारण से कविजन करोड़ों वर्षों की अवस्थाओं के द्वारा भी श्रीकृष्ण बलदेव आदिकों के नृत्य का वर्णन कर सकता है क्या ? कदापि नहीं ॥६१॥

वहाँपर श्रीकृष्ण की वंशी तो सब की शिरोभूषण बन जाती है। कारण यह बात स्पष्ट है कि—इस गोलोक में गोलोकवासी सभीजनों के सदा श्रीकृष्ण के अनुभव के विषय में भ्रमर को अवधि बनाकर, अर्थात् भौंरे से लेकर सभी जन्तु सहायता करते रहते हैं किन्तु भृङ्ग आदि इन जन्तुओं में से केवल वंशी ही परममित्रता को प्राप्त होती रहती है । क्योंकि अतिशय दूर से भी इन श्रीकृष्ण को शीघ्र ही सूचित करती रहती है। अर्थात् "श्रीकृष्ण तुम्हारे निकट आ रहे हैं" इस बात को दूर से ही कह देती है। अतः वंशी गोलोकवासी प्राणीमात्र की परममित्र है ॥६२॥

और जिस गोलोक में अनेक प्रकार की कान्तिवाले जल से भरी हुई श्रीयमुना आदि नदियाँ, इन्द्र-नीलमणि आदि श्रेष्ठरत्नों से उत्पन्न हुए द्रव के समान होकर, चारों ओर बहती रहती हैं। एवं जो नदियाँ कभी कभी वंशी की मधुर व अस्फुट ध्वनि के कारण कठिन होकर, रत्नमय अङ्गों के भाव को प्रगट करनेवाले अपने तेज से स्फूर्ति पाती रहती हैं ॥६३॥

शैलाश्च वेणुरवसार्द्रशिलाखिलाङ्गाः, पङ्कप्रभा हरिपदावलिलब्धमुद्राः ।
याताः पुनः प्रकृतिमप्यथ तेन मुद्रा,-चित्रेण भूषिततमाः सुखमावहन्ति ॥६४॥

नानासरांसि कुमुदांबुजजातिजात,-युक्तानि मानगुणयोर्जलसिन्धवन्ति ।
यत्र स्फुरद् विधवति व्रजराज-सूनो,-र्वक्त्रं विभाकरति रत्नवतंसयुग्मम् ॥६५॥

तटिनी कृष्णानाम्नी, स्मरयति नाम्ना रुचा च तं कृष्णम् ।
मानसगङ्गा पुनरथ, मानसरूपा विभाति तस्याऽत्र ॥६६॥

यदपि कमलबन्धोरात्मजा वाहिनी सा, तदपि कमलपालिं केवलां नाऽनुपाति ।
अपि निजहितसोमां गन्धसोमालिमेषा, विदधति कुलतुल्यं सर्वमच्छस्वभावाः ॥६७॥

"तदादिनदीनां च—
"गाः पाययत्यपि च खेलति वारि मित्रै,-स्तीरे सुखं निविशते तरुधाम्नि शेते ।
जाग्रत्तु चित्रमिह जीवनजीवजात,-केलिं विलोकयति गोकुलराज-पुत्रः ॥६८॥

और गोलोक में विद्यमान श्रीगोवर्धन आदि पर्वत भी वेणुध्वनि के द्वारा गीली शिलाओं से युक्त समस्त अङ्गोंवाले होकर, अतः कीचड़ की सी प्रभावाले होकर,अतएव श्रीकृष्ण की चरणश्रेणी से चिह्नित होकर, वेणुध्वनि के शान्त होते ही पुनः अपनी कठिनतामयी प्रकृति को प्राप्त होकर, तथा श्रीकृष्ण की चरणावली के उस चिह्नरूप चित्र के द्वारा अधिक विभूषित होकर, भक्तों को सुख देते रहते हैं ॥६४॥

और जिस गोलोक में कुमुद एवं कमल की जातियों के समूह से युक्त अनेक सरोवर परिमाण एवं गम्भीरता निर्मलता गुण में जल के समुद्रों का सा आचरण करते रहते हैं । जिन सरोवरों में प्रतिविम्बरूप से स्फूर्ति पाता हुआ श्रीकृष्ण का मुख,चन्द्रमा का सा आचरण करता है, एवं रत्नजटित दोनों कुण्डल, सूर्य का सा आचरण करते रहते हैं । अर्थात् प्रतिबिम्बित हुआ श्रीकृष्ण का मुखरूप चन्द्रमा रात में खिलने-वाले कुमुदों को दिन में भी खिला देता है, एवं सूर्य के समान प्रतिबिम्बित हुए कुण्डल रात में भी कमलों को विकसित कर देते है । तात्पर्य—सभी प्रकार के कमल वहाँपर प्रतिक्षण विकसित रहते हैं ॥६५॥

एवं कृष्णा (यमुना) नामक जो नदी है, वह अपने नाम से एवं अपनी श्यामकान्ति से उन, श्रीकृष्ण का स्मरण कराती रहती है । और इस गोलोक में जो मानसीगंगा है, वह श्रीकृष्ण के चित्त के समान शोभा पाती रहती है ॥६६॥

वह यमुना नदी यद्यपि सूर्य की पुत्री है, तथापि केवल कमलश्रेणी की रक्षा नहीं करती है, अपितु यह यमुना, चन्द्रमा ही जिस का निजी हितैषी है, उस गन्धसोमालि की अर्थात् कुमुदश्रेणी की भी रक्षा करती रहती है । क्योंकि निर्मल स्वभाववाले व्यक्ति सब कार्य अपने कुल के समान या शरीर के समान करते हैं ॥६७॥

व्रजराजकुमार श्रीकृष्ण, गैयाओं को श्रीयमुना आदि नदियों के जल को पिलाते हैं, मित्रों के साथ वारि में (जल में) क्रीडा करते हैं (यहाँपर हलन्त वार् शब्द जानना चाहिए), इनके तीरपर सुखपूर्वक बैठ जाते हैं, वृक्षों के स्थान में अर्थात वृक्षों के नीचे सो जाते हैं, और यहाँपर जागकर तो जलचर जीवों के वृन्द की क्रीडा को आश्चर्यपूर्वक देखते रहते हैं ।६८॥

श्रीवृन्दावनदेश एष रुचिरः पुष्पादिभिर्भूषितः
कृष्णा-मानसगङ्गयोर्वलनया मालाद्वयभ्राजितः ।
श्रीगोवर्धनशैलरत्नतिलकश्चक्रादिलक्ष्माङ्कितः
श्रीकृष्णार्चनदीक्षिताऽऽकृतितया चित्तं सतां कर्षति ॥६९॥

"तद्देशसन्निवेशश्च स्वयमेवं निर्देशमर्हति । श्रीवृन्दावनाऽऽह्वयवन्यामध्ये धन्यानां यत् परमं ध्येयं श्रीकुलाकुलं गोकुलं कमलतुलं भवति, तस्मादुदगर्धपूर्वयोः कृष्णा सर्वेषां सर्वतृष्णां पूरयति । हुताशनदिशः कतिपयदेशस्तु हुताशनवेश एव व्रजवासिनां प्राक्कृत-व्रजबहिरङ्गजनसङ्गाऽनङ्गीकारयाचनया वासनया भासते ॥७०॥

"अथ दक्षिणार्धपश्चिमयोर्विपश्चितः सर्वतः पर्वतानकान् पर्वतान् वर्णयन्ति । येषां समीपे स्रवन्ती मानसगङ्गा नाम स्रवन्ती विराजते । तत्र यद्यपि गोवर्धन-बहुस्थान-सौगन्धिक-धवल-शोण-राङ्कवाऽष्टकूट-वरसानुमुख्याः सुख्याता महीयांसस्ते महीधरा महीयन्ते, तथापि ते च सर्वे गोवर्धनलक्ष्यास्तदुपलक्षणतया लक्ष्यन्ते ॥७१॥

"स च श्रीगोवर्धनस्तस्य गोकुलकमलस्य दक्षिणस्यां दिशि दृश्यते । यमुनासदेशे चेशानदेशे शोभिततटः श्रीमान् भाण्डीरवटः सुष्ठु भ्राजते ॥७२॥

परम मनोहर यह श्रीवृन्दावन का प्रदेश पुष्प आदि से विभूषित है, यमुना एवं मानसीगंगा के प्रवाह से मानो दो मालाओं से सुशोभित है, श्रीगोवर्धन पर्वत ही जिसका रत्नमय तिलक है, एवं श्रीकृष्ण के चरणों में स्थित चक्र आदि चिह्नों से अङ्कित है, अतः श्रीकृष्ण का पूजन करने के लिए दीक्षित हुए वैष्णव की सी आकृति के भाव से सज्जनों के मन को आकर्षित करता रहता है ॥६९॥

उस वृन्दावन के प्रदेश का सन्निवेश (बनावट) स्वयं इस प्रकार निर्देश करने योग्य है, यथा— श्रीवृन्दावन नामक वनसमूह के मध्य में पुण्यात्मा महात्माओंके परमध्यान के योग्य जो गोकुल नामक स्थान है, वह श्रीराधिका आदि लक्ष्मीसमूह से व्याप्त है, एवं कमल के समान गोल है। उस गोकुल से उत्तरदिशा एवं आधी पूर्वदिशा में विद्यमान यमुना नदी सब को सब प्रकार की तृष्णा को पूरी करती रहती है। और अग्निकोण दिशा का कुछ प्रदेश तो अग्नि के वेष से युक्त होकर ही, व्रजवासियों के द्वारा (श्रीकृष्ण के प्रति) पहले की गई व्रज से बहिरङ्गजनों के अस्वीकारमयी प्रार्थना से युक्त वासना के कारण प्रदीप्त रहता है ॥७०॥

अनन्तर गोलोक के तत्त्व को जाननेवाले विज्ञजन दक्षिण की ओर एवं आधी पश्चिमदिशा की ओर, चारों ओर उत्सवों का विस्तार करनेवाले पर्वतों का वर्णन करते हैं। जिन पर्वतों के निकट मानसीगंगा नामक नदी बहती हुई विराजमान है। उस गोकुल में यद्यपि गोवर्धन (गिरिराज), बहुस्थान (बहतानो), सौगन्धिक (सौंधिया), धवल (धवारी), शोण (सुनहरा), राङ्कव (रांकोली), अष्टकूट (अटोर), वरसानु (बरसाना) आदि सुप्रसिद्ध एवं विशाल वे आठ पर्वत विराजमान हैं। तथापि वे सब पर्वत गोवर्धन के आश्रित होने के कारण, उसी के उपलक्षणरूप से दिखाई देते रहते हैं ॥७१॥

और वह श्रीगोवर्धन उस गोकुलरूप कमल के दक्षिण की दिशा में दिखाई देता है। और यमुना के निकट ईशानकोणमें सुशोभित तटवाला श्रीमान् भाण्डीर नामक वट भली प्रकार देदीप्यमान है ॥७२॥

"तत्र श्रीगोवर्धनस्तु प्रथमं प्रस्तूयते। स हि संहितमहाधनमणिपरिपाटी-पटीयसा शुभजुषा वपुषा विश्वविलक्षणविश्वकर्मघटिताऽङ्ग इव सङ्गच्छते। यस्य च क्वचित् क्वचिन्मिथः कृतरागमरकतपुष्परागशिलायुगलरुचिपूरात् कृष्णरामतृष्णया दूरादपि तत्तद्भक्तिशूराः पर्यावर्तन्ते। क्वचन च स्वर्णरेखालब्धरुचिरवर्ण-हरिन्मणिभागमागम्य श्रीव्रजेशस्य यः सूनुर्या च स्नुषा, तयोः सुषमया तुषारयन्ति वृत्ततददर्शनतप्तचित्ता देव्यश्चित्तवृत्तिम्। क्वचिदपि स्फटिक-गण्डशिलाखण्डमण्डलमण्डनतया स्वयूथभ्रमात्तत्र कृतक्रमा यूथभ्रष्टा गावः प्रणष्टान्वेषिभि-र्विस्रभ्यमाणकृष्णोपदिष्टतया लभ्यन्ते। क्वापि च कन्दरा मन्दिराणीव श्रीगोविन्दानन्दितया संपद्यन्ते, नगवराणां वारा नगराणीव। यत्र फलादिकं क्रय्यमिव पर्यवस्यति। यत्रैव कल-कलकलाः पक्षिकलापाः क्रयनयमयसंलापजना इव लक्षिताः क्रियन्ते। यत्रैव च मणिशिलासन-युगलानि श्यामशुभ्रलावण्यराजमानराजप्रकृतिनिवेशधन्यानि पण्यकरस्थानतया गण्यन्ते। यत्र यत्र च पत्रपुष्पादिदुष्पाराश्छत्रवारा इव केचिद् वृक्षसाराः समक्षाः सन्ति। तेषु केषुचिच्चमरीगुलुच्छाश्चामराणीव दृश्यन्ते। कुत्र च कृतनिर्झरिणीविसराः ससरोवरनिर्झराः सेवापरिकरायन्ते ॥७३॥ यतः,

उन सब में श्रीगोवर्धन को प्रथम प्रस्तुत करते हैं। देखो, वह गोवर्धन संचित की हुई बहुमूल्य मणियों की परिपाटी में विशेष चतुर, एवं मङ्गलमय अपने शरीर के द्वारा मानो विश्व में विलक्षण विश्वकर्मा के द्वारा संघटित अङ्गोंवाला सङ्गत हो रहा है। और जिस गोवर्धन के किसी किसी स्थानपर जिन का परस्पर अङ्गराग हुआ है, ऐसी मरकतमणि एवं पुष्परागमणि, अर्थात् श्याम गौरवर्ण की मणियों की दो प्रकार की शिलाओं की कान्ति के समूह से श्रीकृष्ण बलदेव की प्राप्ति की तृष्णा से कहींपर भी जाने वाले, कृष्ण बलदेव के वीरभक्त दूर से भी लौटकर चले आते हैं। और कहींपर सुवर्णमयी रेखा के द्वारा सुन्दर वर्ण को प्राप्त हरी मणियों के विभाग में आकर श्रीव्रजराज के जो पुत्र श्रीकृष्ण हैं, एवं उनकी पुत्र-वधू जो श्रीमती राधिका है, उन दोनों की परमशोभा के द्वारा बीते हुए उन दोनों के दर्शन के अभाव से सन्तप्त चित्तवाली देवाङ्गनाएं अपनी चित्तवृत्ति को शीतल करती रहती हैं, कहीं कहीं पर स्फटिकमणि के से स्थूलशिलाखण्डों के मण्डल से विभूषित होने के कारण, अपने यूथ (झुण्ड) के भ्रम से वहाँपर भ्रमण करनेवाली, एवं अपने झुण्ड से बिछड़ी हुई गैयाएँ, खोयी हुई गौओं को ढूँढ़नेवाले गोपों को श्रीकृष्ण के उपदेश में विश्वास करने से प्राप्त हो जाती हैं। और कहीं कहीं तो गोवर्धन की गुफाएँ, मन्दिरों की तरह श्रीकृष्ण को आनन्ददायक हो जाती हैं। एवं श्रेष्ठ वृक्षों के समूह, नगरों की तरह आनन्ददायक बन जाते हैं। और जिस गोवर्धन में फल आदि वस्तु, बेचने के लिए बाजार में फैलाई हुई वस्तु की तरह परिणत हो जाती है। और जहाँपर अस्फुट ध्वनिमय कोलाहल करनेवाले पक्षियों के समूह, खरीदने की नीति से पूर्ण परस्पर भाषण करनेवाले व्यापारियों की तरह लक्षित किये जाते हैं। और जिस गोवर्धन में श्याम एवं गौरवर्ण के लावण्य से विराजमान क्रमशः श्रीकृष्ण बलदेवरूप राजा एवं मन्त्रियों के बैठने से परम-धन्य मणिमयी शिलाओं के आसन के जोड़े, बेचने योग्य वस्तुओं के करस्थान (चुंगीघर) के रूप से गिने जाते हैं। और जहाँ तहाँपर घने पत्र पुष्प आदि से दुष्पार कुछ वृक्षश्रेष्ठ छत्रसमूहों की तरह प्रत्यक्ष हो रहे हैं। उन श्रेष्ठ वृक्षों में से कुछ वृक्षों में लगे हुए चमरीगुलुच्छा (मञ्जरियों के गुच्छे) चामरों की तरह दिखाई देते हैं। और किसी स्थानपर सरोवरों के सहित जो झरने हैं, वे सब नदियों के समूह को या वेग को बनाकर श्रीकृष्ण बलदेव की सेवा में सेवकों का सा आचरण करते रहते हैं ॥७३॥

ऊर्ध्वस्नानाऽवगाहाऽऽचमनमुखसुखप्रापका निर्झरास्ते
धाराभिस्तादृशीभिर्विदधति वृथितान् सीम्नि तांस्तानुपायान् ।
मध्ये गोवर्धनाऽद्रेः सरसि सरसिजभ्राजि मध्यस्थगेहे
स्नेहेनाऽतिप्रसक्तान् दयिततमजनान् खेलयत्येष कृष्णः ॥७४॥

"अत्र च—उच्चस्थितः क्वचन धेनुकमीक्षते स्वं, सत्रोपविश्य सखिभिर्लसति क्व चापि ।
संविश्य गूढमपि कुत्र च रत्नदर्यां, वर्यामुपार्जयति केलि-कलां मुकुन्दः ॥७५॥

"किं बहुना—श्यामद्युतिप्रथितमूर्तिरनेकधातु,-चित्रः सदा शुषिरवंशजगानरम्यः ।
पीतांबरः सकलभूमिभृदादिवन्द्यो, गोवर्धनः स इव गोधनभृद् विभाति ॥७६॥

"एवं भाण्डीरश्च स्वयं खण्डमण्डलपतिरपि तत्केलिकलापमण्डिततया तदीयसेवा-पण्डिततया च तत्र स्तोत्रपात्रतां विन्दते ॥७७॥ यथा—

राष्ट्रं यस्य वनं स्वनाम-विदितं नानाप्रजा भूरुहा
देशाध्यक्षजनाः सपक्षिपशवः पुर्यन्तरं स्वस्थलम् ।
राजार्हासनमात्मकुट्टिमवरः पट्टाङ्गनावीरुधः
श्रीभाण्डीरवनस्पतिर्नरपतिश्रीभिः स विभ्राजते ॥७८॥

कारण ऊपर की ओर खड़े होकर स्नान करना, जल में गोता लगाना, आचमन करना इत्यादि सुख को देनेवाले वे गोवर्धन के झरना, उस प्रकार की धाराओं से सीमा में, अर्थात् धान्य आदि के खेतों में कूपनिर्माण आदि उन उन उपायों को निरर्थक कर देते हैं। एवं गोवर्धन पर्वत के बीच में कमलों से शोभायमान सरोवर में, मध्य में स्थित भवन में ये श्रीकृष्ण, स्नेह से अत्यन्त आसक्त अपने प्रियतम जनों को क्रीडा कराते रहते हैं ॥७४॥

और इस गोवर्धन में श्रीकृष्ण कहीं कहीं शिखर आदि ऊँचे स्थान में स्थित होकर अपने गोगण को देखते रहते हैं। और कहींपर सखाओं के साथ बैठकर विराजमान हो जाते हैं। और कहींपर रत्नमयी गुफाओं में गुप्तरूप से प्रविष्ट होकर श्रेष्ठ क्रीडाकला का उपार्जन करते हैं ॥७५॥

अधिक कहने से क्या ? देखो, गोधन का भरणपोषण करनेवाला वह गोवर्धन, श्रीकृष्ण की तरह शोभायमान है। क्योंकि यह भी श्यामकान्ति से प्रसिद्ध मूर्तिवाला है, अनेक प्रकार की धातुओं से चित्रित है, छिद्रों से युक्त बाँसों से उत्पन्न गायन से सदैव रमणीय है, अपनी ऊँचाई से आकाश को पी लेता है, एवं समस्त पर्वत आदि से वन्दनीय है। श्लेषपक्षे—श्रीकृष्ण की मूर्ति भी श्यामकान्ति से विख्यात है, हरिताल आदि अनेक धातुओं से उनका तिलक आदि चित्रित है, छिद्रोंवाली वंशी से उत्पन्न गाने से सदैव मनोहर है, एवं श्रीकृष्ण का वस्त्र पीला है, समस्त भूपति आदि से वे वन्दनीय हैं. तथा गोधन का पालनपोषण वे भी करते हैं, गो-वंश की वृद्धि भी करते हैं ॥७६॥

इसी प्रकार भाण्डीरवट स्वयं खण्डमण्डलपति, अर्थात् गोवर्धन की अपेक्षा अल्पभूमि का पति होकर भी, श्रीकृष्ण की क्रीडाश्रेणी से विभूषित होने से, एवं श्रीकृष्ण की सेवा में पण्डित होने से, उस वृन्दावन में स्तुति की पात्रता को प्राप्त करता रहता है ॥७७॥

यथा—वह श्रीभाण्डीर नामक वटवृक्ष राजकीय सम्पत्तियों से विशेष शोभायमान है। कारण—अपने नाम से प्रसिद्ध भाण्डीरवन ही जिस का राष्ट्र (देश) है, अनेक वृक्ष ही जिसकी

ऊर्ध्वं योजनमस्ति तिर्यगपि तद्भाण्डीरनामा वटः
पत्रैर्मारकतच्छविर्नवदलैरुद्यत्प्रबालप्रभः ।
शस्यैः कामदुघस्तथापि सुमहागेहायते श्रीहरे-
र्यत्रावान्तरगेहकोटिघटनां ते कोटरा बिभ्रति ॥७९॥
यस्मिन् विस्तीर्णदीर्घा रवि-दुहितुरुपर्याशया पारमाप्ताः
शाखाः पुष्पाटवीनामपि हरितमिता भान्ति पल्यङ्कतुल्याः ।
हिन्दोल्याभाश्च वल्लयः सुरभिसुमनसां यत्र यत्रापि कृष्ण-
स्तत्तल्लीलासु तृष्णग् विहरति परितोऽप्यावलीभिः सखीनाम् ॥८०॥

"तदेवमनयोर्भाण्डीर-गोवर्धनयोर्विदूरभवनयोरपि निज-निज-कृष्णसेवनमात्रतृष्णतया किल तत्र तत्र स्थिराऽऽसनयोः समानवासनयोरुन्नतशिरस्तया परस्परमालोकनमिवालोक्यते । ययोश्च द्विजवरा गत्यागतिधराः परस्परसन्देशहरा इव दृश्यन्ते । याभ्यामगजिष्णुभ्यामनुत्तरीष्णुभ्यां विराजमाना सेयं वृन्दावन-लक्ष्मीः सर्वर्तुलक्ष्मीमात्मसात् करोति । यत्र क्वचन सदा परमशीतलजलवाहिनीनां कासाञ्चन वाहिनीनां बहलगन्धवाहं वहति प्रदेशे विनापि

अनेक प्रकार की प्रजा है, पक्षियों के सहित पशु ही जिस के देश के अध्यक्षजन हैं, अपने नीचे का स्थल ही जिसका अन्तःपुर है,एवं मणियों से जड़ी हुई अपनी श्रेष्ठभूमि ही,जिसका राजा के योग्य सिंहासन है,तथा अनेक लताएँ ही जिसकी पटरानी हैं ॥७८॥

वह भाण्डीर नामक वट ऊपर की ओर एक योजन लम्बा है, एवं तिरछा भी एक योजनतक है । अर्थात् चार कोस लम्बा, चार कोस चौड़ा है, अपने हरे भरे पत्रों के द्वारा मरकतमणि की सी छविवाला है । नवीन दलों के द्वारा अंकुरित मूंगामणि की सी प्रभावाला है, अपने फलों के द्वारा कामनाओं की पूर्ति करनेवाला है, तथापि श्रीकृष्ण के सुन्दर एवं विशाल भवन का सा आचारण कर रहा है, और जिस भाण्डीरवट में वे कोटर (खोंतर) तो करोड़ों अवान्तर भवनों की रचना को धारण कर रही हैं ॥७९॥

और जिस भाण्डीरवट में विस्तीर्ण (फैली हुई) एवं लम्बी लम्बी जो शाखा हैं, वे श्रीयमुनाजी की ऊपर की दिशा से पार जाकर,एवं पुष्पमय वनों की दिशा में भी जाकर पलंगकी तरह शोभायमान हैं, एवं जिस वृक्ष में सुगन्धित पुष्पों की लताएँ हिंडोलाओं की तरह शोभा पा रही हैं, एवं जिस भाण्डीरवट में उन उन लीलाओं में तृष्णावाले श्रीकृष्ण भी, सखा एवं सखियों की श्रेणी के साथ समयानुसार चारों ओर विहार करते रहते है । (इस श्लोक में 'सखीनाम्' यह रूप सखि शब्द एवं सखी शब्द इन दोनों का ही समझना चाहिये) ॥८०॥

वृन्दावन की शोभा का वर्णन—इस प्रकार भाण्डीरवट एवं गोवर्धन इन दोनों की स्थिति दूर होनेपर भी, अपनी अपनी केवल श्रीकृष्ण की सेवा की लालसा के भाव से वहाँ वहाँपर स्थिर आसनवाले होनेपर भी, समान वासनावाले इन दोनों का मस्तक ऊँचा होने के कारण मानो आपस का साक्षात्कार सा दिखाई देता है । और जिन दोनों के श्रेष्ठ पक्षिगण दोनों के पास जाना आना करनेवाले होकर परस्पर के दूत स दिखाई देते हैं । एवं क्रमशः वृक्ष तथा पर्वतों को जीतनेवाले भाण्डीरवट एवं गोवर्धन नामवाले, श्रीकृष्ण के जिन दोनों सेवकों के द्वारा विराजमान यह वृन्दावन की शोभा सब ऋतुओं की शोभा को अपने अधीन कर रही है । जिस वृन्दावन में किसी स्थानपर सदा परमशीतल जल को धारणकरनेवाली कुछ

तत्तदृतुदिनानि निज-निज समयाऽऽवेशाल्लब्धनिज-निज-समवायवासदेशसदेशप्रवेशा निखिल-हारीत-किथि-वर्गा यथाविभागं सखेलकृतनादसर्गास्तत्र तत्र तमशेषशेखरं सपरिकरं कुतुकिन-माचरन्ति । क्वचन च भास्वदुद्भास्वरभास्वन्मणिजज्वलनज्वालप्रज्वलितस्थलनिकटस्थले लब्धस्वसमयाऽवलेपा झिल्लि-तल्लजाः कर्ण-शूलमूलताशङ्काकारणक्रूरझङ्कारधारया सर्वं विदूरं कुर्वन्तस्तं हसितशस्तं कुर्वन्ति । क्वचन च वारिधाराधरतिर्यक्प्रसारशिखरिशिखरनिर्झराऽऽ-सारस्फुटवर्षवाररचितसुखसारनिस्तर्षचातकभणितप्रतिभणित - शब्दमणिकन्दराद्यागारवेश-देशस्तं कृतप्रवेशं केशवं संवेश-सुखमनुभावयति ।।८१।।

"क्वचन च कंसारिवंशी-गानविशेषादशेषाऽनेहः फुल्लकमलस्थलकमलप्रधाने स्थाने हंस-पिकादिलीला-निधाने सरागं वंशीधरममुं यथाविभागं रासकुञ्जविलासलीला-पुञ्जं कञ्जनेत्राः परितः सञ्जयन्ति, सर्वगरिमध्येयमध्ये तु क्रमजाततत्तदृतुजातस्याऽऽद्यन्तरन्तसन्धिसंबन्धिसंतत-शंतमसुखं सुखरूपमपि तं सुखयति ।।८२।। यथा—

दुष्प्रापाऽनन्तपुष्पाद्युपहृतिकृतिनः कोकिलाद्याऽखिलाख्या-
नानीय स्वीयवर्गान् विसरदयसरास्तृष्णया कृष्णमत्र ।

नदियों के सुगन्धित वायु के बहनेवाले प्रदेश में, वसन्त आदि उन उन ऋतुओं के दिनों के बिना भी, अपने अपने समय के आवेश से, अपने अपने सजातीय-समुदाय के निवासस्थान के निकट प्रवेश को प्राप्त करने-वाले, समस्त पक्षिविशेष, बानरवर्ग अपने अपने विभाग में खेलपूर्वक ध्वनि की सृष्टि करके, उस उस स्थानपर परिकर के सहित विराजमान सब के मुकुटमणि-स्वरूप श्रीकृष्ण को भी खिलाड़ी कर देते हैं। कहींपर सूर्य के द्वारा प्रदीप्त सूर्यकान्तमणि से उत्पन्न हुई अग्नि की ज्वाला से प्रज्वलित स्थल के निकटवर्ती स्थल में, अपने समय से प्राप्त हुए गर्व से झिल्ली नामक कीटश्रेष्ठ, कर्णशूल के मूल भाव की आशंका के कारणरूप कठोर झंकार की धारा से, सभी शब्दों को दूर करते हुए, श्रीकृष्ण को हँसी से युक्त या मङ्गलमय कर देते हैं। और कहींपर वह प्रदेश जिसमें श्रीकृष्ण का प्रवेश हो गया है, वह श्रीकृष्ण को निद्रा के सुख का अनुभव कराता रहता है। क्योंकि उस प्रदेश में जो पर्वत हैं,वे जलधारा को धारण करनेवाले हैं एवं तिरछे फैले हुए हैं, उनकी शिखरों से गिरनेवाला झरनों का धारासम्पात स्पष्ट वृष्टि के समूह जैसा है, उस वृष्टिसमूह के द्वारा जो सुख का सार रचित है, उसके द्वारा पिपासा-रहित चातकों की ध्वनि एवं प्रतिध्वनि के शब्दों से युक्त जो मणिमय कन्दरा (गुफा) हैं, उन गुफाओं के कारण वह प्रदेश भवनों के से आकारवाला हो रहा है ।।८१।।

और कहींपर श्रीकृष्ण की वंशी के गानविशेष से सभी समयों में खिले हुए कमल एवं स्थलकमलों की प्रधानता से युक्त, तथा हंस, कोकिल आदि पक्षियों की लीला (क्रीडा) का निधानस्वरूप जो स्थान है, उसमें कमल के से नेत्रोंवाली गोपियाँ—विभाग के अनुसार रासविलास एवं कुञ्जलीलाओं के पुञ्जस्वरूप वंशीधर इन श्रीकृष्ण को अनुरागपूर्वक चारों ओर से घेर लेती हैं। किञ्च कुञ्ज आदि सब स्थानों की अपेक्षा जिसका अधिक गौरव है, अतः ध्यान के योग्य योगपीठरूप उस स्थान के मध्य में तो क्रम से उत्पन्न होनेवाले वसन्त आदि उस उस ऋतुसमूह के आदि, मध्य, एवं अन्त की सन्धिसम्बन्धी जो निरन्तर मङ्गलमय सुख है, वह सुख, सुखरूप श्रीकृष्ण को भी सुखी करता रहता है ।।८२।।

यथा—इस वृन्दावन में दुर्लभ अनन्त पुष्प आदि की भेंट करने में सुचतुर जो सब ऋतु हैं, वे सब

निर्मानाः सेवमानाः सदमृतमृतवः स्वस्य कान्त्या विभान्त्या
वर्षन्तः सन्ति सन्तः सततमपि यतः सर्वदा पर्वदाः स्युः ॥ इति ॥८३॥

"कृतमतिविस्तरेण मतिदुस्तरेण । अथ तदन्तः श्रीमन्नन्दभूपभवनस्तूपगोकुलरूपमणिमहापद्मं महापद्मपत्रं वर्णयिष्यामः ॥८४॥

"यस्य च सर्वसुखसत्राणां पत्राणामग्रिमसन्धिषु रुचिररचनानिर्बन्धिषु जितपरमद्योस्थानानि गोस्थानानि विभ्राजन्ते । येषु कल्पशाला एव गवां शालाः । येषां मध्यं मध्यमधिकृत्य श्रीगोकुलसंपदध्यक्षस्य गवां धामानि धामानि तन्वन्ति, परितः परितः पुनरन्येषाम् । यत्र मध्यमध्यस्थिततदध्यक्षगोस्थानेषु गवावलोकार्थमुपवेशसमावेशाय निरावृतिकुट्टिमनिविष्टानि मणिवेश्मानि निर्दिष्टानि ॥८५॥ तेषु सर्वेषु—

दिवा नूत्नैर्वत्सैर्निशि सुरभिजिद्भिः सुरभिभिः
स्तृतं सन्ध्या-युग्मे हरि-बल-सुहृद्भिश्च पतिभिः ।
गवां स्थानं तत्तन्मनसि मुनिराजां च निदध-
न्निजां कान्तिं कान्तिं जनयति जनाः के किल परे ॥८६॥

कोकिल आदि समस्त नामोंवाले अपने वर्गों को लाकर, अवसर को पाकर, लालसापूर्वक मानरहित श्रीकृष्ण की सेवा करते हुए प्रकाशित हुई अपनी शोभा के द्वारा, सुन्दर अमृत सा वर्षाते हुए विद्यमान हैं, कारण— जो साधु हैं, वे सब के लिए सर्वदा निरन्तर उत्सव देनेवाले हो सकते हैं ॥८३॥

यह दिव्यवृन्दावन आदि का वर्णन बुद्धि से दुस्तर है, अतः इसके अत्यन्त विस्तार से प्रयोजन नहीं है। अतः अब हम उस गोलोक के बीच में श्रीमान् नन्दरायजी के भवनसमूहों से युक्त गोकुलरूप मणिमय महापद्म का वर्णन करेंगे, जिसके पत्र महापद्म संख्यावाले हैं ॥८४॥

और जिस गोकुलरूप महापद्म के सर्वदा सर्वसुख देनेवाले पत्रों की अगली जो सन्धि हैं, वे मनोहर रचना के आग्रह से युक्त हैं, उन अगली सन्धियों में वैकुण्ठ आदि परमव्योम नामक स्थानों को जीतनेवाले गोस्थान (खिड़क) विराजमान हैं। जिन गोस्थानों में कल्पशाला एवं (कल्पवृक्ष ही) गोशाला हैं। जिन कल्पवृक्षों के बीच बीच में अधिकार करके श्रीगोकुल की सम्पत्ति के अध्यक्ष श्रीनन्दजी की गोशालाए तेजों का विस्तार करती रहती हैं, श्रीनन्दजी की गोशालाओं के बाहर चारों ओर दूसरे गोपों की गोशाला हैं। जिन बाहरी गोशालाओं के बीच बीच में स्थित गोकुलाध्यक्ष श्रीनन्दजी की गोशालाओं में, गौओं को देखने के लिए, बैठने के समावेश के लिए, आवरणरहित मणिजटित भूमि में स्थित मणिमय भवन निर्देश किये हैं ॥८५॥

उन सभी गोस्थानों में दिन में नये बछड़ों से भरा हुआ, एवं रात में कामधेनुओं को जीतनेवाली धेनुओं से भरा हुआ, तथा दोनों काल की सन्ध्या में गो-पालन करनेवाले कृष्ण बलदेव एवं उनके सखाओं से भरा हुआ वह वह गोस्थान, श्रीशुकदेव आदि मुनिराजों के मन में अपनी कान्ति (शोभा) को स्थापित करता हुआ, कान्ति (अभिलाषा) को उत्पन्न कर देता है, अर्थात् गोलोक की उन गोशालाओं को देखने की इच्छा प्रगट कर देता है, फिर दूसरे साधारणजन तो बिचारे कौन हैं? अर्थात् उनके मन में दर्शनेच्छा प्रगट करना तो सुलभ है ॥८६॥

गवामाहूतिः सा मुहुरपि च सा दोहनकला, हरेः सा सा चात्र प्रचुरहसिताद्या विलसितिः ।
स्व-मित्रैः सा क्रीडा गृहगतिरसौ चास्ति सुखभृ,-न्मुहुर्यद्द्रष्टॄणां दृगपरदृशं लालसयति ॥८७

"सदन-वनयोरागमनगमनं तु पत्राणामेव सन्धिसंबन्धिभिः पथिभिः प्रथितम् ॥८८॥

"तत्र चेदं वर्णयन्ति—

श्रीमद्व्रजस्य पदवीषु गुरुप्रथासु, श्रीकृष्णतत्परतया विलसत्कथासु ।
साऽऽवृत्तिसर्ववरवर्णसमाश्रितासु, स्वर्वासिनः श्रुतिसमां प्रतियन्ति रीतिम् ॥८९॥

"तेषामपि पथां यथायथमुभयतः प्रमदवनपात्रतयाऽऽमोदसन्दोहेनाऽऽबालसम्मदसत्राणि पत्राणि तानि विराजन्ते । यानि च किञ्चित्कुञ्चितकमलपत्रवदेवाऽऽलवालसङ्घसङ्गततया बहिर्जनदुर्लङ्घतामङ्गन्ति, शाखिनां घनशाखतया न च स्फुटमूर्ध्वादपि दृष्टि-परामृष्टिं गच्छन्ति ॥९०॥

इन सब गोस्थानों में, ही ही करके अपूर्वरूप से गऊओं का वह बुलाना, एवं बारंबार वह गो-दोहन कला, एवं श्रीकृष्ण का वह वह अधिक हँसी आदि विलास, तथा अपने मित्रों के साथ वह अपूर्व क्रीडा,और गोदोहन के बाद वह घर में जो आना है,वह तो सुख को पुष्ट करनेवाला है। इन सब लीलाओं को बारंबार देखनेवालों की दृष्टि, दूसरी दृष्टि की लालसा उत्पन्न कर देती है। अर्थात् दो नेत्रों से देखने में तृप्ति न होने से, अनेक नेत्रों की वांछा प्रगट कर देती है। अथवा देखनेवालों की दृष्टि, न देखनेवाले दूसरेजनों की दृष्टि को दर्शन की लालसा से युक्त कर देती है ॥८७॥

घर में आना एवं वन में जाना तो गोकुलरूप महाकमल के पत्रों की सन्धिसम्बन्धी मार्गों के द्वारा ही प्रसिद्ध है ॥८८॥

उन मार्गों के विषय में विज्ञजन यह वर्णन करते हैं—शोभायमान गोलोकरूप व्रज के जो मार्ग हैं, वे विशेष लम्बे चौड़े हैं, श्रीकृष्ण में आसिक्त होने के कारण कृष्णसम्बन्धो कथाओं से शोभायमान हैं, एवं सर्व श्रेष्ठ ब्राह्मण आदि वर्णों के द्वारा अभ्यासपूर्वक आश्रित हैं । अर्थात् सभीवर्णों के श्रेष्ठ व्यक्ति उन मार्गों म बारंबार चलते रहते हैं। देवगण तो उन मार्गों में वेदों के समान रीति का विश्वास करते हैं। श्लेष पक्ष में—वेदों के मार्ग भी गुरुओ के द्वारा विस्तारित हैं, श्रीकृष्णपरायण होने के कारण श्रीकृष्ण की शोभायमान कथाओ से युक्त हैं, एवं "तत् त्वमसि" अर्थात् "तुम श्रीहरि के अधीन हो", इस प्रकार के अभ्यास के सहित "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय" अर्थात् "जीव श्रीहरि को जानकर ही मृत्यु के पार जाता है, उनके निकट जाने को दूसरा मार्ग नही है" इस प्रकार के समस्त श्रेष्ठ अक्षरों से युक्त हैं ॥८९॥

उन सब मार्गों के दोनों ओर यथायोग्य प्रमदवन (रानियों के टहलने की वाटिका) के पात्र होने के कारण, दूर से ही चित्ताकर्षक सुगन्धि के समूह से, बालकों से लेकर सभी को आनन्द देनेवाले वे पत्र विराजमान हैं कि, जो कुछ संकुचित कमल के पत्रों की तरह आलवाल (वृक्ष में जल देने के थाँवले) के समूह में सम्मिलित होने से बाहरी जनोंकी अलंघनीयता को प्राप्तहो जाते हैं। और वृक्षोंके घनी शाखाओं से युक्त होने से ऊपर से भी स्पष्ट दृष्टि के परामर्श में नहीं आते हैं, अर्थात् स्पष्ट नहीं दीखते हैं ॥९०॥

"ये च राजान्तःपुरं गन्तारः पन्थानः कथितास्ते तस्य कर्णिकासङ्गतस्य सुबहुमुखशतस्य मणिबद्धक्रमसोपाननद्धतया लंबमाना वृन्दावनवनवृन्दमालंबमानास्तन्मकरन्दस्यन्दसमास्वाद-सुखादस्पन्दजिह्वा इव दृश्यन्ते ॥६१॥

"यस्य कर्णिकाऽऽकारस्य किञ्जल्क-वारनिभप्राचीरमभिस्पृशन्तस्तदन्तः सदाभीर-निकराणां सपरिकराणां पुरोहितानां पुरोहितानां श्रेणीरूपाणां श्रेणीरूपाणामपि यथास्थानं निवासाः सविकासा विलसन्ति ॥६२॥

"ये खल्वन्तर्धाममण्डल-मार्तण्डस्य परिवेषा इव सुवेषा लक्ष्यन्ते । तद्वासिनश्च ते गोकुल-पतेः संपदंशभागितया तदंशा इति व्यपदिश्यन्ते ॥६३॥ तेषु च—

ये सद्भावसमाः स्फुरन्ति पितृभिः कृष्णस्य ये भ्रातृभि-
र्ये सख्यप्रथया विहारपरमैर्ये वा निषेवापरैः ।
विभ्राजिव्रजवासिताशुभजुषस्तान्नूतनागन्तुका
नामीभ्यः पृथगीक्षया कलयितुं लोकाश्चिरादीशते ॥६४॥

और श्रीव्रजराज के अन्तःपुर को जानेवाले जो मार्ग कहे गये हैं,वे सब मार्ग गोकुलरूप महापद्म की कर्णिका से सम्मिलित एवं सुन्दर सुन्दर बहुत से सैंकड़ों द्वारवाले उस अन्तःपुर की मणियों से बँधी हुई क्रम से बनी हुई सीढ़ियों से बँधकर लम्बे होकर,एवं वृन्दावन के अन्तर्गत वनवृन्दों का अवलम्बन करते हुए,उन सब वनों के पुष्परसों के झरनों के भलीप्रकार आस्वादन के सुख से निश्चल जिह्वावाले से दिखाई देते हैं ॥६१॥

और कर्णिका के से आकारवाले जिस अन्तःपुर के केसरसमूह के समान जो परकोटा है उसका स्पर्श करते हुए, अर्थात् उस परकोटा से चिपटे हुए; तथा उसी परकोटा के भीतर सेवकों के सहित श्रेष्ठ गोपों के एवं सामने हित करनेवाले पुरोहितों के, तथा परिपाटी के क्रम से निवास करनेवाले एक-सी कारीगरी से जीविका चलानेवाले जनों के निवासस्थान भी फैलाव के सहित, यथायोग्य स्थानोंपर विराजमान हैं ॥६२॥

एवं जो निवासस्थान परिधि के भीतर जिसका वासस्थान एवं मण्डल है,उस सूर्य की परिधिश्रेणी की तरह सुन्दर वेषवाले दिखाई देते हैं, और श्रीव्रजराज की सम्पत्ति के अंशभागी होने के नाते, उन गोलोकवासियों को विज्ञजन, ये श्रीव्रजराज के अंशस्वरूप ही हैं, ऐसे कहकर निर्देश करते हैं ॥६३॥

और नित्यसिद्ध उन गोलोकवासियों में जो व्यक्ति, श्रीकृष्ण के पिता एवं चाचा आदि के साथ उन के से वात्सल्यरूप सद्भाव में समान स्फूर्ति पा रहे हैं, एवं जो श्रीकृष्ण के भ्राताओं के साथ भ्रातृभावरूप सद्भाव में समान स्फूर्ति पा रहे हैं,एव श्रीकृष्ण के साथ विहार करने में श्रेष्ठ सखाओं के साथ जो व्यक्ति, मित्रभाव की ख्याति से स्फूर्ति पा रहे हैं, और श्रीकृष्ण के सेवकों के साथ जो व्यक्ति दास्यभाव में समान स्फूर्ति पा रहे हैं, अतः प्रकाशविशिष्ट गोलोकरूप व्रज में निवासरूप मङ्गल का सेवन करनेवाले,नित्यसिद्ध पिता आदि के समान भाववाले उन सब व्रजवासियों को, साधनसिद्ध या कृपासिद्ध नवीन आगन्तुक लोग, बहुत देरतक दर्शन करके भी उन पिता आदिकों से पृथक् जानने को समर्थ नहीं हो पाते हैं, (पश्चात् श्रीकृष्ण के बतानेपर वात्सल्य, सख्य, एवं दास्य आदि भाव के गोलोकवासियों को तत् तद् भाव के उपासक पिता आदि से पृथक् जान पाते हैं) ॥६४॥

"किञ्च, मातस्तात ! भ्रातरित्यादिमाह्वां, कुर्वंस्तत्तत्तुल्यभावेषु कृष्णः ।
तत्तल्लोकादप्यलं तेषु मोदं, दत्ते यत्ते सर्वकं विस्मरन्ति ॥९५॥

"अथ तस्मादावरणादभ्यन्तरमसाधारणान्तरमशेषसभाखण्डलं सभामण्डलं परितश्चकास्ति । यत्र च स्व-वासिजनमनुकुर्वन्तः परस्परसम्मुखतया सुखमिव वलमाना विमानावतारा इव गृहसारा विराजन्ते । ये खलु जातरूपेण जातरूपा वैदूर्यमणिभिर्दृष्टिप्राचुर्यमिव हीरकलसितैः सततमधीरहसितमिव विसृमररागपद्मरागैर्महानुरागमिव लावण्ययुक्ताऽमलमुक्तावलिभिर्विसरदजस्रसम्मदास्रमिव मदकलकलविङ्कादि-कलैः कलकलमिव परस्परं व्यञ्जयन्तः सन्ति ॥

"तदेवं सति बहिरन्तःसदनजनाः सहजकनकाऽऽसनगणमध्यासीनाः श्रीकृष्णराम-कथा यथायथं प्रथयन्तस्तत्तद्भावभावनतया शारीरस्वभावमपि विस्मरन्तीति किं वर्णनीयम् ?९७॥

"यदा यदा तु कदाचित् क्वचिदसौ श्रीमन्नन्दकुलचन्द्रमा निजकान्तिभिस्तेषां चकोर-वाराणामिव पारणां पूरयति, तदा ते निज-निज-जन्म च नवनववन्मन्यन्ते ॥९८॥

"तत्रैव श्रव्यदृश्याभिधविविधमहाकाव्य-वृन्दं सचित्रं
कृष्णस्याऽऽजन्मलीलावलिवलिततमं दर्शयन्तः सुविज्ञाः ।

किञ्च श्रीकृष्ण माता, पिता, भ्राता, सखा आदिकों के समान भाववाले व्यक्तियों के निकट, हे माताजी ! हे पिताजी ! हे भैयाजी ! इत्यादि नाम का प्रयोग करते हुए,उन व्यक्तियों के प्रति माता,पिता आदि उन उन लोगों से भी अधिक आनन्द देते रहते हैं । जिस कारण माता पिता आदि के से भाववाले वे व्यक्ति, सब कुछ भूल जाते हैं ॥९५॥

और उस परकोटारूप आवरण से, भीतर का सभामण्डल चारों ओर से प्रकाशित हो रहा है । उस सभामण्डल के भीतर का भाग सर्वश्रेष्ठ है,एवं वह सभामण्डल सब प्रकार की सभाओं में श्रेष्ठ है । जिस सभामण्डल में निवास करनेवाले जनों का अनुकरण करते हुए परस्पर सम्मुख होकर मानो सुख सा लेते हुए जो श्रेष्ठ घर हैं, वे पुष्पक आदि विमानों के अवतारों की तरह विराजमान हैं । जो सब श्रेष्ठ घर हैं उनके आकार सुवर्ण से बने हैं, एवं वे श्रेष्ठ घर आपस में वैदूर्यमणियों के द्वारा मानो दृष्टि की अधिकता सी प्रकाशित करते हुए, हीराओं की प्रभा से निरन्तर अट्टहास सा प्रकाशित करते हुए, विस्तृत रक्तवर्ण युक्त पद्मरागमणियों के द्वारा महान् अनुराग सा दिखाते हुए, सुन्दरता से युक्त निर्मल मुक्ताश्रेणियों के द्वारा मानो निरन्तर विस्तारित आनन्दाश्रु प्रगट करते हुए, एवं मद से मनोहर चिड़िया आदि पक्षियों की अव्यक्त एवं मधुर ध्वनियों के द्वारा मानो आपस में कलरव सा प्रकाशित करते हुए विद्यमान हैं ॥९६॥

इस प्रकार की स्थिति में घर के बाहर एवं घर के भीतर रहनेवाले जन, सदा सुवर्ण के आसन-समुदाय के बीच में बैठकर, यथायोग्य श्रीकृष्ण बलदेव की कथा का व्याख्यान करते हुए, श्रीकृष्ण के माता,पिता,सखा आदि के उन उन भावों के चिन्तन करने से शरीरसम्बन्धी स्वाभाविक चेष्टाओं को भी भूल जाते हैं, अतः उनके विषय में और क्या वर्णन करें? ॥९७॥

और जब जब कदाचित् किसी स्थानपर श्रीमान् नन्दजी के कुल के चन्द्रस्वरूप ये श्रीकृष्णचन्द्र, अपनी कान्तियों के द्वारा चकोरों की तरह उन लोगों का पारण (उपवासान्त भोजन) पूरा कर देते हैं, तब तो वे गोलोकीय-जन अपने अपने जन्म को भी नया सा मान लेते हैं ॥९८॥

और उसी सभामण्डल में सुविज्ञ महाकविजन श्रीकृष्ण की जन्मलीला से लेकर, समस्त लीलाश्रेणी

तं तात-भ्रातृ-बन्धुप्रभृतिनिज-जनानेकलक्षेण सौख्या-
दासीनं नन्दयन्तश्चिरमपि विगतं तत्तदध्यक्षयन्ति ॥९९॥

"तदेवं परितः परिसृतं कक्ष्याद्वयं प्रख्यापितम् । तयोरप्यन्तःपञ्चकक्षी तु साक्षाद्-व्रजक्ष्मापतेरेव निवासः श्रीनिवासतया श्रीनिवासवासतया च सर्वेषामपि सर्ववासनां पूरयति ॥१००॥

"तत्र मध्यमं प्रकोष्ठं पुनः सर्वतः श्रेष्ठतया मध्यमतामतिक्रान्तं शुद्धान्त इति कथ्यते । यस्य पश्चिमायाः काष्ठायाः पञ्चापि प्रकोष्ठा निखिलसाध्वीश्वर्या श्रीगोष्ठाधीश्वर्याऽधिष्ठीयन्ते । उत्तरस्याः साऽम्बालेन प्रलंबकालेन ; पूर्वस्याः सर्वेश्वरेण श्रीगोष्ठाधीश्वरेण ; दक्षिणस्याः स्वयं गोकुल-लक्ष्मीनाथेन मद्विधनाथेन ॥१०१॥

"तदेवं कक्ष्यासप्तकमयी सर्वेषामपि जीवनस्य लक्ष्या, सेयं राजधानी विराजते ॥१०२॥

"यत्र खल्वन्तरन्तः प्रतिकक्ष्यमुपर्युपर्येकैकाधिक-भूमिकतया गृहा नयनस्पृहां बृंहयन्ति ॥१०३॥

"अतएव—यद्यपि मणिमयलक्ष्मीः, सर्वा सेयं पुरी भवति ।
तदपि शिरोवन्मध्यः, कोष्ठः सर्वाङ्गतः श्रेष्ठः ॥१०४॥

से विशेष निबद्ध, श्रव्य, एवं दृश्य नामक अनेक प्रकार के महाकाव्यसमूह को आश्चर्यपूर्वक दिखाते हुए, एवं पिता, भ्राता, बन्धु आदि अनेक लाखों संख्यावाले निजी जनों के साथ सुखपूर्वक बैठते हुए, श्रीकृष्ण को आनन्दित करते हुए, बहुत दिन पहले बीते हुए, उस जन्मादि लीला के समूह को प्रत्यक्ष सा कराते रहते हैं ॥९९॥

इस प्रकार चारों ओर विस्तृत दो कक्षाओं का वर्णन कर दिया। उन दो कक्षाओं के भीतर जो पाँच कक्षाओं का समूह है, वह तो साक्षात् श्रीव्रजराज का ही निवासस्थानस्वरूप है। एवं वह निवास-स्थान अनन्त लक्ष्मियों के तथा श्रीकृष्ण के निवास करने के कारण, सभी जनों की सब प्रकार की वासना पूरी कर देता है ॥१००॥

उन पाँचों कक्षाओं में बीचवाला प्रकोष्ठ (कक्षा) तो चारों ओर से श्रेष्ठ होने के कारण, मध्यमता को लाँघकर अन्तःपुर कहलाता है । जिस अन्तःपुर की पश्चिमदिशा की पाँचों कक्षाएँ समस्तसतियों की अधीश्वरी गोलोकाधीश्वरी श्रीयशोदा के द्वारा अधिष्ठित हैं,अर्थात् उन पाँचों में श्रीयशोदाजी का अधिकार है। एव उत्तरदिशा की पाँचों कक्षाएँ रोहिणीमाता के सहित श्रीबलरामजी के द्वारा अधिकृत हैं, एवं अन्तःपुर की पूर्वदिशा की पाँचों कक्षाएँ समस्त व्रजवासियों के अधीश्वर गोलोकाधीश्वर श्रीनन्दजी के द्वारा अधिकृत हैं। और दक्षिणदिशा की पाँच कक्षाएँ गोकुल की लक्ष्मी के अधिपति, एवं मुझ जैसे व्यक्तियों के स्वामी श्रीकृष्ण के द्वारा स्वयं अधिकृत हैं ॥१०१॥

इस प्रकार मुख्य मुख्य सात कक्षाओंवाली सभी के जीवन की लक्ष्य (आश्रयणीय) यह राजधानी विराजमान है ॥१०२॥

जिस राजधानी के बीच बीच में प्रत्येक कक्षा के ऊपर ऊपर, एक से एक अधिक मंजिलवाले होने से वहाँ के घर, नेत्रों की देखने की इच्छा बढ़ा देते हैं ॥१०३॥

अतएव यद्यपि यह समस्त पुरी, मणिमयी शोभा से विशिष्ट है, तथापि बीच का भवन तो मस्तक की

"अस्य मध्ये महामहिमध्येयतानन्दितनिजभक्तं मेर्वाकारकुट्टिमनिविष्टस्तंभपंक्तिसक्तं सर्वमुकुट-भानं कुटप्रधानं विराजते ॥१०५॥

"यच्च निकेतनं विराजत्केतनं चलत्पताकाखेलया चेतनमिव चिन्त्यते ॥१०६॥

"यत्र च सखिभिः स कदाचिदारूढः प्रथितजिष्णुनीलकान्तिविजिष्णुकान्तिभिरुपगूढः सर्वगोलोक-लोकं लोकयन्तं लोकयन् युगपदेव प्रमद-मूढं करोति ॥१०७॥ यथा—

चक्षूंषि सिञ्चति मनांसि मुहुर्धिनोति, प्राणान् बिभर्ति पुलकेन तनूस्तृणोति ।
तेषां तदा बत यदा मणिकुट्टिमाऽग्र,-मारुह्य गोकुल-विधुः किरणं तनोति ॥१०८॥

"अस्तु तावत्तत्स्थ-तदवस्थजनानां वार्ता, सा च पुरी तादृशप्रेमविकारमुरीकुर्वतीव महद्भिरुरीक्रियते ॥१०९॥ तथा हि—

यस्यां पताकाऽऽलिरनेकरूपा, वातेन नाना मुखतां प्रयाता ।
चित्राऽऽलिनेत्रा परितः स्फुरन्तं, व्यक्तं हरिं पश्यति पश्य पश्य ॥११०॥

तरह सभी अङ्गों से श्रेष्ठ है, अर्थात् सब अङ्गों की अपेक्षा मस्तक जैसे श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार सब अटारियों की अपेक्षा बीच का भवन सभी अङ्गों से श्रेष्ठ है ॥१०४॥

इस कोष्ठ (अन्तर्गृह) के बीच में एक प्रधान महल विराजमान है। वह अपनी अधिक महिमा से ध्यान करने योग्य होने से, अपने भक्तों को आनन्दित करनेवाला है, मेरुपर्वत के से आकारवाली मणि-जटित भूमि में स्थित खम्भों की पंक्तिपर वह टिका हुआ है, एवं सब भवनों के मुकुट की तरह प्रतीत होता है ॥१०५॥

क्योंकि जो महल शोभायमान ध्वजाओं से युक्त है, और वायु के द्वारा चलती हुई पताकाओं की क्रीडा से चेतन की तरह स्मरण किया जाता है ॥१०६॥

और जिस महल के ऊपर कदाचित् सखाओं के सहित चढ़े हुए श्रीकृष्ण, प्रसिद्ध इन्द्रनीलमणि की कान्ति को जीतनेवाली कान्तियों से आलिङ्गित होकर, अपने को देखनेवाले समस्त गोलोकवासी जनों को देखते देखते एकसाथ आनन्द से विमुग्ध कर देते हैं ॥१०७॥

यथा—अहह ! गोकुलचन्द्र श्रीकृष्णचन्द्र मणियों से खचित भूमि के अग्रभाग में चढ़कर जब अपनी किरण फैलाते हैं, तब उन गोलोकवासियों के नेत्रों को दर्शनसुधा से सींचते हैं, उनके मनों को बारंबार प्रसन्न करते हैं, प्राणों को पुष्ट करते हैं, एवं उनके शरीरों को रोमांच से आच्छादित कर देते हैं ॥१०८॥

उस गोलोकपुरी में रहनेवाले एवं पूर्वोक्त प्रकार की आनन्द से जड़तामयी अवस्थावाले जनों की बात को तो रहने दीजिये । क्योंकि महापुरुष (श्रीरूप सनातन आदि) उस पुरी को उस प्रकार के प्रेम-विकार को विस्तार करनेवाली सी अङ्गीकार करते हैं (यहाँपर दोनों 'उरी' शब्द क्रमशः विस्तार एवं अङ्गीकार अर्थ में प्रयुक्त हैं) ॥१०९॥

(उस प्रकार के प्रेम की परिपाटी को आठ श्लोकों (११०-११७) के कुलक द्वारा वर्णन करते हैं, एवं प्रथम श्लोक में विद्यमान "पश्य पश्य" का सब श्लोकों में सम्बन्ध कर लेना चाहिये) देखो, जिस पुरी में श्वेत, रक्त,पीत आदि अनेक रूपोंवाली, एवं वायु के द्वारा अनेक मुखों के भाव को प्राप्त करनेवाली, तथा चित्रश्रेणीरूप नेत्रोंवाली जो पताकाओं की श्रेणी है,वह चारों ओर स्फूर्ति पानेवाले श्रीकृष्ण को स्पष्ट देख रही है, इस बात को तुम भी बारंबार देख लो ॥११०॥

कुंभाः सुधाकान्तिसमाः स्व-कान्तिभिः, पूर्णा गृहाणामधिशेखरायिताः ।
माङ्गल्यरूपाणि वपूंषि बिभ्रते, हरेः सदाभीप्सितसर्व-पर्वसु ॥१११॥
सद्माऽवलीनां पटलेषु शुभ्र,-प्रभाः प्रभान्ति स्फुटरत्नबिम्बाः ।
श्रीमद्व्रजेन्द्रात्मजकेलि-वृन्दा,-दिव प्रफुल्लाः पुलकप्रकाराः ॥११२॥
मयूर-पारावत-पक्षिमुख्याः, क्रीडन्ति चित्रं प्रणदन्ति चारु ।
भक्ता इवाऽमी च विचित्रयन्ति, श्रोत्रे च नेत्रे च सुरारि-शत्रोः ॥११३॥
चित्राणि रत्नप्रचितानि भित्ति,-ष्वाभान्ति तत्तद्रुचिरोचितानि ।
जन्मादिलीलाव्रजराज-सूनो,-र्यापि यानि प्रथयन्ति सन्ति ॥११४॥
सद्मानि शश्वद् विलसन्ति सर्वत,-स्तदीयसद्भक्त-यशांसि बिभ्रति ।
अभ्यन्तरेऽलिन्दमुखे च साऽनुगः, स्वं नाम विन्यस्यति येषु माधवः ॥११५॥
विचित्रशोभामणयः सुभासुराः, सभान्तरालं रचयन्ति चित्रितम् ।
नेयान् परं तेषु गुणः परश्च यद्, दोषापि दोषातिलका भवन्ति ते ॥११६॥

और देखो, चन्द्रमा के समान जो कलश हैं, वे अपनी शोभाओं से परिपूर्ण होकर, भवनों के मुकुट से बने हुए हैं। और वे कलश श्रीकृष्ण के अभिलषित सभी उत्सवोंपर सदैव मङ्गलमय शरीर धारण करते रहते हैं ॥१११॥

और देखो, उन भवनों की श्रेणियों की छतों में शुक्लकान्तिवाले उज्ज्वल रत्नों के बिम्ब उस प्रकार शोभा पा रहे हैं कि, जिस प्रकार व्रजराजकुमार श्रीकृष्ण की लीलासमूह (दखने या सुनने) से प्रफुल्लित हुए रोमाञ्चों के प्रकार शोभा पाते हैं ॥११२॥

और देखो, उन भवनों की छतपर बैठे हुए, मोर, कबूतर आदि पक्षी आश्चर्यपूर्वक क्रीडा कर रहे हैं एवं मनोहर शब्द कर रहे हैं। अतः ये पक्षी भक्तों की तरह श्रीकृष्ण के कानों को मनोहर ध्वनियों के द्वारा एवं नेत्रों को आश्चर्यमयी क्रीडा के द्वारा विस्मित कर रहे हैं ॥११३॥

और देखो, उन भवनों की भीतोंपर अनेक प्रकार के रत्नों से खचित, एवं उन उन रत्नों की कान्ति से शोभायमान अनेक चित्र चारों ओर विराजमान हैं। जो चित्र व्रजराजकुमार की जन्मादि समस्त लीलाओं को विख्यात करते हुए विद्यमान हैं ॥११४॥

और देखो, सर्वतोभाव से निरन्तर शोभायमान वे भवन (निर्मल एवं शुक्लवर्ण के कारण) श्रीकृष्ण के श्रेष्ठ भक्तों के यशसमूह को धारण कर रहे हैं अतः सेवकों के सहित श्रीकृष्ण जिन भवनों के भीतर अपने रूप को, एवं अलिन्द (चौखट के बाहरी स्थान) के मुखपर अपना नाम लिख रहे हैं। तात्पर्य—इन भवनों को श्रीकृष्ण के सद्भक्तों की उपमा दी है, अतः भक्तों के हृदय में श्रीकृष्ण का रूप रहता है, एवं मुख में उनका नाम विन्यस्त रहता है। इसी भाव को दृढ करने के लिए, श्रीकृष्ण पूर्वोक्त कार्य कर रहे हैं ॥११५॥

और देखो, बिचित्र शोभावाली एवं सुन्दर दीप्तिशाली मणियाँ सभा के मध्यभाग को विचित्र बना रही हैं। उन मणियों में केवल इतना ही गुण नहीं है, किन्तु दूसरा भी है कि, जिससे वे मणियाँ रात में भी दोषातिलक (दीपक) बन जाती हैं, अर्थात् दीपक की तरह प्रकाश करती हैं ॥११६॥

तस्यां समन्तान्मणिजाङ्गनानि, स्वच्छानि सद्भक्त-मनःसमानि ।
स्थाने ततस्तानि हरेस्तदीय,-व्रातस्य चाऽऽभासतनूर्वहन्ति ॥ इति ॥कुलकमष्टभिः

"किञ्च, लोको दिव्यातिदिव्यस्तमनुसमधिकं गोकुलं तत्र लोका
ब्रह्मादीनां विमृग्यस्थितिपदरजसस्तेषु तृष्णक् स कृष्णः ।
योऽयं जीवातुरत्न-प्रतिकृतिरथवा जीवनस्याऽङ्गमित्थं
ज्ञातः कुत्रापि गत्वा प्रतिमिलिततया येषु शश्वद् विभाति ॥११८॥

"तदेवमनभिव्यक्तचिद्वस्तूनामपि प्रस्तुततत्प्रेमाभिप्रेयते। किमुत तत्प्रेममयचिद्विलास-भासमानानाम्, किमुततरां चिरविरहदहनानन्तरममृतमिव तमुपलब्धवतां तस्य च पुनरगमनं विस्रब्धवतां तेषामिति तात्पर्यं पर्यवसीयते ॥११९॥ यतः

आजगाम यदुपत्तनादसौ, माधवः किल यदा तदा व्रजः ।
आगतोऽयमिति वर्धिसम्मदा,-दद्यतामिव सदाधिपद्यते ॥१२०॥

यर्ह्यायातः स यदुसदनाच्छ्रीव्रजेशाङ्गजन्मा, तस्मादूर्ध्वं परपरदिनं शर्मधर्माऽजनिष्ट ।
तत्तत्कृच्छ्रात्तदनुमिलनं सूचयद्गीत-वाद्यं, स्वाद्यं कर्त्री निखिलजनता यन्नयन्ती न वेद ॥१२१

और देखो, उस सभा में चारों ओर मणिमय जो आँगन हैं, वे परमनिर्मल हैं, एवं सच्चे भक्तों के हृदय के समान हैं। यह बात स्थाने, अर्थात् उचित है । उसी कारण वे प्राङ्गण श्रीकृष्ण के एवं उनके भक्तसमुदाय के छायारूप शरीरों को धारण कर रहे हैं। (कुलक समाप्त) ॥११७॥

किंच तात्पर्यार्थ यह है कि—यह गोलोकधाम, स्वर्ग आदि दिव्यस्थानों से भी अतिदिव्य है, अथवा सुन्दरों की अपेक्षा परमसुन्दर है। और उस गोलोक में गोकुल नामक स्थान और भी अधिक है। और उस गोकुल में निवास करनेवाले व्रजवासीजन उस गोकुल से भी अधिक है। अतः जिन गोकुलवासियों की पद-रज की स्थिति ब्रह्मादिकों के भी ढूँढ़ने योग्य है। उन व्रजवासियों में वे श्रीकृष्ण भी अभिलाषा रखनेवाले हैं। विशेष करके तो ये श्रीकृष्ण उन व्रजवासियों के जीवन की औषधिरूप रत्न के प्रतिबिम्ब रूप हैं, अथवा जीवन के अङ्गस्वरूप हैं। इस प्रकार जाने हुए श्रीकृष्ण, किसी दूसरे स्थानपर जाकर भी, जिन व्रजवासियों में निरन्तर परस्पर सम्मिलितरूप से विराजमान रहते हैं ॥११८॥

इस प्रकार जिनमें ज्ञानरूप वस्तु प्रकाशित नहीं हुई है, अर्थात् चेतनारहित पदार्थों का भी प्रस्तुत श्रीकृष्णविषयक प्रेम अभिप्रेत (अभीष्ट या ज्ञात) हो रहा है, तब श्रीकृष्णप्रेममय ज्ञान के विलास से प्रकाशमान व्रजवासियों का प्रस्तुत कृष्णविषयक प्रेम अभिप्रेत है, इस विषय में तो कहना ही क्या है? फिर चिरकालीन विरहरूप अग्नि के अनन्तर अमृत की तरह श्रीकृष्ण को प्राप्त करनेवाले, और श्रीकृष्ण का अब पुनः मथुरा एवं द्वारका आदि स्थानों में जाना नहीं होगा, ऐसा विश्वास करनेवाले उन प्रेममय व्रजवासियों के विषय में तो कहना ही क्या है ? यह तात्पर्य निश्चित हो रहा है ॥११९॥

कारण—वे श्रीकृष्ण जब द्वारकापुरी से चले आये, तब यह सारा व्रज "ये श्रीकृष्ण आ गये हैं" इस कारण वृद्धिशील आनन्द से "मानो श्रीकृष्ण आज ही आये हैं" सदा इसी भाव को प्राप्त होता रहता है ॥१२०॥

वे श्रीव्रजराजकुमार द्वारकापुरी से जिस समय आ गये, उस समय से ऊपर दूसरे तीसरे दिन, सुख का स्वभाव उत्पन्न हुआ था। क्योंकि विरहजनित उन उन कष्टों के बाद श्रीकृष्ण के मिलन की सूचना

ये ये चासन् प्रकटविभवे स्थावरा जङ्गमाश्च, श्रीमद्वृन्दावनभुवि त एवाऽत्र कृष्णं प्रपद्य ।
आनन्देन प्रततरुचयस्तं प्रतिस्वं भजन्तः, स्वस्मादन्यत् किमपि न विदुः श्रेयसां चारुपात्रम् ॥

वृक्षाः शैला ह्रदिन्यः खग-मृग-निचया वन्यदेव्यः सुरभ्यः
सेवातृष्णाः सखायः पितृमुखगुरवः किञ्च कान्ता व्रजस्थाः ।
कृष्णाद् विच्छिद्य कृच्छ्रात् प्रतिमिलिततया स्निग्धता-दिग्धभावं
बिभ्राणास्तस्य कान्तीर्नव-नवतुलया शश्वदेव प्रतीयुः ॥१२३॥

शृण्वन्ति जिघ्रन्ति विलोकयन्ति, स्पृशन्ति कृष्णं व्रजवासिजीवाः ।
अहो चिरात् प्राप्तममुं त एके, लिहन्त्यपि प्रत्यहमूढतृष्णाः ॥१२४॥

जन्म-श्रीप्रभृतीनि केशिनिधन-प्रान्तानि गायन् व्रजः
कृष्णस्याऽऽचरितानि सौख्यमयते यत्तानि तच्छर्मणे ।
यद्यत् कंसवधादि सुष्ठु तदपि प्रोद्गाय भूयः सुखं
यात्युच्चैर्विजयी निजं गृहमसावागत्य यन्नन्दति ॥१२५॥

करनेवाले, गाने, बजाने का आस्वादन करनेवाली समस्त जनता, जिन दूसरे दूसरे दिनों को बिताती हुई यह नहीं जान सकी कि, श्रीकृष्ण को व्रज में आये कितने दिन हो गये हैं ॥१२१॥

और प्रकटलीला के समय प्रकट वैभववाले व्रज में श्रीयुक्त वृन्दावन की भूमि में जो जो स्थावर (पर्वत वृक्ष आदि) एवं जङ्गम (पशु पक्षी आदि) थे, वे सब इस गोलोक में श्रीकृष्ण को पाकर आनन्द से विशाल कान्तिवाले होकर, प्रत्येक श्रीकृष्ण की सेवा करते हुए, अपने से भिन्न, कल्याणों के सुन्दर पात्र, किसी भी वस्तु को नहीं जान पाये ॥१२२॥

किंच वृक्षगण, पर्वतसमूह, श्रीयमुना आदि नदियाँ, पक्षी, एवं वन के मृग आदि पशु, श्रीवृन्दा आदि वनदेवियाँ, सब गैयाएँ, सेवा में लालसावाले रक्तक पत्रक आदि सेवक, श्रीदामा आदि सखा, पिता आदि गुरुजन, एवं व्रजस्था श्रीराधिका आदि श्रीकृष्णकान्ताएँ, ये सब श्रीकृष्ण से वियुक्त होकर, बड़े कष्ट से पुनः श्रीकृष्ण से परस्पर मिलकर, स्निग्धता से बढ़े हुए भाव को धारण करते हुए, श्रीकृष्ण की शोभाओं को निरन्तर नई नई के समान ही समझते थे ॥१२३॥

व्रज के निवासी प्राणीमात्र श्रीकृष्ण की कथा सुनते हैं, श्रीकृष्ण को सूँघते हैं, उनको देखते हैं, उनका स्पर्श करते हैं। अहह ! बहुत दिनों के बाद प्राप्त हुए श्रीकृष्ण को कुछ गोगण आदि वे प्राणी तो तृष्णा को प्राप्त होकर, प्रतिदिन जिह्वा से चाटते भी रहते हैं ॥१२४॥

तब से समस्त व्रज श्रीकृष्ण के जन्म की शोभा से लेकर, केशीवधपर्यन्त समस्त चरित्रों का गायन करता हुआ सुख को प्राप्त हो जाता है । क्योंकि वे चरित्र उस व्रज के सुख के लिए ही हुए थे । और कंस-वध आदि जो जो चरित्र था, उस को भी भली प्रकार गा कर, अधिक सुख को प्राप्त कर लेता है। क्योंकि ये श्रीकृष्ण समस्त शत्रुओंपर विशेष विजयी होकर, अपने घर में आ कर आनन्दित हैं। कंसवधादि चरित्र को गा कर सुखी होने में यही कारण है ॥१२५॥

जन्माऽऽरभ्य हरेर्निजा यदभवद् बाढं रमाक्रीडताऽ-
नन्दत् तेन पुरा व्रजक्षिति-जनश्चित्रं न तत्र क्वचित् ।
द्वार्वत्यामपि भूतिरस्य यदभूत् स्फारा स तेनाप्यलं
सौख्यं याति स यत् प्रियः किमुत तत्त्यागेन चेदागतः ॥१२६॥

दत्ते यस्तुलसी-दलं लवमपि द्रागुत्तमर्णं तम-
प्यङ्गीकृत्य वशीभवत्ययमिति ख्यातं मुनीनां मतम् ।
तस्मात् सर्वसमर्पिणं व्रजजनं हित्वा गतः सद्द्रुहां
नाशायाऽथ विधाय तं पुनरिहायातोऽप्यसौ लज्जते ॥१२७॥

बाढं ह्रीच्छति तत्र चायमगतिं पित्रादिलोकं व्रजं
हित्वा भूतिमुपार्जयं जनपदे दूरे वरेण्यामिति ।
जिह्रेत्येष च स व्रजः स्वयममूमौज्झीदसौ नः कृते
द्रागित्थं मिलनोत्थशर्म तु परं तच्छादनायाऽजनि ॥१२८॥

श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर "हरेर्निवासात्मगुणै रमाक्रीडमभून्नृप ! (भा० १०।५।१८), अर्थात् वह व्रज श्रीकृष्ण के निवासरूप निजी गुणों के कारण लक्ष्मीजी के टहलने का बगीचा बन गया था" इस प्रकार की जो अपनी विशेष रमाक्रीडता हुई थी, उसके द्वारा व्रजभूमि का जनमात्र पहले भी आनन्दित हुआ था। उसमें कहीं आश्चर्य नहीं माना है । क्योंकि व्रज का जनमात्र तो, श्रीकृष्ण का द्वारका में भी जो विशाल ऐश्वर्य था, उसके द्वारा भी अधिक सुखी हो रहा है। कारण व्रजवासियों के तो श्रीकृष्ण ही प्रिय हैं, अतः वे तो उनके सुख को ही अपना सुख मानते हैं । वे यदि द्वारका के ऐश्वर्य को त्यागकर सदा के लिए व्रज में चले आये, तब तो उनके सुखी होने में कहना ही क्या है? ॥१२६॥

द्वारका से श्रीकृष्ण के पुनः व्रज में आने में दूसरा हेतु यह है कि—जो भक्त श्रीकृष्ण के लिए प्रेम से थोड़ा सा तुलसीदल भी समर्पण करता है, उस भक्त को भी तत्काल उत्तमर्ण (कर्ज देनेवाला) स्वीकार करके, ये श्रीकृष्ण उसके भी वशीभूत हो जाते हैं। यह मुनियों का प्रसिद्ध मत है। यथा—"तुलसीदल-मात्रेण जलस्य चुलुकेन च। विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः ॥" इसलिए अपना सर्वस्व समर्पण करनेवाले, व्रज के जनमात्र को त्यागकर श्रीकृष्ण, सज्जनों के द्रोही असुरों के विनाश के लिए मथुरा एवं द्वारका चले गये थे। पश्चात् असुरों का विनाश करके पुनः इस व्रज में आकर भी वे श्रीकृष्ण लज्जित हो रहे हैं। तात्पर्य—उनके भक्तवात्सल्य की एवं माधुर्य की यही पराकाष्ठा है ॥१२७॥

श्रीकृष्ण तो उस व्रज में इसलिए अधिक लज्जा कर रहे थे कि—"मेरे बिना जिसकी कोई गति नहीं है, उन पिता माता आदि लोगों से युक्त व्रज को छोड़कर मैंने दूर देश में श्रेष्ठ ऐश्वर्य उपार्जन कर लिया" (व्रजवासियों के बिना यह सब उपार्जन व्यर्थ है) । वह व्रज का जनमात्र भी इस कारण लज्जा कर रहा था कि—उन श्रीकृष्ण ने हमारे लिए द्वारका के ऐश्वर्य को स्वयं शीघ्र ही त्याग दिया। इस प्रकार दोनों की लज्जित अवस्था में परस्पर मिलने से उत्पन्न हुआ सुख तो, केवल उस लज्जा को ढकने के लिए प्रगट हो गया ॥१२८॥

दूरं गत्वा विचिन्वन्निव जगति च यैस्तुल्यभावानतोषं
सर्वत्र प्राप्य भूयः स्वकसदनमगात्तंर्व्रजस्थैरपूर्वम् ।
क्षेमश्रीप्रेममात्रं सततमभिलषन्नर्थमेतन्निधींस्तान्
उद्बिभ्रत्तातमुख्यान् हरिरयमुदयद्गर्ववान् पर्व याति ॥१२६॥
पाल्यानां सद्गतिश्रीः स्फुरति सवयसां दिव्यसत्कर्म माता-
पित्रादीनां विलोकः प्रणयिवरदृशामेष कृष्णः परात्मा ।
ते तस्याप्यंघ्रि-युग्मं भुज-युगमभितोऽप्युत्तमाङ्गं हृदन्तः
कञ्जं पूर्वक्रमेणेत्युभयकपुरुषाकारमाभाति गोष्ठम् ॥१३०॥
मातुर्लालनमेत्य सम्मतिमितस्तातस्य च भ्रातृभिः
सार्धं धेनुगणावनाय विपिनं गत्वाऽऽचरन् क्रीडितम् ।
आगम्याथ गृहं समस्तसुहृदामीदृक्प्रतीतिं भज-
त्येष श्रीव्रजराज-नन्दनशशी श्वासो न एषामिति ॥"१३१॥

अथ कथकः समापनमाह स्म,—

"हंहो सौख्यं सुरद्विट्-कटुकटकघटाप्रष्ठकंसादिकांस्तान्
हत्वा तत्क्लिष्टचित्तां पितृमुखजनतां निर्वृतां सुष्ठु चक्रे ।

व्रज को छोड़कर जाने का तात्पर्य कहते हुए, व्रजवासियों के पुनः मिलन से श्रीकृष्ण के महोत्सव का वर्णन करते हैं। यथा—देखो, ये श्रीकृष्ण जिन व्रजवासियों के समान भाववाले व्यक्तियों को मानो संसारभर में ढूँढ़ते हुए से दूर चले गये थे, एवं दूर जाकर भी जिनके समान भाववालों को न पाकर, सब जगह असन्तोष पाकर, पुनः अपने घर में, अर्थात् व्रज में चले आये । अतः उन व्रजवासियों के द्वारा कल्याण एवं शोभा से युक्त केवल प्रेमरूप पदार्थ को निरन्तर चाहते हुए,उस प्रकार के प्रेम के आधारस्वरूप पिता माता आदि उन व्रजवासियों को अधिक पुष्ट करते हुए,प्रगट हुए गर्व से युक्त होकर, महोत्सव को प्राप्त कर रहे हैं ॥१२६॥

और ये श्रीकृष्ण,दासों के लिए सद्गति की सम्पत्तिरूप से, मित्रों के लिए दिव्यसत्कर्मरूप से, माता पिता आदि वात्सल्य भाववालों के लिए नेत्ररूप से, एवं स्नेहमयी गोपियों के लिए परमात्मारूप से स्फूर्ति पा रहे हैं। एवं वे दास आदि भी पहले के क्रम से श्रीकृष्ण के लिए भी, दासगण श्रीकृष्ण के दोनों चरणों के रूप से, मित्रगण उनकी भुजाओं के रूप से, एवं माता पिता आदि सर्वतोभाव से मस्तकरूप से स्फुरित हो रहे हैं। और स्नेहमयी गोपियाँ तो उनके हृदय के मध्यवर्ती कमल के रूप से स्फुरित हो रही हैं। इस प्रकार यह व्रज सद्गतिश्रीः आदि, एवं अंघ्रियुग्म आदि, अथवा दास आदि चारों प्रकार के व्यक्ति एवं श्रीकृष्ण, इन दोनों प्रकार के पुरुषों के आकारवाला प्रतीत हो रहा है ॥१३०॥

श्रीव्रजराज के पुत्ररूप चन्द्रमा ये श्रीकृष्ण,माँ यशोदा के लालन पालन को प्राप्त करके, माता पिता की सम्मति पाकर, श्रीबलराम आदि भ्राताओं के साथ गोगण की रक्षा करने के लिए वन में जाकर, क्रीडा करते करते पुनः घर में आकर समस्त सुहृदों के लिए इस प्रकार प्रतीत होते हैं कि, "ये श्रीकृष्ण" हम सब व्रजवासियों के प्राण ही हैं ॥१३१॥

तदनन्तर कथावाचक प्रसङ्ग की समाप्ति का द्योतक वचन बोला—हे सभासदो ! देखो, अब परम

किञ्चान्यः स्वप्रियाणां पतिरिति बहिरावग्रातिदुःखानि हत्वा
तत्तद्विश्लेषपोडाच्छिदयमतिजगदृष्टि गोष्ठे विभाति ॥१३२॥

"अत्र च—तत्तत्केलिकला-कलापकलनाः कृष्णस्य विश्लेषता-
तृष्णक्चित्ततया पुनर्व्रजमुपायातस्य वर्ण्याः कति ।
सोऽयं गोकुलबन्धु-वृन्दवलितः श्रीमान् सभा-मण्डले
गोपाऽऽखण्डल-सूनुरत्र निवसंश्चित्तं हि बध्नाति नः ॥"१३३॥

इति वाक्स्तंभं संभवन् मधुकण्ठः साञ्जलितया वाष्पपूरासञ्जनं सव्रजं कञ्जलोचनं विलोचयन् क्षणकतिपयं विलक्षणतया तस्थौ ॥१३४॥

श्रीव्रजराजस्तु नन्दितसर्वसमाजस्तं सभ्रातरं भूयश्च भूयश्च भूयः समाहूय स्व-वपुषा संभूय निज-नयनाऽमृतेनाऽभिषिषेच । तयोः सर्वतृष्णां तर्पयन् समर्पयामास च कृष्णाय स्वयं ताविति । कृतं सर्वव्रजसहितव्रजराजकृत-तत्तदगणेयदानादिगणनया ॥१३५॥

सव्रजवधू-व्रजा व्रजराजवधूरपि यां तदीयमहासुकृत-परिणामरूपां कृपामकृत, सापि कतिपयं वर्णनीया । यस्यामच्छायां निजसुतस्य च्छायावदेव तावधिगतवती ॥१३६॥

सुख तो यह है कि, इन श्रीकृष्ण ने असुरों की प्रचण्ड सेनासमूह के प्रष्ठ (आगे चलनेवाले) कंस आदि उन सब असुरों को मारकर, चिरकालीन उस अपने विरह से व्यथित चित्तवाली पिता आदि समस्त जनता भली प्रकार सुखी कर दी है। और ये श्रीकृष्ण, श्रीराधिका आदि अपनी प्रियाओं के "अभिमन्यु आदि दूसरे पति हैं" इस प्रकार कीबहिरङ्ग प्रसिद्धि से जनित दुःखों को हरण करके, उन उन की वियोगमयी पीडा को काटनेवाले होकर, तथा संसार की दृष्टि से अतीत होकर व्रज, में विराजमान हैं ॥१३२॥

और यहाँपर व्रजवासियों के वियोग से, उन से मिलने की अभिलाषावाले चित्त के भाव से, पुनः व्रज में आये हुए श्रीकृष्ण की पूर्वोक्त वे वे क्रीडासमूह की रचनाएँ कितनी वर्णन की जा सकती हैं ? श्रीमान् गोपेन्द्र (नन्द)कुमार वे ही ये श्रीकृष्ण,गोकुल के बन्धुवृन्द से सम्मिलित होकर, इस सभामण्डल में निवास करते हुए, हमारे चित को अपने प्रेम के बन्धन से बाँध रहे हैं ॥१३३॥

इस प्रकार कहता हुआ मधुकण्ठ वाणी की रुकावट को प्राप्त होकर, दोनों हाथ जोड़कर, प्रेमाश्रु-प्रवाह से युक्तहोकर व्रजवासियों के सहित कमलनयन श्रीकृष्णको देखते देखते कुछ क्षणोंतक विलक्षण भाव से जड़ की तरह चुप बैठा रहा ॥१३४॥

उस समय श्रीव्रजराज ने तो समस्त समाज को आनन्दित करके, स्निग्धकण्ठ के सहित उस मधुकण्ठ को बारबार अधिकरूप से बुलाकर, अपने शरीर से आलिङ्गन करके, अपने नेत्रजल से अभिषिक्त कर दिया। पश्चात् मधुकण्ठ स्निग्धकण्ठ नामक उन दोनों भाइयों की सारी अभिलाषा को तृप्त करके, उन दोनों को स्वयं श्रीकृष्ण के लिए समर्पण कर दिया। अतः समस्त व्रज के सहित श्रीव्रजराज के द्वारा किये गये, उन उन अगणित दान आदि की गिनती करने से कुछ प्रयोजन नहीं है ॥१३५॥

पश्चात् व्रजाङ्गनाओं के सहित व्रजेश्वरी श्रीयशोदा ने भी, उन दोनों कथावाचकों के महान् सुकृत की परिणामस्वरूप जो कृपा की थी, वह भी कितनी वर्णन की जाय ? क्योंकि व्रजेश्वरी ने जिस निर्मल कृपा में उन दोनों भाइयों को अपने पुत्र की छाया की तरह जान लिया था ॥१३६॥

अथ श्रीव्रज-वन्दिनस्तं वन्दमाना मङ्गलमाचरन्ति स्म,—

"यः श्रीमान् व्रजराजसिन्धुजविधुः स्वां कीर्ति-कान्ति किर-
न्नच्छिद्रं त्रिजगत् पुपोष नितरामास्तां व्रजान्तःकथा ।
गत्वा दूरतरं च गूढतमसां नाशाय भूयः समा-
गच्छद् बाढमसौ सदा विजयतामस्मद्दृशां गोचरे ॥"१३७॥

"अथ वन्दनम्—

श्यामपुरन्दर-धामधुरन्धर ! दुष्टविनाशन ! जुष्टविपाशन ! सम्मदसागर-जन्मदशाधर ! पूतनिभाऽऽकृति-पूतनिकामृति-तन्मृतितारक ! सत्कृतिपारक ! शाकटभञ्जनभागटदञ्जन-लोचनमर्दन -रोचननर्दन -संहितरोदन -बंहिततोदन ! गर्गकृताऽऽह्वय-वर्गभृतान्वय ! दानवमारुत-दानबलानुत ! बन्धुरसेलित-बन्धुरखेलित ! भक्षितमृत्तिक-लक्षितवृत्तिक-दर्शितविश्वक ! मर्शितरस्वक -मातृसुविस्मय -धातृशुचिस्मय !

तदनन्तर श्रीव्रज के वन्दीजन (निर्मल बुद्धिवाले एवं प्रस्ताव के सदृश कहनेवाले जन) श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए मङ्गलाचरण करने लग गये—देखो, श्रीव्रजराजरूप क्षीरसमुद्र से उत्पन्न होनेवाले श्रीकृष्ण रूप जिस चन्द्रमा ने, अपनी कीर्तिरूप कान्ति को निरन्तर फैलाते हुए, तीनों लोकों को विशेष पुष्ट कर दिया। अतः पुष्टि के विषय में व्रज के भीतर की कथा दूर रहने दीजिये। क्योंकि जो तीनों लोकों को पुष्ट करेगा,वह अपने घर का पालन पोषण नहीं करेगा क्या ? तात्पर्य—व्रज तो श्रीकृष्णचन्द्र का निजी घर है, उसकी पुष्टि स्वतःसिद्ध है। अतः हमारी तो यही प्रार्थना है कि—गुप्त-तमोगुणवाले कंस आदि दैत्यों को नष्ट करने के लिए जो अत्यन्त दूर जाकर, पुनः व्रज में चले आये हैं, वे ही श्रीकृष्ण हमारे नेत्रों के सामने सदा विशेषरूप से विराजते रहें ॥१३७॥

अब श्रीकृष्ण की स्तुति वर्णित होती है—(यह स्तुति विरुदावलीरूप है, इसमें सभी पद सम्बोधनान्त हैं) यथा—हे धीर ! वीरवर ! श्रीकृष्ण ! आप की सदा जय हो ! आप श्यामवर्ण में श्रेष्ठ तेज के भार को धारण करनेवाले हो ! दुष्टों का विनाश करनेवाले हो ! सेवकों के बन्धन काटनेवाले हो ! सज्जनों के हर्षसमुद्ररूप जन्म की अवस्था धारण करनेवाले हो ! एवं पवित्रजनों की सी आकृतिवाली पूतना की मृत्युस्वरूप होकर, उस को मृत्युरूप संसार से तारनेवाले हो ! तथा उसको अग्निदाहरूप सत्कार से पार करनेवाले हो ! एवं शकटासुर के मर्दन का सेवन करनेवाले घूमते हुए जनों के अंजनविशिष्ट नेत्रों को मूँदनेवाला शकटासुर का प्रकाशयुक्त जो शब्द था, उस शब्द के साथ माता आदि का जो रोना था, आप उस रोने की वृद्धि को व्यथित, अर्थात् दूर करनेवाले हो ! एवं गर्गाचार्य के द्वारा किये गये अपने नामों के समुदाय से अपने वंश को पुष्ट करनेवाले हो ! अथवा अपने नामों की सार्थकता धारण करनेवाले हो ! एवं दानवरूप जो मारुत,अर्थात् तृणावर्त था, उसका दान,अर्थात् उसका खण्डन (दो अवखण्डने इत्यस्य रूपम्) करने के बल से आप प्रशंसित हो ! एवं सख्यरस से प्रशंसित मनोहर क्रीडा करनेवाले हो ! एवं मृत्तिका को खानेवाले हो, तथा खाई हुई मिट्टी की विद्यमानता को देखनेवाली माता के लिए आप (अपने मुख में) विश्व को दिखानेवाले हो ! उस विश्व को देख कर अधिक विचार करनेवाली अपनी माता के सुन्दर विस्मय (आश्चर्य) को धारण करनेवाली पवित्र मुसकान-

तर्णकमोचक ! वर्णकरोचक ! शोभनचौर्यक ! लोभनशौर्यक ! मातृसमीक्षण-यातृ-सभीक्षण ! मातुरुरोजप ! जातु रुदन्नप-हृत्य हविर्द्रुत-कृत्यतयाद्भुत ! दुष्ठुभयादित ! सुष्ठुतया सित ! भिन्न-नगद्वय ! मिन्ननमन्मय ! जातविशोचित-तातविमोचित ! हर्यगकानन-वर्यगताऽऽनन ! गो-कुलसंगत-गोकुलशंगत ! वत्सवनार्दन ! वत्स-बकार्दन ! दोर्णमयात्मज ! तीर्णमहाव्रज ! सर्वजनादघ-गर्वजयाऽनघ ! कालियजिन्नटनाऽऽलियशोनट ! चारितधेनुक ! मारितधेनुक ! अस्तप्रलंबक ! शस्तकृदंबक भावमुधाभय-दावसुधाधय ! बोधनगर्धन ! गोधनवर्धन-पर्वतयाजन-पर्वतया जन-धर्मवरप्रथ ! शर्मभरग्रथ-तद्धरणीधर ! सद्धरणीधर ! धृष्टसुरेश्वर-वृष्टसुजित्वर ! कामगवीसुर-धामगठक्कुर-सिक्त ! तदादिक-निक्तमाधिक ! ॥ वीर ! ॥१३८॥

वाले हो ! एवं आप असमय में ही व्रजवासियों के छोटे छोटे बछड़ों को छोड़नेवाले हो ! एवं वर्णक (चन्दन) आप को रुचिकर है ! आपका माखनचोरी का कार्य (पीढ़ा ऊखल आदि के द्वारा) परमसुन्दर है ! एवं लुभानेवाली वस्तु की अप्राप्ति में बालकों को रुला देना ही आपकी शूरवीरता है ! एवं माता के द्वारा समीक्षण से प्राप्त भय से युक्त नेत्रोंवाले हो ! एवं आप माता के स्तनों का पान करनेवाले हो ! और कभी कभी रोते रोते माखनचोरी करके आप शीघ्रकार्यके भाव से अद्भुत हो ! अतः आप निन्दा के भय से भागने वाले हो ! तो भी माता के द्वारा भली प्रकार ऊखल में बाँधे गये हो ! उसके बाद ऊखल को अटका कर यमुलार्जुन नामक दो वृक्षों को तोड़नेवाले हो ! पश्चात् स्नेही एवं नमस्कार करनेवाले नलकूबर मणिग्रीव की तन्मयता से युक्त हो ! तुम्हारे बन्धन से जिनको विशेष शोक उत्पन्न हुआ था, उन पिता के द्वारा तुम ऊखल के बन्धन से विमुक्त किये गये हो ! उसके बाद हरेभरे वृक्षों से युक्त एवं गोवर्धन से युक्त वनश्रेष्ठ श्रीवृन्दावन की ओर मुख करनेवाले हो ! एवं गोवृन्द से युक्त गोकुल (व्रज) के मङ्गल को प्राप्त करनेवाले हो ! उसके बाद बछड़ाओं को (चराने के लिए) वन में ले जानेवाले हो ! एवं वहींपर वत्सासुर तथा बकासुर को पीडित करनेवाले हो ! एवं मयदानव के पुत्र व्योमासुर को विदीर्ण करनेवाले हो ! अतः महाव्रज का निस्तार करनेवाले हो ! पश्चात् सभीजनों को खानेवाले अघासुर के गर्व को जीतनेवाले हो ! अतः हे अनघ ! प्रभो ! कालियनाग को जीतनेवाली जो नृत्यश्रेणी है, उसके द्वारा मानो आप अपने यश को ही नचानेवाले हो ! पश्चात् धेनुओं को चरानेवाले हो ! धेनुकासुर को मारनेवाले हो ! बलदेव के द्वारा प्रलम्बासुर को अस्त करनेवाले हो ! अतः कल्याणकारी नेत्रोंवाले हो ! एवं जिस में भावनामात्र से भय व्यर्थ हो गया था, उस दावानल को अपने प्रभाव से सुधा की तरह पान करनेवाले हो ! पश्चात् इन्द्र की पूजा में लगे हुए व्रजवासियों को समझाने की आकांक्षावाले हो ! अतः श्रीगोवर्धनपर्वत के पूजनरूप पर्व के रूप से जनमात्र के श्रेष्ठ धर्म को प्रसिद्ध करनेवाले हो ! अतः अतिशय सुख को ग्रथित करनेवाल गोवर्धन को धारण करनेवाले हो ! अतएव श्रेष्ठ धरणीधर (शेष) कहलाते हो ! पश्चात् व्रज के ऊपर कुपित हुए धृष्ट इन्द्र के द्वारा की गई वर्षा को भली प्रकार जीतनेवाले हो ! अतः भयभीत कामधेनु एवं सुरलोक में रहनेवाले ठक्कुर (पूज्य) इन्द्र के द्वारा, आप अभिषिक्त होनेवाले हो ! अतः कामधेनु आदि जो विशेष शुद्ध हैं, हे वीर ! आप उनसे भी अधिक पावन हो ! आपकी सदा जय जयकार हो, प्रभो ! ॥१३८॥

स एष कृष्ण ! संप्रति त्वमत्र गोपतिं प्रति, प्रशस्तमङ्कमाश्रितः सलोभचेतसाऽऽर्द्रितः ।
भवन्तमेनमीक्षितुं निमेर्जयाय शिक्षितुं, मनस्तु वष्टि योगितां न यद् भजेद् वियोगिताम् ॥१३९

"अपि च—पैत्रविमोषक -जैत्रविदोषक -पाशिभयभ्रम -नाशिजयक्रम !
संततगो-कुल-संततगोकुल-दर्शनया युत ! दर्शन-संस्तुत !
नागसुदर्शनभागसुदर्शन ! रत्ननिपातन-यत्ननिघातन-
तक्षितयक्षक रक्षितपक्षक ! तर्जदरिष्टद -गर्जदरिष्टद !
वेशितसद्भुत-केशितनूरुज ! कंसकमारण-शंसककारण-
सङ्गत - तत्पुर ! रङ्गततः पुर एव वपुर्हर ! देववदंबर !
सद्वरवायक-सद्वरदायक ! मालिसुदामक-पालिसुधामक !
कुब्जिवपुःसुदृगुब्जितताद‌धृगङ्ग ! तदर्पितसङ्गतकल्पित-
चन्दनभूषित वन्दनतूषित ! पृष्टमख-स्थल सृष्टमहाबल-
खण्डितचापक ! दण्डितशापक ! सङ्गपरादिम ! रङ्गपदाग्रिम-

हे श्रीकृष्ण ! वे ही तुम अब इस गोलोक में श्रीव्रजराज के सामने उनकी मङ्गलमयी गोदी में बैठ कर, व्रजवास के लोभ से युक्त चित्त से स्निग्ध हो रहे हो । इस प्रकार के आपको देखने के लिए निमेष-प्रवर्तक निमि के जीतने को सीखने के लिए हमारा मन तो आपके संयोग को चाहता रहता है, जिस से कि, वियोग को न प्राप्त हो सके ॥१३९॥

राजसभा में वस्त्रहरण एवं रासलीला का वर्णन करना उचित नहीं है, अतः उनको छोड़कर क्रमशः प्राप्त दूसरी लीलाओं की विरुदावली कहते हैं । यहाँ भी, हे वीर तुम्हारी जय हो ! यह सम्बन्ध कर लेना चाहिये । आधी रात में यमुना में स्नान करते समय तुम्हारे पिता श्रीनन्दजी को चुरानेवाले विजयशील अपने दूतों को फटकारनेवाला जो वरुण है, तुम तो उसके भयजनित भ्रमको विनष्ट करनेवाले जयके क्रमवाले हो ! एवं जिसमें सन्ततगोकुल (विस्तृत किरणों का समूह) विद्यमान है, उस सन्ततगोकुल (नित्य गोकुल-धाम) के दर्शन कराने से युक्त हो, अर्थात् व्रजवासियों को ब्रह्मह्रद में उसका दर्शन करानेवाले हो ! अतः तुम अनेक शास्त्रों द्वारा प्रशंसित हो ! एवं सर्पवेषधारी सुदर्शन नामक गन्धर्व को उस के भाग्य से सुन्दर दर्शन देनेवाले हो ! एवं शंखचूड़ नामक यक्ष के मस्तक के रत्न को गिराने के लिए यत्नपूर्वक वृक्ष के द्वारा ताड़ने से उस यक्ष को छिन्नभिन्न करनेवाले हो ! अतः अपने व्रजाङ्गनारूप पक्ष की रक्षा करनेवाले हो ! एवं फटकार लगाते हुए अशुभ देनेवाला तथा गर्जना करनेवाला जो अरिष्टासुर है, उसको आप खण्डित करनेवाले हो ! मुख में प्रविष्ट कराई हुई सुन्दर भुजा के द्वारा केशीदैत्य के शरीर को तोड़नेवाले हो ! एवं निन्दित कंस के मारने की सूचना करनेवाले श्रीनारद व अक्रूर के कारण उस मथुरापुरी में जानेवाले हो ! और वहाँपर पहले आगे आनेवाले रङ्गततः (रङ्गं तनोतीति रङ्गतत् तस्य), अर्थात् रंग करनेवाले रंगरेजा के शरीर को हरनेवाले हो ! अतः उस से वस्त्रों को छीन कर देवताओं के समान वस्त्रवाले हो ! पश्चात् उन्हीं वस्त्रों से तुम्हारा वेष बनानेवाला सज्जनों में श्रेष्ठ जो दर्जी था, उसको तुम चतुर्भुजत्वादिरूप श्रेष्ठ वर देनेवाले हो ! उसके बाद सुदामा नामक माली की सुन्दर सुन्दर मालाओं की श्रेणी के द्वारा सुन्दर शरीरवाले हो गये हो ! पश्चात् कुबड़े शरीरवाली स्त्री, जो कुब्जा नाम से प्रसिद्ध थी उस के शरीर की उब्जितता (सरलता), अर्थात् सीधेपन को धारण करनेवाले हो ! अर्थात् उसको सीधी करनेवाले हो ! पश्चात् हे अङ्ग ! प्रिय प्रभो ! उसी कुब्जा के द्वारा समर्पित मनोहरतापूर्वक रचित चन्दन के

हस्तिपदारक ! हस्तिपमारक ! अंसग-दन्तक ! कंससदन्तक-मल्लजनक्रथ-तल्लज ! मुत्प्रथ ! मारितकंसक ! तारितशंसक ! प्राज्यदयाहुक ! राज्यदयाहुक-जङ्गत -यादव-सङ्गत-माधव-युक्ततयासजदुक्तचयाद्व्रज-यापिततातक ! धापितशातक-तन्निजताप्रथ ! सद्द्विजताव्रत ! गौरवभूमत-गौरवभूगत ! शास्त्रकथाश्रित ! शास्त्रकलाश्रित ! पञ्चजनाद्दर-सञ्चयसुन्दर ! धर्मनृपार्चित-शर्मकृपाश्रित ! कालवशं गुरु-बाल-वपुः पुरु दक्षिणयन्नथ दक्षिणसत्पथ ! सद्मसमागत ! पद्मसमायत-लोचनबन्धुर ! रोचनशन्धुर ! संस्मृतगोव्रज ! संभृतशुग्व्रज ! तत्प्रहितोद्धव ! तत्प्रहितोद्धव ! तच्छ्रुतशान्तिक ! संप्लुतकान्तिक ! दूतगमागम-सूतशमाशम ! मागधयोधन-सावधरोधन ! ॥ वीर ! ॥१४०॥

द्वारा लिप्त हुए हो ! एवं उसकी वन्दना से सन्तुष्ट भी हुए हो ! पश्चात् धनुष् यज्ञ के स्थल को पूछनेवाले हो ! वहाँपर प्रगट किये महान् बल के द्वारा धनुष् को खण्डित करनेवाले हो ! तत्काल तुमको गाली देने-वाले कंस के सेवकों को दण्ड देनेवाले हो ! तुम्हारे सङ्गपरायण मित्रोंके तुम अग्रगण्य हो ! एवं रङ्गस्थल के अग्रिम व हाथियों के प्रधान कुवलयापीड हाथी को विदीण करनेवाले हो ! उसके पीलवान को भी मारने वाले हो ! उस समय कन्धेपर स्थित हाथी के दाँतवाले हो ! एवं साधुओं को मारनेवाले कंस के मल्लजनों को मारनेवालों में आप श्रेष्ठ हो ! तथा प्रसन्नता को प्रसिद्ध करनेवाले हो ! अतः कंस को मारनेवाले हो ! अपनी स्तुति करनेवालों को संसार से तारनेवाले हो ! उग्रसेन के ऊपर तुम्हारी बहुत दया है ! पुनः आपकी कृपा से प्राप्तहुए राज्य के ऊपर दया करनेवाले उग्रसेन के द्वारा "कंस की कुटिलता से इधर उधर गये हुए" जो यादव मथुरा में बुलाये गये, उन्हीं यादवों से सम्मिलित जो मधुवंशी थे, उनसे युक्त होकर, आप संगत वचनसमूह के द्वारा, अपने पिता श्रीनन्दजी को व्रज में पहुँचानेवाले हो ! और सुख को धारण करनेवाली श्रीनन्दजी की निजता की ख्याति करनेवाले हो ! अथवा जिनके सुख को पुष्ट किया था उन देवकी वसुदेव नामक माता पिता की निजता, अर्थात् पुत्रभाव का विस्तार करनेवाले हो ! पश्चात् गर्गाचार्य के द्वारा आप श्रेष्ठ द्विजता (उपनयन संस्कार) रूप व्रत को प्राप्त हुए हो ! उसके बाद आदर से उत्पन्न मत के द्वारा गुरुदेव की भूमि (अवन्तिकापुरी) को प्राप्त करनेवाले हो ! वहाँपर सब शास्त्रों की कथा से पूजित हुए हो ! तथा सकल शास्त्र एवं चौंसठ कलाएँ प्राप्त करने वाले हो ! पश्चात् पञ्चजन नामक दैत्य को मार कर उसके द्वारा प्राप्त हुए शंख के संग्रह से सुन्दर ! प्रभो ! तुम्हारी जय हो ! धर्मराज यम के द्वारा पूजित होकर सुखमयी कृपा से युक्त होनेवाले हो ! पश्चात् कालके वशीभूत, गुरुदेव के बालक के शरीर को अधिक दक्षिणा के रूपसे देते हुए दक्षिण (उदार) सन्मार्ग का उद्घाटन करनेवाले हो ! उसके बाद अपने मथुरारूप भवन में आनेवाले हो ! तथा कमल के समान विशाल नेत्रों से सुन्दर हो ! एवं प्रदीप्त कल्याण को धारण करनेवाले हो ! गुरुगृह से आते ही गो-व्रज का स्मरण करनेवाले हो ! अतः शोकसमूह को धारण करनेवाले हो ! इसीलिए व्रज में उद्धवजी को भेजनेवाले हो ! क्योंकि उस व्रज के प्रकृष्ट हित से ही उत्सव माननेवाले हो ! पश्चात् उद्धव के द्वारा व्रज के समाचार सुनने से शान्तियुक्त हो ! अतः व्याप्त शोभावाले हो ! पश्चात् व्रज से मथुरा में एवं मथुरा से व्रज में दूतों के जाने आने से शान्ति एवं अशान्ति को प्रगट करनेवाले हो ! एवं जरासन्ध के साथ होनेवाले युद्ध में उसके वध के अभाव के सहित रुकावट करनेवाले हो ! अतः हे वीर ! तुम्हारी जय हो ! ॥१४०॥

अहो स एष भो भवन् ! व्रजेश-गोचरे भवन्, निजां कथां परामृशन् सुखायसे ह्रियं स्पृशन् ।
तदाऽस्मदीयमन्तरं मदेन माद्यदन्तरं, न चान्यदन्यदीहते कृपेदृशी यदीहते ॥१४१॥

''अपि च—राजपयाचित-राजपदार्चित ! सप्तदशाहव-तप्तदशाद्रव-
दन्धजरासुत-बन्धजयाऽऽनुत ! यावनराड्भय-भावनतामय-
विद्रवपण्डित ! विश्रवमण्डित-भस्मितकालक ! सस्मितभालक !
अङ्ग जरासुत-रङ्गजवद्रुत ! अब्धिपुरीचिर-लब्धिपुनःस्थिर !
भीष्मकजाहृति-भीष्मकलाकृति-सन्दितदुर्जन ! नन्दितपूर्जन !
सत्यतयाजित-सत्य ! तथा हित-जांबवदीडित ! जांबवतीश्रित !
हेलिसुतावर ! केलिसुधाकर ! उज्जयनीजनुरुज्जयनादनु-
भद्रितयाभृत-भद्रिकयावृत ! सप्तोक्षण-जय-नाग्नजितीप्रिय !
आयितभाद्रिक ! जायितमाद्रिक ! भूमिजकालक ! भूमिजपालक !
अन्यसुताऽमर-धन्यसुताकर-पीडनसज्जित ! पीडनवर्जित !

अहह ! हे भगवन् ! वे ही तुम हमारे श्याम ! श्रीव्रजराज के नेत्रगोचर होकर, अपनी कथापर विचार करते हुए, लज्जा को प्राप्त होते हुए सुखी हो रहे हो ! यदि आपकी ऐसी अहैतुकी कृपा चेष्टा कर रही है, तब तो हमारा अन्तःकरण हर्ष से भीतर ही भीतर मदमस्त होता हुआ, आपके सिवाय दूसरी दूसरी किसी वस्तु को इच्छा नहीं करता है ॥१४१॥

अपि च अन्य राजाओं की रक्षा करनेवाले भक्तराज क्रथ कैशिक के द्वारा प्रार्थित होकर, इन्द्रादि देवताओं के द्वारा राजसिंहासनपर पूजित होनेवाले हो ! एवं सत्तरहबार होनेवाले युद्ध में सन्तप्त दशा से आनेवाला अज्ञान से अन्धा जो जरासन्ध था, उसके बाँधने से प्राप्त हुई जो विजय, आप उस विजय से चारों ओर प्रशंसित हो ! पश्चात् कालयवन से भय की भावना के भावमय भागने में पूरे पण्डित हो ! एवं यश से विभूषित श्रीमुचुकुन्द राजा के द्वारा कालयवन को भस्मीभूत करानेवाले हो ! उसी समय मन्दहास की छबि से युक्त होनेवाले हो ! अङ्ग (पुनः) जरासन्ध के निकट से रङ्ग, अर्थात् कौतुक से वेगपूर्वक भागनेवाले हो ! पश्चात् समुद्र में स्थित द्वारकापुरी की बहुत दिन में प्राप्ति से पुनः स्थिर होनेवाले हो ! पश्चात् रुक्मिणी के हरण में भयंकर युद्धरूप कला को करके दुर्जनों को अच्छी तरह खण्डित करनेवाले हो ! अथवा दुर्जन रुक्मी को बाँधनेवाले हो ! रुक्मिणी हरण के द्वारा अपनी पुरी के जनों को आनन्दित करनेवाले हो ! पश्चात् सत्यतापूर्वक सत्यभामा को जीतनेवाले हो ! तथा उसी प्रसङ्ग में हितैषी जाम्बवान् के द्वारा प्रशंसित हो ! एवं जाम्बवती के द्वारा पतिरूप से सेवित हो ! पश्चात् सूर्यपुत्री कालिन्दी के वर होनेवाले हो ! अतः क्रीडा करने में चन्द्रस्वरूप हो ! एवं जिनका जन्म उज्जयिनीपुरी में हुआ था, उन विन्द अनुविन्द नामक दोनों भाइयों को जीतकर, मित्रविन्दा को प्राप्त करनेवाले हो ! पश्चात् मङ्गल की पूर्णता से भरी हुई भद्रा के द्वारा वरे गये हो ! पश्चात् सातबैलों की विजय से नाग्नजिती (सत्या) के प्रिय बने हो ! अतः माङ्गलिक कार्य को प्राप्त करानेवाले हो ! अतः मद्रराज की पुत्री लक्ष्मणा को पत्नी बनानेवाले हो ! एवं भूमिपुत्र नरकासुर को मारनेवाले हो ! तो भी भूमिपर उत्पन्न जनमात्र की रक्षा करनेवाले हो ! पश्चात् दूसरे राजाओं को एवं देवताओं की सौभाग्यवती जो सोलह हजार कन्याएँ थीं, उनके पाणिग्रहण

निर्जरपादप-निर्जरपादप-हारजगन्मद ! सारजयह्रद !
शंबरदारण-डंबरकारण ! शङ्करमोहन ! शङ्करणोहन !
बाणकरायुत-दानकलायुत ! पण्डितपुण्ड्रक ! दण्डितपुण्ड्रक !
काशिपचक्रक-नाशिकचक्रक ! कौरवभूगत-पौरवसङ्गत !
नन्दनृपादिक-नन्दकृपाधिक ! गर्भकषट्तय-दर्भकनिर्भय !
बल्यतुलाश्रित ! बल्यकुलार्चित ! चैद्यमहागद-वैद्यमताऽगद !
सौभविलापक ! कौ भविकापक ! रागतमात् पुरमागत ! माथुर-
मत्र च नारदमन्त्रचयाऽऽदद ! कुल्यमतङ्गज-तुल्यकरूषज-
पञ्चमुखप्लुत ! पञ्चमुखस्तुत ! वन्द्यपुनर्व्रजनन्द्यपुनर्व्रज-
नाऽऽगतिसम्मदभागतिशर्मद ! दातकुविक्रिय ! तातकुल-प्रिय !
शर्मतुलाधृत-कर्मकुलाऽऽवृत ! ॥ वीर ! ॥१४२॥

करने में सुसज्जित हो ! अतः उन विवाहों में दूसरे के द्वारा दी गई पीडा से वर्जित हो ! पश्चात् निर्जर-पादपस्य (कल्पवृक्ष का) निर्जरपाद् (इन्द्र से) जो अपहरण करना था, उसके द्वारा संसार को हर्ष देनेवाले हो ! अतः आप सार (बल) एवं विजय के तो ह्रद (अगाध सरोवर) ही हो ! एव शम्बरासुर को विदीर्ण करनेवाले प्रद्युम्न के डम्बर (आडम्बर) के मूलकारण तुम्हीं हो ! एवं बाणासुर के युद्ध में शंकरजी का जम्भणास्त्र से मोहित करनेवाले हो ! अतः कल्याण करने के ही विचारवाले हो ! एवं बाणासुर की हजार भुजाओं के दान (खण्डन) करने की कला से युक्त हो ! अतः पण्डितों के तिलक हो ! उसके बाद बनावटी पौण्ड्रकवासुदेव को दण्ड देनेवाले हो ! काशीराज की सेना का विनाश करनेवाला जो सुदर्शनचक्र है, वह तुम्हारा ही है ! पश्चात् सूर्यग्रहण के समय कुरुक्षेत्र में उपस्थित पुरुवंशियों से सम्मिलित होनेवाले हो ! एवं श्रीनन्द व युधिष्ठिर आदि राजाओंपर तुम्हारा हर्ष एवं कृपा अधिक है ! पश्चात् देवकी के छः पुत्रों को मिलानेवाले निर्भय तुम्हीं हो ! एवं सुतल में बलि के द्वारा अनुपमरूप से पूजित हो ! तथा युधिष्ठिर के यज्ञ में बल के योग्य कुल से पूजित होनेवाले तुम्हीं हो ! एवं शिशुपाल की असुरतारूप महारोग के लिए वैद्यजन सम्मत औषधिस्वरूप तुम्हीं हो ! अर्थात् उसकी असुरता को दूर करनेवाले हो ! शाल्व के सौभ नामक अभेद्यविमान को विनष्ट करनेवाले तुम्हीं हो ! अतः कौ (पृथ्वी) में कल्याण प्राप्त करानेवाले हो ! तथा दन्तवक्र के ऊपर जो अधिक राग (मात्सर्य), एवं व्रजवासियों के ऊपर जो अधिक राग (अनुराग) था, उसी के कारण तुम मथुरापुरी में आनेवाले हो ! और इसी मथुरा में श्रीनारदजी के विचारसमूह को अङ्गीकार करनेवाले हो ! एवं श्रेष्ठ हाथी के समान बलशाली दन्तवक्र के ऊपर सिंह के समान आक्रमण करनेवाले हो ! अतः पंचमुख (शिवजी) के द्वारा प्रशंसित हो ! एवं "वन्द्या या पुनर्व्रजनन्दिनी अपुनर्व्रजना आगतिस्तस्यां सम्मदभाक्" अर्थात् प्रशंसनीय जो पुनः व्रज को आनन्दित करनेवाला, एवं पुनः व्रज से लौटकर जाने से रहित जो तुम्हारा आगमन हुआ, उसमें हर्ष का सेवन करनेवाले तुम्हीं हो ! अतः व्रजवासीमात्र को अत्यन्त सुख देनेवाले हो ! "दाता-खण्डिता, व्रजत्यागरूपा कुविक्रिया-कुत्सितविकारो येन" अर्थात् पुनः व्रजत्यागरूप कुत्सित विकार को खण्डित करनेवाले हो ! अतः पितृकुल के लिए प्रिय हो ! और सुखरूप तुला (तराजू) में तौले गये कर्मकुल से आवृत हो ! अतः हे धीर ! वरवीर ! तुम्हारी सदा जय हो ! ॥१४२॥

व्रजेशदृष्टिवश्यतां यता त्वया च दृश्यतां, निरिङ्गतां गतोऽप्यसि त्वमत्र नापि तृप्यसि ।
कथं वयं तवेदृशं सुखं स्तवाम ये भृशं, निरुद्धकण्ठताततः स्फुटं समूकता-मताः ॥१४३॥

"अपि च—तातजनन्यप-यातपथिग्लपनाथ समस्तकनाथ ! सशस्तक-
मित्ररतिह्रद-चित्रगतिप्रद ! उद्वहनाऽऽगममुद्वहनाऽसम !
लक्षविवाहक ! पक्षविगाहक ! उल्लसदन्तर-फुल्लदनन्तर-
लज्जनमज्जक ! सज्जनसज्जक ! पूर्ववनं पर-पूर्वमनःपर-
मागत ! तत्कृतरागतयाऽऽवृत ! सद्व्रजरञ्जक ! सद्व्रजसञ्जक !
अच्छवनाऽचल-कच्छगणाऽचल ! शीलकुलाऽऽकुललील ! तुलाऽतुल !
तातजनन्यनुयातकुलान्यनु शान्तिदशर्मद ! कान्तिदनर्मद !
इन्द्रमणिद्युषदिन्द्रमहोजुष ! तुण्डलसत्तम-कुण्डलसत्तम !
शुभ्रतरस्मित-शुभ्रकरश्रित ! रोचनखञ्जन-लोचनरञ्जन !
सुन्दरनासिक ! कुन्दरदाधिक ! यत्नवसत्कल-रत्नलसद्गल !

हे वीर ! श्रीव्रजराज की दृष्टि की पराधीनता को प्राप्त होनेवाले तुम ही देख लीजिये कि, तुम यहाँ-पर निश्चलता को प्राप्त हो गये हो, तो भी तृप्त नहीं हो रहे हो। अत: हम सब व्रजवास से उत्पन्न हुए तुम्हारे इस प्रकार के सुख की किस प्रकार स्तुति कर सकते हैं ? क्योंकि जो हम सब वन्दीजन रुके हुए कण्ठ के भाव से व्याप्त होकर, स्पष्ट ही गूँगेपन के सहित ज्ञात हो रहे हैं ।।१४३।।

और सुनिये ! देखो, हे वीर ! माता पिता ने तुम्हारे मार्ग के कष्ट को दूर किया है ! तुम सभी के द्वारा प्रार्थित हो ! एवं मङ्गल से युक्त मित्रों की प्रीतिरूप अगाध सरोवर में स्तम्भ स्वेद आदि अष्ट सात्त्विकभावरूप विचित्र गति को देनेवाले हो ! एवं श्रीराधा आदि गोपियों के साथ अपने विवाह के आगमन में हर्ष धारण करने में अतुलनीय हो ! पश्चात लाखों विवाह करनेवाले हो ! अत: अपने पक्षवाले प्रियजनों में विचरण करनेवाले हो ! एवं उल्लसित अन्त:करण में तत्काल बाहर प्रफुल्लित लज्जा में निमग्न होनेवाले हो ! सज्जनों का सम्मेलन करानेवाले हो ! एवं पहला जो श्रीवृन्दावन (गोरई नामक ग्राम से यमुना के दक्षिणपार स्थित) है, वह "पर-पूर्वमन:परं–परेषां पूर्वेषां च जनानां मनस:परं मनोऽगोचरम्"आगे होनेवाले एवं पहले होनेवाले सभी जनों के मन के अगोचर है। उस वन में आप व्रजवासियों के सहित गोरई गाँव से आनेवाले हो ! उस वृन्दावन में किये हुए अनुराग के भाव से आप आच्छादित हो ! अत: श्रेष्ठ व्रज को अनुरञ्जित करनेवाले हो ! एवं सज्जन वृन्द को अपने में संलग्न करनेवाले हो ! एवं निर्मल वृन्दावन तथा गोवर्धन के किनारे अपने व्रजवासीगण के सहित स्थिर रहनेवाले हो ! एवं ब्रह्मण्यता, साधुता, परोपकारिता, मृदुता, अनसूयुता, प्रियवादिता, कृतज्ञता, शरणागत-वत्सलता, दयार्द्रता आदि तेरह प्रकार के शीलसमुदाय से व्याप्त लीलावाले हो ! एवं तुला के द्वारा अतुल हो, अर्थात् सर्वथा अनुपमेय हो ! पिता माता के अनुगत जो कुल हैं, उनको लक्ष्य करके शान्तिप्रद सुख को देनेवाले हो ! एवं शोभादायक क्रीडा-मन्त्री हो ! "इन्द्रमणीनां ये द्युषदिन्द्रा दिव्येन्द्रास्तेषां तेजोयुक्त !" अर्थात् इन्द्रनीलमणियों के जो अधिष्ठातृ दिव्यइन्द्र हैं, आप उनके तेज से युक्त हो ! एवं अपने मुखपर अत्यन्त दीप्तिवाले कुण्डलों के द्वारा आप विशेष शोभायमान हो ! एवं अत्यन्त शुक्ल मन्दहास्यरूप चन्द्रमा से सेवित हो ! शोभायमान खञ्जन के से नेत्रों द्वारा सभी को अनुरागयुक्त करनेवाले हो ! सुन्दर नासिकावाले हो ! एवं

अङ्गदकङ्कण-सङ्गसदङ्कन ! हारिहृदन्तर ! हारिहृदन्तर !
तुन्दरमालय -सुन्दरतामय -नाभिसरोवरताभिमनोहर !
चीनपटीवृत-पीनकटीभृत ! सक्थिगताऽक्लम-शक्तिगणाऽसम !
जानुयुगासित-भानुतयाचित ! चित्रदझंकृति-चित्रदलंकृति-
लोभितषट्पद-शोभिनटत्पद ! गोगणबालक-गोगणपालक !
मन्द्रकवेणुक ! चन्द्रकरेणुक ! वेत्रगहस्तक ! नेत्रगशस्तक !
मित्ररुचिस्मृत-चित्ररुचिस्तृत ! केलिकलाहस-केलिसलालस !
सन्नत-वत्सल ! सन्नतवत्सल ! सौहृददक्षक ! सौहृदरक्षक !
सज्जनिताधन-तद्वनिताधन ! नित्यनवं सुखमित्यलमुन्मुख-
माश्रिततापरमार्द्रितमाचर ! गोपसदन्वय-गोपसमन्वय !
कृष्ण ! सदाशयतृष्ण ! सदा जय ॥ धीर ! ॥१४४॥

कुन्द की कलियों के समान दाँतों द्वारा आप अधिक अर्थात् अलौकिक हो ! "यत्नेन वसन्ती कला यत्र" अर्थात् जिनमें यत्नपूर्वक निवास करनेवाली कलाएँ विद्यमान हैं, उन कौस्तुभ आदि मणियों द्वारा तुम्हारा गला शोभायमान है ! बाजूबन्द एवं कङ्कणों के सङ्ग से श्रेष्ठ लक्षणोंवाले हो ! आपके वक्षःस्थल का मध्य भाग हारों से युक्त है ! अतः आपका हृदन्तर, अर्थात् आन्तरिक भाव भी मनोहर है ! एवं तुम्हारे उदर में लक्ष्मी का निवासस्थानरूप जो कमल है, उसकी सुन्दरता से परिपूर्ण जो नाभिरूप सरोवर है, उसके भाव से सब ओर से मनोहर हो ! चीनदेशीय रेशमीवस्त्र से ढके हुए स्थूल कटितट से परिपूर्ण हो ! एवं तुम्हारी जंघाओं में विद्यमान ग्लानिरहित जो शक्तिसमूह है, उसमें तुम्हारे समान कोई नहीं है ! एवं दोनों जानुओं की श्यामवर्ण की किरणों के भाव से व्याप्त हो ! एवं आश्चर्यप्रद झङ्कार से युक्त चित्र का सा आचरण करनेवाले अलङ्कारों के द्वारा भ्रमरों को लुब्ध करनेवाले, अतः सुशोभित नटों का सा आचरण करनेवाले दोनों चरणों से युक्त हो ! तथा गोगण-बालक, अर्थात् गैयाओं के बछड़े, अथवा "गोगणानां गोसंख्यानाम्, अर्थात् गोपानां ये बालकास्तेषां गोगणानां च पालक—रक्षक !" गोपों के जो बालक हैं, उन के एवं गोसमूह के तुम्हीं तो रक्षक हो ! गंभीर शब्द करनेवाली वंशीवाले हो ! तुम्हारे मयूरपुच्छ की चन्द्रिका के ऊपर व्रजरज विराजमान है ! तुम्हारा कर लकुट से युक्त है ! तुम नेत्रगोचर जन का कल्याण करनेवाले हो ! अथवा तुम्हारे पीतांबर में भी कल्याण विद्यमान है ! "मित्रैः रुचिभिः स्मृता चित्रा आश्चर्ययुक्ता या रुचिः कान्तिस्तया स्तृत आच्छन्न !" अर्थात् मित्रों के द्वारा स्मरण की गई आश्चर्यमयी जो कान्ति है, तुम उस कान्ति से व्याप्त हो ! एवं परिहासकला से युक्त हास्यक्रीडा में लालसा से युक्त हो ! "सन्नताः विनम्राः एव वत्सलाः स्निग्धाः स्नेहकर्तारो यस्मिन्" अर्थात् विनम्र जन ही तुम में स्नेह करनेवाले हैं ! "सन्नतेषु वत्सं वक्षो लाति ददातीति वत्सलः" तुम विनम्र भक्तों के प्रति अपना वक्षःस्थल देनेवाले हो! तुम मित्रता करने में निपुण हो ! मित्रों के समूह की रक्षा करनेवाले हो ! "सज्जन्मतया विख्यातानां वनितानां धनरूप !" श्रेष्ठ जन्म के भाव से प्रसिद्ध श्रीराधिका आदि व्रजांगनाओं के तो आप धनरूप हो ! "भवत्सम्बन्धी सुख नित्य नवीन है" इस कारण तुम्हारी ओर विशेष उन्मुख एवं तुम्हारे आश्रय में तत्पर जन को स्निग्ध करनेवाले हो ! "गोपानां सदन्वयं गोपायति यस्तादृक्समन्वयो मिलनं यस्य" आपका जो सम्मिलन है, वह गोपों के श्रेष्ठ वंश की रक्षा करनेवाला है ! अतः हे कृष्ण ! तुम श्रेष्ठ चित्तवाले या श्रेष्ठ अभिप्रायवाले जनों में लालसा रखनेवाले हो ! हे धीर ! तुम्हारी सदा जय हो ! ॥१४४॥

निजं पदं व्रजाऽभिधं समित्य नित्यमुद्धिधं, प्रियैर्जनैर्विराजसे परं कियत् कृपायसे ।
न भावमावृणीमहे न यत् पृथग् वृणीमहे, तदन्यदुद्धुनीमहे मनस्ततः पुनीमहे ॥१४५॥

भृत्यान् पालय वत्सलान् प्रमदय क्रीडासहायानव
प्राण ! प्राणसमाः पराश्च जनताः संरक्ष रक्षामणे ! ।
तच्च श्रीव्रजवन्यधन्यविहृतिप्राचुर्यतः सिध्यति
त्वां तत् कृष्ण ! सदैन्यकाकु वृणुमस्तन्नित्यमाविष्कुरु ॥"१४६॥

अथ तस्यामेव निर्बहिरङ्गजनायां रजनावसौ मधुकण्ठः कंसजिदुपकण्ठस्थितराधा-सदसि कथां प्रथयामास,—

"यदा कृष्णापारादनयत हरिर्गोकुल-जनं, पदं गोलोकाख्यं निभृतमिह वृन्दावन-भुवि ।
तदा यद्यत् पूर्वं विविधमनुभूतं स्थलजलं, तदेवाऽपूर्वं सत् स्फुटमकलि तस्मिन् निखिलकैः ॥

"यथा च गोलोकदेशे विमानेन प्रवेशे श्रीराधिकादिकाः संभ्रमादधिकाऽनवधाना जाता इति तासां भ्रमापनयनाय क्रमाद्दर्शितं कलितसुखजन्यां तस्यां रजन्यां निगूढतानिरूढपुनर्लीला-सतृष्णेन श्रीकृष्णेन ॥१४८॥

हे प्रभो ! तुम नित्य हर्ष देनेवाले व्रज नामक अपने स्थानपर आ कर, अपने प्रिय व्रजवासीजनों के साथ विराजमान हो ! इससे परे और कितनी कृपा करोगे ? देखो, हम अपने भाव को नहीं छिपा रहे हैं, क्योंकि आपके व्रज में विराजने के सिवाय अन्य कुछ भी वर नहीं चाहते हैं । अतः तुम्हारी व्रजलीला से भिन्न वस्तु को तो हम दूर से ही फेंक देते हैं । इसी भाव से अपने मन को पावन बना रहे हैं ॥१४५॥

हे रक्षामणे ! हमारी तो आप से यही प्रार्थना है कि—तुम सेवकों की रक्षा करो ! वात्सल्य भाव-वाले माता पिता आदि को हर्षित करो ! क्रीडा के सहायक श्रीदामा आदि सखाओं की भी रक्षा करो ! हे प्राणप्यारे श्याम ! देखो, प्राणों के समान प्रिय श्रीराधिका आदि गोपियों की, एवं उन से भिन्न सर्वसाधारण व्रजवासी जनता की भी तुम रक्षा करो ! वह पूर्वोक्त सब जनों की रक्षारूप कार्य भी, शोभा-सम्पन्न व्रज के वनसमूहों में सौभाग्यशाली विहार की अधिकता से ही सिद्ध होगा । इसलिए हे कृष्ण ! हम तो तुम से दीनता एवं कातरता के सहित यही वरदान माँगते हैं कि, तुम उस विहार को नित्य प्रकट कर दो ॥१४६॥

तदनन्तर बहिरङ्ग जनों से रहित उसी रात्रि में वह मधुकण्ठ, श्रीकृष्ण के निकटस्थित श्रीराधिका रानी की सभा में कथा विख्यात करने लग गया—देखो, श्रीकृष्ण यमुनाजी के पार से गोकुलवासी जनों को इस वृन्दावन की भूमि में गुप्तरूप से विद्यमान श्रीगोलोक नामक स्थान में जब लिवा ले गये, तब पहले अनेक प्रकार के जिस जिस स्थल, एवं जल का अनुभव किया था, वह पूर्वानुभूत स्थल जल ही सब व्रजवासियों ने उस गोलोक में स्पष्ट ही अपूर्व रूप से विद्यमान देखा ॥१४७॥

यथा—विमान के द्वारा श्रीगोलोकधाम में प्रवेश हो जानेपर, श्रीराधिका आदि गोपियाँ शीघ्रता के कारण जब अधिक असावधान हो गई तब उनके भ्रम को दूर करने के लिए, सुख की उत्पत्ति से युक्त उसी रात्रि में, विशेष गुप्तरूप से पुनः उत्पन्न होनेवाली लीला में तृष्णा रखनेवाले श्रीकृष्ण ने, वह गोलोक क्रमशः दिखा दिया ॥१४८॥

"एतद्गोकुलरूपरत्नकमलं विभ्राजते यत्र च
श्रीमत्तात-पुरं विभाति यदवाग् वः शुभ्रमन्तःपुरम् ।
एतस्मिन् किल यत्र मद्वररमा यूयं मया क्रीडितं
कुर्वत्यो भवितास्थ नो ह विषयाः कस्यापि कस्यापि च ॥१४९॥

अस्मिंश्चित्रमिषेण भान्ति विभवा वृन्दावनस्थाः सदा
यांस्ते लोभवशाद् भजन्ति सततं तत्रस्थभृङ्गादयः ।
आस्तां तद् बत युष्मदक्षि-पटलान्यप्यत्र भृङ्गक्रियां
गच्छन्ति प्रतिदृष्टि हन्त मम तद्भ्रान्ति बलाद् बिभ्रति ॥१५०॥

"अथ तदेतदाकर्णिन्यस्ता वरवर्णिन्यस्तं प्रति तदिदं वर्णयामासुः,—'गोकुलयुवराज ! स्वच्छन्दामन्दशन्दस्थलविहारलब्धचच्छन्दानां शतकोटिसंख्यया कृतभवदानन्दानामस्माकमस्मान्नतरां शर्म मर्म स्पृशति ; तस्मादस्मत्कामनारामं धाम काममन्यदपि कामयामहे ॥'१५१

"अथ स्मित्वा रत्नशिलावरणमयत्नत एव च भित्त्वा स च प्रोवाच,—'मणिभिर्गृह-मणिभिः कलिततमोनिर्याणेन सुयानेन तलस्थलकृतसोपानेनागच्छत, तदिदमच्छधाम निशामयत च ॥१५२॥

अरी सखियो ! देखो, यह गोकुलरूप रत्नकमल देदीप्यमान हो रहा है । जिसके बीच में हमारे श्रीपिताजी का पुर विराजमान है । जिस पुर की दक्षिण दिशा में तुम्हारा निर्मल अन्तःपुर शोभा पा रहा है । इसी अन्तःपुर में मेरी श्रेष्ठ लक्ष्मीस्वरूपा तुम सब मेरे साथ क्रीडा करती हुई, किसी साधारण जन के एवं ब्रह्मा के भी मन, वाणी, एवं दृष्टि के गोचर नहीं हो पाओगी ॥१४९॥

और वृन्दावन में स्थित जो वैभव हैं, वे सब इस अन्तःपुर में चित्रों के बहाने से सदा शोभा पाते रहते हैं । जिन वैभवों को वृन्दावन में रहनेवाले वे भृङ्ग आदि लोभ के कारण, वन की भ्रान्ति से निरन्तर सेवन करते रहते हैं । अच्छा, उन की बात तो रहने दीजिये । चित्रलिखित इस वैभव में तुम्हारे नेत्रसमूह भी भृङ्गों की क्रिया, अर्थात् दर्शन की आसक्ति को प्राप्त हो जाते हैं । अहह ! चित्रस्थ वे वैभव तो मेरी दृष्टि के प्रति भी वृन्दावनस्थित वैभवों की भ्रान्ति को बलपूर्वक पुष्ट कर रहे हैं ॥१५०॥

उसके बाद श्रीकृष्ण के कथन को सुननेवाली वे श्रेष्ठ व्रजाङ्गनाएँ, श्रीकृष्ण के प्रति यह वर्णन करने लगीं—हे गोकुलयुवराज ! देखो, हम सब तो स्वच्छन्द विशाल श्रेयःप्रद स्थल में होनेवाले विहार के अभिप्राय को प्राप्त करनेवाली हैं, एवं अपनी सौ करोड़ की संख्या से आपका आनन्द उत्पन्न करनेवाली हैं, अतः परमएकान्त स्थल के बिना हमारा सुख सर्वोपभोग्य इस स्थल से मर्म का स्पर्श नहीं करता है । इसलिए हमारी कामनाओं की सर्वतोभाव से क्रीडा करानेवाले दूसरे स्थान को भी हम गोपियाँ यथेष्ट चाहती हैं ॥१५१॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण मुसकाकर, रत्नशिला के ढकन को अनायास खोल कर बोले—देखो, जिस मार्ग में मणियों के द्वारा एवं गृहमणियों के द्वारा, अर्थात् दीपकों के द्वारा अन्धकार दूर निकाला गया है, एव जिसके तलस्थल में सीढ़ियाँ बनाई गई हैं, उस प्रकार के इस सुन्दर मार्ग से मेरे साथ चली आओ, और इस निर्मल स्थान को देख लो ॥१५२॥

'तथा हि—यद्वत् पूरुपरि प्रकामसुभगा तद्वत् तले विस्तृता
सूर्येन्दुप्रभरत्नसङ्घटनया धत्रीष्टदिष्टावलिम् ।
एकान्तत्वनितान्तकान्तविभवा क्रीडाकरार्थाऽऽवहा
युष्मत्केलिकलाविनाकृतिवुता सेयं पुरी दृश्यताम् ॥१५३॥
पातालस्य तुलामितेऽत्र शशभृद्द्योरत्नरत्नस्थले
सद्वातायनजातवातसुरभिव्राते लसत्पल्वले ।
ये वृन्दाविपिनस्थिराऽस्थिरवपुःपञ्चालिकानां गणा-
स्तेऽमी तत्तदनुक्रियामपि कलायोगादलं बिभ्रति ॥१५४॥
यस्याः पृथुतरमध्यं, लसति मदैश्वर्यसंबद्धम् ।
परितस्त्वियमथ भवतीः, प्रति भवतीति प्रथावती वसतिः ॥'१५५॥

"अथ तथापि न तथा सुखमवापुरिति पुनरमूरूचिरे,—'निपुणगुणविस्मायक ! तदिदमप्यस्माकमवध्यतीतमपि मणिगृहसंग्रहमध्यं पदं वन्दीगृहवदस्पृहया मन्दीभाव्यते, किन्तु स्वल्पमपि वनकल्पं कल्पतरुवनवत् स्पृहयाऽनल्पीभाव्यते ; तस्मात् पूर्वाऽनुभवधन्यं वन्यं किञ्चिदन्यदञ्चितुं वाञ्छामः ॥'१५६॥

अरी सखियो ! देखो, इस पुरी को देखो । यह पुरी ऊपर की ओर जिस प्रकार यथेष्ट सुन्दर है, उसी प्रकार नीचे भी विस्तृत है; एवं सूर्य तथा चन्द्रमा के समान कान्तिवाले रत्नों की रचना के द्वारा, रात-दिनरूप अभीष्ट समय की श्रेणी को धारण करनेवाली है, अर्थात् इस पुरी में रात-दिन का विभाग सूर्य चन्द्रमा के द्वारा नहीं होता है, किन्तु उनकी सी कान्तिवाली मणियों के द्वारा होता है । एवं यह पुरी एकान्त के भाव से यथेष्ट मनोहर वैभव से युक्त है, एवं क्रीडा करानेवाली वस्तुओं को प्राप्त करानेवाली है, तथा तुम्हारी केलिकलाओं की रचना के बिना यह पुरी संतप्त है ॥१५३॥

इस पुरी में पाताल की तुलना को प्राप्त एक गम्भीर स्थल है, वह स्थल चन्द्रकान्त एवं सूर्यकान्त-मणियों द्वारा निर्मित है । एवं श्रेष्ठ वातायन (खिड़की या जँगला) श्रेणी से आनेवाला जो वायु है, वह सुगन्धिसमूह से युक्त है, तथा उस स्थल में शोभायमान छोटी छोटी सरोवर हैं । और इस स्थल में वृन्दावन के स्थावर जंगमरूप प्राणियों के शरीरों की पुतलियों के जो समूह चित्रित हैं, वे सब कलायोगात् (कारीगरी के सम्बन्ध से) वृन्दावन के स्थावर जंगम शरीरों का अनुकरण भी विशेष धारण कर रहे हैं ॥१५४॥

एवं जिस पुरी का अत्यन्त विशाल मध्यभाग मेरे ऐश्वर्य से निबद्ध होकर विराजमान है । और यह पुरी चारों ओर तो आप सब के लिए ही विद्यमान है । अतः यह बस्ती इस प्रकार की ख्यातिवाली है ॥१५५

इतने वैभववाली पुरी देखकर भी वे गोपियाँ व्रज का सा सुख नहीं प्राप्त कर पाईं । अतः पुनः बोलीं—चतुराई के गुणों से विस्मित करनेवाले नाथ ! देखो, जो स्थान हमारी अवधि से अतीत है, एवं जिसका मध्यभाग मणिमयगृहों के संग्रहवाला है, वह स्थान भी हमारी अनिच्छा के कारण कारागार की तरह छोटा सा विचार में आता है । किन्तु वन के समान छोटा सा स्थान भी हमारी इच्छा के अनुकूल होने के कारण, कल्पवृक्षों के वन की तरह विशाल प्रतीत होता है । इसलिए पहले प्रगटलीला में अनुभव

"अथ श्रीकृष्णश्च व्यस्यमाननिज-तृष्णतया किञ्चिद् विहस्य तस्य सहस्रधागणितद्वार-गमणिशिलावरणानि निरस्य सहस्रपत्रपत्र-स्थितप्रमदसत्रभानप्रदप्रमदवनानि निजपरिमल-पदतदन्तःसदनसदङ्गनिभानि निभालयामास, समभ्यर्णतया वर्णयामास च तदिदम्,—॥१५७

'कुञ्जा वृक्षाश्च रत्नालय-चयसुहृदः कान्तिसंवासलाभात्
वृत्ता नीराशयाश्च स्फटिकमुखमणिक्ष्मासु मैत्रीमवाप्ताः ।
वल्ल्यश्चारालचिल्लीपरमतमसखीभावकम्राः समन्तात्
उद्यान-स्तोम एष प्रणयमय इति व्यञ्जयन्तः स्फुरन्ति ॥१५८॥
पुष्पाद्युद्योतिकुञ्जा मणिमयनिलयाश्चात्र भेदं न याता-
स्तस्मादेतन्मतेन प्रकटमधिगतेनालिपालि ! प्रवच्मि ।
यूयं पूर्वं वनस्थाः पुनरिह गृहगा मत्प्रियाः स्थेति लोके
विख्यातिं मा मनुध्वं द्वयमिदमभिदाशालि किन्तु प्रतीतम् ॥१५९॥

यद् यद् वृन्दावन-भुवि महावैभवं राजमानं, सारं तस्य स्वमनु समगादेतदुद्यानवृन्दम् ।
स्थाने तच्च व्रजकुलभुवां श्रीकुलं यत्र युष्मद्,-रूपं भागान्निज-निजतया वश्यतामानयेत ॥१६०

करने से धन्य, एवं वन में उत्पन्न किसी दूसरे स्थान में जाना चाहती हैं। तात्पर्य—वनसम्बन्धी स्थान ही हम को प्रिय है, मणिमुक्ता रचित भवन नहीं ॥१५६॥

उसके बाद श्रीकृष्ण ने भी विस्तृत हुई अपनी तृष्णा के भाव से कुछ हँसकर, उस स्थान के हजार प्रकार से गिने हुए द्वारोंपर विद्यमान मणिमयी शिलाओं के ढकनों को दूर करके, कमलपत्र के पत्रों में स्थित एवं हर्षरूप यज्ञ की प्रतीति को देनेवाले अनेक प्रमदवन दिखा दिये। वे प्रमदवन अपनी मनोहर सुगन्धी के स्थानस्वरूप भीतर के भवनों के श्रेष्ठ आँगन के समान थे। पश्चात् प्रमदवनों के निकटवर्ती होकर श्रीकृष्ण ने यह वर्णन किया—॥१५७॥

अरी सखियो ! देखो, इन प्रमदवनों के ये कुंज एवं वृक्ष शोभा के सहवास की प्राप्ति से रत्ननिर्मित गृहसमुदाय के मित्र बन गये हैं। यहाँ के जलाशय भी स्फटिक आदि मणिमयी भूमियों में मित्रता को प्राप्त हो गये हैं। यहाँ की लताएँ कुटिलभ्रूलताओं के सर्वोत्कृष्ट सखीभाव से मनोहर हो गई हैं। अतः ये कुंज आदि सब पदार्थ "यह वाटिकासमूह चारों ओर से प्रेममय है" इस भाव की सूचना देते हुए स्फूर्ति पा रहे हैं ॥१५८॥

और इन प्रमदवनों में पुष्प आदि से प्रकाशमान निकुंजपुंज, एवं मणिमय भवनसमूह, ये दोनों भेद को नहीं प्राप्त हो रहे हैं। इसलिए हे आलिपालि ! (हे सखियों की श्रेणि) प्रगटरूप से जाने हुए कुंज आदि के अभेदरूप इस मत से कह रहा हूँ कि—"तुम सब पहले प्रगटलीला के समय वृन्दावन में स्थित थीं, एवं अब इस गोलोक में मेरे घर में रहनेवाली मेरी प्रियाएँ हो" लोक में इस प्रकार की ख्याति को मत मानो। क्योंकि यह व्रज एवं गोलोक, ये दोनों अभेदरूप से शोभायमान हैं, अर्थात् दोनों अभिन्न हैं। किन्तु प्रापञ्चिक लोक में ये दोनों भेदरूप से ही प्रतीत हैं ॥१५९॥

श्रीवृन्दावन की भूमि में जो जो महावैभव विराजमान है, उस महावैभव का सार अपने से अभिन्न इन प्रमदवनों के समूह में स्वयं चला आया है, यह उचित ही है। क्योंकि जिन बगीचों में से प्रत्येक बगीचा लक्ष्मीस्वरूपा तुम सब व्रजाङ्गनाओं के समुदाय को, अपने अपने रूप से विभाग करके, अर्थात् यह राधिका का बगीचा है, एवं यह चन्द्रावली का बगीचा है, इत्यादिरूप से विभाग करके वशीभूत कर सकता है ॥१६०॥

अत्र सर्वा विराजन्ते वृन्दावन-विभूतयः । भवतीषु यथा सर्वरमाणां कान्तिभूतयः ॥'१६१॥

"अथ तथापि प्रचितनिज-विहारधनादिषु यमुनागोवर्धनादिषु निजवल्लभानां निर्जन-गमनगर्धनस्य वर्धनतामालोकयंस्तत्र प्रच्छन्नद्वारमपि स्वच्छयन्नालोकयामास, श्लोकयामास च तदिदम्—॥१६२॥

'वृन्दारण्यं समन्तात् कलयत तदिदं तं च गोवर्धनाद्रिं
तां चादित्यप्रसूतां सरितमथ महारासभूमीममूं च ।
याऽऽश्चर्यकान्तिरेषा निखिलमतिगता नाऽनयाप्यन्यदूह्यं
लोकातीतः पदार्थः किमिह न तनुते वैभवं स्वं विभूय ॥१६३॥

'किञ्च, क्वचन क्वचन विहारे, प्रागत्राऽलोकि यद् दृगाश्चर्यम् ।
तस्माददृष्टपूर्वं, मत्वा नेदं सभेदमामृश्यम् ॥१६४॥

'तान्येतानि च वन्यसत्त्वान्यत्र लब्धसत्त्वानि दृश्यन्ताम् ; ॥१६५॥ यथा—

बंभण्यन्ते भृङ्ग-सङ्घा बेभिद्यन्ते च कुड्मलान् । अशाश्यन्ते पुष्परसानरार्यन्ते च सर्वतः ॥१६६

जेगीयन्ते पिकाश्चैते जेजीयन्ते परस्परम् । पेपीयन्ते मधून्युच्चैर्दोधूयन्ते वधू-मनः ॥१६७

समस्त लक्ष्मियों की शोभारूप सम्पत्तियाँ जिस प्रकार तुम सब गोपियों में विराजमान हैं, उसी प्रकार प्रमदवन नामक इन सब बगीचों में वृन्दावन की समस्त विभूतियाँ विराजमान हैं ॥१६१॥

तो भी अपने विहाररूप धन आदि जिन में संचित किये हैं, उन यमुना एवं गोवर्धन आदि स्थानों में निज प्रियतमा गोपियों के निर्जन गमन की आकांक्षा की वृद्धि को देखकर, उस विषय में गुप्तद्वार को भी प्रकाशित करते करते दिखा दिया, एवं श्रीकृष्ण यह वर्णन करने लगे—॥१६२॥

अरी सखियो ! पहले देखे हुए उसी इस वृन्दावन को चारों ओर से देख लो, एवं उन्हीं श्रीगोवर्धन पर्वत को, उन्हीं श्रीयमुना नदी को, तथा उसी महारास की भूमि को भी देख लो । जो यह महारास की भूमि है वह आश्चर्यमयी शोभावाली है, एवं सब पदार्थों का अतिक्रमण करनेवाली है, अतः इस महारास की भूमि के साथ दूसरे पदार्थ की तर्कना भी नहीं करनी चाहिये । क्योंकि जो लोकातीत पदार्थ है, वह अपने को अनेक बनाकर यहाँपर कौन से वैभव को नहीं फैलाता ? अपितु, सब प्रकार के वैभव को फैला देता है ॥१६३॥

किंच पहले इस वृन्दावन में प्रकटलीला के समय किसी किसी विहार में नेत्रों की आश्चर्यजनक जो वस्तु देखी थी, उस वस्तु से अब की वस्तु को पहले न देखी हुई मानकर भेद के सहित मत विचारो ॥१६४॥

और वे ही वन में होनेवाले मृग आदि प्राणी भी यहाँपर बल को या अपने स्वभाव को प्राप्त हो रहे हैं, देख लीजिये ॥१६५॥

यथा—भ्रमरगण बारंबार गुञ्जार कर रहे हैं, एवं विशेष करके कलिकाओं को विदीर्ण कर रहे हैं। पुष्परसों का अधिक आस्वादन कर रहे हैं, तथा चारों ओर कुटिलतापूर्वक घूम रहे हैं ॥१६६॥

और ये कोयलें बारंबार अत्यन्त गायन कर रही हैं, आपस में बारंबार विजय प्राप्त कर रही हैं, एवं बारंबार मधु पान कर रही हैं तथा प्रोषितभर्तृका स्त्रियों के मन को बारंबार अधिक कम्पित कर रही हैं ॥१६७॥

अटाट्यन्ते पक्षि-घटा बोभुज्यन्ते फलादिकम् । चेक्रीयन्ते नीडमूर्णोनूयन्ते तच्च यत्नतः ॥१६८
जेघ्रीयन्ते कोकूयन्ते सासद्यन्ते जेगिल्यन्ते । लोलुप्यन्ते सोषुप्यन्ते चंचूर्यन्ते शावास्तेषाम् ॥१६९
प्रनरीनृत्यन्ते तं, प्रपनीपद्यासितांभोदम् । रोरूयन्ते चंक्र,-म्यन्ते ते ते शिखण्डिनः परितः ॥१७०
चञ्चरीति देदिवीति, दन्दशीति जंहनीति । अर्यरीति चाकरीति, सन्मृगालिरात्तकेलि ॥१७१
देदेति चंचूर्ति जंहन्ति जाहाति । चर्कर्ति सोषोप्ति पश्वालिरन्यापि ॥' इति ॥१७२

"अथ वन्यानपि सवाष्पप्रणयन्यायमिदमवादीत्—

'नद्यः स्वस्ति किमस्ति वः क्षितिभृतः क्षेमं नगा मङ्गलं
भृङ्गाः शं शिखिनः सुखं परभृताः शातं मृगा भावुकम् ।
तेऽमी माधव-राधिकाप्रभृतयः स्नेहेन वः पुष्टता-
जुष्टा युष्मदपेततां चिरमितामुत्तीर्य पृच्छन्ति वः ॥'१७३॥

"अथ यूथशः पृथग्विभूय वनितासु तदन्वितासु स पुनः श्रीराधां प्रति च तदिद-मसाधारणतया प्राह,—

और देखो, ये पक्षियों के संघ कुटिलगति से घूम रहे हैं, फल आदि को विशेष कर बारंबार खा रहे हैं, एवं अपने घोंसले को बारंबार बना रहे हैं, तथा उसी घोंसले को प्रयत्नपूर्वक बारंबार ढक रहे हैं ॥१६८॥

और उन पक्षियों के बच्चे पुष्प आदि को बारंवार सूँघ रहे हैं, बारंबार शब्द कर रहे हैं, निन्दित भाव से चल रहे हैं, फलों को गर्हितभाव से निगल रहे हैं, पत्र पुष्प आदि को बुरी तरह से काट रहे हैं, बारंबार सो जाते हैं गर्हित चाल चलते हैं, (यहाँपर "लुपसदचरजपजभदहदंशगृभ्यो भावगर्हायाम्" इस सूत्र से निन्दितभाव में यङ् होता है) ॥१६९॥

और देखो, वे वे मयूरगण श्याम मेघ को बारंबार प्राप्तकर अतिशय नृत्य कर रहे हैं, अत्यन्त शब्द कर रहे हैं, एवं चारों ओर बारंबार कुटिलगति से घूम रहे हैं ॥१७०॥

और यह श्रेष्ठ मृगों की पंक्ति क्रीडा करती हुई, भावगर्हा (निन्दित भाव)पूर्वक तृण आदि खा रही है, बारंबार विशेष क्रीडा कर रही है, गर्हितभाव से घास काट रही है, परस्पर बारंबार युद्ध कर रही है, कुटिलता से भ्रमण कर रही है, बारंबार तृण आदि फेंक रही है, अथवा स्वयं तितर-बितर हो रही है ॥१७१॥

दूसरी पशुश्रेणी भी वारंबार अतिशय क्रीडा, बारंबार गमन, बारंबार युद्ध, बारंबार त्याग कर रही है, स्वाभाविक क्रिया को बारंबार कर रही है, एवं बारंबार शयन कर रही है ॥१७२॥

इस प्रकार कह कर सखियों को सुखी करके, श्रीकृष्ण नेत्रजल, प्रेम, एवं न्यायपूर्वक वन में होनेवाले मृग आदिकों के प्रति भी यह बोले—हे नदियो! तुम्हारा मङ्गल तो है? हे पर्वतो! तुम्हारा कुशल है क्या? हे वृक्षो! तुम्हारा मङ्गल है क्या? हे भ्रमरगण! तुम्हारा कल्याण है क्या? हे मयूरो! तुम्हारा सुख है क्या? हे कोयलो! तुम्हारा सुख है क्या? एवं हे मृगो! तुम्हारा भी कल्याण है क्या? ये श्रीकृष्ण एवं राधिका आदि जन तुम्हारे स्नेह से पुष्टता को प्राप्त होकर, बहुत दिन से प्राप्त हुए तुम्हारे विरह को पार करके, तुम सब से तुम्हारी कुशलता पूछ रहे हैं ॥१७३॥

तदनन्तर व्रजाङ्गनाएँ अपने अपने संघ के रूप से अलग अलग होकर जब श्रीकृष्ण के अनुगत हो गईं, तब श्रीकृष्ण, राधिका के प्रति पुनः असाधारणभाव से यह बोले—हे राधिके! देखो, पहले हम तुम

'पूर्वं यत् कुण्ड-युग्मं व्यतिलसितसुखायाऽऽवकाभ्यां कृतं यत्
कंसोत्पातेन चाशु व्यतिविरहवशात् त्यक्तमासीच्चिराय ।
राधे ! गोवर्धनाद्रेः शिरसि घनरसस्फारभासां विकासा-
च्चूडारत्नद्वयाभं तव मम च मनःशान्तिकृत् तद् विभाति ॥१७४॥

पुनर्वृन्दारण्ये रविदुहितरि श्रीहरिगिरौ, तथा भाण्डीरे यद् यदपि तव कुण्डे विहरणम् ।
भविष्यत्येतन्मे हृदयमधितिष्ठत् प्रथमतः, स्वनिष्ठं तत् कुर्वद् वृषरवि-सुतेऽन्यद् भ्रमयति ॥१७५

प्रागुच्चैर्विरहेष्वहं त्वमपि च स्वप्राणमाश्वासितं
कर्तुं यान् बत चित्तमोदकनिभान् भावानकुर्व स्फुटम् ।
ते चैते सखि ! सन्निधिं प्रति गताः साक्षादहो मन्मनः
प्रत्येकं स्वकभोगसंभृतिकृते तृष्णग् वितत्य स्थिताः ॥१७६॥

सत्यं सङ्गिनि ! सांप्रती च बलवल्लीलाऽवलीचारुता
स्वान्तं क्लान्तमतिप्रवासमहसा नः सर्वतः पुष्यति ।
किन्तु प्राग्गतपूर्वरागमुखतन्नानाङ्गकेलिप्रथा
पुष्णाति स्व-रसैरिमामपि शिफावीथीव शाखाततिम् ॥१७७॥

ततो नानालोला विदधदहमालीभिरनव,-स्व-वृत्तान्तं गीतप्रचुरमभिनीतं च परितः ।
त्वया सार्धं शृण्वन् प्रकटमनुपश्यंश्च बहुधा, गतागन्तृप्रेमाण्यसकृदनुभूतानि करवैः ॥१७८॥

दोनों ने "कृष्णकुण्ड–राधाकुण्ड" नामक जो दो कुण्ड परस्पर की क्रीडासुख के लिये बनाये थे, एवं कंस के उत्पात से परस्पर के विरह के अधीन होकर, जो दोनों कुण्ड बहुत दिन के लिये शीघ्र ही त्याग दिये थे, वे ही दोनों कुण्ड श्रीगोवर्धनपर्वत के शिरोभाग में जल की बढ़ी हुई कान्तियों के प्रकाश से, दो मुकुटमणियों के समान होकर, तुम्हारे एवं हमारे मन को शान्त करनेवाले होकर शोभा पा रहे हैं ॥१७४॥

हे वृषभानुनन्दिनी ! राधिके ! देखो, वृन्दावन में, श्रीयमुना में, श्रीगोवर्धनपर्वत में, तथा भाण्डीरवट में, एवं तुम्हारे कुण्ड में मेरा जो जो भी विहार होगा, यह विहार पहले से ही मेरे हृदय में स्थित होकर, एवं मेरे हृदय को अपने में निष्ठावाला बनाकर, दूसरे विषय को भुला देता है ॥१७५॥

और पहले उच्चकोटि के विहर में,मैं और तुम दोनों ही,अपने प्राणों को आश्वासयुक्त करने के लिये मन के मोदकों (लड्डुओं) की तरह जिन जिन भावों को स्पष्टरूप से करते रहे, हाय ! हे सखि ! राधिके ! वे ये सभी भाव साक्षात् निकटता को प्राप्त होकर, अहह ! प्रत्येक भाव ही अपने भोग की पुष्टि के लिए मेरे मन को आकांक्षायुक्त बनाकर (सामने) खड़े हुए हैं ॥१७६॥

और हे सङ्गिनि ! राधिके ! यह बात सत्य है कि इस समय, अर्थात् अप्रकटलीला के समय होनेवाली बलवती लीलाश्रेणी की मनोहरता, अति प्रवासरूप अग्नि के तेज से ग्लानियुक्त हमारे चित्त को सब ओर से पुष्ट कर रही है। किन्तु पहले बीते हुए पूर्वराग आदि उन अनेक प्रकार की क्रीडाओं की जो परिपाटी है, वह इस समय की लीलाश्रेणी की मनोहरता को भी, अपने रसों के द्वारा इस प्रकार पुष्ट कर रही है कि, जिस प्रकार वृक्ष की मूलश्रेणी,शाखाश्रेणी को पुष्ट कर देती है ॥१७७॥

इसलिए मैं सखियों के साथ अनेक प्रकार की लीलाओं को करता हुआ, पुराने अर्थात् प्रापञ्चिक

'ततश्च, आरामः परिचीयतां सखि ! सखीवृन्दं समानीयतां
लीलाधाम विधीयतां निज-कलाकेलिस्त्वया चीयताम् ।
रासाद्यं मुहुरीयतां मम रतिस्तत्रापि सङ्गीयतां
सर्वं सुष्ठु विजीयतां किमधिकं मद्धीर्वशे धीयताम् ॥' इति ॥१७९॥

"तदेवमादिबहुसंवादितया तां सुखाकुर्वंस्तत्तदपूर्वसुखकेलिपर्वसतृष्णः श्रीकृष्णस्तां रजनीं जनितकौतुकतया गमयामास । यत्र प्रथमतस्तु तां सर्वस्तुतां सखीभिः संवलितामङ्कलितां विधाय मणि-खचित-चामीकरचितरङ्गमनु रासरङ्गमेव देवयामास ॥१८०॥

"यथा—यद्वत् पूर्णविधुः सतारकगणस्तद्वत्प्रसूनाऽटवी-
मध्यस्थाऽमलरासमण्डलमतिस्वच्छां रुचिं यच्छति ।
यद्वत्तत्र तमालहेमलतिकावृन्दान्यपि स्पर्शनात्
स्पन्दं स्पन्दमटन्ति तद्वदनटद् गोविन्दगोपीततिः ॥१८१॥

"अथ रजन्यन्तरे लब्धान्तरे श्रीराधिकायामेव तदर्थसाधिकायां जातायां रविकन्यारोधसि वन्यायां श्रीहरिरसावन्याभिरपि रासमुल्लासयामास ; ॥१८२॥ यत्र च—

जगत् में किये गये प्राचीन अपने वृत्तान्त को, तुम्हारे साथ गीतों की अधिकतापूर्वक सुनता हुआ, एवं नटों के द्वारा चारों ओर अभिनय के द्वारा दिखाये गये पुराने वृत्तान्त को प्रत्यक्ष देखता हुआ, बहुत प्रकार से बीते हुए एवं आगे आनेवाले प्रेमों को बारंबार अनुभव करूँगा ॥१७८॥

इसलिए हे सखि ! राधिके ! उपवन से परिचय कर लीजिये, अथवा अपने उपवन को पहचान लीजिये । सखीसमुदाय लिवा लाइये । लीला के स्थान का विधान कर लीजिये । एवं तुम अपनी कलाओं की क्रीडा का संग्रह कर लीजिये । एवं रासलीला आदि को बारंबार प्राप्त कर लीजिये,एवं उस रासलीला आदि में मेरी प्रीति का भी गायन कर लीजिये । अतः सब को भली प्रकार जीत लीजिये । और अधिक क्या कहूँ ? मेरी बुद्धि भी अपने वश में स्थापित कर लीजिये ॥१७९॥

इत्यादि बहुत से संवादों के भाव से उन राधिका को सुख से अनुकूल करते हुए, उन उन अपूर्व सुख की क्रीडारूप महोत्सवों की तृष्णा से युक्त श्रीकृष्ण ने, वह रात प्रगट किये कौतुक (खेल खिलवाड़) के भाव से ही बिता दी । एवं जिस स्थान में पहले तो सर्वजन प्रशंसित,एवं सखियों से सम्मिलित उन राधिका को गोदी में बैठाकर, रत्नजटित एवं सुवर्ण से व्याप्त रङ्गशाला में रासरङ्ग ही प्रकाशित कर दिया ॥१८०॥

यथा—तारागणों के सहित पूर्णचन्द्रमा जिस प्रकार अत्यन्त निर्मल प्रभा का दान करता है, उसी प्रकार पुष्पवाटिका के मध्य में स्थित रासमण्डल भी अति स्वच्छ छवि दे रहा है । और उस रासमण्डल में तमालवृक्ष एवं सुवर्णमयी लताओं के समूह वायु के कारण मन्द मन्द हिलते हुए, जिस प्रकार चलते हैं, ठीक उसी प्रकार श्रीकृष्ण एवं गोपियों की श्रेणी धीरे धीरे नाचने लग गई । यहाँ श्रीकृष्ण तमाल हैं, गोपियाँ सुवर्ण लताएँ हैं ॥१८१॥

उसके बाद दूसरी रात्रि में अवकाश पाकर, जब श्रीराधिका ही श्रीकृष्ण के प्रयोजन को सिद्ध करनेवाली हो गई, तब सूर्यपुत्री यमुना के तीरपर वनों के समूह में, इन श्रीकृष्ण ने चन्द्रावली आदि दूसरी गोपियों के साथ भी रासविलास प्रकाशित कर दिया ॥१८२॥

तत्तन्निज-निज-कलया घनं घनं शुषिरम् । शुषिरं ततं ततमानद्धं चानद्धं विदधे ॥१८३॥

"विधाय च—मध्यस्थानात् कृष्णराधाऽभिधानाद्, युग्मात् प्राप्ता प्रातिबिंबीमवस्थाम् ।
कृष्णव्यूहश्रीव्रजस्त्री-ततिः सा, रेजे तस्मिन्मण्डले रासनाम्नि ॥१८४॥
शुभ्रश्रिया रासमही शशीयते, स्वच्छाऽऽभया रासमहीयते नदी ।
नदीयते चारुमुखाब्जरोचिषा, राधादिऽऽकालिर्वनमालिना सह ॥१८५॥
गानांघ्रिनूपुरनितंबकमध्यबाहु,-नेत्रभ्रु तालकलया लसितं ततान ।
हस्ताक्षिवाच्यमिव चाह दृगन्तचित्ते, तासां विना हरिमुपेयतुरन्यकं न ॥१८६
आस्यं गायति नूपुरादि तनुते वाद्यं पदे नृत्यतः
श्रोत्रे द्वे नयने च सभ्यजनतां यान्ति स्म तस्मिन्निति ।
रासे पश्यत संप्रदायवलना कृष्णाऽङ्गनानां गणेऽ-
नन्तेऽत्र प्रतिमूर्ति चेत् किमुत सा सा सामुदायी स्थितिः ॥१८७॥

नृत्यति स्म यदा कृष्णस्तासां तर्हि मनोनटः । अनटद् दृङ्नटीभ्यां द्रागनुकुर्वंस्तदेव सः ॥१८८
कृष्णं कान्ततयाऽनुपेत्य पुरतः स्वं नित्यकान्तं तु ता-
स्तत्राऽप्यन्यकरे निपत्य च बलान्निर्वाह्य धर्मं निजम् ।

और जिस रास में उस उस अपनी अपनी कला के द्वारा घन (निविड), घन (कांस्यताल आदि), अर्थात् झाँज मजीरा आदि वाद्य, एवं शुषिर (छिद्र के सहित), शुषिर (वंशी आदि वाद्य), तत (व्याप्त कर दिया), तथा तत (वीणा-आदि वाद्य), और आनद्ध (मुरज मृदङ्ग आदि वाद्य), आनद्ध (चारों ओर से निबद्ध) कर दिया ॥१८३॥

इन सब वाद्यों का मिलान करके उस रास नामक मण्डल में बीच के स्थान से, श्रीराधा-कृष्ण नामक युगलजोड़ी से प्रतिबिम्बों की अवस्था को प्राप्त हुई, श्रीकृष्ण के अनेक प्रकाशों के सहित लक्ष्मीरूपा व्रजाङ्गनाओं की वह श्रेणी शोभा पाने लग गई ॥१८४॥

शुक्लवर्ण की शोभा के द्वारा रास की भूमि चन्द्रमा का सा आचरण कर रही है, एवं यमुनानदी निर्मलकान्ति के द्वारा रासभूमि का सा बरताव कर रही है, तथा श्रीराधिका आदि गोपियों की श्रेणी श्रीकृष्ण के सहित सुन्दर मुखारविन्द की कान्ति से नदी के समान प्रतीत हो रही है ॥१८५॥

पश्चात् गाना, चरणों के नूपुर, कटिप्रदेश, मध्यभाग, दोनों भुजा, दोनों नेत्र, दोनों भौंहें, एवं करताल आदि की कला के सहित गोपियों ने नृत्य का विस्तार कर दिया । उस समय उनके हाथ एवं नेत्र मानो व्यक्तव्य विषय को कह रहे हैं, ऐसी प्रतीति हो रही थी । क्योंकि उनके कटाक्ष एवं चित्त श्रीकृष्ण के बिना दूसरे की ओर नहीं जा रहे थे ॥१८६॥

उस रास में श्रीकृष्ण का मुख गायन कर रहा है, नूपुर आदि बाजा बजा रहे हैं, एवं दोनों चरण नृत्य कर रहे हैं, और दोनों कान दोनों नेत्र सभ्यजनों के भाव को प्राप्त हो रहे हैं । तुम सभी देख लो कि कृष्णाङ्गनाओं के इस अनन्त यूथ में यदि प्रत्येक मूर्ति में ही मुख से गाना आदि की वह सम्प्रदाय रचना है, तब फिर उस सामूहिक स्थिति का तो कहना ही क्या है ? ॥१८७॥

श्रीकृष्ण जब नृत्य करने लग गये, तब उन गोपियों का मनरूप नट उस नृत्य का ही अनुकरण करता हुआ, दृष्टिरूपा दो नटिनियों के साथ शीघ्र ही नाचने लग गया ॥१८८॥

उनके नृत्य करने का अभिप्राय यह भी है कि—वे गोपियाँ पहले अपने नित्यपति श्रीकृष्ण को पति-

तत्राऽपीष्टममुं कथञ्चन रहः प्राप्यापि विश्लेषिताः
पुण्यात् तं पतिमेत्य शर्मवलनां संभृत्य नृत्यं व्यधुः ॥१८९॥

सरोजाभं रासस्थलमिह दलेषु प्रणयिनी-
ततिर्मध्ये राधा विलसतितमामित्यपि मतम् ।
अहं त्वन्यद् वक्ष्ये प्रमदगतिधृष्णङ्मतितया
स्फुटं श्रीकृष्णस्य स्फुरति हृदये तद् बहिरपि ॥१९०॥

"तदिदमपि भङ्गीभिरङ्गीकृतं स्फुटभाषितया तु स्फुटमिदं क्रियते,—॥१९१॥

कामं सन्तु हरेर्दृशोः श्रवणयोर्नासापुटस्य त्वचो
जिह्वायाश्च सदाऽपि वृत्तितुलिता गोप्यः सहस्रायुतम् ।
किन्तु स्वैरतया ब्रवाम न पुनः संकोचितां चिन्महे
श्रीराधा बत सेयमस्य नियतं सर्वा मनोवृत्तयः ॥१९२॥

यद्यप्येषा बकारेर्हृदयकमलगा हृद्बहिर्भूतिरेखा
राधामुष्यास्तथापि द्रुतयति मम हृद् द्रागिह स्नेहचर्या ।
यस्यां लक्षे सखीनामपि सति सततं सेयमेनं स्वकान्तं
सेवाभिश्चार्द्रयन्तो परिचरणकरीश्चित्रमूर्तोः करोति ॥१९३॥

रूप से न पाकर, उसी बीच में अभिमन्यु आदि दूसरे पतियों के हस्तगत होकर, अपने पातिव्रत्य धर्म को बलपूर्वक निर्वाहित कर, उसमें भी किसी प्रकार नित्यपति श्रीकृष्ण को रासलीला आदि एकान्त स्थल में प्राप्त करके भी, मथुरा चले जाने से श्रीकृष्ण से वियुक्त होकर, लोकोत्तर पुण्य के प्रताप से श्रीकृष्णरूप नित्यपति को पुनः पाकर, सुख की चञ्चलता को परिपुष्ट करके, नृत्य करने लग गईं ॥१८९॥

यह रासस्थल कमल के समान गोलाकार है । इस रासस्थलरूप कमल के पत्रोंपर ललिता आदि स्नेहमयी गोपीश्रेणी विलास कर रही है । और उस कमल के बीच में, अर्थात् कर्णिकाकार मध्यस्थल में श्रीमती राधिका विराजमान है । यह भी रसिकभक्तों का मत है । किन्तु मैं तो दूसरी तरह से यही कहूँगा कि हर्ष की प्राप्ति से ढीठबुद्धिवाली होने के कारण; राधिका,श्रीकृष्ण के हृदय में एवं हृदय से बाहर भी स्पष्टरूप से स्फूर्ति पा रही हैं ॥१९०॥

यह पूर्वोक्त मत भी इशारों के द्वारा अङ्गीकार किया है, स्पष्ट भाषण के द्वारा तो यह रहस्य स्पष्ट किया जाता है कि—हजारों लाखों गोपियाँ सदैव यदि श्रीकृष्ण के नेत्रों की, कानों की, नासिकापुट की, त्वचा की, एवं जिह्वा की वृत्ति के समान विद्यमान हैं, तो भले ही रही आओ । इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है । किन्तु हम तो स्वतन्त्रता से कह रहे हैं, संकोच का संग्रह भी नहीं कर रहे हैं । हर्ष की बात है कि यह श्रीमती राधिका तो निश्चय ही श्रीकृष्ण की समस्त मनोवृत्तिस्वरूप है, अर्थात् समस्त इन्द्रियों की वृत्ति मन के अधीन होने के कारण; श्रीराधिका, श्रीकृष्ण की समस्त इन्द्रियों की वृत्तिस्वरूपा है ॥१९१-१९२॥

यद्यपि यह श्रीमती राधिका, श्रीकृष्ण के हृदयकमल में स्थित होकर, उनके हृदय के बाहर भी ऐश्वर्य की रेखारूप से स्थित है, तथापि यहाँपर श्रीराधिका की कृष्णविषयक स्नेह की चर्या, मेरे हृदय को शीघ्र ही पिघला रही है । क्योंकि श्रीकृष्ण की जिस स्नेहपरिचर्या में लाखों सखियों के रहनेपर भी यह

तस्मात् कर्बुररत्नकर्बुररुचां वल्लीतरूणां गणे
चिन्तारत्नगृहे महाऽऽसनवरे प्राणालिभिः प्रावृता।
अन्याभिः परिवीजिता प्रियतमस्योत्सङ्गसङ्गं गता
रोमाञ्चाचितघर्मवारिवलिता राधैव साऽऽराध्यते ॥१९४॥

कंपः संपदमेति घर्मसलिलं रीणाति रोम्णां कुलं
हृष्यत्यस्रमभिस्रवत्युदितमप्यालंबते कुण्ठताम्।
चित्तं वर्ष्म च गच्छति स्तिमिततां मे पश्यतो माधवं
राधायुक्तमहो मदान्न च पुनः स्वं धर्तुमत्रोत्सहे ॥१९५॥

इति वैवश्यवश्यतां स्वस्य व्यस्य मधुकण्ठः कुण्ठनिखिलेन्द्रियगणः परमप्रेमचणः स्वभ्रात्रा स्तंभितविग्रहः सन् ग्रहगृहीत इव मुहूर्तं मूर्तभावमाससाद। न च स एव केवलतया, किन्तु सह सहजन्मा च तन्मयतामवाप। न च तावेव स्वयं तदेव सेवमानावास्ताम्, किन्तु तया साऽजितया सभाजितया सभया च सममिति स्थिते, मुहूर्तेन सर्वस्मिन्नपि सुस्थिते, तया सभया ताभ्यां नानादानाऽभ्यासः कृत इति वर्णनया कृतम् ॥१९६॥ यतः,

---

श्रीराधिका अपने प्रियतम श्रीकृष्ण को विशुद्ध सेवाओं के द्वारा निरन्तर स्निग्ध करती हुई, श्रीकृष्ण की सेवा करनेवाली चन्द्रावली आदि सखियों को, चित्र की सी मूर्तियाँ बना रही है। अर्थात् श्रीराधिका की परिचर्या देखकर सभी सखियाँ चित्रलिखी सी चुप खड़ी रह जाती हैं ॥१९३॥

इसलिए कर्बुर (सुवर्ण) एवं रत्नों की कर्बुर (चितकबरी), अर्थात् अनेक प्रकार की कान्तिवाली लता एवं वृक्षों के समूह में, चिन्तामणि द्वारा बने हुए भवन में श्रेष्ठ विशाल आसनपर, अर्थात् कर्णिका के सहित अष्टदल कमलपर प्राणप्यारी ललिता आदि सखियों से घिरकर, रतिमञ्जरी आदि अन्य सखियों द्वारा चमरव्यजन आदि से परिवीजित होकर, प्रियतम श्रीकृष्ण की गोद का सङ्ग पाकर, रोमाञ्च से व्याप्त स्वेद-जल से युक्त हुई, श्रीराधिका ही आराधित हो रही है ॥१९४॥

अहो! आश्चर्य है कि राधिका से युक्त श्रीकृष्ण का दर्शन करनेवाले मेरे शरीर में कम्प,सम्पत्ति को प्राप्त हो रहा है, पसीने का जल बह रहा है, रोमों का कुल हर्षित हो रहा है, प्रेमाश्रु बह रहे हैं, उदित (वचन) भी कुण्ठित हो रहा है, चित्त एवं शरीर भी निश्चलता को प्राप्त हो रहा है। अतः मैं तो इस अवस्था में हर्ष के कारण अपने को सँभालने के लिए भी समर्थ नहीं हूँ ॥१९५॥

इस प्रकार कहते कहते जिसकी समस्त इन्द्रियाँ निश्चेष्ट हो गई हैं, एवं परमप्रेम के द्वारा जो प्रसिद्ध है, वह मधुकण्ठ अपनी विवशता को विस्तारित करके, अपने भाई स्निग्धकण्ठ के द्वारा धारण किये हुए देहवाला होकर, ग्रह से गृहीत व्यक्ति की तरह, दो घड़ीतक मूर्च्छित भाव को प्राप्त हो गया, अर्थात् बेहोश हो गया। केवल वही मूर्च्छित हुआ हो, सो बात नहीं; किन्तु उसके साथ उसका भाई स्निग्धकण्ठ भी तन्मयता को प्राप्त हो गया। और केवल स्वयं वे दोनों भ्राता ही उस मूर्च्छा का सेवन नहीं कर रहे थे, किन्तु श्रीकृष्ण के सहित श्रीराधिका के द्वारा सम्मानित उस रात्रि की सभा के सहित मूर्च्छा का सेवन कर रहे थे, अर्थात् उनकी प्रेममयी विवशता को देखकर सारी सभा मूर्च्छित हो गई थी। ऐसी स्थिति में दो घड़ी के बाद सभीजनों के सावधान हो जानेपर, उनकी कथा से प्रसन्न हुई उस सभा ने उन दोनों

परिष्वङ्गश्रेण्या प्रियतमसुहृद्भिर्मुररिपो,-स्तथा राधाप्राणालिभिरतिसुखप्रेक्षणरुचा ।
सराधश्रीकृष्णेन च निज-पदस्पर्शवितर,-श्रियाऽङ्गीकृत्येमौ बत किमनयोर्नेह वरितम् ॥१९७॥

ततश्चाऽभीष्टं वरयतमिति विशिष्टकृपया समादिष्टौ तौ परमशिष्टौ वरयामासतुः,—
"यदपि करुणया वामंघ्रिपार्श्वे निवासं, वरमनुगतवन्तावत्र विस्पष्टमावाम् ।
तदपि च पुनरेवं हन्त वृन्दावनेशौ, प्रकटमभिलषावो यद् युवां वर्णयाव ॥"१९८॥

अथ सख्यानन्दिन्यः काश्चिद्वन्दिन्यः पूर्वचम्पूकथामनुविन्दमानास्तत्र वन्दन्ते स्म—॥१९९

"श्रीमति ! राधे ! श्रीमतिराधे ! भानुतनूजे ! मानुतपूजे !
घोषवरश्रीपोषकरस्त्री -सङ्घ -वरिष्ठा त्वं घननिष्ठा-
वन्दिततृष्णानन्दितकृष्णा लोकहितार्थं श्लोकचितार्थं
सर्वगचित्रं पर्वगमित्रं सम्मतभागाज्जन्म तवागाद्
यत्र च रूपं सत्रसरूपं कृष्टसमस्तं सृष्टसुशस्तं

वक्ताओं के लिए, अनेक प्रकार की वस्तु देने का जो अभ्यास किया था, अर्थात् बारंबार जो अनेक प्रकार का दान दिया था, उसके वर्णन करने से कोई प्रयोजन नहीं है ॥१९६॥

कारण—श्रीकृष्ण के अतिशय प्यारे मित्रों ने आलिङ्गन की परम्परा के द्वारा, तथा श्रीराधिका की प्राणप्यारी सखियों ने अत्यन्त सुखपूर्वक देखने की छवि के द्वारा, और राधिका के सहित श्रीकृष्ण ने अपने चरणस्पर्श के दानरूप सम्पत्ति के द्वारा इन दोनों भाइयों को अङ्गीकार करके,यहाँपर इन दोनों के सन्तोष के निमित्त कौन सा वर नहीं दिया ? अपितु, सारे वर दे दिये । यह महान् हर्ष की बात है ॥१९७॥

उसके बाद प्रिया-प्रीतम ने विशिष्ट कृपापूर्वक जब यह आदेश दिया कि "तुम दोनों अपने अभीष्टवर-दान को माँग लो", तब परमशिष्ट उन दोनों भाइयों ने यही वर माँगा कि—हम दोनों भाई तुम दोनों की अहैतुकी कृपा से, इस गोलोक में तुम दोनों के चरणों के निकट निवासरूप वर को यद्यपि स्पष्ट ही प्राप्त कर चुके हैं, तथापि हे वृन्दावनेश्वर ! हे वृन्दावनेश्वरि ! हम दोनों फिर भी हर्षपूर्वक स्पष्ट यही वरदान चाहते हैं कि, हम दोनों तुम दोनों का फिर भी इसी प्रकार वर्णन करते रहें ॥१९८॥

अब श्रीमती राधिका की लीलाएँ, जन्म से लेकर श्रीगोलोक-विहारतक विरुदावली के द्वारा वर्णन करते हैं। उसके बाद श्रीराधिका की उस सभा में सखियों को आनन्दित करनेवाली वन्दीजनों की कुछ स्त्रियाँ, पूर्वचम्पू की कथा का अवलम्बन करके, श्रीराधिका की स्तुति करने लग गईं ॥१९९॥

यथा—हे श्रीमति ! देवि ! राधिके ! आज तुम गोलोक में आनन्दपूर्वक विराजमान हो ! तुम अपने भक्तों की शोभासम्पत्ति एवं बुद्धि को सिद्ध करनेवाली हो ! हे वृषभानुनन्दिनि ! तुम्हारी पूजा लक्ष्मी के द्वारा प्रशंसित है ! एवं व्रज की श्रेष्ठ शोभासम्पत्ति को पुष्ट करनेवाली व्रजाङ्गनाओं के संघ में तुम श्रेष्ठ हो। एवं अपनी गाढ़ी निष्ठा से प्रशंसित लालसा के द्वारा श्रीकृष्ण को आनन्दित करनेवाली हो। तुम्हारा जन्म (अवतार) सर्वसम्मत सौभाग्य से लोकहितार्थ हुआ था। तुम्हारा जन्म यश से संचित प्रयोजनोंवाला था, सर्वत्र आश्चर्य से युक्त था,उस जन्मोत्सव में सभी मित्र थे। जिस जन्मोत्सव में, तुम्हारा सौन्दर्य यज्ञ की तरह सदा दानक्षेत्र के समान था,सभी को आकर्षित करनेवाला था,एवं सुन्दर मङ्गलों की सृष्टि करनेवाला

तातमुखानां जातसुखानां चाऽजनि शङ्का राजचिदङ्का
तैरवरोधे स्वैरनिरोधे रङ्गयुगाप्ता -सङ्गतिमाप्ता
शर्मदबाल्या नर्मदलाल्या खेलितलोला हेलितचोला
धूलिषु भान्ती शूलिषु यान्ती कर्दमदिग्धा नर्दनिदिग्धा
भ्रातृनिरुद्धा मातृविशुद्धा स्तन्यसुपुष्टा जन्यनुजुष्टा
क्वापि च मात्रा स्वापितगात्रा श्यामलनाम्ना श्यामसुधाम्ना-
प्यश्रुततत्त्वादद्भुतसत्त्वा वंशजगानाद् वंशसमानात्
ताडितकल्पा नाडितजल्पा पाति च ताते वाति सुवाते
केशवगन्धा वेशविसन्धा सूचितभीत्या सूचितरीत्या
त्वं तव पित्रा स्वन्तरवित्रा जातु सुतेष्टा दातुमथेष्टा
तस्य सपात्रं यस्य तु गात्रं श्यामलधाम श्यामलनाम-
स्वान्तमभीष्टः कान्तततीष्टः क्रूरनिरुद्धया शूरजबुद्धया
गर्गनिदेशादर्गलवेशा -दन्यगदानं गण्यसमानं

था। तुम्हारे जन्म से सुखी हुए, पिता आदि बन्धुओं को राजचिदङ्का (कंस-ज्ञानलक्षणा), अर्थात् "हमारी पुत्री के जन्मगत सौन्दर्य को कंस न जान ले" इस प्रकार के चिह्नवाली शंका उत्पन्न हो गयी थी। पश्चात् उन्हीं माता पिता आदि के द्वारा अन्तःपुर में खेल की स्वतन्त्रता रोक देनेपर, तुम क्रीडा से युक्त अपनी ललिता आदि सखियों की सङ्गति को प्राप्त करनेवाली हो। तुम्हारा बालकपन सुखप्रद है। तुम्हारा लालन पालन भी क्रीडाप्रद है। तुम खेल में चंचल रही हो। अतः अपनी चोली का भी तिरस्कार करनेवाली हो, अर्थात् खेल की आसक्ति में पीत अँगुलिया को भी फेंकनेवाली हो। एवं व्रज की धूलियों में शोभा पाती हुई, शिवजी के स्थानों में जाती हुई, कीचड़ से व्याप्त होनेवाली हो। एवं सखियों को बुलाने के लिए चिल्लाने में आसक्त रही हो। अपने भाइयों के द्वारा खेलने से रोकी गई हो। पुनः माता के द्वारा स्नान कराके विशुद्ध की गई हो,अथवा तुम्हारी माता परमपवित्र हैं। तुम माता के स्तनों के दुग्ध से परिपुष्ट हुई हो। एवं "जनीभिः—वधूभिरनुसेविता" अर्थात् वधुओं के द्वारा सेवित हुई हो। और कहीं कहींपर माता के द्वारा तुम्हारा शरीर थपोड़ कर सुला दिया जाता था। एवं श्यामवर्णवाले श्रीकृष्ण के नाम से तथा श्यामवर्ण के सुन्दर तेज से भी आँसुओं से व्याप्त होने के कारण, तुम अद्भुत स्वरूपवाली हो। एवं वंश की समानतावाले, अर्थात् "मैं गोपवंश का हूँ, तुम भी गोपकन्या हो, अतः हम तुम दोनों का सम्बन्ध उचित है" इस प्रकार वंश की तुल्यता बनानेवाले श्रीकृष्ण के वेणुगीत से ताड़ित के समान हो रही हो। उस समय तुम्हारा बोल भी बन्द हो जाता था। तुम्हारे पिता जब तुम्हारी रक्षा करते थे, एवं मलयपवन जब बहता था, तब तुम केशव के सम्बन्धरूप गन्ध से युक्त हुई हो। उस समय तुम वेष में भी अनुसन्धान रहित रही हो, एवं सूचित किये हुए भय से तथा अच्छी उचित रीति से, अपने अन्तःकरण में तुम्हारी भली प्रकार रक्षा करनेवाले तुम्हारे पिता ने,अपनी इष्ट पुत्री जो तुम हो,कभी तुम्हारे दान करने की इच्छा की थी,किन्तु उस कन्यादान का पात्र वही होगा कि,जिसका शरीर श्यामतेजवाला होगा,एवं जिसका नाम भी श्यामवर्णपर होगा, वही वर तुम्हारे पिता के मन में अभीष्ट था, जो कि रमणीयजनों की श्रेणी में पूजित है। किन्तु कंस आदि क्रूरजनों को रोकनेवाली वसुदेवजी की बुद्धि से अर्गल (अड़बंगा) के समान श्रीगर्गाचार्य के आदेश से

बालतया नाऽत्रालमजानाद् देहविवृद्धिः स्नेहसमृद्धि-
श्चेति सदागाश्चेतितरागा वर्णसमेधा कर्णगवेधा
नव्यशिरस्या स्तव्यशिरस्या घ्राणसभाऽऽस्या प्राणसमाऽऽस्या
तन्मधुरिम्णा शर्मवरिम्णा त्वदहृदयार्त्या तदहृदयार्त्या
शंयुतलोकैः संयुतशोकै -र्लाल्यतयाभूर्बाल्यदयाभू-
स्तावदथान्या भावकमान्याः सत्कुलभावास्त्वत्तुलभावा
वांछितकान्ता लांछिततान्ता द्राग् गतशातास्ता बत जाता ॥ देवि ! ॥२००

शिशुवयसि च सर्वं शीलरूपादखर्वं, जगदपि धृतहर्षं निर्ममे जातकर्षम् ।
मुहुरपि तु भवत्या विस्फुरत्कान्तिमत्या, समरचि निजलोकः शङ्कया जातशोकः ॥२०१॥

"अपि च—कालियमर्दे ज्वालिविमर्दे यूयमयध्वे भूयसि धध्वे
स्माऽजितवीक्षामाजितदीक्षा जातविमोहाः प्रातरथोहाऽ-
पोहविसृष्टाः श्वोऽहनि दृष्टाः सद्मनि चैतास्तद्वदथैताः
कंसनिहन्त्रा वंशजमन्त्रा-दाचितचित्ताः साचितवित्ता-

श्रीकृष्ण से भिन्न दूसरे के लिए किये गये अपने दान को जो कि गिनती में समान था, उसको तुमने बालकपन के कारण इस बाल्यावस्था में नहीं जाना। पश्चात् तुम्हारी देह की वृद्धि एवं स्नेह की समृद्धि सदैव होती रही। इसीलिए तुम्हारा अनुराग जागृत हो गया। पश्चात् रूप की वृद्धि हो गई, कर्णवेध संस्कार भी हो गया। उस समय तुम्हारे केश नवीन थे। अतः तुम प्रशंसनीय नारियों में शिरोमणि थीं। नासिका द्वारा तुम्हारा मुख, कान्ति से युक्त था। तुम्हारी स्थिति, प्राण के समान प्यारी सखियों के साथ थी। उस प्रकार के माधुर्य से युक्त सुख की श्रेष्ठता से मङ्गलयुक्त लोगों द्वारा, एवं "तुम्हारा विवाह दूसरे के साथ होगा" इस समाचार से तुम्हारे हृदय में जो पीडा हुई, उस पीडा से श्रीकृष्ण के हृदय में पीडा हुई, उसी पीडा के कारण शोकाकुल लोगों के द्वारा, लालन पालन करने के योग्य होने के नाते, तुम बाल्यावस्था में दया की भूमि, अर्थात् स्नेहोबन्धुओं की दया का पात्र बन चुकी हो। और ललिता, विशाखा, धन्या, एवं चन्द्रावली आदि जो दूसरी गोपियाँ हैं, वे भावुक उपासकजनों की माननीय हैं। उनका भी जन्म सत्कुल में हुआ है, एवं वे तुम्हारे समान भाववाली हैं, वे भी श्रीकृष्णरूप पति को चाहती थीं, किन्तु प्राकृतपतियों के सम्बन्धरूप कलंक से वे ग्लानियुक्त थीं, अतः वे शीघ्र ही सुखरहित हो गई थीं। हे देवि ! यह खेद की बात थी ॥२००॥

और तुमने बाल्यावस्था में अपने श्रेष्ठ स्वभाव एवं लोकोत्तर सौन्दर्य से, समस्त विशाल जगत् भी हर्ष को धारण करनेवाला बना दिया, एवं आकर्षित भी कर लिया था। स्फूर्ति पानेवाली कान्ति से युक्त होने के कारण, उस समय तुमने अपने परिवार का जनमात्र, बाह्यशंका के द्वारा बारंबार शोकवाला बना दिया था ॥२०१॥

और उसके बाद तुम सब गोपियाँ, कालिय का मर्दन करनेवाले एवं विरहरूप अग्नि को विनष्ट करनेवाले श्रीकृष्ण के निकट चली गई हो, वहाँपर बारंबार श्रीकृष्ण का दर्शन किया है। पश्चात् "आजित-दीक्षाः—आक्षिप्तनियमाः सत्यः" अर्थात् सांसारिक नियमों को तोड़कर विमुग्ध हो गई थीं (अजक्षेपणे धातुः)। पश्चात् प्रातःकाल तर्क वितर्क से रहित होकर, दूसरे दिन घर में "ऐताः—आगताः", आई हुई

स्तत्प्रभृति त्वं तत्प्रकृतिस्वं लोभयमाना शोभयमाना
धेनुकपाले धेनुककाले तत्र दिनान्ते सत्रभकान्ते
तस्य विलोके सस्यदलोके ताभिरुपेता साभिकचेता
द्रागथ कान्तं रागमितान्तं तं त्वमपश्यः शन्तमवश्यः
सोऽपि बत त्वां गोपितसत्त्वां बाढमपश्यद् गाढमनश्यद्
धैर्यकथापि स्थैर्यमथापि स्वं युतवन्तौ शंयुभवन्तौ
गेहमुपेते स्नेहनिकेते त्वाक्षयलोकस्त्वानयदोकः
कालविलंबे कालविलंबे दैवपरीते चैवमतीते
दुःखजशूले दुःखनमूले छद्मपतीनां सद्मगतीनां
संयतिकाले संयतिजाले भीतिपरीता नीतिमतीताः
कालिककुण्डे कालिकतुण्डे मज्जनकामावर्जनवामा-
स्तत्र गतास्ताः स्वत्रहतास्था नाथविलग्नाः पाथसि मग्नाः
सूरसूता वः सूरतभावस्त्रावितचक्षुर्भावि विवक्षुः
स्थानमनैषीन्मानमचैषीत् पूर्णिमया सा पूर्णितभासा-

देखी गईं। उसके बाद वे गोपियाँ,श्रीकृष्ण ने उसी प्रकार वंशी के गम्भीर शब्द से आकर्षित चित्तवाली कर लीं, एवं विचार के भाव से सम्पन्न हो गईं। हे राधिके ! उस समय से लेकर तो तुमने उस प्रकार के स्वभाववाले आत्मीय श्रीकृष्ण को अपने प्रति लुब्ध करके, एवं सुशोभित करके, धेनुवृन्द की रक्षा करने-वाले श्रीकृष्ण, जब धेनुवृन्द को वन से व्रज की ओर ला रहे थे, एवं वह सायंकाल जब उत्सव के समान मनोहर हो गया था, तथा श्रीकृष्ण के दर्शननिमित्त सब जन जब वेगयुक्त हो रहे थे, तब तुमने ललिता आदि उन सखियों से मिलकर, श्रीकृष्णदर्शन की कामना से युक्त चित्तवाली होकर, अधिक अनुरागवाले नित्यपति उन श्रीकृष्ण को शीघ्र ही देख लिया था। अहह ! तुम्हारे प्रेम के वशीभूत हुए श्रीकृष्ण ने भी अपने स्वभाव को छिपानेवाली तुम को दृढरूप से देख लिया था। उस समय दोनों के धैर्य की कथा भी अधिक विनष्ट हो गई थी, तो भी अपने स्थैर्य को सम्मिलित करनेवाले तुम दोनों कल्याणविशिष्ट हो गये थे। पश्चात् स्नेह के स्थानस्वरूप श्रीकृष्ण जब अपने घर चले गये थे, तब तुम्हारे घर के लोग तुम को भी अपने घर लिवा लाये। जिसमें अवसर का विलम्ब है, उस काल का विलम्ब हो जानेपर, दैव से व्याप्त विलम्ब के इस प्रकार बीत जानेपर, वियोगरूप दुःख से उत्पन्न शूल के मूल का उखाड़ना कठिन हो जाने-पर, एवं मिथ्यापतियों के घरों में जाने का समय आ जानेपर, एवं अपने अपने घर में भी रुकावट का जाल फैल जानेपर, भय से व्याप्त होकर,लौकिकनीति को लाँघकर, कालियह्रद में कालीनाग के मुख में डूबने की इच्छावाली,एवं इस बात के निषेध में प्रतिकूलतावाली वे तुम सब गोपियाँ वहाँपर चली गई थीं। उस समय अपने जीवन के विषय में तुम सब की आस्था विनष्ट हो गई थी। अतः अपने स्वामी श्रीकृष्ण में आसक्त होकर जल में डूब गई थीं। उस समय सूरसुता (यमुना) तुम सब की सूरतभाव (दयालुता) से प्रेमाश्रु बहाती हुई, आगे होनेवाले श्रीकृष्ण के सङ्गम को कहने की इच्छावाली होकर, तुम सब को अपने स्थान-पर ले गई। वहाँपर तुम्हारा विशेष मान भी किया। पश्चात् यमुनाजी ने पूर्णकान्तिवाली पूर्णिमादेवी के

सान्त्वयदुक्त्या सान्त्वनयुक्त्या तद्वरवल्या गत्वरशल्या
गेहमनिष्टं चेह निदिष्टं ताभिरयित्वा ता भियमित्वा
ह्रासससशङ्कान् वासकलङ्का-नङ्कभवत्यः सङ्गतवत्य-
स्तद्वदनन्ताऽऽपद्वदलन्ता -भाग्मिलनेहाद्याविलदेहा
त्वादृशरामा हा कृशधामा स्पष्टतयाऽऽसीत् कष्टमयासी-
द्रागभृतान्तः स्त्रागथ कान्तः कीर्तितकान्ताः कीर्तिनितान्ताः
क्रष्टुमभूद् वः स्त्रष्टुमपूर्वः स्वैरबलाद्यं वैणववाद्यम् ॥ देवि ! ॥२०२॥

अनभिमतनिशान्तं तत्तु गत्वा स्वकान्तं, मनसि विदधती त्वं पर्यरक्षः सतीत्वम् ।
यदि हृदि तव राधे ! सोऽयमुच्चैरबाधे, वसति कथमहृद्यं तर्हि तिष्ठेदमृद्यम् ॥२०३॥

"अपि च—या वरलीला क्ष्माधरशीला तत्प्रमितीनां तत्र कृतीनां
सन्ततसाराऽनन्तविहारा येऽप्यतिकर्ण्यास्ते कति वर्ण्याः
माधवगानाऽगाधवितानाज्ज्ञानविनाशे प्राणमिताऽऽशे
पूर्णिमयात्रा प्यूर्णितगात्रा त्वं प्रतिकर्तुं स्वं परिकर्तुं
हा श्रमपीता स्वाश्रमनीता पूर्णिमयाऽथो पूर्णितपाथो-

द्वारा सान्त्वना की युक्तियोंवाली उक्ति (कथन) से तुम सब को सान्त्वना दिला दी थी, एवं पूर्णिमा के वरदानरूप लता के द्वारा तुम्हारा मानसिक काँटा दूर भाग गया था। और यहाँपर बताये हुए अनिष्टघर में उन पूर्णिमा आदि के साथ जाकर, तुम सब गोपियाँ भय को पाकर, प्रेम के ह्रास की शंका से युक्त निवासरूप कलंकों को अङ्क (पुनः) प्राप्त हो गई थीं। हाय ! उसी प्रकार "अनन्तापद्युक्तामलन्तां भजति यन्मिलनेहादि तेन आविलदेहा" अनन्त आपत्तियों से युक्त अधिकता की सेवन करनेवाली जो मिलन की चेष्टा आदि उसके द्वारा मलिन देहवाली तुम्हारे जैसी महिला स्पष्ट ही कृशशरीरवाली हो गई थी, एवं महान् कष्ट भी पा रही थी। उसके बाद जिनका अन्तःकरण अनुराग से भरा हुआ है, वे अपूर्वकान्त श्रीकृष्ण तुम सब को आकर्षित करने के लिए, स्वतन्त्र बल आदि से युक्त वेणु के वाद्य की सृष्टि करने को स्राक् (तत्काल) प्रवृत्त हो गये। हे देवि ! यह बात आपको ज्ञात ही है ॥२०२॥

हे राधिके ! तुमने अनभिमत (अनिष्ट) उस निशान्त (घर) में जाकर, मन में अपने नित्यकान्त श्रीकृष्ण को धारण करते करते अपने सतीधर्म की रक्षा कर ली थी। अतः बाधारहित तुम्हारे हृदय में श्रीकृष्णरूप वह कान्त यदि निवास करता है, तब परपति के घर जानारूप यह अप्रिय विषय न कुचलने योग्य कैसे रह सकता है ? ॥२०३॥

और हे देवि ! तुम्हारी जो लीला है वह श्रेष्ठ है। तुम्हारा स्वभाव, पर्वत के समान अचल है। जिनको श्रीकृष्ण का यथार्थ ज्ञान है, एवं जो श्रीकृष्ण के भजन में निपुण हैं, उनके निरन्तर सारांश से युक्त जो श्रीकृष्ण के विहार हैं, वे अत्यन्त विख्यात हैं, वे कितने वर्णन किये जा सकते हैं ? अर्थात् समस्त नहीं। श्रीकृष्ण के वेणुगान के अगाध विस्तार से उत्पन्न मोह के द्वारा ज्ञान का लोप हो जानेपर, उस प्रकार के ज्ञान के लोप में प्राणमात्र से जीवन की आशा निर्णीत हो रही थी। उस समय तुम्हारे निकट पूर्णिमा की यात्रा, अर्थात् आगमन हुआ। तब तुम्हारा शरीर वस्त्रों से ढका हुआ था, एवं हाय ! तुम खेदग्रस्त थीं, अतः तुम्हारे खेद को दूर करने के लिए, तथा अपने आश्रम को (तुम्हारे द्वारा) सुशोभित करने के लिए तुम

धि-प्रभकान्तः क्षिप्रमितान्तः प्राघटि यर्हि प्राकटि तर्हि त्वाञ्चरणाग्र - प्राञ्चलजाग्र-द्रौतिमकार्षीद् भीतिमहार्षीत् तोदयकान्तः सोऽयमघान्त-स्तत्पदरागं सत्पदभागं प्रापुरनिन्द्यप्राणपुलिन्द्यः स्वोपरमाणां गोप-रमाणां चाद्भुतदेहा भानुतदेहा-स्तद्विधरागे सद्विधभागे शारदभासं शारदमासं त्वं भजमाना तं यजमाना रागनितान्तं द्रागधिकान्तं सर्वसमेताखर्वमुदेता नर्मणि भीता शर्मणि नीता तेन सगीता तेन परीता-सैकतदेशा सैकतयेशा लुप्तविहारा सुप्तविचारा माधवमात्राराधनपात्राऽनन्यमनस्का धन्ययशस्का लब्धवयस्याऽऽरब्धरहस्या स्वेषिविनीता द्वेषिविगीता-प्यांघ्रिपमाप्ता स्वांघ्रिपदाप्ता प्रेमजकोपात् स्थेमविलोपात् प्राणपमुक्ता त्राणवियुक्ता स्वाभिरुपेता ताभिरुतेता

पूर्णिमा के आश्रम में पहुँचा दी गई । उसके बाद परिपूर्ण समुद्र की सी कान्तिवाले श्रीकृष्ण,पूर्णिमा के द्वारा जब शीघ्र ही तुम्हारे निकट उपस्थित कर दिये;एवं श्रीकृष्ण जब प्रगट कर दिये, तब उन्होंने तुमको अपने चरणों के अग्रभाग की सरलता से जागरूक (सचेत) कर दिया था। एवं सजल जलद से भी मनोहर उन अघारि ने तुम्हारा भय भी हर लिया था। उस समय केसर कस्तूरी आदि श्रेष्ठ वस्तुओं के अंश से युक्त श्रीकृष्ण के चरणों का जो अङ्गराग था,वह प्रशंसनीय जीवनवाली भीलनियों ने प्राप्त कर लिया था। तथा 'स्वेभ्य उपरमन्तीति'अपने जनों से उपराम पानेवाली गोपाङ्गनाओं के जो अद्भुत देह हैं,वे कान्ति से प्रशंसित स्वरूपवाले हैं,वे शरीर श्रीकृष्णचरण के उस प्रकार के अङ्गराग में श्रेष्ठ प्रकार के अंश से युक्त हो जानेपर, विशुद्ध चन्द्रमा से युक्त शरत्काल के महीने को प्राप्त कर,तुमने श्रीकृष्ण का पूजन करते करते अधिक अनुरागी, एवं अधिक मनोहर श्रीकृष्ण को सभी सखियों से सम्मिलित होकर, शीघ्र ही विशाल हर्षपूर्वक प्राप्त कर लिया। तुम श्रीकृष्ण के उदासीन परिहास में भयभीत हुई हो। अतः श्रीकृष्ण ने मिलन सुख में पहुँचा दी हो। तुम्हारा गाना श्रीकृष्ण के समान है। श्रीकृष्ण के साथ तुमने चारों ओर बालुकामय प्रदेश प्राप्त कर लिया था। श्रीकृष्ण के साथ अकेली होने से (और गोपियों के सामने श्रीकृष्ण के अन्तर्हित होनेपर भी) तुम्हारा विहार लुप्त नहीं हुआ, किन्तु सभी सखियों के समान श्रीकृष्ण से मान करनेपर, तुम्हारा विहार भी लुप्त हो गया था, अतः श्रीकृष्णवियोग में तुम्हारा विचार भी सो गया था। केवल श्रीकृष्ण की आराधना की तुम्हीं आधार हो। तुम्हारा मन श्रीकृष्ण से दूसरी जगह नहीं जाता है, अतः तुम्हारा यश धन्य है। तुमने श्रीकृष्णरूप मित्र को प्राप्त कर लिया था, अतः रासलीलारूप गुप्तरहस्य आरम्भ कर दिया था। तुम्हारे भक्तों के द्वारा तुम विनीत (विनम्र एवं जितेन्द्रिय) मानी जाती हो। द्वेषीजनों द्वारा निन्दित होकर भी तुमने (कृष्ण के साथ एकान्त में) एक वृक्ष को प्राप्त कर लिया था। सखियों को तुम्हारे चरणों के चिह्नों से ही तुम्हारी प्राप्ति हुई थी। उस से पहले तुम्हारे प्रणयकोप से तुम्हारी स्थिरता लुप्त हो जाने से "न पारयेऽहं चलितुं नय मां यत्र ते मनः" इत्यादि कहने से तुम प्राणरक्षक श्रीकृष्ण के द्वारा छोड़ दी गई हो, अतः रक्षकरहित होकर अपनी सखियों से मिलकर, उन्हीं के साथ रुदन को प्राप्त हो गई हो। पश्चात्

स्वेषणधामाऽन्वेषणकामा शान्तविहारं कान्तविचारं
कान्तमयाता तान्ततया ता-मायतसौरीमायत गौरी
या भवती सा लाभवतीशा सत्रसमाना तत्र च गाना-
दाहृतकृष्णा व्यापृततृष्णा-प्यर्चितमाना तच्चितमाना
नर्मदहासा शर्मदरासा नीरगखेला तीरगहेला
त्वं हरिकान्ता स्वं परिशान्ता गेहमितापि स्नेहजतापि-
स्वान्तरमग्नाऽर्थान्तरलग्ना कृष्णगताऽऽशीर्धृष्णगथाऽऽसीः ॥ देवि ! ॥२०४

अमितगणसपत्नीजैत्रमास्ते सयत्नी,-भवदिव सुयशस्ते हन्त सर्वप्रशस्ते ।
तदपि परमलीला-विश्वविस्मापिशीला, त्वमथ न तदजानाः कृष्णतृष्णैकताना ॥२०५॥

"अपि च—तत्प्रभृति त्वं तत्र कृतित्वं केलिषु याता मेलितशाता
कान्तविसृत्या कान्तविहृत्या कर्हि च युक्ता कर्हि च मुक्ता
शङ्करयात्राशङ्करगात्रा होरिकपर्वा गौरि ! सगर्वा

अपनी वांछित मूर्ति श्रीकृष्ण के अन्वेषण (खोज) की कामनावाली होकर भी तुम "अकेले होने के कारण" शान्त विहारवाले एवं मनोहर विचारवाले श्रीकृष्णरूप कान्त को न पाकर, ग्लानि से युक्त होकर, उस लम्बी चौड़ी यमुनापर चली आई हो। एवं जो तुम गौरी हो वही तुम, श्रीकृष्ण का लाभ करनेवालियों की ईश्वरी हो, तो भी तुम्हारा मान उद्वेग के सहित था। और उसी यमुनापुलिन में "जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः" इत्यादि गोपीगीत के गाने से तुमने श्रीकृष्ण को आकर्षित कर लिया था। मिलन की तृष्णा के व्यापार से युक्त होनेपर भी श्रीकृष्ण ने तुम्हारे मान का सम्मान किया था, एवं श्रीकृष्ण ने तुम्हारे मान (चित्त को समुन्नति) का भी संग्रह किया था। तुम्हारा हास्य क्रीडाप्रद था, एवं तुम्हारा रास सुखप्रद था। तुमने रास के बाद श्रम को दूर करने के लिए जलक्रीडा की थी। यमुना के तोरपर तुम्हारी हेला (शृङ्गारभाव से उत्पन्न क्रिया) हुई थी। तुम श्रीकृष्ण की नित्यकान्ता हो, अतः अपने को लक्ष्य करके शान्त रहती हो। रास के अन्त में घर में जाकर भी, स्नेह से उत्पन्न सन्ताप से युक्त अपने अन्तःकरण में निमग्न होकर, पुनः श्रीकृष्ण से मिलनरूप प्रयोजन में संलग्न होकर, कृष्ण में विद्यमान कामना से युक्त होकर, तुम धृष्णक् (ढीठ) हो गई हो। हे देवि ! आज तुम निर्द्वन्द्व विराजमान हो ॥२०४॥

हे सर्वजन-प्रशंसिते ! श्रीमति ! राधे ! तुम्हारा जो सुयश है, वह मानो प्रयत्न सा करता हुआ, चन्द्रावली आदि अपरिमित यूथवाली तुम्हारी सपत्नियों को जीतनेवाला होकर विद्यमान है। यह हर्ष है, तो भी तुम्हारा यह स्वभाव है कि, उत्कृष्ट लीला के द्वारा विश्व को विस्मित (चकित) कर देती हो। किन्तु श्रीकृष्णप्राप्ति की तृष्णा से एकाग्र चितवाली तुम तो उस प्रकार के यश को एवं लीला आदि को नहीं जान पाती हो ॥२०५॥

और उस रासलीला की समाप्ति से लेकर तो तुम उन क्रीडाओं में निपुणता को प्राप्त होकर, सुख का सम्मेलन करानेवाली हो। मनोहर विस्तारवाला श्रीकृष्ण के साथ जो विहार है, तुम उस विहार से कभी युक्त, एवं कभी वियुक्त रही हो। "शंकरयात्राया अम्बिकावनयात्रायाः शंकरोति गात्रं यस्याः", अर्थात् तुम्हारा शरीर अम्बिकावन की यात्रा का कल्याण करनेवाला है। एवं फाल्गुन में होलीपर तुम्हारा महान् पर्व होता था। हे गौरि ! राधे ! शंखचूड के पास से मणि न मिलनेपर तुम गर्व के सहित ही रहीं। श्रीकृष्ण

घस्त्रगगीताऽजस्त्रपरीताऽरिष्टवधान्ते त्विष्टदकान्ते
सन्दितनर्मा नन्दितशर्मा तुण्डविभात्री कुण्डविधात्री
पर्वतराजे पर्वसमाजे सज्जितभासा रञ्जितरासा
सा मधुरायां धामधुरायां स्त्रागगतकान्ताऽनारततान्ता
वल्लभवार्ता -पल्लववार्ताप्युद्धवदृष्ट्याप्युद्धतधृष्ट्या
षट्पदमात्रं तत्पदपात्रं संप्रति मत्वा तं प्रति गत्वा
क्लान्तिनिदानभ्रान्तिजमान-व्याकुलजल्पा वातुलकल्पा
वाचिकमर्माऽभ्याचितशर्मा तर्ह्यपि कष्टं गर्ह्यमनष्टं
क्वापि च मत्वा तापितसत्त्वा रामनिदिष्टं सामविशिष्टं
भूय उपेता यूयमकेतास्तद्ग्रहणान्तःसद्ग्रहकान्त-
श्लाघिततर्षा द्राघितहर्षा स्वागमनाशा-भागविनाशाऽ-
ङ्गीकृतिरीत्या श्रीपतिनीत्या श्रद्धितचित्ता तद्धितवित्ता
नाथनिदेशेनाथ च देशे स्वे पुनरेतास्तेपुरपेता
गोकुलमेते गोकुलकेते त्वत्रभवत्यस्तत्रभवत्य-

जब गोचारण को वन में चले जाते थे, तब तुम दिन में होनेवाले वेणुगीत या युगलगीत में निरन्तर सखियों से घिरी रहती थीं। एवं अरिष्टासुर के वध के बाद तो तुम अभीष्ट देनेवाले श्रीकृष्ण के निकट परिहास निबद्ध करनेवाली हो। श्रीकृष्ण के सुख को समृद्ध करनेवाली हो। अपने श्रीमुख से सुशोभित होनेवाली हो। अरिष्टासुर के वध का पाप दूर करने के लिए श्रीकृष्ण द्वारा "राधाकुण्ड एवं कृष्णकुण्ड" बनवानेवाली हो। एवं श्रीगिरिराज में पर्व के समाज में अथवा उत्सव के समाजरूप श्रीगोवर्धन में अपनी छवि को प्रकाशित करके रासविलास को सुसज्जित करनेवाली हो। प्रभाव के भार को धारण करनेवाली मथुरा में श्रीकृष्ण जब स्राक् (झटपट) चले गये थे, तब वे ही तुम निरन्तर ग्लानियुक्त होकर, अपने प्यारे की बातचीत से विस्तृत जीविकावाली होकर, उद्धव के दर्शन करके भी उद्धत ढीठता से भ्रमरमात्र को तत्काल श्रीकृष्ण का दूत मान कर, उस भ्रमर की ओर जाकर, ग्लानि का आदिकारणरूप भ्रम से उत्पन्न मान के द्वारा, तुम्हारा स्पष्ट वचन व्याकुल हो गया था, अतः तुम उन्मत्त के समान थीं। पश्चात् उद्धवसन्देश के अभिप्राय से सुख का संग्रह करनेवाली होकर भी, उस निन्दनीय विरह के कष्ट को किसी विषय में नष्ट न मान कर, तुम्हारा स्वभाव सन्तप्त हो गया था। पश्चात् कुछ दिन बाद सान्त्वना के प्रयोग से युक्त श्रीबलरामजी के आदेश को पुनः प्राप्त करके, तुम सब गोपियाँ कुरुक्षेत्र में उस सूर्यग्रहण के मध्य में सम्मिलित होकर, तुम्हारे अंगीकार-रूप श्रेष्ठ आग्रहवाले तुम्हारे प्रियतम श्रीकृष्ण ने तुम्हारी वासना की प्रशंसा की थी, अतः तुम्हारा हर्ष बढ़ा दिया था। एवं अपने (श्रीकृष्ण के) व्रज में आने की आशा से युक्त नाशरहित अङ्गीकार करने की रीति से, श्रीकृष्ण की नीति से तुम्हारा चित्त श्रद्धायुक्त हो गया था। क्योंकि श्रीकृष्ण का हित ही तुम्हारा धन था। तदनन्तर अपने प्राणनाथ के आदेश से अपने व्रजदेश में आ कर भी, अपने नाथ से विरहित होकर, वे सब पुनः सन्तप्त हो गई थीं। पश्चात् गोकुलवासी-श्रीकृष्ण के पुनः गोकुल (व्रज) में "आ इते" आ जानेपर यहींपर रहनेवाली पूज्यपाद आप सब गोपियाँ तत्काल श्रीकृष्ण को पाकर, परगृहवास से होनेवाले सतीधर्म

स्तं सपदीता ध्वंसमतीताः संप्रति माया-दंपतितायामन्यगतायां धन्यगतायां तत्परिणीतास्तं परिणीतास्त्वं पुनरेषा सद्‌गुणवेषा सर्वसपत्नी-गर्वसयत्नीभावमतीता भावपरीताऽग्रण्यगवृन्दारण्यगवृन्दा स्वान्तरवस्था कान्तवशस्था मन्दसुहासा चन्दनवासा शन्दविकासा मन्दविलासा छन्दनिवासा-स्कन्दनयासा नन्दनिवासाऽऽनन्दचिदासा नन्दजभासा कन्दरवासा कन्दलहासा कन्दसमासा राजसि राधे ! राजसि राधे ! ॥ देवि ! ॥२०६॥

चिरविरहविदूना कान्तमुत्कं यदूना,-मधिपसुखवितानादागतं विन्दमाना।
अपुनरुदितबाधा तं विलासेन राधा, वशयति शुभवेषा याऽवताद् भव्यमेषा ॥२०७॥

तदेवमप्यवधाय पुनः स्व-वर्णितसुखमन्तरुपधाय बहु नमस्कुर्वन्तौ परमगुणवन्तौ तत्प्रसादवसनादिकं धारयन्तौ निश्चलप्रेमवाष्पधारया वर्त्म पिच्छिलं भावयन्तौ सूत-सुतसन्तौ

के ध्वंस को अतिक्रमण कर गई थीं। इस समय मायाकल्पित जो तुम्हारा दम्पतिभाव था, अर्थात् माया के द्वारा बनाई हुई जो तुम्हारी जैसी गोपियाँ थीं, वे अभिमन्यु आदि गोपों के निकट जब चली गईं, तब तुम्हारे दम्पतिभाव के प्रशंसनीय हो जानेपर, श्रीकृष्ण के साथ विवाहित हो जानेपर, तुम सब पौर्णमासी के द्वारा श्रीकृष्ण की ओर पहुँचा दी गई हो। हे राधिके ! ये तुम तो पुनः श्रेष्ठगुण वेषवाली हो, एवं चन्द्रावली आदि समस्त सपत्नियों के गर्व के प्रयत्नयुक्त भाव को लाँघ चुकी हो। एवं तुम्हारे भाव से व्याप्त गोपियों में अग्रगण्य रहनेवाली जो वृन्दादेवी है, वह एवं वृन्दावन में स्थित जो सखीवृन्द है, वह तुम्हारा निजी है। तुम्हारी अवस्था आन्तरिक है, तुम नित्यकान्त श्रीकृष्ण के अधीन हो, एवं श्रीकृष्ण भी तुम्हारे लोकोत्तर प्रेम से तुम्हारे अधीन हैं। तुम्हारी मन्दमुस्क्यान परमसुन्दर है, चन्दन से तुम सुगन्धित हो, तुम्हारा विकाश कल्याणप्रद है, तुम्हारा विलास अमन्द (चातुर्यपूर्ण) है। तुम्हारा निवास (वृन्दावन की कुंजों में या महल में) अपने अभिप्राय के अनुसार है। अतः तुम्हारा प्रयास अस्खलित (स्थिर) है। श्रीनन्दभवन में तुम्हारी स्थिति आनन्दमयी बुद्धि से है, एवं नन्दलाल से तुम्हारी शोभा है, तथा तुम्हारे द्वारा नन्दलाल की शोभा है। श्रीगोवर्धन की कन्दरा में भी तुम्हारा निवास रहता है। तुम्हारा हास्य नवीन अंकुर का सा है। "कन्दसमासा—कं जलं ददातीति कन्दो मेघस्तेन समः श्रीकृष्णस्तेन आसः उपवेशो यस्याः सा", अर्थात् मेघ के समान कान्तिवाले श्रीकृष्ण के साथ तुम्हारी स्थिति है। अतः परमाराधनीये ! देवि ! राधिके ! तुम आज गोलोक में आनन्द से विराजमान हो। तुम्हारी सदा जय हो ॥२०६॥

श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने से चिरकालतक विरह से सन्तप्त होनेवाली श्रीराधिका "व्रज में आने के लिए उत्कण्ठित, अतएव यदुवंशियों के अधिपति श्रीउग्रसेनजी महाराज के राजकीय सुख के विस्तार से युक्त द्वारकानगर से आये हुए" अपने प्रियतम श्रीकृष्ण को प्राप्त कर, पुनः उत्पन्न होनेवाली विरहबाधा से रहित होकर, अपने मनोहर विलास के द्वारा उनको अपने अधीन बना रही है। अतः मङ्गलमय वेषवाली जो यह राधिका है, वह हमारे मङ्गल की रक्षा करती रहे ! यही हमारी विनम्र प्रार्थना है ॥२०७॥

इस प्रकार श्रीराधिका की वन्दना को भी सावधानी से करके, पुनः अपने द्वारा वर्णित भगवत्सम्बन्धी लीलासुख को अन्तःकरण में स्थापित करके, परमगुणवान् वे दोनों श्रेष्ठ सूतपुत्र बहुत बार

निजाऽऽलयं कलयामासतुः। सखायश्च सुखातिशयमयतामयमाना निजं निजमयनमयन्ति स्म। सखी-प्रभृतयश्च परमशर्मभृतयः स्वस्वाऽवसरविसराऽनुरूपं तत्तद्वस्तूपाददानाः सावधानाः सेवानिधानायन्ते स्म ॥२०८॥

श्रीराधा-कृष्णौ च निजतत्तत्पूर्वकथानुभवेन परस्परस्फीततृष्णौ परमसुखकल्पे दिव्यतल्पे शयानतामयाऽऽनन्दं विन्दतः स्म ॥२०९॥

किं बहुना ? अनयोः स एष व्यवहारः सर्वदा सहचरीणां हारवद् विहरति ॥२१०॥

शश्वद् ध्यायति दूरगस्थिति मिथः सूक्ष्मप्रथं चायति
प्राज्याऽन्तर्गतमात्मनर्म तु सखीमध्यस्थितं पश्यति ।
राधा-माधवनामधेयमिथुनं विघ्नानतीत्याऽमितान्
दांपत्ये स्थितमत्र वा यदि रहः प्राप्तं तदा किं पुनः ? ॥२११॥

तथा हि—राधा-कृष्ण-युगं मुहुर्विघटनामुत्तीर्य दांपत्यभाक्
प्रत्येकान्तमुदस्त्रमेकतरगस्वापान्तरन्तर्मिथः ।
वक्त्रं पश्यति मार्ष्टि लोचनपुटं नासाग्रमुद्दण्डय-
न्निस्ते गण्ड-युगं हृदा हृदि मिलल्लेलीयते शर्मणि ॥२१२॥

नमस्कार करते हुए, श्रीराधा-कृष्ण के प्रसादी-वस्त्र आदि को धारण करते हुए, निष्कपट प्रेमाश्रुधारा के द्वारा मार्ग को सरस बनाते हुए, अपने घर में पहुँच गये। श्रीदामा आदि सब सखा भी अधिकसुख की तन्मयता को प्राप्त होकर, अपने अपने मार्ग में चले गये। और सखी प्रभृति अन्य ललनाएँ भी परमसुखरूप मूल्य से परिपूर्ण होकर, अपनी अपनी सेवा के अवसरसमूह के अनुसार, उन उन वस्तुओं को लेकर, सावधान होकर, श्रीराधा-कृष्ण की सेवा की आधार बन गईं ॥२०८॥

श्रीराधा-कृष्ण भी अपनी उन उन पूर्व कथाओं के अनुभव से, परस्पर विशाल तृष्णा से युक्त होकर, परमसुखविशिष्ट दिव्यशय्यापर शयनमय आनन्द को प्राप्त हो गये ॥२०९॥

अधिक कहने से क्या ? देखो, श्रीराधा-कृष्ण का शयनानन्दरूप वह व्यवहार ललिता आदि सखियों के हृदय में सर्वदा हार की तरह विहार करता रहता है ॥२१०॥

और यह राधा-माधव नामक युगलस्वरूप अपरिमित विघ्नों को पार करके, दम्पतिभाव में स्थित होकर, इस गोलोक में भी एकान्त में यदि प्राप्त हो गया, तब फिर कहना ही क्या है ? क्योंकि यह युगल-स्वरूप परस्पर दूर स्थित होते ही निरन्तर ध्यान करता है, सूक्ष्मरीति से चायति, अर्थात् देखता है, एवं अपने अन्तर्गत विशेष भावपूर्वक अपने परस्पर के परिहास को तो सखियों के बीच में बैठकर परस्पर देखता रहता है ॥२११॥

और देखो, यह राधा-कृष्णरूप युगलस्वरूप बारंबार के वियोग को पार करके, दम्पतिभाव का सेवन करनेवाला होकर, एकान्त में प्रेमाश्रु बहाता हुआ, दोनों के बीच में एक जन के सो जानेपर, परस्पर बीच बीच में मुखारविन्द देखता है, दोनों नेत्रों का मार्जन कर देता है, नासिका के अग्रभाग को ऊपर की ओर करता हुआ दोनों कपोलों का चुम्बन करता है, हृदय से हृदय में मिलकर बारंबार विशेष सुख में लीन हो जाता है, अर्थात् जब राधिका सो जाती हैं, तब श्रीकृष्ण पूर्वोक्त कार्य करते हैं; एवं जब श्रीकृष्ण सो जाते हैं, तब श्रीराधिका पूर्वोक्त व्यवहार करती हैं ॥२१२॥

"ततश्च, प्रागारब्धमभूत्तदेतदमलं चम्पूद्वयं यत्कृते
तच्चेदं हृदि शुद्धमाविरभवल्लोकद्वयस्याऽमृतम् ।
राधा-कृष्णपरस्परव्यतिकराऽऽनन्दाऽऽत्मना येन ते
याता दिव्यगतिं वयं सुखमयं सर्वोर्ध्वमध्यास्महे ॥२१३॥

अथ तादृशतया लब्धभृशतायामपि व्रजविलोकनेच्छायां तदेतदेवाऽन्तरङ्गतां सङ्गच्छति ॥२१४

यथा—श्रीमद्वृन्दावनेन्दोर्मधुप-खग-मृगाः श्रेणिलोका द्विजाता
दासा लाल्याः सुरभ्यः सहचरहलभृत्तात-मात्रादिवर्गाः ।
प्रेयस्यस्तासु राधाप्रमुखवरदृशश्चेतिवृन्दं यथोर्ध्वं
तद्रूपाऽऽलोकधृष्णक्प्रमदमनुदिनं हन्त पश्याम कर्हि ॥ इति ॥२१५॥

श्रीकृष्ण ! कृष्णचैतन्य ! ससनातनरूपक ! ।
गोपाल ! रघुनाथाप्त-व्रजवल्लभ ! पाहि माम् ॥२१६॥
पवन-कलामिति संवत्, विन्दन् वृन्दावनान्तःस्थः ।
जीवः कश्चन चंपूं, संपूर्णाङ्गीचकार वैशाखे ॥२१७॥

उसके बाद हमारा तो यही कहना है कि, जिस अमृत के लिए ये दोनों निर्मल चम्पूग्रन्थ पहले प्रारम्भ किये थे, वही यह दोनों लोकों का उपभोग्य विशुद्ध अमृत हमारे हृदय में आविर्भूत हो गया है। श्रीराधा-कृष्ण के परस्पर मिलन से आनन्दस्वरूपवाले जिस अमृत के द्वारा, अर्थात् भगवल्लीलारूप जिस अमृत के द्वारा, दोनों चम्पूग्रन्थों का निर्माण करनेवाले वे हम दिव्यगति को प्राप्त होकर, सुखमय सर्वोच्च स्थान में स्थित हो गये हैं ॥२१३॥

अब गोलोक की तरह विशेषता प्राप्त हो जानेपर भी, श्रीव्रज के देखने की इच्छा प्रबल होनेपर तो, आगे कहे जानेवाला प्रार्थनारूप यह निवेदन ही, अन्तरङ्गभाव में संगत हो रहा है ॥२१४॥

यथा—श्रीमान् वृन्दावनचन्द्र श्रीकृष्ण के भ्रमर, पक्षी, वन के मृग आदि पशु, श्रेणिलोक (एक जाति के एक सी कारीगरीवाले जन), ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यरूप द्विजातिगण, रक्तक पत्रक आदि दासगण, एवं लालन पालन के योग्य छोटे भ्राता आदि एवं गोगण, श्रीदामा सुदामा आदि मित्रगण, हलधर भैया; श्रीनन्द यशोदा रोहिणीरूप पिता माता आदि जनों का वर्ग, चन्द्रावली आदि प्रेयसीगण उन में भी श्रीमती राधिका आदि जो श्रेष्ठ व्रजाङ्गनाएँ हैं। इस प्रकार का श्रीकृष्ण का जो परिकरवृन्द है, वह क्रमशः उत्तरोत्तर श्रीकृष्ण के रूप के दर्शन से ढीठ होकर प्रकृष्ट हर्षवाला है, अथवा उनकी तरह हम भी श्रीकृष्ण के दर्शन से ढीठ एवं विशेष हर्षपूर्वक, अथवा क्रमशः श्रेष्ठ पूर्वोक्त श्रीकृष्ण के परिकरवृन्द के रूपों के दर्शन से ढीठ होकर, उत्कृष्ट हर्षपूर्वक अहह ! पूर्वोक्त परिकरवृन्द को प्रतिदिन कब देखा करेंगे ? ॥२१५॥

हे श्रीकृष्णचन्द्र ! हे श्रीकृष्णचैतन्यमहाप्रभो ! हे सनातनगोस्वामि सहित श्रीरूपगोस्वामिन् ! हे श्रीगोपालभट्टगोस्वामिन् ! हे रघुनाथदासगोस्वामिन् ! हे आप्तव्रजवल्लभ श्रीभूगर्भगोस्वामि प्रभृति रसिक-भक्तजन ! आप सब मेरी सर्वतोभाव से रक्षा करें (इस श्लोक की विस्तृत व्याख्या पूर्वचम्पू के आदि में है) ॥२१६॥

पवन (४९), कला (१६) से परिमित, अर्थात् "अंकानां वामतो गतिः" इस नियम के अनुसार विक्रम सं० १६४९ को प्राप्त करते हुए, श्रीवृन्दावन के भीतर रहनेवाले श्रीजीवगोस्वामी नामक किसी व्यक्ति-विशेष ने, वैशाखमास में यह चम्पू सम्पूर्ण अङ्गोंवाली बना दी, अर्थात् साङ्गोपाङ्ग समाप्त कर दी ॥२१७॥

अथवा 'विद्याशरेन्दुशाकम्' इतिप्रथमचरणः प्रचारणीयः ॥२१८॥

लीलानां रस-पूर्ति,-र्मयकाऽदर्शि क्रमादत्र ।
स्वस्वाऽऽग्रहतस्तासां, काचन केनाप्युपास्यतां नाम ॥२१९॥

किन्तु, रसिकजनसुखार्थं साधयामास शश्वत्, क्रममनु रसपूर्तिं सूदवत् कृष्णचन्द्रः ।
क्रममनुरसयन् यः पूर्तिमाप्नोति पूर्त्यां, सफलमिह परं स्यात्तु वैदग्ध्यमस्य ॥२२०

तदेतदेव (भा० १०।१४।३४) 'तद्भूरिभाग्यम्' इत्यादिप्रार्थनागर्भेण वेदगर्भेण निर्णीतम् ॥२२१॥ (भा० १०।१४।३७)—

अथवा पूर्वोक्त श्लोक में "पवन-कलामिति संवत्" के स्थान में "विद्याशरेन्दुशाक" इस प्रकार प्रथम-चरण परिवर्त्तन कर लेना, अर्थात् विद्या (१४), शर (५), इन्दु (१) से परिमित पूर्वोक्त रीति से (१५१४) शाके में, यह चम्पूग्रन्थ पूरा कर दिया, ऐसा समझ लेना चाहिये (श्रीवृन्दावन आदि पश्चिमदेशों में विक्रम संवत् से गणना की रीति है, एवं वङ्गदेश में शाके से गणना की रीति है, इसी भाव से श्रीजीवगोस्वामी ने दोनों प्रकार की गणना दिखा दी है ॥२१८॥

मैंने (श्रीजीवगोस्वामी ने) इस चम्पूद्वयात्मक समस्तग्रन्थ में श्रीकृष्णलीलाओं के रस की पूर्ति क्रम से ही दिखाई है (श्रीशुकदेवजी की प्रेमसमाधि में जिनका क्रम परिवर्तित भी देखा गया है), अतः उन सब लीलाओं में से कोई भी भक्त अपने अपने (भाव के) आग्रह के अनुसार किसी भी लीला की उपासना कर सकता है। तात्पर्य—मैंने सभीभक्तों के सन्तोषार्थ सभीभावों की लीला क्रमशः साङ्गोपाङ्ग वर्णन की हैं, किसी भावविशेष से पक्षपात नहीं है। अतः सभीभक्त निज निज रुचि के अनुसार उपासना कर सकते हैं ॥२१९॥

यदि कोई कहे कि एक ही लीला के रसास्वादन से पंचविध पुरुषार्थ की सिद्धि जब हो सकती है, तब श्रीकृष्ण ने अनेक प्रकार की लीलाएँ क्यों प्रकाशित कीं ? और उनमें भी अपने को भी कष्टदायिनी चिरकालीन विरहमयी लीला क्यों की ? इसके उत्तर में ग्रन्थकार स्वयं कहते हैं कि—रसोई बनानेवाला व्यक्ति, मधुर आदि षट्रसों का आस्वादन करनेवाले व्यक्तियों के लिए जिस प्रकार साग, दाल से लेकर क्रमशः अनेक पदार्थ बनाता है, उसी प्रकार श्रीकृष्णचन्द्र ने रसिकजनों के सुख के लिए क्रमपूर्वक लीलाओं के रस की पूर्ति, निरन्तर अनेक प्रकार की लीलाओं द्वारा सिद्ध की है (और कटु, तिक्त, कषाय आदि रस स्वादरहित होनेपर भी जिस प्रकार समयानुसार सेवन किये जाते हैं, ठीक उसी प्रकार सम्भोगरस की पुष्टि के लिए कभी कभी वियोग का रस भी आस्वादन करना चाहिये। अतः श्रीकृष्ण ने वियोगविशेष की लीलाएँ भी रचीं)। क्योंकि श्रीकृष्ण क्रमशः रसास्वादन कराते हुए ही पूर्ति को प्राप्त होते हैं, अतः इस पूर्ति में उनकी क्रमशः रसास्वादन करानारूप जो चतुराई है, वह परमसफल हो सकती है। अथवा जो रसिकजन सब रसों का क्रमशः आस्वादन करता हुआ ही पूर्ति को प्राप्त होता है, उसकी क्रमशः रसास्वादन-रूप वह निपुणता इस पूर्ति में परमसफल हो सकती है ॥२२०॥

"इस वृन्दावन में या गोकुल में किसी पदार्थ में भी जो जन्म लेना है, वह विशालभाग्य का द्योतक है" इत्यादि प्रार्थना जिनके अन्तःकरण में है, उन ब्रह्माजी ने भी क्रमशः रसास्वादन करना कराना ही नर्णय किया है ॥२२१॥

'प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपि विडंबयसि भूतले ।
प्रपन्नजनतानन्द-सन्दोहं प्रथितुं प्रभो ! ॥' इति ॥२२२॥

किन्त्वेतेषु रसनिकेतेषु मम तु विज्ञापनमिदम्—

काचित् काचिदिति प्रोच्य प्रगुप्ताः श्रीशुकेन याः ।
नाम्ना तासां रहःकेलिं व्यज्य प्रेजति मन्मनः ॥२२३॥

ततश्च, मया स्वीये काव्ये निखिलरस-योगं ज्ञपयता
कृतं धाष्टर्यं कृष्टं बत हरिरमा-ह्लीकृदसकृत् ।
विधातव्यं धीरैर्यदि दृशि तदा तन्न तु गिरी-
त्यमुं चाटुं भीतः प्रकटयति सोऽयं कविजनः ॥२२४॥

अथवा— मया यन्मत्काव्यं सरसमिदमित्थं ज्ञपयता
कृतं धाष्टर्यं कष्टं बत कुलवधू-ह्लीकृदसकृत् ।
तदस्पृष्टास्ताः स्युर्यदतिकविधीश्रीवृतिवृता
जगच्चित्ताद् दूरे रहसि हरि-सेवां विदधति ॥२२५॥

हे प्रभो ! आप अपने शरणागत व्रजवासीरूप जनता एवं हम जैसी भक्तजनता के आनन्दसमुदाय का विस्तार करने के लिए स्वयं प्रपञ्चातीत होकर भी, इस भूतलपर प्रपञ्च का अनुकरण करते हो। वस्तुतः "जन्म कर्म च मे दिव्यम्" के अनुसार आपकी लीलाएँ भी प्रपञ्चातीत हैं। आपकी कृपा बिना उनका स्वारस्य नहीं जाना जा सकता है ॥२२२॥

किन्तु रसों के स्थानस्वरूप इन रसिकजनों के निकट तो मेरा यही विज्ञापन है कि—श्रीशुकदेवजी ने श्रीराधिका आदि जो गोपियाँ 'काचित्' 'काचित्' इस प्रकार कहकर विशेष गुप्त कर दी थीं, उन्हीं गोपियों का नाम लेकर, रहस्यमयी गुप्तलीला को प्रकाशित करके मेरा मन काँप रहा है। अर्थात् रासलीला के प्रसङ्ग में श्रीशुकदेवजी ने जिनका नाम नहीं लिया था, मैंने उन गोपियों का नाम क्रमशः लिख दिया है, अतः मेरा मन विशेष कम्पित हो रहा है ॥२२३॥

उसके बाद अपनी विनम्रता को प्रकाशित करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि—मैंने अपने गोपालचम्पू नामक काव्य में सभीरसों के संयोग को जनाते हुए महती धृष्टता कर दी है, यह मुझे कष्ट है। क्योंकि हाय ! यह धृष्टता श्रीहरि एवं हरिप्रिया गोपियों के लिए बारंबार लज्जाजनक हो गई है। यदि (अथवा) धीर गंभीर विज्ञजन मेरे काव्य को जब दृष्टिगोचर करें, तब अपनी वाणी के गोचर न करें, अर्थात् जब नेत्रों से देखकर पढ़ें, तब वाणीद्वारा अरसिकजनों में इसका प्रकाश न करें। क्योंकि अपात्र में तत्त्वमात्र के जाने से अचिन्त्य अपराध की सम्भावना से भयभीत हुआ (श्रीजीवगोस्वामीरूप) यह कविजन इस प्रकार की चाटु (चापलूसी या विनय) प्रगट कर रहा है ॥२२४॥

अथवा "मेरा यह काव्य सरस है" इस प्रकार जनाते हुए मैंने जो धृष्टता की है, वह कष्टरूप है। हाय ! वह धृष्टता व्रजाङ्गनारूप कुलाङ्गनाओं के लिए बारंबार लज्जाकारक भी है, तो भी वे कुलाङ्गनाएँ उस लज्जा के स्पर्श से रहित हो सकती हैं, कारण वे तो महाकवियों की बुद्धि की (काव्यरूप) सम्पत्ति की बाड़ से घिर कर, अथवा कवियों का अतिक्रमण करनेवाली अपनी बुद्धिरूप सम्पत्ति के घेरे से घिर कर, संसारीजीवों के चित्त से दूर एकान्त में श्रीहरिसेवा कर रही हैं। अतः हमारी उस प्रकार की धृष्टता में कोई दोष नहीं है, यह तात्पर्य है ॥२२५॥

इति श्रीश्रीमन्माध्वगौडेश्वरसंप्रदायाचार्यवर्येण हस्तामलकवन्निजहृदयविन्यस्तसमस्तसद्ग्रन्थ-
तात्पर्येण वेद-वेदाङ्ग-षड्दर्शनेतिहास-पुराण-स्मृति-वाकोवाक्य-काव्यालंकारादि-
निखिलशास्त्रपारावाराऽवारपारीणेन सन्देहग्रन्थिच्छेदनसमर्थेन वैष्णव-
सिद्धान्तसाम्राज्यसंरक्षकेन श्रीमद्रूप-सनातनानुगतेन
श्रीमद्वल्लभात्मजेन जीवजीवातुना

श्रीजीवगोस्वामिना विरचितायां

**श्रीमदुत्तरगोपालचम्प्वां सर्वसुखसंपदवलोक-श्रीगोलोकदेश-प्रवेशो नाम
सप्तत्रिंशं पूरणम् ॥३७॥**

इति श्रीमदुत्तरगोपालचम्पूकाव्ये निखिलशास्त्रपारावारपारदृश्व-
सख्यावताराष्टोत्तरशतस्वामिश्रीकृष्णानन्दजीमहाराजानां
शिष्येण काव्यवेदान्ततीर्थेन घटिकाशतकेन महाकविना
श्रीवनमालिदासशास्त्रिणा विरचितायां
श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी-भाषाटीकायां
सर्वसुखसम्पत्तिदर्शनयुक्त-
श्रीगोलोकदेशप्रवेशनामकं
सप्तत्रिंशं पूरणं
संपूर्णम् ॥३७॥

पूर्णोऽयं श्रीकृष्णपूर्णव्रजनामा तृतीयो विलासः ।

श्रीमदुत्तरगोपालचम्पूः संपूर्णा ।

समाप्तोऽयं श्रीगोपालचम्पूनामा ग्रन्थः ।

टीकाकर्तुर्नम्रनिवेदनम्

श्रीकृष्णानन्ददासानुचरविरचिता टीकिकेयं समाप्ता
भक्तानां सौख्यदात्री प्रतिपदममलप्रेमपीयूषपात्री ।
दृष्ट्वेमां गद्यपद्यप्रकटनचतुरां भावुका ! भावसिन्धौ
स्नात्वा पूर्वं ततो मां स्नपयत कृपया बालकं मातृकेव ॥१॥

यान् यान् भावान् स्फोरयामासुरस्या,-श्रम्व्वा मेऽन्तर्जीवगोस्वामिपादाः ।
ते ते न्यस्तास्टीकिकायां मयाऽस्यां, वर्षं यावत्पूर्तिपात्रं गतायाम् ॥२॥

चम्पूद्वयस्य टीकेयं पूर्णा वर्षद्वयेन तु ।
द्वयोरेव भवेत्प्रीत्यै मित्रयो रामकृष्णयोः ॥३॥

स्वान्तःसुखाय लिखिता ननु टीकिकेयं, स्यादेव भिन्नजनतासुखशान्तिहेतुः ।
सेतुः स्वकावतरणाय विनिर्मितोऽपि, स्यादेव भिन्नजनतातरणाय हेतुः ॥४॥

श्रीकृष्णानन्दिनीनाम्नी भाषाटीकाऽऽप्तनिर्वृतिः ।
यन्नाम्ना निर्मिता सेयं सोऽयं नित्यं प्रसीदतु ॥५॥

टीकाकार का नम्र निवेदन

पूज्यपाद गुरुदेव श्रीकृष्णानन्ददासजी महाराज के कृपापात्र (वनमालिदास नामक) एक लघुतर अनुचर के द्वारा विरचित यह (उत्तरगोपालचम्पू की) भाषाटीका सम्पूर्ण हो गई। यह टीका रसिकभक्तों के लिए परमसुखदायिनी एवं पद पदपर निर्मल प्रेमरूप पीयूष की पोषिका है। हे भावुकसज्जनो ! आप सब के श्रीचरणों में मेरी करबद्ध प्रार्थना है कि, श्रीगोपालचम्पू के गद्य एवं पद्यों के भाव को प्रगट करने में चतुर इस टीका को देखकर, पहले भावरूपी सिन्धु में स्वयं गोता लगाकर, तदनन्तर भावमयी माता जैसे अपने बालक को स्नान कराती है, उसी प्रकार मुझ बालक को भी भावसिन्धु में कृपया स्नान करा देना ॥१॥

पूज्यपाद श्रीजीवगोस्वामीजी महाराज ने मेरे अन्तःकरण में इस उत्तर गोपालचम्पू के जो जो भाव प्रस्फुरित किये हैं, मैंने एक वर्ष में परिपूर्ण होनेवाली इस भाषाटीका में वे ही समस्त भाव स्थापित कर दिये हैं, अर्थात् स्वयं लिखने की कोई सामर्थ्य न थी ।।२॥

इस प्रकार दोनों चम्पू ग्रन्थों की यह टीका ठीक दो वर्ष में परिपूर्ण हो गई। अतः यह टीका श्रीकृष्ण बलदेव नामक मेरे दोनों सनातनमित्रों की प्रीति (प्रसन्नता) के लिए ही सम्पन्न हो जाय॥३॥

यह टीका मैंने स्वान्तःसुखाय लिखी थी, तो भी मुझ से भिन्न पाठकरूप जनता के भी सुख एवं लोकोत्तर शान्ति की हेतु हो ही जायगी। उस में दृष्टान्त यह है कि—केवल अपने पार होने के उद्देश्य से बनाया हुआ भी जो सेतु (पुल) है, वह बनानेवाले व्यक्ति से भिन्न जनसमुदाय के भी पार उतरने का कारण बन ही जाता है ॥४॥

श्रीकृष्ण को आनन्दप्रद होने के कारण, या "नामैकदेशे नाममात्रग्रहणम्" इस न्याय के अनुसार 'श्रीकृष्णानन्ददास' नामक हमारे श्रीगुरुदेव को आनन्ददायिनी होने के नाते 'श्रीकृष्णानन्दिनी' नामवाली यह भाषाटीका आप्त (यथार्थवक्ता एवं विश्वासपात्र)जनों को परमसुखदायिनी है। अतः यह टीका जिन के नाम से बनाई गई है, वे श्रीकृष्ण एवं हमारे पूज्य गुरुदेव मुझ दीनहीनपर नित्य प्रसन्न होते रहें ॥५॥

स्वाचार्यवर्यकरपङ्कजयुग्ममध्ये, चम्पूद्वयी सविवृतिर्निहिता मयेमाम् ।
गोलोकगोऽपि सुविलोक्य च दिव्यदृष्ट्या, दृष्ट्यार्द्रया स्वकरुणां मयि स प्रकुर्यात् ॥६॥

स्वाचार्यस्य प्रथमममलं यश्चरित्रं व्यतानीत्, पश्चाद् राधारमणशतकं भक्तनामावलीं च ।
सख्येनाढ्यं सखिसुखकरं सख्यपूर्वं सुधांशुम्, भावेनाढ्यं कविकुलमुदे श्रीहरिप्रेष्ठकाव्यम् ॥७॥

वृन्दावन गोवर्धन, -यमुनायाश्चापि स्तोत्राणि ।
श्रीरामभद्रदशकं, स्तोत्रं श्रीरामकृष्णयोश्चापि ॥८॥

श्रीचैतन्यस्तोत्रं, स्तोत्रं स्वाचार्यवर्यस्य ।
श्रीविश्वनाथपंचक,-मपि श्रीवनिमालिप्रार्थनाशतकम् ॥९॥

श्रीराधायाः स्तोत्रं, प्रातःस्मरणाख्यस्तोत्रं च ।
विष्णुस्वामिस्तोत्रं, श्रीसत्यनारायणाष्टकं विमलम् ॥१०॥

एवंविधानि चान्यानि स्तोत्राण्यपि महात्मनाम् ।
विधाय भक्तिग्रन्थेषु भाषाटीकामलीलिखत् ॥११॥

श्रीविश्वनाथनिर्मित, -श्रीभक्तिग्रन्थमालायाः ।
श्रीरूपनिर्मितायाः, पद्यावल्या मनोहरां टीकाम् ॥१२॥

अब व्याख्यासहित ये दोनों चम्पू की पुस्तकें मैंने अपने श्रीगुरुवर्य के युगल करकमलों में सादर समर्पित कर दी हैं, किन्तु अब दिव्यधाम श्रीगोलोक में विराजमान भी मेरे श्रीगुरुदेव अपनी दिव्यदृष्टि के द्वारा इन दोनों पुस्तकों को भली प्रकार देखकर, स्नेहमयी दृष्टि से मेरे ऊपर अपनी अहैतुकी कृपा करते रहें। उनके श्रीचरणों में मेरी यही प्रार्थना है ॥६॥

अब सातवें श्लोक से पन्द्रहवें श्लोकतक एक अन्वयवाले कुलक के द्वारा स्वनिर्मितग्रन्थों का, एवं स्वरचित टीकाओं का तथा अपने द्वारा संकलित सूक्तिसंग्रहों का परिचय देते हुए टीकाकार अपने नाम का निर्देश करते हैं, यथा—

जिस वनमालिदास ने सर्वप्रथम अपने श्रीगुरुदेव का निर्मल चरित्र 'श्रीकृष्णानन्द-महाकाव्य' के नाम से बनाया, पश्चात् 'श्रीराधारमण शतक' एवं 'श्रीभक्तनाममालिका' बनाई। तदनन्तर सखाओं को, अर्थात् सख्यभाव के उपासकों को सुखी करनेवाला सख्यभाव से परिपूर्ण 'सख्यसुधाकर' बनाया, एवं भावुककवियों की प्रसन्नता के लिए भक्तिभावपरिपूर्ण 'श्रीहरिप्रेष्ठ महाकाव्य' बनाया। उसके बाद 'श्रीवृन्दावनाष्टक', 'श्रीगोवर्धनाष्टक', 'श्रीयमुनास्तोत्र', 'श्रीरामभद्रदशक', 'श्रीरामकृष्ण स्तोत्र', 'श्रीचैतन्य-स्तोत्र', 'श्रीगुरुदेवस्मरणाष्टक', 'श्रीविश्वनाथपंचक', 'श्रीवनमालिप्रार्थनाशतक', 'श्रीराधिकास्तोत्र', 'श्रीकृष्ण-बलदेव का प्रातःस्मरणस्तोत्र', 'श्रीविष्णुस्वामिस्तोत्र', 'श्रीसत्यनारायणाष्टक', बनाया। इसी प्रकार 'श्रीअनन्तदासाष्टक', 'अमोलक-रामाष्टक', 'राधाकृष्णाष्टक' इत्यादिरूप से अन्य महात्माओं के भी बहुत से स्तोत्र बनाये। पश्चात् बहुत से भक्तिग्रन्थों के ऊपर भाषाटीका लिखी, जिन जिन ग्रन्थोंपर टीका लिखी उनका नाम निर्देश करते हैं—श्रीविश्वनाथचक्रवर्ती की बनाई हुई 'भक्तिग्रन्थमाला' की टीका लिखी, जिस माला के अन्तर्गत 'भक्तिरसामृतसिन्धुबिन्दु', 'भागवतामृतकणिका', एवं 'माधुर्यकादम्बिनी' आदि ग्रन्थ हैं। श्रीरूपगोस्वामी की 'श्रीपद्यावली' की रसिकजन-मनोहर टीका लिखी। एवं श्रीनन्दकिशोर कवि

नन्दकिशोरविनिर्मित, -गौराङ्गप्रेमोल्लासस्य ।
त्रिविक्रमाचार्यकृते, -र्वायुस्तुत्याः सटिप्पणीं टीकाम् ॥१३॥

कृत्वा महाभारतसूक्तिसंग्रहं, चकार वाल्मीकिजसूक्तिसंग्रहम् ।
एवंविधान्यानपि सूक्तिसंग्रहान्, विधाय नामाष्टकयोः सुटीकाम् ॥१४॥

श्रीजीवसत्कृतिबले विपुलेऽमलेऽस्मिँ,-श्चम्पूद्वयेऽपि विपुलाममलां सुहृद्याम् ।
वृन्दाटवीवसतिलब्धकवित्वशक्ति,-ष्टीकामिमां स कृतवान् वनमालिदासः ॥१५॥

विश्वम्भरप्रेरणयैव टीका, विश्वम्भरप्रेरणया प्रकाशः ।
विश्वम्भरप्रेरणयैव सर्वं, विश्वम्भरः प्रीतिमुपैतु सोऽयम् ॥१६॥

निर्मित 'श्रीगौराङ्गप्रेमोल्लास' काव्य की टीका, तथा श्रीत्रिविक्रमाचार्यकृत 'वायुस्तुति' अर्थात् श्रीमध्वाचार्य स्तुति की अलंकारनिर्देशिका टिप्पणी सहित टीका लिखी। एवं 'श्रीस्तवरत्ननिधि' नामक स्तोत्रग्रन्थ के अन्तर्गत स्तोत्रों की भक्तजन-मनोहारिणी भाषाटीका लिखी। इस प्रकार अनेकग्रन्थों की टीका करके 'महाभारतसूक्तिसंग्रह', 'वाल्मीकीयसूक्तिसंग्रह', 'जैमिनीयाश्वमेधसूक्तिसंग्रह', 'हरिवंशपुराणीयसूक्तिसंग्रह' इत्यादि अनेक सूक्तिसंग्रहात्मक ग्रन्थ बनाकर 'श्रीस्तवकल्पद्रुमः' का संकलन करके श्रीगौराङ्गमहाप्रभुकृत एवं श्रीरूपगोस्वामिकृत नामाष्टकोंपर भी सुन्दर टीका बनाई। अतः श्रीवृन्दावन के निवास के माहात्म्य से जिसको कविताशक्ति का लाभ हुआ, उसी वनमालिदास ने श्रीजीवगोस्वामी की सत्कृतियों के बल से परिपूर्ण, अतिशय विशाल, एवं निर्मल (प्राकृत सम्बन्धरहित) इन दोनों चम्पू ग्रन्थोंपर भी विशाल, निर्मल, परममनोहर टीका बनाई है ॥१५॥

यह टीका विश्व का भरणपोषण करनेवाले श्रीविश्वम्भर की प्रेरणा से हुई, श्रीविश्वम्भर की प्रेरणा से ही इसका प्रकाशन हुआ, क्योंकि सभी कार्य श्रीविश्वम्भर की प्रेरणा से ही सम्पन्न होते हैं। अतः मेरे सनातनसखा वे विश्वम्भर-श्रीकृष्ण ही मुझपर प्रसन्न हो जायँ, अथवा जिन्होंने प्रेमलक्षणा भक्तिरस के द्वारा जीवमात्र का भरणपोषण किया है वे ही 'विश्वम्भर' उपनामक श्रीकृष्णचैतन्यमहाप्रभु मुझ दीन हीन मलीन पापपीनपर परमप्रसन्न हो जायँ; उनके श्रीचरणों में मेरी यही विनम्र प्रार्थना है ॥१६॥

❀ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ❀